हिंदी विश्वकोश

हिंदी विश्वकोश

खंड ३

'किंग, मार्टिन लूथर' से 'गैज़ेल, गीदो' तक

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

मूल्य

६० रुपए

प्रथम संस्करण

शकाब्द १८८५ : सं० २०२० वि० : १९६३ ई०

नवीन संशोधित परिवर्धित संस्करण

शकाब्द १८९९ : सं० २०३३ वि० : १९७६ ई०

नागरी मुद्रण, वाराणसी, में मुद्रित

संपादक तथा परामर्शमंडल

संपादक समिति (प्रथम संस्करण)

डॉ० संपूर्णानंद (अध्यक्ष)
श्री प्रेमनाथ धीर (सदस्य, प्रतिनिधि, केंद्रीय मंत्रालय)
श्री के० सच्चिदानंदम् (सदस्य, प्रतिनिधि, केंद्रीय अर्थ मंत्रालय)
डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी (प्रधान संपादक)
डॉ० भगवतशरण उपाध्याय (मानवतादि संपादक)
प्रो० फूलदेवसहाय वर्मा (विज्ञान संपादक)
श्री देवकीनंदन केडिया (सदस्य, अर्थमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा)
डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा (मंत्री एवं संयोजक)

परामर्शमंडल के सदस्य (प्रथम संस्करण)

डॉ० संपूर्णानंद, राज्यपाल, राजस्थान, जयपुर (अध्यक्ष)
श्री कमलापति त्रिपाठी, वित्तमंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ
श्री प्रेमनाथ धीर, उपसचिव, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली
श्री के० सच्चिदानंदम्, संलग्न-उप-वित्त सलाहकार, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली
डॉ० विश्वनाथप्रसाद, निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, फैजबाजार दरियागंज, दिल्ली
डॉ० दीनदयालु गुप्त, अध्यक्ष, हिंदी समिति, सूचना निदेशालय, उत्तर प्रदेश सरकार, तथा प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
श्री निहालकरण सेठी, सिविल लाइंस, आगरा
डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, प्रधान संपादक, हिंदी विश्वकोश (संयुक्त मंत्री)
श्री देवकीनंदन केडिया, अर्थमंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी
डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी (मंत्री एवं संयोजक)

नवीन संस्करण का प्राक्कथन

हिंदी विश्वकोश का कार्य सं० २०१३ विक्रमी (सन् १९५६ ई०) से भारत सरकार की सहायता से आरंभ हुआ और संपूर्ण १२ खंडों के प्रकाशन का कार्य सं० २०२७ विक्रमी (सन् १९७० ई०) में समाप्त हो गया। तत्पश्चात् सभा अपने बल पर यह कार्य चलाती रही और अंततोगत्वा भारत सरकार ने इसमें पुनः सहायता की। विश्वकोश के सारे निर्माणकार्य पर १५,८१,३४५–४२ रुपए व्यय हुए। इस संस्करण की बिक्री की आय केंद्रीय सरकार ले लेती है। इस प्रकार कोई ऐसा धन सभा के पास नहीं था जिससे वह इसका पुनः प्रकाशन करती। सन् १९७० ई० में ही विश्वकोश के आरंभिक तीन खंड अनुपलब्ध हो गए और उनकी माँग बराबर बनी रही। विश्वकोश के रचनाकार्य की एक सनातन प्रक्रिया है और इसी के माध्यम से इसे अद्यतन तथा उपयोगी रखा जा सकता है।

भारत सरकार ने सभा की इस कठिनाई को समझा और आरंभ के तीन खंडों के प्रकाशन के लिये १,३९,२०० रु० का अनुदान देना स्वीकार किया। कार्य आरंभ करने पर अनुभव हुआ कि मानव ज्ञान की जो राशि बढ़ गई है उसके परिप्रेक्ष्य में विश्वकोश को अद्यतन करने के लिये यह आवश्यक है कि इसका सर्वथा नवीन, संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण प्रकाशित किया जाय ताकि इसकी उपयोगिता बनी रहे और ज्ञान के क्षेत्र में इसका अवदान अपना प्रतिमान स्थिर रख सके। एतदर्थ इसमें व्यापक संशोधन और परिवर्धन किया गया है। प्रथम संस्करण में विश्वकोश का प्रत्येक खंड लगभग ५०० पृष्ठों का प्रकाशित हुआ था। अब इसमें प्रत्येक खंड की वाचन सामग्री बढ़ा दी गई है और इसमें यथासंभव विज्ञान तथा मानविकी संबंधी नई सामग्री का समावेश किया गया है जिसमें निबंधों की संख्या भी पहले की अपेक्षा बढ़ गई है।

नए संस्करण में निबंधों के संयोजन में जो पद्धतियाँ अपनाई गई हैं, वे इस प्रकार हैं—

हिंदी विश्वकोश के प्रथम खंड का प्रथम संस्करण लगभग १५ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। तब से अब तक विज्ञान में काफी प्रगति हुई है। अनेक नवीन तथ्यों की खोज हुई और कई पुराने सिद्धांत अपने प्रतिष्ठित स्थान से विचलित हो गए। अतएव नवीन तथ्यों के प्रकाश में विज्ञान के अधिकांश लेखों में व्यापक संशोधन तथा परिवर्तन किए गए हैं।

प्रथम संस्करण की अनेक भूलों एवं त्रुटियों का इस संस्करण में परिमार्जन किया गया है। विज्ञान के सभी लेखों की शब्दावली, भारत सरकार के विज्ञान तथा तकनीकी शब्दावली के स्थायी आयोग द्वारा प्रकाशित विज्ञान शब्दावली के अनुसार रखने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से कुछ लेखों के नाम भी बदल गए हैं। कुछ लेखों को, जो अब कम महत्व के रह गए हैं, संक्षिप्त कर दिया गया है, कुछ को अन्य संबद्ध लेखों में समाविष्ट कर दिया गया है।

विज्ञान के महत्वपूर्ण विषयों पर नवीन लेख प्रस्तुत संस्करण में समाविष्ट किए गए हैं। सभी लेख मानक पुस्तकों एवं पत्रिकाओं के आधार पर तैयार हुए हैं। आवश्यकतानुसार अनेक विद्वानों से परामर्श भी लिया गया है तथा लेखन भी कराया गया है।

मानविकी का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इतिहास, पुरातत्व, राजनीतिशास्त्र, साहित्य, भाषाविज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान, समाज-कार्य-विभाजन आदि अनेक विषय मानविकी के अंतर्गत परिगणित किए जाते हैं। हिंदी विश्वकोश के प्रथम संस्करण में मानविकी को विज्ञान की अपेक्षा कम महत्व दिया गया था, अर्थात् विज्ञान संबंधी लेखों को लगभग ६५ प्रतिशत और मानविकी के लेखों को लगभग ३५ प्रतिशत। नवीन संस्करण में हमारा प्रयास है कि दोनों ज्ञानखंडों का उपर्युक्त विषम अनुपात यथासंभव समान रहे।

प्रस्तुत खंड में वर्णित देशों और नगरों की जनसंख्या तथा उत्पादन संबंधी नवीनतम आँकड़े जुटाने के अतिरिक्त उनका इतिहास भी प्रस्तुत किया गया है।

सभा ने आकर ग्रंथों द्वारा हिंदी के भांडार की समृद्धि का जो मंगलमय संकल्प लिया है, ज्ञान की उस दीपशिखा की चेतना के चरण निरंतर गतिमान होते रहें, हमारा यह प्रयत्न है। विश्वकोश का यह रूप उसी संकल्प का परिणाम है।

हिंदी विश्वकोश के सभी कार्यकर्ताओं, पदाधिकारियों तथा भारत सरकार ने नागरीप्रचारिणी सभा के इस स्वप्न को मूर्त करने में जो सराहनीय योगदान किया है उसके निमित्त हम उनके प्रति हृदय से आभारी हैं।

मुझे विश्वास है, अपने गुणधर्म के कारण हिंदी विश्वकोश के नए संस्करण का उपयोग करने में लोग प्रसन्नता तथा संतोष का अनुभव करेंगे।

निर्जला एकादशी,
सं० २०३३ वि०

सुधाकर पांडेय
संपादक
(प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी)

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

विश्वकोश का यह तृतीय खंड निश्चित योजना के अनुसार प्रकाशित किया जा रहा है। यह अनेक विद्वानों के सहयोग और श्रम एवं शुभचिंतकों के सत्परामर्श का फल है। जीवन के विविध अंगों में व्यावहारिक एवं साहसपूर्ण प्रयोगों द्वारा विचारों और मान्यताओं में परिवर्तन होते जा रहे हैं; उन समस्त विचारों को जनता के सामने राष्ट्रभाषा के माध्यम से संक्षिप्त एवं सुबोध रूप में यथासंभव ले आने का हमारा प्रयास भी चल रहा है।

इस क्रम में इस ग्रंथ के निर्माण में प्रायः एक वर्ष से अधिक समय लगा है। इसमें कुल ५०४ पृष्ठ हैं और ८२८ लेखों में १६१ विद्वानों की रचनाएँ दी गई हैं। विविध चित्रों, मानचित्रों और कलाकृतियों से भी इसे अधिक सुंदर ढंग से निकालने का प्रयत्न किया गया है जिसके लिये हम उन सभी लेखकों, परामर्शदाताओं और कलाकारों के आभारी हैं जिन्होंने इस समृद्ध योजना में हमारी सहायता की है। हम उन विशिष्ट संस्थाओं और विदेशी दूतावासों के प्रति भी आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझते हैं जिन्होंने अपनी सामयिक सहायता से हमें उपकृत किया है।

प्रस्तुत खंड की छपाई परामर्शमंडल के निश्चय के अनुसार नागरीप्रचारिणी सभा के राष्ट्रभाषा मुद्रण ने की है। यदि प्रेस के सामने विविध वैज्ञानिक सांकेतिक चिह्नों और प्रतिमानों के नए सिरे से मैट्रिक्स बनवाने का प्रश्न न होता और इसी प्रकार 'क्वांटम' जैसे प्राविधिक लेखों और पुस्तक में दिए गए चित्रों के समस्त ब्लाकों के तैयार होने में कुछ अधिक समय न लग गया होता तो यह खंड कुछ पहले अवश्य प्रकाशित हो जाता।

यहाँ निवेदन करना आवश्यक है कि विचार करने पर यह प्रतीत हुआ कि एशिया और अफ्रिका संबंधी विषयों के लिये कोश में कुछ अधिक स्थान मिलना चाहिये। अतः प्रयत्न किया जा रहा है कि इन विषयों के लिये भी यथेष्ट स्थान रखा जाय।

विश्वकोश के संपादन और प्रकाशन में संलग्न समस्त कर्मचारी और विशेषतः सभा एवं केंद्रीय सरकार के शिक्षा मंत्रालय के वे अधिकारी गण हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं जिन्होंने उसके संग्रथन में सक्रिय भाग लिया है।

संपादक

तृतीय खंड के लेखक

अं० प्र० स० — **अंबिकाप्रसाद सक्सेना**, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, *प्राचार्य एवं अध्यक्ष, भौतिकी विभाग;* गवर्नमेंट सायंस कालेज, ग्वालियर।

अ० कि० ना० — **अवधकिशोर नारायण**, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, पुरातत्व विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अ० ना० मे० — **अजितनारायण मेहरोत्रा**, बी० एस-सी०, बी० एड०, विशारद, विज्ञान सहायक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

अ० वि० सी० — **अर्जुनदास विलंदमल सीरवानी**, एम० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पतिशास्त्र विभाग, गवर्नमेंट नार्मल कालेज, जबलपुर।

अ० सि० — **अवतार सिंह**, सहायक प्राध्यापक, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

आ० वे० — **आस्कर वेरकूसे**, एस० जे० एल० एस० एस०, प्रोफेसर ऑव होली स्क्रिप्चर, सेंट अलबर्ट्‌स सेमिनरी, राँची (बिहार)।

इं० वि० — (स्वर्गीय) **इंद्र विद्यावाचस्पति**, भूतपूर्व अध्यक्ष, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरद्वार; जवाहर-नगर, दिल्ली।

इ० अ० — **इकबाल अहमद**, भूतपूर्व सहायक प्रोफेसर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

उ० ना० पां० — *उदयनारायण पांडेय, एम० ए०, उपसंचालक,* लद्दाखी बौद्धविहार, दिल्ली।

क० त्रि० — **कमलापति त्रिपाठी**, वित्त मंत्री, उत्तरप्रदेश, लखनऊ।

क० दे० मा० — **कपिलदेव मालवीय**, एम० बी० बी० एस०, डी० पी० एच०, न्यूट्रिशन सर्वे आफिसर, प्राविंशियल हाइजीन इंस्टिट्यूट, लखनऊ (उ० प्र०)।

क० दे० व्या० — **कपिलदेव व्यास**, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, एफ० एन० एस-सी०, सहायक प्रोफेसर फ़िज़ियॉलोजी तथा बैक्टीरियॉलोजी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

क० प० त्रि० — **करुणापति त्रिपाठी**, एम० ए० व्याकरणाचार्य, साहित्यशास्त्री, अध्यक्ष, प्रशिक्षण विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

क० मि० — **कमला मित्तल**, द्वारा—जगदीश मित्तल, २१४, गगनमहल रोड, हैदराबाद।

कां० चं० सौ० — **कांतिचंद्र सौनरेक्सा**, बी० ए०, भूतपूर्व पी० सी० एस०, लेखक, चित्रकार तथा पत्रकार, सी० ४१२, रिवरबैंक कालोनी, लखनऊ।

का० ना० सिं० — **काशीनाथ सिंह**, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

का० प्र० — **कार्तिकप्रसाद**, बी० एस-सी०, सी० ई०, सुपरिटेंडिंग इंजीनियर, पी० डब्ल्यू० डी०, उत्तर प्रदेश, मेरठ।

का० बु० — **कामिल बुल्के**, एस० जे०, डी० फिल्०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट जेवियर्स कालेज, मनरेसा हाउस, राँची (बिहार)।

कृ० खं० डो० — **कृष्णराव खंडेराव डोले**, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, रसायनशास्त्र विभाग, फर्ग्युसन महाविद्यालय, पूना—४।

कृ० द० वा० — **कृष्णदत्त वाजपेयी**, एम० ए०, अध्यक्ष, प्राचीन *भारतीय इतिहास तथा पुरातत्व विभाग, सागर* विश्वविद्यालय, सागर।

कृ० दे० — **कृष्णदेव**, एम० ए०, अधीक्षक, पुरातत्व विभाग, भूपाल (म० प्र०)।

कृ० दे० उ० — **कृष्णदेव उपाध्याय**, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, ज्ञानपुर, वाराणसी।

कृ० मु० स० — **कृष्णमुरारी सक्सेना**, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, गणित विभाग, डी० एस० बी० गवर्नमेंट डिग्री कालेज, नैनीताल।

कृ० शं० मा० — **कृपाशंकर माथुर**, एम० ए०, पी-एच० डी०, (कैनबरा), लेक्चरर, नृतत्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

कृ० मो० गु० — **कृष्णमोहन गुप्त**, अध्यापक, टीचर्स ट्रेनिंग विभाग, हरिश्चंद्र डिग्री कालेज, वाराणसी।

कै० चं० मि० — **कैलाश चंद्र मिश्र**, एम० एस-सी०, बी० टी०, पी-एच० डी० (सैस्क), सहायक प्राध्यापक, वनस्पति-शास्त्र विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

कै० ना० श० — **कैलाशनाथ शर्मा**, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व रीडर, समाजशास्त्र, काशी विद्यापीठ, वाराणसी; नयागंज, कानपुर।

कै० ना० सिं० — **कैलाशनाथ सिंह**, बी० एस-सी०, एम० ए०, प्राध्यापक, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ख० अ० नि० — **खलीक अहमद निजामी**, एम० ए०, एल-एल० बी०, प्रो० इतिहास विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़; ३, इंगलिश हाउस, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

खु० चं० गो० — **खुशालचंद्र गोरावाला**, पुस्तकालयाध्यक्ष, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

ग० प्र० सिं० — **गणेशप्रसाद सिंह**, बी० एस-सी०, एल-एल० बी०, डी० एच० पी० ई० (ग्लासगो), प्राध्यापक, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

गि० प्र० गु० — **गिरिराज प्रसाद गुप्त**, एम० काम०, पी-एच० डी०, एफ० आर० ई० एस० (लंदन), अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन।

गि० शं० मि० — **गिरजाशंकर मिश्र**, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

गि० शं० सिं० — **गिरिजाशंकर सिंह**, एम० ए०, पत्रकार, शब्दकोश विभाग, ज्ञानमंडल, वाराणसी।

गु० कृ० स० — **गुप्तार कृष्ण सरवाही**, असिस्टेंट फिशरीज डेवलपमेंट ऑफिसर, उत्तरप्रदेश।

गु० नि० सिं० — **गुरुमुखनिहाल सिंह**, एम० एस-सी०, बार० ऐट-लॉ, भूतपूर्व गवर्नर, राजस्थान।

गु० बे० — **गुफ़रान बे**, पी-एच० डी० (मैनचेस्टर), प्रिंसिपल, स्कूल ऑव इंजीनियरिंग, पटना।

गो० अ० — **गोपीकृष्ण अरोड़ा**, एल-एल० एम०, सहायक प्रोफेसर, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

गो० क० — महामहोपाध्याय, गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी० लिट्० (भूतपूर्व अध्यक्ष, गवर्नमेंट संस्कृत कालेज), २ ए० सिगरा, वाराणसी।

गो० चं० शु० — गोपालचंद्र शुक्ल, एम० एस-सी०, लेक्चरर, गणित विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

गो० प्र० — (स्व०) गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), भूतपूर्व रीडर, गणित तथा ज्योतिष, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, भूतपूर्व विज्ञान संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

गो० व० पं० — गोविंदवल्लभ पंत, एम० ए०, एम० एस० (हार्वर्ड), ए० एम० आई० ई०, ए० एफ० आई० ए० एस०, एफ० बी० आई० एस०, अध्यक्ष, गणित विभाग, बिडला इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलोजी, मेसरा (बिहार)।

गौ० शं० ला० — गौरीशंकर लावनियाँ, एम० ए०, एम० एस-सी० (ए-जी०), पी-एच० डी०, रीडर, कृषि अर्थशास्त्र, ऐग्रिकल्चर कलिज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

चं० के० — चंद्रकांत केणी, गोयन इनफार्मेशन सेंटर, सन्निधि, राजघाट, दिल्ली।

चं० प्र० — चंद्रिकाप्रसाद, डी० फिल्० (ऑक्सफोर्ड), रीडर, गणित विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।

चं० ब० सिं० — चंद्रबली सिंह, एम० ए०, प्राध्यापक, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी; ४७।१ए०, रामापुरा, वाराणसी।

चं० भा० पां० — चंद्रभान पांडे, एम० ए०, पी-एच० डी०, भूतपूर्व लेक्चरर, पुरातत्वविभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

चं० म० — चंद्रचूड़ मणि, एम० ए०, लेखक एवं पुराविद्, भूतपूर्व लेक्चरर, इतिहास विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद, साहित्य सहायक, हिंदी विश्वकोश, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

ज० कि० — जयकिशन डी० एस-सी०, सी० ई० (ऑनर्स), पी-एच० डी० (लंदन), एम० आई० ई० (इंडिया), प्रोफेसर, रुड़की विश्वविद्यालय, रुडकी।

ज० चं० जै० — जगदीशचंद्र जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, रामनारायण रुइया कालेज, बंबई; शिवाजी पार्क, बंबई–२८।

ज० दे० सिं० — जयदेव सिंह, एम० ए० (दर्शन, संस्कृत), एल० टी०, चीफ प्रोड्यूसर (संगीत), आकाशवाणी भवन, पार्लमेंट स्ट्रीट, नई दिल्ली।

ज० ना० स० — जगदीशनारायण सक्सेना, डी० एस-सी०, एल-एल० एम०, लेक्चरर, विधि विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

ज० प्र० — जयप्रकाश, एम० ए०, रिसर्च स्कालर, लेक्चरर, भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, भारती महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ज० प्र० थ० — जगदंबाप्रसाद थपल्याल, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, रीडर, जुऑलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ज० मि० — जगदीश मित्तल, चित्रकार, २१४, गगनमहल रोड, हैदराबाद।

ज० मि० व्रे० — जगदीश मित्र व्रेहन, डेपुटी स्टैंडर्ड्स ऑफ़िसर, रोड्स विंग, ट्रैंसपोर्ट ऐंड कॉम्युनिकेशन मिनिस्ट्री, नई दिल्ली।

ज० रा० सिं० — जयराम सिंह, एम० एस-सी० (ए-जी०), पी० एच-डी०, लेक्चरर, कृषि महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ज० श० ग० — जगदीशशरण गर्ग, बी० एस-सी० (ए-जी०), एम० एस-सी० (ए-जी०), एम० ए० (अर्थशास्त्र), पी-एच० डी०, प्रॉडक्शन इकॉनोमिस्ट कम प्रोफेसर, राजकीय महाविद्यालय, कानपुर।

जि० कु० मि० — जितेंद्रकुमार मित्तल, बी० एस-सी०, एल-एल० बी०, सहायक प्राध्यापक, विधि विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

जो० ना० मि० — जोगेंद्रनाथ मिश्र, प्राध्यापक, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

तु० ना० सिं० — तुलसीनारायण सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

त्रि० पं० — त्रिलोचन पंत, एम० ए०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी; न्यू० ई० आर० क्वार्टर्स, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

द० श० — दशरथ शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्, रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय; नवीन बसंत, ई० ४।१, कृष्णनगर, दिल्ली–३१।

दे० रा० क० — देवराज कपूरिया, लेफ्टिनेंट कर्नल, बी० ई० (सिविल), ए० एम० आई० ई० (भारत), स्टाफ ऑफिसर ग्रेड-१ प्लैनिंग, चीफ़ इंजीनियर्स आफिस, १५ कोर, ४५६ ए० पी० ओ०, इंजीनियर्स ब्रांच।

ध० ना० व०, — धर्मेंद्रनाथ वर्मा, एम० एस-सी०, डी० फिल्०, फेलो, नेशनल ऐकाडमी ऑव सायंसेज, सहायक प्रोफेसर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

धी० चं० गां० — धीरेंद्रचंद्र गांगुली, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), भूतपूर्व प्रोफेसर, ढाका विश्वविद्यालय, सेक्रेटरी और क्यूरेटर, विक्टोरिया मेमोरियल, कलकत्ता–१६।

ध्व० प्र० सा० — ध्वजाप्रसाद साहू, अध्यक्ष, बिहार राज्य खादी ग्रामोद्योग मंडल, बोरिंग रोड, पटना।

न० अ० अ० — नजीरउद्दीन अकमल अय्यूबी, एम० ए०, पी-एच० डी०, सीनियर रिसर्च फेलो, इंस्टिट्यूट ऑव, इस्लामिक स्टडीज, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ।

न० कि० सिं० — नवलकिशोरप्रसाद सिंह, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

न० प्र० — नर्मदेश्वरप्रसाद, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

न० ला० — नन्हेलाल, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ना० गो० श० — (स्व०) नारायण गोविंद शब्दे, डी० एस-सी० (नागपुर), डी० एस-सी० (एडिनबरा), एफ० एन० ए० एस-सी०, एफ० आई० ए० एफ० सी०, भूतपूर्व गणित प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर, विदर्भ महाविद्यालय, अमरावती तथा सायंस कालेज, नागपुर, भूतपूर्व चेयरमैन, एस०एस० सी०, परीक्षा बोर्ड, पूना।

नि० सिं० निरंकार सिंह, बी० एम-सी०, सहायक संपादक (विज्ञान), हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

नृ० कु० सिं० नृपेंद्रकुमार सिंह, एम० एस-सी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प० उ० पद्मा उपाध्याय, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रिंसिपल, आर्य कन्या पाठशाला, इंटर कालेज, खुर्जा, बुलंदशहर।

प० ला० गु० परमेश्वरीलाल गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०, एफ० आर० एन० एस० (आन०), अवकाशप्राप्त निदेशक, पटना संग्रहालय, पटना; सहायक संपादक (मानविकी), हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

प० श० परमात्माशरण, एम० ए०, पी०-एच डी० (लंदन), एफ० आर० हिस्ट० एस०, फेलो ऑव द रॉयल हिस्टारिकल सोसाइटी, लंदन, रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; ६०।२६, रूपनगर, दिल्ली—६।

पू० चं० त्रि० पूर्णचंद्र त्रिपाठी, ज्योतिषाचार्य, ज्योतिषतीर्थ, भूतपूर्व राज्यज्योतिषी, डुमरांव राज्य (बिहार), नया घाट, वाराणसी।

प्र० कु० स० प्रमोदकुमार सक्सेना, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, अंग्रेजी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

प्र० चं० गु० प्रकाशचंद्र गुप्त, एम० ए०, लेक्चरर, अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

प्र० ला० भ० प्रभुलाल भटनागर, एम० एस-सी०, डी० फिल्० डी० एस-सी०, एफ० एन० आई०, एफ० ए० एस-सी०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, प्रयुक्त गणित, इंडियन इंस्टिट्यूट ऑव सायंसेज, बेंगलूर।

प्र० व० प्रमिला वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (मध्य प्रदेश)।

प्रो० अ० वा० प्रोफेसर प्योत्र अलेक्सीविच वारान्निकोव, ओरिएंटल इंस्टिट्यूट, एकेडेमी ऑव सायंसेज, फ्लैट १२४, एस०-पेरोवस्कायारोड, ४।२ लेनिनग्राद, डी० ८८, संयुक्त सोवियत राज्यसंघ।

पृ० पु० पृथ्वीनाथ पुष्प, एम० ए०, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट कालेज, पुंछ (कश्मीर), भूतपूर्व सहायक निदेशक, रिसर्च ऐंड पब्लिकेशंस डिपार्टमेंट, श्रीनगर (कश्मीर)।

फ० चं० औ० फकीरचंद्र औलक, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० एस-सी०, एफ० एन० आई०, प्रोफेसर ऑव फिजिक्स, फिजिक्स विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली—६।

फू० स० व० फूलदेवसहाय वर्मा, एम० एस-सी०, ए० आई० आई० एस-सी० (भूतपूर्व प्रोफेसर औद्योगिक रसायन एवं प्रिंसिपल, कालेज ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय; संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

वं० ध० त्रि० वंशीधर त्रिपाठी, एम० एस-सी०, प्राध्यापक, जियॉलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० उ० बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य, (भूतपूर्व रीडर, संस्कृत पालि विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी), अध्यक्ष, पुराणेतिहास विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० सिं० बच्चन सिंह, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बृ० मो० सा० बृजमोहनलाल साहनी, एम० ए०, भूतपूर्व प्राध्यापक, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी; डी० ५३।९० जी०, नारायणनगर, लक्सा, वाराणसी।

बै० पु० बैजनाथ पुरी, एम० ए०, बी० लिट्० (ऑक्सन), डी० फिल्० (ऑक्सन), प्रोफेसर, भारतीय इतिहास और संस्कृति, नैशनल एकेडमी ऑव ऐडमिनिस्ट्रेशन, मसूरी।

ब्र० श० ब्रजकिशोर शर्मा, एल-एल० एम०, प्राध्यापक, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

भ० दा० व०* भगवानदास वर्मा, बी० एस-सी०, एल० टी०, भूतपूर्व अध्यापक, डेली (चीफ्स) कालेज, इंदौर; भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रॉनिकिल; विज्ञान तथा साहित्य सहायक, हिंदी विश्वकोश, वाराणसी।

भ० प्र० श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, एसोशिएट प्रोफेसर, भौतिकी, धर्म समाज कालेज, अलीगढ़।

भ० श० उ० भगवतशरण उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल्०, संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भ० स्व० च० भगवतस्वरूप चतुर्वेदी, कमांडेंट जनरल, होमगार्ड्स, ऐंड पी० आर० डी०, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

भा० स० भाऊ समर्थ, जे० डी० स्कूल ऑव आर्ट्स (बंबई); चित्रकार, गोयनका उद्यान, सोनेगांव, नागपुर—५।

भा० गो० घा० भास्कर गोविंद घाणेकर, आयुर्वेदाचार्य, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, १४३९, शुक्रवार पेठ, पूना—२।

भी० गो० दे० भीमराव गोपाल देशपांडे, एम० ए०, प्रवक्ता, मराठी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी; बी० २१।२४, कमच्छा, वाराणसी।

भू० कां० रा० भूपेंद्रकांत राय, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भो० ना० (स्व०) भोलानाथ, एम० बी० बी० एस०, मंत्री, काशी कुष्ठ निवारण समिति, सारनाथ, वाराणसी।

भो० ना० ति० भोलानाथ तिवारी, एम० ए०, डी० लिट्०, तेहरान विश्वविद्यालय, तेहरान।

भो० शं० व्या० भोलाशंकर व्यास, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मं० चं० जै० का० मंगलचंद्र जैन कागजी, एल-एल० एम०, लेक्चरर, विधि विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

मं० ना० सिं० मंगलनाथ सिंह, एम० ए०, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

म० ना० गु० मन्मथनाथ गुप्त, संपादक, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पुराना सचिवालय, दिल्ली; १९०, टैगोर पार्क हाउस, दिल्ली—८।

म० ना० मे० महाराजनारायण मेहरोत्रा, एम० ए०, लेक्चरर, जियॉलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म० म० गो०　**मदनमोहन मनोहरलाल गोयल**, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (बंबई), एफ० ज़ेड० एस० (लंदन), एफ० आर० एम० एस०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान, बरेली कालेज, बरेली।

म० ला० थ्रा०　**महादेवलाल थ्राफ**, ए० बी० ग्रानर्स (कारनेल), एम० एस० (एम० आइ० टी०), एफ० आइ० सी०, ५४, गरियाहाट रोड, कलकत्ता–१९।

मि० चं० पां०　**मिथिलेश चंद्र पांड्या**, एम० ए०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, दिल्ली कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

मु० ला० श्री०　**मुरलीधरलाल श्रीवास्तव**, डी० एस-सी०, एफ० एन० ए० एम-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

मु० स्व० व०　**मुकुंदस्वरूप वर्मा**, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, भूतपूर्व चीफ मेडिकल ऑफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मो० अ० अ०　**मोहम्मद अजहर असगर अंसारी**, एम० ए०, डी० फिल्०, प्रोफेसर, आधुनिक भारतीय इतिहास, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, गुलगश्त, ५१, अशोक नगर, इलाहाबाद।

मो० या०　**मोहम्मद यासीन**, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

मो० ह०　**मोहम्मद हबीब**, बी० ए० (ऑक्सन), डी० लिट्०, भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहास एवं राजनीति विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, बदरबाग, अलीगढ़।

य० रा० मे०　**यशवंतराम मेहता**, एम० एस-सी०, पी०-एच डी०, (यू० एस० ए०), ऐसोशिएट आइ० ए० आर० आई०, इकॉनोमिक बोटैनिस्ट, उत्तर प्रदेश, कानपुर।

र० कु०　**(श्रीमती) रत्नकुमारी**, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रधानाचार्य, आर्य कन्या पाठशाला इंटरमीडिएट कालेज, इलाहाबाद।

र० चं० क०　**रमेशचंद्र कपूर**, डी० एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

र० जै०　**रवींद्रकुमार जैन**,, एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

र० स० ज़०　**रजिया सज्जाद ज़हीर**, एम० ए०, भूतपूर्व लेक्चरर, उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, वज़ीर मंजिल, वज़ीरहसन रोड, लखनऊ।

रा० अ०　**राजेंद्र अवस्थी**, एम० ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० अ० द्वि०　**रामअवध द्विवेदी**, एम० ए०, डी० लिट्०, भूतपूर्व प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रिंसिपल, संत विनोबा कालेज, देवरिया।

रा० कु० श्री०　**राजेंद्रकुमार श्रीवास्तव**, एम० ए०, एम० एड०, अध्यक्ष, शिक्षा विभाग, शिया डिग्री कालेज, लखनऊ, २३२, मोतीनगर, लखनऊ।

रा० कु०　**रामकुमार**, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, रीडर, गणित विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।

रा० चं० पां०　**रामचंद्र पांडेय**, व्याकरणाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, बौद्धदर्शन और धर्मविभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

रा० चं० शु०　**रामचंद्र शुक्ल**, एम० ए०, पी० डिप्०, प्राध्यापक टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० चं० सि०　**रामचंद्र सिन्हा**, जिऑलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० द० शा०　**राजेश्वरदत्त मिश्र शास्त्री**, आयुर्वेद शास्त्राचार्य, (व० हिं० यू०), भूतपूर्व प्रिंसिपल, आयुर्वेद कालेज, प्रोफेसर ऐंड हेड ऑव द डिपार्टमेंट ऑव आयुर्वेद, कालेज ऑव मेडिकल सायंसेज तथा डाइरेक्टर ऑव मेडिकल रिसर्च, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० दा० ति०　**रामदास तिवारी**, एम० एस-सी०, डी० फिल्० सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

रा० द्वि०　**रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'**, एम० ए०, आनर्स, ३२१, ऐशबाग कालोनी, लखनऊ।

रा० ना०　**राजेंद्र नागर**, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० ना० मा०　**राधिकानारायण माथुर**, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० ना० टं०　**आर० एन० टंडन**, बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०, एम० आर० सी० पी० (एडिन०), टी० डी० डी० (वेल्स), डी० एम० आर० ई० (कैंब्रिज), प्रोफेसर तथा फिजीशियन, डिपार्टमेंट ऑव ट्यूबर्कुलोसिस, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

रा० प्र० श्री०　**राजेंद्रप्रसाद श्रीवास्तव**, एम० एस-सी० (कृषि), एफ० आर० एच० एस०, कृषि कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० प्र० स०　**राजेंद्रप्रसाद सक्सेना**, बी० एस-सी० (कृषि-इंजिनियरिंग), एम० ई० एस० ए० ई०, एम० ए० एस० ए० ई०, असिस्टेंट ऐग्रिकल्चरल इंजीनियर, राजकीय वर्कशाप, तालकटोरा रोड, लखनऊ।

रा० प्र० सिं०　**राजेंद्रप्रसाद सिंह**, एम० ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, तिलकधारी डिग्री कालेज, जौनपुर।

रा० र०　**रामरक्षपाल**, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लखनऊ), पी-एच० डी० (मैकगिल), रीडर, जुऑलोजी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

रा० र० अ०　**राधारमण अग्रवाल**, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, कृषि निदेशक, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

रा० रा० शा०　**राजाराम शास्त्री**, एम० ए०, प्रिंसिपल, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

रा० लुं०　**राममूर्ति लुंबा**, एम० ए०, एल-एल० बी०, प्राध्यापक, मनोविज्ञान तथा दर्शन विभाग, लखनऊ, विश्वविद्यालय, बादशाहबाग, लखनऊ।

रा० लो० सिं०　**रामलोचन सिंह**, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० व०　**रामचंद्र वर्मा**, पद्मश्री, कोशकार, लाजपतनगर, वाराणसी।

रा० शं० भ०　**रामशंकर भट्टाचार्य**, एम० ए०, पी-एच० डी०, ३।१५१, शिवाला, वाराणसी।

रा० शं० मि० — रामशंकर मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, भारतीय दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० शं० व० — रामशंकर वर्मा, डी० एस-सी०, एफ० एन० आई०, एफ० ए० एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, गणित तथा सांख्यिकी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, भूतपूर्व डाइरेक्टर, डिफेंस सायंसेज लेबॉरेटरी, दिल्ली।

ल० कां० त्रि० — लक्ष्मीकांत त्रिपाठी, एम० ए०, लेक्चरर, पुरातत्व विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ल० सा० वा० — लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट्०, लेक्चरर, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

ला० सिं० — लालजी सिंह, एम० ए०, आकाशवाणी, लखनऊ।

वा० — वाचस्पति, पी-एच० डी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, फिजिक्स विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की, उ० प्र०।

वा० श० अ० — वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, अध्यक्ष, ललितकला तथा वास्तु विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० — विश्वनाथ, एम० ए०, व्यवस्थापक, राजपाल ऐंड संस, प्रकाशक, काश्मीरी गेट, दिल्ली।

वि० च० — विद्याधर चतुर्वेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, ऐडवोकेट, सिविल लाइंस, मॅरिस रोड, अलीगढ़।

वि० त्रि० — विश्वनाथ त्रिपाठी, साहित्याचार्य, भूतपूर्व संपादक साप्ताहिक सन्मार्ग एवं सहायक संपादक बृहत् हिंदी शब्दसागर, व्यवस्थापक, राष्ट्रभाषा मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

वि० पा० — विशुद्धानंद पाठक, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० प्र० — विनोदप्रसाद, एम० बी० बी० एस०, डी० एम० आर० ई०, रेडियॉलोजिस्ट, कालेज ऑव मेडिकल सायंसेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० प्र० गु० — विश्वंभरप्रसाद गुप्त, एक्जिक्यूटिव इंजीनियर (रेट्स), सेंट्रल जोन, सेंट्रल पी० डब्ल्यू० डी०, एल० बैरेक्स, नई दिल्ली।

वि० प्र० सिं० — विजयप्रताप सिंह, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, वनस्पति विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

वि० भा० शु० — विद्याभास्कर शुक्ल, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, एफ० बी० एस०, एफ० पी० एस०, एफ० जी० एस० आई०, प्रिंसिपल, कालेज ऑव सायंस, रायपुर (म० प्र०)।

वि० रा० — विक्रमादित्य राय, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

विं० वा० प्र० — विंध्यवासिनी प्रसाद, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० श० पा० — विश्वंभरशरण पाठक, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० सा० दु० या वि० सा० दू० — विद्यासागर दुवे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, (लंदन), भूतपूर्व प्रोफेसर, जिऑलॉजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय; कंसल्टिंग, जिऑलॉजिस्ट ऐंड माइंस ओनर, गणेशबाग, लंका, वाराणसी।

शं० ना० वा० — शंभुनाथ वाजपेयी, सहायक मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

श० स० — शकुंतला सक्सेना, एम० ए०, एम० एड्०, पी-एच० डी०, प्रधानाचार्या, ..डेल मांटेसरी स्कूल; ३८, कैंटूनमेंट रोड, लखनऊ।

शां० ला० का० — शांतिलाल कायस्थ, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शि० गो० मि० — शिवगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, डी० फिल्०, साहित्यरत्न, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

शि० ना० ख० — शिवनाथ खन्ना, एम० बी० बी० एस०, डी० पी० एच०, आयुर्वेदरत्न, लेक्चरर, सोशल तथा प्रिवेंटिव मेडिसिन विभाग, कालेज ऑव मेडिकल सायंसेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शि० मं० सिं० — शिवमंगल सिंह, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शि० मो० व० — शिवमोहन वर्मा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शि० शं० रा० — शिवशंकर राम, बी० ए०, एल-एल० बी०, शिक्षक, १८, हैमिल्टन रोड, लखनऊ।

शी० प्र० सिं० — शीतलाप्रसाद सिंह, एम० ए०, प्राध्यापक रणवीर रणंजय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अमेठी, सुलतानपुर (उ० प्र०)।

शौ० ले० स्ते० — लियो स्तेस्फान शौम्यान, (लि० स्ते० शौ०) प्रधान संपादक, बृहत् सोवियत विश्वकोश, मास्को।

श्या० ति० — श्याम तिवारी, एम० ए०, रिसर्च स्कालर, (भूतपूर्व संपादक, 'गांधियन युग', 'परिवार' एवं सहायक संपादक उत्कल प्रांतीय राष्ट्रभाषा रजत जयंती ग्रंथ और बृहत् हिंदी शब्दसागर), संपादक सहायक, हिंदी विश्वकोश।

श्या० दु० — श्यामाचरण दुबे, एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यक्ष, नृतत्वशास्त्र विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

सं० ब० सिं० — संतबहादुर सिंह, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (कैंटब), रिटायर्ड डायरेक्टर ऑव ऐग्रिकल्चर, उत्तर प्रदेश; भूतपूर्व ऐग्रिकल्चरल कमिश्नर, गवर्नमेंट ऑव इंडिया एवं ऐग्रिकल्चरल ऐडवाइजर, उत्तर प्रदेश शासन; सोहना कृषि फार्म, बस्ती।

सं० सिं० — संत सिंह, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, रीडर, ऐग्रिकल्चरल केमिस्ट्री, ऐग्रिकल्चरल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

स० — सर्वदानंद, प्रबंध संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी; बी० ११५, गुलाबबाग, वाराणसी।

सत्य प्र० — सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०, एफ० ए० एस-सी०, रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

सद्० सद्गोपाल, डी० एस-सी०, एफ० आइ० आइ० सी०, एफ० आइ० सी०, उपनिदेशक (रसायन), भारतीय मानक संस्था, मानक भवन, ९ मथुरा रोड, नई दिल्ली।

स० ना० प्र० सत्यनारायण प्रसाद, एम० एस-सी०, डी० फिल्०, एफ० एन० ए० एस-सी०, एफ० ए० जेड०, सहायक प्रोफेसर, प्राणिविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

स० प्र० मि० सत्यप्रकाश मित्तल शास्त्री, भूतपूर्व प्राध्यापक, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

स० व० सत्येंद्र वर्मा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन), टेक्नॉलॉजिस्ट, डिपार्टमेंट ऑव प्लैनिंग ऐंड डेवलपमेंट, फर्टिलाइजर्स कॉरपोरेशन ऑव इंडिया, सिंद्री (बिहार)।

स० वि० सत्यदेव विद्यालंकार, पत्रकार, ४० ए०, हनुमान-लेन, नई दिल्ली।

सा० जा० सावित्री जायसवाल (कुमारी), एम० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति विभाग, काशी हिंदू विश्व-विद्यालय, वाराणसी।

सी० बा० जो० सीताराम बालकृष्ण जोशी, इंजीनियर, जोशीवाड़ी, मनमाला टैंक रोड, माहीम, बंबई।

सी० रा० जा० सीताराम जायसवाल, एम० एड्०, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, शिक्षाविभाग, लखनऊ विश्व-विद्यालय, लखनऊ।

सु० चं० गौ० सुरेशचंद्र गौड़, एम० एस-सी०, बी० एड०, रिसर्च स्कालर, ८४-८५ पुराना बैरहना, इलाहाबाद।

सु० पां० सुधाकर पांडेय, संसद सदस्य; प्रधान मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

सु० सिं० सुरेश सिंह, कुँअर, एम० एल० सी०, कालाकाँकर, प्रतापगढ़ (उ० प्र०)।

सै० अ० अ० रि० सैयद अतहर अब्बास रिजवी, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० नजरबाग, छावनी मार्ग, लखनऊ।

स्व० रं० रा० स्वदेशरंजन राय, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, गणित विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ह० चं० गु० हरिश्चंद्र गुप्त, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, (आगरा), पी-एच० डी० (मैंचेस्टर), रीडर, गणित सांख्यिकी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

ह० दे० बा० हरदेव बाहरी, एम० ए०, एम० ओ० एल०, शास्त्री, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, रीडर, हिंदी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

ह० सिं० रा० हरकरण सिंह राणा, एम० ए० (अर्थशास्त्र), पी-एच० डी० (कामर्स), स्टेट ऐग्रिकल्चरल मार्केटिंग ऑफिसर (उत्तर प्रदेश), लखनऊ।

हि० हिरण्मय, एम० ए०, पी-एच० डी०, रीडर, हिंदी विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर।

ही० ना० मु० हीरेंद्रनाथ मुखोपाध्याय, एम० ए०, डी० लिट्० बार ऐट लॉ, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, सुरेंद्रनाथ कालेज, कलकत्ता, सदस्य, लोकसभा, नई दिल्ली; १४ इंडियन मिरर स्ट्रीट, कलकत्ता; १२५, नार्थ ऐवेन्यू, नई दिल्ली।

संकेताक्षर

अ०	अक्षांश; अध्याय
अ० कां०	अरण्य कांड (रामायण)
अथर्व०	अथर्ववेद
अधि०	अधिकरण
अयो०	अयोध्याकांड (रामायण)
आदि०	आदि पर्व (महाभारत)
आप० घ०	आपेक्षिक घनत्व
आय०	आयतन
आर्क० स० रि०	रिपोर्ट ऑव दि आर्केयालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया
ई०	ईसवी
ई० पू०	ईसा पूर्व
उ०	उत्तर
उद्यो०	उद्योग पर्व (महाभारत)
ए० आई० आर०	ऑल इंडिया रिपोर्टर
ए० इं०; एपि० इं०	एपिग्राफिया इंडिका
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
क० प०; कर्ण०	कर्ण पर्व (महाभारत)
काम०	कामंदकीय नीतिसार; कामशास्त्र
कि० ग्राम	किलोग्राम
कि० मी०	किलोमीटर
कु० सं०	कुमारसंभव
क्व०	क्वथनांक
डॉ०	डॉक्टर
तैत्ति०	तैत्तिरीय
द०	दक्षिण
दी० नि०	दीघनिकाय
दे०	देखिए; देशांतर
प०	पश्चिम
पू०	पूर्व
प्रक०	प्रकरण
फा०	फारेनहाइट
बा०	बालकांड (रामायण)
ब्रा०	ब्राह्मण
मनु०	मनुस्मृति
म० भा०; महा०	महाभारत
मिमी०	मिलीमीटर
याज्ञ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
रामा०	रामायण
ल०	लगभग
लि०	लिटर
वन०	वनपर्व (महाभारत)
श०, शत०	शतपथ ब्राह्मण
शल्य०	शल्यपर्व
सं०	संख्या, संपादक, संस्करण, संस्कृत, संहिता
सं० ग्रं०	संदर्भ ग्रंथ
स० ग० स०	सेंटिग्रेड, ग्राम, सेकंड पद्धति
स० प०; सभा०	सभा पर्व (महाभारत)
सें०	सेंटीग्रेड
सेंमी०	सेंटीमीटर
हि०	हिजरी; हिमांक

तत्वों की संकेत सूची

संकेत	तत्व का नाम	संकेत	तत्व का नाम	संकेत	तत्व का नाम
Am	अमरीशियम	Tc	टेकनीशियम	Mg	मैग्नीशियम
En	आइन्स्टियम	Te	टेल्यूरियम	Mo	मोलिब्डीनम
O	ऑक्सिजन	Ta	टैंटेलम	Zn	यशद
I	आयोडीन	Dy	डिस्प्रोशियम	U	यूरेनियम
A	आर्गन	Cu	ताम्र	Eu	यूरोपियम
As	आर्सेनिक	Tm	थूलियम	Ag	रजत
Os	ऑस्मियम	Tl	थैलियम	Ru	रुथेनियम
In	इंडियम	Th	थोरियम	Rb	रुबीडियम
Yb	इटर्वियम	N	नाइट्रोजन	Rn	रेडन
Y	इट्रियम	Nb	नियोबियम	Ra	रेडियम
Ir	इरीडियम	Ni	निकल	Re	रेनियम
Eb	एर्वियम	Ne	नीऑन	Rh	रोडियम
Sb	ऐंटिमनी	Np	नेप्च्यूनियम	Li	लिथियम
Ac	ऐक्टिनियम	Nd	न्योडियम	La	लैंथनम
Al	ऐल्यूमिनियम	Hg	पारद	Fe	लोह
At	ऐस्टैटीन	Pd	पैलेडियम	Lu	ल्यूटीशियम
C	कार्बन	K	पोटासियम	Sn	वंग
Cd	कैडमियम	Po	पोलोनियम	V	वैनेडियम
Cf	कैलिफोर्नियम	Pr	प्रेज़ीओडिमियम	Sm	समेरियम
Ca	कैल्सियम	Pa	प्रोटोऐक्टिनियम	Si	सिलिकन
Co	कोबल्ट	Pm	प्रोमीथियम	Se	सिलीनियम
Cm	क्यूरियम	Pu	प्लूटोनियम	Cs	सीज़ियम
Kr	क्रिप्टान	Pt	प्लैटिनम	Ce	सीरियम
Cr	क्रोमियम	P	फास्फोरस	Pb	सीस
Cl	क्लोरीन	Fr	फ्रांसियम	Ct	सेंटियम
S	गंधक	F	फ्लोरीन	Na	सोडियम
Gl	गैडोलिनियम	Bk	बर्केलियम	Sc	स्कैंडियम
Ga	गैलियम	Bi	बिस्मथ	Sr	स्ट्रौंशियम
Zr	जर्कोनियम	Ba	बेरियम	Au	स्वर्ण
Ge	जर्मेनियम	Be	बेरिलियम	H	हाइड्रोजन
Xe	ज़ीनान	B	बोरन	He	हीलियम
W	टंगस्टन	Br	ब्रोमीन	Hf	हैफनियम
Tb	टर्बियम	Mn	मैंगनीज	Ho	होलमियम
Ti	टाइटेनियम				

फलक सूची

महात्मा मोहनदास करमचंद गांधी

श्रीमती इंदिरा गांधी

हिंदी विश्वकोश

खंड ३

किंग, मार्टिन लूथर (१९२९-१९६८)। अमरीका के अश्वेत (नीग्रो) आंदोलनके प्रमुख नेता। इनका जन्म १५ जनवरी १९२९ को अटलांटा (जार्जिया, दक्षिण अमरीका) में हुआ था। पिता, पितामह वैप्टिस्ट संप्रदाय पादरी थे। बपतिस्मा के समय इनका नाम माइकेल रखा गया। ६ वर्ष की अवस्था में ही इन्हें अपने देश में फैले हुए श्वेत-अश्वेत के बीच भेदभाव का एक कटु अनुभव हुआ और उससे वे विचलित हो उठे थे। तब उनके पिता ने उन्हें प्रोटेस्टेंट संप्रदाय के संस्थापक मार्टिन लूथर की जीवन गाथा सुनाई और कहा—'आज से तुम्हारा और मेरा दोनों का नाम मार्टिन लूथर किंग होगा।' इस नये नामकरण ने कदाचित् उनके मस्तिष्क में मार्टिन लूथर की मूर्ति को सदा के लिये प्रतिष्ठित कर दिया और वे उनसे आजीवन प्रेरणा लेते रहे। १५ वर्ष की अवस्था में, जब वे अपने ही नगर के मोर कालेज के विद्यार्थी थे, उन्हें हेनरी डेविड थोरो की 'सविनय अवज्ञा' पढ़ने को मिली। उसका भी उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। और 'हिंसाका उत्तर हिंसा' नहीं है, इस बात में उनका विश्वास बढ़ गया। फलत: एक बार जब एक दुष्ट विद्यार्थी ने इन्हें पीटा और धक्का देकर सीढ़ी से नीचे गिरा दिया तब इन्होंने उसे पीटने से स्पष्ट इनकार कर दिया।

बॉस्टन विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने के बाद इन्होने कोरेट्टा स्काट नामक महिला से विवाह किया और एलबामा राज्य के मांटगोमरी नामक नगर में पादरी बन गए। इस राज्य में अश्वेत (नीग्रो) लोगों के प्रति श्वेत लोगों के मन में तीव्र घृणा थी। वहाँ गोरे लोगों के हाथों नीग्रो लोगों के अपमानित होने, मारे पीटे जाने और दंडित किए जाने की घटनाएँ प्रायः हुआ करती थीं। मांटगोमरी में रहते उन्हें एक वर्ष भी नहीं हुआ था कि एक ऐसी ही साधारण सी घटना ने उनके जीवन की दिशा बदल दी। वहाँ शहर के बसों में अश्वेत पीछे और गोरे आगे बैठा करते थे। एक दिन एक बस में एक नीग्रो स्त्री को पीछे जगह नहीं मिली अत: वह खड़ी रही। जब उसकी टाँगें बेहद दुखने लगीं तो वह गोरों के लिये सुरक्षित एक सीट पर बैठ गयी। इस अपराध के लिये उस स्त्री पर दस डालर जुर्माना हुआ। इस घटना से किंग बहुत क्षुभित हुए और एलबामा की नीग्रो जनता को संघटित कर बस का बहिष्कार आरंभ कर दिया। उनका यह बहिष्कार आंदोलन इतना सफल रहा कि साल भर में ही बस सेवा संचालन व्यवस्था की बधिया बैठ गई। अधिकारियों को झुकना पड़ा। अमरीका की सर्वोच्च न्यायालय को भी बस यात्रा में भेदभाव किए जाने पर प्रतिबंध लगाना पड़ा।

अब उन्होंने रंगभेद के गढ़ बर्मिंगहम नामक स्थान को अपने आंदोलन का केंद्र बनाया। इस आंदोलन के कारण जब वे गिरफ्तार किए गए तो उसके विरोध में अमेरीका के लगभग ८०० नगरों में प्रदर्शन और सत्याग्रह हुए और तैंतीस हजार अश्वेत लोग गिरफ्तार किए गए। उनके इस आंदोलन का उस समय अनेक पादरियों ने विरोध किया और उनपर उतावलेपन का आरोप लगाया किंतु उत्तर में उन्होने जेल से जो लंबा पत्र लिखा उसे लोगों ने अश्वेत आंदोलन की प्रामाणिक शास्त्रीय व्याख्या का नाम दिया है। उसका ऐतिहासिक महत्व माना जाता है।

इसके बाद धरनों, शांतिमय प्रदर्शनों, शिक्षा कार्यक्रमों, नीग्रो उत्थान अभियानों का क्रम चल पड़ा। १९६३ में 'वाशिंगटन चलो' अभियान और १९६५ में मतदाता पंजीकरण आंदोलन (५० मील की पदयात्रा) उल्लेखनीय है। इन आंदोलनों और उनके प्रति दृढ़ विश्वास और ईमानदारी के फलस्वरूप उन्हें पंद्रह बार जेल में बंद किया गया; समय समय पर गोरों का कोपभाजन बनना पड़ा; तीन बार उन्हें बुरी तरह मारा पीटा गया। शिकागो में उन पर एक बार पत्थर फेंके गए। १९५६ में उनके घर पर बम फेंका गया। कुछ दिनों बाद छुरा भोंककर मारने का प्रयास हुआ।

किंग जातीय भेदभाव और संकुचित मनोवृत्तियों से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र की एकता और समानता के लिये सतत प्रयत्न करनेवाले शांतिवादी महामानव थे। उनका दर्शन महात्मा गांधी के अहिंसात्मक सत्याग्रह का दर्शन था। उनका कहना था—"नैतिक उपायों द्वारा सत्यतापूर्ण लक्ष्यों की प्राप्ति का अथक प्रयास ही अहिंसा है। अहिंसा के सिद्धांत के अनुसार, किसी भी व्यक्ति को अधिकार नहीं है कि वह अपने विरोधी को दुःख दे। अगर आपको कोई मारे तो आप उलटकर उस पर हमला न करें। आपको तो उन ऊँचाइयों पर पहुचना है कि आप बिना बदले की भावना के गहरे से गहरे आघात सह सकें। धीरे धीरे आप एक ऐसे बिंदु पर पहुँच जाएँगे जहाँ पर आप अपने शत्रु से भी घृणा नहीं कर सकेंगे। फिर ऐसा भी बिंदु आएगा जब आप अपने शत्रु से प्रेम करने लगेंगे।"

इस मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण १९५६ ई० में ही उनकी गणना विश्व की दस महान् विभूतियों में की जाने लगी थी। १९६३ ई० में 'टाइम' पत्रिका ने उन्हें 'महत्तम व्यक्ति' का पुरस्कार प्रदान किया और १९६४ ई० में उन्हें शांति का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

८ अप्रैल १९६८ ई० को कूड़ा उठानेवालों की हड़ताल के समर्थन में शांतिमय आंदोलन करते समय मेंफिस में (जहाँ के ४० प्रतिशत निवासी नीग्रो हैं) एक गोरे की गोली से उनका जीवन समाप्त हो गया। मृत्यु के उपरांत भारत ने उन्हें नेहरू पुरस्कार प्रदान किया।

(मु०; प० ला० गु०)

किंग लियर शेक्सपियर का इंगलैंड के प्राचीन इतिहास से संबंधित एक दुःखांत नाटक। इसका प्रथम अभिनय सन् १६०६ ई० तथा प्रथम प्रकाशन सन् १६०८ ई० में हुआ। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है—

प्राचीन समय में किंग लियर इंग्लैंड का राजा था। वह स्वभाव से क्रोधी एवं विवेकरहित था। वृद्धावस्था के कारण अपना राज्य अपनी पुत्रियों को देकर वह चिंतामुक्त जीवन व्यतीत करना चाहता था। अतएव अपनी तीनों पुत्रियों—गोनेरिल, रीगन और कारडीलिया—को बुलाया और उनसे पूछा कि वे उसे कितना प्यार करती हैं। गोनेरिल का विवाह ड्यूक ऑव एलबेनी से और रीगन का ड्यूक ऑव कार्नवाल से हो चुका था तथा ड्यूक ऑव बरगंडी और फ्रांस का राजा दोनों ही कारडीलिया से परिणय के इच्छुक थे। गोनेरिल एवं रीगन ने पिता के प्रति अपना असीम स्नेह खूब बढ़ा चढ़ाकर प्रकट किया, किंतु कारडीलिया ने इने गिने शब्दों में कहा कि वह अपने पिता को उतना ही प्यार करती है जितना उचित है, न कम, न अधिक। इस उत्तर से रुष्ट होकर किंग लियर ने कारडीलिया को तीसरा भाग न देकर अपने राज्य को गोनेरिल और रीगन में बराबर भागों में बाँट दिया। गोनेरिल और रीगन ने लियर एवं उनके साथियों तथा उनके सौ सामंतों को बारी-बारी से अपने साथ रखने का वचन दिया। राज्य का अंश न मिलने पर कारडीलिया फ्रांस के राजा के साथ देश से बाहर चली गई। लियर अपने साथियों सहित क्रमशः गोनेरिल और रीगन के पास रहने के लिये गया, किंतु दोनों ने अपने वृद्ध पिता के प्रति अत्यंत कठो

और स्वार्थपूर्ण व्यवहार किया। फलतः लियर तीव्र मानसिक आवेग की अवस्था में आँधी और वर्षा का प्रकोप झेलते हुए व्यग्र होकर इधर उधर भटकने लगा और अंत में विक्षिप्त हो गया। इन सभी अवस्थाओं में उसके स्नेही अनुचर अर्ल ऑव केंट और उनके विदूषक उसको निरंतर सांत्वना और सहायता प्रदान करते रहे।

अर्ल ऑव ग्लस्टर के निवासस्थान पर रीगन और ड्यूक ऑव कार्नवाल से क्षिप्त लियर की भेंट हुई। ग्लस्टर अत्यंत सहृदय था उसने लियर के प्रति पुत्रियों द्वारा किए गए दुर्व्यवहार की भर्त्सना की। इससे अप्रसन्न होकर कार्नवाल ने उसकी दोनों आँखें निकलवा लीं। नेत्रहीन ग्लस्टर की सहायता उसके पुत्र एडगर ने की। अपने पिता को लेकर वह छद्म वेष में विभिन्न स्थानों पर घूमता रहा। ग्लस्टर के जारज पुत्र एडमंड ने जो स्वभाव से ही नीच एवं कुचक्री था, अपने पिता के मन में सरल एवं उदार एडगर के प्रति गंभीर संदेह उत्पन्न कर दिया। गोनेरिल और रीगन दोनों को एडमंड को प्यार करती थीं इसी कारण अंत में दोनों की मृत्यु भी हुई। गोनेरिल ने ईर्ष्यावश रीगन को विषपान कराया और स्वयं आत्महत्या कर ली। नेत्रहीन ग्लस्टर और विक्षिप्त लियर इधर उधर भटकते रहे। इसी बीच कारडीलिया फ्रांसीसी सेना के साथ अपने पिता की सहायता के लिये इंग्लैंड आई। कारडीलिया और लियर का मिलन हुआ। चिकित्सा और पुत्री की स्नेहपूर्ण परिचर्या के फलस्वरूप लियर का मानसिक संतुलन कुछ ठीक हुआ। किंतु दुर्भाग्यवश युद्ध में फ्रांसीसी सेना पराजित हुई और एडमंड ने लियर और कारडीलिया को कारावास में डाल दिया। कारडीलिया को फाँसी दे दी गई और दुःख के कारण लियर की मृत्यु हो गई। एडगर और एडमंड के द्वंद्व में एडमंड की भी मृत्यु हुई और अंत में राज्य पर ड्यूक ऑव एलबेनी का अधिकार हुआ जिसने सज्जन होने के कारण अपनी पत्नी गोनेरिल के दुष्कृत्यों का कभी समर्थन नहीं किया था।

इस कृति में दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का घोर संघर्ष व्यक्त किया गया है। इस नाटक से करुणा और भय की तीव्र अनुभूति होती है। काव्यात्मक प्रभाव के लिये यह अनुपम है। (रा० अ० द्वि०)

किंगो, थामस (१६३४–१७०३ ई०)। डेनमार्क का विख्यात लिरिक कवि। उसने अपने देश की तत्कालीन काव्यधारा के अनुरूप डेनिश भाषा में भक्तिपरक गीतों की रचना की थी जो आज भी डेनमार्क के लोक गिरजाघरों में प्रार्थना के समय गाए जाते हैं। (प० ला० गु०)

किंग्स्टन १. जमैका की राजधानी, प्रमुख नगर तथा सामुद्रिक पत्तन (स्थिति १८° १' उ० अ० तथा ७६° ४८' प० दे०)। यह देश के दक्षिण-पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित है। सन् १६९२ तथा १९०७ में भूकंप के कारण इस नगर की अपार क्षति हुई थी किंतु अब इसका प्रचुर विकास हो गया है। पश्चिमी द्वीपसमूह का प्रमुख पत्तन होने के कारण इधर से आनेवाले अधिकांश जहाज यहाँ ठहरते हैं। यहाँ से कहवा, चीनी, नारियल तथा केले आदि का प्रचुर निर्यात होता है। नगर का कुल क्षेत्रफल आठ वर्गमील है। इसके अधिकांश निवासी हब्शी हैं।

२. कैनाडा के आंटेरियो प्रांत का एक नगर तथा सामुद्रिक पत्तन जो आंटेरियो झील के पूर्वी किनारे कैटाराकुल नदी के मुहाने पर मांट्रियाल से १७५ मील पर स्थित है। (स्थिति ४४° १५' उ० अ० तथा ७८° ३५' प० दे०)। इस नगर का निर्माण फोर्ट फ्रांटेनाक की भूमि पर सीमांत चौकी के रूप में निर्मित किया गया था। इसका नामकरण जार्ज तृतीय के नाम पर हुआ है। सन् १८४१ से १८४४ तक यह कैनाडा की राजधानी था। कैनेडियन नेशनल रेलवे के प्रमुख मार्ग पर मांट्रियाल एवं टोरंटो के मध्य यह एक बड़ा रेलवे स्टेशन है और कैनेडियन पैसिफिक रेलवे से भी जुड़ा हुआ है। अतः यह यातायात का एक प्रमुख केंद्र है। रिडाउ झीलों तथा सेंट लारेंस नदी के तट पर स्थित स्थानों से आवागमन की सुविधा है। यह नगर इंजन तथा जहाज बनाने, ऐल्युमिनियम, रासायनिक पदार्थ, कपड़े, चमड़े तथा लकड़ी के सामान तैयार करने एवं आटा उद्योग के लिये प्रसिद्ध है।

३. संयुक्त राज्य अमरीका के न्यूयार्क राज्य में न्यूयार्क नगर से ८० मील उत्तर हडसन नदी के पश्चिमी तट पर स्थित एक नगर (स्थिति ४१° ५६' उ० अ० तथा ७४° १' प० दे०)। इसके चतुर्दिक् मनोहर पर्वतीय दृश्य मिलते हैं। इस नगर की स्थापना सन् १६०६ ई० में हुई थी। पोशाक, वायुयान के पुर्जे, यंत्र, रेफ्रिजरेटर, ईंट और सीमेंट यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। (शा० ला० का०)

किंडरगार्टन खेल के माध्यम से चार से छह वर्ष के बच्चों को शिक्षा देनेवाली एक विशेष पद्धति जिसका विकास फ्रीड्रिक विल्हेम फ्रॉएबेल (१७८२–१८५२ ई०) नामक शिक्षाशास्त्री ने किया था। उनकी इस शिक्षापद्धति के विकास का आधार उनकी यह धारणा थी कि हर वस्तु और प्राणी को अनुप्राणित करनेवाला एक शाश्वत नियम एक ईश्वरीय सत्ता है। सभी प्राणियों का प्रादुर्भाव इसी ईश्वरीय सत्ता से है। अतः हर प्राणी में उस ईश्वरीय रस का अंश है। अतः शिक्षा का महत्तम ध्येय शिशु में जन्म से निहित उस रस अथवा उन शक्तियों को विकसित करना होना चाहिए। जीवन में ईश्वरीय रस का प्रादुर्भाव मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय की वस्तु है। अतः शिक्षा, बुद्धि से अधिक मनोवेगों और इच्छाशक्ति की शिक्षा है। अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य बच्चों का प्रशिक्षण नहीं विकास है, जो उनकी मूल प्रवृत्तियों और अभिरुचियों को आत्मक्रिया द्वारा उपयोग में लाने पर ही हो सकता है। आत्मक्रिया द्वारा ही बच्चे की आत्माभिव्यक्ति होती है और उसके आंतरिक ईश्वरीय रूप का बाह्यीकरण भी। इस उद्देश्य की पूर्ति में बच्चों का स्वच्छंद खेल महत्व का है।

अपने इस आत्मक्रिया, आत्माभिव्यक्ति और स्वतंत्र खेल की शिक्षा का आधार बनाकर फ्रॉएबेल ने सर्वप्रथम प्रयोग १८३५ ई० में बर्गडॉर्फ (स्वीजरलैंड) के एक अनाथालय के बच्चों पर किया। इसके लिये उन्होंने खिलौनों की एक ऐसी क्रमागत शृंखला प्रस्तुत की जिससे बच्चों में निश्चित कल्पनाएँ उभर सकें। पहले छह रंगों के छह गेंदों का एक सेट बनाया, फिर लकड़ी के गोल, चौकोर और बेलनाकार रूपों का दूसरा सेट प्रस्तुत किया, फिर दो इंच घन के टुकड़े को ८ छोटे घनों में बाँटकर तीसरा सेट और दो इंच घन को ८ आयताकार टुकड़ों में बाँटकर चौथा सेट बनाया। पाँच [illegible]
इन [illegible]
और नाप की तख्ती, विभिन्न माप के डंडों और विभिन्न व्यास के छल्लों से कुछ अन्य खिलौने बनाए। अपने इन खिलौनों की अन्य खिलौनों से भिन्नता व्यक्त करने के लिये उन्होंने इन्हें मेधा (गिफ्ट) और उनके सहायक साधनों को व्यापार (आकुपेशन) का नाम दिया।

इन साधनों के निर्माण में उन तत्कालीन आदर्शवादी और स्वतंत्रतावादी दर्शनों का प्रभाव था जिनसे फ्रॉएबेल स्वयं प्रभावित थे। उनके मतानुसार ये जीवन के नियमों और रहस्यों के प्रतीक एवं परिचायक थे, जैसे गोले विश्व की एकता के प्रतीक हैं। मेधा (गिफ्ट) में मुख्य तीन हैं, १ गोला, २ बेलनाकार और ३ घन, जिनमें फ्रॉएबेल के दो मान्य नियम निहित हैं। 'विपरीत का नियम' और 'संबंध का नियम।' हर वस्तु का ज्ञान अपनी विपरीत वस्तु के साथ ही ठीक होता है, अतः गोले के साथ घन बनाया गया, और संबंध के नियमानुसार इन दोनों को संबंधित करने के लिये बेलनाकार की रचना की गई। अन्य सभी मेधा (गिफ्ट) इन तीनों के ही विभिन्न रूप हैं, जिनका क्रम बालक के विकास को दृष्टि में रखते हुए निश्चित किया गया। मेधा (गिफ्ट) द्वारा बालक विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ, रचनाएँ और तत्पश्चात् कुछ अंकगणित एवं रेखागणित सीखता है। अप्रत्यक्ष रूप से अन्य प्रकार का ज्ञान भी वह प्राप्त करता है। यद्यपि मेधा (गिफ्ट) स्वयं कई प्रकार के व्यापारों के साधन हैं, तथापि उन्होंने अन्य कई व्यापारों का आयोजन किया जिनके मुख्य विभाग ठोस, समतल, रेखा और बिंदु हैं। इनके अंतर्गत क्रमशः मिट्टी और लकड़ी का काम करना, कागज की वस्तुएँ बनाना, रेखाएँ मिलाना, बुनना, सिलाई कढ़ाई करना और मोती पिरोना जैसी क्रियाएँ आती हैं।

मेधा और व्यापार के अतिरिक्त उनके पाठ्यक्रम में गायन, चित्रकारी, बागवानी, पालतू जानवरों की देखभाल आदि का भी समावेश था।

लखनऊ की एक मांतेसरी कक्षा के शिशु भाषा, गणित, इंद्रिय विकास एवं व्यवहारिक जीवन की क्रियाओं में संलग्न

डा० मेरिया मांतेसरी अपने दत्तक पुत्र एवं प्रमुख सहकारी मेरिओ मांतेसरी के साथ

खेल में ज्ञान, स्वास्थ्य और व्यवहार की शिक्षा

और स्वार्थपूर्ण व्यवहार किया। फलत लियर तीव्र मानसिक आवेग की अवस्था में आंधी और वर्षा का प्रकोप झेलते हुए व्यग्र होकर इधर उधर भटकने लगा और अंत में विक्षिप्त हो गया। इन सभी अवस्थाओं में उसके स्नेही अनुचर अर्ल ऑव केंट और उनके विदूषक उसको निरंतर सांत्वना और सहायता प्रदान करते रहे।

अर्ल ऑव ग्लस्टर के निवासस्थान पर रीगन और ड्यूक ऑव कार्नवाल से किंग लियर की भेंट हुई। ग्लस्टर अत्यंत सहृदय था उसने लियर के प्रति पुत्रियों द्वारा किए गए दुर्व्यवहार की भर्त्सना की। इसमें अप्रसन्न होकर कार्नवाल ने उसकी दोनों आँखें निकलवा लीं। नेत्रहीन ग्लस्टर की सहायता उनके पुत्र एडगर ने की। अपने पिता को लेकर वह छद्म वेष में विभिन्न स्थानों पर घूमता रहा। ग्लस्टर के जारज पुत्र एडमंड ने जो स्वभाव से ही नीच एवं कुचक्री था, अपने पिता के मन में गरल एवं उदार एडगर के प्रति गंभीर संदेह उत्पन्न कर दिया। गोनेरिल और रीगन दोनों ही एडमंड को प्यार करती थीं, इसी कारण अंत में दोनों की मृत्यु भी हुई। गोनेरिल ने ईर्ष्यावश रीगन को विषपान कराया और स्वयं आत्महत्या कर ली। नेत्रहीन ग्लस्टर और विक्षिप्त लियर इधर उधर भटकते रहे। इसी बीच कारडीलिया फ्रांसीसी सेना के साथ अपने पिता की सहायता के लिये इंग्लैंड आई। कारडीलिया और लियर का मिलन हुआ। चिकित्सा और पुत्री की स्नेहपूर्ण परिचर्या के फलस्वरूप लियर का मानसिक संतुलन कुछ ठीक हुआ। किंतु दुर्भाग्यवश युद्ध में फ्रांसीसी सेना पराजित हुई और एडमंड ने लियर और कारडीलिया को कारावास में डाल दिया। कारडीलिया को फाँसी दे दी गई और दुःख के कारण लियर की मृत्यु हो गई। एडगर और एडमंड के द्वंद्व में एडमंड की भी मृत्यु हुई और अंत में राज्य पर ड्यूक ऑव एलबेनी का अधिकार हुआ जिसने सज्जन होने के कारण अपनी पत्नी गोनेरिल के दुष्कृत्यों का कभी समर्थन नहीं किया था।

इस कृति में दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का घोर संघर्ष व्यक्त किया गया है। इस नाटक से करुणा और भय की तीव्र अनुभूति होती है। काव्यात्मक प्रभाव के लिये यह अनुपम है। (रा० अ० द्वि०)

किंगो, थामस (१६३४–१७०३ ई०)। डेनमार्क का विख्यात लिरिक कवि। उसने अपने देश की तत्कालीन काव्यधारा के अनुरूप डेनिश भाषा में भक्तिपरक गीतों की रचना की थी जो आज भी डेनमार्क के अनेक गिर्जाघरों में प्रार्थना के समय गाए जाते हैं। (प० रा० गु०)

किंग्स्टन १. जमैका की राजधानी, प्रमुख नगर तथा सामुद्रिक पत्तन (स्थिति १८° १' उ० अ० तथा ७६° ४८' प० दे०)। यह देश के दक्षिण-पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित है। सन् १६८२ तथा १९०७ में भूकंप के कारण इस नगर की अपार क्षति हुई थी किंतु अब इसका प्रचुर विकास हो गया है। पश्चिमी द्वीपसमूह का प्रमुख पत्तन होने के कारण इधर से जानेवाले अधिकांश जहाज यहाँ ठहरते हैं। यहाँ से कहवा, चीनी, नारियल तथा केले आदि का प्रचुर निर्यात होता है। नगर का कुल क्षेत्रफल आठ वर्गमील है। इनके अधिकांश निवासी हब्शी हैं।

२. कैनाडा के ओंटेरियो प्रांत का एक नगर तथा सामुद्रिक पत्तन जो ओंटेरियो झील के पूर्वी किनारे कैटाराकुई नदी के मुहाने पर मांट्रियाल से १७५ मील पर स्थित है। (स्थिति ४४° १५' उ० अ० तथा ७८° ३५' प० दे०)। इस नगर का विकास फोर्ट फ्राटेनाक की भूमि पर सीमांत चौकी के रूप में निर्मित किया गया था। इसका नामकरण जार्ज तृतीय के नाम पर हुआ है। सन् १८४१ से १८४४ तक यह कैनाडा की राजधानी था। कैनेडियन नैशनल रेलवे के प्रमुख मार्ग पर मांट्रियाल एवं टोरंटो के मध्य यह एक बड़ा रेलवे स्टेशन है और कैनेडियन पैसिफिक रेलवे से भी जुड़ा हुआ है। अतः यह यातायात का एक प्रमुख केंद्र है। विशाल झीलों तथा सेंट लारेंस नदी के तट पर स्थित स्थानों से आवागमन की सुविधा है। यह नगर इंजन तथा जहाज बनाने, ऐल्युमिनियम, रसायनिक पदार्थ, कपड़े, चमड़े तथा लकड़ी के सामान तैयार करने एवं आटा उद्योग के लिये प्रसिद्ध है।

३. संयुक्त राज्य अमरीका के न्यूयार्क राज्य में न्यूयार्क नगर से ८० मील उत्तर हडसन नदी के पश्चिमी तट पर स्थित एक नगर (स्थिति ४१° ५६' उ० अ० तथा ७४° १' प० दे०)। इसके चतुर्दिक् मनोहर पर्वतीय दृश्य मिलते हैं। इस नगर की स्थापना सन् १६०६ ई० में हुई थी। पोशाक, वायुयान के पुर्जे, यंत्र, रेफ्रिजरेटर, ईंट और सीमेंट यहाँ के प्रमुख उद्योग हैं। (शा० रा० का०)

किंडरगार्टन खेल के माध्यम से चार से छह वर्ष के बच्चों को शिक्षा देनेवाली एक विशेष पद्धति जिसका विकास फ्रीड्रिक विल्हेल्म फ्रॉएबेल (१७८२–१८५२ ई०) नामक शिक्षाशास्त्री ने किया था। उनकी इस शिक्षापद्धति के विकास का आधार उनकी यह धारणा थी कि हर वस्तु और प्राणी को अनुप्राणित करनेवाला एक शाश्वत नियम एक ईश्वरीय सत्ता है। सभी प्राणियों का प्रादुर्भाव इसी ईश्वरीय सत्ता से है। अतः हर प्राणी में उस ईश्वरीय रस का अंश है। अतः शिक्षा का महत्तम ध्येय शिशु में जन्म से निहित उस रस अथवा उन शक्तियों को विकसित करना होना चाहिए। जीवन में ईश्वरीय रस का प्रादुर्भाव मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय की वस्तु है। अतः शिक्षा, बुद्धि से अधिक मनोवेगों और इच्छाशक्ति की शिक्षा है। अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य बच्चों का प्रशिक्षण नहीं विकास है, जो उनकी मूल प्रवृत्तियों और अभिरुचियों को आत्मक्रिया द्वारा उपयोग में लाने पर ही हो सकता है। आत्मक्रिया द्वारा ही बच्चे की आत्माभिव्यक्ति होती है और उसके आतंरिक ईश्वरीय रस का बाह्यीकरण भी। इस उद्देश्य की पूर्ति में बच्चों का स्वच्छंद खेल महत्व का है।

अपने इस आत्मक्रिया, आत्माभिव्यक्ति और स्वतंत्र खेल की शिक्षा का आधार बनाकर फ्रॉएबेल ने सर्वप्रथम प्रयोग १८३५ ई० में बर्गडॉर्फ (स्वीजरलैंड) के एक अनाथालय के बच्चों पर किया। इसके लिये उन्होंने खिलौनों की एक ऐसी क्रमागत शृंखला प्रस्तुत की जिससे बच्चों में निश्चित कल्पनाएँ उभर सकें। पहले छह रंगों के छह गेंदों का एक सेट बनाया, फिर लकड़ी के गोल, चौकोर और बेलनाकार रूपों का दूसरा सेट प्रस्तुत किया, फिर दो इंच घन के टुकड़े को ८ छोटे घनों में बाँट कर तीसरा सेट और दो इंच घन को ८ आयताकार टुकड़ों में बाँटकर चौथा सेट बनाया। पाँचवें और छठे सेटों में तीन इंच घन को असमानाय टुकड़ों को रखा और इन सबको आकार और नाप के अनुसार बक्सों में रखा। विभिन्न आकार और नाप की तख्ती, विभिन्न माप के डंडों और विभिन्न व्यास के छल्लों से कुछ अन्य खिलौने बनाए। अपने इन खिलौनों की अन्य खिलौनों से भिन्नता व्यक्त करने के लिये उन्होंने इन्हें मेधा (गिफ्ट) और उनके सहायक साधनों को व्यापार (आकुपेशन) का नाम दिया।

इन साधनों के निर्माण में उन तत्कालीन आदर्शवादी और स्वतंत्रतावादी दर्शनों का प्रभाव था जिनसे फ्रॉएबेल स्वयं प्रभावित थे। उनके मतानुसार ये जीवन के नियमों और रहस्यों के प्रतीक एवं परिचायक थे, जैसे गोले विश्व की एकता के प्रतीक हैं। मेधा (गिफ्ट) में मुख्य तीन हैं, १. गोला, २. बेलनाकार और ३. घन, जिनमें फ्रॉएबेल के दो मान्य नियम निहित हैं। 'विपरीत का नियम' और 'संबंध का नियम।' हर वस्तु का ज्ञान अपनी विपरीत वस्तु के साथ ही ठीक होता है, अतः गोले के साथ घन बनाया गया, और संबंध के नियमानुसार इन दोनों को संबंधित करने के लिये बेलनाकार की रचना की गई। अन्य सभी मेधा (गिफ्ट) इन तीनों के ही विभिन्न रूप हैं, जिनका क्रम बालक के विकास की दृष्टि में रखते हुए निश्चित किया गया। मेधा (गिफ्ट) द्वारा बालक विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ, रचनाएँ और तत्पश्चात् कुछ अंकगणित एवं रेखागणित सीखता है। अप्रत्यक्ष रूप से अन्य प्रकार का ज्ञान भी वह प्राप्त करता है। यद्यपि मेधा (गिफ्ट) स्वयं कई प्रकार के व्यापारों के साधन हैं, तथापि उन्होंने अन्य कई व्यापारों का आयोजन किया जिनके मुख्य विभाग ठोस, समतल, रेखा और बिंदु हैं। इनके अंतर्गत क्रमशः मिट्टी और लकड़ी का काम करना; कागज की वस्तुएँ बनाना, रेखाएँ मिलाना, बुनना, सिलाई कढ़ाई करना और मोती पिरोना जैसी क्रियाएँ आती हैं।

मेधा और व्यापार के अतिरिक्त उनके पाठ्यक्रम में ड्राइंग, चित्रकारी, बागबानी, पालतू जानवरों की देखभाल आदि का भी समावेश था।

लखनऊ की एक मांतेसरी कक्षा के शिशु भाषा, गणित, इंद्रिय विकास एवं व्यवहारिक जीवन की क्रियाओं में संलग्न

डा० मेरिया मांतेसरी अपने दत्तक पुत्र एवं प्रमुख सहकारी मेरिओ मांतेसरी के साथ

खेल में ज्ञान, स्वास्थ्य और व्यवहार की शिक्षा

किपलिंग, रुडयार्ड (देखिए पृष्ठ ६)

कीट्स (देखिए पृष्ठ ४०–४१)

ब्रिटिश इंफार्मेशन सर्विस के सौजन्य से

किंतु इन सबसे अधिक महत्व संगीत का था। वे संगीत को आत्माभिव्यक्ति का साधन मानते थे और उनका विचार था कि बालक की शिक्षा का प्रारंभ माता के गीतों द्वारा होना चाहिए। इसी प्रयोजन से उन्होंने 'मातृखेल और शिशु गीत' नामक अपनी पुस्तिका में खेलगीतों और चित्रों का संग्रह किया था।

अनाथालय के बच्चों के साथ किया गया उनका यह प्रयोग काफी सफल रहा। अपनी इस सफलता से आश्वस्त होकर फ्रॉएबेल ब्लेकेनबुर्ग (जर्मनी) चले आए और शिशुओं को खेल और उद्योग के माध्यम से मनोवैज्ञानिक शिक्षा देने के लिये एक विद्यालय स्थापित किया और उसे किंडरगार्टन (शिशु उद्यान) का नाम दिया।

फ्रॉएबेल ने ब्लेकेनबुर्ग के इस किंडरगार्टन के अतिरिक्त अपने जीवनकाल में १८३७ और १८४८ ई० के बीच सोलह और किंडरगार्टन खोले तथा इनके लिये शिक्षक तैयार करने के निमित्त एक प्रशिक्षण स्कूल भी चलाया। अध्यापन कार्य तथा पुस्तिकाओं के प्रकाशन द्वारा भी वे किंडरगार्टन शिक्षा के विकास एवं प्रसार में लगे रहे किंतु उन्हें जर्मनी में सफलता नहीं मिली। इतना ही नहीं, १८५१ ई० में शासन द्वारा वहाँ सब किंडरगार्टनशालाओं पर रोक लगा दी गई। इस प्रकार अपने जीवनकाल में फ्रॉएबेल अपनी शिक्षणप्रणाली का समुचित प्रचार न देख सके किंतु उनके बाद उनकी पत्नी, उनकी शिष्या बारोनेस फ़ान मारेनहोल्ट्ज बूलो और उनकी पोती फाउलीन हेनरिच ब्रेमैन ने किंडरगार्टन के प्रसारकार्य को विशेष रूप से आगे बढ़ाया जिससे यूरोप के कई देशों में इसका प्रचार हुआ। कुछ देशों में पहले से चल रही अन्य प्रकार की शिशुशालाओं का स्थान किंडरगार्टन ने ले लिया; कुछ में यह शिक्षासोपान की प्रथम अनिवार्य सीढ़ी बन गया। इसका सर्वाधिक प्रचार संयुक्त राज्य अमरीका में हुआ, वहाँ प्रचार के साथ साथ इसका संशोधन और विकास भी हुआ।

बालमनोविज्ञान और शिक्षाशास्त्र की प्रगति के साथ फ्रॉएबेल के शिक्षादर्शन और किंडरगार्टन शिक्षोपद्धति की समीक्षा हुई। उनके रहस्यवाद और प्रतीकत्व की आधुनिक मनोवैज्ञानिकों और शिक्षाशास्त्रियों ने कठोर आलोचना की तथा इन्हें अमान्य ठहराया। मेधा (गिफ्ट) क्रम द्वारा बच्चे को जीवन एवं विकास के नियमों से परिचित कराया जा सकता है, इस विचार का खंडन हुआ तथा मेधा और व्यापार जैसे सीमित साधनों द्वारा शिशु के पूर्ण विकास होने में संदेह प्रकट किया गया। वस्तुतः फ्रॉएबेल का विचार यह नहीं था कि मेधा (गिफ्ट) या उनके क्रम का सदा अंधानुसरण होता रहे, अथवा किंडरगार्टन के पाठ्यक्रम को मेधा और व्यापार तक ही सीमित रखा जाय। उनकी पुस्तक 'किंडरगार्टन शिक्षा' से स्पष्ट है कि वे अपनी पद्धति में परिवर्तन और परिवर्धन होना स्वाभाविक एवं उचित समझते थे। यदि उनके कुछ विचार और विश्वास अमान्य हैं तो साथ ही आत्मक्रिया और आत्माभिव्यक्ति जैसे सिद्धांत आधुनिक बालमनोविज्ञान के अनुकूल एवं सर्वमान्य भी हैं।

समीक्षा और समालोचना के फलस्वरूप फ्रॉएबेल के किंडरगार्टन में कई परिवर्तन एवं सुधार हुए। उसपर किलपैट्रिक, मैकवैनेल, फॉरेस्ट, थार्नडाइक, ऐना ब्रियाँ, हिल आदि शिक्षाविदों और मनोवैज्ञानिकों की आलोचना और अनुसंधान का भी प्रभाव पड़ा। इन संशोधनों के मूल में मनोवैज्ञानिक अनुसंधान और बालअध्ययन तो था ही वह प्रगतिवादी विचारधारा भी थी जिसके प्रवर्तक जी० स्टनले हॉल तथा जॉन ड्युई थे। २०वीं सदी के प्रारंभ में विकसित बालशिक्षण की दूसरी प्रणाली, मांतेसरी (मांटसरी) पद्धति ने भी किंडरगार्टन को संशोधित रूप देने में सहायता दी। फलस्वरूप किंडरगार्टन के आधारभूत शिक्षण सिद्धांतों में हेर फेर हुआ, और उसके साधन, क्रियाएँ और पाठ्यक्रम भी बदले; अधिक उपयुक्त, रोचक एवं शिक्षाप्रद साधन और कार्यकलाप समाविष्ट किए गए। बुनाई, सिलाई और मोती पिरोने जैसी महीन क्रियाओं के स्थान पर बड़े और सरल हाथ के काम रखे गए। बच्चों के शारीरिक विकास के उपयुक्त क्रियाओं, खेलकूद और प्रत्यक्ष अनुभव को अधिक महत्व दिया गया तथा उनके भावनात्मक एवं सामाजिक विकास के हेतु भी उपयोगी क्रियाओं की व्यवस्था की गई। इस प्रकार आधुनिक प्रगतिशील किंडरगार्टन का रूप फ्रॉएबेल के किंडरगार्टन से बहुत भिन्न है।

भारतवर्ष में वर्तमान किंडरगार्टन पद्धति की शिक्षा अमरीका के समकक्षी स्कूलों के समान प्रगतिशील नहीं हैं और कई जगह तो पुस्तकशिक्षण का ही स्थान प्रमुख देखने में आता है। इसका मुख्य कारण है बालशिक्षण की ओर शासन, जनता और शिक्षाशास्त्रियों का समुचित ध्यान न होना। एक दूसरा कारण यह भी है कि यहाँ जितना प्रचार मांतेसरी (मांटसरी) पद्धति का प्रचार अधिक हुआ है। यहाँ जो किंडरगार्टन हैं उनमें से अधिकांश ईसाई धर्मप्रचारकों द्वारा चलाए हुए हैं और उनके शिक्षा का माध्यम अँगरेजी है। वहाँ भारतीय संस्कृति और धर्म बहुत कुछ उपेक्षित है।

फ्रॉएबेल के किंडरगार्टन में सुधार करने के बाद किंडरगार्टन शिक्षा का प्रभाव जानने के हेतु अमरीका में कई अध्ययन किए गए जिनसे ज्ञात होता है कि इसका प्रभाव बच्चे के शिक्षाग्रहण एवं व्यक्तित्वविकास पर सामान्यतः अच्छा पड़ता है। भारत में पूर्वप्राथमिक शिक्षाप्राप्त बच्चों के अध्ययन से यह पता चलता है कि यह शिक्षा शिक्षाग्रहण में तो नहीं, किंतु व्यक्तित्व के भावनात्मक एवं सामाजिक विकास में अवश्य सहायक होती है। पूर्वप्राथमिक शिक्षाप्राप्त बच्चों में अन्य बच्चों की अपेक्षा नेतृत्व, उत्साह, आत्मविश्वास और सामाजिकता जैसे गुण अधिक विकसित होते हैं। वे प्रायः बहिर्मुखी और ज्ञानप्राप्ति के इच्छुक होते हैं।

सं०ग्रं०—जे० सी० फोस्टर, एन० ई० हेडली : एजुकेशन इन द किंडरगार्टेन, अमेरिकन बुक कंपनी, न्यूयार्क (१९४८); ई० वी० गोल्डेन : किंडरगार्टेन करीक्युलम, किंग कंपनी, शिकागो (१९४६); ई० एल० थार्नडाइक : नोट्स ऑव चाइल्ड स्टडी, कोलंबिया यूनिवर्सिटी (१९०१); नीना वांडेवाकर : दि किंडरगार्टेन इन अमेरिकन एजुकेशन, मैकमिलन (१९०८); जायसवाल, सीताराम : पश्चिमी शिक्षा का इतिहास, (नंदकिशोर ऐंड ब्रदर्स, बनारस (१९५४); गेंद और शर्मा : शिक्षा के दार्शनिक सिद्धांत, भारत पब्लिकेशंस, आगरा (१९५६)।

(श० स०; प० ला० गु०)

किंदी अबू यूसुफ़ इब्ने इसहाक़ अलकिंदी इनका जन्म कूफ़ा में ९वीं सदी ई० के मध्य हुआ था। वह दक्षिण अरबवंशीय होने के कारण 'फ़ैलसूफ़ुल अरब' अथवा अरब का दार्शनिक कहलाते हैं। उनकी शिक्षा दीक्षा बसरा और बगदाद में हुई थी; वहीं रहकर वह उन्नति के शिखर पर पहुँचे। वह अब्बासी खलीफ़ाओं के दरबार में विभिन्न पदों पर रहे। खलीफ़ा मामून (८१३ ई०—८३३ ई०) तथा खलीफ़ा मोतसिम (८३३ ई०—८४२ ई०) उनके बहुत बड़े आश्रयदाता थे। उन्हें कभी यूनानी दार्शनिकों के ग्रंथ के अनुवादक एवं संपादक का पद, कभी राजज्योतिषी का पद प्राप्त होता रहा। उस समय अब्बासी खलीफ़ाओं के दरबार में मोतजेला दर्शन का बड़ा जोर था। इनका मूल सिद्धांत था कि ईश्वर दिखाई नहीं दे सकता; आदमी जो कुछ करता है, वह स्वयं करता है, ईश्वर कुछ नहीं करता। किंतु जब खलीफ़ा मुतवक्किल (८४७ ई०—८६१ ई०) के समय इस विचारधारा का दमन हुआ तब किंदी को काफी हानि उठानी पड़ी।

दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, भौतिक विज्ञान, प्रकाश विज्ञान (ऑप्टिक्स), कीमिया तथा संगीतशास्त्र जैसे तत्कालीन सभी ज्ञान विज्ञान में उन्होंने बड़ी दक्षता प्राप्त की थी। कहा जाता है, उन्होंने लगभग २६५ ग्रंथों की रचना की, किंतु दुर्भाग्यवश लगभग सभी ग्रंथ नष्ट हो गए हैं। केवल वे ही ग्रंथ बच रहे हैं जिनका अरबी से लातीनी भाषा में अनुवाद हो गया था। १०वीं शती ई० के विद्वानों के गणित तथा दर्शनशास्त्र संबंधी सिद्धांतों में उसकी छाप स्पष्ट रूप में लक्षित होती है। वह अपने काल के बहुत बड़े ज्योतिषी माने जाते थे किंतु उन्हें केवल ज्योतिष के मूल सिद्धांतों के प्रति ही रुचि थी, फलित ज्योतिष में नहीं। कीमिया के संबंध में उनका मत था कि सोना केवल खानों से ही प्राप्त हो सकता है, और किसी औषधि द्वारा ताँबे अथवा पीतल को सोना नहीं बनाया जा सकता। उनके संगीतशास्त्र संबंधी ग्रंथों पर यूनानी प्रभाव दिखाई देता है। उन्होंने ताल अथवा ठेका (ईका) को अरबी संगीत का विशेष अंग बताया है।

उत्तरकालीन यूनानी विचारधारा के अनुसार किंदी को तत्वज्ञानी

अथवा विचारवादी माना जाता है। उन्होंने नव-पाइथेगोरसवादी गणित को समस्त विज्ञानों का आधार माना और अफलातून (प्लेटो) तथा अरस्तू के विचारों का नव प्लेटो संबंधी ढंग में समन्वय का प्रयत्न किया। उन्होंने गणित के सिद्धांतों का प्रयोग भौतिक शास्त्र में ही नहीं किया अपितु चिकित्सा शास्त्र में भी किया। उनका मत था कि शीतलता, उष्णता, जलहीनता अथवा नमी जैसे प्राकृतिक गुण प्रकृति में एक ज्योमित अनुपात में मिश्रित हैं। उन्होंने औषधियों के प्रभाव तथा उनकी प्रक्रिया की व्याख्या इसी ज्योमित अनुपात के आधार पर की है। इसी कारण यूरोप के पुनर्जागरण काल के दार्शनिक कार्डन ने उन्हें १२ विलक्षण बुद्धिवालों में से एक माना है।

किंदी ने प्रकाशविज्ञान पर भी विशद रूप से प्रकाश डाला है। थीओन द्वारा शोधित उनकी इस विषय की मुख्य कृति युक्लिड के प्रकाशविज्ञान पर आधारित है। इस रचना में उन्होंने निम्नलिखित बातों का प्रतिपादन किया है: (१) प्रकाश का सीधी रेखाओं में चलना, (२) दृष्टि की सीधी रीति, (३) दर्पण द्वारा दृष्टि की रीति, (४) दृष्टि के कोण तथा दूरी का दृष्टि पर प्रभाव एवं दृष्टि संबंधी भ्रांतियाँ। उनके मतानुसार प्रकाश की किरणें एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने में कोई समय नहीं लेतीं। हमारी आँख के शंक्वाकार बन जाने पर प्रकाशकिरणें आँख से निकलकर किसी वस्तुविशेष पर पड़ती हैं और उन किरणों के उस वस्तु पर पड़ने के कारण ही हमको उस वस्तु को देख लेने का अनुभव होता है। जिस समय हमारी अन्य चार इंद्रियाँ किसी वस्तु के संपर्क में आकर उसके द्वारा उत्पन्न प्रभावों का अनुभव कर रही होती हैं उस समय हमारी दृगिंद्रिय तत्क्षण अपनी वस्तु को तेजी से पकड़ लेती है।

उसका मत है कि 'ईश्वर तथा नक्षत्रजगत् के मध्य में आत्मा का जगत् है'। उस जीवात्मा ने ही नक्षत्रमंडल का सृजन किया है। मनुष्य आत्मा की उत्पत्ति इस जगदात्मा से ही हुई है। जहाँ तक मनुष्यात्मा का शरीर से संबंध होने का प्रश्न है, यह नक्षत्रों के प्रभाव पर निर्भर है। परंतु जहाँ तक आत्मा की आध्यात्मिक उत्पत्ति तथा अस्तित्व का प्रश्न है, यह स्वतंत्र है, क्योंकि बुद्धिजगत् में ही स्वतंत्रता तथा अमृतत्व है। अतः यदि परमोत्कर्ष की प्राप्ति की हमारी इच्छा है तो हमें ईश्वरभय, ज्ञान तथा सत्कार्य जैसी बुद्धि की चिरस्थायी संपत्तियों को प्राप्त करने की ओर लग जाना चाहिए।

सं०ग्रं०—टी० जे० बोएर : द हिस्ट्री ऑव फ़िलॉसफ़ी इन इस्लाम (एडवर्ड आर० जोंस, बी० डी०, द्वारा अनुवादित), ल्यूजैक ओरिएंटल रेलिजन सीरीज, खंड २। (सै० अ० अ० रि०)

किंपुरुष १. भारतीय अनुश्रुतियों में उल्लिखित अति मानवीय योनि, किंतु साहित्यिक संदर्भों से ऐसा प्रतीत है कि यह एक प्राचीन मानव वर्ग का नाम है जो कदाचित् हिमालय में वास करता था। उनके कैलास आने जाने का प्रायः उल्लेख मिलता है। कदाचित् यह किन्नर का समानार्थी शब्द है।

२. जंबूद्वीप का एक खंड। (प० ला० गु०)

किंबरली दक्षिण अफ्रीका के केप प्रांत में केपटाउन से (रेलमार्ग द्वारा) ४६७ मील तथा जॉन्सबर्ग से (राजमार्ग द्वारा) २६५ मील दूर, समुद्र तट से ४,०१२ फुट की ऊँचाई पर स्थित उत्तरी केप क्षेत्र का प्रधान नगर तथा वृहत्तम नदी प्रणाली का केंद्र (स्थिति २८° द० अ० तथा २४° ४०' पू० दे०)। इसका महत्व वहाँ के हीरे की खानों के कारण है जिनका विकास सन् १८७० में किया गया था और खुली खदान के रूप में इसकी परिधि एक मील है। इसका विकास विभिन्न खदानी आवासों के मिल जाने के कारण हुआ है, इस कारण नगर किसी नियोजित योजना के अनुसार बसा नहीं है। इस नगर की जलपूर्ति १७ मील दूर स्थित नदी से होती है। रोड्स नामक व्यक्ति ने बियर्स कंपनी के खनकों को आवास प्रदान करने के लिये पास में केनिल्वर्थ नामक उपनगर विकसित किया है। (शा० ला० का०)

किंवदंती दृष्टांत स्वरूप उल्लेख की जानेवाली विपर्यस्त अथवा असंबद्ध इतिहास की घटनाओं के आधार पर लोकजीवन में प्रचलित कथाएँ। सामान्यतः इस शब्द का प्रयोग दंतकथा और अनुश्रुति के रूप में किया जाता है किंतु इससे ध्वनित होनेवाली कथाएँ उनसे किंचित् भिन्न होती हैं। (प० ला० गु०)

किचनर, लार्ड होरेशियो हरबर्ट (अर्ल ऑव खारतूम) (१८५०–१९१६)। अंग्रेज सैनिक और शासक। इनका जन्म २४ जून, १८५० ई० को बैलीलांग फोर्ड (आयरलैंड) में हुआ था। इनके पिता भी सैनिक थे। वूलविच की 'रायल मिलटरी एकेडमी' में सैनिक शिक्षा प्राप्त कर १८७० में अंगरेजी सेना के 'रायल इंजिनिअर्स' अंग में ये संमिलित हुए। १८८२ में मिस्र की सेना में प्रवेश किया। १८९८ में 'ओमडरडम' की प्रसिद्ध लड़ाई में विजय प्राप्त करके सूदान के दरवेशों की शक्ति को छिन्न भिन्न कर कीर्तिलाभ किया। १८९९ में वे दक्षिण अफ्रीका की सेना में सम्मिलित हुए और विजय प्राप्त की। १९०२ से १९०९ तक वे भारत और ईस्ट इंडीज के सेनापति रहे। १९११ में वे मिस्र के एजेंट बनाए गए जहाँ उन्होंने राजकाज का बड़ी योग्यता से संपादन किया। १९१४ में जब प्रथम विश्व युद्ध आरंभ हुआ तो वे इंग्लैंड की सरकार के युद्धमंत्री नियुक्त किए गए। युद्धमंत्री के रूप में इनकी युद्धनीति मौलिक और साहसयुक्त थी। थोड़े ही समय में इन्होंने ७० कक्षों की एक नई सेना संघटित की, जो 'किचनर की सेना' कहलाई। ५ जून, सन् १९१६ को जब वे रूस के जार के निमंत्रण पर रूसी सेना का संघटन करने 'हैंपशायर' नामक जहाज में जा रहे थे तब समुद्र में एक भीषण तूफान आया और इनका जहाज जर्मनों द्वारा डाली गई एक सुरंग (माइन) से टकराकर समस्त यात्रियों सहित डूब गया। बहुत खोजने पर भी इनकी लाश का पता न चला। किचनर बड़े उद्भट योद्धा, कुशल सेनापति तथा शासक ही नहीं थे बल्कि बड़े देशभक्त और चरित्रवान् नागरिक भी थे। अपने समकालीनों में इनका बड़ा मान था। (वि० च०)

किजिल इर्माक इसका शब्दार्थ 'लाल नदी' है। यह तुर्की देश की नदी है जिसका प्राचीन नाम हेलिस था। यह लघु एशिया (एशिया माइनर) की सर्वाधिक लंबी नदी है जो समुद्रतल से ६,५०० फुट ऊँचे किजिल दाग नामक पर्वत से निकलकर लगभग ५०० मील लंबे, टेढ़े मेढ़े मार्ग से प्रवाहित होती हुई बाफरा के उत्तर कृष्ण सागर में गिरती है। समुद्र में गिरने से पहले यह नदी डेल्टा बनाती है जिसे बफ़ा का मैदान कहते हैं। यह मैदान कृषि के लिये सुप्रसिद्ध है। यह नदी परिवहन कार्य के सर्वथा अयोग्य है। देलिजि इर्माक तथा गेक इर्माक, क्रमश: दाईं तथा बाईं ओर से प्रवाहित होनेवाली, इसकी प्रमुख सहायक नदियाँ हैं। (शा० ला० का०)

किटि हाक संयुक्त राज्य, अमरीका, के उत्तरी कैरोलिना प्रांत के पूर्वी भाग में स्थित एक ग्राम जो अंधमहासागर की ऐल्बेमार्ल साउंड नामक एक संकीर्ण खाड़ी के किनारे रेत की बाड़ पर बसा हुआ है। इसके निकट ही किलटेविल हिल नाम की वह पहाड़ी है जहाँ राइट भ्राताओं ने वायुयानों के उड़ान संबंधी प्राथमिक प्रयोग किए थे और १७ दिसंबर, १९०३ को सर्वप्रथम उड़ान में सफलता पाई थी। (भ० दा० व०)

किण्वन (फ़र्मेण्टेशन Fermentation) फर्मेण्टेशन लैटिन शब्द ('फर्वेयर', Fervere) से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है 'उबलना'। बाद में आलंकारिक ढंग से इस शब्द का प्रयोग अंगूर के रस के फेनिल होने के लिये किया जाने लगा। अतः हिंदी शब्द किण्वन भी इसी के लिये प्रयुक्त होता है।

अत्यंत प्राचीन काल से मनुष्य ऐल्कोहलीय किण्वन से परिचित था। सन् १८५७ में फ्रांस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक लुई पास्तुर ने इसकी वैज्ञानिक रीति से खोज की। उसने देखा कि दूध का किण्वन कतिपय सूक्ष्म जीवाणुओं की ही उपस्थिति में संभव है तथा इन जीवाणुओं को दूर रखने पर यह संभव नहीं हो सकता। अतः उसने निष्कर्ष निकाला कि किण्वन ऐसी क्रिया है जो जीवाणुकोषों पर, विशेषतः यीस्ट कोशों पर निर्भर होती है। सन् १८७५ में उसने यह भी ज्ञात किया कि किण्वन आक्सिजन की अनुपस्थिति में भी संभव है। अतः किण्वन की परिभाषा "आक्सिजन रहित जीवन" कहकर की गई। सन् १८९७ में बुकनर ने

यीस्ट कोशों को बालू के साथ पीसकर उनका सार निकाला, जिसमें शर्करा विलयन को विघटित करने की वैसी ही क्षमता थी जैसी जीवित यीस्ट कोशों में। सन् १९०५ में हार्डेन तथा यंग ने यह ज्ञात किया कि फॉस्फेटों की उपस्थिति में किण्वन अधिक सुगमता से होने लगता है, क्योंकि कार्बन डाइऑक्साइड गैस अधिक मात्रा में देर तक निकलती रहती है। बाद में रॉबिन्सन, न्यूबर्ग, मेयरहॉफ़ आदि ने किण्वन संबंधी अनेक शोधें कीं। हार्डेन और यंग ने यह भी ज्ञात किया कि यदि यीस्ट के सार को अपोहित किया जाय तो वह अपनी सक्रियता खो देता है, जिससे यह ज्ञात हुआ कि निष्कर्ष में किण्वज (Enzyme) के अतिरिक्त सहकिण्वज (Coenzyme) भी होता है।

अतः किण्वन की निम्नलिखित परिभाषा दी जा सकती है :

कार्बोहाइड्रेट तथा तत्संबंधी यौगिकों के निर्वात विच्छेदन द्वारा ऐसे पदार्थों की प्राप्ति जो ऑक्सिजन के प्रभाव को छोड़कर किण्वजों या जीवकोषों के द्वारा और अधिक विघटित न हों, किण्वन कहलाती है। यह मूलतः वायु की अनुपस्थिति में होता है और जीवाणु इस प्रक्रिया में प्रमुख भाग लेते हैं।

किण्वन में मूल यौगिक के खंड खंड हो जाते हैं, यथा १ अणु ग्लूकोस से २ अणु ऐल्कोहल तथा २ अणु कार्बन डाइऑक्साइड अथवा २ अणु लैक्टिक अम्ल प्राप्त हो सकते हैं, परंतु यदि ऑक्सिजन की उपस्थिति में ग्लूकोस का उपचयन होता है तो ६ अणु पानी तथा ६ अणु कार्बन डाइऑक्साइड बनते हैं और किण्वन से अधिक ऊर्जा मुक्त होती है। पास्तुर ने यह दिखलाया कि ऑक्सिजन की उपस्थिति में यीस्ट की सक्रियता मंद पड़ जाती है और तब वातीय उपचयन होने लगता है। इस प्रभाव को "पास्तुर घटना या प्रभाव" कहते हैं।

जीवाणुओं द्वारा प्रेरित किण्वन क्रियाएँ कई प्रकार से वर्गीकृत की जाती हैं :

१. प्रयुक्त माध्यम के अनुसार, यथा कार्बोहाइड्रेट प्रोटीन या वसा का किण्वन;

२. कृषिजन्य पदार्थों अथवा औद्योगिक सहजातों पर जीवाणुओं की अभिक्रिया के अनुसार, यथा अन्न, आलू, इक्षु शर्करा, शीरा, चाय आदि का किण्वन;

३. उत्पन्न मुख्य यौगिकों के आधार पर, यथा ऐल्कोहलीय या लैक्टिक किण्वन;

४. वायु की उपस्थिति या अनुपस्थिति के अनुसार, यथा वातीय अथवा निर्वात किण्वन;

५. जीवाणुओं के उद्भव एवं उनकी विशुद्धता के आधार पर, यथा विशुद्ध संवर्ध किण्वन, प्रकृत विशुद्ध किण्वन, मिश्रित संवर्ध किण्वन, क्षणिक किण्वन आदि।

किण्वन प्राविधि—जीवाणुओं के प्रयोग द्वारा किण्वन परंपरागत कला के रूप में ही सुरक्षित रहा है। परंतु अब एक विज्ञान के रूप में प्रयुक्त और समादृत है, क्योंकि इसके अंतर्गत जीवाणुविज्ञान, जैव रसायन, भौतिक रसायन, गणित तथा इंजीनियरी सब संमिलित हैं। अतः यह "किण्वन इंजीनियरी" के नाम से विख्यात हो रहा है।

किण्वन उद्योग में निम्नलिखित कार्य किए जाते है।

कच्चे माल का चुनाव; उपयुक्त जीवाणुओं का चुनाव; कच्चे माल का निर्माण; अंतःक्राम (Inoculum) की तैयारी; जीवाण्वीय अभिक्रिया का संचालन, पुनःप्राप्ति, तथा उपजातों का उपयोग।

कच्चे माल से तात्पर्य ऐसे उपलब्ध पदार्थों से है जो जीवाण्वीय अभिक्रिया द्वारा अन्य नवीन पदार्थों में परिणत हो सकें। कृषिजन्य पदार्थों में से फलों (अंगूर, सेब, बेर आदि), अन्नों (राई, गेहूँ, जौ, चावल, मक्का) तथा कंदों (आलू, गाजर, शकरकंद, चुकंदर) का उपयोग औद्योगिक तथा पेय ऐल्कोहल, लैक्टिक अम्ल तथा खाद्य यीस्ट के निर्माण में होता है। दूध, मलाई तथा केसीन से नाना प्रकार के खाद्यपदार्थ तैयार किए जाते हैं। उद्योगों से प्राप्त उपजातों में से शीरे का उपयोग औद्योगिक ऐल्कोहल तथा खाद्य यीस्ट के निर्माण में, सोयाबीन की खली, संतरे के छिलकों तथा ताड़ीखानों से बचे पदार्थों का उपयोग किण्वजों, जीवाणुद्वेषियों (antibiotics) तथा विटामिनों के निर्माण में, मांस उद्योग से बचे प्लीहा, यकृत आदि के अवशेषों का उपयोग जेलाटिन तथा विटामिनों के निर्माण में होता है। इन सभी कच्चे मालों की उपयोगिता कार्बोहाइड्रेट की उपस्थिति तथा मात्रा पर निर्भर रहती है। इन पदार्थों के साथ कुछ गौण पदार्थों की भी आवश्यकता किण्वन में पड़ती है। यथा तनूकरण के लिये जल, उदासीनीकरण के लिये चूना, जीवाणुओं के संवर्धन के लिये नाइट्रोजन, फास्फोरस आदि। इन्हें स्वादिष्ट बनाने के लिये लवण तथा मसाले जैसे गौण पदार्थों का भी उपयोग किया जाता है।

जीवाणुओं की उपयोगिता पर न केवल वांछित अभिक्रिया निर्भर रहती है, वरन् समय की भी बचत होती है। उपयुक्त जीवाणु द्वारा ही पीढ़ी दर पीढ़ी उनकी सक्रियता को अक्षुण्ण रखा जा सकता है। किण्वन के लिये तीन प्रकार के प्रमुख जीवों का उपयोग होता है—यीस्ट, जीवाणु (bacteria) तथा फफूंद (mould)। कच्चे माल को जीवाण्वीय अभिक्रिया के योग्य बनाने के लिये, उसे भौतिक तथा रासायनिक रूप से उपचारित होना चाहिए, यथा शीरे का पानी में विलय करना, फलों को फांकों में काटना तथा कुचलना होता है, स्टार्चयुक्त पदार्थों को उबालना पड़ता है। तब निचोड़ने के बाद, छानकर जो स्वच्छ तरल द्रव्य प्राप्त किया जाता है उसका पीएच व्यवस्थित करके निष्कर्ष को गरम, ठंडा अथवा अर्धविनिवृत (sterilized) किया जाता है, जिससे वांछित जीवाणु वृद्धि करें। इस अवस्था में किण्वन प्रारंभ करने के लिये जीवित जीवाणु (अंतःक्राम) छोड़े जाते हैं। अब वास्तविक किण्वन प्रारंभ होता है। यह अनेक बातों पर निर्भर है, यथा कार्बोहाइड्रेट, वातन, ताप, पीएच, किण्वपात्र तथा जीवाणुओं की संख्या।

वातन का कार्य बुदबुदीकरण द्वारा संपन्न किया जाता है। प्रारंभ में जीवाणुओं की वृद्धि के लिये वायु आवश्यक होती है। जीवाणुओं की क्रिया द्वारा प्रचुर ऊष्मा उत्पन्न होती है, अतः किण्वपात्र को शीतल करने का उचित प्रबंध करना पड़ता है। किण्वन के पश्चात् विभिन्न पदार्थों का पृथक्करण वाष्पन अथवा मणिभीकरण द्वारा किया जाता है।

रासायनिक क्रियाओं के आधार पर किण्वन के छह भेद किए गए हैं :

१. ऐल्कोहलीय किण्वन—इसमें शर्करा किण्वन से एथिल ऐल्कोहल (एथिनोल) तथा कार्बन डाइऑक्साइड प्राप्त होते हैं। फास्फेट की उपस्थिति में शर्करा का किण्वन द्रुत गति से होने लगता है। संपूर्ण क्रिया को इस प्रकार लिखा जा सकता है :

$$C_6H_{12}O_6 \xrightarrow{\text{जाइमेज़ किण्वज संकीर्ण}} 2\,C_2H_5OH + 2\,CO_2$$

हेक्सोस → एथिल ऐल्कोहल + कार्बन डाइऑक्साइड

इस क्रिया में सर्वप्रथम फास्फेट तथा शर्करा के योग से फास्फोरित शर्करा उत्पन्न होती है, तब हेक्सोस शृंखला के विघटन से ग्लिसरैल्डिहाइड–३–फास्फेट तथा द्विहाइड्रॉक्सि ऐसीटोन फास्फेट बनते हैं। इनमें से दूसरे यौगिक के रूपांतरण से प्रथम यौगिक बनता रहता है। अगली अवस्था में ग्लिसरैल्डिहाइड–३–फास्फेट के उपचयन से ग्लिसरिक अम्ल-फास्फेट बनता है, जिसके विफास्फोरीकरण से पाइरुविक अम्ल उत्पन्न होता है जो ऐसीटैल्डीहाइड में परिवर्तित हो जाता है। अंत में ऐसीटैल्डिहाइड से एथिल ऐल्कोहल बनता है।

इस प्रकार के किण्वन में कार्बन डाइऑक्साइड तथा ऐल्कोहल के अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी बनते हैं, जिन्हें 'फ़्यूज़ेल ऑयल' की संज्ञा प्रदान की गई है। ये मदिरा को विशिष्ट स्वाद प्रदान करते हैं। ऐल्कोहलीय किण्वन के लिये यीस्ट, बैक्टीरिया तथा फफूंदों का प्रयोग किया जाता है, परंतु औद्योगिक स्तर पर यीस्ट को ही प्रमुखता दी जाती है। ऐल्कोहल, यवसुरा (बियर) तथा धान्यसुरा (ह्विस्की) के लिये सैक्करोमाइसीज़ सेरिविसिई (Saccharomyces cerevisiae), द्राक्षमदिरा (वाइन) के लिये सैक्करोमाइसीज़ एलिप्सॉइड्यूस (Saccharomyces ellipsoidus) तथा पैस्टुरियानस (Pasteurianus) यीस्ट की प्रमुख

किदवाई, रफी अहमद
(देखिये पृ० ६)

किला (देखिए पृ० १६–१७)

वारविकशायर (इंग्लैंड) का दुर्ग
खाई से प्रवेशद्वार

प्रजातियाँ प्रयुक्त की जाती हैं। यीस्ट विभिन्न प्रकार की शर्कराओं का किण्वित करने में समर्थ है, परंतु टेट्रोस, पेंटोस या हेप्टोस शर्कराओं पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ग्लूकोस सबसे शीघ्र किण्वित होता है। बहु-शर्कराएँ सर्वप्रथम जलविश्लेषित होकर एकशर्कराओं में परिवर्तित होने के अनंतर किण्वित होती हैं। ऐल्कोहलीय किण्वन के द्वारा औद्योगिक एल्कोहल, ऐल्कोहलीय पेय, यवमदिरा, द्राक्षमदिरा, यवासवन (Brewing) पावरोटी तथा यीस्ट का निर्माण व्यापारिक पैमाने पर किया जाता है।

२. लैक्टिक अम्ल किण्वन—विभिन्न प्रकार के लैक्टिक बैक्टीरिया शर्करा के किण्वन द्वारा लैक्टिक अम्ल उत्पन्न करते हैं :

$C_6H_{12}O_6$ हेक्सोज (शर्करा) → $2\,C_3H_6O_3$ लैक्टिक अम्ल

पशुओं के ऊतकों में यह क्रिया ग्लाइकोविश्लेषण (Glycolysis) कहलाती है। लैक्टिक अम्ल का निर्माण तुरंत प्रारंभ नहीं होता, वरन् इसकी एक त्वरण अवधि होती है, जो फास्फेट की उपस्थिति में घट जाती है। विभिन्न शर्कराएँ निम्नांकित क्रम से किण्वित होंगी

ग्लूकोस > मैनोस > डेक्स्ट्रोस > गैलैक्टोस > लैक्टोस

औद्योगिक रूप में लैक्टिक अम्ल का निर्माण मक्का, पनीर, शीरे के साथ ०.५–२.५% लैक्टो-बैक्टीरिया का संवर्ध डालकर किण्वित करके किया जाता है। ४२–५०° सें० पर ३–४ दिन में किण्वन पूर्ण हो जाता है।

३. प्रोपियोनिक किण्वन—यह प्रोपियोनिक बैक्टीरिया के द्वारा, जो अवातजीवी हैं, संपादित होता है। इनके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के बैक्टीरिया भी प्रोपियोनिक अम्ल उत्पन्न कर सकते हैं। प्रोपियोनिक बैक्टीरिया के द्वारा ग्लूकोस, लैक्टिक अम्ल, मैलिक अम्ल तथा कभी कभी ग्लिसरोल से प्रोपियोनिक अम्ल और साथ साथ सक्सिनिक अम्ल बनते हैं। प्रत्येक दशा में कार्बन डाइऑक्साइड उत्पन्न होता है।

४. फार्मिक किण्वन—इस किण्वन को संपादित करनेवाले अनेक प्रकार के बैक्टीरिया में (बैक्टीरियम कोली, Bacterium Coli) अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह पशुओं की बड़ी आँत में पाया जाता है। जब ये बैक्टीरिया शर्करा पर क्रिया करते हैं तो फार्मिक अम्ल उत्पन्न होता है। परंतु इस प्रकार के किण्वन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें हाइड्रोजन गैस भी निकलती है। हाइड्रोजन तथा कार्बन डाइऑक्साइड में १ : १ का अनुपात रहता है।

$$2C_6H_{12}O_6 + H_2O \rightarrow 2CH_3CHOHCOOH + C_2H_5OH + CH_3COOH + 2\,CO_2 + 2\,H_2$$
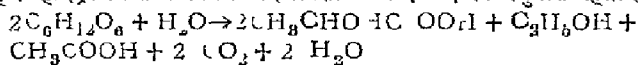
यह हाइड्रोजन फार्मिक अम्ल के विघटन से ही संभव है। साथ में ऐल्कोहल और ऐसीटिक तथा लैक्टिक अम्ल भी बनते हैं।

$$HCOOH = H_2 + CO_2$$
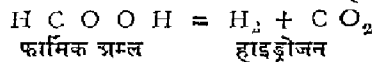
फार्मिक अम्ल → हाइड्रोजन

पाइरुविक अम्ल के किण्वन से भी फार्मिक अम्ल मुख्य पदार्थ के रूप में बनता है।

$$CH_3COCOOH + H_2O \rightarrow (CH_3COOH) + HCOOH$$

पाइरुविक अम्ल → ऐसीटिक अम्ल + फार्मिक अम्ल
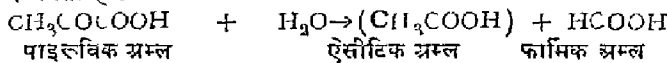
५. ब्यूटिल ब्यूटरिक-किण्वन—यह अत्यंत जटिल किण्वन है। यह क्लास्ट्रीडिया जीवाणुओं द्वारा जो पूर्णतः अवातजीवी है, संभव है। शर्कराओं या संबंधित यौगिकों पर इनकी क्रिया द्वारा ब्यूटरिक अम्ल के अतिरिक्त ब्यूटिल ऐल्कोहल, ऐसीटोन, आइसोप्रोपिल ऐल्कोहल, ऐसीटिक अम्ल, फार्मिक अम्ल, एथिल ऐल्कोहल, कार्बन डाइऑक्साइड तथा हाइड्रोजन में से एक या अधिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के ब्यूटरिक किण्वन का पता सर्वप्रथम १८६१ ई० में लुई पास्तुर ने लगाया। ब्यूटरिक अम्ल का निर्माण C_2– (C_2–) यौगिकों से ही संभव है। ब्यूटिल ऐल्कोहल इसी अम्ल के अपचयन द्वारा बनता है।

६. उपचयन किण्वन—ये वास्तविक किण्वन नहीं हैं, क्योंकि इनमें ऑक्सिजन प्रयुक्त होता है। परंतु औद्योगिक विधियों में कोई भी जैव-रासायनिक क्रिया, जो जीवाणुओं द्वारा संपन्न हो सके, किण्वन कहलाती है। इस प्रकार के किण्वनों में एथिल ऐल्कोहल का ऐसीटिक अम्ल में परिवर्तन तथा शर्कराओं से सिट्रिक, फ्यूमेरिक तथा ऑक्सैलिक अम्लों के निर्माण प्रमुख हैं।

सुरा को वायुमंडल में खुला रखकर अम्ल उत्पादन की घटना का पता लगाते समय सर्वप्रथम लुई पास्तुर ने सन् १८६० में दो प्रकार के जीवाणुओं को अम्लता उत्पादन के लिये उत्तरदायी बताया। सन् १८९९ में बेरिक ने उन जीवाणुओं को जो ऐसीटिक अम्ल उत्पन्न करते हैं, ऐसीटोबैक्टर (Acetobacter) नाम दिया। इन जीवाणुओं की सबसे बड़ी विशेषता है ऐल्कोहल को ऐसीटिक अम्ल में परिवर्तित करने की।

$$CH_3CH_2OH + O_2 \rightarrow CH_3COOH + H_2O$$
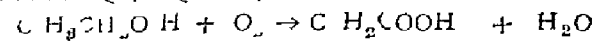
आजकल इस किण्वन का उपयोग ऐसीटिक अम्ल का व्यापारिक मात्रा में निर्माण करने में किया जाता है।

शर्कराओं से सिट्रिक अम्ल बनाने की क्षमता अनेक जीवाणुओं में प्राप्त हुई है, परंतु इनमें सिट्रोमाइसीज (Citromyces) का उपयोग सिट्रिक अम्ल का औद्योगिक स्तर पर निर्माण करने के लिये होता है। इस प्रकार के किण्वन से प्राप्ति कम होने के कारण अब एक प्रकार के कवक (फंगस) ऐस्परजिलस नाइजर का अत्यधिक उपयोग होने लगा है।

रिज़ोपस निग्रिकन्स नामक जीवाणु एथिल ऐल्कोहल तथा ऐसीटिक अम्ल को फ्यूमेरिक अम्ल में परिवर्तित करने की क्षमता रखते हैं। १०० ग्राम शर्करा से ५० ग्राम अम्ल प्राप्त किया जा सकता है।

उपयुक्त औद्योगिक महत्वों के अतिरिक्त किण्वन द्वारा रसोईघरों तथा पावरोटी विक्रेताओं के लिये प्रचुर मात्रा में खाद्य यीस्ट का प्रयोग किया जाने लगा है। इस खाद्य यीस्ट का निर्माण शर्करा के किण्वन द्वारा नाइट्रोजन तथा फास्फोरस की उपस्थिति में वृहत् पैमाने में किया जाता है। इस यीस्ट को सुखाकर प्रयोग में लाया जाता है।

किण्वन द्वारा ग्लिसरोल जैसे महत्वपूर्ण पदार्थ का निर्माण भी होने लगा है। प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी में वसीय पदार्थों की उपलब्धि न होने के कारण किण्वनविधि से निर्माण का आश्रय लिया गया। ऐल्कोहलीय किण्वन में थोड़े से परिवर्तन करके ग्लिसरोल की उपलब्धि की जाती है। ये परिवर्तन न्यूबर्ग का द्वितीय तथा तृतीय विधियाँ कहलाती हैं। इनमें क्रमशः सोडियम बाइसल्फाइट तथा क्षारीय माध्यम का प्रयोग ऐल्कोहलीय किण्वन में किया जाता है।

सं०ग्रं०—रेमंड ई० कर्क तथा डी० एफ० ओथमर : एन्साइक्लोपीडिया ऑव केमिकल टेक्नालोजी, भाग ६ (१९५१), के० वी० थिमान : लाइफ ऑव बैक्टीरिया (मैकमिलन कंपनी, न्यूयार्क, १९५५), अर्नेस्ट वाल्डविन : डाइनैमिक ऐस्पेक्ट ऑव बायोकेमिस्ट्री (केंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५७)। (शि० गो० मि०)

कि-त्से ईसा से लगभग ११०० वर्ष पूर्व जब चीन के शेंग राजवंश को चाऊ राजवंश ने पराजित कर दिया तो शेंग राजवंश का कि-त्से नामक एक व्यक्ति पाँच हजार चीनियों को लेकर पूर्व दिशा की ओर चल पड़ा और चो सेन (कोरिया) नामक देश बसाया। वहाँ चीनी संस्कृति, कलाकौशल आदि का प्रसार प्रचार हुआ और रेशम उद्योग विकसित हुआ। कि-त्से के वंशज वहाँ लगभग नौ सौ वर्षों तक राज्य करते रहे। (प० ला० गु०)

कितव बलूचिस्तान निवासी एक कबीला। इनका उल्लेख महाभारत में हुआ है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय ये लोग उपहार स्वरूप बकरी, भेड़ा, गाय, ऊँट और फलासव (कदाचित् खजूर की शराब) लाए थे। (प० ला० गु०)

किदवई, रफी अहमद भारतीय राजनीति के जाज्वल्यमान नक्षत्र थे। जन्म बाराबंकी जिले के मसौली ग्राम के एक जमींदार उच्चपदस्थ सरकारी अधिकारी के परिवार में हुआ था। अपने राष्ट्रीय विचारोंवाले चाचा के संरक्षण में रफी अहमद के व्यक्तित्व का विकास हुआ। उन्होंने गवर्नमेंट हाई स्कूल (बाराबंकी) से मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की और एम० ए० ओ० कालेज, अलीगढ़ से कला में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। दो वर्ष पश्चात् जब उनकी कानून की परीक्षा प्रारंभ होनेवाली थी, उन्होंने महात्मा गांधी के आह्वान पर सरकार द्वारा नियंत्रित एम० ए० ओ० कालेज का अन्य कतिपय सहपाठियों के साथ बहिष्कार कर दिया और असहयोग

किदवाई, रफी अहमद
(देखिये पृ० ६)

किला (देखिए पृ० १६–१७)
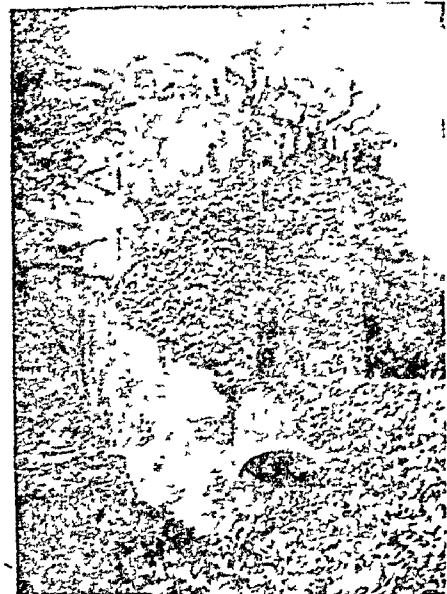
वारविकशायर (इंग्लैंड) का दुर्ग
खाई से प्रवेशद्वार

किला (देखिए पृष्ठ १६-१७)

बीदर का किला
नगर तथा किले के बीच की तीन परिखायें
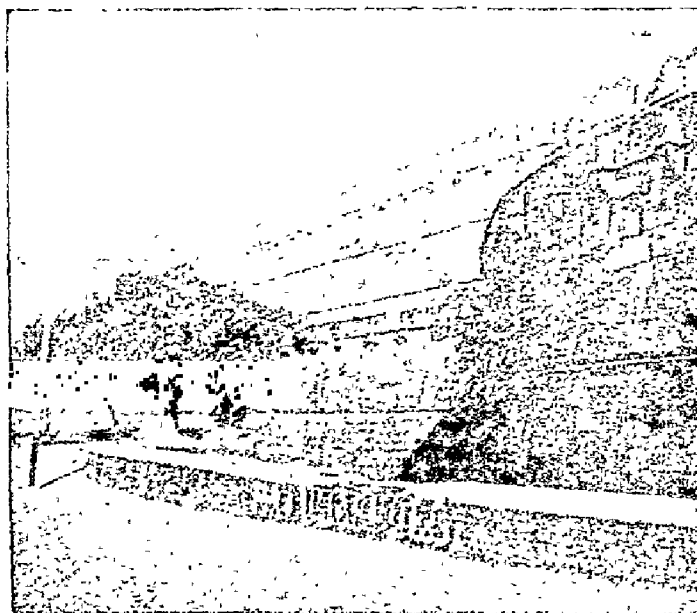
आगरा का किला
किले की दक्षिणी-पश्चिमी दिशा में दोहरी दीवार

आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। उनके चाचा विलायत अली खाँ तबतक दिवंगत हो चुके थे। वे प्रायः घर से दूर रहते थे। ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध प्रदर्शन करने और नारे लगाने के अभियोग में उन्हें दस मास का कठोर कारावास का दंड दिया गया।

रफी अहमद का विवाह सन् १६१८ में हुआ था जिससे उन्हें एक पुत्र हुआ। दुर्भाग्यवश बच्चा सात वर्ष की आयु में ही चल बसा।

कारावास से मुक्ति के पश्चात् रफी अहमद मोतीलाल नेहरू के आवास आनंदभवन चले गए। मोतीलाल नेहरू ने उन्हें अपना सचिव नियुक्त कर दिया। वे मोतीलाल नेहरू द्वारा संगठित स्वराज्य पार्टी के सक्रिय सदस्य हो गए। किदवई का नेहरूद्वय और विशेषकर जवाहरलाल में अटूट विश्वास था। उनकी संपूर्ण राजनीति जवाहरलाल जी के प्रति मोह से प्रभावित रही। वे नेहरू के पूरक थे। नेहरू जी योजना बनाते थे और रफी अहमद उसे कार्यान्वित करते थे। वे अच्छे वक्ता नहीं थे, लेकिन संगठन की उनमें अपूर्व क्षमता थी। सन् १६२६ में वे स्वराज्य पार्टी के टिकट पर लखनऊ फैजाबाद क्षेत्र से केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और स्वराज्य पार्टी के मुख्य सचेतक नियुक्त किए गए। रफी अहमद गांधी-इरविन-समझौते से असंतुष्ट थे। प्रतिक्रियास्वरूप स्वराज्य-प्राप्ति-हेतु क्रांति का मार्ग ग्रहण करने के लिये उद्यत थे। इस संबंध में सन् १६३१ के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कराँची अधिवेशन के अवसर पर उन्होंने मानवेंद्रनाथ राय से परामर्श किया। उनके परामर्शानुसार किदवई ने जवाहरलाल नेहरू जी के साथ इलाहाबाद और समीपवर्ती जिलों के किसानों के मध्य कार्य करना प्रारंभ किया और जमींदारों द्वारा किए जा रहे उनके दोहन और शोषण की समाप्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के निर्णयानुसार रफी अहमद ने केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। वे उत्तर प्रदेश कांग्रेस के महामंत्री और बाद में अध्यक्ष निर्वाचित हुए। सन् १६३७ के महानिर्वाचन में वे उत्तर प्रदेश कांग्रेस के चुनाव-संचालक थे। वे स्वयं दो स्थानों से प्रत्याशी रहे, पर दोनों क्षेत्रों से पराजित हुए। मुसलिम लीग के प्रभाव के कारण उत्तर प्रदेश में मुसलमानों के लिये सुरक्षित स्थानों में से एक पर भी कांग्रेस प्रत्याशी विजयी न हो सका। रफी अहमद बाद में एक उपनिर्वाचन में विजयी हुए। वे उत्तर प्रदेश सरकार में राजस्वमंत्री नियुक्त किए गए। उत्तर प्रदेश दखीलकारी (टेनेंसी) विधेयक उनके मंत्रित्वकाल की क्रांतिकारी देन थी। द्वितीय महायुद्ध के समय कांग्रेस के निर्णयानुसार सभी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिए।

रफी अहमद का व्यक्तित्व अत्यंत रहस्यमय और निर्भीक था। उत्तर प्रदेश मंत्रिमंडल में वरिष्ठ पद पर रहकर उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिये उच्च कमान के आधिकारिक प्रत्याशी पट्टाभि सीतारमैया के विरुद्ध सुभाषचंद्र बोस को खुला समर्थन दिया और उनके पक्ष में प्रचार किया। श्री बोस विजयी हुए। सन् १६४६ में उन्होंने अध्यक्ष पद के लिये सरदार वल्लभ भाई पटेल के प्रत्याशी पुरुषोत्तमदास टंडन के विरुद्ध डा० सीतारमैया का समर्थन किया। श्री टंडन पराजित हुए।

सन् १६४६ में रफी अहमद किदवई पुनः उत्तर प्रदेश के राजस्वमंत्री नियुक्त हुए। उन्होंने कांग्रेस के चुनाव घोषणापत्र के अनुसार जमींदारी उन्मूलन का प्रस्ताव विधान सभा द्वारा सिद्धांत रूप में स्वीकृत कराया। देशविभाजन के समय वे उत्तर प्रदेश के गृहमंत्री थे। श्री किदवई किसी भी राष्ट्रीय मुसलमान से अधिक धर्मनिरपेक्षता के पक्षपाती थे पर दुर्भाग्यवश उनके विरुद्ध सांप्रदायिकता को प्रश्रय देने की तीव्र चर्चा प्रारंभ हो गई। इस प्रकरण को समाप्त करने के लिये जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें केंद्र में बुला लिया। वे केंद्रीय मंत्रिमंडल के संचार एवं नागरिक उड्डयन मंत्री नियुक्त किए गए।

जवाहरलाल जी की समाजवाद में आस्था थी और सरदार पटेल दक्षिणपंथी विचारधारा के पोषक थे। कांग्रेस संगठन पर सरदार का अधिकार था। यद्यपि सरदार पटेल ने नेहरू जी को प्रधान मंत्री स्वीकार कर लिया था, तथापि किदवई को इस कटु सत्य का स्पष्ट भान था कि सरदार पटेल की उपस्थिति में नेहरू जी शासन के नाममात्र के अध्यक्ष रहेंगे। वे नेहरू जी का मार्ग निष्कंटक बनाना चाहते थे, जिससे कांग्रेस की सत्ता उनके हाथ में हो। रफी अहमद अपने प्रयास में विफल रहे। उत्तर प्रदेश में रफी-समूह के विधायकों पर अनुशासनहीनता के आरोप लगाकर उसके नेताओं को कांग्रेस से निष्कासित कर दिया गया। रफी-समूह विरोध पक्ष में आ गया। मई, १६५१ में कांग्रेस महासमिति की आहूत बैठक में टंडन जी से समझौता न होने पर आचार्य कृपलानी ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया, पर रफी की अनिश्चय की स्थिति बनी रही। यदि वे नेहरू जी का मोह त्यागकर कांग्रेस से पृथक् हो गए होते तो या तो राजनीति से समाप्त हो जाते या देश के सर्वोच्च नेता होते और शीघ्र ही शासन की बागडोर उनके हाथ में आ जाती। जुलाई में बंगलोर अधिवेशन से निराश होकर उन्होंने कांग्रेस की प्रारंभिक सदस्यता और केंद्रीय मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया और किसान मजदूर प्रजा पार्टी की सदस्यता स्वीकार कर ली। जवाहरलाल जी के कांग्रेस अध्यक्ष निर्वाचित होने के पश्चात् रफी अहमद पुनः कांग्रेस में लौट आए।

सन् १६५२ में बहराइच संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से विजयी होने के पश्चात् वे भारत के खाद्य और कृषि मंत्री नियुक्त हुए। संचार और नागरिक उड्डयन मंत्री के रूप में कई क्रांतिकारी कार्यों के लिये उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। सभी को शंका थी कि सदा से अशुभ खाद्य मंत्रालय उनके राजनीतिक भविष्य के लिये भी अशुभ सिद्ध होगा। पर किदवई ने चमत्कार कर दिया। कृत्रिम अभाव की स्थिति को समाप्त करने के लिये मनोवैज्ञानिक उपचार के आवश्यक पग उठाए और खाद्यान्न व्यापार को नियंत्रणमुक्त कर दिया। प्रकृति ने भी किदवई का साथ दिया। यह उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा का चरमोत्कर्ष था। शीघ्र ही उपप्रधान मंत्री के रिक्त स्थान पर उनकी नियुक्ति की संभावना थी। लेकिन सन् १६३६ से ही उच्च रक्तचाप और हृद्रोग से पीड़ित रफी अहमद के स्वास्थ्य ने उनका साथ नहीं दिया। २४ अक्टूबर, १६५४ को हृदयगति रुक जाने से उनका दिल्ली में देहावसान हो गया। (ला० ब० पां०)

किनाबुलु (प्राचीन नाम किनिबालू) हिंदेशिया के अंतर्गत स्थित कलिमंतन (बोर्नियो) द्वीप के उत्तरी भाग में स्थित १३,४५५ फुट ऊँचा पर्वत शिखर, जो इस द्वीप का सबसे ऊँचा शिखर है।

(प० ला० गु०)

किनाराम, बाबा उत्तर भारतीय संत परंपरा के एक प्रसिद्ध संत जिनकी यशःसुरभि परवर्ती काल में संपूर्ण भारत में फैल गई। वाराणसी की चंदौली तहसील के ग्राम रामगढ़ में एक कुलीन रघुवंशी क्षत्रिय परिवार में संवत् १६८४ वि० में इनका जन्म हुआ। बचपन से ही आध्यात्मिक संस्कार अत्यंत प्रबल थे। तत्कालीन रीत्यनुसार बारह वर्षों की अल्प वय में, इनकी घोर अनिच्छा रहते हुए भी, विवाह कर दिया गया किंतु दो तीन वर्षों बाद द्विरागमन की पूर्व संध्या को इन्होंने हठपूर्वक माँ से माँगकर दूध भात खाया। उन दिनों दूध भात मृतक संस्कार के बाद अवश्य खाया जाता था। दूसरे दिन सबेरे ही वधू के देहांत का समाचार आ गया। सबको आश्चर्य हुआ कि इन्हें पत्नी की मृत्यु का पूर्वाभास कैसे हो गया।

यह विरक्त तो रहते ही थे, घर से भी निकल पड़े और घूमते फिरते गाजीपुर जिले के कारो ग्राम में रामानुजी महात्मा शिवाराम की सेवा में पहुँचे। कुछ समय बाद दीक्षा देने के पूर्व महात्मा जी ने परीक्षार्थ इनसे स्नान ध्यान के सामान लेकर गंगातट पर चलने को कहा। यह शिवाराम जी की पूजनादि की सामग्री लेकर गंगातट से कुछ दूर पहुँच कर रुक गए तथा गंगाजी को झुककर प्रणाम करने लगे। जब सिर उठाया तब देखा कि भागीरथी का जल बढ़कर इनके चरणों तक पहुँच गया है। उन्होंने इस घटना को गुरु की महिमा मानी। शिवाराम जी दूर से यह सब देख रहे थे। उन्होंने किशोर किनाराम को असामान्य सिद्ध माना तथा मंत्र दीक्षा दी। पत्नी की मृत्यु के बाद शिवाराम जी ने जब पुनर्विवाह किया तब किनाराम जी ने उन्हें छोड़ दिया। घूमते घामते नईडीह गाँव पहुँचे। वहाँ एक बूढ़ी बहुत रो कलप रही थी। पूछने पर उसने बताया कि उसके एकमात्र पुत्र को बकाया लगान के बदले जमींदार के सिपाही पकड़ ले गए,

हैं। किनाराम जी ने वृद्धा के साथ जमीदार के द्वार पर जाकर देखा कि वह लडका धूप में बैठा रखा गया है। जमीदार से उसे मुक्त करने का आग्रह व्यर्थ गया तब किनाराम ने जमीदार से कहा—"जहाँ लडका बैठा है वहाँ की धरती खुदवा ले और जितना तेरा रुपया हो, वहाँ से ले ले।" हाथ दो हाथ गहराई तक खुदवाने पर वहाँ अशेष रुपए पडे देखकर सब स्तभित रह गए। लडका तो तुरत बधनमुक्त कर ही दिया गया, जमीदार ने बहुत बहुत क्षमा मागी। बुढिया ने वह लडका किनाराम जी को ही सौप दिया। बीजाराम उसका नाम था और सभवत किनाराम जी के शरीर त्याग पश्चात् वाराणसी के उनके मठ की गद्दी पर वही अधिष्ठित हुआ।

औघडो के मान्य स्थल गिरनार पर किनाराम जी को दत्तात्रेय के स्वय दर्शन हुए थे जो रुद्र के बाद औघडपन के द्वितीय प्रतिष्ठापक माने जाते है। ऐसी मान्यता है कि परम सिद्ध औघडो को भगवान् दत्तात्रेय के दर्शन गिरनार पर आज भी होते है। वर्तमान काल मे, किनारामी औघडपथी परमसिद्धो की बारहवी पीढी मे, वाराणसीस्थ औघड बाबा भगवान राम को भी गिरनार पर्वत पर ही दत्तात्रेय जी का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ था। गिरनार के बाद किनाराम जी बीजाराम के साथ जूनागढ पहुँचे। वहाँ भिक्षा माँगने के अपराध मे उस समय के नवाब के आदमियो ने बीजाराम को जेल मे बद कर दिया तथा वहाँ रखी ९८१ चक्कियो मे से, जिनमे से अधिकतर पहले से ही बदी साधु सत चला रहे थे, एक चक्की इनको भी चलाने को दे दिया। किनाराम जी ने सिद्धिबल से यह जान लिया तथा दूसरे दिन स्वय नगर मे जाकर भिक्षा माँगने लगे। वह भी कारागार पहुँचाए गए और उन्हें भी चलाने के लिये चक्की दी गई। बाबा ने बिना हाथ लगाए चक्की से चलने को कहा किंतु यह तो उनकी लीला थी, चक्की नही चली। तब उन्होंने पास ही पडी एक लकडी उठाकर चक्की पर मारी। आश्चर्य कि सब ९८१ चक्कियाँ अपने आप चलने लगी। समाचार पाकर नवाब ने बहुत क्षमा माँगी और बाबा के आदेशानुसार यह वचन दिया कि उस दिन से जो भी साधु महात्मा जूनागढ आएँगे उन्हे बाबा के नाम पर ढाई पाव आटा रोज दिया जायगा। नवाब की वशपरपरा भी बाबा के आशीर्वाद से ही चली।

उत्तराखड हिमालय मे बहुत वर्षो तक कठोर तपस्या करने के बाद किनाराम जी वाराणसी के हरिश्चद्र घाट के श्मशान पर रहनेवाले औघड बाबा कालूराम (कहते है, यह स्वय भगवान दत्तात्रेय थे) के पास पहुँचे कालूराम जी बडे प्रेम से दाह किए हुए शवो की बिखरी पडी खोपडियो को अपने पास बुला बुलाकर चने खिलाते थे। किनाराम को यह व्यर्थ का खिलवाड लगा और उन्होने अपनी सिद्धि शक्ति से खोपडियो का चलना बद कर दिया। कालूराम ने ध्यान लगाकर समझ लिया कि यह शक्ति केवल किनाराम मे है। इन्हे देखकर कालूराम ने कहा—"भूख लगी है। मछली खिलाओ।" किनाराम ने गगा तट की ओर मुख कर कहा—"गगिया, ला एक मछली दे जा।" एक बडी मछली स्वत पानी से बाहर आ गई। थोडी देर बाद कालूराम ने गगा मे बहे जा रहे एक शव को किनाराम को दिखाया। किनाराम ने वही से मुर्दे को पुकारा, वह बहता हुआ किनारे आ लगा और उठकर खडा हो गया। बाबा किनाराम ने उसे घर वापिस भेज दिया पर उसकी माँ ने उसे बाबा की चरणसेवा के लिये ही छोड दिया।

इन सब के बाद, कहते है, कालूराम जी ने अपने स्वरूप का दर्शन दिया और किनाराम को साथ, क्रीकुड (क्रमिकुड) (भदैनी, वाराणसी) ले गए जहाँ उन्हें बताया कि इस स्थल को ही गिरनार समझो। समस्त तीर्थो का फल यहाँ मिल जायगा। किनाराम तबसे मुख्यत उसी स्थान पर रहने लगे। अपने प्रथम गुरु वैष्णव शिवाराम जी के नाम पर उन्होने चार मठ स्थापित किए तथा दूसरे गुरु, औघड बाबा कालूराम की स्मृति मे क्रीकुड (वाराणसी), रामगढ (चदौली तहसील, वाराणसी), देवल (गाजीपुर) तथा हरिहरपुर (जौनपुर) मे चार औघड गद्दियाँ कायम की। इन प्रमुख स्थानो के अतिरिक्त तकिया भी कितनी ही है।

सहज ही प्रश्न उठता है कि औघड कौन है? औघड (सस्कृत रूप अघोर) शक्ति का साधक होता है। चडी, तारा, काली यह सब शक्ति के ही रूप हैं, नाम है। यजुर्वेद के रुद्राध्याय मे रुद्र की कल्याणकारी मूर्ति को 'शिवा' की सज्ञा दी गई है, शिवा को ही 'अघोरा' कहा गया है। शिव और शक्ति सबधी तत्र ग्रथ यह प्रतिपादित करते है कि वस्तुत यह दोनो भिन्न नहीं, एक अभिन्न तत्व है। रुद्र अघोरा शक्ति मे सयुक्त होने के कारण ही शिव है। सक्षेप मे इतना जान लेना ही हमारे लिये यहाँ पर्याप्त है। बाबा किनाराम ने इसी अघोरा शक्ति की साधना की थी। ऐसी साधना के अनिवार्य परिणामस्वरूप चमत्कारिक दिव्य सिद्धियाँ अनायास प्राप्त हो जाती है, ऐसे साधक के लिये असभव कुछ नही रह जाता। वह परमहस पद प्राप्त होता है। कोई भी ऐसा सिद्ध प्रदर्शन के लिये चमत्कार नही दिखाता, उसका ध्येय लोक कल्याण होना चाहिए। औघड साधक की भेदबुद्धि का नाश हो जाता है। वह प्रचलित सासारिक मान्यताओ से बँधकर नही रहता। सब कुछ का अवधूनन कर, उपेक्षा कर ऊपर उठ जाना ही अवधूत पद प्राप्त करना है।

किनाराम लिखित पाँच पोथियाँ प्रकाशित हुई है जिनमे प्रमुख है 'विवेकसार' जो दत्तात्रेय जी द्वारा उन्हे मिली शिक्षाओ का समुच्चय है। इसमे अघोरसाधना, इसका आरभ, महत्ता, अभेदबुद्धिप्राप्ति के साधन, आत्मज्ञानप्राप्ति के उपाय और अघोर दर्शन के विषय मे विचार किया गया है।

सवत् १८२६ मे एक सौ बयालीस वर्षो की आयु मे बाबा किनाराम ने स्वेच्छा से शिवसायुज्य प्राप्त किया। (स०)

किन्नर हिमालय मे आधुनिक कन्नौर प्रदेश के पहाडी, जिनकी भाषा कन्नौरी, गलचा, लाहौली आदि बोलियो के परिवार की है।

(१) किन्नर हिमालय के क्षेत्रो मे बसनेवाली एक मनुष्य जाति का नाम है, जिसके प्रधान केद्र हिमवत् और हेमकूट थे। पुराणो और महाभारत की कथाओ एव आख्यानो मे तो उनकी चर्चाएँ प्राप्त होती ही है, कादबरी जैसे कुछ साहित्यिक ग्रथो मे भी उनके स्वरूप, निवासक्षेत्र और क्रियाकलापो के वर्णन मिलते है। जैसा उनके नाम 'कि + नर' से स्पष्ट है, उनकी योनि और आकृति पूर्णत मनुष्य की नही मानी जाती। सभव है, किन्नरो से तात्पर्य उक्त प्रदेश मे रहनेवाले मगोल रक्तप्रधान उन पीतवर्ण लोगो से हो, जिनमे स्त्री-पुरुष-भेद भौगोलिक और रक्तगत विशेषताओ के कारण आसानी से न किया जा सकता हो। किन्नरो की उत्पत्ति के बारे मे दो प्रवाद है—एक तो यह कि वे ब्रह्मा की छाया अथवा उनके पैर के अँगूठे से उत्पन्न हुए और दूसरा यह कि अरिष्टा और कश्यप उनके आदिजनक थे। हिमालय का पवित्र शिखर कैलाश किन्नरो का प्रधान निवासस्थान था, जहाँ वे शकर की सेवा किया करते थे। उन्हे देवताओ का गायक और भक्त समझा जाता है, और यह विश्वास है कि यक्षो और गधर्वो की तरह वे नृत्य और गान मे प्रवीण होते थे। विराट् पुरुष, इद्र और हरि उनके पूज्य थे और पुराणो का कथन है कि कृष्ण का दर्शन करने वे द्वारका तक गए थे। सप्तर्षियो से उनके धर्म जानने की भी कथाएँ प्राप्त होती हैं। उनके सैकडो गण थे और चित्ररथ उनका प्रधान अधिपति था। (वि० पा०)

(२) मानव और पशु अथवा पक्षी सयुक्त भारतीय कला का एक अभिप्राय। इसकी कल्पना अति प्राचीन है। शतपथ ब्राह्मण (७.५.२.३२) मे अश्वमुखी मानव शरीरवाले किन्नर का उल्लेख है। बौद्ध साहित्य मे किन्नर की कल्पना मानवमुखी पक्षी के रूप मे की गई है। मानसार मे किन्नर के गरुडमुखी, मानवशरीरी और पशुपदी रूप का वर्णन है। इस अभिप्राय का चित्रण भरहुत के अनेक उच्चित्रणो मे हुआ है।

(प० ला० गु०)

किन्नरी सस्कृत ग्रथो मे किन्नरी वीणा का उल्लेख हुआ है किंतु इसका आरभ फारस देश से अनुमान किया जाता है। बँगलोर के बसवनगुडी मदिर मे किन्नरी वादक का एक चित्र उत्कीर्णित है। 'सगीत रत्नाकर' मे इसका विस्तृत वर्णन है जिसके अनुसार यह तीन तुबियो पर आधारित दो-ढाई फुट लबा ततु वाद्य है। इसकी मझली तुबी बडी और अगल बगल की छोटी होती है। इसमे दो तार होते है जिनमे से एक दूसरे से कुछ ऊँचाई पर खूँटी से बँधा होता है। दाहिने हाथ से तार को छेडते हुए बायी हाथ की उँगली से स्वर स्थान को दबाकर बजाया जाता है। आकार के अनुसार इसके तीन भेद है—बृहती, मध्यमा और लघ्वी। (प० ला० गु०)

किरगीज यह मूलत उन तुर्क उपजातियो का नाम था जिनकी प्रारंभिक निवासभूमि येनिसी नदी की ऊपरी तलहटी मे थी । अब इस शब्द का प्रयोग रूस के अतर्गत किरगीज गणराज्य के उन निवासियों के लिये किया जाता है जो मिश्रित तुर्क मगोल रक्त के है और पशुपालन का धधा करते है । इस गणराज्य मे इनकी सख्या ४३ ८ प्रतिशत है । कुछ लोग ताजिक गणराज्य में भी बसे हुए है पर वहाँ इनकी सख्या अधिक नही है । (प० ला० गु०)

किरगीज गणतंत्र मध्य एशिया में स्थित सोवियत गणतत्र का एक राज्य । इसका क्षेत्रफल १,९८,५०० किलोमीटर (७,६०,४६० वर्ग-मील) तथा जनसख्या जनवरी १९७१ की गणना के अनुसार ३० लाख है जिसमे ४३ ८ प्रतिशत तुर्की मूल के किरगीज, २९ २ प्रतिशत रूसी, ११ ३ प्रतिशत उजबेकी, ४ १ प्रतिशत उक्रेनी लोग है । तातार, युगर, कजाक और ताजिक लोगो की भी कुछ बस्ती है । फ्रूजे नामक नगर (जन-सख्या १९०,०००) इसकी राजधानी है । यह गणराज्य इस्सिक-कुल, नरीन और ओश नामक तीन प्रशासनिक प्रांतो में विभक्त है ।

अधिकाश भूमि उच्च पर्वतीय तथा पठारी है । तियेनशान उच्च पर्वतश्रेणी पूर्व से पश्चिम फैली हुई है । खानतेंग्री तथा माउट विक्टरी पर्वतशिखर क्रमश ६,९९५ तथा ७,४३९ मीटर ऊँचे है । इस क्षेत्र मे हिमानियों की ऊँचाई समुद्रतल से प्राय १२,००० फुट ऊपर है । इस क्षेत्र के उत्तरी तथा पश्चिमी भागो मे अधिक वर्षा होती है । शेष भाग अपेक्षाकृत शुष्क है । प्राकृतिक वनस्पतियो के रूप मे ऊँचे पर्वतो पर प्राप्य अल्पाइन तथा उप अल्पाइन क्षेत्रों के घासवाले चरागाह है । वन तथा वन्य पशु अत्यत विरल है ।

क्षेत्रफल में छोटा होने पर भी यहाँ विभिन्न प्रकार की जलवायु पाई जाती है—जैसे मरुभूमि एव उपोष्ण कटिबधीय । स्टेपी और घने वनयुक्त जलवायु तथा टुड्रा एव ध्रुवप्रदेशीय हिमानीयुक्त जलवायु । अत सोवियत सघ की हर प्रकार की जलवायु इस क्षेत्र में उपलब्ध है ।

इसके परिणामस्वरूप कोमल मिस्री कपास के पौधे से लेकर कठजीवी टुड्रा के अनेक प्रकार के पेड पौधे यहाँ उगते है । जानवरो मे भी मरुभमीय ऊँट से लेकर टैगा क्षेत्र के एरमीन (Ermine) तक यहाँ मिलते है । जगली सेब, आलूचा तथा खूबानी स्वत उगते है । वनफूलो की प्रचुरता के कारण इस क्षेत्र म मधुमक्खी पालन अत्यत लाभप्रद है । क्षेत्र की कुल उपयोगी भूमि के लगभग ९०% मे चरागाह तथा घास प्राप्त होने के कारण भेड एव पशुपालन उद्योग अत्यधिक विकसित प्रमुख धधे हैं । १९७१ की गणना के अनुसार यहाँ ९,१२,०० गाएँ, २,४४,०० सुअर, ६,२०,००० भेडे और २,५५,००० बकरियाँ हैं । उन ऊँचे भागो मे जहाँ इन पशुओ का चराना सभव नही है दूध और गोश्त के लिये याक पाले जाते है । इस प्रदेश के ठिगने कद के घोडे भी प्रसिद्ध है ।

यहाँ खेती के योग्य भूमि केवल ७–८ प्रतिशत है । पर यह घरेलू उपयोग के लिये गेहूँ पैदा करने के लिये पर्याप्त है । गेहूँ के अतिरिक्त सन, चुकदर, तबाकू और चावल का भी उत्पादन होता है । खेतिहर उद्योग के साथ साथ अन्य उद्योगों का भी प्रसार और विकास हुआ है । यहाँ आधुनिक ढग के ५०० बडे कारखाने है जिनमे चीनी, चमडा, ऊनी और सूती कपडे, इजीनियरिंग के सामान और तेल का उत्पादन होता है । पारा, सुरमा कोयला, तेल, गैस, सीसा और राँगा यहाँ पाए जानेवाले खनिज है । इनमे पारा और सुरमा मुख्य है ।

(शा० ला० का०, प० ला० गु०)

किरथर पर्वत सिंध तथा बलूचिस्तान मे झालावान क्षेत्र की सीमा पर लगभग २६°१३' से २८°३६' उत्तर अक्षाश तथा ६७°११' से ६०°४०' पूर्व देशातर रेखाओ के मध्य फैली हुई पर्वतश्रेणी । मूला नदी जहाँ अपने पर्वतीय पथ से कच्छी मैदान मे उतरती है, वहाँ से उक्त पर्वत ठीक दक्षिण दिशा मे लगभग १६० मील तक, नग्न पथरीली पहाडियो की समातर श्रेणियो के रूप मे, फैला है । इसकी एक उपश्रेणी दक्षिणपूर्व मे कराची जिले तक चली गई है । यह पर्वत पहाडियो की एकही शृखलाबद्ध श्रेणी के रूप मे, मौज अतरीप तक चला गया है । इसकी सर्वाधिक चौडाई लगभग ६० मील है। जरदक नामक शिखर सर्वोच्च (७,४३० फुट) है । प्रधान उपशाखा लक्खी श्रेणी कहलाती है । कोलाची अथवा गज नदी किरथर पर्वतमाला में खड्ड बनाती हुई प्रवाहित होती है । इस पर्वतश्रेणी मे हरबाब, फुसी रोहेल, गर्रे आदि प्रमुख दर्रे है । इन्ही पहाडियो के नाम पर इस क्षेत्र में उपलब्ध चूनापत्थर का भूवैज्ञानिक नाम 'किरथर चूनापत्थर' पडा है । बलूची, जाट तथा ब्राहुई इन पहाडियो मे रहनेवाली प्रमुख जातियाँ है जिनका मुख्य धधा भेड पालना है । वन्य जीवो मे पर्वतीय भेड, काला भालू तथा चीता प्रमुख है । (शा० ला० का०)

किरात भारत की एक प्राचीन अनार्य (सभवत मगोल) जाति जिसका निवासस्थान मुख्यत पूर्वी हिमालय के पर्वतीय प्रदेश मे था । प्राचीन संस्कृत साहित्य मे किरातो का सबध पहाडो और गुफाओ से जोडा गया है और उनकी मुख्य जीविका आखेट बताई गई है । अथर्ववेद मे सर्पविष उतारने की ओषधियो के सबध मे किरात बालिका की स्वर्ण-कुदाल द्वारा पर्वतभूमि से भेषज खोदने का उल्लेख है—(अथर्व० १०४, १४) । वाजसनेयी सहिता (३०, १६) और तैत्तिरीय ब्राह्मण मे किरातो का सबध गुहा से बताया गया है—'गुहाभ्य किरातम ।' वाल्मीकि रामायण में किरात नारियो के तीखे जूडो का वर्णन है और उनका शरीरवर्ण सोने के समान वर्णित है—'किरातास्तीक्ष्णचूडाश्च हेमाभा प्रियदर्शना' (किष्किधाकाड, ४०।२७) ।

महाभारत मे किरातो के विषय मे अनेक निर्देश मिलते है जिनसे ज्ञात होता है कि उनकी गिनती बर्बर या अनार्य जातियो मे की जाती थी—'उग्राश्च भीमकर्माणस्तुषारायवना खसा, आध्रकाश्च पुलिंदाश्च किराताश्चोग्रविक्रमा । म्लेच्छाश्च पार्वतीयाश्च, (कर्ण०, ७३, १९–२०)। इन्हें हिमालय पर्वत मे निभृत बताया गया है—हिमवद्दुर्ग निलया किराता (द्रोण०, ४, ७)। सभापर्व, (अध्याय २६) मे प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम) के निकट अर्जुन की किरातों के साथ हुई लडाई का वर्णन है । महाभारत के सभापर्व के अतर्गत उपायन उपपर्व मे युधिष्ठिर के पास भेट मे किरात लोगो द्वारा लाए गए उपहारो का वर्णन है (सभा० ५२, ९–१२) । इसी प्रसग मे किरातो को फल-मूलभोजी, चर्मवस्त्रधारी, भयानक शस्त्र चलानेवाले और क्रूरकर्मा बताया गया है ।

संस्कृत काव्य मे किरातो का सबसे सुदर वर्णन शायद कालिदास ने किया है—'भागीरथी निर्झरसीकराणा वोढा मुहु कपित देवदारु । यद्वायुरन्विष्टमृगैं किरातैरासेव्यते भिन्नशिखडिबर्ह ', (कु० स०, १, १५) यहाँ—हिमालय पर्वत पर—गगा के निर्झरो से सिक्त, देवदारु वृक्षो को बार बार कपायमान करनेवाली और मयूरो के पखो के भार को अस्तव्यस्त कर देनेवाली वायु का (कस्तूरी ?) मृगो की खोज मे घूमनेवाले किरात सेवन करते है । रघु ने हिमालय प्रदेश की विजय के पश्चात् जब वहाँ से अपनी सेना का पडाव उठा लिया तब उस स्थान के वन्य किरातो ने रघु की सेना के हाथियो की ऊँचाई का अनुमान उनके गले के रस्सो की रगड से देवदारु वृक्षो के तनो पर उत्कीर्ण रेखाओ से किया (रघुवश ४, ७६) ।

प्लिनी, तॉलेमी और मेगैस्थनीज के लेखो मे भी किरातो के विषय मे कई उल्लेख है । तॉलेमी ने इन्हे किरादिया (Kirrhadia) लिखा है और भारत मे इनकी विस्तृत बस्तियो का उल्लेख किया है । खारवेल के प्रसिद्ध अभिलेखो में चीन और किरात दोनो का एकत्र उल्लेख है ।

जान पडता है, कालातर मे किरात लोग अपने मूलनिवास हिमालय के अतिरिक्त भारत के अन्य भागो में भी फैल गए थे । साँची (मध्यप्रदेश) के स्तूप पर किसी किरातभिक्षु के दान का उल्लेख है और दक्षिण भारत मे नागार्जुनीकोड के एक अभिलेख मे भी किरातो का वर्णन हुआ है । महाभारत मे उपायनपर्व के उपर्युक्त निर्देश मे किरातो की भेट मे चदन की भी गणना की गई है जिससे यह प्रतीत होता है कि कुछ किरातो की बस्तियाँ उस समय मैसूर आदि के समीपवर्ती प्रदेश में भी रही होंगी । मनुस्मृति मे कई अन्य अनार्य जातियो के समान किरातो को भी व्रात्य

क्षत्रियों में गणना की गई है—'पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः' (१०, ४३–४४)। यह भी संभव है कि किरात शब्द का प्रयोग वन्य जातियों के लिये साधारणतः होने लगा हो। सिक्किम के पश्चिम स्थित मोरंग में आज भी किरात नामक एक जाति बसती है। संभवतः किरातों का मूल निवासस्थान यहीं रहा होगा। (वि० कु० मा०)

किरातकूट (किराडू) पश्चिमी राजस्थान में जोधपुर जिले में उत्तर रेलवे के बाड़मेर–मुनावा रेलमार्ग पर खंडीन रेलवे स्टेशन से तीन मील पर एक प्राचीन उजाड़ बस्ती है जिसे आज किराडू कहते हैं। उसका मूल नाम किरातकूट या किरातकूप था। इसका प्राचीन इतिहास आज अनुपलब्ध है किंतु वहाँ से तेरहवीं शती ई० का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि यह प्रदेश सोलंकी नरेश कुमारपाल के सामंत अल्हणदेव चौहान के अधीन था। यहाँ एक वर्गमील के क्षेत्र में २४ मंदिरों के अवशेष बिखरे हुए हैं जिनमें केवल पाँच इस अवस्था में बच रहे हैं कि उनके आधार पर तत्कालीन कला की उत्कृष्टता का अनुमान किया जा सके। इनमें चार तो शिव मंदिर और एक विष्णु मंदिर है। इनमें सोमेश्वर मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। इसमें आठ स्तंभों पर बना अष्टभुजाकार मंडप है। गर्भगृह की दीवारों पर ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य आदि की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। बाहर की दीवारों पर कृष्णलीला, रामायण के अनेक प्रसंग और समुद्रमंथन के दृश्य अंकित हैं। विष्णु मंदिर में विष्णु की त्रिमुख मूर्ति है जिसका एक ओर का मुख वराह और दूसरी ओर का सिंह का है। (प० ला० गु०)

किरातमंडल आकाश में एक तारामंडल है जो सिंह और वृष राशियों के बीच से जरा नीचे है। अंग्रेजी में इसका नाम ओरायन (Orion) है। ग्रीक लोकगाथा के अनुसार ओरायन एक भारी शिकारी था। चंद्रमा की देवी डायना इसे देखकर इसके प्रेम में पड़ गई। डायना के भाई अपोलो ने इस बात से क्रोधित होकर छल द्वारा ओरायन का वध करा दिया। दुःखित डायना की प्रार्थना से मृत ओरायन को तारों में स्थान मिला। ओरायन के वध की अन्य कथाएँ भी हैं।

किरातमंडल आकाश का एक प्रमुख तारामंडल है, क्योंकि इसके अधिकतर तारे बहुत चमकदार हैं। इसके चार मुख्य तारे एक चौकोन सा बनाते हैं। ऊपर के दो तारे किरात के कंधे पर माने जाते हैं और नीचे के दो तारे उसकी जंघा पर। इस चौकोन के बीच में तीन तारे, जो बेड़े बेड़े हैं, इसकी पेटी पर माने जाते हैं। पेटी के नीचे तीन तारे खड़ी रेखा में हैं जो किरात की तलवार पर हैं। इनके अतिरिक्त दाहिनी ओर मंद प्रकाशवाले तारों की एकखड़ी कतार है जो सिंह की खाल मानी जाती है और बाईं ओर कंधे के ऊपर कुछ तारे हैं जो किरात की गदा माने जाते हैं (ये दोनों चित्र में नहीं दिखाए गए हैं)। तीन तारे इसके सिर पर हैं।

किरात मंडल

चौकोन के ऊपरी बाएँ कोने का तारा वीटेलजूज (Betelgeuse) है। यह प्रथम श्रेणी का ललछौंह रंग का तारा है। पृथ्वी से यह लगभग ३०० प्रकाश वर्ष दूर है। वीटेलजूज परिवर्तनशील तारा है, जिसका प्रकाश घटता बढ़ता रहता है (०.४ से १.३ श्रेणी तक)। यह प्रथम तारा है जिसका व्यास सन् १९२० में माउंट विलसन के १०० इंच के दूरदर्शी से माइकेलसन व्यतिकरणमापी (Interferometer) के सिद्धांत द्वारा ज्ञात किया गया था। इसका व्यास २५ लाख मील से ४० लाख मील तक घटता बढ़ता रहता है। यह तारा इतना बड़ा है कि इसके केंद्र पर यदि सूर्य रखा जाय तो पृथ्वी और मंगल दोनों इस तारे के भीतर ही परिक्रमा करेंगे। किंतु इस तारे का द्रव्यमान बहुत अधिक नहीं है और इसका औसत घनत्व बहुत ही कम है (वायु के घनत्व का हजारवाँ भाग)।
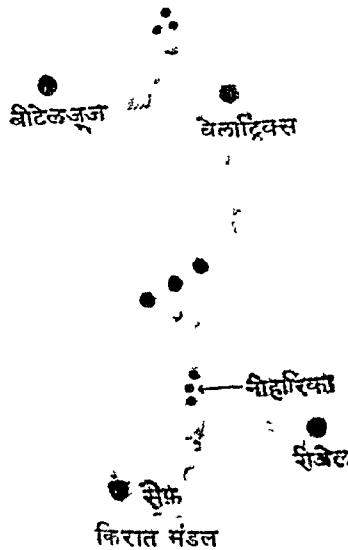
वीटलजूज से विपरीत कोने पर राजेल तारा है। यह सफेद रंग का तारा वीटेलजूज से अधिक चमकदार है। इसकी श्रेणी ०.३ है। इसके वर्णपट से पता चलता है कि यह युग्म तारा है। यह पृथ्वी से ५४० प्रकाश वर्ष दूर है। चौकोन के शेष दोनों तारे बेलाट्रिक्स और सैफ द्वितीय श्रेणी के हैं। पेटी पर के तीनों तारे भी द्वितीय श्रेणी के हैं। इनमें से पश्चिमी सिरे का तारा युग्म है।

किरात नीहारिका (M 42) : किरात की तलवार पर के तीन तारों में बीच का तारा वस्तुतः तारा नहीं, बल्कि एक नीहारिका है। दूरदर्शी से देखने पर यह प्रज्वलित गैस के रूप में दिखाई पड़ती है। नीहारिका इतनी बड़ी है कि साधारण दूरदर्शी से भी इसके प्रसार का अनुमान लग जाता है। यह नीहारिका गैस का बादल है, जो इसमें छिपे तारों के प्रकाश से प्रज्वलित है। ये तारे इतने ऊँचे ताप के हैं कि इस बादल के कण उद्दीप्त होकर स्वयं प्रकाश देने लगते हैं। इसके वर्णपट में हाइड्रोजन, आयनीकृत आक्सिजन और हीलियम की रेखाएँ प्रमुख हैं। इस प्रज्वलित नीहारिका में कुछ ऐसे रिक्त स्थान भी हैं जहाँ न तो कोई अपना प्रकाश है न किसी तारे का। ये काली नीहारिकाएँ हैं। ये भी गैस के बादल से बनी हैं, किंतु पास में कोई तारा न होने के कारण प्रज्वलित नहीं हैं। इसके विपरीत दूर से आनेवाले तारों के प्रकाश को भी ये रोक लेती हैं। किरातमंडल की नीहारिका पृथ्वी से लगभग ५०० प्रकाश वर्ष दूर है। (च० प्र०)

किरातार्जुनीयम् महाकवि भारवि द्वारा सातवीं शती ई० में रचित महाकाव्य, जिसे संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों की 'बृहत्त्रयी' में स्थान प्राप्त है। महाभारत में वर्णित किरातवेशी शिव के साथ अर्जुन के युद्ध की लघु कथा को आधार बनाकर कवि ने राजनीति, धर्मनीति, कूटनीति, समाजनीति, युद्धनीति, जनजीवन आदि का मनोरम वर्णन किया है। यह काव्य विभिन्न रसों से ओतप्रोत है। (प० ला० गु०)

किरीट १. एक प्रकार का मुकुट या मुकुट के रूप में धारण किया जानेवाला अलंकार—'मौलि चाथ मुकुट किरीटं पुनपुंसकम्'—(अमरकोश २, १०२)। शोभा, विजय या राज्यश्री के चिह्नस्वरूप माथे पर बाँधे जानेवाले आलंकारिक उपकरण तीन प्रकार के कहे गए हैं—मुकुट, अर्धचंद्र के आकार का; किरीट, नुकीला या एक शिखरवाला और मौलि, तीन शिखरोंवाला। जान पड़ता है, किरीट का प्रयोग युद्ध के लिये सुसज्जित वीर ही अधिकतर करते थे। सुंदर एवं देदीप्यमान किरीट को धारण करने के कारण अर्जुन का एक नाम किरीटी हो गया था। मूर्तियों में किरीटमुकुट के अनेक रूप उपलब्ध हैं। (वि० कु० मा०)

२. सूर्य के वर्णमंडल के परे के भाग को किरीट (Corona) कहते हैं। पूर्ण सूर्यग्रहण के समय वह सूर्य के चारों ओर प्रभामंडल के रूप में दृष्टिगत होता है। वह श्वेत वर्ण का होता है और श्वेत डालिया के पुष्प के सदृश सुंदर लगता है। किरीट अत्यंत विस्तृत प्रदेश है और प्रकाशमंडल के ऊपर उसकी ऊँचाई सूर्य के व्यास की कई गुनी होती है। दूरदर्शी की सहायता से उसका वास्तविक विस्तार ज्ञात नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्यों ज्यों सूर्य से दूर जाएँ प्रकाश की तीव्रता शीघ्रता से कम होती जाती है। अतः फोटोग्राफ पट्ट पर एक निश्चित ऊँचाई के पश्चात् किरीट के प्रकाश का चित्रण नहीं हो सकता। रेडियो दूरदर्शी किरीट के विस्तार का अधिक यथार्थता से निर्धारण करने में उपयुक्त सिद्ध हुआ है। इसके द्वारा निरीक्षण के अनुसार किरीट प्रकाशमंडल के ऊपर सूर्य के दस व्यासों के बराबर ऊँचाई से भी अधिक विस्तृत हो सकता है। किरीट के बाह्य भाग रेडियो विकिरण प्रेषित नहीं करते और न यही संभव है कि पृथ्वी से रेडियो तरंग किरीट तक भेजकर परावर्तित तरंग का अध्ययन किया जाय। अतः रेडियो दूरदर्शी की भी उपयोगिता सीमित है। राइल ने किरीट के

अध्ययन की एक विचित्र विधि निकाली है। प्रति वर्ष जून मास में टॉरस तारामंडल का एक तारा किरीट के समीप आता है। ज्यों ज्यों पृथ्वी की वार्षिक गति के कारण सूर्य शनैः शनैः इस तारे के संमुख होकर गमन करता है, तारे से आनेवाली रेडियो तरंग की तीव्रता का सतत मापन किया जाता है। यह तीव्रता किरीट की दृश्य सीमा तक तारे के पहुँचने से पहले ही कम होने लगती है। यह देखा गया है कि वास्तव में रेडियो तरंग की तीव्रता में सूर्य के अर्धव्यास की २० गुनी दूरी पर से ही क्षीणता आने लग जाती है। यही नहीं, कभी कभी किरीट पदार्थ लाखों किलोमीटर दूर तक आ जाता है और कभी कभी तो वह पृथ्वी तक पहुँचकर भीषण चुंबकीय विक्षोभ और दीप्तिमान ध्रुवप्रभा उत्पन्न कर देता है।

किरीट की सीमा अचल नहीं अपितु सूर्यकलंक के साथ परिवर्तित होती रहती है। अधिकतम कलंक पर वह लगभग वृत्तीय होती है। इसमें से पदार्थ चारों ओर अनियमित रूप से फैला होता है। इसके विरुद्ध न्यूनतम कलंकपर वह सूर्य के विषुवद्वृत्तीय समतल में अधिक विस्तृत हो जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किरीट की आकृति सूर्य के चुंबकीयक्षेत्र पर निर्भर है।
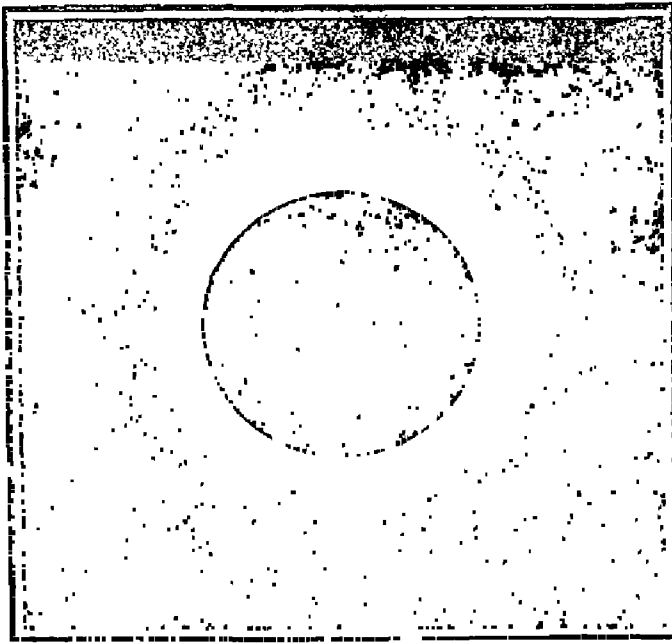
किरीट

महत्तम सूर्य कलंक के समय का चित्र।

किरीट का वर्णक्रमपट्ट—किरीटीय वर्णक्रमपट्ट (Spectrum) में सतत विकिरण अंकित होता है, जिसमें कुछ दीप्तिमान रेखाएँ स्थित होती हैं। अनेक वर्षों तक इन रेखाओं का कारण ज्ञात नहीं किया जा सका, क्योंकि उनके तरंगदैर्घ्य किसी भी ज्ञात तत्व की वर्णक्रम रेखाओं के तरंगदैर्घ्य के सदृश नहीं थे। अतः ज्योतिषियों ने यह कल्पना की कि सूर्यकिरीट में कोरोनियम नामक एक नवीन तत्व उपस्थित है। परंतु शनैः शनैः नवीन तत्वों की आवर्त सारणी (Periodic Table) के रिक्त स्थान पूर्ण किए जाने लगे और यह निश्चयपूर्वक सिद्ध हो गया कि कोरोनियम कोई नवीन तत्व नहीं है, वरन् कोई ज्ञात तत्व ही है जिसकी रेखाओं के तरंगदैर्घ्यों में किरीट की प्रस्तुत भौतिक अवस्था इतना परिवर्तन कर देती है कि उनका पहचानना सरल नहीं। सन् १९४० में ऐडलेन ने इस प्रश्न का पूर्ण रूप से समाधान किया। सैद्धांतिक गणना के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि किरीट के वर्णक्रम की प्रमुख रेखाओं में से अनेक रेखाएँ लोह, निकल और कैलसियम के अत्यंत आयनित परमाणुओं द्वारा उत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ लोह के उदासीन परमाणु में २६ इलेक्ट्रन होते हैं और किरीट वर्णक्रम की हरित रेखा का वे परमाणु विकिरण करते हैं, जिनके १३ इलेक्ट्रन आयनित हो चुके है। किरीट के वर्णक्रम में उपस्थित रेखाओं की तीव्रता में कलंकचक्र के साथ परिवर्तन होता रहता है और अधिकतम कलंक पर वे सबसे अधिक तीव्र होती हैं। इसी प्रकार यदि सूर्यबिंब के विविध खंडों द्वारा विकीर्ण रेखाओं की तीव्रता की तुलना की जाय तो निश्चयात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि समस्त रेखाएँ कलंकप्रदेशों के समीप सबसे अधिक उग्र होती हैं।

रॉबर्ट्‌स ने सूर्यबिंब के पूर्वीय और पश्चिमी कोरों पर किरीट की दीप्ति का दैनिक अध्ययन किया, जिसके आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया कि किरीट की आकृति बहुत कुछ स्थायी है और उसके अक्षीय घूर्णन (Rotation) का आवर्तनकाल २६ दिन है, जो प्रकाशमंडल (Photosphere) के घूर्णन के आवर्तनकाल के लगभग है। वे यह भी सिद्ध कर सके कि किरीट के दीप्तिमान खंड कलंकों के ऊपर केंद्रीभूत होते हैं। कलंक और किरीट के दीप्तिमान प्रदेशों का यह संबंध महत्वपूर्ण है।

किरीट में लोह के ऐसे परमाणुओं की उपस्थिति जिनके १३ इलेक्ट्रन अयनित हो चुके हैं, यह संकेत करती है कि किरीट में १० लाख अंशों से अधिक का ताप विद्यमान होना चाहिए। इस कथन का समर्थन अनेक प्रकार के अवलोकन करते हैं, जिनमें से सूर्य से आनेवाले रेडियो विकिरण की तीव्रता का अध्ययन प्रमुख है। किरीट, सौर ज्वाला (Prominence) और वर्णमंडल का प्रकाशमंडल की अपेक्षा अधिक ताप पर होना अत्यंत विषम परिस्थिति उपस्थित करता है। यह अधिक ताप प्रकाशमंडल से तापसंवाहन के कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उष्मा उच्च ताप से निम्न ताप की ओर गमन करती है। किरीट के इस अत्यधिक ताप का कारण अभी तक निश्चयात्मक रूप से ज्ञात नहीं हो सका है। अनेक ज्योतिषियों ने समय समय पर इस विषय पर अनेक प्रकार के विचार प्रकट किए हैं, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं। मेंज़ल ने यह कल्पना की कि सूर्य के अंतर में किसी कारण ऐसे भँवर उत्पन्न होते हैं जिनमें सूर्य के उच्च तापवाले निम्न स्तरों का पदार्थ विस्तरण करता हुआ उसके पृष्ठ तक आ पहुँचता है और प्रत्येक क्षण विस्तरण के कारण उत्पन्न होनेवाले ताप के ह्रास को रोकने के लिये भँवर के पदार्थ का पुनः तापन होता रहता है। यह पदार्थ वातिमंडल में ऊपर उठता रहता है और कुछ समय के पश्चात् वह अपनी उष्णता को किरीट में मिलाकर उसका ताप बढ़ा देता है। उनसोल्ड ने यह सिद्ध किया है कि प्रकाशमंडल के समीप उस स्तर में जिसका ताप १०,००० अंश से २०,००० अंश तक है, पदार्थ की गति विक्षुब्ध (turbulent) होती है और संवाहन का यह प्रदेश हाइड्रोजन के आयनीकरण के कारण उत्पन्न होता है। अधिकांश ज्योतिर्विद् इस मत से सहमत हैं कि यह प्रदेश शूकिकाओं (Spikelets) एवं कणिकाओं से संबधित विक्षुब्ध गति का उद्गम है। टॉमस और हाउट्गास्ट के मतानुसार सूर्य के अंदर से उष्ण गैस की धाराएँ ध्वनि की गति से भी अधिक वेग के साथ किरीट में प्रवेश करती हैं और प्रेक्षित ताप तक उसको तप्त करती हैं। श्वार्शचाइल्ड ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किए हैं, परंतु उनका मत है कि उष्ण गैस की इन धाराओं का वेग ध्वनि की गति से कम होता है। यह असंभव नहीं कि इस प्रकार के प्रभावों का किरीट के लक्षणों का निर्धारण करने में अत्यंत महत्वपूर्ण भाग हो। ऑल्फवेन ने यह सिद्ध किया है कि जब विद्युच्छंचारी पदार्थ चुंबकीय क्षेत्र में गतिमान होता है तो विद्युच्चुंबकीय तरंगें उत्पन्न होती हैं। सूर्य के एवं कलंकों के चुंबकीय क्षेत्र में विद्यमान पदार्थ की गति ऐसी तरंगें उत्पन्न करने में समर्थ है। ऑल्फवेन और वालेन का मत है कि ज्यों ज्यों ये तरंगें किरीट में आगे बढ़ती हैं उनकी ऊर्जा का ह्रास होता जाता है और यह ऊर्जा किरीट को अभीष्ट ताप तक तप्त करने में समर्थ होती है।

आजकल इन विचारों का विस्तृत परीक्षण हो रहा है और ऐसा अनुमान है कि इस प्रकार की प्रक्रिया का किरीट की तापोच्चता में हाथ हो सकता है। परंतु संप्रति निश्चयात्मक रूप से यह कहना कि द्रवचुंबकीय तरंगें किरीट को अभीष्ट ताप तक तप्त कर सकती हैं अथवा नहीं, असंभव है। अतः किरीट का अत्यधिक ताप आज भी एक रहस्य है।

सं०ग्रं०—जी० पी० क्यूपर : दि सन; डी० एच० मेंज़ल : श्रावर सन; ऐस्ट्रोफ़िज़िकल जर्नल; ऐस्ट्रानॉमिकल जर्नल; मंथली नोटिसेज़ ऑव रॉयल ऐस्ट्रोनामिकल सोसायटी। (प्र० ला० भ०)

किरीटी (रोटिफ़ेरा, Rotifera) स्वतंत्र रूप से रहनेवाले छोटे छोटे प्राणी है। इनके शरीर के अगले भाग में एक रोमाभ (Ciliary) अंग होता है, जिसके रोमाभ इस तरह गति करते है कि देखनेवाले को शरीर के आगे चक्र (पहिया) चलता मालूम पड़ता है। इसीलिये इन्हें पहिएदार जंतु (ह्वील ऐनिमलक्यूल, Wheel animalcule) कहते हैं। अंग्रेजी नाम 'रोटिफ़ेरा' का यही तात्पर्य है। इसीलिये इस वर्ग का नाम रोटिफ़ेरा या रोटेटोरिया रखा गया है।

किरीट अधिकतर साधारण स्वच्छ (अलवण) जल में रहते हैं। कुछ खारे पानी में रहते हैं और कुछ समुद्र में भी पाए जाते है। कुछ पृथ्वी पर नम स्थानों पर रहते हैं और कुछ काई (Moss) के पौधे की पत्तियों के अक्ष में रहते है। कुछ किरीटी परोपजीवी भी होते हैं। एक जाति घोंघा (Snail) के अंडों पर परोपजीवी होती है। इस तरह किरीटी ने विभिन्न प्रकार के निवासस्थान अपना रखे हैं। इनका वितरण भी विस्तृत है। ये संसार के सभी कोनों में पाए जाते है।

वाह्य लक्षण—किरीटी मेटाज़ोआ में काफी छोटे जंतु है। इनकी लंबाई .०४ से २ मिलीमीटर तक होती है, परंतु अधिकतर किरीटी .५
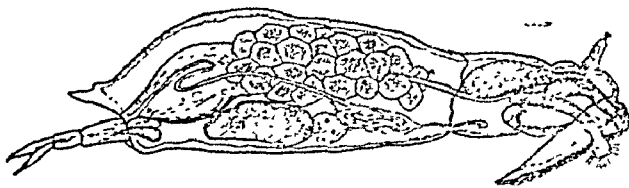
किरीटी (रोटिफ़ेरा)

मिलीमीटर से लंबे नहीं होते। ये प्रोटोज़ोआ से बड़े नही होते, इसलिये प्रारंभ में लोग इनको भी प्रोटोज़ोआ मान बैठे थे। इतने छोटे होते हुए भी इनके शरीर के भीतर अनेक जटिल इंद्रियतंत्र होते हैं, जिन्हें बिना सूक्ष्मदर्शी यंत्र से नहीं देखा जा सकता।

किरीटी का शरीर लंबाकार होता है। अध्ययन के लिये उसे तीन भागों में विभाजित किया जाता हैं। पहला, आगे का चौड़ा भाग है जिसपर रोमाभ अंग होता है। इस भाग को सर कहते हैं और रोमाभ अंग को मुकुट (कॉरोना, Corona)। सर के बाद का लंबा भाग धड़ कहलाता है और तीसरे भाग को दुम (या "फुट" भी) कहते है। साधारणतः किरीटी ऐसे ही होते है, परंतु कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने विशेष रूप धारण कर लिए हैं। कुछ थैली के आकार के होते हैं, कुछ गोल होते हैं (जैसे ट्रोकोस्फ़ियरा Trochosphaera), कुछ चौड़े होते है (जैसे ब्रैकियासी, Brachioncy) और कुछ लंबे और पतले होते है, जैसे (रोटेलिया, Rotalia)। कुछ किरीटियों का प्याले जैसा शरीर एक लंबे डंठल द्वारा पृथ्वी से जुड़ा रहता है। यदि किरीटी का शरीर आड़ा काटकर देखा जाय तो प्रायः गोल दिखाई पड़ेगा, प'तु कुछ किरीटियों में पार्श्वीय तथा कुछ में प्रतिपृष्ठीय दीवारें चिपटी होती हैं। अधिकतर किरीटी द्विपार्श्व सममिति (Bilateral Sy.nmetry) वाले होते हैं, परंतु कुछेक बाहरी अंगों के कारण असममित मालूम पड़ने लगते हैं। उदाहरण के लिये किसी में पैर की दो अंगुलियों में से एक लंबी और एक छोटी होती है। कुछ किरीटियों का शरीर प्रतिपृष्ठीय दीवार की ओर झुका रहता है और किसी में पूरा शरीर सर्पिल होता है।

शरीर हलके पीले रंग के आवरण, वाह्यत्वक् या क्यूटिकिल (Cuticle) से ढका रहता है। वाह्यत्वक् कुछ कड़ा होता है, इसलिये शरीर का इधर उधर मुड़ना संभव नहीं होता। इसीलिये कोशिकाभित्ति में प्रायः वलय होते हैं। कभी कभी वलय इतने गहरे होते हैं कि शरीर खंडदार मालूम होने लगता है। कुछ किरीटियों के धड़ का वाह्यत्वक् विशेषकर अधिक मोटा और कड़ा हो जाता है। इसको लौरिका कहते हैं। विपत्ति के समय शरीर का आगे का भाग लौरिका के भीतर समा जाता है। लौरिका का वाह्यत्वक् सादा होता है या उसपर षट्कोणीय अथवा अन्य नमूने बने रहते है।

किरीटी के शरीर के आगे के भाग को केवल सुविधा के लिये सर कहा जाता है। यह चौड़ा होता है और सामने चपटा। कभी कभी सामने का बीच का भाग उभड़ा रहता है। इसके चारों ओर रोमाभ होते हैं। रोमाभयुक्त भाग को मुकुट कहते है और उसके मध्य के रोमाभविहीन भाग को ऐपिकल फील्ड (Apical field)। ऐपिकल फ़ील्ड पर अनेक उभड़े अंग दिखलाई देते है। इनमें से कुछ ऐसे होते हैं जिनपर नीचे स्थित ग्रंथियों की नलिकाएँ खुलती हैं और कुछ संवेदक होते है जिनपर कड़े बाल होते हैं। अधिक किरीटियों में मुकुट गोलाकार होता है। कुछ जंतुओं मे यह दो पिंडकों (लोब्स, lobes) में बँटा रहता है। डंठल से पृथ्वी पर अनुरक्त रहनेवाले किरीटियो में मुकुट प्याले की शक्ल का होता है और उसका स्वतंत्र भाग कई पिंडकों में विभाजित रहता है। डेलायड में द्विपिंडकी (बाइलोब्ड, bilobed) मुकुट के बीच में एक प्रमुख उभाड़ होता है, जिसका उपयोग वह पृथ्वी या पौधे आदि की सतह पर चलने में करता है (देखें चित्र पृ० १४)। इस उभाड़ को रोस्ट्रम कहते हैं।

कारोना के रोमाभ एक साथ इस प्रकार गति करते हैं कि सामने पानी की लहरें बन जाती है। यह जल की लहरें खाद्य पदार्थ के जल मे तैरते हुए टुकड़े मुँह तक ले आती है और खाद्य पदार्थ या तो मुँह मे चला जाता है या उसे मुखांग पकड़ लेते हैं। अनेकों किरीटियों मे रोमाभ भोजन प्राप्त करने के मुख्य साधन होते हैं और अन्य सभी किरीटियों में ये भोजनप्राप्ति में सहायता देते है। मुकुट द्वारा पैदा की गई जल की लहरों से अन्य लाभ भी हैं। ये जानवरों के चारों ओर का पानी बदलती रहती है जिससे जानवर को ताजा आक्सिजन मिलता रहता है। स्वतंत्र रूप से तैरनेवाले किरीटियों में रोमाभ उन्हें तैरने में सहायता देते हैं। जल की लहरें शरीर के निकट एकत्र हुए उत्सर्जित (एक्स्क्रीटरी, excretory) पदार्थ बहा ले जाती है।

मुँह मुकुट के मध्य में प्रतिपृष्ठीय रेखा की ओर होता है। इसके नीचे का ऐपिकल फील्ड का भाग कुछ उठा रहता है, मानो वह निचला ओठ हो। किसी किसी किरीटी के ऐपिकल फ़ील्ड में आँखें भी होती है। अधिकतर किरीटियों में आँखें मस्तिष्क पर स्थित होती हैं। आँखें या तो दो होती हैं या एक। किसी किरीटी में आँख तुंड (रोस्ट्रम, rostrum) पर भी स्थित होती है। आँख देखने में छोटे लाल चिह्न की भाँति होती है।

धड़ लंबाकार होता है या अनेक प्रकार से चपटा। यह सादा होता है या वर्मिका (Lorica) युक्त। वर्मिका सादी होती है या उसपर अनेक नमूने बने रहते है। किसी किसी में वर्मिका पर काँटे भी होते हैं। पैंडेलिया नामक किरीटी पर बड़े बड़े काँटे होते हैं जो शरीर के चलायमान पिंडकों पर स्थित रहते हैं। धड़ पर कुछ विशेष स्पर्शांग होते हैं। इनमें एक जोड़ा शरीर के दोनो बगल में होता है। इसे पार्श्वीय शृंगिका (लैटरल ऐंटेनी, lateral antennae) कहते हैं। एक शृंगिका पृष्ठीय तल पर होती है। इसे पृष्ठीय शृंगिका (डॉरसल ऐंटेना, dorsal antenna कहते हैं। जिस स्थान पर धड़ और दुम मिलते हैं वहाँ मध्यपृष्ठीय (मिड-डॉर्सल, mid-dorsal) रेखा पर मलद्वार या गुदा स्थित है। धड़ पीछे की ओर पतला होता जाता है और दुम में मिल जाता है (देखें चित्र पृ० १४)। कुछ किरीटियों में, विशेषकर मुकुटयुक्त किरीटियों में, धड़ और दुम बिल्कुल अलग अलग मालूम पड़ते हैं (देखें चित्र पृ० १४)।

कुछ किरीटियों में दुम छोटी और कुछ में बड़ी होती है। दुम के वाह्यत्वक् पर गहरे वलय होते हैं जिससे वह कई खंडों की बनी हुई मालूम पड़ती है। किरीटी दुम की सहायता से तल पर रेंगते हैं और तैरते समय दुम पतवार का कार्य करती है। पृथ्वी से जुड़े रहनेवाले किरीटी में दुम लंबी डंठलाकार हो जाती है और जंतु को पृथ्वी से जोड़े रहती है। दुम के अंत में एक से चार तक नन्हें नन्हें चलायमान अंग होते हैं। जिन्हें अंगुली या टो (toes) कहते हैं। ये छोटे, तिकोने होते हैं, या पतले, लंबे काँटे जैसे। अंगुलियों के सिरों पर दुम के भीतर स्थित

नलिकाएँ खुलती है। ये ग्रथियाँ चिपचिपा पदार्थ पैदा करती हैं, जो चलते (रेंगते) समय अगुलियो को सतह से चिपकाने मे सहायता करता है।

किरीटी प्राय. पारदर्शी होते है। कोई कोई कुछ हलके पीले लगते है। यह इसलिये कि बाह्यत्वक् या बाहरी आवरण का रग पीला सा होता है। भूर, लाल या नारंगी रंग के किरीटी भी मिलते है। यह रग खाए हुए भाजन का होता हे जो पारदर्शी शरीर से झलकता हे।

किरीटी मे लैंगिक द्विरूपता (सेक्सुअल डाइमॉर्फ़िज्म, Sexual dimorphism) भी मिलती ह। केवल दा वर्गो (प्लायमा और सीयसोनेशिया) मे नर तथा नारी दोनो एक जैसी होती हे। शेष सब मे नर छोटा और नारी वड़ी होती ह। नर की बनावट भी साधारण हाती है। डेलायड नामक एक गण (ऑर्डर) के किरीटियों मे नर मिलते ही नहा। केवल नारियाँ पाई जाती है और इनमे अनिषेकजनन (पारथिनोजेनिसिस, Parthenogenesis) द्वारा वच्चे पैदा होते ह।

आंतरिक रचना—शरीर की दीवार तथा आतरगो के बीच के स्थान को स्यूडोसीलोम (Pseudo-coelome) कहते है। केचुए या मेढक जैसे जानवरो म इस स्थान का सीलोम (Coelome) कहते है। सीलोम मे शरीर की दीवार के अदर की ओर मध्यजनस्तर (मासोडर्म, Mesoderm) की एक परत होती है और उसी की एक परत आतरगो पर। इस तरह सीलोम मध्यजनस्तर के बीच की गुहा हे और स्यूडोसीलोम मे मध्यजनस्तर की परते नही होती। स्यूडोसीलोम एक तरल पदार्थ से भरी रहती हैं। इसम कुछ वड़ी वड़ी शाखादार कोशिकाएँ (सेल) भी होती है। इनकी शाखाएं एक पतला जाल सा वना डालती हैं। ये कोशिकाएँ कदाचित् कीटाणुओ को खा डालती हे। इसलिये इनको फैगोसाइट (Phagocyte) कहते हैं। कुछ लोगो का यह भी विचार हे कि यह उत्सर्जन मे सहायता देती ह।

पाचनांग—मुह से प्रारभ होकर आहारनाल गुदा पर बाहर खुलती है। मुंह पतले मुख नाल (वकल ट्यूव, Buccal tube) मे खुलता है और मुखनाल ग्रसनी (फ़ैरिंग्स, Pharynx) मे। किरीटी की ग्रसनी सारे जतुजगत् में विलक्षण ह। यह वड़ी मासल थैली होती है। इसके भीतर का अस्तर, जो बाह्यचर्म का वना होता है, भोजन चवाने का एक जटिल उपकरण ह। इसे मैस्टैक्स कहते है। इस उपकरण के सात भाग होते है जिन्हे ट्राफाई (Trophi) कहते है। जीवित अवस्था मे ट्रॉफाई प्राय: सदा गति करते ह और पृष्ठवशी प्राणियो के दिल (हृदय) की भाति मालूम पड़ते हैं। साधारण व्यक्ति इसे हृदय समझ बैठते है। ट्रॉफाई जवड़ो का कार्य करते है। भोज्य पदार्थ, जो जल की लहरो के साथ आकर आहारनाल मे पहुँच जाते है, गति करते हुए जवड़ों के बीच पड़कर पिस जाते हैं। ग्रसनी की दीवार से लारग्रंथियाँ संवधित होती हैं। यह पाचक लार को आहारनाल मे पहुँचाती है। यह रस पिसते हुए भोज्य पदार्थ से मिलकर पाचन क्रिया पूरा करता है। ग्रसनी ग्रासनली (ईसोफेगस, Oesophagus) मे खुलती है। इसकी लबाई भिन्न भिन्न किरीटियो मे भिन्न भिन्न होती है। ग्रासनली आमाशय मे खुलती है। यह चौड़ी थैली की भाँति होती हे। आमाशय पीछे की ओर पतला होता जाता है और आन्त्र (इटेस्टाइन, Intestine) मे परिवर्तित हो जाता है। आन्त्र के अतिम भाग को प्राय. अवस्कर (Cloaca) कहते है। इसलिये कि इसमे उत्सर्गी तत्र की नलिकाएँ और अडवाहिनी (ओविडक्ट, Oviduct) खुलती है।

श्वसन (रेस्पिरेशन, Respiration)—श्वसन के लिये किरीटी मे विशेष अग नही होते। शरीर के चारो ओर जल रहता हे। इसी जल मे घुले हुए आक्सिजन का शरीर की दीवार की कोशिकाओ मे विसरण (डिफ्यूजन, Diffusion) हो जाता हे।

उत्सर्जन (Excretion)—नाइट्रोजन-युक्त मल को बाहर निकालने के लिये किरीटी मे उत्सर्जन तत्र होता है। दो मुख्य उत्सर्जन नलिकाएँ होती है, जो शरीर के पार्श्वीय भागो मे होती हैं। आगे ये एक दूसरी से जुड़ी रहती है। इन उत्सर्जन नलिकाओ को प्रोटोनेफ्रिडियल, (Pratonephridal) नलिका कहते है। प्रत्येक प्रोटोनेफ्रिडियल नलिका मे दो से

विविध प्रकार के किरीटी

क. स्टेफ़ैनोसिरॉस (Stephanoceros) नामक किरीटी। यह एक स्कध द्वारा पृथ्वी मे चपका रहता हे और स्कंध पैर की ग्रथियो से निकले हुए रस की बनी थैली से ढका रहता है। ख. टाइगुए, स्कंधवाला किरीटी। इसके स्कध पर एक अडा चिपका हुआ है। ग लिमनियास (Limnias), इसका वलय (Corona) द्विपिंडकीय है। घ. अनेक लिमनियास एक दूसरे के साथ समूह मे। ङ. पेडैलिया (Pedalia), इसका शरीर कई चलायमान पिंडकों से वना होता है। इन पिंडको पर लंबे लंबे कांटे होते है। च. डेलायड (Bdelloid) का आगे का भाग (सामने से)। छ डेलायड का आगे का भाग (वगल से)। इसमे तुड (रोस्ट्रम) स्पष्ट है। ज. शरीर की दीवार की काट (सेक्शन)। झ. पैर या दुम। इसके अदर ग्रथियाँ हैं, जिनकी नलिकाएँ बाहर की ओर खुलती हैं; अगुलियाँ भी स्पष्ट हैं।

आठ तक फ्लेम वल्व नामक अंग खुलते हैं। लट्टू जैसे ये अंग स्यूडोसीलोम के तरल पदार्थ से नाइट्रोजन युक्त पदार्थ सोख लेते हैं और उसे प्रोटोनेफ्रिडियल नलिका द्वारा बाहर निकाल देते हैं। दोनों तरह की नलिकाओं से मिलकर एक नली बनती है, जो क्लोएका में खुलती है और क्लोएका बाहर खुलती है।

तंत्रिकातंत्र (Nervous System)—मस्तिष्क की प्रतिनिधि एक बड़ी द्विपिंडकीय गुच्छिका, बाइलोव्ड गैंग्लिऑन, Bilobed ganglion) है, जो ग्रसनी (मैस्टैक्स, Mastax) के पृष्ठीय ओर रहती है। इससे अनेक तंत्रिकाएँ निकलती हैं, जो शरीर के विभिन्न भागों से संबंध स्थापित करती हैं। तंत्रिकातंत्र शरीर की गति तथा अन्य क्रियाओं और अभिक्रियाओं पर नियंत्रण रखता है।

किरीटी के शरीर में अनेक प्रकार की ज्ञानेंद्रियाँ होती हैं। इनमें आँखें प्रमुख हैं जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। इनका कार्य है प्रकाश बोध। लगभग सभी किरीटियों में पार्श्वीय शृंगिकाएँ होती हैं। इसी तरह पृष्ठीय तल पर मस्तिष्क के ऊपर एक, या एक जोड़ी शृंगिका होती है। इसे पृष्ठीय शृंगिका कहते हैं। मुकुट (कारोना) पर भी अनेक ज्ञानेंद्रियाँ होती हैं, विशेषकर हाइडेटाइना (Hydatina) और सिनचीटा आदि में।

जननांग (रिप्रॉडक्टिव ऑर्गन्स)—नर और नारी अलग अलग होते हैं। अधिक संख्या में नारियाँ दिखलाई देती हैं। नर केवल प्रजनन काल में ही दिखलाई पड़ते है। नर मादा से १।१० छोटे होते हैं। मादा का जननपिंड एक अंडाशय है। इससे एक पतली नली, अंडवाहिनी, निकलकर क्लोएका में खुलती है। किसी किसी डेलायड में अंडाशय का एक जोड़ा होता है। नर जननपिंड एक बड़ी थैली जैसा वृषण (टेस्टिस, Testes) होता है। इसमे एक नली बाहर खुलती है। इस नली को शुक्रवाहिनी कहते हैं। शुक्रवाहिनी की नली में अंदर रोमाभ होते हैं। उसमें एक जोड़ा (या अधिक) प्रोस्टेट ग्रंथियाँ खुलती हैं। शुक्रवाहिनी का अंतिम भाग ऐसा होता है कि वह उलटकर बाहर निकल आता है और मैथुन के लिये सिर्रस (Cirrus) का कार्य करता है।

मैथुन के समय सिर्रस नारी के क्लोएका में डाल दिया जाता है और शुक्राणु वहाँ छोड़ दिए जाते हैं। किरीटी में इस यथाक्रम ढंग का उपयोग कम जंतु करते हैं। अधिक संख्या में किरीटी सिर्रस को शरीर की दीवार फाड़कर भीतर डाल देते हैं और स्यूडोसील में शुक्राणु छोड़ते हैं। इस क्रिया को हाइपोडर्मिक इम्प्रेग्नेशन कहते हैं।

शुक्राणु अंडे के परिपक्व होने के पहले उसमें प्रवेश कर जाते हैं। उसके बाद अंड का आवरण कड़ा हो जाता है और प्रायः काँटेदार, दानेदार या अन्य नमूनेवाला हो जाता है। संसेचन के अनंतर परिवर्धन प्रारंभ होता है। कुछ समय उपरांत नन्हें नन्हें बच्चे निकलते हैं। स्वतंत्र रूप से तैरनेवाले किरीटियों में बच्चे रूप रंग एवं आकार में वयस्कों जैसे होते हैं। वे कुछ ही दिनों में परिपक्व हो जाते हैं। नर जन्म के समय ही परिपक्व होते हैं इसलिये जितने बड़े इस समय होते हैं जीवन भर उतने ही बड़े रहते हैं। डंठल से जुड़े रहनेवाले किरीटियों के बच्चे भी स्वतंत्र रूप से तैरनेवाले होते हैं। कुछ समय बाद अपने पाद (फुट) की सहायता से वे तल से लग जाते हैं और पाद लंबा होकर डंठल बना देता है।

वर्गीकरण—किरीटी या रोटिफेरा वर्ग (क्लास, class) के जीवों को तीन गणों में विभाजित किया गया है। इनके नाम हैं सीयसोनिडा, डेलॉयडिया और मॉनोगोनोटा। इनमें से अंतिम गण में सबसे अधिक किरीटी हैं। इनमें सबसे कम विकसित सीयसोनिडा है। सीयसोनिडा समुद्र में रहनेवाले किरीटी का छोटा गण है। डेलॉयडिया अधिकतर देखने में आते हैं। इनका मुकुट परावर्ती (रिट्रैक्टाइल, Retractile) होता है और दो पिंडकों में विभाजित रहता है। इनमें नर नहीं होते, केवल नारियाँ मिलती हैं। इनमें प्रजनन अनिषेकजनन क्रिया द्वारा होता है, अर्थात् परिवर्धन के लिये अंडे को संसेचन की आवश्यकता नहीं होती। शेष सब तैरनेवाले, अर्थात् डंठल द्वारा पृथ्वी से जुड़े रहनेवाले, किरीटी मॉनोगोनोटा गण में हैं। इनमें नर छोटे होते हैं और उनके एक वृषण होता है। यह गण तीन उपगणों में विभाजित है। इनके नाम हैं : (क) प्लायमा, अर्थात् तैरनेवाले प्राणी; (ख) फ्लौर-कूलेरियेमिया, तैरनेवाले या पृथ्वी से जुड़े किरीटी; और (ग) कौलोथियेकेशिया, अधिकतर पृथ्वी से जुड़े रहनेवाले किरीटी, जिनका अगला भाग प्याले के आकार का होता है, केंद्रीय मुँह होता है तथा प्रायः रोमाभ के स्थान पर कॉरोना में बड़े बड़े अचलायमान काँटे होते हैं। (स० ना० प्र०)

किरोवोग्राद रूस के उक्रेन क्षेत्र में इंगुल नदी के तट पर स्थित नगर (स्थिति ४८° ३२' उत्तर अक्षांश तथा ३२° १८' पूर्व देशांतर)। इसकी स्थापना सन् १७५४ में हुई थी। उस समय महारानी एलिजाबेथ के नाम पर इसका नाम एलिजाबेथग्राड रखा गया था। बाद में बोल्शेविक नेता जिनोवीव के नाम पर यह जिनोविविस्क हुआ। अब इसका नाम किरोवोग्राद है। यह नगर ऊँचे तथा नीचे दो भिन्न धरातलो पर स्थित है और एक बाजारी कस्बे के रूप में विकसित हुआ है। यहाँ मदिरा, साबुन तथा ईंट तैयार करने, लकड़ी चीरने, धातु गलाने, कृषि संबंधी यंत्र और मखोरका तंबाकू बनाने के उद्योग धंधे विकसित हैं। (शां० ला० का०)

किर्लोस्कर, बलवंत पांडुरंग अण्णा साहब (१८४३–१८८५ ई०)। मराठी रंगमंच के आदि संगीत-नाटककार। आपका जन्म महाराष्ट्र के बेलगाँव जिले के एक गाँव में हुआ था। विद्याध्ययन के लिये १८६३ में पूना भेजे गए किंतु संगीत और नाटक में आरंभ से ही रुचि होने के कारण स्कूली पढ़ाई में मन नहीं लगा। पढ़ाई छोड़कर आपने अध्यापक, सिपाही आदि की नौकरी की पर उनके जीवन का विकास नाटक के क्षेत्र में ही हुआ। उन्होंने १८६६ में भारत शास्त्रोत्तेजक मंडली की स्थापना की और अपने लिखे नाटक 'श्री शंकर-दिग्विजय' और 'अलाउद्दीन' का मंचन किया। इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। इससे उत्साहित होकर उन्होंने अपने सहकर्मियों के साथ मिलकर किर्लोस्कर संगीत नाटक मंडली के नाम से एक व्यावसायिक संस्था की स्थापना की और १८८० ई० में पूना में 'अभिज्ञान शाकुंतल' का मराठी संगीत रूपक 'संगीत शाकुंतल' प्रस्तुत किया। इस नाटक की सफलता ने मराठी रंगमंच में एक नया युग उपस्थित कर दिया। किर्लोस्कर ने 'संगीत शाकुंतल' के अतिरिक्त 'सौभद्र', 'रामराज्य वियोग' आदि अन्य कई नाटक लिखे और वे सभी समादरित हुए। ४२ वर्ष की अवस्था में आपका १८८५ ई० में देहांत हो गया। (प० ला० गु०)

किलकिल १. विष्णुपुराण (४।२४) तथा श्रीमद्भागवत पुराण (१२।१) में कलियुगी राजाओं के प्रसंग में मौनवंशी राजाओं के अनंतर उल्लिखित एक राज्य और राज्यवंश। विष्णु पुराण में इनका नाम 'कैंकिल' दिया गया है (तेषूत्सन्नेषु कैंकिला यवना भूपतयो भविष्यन्ति अमूर्धाभिषिक्ताः, ४।५४।५५)। भागवत में इनकी राजधानी 'किलकिला' का उल्लेख किया गया है जो इनके नामकरण का कारण मानी जा सकती है (किलकिलायां नृपतयो भूतनंदोऽथ वंगिरिः, १२।१।३२)। भागवत के वर्णन से प्रतीत होता है कि ये मूलतः भारत के बाहर बाह्लीक (बैक्ट्रिया) के राजा थे जिनका आधिपत्य भारत में भी किसी युग में था। भाऊदाजी के मत से ये अजंता गुफा के आसपास राज्य करते थे। इनका संबंध उड़ीसा तथा आंध्रप्रदेश से भी छठी सदी के आसपास बताया जाता है। यवन नाम से इनके 'आयोनियन ग्रीक' होने का अनुमान होता है। ये कोंकण में ६८० ईस्वी के आसपास शासक रूप में वर्तमान थे। आंध्र पर राज्य करनेवाले इस यवन वंश का उत्कर्षकाल ५७६ ई० से ६०० ई० तक माना जाता है।

सं०ग्रं०—रायल एशियाटिक सोसाइटी की बंबई शाखा के जर्नल में भाऊदाजी का लेख; महाराष्ट्रीय ज्ञान कोष, भाग ११। (ब० उ०)

२. बुंदेलखंड से प्राप्त अनेक शिलालेखों में किलकिला नाम का उल्लेख हुआ है और इस प्रदेश में किलकिला नाम की एक नदी बहती है। इस कारण कुछ इतिहासकारों का मत है कि इस प्रदेश का प्राचीन नाम

किलकिला था और इन अभिलेखों में वर्णित किलकिला नृप दूसरी तीसरी शती ई० मे बुंदेलखंड मे राज्य करते थे। कुछ लोग इन्हें नागवंशी अनुमान करते हैं तथा उनका संबंध भारशिव और वाकाटक नरेशो से जोड़ते है।
(प० ला० गु०)

किला शत्रु से सुरक्षा के लिये बनाए जानेवाले वास्तु का नाम किला है; उसे दुर्ग भी कहते है। नगरों, सैनिक छावनियो और राजप्रासादो की सुरक्षा के लिये किलों के निर्माण की परपरा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। वैदिककालीन साहित्य मे पुरों का जिस रूप में उल्लेख है उससे ज्ञात होता है कि उन दिनों दुर्ग से घिरी बस्तियाँ हुआ करती थी। पुरातात्विक उत्खनन से मुहें-जो-दड़ो, हड़प्पा, रूपड़ आदि पुरा-ऐतिहासिक नगरों के जो अवशेष प्रकाश मे आए है उनसे ज्ञात होता है कि उन दिनों नगरो के दो खंड होते थे; एक खंड ऊँचे प्राचीरो से घिरा होता था। ऐतिहासिक काल के किले के प्राचीनतम अवशेष राजगृह में पत्थरो से बने प्राचीर के रूप में प्राप्त हुए है। पाटलिपुत्र के किले के जो कुछ थोडे से चिह्न मिले हैं, उनसे ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीरों के निर्माण में लकड़ी का प्रयोग किया गया था। मौर्यकाल में मेगस्थने नामक जो यवन राजदूत आया था उसने इस किले का विशद वर्णन किया है। उसने लिखा है कि पाटलिपुत्र नगर नौ मील लंबा और लगभग दो मील चौडा है जो चारों ओर ६०० हाथ चौड़ी और ३० हाथ गहरी खाँई से घिरा है। इसके चारों ओर काठ की सुदृढ दीवार बनाई गई है जिसमें ५०० बुर्ज हैं और ६४ मजबूत फाटक लगे है। कौशाबी के उत्खनन में किले की दीवार के जो अंश प्रकाश में आए है, वे पक्की ईंटों से जडे हुए हैं। राजघाट (वाराणसी) के उत्खनन में गंगा के किनारे कच्ची मिट्टी के ठोस प्राचीर के अंश प्रकाश मे आए थे। किंतु इन सबसे प्राचीन किलो का पूर्ण स्वरूप सामने नही आता। एरण (जिला सागर, मध्य प्रदेश) मे, जो गुप्त काल मे एक प्रसिद्ध नगर था, काफी दूर तक दुर्ग के अवशेष मिले है। उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस नगर को इस प्रकार बसाया गया था कि नदियाँ खाई का काम दें। तीन ओर से वह बीणा नदी से घिरा हुआ था, चौथी ओर दो अन्य छोटी नदियाँ थी, जो नगर के पश्चिम भाग मे बहती थी और चौथी ओर बीणा नदी में गिरती थी। नदियों द्वारा बने इस प्राकृतिक खाई के भीतर दुर्ग का प्राचीर था जो कदाचित् एकदम खड़ी दीवारों से बना था और उनमें ऊँची गोल बुर्जियाँ रही होंगी।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार छोटे किलों को 'संग्रहण', उनसे बड़े को 'द्रोणमुख' और सबसे बडे किलो को 'स्थानीय' कहते थे। भोज के 'युक्तिकल्पतरु' में किलो के दो रूप बताए गए हैं—(१) अकृत्रिम, अर्थात् जल, पर्वत, वन आदि से सुरक्षित और (२) कृत्रिम, ईंट पत्थर आदि से बने। शिल्प शास्त्र के अन्य ग्रथो में इनका विस्तृत रूप में निम्नलिखित समूहों में विभाजन किया गया है—

१. पर्वतीय दुर्ग—नगरदुर्ग (I) प्रांतर (II) गिरिसमीपक तथा (III) गुहादुर्ग
२. जलदुर्ग (I) अंतर्द्वीपीय (II) स्थलदुर्ग
३. धान्वनदुर्ग (I) निरुदक (II) ऐरण
४. वनदुर्ग (I) खाजन (II) स्तंब गहन
५. महीदुर्ग (I) पारिघ (II) पंक तथा (III) मृद्दुर्ग
६. नृदुर्ग (I) सैन्यदुर्ग (II) सहायदुर्ग
७. मिश्रदुर्ग—(पर्वतवन्य)
८. दैवदुर्ग

भारत के मध्यकालीन किलों के संबंध मे बातें कुछ अधिक विस्तार से ज्ञात होती हैं। सामान्यतः किलों की दीवारे बडी चौडी तथा ऊँची बनाई जाती थी जिनमे बीच बीच मे ऊँची बुर्जे तथा विशाल फाटक होते थे। इस काल के छोटी छोटी पहाडियों पर बनाए गए किले बहुत बड़ी संख्या में पाए जाते है। राजस्थान तथा दक्षिणी भारत के किले प्रायः पहाड़ियों पर ही बनाए गए हैं और कुछ किले मीलों की परिधि में बने है। जो किले पहाडियो पर बने है उनमें दोहरी-तेहरी चहारदीवारियाँ है। सबसे ऊँची चहारदीवारी के भीतर मुख्य दुर्ग होता था। प्राय किलों की परिधि मे नगर तथा मुख्य दुर्ग दोनों ही रहते थे। मुख्य दुर्ग के एक ओर ऊँची पहाड़ी या नदी का किनारा होता था। दुर्गनिर्माण कराते समय उन मार्गो की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था जिनसे होकर शत्रु किले में आ
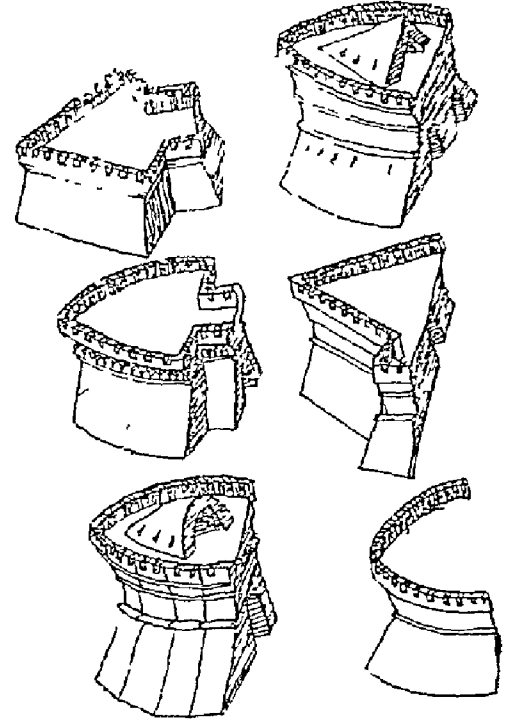
मध्यकालीन किले के प्राचीरों के कुछ रूप

सकते थे या आक्रमण कर सकते थे। सामान्य रूप से किले के निर्माण के लिये किसी ऊँची पहाड़ी को चुना जाता था जिसकी ढालू चट्टानों पर पहुँचना कठिन होता था। जिस ओर से शत्रु के चढ़ आने की आशंका होती थी उस ओर की चट्टानो को काटकर ऐसा ढलवाँ मार्ग बना दिया जाता था जिससे एक ही दीवार द्वारा उसकी रक्षा हो जाती थी और दूसरी पहाड़ी बिल्कुल सीधी और खडी होती थी। कहीं कहीं इन ढलवाँ मार्गो मे चार से लेकर सात तक दृढ द्वार बने होते थे। किलो की बाहरी दीवार समतल भूमि पर बनाई जाती थी, जिसको चौड़ी और गहरी खाइयों द्वारा सुरक्षित किया जाता था। यदि किला नदी के किनारे स्थित होता तो एक ओर से नदी उसकी रक्षा करती थी और शेष ओर खाइयाँ। खाइयाँ उठवाँ पुल द्वारा पार की जाती थी, जैसा आगरे के किले में है। यदि किला पहाड़ी पर होता था तो उसकी बाहरी दीवारों की रक्षा भी इसी प्रकार होती थी, जैसा जिंजी तथा गोलकुंडा मे है। दौलताबाद के मुख्य किले के प्रवेश द्वार की रक्षा गहरी खाइयो द्वारा की जाती थी जिनमें सदैव पानी भरा रहता था। बीदर मे नगर के चारो ओर खाइयों के अतिरिक्त किलो के रक्षार्थ तेहरी जलदार खाइयाँ बनाई गई थी। कुछ किलो की दीवारो की मोटाई ३१ से ३५ फीट तक है, विशेषकर उन दीवारों की जो समतल भूमि पर बनाई गई है। पहाड़ी किलों में पहाड़ी को ढलवाँ बना दिया जाता था। ये दीवारें अंदर तथा बाहर की ओर पत्थर के बड़े बडे टकडों से बनाई जाती थी और इन दोनों के बीच मार्ग प्रायः मिट्टी से भर दिया जाता था। कुछ किलो में दोहरी दीवारें रखी गई थी जिनके बीच बहुत कम दूरी है और अंदरवाली दीवार से काफी ऊँची है, जैसा गोलकुंडा तथा तुगलकाबाद और आगरा के किलों में है। दीवार को गरगजों या बुर्जो द्वारा और भी दृढ बना दिया जाता था।

किले की रक्षा मोर्चाबंदीवाली दीवारों से होती थी। इनमें प्रायः आकार में साढे तीन इंच चौडे तीन फुट ऊँचे समानांतर झरोखे होते थे। चित्तौड के किले मे ये झरोखे ३½" चौडे तथा ३ फुट ऊँचे और तुगलकाबाद के किले में ६" चौड़े तथा ६ फुट ऊँचे है। दिल्ली के पुराने किले में झरोखों

किला (देखिये पृष्ठ १६-१७)

तुगलकाबाद (देवगिरि) का किला
दक्षिणी भाग की दोहरी दीवारें
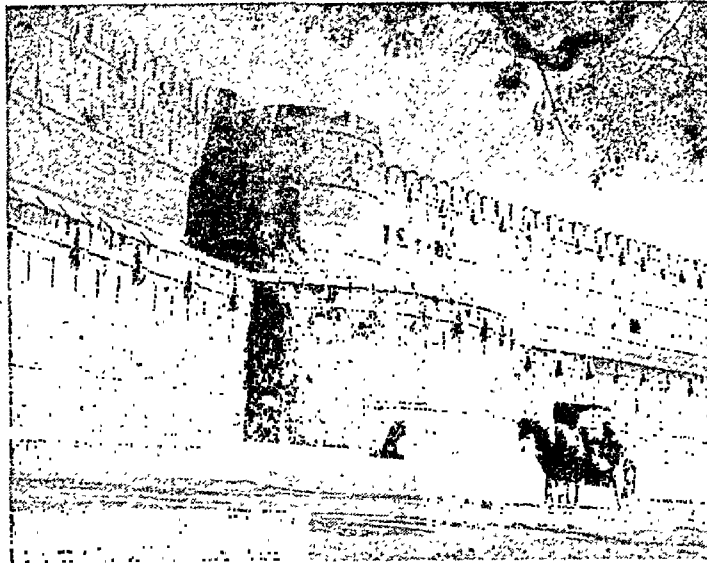
आगरा का किला

ये दीवारें ७० फुट ऊँची और एक मील परिधि की हैं। किले के सामने एक अश्वमुख मूर्ति है जो अमर सिंह के उस अश्व की कही जाती है, जिसपर सवार होकर मुगल सैनिकों के कैद से भागे थे।

ऐसे किलो की चर्चा मिलती है जो भूमि के नीचे सुरग बनाकर तैयार किए जायँ तथा सुरग मे मार्ग बना लिया जाय। उन सुरगो से किसी जगल अथवा नदी के बाहर निकलने मे सुविधा होती थी। इस्माइली इस प्रकार की किलाबदी को बडा ही महत्वपूर्ण बताते है। दूसरे प्रकार की किलाबदी के प्रसग मे उसने ऐसे किलो का उल्लेख किया है जो जमीन के ऊपर ऐसे स्थल पर बने हो जहाँ सुरग न बन सकती हो। किलाबदी के सबध मे उसने ऐसे नगरो का उल्लेख किया है जो किले के समान हो और जिनमे वे समस्त वस्तुएँ उपलब्ध हो जो किले मे होती है।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास मे दक्षिण के युद्धो के विवरण मे ऐसी मैदानी किलाबदी का उल्लेख मिलता है जिसे कटघर अथवा कठगढ कहते है। वह एक प्रकार के लकडी के किले होते थे जो काँटो आदि से मैदान मे युद्ध के लिये तैयार कर लिए जाते थे। खारबदी शब्द का भी प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ है।

रोमन सैनिको को शिक्षा दी जाती थी कि वे रात्रि मे शिविर लगाते समय खाइयाँ किस प्रकार खोदे और बर्छी तथा नुकीले छडो मे किलाबदी किस प्रकार करे। शिविर की रक्षा हेतु प्रत्येक सैनिक के कार्य पृथक् पृथक् होते थे। कभी कभी आधी सेना शत्रु से युद्ध करने मे सलग्न हो जाती थी और शेष आधी किसी ऊँचाई पर किलाबदी के लिये पहुँच जाती थी। नुकीले छडो का बाडा कुछ नीचा रखा जाता था ताकि उनके पीछे से सैनिक ढाल द्वारा अपनी रक्षा कर सके। जूलियस सीजर के गॉल के अभियानो मे १४ मील लबी दीवारो के निर्माण का उल्लेख मिलता है।

१३वी सदी ई० मे मगोलो ने यूरोप मे मैदानी किलाबदी की व्यवस्था को पुन प्रचलित किया। तैमूर ने भारतवर्ष पहुँचकर दिल्ली पर आक्रमण करने के पूर्व जिस मदानी किलाबदी की व्यवस्था कराई उसे 'पुश्तए बहाली' कहते है। उसने वृक्षो की डालियो तथा छप्परो से दीवारे तैयार कराई। खाई के समक्ष भैसो को, गरदन और पाँव बाँधकर डाल दिया। छप्पर के पीछे खेमे लगा दिए। जब भारतीय हाथियो की पक्तियाँ आगे बढी तब उसने सुरक्षा के लिये अपनी सेना की पक्ति को सामने से खभो की पक्ति द्वारा सुरक्षित करा दिया। लोहे के बहुत बडे बडे काँटे तैयार करवाकर पदातियो को इस आशय से दे दिए कि जब हाथी आक्रमण करे तो वे उन काँटो को हाथियो के सामने डाल दे। बदूक तथा गोले बारूद के आविष्कार के कारण बाबर ने पानीपत के युद्ध मे इब्राहीम लोदी की बहुत बडी सेना से टक्कर लेने के लिये जिस प्रकार किलाबदी कराई उसके विषय मे वह स्वय लिखता है कि 'हमारे दाईं ओर पानीपत नगर तथा उसके मुहल्ले थे। हमारे सामने गाडियाँ तथा तोरे (एक प्रकार की ऊँची तिपाइयाँ) थी, जिन्हें हमने तैयार कराया था। बाईं ओर तथा अन्य स्थानो पर खाइयाँ एव वृक्ष की शाखाएँ थी। एक एक बाण पहुँचने की दूरी तक इतना स्थान छोड दिया गया था कि १००–१००, २००–२०० अश्वारोही वहाँ से छापा मार सकें।'

यूरोप मे नेपालियन को कई स्थायी दुर्गो पर घेरा डालने को विवश होना पडा था किंतु उसकी चेष्टा यही होती थी कि वह अपने स्वनिश्चित रणक्षेत्र मे शत्रु को ले आए। फ्रीडलैंड के अभियान मे रूसी सेनानायक काउट वान बेनिंगसन ने बाल्टिक सागर से पृथक हो जाने पर एक शिविर मे शरण ली जहाँ उसने तत्काल ही अस्थायी किलाबदी की व्यवस्था कर ली। नेपोलियन इस अस्थायी मोर्चाबदी का सही अनुमान न लगा सका और उसने अपने सैनिक आक्रमणार्थ भेजे, परंतु वे पराजित हुए। नेपोलियन ने नए सैनिक भेजकर पुन आक्रमण किया, किंतु अँधेरा हो जाने के कारण प्रयत्न त्याग देना पडा।

अमरीका मे गृहयुद्ध के समय अमरीकियो के पास समुद्रीय तट के अतिरिक्त कही भी स्थायी दुर्ग न थे। सैनिक या तो पत्थर की दीवार के पीछे या खाइयाँ खोदकर शत्रुओ से युद्ध करते थे। विक्सबर्ग तथा पीटर्सबर्ग की घेराबदियो मे खाई युद्ध की व्यवस्था अपनाई गई। विक्सबर्ग का घेरा लगभग एक साल तक चलता रहा।

प्रथम विश्वयुद्ध मे किलो ने सेनाओ को सगठित करने तथा शत्रुओ के आक्रमण मे विलब डालने मे बडी सहायता की। फ्रास तथा बेल्जियम के दुर्गो की व्यवस्था इस ढग से की गई थी कि उनके द्वारा शत्रुओ को आगे बढने से रोका जा सके, साथ ही उनपर आक्रमण करने मे सुविधा हो।

स्विटजरलैंड की सीमा से इंग्लिश चैनल तक की ६०० मील की दूरी मे दो प्रकार की खाइयाँ एक दूसरे के समुख थी। दिसबर १९१४ से मार्च १९१८ तक की अवधि मे ये लहरदार खाइयाँ किसी भी एक स्थान पर १० मील से अधिक की दूरी तक नही हटी थी, सिवा एक स्थान के जिसे जर्मनो ने स्वेच्छा से छोड दिया था ताकि अपनी पक्तियो को एक सीध मे कर ले। प्रथम विश्वयुद्ध के समय कुछ आधुनिक किले जर्मनो की गोलाबारी को भली प्रकार झेल गए। साथ ही, इनमे सैनिको की भी अधिक आवश्यकता नही पडी। इस अनुभव से फ्रासीसियो को 'माजिनो लाइन' नामक किलेबदी के निर्माण के लिये प्रेरित किया जो जर्मनो के आक्रमण से स्थायी रूप से रक्षा कर सके। पूर्व मे जो गोलाबारी किलाबदी की व्यवस्था होती थी वही इस आधुनिक किलाबदी मे भी लक्षित थी, परतु इसकी मुख्य विशेषता रेखावत् मोर्चाबदी की व्यवस्था ही थी। सेनाओ की दृष्टि से 'माजिनो लाइन' गत मोर्चाबदी व्यवस्था से कही श्रेयस्कर थी। इसमे ककड इत्यादि भी काफी मोटा लगाया गया था और इसकी तोपे भी विशालकाय थी। साथ ही इसमे वातानुकूलित भाग भी सेनाओ के लिये थे और कहा जाता है कि यह किसी भी आधुनिक नगर से कम आरामदेह न थी। इसमे मनोरजन के स्थानो, रहने के लिये मकानो, खाद्य भडार गृहो और भूमिगत रेल की पटरियो की भी व्यवस्था थी। गहराई मे कुछ ऐसे सुदृढ स्थान भी बना दिए गए थे जहाँ आवश्यकता पडने पर रेल द्वारा सेना जा सकती थी।

जर्मनो ने भी १९३६ मे राइनलैंड की किलाबदी 'सीगफ्रिड लाइन' द्वारा की। इस रेखा मे लोहे तथा ककड से रक्षात्मक स्थान बनाए गए थे और उन स्थानो के आगे जर्मनी की पूरी सीमा तक ककड तथा लोहे के अवरोधक स्थान भी बना दिए गए थे। रूस ने पोलैंड के विरुद्ध जो किलाबदी की, और जिसे 'स्तालिन लाइन' कहते है, वह 'माजिनो लाइन' के नमूने पर ही बनी थी।

इन नवीन गढबदियो मे कई बातें ध्यान मे रखी गई थी। लोहे तथा ककड के अवरोधक टैंको की गति को रोकने के लिये ही नही अपितु जलमग्न क्षेत्रो तथा जगलो मे भी पहुँचने के मार्गो को सरक्षित करने के लिये प्रयोग मे लाया गया था। वायुयानो के आक्रमण से रक्षा करना भी आवश्यक समझा गया था। इसके लिये विस्तृत टेलीफोन व्यवस्था, सर्चलाइट तथा भारी भारी तोपो को लगाने का प्रबध किया गया था। वायुयानो द्वारा न देख जाने तथा शत्रुओ की स्थलसेना को धोखा देने के लिये छिपने की व्यवस्था करना भी महत्वपूर्ण माना गया। मित्रराष्ट्रो ने समझा था कि उनकी किलेबदी की यह व्यवस्था शत्रुओ के आक्रमण को रोकने और झेलने मे समर्थ होगी किंतु वे अपनी इस योजना मे पूर्णत असफल रहे।

जर्मनी की सेनाएँ अपनी सशोधित 'श्लीफेन' योजना के अनुसार बेल्जियम से होकर मई, १९४० मे कूच करने लगी। बेल्जियम से होकर कूच करते समय जर्मन सेनाएँ फ्रास की पूर्वी सीमा पर स्थित सुदृढ किलो से कतराती हुई चली। बेल्जियम मे लीज और नामूर के दुर्ग और उत्तरी फ्रास के दुर्ग, जो जर्मन सेनाओ की दाहिनी टुकडी के कूच मार्ग मे पडते थे, उन दुर्गो की अपेक्षा जो दूर दक्षिण तथा फ्रास की पूर्वी सीमा पर स्थित थे, कमजोर थे। जर्मन सेनाओ ने इसका सही अनुमान लगा लिया था और इसीलिये उन्होने एक नई विधि निकाली जिसे 'श्लीफेन प्लान' कहते हैं। उन्होने लीज के निकट अलबर्ट नहर तथा म्यूजे के चौराहो पर आक्रमण किया। २४ घटे मे इबेन-इमाएल का दुर्ग विजित हो गया। समस्त ससार इस दुर्ग के विजित हो जाने पर आश्चर्यचकित हो गया क्योकि इसकी किलाबदी आधुनिक ढग से हुई थी। जर्मनो की इस जीत पर पश्चिमी राष्ट्रो ने सोचा कि जर्मनो के पास कोई गुप्त अस्त्र है परतु वास्तव मे उनकी जीत का रहस्य 'आक्रमण मे पूर्ण सामजस्य' था। प्रात काल जर्मनो ने किले की चोटी पर अपने सैनिक उतार दिए। प्रशिक्षित इजीनियरो ने तुरत ही बारूद लगानी शुरू कर दी जिसमे किले की छतरियाँ ध्वस्त की जा सके। तोपो की नालियो मे उन्होने हथगोले भी गिरा दिए

और किले के बारूदखाने में विस्फोटक पदार्थ पहुँचा दिए। इसके पूर्व कि आक्रमण की सूचना देने के लिये घंटियाँ बजें, वायुयानों द्वारा अन्य दुर्गों पर आक्रमण शुरू हो गया। वायुयानों द्वारा उतारे गए सैनिकों की सहायता के लिये पैदल सेना नौकाओं में नदी पार कर पहुँच गई और दोनों ने मिलकर क्षण भर में लीज़ का पूरा किला घेरकर देखते ही देखते जीत लिया। गुप्त अस्त्र के साथ साथ घर के भेदियों (फ़िफ्थ कालम) को भी इस पराजय का कारण बताया गया परंतु वास्तव में वायुसेना तथा स्थलसेना का दक्ष सहयोग ही जर्मनों की विजय का कारण था। इसी ढंग से जर्मनों ने माजिनो रेखा के उत्तरी सिरे पर सेदाँ पर भी आक्रमण किया और स्तालिन लाइन को तोड़ने में भी इसी युक्ति से काम लिया।

१९४४ में जर्मनी के 'फ़ोर्ट्रेस ऑव यूरोप' की रक्षा में कंकड़ तथा लोहे द्वारा किलाबंदी पर अधिक जोर दिया गया। किलों को टीलों के एक ओर बनाया गया जिसको देखकर उस दुर्ग के अजेय होने का आभास हो। संचारण की व्यवस्था, वायुनाशक तोपों की रक्षा तथा इन किलों के पीछे पैदल सेना सहायतार्थ अवस्थित करने पर अधिक जोर दिया गया। किले के सामने समुद्र के किनारे किनारे सुरंगें और जल तथा किनारों पर अवरोधक लगाए गए। यह स्थायी तथा मैदानी किलाबंदी का एक सम्मिलित रूप था।

द्वितीय महायुद्ध के समय कई स्थानों पर फ्रांसीसियों ने सुदृढ़ मैदानी मोर्चाबंदी की। उन्होंने बड़ी बड़ी खाइयाँ खोदी जो इतनी गहरी थीं कि उनसे टैंक तक रोके जा सकते थे। टैंक नाशक तोपें भी इन खाइयों के सामने के भाग पर अग्निवर्षा करने के लिये लगाई गई थीं। सर्वप्रथम जर्मनों ने तोपखाने तथा निचले उड़ानवाले वायुयानों द्वारा फ्रांसीसी स्थानों पर बमबारी की। इसके पश्चात् टैंकों ने इन लहरदार ऐंटी-टैंक खाइयों के विरुद्ध धुएँ की आड़ में बढ़ना शुरू किया। यह जान लेने के पश्चात् कि टैंक नाशक तोप किस स्थान पर लगाई गई है, जर्मनों ने एक टैंक को आगे बढ़ाया जिसने टैंक नाशक तोप को टकराकर गिरा दिया और फ्रांसीसी तोपचियों की दृष्टि के सामने अड़कर उसके दृष्टिमार्ग को अवरुद्ध कर दिया। इस प्रकार जर्मनों ने अपने टैंकों की, जो पीछे आ रहे थे, रक्षा की और वे इसी रक्षा में खाइयों तक पहुँच गए, विशेष यंत्रों द्वारा खाइयों पर पुल बनाया और पार हो गए। फ्रांसीसियों की इस प्रकार जितनी रक्षार्थ पंक्तियाँ तथा खाइयाँ थीं वे सब जर्मन टैंक इसी विधि से पार करते गए। पार करने में फ्रांसीसियों की रक्षा दीवारों को भी अपनी भारी भारी तोपों से चकनाचूर करते चले गए।

गुहात्मक मैदानी मोर्चाबंदी के विरुद्ध अमरीका ने मनुष्यों के स्थान पर यंत्रों का हर संभव साधन से प्रयोग की विधि अपनाई। इससे कभी कभी वायुयानों और साथ ही नौसेना द्वारा उस क्षेत्र पर बमवर्षा कुछ दिनों अथवा कुछ सप्ताह तक की जाती थी। एक बार थलसेना लड़ते लड़ते समुद्र तट तक पहुँच जाती तो वह अपने साथ तोपखाना तथा टैंक भी वहाँ तक ले जाती और दोनों की संयुक्त शक्ति से शत्रु के मैदानी मोर्चाबंदी के स्थानों पर बमवर्षा की जाती। शत्रु इस बमवर्षा के कारण अपनी गुहारूपी खाइयों से निकलकर भागते। इसी समय पैदल सेना जंगली क्षेत्रों से होती इन गुफाओं से निकले शत्रुओं को घेरती आती और उन्हें नष्ट कर देती। इस विधि से शत्रुओं को नष्ट करने के बावजूद जापानी सैनिक अपनी गुफारूपी खाइयों से नहीं निकले। तब अमरीकियों ने टैंकों द्वारा उन खाइयों पर अग्निवर्षा की और उनके प्रवेशद्वार उड़ा दिए।

द्वितीय विश्वयुद्ध में मैदानी मोर्चाबंदी का क्रम इस प्रकार होता था: रक्षार्थ एक स्थान चुना जाता था, खाइयाँ तथा शरणस्थान बनाए जाते थे, फिर सुरंगें लगाकर तथा काँटेदार तार खींचकर शत्रु का मार्ग अवरुद्ध किया जाता था। रक्षात्मक स्थलयुद्ध में ये सब कार्य एक साथ किए जाते थे। मध्य से एक ऐंटी-टैंक खाई भी जाती थी। इस खाई के लगभग ६०० गज पीछे रक्षक दल खड़ा होता था जिसमें राइफलधारी तथा उनके पीछे तोपची खाइयों में खड़े हो जाते थे। वे इतनी दूरी पर इसलिये खड़े होते थे जिससे मशीनगन तथा छोटी मार्टर बंदूकों द्वारा उन शत्रुओं पर अग्निवर्षा कर सकें जो ऐंटी-टैंक खाई को उस ओर लगाए गए अवरोधक स्थानों पर आकर अटक गए हों। ऐंटी-टैंक खाई के बाद काँटेदार तार और मुख्य सुरंगें लगाई जाती थीं। इन सुरंगों के बाद फिर काँटेदार तार तथा सुरंगें, और इसके बाद भी काँटेदार तार तथा सुरंगें रखी जाती थीं। रक्षार्थ चुने गए स्थान तथा अवरोधक क्षेत्र में परस्पर ४०० से ६०० गज तक की दूरी रखी जाती थी। इस मैदानी किलाबंदी से यह लाभ था कि खाइयों में छिपे रहकर भी रक्षक दल को अपने अस्त्र शस्त्र प्रयुक्त करने की हर प्रकार से संभावना थी। अवरोधक भी, विशेषकर सुरंगें, शत्रुओं की आधारशक्ति टैंकों को रोकने में बड़ी प्रभावकारी सिद्ध होती थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह निष्कर्ष निकला कि स्थायी किलाबंदी धन तथा परिश्रम की दृष्टि से ठीक नहीं है; शत्रु की गति में विलंब अन्य साधनों से भी कराया जा सकता है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि इसका महत्व बिल्कुल ही खत्म हो गया। अणुबम के आक्रमण में सेनाओं को मिट्टी के टीलों या कंकड़ के रक्षक स्थानों में आना ही होगा। नदी के किनारे या पहाड़ी दर्रों के निकट इन स्थायी गढ़ों का उपयोग अब भी लाभदायक है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिक तृतीय आयामात्मक युद्ध में स्थायी दुर्गों की उपयोगिता नष्ट हो गई है।

सं०ग्रं०—द्विजेंद्रनाथ शुक्ल : भारतीय वास्तुशास्त्र; रिज़वी : आदि तुर्क कालीन भारत; तुगलक कालीन भारत, भाग २; मुगल कालीन भारत; हुमायूँ; फ़ख्रे मुदब्बिर : आदाबुल हर्ब वश्शुजाअत; शरफ़ुद्दीन अली यजदी : ज़फ़रनामा भाग २; बाबरनामा, सिडर्नी टाय : ए हिस्ट्री ऑव फ़ोर्टीफ़िकेशन; विलियम ए० मिशेल : आउटलाइंस ऑव द वर्ल्ड्स मिलिट्री हिस्ट्री; बी० एच० लिडेल हार्ट : द डेसिसिव वार्स ऑव हिस्ट्री। (सै० अ० अ० रि०)

किलिमंजारो पर्वत पूर्वी अफ्रीका के टंगान्यिका में मोंबासा पत्तन से लगभग १०० मील अतःस्थित ज्वालामुखीश्रृंखला का एक पर्वत (स्थिति ३° ५' द० अक्षांश तथा ३७° २३' पू० देशांतर)। इसकी प्रधान अक्षरेखा पूर्व से पश्चिम की ओर फैली हुई है। इस पर्वतांचल में एक दूसरे से सात मील के अंतर पर स्थित दो ऊँचे शिखर हैं—पश्चिम में स्थित किबो (१९,३२१ फुट) तथा पूर्व में स्थित मावेंजी (१६,८९२ फुट)। किबो अफ्रीका के ज्ञात शिखरों में सर्वोच्च है। किलिमंजारो पर्वत अपनी ऊँचाई की अपेक्षा विशालता के लिये अधिक प्रसिद्ध है। किबो शिखर की लावा चट्टानों से निर्मित ढालों पर लगभग २०० फुट तक हिम की श्वेत पट्टी पड़ी हुई है, जिसमें से कहीं कहीं नालों के द्वारा हिमानियाँ प्रवाहित होती हैं।

किलिमंजारो पर्वत पर पर्वतसुलभ पट्टियाँ मिलती हैं। लगभग ६,५०० से ९,५०० फुट ऊँचाई तक वनप्रांत फैला हुआ है, जिसके ऊपर १२,७०० फुट तक फूलोंवाले उच्चपर्वतीय पौधे उगते हैं। दक्षिणी ढालों पर ४,००० और ६,००० फुट के मध्य घना बसा हुआ चांगा का क्षेत्र स्थित है, जिसमें कहवा, मक्का तथा केला उगाया जाता है। जोहैनीज़ रेबमैन नामक धर्मप्रचारक ने १८४८ ई० में किलिमंजारो पर्वत का पता लगाया। सन् १८८९ में डॉक्टर हांस मेयर ने इसपर चढ़ने का सफल अभियान किया। (शा० ला० का०)

किशनगढ़ अजमेर से रेल द्वारा १८ मील दूर उत्तरपश्चिम में स्थित नगर (स्थिति २६° ३४' उ० अक्षांश तथा ७४° ५३' पूर्व देशांतर)। लगभग एक वर्गमील क्षेत्र में फैले हुए गुंडलाव झील के तट पर स्थित इस नगर तथा किले का दृश्य अत्यंत मनोहर है। झील के मध्य मोखमविलास नामक उद्यान स्थित है। नगर के पास ही मदनगंज नामक एक उपनगर विकसित हुआ है। कपड़े की बुनाई तथा कपड़े एवं गल्ले का निर्यात यहाँ के प्रमुख धंधे हैं। नगर के पास ही संगमरमर, आवलु पत्थर तथा अभ्रक की खदानें हैं।

इस नगर की स्थापना १६११ ई० में जोधपुर नरेश उदयसिंह के पुत्र किशनसिंह ने की थी। बड़े भाई से अनबन हो जाने के कारण किशनसिंह अजमेर चले आए और अपनी सेवाओं से मुगल सम्राट् अकबर और जहाँगीर को प्रसन्न किया। जहाँगीर ने उन्हें 'महाराजा' की उपाधि और कुछ जागीर प्रदान की। उसी जागीर पर इस नगर की स्थापना हुई। अंगरेजी शासन-

काल में यह ८५८ वर्ग मील की एक देशी रियासत थी। देशी रियासतों के विलयन के बाद अब यह अजमेर जिले की एक तहसील बन गई है। भारतीय चित्रकला के इतिहास में राजस्थानी चित्रकला की एक विशिष्ट शैली को, जो किशनगढ़ शैली के नाम से प्रसिद्ध है, जन्म देने का गौरव इसे प्राप्त है। (शा० ला० का०, प० ला० गु०)

किशिनेवँ मॉलदोवियन सोवियत समाजवादी संघ की राजधानी (स्थिति ४६° ५९' उ० अक्षांश तथा २८° ५२' पू० देशांतर)। यह कार्ट्री पठारी क्षेत्र में बिक नदी के किनारे ओडेसा-जास्सी को संबंधित करनेवाले रेलमार्ग पर स्थित है। इसकी स्थापना सन् १४३६ में हुई थी।

यह ईसाइयों का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है और यहाँ गंधक मिलता है, पानी के झरने और आरोग्यशाला स्थित हैं। इसके उपनगर क्षेत्र में विभिन्न फल, विशेषतया बेर, अंगूर तथा शहतूत आदि उत्पन्न होते हैं। यहाँ अंगूर उगाने की शिक्षा देने की एक पाठशाला, जूते, विभिन्न औजार तथा खाद्य सामग्री तैयार करने के उद्योग धंधे हैं। इसके निकट बिक नदी की तटवर्ती पहाड़ियों पर एक उपनगर का विकास हुआ है। द्वितीय महायुद्ध में यह नगर विनष्टप्राय हो गया था परंतु अब इसका पुनर्निर्माण हो गया है। रूस के इतिहास में इस नगर की ख्याति इस कारण है कि सुप्रसिद्ध कवि पुश्किन को यहीं निर्वासित किया गया था। (शा० ला० का०)

किष्किंधा दंडकारण्य के मध्य पंपा सरोवर के किनारे स्थित वानर-राज्य। रामायण के अनुसार बाली वहाँ का राजा था जिसे मारकर राम ने सुग्रीव को वहाँ का राजा बनाया। महाभारत में सहदेव के दिग्विजय के प्रसंग में इसका उल्लेख हुआ है। उस समय वहाँ के राजा मंद और द्विविद नामक वानर थे। दक्षिण भारत में तुंगभद्रा नदी के तट पर हम्पी नामक स्थान के निकट अनेगुंदी नामक एक स्थान है। समझा जाता है कि यही प्राचीन किष्किंधा था। (प० ला० गु०)

किसा गौतमी भगवान् बुद्ध की एक शिष्या। इनके संबंध में यह कहा गया है कि उनके एक ही पुत्र था जिसे बाग में खेलते समय साँप ने डँस लिया। एक दिन जब वह मृत पुत्र के शव को लेकर शोकाकुल भटक रही थी तब किसी ने उससे कह दिया कि बुद्ध के पास जाओ, वह तुम्हारे पुत्र को जीवित कर देंगे। उसने पुत्र के शव को ले जाकर बुद्ध के चरणों में डाल दिया और जीवित कर देने की प्रार्थना की। सुनकर बुद्ध ने कहा—ठीक है, तुम किसी ऐसे घर से एक मुट्ठी अन्न ले आओ जिसके यहाँ कभी कोई मरा न हो। मैं तुम्हारे पुत्र को जीवित कर दूँगा। गौतमी दिन भर नगर में भटकती रही पर उसे कोई ऐसा घर नहीं मिला जहाँ कभी कोई मरा न हो। निराश, वह बुद्ध के पास लौटकर आई। तब बुद्ध ने उसे उपदेश दिया कि मृत्यु के दुःख से सारा संसार पीड़ित है। जन्म-मृत्यु का चक्र निरंतर चलता रहता है। पुत्र का शोक भूलकर धर्म की शरण में जा। वह सांसारिक मोह त्यागकर भिक्षुणी हो गई और आध्यात्मिक विकास कर अर्हत पद प्राप्त किया। शरीर से क्षीण होने के कारण लोग उसे किसा गौतमी कहने लगे। (प० ला० गु०)

कीएव (Kiev) नीएपर नदी के दाहिने तट पर पहाड़ियों के बीच स्थित एक प्राचीन इतिहासप्रसिद्ध नगर एवं उक्रेन (सोवियत संघ) की राजधानी (स्थिति - ५०° ३०' उ० अ०, ३०° २८' पू० दे०)। यह सोवियत संघ का एक प्रमुख औद्योगिक केंद्र और पत्तन (रिवरपोर्ट) है। यहाँ पर मशीन, मशीनी औजार, मोटर इत्यादि बनते हैं। (नृ० कु० सिं०)

कीट प्रायः कोई भी छोटा, रेंगनेवाला, खंडों में विभाजित शरीरवाला और बहुत सी टाँगोंवाला प्राणी कीट कह दिया जाता है, किंतु वास्तव में यह नाम विशेष लक्षणोंवाले प्राणियों को दिया जाना चाहिए। कीट अपृष्ठवंशियों (Invertebrates) के उस बड़े समुदाय के अंतर्गत आते हैं जो संधिपाद (Anthropoda) कहलाते हैं। लिनीयस ने सन् १७३५ में कीट (इनसेक्ट = इनसेक्टम् = कटे हुए) वर्ग में वे सब प्राणी संमिलित किए थे जो अब संधिपाद समुदाय के अंतर्गत रखे गए हैं। लिनीयस के इनसेक्ट (इनसेक्टम्) शब्द को सर्वप्रथम एम० जे० ब्रिसन ने सन् १७५६ में सीमित अर्थ में प्रयुक्त किया। तभी से यह शब्द इस अर्थ में व्यवहृत हो रहा है। सन् १८२५ में पी० ए० लैट्रेली ने कीटों के लिये हेक्सापोडा (Hexapoda) शब्द का प्रयोग किया, क्योंकि इस शब्द से इन प्राणियों का एक अत्यंत महत्वपूर्ण लक्षण व्यक्त होता है।

वास्तविक कीटों के लक्षण—इनका शरीर खंडों में विभाजित रहता है जिसमें सिर, वक्ष और उदर ये तीन भाग स्पष्ट होते हैं। प्रत्येक भाग में खंडों की संख्या निश्चित रहती है। सिर में मुख भाग, एक जोड़ी शृंगिकाएँ (Antenna), प्रायः एक जोड़ी संयुक्त नेत्र और बहुधा सरल नेत्र भी पाए जाते हैं। वक्ष पर तीन जोड़ी टाँगें और दो जोड़े पक्ष होते हैं। कुछ कीटों में एक ही जोड़ा पक्ष होता है और कुछेक पक्षविहीन भी होते हैं। उदर में टाँगें नहीं होतीं। इनके पिछले सिरे पर गुदा होती है और गुदा से थोड़ा सा आगे की ओर जननछिद्र होता है। श्वसन महीन श्वास नलियों (ट्रेकिया, Trachea) द्वारा होता है, जो शरीर के भीतर होती हैं। श्वासनली बाहर की ओर श्वासरंध्र (स्पाइरेकल, Spiracle) द्वारा खुलती है। प्रायः दस जोड़ी श्वासरंध्र शरीर में दोनों ओर पाए जाते हैं, किंतु कई जातियों में परस्पर भिन्नता भी रहती है। रक्त लाल कणिकाओं से विहीन होता है और प्लाज्मा (Plasma) में हीमोग्लोबिन (Haemoglobin) भी नहीं होता। अतः श्वसन की गैसें नहीं पहुँचती। परिवहन तंत्र खुला होता है, हृदय पृष्ठ की ओर आहारनाल के ऊपर रहता है। रक्त देहगुहा में बहता है, बंद वाहिकाओं की संख्या बहुत थोड़ी होती है। वास्तविक शिराएँ, धमनियाँ और केशिकाएँ नहीं होतीं। निसर्ग (मैलपीघियन, Malpighian) नलिकाएँ पश्चांत्र के अगले सिरे पर खुलती हैं। एक जोड़ी पांडुर ग्रंथियाँ (Corpora allata) भी पाई जाती हैं। अंडे के निकलने पर परिवर्धन प्रायः सीधे नहीं होता, साधारणतया रूपांतरण द्वारा होता है।

प्राणियों में सबसे अधिक जातियाँ कीटों की हैं। कीटों की संख्या अन्य सब प्राणियों की संमिलित संख्या से छह गुनी अधिक है। इनकी लगभग दस बारह लाख जातियाँ अब तक ज्ञात हो चुकी हैं। प्रत्येक वर्ष लगभग छह सहस्र नई जातियाँ ज्ञात होती हैं और ऐसा अनुमान है कि कीटों की लगभग बीस लाख जातियाँ संसार में वर्तमान हैं। इतने अधिक प्राचुर्य का कारण इनका असाधारण अनुकूलन (ऐडैप्टाबिलिटी, Adaptability) का गुण है। ये अत्यधिक भिन्न परिस्थितियों में भी सफलतापूर्वक जीवित रहते हैं। पंखों की उपस्थिति के कारण कीटों का विकिरण (डिसपर्सल, dispersal) में बहुत सहायता मिलती है। ऐसा देखने में आता है कि परिस्थितियों में परिवर्तन के अनुसार कीटों में नित्य नवीन संरचनाओं तथा वृत्तियों (हैबिट्स, habits) का विकास होता जाता है।

कीटों ने अपना स्थान किसी एक ही स्थान तक सीमित नहीं रखा है। ये जल, स्थल, आकाश सभी स्थानों में पाए जाते हैं। जल के भीतर तथा उसके ऊपर तैरते हुए, पृथ्वी पर रहते और आकाश में उड़ते हुए भी ये मिलते हैं। अन्य प्राणियों और पौधों पर बाह्य परजीवी की भाँति तथा इन दोनों प्रकार के जीवधारियों में आंतरिक परजीवियों (इंटर्नल पैरासाइट, internal parasite) के रूप में भी ये जीवन व्यतीत करते हैं। ये घरों में भी रहते हैं और वनों में भी, तथा जल और वायु द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाते हैं। कार्बनिक अथवा अकार्बनिक, कैसे भी पदार्थ हों, ये सभी में अपने रहने योग्य स्थान बना लेते हैं। उत्तरी ध्रुवप्रदेश से लेकर दक्षिणी ध्रुवप्रदेश तक ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ जीवधारियों का रहना हो और कीट न पाए जाते हों। वृक्षों से ये किसी रूप में अपना भोजन प्राप्त कर लेते हैं। सड़ते हुए कार्बनिक पदार्थ ही न जाने कितनी सहस्र जातियों के कीटों को आकृष्ट करते तथा उनका उदरपोषण करते हैं। यही नहीं कि कीट केवल अन्य जीवधारियों के ही बाह्य अथवा आंतरिक परजीवी के रूप में पाए जाते हों, वरन् उनकी एक बड़ी संख्या कीटों को भी आक्रांत करती है और उनसे अपने लिये आश्रय तथा भोजन प्राप्त करती है। अत्यधिक शीत भी इनके मार्ग में बाधा नहीं डालता। कीटों की ऐसी कई जातियाँ हैं जो

कीट (देखिए पृ० २०–३१)

दस्यु मक्खी

स्फेसिडी (Sphecidae) वंश की ततैया
उसका मिट्टी का कोष्ठ, उसके अंडे
तथा मूर्छित की हुई मकड़ियाँ

जुगनू

कीटाहारी पौधा (देखिए पृ० ३८)

घटपर्णी का पौधा
(अमेरिकन म्यूजियम आव नेचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)

कीमिया (देखिए पृष्ठ ४१–४२)

कार्यरत कीमियागर

मध्य सोलहवीं शती ई० के एक चित्र की अनुकृति

...pes) कहलाता है। इसका एक सिरा अवोवृत से और दूसरे सिरे पर एक उष्णीष (Galea), एक अन्तःजिह्वा (Lacinia) और एक खंडदार स्पर्शिनी (Maxillary Palp) ... दो अवयवों से मिलकर बना होता है। ... समेकन अपूर्ण हो रहता है। इसका वह चौड़ा भाग, ... रहता है, अवचिबुक (Submentum) कहलाता ... किनारे पर चिबुक (मेंटम, Mentum) जुड़ा रहता ... अग्र किनारे पर चिबुकाग्र (Prementum) होता है, ... बना होता है और जिसके अग्र किनारे पर बाहर की ओर ... जिह्वा (पैराग्लॉसी, Paraglossae) तथा भीतर की ... जिह्वा (ग्लॉसी, Glossae) होती हैं। इनकी ... उष्णीष (Galea) और अन्तर्जिह्वा से की जा सकती ... मिलकर जिह्विका (Ligula) बनाते हैं। चिबुकाग्र ... किनारे पर एक एक खंडदार स्पर्शिनी (लेबियल पैल्प, ...) होती है। मुख वाले अवयवों के मध्य जो स्थान घिरा ... मुखगुहा (प्रीओरल कैविटी, Preoral cavity) कहलाता ... मे जिह्वा (हाईपोफैरिंक्स, Hypopharynx) होती है। ... ऊपर की ओर मुख का छिद्र और नीचे की ओर लार ... होता है।

...जन करने की विधियाँ विभिन्न हैं। तदनुसार इनके मुख ... कृति में ... है। जो ... के छिद्र ... है, उनमें ... आदि ... समान ... अव- ... कीटों ... अधर- ... ता है। ... दार्थ ... लिये ... है। ... ख- कीटों के वर्णन में बतलाए गए हैं।
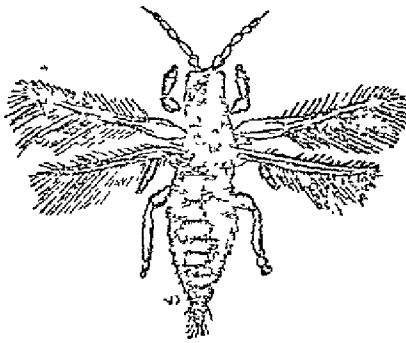
पर्णजीवक (Thrips)

... केंद्र है। यह शरीर का मध्यभाग होने के कारण ... उपयुक्त है। इस भाग में तीन खंड होते हैं, जो ... othorax), मध्यवक्ष (मेसोथोरैक्स, Mesothorax) ... मेटाथोरैक्स, Metathorax) कहलाते हैं। ... तीनों खंडों में अत्यधिक भेद पाया जाता है। ... सबसे अधिक विकसित रहता है, किंतु मध्यवक्ष ... की परिस्थिति पर निर्भर रहता है। जब ... आकार ... न्त्

कहलाता है। प्रतिपृष्ठ में बेसिस्टर्नम (Basisternum) और फर्कास्टर्नम (Furcasternum) नामक दो भाग होते हैं। फर्कास्टर्नम के पीछे की ओर अंतःखडीय भित्ति कड़ी होकर स्पाइनास्टर्नम (Spinasternum) बनकर जुड़ जाती है।

टाँगें—वक्ष के प्रत्येक खंड में एक जोड़ी टाँग होती है। प्रत्येक टाँग पाँच भागों में विभाजित रहती है। टाँग का निकटस्थ भाग, जो वक्ष से जुड़ा होता है, कक्षांग (कॉक्सा, Coxa) कहलाता है। दूसरा छोटा सा भाग ऊरुकूट (ट्रॉकैंटर, Trochanter), तीसरा लंबा और दृढ़ भाग ऊर्विका (फीमर, Femur), चौथा लंबा, पतला भाग जंघा (टिबिया, Tibia) और पाँचवाँ भाग गुल्फ (टार्सस, Tarsus) कहलाता है, जो दो से लेकर पाँच खंडों तक में विभाजित हो सकता है। गुल्फ के अंतिम खंड में नखर (क्लाज, Claws) तथा गद्दा (उपबर्हिका, Pulvillus) जुड़ी होती है और यह भाग गुल्फाग्र (प्रीटार्सस, Pretarsus) कहलाता है। नखर और एक जोड़ा होते हैं। ... को पलविलाइ (Pulvilli), एरोलिया (Arolia), एंपोडिया (Empodia) आदि नाम दिए गए हैं। टाँगों में उपयोगितानुसार अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। खेरिया (ग्रिलोटैल्पा, Gryllotalpa) की टीबिया मिट्टी खोदने के लिये हेंगी के आकार की हो जाती है और इसके नीचे की ओर तीन खंडवाला गुल्फ जुड़ा होता है। फुदकनेवाले टिड्डों की पश्च टाँगों की ऊर्विका (फीमर, Femur) बहुत पुष्ट होती है। श्रमिक मधुमक्खियों की पश्च टाँगें पराग एकत्र करने के लिये उपयोगी होती हैं। इनके गुल्फ में क्रमानुसार श्रेणीबद्ध बाल लगे होते हैं, जिनसे वे पराग एकत्र करती हैं, और जंघा के किनारे पर काँटे होते हैं, जो पराग को छत्ते तक ले जाने के लिये पराग डलिया का कार्य करते हैं। आखेटिपतंग की टाँगें गमन करनेवाली होने के कारण ऊरुकूट दो खंडों में विभाजित हो जाता है। जूँ की टाँगें बालों को पकड़ने के लिये बनी होने के कारण गुल्फ में केवल एक ही खंड होता है तथा उसमें एक ही नखर लगा होता है। बाल को पकड़े रहने के लिये नखर विशेष आकृति का होता है। जलवासी कीटों की टाँगें तैरने के लिये बनी होती हैं। इनमें लंबे बाल होते हैं, जो पतवार का काम करते हैं। बद्धहस्त (मैंटिस, Mantis) की अगली टाँगें शिकार को पकड़ने के लिये होती हैं। इसका कक्षांग (कॉक्सा, Coxa) बहुत लंबा, ऊर्विका और जंघा काँटेदार होती है। खाते समय वह इसी से शिकार को पकड़े रहता है। घरेलू मक्खी के गुल्फ में नखर, उपबर्हिकाएँ और बाल होते हैं, जिनके कारण इनका अधोमुख चलना संभव होता है।

प्रगति—चलते समय कीट अपनी अगली और पिछली टाँगें एक ओर और मध्य टाँग दूसरी ओर आगे बढ़ाता है। सारा शरीर क्षण भर को शेष तीन टाँगों की बनी तिपाई पर आश्रित रहता है। अगली टाँग शरीर को आगे की ओर खींचती है, पिछली टाँग उसी ओर का धक्का ... और मध्य टाँग शरीर को सहारा देकर नीचे या ऊपर करती ... और बढ़ते समय कीट मोड़दार मार्ग का अनुसरण ...

पक्ष—महीन तथा दो परतों के बने होते ... पश्चवक्ष के पृष्ठीय भागों के किनारे से दाएँ बाएँ ... होते हैं। पक्षों में कड़ी, महीन नलिकाएँ ... उनको दृढ़ बनाता है। ये नलिकाएँ शिराएँ ... कुछ त्रिकोणाकार होते हैं। ... बाहर की ओर ...

उनकी शाखाओं की संख्या बढ़ जाती है। इन शिराओं के बीच बीच में खड़ी शिराएँ भी पाई जाती हैं।

कीटों के जीवन में पक्षों का अत्यधिक महत्व है। पक्ष होने के कारण ये अपने भोजन की खोज में दूर दूर तक उड़ जाते हैं। इनको अपने शत्रुओं से बचकर भाग निकलने में पक्षों से बड़ी सहायता मिलती है। पक्षों की उपस्थिति के कारण कीटों को अपनी परिव्याप्ति (Dispersal) में, अपने मर्गों को प्राप्त करने में, अंडा रखने के लिये उपयुक्त स्थान खोजने में तथा अपना घोंसला ऐसे स्थानों पर बनाने में जहाँ उनके शत्रु न पहुँच पाएँ, बहुत सहायता मिलती है।

उड़ान—उड़ते समय प्रत्येक पक्ष में पेशियों के दो समूहों द्वारा प्रगति होती है। एक समूह तो उन पेशियों का है, जिनका प्रत्यक्ष रूप में पक्षों से कोई संबंध प्रतीत नहीं होता। ये पेशियाँ वक्ष की भित्ति पर जुड़ी होती हैं। इनका पक्ष की जड़ से कोई संबंध नहीं रहता। खड़ी पेशियाँ वक्ष के पृष्ठीय भाग को दबाती हैं। वक्ष से पक्षों की संधि विशेष प्रकार की होने के कारण इस दाब का यह प्रभाव होता है कि पक्ष ऊपर को ओर उठ जाते हैं। लंबान पेशियाँ वक्ष के पृष्ठीय भाग को वृत्ताकार बना देती हैं, जिनके प्रभाव से पक्ष नीचे की ओर झुक जाते हैं। दूसरे समूह की पेशियाँ, पक्षों की जड़ पर, या पक्षों की जड़ के नन्हें नन्हें स्क्लिराइट पर, जुड़ी होती हैं, इनमें से पक्षों को फैलानेवाली अग्र और पश्च पेशियाँ मुख्य हैं। उड़ते समय प्रथम समूह की पेशियाँ जब पक्षों को बारी बारी से ऊपर नीचे करती हैं तब पक्षों को फैलानेवाली पेशियाँ पक्षों को आगे और पीछे की ओर करती हैं। उड़ते हुए कीट के पक्षों के आर पार हवा का बहाव इस प्रकार का होता है कि पक्ष के ऊपरी और निचले तल पर दाब में अंतर रहता है। फलतः एक वायुगतिकी बल बन जाता है जो पक्षों को ऊपर की ओर साधे रहता है और शरीर को उड़ते समय सहारा देता है।

प्रायः मक्खियों और मधुमक्खियों में पक्षकंपन सबसे अधिक होता है। घरेलू मक्खी का पक्षकंपन प्रति सेकंड १८० से १९७ बार होता है, मधुमक्खी में १८० से २०३ बार, और मच्छर में २७८ से ३०७ बार। ओडोनेटा (Odonata) गण के कीटों का पक्षकंपन २८ बार प्रति सेकंड होता है। अत्यधिक वेग से उड़नेवाले कीटों में बाजशलभ और ओडोनेटा गण के कुछ कीट हैं। ओडोनेटा की एक जाति के कीट की गति ६० मील प्रति घंटा तक पहुँच जाती है।

उदर—उदर उपापचय (Metabolism) और जनन का केंद्र है। प्रायः इसमें १० खंड होते हैं, किंतु अंधकगण (प्रोटयूरा, Protura) में १२ खंड और अन्य कुछ गणों में ११ खंड भी पाए जाते हैं। बहुत से गणों में अग्र और पश्च भाग के खंडों में भेद होता है और इस कारण इन भागों के खंडों की सीमा कठिनता से निश्चित हो पाती है, किंतु गुदा सब कीटों में अंतिम खंड पर ही होती है। कुछ कीटों में अंतिम खंड पर एक जोड़ी खंडवाली पुच्छिकाएँ (सरसाई, Cerci) लगी होती हैं। नर में नौवाँ खंड जनन संबंधी होता है। इसके ठीक पीछे की ओर प्रतिपृष्ठ पर जनन संबंधी छिद्र पाया जाता है और इसी पर जनन अवयव लगे रहते हैं। जनन अवयव या बाह्य जननेंद्रियाँ ये हैं—एक शिश्न (ईडीगस, Aedeagus), एक जोड़ी आंतर अवयव (परामीयर, Paramere) और एक जोड़ी बाह्य अवयव (क्लास्पर, Clasper), जो मैथुन के समय मादा को थामने का काम करते हैं। ये सब अवयव नवें खंड से विकसित होते हैं। मादा में आठवाँ और नौवाँ जनन संबंधी खंड है और इन्हीं पर जनन अवयव या बाह्य जननेंद्रियाँ लगी होती हैं। ये इंद्रियाँ अंडा रखने का कार्य करती हैं, इसलिये इनको अंडस्थापक भी कहते हैं। मादा का जनन संबंधी छिद्र सातवें प्रतिपृष्ठ के ठीक पीछे होता है, किंतु कुछ गणों में यह अधिक पीछे की ओर हट जाता है। अंडस्थापक विभिन्न समुदायों के कीटों में विभिन्न कार्य करता है, यथा मधुमक्खियों, बर्रों और बहुत सी चींटियों में डंक का, साफिलाइज में पौधों में अंडा रखने के लिये दरार छेद करने का तथा आर्केटिफरांग में दूसरे कीटों के शरीर में अंडा रखने के लिये छेद करने का। कुछ कीटों में अंडस्थापक नहीं होता। बहुत से कंचुकपक्षों और मक्खियों में शरीर के अंतिम खंड

दूरबीन के सदृश हो जाते हैं और अंडा रखने का कार्य करते हैं। अंडस्थापक तीन जोड़ी अवयवों का बना होता है, जो अग्र, पश्च और पृष्ठीय कपाट कहलाते हैं। अग्र कपाट आठवें खंड से और शेष दो जोड़ी कपाट नवें खंड से विकसित होते हैं।

कीटों के रंग—कीट तीन प्रकार के रंगों के होते हैं—रासायनिक, रचनात्मक और रासायनिक-रचनात्मक। रासायनिक रंगों में निश्चित रासायनिक पदार्थ पाए जाते हैं, जो अधिकतर उपापचय की उपज होते हैं। कुछ कीटों में ये पदार्थ उत्सर्जित वस्तु के समान होते हैं। इनमें कुछ रंग बाह्यत्वक् में पाए जाते हैं, जो काले, भूरे और पीले होते हैं तथा स्थायी रहते हैं। हाइपोडर्मिसवाले रंग छोटे छोटे दानों अथवा वसाकणों के रूप में कीट की कोशिकाओं में वर्तमान रहते हैं। ये रंग लाल, पीले, नारंगी और हरे होते हैं तथा कीट की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र लुप्त हो जाते हैं। कुछ रंग रक्त और वसापिंडक में भी पाए जाते हैं। रचनात्मक रंग बाह्यत्वक् की रचना के कारण प्रतीत होते हैं और बाह्यत्वक् में परिवर्तन होने से नष्ट हो जाते हैं। बाह्यत्वक् के सिकुड़ने, फूलने अथवा उसमें किसी अन्य द्रव्य के भर जाने से भी रंग नष्ट हो जाता है। रासायनिक-रचनात्मक रंग रासायनिक और रचनात्मक पदार्थों के मिलने से बनते हैं।

कीटों के आंतरिक शरीर की रचना इस प्रकार है :

पाचक तंत्र—पाचक तंत्र तीन भागों में विभाजित रहता है—अग्र आंत्र, मध्य आंत्र और पश्च आंत्र। अग्र और पश्चांत्र शरीरभित्ति के भीतर की ओर नलिका के आकार में वृद्धि होने से बनते हैं और इस कारण इनकी भित्ति भीतर की ओर महीन बाह्यत्वक् से ढकी रहती है, किंतु मध्यांत्र थैली के समान पृथक् विकसित होता है और अग्रांत्र तथा पश्चांत्र को जोड़ता है। अग्रांत्र में एक सकरी ग्रसनली, एक थैली के आकार का अन्नग्रह (क्रॉप, Crop) और प्रायः एक पेषणी भी होती है। अग्रांत्र के दोनों ओर लार ग्रंथियाँ होती हैं। दोनों ही मिलकर प्रमुख गुहा में खुलती हैं। मध्यांत्र छोटी होती है और इसमें से प्रायः अंधक (सीका, Caeca) निकले रहते हैं। पश्चांत्र दो भागों में विभाजित रहता है, अग्र भाग नलिका समान आंत्र और पश्च भाग थैली के समान मलाशय बनाता है। मध्य और पश्चांत्र के संधिस्थान में महीन महीन निसर्ग (मैलपीगियन, Malpighian) नलिकाएँ खुलती हैं।

कीट लगभग सभी प्रकार के कार्बनिक पदार्थ अपने भोजन के काम में ले लेते हैं। इस कारण साधारण प्रकार के लगभग सारे किण्वज (engyme) कीटों के पाचनतंत्र में पाए जाते हैं। लार ग्रंथियाँ एमाइलेस (Amylase) का उत्सर्जन करती हैं, जो ग्रसनली में प्रवेश करते समय भोजन से मिल जाता है। कार्बोहाइड्रेट का पाचन मध्य आंत्र में ही पूर्ण होता है। मध्यांत्र में ये किण्वज पाए जाते हैं—एमाइलेस, इनवर्टेस (envertase), माल्टेस (Maltase), प्रोटियेस (Proteare), लाइपेस (lipase) और हाइड्रोलाइपेस (Hydrolipase)। ये क्रमानुसार स्टार्च, गन्ने की शर्करा, माल्टोस, प्रोटीनों और चर्बी को पचाते हैं। ये किण्वज अन्नग्रह (crop) में पहुँच जाते हैं जहाँ अधिकतर पाचन होता है, केवल तरल पदार्थ ही पेषणी द्वारा मध्यांत्र में पहुँचते हैं, जहाँ किण्वज अवशोषण होता है। पश्चांत्र अनपची वस्तुएँ गुदा द्वारा बाहर निकाल देता है।

उत्सर्जनतंत्र—मैलपीगियन (निसर्ग) नलिकाएँ ही मुख्य उत्सर्जन इंद्रियाँ हैं। ये शरीरगुहा के रक्त में से उत्सर्जित पदार्थ अवशोषण कर पश्चांत्र में ले जाती हैं। नाइट्रोजन, विशेष करके यूरिक अम्ल या इसके लवण, जैसे अमोनियम यूरेट, बनकर उत्सर्जित होता है। यूरिया केवल बहुत ही थोड़ी मात्रा में पाया जाता है।

परिवहनतंत्र—पृष्ठवाहिका मुख्य परिवहन इंद्रिय है। यह शरीर की पृष्ठभित्ति के नीचे मध्यरेखा में पाई जाती है। यह दो भागों में विभाजित रहती है—हृदय और महाधमनी। हृदय के प्रत्येक खंड में एक जोड़ी कपाटदार छिद्र, या मुखिकाएँ होती हैं। जब हृदय में संकोचन होता है तो ये कपाट रक्त को शरीरगुहा में नहीं जाने देते। कुछ कीटों में विशेष प्रकार की स्पंदनीय इंद्रियाँ पक्षों के तल पर, शृंगिकाओं और टाँगों में,

पाई जाती है। पृष्ठ मध्यच्छदा (डायफ्राम, diaphram) जो हृदय के ठीक नीचे की ओर होती है, पृष्ठवाहिका के बाहर रक्तप्रवाह पर कुछ नियत्रण रखती है। पृष्ठ मध्यच्छदा के ऊपर की ओर से शरीरगुहा के भाग को परिहृद (परिकार्डियल, Pericardial) विवर (सायनस, sinus) कहते हैं। यह दोनों ओर पृष्ठभित्ति से जुडा रहता है। कुछ कीटों में प्रतिपृष्ठ मध्यच्छदा भी होती है। यह उदर में तत्रिकातंतु के ऊपर पाई जाती है। इस मध्यच्छदा के नीचेवाले शरीरगुहा के भाग का परितत्रिक्य (पेरिन्यूरल, Perineural) विवर कहते है। इनकी प्रगति के कारण इसके नीचे के रक्त का प्रवाह पीछे की ओर और दाएँ बाएँ होता है। पृष्ठवाहिका मे रक्त आगे की ओर प्रवाहित होता है और इसके द्वारा रक्त सिर मे पहुँच जाता है। वहाँ से विभिन्न इद्रियों और अवयवो मे प्रवेश कर जाता है। दोनों मध्यच्छदाओं की प्रगति के कारण शरीरगुहा मे रक्त का परिवहन होता रहता है। अत मे मध्यच्छदा के छिद्रो द्वारा रक्त परिहृद विवर मे वापस आ जाता है। वहाँ से रक्त मुखिकाओ द्वारा फिर पृष्ठवाहिका मे भर जाता है। रक्त मे प्लाविका होती है, जिसमे विभिन्न प्रकार की वर्णिकाएँ पाई जाती है। रक्त द्वारा सब प्रकार के रसद्रव्यो की विभिन्न इद्रियो मे परस्पर अदला बदली होती रहती है। यही हारमोन को और आहारनली से भोजन को सारे शरीर मे ले जाता है, उत्सर्जित पदार्थों को उत्सर्जन इद्रियो तक पहुँचाता है तथा रक्त श्वसनक्रिया मे भी कुछ भाग लेता है। परिहृद कोशिकाएँ या नेफ्रोसाइट (Nephrocyte), प्राय हृदय के दोनों ओर लगी रहती हैं। ये उत्सर्जन योग्य पदार्थों को रक्त से पृथक् कर जमा कर लेती है। तृणाभ कोशिकाएँ (ईनोसाइट, Oenocytes) प्राय हल्के पीले रंग की कोशिकाएँ होती है जो विभिन्न कीटों मे विभिन्न स्थानों पर पाई जाती हैं। कुछ कीटों मे ये श्वासरध्र (स्पायरेकिल, Spiracle) के पास मिलती है। सभवत इनका कार्य भी उत्सर्जन और विषैले पदार्थों को रक्त से पृथक् करना है। इनका वृद्धि और सभवत जनन मे विशिष्ट सबध रहता है। वसापिंडक या अव्यवस्थित ऊतक शरीरगुहा मे पाया जाता है। कभी कभी इनका विन्यास खडीय प्रतीत होता है। वसापिंडक पत्तर या ढीले सूत्रो (स्ट्रैंड्स, Strands), अथवा ढीले ऊतको के समान होते है। इनका मुख्य कार्य सचित पदार्थों को रक्त से पृथक् कर अपने मे जमा करना है। कुछ कीटों मे यह उत्सर्जन का कार्य भी करते है। पाडुग्रथियाँ (Corpora allata) एक जोडी निस्रोत ग्रथियाँ होती है, जो ग्रसिका के पास, मस्तिष्क के कुछ पीछे और कॉरपोरा कार्डियेका (Corpora cardiaca) से जुडी हुई पाई जाती है। ये तारुणिक हारमोन का उत्सर्जन करती है, जो रूपातरण और निर्मोचन पर नियत्रण रखता है।

श्वसनतत्र—यह श्वासप्रणाल (Trachea) नामक बहुत सी शाखा वाली वायुनलिकाओ का बना होता है। श्वासप्रणाल मे भीतर की ओर बाह्यत्वक् का आवरण रहता है, जिसमे पेंचदार अर्थात् घुमावदार स्थूलताएँ

क्षीणनेत्र Stylops

(Thickenings) होती है, जिससे श्वासप्रणाल सिकुडने नही पाता। रहने पर ये चाँदी के समान चमकती है। श्वासप्रणाल शाखाओ मे विभाजित हो जाती है। ये शाखाएँ स्वय भी महीन शाखाओ मे विभाजित हो जाती है। इस विभाजन के कारण अत मे श्वासप्रणाल की बहुत महीन महीन नलिकाएँ बन जाती हैं, जिन्हे श्वासनलिकाएँ (Tracheoles) कहते हैं। ये शरीर की विभिन्न इद्रियो मे पहुँचती हैं। कही कही श्वासप्रणाल बहुत फैलकर वायु की थैली बन जाता है। शरीरभित्ति मे दाएँ-बाएँ पाए जानेवाले जोडीदार छिद्रो द्वारा जिन्हे श्वासरध्र कहते है, वायु श्वासप्रणाल मे पहुँचती है। श्वासरध्र मे बद करने और खोलने का भी साधन रहता है। प्राय ऐसी रचना भी पाई जाती है जिसके कारण कोई अन्य वस्तु इनमे प्रवेश नहीं कर पाती। लाक्षणिक रूप से कुल दस जोडी श्वासरध्र होते हैं, दो जोडी वक्ष मे और आठ जोडी उदर मे। किंतु प्राय. यह सख्या कम हो जाती है। श्वसनगति के कारण वायु सुगमता से श्वासरध्र मे से होकर श्वासप्रणाल मे और वहाँ से विसरण (Diffusion) द्वारा श्वासनलिकाओ मे, जहाँ से अत मे ऊतको को आक्सिजन मिलती है, पहुँचती है। कार्बन डाइ-आक्साइड कुछ तो झिल्लीदार भागो से विसरण द्वारा और कुछ श्वासप्रणालो से होकर श्वासरध्रो द्वारा बाहर निकल जाता है। उदर की प्रतिपृष्ठ (Dorsoventral) पेशियो के सिकुडने से शरीर चौरस हो जाता है, या उदर के कुछ खड भीतर घुस जाते है, जिससे शरीरगुहा का विस्तार घट जाता है और इस प्रकार नि श्वसन हो जाता है।

शरीर—खडो की प्रत्यास्थता के कारण शरीर अपनी उत्तलता (Convexity) पुन प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार निश्वसन होता है। बहुत से जलवासी कीट रक्त या श्वासप्रणाल की जलश्वसनिकाओ द्वारा श्वसन करते है। जिन कीटो मे श्वासप्रणाल का लोप होता है उनमे त्वचीय श्वसन होता है।

तंत्रिकातत्र—तत्रिकातत्र मे केंद्रीय तत्रिकातत्र, अभ्यतराग तत्रिकातत्र और परिधिसवेदक तत्रिकातत्र समिलित है। केंद्रीय तत्रिकातत्र (Central Nervous System) मे लाक्षणिक रूप से एक मस्तिष्क, जो ग्रसिका के ऊपर रहता है, और एक प्रतिपृष्ठ तत्रिकारज्जु (Ventral Nerve Cord) होता है। ये दोनो आपस मे सयोजी द्वारा जुडे रहते है। दोनो सयोजी (Connective) ग्रसिका के दाएँ बाएँ रहते है। मस्तिष्क सिर मे स्थित और तीन भागो मे विभाजित रहता है—प्रोटोसेरेब्रम (Protocerebrum), ड्यूटोसेरेब्रम (Deuto-cerebrum) और ट्राइटोसेरेब्रम (Trito-cerebrum)। इनसे तत्रिकाएँ नेत्रो और शृगिकाओ को जाती है। प्रतिपृष्ठ तत्रिकातंतु मे शरीर के लगभग प्रत्येक खड मे एक एक गुच्छिका पाई जाती है। पहली उपग्रसिका गुच्छिका सिर मे ग्रसिका के नीचे रहती है। इसमे से तत्रिकाएँ मुख भागो को जाती है। आगामी तीन गुच्छिकाएँ वक्ष के तीनो खडो मे स्थित होती है, जिनकी तत्रिकाएँ पक्षो और टाँगो को जाती है। तत्रिकातंतु की शेष गुच्छिकाएँ उदर मे स्थित रहती है। बहुत से कीटों मे इनमे से बहुत सी गुच्छिकाओ का समेकन हो जाता है, जैसे घरेलू मक्खी और गुबरैला मे उदर और वक्ष की सब गुच्छिकाएँ मिलकर एक सामान्य केंद्र बन जाती है। मस्तिष्क सवेदना और आसजन का मुख्य स्थान है तथा दाई बाई पेशियो के सामान्यत रहनेवाली उचित दशा (Tonus) पर प्रभाव डालता है। उदर की गुच्छिकाएँ विशेष रूप से स्वतत्रता प्रदर्शित करती हैं। प्रत्येक गुच्छिका अपने खड का स्थानीय केंद्र भी बन जाती है। यदि उचित रीति से उद्दीपन किया जाय और अतिम गुच्छिका तथा इसकी तत्रिकाओ को कोई हानि न पहुँची हो तो जीवित उदर, जो वक्ष से पृथक् कर दिया गया है, अडारोपण कर सकता है। अभ्यतराग तत्रिकातत्र (Stomato-gastric Nervous System) अग्रतत्र के ऊपर पाया जाता है और इसमे से हृदय तथा अग्रतत्र को तत्रिकाएँ जाती हैं। परिधि तत्रिकातत्र (Peripheral Nervous System) इटेग्यूमेंट (Integument) के नीचे रहता है।

ज्ञानेंद्रियाँ—सयुक्त नेत्र और सरल नेत्र दृष्टि सबधी इद्रियाँ है। लाक्षणिक रूप से प्रौढो और प्राय निर्फो मे दोनो ही प्रकार के नेत्र पाए जाते है, किंतु डिंभो मे केवल सरल नेत्र ही पाए जाते हैं जो दाएँ बाएँ होते है। सयुक्त नेत्र मे बहुत से पृथक् पृथक् चाक्षुष भाग होते है, जिन्हे नेत्राणु
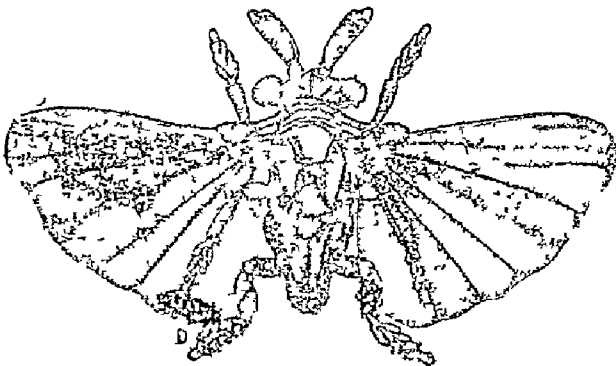
(ओमेटिडिया, Ommatidia) कहते हैं। ये बाहर से पारदर्शक कोर्निया से ढके रहते हैं। कोर्नियां षट्कोण लेंजों (लेंजेज, Lenses) में विभाजित रहती हैं। लेंजों की संख्या इनकी भीतरी ओमेटीडिया की संख्या के ठीक बराबर होती है। सरल नेत्र में केवल एक ही उभयोत्तल लेंज होता है जो चाक्षुप भाग के ऊपर रहता है। दिन और रात में उड़नेवाले कीटों के नेत्रों में अंतर होता है। रात में उड़नेवाले कीटों के संयुक्त नेत्रों में एक रचना होती है, जो टेपेटम (Tapetum) कहलाती है। टेपेटम नेत्रों में प्रवेश करनेवाले प्रकाश को परावर्तित करता है, अतः नेत्र अँधेरे में चमकते हैं। संयुक्त नेत्रों में प्रतिबिंब दो प्रकार का बनता है। जो नेत्राणु चारों ओर से काले रंजक (Pigment) से ढका रहता है, उसमें केवल वे ही किरणें प्रवेश कर पाती हैं जो नेत्राणु के समांतर होती हैं। शेष सब किरणें रंजक द्वारा अवशोषित हो जाती हैं। इस प्रकार बना हुआ प्रतिबिंब एक कुट्टिम-चित्र (मोजेइक, mosaic) होगा और उतने भागों का बना होगा जितनी कोर्निया में मुखिकाएँ होंगी। इस रचना के कारण केवल थोड़ा सा ही प्रकाश उपयोगी होता है, किंतु प्रतिबिंब अधिक स्पष्ट होता है। जिन नेत्राणुओं के केवल भीतरी भाग ही रंजक से ढके रहते हैं, उनमें उनकी मुखिकाओं के अतिरिक्त पासवाली अन्य मुखिकाओं की किरणें भी प्रवेश कर पाती हैं। ऐसे प्रतिबिंब में लगभग सभी किरणों का उपयोग हो जाता है, किंतु प्रतिबिंब प्रायः कम स्पष्ट होता है।

कर्ण—बहुत से कीटों में कर्ण होते हैं, जो शरीर के विभिन्न भागों में पाए जाते हैं। बहुत से टिड्डों और टिड्डियों में उदर के अग्रभाग में दोनों ओर कर्ण पाए जाते हैं। खेरिया के कर्ण में बाहरी ओर एक झिल्ली होती

खेरिया
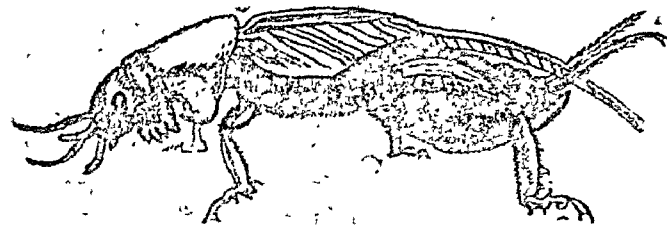
है, जिसके भीतर की ओर संवेदक कोशिकाओं का एक गुच्छा रहता है। श्वासप्रणाल की वायुथैलियों का कर्ण से समागम रहता है। ये अनुनादक (रेज़ोनेटर, Resonator) का कार्य करते हैं। जब ध्वनितरंगें झिल्ली पर टकराती हैं तो उसमें कंपन उत्पन्न होता है, जो अंत में संवेदक कोशिकाओं को प्रभावित करता है। कीट अधिक उच्च आवृत्ति की ध्वनियाँ भी सुन सकते हैं, जैसे लगभग ४५,००० आवृत्ति प्रति सेकंड तक की ध्वनि। कीटों में वाणी नहीं होती, किंतु वे ध्वनि उत्पन्न कर सकते हैं। ध्वन्युत्पादन की अनेक विधियाँ हैं। टिड्डिम अपनी पश्च ऊर्विका का भीतरी किनारा, जिसपर नन्हीं नन्हीं कीलें सीधी रेखा में पाई जाती हैं, उसी ओर के अग्रपक्ष की रेडियस शिरा के मोटे भाग पर रगड़कर ध्वनि उत्पन्न करता है। खेरिया अपने एक अग्रपक्ष के क्यूबिटस शिरा की कीलों को दूसरे अग्रपक्ष के किनारे के मोटे भाग पर रगड़कर ध्वनि उत्पन्न करता है।

घ्राणेंद्रियाँ—घ्राणेंद्रियाँ विशेषकर शृंगिकाओं पर ही पाई जाती हैं और विभिन्न प्रकार की होती हैं। इनकी संख्या नर में प्रायः अधिक होती है, जैसे नर मधुमक्खी की शृंगिका पर लगभग ३०,०००, कर्मकार में ६,००० और रानी में केवल २,०००। स्वादेंद्रियाँ बहुत से कीटों में एपिफैरिंग्स पर, कई एक में मुख के किनारे तथा स्पर्शिनियों पर पाई जाती हैं। अन्य प्रकार का ज्ञान शरीर के विभिन्न भागों पर लगे हुए परिवर्तित बालों या विशेष प्रकार के नन्हें नन्हें काँटों द्वारा होता है। ये इंद्रियाँ बाल, रिकाबी या कील आदि के आकार की होती हैं।

पेशीतंत्र—कीटों में रेखित पेशियाँ पाई जाती हैं, जो दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं : १. कंकाल पेशियाँ—ये फीते के आकार की होती हैं, शरीरभित्ति पर जुड़ी रहती हैं और शरीर के खंडों में गति करने का कार्य करती हैं; २. आंतरंगीय पेशियाँ—आंतरिक अंगों को ढके रहती हैं; इनके तंतु लंबाकार और वर्तुलाकार होते हैं, जैसे आंत्र के चारों ओर। कीटों में पेशियों की संख्या बहुत अधिक होती है, कभी कभी लगभग ४,००० तक पेशियाँ होती हैं। कुछ कीट बहुत ही धीमे चलते हैं, कुछ दौड़ते हैं और कुछ बड़ी चपलता से उड़ते हैं। अनेक कीट अपने शारीरिक भार से दस से बीस गुना तक बोझ वहन कर सकते हैं। पिस्सू, जिसकी टाँगें १/२० इंच लंबी होती हैं, ८ इंच तक की ऊँचाई और १३ इंच तक की लंबाई कूद सकता है। यह शक्ति इसकी पेशियों के परिमाण के अनुरूप है। जो पेशी जितनी अधिक छोटी होगी उसमें आनुपातिक दृष्टि से उतनी ही अधिक क्षमता होगी।

जननेंद्रियाँ और मैथुन—नर और मादा दोनों प्रकार की जननेंद्रियाँ कभी भी एक ही कीट में नहीं पाई जातीं। नर कीट मादा कीट से प्रायः छोटा होता है। नर में एक जोड़ी वृषण होता है और प्रत्येक वृषण में शुक्रीय नलिकाएँ होती हैं, जो शुक्राणु का उत्पादन करती हैं। वृषण से शुक्राणु शुक्रवाहक में पहुँच जाते हैं और अंत में स्खलनीय (Ejaculatory) नलिका में पहुँचते हैं, जो शिश्न में खुलती है। कभी कभी शुक्रवाहक किसी निश्चित स्थान में फैल जाते हैं और शुक्राणु जमा करने के लिये शुक्राशय बन जाते हैं। किन्हीं किन्हीं में सहायक (accessory) ग्रंथियाँ भी पाई जाती हैं। मादा में एक जोड़ी अंडाशय होता है, प्रत्येक में अंडनलिकाएँ होती हैं, जिनमें विकसित होते हुए अंडे पाए जाते हैं। अंडनलिकाओं की संख्या विभिन्न जाति के कीटों में भिन्न भिन्न हो सकती है। परिपक्व होकर अंडे अंडवाहिनी में आ जाते हैं और वहाँ से सामान्य अंडवाहिनी (Common Oviduct) में पहुँचकर मादा के जनन संबंधी छिद्र द्वारा बाहर निकल जाते हैं। प्रायः एक शुक्रधानी शुक्राणु जमा करने के लिये और एक या दो जोड़ी सहायक ग्रंथियाँ भी उपस्थित रहती हैं। नर की सहायक ग्रंथियाँ एक द्रव पदार्थ उत्सर्जित करती हैं जो शुक्राणुओं में मिश्रित हो जाता है। कभी कभी शुक्राणुओं का कोयाकार पैकेट बन जाता है, जो शुक्रकोष (स्पर्मेटोफोर, Spermatophore) कहलाता है। मादा की सहायक ग्रंथियों का स्राव अंडों को एक साथ जोड़ता है, या पत्तियों अथवा अंडों को अन्य वस्तुओं से चिपकाता है। कभी कभी इस स्राव से अंडों को रखने के लिये थैली भी बन जाती है, जैसे तेलचट्टा में। बर्रें की ये ग्रंथियाँ विष उत्पन्न करती हैं, जो डंक मारते समय शिकार के शरीर में प्रविष्ट कर जाता है। अंडसंसेचन दोनों लिंगों के संयोग पर निर्भर है। कुछ कीटों में यह जीवन में कई बार हो सकता है।

जनन—यह साधारण रूप से मैथुन और शुक्राणु द्वारा अंडे के संसेचन पर निर्भर रहता है। अधिकतर कीट अंडे देते हैं, जिनसे कालांतर में बच्चे निकलते हैं, किंतु कुछ कीट अंडों के स्थान में डिंभ या निंफ को जन्म देते हैं। ऐसे कीटों को जरायुज कहते हैं, जैसे द्रुयूका और ग्लोसाइना (Glossina)।

अनिषेक जनन—कुछ कीट अंडे का शुक्राणु से संसेचन नहीं करते। इस प्रकार का जनन अनिषेकजनन (Parthenogenesis) कहलाता है। कुछ जातियों में यह एक अनूठी और कभी कभी होनेवाली घटना होती है, तथा कुछ नस्लों में असंसेचित (अनफर्टिलाइज्ड, unfertilized) अंडों से नर और मादा दोनों ही उत्पन्न होते हैं। सामाजिक मधुमक्खियों में अनिषेकजनन बहुधा होता है, किंतु असंसेचित अंडों से केवल नर ही उत्पन्न होते हैं। कुछ स्टिक (Stick) कीटों में असंसेचित अंडों से अधिकतर मादा ही उत्पन्न होती है और नर बहुत ही कम। थ्रिप्स (Thysanoptera) में नरों की उत्पत्ति संभवतः होती ही नहीं, इस कारण संसेचन हो ही नहीं सकता। फलतः, केवल अनिषेकजनन ही होता है। द्रुमयूका (Aphides) में नर्तीव अनिषेकजनन होता है, अर्थात् असंसेचित और संसेचित अंडों से उत्पादन नियमानुसार क्रम से होता रहता है। (द्रुमयूका देखिए)। कुछ जातियों में अपरिपक्व (immature) कीट भी जनन करते हैं। इस घटना को पीडोजेनेसिस (Paedogenesis)

कहते हैं। माइएस्टर (Miastor) कीट के डिंभ अन्य डिंभों का उत्पादन करते हैं और इस प्रकार कई पीढ़ी तक उत्पादन होता रहता है। इसके पश्चात् इनमें से कुछ डिंभ परिवर्धित होकर प्रौढ़ नर और मादा बन जाते है, जो परस्पर मैथुन के पश्चात् डिंभ उत्पन्न करते है। इन डिंभों से पहले की भाँति फिर उत्पादन आरंभ हो जाता है। बहुभ्रूणता (पॉलिएंब्रियोनी, Polyembryony) का अर्थ है एक अंडे से एक से अधिक कीटों का उत्पन्न होना। इस प्रकार का उत्पादन पराश्रयी कलापक्षों में पाया जाता है। प्लैटिगैस्टर हीमेलिस (Platigastor hiemalis) के कुछ अंडों में से दो दो डिंभ उत्पन्न होते है, किंतु किसी किसी पराश्रयी कैलसिड (Chalcid) के प्रत्येक अंडे से लगभग एक सहस्र तक डिंभ उत्पन्न होते है।

मैथुन—कुछ कीटों में मैथुन केवल एक ही बार होता है। तत्पश्चात् मृत्यु हो जाती है, जैसा एफिमेरॉप्टरा (Ephimeroptera) गण के कीटों में। मधुमक्खी की रानी यद्यपि कई वर्ष तक जीवित रहती है, तथापि मैथुन केवल एक ही बार करती है और एक ही बार में इतनी पर्याप्त मात्रा में शुक्राणु पहुँच जाते हैं कि जीवन भर इसके अंडों का संसेचन करते रहते हैं। मैथुन के पश्चात् नर की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। बहुत से कीटों के नर जीवन में कई बार पृथक् पृथक् मादाओं से मैथुन करते हैं और बहुत से कंचुकपक्षों के नर और मादा दोनों बारबार मैथुन करते हैं।

अंडे—अंडे साधारणतया बहुत छोटे होते है। फिर भी अंडे को देखकर यह बतलाना प्रायः संभव होता है कि अंडे से किस प्रकार का कीट निकलेगा। बहुधा यह बात बहुत महत्व रखती है, क्योंकि इससे हानिकारक कीटों की हानिकारक दशा के विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है। इसलिये अंडों के आकार, रूप और रंग तथा अंडे रखने के स्थान और विधि का ध्यान रखना आवश्यक है। अंडे समतल, शल्क्याकार, गोलाकार, शंक्वाकार तथा चौड़े हो सकते हैं। अंडे का ऊपरी आवरण पूर्ण रूप से चिकना या विभिन्न प्रकार के चिह्नोंवाला होता है। अंडे पृथक् पृथक् या समुदायों में रखे जाते है। तेलचट्टे (Cockroach) के अंडे डिंभकोष्ठ (Ootheca) के भीतर रहते हैं। जलवासी कीटों के अंडे चिपचिपे लसदार पदार्थ से ढके रहते है। अंडे में वृद्धि करते हुए भ्रूण के पोषण के लिये पर्याप्त मात्रा में भोजन, जो योक (Yolk) कहलाता है, पाया जाता है।

अंडरोपण और अंडा रखने की शक्ति—अंडरोपण विभिन्न प्रकार से होता है। अंडे ऐसे स्थानों पर रखे जाते हैं, जहाँ उत्पन्न होनेवाली संतान की तत्कालीन आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकें। कुछ जातियों की मादाएँ नीची उड़ान उड़ती, अपने अंडे अनियमित रीति से गिराती चली जाती हैं। बहुत से शलभों की मादाएँ, जिनके डिंभ घास या उसकी जड़ खाते है, उड़ते समय अपने अंडे घास पर गिराती चली जाती हैं। साधारणतया अंडे ऐसे पौधों पर रखे, या पौधों के ऊतकों में प्रविष्ट कर दिए जाते हैं जिनको डिंभ खाते हैं, जैसे कुछ प्रकार के टिड्डों में। कुछ कीट अपने अंडे मिट्टी में रखते हैं। पराश्रयी जातियों के कीट अपने अंडों को उन पोषकों के ऊपर या भीतर रखते हैं, जो उनकी संतानों का पोषण करते हैं।

विभिन्न जातियों की मादाओं के अंडों की संख्या विभिन्न होती है। द्रुमयूका की कुछ जातियों की मादाएँ शीतकाल में केवल एक ही बड़ा अंडा रखती हैं। घरेलू मक्खी अपने जीवन में २,००० से अधिक अंडे रखती है। दीमक की रानी में अंडा रखने की शक्ति सबसे अधिक होती है। यह प्रति सेकंड एक अंडा दे सकती है और अपने छह से बारह वर्ष तक के जीवन में १०,००,००० अंडे देती है।

परिवर्धन—अंडे के संसेचन के पश्चात् परिवर्धन आरंभ हो जाता है। प्रारंभ में दो स्तरवाला मूल पट्टा या जर्म बंड (Germ band) बनता है, जो अनुप्रस्थ (transverse) रेखाओं द्वारा बीस अंडों में विभक्त हो जाता है। अगले छह खंड सिर, परवर्ती तीन खंड वक्ष और शेष खंड टेलसन (Telson) के साथ मिलकर उदर बनाते हैं। प्रथम खंड और टेलसन के अतिरिक्त प्रत्येक खंड में एक जोड़ा भ्रूणीय अवयव विकसित हो जाता है। अवयवों के प्रथम युग्म का संबंध द्वितीय खंड से रहता है और इनसे शृंगिकाएँ बनती है। द्वितीय जोडी बहुत ही छोटी और क्षणिक होती है। तीसरी, चौथी और पाँचवीं जोड़ी के अवयव विकसित होकर मैंडिबल, मैक्सिला और लेबियम बन जाते हैं। इनके पीछेवाले तीन जोड़ी अवयव कुछ बड़े तथा स्पष्ट होते हैं। ये टाँगों के अग्रवर्ती है। उदर के अवयवों की अंतिम जोड़ी सरसाई बन जाती हैं, किंतु शेष सब जोड़ियाँ डिंभ निकलने से पूर्व ही प्रायः नष्ट हो जाती हैं।

अंडे से बच्चा निकलना—भ्रूण जब पूर्ण रीति से विकसित हो जाता है और अंडे से बाहर निकलने को तैयार होता है, तब शुक्ति में पहले से बनी हुई टोपी को अपने अंडा फोड़नेवाले काँटों से हटाकर बाहर निकल आता है। कुछ कीटों में आरंभ में भ्रूण वायु निगलकर अपना विस्तार इतना बढ़ा लेते हैं कि शुक्ति टूट जाती है। बच्चे को बाहर निकलने में उसकी पेशियाँ सहायता करती हैं।

वृद्धि—अंडे से निकलने के पश्चात् ही वृद्धि आरंभ होती है। जन्म से प्रौढ़ता तक कीट के आकार में जो वृद्धि होती है वह अत्यधिक आश्चर्यजनक है। प्रौढ़ कीट की तौल जन्म होने के समय की तौल से १,००० से ७०,००० गुना तक हो सकती है। इतनी अधिक वृद्धि ऐसे खोल के भीतर, जिसका विस्तार बढ़ नहीं सकता नहीं हो सकती। अतः खोल का टूटना अति आवश्यक है। यह केंचुल के पतन (Moulting) से ही संभव है। जीर्ण बाह्यत्वक् को केंचुल कहते हैं। जीर्ण बाह्यत्वक् (केंचुल) के फटने से पूर्व ही इसके भीतरवाले अधिचर्म की कोशिकाएँ नवीन बाह्यत्वक् का उत्सर्जन कर देती हैं। तत्पश्चात् इनमें से कुछ विशेष प्रकार की कोशिकाओं से, जो केंचुल ग्रंथियाँ कहलाती हैं, एक द्रव पदार्थ निकलता है। यह द्रव पदार्थ पुराने बाह्यत्वक् के भीतरी स्तर को विलीन कर नए बाह्यत्वक् से पृथक् कर देता है, इसको कोमल भी बना देता है तथा स्वयं पुराने और नए बाह्यत्वक् के मध्य एक महीन झिल्ली सी बन जाता है। ऐसे समय में कीट में वृद्धि हो जाती है। केंचुल पतन के पश्चात् कीट की आकृति को इन्स्टार (Instar) कहते हैं। जब कीट अंडे से निकलता है तो प्रथम इन्स्टार होता है, प्रथम केंचुल पतन के पश्चात् कीट द्वितीय इन्स्टार होता है, अंतिम इन्स्टार पूर्ण कीट या प्रौढ़ कीट कहलाता है।

रूपांतरण—अधिकतर कीटों में अंडे से जो डिंभ निकलता है उसकी आकृति और रूप वयस्क कीट से बहुत भिन्न होता है। बहुत से कीटों में डिंभ की आकृति और रूप में प्रौढ़ बनने तक अनेक परिवर्तन आ जाते है। इस प्रकार के परिवर्तनों को रूपांतरण (metamorphosis) कहते हैं। जिन कीटों में रूपांतरण नहीं होता उन्हें रूपांतरणहीन (एमेटाबोला, Ametabola) कहते हैं। इसका उदाहरण लेहा (लेपिज़मा, Lepisma) है। अधिकतर कीटों में रूपांतरण होता है और ऐसे कीट मेटाबोला (Metabola) कहलाते हैं। कीटों में दो प्रकार के क्रियाशील अप्रौढ पाए जाते हैं। ये निंफ और डिंभ कहलाते हैं। निंफ उस अप्रौढ़ अवस्था के कीट को कहते हैं जो अंडे से निकलने पर अधिक उन्नत होता है। निंफ का पूर्ण कीट से यह भेद होता है कि इसमें पक्ष तथा बाह्य जननेंद्रियाँ विकसित नहीं होतीं। ये स्थल पर रहते हैं और पक्षों का विकसन बाह्य रूप से होता है। निंफ से पूर्ण कीट तक की वृद्धि क्रमिक होती है और प्यूपा नहीं बनता है। इस प्रकार के परिवर्तन को अपूर्ण रूपांतरण तथा कीट समुदाय को हेमिमेटाबोला (hemimetabola) कहते हैं, जैसे ईख की पंखी। डिंभ उस अप्रौढ अवस्था के कीट को कहते हैं, जो अंडे से निकलने पर होती है। डिंभ पूर्ण कीट से बहुत भिन्न होता है। इसमें पक्षों का कोई भी बाह्य चिह्न नहीं पाया जाता। डिंभ को पूर्ण कीट बनने से पहले प्यूपा बनना पड़ता है। इस प्रकार के परिवर्तन को पूर्ण रूपांतरण (होलोमेटाबोला, Holometabola) कहते हैं, जैसे घरेलू मक्खी में। अत्यल्प कीटों में उपरिपरिवर्धन होता है। इनके डिंभों में डिंभ अवस्था में भी अत्यधिक परिवर्तन पाया जाता है। इनमें चार या इससे अधिक स्पष्ट इन्स्टार होते हैं। इनके जीवन और व्यवहार में भी बहुत भेद पाया जाता है। इस प्रकार के परिवर्तन को हायपर (Hyper) रूपांतरण कहते हैं, जैसा कैंथेरिस (Cantharis) में। कीटों में रूपांतरण के नियमन का दो हारमोनों

से संबंध होता है—केंचुल-पतन-कारक हारमोन और शैशव (Juvenile) हारमोन। केंचुल-पतन-कारक हारमोन प्रायः वक्षीय ग्रंथि उत्सर्जित करता है। यह हारमोन कीट का केंचुलपतन करता है। प्रौढ़ में वक्षीय ग्रंथि लुप्त हो जाती है, इसलिये केंचुलपतन भी समाप्त हो जाता है। यदि निंफ की वक्षीय ग्रंथि प्रौढ़ में जमा दी जाए तो प्रौढ़ भी केंचुलपतन करने लगेगा। शैशव हारमोन कारपोरा अलाटा उत्सर्जित करते हैं। यह हारमोन प्रौढ़ के लक्षणों को दवाए रखता है और निंफों के लक्षणों को तीव्रता से उभाड़ने में सहायता करता है। रूपांतरण के समय वक्षीय ग्रंथि की क्रियाशीलता वढ़ जाती है और इसके हारमोन का प्रभाव इतना पर्याप्त होता है कि शैशव हारमोनों के प्रभाव को कुचल देता है और इस प्रकार रूपांतरण हो जाता है।

नेऐड (Naiad) जलवासी और वहुत क्रियाशील अप्रौढ़ होते हैं। इनके श्वासरंध्र वंद होते हैं। श्वसन जलश्वसनिकाओं द्वारा होता है। ये कैंपोडीईफॉर्म (Campodeiform) होते हैं, अर्थात् टाँगें भली भाँति विकसित और शरीर चौरस होता है।

डिंभ—डिंभ होलोमेटावोलस और हाइपरमेटावोलस कीटों की एक अप्रौढ़ अवस्था है। डिंभ जव अंडे से निकलते हैं, तव भिन्न भिन्न जातियों के अनुसार उनके परिवर्धन की दशाएँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं। इनकी यह दशा कुछ अंश तक योक की मात्रा पर, जो इनकी वृद्धि के लिये अंडे में उपस्थित रहता है, निर्भर रहती है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि जव अंडे में योक की मात्रा कम होती है, तव अंडे से निकलते समय डिंभ अधिक अपूर्ण होता है। डिंभ चार प्रकार के होते हैं—(१) प्रोटोपॉड (Protopod) डिंभ परजीवी कलापक्षों में पाए जाते हैं, क्योंकि इनके अंडों में योक अत्यल्प मात्रा में होता है। ये डिंभ लगभग भ्रूणीय अवस्था में ही होते हैं। इनका जीवित रहना इसलिये संभव होता है कि या तो ये अन्य कीटों के अंडों में या उनके शरीर के भीतर रहते हैं, जहाँ इनको वृद्धि करने के लिये अत्यधिक पुष्टिकर भोजन मिलता है। इनके उदर में खंड या किसी प्रकार के अवयव नहीं पाए जाते हैं। (२) पॉलिपॉड (Polypod) या इरूसिफॉर्म (Eruciform) डिंभों के शरीर में स्पष्ट खंड और उदर पर अवयव भी होते हैं। शृंगिकाएँ और टाँगें विद्यमान होती हैं, किंतु छोटी होती हैं। ये अपने भोजन के समीप रहते हैं और इस कारण आलसी होते हैं। ऐसे डिंभ
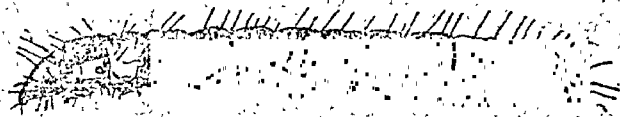
इल्ली (Caterpillar)

इल्ली कहलाते हैं और तितलियों, शलभों तथा साफिलाइज में पाए जाते हैं। (३) ऑलिगोपॉड (Oligopod) डिंभों के वक्षीय अवयव (टाँगें) भली प्रकार विकसित होते हैं, किंतु उदर में पुच्छीय अवयव के अतिरिक्त अन्य कोई अवयव नहीं पाए जाते। ये मांसाहारी होते हैं और शिकार की खोज में घूमते फिरते हैं। इस क्रियाशील जीवन के कारण इनके नेत्र तथा अन्य इंद्रियाँ भली प्रकार विकसित होती हैं। ये डिंभ स्थल पर रहनेवाले कंचुकपक्षों और जालपक्षों में पाए जाते हैं। (४) ऐपोडस (Apodous) डिंभ कृमि की आकृति के होते हैं। इनकी टाँगें वहुत छोटी होती हैं या पूर्णतया लुप्त हो जाती हैं। ये अनेक समुदाय के कीटों में पाए जाते है, जैसे घरेलू मक्खी का डिंभ।

प्रिप्यूपा—डिंभ अवस्था के अंत के निकट कीट रूपांतर की तैयारी करता है और निश्चित रूपांतर होने के पूर्व (प्रिप्यूपा, prepupa) की दशा में आ जाता है। इस दशा में कीट भोजन करना वंद कर देता है। शरीर वहुत सिकुड़ जाता है और उसका रंग नष्ट हो जाता है। प्रिप्यूपा दशा के पश्चात् कीट के शरीर की आकृति में परिवर्तन आ जाते हैं। भविष्य में होनेवाले प्रौढ़ के नेत्र और टाँगों के वाह्य विकसन के चिह्न प्रथम वार दृष्टिगोचर होते हैं। प्रायः इसी अवस्था में कोया (कोकून) वनता है। द्विपक्षों में इसी अवस्था में प्यूपा का खोल वनता है।

प्यूपा—प्यूपा की अवस्था में कीट विश्राम करता है। इसी अवस्था में पक्ष तथा अन्य अवयव अपने अधिचर्म की थैलियों से वाहर निकल आते हैं और प्रत्यक्ष हो जाते हैं। आंतरिक इंद्रियों का भविष्य में वननेवाले पूर्णकीट की आवश्यकताओं के अनुसार पुनर्निर्माण हो जाता है। प्राथमिक प्रकार का प्यूपा डेक्टिकस (Decticous) प्यूपा कहलाता है। इसके अवयव इसके शरीर से नहीं चिपके रहते, वरन् गति कर सकते हैं। मच्छर के प्यूपा जलवासी हैं और चपलता से तैरते रहते हैं। ऑवटेक्ट (Obtect) अर्थात् कवचित प्यूपा के पक्ष और टाँगें शरीर से चिपकी रहती हैं। इनमें प्रगति नहीं होती। इस प्रकार के प्यूपा अधिकतर शलभों में पाए जाते हैं। कोआर्कटेट (Coarctate) प्यूपा में डिंभ की अंतिम केंचुल का पतन नहीं होता है, किंतु यही केंचुल कड़ी वनकर प्यूपा के वाहर प्यूपेरियम वन जाता है। इस प्रकार का प्यूपा घरेलू मक्खी में पाया जाता है।

प्यूपेरियम से निकलते समय कीट अपने खोल को विभिन्न प्रकार से तोड़ते हैं। चवाकर खानेवाले कीट अपने जंभ (मैंडिवल) से अपने प्यूपेरियम को कुतर कुतरकर वाहर निकलते हैं। चूसकर भोजन करनेवाले कीट एक तरल पदार्थ का उत्सर्जन करते हैं, जो कोया के रेशम को एक ओर से कोमल कर देता है और इस कारण सहज में ही टूट जाता है। कुछ शल्किपक्षों में काँटे होते हैं, जिनसे वे प्यूपेरियम में दरार वनाते हैं। कुछ द्विपक्षों के सिर पर एक थैली होती है, जिसमें वायु भरकर वे प्यूपेरियम के सिरे को दवाते हैं। इस प्रकार यह सिरा टूट जाता है और मक्खी निकल आती है। प्यूपेरियम से निकलते समय कीट सवसे पहले अपने अवयवों को वाहर निकालता है। इस समय इसके पग सिकुड़े होते हैं, फिर रेंगकर सवसे समीप यह जो भी अवलंव पा जाता है उसपर इसी दशा में विश्राम करने लगता है। पक्षों में शरीर के रक्तप्रवाह से और पेशियों के सिकुड़ने तथा फैलने से पक्ष भी शीघ्रता से फैल जाते हैं। प्यूपेरियम से निकलने के कुछ समय पश्चात् ही कीट उड़ने का प्रयत्न करने लगता है।

पूर्णकीट का परिवर्धन—अपूर्ण रूपांतरणवाले कीटों में पूर्णकीट के परिवर्धन में परिवर्तन क्रमिक और निर्विघ्न होते हैं। ये वाह्य तथा आंतरिक दोनों होते हैं। निंफ की इंद्रियाँ पूर्णकीट की इंद्रियों में परिवर्तित हो जाती हैं। इसके आकार में वृद्धि के अतिरिक्त वहुत ही थोड़ा अन्य परिवर्तन आता है। पूर्ण रूपांतरणवाले कीटों में डिंभों की इंद्रियाँ और ऊतक प्यूपा की अवस्था में विभिन्न मात्रा में विलय हो जाते हैं। इस विधि को हिस्टोलिसिस (Histolysis) कहते हैं। साथ ही साथ उनके स्थान में प्रौढ़ की इंद्रियाँ वन जाती हैं। नवीन ऊतकों का यह उत्पादन हिस्टोजिनेसिस (histogenesis) कहलाता है। दोनों प्रकार के परिवर्तन इंद्रियों की अविच्छिन्नता को नष्ट किए विना ही साथ साथ होते रहते हैं। वास्तव में पूर्णकीट का वनना डिंभ में ही आरंभ हो जाता है। सवसे पहले पूर्णकीट की कलिकाएँ वनती हैं। ये कलिकाएँ भविष्य में होनेवाले कीट के उन सव भागों का, जिनकी इसको आवश्यकता होगी, पुनर्निर्माण करती हैं तथा उन सव इंद्रियों को भी वनाती हैं जो डिंभ में नहीं पाई जातीं।

डायपाज (Diapause) अर्थात् वृद्धि की रोक—अनुकूल परिस्थितियों में वहुत से कीटों का परिवर्धन निर्विघ्न होता रहता है। इस वीच यदि कोई प्रतिकूल परिस्थिति आ जाती है, जैसे निम्न ताप; तो कुछ समय के लिये परिवर्धन रुक जाता है, किंतु परिस्थिति सुधरते ही परिवर्धन तुरंत ही फिर आरंभ हो जाता है। किंतु वहुत से ऐसे कीट भी हैं जिनमें वाह्य दशाएँ तो अनुकूल प्रतीत होती हैं, किंतु कुछ निश्चित परिस्थितियों के कारण परिवर्धन रुक जाता है। वृद्धि की यह रुकावट कुछ सप्ताहों से लेकर कई वर्षों तक की हो सकती है। विभिन्न जातियों के कीटों में यह अवधि प्रायः भिन्न होती है और इस प्रकार परिवर्तन में विलंव हो जाता है। किंतु अंत में यह रुकावट टूट जाती है और जीवनचक्र यथाक्रम जारी हो जाता है। यह रुकावट जीवनेतिहास की किसी एक निश्चित अवस्था में ही होती है। यह अवस्था अंडे की, अपूर्ण कीट की, या वयस्क की, किसी की भी हो सकती है और कीट की जाति पर निर्भर रहती है। रेशम का कृमि शलभ, वांविक्स मोराइ (Bombyx mori), जो अंडे शरद् ऋतु में देता है उनमें डायपॉज होता है। जव तक गरमी देने से पहले इनको ०° सेंटीग्रेड पर न रखा जाय इन अंडों से डिंभ नहीं निकलते।

जीवनचक्र—समशीतोष्ण और शीतल देशो के कीटों के जीवनचक्र मे शीतकाल मे शीतनिष्क्रियता (हाइबर्नेशन, Hibernation) पाई जाती है। इन दिनों कीट शिथिल रहता है। अयनवृत्त के देशो मे, जहा की जलवायु सदा उष्ण और नम होती है, कीटों के जीवनचक्र मे शीतनिष्क्रियता प्राय नही पाई जाती और एक पीढी के पश्चात् दूसरी पीढी क्रमानुसार आ जाती है। भारतीय शलभो मे ईख की जड को भेदनवाला शलभ इल्ली की अवस्था मे दिसबर के प्रथम सप्ताह मे शीतनिष्क्रिय हो जाता है और प्यूपा बनना मार्च मे आरभ करता है। पैपिलियो डिमोलियस (Papilio demoleus) नामक तितली प्यूपा अवस्था मे और पीत वर्रे प्रौढावस्था मे शीतनिष्क्रिय होते है। पीरिऑडिकल सिकेडा (Periodical cicada) के, जो उत्तरी अमरीका मे पाया जाता है, जीवनचक्र पूरे होने मे तेरह से सत्रह वर्ष तक लग जाते है, किंतु बहुत सी द्रुमयूका ऐसी होती है जिनकी एक पीढी लगभग एक सप्ताह मे ही पूर्ण हो जाती है। सबसे छोटा जीवनचक्र नन्हे नन्हे कैलसिड नामक कलापक्ष के कीटों का होता है। इन कीटो के डिंभ दूसरे कीटों के अडो के भीतर पराश्रयी की भाँति रहते है और इनका जीवनचक्र केवल सात ही दिन मे पूर्ण हो जाता है।

संगीतज्ञ कीट—बहुत से कीट संगीतज्ञ होते है। कीट वाणीहीन होते है, इसलिये इनका संगीत वाद्य संगीत होता है। ये केवल प्रौढावस्था मे ही अपना वाद्य बजाते है। प्राय नर कीट ही संभवत मादा को आकर्षित करने के लिये संगीत उत्पन्न करते है। इनके वाद्य अधिकतर ढाल के आकार के होते है, अर्थात् इन वाद्यो मे एक झिल्ली होती है जिसमे तीव्र कंपन होने से ध्वनि उत्पन्न होती है। कपन उत्पन्न करने की दो विधियाँ है। एक भाग को दूसरे भाग पर रगडकर जो ध्वनि उत्पन्न की जाती है उसकी बेला (violin) से उत्पन्न हुई ध्वनि से तुलना कर सकते है। दूसरी विधि मे कीट की पेशियो का सकोचन विमोचन होता है। ये पेशियाँ झिल्ली से जुडी रहती है और इसलिये झिल्ली मे भी कंपन होने लगता है। इस प्रकार से ध्वनि उत्पन्न करने का मनुष्य के पास कोई साधन नहीं है। झींगुर, कैटीडिड (Katydid), टिड्डे तथा सिकेडा कीटसमाज की गानेवाली प्रसिद्ध मडली के सदस्य है। झींगुर, कैटीडिड और टिड्डे एक ही गण के अतर्गत आते है। झींगुर और कैटीडिड के एक अग्रपक्ष पर रेती के समान एक फलक होता है, जो दूसरे अग्रपक्ष के उस भाग को रगडता है जो किनारे की ओर मोटा सा हो जाता है। कैटीडिड मे रेती बाएँ पक्ष पर होती है। कुछ झींगुर अपने दाएँ पक्षवाली रेती से ही काम लेते है। टिड्डे के पक्षो पर दाते होते हैं और पिछली टाँगों पर भीतर की ओर तेज किनारा होता है। सिकेडा की पीठ पर दोनो ओर पक्षो के पीछे एक एक अडाकार छिद्र होता है, जिसपर एक झिल्ली बनी रहती है। इस प्रकार एक ढाल सा बन जाता है। इस झिल्ली पर भीतर की ओर पेशियाँ जुडी रहती हैं, जो इसमे कंपन उत्पन्न करती है। ढाल मे तीलियाँ होती है। इन तीलियो की सख्या भिन्न भिन्न जातियो मे भिन्न होती है। मच्छर दो प्रकार का गान करते है, जो प्रेमगान और लालसागान कहलाते है। लालसागान द्वारा एक मादा अन्य मादाओं को सदेश देती है कि उसने रुधिर चूसने के लिये शिकार ढूँढ लिया है और वे वहाँ पहुँचकर रुधिर चूस सकती है। प्रेमगान नर को मैथुन करने के लिये आकर्षित करता है।

वनस्पति और कीटों का संबंध—कीटों की एक बहुत बडी संख्या का जीवन वनस्पतियो पर ही निर्भर है। लगभग प्रत्येक प्रकार का पौधा और उसका प्रत्येक भाग किसी न किसी जाति के कीट का भोजन बन जाता है। ऐसा अनुमान है कि लगभग पचास प्रतिशत कीट अपना निर्वाह पौधो से ही करते है। टिड्डियाँ और टिड्डे खुले मे रहकर लगभग प्रत्येक पौधा खा जाते है। शलभों के डिंभ, सॉफिलाइज और कचुकपक्षो की बहुत सी जातियाँ भी पौधो के लगभग प्रत्येक भाग को, या तो खुले मे रहकर या छिपकर, खा जाती है। ये पत्ते, स्तभ, जड तथा काष्ठ के भीतर रहकर भी अपना भोजन पा जाती है। झल्लरीपक्ष, द्रुमयूका तथा पौधों के अन्य मत्कुण पौधो मे छेदकर रस चूसते है। बहुत से शलभ, मधुमक्खियाँ तथा इनके सबधी पुष्पस्राव चूसते हैं। कुछ कीट पौधो के ऊतको का रूपातर कर विचित्र प्रकार की रचना बना देते है, जो द्रुस्फोट (Gall) कहलाते है। इन रचनाओं मे कीट के डिंभो को आश्रय तथा भोजन मिलता है। प्रत्येक पौधा कीटों की अनेक जातियों का पोषण करता है। दो सौ जाति के कीट मकई पर, चार सौ जाति के सेब पर तथा एक सौ पचास से अधिक जातियों के कीट चीड के वृक्ष पर निर्वाह करते पाए गए है। प्राय भिन्न भिन्न जातियो के कीट वृक्ष के भिन्न भिन्न भागों पर पाए जाते है और इस प्रकार कुछ सीमा तक स्पर्धा से बचे रहते है। बहुत से कीट अपना पूर्ण जीवन एक ही पौधे पर व्यतीत करते हैं। पत्तो के भीतर रहनेवाले, पौधो के भीतर छेद कर रहनेवाले तथा द्रुस्फोट बनानेवाले कीट इसी प्रकार अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इनका पौधो मे प्रवेश करना पौधे की विशेष दशा पर निर्भर रहता है। अनेक कीट अनेक पौधो पर, या एक ही वर्ग की अनेक जातियो के पौधो पर, आक्रमण करते है। साधारणतया प्रत्येक जाति के कीट का पौधा निर्धारित रहता है, तथा अनेक कीट निर्धारित जाति के पौधो के अतिरिक्त किसी अन्य पौधे को नही खाते, चाहे उनकी मृत्यु भले ही हो जाय।

बहुत से कीटों और पौधो का सबध अन्योन्य होता है। ऐसे कीट पराग और मकरद प्राप्त करने के लिये पुष्पो पर जाते है। इन वस्तुओं
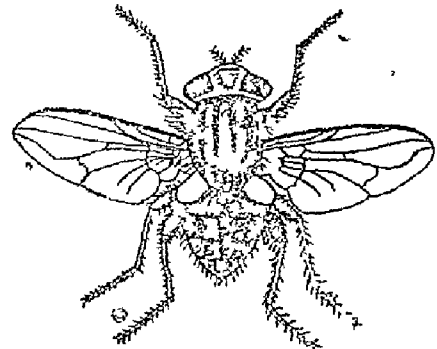
घरेलू मक्खी

को प्राप्त करते समय अज्ञान मे ही ये पुष्पपरागण कर देते है। पुष्पो से भोजन प्राप्त करनेवाले कीटों मे प्राय विशेष प्रकार की रचनाएँ पाई जाती है। ये रचनाएँ बहुत गहराई पर के मकरदकोषो से मकरद चूसने मे सहायता करती है। कर्मकारी मधुमक्खियों मे पराग को एकत्र करने के लिये पिछली टाँगो पर पराग डलिया होती है। पुष्पो मे भी कीटो को आकर्षित करने के लिये रग और सुगध होती है। कुछ पुष्पो की रचना ऐसी होती है कि कीट बिना पराग एकत्र किए मकरद प्राप्त कर ही नही सकता और जब वह दूसरे पुष्प पर जाता है तो पुष्प की रचना के कारण इसके वर्तिकाग्र पर पराग गिराए बिना मकरदकोष तक पहुँच ही नही सकता। यूका पुष्प और यूका शलभ इसके बहुत सुदर उदाहरण है।

सफाई करनेवाले कीट—जो कीट वनस्पति नही खाते, वे उच्छिष्ट वस्तुओ, अन्य कीटो या अन्य जीवो को अपना भोजन बनाते है। सफाई करनेवाले कीट कूडा कर्कट आदि इसी प्रकार की अन्य परित्यक्त वस्तुओं पर अपना जीवननिर्वाह करते है। सडी गली वनस्पतियों से बहुत से कचुकपक्ष, मक्खियाँ तथा अन्य कीट आश्रय तथा भोजन पाते है। गोबर, जीवो के सडते हुए शव तथा इनके अन्य अवशेष किसी न किसी कीट का भोजन अवश्य बन जाते हैं। कीटो की ये कृतियाँ मनुष्य के लिये बहुत लाभदायक है। अपाहारी (प्रिडेटर, Predator) वह जीव है जो अन्य जीवो पर निर्वाह करता है, मांसाहारी होता है, अपने शिकार की खोज मे रहता है और पाने पर उसको खा जाता है। इस प्रकार का व्यवहार विभिन्न वर्गों के कीटो मे पाया जाता है। इनका शिकार कोई अन्य कीट, या अपृष्ठवंशी जीव होता है। ऐसे जीवन के कारण इन कीटो की टाँगो, मुखभागो और सवेदक इंद्रियो मे बहुत से परिवर्तन हो जाते हैं। ऐसे कुछ कीटों

के व्यवहार मे भी स्पष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। कुछ कीट अपनी टाँगो का अपने शिकार को पकड़ने तथा भक्षण करते समय थामने के लिये उपयोग करते है। व्याध पतग (Dragon fly) अपनी तीनो जोड़ी टाँगे और जलमत्कुण तथा मैंटिड (Mantid) केवल अगली टाँगो का ही
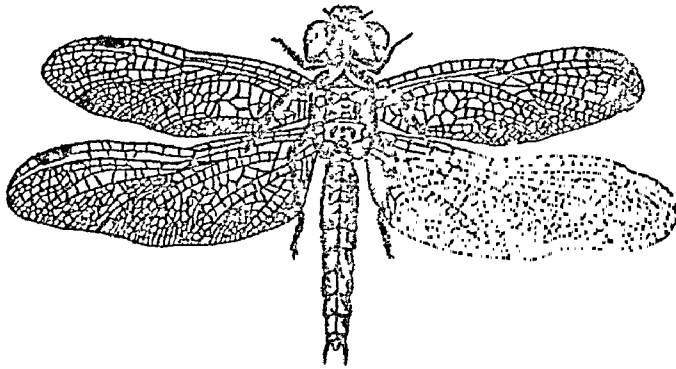
व्याधपतंग (Dragon fly)

इस कार्य मे उपयोग करते है। इस कारण इनकी टाँगों मे परिवर्तन पाया जाता है। डिस्टिकस (Disticus) के जम अपने शिकार को पकड़ने के लिये नुकीले तथा आगे की ओर निकले रहते हैं। व्याधपतग के निफ का ओष्ठ (Labium) अन्य कीटो को पकडने के लिये विशेष आकृति का बन जाता है। इन कीटो के सयुक्त नेत्र विशेष रूप से विकसित होते हैं। कुछ अपाहारी कीटो की टाँगे दौड़ने के लिये उपयुक्त होती है और कुछ तीव्रता से उड सकते हैं। अनेक अपाहारी अपने अडे अपने शिकार के सपर्क मे रखते है, जैसे लेडी-वर्ड वीटल (Lady-bird beetle) अपने अडे द्रुमयूका के पास रखता है। अनेक अपाहारी अपने शिकार की प्रतीक्षा मे छिपे वैठे रहते है और जैसे ही उनका शिकार उनकी पहुँच मे आता है, उसपर एकवारगी झपट्टा मारते हैं, जैसे मैंटिस मे अपने को गुप्त रखने के लिये पत्ती जैसा रग होता है। जलपक्ष के कुछ डिंभ अपने शिकार, चीटियो, को पकड़ने के लिये गड्ढा बनाते हैं।
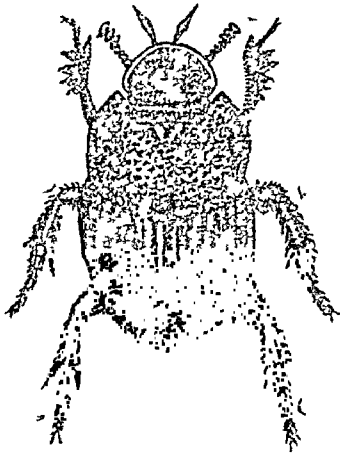
गुवरैला (Beetle)

परजीवी—परजीवी वे कीट हैं जो अन्य जीवो पर निर्वाह तो करते है, किंतु उनका वध किए विना ही उनसे भोजन प्राप्त करते है और प्राय: एक ही पोपक पर निर्भर रहते हैं। ये अपने अडे प्राय: अपने पोपक के शरीर पर देते है। परजीवी कीट दो प्रकार के होते हैं—एक जो कशेरुकदडियो पर और दूसरे जो अन्य कीटो तथा उनके सवधियो पर जीवित रहते हैं। प्रथम वर्ग के कीट ऐनोप्ल्यूरा (Anopleura), मैलोफैगा (Mallophaga) और साइफोनैप्टरा (Siphonaptera) गणो तथा हिप्पोवोसाइडी (Hippoboscidae) वश के अतर्गत आते है। ये परजीवी अपने पोपक की तुलना मे बहुत छोटे होते हैं। पोपक मे इनको सहन करने की शक्ति विकसित हो जाती है और इस कारण इनका प्रभाव प्राणनाशक नही होता। इनमे से अधिकतर वाह्य परजीवी है और पोपक के शरीर पर रहते है। साइफोनैप्टरा के अतिरिक्त अन्य का शरीर ऊपर नीचे से चौरस होता है और ये पोपक के शरीर से चिपके रहते है। इनके पैरो पर पोपक को पकड़े रहने के लिये हुक होते हैं तथा नेत्र क्षीण या लुप्त हो जाते है। पक्षो का भी प्राय: अभाव रहता है और यदि वे होते भी ह तो वहुत छोटे होते है। कीटो के परजीवी इने गिने ही है। स्ट्रेप्सिप्टस गण के अतिरिक्त मधुमक्खी की जूँ, ब्रेउला (Braula), ही केवल इनका अन्य उदाहरण है।

अर्धपरजीवी (पैरासिटाइड, Parasitoide) का व्यवहार अपाहारी और परजीवी के मध्य का सा होता है। आरभ मे यह परजीवी की तरह रहता है, अर्थात् पोपक की अति आवश्यक इद्रियो को नष्ट नही करता, किंतु वाद मे इसका व्यवहार अपाहारी जैसा हो जाता है और यह अपने पोपक का भक्षण कर जाता है। यह प्राय: अपने अडे पोपक के शरीर के ऊपर या भीतर रखता है। इसके डिभ पोपक से स्थायी रूप से चिपके रहते है और अपना भोजन पोपक के शरीर के भीतर या वाहर से प्राप्त करते ह। अधिकतर ये कीट द्विपक्ष वश की टैकिनाइडी (Tachynidae) और कलापक्ष के पैरासाइटिका (Parasitica) वर्ग मे ही पाए जाते है। इनके प्रौढ नियाशील होते है और पराश्रयी नही होते। अर्धपरजीवी का आकार पोपक के आकार की तुलना मे वड़ा होता है और यह अपने व्यवहार से पोपक का प्राय: सदा ही नष्ट कर देता है। पोपक अधिकतर *अन्य कीट ही होते है, जिनके अडो या अन्य अप्रौढ अवस्थाओ पर अर्ध*परजीवी का आक्रमण होता है। प्रौढ कीट पर कभी भी आक्रमण नही होता। टैकिनाइडी वश के कीट पोपक के भीतर रहते है, किंतु अडे पोपक क ऊपर, या पोपक से दूर, रखते है। वहुत से पराश्रयी कलापक्ष वाह्य पराश्रितो की भाँति रहत है, किंतु अधिकतर आतरिक पराश्रयी है और अपने अडे पोपक की त्वचा क भीतर प्रविष्ट कर देते है। अर्धपरजीवियो मे सवसे अधिक महत्व की वात इनके श्वसनतत्र मे पाई जाती है, विशेष करके आतरिक अर्धपरजीवियो मे, जो अपने पोपक के रक्त मे मिली हुई आक्सिजन का श्वसन करते है। किंतु कुछ आतरिक अर्धपरजीवी ऐसे भी है. जो सीधे वायुमडल से आक्सिजन प्राप्त करते हैं।

इन्क्विलाइन (Inquiline)—कुछ कीट दूसरे कीटों का तो भक्षण नही करते, किंतु उनकी एकत्र की हुई सामग्री को खा जाते हैं। ऐसे कीट इन्क्विलाइन कहलाते हैं। ये कीट सामाजिक कीटो के घोसलो मे वहुतायत से पाए जाते है। इनका वहुत प्रसिद्ध उदाहरण मोम का शलभ है, जो मधुमक्खी के छत्तो मे रहता है और छत्ते को नष्ट कर देता है। वोलुसिला (Volucella) नामक चक्कर खानेवाली मक्खी भिनभिनानेवाली मक्खियो और वर्रो के छत्तो मे रहकर उच्छिष्ट कार्वनिक पदार्थों को खाती हैं। ऐटेल्युरा (Atelura) नामक कीट चीटियों के विवरो मे रहता है और जव एक चीटी दूसरी चीटी को अपना उलटी किया हुआ भोजन देने लगती हे तो उसको पी लेता है। कुछ ऐसे भी कीट है जो अपने पोपको को, उनके साथ रहने के वदले मे, लाभ पहुँचाते हैं। कुछ कचुकपक्ष चीटियों के विवरो मे आश्रय और भोजन पाते है और इसके वदले मे अपने शरीर से स्राव निकाल कर देते है, जिसको पाने के लिये ये चीटियाँ वहुत लालायित रहती है। इस सवंध की अतिम श्रेणी यह है की चीटियाँ स्राव के वदले मे अतिथि कचुकपक्ष को वस्तुत. भोजन देती हैं। परस्पर लाभ पहुँचाने का यह एक सुदर उदाहरण है (देखें सामाजिक कीट)।

कीटमंडलियाँ और सामाजिक कीट—अधिकतर कीटो की प्रकृति अकेले ही रहने की होती है, किंतु कुछ जातियो के कीट नियत परिस्थिति मे अपनी मडली वना लेते हैं। शीतकाल मे जव ताप वहुत नीचे गिर जाता है, घरेलू मक्खियाँ प्राय: एक साथ एकत्र हो जाती हैं। कुछ इल्लियाँ यूथचारी है और एक साथ जन्मी हुई सव इल्लियाँ एक ही जाले मे साथ साथ रहती हैं, किंतु ऐसी मडलियाँ भोजन समाप्त होते ही तितर वितर हो जाती है और प्रत्येक इल्ली स्वतत्र रहने लगती है। वहुत से कीट अनेक परिस्थितियो से विवश हो ग्रीष्मकाल विताने, प्यूपा वनने और शीतनिष्क्रियता के लिये एकत्र हो जाते हैं। इनमे से एक परिस्थिति है सुरक्षित स्थान की खोज। कीटो की मंडली मे रहने की प्रकृति के कारण प... और अपाहारी शत्रुओ से तथा प्रतिकूल परिस्थितियो से इनकी

रक्षा हो जाती है। भ्रमणकारी कंचुकपक्षों की झुंडों में रहने और क्रियाशील होने के कारण कुछ रक्षा हो जाती है। टिड्डियां और तितलियां प्रव्रजन के समय यूथचारी बन जाती हैं। हेलिक्टस (Helictus) नामक एकाकी मक्षिका भूमि में बनी हुई सुरंग के मुख के चारों ओर नन्ह नन्हें कमरे बनाती है। इन कमरों में भोजन और एक एक अंडा रख देती है, तत्पश्चात् इनकी रक्षा करती रहती है। यह उस समय तक जीवित भी रह जाती है जब तक अंडों से मक्षिकाएं निकल न आएँ। वह कीट, जो अपनी संतानों की कम से कम उनके जीवन के आरंभ में देखभाल करता है, सामाजिक जीवन की प्रथम श्रेणी का कहा जा सकता है। भिन्न भिन्न वर्गों के सामाजिक कीटों में भिन्न भिन्न विलक्षणताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, किंतु इनकी प्रत्येक मंडली का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि एक ही कुटुंब होता है, जिसमें एक नर, एक मादा और उनकी संतान, या एक गर्भित मादा और उसकी संतान, अर्थात् कम से कम दो पीढ़ियाँ एक ही स्थान पर मिल जुलकर रहती हैं। वास्तविक सामाजिक जीवन बरों, मधुमक्खियों, चीटियों और दीमकों में पाया जाता है। (देखें 'सामाजिक कीट')।

फॉरिसी (Phoresy)—एक अन्य प्रकार का सहजीवन है जिसमें एक कीट दूसरे कीट के शरीर पर चिपका रहता है। जिन कीटों के शरीर पर चिपकते हैं वे प्रायः बड़े होते हैं, किंतु छोटा कीट उनको खाता नहीं है, अर्थात् कोई हानि नहीं पहुँचाता। मिलाइडी (Meloidae) वंश के ट्राइऐंगुलिन (Triangulin) डिंभ को सामाजिक कलापक्ष अपने शरीर पर अपने घोंसले में ले जाते हैं। वहाँ ये डिंभ उनकी संतान को खा जाते हैं। सिलिओनाइडी (Scelionidae) वंश के कुछ परजीवी, मादा टिड्डों की पीठ पर, बैठ जाते हैं। जब तक टिड्डे अंडे न रख दें उनकी पीठ पर चढ़े रहते हैं, अंत में अपने अंडे टिड्डों के अंडों में प्रविष्ट कर देते हैं। सबसे सुंदर उदाहरण बॉटफ्लाइ (Botfly) का है। मादा मक्षिका अपने अंडों को मच्छर की टाँगों और शरीर पर चिपका देती है और जब मच्छर रक्त चूसने मनुष्य के पास पहुँचता है तब इन अंडों में से डिंभ निकलकर अपने पोषक मनुष्य पर आक्रमण कर देते हैं।

जलवासी कीट—कीटों की एक बड़ी संख्या जल में रहती है। ये अधिकतर मीठे पानी में रहते हैं, कुछ खारे पानी और समुद्र में भी पाए जाते हैं। इन कीटों के बहुत से लक्षण उपयोगी होते हैं। बहुत से कलापक्षों की चिकनी और चमकती हुई देह तैरते समय पानी की रुकावट कम कर देती है। बहुत से कीटों में जलप्रवाह में बहने से बचने के लिये विशेष प्रकार के साधन पाए जाते हैं, जैसे काली मक्खियों के डिंभ रेशम के धागों को अटकाए रखते हैं। मच्छरों के डिंभों में श्वासरंध्र के चारों ओर पाई जानेवाली ग्रंथियों से तेल मिला हुआ स्राव निकलता है। इसके कारण इन स्थानों के बाह्यत्वक् में जलसंत्रासिक गुण आ जाता है और वहाँ जल ठहर नहीं पाता। अतः श्वसन बेरोक टोक होता रहता है। कुछ कीटों, जैसे पोड्यूरा ऐक्वाटिका (Podura aquatica) में ऐसे बाल होते हैं जिनके कारण बाह्यत्वक् जलसंत्रासिक हो जाता है। इस गुण के कारण श्वासप्रणाल में जल नहीं प्रवेश कर पाता। इनमें भोजन प्राप्त करने के लिये भी विशेष साधन होते हैं, यथा—ओडोनेटा के निंफों में लेबियम का घूँघट एक जाल का कार्य करता है। मच्छरों के डिंभों के मुखों में कंपनकारी बुरुश होते हैं जो जल में लहरें उत्पन्न करते हैं और इस प्रकार भोजन के सूक्ष्मकण इनकी ग्रसिका में पहुँच जाते हैं। डाइटिस्कस (Dytiscus) की पिछली टाँगें पतवार के आकार की हो जाती हैं। नोटोनेक्टा (Notonecta) और डाइटिस्कस (Dytiscus) तैरते समय अपनी दोनों पतवारें एक साथ ही चलाते हैं, किंतु हाइड्रोफिलस (Hydrophilus) अपनी पिछली टाँगें (पतवारें) पारी पारी से चलाता है। जिराइनस (Gyrinus) नामक कंचुकपक्ष मध्य और पश्च टाँगों से, जिनमें बहुत परिवर्तन आ जाता है, तीव्रता से चक्कर लगाते हुए घूमता और तैरता है। कुछ मक्खियों और मच्छरों के डिंभ उदर की ...य के प्रबल उद्योग द्वारा तैरते हैं। बहुत छोटे छोटे पोलिनीमा (...olynema) नामक कलापक्ष, जो जलवासी कीटों के अंडों में परा...ी होते हैं, अपने पक्षों की सहायता से जल में तैरते हैं। जलवासी कीटों के श्वसनतंत्र में बहुत से परिवर्तन आ जाते हैं। ये ट्रेकिया, जलश्वसनिका या रक्त जलश्वसनिका द्वारा श्वसन करते हैं। कुछ कीट वायु को अपने पास जमा कर लेते हैं और जब वे जल में डूबे होते हैं तब उसका उपयोग करते हैं। द्विपक्षों के कोरेथ्रा (Corethra) नामक कीट के पारदर्शी डिंभ का ट्रेकिया तंत्र सेम के आकार की दो जोड़ी थैली सी बन जाता है। ये थैलियाँ उत्प्लावन इंद्रिय का कार्य करती हैं। यह डिंभ इन थैलियों का परिमाण किसी अज्ञात विधि से परिवर्तित कर सकता है और इस प्रकार जल की जिस गहराई में चाहे उसी के अनुसार आपेक्षिक गुरुत्व उत्पन्न कर पाता है।

भौगोलीय वितरण—कीट सारे संसार में, हिमाच्छादित ध्रुवीय भागों से लेकर भूमध्य रेखा के पासवाले, तपते हुए भागों तक में पाए जाते हैं। इनका वितरण अन्य सब स्थलीय जीवों की तुलना में सबसे अधिक विस्तृत है। ये लगभग उन सभी स्थानों में पाए जाते हैं जहाँ वनस्पतियाँ उग सकती हैं, अर्थात् जहाँ भी इनको भोजन प्राप्त हो सकता है। कीटों और अन्य जीवों का भोजन वनस्पतियाँ हैं। पक्ष एक महान् महत्ववाली रचना है। पक्षों के कारण कीटों में अतुलित वितरणसामर्थ्य आ जाता है, जो अन्य स्थलीय जीवों में नहीं पाया जाता। वितरण की शक्ति कीटों की प्रत्येक जाति को तीव्र स्पर्धा से और कठोर निर्वाचन के प्रभाव से, जिसका परिणाम परिमित क्षेत्र में अत्यधिक भीड़ होना होता है, बचने के लिये स्वतंत्रता प्रदान करती है, किंतु बहुत से कीट ऐसे भी हैं जिनका वितरण सीमित है। सारे संसार में मनुष्यों के घरों में पाए जानेवाले कीटों में तेलचट्टा (Cockroach), चावल का सूँड़वाला कीट, दालों के कीट आदि प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त आजकल चने का शलभ (हीलिओथिस, Heliothis), आलू का शलभ (फ्थोरिमीया ओपरकुलेला, Phthorimaea oparculella), शकरकंद का सूँड़वाला कीट (साइलस, Cylas) और बंदगोभी का शलभ (प्लूटेला, Plutella) भी सारे संसार में पाए जाते हैं। इसी प्रकार ऐसे भी बहुत से कीट हैं जो किसी विशेष प्रदेश या देश में ही पाए जाते हैं। ऐसा वितरण बहुत सी परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। भोजनप्राप्ति और प्राकृतिक दशाएँ निस्संदेह बहुत अधिक प्रभावशाली परिस्थितियाँ हैं। जलवासी कीट वहाँ नहीं रह सकते जहाँ जल नहीं है। वृक्षों की छाल में रहनेवाले कीट उन स्थानों में नहीं पाए जा सकते जहाँ वृक्ष ही न हों। प्राकृतिक अवरोध, जैसे ऊँचे ऊँचे पहाड़, समुद्र तथा मरुस्थल, कीटों का वितरण एक देश से दूसरे देश में नहीं होने देते। कुछ कीट, जैसे साफिलाइज, बंदगोभी की तितली आदि समशीतोष्ण कटिबंध में ही पाए जाते हैं। फलों की मक्खियाँ, धान के कीट आदि केवल अयनवृत्त में ही मिलते हैं। कुछ कीटों में, जैसे टिड्डियों और कुछ तितलियों में, कभी कभी प्रव्रजन की प्रवृत्ति होती है और ये सुदूर देशों तक पहुँच जाते हैं। किंतु बहुत से कीटों के आधुनिक वितरण की व्याख्या पृथ्वी की आधुनिक दशा और जलवायु के आधार पर नहीं की जा सकती और इसलिये प्रायः भौवृत्तीय परिवर्तनों का सहारा लेना पड़ता है। स्प्रिंग टेल नामक कीट न्यूजीलैंड और चिली में पाया जाता है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी काल में इन दोनों देशों के बीच ऐंटार्कटिक महाद्वीप फैला हुआ था, क्योंकि यह कीट इतना कोमल और पक्षहीन है कि इसका अन्य किसी प्रकार से वितरण हो ही नहीं सकता। स्प्रिंग टेल का अन्य कीटों की तुलना में सबसे अधिक विस्तृत वितरण है और इस कारण इसने अपने को इन विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल बना लिया है। चीटियों का भी लगभग इसी प्रकार वितरण है और इन्होंने भी अपने को विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल कर लिया है।

कीटों के पूर्वज—द बीअर, (de Beer) ने सन् १९५४-५५ में यह बतलाया कि मिरियापोडा के जो डिंभ डिंभावस्था में जनन कर सकें उनको ही कीटों का पूर्वज मानना चाहिए। यह सिद्ध करने के लिये कीटों के प्रौढ़ और कुछ मिरियापोडा के डिंभों की, उदाहरणार्थ आइयूलस (Iulus) की, जो एक मिलिपीड है, तुलना करना महत्वपूर्ण है। आइयूलस का डिंभ जब अंडे से निकलता है, इसका सिर उतने ही खंडों का बना मालूम होता है जितने खंडों का कीटों का सिर। शरीर के शेष भाग में लगभग १२

खंड होते हैं, जिनमें से प्रथम तीन खंडों में प्रत्येक पर एक जोड़ी टाँगें होती हैं। चौथा तथा इनके पीछेवाले खंड भी बिना टाँगों के नहीं होते। किंतु इनके परिवर्धन में रुकावट आ जाती है और ये बहुत ही छोटे रह जाते हैं। इस प्रकार यह छह टाँगोंवाला आइयूलस का डिंभ अंत में लंबा प्रौढ़ बन जाता है, जिसके शरीर में बहुत से खंड और बहुत सी टाँगें होती हैं। यदि इस डिंभ की प्रथम तीन जोड़ी के पश्चात्वाली टाँगों के परिवर्धन में अधिक रुकावट हो और डिंभ के शरीर के लगभग १२ खंड प्रौढ़ावस्था में दृढ़ रहें तो यह जीव (डिंभ) कीट के आकार का होगा, जिसमें प्रथम तीन जोड़ी टाँगों के पीछेवाली टाँगें या तो इतनी क्षीण होंगी कि केवल उनके अवशेष ही होंगे या वे सर्वथा लुप्त होंगी। यह बात बहुत ही रोचक है कि वास्तव में ऐसे कीट हैं जिनमें उदर पर भी टाँगों के अवशेष वर्तमान होते हैं, जैसे कैंपोडिया (Campodea), जेपिक्स (Japyx) और मैचिलिस (Machilis)। इन कीटों के पक्ष नहीं होते और इनमें वे रचनाएँ वर्तमान रहती हैं जो अन्य कीटों में लुप्त हो गई हैं, जैसे जननग्रंथियों का खंडीभवन। इसलिये कीटों के विकास में इन कीटों को मिरियापोडा के डिंभावस्था में जननेवाले डिंभों और अन्य कीटों की मध्यवाली दशा का समझना चाहिए। अन्य अनेक तर्कों से भी यह अनुमोदित होता है कि मिरियापोडा की तरह की आकृतियों से ही कीटों की उत्पत्ति हुई है। अत्यधिक संभावना यह है कि उन सब लंबे शरीर और अनेक टाँगोंवाले जीवों में मिरियापोडा ही कीटों के पूर्वज हैं, क्योंकि इन दोनों में कई रचनाएँ एक सी होती हैं, उदाहरणार्थ, मैलपीगियन नलिकाएँ और ट्रेकियल नलिकाएँ। किंतु इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि कीटों की उत्पत्ति प्रौढ़ मिरियापोडा से नहीं हो सकती थी, क्योंकि इनमें बहुत सी विशेषताएँ और विलक्षणताएँ हैं।

कीटगणों में परस्पर संबंध—एप्टरिगोटा (Apterygota) उपवर्ग अधिकतर विविध प्रकार के कीटों का एक समूह है और उस उपवर्ग का केवल थाइसान्यूरा (Thysanura) गण ही टेरिगोट (Pterygote) कीटों की विकासवाली मुख्य श्रेणी के संभवतः समीप है। ऐसा तर्क द्वारा सिद्ध किया गया है कि एप्टरिगोटा के शेष तीन गणों को कीट मानना ही नहीं चाहिए। किंतु ऐसा कोई संतोषजनक कारण प्रतीत नहीं होता है, जिससे इन तीनों गणों को इस उपवर्ग से पृथक् कर दिया जाय, यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि ये विलक्षण रचनाएँ प्रदर्शित करते हैं, उदाहरणार्थ कोलेंबोला (Collembola) गण के कीटों में केवल नौ खंड ही होते हैं। प्रोटयूरा (Protura) गण के कीटों में ऐनामॉर्फोसिस (Anamorphosis) होता है, डिप्ल्यूरा, (Diplura) गण के कीटों मे अलाक्षणिक ट्रेकियल तंत्र पाया जाता है, डिप्ल्यूरा और कोलेंबोला की शृंगिकाओं के कशाभ (flagellum) में पेशियाँ होती हैं। उपवर्ग टेरिगोटा दो भागों में विभाजित किया गया है—एक्सोप्टरिगोटा (Exopterygota) और एंडोप्टरिगोटा, (Endopterygota)। एक्सोप्टरिगोटा गणों के एफिमेराप्टरा (Ephemaroptera) और ओडोनेटा (Odonata) में परस्पर निकट संबंध है, क्योंकि ये दोनों ही पेलीआप्टेरॉन, (Palaeopteron) गण हैं। यदि आधुनिक कीटों के शरीर के सिद्धांत से विचार किया जाय तो ब्लैटेरिया (Blattaria), मैंटोडिया (Mantodea), आइसॉप्टरा (Isoptera), जोरेप्टरा (Zoraptera), गाइलॉब्लैटोडिया (Gylloblattodea), ऋजुपक्ष (Orthoptera), फेजमाइडा (Phasmida), प्लिकॉप्टरा (Plecoptera), डर्मेप्टरा (Dermaptera) और एंबिऑप्टरा (Embioptera) ऋजुपाक्षिक आर्थोप्टराएड, (Orthopteroid) समुदाय के अंतर्गत आते हैं। निम्नलिखित लक्षणों के कारण ये सब गण एक समुदाय बनाते हैं—अपरिवर्तित मुखभाग, पश्चपक्ष में विशाल ऐनेल लोब (Anal lobe), उदर के पश्च सिरे पर एक जोड़ी सरसाई (Cerci), अगणित मैलपीगियन नलिकाएँ और प्रतिपृष्ठ तंत्रिकातंतु में कई एक पृथक् पृथक् गुच्छिकाएँ। इन गणों में से ब्लैटेरिया और मैंटोडिया में बहुत अधिक निकट संबंध होने के कारण इन दोनों को साथ साथ डिक्टियॉप्टरा (Dictyoptera) के अंतर्गत रखते हैं। एक्सोप्टरिगोटा के शेष गण, जिनके नाम हैं सोकोप्टरा (Psocoptera), मैलोफैगा (Mallophaga), साइफनकुलेटा (Siphonculata), मत्कुणगण (हेमिप्टरा, Hemiptera) और झल्लरीपक्ष (Thysanoptera), मत्कुणगणिक (Hemipteroid) समुदाय के अंतर्गत आते हैं। मत्कुणगणिक समुदाय के लक्षण इस प्रकार हैं: विशेष प्रकार के मैंडिबुलेट या चूसनेवाले मुखभाग होते हैं, पश्चपक्ष में ऐनेल लोब नहीं पाया जाता, सरसाई का अभाव होता है, मैलपीगियन नलिकाओं की संख्या बहुत थोड़ी होती है और प्रतिपृष्ठ तंत्रिकातंतु की गुच्छिकाएँ लगभग एकत्रीभूत हो जाती हैं। ऋजुपाक्षिक और मत्कुणगणिक समुदायों में स्पष्ट भेद नहीं है, क्योंकि जोरेप्टरा में पक्षों की शिराएँ कुछ क्षीण हो जाती हैं, मैलीपीगियन नलिकाओं की संख्या भी कम होती है और तंत्रिकातंतु की गुच्छिकाएँ भी कुछ कुछ एकत्रीभूत हो जाती है। सोकोप्टरा और मैलोफैगा में स्पष्ट संबंध प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों में विलक्षण प्रकार का हाइपोफैरिंक्स (Hypopharynx) होता है। संभवतः साइफनकुलेटा मैलोफैगा से निकट संबंध रखते हैं। इनसे वे केवल अनेक बाह्य और आंतरिक रचनाओं तथा प्रकृति में ही सादृश्य नहीं रखते, अपितु श्वासरंध्र की रचना और अंडे से बच्चे निकलने की विधि में भी सादृश्य है। अब प्रश्न यह उठता है कि जुँओं के दोनों गणों को एक ही गण के अंतर्गत क्यों नहीं माना जाता। इसका कारण यह है कि दोनों गणों के मुखभागों में इतना अधिक अंतर होता है कि इनका पृथक् पृथक् गणों में रखना ही प्राय: उचित समझा जाता है।

इंडोप्टेरिगोट कीटों के विषय में ध्यान दें तो कलापक्ष (Hymenoptera), स्ट्रेप्सिप्टरा (Strepsiptera), और कंचुकपक्ष (Coleoptera) को अन्य गणों के साथ रखने में अत्यधिक कठिनता उपस्थित होती है, अतः इनके अतिरिक्त शेष सब गण पैनोरपिड (Panorpid) समुदाय के अंतर्गत रखे गए हैं। पैनोरपिड समुदाय जालपक्ष न्यूरॉप्टरा (Neuroptera) के साथ मिकाप्टरा (Mecoptera) पर केंद्रीभूत है और कुछ कुछ पृथक् किंतु संबंधी शाखा बनाता है। ऐसा अधिक संभव है कि मिकाप्टरा के निम्नस्थ सदस्यों से एक ओर द्विपक्ष (Diptera) और दूसरी ओर शल्किपक्ष (Lepidoptera) और लोमपक्ष (Trichoptera) की उत्पत्ति हुई हो। साइफोनेप्टरा (Siphonaptera) के प्रौढ़ों की रचना बहुत भिन्न होती है, किंतु इनके डिंभ द्विपक्ष के उपगण निमेटोसेरा (Nimatocera) के कुछ डिंभों से भिन्न नहीं होते, और यदि साइफोनेप्टरा की उत्पत्ति आदि द्विपक्षों से न हुई हो तो कम से कम पैनोरपिड समुदाय से तो हुई ही होगी। कलापक्ष, कंचुकपक्ष और स्ट्रेप्सिप्टरा के विषय में भी कुछ कठिनता प्रतीत होती है। कलापक्ष के उपगण सिफायटा (Symphyta) के डिंभ और पैनोरपिड कीटों के डिंभों में सादृश्य है, साथ ही साथ सिफायटा के पक्षों की शिरा की उत्पत्ति बिना किसी कठिनता के, मेगालोप्टरन पैटर्न (megalopteran pattern) से प्रतीत होती है। इन दो कारणों से ऐसा भी कहा जाता है कि कलापक्ष के पूर्वज तथा जालपक्ष और अन्य पैनोरपिड गणों के पूर्वज एक ही थे। कंचुकपक्ष के विषय में ऐसा विचार है कि इनकी उत्पत्ति अन्य इंडोप्टेरिगोट से भिन्न रूप में हुई। किंतु कुछ लेखकों का ऐसा अनुमान है कि कंचुकपक्ष की उत्पत्ति जालपक्षीय आकृतिवाले पूर्वजों से हुई। स्ट्रेप्सिप्टरा प्राय: कंचुकपक्ष से संबंधित समझे जाते हैं, किंतु कुछ लेखक इनका संबंध कलापक्ष से निर्धारित करते हैं।

सं०ग्रं०—ए० डी० इम्स : ए जेनेरल टेक्स्ट बुक ऑव एंटोमालॉजी, रिवाइज्ड बाई ओ० डब्ल्यू० रिचर्ड्स ऐंड आर० जी० डेविस (१९५७); टी० वी० आर० ऐय्यर : ए हैंडबुक ऑव ईकोनॉमिक एंटोमॉलोजी फॉर साउथ इंडिया (१९४०); राम रक्षपाल : पेरीप्लेनेटा अमेरिकाना (द कॉमन काक्रोच) (१९५९); एच० एम० लेफराय : इंडियन इन्सेक्ट्स लाइफ (१९०९); के० पी० श्रीवास्तव : मॉरफॉलोजी ऑव लेमनवटर फ्लाई; पैपीलियो डिमोलियस, थीसिस (१९५६); राम रक्षपाल : कीटों में सामाजिक जीवन (१९५९); ए० सी० माथुर : स्टडीज़ ऑन द मॉरफॉलोजी ऑव ब्रेकिथीमस कंटेमिनेटा फेबर (आडोनेटा), थीसिस (१९५८); एस० डब्ल्यू फ्रॉस्ट : जेनरल एंटोमॉलोजी (१९४२); सी० एल० मेटकाफ ऐंड डब्ल्यू सी० फ्लिंट : डिस्ट्रक्टिव ऐंड यूसफुल इंसेक्ट्स (१९५१); वी० वी० विगिल्वर्थ : इंसेक्ट फिजियॉलोजी (१९५३)।

(रा० र०)

कीटनाशक (Insecticides) वे वस्तुएँ हैं जिनके संपर्क में आने पर कीड़े मकोड़े मर जाते हैं। कीटनाशक तीन प्रकार से कार्य करते हैं।

(क) जीवद्रव्य (Protoplasm) पर विषवत् क्रिया करके, जैसे अम्ल और क्षार, (ख) श्वासावरोध करके, जैसे तैलादि, तथा (ग) तंत्रिकातंत्र पर विषवत् क्रिया करके, जैसे क्लोरोफार्म।

कीटनाशक पदार्थ विलयन, पायस, पाउडर (चूर्ण), वाष्प या धुएँ के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं अथवा भोजन में मिश्रित करके।

सुश्रुत के अनुसार गुग्गुल, धूप और अगर का धुआँ कीटनाशक है। जलते गंधक का धुआँ भी कीट तथा कृमि को नष्ट कर देता है। गंधक चूर्ण (पाउडर) के रूप में अथवा मिट्टी के तेल में पायस बनाकर उपयुक्त किया जाता है।

हाइड्रोसायनिक अम्ल (Hydrocyanic Acid)—जीव मात्र के लिये अत्यंत विषैली गैस है और हर जीव जंतु, कीड़े मकोड़े, जैसे मक्खी, खटमल, झींगुर, तेलचट्टा, कनखजूरा आदि कृमियों तथा चूहों को, जिनपर गंधक का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, शीघ्र ही नष्ट कर देता है।

कार्बन डाइसल्फाइड—यह बड़ा शक्तिशाली कीटनाशक है। तुरंत सब कृमियों को नष्ट कर देता है।

पेट्रोलियम अथवा खनिज तैल—यह मिट्टी के तेल (केरोसीन ऑयल) के रूप में प्राय काम में लाया जाता है। पेट्रोलियम से उत्पन्न गैसोलीन, क्रूड ऑयल, आदि भी उपयोगी कीटनाशक हैं। पेट्रोलियम को मच्छड़ और उनके अंडे बच्चों का नाश करने के लिये अधिकतर काम में लाते हैं। एक आउंस पेट्रोलियम पंद्रह वर्ग फुट जल की सतह के लिये पर्याप्त होता है। पेट्रोलियम के छिड़काव से खटमल, मक्खी और पिस्सू नष्ट हो जाते हैं।

कोयले का तेल (कोल ऑयल)—यह फव्वारे के रूप में जूँ का विनाशक है।

संखिया (आर्सेनिक)—यह बहुतायत से पेरिस ग्रीन के रूप में मच्छड़ के विनाश के लिये पानी की सतह पर छिड़का जाता है। सोडियम आर्सिनाइट का विलयन किलनी और मक्खियों को मारने में उपयोगी है।

पाइरेथ्रम का चूर्ण (पाउडर) भी अच्छा कीटनाशक है और बहुतायत से प्रयुक्त किया जाता है। यह धातु, कपड़े और रंग को खराब नहीं करता। इनके विलयन का फुहार मच्छड़ का नाश करने में उपयोगी सिद्ध हुआ है।

डी० डी० टी० अथवा डाइक्लोफेन (डाइक्लोर-डाइफिनाइल-ट्राइक्लोर-एथेन)—यह श्वेत रंग के चूर्ण या छोटे छोटे दाने के रूप में होता है। इसमें कोई विशेष गंध नहीं होती। यह जल में नहीं घुलता, किंतु बेनज़ीन और कार्बन टेट्राक्लोराइड में तुरंत घुल जाता है। एक भाग डी० डी० टी० पचास भाग ऐलकोहल में और दस भाग मिट्टी के तेल अथवा और किसी तेल में घुल जाता है। आज तक जितने भी कीटनाशकों का आविष्कार हुआ है उनमें डी० डी० टी० सबसे अधिक प्रभावशाली और उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह मच्छड़, मक्खी, तेलचट्टा खटमल पिस्सू और उनके अंडों को नष्ट करने के लिये तेल या जल में विलयन या पायस बनाकर, अथवा सूखा ही, सब प्रकार के कीड़ों का नाश करने के लिये उपयोग में लाया जाता है। पाँच प्रतिशत डी० डी० टी मिट्टी के तेल में घुलाकर प्रयुक्त किया जाता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका प्रभाव कई सप्ताह तक रहता है।

जूँ मारने के लिये दो प्रतिशत डी० टी० टी० पर्याप्त है। यदि इसे एक बार सिर में लगा दिया जाय और कुछ समय तक बाल न धोए जायँ तो जूँ और उनके अंडे बच्चे समूल नष्ट हो जाते हैं।

गैमेक्सीन—यह भी तीव्रतम कीटनाशक है। यह श्वेत मणिभीय चूर्ण होता है। इसका आधा प्रतिशत जल अथवा मिट्टी के तेल में घुलाकर बहुतायत से सब प्रकार के कीड़े मकोड़ों को नष्ट करने के लिये प्रयुक्त होता है। यह मच्छड़, नाली, कूड़ा करकट, पाँस, कंपोस्ट आदि के कीड़ों को मारने के काम में आजकल प्राय आता है। (क० दे० व्या०)

कीटविज्ञान (एंटोमॉलोजी, Entomology)—प्राणिविज्ञान का एक अंग है जिसके अंतर्गत कीटों अथवा षट्पादों का अध्ययन आता है। षट्पाद (षट् = छह, पाद = पैर) श्रेणी को ही कभी कभी कीट की संज्ञा देते हैं। कीट की परिभाषा यह की जाती है कि यह वायुश्वसनीय संधिपाद प्राणी (Arthropod) है, जिसमें सिर, वक्ष और उदर स्पष्ट होते हैं, एक जोड़ी शृंगिकाएँ (Antenna), तीन जोड़े पैर और वयस्क अवस्था में प्राय एक या दो जोड़े पंख होते हैं। कीटों में अग्रपाद कदाचित् ही क्षीण होते हैं। कीट की उत्पत्ति बहुत प्राचीन है, क्योंकि वे कार्बनप्रद (Carboniferous) युग में तो निश्चित रूप से ही वर्तमान थे और संभवत इससे भी पूर्व रहे हों।

१९३० ई० तक १०,४०० जीवाश्म (Fossil) कीटों का वर्णन किया जा चुका था और तब से अब तक अन्य अनेक कीट इस सूची में जोड़े जा चुके हैं। वर्तमान जातियों (Species) की संख्या लगभग ६,४०,००० है। ऐसा अनुमान है कि यदि सभी का उल्लेख किया जाय तो उनकी संख्या २०,००,००० तक पहुँच जायगी। कीट न्यूनाधिक सब क्षेत्रों में पाए जाते हैं।

अनेक सामाजिक कीटों का कुल बड़ा होता है। रानी मधुमक्खी में प्रति दिन ४,००० अंडे देने की क्षमता होती है और बसंत ऋतु में एक छत्ते में ४०,००० से ५०,००० तक मक्खियाँ होती हैं। चींटियों की बड़ी बस्ती में ५,००,००० चींटियाँ पाई जाती हैं। एक टिड्डी दल में तो लाखों, करोड़ों की संख्या रहती है। एक प्रतिवेदन के अनुसार किसी टिड्डी दल के आक्रमण के समय १५,००० एकड़ भूमि में कीट फैल गए थे और इतने विस्तृत क्षेत्र की फसल सात या आठ घंटों में चट कर गए थे।

मादा कीट प्राय बड़ी संख्या में अंडे देती हैं और अंडे अद्भुत ढंग से सुरक्षित रहते हैं। अधिकांश कीटों का जीवनचक्र छोटा होता है। बहुसंख्यक कीट एक साल में वयस्क हो जाते हैं और कितनों की तो एक ऋतु में ही अनेक पीढ़ियाँ तैयार हो जाती हैं। कुछ कीटों में अनिषेकजनन (Parthenogenesis) होता है। सेसिडामिडी (Cecidomyidae) में अनिषेकजनन की एक अनूठी विधि है जिसे पीडोजेनेसिस (Paedogenesis) कहते हैं।

साधारणतया कीट छोटे होते हैं, पर बड़े बड़े कीट भी पाए जाते हैं। सबसे बड़ा जीवित कीट इरिबस एग्रिपीना (Erebus agrippina) है। यह एक प्रकार का शलभ (Moth) है। यह ब्राज़ील में पाया जाता है। इसके पंख का फैलाव ग्यारह इंच होता है।

कीटविज्ञान की कई शाखाएँ हैं, जिनमें आर्थिक (Economic) कीटविज्ञान प्रमुख शाखाओं में से एक है। इसके अंतर्गत लाभकर और हानिकारक कीटों का अध्ययन आता है। इसमें कीटों का नियंत्रण, उनकी संख्या में कमी करना, विरल क्षतिकर्ता जातियों का विलोपण, लाभदायक कीटों का विस्तार और सुंदर एवं निर्दोष कीटों का अधिमूल्यन (appreciation) संमिलित है। ६,४०,००० कीट जातियों में से १०,००० जातियाँ ही क्षति पहुँचानेवाली हैं। कुछ कीड़े विनाशकारी हैं। इनका नियंत्रण परमावश्यक होते हुए भी प्राय कठिन और खर्चीला होता है।

आर्थिक कीटविज्ञान के कई भाग हैं, यथा क विनाशकारी कीटों की पहचान, ख जातियों के स्वभाव का अध्ययन, जिससे उनके जीवनचक्र का कोई भेद या रहस्य ज्ञात हो सके, ग. नियंत्रण विधि का निर्धारण एवं घ उपलब्ध ज्ञान के फल का उत्पादकों और कृषकों में प्रसार।

बहुत से कीट मानव रोगों के प्राथमिक अथवा माध्यमिक पोषक (host)

या वाहक का काम करते है। अनेक प्रकार के जीवाणुओं, जैसे प्रोटोज़ोआ (Protozoa), केंचुए (Nematodes) और विषाणुओं (Viruses) इत्यादि का प्रसार कीटों द्वारा होता है। मानव रोगों मे शीतज्वर (मलेरिया) अधिक गंभीर कीटजनित बीमारी है। प्लेग के विषाणु बैसिलस पेस्टिस (Bacillus pestis) का प्रसार फुदककीट (फ्ली, Flea) द्वारा ही मनुष्यों, चूहों तथा अन्य कुतरनेवाले प्राणियों में होता है। १९१४ ई० मे भारत मे प्लेग से १,९८,८७५ लोगों की मृत्यु हुई थी।
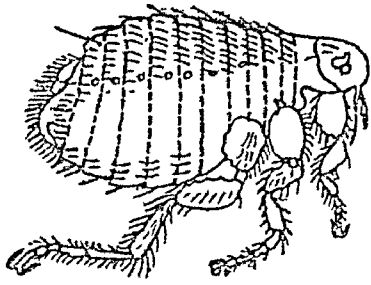
फुदककीट (पिस्सू Flea)

टाइफ़ाइड ज्वर बैक्टीरिया जनित बीमारी है। इसकी छूत कई प्रकार से लग सकती है। घरेलू मक्खी इस रोग का मुख्य प्रसारक समझी जाती है। अनेक प्रकार के फीताकृमि (Tapeworm) अपने जीवनेतिहास का कुछ अंश कीटों के शरीर मे व्यतीत करते है। अन्य अनेक रोगों का प्रसार भी कीटों द्वारा होता है।

उष्ण प्रदेशों मे निद्रालु रोग (Sleeping sickness) त्सेत्सि (Tsetse) मक्खी द्वारा और फीलपाँव (Elephantisis) मच्छड़ों द्वारा फैलता है।

विषैले कीट—बहुत सी श्रेणियों के कीट डंक मारते है या त्वचा में प्रदाह उत्पन्न करते है। मधुमक्खी का दंश प्राय: क्षणिक होता है और गंभीर नही होता। संभवत: बाल्टफेसेड हार्नेट (Baldfaced hornet) और येलो जैकेट (Yellow jacket) बहुत ही डरावने होते है। चीटियाँ भी डंक मारती है और शिकार के शरीर में सीधे फॉरमिक अम्ल प्रविष्ट कर देती है। अग्नि चीटी (Solenopsis geminata) बहुत ही कलहप्रिय होती है और इसका दंश भयंकर जलन उत्पन्न करता है।

खटमल विषैले होते हैं। कुछ मक्खियाँ अतीव अनिष्टकर होती है। मच्छड़ों का दंश तो भली भाँति मालूम है। अश्व मक्खी (हॉर्स फ्लाई) और अस्तबल मक्खियों (स्टेबल फ्लाई) का मुखांग बहुत ही तीक्ष्ण होता है। इनका दंश प्राय: तीव्र पीड़ा पहुँचाता है। भारत के पैगोनिया लांगिरोस्ट्रिस (Pangonia longirostris) की सूँड़ इसके शरीर से तिगुनी या चौगुनी बड़ी होती है और काफी मोटे कपड़े से ढकी होने पर भी मनुष्य को त्वचा को भेद देती है।

डंक मारनेवाले कीट (Netting Insects)—इनके शरीर पर विषैले लोम होते है। ये संख्या मे बहुत हैं। डंकधारी लोम बड़े खतरनाक होते है। जब वे आँख की पुतली मे गड़ा दिए जाते है तब बडी जलन पैदा करते है।

लाभकारी कीट (Beneficial Insects)—लाभकारी कीट पाँच भागों में बाँटे जा सकते हैं : क. जिनसे लाभदायक पदार्थ उत्पन्न होते हैं; ख. जो चिकित्सा के काम आते हैं; ग. जो हानिकारक कीटों के प्राकृतिक नियंत्रण मे प्रयुक्त होते है; घ. जो फलो का परागण (pollination) करते हैं और ङ. जो कला के काम आते है।

मधुमक्खियों से हम मधु तथा मोम प्राप्त करते है। दूसरे अनेक कीट एक प्रकार का मोमी पदार्थ पैदा करते हैं, जिसे मनुष्य विभिन्न उपयोगों मे लाते है। चाइना मोम एक प्रकार के शल्क कीट एरिसेरस पेलि (Ericerus pele) द्वारा स्रवित होता है। भारतीय लाख कीट लेसिफर, या टेकारडिया लक्का [Lacifer (Tachardia) lacca] एक प्रकार का रस स्रवित करता है, जिसमे व्यावसायिक दृष्टि से उपयोगी कच्ची लाख का उत्पादन होता है। सैन होसे स्केल (San Jose Scale), वूली ऐफिस (Woolly aphis) और अन्य कीट अच्छी मात्रा मे मोम उत्पन्न करते है, किंतु इतनी अधिक मात्रा मे नहीं कि उनका व्यावसायिक मूल्य हो। एक शल्क कीट, कोकस मैनिफेरा (Coccus manifera) खाद्योपयोगी मलाली (फ्लेकी, Flaky) स्राव उत्पन्न करता है। कॉचिनील नामक रंजक कोकस कैक्टाइ (Coccus cacti) नामक शल्की कीट के मुर्झाए हुए शरीर की बुकनी से तैयार किया जाता है।

कीटोत्पन्न पदार्थों मे से रेशम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह बहुसंख्यक सूँडियों (कैटरपिलर, Caterpillar) तथा अन्य अनेक प्रकार के कीटों एवं मकड़ियों के डिंभों (larva) द्वारा काता जाता है। बाँबिक्स मोरी (Bombyx mori) के अतिरिक्त रेशम का अन्य कोई भी कीड़ा व्यावसायिक उपयोगिता का नहीं पाया गया है।

कीट माजूफल (Insect gall) से टैनिन प्राप्त होता है, जो खाल को पकाने एवं स्थायी, पक्की स्याही बनाने मे काम आता है।

'मैड ऐपल' सदृश कीटजनित फलों से एक दूसरा उत्पाद 'टर्की रेड' प्राप्त होता है।

चिकित्सा के काम आनेवाले कीट—बहुत प्रकार के कीट औषधीय गुणों के लिये प्रख्यात हैं। ब्लिस्टर बीटल (Blister beetle) के शरीर से कैंथेराइडिन (Cantharidin) निकाला जाता है। अन्य अनेक विभिन्न जातियों के कीटों से भी कैंथेराइडिन प्राप्त होता है किंतु भारत की मिलाब्रिस सिकोरी (*Mylabris cichorii*) जाति अन्य सभी जातियों की अपेक्षा दुगुना उत्पादन करती है। एक विशेष औषधि ऐल्कोहल की सहायता से एपिस (Apis) नामक मक्खियों के शरीर से निष्कर्षित होती है। गलित ऊतकों एवं घावों में वर्तमान बैक्टीरियों को साफ करने के लिये वुल्फार्टिया (Wolfahrtia) के मैगॉट (Maggot) का उपयोग होता है।
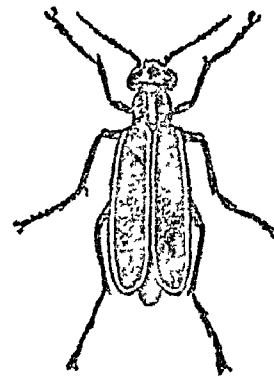
उदस्फो भृंग (Blister beetle)
यह कोलिऑप्टरा गण का कीट है।

पराश्रयी एवं शिकारी प्रकृति के कीट (Parasitic and predaceous Insects)—विगत कुछ वर्षों मे प्रजनन विज्ञान और पराश्रयी एवं शिकारी कीटों की पहचान की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। विनाशकारी कीटों के नियंत्रण के लिये परोपजीवी और शिकारी प्रकृति के कीट विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होते है। कीटों के २९ वर्गों मे से १८ वर्ग शिकारी तथा पराश्रयी कीटों के है। हाइमेनॉप्टरा (Hymenoptera) तथा डिप्टरा (Diptera) वर्ग मे सबसे अधिक पराश्रयी कीट है। हेमिप्टरा (Hemiptera), कोलिऑप्टरा (Coleoptera) न्यूरॉप्टरा (Neuroptera) तथा डिप्टरा वर्गो के अतर्गत सबसे अधिक संख्या मे शिकारी प्रकृति के कीट मिलते हैं।

कीट परागण—फलो के परागण में कीट बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। बहुत से पुष्पों मे तो पराग का स्थानान्तरण सरल होता है, किंतु कुछ पुष्पों का विकास इस प्रकार होता है कि कीट आकर्षित होकर उनके पास जायँ, अथवा कीट का विकास इस प्रकार होता है कि उसे पुष्पों मे पराग लेने मे सुभीता हो। स्मारना के अंजीर की वृद्धि के लिये ब्लास्टोफ़ागा (Blastophaga) कीट आवश्यक है।

भोज्य कीट—ये चिड़ियों, छिपकलियों, मेढकों, सर्पों, मछलियों एवं अन्य प्राणियों के भोजन के काम आते है। मनुष्य भी फल और सब्जी के साथ साधारणत: अनजाने अनेक कीटों का भक्षण कर जाता है। आदिजातियाँ बड़ी चाह और रुचि से कीटों का भक्षण करती हैं। अमेजन की घाटियों के निवासी सौबा (Sauba) और चींटी (अट्टा सेफालोटिस Atta cephalotes) खाते है। दीमक उष्णप्रदेशीय कुछ जातियों का रुचिकर भोजन है। मेक्सिको में कोरिक्सा फेमोराटा (Corixa femorata), के अंडे सुस्वादु भोजन समझे जाते है। अफ्रीका मे खाने के लिये

गोलियथ भृंग (Goliath beetle) की विशेष पूछ होती है। पश्चिमी संयुक्त राज्य (अमरीका) में प्रिग्रोनस कैलिफ़ोर्निकस (Prionus Californicus) नामक कीट आकार में बड़ा होने के कारण प्रिय था। कीट कभी कभी कच्चे ही खाए जाते है। किंतु अधिकतर इनसे विभिन्न प्रकार के व्यंजन बनाए जाते है।

गायक कीट—अनेक कीट अपने पंखों को पैर से रगड़कर, झिल्लियों अथवा पंखों को कंपित कर, या किसी अन्य प्रकार से ध्वनि पैदा करते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार की ध्वनि को संगीत कहा जाय? कीट विज्ञानवेत्ता इसे झंकार (सॉनिफ़िकेशन, sonification) या स्ट्रिड्युलेशन (stridulation) अथवा अव्यक्त उच्चारण (फ़ोनेशन, phonation) कहते हैं। जापान में सिकाडा (Cicada) और झींगुर (Crickets) पिंजड़े में रखे जाते हैं और उनकी झंकार आनंदकर समझी जाती है।

कला और कीट—अलंकारों एवं चित्रों में मॉरफ़ोस (Morphos) तितली के चमकीले नीले पंखों के टुकड़ों का व्यवहार होता है। ये रंग फीके नहीं पड़ते। अमरीका के रेड इंडियन अपनी हस्तकला में चिड़ियों के पंखों के स्थान पर कीड़ों के टुकड़े लगाते थे। इक्वेडर के जिवारो (Jivaros) ब्यूप्रेस्टिड भृंग (Buprestid beetles) के हरे, चमकीले पंख, एलिट्रा (Elytra) से कर्णफूल बनाते हैं। अनेक जातियाँ वस्त्रों पर कीटों से बने बेल बूटे अर्थात् मोटिफ का भी उपयोग करती है। स्काराह (Scarah) मिस्र का बहुत लोकप्रिय कीट था और मिस्रियों के सूर्यदेव, खेपेरा (Khepera) का प्रतिरूप माना जाता था। ग्रीस में बहुत से सिक्कों पर मधुमक्खी का चित्र पाया जाता है। जापानी कला में प्रायः इनरॉस (inros), नटसुके (netsukes—बटन सदृश एक प्रकार का जापानी आभूषण), हाथीदाँत की नक्काशी, हरितमणि (यशब, jade), पन्ना, लकड़ी इत्यादि पर कीटों का उपयोग बहुधा होता है। वस्तुतः कला की कदाचित् ही कोई शाखा हो जिसमें किसी न किसी रूप में कीट का प्रदर्शन न होता हो।

रूपांतरण (मेटामार्फोसिस, Metamorphosis)—अधिकतर कीटों के अंडों से निकलनेवाले डिंभों की आकृति पूर्ण कीट से बहुत भिन्न होती है। डिंभ से प्यूपा और प्यूपा से वयस्क बनने की परिवर्तनशृंखला को रूपांतरण

अल्परचनांतरण वृद्धि

अंडे से लेकर वयस्क तक विकास क्रमिक है। १. अंडा, २–६. अर्भक (Nymphal) अवस्था; ७. वयस्क।

कहते हैं। केवल कुछ वर्गों और बहुत कम जातियों को छोड़कर रूपांतरण सभी कीटों के जीवन की एक प्रमुख विशेषता है। रूपांतरण के तीन आधारभूत सिद्धांत हैं: वृद्धि, भेदीकरण तथा प्रजनन। वृद्धि डिंभ और निफ से, भेदीकरण प्यूपा अथवा रूपांतरण से, तथा प्रजनन वयस्क से संबंधित होते हैं।

कीट के जीवन में विकासकाल भी होता है, जो अन्य कालों से स्पष्टतः भिन्न होता है। इन्हें अवस्थाएँ कहते है। पूर्ण रूपांतरणवाले कीटों में अंडे की अवस्था, डिंभावस्था, प्यूपावस्था और वयस्क अवस्था होती हैं। ये अवस्थाएँ फिर इन्स्टारों (instars) में बँटी हैं, जिनकी विशेषता मुखों मे होती है। डिंभावस्था में प्रत्येक बार के निर्मोचन (Moult) अथवा नए रूप के बनने पर, उनकी आकृति में स्पष्ट परिवर्तन होता है। परिवर्तन प्रायः एक इन्स्टार (रूप) से प्रारंभ होकर बाद के इन्स्टार में पूरा होता है। एक रूप से दूसरे रूप के अंतराल में भी अंतर होता है। डिंभ प्रत्येक रूप के काल में भोजन आत्मसात् करता है, किंतु प्रत्यक्ष वृद्धि पुरानी डिंभावस्था के निर्मोचन के बाद ही होती है। वयस्क अवस्था में रंगविकास होता है और कीट प्रौढ़ होता है। आकृति और रचना के परिवर्तन के साथ साथ उसके भोजन और स्वभाव में भी परिवर्तन होता है। कीट के स्वभावपरिवर्तन और भोजनपरिवर्तन में घना संबंध है। लेपिडॉप्टेरा (Lepidoptera) के अधिकतर डिंभ वनस्पतिभोजी होते हैं, किंतु वयस्क मकरंद (नेक्टर, nectar) चूसते हैं या निराहार रहते हैं। शिशु हाइमेनॉप्टेरा (Hymenoptera) विभिन्न प्रकार के भोजन पर पलते हैं। शिशु दीमक लकड़ी, मुँह से उगला हुआ या मलाशय से निकला हुआ पदार्थ, विसर्जित त्वचा और लार इत्यादि खाते हैं। निफ पहले पहल लार, तब उदरीय भोजन और अंत में लकड़ी खाते हैं।

वृद्धि—वयस्क कीटों में आहार की वृद्धि कदाचित् ही होती है और अंडों में बहुत ही कम। विकास के अर्थ में वृद्धि कीटजीवन की सभी अवस्थाओं में होती हैं। कीटों में अवयस्क अवस्था खाने और वृद्धि करने की होती है और उनके जीवन का अधिकांश भाग वृद्धि और विकास में बीतता है। सामान्यतः कीट की वृद्धि तेजी से होती है। अधिकांश जातियाँ एक साल में ही पूरे आकार की हो जाती हैं और बहुत सी कुछ ही सप्ताहों में।

निर्मोचन (मोल्टिंग, Moulting)—अन्य प्राणियों की भाँति कीट में वृद्धि क्रमिक एवं लगातार नहीं होती। डिंभ अथवा शिशु (निफ,
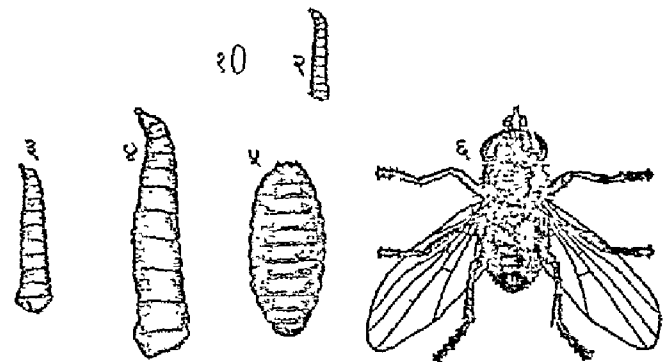
पूर्णरचनांतरण वृद्धि

१. अंडा; २–४. डिंभावस्था,; ५. प्यूपाकोष पर विकास अवरुद्ध हो गया है; ६. वयस्क।

nymph), भोजन करता है और बढ़ता है। फलस्वरूप इसकी त्वचा क्युटिकुला (cuticula) बहुत जोर से तन जाती है। इस बीच पुरानी त्वचा के नीचे एक नई त्वचा तैयार हो जाती है। नई और पुरानी त्वचा के बीच निर्मोचन द्रव (मोल्टिंग फ्लूइड, moulting fluid) उत्पन्न होता है, जो पुरानी त्वचा को घुला देता है और उसे शरीर से अलग करने में सहायक होता है। यथोचित समय पर सिर के समीप पृष्ठभाग में त्वचा फट जाती है और कीट अपनी पुरानी त्वचा से रेंगकर बाहर चला आता है। त्वग्मोचन के पश्चात् नई त्वचा शीघ्र ही कड़ी पड़ जाती है। रंग निखर जाता है और कीट दूसरी बार भोजन करने पर वृद्धि के लिये तैयार हो जाता है। इस क्रिया को त्वग्मोचन (Ecdysis) कहते हैं। पुरानी त्वचा को, जो अलग हो जाती है, निर्मोक (एग्ज्यूविई, Exuviae) कहते है। त्वग्मोचन के बीच के काल को स्टैडियम (Stadium) और इस अवस्था के कीट को इन्स्टार कहते हैं।

त्वग्मोचन की क्रिया बहुत ही सूक्ष्म होती है और इस समय का कीट प्रायः निष्क्रिय, असहाय और किसी प्रकार की क्षति के प्रति तीव्रानुभूतिशील होता है।

कीटव्यवहार—कीटव्यवहार की तीन श्रेणियां, (१) आवर्तना (Tropism), (२) सहजवृत्ति (Instinct) और (३) मेधा (Intelligence) है :

(१) **आवर्तना** (Tropism)—कीटों पर वातावरण का लगातार प्रभाव पड़ता है। इसके प्रति वे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से संवेदनशील होते है। इन संवेदनाओं की अभिक्रिया को आवर्तना अथवा ट्रॉपोटैक्सेज, (Tropotaxes) कहते है। आवर्तना कदाचित् ही व्यक्तिशः होती है। किसी प्रकार के रसायन के प्रति कीटों की अभिक्रिया को रासायनिक आवर्तना (Chemotropism), स्पर्शसंवेदना के प्रति स्पर्शावर्तना (थिग्मॉट्रोपिज्म, Thigmotropism), जलधारक के प्रति स्रावावर्तना (रीओट्रॉपिज्म, Rheotropism), जल के प्रति जलावर्तना (हाइड्रॉट्रोपिज्म, Hydotropism), विद्युद्धाराओं के प्रति अनिलावर्तना (ऐनिमॉट्रोपिज्म, Anemotropism), गुरुत्वाकर्षण के प्रति भूम्यावर्तना (जिओट्रॉपिज्म, Geotropism), प्रकाश के प्रति प्रकाशावर्तना (फोटॉट्रोपिज्म, Phototropism), उष्णता के प्रति तापावर्तना (थरमॉट्रोपिज्म Thermotropism) कहलाती है।

(२) **सहजवृत्ति**—किसी जीव का एक या अनेक संवेदनाओं के प्रति संवेदनशील होना सहजवृत्ति कहलाता है। सहजवृत्तिवाली क्रियाओं के अंतर्गत नियामक परिवर्ती क्रियाएँ (कोऑरडिनेटेड, रिफ्लेक्सेज, coordinated reflexes) और आवर्तन की जटिल शृंखलाएँ होती हैं। भारत के पियरिस ब्रैसिकी (Pieris brassicae) के स्वभाव की अपरिवर्तनीयता इसका एक उदाहरण है। मार्च में कुछ कीट (पियरिस ब्रैसिकी) हिमालय के पार्श्व में उड़ते पाए गए थे। अप्रैल के अंत मे प्रति मिनट हजारो की संख्या में हिमाच्छादित शिखर की दिशा में, जहाँ वे निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त हुए होंगे, ये उड़ रहे थे। कोई समझ नही पाता कि कौन सी शक्ति इन तितलियों को विनाश की ओर प्रेरित करती है। वस्तुतः उन्हें इस सर्वनाश का पूर्वाभास नहीं होता। उसी प्रकार देशांतरण करती हुई टिड्डियाँ किसी प्रकार के अवरोध की परवाह नही करती। निष्कर्ष यह है कि कीट अपने को असाधारण दशा के अनुकूल बनाने में अयोग्य होते है।

मेधा (इंटेलिजेंस, Intelligence)—यद्यपि कीट कुछ कृत्यों अथवा छायाचित्रों को याद रखनेवाले प्रतीत होते है, किंतु वे स्वेच्छा से पुनः स्मरण करने मे असमर्थ होते है। अतएव उनमें तर्क अथवा समझने की क्षमता नही होती।

कीटसंघ तथा सामाजिक कीट—कीटसंघ किसी एक विशेष जाति का या जातियों का हो सकता है। इस प्रकार का साथ निष्क्रिय अथवा सक्रिय, और कीटजीवन के कुछ ही अंशों तक, अथवा पूरे जीवन भर, चल सकता है।

(क) **निष्क्रिय कीटसंघ**—बहुधा तरंग, ज्वार भाटा अथवा हवा के प्रवाह के साथ कीट बड़ी संख्या में किसी स्थान पर इकट्ठा हो जाते है। इस प्रकार का जमाव प्रायः कुछ जातियो के कीटों के लिये विनाशकारी हो सकता है, किंतु दूसरे प्राणियों के लिये भोजन के रूप में लाभदायक होता है।

(ख) **सक्रिय साहचर्य**—भोजन, मैथुन, निद्रा, दलीय उड़ान, स्थानांतरण, ग्रीष्मकालीन निष्क्रियता (एस्टिवेशन, Estivation) अथवा शीतकालीन निष्क्रियता (हाइबर्नेशन, Hibernation) छोटे अथवा बड़े दल में कीटों के एकत्र होने के कारण हो सकते है। जो कीट किसी संघ अथवा समाज में रहते है, पर वास्तव में सामाजिक नहीं है, यूथचर (ग्रिगेरियस, gregarious) कहलाते है।

(ग) **ग्रीष्मनिष्क्रिय अथवा शीतनिष्क्रिय साहचर्य**—बहुत से कारण, जैसे सुरक्षित स्थान का चुनाव, कीटों, जैसे इंद्रगोप (लेडी बर्ड बीटल, सिरेटोमेगिला मैकुलाटा, Ceratomegilla maculata) को ग्रीष्मनिष्क्रिय होने, प्यूपा बनने अथवा निष्क्रियता के लिये बाध्य करते हैं। विभिन्न समूहों में एकत्र होने (Congregation) के स्वभाव में भिन्नता होती है।

(घ) **रक्षात्मक समूहन** (प्रोटेक्टिव ऐग्रिगेशन, Protective aggregation)—अपने समूहगत स्वभाव के कारण कीट संभवतः परोपजीवियों, शिकारी शत्रुओं और प्रतिकूल ऋतुओं से सुरक्षित रहते हैं। शीत निष्क्रिय कीटों, जैसे घूर्णभृंग (Whirligig beetle) पर यह बात विशेष रूप से लागू होती हैं।
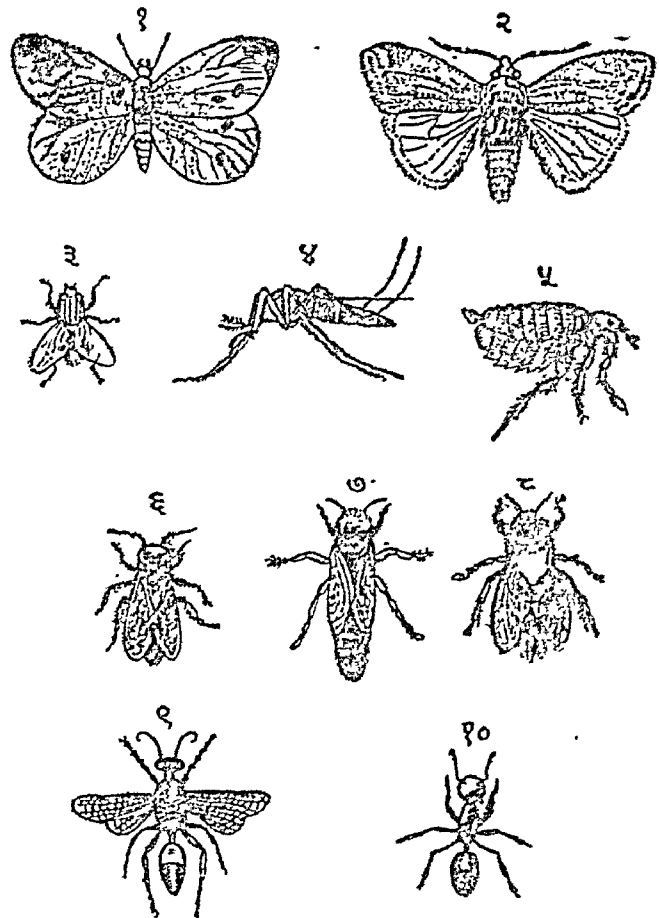
संघ आर्थ्रोपोडा

लेपिडॉप्टरा (Lepidoptera) गण की १. तितली (Butterfly) और २. शलभ (Moth); डिप्टरा (Diptera) गण की ३. मक्खी (House fly) तथा ४. मच्छर (Mosquito); साइफ़ोनेप्टरा (Siphoneptera) गण का ५. पिस्सू (flea); हाइमेनॉप्टरा (Hymenoptera) गण की मधुमक्खी: ६. श्रमिक, ६. रानी तथा ८. पुंमधुप (drone) और इसी गण की ८. ततैया (Wasp) तथा १०. चींटी।

(ङ) **प्रवाजी समूहन** (Migrating aggregation)—कीट बहुधा बृहत् समूहों में देशांतर गमन करते हैं। प्रोसेशन मॉथ (Cnetho campa (Bombyx) processione) का, जो बंजु (Oak) वृक्ष पर निर्वाह करता है, रात्रिप्रव्रजन तथा चारा एकत्रित करनेवाली एवं सैन्य दल बाँधकर चलनेवाली चीटियाँ इसके उत्तम उदाहरण हैं।

(च) **झुंड में उड़नेवाला समूह** (स्वार्मिंग ऐग्रिगेशन, Swarming aggregation)—दल या झुंड बनाकर कीटों के चलने को 'स्वार्म' कहते हैं। वास्तविक झुंड बनाकर उड़ने की आदत मैथुन से संबंधित होती है। मधुमक्खी, चींटी और दीमक की उड़ान इनके सामान्य उदाहरण है।

(छ) **शयन समूह** (स्लीपिंग ऐग्रिगेशन, Sleeping aggregation)—बहुधा कीट अपनी सक्रियता बंद कर देते हैं और सोने लगते है। क्षीरपाद (मिल्क वीड, Milk weed) तितलियाँ अपने वार्षिक स्थानांतरण के समय सोने के लिये एकत्रित होती हैं।

गोलियथ भृग (Goliath beetle) की विशेष पूछ होती है। पश्चिमी सयुक्त राज्य (अमरीका) मे प्रिओनस कैलिफोर्निकस (Prionus Californicus) नामक कीट आकार मे बडा होने के कारण प्रिय था। कीट कभी कभी कच्चे ही खाए जाते है। किंतु अधिकतर इनसे विभिन्न प्रकार के व्यजन बनाए जाते है।

गायक कीट—अनेक कीट अपने पखो को पैर से रगडकर, झिल्लियो अथवा पखो को कपित कर, या किसी अन्य प्रकार से ध्वनि पैदा करते है। प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार की ध्वनि को सगीत कहा जाय? कीट विज्ञानवेत्ता इसे झकार (सॉनिफिकेशन, sonification) या स्ट्रिड्युलेशन (stridulation) अथवा अव्यक्त उच्चारण (फोनेशन, phonation) कहते है। जापान मे सिकाडा (Cicada) और झीगुर (Crickets) पिंजडे मे रखे जाते है और उनकी झकार आनदकर समझी जाती है।

कला और कीट—अलकारो एव चित्रो मे मॉरफोस (Morphos) तितली के चमकीले नीले पखो के टुकडो का व्यवहार होता है। ये रग फीके नही पडते। अमरीका के रेड इडियन अपनी हस्तकला मे चिडियो के पखो के स्थान पर कीडो के टुकडे लगाते थे। इक्वेडर के जिवारो (Jivaros) ब्यूप्रेस्टिड भृग (Buprestid beetles) के हरे, चमकीले पख, एलिट्रा (Elytra) से कर्णफूल बनाते है। अनेक जातियाँ वस्त्रो पर कीटो से बने बेल बूटे अर्थात् मोटिफ का भी उपयोग करती है। स्काराह् (Scarah) मिस्र का बहुत लोकप्रिय कीट था और मिस्रियो के सूर्यदेव, खेपेरा (Khepera) का प्रतिरूप माना जाता था। ग्रीस मे बहुत से सिक्को पर मधुमक्खी का चित्र पाया जाता है। जापानी कला मे प्राय इनरॉस (inros), नटसुके (netsukes—बटन सदृश एक प्रकार का जापानी आभूषण), हाथीदाँत की नक्काशी, हरितमणि (यशब, jade), पन्ना, लकडी इत्यादि पर कीटो का उपयोग बहुधा होता है। वस्तुत कला की कदाचित् ही कोई शाखा हो जिसमे किसी न किसी रूप मे कीट का प्रदर्शन न होता हो।

रूपातरण (मेटामार्फोसिस, Metamorphosis)—अधिकतर कीटो के अडो से निकलनेवाले डिंभो की आकृति पूर्ण कीट से बहुत भिन्न होती है। डिंभ से प्यूपा और प्यूपा से वयस्क बनने की परिवर्तनश्रृखला को रूपातरण

अल्पपरचनातरण वृद्धि

अडे से लेकर वयस्क तक विकास क्रमिक है। १ अडा, २–६ अर्भक (Nymphal) अवस्था, ७ वयस्क।

कहते हैं। केवल कुछ वर्गो और बहुत कम जातियो को छोडकर रूपातरण सभी कीटो के जीवन की एक प्रमुख विशेषता है। रूपातरण के तीन आधारभूत सिद्धात हैं वृद्धि, भेदीकरण तथा प्रजनन। वृद्धि डिंभ और निंफ से, भेदीकरण प्यूपा अथवा रूपातरण से, तथा प्रजनन वयस्क से सबधित होते है।

कीट के जीवन म विकासकाल भी होता है, जो अन्य कालो से स्पष्टत भिन्न होता है। इन्हें अवस्थाएँ कहते है। पूर्ण रूपातरणवाले कीटो म अडे की अवस्था, डिंभावस्था, प्यूपावस्था और वयस्क अवस्था होती हैं। ये अवस्थाएँ फिर इन्स्टारा (instars) मे बँटी है, जिनकी विशेषता मुखो मे होती है। डिंभावस्था मे प्रत्येक बार के निर्मोचन (Moult) अथवा नए रूप के बनने पर, उनकी आकृति में स्पष्ट परिवर्तन होता है। परिवर्तन प्राय एक इन्स्टार (रूप) से प्रारभ होकर बाद के इन्स्टार मे पूरा होता है। एक रूप से दूसरे रूप के अतराल मे भी अतर होता है। डिंभ प्रत्येक रूप के काल मे भोजन आत्मसात् करता है, किंतु प्रत्यक्ष वृद्धि पुरानी डिंभावस्था के निर्मोचन के बाद ही होती है। वयस्क अवस्था म रगविकास होता है और कीट प्रौढ होता है। आकृति और रचना के परिवर्तन के साथ साथ उसके भोजन और स्वभाव मे भी परिवर्तन होता है। कीट के स्वभावपरिवर्तन और भोजनपरिवर्तन म घना सबध है। लेपिडॉप्टरा (Lepidoptera) के अधिकतर डिंभ वनस्पतिभोजी होते है, किंतु वयस्क मकरद (नेक्टर, nectar) चूसते है या निराहार रहते है। शिशु हाइमेनॉप्टरा (Hymenoptera) विभिन्न प्रकार के भोजन पर पलते हैं। शिशु दीमक लकडी, मुँह से उगला हुआ या मला[illegible] से निकला हुआ पदार्थ, विसर्जित त्वचा और लार इत्यादि खाते [illegible] पहले पहल लार, तब उदरीय भोजन और अत मे लकडी [illegible]

वृद्धि—वयस्क कीटो मे आहार की वृद्धि [illegible] अडो मे बहुत ही कम। विकास के अर्थ [illegible] स्थाओ मे होती है। कीटो मे अवयस्क [illegible] होती है और उनके जीवन का अधिकाश [illegible] है। सामान्यत कीट की वृद्धि तेजी से [illegible] साल मे ही पूरे आकार की हो जाती है।

निर्मोचन (मोल्टिग, Moultin[illegible] वृद्धि क्रमिक एव लगातार नही [illegible]
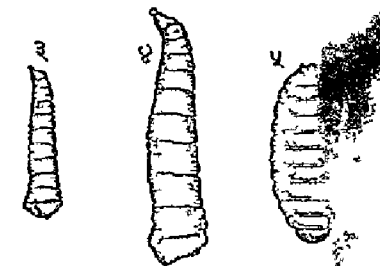
पूर्णरचन[illegible]

१ अडा, २–४ डिंभाव[illegible] अवरुद्ध हो गया[illegible]

nymph), भोजन करता है औ[illegible] क्युटिकुला (cuticula) बहुत जो[illegible] त्वचा के नीचे एक नई त्वचा तैया[illegible] के बीच निर्मोचन द्रव (मोल्टिग फ्लू[illegible] है, जो पुरानी त्वचा को घुला देता है औ[illegible] होता है। यथोचित समय पर सिर के[illegible] है और कीट अपनी पुरानी त्वचा से रें[illegible] चन के पश्चात् नई त्वचा शीघ्र ही कडी[illegible] और कीट दूसरी बार भोजन करने पर[illegible] इस क्रिया को त्वग्मोचन (Ecdysis)[illegible] अलग हो जाती है, निर्मोक (एग्ज्यूवि[illegible] चन के बीच के काल को स्टैडियम (Sta[illegible] को इन्स्टार कहते है।

त्वग्मोचन की क्रिया बहुत ही सूक्ष्म[illegible] प्राय निष्क्रिय, असहाय और किसी प्रक[illegible] शील होता है।

(ज) **पृथक्करण** (डिससोसिएशन, Dissociation)—कीटों की कुछ जातियाँ विभिन्न कारणों से पृथक् होने के लिये बाध्य होती है। शिकारी कीट, पेंटाटॉमिडी (Pentatomidae), रेडुवाइइडी (Reduviidae) तथा फाइमैटिडी (Phymatidae) की अपेक्षाकृत बहुत बड़ी सख्या अडों से उत्पन्न होती है और जन्म के पश्चात् शीघ्र ही भोजन की खोज में बिखर जाती है, क्योंकि एक ही स्थान पर भोजन का अभाव होता है।

(झ) **सामाजिक समूहन**—वे कीट जो सगठित समूहों अथवा ऐसे वासस्थानों में रहते है, जहाँ श्रम का विभाजन होता है और श्रमिक कीट शिशु कीटों को भोजन प्रदान करते हैं, सामाजिक कीट कहलाते है। उनकी सामान्य तथा सार्वलौकिक विशेषताएँ ये है : अपेक्षाकृत बड़ी आबादी, सहयोग, श्रमविभाजन, साधारणत पाथेय का उत्तरोत्तर सग्रह, अपत्यस्नेह, चबाए भोजन का विनिमय (ट्रॉफैलेक्सिस, trophallaxis), किसी किसी में दल बनाकर उड़ान करना और न्यूनाधिक परिष्कृत नीड का निर्माण। प्रत्यक्ष रूप से पूर्णत रूपातरण करनेवाले कीटों का, जैसे चीटियों, मधुमक्खियों, गुजमधुमक्खियों (बबुल बीज, Bumble bees), पत्रततैया (पेपर वास्प Paper wasps) आदि का स्वभाव सामाजिक होता है। क्रमिक रूपातरण करनेवाले कुछ कीटों में भी, जैसे आइसॉप्टरा (Isoptera) तथा डरमॉप्टरा (Dermoptera) में, सामाजिक आदतें होती है। एवाइडाइना (Embudiena) तथा स्कैराबीडी (Scarabaeidae) अपने शिशुओं का ध्यान रखते हैं और प्रारंभिक अवस्था के ही सामाजिक या उपसामाजिक कहे जाते है।

(ट) **एकांतप्रिय कीट** (सॉलिटरी इसेक्ट्स, Solitary Insects)—इनकी आदतें स्वतत्र भोजन प्राप्त करनेवाले और सामाजिक जीवन व्यतीत करनेवाले कीटों के मध्य की होती है। यह स्वभाव मुख्यत मधुमक्खियों और बर्रों में पाया जाता है, यद्यपि अन्य जातियाँ भी इसमें वचित नहीं है।

(ठ) **मृतोपजीवी अथवा भंगी कीट** (साप्रॉफागस इसेक्ट, Saprophagous insects)—अल्पपोषक तत्वोंवाले, अनुपयोगी पदार्थों का उपयोग करने में समर्थ, आहारनाल के अतिरिक्त, भगीकीटों के स्वभाव में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। भगीकीट मुख्यत. थाइसान्यूरा (Thysanura), कोलेबोला (Collembola), ब्लैटिडी (Blattidae) तथा निम्न श्रेणी के कोलिऑप्टरा (*Coleoptera*) तथा डिप्टरा (Diptera) में पाए जाते है।

कलाबाज बीटल

बीटल का यह जोड़ा गोबर की गेंद को लुढकाकर ले जा रहा है।

(ड) **शिकारी कीट** (प्रेडाटर्स, Predators)—ये दूसरे प्राणियों के ऊपर जीवननिर्वाह करते है। शिकारी कीटों की विशेषता है कि वे किसी पोषक पर अस्थायी रूप से स्थित रहते है, क्योंकि वे एक के बाद दूसरे पोषक अपनाते है और कभी कभी तो सैकडों का भक्षण कर डालते हैं। ऑर्थोप्टरा (Orthoptera) गण का मेंटिडी (Mantidae) परिवार, न्यूरॉप्टरा (Newroptera) के डिंभ, ओडोनाटा (Odonata) के निमज्जक तथा प्लीकॉप्टरा (Plecoptera), बहुसख्यक हेटिरॉप्टरा (Heteroptera) और हाइमेनॉप्टरा (Hymenoptera) शिकारी जातियों के अतर्गत आते हैं।

परोपजीवी (Parasites)—वे जातियाँ है जो दूसरे प्राणियों से, बिना उन्हे मारे, अपना भोजन प्राप्त करती है और प्राय केवल एक ही पोषक पर आक्रमण करती है। जूँ इस समूह का अच्छा उदाहरण है।

अर्धपरोपजीवी (पैरासाइटाइड, Parasitoids)—परोपजीवी और शिकारी दोनों के मध्य के स्वभाववाले कीट अर्धपरोपजीवी कहलाते है। पहले तो यह परोपजीवी रहता है और पोषक के मर्मस्थल को छोडता चलता है, बाद में यह शिकारी बन जाता है और पोषक का भक्षण कर जाता है। इस प्रकार के अर्धपरोपजीवी प्रचुर सख्या में डिप्टरा तथा हाइमेनॉप्टरा वर्ग में मिलते है।

कीट तथा पौधों का सबंध—पौधे तथा कीटों का सबंध पारस्परिक हो सकता है। इसमें पौधे या कीट में से कोई भी लाभान्वित हो सकता है। कीटों में अधिकांश स्वतत्र रूप से भोजन करनेवाले होते है। कुछ तो भूमि के अदर निवास करनेवाले और अन्य जलीय होते है, किंतु सभी पोषक के बाह्य भाग का ही भोजन करते है और विचरण करने के लिये स्वतत्र होते है। जो कीट विस्तृत या कम विस्तृत क्षेत्रों से भोजन प्राप्त करते हैं वे खाद्यान्वेषक (Forager) या शिकारी हैं। सभी वर्ग के कीटों में भोजन करने की स्वतत्र आदतें होती हैं। कुछ चूसक होते हैं और कुछ चबानेवाले। टिड्डे (Grasshoppers), जून बीट्ल (June beetles), कट वर्म (Cut worms), आर्मी वर्म (Army worms), ऐपुल् टेंट (Apple tent), टी कैटरपिलर (Tea caterpillar), वेब वर्म (Web worms) और लीफ बीटल (Leaf beetles) खाद्यान्वेषी जीव है। वे बहुधा झुड में मिलकर कार्य करते हैं और प्रत्यक्ष क्षति पहुँचाते है। अन्य जातियाँ, जैसे पॉलिफीमस (Polyphemus) के डिंभ अधिकतर अकेले ही खाते है।

पत्तों में सुरंग बनानेवाले कीट—इस जाति के डिंभ (लार्वा) अस्थायी रूप से अथवा जीवनपर्यत पत्तों के बाह्य त्वचीय दो स्तरों के बीच निवास करते और पोषित होते है। कोलिऑप्टरा (Coleoptera), लेपिडॉप्टरा (Lepidoptera), डिप्टरा तथा हाइमेनॉप्टरा गण के कीटों में पत्तों में सुरग बनाने की आदत है।

पत्तों को लपेटनेवाले कीड़े—कीट के ऐसे डिंभों द्वारा पत्ते कुडलाकार बनाए जाते है। ये डिंभ रेशम कातते हैं, जो पत्ते को मोडने अथवा लपेटने के लिये प्रयुक्त होता है। यह आदत अधिकांशत लेपीडॉप्टरा वर्ग में पाई जाती है।

द्रुस्फोट (Gall) **कीट**—पौधों में द्रुस्फोट के मुख्य वाहक कीट और किलनियाँ है। कोलिऑप्टरा, लेपिडॉप्टरा, होमाप्टरा, थाइसेनॉप्टरा, डिप्टरा और लेपिडॉप्टरा गणों के कीटों में यह आदत होती है।

वेधक (Boring) **कीट**—पौधे, प्राणी तथा भूमि आदि अनेक पदार्थों में कीट छेद करते है। पूर्ण रूपातरित तथा हन्विकायुक्त मुखाग वाले कीटों में मुख्यत छेद करने की आदत होती है। कोलिऑप्टरा, लेपिडॉप्टरा, डिप्टरा और हाइमेनॉप्टरा वर्गों के अतर्गत वेधक कीट पाए जाते है।

अतर्भौम (Subterranean) **कीट**—ये अपना आंशिक या पूर्ण जीवन भूमि में मिट्टी के नीचे व्यतीत करते है। जापानी भृ ग (Japanese Beetle) अपने जीवन के ग्यारह महीने अडे, डिंभ और प्यूपावस्था में भूमि के नीचे व्यतीत करते है और भोजन तथा मैथुन के निमित्त कुछ समय के लिये बाहर निकलते हैं, तदुपरात अडे देने के लिये पुन भूमि के नीचे चले जाते है। दूसरी ओर लेपिडॉप्टरा (Lepidoptera) प्यूपावस्था में कुछ ही समय के लिये भूमि में प्रवेश करते हैं। पृथ्वी के भीतर रहनेवाले अधिकांश कीट अपने जीवनेतिहास का कुछ अश अडे, डिंभ, निफ, प्यूपा, अथवा वयस्क के रूप में जमीन के भीतर व्यतीत करते हैं। भूमि के नीचे एक या अनेक अवस्थाएँ व्यतीत की जा सकती है। अधिकांश वर्गों में जमीन के भीतर रहने की आदत होती है।

जलीय (Aquatic) **कीट**—वे जातियाँ है जो अधिक या कम जल से सबधित होती है। हेलोबेटिस (Halobates) जीनस के वाटर स्ट्राइडर, जेराइडी (Gerridae), यथार्थ में छिछले जलीय है। प्राय. जलीय कीटसमूहों में उष्ण स्रोतवासी कीट पाए जाते है।

खोल निर्माता (Case-making) **कीट**—कीट की आरंभिक जीवनावस्था अर्थात् अंडे, डिंभ तथा प्यूपा की अवस्था, प्रायः खोल में बंद होती है। थाइसान्युरा कोलेंबोला (Thysanura Collembola) तथा ऑर्थोप्टरा (Orthoptera) के अतिरिक्त लगभग सभी वर्गो के कीटों में खोल बनाने की आदत होती है।

सक्रियता का स्थगन—विश्राम के प्राय. दो रूप होते हैं . शारीरिक विकास का रुकना, जिसे डायापॉज (Diapause) कहते हैं, और सक्रियता का रुकना, जिसे किनेटोपॉज़ (Kinetopause) कहते हैं। कीटजीवन की

संघ आर्थ्रोपोडा
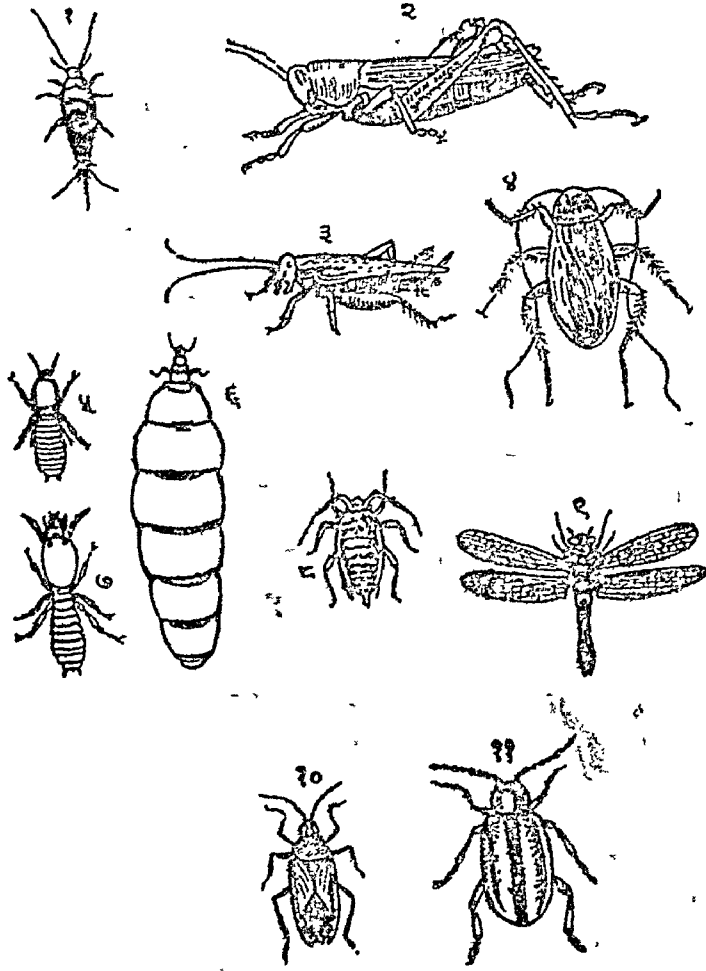
गण थाइसान्यूरा (Thysanura) की १. रजतमीन (Silver-fish); गण ऑर्थोप्टरा के २. टिड्डा (Grasshopper), ३. झींगुर (Cricket) तथा ४, तेलचट्टा (Cockroach); गण आइसॉप्टरा (Isoptera) के दीमक, ५. श्रमिक, ६. सिपाही तथा ७. रानी, गण होमॉप्टरा (Homoptera) का ८. पादप-यूका (Plant louse); गण ओडोनेटा (Odonata) का ९. व्याध पतंग (Dragon fly); गण हेमिप्टरा (Hemiptera) का १०. मत्कुण (Bug) तथा कोलिऑप्टेरा गण का ११. बीटल (Beetle)।

किसी भी अवस्था में शारीरिक विकास रुक सकता है, किंतु संभवतः अंडे और प्यूपा अवस्था में यह रुकना बिलकुल स्पष्ट होता है। किनेटोपॉज कई प्रकार से हो सकता है, जैसे विश्राम, निद्रा, मूर्छा, ग्रीष्मकालीन निष्क्रियता, शीतकालीन निष्क्रियता और मृत्यु। (ज० प्र० थ०)

कीटाहारी जंतु

कीटाहारी जंतु इस वर्ग के अंतर्गत बहुत से अति प्राचीन स्वरूप के, कुछ आदियुग के प्राणियों के अनुरूप तथा कुछ अत्यधिक विशेष प्रकार के जंतु आते हैं। ये छोटे छोटे जीव कदाचित् अनादि काल से अपनी शारीरिक रचना में बिना किसी बड़े परिवर्तन के चले आ रहे हैं। कीटभक्षकों की सबसे अनोखी विशेषता यह है कि इनकी श्रेणी में अनगिनत प्रकार के प्राणी हैं। आजकल जो कीटभक्षक पाए जाते हैं उनमें स्तनधारी वर्ग के कतिपय ऐसे प्राणी हैं जिनकी या तो शारीरिक रचना अद्भुत है, अथवा स्वभाव सर्वथा विचित्र है। इन्हीं कारणों से कीटाहारी वर्ग के जंतु प्राणिशास्त्रियों के लिये विशेष अध्ययन के विषय रहे हैं। मंगोलिया का 'फासिल' कीटभक्षी, डेल्टाथीरिडियम (Deltatheridium), इस वर्ग का श्वेत रंग का एक अति प्राचीन जंतु था। इसकी लंबे आकार की आगे निकली हुई खोपड़ी दो इंच से कम लंबी होती थी, किंतु आधुनिक युग के कीटाहारी जंतुओं के समान इसकी विशेष नासिका नहीं थी।

कीटाहारियों की पहिले चार श्रेणियाँ मानी जाती थीं, किंतु अब तीन ही मुख्य श्रेणियाँ हैं। डरमेप्टरा (Dermaptera) वर्ग इन श्रेणियों के अंतर्गत अब नहीं गिना जाता। कीटाहारियों के वर्गीकरण में अत्यधिक विविधता और असमानता पाई जाती है। जहाँ दो श्रेणियों के जंतुओं में अत्यधिक समानता पाई जाती है वहाँ तीसरी श्रेणी इनसे बिल्कुल अलग और भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है। इस दृष्टि से मैडागास्कर द्वीप के अनोखे टेनरेक (Tenrec), पश्चिमी अफ्रीका के श्रू (Soricidae shrew) नामक कीटाहारी तथा पश्चिमी द्वीपसमूह के सोलिनोडॉन्स' (Solenodons) से सर्वथा भिन्न है। इसके विपरीत साही तथा लघु आकार का एलिफैंट श्रू (Elephant shrew), जिनको मैक्रोस्केलिड्स (Macroscelides) कहते हैं, अत्यधिक सजातीय मालूम होते हैं।

कीटभक्षकों की श्रेणी का कोई जंतु बड़े अथवा मध्यम आकार तक के स्तनधारी जंतुओं के रूप में विकसित नहीं हुआ, फलतः इस श्रेणी के
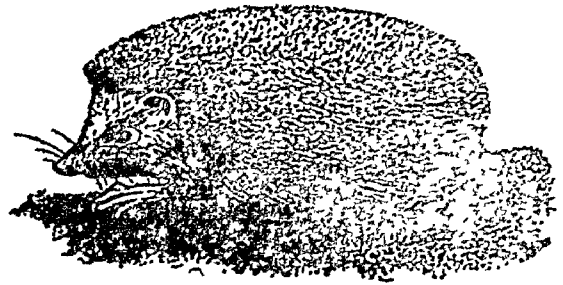
साही

अधिकांश जंतु छोटे आकार के ही रहे हैं। फिर भी मैडागास्कर के सेंटीटेस जंतु, जो केवल दो फुट लंबे होते हैं, इस श्रेणी के सबसे बड़े जानवर हैं। साधारण 'श्रू' (छछूंदर) सबसे छोटा स्तनधारी प्राणी है। कदाचित् अपने छिपे रहने के स्वभाव तथा छोटे आकार के कारण ही ये कीटाहारी क्रिटेशस युग (Cretaceous period) से लेकर अब तक इतनी लंबी अवधि में भी समाप्त नहीं हुए। अनुमानतः सब प्रकार के कीटाहारियों का मस्तिष्क छोटा तथा अपने पूर्वजों की भाँति होता था। इन स्तनधारी जंतुओं के पूरे संक्रमण काल में दाँत तथा खोपड़ी की बनावट भी अधिकांशतः उनके पूर्वजों के आकार की ही भाँति चली आ रही है। खोपड़ी से उनकी बहुत सी आदिकालीन विशेषताओं का पता चलता है, जैसे अपूर्ण मांसविहीन कनपटी की हड्डी और कान का खुला हुआ छिद्र, जिसमें कान की हड्डी केवल आंशिक वृत्त बनाती है। आदिकालीन कीटाहारियों के ढाँचे के सामान्यतः अनुरूप ही इस वर्ग के प्राणियों के ढाँचों की रचना अब भी चल रही है, किंतु कुछ समूहों में जो थोड़ा सा अंतर दृष्टिगोचर होता है, वह उस जीव की किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति के लिये हुआ प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, छछूंदर के समान मोल (Mole) के हाथ और पैर जमीन खोदने के लिये बड़े सशक्त होते हैं। अन्यथा उसकी रहन सहन, शरीर पर मुलायम बाल के स्थान पर काँटे होना, छिपकर सोना, छोटे आकार का

होना और खतरा पड़ने पर अपने शरीर को मोड़कर गेंद के आकार का बना लेना, ये सारी विशेषताएँ उसके पूर्वजों की विशेषताओं की ही ओर संकेत करती है।

मैक्रोस्केलिड नामक हस्ति छछूँदर
यह अपने परिवार का सबसे बड़ा प्राणी है

आजकल पाए जानेवाले अधिकांश कीटाहारी निशाचर होते है, जो प्राचीन युग से अपरिवर्तित रूप से चली आ रही स्तनधारी जीवों की विशेषताओं को धारण करते है। यही कारण है कि साही में काँटे होते है और मोल में छिपे रहने का स्वभाव होता है। बहुत से कीटाहारी शीतकाल मे सो जाते हैं। इसीलिये उनके शरीर मे चर्बी की अधिकता होती है। इस श्रेणी में सर्वाधिक महत्व के प्राणी श्रू होते है।

कीटाहारियो का वर्गीकरण अत्यंत कठिन है, क्योंकि इसके अंतर्गत कीटाहारी जंतु कभी किसी वर्ग मे रखा जाता है और कभी किसी मे। दाँत, खोपड़ी और मस्तिष्क की रचना के अनुसार तो यह कर-पक्ष-वर्ग के चमगादड़ जैसे अन्य प्राणियों के समान है। इसके अतिरिक्त इनके अवशेषों का अध्ययन करने से, विशेषज्ञों के अनुसार, ये कीटाहारी लेमुर (Lemur) जाति के बंदरो के अनुरूप प्रतीत होते है तथा कुछ के अनुसार ये द्विदंत के ही समीप है। पेड़ पर रहनेवाले श्रू की परिगणना इसी कीटाहारी श्रेणी मे होती थी, परंतु अब स्थिति भिन्न है, और श्रू प्राइमेटा (Primate) वर्ग में रखे गए है। इस प्रकार कीटाहारी जंतुओं और प्राइमेट वर्ग के बंदरो मे भी निकटता देखी जाती है।

कुछ विशेषज्ञों के अनुसार कीटाहारियो के जालैंडोडांटा (Golambdodota) तथा डाइलैंडोडॉण्टा उपवर्गों के विभाजन से उनकी पारस्परिक जातीयता तथा संबंध होने का आभास नहीं होता। कीटाहारियो का सर्वाधिक न्यायसगत वर्गीकरण तभी संभव होगा जब उनके अनेक समूहो को कीटाहारी स्वीकार किया जाय। सिपसन ने 'सुपर फ़ैमिलीज' के रूप मे इनका वर्णन किया है। इस प्रकार सिपसन के अनुसार कीटाहारियों का वर्गीकरण निम्नलिखित है :

(१) **टालपिडी (Talpidae) कुल**—इस कुल मे छछूँदर के समान 'मोल' नामक जंतु है। यह श्रू की अपेक्षा रूप रंग
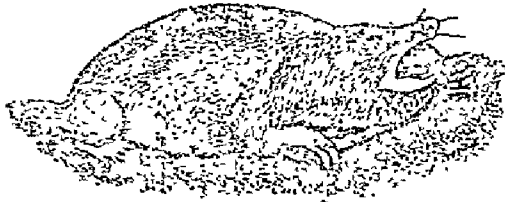
मोल (छछूँदर के समान जीव)

में भिन्न होता है तथा पूर्वी देशों को छोड़कर सभी जगह पाया जाता है। इसमें $\frac{३१४३}{३१४३}$ का संपूर्ण दंतावली पाई जाती है।

(२) **सोरसिडी (Soricidae) कुल**—इस श्रेणी में श्रू जैसे जंतु संमिलित है। विशेषज्ञों के मतानुसार यह कुल पर्याप्त प्राचीन है। इसके अंतर्गत पाए जानेवाले जंतु व्यापक रूप से तथा पृथ्वी के प्रत्येक भाग में बहुत अधिक संख्या मे पाए जाते हैं। भूख अधिक लगने के कारण ये जंतु हर समय भोजन करते रहते है। फलतः ये एक दिन मे अपने से दूने भार से भी अधिक पदार्थ उदरस्थ कर लेते है। श्रू की दंतरचना $\frac{३\ (१)\ २\ (१)\ ३}{२,०\ \ १,३}$ होती है जो मोल की दंतरचना से भिन्न है। ये प्राणी समस्त यूरेशिया, उत्तरी अमरीका तथा अफ्रीका में पाए जाते है।

(३) **एरीनेसाइडी (Erinaceidea) कुल**—इस श्रेणी का प्रतिनिधित्व साही करते है। इस परिवार में भी कीटाहारी दो प्रकार के होते हैं, जिनका वर्गीकरण इस प्रकार है : (क) साही (हेजहाग्स, Hedgehogs) तथा (ख) जिमन्यूरा (Gymnura)।

देखने मे ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हुए भी परस्पर निकट संबंधी हैं। इन कीटाहारियों की शरीररचना में उन आदिकालीन स्तनधारी प्राणियो की विशेषताएँ विद्यमान है जो 'डाइनोसार' (Dinosaur) के समकालीन थे। साही की पाँच जातियाँ है। ये दूसरे स्तनधारी प्राणियों की अपेक्षा अधिक छोटे आकार के जंतु होते हैं। इनके हाथ पैर भी छोटे छोटे होते है जिनमें पतले और तीक्ष्ण पंजोंवाली छोटी और पतली उँगलियाँ तथा अँगूठे होते है। साही का स्वभाव जाति, जलवायु तथा निवासस्थान के अनुसार भिन्न प्रकार का होता है। अत्यधिक शीत, ताप तथा शुष्क मौसम मे, जब अन्न की कमी हो जाती है, ये जंतु निष्क्रिय हो जाते है। उदाहरणार्थ, भारत में साही स्वभावतः रात मे ही निकलता है, परंतु अफ्रीका मे वह दिन में भी चलता फिरता दिखाई पड़ता है। इनके एक बार में चार से लेकर छह तक बच्चे होते है। नवजात शिशु कुछ समय तक दृष्टिविहीन होते हैं। उनके नग्न शरीर पर श्वेत और छोटे काँटे दिखाई देते हैं, जो आरंभ मे मुलायम होते है, किंतु दो तीन दिन के पश्चात् कठोर होने लगते हैं। इनकी दंतरचना भी कुछ कीटाहारी जंतुओं की दंतरचना से भिन्न अर्थात् $\frac{३१३३}{२१२३}$ होती है।

(४) **डरमॉप्टरा (Dermoptera) कुल**—कुछ समय पहले इस वर्ग के प्राणी मूलतः कीटाहारी वर्ग के अंतर्गत माने जाते थे। सच तो यह है कि डरमॉप्टरा का वर्गीकरण सदैव ही मतभेद का विषय बना रहा है। यह कभी किसी जाति मे कभी किसी में रखा गया है। आधुनिकतम वर्गीकरण के फलस्वरूप डरमॉप्टरा को कीटाहारी वर्ग से अलग कर अब स्वतंत्र स्थान दिया गया है। ये कीटाहारी जंतु दक्षिणी अमरीका, आस्ट्रेलिया, ध्रुव देशों और मरुस्थलो के अतिरिक्त संसार मे सब स्थानो पर पाए जाते है। (ध० ना० व०)

कीटाहारी पौधे कीटाहारी जंतुओं की भाँति कुछ पौधे कीटाहारी होते है। कीटाहारी पौधो की कुल ४०० जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमे से प्रायः ३० जातियाँ भारत में पाई जाती है। ये पौधे ऐसे स्थानों पर पनपते है जहाँ नाइट्रेट का अभाव रहता है, अथवा वे जमीन के नाइट्रोजन को उपयोग मे लाने मे असमर्थ होते है। जीवन के लिये प्रोटीन, अत्यंत आवश्यक है और इसे प्राप्त करने के लिये पौधो को नाइट्रोजन मिलना चाहिए। नाइट्रोजन के लिये ये पौधे निकट आनेवाले कीड़ों का भक्षण करते हैं। ऐसे कुछ पौधे निम्नलिखित है :

(१) **मक्खाजाली (Drosera)**—यह पौधा तालाबों के किनारे पाया जाता है। इस पौधे में गोलाई मे लगी करीब २५ पत्तियाँ होती हैं। प्रत्येक पत्ते पर करीब २०० छोटे छोटे संवेदक बाल होते है, जिनकी चोटी पर एक चमकीला पदार्थ स्रवित होता है और कीड़ों को आकर्षित करता है। कीड़ा इसे मधु समझकर जैसे ही पत्ते पर बैठता है, संवेदक बाल चौकन्ने हो जाते है और मुड़कर कीड़े को पकड़ना शुरू करते तथा पत्ते के निचले भाग में उसे खींचकर ले जाते है। अब पत्ते से एक पाचक रस निकलता है जो कीड़े के मांस को घुला देता है। इसे फिर पौधे चूस लेते है (चित्र १)।

स्वादिष्ट कीड़े मिलने पर यह पौधा आवश्यकता से अधिक खा लेता है और तब बीमार पड़ जा सकता है। ऐसी हालत में कुछ समय के लिये यह खाना बंद कर देता है।
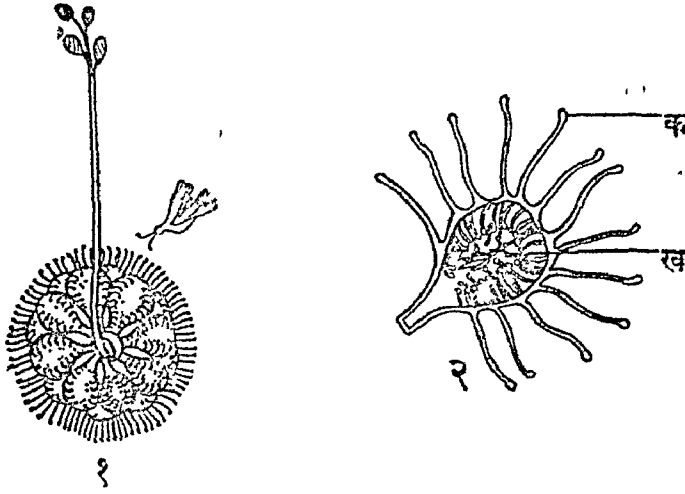
चित्र १. मक्खाजाली (Drosera)
१. पूर्ण पौधा; २. एक पत्ता : क. कीड़े को आकर्षित करनेवाला बाल; ख. कीड़े को मारनेवाले बाल।

(२) ब्लैडरवर्ट (Bladderwort)—यह बारीक पत्तोवाला जड़रहित पौधा है, जो तालावों मे तैरता हुआ पाया जाता है। इसकी
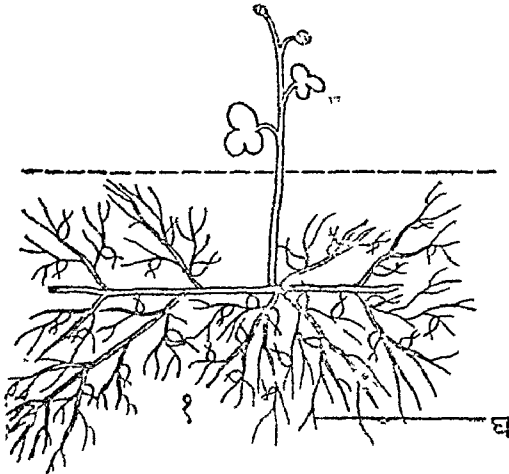
चित्र २. ब्लैडरवर्ड (Bladderwort)
१. पूर्ण पौधा; २. एक ब्लैडर : क. संवेदक बाल, ख. द्वार, ग. पानी बाहर निकालनेवाले बाल।

कुछ पत्तियाँ फूलकर थैली या ब्लैडर के आकार की हो जाती है। प्रत्येक थैली के मुंह के पास एक द्वार रहता है जो केवल अंदर की ओर खुलता है। ब्लैडर के मुंह पर तीन संवेदक बाल रहते हैं। पानी में तैरता हुआ कीड़ा इन बालो के स्पर्श मे आते ही ब्लैडर के अंदर ढकेल दिया जाता है। द्वार बंद हो जाता है और ब्लैडर के अंदर कैद किया गया कीड़ा मर जाता है। पाचक द्रव द्वारा अब इस कीड़े के मांस का शोषण होता है। ब्लैडर की दीवारो पर लगे हुए कई छोटे छोटे बाल रहते है, जो ब्लैडर के पानी को बाहर निकाल देते हैं और द्वार फिर से खुल जाता है (चित्र २)।

सुंदरी का पिंजड़ा (Venus's flytrap)—यह पौधा अमरीका में पाया जाता है। इस पौधे के पत्ते का ऊपरी भाग दो पल्लवों (flaps)
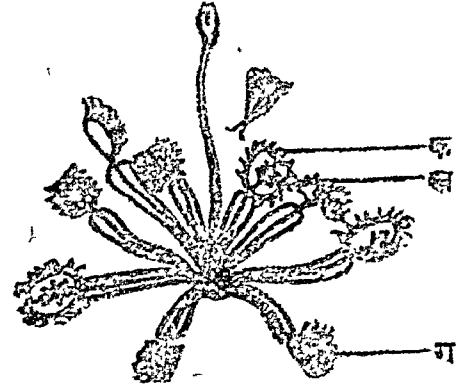
चित्र ३. सुंदरी का पिंजड़ा (Venus's flytrap)
क. पिंजड़ा खुला हुआ; ख. संवेदक बाल, ग. पिंजड़ा कीड़ा पकड़ते हुए।

के आकार का होता है और बीच में एजिसवाले भाग पर छह संवेदक बाल रहते है। मधु की तलाश में भटकता हुआ कीड़ा जैसे ही इन बालो को स्पर्श करता है, दोनों पल्लव कसकर बंद हो जाते है और कीडा इस सुंदर पिंजड़े मे बंद हो जाता है। ग्रंथियो से निकला पाचक रस इस कीड़े को सोख लेता है। कीड़ा खत्म होने पर पिंजड़ा आप ही आप खुल जाता है (चित्र ३)।

डार्विन के मतानुसार यह संसार का सबसे अधिक आश्चर्यजनक पौधा है। पेंसिल की नोक अथवा उँगली द्वारा स्पर्श करने पर यह पिंजड़ा बंद नहीं होता, किंतु कीड़ा बैठते ही वह कसकर बंद हो जाता है।
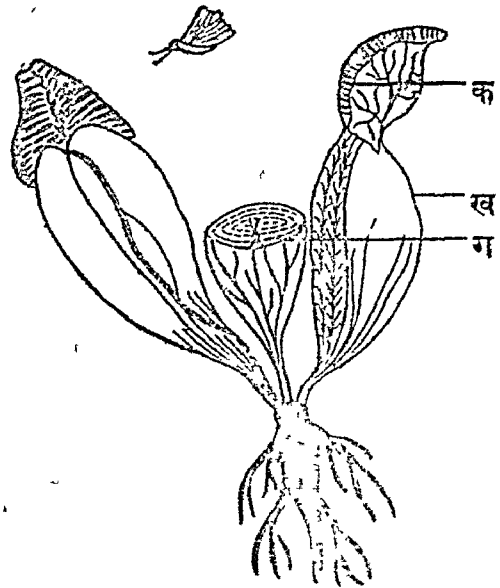
चित्र ४. सरसैनिया (Sarsainiya)
क. कीड़े को नीचे ढकेलनेवाले बाल; ख. सुराही; ग. पानी मे डूबता हुआ कीड़ा।

(४) **घटपर्णी पौधे** (Pitcher plants)—इन पौधों के पत्ते पूर्ण रूप में या उनका कुछ भाग सुराही के आकार का होता है, जिसकी लंबाई एक इंच से एक फुट तक देखी गई है। भारत में दो प्रकार के सुराहीवाले पौधे पाए जाते हैं

(क) **सरसैनिया** (Sarsainiya)—इसमें पूर्ण पत्ता सुराही में परिणत हो जाता है और उसमें पानी भरा रहता है। सुराही के ऊपरी भाग पर नीचे की ओर मुड़े हुए कई बाल रहते हैं। मधु के लालच में कीड़ा सुराही पर आकर बैठ जाता है और सुराही में फिसल जाता है। बाहर निकलने का प्रयत्न करने पर सुराही के मुँह पर लगे हुए बाल उसे फिर से अंदर ढकेल देते हैं। सुराही के पानी में डूबकर कीड़ा मर जाता है और पाचक रस द्वारा उसका शोषण होता है। दूर से दिखनेवाली मधु की सुराही वास्तव में कीड़े के लिये मौत की सुराही रहती है (चित्र ४)।

(ख) **नेपेंथीस** (Nepenthes)—इस पौधे में पत्ते का ऊपरी हिस्सा सुराही के आकार का होता है और इसके मुँह पर ढक्कन रहता है।
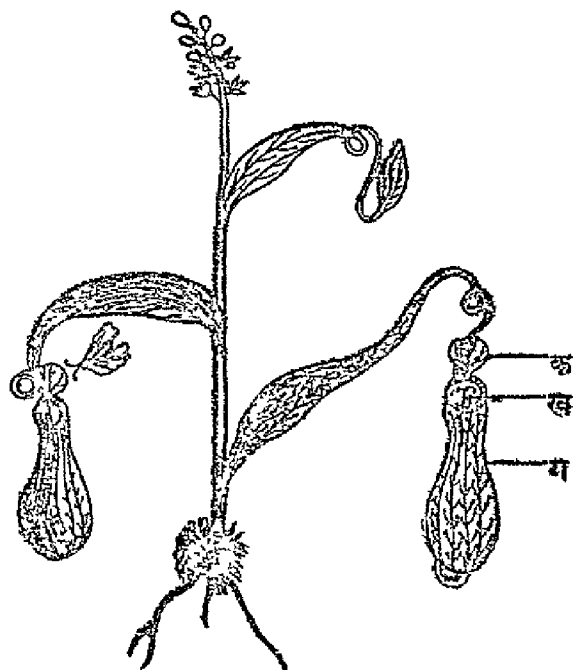
चित्र ५. नेपेंथिस (Nepenthis)

क ढक्कन, ख पकड़ा गया कीड़ा, ग सुराही।

सुराही की परिधि से एक तरल पदार्थ निकलता रहता है जो कीड़ों को आकर्षित करता है। बैठते ही कीड़ा अंदर फिसल जाता है और वहाँ मर जाता है। सुराही के अंदर के बैक्टीरिया उसे सड़ाते हैं और तब वह पौधों द्वारा शोषित हो जाता है (चित्र ५)। (अ० वि० सी०)

कीटोन वे कार्बनिक यौगिक हैं जिनमें कार्बनिल समूह होता है और जिनका सामान्य सूत्र R–CO–R′ होता है। यदि R तथा R′ एक ही मूलक हों तो कीटोन का सरल कीटोन और यदि R तथा R′ विभिन्न मूलक हों तो उसे मिश्रित कीटोन कहते हैं। सरल कीटोन का सबसे साधारण उदाहरण ऐसीटोन है जो कार्डाइट नामक विस्फोटक पदार्थ बनाने में विलायक के रूप में प्रयुक्त होता है। मिश्रित कीटोन का साधारण उदाहरण ऐसीटोफीनोन है, जो ह्पिनोन के नाम से नींद लानेवाली दवा के रूप में प्रयुक्त होता है।

बनाने की विधियाँ—(१) द्वितीयक ऐलकोहलों के आक्सीकरण से, (२) उष्मा या उत्प्रेरकों की सहायता से द्वितीयक ऐलकोहलों के विहाइड्रोजनीकरण से, (३) कार्बनिक अम्लों के कैल्सियम लवणों के शुष्क आसवन करने से। इसके लिये थोरिआ, जिरकोनिआ या मैंगनस आक्साइड का ४००–४५०° सें० पर उपयोग होता है, (४) ऐसीटिलीन यौगिकों को तनु सल्फ्यूरिक अम्ल तथा मरक्यूरिक सल्फेट की उपस्थिति में जलयोजित करने से R–C≡CH → $RCOCH_3$, (५) नाइट्राइल, एस्टर या अम्ल क्लोराइड पर ग्रीनयार्ड अभिकर्मक की क्रिया से, (६) कार्बनिक यौगिकों में उपस्थित $-CH_2-$ मूलक का –CO– में सिलीनियम डाइऑक्साइड या क्रोमिक अम्ल द्वारा आक्सीकरण करने से, (७) फ्रीडेल क्राफ्ट की अभिक्रिया से, (८) अम्ल क्लोराइडों के रोजेनमुंड विधि द्वारा अवकरण से, (९) शृंखला के बीच एक ही कार्बन में संयुक्त दो हैलोजन परमाणुओंवाले यौगिकों के जलविश्लेषण से।

सामान्य अभिक्रियाएँ—कार्बनिल समूह कीटोनों के अतिरिक्त ऐल्डिहाइडों में भी होता है। अंतर केवल इतना है कि ऐल्डिहाइडों R′ के स्थान पर हाइड्रोजन होता है। इसीलिये इन दो वर्गों के यौगिक आपस में पर्याप्त समानता प्रदर्शित करते हैं। सोडियम तथा ऐलकोहल द्वारा अवकरण करने पर कार्बनिल, >CO, समूह द्वितीयक ऐलकोहल, >CHOH, में बदल जाता है। कीटोन के कैथोड अवकरण से प्राप्त पदार्थ पिनेकोल कहलाते हैं। जिंक या ऐल्यूमिनियम सरस (Amalgam) तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल कार्बनिल समूह का $-CH_2-$ में अवकरण कर देते हैं। ऐल्यूमिनियम ऐलकाक्साइड, लिथियम या ऐल्यूमिनियम हाइड्राइड या सोडियम बोरोहाइड्राइड जैसे कुछ नए अपचायक कार्बनिल समूह का तो >CHOH में अवकरण कर देते हैं, परंतु यौगिक में उपस्थित अन्य अवकृत हो सकनेवाले समूहों पर इनका कुछ प्रभाव नहीं होता। कीटोनों का आक्सीकरण करने से अम्लों के मिश्रण प्राप्त होते हैं पर प्रत्येक अम्ल में कार्बन परमाणुओं की संख्या कीटोन के कार्बन परमाणुओं की संख्या से कम होती है। सोडियम बाइसल्फाइट, या हाइड्रोजन सायनाइड, के साथ ये योगशील यौगिक बनाते हैं। फेनिल हाइड्राजीन (या इसके व्युत्पन्न), हाइड्रॉक्सिल ऐमिन, सेमिकार्बाजाइड आदि पदार्थों के साथ अभिक्रिया करके कीटोन हाइड्रोजोन, आक्सिम या सेमिकार्बाजोन बनाते हैं।

वे कीटोन जिनमें दो कार्बनिल समूह होते हैं द्वि-कीटोन कहलाते हैं। यदि ये पास पास हुए, जैसे द्विऐसीटिल CH_3 COCO CH_3 में, तो इनको ऐल्फा द्विकीटोन कहते हैं। यदि इनके बीच में एक कार्बन हुआ, जैसे ऐसीटिल ऐसीटोन, CH_3 CO CH_2 CO CH_3 में तो इनको बीटा-द्वि किटोन कहते हैं और यदि बीच में दो कार्बन हुए, जैसे ऐसीटोनील ऐसीटोन, CH_3 CO CH_2 CH_2 CO CH_3, में तो इनको गामा-द्वि-कीटोन कहते हैं। बीटा-द्वि-कीटोन तथा बीटा-किटोनिक-एस्टर, जैसे ऐसीटोऐसीटिक एस्टर, अनेक प्रकार के कार्बनिक यौगिकों के संश्लेषण में विशेष महत्व रखते हैं।

कुछ चक्रीय कीटोन, जिनमें कार्बन की संख्या अधिक होती है, जैसे सिवेटोन या मसकोन, सुगंधित पदार्थ बनाने के काम आते हैं। मसकोन में मुश्क की गंध होती है। वनस्पति वर्ग से प्राप्त कुछ कीटोन विशेष महत्व रखते हैं। ऐसे कुछ कीटोन पाइरेथ्रम (Pyrethrum) से तथा डेरिस इलिप्टिका (Derris elliptica) से प्राप्त होते हैं और इनका उपयोग कीटाणुनाशक पदार्थों के रूप में किया जाता है।

सं०ग्रं०—ऐल्सीवियर एनसाइक्लोपीडिया ऑव केमिकल टेक्नॉलोजी, थॉर्प डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री, रिक्टर केमिस्ट्री ऑव कार्बन कंपाउंड्स, हाइलब्रोन डिक्शनरी ऑव कार्बन कंपाउंड्स।

(रा० दा० ति०)

कीट्स, जॉन (१७९५–१८२१ ई०) अंगरेजी के सुविख्यात कवि। ३१ अक्टूबर, १७९५ को लंदन में एक अश्वशालापालक के घर जन्म। १८०३ से १८११ ई० तक एन्फील्ड स्थित क्लार्क विद्यालय में छात्र रहे। पश्चात् एडमाटन के एक शल्यशास्त्रज्ञ की देखरेख में चिकित्सा विज्ञान सीखने लगे। अध्ययन समाप्त करने के उपरांत कुछ वर्ष तक वे लंदन के अस्पतालों में प्रयोगात्मक चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन करते रहे। चिकित्सा शास्त्र की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने पर उन्हें लंदन के दो अस्पतालों में प्रमाणपत्र मिले। किंतु कीट्स की नैसर्गिक रुचि चिकित्सा

में नही, काव्यरचना में थी। उनकी ले हंट से मैत्री हुई। उन्होंने उनका शैली, हैज़लिट तथा वर्ड्स्वर्थ से परिचय कराया।

कीट्स का प्रथम काव्यसंग्रह 'पोएम्स बाई जॉन कीट्स' के नाम से १८१७ मे प्रकाशित हुआ। अगले वर्ष उनकी 'एंडिमियन' नामक कविता प्रकाशित हुई जिसकी 'ब्लैकवुड' तथा 'क्वार्टर्ली' पत्रिकाओं में लोकहार्ट तथा क्रोकर ने अत्यंत कटु आलोचना की। इसे पढकर कीट्स को बड़ा आघात लगा, किंतु शीघ्र ही उनका स्वाभाविक आत्मविश्वास पुन: जाग्रत हुआ और उन्होंने कहा, 'मेरा विश्वास है कि मैं अपनी मृत्यु के पश्चात् अंग्रेजी कवियों के मध्य रहूँगा।' उनकी यह आत्मालोचना सत्य सिद्ध हुई।

कीट्स के लिये काव्य ही एकमात्र व्यवसाय था। अपनी प्राणनाशक बीमारी के पूर्व इन्होंने अपने एक पत्र मे लिखा था, 'मैं काव्य के बिना जीवित नहीं रह सकता—शाश्वत काव्य के बिना।' इसी काव्यनिष्ठा से उन्हें अंत में प्रतिकूल परिस्थितियों तथा कुंठा के वातावरण पर विजय प्राप्त हुई। किंतु इसी बीच इनका स्वास्थ्य सर्वथा बिगड़ गया। इसके कारण थे—इनकी आर्थिक चिंता, अनुज की राजयक्ष्मा रोग से अकाल मृत्यु तथा इनका फ़ैनी ब्रॉन नामक युवती से प्रेम। सन् १८२० मे इनका अंतिम कवितासंग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें 'लेमिया', 'आइजाबेला', 'दि ईव ऑव सेंट एग्नीज' तथा अन्य सुप्रसिद्ध कविताएँ थीं। इसी वर्ष उन्हें राजयक्ष्मा हो गया और वे डाक्टरों की सलाह पर इटली गए। जहाज पर उन्होंने अंतिम कविता, 'ब्राइट स्टार' नामक चतुर्दशपदी लिखी। २३ फरवरी, १८२१ ई० को अत्यधिक रुधिरस्राव के कारण रोम में उनका स्वर्गवास हो गया और उनका शव रोम के प्रसिद्ध प्रोटेस्टेंट श्मशान में दफ़ना दिया गया। इनकी समाधि पर इन्ही का लिखा हुआ समाधिलेख अंकित है—'इस गर्त में एक ऐसा पुरुष निविष्ट है जिसका नाम विधाता ने जल पर लिखा था।' कीट्स को काव्यसृष्टि के लिये केवल चार वर्ष मिले थे; इस अल्पकाल में ही उन्होंने ऐसी रचनाएँ की जो अमर रहेंगी। 'लेमिया', 'आइजाबेला' तथा 'दि ईव ऑव सेंट एग्नीज' इनकी अत्यंत उच्च कोटि की कथात्मक कविताएँ हैं। मिल्टन के महाकाव्य के बाद उनके अपूर्ण महाकाव्य 'हाइपीरियन' को ही महत्व दिया जाता है। इनकी चतुर्दशपदियाँ शेक्सपियर एवं मिल्टन की चतुर्दशपदियों के समकक्ष मानी जाती हैं। 'बुलबुल के प्रति' एवं 'पतझड़ के प्रति' शीर्षक इनके 'ओड' संपूर्ण अंग्रेजी काव्य में अद्वितीय हैं। 'ला बेल डेम सेंस मर्सी' शीर्षक गेय कविता जो आल्हा काव्य की शैली में है, अद्भुत है। 'ईव ऑव सेंट मार्क्स' शीर्षक अपूर्ण कविता ने अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध 'प्रीरैफिलाइट' काव्यसंप्रदाय को अत्यंत प्रभावित किया। वस्तुतः इनकी काव्यप्रतिभा सर्वतोमुखी थी। कीट्स ने 'ऑथो दि ग्रेट' तथा 'किंग स्टीफन' नामक दो काव्यनाटक भी लिखे थे। इनमें से दूसरा अपूर्ण है। इसमें केवल चार ही दृश्य हैं, किंतु इसका स्वर इतना नाटकीय है, चरित्र-चित्रण इतना स्पष्ट है तथा इंग्लैंड की १२वीं शताब्दी के संघर्षात्मक जीवन का चित्र इतना सच्चा एवं सजीव है कि पाठकों के हृदय में शेक्सपियर के ऐतिहासिक नाटकों की स्मृति जागृत हो उठती है। इसी कारण आलोचकों की धारणा है कि यदि कीट्स दीर्घायु होते तो वे आगे चलकर नाटकरचना में भी अत्यंत उच्च स्थान प्राप्त करते।

कीट्स की सबसे बड़ी विशेषता उनकी सर्वव्यापक इंद्रियमूलकता है। उनकी चित्रोपम शैली अपूर्व थी। वे अतिकुशल कलाकार थे। वे सौंदर्य के उपासक थे, केवल पार्थिव सौंदर्य के नहीं, अपितु उस सौंदर्य के भी जो चिरंतन आनंद है, सर्वशक्तिमान् है, सनातन सत्य है। ये वस्तुतः इंग्लैंड के सर्वोत्तम सौंदर्य कवि हैं। कीट्स ने जो पत्र लिखे हैं वे भी अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं। वे उनके जीवन तथा काव्य को समझने के लिये अनिवार्य हैं। उनकी शैली सरल, सीधी तथा संलापप्रवण है और उनमें उन्होंने यथार्थ जीवन के अनेक तथ्यों तथा राजनीतिक समस्याओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

सं०ग्रं०—द कंप्लीट वर्क्स, एच० बी० फोरमैन द्वारा संपादित, ५ खंड, ग्लासगो; कंप्लीट पोएटिकल वर्क्स, एम० बी० फ़ोरमैन और एल० बेकन द्वारा संपादित, न्यूयॉर्क; द लेटर्स, एम० बी० फ़ोरमैन द्वारा संपादित, २ खंड, ऑक्सफ़ोर्ड; सर एस० कॉल्विन . जॉन कीट्स; एच० आई० ए० फ़ासेट : कीट्स, ए स्टडी इन डेवलपमेंट; एच० डब्ल्यू० गेरॉड : कीट्स, आक्सफोर्ड; टी० सेटो : कीट्स व्यू ऑव पोएट्री; द जॉन कीट्स मेमोरियल वाल्यूम, जी० सी० विलियम्सन द्वारा संपादित।

(वृ० मो० सा०)

कीड, थोमार्स (१५५८–१५९४ ई०)। अंग्रेजी का सुप्रसिद्ध नाटककार। इनको अंग्रेजी जनता के लिये समुचित रंगमंच और उसके उपयुक्त नाटक प्रस्तुत करने का श्रेय है। उनकी 'स्पेनिश ट्रेजडी' नामक रचना का विशेष महत्व है। कहा जाता है कि शेक्सपियर भी इनकी रचनाओं से प्रभावित थे। (प० ला० गु०)

कीतो एक्वाडॉर गणतंत्र की राजधानी, जो ऐंडीज पर्वत के उच्च शिखरों के बीच, पिचिंचा ज्वालामुखी से बने हुए 'ग्रेट सेंट्रल प्लेटो' के एक छोटे बेसिन पर ९,३४३ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इस नगर का नामकरण कीट्स जाति के आधार पर किया गया है जो वहाँ बहुत पहले से बसी हुई थी। यह प्रशांत महासागर के तट के प्रमुख पत्तन ग्वायाक्विल से २९७ मील लंबी रेलवे लाइन द्वारा संबंधित है। नगर का अधिकतर भाग आयताकार है तथा सड़कें कर्णाकार फैली हुई हैं। यह नगर अनेक बार भूकंप द्वारा क्षतिग्रस्त हुआ है। (नृ० कु० सिं०)

कीथ, सर आर्थर बेरीडेल (१८८९–१९४४ ई०)। संस्कृत वाङमय, विशेषतः वैदिक साहित्य, के अंग्रेज विद्वान्। इनके अंग्रेजी में लिखे तद्विषयक ग्रंथ प्रख्यात एवं प्रामाणिक माने जाते हैं। ये आक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय में मेकडॉनेल्ट के पश्चात् संस्कृत के प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुए थे। बाद में वे एडिनबरा विश्वविद्यालय में अध्यापक हुए। शिष्यत्व-काल में उन्होंने 'वैदिक इंडेक्स' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना में मेकडॉनेल्ड का सहयोग किया। इस ग्रंथ में वेदों के सभी विशिष्ट शब्दों तथा विषयों की वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। यह वैदिक शोध के विद्यार्थियों के लिये अपरिहार्य ग्रंथ है। उन्होंने तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण तथा आरण्यक आदि अनेक ग्रंथों का कुशल संपादन भी किया। इनके अतिरिक्त संस्कृत काव्य, नाटक, तत्वज्ञान तथा इतिहास पर भी उनके लिखे हुए ग्रंथ महत्वपूर्ण हैं। संविधान तथा प्रशासन से संबंधित समस्याओं पर भी उन्होंने पांडित्यपूर्ण तथा प्रामाणिक ग्रंथ लिखे जो अपनी दिशा में प्रामाणिक माने जाते हैं। (वि० कु० मा०)

कीन, सर जॉन (लॉर्ड कीन) प्रथम अफगान युद्ध के समय अंग्रेजी सेना के मुख्य सेनापति। उन्होंने अफगानिस्तान पर आक्रमण करके कंदहार, गजनी तथा काबुल पर अधिकार कर दोस्त मुहम्मद को हटाकर शाहशुजा को अफ़गानिस्तान का अमीर बनाया था। उन्होंने सिंध के अमीरों को भी अपने यहाँ अंग्रेजी सेना रखने और सिंध को अंग्रेजों के संरक्षण में करने पर बाध्य किया था। (मि० चं० पां०)

कीबो टैंगैन्यीका (अफ्रीका) में स्थित किलिमंजारो पर्वत का १९,५६५ फुट ऊँचा शिखर। यह अफ्रीका महादेश का सर्वोच्च स्थान है। यह एक ज्वालामुखी शंकु है जिसका मुख्य गर्त शांत है। उसका विवर, जिसका व्यास लगभग ६,००० फुट है, बर्फ तथा राख से ढका है। इसका लावा ढाल भी, २०० फुट मोटी बर्फ की परत से ढका हुआ है, जो सँकरी, गहरी घाटियों में हिमानी (ग्लेशियर) का रूप धारण कर लेती है। ज्वालामुखी की हिमानी की दीवारें दक्षिण की ओर अधिक ऊँची हैं। (नृ० कु० सिं०)

कीमिया सस्ती धातुओं से स्वर्ण सरीखी बहुमूल्य धातु बनाने की कला को कीमिया कहते है, परंतु इस शब्द का विस्तृत प्रयोग उन सभी ज्ञानभंडारों के लिये होता है जो प्रारंभिक तथा मध्ययुगीन रासायनिक अध्ययनों से संबंधित हैं। निम्न धातुओं में उच्च धातुओं के गुण लाने के विचार से शोधकार्य करने के कारण इस अवधि के अध्ययनों में धातुओं को

लंबी अवधि तक आग में गरम करने तथा उनपर विविध रासायनिक वस्तुओं के प्रभाव का अवलोकन, अथवा इसी प्रकार की साधारण तथा प्रारंभिक क्रियाओं का विवरण ही संमिलित है। अनेक ऐसी वस्तुओं के भी अध्ययन, जिनका चिकित्सा में महत्व है, अथवा तरह तरह की वस्तुओं पर स्थायी रंग चढ़ाने की विधियों के विकास का भी उल्लेख मिलता है। रसायन विज्ञान के प्रारंभिक विकासकाल का रासायनिक अध्ययन कीमिया में मिलता है।

वैसे तो अधिकांश आधिकारिक विवरण दुर्लभ है। जो कुछ भी सामग्री प्राप्त है उसमें किसी शोध का वैज्ञानिक विधि से विस्तारपूर्वक वर्णन अधिकतर नहीं मिलता। रासायनिक विश्लेषण का सामान्यतया अभाव होने के साथ साथ तरह तरह की सांकेतिक भाषा का भी उपयोग हुआ है। इन विवरणों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि इन कई सौ सालों की वैज्ञानिक खोज का लक्ष्य प्रायः पूर्णता की दिशा में था। जैसे, निम्न स्तर की धातु से उच्च कोटि की बहुमूल्य धातु प्राप्त करना, जीवन शक्ति को स्थायी करना, इत्यादि। इस लक्ष्य की प्राप्ति में अधिकांश कार्य अकेले अथवा विश्वासप्राप्त सहायकों की उपस्थिति में किए जाते थे। लोग अपने शोध की विधि को दूसरों से गुप्त रखने के लिये सतर्कता बरतते थे। फलस्वरूप नये शोधकों को वर्षों तक उन्हीं प्रारंभिक कार्यों में लगे रह जाना होता जो उनसे पहले कितने ही लोग कर चुके होते।

कीमिया की उत्पत्ति से संबंधित कई कथाएँ प्रचलित हैं, जैसे मिस्री देवता हेरमेस (Hermes) ने इस कला का आरंभ किया, अथवा स्वर्गदूतों (Angels) ने *उन स्त्रियों* को इस कला का ज्ञान दिया जिनसे उन्होंने विवाह कर लिए। सस्ती धातु से स्वर्ण में तत्वांतरण (Transmutation) के विचार का उदय संभवतः ईसा युग के प्रारंभिक काल में यूनानियों में हुआ। इसके चरितार्थ करने की संभावना उस समय की दार्शनिक विचारधारा और द्रव्य के प्रचलित सिद्धांत से पुष्ट हुई। इसी कारण इन विशुद्ध रासायनिक शोधों में दार्शनिक तत्वों तथा विचारों का संमिश्रण मिलता है।

ईसा के आसपास भारत में नागार्जुन ने अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं की खोज की थी। ऐसा कहा जाता है कि निम्नकोटि की धातुओं को सोने (स्वर्ण) में परिवर्तित करने में उन्होंने सफलता प्राप्त कर ली थी। उनके द्वारा आविष्कृत 'जारण मारण' और 'तिर्यक् पातन क्रिया' आज भी विख्यात है। रस चिकित्सापद्धति को नागार्जुन ने ही प्रचारित किया था।

पिछली शताब्दी तक तत्व तथा इनसे रासायनिक यौगिकों के बनने के नियम तथा इनके गुण के भेद का ज्ञान भली भाँति हो गया था और धातुओं से, जो रासायनिक तत्व हैं, परिवर्तन द्वारा दूसरा ही तत्व प्राप्त करने की संभावना हास्यास्पद मालूम होती थी। पर इस शताब्दी में यह परिवर्तन सिद्धांत रूप में संभव है, यद्यपि इस नाभिक (nuclear) क्रिया के लिये अपार शक्ति की आवश्यकता है। आज की तुलना में कीमिया युग के वैज्ञानिकों के साथ में केवल कोयला, लकड़ी अथवा उपला जलाने से प्राप्त साधारण उष्मा ही शक्ति थी। इसके उपयोग से केवल रासायनिक यौगिकों की ही उत्पत्ति हो सकती है। उन प्रयत्नों के आधार को समझने के लिये उस समय के विज्ञान से परिचित होना आवश्यक है। जैसा ज्ञात है, इन विषयों से संबंधित सैद्धांतिक विज्ञान के प्रणेता यूनानी थे और उनके इन *सिद्धांतों तथा परिकल्पनाओं का विस्तार उन सभी जगहों* में हुआ जहाँ जहाँ कीमिया के ये अध्येता गए। सिकंदरिया (Alexandria) बिजांतियम (Byzantium), अरब देश तथा यूरोप में विद्वानों ने पदार्थ तथा उनकी रासायनिक क्रियाओं के उन यूनानी सिद्धांतों को अपनाया जो प्रा भ में प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) तथा अन्य लोगों ने प्रतिपादित किए थे। ये सिद्धांत द्रव्य (matter), आकार (form) तथा स्पिरिट (*spirit*) पर *आधारित थे।* इन शब्दों का अर्थ इस समय एकदम दूसरा ही माना जाता है। जैसे लोहा तथा मोर्चा आज भिन्न प्रकार के पदार्थ हैं, परंतु उन यूनानी सिद्धांतों के अनुसार पदार्थ दोनों में एक ही है, केवल 'आकार' का अंतर है। आकार से अब ज्यामिति का रूप समझा जाता है, परंतु उस समय संभवतः आकार से वही अर्थ समझा जाता था जो अब गुणधर्म से बोध होता है। स्पिरिट का अर्थ अब या तो किसी उड़नशील वस्तु के वाष्प, अथवा देहरहित जीव से माना जाता है, परंतु उस समय उसका अर्थ विशेषकर श्वास (Breath) माना जाता था, जो वाष्प अथवा आत्मा के लिये प्रयुक्त होता था। वस्तुएँ भी जीवित प्राणियों की भाँति मानी जाती थीं, जिनमें एक तो जीवित देह है तथा दूसरी जीवन शक्ति। अतः जब लोहे से मोर्चा बनता है तो इस क्रिया में जो अंश बदलता है वह 'आकार' है और जो अंश अपरिवर्तित रह जाता है वह 'पदार्थ' है। अरस्तू के अनुसार अंतिम विश्लेषण पर केवल एक ही 'पदार्थ' मिलता है जो अनेक आकार (रूप) धारण करता है। अतः मौलिक वस्तु में किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है, केवल आकार अथवा रूप बदल सकता है। किसी भी वस्तु को अति सरल 'पदार्थ' में परिवर्तित कर फिर उसे दूसरा आकार दिया जा सकता है। इस विचार से ताँबा और स्वर्ण में अंतर केवल 'आकार' का है। यदि ताँबे को गंधक के साथ गरम करें, या सल्फाइड के विलयन से क्रिया करें, तो ताँबे का धात्विक 'आकार' नष्ट हो जाता है, जिसे वे उसकी मृत्यु समझते थे। अब काले कापर सल्फाइड में दूसरा, अर्थात् स्वर्ण का आकार दिया जाय तो स्वर्ण प्राप्त होगा, जहाँ पहले स्वर्ण नहीं था।

प्रकृति में जिस प्रकार मिट्टी, गर्मी, बीज तथा श्वास द्वारा पौधों की उत्पत्ति होती है, ऐसी ही समान विधि के अनुसरण से स्वर्ण पाने का विचार आरंभिक काल के वैज्ञानिकों का था। इनमें पहले दो तो धातु का आकार बदलकर और गरम करने से प्राप्त होते थे। बीज तथा श्वास के विषय में बहुत विचार प्रकट किया गया है और 'लाल, पीला अथवा *श्वेत' पारस पत्थर (Philosopher's stone) की सहायता से* स्वर्ण या रजत बनाया जा सकता है। इस कार्य के लिये, जैसा अन्य प्राकृतिक परिवर्तनों में माना गया है, ग्रहों तथा दैवी कृपा की आवश्यकता बताई गई है। इसमें महत्वपूर्ण 'श्वास' जिसे प्राण समझा जाता है, कई नामों से संबोधित किया गया है, जैसे यूनानी न्यूमा (Pneuma), लैटिन स्पिरिटस (Spiritus)। स्टोइको (Stoico) तथा हर्मेटिको (Hermetico) के दर्शन में इस 'श्वास' को अरस्तू से अधिक महत्व दिया गया है। यह विश्वास किया जाता था कि ये श्वास न केवल मिट्टी से मिलकर धातु बनाते हैं, वरन् सभी प्राकृतिक परिवर्तनों के संचालन में मूल कार्य करते हैं।

जोसिमस (Zosimus) के, जो स्वयं कीमिया का प्रसिद्ध अध्ययनकर्ता था, लेखों तथा प्रारंभिक काल के विशेष प्रकार के कागज पर लिखित वर्णनों (Papyri) से कुछ अन्य महत्वपूर्ण उपायों का ज्ञान होता है, जो उस समय वस्तु को स्वर्ण अथवा रजत के सदृश बनाने के लिये उपयोगी थे। इनमें लेडन (Leyden) तथा स्टाकहोम (Stockholm) के पापइरी (Papyri) मुख्य हैं। इनके लेखकों का पता नहीं है। वैसे तो मिस्र देश में विशेष सामग्री को सोने की पतली चादर से मढ़ने का परिचलन था ही। इसके अतिरिक्त पापइरी से उन विधियों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनके द्वारा यथार्थ में नकली स्वर्ण, रजत, बहुमूल्य पत्थर तथा रंग इत्यादि बनाया जाता था। इनमें न केवल स्वर्ण में सस्ती धातु मिलाकर उसका (उच्च गुण के ह्रास के साथ) परिमाण बढ़ाने के ढंग का ही वर्णन है, वरन् ऐसे मिलावटी स्वर्ण की वस्तु में शुद्ध स्वर्ण ऐसी चमक लाने का संकेत भी है। ऐसी वस्तुओं को लोहे के सल्फेट, फिटकरी और अन्य लवणों के साथ गरम करने पर तथा निम्न धातु के निकल जाने पर शुद्ध स्वर्ण की पतली सतह रह जाती है, जो तत्पश्चात् पालिश करने से विशुद्ध स्वर्ण से निर्मित ज्ञात होती है। स्वर्ण तथा पारे के संरस (amalgam) या दूसरी प्रकार की वार्निश का भी उपयोग होता था। इसी प्रकार ताँबे को सिरके में रखने के बाद कुछ विशेष लवणों तथा चाँदी के साथ पिघलाने पर रजत ऐसी सतह प्राप्त होती थी। इन क्रियाओं में संभवतः सतह पर चाँदी, ताँबा, आर्सेनिक इत्यादि की मिश्रित धातु बनने से वह सफेद दिखलाई पड़ती थी।

कीमिया संबंधी अधिक कार्य पश्चिम में ही हुआ। अरब जगत् में इस कला के विशेष विस्तार के कारण कुछ लेखों में इसे 'काली धरती की

कला' अथवा 'मिस्री कला' कहा गया है। अरब राज्य के फैलाव के साथ साथ स्पेन, फ्रांस तथा दूसरे देशों में भी इस कला में लोगों की रुचि जागृत हुई। इनके कार्यों का विवरण अधिकतर लैटिन भाषा में प्राप्त है। चिकित्सा के निमित्त उपयोग आरंभ होने के साथ ही इस कला में नई चेतना तथा नवीन क्षेत्र प्राप्त हुआ। प्रारंभिक काल के विद्वानों, डिमॉक्रिटस (Democritus) अथवा जोसिमस (Zosimus) से लेकर जाबिर, (Jabir) तक तथा तत्पश्चात् १६वीं शताब्दी तक के वैज्ञानिकों में इस कला के लिये रुचि बनी रही।

इन विषयों में बहुत से लेख ऐसे लोगों द्वारा भी लिखे गए हैं जो अधिक काल बाद हुए और जिन्हें कीमिया का उतना अनुभव नहीं था जितना उन विद्वानों को था जिनके नाम से ये लेख प्रकाश में आए। यह संभवतः लिखित सामग्री का मूल्य बढ़ाने के लिये ही किया गया था। इन लेखों में भट्ठी, आसवन के पात्र तथा दूसरे आवश्यक संयंत्रों का विस्तृत विवरण मिलता है। ये इस काल में आविष्कृत हुए तथा विविध प्रकार से कार्यविशेष के लिये परिष्कृत किए गए। वैसे तो इन लेखों में सोने के लिये सूर्य, रजत के लिये चंद्रमा तथा इसी प्रकार गंधक, पारा, ताँबा इत्यादि के लिये विभिन्न संकेतों का विस्तृत उपयोग होता था, पर इनमें विशेषता इस बात की थी कि रासायनिक क्रियाएँ भी चित्र द्वारा उपस्थित की जाती थीं।

चीन में कीमिया का अध्ययन साधारण स्वर्ण धातु के बनाने के लिये नहीं, वरन् ऐसे 'स्वर्ण' को, जो जीवन को स्थायित्व प्रदान करे, प्राप्त करने के विचार से हुआ। मुख्य लक्ष्य अमर बनाने का ही था और प्रसिद्ध वैज्ञानिक वी पो-यांग (Wei po-yang) की कथा, जो अपने छात्रों सहित पर्वत पर 'ऐसी ही वस्तु' प्राप्त करने गया था, बहुत प्रचलित है। चीनी दर्शन ताओ-सिद्धांत (Taoism) के अनुसार स्वयं को 'ताओ रचना' (way of the universe) के अनुरूप करने पर मृत्युरहित हुआ जा सकता है। परंतु जो यह नहीं कर सकते उनके लिये सरल उपाय जीवन शक्ति (lieutan) की ओषधि है। चीनी सिद्धांत के अनुसार पदार्थ क्रियाशील नरतत्व 'यांग' (yong) तथा अक्रियाशील स्त्रीतत्व 'यिन' (yin) होते हैं। 'यांग' के अधिक होने से जीवन चिरस्थायी होता है। इस क्रियाशीलता के लिये प्रारंभ में तो पारे का लाल सल्फाइड तथा स्वर्ण अधिक विख्यात थे। परंतु बाद में ऐसी ओषधि (elixir) बनाने का प्रयत्न हुआ जो चिरस्थायित्व प्रदान करे।

सं०ग्रं०—एफ़० शेरउड टेलर : द ऐल्केमिस्ट फाउंडर्स ऑव मॉडर्न केमिस्ट्री। (वि० वा० प्र०)

कीर्तन वैष्णव संप्रदाय में ईश्वरोपासना की संगीत-नृत्य समन्वित एक विशेष प्रणाली। इसके प्रवर्तक देवर्षि नारद कहे जाते हैं। प्रह्लाद, अजामिल आदि ने इसके द्वारा ही परम पद प्राप्त किया था। मीराबाई, नरसी मेहता, तुकाराम आदि संत भी इसी परंपरा के अनुयायी है।

कीर्तन का विकास मुख्य रूप से बंगाल में हुआ। वहाँ कीर्तन का संकेत पाल नरेशों के समय से ही मिलता है, किंतु इसका चरम विकास महाप्रभु चैतन्य के समय में ही हुआ। कृष्ण नाम को आधार बनाकर मृदंग अथवा करताल के ताल पर भक्तिपूर्ण गीतों के गायन के साथ भावोन्मत्त होकर नाचना इसकी विशेषता है। बंगाल की इस कीर्तन प्रणाली के चार मुख्य रूप है : (१) गरनहाटी—इसका प्रचलन नरोत्तमदास कवि ने किया, जो स्वयं एक बड़े गायक थे। इनके कीर्तन में वृंदावन की भक्ति का रंग चढ़ा हुआ है। उन्होंने १५८४ ई० में अपने मूल स्थान में एक बड़ा वैष्णव मेला बुलाया जिसमें चैतन्य महाप्रभु के भक्त श्रीनिवासाचार्य और श्यामानंद भी संमिलित हुए थे। यह मेला सात दिनों तक होता रहा। इस मेले में कीर्तन ने स्वाभाविक क्रम में अपना एक निजी रूप धारण कर लिया और उससे लगभग सारा बंगाल प्रभावित हुआ। (२) मनोहरशाही—पंद्रहवीं शती में कीर्तन की अनेक पद्धतियों के संयोग से गंगानारायण चक्रवर्ती ने इस रूप को विकसित किया और इसमें चंडीदास और विद्यापति के पदों का विशेष महत्व है। कीर्तन के अन्य दो उल्लेखनीय रूप हैं रेनेती और मंदरणी। बंगाल के इन कीर्तन स्वरूपों से ही असम के मणिपुरी नृत्य और मिथिला के कीर्तनिया नाटक का विकास हुआ है (द्र० मैथिली भाषा और साहित्य)।

महाराष्ट्र में कीर्तन की एक सर्वथा भिन्न और व्यवस्थित पद्धति है। वहाँ कीर्तनकार हरिदास कहे जाते हैं और वे विशेष प्रकार के वस्त्र पहनकर खड़े होकर करताल के ताल पर कीर्तन करते हैं। इस कीर्तन के दो अंग होते हैं—पूर्व रंग और उत्तर रंग। पूर्व रंग में हरिदास पहले मंगलाचरण स्वरूप गणपति अथवा अन्य देवताओं का स्तवन करता है। उसके बाद वह एक आध ध्रुपद अथवा भजन गाता है। तदनंतर संतों के अभंग अथवा पदों के आधार पर भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि पारमार्थिक विषयों का, निरूपण करता है। इसमें गीता, पंचदशी, ज्ञानेश्वरी, तुकाराम की रचनाओं आदि से उद्धरण देकर वह पूर्व रंग का संयोजन करता है। इसके पश्चात् एक आध भजन होता है तदनंतर उत्तर रंग के रूप में रामायण, महाभारत अथवा पुराणों से आख्यान होता है। अंत में अभंग गायन से कीर्तन का समापन होता है। ये कीर्तन विशेष पर्वो पर मुख्यतः मंदिरों में होते हैं।

(२) कर्णाटक भक्ति संगीत का एक प्रकार। इसके दिव्यनाम, उत्सव संप्रदाय, मानस पूजा और संक्षेप रामायण नामक चार रूप हैं। पल्लवी, अनुपल्लवी और चरण उसके भाग हैं।

(३) संस्कृत शिल्प साहित्य में प्रासाद और देवालय का पर्याय। इस रूप मे इसका प्रयोग अग्निपुराण के 'देवालय निर्मिति' नामक अध्याय और आर्यशूर के जातक माला म भी हुआ है। इलोरा के कैलास मंदिर के अभिलेख मे भी 'कीर्तन' शब्द का यही अभिप्राय है।

(प० ला० गु०)

कीर्तिपुर नेपाल में पाटन से तीन मील पश्चिम एक गोलाकार पर्वत पर स्थित प्राचीन नगर। यह चारों ओर मजबूत प्राचीर से घिरा हुआ है। यह मूलतः नेवार राजवंश की राजधानी था। १७६५ ई० में गोरखा नरेश पृथ्वीनारायण देव ने नेवार नरेश को हराकर इस नगर पर अधिकार कर लिया और पराजित नेवार जाति के सभी स्त्री-पुरुषों की नाकें काट डाली गयीं। इस कारण इस नगर को नकटापुर भी कहते है। आज यह एक कस्बा मात्र रह गया है। यहाँ कई दर्शनीय प्राचीन अवशेष हैं। उनमें एक १५१३ ई० का बना बाघ भैरव का मंदिर और १६६५ ई० में शेरिस्ताँ नेवार का बनवाया हुआ गणेश मंदिर उल्लेखनीय हैं। यहाँ चिलनदेव नामक एक बौद्ध मंदिर भी है। (प० ला० गु०)

कीर्तिलता मैथिल कवि विद्यापति का अवहट्ठ भाषा में रचित प्रसिद्ध काव्य जिसकी रचना उन्होंने १४०२ या १४०४ ई० के आसपास की थी। इसमें उन्होंने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह द्वारा तिरहुत का सिंहासन प्राप्त किए जाने का वर्णन किया है। लक्ष्मण संवत् २५२ में असलान नामक सुलतान ने तिरहुत नरेश गणेश्वर का वध कर दिया। राजा के वध के पश्चात् जब मिथिला की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का ह्रास हुआ तब कीर्तिसिंह और उनके भाई वीरसिंह जौनपुर के सुलतान इब्राहीम शाह से सहायता माँगने गए। इब्राहीम शाहसेना लेकर तिरहुत के उद्धार के लिये चले पर बीच में ही उन्हें दूसरे युद्ध में चला जाना पड़ा। उस युद्ध की समाप्ति पर उन्होने तिरहुत पर आक्रमण किया और असलान पराजित हुआ। कीर्तिसिंह ने उसे प्राणदान दिया। कीर्तिसिंह को राज्य प्राप्त हुआ और उत्सव मनाया गया।

यह तत्कालीन प्रचलित चरितकाव्यों से तनिक भिन्न शैली में लिखा गया है। इसमें पद्य के साथ साथ अलंकृत गद्य भी है। विद्यापति ने अपनी इस रचना को 'कहाणी' कहा है। (प० ला० गु०)

कीर्तिवर्मा (प्रथम) बादामी के चालुक्य वंश के नरेश। पुलकेशी प्रथम के पुत्र और उत्तराधिकारी थे। उन्होंने ५६६ ई० से ५६७ ई० तक राज्य किया और कई दृष्टियों से उन्हें चालुक्यों की राजनीतिक

शक्ति का संस्थापक कहा जा सकता है। कदंबों को हराकर उनके कुछ प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया तथा कोंकण स्थित मौर्यों एवं बेल्लारी तथा कुर्नूल के पास स्थित नलों को पराजित किया। यह भी कहा जाता है कि उनकी विजयी सेना ने उत्तर में बिहार और बंगाल तक तथा दक्षिण में चोल और पांड्य क्षेत्रों तक प्रयाण किया था। किंतु कदाचित् यह अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा है।

कीर्तिवर्मा (द्वितीय) चालुक्यों के अवनतिकाल के शासक। उनका राज्यकाल ७४४-५ से ७५४-५ ई० तक माना जाता है। उन्हें पांड्यों की उठती हुई शक्ति का सामना करना पड़ा था। पांड्यराज राजसिंह प्रथम से उनका संघर्ष हुआ; पांड्यराज की विजय हुई। इस प्रकार दक्षिण में चालुक्यों को पांड्यों के संमुख दबना पड़ा। इसी प्रकार उत्तर में उन्हें राष्ट्रकूटों का भी सामना करना पड़ा। राष्ट्रकूट चालुक्यों को अपनी संप्रभु शक्ति के रूप में स्वीकार करते आ रहे थे, किंतु दंतिदुर्ग के समय उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ बढ़ गईं। दंतिदुर्ग ने माही, नर्मदा और महानदी के कूलों को अपना विस्तारक्षेत्र बनाया और अपने को दक्षिणापथ का स्वामी (सम्राट्) घोषित कर दिया। कीर्तिवर्मा द्वितीय को हराकर उसने वादामी (वातापीपुर) छीन लिया। इस प्रकार साम्राज्य शक्ति चालुक्यों के हाथों से निकल कर राष्ट्रकूटों के हाथ चली गई।

कीर्तिवर्मा (चंदेल) कालंजर का चंदेल नरेश देववर्मा का छोटा भाई और विजयपाल का पुत्र जिसने १०६० से ११०० ई० तक शासन किया। कीर्तिवर्मा के पूर्व चंदेलों की राजनीतिक संप्रभुता चली गई थी, उन्हें कलचुरि शासक लक्ष्मीकर्ण के आक्रमणों के सामने अपमानित होना पड़ा था। कीर्तिवर्मा ने अपने सामंत गोपाल की सहायता से लक्ष्मीकर्ण को हराया। कृष्ण मिश्र रचित प्रबोधचंद्रोदय नामक संस्कृत नाटक में चेदिराज के विरुद्ध गोपाल के युद्धों और विजयों का उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि गोपाल ने 'नृपतितिलक' कीर्तिवर्मा को पृथ्वी के साम्राज्य का स्वामी बनाया तथा उनके 'दिग्विजयव्यापार' में शामिल हुआ। चंदेलों के अभिलेखों से भी लक्ष्मीकर्ण के विरुद्ध कीर्तिवर्मा की विजयों की जानकारी प्राप्त होती है। किंतु दोनों के बीच हुए युद्ध का ठीक ठीक समय निश्चित नहीं किया जा सका है। (वि० पा०)

कीर्तिस्तंभ

कीर्तिस्तंभ कीर्ति शब्द का अर्थ प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में यश के अतिरिक्त निर्माण कार्य के लिये भी हुआ है। अमरकोश के टीकाकार भानुजी दीक्षित ने कीर्ति शब्द की व्याख्या 'कीर्तिः प्रसाद यशसोर्विस्तारे कर्दमेऽपि च' किया है। हेमचंद्र के अनेकार्थसंग्रह में भी 'कीर्तिः यशसि विस्तारे प्रासादे कर्दमेऽपि च' दिया गया है। इस प्रकार कीर्ति शब्द का प्रयोग यश तथा यश को विस्तृत करनेवाले किसी भी निर्माण कार्य के लिये हुआ है। अभिलेखों में भी वापी, बौद्ध अथवा हिंदू मंदिर, तड़ाग, चैत्य, और बौद्ध मठ तथा मूर्तियों आदि के लिये कीर्ति शब्द का प्रयोग पाया जाता है। कीर्तिस्तंभ शब्द कीर्ति शब्द से जुड़ा हुआ है; इसका अर्थ विजयस्तंभ समझा जाता है। विजयस्तंभ बनवाने की परिपाटी प्राचीन है। मिस्र, बाबुल, असूरिया तथा ईरान की प्राचीन सभ्यताओं के सम्राटों ने अपनी विजयों की प्रशस्तियाँ सदा स्तंभों पर उत्कीर्ण कराई थीं। भारत में यह प्रथा संभवतः गुप्त सम्राटों ने प्रचलित की। इनसे पूर्व के अशोक के जो स्तंभ हैं वे कीर्तिस्तंभ न होकर उसके धर्मादेशों के उद्घोष हैं।

भारत के कीर्तिस्तंभों में अबतक ज्ञात प्राचीनतम वह स्तंभ है जिसपर गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति है। इस स्तंभ पर मूलतः अशोक का अभिलेख था। उसी स्तंभ का प्रयोग समुद्रगुप्त के कीर्तिवर्णन के लिये किया गया है। यह स्तंभ पहले प्रयाग से लगभग ३० मील दूर स्थित प्राचीन नगर कौशांबी में था। वहाँसे लाकर वह प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर स्थित किले में खड़ा किया गया है। इसपर हरिषेण कवि रचित चंपू काव्य के रूप में समुद्रगुप्त की प्रशस्ति है जिसमें उसके शौर्य और दिग्विजय का ओजपूर्ण वर्णन है। दिल्ली में मेहरौली नामक स्थान पर एक लौह स्तंभ है जिसपर चंद्र नामक राजा के वंग से बाह्लीक तक दिग्विजय करने का उल्लेख है। समझा जाता है कि यह गुप्तवंश के सुप्रसिद्ध सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का कीर्तिवर्णन है। इसी वंश के एक अन्य सम्राट् स्कंदगुप्त की कीर्तिगाथा कहाँव (जिला देवरिया) और भितरी (जिला गाजीपुर) में स्थित स्तंभों पर उत्कीर्ण है। ये दोनों ही स्तंभ तत्तद्स्थानीय मंदिरों से संबंध रखते हैं तथापि समझा जाता है कि भितरी स्तंभ स्वयं स्कंदगुप्त द्वारा स्थापित किया गया था। इसी प्रकार मंदसोर (मध्य प्रदेश) से दो स्तंभ प्राप्त हुए हैं जिनपर यशोधर्म नामक नरेश की कीर्ति का वर्णन है।

बंगाल के सेनवंशीय एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि उस वंश के लक्ष्मणसेन ने अपने विजयों की स्मृति में प्रयाग, काशी और जगन्नाथपुरी में कीर्तिस्तंभ स्थापित कराए थे। पर कीर्तिस्तंभों की प्रथा दक्षिण भारत के नरेशों में अधिक प्रचलित जान पड़ती है। उनके अभिलेखों में कीर्तिस्तंभों की प्रायः चर्चा हुई है।

मोतुपालि के एक अभिलेख में सभी देशों के व्यवसायियों तथा व्यापारियों के लिये सुरक्षा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि गणपतिदेव ने अपने यश के विस्तार के लिये उस कीर्तिस्तंभ को स्थापित कराया था जिसपर लेख अंकित है। कृष्णदेव के कांजीवरम् ताम्रपत्र में (शक संवत् १४४४) उसके द्वारा एक कीर्तिस्तंभ स्थापित करने का उल्लेख हुआ है। चोल राजवंश के कुछ नरेशों ने अपनी विजयों के उपलक्ष में कीर्तिस्तंभ (विजयस्तंभ) स्थापित किए थे। राजराज प्रथम ने सह्यगिरि पर त्रिभुवन-विजय-स्तंभ स्थापित कराया था। राजराज के उत्तराधिकारी राजेंद्रदेव चोल ने कोलापुर में एक कीर्तिस्तंभ स्थापित कराया था। इस अभिलेख के शब्द इस प्रकार हैं : 'साढ़े सात लाखवाली इरापाडि को विजित करके कोलापुरम् (कोलार ताल्लुका) में विजयस्तंभ स्थापित किया।' (एपिग्राफिया कर्नाटिका, भाग १०, कोलार ताल्लुका, नं० १०७, पृ० ३५)। चोल नरेश कुलोत्तुंग के अभिलेख से भी पता चलता है कि उसने भी सह्याद्रिशृंग पर अपना विजयस्तंभ निर्माण कराया था। एक अन्य अभिलेख में गरुडशीर्ष से युक्त स्तंभ की रचना कराने का उल्लेख है। (तीरुवलवाडु अभिलेख, श्लोक १२, एपि० इंडिका, भाग ७, पृ० १२३-१२५)। इसी काल के वल्लाल नामक नरेश के किसी लक्ष्म नामक दंडीश ने अपनी पत्नी के साथ अपने स्वामी वल्लाल के यश तथा महत्ता की अभिवृद्धि के लिये भव्य कीर्तिस्तंभ खड़ाकर उसपर अपने स्वामी के प्रति भक्ति से पूर्ण वीर शासन उत्कीर्ण करवाया था। (एपि० कर्ना०, भाग ५, बेलूर तालुका, नं० ११२, पृ० ७४)। महामंडलेश्वर चामुंडराय ने जगदेकमल्लेश्वर नामक देवता के मंदिर के संमुख गंडभेरुंड स्तंभ की स्थापना की थी। बर्गेस महोदय ने अहमदाबाद में एक सुंदर और अलंकृत कीर्तिस्तंभ का वर्णन किया है। उस स्थान का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि 'पूरब में सीढ़ियों से जाने पर एक चत्वर मिलता है जिसपर एक सुंदर और अलंकृत कीर्तिस्तंभ बना हुआ है।' देवराज द्वितीय के विजयनगर अभिलेख में उसके द्वारा एक जयस्तंभ के विन्यास की बात लिखी मिलती है। विक्रमादित्य पंचम की कौथेम प्रशस्ति में विजयों के उपलक्ष में विजयस्तंभ बनवाने की चर्चा की गई है। इस विजयस्तंभ को राष्ट्रकूट नरेश कर्क तृतीय ने स्थापित किया था, जिसे पश्चिमी चालुक्य नरेश तैल द्वितीय ने युद्ध में भग्न कर दिया था।

चित्तौड़ के महाराणा कुंभा ने गुजरात नरेश महमूद को पराजित करने के बाद चित्तौड़ के किले में एक विशाल कीर्तिस्तंभ का निर्माण करवाया था। यह कीर्तिस्तंभ अपने वास्तुशिल्प के साथ साथ देवप्रतिमाओं के अलंकरण के कारण विशेष महत्व रखता है। कुतुबमीनार के संबंध में भी समझा जाता है कि वह कीर्तिस्तंभ है। (चं० भा० पां०; प० ला० गु०)

कील

कील बाल्टिक सागर पर स्थित जर्मनी का प्रमुख नौसैनिक पत्तन (स्थिति : ५४° २०' उ० अ०; १०° ७' पू० दे०)। यह हैंबुर्ग से ५५ मील उ० पू० कील नहर के पूर्वी छोर पर स्थित है। यहाँ से मशीनों, औजारों तथा गहरे पानी में मछली पकड़नेवाली नौकाओं का निर्यात तथा कोयला, लकड़ी, तेल, अनाज, मक्खन एवं पनीर का व्यापार होता है। (न० कु० सि०)

कीलहॉर्न, फ्रांज (ज० १८४० ई०) जर्मनी के प्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद। यूरोप के प्रख्यात संस्कृतज्ञों से संस्कृत की शिक्षा प्राप्त कर पूना के डेकन कालेज में प्राच्य भाषाओं के अध्यापक नियुक्त हुए। यहाँ रहकर इन्होंने संस्कृत भाषा में श्लाघनीय पांडित्य प्राप्त किया और पाणिनीय व्याकरण का गंभीर अध्ययन किया तथा प्राचीन शिलालेखों का प्रौढ़ विश्लेषण किया। उन्होंने नागेश भट्ट के 'परिभाषेंदुशेखर' नामक पांडित्यपूर्ण ग्रंथ का विस्तृत टिप्पणियों के साथ अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है। उनका 'पतंजलि महाभाष्य' का निर्दिष्ट पाठसंशोधन तथा संस्करण उनके गंभीर व्याकरण ज्ञान का परिचायक है। यह संस्करण वैज्ञानिक दृष्टि से बेजोड़ माना जाता है। उन्होंने अनेक वर्षों तक प्राचीन शिलालेखों के पढ़ने तथा उनके विश्लेषण में अपना समय लगाया। इस कार्य के लिये वे 'गवर्नमेंट एपिग्राफिस्ट' के पद पर नियुक्त किए गए थे। सैकड़ों प्राचीन शिलालेखों का पढ़ना तथा इतिहास की गुत्थियाँ सुलझाना इनकी इतिहासमर्मज्ञता का प्रमाण है। भारत से अवकाश लेने पर ये जर्मनी के विख्यात विश्वविद्यालय गटिंजन में संस्कृत के अध्यापक नियुक्त हुए थे। अनेक विश्वविद्यालयों ने इन्हें सम्मानसूचक उपाधियों से अलंकृत किया था। (व० उ०)

कीलाक्षर एक प्राचीन लिपि। इसके अक्षर देखने में कील सरीखे जान पड़ते हैं, इसलिये इस लिपि को इस नाम से पुकारते हैं। गीली मिट्टी की ईंटों अथवा पट्टिकाओं पर कठोर कलम या छेनी से टंकित किए जाने के कारण अक्षरों की आकृति स्वाभाविक रूप में कील की सी हो जाया करती थी। इस प्रकार के अक्षरों और इनसे बनी लिपि का उपयोग पहले पहल गैरसामी सुमेरियों ने किया। दक्षिणी बैबीलोनिया अथवा दजला-फरात के मुहानों के द्वाब में बसे प्राचीन सुमेरियों को इस लिपि के निर्माण का श्रेय दिया जाता है। कालक्रम से भाषाएँ बदलती गईं पर यही प्राचीन सुमेरी लिपि बनी रही। एलामी, बाबुली, असूरी (अथवा असुर), खत्ती, उरार्तू के निवासी, सभी ने बारी बारी से इस कीलाक्षर लिपि का अपने अपने राज्याधिकारों में उपयोग किया। आज हजारों छोटे बड़े अभिलेख इस लिपि में लिखे हुए उपलब्ध हैं जिनका संग्रह ७वीं सदी ई० पू० में ही प्राचीन पुराविद् और संग्रहकर्ता असीरिया के राजा असुरबनिपाल ने निनेवे के अपने ग्रंथागार में कर लिया था। निनेवे की खुदाई में संप्राप्त ये अभिलेख अब तुर्की, ईरान, सोवियत, जर्मनी, फ्रांस, इग्लैंड, शिकागो और पेंसिलवेनिया के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। जलप्रलय की पहली चर्चा करनेवाला बाबुली महाकाव्य गिलगमेश भी इन्हीं कीलाक्षरों में अनेक ईंटों पर लिखा गया था जिसकी मूल प्रति लेनिनग्राद के 'एर्मिताज' संग्रहालय में सुरक्षित है। खत्ती रानी ने खत्तियों और मिस्री फराऊनों के परस्पर युद्ध बंदकर शांति स्थापित करने के लिये अद्वैत के उपासक मिस्री नृपति इख्नातून को अंतर्राष्ट्रीय विधिस्थापक स्वरूप जो पहला पत्र लिखा, वह इन्हीं कीलाक्षरों में लिखा गया था। बोगाजकोई का वह प्रसिद्ध संधिपत्र भी, जिसके द्वारा खत्तियों और मितन्नियों का आपसी युद्ध बंद किया गया था और जिसमें साक्षी स्वरूप भारतीय ऋग्वैदिक देवताओं—इंद्र, मित्र, वरुण, नासत्यों—का उल्लेख किया गया है, इन्हीं कीलाक्षरों में लिखा है। कीलाक्षरों के उपयोग की सीमा एलाम से तुर्की तक, अरब से अर्मीनिया तक थी।

कीलाक्षर लिपि के लिये यूरोपीय भाषाओं में समानार्थक शब्द 'क्यूनीफार्म' है। इस लिपि का उद्भव कब हुआ, यह कह सकना संभव नहीं है, पर इसमें संदेह नहीं कि इसका व्यवहार ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी से पूर्व अवश्य शुरू हो गया था। विद्वानों का मत है कि इस लिपि का प्रादुर्भाव प्रथमत: चित्रलिपि से हुआ और वह शब्दचिह्न, ध्वन्यात्मक, स्वरात्मक दशाओं से गुजरकर वर्णात्मक स्थिति को प्राप्त हुई। यह लिपि आरंभ में व्यंजनप्रधान थी, धीरे धीरे स्वरों के उदय से वर्णात्मक बनी और इस कालावधि में अनेक भाषाओं ने अपने को इसके द्वारा व्यक्तकर इसे मान्यता दी। अमरीकी भारतीयों, चीनियों, सिंधियों, क्रीतियों और संभवत: मिस्रियों की चित्रलिपि को छोड़ संसार की प्राय: सारी लिपियाँ—बाबुली और असूरी, खत्ती और फिनीकी, इब्रानी और अरबी, ग्रीक और रोमन, अरमई और फारसी—इसी कीलाक्षर लिपि से निकली हैं। उसकी

कीलाक्षर लिपि का क्रमिक विकास

उपलिपियों का परिवार बड़ा है और आज समस्त संसार उसी लिपि का, उसके अनंत विकसित रूपों में, उपयोग कर रहा है।

इस लिपिका रहस्यभेद १९वीं सदी के मध्य में तब हुआ जब ईरान-स्थित अंग्रेज राजदूत रालिंसन ने दारा के लिखवाए बेहिस्तून के शिलालेख की त्रिभाषिक इबारत को अन्य विद्वानों की सहायता से पढ डाला। उसमें प्राचीन फारसी, एलामी और बाबुली भाषाओं में दारा की विजय प्रशस्ति है; पहले प्राचीन फारसी पढी गई जिसका पढना उसमें प्रयुक्त होनेवाले व्यक्तिवाची नामों के कारण आसान था। जब प्राचीन फारसीवाले पहले खाने की इबारत पढ ली गई तो उसकी मदद से दूसरे और तीसरे खानों की एलामी और बाबुली भी पढने में देर न लगी। इस प्रकार 'रोजेट्टा' स्टोन' की मिस्री लिपि की ही भाँति बेहिस्तून की यह त्रिभाषिक कीलाक्षर लिपि भी पढी गई, यह घटना १९वीं सदी के ऐतिहासिक आश्चर्यों में गिनी जाती है।

सं०ग्रं०—रोजर्स : हिस्ट्री ऑव बेबिलोनिया ऐंड असीरिया, छठाँ संस्करण, खंड १ (१९१५); ई० ए० डब्ल्यू० बज : राइज ऐंड प्रोग्रेस ऑव असीरियालोजी, १९२५। (भ० श० उ०)

कीलुंग तैवान (फारमोसा) द्वीप का प्रमुख पत्तन तथा नौसैनिक केंद्र (स्थिति : २५° २' उ० अ० तथा १२१° पू० दे०)। यहाँ एक पोताश्रय तथा रासायनिक खाद का एक बड़ा कारखाना है। यहाँसे चाय,

चीनी तथा कपूर का निर्यात होता है इसके समीप ही सोना, गधक तथा ताँबे की खानें है। यह तैवान की राजधानी तैपेह से रेल तथा सडक द्वारा जुडा हुआ है। (नू० कु० सि०)

कौवू अफ्रीका मे रुआडा-उरुंडी की सीमा पर 'ग्रेट रिफ्ट वैली' मे टैंगैन्यीका झील के उत्तर तथा एडवर्ड झील के दक्षिण ४,७८८ फुट की ऊँचाई पर स्थित एक विशाल झील। यह लगभग ५५ मील लबी तथा ३० मील चौडी त्रिभुजाकार है तथा रुजिजि नदी द्वारा टैंगैन्यीका झील म प्रवाहित होती है। अफ्रीका की विशाल झीलों मे यह सर्वाधिक मनमोहक, यूरोपीय आवास का केंद्र तथा भ्रमणस्थल है। इसके तट पर कास्टरमानसविल, किसन्यि (Kisenyi) तथा गोमा प्रमुख नगर है। (नू० कु० सि०)

कुचन नंबियार (लगभग १७०५–१७७० ई०) मलयालम के विख्यात कवि। इनका जन्म मध्य केरल के कोच्चि स्थान मे हुआ था, अमलप्पुषा के देवनारायण नामक शासक के सरक्षण म वही बस गए और बाद मे त्रिवाकुर के शासक मार्तंड वर्मा के दरबार म प्रविष्ट हुए। अपने यौवनकाल के प्रारभिक दिनो मे उन्होने विभिन्न शैलियो मे काव्यरचना की। उनकी प्रारभिक कविताओ मे भगवद्दूत, भागवतम्, नलचरितम् और चाणक्यसूत्रम् के नाम लिए जा सकते है। वह नवीन एव अद्भुत मलयालम काव्यशैली 'तुक्कलप्पाट्ट' के प्रवर्तक है। तुक्कल द्रुत गति स प्रचालित होनेवाला नृत्य है जिसमे नर्तक स्वय पद्यबद्ध कहानियो का गायन करता है। उन्होने लगभग साठ तुक्कल कविताएँ लिखी है। इनमे उन्होने नम्र काव्य शैली का विकास किया जिसने समाज के सभी वर्गो को आकृष्ट किया। उनके द्वारा उन्होने समाज की वास्तविकताओ को प्रतिबिंबित करने का प्रयत्न किया है। उन्होने इतिहास एव पुराणों से ही अपनी कविताओ के लिये कहानियाँ चुनी हैं किंतु उन्हें समकालीन सामाजिक जीवन के प्रसग मे ही चित्रित किया है। हास्य एव व्यग के भी वे महान् कवि माने जाते है। उन्होंने अहकारी सामतो, भ्रष्ट कर्मचारियो, लोभी और स्त्रीपरायण ब्राह्मणो और तुच्छ नायरों इत्यादि समस्त श्रेणी के लोगो पर व्यग किया है। उनकी अनेक पदोक्तियाँ सर्वसाधारण मे यथेष्ट प्रचलित है और उन्होने लोकोक्तियों का स्थान ग्रहण कर लिया है। कल्याणसौगधिकम्, कार्तवीरार्जुनविजयम्, किरातम् सभाप्रवेशम्, त्रिपुरदहनम्, हरिणीस्वयवरम्, रुक्मिणीस्वयम्वरम्, प्रदोषमाहात्म्यम्, स्यमन्तकम् एव घोषयात्रा उनकी प्रमुख तुक्कल रचनाएँ है। (जी० वा० त०)

कुजर भारती (१८१०–१८९६ ई०) तमिल के विख्यात कवि। ये सुब्रह्मण्य भारती के पुत्र थे। शिवगगा के राजा गौरीवल्लभ के 'सभास्थान विद्वान्' थे। उन्होने इन्हें 'कवि कुजर' की उपाधि प्रदान की थी। इनकी ख्याति मधुर पदावली और सुदर कल्पना के लिये है। स्कदपुराण कीर्तन, पेरिय कीर्तनैगल और अभगर कुरवजी इनकी विख्यात रचनाएँ है। (प० ला० गु०)

कुंट की नली यह ताप, घनत्व, आर्द्रता आदि की नियत्रित अवस्थाओ म गैसों मे ध्वनि के वेग मापने का उपकरण है। इसका आविष्कार जर्मन भौतिकविद् आगस्ट ए० ई० ई० कुट ने सन् १८६६ मे किया था।

कुट की नली मे गैस एक काँच की नलिका मे भरी जाती है जिसके एक सिरे पर पिस्टन होता है जो आगे पीछे खिसकाया जा सकता है, और दूसरे सिरे पर ध्वनि स्रोत। यह ध्वनि स्रोत, एक धातु या काँच की छड होती है जिसके सिरे पर भी एक पिस्टन लगा होता है। अनुनाद की स्थिति [illegible] चलाने के लिये नलिका के भीतर हलका चूर्ण, जैसे लाइकोपोडियम [illegible] दिया जाता है। छड मे अनुदैर्घ्य अग्रगामी कपन उत्पन्न किए जाते है जिनकी आवृत्ति मालूम कर ली जाती है। छड के सिरे का पिस्टन नलिका की गैस मे उसी आवृत्ति की तरगे उत्पन्न करता है। दूसरी ओर के पिस्टन को आगे पीछे खिसकाकर अनुनाद की अवस्था प्राप्त की जाती है। इस अवस्था मे नलिका मे अग्रगामी तरगें बन जाती है और उसके निस्पदो पर चूर्ण की छोटी छोटी ढेरियाँ बन जाती हैं जिनके बीच आधे तरगदैर्घ्य का अतराल होता है। इस मापने से गैस मे ध्वनि का तरगदैर्घ्य मालूम हो जाता है। तरगदैर्घ्य और आवृत्ति के गुणक की गणना करके ध्वनि का वेग मालूम हो जाता है। (नि० सि०)

कुठपाद (एँब्लिपोडा, Amblypoda) खुरवाले स्तनपायी प्राणियों के दो लुप्त वर्गो, पैंटोडोटा (Pantodonta) तथा डाइनोसेराटा, (Dinocerata) का सयुक्त नाम। कुठपाद स्तनपायी श्रेणी का एक प्राणिवर्ग था जो अब पृथ्वी से लुप्त हो चुका है। इसका अवशेष मात्र ही किन्ही किन्ही देशो मे पाया जाता है।

कुठपाद के पैर म पाँच अँगुलियाँ होती थी जिनके सिरे पर नाखून नही वरन् खुर होते थे। कुठपाद इयोसिन काल (Eocene Period) मे वर्तमान थे और हाथी से कम बडे नही थे। इस श्रेणी के अवशेष इग्लैंड मे पाए जाते हैं, किंतु इसका अच्छा नमूना उत्तरी अमरीका मे पाया गया है। यूरोप मे इस श्रेणी का प्रतिनिधि कोरिफोडोन (Coryphodon) था।

पहले ऐसा विश्वास किया जाता था कि पैंटोडोटा (Pantodonta) तथा डाइनोसेराटा (Dinocerata) दोनो ही वर्गो का आपस मे घनिष्ठ सबध था और एक वर्ग दूसरे वर्ग के उत्तरजीवको से विकसित हुआ था, किंतु बाद मे सन् १९४० ई० के अमरीकी तथा एशियाई अन्वेषणों से यह ज्ञात हुआ कि अनेक समानताओ के बावजूद ये दोनो वर्ग सर्वथा भिन्न हैं और दोनो वर्ग लगभग एक ही समय मे पृथक् पृथक् विकसित हुए। दोनो वर्ग स्तनपायी-प्राणी-युग की प्राचीन अवस्था के उत्तरजीवक हैं। दोनों ही वर्गों का विकास विच्छिन्न रूप से, तीव्र गति से हुआ, उनकी आकृति विशाल हो गई और वे समय से पूर्व विकास की चरम सीमा पर पहुँच गए। फलस्वरूप पैंटोडोटा ऑलिगोसीन (Oligocene) युग में तथा डाइनोसेराटा इयोसिन युग मे सर्वथा लुप्त हो गए। अन्य खुरवाले प्राणियों की भाँति दोनो वर्ग साधारणतया अतिप्राचीन कौडिलार्थ्स (Conodylarths) से ही कदाचित् उत्पन्न हुए थे। इनकी निश्चित वशपरपरा का ठीक ठीक पता नही है।

पैंटोडोटा पहले पैंटोलैम्डा (Pantolambda) वश (Genus) के अतर्गत परिगणित किए गए थे, जो उत्तरी अमरीका के मध्य पैलियोसीन, (Palaeocene) युग मे थे। इस वर्ग का अच्छा उदाहरण कारिफोडॉन (Coryphodon) उत्तरी अमरीका तथा यूरोप के आरभिक इयोसीन युग से प्राप्त होता है। उत्तरी अमरीका के पैलियोसीन युग का नमूना बैरिलैंब्डा (Barylambda) है। क्षुरीदन्त (कोरिफोडॉन Coryphodon),
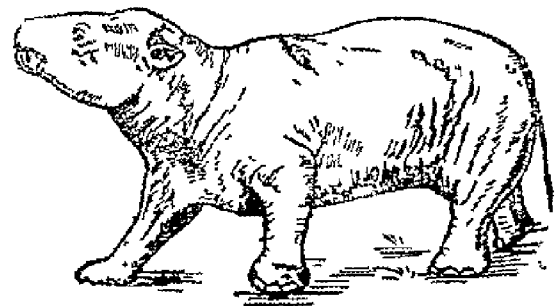
क्षुरीदत (Coryphodon)

गाय या भालू के माप तक विकसित हो चुका था, किंतु इसका डीलडौल दूसरे से भारी था। इसका सिर बडा तथा शिखर समतल या और दरियाई घोडे (हिपोपॉटामस, Hippopotamus) की भाँति इसके उभरे चमकीले दाँत थे। नीचे के चर्वणक दाँतो की चद्राकृति अद्भुत थी। मुडे हुए कलँगीदार (किरीटीय, Crowned) दाँतों की आवश्यकता तथा उपयोगिता जलीय रसीले पौधे तथा पत्तियाँ खाने के लिये थी।

वैरिलैंव्डा का भी प्राय: यही आहार था, परंतु अपेक्षाकृत असंतुलित छोटा सिर तथा स्लाय पशु के समान भारी पूँछ इसकी विशेषता थी।

डाइनोसेराटा अथवा यूइंटाथिरिस (Uintatheres) इयोसिन युगीय स्तनपायी प्राणियो में सबसे बड़े थे और अनेक प्रकार से उनका विशिष्ट स्थान था। पैलिओसीन, (Palaeocene) युग के उत्तरार्ध मे, उत्तरी अमरीका तथा मंगोलिया में ये पशु सीग रहित तथा शाकाहारी रूप में सूअर के समान मापवाले प्रथम उत्पन्न हुए। परंतु जब इयोसीन युग आया तब इनके उत्तरजीवक, जहाँ तक ज्ञात हो सका है, उत्तरी अमरीका तथा मंगोलिया तक ही सीमित रह गए। वे इतने विशाल हो गए जैसे अफ्रीकी गैंडा। इनके सिर के ऊपर दो तीन हड्डीदार सीग के समान गाँठें भी उभर आई। इनके ऊपरी श्वदंत (Caninc), चीतों के भाले जैसे दाँतों के समान, छुरे जैसे थे, यद्यपि यूइंटाथिरिस निश्चित रूप से शाकाहारी थे। शरीर स्थूल होने के कारण इनके पैर भी हाथी की भाँति भारी हो गए और संतुलन बनाए रखने के लिये पैरों में पाँच खुरदार लचीली गद्दियाँ बन गई। जिस गति से शरीर के अन्य अंगों का विकास हुआ उसी गति से इनके मस्तिष्क का विकास नही हुआ और विशाल शिरसंपुट (Cranium) करोटि (Skull) में अपेक्षाकृत छोटा ही रह गया। इनके चर्वणक दाँत भी अपेक्षाकृत साधारण रचना के तथा छोटे रह गए जिससे ऐसे स्थूलकाय प्राणी को पर्याप्त भोजन नही मिल पाता था। इनके शीघ्र ही लुप्त हो जाने के कारणों में संभवत: एक कारण यह भी था कि इनके विकास में सामंजस्य नही था।

सं०ग्रं०—टी० जे० पार्कर ऐंड डब्ल्यू ए० हैसवेल : ए टेक्स्ट बुक ऑव जूलॉजी, खंड २; रिचर्ड स्वान लल : ऑर्गैनिक इवोल्यूशन।

(भृ० ना० प्र०)

कुंडल कान में पहनने का एक आभूषण, जो स्त्री पुरुष दोनों पहनते थे।

प्राचीन काल में कान को छेदकर जितना ही लंबा किया जा सके उतना ही अधिक वह सौंदर्य का प्रतीक माना जाता था। इसी कारण भगवान् बुद्ध की मूर्तियों में उनके कान काफी लंबे और छेदे हुए दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार कान लंबा करने के लिये लकड़ी, हाथीदाँत अथवा धातु के बने लंबे गोल बेलनाकार जो आभूषण प्रयोग में आते थे, उसे ही मूलत: कुंडल कहते थे, और उसके दो रूप थे—प्राकार कुंडल और वप्र कुंडल। बाद में नाना रूपों में उसका विकास हुआ। साहित्य में प्राय: पत्र कुंडल (पत्ते के आकार के कुंडल), मकर कुंडल (लकड़ी, धातु अथवा हाथीदाँत के कुंडल), शंख कुंडल (शंख के बने अथवा शंख के आकार के कुंडल), रत्न कुंडल, सर्प कुंडल, मृष्ट कुंडल आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। देवताओं के मूर्तन के प्रसंग में बृहत्संहिता में सूर्य, बलदेव और विष्णु को कुंडलधारी कहा गया है। प्राचीन मूर्तियों में प्राय: शिव और गणपति के कान में सर्प कुंडल, उमा तथा अन्य देवियों के कान में शंख अथवा पत्र कुंडल और विष्णु के कान में मकर कुंडल देखने में आता है।

नाथ पंथ के योगियों के बीच कुंडल का विशेष महत्व है। वे धातु अथवा हिरण की सीग के कुंडल धारण करते हैं।

(प० ला० गु०)

कुंडलिनी परमेश्वर की चिद्रूपा परमाशक्ति प्रति जीवदेह में सोई पड़ी है। इसका नाम कुंडलिनी या कुलकुंडलिनी शक्ति है। यद्यपि जीव स्वरूपत: शिवरूप है, फिर भी जबतक यह शक्ति जगती नही तबतक वे आत्मविस्मृत रहते है एवं पशु के सदृश वेद्य शक्तियों द्वारा संचालित हो जड़वत् स्थित रहते हैं। क्रमविकास के नियमानुसार ८४ लाख योनियों का अतिक्रम हो जाने पर जब पशुभाव हटाने योग्य मनुष्यदेह की प्राप्ति होती है तब अहंभाव का उदय और कर्म में अधिकार उत्पन्न होता है। कुंडलिनी शक्ति मानवदेह में मेरुदंड के नीचे मूलाधार नामक चतुर्दश-कुल-कमल की कर्णिका में त्रिकोणस्थ अधोमुख स्वयंभूलिंग का साढ़े तीन वलयों के रूप में वेष्टन कर अपने मुँह से ब्रह्मद्वार को ढककर सोई हुई है।

दीर्घकाल-व्यापी तपस्या के प्रभाव से तथा भगवदनुग्रह होने पर इस शक्ति का जागरण होता है। उस समय वह सुप्तावस्था के कुंडलभाव का त्यागकर सरल गति से मेरुदंड के भीतर सुषुम्ना नाड़ी का आश्रय पाकर ऊपर की ओर उठने लगती है और इसके साथ ही सत्व का विकास, भोगों में वैराग्य, विवेक, ज्ञान आदि सद्गुणों का आविर्भाव होने लगता है। ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक सब प्रकार के शब्दों तथा शुद्ध और अशुद्ध सब प्रकार की सृष्टियों का यही मूल है। यह बिंदु, महामाया तथा चिदाकाश के नाम से आगमों में प्रसिद्ध है। सद्गुरु का अनुग्रह होने पर उनसे प्रेरित चित्शक्ति के आघात को प्राप्त होकर यह अनादि निद्रा से जाग उठती है। नाद तथा ज्योति बिखेरती हुई यह मूलाधार से आज्ञाचक्र पर्यंत छह चक्रों का विद्युच्छिखा की भाँति उल्लंघन कर भ्रूमध्यस्थ बिंदुस्थान में प्रकट होती है एवं अंत में ज्ञानचक्षु या तृतीय नेत्र का उन्मीलन करती है। तदुपरांत शिवशक्तिमय महानाद का भेदकर शंखिनी नाड़ी के शिखर में स्थित शून्य स्थान में ब्रह्मरंध्रांतर्गत विसर्ग के निम्न प्रदेश में चिदात्मक चंद्रमंडल में प्रविष्ट हो जाती है। इस मंडल में अत्यंत गुप्त शून्य स्थान में परमबिंदु अवस्थित है। इस महाज्ञान के अवलंबन से परमसंज्ञा के साक्षात्कार का मार्ग खुल जाता है।

सहस्रार के मध्यबिंदु में सत् और चित् सदा शिव तथा शुद्ध विद्या के रूप में विराजमान रहते हैं। यह विद्या चंद्रमा की षोडश कला कही जाती है। सत् तथा चित् की नित्ययुक्तावस्था ही सामरस्य अथवा परमानंद है। यही योगी का परम लक्ष्य है। उत्थित कुंडलिनी की इस योगभूमि मे स्थायी रूप से प्रतिष्ठित होने पर योगी का योगसाधन भलीभाँति सिद्ध हो जाता है।

कुंडलिनी के अध: तथा ऊर्ध्व के भेद से दो प्रकार हैं। अध: कुंडलिनी का दूसरा नाम है योगिनी चक्र। इसी स्थान में चिदग्नि की अभिव्यक्ति होती है। यह शक्तिसंकोच की परम अवस्था है। ऊर्ध्व कुंडलिनी शक्ति-विकास की चरम अवस्था है। इस पद की प्राप्ति सूक्ष्म प्राणशक्ति की सहायता से भ्रूभेद करने के बाद हो सकती है। शक्ति के उत्थान के अनंतर उसकी व्याप्ति होती है। जब देश, काल तथा आकार सब प्रकार के परिच्छेद मिट जाते है और ऐश्वरिक शक्तियों का स्वाभाविक उन्मेष हो जाता है।

अमृतबिंदु विगलित होकर सुधारस से समस्त देह को प्लावित करते है। इस अमृतधारा को चिदानंद का प्रवाह समझना चाहिए जो जाग्रत कुंडलिनी शक्ति तथा परमशिव के परस्पर संमिलित होने का फल है। इस शक्ति के जागरण से जीव का अनात्म में आत्मबोध रूप अज्ञान मिट जाता है एवं अंत में आत्मा में अनात्मरूप अज्ञान भी निवृत्त हो जाता है। उस समय जीव प्रबुद्ध होकर पूर्ण अहं अथवा परमात्मा के रूप में अपना अनुभव करने लगता है।

शक्तिकुंडलिनी, प्राणकुंडलिनी, पराकुंडलिनी, अपराकुंडलिनी आदि शक्तियों के विवरण के लिये तांत्रिक साहित्य द्रष्टव्य है। (गो० क०)

कुंडली देखिये जन्मपत्री।

कुंडेश्वर बुंदेलखंड (मध्य प्रदेश) में टीकमगढ से ४ मील दक्षिण यमद्वार नदी के उत्तरी तट पर बसा एक रम्य स्थान। यहाँ एक शिव-मंदिर है जिसकी मूर्ति के संबंध में कहा जाता है कि वह १५वीं शती ई० में एक कुंड से आविर्भूत हुई थी। उन दिनों वहीं तुंगारण्य में श्रीवल्लभाचार्य श्रीमद्भागवत की कथा कह रहे थे। इस मूर्ति के मिलने का समाचार सुनकर वे वहाँ आए और तैलंग ब्राह्मणों द्वारा मूर्ति का संस्कार कराया और वही प्रतिष्ठित किया। कुंड में मिलने के कारण ही यह कुंडेश्वर कहा जाता है। शिवरात्रि, मकरसंक्रांति और वसंतपंचमी के अवसर पर वहाँ भारी मेला लगता है। (प० ला० गु०)

कुंतक अलंकारशास्त्र के एक मौलिक विचारक विद्वान्। ये 'अभिधा-वादी' आचार्य थे जिनकी दृष्टि में अभिधा शक्ति ही कवि के अभीष्ट अर्थ के द्योतन के लिये सर्वथा समर्थ होती है। परंतु यह अभिधा संकीर्ण आद्या शब्दवृत्ति नहीं है। अभिधा के व्यापक क्षेत्र के भीतर लक्षणा और व्यंजना का भी अंतर्भाव पूर्ण रूप से हो जाता है। 'वाचक' शब्द

द्योतक तथा व्यजक उभय प्रकार के शब्दो का उपलक्षण है। दोनो मे समान धर्म 'अर्थप्रतीतिकारिता' है। इसी प्रकार 'प्रत्येयत्व' (ज्ञेयत्व) धर्म के सादृश्य से द्योत्य और व्यग्य अर्थ भी उपचारदृष्ट्या 'वाच्य' कहे जा सकते है। इस प्रकार वे अभिधा की सर्वातिशायिनी सत्ता स्वीकार करनेवाले आचार्य थे।

उनकी एकमात्र रचना 'वक्रोक्तिजीवित' है जो अधूरी ही उपलब्ध है। वक्रोक्ति को वे काव्य का जीवित (जीवन, प्राण) मानते है। पूरे ग्रथ मे वक्रोक्ति के स्वरूप तथा प्रकार का वडा ही प्रौढ तथा पाडित्यपूर्ण विवेचन है। 'वक्रोक्ति' का अर्थ है 'वैदग्ध्यभगीभणिति' (सर्वसाधारण द्वारा प्रयुक्त वाक्य से विलक्षण कथनप्रकार)—

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभगीभणितिरुच्यते।
(वक्रोक्तिजीवित १।१०)

कविकर्म की कुशलता का नाम है वैदग्ध्य या विदग्धता। भगी का अर्थ है—विच्छित्ति, चमत्कार या चारुता। भणिति से तात्पर्य है—कथनप्रकार। इस प्रकार 'वक्रोक्ति' का अभिप्राय है कविकर्म की कुशलता से उत्पन्न होनेवाले चमत्कार के ऊपर आश्रित रहनेवाला कथनप्रकार। कुतक का सर्वाधिक आग्रह कविकौशल या कविव्यापार पर है अर्थात् इनकी दृष्टि मे काव्य कवि के प्रतिभाव्यापार का सद्य प्रसूत फल है।

इनका काल निश्चित रूप से ज्ञात नही है। किंतु विभिन्न अलकार ग्रथो के अत साक्ष्य के आधार पर समझा जाता है कि ये दसवी शती ई० के आसपास हुए होगे।

सं०ग्र०—आचार्य विश्वेश्वर हिंदी वक्रोक्ति जीवित, दिल्ली, १९५७, बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग २, काशी, स० २०१२, सुशीलकुमार दे 'वक्रोक्तिजीवित' का सस्करण तथा ग्रथ की भूमिका, कलकत्ता। (ब० उ०)

कुतल एक प्राचीन जनपद। महाभारत मे इस नाम के तीन प्रदेशो का उल्लेख है —

(१) मध्य देश मे काशि-कोशल के निकट। समझा जाता है कि यह चुनार के आसपास का प्रदेश था।

(२) दक्षिण मे कृष्णा नदी के निकट। अनेक पुराणो मे कर्णाटक को कुतल देश कहा गया है। अजता के एक अभिलेख मे वाकाटक नरेश के कुतलेश्वर विजय का उल्लेख है। राजकेसरी वर्मा राजेद्र चोल के एक अभिलेख मे कुतलाधिप के पराभव की चर्चा है। मैसूर प्रदेश से मिले एक अभिलेख से ऐसा प्रतीत होता है कि वह कुतल जनपद के अतर्गत था।

(३) कोकण के निकट। पश्चिमी चालुक्य वश के अनेक अभिलेखो मे उन्हे कुतल-प्रभु कहा गया है। ग्यारहवी वारहवी शती के अनेक अभिलेखो मे कुतल देश का उल्लेख हुआ है जिनसे अनुमान होता है कि इस देश के अतर्गत भीमा और वेदवती नदी के काँठे तथा शिमोगा, चितलदुर्ग, वेलारी, धारवाड, बीजापुर के जिले रहे होगे। कुछ लोग कुतल की अवस्थिति वर्तमान कोकण प्रदेश के पूर्व, कोल्हापुर के उत्तर, हैदरावाद के पश्चिम कृष्णा मालपूर्वा और वर्धा नदी के काँठे तक तथा अदोनी जिले के दक्षिण मानते है।

जो हो यह प्रदेश राजनीतिक दृष्टि से वडे महत्व का है। 'कौतलेश्वर दूतम्' नामक काव्य के अनुसार चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने कालिदास को एक बार वहाँ अपना राजदूत बनाकर भेजा था। (प० ला० गु०)

कुतभोज कुती के पालक पिता जिन्हें राजा शूर ने अपनी कन्या पृथा दानस्वरूप सौंप दी थी (दे० कुती)। इनके पिता का नाम भीम था और इनके दो पुत्र धृष्ट तथा अनाधृष्ट हुए। इनकी विस्तृत कथा हरिवश पुराण, महाभारत आदि मे मिलती है। श्रीमद्भगवद्गीता मे भी इनका उल्लेख है। कुती के वास्तविक पिता शूर की भाँति ये भी यदुवशी थे। महाभारत की लडाई मे इन्होने भी भाग लिया था। (रा० द्वि०)

कुती (१) अवति जनपद के निकट स्थित एक प्राचीन जनपद। सहदेव के दक्षिण दिग्विजय के प्रसग मे इस जनपद का उल्लेख हुआ है। तदनुसार यमुना और चवल के काँठे मे इसकी अवस्थिति जान पडती है। इसकी गणना पाँच वडे जनपदो मे होती थी। पाणिनि ने कुतिसुराष्ट्र युग्म नाम का उल्लेख किया है। प्रत्यक्षत ये दोनो जनपद एक दूसरे से दूर थे। पाणिनि ने इस युग्म का उल्लेख राजनीतिक आधार पर किया है। कुतिनरेश दतवक्र को मारकर सुराष्ट्र (द्वारका) नरेश कृष्ण ने इसे अपने राज्य के अधीन कर लिया था। पाडवमाता कुती के पिता इसी जनपद के शासक थे। समझा जाता है कि ग्वालियर जिले के अतर्गत स्थित कोतवार नामक स्थान ही प्राचीन कुती है। (प० ला० गु०)

(२) महाभारत की प्रधान महिषी और पाडवो की माता तथा पाडु की पत्नी। यदुवशी राजा शूर की कन्या जिनका नाम पृथा था। शूर ने इन्हे अपने मित्र कुतिभोज को दान स्वरूप दे दिया और तवसे इनका नाम कुती पड गया। कुती की सेवा से प्रसन्न होकर दुर्वासा ने इन्हें एक मत्र सिखा दिया जिससे किसी भी देवता का आवाहन करने पर इन्हें पुत्रप्राप्ति हो सकती थी। एक दिन इस मत्र द्वारा कुती ने सूर्य का आवाहन किया और कुमारी होते हुए जब इन्हें पुत्र हुआ तो लोकलज्जा के कारण उसे जल मे फेंक दिया। यही पुत्र कर्ण हुआ जिसे अधिरथ सूत ने पानी से निकालकर अपनी पत्नी राधा को पालने के लिये दे दिया। स्वयवर मे कुती ने पाडु को माला पहनाई और पति के आज्ञानुसार धर्म से युधिष्ठिर, वायु से भीम तथा इद्र से अर्जुन को प्राप्त किया। नकुल तथा सहदेव की माता माद्री थी, जिनके देहात के वाद कुती ने ही इन दोनो को भी पाला। कुरुक्षेत्र युद्ध के पश्चात् कुती कुछ दिन युधिष्ठिर के पास रही, फिर धृतराष्ट्र, तथा गाधारी के साथ वन चली गई और वहाँ दावानल मे भस्म हो गई। (रा० द्वि०)

कुथुनाथ जैनधर्म के चौवीसवे तीर्थकर। इनका जन्म हस्तिनापुर मे हुआ था। पिता का नाम शूरसेन (सूर्य) और माता का नाम श्रीकाता (श्रीदेवी) था। विहार मे पारसनाथ पर्वत के सम्मेद शिखर पर इन्होने मोक्ष प्राप्त किया। (प० ला० गु०)

कुदकुदाचार्य दिगवर जैन सप्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य। इनका एक अन्य नाम कोडकुद भी था। इनके नाम के साथ दक्षिण भारत का कोडकुदपुर नामक नगर भी जुडा हुआ है। प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये के अनुसार इनका समय पहली शताब्दी ई० है परतु इनके काल के बारे मे निश्चयात्मक कोई प्रमाण उपलब्ध नही होता। श्रावणबेलगोला के शिलालेख सख्या ४० के अनुसार इनका दीक्षाकालीन नाम पद्मनदी था और सीमधर स्वामी से इन्हे दिव्यज्ञान प्राप्त हुआ था।

ये मूलसघ के प्रधान आचार्य थे। तपश्चरण के प्रभाव से अनेक अलौकिक सिद्धियाँ इन्हें प्राप्त थी। जैन परपरा मे इनका वडे आदर से उल्लेख होता है। शास्त्रसभा के आरभ मे 'मगल भगवान् वीर' के साथ साथ 'मगल कुदकुदार्य' कहकर इनका स्मरण किया जाता है जिससे जैन शासन मे इनके महत्व का पता चलता है।

इन्होने सर्वप्रथम जैन-आगम-समत पदार्थो का तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है। इनके सभी उपलब्ध ग्रथ प्राकृत मे है। इनकी विशेषता रही है कि इन्होने जैन मत का स्वकालीन दार्शनिक विचारधारा के आलोक मे प्रतिपादन किया है, केवल जैन आगमो का पुन प्रवचन नही किया। इनके विभिन्न ग्रथो मे ज्ञान, दर्शन और चरित्र का निरूपण मिलता है। इन्होने एक एक विषय का निरूपण करने के लिये स्वतत्र ग्रथ लिखे जिन्हें पाहुड कहते है। इनके ८४ पाहुडो का उल्लेख जैन वाडमय मे मिलता है। इनके मुख्य ग्रथ निम्नलिखित है १ प्रवचनसार, २ समयसार, ३ पचास्तिकाय, ४ नियमसार, ५ वारस अणुवेक्खा, ६ दसण पाहुड, ७ चारित्तपाहुड, ८ बोध पाहुड, ९ मोक्ख पाहुड, १० शील पाहुड, ११ रयणसार, १२ सिद्धभक्ति और १३ मूलाचार (वट्टकेर)।

जैन दर्शन को उन्होने एक नई दृष्टि दी है। इनको परम सग्रहा-

वलंबी अभेदवाद का प्रतिपादक माना जाता है। जैन आगमों में द्रव्य और पर्याय में भेद और अभेद दोनों माना जाता है। परंतु इनके अनुसार इनका भेद व्यावहारिक है, परमार्थतः दोनों अभिन्न हैं। इसी प्रकार आत्मा में वर्ण का सद्भाव और असद्भाव दोनों आगमसंमत हैं, परंतु इनके अनुसार व्यावहारिक रूप में तो वर्ण आत्मा में है, पारमार्थिक रूप में नहीं है। इन्होंने देह और आत्मा के ऐक्य को व्यवहारनय में माना परंतु निश्चयनय में दोनों का भेद माना।

वे द्रव्य को सत्ता से अभिन्न मानते हैं। वैशेषिक दर्शन में सत्ता सामान्य के कारण द्रव्य को सत् मानते हैं, परंतु उनका कहना है कि इस मत में तो सत्ता से भिन्न होने के कारण द्रव्य असत् हो जायगा। अतः द्रव्य सत्ता रूप ही है और यही परमतत्व है। सत्ता ही द्रव्य, गुण और पदार्थ के रूप में नाना देशकाल में विकसित होती है अतः सब कुछ द्रव्य (सत्ता) रूप ही है। गुण और पर्याय का द्रव्य से अभेद मानना तथा नयभेद से सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों को स्वीकार करना, उनका अभिप्रेत था। परमाणु के बारे में इनका कहना है कि सभी स्कंधों का अंतिम अवयव परमाणु है। यह शाश्वत, शब्दरहित, अविभाज्य और मूर्त है। परमाणु को रस, गंध, वर्ण और स्पर्श से युक्त इंद्रियग्राह्य परिणामी तत्व कहा गया और पृथ्वी, जल, तेज और वायु का मूल माना गया।

औपनिषद् और महायान दर्शनों में व्यवहार और परमार्थ अथवा प्रतिभास और सत्य का भेद माना गया है। इस भेद को मानकर ही अध्यात्मवादी दार्शनिक एक अद्वयतत्व की प्रतिष्ठा करते हैं। जैन दर्शन भूतवादी है, अध्यात्मवादी नहीं। फिर भी इन्होंने व्यवहारनय और निश्चयनय में भेद माना। जो सामान्यतः दिखाई देता है वह सर्वदा सत्य नहीं होता और कोई आवश्यक नहीं कि सत्य सदा शुद्ध रूप में गोचर हो। उन्होंने आत्मा के तीन रूप माने। बाह्य पदार्थों में आसक्त, देह को अपने से अभिन्न समझनेवाली मूढ़ात्मा बहिरात्मा है। देह का भेदज्ञान हो जाने पर मोक्षमार्गारूढ़ आत्मा को अंतरात्मा कहा गया है। ध्यानबल से कर्ममल का क्षय हो जाने पर जब आत्मा शुद्ध रूप प्राप्त कर लेती है तब उसको परमात्मा कहते हैं। इसी परमात्मा को उन्होंने शिव, ब्रह्मा, विष्णु, बुद्ध आदि कहकर तत्कालीन दर्शन से अपने को परमार्थतः अभिन्न घोषित किया है जो संभवतः किसी जैन आचार्य ने नहीं किया। यही इनकी विशेषता है जो अन्य जैनाचार्यों से इन्हें अलग करती है और इनकी समन्वयवादी प्रवृत्ति का निदर्शन है। उन्होंने आत्मा को कार्य-कारण से भिन्न मानकर सांख्य के कूटस्थ पुरुष की कल्पना के साथ समन्वित किया परंतु आत्मा को अकर्ता नहीं माना। उनके मत में आत्मा अनात्म परिणमन (पुद्गल कर्मो) का कर्ता नहीं है किंतु परिणामी होने के कारण उसको कर्ता भी माना है। आत्मा ज्ञान आदि स्वगत परिणामों का तो कर्ता है ही।

वे अद्वैत मत से भी प्रभावित थे। उनके अनुसार केवलज्ञानी आत्मा को ही जानता है, उसके लिये बाह्य पदार्थ असिद्ध हैं। अद्वैतवादी दर्शन में आत्मा को ही एक तत्व मानकर अन्य पदार्थों को आत्मा का प्रतिभास कहा गया है। उनका मत इस अद्वैत मत से अधिक निकट है। केवली को ज्ञान और दर्शन एक साथ होता है, जैसे सूर्य का प्रकाश और ताप एक साथ रहता है।

वे बौद्धों से भी प्रभावित थे। उनका कहना था कि तत्व का व्यवहार और निश्चयनयों से वर्णन हो ही नहीं सकता। तत्व पक्षातिक्रांत है। जीव शुद्ध रूप में न तो बद्ध है, न अबद्ध। बंध-अबंध से विमुक्त जीव ही समयसार और परमात्मा परमतत्व कहा गया है। व्यवहारनय का निराकरण निश्चयनय से होता है। नागार्जुन की तरह इनका कहना है कि निश्चयनय का आश्रय लेकर यद्यपि तत्व का ज्ञान होता है, तथापि तत्वज्ञान हो जाने पर निश्चयनय का भी नाश हो जाता है।

इस प्रकार आचार्य कुंदकुंद समन्वयवादी जैन दार्शनिक हैं। इनका मत स्वतंत्र है, दूसरे जैन आचार्यों की तरह मतविशेष के लिये इनका आग्रह नहीं है। यही कारण है कि इन्होंने वैशेषिक, सांख्य, वेदांत और महायान बौद्ध दर्शन से बहुत सी बातें ग्रहण की हैं और जैन धर्म को एक नया दृष्टिकोण दिया है।

सं०ग्रं०—जुगलकिशोर मुख्तार : जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, १ भाग; दलसुख मालवणिया : न्यायावतार वार्तिक वृत्ति की भूमिका; ए० एन० उपाध्ये : प्रवचनसार की भूमिका। (रा० चं० पां०)

कुंदुरी यह भूशायी अथवा आरोही बूटी है जो सारे भारत में जंगली रूप में उगती है। इसकी जड़ें लंबी और फल २ से ५ सें० मी० लंबे और १ से २.५ सें०मी०व्यासवाले अंडाकार अथवा दीर्घवृत्ताकार होते हैं। फल कच्चा रहने पर हरे और सफेद धारियों से युक्त होता है। पक जाने पर इसका रंग चटक सिंदूरी हो जाता है। कच्चे फल तरकारी बनाने के काम आते हैं और पकने पर ये ताजे भी खाए जाते हैं। कुछ लोग पके हुए फलों को शक्कर में पाग देते हैं।

कुंदुरी के फलों के रासायनिक विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए हैं :

आर्द्रता	९३.१०	कार्बोहाइड्रेट	०३.५०
प्रोटीन	०१.२०	खनिज पदार्थ	००.५०
वसा	००.१०	कैल्सियम	००.४०
तंतु	०१.६०	फास्फोरस	००.०३%

कुंदुरी की जड़ों, तनों और पत्तियों के अनेक विरचनों का उल्लेख देशी ओषधियों में पाया जाता है जिसके अनुसार इसे चर्म रोगों, जुकाम, फेफड़ों के शोथ तथा मधुमेह में लाभदायक बताया गया है। (नि० सिं०)

कुंबी एक पर्णपाती वृक्ष जो समस्त भारत में पाया जाता है। इसका लैटिन नाम का० अरबोरेआ है। इसकी ऊँचाई ९ से १८ मीटर तक होती है। इसका अंतकाष्ठ हलका या गहरे लाल रंग का होता है। लकड़ी भारी तथा कठोर होती है।

कुंबी की लकड़ी का उपयोग कृषि औजारों, आलमारियों, बंदूक के कुंदों, घरों के खंभों और तख्तों के बनाने के काम आता है, यह परिरक्षी उपचार के बाद रेल के स्लीपर बनाने के लिये अच्छी मानी गई है। कनारा और मालाबार से काफी मात्रा में लकड़ी प्राप्त होती है।

कुंबी का छाल रेशेदार होती है जिसका उपयोग भूरे कागज और घटिया जहाजी रस्सों के बनाने में होता है। इसकी छाल ठंड में शामक के रूप में दी जाती है। इसका उपयोग चेचक एवं ज्वरहारी खुजली को नष्ट करने में होता है। फूलों की पर्णयुक्त कलियों में श्लेष्मा होता है। फल सुगंधित और खाद्य होते हैं। इसमें कषाय गोंद पाए जाते हैं। फल का काढ़ा पाचक होता है। बीज विषैले होते हैं। पत्तियों में १९% टैनिन पाया जाता है। इनका उपयोग चुरट और बीड़ी बनाने में होता है। पौधों में टसर रेशम के कीड़े पाले जाते हैं। (नि० सिं०)

कुंभ (१) ज्योतिष के अंतर्गत बारह राशियों में से ग्यारहवीं राशि। धनिष्ठा का उत्तरार्द्ध और शतभिषा तथा पूर्व भाद्रपद के तीन चरण मिलाकर यह राशि बनती है। राशि चक्र के ३०० अंश के पश्चात् इसके ३० अंश आते हैं। यह स्थिर राशि और शनि का क्षेत्र कहा गया है। इसका मान ३ दंड ५८ पल है।

(२) कुंभ अथवा पुष्कर योग के अवसर पर होनेवाला मेला। यह योग १२ वर्ष के अंतर से स्थानविशेष में आता है। स्कंद पुराण के अनुसार मकर राशि में बृहस्पति और सूर्य के सम्मिलन के दिन पूर्णिमा होने पर प्रयाग और गंगाद्वार (हरिद्वार) में गंगा पुष्कर तुल्य हो जाती है। यह कोटि सूर्य ग्रहण के समान है। इसी प्रकार सूर्य और बृहस्पति के सिंह राशि में मिलने पर यदि बृहस्पतिवार को पूर्णिमा तिथि पड़ती हो तो गोदावरी (नासिक) में, कृष्ण पक्ष की अष्टमी को मेषराशि पर सूर्य एवं बृहस्पति के मिलन पर कावेरी में और श्रावण मास में बृहस्पति अथवा सोम-

वार को अमावस्या अथवा पूर्णिमा के दिन कृष्णा नदी मे पुष्कर योग लगता है। आजकल यह मेला उक्त योग के अनुसार प्रति बारहवें वर्ष प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन और नासिक मे लगता है। ६ वर्ष पर अर्ध कुंभी का मेला होता है। यह मेला देश का सबसे बडा मेला होता है।

(३) तोलने का एक प्राचीन मान। दो द्रोण अथवा ६४ सेर का एक कुभ कहा गया है। कही कही बीस द्रोण का कुभ बताया गया है।

(प० ला० गु०)

कुभकर्ण रामायण का एक प्रमुख पात्र, रावण का कनिष्ठ भ्राता जिसका जन्म सुमाली नामक राक्षस की पुत्री कैकसी के गर्भ से हुआ था। अनुश्रुतियो के अनुसार, उसने जन्म लेते ही क्षुधित होकर अनेक प्राणियो का भक्षण कर डाला था। बचपन से ही वह अतिशय दुष्ट था। उसके अमित पराक्रम के कारण देवता सदैव भयभीत रहते थे। इसने इद्र को पराजित करके स्वय रावण को भी भयभीत कर दिया था। एकबार उसने तप करना आरभ किया। उसकी तपस्या से सतुष्ट होकर जब ब्रह्मा उसे वर देने चले तो देवताओ ने उनसे अपनी चिंता व्यक्त की। तब ब्रह्मा ने सरस्वती को उसके पास भेजकर मति भ्रष्ट कर दिया और उसने सर्वदा निद्रा मे अचेतन रहने का वर माँगा। जब रावण ने यह बात सुनी तो ब्रह्मा के पास गया और बहुत अनुनय किया। तब ब्रह्मा ने कहा कि कुभकर्ण छह महीने तक सोता रहेगा और जागने पर एक ही बार भोजन किया करेगा। असमय निद्रा भग होने पर उसकी मृत्यु अवश्यभावी है। राम ने रावण को जब पराजित कर दिया तब कुभकर्ण अपनी दीर्घ निद्रा मे था। उस समय वह जगाया गया। उसने उठकर अगद, हनुमान तथा सुग्रीव पर आक्रमण किया। अत मे राम ने इसके दोनो हाथ तथा मस्तक काट लिए। इसी के नाम पर कुभकर्णी निद्रा प्रसिद्ध है।

जैन पुराणो मे कुभकर्ण को लकापति सुमाली का पौत्र और रत्नश्रवा का पुत्र कहा गया है। महाभारत के अनुसार उसने पुष्पोत्कटा के गर्भ से जन्म लिया था और वह लक्ष्मण से युद्ध करते हुए मारा गया। कृत्तिवास रामायण मे कुभकर्ण की माता का नाम निकषा कहा गया है। उसका विवाह वैरोचन बलि की दौहित्री वज्रज्वाला से हुआ था। कुभ और निकुभ उसके पुत्र थे। (रा० द्वि०; प० ला० गु०)

कुभकर्ण, महाराणा (सन् १४३३–१४६८ ई०) मेवाडनरेश महाराणा मोकल के पुत्र जो उनकी हत्या के बाद गद्दी पर बैठे। उन्होने अपने पिता के मामा रणमल राठौड की सहायता से शीघ्र ही अपने पिता के हत्यारो से बदला लिया। सन् १४३७ से पूर्व उन्होंने देवडा चौहानो को हराकर आबू पर अधिकार कर लिया। मालवा के सुलतान महमूद खिलजी को भी उन्होंने उसी साल सारगपुर के पास बुरी तरह से हराया और इस विजय के स्मारक स्वरूप चित्तौड का विख्यात कीर्तिस्तभ बनवाया। राठौड कही मेवाड को हस्तगत करने का प्रयत्न न करे, इस प्रबल सदेह से शकित होकर उन्होंने रणमल को मरवा दिया और कुछ समय के लिये मडोर का राज्य भी उनके हाथ मे आ गया। राज्यारूढ होने के सात वर्षो के भीतर ही उन्होने सारगपुर, नागौर, नराणा, अजमेर, मडोर, मोडालगढ, बूदी, खाटू, चाटसू आदि के सुदृढ किलो को जीत लिया, और दिल्ली के सुलतान सैयद मुहम्मद शाह और गुजरात के सुलतान अहमदशाह को भी परास्त किया। उनके शत्रुओ ने अपनी पराजयो का बदला लेने का बार बार प्रयत्न किया, किंतु उन्हे सफलता न मिली। मालवा के सुलतान ने पाँच बार मेवाड पर आक्रमण किया। नागौर के स्वामी शम्स खाँ ने गुजरात की सहायता से स्वतत्र होने का विफल प्रयत्न किया। यही दशा आबू के देवडो की भी हुई। मालवा और गुजरात के सुलतानो ने मिलकर महाराणा पर आक्रमण किया किंतु मुसलमानी सेनाएँ फिर परास्त हुईं। महाराणा ने अन्य अनेक विजय भी प्राप्त किये। उसने डीडवाणे की नमक की खान से कर लिया और खडेला, आमेर, रणथभोर, डूँगरपुर, सीहोर आदि स्थानो को जीता। इस प्रकार राजस्थान का अधिकाश और गुजरात, मालवा और दिल्ली के कुछ भाग जीतकर उसने मेवाड को महाराज्य बना दिया।

किंतु महाराणा कुभकर्ण की महत्ता विजय मे अधिक उनके सास्कृतिक कार्यो के कारण है। उन्होने अनेक दुर्ग, मदिर और तालाब बनवाए तथा चित्तौड को अनेक प्रकार से सुसस्कृत किया। कुभलगढ का प्रसिद्ध किला उनकी कृति है। बसतपुर को उन्होने पुन बसाया और श्रीएकलिंग के मदिर का जीर्णोद्धार किया। चित्तौड का कीर्तिस्तभ तो ससार की अद्वितीय कृतियो मे एक है। इसके एक एक पत्थर पर उनके शिल्पानुराग, वैदुष्य और व्यक्तित्व की छाप है। वे विद्यानुरागी थे, सगीत के अनेक ग्रथो की उन्होने रचना की और चडीशतक एव गीतगोविंद आदि ग्रथो की व्याख्या की। वे नाट्यशास्त्र के ज्ञाता और वीणावादन मे भी कुशल थे। कीर्तिस्तभो की रचना पर उन्होने स्वय एक ग्रथ लिखा, और मडन आदि सूत्रधारो से शिल्पशास्त्र के ग्रथ लिखवाए। इस महान् राणा की मृत्यु अपने ही पुत्र उदयसिंह के हाथो हुई।

महाराणा कुभकर्ण का भारत के राजाओ मे बहुत ऊँचा स्थान है। उनसे पूर्व राजपूत केवल अपनी स्वतत्रता की जहाँ तहाँ रक्षा कर सके थे। कुभकर्ण ने मुसलमानो को अपने अपने स्थानो पर हराकर राजपूती राजनीति को एक नया रूप दिया। इतिहास मे ये राणा कुभा के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं।

स०ग्र०—गौरीशकर हीराचद ओझा वीरविनोद, उदयपुर का इतिहास, नेणसी की ख्यात, ब्रिग्ज फिरिश्ता, जि० ४, महाराणा के शिलालेख। (द० श०)

कुभकोणम् (स्थिति १०° ५८' उ० से ७९° २२' पू०)। तमिलनाडु प्रदेश के तजोर जिले में कुभकोणम् तालुक का प्रधान केंद्र, जो कावेरी तट पर स्थित, मद्रास नगर से १९४ मील दूर, दक्षिण रेलवे की मुख्य शाखा का एक स्टेशन है।

इसकी गणना दक्षिण भारत के प्राचीन तीर्थ स्थानो मे की जाती है। पौराणिक अनुश्रुतियो के अनुसार ब्रह्मा ने अमृत से एक कुभ भर रखा था। उसकी नासिका मे छिद्र हो जाने से बहुत सा अमृत बाहर टपक गया और उससे पाँच कोस तक की भूमि भीग गई। यह भूभाग यही है। जब भगवान् शकर ने देखा कि अमृत गिरने से यह स्थान पवित्र हो गया है तो इस स्थान को तीर्थ समझकर लिंग रूप मे यहाँ आविर्भूत हुए। इसी लिंग पर स्थापित कुभेश्वर नामक मदिर है। इसके अतिरिक्त यहाँ अन्य कई प्रसिद्ध मदिर हैं। इस स्थान का सबध मलिकुर्रम से स्थापित किया जाता है जो लगभग ७वी शताब्दी मे चोल वश की राजधानी था। यह ब्राह्मण जाति तथा ब्राह्मण सभ्यता का लौहस्तभ रहा है। शकराचार्य द्वारा स्थापित यहाँ एक मठ है, जिसमे सस्कृत पुस्तको का बहुमूल्य पुस्तकालय है। 'नागेश्वर' तथा 'सारगपाणि' यहाँ के प्रमुख देवालय हैं।

(नृ० कु० सिं०, प० ला० गु०)

कुभनदास (१४६८–१५८२ ई०) पुष्टमार्गी अष्टछाप के प्रमुख कवि और वल्लभाचार्य के शिष्य। इनका जन्म गोवर्धन के निकट जमुनावतो ग्राम के एक निर्धन क्षत्रिय कुल मे हुआ था। खेती इनका धधा था। १४९२ ई० मे पुष्टिमार्ग मे दीक्षित हुए और श्रीनाथ जी के मदिर मे कीर्तनकार के रूप मे नियुक्त हुए। इस पद पर नियुक्त होने के बाद भी वे अपना जीविकोपार्जन खेती से ही करते रहे। निर्धनता सहन करते रहे पर कभी किसी का दान स्वीकार नहीं किया। कहते हैं कि एक बार राजा मानसिंह ने इन्हे सोने की आरसी और एक हजार मोहरो की थैली भेंट करना चाहा पर उन्होने उसे अस्वीकार कर दिया। जमुनावतो गाँव की माफी भी इन्हें दी जा रही थी पर उन्होने नही लिया। अपनी खेती के अन्न, करील के फूल, टेंटी और झडबेरो से ही सतुष्ट रहकर श्रीनाथ जी की सेवा करते रहे।

इन्हें निकुज लीला का रस अर्थात् मधुरभाव की भक्ति प्रिय थी। इनके रचे गए लगभग ५०० पद उपलब्ध हैं जिनमे आठ पहर की सेवा तथा वर्षोत्सवो के लिये रचे गए पद ही अधिक है। (प० ला० गु०)

कुँवरसिंह, बाबू १८५७ ई० के भारतीय स्वातंत्र्य सग्राम के क्रांतिकारी वीर सेनानी। १७८२ ई० (११८९ फसली के आसपास)

बिहार प्रदेश के जगदीशपुर नामक ग्राम में जन्म हुआ। बचपन और युवावस्था घोड़े की सवारी, निशानेबाजी और शिकारी जीवन में बीतने के कारण किसी प्रकार फारसी में 'गुलिस्ताँ' तक की शिक्षा प्राप्त की। वे हिंदी और संस्कृत भाषा के भी ज्ञाता थे। अपने पिता बाबू साहबजादा सिंह की मृत्यु के बाद वे १२३७ फसली (१८३० ई०) में जगदीशपुर की गद्दी पर बैठे। उनकी जमींदारी का विस्तार बिहार प्रदेश के आरा जिले के जगदीशपुर, पीरो परगना, नोनार, आरा, बारहगाँवा आदि अनेक मौजों और परगनों तक था, जिसकी वार्षिक आय लगभग ६।। लाख रुपए थी। जगदीशपुर की कचहरी न्याय के लिये प्रसिद्ध थी। इनके राजदरबार में 'कविराम' प्रधान कवि थे।

अँगरेज शासकों द्वारा कतिपय युद्धों में लड़ने के लिये देशी सिपाहियों को 'धर्मविरुद्ध समुद्रमार्ग' होकर बाहर जाने की आज्ञा, नई बंदूकों के टोंटे पर गौ और सूअर की चर्बी चढ़ाए जाने की अफवाह तथा देशी रियासतों, राजे रजवाड़ों एवं देश की तत्कालीन विक्षोभजनक परिस्थिति के कारण बंगाल के देशी सिपाहियों के दल से १८५७ ई० में जो विप्लव शुरू हुआ, वह कुछ ही महीनों के भीतर दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, झाँसी, ग्वालियर, प्रयाग, पटना आदि स्थानों में फैल गया। दिल्ली की गद्दी पर बहादुरशाह के पुन: बैठने की अफवाह के कारण पटना के मुसलमानों में खलबली मच गई। बिहार प्रदेश में फैलते विद्रोह को शांत करने के लिये पटना के तत्कालीन कमिश्नर मि० टेलर ने जमींदारों और राजाओं की एक बैठक १८ जून, १८५७ को बुलवाई। आमंत्रण दिए जाने पर भी कुँवरसिंह उस बैठक में संमिलित नहीं हुए। जुलाई, १८५७ की दूसरी बैठक में भी जब वे नहीं आए तब अंग्रेज शासकों की शंका बढ़ी। एक दिन आरा कचहरी के जज की टेबुल पर प्राप्त एक 'गुमनाम' पत्र के आधार पर वे बागी घोषित कर विद्रोहियों के नेता करार दिए गए। दूसरी ओर स्वातंत्र्य समर के अन्य सेनानियों द्वारा 'रोटी' और 'कमल' के माध्यम से संग्राम में भाग लेने के लिये बाँटा जानेवाला निमंत्रण कुँवरसिंह को मिला। जब आरा का कलक्टर उन्हें गिरफ्तार करने के लिये चला, वे जगदीशपुर छोड़कर सेना का संगठन करते हुए स्वातंत्र्य समर में कूद पड़े। दानापुर छावनी के बागी सिपाही उनकी सेना में आ मिले।

२७ जुलाई, १८५७ को कुँवरसिंह की सेना ने आरा शहर पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। कारागार के कैदी मुक्त कर दिए गए। कुँवरसिंह की पदाति सेना में राजपूत, पठान, किसान, कुम्हार, मुराव, बढ़ई, लोहार, बागी सिपाही, पेंशनयाफ्ता सिपाही आदि हर वर्ग के लोग थे। ३० जुलाई, तक 'आरा हाउस' पर जहाँ अंग्रेज छिपे थे, घेरा डाले रहे। रात्रि में सेना ने कूच किया और गाँगी नाले को पार करते समय कप्तान डन्बर की सेना से हुई मुठभेड़ में कुँवरसिंह की दूसरी विजय हुई। २ अगस्त को बीबीगंज और १२ अगस्त को दिलावर ग्राम में अंग्रेजों की बड़ी सेना से क्रांतिकारी पराजित हुए। आरा और जगदीशपुर पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया। परंतु कुँवरसिंह ने हार न मानी। वे सहसराम और रोहतासदुर्ग की ओर बढ़े। सरकारी सैन्य की ४०वीं पल्टन उनकी सेना से आ मिली। रीवा पर आक्रमण करने के बाद कुँवरसिंह ने कानपुर में ताँतिया टोपे, नाना साहब और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई से मिलकर क्रांति की योजनाएँ बनाई। कालपी की लड़ाई में उनके पौत्र वीरभंजनसिंह खेत रहे। कुँवरसिंह छह महीने तक बाँदा, सुल्तानपुर, गोंडा, लखनऊ, प्रयाग, मिरजापुर, बनारस (वाराणसी) और गाजीपुर आदि जिलों में क्रांति की लहर दौड़ाते आजमगढ़ पहुँचे और अतरौलिया नामक ग्राम पर १७ मार्च, १८५८ को आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। २७ मार्च को कर्नल डेम्स भी ससैन्य हारे। लार्ड कैनिंग ने लार्ड मार्क, मेजर डगलस, बेनविल, लागडेन, जनरल ल्यूगार्डन और हैमिल्टन को भेजा। लार्ड मार्क ६ अप्रैल को कुँवरसिंह की सेना से पराजित हुए। जनरल बेनविल और हैमिल्टन टॉस तट पर हारे। १७ अप्रैल को मेजर डगलस ने पलायन किया फिर जनरल ल्यूगार्डन की सेना ने कुँवरसिंह का पीछा किया। अंग्रेजी फौजों का मुकाबला करते हुए कुँवरसिंह जगदीशपुर की ओर बढ़े। बलिया जिला के बहुआरा घाट से गंगा नदी पार करते समय एक अंग्रेज की बंदूक से उनके दाहिने हाथ की केहुनी पर गोली लगी। उन्होंने घायल हाथ काटकर गंगा को समर्पित कर दिया। २२ अप्रैल, १८५८ को कुँवरसिंह ने जनरल लॉ० ग्रांट की सेना को पराजित कर अपनी राजधानी जगदीशपुर पर पुन: अधिकार कर लिया। हाथ का जख्म ठीक न हो सकने के कारण अंतिम विजय के तीसरे दिन अर्थात् २५ अप्रैल, १८५८ को वीर सेनानी कुँवरसिंह की मृत्यु हो गई। अपने शासन के अंतिम काल में बाबू कुँवरसिंह ने ब्राह्मण और कर्मचारियों को जागीरें दीं। जितौरा में शिकारगाह, जगदीशपुर में शिवमंदिर और तालाब, आरा में 'धर्मन बीबी की मसजिद', अनेक महल, धर्मशालाएँ, बाग बगीचे तथा जंगलों को कटवाकर गरीबों के लिये बस्तियों का निर्माण आदि अनेक कीर्तिकार्य किए।

सं०ग्रं०—मथुरादास दीक्षित : बाबू कुँवरसिंह, भारती पुस्तक माला, कलकत्ता, संवत् १९८०; दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह : कुँवरसिंह—एक अध्ययन, अंतर्राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल, पटना, १९५५ ई०।

(गि० शं० सिं०)

कुआँ (कूप) मिट्टी या चट्टानों को काटकर कृत्रिम खोदाई या छेदाई से जब कोई द्रव, विशेषतया पानी, निकलता है तब उसे कुआँ कहते हैं। कुछ स्थानों के कुओं से पानी के स्थान में पेट्रोलियम तेल भी निकलता है। कुएँ कई प्रकार के होते हैं। यह उनकी खोदाई, गहराई, मिट्टी या चट्टान की प्रकृति और पानी निकलने की मात्रा पर निर्भर करता है। कुएँ छिछले हो सकते हैं या गहरे। गहरे कुओं को उत्स्रुत कुआँ (Artesian well) कहते हैं, यद्यपि यह नाम गलत है। साधारणतया कुएँ वृत्ताकार तीन से पंद्रह फुट, या इससे अधिक, व्यास के होते हैं। इनकी गोल दीवारें, जिन्हें कोठी कहा जाता है, ईंटों की बनाई जाती हैं और उनके नीचे तल पर लकड़ी या प्रबलित कंक्रीट का चक्का होता है। ऐसे ही कुओं का पानी पीने या सिंचाई के काम आता है। छिछले कुओं का पानी पीने योग्य नहीं समझा जाता, क्योंकि उनके धरातल के पानी से दूषित हो जाने की आशंका रहती है। पीने के पानी के लिये गहरे कुएँ अच्छे समझे जाते हैं। उनका पानी शुद्ध रहता है और अधिक मात्रा में भी प्राप्त होता है।

कुएँ साधारणतया ५० से लेकर १०० फुट तक गहरे होते हैं, पर अधिक पानी के लिये १५० से ८०० फुट तक के गहरे कुएँ खोदे गए हैं। कुछ विशेष स्थानों में तो कुएँ छह हजार फुट तक गहरे खोदे गए हैं और इनसे बड़ी मात्रा में पानी प्राप्त हुआ है। आस्ट्रेलिया में चार सौ फुट से अधिक गहरे कुएँ खोदे गए हैं। इनसे एक लाख से लेकर एक लाख चालीस हजार गैलन तक पानी प्रतिदिन प्राप्त हो सकता है।

जिन नदियों या नालों के तल की मिट्टी क्षरणशील होती है उनमें पुलों के पायों या अन्य निर्माण की बुनियाद भी कुओं पर रखी जाती है।

कुएँ वाली नींव में चार भाग होते हैं—(१) चक्क (curb) जिसमें कटाई कोर (cutting edge) भी संमिलित है, (२) कोठी (Steining), (३) डाट (plug) तथा (४) कूप-ढक्कन (Wellcap)। (देखें चित्र)

(१) चक्क—चक्क कोठी की नींव और काटने की कोर का काम देता है। छोटे कुओं के लिये यह काठ का बना होता है, पर गहरी नींव के लिये यह इस्पात अथवा प्रबलित कंक्रीट का बना होता है। उनके कटाईकोर मृदु इस्पात की पट्टी और कोनियों से बनाए जाते हैं। चक्क के आभ्यंतर फलक की ढाल ऊर्ध्वाधर २५°–३५° के बीच होती है।

(२) कोठी—कुएँ की दीवार को कोठी कहते हैं। नीचे से ऊपर तक यह पूर्णतया सीधी (ऊर्ध्वाधर) होनी चाहिए। व्यवहार में महत्तम झुकाव १/६० तक रह सकता है। कोठी पक्की चुनाई या कंक्रीट की हो सकती है।

(३) डाट—जब कुएँ की अंतिम धँसान पूरी हो जाती है तब पेंदे को साफ कर लेते और जल के भीतर कंक्रीट की डाट लगा देते हैं। डाट चक्क के ऊपर लगभग दो फुट तक फैली रहती है।

(४) कूप ढक्कन—कुएँ का ढक्कन दो फुट मोटी प्रबलित कंक्रीट की शिला (slab) का होता है। वह कुएँ पर रखा जाता है और
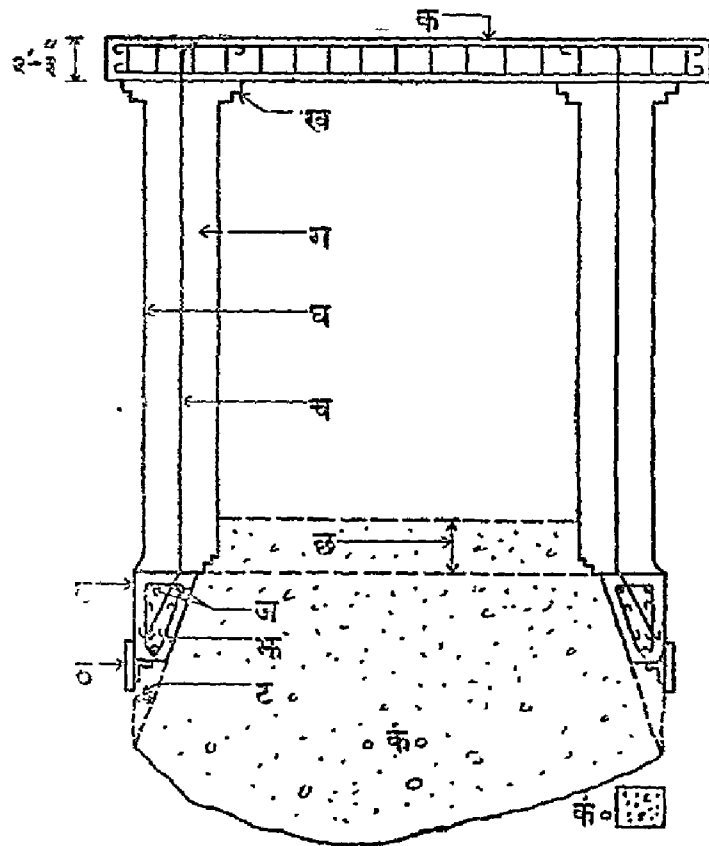
कुएँ की एक आड़ी काट

क. कुएँ का ढक्कन, ख. टोडे का बढाव; ग. कंक्रीट या ईंट की पक्की चिनाई, घ. गोल दीवार (कोठी), च लबाई की छड, छ. कंक्रीट की मोटाई २-३ फुट, ज. नरम इस्पात की छड़, झ. प्रबलित छल्ले (Stirrups), कं० कंक्रीट की डाट (*plug*), ट. चक्क का कोण (*curb angle*) २५°–३५°; ठ. कटाई कोर (cutting edge) ।

पाए के आधार पर कार्य करता है। ढक्कन और तले के बीच का भाग रेत से भर दिया जाता है।

कुओं का आकार—कुओं के आकार साधारणतया एकहरा वृत्ताकार, दोहरा अष्टभुजीय, दोहरा D–आकार, द्विवृत्ताकार, आयताकार या एक से अधिक गोलाकार, एक दूसरे के संनिकट होते हैं। एकहरा वृत्ताकार कुआँ काफी मजबूत होता है। इसे बनाने मे सुगमता और धँसाने मे अत्यधिक सरलता होती है। धँसाने मे जो रुकावट हो उसको सरलता से दूर किया जा सकता है और झुकाव पर नियंत्रण रखा जा सकता है। यदि कंक्रीट का बना हो तो यह सस्ता भी होता है।

दोहरा अष्टभुजीय आकार गहरे कुओं अथवा मेहराबदार स्तंभ के लिये उपयुक्त होता है। यदि मिट्टी कडी हो तो ऐसे स्थान मे ऐसे ही कुएँ खोदे जाते है।

दोहरे D–आकार के कुएँ बालू या बलुई मिट्टी के लिये दोहरे अष्टभुजीय कुओं से अच्छे होते हे।

छिछले कुओं के लिये आयताकार अच्छा रहता है।

यदि पाए की लबाई ऐसी हो कि स्थान पर दोहरा वृत्ताकार कुआँ न बैठे तो एक से अधिक वृत्ताकार कुएँ अलग अलग बनाए जाते है। दो वृत्ताकार कुओं की परिधियों के बीच कम से कम चार फुट की दूरी रहनी चाहिए।

निर्माण सामग्री—कुएँ की निर्माण सामग्री मे चार वस्तुएँ होती है :

(१) **लकड़ी**—इसका उन्ही कुओं मे प्रयोग होता है जो बहुत छिछले, प्राय ८ से १० फुट तक गहरे होते है।

(२) **इस्पात**—बड़े आकार के गहरे कुएँ इस्पात के बनाए जा सकते हैं। यह वृत्ताकार होते है और बीच के वलयाकार स्थान मे कंक्रीट भरा जाता है ताकि बोझ बढ जाय। इसकी धँसाई मे समय कम लगता है पर खर्च अधिक होता है।

(३) **पक्की चिनाई**—साधारणतया ईंटों की चिनाई सीमेंट के मसाले से की जाती है।

जिस क्षेत्र मे प्राय: भूचाल आते रहते है वहाँ संपीडन और तनाव के प्रतिबल बहुत अधिक हो जाते हैं, इसलिये ईंट की चिनाई को इस्पात और प्रबलित कंक्रीट से दृढ़ करना पड़ता है।

(४) **कंक्रीट**—कुएँ के निर्माण में कंक्रीट अधिकता से प्रयुक्त होता है। अत्यधिक भूचाल आनेवाले स्थलों पर कंक्रीट का कुआँ बनाना अधिक सस्ता पड़ता है।

कुएँ का अभिकल्प—इसमे तीन बातें निश्चय की जाती है : (१) कुएँ की गहराई, (२) उसकी आकृति तथा (३) कोठी की मोटाई।

नीव के नीचे तथा आसपास की भूमि पर ऊपरी निर्माण के बोझ के स्थानांतरण के ढंग पर यह निश्चय किया जाता है कि तल की सबसे गहरी हो सकनेवाली कटाई से कितने नीचे कुएँ की नीव रखी जाए।

कुएँ का आकार ऊपरी निर्माण तथा भूमि स्तर के प्रकार पर निर्भर करता है। बचत के लिये उसका आकार छोटे से छोटा और ऊपरी निर्माण के अनुकूल होना चाहिए।

कोठी का डिजाइन ऐसा किया जाता है कि वह सर्वाधिक गहरे कटाव के तल पर बोझों और बलों से उत्पन्न अधिकतम प्रतिबल सह सके। अचल भार, चल भार, भूकंप तथा जलधाराजन्य क्षैतिज बलों, गाड़ियों, भूकंपों और वायुबलों इत्यादि से यह प्रतिबल उत्पन्न होता है।

कुएँ की गलाई—इसका उद्देश्य कुओं को ठीक अवस्था मे रखना है। कुएँ की ठीक गलाई के लिये निर्माणकाल मे ही बराबर सावधान रहने की आवश्यकता है। ऊर्ध्वाधरता को बराबर जाँचते रहना चाहिए, जिससे कुआँ साहुल से अधिक बाहर न चला जाय। कुएँ जितना अधिक नीचे गलाए जाते है उतना ही अधिक उनका स्थायित्व होता है।

(ज० कु०)

कुक, जेम्स (१७२८–१७७९ई०)। भू-अन्वेषक और अंग्रेजी नौसेना के कप्तान। इंग्लैंड के यार्कशायर प्रांत मे मार्टन ग्राम के किसान के घर २८ अक्टूबर, १७२८ को उनका जन्म हुआ। १२ वर्ष की उम्र मे एक बिसाती की दुकान पर नौकर हुआ। यह कार्य उन्हे आकृष्ट न कर सका, अत. प्राय. वह अपने स्वामी की चोरी समुद्र के किनारे भाग जाते और मुग्ध होकर नाविकों से सुदूर नगरों के अद्भुत निवासियों की कहानियाँ सुना करते। फलत. वे समुद्री यात्रा की ओर आकृष्ट हुए। अपना सामान बाँधा और दुकान से एक शिलिंग चुराकर भाग निकले। ह्विट्बी मे एक कोयला ढोनेवाले नाविक के यहाँ नौकरी की। अगले १५ वर्षों तक वह नार्वे तथा बाल्टिक के समुद्री किनारे पर आने जानेवाले छोटे जहाजो पर कार्य करते रहे।

२७ वर्ष की आयु मे वे जहाज के नाविक बने और इंग्लैंड-फ्रांस युद्ध के समय रायल नेवी मे नियुक्त हुए। उन्हें कनाडा में सेंट लारेंस के कष्टप्रद सर्वेक्षण का कार्य मिला। फ्रांसीसियों के संभावित आक्रमण के निरंतर खतरे के अंतर्गत कार्य करते हुए उन्होंने क्वेबेक से समुद्र तक के नदीमार्ग का मानचित्र बनाया जो बाद मे अंग्रेजी बेड़े के अब्राहम हाइट्स पर आक्रमण के समय पथप्रदर्शक बना।

१७६२ मे उन्होंने न्यूफाउंडलैंड के समुद्रतट का सर्वेक्षण किया और मानचित्र के क्षेत्र मे उसकी प्रशंसा हुई। अनुभव से उन्होंने गणित मे भी क्षमता प्राप्त की जो उनके कार्य मे बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। १७६६ मे

जब उन्हें न्यूफाउंडलैंड के तटीय प्रदेश का सर्वेक्षण करने के लिये भेजा गया तब उन्होंने ५ अगस्त, १७६६ के सूर्यग्रहण की वैज्ञानिक गणना से संसार को आश्चर्यान्वित कर दिया। उसके इस शोध ने रायल सोसाइटी का ध्यान आकर्षित किया। यह उनके जीवन का प्रतिभाशाली मोड़ था।

रायल सोसाइटी के सदस्य आस्ट्रेलिया की खोज में अधिक दिलचस्पी रखते थे। अतः उसकी खोज का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य कुक को सौंपा गया। आस्ट्रेलिया के लिये पिछली शताब्दी में कई खोजें हो चुकी थीं, परंतु स्थिति अभी ज्यों की त्यों बनी थी। १७६८ की २५ अगस्त को वह ८३ व्यक्तियों के साथ इंडेवर नामक जहाज पर तीन वर्ष की यात्रा पर निकला। १७६९ में वह ताहिती पहुँचा जहाँ उसने शुक्र का सौर मंडल में प्रवेश देखा। वह दक्षिण की ओर बढ़ता गया और आस्ट्रेलिया को ढूँढ़ता न्यूज़ीलैंड जा पहुँचा। डेढ़ मास की निरंतर यात्रा के पश्चात् भूमि का दर्शन आह्लादक था, परंतु वहाँ के निवासी बर्बर निकले; द्वीप के भीतर जाकर खोज करना संभव न हो सका।

कुक ने उत्तरी तथा दक्षिणी द्वीपों की यात्रा की और समुद्री मार्ग निश्चित किया। उन्होंने रानी चारलोटी नामक द्वीप पर अधिकार कर एक सैनिक समारोह किया। न्यूज़ीलैंड से आगे बढ़कर वह २०वें दिन आस्ट्रेलिया पहुँचा। पूर्वी किनार पर उसे असंख्य प्रकार की अनजानी जड़ी बूटियाँ मिलीं जिससे उसने उसका नाम वनस्पति की खाड़ी (बॉटनी बे) रखा। पूर्वी तट पर यात्रा करते हुए उसका जहाज बड़ी कठिनाई के साथ एक नदी के मुहाने में पहुँचा। आस्ट्रेलिया छोड़ने से पहले उसने फिर एक सैनिक समारोह किया और पूर्वी आस्ट्रेलिया पर सम्राट् जार्ज के अधिकार की घोषणा की। बिना रक्तपात के एक बड़े महाद्वीप पर अधिकार इतिहास की एक अपूर्व घटना थी। न्यूगिनी होता हुआ वह उत्तमाशा अंतरीप के मार्ग से स्वदेश लौटा और कमांडर बना दिया गया।

१३ जुलाई, १७७२ को वह प्लीमथ से फिर समुद्री खोज के लिये निकला। दो जहाज लेकर, जिनपर १९३ व्यक्ति थे, वह पहले उत्तमाशा की ओर बढ़ा और दक्षिण पूर्व की ओर अंटार्कटिक समुद्र की ओर निकल गया। दक्षिणी प्रशांत सागर की खोजकर उसने यह सिद्ध किया कि उधर कोई महाद्वीप नहीं है। उसकी यह यात्रा बर्फ की चट्टानों से भरे तूफानी समुद्रों की थी और दोनो जहाज समुद्री धुंध के कारण विलग हो जाते थे। न्यूज़ीलैंड, डस्की बे तथा रानी चारलोटी घूमता वह उस क्षेत्र की यात्रा करता रहा। मार्ग में अपूर्व हरे भरे द्वीपों तथा उनके आश्चर्यजनक निवासियों को देखता, वैज्ञानिक खोज करता वह १७७५ की २५ जुलाई को जब प्लीमथ लौटा तब वह मारक्विस, टोंगा तथा न्यू हेब्रीडीज़ द्वीपसमूहों को फिर से खोज और न्यू कैलेडोनिया, नारफाक तथा पाइन द्वीपों को देख और दक्षिणी प्रशांत सागर की लहरों को अपने पतवारों से चंचल बना चुका था।

तीन वर्षों में कुक ने ६० हजार मील की यात्रा की। इस काम में उसके नाविकों में केवल एक की ही मृत्यु हुई। उस समय की संकटपूर्ण समुद्री यात्रा की यह अपूर्व विजय थी। फलतः समुद्री यात्राओं की मृत्यु के कारण की उसने वैज्ञानिक जाँच की और खोजपूर्ण लेख प्रकाशित किया जिसमें स्वास्थ्य के कुछ साधारण परंतु आधारभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। रायल सोसाइटी ने उसे कॉपले पदक प्रदान किया। उसकी द्वितीय यात्रा का ही परिणाम प्रशांत सागर का वर्तमान मानचित्र है। बर्फीले अंटार्कटिक सागर का जो विवरण उन्होंने प्रस्तुत किया वह एक शताब्दी पश्चात् ध्रुवों की खोज करनेवाले साहसी नाविकों का प्रेरणा स्रोत बना। वह पदोन्नति करता ग्रीनिच अस्पताल का कप्तान बना तथा रायल सोसाइटी ने उसे अपनी सदस्यता प्रदान की।

१७७६ ई० में कुक ने अपनी तृतीय एवं अंतिम यात्रा आरंभ की। इस यात्रा का उद्देश्य प्रशांत सागर से अटलांटिक सागर जाने का मार्ग ढूँढ़ निकालना, नई दुनिया को पुरानी दुनिया से जोड़ना था। दो जहाज उसके साथ थे। वह उत्तमाशा अंतरीप की राह तस्मानिया, न्यूज़ीलैंड, टोंगा, ताहिती होता हुआ अपने परिचित मार्ग से बढ़ा और वह हवाई द्वीपसमूहों की ओर पहुँचा। उसने उन्हें सैंडविच द्वीपसमूह का नाम दिया। लार्ड सैंडविच उस समय सेना के अध्यक्ष और कुक के मित्र थे। वह अमेरिका के पश्चिमी तटों से होता उत्तर की ओर अनजाने बर्फीले समुद्रों में बढ़ता गया। और तटीय प्रदेशों का वैज्ञानिक सर्वेक्षण करता एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचा जहाँ १२ फुट ऊँची बर्फ की दीवार उसका मार्ग रोके खड़ी थी। कुक ने उसका नामकरण बर्फीला अंतरीप किया। लौटते समय वह साइबेरिया के उत्तरी पूर्वी किनारे से होता हवाई लौटा। एक सप्ताह पश्चात् फिर यात्रा आरंभ की परंतु तूफान के कारण उसे लौटना पड़ा। हवाई के निवासियों ने उनकी एक नाव चुरा ली। वह कुछ साथियों के साथ नाव वापस माँगने के लिये किनारे उतरा। स्थानीय निवासियों के साथ विवाद बढ़ा और उनकी बढ़ती संख्या देखकर उसके साथी उसे अकेला छोड़ जहाज पर भाग गए। स्थानीय निवासियों ने उसे मारकर जला डाला। अब उसकी कुछ हड्डियाँ ढूँढ़कर एक स्मारक बना दिया गया है। परंतु उसका वास्तविक स्मारक तो उसके द्वारा बनाया प्रशांत सागर का मानचित्र है। उसका बनाया मानचित्र आज भी ग्रीनिच की वेधशाला में देखा जा सकता है। (प० उ०)

कुकी मंगोली नस्ल की एक वनवासी जाति जो असम और अराकान के बीच लुशाई और काचार जिले में रहती है। इसके बोजुग कुकी, वायटे कुकी, खेलमा कुकी आदि कई कुलवाची भेद हैं। ये बलिष्ठ एवं ठिगने होते हैं और नागा लोगों की अपेक्षा अधिक खूँखार समझे जाते हैं। आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व लुशाई और कुकी लोगों में युद्ध हुआ जिसमें कुकी लोगों की हार हुई और वे अपना निवास छोड़कर काचार में आ बसे। उन्हें तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने प्रश्रय दिया और २०० कुकियों को सीमांत रक्षार्थ सैनिक शिक्षा दी।

कुकी लोग अपने सरदार की आज्ञा का पालन अपना धर्म समझते हैं। सरदार उनका एक प्रकार से राजा होता है और समझा जाता है कि वह दैवी अंश है। इस कारण वे लोग उसका कभी अनादर करने का साहस नहीं करते वरन् वह जो आदेश देता है उसका आँख मूँदकर पालन करते हैं। विशेष अवसर आने पर सरदार संकेत द्वारा आदेश जारी करता है। यदि कोई व्यक्ति सरदार का भाला सुसज्जित रूप में लेकर गाँव में घूमता है तो उसका अर्थ होता है कि सरदार ने सब लोगों को अविलंब बुलाया है। इस वर्ग का प्रत्येक व्यक्ति अपने सरदार को प्रति वर्ष करस्वरूप एक टोकरी चावल, एक बकरी, एक कुक्कुट और अपने शिकार का चौथा भाग प्रदान करता है और चार दिन की कमाई देता है। सरदार की सहायता के लिये एक मंत्रिमंडल होता है जिसकी सहायता से वह न्याय करता है।

कुकी लोगों में विश्वासघात की सजा मृत्यु है। खून के अपराध में खूनी और उसके परिवार को गुलामी करनी होती है। स्त्रियों को किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं है। उनपर सरदार का आदेश लागू होता है।

कुकी लोग उथेन नामक देवता की पूजा करते हैं। (प० ला० गु०)

कुकुर प्राचीन भारत की एक जाति जो संघ शासन की अनुयायी थी। महाभारत के अनुसार अंधक-वृष्णि के गणराज्य की यह एक शाखा है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में अंधक, वृष्णि, भोज आदि गणराज्यों की सेनाओं के साथ कुकुरसेना ने भी कृतवर्मा के नेतृत्व में युद्ध किया था और भीष्म की रक्षा की थी। राजसूय यज्ञ के अवसर पर उपहार लानेवालों में कुकुरों का नाम आया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार कुकुरों को राजशब्दोपजीवी संघ बताया गया है। पश्चिमी भारत में मिले कतिपय अभिलेखों में कुकुरों का उल्लेख आता है जिनसे ज्ञात होता है, प्रथम शती ई० पू० के लगभग कुकुर गणराज्य का अस्तित्व था। कदाचित वे मौर्य साम्राज्यवाद की लपट से अपनी रक्षाकर बच गए थे। (वा० श० अ०)

कुक्कुर कास (कूकरखाँसी, काली खाँसी अथवा हूपिंग कफ (Hooping cough))। छूत का विशेष रोग, जिसमें रोगी के श्वसनतंत्र में सूजन हो जाती है और सतत खाँसी का आक्रमण होता

रहता है। खाँसी के अंत में 'हूप' शब्द होता है। अधिकतर यह रोग छह सात साल से कम आयु के बच्चों को होता है। युवा और वृद्धावस्था मे भी कभी कभी हो आता है। प्राय: खाँसते खाँसते चेहरा और नेत्र लाल हो जाते है तथा वमन होने लगता है।

इस रोग का उद्भवन काल छह से अठारह दिन है और इसका संक्रमण सवेग आरम्भ होने से चार सप्ताह तक, अथवा रोग प्रारंभ होने से छह सप्ताह तक, या हूप बंद होने के दो सप्ताह तक रहता है।

इस रोग का कारण बैसिलस परटयुसिस (Bacillus Pertussis) नामक दंडाणु है, जो रोगी के श्लेष्मा (बलगम) के साथ निकलकर कफ के छोटे छोटे कणों के रूप मे श्वासनली द्वारा औरो मे छूत फैलाता है। वैसे तो यह रोग किसी भी ऋतु मे हो सकता है, किंतु शीत और ग्रीष्मकाल मे इसका अधिक प्रकोप रहता है।

लक्षण—रोगोत्पत्ति के अनंतर सर्वप्रथम नाक से पानी बहने लगना है, तबीयत गिरी सी रहती है और हलका सा ज्वर हो जाता है। तदुपरांत हलकी खाँसी आती है, फिर उसकी तीव्रता धीरे धीरे बढ़ जाती है। रोगी लबा, गहरा, ऊँचा अत श्वास भरने लगता है और इस प्रकार का एक के बाद दूसरा आक्रमण होने लगता है। मुख और नेत्र सुर्ख हो जाते हैं। अंत मे थोड़ा सा बलगम निकलता है, रोगी बहुत सुस्त और निर्बल हो जाता है। खाँसी के बारबार आक्रमण के कारण कई बार बच्चों का मुँह सूज जाता है।

चिकित्सा—रोगी को खुले हवादार स्वच्छ कमरे मे रखना चाहिए। दूसरे बच्चो को रोगी से दूर रखना चाहिए। भोजन अल्प मात्रा मे और थोड़े थोड़े समय पर देना चाहिए। बेलाडोना, ब्रोमाइड, एफेड्रीन फीनोबारबिटोन, क्लोरोमाइसेटिन अथवा ऑरिओमाइसिन इनकी औषधि हैं। किंतु निरोध के रूप मे बच्चो को छोटी अवस्था में ही हूपिंग कफ वैक्सीन अथवा ट्रिपल एंटीजेन वैक्सीन का इंजेक्शन एक एक मास के अंतर से लगातार तीन बार दिया जाता है। इससे इस रोग के होने की संभावना प्राय: नहीं रहती। आयुर्वेद मे लसोडे की चटनी, दशमूल का काढ़ा या घृत तथा चंद्रामृत रस बताए गए हैं। (क० दे० व्या०)

कुक्कुट मुर्ग, मुर्गा-मुर्गी। भारतीय मूल का एक जगली पक्षी जो अब पालतू बन गया है। चीन से प्राप्त एक लेख के अनुसार यह पक्षी तेईस सौ वर्ष पूर्व भारत से चीन ले जाया गया था। इससे यह ज्ञात होता है कि इस काल से बहुत पूर्व भारत मे कुक्कुट पालन आरभ हो गया था। मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त मिट्टी के एक मुहर पर कुक्कुट का अंकन भी इसका प्रमाण है। साहित्य मे इसका प्राचीनतम उल्लेख अथर्ववेद मे प्राप्त होता है। उन दिनो यह लोकविश्वास प्रचलित हो गया था कि घर मे कुक्कुट पालने से राक्षसों और शत्रुओं के जादू-टोना का प्रभाव नहीं होता। वैदिक साहित्य से इस बात की जानकारी प्राप्त होती है कि अश्वमेध यज्ञ के समय सवितृ देवता को कुक्कुट की बलि दी जाती थी। परवर्ती काल मे यज्ञ मे कुक्कुटबलि निषिद्ध हो गई तथापि आजतक ग्राम-देवताओं के सम्मुख इसकी बलि दी जाती है। भूत-पिशाचों को भी संतुष्ट करने के लिये कुक्कुट बलि की प्रथा अब भी अनेक ग्राम्य और वनजातियो मे प्रचलित है। प्राचीन काल में लोग मनोविनोदार्थ भी कुक्कुट पालते थे और उनके युद्ध मे रस लेते थे। आजकल इस पक्षी का पालन मुख्यरूप से व्यवसाय के रूप में किया जाता है। उसका मांस और अंडा खाने के काम आता है (देखिए कुक्कुट उत्पादन)।

भारतीय कुक्कुट की मूलत: दो जातियाँ है—(१) देश के दक्षिणी नायद्वीप के पश्चिम प्रदेश मे छोटी पहाड़ियोंवाले क्षेत्र में बाँस की कोठियों के बीच पाई जाती है। इस जाति के कुक्कुट अधिकांशत: झुरमुटों और साफ किए जंगलों मे उगी छोटी झाड़ियों अथवा उजाड़ उपवनों में रहते हैं। इसको लैटिन की परिभाषिक शब्दावली मे गैलस सान्नेरेटाइ कहते है। (२) इसका लैटिन नाम गैलस-गैलस है। यह हिमालय की तराई तथा दक्षिण मे फैली पहाड़ियो की तलहटी तथा मध्यप्रदेश के साल के जंगलों में पाई जाती है। भारत के अतिरिक्त यह बर्मा, थाइलैंड, मलाया प्रायद्वीप मे भी पाई जाती है। दोनों ही जातियों के कुक्कुट प्राय: एक से ही होते हैं। प्रत्यक्ष भिन्नता केवल रंग मे देखने मे आती है। पहली जाति का कुक्कुट धारीदार भूरे रंग का होता है और उसकी पूँछ चमकदार और हँसिये की आकार की होती है। मादा कुक्कुट का पीठ का भाग हल्का कत्थई और पेट प्राय: सफेद होता है और उसमे चित्ती होती है। दूसरी जाति के कुक्कुट का रंग कुछ लाल होता है। इन दोनो ही जाति के कुक्कुट डरपोक और शर्मीले होते हैं और प्राय: यूथ बनाकर रहते हैं। वे अपनी ओट से खान ढूँढने के लिये सुबह शाम निकलते है और अपनी ओट से अधिक दूर नहीं जाते। जरा सी आहट पाते ही झट अपनी ओट मे घुस जाते हैं। अनाज, कोंपल, जंगली फल, गूलर आदि और कीड़े मकोड़े, मेढक, चूहा आदि इनके भोजन हैं।

कुक्कुट का वीरता मे दूसरा कोई सानी नहीं है। मादा कुक्कुट अपने बच्चों की रक्षा के लिये जान लड़ा देती है। नर कुक्कुट अपनी मादा कुक्कुट को सकटग्रस्त देखकर कुछ भी कर सकता है। युद्धसन्नद्ध कुक्कुट अन्य जानवरों की तरह ही जूझते हैं। कदाचित् उसकी इस वीरता के कारण ही इसे पुराणों मे देवताओं के सेनापति कार्तिकेय का वाहन माना गया है और कला मे इसका प्राय: इसी रूप मे अंकन देखने मे आता है।

संसार के सभी पालतू कुक्कुट गैलस गैलस जाति से विकसित हुए हैं। भारत के पालतू कुक्कुट आज भी अधिकांशत: मूल नस्ल के ही हैं किंतु अन्यत्र सकर, प्रतिसंकर नस्लो के रूप मे उसकी सौ से अधिक जातियाँ और उपजातिया बन गई हैं।

खाद्य (मांस और अंडे) की दृष्टि से अच्छे और व्यवसाय की दृष्टि से लाभदायक समझे जानेवाले कुक्कुटो मे एशिया के बर्मा, कोचीन, और लैंगशान, आस्ट्रेलिया का आस्ट्रालार्प, भूमध्यसागरीय लेगहार्न और मिनोर्का, इंगलैंड के डार्किंग, आर्पिंगटन और ससेक्स तथा अमरीकी प्लीमथ-राक, वेंडोट्टे, राडै आइलैंड रेड और न्यू हैम्पशायर प्रमुख हैं। कुक्कुट की कुछ जाति और उपजाति ऐसी भी हैं जिन्हें लोग उनके रग, रूप, कलँगी आदि की विशेषताओं के कारण मनोविनोदार्थ अथवा शौकिया पालते है। इस वर्ग के कुक्कुटो को बैंटम नाम से पुकारते है।

इन सभी जातियो के कुक्कुट की चोंच समान रूप से दृढ़ और नुकीली होती है। उनके गले में खाना रखने का एक थैला होता है जो प्राय: बाहर से दिखाई नहीं देता। इनके डैने इतने मजबूत नहीं होते कि वे ऊँची उड़ानें भर सकें; किंतु पैर और उँगलियाँ काफी सशक्त होती है जिनसे वे काफी दौड़ और भाग सकते है तथा उनके सहारे अड्डे पर बैठ सकते हैं। अधिकांश जाति के कुक्कुटो के पैरो मे चार उँगलियाँ होती हैं। पर डार्किंग आदि कुछ जातियों के कुक्कुटों के पाँच उँगलियाँ होती है। नर-कुक्कुट को इनके अतिरिक्त एक और उँगली होती है जिसे खांग कह सकते हैं। वह अत्यत पैनी होती है। उसका उपयोग वे युद्ध के समय शत्रु को घायल करने के लिये करते हैं। नर और मादा, दोनों के सिर पर कलँगी और गले के नीचे लोरकी होती है। नर मे ये दोनो ही मादा की अपेक्षा बड़े होते है। जाति और उपजाति के अनुरूप कलँगी आकार मे छोटी अथवा बड़ी होती है और यह कलँगी किन्ही में एक और किन्ही में दो होती है। कुछ कुक्कुटों के पूँछ नहीं होती कुछ मे बहुत बड़ी पूँछ होती है। जापान की योकोहामा जाति के कुक्कुट की पूँछ बीस फुट लंबी होती है। कुछ कुक्कुटों की गर्दन पर पंख नहीं होते। आकार, रंग और रूप की दृष्टि से जाति के अनुरूप बहुत विविधता देखने मे आती है। कुछ तो आकार मे इतने छोटे होते है कि उनका वजन एक किलोग्राम भी नहीं होता और कुछ छह-सात किलोग्राम वजन तक के होते हैं।

अन्य पक्षियो की तरह ही सामान्य अवस्था मे मादा कुक्कुट वसंत के दिनों में प्रति दिन एक अंडा देती है, किंतु पंद्रह अंडे से अधिक कभी नहीं देती। उसके बाद वह अंडो को सेना आरंभ करती है और तीन सप्ताह तक उन्हें सेती रहती है। अंडों मे जब चूजे (बच्चे) निकल पड़ते हैं तब भी वह कई सप्ताह तक उनकी देखभाल करती हैं। उसके बाद अगले वसंत तक कोई अंडा नहीं देती। किंतु कुक्कुट पालनेवाले अधिक अंडे प्राप्त

करने के लिये उसकी मूर्खता अथवा भोलेपन का लाभ उठाते हैं। जब वह ८-१० अंडे दे लेती है और जब उनके सेने का दिन निकट आने लगता है तो वे एक एक कर अंडे को हटाते जाते हैं और मादा कुक्कुट अंडों के पंद्रह की संख्या पूरी होने की आशा में सेने का काम न कर नित्य एक अंडा देती जाती है। यही नहीं, कुक्कुट पालन करनेवाले अधिक अंडे प्राप्त करने के लिये अन्य उपाय भी करते हैं। वे उन्हें ऐसा भोजन देते हैं जिससे उनका अंडा देने का क्रम बंद न हो। वे प्रकाश और गर्मी की व्यवस्था कर कुक्कुट को गर्मी के मौसम के भ्रम में डाले रखते हैं। इस प्रकार मादा कुक्कुट वर्ष भर अंडा देती रहती है। कुछ वर्ष पूर्व तक पालतू मादा कुक्कुट वर्ष में ६ दर्जन से अधिक अंडे नहीं देती थी। किंतु अब इन कृत्रिम उपायों के कारण वह सामान्य रूप से १५० अंडे देती है; कुछ ऐसी भी हैं जो २०० तक अंडे देती है। कुछ इनसे भी अधिक अंडे देती हैं। कुछ वर्ष पूर्व न्यूजीलैंड में एक मादा कुक्कुट ने वर्ष के ३६५ दिन में ३६१ अंडे दिए थे।

(प० ला० गु०)

कुक्कुट उत्पादन (पाल्ट्री फार्मिंग) खाद्य पक्षी होने के कारण कुक्कुट को लोग पहले घरों में पालते थे किंतु अब कुक्कुट पालन ने एक उद्योग का रूप धारण कर लिया है और कुक्कुट, उनके चूजे तथा अंडे बाजार में बड़े पैमाने पर बिकते हैं। भारत में इसने पिछले दस बारह वर्षों में ही उद्योग का रूप धारण किया है किंतु अभी वह रूप प्राप्त नहीं कर सका है जो संसार में अन्यत्र देखने में आता है।

उद्योग के रूप में मांस और अंडे के लिये कुक्कुट के पालन के साथ साथ उनका अधिकाधिक उत्पादन एक अनिवार्य आवश्यकता है। और इसके लिये अच्छी नस्ल के कुक्कुट का चुनाव और सुव्यवस्था आवश्यक है। मांस के लिये उत्पादन किए जानेवाले कुक्कुटों के संबंध में आवश्यक है कि (१) वे स्वस्थ और सशक्त हों। (२) सेए जाने के काल में तेजी के साथ उनके पंख निकलें और दस दिन के होने पर तेजी से उनकी पूँछ बढ़े। (३) आठ सप्ताह की आयु होते होते पीठ पर पूरे पंख उग आएँ। (४) बाजार जाने के समय तक उनकी बाढ़ तीव्रगति से होती रहे। (५) सारे अवयव संतुलित हों और (६) मांसल हों। इस प्रकार के कुक्कुट उत्पन्न करने के लिये उत्पादक संकर जाति और उपजाति के कुक्कुट उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं।

अंडों के उत्पादन के लिये उपर्युक्त छह बातों के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि (१) उनका शीघ्रातिशीघ्र यौन विकास हो और १५० से १७० दिन में अंडे देने में सक्षम हो जायँ। (२) अंडे देनेवाली मुर्गियाँ कम से कम १५ अंडे प्रति मास दें। (३) अंडा देना आरंभ करने के समय से निरंतर कम से कम दस मास तक अंडे देती रहें।

इन सब बातों पर ध्यान रखते हुए इस देश के कुक्कुट उत्पादक देशी कुक्कुटों की अपेक्षा ह्वाइट लेगहार्न और रोडे आइलैंड रेड जाति के कुक्कुटों का पालन और उत्पादन करते हैं। और अंडे, चूजे तथा अंडे देनेवाली मुर्गियाँ प्राप्त करने के लिये उन्हीं का पालन और उत्पादन करते हैं। उत्पादन का यह कार्य अंडा सेने के कार्य से आरंभ होता है।

अंडों का सेना—इंक्युबेशन (Incubation) का अर्थ है अंडे से बच्चा निकालना। अंडे से २१ दिन के बाद बच्चा निकलता है। अंडे सेने की दो विधियाँ हैं: (१) मुर्गी के नीचे रखकर प्राकृतिक ढंग से तथा (२) मशीन द्वारा कृत्रिम रूप में। छोटे स्तर पर चलाए जानेवाले उद्योग में पहली विधि बरती जाती है और बड़े स्तर पर चलाने के हेतु मशीनों का उपयोग किया जाता है।

प्राकृतिक ढंग से बच्चे निकालने के लिये स्वच्छ, हवादार तथा शांत वातावरणवाले दरबे में साफ सुथरी, कुड़क मुर्गी के नीचे अंडे रखने चाहिए। बिठाने के लिये अंडों की संख्या मुर्गी के शारीरिक विस्तार एवं मौसम पर निर्भर है। गर्मी में एक साधारण मुर्गी के नीचे १५ अंडे तक तथा जाड़े में १० अंडे तक रखने चाहिए।

कृत्रिम विधि में कृत्रिम सेने की मशीनों (इंक्युबेटरों) द्वारा कम व्यय तथा कम परिश्रम से अधिकाधिक मात्रा में बच्चे निकाले जा सकते हैं। सेने की मशीनें दो प्रकार की होती हैं: (१) छोटी, जिन्हें हवा, लैंप या पंखे द्वारा गर्म किया जाता है तथा (२) बड़ी, जिनमें गर्म हवा पंखे द्वारा फैलाई जाती है। प्रायः बड़ी सेने की मशीन में बिजली द्वारा हवा गर्म की जाती है और पंखे भी बिजली से ही चलते हैं।

सेने की मशीन रखने का स्थान, चलाने की विधि तथा ताप—ये मशीनें ऐसे स्थान पर रखी जानी चाहिए जहाँ ताप में अधिक परिवर्तन न होता हो; साथ ही वहाँ पर स्वच्छ वायु का आवागमन भी होता रहे। चलाने से पूर्व सेनियों (सेने की मशीनों) को किसी कीटाणुनाशक ओषधि से पूर्णतः स्वच्छ कर लेना चाहिए। अंडे रखने से दो दिन पूर्व मशीन को चलाकर तापनियंत्रण आदि का परीक्षण भी कर लेना चाहिए। छोटी सेनियों का ताप १०३° फा० तथा बड़ी पंखेवाली सेनियों का ९९.५° फा० होना चाहिए। छोटी मशीनों में तापमापी का बल्ब अंडों से १।८ इंच ऊपर रहना चाहिए। ऊँचा ताप १६ दिन के पश्चात् बड़ा हानिकारक सिद्ध होता है। सेनियों के भीतर ६० प्रतिशत सापेक्ष आर्द्रता भी अपेक्षित है। इसके अभाव में अंडे शीघ्र सूख जाते हैं और बच्चों को निकलने में कठिनाई होती है।
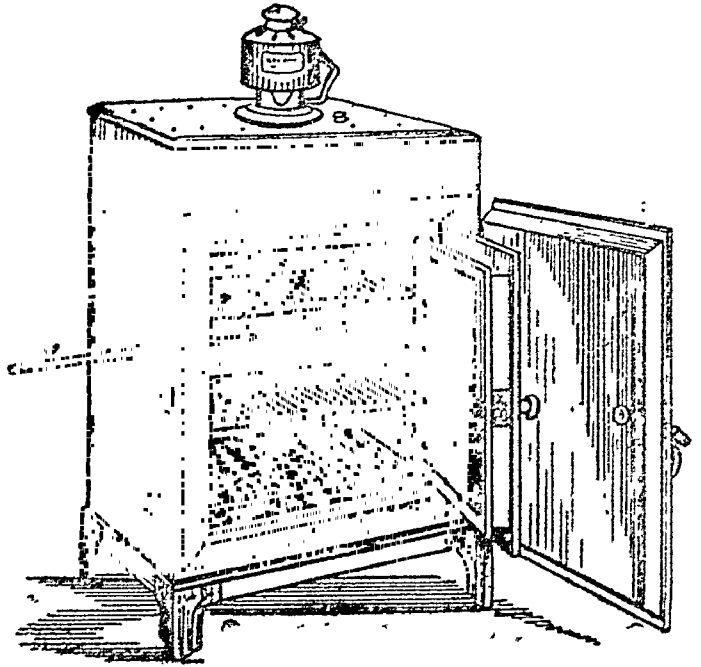
कृत्रिम सेनी (Incubator)

इसमें वायु के चक्रण का प्रबंध रहता है तथा यह विद्युत् द्वारा उष्ण रखा जाता है।

अंडों का उलटना पलटना—यदि अंडे पलटे न जायँ तो बनता हुआ बच्चा छिलके के भीतर चिपक जाता है, उसका विकास नहीं हो पाता और वह वहीं मर जाता है। इसलिये दिन में कम से कम तीन बार अंडों को पलटना चाहिए।

सेते हुए अंडों की जाँच—लैंप द्वारा की जाती है। सात दिन सेने के पश्चात् यह ज्ञात हो जाता है कि कौन से अंडे जीवरहित और कौन मृतक अवस्था में हैं। मृत अंडों को हटा देना चाहिए।

मशीन से तैयार बच्चों को निकालना—मशीन (इंक्युबेटर) से निकलने के बाद जब वह अच्छी तरह से सूख जाए तभी बच्चों को सेनी मशीन से निकालकर बाड़ों में सावधानी से ले जाना चाहिए।

मुर्गी के बच्चों (चूजों) का पालन—बच्चों को पालने के पहले पालनेवाली मशीन (शावजनक, Brooder) की ठीक से जाँच कर लेनी चाहिए। बच्चा सेने की मशीन, बच्चों के लिये पर्याप्त सुखकर होनी चाहिए

और जाडो मे उसमे ठड आदि पहुँचने की सभावना न होनी चाहिए। यो तो यह मशीन मिट्टी के तेल या बिजली से गर्म की जाती है, पर किसी भी मशीन को चुनने से पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि उसमे गर्मी पहुँचाने का ढग ठीक है या नहीं। जाँच के लिये मशीन को एक दो दिन तक चलाकर देख लेना चाहिए।

बच्चा पालने की सामान्य आवश्यकताएँ

बच्चो की आयु	प्रति बच्चे के लिये खाने का स्थान	प्रति १०० बच्चों के लिये पानी पीने का स्थान	प्रति बच्चे के लिये भूमि की आवश्यकता	पालन की मशीन का ताप
१ दिन से २ सप्ताह तक	१ इच	एक गैलनवाले पानी के दो वर्तन	१।२ वर्ग फुट	९०° से ९५° फा०
३ से ६ सप्ताह तक	२ इच	तीन गैलनवाले पानी के दो वर्तन	३।४ वर्ग फुट	प्रति सप्ताह ५° कम कीजिए
७ सप्ताह से १२ सप्ताह तक	३ इच	पाँच गैलन पानी के दो वर्तन	१ वर्ग फुट	प्रतिसप्ताह ५° कम कीजिए
१३ से २० सप्ताह तक	४ इच	पाँच गैलन पानी के दो वर्तन	२ से ३ वर्ग फुट प्रति पक्षी, जब मशीन वद रखी जाय	प्रतिसप्ताह ५° कम कीजिए

(१०० मुर्गियो के लिये प्रतिदिन ४–६ गैलन पानी की आवश्यकता पडती है)

जब बच्चे निकल आएँ तो यह देखना अत्यावश्यक है कि बच्चो को गर्मी देनेवाली मशीन ठीक चले। मशीन के किनारे पर सतह से दो इच ऊपर, या बिजली के लैंप के नीचे, पहले दो दिन तक ताप ९०–९५° फा० होना चाहिए, फिर प्रति सप्ताह ५° कम करते चलें। जब तक बच्चो के पख ठीक से न निकल आएँ तब तक ताप ७५° फा० से कम न होना चाहिए।

बच्चो का आहार—पालने की मशीन मे रखे हुए बच्चो के लिये स्वच्छ जल और भोजन की व्यवस्था होनी चाहिए। पहले आठ सप्ताह तक बच्चो को ऐसा भोजन देना चाहिए जिसमे १८ से २२ प्रतिशत तक प्रोटीन हो। पहले एक दो दिन उन्हे दलिया दिया जाय ताकि उनको दस्त न आएँ। आठ सप्ताह के वाद, जब तक मुर्गियाँ अडे न देने लगें, उनकी बाढ बढानेवाला दूसरा आहार देना चाहिए। जब वे अडे देने लगें तो दूसरे ढग का भोजन देना चाहिए।

मुर्गियो को खिलाने के तीन ढग होते है (१) केवल चूर्ण मिश्रण (२) चूर्ण मिश्रण और दाना तथा (३) चूर्ण मिश्रण की गोलियाँ बनाकर देना। भोजन भले ही किसी ढग से खिलाया जाए, किंतु वह सतुलित एव उपयुक्त होना चाहिए और जिस आयु के बच्चो को खिलाया तथा जिस हेतु खिलाया जा रहा हो उसके लिये उपयुक्त हो।

मुर्गियो को पालना—बच्चो को अच्छे अडे देनेवाली मुर्गियाँ बनाने के हेतु ८ से १२ सप्ताह के पश्चात् उनके आहार और रहन सहन मे परिवर्तन करना पडता है। बढती हुई मुर्गियो को पालने की दो विधियाँ है (१) वद घरो मे (Confinement Rearing) तथा (२) वडे वाडों मे (Range Rearing)। वद घरो मे पालने से परिश्रम भी कम पडता है और मुर्गियाँ भी अधिक सख्या मे पाली जा सकती है। इस ढग से पाली जानेवाली मुर्गियो को सतुलित आहार देने की आवश्यकता पडती है। यथेष्ट सीपी का चूरा और स्वच्छ जल हर समय घर मे रहना चाहिए। (२) वडे वाडों मे खर्च कम पडता है। वाडो में उन्हे सस्ती किस्म के घरो मे रखकर पाला जा सकता है। यदि वाडो मे हरी घास हो तो इस ढग से पाली गई मुर्गियाँ वद घरो मे पाली गई मुर्गियो से अधिक स्वस्थ होगी। अच्छे वाडे की पहचान है कि उसमे पर्याप्त घास हो, पानी वह जाने की व्यवस्था हो, भूमि बलुआर दोमट हो तथा छायादार पेड हो। इन सुविधाओ से सपन्न एक एकड आकार के बाडे मे ४००–५०० मुर्गियाँ रखी जा सकती है। इस तरह रखने से आहार मे ५ प्रतिशत बचत हो सकती है।

छाँटना (Culling)—अडे देनेवाले घरो मे ले जाने से पहले मुर्गियो को कम करने की आवश्यकता होती है। प्रजनन या अडा देनेवाली मुर्गियाँ बढिया होनी चाहिए। अत कम बढनेवाली, थोडे पखोवाली या छोटी मुर्गियो को छाँट देते है।

अंडा देनेवाली या प्रजनन मुर्गियों की व्यवस्था—अडा देनेवाली मुर्गियाँ भी कम उम्र की मुर्गियो की भाँति ही पाली जाती है। यदि उन्हे वद घरो मे पालना हो तो प्रति १०० मुर्गियो के लिये ३५०–४०० वर्ग फुट स्थान चाहिए। भोजन का ३२ फुट लवा स्थान, ५०–६० फुट लवे अड्डे, २० अडा देने के कक्ष (Nests) और २५ पाशकक्ष (ट्रैपनेस्ट, Trapnests) होने चाहिए। प्रति १०० मुर्गियो के लिये ३ या ४ ऐसे वर्तन होने चाहिए जिनमे प्रत्येक मे ४ से ६ गैलन तक पानी आ सके।

ट्रैप-नेस्टिंग—यही एक ढग है जिससे यह जाना जा सकता है कि हर मुर्गी ने कितने अडे दिए। प्रतिदिन ट्रैपनेस्ट करने मे वडा खर्च होता है, पर जहाँ बहुत शुद्धवशीय मुर्गियाँ रखी जाती हैं वहाँ इसका करना जरूरी है। एक सप्ताह मे पाँच दिन ट्रैपनेस्ट करने से भी काम चल सकता है, पर जहाँ यह सभव न हो वहाँ जाडो के पाँच महीनो मे ही ट्रैपनेस्ट कर लेना चाहिए। इससे अनुमान हो जाता है कि मुर्गी साल भर मे कितने अडे देगी।

वयस्क मुर्गियो का छाँटना—कम उम्र की मुर्गियाँ जब अपनी अधिकतम अडा देने की सीमा पर पहुँच जाएँ तब जाँचकर कम अडा देनेवाली मुर्गियो को छाँट देना चाहिए।

अडा देनेवाली मुर्गियो का शरीर पूर्ण विकसित हो तथा वे चौडी और फुर्तीली हो, उनका अडा देने का स्थान नम तथा फैला हुआ हो, चोच और टाँगो का रग सफेद हो, पख नुचे हुए मालूम हो और पर्याप्त अडे देने के बाद पख गिराएँ तथा उनमे पख गिराने की अवधि बहुत कम हो, नए पर जल्दी निकालनेवाली हो, ऐसी मुर्गियो को रखना चाहिए।

जिन मुर्गियो का शरीर पतला और सुस्त हो, अडा देने का स्थान सूखा, छोटा और गोल हो, चोच और पैर गहरे पीले हो, देखने मे साफ सुथरी, चमकीले पखोवाली हो और थोडे ही अडे देने के बाद देर तक पर गिराएँ, पेट सख्त तथा सिकुडा हुआ हो, उन्हे निकाल देना चाहिए।

प्राय प्रजनन योग्य मुर्गियो मे जातिविशेष के गुण होने चाहिए। वे शीघ्र अडे देने लगे और बिना रुके अडा देती रहें, कुडक न होने पाएँ और उनके अडे भी आकार मे वडे हो।

नर पक्षी—अडा लेने से दो सप्ताह पहले नरो को मुर्गियो के साथ छोड देना चाहिए। इन मुर्गो की वशावली अच्छी होनी चाहिए। मुर्गा स्वस्थ एव फुर्तीला हो। एक मुर्गा हल्की किस्म की १२–१५ मुर्गियो के लिये पर्याप्त है। यदि मुर्गियाँ भारी किस्म की है तो १० से १२ मुर्गियो के लिये एक मुर्गा पर्याप्त है।

अंडे—दो प्रकार के होते है (१) सेने योग्य तथा (२) खाने योग्य। सेने योग्य अडे अच्छे प्रकार के होने चाहिए। खराब अडो से कोई भी मशीन अच्छे बच्चे उत्पन्न नही कर सकती। अच्छे अडे पाने के लिये मुर्गियाँ स्वस्थ हो तथा उन्हें अच्छा आहार देना चाहिए। सेने के लिये वडे तथा साफ अडे ही काम मे लाने चाहिए। सेने योग्य अडो को ५०° से ६०° फा० ताप पर रखना चाहिए तथा ८० प्रतिशत नमी (humidity) बनाए रखनी चाहिए। अच्छे फल प्राप्त करने के लिये अडो को सात दिन मे मशीन या मुर्गी के नीचे रख देना चाहिए।

खाने योग्य अंडे—जब सेने योग्य अडे लेने हो तभी मुर्गे को मुर्गियो के साथ रखना चाहिए, क्योंकि उपजाऊ अडो मे गर्मी से बच्चा पड जाता

है और वे खाने योग्य नही रहते। मुर्गे को साथ रखे बिना जो अंडे प्राप्त होते हैं वे अनुपजाऊ अंडे, या जिन्हें मशीन द्वारा अनुपजाऊ कर दिया जाता है वे, अधिक समय तक रखे जा सकते हैं। खाने योग्य अंडों को दुर्गंधरहित, ठंढी, नम तथा साफ जगह पर रखना चाहिए। अंडे का चौड़ा भाग ऊपर होना चाहिए। यदि अडो को एक सप्ताह से अधिक रखना हो तो उन्हें कभी कभी पलटते रहना चाहिए।

सफाई तथा रोगों की रोकथाम—सफल मुर्गी उत्पादन के लिये सफाई बहुत आवश्यक है। दरबे, बाड़े तथा पानी आदि की सफाई पर पूरा ध्यान देना चाहिए ताकि किसी प्रकार की छूत की बीमारी न फैले।

दो प्रमुख रोगों, रानीखेत और मुर्गीचेचक, से बचाने के लिये मुर्गियों को छह से आठ सप्ताह की आयु पर इन रोगों का टीका लगवाना चाहिए। समय समय पर पेट के कीड़ो को मारने की दवाएँ देनी चाहिए और परो से तथा मुर्गियो मे से बाह्य परोपजीवियो को भी दवा से दूर करना चाहिए। समोनेल्ला रोग से बचाने के लिये समय समय पर खून की जाँच कराना भी आवश्यक है। (गु० कृ० स०)

कुचिला वृक्ष की एक जाति का नाम है जो लोगेनियेसी (Loganiaceae) कुल का है और जिसे स्ट्रिक्नोस नक्स-वोमिका (Strychnos nux vomica) कहते है। यह दक्षिण भारत, विशेषत: मद्रास, ट्रावंकोर, कोचीन तथा कोरोमंडल तट मे अधिक पाया जाता है। कारस्कर, विषतिंदुक, कुपीलु और लोकभाषा मे कुचिला, काजरा तथा नक्स आदि नामो मे प्रसिद्ध है।

इसके वृक्ष बड़े और सुंदर होते हैं। पत्र चमकीले, २"–४" बड़े, पत्रशिराएँ स्पष्ट और करतलाकार, पुष्प श्वेत अथवा हरितश्वेत और फल

कुचिला (Strychnos nux-vomica) की एक शाखा

गोल और पकने पर भड़कीले नारगी वर्ण के होते हैं। श्वेत और अत्यंत तिक्त फलमज्जा के भीतर गोल, चिपटे, बिंबाभ (Discoid) और लोमयुक्त बीज होते है। चिकित्सा के लिये इन बीजो का ही शोधन के बाद व्यवहार किया जाता है।

कुचिला तिक्त, दीपनपाचन, कटुपौष्टिक, नियतकालिक-ज्वर-आवर्तघ्न (Anti-Periodic), बल्य और वाजीकर होता है। इससे शरीर के सब अवयवो की क्रियाएँ उत्तेजित होती हैं। नाड़ी संस्थान के ऊपर इसकी विशेष क्रिया होती है। मस्तिष्क के नीचे जीवनीय केंद्रों और पृष्ठवंश की नाड़ियों पर विशेष उत्तेजक क्रिया होती है। शीतज्वर, आमाशय तथा आँतो की शिथिलता, हृदयोदर, फुफ्फुस के तीव्र रोग तथा अर्दित एवं अर्धांग वात आदि नाडियो के रोगो मे जो गतिभ्रंश और ज्ञानभ्रंश होता है उसमे कुचिला दिया जाता है।

कुचिला घोर विषैला द्रव्य है। इसमे स्ट्रिक्नीन और ब्रूसीन दो तीव्र जहरीले ऐल्कालायड रहते हैं। अधिक मात्रा में सेवन करने से धीरे धीरे धनुर्वात के लक्षण हो जाते है और अत मे श्वासावरोध मे मृत्यु हो जाती है। (ब० सि०)

कुजुल कथफिस देखिये कुषाण।

कुटिया (१) घास-फूस से बनी छोटी झोपटी। साधुओ के रहने का स्थान।

(२) अँगरेजी शब्द काटेज के अर्थ मे छोटा मकान जिसे धनवान लोग नगर से बाहर बाग बगीचे मे, या ग्रीष्मकाल मे पर्वतीय स्थलो पर, थोड़े दिन के विश्राम एव मनोरजन के हेतु, बनवाते हैं। इसकी रचना मे साधारण मकानो के निर्माण के प्राय. सभी सिद्धात तथा नियम लागू होते हैं। अंतर केवल इतना ही है कि थोड़े स्थान मे सभी सुविधाएँ प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। इंजीनियर अथवा वास्तुविद् की कुशलता का यही मापदंड है। साधारणत: इसके कमरे औसत मकान से छोटे होते हैं और बरामदों आदि की व्यवस्था नही होती। बैठक तथा भोजन का स्थान एक ही कमरे मे होता है। थोड़ी साजसज्जा मे ही काम चल जाय, इस आशय से आलमारियाँ और अँगीठियाँ भी प्राय· दीवारो मे बना दी जाती है।

कम व्यय के विचार से कुटिया के निर्माण मे कुरसी तथा मकान की ऊँचाई अपेक्षाकृत कम रखी जाती है। अधिकाश कुटियाँ एक मजिल की ही होने से बहुधा छत भी ढालू, खपरैल, टीन की चादर अथवा स्लेट इत्यादि की बनाई जाती है।

कुटिया के निर्माण मे यह ध्यान रखा जाता है कि कमरे छोटे और आरामदेह हो और उसका निवासी भीतर बैठे ही अधिक से अधिक प्राकृतिक दृश्य का अवलोकन कर सके। (का० प्र०)

कुटुंब रक्त-संबंधियो का समूह। सामान्य बोलचाल में इस शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट नही हो पाता कि इस समूह के सदस्य कौन कहे जायँगे। मानवशास्त्री और समाजशास्त्री कुटुब के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अनेक कौटुंबिक समूहों (किन ग्रुप) का जिक्र करते हैं। उनके अनुसार वे सभी समूह कौटुबिक समूह है जिनके सदस्यो मे कौटुबिक संबंध पाए जाते हैं। कौटुबिक समूहो मे सबसे छोटा और कुटुब का केंद्रीय समूह परिवार है। परिवार के अलावा वश, कुल, बधु, बांधव, सपिंड आदि अन्य कौटुबिक समूह हैं।

परिवार तथा अन्य कौटुंबिक समूहों मे पहला भेद यह है कि परिवार मे रक्तसंबंधियो के अलावा वैवाहिक संबंधवाले व्यक्ति भी पाए जाते हैं। उदाहरणत: माता, पिता और बच्चोवाले परिवार मे, माता, पिता और बच्चो के बीच मे रक्तसबध है तथा पति पत्नी मे वैवाहिक संबंध है। पर अन्य कौटुबिक समूहो मे केवल रक्तसंबंधी सदस्य होते है। इसके अलावा एक परिवारो के सदस्यों का एक ही आवास होता है, जब कि अन्य कौटुबिक समूहो के सदस्यो के लिये एक सामान्य आवास आवश्यक नही है। परिवार का स्वरूप आवास के नियमो से प्रभावित होता है, जैसे यदि एक समाज मे पत्नी पति के घर पर रहने के बजाय अपनी माँ के घर ही रहती हो, तो ऐसे परिवार को हम मातृस्थानीय परिवार (मेट्रिलोकल फेमिली) कहते है। इसके विपरीत अन्य कौटुबिक समूह वंशानुक्रम (डिसेंट) के नियमो पर आधारित हैं। एक व्यक्ति के लिये कुटुब के व्यक्तियो को कामकाज के समय निमंत्रित करना या उनके यहाँ निमत्रण में

जाना, उनसे सहायता लेना या उनको सहायता देना, कौटुबिक सबधो को निभाने के लिये अनिवार्य है।

कौटुबिक सबधो को निभाने के पहले यह जानना आवश्यक है कि कौन व्यक्ति इस समूह के सदस्य है। जो व्यक्ति रक्तसबधी है और बच्चे के जन्म के अवसर से कौटुबिक सबधो को निभा रहे है, व्यावहारिक रूप मे वे ही कुटुबी हैं। वैसे, जितने भी रक्तसबधी है वे सभी किसी न किसी कौटुबिक समूह के सदस्य है।

स०ग्र०--मर्डाक सोशल स्ट्रक्चर, मैकमिलन कपनी, न्यूयार्क, लावी प्रिमिटिव सोसाइटी, रटलेज कैगनपाल, लदन। (कै० ना० श०)

कुटुब-नियोजन (देखिये परिवार नियोजन)।

कुट्टनी वेश्याओ को कामशास्त्र की शिक्षा देनेवाली नारी। वेश्या सस्था के अनिवार्य अग के रूप में इसका अस्तित्व पहली बार पाँचवी शती ई० के आसपास ही देखने मे आता है। इससे अनुमान होता है कि इसका आविर्भाव गुप्त साम्राज्य के वैभवशाली और भोगविलास के युग मे हुआ।

कुट्टनी के व्यापक प्रभाव, वेश्याओ के लिये महनीय उपादेयता तथा कामुक जनो को वशीकरण की सिद्धि दिखलाने के लिये काश्मीर नरेश जयापीड (७७९ ई०-८१२ ई०) के प्रधान मत्री दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनीमतम्' नामक काव्य की रचना की थी। यह काव्य अपनी मधुरिमा, शब्दसौष्ठव तथा अर्थगाभीर्य के निमित्त आलोचनाजगत् मे पर्याप्त विख्यात है, परतु कवि का वास्तविक अभिप्राय सज्जनों को कुट्टनी के हथकडो से बचाना है। इसी उद्देश्य से काश्मीर के प्रसिद्ध कवि क्षेमेद्र ने भी एकादश शतक मे 'समयमातृका' तथा देशोपदेश' नामक काव्यों का प्रणयन किया था। इन दोनो काव्यों मे कुट्टनी के रूप, गुण तथा कार्य का विस्तृत विवरण है। हिंदी के रीतिग्रथों मे भी कुट्टनी का कुछ वर्णन उपलब्ध होता है।

कुट्टनी अवस्था मे वृद्ध होती है जिसे कामी ससार का बहुत अनुभव होता है। 'कुट्टनीमत' में चित्रित विकराला नामक कुट्टनी (कुट्टनीमत, आर्या २७-३०) से कुट्टनी के बाह्य रूप का सहज अनुमान किया जा सकता है--अदर को धँसी आँखें, भूषण से हीन तथा नीचे लटकनेवाला कान का निचला भाग, काले सफेद बालो से गगाजमुनी बना हुआ सिर, शरीर पर झलकनेवाली शिराएँ, तनी हुई गरदन, श्वेत धुली हुई धोती तथा चादर से मडित देह, अनेक ओषधियो तथा मनको से अलकृत गले से लटकनेवाला डोरा, कनिष्ठिका अँगुली मे बारीक सोने का छल्ला। वेश्याओ को उनके व्यवसाय की शिक्षा देना तथा उन्हे उन हथकडो का ज्ञान कराना जिनके बल पर वे कामी जनो से प्रभूत धन का अपहरण कर सकें, इसका प्रधान कार्य है। क्षेमेद्र ने इस विशिष्ट गुण के कारण उसकी तुलना अनेक हिंस्र जतुओं से की है--वह खून पीने तथा मास खानेवाली व्याघ्री है जिसके न रहने पर कामुक जन गीदडो के समान उछल कूद मचाया करते हैं

> व्याघ्रीव कुट्टनी यत्र रक्तपानामिषैषिणी।
> नास्ते तत्र प्रगल्भन्ते जम्बूका इव कामुका॥--समयमातृका।

कुट्टनी के बिना वेश्या अपने व्यवसाय का पूर्ण निर्वाह नही कर सकती। अनुभवहीना वेश्या की गुरुस्थानीया कुट्टनी कामी जनो के लिये छल तथा कपट की प्रतिमा होती हैं, धन ऐंठने के लिये विषम यत्र होती है, वह जनरूपी वृक्षो को गिराने के लिये प्रकृष्ट माया की नदी होती है जिसकी बाढ मे हजारो सपन्न घर डूब जाते है

> जयत्यजस्र जनवृक्षपातिनी।
> प्रकृष्ट माया तटिनी च कुट्टनी॥ (देशोपदेश १।२)

कुट्टनी वेश्या को कामुको से धन ऐंठने की शिक्षा देती है, हृदय देने की नही, वह उसे प्रेमसपन्न धनहीनो को घर से निकाल बाहर करने का भी उपदेश देती है। उससे बचकर रहने का उपदेश उपर्युक्त ग्रथों मे दिया गया है। (ब० उ०)

कुणाल (१) हिमालय की सात झीलो मे एक। यह अपने प्राकृतिक सौंदर्य के लिये अत्यत प्रसिद्ध थी और बौद्ध सघ मे शामिल शाक्य राजकुमारो को उनके पूर्वजीवन की स्त्री-सुख-लिप्साओ से विरत करने के लिये भगवान् बुद्ध ने वहाँ कुणालजातक का प्रवचन दिया था। बौद्ध कथाओ के अनुसार वहाँ के वन्य प्रदेशो मे बोधिसत्व ने एक बार चित्रकोकिलो के राजा के रूप मे जन्म ग्रहण किया था। उस बोधिसत्व का नाम भी कुणाल था।

(२) जैन अनुश्रुतियो के अनुसार हिमालय से लगा एक प्रख्यात प्राचीन जनपद जिसकी राजधानी श्रावस्ती (आधुनिक सहेत महेत, जिला गोडा) थी।

(३) कुणाल पक्षी जो अपनी सुदर आँखो के लिये प्रसिद्ध है।

(४) अशोक का पुत्र। भारतीय साहित्य मे यही सर्वाधिक प्रसिद्ध है। दिव्यावदान के अशोकावदान और कुणालावदान मे उनके जीवन से सबधित अनेक कहानियाँ हैं। सर्वप्रसिद्ध कथा है कि अशोक की एक रानी तिष्यरक्षिता (पालि साहित्य की तिस्सरक्खिता) थी, जो सम्राट से अवस्था मे बहुत ही कम और स्वभाव से अत्यत कामातुर थी। कुणाल की सुदर आँखों पर मुग्ध होकर उसने उससे प्रणयप्रस्ताव किया। उसके पुत्रकक्ष कुणाल के लिये उस प्रस्ताव को ठुकरा देना अत्यत स्वाभाविक था। पर तिष्यरक्षिता इसे भुला न सकी। जब एक बार अशोक बीमार पडा तब तिष्यरक्षिता ने उसकी भरपूर सेवा करके मुँहमाँगा वर प्राप्त करने का वचन उससे ले लिया। तक्षशिला मे विद्रोह होने पर जब कुणाल उसे दबाने के लिये भेजा गया तब तिष्यरक्षिता ने अपने वरण मे सम्राट् अशोक की राजमुद्रा प्राप्तकर तक्षशिला के मत्रियो को कुणाल की आँखें निकाल लेने तथा उसे मार डालने की मुद्राकित आज्ञा लिख भेजी। शक्तिशाली कितु अनिच्छुक मत्रियो ने जनप्रिय कुणाल की आखे तो निकलवा ली परतु उसके प्राण छोड दिए। अशोक को जब इसका पता चला तो उसने तिष्यरक्षिता को दडस्वरूप जीवित जला देने की आज्ञा दी। कितु कुछ विद्वान् इस कथा को ऐतिहासिक नही मानते। प्रसिद्ध विद्वान् प्रजीलुस्की ने कुणाल सूत्र के चीनी रूपातर को प्रस्तुत किया है। इस सूत्र के अनुसार तक्षशिला मे कोई विद्रोह ही नहीं हुआ था। वस्तुत कुणाल वहाँ की जनता की माँग पर अशोक द्वारा एक स्वतत्र राजा के रूप मे नियुक्त किया गया था। सभव है, आगे चलकर वहाँ के गाधार प्रदेश मे एक स्वतत्र राज्य की स्थापना हो गई हो। कुणाल का सबध कश्मीर और पामीरवर्ती प्रदेशो से भी रहा है जो अनेक प्रमाणो से सिद्ध है। कुछ पुराणो (वायु, ब्रह्माड) मे कुणाल को अशोक का उत्तराधिकारी भी बताया गया है। (वि० पा०)

कुणिंद भारत का एक प्रख्यात प्राचीन जनसमूह जिसका पहली और चौथी शती ई० के बीच अपना महत्वपूर्ण गणराज्य था। महाभारत मे इसका उल्लेख पैशाच, अबष्ठ और बर्बर नामक पर्वतीय जातियो के साथ हुआ है और कहा गया है कि वे शैलोद नदी के दोनो तटों पर निवास करते थे। उनका प्रदेश काफी विस्तृत था और उनके कई सौ कुल थे। उन्होंने युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ के समय पिपीलिका सुवर्ण भेंट किया था। कुणिदो का उल्लेख रामायण और पुराणो मे भी हुआ है। वराहमिहिर के कथनानुसार वे उत्तरपूर्व के निवासी थे। उन्होंने इनका उल्लेख कश्मीर, कुलूत और सरिन्ध के साथ किया है। टालमी ने भी इनकी चर्चा की है। उसके कथनानुसार ये लोग विपाशा (व्यास), शतद्रु (सतलज), यमुना और गगा नदियों के उद्गम प्रदेश मे रहते थे। इस प्रकार साहित्यिक सूत्रों के अनुसार ये लोग हिमालय के पजाब और उत्तरप्रदेश से सटे निचले हिस्से मे रहते थे। सभवत कुमायूँ और गढवाल का क्षेत्र इनके अधिकार मे था।

इन लोगो के गणराज्य के जो सिक्के मिले हैं उनसे ज्ञात होता है कि वे लोग अपना शासन भगवान् चित्रेश्वर (शिव) के नाम पर करते थे। चित्रेश्वर शिव (भग-लिग) का मदिर कुमाऊँ मे चित्रशिला नामक स्थान में आज भी विद्यमान है। ऐसा भी जान पडता है कि इस गणतत्रीय राज्य ने

कुतुबमीनार (देखिए पृष्ठ ५६)
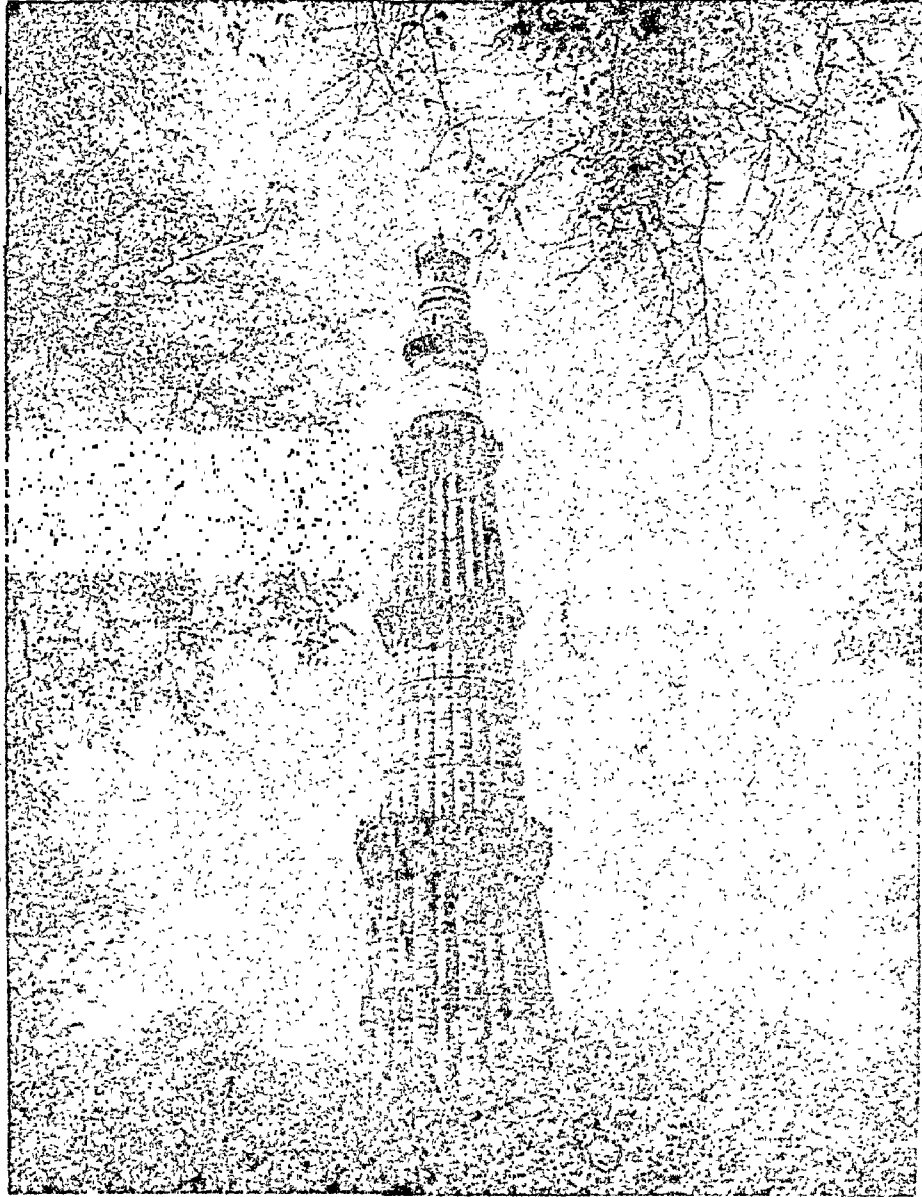
कुँअर सिंह (देखिए पृष्ठ ५०)

कृष्णन्, कार्यमाणिक्यम् श्रीनिवास
(देखिए पृ० १११)

राजतंत्र का रूप धारण कर लिया था। सिक्कों पर अमोघभूति नामक महाराज का उल्लेख मिलता है। (प० ला० गु०)

कुतवन हिंदी के सूफी कवि जिन्होंने मौलाना दाऊद के 'चंदायन' की परंपरा में सन् १५०३ ई० में 'मिरगावती' नामक प्रेमाख्यानक काव्य की रचना की, जो किसी पूर्वप्रचलित कथा के आधार पर लिखा गया है। इसमें दोहा, चौपाई, सोरठा, अरिल्ल छंदों का प्रयोग किया गया है किंतु इसकी शैली प्राकृत काव्यों के अनुकरण पर कड़वक वाली है।

कुतवन ने अपने काव्य में किसी प्रकार का वैयक्तिक परिचय नहीं दिया है। उससे इतना ही ज्ञात होता है कि हुसेन शाह शाहे-वक्त थे और सुहरवर्दी संप्रदाय के शेख बुढ़न उनके गुरु। समझा जाता है कि हुसेन शाह से उनका तात्पर्य जौनपुर के शर्की सुल्तान से है। शेख बुढ़न के संबंध में अनुमान किया जाता है कि वे वे ही होंगे जो जौनपुर के निकट जफराबाद कस्बे में रहते थे, जिनका वास्तविक नाम शम्सुद्दीन था, और जो सदरुद्दीन चिरागेहिंद के पौत्र थे। इन तथ्यों के आधार पर कुतवन को जौनपुर के आसपास का निवासी अनुमान किया जा सकता है। वहीं उनका कार्यक्षेत्र भी रहा होगा।

काशी में हरतीरथ मुहल्ले की चौमुहानी से पूरब की ओर लगभग एक फर्लांग की दूरी पर कुतवन शहीद नामक एक मुहल्ला है। वहीं एक मजार है जो कुतवन की मजार के नाम से प्रसिद्ध है। कदाचित् वह इन्हीं कुतवन की कब्र है। (प० ला० गु०)

कुतुब मीनार दिल्ली में मेहरौली ग्राम के निकट स्थित एक भव्य ऊँची मीनार। इसका निर्माण दिल्ली सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐवक ने १२वीं सदी ई० के अंत में रायपिथौरा के किले एवं मंदिर के विध्वंस के उपरांत कराया था। इस मीनार का निचला खंड हिंदुओं का बनवाया हुआ अनुमान किया जाता है। कुछ इतिहासकारों की धारणा है कि इस मीनार के निर्माण का आरंभ पृथ्वीराज चौहान के पितामह वीसलदेव विग्रहराज के समय में हुआ, जो एक महान् विजेता के साथ साथ स्थापत्य कलाप्रेमी भी थे। उन्होंने जब तोमर अनंगपाल को हराकर दिल्ली पर अधिकार किया तो अपनी इस विजय की स्मृति में इसका निर्माण आरंभ किया। एक अनुश्रुति के अनुसार इस खंड का निर्माण पृथ्वीराज द्वारा स्वयं किले और मंदिर के साथ ११४३ ई० के लगभग तैयार कराने की बात कही जाती है। कहा जाता है कि उसके एक कन्या थी जो यमुनादर्शन के बिना अन्न जल ग्रहण नहीं करती थी। उसकी सुविधा के लिये पृथ्वीराज ने स्तंभ के रूप में पहले खंड का निर्माण कराया था। मीनार के पहले खंड के अभिलेखों के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि ये बाद में लगाए गए होंगे। जिस प्रकार मंदिर को तोड़ने के उपरांत निर्मित मस्जिद में कुतुबुद्दीन ऐवक सिपहसालार और सुल्तान मुईजुद्दीन के नाम के अभिलेख लगाए गए उसी प्रकार इसमें भी अभिलेख खुदवाए गए होंगे। इसके अतिरिक्त इसका प्रथम द्वार उत्तर की ओर है जब कि अजान की मीनारों के द्वार सर्वदा पूर्व की ओर होते हैं और सुल्तान अलाउद्दीन ने जो लाट बनवानी प्रारंभ की उसका द्वार भी उससे पूर्व की ओर रखा। इनसे तथा कुछ अन्य बातों से इस कथन को बल मिलता है।

१२२६ ई० के लगभग, जब सुल्तान शम्शुद्दीन इल्तुतमिश ने मस्जिद के इधर उधर तीन द्वार बढ़ाए उसी समय, इस लाट को भी ऊँचा कराया और दूसरे खंड के द्वार पर इसका विवरण खुदवाया और इसका नाम 'माजेना' अथवा अजान देने का स्थान रखा। उसने हर तल्ले पर इसी नाम के लेख और जुमे की नमाज की आयतों को खुदवाकर मेमार का नाम भी लिखवा दिया। इस समय इस मीनार में पाँच खंड हैं किंतु पहले सात खंड रहे होंगे, कारण यह 'मीनारए हफ्त मंजरी' के नाम से प्रसिद्ध है। ७वाँ तल्ला १३६८ ई० में सुल्तान फीरोजशाह ने बनवाया। उसने स्वयं लिखा है कि इस लाट की मरम्मत के समय मैंने इसे पहले की अपेक्षा ऊँचा करा दिया। इस लाट की मरम्मत का विवरण उसने पाँचवें खंड के द्वार पर खुदवाया है। १५०३ ई० में सुल्तान सिकंदर बहलोल के समय इसकी मरम्मत कराई गई। १७८२ ई० में आँधी एवं भूचाल के कारण ऊपर के खंड गिर पड़े और प्रथम खंड के भी बहुत से पत्थर नष्ट हो गए, अतः अंग्रेजी सरकार ने १८२६ ई० में इसकी मरम्मत कराई और ५वें खंड पर पीतल का सुंदर कटहरा लगवा दिया। ६ठे खंड के स्थान पर पत्थर की आठ द्वार की सुंदर बुर्जी और ७वें खंड के स्थान पर काठ की बुर्जी लगवाई; किंतु ये दोनों बुर्जियाँ खड़ी न रह सकीं और पत्थर की बुर्जी को लाट से उतारकर नीचे खड़ा कर दिया गया; काठ की बुर्जी नष्ट हो गई। इसी मरम्मत के समय मीनार के अभिलेख के जो अक्षर नष्ट हो गए थे उन्हें फिर बनवाया गया किंतु वे प्रायः अशुद्ध हैं और कई स्थानों पर केवल शब्दों के रूप बना दिए गए हैं; किंतु ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि वे शब्द नहीं हैं। कहीं कहीं पूर्णतः अशुद्ध शब्द खोद दिए गए हैं।

मीनार का पहला खंड ३२ गज कुछ इंच, दूसरा खंड १७ गज कुछ इंच, तीसरा खंड १३ गज, चौथा खंड सवा आठ गज और पाँचवाँ खंड भी उस थोड़ी सी ऊँचाई सहित जो कटहरे के भीतर है, सवा आठ गज है। इस प्रकार इसके वर्तमान पाँचों खंडों की, ऊँचाई लगभग ८० गज होती है। पत्थर की बुर्जी की ऊँचाई, जो अंग्रेजी शासनकाल में चढ़ाई गई थी और अब उतारकर नीचे रख दी गई है, ६ गज है। यह मीनार भीतर से खोखली है और इसमें चक्करदार सीढ़ियाँ बनी हुई हैं जिनसे ऊपर तक पहुँचा जा सकता है।

कुतुब मीनार को जिस भी पहलू तथा स्थान से देखा जाय, हृदय पर एक गहरा प्रभाव पड़ता है और अनुभव होता है कि यह एक प्रभावोत्पादक विचार का साकार रूप है। इसके लाल पत्थरों का स्वच्छ रंग, मंजिलों की अलंकरण की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्नता, स्थापत्य के सादा काम के बाद सुंदर शिल्पकारी, छज्जों के नीचे जगमगाती छाया, इन सबका सामूहिक रूप से एक गहरा तथा मनोरंजक प्रभाव पड़ता है। इस मीनार को एक ओर से कम करते हुए इस उद्देश्य से वर्तुलाकार बनाया गया था कि देखनेवालों को ऐसा प्रतीत हो कि वह ऊपर आकाश में घुसती चली गई है और उसकी ऊँचाई बढ़ती जाती है। (सैं० अ० अ० रि०, प० ला० गु०)

कुतुबशाह, अब्दुल्ला (१६२६–१६७२ ई०)। गोलकुंडा के कुतुबशाही वंश का शासक। यह मुहम्मद कुतुबशाह का बेटा था और उसकी मृत्यु पर गद्दी पर बैठा था। उसके शासन के आरंभकाल में शासन का समस्त नियंत्रण उसकी माँ हयातबख्शी बेगम करती रहीं; किंतु शीघ्र ही शासन की बागडोर कुछ स्वार्थी अधिकारियों के हाथ में चली गई। फलस्वरूप १६३६ ई० में गोलकुंडा का राज्य मुगल साम्राज्य के अधीन हो गया।

अब्दुल्ला कुतुबशाह राजनीतिक दृष्टि से एक असफल शासक कहा जाता है किंतु उसकी ख्याति साहित्यानुरागी और कवि के रूप में आजतक बनी है। उसका लिखा दीवान दक्खिनी हिंदी का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। अपने शासनकाल में वह साहित्यिकों का पोषक और संरक्षक तो था ही, पराधीन होने के बाद भी वह जबतक जीवित रहा, कवि और साहित्यकारोंको उसका संरक्षण प्राप्त रहा। उसके काल में दक्खिनी हिंदी के सुविख्यात कवि मलिकुल शुअरा गवासी हुए जिन्होंने गजल के एक संग्रह के अतिरिक्त तीन मसनवी लिखे थे, जिनमें मैना सतवंती उल्लेखनीय है। वह हिंदी के सुप्रसिद्ध सूफी कवि मौलाना दाऊद के 'चंदायन' की कथा पर आधारित है। (प० ला० गु०)

कुतुबशाह, मुहम्मद कुली (१५८०–१६११ ई०)। गोलकुंडा के कुतुबशाही वंश का छठा शासक, जो अपने पिता इब्राहीम कुतुबशाह की मृत्यु पर गद्दी पर बैठे। उन्होंने बीजापुर के आदिलशाही सुल्तानों से चली आ रही वंशगत शत्रुता को दूर करने की चेष्टा की और सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह के साथ अपनी बहन मलकुजमाँ का विवाह कर इसमें सफलता प्राप्त की। इस प्रकार राजनीतिक शांति स्थापित कर उन्होंने अपने राज्य की सांस्कृतिक उन्नति की ओर ध्यान दिया और अनेक विद्यालय, मसजिद और भवनों का निर्माण कराया और अपनी प्रेयसी भागमती नामक नर्तकी की स्मृति के लिये 'भागनगर' नाम से नगर बसाया जो पीछे हैदराबाद के नाम से प्रख्यात हुआ।

वे साहित्यानुरागी तथा स्वयं कवि थे। उनके दरबार में दूर दूर से साहित्यकार और कवि आते रहते थे। उन्होंने दखिनी हिंदी में कविताएँ की हैं जिनके आधार पर उनकी उर्दू साहित्य के आरंभकालिक प्रमुख कवियों म गणना की जाती है और उन्हें प्रथम दीवान लेखक होने का गौरव प्राप्त है। कहा जाता है कि उन्होंने ५० हजार से अधिक शेरों की रचना की थी। उनके 'कुल्लियात' में उर्दू काव्य के सभी रूप—गजल, कसीदा, रुबाई, मसिया, मसनवी आदि देखने को मिलते हैं। उनकी इस रचना में तत्कालीन भारतीय संस्कृति का सजीव अंकन हुआ है। उसमें वसंत, शरद्, वर्षा, ईद के वर्णन के अतिरिक्त उसने अपने दरबार की विविध जातियों, धर्मों और प्रदेशों की नारियों का अद्भुत चित्रण किया है। उनकी रचनाओं पर हिंदी काव्य शैली का पूरा प्रभाव है। हिंदी के अनेक शब्द, मुहावरे, विचार उनकी रचनाओं में प्रयुक्त हुए हैं।

वर्णनात्मक काव्य पर उनका अद्भुत अधिकार था ही, उन्होंने फारसी काव्यों का दखिनी हिंदी में अनुवाद प्रस्तुत कर अपनी अनोखी काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। उन्होंने हाफिज की अनेक गजलों का अनुवाद प्रस्तुत किया है। इस प्रतिभावान कवि शासक की ४८ वर्ष की आयु में ही मृत्यु हो गई। (र० स० ज०, प० ला० गु०)

कुतुबशाही दक्षिण का एक प्रख्यात मुस्लिम राजवंश। इस वंश के संस्थापक सुलतान कुली कुतुबशाह हमदान (फारस) के राजवंश के थे। उस राजवंश के ह्रास के पश्चात् वे अपने चचा अल्ला कुली के साथ भारत आए और दक्षिण में बहमनी सुलतान मुहम्मदशाह (तृतीय) के दरबार में पहुँचे और अपनी योग्यता और कार्यकुशलता से सुल्तान के प्रियपात्र बन गए। जब १४६३ ई० में तेलंगाना के सूबेदार की मृत्यु हुई तो सुलतान ने उन्हें कुतुब-उल-मुल्क की उपाधि देकर उसके स्थान पर वहाँ का सूबेदार नियुक्त कर दिया। उन्होंने अपने सूबेदारी के दिनों में गोलकुंडा और वारंगल को अधिकार में कर लिया।

उन दिनों बहमनी राज्य अवनति की ओर जा रहा था और उसके अहमद नगर, बीजापुर और बरार के सूबेदारों ने धीरे धीरे अपने को स्वतंत्र कर अपना राज्य स्थापित किया। मुहम्मद शाह के जीवनकाल तक तो कुली कुतुबशाह सुल्तान के प्रति भक्त बने रहे किंतु उनकी मृत्यु के बाद उन्होंने भी अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। इस प्रकार कुतुबशाही राजवंश की स्थापना १५१८ ई० के आसपास हुई और यह राजवंश गोलकुंडा को राजधानी बनाकर लगभग पौने दो सौ वर्ष तक राज्य करता रहा। १६८७ ई० में औरंगजेब ने उसे अपने साम्राज्य में आत्मसात् कर लिया।

इस अवधि में इस वंश में निम्नलिखित शासक हुए—

(१) सुल्तान कुली कुतुबशाह (१५१८–१५४३ ई०), (२) जमशेद कुतुब शाह (१५४३–१५५० ई०), (३) सुभान कुली कुतुबशाह (१५५० ई०), (४) इब्राहीम कुतुबशाह (१५५०–१५८० ई०), (५) मुहम्मद कुली कुतुबशाह (१५८०–१६१२ ई०), (६) सुल्तान मुहम्मद कुतुबशाह (१६१२–१६२६ ई०), (७) अब्दुल्ला कुतुबशाह (१६२६–१६७२ ई०) और अबुल हसन तानाशा (१६७२–१६८७ ई०)। (प० ला० गु०)

कुतुबुद्दीन अहमदशाह (१४५१–१४५६) गुजरात का सुल्तान। गुजरात के सुल्तान मुहम्मदशाह (द्वितीय) की मृत्यु के पश्चात् १३ फरवरी १४५१ ई० को उसका २० वर्षीय ज्येष्ठ पुत्र जलाल खाँ, कुतुबुद्दीन अहमद शाह (द्वितीय) के नाम से गद्दी पर बैठा।

सिंहासनारूढ होते ही नवयुवक सुल्तान को मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी के आक्रमणों से अपना राज्य बचाने के लिये कठिन प्रयास करना पडा। मालवा सुल्तान की कपडगंज के युद्ध में (१४५१ ई०) पराजय हुई। चित्तौड के राणा कुंभा जो स्वयं कवि भी थे, मालवा तथा गुजरात के सुल्तानों के लिये एक आतंक बने हुए थे। अत इन दोनों सुल्तानों ने मिलकर मुठभेड की। २६ वर्ष से भी कम अवस्था में ही मई, सन् १४५६ ई० में कदाचित् विष द्वारा, सुलतान कुतुबुद्दीन की मृत्यु हो गई। उसे अहमदाबाद के मानिक चौक में स्थित शाही कब्रगाह में उसके पिता तथा पितामह सुल्तान अहमदशाह प्रथम (१४११–१४४२) के पास ही दफनाया गया।

उसने अपने पिता द्वारा आरंभ कराए शेख अहमदजग वख्श के सरखेज स्थित मकबरे को पूरा कराया और घटामडल का महल और हौज-ए-कुतुब नामक एक झील बनवाई जिसके बीचोबीच नगीना बाग स्थित है। (मो० या०)

कुतुबुद्दीन ऐबक (११९२–१२१० ई०)। दिल्ली के सुलतानों के गुलाम वंश का संस्थापक। उसका जन्म तुर्किस्तान के एक गुलाम घर में हुआ था। जब वह छोटा था तभी उसे नैशापुर के एक व्यापारी ने खरीद लिया था। उस व्यापारी से वहाँ के काजी फखरुद्दीन ने कुतुबुद्दीन को खरीदा और उसे अपने बच्चों की तरह पाला। अपने बच्चों के साथ ही उसकी भी धार्मिक तथा सैन्य शिक्षा की व्यवस्था की। काजी की मृत्यु के उपरांत काजी के पुत्र ने उसे एक व्यापारी के हाथ बेच दिया। वह उसे गजनी ले गया जहाँ उसे मोहम्मद गोरी ने खरीद लिया। अपने गुणों के कारण वह बहुत जल्द ही मोहम्मद गोरी का स्नेहपात्र हो गया और गोरी ने उसे अमीर-ए-आखुर के पद पर नियुक्त कर दिया। थोड़े ही दिनों में वह मोहम्मद गोरी के सबसे विश्वासपात्र तुर्की अफसरों में गिना जाने लगा। उसने अपने स्वामी के लिये बहुमूल्य सेवाएँ की और उसके भारतीय आक्रमणों में उसने अपना रणकौशल दिखाया। जब ११९२ में तराई के मैदान में पृथ्वीराज हार गया और मार डाला गया तब उत्तरी भारत में मुस्लिम राज्य की नींव पडी। तदनंतर कुछ ही वर्षों में कुतुबुद्दीन ने उत्तरी भारत के कई भागों पर विजय पाली। उसकी इन सेवाओं से प्रसन्न होकर मोहम्मद गोरी ने भारत के संपूर्ण विजित प्रदेश कुतुबुद्दीन को सौंप दिए। इस प्रदेश पर तो उसका पूरा अधिकार था ही, उसे अपना क्षेत्र बढाने का भी अधिकार मिला। अपनी स्थिति मजबूत बनाने के लिये उसने अपने प्रतिस्पर्धी शक्तिशाली शासकों से विवाह संबंध जोडने आरंभ किए। यलदुज की बेटी से विवाह किया, अपनी बेटी का विवाह इल्तुतमिश से और अपनी बहन का व्याह नासिरुद्दीन कुबाचा से किया।

रणथंभोर, मेरठ, दिल्ली तथा हाँसी आदि कई स्थानों पर विजय प्राप्त करने के बाद ११९४ ई० में कुतुबुद्दीन की सहायता से गोरी ने बनारस तथा कन्नौज के राजा जयचंद को हराया था। गुजरात के राजा के कारण कुतुबुद्दीन को कुछ असुविधा हुई थी, इसलिये उसने ११९७ ई० में गुजरात पर आक्रमण कर दिया और उसकी राजधानी लूटकर दिल्ली लौटा, १२०२ ई० में उसने चंदेलों की शक्ति को नष्टभ्रष्ट किया, बुंदेलखंड में कालिंजर के किले पर अधिकार कर लिया और वहाँ से लूट में अपार धनराशि प्राप्त की। तदनंतर महोबा तथा बदायूँ पर अधिकार कर वह दिल्ली लौटा।

मोहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद कुतुबुद्दीन 'सुल्तान' की उपाधि धारणकर भारतीय क्षेत्रों का स्वतंत्र शासक बन बैठा। उसने लगभग चार वर्ष तक राज किया और नवंबर, १२१० में लाहौर में चौगान खेलते समय घोडे से गिर जाने से उसकी मृत्यु हो गई। वह साफ दिल का शासक था। अपनी दानशीलता के लिये वह प्रसिद्ध है। वह सबके साथ न्याय करता था और अपने राज्य में शांति तथा समृद्धि बनाए रखने में प्रयत्नशील रहता था। वह इस्लाम का पक्का पुजारी था। अपने रणकौशल के कारण युद्धों में साधारणत उसकी कभी हार नहीं हुई। विभिन्न क्षेत्रों पर विजय पाने के कारण उसकी मृत्यु के समय भारत का एक बडा भाग मुसलमान शासकों के अधीन हो गया था। (मि० च० पा०)

कुतुबुद्दीन, मुबारक खिलजी (१३१६–१३२० ई०)। दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी का तृतीय पुत्र। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसके प्रभावशाली सेनानायक मलिक काफूर ने दुरभिसंधि कर अलाउद्दीन के कनिष्ठ पुत्र को सिंहासन पर बैठाया और स्वयं उसका संरक्षक बना। उसने अलाउद्दीन के सभी पुत्रों को बंदी बनाकर उन्हें अंधा

कुषाणकालीन (पहली शती ई०) आसवपायी कुबेर, यवनी (यूनानी) परिचारिकाओं के साथ (मथुरा संग्रहालय)

कुबेर (कुशाण काल)

कुबेर (श्रावस्ती से प्राप्त) मध्यकाल

कुमारस्वामी (देखें पृष्ठ ६७)

कुक, जेम्स (देखें पृ० ५२)
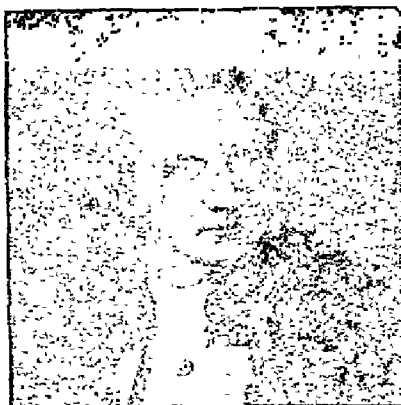
कोलंवस, क्रिस्तोफर (देखें पृष्ठ १७२)
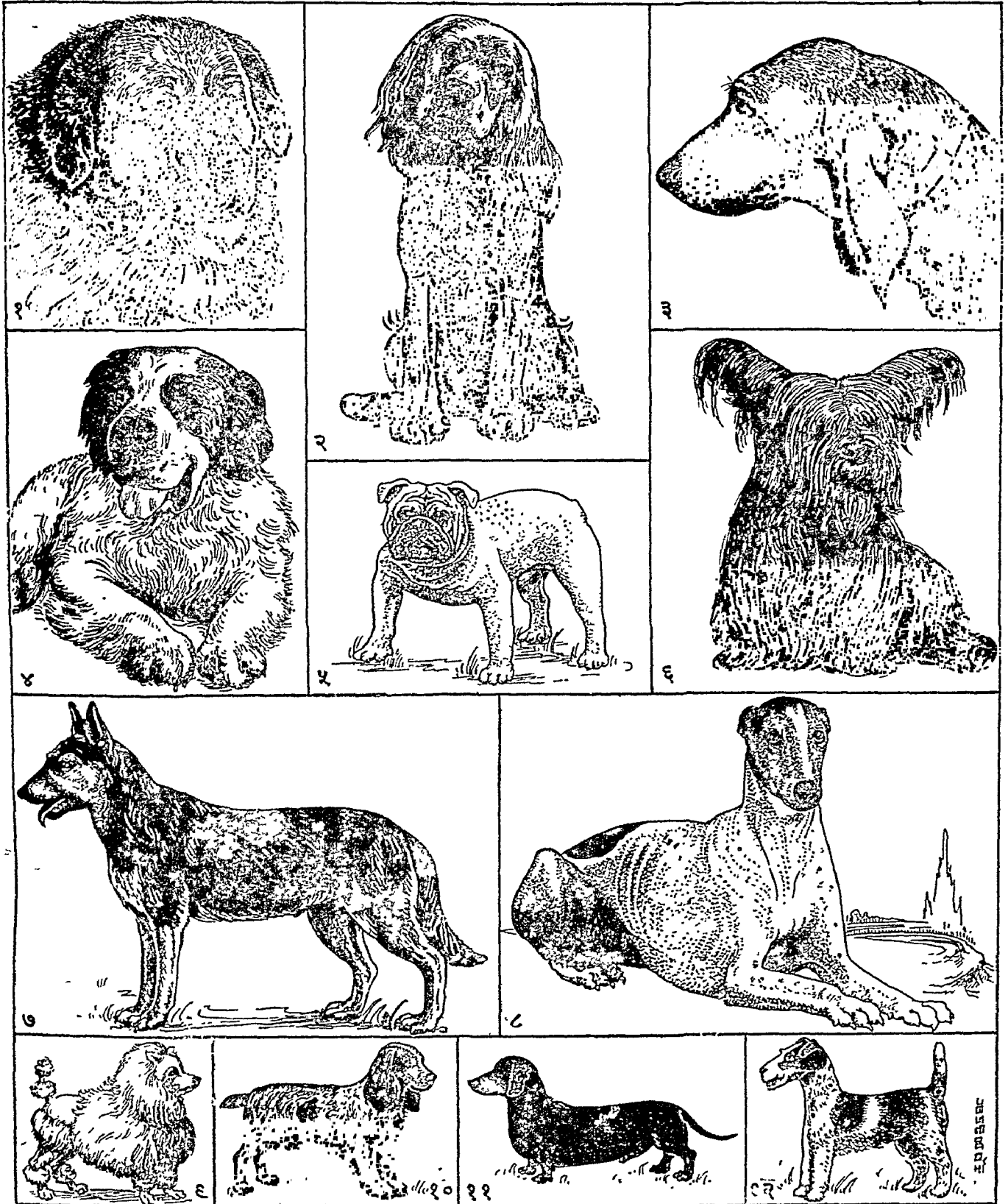
विविध जातियों के कुत्ते—१. तिब्बती दैत्याकार मास्टिक; २. अमरीकन कॉकर स्पैनियल; ३, गंधानुसारी कुत्ता, ब्लड हाउंड; ४. बरफ में दबे मनुष्यों का परित्राता, सेंट बरनार्ड; ५. छोटे बालवाला, साहसी तथा गठीला बुलडॉग; ६. स्काटलैंड के निकट स्काई द्वीप का टेरियर; ७. फ्रांस के ऐल्सेस प्रांत का ऐल्सेशियन; ८. तनु किंतु सुंदर, लंबे शरीरवाला ग्रे हाउंड; ९. अति बुद्धिमान, पालतू कुत्ता, पूडल्; १०. काम आनेवाला छोटा कॉकर स्पैनियल; ११. छोटी टाँगोवाला डैक्शुंड; तथा १२. छोटा फॉक्स टेरियर।

फलक १५

कुरान शरीफ (देखे पृष्ठ ७०, 'कुरआन')

कुरान का एक पृष्ठ (लंबाई १०½ इंच), ११ वीं सदी (टालेडो म्युजियम ऑव आर्ट)

करना आरंभ किया। मुबारक किसी तरह बंदीगृह से भाग निकला। जब मलिक काफूद की उसके शत्रुओं ने हत्या कर दी तब वह प्रकट हुआ और अपने छोटे भाई का संरक्षक बना। बाद में स्वयं उसने अपने छोटे भाई को अंधा कर दिया और कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी के नाम से सुल्तान बन गया। उसने अपने को इस्लाम धर्म का सर्वोच्च धर्माधिकारी घोषित किया और 'अल-वासिक-बिल्लाह' की उपाधि धारण की।

मुबारक ने लगभग चार वर्ष शासन किया। उसके शासनकाल में गुजरात तथा देवगिरि के अतिरिक्त सारे देश मे शांति रही। गुजरात मे वहाँके सूबेदार जफर खाँ ने जो मुबारक का अपना श्वसुर था, विद्रोह किया। उसने उसका बलपूर्वक दमन किया। इसी प्रकार देवगिरि के शासक हरगोपालदेव ने भी विद्रोह किया। उसका विद्रोह कुछ जोरदार था। अतः मुबारक शाह ने उसक विरुद्ध एक विशाल सेना का स्वय नेतृत्व किया। हरपालदेव ने भागने की चेष्टा की पर वह पकड़ा गया और मार डाला गया। मुबारक ने देवगिरि में एक विशाल मसजिद बनवाई और दिल्ली लौट आया।

शासन के प्रारंभिक काल मे मुबारक ने कुछ लोकप्रिय कार्य किए; राजनीतिक बंदियों को मुक्त कर दिया; जिनकी भूमि जब्त कर ली गई थी उन्हें उनकी भूमि वापस कर दी तथा सख्त कानून उठा दिए। इससे जनता को अपार हर्ष तथा संतोष हुआ। पर कुछ ही समय बाद वह राजकार्य से निश्चित होकर भोग विलास में पड़ गया। देवगिरि तथा गुजरात की विजय से वह मदांध हो उठा और खुसरो खाँ को प्रधान मंत्री बनाकर सारा राजकार्य उसके ऊपर छोड़ दिया। खुसरो खाँ एक निम्नवर्गीय गुजराती था जिसने अपना धर्मपरिवर्तन कर लिया था। वह बड़ा महत्वाकांक्षी था। वह मुबारक को हटाकर स्वयं सुल्तान बनना चाहता था अतः उसके एक साथी ने १३२० ई० मे छुरा भोंककर मुबारक की हत्या कर दी। (मि० चं० पां०)

कुतुबुद्दीन, सुल्तान (१३७४–१३८९ ई०) कश्मीर सुल्तान। शिहाबुद्दीन सुल्तान की मृत्यु के बाद उसका भाई हिंदाल, जिसे उसने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था, १३७४ ई० में कुतुबुद्दीन के नाम से कश्मीर का सुल्तान बना। राज्य और प्रजा के हित में वैयक्तिक रुचि के कारण उसकी बड़ी ख्याति है। उसने श्रीनगर के निकट कुतुबुद्दीनपुर नामक शहर बसाया; वहाँ उसने एक राजप्रासाद, एक समाधि भवन तथा समाधिस्थल स्थापित किया जिसमें अनेक दरवेशों और सूफियों की समाधि है। आरंभिक दिनों मे वह भारतीय वेशभूषा में रहता था पर बाद में सैयद अली हमदानी के, जो तैमूर के त्रास से कश्मीर चले आए थे, प्रभाव में आकर मुसलमानी (ईरानी) वस्त्र पहनने लगा था। पंद्रह वर्ष तक शासन करने के बाद १३८९ ई० में उसकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

कुत्ता स्तनधारियों की कैनिस (Canis) जाति का पशु। मनुष्य ने सर्वप्रथम इसे ही पालतू बनाया। उसने यह कार्य कब प्रारंभ किया, इसका ठीक पता नहीं लगता। किंतु यह निश्चित है कि ये जीव भेड़िए और सियार से विकसित किए गए है। पहले भेड़िया पालतू किया गया, फिर उससे और सियार से कुत्तों की जातियाँ निकली। पुरापाषाण युग (Paleolithic Era) के गुफाचित्रों में, जो लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व के अनुमान किए जाते है, कुत्तों का चित्रण मिलता है। कतिपय गुफाओं के चित्रों से पता चलता है कि यूरोप के नवप्रस्तर युग (New Stone Age) के आदिमानव भेड़ियों जैसे कोई जंतु अपने साथ रखते थे, जो संभवतः हमारे कुत्तों के पूर्वज रहे होंगे। इसी प्रकार कांस्य युग (Bronze Age) तथा लौह युग (Iron Age) में भी आदिवासियों के पास कुत्तों के होने का पता चलता है।

मिस्र के चार पाँच हजार वर्ष पूर्व के भित्तिचित्रों से कुत्तों की कई जातियों का परिचय मिलता है, जिनमें लंबी टाँगोंवाले ग्रे हाउंड (Grey-Hound) और छोटी टाँगोंवाले टेरियर (Terrior) कुत्ते प्रमुख हैं। लगभग ६०० ईसा पूर्व असीरिया के लोग मैस्टिफ (Mastiff) जाति के कुत्ते पालते थे। यूनान और रोम के प्राचीन साहित्य से पता चलता है कि लोग वहाँ भी कुत्ते पालने में किसी से पीछे नहीं थे। स्विट्ज़रलैंड और आयरलैंड के आदिवासी भी खेती करने से पहले कुत्ते पालते थे जिनसे वे शिकार और रखवाली में सहायता लेते थे तथा इनके मांस का भी सेवन करते थे।
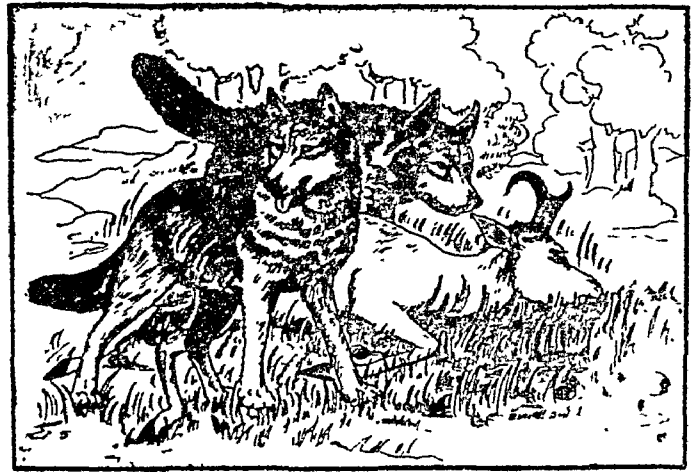
चित्र १. भेड़िए (Timber wolves)

ये उत्तरी अमरीका के उत्तरी भाग मे पाए जाते हैं। इनसे आधुनिक कुत्ते विकसित हुए है।

भारत में कुत्ते ऋग्वेद काल से ही पाले जाते रहे है। ऋग्वेद में कुत्ते को मनुष्य का साथी कहा गया है। कहा गया है कि वह चोर और अपरिचित मनुष्य से रक्षा करता है। ऋग्वेद मे एक कथा है कि इंद्र के पास सरमा नामक एक कुतिया थी। उसे इंद्र ने बृहस्पति की खोई हुई गायों को ढूँढ़ने के लिये भेजा था। उसमें श्याम और शबल नामक कुत्तों का उल्लेख है; उन्हें यमराज का रक्षक कहा गया है। महाभारत के अनुसार एक कुत्ता युधिष्ठिर के साथ स्वर्ग तक गया था। मुहे-जो-दड़ो से प्राप्त मृत्भांडों पर कुत्तों के अनेक चित्र प्राप्त होते हैं। उनमें उनके उन दिनों पाले जाने का परिचय मिलता है।

कुत्ता कर्तव्यपरायण और स्वामिभक्त जानवर समझा जाता है। उसे आजकल लोग चौकीदारी करने की दृष्टि से पालते है। कुछ किस्म के कुत्ते शौकिया अथवा शिकार के लिये पाले जाते हैं। पुलिस विभाग अपराधियों को पकड़ने और चोरी का पता लगाने के लिये कुत्तो से सहायता लेती है। इस काम के योग्य बनाने के लिये वे विशेष रूप से प्रशिक्षित किए जाते हैं। भारतीय पुलिस भी अब अपने काम में कुत्तों की सहायता लेने लगी है। कुत्ते अन्य प्रकार से भी उपयोगी हैं। ध्रुव की यात्रा कभी सफल न हो पाती यदि एस्किमों और अलेस्कन कुत्ते बर्फ पर गाड़ी खीचकर उस क्षेत्र में भोजन न पहुँचाते। उपयोग को ध्यान में रखकर कुत्तों की छह श्रेणियाँ पशु विशेषज्ञों ने माना है। उनमें सभी प्रकार के कुत्ते आते हैं।

कुत्ते छोटे बड़े सभी प्रकार के होते हैं। इनकी सुनने और सूँघने की शक्ति बड़ी तीव्र होती है। ब्लड हाउंड (Blood Hound) जाति के कुत्ते तो किसी का पदचिह्न ४८ घंटे बाद सूँघकर उसके पास पहुँच जाते है। कुत्तों की देखने की शक्ति मनुष्यों से दुर्बल होती है। वे केवल सफेद, काली और स्लेटी वस्तुएँ ही देख सकते हैं।

कुछ जाति के कुत्ते आज भी जंगलों में पाए जाते हैं। इनमें आस्ट्रेलिया का डिंगो और भारत के सोनहा और ढोल प्रमुख हैं। अफ्रीका में भी कुछ जंगली कुत्ते पाए जाते है। इनका पालतू कुत्तों के साथ लैंगिक संबंध होते तो देखा गया है किंतु वे पालतू नहीं बनाए जा सकते। (सु० सिं०; प० ला० गु०)

कुत्स (१) ऋग्वेद में उल्लिखित आर्जुनेय कुत्स। इनका नाम अनेक बार आया है। इन्होंने सुष्ण दानव को पराजित करने में इंद्र की सहायता की थी। इनकी वीरता के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। इन्होंने तुग्न, वेतसु आदि को पराजित किया था। स्वयं इनके पराजय का भी वर्णन प्राप्त होता है (ऋ० १-५३-१०)। इंद्र ने भी इन्हें अतिथिग्व तथा आयु के साथ पराजित किया था। ब्राह्मण ग्रंथों मे भी इनका उल्लेख इंद्र के साथ किया गया है (पंचविंश ब्रा० ९-२-२८)।

(२) पंचविंश ब्राह्मण मे (१४-६-६) उल्लिखित कुत्स औरव। इन्होंने अपने पुरोहित उपगु सौश्रवस का वध कर दिया था। संभवतः इन्ही के पुत्र कौत्सजिन का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण १०-६-५-९ तथा बृहदारण्यक उपनिषद् ६-४-५ में हुआ है। कदाचित् इन्ही को जनमेजय के नागयज्ञ का उद्गाता बनाया गया था (म० भा०, आदि० ५३-६); और इन्ही को राजर्षि भगीरथ ने अपनी कन्या हंसी का दान किया था जिससे वे अक्षयलोक को प्राप्त हुए (वही, अनु० १३७-२६)।

(३) चाक्षुष मनु के पुत्र (भाग० पु० ४-१३-१६)।

(४) भार्गव गोत्रकार जिनका उल्लेख मत्स्य पुराण में हुआ है (म० १९५-२२)। (चं० भा० पा०)

कुदार (आबनूस, Ebony)। तिंदु कुल (एबिनेसिई, Ebenaceae) का डाइऑस्पिरास (Diospyros) प्रजाति के वृक्ष की लकड़ी। संसार के उष्ण देशों में यह प्रजाति सुविस्तृत है। इसके तने का केवल अंतःकाष्ठ (हार्ट वुड, Heart wood) ही उत्तम कुदार होता है जो बहुत भारी और रेजिन के सचय के कारण बहुत काला हो जाता है। काला रंग, कठोरता, टिकाऊपन और पॉलिश ग्रहण करने की उत्तम क्षमता होने के कारण यह कलापूर्ण और सुंदर वस्तुएँ, यथा—फर्नीचर, प्याले, मूर्तियाँ, राजदड और चाकू के मुट्ठे आदि के निर्माण के लिये उपयुक्त समझा जाता है। सबसे उत्तम कुदार भारत और लका में डाइऑस्पिरॉस एबिनम (D. Ebenum) वृक्ष से और मारिशस द्वीप मे डाइऑस्पिरॉस रेटिकुलेटा (D. Reticulata Willd) नामक वृक्ष से प्राप्त होता है। इसके पौधे ६० से ८० फुट ऊँचे और परिधि मे ८ से १० फुट तक होते हैं। उत्तरी बंगाल में डी० टोमेंटोसा (D. Tomentosa से कुदार प्राप्त किया जाता है। लंका में केलामैंडर काष्ठ (D. Calamander wood) डी० क्विसिटा (D. Quaesita Linn) से, उत्तरी अमरीकी कुदार डी० वरजीनियाना (D Virginiana) से और काला या नाइगर (Black or Niger) कुदार डी० डेंडो (D. Dendo) से, जो ऐंगोला का देशज है, प्राप्त होता है। संसार मे कुदार का व्यापार अति प्राचीन काल से प्रचलित है। (रा० कु० स०)

कुनलुन शान तिब्बत पठार के उत्तरी किनारे की पर्वतश्रेणियों का नाम। व्यापक अर्थ में ये पर्वतों की वे श्रेणियाँ है जो पामीर से ११३° पू० दे० तक विस्तृत है। सीमित अर्थ में पामीर तथा कारामुरेन (८५° ३०' पू० दे०) के बीच की श्रेणियों को कुनलुन शान कहते हैं जो तकलामकान रेगिस्तान तथा तिब्बत के पठार को अलग करती हैं। वस्तुतः कुनलुन शान पूर्व में सैदाम द्रोणी (९५° पू० दे०) तक विस्तृत है। इस पर्वतश्रेणी का विस्तार पूर्वपश्चिम दिशा में लगभग २५०० मील तक है। पश्चिम में इसकी श्रेणियाँ मोड़दार तथा १५० से २०० मील तक चौड़ी है। पूर्व मे वे ६०० मील तक चौड़ी, कम मोड़दार तथा नीची है। इसका सबसे ऊँचा शिखर उलुघ मुजताघ, २५,३४० फुट ऊँचा है। (नृ० कु० सिं०)

कुनैन वानस्पतिक जगत् मे पाया जानेवाला नाइट्रोजनयुक्त, समाक्षार समान, ऐल्केलॉयड नामक, रासायनिक द्रव्य, जो बहुत ही महत्व- और लोककल्याणकारी ओषधि माना जाता है। यह पौष्टिक तथा ...वर्धक है। इसका उपयोग गले और सर्दी के विकारो को शांत ...ने तथा विशेष रूप से मलेरिया ज्वर के शमन के लिये विविध प्रकार ओषधियों में किया जाता है। कुनैन रूबिऐसिई कुल (Fam. Rubiaceae) के सिंकोना लेजरियाना मोइंस (Cinchona ledgeriana Moens), सिंकोना केलिसाया वेड्ड (Cinchona calisaya Wedd) इत्यादि प्रजातियों के पौधों की छाल से अलग किया जाता है। साधारणतया कुनैन इन पौधों की छाल में कुइनिकाम्ल (Quinic acid) और सिंकोटैनिकाम्ल (Cinchotannic acid) के यौगिक में ऐल्केलॉइड रूप मे पाया जाता है।

सिंकोना के पौधों की छाल में कुनैन की खोज का श्रेय फूरक्रुवा (Fourcroy) को १७९२ ई० में प्राप्त हुआ, किंतु इसे विशुद्ध रासायनिक रूप सर्वप्रथम पेल्ट्ये (Pelletier) और कावाँटू (Caventou) ने १८२० ई० में दिया।

इसका रासायनिक संघटन निम्नलिखित प्रकार है:
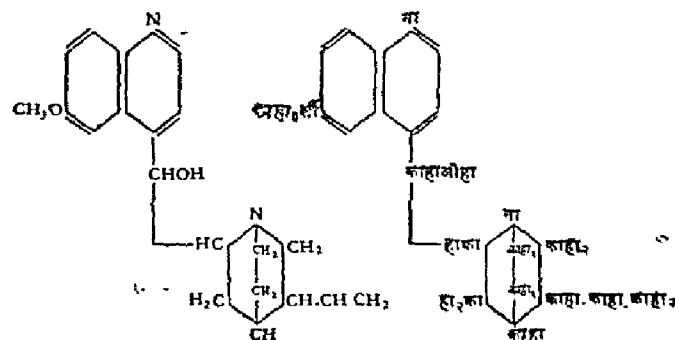
कुनैन (Quininc)

कुनैन के रंगविहीन, सुई के सदृश, लंबे मणिभों का गलनांक १७४.४°–१७५.०° सें० और विशिष्ट अवस्थाओं मे विशिष्ट घूर्णन = – १५८.२° पाया गया है। कुनैन का स्वाद बहुत ही कड़वा होता है और इसके सल्फ्यूरिक अम्ल के विलयन में विशेष प्रकार के रंग की प्रतिदीप्ति (Fluorescence) दिखाई पड़ती है। इसके प्रकाशीय समावयव (Optical isomer) कुइनिडीन (Quinidine) का गलनांक १७३.५° सें० पाया गया है।

सिंकोना की छाल में से इसके पृथक्करण के लिये छाल को बुझे हुए चूने और दाहक (Caustic) सोडा के ५ प्रतिशत विलयन के साथ पीस लिया जाता है। केरोसीन जैसे उपयुक्त विलायकों के साथ ऐल्केलॉइड के अंश को प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट से यथासंभव अलग करके विलायक को वाष्पीकरण की क्रिया द्वारा पृथक् कर लिया जाता है। बचे हुए द्रव्यों को थोड़ा गरम और पानी में घुले सल्फ्यूरिक अम्ल मे विलीन कर कुछ समय के लिये अलग रखा जाता है, जिससे तैलीय और रेजिन सदृश पदार्थ छानकर निकाले जा सकें। तत्पश्चात् ऐल्कैलॉइड के अम्लीय यौगिक को विरंजक कार्बन से स्वच्छ करके और विलयन को गाढ़ा बनाकर मणिभ के रूप मे अलग कर लिया जाता है। उपयुक्त प्रयोग द्वारा विशुद्ध ऐल्कैलॉइड को भी आवश्यकतानुसार पुनरुज्जीवित कर लिया जाता है।

सं०ग्रं०—किर्क, रेमंड ई० तथा ओथमर, डोनलफ: एंसाइक्लोपीडिया ऑव केमिकल टेक्नॉलोजी, खंड १; गवर्नमेंट ऑव इंडिया, मिनिस्ट्री ऑव हेल्थ: फार्मेकोपीआ ऑव इंडिया (दिल्ली, १९५५)। (सद्०)

कुप्रिन, अलेक्सांदर इवानोविच (१८७०–१९३८ ई०)। प्रसिद्ध रूसी कहानी लेखक। इनका जन्म नरोवचात नगर (पेंजा प्रदेश) में ८ सितंबर, १८७० को हुआ था। उनके पिता साधारण कर्मचारी थे। पिता की मृत्यु के बाद वे मास्को में पहले अपनी माता के साथ और फिर गरीबी के कारण अनाथाश्रम में रहने लगे। उनकी शिक्षा सैनिक विद्यालय मे हुई। शिक्षा के समय से ही वे कहानियाँ लिखने लगे थे। उनकी पहली कहानी 'अंतिम व पहली बार' १८८९ में प्रकाशित हुई जिसके लिये उन्हें कई दिन तक कारावास में रहना पड़ा। शिक्षा समाप्त

करने के बाद वे सेना में अफसर बने किंतु चार वर्ष पश्चात् इस्तीफा देकर वे पत्रकारिता करने लगे।

कुप्रिन को साधारण जनता और ज़ार की सेना का अच्छा परिचय प्राप्त था। अपनी अनेक कहानियों में उन्होंने सामान्य व्यक्तियों के जीवन और ज़ार-कालीन फौज के कठोर दंडोंवाले वातावरण का यथार्थवादी चित्रण किया है। 'मोलोख़' नामक उपन्यास (१८९६) में मजदूरों की जिंदगी और संघर्ष का वर्णन है। सन् १९०५ की क्रांति के समय कुप्रिन ने अपनी सर्वोत्तम रचना लिखी जिनमें प्रमुख 'द्वंद्वयुद्ध' नामक कृति है, जिसे कुप्रिन ने मैक्सिम गोर्की को समर्पित किया था। इस कृति में उन्होंने ज़ार-कालीन फौज के नियमों और रिवाजों की कड़ी आलोचना की है। उनकी प्रमुख रचनाएँ 'रक्तमणिवाला कंकन', 'काली बिजली' और 'पुण्य झूठ' हैं। 'तरल सूर्य' में उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्यवाद का पर्दाफाश किया है। 'यामा' नामक उपन्यास (१९०९–१९१५) में वेश्याओं के जीवन का सच्चा चित्रण है। अक्तूबर १९१७ की समाजवादी क्रांति के समय वे रूस छोड़कर विदेश चले गए। वहाँ भी उन्होंने रूस संबंधी अनेक कहानियाँ लिखीं। १९३७ में स्वदेश लौटे और १९३८ में रूस में उनका स्वर्गवास हुआ। शैली और भाषा की दृष्टि से कुप्रिन की रचनाएँ उच्चकोटि की हैं। इनमें क्रांति से पूर्व के रूसी जनजीवन के अनेक पहलुओं का वास्तविक चित्रण है। कुप्रिन की समस्त रचनाओं का संग्रह रूस से छह खंडों में प्रकाशित हुआ है। (प्यो० अ० वा०)

कुबेर यक्षों के अधिपति, यक्षराज, गुह्यपति, वैश्रवण, निधिपति आदि नामों से प्रसिद्ध। इनके पिता का नाम विश्रवा था, जिससे वे 'वैश्रवण' कहलाए। कुबेर हिमालय के निवासी कहे गए हैं। इनकी रम्य राजधानी अलका का वर्णन कालिदास तथा अन्य कवियों ने किया है। इनके उद्यान का नाम 'चैत्ररथ' तथा विमान का 'पुष्पक' था।

ऐश्वर्य और विलास के प्रतिनिधि देवता के रूप में कुबेर का वर्णन साहित्य में प्रचुरता से हुआ है। धन के अतिरिक्त कुबेर शक्ति के भी प्रतीक माने गए हैं। वे दिक्पालों में से भी एक हैं। उन्हें उत्तर दिशा का दिक्पाल कहा गया है जिससे उस दिशा की संज्ञा 'कौबेरी' पड़ गई है।

यक्षों की, प्रमुख रूप में कुबेर की पूजा उत्तर भारत में विशेष प्रचलित रही। ये लोकदेवता के रूप में भी मान्य हुए। लौकिक मान्यता के अनुसार कुबेर अपने भक्तों को शक्ति, समृद्धि और कल्याण प्रदान करते थे। वास्तुशास्त्रज्ञों के व्यवस्थानुसार नगर में प्रमुख देवों के साथ वैश्रवण के मंदिर का भी निर्माण अपेक्षित था।

भारतीय कला में कुबेर का आलेखन बहुत मिलता है। भरहुत की वेदिका में एक अर्धचित्र है, जिसपर अंकित 'कुपिरो यखो' लेख के अनुसार वह प्रतिमा कुबेर यक्ष की है। इस प्रकार यह उनकी सबसे प्राचीन प्रतिमा (समय लगभग ई० पू० १००) कही जा सकती है।

मथुरा, पद्मावती (पदमपवाया), विदिशा, पाटलिपुत्र आदि अनेक नगर कुबेरपूजा के केंद्र थे। इन स्थानों में आसवपायी तुंदिल कुबेर की अनेक प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। मथुरा से कुबेर तथा उनकी पत्नी हारीति की कुषाण एवं गुप्तकाल की अनेक प्रतिमाएँ मिली हैं जिनमें वे प्रायः एक हाथ में मदिरापात्र तथा दूसरे में धन की नकुली (थैली, जिसकी आकृति नेवली की सी होती है) लिए अंकित हुए हैं। कुछ प्रतिमाओं में उन्हें पर्वत के ऊपर और कुछ में धन की थैलियों के ऊपर आसीन दिखाया गया है। कतिपय मूर्तियों में वे अपनी पत्नी हारीति के साथ तथा कुछ पर कमलधारिणी लक्ष्मी के साथ बैठे मिलते हैं। कुछ पर हारीति तथा लक्ष्मी दोनों कुबेर के साथ मिलती हैं। श्री या लक्ष्मी के धनाधिपति कुबेर की भार्या होने का उल्लेख साहित्य में भी मिलता है। कुछ प्रतिमाओं पर कुबेर के साथ उनको सुरा प्रदान करते हुए अनुचर भी अंकित हैं।

अष्टनिधियों के स्वामी (निधिपति) होने के कारण अनेक कलाकृतियों में कुबेर के साथ शंख, पद्म आदि निधियों का भी उल्लेख मिलता है। दिक्पाल के रूप में कुबेर का चित्रण मध्यकालीन कला में उपलब्ध होता है। इस काल के कुछ मंदिरों में कुबेर की प्रतिमा मंदिर की उत्तराभिमुखी बाह्य दीवार पर मिलती है।

बौद्ध धर्म और कला में कुबेर की संज्ञा 'जंभाल' है। वज्रयान और महायान में इसी रूप में उनका अंकन हुआ है। महायान में इनकी पत्नी का नाम वसुधारा तथा वज्रयान में मारीचि मिलता है। जैन धर्म में कुबेर को मल्लिनाथ तीर्थंकर का यक्ष कहा गया है और इस रूप में वे जैन कलाकृतियों में मिलते हैं। (कृ० द० वा०)

कुब्ज विष्णुवर्धन बदामी के चालुक्य शासक पुलकेशी द्वितीय के छोटे भाई। इनका विरुद 'पृथ्वीवल्लभ, युवराज, विषमसिद्धि' आदि था। सातवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में पुलकेशी ने उनकी सहायता से पूर्वी तट के देशों को विजित किया और उन्हें विशाखपत्तनम् से लेकर नेल्लोर जिले के उत्तरी भाग तक का शासक नियुक्त किया। इस वंश के अभिलेखों के अनुसार उनका शासन संपूर्ण वेंगीमंडल पर था। उनका राजवंश ११वीं शताब्दी तक चलता रहा और वह इतिहास में पूर्वी चालुक्य के नाम से प्रख्यात है। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि भारवि उनकी सभा के रत्न कहे जाते हैं। (कृ० द० वा०)

कुब्ले खाँ (१२१६–१२९४) मंगोल सम्राट् तथा चीन के युवान वंश का संस्थापक; चंगेज खाँ के सबसे छोटे पुत्र तुली का द्वितीय पुत्र। कुब्ले बचपन से ही इतना होनहार था कि चंगेज खाँ ने एक बार अपने पुत्रों से कहा था कि 'तुममें से किसी को भी किसी प्रकार की शंका हो तो इस लड़के (कुब्ले) से पूछ लेना।'

जब तुली का ज्येष्ठ पुत्र मंगू सिंहासन पर बैठा, उसने कुब्ले को किन नामक प्रांत का वाइसराय नियुक्त किया और दक्षिणी चीन के विरुद्ध, जो सूंग लोगों के आधिपत्य में था, युद्धसंचालन का भार सौंपा। वह यनान प्रांत में भी शांति स्थापित करने में सफल हुआ और उसके सेनापति उरियांग कटाई—साबुठाई के पुत्र—ने कुछ ही दिनों बाद तोंकिंग पर भी अधिकार कर लिया।

मंगू के वाइसराय के रूप में कुब्ले ने युद्धसंचालन का ही भार अपने ऊपर रखा और जीते हुए भागों में शासन का भार उसने चीन के ही अधिकारियों को सौंपा। मंगू को यह रुचिकर न हुआ और उसने कुब्ले को वापस बुला लिया।

मंगू ने जब सूंग लोगों के विरुद्ध मोर्चा स्थापित किया और दक्षिणी चीन के साम्राज्य पर तीन ओर से आक्रमण किया; उस समय कुब्ले ने उत्तर में होनान से प्रारंभ करके यांगसी नदी के उत्तरवाले भाग पर विजय प्राप्त की और नदी पारकर वू-चांग के बड़े नगर पर भी आक्रमण किया। मंगोलों को सफलता मिली। 'किन' साम्राज्य तथा सूंग लोगों के बीच एक नई सीमा निर्धारित की गई। सूंग लोगों के विरुद्ध यह संघर्ष अभी चल ही रहा था कि १२५९ ई० में मंगू की मृत्यु हो गई।

तत्काल कुब्ले ने अपने मंगोली संबंधियों से, जो चीन की सेना में उच्चाधिकारी थे, तथा चीन के प्रांतों में जो मंगोल वाइसराय थे, मिलकर अपने 'खकान' होने की घोषणा कर दी और चीनी राजकुमारों एवं सेना तथा प्रशासकीय उच्चाधिकारियों द्वारा अपने को ईश्वर का पुत्र घोषित करा दिया और चीन साम्राज्य का भी उत्तराधिकारी बन बैठा। उसने अपना निवास मंगोलिया से हटाकर चीन में स्थापित किया तथा सम्राट् का निवासस्थान बज्जारों की बस्ती से हटाकर येनकिंग के विशाल तथा प्राचीन नगर में लाकर संसार पर प्रभुत्व रखनेवाली धुरी को अपनी जगह से हटा दिया। इस प्रकार चीन पर प्रभुत्व प्राप्त करनेवाले मंगोल ने मंगोलिया को, जो चंगेज खाँ के समय संसार के साम्राज्य का केंद्र था, चीन के विस्तृत साम्राज्य का केवल सैनिक महत्व का प्रांत बना दिया और वहाँ के शासन को चीन के अंतर्गत कर दिया।

कुब्ले ने तीन सौ वर्षों से भी अधिक काल तक राज्य करनेवाले सूंग-शासन को समाप्त कर दिया और चीन इतिहास में पहली बार

साम्राज्य विदेशी शासन मे होते हुए भी एक सूत्र मे बँध गया जो प्रजातंत्र स्थापित होने के कुछ दिन पहले तक बना रहा।

कुब्ले खाँ अपने को चीन का विजेता नहीं मानता था। उसपर चीन के प्रति प्राचीन रीति रिवाजो तथा उसकी सभ्यता का इतना अधिक प्रभाव पडा कि उसने धीरे धीरे अपनी जाति की राष्ट्रीय परपराओं को छोडकर मध्यम राज (चीन) की युगो पुरानी परपराओं को अपना लिया।

कुब्ले ने विज्ञान तथा कला की रक्षा की एव ससार के प्रधान विद्वानो, चित्रकारो, कवियो, वास्तुविशारदो तथा इजीनियरो को अपने यहाँ आमत्रित किया। उसने शाही नहर को खुदवाने का कार्य पूरा कराया जिसका अधिकाश निचली यागसी को पीली नदी से मिलानेवाले नहरी मार्ग का भाग था तथा जिससे पीकिंग को चावल पहुँचाने मे विशेष सहायता मिलती थी। उसने एक वेधशाला भी बनवाई तथा पचाग मे भी सशोधन कराया। उसके समय मे ज्यामिति, बीजगणित, त्रिकोणमिति, भूगोल तथा इतिहास के अध्ययन को प्रेरणा मिली। उसके बनवाए शब्दकोश अब भी व्यवहार मे लाए जाते है। खेती, बागवानी, रेशम के कीडे पालने तथा पशुपालन पर उसने ग्रथ लिखवाए। साहित्य की उसके समय मे उन्नति हुई तथा उपन्यासलेखन एव नाट्यकला को भी एक नया मोड मिला।

उसके समय मे प्रति वर्ष राज-कर्मचारी चीन के एक कोने से दूसरे कोने तक जनता की आर्थिक स्थिति तथा फसलो का निरीक्षण करते थे। गरीबो के लिये चावल तथा ज्वार के अतिरिक्त कपडे तथा आश्रय का भी प्रबंध करते थे। वृद्ध, अनाथ रोगी तथा अगहीनो को राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी। कुब्ले ने गृहहीन बालको को एकत्र कर उनकी शिक्षा का प्रबंध कराया, साम्राज्य भर मे अस्पताल तथा अनाथालय खुलवाए।

चीन के जहाज समुद्र मे दूर दूर—श्रीलका, अरब तथा अबीसीनिया—तक आया करते। स्थल मार्ग से मुस्लिम व्यापारी फारस तथा अरब से व्यापारिक सामग्री, रूस से रोएँदार कपडे इत्यादि लाते तथा लौटते समय अपने साथ रेशम, बहुमूल्य रत्न तथा मसाले ले जाते। चीन व्यापारिक केंद्र बन गया। कुब्ले के राज्यकाल मे तो इसका अद्भुत प्रसार हुआ।

ससार के इतिहास मे पहला अवसर था जब पश्चिमी एशिया तथा चीन और रूस तथा तिब्बत को पृथक् करने के लिये न तो मरुस्थल थे और न परस्पर विरोधी दल अथवा युद्ध के लिये तत्पर सेनाएँ ही थी। डकैती और लूटमार का कही नाम न था और मगोल सैनिक यातायात की रक्षा करते थे।

धार्मिक विषयो मे लोगो को स्वतत्रता थी। ईसाई, बौद्ध अथवा मुस्लिम कोई भी मत हो, सबके साथ वह पक्षपातरहित हो मित्रभाव रखता था। ईसाई पादरियो के उपदेशो को वह उतनी ही तन्मयता से सुनता था जितनी बौद्ध पुरोहितो अथवा मुस्लिम मुल्लाओ के उपदेश। यदि कभी उसने किसी पथ पर विशेष कृपा की तो केवल इसीलिये कि उससे नीतिनिर्धारण मे सहायता मिलती थी।

पक्षपातरहित विश्वनागरिक होते हुए वह व्यावहारिकता को अधिक महत्व देता था। कुब्ले के सेवको मे एशिया की सब जातियो के अतिरिक्त वेनिस नगर (इटली) के भी तीन व्यक्ति थे।

३४ वर्ष राज्य करने के बाद कुब्ले की मृत्यु हुई और उसी के इच्छानुसार उसे चीन मे न दफनाकर दूर मगोलिया मे ओनन तथा केरुलेन के उद्गम के निकट बुरकान काल्दुन पर्वत पर, जहाँ उसके पितामह चगेज खाँ तथा उसके पिता तुली एव माँ सियूरकुक-तेनी की समाधियाँ थी, दफनाया गया।

स०ग्र०—माइकेल प्रॉडीन दि मगोल एपायर, लदन, १९४१, रावर्ट के० डगलस चाइना, लदन, १९२०, जेरमियाँ कुर्टिन द मगोल्स, लदन, १९०८, एस० एच० होवार्थ हिस्ट्री ऑव द मगोल्स, लदन १८८०-१८८८, सर एच० यूल मार्को पोलो, १८७५।

(मो० या०)

कुमायूँ भारतवर्ष के उत्तरप्रदेश राज्य मे एक प्रशासनात्मक इकाई (२८° ४५' उत्तरी अक्षाश से ३०° ५०' ३०" उत्तरी अक्षाश तक तथा ७८° ५२' पूर्वी देशातर से ८०° ५६' १५" पूर्वी दे० तक)। इसमे नेपाल के पश्चिम हिमालय पर्वत की वाहरी श्रेणियाँ, तराई और भाभर की दो पट्टियाँ समिलित है। इसका क्षेत्रफल २३,६७६ वर्ग कीलोमीटर है। इसके अतर्गत टेहरी-गढवाल, गढवाल, अल्मोडा और नैनीताल नामक चार जिले है। १९७१ की जनगणना के अनुसार इन चारो जिलो की जनसख्या २४,०६,५३१ है। इसके उत्तर तिब्बत, पूर्व नेपाल और पश्चिम मे शिवालिक पर्वतशृखला है।

१८५० ई० तक तराई और भाभर क्षेत्रो मे दुर्गम और घने जगल थे, जिनमे केवल जगली जानवर रहा करते थे। धीरे धीरे जगलो को साफ किया गया तथा पहाड पर रहनेवाले लोगो का ध्यान इधर आकर्षित हुआ। पहाडी लोग गर्मी और जाडे मे नीचे आकर इन क्षेत्रो मे खेती करते है तथा वर्षा मे पहाडो पर लौट जाते है। कुमायूँ मे विशाल पर्वतश्रेणियाँ है। १४० मील लबे तथा ४० मील चौडे इस पहाडी क्षेत्र मे लगभग ३० ऐसी चोटियाँ है, जिनकी ऊँचाई समुद्रतल से १८,००० फुट से भी अधिक है; जिनमे नदादेवी, त्रिशूल, नदाकोट और पचूली विशेष प्रख्यात है। तिब्बत की जलविभाजक (Watershed) श्रेणियों की दक्षिणी ढालो से अनेक नदियाँ निकलती है तथा इन विशाल चोटियो को काटती हुई आगे बढती है, इससे अत्यत गहरी घाटियाँ बन गई है। इनमे से बहनेवाली प्रमुख नदियो के नाम शारदा या काली, पिंडारी और काली गगा है। ये सभी नदियाँ अलकनदा से मिल जाती है। जगलो से मूल्यवान लकडियाँ मिलती है। इन जगलो मे चीड, देवदार, सरो या साइप्रस, फर, साल, सैंदान (saidan) और ऐल्डर (Alder) आदि के वृक्ष मुख्य है। खनिज पदार्थो की दृष्टि से यह क्षेत्र अत्यत धनी है, इसमे लोहा, ताँबा, जिप्सम, सीसा और ऐसबेस्टस जैसे महत्वपूर्ण खनिज मिलते है। तराई भाभर और गहरी घाटियो को छोडकर अन्य सभी भागो की जलवायु सम तथा अनुकूल है। बाह्य हिमालय की दक्षिणी ढालो पर अधिक वर्षा होती है, क्योकि वे मानसून के मार्ग मे सर्वप्रथम पडते है। ४० से ८० इच तक इस क्षेत्र मे औसत वार्षिक वर्षा होती है। जाडे के दिनो मे प्रति वर्ष ऊँची चोटियो पर हिमपात होता है। किसी किसी वर्ष तो पूरा क्षेत्र ही हिमाच्छादित हो जाता है।

इस भूभाग का प्राचीन नाम कूर्माचल है। पौराणिक आख्यानो के अनुसार अपने पिता दक्ष के यहाँ यज्ञ के अवसर पर पति महादेव का अपमान देखकर पार्वती ने यही अग्निप्रवेश किया था। स्वर्गयात्रा के समय पाडव यही आए थे ऐसा महाभारत मे कहा गया है।

इस स्थान पर प्राचीन काल मे किन्नर, किरात और नाग लोग रहते थे। तदनतर यहाँ खस लोग आए और इन लोगो को पराजितकर यहाँ बहुत दिनो तक राज्य करते रहे। नवी शती ई० के आसपास कत्यूरी वश ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। कदाचित् ये लोग शक थे। यह वश १०५० ई० तक राज्य करता रहा। उसके बाद के तीन-साढे तीन सौ वर्ष के बीच अनेक वश के राजाओ का अधिकार रहा किंतु उनके सबध की जानकारी उपलब्ध नही है। १४०० ई० के लगभग चद्रवश के अधिकार मे यह प्रदेश आया। भारतीचद, रत्नचद, किरातीचद, माणिकचद, रुद्रचद के पश्चात् १७वी शती मे बाजबहादुरचद्र (१६३८-७८ ई०) राजा हुए। उन्होने तिब्बत पर आक्रमणकर उसे अपने अधिकार मे कर लिया। १८वी शती मे रुहेलो ने कुमायूँ पर आक्रमण किया और अनेक मदिर ध्वस्त किए। उन्होने स्वय तो अपना राज्य स्थापित नही किया किंतु चद्रवश की स्थिति इतनी नाजुक हो गई कि नैपाल के गोरखा शासको ने उसपर अधिकार कर लिया। १८१५ ई० मे अग्रेजो ने इसे गोरखों से ले लिया और यह भारत का एक अग बन गया।

इस प्रदेश के निवासी मुख्यत ब्राह्मण, राजपूत और शिल्पकार (डोम) है। दूसरी से छठी शती ई० तक इस प्रदेश पर बौद्ध धर्म का प्रभाव रहा।

उस समय अधिकाश खस और शिल्पकारो ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। १२वी शताब्दी के पश्चात् इस प्रदेश पर हिंदू धर्म का प्रभाव बढा।

अरमोडा इस प्रदेश का एक प्राचीनतम नगर है। यहाँ कत्यूरी राजाओ का एक दुर्ग है। १५६० के आसपास यह चद्रवश की राजधानी थी। जगेश्वर इस प्रदेश का एक प्रमुख तीर्थ है। नैनीताल एक रमणीक स्थान है जो अब उत्तर प्रदेश शासन की ग्रीष्मकालीन राजधानी है। यह एक झील के किनारे बसा है और यहाँ नैना देवी का मदिर है। प्रवाद है कि वहाँ पार्वती का नयन उस समय गिरा था जब दक्षयज्ञ के विध्वंस के बाद व्योमकेश रुद्र उनका अग्निजर्जर शव लेकर ब्रह्माड मे विक्षिप्त से घूमते फिरे थे। इस प्रदेश मे अनेक स्वास्थ्यवर्धक केंद्र है जिनमे भुवाली क्षय रोग की चिकित्सा की दृष्टि से अत्यत स्वास्थ्यकर माना जाता है। वहाँ और उसके आसपास क्षय रोग के कई चिकित्सालय है।

(कृ० मो० गु०; प० ला० गु०)

कुमारगुप्त (प्रथम) (४१४–४५६ ई०)।

गुप्तवंशीय सम्राट्। चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद महादेवी ध्रुवदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र कुमारगुप्त (प्रथम) ४१४–१५ ई० मे गुप्त साम्राज्य का सम्राट् बना और लगभग ४० वर्षो तक अपने सुशासन द्वारा वश और साम्राज्य की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाए रखा। उसके समय के लगभग १६ अभिलेख और बडी मात्रा मे सोने के सिक्के प्राप्त हुए है, उनसे उसके अनेक विरदो यथा परमदैवत, परमभट्टारक, महाराजाधिराज, अश्वमेधमहेंद्र, महेंद्रादित्य, श्रीमहेंद्र, महेंद्रसिंह आदि की जानकारी मिलती है। इनमे से कुछ तो वश के परपरागत विरुद हैं जो उनके सम्राट् पद के बोधक है; कुछ उसकी नई विजयो के द्योतक जान पडते है। सिक्को से ज्ञात होता है कि उन्होने दो अश्वमेध यज्ञ किए थे। उसके अभिलेखो और सिक्को के प्राप्तिस्थानो से उसके विस्तृत साम्राज्य का ज्ञान होता है। वे पूर्व मे उत्तरपश्चिमी बगाल से लेकर पश्चिम मे भावनगर, अहमदाबाद, एलिचपुर और सतारा तक मिले है। आधुनिक मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और बिहार मे उनकी सख्या अधिक है। उसके अभिलेखो से साम्राज्य के प्रशासन और प्रातीय उपरिको (गवर्नरो) का भी ज्ञान होता है।

कुमारगुप्त के अतिम दिनो मे साम्राज्य को हिला देनेवाले दो आक्रमण हुए। पहला आक्रमण कदाचित् नर्मदा नदी और विध्याचल पर्वतवर्ती आधुनिक मध्यप्रदेशीय क्षेत्रो मे बसनेवाली पुष्यमित्र नाम की किसी जाति का था। उनके आक्रमण ने गुप्तवंश की लक्ष्मी को विचलित कर दिया था; किंतु राजकुमार स्कंदगुप्त आक्रमणकारियो को मार भगाने मे सफल हुआ। दूसरा आक्रमण हूणो का था जो संभवत: उसके जीवन के अतिम वर्ष (४५५-६ ई०) मे हुआ था। हूणो ने गाधार देश पर कब्जा कर गगा की ओर बढना प्रारभ कर दिया था। स्कंदगुप्त ने उन्हें ('म्लेच्छों' को) पीछे ढकेल दिया।

कुमारगुप्त का शासनकाल भारतवर्ष मे सुख और समृद्धि का युग था। वह स्वयं धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु और उदार शासक था। उसके अभिलेखो मे पौराणिक हिंदू धर्म के अनेक सप्रदायो के देवी देवताओ के नामोल्लेख और स्मरण तो है ही, बुद्ध की भी स्तुतिचर्चा है। उसके उदयगिरि के अभिलेख मे पार्श्वनाथ के मूर्तिनिर्माण का भी वर्णन है। यदि ह्वेनत्साग का शक्रादित्य कुमारगुप्त महेंद्रादित्य ही हो, तो हम उसे नालदा विश्वविद्यालय का सस्थापक भी कह सकते है। ४५५–५६ ई० मे उसकी मृत्यु हुई।

कुमारगुप्त (द्वितीय) (४७३–७४ ई०) गुप्तवंशीय सम्राट्। इसके अस्तित्व का परिचय सारनाथ (वाराणसी) मे प्राप्त गुप्त संवत् १५४ के एक अभिलेख से होता है। उसके कुछ सिक्के भी प्राप्त हुए है। उनसे यह अवश्य ज्ञात होता है कि उसने 'विक्रम' की उपाधि धारण की थी। उसका उत्तराधिकारी बुधगुप्त हुआ। जिनकी अद्यतम ज्ञात तिथि ४७७ ई० है।

कुमार गुप्त (तृतीय)—भितरी और नालदा मे प्राप्त मुहरो के अनुसार गुप्तवशीय नरसिंह गुप्त का पुत्र और विष्णुगुप्त का पिता। बहुत दिनो तक इसे ही सारनाथ अभिलेख मे उल्लिखित कुमारगुप्त समझा और कुमारगुप्त (द्वितीय) कहा जाता रहा। किंतु हाल मे मिले प्रमाणो से ज्ञात होता है कि यह उससे सर्वथा भिन्न था और यह बुधगुप्त के परवर्ती काल के शासको मे था।

इसके अतिरिक्त उत्तरवर्ती गुप्तवश मे भी एक कुमारगुप्त हुआ था। उसने अफसड अभिलेख के अनुसार मौखरि ईशानवर्मन को पराजित किया था। वह विजय करता प्रयाग तक आया था और वहीं उसकी मृत्यु हुई।

सं० ग्रं०—मजुमदार और अ० स० अल्तेकर : द वाकाटक गुप्ता एज, रा० कु० मुकर्जी : दि गुप्ता एपायर, आर० एन० दाडेकर : ए हिस्ट्री ऑव दि गुप्ताज, वि० प्र० सिनहा : दि डिक्लाइन ऑव दि किंगडम ऑव मगध, वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्य का इतिहास; परमेश्वरी लाल गुप्त : गुप्त साम्राज्य। (वि० पा०, प० ला० गु०)

कुमारजीव

प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु। मध्य एशिया के कुची प्रदेश के निवासी। इनके पिता कुमारायण नाम के भारतीय थे। कुछ अज्ञात कारणवश ये भारत छोडकर पामीर के दुर्गम मार्ग से होते कुची पहुँचे। वहाँ के राजा ने इनका हार्दिक स्वागत किया और शीघ्र राजगुरु का पद प्रदान किया। उन्होने जीवा नाम की एक राजकुमारी से विवाह किया। कुमारजीव इन्ही के पुत्र थे। कुची मे कुमारजीव की प्रारंभिक शिक्षा हुई। जब वे नौ वर्ष के हुए तो उनकी माँ उन्हें उच्च शिक्षा के लिये कश्मीर ले आई। कश्मीर मे कुमारजीव ने बौद्ध साहित्य और दर्शन का अध्ययन किया। बौद्ध साहित्य का विधिवत् अध्ययन कर अपनी माता के साथ मध्य एशिया के प्रसिद्ध बौद्ध केंद्रो का भ्रमण करते हुए ये कुची पहुँचे। वहाँ विद्वान् के रूप मे उनकी ख्याति फैली। वे भारतीय ज्ञान के महान् कोष माने जाने लगे। ये पहले हीनयान के सर्वास्तिवादी संप्रदाय के समर्थक थे, किंतु कुची लौटने पर इन्होंने महायान मत स्वीकार कर लिया।

कुची मे कुमारजीव अधिक दिनो नही रह सके। कुची का चीन से राजनीतिक संबध बिगड गया। ३८३ ई० मे चीन से घोर युद्ध के बाद कुची की पराजय हुई और कुमारजीव बदी बनाकर चीन ले जाए गए। उनकी ख्याति चीन मे पहले से ही फैल चुकी थी। वहाँ वे लीग-चाऊ मे राज्यपाल के साथ ४०१ ई० तक रहे। पश्चात् चीन सम्राट् के विशेष आमत्रण पर वे राजधानी गए। वहाँ वे अपने जीवन के अतिम काल तक रहे। ४१३ ई० मे उनकी मृत्यु हुई।

चीन मे रहकर उन्होंने अनेक भारतीय बौद्ध ग्रथो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। वे भारतीय बौद्ध ग्रथो का चीनी मे अनुवाद करनेवालो मे सर्वश्रेष्ठ माने जाते है। उन्होंने पुण्यत्रात के साथ मिलकर ४०४ ई० मे विनयपिटक का और नागार्जुन के महाप्रज्ञापारमिता-सूत्रशास्त्र तथा दशभूमि-विभाषा शास्त्र का, जो दशभूमिसूत्र का भाष्य है, ४०५ ई० मे चीनी मे अनुवाद किया। वे भारतीय बौद्ध साहित्य के लगभग ५० ग्रथो के चीनी भाषा मे अनुवादक माने जाते हैं।

कुमारजीव की बौद्ध ग्रंथो के चीनी भाषा के अनुवादक के रूप मे ही नही प्रत्युत बौद्ध दर्शन के शिक्षक के रूप मे भी ख्याति है। चीन के विभिन्न भागो मे विद्यार्थी और विद्वान् इनके पास आते थे। उनमे से अनेक उनके शिष्य बने। कहा जाता है, उनके ३,००० शिष्य थे।

(ना० स० सि०)

कुमारदेवी

(१) सुविख्यात लिच्छवि कुमारी; गुप्त सम्राट् चद्रगुप्त (प्रथम) की पत्नी और समुद्रगुप्त की माता। ये संसार मे पहली महारानी है जिनके नाम से सिक्के प्रचलित किए गए।

(२) कान्यकुब्ज और वाराणसी के गहडवाल सम्राट् गोविंदचंद्र (१११४–११५४ ई०) की रानी। उनके पिता देवरक्षित पीठि (गया)

के चिक्कोरवंशी शासक और बंगाल के पाल सम्राटों के सामंत थे। उसकी माता शंकरदेवी एक अन्य पाल-सामंत मथनदेव की पुत्री थीं, जो राष्ट्रकूट-वंशी अंग के शासक थे। मथनदेव की बहन पालराज रामपाल की माता थीं। गोविंदचंद्र और कुमारदेवी के इस विवाह से गहड़वाल और पालवंश में कूटनीतिक मित्रता हुई और वह गहड़वाल शक्ति के अन्य दिशाओं में विस्तार में सहायक सिद्ध हुई। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि गोविंदचंद्र स्वयं पौराणिक धर्मोपासक हिंदू थे और कुमारदेवी बौद्ध थी; उन्हें अपने धर्मपालन में न केवल पूरी स्वतंत्रता ही प्राप्त थी, अपितु उसकी रक्षा और प्रचारादि के लिये दानादि देने की सुविधाएँ भी उपलब्ध थीं। उन्होंने मूलतः धर्माशोक के द्वारा सारनाथ में निर्मित धर्मचक्र का एक नए विहार में पुनःस्थापन कराया था।

सं०ग्रं०—र० शं० त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑव कन्नौज। (वि० पा०)

कुमारपाल (११४३–११७४ ई०) अन्हिलपाटन (अन्हिलवाड़), गुजरात के चालुक्य वंश का शासक। ११४३ ई० में वह गद्दी पर बैठा और लगभग ३० वर्षो तक शासन किया। उसके पिता का नाम त्रिभुवनपाल और माता का काश्मीरादेवी था। जैनियों की दृष्टि में वह गुजरात का सबसे बड़ा शासक था। उसके समकालीन तथा कुछ काल बाद के जैन ग्रंथों एवं अभिलेखों से उसके व्यक्तिगत और राजनीतिक इतिहास की अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। उनमें उसके दिग्विजय और उसके अनेक युद्धों का उल्लेख है। शाकंभरी के चाहमान शासक अर्णोराज के विरुद्ध किया गया युद्ध इनमें प्रमुख है। उन दोनों के बीच संभवतः दो युद्ध हुए—एक तो चालुक्य राजगद्दी पर कुमारपाल के प्रतिद्वंद्वी बाहड़ को बिठाने के लिये किए गए अर्णोराज के प्रयत्न के कारण और दूसरा अर्णोराज द्वारा अपनी रानी और कुमारपाल की बहिन देवल्लदेवी के साथ किए गए अपमानजनक व्यवहार के प्रतिकार के लिये। चाहमानों ने परमारों से मिलकर कुमारपाल के विरुद्ध उपद्रव कराने का प्रयास किया था किंतु वे सफल न हो सके। नड्डूल के चाहमान, मालवा और आबू के परमार, सौराष्ट्र के संभवतः आभीरवंशी राजा सुंवर तथा कोंकण के राजा मल्लिकार्जुन के विरुद्ध भी उसने युद्ध किए। इन सभी युद्धों में, केवल कोंकणराज के विरुद्ध किए गए आक्रमण को छोड़कर अन्य में कुमारपाल की नीति मुख्यतः प्रतिरक्षात्मक ही थी।

कुमारपाल अपने शांतिकालीन कार्यो के लिये अधिक प्रसिद्ध है। जैनधर्म में दीक्षित हो जाने पर भी उसने अपने कुल के परंपरागत शैवधर्म के प्रति कभी अरुचि अथवा शत्रुता नहीं दिखाई और भारतीय राजाओं की सच्ची धर्मसहिष्णु परंपरा में अनेक हिंदू मंदिरों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार कराया। उसके शासन की सबसे मुख्य बात यह थी कि उसने अपुत्रक मरनेवाले लोगों की संपत्ति राज्य द्वारा अपहरण की प्रथा बंद कर दी। शासक की दृष्टि से वह परिश्रमी और प्रजा का सुखचिंतक था। ११७४ ई० के लगभग रोगग्रस्त होने से उसकी मृत्यु हुई।

सं०ग्रं०—ए० के० मजुमदार : दि चालुक्याज ऑव अन्हिलवाड़; हे० च० राय : डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इंडिया, भाग २। (वि० पा०)

कुमारराज चीनी यात्री ह्वेनत्सांग (युवानच्वांग) के कथनानुसार कामरूप (का-मो-लु-पो) का शासक भास्करवर्मा। कुमारराज (भास्करवर्मा) नारायणदेव का वंशज ब्राह्मणवंशी राजा था। उसने संभवतः छठी शताब्दी के अंत अथवा सातवीं के प्रारंभ में गद्दी ग्रहण की। वह कान्यकुब्ज के प्रसिद्ध सम्राट् हर्षवर्धन का समकालीन था। उन दोनों की गौड़देश के शासक शशांक से समान शत्रुता थी। जब हर्षवर्धन ने अपना विजयप्रयाण प्रारंभ किया तब भास्करवर्मा ने अपने दूत हंसवेग को भरपूर उपहारों के साथ भेजकर उसके साथ मित्रसंधि कर ली। हर्ष के आदेश पर कुमारराज ने ह्वेनत्सांग को अनिच्छया उसके संमुख उपस्थित किया। इस चीनी यात्री के विवरणों से ज्ञात होता है कि कुमारराज कन्नौज की धर्मसभा और प्रयाग की छठीं महामोक्षपरिषद् में संमिलित हुआ था।

भास्करवर्मा और हर्षवर्धन की मित्रता हर्ष के जीवन पर्यंत बनी रही। किंतु हर्ष की मृत्यु के बाद उसने समूचे कर्णसुवर्ण (गौड़देश) और उसके आस पास के प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया। उधर हर्ष के बाद जब कान्यकुब्ज में राजनीतिक अव्यवस्था फैली तब उसके मंत्री अर्जुन या अरुणाश्व ने उसपर अधिकार जमा लिया। इस स्थिति का लाभ उठाकर चीन सम्राट् ने वैंगह्वेन स्रो के नेतृत्व में भारत पर आक्रमण के लिये सेनाएँ भेजी तब भास्करवर्मा ने चीन की मदद की। इससे भास्करवर्मा की महत्वाकांक्षाएँ स्पष्ट प्रकट होती है; किंतु उसका अपना राज्य बहुत दिनों तक टिक नहीं सका। उसकी मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद कामरूप म्लेच्छ कहे जानेवाले सालस्तंभ के अधिकार में चला गया।

सं०ग्रं०—वाटर्स : ऑन युवान् च्वाँग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया, भाग २; र० शं० त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑव कन्नौज; रा० कु० मुकर्जी : हर्ष; गौरीशंकर चटर्जी : हर्षवर्धन (हिंदी संस्करण)। (वि० पा०)

कुमारव्यास कन्नड के एक लोकप्रिय कवि। इनका मूल नाम नारणप्प था। उन्होंने व्यासरचित महाभारत के आधार पर एक प्रबंध काव्य रचा और व्यास के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के हेतु अपने काव्य का नाम 'कुमारव्यास भारत' रखा। संभवतः इसी कारण नारणप्प 'कुमारव्यास' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

कुमारव्यास का जन्म १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कर्नाटक के गदुगु प्रांत के कोळिवाड नामक गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम लक्करसय्या अथवा लक्ष्मणदेव था। कहा जाता है, लक्करसय्या विजयनगर के राजा देवराय (प्रथम) के यहाँ कुछ समय तक सचिव भी थे। कुमारव्यास भागवत संप्रदाय के अनुयायी थे और गदुगु के वीरनारायण उनके आराध्यदेव थे।

कुमारव्यास ने 'महाभारत' तथा 'ऐरावत' नामक दो काव्यग्रंथ रचे थे। इनमें 'कन्नडभारत' अथवा 'गदुगिन भारत' उनकी अचल कीर्ति का आधारस्तंभ है। इसमें व्यासरचित महाभारत के प्रथम दस पर्वो की कथा 'भामिनिषट्पदि' नामक देशी छंद में कही गई है। इसमें उन्होंने महाभारत के मर्मस्पर्शी प्रसंगों का सजीव चित्र प्रस्तुत करने में पूरा कौशल दिखाया है। पाडुमरण, द्रौपदी-मान-भंग, कीचकवध, कर्णार्जुनयुद्ध आदि प्रसंगों के वर्णन में कुमारव्यास की सहृदयता का परिचय मिलता है। कुमारव्यास की कविताशक्ति कथासंविधान की अपेक्षा पात्रनिरूपण में अधिक रमी और निखरी है। कृष्ण, कर्ण, अर्जुन, भीम, द्रौपदी, अभिमन्यु, उत्तरकुमार, दुर्योधन, द्रोण, विदुर आदि पात्रों ने कुमारव्यास के काव्य में अमर होकर कलियुग में पदार्पण किया है। किसी आलोचक ने कहा है : 'कुमारव्यास के पात्र सचेतन हो विचरते हैं। जिस पात्र का स्पर्श कीजिए वही बोल उठता है।'

कुमारव्यास का भारत सर्वत्र भगवद्भक्ति की विमल प्रभा से आलोकित है। इसमें मानव जीवन की जटिल कथा तथा भगवच्छक्ति की लीला की महिमा का सुंदर समन्वय हुआ है। यही कुमारव्यास की विशेष सम्यक् दार्शनिक दृष्टि है। इसकी भाषा मध्यकालीन कन्नड है जो अत्यंत सुगठित, सरस और सरल है। भामिनिषट्पदि छंद शैली मनोहर है। अलंकार-योजना में कुमारव्यास सिद्धहस्त है। वीर, अद्भुत, हास्य आदि इसके प्रधान रस है। कुमारव्यास के भारत में कन्नडभाषियों का जीवनदर्शन पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित है। (हि०)

कुमारसंभव महाकवि कालिदास विरचित कार्तिकेय के जन्म से संबंधित महाकाव्य जिसकी गणना संस्कृत के पंच महाकाव्यों में की जाती है। इसमें वर्णित कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

पर्वतराज हिमालय के मैनाक नामक पुत्र और गौरी नामक कन्या हुई। कन्या पार्वती और उमा नाम से भी विख्यात हुई। जब कन्या वयस्क हुई तो एक दिन उनके घर नारद आए और भविष्यवाणी की कि कन्या का विवाह शिव से होगा। यह भविष्यवाणी सुनकर हिमालय निश्चित हो गए। उधर शिव हिमालय के शिखर पर तप कर रहे थे। हिमालय ने

एक सखी के साथ उमा को उनकी परिचर्या के लिये भेज दिया और उमा भक्तिभाव से शिव की सेवा करने लगी।

उन्हीं दिनों तारकासुर से युद्ध में देवता लोग पराजित हो गए। दैत्य अनेक प्रकार के छल करने लगा। तब इंद्र सहित सारे देवता ब्रह्मा के पास आए और तारकासुर के वध के निमित्त योग्य सेनापति की माँग की। तब ब्रह्मा ने कहा कि शंकर के वीर्य से उत्पन्न पुरुष ही तुम्हारा योग्य सेनापति हो सकता है। इसलिये तुम लोग प्रयास करो जिससे शिव पार्वती के प्रति आसक्त हों। यदि शिव ने पार्वती को स्वीकार कर लिया तो पार्वती से जो पुत्र होगा उसके सेनापति बनने पर तुम्हारी विजय होगी।

तत्पश्चात् इंद्रादि देवता शिव के विरक्त भाव को हटाने के उपाय पर विचार करने के लिये एकत्र हुए। जब मदन उस सभा में आए तो इंद्र ने उनसे अनुरोध किया कि वे अपने मित्र वसंत के साथ शिव के तपस्या स्थान पर जायँ और शिव को पार्वती के प्रति आसक्त करें। तदनुसार मदन अपनी पत्नी रति और मित्र वसंत को लेकर शंकर के आश्रम में पहुँचा। जब पार्वती कमलबीज की माला अर्पण करने शिव के निकट पहुँचीं और शिव ने उसे लेने के लिये हाथ बढ़ाया, तब मदन ने अपने धनुष पर मोहनास्त्र चढ़ाया। तत्क्षण शिव का मन विचलित हुआ। शंकर ने इस प्रकार मन के अकस्मात् विकृत होने का कारण जानने के लिये चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। उन्हें शरसंधान करता मदन दिखाई पड़ा। उसे देखते ही शिव आग बबूला हो गए; उनके तृतीय नेत्र से अग्निज्वाला प्रकट हुई और मदन उससे भस्म हो गया।

रति अपने पति को इस प्रकार भस्म होते देख विलाप करने लगी और वसंत से चिता तैयार करने को कहा और स्वयं प्राण त्यागने को तैयार हुई। तब आकाशवाणी हुई कि थोड़ा सब्र करो तुम्हें तुम्हारा पति पुन. प्राप्त होगा।

उधर शिव नारीसंपर्क से बचने के लिये अंतर्धान हो गए। मदन के भस्म होने और शिव के अंतर्धान हो जाने से पार्वती ने अपना सारा मनोरथ विफल होते देखा और यह सोचकर कि यह रूपसौंदर्य व्यर्थ है, वे शिव को प्रसन्न करने के लिये एक पर्वत शिखर पर जाकर उग्र तप करने लगीं। कुछ काल के अनंतर शिव का मन पिघला और उन्होंने पार्वती को स्वीकार करने का विचार किया। किंतु इसमें पूर्व उन्होंने पार्वती की परीक्षा करने का निश्चय किया और वे एक तरुण तपस्वी का रूप धारण कर पार्वती के आश्रम में पहुँचे। पार्वती ने अतिथि के रूप में उनका समुचित सत्कार किया। तदनंतर उस तरुण तपस्वी ने पार्वती से जिज्ञासा की कि किसकी प्राप्ति के लिये इतनी उग्र तपस्या कर रही हो। अतिथि के प्रश्न को सुनकर पार्वती लज्जित हुई और अपने मनोभाव प्रकट करने में संकोच करने लगीं। तब उनकी सखी ने शिव की प्राप्ति की इच्छा की बात कही। यह सुनकर तपस्वी वेशधारी शिव, शिव के दुर्गुणों और कुरूपता आदि का उल्लेख कर उनकी निंदा करने लगे। पार्वती को यह शिवनिंदा सहन नहीं हुई और उन्हें डाँटने लगीं। तब शिव अपने स्वरूप में प्रकट हुए और उनका हाथ पकड़ लिया।

तत्पश्चात् शिव ने सप्तर्षि को बुलाकर हिमालय के पास भेजा। उन्होंने उनसे जाकर बताया कि शिव ने पार्वती का पाणिग्रहण करने की इच्छा प्रकट की है। तब विवाह का निश्चय हुआ और विवाह की तैयारी होने लगी। सप्तमातृकाएँ दूल्हे के योग्य वस्त्र लेकर आईं पर शिव ने उन सबको स्वीकार नहीं किया और नंदी पर सवार होकर ही चले। पश्चात् विवाह की सारी क्रियाएँ हुईं। विवाह संपन्न होने पर शिव सहित पार्वती ने ब्रह्मा को प्रणाम किया। ब्रह्मा ने आशीर्वाद दिया—तुम्हें वीर पुत्र हो। अप्सराओं ने आकर वर वधू के सम्मुख एक नाटक प्रस्तुत किया। नाटक समाप्त होने पर इंद्र ने शिव से मदन को जीवित करने का अनुरोध किया। अंत में शिव और पार्वती के एकांत मिलन संबंधी चर्चा विस्तार से की गई है।

इस महाकाव्य में अनेक स्थलों पर रमणीय और मनोरम वर्णन हुआ है। हिमालयवर्णन, पार्वती की तपस्या, ब्रह्मचारी की शिवनिंदा, वसंत आगमन, शिवपार्वती विवाह और रतिक्रिया वर्णन अद्भुत अनुभूति उत्पन्न करते हैं। कालिदास का बाला पार्वती, तपस्विनी पार्वती, विनयवती पार्वती और प्रगल्भ पार्वती आदि रूपों में नारी का चित्रण अद्भुत है।

यह महाकाव्य १७ सर्गों में समाप्त हुआ है; किंतु लोकधारणा है कि केवल प्रथम आठ सर्ग ही कालिदास रचित हैं। बाद के नौ सर्ग किसी अन्य कवि की रचना है। कुछ लोगों की धारणा है कि काव्य आठ सर्गों में ही शिवपार्वती समागम के साथ कुमार के जन्म की पूर्वसूचना के साथ समाप्त हो जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि आठवें सर्ग में शिवपार्वती के संभोग का वर्णन करने के कारण कालिदास को कुष्ठ हो गया और आगे वे लिख न सके। एक मत यह भी है कि उनका संभोगवर्णन जनमानस को रुचा नहीं इसलिये उन्होंने आगे नहीं लिखा। (प० ला० गु०)

कुमारस्वामी, डॉ० आनंद के० (१८७७–१९४७ ई०) सुविख्यात कलामर्मज्ञ। इनका जन्म कोलुपिटया, कोलंबो (सिंहल) में २२ अगस्त १८७७ को हुआ था। उनके पिता सर मुतु कुमारस्वामी पहले हिंदू थे जिन्होंने १८६३ ई० में इंग्लैंड से बैरिस्टरी पास की थी और मिस एलिजाबेथ क्ले नामक अंग्रेज महिला से विवाह किया था। इस विवाह के चार ही वर्ष बाद वे दिवंगत हो गए। आनंद कुमारस्वामी इन्हीं दोनों की संतान थे। पिता की मृत्यु के समय आनंद केवल दो साल के थे। उनका पालन-पोषण उनकी अंग्रेज माँ ने किया। १२ वर्ष की अवस्था में वे वाटक्लिफ कालेज में दाखिल हुए। १९०० ई० में लंदन युनिवर्सिटी से भूविज्ञान तथा वनस्पतिशास्त्र लेकर उन्होंने प्रथम श्रेणी में बी० एस-सी० (आनर्स) पास किया और युनिवर्सिटी कालेज, लंदन में कुछ काल फ़ेलो रह लेने के बाद वे श्रीलंका के मिनरालाजिकल सर्वे के डाइरेक्टर नियुक्त हुए। तीन वर्ष सिंहल में रहकर उन्होंने 'सीलोन सोशल रिफार्मेशन सोसाइटी' का संगठन किया और युनिवर्सिटी आंदोलन का नेतृत्व किया। १९०६ में लंदन से डी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त करने के उपरांत वे ललित कलाओं की ओर झुके और भारत तथा दक्षिणपूर्वी एशिया का भ्रमणकर प्राचीन मूर्तियों और चित्रों का अध्ययन किया। विज्ञान के विचक्षण विद्यार्थी होकर एवं लंका के मिनरालाजिकल सर्वे का सर्वोच्च पद छोड़ उन्होंने अपनी विशिष्ट अभिरुचि ललितकला के प्रति जागृत की और आज उस दिशा में उनका प्रयत्न इतना गहरा और सिद्ध है कि किसी को गुमान तक नहीं होता कि उनका संबंध विज्ञान से भी हो सकता था। संसार में बहुत कम विद्वान् ऐसे हुए हैं जिनकी प्रतिभा इतनी बहुमुखी रही हो जितनी आनंद कुमारस्वामी की थी। उनकी खोज दर्शन, पराविद्या, धर्म, मूर्ति और चित्रकला, भारतीय साहित्य, इस्लामी कला, संगीत, विज्ञान आदि के विविध क्षेत्रों में लब्धप्रतिष्ठ हुई। प्रत्येक क्षेत्र में जिस मौलिकता का उन्होंने परिचय दिया वह अन्यत्र दुर्लभ है। उपनिषदों के भावतत्व का उन्होंने निरूपण कर कला के संदर्भ में उसकी जो अभिव्यंजना की वह सर्वथा नया दृष्टिकोण था।

१९१० में कलकत्ते की इंडियन सोसाइटी ऑव ओरिएंटल आर्ट के तत्वावधान में उन्होंने मुगल और राजपूत चित्रकला पर जो भाषण दिया, वह उनके असाधारण ज्ञान का परिचायक था। १९११ में इंग्लैंड जाकर उन्होंने अन्य विद्वानों के साथ लंदन की 'इंडिया सोसाइटी' की नींव डाली जो आज 'रायल इंडिया पाकिस्तान ऐंड सीलोन सोसाइटी' के नाम से विख्यात है। १९१७ में वे बोस्टन के ललितकला संग्रहालय के भारतीय विभाग के संग्रहाध्यक्ष नियुक्त हुए और मृत्यु तक वहीं रहे। १९२० में उन्होंने विश्वभ्रमण किया और अगले साल श्रीलंका में भारतीय तथा प्राचीन सिंहली कला पर व्याख्यान दिए। १९२४ में न्यूयार्क में 'इंडियन कल्चर सेंटर' की नींव डाली जिसके वे प्रथम प्रधान भी हुए। अमरीका में उसके बाद उनके व्याख्यानों की परंपरा बन गई और १९३८ में वाशिंगटन की संस्था नैशनल कमिटी फार इंडियाज फ्रीडम के वे अध्यक्ष बने।

१९०८ में उनकी प्रसिद्ध कृति 'द एम्स ऑव इंडियन आर्ट' प्रकाशित हुई और दो वर्ष बाद 'आर्ट ऐंड स्वदेशी'। १९१३ में 'आर्ट्स ऐंड क्रैफ्ट्स

ऑव इंडिया ऐंड सीलोन' और अगले ही साल भगिनी निवेदिता के साथ 'मिथ्स ऑव हिंदूज ऐंड बुद्धिस्ट' प्रकाशित हुआ। तदनतर 'बुद्ध ऐंड दि गास्पेल ऑव बुद्धिज्म', 'द डास ऑव शिव' और बोस्टन सग्रहालय के विविध कैटलग प्रकाशित हुए। १६२३ मे 'इंट्रोडक्शन टु इडियन आर्ट' और १६२७ मे उनकी प्रसिद्ध कृति 'दि हिस्ट्री ऑव इंडियन ऐंड इडोनेशियन आर्ट' छपी। इसी बीच डॉ० कुमारस्वामी ने फ्रेंच मे भी कलासबधी तीन पुस्तकें प्रकाशित की जिनके नाम है 'लेजार ए मातिए द लींद ए द सिलान', 'पूर कोप्राद लार ईन्दू' और 'ले मिनियातूर ओरियाताल द ला कलेक्सी ओ गुलूवें'। १६३० से कुमारस्वामी की रुझान दर्शन की ओर विशेष हो गई और सन् '३३ मे उन्होने वेदो के अध्ययन स्वरूप 'ए न्यू ऐप्रोच टु वेदाज—ऐन एसे इन ट्रासलेशन ऐंड एक्सिजेसिस' प्रकाशित किया। पर कुमारस्वामी का सबध जीवन के अत तक कला से बना रहा और वे ललितकलाओ पर अपने विचार दार्शनिक स्तर से प्रकाशित करते रहे। 'एलिमेंट्स ऑव बुद्धिस्ट आइकॉनोग्राफी' (१६३७) तथा 'ह्वाई एग्जिबिट वर्क्स ऑव आर्ट ?' (१६३४) इसी प्रकार के चिंतन के परिणाम थे। १६४७ मे ७० वर्ष की अवस्था मे उनकी मृत्यु हुई। मृत्यु के बाद उनकी कृति 'लिविंग थाट्स ऑव गोतम दि बुद्धा' प्रकाशित हुई।

(भ० श० उ०)

कुमारिल भट्ट मीमासा दर्शन के दो प्रधान सप्रदायों मे से एक भाट्ट सप्रदाय के सस्थापक। ये विहारनिवासी ब्राह्मण थे और पहले बौद्ध थे किंतु बाद मे धर्मपरिवर्तन द्वारा हिंदू धर्म मे उन्होंने प्रवेश किया। तारानाथ उन्हें दक्षिण भारत का निवासी बताते है। उनके काल के विषय मे विद्वानों मे मतभेद है। किंतु सामान्य रूप से उनका समय ईसा की सातवी शताब्दी मे रखा जा सकता है। वे शकराचार्य से पहले हुए। वे वाचस्पति मिश्र (८५० ई०) के भी पूर्ववर्ती है और मडन मिश्र उनके अनुयायी है। कुमारिल भवभूति (६२० ई०–६८० ई०) के गुरु थे। कुमारिल का यश हर्ष के अतिम काल मे अच्छी तरह फैल चुका था।

कुमारिल ने शाबर भाष्य पर तीन प्रसिद्ध वृत्तिग्रथ लिखे। (१) श्लोकवार्तिक—यह प्रथम अध्याय के प्रथम पाद की व्याख्या है। (२) तत्ववार्तिक—इसमे पहले अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तीसरे अध्याय के अत तक की व्याख्या है। (३) टुप्टीका—इसमे अतिम नौ अध्यायो की सक्षिप्त व्याख्या की गई है। श्लोकवार्तिक तथा तत्ववार्तिक मे कुमारिल के असाधारण पाडित्य तथा प्रतिभा का परिचय मिलता है।

कुमारिल के दर्शन का तीन मुख्य भागो मे अध्ययन किया जा सकता है। ज्ञानमीमासा, तत्वमीमासा और आचारमीमासा। ज्ञान के स्वरूप तथा उसके साधनो का कुमारिल ने विस्तार से विवेचन किया है। ज्ञान के विषय मे पहला प्रश्न है कि यथार्थ ज्ञान अथवा प्रमा का स्वरूप क्या है। मीमासा के अनुसार पहले से अज्ञात तथा सत्य वस्तु के ज्ञान को प्रमा कहते है। इस ज्ञान का किसी अन्य ज्ञान द्वारा बाध अथवा निराकरण नही होता और यह ज्ञान निर्दोष कारणों से उत्पन्न होता है। जिस साधन द्वारा प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है उसे प्रमाण कहते है। कुमारिल के मत से प्रमाण छह प्रकार के है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। अद्वैत वेदात भी उपयुक्त छह प्रमाणो को स्वीकार करता है। मीमासा ज्ञान को स्वत प्रामाण्य मानती है। कुमारिल के अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता अथवा सत्यता की प्रतीति उसके उत्पन्न होने के साथ ही होती है। जिस समय किसी वस्तु का ज्ञान होता है उसी समय उसकी सत्यता का भी ज्ञान हो जाता है। उसकी सत्यता सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही होती। किंतु ज्ञान की असत्यता अथवा अप्रामाणिकता का बोध तब होता है जब उसका बाद मे वस्तु के वास्तविक स्वरूप से विरोध दिखाई पडता है या उसको उत्पन्न करनेवाले कारणों के दोषो का ज्ञान हो जाता है। अत मीमासा ज्ञान के विषय मे स्वत प्रामाण्यवाद को मानती है। मीमासा के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य स्वत और अप्रामाण्य परत होता है। कुमारिल और प्रभाकर दोनो ही इस मत का प्रतिपादन करते है।

वे बाह्य वस्तुओ के अस्तित्व को स्वीकार करते है। ससार को वे अद्वैत वेदात अथवा महायान बौद्ध दर्शन की तरह मिथ्या नही मानते। ससार सत्य है। ससार का तथा पदार्थों का मन से स्वतत्र अस्तित्व है। उनके मत से पदार्थ पॉच प्रकार के है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा अभाव। इनको वे दो भागो मे विभाजित करते है भाव और अभाव। प्रथम चार भाव पदार्थ कहलाते है। अभाव को वैशेषिको की तरह उन्होंने चार प्रकार का माना है . प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यताभाव तथा अन्योन्याभाव।

द्रव्य वह है जिसमे गुण रहते है। कुमारिल के अनुसार यह ग्यारह प्रकार का है पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, आत्मा, मन, काल, दिक्, अधकार और शब्द। इनमे प्रथम नौ द्रव्य वैशेषिक दर्शन से ही लिए गए है। कुमारिल ने अधकार तथा शब्द को भी द्रव्य की ही मान्यता दी है।

गुणो के विषय मे भी कुमारिल पर वैशेषिक का पर्याप्त प्रभाव प्रतीत होता है। प्रशस्तपाद की तरह वे भी २४ गुण मानते है। ये है रूप, रस, गध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख, सस्कार, ध्वनि, प्राकट्य और शक्ति। गुणो की इस सूची मे उन्होंने प्रशस्तपाद के शब्द के स्थान पर ध्वनि तथा धर्म और अधर्म के स्थान पर प्राकट्य और शक्ति रखा है। कर्म को भी वैशेषिक की तरह वे पाँच प्रकार का मानते है उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुचन, प्रसारण और गमन। प्रभाकर के अनुसार कर्म अनुमान का विषय है किंतु कुमारिल का मत है कि इसका प्रत्यक्ष होता है। सामान्य को प्रभाकर तथा कुमारिल दोनो सत्य मानते हैं। उनके अनुसार इसका इद्रियो से साक्षात् ग्रहण होता है। इस विषय मे इनका बौद्धो से पूर्ण विरोध है क्योकि वे सामान्य की सत्ता स्वीकार नहीं करते।

कुमारिल ससार की उत्पत्ति तथा प्रलय नही मानते। ससार मे वस्तुएँ उत्पन्न तथा नष्ट होती रहती है। जीवों के जन्म मरण का प्रवाह चलता रहता है किंतु समग्र ससार की न तो उत्पत्ति ही होती है, न विनाश। न्याय की तरह कुमारिल ईश्वर को जगत् का कारण नहीं मानते। अनेक तर्को द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ईश्वर को जगत् का कारण मानना युक्तिसगत नही है।

कुमारिल के अनुसार आत्मा एक नित्य द्रव्य है। वह विभु अथवा व्यापक है। वह कर्ता तथा कर्म-फल-भोक्ता दोनो ही है। आत्मा शरीर, इद्रिय, मन तथा बुद्धि से भिन्न है। वह विज्ञानो की सतान मात्र नही है। कुमारिल ने बौद्धों के अनात्मवाद तथा विज्ञानसतान के सिद्धात का अनेक प्रबल तर्को द्वारा खडन किया है। उनके अनुसार नित्य आत्मा को स्वीकार किए बिना कर्मनियम, पुनर्जन्म, कर्मफल की प्राप्ति, आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति तथा स्मरण आदि क्रियाओ की व्याख्या नही की जा सकती। कुमारिल के मत से आत्मा अनेक है। वह प्रति शरीर मे भिन्न है। आत्मा परिणामी तथा नित्य है। आत्मा अशत जड तथा अशत चेतन है। चिदश से आत्मा वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त करता है। अचिदश से वह ज्ञान, सुख, दु ख, इच्छा, प्रयत्न आदि के रूप मे परिणत होता है। चेतना आत्मा का स्वरूप नही है। वह उसका औपाधिक गुण है जो विशेष परिस्थिति, जैसे इद्रिय का विषय से सयोग, होने पर उत्पन्न होता है। सुषुप्ति तथा मोक्ष की अवस्था मे आत्मा मे चेतना नहीं रहती। कुमारिल के मत से आत्मा ज्ञाता तथा ज्ञान का विषय, दोनो ही है। वेद के वाक्य कि 'मै आत्मा अथवा ब्रह्म हूँ, आत्मा को जानो' इस मत की पुष्टि करते है।

मीमासा दर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म का निरूपण करना है। जैमिनि के अनुसार धर्म का लक्षण है 'चोदना' अर्थात् क्रिया का प्रवर्तक वचन अथवा वेद का विधिवाक्य। मीमासको के अनुसार वेद का मुख्य तात्पर्य क्रियापरक अथवा विधिवाक्यो का प्रतिपादन करना है। वेद द्वारा प्रतिपादित यज्ञादि का अनुष्ठान धर्म कहलाता है। वेद में प्रतिपादित कर्म तीन प्रकार के है काम्य, प्रतिषिद्ध तथा नित्य नैमित्तिक। कुमारिल के अनुसार काम्य कर्म किसी कामना की सिद्धि के लिये किए जाते है, जैसे

'स्वर्ग की इच्छावाला व्यक्ति यज्ञ करे'। प्रतिषिद्ध कर्म वे हैं जिनका वेदों में निषेध किया गया है। नित्य कर्म वे हैं जिनका प्रतिदिन करना आवश्यक माना गया है, जैसे संध्यावंदन आदि। नैमित्तिक कर्म विशेष अवसरों पर किए जाते हैं, जैसे श्राद्ध आदि। मनुष्य को अपने किए हुए अच्छे बुरे कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है। वर्तमान में किए हुए यज्ञादि कर्मों का फल भविष्य में अथवा जन्मांतर में कैसे प्राप्त होता है? इसे समझाने के लिये मीमांसक 'अपूर्व' की कल्पना करते हैं। कुमारिल के अनुसार 'अपूर्व' एक अदृश्य शक्ति है जो किसी कार्य को करने से उत्पन्न होती है। 'अपूर्व' के ही कारण आत्मा को अपने कर्मों के अनुरूप फल की प्राप्ति होती है। इससे कर्म और फल के बीच 'अपूर्व' एक अदृश्य कड़ी है।

कुमारिल के अनुसार वेदांत का अध्ययन एवं चिंतन मोक्षप्राप्ति में सहायक होता है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा का शरीर, इंद्रिय, बुद्धि तथा संसार की इन वस्तुओं से संबंध सदा के लिये समाप्त हो जाता है। आत्मा दुःख से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है। उस अवस्था में सुख की भी कोई अनुभूति नहीं रहती। यह पूर्ण स्वतंत्रता तथा शांति की अवस्था है। मोक्ष प्राप्त करने के लिये मनुष्य को काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्याग करना चाहिए। किंतु नित्य नैमित्तिक कर्मों का संपादन नित्य करते रहना आवश्यक है। वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान मोक्ष का साधक है।

सं०ग्रं०—ईलियट : हिंडुइज्म ऐंड बुद्धिज्म; कीथ, ए० बी० : कर्ममीमांसा; दासगुप्त : ए हिस्ट्री ऑव इंडियन फ़िलासफ़ी; राधाकृष्णन् : इंडियन फ़िलासफ़ी; बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन; डॉ० गंगानाथ झा : प्रभाकर स्कूल ऑव पूर्वमीमांसा। (रा० शं० मि०)

कुमारी (ऐलो, Aloe) नलिनी कुल (लिलिएसी, Lilliaceae) की एक प्रजाति हैं। संस्कृत में इस पौधे के अन्य नाम हैं, सहा, स्थूलदला इत्यादि। साधारणतया यह घीकुँवार (ग्वारपाठा, गोंडपट्ठा) के नाम से प्रसिद्ध है।

यह दक्षिणी अफ्रिका के शुष्क भागों विशेषकर वहाँ की करू (Karroo) मरुभूमि में पाई जाती है। इसकी लगभग १८० जातियाँ हैं। कुछ शताब्दियों से इस प्रजाति की कुछ जातियाँ भारत में उगाई जाने लगी हैं और वे अब यहाँ प्रकृत्यनुकूल हो गई हैं। कुछ पौधों में प्रकट रूप से तना नहीं होता। उनमें बड़ी बड़ी, मोटी और मांसल पत्तियों का गुच्छा होता है। कुछ पौधों में छोटा, या लंबा, तना भी होता है। पत्तियों के किनारों पर काँटे भी होते हैं। पत्तियों का रंग कई प्रकार का होता है। कभी कभी ये पट्टीदार या चित्तीदार भी होती हैं। इसी कारण ऐसे पौधों को शोभा और सजावट के काम में लाते हैं। इनके फूल, छोटे, पीले अथवा लाल रंग के होते हैं और पत्तीरहित, साधारण या शाखायुक्त तने पर बहुधा गुच्छों में पाए जाते हैं।

कुमारी ओषधि, अर्थात् मुसब्बर, इस प्रजाति की कई जातियों के रस से बनाई जाती है। यह कड़ए पैंटोसाइडों का अनिश्चित मिश्रण और एक प्रकार की रेचक ओषधि है। भारतवर्ष के गाँवों में इसकी मांसल पत्तियों का उपयोग आँख उठ आने पर कई प्रकार से किया जाता है। भारतीय कुमारी ओषधि का उल्लेख सर्वप्रथम १६३३ ई० में गार्सिया डे ऑर्टा (Garcia de Orta) ने किया था। इसका व्यापार भारत में अधिक नहीं है। प्रायः बंबई और मद्रास से यह बाहर भेजी जाती है। सबसे अधिक यूनाइटेड किंगडम और स्ट्रेट्स सेटलमेंट को जाती है। बहुत सी माल लाल सागर (Red sea) तट, जंजीबार, क्यूराकाओ, बारबेडोज, सोकोत्रा आदि से भारत में आयात किया जाता है और वर्गीकृत करने के पश्चात् अन्य देशों को निर्यात कर दिया जाता है।

इस प्रजाति की दो जातियों से भारत में कुमारी ओषधि बनाई जाती है।

(१) ऐलो ऐबिसिनिका (Aloe Abyssinica Lam.)—इससे काठियावाड़ के जफ़राबाद में ओषधि बनाई जाती है और गोल, चपटी तथा ठोस आकार में बाजारों में बिकती है। इसका रंग लगभग काला होता है। भारत में इसकी अधिक खपत है।

(२) ऐलो वेरा (Aloe Vera Linn.)—यह जाति भारत की
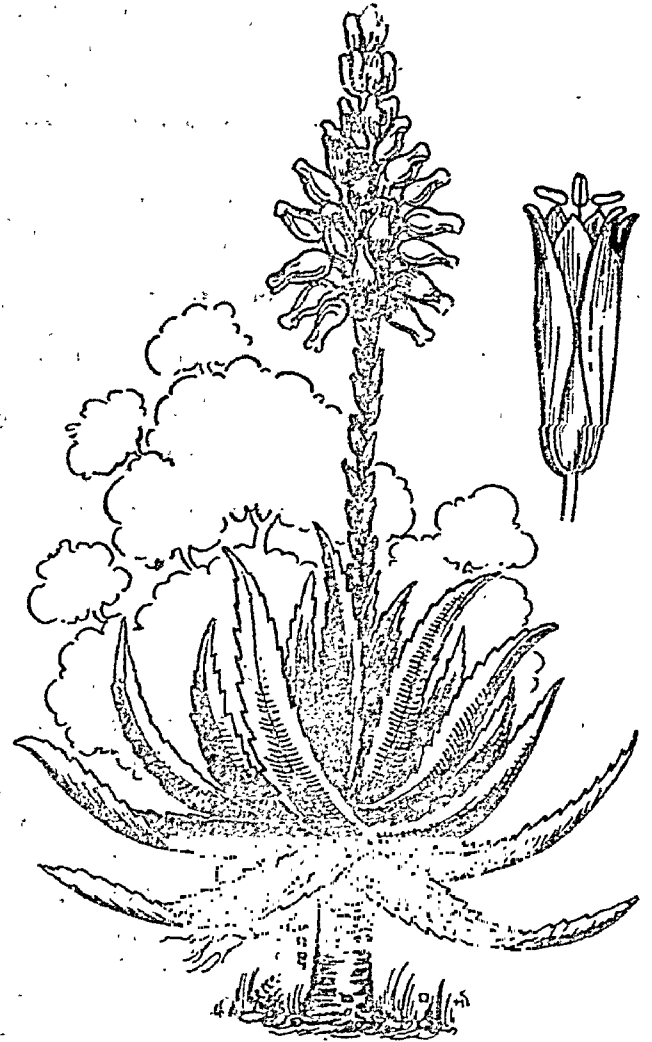
(कुमारी Aloe)

मध्य में : पूरा पौधा (न्यूनीकृत चित्र); दाहिनी ओर, ऊपर : कुमारी का एकल फूल (१।२ न्यूनीकृत)।

देशज नहीं है, परंतु शताब्दियों से उत्तरपश्चिमी हिमालय की शुष्क घाटियों से लेकर कन्याकुमारी तक पाई जाती है।

ऐलो वेनेनोसा (Aloe Venenosa) का रस विषैला होता है। अमरीकी कुमारी का नाम अगेव अमेरिकाना (Agave Americanalinn.) है। यह एमरिलिडेसी (Amaryllidaceae) कुल का पौधा है। इससे कुमारी ओषधि नहीं बनती। (रा० कु० स०)

कुमारीपूजन शक्तिसाधना का एक अनिवार्य अंग। इस अनुष्ठान में कुमारियों का षोडशोपचार पूजन शक्ति के रूप में किया जाता है। 'कुमारी' के स्वरूप के विषय में शाक्त तांत्रिक स्मृतिकारों से भिन्न मत रखते हैं। स्मृति के अनुसार अष्टवर्षीया बालिका को 'गौरी', दशवर्षीया को 'कन्यका' तथा द्वादशवर्षीया को 'कुमारी' कहते हैं।

तांत्रिकों के मत में 'कुमारी' का मुख्य लक्षण 'अजात पुष्पत्व' (रजस्वला न होना) है और इसलिये अजातपुष्पा बालिका षोडश वर्ष के वय

तक 'कुमारी' ही मानी जाती है। वयोभेद से कुमारी का नामभेद होता है। एकवर्षीया कुमारी को 'सध्या' कहते है, द्विवर्षीया को 'सरस्वती', त्रिवर्षीया को 'त्रिधामूर्ति', चतुर्वर्षीया को 'कालिका', पचवर्षीया को 'सुभगा' और इसी प्रकार वय मे एक एक वर्ष की वृद्धि होने पर क्रमश उसे उमा, मालिनी, कुब्जिका, कालसकर्षा, अपराजिता, रुद्राणी, भैरवी, महालक्ष्मी, पीठनायिका, क्षेत्रज्ञा तथा षोडशवर्षीया को अन्नदा कहते हैं। तत्र का प्रामाणिक वचन है एव क्रमेण सपूज्या यावत् पुष्प न जायते।

कुमारीपूजन मे जातिभेद का विचार नही किया जाता। किसी भी जाति की कुमारी पूजन के लिये गहण की जा सकती है

तस्मात् पूजयेद्बाला सर्वजातिसमुद्भवाम्।
जातिभेदा न कर्त्तव्य कुमारीपूजने शिवे॥ (तत्रसार)

कुमारीपूजन से पहिले षडगन्यास करने का विधान है जैसा तात्रिक पूजन म नियमत किया जाता है। प्रथमत परिकर देवता का पूजन नितात आवश्यक होता है। अभीष्ट परिकर देवता के नाम ये है. सूर्य, चद्रमा, दश दिक्पाल, वीरभद्रा, कोलिनी, अष्टादशभुजा, काली तथा चडदुर्गा। इस पूजा के अनतर कुमारी का विधिवत् पूजन सोलहो उपचारो से करना चाहिए। साधक का कर्तव्य है कि वह कुमारी मे सामान्य मानवी की कल्पना न कर उसे देवी की प्रतिमूर्ति मान और कुमारी मे देवी की पूर्ण आतरिक भावना रखे। अत म उसे कुलद्रव्य (अर्थात् मद्य, शराब) तथा पचतत्व का समर्पण साधक को भक्तिगद्गद् हृदय से करना पडता है और इस मत्र से कुमारी को अतिम नमस्कार भेंट किया जाता है

नमामि कुलकामिनी परमभाग्यसदायिनी
कुमाररतिचातुरी सरलसिद्धिमानदनीम्।
प्रवालगुटिकास्रज रजतरागवस्त्रान्विता
हिरण्यसमभूषणा भुवनवाक्कुमारी भजे॥

पूजा के लिये पवित्र तिथियाँ है—अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा सक्राति। पूजा की सामग्री मे वस्त्र, अलकरण, भोज्य, भोक्ष्य, पचतत्व तथा कुलद्रव्य की गणना है। 'अन्नदाकल्प' का कथन है कि कुमारी मे देवीबुद्धि से पूजन करने पर ही साधक का परम मगल होता है, अन्यथा नही।

इस पूजन का प्रचार महाचीन (तिब्बत) से आरभ हुआ। 'अन्नदाकल्प' का यह वचन प्रमाण रूप मे उद्धृत किया जा सकता है.

अथान्यत् साधन वक्ष्ये महाचीनक्रमोद्भवम्
येनानुष्ठितमात्रेण शीघ्र देवी प्रसीदति॥
(शब्दकल्पद्रुम, पृ० १४६)

कुमारी के चुनाव मे वर्णावस्था का शैथिल्य भी इस पूजन के ऊपर भारतेतर प्रभाव का सूचक माना जा सकता है।

(ब० उ०)

कुम्हड़ा देखिए 'कुष्माड'।

कुम्हार मिट्टी के बर्तन एव खिलौना बनानेवाली एक जाति जो भारत के सभी प्रातो म पाई जाती है। इस जाति के लोगो का विश्वास है कि उनके आदि पुरुष महर्षि अगस्त्य हैं। यह भी समझा जाता है कि यत्रो म कुम्हार के चाक का सबसे पहले आविष्कार हुआ। लोगो ने सबसे पहले चाक घुमाकर मिट्टी के बर्तन बनाने का आविष्कार किया। इस प्रकार कुम्हार अपने को आदि यत्र कला का प्रवर्तक कहते है जिसके कारण अनेक स्थान के कुम्हार अपने को प्रजापति कहते है।

कुम्हारो की अलग अलग प्रदेशो मे अलग अलग उपजातियाँ हैं। उत्तर प्रदेश मे कुम्हारो की उपजाति कनौजिया, हथेलिया, सुवारिया, बर्धिया, गदहिया, कस्तूर और चौहानी हैं। इन उपजातियों के नामकरण के सबध मे स्पष्ट रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है किंतु जो कुम्हार बैलो पर मिट्टी लाद कर लाते हे वे बर्धिया और जो गदहो पर लाते है वे गदहिया कहलाते है। इसी प्रकार बगाल म इनकी उपजातियो की सख्या बीस के लगभग हैं जिनमे बडभागिया और छोटभागिया मुख्य है। बडभागिया काले रग के और छोटभागिया लाल रग के बर्तन बनाते है। इसी प्रकार दक्षिण भारत मे भी कुम्हारो मे अनेक भेद है। कर्णाटक के कुम्हार अपने को अन्य प्रदेशों के कुम्हारो से श्रेष्ठ मानते है।

धार्मिक दृष्टि से कुम्हार प्राय वैष्णव है। उडीसा मे जगन्नाथ के उपासक होने क कारण वे जगन्नाथी कहलाते हैं। दक्षिण मे कुम्हार प्राय लिंगायत है। किंतु इनमे विश्वकर्मा की पूजा विशेष प्रचलित है। बगाल मे तो उनकी बडी मान्यता है। (प० ला० गु०)

कुरआन स्वर्गीय किताब जो मुसलमानो की आस्था के अनुसार हजरत जिब्रईल द्वारा इस्लाम क पैगबर हजरत मुहम्मद पर मक्का और मदीना मे प्रकट हुई। यह मुसलमानों की दृष्टि मे अल्लाह का कलाम (वचन) है और उसके केवल अर्थ ही नही बल्कि उसके प्रति शब्द और अक्षर को दिव्य माना जाता है।

इस्लाम के पैगबर की मृत्यु से पूर्व ही अधिकाश मुसलमानों ने कुरआन को कठस्थ (हिफ्ज) कर लिया था, उसके अनेक अश कुछ लोगो क पास लिपिबद्ध भी थे। मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद दूसरे वर्ष इमामी युद्ध मे जब ऐसे हिफाज जिन्होने पूरे कुरआन को कठस्थ कर रखा था, बडी सख्या मे मार डाले गए, तब पूरे कुरआन को एक जगह जमा करने का खयाल पैदा हुआ और हजरत अबूबकर सिदीक के खिलाफत काल मे कुरआन की प्राप्त प्रतियो को सामने रखकर हजरत अबूबकर की सगृहीत प्रतियों और उन लोगो की शहादत की रोशनी मे, जिन्हें पूरा कुरआन हिफ्ज था, एक प्रामाणिक प्रति तैयार की गई। उसी रूप मे आज वह कुरआन के रूप मे उपलब्ध है।

कुरआन मे ३२३६२१ अक्षर, ७७६३४ शब्द, ६२३६ आयतें (पद्य) और ११४ सूर (अध्याय) है। इसके अध्यायों का क्रम विस्तार के हिसाब से रखा गया है। इसमे ९० मक्की (मक्का की) सूरतें (अध्याय) हैं जो सघर्षकाल मे प्रकट हुई थीं। ये प्राय सक्षिप्त, प्रभावशाली, तेज और तीखी शैली मे है। अल्लाह की अद्वयता और गुण, मानव के नैतिक कर्तव्य और कर्मविपाक इनका मुख्य विषय है। शेष २४ मदनी (मदीना की) सूरतें है, जो आकार मे लगभग एक तिहाई है, विजयकाल मे प्रकट हुई थी और विस्तृत, विशद, व्यवस्थापक आदेशो से पूर्ण है। इनमे धार्मिक विश्वासो और व्यावहारिक इबादतो यानी साम (सार्वजनिक प्रार्थना), सिलवत (उपवास), हज (तीर्थयात्रा) और जमान-ए अमन (पवित्र मास) के नियम बताए गए है। मद्यपान, मासभक्षण और द्यूत की निंदा की गई है। इसमे आर्थिक और बौद्धिक व्यवस्था, जकाबत (भिक्षा देना) तथा जहाद (पवित्र युद्ध) के विषय मे और हत्या, प्रतिहिंसा, चोरी, ब्याज, व्यभिचार, निकाह (विवाह), तलाक (दापत्य-सबध-विच्छेद), वरासत (उत्तराधिकार), गुलामो को स्वतत्र करने के नियम भी हैं। मदनी सूरतो (अध्यायो) मे कही कही पैगबरी आवेश और वाग्विन्यास की चिनगारियाँ भी नजर आती हैं।

कुरआन मे तूरात (बाइबिल) की वर्णित आदम, नूर, इब्राहीम, इस्माईल, लूत, यूसुफ, मूसा, तालूत, दाऊद, सुलेमान, इलियास, अयूब, यूनिस और बुखील की कथाएँ और व्यक्तियो मे जकरिया, याह्ी, ईसा और मरियम की चर्चा है। इनके अतिरिक्त आद और समूद, लुकमान और असहाब फील (हाथियों के स्वामी) के खालिस अरबी किस्से और सिकदर महान् तथा सात सोनेवालो की भी चर्चा है। इनके किस्से उपदेशपूर्ण शिक्षा देने और यह सिखाने के लिये बयान किए गए है कि अतीत काल मे अल्लाह ने सज्जनो को सदा पुरस्कृत और दुर्जनो को दड दिया है।

इस ग्रथ की जो साहित्यशक्ति है उसके कारण अरबी बोलनेवाली विभिन्न जातियों की भाषाओं मे भिन्नता नही आने पाई, उनकी लिखित भाषा वही रही जिसे कुरआन ने अपने साँचे मे ढाल दिया है। यह अरबी गद्य की उच्चकोटि की पुस्तक है। इसकी भाषा मे लय और प्रवाह है। इस ग्रथ ने सानुप्रास गद्य का जो मानदड स्थापित कर दिया है उसका अनुसरण आज भी प्रत्येक अरबी लेखक करता है।

कुरआन का अनुवाद अब तक लगभग ४० भाषाओं में हो चुका है; जिनमें से अँगरेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, चीनी और रूसी भाषाओं के अलावा उर्दू, बँगला, मराठी और हिंदी भी संमिलित है।

सं०ग्रं०—एम० पिक्थाल : दि मीनिङ्ग ऑव दि ग्लोरियस कोरान; रिचर्डबेल : इंट्रोडक्शन टु दि कुरान; आर्थर जे० आर्बरी : दि कोरान इंटरप्रेटेड; मुहम्मद अली : जमअ कुरआन; मुंशी अब्दुल लतीफ़ : तारीख-उल-कुरआन। (अ० अ०)

कुरबानी इस्लाम धर्म माननेवाले लोगों द्वारा धार्मिक दृष्टि से किया गया पशुवध। यह प्रायः दो अवसरों पर किया जाता है—

(१) ईद-ए-अजहा (जो जिलहिज्जाह मास में दसवें दिन पड़ती है), तथा उसके बाद के तीन दिन (जिसे अय्याम-ए-तशरीक़ कहते हैं)। ईद-ए-अजहा को फ़ारस में ईद-ए-कुरबान (बलिदान का भोज), तुर्की में कुरबान-बैराम और भारत में बकर-ईद कहते हैं। यह त्योहार पैगंबर अब्राहम तथा ईश्वर की इच्छा में उनकी निष्ठा और बलि देने की प्रवृत्ति की स्मृति में मनाया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि ईश्वर ने उनसे उनकी अपनी प्रिय वस्तु भेंट में माँगी। अब्राहम अपने पुत्र इस्माइल को सबसे अधिक चाहते थे इसलिये वे उसका बलिदान करने को तैयार हो गए। ईश्वर की इच्छा का पालन करने के निमित्त किए गए मानवीय प्रयत्नों में इसे श्रेष्ठतम माना गया, इसी लिये इस्लाम के पैगंबर ने इस घटना की स्मृति में तथा मानवहृदय में त्याग की श्रेष्ठतम भावना और निष्ठा उत्पन्न करने के उद्देश्य से इस त्योहार की स्थापना की।

(२) प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य है कि वह अपने बच्चे के जन्म पर (कन्या के जन्म पर एक तथा पुत्र के जन्म पर दो) बकरों की बलि दे। इसे अक़ीका उत्सव कहते हैं और यह बहुधा जन्म के ७वें, १४वें, २१वें, २५वें, या ३५वें दिन मनाया जाता है।

सं०ग्रं०—दुर्र-उल-मुख़्तर (ख़ुर्रम अली द्वारा उर्दू में अनूदित), चौथा भाग, पृ० १८१ (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ); सय्यद सुलेमान नदवी : सिरात-उन-नबी, पाँचवाँ भाग, आजमगढ़, १९५३, पृ० ३३४-३८९; टी० पी० ह्यूज़ : डिक्शनरी ऑव इस्लाम, लंदन, १९३५, पृ० ५५१-५५३; जी० ई० वान ग्रूनेबाम : मुहमडन फ़ेस्टिवल्स। (खा० अ० नि०)

कुररी (Tern) पक्षियों के वीचीकाक वंश (लैरिडी, Laridae) के प्रसिद्ध पक्षी हैं, जो सामुद्रिक गंगाचिल्ली (Gull) से कद में छोटे होकर भी उसी के निकट संबंधी हैं। ये पानी के निकट रहनेवाले स्लेटी रंग के पक्षी हैं। इनके पैर छोटे और जालपाद होते हैं, चोंच बड़ी
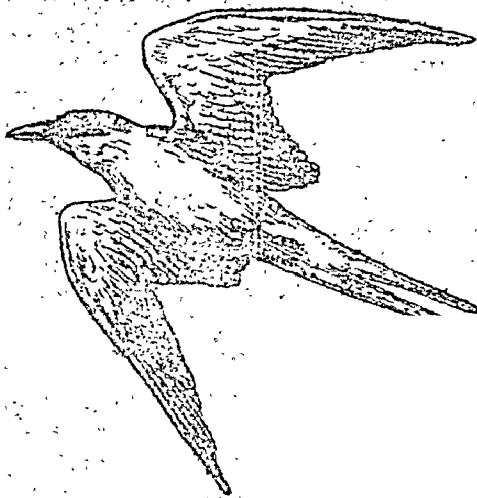
कुररी

और तीक्ष्ण तथा डैने बड़े और नुकीले होते हैं। माथा और सिर गर्मियों में काले हो जाते हैं, मानों इन्होंने काले मखमल की टोपी पहन रखी हो। इनकी कई जातियाँ हैं, किंतु उनके स्वभाव में अधिक भेद नहीं होता। यह लगभग एक फुट लंबी चिड़िया है, जो पानी के किनारे झुंड में रहती है। इसका मुख्य भोजन मछली है, जिसकी तलाश में यह पानी की सतह से चोंच मिलाकर उड़ती रहती है। रेत में सैकड़ों कुररियाँ एक साथ अंडे देती हैं और किसी के पहुँचने पर बहुत शोर मचाती हैं।

(सु० सिं०)

कुरा रूस (ट्रांस काकेशिया) में स्थित जार्जिया और अजरबैजान राज्यों की ८२५ मील लंबी नदी। यह ६५०० फुट ऊँचे पर्वत से निकलकर उत्तर और उत्तरपूर्व में जार्जिया में बहती हुई बाकू से ७५ मील दक्षिण-दक्षिणपश्चिम दिशा की ओर कैस्पियन सागर में गिरती है। इसके डेल्टा पर उत्तम मत्स्य क्षेत्र हैं। नदी के ऊपरी भाग में कई पहाड़ी नदियों के मिलने से प्रवाह बहुत तीव्र हो जाता है जिससे कई स्थानों पर जल-विद्युत् उत्पन्न की जाती है। इसमें नावों द्वारा यातायात भी होता है। इसकी पाँच प्रमुख सहायक नदियाँ हैं। अर्दहन, बोराभोमी, गोरी, टिफ़लिस, येवलाख और सैल्यानी नामक प्रसिद्ध नगर इसके किनारे स्थित हैं।

कुरा का मैदान नदियों की बिछाई मिट्टी से बना होने के कारण अत्यंत उपजाऊ है जिसमें मुख्यतः कपास की खेती होती है।

(कृ० मो० गु०)

कुरु एक प्राचीन जनपद। इसका उल्लेख उत्तर वैदिक युग से मिलता है। यह जनपद उत्तर तथा दक्षिण दो भागों में विभक्त था। कुरुओं का संबंध उत्तर में स्थित बाह्लीकों तथा महावृषों से अधिक घना था। पुरुरवा ऐल का पिता बाह्लीक (मध्य एशिया) से मध्यदेश आया था। प्रपंचसूदनी में कुरुओं को हिमालय पार के देश उत्तर कुरु का औपनिवेशिक बताया गया है। महाभारत में उत्तरकुरु को कैलास और बदरिकाश्रम के बीच रखा गया है (म० भा० ३।१४५।१२-१९)।

दक्षिण कुरु, उत्तर कुरु की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध है और वही कुरु के नाम से विख्यात है। यह जनपद पश्चिम में सरहिंद के पार्श्ववर्ती क्षेत्रों से लेकर सारे दक्षिणीपश्चिमी पंजाब और उत्तर प्रदेश के कुछ पश्चिमी जिलों तक फैला हुआ था। ब्राह्मणों और उपनिषदों में कुरु और पांचाल का उल्लेख एक साथ हुआ है। किंतु दोनों की भौगोलिक सीमाएँ एक दूसरे से भिन्न थीं। कुरु के पूर्व में उत्तरी पांचाल तथा दक्षिण में दक्षिणी पांचाल के प्रदेश पड़ते थे। संभव है गंगा यमुना दोआब का कुछ उत्तरी भाग कुरुजनपद की सीमा में रहा हो। शतपथ ब्राह्मण में कुरुपांचाल को मध्यदेश (ध्रुवामध्यमादिक्) में स्थित बताया गया है। मनुस्मृतिकार ने कुरु, मत्स्य, पांचाल और शूरसेन को ब्रह्मर्षियों का देश कहा है। महाभारत में (वनपर्व, अध्याय ८३) कुरु की सीमा उत्तर में सरस्वती तथा दक्षिण में दृषद्वती नदियों तक बताई गई है। यह श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत का वह क्षेत्र है, जहाँ कौरवों और पांडवों के बीच भीषण और विनाशकारी युद्ध हुआ था। राजा ययाति और अनेक ऋषियों ने वहाँ अपने अनेकानेक यज्ञ किए थे। हस्तिनापुर इसकी राजधानी थी जो गढ़मुक्तेश्वर के पास गंगा के किनारे बसा था।

पालि साहित्य में भी कुरु के यथावसर अनेक उल्लेख मिलते हैं। अंगुत्तरनिकाय और महावंश में उसे प्राचीन भारत के १६ महाजनपदों में गिनाया गया है। त्रिपिटकों की बुद्धघोषकृत टीकाओं में बुद्ध को कुरुओं के बीच अनेक बार उपदेश करते बताया गया है। कुरुधम्म जातक के अनुसार बोधिसत्व ने कुरुराज की रानी के गर्भ से जन्म लिया था। महासुतसोम जातक में कुरुराज्य का विस्तार ३०० योजन कहा गया है।

ऋग्वेद में कुरु जनपद के कुरुश्रवण, उपमश्रवस् और पाकस्थामन् कौरायण जैसे कुछ राजाओं की चर्चा हुई है। कौरव्य और परीक्षित (अभिमन्युपुत्र परीक्षित नहीं) के उल्लेख अथर्ववेद में हैं। अधिकांश उपनिषदों और ब्राह्मणों की रचना कुरुपांचाल प्रदेशों में ही हुई थी। कुरु जनपद का इतिहास, विशद वर्णन महाभारत एवं पुराणों में मिलता है। उसका प्रारंभिक इतिहास तो पौरवों के इतिहास से संबद्ध है ही। परवर्ती-

कालीन इतिहास, कौरवों के नाम से प्रसिद्ध है। इसका परपरागत इतिहास इस प्रकार है। स्वायभुव मनु की पुत्री इला को बुध से पुरुरवा नामक पुत्र हुआ, जो चद्रवशी क्षत्रियों का प्रथम पुरुष था। नहुष और ययाति उसके वश मे अत्यत प्रसिद्ध और पराक्रमी राजा हुए। ययाति के पुत्र पुरु के नाम पर पौरववश का नाम पडा, जिसमे दुष्यत के पुत्र भरत चक्रवर्ती सम्राट् हुए। उसके बाद का मुख्य शासक सवरण का पुत्र कुरु था। उसी के वश मे आगे चलकर शातनु हुए। शातनु के पुत्र चित्रागद और विचित्रवीर्य अधिक दिनो तक शासन नही कर सके और उनकी जल्दी ही मृत्यु हो गई। विचित्रवीर्य की रानियों से दो नियोगज पुत्र हुए—धृतराष्ट्र और पाडु। धृतराष्ट्र जन्म से ही अधे थे, अत पाडु को राजगद्दी मिली। पर वे भी जल्दी ही मर गए और धृतराष्ट्र ने राज्य की बागडोर अपने हाथो मे ले ली। धृतराष्ट्र के गाधारी से दुर्योधनादि सौ पुत्र हुए, जो कौरव कहलाए। अत मे युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हुआ। वे भी बहुत दिनो तक शासन नही कर सके। कृष्ण की मृत्यु और यादवो के अत का समाचार सुनकर उन्होने राजगद्दी त्याग दी और अपने भाइयो के साथ तपस्या के लिये वन चले गए। उनके बाद अर्जुन के पौत्र परीक्षित (अभिमन्यु के पुत्र) हस्तिनापुर मे सिंहासनारूढ हुए। परीक्षित के सर्पो के काटने से मृत्यु की जो अनुश्रुति है, वह कदाचित् तक्षशिला के तक्षको अथवा नागो द्वारा हस्तिनापुर पर किए गए आक्रमण का सकेत करती है। परीक्षित के पुत्र और उत्तराधिकारी जनमेजय के नागयज्ञ की जो कथा है वह उनके तक्षशिला-विजय-प्राप्ति की कहानी है। ऐतरेय ब्राह्मण मे भी उन्हें विजेता बताया गया है। इसी मे उन्हे सार्वभौम बनने का महत्वाकाक्षी भी बताया गया है। जनमेजय के बाद शतानीक, अश्वमेधदत्त, अधिसीम कृष्ण तथा निचक्षु ने राज किया। इसी निचक्षु के राज्यकाल मे हस्तिनापुर नगर गगा की बाढ से आप्लावित हो गया और उसके राज्य मे टिड्डियों का भारी आक्रमण हुआ जिसके कारण निचक्षु और उसकी सारी प्रजा को हस्तिनापुर त्यागने को बाध्य होना पडा। वे इलाहाबाद के निकट कौशावी चले आए। निचक्षु और कुरुओ के कुरुक्षेत्र मे निकलने का उल्लेख शाख्यायन श्रौतसूत्र मे भी है। उसके अनुसार वृद्धद्युम्न से एक यज्ञ मे भूल हो गई। उसके परिणामस्वरूप एक ब्राह्मण ने शाप दिया कि कुरुओ का निष्कासन हो जायगा। (वि० पा०, च० भा० पा०)

कुरुक्षेत्र हिंदुओ का अत्यत प्रसिद्ध धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्थान। पौराणिक विश्वास है कि कुरु नामक राजर्षि ने इस क्षेत्र का कर्षण किया था जिससे इसका नाम कुरुक्षेत्र पडा :

पुरा च राजर्षिवरेण धीमता बहूनि वर्षाण्यमितेन तेजसा ।
प्रकृष्टमेतत् कुरुणा महात्मना तत कुरुक्षेत्रमितीह पप्रथे ।
(महा०, शल्य० ५३।२।)

ऐतरेय ब्राह्मण (७।३०), शतपथ ब्राह्मण (११।५।१।४), शाख्यायन ब्राह्मण (१५।१६।१२), तैत्तिरीय आरण्यक (५।१) एव कात्यायन श्रौतसूत्र मे इसका वर्णन प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह देवताओ की यज्ञभूमि था। जाबालोपनिषद् मे भी इसे देवताओ की यज्ञभूमि बताया गया है। कुरुक्षेत्र का एक अन्य नाम महाभारत मे समतपचक भी दिया है, और समतपचक को उत्तरवेदी के नाम से भी अभिहित किया है।

ब्रह्मा की यज्ञवेदी होने के कारण इसे ब्रह्मवेदी भी कहा गया है। इसकी स्थिति सरस्वती के दक्षिण तथा दृषद्वती के उत्तर है। (वनपर्व ८३।२०५-२०८)।

गीता मे इसे धर्मक्षेत्र कहा गया है धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे। हेमचद ने भी इसे धर्मक्षेत्र कहा है : (धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र द्वादशयोजनावधि—हेमचद्र ४।१६)।

इसी क्षेत्र मे कौरव-पाडव युद्ध हुआ था। ऐतिहासिक काल मे .८ के समय यह मगध के साम्राज्य के अतर्गत आया। मौर्यो के शासनकाल मे वह मौर्यवशी राजाओ के राज्य मे रहा। मौर्यों के पतन के पश्चात् गुप्तो के काल तक कुरुक्षेत्र का इतिहास पूर्णरूप से स्पष्ट नही है। गुप्तो के बाद थानेश्वर के पुष्यभूतिवशीय राजाओ ने कुरुक्षेत्र पर राज किया। उनके बाद यह गुर्जर प्रतिहारो और गाहडवालो के आधिपत्य मे रहा। महमूद गजनवी ने थानेश्वर पर आक्रमण कर कुरुक्षेत्र की चक्रस्वामी नामक विष्णुमूर्ति का ध्वस कर दिया। उसके बाद दिल्ली के नरेश पृथ्वीराज ने उसे मुसलमानो से मुक्त कर दिया था। पृथ्वीराज तृतीय चाहमान के बाद इसका धार्मिक महत्व कम हो गया। कुरुक्षेत्र की सीमा मे ही इतिहास-प्रसिद्ध पानीपत का मैदान है जहा भारत के भाग्यपरिवर्तक तीन महायुद्ध हुए। (च० भा० पा०)

कुरुविंद या कुरड (Corundum) कुरुविंद एक मणिभीय खनिज पत्थर है, जो ससार के विभिन्न स्थलो मे पाया जाता है। भारत मे भी कुरुविंद प्राप्य है। असम की खासी और जैती पहाडियो, बिहार (हजारीबाग, सिंहभूम और मानभूम जिलो मे), मद्रास (सेलम जिले मे), मध्यप्रदेश (पोहरा, भडारा तथा रीवाँ), उडीसा तथा मैसूर प्रदेशो मे यह पत्थर मिलता है। मैसूर, मद्रास और कश्मीर मे प्राप्त होनेवाला कुरुविंद अधोवर्ती वर्ग का है। इस पत्थर की दो विशेषताएँ है, एक तो यह कठोर होता है, दूसरे चमकदार।

सामान्य कुरुविंद मे कोई आकर्षक रग नही होता। यह साधारणतया धूसर, भूरा, नीला और काला होता है। कुछ रगीन कुरुविंद विशिष्ट आकर्षक रगो के होने के कारण रत्न के रूप मे, माणिक, नीलम, याकूत आदि नामो से बिकते है। थोडे अपद्रव्यो के कारण इसमे रग होता है। ये अपद्रव्य धातुओ के आक्साइड, विशेषत क्रोमियम और लोहे के आक्साइड, होते है। कुरुविंद की कठोरता ९ है, जबकि हीरे की कठोरता १० होती है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ३ ९४ से ४ १० होता है। यह ऐल्यूमिनियम का प्राकृतिक आक्साइड ($Al_2 O_3$) है, जिसके मणिभ षट्कोणीय तथा कभी कभी बेलन या मृदग की आकृति के होते है।

कुरुविंद का इजीनियरी उद्योगो मे तथा अपघर्षको (abrasives) और शाणचक्रो के निर्माण मे अधिकतर प्रयोग किया जाता है। पारदर्शक कुरुविंद का प्रयोग बहुमूल्य पत्थर की भाँति होता है। आजकल कुरुविंद का स्थान एक नवीन पदार्थ 'कार्बोरडम' ने ले लिया है, जो भारत मे विदेशो से आयात होता है। (फू० स० व०, वि० सा० दू०)

कुरुविंद (कृत्रिम) कृत्रिम कुरुविंद पहले पहल १८३७ ई० मे चूर्णित और निस्तप्त फिटकरी (ऐलम) और पोटैसियम सल्फेट के मिश्रण को ऊँचे ताप पर गरम करने से बना था। पीछे इसके बनाने की अनेक विधियाँ निकलीं, जिनसे कुरुविंद के अतिरिक्त कृत्रिम माणिक और नीलम भी बनने लगे। इनके निर्माण की चार मुख्य विधियाँ है—

(१) ऐल्यूमिना को आक्सि-हाइड्रोजन ज्वाला मे पिघलाने से कुरुविंद प्राप्त हुआ था। म्वासाँ (Moissan) ने ऐल्यूमिना को बिजली की भट्ठी मे पिघलाकर कुरुविंद प्राप्त किया था। यदि ऐल्यूमिना के साथ थोडा क्रोमियम आक्साइड मिला दिया जाय तो माणिक भी प्राप्त हो सकता है।

(२) ऐल्यूमिना को यदि द्रावक के साथ पिघलाया जाय तो उससे कुरुविंद बनता है। द्रावक के रूप मे अनेक पदार्थो, जैसे पोटैसियम सल्फेट, पोटैसियम सल्फाइड, पोटैसियम डाइक्रोमेट, सोहागा, लेड आक्साइड, पोटैसियम मोलिबडेट, क्रायोलाइट, क्षार आक्साइड, सिलिका, पोटैसियम टगस्टेट और कैलसियम फ्लोराइड आदि का उपयोग समय समय पर हुआ है। सोहागा, ऐल्यूमिनियम की खरादन और गधक को निस्तप्त करने से कुरुविंद प्राप्त हुआ था। ऐसे कुरुविंद मे अमणिभीय बोरन और मणिभीय ऐल्यूमिनियम बोराइड मिला हुआ था।

(३) (क) क्रायोलाइट और सिलिकेट को एक प्लैटिनम मूषा मे गरम करने, (ख) फ्लोरस्पार और माइक्रोक्लाइन के गरम करने और (ग) द्रवित पोटाश-अभ्रक को ठढा करने से कुरुविंद प्राप्त होता है।

(४) ऐल्यूमिनियम लवण के जलीय विलयन को एक बद नली मे ३५०° सें० पर, अथवा ऐल्यूमिनियम लवण के जलीय विलयन को यूरिया के साथ एक बद नली मे १८०°-१९०° सें० पर गरम करने अथवा ऐल्यू-

मिनियम फ्लोराइड को बोरिक अम्ल के साथ उच्च ताप पर विच्छेदित करने से भी कुरुविंद बनता है।

ऐलकोली सल्फेट के आधिक्य में ऐल्यूमिनियम फास्फेट की उच्च ताप पर क्रिया से (ताप १४००° सें० से ऊँचा नहीं रहना चाहिए), अथवा क्रायोलाइट को भाप के प्रवाह में श्वेत ताप पर गरम करने से, कुरुविंद प्राप्त होता है।

क्षार ऐल्यूमिनेट और क्रोमियम आक्साइड के मिश्रण को क्लोरीन के प्रवाह में गरम करने से माणिक प्राप्त हुआ है। (फू० स० व०)

कुर्ग (कोड़गु) कर्णाटक प्रदेश का एक जिला। (१०° ५६' से १२° ४५' उ० अक्षांश तथा ७५° २५' से ७६° १३' पू० देशांतर) यह पश्चिमी घाट का भाग है, अतः संपूर्ण प्रदेश पर्वतीय है। इसके किसी भी भाग की ऊँचाई, सागरतल से ३००० फुट से कम नहीं है। इस प्रदेश की सर्वोच्च चोटी टंडियांडमोल (ऊँचाई, ५,७८१ फुट) है। प्रदेश के अधिकांश पानी का निकास कावेरी और उसकी सहायक नदियों द्वारा होता है। इसका क्षेत्रफल ४,१०४ वर्ग कीलोमीटर है।

इसकी जलवायु उष्ण और आर्द्र है। वर्षा का वार्षिक औसत ८०"-१२०" और तापमान ६०° फ़ा० के लगभग है। अधिकतम तापमान ८२° फ़ा० और न्यूनतम ५२° फ़ा० है। यह जलवायु वनों की उर्वरता के लिये उपयुक्त है, अतः कुर्ग का लगभग तृतीयांश क्षेत्र सघन वनों से आच्छादित है। यहाँ के प्रमुख वृक्षों में चंपक, आबनूस, श्वेत देवदारु, रक्त देवदारु, रालधूप (ब्लैक डामर ट्री), केरल पुन्नाग (पून), मधुदीर्वा (स्पर) तथा बाँस उल्लेखनीय हैं। बड़े वृक्षों के नीचे छोटे वृक्ष उगते हैं, जिनमें इलायची, सुपारी, केला, बेंत और कालीमिर्च प्रमुख हैं। यहाँ के वनों में वनपशुओं की प्रचुरता है; इनमें हाथी, शेर, चीते, गौर (बाइसन), जंगली सुअर, हरिण, बंदर तथा विविध प्रकार की चिड़ियाँ उल्लेखनीय हैं।

कृषि यहाँ का मुख्य उद्यम है तथा चावल, कहवा, संतरा, काली मिर्च और इलायची यहाँकी प्रमुख उपजें हैं। कृषिभूमि के ५६% भाग में चावल तथा ३०% भाग में कहवा और काफी उत्पन्न की जाती है। ये सभी वस्तुएँ इस प्रदेश से बाहर जाती हैं।

१९७१ ई० के अनुसार यहाँकी जनसंख्या ३,७८,२६१ है जिसमें कोड़गु, गोड़ुगाल, लिंगायत ब्राह्मण, मुसलमान तथा अनुसूचित जातियों के लोग अधिक हैं। कुर्ग की भाषा कन्नड है। (प्र० व०)

कुर्दिस्तान विस्तृत अर्थ में वह प्रदेश जहाँ कुर्द लोग निवास करते हैं। (कुर्द कट्टर सुन्नी मुसलमान, योद्धा, कुशल घुड़सवार बंजारा जाति के लोग हैं)। यह प्रदेश एनातोलिया के दक्षिणपूर्व, पहाड़ी तथा जागरूस श्रेणी के उत्तरपश्चिम स्थित है, और तुर्की, ईरान और इराक तीन देशों में बँटा है।

कुर्द लोग गर्मी में पशुओं के साथ पहाड़ी चरागाहों पर चले जाते हैं। जाड़े में घाटियों में रहते हैं। इनके खेमे गारे, मिट्टी, ईंट और लकड़ी के बने होते हैं। इनका अतिथिसत्कार प्रसिद्ध है।

सीमित अर्थ में कुर्दिस्तान ईरान के एक उस्तान (प्रांत) का नाम है जो उत्तर में अजरबैजान, दक्षिण में किरमान शाह, पूर्व में ईराक की सीमा और पश्चिम में गेरूस और हमदान के उस्तानों से घिरा है। इसका मुख्य नगर सिनंदाज (सिन्नेह) है। यहाँ का मुख्य उद्योग गलीचा, ऊन और नमदा है। (कृ० मो० गु०; प० ला० गु०)

कुर्स्क (स्थिति ५१° ४२' दे० उ० से ३६° ११' पू० अ०)। सोवियत संघ के अंतर्गत एक जनपद। यह सिएम नदी के दाएँ तट पर सिएम-कुरा के संगम पर बसा नगर है। उपजाऊ कृषिभूमि के मध्य में स्थित होने के कारण यहाँ के उद्योगधंधे कृषि से प्राप्त कच्चे मालों पर अवलंबित हैं। यह नगर रूस के प्राचीनतम नगरों में एक है; इसकी स्थापना सन् १०९५ में हुई थी। यह सुप्रसिद्ध संत थियोदोसियस का जन्मस्थान है। द्वितीय महायुद्ध काल में १९४३ में यहाँ रूसी सेना ने जर्मनी पर विजय प्राप्त की थी। (नृ० कु० सि०)

कुल ऐसा समूह जिसके सदस्यों में रक्तसंबंध हो, जो एक परंपरागत वंशानुक्रम (डिसेंट) बंधन को स्वीकार करते हों, भले ही ये मातृरेखीय हों या पितृरेखीय, पर जो वास्तविक पीढ़ियों के संबंधों को बतलाने में हमेशा असमर्थ रहें। रक्तसंबंधी पीढ़ियों के संबंध को स्पष्ट रूप से बतला सकनेवाले समूह को वंश कहा जाता है। मर्डाक ने कुल के लिये अंग्रेजी में 'सिब' शब्द का प्रयोग किया है। मर्डाक के पहले अन्य मानवशास्त्रियों ने 'सिब' का अन्य अर्थों में भी प्रयोग किया था। वंश की तुलना में कुल शब्द की अस्पष्टता मर्डाक के 'सिब' शब्द के प्रयोग के अनुरूप ही है।

यदि एक कुल के व्यक्ति पिता से अपनी अनुगतता बतलाते हैं तो ऐसे समूह को पितृकुल कहा जाता है। यदि वे माता के कुल से अपनी अनुगतता बतलाते हैं तो ऐसे समूह को मातृकुल कहा जाता है। पितृकुलों में संपत्ति के उत्तराधिकारी के नियम के अनुसार पिता से पुत्र को संपत्ति का उत्तराधिकार मिलता है। मातृकुलों में माँ से लड़की को संपत्ति का उत्तराधिकार मिलता है। इसलिये ये दोनों समूह क्रमशः पितृरेखीय और मातृरेखीय कहलाते हैं। जब इनके नाम क्रमशः पिता और माता के परिवारों में से किसी के नाम पर होते हैं तब इन्हें क्रमशः पितृनामी और मातृनामी कुल कहते हैं।

अन्य रक्तसंबंधी एकरेखीय समूहों की भाँति कुल में भी बहिर्विवाह के नियम का पालन होता है। सामान्य रूप से एक कुल में अनेक वंश होते हैं, इसलिये कुल के बाहर विवाह करने का तात्पर्य वंश के बाहर भी विवाह करना है। कुछ समाजों में वंश होते हैं पर कुल नहीं होते और कुछ समाजों में वंश और कुल के बीच में उपकुल भी होते हैं। (देखिए—कुटुंब, परिवार)।

सं०ग्रं०—मर्डाक : सोशल स्ट्रक्चर। (कै० ना० श०)

कुलपर्वत भारत के प्रमुख पर्वत। पुराणों के अनुसार इनकी संख्या सात है। वायु पुराण में मलय, महेंद्र, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विंध्य तथा पारिपात्र (अथवा पारियात्र) पर्वतों को कुलपर्वतों के अंतर्गत गिना गया है।

१. महेंद्र—उड़ीसा से लेकर मदुरै जिले तक प्रसृत पर्वतशृंखला। इसमें पूर्वी घाट की पहाड़ियाँ तथा गोंडवाना तक फैली पर्वतशृंखलाएँ भी संमिलित हैं। गंजाम के समीप पहाड़ के एक भाग को अब भी महेंद्रमलै कहते हैं। हर्षचरित के अनुसार महेंद्र पर्वत दक्षिण में मलय से मिलता है। परशुराम ने यहीं आकर तपस्या की थी। रामायण के अनुसार महेंद्र पर्वत का विस्तार और भी दक्षिण तक प्रतीत होता है। कालिदास के रघुवंश तथा हर्ष के नैषधचरित (१२।२४) में इसे कलिंग में रखा गया है। जो पर्वत गंजाम को महानदी से अलग कर देता है उसे आजकल महेंद्र कहते हैं।

२. मलय—पश्चिमी घाट का दक्षिणी छोर जो कावेरी के दक्षिण में पड़ता है। (भवभूति, महावीरचरित, ५, ३)। ऋषि अगस्त्य का आश्रम यहीं बताया जाता है। आजकल इसे तिरुवांकुर की पहाड़ी कहते हैं।

३. सह्य—पश्चिमी घाट पर्वतशृंखला का उत्तरी भाग। कृष्णा तथा कावेरी नदियाँ इसी से निकलती हैं।

४. शुक्तिमान्—विंध्यमेखला का वह भाग जो एक ओर पारिपात्र से तथा दूसरी ओर ऋक्षपर्वत से मिलता है, जिसमें गोंडवाना की पहाड़ियाँ भी संमिलित हैं। (कूर्म पुराण, अ० ४७)।

५. ऋक्षपर्वत—विंध्यमेखला का पूर्वी भाग जो बंगाल की खाड़ी से लेकर शोणनद (सोन नदी) के उद्गम तक फैला हुआ है (ब्रह्मांड पु०, अध्याय ४८)। इस पर्वतशृंखला में शोणनद के दक्षिण छोटा नागपुर तथा गोंडवाना की भी पहाड़ियाँ संमिलित हैं। महानदी, (म० भा० शांति०, अध्याय ५२); रेवा तथा शुक्तिमती नदियाँ इसी पर्वत से निकलती हैं। (स्कंदपुराण, रेवा खंड, अ० ४)।

६. विंध्य—पश्चिम से लेकर बंगाल की खाड़ी तक फैली पर्वत शृंखला। किंतु, इसके कई भागों के शुक्तिमान्; ऋक्ष पर्वत आदि स्वतन्त्र नाम है। पारियात्र भी इसी के अंतर्गत है। अत: सीमित अर्थ मे विंध्य उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले से लेकर शोण और नर्मदा नदी के उद्गमो के उत्तरी भाग मे स्थित शृंखला तक को कहते है। चित्रकूट इसी विंध्य-मेखला के अंतर्गत है।

७. पारियात्र—विंध्यमेखला का पश्चिमी भाग जिससे चर्मण्वती (चंबल) तथा वेत्रवती (बेतवा)—नदियाँ निकली है। इसमे अर्धली तथा पाथर पर्वतशृंखलाएँ भी संमिलित है। इसकी मालाएँ सौराष्ट्र और मालवा तक फैली हुई हैं। (च० भा० पा०)

कुलशेखर (अलवार) दक्षिण भारत के एक मध्यकालीन अलवार संत। वे केरल नरेश दृढव्रत के पुत्र थे। राजकर्तव्य पालन करते हुए उन्होंने अपना जीवन भगवद्भक्ति और अध्ययन मे लगाया। श्रीरंगम् मे रहकर उन्होंने मुकुंदमाला नामक एक काव्य की रचना की। वैष्णव समाज मे उसका बहुत आदर है। (प० ला० गु०)

कुलाकाँगड़ी पश्चिमी आसाम में स्थित हिमालय की श्रेणियो मे २४,७८० फुट ऊँची यह महत्वपूर्ण चोटी है। स्थिति २८° १४' उ० अ० से ९०° ३०' पू० दे० पर स्थित है। भूटान और तिब्बत की सीमा पर स्थित इस चोटी का पर्वतारोहण के लिये विशेष महत्व है। इस चोटी से दक्षिण, दक्षिणपश्चिम दिशा मे १६ मील की दूरी पर २४,७४० फुट ऊँची काँगड़ी नामक दूसरी चोटी है। कुलाकाँगड़ी के पश्चिम में दुनियाँ की सबसे ऊँची चोटी 'माउंट एवरेस्ट' (२९,१४१) फुट है। (कृ० मो० गु०)

कुलीन (१) उत्तम कुल मे उत्पन्न व्यक्ति। कुल और कुलीन जैसे शब्दों एव उनके भावों के संदर्भ छांदोग्य उपनिषद्, मनुस्मृति और उसकी मेधातिथि टीका, याज्ञवल्क्य स्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका आदि में प्राप्त है। वैदिक यज्ञ आदि क्रियाओं के कर्ता, वेदों का अध्ययन करनेवाले, ब्राह्मणो का आदर करनेवाले तथा आस्तिक वंशों को मनुस्मृति मे 'कुल' कहा गया है (३-६३-६६)। इन क्रियाओ की हानि, कुविवाह तथा कुछ अन्य दोषो के कारण कुलो का कुलत्व समाप्त होकर 'अकुलता' अर्थात् अकुलत्व मे परिणत हो जाता है। वेदादि ग्रंथों में निष्णात तथा उत्तम कुल में उत्पन्न व्यक्ति को ही 'कुलीन' की संज्ञा दी गई है। मनुस्मृति (८-३२३) पर टीका करते हुए मेधातिथि ने तो उत्तम कुल में उत्पत्ति के साथ साथ विद्यागुण की संपत्ति कुलीनता का आवश्यक गुण माना है। उत्तम कुल माता पिता दोनो के कुलीनत्व से ही होता है (याज्ञ० १-३०८ की मिताक्षरा टीका)। कभी कभी कुलीनत्व के लिये धन संपत्ति का होना भी आवश्यक बताया गया है। परंतु यह सर्वमान्य नहीं था (मनु० ३-६६ पर मेधातिथि एवं ब्रा० रा० २-१०९-४ पर रामानुज की टीका)। लोक-में कुलीनत्व के इस तत्त्व का कुछ स्थान अवश्य हो गया था। कुलाचारकारिका में कुलत्व और कुलीनत्व के लिये आचार, विनय, विद्या, प्रतिष्ठा, तीर्थदर्शन, निष्ठा, अच्छी वृत्ति, तप और दान, ये नौ लक्षण माने गए है।

(२) बंगाल में कुछ परिवार विशेष जिनके साथ कुलीनत्व जोड़ दिया गया है। कुलीनतंत्र वहाँ के समाज का एक विशिष्ट अंग है। ऐतिहासिक अनुश्रुति यह है कि बंगाल के बल्लाल सेन नामक सेन वंशी राजा ने मध्यदेश के कन्नौज से १२वी शताब्दी में पाँच मुख्य ब्राह्मण परिवारो को आमंत्रित कर पश्चिमी बंगाल (राढ़) मे बसाया। धीरे धीरे गौड भेद के कारण उनके २२ कुल हो गए। इनके आठ वंश गौड़ कुलीन और १४ वंश श्रोत्रिय कहे जाते हैं। राजा लक्ष्मण सेन ने आठ मुख्य कुलों का समीकरण किया। ऐसा विश्वास है कि आधुनिक मुखोपाध्याय अथवा मुखर्जी, चट्टोपाध्याय (चटर्जी), वंदोपाध्याय (बनर्जी) आदि बंगाली ब्राह्मण उन प्राचीन कुलीन परिवारो के ही वंशज है। वारेंद्र (उत्तरी और पूर्वी बंगाल) के मैत्र, लाहिडी, भादुडी तथा भादड़ा आदि पंक्तिपूरक (पंक्तिपावन) कुलीन ब्राह्मणों के भी उल्लेख मिलते हैं। बंगाल के अनेक वैद्य परिवार भी कुलीन समझे जाते है और धन्वंतरि एवं मौद्गल्य गोत्रों से जोड़े जाते है। दक्षिणी राढ (दक्षिणपश्चिमी बंगाल) के घोष, वसु, मित्र, दत्त और गुह उपाधिधारी कायस्थ भी कुलीन माने जाते है और ऐसा विश्वास है कि उनके पूर्वज भी कान्यकुब्ज देश (क्षेत्र) से बंगाल प्रस्थान करनेवाले पाँच ब्राह्मण परिवारों के साथ ही गए थे। (वि० पा०)

कुलूत गणराज्य के रूप मे ख्यात एक प्राचीन भारतीय समाज। इस जाति का प्राचीनतम उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है। उसमें इसका उल्लेख कश्मीर, सिंधु-सौवीर, गधार, दर्शक, अभिसार, शैवाल और वाह्लीक के साथ हुआ है। इसी ग्रंथ मे इनका उल्लेख यवन, चीन और कंबोज के साथ हुआ है। वराहमिहिर ने इनका उल्लेख उत्तर-पश्चिम और उत्तरपूर्व प्रदेश के निवासी के रूप में किया है। उत्तर-पश्चिम मे कीर, कश्मीर, अभिसार, दरश, तंगण, सैरिंध, किरात, चीन आदि के साथ इनका उल्लेख है और उत्तरपूर्व में तुखार, ताल, हाल, भद्र और लहद आदि के साथ इनकी चर्चा है। मुद्राराक्षस में विशाखदत्त ने इन्हे म्लेच्छ कहा है और इनका उल्लेख कश्मीर सैंधव, चीन, हूण आदि के साथ किया है। युवानच्वांग नामक चीनी यात्री ने अपने यात्रावृत्त में लिखा है कि वह जलंधर से कुलूत गया था। चंबा से सोमेश्वर देव और असत देव (१०५० ई०) का जो ताम्रशासन प्राप्त हुआ है उससे ज्ञात होता है कि कुलूत लोग त्रिगर्त (जलंधर) और कीर के निकटवर्ती थे। इन सभी उल्लेखो से ऐसा प्रतीत होता है कि कुलूत लोग कांगड़ा जिले मे कुलू घाटी के निवासी थे और संभवत: वे दो भागों में विभक्त थे। साहित्य मे इन्हें म्लेच्छ कहा गया है। संभव है वे उत्तरपश्चिम की आक्रामक जातियो मे से रहे हों और उत्तरीपश्चिमी भाग में आकर बस गए हो। उनके मंगोली जाति के होने का भी अनुमान किया जाता है।

दूसरी-पहली शती ई० पू० इनका अपना एक गणराज्य था ऐसा उनके सिक्को से ज्ञात होता है। उनके सिक्को पर जो अभिलेख है उनकी भाषा संस्कृत है। उनसे ज्ञात होता है कि इस काल तक उनमे राजाओ की प्रथा प्रचलित हो गई थी। सिक्कों पर राजा के रूप में वीर यशस, विजत-मित्र, सत्यमित्र और आर्य के नाम मिलते हैं। (प० ला० गु०)

कुलोत्तुंग (प्रथम) (१०७०–११२२ ई०) दक्षिण भारत के चोल राज्य का प्रख्यात शासक। यह वेंगी के चालुक्य नरेश राजराज नरेंद्र (१०१९–१०६१ ई०) का पुत्र था और इसका नाम राजेंद्र (द्वितीय) था। इसका विवाह चोलवंश की राजकुमारी मधुरांतकी से हुआ था जो वीरराजेंद्र की भतीजी थी। यह वेंगी राज्य का वैध अधिकारी था किंतु पारिवारिक वैमनस्य के कारण वीरराजेंद्र ने राजेंद्र (द्वितीय) के चचा विजयादित्य (सप्तम) को अधीनता स्वीकार करने की शर्त पर राज्य प्राप्त करने मे सहायता की। इस प्रकार यह वेंगी का अपना पैत्रिक राज्य प्राप्त न कर सका। किंतु कुछ वर्षों बाद वीरराजेंद्र का उत्तराधिकारी और पुत्र अधिराजेंद्र एक जनविद्रोह में मारा गया तब चालुक्य राजेंद्र (द्वितीय) ने चोल राज्य को हथिया लिया और कुलोत्तुंग (प्रथम) के नाम से इसका शासक बना। तब इसने अपने पैतृक राज्य वेंगी से विजयादित्य (सप्तम) को निकाल बाहर किया और अपने पुत्रो को वहाँ का शासक बनाकर भेजा।

कुलोत्तुंग की गणना चोल के महान् नरेशो में की जाती है। अभिलेखो और अनुश्रुतियो में उसका उल्लेख 'संगमतवित्त' (कर-उन्मूलक) के रूप में हुआ है। उसके शासनकाल का अधिकांश भाग अद्भुत सफलता और समृद्धि का था। उसकी नीति थी अनावश्यक युद्ध न किया जाय और उनसे बचा जाय। परिणामस्वरूप श्रीलंका को छोड़कर चोल साम्राज्य के सारे प्रदेश १११५ ई० तक उसके अधीन बने रहे। उसे मुख्य रूप से वीरराजेंद्र के दामाद कल्याणी के चालुक्य नरेश विक्रमादित्य (षष्ठ) से निरंतर संघर्ष करना पड़ा। इसके कारण उसके अंतिम दिनो मे चोल राज्य की स्थिति काफी दयनीय हो गई और वह तमिल देश और तेलुगु के कुछ भागो में ही सिमट कर रह गया।

कुलोत्तुंग (द्वितीय) (११३३–११५०) कुलोत्तुंग (प्रथम) और विक्रम चोल का पुत्र। इसका शासनकाल राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतः शांति का था। इसकी ऐतिहासिक ख्याति अन्य कारण से है। इसके पिता विक्रम चोल ने चिदंबरम् के सुविख्यात मंदिर के नवीनीकरण और विस्तार का कार्य आरंभ किया था। उसे इसने पूरा किया। इस क्रम में नटराज के मंदिर के आँगन में गोविंदराज की जो मूर्ति प्रतिष्ठित थी, उसे निकलवा कर समुद्र में फेंकवा दिया। कहा जाता है कि रामानुज ने इस मूर्ति को समुद्र में से निकलवाकर तिरुपति में प्रतिष्ठित किया था। बहुत दिनों बाद विजयनगर के रामराय ने उस मूर्ति को अपने मूल स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित किया।

कुलोत्तुंग (तृतीय) (१२०५–१२१८ ई०) यह चोल राज्य के वैभव के अपकर्षकाल का शासक था। इसने पहले तो पांड्य नरेश जटावर्मन कुलशेखर को बुरी तरह पराजित किया था। बाद में उसे स्वयं मारवर्मन सुंदर पांड्य के हाथों पराजित होकर निर्वासित होना पड़ा। बाद में उसने होयसल नरेश बल्लाल (द्वितीय) की सहायता से ही अपने राज्य पर अधिकार प्राप्त किया; किंतु उसे पांड्य नरेश की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इसकी ख्याति कुंभकोणम् के निकट त्रिभुवनम् में कंपहरेश्वर का मंदिर बनवाने के लिये है। इसके ही शासनकाल में कंबन ने रामावतारम् (तमिल रामायण) की रचना की थी। (प० ला० गु०)

कुल्ली संस्कृति दक्षिण बलूचिस्तान के कोलवा प्रदेश के कुल्ली नामक स्थान के पुरातात्विक उत्खनन से ज्ञात एक कृषि प्रधान ग्रामीण संस्कृति जो सिंधु घाटी में हड़प्पा-मुहें-जो-दड़ो आदि के उत्खनन से ज्ञात नागरिक संस्कृति की समकालिक अथवा उससे कुछ पूर्व की अनुमान की जाती है। यह संस्कृति उत्तरी बलूचिस्तान के झांव नामक स्थान के उत्खनन से ज्ञात संस्कृति, तथा दक्षिणी बलूचिस्तान के अन्य स्थानों की पुरातन संस्कृति से सर्वथा भिन्न है। इस संस्कृति की विशिष्टता और उसका निजस्व मृत्भांडों के आकार, उनपर खचित चित्र, शव दफनाने की पद्धति तथा पशु और नारी मूर्तियों से प्रकट होता है। यहाँ से उपलब्ध मृत्भांड हिरवँजी रंग के हैं और उनपर ताँबे के रंग की चिकनी ओप है और काले रंग से चित्रण हुआ है। कुछ भांड राख के रंग के भी हैं। इन भांडों में थाल, गोल उदर के गड़ुवे तथा बोतल के आकार के सुराही आदि मुख्य हैं। बर्तनों पर बैल, गाय, बकरी, पक्षी, वृक्ष आदि का चित्रण हुआ है। शव दफनाने के लिये वहाँके निवासी मृत्भांडों का उपयोग करते थे। उसमें मृतक की अस्थि रखकर गाड़ते थे और उसके साथ ताँबे की वस्तुएँ, बर्तन आदि रखते थे। नारी मूर्तियों के संबंध में अनुमान किया जाता है कि वे मातृका की प्रतीक हैं। उनकी पूजा वहाँ के निवासी करते रहे होंगे। (प० ला० गु०)

कुल्लूक भट्ट (११५०–१३०० ई०) मनुस्मृति के सुविख्यात टीकाकार। इनका जन्म बंगाल के नंदन ग्राम में एक वारेंद्र ब्राह्मण के घर हुआ था। उनके पिता का नाम दिवाकर भट्ट था। मनुस्मृति पर इन्होंने जो टीका की है उसका नाम 'मन्वर्थ मुक्तावली' है। इसमें उन्होंने संक्षेप में किंतु अत्यंत सुबोध भाषा में संदर्भ सहित स्मृति की व्याख्या की है। इसमें उन्होंने अपने किसी वैयक्तिक मत का प्रतिपादन नहीं किया है बरन् मेधातिथि और गोविंदराज के मत द्वारा ही विवेचना की है। इस टीका के अतिरिक्त स्मृतिसागर, श्राद्धसागर, विवादसागर और अशौचसागर, उनके अन्य ग्रंथ हैं। (प० ला० गु०)

कुवलयाश्व इक्ष्वाकुवंशीय राजा बृहदश्व के पुत्र। अपने पिता के आदेश से इन्होंने धुंधु नामक राक्षस का वध किया था। इसी से इनका दूसरा प्रसिद्ध नाम धुंधुमार भी है। इसके वध की कथा विस्तारपूर्वक हरिवंश पुराण में वर्णित है। इनके सौ पुत्र थे। (रा० द्वि०)

कुवैत अरब के उत्तरीपश्चिमी किनारे पर ईराक और सऊदी अरब के बीच के रेगिस्तानी प्रदेश के सिरे पर स्थित १९५० वर्गमील का छोटा किंतु अत्यंत महत्व का अरब राज्य (स्थिति : २९° २०' उत्तर; ४०° ००' पूर्व)। इसका नाम 'कुत' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है किला। इसे कुरेन भी कहते हैं। इसकी स्थापना शेख सबा (प्रथम) ने १७५६ ई० में की थी। १८९८ में तुर्कों ने इस पर अधिकार करने का प्रयास किया था। फलस्वरूप १८९९ ई० में शेख मुबारक ने अंगरेजों से एक संधिकर सुरक्षा संरक्षण प्राप्त किया। १९१४ ई० में अंग्रेजों ने अपने संरक्षण के अंतर्गत इसकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की। १९ जून, १९६१ में एक नई संधि हुई जिसमें १८९९ की संधि समाप्त कर दी गई और आंतरिक एवं बाह्य सभी मामलों में इसकी पूर्ण स्वतंत्रता स्वीकार की गई।

१९३८ ई० के पूर्व इसका कोई राजनीतिक अथवा आर्थिक महत्व न था। यहाँ के निवासी समुद्री व्यापार पर निर्भर करते थे। नाव का निर्माण, नाविक कला, अरबी घोड़े, मोती, ऊन, भेड़ ही उनके व्यवसाय थे। किंतु अब तेल के उद्योग के कारण विश्व के आर्थिक जगत् में इसका एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान है। तेल के शोध के लिये कुवैत आयल कंपनी ने, जिसमें अंग्रेजी ऐंग्लो-इरानियन आयल कंपनी और अमरीकी गल्फ आयल की समान साझेदारी थी, अनुमति प्राप्त की और १९४६ से क्रूड आयल का उत्पादन आरंभ हुआ। यह उत्पादन बड़ी तीव्रता से बढ़ा और इस क्षेत्र में यह देश ईरान और सऊदी अरब से बराबरी का दावा करता है। तेल की खानों से मीना-अल-अहमदी तक एक पाइप लाइन बिछा दी गई है और वहाँ तेल साफ करने का कारखाना लगा दिया गया है जिसकी क्षमता १,९०,००० बैरेल प्रति दिन है किंतु उत्पादन का ८० प्रतिशत बिना साफ किए ही निर्यात होता है। इस निर्यात के लिये मीना-अल-अहमदी में बंदरगाह का इस प्रकार विस्तार किया गया है कि एक साथ पाँच सुपर-टैंकरों में तेल भरा जा सकता है।

कुवैत आयल कंपनी के अतिरिक्त, जिसमें अब कुवैत सरकार की आधी की साझेदारी है, १९४८ में अमेरिकन इंडिपेंडेंट आयल कंपनी को कुवैत के तटस्थ प्रदेश में जो कुवैत और सऊदी अरब के बीच में है, तेलशोध का अधिकार दिया गया। वहाँ १९५३ में तेल के स्रोत मिले और उसी वर्ष से वहाँ से भी तेल बड़ी मात्रा में निर्यात होता है। कुवैत ने अपने तटस्थ प्रदेश के तटवर्ती समुद्र से तेल निकालने का अधिकार एक जापानी कंपनी को दे रखा है। वहाँ से १९६१ से तेल निकल रहा है और जापान निर्यात किया जाता है। कुवैत के तटवर्ती समुद्र से तेल निकालने का काम एक डच कंपनी भी कर रही है। अब एक स्पेन की कंपनी को भी तेल निकालने का अधिकार प्राप्त हुआ है। इस प्रकार कुवैत में तेल उद्योग का निरंतर विकास हो रहा है। (प० ला० गु०)

कुश (१) एक प्रकार का तृण। इसकी पत्तियाँ नुकीली, तीखी और कड़ी होती हैं। धार्मिक दृष्टि से यह बहुत पवित्र समझा जाता है और इसकी चटाई पर राजा लोग भी सोते थे। वैदिक साहित्य में इसका अनेक स्थलों पर उल्लेख है। अथर्ववेद में इसे क्रोधशामक और अशुभनिवारक बताया गया है। आज भी नित्यनैमित्तिक धार्मिक कृत्यों और श्राद्ध आदि कर्मों में कुश का उपयोग होता है। कुश से तेल निकाला जाता था ऐसा कौटिल्य के उल्लेख से ज्ञात होता है। भावप्रकाश के मतानुसार कुश त्रिदोषघ्न और शैत्य-गुण-विशिष्ट है। उसकी जड़ से मूत्रकृच्छ, अश्मरी, तृष्णा, वस्ति और प्रदर रोग को लाभ होता है।

(२) एक पौराणिक प्रदेश जिसमें कुशस्तंब नामक पर्वत था। वायु पुराण के अनुसार यह जंबुद्वीप के निकट था। यहाँ का राजा हिरण्यरेतस् का पुत्र था। उसने अपने राज्य को अपने सात पुत्रों में बाँट दिया। भागवत पुराण के अनुसार इस प्रदेश में अग्निपूजा प्रचलित थी और वहाँ कुशल नामक मानवसमाज रहता था। आधुनिक विद्वानों की धारणा है कि हिंदूकुश पर्वत के उत्तर कास्पियन और अरल सागर के बीच की भूमि का नाम कुशद्वीप था। कुछ विद्वान् कुशद्वीप के अंतर्गत सहारा, सूडान, गिनी, कामरेन, कांग तथा पश्चिमी और दक्षिण अफ्रिका को सम्मिलित बताते हैं।

(३) दाशरथि राम के सीता से उत्पन्न यमज पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र। लोकापवाद के भय से जब राम ने गर्भवती सीता का परित्याग कर दिया

और लक्ष्मण उन्हें तमसा तट पर वाल्मीकि आश्रम के निकट छोड आए तब वाल्मीकि के आश्रम मे कुश और लव का जन्म हुआ था। वाल्मीकि ने उनका पालन पोषण किया, वेद आदि की शिक्षा दी और रामायण कठस्थ कराया। धनुर्विद्या आदि मे भी उन्हे निष्णात किया। जब अश्वमेध के निमित्त राम ने अश्व छोडा तो कुश-लव ने उसे पकड़ लिया। शत्रुघ्न अश्व की रक्षा के लिये नियुक्त थे। उन्हें इन दोनो भाइयो ने युद्ध मे मूछित कर दिया। तब लक्ष्मण स उनका युद्ध हुआ। वे पराजित हुए। तब स्वय राम का कुश-लव मे अश्व प्राप्त करने के लिये आना पडा। वाल्मीकि द्वारा राम को कुश-लव के अपना पुत्र होने की बात ज्ञात हुई। उन्होंने उन बालको को अश्व का सरक्षक नियुक्त किया।

(४) भागवत पुराण के अनुसार राजा सुहोत्र के तीन पुत्रो मे से एक का नाम।

(५) स्कद पुराण के अनुसार एक दैत्य जिसे शकर ने अमरत्व प्रदान किया था। इस कारण विष्णु उसका वध करने मे असमर्थ रहे। तब उन्होने उसका सिर जमीन म गाडकर उसपर शिवलिग की स्थापना की, इस प्रकार वह वशीभूत हो पाया। (प० ला० गु०)

कुशध्वज (१) भागवत के अनुसार राजा जनक के पुत्र जिनकी बहिन सीता और उर्मिला थो। इनक पुत्र धर्मध्वज और पौत्र कृतध्वज एव मितध्वज थे।

(२) वाल्मीकि रामायण, विष्णु पुराण, रामचरितमानस आदि के अनुसार जनक (सीरध्वज) के भाई माडवी और श्रुतिकीर्ति के पिता। इन दोनो लडकियो का विवाह क्रमश भरत और शत्रुघ्न से हुआ था।

(३) *देवगुरु बृहस्पति के एक पुत्र, जिनकी कन्या वेदवती थी।*

इनके अतिरिक्त कुशध्वज नाम क और कई राजा तथा राजपुत्र हुए जिनमे सबसे प्रसिद्ध काशिराज कुशध्वज ह जो परम शिवभक्त थे। (रा० द्वि०)

कुशनाभ अयोध्यापति कुश की रानी वैदर्भी के गर्भ से जन्मे चार पुत्रो मे से कनिष्ठ पुत्र जिन्होन महोदय नामक नगर बसाया। इनकी पत्नी घृताची के सौ कन्याएँ और एक पुत्र गाधि हुए। वायु ने इनकी सौ कन्याओ से विवाह का प्रस्ताव किया तो उन्होने इनकार कर दिया जिसपर वायु ने उन सबको कुबडी हो जाने का शाप दे दिया। इसी से महोदय नगर का नाम कान्यकुब्ज पड गया। (रा० द्वि०)

कुशिक ऋग्वेद के अनुसार विश्वामित्र के पिता, किंतु महाभारत और हरिवश आदि के अनुसार उनके पितामह अर्थात् गाधि के पिता। एक बार च्यवन ऋषि को ध्यानबल से पता चला कि कुशिक वश के ही कारण उनके अपन वश म क्षत्रियत्व की प्राप्ति होगी अर्थात् वर्णसकरता का प्रवेश होगा। इस अवाछनीय स्थिति से बचने के लिये च्यवन ने कुशिक वश को भस्म कर देने का निश्चय किया और महोदयपुर गए। वहाँ जाकर वे राजा कुशिक और उनकी रानी को तरह तरह से कष्ट देने लगे किंतु उन लोगो ने उनका ऐसा आतिथ्य किया कि उन्हे रुष्ट होने का अवसर ही नही मिला। निदान प्रसन्न होकर च्यवन ने उन्हे वरदान दिया कि तुम्हारा पौत्र ब्राह्मणत्व की प्राप्ति करेगा। फलस्वरूप विश्वामित्र ब्रह्मर्षि हुए। उधर च्यवन के वशज ऋचीक ने कुशिकपुत्र गाधि की पुत्री से विवाह किया जिससे जमदग्नि पैदा हुए। उनके पुत्र परशुराम, ब्राह्मण होते हुए भी क्षात्रधर्म मे प्रवृत्त हुए। (भो० ना० ति०)

कुशीनगर उत्तरी भारत का एक प्राचीन नगर तथा मल्ल गण की राजधानी। यह उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले मे स्थित है और कसया नाम से प्रचलित है। दीघनिकाय मे इस नगर को कुशीनारा कहा गया है (दी० नि० २।१६५)। कुशीनगर अथवा कुशीनारा के पूर्व का नाम कुशावती था। कुशीनारा के निकट एक सरिता हिरञ्ञवती (हिरण्यवती) का बहना बताया गया है। इसी के किनारे मल्लो का शाल वन था। यह नदी आज की छोटी गडक है जो बडी गडक से लगभग आठ मील पश्चिम बहती है और सरयू मे आकर मिलती है। बुद्ध को कुशीगनर से राजगृह जाते हुए ककुत्था नदी को पार करना पडा था। आजकल इसे बरही नदी कहते है और यह कसया (कुशीनगर) से आठ मील की दूरी पर बहती है।

बुद्ध के कथनानुसार यह पूर्वपश्चिम मे १२ योजन लबा तथा उत्तर-दक्षिण मे ७ योजन चौडा था। किंतु राजगृह, वैशाली अथवा श्रावस्ती नगरो की भाँति यह बहुत बडा नगर नहा था। यह बुद्ध के शिष्य आनद के इस वाक्य से पता चलता है—अच्छा हो कि भगवान् की मृत्यु इस क्षुद्र नगर के जगलो के बीच न हो। भगवान् बुद्ध जब अतिम बार रुग्ण हुए तब शीघ्रतापूर्वक कुशीनगर से पावा गए किंतु जब उन्हें लगा कि उनका अतिम क्षण निकट आ गया है तब उन्होने आनद को कुशीनारा भेजा। कुशीनारा के सथागार मे मल्ल अपनी किसी सामाजिक समस्या पर विचार करने के लिये एकत्र हुए थे। सदेश सुनकर वे शालवन की ओर दौड पडे जहाँ बुद्ध जीवन की अतिम घडियाँ गिन रहे थे। मृत्यु के पश्चात् वही तथागत की अत्येष्टि क्रिया चक्रवर्ती राजा की भाँति की गई। बुद्ध के अवशेष वे अपने भाग पर कुशीनगर के मल्लो ने एक स्तूप खडा किया।

कसया गाँव के इस स्तूप से ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है, जिसमे उसे 'परिनिर्वाण चैत्यताम्रपट्ट' कहा गया है। अत इसके तथागत के महापरिनिर्वाण स्थान होने मे कोई सदेह नहा है।

कुशीनगर की उन्नति मौर्य युग मे विशेष रूप से हुई। किंतु उत्तर-मौर्यकाल म इस नगर की महत्ता कम हो गई। गुप्तयुग म इस नगर ने फिर अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त किया। चद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के काल मे यहाँ अनक विहारो और मदिरो का निर्माण हुआ। गुप्त शासको ने यहा जीर्णोद्धार काय भी कराए। खुदाई से प्राप्त लेखो से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त (प्रथम) (४१३-४१५ ई०) के समय हरिबल नामक बौद्ध भिक्षु न भगवान् बुद्ध की महापरिनिर्वाणावस्था को एक विशाल मूर्ति की स्थापना की था और उसने महापरिनिर्वाण स्तूप का जीर्णोद्धार कर उसे ऊँचा भी किया था और स्तूप के गर्भ मे एक ताबे के घडे म भगवान् की अस्थिधातु तथा कुछ मुद्राएँ रखकर एक अभिलिखित ताम्रपत्र से ढककर स्थापित किया था। गुप्तो के बाद इस नगर की दुर्दशा हो गई। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन्त्साग ने इसकी दुर्दशा का वर्णन किया है। वह लिखता है 'इस राज्य की राजधानी बिल्कुल ध्वस्त हो गई है। इसके नगर तथा ग्राम प्राय निर्जन और उजाड है, पुरानी ईंटो की दीवारो का घेरा लगभग १० ली रह गया है। इन दीवारो की केवल नीवें ही रह गई है। नगर के उत्तरीपूर्वी कोने पर सम्राट् अशोक द्वारा बनवाया एक स्तूप है। यहाँपर ईंटो का बना एक विहार है जिसके भीतर भगवान् के परिनिर्वाण की एक मूर्ति बनी है। सोते हुए पुरुष के समान उत्तर दिशा मे सिर करके भगवान् लेटे हुए है। विहार के पास एक अन्य स्तूप भी सम्राट् अशोक का बनवाया हुआ है। यद्यपि यह खडहर हो रहा है, तो भी २०० फुट ऊँचा है। इसके आगे एक स्तभ है जिसपर तथागत के निर्वाण का इतिहास है।' ११वी १२वी शताब्दी मे कलचुरी तथा पाल नरेशो ने इस नगर की उन्नति के लिये पुन प्रयास किया था, यह माथाबाबा की खुदाई मे प्राप्त काले रग के पत्थर की मूर्ति पर उत्कीर्ण लेख से ध्वनित होता है। (च० भा० पा०)

कुश्ती (मल्लयुद्ध) एक प्रकार का द्वद्वयुद्ध जो बिना किसी शस्त्र की सहायता के केवल शारीरिक बल के सहारे लडा जाता है और प्रतिद्वद्वी को बिना अगभग किए या पीडा पहुँचाए परास्त किया जाता है। इसका आरभ सभवत उस युग मे हुआ होगा जब मनुष्य ने शस्त्रास्त्रो का उपयोग जाना न था। तब वह कदाचित् अपने शत्रु से द्वन्द्व युद्ध ही करता था। उस समय इस प्रकार के युद्ध मे पशु बल ही प्रधान था। पशु बल पर विजय पाने के लिये मनुष्य ने विविध प्रकार के दाँव पेचो का प्रयोग सीखा होगा और उससे मल्ल युद्ध अथवा कुश्ती का विकास हुआ होगा। शत्रुता-निवारण के इस द्वन्द्व युद्ध ने विशुद्ध व्यायाम और खेल का रूप ले लिया है। इस खेल अथवा व्यायाम से शरीर के सभी स्नायु एव इद्रियाँ सबल और कार्यक्षम होती है। इस खेल की कला से परिचित व्यक्ति कम शक्तिवाला होकर भी अधिक शक्तिशाली व्यक्ति पर विजय प्राप्त कर सकता है।

कुश्ती से न केवल शरीर बनता है वरन् मानसिक विकास भी होता है और आत्मविश्वास बढ़ता है। धैर्य, अनुभवशीलता, चपलता आदि अनेक बातें पैदा होती हैं।

मिस्र में नीलनद के तट पर स्थित बेने-हसन की शव-समाधि के दीवारों पर मल्लयुद्ध के अनेक दृश्य अंकित हैं। उनसे अनुमान होता है कि लगभग ३००० वर्ष ई० पूर्व मिस्र में मल्लयुद्ध का पूर्ण विकास हो चुका था। कुछ लोगों की धारणा है कि इसका विकास भारतवर्ष में वैदिक काल में हुआ होगा किंतु वैदिक साहित्य में स्वास्थ्यवर्धन और शक्तिसंचय के निमित्त, आसन, प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं के साथ घुड़सवारी, रथों की दौड़, शस्त्रास्त्रों के अभ्यास के उल्लेख तो मिलते हैं किंतु उसमें मल्लयुद्ध की कहीं कोई चर्चा नहीं है। अतः इस देश में इसका आरंभ वैदिक काल के बाद ही किसी समय हुआ होगा। रामायण और महाभारत में कुश्ती की पर्याप्त चर्चा हुई है। रामायण से बाली-सुग्रीव का युद्ध और महाभारत से भीम-जरासंध और भीम-दुर्योधन के युद्ध का उल्लेख उदाहरणस्वरूप दिया जा सकता है। किंतु इस प्रकार के द्वंद्वयुद्ध की अपनी एक नैतिक संहिता थी ऐसा इन युद्धों के वर्णन से प्रकट होता है। उसके विरुद्ध आचरण करनेवाला निंदनीय माना जाता था। श्रीकृष्ण के संकेत पर भीम द्वारा जरासंध के संधियों के चीरे जाने और दुर्योधन की जाँघ पर प्रहार करने की निंदा लोगों ने की है।

पुराणों में इसका उल्लेख मल्लक्रीड़ा के रूप में मिलता है। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इसके प्रति उन दिनों विशेष आकर्षण और आदर था। विशिष्ट उत्सव प्रसंगों पर राजा लोग मल्लयुद्ध का आयोजन किया करते थे और प्रसिद्ध मल्लों को आमंत्रित करते थे। मल्लक्रीड़ा आरंभ होने से पूर्व धनुर्यज्ञ होता था जिसमें मल्ल लोगों को अपनी शक्ति का परिचय देने के लिये एक भारी धनुष की प्रत्यंचा खींचकर चढ़ानी होती थी। ऐसे ही एक उत्सव प्रसंग पर मथुराधिपति कंस ने कृष्ण और बलराम को आमंत्रित कर उनकी हत्या का षड्यंत्र किया था किंतु कृष्ण बलराम ने कंस के मल्ल चाणूर और मुष्टिक को अपने मल्लकौशल से पराजित कर दिया। इसी प्रकार जिन दिनों पांडव छद्मवेश में विराट नगरी में रह रहे थे, उन दिनों वहाँ ब्रह्मोत्सव का आयोजन हुआ था। उसमें भीम ने जीमूत नामक मल्ल को परास्त किया था।

जातक कथाओं में भी कुश्ती के उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनमें अखाड़े, अखाड़े के सामने प्रेक्षकों के बैठने की जगह, उसकी सजावट, मल्लयुद्ध आदि के संबंध में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। विनयपिटक में उल्लिखित एक प्रसंग से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ भी मल्लयुद्ध में भाग लेती थीं। उसमें शेवती नामक एक मल्ली के भिक्षुणी हो जाने का उल्लेख है। जैनियों के प्रसिद्ध ग्रंथ कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि राजा लोग भी कुश्ती में भाग लेते थे।

मध्यकाल में मुस्लिम साम्राज्य और संस्कृति के प्रसार के साथ भारतीय मल्लयुद्ध पद्धति का मुस्लिम देशों की युद्ध पद्धति के साथ समन्वय हुआ। यह समन्वय विशेष रूप से मुगलकाल में हुआ। बाबर मध्य एशिया में प्रचलित कुश्ती पद्धति का कुशल एवं बलशाली पहलवान था। अकबर भी इस कला का अच्छा जानकार था। उसने उच्चकोटि के मल्लों को राजाश्रय प्रदान कर कुश्ती कला को प्रोत्साहित किया। वह समन्वयवादी सम्राट् था। उसने सभी क्षेत्रों में हिंदू तथा मुस्लिम संस्कृतियों में सामंजस्य लाने का प्रयत्न किया। फलतः कुश्ती कला भी उसकी उदार नीति से वंचित नहीं रही। उसी समय से कुश्ती को राज्यसंरक्षण प्राप्त होता रहा। मुगल सेनाओं में कुश्ती लड़नेवाले पहलवानों का विशेष सम्मान था। विजयनगर नरेश कृष्णदेव राय के राज दरबार में नित्य मल्लयुद्ध का प्रदर्शन होता था। पेशवा परिवार के लोग मल्लयुद्ध प्रवीण थे, ऐसा तत्कालीन आलेखों से ज्ञात होता है। थामस ब्राउटन नामक अंग्रेज सैनिक अधिकारी ने दौलतराव सिंधिया के सैनिकों के बीच मल्लविद्या के प्रचार का विस्तृत वर्णन किया है। पेशवा काल में स्त्रियाँ भी मल्लयुद्ध में भाग लेती थीं और वे इस कला में इतनी प्रवीण होती थीं कि वे पुरुषों को चुनौती देती थीं और पुरुष पराजित होने की आशंका से उनकी चुनौती स्वीकार करने में संकोच करते थे।

आधुनिक समय में देशी रजवाड़ों ने कुश्ती कला को संरक्षण प्रदान किया था। पटियाला, कोल्हापुर, मैसूर, इंदौर, अजमेर, बड़ौदा, भरतपुर, जयपुर, बनारस, दरभंगा, वर्दवान, तमखुई (गोरखपुर) के राजाओं के अखाड़ों की देशव्यापी ख्याति रही है। वहाँ कुश्ती लड़नेवाले पहलवानों को हर प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थीं और इन अखाड़ों के नामी पहलवान देश में घूम घूम कर कुश्ती के दंगलों में भाग लेते और कुश्ती का प्रचार किया करते थे। कुछ अन्य लोग भी अच्छे पहलवानों को प्रोत्साहित करते थे।

आज भी देश के कोने कोने में, चाहे वह नगर हो या गाँव, अखाड़े पाए जाते हैं।

सफल मल्ल बनने के लिये तीन बातों का ध्यान रखना पड़ता है। नियमित व्यायाम, उचित भोजन तथा कुश्ती का नियमित अभ्यास एवं विकास। कुश्ती कला में पारंगत होने के लिये मल्ल को चित्तनिरोध, मनोयोग तथा संयम की सतत साधना करनी पड़ती है। भारतीय मल्ल का भोजन काफ़ी पुष्टिकारक होता है। मल्ल को अपनी रसना पर नियंत्रण रखना चाहिए। भारतीय मल्ल अधिकतर दूध, घी, बादाम आदि का सेवन करते हैं। शक्तिवर्धन के लिये कुछ मल्ल मांस के शोरबे का भी प्रयोग करते हैं।

भारतीय कुश्ती की चार पद्धतियाँ हैं जो भीमसेनी, हनुमंती, जांबवंती और जरासंधी कहलाती हैं। हनुमंती कुश्ती में दाँवपेंच और कला की प्रधानता होती है। भीमसेनी कुश्ती में शरीर की शक्ति का विशेष महत्व है। जांबवंती कुश्ती में हाथ पैर से इस प्रकार प्रयास किया जाता है कि प्रतिस्पर्धी चित्त न कर पाए, उसमें शारीरिक शक्ति और दाँवपेंच की अपेक्षा शरीर साधना का महत्व है। जरासंधी कुश्ती में हाथ पाँव मोड़ने का प्रयास प्रधान है।

मल्लयुद्ध के माध्यम से भारत का विदेशों में संपर्क १९वीं शताब्दी के अंतिम दशक में हुआ। सन् १८९२ ई० में इंग्लैंड का प्रसिद्ध मल्ल टाम कैनन, रुस्तमेहिंद गुलाम से लड़ने के लिये भारत आया, किंतु वह गुलाम के शिष्य करीमबख्श से हारकर लौट गया। गुलाम का छोटा भाई कल्लू भी अपने युग का प्रसिद्ध पहलवान था। उस समय के अन्य प्रसिद्ध मल्लों में किक्करसिंह का नाम उल्लेखनीय है, जिसका भार लगभग ७ मन तथा वक्षःस्थल की परिधि ७० इंच थी। सन् १९०० ई० में स्वर्गीय मोतीलाल नेहरू गुलाम तथा कल्लू को लेकर पेरिस की विश्वप्रदर्शिनी में गए। गुलाम की कुश्ती यूरोप के प्रसिद्ध मल्ल अहमद मद्राली से हुई जो बराबर पर छूटी। गुलाम की मृत्यु के पश्चात् कल्लू रुस्तमेहिंद हुए।

सन् १९१० ई० में, रुस्तमेहिंद के रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये प्रयाग में एक विराट् दंगल का आयोजन हुआ। इसमें गामा की कुश्ती रहीम पहलवान से हुई। चोट आ जाने के कारण रहीम को अखाड़ा छोड़ना पड़ा और गामा रुस्तमेहिंद हुए। इसके पूर्व गामा ने अपने भाई इमामबख्श तथा अन्य मल्लों के साथ इंग्लैंड की यात्रा की थी। वहाँ इन्होंने बेंजामिन रोलर पर, तथा इमामबख्श ने स्विट्जरलैंड के निपुण मल्ल जान लेम पर, विजय प्राप्त की। इसके पश्चात् गामा की कुश्ती पोलैंड के प्रसिद्ध मल्ल जिबिस्को से हुई। प्रथम दिन, दो घंटे पैंतालिस मिनट तक मल्लयुद्ध हुआ, किंतु जिबिस्को चित्त नहीं किया जा सका। इन मल्लों की कुश्ती पुनः दूसरे दिन होने का निश्चय किया गया, किंतु जिबिस्को इंग्लैंड छोड़कर भाग खड़ा हुआ। दूसरे वर्ष, अहमदबख्श ने मॉरिस डेरियाज तथा आरमेंड चेयरपिलोड को परास्त कर भारतीय मल्ल-युद्ध-पद्धति का गौरव बढ़ाया। सन् १९२८ ई० में जिबिस्को गामा से मल्लयुद्ध करने भारत आए, किंतु इस बार गामा ने इन्हें ४२ सेकेंड में ही परास्त कर दिया। गामा की अंतिम कुश्ती जे० सी० पीटरसन से हुई, जो अपने को सर्वजेताओं का विजेता (चैंपियन ऑव चैंपियंस) कहता था। गामा ने उसे १ मिनट ४५ सेकेंड में ही हरा दिया। अपने को विश्वविजयी समझकर गामा ने
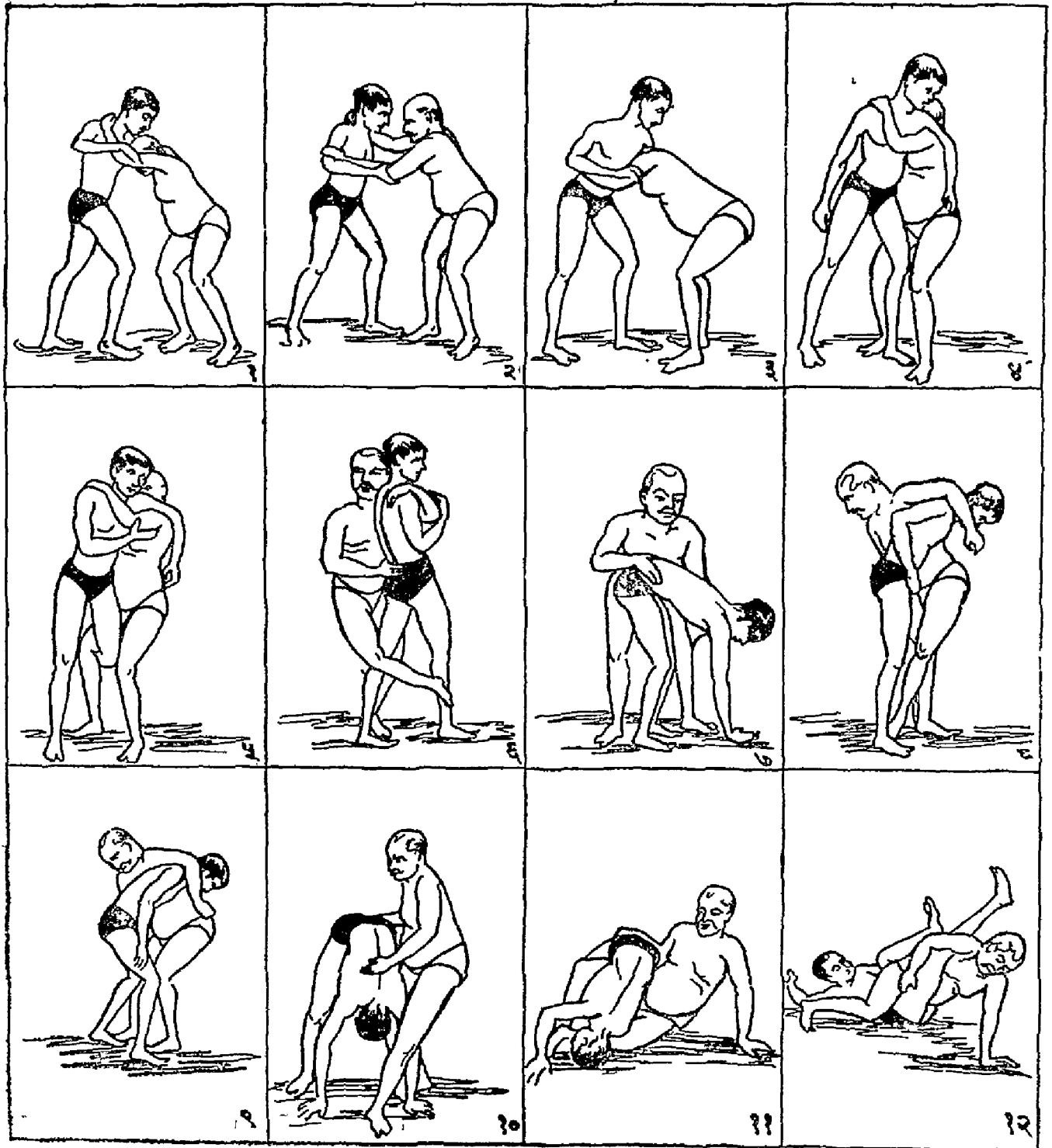
मार और रोक के दांवों का निदर्शन—१ विरोधी की दाहिनी बाँह के नीचे से गोता मार उसके पीछे पहुँच जाने की चेष्टा करे, २. आपका विरोधी इस दांव की रोक अपना दाहिना पैर एक कदम पीछे हटाकर करता है, ३ अब फुर्ती से अपना सिर अचानक विरोधी की बाई भुजा के नीचे से निकालकर; ४. कोल्हुवा दांव (Cross buttock) लगाएँ, ५. आपका विरोधी आपकी दाहिनी टाँग मे अपनी बाईं टाँग फँसाकर आपके दाँव की रोक करता है, ६. अब आप अपनी दाहिनी टाँग से उसकी दोनो टाँगो मे पीछे से लँगडी मारकर, उसे पीछे की तरफ गिराने की चेष्टा करे; ७. आपका विरोधी तुरत हाथ के बल आगे की ओर झुककर अपने को बचाता है, ८ इस अवस्था मे आप उसकी गर्दन को अपने बाएँ हाथ से पकडें और अपने बाएँ पैर से उसके बाएँ पैर को पीछे से फँसाकर, भीतर से लँगडी मारे; ९. विरोधी इसी दांव को आपपर उलटा लगाकर रोक करता है, १०. दाहिनी तरफ से जोर का झटका देकर अपने बाएँ हाथ और टाँग को छुडा लें और विरोधी को दबाकर उसे अपने नीचे हाथो के बल झुक जाने को विवश करे। फुर्ती से उसका जाँघिया दाहिने हाथ से पकडें। टिके हुए उसके दाहिने हाथ पर अपने बाएँ पाँव की टेक लगाकर उसे उखाडिए; ११. अपने दांव की रोक करने का अवसर विरोधी को न दीजिए। पहले फुर्ती से बैठ जाइए और उसे उठाकर जोर से अपने बाएँ घुमा दीजिए तथा १२. साथ ही साथ उसे दृढता से पकडे हुए अपने शरीर के सहारे से उलट दीजिए और पीठ के बल भूमि पर दबाए रखिए।

सन् १९१५ में रुस्तमेहिंद की पदवी के लिये अपने भाई इमामबख्श को खड़ा किया। रहीम, जिसकी अवस्था ढल चुकी थी, पुन: मैदान मे आया, किंतु इमामबख्श विजयी हुआ और उसने रुस्तमेहिंद की उपाधि धारण की।

इस समय तीन अन्य भारतीय मल्ल, गूंगा, बुर्द तथा हमीदा ने मल्लयुद्ध के क्षेत्र मे प्रसिद्धि प्राप्त की। नवयुवक मल्ल गूँगा ने इमामबख्श को कुश्ती के लिये ललकारा और पहली बार उसे आसमान दिखला दिया, किंतु बाद की कुश्तियो में इमामबख्श गूंगा पर विजय प्राप्त कर रुस्तमेहिंद बना रहा। इधर हमीदा और बुर्द की कई कुश्तियां अनिर्णीत रहीं, किंतु १९३८ ई० में हमीदा ने बुर्द को परास्त कर दिया। इसी समय बंबई मे एक अंतर्राष्ट्रीय दंगल हुआ जिसमें रुमानिया, हंगरी, जर्मनी, तुर्की, चीन, फिलिस्तीन आदि देशों के मल्लो ने भाग लिया। इस प्रतियोगिता में जर्मनी के मल्ल क्रैमर ने अजेय गूंगा को परास्त कर भारत को चकित कर दिया, किंतु उसे दरभंगा मे पूरणसिंह (बड़े) से हार माननी पड़ी तथा कलकत्ते मे राजवंशी सिंह भी उसपर सबल पड़े। अंत मे इमामबख्श ने उसे चित्त कर भारतीय मल्लो का गौरव अक्षुण्ण रखा। हमीदा ने किंग कांग को परास्त कर विदेशी मल्लों के हृदय में भारतीय मल्लयुद्ध की श्रेष्ठता का सिक्का जमा दिया।

देश के विभाजन से मल्लयुद्ध के क्षेत्र में भारत की बहुत बड़ी क्षति हुई है। उच्च कोटि के प्राय: सभी मल्ल पंजाबी मुसलमान थे, जो बटवारे के बाद पाकिस्तान के नागरिक हो गए। इमामबख्श का पुत्र भोलू आजकल रुस्तमे पाकिस्तान है तथा उसके अन्य भाई असलम, अकरम, गोगा आदि भी उच्चकोटि के पहलवान हैं। इस प्रकार गामा परिवार की परंपरा अक्षुण्ण है। उच्चकोटि के भारतीय पहलवान मंगला राय, केशर सिंह तथा पूरणसिंह (कनिष्ठ) हैं।

भारत के बाहर कुश्ती अन्य कई देशों मे प्रचलित है। किंतु वहाँ इसका प्राचीनतम प्रचार यूनान मे ही ज्ञात होता है। होमर के प्रसिद्ध काव्य इलियड में (XXIII700) एजैक्स तथा यूलिसीज के मल्लयुद्ध का विस्तृत वर्णन है। उसमे यूलिसीज द्वारा बाहरी टाँग मारकर एजैक्स को धराशायी कर देने का विवरण है। क्रोटोन निवासी मिलो उस काल का सर्वविख्यात मल्ल था, जिसने लगातार छह ओलंपिक खेलो मे सर्वोच्च विजयचिह्न (पदक) प्राप्त किया था। मिलो के संबंध मे यह किंवदंती है कि उसने पाइथागोरस के विद्यालय की गिरती हुई छत को अकेले ही सँभाल लिया था। यूलिसीज तथा एजैक्स की कुश्ती का विवरण बहुत कुछ बेनीहसन की कब्र पर निर्मित भवनो पर अंकित चित्रों से मिलता है। इस आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि मल्ल-युद्ध-कला यूनानियो ने मिस्रवासियों से ही सीखी, यद्यपि यूनानी परंपरा के अनुसार थीसियस (Theseus) यूनानी मल्लयुद्ध के जन्मदाता तथा विधिनिर्माता माने जाते हैं।

यूनान की भाँति ही रोम में भी कुश्ती की कला का विकास हुआ था। यूनान और रोम की प्राचीन कुश्ती कला का समन्वय ग्रीको रोमन पद्धति के रूप में हुआ है, ऐसी लोगों की धारणा है। किंतु इस समय यूरोप मे जिस ग्रीको रोमन शैली का प्रचार है, वह प्राचीन शैली से सर्वथा भिन्न है। आधुनिक पद्धति का प्रादुर्भाव १८६० ई० के लगभग फ्रांस में हुआ और यह क्रमश: सारे यूरोप में फैल गई। रूस निवासी हैकन एश्मिड इस पद्धति का सबसे प्रसिद्ध मल्ल हुआ है। पेशेवर पहलवान अब इस पद्धति को बहुत कम अपनाते है। फिर भी विश्व ओलंपिक मे ग्रीको-रोमन पद्धति मे भी कुश्ती होती है। इस पद्धति मे कमर के नीचे का भाग पकड़ना वर्जित है। प्रतिद्वंद्वी एक दूसरे का शरीर केवल खुले हाथ से ही पकड़ सकते हैं। हाथ और बाँह का पकडना इस नियम के अपवाद हैं। भौंह तथा मुँह के बीच के भाग को छूना निषिद्ध है। गला दबाना, कपड़े पकड़ना, बाल पकडना, पांव से मारना, धक्का देना या अँगुली मरोडना वर्जित है। कैंची लगाकर प्रतिद्वंद्वी को दोनों पावों के बीच दबाना वर्जित है। पाँव का प्रयोग किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता, न तो लगाने में और न बचाव करने में।

इस पद्धति का मल्लयुद्ध १८९६ से १९१२ तक ओलंपिक के खेलों मे होता रहा। १९२० मे ऐंटवर्प मे जो ओलंपिक खेल आयोजित हुआ उसमे इस पद्धति के साथ एक नई पद्धति का मल्लयुद्ध भी संमिलित किया गया जिसे फ्री स्टाइल कहते हैं। ओलंपिक खेलों में कोई भी दोनो पद्धतियों के मल्लयुद्ध प्रतियोगिता मे भाग ले सकता है किंतु दोनो ही पद्धतियों मे निष्णात मल्ल विरले ही होते है। अब तक स्वेडन के आइवर जोहासन और इस्टोनिया के पालू सालू ही ऐसे पहलवान हैं जिन्हें क्रमश: लास ऐंजेलस (१९३२ ई०) और बर्लिन (१९३६ ई०) के ओलपिक खेलों मे दोनों पद्धतियो मे एक साथ विश्वविजयी होने का गौरव प्राप्त हुआ है।

फ्री स्टाइल कुश्ती गद्दों पर लड़ी जाती है। जिस गद्दे पर यह कुश्ती होती है वह कम से कम ६ मीटर लंबा, ६ मीटर चौड़ा और १० सेंटीमीटर मोटा होता है। गद्दे के ऊपरी भाग पर एक मीटर व्यास का १० सेंटीमीटर चौड़ा वृत्त होता है। कुश्ती साधारणत: समान वजन के पहलवानों मे होती है, जिसके निमित्त वजन के अनुसार पहलवानो और उनकी कुश्ती की ८ श्रेणियाँ मानी गई है —

१. फ्लाई वेट	११४$\frac{1}{2}$	पाउंड तक
२. बैंटेम वेट	१२५$\frac{1}{2}$	पाउंड तक
३. फेदर वेट	१३६$\frac{1}{2}$	पाउंड तक
४. लाइट वेट	१४७$\frac{1}{2}$	पाउंड तक
५. वेल्टर वेट	१६०$\frac{1}{2}$	पाउंड तक
६. मिडिल वेट	१७४	पाउंड तक
७. लाइट हेवी वेट	१९१	पाउंड तक
८. हेवी वेट	१९१	पाउंड के ऊपर।

प्रतिद्वंद्वी को विधानत: यह अधिकार है कि वह चाहे तो अपने भार से एक भार ऊपर से कुश्ती लड़े। अपने निश्चय की सूचना भार लेने के पूर्व ही संबद्ध अधिकारी को दे देना प्रतिद्वंद्वी के लिये आवश्यक है।

नाम के पुकारे जाने पर दोनों प्रतिद्वंद्वी अपने अपने कोने में आकर खडे हो जाते हैं। एक के पाँव मे लाल तथा दूसरे के पाँव मे हरा फीता बँधा रहता है। निर्णायक (Referee) बीच मे खड़ा होकर दोनो को बुलाता है और उनके जूते, नाखून आदि का निरीक्षण करता है। निरीक्षण के पश्चात् दोनो प्रतिद्वंद्वी अपने अपने कोने में वापस चले जाते हैं। निर्णायक सदैव डाक्टर हुआ करते हैं। उनके पास लाल, हरे तथा सफेद तीन तीन लैंप, एक एक स्टॉप वाच (विराम घड़ी), घंटा, लाल हरे रंग के पट्टे, फेंकनेवाला लाल हरे रंग का बिंब (disc) होता है।

फ्री स्टाइल मल्लयुद्ध पद्धति मे प्रतिद्वंद्वियो को १२ मिनट का समय दिया जाता है, जो चार कालों में विभक्त होता है। प्रथम ६ मिनट तक खड़ी कुश्ती होती है, तदनंतर चार मिनट तक भूमि की कुश्ती होती है, जिससे प्रत्येक प्रतिद्वंद्वी को बारी बारी से दो दो मिनट के लिये नीचे बैठाया जाता है और दूसरा उसे ऊपर से पकड़ता है। अंतिम दो मिनट पुन: खडी कुश्ती होती है। सीटी बजते ही कुश्ती प्रारंभ हो जाती है। छह मिनट की कुश्ती के बाद निर्णायक अपने अंकों को देखकर बताते हैं कि लाल जीत रहा है या हरा। विजयी को उस समय तक अपने प्रतिद्वंद्वी से कम से कम तीन अंक अधिक प्राप्त होना चाहिए। शेष छह मिनट में खड़ी या भूमि की कुश्ती होगी, इसका निर्णय विजयी की इच्छा पर निर्भर करता है। भूमि की कुश्ती में कौन पहले नीचे बैठेगा, इसका निर्णय निर्णायक लाल या हरे रंग का बिंब फेंककर करता है।

शास्ति अंक (Penalty Point)—जो मल्ल प्रतिद्वंद्वी को चित्त कर विजय प्राप्त करता है, उसे शून्य शास्ति अंक मिलता है तथा हारनेवाले को चार। निर्णायक के बहुमत से प्रतिद्वंद्वी का कंधा लगाए बिना विजय पानेवाले को एक तथा हारनेवाले को तीन। हार जीत का निर्णय न होने पर दोनों को दो दो शास्ति अंक दिए जाते हैं। छह शास्ति अंक हो जाने पर प्रतियोगी प्रतियोगिता से बाहर हो जाता है। कुश्ती निम्नांकित अवस्था में बराबर मानी जाती है :

क. १२ मिनट लड़ने के बाद भी प्रतिद्वंद्वी मल्लो के कुल प्राप्तांकों में एक से कम का अंतर हो।

युद्ध होने की परंपरा चल पड़ी। ऐसे ही एक कुश्ती में अब्राहम लिंकन ने जैक आर्मस्ट्रांग को परास्तकर अच्छी ख्याति पाई थी। १९वीं सदी के अंतिम चरण में पेशेवर मल्लों की कुश्तियों का प्रचार बढ़ा। विलियम मलडून अमरीका का सर्वप्रथम विजेता माना जाता है। इसके पश्चात् फार्मर बर्न्स का नाम आता है। फ्रैंक गॉच ने जार्ज हैकन रूशमिड को हराकर 'विश्वविजयी' की उपाधि प्राप्त की।

अमरीकन फ्री स्टाइल कुश्ती अत्यंत निर्दयता से लड़ी जाती है। इस पद्धति की तुलना प्राचीन पान क्रोशन (Pan crotion) पद्धति से की जा सकती है, जिसमें मुक्केबाजी का खुलकर प्रयोग होता था। पान क्रोशन पद्धति में अत्यंत क्रूर दाँवपेंच भी वर्जित नहीं थे। प्राचीन ओलंपिक खेलों में इसका प्रचलन था। अमरीकन फ्री स्टाइल मल्लयुद्ध में पशुबल का प्रयोग नृशंसता से होता है; उनमें कला का नितांत अभाव है। इसकी नृशंसता बहुत कुछ गॉच की देन है; उन्होंने अपने विपक्षी हैकन इशमिड के विरुद्ध ऐसे दाँवपेंचों का भी प्रयोग किया जो उस समय तक वर्जित माने जाते थे। उनके पश्चात् स्ट्रैंगलर ल्युइस जोज़ेफ़ स्टेचर को परास्त कर 'विश्वविजयी' की उपाधि से विभूषित हुआ। गस सोननबर्ग द्वारा अमरीकन कुश्ती में नटों की कलाबाजी का प्रसार हुआ। वे अपने 'फुटबाल टैकिल' (Football Tackle) दाँव के लिये विख्यात थे और इसी का प्रयोगकर स्ट्रैंगलर ल्युइस को उन्होंने पराजित किया था। अन्य विजेताओं में जिम लंडस तथा ओमोहोनी के नाम उल्लेखनीय हैं। अमरीका के आधुनिक मल्लों में लाउथेज ने भी विशेष ख्याति प्राप्त की है।

अमरीकन ढंग की इस कुश्ती में मल्लों के लिये वर्जित दाँवपेंचों तथा क्रियाकलापों की संख्या नहीं के बराबर है। केवल गला दबाना, केश खींचना तथा आँखों में अँगुली करना इसमें वर्जित है। कभी कभी तो क्रुद्ध मल्ल निर्णायक तक पर आक्रमण कर बैठता है। अतः उसे अखाड़े में अत्यंत सतर्क रहना पड़ता है। (शि० शं० रा०; प० ला० गु०)

कुषाण एक विदेशी राजवंश, जिसने अफगानिस्तान से वाराणसी तक (कुछ लोगों के मतानुसार गया तथा पटना तक) की भारत भूमि पर राज किया। ई० पू० दूसरी शताब्दी में यूची नामक एक जाति तुन हुवांग और कि लिएन के मध्य, ह्वांग हो नदी के पश्चिम में कांसू और निंगसिया में रहती थी। हिउंग-नू (हूण) नामक लड़ाकू जाति से पराजित होने पर वे लोग पश्चिम की ओर बढ़े और शक जातियों के साथ संघर्ष करते हुए ह्मिमन-शान पहुँचे। लगभग १३० ई० पू० कोवूसून नामक एक दूसरी लड़ाक जाति ने यूचियों को हराकर उन्हें और पश्चिम की ओर जाने को बाध्य किया। चीनी सम्राट् की ओर से ता-हिया (बाख्त्री) आए हुए राजदूत चांग-किएन ने ई० पू० १२६ में यूचियों को वक्षु नदी के उत्तर की घाटी में पाया था। ता-हिया पर अधिकार कर ये वहीं बस गए। समझा जाता है कि यूचियों का एक कबीला क्वाइ-शुआंग (अथवा कुषाण) था जिसकी राजधानी पो-मो थी, किंतु कलिंग्रेन और कोनो का मत है कि कुषाण यूची नहीं वरन् शक थे। उनके मतानुसार कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव के सिक्कों पर जो लेख अंकित हैं उनकी भाषा शक है और लुडविग बेकोफर ने भी सिक्कों पर अंकित कुषाण सम्राटों की वेशभूषा तथा शस्त्रों से उन्हें शकों के निकट रखा है। मेनशेन हेल्फेन के मतानुसार कुषाण यूची लोगों के सामंत थे।

क्वाइ-शुआंग (कुषाण) के सरदार क्यू-तिस्यू-किओ ने यूचियों के अन्य चार कबीलों को मार भगाया और स्वयं सम्राट् बन बैठा। उसने आइ-सि पर आक्रमणकर काओ-फु पर अधिकार किया, फिर पुंता तथा किपिन को जीता। ८० वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई और उसके बाद उसका पुत्र येन-काओचेन सम्राट् हुआ। उसने तियन-चू (भारत) को जीता और वहाँ राज्य करने के लिये अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। इस समय से कुषाण बहुत बलवान् हो गए।

भारतीय सिक्कों तथा लेखों से ज्ञात होता है कि कुषाणों के दो अथवा तीन वंशों ने भारत में राज किया। प्रथम वंश के सम्राटों में कुजुल कथफिस तथा उसके पुत्र विमकथफिस थे, जिनकी पहचान चीनी क्षेत्र के क्यू-तिस्यू-किओ तथा येन-काओ-चेन से क्रमशः की जाती है। दूसरे कुषाण वंश के राजा कनिष्क, वाशिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव थे। इनके अतिरिक्त कनिष्क और वासुदेव नामक परवर्ती राजाओं के सिक्के मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इस नाम के एक से अधिक राजा हुए। पंजतार से प्राप्त एक लेख में 'महाराज घुषण' और तक्षशिला से प्राप्त एक दूसरे लेख में 'महाराजस राजातिराजस देवपुत्र खुषाणस' का उल्लेख है। इन दोनों में सम्राट् का नाम नहीं मिलता। इनकी तिथि के विषय में विद्वानों में विभिन्न मत हैं, पर प्रायः इनपर अंकित तिथि को विक्रम अथवा अयस् द्वारा चलाए ५८ ई० पू० वाला संवत् मानकर इनकी तिथि क्रमशः ४४ और ७८ ई० मानी जाती है। इन दोनों लेखों का संबंध प्रथम कुषाण वंश के कुजुल कथफिस से जान पड़ता है। खलात्से (लेह) से प्राप्त एक लेख में उविम-कथफिस का उल्लेख है। यदि यह मत मान लिया जाय तो इस लेख में अंकित संवत् १८७ के अनुसार विम-कथफिस की तिथि (१८७-५७/५८) १२९-३० ई० होगी। इसलिये तक्षशिला के संवत् १३६ के लेख के कुषाण सम्राट् को कुजुल कथफिस अनुमान करना होगा, अन्यथा विम-कथफिस का शासनकाल लगभग ६० वर्ष रखना होगा। किंतु चीनी कथन के अनुसार उसका पिता ८० वर्ष की आयु तक जीवित रहा। इसको ध्यान में रखते हुए यह मानना संभव नहीं है। कुछ विद्वान कुजुल तथा विम-कथफिस का शासनकाल ४४-७८ ई० के बीच रखते हैं और ७८ ई० में कनिष्क का अभिषेक तथा उसके द्वारा चलाए हुए शक संवत् का आरंभ मानते हैं, किंतु यह विषय विवादास्पद है। तक्षशिला से प्राप्त सं० १९१ के लेख में जिहोणिक का उल्लेख है जिसकी समानता जियोनिसस से, जिसके सिक्के भी मिले हैं, की गई है। इसके लेख के आधार पर (१९१–५७) १३४ ई० में तक्षशिला में जिहोणिक अथवा जियोनिसस राज्य कर रहा था। यदि कनिष्क को शक-संवत्-निर्माता मानें तो मानना पड़ेगा कि उसके पुत्र हुविष्क का राज्य, वरधाक के सं० ५४ के लेख के अनुसार, (७८+५४) १३२ ई० में अफगानिस्तान तक फैला था और उसने संवत् ६० तक राज किया। इस प्रकार एक ही समय में दो राजाओं का एक ही क्षेत्र पर अधिकार असंभव है। अतः न तो यही कहा जा सकता है कि ४४–७८ ई० के मध्यकाल में प्रथम कुषाण वंश के दोनों राजाओं ने राज किया और न इस बात से ही सहमत हुआ जा सकता है कि इनके और कनिष्क के बीच में कोई अंतर न था और कनिष्क ने ७८ ई० से राज्य करना आरंभ किया और अपना संवत् चलाया। संभवतः कनिष्क का कथफिस वंश से कोई संबंध न था, यद्यपि दोनों कुषाण थे।

कनिष्क के वंश में उसके बाद वाशिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव ने क्रमशः २४–२८, २८–६०, ६७–९९ वर्ष तक राज किया। आरा (अफगानिस्तान) से प्राप्त लेख में महाराज राजाधिराज देवपुत्र कैसर कनिष्क का उल्लेख है जो वजिष्क का पुत्र था और सं० ४१ में राज कर रहा था। स्टेन कोनो के मतानुसार कनिष्क के बाद साम्राज्य के दो भाग हो गए। उत्तरपश्चिम में वाशिष्क अथवा वाजिष्क और उसके पुत्र कनिष्क (आरा लेख) ने राज किया और मध्यपूर्वीय भाग हुविष्क को मिला। कनिष्क के बाद दोनों पर हुविष्क का अधिकार हो गया। राखालदास बनर्जी तथा कुछ अन्य विद्वान् आरा के लेख के कनिष्क को सम्राट् कनिष्क प्रथम कहते रहे हैं। इधर अफगानिस्तान से कनिष्क के सं० ३१ का यूनानी भाषा में एक लेख मिला है जिसने कुषाण शासक और उनकी तिथि की समस्या को उलझा दिया है। अतः कनिष्क के वंश ने कब से कब तक शासन किया निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उनका समय प्रथम से तृतीय शती के बीच अनुमान ही किया जा सकता है।

कनिष्क के वंश के बाद एक अन्य कुषाण वंश के राजाओं ने राज किया जिन्हें कनिष्ठ कुषाण कहा गया है। इनके सिक्कों में केवल कनिष्क और वसु अथवा वासुदेव का उल्लेख है। मथुरा में मिले एक लेख में कुषाणपुत्र का उल्लेख है और इसकी लिखावट के बहुत से अक्षर गुप्तकालीन आरंभिक लेखों से मिलते जुलते हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में भी 'देवपुत्रषाहि षाहानुषाहि' राजाओं का उल्लेख है जिनसे

ख दोनो के अंक बराबर हों।
ग दोनों में से किसी को भी अंक न मिला हो।

अंतिम निर्णय के नियम---जिन मल्लो के छह या उससे अधिक शास्ति अंक हो जाते है, वे प्रतियोगिता से छँटते जाते हैं। प्रतियोगिता तब तक चलती रहती है जब तक छँटकर केवल तीन ही प्रतियोगी मैदान में शेष नही रह जाते। स्थान निश्चित करते समय उनके द्वारा पालियो में लडी गई आपसी कुश्तियों के फल को ध्यान में रखा जाता है। यदि तीनों मल्लो ने पूर्व की पालियों में परस्पर मल्लयुद्ध नहीं किया है, तो इनकी कुश्ती कराई जाती है और जिसके शास्ति अंक सबसे कम होते हैं वह विजयी घोषित किया जाता है। यदि दो के शास्ति अंक बराबर है, तो उनकी आपसी कुश्ती में जो सबल पडता है वह विजयी होता है। यदि संयोग-वश तीनो के शास्ति अंक बराबर हो जाते है तो सारी प्रतियोगिता में तीनो में सबसे कम शास्ति अंक पानेवाला विजयी माना जाता है। ऐसी दशा में, जब तीनो के शास्ति अंक भी बराबर हों तब सबसे कम भारवाला मल्ल विजयी घोषित किया जाता है।

ओलपिक फ्री स्टाइल मल्लयुद्ध मे निम्नलिखित बातें वर्जित है

१ बाल या जाँघिया पकडना।
२ अँगुली या अँगूठा मरोडना।
३ पाँव कुचलना।
४ गला दबाना या कोई ऐसा दाँव मारना जिससे साँस रुकने की संभावना हो।
५ हथेली ऊपर रखकर धोबी पछाड मारना।
६ धड या सिर पर कैंची लगाना।
७ अँगुलियो को फँसाना।
८ गुट निकालने के बाद बाँह को पीठ पर ९०° में कष्ट करना, या बाँह को बाहर की ओर खीचना।
९ पीछे से उठाकर बिना घुटने टेके सिर के बल फेंकना।
१० कुहनी या घुटना गडाकर प्रतिद्वंद्वी के नाक का बाँसा (bridge) तोडना।
११ आपस में बातचीत करना।

इसके अतिरिक्त अग भग-कारक किसी दाँव पेच को छुडा देने का वैधानिक अधिकार निर्णायक को होता है।

ओलपिक खेल मे एक तीसरे प्रकार की कुश्ती को भी मान्यता प्राप्त है। उसे शाबो कहते हैं। यह कुश्ती एक विशेष प्रकार का मोटे कपडे-वाला जैकेट पहनकर लडी जाती है और जैकेट को पकडकर ही दाँवपेच मारा जाता है। उसमें बदन को नही छुआ जा सकता। इसमें ग्रीको-रोमन अथवा फ्री स्टाइल की भाँति बधो का लगाना अनिवार्य नही है।

भारत के पहलवानों ने १९२० मे पहली बार पेरिस में हुए ओलपिक मे भाग लिया था। उसमे भाग लेने वाले पहलवान थे महाराष्ट्र के नावले और बडौदा के शिंदे। १९३६ के बर्लिन ओलपिक मे करम रसूल (पजाब), अनवर रशीद (उत्तर-प्रदेश) और ए० थोरेट (महाराष्ट्र) सम्मिलित हुए थे। १९४८ से भारतीय पहलवान नियमित रूप से ओल-पिक मे भाग ले रहे है। उस वर्ष लदन मे ओलपिक हुआ था उसमें के० डी० यादव को छोटे वजन (मलाई वट) में छठा स्थान मिला था। १९५२ के हेलसिंकी ओलपिक में इन्ही यादव को ५७ किलो वेट में तीसरा और ६२ किलो वेट में के० डी० मगावे (महाराष्ट्र) को चौथा स्थान प्राप्त हुआ था। इसके बाद तो प्रत्येक ओलपिक मे भारतीय पहलवान बराबर सफलता प्राप्त कर रहे हैं। इसी प्रकार भारतीय पहलवान विश्व कुश्ती प्रतियोगिता, एशियाई खेल, और राष्ट्रमडलीय खेल में भी भाग लेते हैं और सफलता प्राप्त करते हैं।

भारत सरकार ने नेताजी सुभाष राष्ट्रीय खेल प्रतिष्ठान (पटि-) में आधुनिक विश्वमान्य पद्धतियो द्वारा पहलवानों को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था की है ताकि वे विश्व की विभिन्न प्रतियोगिताओं में सफलता प्राप्त कर सकें। साथ ही सफल पहलवानो को सम्मा-नित करने के लिये 'अर्जुन पुरस्कार' की व्यवस्था की है। अब तक यह पुर-स्कार निम्नलिखित पहलवानों को दिया गया है---मलुआ (दिल्ली), उदयचद (सेना), विशंभर सिंह (रेलवे), मुख्तियार सिंह (सेना), गनपत अदेलकर (महाराष्ट्र), चदगीराम (हरियाणा), भीम सिंह (सेना), प्रेमनाथ (दिल्ली), जगरूप सिंह (हरियाणा), सुदेश कुमार (दिल्ली)।

अतरराष्ट्रीय मान्यता प्राप्त कुश्ती की उपर्युक्त शैलियों के अतिरिक्त कुछ अन्य देशिक शैलियाँ भी है जिनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय है---

कबरलैंड तथा वेस्टमोरलैंड कुश्ती---इस कुश्ती का प्रचलन उत्तरी इग्लैंड तथा दक्षिणी स्काटलैंड में है। मल्लयुद्ध प्रारभ होने से पूर्व प्रति-द्वद्वी सीने से सीना मिलाकर, एक दूसरे से, इस प्रकार लिपट जाते है कि एक मल्ल की बाईं भुजा दूसरे मल्ल की दाहिनी भुजा के ऊपर तथा एक की ठुड्डी दूसरे के दाहिने कधे पर पडती है। इसके पश्चात् वे अपने हाथों को एक दूसरे की पीठ पर रखकर बद कर लेते है। इस अवस्था को 'रेफरी होल्ड' (Referee hold) कहते है और वह सावधान होने की अवस्था समझी जाती है। निर्णायक के मुख से 'होल्ड' शब्द निकलते ही कुश्ती प्रारभ हो जाती है। जिस मल्ल के हाथो की पकड शिथिल होकर छूट जाती है, उसकी पराजय मानी जाती है।

इस पद्धति की कुश्ती में जय पराजय का निर्णय बडी सरलता से हो जाता है। निर्णय में दो मतो की सभावना अत्यल्प है। जिस प्रतिद्वद्वी का, पावो के अतिरिक्त, कोई भी अग भूमि से छू जाता है उसकी पराजय मानी जाती है। जब दोनो प्रतिद्वद्वी साथ ही भूमि पर गिरते है तो भूमि को पहले स्पर्श करनेवाला प्रतिद्वद्वी पराजित माना जाता है। जब दोनो सीधे गिरकर भूमि को साथ ही स्पर्श करते है तो कुश्ती बराबर मानी जाती है। इसको डॉग फाल (Dog fall) कहते है। ऐसी अवस्था के प्रतिद्वद्वियों मे पुन कुश्ती कराई जाती है। दाँव लगाने या अन्य किसी अवस्था मे भी पाँव के अतिरिक्त किसी अग से भूमि छू जाने पर प्रतिद्वद्वी की हार हो जाती है। इस कुश्ती मे भुजाओं मे बँध जाने के कारण पाँवो का मुक्त प्रयोग किया जाता है। यद्यपि प्रतिद्वद्वी को पाँव से सीधे आघात करना वर्जित है, तथापि इस पद्धति के कलाकार पाँव सबंधी दाँव पेंचो मे बडे कुशल होते हैं।

'सूमो' कुश्ती---'सूमो' जापानियों का राष्ट्रीय व्यायाम है। इसका प्रयोग जापानी युवक अपने शरीर को शक्तिशाली एव सगठित बनाने के लिये करते है। प्रथम सूमो कुश्ती, जिसका लिखित विवरण उपलब्ध है ईसा से २३ वर्ष पूर्व हुई थी। विजयी व्यक्ति का नाम सुकुने था। सुकुने आज तक जापानी मल्लो का आराध्य देवता माना जाता है। आठवीं शताब्दी में सम्राट् शोम ने फसल कटने के अवसर पर मल्ल-युद्धोत्सव मनाया था, तभी से यह जापान का राष्ट्रीय पर्व बन गया है। इस अवसर पर विजेता को विजय-चिह्न-स्वरूप एक पखा प्रदान किया जाता है। यह विजेता अगले वर्ष की कुश्ती का निर्णायक होता है। राज्यसरक्षण के अभाव में सन् ११७५ ई० के पश्चात् सूमो का ह्रास होने लगा, किंतु सन् १६०० ई० के लगभग इसका पुनरुत्थान हुआ। तभी से मल्लो को बडे सामतो के यहाँ आश्रय मिलने लगा तथा सूमो सैनिक प्रशिक्षण का प्रमुख अग बन गया।

श्विजेन (Schwingen) मल्लयुद्ध---इस पद्धति मे प्रतिद्वद्वियों को बिरजिस (breeches) पहनकर कुश्ती लडना पडता है, जो सुदृढ पेटी सहित कमर पर बँधी रहती है। दाँवपेंच इस पटी को पकडकर किया जाता है। सूमो की भाँति इस युद्धपद्धति में भी पाँव का प्रयोग करना, या प्रतिद्वद्वी को उठाकर फेंक देना, वर्जित नही है। जो मल्ल भूमि को पहले स्पर्श कर लेता है उसकी हार हो जाती है। आइसलैंड की ग्लीमा पद्धति भी बहुत कुछ इस पद्धति से मिलती है। अतर केवल रान और कमर पर धारण किए जानेवाले वस्त्रो मे है।

अमरीकन फ्री स्टाइल मल्लयुद्ध---१८वीं शताब्दी के अतिम चरण के पूर्व अमरीका मे त्योहारो के अवसर पर स्थानीय मल्लो की कुश्तियाँ होती थी। सन् १७८० ई० के लगभग हारवर्ड विश्वविद्यालय में इसका प्रचार आरभ हुआ। वहाँ नए छात्रो तथा पुराने स्नातकों के बीच मल्ल-

युद्ध होने की परंपरा चल पड़ी। ऐसे ही एक कुश्ती में अब्राहम लिंकन ने जैक आर्मस्ट्रांग को परास्तकर अच्छी ख्याति पाई थी। १९वीं सदी के अंतिम चरण में पेशेवर मल्लों की कुश्तियों का प्रचार बढ़ा। विलियम मलडून अमरीका का सर्वप्रथम विजेता माना जाता है। इसके पश्चात् फार्मर बर्न्स का नाम आता है। फ्रैंक गॉच ने जार्ज हैवन रूशमिड को हराकर 'विश्वविजयी' की उपाधि प्राप्त की।

अमरीकन फ्री स्टाइल कुश्ती अत्यंत निर्दयता से लड़ी जाती है। इस पद्धति की तुलना प्राचीन पान क्रोशन (Pan crotion) पद्धति से की जा सकती है, जिसमें मुक्केबाजी का खुलकर प्रयोग होता था। पान क्रोशन पद्धति में अत्यंत क्रूर दाँवपेंच भी वर्जित नहीं थे। प्राचीन ओलंपिक खेलों में इसका प्रचलन था। अमरीकन फ्री स्टाइल मल्लयुद्ध में पशुबल का प्रयोग नृशंसता से होता है; उसमें कला का नितांत अभाव है। इसकी नृशंसता बहुत कुछ गॉच की देन है; उन्होंने अपने विपक्षी हैकन श्मिड के विरुद्ध ऐसे दाँवपेंचों का भी प्रयोग किया जो उस समय तक वर्जित माने जाते थे। उनके पश्चात् स्ट्रैंगलर ल्युइस जोजेफ़ स्टेचर को परास्त कर 'विश्वविजयी' की उपाधि से विभूषित हुआ। गस सोननबर्ग द्वारा अमरीकन कुश्ती में नटों की कलाबाजी का प्रसार हुआ। वे अपने 'फुटबाल टैकिल' (Football Tackle) दाँव के लिये विख्यात थे और इसी का प्रयोगकर स्ट्रैंगलर ल्युइस को उन्होंने पराजित किया था। अन्य विजेताओं में जिम लंड्स तथा ओमोहोनी के नाम उल्लेखनीय हैं। अमरीका के आधुनिक मल्लों में लाउथेज ने भी विशेष ख्याति प्राप्त की है।

अमरीकन ढंग की इस कुश्ती में मल्लों के लिये वर्जित दाँवपेंचों तथा क्रियाकलापों की संख्या नहीं के बराबर है। केवल गला दबाना, केश खींचना तथा आँखों में अँगुली करना इसमें वर्जित है। कभी कभी तो क्रुद्ध मल्ल निर्णायक तक पर आक्रमण कर बैठता है। अत: उसे अखाड़े में अत्यंत सतर्क रहना पड़ता है। (शि० शं० रा०; प० ला० गु०)

कुषाण एक विदेशी राजवंश, जिसने अफगानिस्तान से वाराणसी तक (कुछ लोगों के मतानुसार गया तथा पटना तक) की भारत भूमि पर राज किया। ई० पू० दूसरी शताब्दी में यूची नामक एक जाति तुन हुवांग और कि लियन के मध्य, ह्वांग हो नदी के पश्चिम में कांसू और निंगसिया में रहती थी। हिउंग-नू (हूण) नामक लड़ाकू जाति से पराजित होने पर वे लोग पश्चिम की ओर बढ़े और शक जातियों के साथ संघर्ष करते हुए ह्निमन-शान पहुँचे। लगभग १३० ई० पू० कीवूसून नामक एक दूसरी लड़ाकू जाति ने यूचियों को हराकर उन्हें और पश्चिम की ओर जाने को बाध्य किया। चीनी सम्राट् की ओर से ता-ह्यिा (बाख्त्री) आए हुए राजदूत चांग-किएन ने ई० पू० १२६ में यूचियों को वक्षु नदी के उत्तर की घाटी में पाया था। ता-ह्यिा पर अधिकार कर ये वहीं बस गए। समझा जाता है कि यूचियों का एक कबीला क्वाइ-शुआंग (अथवा कुषाण) था जिसकी राजधानी पो-मो थी, किंतु कलिग्रेन और कोनो का मत है कि कुषाण यूची नहीं वरन् शक थे। उनके मतानुसार कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव के सिक्कों पर जो लेख अंकित हैं उनकी भाषा शक है और लुडविग बेकोफर ने भी सिक्कों पर अंकित कुषाण सम्राटों की वेशभूषा तथा शस्त्रों से उन्हें शकों के निकट रखा है। मेनशेन हेलफेन के मतानुसार कुषाण यूची लोगों के सामंत थे।

क्वाइ-शुआंग (कुषाण) के सरदार क्यू-तिस्यू-किओ ने यूचियों के अन्य चार कबीलों को मार भगाया और स्वयं सम्राट् बन बैठा। उसने आउ-सि पर आक्रमणकर काओ-फु पर अधिकार किया, फिर पुंता तथा किपिन को जीता। ८० वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई और उसके बाद उसका पुत्र येन-काओचेन सम्राट् हुआ। उसने तियन-चू (भारत) को जीता और वहाँ राज्य करने के लिये अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। इस समय से कुषाण बहुत बलवान् हो गए।

भारतीय सिक्कों तथा लेखों से ज्ञात होता है कि कुषाणों के दो अथवा तीन वंशों ने भारत में राज किया। प्रथम वंश के सम्राटों में कुजुल कथफिस तथा उसके पुत्र विमकथफिस थे जिनकी पहचान चीनी क्षेत्र के क्यू-तिस्यू-किओ तथा येन-काओ-चेन से क्रमश: की जाती है। दूसरे कुषाण वंश के राजा कनिष्क, वाशिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव थे। इनके अतिरिक्त कनिष्क और वासुदेव नामक परवर्ती राजाओं के सिक्के मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इस नाम के एक से अधिक राजा हुए। पंजतार से प्राप्त एक लेख में 'महाराज घुषण' और तक्षशिला से प्राप्त एक दूसरे लेख में 'महाराजस राजातिराजस देवपुत्र खुषाणस' का उल्लेख है। इन दोनों में सम्राट् का नाम नहीं मिलता। इनकी तिथि के विषय में विद्वानों में विभिन्न मत हैं, पर प्राय: इनपर अंकित तिथि को विक्रम अथवा अयस् द्वारा चलाए ५८ ई० पू० वाला संवत् मानकर इनकी तिथि क्रमश: ४४ और ७८ ई० मानी जाती है। इन दोनों लेखों का संबंध प्रथम कुषाण वंश के कुजुल कथफिस से जान पड़ता है। खलात्से (लेह) से प्राप्त एक लेख में उविम-कथफिस का उल्लेख है। यदि यह मत मान लिया जाय तो इस लेख में अंकित संवत् १८७ के अनुसार विम-कथफिस की तिथि (१८७-५७/५८) १२९-३० ई० होगी। इसलिये तक्षशिला के संवत् १३६ के लेख के कुषाण सम्राट् को कुजुल कथफिस अनुमान करना होगा, अन्यथा विम-कथफिस का शासनकाल लगभग ६० वर्ष रखना होगा। किंतु चीनी कथन के अनुसार उसका पिता ८० वर्ष की आयु तक जीवित रहा। इसको ध्यान में रखते हुए यह मानना संभव नहीं है। कुछ विद्वान कुजुल तथा विम-कथफिस का शासनकाल ४४-७८ ई० के बीच रखते हैं और ७८ ई० में कनिष्क का अभिषेक तथा उसके द्वारा चलाए हुए शक संवत् का आरंभ मानते हैं, किंतु यह विषय विवादास्पद है। तक्षशिला से प्राप्त सं० १९१ के लेख में जिहोणिक का उल्लेख है जिसकी समानता जियोनिमस से, जिसके सिक्के भी मिले हैं, की गई है। इसके लेख के आधार पर (१९१–५७) १३४ ई० में तक्षशिला में जिहोणिक अथवा जियोनिमस राज्य कर रहा था। यदि कनिष्क को शक-संवत्-निर्माता मानें तो मानना पड़ेगा कि उसके पुत्र हुविष्क का राज्य, वरधाक के सं० ५४ के लेख के अनुसार, (७८+५४) १३२ ई० में अफगानिस्तान तक फैला था और उसने संवत् ६० तक राज किया। इस प्रकार एक ही समय में दो राजाओं का एक ही क्षेत्र पर अधिकार असंभव है। अत: न तो यही कहा जा सकता है कि ४४–७८ ई० के मध्यकाल में प्रथम कुषाण वंश के दोनों राजाओं ने राज किया और न इस बात से ही सहमत हुआ जा सकता है कि इनके और कनिष्क के बीच में कोई अंतर न था और कनिष्क ने ७८ ई० से राज्य करना आरंभ किया और अपना संवत् चलाया। संभवत: कनिष्क का कथफिस वंश से कोई संबंध न था, यद्यपि दोनों कुषाण थे।

कनिष्क के वंश में उसके बाद वाशिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव ने क्रमश: २४–२८, २८–६०, ६७–९९ वर्ष तक राज किया। आरा (अफगानिस्तान) से प्राप्त लेख में महाराज राजाधिराज देवपुत्र कैसर कनिष्क का उल्लेख है जो वजिष्क का पुत्र था और सं० ४१ में राज कर रहा था। स्टेन कोनो के मतानुसार कनिष्क के बाद साम्राज्य के दो भाग हो गए। उत्तरपश्चिम में वाशिष्क अथवा वाजिष्क और उसके पुत्र कनिष्क (आरा लेख) ने राज किया और मध्यपूर्वीय भाग हुविष्क को मिला। कनिष्क के बाद दोनों पर हुविष्क का अधिकार हो गया। राखालदास बनर्जी तथा कुछ अन्य विद्वान् आरा के लेख के कनिष्क को सम्राट् कनिष्क प्रथम कहते रहे हैं। इधर अफगानिस्तान से कनिष्क के सं० ३१ का यूनानी भाषा में एक लेख मिला है जिसने कुषाण शासक और उनकी तिथि की समस्या को उलझा दिया है। अत: कनिष्क के वंश ने कब से कब तक शासन किया निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उनका समय प्रथम से तृतीय शती के बीच अनुमान ही किया जा सकता है।

कनिष्क के वंश के बाद एक अन्य कुषाण वंश के राजाओं ने राज किया जिन्हें कनिष्ठ कुषाण कहा गया है। इनके सिक्कों में केवल कनिष्क और वसु अथवा वासुदेव का उल्लेख है। मथुरा में मिले एक लेख में कुषाणपुत्र का उल्लेख है और इसकी लिखावट के बहुत से अक्षर गुप्तकालीन आरंभिक लेखों से मिलते जुलते हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में भी 'देवपुत्रषाहि षाहानुषाहि' राजाओं का उल्लेख है जिनसे

कुषाणों का संकेत मिलता है। कुषाणों के वंशज गुप्त साम्राज्य की स्थापना तक कहीं कहीं अपना अस्तित्व बनाए हुए थे।

सं०ग्रं०---रेप्सन : कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, भाग १; नीलकंठ शास्त्री : ए कांप्रिहेंसिव हिस्ट्री ऑव इंडिया, भाग २; लोह्युइजेन डे ल्यू : दि इंडोसीथियन पीरियड ऑव इंडियन हिस्ट्री; स्टेन कोनो : कारपस इंस्क्रिप्शन इंडीकेरम, भाग २; मजुमदार और पुसालकर : दि एज ऑव इंपीरियल यूनिटी। (बै० पु०)

कुष्ट (कोढ़) एक रोग, जिसकी गणना संसार के प्राचीनतम ज्ञात रोगों में की जाती है। इसका उल्लेख चरक और सुश्रुत ने अपने ग्रंथो मे किया है। उत्तर साइबेरिया को छोड़कर संसार का कोई भाग ऐसा नही था जहाँ यह रोग न रहा हो। किंतु अब ठंडे जलवायु वाले प्रायः सभी देशों से इस रोग का उन्मूलन किया जा चुका है। यह अब अधिकांशतः कर्क रेखा (Tropic of Cancer) से लगे गर्म देशों के उत्तरी और दक्षिणी पट्टी में ही सीमित है और उत्तरी भाग की अपेक्षा दक्षिणी भाग मे अधिक है। भारत, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका में यह रोग अधिक व्यापक है। अभी हाल के अनुमानित आँकड़ों के अनुसार संसार में लगभग डेढ़ करोड़ रोगी इस रोग से पीड़ित हैं। इनमें भारतीयों की संख्या लगभग तीस लाख है। भारत में यह रोग उत्तर की अपेक्षा दक्षिण मे अधिक है। उड़ीसा, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु और दक्षिण महाराष्ट्र में यह क्षेत्रीय रोग सरीखा है। उत्तर भारत में यह हिमालय की तराई में ही अधिक देखने मे आता है।

यह रोग संक्रामक है। यह रोग सामान्यतः गंदगी में रहनेवाले और समुचित भोजन के अभाव से ग्रस्त लोगो मे ही होता है; किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वच्छ और समृद्धिपूर्ण जीवन बितानेवाले वकील, व्यापारी, अध्यापक आदि इस रोग से सर्वथा मुक्त हैं। वे लोग भी इस रोग से ग्रसित पाए जाते हैं।

इस रोग का कारण माइक्रो बैक्टीरियम लेप्रे नामक जीवाणु (बैक्टीरिया) का त्वचा में प्रवेश समझा जाता है। इन जीवाणुओं की खोज लगभग सौ वर्ष पूर्व हैनसेन नामक एक नार्वेजियन ने डेनमार्क के एक अनुसंधानशाला मे की थी। इस अनुसंधान के फलस्वरूप आगे चलकर यह बात ज्ञात हुई कि ये जीवाणु क्षयरोग के जीवाणु की जाति के हैं और जो औषधियाँ क्षयरोग की चिकित्सा मे सफल हैं, उनमें से अधिकांश इस रोग के जीवाणुओं को भी नष्ट करने मे सक्षम हैं; किंतु ये जीवाणु किस प्रकार शरीर में प्रवेश करते हैं, अभी स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं हो पाया है। इस समय इस बात के जानने की चेष्टा की जा रही है कि कहीं ये जीवाणु भोजन अथवा साँस के साथ तो शरीर में प्रवेश नहीं करते। इनका प्रवेश जिस प्रकार भी होता हो, बच्चों में इसका संक्रमण अधिक होता है और बहुधा रोगग्रस्त के दीर्घकालिक संसर्ग से ही इसका संक्रमण होता है।

आयुर्वेद के अनुसार कुष्ट चौदह प्रकार के कहे गए हैं और उसके अंतर्गत त्वचा के श्वेत रूप धारण करने को भी कुष्ट कहा गया है। किंतु आधुनिक विज्ञान उसे कुष्ट से भिन्न मानता है। कुष्ट सामान्यतः तीन प्रकार का ही होता है :

(१) तंत्रिका कुष्ट (Nerve leprosy)---इसमें शरीर के एक अथवा अनेक अवयवों की संवेदनशीलता समाप्त हो जाती है। सुई चुभोने पर भी मनुष्य किसी प्रकार का कोई कष्ट अनुभव नही करता।

(२) ग्रंथि कुष्ट (Lapromatus leprosy)---इसमें शरीर के किसी भी भाग मे त्वचा से भिन्न रंग के धब्बे या चकत्ते पड़ जाते हैं अथवा शरीर में गाँठें निकल आती है।

(३) मिश्रित कुष्ट---इसमें शरीर के अवयवों की संवेदनशीलता समाप्त होने के साथ साथ त्वचा में चकत्ते भी पड़ते हैं और गाँठें भी निकलती हैं।

इस रोग का संक्रमण किसी रोगी पर कब और किस प्रकार हुआ, सका निर्णय कर सकना संप्रति असंभव है। अन्य रोगों की तरह इसके सं [illegible] का तत्काल विस्फोट नहीं होता। उसकी गति इतनी मंद होती है कि संक्रमण के दो से पाँच वर्ष बाद ही रोग के लक्षण उभरते हैं और तब शरीर का कोई भाग संवेदनहीन हो जाता है अथवा त्वचा पर चकत्ते निकलते हैं या कान के पास अथवा शरीर के किसी अन्य भाग मे गाँठ पड़ जाती है। इससे रोगी को तत्काल किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं होता। फलत. लोग इसकी ओर तत्काल ध्यान नहीं देते। रोग उभरने के बाद भी वह अत्यंत मंद गति से बढ़ता है और पूर्ण रूप धारण करने में उसे चार पाँच बरस और लग जाते हैं। रोग के विकसित हो जाने के बाद भी रोगी सामान्यतः अपने को इस रोग से ग्रसित होने की कल्पना नहीं कर पाता। वह इस अवस्था मे आलस्य, थकान, कार्य करने की क्षमता में कमी, गर्मी और धूप बर्दाश्त न हो सकने की ही शिकायत करता है। जब यह रोग और अधिक बढ़ता है तो धीरे धीरे मांसमज्जा क्षय (ड्राइ अब्सार्प्शन) होने लगता है। जब वह हड्डी तक पहुँच जाता है तो हड्डी भी गलने लगती है और वह गलित कुष्ट का रूप धारण कर लेता है। कभी जब संवेदनाशून्य स्थान मे कोई चोट लग जाती है अथवा किसी प्रकार कट जाता है तो मनुष्य उसका अनुभव नही कर पाता; इस प्रकार वह उपेक्षित रह जाता है। इस प्रकार अनजाने ही वह व्रण का रूप धारण कर लेता है जो कालांतर मे गलित कुष्ट मे परिवर्तित हो जाता है।

इस रोग के संबंध मे लोगों मे यह गलत धारणा है कि यह असाध्य है। गलित कुष्ट की वीभत्सता से समाज इतना आक्रांत है कि लोग कुष्ट के रोगी को घृणा की दृष्टि से देखते है और उसकी समुचित चिकित्सा नहीं की जाती और उसके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है। वास्तविकता यह है कि कुष्ट रोग से कहीं अधिक भयानक यक्ष्मा, हैजा और डिप्थीरिया है। यदि लक्षण प्रकट होते ही कुष्ट रोग का उपचार आरंभ कर दिया जाय तो इस रोग से मुक्त होना निश्चित है। मनुष्य स्वस्थ होकर अपना सारा कार्य पूर्ववत् कर सकता है।

इस प्रकार कुष्ट रोग होने के साथ साथ एक सामाजिक समस्या भी है। उपेक्षित रोगी जीवन से निराश होकर प्रायः वाराणसी आदि तीर्थों एवं अन्य स्थानों पर चले जाते है जहाँ उन्हें रहने को स्थान और खाने को भोजन आसानी से मिल जाता है। वहाँ वे भिक्षुक बनकर घूमते हे। अतः चिकित्सा व्यवस्था के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि समाज में कुष्ट के रोगी के प्रति घृणा के भाव दूर हों।

आयुर्वेद में कुष्ट रोग की चिकित्सा के लिये मुख्यतः खदिर और बावची का उपयोग होता है। सुश्रुत में इसके लिये भल्लक तेल का उपयोग बताया गया है। चालमोगरा का तेल खाने और लगाने का भी विधान है। चालमोगरा के तेल का प्रयोग इस रोग में आधुनिक चिकित्सक भी करते है। इथाइल, एस्टर, प्रोमीन, डैप्सान, सल्फाट्रोन, आइसोनेक्स और स्ट्रेप्टोमाइसीन इस रोग की मुख्य औषधियाँ हैं।

(भो० ना०)

कुष्मांड या कूष्मांड एक लता जिसका फल पेठा, भतुआ, कोंहड़ा आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। इसका लैटिन नाम बेनिनकेसा हिस्पिडा (Benincasa hispida) है।

यह लता वार्षिकी, कठिन श्वेत रोमों से आवृत ५-६ इंच व्यास के पत्तों वाली होती है। पुष्प के साथ अंडाकार फल लगते हैं। कच्चा फल हरा, पर पकने पर श्वेत, बृहदाकार होता है। यह वर्षा के प्रारंभ मे बोया जाता है। शिशिर में फल पकता है। बीज चिपटे होते हैं। इसके एक भेद को क्षेत्रकुष्मांड या कोहड़ा कहते है, जो कच्ची अवस्था में हरा, पर पकने पर पीला हो जाता है।

कुष्मांड खेतों मे बोया जाता अथवा छप्पर पर लता के रूप मे चढ़ाया जाता है। कुष्माड भारत मे सर्वत्र उपजता है। आयुर्वेद में यह लघु, स्निग्ध, मधुर, शीतवीर्य, वात, पित्त, क्षय, अपस्मार, रक्तपित्त और उन्मादनाशक, बलदायक, मूत्रजनक, निद्राकर, तृष्णाशामक और बीज कृमिनाशक आदि कहा गया है। इसके सभी भाग---फल, रस, बीज, त्वक्, पत्र, मूल, डंठल---तैल औषधियों तथा अन्य कामों में प्रयुक्त होते हैं।

इसके मुरब्बे, पाक, अवलेह, ठंढाई, घृत आदि बनते है। इसके फल

में जल के अतिरिक्त स्टार्च, क्षार तत्व, प्रोटीन, मायोसीन (Myosin) शर्करा, तिक्त राल आदि रहते हैं। (रा० द० शा०)

कुष्माड के फलों के खाद्य अंश के विश्लेषण से प्राप्त आँकड़े इस प्रकार हैं—आर्द्रता ९४.८, प्रोटीन ०.५, वसा (ईथर निष्कर्ष) ०.१; कार्बोहाइड्रेट ४.३; खनिज पदार्थ ०.३; कैल्सियम ०.१; फास्फोरस ०.३%; लोहा ०.६ मिग्रा०/१०० ग्रा०; विटामिन सी, १८ मिग्रा०/१०० ग्रा०।

कुम्हड़ा के बीजो का उपयोग खाद्य पदार्थो के रूप मे किया जाता है। इसके ताजे बीज कृमिनाशक होते हैं। इसलिये इसके बीजो का उपयोग ओषधि के रूप मे होता है। (नि० मि०)

कुसुम यह सीधी एकवर्षीय बूटी है जो रबी की फसल के साथ खेतों मे बीजों या फलो के लिये बोई जाती है। उत्तर भारत के किसान इसे प्राय. 'बर्रे' के नाम से जानते हैं। लैटिन मे इसका नाम कार्येसम टिक्टोरियस है। विभिन्न भाषाओं मे इसके भिन्न भिन्न नाम हैं। संस्कृत—कुसुम्भ., कुक्कुटशिखम्, वह्निशिखम्, वस्त्ररञ्जनम्, हिंदी—कुसुम, बर्रे, बगला—कुसुम, गुजराती—कुसुम्बो; मराठी—करडई, अंग्रेजी—सैफ्फलावर (Safflower)।

कुसुम का पौधा कँटीला तथा लगभग ४–५ फुट ऊँचा होता है। पत्ते लंब तथा ऊपर की ओर आधार से अधिक चौड़े होते हैं तथा तने एवं शाखा के जोड़ पर और शाखा पर निकलते हैं। पत्तियों का किनारा दंतित या बहुश. क्षुद्र कँटीली रचनाओं से व्याप्त होते हैं। तना और शाखाएँ छोटे और अपरिपक्व पौधे की हरी तथा पक्व एवं पुष्ट पौधे की सफेद दिखाई पड़ती हैं। फूट कँटीले तथा रक्तवर्ण के होते हैं। फलकोष कँटीला तथा फूलो के निचले भाग मे होता है। इसके भीतर बीज भरे होते हैं। बीज आकृति में शंखवाकार, कुछ कुछ चौड़े और चौपहल, चिकने तथा सफेद होते हैं। बीज के ऊपर का छिलका तथा भीतर की मींगी सफेद होती है। ये जितने पुराने पड़ते जाते हैं उतना ही छिलका स्याह पड़ता जाता है और अंत में ये काले पड़ जाते हैं। सफेद, नया, भारी और मोटा बीज उत्तम होता है तथा तेल निकालने के लिये प्रयुक्त होता है। इसके तेल का उपयोग खाद्य सामग्रियों तथा अन्य विविध कार्यों मे किया जाता है।

जगली कुसुम का पौधा ग्राम्य कुसुम के पौधे से ऊँचा होता है तथा इसकी पत्तियाँ भी बड़ी होती हैं। ग्राम्य कुसुम की तरह इसकी पत्तियाँ भी कँटीली होती है तथा शाखामूल से निकलती हैं। शेष शाखा पत्र शून्य तथा सफेद होती हैं। शाखामूल में पाँच काँटे होते हैं। फूल पीला तथा बीज ग्राम्य कुसुम की तरह होता है।

कुसुम का शाक मधुर, मूत्रदोषघ्न, दृष्टि प्रमादक, रुचिकारक और अग्निवर्धक है। इसका पत्र मधुर, नेत्ररोग नाशक, अग्निदीपक, अम्लपाकी, गुदा रोगकारक एवं गुरुपाकी है और पुष्प सुस्वादु, मेदक, त्रिदोषघ्न, रूक्ष, उष्ण, पित्तकारक, लघुपाकी तथा कफनाशक है। कुसुम का बीज कटुपाकी तथा शुक्र और दृष्टिनाशक है और उसका तैल कृमिघ्न, बल तथा तेजवर्धक राजयक्ष्मानाशक, त्रिदोषकारक, मलघ्न तथा बलक्षयकारक माना जाता है। पुष्प का प्रयोग वस्त्रों को रँगने के लिये भी किया जाता है।

जगली कुसुम कफवर्धक तथा कामोद्दीपक है और क्षुधा की वृद्धि करता है। (ग० प्र० मि०)

कुस्कोक्विम १. पश्चिमी अलास्का की प्रसिद्ध नदी है, जो अलास्का श्रेणी की पश्चिमी ढालो पर चार शाखाओं मे निकलती है, जिन्हें क्रमश. उत्तरी फॉर्क, पूर्वी फॉर्क, दक्षिणी फॉर्क तथा पश्चिमी फॉर्क कहते हैं। उत्तरी, पूर्वी और दक्षिणी फॉर्क मेडफ्रा (Medfra) (६३°६' उ० अ० और १५४°४३' प० दे०) मे संगम बनाते हैं; इसके संगम से ११ मील बाद पश्चिमी फॉर्क इस संयुक्त धारा से मिलता है। इस बाद नदी मकग्राथ (Mcgrath), स्लीटम्यूट (Sleetmute), नैपाम्यूट (Napamute) एक्याअक (Akiak) होते हुए बेरिंग सागर के कुस्कोक्विम खाड़ी मे, जिसका मुख १०० मील लंबा और १०० मील चौड़ा है, गिरती है। नदी की लंबाई लगभग ६०० मील है तथा मकग्राथ तक यह नाव चलाने योग्य है।

२. दक्षिणीपश्चिमी अलास्का में अलास्का श्रेणी के पश्चिम स्थित लगभग २५० मील तक फैली पर्वतशृंखला। इसका प्रसार ६१° उ० अ० से ६४° उ० अ० तक और १५५° प० दे० से १५९° प० दे० तक है। इसकी औसत ऊँचाई ४,००० फुट है। (कृ० मो० गु०)

कुस्तुंतुनिया (कास्टैंटिनोपुल) (४१° ०' उ० अ० दे० और २८°५८' पू० दे०)। तुर्की देश का प्रसिद्ध नगर। यह बासफोरस जलसयोजक और मारमरा सागर के संगम पर स्थित है। इस नगर की स्थापना रोमन सम्राट् कास्टैंटाइन महान् ने ३२८ ई० में प्राचीन नगर बाईज़ैंटियम को विस्तृत रूप देकर की थी। नवीन रोमन साम्राज्य की राजधानी के रूप मे इसका आरंभ ११ मई, ३३० ई० को हुआ था। यह नगर भी रोम के समान ही सात पहाड़ियों के बीच एक त्रिभुजाकार पहाड़ी प्रायद्वीप पर स्थित है और पश्चिमी भाग को छोड़कर लगभग सब ओर जल से घिरा है। इस सागर और काला सागर के मध्य स्थित वृहत् जलमार्ग पर होने के कारण इस नगर की स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण रही है। प्रकृति ने दुर्ग का रूप देकर उसे व्यापारिक, राजनीतिक और युद्धकालिक दृष्टिकोणों से एक महान् साम्राज्य की सुदृढ और शक्तिशाली राजधानी के अनुरूप बनने में पूर्ण योग दिया था और निरंतर सोलह शताब्दियों तक एक महान् साम्राज्य की राजधानी के रूप में इसकी ख्याति बनी हुई थी।

अब यह नगर प्रशासन की दृष्टि से तीन भागो मे विभक्त हो गया है—इस्तांबुल, पेरा-गलाटा और स्कूतारी। इसमे से प्रथम दो यूरोपीय भाग मे स्थित है जिन्हें बासफोरस की ५०० गज चौड़ी गोल्डेन हॉर्न नामक सँकरी शाखा पृथक् करती है। स्कूतारी तुर्की के एशियाई भाग पर बासफोरस के पूर्वी तट पर स्थित है। यहाँ के उद्योगों मे चमड़ा, शस्त्र, इत्र और सोनाचाँदी का काम महत्वपूर्ण है। समुद्री व्यापार की दृष्टि से यह अत्युत्तम बंदरगाह माना जाता है। गोल्डेन हॉर्न की गहराई बड़े जहाजों के आवागमन के लिये भी उपयुक्त है और यह आँधी, तूफान इत्यादि मे पूर्णतया सुरक्षित है। आयात की जानेवाली वस्तुएँ मक्का, लोहा, लकड़ी, सूती, ऊनी और रेशमी कपड़े, घड़ियाँ, कहवा, चीनी, मिर्च, मसाले इत्यादि हैं; और निर्यात की वस्तुओं मे रेशम का सामान, दरियाँ, चमड़ा, ऊन आदि मुख्य हैं। (रा० ना० मा०)

कूंडला गुजरात मे काठियावाड़ के भावनगर जिले मे स्थित एक नगर (२१°२१' उ० अ० और ७१°२५' ५" पू० दे०)। इस नगर के आसपास का क्षेत्र अत्यत उपजाऊ है, अत. इस नगर का विकास व्यापारिक मंडी के रूप में हुआ है। सिंचाई की सुविधा और उर्वर मिट्टी के कारण जाड़े मे अच्छी फसलें होती हैं। आसपास उत्तम कपास पैदा होने के कारण यहाँ सूती वस्त्र बनाने के कारखाने हैं। यहाँ घोड़े की सवारी के लिये काठी और साज बनाए जाते हैं। (कृ० मो० गु०)

कूका एक सिख संप्रदाय जिसे नामधारी भी कहते हैं। इस संप्रदाय की स्थापना रामसिंह नामक एक लुहार ने की थी जिसका जन्म १८२४ ई० मे लुधियाना जिले के भैणी नामक ग्राम में हुआ था। उन दिनों सिख धर्म का जो प्रचलित रूप था वह रामसिंह को मान्य न था। गुरु नानक के समय जो धर्म का स्वरूप था उसे पुन: प्रतिष्ठित करने के निमित्त वे लोकप्रचलित सामाजिक एवं धार्मिक आचार विचार की कटु आलोचना करने लगे। धीरे धीरे उनके विचारो से सहमत होनेवाले लोगों का एक संप्रदाय बन गया।

इस धार्मिक संप्रदाय ने आगे चलकर एक क्रांतिकारी राष्ट्रीय दल का रूप धारण कर लिया। महाराष्ट्र के संत रामदास ने महाराष्ट्र मे स्वतंत्रता के मंत्र फूँके थे, कुछ उसी तरह का कार्य रामसिंह ने भी किया; और १८६४ ई० मे उन्होंने अपने अनुयायियों को ब्रिटिश सरकार से असहयोग करने का आदेश दिया। इस आदेश के फलस्वरूप इस संप्रदाय ने पंजाब में स्वतंत्र शासन स्थापित करने का प्रयास किया। तब सरकार

ने इसपर कठोर प्रतिबंध लगा दिया। रामसिंह और उनके अनुयायियों ने गुप्त रूप से कार्य करना आरंभ किया। गुप्त रूप से शस्त्रास्त्र एकत्र करना और सैनिकों को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध उभारने का काम किया जाने लगा। इस प्रकार वे लोग पाँच वर्ष तक गुप्त रूप से कार्य करते रहे। १८७२ ई० में एक जगह मुसलमानों ने गोवध करना चाहा। कूकापंथियों ने उसका विरोध किया। दोनों दलों के बीच गहरा संघर्ष हुआ। ब्रिटिश सरकार ने रामसिंह को गिरफ्तार कर ब्रह्मदेश भेज दिया जहाँ १८८५ ई० में उनका निधन हुआ। इसके बाद कूकापंथ का विद्रोहात्मक रूप समाप्त हो गया किंतु धार्मिक संप्रदाय के रूप में पंजाब में आज भी लोहार, जाट आदि अनेक लोगों के बीच इसका महत्व बना हुआ है।

(प० ला० गु०)

कूकेनाम दक्षिणी अमरीका के उत्तर में गुयाना (Guyana) तथा वेनिज्वीला (Veneguela) की सीमा पर रोरैमा (Rartima) के पास का एक पर्वत जिसकी ऊँचाई ८,६२० फुट है। २,००० फुट की ऊँचाई से गिरनेवाला एक मनोरम प्रपात अनेक दर्शकों को इस पर्वत की ओर आकृष्ट करता है। (भ० दा० व०)

कूचबिहार बंगाल का एक जिला (२५° ५७′ ४०″ उ० अ० से २६° ३२′ २०″ उ० अ०; ८८° ४७′ ४०″ से ८९° ५४′ ३५″ पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल ३,३८६ वर्ग किलोमीटर और जनसंख्या १४,१४,१८३ (१९७१ ई०) है। इसके पूर्व में असम तथा दक्षिण में पूर्वी पाकिस्तान है। यह ब्रह्मपुत्र और तिस्ता नदियों के बीच में त्रिभुजाकार मैदान है जिसमें अनेक छोटी छोटी नदियाँ बहती हैं। कुछ में छोटी नावें चलाई जा सकती हैं और कुछ ऐसी भी हैं जो वर्षा के बाद सूख जाती हैं। ये सभी नदियाँ ब्रह्मपुत्र में मिलती हैं। प्राचीन काल में कूचबिहार कामरूप का एक भाग था। वह पंद्रहवीं शती में कामतापुर के अधीन था। १६वीं शताब्दी में कोच-नरेश राजा विश्वसिंह का अधिकार हो गया। विश्वसिंह के पुत्र नरनारायण ने आसपास के देशों को जीतकर राज्य की वृद्धि की थी। उसके पुत्र ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और वे अंत तक उनके अधीन रहे। जब १७७२ ई० में भूटानियों ने उस देश पर आक्रमण किया तो वहाँ के राजा ने अंग्रेजों से सहायता ली। अंगरेजों ने भूटानियों को तो मार भगाया पर कूचबिहार को ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन बना लिया। राज्य की आधी आय अंग्रेजों को मिलने लगी और उनका प्रतिनिधि वहाँ रहने लगा था। अंग्रेजों के चले जाने के बाद वहाँ के राजा की सत्ता समाप्त हो गई।

यहाँ की कृषियोग्य भूमि के ३।४ भाग में चावल की खेती होती है। शेष भागों में गेहूँ, मक्का, बाजरा, मकई, जूट या पटसन और तंबाकू उपजाया जाता है। मछली का व्यापार भी महत्व का है। फल और बाँस भी उपजते हैं। असम के निकट के कुछ भाग जंगली हैं।

(कृ० मो० गु०; प० ला० गु०)

कू क्लक्स क्लैन अमरीका में दक्षिण के हब्शियों को दासता से मुक्ति मिलने पर अवैधानिक उपाय से अपनी श्रेष्ठता बनाए रखने के उद्देश्य से गोरों द्वारा स्थापित एक संस्था। यद्यपि कू क्लक्स क्लैन एक संस्था का नाम है, किंतु वस्तुतः वह एक ऐतिहासिक आंदोलन रहा है।

कू क्लक्स क्लैन ग्रीक शब्द कू क्लक्स (अर्थात् पट्टी या वृत्त से) संबद्ध है। १८६५ ई० में टेनेसी के पुलस्की नामक स्थान में इस संस्था के पहले अधिवेशन में इसका नाम कू क्लड रखने का प्रस्ताव उपस्थित किया गया था; किंतु लोगों को यह शब्द कुछ कमजोर जान पड़ा, इसलिये कू क्लक्स नाम रखने का संशोधन उपस्थित हुआ और वह संशोधन स्वीकार किया गया। इसके साथ ही अनुप्रास के कारण उसमें गोत्रार्थवाचक क्लैन शब्द भी जोड़ दिया गया।

कहा जाता है कि आरंभ में यह एक निर्दोष और केवल मनोविनोद की थी, पर उत्तर से बहुत से राजनीतिज्ञ और व्यापारी दक्षिण में आए और उनके प्रभाव से इस संस्था का रंग बदल गया। कू क्लक्स क्लैन एक ऐसी संस्था बन गई जिसका कार्य हब्शियों को डरा धमकाकर गोरों के मतानुसार चलने को बाध्य करना है। इस संस्था ने अपने इस कर्तव्यसंपादन के लिये कुछ उठा नहीं रखा और हब्शियों को जिंदा जला डालने से लेकर सब तरह के अकथ्य और अकल्पनीय अत्याचार किए।

इसके सदस्यों को विशेष प्रकार का वस्त्र पहनना और मुँह पर एक सफेद मुखौटा लगाना होता था। वे उस ढंग का हैट पहनते थे जिस ढंग का हैट मध्य युग में पुर्तगाल और स्पेन में विधर्मियों को जलाने के समय पहना करते थे। वे एक लंबा गाउन या लबादा पहनते थे, जिससे उनका सारा शरीर ढक जाता था। इस प्रकार सारी वेशभूषा ऐसी होती थी, जिससे वे ईसाई मत के अनुसार शैतान के सदृश जान पड़ें और हब्शियों के मन में आतंक का संचार हो।

यद्यपि इस संस्था की सदस्यसंख्या अधिक नहीं थी, तथापि अमरीकी समाज पर इसका बहुत भारी प्रभाव था। उन लोगों ने इतनी अराजकता फैला रखी थी कि १८७१ में राष्ट्रपति ग्रांट को कांग्रेस के पास विशेष संदेश भेजकर कहना पड़ा कि इस संस्था के सदस्यों के कारण संयुक्त राष्ट्र की जनता के एक वर्ग तथा अधिकारियों की स्थिति खतरे में पड़ गई है अतः उसके रोकने के लिये कानून पारित किया जाय। इसपर जाँचकर १४वें संशोधन की रक्षा करने के लिये कांग्रेस ने 'फ़ोर्स बिल' नामक कानून बनाया। उसी वर्ष अक्तूबर में राष्ट्रपति ने आदेश जारीकर अवैधानिक संस्थाओं के सदस्यों को आत्मसमर्पण करने और हथियार डाल देने के लिये कहा। इसके पाँच दिन बाद दक्षिण कैरोलिना की नौ काउंटियों में बंदियों की मुक्ति के लिये याचिका प्रस्तुत करने की सुविधा स्थगित करने की आज्ञा दी गई; और तब कू क्लक्स क्लैन के कई सौ सदस्य गिरफ्तार किए गए और धीरे धीरे उनका आंदोलन समाप्त हो गया।

इस संस्था से भिन्न किंतु इसी नाम से एक दूसरी संस्था १९१५ में विलियम जोसेफ सिमन्स ने अटलांटा में स्थापित की। इसका उद्देश्य गोरों की श्रेष्ठता बनाए रखना था। इस संस्था ने हब्शियों को ही नहीं, यहूदियों, रोमन कैथोलिकों और अमरीका से बाहर पैदा हुए प्रोटेस्टेंट लोगों को भी अपनी परिधि से दूर रखा। १९२० में एडवर्ड यंग क्लार्क नामक एक पत्रकार ने इसको सुसंगठित कर दक्षिण के अतिरिक्त मध्य और प्रशांत महासागर के तटवर्ती प्रदेशों तक फैलाया। १९२६ तक इसकी २००० शाखाएँ हो गई थीं। राजनीतिक दल के रूप में उसने इतनी शक्ति प्राप्त कर ली कि उसके कितने ही सदस्य अनेक राज्यों में अधिकारी और कांग्रेस के सदस्य निर्वाचित हो गए। इस संस्था के लोगों ने अश्वेत लोगों पर बहुत अत्याचार किए। उसे रोकने के लिये राज्य सरकार ने फिर कानून बनाकर चेहरा उतारकर चलना अनिवार्य बना दिया। क्लैन के अनेक अधिकारियों के चारित्रिक भ्रष्टाचार का भंडाफोड़ हुआ और इंडियाना के गवर्नर तथा इंडियाना पोलिस के मेयर पर मुकदमा चला और उन्हें सजा मिली। फलस्वरूप इस संस्था का प्रभाव बहुत घट गया। यह संस्था यद्यपि शक्तिशाली नहीं रही पर मरी नहीं है। अब भी जब तब छद्म वेशधारी लोगों के द्वारा, जो इस संस्था के सदस्य समझे जाते हैं, सार्वजनिक रूप से हब्शियों को जलाने की घटनाएँ होती रहती हैं।

सं०ग्रं०—एंसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना। (म० ना० गु०)

कूटस्थ भारतीय दर्शन में आत्मा, पुरुष, ब्रह्म तथा ईश्वर के लिये प्रयुक्त शब्द। यह परम सत्ता के स्वरूप को व्यक्त करता है। कूटस्थ का अर्थ है कूट का अधिष्ठान अथवा आधार। जो वस्तु ऊपर से अच्छी प्रतीत होती है किंतु अंदर से दोषपूर्ण है, उसे कूट कहते हैं। दर्शन में कूट शब्द माया अथवा प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुआ है; माया जीवों के जन्म, मरण, अज्ञान, दुःख आदि का कारण होने से अनेक दोषों से परिपूर्ण है। माया का अधिष्ठान होने के कारण आत्मा, ब्रह्म अथवा ईश्वर कूटस्थ कहे गए हैं। कूटस्थ का एक दूसरा अर्थ यह भी है कि जो राशि अथवा ढेर की भाँति निष्क्रिय रूप से स्थित हो। माया आदि अनेक प्रकार से स्थित होने के कारण ब्रह्म कूटस्थ कहलाता है।

कूटस्थ होने के कारण ब्रह्म अचल और नित्य है। वह सदा एक रूप में रहनेवाला पारमार्थिक तत्व है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म में परिणाम

अथवा परिवर्तन संभव नहीं है क्योंकि वह कूटस्थ है। वह विना परिवर्तित हुए ही अपनी माया शक्ति द्वारा जगत् आदि अनेक रूपों में व्यक्त होता है। संसार के सब पदार्थ देशकाल से सीमित तथा कारणसिद्धांत से नियंत्रित होते हैं, किंतु कूटस्थ ब्रह्म इनसे पूर्णरूप से स्वतंत्र है। वह समस्त विश्व को व्याप्त करता है किंतु उससे पर भी है। प्रकृति से उत्पन्न सभी पदार्थ क्षर तथा नश्वर हैं किंतु कूटस्थ ब्रह्म अक्षर अथवा अविनाशी है। वह शुद्ध चेतन है। वह केवल ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं। इंद्रिय, वाणी, मन तथा बुद्धि के द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि वह इन सबका आधार है। उसी की चेतना के प्रकाश से ये सब भी प्रकाशित होते हैं। भगवद्गीता के अनुसार आत्मसाक्षात्कार होने से योगी कूटस्थ और जितेंद्रिय हो जाता है। जीवन के द्वंद्व उसे उस अवस्था मे प्रभावित नहीं कर पाते। वह कर्मबंधन से सर्वथा मुक्त हो जाता है तथा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। (र० शं० मि०)

कूटाक्षरी शब्द या शब्दसमूह में वर्णों का स्थानांतरण, श्लेष, संख्या आदि पर आधारित अर्थचातुर्य उत्पन्न करने की बौद्धिक क्रीड़ा। (कूट = रहस्यपूर्ण, गुप्त, वक्र, दीक्षागम्य आदि)।

कूटाक्षरी पर आधारित कूट श्लोकों का प्रथम प्रयोग महाभारत में प्राप्त होता है। अनुश्रुति है, महाभारत की रचना के समय व्यास को ऐसे लिपिक की आवश्यकता हुई जो उनके शब्दों को लिपिबद्ध कर सके। यह कार्यभार गणेश ने स्वीकार किया, किंतु इस शर्त के साथ कि व्यास निर्बाध रूप में बोलते रहें। महाभारत जैसे महाकाय और गंभीर ग्रंथ की रचना में व्यास जैसे सिद्ध कवि को भी कभी कभी रुककर चिंतन की आवश्यकता थी। इसके लिये समय निकालने के लिये उन्होंने गणेश से कहा कि वे निर्बाध तो बोलेंगे किंतु गणेश को भी कोई बात विना समझे नहीं लिखनी होगी। इसे गणेश ने मान लिया। तदनुसार चिंतन के क्षणों में गणेश को अटकाए रखने के लिये व्यास ने स्थान स्थान पर कूट श्लोकों की रचना की है। जिनकी क्षणिक बौद्धिक क्रीड़ा के बाद कथासूत्र फिर गंभीरता के साथ आगे बढ़ता था। व्यास के कूट श्लोक का एक उदाहरण :

केशवं पतितं दृष्ट्वा द्रोणो हर्षमुपागतः।
रुदंति कौरवाः सर्वे हा हा केशव केशव॥

श्लोक का सामान्य अर्थ है : कृष्ण को गिरा हुआ देखकर द्रोण को बहुत हर्ष प्राप्त हुआ। सारे कौरव हा केशव! हा केशव! कहकर रोने लगे। किंतु इसका कूटार्थ है जल में (के) शव गिरा हुआ देखकर कौवे (द्रोण) बहुत प्रसन्न हुए। सारे कौरव (गीदड़) हा जल में शव! (के + शव) हा जल में शव! कह रोने लगे।

हिंदी साहित्य मे सूरदास के कूट पद काफी प्रसिद्ध हैं। उसका एक उदाहरण है—

कहत कत परदेसी की बात।
मंदिर अरध अवधि बदि गए हरि अहार टरि जात॥
ससिरिपु वरष सूररिपु युग वर हररिपु किए फिरै घात।
मघपंचक लै गए स्यामघन आय बनी यह बात॥
नखत वेद ग्रह जोरि अर्ध करि को वरजै हम खात।
सूरदास प्रभु तुमहि मिलन को कर मीड़ति पछिताता॥

इसमें दूसरी पंक्ति से लेकर पाँचवी पंक्ति तक कूट का प्रयोग हुआ है। (मंदिर अरध=घर का मध्य भाग, पाख अर्थात् एक पक्ष; हरि अहार=शेर का भोजन, मांस अर्थात् एक माह; ससिरिपु = चंद्रमा का शत्रु अर्थात् दिन; सुररिपु=सूर्य का शत्रु अर्थात् रावि; मघपंचक=मघा नक्षत्र से पाँचवाँ नक्षत्र, चित्रा अर्थात् चित्त; नखत वेद ग्रह जोरि अर्ध करि= $\frac{२७ + ४ + ९}{२}$ = २०, बीस अर्थात् विष)

इसी प्रकार प्राचीन कवि प्रायः अपने ग्रंथों की रचनातिथि को कूट द्वारा व्यक्त करते थे। यथा—

कर नभ रस अरु आतमा संवत फागुन मास।
सुकुल पच्छ तिथि चौथ रवि जेहि दिन ग्रंथ प्रकास॥

इसमें ग्रंथरचना का संवत् १९०२ है। कर=हाथ (२); नभ=आकाश या शून्य (०); रस=काव्यरस (९); आत्मा (१)। इस प्रकार २०९१ संख्या प्राप्त होती है। 'अंकाना वामतो गतिः' के नियमानुसार वास्तव में इसे उलटकर १९०२ पढ़ा जायगा। इस प्रकार की तिथियों का उल्लेख प्राचीन अभिलेखों मे भी पाया जाता है।

वस्तुओं द्वारा संख्याओं को व्यक्त करने की परंपरा हिंदी के प्राचीन कवियों मे पाई जाती है। उदाहरणार्थ : ० = आकाश; १ = पृथ्वी, चंद्र, आत्मा; २ = आँख, पक्ष, भुजाएँ, सर्पजिह्वा, नदीकूल, कान, पैर; ३ = गुण, राम, काल, अग्नि, शिवनेत्र, ताप आदि।

पश्चिम मे कूटाक्षरी का मुख्य प्रयोग 'ऐनाग्राम' के रूप मे हुआ। ऐनाग्राम ग्रीक भाषा का शब्द है : ऐना (पीछे का ओर या उलटा); ग्रामा (लेख)। ऐनाग्राम मे शब्द या समूह के वर्णों के स्थानांतरण द्वारा अन्य सार्थक शब्दों की रचना की जाती थी, यथा— Matrimony (विवाह) शब्द के वर्णों के स्थानांतरण से into my arm (मेरी भुजा में) शब्दसमूह की रचना। ऐनाग्राम का एक प्राचीन उदाहरण पाइलेट के इस प्रश्न Quid est veritas (सत्य क्या है?) का उत्तर Est vir qui adest (यह तुम्हारे संमुख खड़ा मनुष्य है) है। यूनान और रोम में लोग इस प्रकार की शब्दक्रीड़ा से मनोरंजन करते थे। इस तरह की क्रीड़ा यहूदियों, विशेषतः कवालों मे, प्रचलित थी। वे अपने दीक्षागम्य रहस्यों को वर्णों की विशेष संख्याओं के माध्यम से व्यक्त करते थे। मध्ययुगीन यूरोप में भी इसका व्यापक प्रचलन था।

ऐनाग्राम का प्रयोग लेखक अपने वास्तविक नामों के वर्णों के स्थानांतरण से उपनाम बनाने में भी करते रहे हैं। यूरोप के प्रारंभिक ज्योतिर्विद् अपनी खोजों की पुष्टि के पूर्व बहुधा उन्हें ऐनाग्राम के रूप मे गोपनीय रखते थे। ऐनाग्राम का एक अन्य रूप ऐसे शब्द की रचना है जिन्हें चाहे आगे से पीछे की ओर या पीछे से आगे की ओर पढ़ा जाय, शब्द मे कोई अंतर नहीं आता। उदाहरणार्थ: Levil tent आदि शब्द। आजकल ऐनाग्राम का वर्गपहेलियों के संकेतों के रूप में व्यापक प्रचलन है। (चं० व० सिं०)

कूनूर भारत के तमिलनाडु राज्य में नीलगिरि पर्वत की टाइगर रॉक नामक चोटी पर प्रायः ६१०० फुट की ऊँचाई पर बसा नगर। (स्थिति ११° २३' उ० अ० और ७६° ४७' पू० दे०)। जलवायु स्वास्थ्यवर्धक और प्राकृतिक दृश्य चित्ताकर्षक होने के कारण यहाँ पर्यटक आते हैं जिनके आवास के लिये उच्चकोटि के अनेक होटल और विश्रामघर बने है। मनोरंजन के लिये टेनिस, गोल्फ़, घुड़दौड़ आदि अनेक खेलों के मैदान भी हैं। इसके उत्तरपूर्व में प्रायः ७ मील पर सेंट कैथराइन नामक एक जलप्रपात है। वहाँ एक दूसरा भी जलप्रपात है। इन दोनों जलप्रपातों से जलविद्युत् उत्पन्न की जाती है। यहाँसे तीन मील दूर वेलिंग्टन नामक स्थान में एक सेनागार है और उसके समीप ही अरुवनकाडु में कार्डाइट का राजकीय कारखाना है।

इस स्थान के सौंदर्य की तुलना कुछ लोगों ने भूमध्यसागर के तट पर स्थित मांट कार्लो के कानिच नामक स्थान से की है। आसपास काफी के अनेक बगीचे हैं जहाँसे उत्कृष्ट कोटि की काफ़ी बाहर भेजी जाती है। (कृ० मो० गु०)

कूफ़ा ईराक में बगदाद से प्रायः ९० मील दक्खिन फरात नदी की शाहिंदिया शाखा के तीर पर बसा नगर। इसे ६३८ ई० में खलीफा उमर प्रथम ने बसाया था। उमैया और अब्बासी खलीफाओं के संरक्षण में वह नगर राजनीति, धर्मशास्त्र और संस्कृति का केंद्र बना। अरबी लिपि की प्रसिद्ध 'कूफ़ी' शैली कूफ़ा में ही विकसित हुई थी। सातवीं-आठवीं शती में यह नगर बसरा की भाँति ही समृद्ध था। (म० श० उ०)

कूवान दक्षिणी रूस की एक नदी जो काकेशस (Caucasus) पर्वत की सर्वोच्च चोटी एलब्रूस (Elbrus, १८,४७१ फुट) से निकलकर उत्तर तथा पश्चिम उत्तर की ओर प्रवाहित होती है। इसकी लंबाई लगभग ५५० मील तथा जलप्रवाह क्षेत्र २१,५०० वर्ग मील है। डेल्टाई क्षेत्र में इसकी अनेक शाखाएँ हो गई हैं जिनमें से दो अजोव सागर तथा एक काले सागर में गिरती है। इस नदी के पहाड़ी भागों में अनेक प्रपात हैं। उनके कारण जलविद्युत् विकास की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है। समतल क्षेत्र में यह नदी अपना मार्गपरिवर्तन करती है अत इसमें जहाज मुहाने से केवल ७५ मील की दूरी तक आते हैं। डेल्टाई क्षेत्र दलदली होने के कारण मलेरियाग्रस्त रहता है। दिसंबर से फरवरी तक वहाँ पानी जमा रहता है। इस नदी में प्रति वर्ष तीन बार बाढ़ आती है—वसंत तथा ग्रीष्म ऋतु में बर्फ पिघलने के कारण और शिशिर में वर्षा के कारण। बाढ़ से टमन का क्षेत्र विशेष क्षतिग्रस्त हो जाता है। इस नदी के किनारे क्रास्नोडर (Krasnodar) और चर्केस्क (Cherkessk) नामक दो प्रमुख नगर स्थित हैं।
(न० कि० सि०)

कूम (Kuvam या Cooum) तमिलनाडु राज्य के चिंगलपुत जिले की नदी (१३°१'३०"–१३°४'१०" उ० अ०, ७६°४८'–८०°१०' पू० दे०) जिसके तट पर मद्रास नगर स्थित है। यह नदी पुरानी बगारु धारा तथा कूम ग्राम (कांचीपुरम् तालुक, चिंगलपुत जिला) के एक सरोवर के अतिरिक्त जल के संयोग से बनकर कादमपुत्तुर, तिरुवल्लुर, वयानल्लुर, अवानवाक्कम् तथा सैदापेट तालुक के अनेक ग्रामों को सींचती हुई अतत. मद्रास नगर के मध्य से बहती हुई फोर्ट सेंट जार्ज के समीप बंगाल की खाड़ी में गिरता है। कोरात्तुर के निकट इसपर एक बाँध बाँधकर नई बगारु धारा से चेंबरवाकम् सरोवर की जलपूर्ति की जाती है। नदी के अंतिम भाग के प्रवाह में, वर्षा ऋतु को छोड़कर, निरंतर धारा नहीं रहती और मुहाने पर रेत जम जाने के कारण वह खारे लैगून झील में परिवर्तित हो जाती है।
(न० ला०)

कूमामोतो (३२°३९' उ० पू०, १३०°३८' पू० दे०) यह जापान के क्यूशू द्वीप के पश्चिम की ओर बहनेवाली शीरा नदी के दाहिने किनारे पर समुद्रतट से आठ किलोमीटर दूर स्थित एक नगर। वह कूमामोतो जिला तथा ह्योगो (Hiogo) प्रांत की राजधानी है तथा व्यापार एवं विद्या का केंद्र है। मीशूमी (Misumi) पत्तन, जो कूमामोतो एवं आशो (Aso) जिले का द्वार है, इस नगर के निकट ही दक्षिण पश्चिम में स्थित है। यह रेशमी वस्त्र उद्योग के लिये प्रसिद्ध है तथा समृद्ध 'हीरो' क्षेत्र के चावल का व्यापारिक केंद्र है। यहाँ फौजी छावनी भी है। द्वितीय महायुद्ध में यह नगर लगभग नष्ट हो गया था। सन् १९५३ ई० के भीषण बाढ़ में भी यह क्षतिग्रस्त हुआ। दोनों बार इस नगर का निर्माण नए ढंग से किया गया। सन् १९५४ में यहाँ बुद्ध भगवान् की स्मृति में ग्रेनाइट पत्थर की एक मीनार का निर्माण किया गया जो एशिया में अद्वितीय है। यहाँ १६वीं शताब्दी का एक विशाल दुर्ग है जो देखने योग्य है।
(न० कि० सि०)

कूमासी घाना राज्य के अशांती प्रांत की राजधानी एवं व्यापार का केंद्र (स्थिति–६°५०' उ० पू० तथा १°३६' पू० दे०)। इस नगर का नाम 'कूम-आसे' (Kum-ase) नामक वृक्षों के नाम पर पड़ा है जो यहाँके प्रमुख मार्गों के दोनों ओर लगे हैं। सन् १८७४ में अंग्रेजों के आक्रमण करने से पहले यह एक सुनियोजित नगर था। यहाँका राजप्रासाद लाल बलुए पत्थरों का बना था जो आक्रमण के कारण नष्ट हो गया। १८९६ ई० में अंग्रेजों ने इस नगर पर पुन आक्रमण किया तथा वहाँके राजा प्रेमपेह को निर्वासित कर दिया। यह सन् १९०१ में अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया था। १९५७ में घाना राज्य की स्थापना होने पर यह उसका अंग बन गया।

यह नगर गिनी की खाड़ी के तट पर स्थित तकोरदी एवं आक्रा से रेलमार्ग द्वारा जुड़ा है। इस नगर से १३० मील लंबी सड़क 'पामू' को जाती है जो अशांती की पश्चिमी सीमा पर स्थित है। कूमासी के निकट दक्षिण में सोने की खान है जिसका विकास सन् १८७९ ई० में किया गया था। २०वीं सदी के आरंभ में यातायात की सुविधा कोको का व्यापार तथा खानों के विकास के कारण यह नगर अशांती राज्य का व्यापारकेंद्र बन गया है। उत्तरी क्षेत्र के व्यापारी यहाँ भेड़, मक्खन तथा कच्चा चमड़ा पहुँचाते हैं और नमक, वस्त्र, मिट्टी का तेल और कोला (एक प्रकार की शराब) ले जाते हैं। यहाँका परिवहन अधिकतर सीरियन व्यापारियों के हाथ में है। किंग्स्वे (Kingsway) इस नगर का महत्वपूर्ण मार्ग है।
(न० कि० सि०)

कूरासाओ कैरीबियन सागर में वेनीजुइला तट से लगभग ५० मील उत्तर स्थित पश्चिमी द्वीपपुंज का एक द्वीप। हालैंड के अधीनस्थ इस क्षेत्र के छह द्वीपों में यह सबसे बड़ा है। इस द्वीप की खोज १४९९ ई० में होजेदा ने की थी। इसकी लंबाई लगभग ३५ मील तथा चौड़ाई छह मील है। इसका क्षेत्रफल ४४३ वर्ग किलोमीटर है। इसके चारों ओर मूंगे का चट्टान मिलती है। यहाँ १५" से २०" तक वर्षा होती है। वर्षा की कमी के कारण घाटियों में केवल मक्का, दलहन एवं सेम की खेती होती है। इस द्वीप का प्रमुख उद्योग पेट्रोल शुद्ध करना है जिसमें लगभग ३० से ४० प्रतिशत जनसंख्या लगी है। कच्चा तेल वेनीजुइला के माराकाबो क्षेत्र से आयात किया जाता है। कूरासाओ नामक लाक्षारस का निर्माण सर्वप्रथम यहीं हुआ जो संतरे के छिलके से तैयार किया जाता था। कूरासाओ का मुख्य निर्यात शुद्ध पेट्रोल (सन् १९५७ में १६,४५७,६६० किलोग्राम), नमक तथा फास्फेट है। विलेमस्टैड इसकी राजधानी है। सेंट अन्ना (St Anna) का प्रसिद्ध प्राकृतिक पत्तन इसके दक्षिणपश्चिम तट पर है।
(न० कि० सि०)

कूरीतीबा दक्षिणी ब्राजील में पराना राज्य की राजधानी एवं प्रमुख नगर (स्थिति—२५°२५' द० अ०, ४९°४५' पू० दे०)। इसकी स्थापना १६५४ ई० में हुई थी। यह ३,१२० फुट की ऊँचाई पर एक पठार पर स्थित है। इसकी जलवायु सम तथा आरोग्यवर्धक है। इस नगर के निकटवर्ती क्षेत्रों में कहवा, 'परानापाइन', चीनी, केला तथा 'अरबा मेट' नामक चाय आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिनके व्यापार का यह प्रमुख केंद्र है। इस क्षेत्र का प्रसिद्ध पत्तन पारानागुआ है, जो कूरीतीबा से केवल ६५ मील दूर है।
(न० कि० सि०)

कूरील द्वीपपुंज उत्तरी प्रशांत महासागर में ३२ द्वीपों की एक शृंखला जो कैमचैट्का प्रायद्वीप से जापान के होकैडो (Hokkaido) द्वीप तक फैली है। यह उत्तर में कुरील जलसंयोजक द्वारा कैमचैट्का से और दक्षिण में नेमूरो जलसंयोजक द्वारा होकैडो से तथा पश्चिम में ओखाट्स्क सागर द्वारा साइबेरिया से पृथक् है। कूरील द्वीपपुंज लगभग ६५० मील तक फैले हैं। इनका संपूर्ण क्षेत्रफल ३,९०० वर्गमील है। इसके बड़े द्वीपों के नाम [illegible]
(Shimushiro), उ[illegible]
शिकोटन (Shikotan) [illegible]
निर्माण ज्वालामुखियों के उद्गार द्वारा तुरीय (क्वाटरनरी) युग में हुआ था। यहाँ ४० ज्वालामुखी हैं जिनमें से २२ जाग्रतावस्था में हैं। कूरील द्वीपपुंज की सर्वोच्च चोटी 'ओयाकोवे डेक' की ऊँचाई ७,६५४ फुट है। कुनाशीरी शीमा में गंधक प्राप्त होता है।

इस द्वीपपुंज की जलवायु अति शीतल है। इसके पूर्व में 'ओयाशीवो' नामक ठंढी जलधारा प्रवाहित होती है। यहाँ शीतकाल में अनेक बर्फीले तूफान आते हैं तथा अक्टूबर से अप्रैल तक तुषारपात होता है। इन द्वीपों के निकट संसार का एक प्रसिद्ध मत्स्यक्षेत्र है जहाँ स्नेहमीन (कॉड), महापृथुमीन (हेलीबट), बहुला (हेरिंग), सारडिन आदि मछलियाँ पकड़ी जाती हैं। पहले यह द्वीपपुंज सागर उद्र तथा सील के रोएँ के लिये प्रसिद्ध था, किंतु अब यहाँ केवल सागरशेर (Sea lion) तथा ह्वेल पाए जाते हैं।

इसका अन्वेषण १६४३ ई० में मार्टिन गेरीट्सजून वराइस (Macrten Gerritszoon Vries) नामक एक डच नाविक ने किया था। जब रूसी लोगों को इस द्वीप के विषय में पता चला तब उन्होंने इसका नाम कूरील रखा; जो क्यूरइट (धुआँ) का अपभ्रंश है। अगस्त, १६४५ ई० तक यह द्वीपपुंज जापानियों के अधीन था। वे लोग इसे 'चिशीमा' (Chishima) अथवा 'सहस्र द्वीपपुंज' कहते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान की हार के पश्चात् यह द्वीपपुंज रूस के अधीन हो गया। अब केवल शिकोटन तथा कुनाशीर नामक दक्षिणी द्वीप जापान के अधीन हैं। (न० कि० सिं०)

कूरे जापान का एक नगर है जो हांशू (Honshu) द्वीप में हीरोशिमा (Hiroshima) की खाड़ी के दक्षिणपूर्व में स्थित है। (स्थिति—३४°१२' उ० अ०; १३२°३८' पू० दे०)। हीरोशिमा नगर से यह रेलमार्ग द्वारा जुड़ा है। यह प्रधानतया सैन्य नगर और नौसेना का अड्डा है। यह जापान का सबसे बड़ा नावांगन है तथा यह जहाज-निर्माण का केंद्र है। इस्पात, मशीन एवं शस्त्र बनाने के कारखाने भी यहाँ है। (न० कि० सिं०)

कूलिज, काल्विन संयुक्त राष्ट्र अमरीका के तीसवें राष्ट्रपति। इनका जन्म ४ जुलाई, सन् १८७२ ई० को प्लीमथ में हुआ था। उन्होंने १८९७ ई० में अध्ययन समाप्तकर वकालत प्रारंभ की और शीघ्र ही राजनीति में रुचि लेने लगे। १८९९ ई० में नार्थेपटन के कौंसिल सभासद निर्वाचित हुए। १९०७-०८ ई० में उन्होंने मेसाचूसेट्स राज्य की विधायक सभा के सदस्य रहे। तदुपरांत १९१०-११ ई० में वे नार्थेपटन नगर के मेयर के रहे। १९११ ई० में रिपब्लिकन दल की ओर से राज्य के सिनेटर हुए और १९१४ तथा १९१५ ई० में वे सिनेट के अध्यक्ष रहे। तदुपरांत वे १९१६ से १९१८ ई० तक मेसाचूसेट्स के लेफ्टिनेंट गवर्नर और उसके बाद १९१९ और १९२० ई० में उसी राज्य के गवर्नर हुए। गवर्नर की हैसियत से उन्होंने राजस्व व्यय के बजट को विधायक सभा की विधिवत् अनुमति प्राप्त करने की परंपरा स्थापित की और प्रशासनिक सूत्रों को काम करने के लिये अनेक कानून स्वीकृत कराए। उन्हें राष्ट्रीय ख्याति उस समय मिली जब सितंबर, १९१९ ई० में अमेरिकन फ़ेडरेशन ऑव लेबर में संमिलित होने की कमिश्नर द्वारा अनुमति प्राप्त न होने पर बोस्टन की पुलिस की हड़ताल का दृढ़तापूर्वक सामना किया और उसे असफल बना दिया। इससे वे जनता की दृष्टि में ऊँचे उठे और १९२० ई० के नवंबर में संयुक्त राष्ट्र अमरीका के उपराष्ट्रपति चुने गए।

उपराष्ट्रपति के रूप में मंत्रिमंडल की बैठकों में उपस्थित होनेवाले वे पहले व्यक्ति थे। ३ अगस्त, सन् १९२३ को, राष्ट्रपति हार्डिंज की मृत्यु होने पर वे राष्ट्रपति बने। राष्ट्रपति की हैसियत से उन्होंने जो कार्य किए उनसे राज्यसमृद्धि में वृद्धि हुई और जनता का विश्वास उन्हें प्राप्त हुआ; और रिपब्लिकन दल में सौमनस्य का अभाव रहते हुए भी वे १९२५ ई० में अत्यधिक मत से राष्ट्रपति निर्वाचित हुए।

उनकी गृहनीति की प्रमुख विशेषताएँ प्रशासन संबंधी व्यय तथा करों में कमी, औद्योगिक विषयों में हस्तक्षेप न करना, स्थानीय सरकार की सुदृढ़ता, विधान के प्रति आज्ञाकारिता तथा धार्मिक सहिष्णुता आदि थीं। ४ मार्च, १९२९ ई० को उन्होंने राष्ट्रपति के पद से अवकाश ग्रहण किया और उसी वर्ष अपनी आत्मकथा प्रकाशित की। ५ जनवरी, १९३५ ई० को नार्थेपटन में उनका देहांत हुआ। (रा० अ०)

कूविए जार्ज लिओपोल क्रेतीं फ्रेदरिक डागोबेर विश्वविख्यात फ्रांसीसी जीवशास्त्री। इनका जन्म २३ अगस्त, १७६९ ई० को मौत विलिमार में हुआ था। 'स्तुतगार अकादमी' में शिक्षा प्राप्तकर सन् १७९५ में पेरिस के 'नैचुरल हिस्ट्री म्यूज़ियम' में तुलनात्मक शारीर रचना के प्रोफेसर के सहायक के पद पर नियुक्त हुए। एक साल बाद इन्होंने इकोल सैंत्राल दु पाँथियों (Ecole Centrale du Pantheon) में व्याख्यान देना आरंभ किया और 'नैशनल इन्स्टिट्यूट' के उद्घाटन के अवसर पर इन्होंने पुराजैविकी पर अपना पहला लेख पढ़ा। १७९८ ई० में इनका जीवजगत् का वर्गीकरण ताब्लो एलामांतेर द लिस्त्वार नातुरेल देज़ानिमो (Tableau elementaire de l'histoire naturelle des animaux) में प्रकाशित हुआ। १७९९ ई० में इनकी नियुक्ति कॉलेज्फ़ द फ्रांस (College de France) में प्राकृतिक इतिहास के प्रोफेसर के पद पर हुई। अगले वर्ष इनका महत्वपूर्ण ग्रंथ लेकोन दानातोमी कोंपारी (Lecons d anatomie Comparee) पाँच भागों में प्रकाशित हुआ। १८०२ ई० में वे ज्भार्दे दे पाँत (Jardin des Pentes) में (नाममात्र के) प्रोफेसर बनाए गए और सन् १८०३ में ये नैशनल इन्स्टिट्यूट के भौतिकी और प्राकृतिक विज्ञान विभागों के स्थायी मंत्री चुने गए।

तदनंतर इन्होंने घोंघों, मछलियों, उरगों तथा स्तनधारियों का विस्तृत अध्ययन किया। इनके इस अथक परिश्रम के परिणाम रिसर्च सूर ले ओस्सामाँ फ़ासिल द कादूपेद (Recherches sur-les Ossements Fossiles de quadrupedes) और दिस्कूर सूर ले रवोलूसियों द ला सुर्फास दु ग्लोब (Discours sur les revolutions de la surface du globe) नामक ग्रंथ हैं। जीवों और पुराजीवों पर की गई अपनी गवेषणाओं को इन्होंने १८२९-३० में ल रिन्ये अनिमाल दिस्त्रिबू दाप्रे सों ओर्गानिज़ात्सियों (Le Rigne animal distribue d' apres son organisation) के नाम से संकलितकर प्रकाशित किया, जिसके द्वितीय संस्करण के पाँच भाग है। उनके कार्यों की महत्ता का अनुमान इसी बात से किया जा सकता है कि उनको पृष्ठवंशी पुराजैविकी (वेर्तेब्राली पालिओतॉलोजी (Vertebrali Paleontology), का जन्मदाता कहा जाता है।

१८०८ ई० में नेपोलियन ने इंपीरियल यूनिवर्सिटी की काउंसिल में उनको नियुक्त किया। बाद में वे 'स्टेट काउंसिल' में भी प्रतिष्ठित किए गए और विश्वविद्यालय के चांसलर चुने गए। १८१९ ई० में वे आंतरिक समिति के सभापति नियुक्त हुए। १८२६ ई० में उन्हें लीजन ऑव ऑनर (Legion of Honour) का सम्मान मिला। १८३१ ई० में लुई फिलिप ने उन्हें फ्रांस के पियर (Peer) की उपाधि प्रदान की। तदनंतर ये स्टेट काउंसिल के सभापति नियुक्त हुए। १८३१ में गृह मंत्रालय (Ministry of Interior) में इनकी नियुक्ति हुई, पर उसी वर्ष थोड़े दिनों की बीमारी के बाद १३ मई को उनका देहावसान हो गया। (म० ना० मे०)

कृंतक (Rodentia) वर्तमान स्तनधारियों में सर्वाधिक सफल एवं समृद्ध गण कृंतकों का है, जिसमें १०१ जातियाँ जीवित प्राणियों की तथा ६१ जातियाँ अश्मीभूत (Fossilized) प्राणियों की रखी गई है। जहाँतक जातियों का प्रश्न है, समस्त स्तनधारियों के वर्ग में लगभग ४,५०० जातियों के प्राणी आजकल जीवित पाए जाते हैं, जिनमें से आधे से भी अधिक (२,५०० के लगभग) जातियों के प्राणी कृंतकगण में ही आ जाते हैं। शेष २,००० जातियों के प्राणी अन्य २० गणों में आते है। इस गण में गिलहरियाँ, हिममूष (Marmots), उड़नेवाली गिलहरियाँ (Flyiug squirrels), श्वमूष (Prairie dogs), छछूँदर (Musk rats), धानीमूष (Pocket gofers), ऊद (Beavers), चूहे (Rats), मूषक (Mice), शाद्वलमूषक (Voles), जर्वितमूष (Gerbille), वेणमूषक (Bamboo rats), साही (Porcupines), वंटमूष (Guinea pigs) आदि स्तनधारी प्राणी आते हैं।

पृथ्वी पर जहाँ भी *प्राणियों का आवास संभव है वहाँ कृंतक अवश्य* पाए जाते है। ये हिमालय पर्वत पर २०,००० फुट की ऊँचाई तक और नीचे समुद्र तल तक पाए जाते हैं। विस्तार में ये उष्णकटिबंध से लेकर लगभग ध्रुवप्रदेशों तक मिलते है। ये मरुस्थल, उष्णप्रधान वर्षावन, दलदल और मीठे जलाशय—सभी स्थानों पर मिलते हैं; कोई समुद्री कृंतक अभी तक देखने में नहीं आया है। अधिकांश कृंतक स्थलचर है और प्रायः बिलों में रहते हैं, किंतु कुछेक, जैसे गिलहरियाँ आदि, वृक्षाश्रयी है। कुछ कृंतक उड़ने का प्रयत्न भी कर रहे है, फलतः उड़नेवाली गिलहरियों का विकास हो चुका है। इसी प्रकार, यद्यपि अभी तक पूर्ण रूप से जलाश्रयी कृंतकों का विकास नहीं हो सका है, फिर भी ऊद तथा छछूँदर इस दिशा में पर्याप्त आगे बढ़ चुके हैं।

लाक्षणिक विशेपताएँ--कृंतकों की प्रमुख लाक्षणिक विशेपताएँ निम्नलिखित हैं ---

१. इनमें श्वदंतों (Canines) तथा अगले प्रचर्वण दंतों की अनुपस्थिति के कारण दंतावकाश (Diastema) पर्याप्त विस्तृत होता है।

२. केवल चार कर्तनक दंत (Incisors) होते है--दो ऊपरवाले जबड़े में और दो नीचेवाले जबड़े में। दाँत लंबे तथा पुष्ट होते है और आजीवन बराबर बढ़ते रहते है। इनमें इनैमल (Enamel) मुख्य रूप से अगले सीमांत पर ही सीमित रहता है, जिससे ये घिसकर छेनी सरीखे हो जाते है और व्यवहार में आते रहने के कारण आप ही आप तीक्ष्ण भी होते रहते है। कुतरने के लिये इस रीति के विकास के अतिरिक्त कृंतक स्तनधारी ही कहे जा सकते है।

३ अधिकाश स्तनधारी अपना भोजन मनुष्य के समान चबाते है। चबाते समय निचला जबड़ा मुख्य रूप से ऊपर की दिशा में ही गति करता है। कृंतको मे इसके विपरीत चर्वण की क्रिया निचले जबड़े की आगे पीछे की दिशा मे होनेवाली गति के परिणामस्वरूप होती है। इस प्रकार की गति के लिये हनुपेशियाँ बलशाली तथा जटिल होती हैं।

४. अन्य शाकाहारी प्राणियो के सदृश कृंतको के आहारमार्ग मे सीकम (Caecum) बहुत बड़ा होता है, परंतु आमाशय का विभाजन केवल मूषको मे ही देखने को मिलता है। इसमे हृदय की ओर वाले भाग मे शृंगिक आस्तर चढ़ा होता है।

५. मस्तिष्कपिंड चिकना होता है, जिसमे खाँचे (Furrows) बहुत कम होते है। फलत. इनकी मेधाशक्ति अधिक नहीं होती।

६. वृषण साधारणतया उदरस्थ होते हैं।

७. गर्भाशय प्रायः दोहरा होता है।

८. देखने मे प्लासेंटा (Placenta) विविधरूपी होता है, किंतु प्राय. बिंबाभी (discoidal) तथा शोणगर्भवेष्टित (haemochorial) ढंग का होता है।

९. कुछ कृंतको की गर्भावधि केवल १२ दिन की होती है।

१०. कुहनी संधि (Elbowjoint) चारो ओर घूम सकती है।

११. चारों हाथ पैर नखरयुक्त (clawed) होते है तथा चलते समय पूरा पदतल भूमि पर पड़ता है। अगले पैर (हाथ) प्रायः पिछले पैरो की अपेक्षा छोटे होते है और भोजन को उठाकर खाने मे सहायक होते हैं। कभी कभी यह प्रवृत्ति इतनी अधिक बढी हुई होती है कि ये दो ही (पिछले) पैरों से कूदते हुए चलते है।

वर्गीकरण--कृंतकों के वर्गीकरण में मुख्य आधार हनुपेशियो की विभिन्नता तथा इनके संबद्ध कपाल की संरचनाओं को ही माना गया है। इस प्रकार कृंतक गण को तीन उपगणों में विभाजित किया गया है:
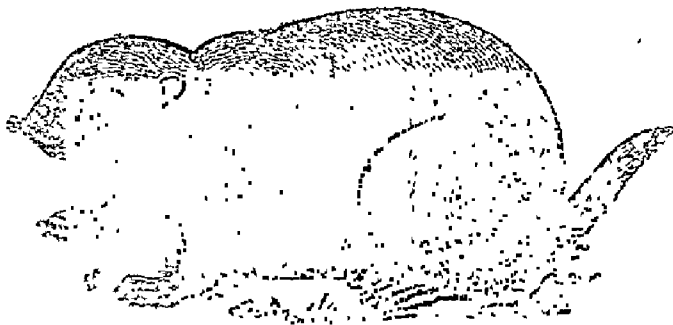
चित्र १. श्वमूष (Prairie dog)

१. साइयूरोमॉर्फा (Sciuromorpha) अर्थात् गिलहरी सदृश कृंतक, २. माइयोमॉर्फा (Myomorpha) अर्थात् मूषकों जैसे कृंतक तथा ३. हिस्ट्रिकोमॉर्फा (Hystricomorpha) अर्थात् साही के अनुरूप कृंतक।

साइयूरोमॉर्फा--इस उपगण की लाक्षणिक विशेषताएँ ये है: एक तो इनके ऊपरी जबड़े मे दो चर्वणदंत (Premolars) होते है तथा निचले जबड़े में केवल एक, और दूसरे एक चर्वणपेशी (Masseter) होती है, जो अक्ष्यध.कुल्या (Infra-orbital canal) से होकर नही जाती। कृंतकों के इस आद्यतम उपगण मे गिलहरियों, उड़नेवाली गिलहरियों तथा ऊदों के अतिरिक्त सिवेलेल (Sewellel) जैसे बहुत ही पुरातन कृंतक तथा पुरानूतन (Placocene) युग के प्राचीनतम अश्मीभूत कृंतक भी रखे जाते है। यही नहीं, इस उपगण मे कृंतकों के कुछ ऐसे वंश भी आते हैं जिनके संबंधसादृश्य अनिश्चित हैं।

साइयूरोमॉर्फा में कृंतको के १३ कुल रखे गए है। इस्काइरोमाइडी (Ischyromyidae) नामक कुल मे रखे गए सभी प्राणी यूरेशिया तथा उत्तरी अमरीका के पुरानूतन से लेकर मध्यनूतन (Miocene) युगों तक के प्रस्तरस्तरो मे पाए गए है। इस वंश का एक उदाहरण पैरामिस (Paramys) है, जो पुरानूतन से प्रादिनूतन (Eocene) युगों तक के प्रस्तरस्तरो मे पाया गया है। साइयूरोमॉर्फा कृंतको का दूसरा महत्वपूर्ण वंश ऐप्लोडोंटाइडी (Aplodontidae) है, जिसका उदाहरण ऐप्लोडोंशिया (Aplodontia), या सीवलेल, उत्तरी अमरीका के उत्तर पश्चिमी भागो मे पाया जानेवाला एक बहुत ही पुरातन कृंतक है। यह लगभग १२ इंच लंबा, स्थूल आकार का तथा छोटी दुमवाला प्राणी होता है, जो किसी सीमा तक जलचर भी कहा जा सकता है।

तीसरा महत्वपूर्ण कुल साइयूरिडी (Sciuridae) है, जिसमें वृक्षचारी गिलहरियाँ (Ratufa), उड़न गिलहरियाँ (Petaurista),

चित्र २. हिममूष (Marmot)

स्थलचारी गिलहरियाँ (Citellus), हिममूष (Marmota) तथा चिपमंक (Tamias, Eutamias) आदि कृंतक आते हैं। उपर्युक्त दोनों कुलों के प्राणियों से गिलहरियाँ कुछ अधिक विकसित कृंतक हैं। ये आस्ट्रेलिया के अतिरिक्त अन्य सभी महाद्वीपो में पाई जाती हैं। भारत की सबसे साधारण पंचरेखिनी गिलहरी (Funambulus Pennanti) है, जिसके गहरे भूरे शरीर पर लंबाई की दिशामें आगे से पीछे तक जाती हुई, अपेक्षाकृत हल्के रंग की पाँच धारियाँ होती हैं। ये मुख्य रूप से उत्तरी भारत में मनुष्य के निवासस्थानों के आसपास मिलती है। इन्हें पाल भी सकते है। दूसरी साधारण गिलहरी मुख्य रूप से दक्षिण भारत मे पाई जानेवाली त्रिरेखिनी है, जिसकी पीठ पर केवल तीन धारियाँ होती है। ये जंगलो मे ही रहती हैं और पकड़कर पालतू बनाने का प्रयत्न किए जाने पर कुछ ही सप्ताहों में मर जाती है। गिलहरियों की संबंधी आकंदलिकाएँ, या उड़न गिलहरियाँ, मुख्यत: वनचारी होती हैं। गरदन के पीछे से लेकर पिछली टाँगों के अगले भाग तक जाती हुई चर्मावतारिका (Patagium) नामक एक लोचदार झिल्ली सरीखी रचना, जो इनके सारे धड़ से चिपकी रहती है, इन प्राणियो को ऊँचे ऊँचे पेड़ों से नीचे भूमि पर, अथवा निचली शाखाओं पर, उतरने में सहायता पहुँचाती है। उड़न गिलहरियों की इस गति को हम उड़ान तो

कृंतक (देखें पृष्ठ ७८)

ऊपर : भूशूकर (Woodchuck) अपने बिल के किनारे बैठा हुआ है; मध्य में : उड़नेवाली गिलहरी, जेब में से निकल रही है।

नीचे बाएँ : बड़ा ऊदबिलाव (Beaver), दुम और दोनों पैरों के बल खड़ा है; नीचे दाहिने : ऊदबिलाव के बच्चे कुंड के किनारे खेल रहे हैं।

(दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)

फलक १७

कृंतक (देखें पृष्ठ ८७)
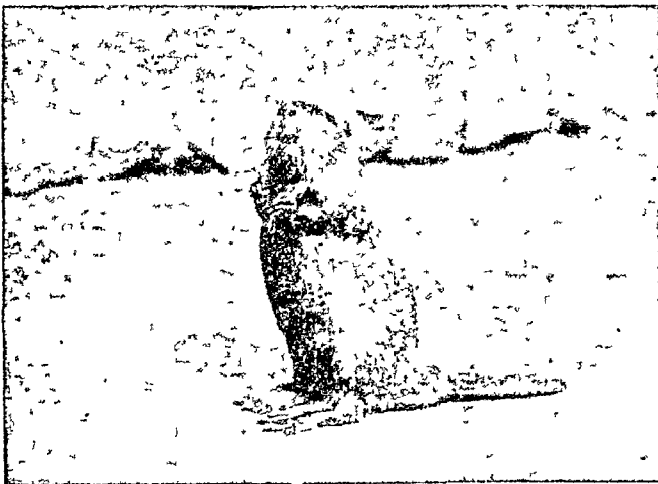
घंटमूष या गिनीपिग (Guinea pig)

(दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)

नहीं कह सकते, विसर्पण (gliding) अवश्य कह सकते हैं। ये प्राणी मुख्यत: एशिया के उष्णप्रधान भागों में पाए जाते हैं । यद्यपि यूरोप तथा उत्तरी अमरीका में भी इनके प्रतिनिधियों का अभाव नहीं है।

इस उपगण का चौथा महत्वपूर्ण वंश कैस्टॉरिडी (Castoridae) है, जिसके प्रतिनिधि ऊद अपने परिश्रम तथा जलचर प्रकृति के लिये प्रसिद्ध है। किसी समय ये विश्व के सारे उत्तरध्रुवीय भूभाग (North Arctic *regions*) में पाए जाते थे और जंगली प्रदेशों में रहते थे। इनका समूर (fur) बहुत मूल्यवान् माना जाता है, जिसके कारण इनका भयंकर संहार हुआ और ये लुप्तप्राय कर दिए गए। ये बड़े कुशल वनवासी कहे जा सकते हैं, क्योंकि किस पेड़ को किस प्रकार काटा जाय कि वह एक निश्चित दिशा में गिरे, यह ये भली भाँति जानते हैं। पेड़ों को जल में गिराकर ये बाँध बाँधते हैं। इस प्रकार एक तालाब सा बनाकर उसमें कीचड़ और टहनियों की सहायता से अपने घर बनाते हैं। पेड़ों की छाल खाने के काम में लाते हैं। कृतकों में किसी अन्य प्राणी की शरीररचना जलचारी जीवन के लिये इतनी अधिक रूपांतरित नहीं होती जितनी ऊद की। यही नहीं, दक्षिण अमरीका के कुछ प्राणियों के अतिरिक्त ऊद सबसे अधिक बड़े कृतक होते हैं। प्रातिनूतन (Pleistocene) युग में तो

चित्र ३. शाद्वल मूष (Vole)

यूरोप तथा उत्तरी अमरीका दोनों ही देशों में और भी अधिक बड़े बड़े ऊद पाए जाते थे, जो आकार में छोटे मोटे भालू के बराबर होते थे। (देखें ऊद)।

मायोमॉर्फा--इस उपगण में परिगणित कृतकों की चर्वणपेशी का मध्य भाग अध्यक्ष.कुल्या से होकर जाता है। इस उपगण में कम से कम २०० जातियों तथा लगभग ७०० जातों के कृतक आते हैं। इस प्रकार आधुनिक स्तनियों में यह सबसे बड़ा प्राणिसमूह है। यही नहीं, अनेक दृष्टियों से हम इस प्राणिसमूह को स्तनधारियों में सर्वाधिक सफल भी पाते हैं। इस उपगण में आनेवाले कृतकों के उदाहरण हैं: डाइपोडाइडी (Dipodidae) कुल के चपलाखु (Jerboas); क्राइसेटाइडी (Cricetidae) कुल के शाद्वल मूष (Voles), मृगाखु (Deer mouse) तथा संयाति (Lemmings); म्यूराइडी (Muridae) कुल के मूष (Rats), मूषक (Mice), स्वमूषक (Dormice), क्षेत्रमूषिका (Field mice) आदि, तथा जेपोडाइडी (Zapodidae) कुल के प्लुतमूषक (Jumping mice)। इनके अतिरिक्त इस उपगण में पाँच कुल और भी हैं।

इन प्राणियों ने अपने को लगभग सभी प्रकार के वातावरणों के अनुकूल बनाया है। कुछ स्थलचारी हैं, कुछ नपस्थलचारी, कुछ वृक्षाश्रयी हैं, कुछ दौड़ में तेज कूदते हुए चलते हैं, कुछ उड्डयी (*Volant*) होते हैं और कुछ जलचारी होते हैं।

हिस्ट्रिकोमॉर्फा--यह उपगण भी कृतकों का काफ़ी बड़ा उपगण है, जिसमें १६ कुल रखे गए हैं। इन कृतकों में चर्वणपेशी के मध्य भाग को स्थान देने के लिये अक्ष्यध.कुल्या पर्याप्त बड़ी होती है, परंतु उसका पार्श्व भाग गंडास्थि (Zygoma) से जुड़ा होता है। एशिया तथा अफ्रीका के ऊद और उत्तरी अमरीका की कतिपय भिन्न ऊदों के अतिरिक्त इस उपगण के शेष सभी कृतक दक्षिणी अमरीका में ही सीमित हैं। यही नहीं, इस उपगण के प्राणियों के जीवाश्म (fossils) भी दक्षिणी अमरीका के आदिनूतन (Oligocene) युग में ही मिले हैं। इस उपगण का प्रत्येक प्राणी वैज्ञानिकों के लिये बड़े महत्व का है।

मानव हित की दृष्टि से कृतक बड़े ही आर्थिक महत्व के हैं। जहाँ तक हानियों का संबंध है, ये खेती, घर के सामान तथा अन्य वस्तुओं को अत्यधिक मात्रा में नष्ट किया करते हैं। प्लेग फैलाने में चूहा कितना सहायक होता है, यह किसी से छिपा नहीं। जहाँतक लाभ का संबंध है, इनकी कई जातियाँ प्रयोगशाला में विभिन्न रोगों की रोकथाम के लिये किए जानेवाले प्रयोगों में काम में लाई जाती हैं। कई जातियों का लोमश चर्म और मांस उपयोगी होता है और कई जातियाँ हानिकर कीटों तथा कृमियों का आहारकर उन्हें नष्ट किया करती हैं। (शं० मो० दा०)

कृतवर्मा यदुवंश के अंतर्गत भोजवंशीय हृदिक का पुत्र और वृष्णिवंश के सात सेनानायकों में एक। महाभारत युद्ध में इसने एक अक्षौहिणी सेना के साथ दुर्योधन की सहायता की थी। यह कौरव पक्ष का अतिरथी वीर था (म० भा०, उद्यो०, १३०-१०-११)। महाभारत के युद्ध में इसने अपने पराक्रम का अनेक बार प्रदर्शन किया; अनेक बार पांडव सेना को युद्धविमुख किया तथा भीमसेन, युधिष्ठिर, धृष्टद्युम्न, उत्तमौजा आदि वीरों को पराजित किया। द्वैपायन सरोवर पर जाकर इसी ने दुर्योधन को युद्ध के लिये उत्साहित किया था। निशाकाल के सौप्तिक युद्ध में इसने अश्वत्थामा का साथ दिया तथा शिविर से भागे हुए योद्धाओं का वध किया (सौप्तिक पर्व ५-१०६-१०७), और पांडवों के शिविर में आग लगाई। मौसल युद्ध में सात्यकि ने इसका वध किया। महाभारत के अनुसार मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग जाने पर इसका प्रवेश मरुद्गणों में हो गया। (चं० भा० पां०)

कृत्तिका एक तारापुंज जो आकाश में वृष राशि के समीप दिखाई पड़ता है। कोरी आँख से प्रथम दृष्टि डालने पर इस पुंज के तारे अस्पष्ट और एक दूसरे से मिले हुए तथा किचपिच दिखाई पड़ते हैं जिसके कारण बोलचाल की भाषा में इसे किचपिचिया कहते हैं। ध्यान से देखने पर इसमें छह तारे पृथक् पृथक् दिखाई पड़ते हैं। दूरदर्शक से देखने पर इसमें सैकड़ों तारे दिखाई देते हैं, जिनके बीच में नीहारिका (Nebula) की हलकी धुंध भी दिखाई पड़ती है। इस तारापुंज में ३०० से लेकर ५०० तक तारे होंगे जो ५० प्रकाशवर्ष के गोले में बिखरे हुए हैं। केंद्र में तारों का घनत्व अधिक है। चमकीले तारे भी केंद्र के ही पास हैं। कृत्तिका तारापुंज पृथ्वी से लगभग ५०० प्रकाशवर्ष दूर है। (चं० प्र०)

(२) भारतीय ज्योतिषशास्त्र के अनुसार सत्ताइस नक्षत्रों में तीसरा नक्षत्र। इस नक्षत्र में छह तारे हैं जो संयुक्त रूप से अग्निशिखा के आकार के जान पड़ते हैं। कृत्तिका को पौराणिक अनुश्रुतियों में दक्ष की पुत्री, चंद्रमा की पत्नी और कार्तिकेय की धात्री कहा गया है। कृत्तिका नाम पर ही कार्तिकेय नाम पड़ा है। (प० ला० गु०)

कृत्तिवास अथवा कृत्तिवास ओझा बंगाल के अत्यंत लोकप्रिय कवि जिन्होंने बंगला भाषा में वाल्मीकि रामायण का सर्वप्रथम पद्यानुवाद किया। उनका यह अनुवाद अविकल अनुवाद नहीं है। उन्होंने अपनी कल्पनाशक्ति एवं काव्यशक्ति द्वारा चरित्रों एवं घटनाओं का चित्रण कहीं कहीं पर भिन्न रूप में किया है। इनके काव्य में पात्रों के भीतर कुछ अधिक कोमलता दिखाई गई है। करुण रस की भी अधिक गहरी अनुभूति है। वाल्मीकि के राम क्षत्रिय वीर हैं; जो वीरत्व, शौर्य एवं बल में अद्वितीय हैं, परंतु कृत्तिवास ने राम की 'कुसुमकोमल' मूर्ति ही देख पाई है। उनके राम का 'तन नवनी जिनिया अतिसुकोमल', है और वे हाथ में 'फुल धनु' लेकर वन जाते हैं। परंतु जहाँतक वाल्मीकि रामायण के उच्च आदर्शों का प्रश्न है, कृत्तिवास ने उन सबको अपनी रचना में अक्षुण्ण रखा है। पितृभक्ति, सत्यनिष्ठा, त्याग, प्रजानुरंजन, पातिव्रत इत्यादि सब आदर्शों का सफलतापूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

कवि ने इसमें कहीं नए आख्यान देकर, कहीं बंगाल की रीति नीति,

कहीं आमोद प्रमोद, कहीं आचार अनुष्ठान और कहीं नारीरूप दिखाकर इस रचना को अपने प्रदेश के निवासियों की वस्तु बना दिया है। इन्होंने वाल्मीकि रामायण के गूढ़ दार्शनिक अंशों, विचारों के विश्लेषणात्मक भागों एवं आलकारिकता को अपनी रचना में स्थान नहीं दिया है। रचनासौष्ठव और काव्यगुण से युक्त यह रचना बंगाल की निजस्व बन गई है।

बंगाल में कृत्तिवास की रामायण अत्यंत लोकप्रिय है। धनी, दरिद्र सबके बीच इसका आदर और प्रचार है। लोग अत्यंत प्रेम और भक्ति से इसका पाठ करते हैं। प्रायः इसका पाठ गाकर ही किया जाता है।

कृत्तिवास के विषय में अधिक दिनों तक अधिक ज्ञात नहीं था। रामायण के प्रारंभ अथवा प्रत्येक कांड के अंत में एक दो पंक्तियाँ मिलती थी जिनसे ज्ञात होता था कि रामायण के रचयिता का नाम कृत्तिवास है और वे विचक्षण कवि हैं, उन्होंने पुराण सुनकर कौतुक में ही गीत रच डाले। २०वी शताब्दी के कुछ विद्वानों ने, जिनमें नगेंद्रनाथ वसु एवं दिनेशचंद्र सेन प्रमुख हैं, एक हस्तलिखित पोथी प्राप्त की जो कृत्तिवास का आत्मचरित बताया जाता है। इस पोथी को दिनेशचंद्र सेन ने १९०१ ई० में अपने ग्रंथ 'बंगभाषा और साहित्य' के द्वितीय संस्करण में प्रकाशित किया। इसके बाद नलिनीकांत भट्टशाली ने भी एक हस्तलिखित पोथी प्राप्त की। इन पोथियों के अनुसार कृत्तिवास फुलिया के रहनेवाले थे। इनके पूर्वपुरुष यवन-उपद्रव-काल में अपना स्थान छोड़कर चले आए थे। इनके पितामह का नाम मुरारी ओझा, पिता का नाम वनमाली एवं माता का नाम मानिकी था। कृत्तिवास पाँच भाई थे। ये पद्मा नदी के पार वारेंद्रभूमि में पढ़ने गए थे। वे अपने अध्यापक आचार्य चूड़ामणि के अत्यंत प्रिय शिष्य थे। अध्ययन समाप्त करने के बाद वे गौडेश्वर के दरबार में गए। यह कौन से गौडाधिपति थे, इसका उल्लेख नहीं है। कुछ विद्वान् इन्हें हिंदू सुलतान राजा 'गणेश' (कंस) मानते हैं तथा कुछ ताहिरपुर के राजा कंसनारायण। अन्य एक तीसरे राजा दनुजमर्दन का भी नाम लेते हैं। जनश्रुति के अनुसार कृत्तिवास ने गौडेश्वर को पाँच श्लोक लिखकर भेजे। उन्हें पढ़कर राजा अतीव प्रसन्न हुए और इन्हें तुरंत अपने समक्ष बुलाया। वहाँ जाकर इन्होंने कुछ और श्लोक सुनाए। राजा ने इनका अत्यंत सत्कार किया एवं भाषा में रामायण लिखने का अनुरोध किया।

कृत्तिवास की निश्चित जन्मतिथि इस आत्मचरित से भी ज्ञात नहीं होती। योगेशचंद्र राय १४३३ ई०, दिनेशचंद्र १३८५ से १४०० ई० के बीच तथा सुकुमार सेन १५वीं शती के उत्तरार्ध में इनका जन्म मानते हैं। (र० कु०)

कृत्रिम उपग्रह मानवनिर्मित ऐसे उपकरण जो पृथ्वी की निश्चित कक्षा में परिक्रमा करते हैं। अपने संतुलन को बनाए रखने के लिये ये उपग्रह अपने अक्ष पर भी घूमते रहते हैं। १९५७ में सर्वप्रथम रूस ने एक कृत्रिम उपग्रह—स्पुतनिक–१ अंतरिक्ष में प्रक्षेपित किया था। स्पुतनिक–१ के पश्चात् हजारों कृत्रिम उपग्रह अंतरिक्ष में प्रक्षेपित किए गए (विशेष द्र० अंतरिक्ष यात्रा तथा उपग्रह)।

कृत्रिम उपग्रह अंतरिक्ष में कुछ प्रमुख उद्देश्यों के लिये प्रक्षेपित किए जाते हैं जिनमें दूरसंचार, मौसम विज्ञान संबंधी अध्ययन और अंतरराष्ट्रीय जासूसी प्रमुख हैं। इस समय (१९७५ ई०) ७०० से भी अधिक कृत्रिम उपग्रह पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे हैं।

भारत ने अपना पहला कृत्रिम उपग्रह १९ अप्रैल, १९७५ को रूस से अंतरिक्ष में प्रक्षेपित किया। भारत के इस कृत्रिम उपग्रह का नाम पाँचवीं शताब्दी के भारतीय खगोलशास्त्री एवं गणितज्ञ आर्यभट के नाम पर आर्यभट रखा गया है। इसका भार ३५६० किलोग्राम है। यह ८ किलोमीटर प्रति सेकेंड की गति से पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है और ९६.४१ मिनट में एक परिक्रमा पूरी कर लेता है। आर्यभट के २६ मुख है जिनपर १८,५०० 'सौर सेल' लगाए गए हैं। अपने प्रक्षेपण काल से लगभग ६ महीने तक अंतरिक्ष में कतिपय वैज्ञानिक प्रयोग एवं शोध करना इसका लक्ष्य था, किंतु कुछ खराबी आ जाने के कारण प्रयोग अधिक समय तक नहीं किया जा सका। (नि० सि०)

कृत्रिम जीन मनुष्य के द्वारा प्रयोगशाला में तैयार किया गया जीन। जीन, डी० एन० ए० (अम्ल) के उस खंड को कहते हैं जिसमें आनुवंशिक कूट (द्र० आनुवंशिकी) निहित होता है। जीन संसार का सबसे विचित्र रसायन है जिसमें अपनी प्रतिकृति उत्पन्न करने के साथ साथ जीवधारियों के शरीर में होनेवाली अनेक क्रियाओं को आरंभ और नियंत्रित करने की भी क्षमता होती है। इस प्रकार जीन जीवन की इकाई भी है।

१९७० में भारत के डॉ० हरगोविंद खुराना, वित्तोरियो गासमेला तथा हांस वान सादे, नार्वे के रवेल क्लेप के साथ मिलकर कृत्रिम उपायों से प्रयोगशाला में जीवन की इकाई 'जीन' को बनाने में सफल हुए। प्रयोगशाला में जीन का संश्लेषण एक जटिल समस्या रही है। इस समस्या के समाधान के लिये ये वैज्ञानिक अपना कार्य १९६५ से ही कर रहे थे। जीन का जीवन से घनिष्ठतम संबंध है और जीवन के संबंध में हम आजतक भी ठीक ठीक नहीं जान सके हैं। इतना ही मालूम हो पाया है कि हर जीवित प्राणी का शरीर अत्यंत सूक्ष्म कोशिकाओं से बना है। कोशिकाओं में जीवद्रव्य नामक तरल पदार्थ पाया जाता है।

जीवद्रव्य का निर्माण मुख्य रूप से प्रोटीन से हुआ है। प्रोटीन शरीर के लिये अत्यावश्यक है उसके अभाव में शरीर अपनी कई क्रियाएँ
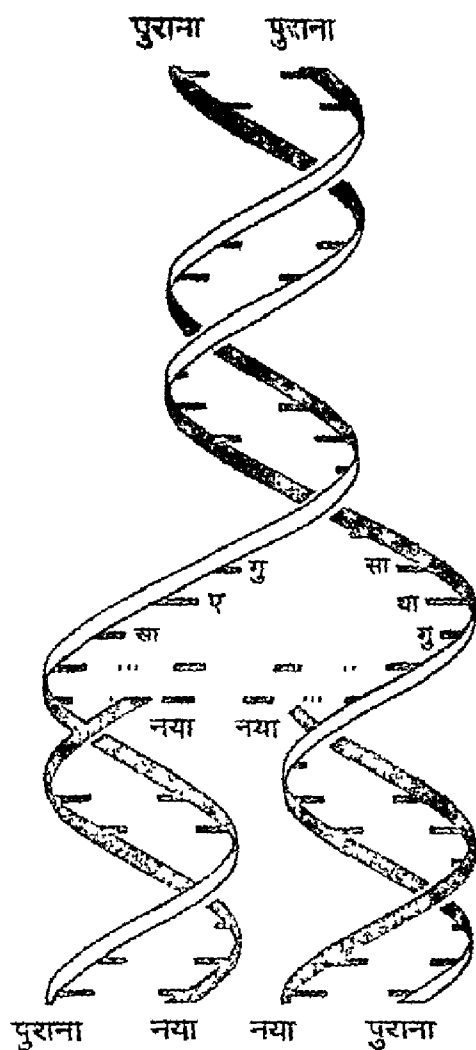
डी० एन० ए० अणु अपनी प्रकृति बनाता है।

पूरी नहीं कर सकता है। प्रोटीन को बनानेवाले रसायनों में एमिनो अम्ल प्रमुख हैं।

कोशिकाओं के अंदर जीवद्रव्य के अतिरिक्त एक केंद्रक भी होता है। केंद्रक मे अत्यंत सूक्ष्म रेशे जैसी वस्तु भी होती है जिसे क्रोमोजोम कहते है। क्रोमोजोम का निर्माण प्रोटीन और एमिनो अम्ल से होता है। एमिनो अम्ल कई जीवित वस्तुओं को बनानेवाले अत्यंत महत्वपूर्ण अणु हैं। एमिनो अम्ल दो है--

१. डिऑक्सीराइबोन्यूक्लिक अम्ल (डी० एन० ए०),

२. राइबोन्यूक्लिक अम्ल (आर० एन० ए०)

जीन का निर्माण डी० एन० ए० द्वारा होता है। कोशिका विभाजन के बाद जब नए जीव के जीवन का सूत्रपात होता है तो यही जीन पैत्रिक एवं शारीरिक गुणों के साथ साथ माता पिता से निकलकर संततियों मे चले जाते हैं। यह आदान प्रदान माता पिता के डिंब तथा पिता के शुक्राणु (Sperms) मे स्थित जीनों द्वारा होता है।

डॉ० खुराना और उनके सहयोगी प्रयोगशाला में ट्रांसफर आर० एन० ए० का सश्लेषण करके कृत्रिम जीन तैयार करने में सफल हुए। ट्रांसफर आर० एन० ए० का वास्तविक संश्लेषण करने के पूर्व ७७ न्यूक्लिओटाइडो मे से कुछ न्यूक्लिओटाइडो का अलग अलग छोटे छोटे अंशों मे संश्लेषण किया गया। इसके लिये ३'–५' फास्फाडाई ऐस्टर बंध का भी सफलतापूर्वक निर्माण किया गया। उनके बाद डी० एन० ए० के वलय
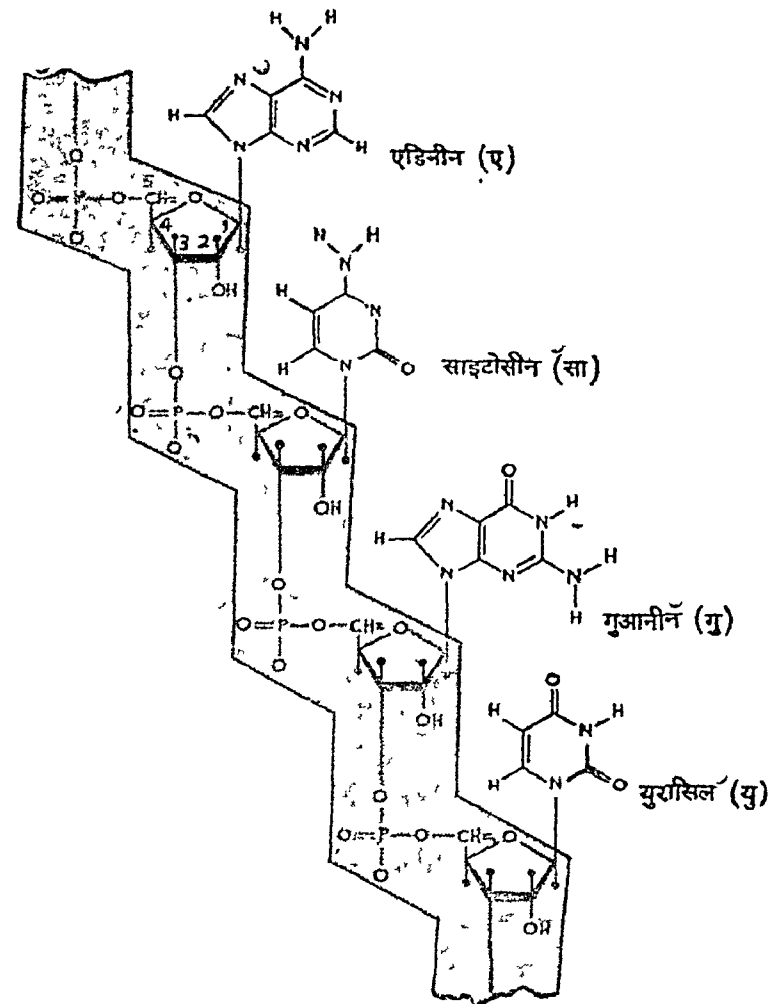
आर० एन० ए० शृंखला का एक भाग

के ऐसे अनेक अंशों को, जो एक दूसरे के पूरक, पर अंशत एक दूसरे पर चढे हुए (ओवरलैपिंग) होते हैं, सश्लेषित किए गए और दोनों वलयों को मिलाकर युग्मित होने की क्रियाएँ कराई गई। डी० एन० ए० लाइगेज का प्रयोग करके दोनों वलयों के मेल खानेवाले भागों को बैक्टिरियाजन्य एंजाइम की सहायता से जोड़ दिया गया।

उपर्युक्त क्रिया मे प्रयुक्त होनेवाले एंजाइम मे द्विवलयधारी डी० एन० ए० अणु के किसी भी एक वलय के रिक्त स्थान (ब्रेक) की पूर्ति करने की क्षमता होती है और यह द्विवलयधारी डी० एन० ए० के एक वलय की मरम्मत भी कर सकता है। इस प्रकार एक ऐसे डी० एन० ए० अणु के सश्लेषण मे सफलता मिली जिसके दो वलयों में से प्रत्येक मे ७७ न्यूक्लिओटाइड थे। यह अणु एलानीन ट्रांसफर आर० एन० ए० की प्राकृतिक जीन के समान है। इस प्रकार सश्लेषित अणु (कृत्रिम जीन) के गुणों का परीक्षण करने पर उसमे न्यूक्लिओटाइडों का वही क्रम पाया गया जो यीस्ट की एलानीन ट्रांसफर आर० एन० ए० की प्राकृतिक जीन मे मिलता है। साथ साथ यह प्राकृतिक जीन की ही भाँति उपयुक्त एंजाइमों तथा अन्य रसायनों की उपस्थिति मे अपनी प्रतिकृति बनाने की क्षमता भी रखता है। इस प्रकार साधारण रासायनिक यौगिकों से जीन का संश्लेषण संभव हो सका।

प्रयोगशाला मे कृत्रिम जीन का निर्माण हो जाने के बाद भी अभी यह पता लगाना बाकी है कि इस जीन को जीवित कोशिका मे कैसे प्रविष्ट कराया जाय तथा प्रविष्ट होने के बाद इसकी प्रतिक्रिया अनुकूल होगी या नहीं? इन समस्याओं पर अभी अध्ययन और अनुसंधान हो रहा है, कोई निष्कर्ष नहीं प्राप्त हो सका है। (नि० सि०)

कृत्रिम वीर्यसेचन (Artificial Insemination) कृत्रिम वीर्यसेचन, कृत्रिम प्रजनन अथवा कृत्रिम गर्भाधान का तात्पर्य मादा पशु को स्वाभाविक रूप से गर्भित करने के स्थान पर यंत्र या पिचकारी द्वारा गर्भित करना है। स्वच्छ और सुरक्षित रूप से एकत्र नर पशु के वीर्य को इस प्रक्रिया मे जननेंद्रिय अथवा प्रजनन मार्ग मे प्रवेश कराकर मादा पशु को गर्भित किया जाता है। इस प्रकार कृत्रिम गर्भाधान से जो बच्चे पैदा होते है वे प्राकृतिक ढंग से पैदा हुए बच्चों के ही समान बलवान् और हृष्टपुष्ट होते हैं। छह सौ वर्ष पूर्व १३२२ ई० मे अरब के एक सरदार ने अपने शत्रु सरदार के घोडे का वीर्य निकालकर अपनी एक बहुमूल्य घोड़ी को कृत्रिम रूप से गर्भित करने में सफलता प्राप्त की थी। यूरोप में प्लानिस ने १८७६ ई० मे कृत्रिम रूप से एक कुतिया को गर्भित किया था। कृत्रिम वीर्यसेचन पर प्रथम वैज्ञानिक अन्वेषण १७८० ई० मे इटली के शरीरक्रिया के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ऐबट स्पलान जानी ने एक कुतिया के ऊपर किया। इसमे उन्हें पूर्ण सफलता मिली।

अश्वों का कृत्रिम प्रजनन पहले पहल १८९० ई० मे आरंभ हुआ। एक फ्रांसीसी पशुचिकित्सक ने इसे पशुओं मे वंध्यापन दूर करने का एक उत्तम साधन बताया। प्रोफेसर हॉफमैन ने कहा कि प्राकृतिक गर्भाधान के साथ ही यदि कृत्रिम वीर्यसेचन का भी प्रयोग किया जाय तो गर्भाधान प्राय. निश्चित होगा।

रूस मे आइवनहाफ ने १९०९ ई० मे कृत्रिम प्रजनन की एक प्रयोगशाला स्थापित की और १९१२ ई० मे ३९ घोडियों की योनि मे कृत्रिम वीर्यसेचन किया। उनमे ३१ घोडियाँ गर्भित हुई। उसी समय स्वाभाविक ढंग से २३ अन्य घोडियों को भी गर्भित किया गया, किंतु उनमे से केवल १० मे ही गर्भाधान हुआ। इससे कृत्रिम वीर्यसेचन की महत्ता प्रमाणित हुई और इसका प्रयोग बढने लगा तथा अन्य पशुओं, यथा--भेड, गाय और कुत्ते आदि मे भी कृत्रिम वीर्यसेचन किया जाने लगा।

अमरीका मे १८९६ ई० मे १९ कुतियों की योनि मे वीर्यसेचन किया गया, जिनमे से १५ गर्भित हुई और बच्चे दिए। इस प्रयोग के फलस्वरूप कृत्रिम वीर्यसेचन को यूरोप और अमरीका ने बड़ी शीघ्रता से अपनाया। इस रीति का उपयोग सारे संसार--इंग्लैंड, इटली, जर्मनी, स्वीडन, डेन्मार्क, आस्ट्रेलिया, कैनेडा, अमरीका, चीन और रूस आदि--मे बडी तेजी से बढ रहा है। भारत मे कृत्रिम वीर्यसेचन १९४२ ई० मे भारतीय पशु चिकित्सा अनुसंधान संस्था (आइजटनगर) मे आरंभ हुआ।

तत्पश्चात् इसके अनेक केंद्र बगाल, बिहार, पजाब, मद्रास, मध्यप्रदेश, बबई और उत्तर प्रदेश मे खुले। इस समय भारत मे सहस्रो कृत्रिम वीर्यसेचन केंद्र है और इनकी सख्या प्रति वर्ष बढती जा रही है। इस प्रयोग से अब हर साल लाखो पशु गर्भित किए जाते है।

इसके लिये वीर्य कई रीति से एकत्रित किया जाता है . (१) कृत्रिम योनि, (२) यात्रिक प्रहस्तन तथा (३) विद्युदुद्दीपन आदि द्वारा। वीर्य को एकत्र करने के उपरात कृत्रिम गर्भाधान तुरत कर देना सबसे अच्छा होता है। यदि तत्काल कृत्रिम वीर्यसेचन न किया जा सके तो वीर्य को स्वच्छ हतजीवाणु काचकूपी, या परखनली, मे सुरक्षित बद करके, ठढे मे, १ ३° से २ ५° से० पर रखा जा सकता है। इस ढग से वीर्य तीन से लेकर पाँच दिनो तक गर्भाधान योग्य रहता है। वीर्य मे अनेक प्रकार के विलयनो को मिलाकर मदित भी किया जाता है, किंतु प्रयोग से सिद्ध हुआ है कि अमदित वीर्य ही अधिक उपयोगी है।

वीर्य को एक विशेष ढग से सूखी बर्फ (ऐल्कोहल-हिम-मिश्रण) द्वारा जमाकर रखा जाता है। वीर्य को उपयोग मे लाने से पहले उसे पिघला लिया जाता है। वीर्य जमाने और उसके उपयोग पर ससार के विभिन्न भागो मे बहुत से अनुसधान कार्य हो रहे है। इस प्रयोग से विशेष युवा साँडो का वीर्य एक देश से दूसरे देशो मे आसानी से भेजा जा सकता है। और हर समय उपयोग के लिये सरलता से मिल सकता है। इस प्रकार से जमाया हुआ वीर्य सफलतापूर्वक दो वर्षो तक उपयोग मे लाया जा सकता है।

कृत्रिम वीर्यसेचन रीति—जिस समय मादा पशु गरम होती है उस समय उसकी पूँछ को उठाकर, जैसे चित्र मे दिखाया गया है, एकत्रित वीर्य को उसकी योनि मे पिचकारी द्वारा डाल दिया जाता है।
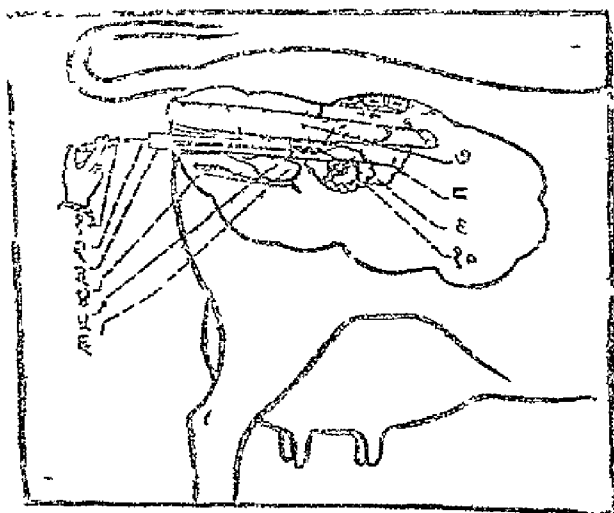
गाय का कृत्रिम सेचन

१ पिचकारी, २. सलाई (Catheter), ३. फैलाकर दर्शानेवाला यत्र (Speculum), ४ श्रोण्यस्थि (Pelvic bone), ५ गर्भाशय का मुख; ६ मूत्राशय, ७ गुदा. ८ डिंबाशय, ९ चौडी स्नायु (Broad ligament), १० गर्भाशय का प्रलबन (Horn of the Uterus)।

गर्भाधान काल—प्रकृति के अनुसार हर मादा पशु निश्चित समय पर गरम होती रहती है और यह समय हर पशु के लिये अलग अलग होता है, जैसे गाय, भैस और घोडी २१वें दिन गरम होती है। गरम रहने का समय भी भिन्न भिन्न पशुओ मे भिन्न होता है। गाय और भैंस मे यह केवल १२ से १८ घटे तक रहता है और घोडी मे लगभग एक सप्ताह तक। गरम अवस्था समाप्त हो जाने पर, स्वाभाविक अथवा कृत्रिम रूप से वीर्य प्रवेश कराने पर गर्भ नही ठहरता। प्राकृतिक अथवा कृत्रिम किसी भी ढग से गर्भाधान किया जाय, जब पशु मे गर्भ ठहर जाता है तब २१वें दिन गरम पडना बद हो जाता है।

देखा यह गया है कि मादा पशुओ मे ५०–६० प्रतिशत गर्भ ही एक बार मे स्थित होता है।

कृत्रिम वीर्यसेचन दुग्धोत्पादन और पशुसुधार तथा पशुसपत्ति बढ़ाने के लिये सुगम और आवश्यक है। पशु की उन्नति केवल अच्छे साँड पर निर्भर करती है। यदि साँड अच्छी जाति का है तो उसके बच्चे भी बलवान् और अधिक दूध देनेवाले होगे। देखा गया है कि चार पाँच पीढ़ियो मे दुग्धोत्पादन मे निरतर सुधार हो जाता है। यदि निम्नकोटि की, दो सेर दुग्ध देनेवाली गाय ऐसे साँड से, जिसकी माँ १६ सेर दूध देती थी, गर्भित की जाय तो दूसरी पीढ़ी मे नौ सेर, तीसरी पीढ़ी मे १२ सेर, चौथी पीढ़ी मे १४ सेर और पाचवीं पीढ़ी मे १६ सेर के लगभग दूध मिलने लगेगा।

अच्छे साँड का दूर तक भेजना कठिन होता है, परतु उत्तम तथा उच्च कोटि के साँड का वीर्य सरलतापूर्वक देश देशातरो से, आधुनिक वैज्ञानिक रीति के अनुसार, हर समय उपलब्ध हो सकता है।

प्राकृतिक ढग से एक साँड साल मे केवल १०० गौओ को गर्भित कर सकता है, कृत्रिम रीति से उसी साँड से १,००० को गर्भित किया जा सकता है। क्योंकि एक बार एकत्र किया हुआ वीर्य कम से कम ८-१० गायो को गर्भित कर सकता है और प्रशीतक (Refrigerator) मे रखने से कम से कम तीन चार दिन तक ठीक ठीक पूर्ण शक्तिशाली रहता है।

बहुत से साँड देखने मे तो हृष्ट पुष्ट दिखाई देते है, किंतु वीर्य मे खराबी होने के कारण उनसे गर्भ नही ठहरता। कृत्रिम ढग मे इस बात का भय नही है क्योकि गर्भित करने के पहले और बाद वीर्य की जाँच पूर्णत कर ली जाती है।

कृत्रिम वीर्यसेचन से गाय, भैंस, घोडी आदि की जननेंद्रियो मे रोग नही होते, जो सामान्यत. रोगी साँडो के ससर्ग से हो जाते है।

छोटी गाय, भैस आदि को उच्च कोटि के बडे साँड द्वारा गर्भित नही कराया जा सकता। कृत्रिम ढग से बडे से बडे साँड के वीर्य का उपयोग छोटी से छोटी गौओ आदि के लिये किया जा सकता है।

कृत्रिम वीर्यसेचन द्वारा लूली, लँगडी, चोटही और बेकार गाय, भैस, घोडी आदि को भी गर्भित करके बच्चे प्राप्त किए जा सकते है।

(क० दे० व्या०)

कृत्रिम सूत कृत्रिम ढग से सूत (रेशा, Fibre) निर्माण करने का विचार पहले पहल एक अंग्रेज वैज्ञानिक राबर्ट हुक के दिमाग मे उठा था। इसका उल्लेख १६६४ ई० मे प्रकाशित उसकी 'माइक्रोग्राफिया' नामक पुस्तक मे है। इसके बाद १७३४ ई० मे एक फ्रेंच वैज्ञानिक ने रेजिन से कृत्रिम सूत बनाने की बात कही, लेकिन उसे भी कोई व्यावहारिक रूप नही दिया जा सका। १८४२ ई० मे पहली बार अंग्रेज वैज्ञानिक लुइस श्वाब ने कृत्रिम सूत बनाने की मशीन का आविष्कार किया। इस मशीन मे महीन सूराखवाले तुडो (nozzles) का प्रयोग किया गया जिसमे से होकर निकलनेवाला द्रवपदार्थ सूत मे परिवर्तित हो जाता था। सूत बनानेवाली आज की मशीनो का भी मुख्य सिद्धात यही है। श्वाब ने काँच से सूत का निर्माण किया था, लेकिन वह इससे सतुष्ट न था। उसने ब्रिटिश वैज्ञानिको से कृत्रिम सूत बनाने हेतु अच्छे पदार्थ की खोज की अपील की। १८४६ ई० मे स्विस रसायनशास्त्री सी० एफ० शूनबेन ने कृत्रिम सूत के निर्माण के निमित्त नाइट्रो सेल्यूलोज की खोज की।

रबर के विलयन मे उसका मिश्रण तैयार किया। फिर उसका उपयोग उसने कृत्रिम सूत के निर्माण के लिये किया। दो वर्ष बाद ई० जे० ह्गस

को कुछ लचीले पदार्थों जैसे स्टार्च, ग्लेटिन, रेजिन, टैनिन और चर्बी आदि से कृत्रिम सूत के निर्माण के लिये पेटेंट मिला। इसके बाद जोसेफ स्वान ने इस दिशा में और अधिक कार्य किया। तब से अब तक इस क्षेत्र में अनेक वैज्ञानिकों ने बहुत काम किया है। फलस्वरूप अनेक प्रकार के कृत्रिम सूत बाजार में उपलब्ध हैं। भारत में कृत्रिम सूत का निर्माण १९५० ई० में आरंभ हुआ।

जब प्रयोगशाला में पहले पहल कृत्रिम सूत बने तब रगरूप, कोमलता और चमक दमक में वे रेशम से थे, यद्यपि उनकी दृढ़ता और टिकाऊपन रेशम के बराबर नहीं थी। उनका तनाव सामर्थ्य भी निम्न कोटि का था। फिर भी इन्हें कृत्रिम रेशम का नाम दिया गया। १९२४ ई० तक ऐसे मानवनिर्मित सूतों को 'कृत्रिम रेशम' ही कहते थे। बाद में अमरीका में कृत्रिम सूत के लिये 'रेयन' शब्द का उपयोग आरंभ हुआ और आज सारे संसार में कृत्रिम सूत के लिए 'रेयन' शब्द का ही उपयोग होता है।

मानवनिर्मित सूत (रेशों) के मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं—

(१) फिलामेंट धागा (Filament yarn)—इन धागों में अनेक महीन अखड ततु (filament) होते हैं, जो हलकी ऐंठन से एक साथ जुड़े रहते हैं।

(२) एकततु धागा (monofilament)—इसमें केवल एक ततु होता है।

(३) स्टेप्ल (staple)—ये कृत्रिम ततुओं के बने होते हैं और ये ७" से १५" तक लबे और एकरूप होते हैं।

(४) टो (Tow)—इसमें भी अनेक अखड ततु, रस्सी के रूप में, एक साथ बँटे रहते हैं, किंतु उनमें ऐंठन नहीं होती तथा वे समातर रहते हैं। छोटे टो ५०० से ५००० डेनियर (Denier) के होते हैं, जबकि बड़े टो ७५,००० से ५,००,००० डेनियर तक के होते हैं।

५. कते धागे (Spun yarn)—ये धागे कृत्रिम रेशों को कातकर बनाए जाते हैं। कभी कभी ये कृत्रिम रेशे कपास, ऊन, पटसन इत्यादि रेशों के मिश्रण से भी बनते हैं।

मानवनिर्मित कृत्रिम रेशों के विभिन्न वर्गों, उनके औद्योगिक अथवा वाणिज्य नाम, उनके निर्माण के लिये आवश्यक आधारभूत सामग्री तथा उत्पादक देशों का विवरण इस प्रकार है—

वर्ग	औद्योगिक नाम	आधारभूत सामग्री	उत्पादक देश
क. सेल्युलोस	रेयन (Rayon)	काष्ठ लुगदी	अनेक देश
	ऐसीटेट (Acetate)	कपास लिटर और काष्ठ लुगदी	अनेक देश, सयुक्त राज्य (अमरीका)
ख. प्राकृतिक प्रोटीन	विकारा (Vicara)	मक्का प्रोटीन	
	मेरिनोवा (Merinova)	केसीन (मथे दूध से)	इटली
	फाइब्रोलेन (Fibrolane)	केसीन (मथे दूध से)	सयुक्त राज्य (अमरीका)
	ऐल्गिनेट (Alginate)	ऐल्गिनिक अम्ल (Alginic acid), समुद्री घास से	यूनाइटेड किंगडम
ग. सश्लिष्ट ततु :			
१–पॉलिऐमाइड (Polyamide)	नाइलान ६६ (Nylon 66)	हेक्सामेथिलीन डायामिन, ऐडिपिक अम्ल	यूनाइटेड किंगडम, सयुक्त राज्य (अमरीका), कैनाडा
	ऐमिलान (Amylon)	हेक्सामेथिलीन डायामिन, ऐडिपिक अम्ल	जापान
	नाइलान ६ (Nylon 6), पर्लान	कैप्रोलैक्टम	पश्चिमी जर्मनी
	नाइलान ११ (Nylon 11), रिल्सान	सिबैसिक अम्ल	फ्रान्स, हगरी
२–पॉलिएस्टर (Polyester)	टेरीलीन (Terylene)	टेरिथैलिक अम्ल	सयुक्त राज्य (अमरीका), जर्मनी
३–पॉलिऐक्रिलिक (Poly-Acrilic)	ओर्लान (Orlon), ऐक्रिलान, (Acrilon)	एक्रिलोनाइट्रिल	सयुक्त राज्य (अमरीका), इग्लैंड
	डार्लान (Darlan), ज़ेफ्रान (Zefran)	डाइनाइट्रिल	बेल्जियम, कैनाडा, फ्रास, पश्चिमी जर्मनी इत्यादि
४–पॉलिएथिलिन (Poly-ethylene)	कोर्लीन (Courlene)	पॉलिएथिलीन	इग्लैंड
५–पॉलिप्रोपिलीन	मोप्लेन (Moplen)		इटली
६–पॉलिविनाइल ऐसीटेट	एविस्कोविनियान (Avisco Vinyon)	विनाइल क्लोराइड	सयुक्त राज्य (अमरीका)
७–पॉलिऐल्कोहल	विन्यॉन् (Vinyon)	विनाइल ऐल्कोहल	जापान
८–पॉलिक्लोराइड	रोविल (Rhovyl)	विनिलिडीन क्लोराइड एवं विनिल क्लोराइड	फ्रास, जर्मनी
९–ड्राइविनिल क्लोराइड	पे से (Pe Ce)	विनिलिडीन क्लोराइड एवं विनिल क्लोराइड	जापान
१०–पॉलिविनिलिडीन क्लोराइड	सारन (Saran)	विनिलिडीन क्लोराइड	सयुक्त राज्य (अमरीका), इंग्लैंड, जापान, फ्रास
११–पॉलिस्टेराइट (Polysterite)	डाँबार्न (Dawbarn)		सयुक्त राज्य (अमरीका)
१२–पालिटेट्राफ्लुओर एथिलीन	टेफ्लॉन (Teflon)		सयुक्त राज्य (अमरीका)
घ. खनिज ततु (काच)		सिलिका बालू, चूना पत्थर	

औद्योगिक उपयोग—इन मानवनिर्मित रेशों का उपयोग वस्त्रोद्योग तक ही सीमित नहीं है, वरन् इनके अनेक अन्य औद्योगिक उपयोग भी हैं। कुछ मुख्य उपयोग निम्नलिखित हैं :

१ बबलफिल (bubblefill)—विस्कोस रेशों का बना होता है, जिसमें वायु पाशित होती है। इसका उपयोग जीवनरक्षी जैकेट, नौकासेतु (पॉण्टून pontoon), बेडा (रैफ्ट, raft) तथा हवाई उडाकों की वेशभूषा के पृथक्कारी (इन्सुलेटर, insulator) माध्यम बनाने के लिये किया जाता है। रेयन का उपयोग शल्य सभार (surgical dressing) तैयार करने में भी होता है।

२ सेल्युलोस ऐसीटेट—स्त्रियों के लिये सुदर आवश्यक वस्त्र तथा स्नान वस्त्रों के बनाने में काम आता है। पुरुषों के लिये टाई, ड्रेसिंग गाउन और कॉलर बनाने में भी इसका उपयोग होता है। इसका पारविद्युत् सामर्थ्य (dielectric strength) अधिक होता है। अत यह बिजली के तार एवं कुडली (coil) के लिये पृथक्कारी (insulator) के रूप में भी प्रयुक्त होता है।

३ टेनास्को और फॉर्टिसन—बडी उच्च दृढता (tenacity) के सेल्युलोसीय ततु हैं। टेनास्को का उपयोग मोटरों तथा वायुयानों के टायरों की रस्सी, वाहक पट्टों तथा रस्सियों के बनाने में होता है। संश्लिष्ट रेशों में फॉर्टिसन सबसे अधिक पुष्ट होता है। इसकी दृढता ७ ग्राम प्रति डेनियर होती है। इसका मुख्य उपयोग टायर की रस्सी बनाने में किया जाता है। पैराशूट के कपडे बनाने में भी इसका व्यापक उपयोग होता है।

४ ऐल्गिनेट—इस प्रकार के रेशों की विशेषता यह है कि ये धात्वीय ऐल्गिनेटों के कारण ज्वालासह (flame proof) होते हैं। इसलिये इनका उपयोग थियेटरों के पर्दे तथा अग्निसह कपडे बनाने के लिये विशेष रूप से किया जाता है।

५. *नाइलॉन*—इसकी दृढता भी यथेष्ट अधिक होती है (४ ५ से ७ ग्राम प्रति डेनियर तक)। इसका उपयोग भी पैराशूट के कपडे, रस्सी, *अश्वसज्जा (harness) और ग्लाइडर की रस्सी बनाने में होता है।* एकततु (monofilament) नाइलान दाँत, कपडे, बाल एवं बोतल साफ करनेवाले *ब्रश तथा टाइपराइटर के फीते बनाने के काम आता है।* इसके बने तिरपाल (tarpaulins) भी बडे हलके और टिकाऊ होते हैं। *हवाई जहाज की पेट्रोल टकी बनाने के लिये नाइलान उपयुक्त होता है।* विद्युल्लेपन (electroplating) द्रव, रजक द्रव एवं प्रबल क्षारीयता*वाले रासायनिक द्रवों को छानने के लिये नाइलान बडा उपयुक्त माध्यम* है। वाहक पट्टों के बनाने में भी नाइलॉन काम आता है। नाइलॉन एकततुओं *से शल्य सीवनी एवं पाश (surgical suture and ligature)* भी बनाए जाते हैं।

६ विनियान—इससे छाननेवाले गद्दे (filter pad) तथा रासायनिक कार्य करनेवालों के आरक्षी वस्त्र बनाए जाते हैं। जलरोधी होने के कारण मछली पकडने के जाल तथा रस्सियाँ बनाने के लिये इसका अच्छा उपयोग होता है।

७ सारन—यह जीवाणुओं, कीटों एवं रस द्रव्यों के प्रति यथेष्ट अवरोधी होता है। इसलिये मसहरी, छनने, मोटरों तथा जलपानगृहों के आलकारिक पर्दे बनाने में इसका विशेष उपयोग होता है। कलाशालाओं तथा सिनेमागृहों की दीवारों पर भी सारन के आवरण लगाए जाते हैं, जिससे उनपर सिगरेट के धूएँ का कोई प्रभाव न पडे। इस्पात की नलियों में सारन का अस्तर लगाने से वे रसद्रव्यों के प्रति अवरोधी हो जाती हैं। पॉलिविनाइल क्लोराइडों का उपयोग भी सारन की ही भाँति होता है।

८ ऑर्लान—इसका उपयोग विद्युल्लेपन में धनाग्र (anode) थैले के रूप में किया जाता है।

९ काच ततु—*इसके कपडे अग्निसह होने के कारण जीवनरक्षी नौकाओं* तथा तेल की टकियों में उपयुक्त होते हैं। स्टेपुल ततु काच के कपडे, *विद्युत् पृथक्करण एवं ऊष्मा पृथक्करण के लिये उपयुक्त होते हैं।*

१० *पॉलिथीन*—*रासायनिक दृष्टि से स्थायी होने के कारण प्लास्टिक* के रूप में व्यापक रूप से प्रयुक्त होता है। सामग्रियों पर आरक्षी आवरण चढाने अथवा रासायनिक दृष्टि से अवरोधी नलियों और धारकों के निर्माण में भी इसका विशेष उपयोग होता है।

(कृ० दे व०, म० ला० श्री०; नि० सि०)

कृपाचार्य महर्षि गौतम शरद्वान् के पुत्र। शरद्वान् की तपस्या भग करने के लिये इद्र ने जानपदी नामक एक देवकन्या भेजी थी, जिसके गर्भ से दो यमज भाई बहन हुए। *पिता माता दोनों ने इन्हें जगल में छोड दिया* जहाँ महाराज शातनु ने इनको देखा। इनपर कृपा करके दोनों को पाला पोसा जिससे इनके *नाम कृप तथा कृपी पड गए।* इनकी बहन कृपी का विवाह द्रोणाचार्य से हुआ और उनके पुत्र अश्वत्थामा हुए। अपने पिता के ही सदृश कृपाचार्य भी परम धनुर्धर हुए। कुरुक्षेत्र के युद्ध में ये कौरवों के साथ थे और उनके नष्ट हो जाने पर पाडवों के पास आ गए। बाद में इन्होंने परीक्षित को अस्त्रविद्या सिखाई। भागवत के अनुसार सावर्णि मनु के समय कृपाचार्य की गणना सप्तर्षियों में होती थी। (रा० द्वि०)

कृपानिवास रसिक रामोपासना के एक प्रमुख आचार्य। इनका जन्म १७५० ई० के आसपास दक्षिण भारत में हुआ था। इनके पिता का नाम सीतानिवास तथा माता का गुणशीला था। वे श्रीरग के उपासक थे। उन्होंने इन्हें बचपन ही में रामानुजीय वैष्णव सत आनद विलास से दीक्षा दिलायी। पद्रह वर्ष की अवस्था में इन्हें ससार से विरक्ति हुई और वे घर त्याग कर मिथिला चले आए और रसिक भावना का आश्रय लिया। चारों धाम की पैदल यात्रा करते हुए अग्रदास के आचार्य पीठ रेवासा (जयपुर) गए। वहाँ से अयोध्या आए और कुछ दिनों वहाँ रहे। वहाँ से वे उज्जैन गए और वह कुछ काल तक रहे। तदनतर वे चित्रकूट आए और शेष जीवन वहीं व्यतीत किया। चित्रकूट में ही स्फटिक शिला के पास उनका देहावसान हुआ।

युगलप्रिया के अनुसार उन्होंने लगभग एक लाख छदों की रचना की थी किंतु इनके जो ग्रथ उपलब्ध हैं उनमें पच्चीस हजार से अधिक छद नहीं हैं। उनके लिखे समस्त ग्रथ साप्रदायिक सिद्धात निरूपण की दृष्टि से लिखे गए हैं। कुछ रचनाएँ भावनात्मक भी हैं जो विभिन्न रागरागिनियों में गेय हैं। (प० ला० गु०)

कृपाराम (१) पद्रहवीं शती के उत्तरार्ध के एक प्रख्यात गणितज्ञ। उन्होंने बीजगणित, मकरद, यत्रचिंतामणि, सर्वार्थ चिंतामणि, पचपक्षी, मुहूर्ततत्व नामक टीका ग्रथ प्रस्तुत किए थे। वास्तुचद्रिका नामक एक मौलिक ग्रथ भी उन्होंने लिखा था।

(२) हिंदी काव्यशास्त्र के प्रथम लेखक जो सोलहवीं शती के पूर्वार्द्ध में हुए थे। इनकी एकमात्र ज्ञात रचना हिततरगिणी है। (प० ला० गु०)

कृमि शब्द प्राय उन सभी क्षुद्र प्राणियों के लिये प्रयुक्त होता है जिनका शरीर लबा एवं बेलनाकार होता है और जो रेंगकर चलते हैं। कृमि अनेक प्रकार के होते हैं और सभी की बाह्य रचना भिन्न होती है। इसी कारण इनके वर्गीकरण में कठिनाई होती है। चिपटे कृमि के अतर्गत एक समूह स्वतत्र प्लैनेरियस (Planarians) तथा दो परआश्रयी कृमियों, फ्लूक (Flukes) [चित्र २ (१) तथा चित्र ३ (२)] तथा फीताकृमियों (Tape worms) [चित्र २ (२)], का आता है। प्लैनेरियस [चित्र ३ (२)] पोखरी और सरिताओं में पाए जाते हैं। फ्लूक

या तो चूसक (suckers) द्वारा मछलियों के गलफड़ों से चिपके होहेते, या वाह्य पराश्रयी (ectoparasites) होते है और इनके जीवन इतिहास मे
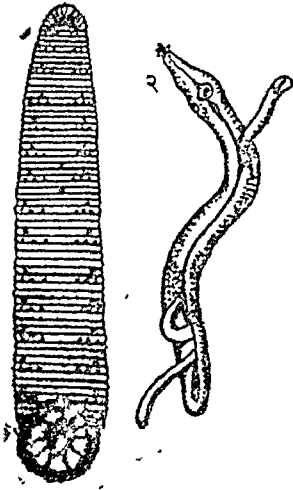
चित्र १, पराश्रयी कृमि

१. जोंक (Leech) तथा २. रक्त पर्णाभ (Blood fluke), शिस्टोसोमा हीमेटोबियम (Schistosoma haematobium) का नर तथा मादा। मादा नर के गाइनीकोफोरल कैनाल (Gynaecophoral canal) में है।

केवल एक ही पोषक होता है, अथवा ये अंतःपराश्रयी (endoparasite)
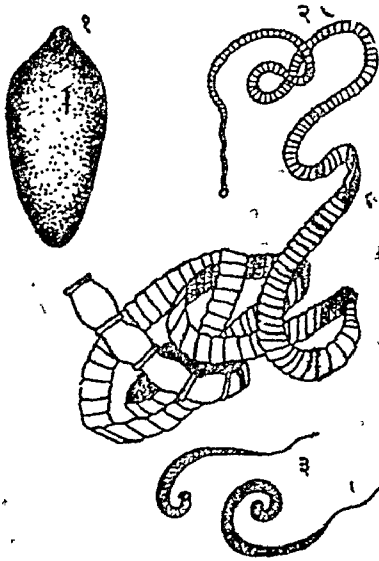
चित्र २. पराश्रयी कृमि

१. चपटा कृमि (Flat worm); २. फीता कृमि (Tape worm) तथा ३. हुक वर्म (Hook worm) का लार्वा (larva)।

होते है और यकृत, रक्त तथा फुफ्फुस से चिपके रहते है। फीताकृमि बिना वाह्यत्वचा (epidermis) के होते है : इनके मुख और भोजन नली नही होती। अधिकांश फीताकृमि पृष्ठवंशियों की आँत में पाए जाते है। टीनिया सोलिअम (Taenia solium) सूअर में और टीनिया सैजिनाटा (Taenia saginata) अन्य पशुओं एवं मनुष्यों में पाया जाता है। गोलकृमि (Round worms) की आकृति बेलनाकार होती है और ये स्वतंत्र अथवा पराश्रयी होते है, चित्र ३ (१)। मनुष्यो में पाए जानेवाले पिनवर्म (Pin worm), अंकुश कृमि (Hook worm) [चित्र २ (३)], फाइलेरिया कृमि एवं एलिफैंटाइसिस (Elephantisis) के कृमि इसके उदाहरण हैं। रोमकृमि (Hair worm) प्रायः झरनों में पाए जाते हैं। ये किशोरावस्था में पराश्रयी होते है, किंतु वयस्क होने पर अपना पोषण स्वयं करते हैं। काँटा सिरधारी (Spiny headed) कृमि पृष्ठवंशियों की भोजननली मे पाए जाते हैं। रिबन कृमि (Ribbon worm) चिपटे, लंबे, दूसरे का आखेट करनेवाले हिंस्रजीवी एवं मंदगति
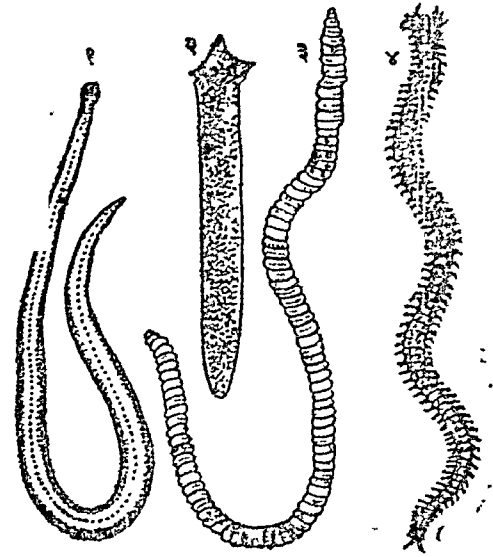
चित्र ३ पराश्रयी तथा अपराश्रयी कृमि

१. गोल कृमि (Round worm); २. प्लैनेरिया (Planaria); ३. केंचुआ (Earth worm) तथा ४. नियरीज़ (Neries)

होते हैं। खंडित कृमियों (Segmented worm) अर्थात् केंचुए चित्र ३ (३), नियरीज (Nereis) चित्र ३ (४), जोंक (Leech) [चित्र १ (१)] इत्यादि का शरीर खंडों मे बँटा होता है। ये वलयी कहलाते हैं। (ज० प्र० य०)

कृषि भूमि को खोदकर अथवा जोतकर और बीज बोकर व्यवस्थित रूप से अनाज उत्पन्न करने की प्रक्रिया को कृषि अथवा खेती कहते है। मनुष्य ने पहले पहल कब, कहाँ और कैसे खेती करना आरंभ किया, इसका उत्तर सहज नही है। सभी देशों के इतिहास में खेती के विषय में कुछ न कुछ कहा गया है। कुछ भूमि अब भी ऐसी है जहाँ पर खेती नहीं होती। यथा—अफ्रीका और अरब के रेगिस्तान, तिब्बत एवं मंगोलिया के ऊँचे पठार तथा मध्य आस्ट्रेलिया। कांगो के बौने और अंदमान के बनवासी खेती नही करते।

आदिम अवस्था में मनुष्य जंगली जानवरो का शिकारकर अपनी उदरपूर्ति करता था। पश्चात् उसने कद, मूल, फल और स्वतः उगे अन्न का प्रयोग आरंभ किया; और इसी अवस्था में किसी समय खेती द्वारा अन्न उत्पादन करने का आविष्कार उन्होंने किया होगा। फ्रांस में जो

आदिमकालिक गुफाएँ प्रकाश में आई हैं उनके उत्खनन और अध्ययन से ज्ञात होता है कि पूर्वपाषाण युग में ही मनुष्य खेती से परिचित हो गया था। बैलों को हल में लगाकर खेत जोतने का प्रमाण मिस्र की पुरातन सभ्यता से मिलता है। अमरीका में केवल खुरपी और मिट्टी खोदनेवाली लकड़ी का पता चलता है।

भारत में पाषाण युग में कृषि का विकास कितना और किस प्रकार हुआ था इसकी सम्प्रति कोई जानकारी नहीं है। किंतु सिंधुनदी के काँठे के पुरावशेषों के उत्खनन से इस बात के प्रचुर प्रमाण मिले हैं कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व कृषि अत्युन्नत अवस्था में थी और लोग राजस्व अनाज के रूप में चुकाते थे, ऐसा अनुमान पुरातत्वविद् मुहेंजोदड़ो में मिले बड़े बड़े कोठारों के आधार पर करते हैं। वहाँ से उत्खनन में मिले गेहूँ और जौ के नमूनों से इस प्रदेश में उन दिनों इनके बोए जाने का प्रमाण मिलता है। वहाँ से मिले गेहूँ के दाने ट्रिटिकम कपैक्टम (*Triticum* Compactum) अथवा ट्रिटिकम स्फीरौकोकम (Triticum *Sphaerococcum*) जाति के हैं। इन दोनों ही जाति के गेहूँ की खेती आज भी पंजाब में होती है। यहाँ से मिला जौ हॉर्डियम वलगेयर (Hordeum Vulgare) जाति का है। इसी जाति के जौ मिस्र के पिरामिडों में भी मिले हैं। कपास, जिसके लिये सिंध की आज भी ख्याति है, उन दिनों भी प्रचुर मात्रा में पैदा होता था।

भारत के निवासी आर्य कृषिकार्य से पूर्णतया परिचित थे यह वैदिक साहित्य से स्पष्ट परिलक्षित होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में कृषि-संबंधी अनेक ऋचाएँ हैं जिनमें कृषि संबंधी उपकरणों का उल्लेख तथा कृषि की विधा का परिचय है। ऋग्वेद में क्षेत्रपति, सीता और शुनासीर को लक्ष्यकर रची गई एक ऋचा (४।५७।४–८) है जिससे वैदिक आर्यों के कृषिविषयक ज्ञान का बोध होता है—

> शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।
> शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥
> शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद् दिवि चक्रथुः पयः ।
> तेने मामुप सिंचतं ।
> अर्वाची सुभगे भव सीते वदामहे त्वा ।
> यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि ॥
> इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु ।
> सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥
> शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं ।
> शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः ॥
> *शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः ।*
> शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्

एक अन्य ऋचा से प्रकट है कि उस समय जौ हल से जोताई करके उपजाया जाता था—

> एवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं
> दुहन्ता मनुषाय दस्रा ।
> अभिदस्युं बकुरेणा धमन्तोरु
> ज्योतिश्चक्रथुरार्याय ॥

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि धान, जौ, दाल और तिल तत्कालीन मुख्य शस्य थे—

> व्रीहीमत्तं यवमत्तमथो
> माषमथो तिलम् ।
> *एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय*
> दन्तौ माहिंसिष्टं पितरं मातरंच ॥

अथर्ववेद में खाद का भी संकेत मिलता है जिससे प्रकट है कि अधिक अन्न पैदा करने के लिये लोग खाद का भी उपयोग करते थे—

> *संजग्माना* अबिभ्युषीरस्मिन्
> गोष्ठे करिषिणीः ।
> बिभ्रती सोम्यं
> मध्वनमीवा उपेतन ॥

गृह्य एवं श्रौत सूत्रों में कृषि से संबंधित धार्मिक कृत्यों का विस्तार के साथ उल्लेख हुआ है। उसमें वर्षा के निमित्त विधिविधान की तो चर्चा है ही, इस बात का भी उल्लेख है कि चूहों और पक्षियों से खेत में लगे अन्न की रक्षा कैसे की जाय। पाणिनि की अष्टाध्यायी में कृषि संबंधी अनेक शब्दों की चर्चा है जिससे तत्कालीन कृषिव्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है।

भारत में ऋग्वैदिक काल से ही कृषि पारिवारिक उद्योग रहा है और बहुत कुछ आज भी उसका रूप वही है। लोगों को कृषि संबंधी जो अनुभव होते रहे हैं उन्हें वे अपने बच्चों को बताते रहे हैं और उनके अनुभव लोगों में प्रचलित होते रहे। इन अनुभवों ने कालांतर में लोकोक्तियों और कहावतों का रूप धारण कर लिया जो विविध भाषाभाषियों के बीच किसी न किसी कृषि पंडित के नाम से प्रचलित हैं और किसानों की जिह्वा पर बने हुए हैं। *हिंदी भाषाभाषियों के बीच ये घाघ और भड्डरी के नाम से* प्रसिद्ध हैं। उनके ये अनुभव आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के परिप्रेक्ष्य में खरे उतरे हैं।

उत्तम कृषि के निमित्त आवश्यक बातें जिनपर भारतीय किसान *सदा से ध्यान देते आए हैं और जिनपर आज भी ध्यान दिया जाना आवश्यक* है, इस प्रकार हैं—

(१) बोवाई के उचित समय का ठीक ज्ञान। हर फसल की बोवाई के लिये उपयुक्त नक्षत्र एवं समय होता है। उससे पहले या पीछे बोने से फसल को हानि होती है तथा उपज भी संतोषप्रद नहीं होती। बोवाई के समय खेत में कितनी नमी हो एवं खेत की मिट्टी किस दशा में हो, इसका भी *ज्ञान आवश्यक है। जिस प्रकार प्रत्येक फसल के लिये अलग अलग समय* है, उसी प्रकार भूमि की दशा, नमी की मात्रा तथा बोवाई के ढंग भी अलग अलग हैं। यदि चने की तरह गेहूँ बोया जाय, या धान की तरह मक्का या मूंग बोई जाय, तो गेहूँ, मक्का या मूंग की फसल अच्छी नहीं होगी। *ईख की बोवाई का ढंग इनसे अलग है। किस जाति की फसल किस प्रांत* या भूभाग में बोई जाय, इसका ज्ञान भी अपेक्षित है। जो धान कश्मीर में अच्छा होता है वह, उत्तर प्रदेश में भी पैदा होगा ही, ऐसी बात नहीं है। यह बात सभी फसलों के लिये है। प्रत्येक प्रदेश के लिये फसल की उचित जातियों की खोज आधुनिक वैज्ञानिकों ने की है। तदनुसार उचित जाति की फसल बोने से उपज अच्छी होगी। प्रत्येक फसल के लिये भूमि भिन्न प्रकार की होती है। यथा—धान मटियार अथवा नीचे खेतों में अच्छा होता है। बाजरा, मूंग, मक्का तथा मूंगफली ऊँचे अथवा बलुआ खेतों में अच्छी होती है। इनके खेतों में पानी भर जाना हानिकर होता है। किंतु पानी भरने से धान को लाभ होता है। चना मटियार ढेलेवाले खेतों में अच्छा पैदा होता है और गेहूँ बारीक तथा दोमट खेतों में।

(२) बोवाई के पश्चात् कितने दिनों बाद, किस प्रकार खेत में पानी लगाया जाय, या न लगाया जाय, तथा पानी लगाने के बाद सिंचाई, गोड़ाई कैसे और कब की जाय, यह जानना भी वांछनीय है। इसमें धोखा होने से फसल को हानि हो सकती है।

(३) खेती की सब क्रियाएँ ठीक होने पर भी खाद की कमी से फसल की उपज घट जाती है। खाद की मात्रा पूरी होने पर बिना खादवाले खेत की तुलना में उपज चार पाँच गुना बढ़ जाती है। चीन, जापान, इंग्लैंड, जर्मनी इत्यादि देशों में खाद डालने अथवा भूमि की *उर्वरा शक्ति बढ़ाने पर अधिक ध्यान दिया गया है। वहाँ धान तथा* गेहूँ की उपज भारत की तुलना में कई गुना अधिक है। इस संबंध की *विस्तृत जानकारी के लिये 'खाद' और 'उर्वरक' लेख देखें।*

(४) खेती की उन्नति और उपज की वृद्धि के लिये उन्नत बीज का उपयोग आवश्यक है। *प्रत्येक अनाज के बीज की अनेक जातियाँ होती हैं।* बीज की अलग जातियों का परीक्षण करने के उपरांत, जो जाति सबसे अधिक उपज प्रदान करनेवाली ज्ञात होती है उसे ही उन्नत बीज कहा जाता है। आजकल उन्नत बीज की खोज का काम राज्य की ओर से किया जाता है। कृषि विभाग अपने देश और अन्य देशों से बीजों की विभिन्न जातियों को एकत्र करके उनकी परीक्षा करता है। जो बीज सबसे अच्छा

सिद्ध होता है उसे वह उन्नत बीज की संज्ञा देता है। उन्नत बीज की खोज हो जाने पर उसे तीव्र गति से बढ़ाया जाता है। शीघ्र से शीघ्र इतना बीज पैदा करने का प्रयत्न किया जाता है कि वह सारे देश के किसानों को पहुँचाया जा सके। साधारणतया एक मन बीज से एक साल में लगभग १० से २० मन तक अनाज उत्पन्न किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश में ऐसे भी ढंग निकाले गए हैं जिनसे एक मन बीज से १०० से २०० मन गेहूँ तक पैदा किया जा सकता है। यथा—अधिक से अधिक दाने प्राप्त करने के लिये गेहूँ पंक्तियों में बोया जाता है। एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति की दूरी ६ इंच तथा एक दाने से दूसरे दाने की परस्पर दूरी साढ़े चार इंच होती है। इस ढंग की बोवाई में एक एकड़ भूमि के लिये केवल ६ या ७ सेर गेहूँ पर्याप्त है। इस ढंग से बोए हुए गेहूँ की उपज साधारण ढंग से बोए हुए गेहूँ से कुछ अधिक होती है और दाने भी अधिक मोटे होते हैं। बोते समय खेत में अच्छी नमी हो, खाद भी पूरी पड़ी हो, दाने घुने न हों तथा बराबर गहराई पर बोए जाय जिससे सब उग आएँ और खूब कल्ले निकलने से खेत पूरा भर जाय; तो ६ सेर गेहूँ बोकर ४५ मन से ५० मन प्रति एकड़ तक अनाज उपजाया जा सकता है।

(५) पौधे अपना पोषण पदार्थ विलयन के रूप में ही पृथ्वी से लेते हैं। अतः आवश्यक है कि भूमि में पानी की इतनी मात्रा बराबर बनी रहे जिससे पेड़ों और पौधों के पोषक तत्व विलयन के रूप में पौधों की जड़ों में पहुँचते रहें। उर्वरा भूमि में भी पानी की कमी होने पर फसल हरी भरी नहीं होती। इसलिये प्राचीन काल से ही सिंचाई पर लोगों का विशेष ध्यान रहा है। खेतों में आवश्यकतानुसार पानी पहुँचाने के लिये कुएँ, तालाब, बाँध तथा नहरें बनाए जाते रहे हैं। खेत में नमी पहुँचाने के बाद ऊपर की भूमि गोडाई करके भुरभुरी कर दी जानी चाहिए जिससे नीचे की नमी नीचे ही बनी रहे ऊपर आकर हवा में न उड़ जाय; जड़ों को विलयन के रूप में पोषक तत्व मिलता रहे। कंपोस्ट, गोबर, हरी खाद या ताल की खाद डालने से भी भूमि की तरी देर तक ठहरती है। अतः सिंचाई करने की शीघ्र आवश्यकता नहीं पड़ती।

सिंचाई का प्रबंध कृषक तथा शासन प्राचीन काल से करते रहे हैं, फिर भी केवल १८ प्रतिशत खेती की भूमि में सिंचाई होती है; ८२ प्रतिशत को वर्षा का ही सहारा रहता है। १९७०–७१ के उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार इस देश में १६.७४ करोड़ हेक्टर भूमि में खेती होती है। इनमें केवल ३.१२ करोड हेक्टर भूमि की ही सिंचाई नहरों, तालाबों, कुओं अथवा अन्य साधनों से हो पाती है।

(६) जिस खेत में घास उग आती है उसमें फसल अच्छी नहीं होती। अतः सामान्यतः इस बात का प्रयास होता है कि फसल के साथ कोई घास पैदा न होने पाए। किंतु घास केवल खड़ी फसल को ही हानि नहीं पहुँचाती; वरन यदि खेत में घास फसल से पहले भी उगती है तो वह भी नमी और पौधे का भोजन भूमि से खींचकर नष्ट कर देती है, फलतः पोषक तत्वों और नमी की कमी से बोई गई फसल अच्छी प्रकार नहीं बढ़ पाती। घास प्रत्येक दशा में पैदा होकर जमीन से पौधे की खुराक निकाल लेती है और भूमि को कमजोर कर देती है। इसलिये खेत की जुताई इस प्रकार की जानी चाहिए कि खेत में घास कभी बढ़ने न पाए। घास प्रायः बरसात में बढ़ती है और इसको मारने में सामान्य हल उतना सफल नहीं होता जितना कि मिट्टी पलटनेवाला हल। सामान्य हल भूमि को चीरता हुआ चलता है और घास की जड़ें नीचे भूमि में लगी रह जाती हैं। बरसात में जड़ें फिर भूमि पकड़ लेती हैं और घास फिर से हरी हो जाती है। बरसात के दिनों में कई जुताइयाँ किए बिना घास नहीं दबती। यदि बरसात में मिट्टी पलटनेवाले हल से एक घनी जुताई कर दी जाए तो मिट्टी पलट जाने से जड़ें ऊपर की ओर धूप में आ जायँगी और तना और पत्तियाँ भूमि में दबकर सड़कर खाद का काम देंगी। जुताई के तुरंत बाद ही यदि बादल और वर्षा हो तब भी, जड़ें ऊपर निकल आने के कारण और पौधों के तने एवं पत्तियाँ भूमि में दब जाने के कारण, घास फिर से हरी नहीं हो पाएगी।

पौधे की जड़ें पोली जमीन के भीतर तीव्र गति से बढ़ती हैं। जुताई से जमीन बहुत नरम और पोली हो जाती है और आसानी के साथ पौधों की जड़ें फैलती हैं। जिस प्रकार मनुष्यों और पशुओं को जीवित रहने के लिये हवा की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार पौधों की जड़ों के लिये भी हवा आवश्यक है। बिना हवा के जड़ भूमि के भीतर नहीं बढ़ पाती और पौधे पीले पड़ जाते हैं या मर जाते हैं। जिन खेतों में पानी लग जाता है उनमें भी जड़ों तक हवा नहीं पहुँचती, फलतः पानी लगने से अरहर, मक्का, मूँगफली, कपास इत्यादि फसलों को हानि पहुँचती है। अतः फसल के उगने के कुछ दिनों बाद तक यदि खेत में गुड़ाई होती रहे तो इससे बहुत लाभ होता है। जुताई और गुड़ाई का लाभ यह भी है कि भूमि के भीतर का समस्त वानस्पतिक भाग, हवा और जीवाणुओं की सहायता से, पौधे का वास्तविक भोजन, नाइट्रेट, बन जाता है। इस काम के लिये भूमि में हवा की बड़ी आवश्यकता होती है। बरसात के दिनों में जितनी बार भी खेत जोता गोड़ा जाता है उतना ही अधिक नाइट्रेट तैयार होता है। यदि जोताई या गोड़ाई कम की जाय तो जीवाणुओं को पर्याप्त आक्सिजन गैस, जो हवा में विद्यमान होती है, न मिलने के कारण पौधे का भोजन अच्छी प्रकार तैयार नहीं होता।

भारत में सबसे अधिक खेती धान (चावल), गेहूँ, जौ, मटर, चना, ज्वार आदि की होती है। ये सब खाद्यान्न हैं। इनके अतिरिक्त औद्योगिक महत्व की कुछ अन्य वस्तुओं की भी खेती होती है। यथा—शक्कर के लिये ईख तथा चुकंदर की खेती संसार में बहुत फैली हुई है। कपड़े का व्यवसाय चालू रखने के लिये कपास की खेती की जाती है। रेशे के लिये सन और जूट की खेती होती है। तिलहन के लिये मूँगफली, सरसों, रेंड, तिल आदि की फसलें भी बड़े क्षेत्रों में बोई जाती हैं। शकरकंद की खेती का भी बड़ा महत्व है। थोड़े क्षेत्रफल से अधिक भोजन प्राप्त करने के लिये यह बहुमूल्य फसल है। मानव उपयोग की वस्तुओं के अतिरिक्त पशुओं के चारे के लिये भी बरसीम आदि घासों तथा अन्य पत्तियों की भी लोग खेती करते हैं।

नगरों तथा गाँवों के निकटवर्ती खेतों में तरकारी की खेती होती है। जाड़े में गोभी, बंदगोभी, मूली, बैंगन, प्याज, लहसुन आदि और गर्मी में भिंडी, तोरई, लौकी, परवल आदि की खेती की जाती है। तरकारी के साथ साथ खरबूजा, तरबूज, ककड़ी, खीरा आदि की खेती भी, विशेषकर नदी के किनारे बलुए क्षेत्रों में, अधिक होती है।

तरकारियों के साथ साथ फलों के बगीचों का भी विशेष स्थान है। यह अन्न की खेती की अपेक्षा अधिक लाभप्रद व्यवसाय है। इस दृष्टि से अंगूर, अनार, आम, अमरूद, कटहल, केला, कागजी नीबू, संतरा, आँवला, लीची, लोकाट, पपीता, फालसा, बेर आदि का विशेष महत्व है। मैदानी भागों का बहुत बड़ा क्षेत्र इन बागों से ढँका है। पहाड़ों में सेब, आड़ू, नाशपाती, नाख, खुबानी, आलूचा, अखरोट आदि पैदा होते हैं।

(सं० ब० मि०; प० ला० गु०)

कृषि अनुसंधान और शिक्षा—मनुष्य अपने ढंग से कृषि के क्षेत्र में नाना प्रकार के प्रयोग करता रहा है किंतु उसके ये प्रयोग एकांतिक और अव्यवस्थित ही रहे हैं। कृषि के विकास के लिये विविध क्षेत्रों से प्राप्त ज्ञान का व्यवस्थित संयोजन आवश्यक है। फलस्वरूप कृषि की विविध दिशाओं में अनुसंधान का कार्य किया जा रहा है।

कृषि संबंधी अनुसंधान की स्थूल रूप में निम्नलिखित दिशाएँ हैं—

१. वनस्पति विज्ञान (Botany), २. रसायन, ३. कीटविज्ञान (Entomology), ४. पादप व्याधिकी (Plant Pathology), ५. शस्य विज्ञान (Agronomy), ६. मृदारक्षण (Soil Protection), ७. उद्यान विज्ञान (Horticulture), ८. सांख्यिकी (Statistics) और ९. इंजीनियरी (Engineering)।

फसलों की उन्नत जातियों की खोज वनस्पति विज्ञान से संबंधित है। ईख की उन्नत प्रकार की जातियाँ तैयार कर चीनी के उद्योग का विस्तार इस दिशा में किए जानेवाले कार्य का एक उदाहरण है। इसी प्रकार अच्छी कपासों की जातियों को खोजकर कपड़े के व्यवसाय को उन्नत बनाया जा सका है। धान, गेहूँ, जौ, चना, मक्का, सरसों आदि की अच्छी जातियाँ इन्हीं वनस्पति वैज्ञानिकों की प्रयोगशालाओं की देन हैं। इन प्रयोगशालाओं में संसार भर के अच्छे प्रकार के बीज मँगाकर अपने यहाँ पैदा करके देखा जाता है। जो जातियाँ हमारी भूमि तथा जलवायु में

अच्छी से अच्छी पैदावार देती हैं, उन जातियों की वृद्धि का प्रयास किया जाता है। सबसे अच्छी जाति का छाँटना; फसलों की नई उन्नत जाति प्रचलित करना उनका मुख्य कार्य है।

इन प्रयोगशालाओं में संकरण करके फसलों की नई जातियाँ निकाली जाती है। यथा—ईख की कोई जाति अच्छी पैदावार देती है, किंतु उसमें चीनी की मात्रा कम है और एक दूसरी जाति की ईख मे चीनी अधिक है पर पैदावार कम है, तो दोनो का संकरण करने से एक ऐसी नई जाति विकसित होने की संभावना रहती है जिसमें अधिक पैदावार और अधिक चीनी के दोनों गुण हों। हमारे देश में ईख, गेहूँ इत्यादि की अनेक अच्छी नई जातियाँ संकरण करके पैदा की गई हैं। दूर देश से आई हुई नई जातियाँ आरंभ में अच्छी फसल नही देती। कई साल तक बराबर बोते रहने पर जलवायु की अनुकूलता ग्रहणकर अच्छी पैदावार देने लगती है। इस ढंग से विदेशी बीज को अपने देश के अनुकूल बनाने की प्रक्रिया को वायुजलानुकूलन (Acclimatization) कहते है।

कृषि अनुसंधान में रसायनज्ञ का अपना महत्व है। भूमि में क्या तत्व हैं और किन तत्वों की कमी है, किन तत्वों को मिलाने से भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाई जा सकती है, ईख में चीनी की मात्रा कैसे घटती और कैसे बढ़ती है, यह रसायनज्ञों के अनुसंधान का विषय है। खाद बनाने का ढंग आदि भी रसायनज्ञ ही ढूँढ निकालते हैं। यथा—स्वीडेन के वैज्ञानिकों ने यह ज्ञात किया है कि उर्वरक को मिट्टी की सतह पर डालते ही पौधों की जड़ें अविलंब इसे लेना प्रारंभ कर देती है। अमरीकी वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि घास की पत्तियों पर डाले गए उर्वरक उनके द्वारा ग्रहण कर लिए जाते हैं। अतएव घास के मैदान को जोतने की आवश्यकता नहीं है। रूसी वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि फॉस्फोरस के वितरण पर बलुई मिट्टी विशेष प्रभाव नही डालती, किंतु मिट्टी को यदि ढीला कर दिया जाय तो वर्षा का जल इसको सरलता से बहा ले जाता है। कपास, तंबाकू, मक्का तथा चुकंदर पैदा करनेवालों की बहुत बड़ी बचत इस अनुसंधान से यह हुई है कि इनके पौधे केवल उगने की प्रारंभिक अवस्था में ही उर्वरकों से फॉस्फोरस लेते हैं और बाद में डालने पर धुल कर निकल जाने का भय रहता है। इसके विपरीत आलू का पौधा बढ़ने की अंतिम अवस्था तक इससे लाभान्वित होता रहता है। अनुसंधानों द्वारा यह भी सिद्ध हुआ है कि सिंचाई के जल के साथ मिलाकर फॉस्फरिक अम्ल देने से उतना ही लाभदायक होता है जितना सूखा उर्वरक मिट्टी पर फैलाने से।

प्रयोगों द्वारा यह भी ज्ञात हुआ है कि फलवाले वृक्षों पर फॉस्फोरस उर्वरक का विलयन डालने से कोई लाभ नहीं होता। उत्तम उपाय यह है कि ३०-३५ सेंटीमीटर की गहराई के छिद्रों में उर्वरक डाले जायँ। यह भी ज्ञात हुआ है कि कपास के पौधों के लिये उर्वरक उसके बीज के साथ ही देने से लाभप्रद होता है। मक्का एवं दूब घास उर्वरक का अच्छा उपयोग तभी कर पाती हैं जब उसे मैदान की सतह पर न फैलाकर छिद्रों में डाला जाय। चुकंदर, गेहूँ एवं मक्का इत्यादि फसलों के बीज जब रेडियोधर्मी विलयन में भिगो दिए जाते हैं तब उपज में वृद्धि हो जाती है। केवल थोड़े व्यय से अनुसारक तत्व ही फलों एवं सब्जियों की साधारण ताप पर परिरक्षणक्षमता बढ़ा देते हैं।

फसलों की टिड्डी, दीमक, रतुआ, उकठा, कंडवा आदि कीटों से जो क्षति होती है, उनको रोकने और कृषिविनाशक कीड़ों का नाश करने का उपाय ढूंढना कीटज्ञ (Entomologist) के अनुसंधान का विषय है। मधुमक्खी और रेशम के कीड़ों के पालन तथा उनसे संबंधित अनुसंधान तथा फसलों और गल्लों को चूहों तथा घुन आदि से बचाने का उपाय भी कीटज्ञ करते हैं।

फसलों में बहुत सी व्याधियाँ लगती हैं, यथा—ईख में सूखा की बीमारी, गेहूँ में गेरुई की बीमारी आदि। इनके निवारण करने के उपायों का अन्वेषण पादप-व्याधिकी करते है।

खेती किस प्रकार की जाय, भूमि की जोताई कैसे और कब हो, किस .। में, किस समय और कौन सी खाद डाली जाय, कैसे सिंचाई की जाय, कब कब गोड़ाई की जाय, कैसे किसी फसल की अधिक से अधिक पैदावार हो इन सब प्रश्नो के उत्तर ढूंढ़ निकालना शस्यविज्ञान के विषय है।

मृदारक्षण—कृषिसंबंधी समस्याओं मे एक महत्वपूर्ण समस्या मृदारक्षण भी है। तेज हवा और वर्षा से ऊपर की अच्छी मृदा (उपजाऊ मिट्टी) उड़ जाती है अथवा कटकर बह जाती है और नीचे से बेकार भूमि निकल आती है। इस कटाव से भूमि को सुरक्षित बनाने के उपाय ढूँढ़ना कृषि अनुसंधान की एक विशिष्ट दिशा है।

उद्यान विज्ञान के बिना अच्छे प्रकार के फल एवं तरकारियाँ नहीं उगाई जा सकतीं। इस विषय मे भी खोज तथा अन्वेषण हो रहे है।

कृषि संबंधी कलपुर्जो, आवागमन के वाहनो तथा भूमि के कटाव और बाढ़ की रोकथाम, सिचाई एवं पानी के निकास के साधनों का विकास एवं निर्माण कृषि इंजीनियरी के विषय हैं। वस्तुत: यह अपने आप में कोई एक विषय नही है वरन् इसका संबंध यांत्रिक (Machanical), वैद्युत (Electrical) और सिविल इंजीनियरिंग सबके साथ है। कृषि इंजीनियर यांत्रिक इंजीनियर की तरह कृषि की उत्पादन वृद्धि के लिये कृषि यंत्रों का आविष्कार और निर्माण करता है। वह विद्युत् इंजीनियरी के सिद्धांतों का प्रयोग कृषिकार्यो के लिये करता है। यथा—चारा काटना, दाल दलना, मक्खन निकालना, सिंचाई के लिये पानी निकालना आदि। फसलों के लिये उचित मात्रा में पानी की पूर्ति के लिये बाँध और नहर बनाना और जल निकास के लिये नाली एवं भवन निर्माण करना, गूलों की उचित व्यवस्था करना तथा अधिक से अधिक क्षेत्रफल की सिंचाई का प्रबंध करना भी कृषि इंजीनियरी के कार्य हैं। बड़ी इमारतो तथा गोदामों आदि के निर्माणकार्य में जिन सिविल सिद्धांतों का प्रयोग होता है उनका अनुकरण कृषक के निवासगृहों, दुग्धशालाओं, अनाज रखने के गोदामों आदि के निर्माण में, भूमिसंरक्षण, अनुपयोगी जल का निकास, रासायनिक क्रियाओं द्वारा मनुष्य एवं पशुओं के लिये जल को उपयोगी बनाना और कृषिक्षेत्रों में भवननिर्माण इत्यादि कृषि इंजीनियरी के कार्य हैं।

कृषि अनुसंधान कार्य आरंभ करनेवालो में फ्रांस के लावाज्ये (Lavoisier, सन् १७४३–१७९४) तथा जर्मनी के ऐलबर्ट थॉर (Albert Thor १७५०–१८२८) के नाम प्रसिद्ध हैं। उनके बाद बोसिंगाल्ट ने ऐलसेस में सन् १८३४ से १८७१ तक काम किया। इन्होंने बीज के उगने के समय के रासायनिक परिवर्तनों पर, पौधों के हवा से नाइट्रोजन इकट्ठा करने पर, फसलों के हेर फेर, रासायनिक खादों के उपयोग पर, जानवरों की खाद को उचित रूप से रखने पर, विविध प्रकार के चारों पर, उनको खिलाने से दूध पर पड़नेवाले प्रभाव इत्यादि विषयों पर बड़ी गहरी खोज की। इंग्लैंड में लाविस तथा गिल्बर्ट ने सन् १८१४ से सन् १९०० तक राथेम्स्टेड में रासायनिक खादों पर बड़ा काम किया। यह अनुसंधान अबतक रॉथेम्स्टेड में चल रहा है। रॉथेम्स्टेड संसार की सबसे पुरानी कृषि अनुसंधानशाला है। सन् १९०९ में इंग्लैंड की पार्लियामेंट ने खेती के अनुसंधान कार्य के लिये २०,००,००० पाउंड देना स्वीकार किया और रॉथेम्स्टेड को भूमि, वनस्पतिपोषण तथा रोगान्वेषण का कार्य सौंपा गया। पशुपोषण का कार्य रोवेट अनुसंधानशाला, ऐबरडीन (Aberdeen), को दिया गया। वनस्पति-शरीर-क्रिया-विज्ञान 'इंपीरियल कालेज ऑव साइंस ऐंड टेकनॉलॉजी' (लंदन) को दिया गया। वनस्पति प्रजनन तथा विजातीय संस्करण का काम केंब्रिज विश्वविद्यालय तथा यूनिवर्सिटी कॉलेज, अबेरिस्टविथ और स्काटिश प्लांट ब्रीडिंग स्टेशन, एडिनबरा को दिया गया। फलों के अनुसंधान का प्रबंध लांग अशटन, ब्रिस्टल तथा ईस्ट मालिंग, केंट में, किया गया। पशुप्रजनन एडिनबरा यूनिवर्सिटी तथा डेरी अनुसंधान का कार्य रेडिंग यूनिवर्सिटी एवं रॉयल वेटेरिनरी कॉलेज, लंदन, में रखा गया।

कैनाडा में कृषि अनुसंधान के फलस्वरूप मारक्विस जाति का गेहूँ निकाला गया, जिसने सारे राज्य के कृषि अनुसंधान के व्यय की पूर्ति कर दी।

मिस्र में गेजिरा और मैदानी में कपास की अनुसंधानशालाएँ खुलीं। मलाया में रबर रिसर्च इंस्टीटयूट तथा लंका मे चाय रिसर्च इंस्टीटयूट खोले गए। डेनमार्क, फ्रांस, जर्मनी, हालैंड आदि देशों में कृषि अनुसंधान-शालाएँ खुलीं, जिनसे उन देशों को बड़ा लाभ हुआ। रूस मे सन् १९३८ में १४,००० वैज्ञानिक ९० कृषि अनुसधानशालाओं, ३६७ अन्वेषण-संस्थाओं एवं ५०७ कृषि-प्रयोग-क्षेत्रों में काम कर रहे थे।

१९०३ ई० के आसपास अमरीका के शिकागो नगर निवासी हेनरी फिप्स ने भारत में कृषि संबंधी वैज्ञानिक अन्वेषण के लिये ३०,००० पौंड की धनराशि प्रदान की जिससे बिहार राज्य के पूसा नामक स्थान में एक विशाल कृषि अनुसंधान केंद्र स्थापित किया गया। जब वह १९३४ ई० के प्रचंड भूकंप में नष्ट हो गया तब उसकी पुनःस्थापना दिल्ली में की गई। आज वह राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान केंद्र के नाम से ख्यात है। आज देश के विविध स्थानों में कई अनुसंधानशालाएँ हैं। इन अनुसंधानशालाओं में गेहूँ, धान, ईख, कपास, चना, मटर, मूँग आदि की अनेक जातियाँ विकसित की गई है और की जा रही हैं।

कृषि अनुसंधान के समान ही कृषिविषयक शिक्षा का भी महत्व है। इसका अनुभव यूरोप में १८वीं शती के आरंभ में ही किया जाने लगा था।

सन् १७६८ ई० में यूनाइटेड किंगडम के एडिनबरा विश्वविद्यालय में रसायनशास्त्र के प्रोफेसर विलियम कलेन ने कृषिविज्ञान संबंधी कुछ भाषण दिए जो 'वनस्पति और कृषि संबंधी नौ व्याख्यानों का सारांश' के नाम से प्रकाशित हुए। एडिनबरा विश्वविद्यालय के ही एक दूसरे प्रोफेसर जान वाकर ने सन् १७८८ में कृषि विषय पर कई व्याख्यान दिए जो १८१२ ई० में 'एसेज ऑन नैचुरल हिस्ट्री ऐंड रूरल एकनॉमिक्स' (Essays on Natural History and Rural Economics) के नाम से प्रकाशित किए गए। इन दोनों वैज्ञानिकों के परिश्रम और कार्य से सर विलियम पुलटेनी बड़े उत्साहित हुए और १७९० में एडिनबरा में कृषि तथा रूरल इकोनॉमिक्स एक विषय में गृहीत हुआ और वे उसके प्रोफेसर बने। इस प्रकार एडिनबरा विश्वविद्यालय ने कृषिशिक्षा का श्रीगणेश किया।

सर विलियम पुलटेनी के बाद प्रोफेसर विलियम कवेंट्री और उनके बाद श्री डेविड लो इस विषय के शिक्षक हुए। लो ने 'ब्रीड्स ऑव डोमेस्टि-केटेड एनिमल्स ऑव द ब्रिटिश आइल्स' नाम की पुस्तक लिखी। इनके बाद जॉन विल्सन प्रधानाचार्य नियुक्त किए गए और १८५० तक 'रॉयल ऐग्रिकल्चरल कॉलेज, सिरेंसेस्टर (cirencester)' में प्रधानाचार्य बने रहे। उनकी लिखी हुई 'आवर फार्म क्रॉप्स' नामक पुस्तक सन् १८६० ई० में प्रकाशित हुई।

सन् १८८४ तक एडिनबरा विश्वविद्यालय में रूरल एकनॉमिक्स और वनस्पति विज्ञान का एक संमिलित विभाग था, जिसके कारण कृषि विषय पर स्वतंत्र रूप से विशेष ध्यान नहीं दिया जा सका। उसके बाद वनस्पति विज्ञान विभाग से कृषि विभाग अलग कर दिया गया और रॉयल कॉलेज की स्थापना हुई। उसी की भाँति सन् १८८० में एक दूसरा विद्यालय डाउंटन में स्थापित किया गया। १८८२ ई० में कृषिशिक्षा को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया और साउथ कॅसिंगटन में कृषिशिक्षा का कार्य आरंभ हुआ।

१८६८ ई० में लंदन की रॉयल ऐग्रिकल्चरल सोसायटी ने एक परीक्षा प्रारंभ की, जिसमें छात्रों को प्रमाणपत्र, पारितोषिक तथा छात्रवृत्ति दी जाती थी। ये सुविधाएँ उन छात्रों को दी जाती थीं, जो किसी फार्म अथवा कृषि विद्यालय से संबंधित होते थे। उस कार्य में विशेष सफलता मिली, परंतु कुछ दिनों बाद यह योजना 'हाइलैंड ऐंड ऐग्रिकल्चरल सोसायटी ऑव स्कॉटलैंड' के साथ संबद्ध कर दी गई। यह संस्था भी रॉयल सोसा-यटी की भाँति थी और परीक्षण कार्य के लिये स्वतंत्र थी। सन् १८९८-९९ में दोनों संस्थाओं की एक संमिलित कृषि-परीक्षा-योजना तैयार की गई जिसके अनुसार सर्वप्रथम १९०० ई० में 'नैशनल डिप्लोमा इन ऐग्रिकल्चर' नाम से प्रमाणपत्र दिए गए। इन संस्थाओं में स्कॉटलैंड के शिक्षा विभाग, कृषि एवं मत्स्य विभाग के सदस्य ही संमिलित होते थे। इसी प्रकार की एक परीक्षा गोपालन विषय में १८९७ ई० में आरंभ की गई तथा राष्ट्रीय कृषिपरीक्षा बोर्ड के अधीन रखी गई। आरंभ में कृषि-शिक्षा केवल पुस्तकीय थी। बाद मे उसे व्यावहारिक एवं गवेषणात्मक रूप दिया गया। इंग्लैंड में कृषि तथा गोपालन की शिक्षा का आधुनिक विकास १८८८ ई० मे आरंभ हुआ और सर रिचार्ड पैगेट की अध्यक्षता मे कृषिशिक्षा को उन्नतिशील बनाने का निश्चय किया गया।

कैनाडा मे १८७४ ई० से ग्वेल्फ में उच्च कोटि का एक कृषिविद्यालय स्थापित किया गया तथा ५५० एकड़ का एक कृषि फार्म इससे संबंधित कर दिया गया। सन् १९०७ में सर विलियम मैकडानल्ड ने माट्रियल मे एक कृषिविद्यालय की स्थापना के लिये बृहत् धनराशि प्रदान की तथा एक विद्यालय की स्थापना की गई। ऑस्ट्रेलिया के प्रत्येक राज्य में उच्च स्तर पर कृषिविद्यालय स्थापित किए गए तथा किसी न किसी विश्व-विद्यालय से संबंधित कर दिए गए। प्रत्येक राज्य में अनेक कृषि माध्यमिक स्कूल भी कृषिशिक्षा के लिये स्थापित किए गए। अमरीका में कृषिशिक्षा तथा गवेषणा के लिये अनेक संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। इन कृषिविद्यालयों से संबंधित बड़े बड़े कृषि फार्म हैं। इनके कुशल संचालन के लिये पर्याप्त धन प्रदान किया गया है। मिस्र के गाजा नामक स्थान मे एक उत्तम श्रेणी का कृषिविद्यालय है। इस प्रकार लगभग संसार के सभी देशों में कृषि संबंधी शिक्षा की व्यवस्था उपलब्ध है।

संयुक्त राज्य अमरीका एवं कैनाडा मे इंजीनियरी की प्रगति बड़ी तेजी से हुई। परंतु इंग्लैंड और यूरोप के कुछ भागों में कृषि इंजीनियरी का विस्तार प्राकृतिक साधनों के पूर्ण रूप से उपलब्ध होने पर भी विशेष उल्लेखनीय नहीं रहा, क्योंकि यहाँ कृषि इंजीनियरी का कार्य यांत्रिक और सिविल इंजीनियरी को दे दिया गया। यांत्रिक इंजीनियरी को कृषिगत ऊर्जा और यंत्र तथा सिविल को भूमि एवं सिंचाई की व्यवस्थाएँ सौंपी गईं।

संयुक्त राज्य अमरीका में कृषि इंजीनियरी की पढ़ाई का श्रीगणेश सन् १९०५ में लोआ स्टेट कालेज, एम्स, में हुआ और चार वर्ष के पाठ्यक्रम के उपरांत बी० एस-सी० (कृषि इंजीनियरिंग) की उपाधि प्रदान करने की व्यवस्था की गई। सन् १९५९ में संयुक्त राज्य अमरीका में कृषि इंजीनियरी संबंधी ४६ महाविद्यालय थे। आज विश्व के ४५ देशों में इसकी शिक्षा दी जा रही है।

भारत में कृषि के वैज्ञानिक विकास का आरंभ ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के पश्चात् हुआ। कंपनी के व्यापार से निर्यात के लिये अधिक शस्य उपजाने को प्रोत्साहन मिला। शस्य की उपज में वृद्धि के लिये पाश्चात्य कृषि के वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग किया गया। १८३९ ई० में कंपनी ने कपास बोनेवाली १२ मशीनें लगाकर कपास की खेती में उन्नति करने का प्रयास किया। १८६४ ई० में वाष्प इंजनों द्वारा जुताई के यंत्रों का प्रयोग किया गया। १८८० ई० मे अकालनिवारण पर विचार करने के लिये जब कमीशन नियुक्त किया गया तब उसने कृषि की उन्नति के व्यावहारिक साधनों का गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया। १८८९ ई० में इंग्लैंड की रॉयल ऐग्रिकल्चरल सोसायटी के सदस्य डॉक्टर वोल्कर को कृषि की उन्नति संबंधी सुझाव के लिये आमंत्रित किया गया। १८९२ ई० में मि० जेम्स मालिसन, तत्पश्चात् डॉ० लेदर तथा डॉ० बारबर जैसे वैज्ञानिकों ने भारत में कृषि की उन्नति के लिये अपने विचार तथा सरल उपाय प्रस्तुत किए। १९०१ ई० में जब अकाल की समस्याओं पर विचार करने के लिये एक नए कमीशन की स्थापना हुई तब उसके सुझाव पर तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन की सरकार ने कृषिविज्ञान की शिक्षा के लिये कई प्रांतों में प्रथम बार कृषिविद्यालयों की स्थापना की। अब तो देश के प्रत्येक राज्य में कृषिशिक्षा के अनेक कॉलेजों तथा स्कूलों में वैज्ञा-निक कृषि की शिक्षा दी जा रही है। और कई कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई है जिनमें पंतनगर स्थित विश्वविद्यालय विशेष महत्व का है और वह कृषि अनुसंधान का एक बहुत बड़ा केंद्र है।

(ज० रा० सिं०; रा० प्र० स०; स० ब० सिं०; प० ला० गु०)

कृषि यंत्र—कृषि कार्य अर्थात् खेत तैयार करने, बोने, गोड़ने, काटने आदि के लिये मनुष्य को आरंभ से ही उपकरणों की आवश्यकता रही है।

उसने खेत जोतने के लिये हल का आविष्कार किया। आरंभ में वे पूर्णतया लकड़ी के थे। पत्थर, हड्डी और धातु के आविष्कार के बाद उसके फल लोहे के बनने लगे। इसी प्रकार उसने कुदाल, फावडा, खुरपी, हँसिया आदि दूसरे प्रकार के उपकरण भी बनाए और मानवशक्ति के साथ साथ पशुशक्ति का उपयोग किया। इसके लिये बैल, घोड़ा, खच्चर, ऊँट अधिक लाभदायक सिद्ध हुए। इन्हीं साधनों से थोड़े हेर फेर के साथ संसार के सभी देशों में १८वीं शती के आरंभ तक खेती होती रही।

अठारहवीं शती में उद्योगों के यंत्रीकरण के आरंभ होने पर कृषि क्षेत्र में भी लोगों का ध्यान यंत्रीकरण की ओर गया और धीरे धीरे कृषि के उपकरण यंत्र का रूप धारण करने लगे। उन्नत दशा में कृषक सामान्यत: लोहे के हलों का उपयोग करते हैं। वहाँ १८४० ई० से ही लोहे के हलों का उपयोग किया जा रहा है, वे मिट्टी को अच्छी तरह काटते हैं। भारवहन की पर्याप्त क्षमता के कारण इनसे खेती करना सुविधाजनक है। २०वीं शताब्दी में हलों में पर्याप्त सुधार किए गए, जिनके कारण हलों पर भार घट गया। काल्टर्स के उपयोग के कारण हलों में खर पतवार कम फँसते हैं और भूमि में हल आसानी से चलाए जाते हैं। अब रबर के पहिए के कारण कृषियंत्रों और ट्रैक्टरों द्वारा भार के खिंचाव में सुविधा हो गई है। अच्छे आल्कपन, अच्छी बनावट तथा दृढ़ धातु के उपयोग के कारण घर्षण कम हो गया है। फलत: भार घट गया है। पिछड़े हुए देशों में अभी तक अच्छे प्रकार के कृषियंत्रों के उपयोग की समस्या बनी हुई है।

१९०० ई० के बाद विशेषत: प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात्, रूस, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, दक्षिणी अमरीका और अफ्रीका में कृषि के यंत्रीकरण का प्रचलन अधिक हुआ। परिश्रम एवं श्रम की महत्ता समझनेवाले अनेक देशों के कृषक कृषिक्षेत्रों पर जुताई तथा फसल की कटाई आदि समस्त कामों के लिये ट्रैक्टर का व्यवहार करने लगे, किंतु अफ्रीका और एशिया के बहुत से देशों में अभी यांत्रिक शक्ति का उपयोग अधिक मात्रा में नहीं हो पाया है। रूस में साइबीरिया के सामूहिक खेतों पर, दक्षिण तथा मध्य अमरीका में मक्का उगाने के लिये, अर्जेंटाइना में कपास तथा ईख आदि की फसलें उगाने के लिये शक्ति एवं यंत्रों का उपयोग विशेष रूप से होता है। भारत में कृषियंत्रों का व्यवहार पिछले दस बारह बरसों से आरंभ हुआ है और उसका तेजी से विस्तार हो रहा है।

आधुनिक यंत्रों के प्रयोग से खाद्य एवं पहनने की वस्तुओं के उत्पादन में काफी प्रगति हुई है। भिन्न भिन्न प्रकार की मिट्टी और विभिन्न प्रकार की फसलों का ध्यान रखते हुए अनेक प्रकार के यंत्रों का निर्माण होने लगा है। खेती के काम के लिये शक्ति के बढ़ते हुए उपयोग के कारण, मशीनों को चलानेवाली मोटरों तथा विद्युत् का प्रयोग तीव्र गति से बढ़ रहा है। संयुक्त राज्य (अमरीका) में, खेती की वृद्धि के साथ साथ विद्युच्छक्ति का उपयोग
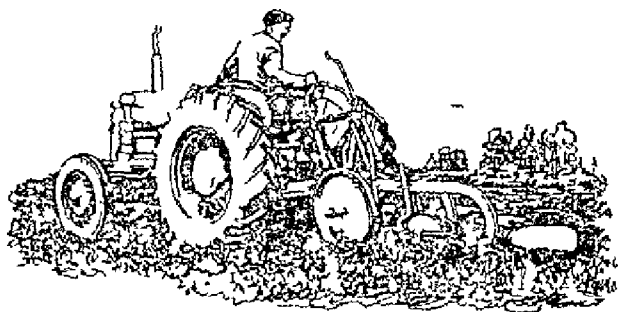
चित्र १ ट्रैक्टर, जुताई करते हुए

मुर्गी तथा सूअरों के पालने, घास के सुखाने, आटा पीसने की मशीनों तथा ...री मशीनें आदि चलाने के कार्यों में भी होने लगा है। फलत: घोड़ों ...र ऊँटों का प्रयोग बहुत ही कम हो गया। हाथ तथा पशुओं से चलाए जानेवाले यंत्रों में भी पर्याप्त सुधार हुआ और शक्तिचालित यंत्रों का आविष्कार एवं उपयोग बढ़ता गया। कृषि अनुसंधानकर्ताओं एवं अभियंताओं ने अब पौधे लगानेवाली, चुकंदर के बीज अलग करनेवाली एवं दाना तथा भूसा अलग करने आदि, कृषिकार्यों के लिये उपयोगी मशीनों को भी शक्तिचालित बनाने में सफलता प्राप्त की है।

संयुक्त राज्य, अमरीका में कृषिकार्य में शक्ति और यंत्रों के उपयोगों के प्रारंभ का क्षेत्र बड़ा व्यापक था, वहाँ कि खेत विभिन्न प्रकार की मिट्टी के होने के कारण छोटे छोटे भागों में बँटे हुए थे। अत: वहाँ छोटे से छोटे खेतों में उपयोग करने के निमित्त मशीनें बनीं, जिसका ज्वलंत उदाहरण छोटे ट्रैक्टर हैं। ये पारिवारिक तथा छोटे खेतों के लिये उपयोगी सिद्ध हुए हैं। यही बात प्लांटिंग मशीन और फर्टिलाइज़र डिस्ट्रिब्यूटर के विषय में भी कही जा सकती है।

ग्रेट ब्रिटेन में जुताई के लिये वाष्पचालित ट्रैक्टर उपयोग में लाए जाते थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् वहाँ पेट्रोल से चलनेवाले ट्रैक्टरों
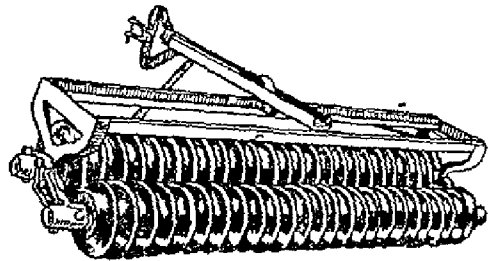
चित्र २ मिट्टी को भुरभुरी करनेवाली मशीन

[यह मैक्कॉर्मिक-डीयरिंग (Mccormick Deering) यंत्र दो पंक्तियोंवाला होता है।

की संख्या अधिक हो गई है। कृषिसंबंधी श्रमिकों की कमी ने फार्मों पर शक्ति एवं यंत्रों के उपयोग में दिनों दिन वृद्धि की है। वहाँ के किसानों ने घास से अधिक लाभ उठाने के हेतु शक्ति एवं मशीनों का उपयोग विशेष रूप से किया है। वर्षा के कारण घास को अच्छी दशा में रखना कठिन था, अत: घास को साइलो में रखने की प्रथा का पर्याप्त विकास हुआ। परिणामस्वरूप इनसाइलेज कटर (चारा काटने की मशीन), साइलोफिलर, साइलेज हार्वेस्टर जैसी मशीनों का वहाँ विशेष रूप से प्रयोग किया जा रहा है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् वहाँ कंबाइन तथा थ्रेशर का उपयोग भी बढ़ा है। वहाँ कुछ फसलों की कटाई रीपर के द्वारा होती है, जो फसल
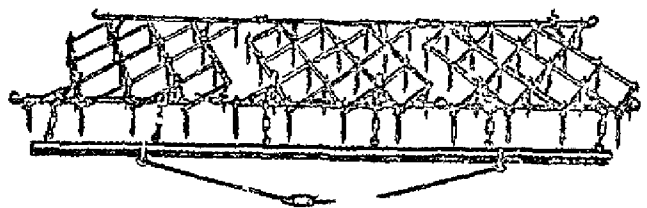
चित्र ३ खूँटीदार हेंगा (हैरो Harrow)

को बिना गट्ठर बनाए ही भूमि पर डाल देता है। यह कटी हुई फसल ट्रक एवं वैगनों में रखकर मड़ाई के लिये जाती है। वहाँ की थ्रेशिंग मशीनें केवल भूसे को ही दाने से अलग नहीं करतीं, वरन् छोटे छोटे खर कतवार, लकड़ी, पत्थर और मिट्टी को भी अनाज से अलग करती हैं। हवा में अधिक नमी होने के कारण ब्रिटेन के बहुत से चरागाहों में काई अधिक पैदा हो जाने से ग्रीष्म में हैरो का उपयोग होने लगा है।

सोवियत रूस में सहकारी खेती, पंचवर्षीय योजना, भूमिसुधार और छोटे छोटे खेतों को तोड़कर बड़े फार्म बनाने की योजनाओं के कार्यान्वित

होने से ही यांत्रिक खेती की प्रगति हुई है। सुनिश्चित समय में योजनाओं के अंतर्गत यंत्रीकरण की उन्नति की ओर विशेष ध्यान तथा सस्ते ईंधन
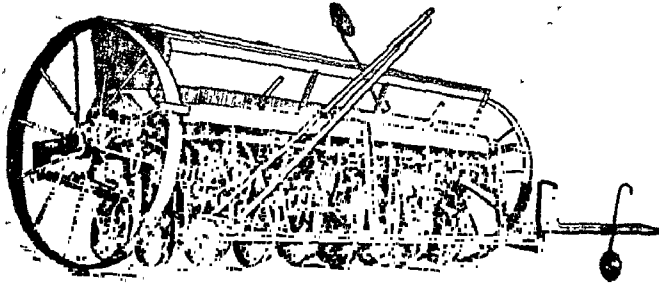
चित्र ४. बीज बोने और खाद डालने की मशीन

की प्राप्ति, रूस के कृषियंत्रीकरण में विशेष सहायक सिद्ध हुई। देश में ट्रैक्टर बनाने के बहुत से कारखाने खोले गए तथा आदमियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। लगभग सन् १९४० तक रूस में खेती का एक बड़ा भाग सामूहिक खेती के रूप में होता रहा। अंत में इन छोटे भागों को मिलाकर बड़ी इकाई का रूप दे दिया गया, जिसके प्रबंध में पर्याप्त सुविधा हुई। मध्यम तथा छोटी माप के सामूहिक कृषिक्षेत्र (फार्म) आवश्यकता पड़ने पर राजकीय कृषिक्षेत्र से मशीनें लाकर कार्य करते हैं।

१९३६ के बाद रूस में मशीनें गेहूँ, जौ, जई, राई और दूसरे अनाज उगाने के काम में आने लगीं और जो मशीनें अन्यत्र यांत्रिक खेती के लिये
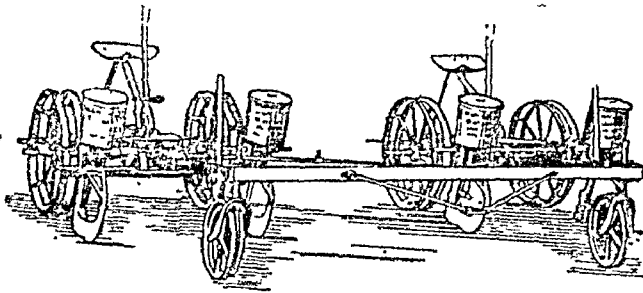
चित्र ५. अनाज बोने की मशीन

प्रयुक्त होती रहीं उनका उपयोग कपास, चुकंदर इत्यादि फसलों की खेती में भी किया जाने लगा। अब वहाँ लगभग सभी कृषिकार्य मशीनों के द्वारा होते हैं। दूसरे शब्दों में कृषि का ९८ प्रतिशत यंत्रीकरण हो चुका है। वहाँ विभिन्न प्रकार के १,००० कृषियंत्र बनने लगे हैं।

जर्मनी में लोगों का झुकाव डीजेल तथा सेमिडीजेल छोटे ट्रैक्टरों के निर्माण की ओर अधिक है। झुकाव का मुख्य कारण वहाँ अधिक से अधिक भूमि में खाद्यान्नों को पैदा करने के उद्देश्य हैं। यांत्रिक शक्ति के उपयोग से फसल उगाने के लिये पुरस्कार स्वरूप जर्मनी के कृषकों को ३ से ५ एकड़ जमीन मिल जाती रही है। स्वभावतः लोगों का झुकाव ट्रैक्टरों एवं ट्रकों से कृषिक्षेत्रों की उत्पत्ति को बाजार ले जाने की ओर हुआ। वहाँ मशीनों के आकल्पन (design) में खाद्योत्पादन की वृद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया गया, जिससे यहाँ के छोटे छोटे फार्मों से अत्यधिक लाभ उठाया जा सके। कतारों में बुवाई करनेवाली इस देश की मशीनों की सूक्ष्मता दूसरे देशों के लिये एक नमूना है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व भी जर्मनी के कृषि फार्मों पर विद्युच्छक्ति का उपयोग होता था। सिफट जर्मनी का एक विख्यात ट्रैक्टर है, जिसका निर्माण सन् १९४७-४८ में प्रारंभ हुआ। ट्रैक्टरों से चलनेवाले स्पाइक टूथ हैरो तथा पल्वराइज़र इत्यादि इस देश में प्रचुर मात्रा में निर्मित होते हैं।

फ्रांस में छोटे छोटे फार्मों की अधिकता के कारण यांत्रिक खेती का उतना विकास नहीं है जितना ग्रेट ब्रिटेन, रूस तथा जर्मनी में। फ्रांस के कृषक अपने शक्तिशाली घोड़ों के लिये प्रसिद्ध हैं। कृषिकार्यों के लिये इनका बड़ी मात्रा में उपयोग होता है, तब भी इस देश में छोटे छोटे ट्रैक्टरों के उपयोग की प्रगति हुई। इस देश में स्प्रेइंग तथा डस्टिंग मशीनों का प्रयोग एवं फलों तरकारियों की खेती में अधिक तथा कुछ सीमा तक व्यापारिक उर्वरक के लिये होता है।

दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा अर्जेंटाइना में भी कृषियंत्रों की ओर लोगों का झुकाव है किंतु जहाँ कहीं भी पेट्रोल का मूल्य अधिक है तथा जानवर रखने की सुविधा है (जैसा अर्जेंटाइना में है), कृषकों ने पशुशक्ति पर निर्वाह करना उचित समझा। इन देशों में यांत्रिक शक्ति का उपयोग केवल खेत तैयार करने तथा फसल की कटाई तक ही
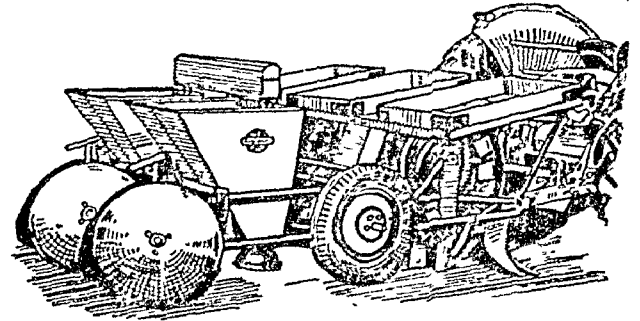
चित्र ६. आलू बोने की मशीन

सीमित है। न्यूजीलैंड में डेरी उद्योगों की उन्नति होने के फलस्वरूप वहाँ पर डेरी से संबंधित यंत्रों का अत्यधिक मात्रा में उपयोग एवं साथ ही साथ विकास भी हुआ है।

अफ्रीका में नील नदी की घाटी और दक्षिणी अफ्रीका के अतिरिक्त अन्य सभी जगह खेती अब भी पुराने ढंग से की जाती है और सामान्य यंत्र तथा पशु उपयोग में लाए जाते हैं। यही स्थिति एशिया के लगभग सभी देशों की है।

अधिक जनसंख्या होने के कारण चीन में ट्रैक्टरों एवं बड़ी मशीनों का उपयोग बहुत ही सीमित है। मानव एवं पशुचालित यंत्र ही वहाँ विशेष प्रचलित हैं। चीन में कृषिकार्यों की शक्ति का मुख्य साधन मनुष्य ही है। यहाँ तक कि हल तथा गाड़ियाँ भी मनुष्यों द्वारा चलाई जाती हैं। साइलेज कटर, पनचक्की, राइस हलर, राइस
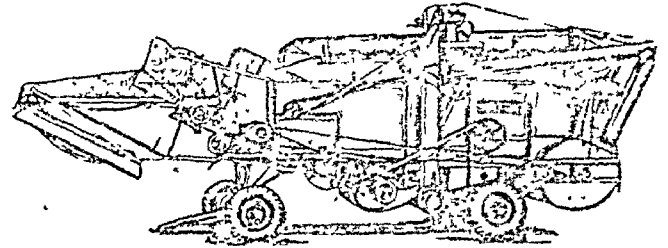
चित्र ७. मैक्कार्मिक डीयरिंग की गाहने की मशीन

थ्रेशर, दो पहिएवाले हल इत्यादि कुछ उन्नतिशील कृषियंत्रों का निर्माण अब चीन में होने लगा है।

यूरोप और संयुक्त राज्य, अमरीका, में विद्युच्चालित यंत्रों का प्रयोग होने लगा है क्योंकि वहाँ बिजली अधिक सस्ते दर पर उपलब्ध है एवं इसको उपयोग में लाना भी सरल होता है। इसके अतिरिक्त विद्युच्चालित औजार और यंत्र भी पर्याप्त समय तक ठीक दशा में रखे जा सकते हैं, समय की बचत होती है, कार्यनिपुणता बढ़ती है और व्यय कम होता है। (ग० प्र० स०)

कृषि प्रबंध—कृषि का उपयोग केवल जीवननिर्वाह के साधन मात्र के रूप में ही नहीं, अपितु लाभ अर्जित करने के लिये व्यापार के रूप में भी
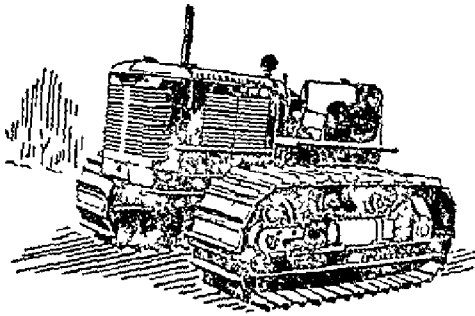
चित्र ८ क्रालर (Crawler) या चेनटाइप (Chain type) ट्रेक्टर

चित्र ११ बुकनी छिड़कने और बौछार करनेवाली मशीन
बाग में कीटनाशक ओषधि छिड़की जा रही है।
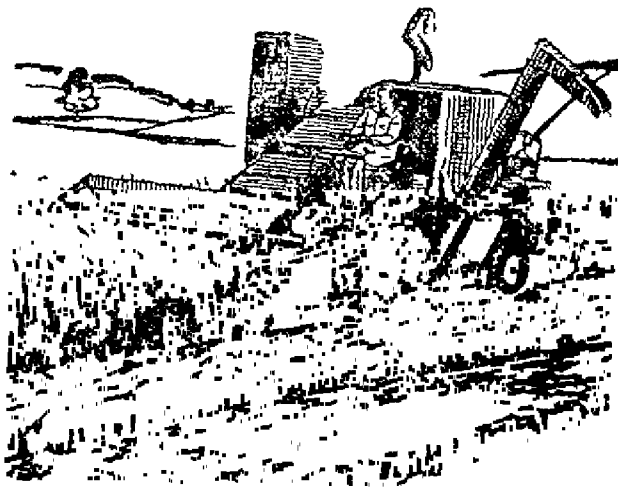
चित्र ९ गाहने और काटने की संयुक्त मशीन
(यह खेत मे घूमकर फसल काटती गाहती तथा अनाज को
साफ करती है। डंठल खेत मे खड़ा छूट जाता है।)

चित्र १२ देशी 'करामात' कोल्हू
यह ईख पेरने के काम आता है।
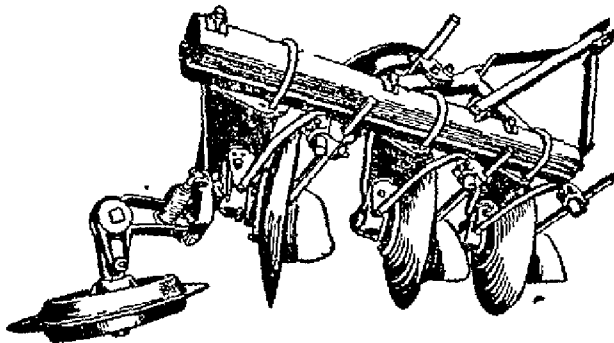
चित्र १० सीधा आड्ड़, तीन लीकवाला तवेदार हल

कृषि उपयोग के कतिपय यंत्र
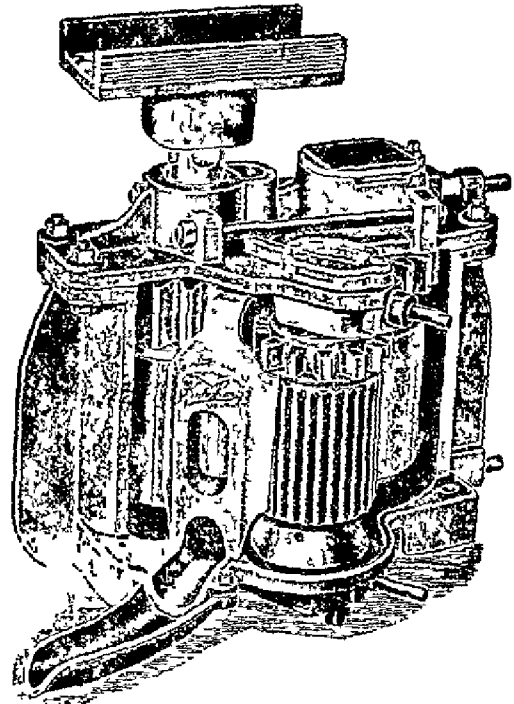
है। व्यापार के रूप में कृपक के लिये इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि जितना परिश्रम और प्रयास वह करता है उसका उसको अधिक से अधिक लाभ मिले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कृपक को खेतीवारी संबंधी साधारण वातों के पूर्ण ज्ञान के साथ साथ उत्पत्ति के साधनो अर्थात् भूमि, श्रम और पूंजी, का भी पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। उसके लिये कृपिक्षेत्र के यंत्रों, जलवायु, कीड़ों, बीमारियों, पशुपालन और क्रय विक्रय का ज्ञान अनिवार्य है। साथ ही, उसे उत्पत्ति के आर्थिक नियमों, अर्थात् उत्पत्तिह्रास नियम (Law of Diminishing Returns), सम सीमांत उत्पत्ति का नियम (Law of Equimarginal Returns) आदि का भी जानना आवश्यक है। इस प्रकार सफल कृपक के लिये उत्पत्ति और उसके विक्रय आदि पर प्रभाव डालनेवाली दशाओं और साधनों के ज्ञान की आवश्यकता होती है। कृपिप्रबंध एक विज्ञान है जो उत्पत्ति के साधन, जैसे भूमि, श्रम और पूंजी का उचित चलन और कार्यान्विति, फसल, पशुपालन आदि उद्योगो का चयन करते हुए, कृपिक्षेत्र की इकाई से लगातार और अधिकतम लाभार्जन कराता है। यह कोरा विज्ञान न होकर व्यावहारिक विज्ञान है।

कृपिप्रबंध के दो मुख्य खंड हैं : (१) कृपिक्षेत्र का संगठन और (२) कृपिसंबंधी क्रियाएँ। कृपिक्षेत्र के संगठन के अंतर्गत वे निर्णय आते हैं जो कृपिक्षेत्र के आकार चुनाव और सीमानिर्धारण तथा क्षेत्र के लिये आवश्यक यंत्रों से संबद्ध हैं।

वित्तीय साधन, जनसंख्या की सघनता, जलवायु, भूमि की दशा, उगाई जानेवाली फसलों का स्वभाव, सिंचाई के साधन, कृपिकार्य की प्रकृति, संगठन की क्षमता और पैतृक तथा राजकीय नियम द्वारा ही कृपिक्षेत्र के आकार का निर्धारण होता है। कृपक को, अपने को पूर्ण रूप से स्थापित करने के लिये निम्नलिखित वातों पर विशेप रूप से ध्यान देने की आवश्यकता होती है—

(१) प्राप्त सामाजिक सुविधाओं से संवद्ध प्रवृत्ति एवं रुचि, जैसे विद्यालय, चिकित्सालय, पड़ोस तथा अन्य सामाजिक सुविधाएँ।

(२) भौतिक अवस्थाएँ, जैसे जलवायु, भूमि की उर्वरता तथा तल की समानता, पानी की पूर्ति तथा निकास की सुविधा, कीट, बीमारियाँ तथा बाढ़ के प्रकोप आदि।

(३) आर्थिक विचार, जैसे भूमि का मूल्य, कृपिक्षेत्र का ढलाव और प्रकृति, पूंजी की आवश्यकता तथा पूर्ति, यातायात के साधन, नगर और सड़क के दृष्टिकोण से कृपिक्षेत्र की स्थिति, मंडी से दूरी, सरकारी कर तथा अन्य राजकीय नियम और उचित दर पर श्रमिकों का प्राप्त होना, इत्यादि।

भारतीय दृष्टिकोण से प्रमुख कृपिउद्योग ये हैं : (१) सामान्य कृपि, (२) फलोत्पादन, (३) तरकारियों की खेती, (४) डेरी, (५) पशुप्रजनन (Breeding), (६) मुर्गीपालन, (७) सुअरपालन आदि।

कृपि उद्योग का चुनाव करते समय निम्नलिखित वातें ध्यान में रखना आवश्यक है : भूमि का उपयोग, उर्वरता का सरक्षण, श्रम का विभाजन, अतिरिक्त उपजात का उपयोग, साहस की सीमा, आय का विभाजन, बैलों तथा यंत्रो का उपयोग, जलवायु, विभिन्न फसलो की दृष्टि से भूमि की उपयोगिता, व्यक्तिगत एवं पारिवारिक रुचि, अनुभव, दक्षता तथा स्वास्थ्य, वाजार का आकार प्रकार तथा विभिन्न उद्योगों से घनिष्ठता, प्राप्त पूंजी की मात्रा, विभिन्न उद्योगों के तुलनात्मक आय और व्यय, उद्योगों की सामाजिक तथा वैधानिक स्थिति आदि।

भूमिप्रवंध, श्रमप्रवध, पूंजी की उपलब्धि, उत्पादन का क्रय विक्रय आदि सभी कृपिक्षेत्र के महत्वपूर्ण पहलू है। अतः प्रबंधक का मुख्य कर्तव्य है कि वह प्राप्त विभिन्न साधनों का इस प्रकार उपयोग करे कि वह अधिक से अधिक लाभ अपने कृपिक्षेत्र से प्राप्त कर सके। दूसरे शब्दों में कृपक परिवार के पास प्राप्त साधनों द्वारा लगातार अधिकतम लाभ प्राप्त करना ही कृषि के संगठन और कार्यवहन का मुख्य उद्देश्य है। इसलिये कृपिकार्य को व्यापारिक आधार पर संगठित करते समय यही आधारभूत सिद्धांत होना चाहिए कि ऐसे फसल संयोगों को ही उगाया जाय जो प्रति एकड़ अधिकतम उपज तथा मूल्य दे सकें। इसके लिये निम्नलिखित वातों को ध्यान में रखना चाहिए :

१. इस तरह के उद्योगों का चयन किया जाय जो कृपिक्षेत्र की भौतिक अवस्था, वाजार की दशा और संगठनकर्ता की आवश्यकताओं के अनुरूप हों।

२. स्थानीय कृपकों के अनुभव तथा कृपिसंबंधी रीतियों को पथप्रदर्शक के रूप मे ग्रहण किया जाय।

३. कृपिकार्य योजनाबद्ध हो। उसमें फसल तथा पशु संबंधी उन उद्योगो को संमिलित करना चाहिए जिनके द्वारा लाभ हो सके।

४. फसलों के उत्पादन की ऐसी योजना बनाई जाय जिसमें प्रत्येक लाभप्रद फसल का क्षेत्रनिर्धारण, जलवायु, सिंचाई की सुविधा, वाजार, वित्तीय साधन और संगठनकर्ता की आवश्यकताएँ आदि सभी वातों पर ध्यान हो।

५. योजना सामयिक हो और मौसम तथा वाजार के संक्रमण काल में परिवर्तित की जा सके।

६. उपज और कृपि का संतुलन बना रहे। यह संतुलन फसलों के मूल्य में पारस्परिक परिवर्तनों के आधार पर हो जिससे भविष्य में हानि की संभावना न रहे।

७. भूमि की उर्वरता की वृद्धि के लिये पशुओं, श्रमिकों तथा अन्य साधनों के साथ साथ खेती करने की विभिन्न रीतियो का पूर्ण उपयोग किया जाय, जिससे फसल उत्पन्न करने का आदर्श प्रस्तुत कर सकें। इससे विभिन्न फसलें उत्पन्न करने का अच्छा अवसर रहेगा और उत्पादन को उपयोग में लाने और बेंचने की सुविधा रहेगी।

योजना बनाते समय उन वातों की जानकारी आवश्यक है जिनका संवंध फसलों की उत्पत्ति, फसल की कृपक को आवश्यकता, उपज की वाजार में खपत, कृपक को उधार लेने की आवश्यकता, उचित व्याज पर पर्याप्त पूंजी प्राप्त करने की सुविधा, कार्यकारी पूंजी का व्याज, भूमि का विभिन्न रीतियों से उपयोग और उचित मूल्य पर वाजार संबंधी सेवाएँ प्राप्त करना आदि है। ये सभी स्वाभाविक समस्याएँ हैं और उनका कृपि में बड़ा महत्व है। योजना का उद्देश्य किसान की अपनी वास्तविक आय में वृद्धि है। अतः फसलों को उत्पन्न करने में बहुत से निर्णय लेने होते हैं, यथा—किस प्रकार फसलों को बदलकर उत्पन्न किया जाय, कितनी और किस प्रकार की गाएँ, बैल, मुर्गियाँ और कृपिकोप की आवश्यक वस्तुएँ रखी जायँ तथा भवन, मशीन, औजार, और श्रम तथा शक्ति के कौन से साधन उपयोग में लाए जायँ। दूसरे शब्दों में, व्यापार की सभी वातो को ध्यान में रखना आवश्यक है। जो फसलें चुनी जायँ वे वाजार की माँग के अनुकूल हों। अच्छी खेती के लिये अदल बदलकर फसलें बोई जायँ और ऐसे श्रम का उपयोग किया जाय जिससे अधिकाधिक लाभ प्राप्त हो। ऐसी योजना बनाई जाय जिसमें पशुओं से अधिकतम कार्य लिया जाय और आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन किए जा सकें। उत्पादनपद्धति के समान ही व्यापारपद्धति का भी महत्व है। अतः कृपिव्यापार में इन दोनों वातों का ध्यान रखना अनिवार्य है। दोनों के बीच एकता स्थापित करने से ही अधिकतम और लगातार लाभ अर्जित कर सकना संभव है।

(ज० ण० ग०)

कृषि श्रम और मजदूरी—भारत मे कृपि एक पारिवारिक उद्योग है। उसमें परिवार के सभी लोगों का योग होता है। किंतु कृपिसंबंधी कुछ कार्य ऐसे हैं जिसे सभी परिवार के लोग अथवा परिवार के सभी लोग नहीं कर पाते। उनके लिये उन्हें अन्य लोगों की सहायता की आवश्यकता होती है, और वे इस सहायता को मजदूरी देकर प्राप्त करते हैं। कृपिकार्य करनेवाले श्रमिकों को मजदूरी रुपए पैसे के रूप में नकद न देकर श्रमिक को कृपि उत्पादन का अंश देने की प्रथा इस देश में प्राचीनकाल से रही है। यह प्रथा व

कुछ अंशों में आज भी पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा देश के कतिपय अन्य भागों में प्रचलित है। जिन श्रमिकों के पास अपनी भूमि नहीं है, वे इस प्रथा को पसंद करते हैं। इसके द्वारा वे अपने श्रम का अधिक से अधिक मूल्य प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार श्रमिक की मजदूरी स्थानीय प्रथा के आधार पर दी जाती है। यथा—पंजाब में कपास लोढ़ने और जमा करनेवाले को उत्पादन का इक्कीसवाँ भाग दिया जाता है। उत्तर प्रदेश में कतिपय जिलों में गेहूँ की खेती के श्रमिकों को उत्पादन का बारहवाँ भाग मिलता है। मेरठ जिले में ईख की खेती का चालीसवाँ भाग दिया जाता है। इस प्रकार के श्रमिकों को इस पारिश्रमिक के अतिरिक्त जलपान, पीने के लिये तंबाकू, पहनने के लिये कपड़े, घर बनाने के लिये समुचित उपकरण और भोजन देने की भी प्रथा है। किंतु ये सुविधाएँ उन्हीं श्रमिकों को प्राप्त होती हैं जो परिवार के साथ स्थायी रूप से संबद्ध होते हैं।

मजदूरी की इस व्यवस्था का एक अन्य रूप रहा है जिसमें श्रमिक को अपने जीवनयापन के लिये भूमि प्रदान की जाती थी और वह उस भूमि के कर का भुगतान भूस्वामी को अपने श्रम द्वारा करता है। दूसरे शब्दों में उसे मजदूरी मुद्रा अथवा उत्पादन के रूप में नहीं प्राप्त होती। वरन् वह उसे भूमि के फलोपभोग के रूप में प्राप्त होती है। इसे अर्थशास्त्रियों ने *कृषिदासता* का नाम दिया है।

कृषिदासता स्वामी तथा श्रमिक के पारस्परिक कर्तव्य पर निर्भर थी। श्रमिक की सेवाओं तथा श्रम का विनिमय स्वामी की भूमि की उत्पत्ति के कुछ निश्चित अंश के अधिकार से होता था। जिस समय मुद्राओं का प्रचलन प्रचुर रूप से नहीं हुआ था उस समय कृषिदासता क्षेत्रिकप्रधान समाज का सहज रूप था। इसे सामाजिक आर्थिक संस्था माना गया था। वह सामंतवादी व्यवस्था का अपरिहार्य अंग थी। कृषिदास को वे ही अधिकार प्राप्त होते थे जिसे भूमिपति कृपा करके दे देता था। कृषिदासता यूरोपीय सामंती व्यवस्था की विशेषता थी, किंतु वह भारत तथा चीन ऐसे देशों में भी स्पष्ट रूप से पनपी। आज भी अपने देश के अत्यधिक पिछड़े प्रदेशों में कृषिदासता बनी हुई है।

अब *कृषिदासता और उत्पत्तिसहभाग की प्रथा के स्थान पर श्रम* का मूल्य नकद रुपए पैसों में देने का व्यवहार बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार के पारिश्रमिक का दर प्रत्येक प्रदेश तथा प्रत्येक स्थान में स्थानीय परिपाटी, काम के स्वरूप, रहनसहन के स्तर और श्रम की पूर्ति और माँग पर निर्भर करती है। किंतु यह पारिश्रमिक औद्योगिक क्षेत्र में काम करनेवाले श्रमिकों के पारिश्रमिक की तुलना में इतना कम रहा है कि कृषिश्रमिकों के जीवनस्तर की समुचित उन्नति नहीं हो सकी। फलत प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत कृषिश्रमिकों का एक निश्चित जीवनस्तर स्थापित करने की योजना थी। फलत पंजाब, राजस्थान, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश आदि अनेक प्रदेशों में कृषिश्रमिकों का न्यूनतम वेतन कानून बनाकर निर्धारित कर दिया गया है।

(ज० श० ग०, ही० ना० मु०, प० ला० गु०)

कृषि ऋण—कृषि के लिये बीज, खाद, यंत्र, पशु आदि की आवश्यकता प्रत्येक कृषक को होती है। कुछ अंश तक कृषक इसकी पूर्ति स्वयं अपने साधनों से कर लेता है। शेष के लिये उसे दूसरे से ऋण लेने की आवश्यकता होती है। वैदिक काल में कृषि में सहयोग देना राजधर्म था। यह सहयोग कृषक को राजा से बीज पशु और जलप्रदाय के रूप में होता था। समय के साथ इस सहयोग ने ऋण का रूप लिया और ऋण देना कुछ व्यक्तियों का व्यवसाय बन गया। कृषिऋण सामान्यत उत्पादक क्रियाओं के लिये ही होता है, किंतु कभी कभी अनुत्पादक क्रियाओं के लिये भी इसकी आवश्यकता पड़ती है। निरंतर सूखा पड़ने पर कृषक को पेट भरने के लिये भी ऋण की आवश्यकता होती है। कभी कभी वह सामाजिक प्रथाओं में व्यय के लिये भी उधार लेता है। कृषि के लिये उधार लेने की परंपरा सभी देशों में है। इसके बिना कृषक उत्पादन कार्य नहीं कर सकता। किंतु अनुत्पादक ऋण उस के लिये कई बार ऐसा बोझ बन जाता है जो निरंतर बढ़ता ही रहता है। जिन देशों में कृषि मुख्य व्यवसाय और पिछड़ी हुई स्थिति में है, वहाँ कृषिऋण एक गंभीर समस्या बन गई है।

कृषक को कभी थोड़े समय के लिये और कभी अधिक समय के लिये ऋण की आवश्यकता होती है। समय के अनुसार कृषिगत ऋण तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है (१) अल्पकालीन उधार, अर्थात् वह ऋण जो आगामी फसल तक के लिये, (२) मध्यकालीन उधार, छह मास से तीन वर्ष तक के लिये, (३) दीर्घकालीन उधार, जो २० वर्ष या इससे भी अधिक समय के लिये हो। अल्पकालीन उधार बीजादि के लिये होता है और इसके सूद की दर भी कम रहती है। मध्यकालीन उधार पशु आदि के लिये होता है। दीर्घकालीन उधार भूमि आदि के लिये लिया जाता है और यह परिमाण में भी अधिक रहता है। समयानुसार ब्याज की दर निर्धारित होती है।

कृषिऋण देने के लिये विभिन्न देशों में विभिन्न संस्थाएँ हैं। कहीं सरकार स्वयं यह प्रबंध करती है और उत्पादन के पश्चात् ऋण वसूल कर लेती है। अनेक देशों में सहकारी समितियों का संगठन है। गैरसरकारी होते हुए भी ये समितियाँ सरकार नियंत्रित हैं। द्रव्य या अन्य सहायता के रूप में कृषक, जो समिति का सदस्य होता है, ऋण प्राप्त कर सकता है। बैंकों से भी कृषकों को आर्थिक सहायता मिल सकती है। इनके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति भी, जिनका व्यवसाय ही ऋण देना है, कृषकों को उधार देते हैं। ऐसे व्यक्ति अधिक ब्याज पर रुपया उठाते हैं और कृषक की लाचारी का पूरा पूरा लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं। इनके अत्याचारों को रोकने के लिये कानून द्वारा अब इनपर नियंत्रण रखा जाने लगा है।

(गौं० श० ला०)

कृषि बीमा—साधारणतया खेती में अनेक प्रकार से दैविक हानियाँ होती हैं, यथा—अनावृष्टि, अतिवृष्टि, ओला, पौधों की बीमारी या कीटाणुग्रस्त हो जाना, चूहे इत्यादि से फसल का बरबाद हो जाना। किसान स्वयं कोई ऐसा उपाय नहीं कर सकता जिससे वह इन सब हानियों से बच सके। इसलिये देश की अन्नसमस्या को हल करने को दृष्टिगत रखकर, इनसे कृषक की रक्षा करने का एकमात्र साधन है कृषक की उपज तथा जानवरों आदि का बीमा। इससे दैविक आपत्तियों द्वारा होनेवाली किसान की इस क्षति की पूर्ति की जा सकती है अर्थात् किसान को उपज खराब होने से हुई आर्थिक क्षति से बचाया जा सकता है। इसके लिये संसार के अनेक देशों में नाना प्रकार की बीमा योजनाएँ काम कर रही हैं। किंतु अभी तक इस प्रकार की कोई योजना भारत में प्रचलित नहीं हुई है।

(ह० सिं० रा०, प० ला० गु०)

कृषि उत्तराधिकार—भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन से पहले, कृषि उत्तराधिकार और दूसरी अचलसंपत्ति दोनों के उत्तराधिकार का न्यागमन (डेवोल्यूशन) वैयक्तिक विधि (पर्सनल लॉ) अथवा आचार के आधार पर होता था। ब्रिटिश शासन की स्थापना के पश्चात्, विभिन्न प्रांतों में काश्तकारी के अपने अपने विधान बनाए गए। इन विधानों में कृषि उत्तराधिकार का निर्णय करने के नियम भी दिए गए। सामान्यत यही नियम बना कि परिभोक्ता कृषक (आकुपाइंग टेनेंट) का कृषि उत्तराधिकार, यदि वह हिंदू है तो हिंदू विधि के अनुसार, यदि मुसलमान है तो मुसलिम विधि के अनुसार नियमन होगा। अन्य लोगों पर इंडियन सक्सेशन ऐक्ट (१९२५) के नियम लागू किए गए। साथ ही कुछ अन्य नियम भी बने। यथा—बंगाल टेनेंसी ऐक्ट, १८८५ की धारा २६ में यह कहा गया कि यदि कोई रैयत परिभोग अधिकार (राइट ऑव आकुपेंसी) के विषय में बिना वसीयत किए मर जाय तो उसका उत्तराधिकार वैयक्तिक विधि से ही होगा, जब तक कि उसके विरुद्ध कोई आचार न हो। अर्थात् कुछ दशाओं में उत्तराधिकारी की नियुक्ति आचार द्वारा भी हो सकती थी। इसी प्रकार पंजाब में भी अधिकतर उत्तराधिकार आचार द्वारा ही निर्धारित किया जाता था। अवध स्टेट्स ऐक्ट, १८६९ की धारा २३ में भी यही बात कही गई थी कि जब कोई ताल्लुकेदार बिना वसीयत किए मर जाय, तो उसकी संपत्ति का उत्तराधिकार उसके धर्म या जाति के सामान्य नियमों द्वारा ही निर्धारित किया जाय, और इस सामान्य नियम में आचार भी सम्मिलित था।

जगह जगह पशुओं की चिकित्सा के लिये चिकित्सालय हैं। ईख विभाग की ओर से ईख समितियाँ बनी है, जो कृषि के यत्न तथा खाद आदि किसानों को बाँटती है और किसानों की ईख खरीदकर मिलों को देती हैं। सहकारी विभाग की ओर से सहकारी समितियाँ और यूनियनें हैं, जिनके माध्यम से ऋण बाँटा जाता है। कृषि के लिये खाद, बीज और औजार भी सहकारी गोदामों से बाँटे जाते हैं।

जिले से नीचे प्रत्येक विकास खंड मे कृषि, सहकारी और पशुपालन विभागों के प्रतिनिधि रहते हैं, जो ग्रामसेवकों और सहायकों द्वारा इन विभागों के काम गांवों में करते हैं।

सिंचाई विभाग का काम मुख्य अभियंता (Chief Engineer), अधीक्षक अभियंता (Superintending Engineer) और कार्यकारी अभियंता (Executive Engineer) देखते हैं। वन विभाग का काम मुख्य वनसरक्षक (Forest Conservation Officer) देखते हैं। क्षेत्रीय स्तर पर सहायक वनसरक्षक और मंडलीय वनसरक्षक इस विभाग का काम देखते हैं।

फलों और तरकारियों के संरक्षण के लिये एक अलग विभाग है, जिसका नाम फलपरीक्षण विभाग है। यह विभाग पर्वतीय क्षेत्रों में बागबानी का काम देखता है और प्रदेश भर में फल और तरकारी के संरक्षण की देख रेख करता है। (श्री० रा० कृ०, प० ला० गु०)

कृष्ण कृष्णनामक व्यक्ति का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। वे ऋषि कहे गए है और उन्हें अनुक्रमणी में कृष्ण आंगिरस कहा गया है। वे सोमपान के लिये अश्विनी कुमार का आह्वान करते है तथा अट्टिसनीय गृह प्रदान करने की प्रार्थना करते है (८।८५।१–७)। एक अन्य ऋचा में कृष्णपुत्र विश्व की जानकारी मिलती है (१।११६।७)। दो अन्य ऋचाओं में अपत्यवाचक कृष्णिय शब्द का प्रयोग हुआ है (१।११६। २३, १।११७।७)। इनके अनुसार कृष्ण विष्णापु के पिता थे। कृष्ण आंगिरस का उल्लेख कौषीतकी ब्राह्मण में भी है। ऐतरेय आरण्यक में कृष्ण हारीत नामक उपाध्याय की चर्चा है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि ऋग्वेद में कृष्ण नामक एक असुरराज का उल्लेख है जो अपने दस सहस्र सैनिकों के साथ अंशुमती (यमुना) तटवर्ती प्रदेश में रहता था। इंद्र ने उसे बृहस्पति की सहायता से हराया था (८।९६।१३–१५)। अन्यत्र इंद्र को कृष्णासुर की गर्भवती स्त्रियों का वध करनेवाला कहा गया है (१।१०१।१)।

कुछ लोग ऋग्वेद में उल्लिखित कृष्ण और पुराणों में उल्लिखित कृष्ण (वासुदेव कृष्ण) को एक अनुमान करते हैं। किंतु पुराणों में कृष्ण को न तो मंत्रद्रष्टा कहा गया है और न उनके अंगिरस के साथ किसी संबंध की ही चर्चा है। इसलिये ऋषि कृष्ण, उक्त कृष्ण से सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार कुछ लोग असुर कृष्ण में पौराणिक कृष्ण के विकास की कल्पना करते है किंतु असुर कृष्ण का उल्लेख ऋग्वेद की मूल ऋचाओं में नहीं है, सायण के भाष्य से ही उनका अनुभव किया जाता है। यदि सायण के आधार पर असुर कृष्ण हो भी तब भी उनके पौराणिक कृष्ण के साथ तादात्म्य की संभावना नहीं है। (प० ला० गु०)

कृष्ण (प्रथम) मान्यखेट के राष्ट्रकूट वंश का एक महान् शासक जो लगभग ७५६ ई० में अपने भतीजे दंतिदुर्ग की मृत्यु के बाद ४५ वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा और चालुक्यसम्राट् कीर्तिवर्मा द्वितीय की शक्ति को समाप्तकर दक्षिण भारत की प्रमुख राजनीतिक शक्ति बनने में सफलता प्राप्त की। उसने मैसूर के गंगों तथा वेंगी के पूर्वी चालुक्यों के क्षेत्रों पर आक्रमण किए और आंध्र प्रदेश के अधिकांश भागों तथा दक्षिणी कोंकण को अपने अधिकार में कर लिया। उसने अपनी सफलताओं की सूचक 'शुभतुंग' नामक उपाधि धारण की। उसका चिरस्थायी कार्य एलोरा के सुप्रसिद्ध कैलासमंदिर का निर्माण है जो अद्भुत वास्तु का एक नमूना है। १८ वर्षों तक शासन करने के बाद ७७३–७४ ई० में कभी उसकी मृत्यु हुई। (वि० पा०)

कृष्ण (द्वितीय) राष्ट्रकूट वंश का एक अन्य नरेश जो कृष्णवल्लभ शुभतुंग और अकालवर्ष कहलाता था। उसके पिता का नाम अमोघवर्ष (प्रथम) था। उसका राज्यारोहण काल ८८० ई० अनुमान किया जाता है। अपने वंश के अन्य राजाओं की तरह ही उसे भी मैसूर, वेंगी, गुजरात और कान्यकुब्ज के राज्यों से लड़ना पड़ा था। उसकी कान्यकुब्ज के गुर्जर प्रतिहार राजा भोज के विरुद्ध मालवा, विशेषत उज्जैन के आसपास मुठभेड़ होती रही। ये संघर्ष प्राय सीमावर्ती थे और कभी एक पक्ष की विजय होती, कभी दूसरे की। चेदिराज कोकल्ल (प्रथम) की पुत्री से उसने विवाह किया। इस वैवाहिक संबंध से उसे अन्य राजाओं के विरुद्ध युद्ध में काफी सहायता मिली थी। राष्ट्रकूट लेखों से प्रकट होता है कि कृष्ण (द्वितीय) ने इन लड़ाइयों में काफी वीरता दिखाई थी, किंतु उसे वेंगी के चालुक्य भीम से हार खानी पड़ी और कान्यकुब्ज के प्रतिहारों के समक्ष भी दबना पड़ा। वह किसी प्रकार अपने राजनीतिक दाय को बचाने में सफल रहा। ३६ वर्षों के शासन के बाद ९१४ ई० में उसकी मृत्यु हुई।

वह जैनधर्मोपासक तथा आदिपुराण एवं जैनपुराण के रचयिता जैन साधु गुणभद्र का शिष्य था। (वि० पा०)

कृष्ण (तृतीय) मान्यखेट के राष्ट्रकूट वंश का नरेश जो ९३९–४० ई० में शासक हुआ। वह धार्मिक प्रवृत्तिवाले पिता अमोघवर्ष तृतीय के समय में ही शासनप्रबंध से संबद्ध रहा। युवराज अवस्था में ही उसने अपने बहनोई बुतुग को गंग राजगद्दी पर बैठाया, चेदि देश पर अभियान कर उसकी सेनाओं को हराया तथा चंदेलों की राज्यसीमा में स्थित कालंजर और चित्रकूट के किलों पर अधिकार कर लिया। शासक होने के बाद उसने अकालवर्ष, परमेश्वर, परमभट्टारक और महाराजाधिराज आदि विरुद धारण किए। और चोल शासक परातक के प्रदेशों पर आक्रमण किया तथा अपने बहनोई गंगवाडी के शासक बुतुग की सहायता से कांची और तंजोर आदि प्रसिद्ध चोल प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। तोंडैमंडलम् के प्रदेश—आर्काट, चिंगलीपुत्त और वेल्लौर जिले—राष्ट्रकूट शासन में मिला लिए गए। चोलों ने अपने खोए हुए क्षेत्रों से हटाने की ९४९ ई० में चेष्टा की पर वे तक्कोलम की लड़ाई में पराजित हुए। इस विजय से उत्सा-

उसने रामेश्वरम् के निकट एक विजयस्तंभ तथा कृष्णेश्वर और गंडमार्तंडादित्य नामक मंदिरों की स्थापना भी की।

दक्षिण भारत के युद्धों में व्यस्त रहने के कारण वह उत्तर में अपनी [illegible] । चंदेल नरेश [illegible] कान्यकुब्ज [illegible] । हाँ, गुर्जरों के विरुद्ध उसे कुछ सफलता अवश्य मिली। कृष्ण तृतीय अपने वंश का अंतिम योग्य शासक, सेनापति और राजनीतिज्ञ था, वह आजीवन दक्षिणी प्रायद्वीप की राजनीति को पूर्णतया प्रभावित करता रहा। ९६८ ई० में उसकी मृत्यु हुई। (वि० पा०)

कृष्ण (आत्रेय) भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार आयुर्वेद के आदि स्रष्टा। चरक संहिता के अनुसार अग्निवेश, भेड, हारीत आदि सुविख्यात आयुर्वेदशास्त्री इनके शिष्य थे। (प० ला० गु०)

कृष्ण (देवकीपुत्र) छांदोग्य उपनिषद् में उल्लिखित देवकी नाम्नी स्त्री के पुत्र और घोर अंगिरस के शिष्य। कुछ विद्वान् नामसादृश्य तथा देवकीपुत्र होने के कारण तथा तप, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्य आदि गुणों की समानता और दैवी संपत्ति के प्रतिपादन की बातों के आधार पर इन्हें और वसुदेव-देवकीपुत्र कृष्ण को एक अनुमान करते है। किंतु पुराणों में कृष्णचरित के प्रसंग में उनके अंगिरस के शिष्य होने का कोई उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त घोर अंगिरस ने मरणकाल में अक्षय, अव्यय तथा प्राणसंशित वृत्ति रखने का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार की कोई अवधारणा गीता में नहीं है। इसलिये वे निःसंदेह वासुदेव कृष्ण के सर्वथा भिन्न व्यक्ति थे। (प० ला० गु०)

कृष्ण (द्वैपायन) महर्षि पाराशर के पुत्र जो व्यास के नाम से अधिक प्रख्यात थे। इनकी माता का नाम सत्यवती (मत्स्यगंधा) था। वे एक धीवरकन्या थी और उनका एक नाम काली भी था। अनुश्रुति है कि ऋषि पाराशर जब यमुना पार कर रहे थे तब उनकी दृष्टि मत्स्यगंधा पर पड़ी और उसपर मोहित हो गए। फलस्वरूप व्यास का जन्म हुआ। यमुना के एक द्वीप पर जन्म होने के कारण इन्हें द्वैपायन कहा गया। भागवत पुराण के अनुसार कृष्ण वर्ण के होने के कारण इन्हें कृष्ण द्वैपायन कहा गया। अन्य अनुश्रुतियों में इनके कृष्ण नाम का संबंध इनकी माता काली से है।

सत्यवती (मत्स्यगंधा) का विवाह हस्तिनापुर नरेश, भीष्मपितामह के पिता शांतनु से हुआ। इस विवाह संबंध से चित्रांगद और विचित्रवीर्य नामक दो पुत्र हुए। चित्रांगद की एक युद्ध मे मृत्यु हो गई; विचित्रवीर्य राजा हुए। उनका विवाह काशिराज की कन्या अंबिका और अंबालिका से हुआ। असंयमपूर्ण जीवन के कारण विचित्रवीर्य को राजयक्ष्मा का रोग हुआ। उनके अल्पवय में संतानहीन मरने के कारण नियोग प्रथा के अनुसार कृष्ण द्वैपायन (व्यास) ने विचित्रवीर्य की पत्नियों से संबंध स्थापित किया और उनसे धृतराष्ट्र और पाण्डु नामक पुत्र हुए जो महाभारत के ख्यात कौरव और पांडवों के जनक थे। कृष्ण द्वैपायन के ही पुत्र विदुर भी थे। उनका जन्म अंबिका की एक दासी से हुआ था।

कौरव और पांडवो के पितामह होने के कारण महाभारत के वृत्त मे इनका अपना महत्व है। उसमें उनका उल्लेख स्थान स्थान पर पाडवों के हितचिंतक के रूप में हुआ है। उन्होंने ही पांडवों से द्रौपदी की स्वयंवर की बात कही थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय उन्होने ब्रह्मा का कार्य किया और अर्जुन, भीम, सहदेव और नकुल को क्रमशः उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशाओं में जाने का सुझाव दिया और युधिष्ठिर को क्षत्रियसंहार का भविष्य बताया था। पाडवों के वनवास काल मे वे उन्हें धैर्य बँधाते रहे। वनवास के प्रारंभिक दिनो मे पांडव जब अत्यंत हताश हो रहे थे उस समय इन्होंने उन्हें प्रतिस्मृति विद्या प्रदान की। इस विद्या के कारण अर्जुन ने रुद्र और इंद्र से अनेक प्रकार के अस्त्र प्राप्त किए।

कृष्ण द्वैपायन ने तप द्वारा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। दूरश्रवण और दूरदर्शन आदि अनेक विद्याओं का उन्हें ज्ञान था और उन्होंने अपने इस ज्ञान से महाभारत युद्ध के समय धृतराष्ट्र को दृष्टि प्रदानकर युद्ध देखने में समर्थ बनाना चाहा पर उन्होंने युद्ध का रौद्र रूप देखना अस्वीकार कर दिया। तब द्वैपायन ने संजय को दिव्यदृष्टि प्रदान की ताकि वे धृतराष्ट्र को युद्ध का हाल बता सकें। युद्ध के पश्चात् उन्होने युधिष्ठिर को राजधर्म और राजदंड का उपदेश किया। सेनजित् राजा का उदाहरण देकर निराशावादी न बनने और जनक की बात बताकर प्रारब्ध की प्रबलता पर विश्वास करने और मनःशांति के लिये अश्वमेध यज्ञ करने की सलाह दी। यज्ञ के पश्चात् युधिष्ठिर ने अपना सारा राज्य दान में दे दिया। उसे लेकर उन्होने पुनः युधिष्ठिर को लौटा दिया और समस्त धन ब्राह्मणों को बाँट देने को कहा।

तदुपरांत जनमेजय ने जब सर्पसत्र के समय कृष्ण द्वैपायन से महाभारत का वृत्त जानने की जिज्ञासा की तो उन्होंने अपने शिष्य वैशंपायन से स्वरचित महाभारत की कथा सुनवाई।

इस प्रकार अनुश्रुति के अनुसार कृष्ण द्वैपायन का जीवन आठ पीढियों से—शांतनु, विचित्रवीर्य, धृतराष्ट्र, कौरव-पांडव, अभिमन्यु, परीक्षित, जनमेजय और शतानीक से संबद्ध रहा है जिससे ज्ञात होता है कि वे दीर्घ काल तक जीवित रहे।

द्वैपायन की ख्याति वेदरक्षार्थ वेद विभाजन, पौराणिक साहित्य के निर्माण और महाभारत की रचना के लिये है। द्वापर युग के अंत में जब वेदों के संरक्षक ब्राह्मणों का ह्रास होने लगा तब इस बात की आशंका होने लगी कि समस्त वैदिक वाङ्मय नष्ट हो जायगा। तब द्वैपायन ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के रूप में चार संहिताओं मे विभाजितकर वेद के विभिन्न शाखाओं की स्थापना की। इस कार्य के कारण वे व्यास अथवा वेदव्यास कहे गए और उनका यह नाम अधिक ख्यात है। लोग उन्हें कृष्ण द्वैपायन की अपेक्षा व्यास नाम से ही जानते हैं।

वैदिक साहित्य के पुनस्संकलन के साथ साथ इन्होंने तत्कालीन समाज मे प्रचलित आख्यायिकाओं और गाथाओं को संकलित कर पुराण ग्रंथों की रचना की। प्राचीन भारत के राजवंश एवं मन्वंतरो की परंपरा का वर्णन पुराणों का आदि उद्देश्य है। किंतु इसके साथ ही उसमे धर्म और नीति की शिक्षा समन्वित है। पुराणो की रचना के साथ ही उन्होने पांडवो की विजयगाथा के वर्णन के लिये 'जय' नामक महाकाव्य लिखा और उसमे पांडवों के पराक्रम की चर्चा के साथ साथ तत्कालीन धार्मिक, राजनीतिक, तात्विक बातो को भी समाविष्ट किया। इस ग्रंथ मे मूलतः २५००० श्लोक थे। इसे उनके शिष्य वैशंपायन ने कंठस्थ किया। पीछे इसका एक परिवर्धित रूप 'भारत' नाम से प्रस्तुत हुआ। इसका पुनस्संस्कार रोमहर्षण सौति ने किया। वही संस्करण आज महाभारत नाम से उपलब्ध है। अनुश्रुति है कि मूल रूप मे गणपति को उन्होने बोलकर लिखाया था।

अंतिम दिनो मे व्यास बदरी वन मे रहे। इस कारण इन्हें बादरायण भी कहते है। इस नाम के कारण कुछ लोगों की धारणा है कि ब्रह्मसूत्रों के रचयिता बादरायण, कृष्ण द्वैपायन व्यास ही हैं किंतु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सामविधान ब्राह्मण मे आचार्यों की जो तालिका है उसमे बादरायण और व्यास का स्वतंत्र उल्लेख है और दोनो मे चार पीढ़ियो का अंतर बताया गया है। (प० ला० गु०)

कृष्ण (वासुदेव) यादव राजा वसुदेव की पत्नी देवकी के गर्भ से उत्पन्न आठवीं संतान। इनका जन्म मथुरा मे वहाँ के अत्याचारी नरेश कंस के कारागार मे हुआ था। देवकी कंस की चचेरी बहन थी। वसुदेव से विवाह होने के पश्चात् कंस अपनी बहन को अपने रथ पर बैठाकर जब ससुराल पहुँचाने जा रहा था तब आकाशवाणी हुई कि देवकी की आठवीं संतान के हाथों उसका अंत होगा। कंस भयभीत हुआ और उसने देवकी को मार डालना चाहा। वसुदेव के अनुनय विनय और इस आश्वासन पर कि देवकी से जो संतान होगी वह उसे कंस को दे देंगे, कंस ने देवकी की हत्या का विचार छोड़ दिया किंतु दोनों को कारागार मे बंद कर दिया। कारागार मे देवकी के सात पुत्र हुए और उन सबको कंस ने मार डाला।

आठवाँ बच्चा होने पर वसुदेव ने उसे बचाने का यत्न किया। वे बच्चे को टोकरी में छिपाकर जेल से बाहर निकले और यमुना पारकर गोकुल पहुँचे। वहाँ उनके मित्र नंद गोप के घर उसी रात उनकी पत्नी यशोदा को लड़की उत्पन्न हुई थी। यशोदा प्रगाढ़ निद्रा मे सोई हुई थी। वसुदेव ने चुपचाप लड़की की जगह कृष्ण को रख दिया और लड़की को लेकर जेल वापस आ गए। आठवाँ बच्चा होने का समाचार पाकर कंस जेल में पहुँचा और उस कन्या को शिला पर पटक दिया। एक अनुश्रुति के अनुसार वह बालिका शिला पर पटकते ही आकाश में उड़ गई और विंध्याचल पर्वत पर विंध्यवासिनी के रूप में प्रकट हुई। दूसरी अनुश्रुति के अनुसार कन्या पटकने पर मरी नही। उसे वृष्णि लोगों ने, जिनसे वसुदेव का संबंध था, बचा दिया और पालनपोषण किया। कृष्ण की रक्षिका होने के कारण उन लोगों ने उसे सम्मानित किया और आगे चलकर एकानंशा नाम से पूजित हुई। उसे बलराम और कृष्ण के साथ स्थान मिला।

आरंभ से ही कृष्ण में असाधारण प्रतिभा, सौंदर्य और शारीरिक शक्ति के चिह्न प्रकट होने लगे थे। वह नटखट भी खूब थे। गोकुल के गोपाल, उनकी स्त्रियाँ और बच्चे कृष्ण की अद्भुत लीलाओं को देखकर चमत्कृत और मुग्ध होने लगे। कृष्ण का वर्ण श्याम था।

थोड़े ही वर्षो में कृष्ण के पराक्रम और तीव्र बुद्धि की ख्याति चारो ओर फैल गई। कंस को किसी प्रकार आभास हो गया कि नंदकुल में कृष्ण देवकी-वसुदेव के पुत्र है। अतः उसने अपनी रक्षा के लिये कृष्ण को मारना आवश्यक समझा। उसने पहले पूतना नाम्नी राक्षसी को भेजा। उसने अपना विषाक्त स्तनपान कराकर कृष्ण को मारने की चेष्टा की, पर सफल न हो सकी। एक दिन यशोदा गृह कार्यों में व्यस्त थीं;

उन्होंने उन्हें एक शकट के निकट लिटा दिया। वे शिशुओं की तरह लेटे लेटे हाथ पैर फेंकते रहे। उनके पैर के धक्के से शकट उलट गया पर वे बच गए, उन्हें तनिक भी चोट नहीं आई।

कृष्ण जब बड़े हुए तो बड़ा उपद्रव करने लगे। एक दिन उनके उपद्रव से तंग आकर यशोदा ने उन्हें रस्सी में बाँधकर ऊखल से बाँध दिया। वे ऊखल को घसीटते फिर और ऊखल दो पेड़ों के बीच अटक गया। तदनंतर जब उन्होंने जोर लगाया तो दोनों पेड़ उखड़ गए। इस बार भी वे साफ बच गए। उधर कंस उन्हें मारने के लिये बराबर यत्नशील था। उसने वत्सासुर, धेनुकासुर, प्रलंबासुर, अघासुर, बकासुर, केशी आदि अनेक दैत्यों को एक के बाद एक कृष्ण को मारने के लिये भेजा, किंतु कृष्ण ने उन सबको मार डाला।

आए दिन इस प्रकार की विपत्तियों से तंग आकर नंद गोकुल छोड़कर वृंदावन चले आए। उस समय कृष्ण सात वर्ष के थे। वहाँ यमुना नदी में कालिय नामक नाग रहता था जिसके कारण यमुना जल दूषित हो रहा था। कृष्ण ने उसका दमन किया। एक बार गोकुल में दावानल लगा। कृष्ण ने उसका शमन किया। गोकुल की स्त्रियाँ कात्यायनी व्रत करती थीं और उस अवसर पर विवस्त्र होकर यमुना में स्नान करती। कृष्ण ने एक बार इस प्रकार विवस्त्र स्नान करती हुई स्त्रियों का वस्त्र हरण कर लिया, बहुत प्रार्थनाएँ करने पर लौटाया। गोकुल के गोप वर्षा की समाप्ति पर शरदागमन के समय इंद्र को प्रसन्न करने के लिये इंद्रयज्ञ किया करते थे। यह कृष्ण को पसंद न था। उन्होंने उसे बदलकर प्रकृति अर्थात् गोवर्धन पर्वत की पूजा की सलाह दी। जिस समय गोप लोग इस नई पूजा को कर रहे थे उसी समय अतिवृष्टि हुई। यह वृष्टि निरंतर सात दिनों तक होती रही। उस समय कृष्ण ने गोकुलवासियों और उनकी गायों की रक्षा के लिये सात दिनों तक गोवर्धन पर्वत को कनिष्ठा उँगली पर उठाए रखा।

पुराणों में इस बात का उल्लेख है कि शरद् पूर्णिमा की सुहावनी रात को कृष्ण के साथ गोपियों ने रास नृत्य किया। कदाचित् यह यादवों के बीच युवक-युवतियों के परस्पर मिलकर नाचने गाने और उत्सव मनाने की किसी प्रथा का उल्लेख है। कृष्ण के महारास का वैष्णवों में बहुत आध्यात्मिक महत्व है।

कृष्ण के इन अलौकिक पराक्रमों से कंस बहुत दुखी हुआ और उसने कृष्ण और उनके भाई बलराम को मथुरा बुलाकर मारने की योजना बनाई। उसने एक धनुर्याग का आयोजन किया और धनुर्यज्ञ में भाग लेने के लिये कृष्ण को बुलाने के लिए अक्रूर को भेजा। नंद और अन्य गोकुलवासी कंस की दुष्टता से परिचित थे। वे कृष्ण को मथुरा भेजना नहीं चाहते थे, किंतु कृष्ण ने निर्भयता से मथुरा जाना स्वीकार कर लिया। अगले दिन ब्रजवासियों को सांत्वना देकर दोनों भाई अक्रूर के साथ मथुरा आए।

मथुरा में कंस ने कृष्ण को मारने की पूरी तैयारी कर रखी थी। दोनों भाइयों को एक विशाल रंगमंच पर आमंत्रित किया गया। द्वार पर कंस का कुवलयापीड नाम का मरखना हाथी उपस्थित था। बलराम और कृष्ण के वहाँ पहुँचने पर महावत ने उसे दोनों पर आक्रमण करने की प्रेरणा की। कृष्ण ने उसका आशय समझकर हाथी के दाँतों को इस जोर से खींचा कि वे निकल गए। बलराम ने पीछे से आक्रमण किया। दोनों ओर से मार खाकर हाथी गिरकर मर गया। दोनों भाई जब रंगमंच पर पहुँचे तब उन्हें चाणूर आदि कई भीमकाय पहलवानों से लड़ने के लिये कहा गया। कृष्ण ने चाणूर को भूमि पर गिराकर इस जोर से लात लगाई कि उसके आँख, कान और नाक से रक्त की धारा बहने लगी। शेष पहलवान हलके से प्रयत्न से ही धराशायी हो गए। कंस थर थर काँपने लगा। कृष्ण ने सिंहासन पर बैठे हुए कंस के केशों को पकड़कर ऐसा झटका दिया कि वह लाश की तरह लुढ़ककर नीचे आ गया। कृष्ण ने केशों से घसीटते हुए उसे अखाड़े के कई चक्कर दिए और जब वह ठंढा पड़ गया तब उसे अखाड़े के बीच फेंक दिया। इस महान् पराक्रमी कार्य के कारण कृष्ण का नाम कंसनिषूदन पड़ा।

कृष्ण द्वारा कंस के वध की ख्याति शीघ्र ही देश भर में फैल गई। कंस के दाहकर्म के पश्चात् जब कंस के पिता उग्रसेन ने सारा राज्य कृष्ण को अर्पित करते हुए सिंहासन पर बैठने की प्रार्थना की तब कृष्ण ने उत्तर दिया—'मैंने राज्य की इच्छा से कंस को नहीं मारा। मैंने उसे लोकहित के लिये मारा है। कंस कुल का कलंक था। यादवों का राज्य आप ही लीजिए। मैं तो पहले की ही तरह गोपालों के साथ गौओं से घिरा हुआ जंगलों में सुख से विहार करूँगा।'

इसके बाद कृष्ण का उपनयन संस्कार हुआ और अध्ययन के निमित्त सांदीपनी ऋषि के पास अवंति भेजा गया। वहाँ उनकी सुदामा से मित्रता हुई। गुरु आश्रम में वे केवल चौंसठ दिन रहे और इतने दिनों में ही उन्होंने धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की। गुरु दक्षिणास्वरूप शंखासुर द्वारा बंदी किए गए गुरुपुत्र को प्रभासपट्टन जाकर मुक्त किया। पुनः वे मथुरा लौट आए।

अंधक और वृष्णि यादवों की दो शाखाएँ थीं और दोनों का ही शासन गणराज्यात्मक था। अंधकों का मथुरा में राज्य था और उसके गणाध्यक्ष उग्रसेन थे। अंधकों के राज्य के निकट ही वृष्णियों का राज्य था। वृष्णियों में शूर नामक एक विख्यात पुरुष थे। उन्हीं के पुत्र वसुदेव और पौत्र कृष्ण थे। अंधक कुल की देवकी और वृष्णि कुल के वसुदेव के विवाह संबंध से कंस की मृत्यु के पश्चात् दोनों गणराज्य एक संघ के रूप में संघटित हो गए और इस संघ राज्य के प्रमुख कृष्ण मनोनीत हुए।

कंस की मृत्यु की सूचना पाकर उसका श्वसुर मगधनरेश जरासंध बहुत क्षुब्ध हुआ और विशाल सेना लेकर उसने मथुरा को घेर लिया। कृष्ण ने इस अप्रत्याशित आक्रमण का धैर्यपूर्वक सामना किया। जरासंध को खाद्य सामग्री समाप्त हो जाने के कारण मगध वापस लौटना पड़ा। जरासंध ने नई सेना के साथ पुनः आक्रमण किया। इस प्रकार उसने मथुरा पर सत्रह बार चढ़ाई की पर हर बार असफल रहा। तब अठारहवीं बार उसने कालयवन नामक एक शासक को आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया। किंतु उसका यह अभियान भी असफल रहा।

कृष्ण ने बार बार के आक्रमण से तंग आकर मथुरा प्रदेश छोड़ देने का निश्चय किया और अंधक और वृष्णियों को लेकर सौराष्ट्र प्रदेश में द्वारावती (द्वारिका) चले गए। द्वारिका पश्चिमी सागर में एक द्वीप था जो उस समय तक निर्जन था। कृष्ण ने उसे बसाया और दुर्ग का रूप देकर धनधान्य से समृद्ध किया।

द्वारिका के दुर्ग में रहते हुए समय समय पर कृष्ण ने लोकरक्षा और पराक्रम के अनेक अद्भुत और चमत्कारी कार्य किए उनके कारण ही उन्हें वह लोकातिशायी महत्व प्राप्त हुआ। देश के जिस कोने से भी दुःखी की पुकार आती थी, वहीं कभी सेना के साथ और कभी अपना प्रसिद्ध धनुष शार्ङ्ग और सुदर्शन चक्र लेकर अकेले ही जा पहुँचते थे और शत्रु का संहार कर योग्य उत्तराधिकारी को राज्य सौंप देते। कृष्ण ने सैकड़ों असुरों और दुष्ट राजाओं का संहार किया। उनमें से कुछ के नाम हैं—शृगाल, कालयवन, नरक, निकुंभ, वज्रनाभ, मधु, कैटभ, बाणासुर। अत्याचारियों के दमन के कारण ही उनके दैत्यारि, मधुरिपु, कैटभजित् आदि नाम पड़े।

कृष्ण के शौर्य और पराक्रम की कहानियाँ विदर्भ नरेश भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी के कानों तक पहुँचीं। उसने कृष्ण को अपना पति बनाने का निश्चय किया। रुक्मिणी के भाई ने उसका विवाह चेदिनरेश शिशुपाल से करना स्वीकार कर लिया था। जब रुक्मिणी को यह बात मालूम हुई तो उसने कृष्ण को पत्र लिखा और शीघ्र आकर उसे ग्रहण करने का अनुरोध किया। कृष्ण पत्र पाते ही कुंडिनपुर जाकर रुक्मिणी का अपहरण कर लाए और उससे विवाह किया। यह कृष्ण का प्रथम विवाह था इसके बाद उन्होंने अन्य कई स्त्रियों से विवाह किया।

तदनंतर पंचालकुमारी द्रौपदी के स्वयंवर में कृष्ण सम्मिलित हुए। वहीं उनकी पांडवों से पहली बार भेंट हुई। कृष्ण का कौरववंश से बहुत निकट संबंध था। पांडवों की माता कुंती (पृथा) यदुवंशी राजा शूरसेन की कन्या थीं। इस प्रकार कृष्ण पांडवों के ममेरे भाई थे। यह संबंध तो था ही कृष्ण की बहन सुभद्रा से तीसरे पांडव अर्जुन का गांधर्व विवाह हो जाने पर वह और भी दृढ़ हो गया। कृष्ण पांडवों के आरंभ से ही सहायक थे। वे पांडवों के पास बराबर हस्तिनापुर जाते रहते थे। पांडव जब इंद्रप्रस्थ में रहने लगे तो वे वहाँ भी आए। खांडव वन दहन में

कृष्ण ने अर्जुन की सहायता की। युधिष्ठिर ने जब राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया तब कृष्ण ने सलाह दी कि पहले जरासंध को पराजित करना चाहिए। तदनुसार पथप्रदर्शक बनकर भीमसेन द्वारा जरासंध को मल्लयुद्ध में मरवा दिया। यज्ञ प्रारंभ होने पर भीष्मपितामह के प्रस्ताव पर कृष्ण को अग्रपूजा बनाया गया। यह बात चेदि के राजा शिशुपाल को अच्छी नहीं लगी। उसने कृष्ण की बहुत निंदा की और यज्ञ में विघ्न डालने का यत्न किया। जब तक शिशुपाल ने सौ तक गालियाँ दीं तब तक तो कृष्ण सहन करते रहे, परंतु जब वह उससे आगे बढ़ा तब कृष्ण ने सुदर्शन चक्र से उसका सिर धड़ से अलग कर दिया।

राजसूय यज्ञ और पांडवों के वैभव को देखकर कौरवों में द्वेष जागा। कृष्ण के द्वारिका वापस जाते ही, उन्होंने द्यूत का आयोजन किया। कौरव-पांडवों के बीच द्यूत में युधिष्ठिर के द्रौपदी को दाँव पर लगाने और हार जाने के बाद जब दु:शासन भरी सभा में द्रौपदी को विवस्त्र करने लगा तो उस समय कृष्ण ने उसकी लज्जा की रक्षा की। पांडवों द्वारा वनवास और अज्ञातकाल समाप्त होने के बाद जब पांडवों को आधा राज्य देने की बात उठी तो दुर्योधन मुकर गया और दोनों पक्षों के बीच युद्ध की संभावना आसन्न दिखाई पड़ने लगी। दोनों ही पक्ष के लोग पड़ोसी राजाओं से सहायता प्राप्त करने की चेष्टा करने लगे। युधिष्ठिर अब भी चाहते थे कि कौरवों के साथ शांतिपूर्वक झगड़ा निपट जाय। अतः उनके अनुरोध पर कृष्ण हस्तिनापुर गए। उन्होंने धृतराष्ट्र को बहुत समझाया। पर दुर्योधन के दुराग्रह के सम्मुख धृतराष्ट्र की कुछ भी न चली। निदान युद्ध ठन गया।

इस युद्ध में कृष्ण ने स्वयं अस्त्र धारण करना स्वीकार नहीं किया किंतु अर्जुन के सारथी बने। युद्धक्षेत्र में पहुँच कर अर्जुन अपने सामने बुजुर्गों, मित्रों और भाई भतीजों को खड़े देखकर घबरा गए और युद्ध से विरत होने लगे। उस समय अर्जुन के उत्साह और विक्रम को जगाने के लिये कृष्ण ने जो उपदेश दिए वह भगवद्गीता में सन्निहित हैं। वह मनुष्य को उत्साह देनेवाले और कर्म में प्रवृत्त करनेवाले हैं। भगवद्गीता एक प्रकार से प्राचीन भारतीय वाङ्मय के आध्यात्मिक तत्वों का निचोड़ है।

महाभारत युद्ध में पांडव विजयी हुए। हस्तिनापुर आकर युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया किंतु युद्ध में असंख्य प्राणियों के मारे जाने के कारण युधिष्ठिर का मन खिन्न था। कृष्ण ने उस समय अनेक कथाओं द्वारा उन्हें शांत किया। पश्चात् वे द्वारिका लौट गए।

एक दिन कृष्ण और बलराम के साथ समस्त यादव प्रभास क्षेत्र गए। वहाँ सबने यथेच्छ मदिरापान किया। मद्योन्मत्त होने पर यादवों में कलह वृत्ति जाग्रत हो उठी और वे परस्पर मारकाट करने लगे। उसमें यादवों का एक प्रकार से विनाश हो गया। कृष्ण इससे खिन्न हुए और यादवी स्त्री-बच्चों को अर्जुन को सौंपकर वन चले गए। एक दिन जब वे एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहे थे उस समय जरा नामक व्याध ने उन्हें मृग समझ कर बाण चलाया जिससे उनकी मृत्यु हुई। कहा जाता है कि मृत्यु के समय वह १२५ वर्ष के थे। ऐसा भागवत में उल्लेख है। कतिपय अन्य गणना के अनुसार उनकी आयु १०१ अथवा ११६ वर्ष आँकी जाती है।

कृष्ण के जीवनवृत्त के संबंध में यह बात कुछ विचित्र सी है कि वह अपने समग्र रूप में कहीं एक स्थान पर उपलब्ध नहीं हैं। पुराणों में उनके वृत्त की चर्चा केवल युवाकाल अर्थात् मथुरा आने तक ही है। उसके बाद का वृत्त महाभारत में मिलता है। उसमें उनके शैशव और किशोरावस्था की चर्चा नहीं है। इस प्रकार पुराण और महाभारत दोनों मिलकर कृष्ण-चरित्र प्रस्तुत करते हैं। इस संबंध में यह बात भी उल्लेखनीय है कि जैन साहित्य में भी बाल कृष्ण के गोपालक जीवन की चर्चा नहीं है। उसमें उनके संबंध में जो कुछ भी कहा गया है वह द्वारिका और रैवतक पर्वत से संबद्ध है। मथुरा से संबंधित उनकी किसी घटना का उल्लेख उनमें नहीं है।

(इं० वि०; प० ला० गु०)

उपासना स्वरूप—कृष्ण, अपने चरित्र के विशिष्ट गुणों के कारण अपने समाज—सात्वतों और वृष्णियों के बीच शीघ्र ही वीर के रूप में पूजे जाने लगे। आरंभ में वे अपने वासुदेव नाम से ही पूजित हुए। वासुदेव रूप में पूजित होने का प्राचीनतम उल्लेख पाणिनि (छठी शती ई० पू० का मध्य) के अष्टाध्यायी में प्राप्त होता है। उसमें उनके उपासकों को वासुदेवक कहा गया है। ईसा पूर्व चौथी शती तक वासुदेव की उपासना मथुरा और उसके आसपास के प्रदेश तक ही सीमित थी, ऐसा यवन राजदूत मेगस्थने के विवरण से प्रकट होता है। वासुदेव के समान ही उनके बड़े भाई संकर्षण बलराम भी पूजित थे। उनकी उपासना आरंभ में वासुदेव की उपासना से स्वतंत्र थी, ऐसा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है। उसमें उनके उपासकों की चर्चा है। किंतु ईसा पूर्व की दूसरी शती आते आते दोनों भाइयों को देवत्व का पद प्राप्त हो गया और उनके उपासनाक्षेत्र का भी काफी विस्तार हुआ।

वक्षुनद के तटवर्ती अइखानुम नामक प्राचीन नगर के उत्खनन में प्राप्त कुछ सिक्कों से ज्ञात होता है कि उनकी उपासना सुदूर उत्तर में वक्षु प्रदेश तक होती थी। ये सिक्के अगाथक्लेय नामक भारतीय-यवन राजा के हैं। उनपर एक ओर चक्रधारी वासुदेव और दूसरी ओर हलधर बलराम की आकृति का अंकन है। कदाचित् यह सिक्का इस बात का भी द्योतक है कि इस समय तक दोनों भाई का पूजा साथ साथ होने लगी थी। दोनों भाइयों के एक साथ पूजित होने का स्पष्ट प्रमाण प्रथम शती ई० पू० के मध्य घोसुंडी (राजस्थान) से प्राप्त एक अभिलेख से होता है। इसमें सर्वतात नामक राजा द्वारा संकर्षण वासुदेव के सम्मान में पूजा-शिला-प्राकार (मंदिर) बनाने का उल्लेख है। यह मंदिर नारायणवाटक में स्थापित किया गया था। इस लेख में इन दोनों भाइयों को भगवत्, अनिहत, सर्वेश्वर कहा गया है। इस लेख से ऐसा भी प्रतीत होता है कि वासुदेव और संकर्षण की उपासना नारायण की उपासना में समाहित हो गई थी।

नारायण मूलतः एक अवैदिक देव थे जिनका कालक्रम में वैदिक देवों के बीच प्रवेश हो गया और शतपथ ब्राह्मण के काल तक उन्होंने वैदिक देवों में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। उनकी कल्पना आदिपुरुष के रूप में की गई थी और उन्हें भगवत की संज्ञा दी गई थी। इसी नाम पर उनका संप्रदाय भागवत कहलाता था। भागवत धर्म में ही नारायण के साथ पीछे किसी समय विष्णु नामक एक दूसरे देव समाविष्ट हुए। विष्णु का उल्लेख यद्यपि ऋग्वेद में मिलता है पर उनका उस समय विशेष महत्व न था। वे इंद्र के सहायक मात्र समझे जाते थे और देवों में उनका स्थान बहुत नीचे था।

नारायण-विष्णु के उपासकों के लिये पूर्ववर्ती साहित्य और अभिलेखों में भागवत, पंचरात्र, एकांतिन और सात्वत नामों का उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान होता है कि नारायण-विष्णु-वासुदेव के एकाकार होने के बावजूद लोकमानस में प्रचलित आस्थाओं के अनुसार उपासकों के बीच भेद बना हुआ था। सात्वत वृष्णियों के उस समाज का नाम था जिसमें कृष्ण वासुदेव उत्पन्न हुए थे और जिनमें मूल रूप से उनकी उपासना प्रचलित थी। इस कारण वासुदेव के उपासक सात्वत कहलाते थे। एकांतिक शब्द का प्रयोग नारायण भक्तों ने वासुदेव उपासकों से अपनी भिन्नता प्रकट करने के लिये किया। पंचरात्र और भागवत नामों का संबंध भी नारायण के माननेवालों से था और वे इस बात के द्योतक हैं कि नारायण के उपासकों के दो वर्ग थे। पहले का संबंध उनके पंचरात्र और दूसरे का संबंध उनके भागवत रूप से था। कालांतर में नारायण के उपासक पांचरात्र और वासुदेव के उपासक भागवत माने जाने लगे अर्थात् नारायण और वासुदेव का भक्तिप्रधान रूप समन्वित हो गया।

संकर्षण और वासुदेव के साथ एक देवी की संयुक्त उपासना भी कुषाण-काल अथवा उससे कुछ पूर्व प्रचलित हो गई थी। यह अनेक कुषाण-कालीन प्रतिमाओं और गुप्तकालीन विष्णुधर्मोत्तर पुराण और वराह-मिहिर कृत बृहत्संहिता से ज्ञात होता है। इस देवी का नाम एकानंशा था और वे वासुदेव (कृष्ण) की धातृमाता यशोदा की पुत्री कही जाती हैं, जिन्हें वसुदेव कृष्ण के बदले ले गए थे। उनकी उपासना वृष्णियों में कृष्ण की रक्षिका होने के कारण होती रही। इसी उपासना [illegible] में आज

जगन्नाथ पुरी में बलराम, कृष्ण और सुभद्रा की पूजा होती है। एकानशा ने वहाँ अब सुभद्रा का रूप ले लिया है।

भाई-भगिनी त्रयी की इस उपासना के अतिरिक्त वृष्णियों के पंचवीरों—संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, साब और अनिरुद्ध की भी एक सामूहिक उपासना प्रचलित थी। मथुरा में प्रथम शती ई० में तोषा नाम्नी एक उपासिका ने पंच वीरों की प्रतिमा स्थापित की थी। जब वासुदेव नारायण-विष्णु धर्म में समाहित हुए तो वीरों के रूप में पूजित उनके इन सबधियों का भी इस धर्म में समावेश हुआ और एक व्यूह रूप की कल्पना की गई। व्यूहवाद के अनुसार भागवत वासुदेव ने अपने पररूप में अपने में से व्यूह संकर्षण और प्रकृति की सर्जना की। संकर्षण और प्रकृति के संयोग से व्यूह प्रद्युम्न और मनस् उत्पन्न हुए। और उन दोनों के संयोग से व्यूह अनिरुद्ध और अहंकार की उत्पत्ति हुई। व्यूह अनिरुद्ध और अहंकार से महाभूत और ब्रह्म की उत्पत्ति हुई जिसने पृथ्वी और उसके अंतर्गत सारी वस्तुओं की रचना की।

गुप्तकाल तक अर्थात् चौथी शताब्दी ई० तक विष्णु और उनके उपासकों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस काल की जो मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं वे सब वासुदेव की ही हैं। उनमें वे केवल तीन ही आयुध—शख, चक्र और गदा धारण किए अंकित हैं। पद्मयुक्त चार आयुधों वाली विष्णु मूर्तियाँ गुप्तकाल और उसके बाद की ही मिलती हैं।

गुप्तकाल के आसपास नारायण-विष्णु-वासुदेव समन्वित धर्म में एक नए तत्व—अवतारवाद का प्रवेश हुआ, जो कदाचित् बौद्ध धर्म के बोधिसत्व के सिद्धांत का प्रभाव था। अब माना जाने लगा कि समय समय पर जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म बढ़ता है तब भगवान् विष्णु धर्म की पुनःस्थापना के लिये अवतार लेते हैं। अवतारवाद की इस कल्पना में आरंभ में इस बात का प्रयत्न परिलक्षित होता है कि उस समय तक लोक-आस्था में जो अन्य देवता प्रमुख रूप से पूजित होते थे, उन सबका इस धर्म के अंतर्गत समेट लिया जाय। पीछे अवतारों के रूप में विशिष्ट पुरुषों की भी गणना की जाने लगी। अवतारों की जो प्राचीनतम सूची महाभारत के नारायणी उपपर्व में उपलब्ध है उसमें केवल चार अवतारों का उल्लेख है—वराह, वामन, नृसिंह और वासुदेव कृष्ण। दस और चौबीस अवतारों की सूची बहुत बाद में बनी और उनमें कृष्ण का स्थान आठवाँ है और उन्हें पूर्ण अवतार कहा गया है।

धीरे धीरे अवतारवाद के हेतुसबधी दृष्टिकोणमें भी परिवर्तन हुआ और भागवत पुराण में एक नया सिद्धांत (दर्शन) प्रतिपादित किया गया। कहा गया कि ईश्वर वैकुंठ आदि धामों में तीन रूपों में रहते हैं—स्वयं रूप, तदेकात्म रूप और आवेश रूप। स्वयं रूप तो स्वयं कृष्ण हैं। तदेकात्म-रूप उनके अवतार हैं जो तत्वत भगवत् रूप होकर भी रूप और आकार में भिन्न होते हैं। आवेश रूप वह है जिसमें भगवान् ज्ञान आदि शक्तियों द्वारा महत्तम जीवों में अवशिष्ट होकर रहते हैं। अब यह विश्वास किया जाने लगा है कि भगवान् के अवतार का मुख्य प्रयोजन भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये लीला का विस्तार करना है। ईश्वर के चरित्र का अनुकरण भक्त भक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से करते हैं।

इस नई भावना का उद्भव दक्षिण के अलवार संतों द्वारा हुआ जिनका समय ५०० से ८५० ई० के बीच आँका जाता है। अलवारों के साथ कृष्ण-भक्ति का साम्प्रदायिक रूप मुखर हुआ। दसवीं शती के आसपास आचार्यों ने उसे बौद्धिक अर्थात् दार्शनिक रूप प्रदान किया। दार्शनिक धारणाओं के अनुसार कृष्ण भक्ति ने अनेक सम्प्रदायों का रूप धारण किया जिनमें श्री (रामानुज), सनक (निंबार्क), ब्रह्म (माध्वाचार्य) और विष्णु सम्प्रदाय मुख्य हैं। देश के विभिन्न भागों में कृष्ण की उपासना के अपने अलग अलग रूप और सम्प्रदाय हैं। (प० ला० गु०)

कृष्णगुप्त छठी सातवीं शती ई० में मगध पर शासन करनेवाले उत्तरवर्ती गुप्तवंश के संस्थापक। इनका उल्लेख अपसढ और देव बर्नारक से मिले अभिलेखों में हुआ है। कुछ इतिहासकारों की धारणा है कि ये चद्रगुप्त (द्वितीय) के ज्येष्ठ पुत्र थे जिनका उल्लेख वैशाली से प्राप्त मुहर पर गोविंद गुप्त के नाम से हुआ। किंतु इस कल्पना के लिये कोई सबल आधार नहीं है। (प० ला० गु०)

कृष्णदास (१) अष्टछाप के कवि जिनका महत्वक्रम में चौथा स्थान है। उनका जन्म १४६५ ई० के आसपास गुजरात प्रदेश में चिलोतरा ग्राम के एक कुनबी पाटिल परिवार में हुआ था। बचपन से ही प्रकृति बड़ी सात्विक थी। जब वे १२–१३ वर्ष के थे तो उन्होंने अपने पिता को चोरी करते देखा और उन्हें गिरफ्तार करा दिया फलत वे पाटिल पद से हटा दिए गए। इस कारण पिता ने उन्हें घर से निकाल दिया। वे भ्रमण करते हुए ब्रज पहुँचे। उन्हीं दिनों नवीन मंदिर में श्रीनाथ जी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करने की तैयारी हो रही थी। श्रीनाथ जी के दर्शन से वे बहुत प्रभावित हुए और वल्लभाचार्य से उनकी सम्प्रदाय की दीक्षा ली। उनकी असाधारण बुद्धिमत्ता, व्यवहार कुशलता और संघटन योग्यता से प्रभावित होकर वल्लभाचार्य ने उन्हें भेटिया (भेंट संग्रह करनेवाला) के पद पर नियुक्त किया और फिर शीघ्र उन्हें श्रीनाथ जी के मंदिर का अधिकारी बना दिया। उन्होंने अपने इस उत्तरदायित्व का बड़ी योग्यता से निर्वाह किया। कृष्णदास को साम्प्रदायिक सिद्धांतों का अच्छा ज्ञान था जिसके कारण वे अपने सप्रदाय के अग्रगण्य लोगों में माने जाते थे। उन्होंने समय-समय पर कृष्ण लीला प्रसंगों पर पद रचना की जिनकी संख्या लगभग २५० है जो राग कल्पद्रुम, राग रत्नाकर तथा सम्प्रदाय के कीर्तन संग्रहों में उपलब्ध हैं। १५७५ और १५८१ ई० के बीच किसी समय उनका देहावसान हुआ। (प० ला० गु०)

(२) माधव आचार्य के सेवक जिन्होंने भागवत पर आधारित 'श्रीकृष्ण मंगल' नामक एक छोटे से ग्रंथ की रचना की है। इनके पिता का नाम यादवानंद और माता का नाम पद्मावती था। इनका परिवार गंगा के पश्चिमी किनारे के किसी प्रदेश में रहता था। इन्होंने अपने ग्रंथ में 'श्रीमती ईश्वरी' का उल्लेख अपने गुरु के रूप में किया है। वे कदाचित् नित्यानंद की पत्नी जाह्नवी देवी थीं। (र० कु०)

(३) इनका दूसरा नाम श्यामानंद था। इनका समय १५८३ ई० के आसपास है। ये धारेंद्रा बहादुरपुर के निवासी थे। 'पदकल्पतरु' में प्राप्त तीन पदों से यह ज्ञात होता है कि गौरीदास पंडित इनके गुरु थे। इनकी जीवनी कुछ विस्तार से 'भक्तिरत्नाकर' में पाई जाती है। नरोत्तमदास के एक पद में भी इनकी चर्चा मिलती है। इनकी ख्याति विद्वत्ता एवं प्रचारकार्य के लिये है। इन्होंने वृंदावन में रहकर जीव गोस्वामी से वैष्णव शास्त्रों का अध्ययन किया था। उसके बाद श्रीनिवास आचार्य एवं नरोत्तमदास के साथ बंगाल आए एवं उड़ीसा में वैष्णव धर्म का प्रचार किया। (र० कु०)

(४) माधुर्य भक्ति को स्वीकार करनेवाले कवि। ये मिर्जापुर निवासी और निंबार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनकी एक प्रख्यात रचना माधुर्य लहरी है। इसमें उन्होंने राधाकृष्ण के नित्य विहार के प्रसंगों का अत्यंत सरस एवं सुश्लिष्ट वर्णन किया है। संस्कृतनिष्ठ भाषा और गीतिका छंद में इसकी रचना हुई है। इस ग्रंथ की पुष्पिका के अनुसार इसकी रचना संवत् १८५२–५३ (१७९५–९६ ई०) में हुई थी। वृंदावन में इनका बनवाया हुआ कुंज 'मिरजापुरवाली कुंज' के नाम से आज भी वर्तमान है। (प० ला० गु०)

कृष्णदास, कविराज बंगाली वैष्णव कवि। इनका जन्म बर्दवान जिले के झामटपुर ग्राम में कायस्थ कुल में हुआ था। इनका समय कुछ लोग १४९६ से १५९८ ई० और कुछ लोग १५१७ से १६१५ ई० मानते हैं। इन्हें बचपन में ही वैराग्य हो गया। कहते हैं कि नित्यानंद ने उन्हें स्वप्न में वृंदावन जाने का आदेश दिया। तदनुसार इन्होंने वृंदावन में रहकर संस्कृत का अध्ययन किया और संस्कृत में अनेक ग्रंथों की रचना की जिसमें गोविंदलीलामृत अधिक प्रसिद्ध है। इसमें राधा-कृष्ण की वृंदावन-लीला का वर्णन है। किंतु इनका महत्वपूर्ण ग्रंथ चैतन्यचरितामृत है। इसमें महाप्रभु चैतन्य की लीला का गान किया है। इसमें उनकी विस्तृत जीवनी, उनके भक्तों एवं भक्तों के शिष्यों के उल्लेख के साथ साथ गौडीय

वैष्णवों की दार्शनिक एवं भक्ति संबंधी विचारधारा का निदर्शन है। इस महाकाव्य का बंगाल में अत्यत आदर है और ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण है। बंगाल में उनका वही स्थान है जो उत्तर भारत में तुलसीदास का। (र० कु०; प० ला० गु०)

कृष्णदास पयहारी रामानंदी संप्रदाय के प्रमुख आचार्य और कवि। इनका समय सोलहवीं शती ई० कहा जाता है। ये ब्राह्मण थे और जयपुर के निकट गलता नामक स्थान पर रहते थे और केवल दूध पीते थे। ये रामानंद के शिष्य अनंतानंद के शिष्य थे और आमेर के राजा पृथ्वीराज की रानी बाला बाई के दीक्षागुरु थे। कहा जाता है कि इन्होंने कापालिक संप्रदाय के गुरु चतुरनाथ को शास्त्रार्थ में पराजित किया था इससे इन्हें महंत का पद प्राप्त हुआ था। ये संस्कृत भाषा के पंडित थे और व्रजभाषा के कवि थे। ब्रह्मगीता, प्रेमसत्वनिरुप इनके मुख्य ग्रंथ है। इनके व्रजभाषा के अनेक पद प्राप्त होते है। (प० ला० गु०)

कृष्णदेवराय (१५०९-१५२९ ई०) विजयनगर के प्रख्यात नरेश। जिन दिनों ये गद्दी पर बैठे उस समय दक्षिण भारत की राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल थी। पुर्तगाली पश्चिमी तट पर आ चुके थे। कांची के आसपास का प्रदेश उत्तमत्तूर के राजा के हाथ में था। उड़ीसा के गजपति नरेश ने उदयगिरि से नेल्लौर तक के प्रांत को अधिकृत कर लिया था। बहमनी राज्य अवसर मिलते ही विजयनगर पर आक्रमण करने की ताक में था।

कृष्णदेवराय ने इस स्थिति का अच्छी तरह सामना किया। दक्षिण की राजनीति के प्रत्येक पक्ष को समझनेवाले और राज्यप्रबंध में अत्यंत कुशल श्री अप्पाजी को उन्होंने अपना प्रधान मंत्री बनाया। उत्तमत्तूर के राजा ने हारकर 'शिवसमुद्रम्' के दुर्ग में शरण ली। किंतु कावेरी नदी उसके द्वीपदुर्ग की रक्षा न कर सकी। कृष्णदेवराय ने नदी का बहाव बदलकर दुर्ग को जीत लिया। बहमनी सुल्तान महमूदशाह को उन्होंने बुरी तरह परास्त किया। रायचूड़, गुलबर्गा और बीदर आदि दुर्गों पर विजयनगर की ध्वजा फहराने लगी। किंतु प्राचीन हिंदू राजाओं के आदर्श के अनुसार महमूदशाह को फिर से उसका राज लौटा दिया और इस प्रकार 'यवन-राज्य-स्थापनाचार्य' की उपाधि धारण की। १५१३ ई० में उन्होंने उड़ीसा पर आक्रमण किया और उदयगिरि के प्रसिद्ध दुर्ग को जीता। कोंडविडु के दुर्ग से राजकुमार वीरभद्र ने कृष्णदेवराय का प्रतिरोध करने की चेष्टा की पर सफल न हो सका। उक्त दुर्ग के पतन के साथ कृष्णा तक का तटीय प्रदेश विजयनगर राज्य में संमिलित हो गया। उन्होंने कृष्णा के उत्तर का भी बहुत सा प्रदेश जीता। १५१९ ई० में विवश होकर गजपति नरेश को कृष्णदेवराय से अपनी कन्या का विवाह करना पड़ा। कृष्णदेवराय ने कृष्णा से उत्तर का प्रदेश गजपति को वापस कर दिया। जीवन के अंतिम दिनों में कृष्णदेवराय को अनेक विद्रोहों का सामना करना पड़ा। उसके पुत्र तिरुमल की विष द्वारा मृत्यु हुई।

कृष्णदेवराय ने अनेक प्रासादों, मंदिरों, मंडपों और गोपुरों का निर्माण करवाया। रामस्वामीमंदिर के शिलाफलकों पर प्रस्तुत रामायण के दृश्य दर्शनीय हैं। वे स्वयं कवि और कवियों के संरक्षक थे। तेलुगु भाषा में उनका काव्य अमुक्तमाल्यद साहित्य का एक रत्न है। तेलुगु भाषा के आठ प्रसिद्ध कवि इनके दरबार में थे जो अष्टदिग्गज के नाम से प्रसिद्ध थे। स्वयं कृष्णदेवराय भी आंध्रभोज के नाम से विख्यात था।

सं०ग्रं०—एस० कृष्णस्वामी आयंगर : कृष्णदेवराय ऑव विजयनगर; श्री रामचंद्रय्या के लेख : प्रोसीडिंग्ज ऑव इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, भाग ३, पृ० ७२८-७४६; भाग १०, पृ० २८६-९१; भाग ७, पृ० ३०५-१०। (द० श०)

कृष्णन्, कार्यमाणिक्कम् श्रीनिवास (१८९८-१९६१ ई०) प्रख्यात भौतिक वैज्ञानिक। जन्म ४ दिसंबर, १८९८ ई०। अमेरिकन कालेज, मदुरा, मद्रास क्रिश्चियन कालेज एवं युनिवर्सिटी कालेज ऑव सायंस, कलकत्ता में शिक्षा प्राप्त की। इंडियन एसोसियेशन फॉर कल्टिवेशन ऑव सायंस (कलकत्ता) के तत्वावधान में सन् १९२३ तक अनुसंधान कार्य किया। १९३३-४२ई० तक महेंद्रलाल सरकार रिसर्च प्रोफेसर तदुपरांत इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर। सन् १९४७ में राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, दिल्ली के प्रथम संचालक बने। १४ जून, १९६१ ई० को मृत्यु हुई।

मद्रास विश्वविद्यालय ने आपको डी० एस-सी० की उपाधि प्रदान की। सन् १९४० में रॉयल सोसायटी के सदस्य चुने गए। सन् १९४६ में 'सर' की उपाधि से विभूषित किए गए। स्वतंत्र भारत की सरकार ने 'पद्मभूषण' उपाधि प्रदानकर संमानित किया। सन् १९४५-४६ में भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष चुने गए। सन् १९५० में भारतीय विज्ञान कांग्रेस के भौतिकी विभाग के अध्यक्ष और बाद में इस संस्था के अध्यक्ष चुने गए। आप भारतीय परमाणु आयोग एवं भारतीय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के संचालकमंडल के भी सदस्य थे। आपने अनेक अंतरराष्ट्रीय संमेलनों में भारत का प्रतिनिधित्व सफलापूर्वक किया था।

भौतिकी की प्रत्येक दिशा में आपका महत्वपूर्ण योगदान रहा। प्रकाशिकी, चुंबकत्व, इलेक्ट्रानिकी, ठोस अवस्था भौतिकी, तथा विशेषकर धातु भौतिकी पर आपने अनेक खोज की। सर सी० वी० रमण के साथ रमण-प्रभाव की खोज में भी योग दिया। वैज्ञानिक संसार ने प्रकाशिकी एवं मणिभ पर चुंबककीय प्रभाव संबंधी आपके अन्वेषण कार्य को अत्यंत ही महत्वपूर्ण माना। आपके अनुसंधान संबंधी अनेक निबंध ट्रैंज़ैक्शंस ऐंड प्रोसीडिंग्स ऑव रायल सोसायटी (Transactions and Proceedings of the Royal Society) में प्रकाशित हुआ है। (अ० प्र० स०)

कृष्णनगर (२३° २४' पू० दे० ८८° ३१' उ० अ०) पश्चिम बंगाल राज्य के नदिया जिले का मुख्य नगर जो हुगली की सहायक जलांगो नदी के बाएँ किनारे पर बसा है। मुर्शिदाबाद को कलकत्ते से मिलानेवाला रेलमार्ग इस नगर से होकर जाता है जिसके कारण यह नगर व्यापार एवं उद्योग का केंद्र बन गया है। यहाँ चीनी तथा जूट की मिलें हैं। यह रंगबिरंगी मूर्तियों तथा चटाइयो के लिये भी प्रसिद्ध है। इस नगर के समीप ही प्लासी की प्रसिद्ध रणभूमि है। (न० कि० सिं०)

कृष्णराजसागर मैसूर नगर से १२ मील उत्तरपश्चिम में एक कृत्रिम जलाशय (क्षेत्रफल ४९½ वर्गमील) है। इस जलाशय का निर्माण कावेरी नदी पर १२४ फुट ऊँचा तथा ९,३१४ फुट लंबा बाँध बाँधकर किया गया है। इसमें कावेरी, हेमावती तथा लक्ष्मणतीर्था नदियाँ गिरती है, जिनसे निकाली गई कई नहरें जलाशय के आसपास की ९२,००० एकड़ भूमि की सिंचाई के लिये उपयोगी हैं।

कृष्णराजसागर बाँध पर जलविद्युत् भी उत्पन्न की जाती है और इसी से बंगलोर नगर को पानी पहुँचाया जाता है। इसके पास कावेरी नदी के बाएँ तट पर 'वृंदावन' नामक वाटिका है जो पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र है। जिस स्थान पर कावेरी नदी जलाशय में प्रवेश करती है वहाँ कृष्णराजनगर नामक छोटा कस्बा है जो मिट्टी के सुंदर बर्तनों के गृहउद्योग के लिये प्रसिद्ध है। (न० कि० सिं०)

कृष्णा एक नदी। यह महाराष्ट्र में महाबलेश्वर के निकट ४,५०० फुट ऊँचे पश्चिमी घाट से निकलकर ८०० मील पश्चिम से पूर्व बहती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती है। विजयवाड़ा के पास यह एक बड़ा डेल्टा बनाती है। कोयना, वर्णा, पंचगंगा, घाटप्रभा, मालप्रभा, तुंगभद्रा, भीम और मूसी इसकी प्रमुख सहायक नदियाँ हैं। यह नदी ९० मील लंबी नहर द्वारा गोदावरी से तथा बकिंघम नहर द्वारा मद्रास से संबंधित है।

विजयवाड़ा के निकट कृष्णा की चौड़ाई लगभग १,३०० गज है जहाँ २० फुट ऊँचे तथा ३,७१४ फुट लंबे बाँध का निर्माणकर नहरें निकाली गई हैं जिनसे कृष्णा के डेल्टा में १०,०२,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होती है।

आंध्र में नागार्जुनीकोंडा के पास कृष्णा पर एक बाँध बनाकर नागार्जुनीसागर का निर्माण किया गया है जिससे लगभग २०,००,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। (न० कि० सिं०)

कृष्णाष्टमी हिंदुओं का एक पवित्र पर्व जो भाद्रपद के कृष्णपक्ष की अष्टमी को भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म के उत्सवस्वरूप मनाया जाता है। श्रीकृष्ण का जन्म भाद्रपद कृष्णाष्टमी बुधवार को रोहिणी नक्षत्र में अर्धरात्रि के समय वृष के चंद्रमा मे हुआ था।

जन्माष्टमी के कालनिर्णय के विषय में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है अतः उपासक अपने मनोनुकूल अभीष्ट योग को ग्रहण करते हैं। शुद्धा और विद्धा, इसके दो भेद धर्मशास्त्र में बतलाए गए हैं। सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय पर्यंत यदि अष्टमी तिथि रहती है, तो वह शुद्धा मानी जाती है। सप्तमी या नवमी से संयुक्त होने पर वह अष्टमी विद्धा कही जाती है। शुद्धा या विद्धा भी समा, न्यूना या अधिका के भेद से तीन प्रकार की है। इन भेदों मे तत्काल व्यापिनी (अर्धरात्रि में रहनेवाली) तिथि अधिक मान्य होती है। कृष्ण का जन्म अष्टमी की अर्धरात्रि में हुआ था; इसीलिये लोग उस काल के ऊपर अधिक आग्रह रखते है। वह यदि दो दिन हो या दोनों ही दिन न हो, तो सप्तमीविद्धा को सर्वथा छोड़कर नवमीविद्धा का ही ग्रहण मान्य होता है। कतिपय वैष्णव रोहिणी नक्षत्र होने पर ही जन्माष्टमी का व्रत रखते है।

अष्टमी को उपवास रखकर पूजन करने का विधान है तथा नवमी को पारण से व्रत की समाप्ति होती है। उपासक मध्याह्न में काले तिल मिले जल से स्नान कर देवकी जी के लिये 'सूतिकागृह' नियत कर उसे प्रसूति की उपयोगी सामग्री से सुसज्जित करते हैं। इस गृह के शोभन भाग में मंच के ऊपर कलश स्थापित कर सोने, चाँदी आदि धातु अथवा मिट्टी के बने श्रीकृष्ण को स्तनपान कराती देवकी की मूर्ति स्थापित की जाती है। मूर्ति में लक्ष्मी देवकी का चरण स्पर्श करती होती हैं। अनंतर षोडश उपचारों से देवकी, वसुदेव, बलदेव, श्रीकृष्ण, नंद, यशोदा और लक्ष्मी का विधिवत् पूजन होता है। पूजन के अंत में देवकी को इस मंत्र से अर्घ्य प्रदान किया जाता है—

> प्रणमे देवजननीं त्वया जातस्तु वामनः।
> वसुदेवात् तथा कृष्णो नमस्तुभ्यं नमोनमः;
> सपुत्रार्घ्यं प्रदत्तं मे गृहाणेयं नमोऽस्तुते॥

भक्त श्रीकृष्ण के नालछेदन आदि आवश्यक कृत्यों का संपादन कर चंद्रमा को अर्घ्य दे तथा शेष रात्रि को भागवत का पाठ करते हैं। दूसरे दिन पूर्वाह्न में स्नान कर, अभीष्ट तिथि या नक्षत्र के योग समाप्त होने पर पारण होता है। जन्माष्टमी 'मोहरात्रि' के नाम से भी प्रख्यात है और उस रात को जागरण करने का विधान है। (ब० उ०)

केंचुआ (Earthworm)। यह एक कृमि है जो लंबा, वर्तुलाकार, ताम्रवर्ण का होता है और बरसात के दिनों में गीली मिट्टी पर रेंगता नजर आता है। केंचुआ ऐनेलिडा (Annelida) संघ (Phylum) का सदस्य है। ऐनेलिडा विखंड (Metameric), खंडयुक्त द्विपार्श्व सममितिवाले (bilaterally symmetrical) प्राणी है। इनके शरीर के खंडों पर आदर्शभत रूप से काईटिन (Chitin) के बने छोटे छोटे सुई जैसे अंग होते हैं। इन्हें सीटा (Seta) कहते है। सीटा चमड़े के अंदर थैलियों में पाए जाते हैं और ये ही थैलियाँ सीटा का निर्माण भी करती हैं।

ऐनेलिडा संघ में खंडयुक्त कीड़े आते है। इनका शरीर लंबा होता है और कई खंडों में बँटा रहता है। ऊपर से देखने पर उथले खात (furrows) इन खंडों को एक दूसरे से अलग करते हैं और अंदर इन्हीं खातों के नीचे मांसपेशीयुक्त पर्दे होते हैं, जिनको पट या भित्तिका कह सकते हैं। पट शरीर के अंदर की जगह को खंडों में बाँटते हैं (चित्र १ क)। प्रत्येक आदर्शभूत खंड में बाहर उपांग का एक जोड़ा होता है और अंदर एक जोडी तंत्रिकागुच्छिका (nerve ganglion), एक जोड़ी उत्सर्जन अंग (नेफ्रीडिया, Nephridia), एक जोड़ा जननपिंड (गॉनैड्स, Gonads) तथा रक्तनालिकाओं की जोड़ी और पाचनांग एवं मांसपेशियाँ होती है।

केंचुए के शरीर में लगभग १०० से १२० तक खंड होते है (चित्र १ घ)। इसके शरीर के बाहरी खंडीकरण के अनुरूप भीतरी खंडीकरण भी होता है। इसके आगे के सिरे में कुछ ऐसे खंड मिलते हैं जो बाहरी रेखाओं द्वारा दो या तीन भागों में बँटे रहते है। इस प्रकार एक खंड दो या तीन उपखंडों में बँट जाता है। खंडों को उपखंडों मे बाँटनेवाली रेखाएँ केवल बाहर ही पाई जाती हैं। भीतर से खंड उपखंडों में विभाजित नहीं होता। केंचुए का मुख शरीर के पहले खंड में पाया जाता है। यह देखने में अर्धचंद्राकार होता है। इसके सामने एक मांसल प्रवर्ध लटकता रहता है, जिसको प्रोस्टोमियम (Prostomium) कहते हैं (चित्र १ ख)। पहला खंड, जिसमें मुख घिरा रहता है परितुंड (पेरिस्टोमियम, Peristomium) कहलाता है। शरीर के अंतिम खंड मे मलद्वार या गुदा होती है। इसलिये इसको गुदाखंड कहते हैं। वयस्क केंचुए में १४वें १५वें और १६वें खंड एक दूसरे से मिल जाते है और एक मोटी पट्टी बनाते है, जिनको क्लाइटेलम (Clitellum) कहते हैं (चित्र १ ग तथा घ)। इसकी दीवार में ग्रंथियाँ भी होती है, जो विशेष प्रकार के रस पैदा कर सकती हैं। इनसे पैदा हुए रस अंडों की रक्षा के लिये "कोकून" बनाते है। पाँचवें और छठे, छठे और सातवें, सातवें और आठवें तथा आठवें और नवें के बीचवाली अंतर्खंडीय खातों में (चित्र १ च) अगल बगल छोटे छोटे छेद होते हैं, जिनको शुक्रधानी रंध्र (Spermathecal pores) कहते है। इनमें लैंगिक संपर्क के समय शुक्र दूसरे केंचुए से आकर एकत्रित हो जाता है। १४वें खंड के बीच में एक छोटा मादा जनन-छिद्र (चित्र १ ग) होता है और १८वें खंड के अगल बगल नर-जनन-छिद्रों का एक जोड़ा होता है। १७वें और १९वें खंडों पर नर-जनन-छिद्रों की
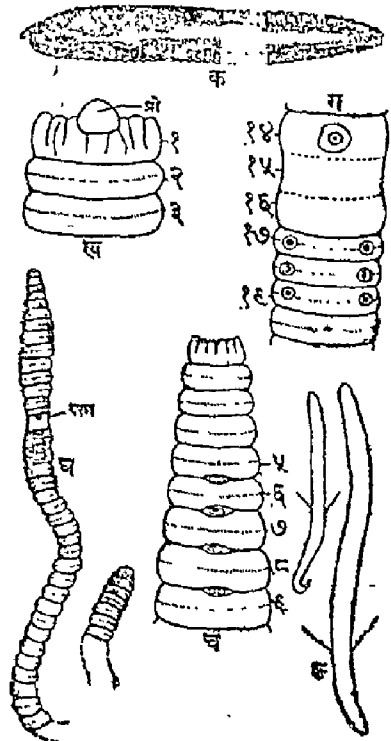
चित्र १. केंचुए की शरीररचना

क. केंचुए का बाह्य तथा अंतर्खंडीकरण; ख. आगे के तीन खंड बढ़ाकर दिखाए गए हैं। मुखाग्र (प्रोस्टोमियम), पहले खंड में प्रो० स्पष्ट है; ग. नर जननांग (क्लाइटेलम) वाले खंड बढ़ाकर दिखाए गए हैं; घ. केंचुए के शरीर के खंड; ङ. सीटा; च. शरीर के अगले भाग का पार्श्वीय चित्र, जिसमें शुक्रधानी रंध्र दिखलाया गया है।

रेखा में ही, उनके आगे और पीछे उभरे हुए, पापिला (Papillae) होते हैं (चित्र १ ग)। इनको जनन पापिला कहते हैं। जनन पापिला की उपस्थिति एवं बनावट भिन्न भिन्न जाति के केंचुओं से भिन्न होती है। पहले १२ खंडों को छोड़कर सब खंडों के बीचवाली अंतर्खंडीय रेखाओं के बीच में छोटे छोटे छिद्र होते हैं। चूंकि ये पृष्ठीय पक्ष में होते हैं, इसलिये इन्हें पृष्ठीय छिद्र कहते हैं। ये छिद्र शरीर की गुहा को बाहर से संबंधित करते हैं। पहला पृष्ठछिद्र १२वें और १३वें खंड के बीच की खात में पाया जाता है। अंतिम खात को छोड़कर बाकी सबमें एक एक छेद होता है। पहले दो खंडों को छोड़कर बाकी शरीर की दीवार पर अनेक अनियमित रूप से बिखरे छिद्र होते है। ये उत्सर्जन अंग के बाहरी छिद्र हैं। इनको नेफ्रीडियोपोर्स (Nephridio-pores) कहते हैं।

केंचुए का लगभग तीन चौथाई भाग शरीर की दीवार के अंदर गड़ा होता है और थोड़ा सा ही भाग बाहर निकला रहता है। ये पहले और अंतिम खंडों को छोड़कर सब खंडों के बीच में पाए जाते हैं। प्राय: ये खंडों के बीच में उभरी हुई स्पष्ट रेखा सी बना लेते हैं। (चित्र १ घ तथा च)। एक खंड में लगभग २०० सीटा होते हैं। इनको यदि निकालकर देखा जाय तो इनका रंग हल्का पीला होगा। यदि सीटा के ऊपर और नीचे के सिरों को खींच दिया जाय, जैसा चित्र में दिखाया गया है, तो आकार में सीटा अंग्रेजी अक्षर S से मिलता है। प्रत्येक सीटा एक थैले में स्थित रहता है। यह थैला बाहरी दीवार के धँस जाने से बनता है और यही थैला सीटा का निर्माण करता है। सीटा अपनी लंबाई के लगभग बीच में कुछ फूल जाता है। इन गाँठों को नोड्यूल (Nodules) नाम दिया जाता है। सीटा विशेषकर केंचुए को चलने में सहायता करते हैं।

जैसा पहले बता चुके हैं, इन खंडों के अनुरूप पट या भित्तियाँ होती हैं, जो शरीर की गुहा को खंडों में बाँटती हैं। केंचुओं के पाचनांग लंबी, पतली दीवारवाली नली के रूप में होते हैं, जो मुख से गुदा तक फैली रहती है। केंचुए का केंद्रीय तंत्र स्पष्ट होता है और इसकी मुख्य तंत्रिका आँतों के नीचे शरीर के प्रतिपृष्ठ भाग से होती हुई जाती है। प्रत्येक खंड में तंत्रिका फूलकर गुच्छिका बनाती है। इससे अनेक तंत्रिकाएँ निकलकर शरीर के विभिन्न अंगों में जाती हैं। केंचुए का एक छोटा सा मस्तिष्क भी होता है। इसका आकार साधारण होता है और यह आँतों के अगले भाग में स्थित रहता है। इसके अलावा शरीर में कई समांतर रक्तनलिकाएँ होती हैं। इनमें रक्त का संचार करने के लिये चार बड़ी बड़ी स्पंदनशील नलिकाएँ रहती हैं। ये सिकुड़ती और फैलती रहती हैं। इससे रक्त का संचार होता रहता है। जहाँ तक प्रजनन अंगों का संबंध है, एक ही केंचुए में दोनों लिंगों के अंग पाए जाते हैं। इसी लिये इन्हें द्विलिंगीय (hermaphrodite) कहते हैं। किंतु उनमें स्वसंसेचन संभव नहीं है; परसंसेचन ही होता है। दो केंचुए एक दूसरे से संपर्क में आते हैं और संसेचन करते हैं।

केंचुए पृथ्वी के अंदर लगभग १ या १॥ फुट की गहराई तक रहते हैं। यह अधिकतर पृथ्वी पर पाई जानेवाली सड़ी पत्ती, बीज, छोटे कीड़ों के डिंभ (लार्वे), अंडे इत्यादि खाते हैं। ये सब पदार्थ मिट्टी में मिले रहते हैं। इन्हें ग्रहण करने के लिये केंचुए को पूरी मिट्टी निगल जानी पड़ती है। ये पृथ्वी के भीतर बिल बनाकर रहनेवाले जंतु हैं। इनके बिल कभी कभी छह या सात फुट की गहराई तक चले जाते हैं। वर्षा ऋतु में, जब बिल पानी से भर जाते हैं, केंचुए बाहर निकल आते हैं। इनका बिल बनाने का तरीका रोचक है। ये किसी स्थान में मिट्टी खाना प्रारंभ करते हैं और सिर को अंदर घुसेड़ते हुए मिट्टी खाते जाते हैं। मिट्टी के अंदर जो पोषक वस्तुएँ होती हैं उन्हें इनकी आँतें ग्रहण कर लेती हैं। शेष मिट्टी मलद्वार से बाहर निकलती जाती है। केंचुए का मल, जो अधिकतर मिट्टी का बना होता है, मोटी सेंवई की आकृति का होता है। इसको वर्म कास्टिंग (worm casting) कहते हैं। प्राय: बरसात के पश्चात् पेड़ों के नीचे, चरागाहों और खेतों में, वर्म कास्टिंग के ढेर अधिक संख्या में दिखाई पड़ते हैं। केंचुए रात में कार्य करनेवाले प्राणी हैं। भोजन और प्रजनन के लिये वे रात में ही बाहर निकलते हैं; दिन में छिपे रहते हैं। साधारणत: शरीर को बिल के बाहर निकालने के पश्चात् ये अपना पिछला हिस्सा बिल के अंदर ही रखते हैं, जिसमें तनिक भी संकट
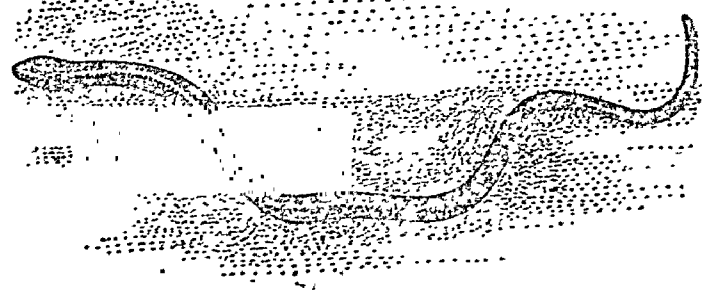
चित्र २. ऐंजियस फ्रैजिलिस नामक केंचुआ
इसका निवासस्थान यूरोप तथा एशिया है।

आने पर यह तुरंत बिल के अंदर घुस जायँ। फेरिटाइमा (Pheretima) जाति के केंचुए पृथ्वी के बाहर बहुत कम निकलते हैं। इनकी सारी क्रियाएँ पृथ्वी के अंदर ही होती है। केंचुए मछलियों का प्रिय भोजन है। मछली पकड़नेवाले काँटे में केंचुए को लगा देते हैं, जिसको खाने के कारण वे काँटे में फँस जाती हैं। केंचुए की कुछ जातियाँ प्रकाश देनेवाली होती हैं। इनके चमड़े की बाहरी झिल्ली प्रकाश को दिन में ग्रहण कर लेती है और रात्रि में चमकती रहती है।

भारत में कई जातियों के केंचुए पाए जाते हैं। इनमें से केवल दो ऐसे हैं जो आसानी से प्राप्त होते हैं। एक है फेरिटाइमा और दूसरा है यूटाइफियस। फेरिटाइमा पॉसथ्यूमा (Pheretima Posthuma) सारे भारतवर्ष में मिलता है। उपर्युक्त केंचुए का वर्णन इसी का है। फेरिटाइमा और यूटाइफियस केवल शरीररचना में ही भिन्न नहीं होते, वरन् इनकी वर्म कास्टिंग भी भिन्न प्रकार की होती है। फेरिटाइमा की वर्म कास्टिंग मिट्टी की पृथक् पृथक् गोलियों के छोटे ढेर जैसी होती है और यूटाइफियस की कास्टिंग मिट्टी की उठी हुई रेखाओं के समान होती है।

केंचुए किसानों के सच्चे मित्र और सहायक हैं। इनका मिट्टी खाने का ढंग लाभदायक है। ये पृथ्वी को एक प्रकार से जोतकर किसानों के लिये उपजाऊ बनाते हैं। वर्म कास्टिंग की ऊपरी मिट्टी सूख जाती है, फिर बारीक होकर पृथ्वी की सतह पर फैल जाती है। इस तरह जहाँ केंचुए रहते हैं वहाँ की मिट्टी पोली हो जाती है, जिससे पानी और हवा पृथ्वी की भीतर सुगमता से प्रवेश कर सकती है। इस प्रकार केंचुए हल के समान कार्य करते हैं। डारविन ने बताया है कि एक एकड़ में १०,००० से ऊपर केंचुए रहते हैं। ये केंचुए एक वर्ष में १४ से १८ टन, या ४०० से ५०० मन मिट्टी पृथ्वी के नीचे से लाकर सतह पर एकत्रित कर देते हैं। इससे पृथ्वी की सतह ⅕ इंच ऊँची हो जाती है। यह मिट्टी केंचुओं के पाचन अंग से होकर आती है, इसलिये इसमें नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ भी मिल जाते हैं और यह खाद का कार्य करती है। इस प्रकार वे मनुष्य के लिये पृथ्वी को उपजाऊ बनाते रहते हैं। यदि इनको पूर्ण रूप से पृथ्वी से हटा दिया जाय तो हमारे लिये समस्या उत्पन्न हो जायगी। (स० ना० प्र०)

केंट इंग्लैंड के दक्षिणपूर्व भाग का एक जिला जिसके उत्तर में इसेक्स, उत्तरपश्चिम में लंदन तथा मिडिलसेक्स, पश्चिम में सरे तथा ससेक्स और दक्षिणपूर्व में डोवर जलसंयोजक हैं। इसका क्षेत्रफल १,५२५ वर्ग मील तथा जनसंख्या १३,२५,००० (१९६१) है। मेडस्टोन (Maidstone) इसका मुख्य नगर है। केंट के मध्य में नॉर्थडाउंस (Northdowns) नामक ५०० से ८०० फुट ऊँची खड़िया की पहाड़ी- दक्षिण में रोमनी दलदल तथा उत्तर में चिकनी मिट्टी के उर्वर क्षेत्र हैं। उत्तरी केंट में दाख (करैंट्स), झरबेरी, करौंदा, रसभरी आदि छोटे फलों के अतिरिक्त मेव, नाशपाती, चेरी तथा विभिन्न सब्जियाँ उत्पन्न होती हैं। यहाँ की मुख्य उपज गेहूँ, जई, जौ, आलू, मटर, सेम आदि हैं। केंट मवेशी तथा भेड़ पालने के लिये प्रसिद्ध है। डोवर, फॉकस्टोन तथा

कैंटरबेरी अन्य कस्बे हैं। रोचेस्टर तथा चैथम में कागज, सीमेंट, इंजीनियरी तथा पेट्रोल शुद्ध करने के उद्योग हैं। ग्रेव्ज एंड में जहाजों का निर्माण होता है। कैंट कोयला क्षेत्र इसके दक्षिणपूर्व में २०० वर्गमील में फैला है जिसकी संचित निधि २०० करोड़ टन है। यहाँ से फल, सब्जियाँ, दूध, भेड़ का मांस लंदन नगर में आता है। (न० कि० सिं०)

कैंटकी संयुक्त राज्य अमरीका के पूर्वी मध्य भाग का एक राज्य जो अलेघनी (Allegheny) पर्वत के पश्चिम ओहायो नदी के दक्षिणपूर्व स्थित है। इसके उत्तर में इलिनाय, इंडियाना तथा ओहायो, पूर्व में वरजीनिया एवं पश्चिमी वरजीनिया, दक्षिण में टेनेसी तथा पश्चिम में मिसोरी राज्य है। कैंटकी का क्षेत्रफल ४०,३९५ वर्गमील तथा जनसंख्या ३१,६०,६५५ (१९७०) है। इसके मध्य में 'ब्लूग्रास' नामक समृद्ध कृषिक्षेत्र है जो मक्का, तंबाकू तथा पटुआ उत्पादन के लिये प्रसिद्ध है। कंबरलैंड का पठार जो इसके पूर्वी भाग में स्थित है, कोलधारी एवं पतभड़वाले वनों से ढका है। चूने की चट्टानों से निर्मित पेनीरायल नामक क्षेत्र कम उपजाऊ है। कैंटकी के मुख्य खनिज कोयला, पेट्रोल गैस एवं फेल्स्पार हैं। कोयला उत्तरपूर्व में ८,००० वर्ग मील तथा पश्चिम में ५,००० वर्ग मील में पाया जाता है। फ्रैंकफोर्ट इसकी राजधानी है। लुईविले (Louisville), कोविंगटन (Covington), सिनसिनाटी (Cincinati) लेक्सिंगटन (Lexington), पेडुका (Paducah) तथा ऐशलैंड (Ashland) इसके प्रमुख औद्योगिक एवं व्यापारिक नगर हैं। लुईविले में मोटर गाड़ियाँ, शराब, सिगरेट, खेल के सामान तथा कल पुर्जों का निर्माण होता है। ऐशलैंड तथा कोविंग्टन इस्पात उद्योग के केंद्र हैं। (न० कि० सिं०)

कैंब्रिज १ इंग्लैंड का एक नगर जो केम (Cam) नदी के दाहिने तट पर लंदन के उत्तरपूर्व ५० मील की दूरी पर स्थित है। इसका विकास एक दुर्ग के चारों ओर हुआ है। नगर का क्षेत्रफल १०,०६० एकड़ तथा जनसंख्या १,००,२०० (१९६६) है। यहाँ प्राचीन काल से अनेक मेले लगते आए हैं। अब भी बार्नवेल का ग्रीष्मकालीन मेला प्रत्येक वर्ष २२ जून को आरंभ होता है। विद्या के केंद्र के रूप में यहाँ कैंब्रिज विश्वविद्यालय तथा 'गिल्ड हॉल लायब्रेरी' हैं। यहाँ रेडियो, टेलिविजन वैज्ञानिक यंत्र, सीमेंट, पीतल एवं लोहे की ढलाई के उद्योग हैं। (न० कि० सिं०)

२ संयुक्त राज्य अमरीका के मेसाचुसेट्स राज्य का एक नगर जो चार्ल्स नदी के बाएँ तट पर बॉस्टन से ५ मील उत्तरपश्चिम स्थित है (स्थिति ४२°१८' उ० अ० से ७१°४' प० दे०)। यहाँ सुप्रसिद्ध हार्वर्ड विश्वविद्यालय है जिसकी स्थापना १६३६ ई० में हुई थी। इसकी जनसंख्या १,०७,७१६ (१९६०) है। इसकी ख्याति मुद्रण एवं प्रकाशन के लिये है। कैंब्रिज में रसायन, तार, बिजली तथा काँच के सामान का निर्माण किया जाता है। (न० कि० सिं०)

केंस, लार्ड जान मेनार्ड (१८८३-१९४६ ई०)। विख्यात अंग्रेज अर्थशास्त्री। इटन और कैंब्रिज में अध्ययन। १९१२ में अर्थ विभाग में सेवा। १९३० में द्रव्य पर निबंध प्रकाशित। १९३४ में संयुक्त राज्य अमरीका की आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन तथा राष्ट्रपति रूजवेल्ट को तत्संबंधी परामर्श जिसका समावेश रूजवेल्ट ने अपनी नीति में किया। १९३६ में उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'व्यवसाय, ब्याज और द्रव्य के साधारण सिद्धांत' (जेनरल थियरी ऑव एम्प्लायमेंट, इंटरेस्ट ऐंड मनी) प्रकाशित। १९४२ में हाउस ऑव लार्ड के सदस्य मनोनीत। दो महायुद्धों में उन्होंने इंग्लैंड की आर्थिक नीति का नेतृत्व किया, राष्ट्रीय आय, बचत और विनियोजन में स्पष्ट संबंध बतलाया। आपका कहना है कि पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक संकट अवश्यंभावी है—इस नियम के अनुसार (पूँजीवादी) आर्थिक प्रणाली स्वतः संतुलन प्राप्त कर लेती है। पूर्ति माँग के बराबर, मूल्य लागत के बराबर, आयात निर्यात के बराबर और विनियोजन संचय के बराबर होता है, यह विचार उनकी दृष्टि में भ्रमक है। आर्थिक व्यवस्था को ठीक रखने के लिये सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है, यह मानकर उन्होंने ब्याज का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि पूर्ण व्यवसाय आर्थिक व्यवस्था का लक्ष्य होना चाहिए। समकालीन अर्थशास्त्रियों में सबसे प्रसिद्ध होते हुए उनका व्यक्तित्व विवादग्रस्त है। लोग भ्रमवश उन्हें मार्क्स के समान विचारोंवाला मानते हैं।

सं०ग्रं०—जिड तथा रिस्ट : ए हिस्ट्री ऑव इकनामिक डाक्ट्रीन, एरिकरोल : ए हिस्ट्री ऑव इकनामिक थाट, केंसीयन इकनामिक्स। (उ० ना० पा०)

के, एफ० ई० चर्च मिशनरी सोसायटी से संबद्ध ईसाई धर्मप्रचारक। उन्होंने हिंदी साहित्य से संबंधित दो पुस्तकें अंग्रेजी में लिखीं—(१) 'ए हिस्ट्री ऑव हिंदी लिटरेचर' (१९२०, जबलपुर) और (२) कबीर ऐंड हिज फालोअर्स (१९३१)। इनकी एन्शेंट इंडियन एजुकेशन (१९१८) नामक एक तीसरी पुस्तक शिक्षा से संबंधित है। (ल० सा० वा०)

केकय पंजाब में गंधार का पूर्ववर्ती प्रदेश, आजकल के रावलपिंडी पेशावर के आस पास के प्रदेश का प्राचीन नाम। ईक्ष्वाकुवंशी राजा दशरथ की रानी कैकेयी यहीं की राजकन्या थी। केकय राज्य की राजधानी राजगृह थी। इस राजगृह का समीकरण आधुनिक जलालपुर से किया जाता है। रामायण में इस नगर का एक दूसरा नाम गिरिव्रज कहा गया है। उपनिषदों में इस प्रदेश के विख्यात शासक अश्वपति का उल्लेख मिलता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इसे राजाधिष्ठित जनपद कहा गया है। महाभारत के समय यहाँ धृष्टकेतु नामक राजा राज्य करता था। ब्रह्मांड पुराण के अनुसार केकय निवासी अनार्य थे किंतु जैन साहित्य में उन्हें आर्य कहा गया है। (च० भ० पा०, प० ला० गु०)

केकुले, फीड्रिक आगस्ट (१८२९-१८९६ ई०)। विख्यात रसायनशास्त्री। इसका जन्म डार्मस्टैट (Darmstadt) (जर्मनी) में ७ सितंबर, १८२९ ई० को हुआ था। उसका विचार शिल्पी बनने का था, किंतु गीस्सेन (Giessen) में शिल्पकला का अध्ययन करते समय उसका संपर्क तत्कालीन प्रसिद्ध रसायनज्ञ लीबिख (Liebig) से हुआ। उन्होंने केकुले की रुचि रसायन के प्रति आकर्षित की। उनकी प्रेरणा पर केकुले पेरिस आया और उसने रेनो, फ्रेमी और वुर्ट्स के व्याख्यान सुने और ग्हेरार (Gerhardt) से उसकी मित्रता हुई। पश्चात् वह स्विट्जरलैंड और इंग्लैंड गया और वहाँ के प्रसिद्ध रसायनज्ञों के संपर्क में आया। जर्मनी लौटने पर उसने हाइडलबर्ग में एक छोटी सी प्रयोगशाला स्थापित की। १८५८ ई० में घेंट (Ghent) तथा १८६५ ई० में बॉन (Bonn) विश्वविद्यालय में रसायन का अध्यापक रहा। १३ जून, १८९६ ई० को बान में उसकी मृत्यु हुई।

कार्बन की संयोजकता पर फ्रैंकलैंड आदि जो कार्य कर रहे थे, उसमें केकुले ने भी योग दिया। १८५८ ई० में कार्बन की चतु:संयोजकता के आधार पर परमाणुओं के संयोजन को समझाने का प्रयत्न इन्होंने किया तथा संवृत और विवृत शृंखला के यौगिकों की कल्पना पहली बार प्रस्तुत की। इसी सिलसिले में इन्होंने बेनजीन की संरचना भी प्रस्तावना की। यह कार्य इतने महत्व का था कि प्रोफेसर जैप ने, जिन्होंने केकुले की मृत्यु पर लंदन केमिकल सोसायटी में सन् १८९७ में भाषण दिया था, कहा कि कार्बनिक रसायन का तीन चौथाई भाग प्रत्यक्ष रूप में, या परोक्ष रूप से, केकुले के बेनजीन संबंधी विचारों और परिकल्पनाओं का ऋणी है। केकुले द्वारा प्रस्तुत बेनजीन संरचना संबंधी सिद्धांत हमारी सहायता न करता तो कोलतार से संबंध रखनेवाले सहस्रों उपयोगी यौगिकों की संभावना भी नहीं प्रतीत हुई होती। (सत्य० प्र०)

के, जॉन बुनाई से संबंधित मशीनों के अंग्रेज आविष्कारक। इनका जन्म १७०४ ई० में लैंकाशायर के पार्क नामक ग्राम में हुआ था। वे पहले घड़ीसाज का काम करते थे। चरखे की मशीन के आविष्कारक आर्कराइट ने अपने यंत्र को बनाने में इससे सहायता प्राप्त की। उसके बाद इनका ध्यान कातने और बुनने के यंत्रों में उन्नति करने की ओर गया।

केला (देखिए पृष्ठ १५६)

केले का पौधा और फल

केवड़ा, कैतकी (देखिए पृष्ठ १६९)

केवड़े का नर फूल

कृत्रिम उपग्रह (देखिए पृष्ठ ९०)

भारत का पहला कृत्रिम उपग्रह आर्यभट्ट

केदारनाथ (देखिए पृष्ठ ११५)
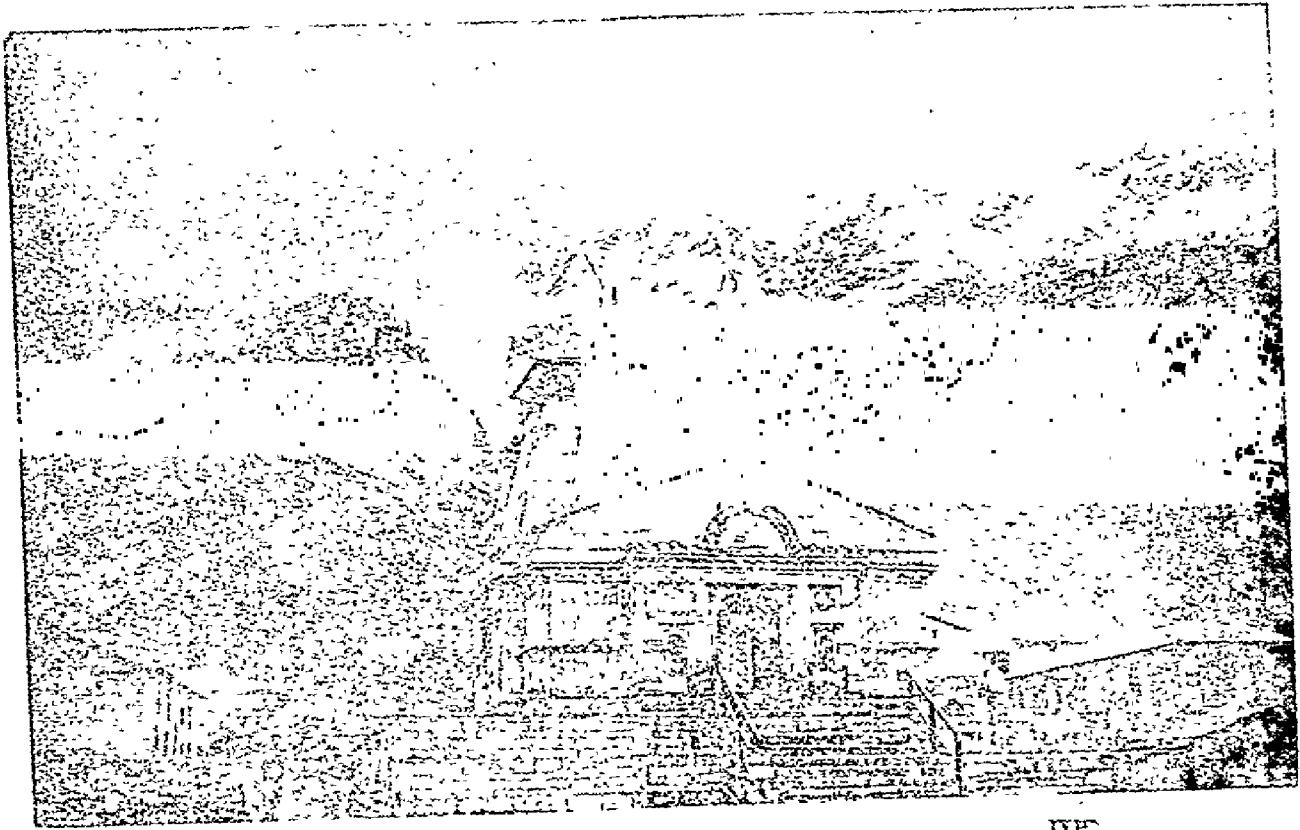
केदारनाथ का मंदिर
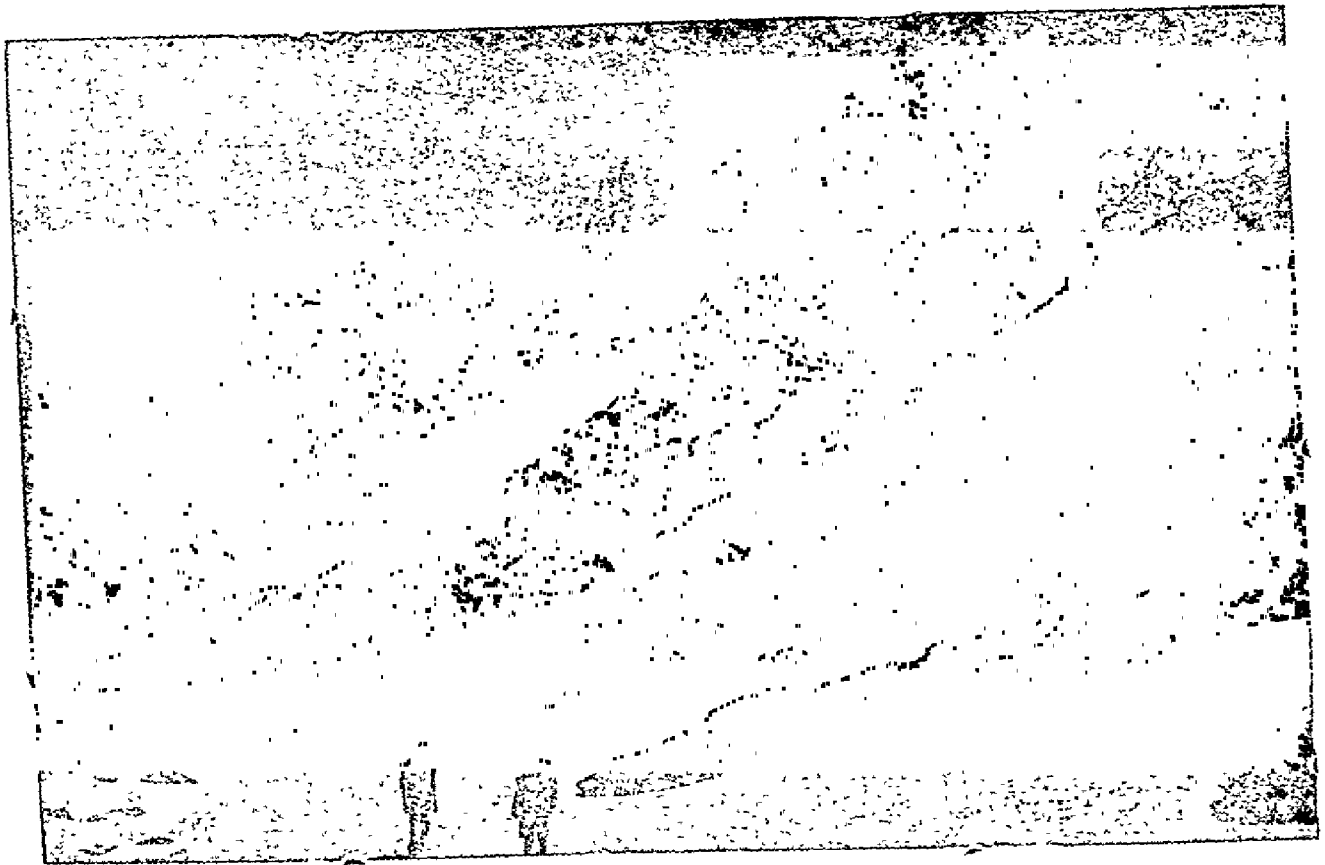
केदारनाथ पर्वत की चोटियाँ

उन्होंने करघों की कंघी (reeds) में बेत के पतले टुकड़ों के स्थान पर तार का प्रयोग आरंभ किया। उन्होंने ऐसी ढरकी (flying shuttle) का आविष्कार किया जिसे बुनने के समय मशीन स्वयं फेंकती थी। इसके कारण बुनाई की गति तथा बुने हुए कपड़े के पनहे में वृद्धि संभव हो गई। करघे द्वारा बुनाई के संबंध में यह बड़े महत्व का आविष्कार था।

इन्होंने ऐसी मशीन भी बनाई जिसके द्वारा ऊन या रूई धुनने के काम में आनेवाला वह चमड़ा या कपड़ा (carding cloth) बनाया जा सकता है जिसमें दाँते या काँटे लगे होते हैं।

बुनने की मशीनों के विरुद्ध हुए दंगों के कारण इन्हें इंग्लैंड छोड़ फ्रांस चला जाना पड़ा था; वहाँ वे दस वर्ष रहे। इसके पश्चात् वे पुनः इंग्लैंड वापस आए; पर सन् १८१४ में पुनः फ्रांस लौट गए। वहाँ की सरकार ने इनकी पेंशन बाँध दी। इनकी मृत्यु का ठीक समय ज्ञात नहीं है।

(भ० दा० व०)

केडा मलय राज्यसंघ के अंतर्गत उत्तरी सीमा पर स्थित एक राज्य। इसके पश्चिम में अंदमान सागर, उत्तर में तथा उत्तरपूर्व में थाइलैंड दक्षिणपूर्व में पेराक (Perak) तथा दक्षिणपश्चिम में वेलेजली (Wellesley) है। केडा राज्य के अंतर्गत अनेक द्वीप भी है जिनमें प्रमुख उत्तरपश्चिम में स्थित पुलाऊ लाँगकावी (Pulau Longkawi) है। इसके सर्वोच्च पर्वत की ऊँचाई लगभग ६,००० फुट है जो इस राज्य के पूर्वी भाग में उत्तर से दक्षिण फैले हैं। नदियाँ प्रायः छोटी हैं जिनमें प्रमुख केडा तथा मुडा है। इस राज्य का क्षेत्रफल ३,६३६ वर्गमील तथा जनसंख्या ६,८८,३५८ (१९६६) है जिनमें से दो तिहाई मनुष्य मलय जाति के मुसलमान हैं। अलॉर-स्टार (Alor star) इसकी राजधानी है जो केडा नदी के किनारे समुद्र से १० मील दूर स्थित है। सुंगेई पतानी (Sungei Patani) इसका दूसरा मुख्य नगर है। मलय राज्यसंघ के अंतर्गत यहाँ सर्वाधिक चावल उत्पन्न होता है। इसकी अन्य उपजें रबर, नारियल तथा टैपियोका (Tapioca) हैं। (न० कि० सिं०)

केतकी एक छोटा सुवासित झाड़। इसकी पत्तियाँ लंबी, नुकीली, चपटी, कोमल और चिकनी होती है जिसके किनारे और पीठ पर छोटे छोटे काँटे होते हैं। यह दो प्रकार की होती है। एक सफेद, दूसरी पीली। सफेद केतकी को लोग प्रायः केवड़ा के नाम से जानते और पहचानते हैं और पीली अर्थात् सुवर्ण केतकी को ही केतकी कहते हैं। बरसात में इसमें फूल लगते हैं जो लंबे और सफेद होते है और उसमें तीव्र सुगंध होती है। इसका फूल बाल की तरह होता है और ऊपर से लंबी पत्तियों से ढका रहता है। इसके फूल से इत्र बनाया और जल सुगंधित किया जाता है। इससे कत्थे को भी सुवासित करते हैं। केवड़े का प्रयोग केशों के दुर्गंध दूर करने के लिये भी किया जाता है। प्रवाद है कि इसके फूल पर भ्रमर नहीं बैठते और शिव पर नहीं चढ़ाया जाता। इसकी पत्तियों की चटाइयाँ, छाते और टोपियाँ बनती हैं। इसके तने से बोतल बंद करनेवाले काग बनाए जाते हैं। कहीं कहीं लोग इसकी नरम पत्तियों का साग भी बनाकर खाते है। वैद्यक में इसके शाक को कफनाशक बताया गया है।

(२) संगीत से संबंधित एक रागिनी का नाम।

(प० ला० गु०)

केतु (१) नवग्रहों में से एक ग्रह। फलित ज्योतिष ग्रंथों में इसे ग्रह कहा गया है किंतु सिद्धांत ग्रंथ चंद्रकक्ष और क्रांतिरेखा के अधःपात के बिंदु को ही केतु मानते है। फलित ज्योतिष में इसके आधार पर शुभाशुभ फल का निर्णय किया जाता है। यह पापग्रह कहा जाता है। विंशोत्तरी गणना के अनुसार केतु की दशा का फल सात वर्ष तक रहता है। केतु के पूर्व बुध और बाद में शुक्र की दशा आती है।

(२) पौराणिक आख्यान के अनुसार एक राक्षस का कबंध। कहा गया है कि समुद्रमंथन के समय यह राक्षस देवताओं के साथ बैठकर अमृतपान कर गया था। इसलिये विष्णु ने इसका सिर काट लिया। अमृत के प्रभाव से वह मरा नहीं और उसका सिर राहु और कबंध केतु हो गया। कहा गया है कि इसे अमृतपान करते सूर्य और चंद्र ने पहचाना था। इस कारण सूर्य और चंद्र ग्रहण के समय यह राक्षस इन्हें ग्रसता रहता है।

(३) आकाश में उदित होनेवाले एक प्रकार के तारे जिनमें प्रकाश की एक पूँछ सी दिखाई देती है जिसके कारण इन्हें पुच्छल तारा कहते हैं। कभी कभी इनका प्रकाश झाड़ू की तरह बिखरा बिखरा सा रहता है जिसके कारण इसे बढ़नी या झाड़ू भी कहते हैं। भारतीय ज्योतिष संहिता में इनकी संख्या १०५ कही गई है। पराशर उनकी संख्या १०१ कहते हैं। गर्गादि ज्योतिर्विदों ने १०१ के अतिरिक्त ८९९ केतुओं का वर्णन किया है। नारद के मत में केतु केवल एक है; किंतु उसके रूप अनेक हैं। पाश्चात्य खगोलशास्त्रियों के अनुसार इनकी संख्या अनिश्चित है। वे भिन्न भिन्न पटलों में भिन्न भिन्न दीर्घ वृत्त अथवा परवलय वृत्त में भिन्न भिन्न वेगों से घूमते हैं। इनकी कक्षाओं की दो नाभियों में एक नाभि सूर्य होता है। दीर्घ वृत्तात्मक कक्षा होने से ये तारे जब रविनीच के या सूर्य के समीपवर्ती कक्षा में होते हैं तभी दिखाई पड़ते हैं। रविनीच के कक्षांश में आते ही ये तारे कुछ कुछ दिखाई पड़ने लगते हैं और आरंभ में दूरबीन से देखने पर प्रकाश के धब्बे सरीखे जान पड़ते हैं। ज्यों ज्यों वे सूर्य के निकट आते जाते हैं इनकी नाभि दिखाई पड़ने लगती है और क्रमशः स्पष्ट होती जाती है। किंतु अनेक केतुओं की नाभि दिखाई नहीं पड़ती। उनमें नाभि है भी या नहीं कहना कठिन है। इन तारों की नाभि अपने आवरण में लिपटी हुई सूर्य के २ अंश से ९० अंश के भीतर देख पड़ती है। इन तारों के साथ प्रकाश की एक पुच्छ होती है। इस पुच्छ में स्वयं प्रकाश नहीं होता। वह स्वच्छ, पारदर्शी और वायुमय होता है। उसमें सूर्य के सान्निध्य से प्रकाश आ जाता है। इसी कारण पुच्छ के दूसरी ओर का छोटे से छोटा तारा दिखाई पड़ सकता है।

सत्तरहवीं शती के उत्तरार्ध तक खगोलशास्त्रियों की धारणा थी कि केतु समूह के तारे मनमाने घूमते फिरते हैं। उनका न तो कोई कक्ष है और न उनके घूमने का कोई नियम। १८६२ ई० में पहली बार हेली नामक खगोलशास्त्री ने एक केतु के संबंध में निश्चित ढंग से प्रतिपादित किया कि वह अनियमित नहीं है वरन् लगभग हर ७६ वर्ष पर दिखाई पड़ता है। इस आधार पर इस केतु को 'हेली केतु' नाम दिया गया है। इसके बाद लोगों का ध्यान केतुओं की गति की ओर आकृष्ट हुआ और अब तक अनेक केतुओं के कक्ष और गति के बारे में जानकारी प्राप्त की जा चुकी है। निर्धारित समय पर दिखाई पड़नेवाले केतुओं को नियतकालिक केतु कहते हैं।

शेयरले नामक खगोलशास्त्री ने इस बात की जानकारी प्राप्त की है कि अनेक केतुओं और उल्कापुंजों, दोनों के कक्ष एक ही हैं।

(पू० चं० लि०; प० ला० गु०)

केदारनाथ उत्तर प्रदेश के गढ़वाल जिले में पवित्र मंदाकिनी नदी की मनोरम घाटी का मुकुटमणि मंदिर, जिसमें केदारेश्वर लिंग स्थापित है। यह संपूर्ण स्थल केदारधाम कहलाता है। यहाँ वनराजि की रमणीयता, सामने नभःस्पृश हिमाद्रि तुंग की शोभा, प्रपातों से उत्थित कल कल रव, गहन चढ़ाई चढ़कर आए भगवान् शंकर के श्रद्धालुओं के श्रमसीकर पोंछ देते हैं। वस्तुतः यह स्थल हिमालय के नाम को सार्थक करता है। ठीक केदारनाथ की पृष्ठभूमि में २२,७७० फुट ऊँचा केदारनाथ नाम का पर्वत भी है। हिमशृंगों के ओट में ही केदारनाथ मंदिर बना है। वैदिक धर्म को नए सिरे से प्रतिष्ठित करनेवाले श्री आदि शंकराचार्य इस क्षेत्र से विशेष रूप से संबंधित थे, उनकी एक समाधि मंदिर के पीछे बनी है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बत्तीस वर्षों की वय में वह केदारनाथ आए और वहाँ से सदेह कैलास जाकर शिवत्व में लीन हो गए जिसका अर्थ केवल यही माना जा सकता है कि वह केदारनाथ आकर हिमालय की ओर चले गए। समाधि नाम से जो वस्तु बनी है वह उनका स्मारक मात्र है।

पाडव लोग इस राह से ही प्राणत्याग करने आगे हिमशिखरो की ओर गए थे। कहते है, कुछ लाग, चुपक स, सदेह स्वर्गाशा म, मदिर से लगभग छह मील दूर, १६,००० फुट का ऊँचाई पर स्वर्गारोहिणी नदी के उद्गम-स्थल के पास की महापथ अथवा ब्रह्मझप, पर्वत चोटी से नीचे कूद पडत थे। यद्यपि शासन की ओर से अब इधर आना बद कर दिया गया है, फिर भी अधविश्वासवश शायद कोई अब भी चला ही जाता हो।

केदारनाथ मदिर छोटा किंतु सुदर बना है। बारह शैव तीर्थ प्रसिद्ध माने जाते है। इनमे स्थापित शिवलिंग ज्योतिर्लिंग माने जाते है तथा सिद्धपीठ है। केदार लिंग की गणना इन बारह ज्योतिर्लिंगो म होती है। यह देखने से स्पष्ट ही प्राचीन तथा नैसर्गिक लगता है, मनुष्य के हाथो की कृति नही। बडी सो उठी हुई शिला हे। इस सबध मे एक सत्य यह भी है कि यह शिवलिंग आकृति मे भी अन्य शिवलिंगो जैसा नहीं है। शायद इसलिए एक कथा प्रचलित हो गई हे। पचपाडवों मे से भीम ने शकर को पकडना चाहा। शकर वरदाकृति बन पृथ्वी मे समाने लगे। भीम के हाथ शकर की कमर के पास का भाग लगा। आकाशवाणी हुई कि 'मेरा शरीर काशी मे (विश्वनाथ) और मस्तक पशुपतिनाथ (नेपाल) मे हे। यह तो मेरा नितब मात्र है।' यह कथा कितनी हास्यास्पद है, यह कहने की आवश्यकता नही। पाडवा के यहाँ आने की बात सत्य हो सकती हे किंतु भीम द्वारा योगिराज भगवान् शकर को पकडने की मूर्खताभरी चेष्टा का क्या अर्थ हो सकता है? फिर, भीम के भय से देवाधिदेव महादेव वरदरूप धारण कर पृथ्वी मे समाने की चेष्टा क्यो करते, क्योकि वह तो इच्छा-मात्र से ही अदृश्य हो सकते थे? भीम क्या भगवान् से भी अधिक सामर्थ्य और शक्ति रखते थे कि पशु बने हुए भयभीत शकर की कमर पकड ही ली? वस्तुत. यह समूची कथा इसलिए गढी गई होगी कि केदारलिंग का साम्य अन्य शिवलिंगो से नही है, किंतु यह असाम्य हिंदू की श्रद्धा जगाने मे किंचित् बाधक नही है।

मदाकिनी के उस पार काली का प्रसिद्ध मदिर है जहाँ शाक्तोपासक दूर दूर से दर्शनार्थ आते हैं।

स्कदपुराण के माहेश्वर खड मे केदारधाम का सबसे पहले उल्लेख और वर्णन हे। यात्रा का यथाविधि क्रम भी यही है कि पहले केदार यात्रा करके रुद्रप्रयाग लौटे और फिर बदरीनाथ जायँ। पापनाशी केदार का दर्शन किए बिना लौटना व्यर्थ है। (स०)

केन उत्तर भारत मे बुदेलखड के बीच से बहनेवाली २३० मील लबी नदी। यह कैमूर पहाडियो की उत्तरीपश्चिमी ढाल से निकलकर मध्यप्रदेश के दमोह, पन्ना इत्यादि क्षेत्रों से होती हुई बाँदा जिले मे चिल्ला नामक स्थान पर यमुना से मिलती है। इसका एक नाम कायन है। प्राचीनकाल मे यह कर्णावती अथवा कैनास नाम से भी प्रसिद्ध थी। सोनार, बीरमा, बाना, पाटर इत्यादि इसकी सहायक नदियाँ है। पथरीली घाटियो से प्रवाहित होने के कारण नावें यमुना-केन-सगम से बादा तक ही आती जाती हे। इस नदी मे पाँडवा घाट (५५' ऊँचा) तथा कोराई (१२५' ऊँचा) नामक दो जलप्रपात है।

बाँध बनाकर इस नदी से बादा नहर निकाली गई है। ग्रीष्म ऋतु मे नहरो का जलसचार बढाने के लिये गागई के पास बाँध बनाकर एक जलाशय बनाया गया है। (न० कि० सिं०)

केन, एलिशा केंट आर्कटिक प्रदेश के खोजी अमरीकी अन्वेषक। इनका जन्म फिलाडेलफिया मे ३ फरवरी, १८२० ई० को हुआ था। १८४६ ई० मे सयुक्त राज्य अमरीका, की नौसेना की सेवा मे रहते हुए उन्होंने मेक्सिको की खाडी का भूमापन किया। इसके पश्चात् उन्होंने १८५० ई० तथा १८५३ ई० मे आर्कटिक प्रदेश की दो बार यात्रा की। इन यात्राओं का वृत्त उन्होंने पुस्तको मे प्रकाशित किया है। इसके लिये उन्हे न्यूयार्क विधान सभा तथा लदन की 'रॉयल भूगोल परिषद्' ने स्वर्ण-पदक प्रदान किए। दूसरी बार की यात्रा मे वे बैफिन की खाडी तथा स्मिथ [illegible] से होते हुए ७८°४३' उ० अ० तक पहुँचे। वहाँ जहाज बर्फ मे फँस [illegible]। २१ महीने तक प्रतीक्षा करने के बाद जहाज को छोड वे नाव तथा स्लेज द्वारा १८५५ ई० मे ग्रीनलैंड की एक डेन बस्ती मे पहुँचे। वहाँ से वे एक विशेष जहाज से अमरीका लौटे। उनका देहात १६ फरवरी, सन् १८५७ ई० को हवाना (क्यूबा) मे हुआ। (न० कि० सिं०)

केनसिंग्टन लदन नगर का एक मुहल्ला (Borough) जो टेम्स नदी के उत्तर एव लदन नगर क पश्चिमी भाग मे स्थित है। इसका क्षेत्रफल २,२९१ एकड़ तथा जनसख्या २,१५,००० (१९६६ ई०) हे। यह भव्य भवनो, राजप्रासादो, गिर्जाघरों, अजायबघरा, पुस्तकालयो, परिषदा, पार्कों एव वाटिकाओं के लिये प्रसिद्ध है। केनसिंग्टन राजप्रासाद, जो केनसिंग्टन वाटिका के पश्चिम मे स्थित है, महारानी विक्टोरिया का प्रिय निवासस्थान था। दक्षिण केनसिंग्टन मे 'ब्रिटिश म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री', 'साउथ केनसिंग्टन म्यूजियम ऑव आर्ट्स ऐंड क्रैफ्ट्स', रायल ज्योग्रैफिकल सोसायटी, अलबर्ट हॉल, विज्ञान सबधी अजायबघर एव पुस्तकालय आदि शिक्षासस्थाएँ हैं। (न० कि० सिं०)

केनिया पूर्वी अफ्रीका का एक राज्य जो १२ दिसबर, १९६३ को अगरेजो के चगुल से स्वतत्र हुआ। इसके पूर्व वह ब्रिटिश शासन के अतर्गत एक सरक्षित राज्य था। यह ईस्ट अफ्रीकन प्रोटेक्टारट कहलाता था और उसका शासनप्रबध इग्लैंड का विदेश विभाग करता था। १ अप्रैल, १९०५ को उसका प्रबध उपनिवेश विभाग ने अपने हाथो मे लिया। १९२० ई० मे उसे 'क्राउन कालोनी' बना दिया गया। तभी उसका नामकरण वहा के प्रमुख पर्वत केनिया के नाम पर किया गया। इस राज्य का क्षेत्रफल २,२४,९६० वर्गमील है तथा जनसख्या १,०६,४२,७०८ (१९६६) है जिसमे १,०७,७१,१९२ अफ्रीकी, १,७७,०३७ एशियाई, ४०,५९३ यूरोपियन और २७,८८६ अरब हे। नैरोबी इसकी राजधानी हे। इसकी पश्चिमी सीमा विक्टोरिया झील तथा युगाडा राज्य बनाता है। पूर्व, उत्तर, उत्तरपश्चिम तथा दक्षिण की ओर क्रमश. सोमालिया, इथिओपिया, सूडान तथा टैगैनिका राज्य है। दक्षिण पूर्वी सीमा अरब सागर बनाता है। भूमध्यरेखा इस देश के मध्य से जाती है और इसका प्रभाव यहाँ की जलवायु, वनस्पति तथा कृषि पर पडता है।

केनिया को चार प्राकृतिक विभागो मे विभाजित किया जा सकता हे--(१) तटीय मैदान, (२) नील का पठार, (३) पूर्वी घाटी (४) विक्टोरिया झील तक फैला पठार। पूर्वी तटीय भागो मे औसत वर्षा ४० से ६० इच तक होती है, जो उत्तर की ओर कम होती जाती है। चरम उत्तर मे केवल २० इच औसत वर्षा होती है। तटीय भाग तथा उत्तर का मैदान कँटीली झाडियो और सूखी वनस्पति का प्रदेश है, अत मनुष्यो के लिये अधिक आकर्षक नही हे। पठार का अधिकाश भाग सावैना घास का प्रदेश है। आर्थिक दृष्टि से देश का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रदेश है। देश की अधिकाश जनसख्या भी इसी प्रदेश मे निवास करती है। पठार की औसत ऊँचाई ६०००--७००० फुट है तथा केनिया पर्वत (१७,०४० फुट) सर्वोच्च शिखर है। ऊँचाई के कारण यह अपेक्षाकृत ठढा है। इस प्रदेश के विस्तृत भागो मे ज्वालामुखी की उपजाऊ मिट्टी पाई जाती है। इसी कारण समय समय पर यूरोपीय लोग बडी सख्या मे यहाँ आकर बस गए और कृषि आरभ की। कहवा, सीसल, चाय, मक्का और गेहूँ यहाँ की प्रधान उपज है। वनो से विभिन्न वस्तुएँ एकत्रित करना, न्याडा प्रात से सोना निकालना, मागदी झील से सोडा कार्बोनेट निकालना केनिया के अन्य प्रमुख उद्यम हैं। (प्र० व०)

केप आव गुडहोप दक्षिण अफ्रीका का प्रख्यात अतरीप। यही केप प्राविंस का पूर्ववर्ती नाम भी था। (प० ला० गु०)

केनेडी, जॉन फिट्जेराल्ड (१९१७-१९६३ ई०)। अमरीका के पैंतीसवें राष्ट्रपति। २९ मई, सन् १९१७ ई० को बोस्टन के ब्रुकलिन उपनगर मे जन्म। बोस्टन मे शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने लदन स्कूल ऑव इकानामिक्स मे विद्याध्ययन किया। तदनतर हारवर्ड और मैसाचुसेट्स विश्वविद्यालयो मे अपना अध्ययन समाप्त किया।

नौसेना में कमीशनप्राप्त अधिकारी के रूप मे भर्ती हुए; उन्हे कार्यालय में बैठकर कार्य करने का आदेश मिला जो उन्हे रुचिकर न था। अतः उन्होंने अनुरोध कर अपनी ड्यूटी गश्त लगानेवाली टारपीडो नौका पर लगवाई और प्रशात महासागर क्षेत्र मे भेजे गए। वे गश्त करनेवाली टारपीडो नौका पी० टी० १०६ को, जिसके वे लेफ्टिनेंट थे, २ अगस्त, १९४३ ई० को एक जापानी विध्वसक ने खडित कर दिया। इस दुर्घटना में उनकी पीठ पर चोट लगी; इसके बावजूद ये समुद्र मे कूद गए और अपने कई साथियो के प्राणों की रक्षा की। डूबती हुई टारपीडो नौका से बुरी तरह घायल एक साथी को जीवनपेटी की सहायता से बचाकर एक द्वीप पर ले गए। शत्रु अधिकृत उस क्षेत्र मे एक सप्ताह का कष्टमय जीवन व्यतीत करने के पश्चात् अपनी टुकड़ी को सुरक्षित क्षेत्र में ले आए। इस प्रकार इन्होंने अपने अदम्य साहस का परिचय दिया। फलस्वरूप उन्हे नौसेना एवं मैरिन कोर का पदक देकर संमानित किया गया।

१९४५ ई० में नौसेना से अवकाश ग्रहण करने पर पत्रसंपादक के रूप मे कार्य आरंभ किया और १९४६ ई० मे राजनीति की ओर उन्मुख हुए। १९४८ ई० में बोस्टन क्षेत्र से प्रतिनिधि सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। १९६० ई० में वे डेमोक्रेटिक दल की ओर से राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार हुए और प्रथम रोमन कैथोलिक राष्ट्रपति बने।

राष्ट्रपति की हैसियत से अपनी कार्यावधि के प्रथम सौ दिनों के भीतर उन्होंने कांग्रेस के समक्ष शिक्षा के हेतु संघीय सहायता के लिये एक कार्यक्रम और अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन देने के लिये अनेक प्रस्ताव प्रस्तुत किए। अपने प्रशासन के अंतर्गत विद्वानों और बुद्धिजीवियो को विभिन्न पदों पर नियुक्त किया। ह्वाइट हाउस (राष्ट्रपति भवन) में बहुसख्यक कलाकारो को निरंतर आमंत्रित कर सांस्कृतिक क्षेत्र को राजकीय मान्यता प्रदान की।

देश के आंतरिक पक्ष में, इन्होंने करो मे कटौती, औद्योगिक ढाँचे के परिवर्तनों से प्रभावित होकर आर्थिक दृष्टि से क्षतिग्रस्त होनेवाले क्षेत्रों के लिये सहायता, एक विस्तृत आवास-व्यवस्था-कार्यक्रम, वृद्धजनों के लिये चिकित्सा व्यवस्था, नागरिक अधिकार कानूनों के दृढ़ीकरण जैसे कार्यों और उपायो पर बल दिया।

अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र मे बर्लिन के तनाव को कम करने के लिये अपने देश की ओर से प्रयास जारी रखा; स्वतंत्र एवं तटस्थ लाओस के निर्माण पर बल दिया; प्रभावकारी आणविक परीक्षा प्रतिबध संधि के लिये आह्वान किया; सर्वव्यापक निःस्त्रीकरण संधि संपन्न करने के लिये प्रयत्न किया तथा एशिया के विकासोन्मुख राष्ट्रों को सहायता का वचन दिया।

अक्टूबर, सन् १९६२ ई० मे अमरीकी राष्ट्र संघटन (आर्गनाइज़ेशन ऑव अमरीकन स्टेट्स) के सर्वसंमतिपूर्ण समर्थन से तथा 'मेनरो सिद्धांत' की धारणा के अनुसार उन्होंने सोवियत आक्रामक शस्त्रास्त्र के चोरी चोरी क्यूबा मे हो रहे आयात को रोकने तथा उन्हे वहाँ से हटाने के लिये तत्काल कारंवाई की।

२२ नवंबर, १९६३ ई० को डलास में, जब वे अपनी कार में जा रहे थे, गोली मारकर उनकी हत्या कर दी गई। (रा०)

केपटाउन (स्थिति ३३° ५५' द० अ० से १८° २४' पू० दे०) दक्षिण अफ्रीका का एक प्रमुख नगर, पत्तन एवं राजधानी जो 'टेबुल बे' नामक खाड़ी के दक्षिणपश्चिम मे ३,६०० फुट ऊँचे टेबल पर्वत की गोद में बसा है। इस नगर की स्थापना जॉन वान रायबीक (Jan Van Riebeeck) नामक डच नाविक ने १६५२ ई० में की थी। इसका क्षेत्रफल ६७ वर्गमील है। इसकी जनसंख्या ६,२५,७४० (१९६८) है जिसमें श्वेत २,००,०६०, बंटू ८०,८४०, अश्वेत ३,३७,२१० तथा एशियाई ७,६०० है। केपटाउन की जलवायु रूममागरीय है। यहाँ हीरा काटने और जहाज, सीमेंट, रसायनक, खाद्य, रंग, लेप, वस्त्र, साबुन तथा जूते बनाने के उद्योगो का विकास हुआ है। यह दक्षिण अफ्रीका के हीरे तथा सोने के निर्यात का प्रमुख पत्तन है। इसके अन्य निर्यात ताजे एव सूखे फल, फूल, शराब, ऊन, कच्चा चमड़ा तथा मक्का है। यहाँ १९१८ ई० मे केपटाउन विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। अफ्रीका के अन्य भागो से लोग आनंद मनाने के लिये केपटाउन आते हैं। (न० कि० सि०)

केप प्राविंस दक्षिण अफ्रीका का एक प्रांत जिसे पहले केप ऑव गुड होप और १९१० ई० के पूर्व 'केप कॉलोनी' कहते थे। इसके अंतर्गत 'टेबुल बे' तथा 'फाल्स बे' नामक खाड़ियो के बीच स्थित इसी नाम का एक अंतरीप है जिसका अन्वेषण १४८८ ई० मे बारथोलोम्यू डिआश (Bartholomeu Dias) नामक पुर्तगाली नाविक ने किया था। प्रांत का क्षेत्रफल २,७८,३८० वर्गमील तथा जनसख्या ५३,६२,८५३ (१९६०) है। जिनमे १,००३,२०७ श्वेत हैं और शेष अश्वेत। अश्वेतों में बटू (Bantu) जाति के लोगों की अधिकता है। समुद्रतट के समांतर अनेक पर्वतश्रेणियाँ है जिनमे अपर कारू (Upper Karroo ६,००० फुट) सर्वोच्च है। केपटाउन इस प्रांत तथा दक्षिण अफ्रीका की राजधानी है। इसके प्रमुख पत्तन 'पोर्ट एलिजाबेथ', ईस्ट लंदन तथा केपटाउन से हीरा, कच्चा चमड़ा, ऊन, फल, शराब आदि का निर्यात किया जाता है। इस प्रांत मे खनिज संपत्ति प्रचुर मात्रा मे पाई जाती है। हीरा किंबर्ली तथा पश्चिम बार्कली जिलो मे, सोना विटवाटर्जरैंड मे, टिन क्वील्स नदी की घाटी मे और लोहा ग्रीक्वालैंड तथा बेचुवानालैंड मे प्राप्त होता है। गेहूँ, जौ, मक्का, जई तथा तबाकू इस प्रांत की मुख्य उपज हैं। इसके दक्षिणपश्चिम भाग मे अंगूर तथा अन्य फल उत्पन्न किए जाते हैं। (न० कि० सि०)

केप ब्रिटान कनाडा मे नोवा स्कोशा (Nova Scotia) प्रांत के अंतर्गत उत्तरपूर्व भाग मे स्थित एक द्वीप। यह कैसो जलसंयोजक (Canso Strait) द्वारा नोवा स्कोशा (Nova Scotia) प्रायद्वीप से पृथक् है। इसका क्षेत्रफल ३,१२० वर्गमील है। कटावदार समुद्री तट होने के कारण यहाँ अनेक उत्कृष्ट पत्तन है। सिडनी का पत्तन, जो कनाडा के अन्य भागो से कनेडियन राष्ट्रीय रेल द्वारा जुड़ा है, सर्वोत्कृष्ट है। यहाँ इस्पात तथा जहाज बनाने के कारखाने हैं। केप ब्रिटान द्वीप मे कोयला, लोहा, जिप्सम, पेट्रोल, स्लेट एवं संगमर्मर आदि खनिज पदार्थ मिलते हैं। कोयला समुद्रतट के निकट २०० वर्गमील मे पाया जाता है। यह कनाडा का ४५ प्रतिशत कोयला उत्पादन करता है। सिडनी के निकट कोयले की ७० तहें मिली हैं। चूने का पत्थर समीप ही प्राप्त होता है तथा इस्पात बनाने के लिये कच्चा लोहा न्यू फाउंडलैंड के बेली द्वीप से मँगाया जाता है।

सुप्रसिद्ध 'ग्रैंड बैंक' नामक मत्स्यक्षेत्र के निकट होने के कारण मछली पकड़ने का उद्योग भी यहाँ विकसित हुआ है। यहाँ कॉड, हेरिंग, मैकेरेल तथा सीप (Oyster) पकड़ी जाती हैं। (न० कि० सि०)

केपवर्ड (द्वीपपुंज) पुर्तगाल के अधीन अंधमहासागर मे १० बड़े तथा ५ छोटे द्वीपो का समूह जो पश्चिम अफ्रीका मे वर्ड अंतरीप तथा डाकार (Dakar) मे लगभग ३२५ मील पश्चिम स्थित है। इसका अन्वेषण सर्वप्रथम १४५६ ई० मे कप्तान कादामोस्टो (Captain Cadamosto) ने किया था। इन द्वीपो का निर्माण ज्वालामुखी के उद्गार द्वारा हुआ है। फागो द्वीप मे 'पीको दो कानो' (Pico do Cano) नामक एक जाग्रत ज्वालामुखी है जिसकी ऊँचाई ९,२८१ फुट है। इसका संपूर्ण क्षेत्रफल १,५१६ वर्गमील तथा जनसख्या २,४५,००० (१९६८) है। 'प्राआ' (Praia) इसकी राजधानी एवं पत्तन है जो सबसे बड़े द्वीप साओ तिआगो (Sao Tiago, ३५० वर्गमील) पर स्थित है। दक्षिण अमरीका जानेवाले जहाज साओ विसेंट (Sao Vicent) में कोयला लेते हैं। साल द्वीप का हवाई अड्डा अंध महासागर पार करनेवाले वायुयानो द्वारा उपयोग मे लाया जाता है। केपवर्ड द्वीपपुंज में उत्कृष्ट कोटि का कहवा, ईख, चुकंदर, मक्का एवं

उत्पन्न होते हैं। इन द्वीपों का मुख्य निर्यात बकरे का चमड़ा, नमक, संतरा तथा एरंड का तेल है। (न० कि० सि०)

केवल इस्पात का लचकदार रस्सा जो इंजीनियरी के विभिन्न प्रयोजनों, जैसे भारी बोझों को उठाने, रेलवे के मार्ग के रस्से, गाइओं (guys), उत्तोलक, संवाहक, केवल मार्ग, झूला पुलों में मुख्य वाहक तार और पूर्वप्रतिबलित कंक्रीट में केवल के रूप मे, प्रयुक्त होता है। इस्पात के अनेक तारों के संयोग से तारसूत्र (Strand) और अनेक तारसूत्रों को मिलाकर एक केवल बनता है। तारसूत्र के तार और केवल में लगे तारसूत्रों को कभी कभी एक दूसरे के समातर रखकर और एकत्रित करके एक इकाई मे ऐंठ दिया जाता है और उन्हें वातावरण के प्रभाव से बचाने के लिये लपेट दिया जाता है। इस प्रकार तारों को ऐंठकर तारसूत्र और तारसूत्रों को ऐंठकर केवल बनाया जाता है। जब तारों को एक दिशा में ऐंठकर तारसूत्र बनाया जाता है और तारसूत्रों को विपरीत दिशा में ऐंठकर केवल बनाया जाता है तब इसे नियमित "ले" (Lay) कहते
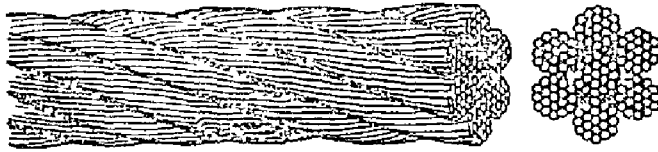
चित्र १. झूले के पुल (suspension bridge) का रस्सा (cable)

बाईं ओर केवल में तारसूत्रों की व्यवस्था तथा दाहिनी ओर केवल की अनुप्रस्थ काट दिखाई गई है।

है। जब तारसूत्रों को उसी दिशा मे ऐंठा जाता है जिसमें उनमें लगे तार ऐंठे होते है तब यह 'लाग ले' (Lang lay) रस्सा कहा जाता है। ६ × १७ नियमित ले रस्सा उसको कहते है जिसमें छः ऐसे तारसूत्र हो जिनके केंद्र षड्भुज के कोणों पर हो और प्रत्येक तारसूत्र में १७ तार हों। नियमित ले के रस्सों के कुचले जाने और विकृत होने की संभावना कम होती है क्योंकि लांग ले रस्से घिसाव रोकने में अधिक समर्थ होते है। प्रत्येक तार और तारसूत्र को गठित करने से पूर्व उसे अंतिम सर्पिल आकार देने के लिये पूर्वनिर्मित कर लिया जाता है ताकि तारों और तारसूत्रों की सीधा होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति का निवारण हो जाय।

झूला पुलों के समान महत्वपूर्ण केवल के कार्यों में केवल पर उसकी अंतिम शक्ति के आधे के बराबर पूर्वनिश्चित बोझ लटकाते है ताकि उसका

चित्र २. जहाजों के लंगर का केवल

यह केवल जंजीरों का बना होता है। बीच मे बेड़ी (shackles) दिखाई गई है। इससे केवल के दो भागों को जोड़ा जाता है।

संरचनात्मक तनाव दूर हो जाय। यह भार बहुत अधिक समय तक बना रहने दिया जाता है और तब हटा दिया जाता है। ऐसी पूर्वक्रिया का पुलों के लटकते हुए केवल तथा ऊर्ध्वाधर रेडियो स्तंभों पर लगे गाई तारसूत्रों (guy strands)-के स्थापन में विशेष महत्व है।

यद्यपि तारों की आपेक्षिक दृढ़ता उपयोग के अनुसार परिवर्तनशील होती है, तथापि साधारणतः यह कहा जा सकता है कि केवल में लगे तारों में कार्बन की मात्रा लगभग .०६% से .०८% होती है, जिससे उसकी चरम दृढ़ता लगभग १०० टन प्रति वर्ग इंच या इससे अधिक होती है और उनका न्यूनतम खिंचाव ८ इंच निर्दिष्ट माप की लंबाई (gauge length) पर लगभग २ से ४ प्रतिशत होता है।

ऋतुओं के द्वारा प्रभावित होनेवाले केवलों की रक्षा बहुधा जस्ते की कलई चढ़ाकर की जाती है। कलई करने के लिये तारों को हलके अम्ल में डालकर सफाई की जाती है। तब इसे पिघले हुए शुद्ध जस्ते में (जस्ता ९९.७५ प्रतिशत शुद्धता का जिसमें लोहे की मात्रा ०.०३ प्रतिशत से
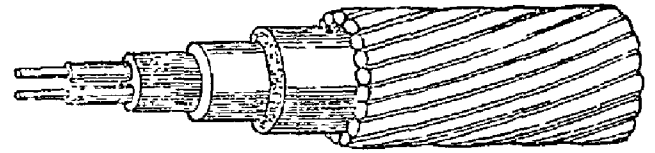
चित्र ३. दो संवाहक तारों वाला समुद्रस्थ केवल

क्रम से : संवाहक तार, प्रत्येक संवाहक का अलग पृथक्करण, मेखलावेष्टित पृथक्करण, सीसे का आवरण, सन का संवेष्टन तथा सबसे ऊपर इस्पात के तारों का कवच दिखाया गया है।

अधिक न हो डालते है, इससे इसपर जस्ते की परत चढ़ जाती है। जो इस्पात के संक्षारण को रोकती है। जस्ते की तह का चिपकना जस्ते और इस्पात के सीधे रासायनिक संयोग पर निर्भर है।

(२) लोहे की कड़ियों से बनी जंजीरों को भी केवल कहते है। यह जहाजों के लंगर डालने के काम आता है। जमीन के नीचे या समुद्र के पानी में डाले हुए तार के उन रस्सों को भी केवल कहते हैं जिनके द्वारा तार या टेलीफोन का संचार होता है। [सी० वा० जो०]

केमनिट्स (स्थिति ५०°४८' उ० अ० १२°५७' पू० दे०) पूर्व जर्मनी के जॉक्सेन (Sachsen) प्रांत का नगर जो ड्रेज़डेन (Dresden) से ५० मील पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम एर्टस्गेविर्गे (Erzgebirge) पठार की तलहटी के उर्वर मैदान में बसा है। यह केमनिट्स नदी के तट पर स्थित है; इसकी ऊँचाई ९५०. फुट है। पूर्व जर्मनी में साम्यवादी सत्ता स्थापित होने के पश्चात् इसका नाम परिवर्तन कर 'कॉर्ल-मार्क्स-स्टेड्ट' (Karl-Marx-stadt) रखा गया है। प्राचीन केमनिट्स वृत्ताकार बसा था जिसके चारों ओर नवीन एवं औद्योगिक केमनिट्स का विकास हुआ। यह नगर रेलों का बहुत बड़ा जंक्शन है। यहाँ से रेलमार्ग पाँच विभिन्न दिशाओं में क्रमशः लाइपसिग (Leipzig), रीज़ा (Riesa), ड्रेज़डेन (Dresden) आनाबेर्क (Annaberg) तथा त्सविकाऊ (zwichau) आदि स्थानों को जाता है। इसके समीप ही त्सविकाऊ कोयला क्षेत्र है। मध्ययुग से ही केमनिट्स वस्त्र उद्योग का प्रसिद्ध केंद्र है। अतः इसे 'सैक्सनी' (Saxony) का 'मैनचेस्टर' कहा जाता है। वस्त्र उद्योग के अतिरिक्त यहाँ रेल के इंजन, मशीन, रसायन, साइकिल, मोटरगाड़ी, वाद्ययंत्र. बिजली के सामान, रंग एवं दरी का निर्माण होता है। इसकी जनसंख्या २,८८,५९७ (१९६३) है। (न० कि० सि०)

केयरन गॉर्म स्काटलैंड के ग्रैंपिएन (*Grampian*) पर्वत की एक चोटी जो बैंफशायर (Banff-shire) तथा इनवरनेस शायर (Enverness-shire) की सीमा पर स्थित है। 'बेन नेविस' (Ben Nevis) तथा 'बेन मैकडूई' (Ben Macedhui) को छोड़, यह स्काटलैंड का सबसे बड़ा पर्वत है। इसकी ऊँचाई ४,२४१ फुट है। इसकी ढाल पर चीड़ (पाइन) के जंगल हैं। यह कठोर ग्रेनाइट चट्टानों से बना है। इसके चारों ओर का क्षेत्र स्लेट तथा सिस्ट आदि दुर्बल चट्टानों से निर्मित होने के कारण अपेक्षाकृत नीचा है। यह शिखर मध्य ग्रैंपिएन पर्वत की वृष्टिछाया में पड़ता है जिसके कारण अन्य शिखरों की अपेक्षा यहाँ कम वर्षा होती है। ग्रीष्मकाल में यह ठंढा रहता है। यहाँ केयरन गॉर्म नामक भूरे रंग एवं क्वार्ट्ज मणिभ (Quartz crystal) पाए जाते हैं जिनका उपयोग आभूषण के रूप में किया जाता है। (न० कि० सि०)

केरल (१) दक्षिण भारत स्थित प्राचीन तमिल देश के तीन राज्यों में से एक। अशोककालीन शिलालेखों में इसका उल्लेख हुआ है। यह १५६५ ई० तक विजयनगर साम्राज्य का अंग था।

(२) भारतीय गणराज्य का एक प्रदेश जिसका संघटन १९५६ ई० में तत्कालीन त्रिवांकुर और कोचीन की देशी रियासतों के अधिकांश भागों को मिलाकर किया गया है।

कोल्लम जिले के शेनूत तालुका का कुछ भाग तथा तिरुवनंतपुरम् जिले के चार तालुका उनसे पृथक् और तमिलनाडु प्रदेश के मलावार जिला तथा दक्षिण कनारा जिले का कासरगोड तालुका इसमें सम्मिलित किए गए हैं। यह मलयालमभाषी क्षेत्र है। इसकी राजधानी तिरुवनंतपुरम् है।

यह उत्तर में कर्णाटक, पूर्व तथा दक्षिण में तमिलनाडु प्रांत और पश्चिम में अरब सागर से सीमित है (स्थिति ८°१५' से १२°५३' उ० अ० तथा ७४°४६' से ७७°१५' पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल लगभग १५,००० वर्गमील (३८,८६४ किलोमीटर) है। इस प्रदेश के मुख्यत: तीन प्राकृतिक विभाग हैं—(१) पूर्व का पर्वतीय भाग जो पश्चिमी घाट पर्वत का
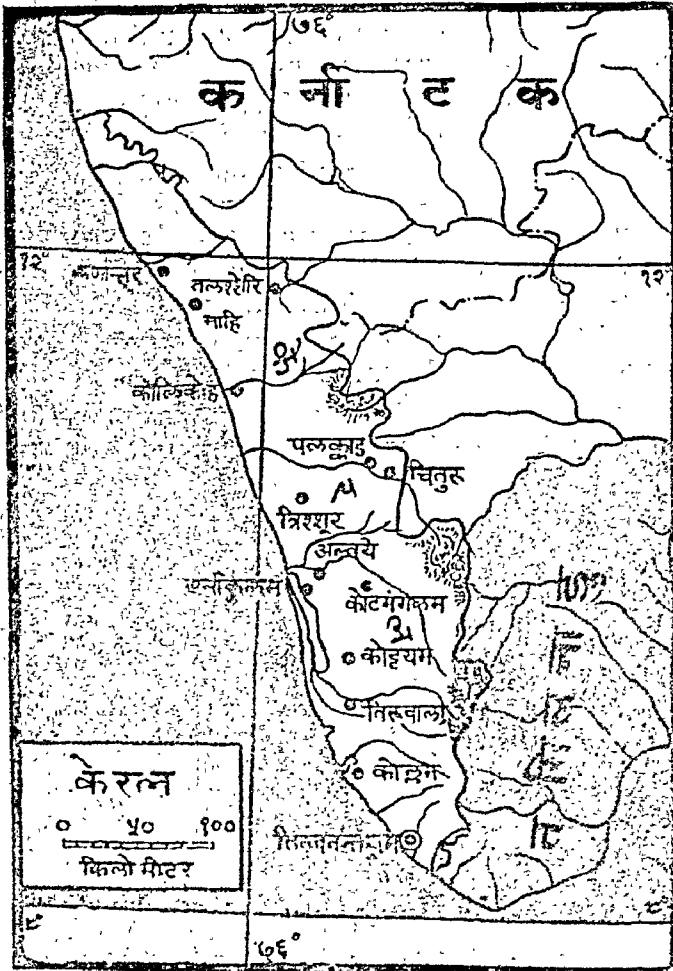
एक अंग है। यहाँ की भूमि ऊबड़ खाबड़, पथरीली तथा छोटी नदियों की गहरी घाटियों से युक्त है। यह भाग घने जंगल से आच्छादित है। (२) बीच का उपजाऊ मैदान, जिसमें पोन्नानि, पेरियार इत्यादि नदियाँ बहती हैं। यह भाग कृषि के लिये अति महत्वपूर्ण है। (३) पश्चिम का उपकूलीय भाग जो नारियल के घने बगीचों तथा धान के खेतों से भरा है।

धान, टैपिओका, तेलहन, ईख, काली मिर्च, इलायची तथा अन्य मसाले यहाँ के मुख्य कृषि उद्योग हैं। यहाँ नारियल, सुपारी, काजू, रबर, चाय तथा कहवे के बृहत् बगीचे हैं। भारत में उत्पन्न होनेवाली काली मिर्च का ९८ प्रतिशत तथा रबर का ९५ प्रतिशत यहाँ उत्पन्न होता है। इन उपजों में निर्यात की दृष्टि से काजू, काली मिर्च, इलायची, अन्य गरम मसाले, रबर तथा चाय मुख्य हैं। मत्स्य उद्योग का विकास भी इस प्रांत में हुआ है। इस प्रदेश के जंगलों से सागवान, चंदन, आबनूस तथा विभिन्न प्रकार की मुलायम लकड़ियाँ प्राप्त होती हैं। खनिज संपत्ति की दृष्टि से भी यह प्रदेश संपन्न है। यहाँ श्वेत मिट्टी, अभ्रक, ग्रैफाइट, चूने के पत्थर, लिगनाइट इत्यादि के भंडार हैं। यहाँ रबर, चाय, तेल, कपड़े, चीनी, सीमेंट, श्वेत मिट्टी के बरतन, खाद, रसायनक, शीशा, कृत्रिम रेशम, सलाई, ऐल्युमिनियम, बिजली के सामान, कागज मछली का तेल इत्यादि का उद्योग होता है। गृह उद्योगों में हाथ करघे के कपड़े, नारियल की जटा की रस्सी, पीतल के बरतन तथा हाथीदाँत के सामान पर नक्काशी के कार्य उल्लेखनीय हैं।

यहाँ की जनसंख्या २,१३,४७,३७५ (१९७१) है। तिरुवनंतपुरम् में सन् १९३७ में केरल विश्वविद्यालय स्थापित हुआ था।

यहाँ के नगरों में तिरुवनंतपुरम्, कोलिकोड (कालीकट), अलेप्पि, मत्तनचेरी, त्रिशूर, पालक्काड, कोल्लम तथा एर्नाकुलम् प्रसिद्ध हैं। कोचीन यहाँ का मुख्य बंदरगाह है। (न० प्र०)

केरिन्चि सुमात्रा के बारीसान पर्वत का सर्वोच्च ज्वालामुखीय शिखर जिसकी ऊँचाई १२,४८४ फुट है। इसे इंद्रपुर शिखर भी कहते हैं। यह सुमात्रा के पश्चिमी तट पर पादांग (Padang) नामक नगर के दक्षिणपूर्व स्थित है। इस द्वीप के अन्य ज्वालामुखियों की तरह केरिंचि का निर्माण भी तुरीय (क्वाटरनरी) युग में हुआ। यह अभी सुप्तावस्था में है। इसके शिखर पर एक गहरी ज्वालामुखी झील है जिसका नाम भी केरिंचि है। इसके चारों ओर का क्षेत्र हल्के टफ़ (Tuff) चट्टानों से निर्मित है। यहाँ भूकंप अधिक होता है। सुमात्रा की सबसे बड़ी तथा रमणीय नदी जांबी इसी पर्वत से निकलकर पूर्व की ओर प्रवाहित होती है। (न० कि० सिं०)

केरोसीन (मिट्टी का तेल) एक तरल खनिज जिसका मुख्य उपयोग दीप, स्टोव और ट्रैक्टरों में जलाने में होता है। इस काम के लिये तेल की श्यानता कम, दमकांक ऊँचा, रंग साफ और हलका, जलने पर दुर्गंध और धुआँ देनेवाले पदार्थों का अभाव रहना चाहिए। ओषधियों में विलायक के रूप में, उद्योग धंधों में, प्राकृतिक गैस से पेट्रोल निकालने में तथा अवशोषक तेल के रूप में भी इसका व्यवहार होता है। समस्त संसार में लगभग ६०० करोड़ गैलन केरोसीन प्रति वर्ष खपता है।

यह कच्चे पेट्रोलियम का वह अंश है जो १७५°–२७५° सें० ताप पर आसुत होता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ०.७७५ से लेकर ०.८५० तक होता है। इसमें पैराफिन, नैफ्थीन और सौरभिक हाइड्रोकार्बन रहता है। इसका भौतिक और रासायनिक गुण उपस्थित हाइड्रोकार्बनों के अनुपात, संघटन और क्वथनांक पर निर्भर करता है। इसका दमकांक (flash point) २४° से लेकर ६६° सें० तक के बीच है। इसका रंग हलका हरा या पीला से लेकर जल सा स्वच्छ हो सकता है।

कच्चे केरोसीन में सौरभिक हाइड्रोकार्बन (४० प्रतिशत तक), आक्सिजन, गंधक और नाइट्रोजन के कुछ यौगिक रहते हैं। ऐसे तेल की सफाई पहले सल्फ्यूरिक अम्ल के उपचारसे, फिर सोडा विलयन और जल से धोकर की जाती है। धोने के बाद या तो फुलर मिट्टी पर छानते अथवा पुन: आसवन करते हैं। इससे अनेक अनावश्यक पदार्थ, फीनोल आदि आक्सि यौगिक, सौरभिक और असंतृप्त हाइड्रोकार्बन, गंधक के यौगिक इत्यादि निकल जाते हैं। उपचार के बाद भली भाँति धोना बड़ा आवश्यक है नहीं तो लालटेन की बत्ती या बर्नर पर निक्षेप बैठ सकता है। सौरभिक और चक्रीय हाइड्रोकार्बन (नैफ़्थीन) भली भाँति पृथक् न होने पर बत्ती पर कजली जम सकती है।

तेल के तनाव और श्यानता पर जलने का गुण निर्भर करता है। जब तेल अधिक श्यान होता है तब वह बत्ती में अधिक चढ़ता नहीं और लौ छोटी होती है। जलने पर तेल का अधिक भाग जलकर ऊँचा ताप उत्पन्न करता है तथा कुछ भाग का भंजन होकर गैसीय हाइड्रोकार्बन और कोक बनते हैं। कोक से फिर दहनशील गैसें बनकर जलती हैं। कुछ कोक तापदीप्त होकर प्रकाश उत्पन्न करता और फिर अंत में जलकर कार्बन डाइआक्साइड बनता है।

केरोसीन का परीक्षण गुरुत्व, आसवन परास, गधक की मात्रा, रग और दमनाक के निर्धारण से किया जाता है। दीप मे विस्फोट न हो, इसके लिये दमनाक का नीचा न होना आवश्यक है। केरोसीन मे निम्न दमनाक का होना कानून से भी अनेक देशो मे वर्जित है। उष्मा और प्रकाश उत्पन्न करने की क्षमता का भी कभी कभी परीक्षण होता है।

केरोसीन का सघटन एक सा नही होता। किसी मे पैराफिनीय हाइड्रोकार्बन और किसी मे नैफ्थीनीय हाइड्रोकार्बन अधिक रहते हैं। पर ये दोनो पदार्थ सब तेलो मे रहते अवश्य हैं। (फू० स० व०)

केर्च रूस मे क्रीमिया (Crimea) प्रायद्वीप का एक नगर एव पत्तन जो काले तथा एजॉव सागर (Azov) को मिलानेवाले ३०० फुट चौडे केर्च जलसयोजक के तट पर स्थित है (स्थिति ४५°२०' उ० अ० तथा ३६°३०' पू० दे०)। यह नगर बहुत ही सुदर है जिसका विस्तार एक पहाडी के चारो ओर हुआ है। यह क्रीमिया के पास पाए जाने वाले लोहे तथा इस्पात उद्योग का केंद्र है। यहाँ कोयला डोनेट्स (Donets) क्षेत्र से आता है। केर्च के निकट खनिज तेल, गैस, गधक तथा नमक (झीलो से) मिलता है। क्रीमिया मे सर्वोच्च कोटि की तबाकू उत्पन्न की जाती है। अत यहाँ तबाकू एव सिगरेट बनाने के उद्योग का भी विकास हुआ है। फल तथा सब्जियाँ डब्बो मे बद कर बाहर भेजी जाती है। यह क्रीमिया के मत्स्य उद्योग का भी केंद्र है। यह रूसी नौसेना का अड्डा भी है। इस पत्तन का मुख्य निर्यात कच्चा लोहा, गेहूँ, जौ, आटा, ऊन, कच्चा चमडा, मछली, खनिज तेल, फल, लकडी, सिगरेट, शराब, सीमेंट तथा मशीने है। इसकी जनसख्या १,१५,००० (१९६७) है। (न० कि० सिं०)

केल, जैकब (१७९८–१८६२)। डच साहित्यकार। लाइडेन विश्वविद्यालय मे लाइब्रेरियन और प्रोफेसर रहे। इनकी ख्याति विशेषतया आलोचक और निबधकार के रूप मे है। अग्रेज उपन्यासकार लारेंस स्टर्न (Laurence Sterne) के उपन्यास 'सेंटीमेंटल जर्नी' का डच भाषा मे सफल रूपातर कर अनुवादक के रूप मे भी आपने ख्याति अर्जित की है। आलोचना की आपकी एक विशेष शैली थी जिसमे व्यग्य का पुट था। आलोचना के क्षेत्र मे 'रिसर्च ऐंड फैंटेसी' आपकी महत्वपूर्ण रचना है। इनका महत्वपूर्ण कार्य डच गद्य शैली को परिष्कृत करने से सबद्ध है। जिन दिनो इन्होने लिखना प्रारभ किया था, डच गद्य शैली कृत्रिमता से ओतप्रोत थी। इन्होने सादगी और स्वाभाविकता पर जोर दिया और इनकी प्रेरणा के फलस्वरूप डच गद्य शैली मे अपेक्षित सुधार हुआ। (तु० ना० सिं०)

केलकर, नरसिंह चिंतामणि (१८७२–१९४७) इनका जन्म मिरज (महाराष्ट्र) मे हुआ था। हाईस्कूल और कालेज मे उन्होने अग्रेजी एव सस्कृत साहित्य का विशेष अध्ययन किया और उनकी साहित्यिक प्रतिभा पल्लवित हुई। बी० ए०, एल-एल० बी० होने के पश्चात् वे लोकमान्य तिलक के अग्रेजी समाचारपत्र 'मराठा' के सपादक हुए। इस प्रकार सन् १९४७ तक वे 'मराठा', 'केसरी' तथा 'सह्याद्रि' (मासिकपत्र) जैसे लोकप्रिय एव प्रौढ समाचारपत्रो के सपादक रहे।

वे न केवल व्यवसायी सपादक वरन् सव्यसाची साहित्यिक भी थे। सपादन करते हुए उन्होने 'मालाकार चिपळूणकर' की प्रौढ निबधशैली का उत्कर्ष किया। इन्होने निबध, प्रबध, जीवनी, नाटक, इतिहास, साहित्यशास्त्र, उपन्यास, विनोद, यात्रावर्णन आदि अनेक साहित्यरूपो मे अपनी प्रौढ कृतियो द्वारा अच्छा योग दिया। इनकी निबधरचना इतनी विविध, विपुल और कलापूर्ण है कि मराठी मे कदाचित् ही किसी एक व्यक्ति ने इनकी टक्कर का निबधप्रणयन किया हो। इनकी निबधरचना लगभग पाँच हजार पृष्ठो की है। इनके 'तोतयाचे बड' और 'कृष्णार्जुन युद्ध' दो प्रसिद्ध नाटक भी है। इन्होने १ गैरीबाल्डी चरित्र, २ आयरिश देशभक्तो के चरित्र, ३ लोकमान्य तिलक का त्रिखडात्मक बृहत् चरित्र (लगभग तीन हजार पृष्ठो का) और ४ आत्मकहानी (लगभग आठ सौ पृष्ठो की) की रचनाकर चरित्रसाहित्य को खूब सपन्न किया। इनका ऐतिहासिक सशोधनयुक्त 'मराठे व इग्रज' ग्रथ पठनीय और सग्रहणीय है। वैसे ही 'सुभाषित और विनोद' नामक प्रौढ ग्रथ का प्रणयन कर इन्होने हास्य रस का शास्त्रीय शैली से प्रतिपादन किया है।

केलकर सफल समीक्षक भी थे। इन्होने लगभग सौ भिन्न प्रकार के ग्रथो के मार्मिक परिचय लिखे और बीसो ग्रथो की उद्बोधक समालोचनाएँ की। वे मराठी के दूसरे 'साहित्यसम्राट्' कहे जाते है। अपने सामर्थ्य के अनुसार इन्होने देशसेवा मे भी योग दिया। १९४७ ई० मे इनका निधन हुआ। (भी० गो० दे०)

केला उष्णदेशीय फल। जनसाधारण द्वारा उपयोग मे लाए जानेवाले फलो मे यह सबसे महत्वपूर्ण है। कही कही पर तो इसका उपयोग मुख्य भोजन के रूप मे होता है।

इसका फल कोमल, मधुर, सुस्वादु एव पौष्टिक पदार्थो से युक्त होता है और प्राय वर्ष के सभी महीनो मे उपलब्ध होता है। यह ससार की प्रति एकड सबसे अधिक फल देनेवाली फसलो मे है। इसका पेड अधिक भूमि नही घेरता। भूमि की छोटी छोटी टुकडियो मे तथा जहा अन्य फल सरलता से नही होते वहाँ भी सुविधापूर्वक लगाया जा सकता है।

यद्यपि इसकी जन्मभूमि के विषय मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता, तथापि अनुमान है कि तरकारी और खाने की, दोनो ही, जातियाँ एशिया के उष्ण भाग अर्थात् मलाया, थाइलैंड, भारत अथवा इडोचीन से निकली हैं।

केले की पेटी विषुवत्‌रेखा से अक्षाश ३०° के अदर फैली हुई है। इसकी खेती विशेष रूप से कैरीबियन द्वीपसमूह, मध्य अमरीका, ब्राज़ील, कोलबिया, मलाया, इडोचीन, थाइलैंड तथा भारत मे होती है।

एशिया मे इसकी खेती विशेष रूप से भारत मे होती है। दक्षिण भारत तथा बगाल और बिहार की जलवायु इसकी खेती के लिये बहुत
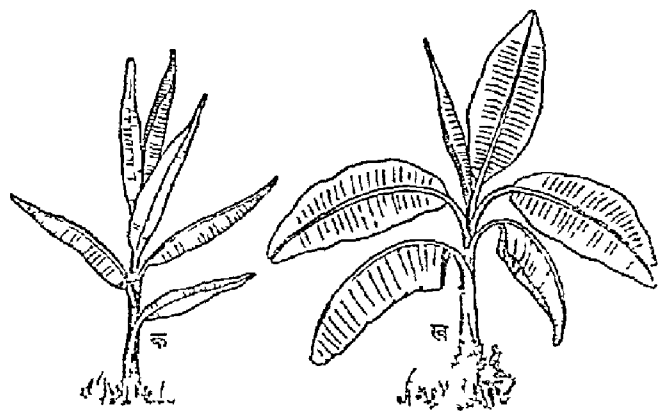
चित्र १ केले की भूस्तारियाँ
क सँकरी पत्तीवाली भूस्तारी तथा ख चौडी पत्तीवाली भूस्तारी।

उपयुक्त है। भारत मे केले की उपज का क्षेत्रफल लगभग ४ लाख एकड है, जो एशिया भर के केला उत्पन्न करनेवाले क्षेत्रो मे सबसे अधिक है।

केला प्राकृतिक कम मे प्लैंटाजिनेसियी (Plantaginaceae) और जीनस म्यूसा (Musa) से सबधित है। जीनस म्यूसा मे तीन जातियाँ होती है १ पैराडिसिआका (M Paradisiaca), २ सैपिएटम (M. Sapientum) तथा ३ कैवेंडिशी (M Cavendishi)।

पहली जाति पैराडिसियाका के अतर्गत सब्जीवाले केले अथवा प्लैंटेन (Plantain) आते है।

खानेवाली जातियो मे जो ऊँची बढनेवाली किस्मे होती हैं, उन्हें म्यूसा सैपिएटम और नाटी किस्मो को म्यूसा कैवेडिशी कहते है।

सब्जीवाले केलो (प्लैंटेन) में स्टार्च बहुत अधिक मात्रा मे होता है। इनकी कुछ जातियों मे बीज भी होता है। हमारे देश मे खाने तथा सब्जीवाले केलो मे विशेष अंतर नहीं समझा जाता। सब्जीवाले केलो की निम्नलिखित किस्मे है :

(१) बौथा, (२) हजारा, (३) राय केला, (४) भीम, (५) मुठिया, (६) नदरन तथा (७) टाइगर प्लैंटेन।

खानेवाले भारतीय केलो की बहुत सी किस्मे हैं जिनमे निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय है :

दक्षिण भारत—हरीछाल, बसराई, लालछाल, मथैली तथा पूवन।

बंगाल तथा बिहार—मालभोग, मर्तबान, चंपा, चीनी चंपा और मोहनभोग।

उत्तर प्रदेश—हरीछाल, मर्तबान, चंपा और स्थानीय देशी।

अन्य देशो मे केले की दो किस्मे मुख्य हैं : ग्रो मीशेल (Gros Michel) तथा कैवेंडिशी।

जलवायु तथा मिट्टी—साधारणत: केला किसी भी प्रकार की मिट्टी में लगाया जा सकता है, परंतु इसकी खेती के लिये भूमि पर्याप्त उपजाऊ होनी चाहिए अन्यथा खाद अधिक मात्रा मे देने की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही पानी का निकास भी अच्छा होना चाहिए जिससे जड़ो में पानी न ठहर सके। इसके लिये अधिक तापके साथ नम जलवायु आवश्यक है। ७०–८०" तक की वर्षा मे यह अच्छी तरह होता है। कम ताप एवं तेज हवाएँ इसके लिये हानिकारक है। पाला पड़नेवाले स्थान इसकी खेती के लिये अनुपयुक्त है।

केले का प्रसारण उसकी भूस्तारियो (suckers) द्वारा होता है। भूस्तारियाँ जड़ से अलग करके निकाली जाती हैं। ये दो प्रकार की होती है :

(१) सँकरी पत्तीवाली भूस्तारी (sword sucker), चित्र १ (क),
(२) चौड़ी पत्तीवाली भूस्तारी (water suckerc), चित्र १ (ख)

यो तो दोनो प्रकार की भूस्तारियाँ लगाई जाती है, परंतु सँकरी और लंबी पत्तीवाली भूस्तारियाँ, बलशाली पौधे पैदा करने के साथ ही अधिक तथा शीघ्र फल देनेवाली होती है। केले का प्रसारण उसकी जड़वाली गाँठ के टुकडे करके उसके द्वारा भी होता है, परंतु उसमे एक या दो आँखें अवश्य होनी चाहिए

बरसात का मौसम केला लगाने के लिये उपयुक्त है। इससे साधारणतया गड्ढे बनाकर, या नालियाँ बनाकर लगाया जाता है। जब कम पेड़ लगाने हो तो गड्ढेवाली विधि अपनाई जाती है। गड्ढे २–३ फुट व्यास के होने चाहिए। आदर्श गड्ढा ३'×३'×३' का माना जाता है। यह भूस्तारियो के फैलाव के लिये पर्याप्त होता है। नालियाँ लगभग दो तीन फुट चौड़ी और ९" गहरी होनी चाहिए। पेड ८–१० फुट की दूरी पर गड्ढे बनाकर लगाए जा सकते है। यह दूरी निकाई, गोड़ाई इत्यादि के लिये पर्याप्त होती है। १०'×१०' की दूरी पर ४३६ और ८'×८' पर ६८० भूस्तारियो की आवश्यकता एक एकड के लिये होती है। भलीभाँति निकाई तथा गोडाई होने पर केला प्राय. एक वर्ष के उपरांत फल दे देता है।

केले के लिये खाद और पानी दोनो अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इसे खूब खाद और पानी देना चाहिए। भारतीय परिस्थितियों में केले के लिये नाइट्रोजन अत्यंत आवश्यक है। वर्ष मे दो बार, सितंबर और फरवरी में, २० सेर गोबर की खाद, आधा सेर ऐमोनियम-सल्फेट और ३ सेर हड्डी की खाद तने से लगभग एक फुट की दूरी पर थोड़ा गोलाई में खोदकर दे दी जाय तो फल शीघ्र और अच्छा आता है।

केले के लिये पानी भी उतना ही आवश्यक है जितना खाद; इस कारण कुछ लोगो का कथन है कि केला लगी हुई भूमि सूखनी नही चाहिए।

भूस्तारियो को समय समय पर पेड़ो के पास से हटाते रहना चाहिए, नही तो उनका झुंड बन जाता है और पूरी तरह भोजन का विभाजन नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप फलन भी ठीक नही होता। इसलिये एक समय पर अधिक से अधिक तीन भूस्तारियाँ रखनी चाहिए। किंतु उन भूस्तारियो की आयु मे कम से कम ४-६ महीने का अंतर होना अनिवार्य है जिससे नियमित फल मिलता रहे। एक बार फल दे चुकने पर केले का पेड़ काट देना चाहिए, क्योकि एक पेड़ पर एक ही बार फल आता है।

लगभग ४ महीने में फलियाँ पकाने के योग्य हो जाती हैं, परंतु ये पेड़ पर नही पकती। घौद को पौध से काटकर पकाया जाता है। इस क्रिया से उनमें पूर्ण मिठास आती है।

कुछ स्थानों पर केले के घौद एक दूसरे पर रखकर गड्ढे मे इकट्ठा कर दिए जाते हैं और इनको भूसा और गीली मिट्टी से ढककर धुआँ देते हैं। हरे फल इस प्रकार ताप बढने से रंग बदल देते है। अडी की पत्तियाँ भी इसको पकाने के लिये उपयोग मे लाई जाती है। केले की घौद मे चूना लगाकर अँधेरी जगह मे लटकाकर भी पकाया जा सकता है। कुछ देशो में इसे पकाने के लिये एथिलीन गैस का उपयोग करते हैं। साधारण क्रिया घौद को पुआल या सूखी पत्तियो मे रखकर बंद कमरे मे पकाने की है। लगभग २०° सें० ताप पर फल भली प्रकार पक जाते है। घौद के सिरे पर मोम या वैसलीन लगाने से संग्रह और परिवहन में फल सडने की संभावना कम रहती है।

केला आर्थिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण फल है। हर भूस्तारी से एक घौद मिलता है। इसलिये एक एकड भूमि से लगभग ५००–७०० घौद तक सफलतापूर्वक लिए जा सकते हैं। एक घौद मे प्राय: ५०–१०० फलियाँ लगती है। एक एकड़ मे मध्यम तौर पर १८० से २०० मन तक फलियाँ मिल सकती हैं। दक्षिण भारत तथा बगाल मे २०० मन प्रति एकड़ की पैदावार सुगमता से हो जाती है।

बीमारियाँ तथा कीड़े—पनामा (रोग) या केले का उकठा (Wilt) नामक बीमारी अत्यंत हानिकारक है, परतु भाग्यवश भारत मे यह कम होती है। इसमे पत्तियाँ और पेड़ सूखने लगते हैं। रोगग्रस्त पेड़ो मे फल नही आते, और यदि आते हैं तो गिर जाते हैं। यह बीमारी पानी लगनेवाले स्थानो मे अधिक होती है, इसलिये पानी के निकास का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। ऐसी किस्मे लगाई जायँ जिनपर इस रोग का प्रभाव न हो।

केले की कलंकिका (Scab) बीमारी में केले की फली के छिलके पर भूरे और काले धब्बे पड़ जाते है। छिलका भूरा होकर बाद मे सूखने और सड़ने लगता है। इसके बचाव के लिये बरगंडी मिक्सचर ४ : ५ : ५०, (४ पौंड नीला तूतिया, ५ पौंड सोडा, ५० गैलन पानी मे घुलाकर) छिड़क देना चाहिए।

तना छिद्रक (Stem borer) या वीविल एक छोटा कीड़ा होता है और तने मे घुसकर सड़न पैदा कर देता है। इससे पेड़ गिर जाते हैं। ऐसे तनो को काटकर जला देना चाहिए।

फलछिद्रक (Fruit boring caterpillar) फूल की दशा में ही आक्रमण करता है और फल मे छेद बनाकर घुस जाता है। इसका मल फली पर दिखाई देता है। अत मे फली सड जाती है और बेकार हो जाती है। रोगग्रस्त पौधो को जला देना चाहिए और ऐसे पौधो से निकली भूस्तारियो को भी नही लगाना चाहिए।

पक जाने पर केला फल के रूप में खाया जाता है। साथ ही इसके फूल, फल तथा तने के मुलायम भाग से सब्जी बनती है। इसके अतिरिक्त इससे अन्य लाभदायक पदार्थ भी बनाए जाते हैं।

पके तथा कच्चे दोनो ही प्रकार के केले का आटा बनाया जाता है। इसका रेशा (fibre) कपड़ा बनाने के काम मे आता है। केले की पत्तियाँ त्योहारो तथा विशेष अवसरों पर घर सजाने तथा भोजन परोसने के काम मे आती है। पशुओ के लिये चारे के रूप में भी इसका उपयोग किया जाता है। (ना० प्र० श्री०)

केलाग-ब्रियाँ समझौता पारस्परिक विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिये किया गया एक अंतरराष्ट्रीय समझौता जिसपर पेरिस में

२७ अगस्त, १९२८ को १५ देशों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए थे। इस समझौते के पूर्व, अंतरराष्ट्रीय विधि में, युद्ध विधानतः ग्राह्य साधन था, जिसके द्वारा राष्ट्र अपने वास्तविक या काल्पनिक अधिकारों की रक्षा करते थे। इस अधिकार को सीमित करने का प्रयास १८९९ तथा १९०७ की हेग कानफरेंसो तथा सन् १९१४ की ब्रायन संधियों द्वारा किया गया था। १९२४ में स्वीकृत जिनीवा प्रोटोकल के दूसरे अनुच्छेद में यह कहा गया कि उन अवस्थाओं को छोड़कर, जो उसमें परिगणित थी, 'किसी भी अवस्था में युद्ध का आश्रय न लिया जाय'। सितंबर १९२७ में लीग ऑव नेशंस की सभा ने अपनी आठवी बैठक में पोलैंड का यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि : '(१) सभी अभिधावनात्मक युद्धों (आल वार ऑव एंग्रेशन) का निषेध होना चाहिए। (२) हर प्रकार के विवाद, जो देशों के बीच उत्पन्न हों, शांतिपूर्ण उपायों से हल किए जायें।' फरवरी, सन् १९२८ में छठी पैन-अमरीकन कानफरेंस ने एक प्रस्ताव स्वीकार करते हुए घोषित किया कि 'प्रथमाक्रमण मनुष्य मात्र के प्रति एक अपराध है, प्रत्येक प्रथमाक्रमण प्रतिषिद्ध, और इस कारण निषिद्ध है।' इन्ही विचारों तथा प्रयत्नों को केलाग-ब्रियाँ समझौते का रूप प्रदान किया गया। प्रोफेसर शाटवेल के सुझाव पर फ्रांस के विदेश-सचिव ब्रियाँ ने अमरीका के सचिव केलाग के बीच इस संबंध मे पत्राचार आरंभ किया और इस पत्राचार के फलस्वरूप यह संधिपत्र स्वीकार किया गया। इस कारण इसे केलाग-ब्रियाँ अथवा पेरिस समझौता (पैक्ट) कहते है।

इस समझौते में एक प्राक्कथन तथा दो मुख्य अनुच्छेद है। इसमें यह घोषणा की गई है—(१) उच्च संविदित पक्ष (हाई कांट्रैक्टिंग पार्टीज़), अपने अपने देशवासियों की ओर से गंभीरतापूर्वक घोषित करते हैं कि वे अंतरराष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में, युद्ध का आश्रय लेना तिरस्कृत समझते हैं, और एक दूसरे से संबंधित विषयों में राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप मे उसका परित्याग करते है।

(२) उच्च संविदित पक्ष इस बात पर सहमत है कि सारे झगड़े अथवा विवादों का समाधान, चाहे वे किसी भी प्रकार के हों या किसी भी कारण से उत्पन्न हुए हों, जो उनके बीच उठें, केवल शांतिपूर्ण रीतियों से ही सुलझाए जायँ। इस प्रकार कहा जाता है कि यह समझौता युद्ध का त्याग करने की एक सार्वजनिक संधि है।

कालांतर में यह संधि केवल मौखिक घोषणा मात्र बन कर रह गई। इसपर हस्ताक्षर करनेवाले देशों ने शीघ्र इसका उल्लंघन किया। १९२९ ई० में रूस ने चीन के विरुद्ध, १९३१–३२ मे जापान ने मंचूरिया के विरुद्ध और १९३१ में पेरू ने कोलंबिया के विरुद्ध बड़े पैमाने पर बल-प्रयोग किया, यद्यपि उन्होंने युद्ध की विधिवत घोषणा नही की। सन् १९३५ में इटली ने अबीसीनिया के विरुद्ध, १९३७ में जापान ने चीन के विरुद्ध, और १९३९ में रूस ने फिनलैंड के विरुद्ध स्पष्ट रूप से युद्ध की घोषणा की। इस प्रकार, यद्यपि इस समझौते का व्यतिक्रमण शीघ्र ही होना आरंभ हो गया फिर भी इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसका विधिक महत्व घट गया। एक स्थायी समझौता होने के नाते तथा अंतरराष्ट्रीय समाज के विधिक ढाँचे में एक मूलभूत परिवर्तन उत्पन्न करने के कारण अंतरराष्ट्रीय विधि व्यवस्था में वह अपना महत्वपूर्ण स्थान तो रखता ही है।

सं०ग्रं०—ओपेनहेम, एल० : इंटरनैशनल लॉ, ए ट्रीटाइज, दूसरा खंड, सातवाँ संस्करण, धारा (५२ एफ० ई० ५२ एल०); जस्टिस पाल-आर० बी० : इंटरनैशनल मिलिटरी ट्राइब्युनल फार द फार ईस्ट; इंटरमिलर : द पीस पैक्ट ऑव पेरिस (१९२८); टोयनबी, ए० : सर्वे १९२९, पृष्ठ ३४४–३६९। (ज० ना० स०)

केलॉग, सैमुएल एच० (१८३९–१८९९ ई०) हिंदी के प्रसिद्ध व्याकरण 'ग्रैमर ऑव द हिंदी लैंग्वेज' (१८७५) के रचयिता। उनका जन्म ६ सितंबर, १८३९ को वेस्टहैंपटन (न्यूयार्क) में हुआ था। १८६४ में प्रिस्टन सेमिनरी से ग्रैजुएट होकर धर्मप्रचारक के रूप में वे भारतवर्ष आए। १८७२ में वे इलाहाबाद के थियोलॉजिकल ट्रेनिंग स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए। १८७६ में वे स्वदेश लौट गए। १८७७ में प्रिस्टन में वे डी० डी० की उपाधि से विभूषित हुए। धर्मप्रचार कार्य में विशेष रुचि होने के कारण १८७७ में पिट्सबर्ग मे प्रेसबाइटीरियन चर्च के, और १८८६–९२ में टोरंटो में उन्होंने पैस्टर का पद ग्रहण किया। इसी बीच १८७९ में उन्होंने वेस्टर्न थियोलॉजिकल सेमिनरी की अध्यक्षता में धर्म पर तुलनात्मक दृष्टि से भाषण दिया। १८९२ में ये पुनः भारत आए। इस बार वे नॉर्थ इंडिया ऐंड ब्रिटिश ऐंड फ़ॉरेन बाइबिल सोसायटीज़ की ओर से धर्मपुस्तक (बाइबिल) के प्राचीन नियम (ओल्ड स्टेटामेंट) का हिंदी अनुवाद तैयार करने के लिये संघटित समिति के सदस्य के रूप में आए और इस हैसियत से उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया। 'ग्रामर ऑव द हिंदी लैंग्वेज' के अतिरिक्त 'द लाइट ऑव एशिया' और 'द लाईट ऑव द वर्ल्ड' (१८८५) इनके दो अन्य ग्रंथ है। (ल० सा० वा०).

केल्ट प्रजाति की दृष्टि से यूरोप के मध्य तथा पश्चिमी भाग के प्राचीन निवासी। आजकल सामान्यतः फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड के केल्टिक भाषाएँ बोलनेवाले उन निवासियों को 'केल्ट' कहा जाता है जो शारीरिक आकार मे छोटे और त्वचा के रंग में कम उजले है। परंतु प्राचीन लेखकों ने जिस प्रजाति को यह संज्ञा दी थी वे ऊँचे, नीली या भूरी आँखोंवाले तथा उजले केशोंवाले थे। वे आल्प्स पर्वतमाला के उत्तरी भूभाग में रहनेवाले लोग थे। यूनानी उन्हें केल्तोई कहा करते थे। इस वर्ग में स्कैंडिनेविया क्षेत्र की नोर्डिक और अल्पाई इन दोनों प्रजातियों की गणना होती थी। भौगोलिक तथा शरीररचना की दृष्टि से उनकी स्थिति स्कैंडिनेवियाई और भूमध्यसागरीय प्रजातिसमूहों के बीच की कही जा सकती है।

आल्प्स पर्वतमाला और दानूब नदी के बीच की उपत्यका मे संभवतः केल्ट जाति के आदि प्रतिनिधि प्राचीन प्रस्तरयुग में आकर बसे थे। ईसा पूर्व ५०० से इनकी शक्ति के विकास का आरंभ हुआ। ये मध्य यूरोप से क्रमशः अन्य क्षेत्रों में फैलने लगे। उनकी शक्ति के विकास का मुख्य कारण संभवतः धातुविद्या में उनकी दक्षता थी। क्षेत्रीय लोह साधनो का विकास उनकी भौतिक संस्कृति की विशेषता थी।

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में उनका विकास और विस्तार सबसे अधिक हुआ। वे सबसे पहले संभवतः फ्रांस के भूमध्यसागरीय तट की दिशा में बढ़े। विद्वानो का अनुमान है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के पूर्व किसी समय वे इटली, दानूब उपत्यका, बालकन देशों और दक्षिण रूस में गए होंगे। पश्चिम की ओर वे संभवतः बाद में गए और दो स्वतंत्र समूहों में वे ग्रेट ब्रिटेन के द्वीपों में संभवतः ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में पहुँचे।

सं०ग्रं०—रिप्ले : द रेसेज़ ऑव यूरोप; सर्जी : द मेडिटेरेनियन रेस। (श्या० दु०)

केल्विन, विलियम टामसन (१८२४–१९०७)। ब्रिटिश भौतिकविद्। इनका जन्म २६ जून, सन् १८२४ को बेलफास्ट में हुआ था। विज्ञान की उच्च शिक्षा इन्होंने केंब्रिज में पाई तथा पेरिस मे फ्रेंच वैज्ञानिक रेनो की प्रयोगशाला में प्रयोगात्मक विज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त किया। तदुपरांत सन् १८४६ में ग्लासगो विश्वविद्यालय मे प्राकृतिक दर्शन (नैचुरल फिलासफी) के प्रोफेसर का पद स्वीकार किया। इसी पद पर रहकर इन्होंने ५३ वर्ष तक विज्ञान की सेवा की। इनकी मृत्यु दिसंबर १७, सन् १९०७ ई० को हुई।

इनके प्रारंभिक अनुसंधानों में पृथ्वी के आयुनिर्धारण का प्रयास विशेष उल्लेखनीय है। पृथ्वी की उष्माचालकता के आधार पर इन्होंने पृथ्वी की आयु २ करोड़ और ४० करोड़ वर्ष के बीच, संभवतः १० करोड़ वर्ष, आँका। जेम्स प्रेस्काट जूल के संपर्क में आने के बाद इन्होंने उष्मा की प्रकृति के बारे मे विशेष दिलचस्पी ली। तदुपरांत इन्होंने केल्विन ताप (निरपेक्ष ताप) के पैमाने का आविष्कार किया, जो तापमापी में रखे पदार्थ के गुणों से बिल्कुल प्रभावित नही होता। उष्मा के गतिसिद्धांत (Dynamic theory) का विवेचन करके काउंट रंफर्ड, जूल तथा मेयर की सहायता से इन्होंने उष्मागतिकी (Thermodynamics) के द्वितीय

नियम का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया। उन्होंने विद्युत् संबंधी अनेक अनुसंधान भी किए एवं समुद्र में डूबे तारों द्वारा समाचार भेजने में उपस्थित अनेक दोषों को दूर किया। सन् १८५३ में उन्होंने लाइडनजार के दोलनमय स्फुलिंग विसर्जन (oscillatory discharge) का विशेष अध्ययन किया जो बाद में रेडियो टेलीग्राफी का आधार बना। समुद्र की गहराई नापने के लिये एक यंत्र तैयार किया तथा समुद्री यात्रा को निरापद बनाने के लिये अनेक उपयोगी आविष्कार किए। विज्ञान के विभिन्न विषयों पर इनके लगभग ३०० अनुसंधान निबंध हैं।

समुद्र पार के टेलीग्राफी संबंधी आविष्कारों के कारण सन् १८६६ में वे नाइट की उपाधि से सम्मानित किए गए और सन् १८९२ में ये लॉर्ड बनाए गए और सन् १८९० में रॉयल सोसायटी के सभापति निर्वाचित हुए थे। (भ० प्र० श्री०)

केवड़ा पैंडेनेसी (Pandanacea) कुल के एकदली वर्ग का पौधा जो उष्ण कटिबंधीय, हिंद महासागर के तटीय देशों में तथा प्रशांत महासागर के टापुओं में पाया जाता है। दक्षिण भारत के तटीय भागों में केवड़ा प्राकृतिक रूप से उगता है। फूलों की तीक्ष्ण गंध के कारण यह बागों में भी लगाया जाता है।

इसका पौधा ५-७ मीटर ऊँचा होता है और बलुई मिट्टी पर नम स्थानों में अधिक पनपता है। इसका प्रधान तना शीघ्र ही शाखाओं में विभाजित हो जाता है और हर शाखा के ऊपरी भाग से पत्तियों का गुच्छा निकलता है। पत्तियाँ लंबी तथा किनारे पर काँटेदार होती हैं और तने पर तीन कतारों में लगी रहती हैं। जमीन से कुछ ऊपरवाले तने के भाग से बहुत सी हवाई जड़ें निकलती हैं और कभी कभी जब तने का निचला भाग मर जाता है तब पौधे केवल इन हवाई जड़ों के सहारे पृथ्वी पर जमे रहते हैं। इनके पुष्पगुच्छ में नर या मादा फूल मोटी गूदेदार धुरी पर लगे होते हैं। नर पुष्पगुच्छ में कड़ी महक होती है। मादा पुष्पगुच्छ में जब फल लगते हैं और पक जाते हैं तब वह गोलाकार नारंगी रंग के अनन्नास के फल की भाँति दिखाई पड़ता है। केवड़े के ये फल समुद्र की लहरों द्वारा दूर देशों तक पहुँच जाते हैं और इसी से केवड़ा समुद्रतटीय स्थानों में अधिकता से पाया जाता है। नर पुष्पगुच्छ से केवड़ाजल और इत्र बनाए जाते हैं। पत्तियों के रेशे रस्सी आदि बनाने के काम आते हैं। जड़ों से टोकरी तथा बुरुश बनाया जाता है। (कं० चं० मि०)

केवल जैन दर्शन के अनुसार विशुद्धतम ज्ञान। इस ज्ञान के चार प्रतिबंधक कर्म होते हैं—मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय। इन चारों कर्मों का क्षय होने से 'केवलज्ञान' का उदय होता है। इन कर्मों में सर्वप्रथम मोहकर तदनंतर इतर तीनों कर्मों का एक साथ ही युगपत् क्षय होता है। केवलज्ञान का विषय है—सर्वद्रव्य और सर्वपर्याय (सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य—तत्वार्थसूत्र, १।३०)। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, ऐसा कोई पर्याय नहीं जिसे केवलज्ञान से संपन्न व्यक्ति नहीं जानता। फलतः आत्मा की ज्ञानशक्ति का पूर्णतम विकास या आविर्भाव केवलज्ञान में लक्षित होता है। यह पूर्णता का सूचक ज्ञान है। इसका उदय होते ही अपूर्णता से युक्त मति, श्रुत आदि ज्ञान सर्वदा के लिये नष्ट हो जाते हैं। उस पूर्णता की स्थिति में यह अकेले ही स्थित रहता है और इसी लिये इसका यह विशेष अभिधान है।

सं०ग्रं०—डा० सोहनलाल मेहता : जैनदर्शन, प्रकाशक, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५९; महेंद्रकुमार न्यायाचार्य : जैनदर्शन, प्रकाशक श्री गणेशप्रसाद वर्णी, जैन ग्रंथमाला, भदैनीघाट, काशी, १९५५। (ब० उ०)

(२) वह ज्ञान जो भ्रांतिशून्य और विशुद्ध हो। सांख्यदर्शन के अनुसार इस प्रकार का ज्ञान तत्वाभ्यास से प्राप्त होता है। यह ज्ञान मोक्ष का साधक होता है। इस प्रकार का ज्ञान होने पर यह बोध हो जाता है कि न तो मैं कर्ता हूँ, और न किसी से मेरा कोई संबंध है और न मैं स्वयं पृथक् कुछ हूँ। (प० ला० गु०)

केवलव्यतिरेकी न्यायदर्शन का एक विशेष अनुमान। इस अनुमान में हेतु, साध्य के साथ केवल निषेधात्मक रूप से ही संबद्ध रहता है। साध्याभाव तथा हेत्वभाव के बीच रहनेवाली व्याप्ति पर ही यह अनुमान आश्रित रहता है। उदाहरणार्थ : इतर पदार्थों से भिन्न न होनेवाला गंध नहीं रखता (प्रतिज्ञा), पृथ्वी गंध रखती है (हेतु वाक्य)। अतएव पृथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है (निगमन) इस अनुमान में 'गंध' तथा 'इतर' पदार्थों से भिन्न पदार्थ' के संबंध का निषेध किया गया है। यहाँ व्याप्ति की स्थिति केवलव्यतिरेकमुखेन ही सिद्ध है। बात यह है कि गंध का निवास केवल पृथ्वी में ही रहता है और वह पृथ्वी यहाँ 'पक्ष' है। फलतः दृष्टांत के अभाव में हम दोनों—हेतु तथा साध्य—के बीच अन्वयमुखेन संबंध स्थापित नहीं कर सकते। केवल निषेधमुखेन ही यहाँ व्याप्ति स्थिर की जा सकती है। यह वस्तुस्थिति पर आश्रित होनेवाला अनुमान है। अतः पश्चिम के प्रचलित तर्कशास्त्र में इसका निर्देश नहीं मिलता। (ब० उ०)

केवलान्वयी न्यायदर्शन में एक प्रकार का विशेष अनुमान। यहाँ हेतु साध्य के साथ सर्वदा सत्तात्मक रूप से ही संबद्ध रहता है। न्यायदर्शन के अनुसार व्याप्ति दो प्रकार से हो सकती है—अन्वयमुखेन तथा व्यतिरेकमुखेन। 'अन्वय' का अर्थ है—तत्सत्त्वे तत्सत्ता अर्थात् किसी वस्तु के होने पर किसी वस्तु की स्थिति, जैसे 'धूम' के रहने पर 'अग्नि' की स्थिति। व्यतिरेकमुखेन व्याप्ति वहाँ होती है जहाँ हेतु तथा साध्य का संबंध निषेधमुखेन सिद्ध होता है। केवलान्वयी अनुमान केवल प्रथम व्याप्ति के ऊपर ही आधारित रहता है। यथा :

समस्त ज्ञेय पदार्थ अभिधेय होते हैं (प्रतिज्ञा),
घट एक ज्ञेय पदार्थ है (हेतुवाक्य),
अतएव घट अभिधेय है (निगम)।

'ज्ञेय' का अर्थ है ज्ञान का विषय होना (अर्थात् वह पदार्थ जिसे हम जान सकते हैं)। 'अभिधेय' का अर्थ है अभिधा (या संज्ञा) का विषय होना अर्थात् वह पदार्थ जिसे हम कोई नाम दे सकते हैं। जगत् का यह नियम है कि ज्ञानविषय होते ही पदार्थ को कोई न कोई नाम अवश्यमेव दिया जाता है। यह व्याप्ति सत्तात्मक रूप से ही सिद्ध की जा सकती है, निषेधमुखेन नहीं, क्योंकि कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसको नाम न दिया जा सके। अर्थात् अभिधेयाभाव को हम ज्ञेयाभाव के साथ दृष्टांत के अभाव में कथमपि संबद्ध नहीं सिद्ध कर सकते। इसलिये ऊपरवाला निगमन केवल अन्वयव्याप्ति के आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है। इसी लिये यह अनुमान 'केवलान्वयी' कहलाता है। (देखिए—'अन्वयव्यतिरेक')। (ब० उ०)

केवली जैन दर्शन के अनुसार जीवन्मुक्त पुरुष। केवलज्ञान से संपन्न व्यक्ति 'केवली' कहलाता है। उसे चारों प्रकार के प्रतिबंधक कर्मों का क्षय होने से 'कैवल्य' की सद्यःप्राप्ति होती है (तत्वार्थसूत्र १०।१)। जैन दर्शन के अनुसार 'केवली' जीव के उच्चतम आदर्श तथा उन्नति का सूचक है। प्रतिबंधक कर्मों में मोह की मुख्यता होती है और इसलिये केवलज्ञान होने पर मोह ही सर्वप्रथम क्षीण होता है। और तदनंतर अंतर्मुहूर्त के बाद ही शेष तीनों प्रतिबंध कर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अंतराय—एक साथ क्षीण हो जाते हैं। मोह ज्ञान से अधिक बलवान् होता है; उसके नाश के बाद ही अन्य कर्मों का नाश होता है। प्रतिबंधकों के क्षय से केवल उपयोग का उदय होता है। 'उपयोग' का अर्थ है—बोधरूप व्यापार। केवल उपयोग का आशय है सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का संपूर्ण बोध। इसी दशा में सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व का उदय होता है केवली व्यक्ति में।

केवली में दर्शन तथा ज्ञान की उत्पत्ति को लेकर आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। 'आवश्यक नियुक्ति' के अनुसार केवली में दर्शन (निर्विकल्पक ज्ञान) तथा (सविकल्पक ज्ञान) का उदय क्रमशः होता है। दिगंबर मान्यता के अनुसार केवली में केवलदर्शन तथा केवलज्ञान युगपद् (एक

साथ) होते है। इस मत के प्रख्यात आचार्य कुदकुद का स्पष्ट कथन है कि जिस प्रकार सूर्य मे प्रकाश तथा ताप एक साथ रहते है, उसी प्रकार केवली मे दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते है (नियमसार, १५६)। तीसरी परपरा सिद्धसेन दिवाकर को है जिसके अनुसार केवलदर्शन और केवलज्ञान मे किसी प्रकार का अतर नहीं होता, प्रत्युत ये दोनो अभिन्न होते है। केवली ही 'सर्वज्ञ' के नाम से अभिहित होता है, क्योंकि केवलज्ञान का उदय होते ही उसके लिये कोई पदार्थ अज्ञात नही रह जाता। विश्व के समस्त पदार्थ केवली के सामने दर्पण के समान प्रतीत होते है।

(व० उ०)

केशलुचन जैन मुनियो द्वारा पालन किए जानेवाले २८ मूल गुणो मे एक। केशलुचन अर्थात् केशो का लोच करने (नोचने) को तप कहा गया है। बौद्ध साधुओ को भाति जैन साधुओ को भी उस्तरा आदि रखने का निषेध है, इसलिये कम से कम दो और अधिक से अधिक चार महीने मे वे अपने सिर, दाढी और मूछो के बाल अपने हाथ से उखाडते है, जिसे पचमुष्टिलोच कहा जाता है। केशलोच का बडा माहात्म्य माना गया है और इस अवसर पर भक्तो का मेला लग जाता है। केशलोच और ब्रह्मचर्यपालन को निर्ग्रथ धर्म मे अत्यत कठिन बताया है, तथा इनका पालन करने मे मुनियो को अत्यत सावधान रहने का उपदेश है।

(ज० च० जै०)

केशवदास संस्कृत काव्यशास्त्र का सम्यक् परिचय करानेवाले हिंदी के प्राचीन आचार्य और कवि। जन्म (अनुमानत) १६१२ वि० और मृत्यु (अनुमानत) १६७४ वि०। इनका जन्म सनाढ्य ब्राह्मण कुल मे हुआ था। इनके पिता का नाम काशीराम था जो ओडछा नरेश मधुकरशाह के विशेष स्नेहभाजन थे। मधुकरशाह के पुत्र महाराज इद्रजीत सिंह इनके मुख्य आश्रयदाता थे। वे केशव को अपना गुरु मानते थे। 'रसिकप्रिया' के अनुसार केशव ओड़छा राज्यातर्गत तुगारराय के निकट बेतवा नदी के किनारे स्थित ओडछा नगर मे रहते थे।

केशवदास रचित प्रामाणिक ग्रथ नौ है रसिकप्रिया, कविप्रिया, नखशिख, छदमाला, रामचद्रिका, वीरसिंहदेव चरित, रतनबावनी, विज्ञानगीता और जहाँगीर जसचद्रिका। रसिकप्रिया केशव की प्रौढ रचना है जो काव्यशास्त्र सबधी ग्रथ है। इसमे रस, वृत्ति और काव्यदोषो के लक्षण उदाहरण दिए गए है। इसके मुख्य आधारग्रथ है—नाट्यशास्त्र, कामसूत्र और रुद्रभट्ट का शृगारतिलक। 'कविप्रिया' काव्यशिक्षा सबधी ग्रथ है जो इद्रजीतसिंह की रक्षिता और केशव की शिष्या प्रवीणराय के लिये प्रस्तुत किया गया था। यह कविकल्पलतावृत्ति और काव्यादर्श पर आधारित है। 'रामचद्रिका' उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध महाकाव्य है जिसकी रचना मे 'प्रसन्नराघव', 'हनुमन्नाटक', 'कादबरी' आदि कई ग्रथो से सामग्री ग्रहण की गई है। रतनबावनी मे मधुकरशाह के पुत्र रतनसेन, वीरसिंहदेव चरित मे इद्रजीतसिंह के अनुज वीरसिंह तथा जहाँगीर जसचद्रिका मे जहाँगीर का यशोगान किया गया है। विज्ञानगीता मे 'प्रबोधचद्रोदय' के आधार पर रचित अन्यापदेशिक काव्य है।

केशव अलकार सप्रदायवादी आचार्य कवि थे। इसलिये स्वाभाविक था कि वे भामह, उद्भट और दडी आदि अलकार सप्रदाय के आचार्यो का अनुसरण करते। इन्होने अलकारो के दो भेद माने है, साधारण और विशिष्ट। साधारण के अतर्गत वर्णन, वर्ण्य, भूमिश्री-वर्णन और राज्यश्री-वर्णन आते है जो 'काव्यकल्पलतावृत्ति' और 'अलकारशेखर' पर आधारित हैं। इस तरह वे अलकार्य और अलकार मे भेद नही मानते। अलकारो के प्रति विशेष रुचि होने के कारण उनका काव्यपक्ष दब गया है और सामान्यत ये सहृदय कवि नही माने जाते। अपनी क्लिष्टता के कारण ये 'कठिन काव्य के प्रेत' तक कहे गए है। विशिष्ट प्रबधकाव्य रामचद्रिका प्रबध-निर्वाह, मार्मिक स्थलो की पहचान, प्रकृतिवर्णन आदि की दृष्टि से श्रेष्ठ नही है। परपरा पालन तथा अधिकाधिक अलकारो को समाविष्ट करने के कारण वर्णनो की भरमार है। चहल पहल, नगरशोभा, साजसज्जा आदि के वर्णन मे इनका मन अधिक रमा है। सवादो की योजना मे, नाटकीय तत्वो के सनिवेश के कारण, इन्हें विशेष सफलता मिली है। प्रबधो की अपेक्षा मुक्तको मे इनकी सरलता अधिक स्थलो पर व्यक्त हुई है।

स०ग्र०—आचार्य रामचद्र शुक्ल हिंदी साहित्य का इतिहास, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी; हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, डा० नगेंद्र द्वारा सपादित, ना० प्र० सभा, वाराणसी।

(व० सि०)

केशवसुत, कृ० के० दामले (१८६६–१९०५ ई०)। आधुनिक मराठी कविता के प्रवर्तक। वे प्राथमिक स्कूल के अध्यापक रहे, क्लर्क बने और विपन्नावस्था मे अल्पायु मे ही स्वर्गवासी हुए, किंतु उनकी काव्यप्रतिभा असाधारण थी। समाजसुधार का जो काम हरिभाऊ आपटे ने उपन्यासो द्वारा और आगरकर ने निबधो द्वारा किया, वही काम केशवसुत ने काव्यसर्जना द्वारा किया। इन्होने मराठी कविता का सच्चे अर्थ मे आधुनिक बनाया।

केशवसुत की कविता स्फुट और अतर्निरूपिणी है। उसमे काव्यरचना सबधी नए नए प्रयोग है। उनके विषय प्रकृति और प्रेम है। उनकी मनोवृत्ति आसपास की सामाजिक दुःस्थिति से उद्वेलित हुई और यह काव्य मे ओजस्विता से प्रकट हुई। उन्होने अपने क्रातिकारी सामाजिक विचार १ 'तुतारी', २ 'नैवा शिपायी', ३ 'स्फूर्ति', ४ 'गाफण', ५ 'मूर्तिभजन' इत्यादि ओजपूर्ण और सरस गीतो मे प्रकट किए। इन्होने स्वतत्रता, समता और बधुता का उद्घोष कर कविता को नया मोड़ दिया।

प्रेम और आत्माभिव्यक्ति उनकी कविता की दूसरी विशेषता है। ये पहले कवि थे जिन्होने वैयक्तिक प्रेम पर लगभग चालीस प्रगीतो की रचना की जिनमे १ 'प्रियेचे ध्यान', २. 'प्रीति', ३ 'अपर कविता दैवत' अत्यत सरस रचनाएँ है। इनके काव्य की तीसरी विशेषता है, प्रकृतिवर्णन। इन्होने निसर्ग विषयक लगभग बीस गीतो की रचना की जिनमे 'सूर्योदय', 'फुले', 'सध्याकाल', 'पर्जन्य', 'पुष्पाप्रत' उत्कृष्ट हैं। इन्होने क्राति विषयक कविताओ की भी रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होने रहस्यात्मक कविताओ की भी सृष्टि की। जीव, जगत् और ईश्वर के सबध मे इनकी १ 'झपूर्झा', २ कोणीकडून कोणी कडे, ३. 'हरपले श्रेय' जैसी कविताए है जिन मे प्रेम, सुदरता, दिव्यता, भव्यता आदि के विषय मे भी एक प्रकार की गूढता प्रकट हुई है।

केशवसुत ने काव्यवस्तु मे जैसे क्रातिकारी परिवर्तन किए, वैसे ही रचनाशैली मे भी। इन्होने वर्णिक छदो की अपेक्षा मात्रिक छदो को अधिक अपनाया। मात्रिक वृत्तो मे भी इन्होने रूढियो का उल्लघन किया साथ ही पश्चिमी ढग के सानेट को भी अपनाया। इनकी 'सुनीत' रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनकी 'फुलपाखरू' और 'सतारीचे बोल' नामक व्यक्तिगत अनुभवो का सरस चित्रण करनेवाली प्रभावकारी रचनाएँ अनूठी एव आस्वाद्य हैं।

(भी० गो० दे०)

केशी प्रसिद्ध दानव। यह कस का अनुचर था और कश्यप की पत्नी दक्षकन्या दनु के गर्भ से उत्पन्न सभी दानवो मे अधिक प्रतापी था। महाभारत के अनुसार इसने प्रजापति की कन्या दैत्यसेना का हरण करके उससे विवाह कर लिया था। इसने वृदावन मे असख्य गौओ तथा गोपो का वध किया था। अत मे इसे श्रीकृष्ण ने मारा जिससे उनका नाम केशव पडा।

(रा० द्वि०)

केसर एक सुगध देनेवाला पौधा। इसके पुष्प की शुष्क कुक्षिओ (stigma) को केसर, कुकुम, जाफरान अथवा सैफ्रन (saffron) कहते है। यह इरिडेसी (Iridaceae) कुल की 'क्रोकस सैटाइवस' (Crocus sativus) नामक क्षुद्र वनस्पति है जिसका मूल स्थान दक्षिण यूरोप है, यद्यपि इसकी खेती स्पेन, इटली, ग्रीस, तुर्किस्तान, ईरान, चीन तथा भारत मे होती है। भारत मे यह केवल जम्मू (किस्तवार) तथा कश्मीर (पामपुर) के सीमित क्षेत्रो मे पैदा होती है। प्याज तुल्य इसकी गुटिकाएँ (bulb) प्रति वर्ष अगस्त-सितबर

में रोपी जाती हैं और अक्टूबर दिसंबर तक इसके पत्र तथा पुष्प साथ निकलते हैं।

केसर का क्षुप १५-२५ सेंटीमीटर ऊँचा, परंतु कांडहीन होता है। पत्तियाँ मूलोद्भव (radical), सँकरी, लंबी और नालीदार होती हैं। इनके बीच से पुष्पदंड (scape) निकलता है, जिसपर नीललोहित वर्ण के एकाकी अथवा एकाधिक पुष्प होते हैं। पंखुड़ियाँ तीन तीन के दो चक्रों में और तीन पीले रंग के पुंकेशर होते हैं। कुक्षिवृंत (style) नारंग रक्तवर्ण के, अखंड अथवा खंडित और गदाकार होते हैं। इनके ऊपर तीन कुक्षियाँ, लगभग एक इंच लंबी, गहरे लाल अथवा लालिमायुक्त हल्के भूरे रंग की होती हैं, जिनके किनारे दंतुर या लोमश होते हैं। केसर की गंध तीक्ष्ण, परंतु लाक्षणिक, और स्वाद किंचित् कटु, परंतु रुचिकर, होता है।

केसर का पौधा
(Crocus sativus)

इसका उपयोग मक्खन आदि खाद्य द्रव्यों में वर्ण एवं स्वाद लाने के लिये किया जाता है। चिकित्सा में यह उष्णवीर्य, उत्तेजक, आर्तवजनक, दीपक, पाचक, वात-कफ-नाशक और वेदनास्थापक माना गया है। अतः पीड़ितार्तव, सर्दी जुकाम तथा शिरःशूलादि में प्रयुक्त होता है। (ब० सिं०)

केसर, हेंड्रिक दी (१५६५-१६२१)। डच शिल्पकार तथा वास्तु शिल्पी। इनका जन्म उत्रेक (हालैंड) में हुआ था। इन्होंने हालैंड के 'साउथ चर्च', ऐम्स्टर्डम में 'ईस्ट इंडिया हाउस', 'वेस्ट चर्च' तथा अन्य अनेक सुंदर भवनों और मीनारों का निर्माण किया। उसकी वास्तुकला प्राचीन शैली तथा पुनर्जागरण काल की अलंकरण शैली की मध्यवर्ती कड़ी है। व्यक्तिशिल्प में उसने भावुकता और विश्वास से काम लिया। प्रसिद्ध अंग्रेज शिल्पकार निकोलस स्टोन उनके शिष्य थे। (भा० स०)

केसीन यह दूध में पाया जानेवाला फ़ास्फोप्रोटीन है जो कैलसियम कैसीनेट के रूप में रहता है। इसके अलावा सोयाबीन में भी केसीन पर्याप्त मात्रा में होता है। इसमें लगभग १५ ऐमीनो अम्ल पाए जाते हैं। इसका रंग सफ़ेद से लेकर पीला तक होता है। यह तनु क्षारों और सांद्र अम्लों में विलेय और जल में अविलेय है।

अम्ल से अवक्षेपित केसीन कागज पर विलेपन करने, सरेसों, पेंटों, आसंजकों (Adhesives), वस्त्रोद्योग और खाद्य पदार्थों में काम आता है। (नि० सिं०)

कैंटरबरी टेल्स इंग्लैंड के प्रसिद्ध कवि ज्योफ्रे चॉसर की अंतिम और सर्वोत्तम रचना। इससे अंग्रेजी साहित्य में आधुनिक अर्थ में जीवन के यथार्थ चित्रण की परंपरा का प्रारंभ होता है। यह कहानियों का संग्रह है। इसमें कहानियों की उद्भावना स्वयं न करके समस्त यूरोपीय साहित्य तथा जनसाधारण में प्रचलित आख्यायिकाओं को इतिवृत्त का आधार बनाया गया है। इसी कारण उनमें विविधता है। जिस प्रकार कहानी कहनेवाले पात्रों में विविधता है, उसी प्रकार कहानियों में भी। विभिन्न प्रकार की कहानियों को एक कड़ी में पिरोने की योजना चॉसर ने बड़ी चतुराई से बनाई है। कैंटरबरी में टामस बेकेट की समाधि पर पूजा के निमित्त जानेवाले लगभग तीस यात्री, जो तत्कालीन ब्रिटिश समाज के विभिन्न स्तरों तथा व्यवसायों का प्रतिनिधित्व करते हैं, लंदन की एक सराय में एकत्र होते हैं। सराय के स्वामी की सलाह पर सब निश्चय करते हैं कि प्रत्येक यात्री जाते तथा लौटते समय दो दो कहानियाँ कहेगा। जिस यात्री की कहानियाँ सर्वोत्तम होंगी उसे सब मिलकर लौटते समय उसी सराय में अच्छी दावत देंगे। इस योजना के अनुसार कुल १२० कहानियाँ होनी चाहिए थीं, लेकिन उपलब्ध संग्रह में उनकी संख्या कम है तथा कुछ कहानियाँ अपूर्ण भी हैं।

'कैंटरबरी टेल्स' की इस योजना ने चॉसर को अपनी बहुमुखी प्रतिभा की अभिव्यक्ति का अच्छा अवसर दिया। यात्रियों के चुनाव में उन्होंने तत्कालीन ब्रिटिश समाज के सभी वर्गों के प्रतिनिधित्व का ध्यान रखा। स्त्री और पुरुष, चर्च, व्यापार एवं कृषि से संबंधित प्रायः सभी स्तरों के लोग यहाँ इकट्ठे मिलते हैं। इस प्रकार अपने पात्रों के माध्यम से इन्होंने अपने युग के ब्रिटिश समाज का व्यापक चित्र प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

एक ओर उनके पात्र हमारे सामने अपने वर्ग या व्यवसाय की सारी विशेषताओं के साथ उपस्थित होते हैं, साथ ही वे अपने चरित्र के व्यक्तिगत गुणदोषों का भी स्पष्ट परिचय देते हैं। अंग्रेजी साहित्य के जिस युग में मानव चरित्र के यथार्थ चित्रण की परंपरा अज्ञात थी चॉसर ने सजीव पात्रों का निर्माण कर इस क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न की। अपने पात्रों के चित्रण में चॉसर ने व्यंग्य और हास्य का सहारा लिया है। उनकी छोटी मोटी कमजोरियों पर मीठी चुटकी लेने से वे बाज नहीं आए हैं। वे अपनी त्रुटियों पर भी उसी प्रकार हँसते हैं जैसे दूसरे की त्रुटियों पर। उनका विशाल हृदय उदारता से भरा है। मनुष्य मात्र से उन्हें सहानुभूति है। इन सभी गुणों के कारण 'कैंटरबरी टेल्स' अंग्रेजी साहित्य ही नहीं वरन् यूरोपीय साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं में एक माना जाता है। (तु० न० सिं०)

कैंडी श्रीलंका के मध्य-प्रदेश की राजधानी एवं प्रमुखतम व्यापारिक तथा सांस्कृतिक केंद्र। यह कोलंबो से ७५ मील उत्तर-पूर्व समुद्रतल से १६०२ फुट की ऊँचाई पर एक मनोरम कृत्रिम झील के किनारे स्थित है जिसे कैंडी राज्य के अंतिम नरेश ने निर्मित कराया था। यहाँ अनेक हिंदू एवं बौद्ध मंदिर हैं, जिनमें दालदा मालिगावा (Dalada Maligawa) बौद्ध मंदिर विश्वविख्यात है। अनुश्रुति है कि इस मंदिर में भगवान् तथागत का एक दाँत रखा है जिसे कोई राजकुमारी बालों में छिपाकर भारत से लाई थी। यह नगर शिक्षा एवं संस्कृति की प्राचीन पीठिका तथा कैंडी राज्य की परंपरागत राजधानी रहा है। यहाँ से तीन मील दूर पेरादेनिया नामक स्थान पर विशाल राजकीय वनस्पति उद्यान है। नगर की जनसंख्या सन् १९६२ में ६७,७६८ थी। यह नगर चाय उद्योग का प्रमुख केंद्र है। (का० ना० सिं०)

कैंडौल, ड ऑगस्टिन पिरेम (१७७८-१८९३ ई०) स्विस वनस्पतिज्ञ। इनका जन्म जिनीवा में हुआ था। वहीं उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। वे १७९६ में पेरिस आए और ९ वर्ष तक मॉपेलिए (Montpellier) में वनस्पति विज्ञान के शिक्षक रहे। पश्चात् वे जिनीवा में प्रकृतिविज्ञान (Natural History) के प्राध्यापक होकर लौट आए। अपने जीवन का शेष भाग इन्होंने वनस्पतियों के वर्गीकरण की अपनी प्राकृतिक रीति को पूर्ण करने में बिताया। जिनीवा में ९ सितंबर, १८९३ को इनकी मृत्यु हुई।

वनस्पति संबंधी उनकी महत्व की दो पुस्तकें प्रकाशित होने पर, उन्हें 'फ्रांस की वनस्पति' (Flore Francaise) नामक प्रसिद्ध पुस्तक का तृतीय संस्करण तैयार करने का काम सौंपा गया। इसमें इन्होंने प्रकृत्यानुसार वर्गीकरण की अपनी नई रीति के सिद्धांत का स्पष्टीकरण किया। वनस्पति विज्ञान संबंधी उन्होंने अन्य कई महत्व की पुस्तकें लिखी हैं। फ्रांस की सरकार के इच्छानुसार इन्होंने उस देश का वानस्पतिक तथा कृषीय सर्वेक्षण भी किया।

कैंपबेल, सर कॉलिन (१७६२–१८७३ ई०)। अंग्रेज सेनाध्यक्ष जो बाद में लॉर्ड क्लाइड बने। सैनिक के रूप में उन्होंने पेनिनस्युलर तथा क्रीमिया के युद्धों में पराक्रम दिखाया। १८३२ ई० में वे लेफ्टिनेंट कर्नल बने और १८४२ ई० के चीन युद्ध में भाग लिया। १८४८–४९ ई० में वे भारत के सिक्ख युद्ध में सम्मिलित हुए और गुजरात विजय के फलस्वरूप के० सी० बी० (सर) की उपाधि से सम्मानित किए गए। १८५३ में वे स्वदेश लौटे और सिपाही विद्रोह के समय वे प्रधान सेनापति होकर भारत आए और अवध तथा रुहेलखंड के विद्रोहों का दमन किया फलस्वरूप वे लॉर्ड बना दिए गए। लॉर्ड हार्डिंज के समय में उन्होंने उड़ीसा में होनेवाली मानव बलिदान की प्रथा के उन्मूलन में सहायता की थी। (मि० च० पा०, प० ला० गु०)

कैंपबेल-बैनरमैन, सर हेनरी इंग्लैंड के एक प्रधान मंत्री। जन्म ७ सितंबर, सन् १८३६ ई०। इनके पिता का नाम सर जेम्स कैंपबेल था। किंतु अपने मामा हेनरी बैनरमैन की संपत्ति की विरासत प्राप्त होने पर उनके नाम के साथ बैनरमैन जुट गया। उनकी शिक्षा ग्लास्गो तथा केंब्रिज में हुई थी। उन्होंने १८६८ ई० में सार्वजनिक जीवन प्रारंभ किया और लिबरल दल के प्रतिनिधि के रूप में स्टरलिंग बर्ग्स से निर्वाचित होकर संसद में पहुँचे और जीवनपर्यंत इसी निर्वाचनक्षेत्र का प्रतिनिधित्व किया। १८७१ से १८७४ ई० तक तथा १८८० से १८८२ ई० तक वे युद्धविभाग में वित्तसचिव, १८८२ से १८८४ ई० तक ऐडमिरैल्टी के सचिव तथा १८८४ से १८८५ ई० तक आयरलैंड के प्रमुख सचिव रहे। सन् १८८६ में ग्लैडस्टन की सरकार में युद्धसचिव बने, तथा १८९२ से १८९५ ई० तक औदार्यवादी सरकार में भी वे इसी पद पर रहे। १८९५ ई० में उन्हें 'सर' की उपाधि मिली।

१४ दिसंबर १८९८ ई० को हरकोर्ट ने जब हाउस ऑव कामन्स में लिबरल दल के नेतृत्व से इस्तीफा दे दिया तब वे उस दल के नेता चुने गए। आगामी निर्वाचन के लिये लिबरल दल का कार्यक्रम निर्धारित करते हुए उन्होंने सामाजिक सुधार के लिये विभिन्न सुझावों तथा सरकार के बढ़ते हुए व्यय की कटु आलोचना के साथ सरकारी कर्मचारियों की संख्या में कटौती की आवश्यकता तथा हाउस ऑव लार्ड्स के निषेधात्मक अधिकार के प्रयोग की सीमाएँ निर्धारित करने पर विशेष बल दिया। ४ दिसंबर, १९०५ ई० को जब यूनियनिस्ट सरकार ने इस्तीफा दे दिया तो उन्होंने नई सरकार गठित की और प्रधान मंत्री बने। जनवरी, १९०६ ई० के चुनाव में बहुमत इस नई सरकार के पक्ष में ही रहा। अस्वस्थता के कारण उन्होंने ५ अप्रैल, १९०८ ई० को प्रधान मंत्री पद से इस्तीफा दिया और २२ अप्रैल को उनका निधन हो गया।

सं०ग्रं०—स्पेंडर, जे० ए० दि लाइफ ऑव दि राइट आनरेब्ल सर एच० कैंपबेल बैनरमैन (जी० सी० बी०), लंदन, १९२३।
(रा० प्रा०)

कैंपिनाज ब्राजिल (दक्षिण अमरीका) का एक प्रमुख नगर। यह मध्य पठारी क्षेत्र के अंतर्गत सौमपौलू राज्य में सौमपौलू नगर से ६५ मील उत्तरपश्चिम तथा सांटोज बंदरगाह से ११४ मील दूर समुद्रतल से २,२०० फुट की ऊँचाई पर स्थित प्रसिद्ध व्यापारिक, औद्योगिक एवं यातायात का केंद्र है। यहाँ एक राष्ट्रीय कृषि संस्थान है। १९६८ ई० में यहाँ की जनसंख्या २,५२ १४५ थी। (का० ना० सिं०)

कैंसर एक रोग जिसमें किसी अंग के ऊतक की कोशिकाओं में असीम रूप से कोशिका विभाजन की अस्वाभाविक क्षमता आ जाती है, जिसके कारण कोशिकाएँ निरंतर बढ़ती रहती हैं। उद्गम स्थान से बढ़कर धीरे धीरे आसपास के अंगों में रोग उसी प्रकार प्रवेश करने लगता है जैसे केकड़े की टाँगें।

शुक्राणु तथा डिंब के संयोग से गर्भस्थापन होने पर भ्रूण की एक कोशिका से बारबार नियमित कोशिकाविभजन द्वारा गर्भ का आकार बढ़ता है और कोशिकाओं के विभेदन से पृथक् पृथक् ऊतक रचना होती है। जीवन का प्रमुख मूलाधार कोशिकाओं के नियमित बढ़ने का गुण है जो उनके बारबार विभजन तथा विभेदन द्वारा होता रहता है। इसी क्रिया द्वारा शरीर के विविध अंगों का निर्माण तथा वृद्धि होती है। परंतु शरीर में वृद्धि नियमित तथा निर्धारित रूप में होती है और एक सीमा के बाद वृद्धि रुक जाती है।

बाल्यावस्था से युवावस्था तक कोशिकाविभजन की क्रिया बहुत अधिक मात्रा में होती है क्योंकि शरीर के सब अंग बढ़ते रहते हैं। वृद्धावस्था में बढ़ने की क्रिया प्रायः रुक जाती है, फिर भी कोशिकाविभजन धीरे धीरे चलता रहता है। इस अवस्था में जो कोशिकाएँ पुरानी या नष्ट हो जाती हैं उनको बदलने के लिये नई कोशिकाओं की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये कोशिकाविभजन तथा विभेदन की क्रिया बराबर चलती रहती है, परंतु आवश्यकतापूर्ति के पश्चात् यह क्रिया अपने आप बंद हो जाती है। इसी क्रिया द्वारा घाव भरते हैं।
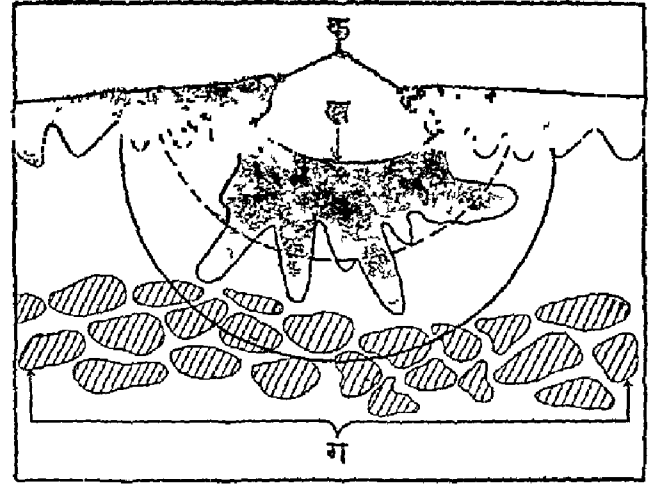
केकड़े की टाँगों के सदृश कैंसर का फैलना

क स्वस्थ त्वचा, ख कैंसर का त्वचा में प्रवेश, ग त्वचा की चर्बी, टूटी रेखा अशुद्ध शल्य, पूरी रेखा, शुद्ध शल्य। कैंसर रोग त्वचा में बड़ी गहराई तक प्रवेश कर गया है। टूटी रेखा तक शल्यक्रिया द्वारा काटने के उपरांत भी कर्कट की जड़ें गहराई में बच जायँगी, जिससे कैंसर रोग वहाँ से फिर बढ़ने लगेगा। पूरी रेखा से शल्यक्रिया द्वारा अर्बुद का निकालना आवश्यक है।

कैंसर रोग में विशेष कोशिकाओं में वृद्धि के रुकने की क्षमता लुप्त हो जाती है, जिससे उद्गम स्थान में अर्बुद बन जाता है। यह धीरे धीरे बढ़कर पड़ोसी अंगों में प्रवेश करके उनका नाश करता या उन्हें दबाता है। इस क्रिया में अर्बुद से जो कैंसर कोशिकाएँ पृथक् हो जाती हैं, वे रक्तधमनियों, शिराओं तथा लसिकाग्रंथियों द्वारा बहुधा शरीर के दूरस्थ अंगों में जाकर स्थापित हो जाती हैं और वहाँ निरंतर बढ़ती और फैलती रहती हैं। इस वृद्धि से शरीर को हानि होती है। ये कैंसर कोशिकाएँ शरीर की पोषक वस्तुओं को चूसती रहती हैं जिससे अन्य अंगों का स्वास्थ्य उनकी कोशिकाओं को पर्याप्त पोषण न मिलने से, बिगड़ जाता है।

कैंसर कोशिकाओं में कोशिकाविभजन की अनियमित क्रियाशीलता के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भौतिक, रासायनिक तथा रचनात्मक विपरीतियाँ (जैसे अनियमित समसूत्रण, विभेदन के बदले अपरिपक्वन आदि) रहती हैं और सूक्ष्मदर्शी यंत्र से इन कोशिकाओं की ऊतकपरीक्षा द्वारा ये सरलता से पहचान ली जाती हैं। परंतु कैंसरकोशिकाओं के स्वभाव में यह विभिन्नता क्यों होती है, इसका कारण अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

अर्बुद या ट्यूमर दो प्रकार के होते हैं (देखें अर्बुद) (१) अघातक

कैंसर (देखिए पृष्ठ १२६)

स्तन कैंसर

चर्म कैंसर

जिह्वा कैंसर

कैंसर कोष

शिश्न कैंसर

कैंसर कोष
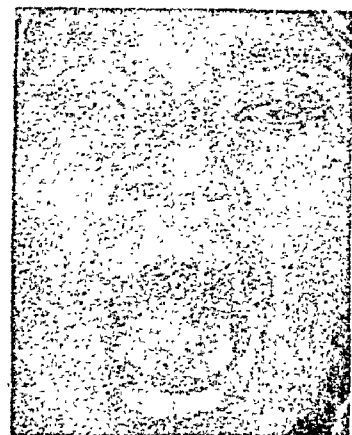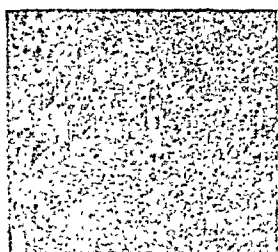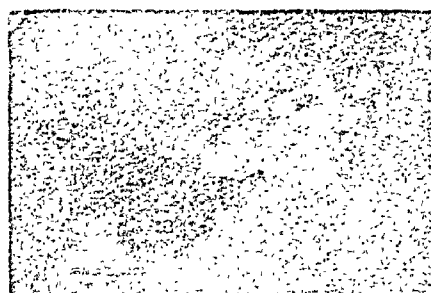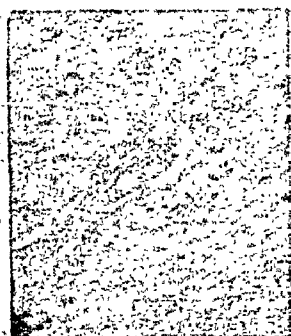
स्तन कैंसर

शिश्न कैंसर

फलक २१

कैथोड किरण ऑसिलोग्राफ (Cathode-ray Oscillograph) (देखिए पृष्ठ १३२)

संख्या ३ आर पी १ए (No. 3 RP 1A)
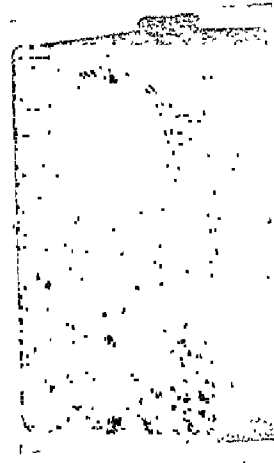
संख्या ५ बी पी–ए (No. 5 BP–A)
कैथोड किरण ऑसिलोग्राफ

कैथोड किरण ऑसिलोग्राफ
का एक वाल्व
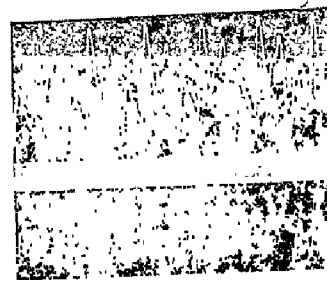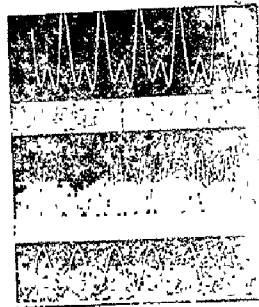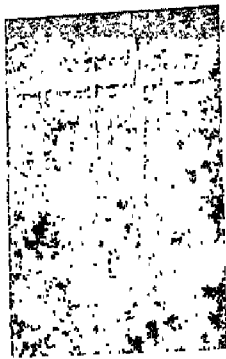
कैथोड किरण ऑसिलोग्राफ द्वारा प्राप्त चित्र

बाईं ओर : धातुओं की परीक्षा के हेतु लिया गया चित्र; मध्य में—ऊपर : ३६१ दोलन प्रति सेकंडवाले स्वरित्र (tuning fork)
रा ज्या-तरंग; बीच में : दो स्वरित्र द्वारा सकर (beat) तथा नीचे : बाँसुरी की ५८७ दोलन प्रति सेकंडवाली ६ तरंगें; दाहिनी ओर—ऊपर :
रिओनेट (clarionet) की १५६ दोलन प्रति सेकंड वाली ६ तरंगें तथा नीचे : क्लैरियोनेट की १९६ दोलन प्रति सेकंड वाली ७ तरंगें।

अर्बुद तथा (२) घातक अर्बुद । घातक अर्बुद को कैंसर का पर्यायवाची समझा जा सकता है। घातक तथा अघातक अर्बुदों में यह अंतर है कि यद्यपि अघातक अर्बुद में भी कोषसंख्या की वृद्धि करने की प्रवृत्ति होती है तथापि घातक अर्बुद के समान न तो इसके कोष दूसरे पड़ोसी अंगों में प्रवेश करते हैं और न ही रक्तधमनियों, शिराओं या लसिकाग्रंथियों द्वारा शरीर के दूसरे अंगों में स्थापित होते हैं। वे केवल उद्गम ऊतक में ही सीमित रहते हैं और उनकी प्रत्येक कोशिका की रचना मूल कोशिका की रचना के समान होती है।

कैंसर के दो भेद हैं : (१) धारिच्छदीय ऊतक (एपीथीलियल टिशू Epithelial tissue) में उत्पन्न होनेवाले घातक अर्बुद, जैसे श्लेष्मिक चोल, अधःश्लेष्मक चोल, लस्य चोल आदि, कारसिनोमा (Carcinoma) कहलाते हैं। (२) योजी ऊतकों (कनेक्टिव टिशू Connective tissue) में उत्पन्न होनेवाले घातक अर्बुद, जैसे कंकाल ऊतक, अंतरालित ऊतक, कास्थि ऊतक, पेशी-ऊतक, चेताऊतक, सारकोमा (Sarcoma) कहलाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शरीर में जितने प्रकार की ऊतकें हैं उतने ही प्रकार के कैंसर भी हैं।

सूक्ष्मदर्शी द्वारा कैंसर कोशिकाओं के अध्ययन से प्रत्येक की जाति पहचानी जा सकती है, जिससे भविष्य का ठीक ठीक अनुमान किया जाता है। इससे चिकित्सा की रीति चुनने में बड़ी सुविधा मिलती है।

कैंसर रोग कोशिकाओं के अनियमित तथा असीमित विभाजन की क्रिया है। जीवशरीर के प्रत्येक भाग में, जहाँ भी नियमित विभाजन से कोशिकावृद्धि होती रही है, वहाँ इस रोग की संभावना रहती है। वस्तुतः प्राणिवर्ग तथा वनस्पति वर्ग दोनों के ही सब सदस्यों में कैंसर पाया जाता है। वैसे तो कैंसर रोग स्त्री तथा पुरुष और सभी आयु, जाति, देश और समाज में विस्तृत है, फिर भी कई असमानताएँ प्रत्यक्ष हैं, जिनसे कैंसर के विस्तार की समस्या का अध्ययन हो सकता है—चीन निवासियों में नाक कान के कैंसर की तथा मलाया निवासियों में यकृत के कैंसर की अधिकता; जापान निवासियों में आमाशय के कैंसर के रोगियों की आयु में औरों से १० वर्ष की कमी; यहूदियों में जननेंद्रियों के कैंसर की न्यूनता, और विशेष उद्योग में विशेष प्रकार के कैंसर की अधिकता देखी जाती है। प्रश्न यह है कि इन विभिन्नताओं का महत्व तथा कारण क्या है ? क्या रोग अंशतः अथवा पूर्णतया वातावरण, वंश, रहन सहन, जलवायु आदि पर निर्भर है ?

यों तो घातक अर्बुद शिशु से लेकर वृद्ध तक किसी भी अवस्था के मनुष्यों में मिलता है, तथापि यह रोग मुख्यतः अधेड़ या वृद्धों में प्रायः ४० वर्ष की अवस्था में सबसे अधिक मात्रा में देखा जाता है। कुछ जातिविशेष के कैंसर विशेष अवस्था में मिलते हैं, जैसे ग्लायोमा रेटिना, (Glioma retina), विल्म ट्यूमर (Wilm's tumour) या एंब्रियोनल कारसिनोमा, (Embryonal corcinoma), न्यूरोब्लैस्टोमा (Neuroblastoma) बाल्यावस्था में; टेराटोमा (Teratoma) तथा सेमिनोमा (Seminoma) युवावस्था में; सारकोमा सभी अवस्थाओं में तथा यूविंग ट्यूमर बाल्यावस्था में आदि।

कैंसर रोग का कारण अभी तक ठीक ठीक ज्ञात नहीं हो सका है इस विषय में अध्ययन तथा अनुसंधान बहुत वेग से चल रहा है और उसमें सूक्ष्मदर्शी यंत्र तथा अब इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी यंत्र से बहुत सहायता मिल रही है। जोहन मुलर (Johnn Muller), वारशाव, राउस, शोप, यामाजीवा, इचिकावा, किन्नावे, वारवर्ग आदि विद्वानों की कैंसर संबंधी विभिन्न समस्याओं पर खोजें उल्लेखनीय हैं।

कैंसर के अध्ययन के लिये प्रयोगशाला में जंतुओं में कैंसर उत्पन्न करने तथा उसे बढ़ाने की रीति एवं साधन अपने वश में करना आवश्यक है। इसके अनेक साधन हैं :

(१) ऊतक संवर्धन—अनुकूल वातावरण में कैंसर के जीवित टुकड़ों को पूति अदूषित (ऐसेप्टिक) व्यवस्था में काटकर टेस्ट ट्यूब में, उचित पोषक पदार्थ में, उचित ताप पर उगाने से कैंसरकोशिकाएँ विभाजन द्वारा बढ़ने लगती हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर अध्ययन के लिये उपलब्ध होती हैं।

(२) कैंसर प्रवर्धकों का प्रयोग—कई रासायनिक द्रव्यों में ऐसी क्षमता है कि उनके प्रयोग द्वारा शरीर में कैंसर उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के पदार्थों को कार्सिनोजेन (Carcinogen) कहते हैं। त्वचा पर इनके लेप से, सूची द्वारा शरीर में प्रविष्ट करके, अथवा वायु में मिलाकर साँस द्वारा फुफ्फुस में पहुँचाने पर कुछ समय बाद कैंसर रोग प्रायः हो जाता है। इससे प्रयोगशाला में कैंसर का अध्ययन किया जा सकता है।

(३) चुने हुए जंतुओं की संतति—प्रयोगशाला में अंतर अभिजनन (Inter-breeding) तथा चयन अभिजनन (Selective breeding) के हेतु प्रायः चूहे तथा खरगोश के विशेष वर्ग लिए जाते हैं। इन अभिजनन रीतियों से ऐसे वंश उत्पन्न होते हैं जिनमें स्वयं कैंसर रोग उत्पन्न होने की स्वाभाविक क्षमता बड़ी मात्रा में हो जाती है। इनसे कैंसर संबंधी अध्ययन और अनुसंधान में बहुत सुगमता होती है।

(४) प्रतिरोपण (Transplantation)—किसी जंतु की जीवित कैंसरकोशिकाओं को उसी जाति के दूसरे जंतु के शरीर में उचित वातावरण में प्रतिरोपित कर देने से नए जंतु के अंग में कैंसरकोशिकाएँ विभजन क्रिया करने लगती हैं। इस रीति से भी कैंसरकोशिकाएँ प्रयोगशाला में इच्छानुसार उत्पन्न की जा सकती हैं।

कैंसर अनुसंधान के क्षेत्र में जिन दिशाओं में अध्ययन हो रहा है उनमें से मुख्य हैं : कोशिका की वाह्य तथा आंतरिक रासायनिक क्रिया के अध्ययन में स्टिरायड, कोष-हारमोन, कोष-प्रोटीन, कोष-विकार, विटामिन, रासायनिक ओषधियों का अध्ययन, जैसे नाइट्रोजन मस्टर्ड, विविध प्रकार के अंतःस्रावों का अध्ययन जैसे पीयूष-ग्रंथि-रस, अवटुका-ग्रंथि-रस तथा पौरुष-ग्रंथि-रस का प्रभाव, जीव-भौतिक-अध्ययन, भौतिक-रसायन-अध्ययन, विकिरण समस्थानिक पदार्थों के प्रभाव का अध्ययन, आदि।

एक सिद्धांत के अनुसार कैंसर के उद्गम का कारण किसी एक कोशिका का गुरुपरिवर्तन (Mutation) है; जिससे नवीन कोशिका की सब वंशज कोशिकाओं में यह दोषपरंपरा चलती रहती है। इस गुरुपरिवर्तित कोशिका की पहचान यह है कि इसके पित्र्य-सूत्र (जीन, Gene) की संख्या (स्मरण रहे कि पित्र्य-सूत्र पर ही वंशावली की विशेषता निर्भर रहती है) निर्धारित संख्या से भिन्न होगी, कोशिका का आकार, परिमाण और विशेष रंगों में रँग उठने की क्षमता बदल जायगी तथा कोशिका की रासायनिक संरचना में भिन्नता मिलेगी।

अनेक रोगियों का कहना है कि अर्बुद उत्पन्न होने से पूर्व उस स्थान पर चोट लगी थी। इसलिये चोट लगने तथा अर्बुद उत्पन्न होने में कुछ संबंध की संभावना अनुमान की जाती है, परंतु यह विषय भी अभी तक बहुत जटिल बना हुआ है। मुँह में चूना, सुपारी तथा तंबाकू रखने की आदत, टेढ़े पैने दाँतों से गाल में बहुत दिनों तक रगड़ लगकर व्रण होना, नकली दाँतों की दाब से, जो उचित प्रकार मसूड़ों पर नहीं बैठते हैं, मसूड़ों पर व्रण हो जाना, गर्भाशयग्रीवा, जिसमें बहुत समय तक व्रण बना हो, शिश्न, जिसकी त्वचा बहुत कसी हो या खुल न पाए, काश्मीरियों की अँगीठी जिसे वे छाती पर कपड़े के नीचे शरीर गरम रखने के लिये बहुधा रखते हैं और जिससे त्वचा बारंबार प्रायः जल जाती है, ऐसे उद्योग जिनमें विशेष खनिज तेल से कपड़े तर हो जाते हैं और शरीर का कोई अंग तेल से भीगा रहता है, इत्यादि कितनी ही ऐसी स्थितियाँ हैं जिनमें कैंसर रोग की संख्या बढ़ी हुई पाई जा रही है। इन सबका कैंसर से निकट संबंध है ऐसा परिलक्षित होता है। सन् १७७५ में परसीवल पॉट (Percivall Pott) ने अपना मत प्रकट किया था कि इंग्लैंड में अंडकोष कैंसर की संख्या चिमनी की सफाई करनेवालों में बहुत बड़ी मात्रा में इसलिये मिलती है कि इन मजदूरों की जाँघों में कोयले की गर्द भर जाती है। १९१८ में जापान के यामाजीवा तथा इचिकावा ने बताया कि खरगोश के कान पर बारबार अलकतरा लगाने से उस स्थान पर चर्मकैंसर उत्पन्न हो जाता है।

कई रासायनिक वस्तुएँ ऐसी है, जिनके प्रयोग से शरीर मे कैंसर उत्पन्न हो जाता है। यथा—बेंजोपाइरीन, डाइबेंजोऐंथ्राइमिन, मेथिल कोलेंथ्रिन आदि। इनकी रासायनिक रचना मे तथा कोलेस्ट्रोल और स्टिरायड हारमोनों की बनावट मे बहुत समानता है और इन हारमोनो के प्रयोग से प्रयोगशाला के पशुओ में कैंसर उत्पन्न किया गया है, जिससे इन पदार्थों का संबंध कैंसर से ज्ञात होता है। इसी प्रकार त्वचा पर, या शरीर के अन्य भाग पर, एक्सरे किरण, परानैंगनी किरण तथा गामा किरण के अधिक समय तक पड़ने पर प्राय उस स्थान पर कुछ समय के उपरात कैंसर उत्पन्न हो जाता है। एक्स-रे तथा रेडियम आविष्कार के तत्काल पश्चात्, जब इन किरणो का हानिकर प्रभाव ज्ञात नही था और इस कारण इनसे सुरक्षित रहने पर ध्यान नही दिया जाता था, एक्स-रे से काम करनेवाले कितने ही वैज्ञानिको तथा डाक्टरो का कुछ समय बाद कैंसर के कारण अत हुआ। परजीवी कीडो तथा वाइरसो को भी कैंसर का कारण समझा जाता है। इसी प्रकार आनुवंशिकता तथा स्तन के दूध द्वारा भी कैंसर उत्पत्ति का अश सतति तक पहुँचना सभव समझा जाता है। विविध ग्रंथिरसो तथा प्रकिण्वो का भी कैंसर उत्पत्ति से गहरा सबध माना जाता है।

अनेक उद्योगो मे कुछ ऐसे बाह्य तथा आतरिक कारण है जिनसे कैंसर उत्पन्न होने की सभावना है।

शरीर मे कभी कभी ऐसा रोग या असाधारण अवस्था देखी जाती है जिसका उचित व्यवस्था द्वारा निवारण न करने पर आगे चलकर कैंसर उत्पन्न हो जाता है, परतु उचित उपचार करने पर उसकी शका मिट जाती है। पित्ताशय की पथरी, जिह्वा तथा मुँह के भीतर की त्वचा का सूखा रहना, गर्भाशयग्रीवा मे शीघ्र न अच्छा होनेवाला व्रण, त्वचा पर मस्सा (वार्ट), इत्यादि कुछ ऐसी दशाएँ है जिनसे, यदि वे बलती रहे तो, कुछ दिनो बाद कैंसर होने की सभावना रहती है।

कैंसर मुख्यत युवावस्था के बाद ही उत्पन्न होता है। इसलिये उसके उत्पन्न होने की आयु तक मनुष्य अब अधिक सख्या मे जीवित रहने लगे है सभवत इसी लिये कैंसर के रोगियो की सख्या बढती जा रही है।

रोगनिदान मे आधुनिक साधनो की सुलभता के कारण रोग की पहचान अधिक सख्या मे होने लगी है, अन्यथा पहले कैंसर के रोगियो की मृत्यु का कारण अन्य रोग समझा जाता था तथा उसकी आलेखित मृत्युसख्या अल्प रहती थी।

कैंसर उत्पन्न होने पर, बहुत समय तक रोगी को कष्ट अनुभव नही हो पाता। रोग बिना कष्ट दिए बढता जाता है। इससे रोगी का ध्यान रोग की ओर आकृष्ट नही हो पाता। जब रोग के स्पष्ट लक्षण प्रकट होने लगते है तब पहले उस अग मे जिसमे विकार होता है (आगे चलकर आसपास की लसिकाओ, रक्तधमनियों, ग्रथियो तथा दूसरे अगो मे) अर्बुद के दबाव तथा प्रत सचरण के कारण प्राकृतिक क्रियाओ मे विकार उत्पन्न होने के लक्षण प्रकट होते है। पृथक् पृथक् अगो के लक्षण भी भिन्न भिन्न होते हैं।

त्वचा का कैंसर आरभ मे साधारण व्रण अथवा फोडे के रूप में उत्पन्न होता है। यह शीघ्र ठीक हो जाने के बदले नित्य प्रति बढता जाता है, दबाने से रक्त निकलता है, व्रण के किनारे कडे होकर बाहर उठ आते हैं और ग्रथियाँ बढने लगती है। प्रारभ के 'लक्षण' (काले चिह्न) आकार मे बढने लगते है।

जिह्वा के कैंसर मे जिह्वा मे व्रण या दरारे बन जाती है। आरभ मे वे पीडा नही देती, फिर भोजन निगलने मे अडचन होने लगती है। जिह्वा मोटी होती जाती है और उसे मुँह से बाहर निकालने अथवा हिलाने डुलाने मे असुविधा होती है। कान मे दर्द होता है और गले की ग्रथियाँ बढ जाती है।

कठ (लैरिक्स, Larynx) के कैंसर मे स्वर में भारीपन आ जाता है, फिर गला बैठ जाता है। साँस लेने मे कष्ट होता है, खाँसी का दौरा [illegible] है और दम घुटने लगता है।

फुफ्फुस के कैंसर मे खाँसी, दम फूलना, खाँसी मे रक्त आना, दुर्बलता और भार घटना मुख्य लक्षण है।

ग्रासनली के कैंसर मे भोजन निगलने मे अडचन अनुभव होती है। पहले तो सूखा तथा ठोस आहार निगलने मे, फिर कुछ समय बाद तरल पदार्थ निगलने मे भी अडचन होती है। इसलिये रोगी को पूरा पोषण नहीं मिल पाता और वह दुर्बल होने लगता है।

आमाशय के कैंसर मे रोगी का भार धीरे धीरे घटने लगता है। भोजन के बाद वमन हो जाता है तथा अजीर्ण रहता है।

गुदा के कैंसर मे बवासीर, मलत्याग के समय गुदा से रक्त आना तथा मरोड कभी कब्ज और फिर पतले दस्त मुख्य लक्षण है।

स्तन के कैंसर मे स्तन मे गाँठ उत्पन्न होकर धीरे धीरे बडी होने लगती है, चूचुक से तरल रस या रक्तमय रस निकलता है, दोनो स्तनो के आकार मे विभिन्नता आ जाती है। आरभ मे रोगी को कोई कष्ट नही अनुभव होता, रोग बढ जाने पर व्रण हो जाता है।

गर्भाशयग्रीवा के कैंसर मे अधिक रक्तस्राव, पीला रसस्राव, दुर्गंध, सभोग के बाद रक्तस्राव, सभोग के समय कष्ट, ये सब मुख्य लक्षण है।

पुरस्थग्रंथि के कैंसर मे मूत्रत्याग मे अवरोध होने लगता है, जो दिन प्रति दिन बढता जाता है। बार बार मूत्रत्याग की आवश्यकता तथा पेट मे पीडा इसके मुख्य लक्षण है।

शिश्न के कैंसर मे शिश्न का चमडा नही खुल पाता, व्रण या अर्बुद हो जाता है जो धीरे धीरे बढने लगता है छूने से रक्त आता है तथा व्रण के ओष्ठ फूलगोभी के समान फैलते हैं। धीरे धीरे लिंग विकृत हो जाता है और ऊरुसधि मे लसिकाग्रथि बढ जाती है।

कैंसर के नियत्रण का पहला चरण उसकी उत्पत्ति को रोकना है। उन प्रतिकूल वातावरणो पर नियत्रण रखना आवश्यक है जिनसे कैंसर उत्पन्न होने की सभावना का ज्ञान हो चुका है। विशेष उद्योगो मे, जिनमें कार्सिनोजेन रासायनिक या भौतिक वस्तुओ का उपयोग होता है, परिस्थितियो को यथासभव निरापद बनाना आवश्यक है। रेडियम लवण मिश्रित रगो से रँगाई, अति-धूम्रपान-निषेध, नकली दाँतो को ठीक बनाना, मस्से तथा पित्ताशय रोगो की उचित चिकित्सा, गर्भाशयग्रीवा के व्रण या शोथ की चिकित्सा, शिश्न के कसे चमडे को काटना, मुँह मे चूना, तबाकू तथा सुपारी न रखना इत्यादि उपयोगी है।

कैंसर उत्पन्न हो जाने पर रोग की उचित चिकित्सा तुरत होनी चाहिए, अन्यथा रोग असाध्य हो जाता है। यदि अर्बुद छोटा हो और ऐसे भाग मे उत्पन्न हो कि शल्यक्रिया द्वारा कैंसर का पूरा भाग, आसपास के थोडे स्वस्थ भाग के साथ काटकर निकाला जा सके, तब शल्यचिकित्सा मुख्य विधि होगी। आधुनिक साधनो द्वारा गुर्दा, फुफ्फुस, गर्भाशय, स्तन, गुदा, अडकोश, शिश्न ग्रासनली इत्यादि मे शल्यक्रिया सभव है।

कैंसर मे एक्स-रे, रेडियम तथा रेडियो-आइसोटोपो द्वारा बहुधा चिकित्सा की जाती है। एक्स-रे तथा रेडियम अथवा आइसोटोपो से निकली रश्मियो मे यह गुण है कि उचित मात्रा मे इनके प्रयोग से कैंसरकोशिकाओ की या तो मृत्यु हो जाती है, या उनका विभाजन रुक जाता है। इससे रोग या तो सर्वदा के लिये मिट जाता है, या बहुत समय के लिये दब जाता है। सभी वर्ग की कैंसरकोशिकाओ पर इन रश्मियो का नाशकारी प्रभाव एक समान नही होता। जिन कैंसरकोशिकाओं पर इन रश्मियो का नाशकारी प्रभाव अधिक मात्रा मे होता है उनसे उत्पन्न रोगो मे रश्मिचिकित्सा अधिक फलदायक होती है। परतु कई प्रकार के व्रणो पर इन रश्मियो का प्रभाव तनिक भी नही होता। ये रश्मियाँ पडोस के सामान्य कोशिकाओ पर भी हानिकर प्रभाव डालती है, जिससे इस बात का ध्यान सर्वदा रखना आवश्यक है कि कैंसरकोशिकाओ का नाश करने की चेष्टा में स्वस्थ कोशिकाओं का भी नाश अधिक न हो।

शल्यक्रिया द्वारा अर्बुद को काट फेंकने और घाव के भर जाने के उपरात भी रश्मिचिकित्सा कराते रहना आवश्यक है। इसका उद्देश्य है

कैंसर की उन जड़ों को जो शल्यक्रिया के बाद भी अंग में बच रही हों, रश्मिचिकित्सा से नष्ट कर दिया जाय। जब रोग अधिक बढ़ जाता है तब शल्यक्रिया की संभावना नहीं रह जाती और रश्मिचिकित्सा ही मुख्यतः बच जाती है। इसी प्रकार जब कैंसरकोशिकाएँ दूसरे अंगों में प्रकट हो जाती हैं तब रश्मिचिकित्सा तथा रासायनिक द्रव्यों का ही सहारा लिया जा सकता है, यद्यपि इनसे क्षणिक ही लाभ होता है। कैंसर की चिकित्सा में कुछ विशेष हारमोनों का भी उपयोग होता है, जैसे टेस्टोस्टिरोन, ईस्ट्रोजेन, नाइट्रोजन-मस्टर्ड इत्यादि।

रोगी की मानसिक शांति, शारीरिक शक्ति, उचित निद्रा, पीड़ानिवारण, उचित पोषण आदि पर यथोचित ध्यान रखना भी चिकित्सा का अनिवार्य अंग है।

सं०ग्रं०—एल० वी० एकरमैन ऐंड जे० ए० डी० रिगेटो : कैंसर डायग्नोसिस, ट्रीटमेंट ऐंड प्रॉग्नोसिस; ओबरलिंग : दि रिडिल ऑव कैंसर; बरनार्ड ऐंड रॉव स्मिथ : केटल्स पैथॉलोजी ऑव ट्यूमर्स।

(उ० शं० प्र०)

कैकूवाद तुर्क वंश का दिल्ली सुलतान। गयासुद्दीन बलबन का पौत्र जो उसकी मृत्यु के पश्चात् १२८६ ई० में १८ वर्ष की अवस्था में दिल्ली का सुलतान बना। विलासी होने के कारण वह शीघ्र ही दरबार के षड्यंत्रों का शिकार हुआ। १२८८ ई० में जलालुद्दीन खिलजी ने उसकी हत्याकर गद्दी पर अधिकार कर लिया। (प० ला० गु०)

कैकेयी (१) सामान्य अर्थ में केकय देश की राजकुमारी। तदनुसार महाभारत में सार्वभौम की पत्नी, जयत्सेन की माता सुनंदा को कैकेयी कहा गया है। इसी प्रकार परीक्षित के पुत्र भीमसेन की पत्नी, प्रतिश्रवा की माता कुमारी को भी कैकेयी नाम दिया गया है।

(२) रूढ़ एवं अति प्रचलित रूप में यह केकय देश के राजा अश्वपति की कन्या एवं कोसलनरेश दशरथ की कनिष्ठ किंतु अत्यंत प्रिय पत्नी का नाम है। इसके गर्भ से भरत का जन्म हुआ था। जब राजा दशरथ देव-दानव युद्ध में देवताओं के सहायतार्थ गए थे तब कैकेयी भी उनके साथ गई थी। युद्ध में दशरथ के रथ का धुरा टूट गया उस समय कैकेयी ने धुरे में अपना हाथ लगाकर रथ को टूटने से बचाया और दशरथ युद्ध करते रहे। युद्ध समाप्त होने पर जब दशरथ को इस बात का पता लगा तो प्रसन्न होकर कैकेयी को दो वर माँगने को कहा। कैकेयी ने उसे यथासमय माँगने के लिये रख छोड़ा। जब राम को युवराज बनाने की चर्चा उठी तब मंथरा नाम्नी दासी के बहकावे में आकर कैकेयी ने दशरथ से अपने उन दो वरों के रूप में राम के लिये १४ वर्ष का वनवास और भरत के लिये राज्य की माँग की। तदनुसार राम वन को गए पर भरत ने राज्य ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया, माता की भर्त्सना की और राम को लौटा लाने के लिये वन गए। उस समय कैकेयी भी उनके साथ गई।

एक अनुश्रुति यह भी है कि केकयनरेश ने दशरथ के साथ कैकेयी का विवाह करते समय दशरथ से वचन लिया था कि उनका दौहित्र, कैकेयी का पुत्र राज्य का अधिकारी होगा।

(चं० भा० पां०; प० ला० गु०)

कैक्सटन, विलियम (१४२२–१४९१ ई०) मुद्रण के आधुनिक साधनों को व्यवस्थित रूप देनेवाला प्रथम मुद्रक। इसका जन्म इंग्लैंड के वील्ड ऑव केंट प्रदेश में कहीं हुआ था। संभवतः १४३८ में ये रॉबर्ट लार्ज के पास प्रशिक्षार्थी के रूप में गए और लार्ज की मृत्यु के उपरांत १४४१ से १४६६ तक विविध व्यावसायिक कार्यों में लगे रहे। इस बीच उन्होंने रुओल ले फेवर लिखित ट्रॉय के सुप्रसिद्ध मध्ययुगीन रोमांस, 'द रिकाल ऑव द हिस्ट्री ऑव ट्रॉय' का फ्रांसीसी भाषा से अँगरेजी में अनुवाद किया। तत्पश्चात् उन्होंने ब्रगेस में कालर्ड मैंशन की साझेदारी में एक प्रेस की स्थापना की, और अपनी पहली अनूदित पुस्तक 'द रिकाल' का मुद्रण किया। १४७६ में कैक्सटन ने इंग्लैंड आकर अपना प्रेस लगाया। और १३ दिसंबर, १४७६ को वहाँ से उनका अपना पहला प्रकाशन 'इंडल्जेंस' छपा। इंग्लैंड में मुद्रित होनेवाली पहली पुस्तक लार्ड रिवर्स कृत 'द डिक्टम्स ऐंड सेइंग्ज ऑव द फ़िलासफ़र्स' का अनुवाद था जिसे कैक्सटन ने स्वयं संशोधित करके मुद्रित किया था।

इस समय से लेकर मृत्यु पर्यंत कैक्सटन लेखन और मुद्रण के कार्य में व्यस्त रहे। साहित्यिक प्रतिभा के साथ साथ उनमें व्यावसायिक बुद्धि भी थी। उन्होंने 'द बुक ऑव द हिस्ट्री ऑव जेसन' (१४७७), 'द हिस्ट्री ऑव रिनाल्ट द फाक्स' (१४८१), 'द लाइफ़ ऑव चार्ल्स द ग्रेट' (१४८५), 'द सीज ऐंड कांक्वेस्ट ऑव जुरूसलम' (१४८१), 'ब्लैंकर्डिन ऐंड इग्लैंटाइन' (१४८९) आदि अनेक पुस्तकों का स्वयं उन्होंने फ्रेंच आदि भाषाओं से अनुवाद किया था। मुद्रक के रूप में उनका कार्य १८००० पृष्ठों का है।

कैक्सटन के प्रेस का सबसे सुंदर प्रकाशन कदाचित् 'गोल्ड लीजेंड्स" है, जो १३वीं शती के मुख्यतया फ्रेंच और अंग्रेज संतों की प्रेरणाप्रद कथाओं पर आधारित था। उसमें ७० वुडकट डिजाइन थे। कैक्सटन ने अपने प्रेस में जिन टाइपों का प्रयोग किया था, उनके नमूनों का संग्रह ब्रिटिश म्यूजियम तथा कैंब्रिज विश्वविद्यालय में है। कैक्सटन द्वारा मुद्रित पुस्तकों पर टाइटिल पेज नहीं थे। १४८४ के बाद छपी उनकी पुस्तकों में ऊपर नीचे सज्जात्मक बार्डर होता था और बीच में 'डब्ल्यू. सी.' ट्रेड मार्क अंकित रहता था। उनके उल्लेखनीय मौलिक कार्य 'पोलिक्रोनिकोन' (द रोल्स सीरीज़ एडीशन, खंड ८) में संमिलित हैं। (वि०)

कैटभ, मधु-कैटभ मधु और कैटभ नामक दो राक्षस जिनकी उत्पत्ति कल्पांत तक सोते हुए विष्णु के दोनों कानों से हुई थी। जब वे ब्रह्मा को मारने दौड़े तो विष्णु ने उन्हें नष्ट कर दिया। तभी से विष्णु को मधुसूदन एवं कैटभजित् कहते हैं। मार्कंडेय पुराण के अनुसार कैटभ का नाश उमा द्वारा हुआ था जिससे उन्हें कैटभा कहते हैं। हरिवंश पुराण की अनुश्रुति है कि इन दोनों राक्षसों की मेदा के ढेर के कारण पृथ्वी का नाम मेदिनी पड़ गया। (रा० द्वि०)

कैटलाग ऐसी सूची या नामावली जिसमें व्यक्तियों, वस्तुओं आदि की प्रविष्टियाँ (एंट्रीज) साधारणतः विषयानुक्रम, अक्षरानुक्रम अथवा अन्य किसी ऐसे क्रम के अनुसार हो जिससे पाठक उनका उपयोग सुविधा और सरलतापूर्वक कर सकें। संग्रहालयों, पुस्तकालयों आदि के संग्रहों की सूची को मुख्यरूप से कैटलाग कहते हैं। उनके नियोजन और संयोजन के लिये अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं उसने एक स्वतंत्र विज्ञान का रूप धारण कर लिया है। (विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य **पुस्तकालय** शीर्षक लेख)।

आजकल औद्योगिक और व्यावसायिक भी अपनी वस्तुओं के प्रसार और प्रचार के लिये कैटलाग का प्रयोग करते हैं। वह विज्ञापन का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। वांछित गति से और निश्चित मूल्य पर विभिन्न उत्पादन सामग्री का विक्रय करते रहना उद्योगों के सफल संचालन के लिये अनिवार्य है। एतदर्थ आकर्षक रूप में प्रस्तुत और ठीक ढंग से वितरित कैटलागों की विशेष महत्ता है। (शं० ना० वा०)

कैटादिन संयुक्त राज्य, अमरीका के उत्तरपूर्व सीमांत पर मेन राज्य के मध्य भाग में पिस्कैटाक्वाँइस जनपद के अंतर्गत स्थित पर्वत जिसकी ऊँचाई ५,२६८ फुट है। यह पूर्णतया ग्रेनाइट चट्टानों से निर्मित है और कई भागों में नग्न पत्थर सतह पर उभर आए हैं। बाहर की ओर चट्टानों के टूटने फूटने से पर्वत विदीर्ण एवं बीहड़ सा लगता है। शिखरांचल पर लाइकेन तथा तज्जातीय छोटे पौधे उगते हैं। इसके दो ढाई हजार फुट नीचे बर्च आदि जाति के छोटे पौधे मिलते हैं। ऊँचाई से देखने पर सारा पर्वतक्षेत्र शंक्वाकार ग्रेनाइट शिखर एवं मध्यांचलों में प्रवाहित छोटी बड़ी नदियाँ तथा झीलें बहुत ही मनोरम दृश्य उपस्थित करती हैं। शिखरांचल में ग्रेनाइट चट्टानों के ऊपर कहीं कहीं ट्रैप (Trap boulders) तथा अन्य चट्टानें मिलती हैं जिनमें बलुआ पत्थर प्रमुख है। सारा पर्वतप्रांत बीहड़ एवं दुर्गम है और केवल पेनॉब्स-

कांट नदी एकमात्र मार्ग प्रदान करती है, इसमें भी बालू के ढूहे एवं प्रपात इत्यादि हैं। प्राकृतिक सौंदर्य एवं बीहड़ता के कारण कैटादिन पर्वत प्रांत तथा आसपास के क्षेत्रों को १९३१ ई० में राष्ट्रीय बाग (National park) का रूप दे दिया गया है। (का० ना० सिं०)

कैटालोनिया स्पेन (यूरोप) का सर्वाधिक समुन्नत क्षेत्र (क्षेत्रफल १२,४२७ व० मी० एवं जनसंख्या ३२,४०,०००, (१९५७) है। इसके उत्तर में फ्रांस, दक्षिण में वालेंशिया प्रदेश, पूरब में भूमध्यसागर एवं पश्चिम में ऐरागॉन का प्रदेश है। इसके अंतर्गत बारसेलोना, टैरागोना, लेरिडा एवं हरोना (Gerona) प्रांत है। इसके उत्तरी भाग में लगभग १०,००० फुट ऊँची पीरेनीज पर्वतश्रेणियाँ फैली हैं दक्षिणी भाग में कादी, मोंटसेनी गवारॉस मोंटसेक, मोंटमेरॉट, लिना (Liena), मोंटसेंट एवं प्रेड्स आदि पर्वतश्रेणियाँ फैली हुई हैं। इन पर्वतमालाओं के बीच अनेक छोटी एवं उपजाऊ घाटियाँ हैं। दक्षिणपश्चिमी भाग में अपूरदान एवं लेरिडा के मैदान हैं जिसमें एब्रो और उसकी सहायक सेग्र, फ्लूविया, टेर, लोबेगाट, फ्रांकोली आदि नदियाँ हैं। पूर्व में २४० मील लंबा भूमध्यसागर का तटीय भाग है जिसमें मनोरम अंतरीप, खाड़ियाँ, भृगु (cliff) आदि मिलते हैं।

इस भूभाग में जौ, गेहूँ, राई, सन, अंगूर एवं अन्य फलों तथा चावल (डेल्टाई भागों में) की कृषि मुख्य है। पर्वतांचलों में पशुओं एवं भेड़ बकरियों का पालन मुख्य धंधा है। लोहा, कोयला, नमक, पोटाश एवं अन्य खनिज पदार्थों की उपलब्धि के कारण लौह इस्पात इंजीनियरी, सूती और ऊनी वस्त्र एवं कागज आदि के कारखाने भी हैं। (का० ना० सिं०)

कैडमियम नीली आभायुक्त, चमकदार, सफेद धातु। हवा में रखने से सतह की चमक स्थिर नहीं रहती, धुँधली हो जाती है। हाइड्रोजन प्रवाह में आसवन से रजत जैसी सफेद मणिभीय धातु प्राप्त होती है। धातु को मोड़ने पर टिन की भाँति चरचराहट होती है। साधारण तापपर यह नरम रहती है और पीटकर चादरें अथवा खींचकर पतले तार बनाए जा सकते हैं, परंतु गरम करने पर यह भुरभुरी हो जाती है। धातु का द्रवणांक ३२०.९° सें०, पिघलने पर उष्मा १३.६६ कैलॉरी (१५° सें०) ग्राम है। द्रव कैडमियम का वायुमंडलीय दबाव पर क्वथनांक ७६७° ± २° सें० है। हवा में गरम करने पर कैडमियम ऑक्सिजन से क्रिया कर आक्साइड बनाता है जो धातु की सतह को ढक लेता है और अधिक ताप पर इसी क्रिया में कैडमियम आक्साइड का भूरा सफेद धुआँ प्राप्त होता है। वैसे तो साधारण ताप पर पानी से इसकी क्रिया नहीं होती, परंतु धातु का बाष्प पानी की भाप से संयुक्त होता है। हाइड्रोक्लोरिक, सल्फ्यूरिक तथा नाइट्रिक अम्ल अथवा विलयन में हैलोजन से कैडमियम की प्रत्यक्ष क्रिया होती है, जिससे तत्संबंधी लवण प्राप्त होते हैं। इसकी खोज तथा नामकरण एफ० स्ट्रॉमेयर (F Stromeyer) ने १८१७ ई० में किया था।

साधारणतया यह जस्ते के खनिज (जिंक कार्बोनेट) से प्राप्त हल्के पीले रंग के आक्साइड में पाया जाता है और वह कैडमियम सल्फाइड के रूप में रहता है। उसमें इसकी मात्रा ३ प्रतिशत से अधिक नहीं रहती। ग्रीनोकाइट (Greenockite) नामक खनिज में यह विशेष मात्रा में पाई जाती है। जस्ते के आसवन से भभके के शंकुओं अथवा उपयोजकों (adapters) में जो धूल प्रथम तीन या चार घंटे में एकत्र होती है उसी में कैडमियम रहता है। इस धूल को कोयले के साथ भभके में बारबार गरम करने पर आक्साइड के अवकरण से धातु प्राप्त होती है। विलयन से जस्ते के द्वारा अवक्षेप के रूप में, अथवा विद्युद्विश्लेषण द्वारा, कैडमियम धातु प्राप्त की जा सकती है, जिसके धोने और सुखाने से शुद्ध धातु प्राप्त होती है।

कैडमियम का उपयोग मिश्रधातु बनाने में होता है। ताँबे के साथ ०.८-१% कैडमियम मिलाने से ताँबे की विद्युच्चालकता कम हो जाती है, यांत्रिक क्षमता अत्यधिक बढ़ जाती है। फलतः ट्राली (trolly) । अन्य विद्युत् कार्यों के लिये तार बनाने में यह अति उत्तम होता है। रजत तथा कैडमियम से प्राप्त मिश्रधातु सिक्के, बर्तन या सजावट की अन्य वस्तुएँ बनाने में उपयुक्त होती है। इनपर अच्छी पॉलिश चढ़ती है और चमक भी अधिक टिकाऊ होती है। उच्च द्रवणांक तथा अधिक घर्षणावरोध के गुण होने के कारण निकल कैडमियम बेयरिंग की मिश्रधातु से मशीनों के विशेष पुर्जे क्रैंक शाफ्ट (crank-shaft) आदि, बनाए जाते हैं। इसी प्रकार बहुत सी अन्य मिश्रधातुओं में कैडमियम की थोड़ी मात्रा होने पर उनमें विशेष गुणपरिवर्तन होते हैं और वे विविध कार्यों के लिये अधिक उपयुक्त हो जाती हैं।

कैडमियम हाइड्राक्साइड, कार्बोनेट अथवा नाइट्रेट के उष्माविघटन से कैडमियम का भूरा आक्साइड चूर्ण रूप में प्राप्त होता है। यह समाक्षारीय आक्साइड होता है और अम्लों से शीघ्रतापूर्वक लवण बनाता है। कैडमियम के किसी विलेय लवण के विलयन में क्षार हाइड्राक्साइडों से कैडमियम हाइड्राक्साइड [$Cd(OH)_2$] का सफेद अवक्षेप प्राप्त होता है। ऐमोनिया से संकीर्ण लवण के कारण अवक्षेप घुल जाता है।

इसके महत्व के लवण सल्फाइड, सल्फेट, क्लोराइड, कार्बोनेट, नाइट्रेट और सायनाइड हैं। सल्फाइड पीतवर्णक और इनैमल के रक्तवर्णक के रूप में, सल्फेट मानक विद्युत् सेलों में, सायनाइड विद्युत्-आवरण (Electroplating) में उपयुक्त होते हैं। कैडमियम के अनेक युग्म या संकीर्ण लवण बनते हैं। कैडमियम कार्बधात्विक यौगिक भी बनाता है। कैडमियम लवणों से पीत सल्फाइड के अवक्षेप बनने के कारण यह पहचाना जाता है। यह अवक्षेप ठंढे तनु विलयनों में अविलेय होने से वंग और आर्सेनिक से कैडमियम का विभेद किया जा सकता है।

सं०ग्रं०—जे० एफ० थॉर्प और एम० ए० व्हाइटले : थॉर्प्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री; जे० आर० पारटिंगटन : ए टेक्स्ट बुक ऑव इनऑर्गैनिक केमिस्ट्री (१९५०)। (वि० वा० प्र०)

कैथरीन (इंग्लैंड की महारानी)। (१) हेनरी पंचम की पत्नी और फ्रांस के चार्ल्स षष्ठ की पुत्री। हेनरी पंचम जब प्रिंस ऑव वेल्स के रूप में युवराज थे, उन दिनों हेनरी चतुर्थ ने उनका विवाह इसकी दो बड़ी बहनों से करना चाहा पर जब वह संभव न हो सका तब १४१३ ई० में इससे विवाह की चर्चा चली। इसी बीच हेनरी पंचम स्वयं राजा हो गए। तब उन्होंने विवाह प्रस्ताव के साथ साथ दहेज के रूप में भारी रकम तथा नारमंडी और फ्रांस के कतिपय प्रदेशों को लौटाए जाने की माँग की जिसे फ्रांस नरेश ने स्वीकार नहीं किया। फलतः दोनों देशों के बीच युद्ध छिड़ गया। २ जून, १४२० को संधि होने पर हेनरी के साथ कैथरीन का विवाह संपन्न हुआ और उसने एक पुत्र को जन्म दिया जो हेनरी षष्ठ के नाम से शासक हुआ। अगस्त, १४२२ ई० में हेनरी पंचम की मृत्यु के बाद पार्लमेंट के विरोध के बावजूद उसने ओवेन ट्यूडर से विवाह कर लिया। १४३६ ई० में जब ट्यूडर बंदी कर लिया गया तो कैथरीन बर्माडसे के मठ में चली गई। वहीं ३ जनवरी, १४३७ ई० को उसकी मृत्यु हुई। ट्यूडर से कैथरीन को तीन बच्चे हुए जिनमें ज्येष्ठ एडमंड, रिचमंड के अर्ल हुए और वे हेनरी सप्तम के पिता थे।

(२) हेनरी अष्टम की पत्नी जो स्पेन नरेश फर्डिनेंड की पुत्री थी। १५०१ ई० में वे स्पेन से इंग्लैंड आईं और हेनरी सप्तम के ज्येष्ठ पुत्र आर्थर से उनका विवाह हुआ। २ अप्रैल, १५०२ को जब युवराज की मृत्यु हो गई तो उनका पुनर्विवाह पोप की अनुमति से उनके ही देवर हेनरी से होना निश्चित हुआ किंतु विवाह तत्काल न हो सका। स्पेन नरेश ने विवाह में जो कुछ देना स्वीकार किया था उससे मुकरने लगा और हेनरी सप्तम ने नई नई शर्तें रखना शुरू किया। इस प्रकार कैथरीन राज की राजनीति की शिकार हुई और उसे तरह तरह की यंत्रणाएँ सहनी पड़ीं। हेनरी सप्तम की मृत्यु के पश्चात् ही हेनरी अष्टम से ११ जून १५०९ ई० को उसका विवाह हुआ। आरंभ में तो दोनों का दांपत्य जीवन सुखद रहा, पर शीघ्र ही राजनीति उसके आड़े आई। उसके विवाहविच्छेद के अनेक प्रयास किए गए और २३ मई, १५३३ को आर्कबिशप क्रैंमर ने उसके विवाह को अवैध घोषित किया और १० अगस्त को वह रानी के पद से

वंचित कर दी गई। हेनरी अष्टम ने एनी बोलेन नामक महिला से विवाह कर लिया। फलतः कैथरीन धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगी। साथ ही आजीवन वह अपने विवाह की अवैधता तथा एनी बोलेन के शिशु के राज्याधिकार की वैधता स्वीकार कर लेने से इनकार करती रही। फलतः उसे मार डालने की धमकी दी जाने लगी और उससे उसकी बेटी मेरी छीन ली गई और उसके सारे वाह्य सपर्क बंद कर दिए गए। फलतः उसका स्वास्थ्य खराब हो गया और ८ जनवरी, १५३६ को उसकी मृत्यु हुई।

(३) इंग्लैंड नरेश चार्ल्स द्वितीय की पत्नी और पुर्तगाल नरेश जान चतुर्थ की पुत्री। इस विवाह का उपयोग पुर्तगाल और इंग्लैंड के बीच अच्छे संबंध बनाने के लिये किया गया था। २३ जून, १६६१ ई० को यह विवाह सपन्न हुआ जिसके परिणामस्वरूप इंग्लैंड को टैंजियर और बंबई के पुर्तगाली प्रदेश, पुर्तगाल में व्यापार की तथा धर्म संबंधी कतिपय सुविधाएँ प्राप्त हुई। साथ ही लगभग ३ लाख पाउंड नकद प्राप्त हुए। बदले में इंग्लैंड ने स्पेन के विरुद्ध सैनिक सहायता देना स्वीकार किया; पर इस विवाह से कैथरीन को दांपत्य सुख प्राप्त न हो सका। अनेक बार उसके परित्याग के प्रयास हुए यद्यपि वे सफल न हुए। चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् कुछ दिनों वह इंग्लैंड रही तदनंतर १६९२ में वह लिस्बन चली गई। वहाँ रहते हुए उसने पुर्तगाल और इंग्लैंड के राजनीतिक संबंध दृढ़ करने का प्रयास किया। १७०४ ई० में जब उसके भाई पुर्तगाल नरेश पेडरो द्वितीय बीमार पड़े तो वह पुर्तगाल के शासन की संरक्षिका बनाई गई और उसके इस शासनकाल में पुर्तगाल को स्पेन के विरुद्ध अनेक सफलता मिली। ३१ दिसंबर, १७०५ को उसकी मृत्यु हुई। मरते समय उसने अपनी सारी अर्जित संपत्ति अपने भाई को वसीयत कर दी थी। (प० ला० गु०)

कैथरीन (फ्रांस की महारानी) मूलतः इटालियन, जिसकी बचपन में माता पिता के मर जाने के कारण शिक्षा दीक्षा एक मठ में हुई थी। राजनीतिक कारणों से १४ वर्ष की अवस्था में ही १५३३ ई० में उसका विवाह ओर्लियन के ड्यूक से हुआ जो पीछे हेनरी द्वितीय के नाम से शासक हुए। जब दस बरस तक उसे कोई संतान नहीं हुई तो राजदरबार में तलाक की चर्चा होने लगी थी पर शीघ्र ही संतानवती होने पर बात दब गई। १५५२ ई० में जब हेनरी को मेत्स के युद्ध में जाना पड़ा तो सीमित अधिकारों के साथ वह राज की अभिभाविका बनाई गई और वह अपने बेटे फैंसिस द्वितीय के शासक होने के बाद भी अभिभाविका बनी रही। १५६० में फ्रैंसिस की मृत्यु हो जाने पर अपने द्वितीय पुत्र चार्ल्स नवम की ऊनवयस्कता की अवधि में वह उसकी संरक्षिका (रीजेंट) रही और धर्मयुद्ध के बीस बरसों के बीच उसने अपना प्रभुत्व बनाए रखा। आरंभ में उसने कैथोलिक और प्रोटेस्टेंटों के बीच हो रहे संघर्ष में अपने को तटस्थ बनाए रखने की चेष्टा की। पर स्वभाव से कैथोलिक होने तथा शक्तिलिप्सा के कारण उसने प्रोटेस्टेंटों को शक्तिशाली होने से रोकने का प्रयास किया किंतु उन्हें अपने दाँवपेंच को बनाए रखने के लिये कुचला भी नहीं। किंतु उसकी कतरब्योंत की यह नीति सफल न हो सकी और एक के बाद एक गृहयुद्ध होते गए। चार्ल्स की मृत्यु के पश्चात् उसका प्रभाव घटता गया। ५ जनवरी, १५८९ को उसकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

कैथरीन (रूस की जारीना-साम्राज्ञी) (१) (१६८३-१७२७ ई०)। लियूनिया निवासी किसान की बेटी। इसका नाम मार्था था। बचपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने पर वह एक पादरी के यहाँ नौकरानी हो गई और एक स्वीडन निवासी से विवाह कर लिया। स्वीडन-रूस युद्ध के समय वह युद्धबंदी बनाई गई और रूसी राजकुमार मेंशिकोफ के हाथ बेच दी गई। मेंशिकोफ के घर रूस के जार पीतर, जो महान् कहे जाते है, आते जाते थे। वे मार्था पर आसक्त हो गए और अपनी पत्नी यूडोक्सिया को तलाक देकर उससे विवाह कर लिया और उसका नया नामकरण कैथरीन अलेक्जेयेव्ना किया गया। कैथरीन पीतर की अनिवार्य सहयोगिनी बन गई और युद्धों में भी उसके साथ रही। जब कभी जार और उसके मंत्रियों में मतभेद होता तो वह मध्यस्थ होती थी। १७२२ ई० में वह पीतर की उत्तराधिकारिणी बनाई गई और १७२४ में वह जारीना (साम्राज्ञी) घोषित की गई और पीतर की मृत्यु के बाद उसने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। पूर्णतया निपढ़ होने पर भी वह असाधारण बुद्धिमती, गंभीर और मृदु स्वभाव की थी और उसने योग्यतापूर्वक शासन किया। १६ मई, १७२७ को उसकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

(२) कैथरीन महान् के नाम से विख्यात जारीना (साम्राज्ञी)। (१७२९-१७९६ ई०)। इसका वास्तविक नाम सोफ़िया आगस्टा फ्रेडरिक था और इसका जन्म २ मई, १७२९ को स्टेटिन में हुआ। पिता का नाम क्रिश्चियन आगस्टस और माता का जोहन्ना एलिजाबेथ था। पिता प्रशा के सेनानायक थे। १७४४ ई० में इसे रूस ले जाया गया ताकि इसका विवाह साम्राज्ञी एलिजाबेथ के भतीजे पीतर से, जो राज्य का उत्तराधिकारी भी था, कर दिया जाय। यह विवाह राजनीतिक था। प्रशा तथा रूस का राजनीतिक गठबंधन दृढ़ और आस्ट्रिया की शक्ति कम करने की दृष्टि से इसका विवाह २१ अगस्त, १७४५ को साम्राज्ञी एलिजाबेथ के भतीजे पीतर से हुआ। कैथरीन स्वभाव से चतुर तथा महत्वाकांक्षिणी थी और अपने को रूस की साम्राज्ञी बनाना चाहती थी। इसी कारण उसने इच्छा न होते हुए भी पीतर से विवाह करना स्वीकार किया था। पीतर की व्यक्तित्वहीनता के कारण उसका दांपत्य जीवन सुखी न था। फलतः उसने अपना ध्यान गहन अध्ययन की ओर लगाया। वोल्तेयर की रचनाओं का अध्ययन एवं उससे पत्रव्यवहार भी किया। इस अध्ययन से उसे मानव प्रकृति को समझने तथा मनुष्य की निर्बलताओं को पहचानने की क्षमता आ गई और वह खुशामद की कला में पारंगत हो गई। परिस्थिति ने भी अभिलाषाओं को पूरा होने में उसकी सहायता की।

१७६२ में साम्राज्ञी एलिजाबेथ के स्वर्गवास के उपरांत पीतर जार हुआ। राज्य हाथ में आते ही पीतर ने चर्च का अपमान किया, कैथरीन को तलाक देने की धमकी दी और इसी प्रकार के अन्य अनेक विवेकहीन कार्य किए जिससे रूसी जनता अप्रसन्न हो गई। पीतर को पदच्युत कर दिया गया और कैथरीन जारीना घोषित की गई। जारीना घोषित हो जाने के पश्चात् ही कैथरीन ने प्राचीन धर्म की रक्षा करने तथा रूस को वैभवशाली बनाने की घोषणा की। पीतर को रोपचा भेज दिया गया जहाँ उसकी मृत्यु हो गई। रूस की सत्ता पूर्ण रूप से अब कैथरीन के हाथ में आ गई। उसने संकल्प किया कि वह रूसी समाज को बर्लिन तथा पेरिस के समाज की भाँति ही सभ्य तथा सुसंस्कृत बनाएगी। उसने सदैव राज्य का हित सर्वोपरि रखा। इसी भाव से प्रेरित होने के कारण उसे पुस्तकों के अध्ययन में विशेष रुचि रही। ब्लैकस्टन की कृति 'कमेंटरीज' का उसने गहरा अध्ययन किया। प्रातः पाँच बजे उठकर वह अपना कार्य प्रारंभ कर देती और औसतन १५ घंटे काम करती थी। वह फ्रांसीसी सभ्यता की पोषक थी और उसको उसने प्रोत्साहित किया।

कैथरीन फ्रेंच विश्वकोश के निर्माताओं, विशेषकर वोल्तेयर और दिदेरो, की शिष्या थी और रूसी जीवन में सुधार करना चाहती थी। कृषिदासता को उसने कम करना चाहा परंतु अपने शासनकाल में सफल न हो सकी। १७६५ ई० में उसने लॉक की योजना के आधार पर शिक्षाक्षेत्र में नए प्रयोग का श्रीगणेश किया; एक नई विधिसंहिता तैयार करने के लिये एक आयोग की स्थापना की जिसका कार्य आंतरिक सुधार के विषय में परामर्श देना था। उसने जो निर्देश इस आयोग को दिए वे मोंतेस्क्यू तथा बेकारिया की कृतियों पर आधारित थे। रूसी जनता ऐसे सुधारों के लिये तैयार न थी, अतः उसका विरोध हुआ। किसानों की दशा भी बिगड़ गई जिसके कारण विद्रोह होने लगे। इसी समय तुर्की से युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध से निवृत्त होने तथा वोल्गा में विद्रोह के दमन के पश्चात् कैथरीन ने पुनः अपना ध्यान 'विधिसंहिता' तैयार करने की ओर लगाया। मुख्य अधिनियमों के लिये उसने स्वयं सामग्री प्रस्तुत की। परंतु उसके इन सब सुधारों का विरोध हुआ और प्रगतिशील वामपक्ष ने नई नई माँगें प्रस्तुत कीं। इन माँगों तथा विद्रोह ने उसमें प्रतिक्रिया की भावना पैदा कर दी। लुई १६वें को फाँसी होने के बाद उसकी प्रतिक्रिया की भावना और भी उग्र हो गई और उसने दमन करना आरंभ किया। नोवीकोव को कारागार भेजा, रैडिश्चैव को साइबेरिया निष्कासित कर दिया। तथापि कहना

होगा कि कैथरीन के शासनकाल मे रूस में स्वतंत्र न्यायपालिका तथा स्वशासन का श्रीगणेश हुआ; और व्यक्ति को प्रतिष्ठा मिली। रूसी साम्राज्य के विस्तार की उसकी विदेशनीति अत्यंत सफल रही। तीन विभाजनों के पश्चात् पोलैंड के रूसी प्रांत उसके साम्राज्य के अंग बन गए और कृष्णसागर तक का मार्ग रूस को प्राप्त हो गया।

१० नवबर, १७९६ को मस्तिष्क मे रक्तस्राव होने के कारण उसकी मृत्यु हो गई।

स०ग्रं०—कैथरीन : मेम्वायर्स ऑव द एंप्रेस कैथरीन सेकेंड, लंदन, १८५९; कैंब्रिज मॉर्डन हिस्ट्री, खंड ६; एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, खंड ५; एन्साइक्लोपीडिया ऑव द सोशल साइंसेज. खंड ३–४।

(सै० अ० अ० रि०)

कैथरीन संत रोमन कायलिक संप्रदाय के महिला संतो की उपाधि। इस नाम की अब तक आठ महिला संत हुई हैं—

(१) सिकंदरिया की संत कैथरीन (चौथी श० ई०)। एक दंतकथा के अनुसार इन्होने धार्मिक वाद विवाद में सम्राट् मैक्सेंसियस (सन् ३०३–३१२ ई०) को निरुत्तर कर दिया था तथा सम्राट् के बुलाए हुए ५० दार्शनिकों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर लिया था, जिससे सभी शहीद बन गए। बाद मे सम्राट् ने कैथरीन को अनेक प्रकार की यातनाएँ देकर विचलित करने का निष्फल प्रयत्न किया तथा अंत मे इनका सिर कटवाया था। मध्यकालीन गिरजे मे सत कैथरीन अत्यंत लोकप्रिय थी तथा उन्हें दर्शन की संरक्षिका माना गया।

(२) स्वीडन की संत कैथरीन (सन् १३३०–१३८१ ई०)।

(३) सिएना की संत कैथरीन (सन् १३४७–१३८० ई०)। इनका जन्म इटली के सिएना नामक नगर मे हुआ था। १४वी शताब्दी के धार्मिक इतिहास में इन दोमिनिकी धर्मसंघिनी का अपना विशेष स्थान है। इनका अनुरोध स्वीकारकर रोमन काथलिक गिरजे के परमाध्यक्ष (पोप) ग्रेगोरी एकादश आविन्यों (Avignon) छोड़कर रोम लौटे। सत कैथरीन के ३८० पत्र सुरक्षित है; इनकी सुप्रसिद्ध रचना का नाम डायलोग (संवाद) है, जिसमें ईश्वर तथा संत कैथरीन के संवाद के रूप में अनन्य भगवद्भक्ति का निरूपण तथा परमात्मा की दयालुता का गुणगान किया है। भाषा के सौंदर्य के कारण संत कैथरीन को प्रायः दांते (Dante) और पेत्रार्क की श्रेणी में रखा जाता है।

(४) बोलोन्या की संत कैथरीन (सन् १४१३–१४६३ ई०)। एक फ्रांसिस्की भिक्षुणी जिसकी साधना विषयक एक रचना के बहुत से संस्करण छप चुके हैं।

(५) जेनोवा की रहस्यवादिनी संत कैथरीन (सन्१४४७–१५१०ई०) इनकी रचनावली प्रथम बार सन् १५५१ ई० मे इनके शिष्यो द्वारा प्रकाशित हुई थी; वास्तव मे इन्होने स्वयं कुछ नहीं लिखा है।

(६) रिच्ची की संत कैथरीन (सन् १५२२–१५९०ई०), फ्लोरेंस की एक दोमिनिकी रहस्यवादिनी।

(७) मयोर्का टापू की संत कैथरीन थोमस (सन् १५३१–१५७१ई०)

(८) संत कैथरीन लाबूरे (सन् १८०६–१८७६ई०)। इन्होंने बूढ़ो की सेवा सुश्रूषा करते हुए पेरिस के एक अस्पताल मे अपना अधिकाश जीवन बिताया।

(का० बु०)

कैथाल हरियाणा प्रदेश के कर्नाल जिले का एक प्रमुख नगर (२९° ४८' उ० अ० से ७६° २४' पू० दे०) जो कर्नाल नगर से ३८ मील पश्चिम स्थित है। अनुश्रुति है कि महाभारत काल में धर्मराज युधिष्ठिर ने इसे स्थापित किया था। संस्कृत साहित्य मे कपिस्थल नाम से इसका उल्लेख हुआ है। यहाँ कपिराज हनुमान की माता अंजनि का मंदिर है। मुसलमान शासकों के समय यह स्थान अधिक महत्वपूर्ण था। अकबर ने यहाँ एक किला बनवाया था। १७६७ ई० मे यहाँ सिक्खो का अधिकार हुआ। ४३ ई० में अंग्रेजो ने इसे अधिकृत कर जिले का प्रधान नगर बनाया। १८४९ ई० मे थानेश्वर जिले में इसे मिलाया गया जो स्वयं १८६२ ई० मे कर्नाल जिले मे संमिलित कर लिया गया और उसे एक तहसील का स्थान प्राप्त हुआ। यहाँ सूती कपड़े के कारखाने हैं; दस्तकारी तथा लकड़ी की वार्निश के धंधे प्रमुख है।

तहसील के रूप मे इसका क्षेत्रफल १,२२१ वर्गमील है, जो घग्गर नदी द्वारा दो भागो मे बँटा है। उत्तरी भाग बलुई मिट्टी एवं विषम धरातल का है। दक्षिणी भाग में यमुना नदी द्वारा सिंचाई होती है जिससे यह भूभाग कृषिप्रधान है। घग्गर और सरस्वती का दोआब जिसे नाली कहते है, पहले चरागाह के रूप मे प्रसिद्ध था पर अब उस भूभाग मे भी खेती होती है। यहाँ की मुख्य फसल गेहूँ, गन्ना तथा कपास है। (का० ना० सिं०)

कैथीड्रल पीक १. संयुक्तराज्य अमरीका के पश्चिमी भाग मे कैस्केड्स पर्वतश्रेणियो के दक्षिण उत्तरदक्षिण फैली हुई सिएरा-नेवैदा शैलमाला में १०,९३३ फुट ऊँचा पर्वत। यह कैलिफोर्निया के मेरीपोसा काउंटी के उत्तरपूर्वी भाग मे स्थित है। इस पर्वत के चतुर्दिक् अत्यंत मनोरम प्राकृतिक वन्य दृश्य है। इसके चारों ओर के क्षेत्र को मिलाकर योसेमिटी राष्ट्रीय उद्यान (Yosemite National Park) का रूप दे दिया गया है जिससे यह एक प्रमुख पर्यटक केंद्र बन गया है। इसी पर्वत में मर्सेड नदी का उद्गम है।

२. कॉलोरैडो राज्य (संयुक्तराज्य अमरीका) के मध्यपश्चिमी क्षेत्र मे पिटकिन काउंटी के अंतर्गत १४,००० फुट ऊँचा पर्वत।

३. संयुक्त राज्य अमरीका में वायोमिंग राज्य के उत्तर-पश्चिमांचल में येलोस्टोन राष्ट्रीय उद्यान (Yellowstone National Park) के अंतर्गत समुद्रतल से १०,६०० फुट ऊँचा पर्वत।

(का० ना० सिं०)

कैथोडकिरण आसिलोग्राफ ऐसा यंत्र है जो विद्युत् की अनेक क्रियाओं को नेत्रों के संमुख स्पष्ट दृष्टिगोचर कर देता है। कैथोडकिरण वाल्व अथवा इलेक्ट्रानगन एक विशेष उष्मायनिक वाल्व (थर्मायोनिक ट्यूब) है जिसका उपयोग विद्युत् विषयक अनेक क्षेत्रों के अध्ययन मे अनिवार्य हो गया है। इस वाल्व की क्रिया एक उष्ण तंतु (फिलामेंट) से निकलनेवाली इलेक्ट्रान किरणावली का स्फुरदीप्त (फ्लुओरेसेंट) परदे पर पड़ने से संबद्ध है। कुछ वस्तुओं का गुण है कि उनपर इलेक्ट्रान पड़ते ही उनसे प्रकाश निकलने लगता है। इस गुण को स्फुरदीप्ति कहते है। प्रकाश का वर्ण विविध पदार्थो के लिये विभिन्न है। पदार्थ तथा उससे बनाए गए परदे पर ही इस दीप्ति की अवधि निर्भर है। कैथोडकिरण दोलनलेखी के हेतु उन पदार्थो का चयन किया जाता है जिनकी स्फुरदीप्ति इलेक्ट्रान किरण रुकने पर तत्काल ही समाप्त हो जाती है।

कैथोडकिरण वाल्व—पूर्वोक्त क्रिया को कैथोडकिरण वाल्व अति सूक्ष्म समय में करता है। इलेक्ट्रान के वेग से ही इस क्रिया का वेग सीमित है। इस वाल्व के तीन अनिवार्य भाग है : (१) इलेक्ट्रान पुंज का उत्पादन तथा उसको संगमित (फोकस) करनेवाली 'बंदूक' (गन), (२) इस पुंज को विचलित करनेवाली स्थिरविद्युतीय (इलेक्ट्रोस्टैटिक) अथवा चुंबकीय क्षेत्र तथा (३) स्फुरदीप्ति परदा जिसपर देखकर नेत्रों द्वारा विद्युत्क्रिया का अध्ययन किया जाता है। चित्र १ से यह भाग स्पष्ट है।

(१) **इलेक्ट्रान गन**—आजकल अनेक इलेक्ट्रान गनों का प्रचलन है जिनके द्वारा उपयोगिता के अनुसार इलेक्ट्रान पुंज मिलते है। लगभग सदैव इलेक्ट्रान पुंज को स्थिरविद्युत् क्षेत्र द्वारा ही संगमित किया जाता है। एक ऊष्म कैथोड से निकलनेवाले इलेक्ट्रान धातु के चार खोखले बेलनों (नलियो) के अक्ष की दिशा में अग्रसर होते है। प्रथम दो धातु के बेलन क्रमानुसार विद्युत् वाल्व (ट्रायोड या पेंटोड) के नियंत्रण ग्रिड (कंट्रोल ग्रिड) तथा परदा ग्रिड (स्क्रीन ग्रिड) की भाँति हैं। इनका वास्तविक रूप ग्रिड के समान नहीं है। प्रथम अर्थात् नियन्त्रण ग्रिड को साधारणतः ऋणात्मक विभव (पोटेंशियल) पर तथा दूसरे को धनात्मक विभव पर रखते है। धनात्मक होने के कारण इस द्वितीय ग्रिड द्वारा

इलेक्ट्रान का वेग बढ़ता है; अतः इसको त्वरण ग्रिड भी कहते हैं। ऋणाग्र से निकलनेवाले इलेक्ट्रानों की संख्या इन दोनों ग्रिडों के विभवों पर निर्भर है।

ग्रिडों के पश्चात् दो विद्युदग्र हैं जिनके द्वारा इलेक्ट्रान किरणों को संगमित (फोकस) किया जाता है। इनका विभव धनात्मक है; अतः ये दोनों धनाग्र कहे जाते हैं। बहुधा द्वितीय ग्रिट तथा द्वितीय धनाग्र का विभव समान रहता है। प्रथम धनाग्र का विभव सदैव द्वितीय से कम रखा जाता है। द्वितीय धनाग्र को भूमि (अर्थ) से जोड़कर तथा कैथोड आदि पर ऋणात्मक विभव देकर पूर्वोक्त विभवांतर बनाए जा सकते हैं। प्रथम धनाग्र के बीच बड़ा छिद्र है जिसमें इलेक्ट्रान इसे छूए बिना निकल जायँ, द्वितीय छिद्र छोटा है अतः एक पतली इलेक्ट्रान किरण ही गन से निकल सकती है।

चित्र १. कैथोड किरण ऑसिलोग्राफ

१. नियंत्रण ग्रिड; २. प्रथम एनोड; ३. क्षैतिज पट्टिका; ४. ऐक्वाडाग; ५. इलेक्ट्रान किरण; ६. स्फुरदीप्ति परदा; ७. ऊर्ध्वाधर पट्टिका; ८. द्वितीय एनोड; ९. त्वरण ग्रिड; १०. कैथोड।

पूर्वोक्त गन इलेक्ट्रानों को केंद्रित करती है तथा उनके द्वारा बननेवाली स्फुरदीप्ति के विस्तार का नियंत्रण भी करती है। कुछ गनों में चुंबकीय संगमन (फ़ोकसिंग) युक्तियाँ रहती हैं; इनमें केवल एक धनाग्र की ही आवश्यकता पड़ती है।

विचलन युक्ति—इलेक्ट्रान गन से आनेवाली किरणों को स्थिर विद्युतीय अथवा चुंबकीय क्षेत्रों द्वारा विचलित करना संभव है। प्रथम युक्ति में दो जोड़ी समांतर पट्टिकाएँ (प्लेट) किरण के मार्ग में इस भाँति रखी जाती हैं कि एक के तल दूसरे से लंब दिशा में हों तथा प्रत्येक जोड़े के बीच से किरण निकल जाय। पट्टिकाएँ किरणपथ से दोनों ओर रहकर मार्ग में कोई बाधा नहीं उत्पन्न करतीं। एक जोड़ी पट्टिका क्षैतिज तथा दूसरी ऊर्ध्वाधर रहती है। इन पट्टिकाओं के विभवानुसार इलेक्ट्रान किरण को ऊपर नीचे या दाएँ बाएँ मोड़ना संभव है। परदे पर किरण विचलन निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

$$\text{विचलन} = \frac{\text{दब}}{\text{२अ}}\left(\frac{\text{व}_१}{\text{व}_२}\right)\left[\frac{dl}{2a}\left(\frac{V_1}{V_2}\right)\right],$$

जिसमें द (d) पट्टिका के बीच से परदे तक की दूरी, ब (l) पट्टिका की कार्यकारी लंबाई*, अ (a) पट्टिका के दोनों तलों के बीच की दूरी (किरणों लंब दिशा में मापने पर), $\text{व}_१$ (V_1) पट्टिका का विभव तथा $\text{व}_२$ (V_2) गन के ऋणाग्र तथा द्वितीय धनाग्र के बीच का विभवांतर है। यदि चुंबकीय क्षेत्र की शक्ति लंबाई ल (b) तक श (C) गाउस हो तथा उसके पश्चात् शून्य हो तो सेंटीमीटर प्रणाली में

$$\text{विचलन} = ०\cdot२९६\ \text{ल द श}/\sqrt{\text{व}_२},\ [0\cdot296\ b\ d\ G/\sqrt{(V_2)}]$$

बाहरी काच की दीवार पर ऐक्वाडाग का लेप होता है जिसके कारण इलेक्ट्रान द्वितीय ऋणाग्र तक लौटकर विद्युत्पथ पूर्ण करते हैं।

स्फुरदीप्ति परदे—कैथोडकिरण वाल्व के परदे स्फुर (फ़ॉस्फ़र) नामक पदार्थों के बनते हैं जिनकी विशेषता इलेक्ट्रान पड़ने पर स्फुरदीप्ति उत्पन्न करना है। विभिन्न रंगों के स्फुर पाए जाते हैं। इनकी क्षमता (एफ़िशेन्सी) तथा प्रकाश देने का समय भिन्न भिन्न है। साधारणतः उपयोगी पदार्थ विलेमाइट है, जो यशद (जस्ता) का ऑर्थोसिलिकेट है। इसके द्वारा हल्के हरे वर्ण का प्रकाश उत्पन्न होता है। जस्ता, कैडमियम, मैगनीसियम तथा सिलिकन का उपयोग भी स्फुर के रूप में किया जाता है। स्फुर बनाने के हेतु चूर्ण करना, मणिभ बनाना, पुनः चूर्ण करना आदि तथा ऋणाग्रकिरण लेखी के परदे पर द्रव मिलाकर समांग परत में जमाना इत्यादि कठिन क्रियाएँ हैं। एक लाख में एक अंश चाँदी, मैंगनीज, ताँबा या क्रोमियम मिलाने पर स्फुर की दीप्ति १० से १०० गुनी तक बढ़ जाती है।

उपयोग—कैथोडकिरण दोलनलेखी के उपयोगों की असीमितता दिनोदिन स्पष्ट होती जा रही है। यदि मान लें कि $\text{व}_{क}$ तथा $\text{व}_{ख}$ दोनों पट्टिकाओं के विभव हैं तथा $\text{व}_२$ पूर्ववत् गन के ऋणाग्र तथा द्वितीय धनाग्र का विभवांतर है तो इन तीनों राशियों के विभिन्न मानों पर यंत्र की उपयोगिता निर्भर है। यंत्र के उपयोगों को दो श्रेणियों में रख सकते हैं।

(१) जब दोनों पट्टिकायुग्मों पर ज्यावक्रीय (सिनुसॉइडल) विभवांतर एक साथ लगाया जाय; या (२) जब एक जोड़ी पर आरे के समान
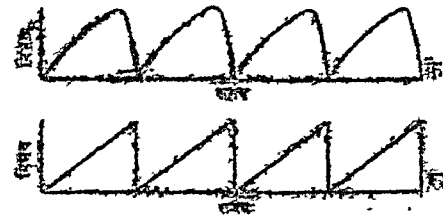
चित्र २. आरे के समान तरंग
क. वास्तविक तथा ख. आदर्श

(सॉ-टूथ) या लंब-समय-आधार (लीनियर टाइम बेस) विभवांतर (चित्र २) लगाया जाय तथा दूसरे पर जाँच के हेतु विभिन्न विभव लगाए जायँ।

प्रथम श्रेणी में समकोणीय ज्यावक्रीय विद्युत्तरंगों का अध्ययन लिसाजू के चित्रों द्वारा किया जाता है।

द्वितीय श्रेणी के द्वारा किसी भी प्रगंवादी (हारमोनिक) विभव का अध्ययन करना संभव हो जाता है। तरंगगति एक प्रसंवादी तथा एक रैखिक गति के मिलने पर प्राप्त होती है; अतः यंत्र की एक जोड़ी पट्टिका पर लंब-समय-आधार विभव लगाया जाता है। इसके हेतु एक अपोहन परिपथ (स्वीप सर्किट) बनाया जाता है। पट्टिकाओं पर विभव न होने पर परदे के बीच एक प्रकाशबिंदु बनता है—अपोहन द्वारा यह बिंदु धीर गति से बाएँ से दाएँ समय स (t) में पहुँचता है। दाएँ से पुनः तत्काल ही प्रकाशबिंदु बाईं ओर आ जाता है। यह तत्काल लौटने का समय स (t) से अत्यल्प होने के कारण प्रकाश का लौटना दृष्टिगोचर नहीं हो पाता। यदि समय स (t) दूसरी जोड़ी पट्टिका पर लगी तरंग की अवधि अ (T) के समान है तो परदे पर एक तरंग दिखाई पड़ती है। यदि अवधि अ/न (T/n) है तो न (n) तरंगें परदे पर दिखाई पड़ेंगी। यदि पट्टिकाओं की दोनों जोड़ियों पर लगे विभव समकालिक (सिनक्रोनस) हैं तो दृष्टि-विलंबना (परसिस्टेंस ऑव विज़न) तथा परदे पर [illegible] के इलेक्ट्रान गि

*यह लंबाई पट्टिका की वास्तविक लंबाई से अधिक होती है। फलकम पट्टिका की सीमा के पश्चात् भी रहना [illegible] पट्टिका के द. तलों की दूरी पर भी कार्यकारी लंबाई निर्भर रहती है।

ही उत्पन्न तथा समाप्त होने के कारण तरंग चित्र परदे पर स्थिर दिखाई पड़ेगा। आरे के समान तरंग एक संघनित्र (कंडेन्सर) को आवेश (चार्ज) देकर तथा निरावेश (डिसचार्ज) करने पर बनती है।

कैथोडकिरण दोलनमापी केवल ज्या तरंग-वक्रों का अध्ययन मात्र ही नहीं करता वरन् किसी भी आवर्ती तरंग का अध्ययन करता है। क्षणिक अथवा उच्च आवृत्ति (हाई फ्रीक्वन्सी) विभव इस यंत्र द्वारा चित्रित किए जा सकते हैं। इलेक्ट्रान कणों का अवस्थितित्व (इनर्शिया) अत्यंत न्यून होने के कारण ये उच्चतम आवर्ती विभव का अनुकरण कर सकते हैं। १० लाख चक्र (साइकिल) प्रति सेकंड की आवृत्ति तक साधारण यंत्र काम दे सकते हैं।

इन यंत्रों द्वारा ध्वनि विज्ञान, यंत्रनिर्माण, शोध कार्य, दिशावेध यंत्र (राडार), दूरवीक्षण (टेलीविजन), धातु आदि का भीतरी चित्र लेना तथा अनेक अन्य कार्य सरल, सुलभ तथा सुगम हो गए हैं। परदे पर बननेवाले चित्रों के फोटो इस यंत्र की उपयोगिता को स्पष्ट करते हैं।

सं०ग्रं०—जे० आर० पियर्स : जर्नल अप्लाइड फिजिक्स ११,५४६ (१६४०), जे० एफ० राइडर : कैथोड रे ऑसिलोग्राफ इनसाइक्लोपीडिया, हार्नवेल : प्रिंसिपल्स ऑव इलेक्ट्रिसिटी ऐंड मैगनेटिज्म, जे० एफ० राइडर : कैथोड रे ट्यूब ऐट वर्क। (अ० मो०)

कैथोड किरणें सन् १८६७ के पूर्व विद्युत् क्षेत्र में विरल गैसों (रेयरिफायड गैसों) में विद्युद्विसर्जन (इलेक्ट्रिक डिस्चार्ज) संबंधी रोचक एवं महत्वपूर्ण प्रयोग किए गए थे। यदि किसी प्रेरणकुंडली (इंडक्शन कॉयल) या अन्य प्रेरण मशीन के ऋणात्मक छोर को चित्र १ की आकृति की काच की नली न के अंत क से तथा धनात्मक छोर को अंत $क_2$ से संबद्ध करके सूक्ष्म छिद्र छ से नली की वायु को चूषक पंपों द्वारा निकाल दें तो विरल गैसों पर प्रयोग किए जा सकते हैं। वायु विरल होने पर (दाब = ० ११ मि० मी०) ऋणात्मक छोर पर एक कालापन बनता है और पूर्ण नली में चमकदार प्रकाश दिखाई पड़ता है। काले स्थान को क्रुक्स की कालिमा (क्रुक्स डार्क स्पेस) कहते हैं। यदि वायु को अधिक विरल कर दिया जाय तो यह कालिमा नली के दूसरी ओर तक बढ़ जाती है और अंत में काच की दीवार तक अंधकार हो जाता है (दाब = ० ३७ मि० मी०)। परंतु अब काच की दीवार स्वयं चमकने लगती है तथा उसका वर्ण हरा अथवा नीला इत्यादि हो जाता है—रंग काच के प्रकार
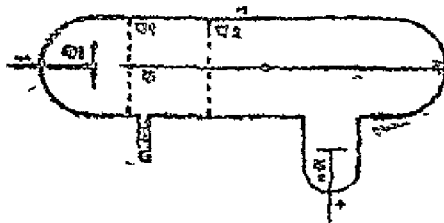
चित्र १ विरल वायु में विद्युद्विसर्जन के लिये विशेष नली

पर निर्भर है। यदि नली में सूक्ष्म छिद्रयुक्त अभ्रक (माइका) के पर्दे $प_1$, $प_2$ रख दिए जायँ तो काच के छोर पर चमक केवल इन परदों के छिद्रों से होती हुई दिशा क द में पहुँचती है। काच पर होनेवाली चमक को स्फुरदीप्ति (फॉस्फोरेसेंस) कहते हैं।

गुण—पूर्वोक्त से स्पष्ट है कि ऋणात्मक छोर से कुछ 'कण' नली के दूसरी ओर बहते या प्रवाहित होते हैं जिनको पर्दों से रोका जा सकता है। इस धारा का नाम ऋणाग्र किरण रखा गया है। कैथोड किरणों के निम्नलिखित गुण भौतिकी की पाठ्य पुस्तकों में विस्तारपूर्वक मिल सकते हैं

(१) कैथोड किरणें सदैव सीधी रेखा में चलती हैं। प्रयोग में किरण के पथ में बाधा रखने पर समान रूप की छाया बनना इसका प्रमाण है। चित्र २ से यह स्पष्ट है, जिसमें स्वस्तिकाकार बाधा की छाया दिखाई गई है।

चित्र २. ऋणाग्र किरणों का पथ सीधी रेखा है
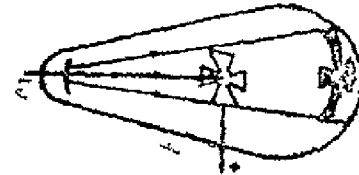
(२) किरणों के पथ में रखी हुई वस्तुओं पर यांत्रिक बल (मिकैनिकल फोर्स) पड़ता है। चित्र ३ में अभ्रक की हलकी हवा चक्की $क_1$ में $ख_2$ की ओर चलने लगती है—बल का यह स्पष्ट प्रमाण है।

(३) वस्तुओं पर टकराकर ये किरणें उष्मा उत्पन्न करती हैं। यदि कैथोड अवतल (कनकेव) हो तो किरणों को एक बिंदु पर सगमित (फोकस) करते हुए प्लैटिनम आदि धातुओं को इतना तप्त किया जा सकता है कि वे लाल हो जायँ।

चित्र ३ कैथोड किरणों का यांत्रिक बल

(४) कैथोड किरणें विद्युद्धारा के समान चुंबकीय क्षेत्र में अपनी दिशा बदल देती हैं। चुंबकीय बल की दिशा तथा किरणों की पहलेवाली दिशा दोनों से समकोण बनानेवाली दिशा की ओर किरणें चलने लगती हैं।

(५) किरणों के साथ ऋणात्मक आवेश रहता है। पेरिन ने सर्वप्रथम विद्युद्दर्शी या विद्युन्मापी द्वारा सिद्ध किया कि किरणें तीव्रगामी ऋणात्मक आवेश के कणों के समूह हैं।

(६) किरणें स्थिरविद्युतीय क्षेत्रों के कारण भी अपने पथ से विचलित हो जाती हैं। किरणें धनात्मक आवेशयुक्त छड़ की ओर आकर्षित होती हैं।

उपर्युक्त प्रयोगों में विद्युदग्र (इलेक्ट्रोड) प्लैटिनम के लिए गए थे। कैलसियम तथा बेरियम आदि के विद्युदग्र लेकर वेनेल्ट ने अत्यंत घनी ऋणाग्र किरणें उत्पन्न कीं।

टामसन के प्रयोग—कैथोड किरणों का आवेशयुक्त कण होना सर जे० जे० टामसन ने अपने प्रसिद्ध प्रयोगों द्वारा प्रमाणित किया। आज
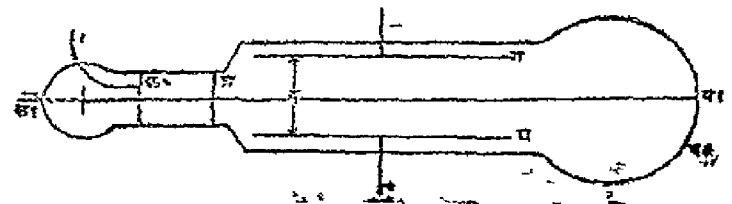
चित्र ४ (क) इलेक्ट्रान का द्रव्यमान ज्ञात करने का यंत्र
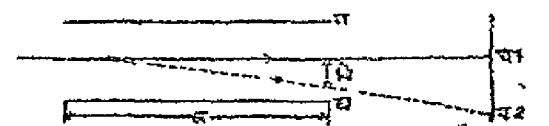
चित्र ४ (ख) कैथोड किरणों का विचलन

पदार्थ के विद्युत्सिद्धांत की दृष्टि से ये प्रयोग इतने महत्वपूर्ण हैं कि इनका संक्षिप्त विवरण आवश्यक है। चित्र ४(क) में काच की नली के भीतर अत्यल्प दबाव पर वायु है, अर्थात् उसमें अत्यंत विरल वायु है। $क_1$ ऋणाग्र

है; क₂ एक विशेष धनाग्र है जिसमें आयताकार खिड़की बनी है। इस खिड़की के सामने तथा सुचालक तार से जुड़ी एक दूसरी समान खिड़की ख है। इस प्रकार ख से निकलनेवाली कैथोड किरणों का एक समूह काच नली के स्थान प₁ पर स्फुरदीप्ति उत्पन्न करता है। किरण पथ में दो विद्युदग्र ग तथा घ लगे हैं जिनके बीच विद्युत् विभवांतर (पोटेंशियल डिफरेंस) वि (v) है। यदि घ धनात्मक है तो काच पर का चमकीला स्थान प₁ से नीचे प₂ पर आ जाता है। इन्हीं विद्युदग्रों के ऊपर नीचे दो हेल्महोल्ट्ज कुंडलियाँ, जिनका व्यास विद्युदग्रों की लंबाई के समान बनाया रहता है, लपेटी जाती हैं। इनमें प्रवाहित विद्युद्धारा का चुंबकीय बल इस चित्र के धरातल की लंब दिशा में रहता है। यदि बल की दिशा पाठक की ओर है तो प₁ ऊपर की ओर हट जायगा।

अब दो प्रयोग किए जा सकते हैं :

(१) ग घ पर स्थिरविद्युत् विभवांतर लगाकर कुंडली में इतनी धारा प्रवाहित करें कि विभवांतर तथा कुंडली की धारा दोनों के होने पर प₁ न नीचे हटे और न ऊपर उठे, अर्थात् विद्युत् और चुंबकीय क्षेत्रों का बल किरणों पर समान और विपरीत पड़े।

(२) चुंबकीय क्षेत्र के अभाव में दूरी प₁ प₂ की माप की जाय। इन दोनों प्रयोगों के द्वारा ऋणाग्र किरण के कणों के आवेश तथा द्रव्यमान (मास) का अनुपात मापना संभव है।

ऋणात्मक आवेश की तीव्र गतिवाले कणों का वेग वे (v), द्रव्यमान द्र (m) तथा प्रत्येक कण के ऊपर आवेश की मात्रा मा (e) को पूर्वोक्त प्रयोग से ज्ञात किया जाता है। आवेग मा (e) के कणों के वेग वे (v) से विद्युत्-धारा-शक्ति मा वे (ev) होगी। चुंबकीय क्षेत्र चु (H) के लगाने पर कणों पर लगा बल चु मा वे (Hev) होगा। गति की दिशा से लंब दिशा में लगा बल सदैव वृत्ताकार गति देता है।

अतः त्वरण वे²/त्र $\left(\frac{v^2}{r}\right)$ होगा जहाँ त्र (r) वृत्त का अर्धव्यास है।

यदि कण का द्रव्यमान द्र (m) है तो

$$\text{द्र वे}^2/\text{त्र} = \text{चु मा वे}\ [mv^2/r = Hev]$$
$$\text{या द्र वे/मा} = \text{चु त्र}\ [mv/e = Hr]$$

अतः चुंबकीय क्षेत्र लगाने पर कणों में हुए विचलन द्वारा गा (y) की माप की जा सकती है। इसी प्रकार चुंबकीय प्रयोग द्वारा द्र वे/मा (mv/e) मापा गया है।

यदि दोनों प्लेटों के बीच विद्युत्क्षेत्र वि (V) है तो कण पर बल मा वि (eV) लगेगा। यदि यह विद्युत्क्षेत्र कण पर चुंबकीय क्षेत्र के समान बल डालता हो तो

$$\text{मा वि} = \text{चु मा वे}\ [eV = Hev]$$
$$\text{या वि/चु} = \text{वे}\ [V/H = v]$$

उपर्युक्त समीकरण (२) में वे (v) तथा इसका मान (१) में रखने पर ऋणाग्र किरणों का मा/द्र (e/m) विदित हो जाता है। इन प्रयोगों द्वारा मिले परिणाम निम्नांकित तालिका में दिए गए हैं :

गैस	वे (v)	मा/द्र* (e/m)
वायु	२.८×१०^९	७.७×१०^६
वायु	२.८×१०^९	९.१×१०^६
वायु	३.६×१०^९	७.७×१०^६
हाइड्रोजन	२.५×१०^९	९.७×१०^६
कार्बन डाइऑक्साइड	२.२×१०^९	९.७×१०^६

[* सेंटीमीटर-ग्राम-सेकंड प्रणाली में]

टामसन के परिणाम से यह सिद्ध हो गया कि नली के भीतर की गैस का कोई प्रभाव राशि मा/द्र (m/e) पर नहीं पड़ता।

इनके प्रयोगों के उपरांत मा/द्र (e/m) का विशुद्ध मान संप्रति १.७×१०^७ माना गया है।

प्रसिद्ध ज़ीमान प्रभाव (ज़ीमान एफ़ेक्ट) द्वारा भी मा/द्र (e/m) का यही मान पाया गया। यह भी सिद्ध हुआ कि हाइड्रोजन आयन पर विद्युद्विश्लेषण (इलेक्ट्रॉलिसिस) के समय मिलनेवाला आवेश भी प्रायः इतना ही होता है।

डॉ० जान्स्टन स्टोने ने सर्वप्रथम ऋणाग्र किरण के इन आवेशयुक्त कणों को 'इलेक्ट्रान' नाम दिया। विदित हुआ कि आवेश का यह अखंड एकक है। पदार्थों की संरचना में इसका विशेष महत्व है तथा निर्वात नली (वैक्युअम ट्यूब) के आविष्कार और प्रयोग में इन इलेक्ट्रानों का ही प्रमुख हाथ है।

सं०ग्रं०—एस० जी० स्टार्लिंग : इलेक्ट्रिसिटी ऐंड मैगनेटिज्म; जे० पेरिन : काप्ट रेंडु, खंड १२१ (१८९५), पृष्ठ ११३०; ए० वैनेल्ट : फ़िलॉसॉफ़िकल मैगज़ीन, खंड १० (१९०५), पृ० ८०; जे० टामसन : फ़िलॉसॉफ़िकल मैगजीन, खंड ४४ (१८९७), पृ० २९३ तथा खंड ४८ (१८९९), पृ० ५१७; पी० ज़ीमान : फ़िलॉसॉफ़िकल मैगज़ीन, खंड ४३ (१८९७), पृ० २२६। (अ० मो०)

कैन (Cannes) फ्रांस के आल्प्ससमुद्रतटीय प्रदेश एवं पत्तन। यह नगर अपनी स्वास्थ्यकर तथा समशीतोष्ण जलवायु के लिये संसारप्रसिद्ध है और जाड़े की ऋतु का प्रमुख प्रवासकेंद्र (Resort Centre) है। यहाँ नारंगी, नीबू, जैतून, बादाम, अंगूर, पिस्ता आदि फलों की उपज होती है जिनके निर्यात एवं उद्योगों के लिये यह प्रसिद्ध है। फलों के अतिरिक्त निर्यात वस्तुओं में इत्र, सत (Essences), साबुन, तेल, मछलियाँ आदि प्रमुख हैं। यहाँकी जनसंख्या १९६८ ई० में ६७,१५२ थी। (का० ना० सिं०)

कैनजेस (Kansas) संयुक्त राज्य अमरीका का मध्य राज्य; (स्थिति ३७° से ४०° उ० अ० तथा ९४°३८' से १०२°१' ३४" प० दे०); क्षेत्रफल ८२,२७६ वर्गमील; जनसंख्या २०,२२,१७३ (१९७०)। इसे सूर्यमुखी का राज्य कहते हैं। इसकी धरातलीय ढाल उत्तरपश्चिमी छोर में समुद्रतल से ४,००० फुट ऊँचाई से लेकर दक्षिणपूर्वी सीमांत में ७०० फुट तक है। राज्य के एकतिहाई पूर्वी भाग में विस्तृत ओसेज मैदान है जिसका धरातल पहाड़ी एवं विषम है। उत्तरपूर्व भाग में हिमानी जमाव कैनज़ेस नदी के दक्षिण तक पाए जाते हैं। मध्य तिहाई भाग अधिकांशतः समतल एवं कुछ पहाड़ी है। शेष पश्चिमाचल भाग में विषम धरातलीय बृहत् मैदान है जो जल एवं वायु द्वारा लाए गए पदार्थों से निर्मित है। राज्य की जलवायु विषम महाद्वीपीय है। पूरब से पश्चिम राज्य के तीन वानस्पतिक विभाग हैं—लंबी घास, मिश्रित घास एवं छोटी घासवाला क्षेत्र। कैनजेस, अरकैनजेस एवं मिजूरी (उत्तरपूर्व सीमांत) मुख्य नदियाँ हैं। कृषि की मुख्य फसलों में बसंत एवं शरत्कालीन गेहूँ, मक्का, जुआर प्रमुख हैं। डेरी उद्योग की समुन्नति हो रही है। खनिज तेल, गैस, कोयला, जस्ता एवं नमक प्रमुख खनिज पदार्थ हैं। मांस भेजने, आटा पीसने, यातायात के यंत्र तैयार करने, रासायनिक उद्योग आदि प्रमुख उद्योग धंधे हैं। टोपेका (जनसंख्या १,१९,४८४ (१९६०) इसकी राजधानी है। (का० ना० सिं०)

कैनजेस नगर मिजूरी (Missouri) एवं कैनजेस नदियों के संगम पर स्थित कैनज़ेस राज्य का सबसे बड़ा नगर तथा संयुक्त राज्य अमरीका के मध्य-पश्चिमांचल का महत्वपूर्ण व्यापारिक एवं यातायात केंद्र है। यहाँ गेहूँ पीसने, तेल साफ करने, यातायात साधनों के यंत्र बनाने तथा मांस एवं कृषि संबंधी उद्योग प्रमुख धंधे हैं। १९६० में यहाँकी जनसंख्या ४,७५,५३९ थी। (का० ना० सिं०)

कैनरी द्वीप अतलांतक महासागर में उत्तरपश्चिमी अफ्रीका के समुद्रतट से लगभग ६० मील दूर स्थित सात द्वीपों का समूह; (स्थिति २७°४०'—२९°३०' उ० अ० से १३°२०'—१८°१०' प० दे०; क्षेत्रफल ४,६८५ वर्गमील), जनसंख्या ९,६७,१७७ (१९६०)। इन की उत्पत्ति ज्वालामुखीय उद्गारों से हुई। इनका धरातल विषम, पर्वतीय तथा दुर्गम है परंतु बीच बीच में उपजाऊ लावा मिट्टीवाली घाटियाँ हैं।

पर्वत वनाच्छादित है। जलवायु अपेक्षाकृत शुष्क परंतु स्वास्थ्यकर है। यहाँ तूफान तथा ज्वालामुखीय विस्फोट होते रहते हैं। धान्य फसलों, केला, अंगूर, संतरा, तंबाकू, टमाटर तथा सब्जी की कृषि होती है। प्यूमिस (झावाँ) एकमात्र खनिज पदार्थ है। यहाँ मत्स्य उद्योग भी है।

यह दो प्रशासकीय विभागों में बँटा है। पश्चिमी भाग तेनेरिफे (क्षेत्रफल १,३२९ वर्गमील, जनसंख्या ५,६०,५१४ (१९७०) और पूरबी भाग ला पालमा (क्षेत्रफल १,५६५ वर्गमील, जनसंख्या ५,७६,७१० (१९७०) कहलाता है। सांताक्रुज और ला पालमा क्रमश इन दोनों प्रदेशों की राजधानी एवं प्रमुख नगर तथा बंदरगाह हैं। यह द्वीपसमूह स्पेन के अधिकार में है। गुआंक (Guanches) यहाँ के आदिवासी हैं जो प्राय स्पेनिश रक्त के साथ घुल मिल से गए हैं। अधिकांश निवासी स्पेनिश ही हैं। (का० ना० सिं०)

कैनसू (गासू) चीन के उत्तरी भाग में स्थित एक प्रदेश (क्षेत्रफल १,५१ १६१ वर्गमील, जनसंख्या १,२६ २८,१०२ (१९५३)। यह प्रारंभ से ही चीन खास में रहा है क्योंकि चीन खास के उत्तरी सीमांत पर निर्मित चीनी दीवार का पश्चिमी भाग इसमें पड़ता है। लैंचाऊ इसकी राजधानी है। वूवे (Wuwei), पिंगलियांग (Pingliang), लिएँगचाऊ (Liangchow) और कुंगचँग (Kungchang) प्रमुख नगर हैं। इसका धरातलीय स्वरूप विषम एवं पर्वतीय है। उत्तरपश्चिम का मैदानी भाग अपेक्षाकृत शुष्क है परंतु दक्षिणपूरब में ह्वांग-हो तथा उसकी प्रमुख सहायक नदी वी (Wei) के हरे भरे मैदान हैं। चावल, गेहूँ, जौ, विभिन्न प्रकार की सेमें, तेलहन और केओलिंग (Kaoling) की खेती मुख्य होती है। खनिज पदार्थों में कोयला, तेल, लोहा, सोना, पारा आदि प्रमुख हैं। (का० ना० सिं०)

कैनाडा उत्तरी अमरीका महाद्वीप का एक देश है जो संयुक्त राज्य अमरीका से सटा उत्तर में है (स्थिति ४१° ७१' से ५०° उ० अ० तथा ५७° ५०' से ११७° प० दे०)। इसका क्षेत्रफल ३८,४५,१४४ वर्गमील है। इस देश का विस्तार उत्तर में उत्तरी ध्रुव तक है। पश्चिम और पूर्व में क्रमश प्रशांत और अंध महासागर हैं।

१००० ई० के लगभग इसे नॉर्स जाति के लोगों ने खोज निकाला था। पूर्वी तट पर उनके छोटे-छोटे उपनिवेश बस गए। १५वीं शताब्दी में यूरोपीय मछुए इस प्रदेश के तट तक मछली मारने आया करते थे। इस देश के विस्तृत भूभाग का परिचय एशिया पहुँचने के लिये उत्तरपश्चिमी मार्ग की खोज के समय मिला। १६वीं शताब्दी में सेंट लारेंस नदी की घाटी की खोज कार्टियर नामक व्यक्ति ने की। तदनंतर यूरोपीय देशों के निवासी यहाँ बसने लगे। इनमें अधिकांश फ्रांस के थे। १७६० ई० में यह देश ग्रेट ब्रिटेन के हाथ में आया। १७९१ ई० में 'अपर कैनाडा', जो मुख्यत अंग्रेजों का उपनिवेश था, फ्रांसीसियों के प्रदेश, 'लोअर कैनाडा' से पृथक् कर दिया गया और बाद में ये दो स्वतंत्र प्रांत बने। १८१२ ई० के युद्ध के पश्चात फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी दोनों देश ब्रिटेन के अंतर्गत आ गए, तथापि दोनों के बीच प्रतिस्पर्धा और मनमुटाव बना ही रहा। १८६७ ई० में 'डोमीनियन ऑव कैनाडा' की स्थापना हुई। इसके अंतर्गत ऑन्टेरियो, क्विबेक, ब्रिटिश कोलंबिया नोवा स्कोशा, न्यूब्रंज़विक, प्रिंस एडवर्ड द्वीप तथा मैनिटोबा के प्रांत थे। धीरे-धीरे पूर्वी तट से देश के अंदर की ओर जनविस्तार होता गया और नवीन प्रदेशों में कृषि प्रारंभ हुई। इस समय कैनाडा में संमिलित प्रांत और प्रदेश (टेरिटरीज), उनके क्षेत्रफल और जनसंख्या इस प्रकार है—

प्रांत और टेरिटरीज	क्षेत्रफल (वर्गमील)	जनसंख्या (१९६६)	केंद्र
ऐलबर्टा	२,४८,८००	१४,६३,२०३	एडमॉण्टन
ब्रिटिश कोलंबिया	३,५६,२७९	१८,७३,६७४	विक्टोरिया
मैनिटोबा	२ ११,७७५	६ ६३,०६६	विनिपेग
न्यू ब्रंज़विक	२७,८३५	६,१६,७८८	फ्रेडरिक्टन
न्यूफाउंडलैंड	१,४३,०४५	४,९३,३९६	सेंट जास
नॉर्थवेस्टर्न टेरिटरी	१२,५३,४३८	२८,७३८	ओटावा
नोवा स्कोशा	२०,४०२	७,५६,०३९	हैलिफैक्स
ऑण्टेरियो	३,४४,०९२	६९,६०,८७०	टोरोंटो
प्रिंस एडवर्ड द्वीप	२,१८४	१,०८,५३५	शॉरलट टाउन
क्विबेक	५,२३,८६०	५७,८०,८४५	क्विबेक
सैस्कैचेवॉन	२,२०,१८२	९,५५,३४४	रजिना
यूकन टेरिटरी	२,०५,३४६	१४,३८२	डॉसन

प्राकृतिक रचना—कैनाडा की भौमिकीय संरचना सरल है। संपूर्ण पूर्वी भाग प्राचीनतम चट्टानों का बना है, जिसे 'कैनेडियन शील्ड' कहते हैं। पश्चिम में अलास्का से संयुक्त राज्य अमरीका तक रॉकी पर्वतमाला की श्रेणियाँ फैली हैं। मध्य के मैदानी भाग में अनेक झीलें हैं, इनमें 'ग्रेट लेक्स' नाम से विख्यात सुपीरियर, मिशिगन, ह्यूरन, ईरी तथा ऑण्टेरियो प्रमुख हैं। अंतिम हिमयुग में यह प्रदेश कई हजार फुट ऊँची हिमशिलाओं से ढक गया था, अत इस संपूर्ण प्रदेश में हिमक्षरण तथा निक्षेपण के स्पष्ट चिह्न दृष्टिगत होते हैं। कैनाडा के मध्य का प्रेयरीज नामक विस्तृत मैदान और असंख्य झीलें हिम के कार्य के स्पष्ट प्रमाण हैं। कैनाडा के उत्तर में हडसन की खाड़ी है जिसमें संपूर्ण मध्य भाग की नदियाँ पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण से आकर गिरती हैं। इनमें ऐथाबैस्का, चर्चिल, नेलसन, सैस्कैचेवान उल्लेखनीय हैं। हडसन की खाड़ी और आर्कटिक सागर के बीच, ग्रीनलैंड में पश्चिम की ओर एक बड़ा द्वीपसमूह अलास्का तक फैला है। बैफिन, डेवेन, विक्टोरिया, बैंक तथा मालविल इसके प्रमुख द्वीप हैं। हडसन की खाड़ी के दक्षिण में महान् झीलें (ग्रेट लेक्स) तथा सेंट-लारेंस नदी की, जो अंध महासागर में गिरती है, घाटी है। इन दोनों के मध्य क्विबेक का प्रायद्वीप है। पश्चिम में रॉकी पर्वत की श्रेणियाँ प्रशांत महासागर तक फैली हैं, जिन्हें केवल दुर्गम मार्गों द्वारा ही पार किया जा सकता है। कोलंबिया, फ्रेजर तथा स्कीना नदियाँ इन पर्वतमालाओं को काटती हुई अंतत प्रशांत महासागर में गिरती हैं।

जलवायु—कैनाडा का अधिकांश भाग शीत और समशीतोष्ण कटिबंधों के अंतर्गत आता है, अत अल्पकालीन ग्रीष्म, दीर्घकालीन शीत ऋतु तथा ध्रुवीय शीत वायु का आधिक्य है। शीत काल में संपूर्ण कैनाडा अधिक वायुभार (औसत ३० २") का क्षेत्र रहता है, जब कि उत्तरपूर्व में आइसलैंड और पश्चिम की ओर अल्यूशैन निम्न वायुभार के क्षेत्र बने रहते हैं। इस ऋतु में कैनाडा का ताप बहुत कम हो जाता है और प्राय संपूर्ण देश में २३° फा० से नीचे उतर जाता है। उत्तरी भाग का ताप तो ३०° फा० से भी कम हो जाता है। ग्रीष्म काल में दशा विपरीत होती है। अधिक वायुभार के केंद्र दोनों ओर महासागरों पर स्थित होते हैं और संपूर्ण कैनाडा में वायुभार निम्न (२९ ८" के लगभग) हो जाता है। इन दिनों उत्तरी तटीय भागों में भी ताप ४०° फा० से अधिक और दक्षिणी भागों में ६८° फा० तक पहुँच जाता है। अधिकांश भाग का औसत ताप ६०° फा० के लगभग रहता है। कैनाडा में वर्षा का वार्षिक औसत विभिन्न भागों में पर्याप्त न्यूनाधिक्य प्रकट करता है। सामान्य रूप से उत्तर की ओर वर्षा का परिमाण घटता जाता है। पूर्वी तटीय क्षेत्र (६०" औसत) से क्रमश घटता हुआ रॉकी पर्वत के उत्तरपूर्व में यह परिमाण १०" से भी कम हो जाता है। २०" वर्षा की रेखा प्राय मध्य में उत्तरदक्षिण जाती है। रॉकी पर्वत के पश्चिम में, ब्रिटिश कोलंबिया के क्षेत्र में, कई स्थानों में १००" से अधिक वर्षा होती है।

प्राकृतिक वनस्पति—कैनाडा का ३५% प्रदेश वनों से आच्छादित है, जिनमें नुकीले पत्तेवाले वृक्ष प्रमुख हैं। इन वनों का विस्तृत क्षेत्र न्यूफाउंडलैंड से प्रशांत महासागर के तट तक फैला है। ये वन देश की बहुमूल्य प्राकृतिक संपत्ति हैं और इनपर ही देश का अधिकांश व्यवसाय आधारित है। इनके महत्वपूर्ण वृक्ष कृष्णसरल, बालसम, तालीशपत्र, श्वेत सरल (white pine) कुट्टिमदारु (मैपिल), बलूत (ओक), चेस्टर और पीत वनपिप्पल (येलो पोपलर) आदि हैं। वर्षा की कमी के कारण मध्य के मैदान में वनों का अभाव है। वहाँ घास के विस्तृत मैदान (प्रेयरीज) हैं।
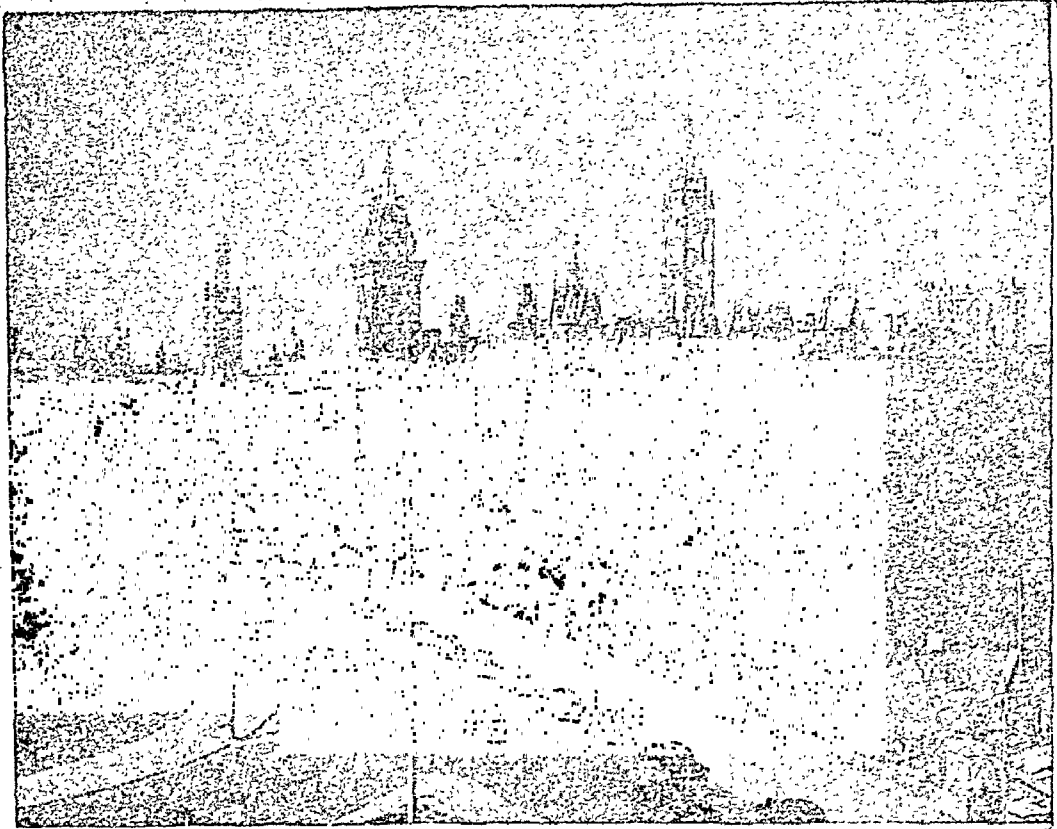
ओटावा (Ottawa) की वेलिंगटन स्ट्रीट : इसी सड़क पर पार्लियामेंट भवन है।
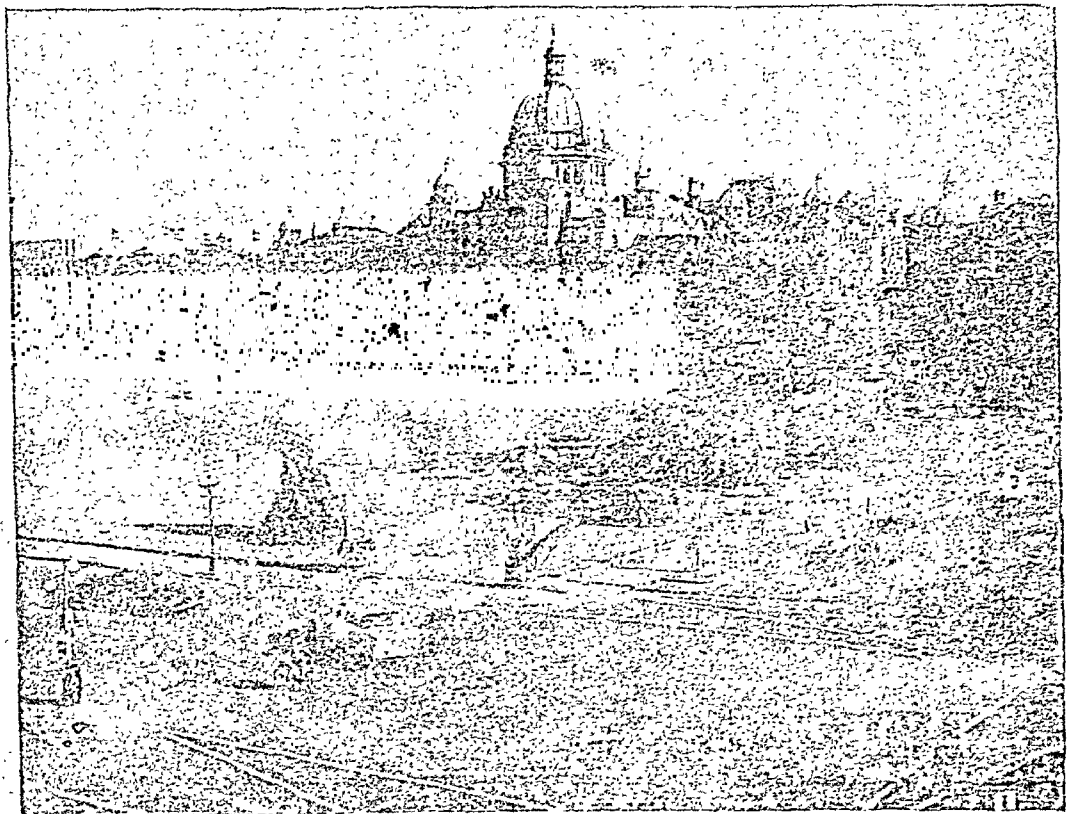
ब्रिटिश कोलंबिया की विधान सभा का भवन : यह इस प्रदेश की राजधानी विक्टोरिया में है, जो अपने भवनों और उद्यानों के लिये प्रसिद्ध है।
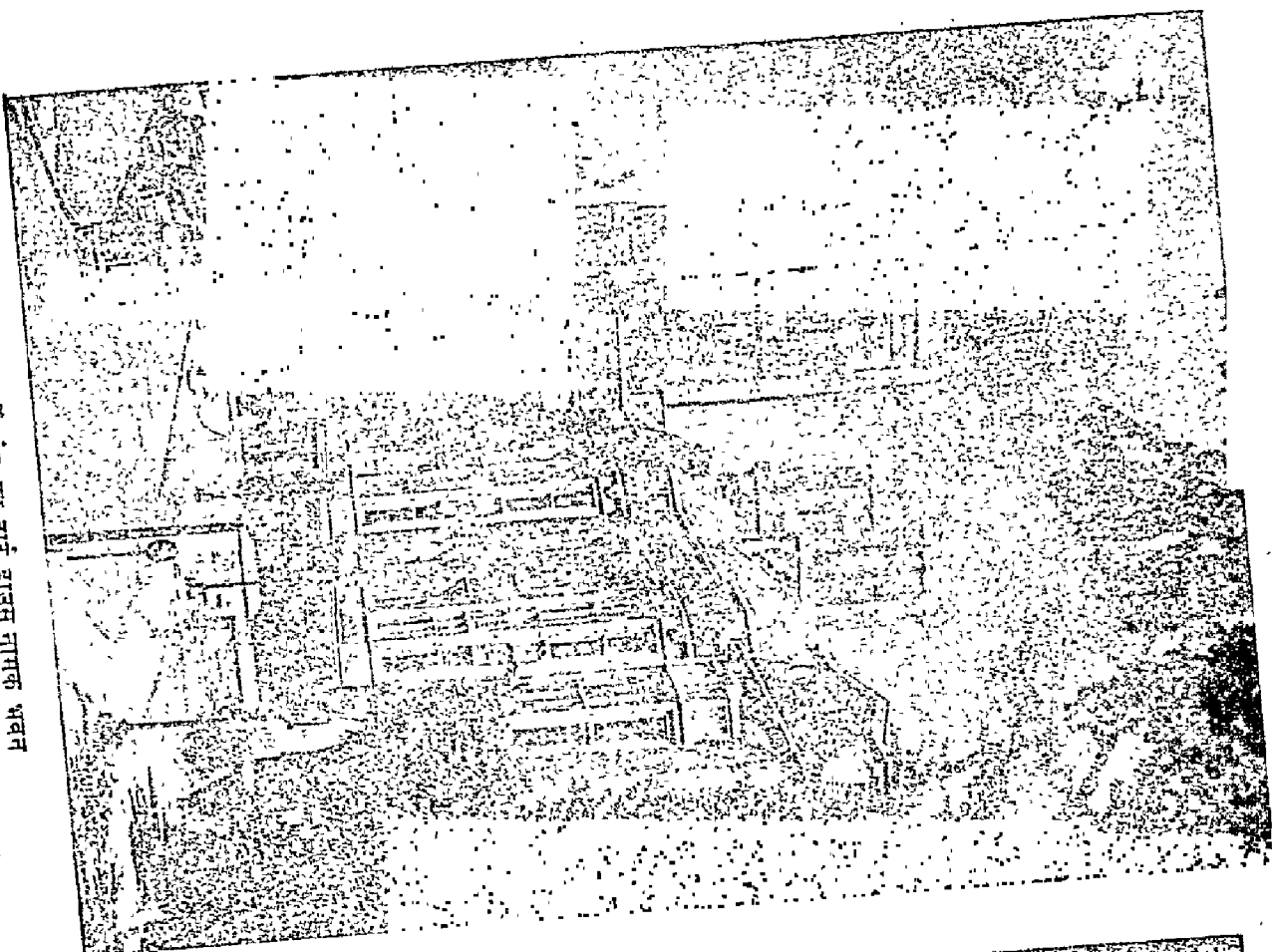
कैनाडा (देखिए पृष्ठ १३६)

विद्यार्थी संघ का हार्ट हाउस नामक भवन

कैनाडा के सबसे बड़े टरॉण्टो विश्वविद्यालय के इस संघ भवन में तैरने का तालाब, भोजन गृह, गिरजा तथा अन्य अनेक सुविधाएँ भी हैं।

मॉण्ट्रियल के बंक का भवन

सम्मुख में भूतपूर्व गवर्नर मेज़ोनव (Maisonneuve) की मूर्ति है।
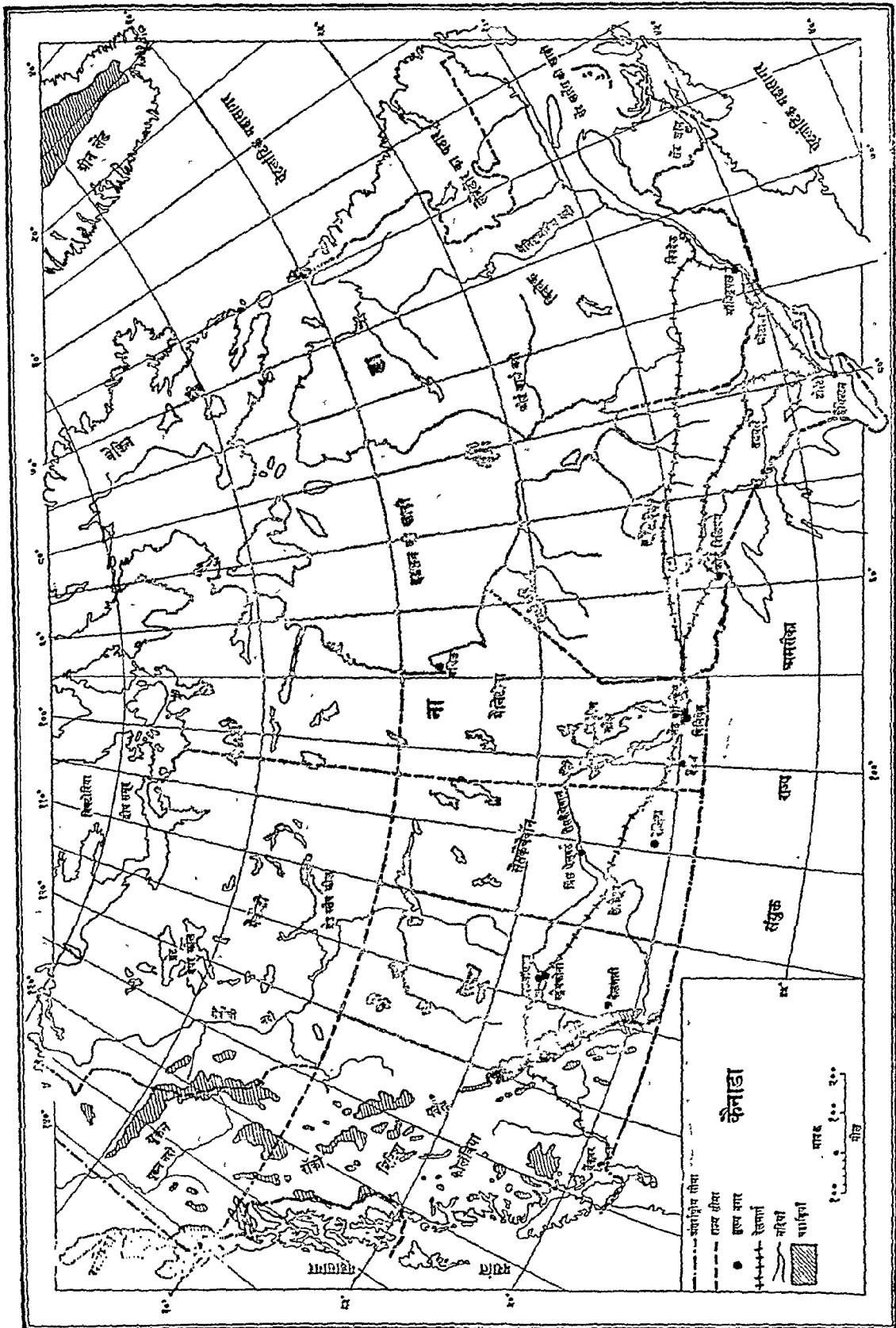
कैनाडा (देखिए पृ० १३६)
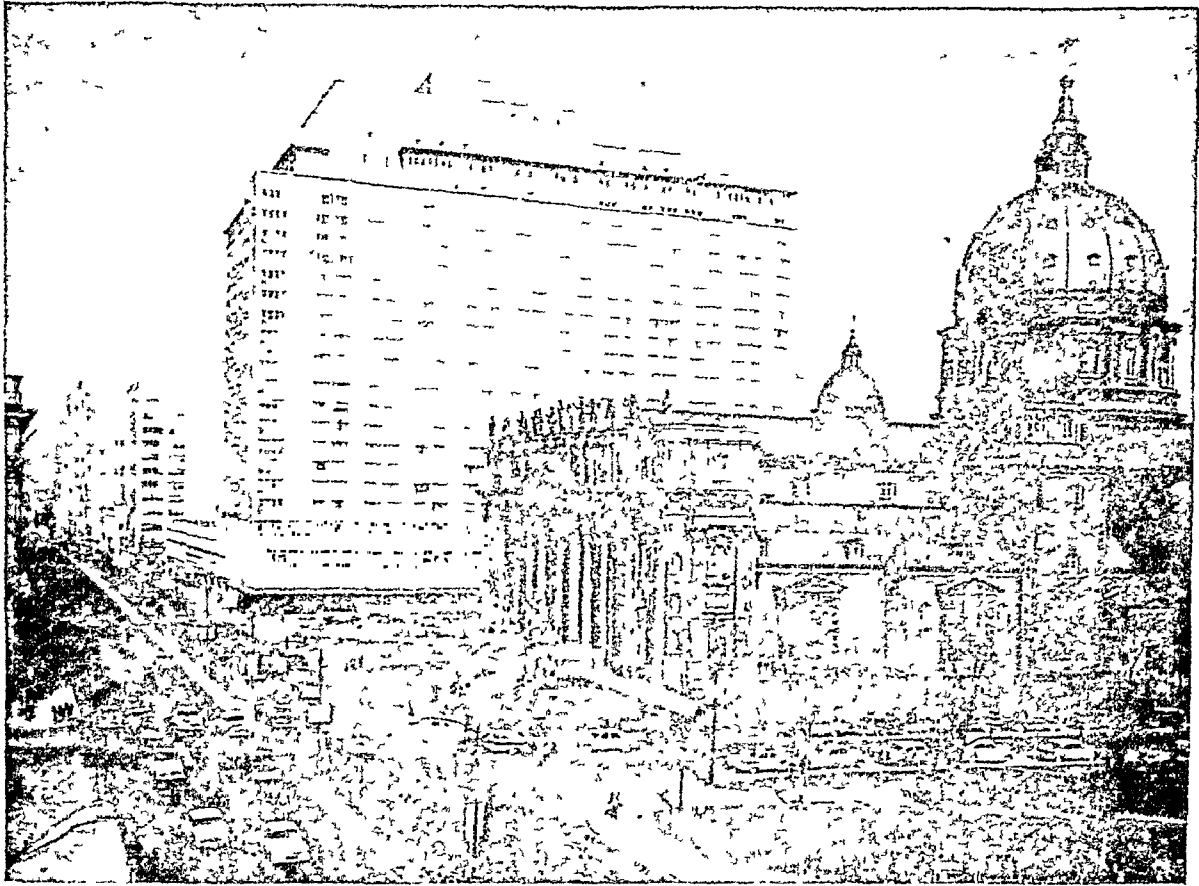
डोरचेस्टर स्ट्रीट, मॉण्ट्रियल (विवेक)
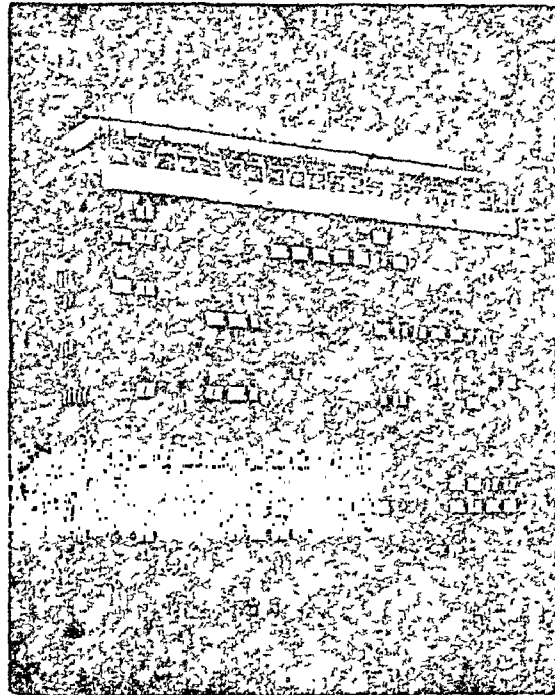
इंपीरियल आयल कंपनी का भवन, टरॉण्टो
यह सबसे ऊँचा भवन रात में भी जगमगाता है।

कोणार्क (देखिए पृष्ठ १९६)

कोणार्क का सूर्य मंदिर
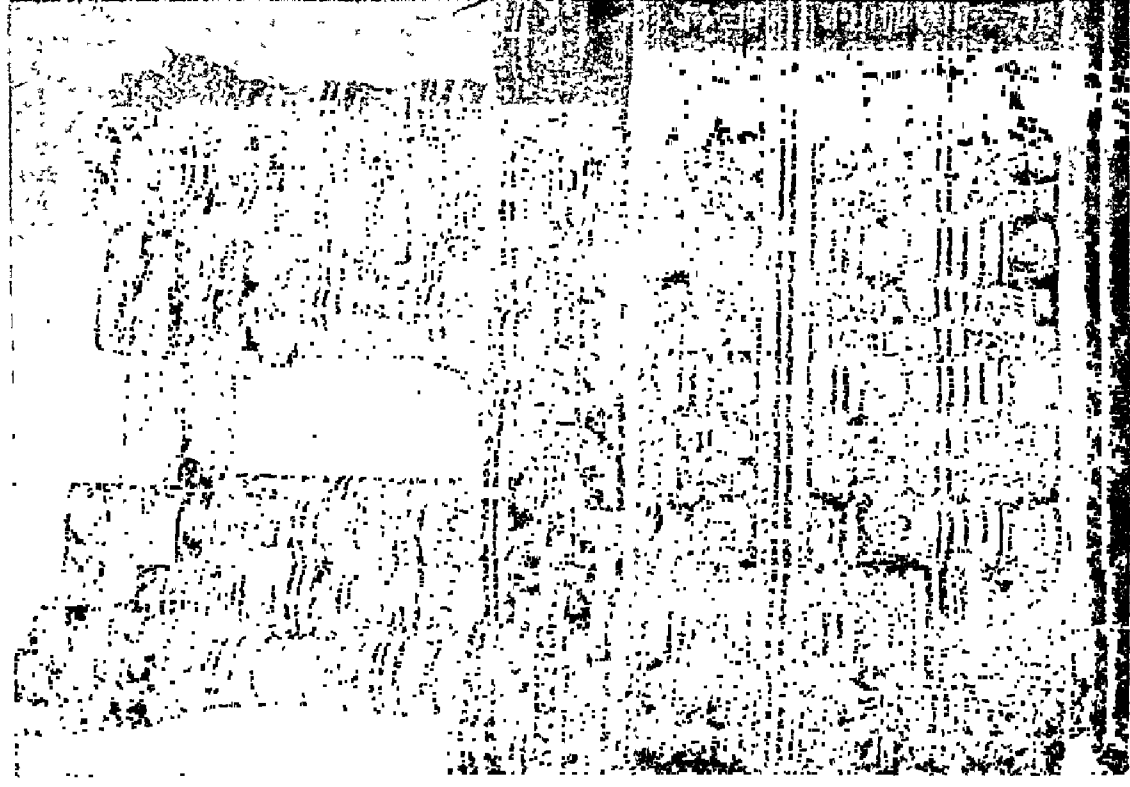
कोणार्क मंदिर के नटमंडप की दक्षिणी दीवाल

जीविका के साधन—कैनाडा के २८% (१७,४०,००,००० एकड़) भाग में कृषि की जाती है। २०वीं शताब्दी के आरंभ में यहाँ वृहत् परिमाण में गेहूँ की कृषि आरंभ हुई। उपजाऊ मिट्टी और पर्याप्त वर्षा इस के विकास के लिये सहायक हुई और कृषि के इस विकास के फलस्वरूप एक अंतर्महाद्वपीय रेलमार्ग (कैनेडियन पैसिफिक रेलवे) का जन्म हुआ, जो पूर्वी तट को पश्चिम से जोड़ता है। गेहूँ के अतिरिक्त जई (oat), जौ, नीवारिका (rye) फ्लैक्स और चुकंदर आदि अन्य प्रमुख उपज हैं। पशुपालन भी यहाँ के कृषि का एक अंग है और पशुओं के लिये घास की कृषि की जाती है।

मछली पकड़ना यहाँ का प्रमुख व्यवसाय है। यहाँ आधुनिकतम ढंग से प्रशांत तथा अंध महासागर और देश के अंदर की झीलों और नदियों से विविध प्रकार की मछलियाँ पकड़ी जाती हैं। इनमें कॉड, हैडक, पोलॉक, रेड फिश, हेलीवट, सैलमन, हेरिंग तथा लॉब्स्टर प्रमुख है। प्रति वर्ष लगभग २,००,००,००,००० पाउंड मछली पकड़ी जाती है।

खनिज संपत्ति और उत्पादन—खनिज पदार्थों का उत्पादन तथा औद्योगिक विस्तार अभी पिछले कुछ वर्षों से ही आरंभ हुआ है। यहाँ के खनिज धातुओं में ताँवा, निकल, जस्ता, सीसा और लोहा उत्पादन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। निकल मुख्यत: सडवरी से, ताँवा सडवरी, पिक्न, फ्लान तथा नारांडा की खानों से, जस्ता और सीसा ब्रिटिश कोलंबिया की और ऑण्टेरियो की खानों से तथा लोहा क्विवेक और लैब्राडॉर प्रदेशों से निकाला जाता है। ऑण्टेरियो प्रांत में कैनाडा की यूरेनियम तथा सोने की खानें हैं। उक्त खनिजों के अतिरिक्त ऐस्बेस्टस, गंधक और पोटाश अन्य खनिज हैं जिनका उत्पादन यहाँ होता है।

शक्ति के साधन—शक्ति के साधनों की दृष्टि से कैनाडा जलविद्युच्छक्ति से संपन्न है। इसका उपयोग यातायात, उद्योगों, घरों और खानों में होता है। नोवा स्कोशा तथा ऐलबर्टा की खानों से कोयला निकाला जाता है। मिट्टी के तेल के प्रमुख क्षेत्र ईरी तथा सेंट क्लेयर झीलों के मध्य में स्थित हैं।

उद्योग—कागज, लुग्दी तथा लकड़ी के सामान बनाना कैनाडा के प्रमुख उद्योग है। इनके अतिरिक्त धातुएँ साफ करना तथा मशीनों, वायुयान, रेलें तथा मोटर का निर्माण अन्य महत्वपूर्ण उद्योग है।

नगर—ओटावा, मॉण्ट्रियल, टरॉण्टो, वैंकूवर, विनिपेग, हैमिल्टन, केबेक तथा हैलिफैक्स इसके प्रमुख नगर हैं। ओटावा कैनाडा की राजधानी है; जो ऑण्टेरियो में ओटावा नदी के दाहिने तट पर तथा रिड्यू नहर पर स्थित है। यह एक सुनियोजित नगर है। धातुओं, लकड़ी के सामान, कागज तथा सीमेंट के निर्माण का प्रमुख औद्योगिक केंद्र है। मॉण्ट्रियल सेंट लारेंस नदी पर अंध महासागर से १,००० मील दूर स्थित नगर तथा बंदरगाह है। यहाँ से लकड़ी, अनाज, आटा, पशु, मक्खन, पनीर (चीज), समूर, कपड़ा तथा मशीनें आदि निर्यात होती हैं। क्विवेक सेंट लारेंस नदी के तट पर ऊँचे स्थान पर स्थित प्राचीन नगर है। नगर चारों ओर से दीवारों से घिरा है। नगर में चमड़े और लकड़ी के सामान के कई कारखाने हैं। यहाँ से मुख्यत: पशुओं, लकड़ी तथा अनाज का निर्यात होता है। कैनाडा के मध्य में, विनिपेग झील के ४५ मील दक्षिण स्थित विनिपेग नगर है जो मध्य कैनाडा के कृषि प्रदेश का व्यावसायिक केंद्र है। अनाज, लकड़ी तथा पशुओं से प्राप्त वस्तुओं का यह महत्वपूर्ण बाजार है। ब्रिटिश कोलंबिया प्रांत में वैंकूवर प्रशांत महासागर का बंदरगाह और अंतर्महाद्वीपीय रेल की लाइन का अंतिम स्टेशन है। यहाँ लुग्दी, कागज, कपड़ा, मशीनें और चीनी बनाने के कई कारखाने है। यह जलपोत के निर्माण, सैमन मछलियों को डिब्बे में बंद करने और लकड़ी के व्यवसाय का महत्वपूर्ण केंद्र है। (प्र० व०; प० ला० गु०)

कैनाडा का साहित्य

अँगरेज और फ्रांसीसियों का उपनिवेश होने के कारण कैनाडा की अपनी कोई स्थानिक संस्कृति नहीं है। फलस्वरूप यहाँ की साहित्यिक संरचना बँटी बँटी सी है। कुछ लोग अँगरेजी में लिखते हैं कुछ फ्रेंच में और इन रचनाओं में इन दोनों भाषाओं का स्पष्ट रूप से अलग अलग प्रभाव देखने में आता है।

अंग्रेजी साहित्य—कैनाडा के अंग्रेजी साहित्य के क्षेत्र में हेनरी एलाइन (१७४८–८४) को प्रथम लेखक माना जाता है। उनके 'लाइफ़ जर्नल्स' की तुलना अंग्रेजी लेखक बनयान की रचनाओं से की जाती है। ऑलिवर गोल्डस्मिथ इसके अन्य लेखक हैं। उनका 'द राइजिंग विलेज' अंग्रेज कवि गोल्डस्मिथ के 'द डेजर्टेड विलेज' की याद दिलाता है। यह कैनाडा का प्रथम पुस्तकाकार काव्य है। टामस हेलीबर्टन (१७९६–१८६५) कैनाडा के प्रथम उपन्यासकार हैं। उन्होंने अपनी हास्यरसप्रधान रचनाओं के कारण ख्याति प्राप्त की है। उनके 'द क्लॉकमेकर' का पात्र सैम स्लिक डिकेंस के प्रसिद्ध चरित्र सैम वैलर का प्रतिरूप जान पड़ता है। औपनिवेशिक काल के प्रमुख साहित्यकार जोजफ हो (१८०४–७३) थे, जो एक सफल कवि और विख्यात पत्रकार थे। उनकी अनेक रचनाओं में 'वेस्टर्न रैंवल्स' और 'ईस्टर्न रैंवल्स' नामक दो यात्राविवरण तथा 'कलेक्टेड पोएम्स ऐंड एसेज' नामक ग्रंथ प्रख्यात हैं। सुसाना मूडी (१८०३–८५) के 'रफिंग इट इन द बुश' में, तत्कालीन जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है और उनकी यह रचना आज भी लोकप्रिय है। इस काल के प्रमुख कवि जॉन रिचर्डसन (१७९६–१८५२) का १८१२ के युद्ध पर लिखा हुआ कथात्मक काव्य 'टेक्यूमेश' तथा 'वकूस्टा' नामक उपन्यास आज भी लोकप्रिय है। चार्ल्स सैंग्स्टर (१८२२–९३) की ख्याति 'द सेंट लारेंस ऐंड द सैग्विने', 'हेस्परस' और 'ऑवर नार्लेंड' नामक कविताओं पर आधारित है। कैनाडा का एकमात्र उत्कृष्ट नाटक चार्ल्स हेवीसेज (१८१६–७६) कृत 'सॉल' है।

१८६७ में संघ की स्थापना तथा विश्वविद्यालयों और शहरी जीवन के विकास ने कैनेडियन साहित्य को विशेष स्फूर्ति प्रदान की। गत शताब्दी के उत्तरार्ध के प्राय: सभी प्रमुख कवियों ने प्रकृति का चित्रण किया; उन पर अंग्रेजी रोमांटिक कवियों का स्पष्ट प्रभाव है। आइजावेला वैलेन्सी क्रॉफर्ड (१८५०–८७), चार्ल्स जी० टी० रावर्ट्‌स (१८६०–१९४३), आर्चिबाल्ड लैंपमैन (१८६१–९९), डंकन कैंपवल स्कॉट (१८६२–१९४७), एवं ब्लिस कार्मन (१८६१–१९२९) उस युग के प्रमुख कवि हैं।

१९वीं शताब्दी के अंत में उपन्यास साहित्य को लोकप्रियता प्राप्त हुई। विलियम कर्बी का 'द गोल्डन डॉग' तथा गिलबर्ट पार्कर का 'द सीट्स ऑव द माइटी' ऐतिहासिक उपन्यासों में विशेष स्थान रखते है। २०वीं शताब्दी के आरंभ के उपन्यासकार है रैल्फ कॉनर, एल० एम० मांटगोमरी, मार्शल सैंडर्स और गिलबर्ट पार्कर। इनके बाद मेजो द ला रोश का नाम आता है। उन्होंने अपनी 'जलना' नामक उपन्यासमाला तथा स्टीफेन लीकॉक ने अपनी हास्य रचनाओं द्वारा ख्याति प्राप्त की। यथार्थवादी उपन्यासकार एफ० पी० ग्रोव का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 'ओवर प्रेअरी ट्रेल्स', 'द टर्न ऑव द इयर' आदि को बहुत कुछ नोबेल पुरस्कार विजेता हैम्सन के अनुकरण पर लिखा है। उनसे कैनाडा के प्रेअरी जीवन का अत्यंत वास्तविक चित्रण किया है। इस काल के कवियों में मार्जरी पिथाल, आंद्रे अलेक्जेंड्रा ब्राउन, जॉन मैककाल और विलसन मैक्डानल्ड उल्लेखनीय है।

आधुनिक प्रसिद्ध लेखक है: एफ० ई० टी० मैक्डावेल, फ़िलिप चाइल्ड, विल बर्ट, टामस एच० रेडैल, कैथलीन कोवर्न, एथेल विल्सन, मोर्ले कैलेघन, ह्यू मैकलेनेन, गैब्रियल राय, राजर लेमेलिन। आइगर गोर्जेको की 'द फाल ऑव द टाइटन' ने, जिसकी पृष्ठभूमि सोवियत रूस है, विश्वव्यापी ख्याति प्राप्त की है। कवियों में ई० जे० प्रैट, अर्ल बर्नी, ए० एम० क्लाइन, एन० ए० मैके, डोरोथी लाइवसे, एन० मैरियट तथा जेम्स रेफ़र्ड के नाम उल्लेखनीय हैं।

फ्रेंच साहित्य—१८३७ ई० से पूर्व कैनाडा के फ्रेंच भाषा भाषी निवासियों में साहित्य के प्रति कोई जागरूकता देखने में नहीं आती। १८३७ के विद्रोह ने जब कैनाडा के फ्रेंच उपनिवेशों में आत्मगौरव और उत्साह का संचार किया और राष्ट्रीयभावना का जागरण हुआ तब अनेक पत्रकार और वक्ता उभरकर सामने आए। उनमें एतियाँ पारें (Etienne Parent) प्रमुख थे। वे ले कनादिएँ (Le Canadien) के संपादक थे। राष्ट्रीय भावना ने आर्थर वेरीज़, एल० ओ० डेविड, हॉरी बुरासा (Henri Bourassa), जे० पी० टार्डवेल, आदि अनेक लेखकों को अनुप्राणित किया। गार्नो द्वारा १९वीं शताब्दी के मध्य में लिखे गए

कैनाडा के इतिहास ने भी लेखकों को प्रेरणा प्रदान की। आक्तेव क्रिमाजी (Octave Cremazie) इस काल के प्रथम उल्लेखनीय कवि थे। उन्होंने देश और जाति के गौरवगीत गाए। उनपर ह्यूगो का प्रभाव स्पष्ट है। फ़िलिप ओबे द गैस्प (Phillipe Aubert de Gaspe) उपन्यासकार के रूप मे उभरकर सामने आए। उन्होने अपने उपन्यास 'ले आँसिएँ कनेदिएँ' (Les Anciens Canadien) में नए फ्रांस की परंपराओं का अंकन बड़ी आत्मीयता के साथ किया है। इन दोनो के अतिरिक्त लुई फ्रेशे (Louis Frechette), पैंफ़ीय ली मे (Pamphile Le May) और वू चैंपमैन भी इसी देशभक्त शाखा के उल्लेखनीय प्रतिनिधि हैं। इनकी रचनाएँ प्रकृतिप्रेम तथा राष्ट्रीय गौरव के उद्गारों से ओतप्रोत हैं।

२०वीं शताब्दी के आरंभ में लेखकों का झुकाव प्रतीकवाद की ओर होने लगा। इस दिशा में भी फ्रासीसी कवियों का अनुसरण ही आदर्श समझा जाता था। इस काल के उल्लेखनीय साहित्यकार हैं—जाँ शारबोनो (Jean Charbonneau), एमील नैसीगन, अल्फ्रेंं द रोशे (Alfred de Rochers) और आलोचक लुई दांते (Louis Dantin)। इनकी रचनाओं मे अपेक्षाकृत देशानुरागजनित संकीर्णता कम है; उनका झुकाव विश्वजनीनता की ओर ही अधिक है। उनकी रचना शैली भी अधिक मँजी हुई और कोमल है।

इस नई परंपरा के साथ साथ देशभक्ति की परंपरा बनी हुई थी। 'एकोल दे तेरवां' (Ecole de Terroir—धरती का संप्रदाय) नामक वर्ग क्षेत्रीयता की भावना से अब भी अनुप्राणित था। एड्जूटर रिवर्ड्स (Adjutor Rivards) ने 'शे नू' (Chez Nous) में ग्राम्य जीवन का बड़ा ही भावुक चित्रण किया है। रिंगे (Ringuet) के 'त्रांत आरपें' (Trente Arpents) में कृषक जीवन का सयत चित्रण है। इस प्रकार की रचनाएँ निरंतर होती रही। पाँचवें दशक में भी जर्मेन गूव्रेमां (Germaine Guevrement) ने जातीय भावना से ओतप्रोत काव्यों और आइव्ज थेरियो (Yves Theriault) ने उपन्यासो की रचना की। नेरो बोशमें (Neree-Beauchemin), ब्लाश लेमोताँय (Blanche Lamontagne), एलबेर फेरलाँ (Albert Ferland) और एलफ्राज देजिले (Alphonse Desilest) इस काल के अन्य उल्लेखनीय जातिवादी साहित्यकार हैं।

उपन्यासों की अन्य कई विधाओं का भी विकास इस काल मे हुआ। जोसेफ़ मामेत (Joseph Mamette) ने फ्रेंच राज्यकाल विषयक- ऑर० एल० द रोकब्रू (R. L de Roquebrun) ने १८३७ के विद्रोह से संबंधित और एल० पी० दे रोजिए (L P. Des Rosiers) ने 'फ़र' व्यापार संबंधी उपन्यासों की रचना की। गैब्रियल राय तथा रोजर लेमेलिन (Roger Lemelin) ने अपनी रचनाओं में मांट्रियल और क्यूबेक के नागरिक जीवन का चित्रण किया। लोर कोनान (Laure Conan) ने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात किया। आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारो में रोबेर शारबोनो (Robert Charbonneau), एफ़० लोरांजेर (F. Loranger), रोबेर एली (Rober Elie) तथा आंद्रे जीरो (Andre Giroux) प्रमुख हैं।

फ्रेंच कैनाडा में आज भी कविता का महत्व बना हुआ है। एस० डी० गार्मो (S. D. Garmean) आधुनिकतम कवि हैं जिनकी रचनाओं को राष्ट्रीय महत्व प्राप्त है। पाल मोरें (Paul Morin), आर० शोपें (R. Chopin), आर० शोके (R. Choquette) अन्य उल्लेखनीय कवि हैं। ब्लाश लामोताय (Blanche Lamontagne), एस० रूतिए (S. Routier), ईवा सेनेकल (Eva Senecal) तथा ऐन हेबेर (Anne Hebert) आदि अनेक कवयित्रियों को भी ख्याति प्राप्त है। कैनाडा में अब भी 'हेक्सागन', 'कैस्केड' जैसे तरुण कविसंप्रदायों का खूब जोर है और यह काव्य फ्रेंच साहित्य का फलता फूलता अंग बना हुआ है। शक्ति, स्फूर्ति और संवेदना इस काव्य के प्रधान लक्षण हैं।

फ्रेंच तथा अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में नाटक उपेक्षित सा ही है। मों लेमेलिन, आइव्ज थोरियो (Yves Theriault), आंद्रे जीरो, जर्मेन आदि नाटककारों के लिये रेडियो तथा टेलिविजन सुविधाजनक माध्यम बने हुए हैं।

आलोचना की दिशा मे केमील राय (Camille Roy) का विशेष संमान रहा है। आधुनिक आलोचकों मे एस० मेरिओ (S. Marion), आर० रमिली (R. Rumilly), गाई सिल्वेस्टर, डब्ल्यू० ई० कालिन आदि प्रमुख समझे जाते हैं। (प्र० कु० स०)

कैनिंग, चार्ल्स जान ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत स्थित अंतिम गवर्नर जनरल (१८५६–१८६१ ई०) तथा प्रथम वाइसराय। आक्सफर्ड में विद्वत्ता के कारण इनकी ख्याति रही। जब वे भारत आए उन दिनों देश में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध असंतोष फैल रहा था। फलत: १८५७ ई० मे देशव्यापी सिपाही विद्रोह हुआ। मुसलमानो ने मुगल साम्राज्य तथा हिंदुओं ने नाना की अध्यक्षता में अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास किया। ब्रिटिश सरकार तथा जनता दोनों इस विद्रोह के फलस्वरूप सचेत हुए। भारत का शासन ब्रिटिश पार्लमेंट ने ईस्ट इंडिया कंपनी से अपने हाथों में ले लिया। १ नवंबर, १८५८ को महारानी विक्टोरिया ने घोषणापत्र द्वारा लार्ड कैनिंग को अपना वाइसराय नियुक्त किया। भारत के शासन प्रबंध के लिये इंडिया कौंसिल तथा भारतसचिव की नियुक्ति की गई। कैनिंग के शासनकाल में सैनिक सुधार, अदालतों का सुधार तथा शिक्षासुधार आदि के विधान बने। सार्वजनिक हित के भी कुछ कार्य किए गए जिनमें सड़कें, नहरें, रेलवे लाइन आदि का प्रबंध है।

(शु० ते०)

कैनिंग जार्ज (१७७०–१८२७)। अंग्रेज राजनीतिज्ञ। ११ अप्रैल, १७७० को लंदन मे जन्म। पिता की मृत्यु के बाद माँ ने अपना दूसरा विवाह कर लिया। फलत: उनके चचा स्फैटर्ड कैनिंग ने उनकी देखभाल की। उन्होंने एटन और आक्सफर्ड मे शिक्षा प्राप्त की। १७९२ में आक्सफर्ड से निकले और एक वर्ष पश्चात् पार्लमेंट में पिट के सहायक के रूप मे भाग लेना आरंभ किया। १७९६ में विदेश संबंधी विभाग मे उपसचिव नियुक्त हुए। तीन वर्ष पश्चात् भारत के कमिश्नर बनाए गए। १८०० ई० मे सेना के ज्वाइंट पे मास्टर रहे। पिट के इस्तीफा देने पर इन्होंने भी इस्तीफा दे दिया। पिट ने जब दूसरी बार शासन ग्रहण किया तब कैनिंग नौसेना के कोषाध्यक्ष नियुक्त हुए। पिट के मरने के बाद फॉक्स के नेतृत्व मे काम करने से इनकार कर दिया। फॉक्स की मृत्यु के पश्चात् पुन: मंत्रिमंडल में वैदेशिक मंत्री बने और स्पेन से लड़ाई आरंभ की। १७१८ में ईस्ट इंडिया कंपनी के अध्यक्ष नियुक्त हुए और पिंडारियों तथा मराठों के विरुद्ध लड़ने में लार्ड हेस्टिंग्ज की सहायता की।

१८२२ में पुन: विदेश मंत्री बने और हाउस ऑव कामंस के नेता चुने गए। विदेशी नीति के कारण ही इनकी प्रसिद्धि हुई। ये विदेशी झगड़ों मे मौन रहे और पूर्वी आंदोलन का समर्थन किया। कैनिंग की नीति तटस्थता की रही, पर लापरवाही की कभी नहीं रही। उन्होंने संयुक्त संघ का साथ देने से इनकार कर दिया क्योंकि वह स्पेन के मामले में हस्तक्षेप कर रहा था। उनका कहना था कि 'अगर फ्रांस स्पेन पर अधिकार जमाना ही चाहता है तो उसे स्पेन के उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ेगा। मैंने नई दुनिया की नींव इसी लिए डाली है कि वह पुरानी दुनिया की राजनीति के दबाव से मुक्त हो।'

लीवरपूल के पश्चात् कैनिंग ने प्रधान मंत्री का पद सँभाला। मगर अधिक समय तक जीवित न रहे। ८ अगस्त, १८२७ ई० को उनकी मृत्यु हो गई। (मो० अ० अ०)

कैनिज़ारो, स्टैनिस्लाव (१८२६–१९१०)। प्रख्यात रसायन शास्त्री इटली के पालेरमो नामक स्थान में १३ जुलाई, १८२६ ई० को जन्म। १८४५–४६ तक उन्होंने पीज़ा (Pisa) और ट्यूरिन में सैलिसिन और ग्लूकोसाइड पर अनुसंधान कार्य किया। १८४८ ई० में सिसिली की क्रांति में भाग लेने के कारण मृत्युदंड मिला; पर वहाँसे भागकर पेरिस चले आए और वहाँ अनुसंधान कार्य शुरू किया। वहाँ इन्होंने

साइनोजन क्लोराइड पर ऐमोनिया की क्रिया से पहले पहल सायनामाइड तैयार किया। पैरिस से ये ग्रालेसांड्रिया (Alessandria) के टेक्निकल इंस्टिट्यूट में गए जहाँ उन्होंने 'कैनिजारो अभिक्रिया' का ग्राविष्कार किया। इसमें बेंज़ेलडिहाइड पर ऐल्कोहलीय पोटाश की क्रिया से ग्रम्ल ग्रौर ऐलकोहल दोनों, बेंजेलडिहाइड से बेंजोइक ग्रम्ल ग्रौर बेंजील ऐलकोहल प्राप्त होते हैं। बाद मे वे जिनीवा में रसायन के प्राध्यापक, तदनंतर पालेर्मो में कार्बन रसायन के प्राध्यापक नियुक्त हुए। वहाँ इन्होने कार्बनिक यौगिकों, विशेषत: ऐमिनों पर कार्य किया। फिर रोम विश्वविद्यालय में ग्राकर सैंटोनिन पर एवं परमाणु ग्रौर ग्रणुभारों के संबंध पर कार्य करके ग्रणुभार से ग्रौर पदार्थो की विशिष्ट उष्मा से परमाणुभार निकालने की विधि निकाली। इन ग्राविष्कारों के कारण १८९१ ई० में इन्हें रॉयल सोसायटी का कॉप्लि (Copley) पदक मिला। पीछे इटली के सिनेट के उपसभापति ग्रौर जनशिक्षा परिषद् के सदस्य नियुक्त हुए। इन पदों पर रहते हुए इन्होने इटली में वैज्ञानिक शिक्षा के प्रसार में बहुत योग प्रदान किया।

सं०ग्रं०--टिल्डेन का 'कैनिजारो मेमोरियल लेक्चर' (केमिकल सोसायटी के १९१२ के जर्नल मे); थॉर्प के 'एसेज इन हिस्टॉरिकल केमिस्ट्री' (१८९४), तृतीय संस्करण। (फू० स० व०)

कैनो, ज्वाँ सिबैस्टियन डेल (१४६०-१५२६ ई०)। स्पेन का प्रख्यात नाविक ग्रौर ग्रन्वेषक। ग्वेटारिया में १४६० ई० में जन्म। वे ग्रत्यंत साहसी एवं उत्कट प्रवृत्तियों के व्यक्ति थे। १५१९ ई० में फर्डिनेंड मैगलन के ग्रन्वेषणदल मे कंसेप्शियों (Concepcion) जहाज के कप्तान बने। मैगलन की मृत्यु के ग्रनंतर उन्होंने 'विक्टोरिया' नामक जहाज का नेतृत्व किया। लगभग तीन वर्ष तक ग्रत्यंत विकट ग्रौर ग्रनजान रास्तों एवं समुद्रों में परिभ्रमण करते हुए ६ ग्रगस्त, १५२२ ई० को स्पेन पहुँचे। वे संसार के प्रथम नाविक है जिन्होने सारे भूमंडल की परिक्रमा की। दूसरी बार की ग्रन्वेषणयात्रा में ४ ग्रगस्त, १५२६ ई० को प्रशांत महासागर में उनका देहांत हुग्रा। (का० ना० सिं०)

कैबट जॉन (१४५०-१४९८ ई०)। इटली के प्रसिद्ध नाविक एवं ग्रन्वेषक। इनका जन्म इटली के जनेवा नगर में हुग्रा था। १४६१ ई० मे वेनिस नगर में उन्होंने व्यापार ग्रारंभ किया। १४७६ ई० मे वे वहाँ के नागरिक बने। मार्च, १४९६ में हेनरी सप्तम से ग्राज्ञापत्र प्राप्तकर मैथ्यू नामक जहाज लेकर ब्रिस्टल के बंदरगाह से रवाना हुए ग्रौर उत्तरी ग्रमरीका के केप ब्रेटन द्वीप पर एशिया का उत्तरपूर्वी द्वीप समझकर ग्रधिकार किया। न्यूफाउंडलैंड होते हुए वे इंग्लैंड लौटे। १४९८ ई० मे दूसरी यात्रा में ग्रीनलैंड के पूर्वी समुद्रतट तथा ६७°३०' उत्तर ग्रक्षांश होते हुए बैफिन द्वीप से घूमकर महाद्वीपीय भाग में ३८° उत्तर ग्रक्षांश के समीपस्थ भागों का परिभ्रमण करते हुए ब्रिस्टल ग्राए ग्रौर उसी वर्ष, उनका देहांत हो गया। (का० ना० सिं०)

कैबट सेबैस्टियन (१४७६-१५५७ ई०)। जॉन कैबट का पुत्र जिसकी मानचित्रकार, ग्रन्वेषक तथा भूगोलवेत्ता के रूप में ख्याति है। उन्होंने ब्राजिल के ला प्लाटा (La Plata) क्षेत्र का चार वर्षों तक ग्रन्वेषण किया। १५४४ ई० में उभरा हुग्रा रंगीन मानचित्र बनाने के कारण भूगोलवेत्ता के रूप में उन्हें ग्रंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। १५४७ ई० में वे ब्रिस्टल (इंग्लैंड) में बस गए, वहाँ उन्हें ग्राजीवन राजकीय वृत्ति प्राप्त होती रही। वहाँ इन्होंने कंपनी ग्रॉव मर्चेट ऐडवेंचरर्स नामक एक संस्था स्थापित की थी। (का० ना० सिं०)

कैबिनेट इंग्लैंड की शासन व्यवस्था से विकसित शासन-व्यवस्था का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण ग्रंग। इसका प्रचलन प्राय: उन सभी देशों में है जो ब्रिटिश कामनवेल्थ के सदस्य हैं। कुछ ग्रन्य देशों में भी यह व्यवस्था प्रचलित है। भारत के केंद्रीय एवं प्रादेशिक शासन का भी यह ग्रंग है। सामान्य रूप में संसद की लोकसभा (ग्रथवा प्रादेशिक शासन में विधानसभा) में जिस दल का बहुमत हो या जो बहुमत प्राप्त कर सकता हो, उस दल या दलों के समूह के सदस्यों में से चुने हुए राजनीतिज्ञों का यह एक निकाय है। इसको सदन नहीं चुनता, बल्कि वे प्रधान मंत्री या मुख्य मंत्री द्वारा मनोनीत होते हैं। लोकसभा (ग्रथवा विधानसभा) के द्वारा जनमत सरकार पर नियंत्रण रखता है ग्रौर ग्रपने बहुमत द्वारा लोकसभा (ग्रथवा विधानसभा) सरकार पर नियंत्रण रखती है। किंतु 'सरकार' कैबिनेट से बड़ा शासन निकाय है। सरकार मे मंत्री, पार्लामेंटरी सचिव ग्रादि वे सब संमिलित हैं जिनकी कार्यावधि राजनीतिक है। कैबिनेट ग्रपेक्षाकृत महत्वपूर्ण मंत्रियों का ग्रधिक छोटा समुदाय है जो देश (ग्रथवा प्रदेश) के शासन के संबंध मे सारे महत्वपूर्ण मामलों मे नीति का निर्धारण ग्रौर निर्णय करता है। इसका ग्राकार सरकार के विविध विभागो के कार्यभार के ग्रनुसार घटता बढ़ता ग्रौर देश-देश मे बदलता रहता है। इंग्लैंड मे, यह संख्या २० पर ग्राकर सीमित हो गई है; किंतु जब कभी इसकी संख्या १० से ग्रधिक हो जाती है तो एक 'इनर कैबिनेट' सा बन जाता है जिसमें प्रधानमंत्री के ग्रधिक निकटवर्ती पाँच या छह सहयोगी रहते हैं जिनसे परामर्श करके वह सारी महत्वपूर्ण समस्याग्रो का निर्णय करता है। भारत में इस प्रकार के ग्रांतरिक कैबिनेट जैसी कोई व्यवस्था नही है।

कैबिनेट सरकार के सभी सदस्य संसद् (व्यवस्थापिका सभा) के सदस्य होते हैं या नियुक्ति के थोड़े समय के बाद ही उन्हे सदस्य निर्वाचित हो जाना ग्रनिवार्य होता है। भारत मे कभी कभी विधान परिषद् मे सरकार द्वारा मनोनीत सदस्यों को भी मंत्रिमंडल मे ले लिया जाता है पर यह ग्रपवाद स्वरूप ही। सरकार तब तक ही पदस्थ रह सकती है जबतक लोकसभा (ग्रथवा विधानसभा) मे उसे बहुमत का बल प्राप्त हो। यदि किसी महत्वपूर्ण समस्या पर उसकी पराजय हो जाय या वह व्यवस्थापिका सभा का विश्वास खो दे तो उसके लिये पदत्याग करना ग्रावश्यक है। दलो के सुसंगठित होने ग्रौर कठोर ग्रनुशासन का पालन करने के कारण कैबिनेट का उत्तरदायित्व घट गया है। शासित होने के स्थान पर कैबिनेट बहुमत के द्वारा व्यवस्थापिका सभा पर शासन करती है; तथापि जनता के मन को ग्रभिव्यक्त करने के मंच के नाते, लोकसभा (विधानसभा) का महत्व बना हुग्रा है। किंतु देखा जाता है कि जनमत का कैबिनेट पर ग्रधिक सीधा नियंत्रण है। कैबिनेट को व्यवस्थापिका सभा के प्रति ग्रपील का ग्रधिकार है—दूसरे शब्दों में सभा को भंग करने का ग्रधिकार है। किंतु, इस ग्रधिकार का उपयोग किसी विशेष ग्रवसर पर जनमत की ग्रनुकूल लहर का लाभ उठाने के लिये ग्रथवा निश्चित समय से पहले ही ग्राम चुनाव कराने के लिये होता है।

कैबिनेट प्रणाली में महत्वपूर्ण स्थिति प्रधानमंत्री (प्रदेशों में मुख्यमंत्री) की है। लास्की के शब्दों में वह 'बड़े से बड़े ग्रधिकारियों से उच्चतर किंतु निरंकुश शासक से कम" है। सरकार के गठन का वह केंद्र है, उसके जीवन का केंद्र है, ग्रौर उसके ग्रवसान का केंद्र है। वह जो कुछ है उसके ग्रनुरूप ही कोई कैबिनेट को ग्रपना रूप निर्धारित करना पड़ता है ग्रौर वह उसके निर्देश में कार्य करती है।

सर्वत्र प्रधान मंत्री (मुख्यमंत्री) वैधानिक प्रधान द्वारा मनोनीत होता है, वह चाहे राजा हो या राष्ट्रपति, गवर्नर जनरल हो या गवर्नर। व्यावहारिक रूप में यह मनोनयन राजनीतिक परिस्थितियों द्वारा है। मनोनीत व्यक्ति को ग्रपने सहयोगियों को प्राप्त करने या लोकसभा को मान्य सरकार बनाने में समर्थ होना ग्रावश्यक है। सामान्यत: बहुमतवाले दल के माने हुए नेता को सरकार बनाने के लिये निमंत्रित किया जाता है। उसमें वैधानिक प्रधान की रुचि-ग्ररुचि का प्रश्न नहीं होता। किंतु विशेष परिस्थितियों में वैधानिक प्रधान सीमित निर्णय का ही प्रयोग कर सकता है। यह तब होता है जब प्रधानमंत्री (मुख्यमंत्री) ग्रवकाश ग्रहण करता है या त्यागपत्र देता है ग्रथवा जब लोकसभा (विधानसभा) में कोई एक दल बहुमत में नहीं होता या राष्ट्रीय संकट के ग्रवसर पर, जब एक दल की ग्रपेक्षा सामान्यत: मिली जुली सरकार ग्रच्छी मानी जाती है। किंतु ऐसी ग्रवस्थाग्रों में भी वैधानिक प्रधान का निर्णय नियंत्रित ही होता है। मनोनीत व्यक्ति के लिये ऐसी स्थिति में होना ग्रावश्यक है कि वह ऐसी सरकार बना सके जो व्यवस्थापिका का समर्थन प्राप्त कर सके।

कैबिनेट के सदस्यों से सर्वत्र ग्रपेक्षा की जाती है कि वे संयुक्त रूप में काम करें। वह व्यवस्थापिका के, देश के ग्रौर वैधानिक प्रधान के सामने

अपने को एक संयुक्त रूप में प्रस्तुत करे। अत पारस्परिक मतभेद कैबिनेट की बैठकों म गुप्त रूप से ठीक कर लिए जाते है। समस्त सदस्यो से अपेक्षा की जाती है कि व कैबिनेट के सभी निर्णयो का अनुमोदन, यदि आवश्यक हो तो, भाषण और मतदान द्वारा करे। कैबिनेट का उत्तरदायित्व सामूहिक माना जाता है, यदि कोई मत्री यदि अपने सहयोगियो के मत की अवहेलना कर स्वतत्र रूप से कार्य करता है तो वह हटा दिया जाता और त्यागपत्र देने पर विवश किया जाता है। कैबिनेट की एकता का प्रतीक और वैधानिक प्रधान से सपर्क रखने म मुख्य सूत्र प्रधान मत्री (मुख्य मत्री) को किसी सहयोगी से त्यागपत्र माँगने और कैबिनेट की एकता अक्षुण्ण बनाए रखने का अधिकार है।

कैबिनेट प्रणाली वहाँ अधिक सफलतापूर्वक काम करती है जहाँ दो सुसगठित दल हो—एक सत्तारूढ हो और दूसरा विरोध मे हो और यह अनुभव करे कि यदि सरकार का पतन हुआ तो सरकार चलाने का उत्तरदायित्व उसपर आ सकता है। अत वह पूरे उत्तरदायित्व के साथ शासन की कमजोरियो का उद्घाटन करता रहे। विरोधी पक्ष आलोचना के लिये आलोचना म नही पडता, प्रत्युत शासन का सुधार करने के विचार से और जनमत को अपने पक्ष म करने के लिये ताकि निर्वाचको से दूसरे अवसर पर अपील करने मे सफलता प्राप्त करे। विरोधी पक्ष के इस स्वरूप को इग्लैंड मे मान्यता प्राप्त है और वह शासनतत्र का उतना ही महत्वपूर्ण अग है जितना बहुमतप्राप्त दल। परिणामत वह हर मैजेस्टी के विरोधी दल के नाम से पुकारा जाता है और उसके नेता को मान्यताप्राप्त जनसेवा का उत्तरदायित्वपूर्ण ढग से निर्वाह करने के लिये सरकारी खजाने से नियमित वेतन मिलता है। इस परपरा को भारत मे भी अपनाया गया है और विरोध पक्ष के नेता को मत्री के समान वेतन प्राप्त होता है।

कैबिनेट सरकार वहाँ स्थायी नही हो पाती जहाँ दलो का बाहुल्य हो अथवा जहा ऐसे समूह हो जिन्हे स्प्लिटर ग्रुप्स कहा जाता है। भारत मे विरोधी दल अभी तक अपनी स्थिति दृढ नही कर सके है। प्राय देखा जाता है कि सत्तारूढ दल के भीतर भी अधिकार के लिये सघर्ष चलता रहता है और दल के स्थायित्व को बराबर भय बना रहता है। मत्रिमडल निर्विघ्न रूप से लोगो की भलाई और शासनकार्य नही कर पाता।

कैबिनेट शासनपद्धति का विकास यद्यपि इग्लैंड मे हुआ किंतु उसका सृजन वहाँ के किसी कानून द्वारा नही हुआ। १९३७ ई० तक तो पार्लमेंट के किसी भी ऐक्ट मे इसका उल्लेख नही है। १९३७ मे जो 'मिनिस्टर्स ऑव द क्राउन ऐक्ट' बना उसमें केवल इस बात की व्याख्या है कि कैबिनेट मे कौन मत्री रहेगे। इग्लैंड मे आज भी कैबिनेट का काम पूर्णत परपराओ पर चलता है। अन्य कामनवेल्थ देशो मे तथा अन्यत्र यह मौलिक विधान का अग बन गई है।

इग्लैंड मे कैबिनेट शासन प्रणाली विकासक्रम का एक लबा इतिहास है। वह निरतर विकसित और बदलती अवस्थाओ के अनुसार अपने को उसके अनुकूल बनाती रही। परिणामस्वरूप यह प्रणाली जिन देशो मे प्रचलित है उनमे सबकी कार्यपद्धति एक सी नही है।

कैबिनेट प्रणाली को समझने के लिये हमे १६६० ई० के रेस्टोरेशन पर विचार करना होगा जिसके अनुसार प्रभुत्व का रूप तो राजा का रहा किंतु वास्तविक शासन सत्ता पार्लमेंट को हस्तातरित कर दी गई। चार्ल्स (द्वितीय) ने पचास सदस्यो की प्रिवी कौंसिल को महत्वपूर्ण मामलो मे गोपनीयता के साथ फुर्ती से काम निपटाने मे अक्षम देखकर मत्रियो के उस छोटे से समूह पर निर्भर रहना आरभ किया जो उसके विश्वासभाजन थे और पार्लमेंट मे अपने पक्ष को प्रबल करने का जोडतोड कर सकते थे। ये लोग राजा से एक छोटे बद चैबर या 'कैबिनेट' मे मिला करते। किंतु १७वी शताब्दी म 'कैबिनेट' पार्लमेंट द्वारा सदेह की दृष्टि से देखा जाता रहा।

विलियम (तृतीय) ने अपने शासनकाल के अतिम दिनो मे अर्ल ऑव सडरलैंड की सलाह मानकर १६९२ मे केवल एक दल से अपने मत्री चुने। १६९५ के चुनाव के बाद, जिसमे ह्विग दल का हाउस ऑव कामन्स मे बहु-, उसने दोनो दलो से मत्री नियुक्त करने के बजाय पार्लमेंट के ह्विग सदस्यो में से ही ससृष्ट आधार पर मत्रिमडल का गठन किया। इस मत्रिमडल को लोगो न 'जटा' नाम से पुकारा क्योकि यह गुप्त रूप से और एक समूह की भाति काम करता था। पार्लमेंट ने इसके प्रति बहुत असतोष व्यक्त किया—'उन्हें दड नही दिया जा सकता क्योकि उनके कामो का पता नहीं चलता।'

फलत १७१० ई० तक एकदलीय मत्रिमडल वाली बात पूर्णरूप स कार्यान्वित न हो सकी। महारानी ऐन के शासन के अतिम वर्षा मे ही कैबिनेट प्रणाली की दिशा मे कुछ प्रगति हुई। मत्री लोग परामर्श के लिये और सारे सरकारी कामो मे निर्णय लेने के लिये जब भी आवश्यकता होती ह्वाइट हॉल मे सीनियर सेक्रेटरी ऑव स्टेट के दफ्तर मे मिला करते। और सामान्यत सप्ताह मे एक बार रानी के 'कैबिनेट' मे उपस्थित होते और राजकाज तथा अपने निर्णय से उसे अवगत कराते। प्रिवी कौंसिल के अधिवेशनो मे केवल औपचारिक कामकाज होते। तथापि बाद में होनेवाली जाँच पडताल की सभावनाओ को ध्यान मे रखते हुए, मत्रियो ने यह बुद्धिमत्तापूर्ण सावधानी बरत रखी थी कि विवादास्पद बातो को प्रिवी कौंसिल के सामने प्रस्तुत करते और उसपर उसका औपचारिक निर्णय प्राप्त करते।

१७१४ ई० मे जार्ज प्रथम के राज्यारोहण होने और ह्विग दल के सत्तारूढ होने पर उसके ४६ वर्ष तक निरतर अधिकार प्राप्त किए रहने के फलस्वरूप राजा के हस्तक्षेप के बिना मत्रियो द्वारा शासनव्यापार चलाते रहने की प्रथा दृढ हो गई। राजा ने कैबिनेट के अधिवेशनो मे जब अनुपस्थित रहना आरभ कर दिया तब कैबिनेट का सारा दायित्व प्रधानमत्री पर आ पडा और तब कैबिनेटरूपी सस्था का वास्तविक जन्म हुआ। १७२१–४२ मे सर राबर्ट वालपोल ने सत्तारूढ होने पर अपना सम्माननीय पद स्थापित करने और शासन की सामान्य नीति निर्धारित करने का सफल प्रयास किया। उन्होने अपने सहयोगियो से सहयोग प्राप्तकर राजा और पार्लमेंट के सामने सयुक्त मोर्चा बनाया और अपनी नीति का समर्थन न करनेवाले टाउनसेड और चेस्टरटन जैसे सहयोगियो को पदत्याग करने पर विवश किया। उन्होने इस बात का आग्रह किया कि मत्रियो का चुनाव उनपर छोड दिया जाय। उन्होने पार्लमेंट का अवलब लेकर शासन किया, किंतु तबतक दलो के सगठन और अनुशासन का विकास नही हुआ था, उन्हें अपने बल और सरक्षण का उपयोग करना पडा और पार्लमेंट पर अधिकार रखने के लिये घूसखोरी और भ्रष्टाचार की शरण लेनी पडी। किंतु जब १७४२ मे उन्हें पार्लमेंट का अवलब नही मिल पाया तो उन्होने पदत्याग कर दिया और हाउस ऑव कामस मे पराजित होने पर मत्रिमडल द्वारा पदत्याग करने की परपरा की स्थापना की। और पिट (कनिष्ठ) ने हाउस ऑव कामस के विरुद्ध प्रधानमत्री द्वारा निर्वाचको से अपील कर सकने की परपरा स्थापित किया। किंतु महारानी विक्टोरिया के राज्य की लबी अवधि (१८३७–१९०१) मे जब सवैधानिक शासन स्थापित हुआ तब आधुनिक कैबिनेट प्रणाली के शासन ने क्रमश अपना रूप स्थिर किया।

स०ग्र०—जी० बी० ऐडम्स द ओरिजिन ऑव दि इग्लिश कास्टीट्यूशन, जी० बी० ऐडम्स दि कास्टीट्यूशन हिस्ट्री ऑव इग्लैंड, एच० टेलर ओरिजिस ऐंड ग्रोथ ऑव दि इग्लिश कास्टीट्यूशन, ए० बी० ह्वाइट, मेकिंग ऑव द इग्लिश कास्टीट्यूशन, डब्ल्यू० आर० ऐंसन दि कैबिनेट इन दि सेवेटीथ ऐंड एट्टीथ सेंचुरीज, ए० बी० डिके दि प्रिवी काउसिल, मेरी टी० ब्लैनुवेल, दि डेवलपमेंट ऑव दि कैबिनेट गवर्नमेंट इन इग्लैंड, ई० आर० टर्नर दि कैबिनेट इन दि एट्टीथ सेचुरी, वाल्टर बैग्हाट दि इग्लिश कास्टीट्यूशन, डब्ल्यू० आर० एसन ला ऑव दि कास्टीट्यूशन, ए० एल० लोवेल गवर्नमेंट ऑव इग्लैंड (भाग १), सिडनी लो गवर्नमेंट ऑव इग्लैंड, एफ० ए० ओग इग्लिश गवर्नमेंट ऐंड पालिटिक्स, एच० लास्की पार्लमेंटरी गवर्नमेंट इन इग्लैंड, आइवर जेनिंग्स कैबिनेट गवर्नमेंट। (गु० नि० सिं०, प० ला० गु०)

अमरीकी कैबिनेट—लोकतात्रिक शासित देश होने के कारण सयुक्त राष्ट्र अमरीका मे भी शासन तत्र मे कैबिनेट को स्थान प्राप्त है। किंतु वहाँ उसका रूप इग्लैंड तथा राष्ट्रमडलीय देशो के कैबिनेट से सर्वथा भिन्न है। वहाँ कैबिनेट के सदस्य ससद् (काग्रेस) के किसी सदन के सदस्य नहीं

होते और न वे सदन में अपनी बातें उपस्थित कर सकते हैं। सदन के प्रति उनका कोई उत्तरदायित्व नहीं होता। वे मात्र राष्ट्रपति के उत्तरदायी होते हैं। किंतु इंग्लैंड की ही तरह यहाँ भी कैबिनेट की कोई चर्चा शासन-विधान में नहीं है। उसका संघटन और विकास व्यवहार और परंपरा के रूप में ही हुआ है। सामूहिक रूप से कैबिनेट न तो वैध है और न उसे किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त है। सर्वप्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन ने अपने तीन प्रमुख प्रशासकों तथा अटार्नी जनरल को, जिसे उस समय तक विभागीय प्रधान का महत्व प्राप्त नहीं था, अपने गुप्त परामर्शदाता की मान्यता प्रदान की। उस समय तक उसे कैबिनेट जैसी संस्था का रूप प्राप्त न था। धीरे धीरे वे अन्य विभागीय अध्यक्षों को इस परामर्श में संमिलित करने लगे; और १७७३ में पहली बार राष्ट्रपति के सलाहकारों को कैबिनेट के नाम से पुकारा गया। यह कैबिनेट ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकती जिसे राष्ट्रपति उससे सलाह लिए बिना भी न कर सकता हो। तथापि इस कैबिनेट की बैठक नियमित रूप से सप्ताह में एक बार होती है और इसकी बैठक की बात न प्रकाशित की जाती और न उसका कोई लिखित विवरण रखा जाता है। इस बैठक में केवल उन्हीं बातों पर विचार होता है जिनपर राष्ट्रपति विमर्श करना चाहता है। सामान्यत: प्रशासन की नीतिसंबंधी महत्व की बातों अथवा उन बातों पर विचार होता है जिन्हें राष्ट्रपति अथवा कैबिनेट का सदस्य संसद् (कांग्रेस) में विचारार्थ उपस्थित करना चाहता है। (प० ला० गु०)

कैमचैटका (Kamchatka) उत्तरीपूर्वी एशिया का एक प्रायद्वीप जो पूरब में बेरिंग सागर एवं पश्चिम में ओखोट्स्क सागर द्वारा घिरा है। यह रूसी सोवियत संघ का एक प्रदेश है जो उत्तर से दक्षिण ७५० मील लंबा एवं पूरब से पश्चिम २५० मील चौड़ा है। इसका क्षेत्रफल १,०४,२६० वर्गमील है। इसमें उत्तरपूर्व से दक्षिण-पश्चिम में फैली पर्वतश्रेणी के ७,००० फुट से भी अधिक ऊँचे कई शिखर हैं। इनमें कई ज्वालामुखी पर्वत भी हैं। यहाँ भूकंप बहुधा आते रहते हैं। ३०० मील लंबी कैमचैटका नदी प्रायद्वीप के मध्य भाग से निकलकर उत्तर-पूर्व में बहती हुई बेरिंग सागर में गिरती है। अन्य नदियों में येलोका (कैमचैटका की सहायक), अवाच्चा (Avatcha) और तागिल (Tagil) प्रमुख हैं।

तटीय समुद्र में अनेक प्रकार की मछलियाँ मिलती हैं। वन्य जीवों में लोमड़ियाँ, रेनडियर, भालू, भेड़िए इत्यादि बहुतायत से मिलते हैं। दक्षिणी भाग में पर्वतीय ढाल वनाच्छादित हैं जिनमें बर्च, लार्च, देवदारु, चीड़ आदि के वृक्ष हैं। कोयला, ताँबा, लोहा, गंधक, सोना आदि खनिज भी यहाँ प्राप्त हैं। यहाँ के प्रमुख आदिवासी कोर्यक तटीय भागों में मछली तथा अंतर्भागों में रेनडियर द्वारा निर्वाह करते हैं। यहाँ कैमचाडेल (Kamchadels) जाति के मिश्रित (मंगोलियन-साइबेरियन) रक्त के लोग संख्या में सर्वाधिक हैं। कृषि, पशुपालन एवं मत्स्य उद्योग उनके प्रमुख धंधे हैं। पेट्रोपैवलॉवस्क (Petropavlovsk) इस प्रदेश की राजधानी है तथा पैलेंस एवं निझनी कैमचैट्स्क (Nizhne Kamchatsk) प्रमुख नगर हैं। (का० ना० सिं०)

कैमरून (देश) अफ्रिका के मध्यपश्चिम तटीय भाग का एक प्रदेश। इस प्रदेश का मध्य तथा दक्षिणी भाग पठारी है, जिसकी ऊँचाई लगभग २,००० फुट है और जो पश्चिम में ऊँचा होकर संकीर्ण समुद्री तट निर्मित करता है तथा दक्षिणपूर्व में कांगो बेसिन में क्रमश: नीचा होता गया है। उत्तर और उत्तरपश्चिम में चाप की तरह फैली विदीर्ण किंतु विषम धरातलीय ऊँची पर्वतश्रेणियाँ हैं। इसके उत्तर में ऐडामावा (Adamawa) का पहाड़ी क्षेत्र तथा उत्तर में मैदानी भाग तथा चैड झील है। इस प्रदेश में चार विभिन्न प्रवाह प्रणालियाँ हैं : १. अनलातक महासागर में गिरनेवाली सनगा तथा न्योंग प्रणाली, २. नाट भील प्रणाली जिसमें लोगोन तथा अन्य नदियाँ मिलती हैं; ३. कांगो प्रणाली, ४ नाइजर प्रणाली। जलवायु उष्ण कटिबंधीय है। पठार पर ५०" से ६०" तक, नैड बेसिन में २०" तथा कैमरून पर्वत क्षेत्र में ४००" से ५००" तक औसत वार्षिक वर्षा होती है। वनों में महोगनी, एबोनी, मागोन तथा अन्य बहुमूल्य लकड़ियाँ मिलती हैं। चावल, मक्का, केला, आलुक (याम, Yams), कसावा (Cassava) आदि की कृषि होती है। कहवा तथा कपास के जंगली पौधे भी मिलते हैं।

१९१६ ई० से पूर्व यह जर्मनी का उपनिवेश था। प्रथम महायुद्ध काल में फ्रेंच और अंगरेजी सेना ने इसपर अधिकार कर लिया। इसके बड़े भाग पर १९१९ से फ्रांस का शासन रहा। १ जनवरी, १९५९ ई० को यह फ्रेंच ट्रस्टीशिप के अंतर्गत आया और १ जनवरी, १९६० ई० को उसे पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हुई। जो भाग अंग्रेजों के शासन में रहा, उसके दो भाग थे। उत्तरी भाग ने १९६१ की फरवरी में जनमत गणना के आधार पर नाइजीरिया के संघराज्य में संमिलित होने का निश्चय किया। फलत: अब वह नाइजीरिया संघराज्य का अंग है। किंतु दक्षिणी भाग ने कैमरून के संघराज्य में संमिलित होने का निश्चय किया और वह कैमरून के संघराज्य में संमिलित कर लिया गया।

कैमरून राज्यसंघ का क्षेत्रफल ४,७४,००० वर्गमील है और उसकी जनसंख्या लगभग ५,७०,००,००० है। इसके मुख्य नगर हैं—याउंडे, डोला, कागसवा, ईडिया, मारुआ, एबोलोवा, गरुआ, तिको, कुंबा, बमेंडा, विक्टोरिया और ब्यूआ। (का० ना० सिं०; प० ला० गु०)

कैमरून (पर्वत) पश्चिमी अफ्रीका के कैमरून प्रदेश के उत्तर और उत्तरपश्चिमी छोर पर कटावपूर्ण (Broken structure) विषम धरातलीय चाप की तरह फैली पर्वतश्रेणी के पश्चिमी छोर पर स्थित एक जाग्रत ज्वालामुखी पर्वत। इसका पददलीय आधार लगभग ८०० वर्गमील है। इसके दो प्रमुख शिखर हैं—बड़ा कैमरून (१३,३७० फुट), जिसमें अनेक ज्वालामुखी विवर (Craters) हैं और छोटा कैमरून (५,८२० फुट), जिसका ढाल सर्वथा वनाच्छादित है। यह पर्वतक्षेत्र संसार के सर्वाधिक वर्षावाले (औसत ४००–५८० इंच वार्षिक) क्षेत्रों में है। पर्वत के ठीक दक्षिण २० मील चौड़ी कैमरून इस्चुअरी या खाड़ी है जिसमें मुंगो तथा बुरी (Wuri) नदियाँ बहती हैं। (का० ना० सिं०)

कैमूर (पर्वत) भारत की विंध्य पर्वतश्रेणी का पूर्वी भाग जो मध्य प्रदेश के जबलपुर जिले में कटंगी के पास (२३°२६' उ० अ० से ७९°४८' पू० दे०) प्रारंभ होकर सर्वोत्तरी श्रेणी के रूप में रोहतास-गढ़ क्षेत्र (२४°५७' उ० अ० से ८४°२' पू० दे०) तक चली जाती है। इसकी अधिकतम चौड़ाई लगभग ५० मील है। मध्यप्रदेश के जुनेखी स्थान से उत्तर पूर्व की ओर लगभग १५० मील तक यह पर्वतश्रेणी सोन नदी की घाटी के उत्तरी किनारे पर खड़ी दीवाल के रूप में चली जाती है। इस क्षेत्र में बलुआ पत्थर की प्रधानता है किंतु कहीं कहीं परिवर्तित चट्टानें भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। गोविंदगढ़ के पास लगभग २,०००' ऊँचा भाग उत्तर पश्चिम की ओर चला जाता है। रोहतासगढ़ क्षेत्र के मध्य छोटी किंतु अत्यंत उपजाऊ घाटियाँ स्थित हैं। पहाड़ों की ढालें अत्यंत खड़ी एवं दुर्गम हैं परंतु बीच बीच में दर्रे हैं। चुनारगढ़, विजयगढ़ तथा रोहतासगढ़ के किलों के कारण इन श्रेणियों का ऐतिहासिक महत्व है। विजयगढ़ के पास कंदराओं से प्रागैतिहासिक चित्र एवं प्रस्तरकालीन हथियार उपलब्ध हुए हैं। संपूर्ण क्षेत्र में भवननिर्माणार्थ बलुआ पत्थर की खदानें हैं। चूना पत्थर से डालमियानगर, जपला, बनजारी और चुर्क में सीमेंट तथा चूना बनता है। डेहरी-ऑन-सोन के दक्षिण डेहरी-रोहतास-तदिया रेलवे के पास बनजारी एवं अमझोर में गंधक के खनिज माक्षिक (Pyrites) मिले हैं। (का० ना० सिं०)

कैमेरियस, रुडोल्फ जैकब (१६६५–१७२१ ई०) प्रख्यात वनस्पतिशास्त्री। इनका जन्म जर्मनी के टूबिंगेन (Tubingen) में १२ फरवरी, सन् १६६५ को हुआ था। ये टूबिंगेन में वनस्पति उद्यान के निदेशक तथा वनस्पति विज्ञान के प्राध्यापक रहे। इनकी महत्वपूर्ण खोज यह थी कि फूलनेवाले पौधों में लिंग होते हैं। पौधों के संसेचन और बीजोत्पादन के लिये पराग (Pollen) आवश्यक है। इस विषय पर

उनका शोध प्रबंध 'द सेक्सु प्लैटम एपिस्तोला' (De Sexu Plantum Epistola) महत्व का है। (फू० स० व०)

कैयट पतजलि के व्याकरणभाष्य की 'प्रदीप' नामक व्याख्यात्मक टीका के रचयिता। उनके पिता का नाम जैयटोपाध्याय (महाभाष्यार्णवावारपारीणविवृतिप्लवम्। यथागम विधास्येऽह कैयटो जैयटात्मज) था। अनुमान है कि वे कश्मीर निवासी थे। पीटर्सन ने 'कश्मीर की रिपोर्ट' मे कैयट (और उव्वट) को प्रकाशकार मम्मट का भाई और जैयट का पुत्र कहा है। 'काव्यप्रकाश' की 'सुधासागर' नामक टीका मे १८वी शती के भीमसेन ने भी कैयट और औवट शुक्लयजुर्वेद-सहिता के भाष्यकार) को मम्मट का अनुज और शिष्य बताया है। पर यजुर्वेदभाष्य पुष्पिका मे औवट (या उव्वट) के पिता का नाम वज्रट कहा गया है।

काश्मीरी ब्राह्मणपडितो के बीच प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार कैयट पामपुर (या येच) गाँव के निवासी थे। महाभाष्यात पाणिनि व्याकरण को वे कठस्थ ही पढाया करते थे। आर्थिक स्थिति दयनीय होने के कारण उदरपोषण के लिये उन्हें कृषि आदि शरीरश्रम करना पडता था। एक बार दक्षिण देश से कश्मीर आए हुए पडित कृष्ण भट्ट ने कश्मीरराज से मिलकर तथा अन्य प्रयत्नो द्वारा कैयट के लिये एक गाव का शासन और धनधान्य सग्रह किया और लेकर जब वे उसे समर्पित करने उनके यहाँ पहुँचे तो उन्होने भिक्षादान ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। वे कश्मीर से पैदल काशी आए और शास्त्रार्थ मे अनेक पडितो को हराया। वही 'प्रदीप' की रचना हुई। इस टीकाग्रथ के सबध मे उन्होने लिखा है कि उसका आधार भर्तृहरि (वाक्यपदीयकार) की भाष्यटीका है (जो अब पूर्णरूप से अप्राप्य है)। 'प्रदीप' मे स्थान स्थान पर पतजलि और भर्तृहरि के स्फोटवाद का अच्छा दार्शनिक विवेचन हुआ है। 'देवीशतक' के व्याख्याकार 'कैयट' इनसे भिन्न है। (क० प० त्रि०)

कैरामजिन, निकोलाइ मिखाइलेविच (१७६६-१८२६) रूसी इतिहासकार एव लेखक। इनका जन्म जमींदार परिवार म सिंबिर्स्क नामक प्रात मे हुआ था। किशोरावस्था से ही कैरामजिन 'मेसन' समाज मे भाग लेने तथा पत्र-पत्रिकाओ मे लेख लिखने लगे। इसी समय से इनकी रुचि साहित्य तथा इतिहास मे बढने लगी। उन्होने १७९१-९२ ई० मे 'मास्को समाचारपत्र' का प्रकाशन आरभ किया तथा १८०२ मे 'यूरोप का समाचार' नामक समाचारपत्र की नीव डाली। यह समाचारपत्र सारे ससार मे जाता था और प्राय १९वीं शताब्दी के अत तक प्रकाशित होता रहा। उन्होंने विभिन्न लेखको की रचनाओं का चयन 'अग्लाया' नाम से दो भागो में किया (१७९५-९४)। उन्हें कदाचित् रूसी साहित्य मे भावुकता का प्रवर्तक कहा जा सकता है। 'गरीब लिजा' (१७९२) उपन्यास की रचनापद्धति से इस भावुकताप्रधान धारा की झलक मिलती है। जर्मनी, स्विटजरलैड, फ्रास तथा इग्लैड की यात्रा पर लिखे गए 'रूसी यात्री के पत्र' (१७९१-९२) मे भी इसी भावुकताप्रवण धारा की झलक है। विभिन्न रूसी साहित्य पर इनकी रचनाओं ने विपुल प्रभाव डाला। उन्होंने रूसी भाषा से अप्रचलित शब्दो को निकाला तथा उसे धर्म तथा स्लाव प्रभाव से मुक्तकर और व्यावहारिक शब्दों को प्रयोग में लाकर उसे जनोपयोगी रूप दिया। उनका यह कार्य 'कैरामजिन का भाषासुधार' नाम से प्रसिद्ध है। रूस के महान् काव्यकार वी० ए० जुकवस्कि, के० एन० बात्युस्कोव तथा युवा साहित्यकार ग्रा० स० पुश्किन ने इनकी रचनापद्धति का अनुसरण किया है।

वे एक शालीन इतिहासकार भी थे। १८०३ ई० से वे इतिहास के अध्ययन मे लगे। उन्हें तत्कालीन राजकीय इतिहासकार माना जाता है। उनका 'रूस का इतिहास' (१८१६-१९) अपने समय की महान कृति मानी जाती है। यह १२ खडो मे लिखा गया है। अतिम खड इनके मरणोपरात प्रकाशित हुआ। ऐतिहासिक तथ्यों की दृष्टि से वे अत्यत प्रामाणिक लेखक माने जाते हैं।

स०ग्र०—डी० ब्लाग्य इतिहास विज्ञान के इतिहासवृत्त, यू० एस० एस० आर०, मास्को, १९५५, १८वीं शताब्दी के रूसी साहित्य का इतिहास, ३ खड, मास्को, १९५५। (शाँ० ले० स्तै०)

कैरारा (Carrara) इटली के टस्कनी क्षेत्र के अपूनिया प्रात मे स्थित जिला एव नगर। इस जिले मे सगमरमर की कई अति प्राचीन एव अर्वाचीन खदानें हैं जिनके सगमरमर मूर्तिरचना के लिये अति उत्तम माने जाते है और कैरारा सगमरमर के नाम से प्रसिद्ध हैं। उजले सगमरमर मे प्राकृतिक रूप से बीच बीच में काली पीली शिराएँ मिलती हैं। लगभग २,००० वर्षो से यहाँ सगमरमर की खुदाई हो रही है, परतु अभी भी अमित भडार शेष है। इस जिले का प्रमुख नगर कैरारा भूमध्यसागर के पास ही लैवेंसा नदी के तट पर फ्लोरेंस नगर से लगभग ६० मील उत्तर-पश्चिम एक घाटी मे बसा है। (बा० ना० सि०)

कैरिकेचर व्यक्ति, समाज अथवा राजनीति पर चित्रो के माध्यम से व्यग्य कसने अथवा उपहास करने की सामान्य विधा को कैरिकेचर कहते हैं। यह मूलत फ्रेंच का शब्द है और फ्रेंच मे यह इतालवी शब्द कैरिकेचुरा से लिया गया था जिसका तात्पर्य वैयक्तिक गुणो अथवा अवगुणो का अतिरजित चित्रण था। चित्रकला की इस विधा का आरभ ढूँढनेवाले लोग इसे अरस्तू के काल तक जा पहुँचते हैं। अरस्तू ने पाउसन नामक एक कलाकार का उल्लेख किया है जो लोगो का उपहास चित्रो के माध्यम से किया करता था। प्लीनी ने बूपुलस और अथेनिस नामक दो मूर्तिकारो की चर्चा की है जिन्होने कवि हिपानाक्स का, जो देखने मे बदसूरत लगता था, मजाक बनाने के लिये एक मूर्ति बनाई थी। किंतु इनके बाद किसी चित्रकार अथवा मूर्तिकार का पता नही लगता जिन्होंने इस प्रकार का कोई अकन किया हो। लिनार्डो द विन्सी नामक विख्यात चित्रकार के बनाए विकृत चेहरो के अनेक चित्र उपलब्ध होते हैं जिन्हें सामान्य भाव से कैरिकेचर की सज्ञा दी जा सकती है किंतु उनके सबध मे कहा जाता है कि उन्हें उन्होने किसी प्रकार की उपहास भावना से प्रस्तुत नहीं किया था वरन् वे वस्तुत असाधारण कुरूप लोगो के रेखाचित्र है जिन्हें उन्होने मनोयोगपूर्वक अध्ययन कर तैयार किया था। इस प्रकार सोलहवी शती के बाद ही इस विधा के विकास का क्रमबद्ध इतिहास यूरोप मे प्राप्त होता है।

कैरिकेचर का महत्व उसकी रचना म उतना नही है जितना कि उसके प्रचार प्रसार मे। अत मुद्रण साधनो के विकास के साथ ही इसका भी विकास हुआ और पत्र पत्रिकाओ से उसे विशेष प्रोत्साहन मिला और आज इसे सभी पत्र पत्रिकाओ में महत्व प्राप्त है। अब यह कैरिकेचर की अपेक्षा कार्टून नाम से अधिक प्रसिद्ध है। अपने इस रूप मे यह सामयिक सभी प्रकार की गतिविधियों पर प्रच्छन्न रूप से चुटीली टीका का एक सशक्त माध्यम माना जाता है। (प० ला० गु०)

कैरीबिएन (सागर) अतलातक महासागर मे उत्तरी, मध्य एव दक्षिणी अमरीका तथा पश्चिमी द्वीपसमूह से घिरा हुआ एक विशाल सागर जो लगभग १,८०० मील लबा और सर्वाधिक ९०० मील चौडा है। इसका क्षेत्रफल ७,५०,००० वर्गमील है। यह सागर कई प्रबल प्रभजनो (hurricanes) का जन्मदाता है। इसमें अनेक खाडियाँ, भृगु (cliffs) तथा अतरीप हैं। समुद्रतटीय महाद्वीपीय क्षेत्रो एव द्वीपो का धरातल अत्यत विषम है। इस सागर के द्वीप डूबे हुए भजित पर्वतो के ऊपरी भाग के रूप मे अवस्थित हैं। इसमें क्यूबा, जमैका, ट्रिनिडैड, प्युरटो रीको (Puerto Rico), ऐड्रोस, हैटी एव डोमिनिकन रिपब्लिक, लेसर ऐंटलीज (Lesser Antills), बहामा तथा बरमूडा द्वीपसमूह प्रमुख है। इसके द्वीप तथा पास के महाद्वीपीय भाग कहवा, चीनी, उष्णकटिबधीय फल, खनिज तेल आदि के लिये ससार मे प्रसिद्ध है। (का० ना० सिं०)

कैरो (१८६६-१९३६ ई०)। विश्वविख्यात सामुद्रिक शास्त्री और भविष्यवक्ता। इनका वास्तविक नाम जान ई० वार्नर था और उनका जन्म आयरलैड मे हुआ था किंतु बचपन मे ही अपनी माँ के साथ इग्लैड आ गए। वहीं उन्होंने शिक्षा प्राप्त करने का प्रयास किया किंतु

आर्थिक कठिनाई के कारण समुचित शिक्षा व्यवस्था न हो सकी। बचपन से ही उन्हें ज्योतिष और हस्तरेखा के प्रति दिलचस्पी थी। अतः तत्संबंधी ज्ञानप्राप्ति के निमित्त १७ वर्ष की अवस्था में ही १८८३ ई० में वे भारत आए और आठ वर्ष तक देश में घूम घूमकर सामुद्रिक विद्या की जानकारी प्राप्त की और अपने इस संचित ज्ञान के बल पर उन्होंने सामुद्रिक विद्या को अपने ढंग से व्यवस्थित रूप दिया।

१८९१ ई० में वे वापस इंग्लैंड गए। एक दिन जब वे ईस्ट एंड मुहल्ले से हो कर जा रहे थे तो उन्हें एक दीवार पर किसी के हाथ की छाप दिखाई पड़ी। उसे उन्होंने ध्यान से देखा और कहा कि वह किसी ऐसे हत्यारे के हाथ की छाप है जिसने अपने किसी निकट संबंधी की हत्या की है। पुलिस उन दिनों एक हत्यारे की खोज में थी। उसने उनकी इस बात का सूत्र पकड़कर खोज आरंभ की तो पता लगा कि जिसके हाथ की वह छाप थी उसने अपने पिता की हत्या की थी और पुलिस उसी मामले में हत्यारे को ढूंढ़ रही थी।

इस बात की समाचार पत्रों में काफी चर्चा हुई। उनकी अनायास ख्याति हो गई और लोग उनके पास आने लगे। छोटे से बड़े अनेक लोगों की हस्तरेखा देखकर उनका जीवन वृत्त बताने में वह सफल रहे। १८९३ ई० में वह अमरीका गए। वहाँ पहुँचने पर 'न्यूयार्क वर्ल्ड' नामक पत्रिका ने उनके पास कुछ ऐसे लोगों के हाथों की छाप भेजी जिनके संबंध में किसी प्रकार के पूर्व ज्ञान की संभावना न थी; और कहलाया कि यदि उन हस्त-रेखाओं के संबंध में उनकी बताई बातें सत्य ठहरीं तो उक्त पत्र उनका मुफ्त प्रचार करेगा अन्यथा उन्हें तत्काल अमरीका छोड़कर वापस जाना होगा। कैरो ने उन हस्तछापों को देखकर उक्त पत्र के संवाददाता दल को जो बातें बताईं, वे सर्वांश में सत्य थीं। फलतः उक्त पत्र ने अपने रविवासरीय अंक में कैरो के संबंध में एक विस्तृत लेख प्रकाशित किया।

इस प्रकार लगभग चालीस वर्षों तक हस्त सामुद्रिक के रूप में कैरो संसार का भ्रमण करते रहे और दिनों दिन उनकी ख्याति बढ़ती गई। १८९७ ई० में रूस के जार ने भी उन्हें अपने यहाँ बुलाया था। जार के हाथ की छाप को देखकर, यह जाने बिना ही कि वह किसकी छाप है, उन्होंने जो भविष्यवाणी की वह २० वरसों बाद सर्वांश में सत्य निकली।

कैरो ने अपने सामुद्रिक विद्या संबंधी सिद्धांतों के प्रतिपादन में अनेक ग्रंथ लिखे हैं जिनमें लैंग्वेज ऑव द हैंड, बुक ऑव नंबर्स, व्हेनवर यू्‌ वार्न, गाइड टू द हैंड, यू ऐंड योर हैंड आदि कुछ प्रमुख हैं। इनमें वर्णित सिद्धांतों को लोग प्रामाणिक मानते हैं।

अपने विषय के प्रकांड पंडित होते हुए भी कैरो का वैयक्तिक जीवन लोगों के लिये सदा रहस्यमय बना रहा। कुछ लोग उन्हें संदेह की दृष्टि से देखते और षड्यंत्री मानते थे। उन्होंने हस्तरेखा के आधार पर अनेक संभ्रांत लोगों के जीवन रहस्य प्रकट किए जिससे समाज में काफी हलचल मचती रही। निदान लंदन की पुलिस ने उनपर प्रतिबंध लगाया कि वह किसी का जीवन वृत्त न बखाने। कुछ देशों ने तो उन्हें इसी कारण अपने देश में रहने पर रोक लगाई। फलतः परेशान होकर कैरो ने अपना पेशा त्यागकर पेरिस में शराब बनाने का एक कारखाना खोल लिया। बाद में उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया और अमरीकन रजिस्टर नामक पत्र निकाला। फिर उन्होंने एक निजी बैंक की स्थापना की। इस व्यवसाय में किसी व्यापारी का रुपया गोलमाल करने के अपराध में उन्हें एक वर्ष की सजा मिली। जेल से छूटने पर उन्होंने एक बार फिर अपने सामुद्रिक ज्ञान के बल पर जीवनयापन की चेष्टा की। १९३६ ई० में हालीउड (अमरीका) में उनकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

कैरो, प्रताप सिंह (१९०१–१९६५ ई०) पंजाब के एक प्रमुख राजनीतिज्ञ और नेता। इनका जन्म अमृतसर जिले के कैरो नामक ग्राम में हुआ था। खालसा कालेज से बी० ए० कर अमरीका गए और वहाँके मिशिगन विश्वविद्यालय से एम० ए० किया; और वहीं वे भारत की राजनीति की ओर अग्रसर हुए। भारतीय स्वतंत्रता के लिये अमरीका में गदर पार्टी के नाम से जो संस्था स्थापित हुई थी, उसके कार्यों में आप सक्रिय रूप से भाग लेने लगे।

भारत वापस आने पर १९२९ ई० में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में संमिलित हुए और तब से स्वतंत्रता प्राप्त होने तक कांग्रेस के आंदोलनों में निरंतर भाग लेते रहे और जेल गए।

स्वाधीनता के पश्चात् आप विधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और अंततोगत्वा वे अपने प्रदेश के मुख्यमंत्री बने। जिन दिनों से मुख्यमंत्री थे उन दिनों पंजाब की राजनीतिक स्थिति अत्यंत विस्फोटक थी। उन दिनों मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में स्वतंत्र पंजाब प्रांत आंदोलन जोरों से चल रहा था। प्रांत में एक प्रकार की अराजकता मची हुई थी। कैरो ने अपने सुदृढ़ व्यक्तित्व और राजनीतिक दूरदर्शिता से आंदोलन का सामना किया और उनकी कूटनीति आंदोलन के मुख्य स्तंभ मास्टर तारा सिंह और संत फतह सिंह में फूट उत्पन्न करने में सफल हुई तथा आंदोलन छिन्न भिन्न हो गया। वे एक स्थिर और प्रभावशाली शासक के रूप में उभरकर सामने आए। उन्होंने अपने प्रदेश की आर्थिक अवस्था को विकसित करने का सर्वांगीण प्रयास किया। उद्योग और कृषि दोनों ही क्षेत्रों में पंजाब ने अभूतपूर्व उन्नति की। १९६२ ई० में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो कैरो ने अपने प्रदेश से जन और धन से जैसी सहायता की वह अपने आपमें एक इतिहास है।

इस प्रकार की महत्ता के बावजूद उनका व्यक्तित्व अपनी मर्यादा बनाए न रख सका। वैयक्तिक पक्षपात और भ्रष्टाचार के आरोप उनपर लगे और उन्हें १९६४ ई० में मुख्य मंत्री पद का परित्याग करना पड़ा। उसके कुछ ही दिनों बाद १९६५ के आरंभ में एक दिन जब वे मोटरकार द्वारा दिल्ली से वापस लौट रहे थे, मार्ग में कुछ लोगों ने उन्हें गोली मार दी और तत्काल उनकी मृत्यु हो गई। (प० ला० गु०)

कैरोलिन (द्वीपसमूह) प्रशांत महासागर में लगभग १०° से ३०° उत्तर अक्षांश तथा १३१° से १३६° पूर्व देशांतर रेखाओं तक फैला हुआ माइक्रोनीसिया (Micronesia) में संमिलित और राष्ट्र-संघ द्वारा संरक्षित द्वीपसमूह। इसमें ९६३ ज्वालामुखीय द्वीप तथा प्रवाल वलय हैं जिनका क्षेत्रफल ४६३ वर्गमील है। यह चार प्रशासकीय भागों में विभाजित है। प्रमुख द्वीपों में पालो द्वीप (बाबेलतू आप, कोरोर तथा पेलेडिड), याप, टब्लिन, पोनापे तथा कूसाइए (Kusaie) हैं। इन द्वीपों में प्राकृतिक साधनों का अभाव है। लगभग एकतिहाई भूमि कृषि योग्य है। नारियल, पपीते, केले, गन्ने आदि की फसलें प्रमुख हैं। दस्त-कारी तथा मत्स्योद्योग यहाँ के अन्य धंधे हैं। यहाँ के मुख्य निवासी माइक्रोनीसियन (Micronesian) हैं जिनके परंपरागत जीवन पर जापानियों एवं श्वेत जातियों का प्रभाव पड़ा है। ट्रक नामक नगर प्रमुख शैक्षिक केंद्र है। (का० ना० सिं०)

कैंदूर्चो, विसेंते (१५७८–१६३८) स्पेनी चित्रकार और कला-समीक्षक। फ्लोरेंस में जन्म, माद्रिद में निवास। वे राजकीय चित्रकार थे किंतु उनकी ख्याति उनके प्रतिपादित सिद्धांतों के लिये है। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ दियालोगो दे ला पितूरा कलासमीक्षा के क्षेत्र में अत्यंत महत्व का माना जाता है। (प० उ०)

कैलगारी कैनाडा के एल्बर्टा राज्य का, बो तथा एल्बो नदियों के संगम पर बसा ३,१४०' की ऊँचाई पर स्थित प्राचीन नगर (स्थिति ५१°२' उ० अ० से ११४°५' प० दे०)। आसपास के अन्नोत्पादक प्रदेश तथा कोयला क्षेत्रों एवं टर्नर घाटी के तैल प्रदेश का यह व्यापारिक केंद्र है। यहाँ बो नदी से विद्युत् उत्पन्न की जाती है तथा निकट के तैलक्षेत्र प्राकृतिक गैस प्रदान करते हैं। यह धूमहीन नगर है। १९६६ ई० की गणना के अनु-सार इसकी आबादी ३,३०,५७५ है। (शि० मं० सिं०)

कैलगुर्ली पश्चिमी आस्ट्रेलिया का प्रमुख स्वर्णखनिज नगर (स्थिति ३०°५०' द० अ० से १२१°२०' पू० दे०)। यहाँ १८९३ ई० में स्वर्णोत्पादन प्रारंभ हुआ और आज यह महाद्वीप में सबसे अधिक स्वर्णोत्पादक क्षेत्र है। (कै० ना० सिं०)

कैलसाइट विभिन्न रंगो मे पाया जानेवाला खनिज, जो कैलसियम कार्बोनेट ($Ca\ CO_3$) से बना है। यह खनिज विदलन सतहों, काचोपम चमक, अल्प कठोरता (= ३) तथा आपेक्षिक घनत्व (२ ७) के कारण सरलता से पहचाना जा सकता है। मद हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की एक बूंद से ही इसमे बुदबुद उठने लगते है।

यह जब कैलसियम कार्बोनेट शिलाओ की तहो के रूप मे पाया जाता है तब इसे चूनापत्थर (limestone) कहते हैं। चूनापत्थर के कायान्तरण मे सगमरमर बनता है। रंगहीन पारदर्शक किस्म को आइसलैंड स्पार (Iceland spar) कहते हैं। द्विवर्तक होने के कारण इसका उपयोग सूक्ष्मदर्शी, फोटोमीटर तथा अन्य प्रकाशीय यत्रो मे किया जाता है। (म० ना० मे०)

कैलसियम रसायन की आवर्तसारिणी के द्वितीय मुख्य समूह का धातु-तत्व। यह क्षारीय मृदा धातु है और शुद्ध अवस्था मे यह अनुपलब्ध है। किंतु इसके अनेक यौगिक प्रचुर मात्रा मे भूमि मे मिलते हैं। भूमि मे उपस्थित तत्वो मे मात्रा के अनुसार इसका पाँचवाँ स्थान है।

यह अत्यत सक्रिय तत्व है। इस कारण इसको शुद्ध अवस्था मे प्राप्त करना कठिन कार्य है। प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक रॉबर्ट बुन्सन ने क्लोराइड के विद्युद्विच्छेदन द्वारा इस तत्व को असयुक्त अवस्था मे तैयार किया था। आजकल कैलसियम क्लोराइड तथा फ्लोरस्पार के मिश्रण को ग्रैफाइट मूषा मे रखकर विद्युद्विच्छेदन द्वारा इस तत्व को तैयार करते हैं।

शुद्ध अवस्था मे यह सफेद चमकदार रहता है, परतु सक्रिय होने के कारण वायु के ऑक्सिजन एवं नाइट्रोजन से अभिक्रिया करता है। इसके मणिभ फलक केंद्रित घनाकार रूप के होते हैं। यह घातवर्ध्य तथा तन्य तत्व है। इसके कुछ गुणधर्म निम्नाकित है :

सकेत	कै (Ca)
परमाणु अक	२०
परमाणु भार	४० ०८
परमाणु अर्धव्यास	१०$^{-८}$ सेंटीमीटर
गलनाक	८१०° सेंटीग्रेड
क्वथनाक	१,२००° सेंटीग्रेड
घनत्व (२०° सेंटीग्रेड पर)	१ ५५ ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर
विद्युत्प्रतिरोधकता	४ ६ × १०$^{-६}$ ओह्म सेंटीमीटर

साधारण ताप पर यह वायु के ऑक्सिजन और नाइट्रोजन से धीरे धीरे अभिक्रिया करता हे, परतु उच्च ताप पर तीव्र अभिक्रिया द्वारा चमक के साथ जलता हे और कैलसियम ऑक्साइड (कैऑ, CaO) बनाता हे। जल के साथ अभिक्रियाकर यह हाइड्रोजन उन्मुक्त करता है और लगभग समस्त अधातुओ के साथ अभिक्रियाकर यौगिक बनाता है।

इसके रासायनिक गुण अन्य क्षारीय मृदा तत्वो (स्ट्रांशियम, बेरियम तथा रेडियम) की भाँति हैं। यह अभिक्रिया द्वारा द्विसयोजकीय यौगिक बनाता है। ऑक्सिजन के साथ सयुक्त होने पर कैलसियम ऑक्साइड का निर्माण होता है, जिसे कली चूना (quicklime) भी कहते हैं। पानी मे घुलने पर कैलसियम हाइड्रॉक्साइड, या शमित चूना या बुझा चूना (slaked lime) बनता है। यह क्षारीय पदार्थ है, जिसका उपयोग गृह-निर्माण-कार्य मे पुरातन काल से होता आया है। चूने मे बालू, जल आदि मिलाने पर प्लास्टर बनता है, जो सूखने पर कठोर हो जाता है और धीरे धीरे वायुमडल के कार्बन डाइऑक्साइड से अभिक्रियाकर कैलसियम कार्बोनेट मे परिणत हो जाता है।

कैलसियम अनेक तत्वो (जैसे हाइड्रोजन, फ्लोरीन, क्लोरीन, ब्रोमीन, आयोडीन, नाइट्रोजन, कार्बन, सल्फर आदि) के साथ अभिक्रियाकर यौगिक बनाता है। कैलसियम क्लोराइड, हाइड्रॉक्साइड तथा हाइपोक्लोराइट का एक मिश्रण कैक्लो$_2$ कै (ओहा)$_2$ हा$_2$ओ [$CaCl_2 Ca(OH)_2$. H_2O) और कै (ओक्लो)$_2$, [Ca (OCl)$_2$] ब्लीचिंग पाउडर कहलाता है, जो वस्त्रों आदि के विरंजन में उपयोगी है। कैलसियम कार्बो-

अपचायक तत्व होने के कारण कैलसियम अन्य धातुओ के निम[...] में काम आता है। कुछ धातुओ मे कैलसियम मिश्रित करने पर उपयो[...] मिश्रधातुएँ बनती है। कैलसियम के यौगिको के अनेक उपयोग हैं। [...] यौगिक (नाइट्रेट, फॉसफेट आदि) उर्वरक के उपयोग मे आते [...] कैलसियम कार्बाइड का उपयोग नाइट्रोजन स्थिरीकरण उद्योग मे ह[...] है और इसके द्वारा एसीटिलीन गैस बनाई जाती है। कैलसियम सल[...] द्वारा प्लैस्टर ऑव पैरिस बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ यौगि[...] चिकित्सा, पोर्सिलेन उद्योग, काच उद्योग, चर्म उद्योग तथा लेप आदि[...] निर्माण यह मे उपयोगी ह।

भारत के प्राचीन निवासी कैलसियम के यौगिक तत्वो से परिचित [...] उनमे चूना (कैलसियम आक्साइड) मुख्य है। मुहें-जो-दडो और ह[...] के भग्नावशेषो से ज्ञात होता है कि तत्कालीन निवासी चूने का उपय[...] अनेक कार्यो मे करते थे। चूने के साथ कतिपय अन्य पदार्थो के मिश्रण[...] वज्रलेप तैयार करने का उल्लेख प्राचीन साहित्य मे प्राप्त होता है। च[...] ने ऐसे क्षारो का वर्णन किया है जिनको विभिन्न समाक्षारो पर चूने [...] अभिक्रिया द्वारा बनाया जाता था। कुछ समय पूर्व उत्तरप्रदेश के ब[...] जिले मे कोपिया नामक स्थान से काँच बनाने के एक प्राचीन कारखाने[...] अवशेष प्राप्त हुए हैं। उसका काल लगभग पाँचवी शती ईसवी [...] अनुमान किया जाता है। वहाँ से मिली काँच की वस्तुओ की परीक्ष[...] ज्ञात हुआ है कि उस काल के काँच बनाने मे चूने का उपयोग होता था।
(र० च० क[...]

कैलास हिमालय की एक पर्वतशृखला जो लद्दाख पर्वतश्रेणी [...] ५० मील पीछे सिधु नदी के उत्तरी किनारे पर स्थित है। यह पर्[...] श्रेणी आर्कोज (Arkose), बलुआ पत्थर तथा काग्लॉमरिट (Cong[...] merate) की बनी हैं। काग्लॉमरिट की तह इस समय काम से [...] २,००० मीटर मोटी है। प्रारभिक अवस्था मे यह ४,००० मीटर म[...] रही होगी। उत्तर मे काग्लामरिट 'कैलास ग्रेनाइट' पर जमा हुआ [...] कैलास ग्रैनाइट 'हॉर्नब्लेंडिक (Hornblendic) प्रकार की [...] काग्लॉमरिट तथा बलुआ पत्थर की खूब चौडी तहें सिद्ध करती हैं कि[...] हिमालय के उत्थान काल के, प्रथम भाग के क्रीटेशस (Cretaceous [...] समय मे बनी और उथली तथा धीरे धीरे धँसती खूड (Furrow) [...] जमा हुई हैं। इस पर्वत मे ईओसीन (Eocene) युग के बाद की ब[...] चट्टान नहीं मिलती। इस श्रेणी का सर्वोच्च शिखर हिमाच्छा[...] राकापोशी (२५,५५० फुट) है। (शि० म० सि[...]

कैलास (**तीर्थ**) हिमालय के तिब्बत प्रदेश मे स्थित [...] तीर्थ जिसे गणपर्वत और रजतगिरि भी कहते है। कैलास के [...] से आच्छादित २२,०२८ फुट ऊँचे शिखर और उससे लगे मानसरो[...] का यह तीर्थ है और इस प्रदेश को मानसखड कहते हैं। कदाचित प्रा[...] साहित्य मे उल्लिखित मेरु भी यही है। पौराणिक अनुश्रुतियो के अनु[...] शिव और ब्रह्मा आदि देवगण, मरीच आदि ऋषि एव रावण, भस्मा[...] आदि ने यहाँ तप किया था। पाडवो के दिग्विजय प्रयास के समय अ[...] ने इस प्रदेश पर विजय प्राप्त किया था। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे [...] प्रदेश के राजा ने उत्तम घोडे, सोना, रत्न और याक के पूँछ के बने क[...] और सफेद चामर भेट किए थे। इस प्रदेश की यात्रा व्यास, भीम, कृ[...] दत्तात्रेय आदि ने की थी। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक ऋषि मुनियो [...] यहाँ निवास करने का उल्लेख प्राप्त होता है। कुछ लोगो का कहना है [...] आदि शकराचार्य ने इसी के आसपास कहीं अपना शरीर त्याग किया थ[...]

जैन धर्म मे भी इस स्थान का महत्व है। वे कैलास को अष्टापद क[...] है। कहा जाता है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने यहीं निर्वाण प्राप्त कि[...] था। बौद्ध साहित्य मे मानसरोवर का उल्लेख अनवतप्त के रूप मे हुआ [...] उसे पृथ्वी स्थित स्वर्ग कहा गया है। बौद्ध अनुश्रुति है कि कैलास पृथ्वी[...] मध्य भाग मे स्थित है। उसकी उपत्यका मे रत्नखचित कल्पवृक्ष [...] डेमचोक (धर्मपाल) वहाँ के अधिष्ठाता देव है; वे व्याघ्रचर्म धारण कर[...] मुडमाल पहनते हैं, उनके हाथ मे डमरू और त्रिशूल है। वज्र उन[...]

रहे। विक्रमशिला के प्रमुख आचार्य दीपशंकर श्रीज्ञान (९८२–१०५४ ई०) तिब्बत नरेश के आमंत्रण पर बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ यहाँ आए थे।

कैलास पर्वतमाला कश्मीर से लेकर भूटान तक फैली हुई है और ल्हा चू और झोंग चू के बीच कैलास पर्वत है जिसके उत्तरी शिखर का नाम कैलास है। इस शिखर की आकृति विराट् शिवलिंग की तरह है। पर्वतों से बने षोडशदल कमल के मध्य यह स्थित है। यह सदैव वर्फ से आच्छादित रहता है। इसकी परिक्रमा का महत्व कहा गया है। तिब्बती (भोटिया) लोग कैलास मानसरोवर की तीन अथवा तेरह परिक्रमा का महत्व मानते हैं और अनेक यात्री दंड प्रणिपात करके परिक्रमा पूरी करते हैं। उनकी धारणा है कि एक परिक्रमा करने से एक जन्म का, दस परिक्रमा करने से एक कल्प का पाप नष्ट हो जाता है। जो १०८ परिक्रमा पूरी करते हैं उन्हें जन्म-मरण से मुक्ति मिल जाती है।

कैलास-मानसरोवर जाने के अनेक मार्ग हैं किंतु उत्तरप्रदेश के अल्मोड़ा स्थान से अस्ककोट, खेल, गर्बिअंग, लिपूलेह, खिंड, तकलाकोट होकर जानेवाला मार्ग अपेक्षाकृत सुगम है। यह भाग ३३८ मील लंबा है और इसमें अनेक चढ़ाव उतार हैं। जाते समय सरलकोट तक ४४ मील की चढ़ाई है, उसके आगे ४६ मील उतराई है। मार्ग में अनेक धर्मशाला और आश्रम हैं जहाँ यात्रियों को ठहरने की सुविधा प्राप्त है। गर्बिअंग में आगे की यात्रा के निमित्त याक, खच्चर, कुली आदि मिलते हैं। तकला कोट तिब्बत स्थित पहला ग्राम है जहाँ प्रति वर्ष ज्येष्ठ से कार्तिक तक बड़ा बाजार लगता है। तकलाकोट से तारचेन जाने के मार्ग में मानसरोवर पड़ता है।

कैलास की परिक्रमा तारचेन से आरंभ होकर वहीं समाप्त होती है। तकलाकोट से २५ मील पर मांधाता पर्वत स्थित गुर्लला का दर्रा १६,२०० फुट की ऊँचाई पर है। इसके मध्य में पहले बाईं ओर मानसरोवर और दाईं ओर राक्षस ताल है। उत्तर की ओर दूर पर कैलास पर्वत के हिमाच्छादित धवल शिखर का रमणीय दृश्य दिखाई पड़ता है। दर्रा समाप्त होने पर तीर्थपुरी नामक स्थान है जहाँ गर्म पानी के झरने हैं। इन झरनों के आसपास चूनखडी के टीले हैं। प्रवाद है कि यहीं भस्मासुर ने तप किया और यहीं वह भस्म भी हुआ था। इसके आगे डोलमाला और देवीखिंड ऊँचे स्थान हैं, उनकी ऊँचाई १८,६०० फुट है। इसके निकट ही गौरीकुंड है। मार्ग में स्थान स्थान पर तिब्बती लामाओं के मठ हैं।

यात्रा में सामान्यत: दो मास लगते हैं और बरसात आरंभ होने से पूर्व ज्येष्ठ मास के अंत तक यात्री अल्मोड़ा लौट आते हैं। इस प्रदेश में एक सुवासित वनस्पति होती है जिसे कैलास धूप कहते हैं। लोग उसे प्रसाद स्वरूप लाते हैं। (प० ला० गु०)

कैलास (मंदिर) संसार में अपने ढंग का अनूठा वास्तु जिसे मालखेड नरेश कृष्ण (प्रथम) (७६०–७८३ ई०) ने निर्मित कराया था। यह एलोरा (जिला औरंगाबाद) स्थित लयण-शृंखला में है और अन्य लयणों की तरह भीतर से कोरा तो गया के ही है, बाहर से मूर्ति की तरह समूचे पर्वत को तराश कर इसे द्रविड़ शैली के मंदिर का रूप दिया गया है। इसके निर्माण के लिये पहले पर्वत को धरातल तक काटकर चतुर्दिक् प्रांगण के बीच एक पर्वत खंड अलग किया गया, और फिर इस पर्वत खंड को भीतर बाहर से काट-कूट कर ९० फुट ऊँचा मंदिर गढ़ा गया है। मंदिर भीतर बाहर चारों ओर मूर्ति-अलंकरणों से भरा हुआ है। इस मंदिर के आँगन के तीन ओर कोठरियों की पाँत थी जो एक सेतु द्वारा मंदिर के ऊपरी खंड से संयुक्त थी। अब यह सेतु गिर गया है। सामने खुले मंडप में नंदि है और उसके दोनों ओर विशालकाय हाथी तथा स्तंभ बने हैं। यह कृति भारतीय वास्तु-शिल्पियों के कौशल का अद्भुत नमूना है। (प० ला० गु०)

कैलिको मूलत: भारत के कालीकट नाम पर वहाँ से इंग्लैंड जानेवाले सूती वस्त्र को कैलिको कहते थे। अब साधारण बुनावट के सफेद सूती कपड़े को इंग्लैंड में कैलिको कहते हैं।

कैलिको के अंतर्गत महीन से महीन मलमल से लेकर मोटे से मोटे मारकीन तक संमिलित है। साधारणत: कैलिको उन्हीं कपड़ों को कहते हैं जिनमें ताना और बाना एक मोटाई के रहते हैं। उनकी बुनावट में बाने का प्रत्येक धागा (सूत) ताने के धागों को एकांतरत: ऊपर चढ़कर और नीचे से होकर पार करता है। यदि ताने के धागों पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि ताने का प्रत्येक धागा भी बाने के धागों को एकांतरत: ऊपर चढ़कर और नीचे से होकर पार करता है। बदले बाने को ताने की अपेक्षा मोटा रखने से 'पॉपलिन' नामक कपड़ा बनता है। बाने की अपेक्षा ताने को पर्याप्त मोटा रखने से 'रेप्प' नामक कपड़ा बनता है, जो कुरसी की गद्दी आदि बनाने के काम आता है। अमरीका में कैलिको का अर्थ छींट माना जाता है। वहाँ स्त्रियों को परिहास में कैलिको कहते हैं, क्योंकि वे बहुधा छींट पहनती हैं। (गो० प्र०)

कैलिफोर्निया संयुक्त राज्य अमरीका का एक राज्य। (स्थिति, ३२°३०३' उ० अ० से ११४°८'–१२४°२४' प० दे०)। यह वहाँ का दूसरा बड़ा राज्य है। इसका नामकरण एक स्पेनी प्रेमकथा की नायिका कैल्फिया के नाम पर हुआ है। वैभिन्य यहाँ के धरातल तथा जलवायु की प्रमुख विशेषता है। इसके पश्चिमी भाग प्रशांत महासागर के तटीय प्रदेश में खूब कटी फटी 'समुद्रतटीय पर्वतश्रेणी' २० से ४० मील तथा चौड़ी २,००० से ८,००० फीट ऊँची है। पूर्वी भाग में सिएरा नेवेदा पर्वत है। इन दोनों पर्वतश्रेणियों के बीच कैलिफोर्निया की सुंदर घाटी है जिसमें सैन जोकीन (San Joaquin) और सैक्रामेंटो (Sacramento) प्रमुख नदियाँ हैं। कोस्ट रेंज और समुद्र के बीच में उपजाऊ तटीय मैदान हैं।

जलवायु की दृष्टि से इस राज्य को छह भागों में बाँटा जा सकता है। १. अधिक वर्षा, ग्रीष्मकालीन कुहरे तथा समताप का उत्तरी तटीय प्रदेश। २. समशीतकाल, ठंढी ग्रीष्म, सुहावनी सागरीय वायु तथा घने कुहरे का सैनफैनसिसको खाड़ी से 'पिसमो बीच' (Pismo beach) का भाग। ३. सैंटा बारबारा से सैन डिएगो का अपेक्षाकृत समतल धरातल का प्रदेश। सागरीय प्रभाव के कारण यहाँ की जलवायु सुधरकर सम हो जाती है। ४. सिएरा नेवेदा तथा 'कोस्ट रेंज' का २,००० फुट से अधिक ऊँचा भाग जहाँ पर जाड़े में खूब वर्फ पटती है, वर्षा मध्यम होती है और उल्लेखनीय ताप परिवर्तन होते हैं। ५. मध्यवर्ती घाटी का भाग जहाँ पर विभिन्न स्थानों पर कम, मध्यम अथवा अधिक वर्षा, शीत तथा ग्रीष्म के ताप में अधिक अंतर होता है। ६. मोजावी कोलोरेडो मरुस्थलीय भाग, जहाँ पर वर्षा बहुत कम होती है और ग्रीष्मकाल अति गर्म तथा शीतकाल ठंढा होता है।

कृषि यहाँ का प्रमुख उद्योग है। फल प्रचुर मात्रा में होता है। सोना, चाँदी, सीसा, ताँबा तथा तेल यहाँ के मुख्य खनिज हैं। कोयले की कमी को यहाँ जलविद्युत् द्वारा पूर्ण किया गया है। वनसंपत्ति भी प्रचुर मात्रा में है जिसके कारण यहाँ अनेक राष्ट्रीय पार्क और संरक्षित वन हैं। मत्स्योद्योग भी होता है। चलचित्र उत्पादन उद्योग में इस राज्य का प्रमुख स्थान है। हालीवुड इसका मुख्य केंद्र है। इस प्रदेश का क्षेत्रफल १,५८,६९३ वर्गमील है और १९७० की गणना के अनुसार जनसंख्या १,९६,९६,८४० है। (शि० मं० सिं०)

कैलीमैक १. कैलीमैक (ईसा पूर्व ३०५–२४०) ग्रीक वैयाकरण, आलोचक और कवि। इन्होंने सिकंदरिया में अकदमी की स्थापना की थी। इरेतोस्थेनिस, अरिस्तोफेनिज और अपोलोनिस रोडियस आदि यहाँ के प्रमुख विद्यार्थी थे।

२. ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी का ग्रीक शिल्पकार जो संभवत: कैलामिस का शिष्य था। उसे 'कोरिंथियन' शैली के स्तंभ और संगमरमर में छेद करने के लिये 'चालित छेदक' का आविष्कारक कहा जाता है। 'इरेक्थियम' के लिये उसने एक 'स्वर्णदीप' का निर्माण किया था। उसकी नर्तन करती 'लासोनियन बालाएँ' एक निर्दोष कृति समझी जाती है। (भा० स०)

कैले डोवर जलडमरूमध्य के तट पर स्थित फ्रांस का एक औद्योगिक-ऐतिहासिक नगर एवं पत्तन (स्थिति ५०°५०' उ० अ० से १°५०' पू० दे०)। सामरिक दृष्टि से इसकी स्थिति महत्वपूर्ण है। अत: ऐतिहासिक काल में यहाँ अधिक उथल पुथल हुई है। यह १५६५ ई० में स्पेन तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी के अधिकार में चला गया था। नगर का प्राचीन भाग पत्तनक्षेत्र के उत्तर में है। यह ऊनी, सूती तथा रेशमी वस्त्रोद्योग के लिये प्रसिद्ध है। समीपवर्ती समुद्री क्षेत्र में कॉड एवं हेरिंग मछलियाँ बहुतायत से मिलती हैं। इस नगर की जनसंख्या १९६२ में ७०,७०७ थी। (कै० ना० सिं०)

कैल्डिया बाबुल (बैबिलोनिया) का प्राचीन नाम जिसका उल्लेख बाइबिल के पुराण खंड (ओल्ड टेस्टामेंट) में हुआ है। मूलत: यह दजला और फरात के प्राचीन स्वतंत्र मुहानों के बीच के चिकनी मिट्टीवाले मैदान का नाम था और उन दिनों इसकी राजधानी बीत यकीन थी। बाद में इस नाम का प्रयोग असुर (असीरियन) नरेश अदद-नरारी के समय समूचे बाबुल (बैबिलोनिया) के लिये होने लगा। किंतु कैल्डिया-वासी और बाबुल निवासियों के बीच आनुवांशिक भेद बहुत काल तक बना रहा। ये लोग अरब और अरमियन जातियों से सर्वथा भिन्न थे, ऐसा सेन्नाचेरिब (७०५-६८१ ई० पू०) के कथन से ज्ञात होता है। असुर-राज्य के पतन और बाबुल के नव-साम्राज्य के उदयकाल के बीच कैल्डिया न केवल समस्त बाबुल के लिये प्रयोग होता रहा वरन् उसमें कतिपय अन्य विदेशी राज्य भी समाहित थे।

कैल्डिया लोग संभवत: पहले पहल सामी जाति के उद्गम केंद्र अरब से फारस की खाड़ी के किनारे किनारे होते हुए आए और उसके निकट बस गए और उसके बाद बाबुल के अन्य सामी लोगों से संघर्षकर तथा अपने आप्रवास द्वारा अपनी शक्ति बढ़ाते गए। अनेक शताब्दियों के इन आक्रमणों के बाद ई०पू०६२५ के आसपास नवोपोलस्सर और उनके उत्तराधिकारियों के समय में कैल्डिया लोगों का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। और धीरे धीरे कैल्डिया और बाबुली लोग एक दूसरे में आत्मसात हो गए और उनकी भाषा एक हो गई। परिणामस्वरूप पीछे चलकर कैल्डिया बाबुलवासियों का पर्याय हो गया और किन्हीं भ्रमों के कारण अरमाइक भाषा को कैल्डी कहा जाने लगा। (प० ना० गु०)

कैवल्य विवेक उत्पन्न होने पर औपाधिक दुखसुखादि—अहंकार, प्रारब्ध, कर्म और संस्कार के लोप हो जाने से आत्मा के चित्स्वरूप होकर आवागमन से मुक्त हो जाने की स्थिति को कैवल्य कहते हैं। पातंजलसूत्र के अनुसार चित् द्वारा आत्मा के साक्षात्कार से जब उसके कर्त्तत्व आदि अभिमान छूटकर कर्म की निवृत्ति हो जाती है तब विवेकज्ञान के उदय होने पर मुक्ति की ओर अग्रसरित आत्मा के चित्स्वरूप में जो स्थिति उत्पन्न होती है उसकी संज्ञा कैवल्य है। वेदांत के अनुसार परमात्मा में आत्मा की लीनता और न्याय के अनुसार अदृष्ट के नाश होने के फलस्वरूप आत्मा की जन्ममरण से मुक्तावस्था को कैवल्य कहा गया है। योगसूत्रों के भाष्यकार व्यास के अनुसार, जिन्होंने कर्मबंधन से मुक्त होकर कैवल्य प्राप्त किया है, उन्हें केवली कहा जाता है। ऐसे केवली अनेक हुए हैं। बुद्धि आदि गुणों से रहित निर्मल ज्योतिवाले केवली आत्मरूप में स्थिर रहते हैं। हिंदू धर्मग्रंथों में शुक, जनक आदि ऋषियों को जीवन्मुक्त बताया है जो जल में कमल की भाँति, संसार में रहते हुए भी मुक्त जीवों के समान निर्लेप जीवनयापन करते हैं। जैन ग्रंथों में केवलियों के दो भेद—संयोगकेवली और अयोगकेवली बताए गए हैं। (ज० चं० जै०)

कैवेंडिश, हेनरी (१७३१–१८१० ई०)। विख्यात रसायनज्ञ। इनका जन्म १० अक्टूबर, १७३१ ई० को नाइस में एक संपन्न घराने में हुआ था। इनके पिता डेवनशायर के तीसरे ड्यूक के भाई और माता ड्यूक ऑव केंट की पुत्री थीं। इनके पिता को जलवायु संबंधी निरीक्षणों में रुचि थी और उन्होंने वायुदाब नापनेवाले पारे के बैरोमीटर में अच्छा सुधार किया था। संभवत: उन्हीं से इन्हें प्रायोगिक विज्ञान के प्रति प्रेरणा मिली। प्रारंभिक शिक्षा समाप्तकर वे कैंब्रिज विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। वहाँ वे शीघ्र ही अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा के लिये प्रसिद्ध हो गए और उनकी ख्याति यूरोप में फैल गई। १७६० में वे रॉयल सोसायटी, लंदन, के सदस्य बने और नियमित रूप से उसके अधिवेशनों में संमिलित होते रहे। सभापति के घर पर जो विचारविमर्श होते उनमें भी वे भाग लेते थे।

वे लगभग ५० वर्ष तक रॉयल सोसायटी के सदस्य रहे। इस अवधि में उन्होंने सोसायटी के 'फिलासॉफिकल ट्रैंजैक्शंस' में जो लेख प्रकाशित किए, वे आगे चलकर वैज्ञानिक गवेषणाओं की आधारशिला बने। गैस-रसायन (न्यूमैटिक कैमिस्ट्री, Pneumatic Chemistry) के वे एक प्रकार से जन्मदाता हैं। वायु की संरचना के संबंध में उन्होंने महत्वपूर्ण प्रयोग किए और पारद के ऊपर गैसों को संग्रह करने की विधि निकाली; उन्होंने हाइड्रोजन गैस का आविष्कार किया। उन्होंने यह गैस जस्ते और अम्ल के योग से तैयार की थी। उन्होंने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि यह गैस हवा की अपेक्षा ११वाँ अंश हल्की है। इस हल्की गैस को उन्होंने गुब्बारों में प्रयोग किया। उनके हाइड्रोजन गैस भरे गुब्बारे वायुयानों के इतिहास में सदा याद किए जायेंगे। उन्होंने संयुक्त गैस (Mixed air) पर भी काम किया और यह सिद्ध किया कि किण्वों की क्रिया द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड गैस निकलती है। उन्होंने पानी और नाइट्रिक अम्ल की भी संरचना निर्धारित की तथा हाइड्रोजन और नाइट्रोजन के भेद का स्पष्टीकरण किया।

ये बातें यद्यपि आज सामान्य सी जान पड़ती हैं, किंतु १८वीं शती में वे युगप्रवर्तक थीं। कैवेंडिश से पूर्व लोग पानी को तत्व समझते रहे। उन्होंने पहली बार यह सिद्ध किया कि पानी हाइड्रोजन और एक अन्य गैस से, जिसका नाम बाद को ऑक्सिजन पड़ा, मिलकर बना है। उन्होंने नाइट्रस गैस, नाइट्रिक ऑक्साइड आदि गैसों पर भी महत्वपूर्ण प्रयोग किए। विद्युत् और उष्मा के संचालन पर भी उन्होंने महत्व के विचार प्रकट किए। उन्होंने पृथ्वी का घनत्व भी नापा; उनके प्रयोगों से पता चला कि पृथ्वी का औसत घनत्व पानी की अपेक्षा ५½ गुना अधिक है। रसायन विज्ञान के प्रारंभिक निर्माताओं में कैवेंडिश का नाम स्मरणीय रहेगा। उनके नाम पर कैंब्रिज में जो 'कैवेंडिश लेबोरेटरी' है, वह संसार की प्रमुख प्रयोगशालाओं में से एक है और युगप्रवर्तक अनुसंधानों के लिये विख्यात है। कैवेंडिश अपने वैज्ञानिक अनुसंधानों में आजीवन इतने तल्लीन रहे कि अपनी संपत्ति के प्रबंधक से वे वर्ष में केवल एक बार ही मिल पाते थे। वे आजीवन अविवाहित रहे। २४ फरवरी १८१० को उनकी मृत्यु हुई। (सत्य प्र०)

कैशोर अपराध (जुवेनाइल डेलिक्वेंसी) मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय अध्ययनों द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि मनुष्य में अपराधवृत्तियों का जन्म बचपन में ही हो जाता है। अंकेक्षणों (स्टैटिस्टिक्स) द्वारा यह तथ्य प्रकट हुआ है कि सबसे अधिक और गंभीर अपराध करनेवाले किशोरावस्था के ही बालक होते हैं। इस दृष्टि से कैशोर-अपराध को एक महत्वपूर्ण कानूनी, सामाजिक, नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में देखा जाने लगा है।

कैशोर अपराधों का स्वरूप सामान्य अपराधों से भिन्न होता है। कानूनी शब्दावली में देश के निर्धारित कानूनों के विरुद्ध आचरण करना अपराध है, किंतु 'कैशोर अपराध' समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक प्रत्यय है। किशोर अवस्था के बालकों द्वारा किए गए वे सभी व्यवहार जो कानूनी ही नहीं वरन् किसी भी दृष्टि से समाज तथा व्यक्ति के लिये अहितकर हों, 'कैशोर अपराध' की सीमा में आते हैं। यथा—विद्यालय से भागना कानूनी दृष्टि से अपराध नहीं है, किंतु सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हानिकर है। यह एक ओर तो सभी प्रकार के उत्तरदायित्वों से भागना सिखाती है और दूसरी ओर बालक को उचित कार्य से हटाकर अनुचित कार्यों की ओर प्रेरित करती है। इस प्रकार कैशोर अपराध का क्षेत्र अधिक व्यापक है।

किशोरावस्था में व्यक्तित्व के निर्माण तथा व्यवहार के निर्धारण में वातावरण का बहुत हाथ होता है; अत: अपने उचित या अनुचित

व्यवहार के लिये किशोर बालक स्वयं नहीं वरन् उसका वातावरण उत्तरदायी होता है। इस कारण अनेक देशों में 'कैशोर अपराधों' का अलग न्यायविधान है; किशोरों के अपराधों का निर्णय करने के लिये अलग न्यायालय हैं; उनके न्यायाधीश एवं अन्य न्यायाधिकारी बाल-मनोविज्ञान के जानकार होते हैं। वहाँ बाल-अपराधियों को दंड नहीं दिया जाता, बल्कि उनके जीवनवृत्त (केस हिस्ट्री) के आधार पर उनका तथा उनके वातावरण का अध्ययन करके वातावरण में स्थित असंतोषजनक, फलतः अपराधों को जन्म देनेवाले, तत्वों में सुधार करके बच्चों के सुधार का प्रयत्न किया जाता है। अपराधी बच्चों के प्रति सहानुभूति, प्रेम, दया और संवेदना का व्यवहार किया जाता है। भारत में भी कुछ राज्यों में बालन्यायालयों और बालसुधारगृहों की स्थापना की गई है।

किशोर बालक अपराध क्यों करते हैं, इस संबंध में विभिन्न मत हैं। मानवशास्त्रियों (ऐंथ्रोपालोजिस्ट्स्) ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अपराध का संबंध वंशानुक्रम, शारीरिक बनावट एवं जातिगत विशेषताओं से है। इसी कारण अपराधी जाति (क्रिमिनल ट्राइब्ज) के सभी व्यक्ति एक ही जातिगत विशेषताओं और एक सी शारीरिक बनावट के होते हैं तथा वे एक सा अपराध करते हैं। शरीरवैज्ञानिकों का मत भी इसी से मिलता जुलता है। उनके मतानुसार विशेष प्रकार की शारीरिक बनावट और प्रक्रियावाला व्यक्ति विशेष प्रकार का ही अपराध करेगा। किंतु मनोविज्ञान ने सिद्ध किया है कि अपराध का संबंध न तो उत्तराधिकार से होता है और न शारीरिक बनावट से; उत्तराधिकार में केवल शारीरिक विशेषताएँ ही प्राप्त होती हैं, इनका व्यक्ति की भावनाओं, आकांक्षाओं, प्रवृत्तियों एवं बुद्धि से सीधा संबंध नहीं होता। समाजशास्त्रियों का कथन है कि अपराध का जन्मदाता दूषित वातावरण, यथा—गरीबी, उजड़े परिवार, अपराधी साथी आदि हैं। किंतु आधुनिक मनोवैज्ञानिक शोधों द्वारा यह जाना गया है कि एक ही वातावरण ही नहीं वरन् एक ही परिवार में पले, एक ही माता पिता के बच्चों में से एकआध ही अपराधी होता है, सभी नहीं। यदि अपराध का जन्मदाता वातावरण होता है तो अन्य भाई बहिनों को भी अपराधी बनना चाहिए।

आधुनिक मनोविज्ञान कैशोर अपराधों का मूल मनोवैज्ञानिक स्थितियों में ढूँढ़ता है। उसके अनुसार हर बच्चे की कुछ इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और आवश्यकताएँ होती हैं। उन्हें पूरा करने का वह प्रयत्न करता है। उसके इस प्रयास में अनेक बाधाएँ आती हैं, जिन्हें वह जीतने का प्रयत्न करता है। अपने प्रयत्नों के फल से वह या तो संतुष्ट होता है या असंतुष्ट अथवा उदासीन। किंतु उदासीनता के भाव कम ही हो पाते हैं। संतोष और असंतोष का संबंध सफलता या उपलब्धि से नहीं है वरन् संतोष आपेक्षिक प्रत्यय है। निर्धन किसान अपनी स्थिति में संतुष्ट रह सकता है; किंतु करोड़पति व्यवसायी नहीं। असंतोष को दूर करने का प्रयास मानव स्वभाव है। इसे दूर करने के समाज द्वारा स्वीकृत ढंग जब असफल हो जाते हैं तब व्यक्ति ऐसा ढंग अपनाता है जो सफल हो, भले ही वह समाज के लिये हानिकर और उसके द्वारा अस्वीकृत ही क्यों न हो। तभी वह अपराधी बन जाता है। यथा—कोई कमजोर विद्यार्थी अनुत्तीर्ण होने पर अपनी कमजोरी का ध्यान करके अपनी स्थिति में संतुष्ट रह सकता है; किंतु कक्षा का तेज विद्यार्थी तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण होने पर आत्महत्या तक कर सकता है। प्रश्न संतोष और असंतोष की मात्रा का है।

निष्कर्ष यह कि बच्चा चाहे शारीरिक कमजोरी से पीड़ित हो, उसकी बुद्धि कम हो, उसके माता पिता अपराधी हों, उसका वातावरण खराब हो, उसकी उपलब्धियाँ निम्न स्तर की हों, फिर भी वह तब तक अपराधी नहीं बनेगा, जब तक कि वह अपनी स्थिति से असंतुष्ट न हो और असंतोष को दूर करने के उसके समाजस्वीकृत प्रयास असफल न हो चुके हों।

अपराध एक प्रकार का आत्मप्रकाशन तथा व्यवहार है। किशोर अवस्था के अपराध भी स्वाभाविक व्यवहार के ढंग हैं, किंतु उनका परिणाम समाज तथा व्यक्ति के लिये अहितकर होता है। अतः समाज को इस अहितकर स्थिति से बचाने के लिये मनोवैज्ञानिकों की सहायता से अभिभावकों तथा अध्यापकों को यह देखना होगा कि बच्चे के अपराधी आचरण की कारणभूत कौन सी असंतोषजनक स्थितियाँ विद्यमान हैं। रोग के कारण को दूर कर दीजिए, रोग दूर हो जायगा, यह चिकित्साशास्त्र का सिद्धांत है। अपराधी व्यवहार भी सामाजिक रोग है। इसके कारण 'असंतोषजनक स्थिति' को दूर करने पर अपराधी व्यवहार स्वयं समाप्त हो जायगा और अपराधी बालक बड़ा बनकर समाज का योग्य सदस्य तथा देश का उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिक बन सकेगा।

सं०ग्रं०—बर्ट, सी : दि यंग डेलिंक्वेंट; कैरेसियस : जुवेनाइल डेलिंक्वेंसी ऐंड दि स्कूल; हटन : क्राइम ऐंड दि मैन; इल्सर : न्यू लाइट्स आन् डेलिंक्वेंसी (संकलन); हीली ऐंड ब्रानर : न्यू लाइट्स आन डेलिंक्वेंसी ऐंड इट्स ट्रीटमेंट; थ्रैशर : जुवेनाइल डेलिंक्वेंसी ऐंड क्राइम प्रिवेंशन (लेख); आइकहार्न : दि वेवर्ड यूथ; स्मिथ, एच० : अवर टाउन : ए क्लोज अप; शा ऐंड मैकी : जुवेनाइल डेलिंक्वेंसी ऐंड अरबन एरियाज; यंग : सोशल ट्रीटमेंट इन प्रोबेशन ऐंड डेलिंक्वेंसी; गोरिंग : दि इंग्लिश कन्विक्ट; लांब्रासो : क्राइम्, इट्स काजेज ऐंड रेमेडीज; अपराध संबंधी भारत सरकार की रिपोर्ट; किशोरसदन, बरेली की रिपोर्ट। (रा० कु०)

कैसाब्लैंका अंध महासागर के पश्चिमी तट पर स्थित अफ्रीका के मोरॉको (Morocco) देश का एक पत्तन जो राबात से ५५ मील की दूरी पर स्थित है। यह देश का आर्थिक केंद्र तथा समार का सुंदरतम कृत्रिम पत्तन है। देश का तीन चौथाई व्यापार यहीं से होता है। यहाँ की मुख्य निर्यातवस्तु फॉस्फेट है। यह नगर यातायात के सब साधनों से पूर्ण है। मोटर, कपड़ा, सीसा, सीमेंट, तंबाकू, खाद तथा खाद्य-उद्योग यहाँ उन्नति पर हैं। कालीन बनाना यहाँ का मुख्य गृह उद्योग है। सागर के निकट स्थित होने के कारण यहाँ की गर्म जलवायु कुछ सम है। १९६० की जनगणना के अनुसार यहाँ की आबादी ९,६५,२७७ है। (शि० मं० सिं०; प० ला० गु०)

कैस्तान्यो, आंद्रिया देल (१४२३–५७) फ्लोरेंस (इटली) का वैज्ञानिक चित्रकार। इनका पूरा नाम आंद्रिया (आंद्रेइनो) दी बार्तोलोमो दी सीमोने था और उनका जन्म कास्तान्या (मुगेलो घाटी, इटली) में हुआ था। उन्होंने अपना प्रारंभिक जीवन वेनिस में बिताया; वहाँ उन्होंने कुछ रेखाचित्र प्रस्तुत किए; फिर १४४४ में फ्लोरेंस लौट आए। उनके इस काल के चित्रों में मुख्य 'अंतिम भोज' है। उनका सुख्यात भित्तिचित्रसमूह इवेंजेलिस्त संत जान, संत बेनेदिक्त तथा संत रोमुआल्द का है। एक अन्य महत्वपूर्ण भित्तिचित्र सी प्रसिद्ध नरनारियों का है जिनमें पिप्पो स्पानो का प्रसिद्ध चित्र है और दांते, पेत्रार्क तथा बोकाचो आदर्श रीति से आलिखित हैं। उनका एक क्रूस चित्रण लंदन की राष्ट्रीय चित्रशाला में है। कैस्तान्यो के अंतिमकालीन भित्तिचित्रों में से एक कुमारी का काष्ठचित्रण (१४४९–५०) बर्लिन में और दूसरा योद्धा निकोलो (१४-५६) फ्लोरेंस में है। उनकी शैली मासाचो तथा दोनातेलो की नव शैली दिशा में विकसित हुई थी। (प० उ०)

कैस्तील स्पेन स्थित एक भूतपूर्व राज्य जो अब प्राचीन कैस्टील (राजधानी बूरगोस) और नवीन कैस्टील (प्राचीन राजधानी 'टोलीदो' तथा वर्तमान राजधानी मैड्रिड) नामक दो प्रदेशों में बँट गया है। नवीन कैस्टील आइबीरियन प्रायद्वीप के मध्य में और प्राचीन कैस्टील नवीन कैस्टील के उत्तर स्थित है। ड्वेरो (Douro), टैगस (Tagus), ग्वादियाना (Guadiana) तथा ज़ूकार (Jucar) आदि नदियों के उद्गम इसी प्रदेश में हैं। यहाँ की जलवायु महाद्वीपीय है। शीतकाल में अति कठिन शीत पड़ती है और ग्रीष्म में असहनीय गर्मी। यहाँ का मुख्य उद्यम पशुपालन और पैदावार गेहूँ, जौ, आलू तथा अंगूर है। अन्य संबंधी उद्योग, पशुपालन, कपड़ा बुनना, मदिरा बनाना तथा कोयला और धातु खोदना यहाँ के मुख्य आर्थिक उद्योग हैं। (शि० मं० सिं०)

कैस्पियन सागर संसार की सबसे बड़ी झील (स्थिति : ३७° से ४७° उ० अ०, ४७° से ५५° पू० दे०)। क्षेत्रफल १,५०,००० वर्ग मील, आयतन ७९,३२० घन किलोमीटर, जलवाह क्षेत्र ३५,३३,००० वर्ग किलोमीटर। इसके पूर्व, उत्तर तथा पश्चिम में सोवियत संघ तथा

दक्षिण में ईरान स्थित है। इसका पानी अन्य सागरों की अपेक्षा कम खारा है। कुछ भागों में इसकी गहराई बहुत अधिक और कुछ में बिल्कुल कम है। इसका तल अन्य सागरों की अपेक्षा नीचा है। प्राचीन काल में वक्षु (आक्सस) नदी इसी में गिरती थी, अब इसमें वाल्गा, कूरा (Kura), यूराल आदि नदियाँ गिरती हैं। इसमें उपयोगी मछलियाँ पाई जाती है अत आसपास मत्स्य उद्योग की प्रधानता है। नाविकों को यहाँ सागरयात्रा का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। अस्त्राखान, बाकू तथा अस्त्राबाद इसके मुख्य पत्तन हैं। इस सागर में संपूर्ण वर्ष नौपरिवहन कठिन तथा भयावह है। सोवियत संघ ने कैस्पियन में युद्धपोतों का एक बेड़ा रखा है और अपना नौसेना केंद्र क्रैसनावाट्स्क में स्थापित किया है। नदियों तथा नहरों के माध्यम से इसका सीधा जलयातायात संबंध, काला सागर, बाल्टिक सागर तथा श्वेत सागर से कर दिया गया है। (शि० म० सि०)

कोकण भारत के पश्चिमी भाग में सह्य पर्वत (पश्चिमी घाट) और अरब सागर के बीच उस भूभाग की वह पतली पट्टी जिसमें ठाणा, कोलाबा, रत्नागिरि, बंबई और उसके उपनगर, गोमांतक (गोवा) तथा उसके दक्षिण का कुछ अंश संमिलित है, आजकल कोकण कहलाता है। इसका क्षेत्रफल ३,९०७ वर्गमील है। प्राचीन काल में भडोच से दक्षिण का भूभाग अपरांत कहलाता था और उसी को कोकण भी कहते थे। सातवीं शती ई० के ग्रंथ प्रपंचहृदय में कोकण का कूपक, केरल, मूषक, आलूक, पशुकोकण और परकोकण के रूप में उल्लेख हुआ है। सह्याद्रि खंड में सात कोकण कहे गए हैं—केरल, तुलंग, सौराष्ट्र, कोकण, करहाट, कर्णाट, और बर्बर। इससे ऐसा जान पड़ता है कि लाट से लेकर केरल तक की समस्त पट्टी कोकण मानी जाती थी। चीनी यात्री युवानच्वांग के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि कोकण से वनवासी, बेलगांव, धारवाड और घाटापलिकंड का प्रदेश अभिप्रेत था। मध्यकाल में कोकण के तीन भाग कहे जाते थे—तापी से लेकर बसई तक बर्बर, वहाँ से बाणकोट तक विराट और उसके आगे देवगढ तक किरात कहा जाता था।

इस प्रदेश के नामकरण के संबंध में लोगों में अनेक प्रकार के प्रवाद प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार परशुराम की माता कुकणा के नाम पर इस प्रदेश को कोकण कहते हैं। इस क्षेत्र में जमदग्नि, परशुराम और रेणुका की मूर्ति कोकणदेव के नाम से पूजित है। कुछ लोग इसके मूल में चेर देश के कोग अथवा कोगु को देखते हैं, कुछ इसका विकास तमिल भाषा से मानते हैं। वस्तुस्थिति जो भी हो, यह नाम ईसापूर्व चौथी शती से ही प्रचलित चला आ रहा है। महाभारत, हरिवंश और विष्णु पुराण, वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता, कल्हण कृत राजतरंगिणी एवं चालुक्य नरेशों के अभिलेखों में कोकण का उल्लेख है। पेरिप्लस, प्लीनी, टॉलेमी, स्ट्रैबो, अलबेरूनी आदि विदेशी लेखकों ने भी इसकी चर्चा की है। उन दिनों यूनान, मिस्र, चीन आदि देश के लोग भी इस देश और इसके नाम से परिचित थे। बेबिलोन, रोम आदि के साथ इसका व्यापारिक संबंध था। भडोच, चाल, वनवासी, नवसारी, शूर्पारक, चंद्रपुर, और कल्याण व्यापार के केंद्र थे।

ईसा पूर्व की तीसरी-दूसरी शती में यह प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत था। पश्चात् इस प्रदेश पर सातवाहनों का अधिकार हुआ। चौथी-पाँचवीं शती ई० में यह कलचुरि नरेशों के अधिकार में आया। छठी शती ई० में यहाँ स्थानीय मौर्यवंशी राजा राज्य करते रहे। उनका उन्मूलनकर चालुक्यनरेश पुलकेशिन ने अपना अधिकार स्थापित किया। उसके बाद लगभग साढ़े चार सौ वर्ष तक यह भूभाग सिलाहार नरेशों के अधिकार में रहा। १२६० ई० में देवगिरिनरेश महादेव ने इसे अपने राज्य में संमिलित किया। १३४७ ई० में यादवनरेश नागरदेव को पराजितकर गुजरात सुलतान ने इसपर अपना अधिकार जमाया। जब १६वीं शती में पुर्तगालियों ने भारत में प्रवेश किया तो उन्होंने यहाँ के निवासियों का धर्मोन्मूलनकर ईसाई मत फैलाया। छत्रपति शिवाजी के समय जजीरा को छोड़कर समूचा कोकण उनके अधिकार में रहा, पश्चात् १७३९ ई० पुर्तगालियों का इसपर एकछत्र अधिकार रहा। उस वर्ष चिमणाजी अप्पा ने बसई के किले को जीतकर पुर्तगालियों की सत्ता नष्ट कर दी और कोकण पर पेशवा की सत्ता स्थापित हुई, पश्चात् वह अँगरेजों के अधिकार में चला गया।

कोकण प्रदेश में अनेक बौद्ध एवं हिंदू लयण हैं। ठाणा जिले में कन्हेरी, कोंडिव्ली, जोगेश्वरी, मंडपेश्वर, मागाठन, धारापुरी (एलिफैंटा) कोंडाणे आदि स्थानों के लयण काफी प्रसिद्ध हैं।

भौगोलिक दृष्टि से इस भूभाग में ७५ से १०० इंच तक वर्षा प्रतिवर्ष होती है। समुद्रतटीय क्षेत्रों में नारियल के वृक्ष होते हैं और पश्चिमी घाट के ढाल वनों से आच्छादित हैं। इस प्रदेश में कोई बड़ी और महत्वपूर्ण नदी नहीं है। फिर भी यह क्षेत्र काफी उपजाऊ है। धान, दाल, चारा काफी पैदा होता है। बंबई तथा मार्मागोवा इस प्रदेश के प्रमुख बंदरगाह हैं। (प० ला० गु०)

कोकणी भारत के पश्चिमी तट स्थित कोकण प्रदेश में प्रचलित बोलियों को सामान्यत कोकणी कहते हैं। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संबंधों के परिणामस्वरूप इस प्रदेश में बोली जानेवाली भाषा के तीन रूप हैं—(१) मराठीभाषी क्षेत्र से सलग्न मालवण-रत्नागिरि क्षेत्र की भाषा, (२) मंगलूर से संलग्न दक्षिण कोकण क्षेत्र की भाषा जिसका कन्नड से संपर्क है तथा (३) मध्य कोकण अथवा गोमांतक (गोवा) कारवार में प्रचलित भाषा। गोवावाला प्रदेश अनेक शती तक पुर्तगाल के अधीन था। वहाँ पुर्तगालियों ने जोर जबर्दस्ती के बल पर लोगों से धर्मपरिवर्तन कराया और उनके मूल सांस्कृतिक रूप को छिन्न-भिन्न करने का प्रयास किया। इन सब के बावजूद लोगों ने अपनी मातृभाषा का परित्याग नहीं किया। उल्टे अपने धर्मोपदेश के निमित्त ईसाई पादरियों ने वहाँ की बोली में अपने ग्रंथ रचे। धर्मांतरित हुए नए ईसाई प्राय अशिक्षित लोग थे। उन्हें ईसाई धर्म का तत्व समझाने के लिये पुर्तगाली पादरियों ने कोकणी का आश्रय लिया।

प्राचीन काल में गोवा से साष्टी तक के भूभाग में जो बोली बोली जाती थी उसे ही लोग विशुद्ध कोंकणी मानते थे और उसे गोमांतकी नाम से पुकारते थे तथापि सोलहवीं शती तक उसके लिये कोई विशिष्ट नाम रूढ नहीं था। पुर्तगालियों को जैसा समझ में आया, वैसा ही नाम उसे दिया और पुकारा। १५५३ ई० के जेसुइट पादरियों के आलेखों में उसे कानारी नाम दिया गया है। १७वीं शती में पादरी स्टीफेंस ने 'दौक्तीन क्रिश्ता' नामक पुस्तक लिखी। उसमें उनका कहना था कि उसे उन्होंने कानारी में लिखा है और गोमांतकी बोली का जो व्याकरण उन्होंने तैयार किया उसे उन्होंने 'कानारी भाषा का व्याकरण' नाम दिया। इस कानारी शब्द का संबंध कन्नड से तनिक भी नहीं है। वरन् समझा जाता है कि समुद्र के किनारे की भाषा होने के कारण ही उसे कानारी कहा गया।

टॉम पीरिश नामक यात्री ने अपनी पुस्तक 'सूम ऑरिएंताल' में, जो १५१५ ई० में लिखी गई थी, गोवा की बोली का नाम 'कोकोनी' दिया है। १६५८ में जेसुइट पादरी मिगलेद आल्मैद ने भी गोमंतकी के लिये कोकणी शब्द का प्रयोग किया है। अब यह शब्द प्राय पूरे कोकण प्रदेश की भाषा के लिये प्रयुक्त होता है। कुछ लोग इसे मराठी की उपभाषा मानते हैं तो कुछ कन्नड की। कुछ अन्य भाषावैज्ञानिक इसे आर्यवंशोद्भूत स्वतंत्र समृद्ध भाषा बताते हैं।

सत्रहवीं शती से पूर्व इस भाषा का कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं है। इस भाषा के साहित्यिक प्रयोग का श्रेय ईसाई मिशनरियों को है। पादरी स्टिफेंस की पुस्तक 'दौक्तीन क्रिश्ता' इस भाषा की प्रथम पुस्तक है जो १६२२ ई० में लिखी गई थी। उसके बाद १६४० ई० में उन्होंने पुर्तगाली भाषा में इसका व्याकरण 'आर्ति द लिंग्व कानारी' नाम से लिखा। इससे पूर्व १५६३ ई० के आसपास किसी स्थानीय धर्मांतरित निवासी ने इस भाषा का व्याकरण तैयार किया था ऐसा उल्लेख मिलता है। तदनंतर इस भाषा का कोश तैयार हुआ और ईसाई धर्म के अनेक ग्रंथ लिखे गए। पुर्तगाली शासन के परिणामस्वरूप साहित्यनिर्माण की गति अत्यंत मंद रही किंतु अब इस भाषा ने एक समृद्ध साहित्य की भाषा का रूप धारण कर लिया है। लोककथा, लोकगीत, लोकनाट्य

तो संगृहीत हुए ही हैं, आधुनिक नाटक—सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक—और एकांकी की रचना भी हुई है। अन्य विधाओं में भी रचनाएँ की जाने लगी हैं। (चं० के०; प० ला० गु०)

कोंच उत्तरप्रदेश के जालौन जिले का प्रमुख तथा प्राचीन व्यापारिक नगर (स्थिति २५°५६' उ० अ० से ७९°८' पू० दे०)। यह झाँसी-कानपुर रेलवे लाइन पर स्थित एट जंकशन से आठ मील पश्चिम बसा है और एक सहायक रेलमार्ग द्वारा संबद्ध है। अकबर के समय में यह एक परगने की राजधानी था। यहाँ से लगभग पाँच मील दूर आमंतमलय नामक एक जीर्ण दुर्ग है। यहाँ से घी और गेहूँ बाहर भेजे जाते हैं तथा चीनी, तंबाकू, चावल आदि बाहर से मँगाए जाते हैं। (न० कि० सिं०)

कोंदे के राजकुमार फ्रांस के बॉरबॉन परिवार की एक शाखा का विरुद जिसका संबंध कोंदे-सुर-ल'स्कॉन नामक प्राचीन नगर से था। इस विरुद को सर्वप्रथम वेनडाम के ड्यूक चार्ल्स द बॉरबॉन के पंचम पुत्र लुइ दे बॉरबॉन ने (१५३०–१५६९ ई०), जो ह्यूगोना के प्रख्यात नेता थे, ग्रहण किया था। लुइ ने सुधारवादी धर्म के सिद्धांतों की शिक्षा प्राप्त की थी किंतु अपनी आकांक्षाओं के कारण उसने सैनिक वृत्ति धारण की और मार्शल द ब्रिजाक के नेतृत्व में पिडमाँ के युद्ध में ख्याति प्राप्त की। १५५२ ई० में सेना लेकर मेत्ज में घुस गया और पंचम चार्ल्स को घेर लिया तथा वहाँ से उसने अनेक सफल धावे मारे। १५५४ ई० में चार्ल्स के विरुद्ध अश्वारोही सेना का नेतृत्व किया। १५५७ ई० में वह संत क्वेंतिन के युद्ध में उपस्थित था किंतु फ्रांस के राजदरबार में उसके परिवार के लोग संदेह की दृष्टि से देखे जाते थे अतः वहाँ उसकी सेवाओं को कोई महत्व न मिला। उसको नीचा दिखाने की दृष्टि से राजा ने उसे स्पेन नरेश द्वितीय फिलिप के पास एक कठिन मुहिम पर भेजा। इस प्रकार उसकी वैयक्तिक कटुता और उसके धार्मिक विचारों ने उसे राज्य का कट्टर विरोधी बना दिया। वह एंवाय के उस षड्यंत्र में संमिलित हुआ जिसका उद्देश्य राजा को सुधारवादी धर्म को मान्यता देने के लिये बाध्य करना था। फलतः उसे मृत्युदंड दिया गया किंतु द्वितीय फ्रांसिस की मृत्यु हो जाने से वह कार्यान्वित न किया जा सका। नवें चार्ल्स के शासनारूढ़ होने पर राजनीति में परिवर्तन हुआ किंतु कैथलिकों और ह्यूगोना लोगों के बीच संघर्ष बना रहा फलतः कोंदे के आगे की जीवन कहानी धर्मयुद्ध की कहानी है। वह अब ह्यूगोना दल का सैनिक और राजनीतिक नेता हो गया और अनेक अवसरों पर अपनी सैनिक दक्षता का परिचय दिया। जारनाक के युद्ध में केवल ४०० अश्वारोहियों को लेकर समूचे कैथलिक सेना का उन्मूलन करने में वह सफल रहा किंतु युद्ध करते करते थक जाने पर युद्धविरत हो गया। तब उसे १३ मार्च, १५६९ ई० को माँते स्यू नामक कैथलिक सैनिक ने धोखा देकर गोली मार दी।

लुई कोंदे का बेटा हेनरी (१५५२–१५८८ ई०) ने भी ह्यूगोना दल से अपना संबंध बनाया और जर्मनी जाकर उसने एक छोटी सी सेना एकत्र की और ह्यूगोना लोगों का नेतृत्व किया। किंतु अनेक वर्ष तक युद्ध करते रहने के उपरांत वह बंदी कर लिया गया। उसके कुछ ही दिनों बाद, कहा जाता है कि उसकी पत्नी कैथरीन द लावे माले ने उसे विष दे दिया।

लुई कोंदे का उत्तराधिकारी हेनरी, तत्कालीन नरेश चतुर्थ हेनरी से आतंकित होकर स्पेन और बाद में इटली चला गया था और उसकी मृत्यु के बाद जब लौटा तो बाल-नरेश की अभिभाविका मेरी द मेडिसी के विरुद्ध षड्यंत्र करने लगा। फलस्वरूप वह बंदी कर लिया गया। तीन वर्ष बाद जब वह बंदीगृह से निकला तो उसके विचार एकदम बदले हुए थे। वह जोरशोर से प्रोटेस्टेंट मतावलंबियों के विरुद्ध कार्य करने लगा।

उसका बेटा लुई द्वितीय (१६२१–१६८६ ई०) कोंदे महान् के नाम से विख्यात हुआ। जेसुइट पादरियों ने बूर्ज में इसको शिक्षा दीक्षा दी थी। तीसवर्षीय युद्ध के अंतिम दौर में फ्रांसीसी सेनानायक के रूप में इसने महत्वपूर्ण भाग लिया। रॉक रोग्रां को मुक्त कराने के लिये एक सेना इसकी कमान में भेजी गई जिसने १८ मई, १६४३ ई० को स्पेन पर विजय प्राप्त की। स्वयं तथा सेनानायक तुरेन के साथ यह फ्राईबुर्ग (Freiburgh) तथा नार्डलिंगन के युद्ध में सफल हुआ और डंकर्क पर अधिकार किया। लेरीडा (Leride) के घेरे में यह असफल हुआ परंतु लेंस में इसकी विजय का परिणाम १६४८ ई० में वेस्टफालिया की संधि में हुआ। फ्रोंद की क्रांति में इसने सर्वप्रथम राजदरबार का साथ दिया और पेरिस पर घेरा डाल दिया। परंतु इसकी उत्कट महत्वाकांक्षा तथा अभियान ने राजमाता आस्ट्रिया ऐन को, जो लुई १४वें की अल्पवयस्कता के कारण उस समय प्रतिशासक (रीजेंट) थी, रुष्ट कर दिया। परिणामस्वरूप एक वर्ष तक ल ह्राव्र (Le Havre) में बंदी रहा। मुक्त होने के बाद उसने गृहयुद्ध छेड़ दिया। शाही सेनाओं ने इसे दोनों से खदेड़ दिया, तुरेन ने इसे पराजित किया और फोबूर्ग सैंतॉत्वान (Faubourg Saint Antoine) के युद्ध में मरते मरते बचा। तब वह स्पेन भाग गया जहाँ उन लोगों से मिलकर उनकी ओर से युद्ध करने लगा (१६५२–५९)। राजद्रोह का दोष इसपर लगाया गया, पिरेनीज की संधि के उपरांत उसने ऐक्से प्रोवेंस (Aixen Provance) के प्रधान गिरजाघर में आत्मसमर्पण कर दिया (१६६०) और राजभक्त बन गया। १६६८ में उसने फ्रांस कोंत (Franche Counte) की विजय की, १६७२ में हॉलैंड पर आक्रमण किया। ओरॉज के विलियम को सेनेफ़ (Seneffe) में १६७४ में पराजित किया। तुरेन की मृत्यु के पश्चात् १६७५ में राजकीय सेनाओं के विरुद्ध आल्सेस की रक्षा की। ११ नवंबर, १६८६ को फ़ूतैंब्लो में इसकी मृत्यु हो गई।

लुई द्वितीय के पश्चात् कोंदे के वंशक्रम में तीन चार राजकुमार और हुए जिनमें अंतिम लुई हेनरी जोजेफ था। क्रांति के समय लीज में उसने युद्ध में भाग लिया और एल्बा से नैपोलियन के लौटने तथा वाटरलू के युद्ध के बीच उसने लावेंडी के विद्रोहियों का नेतृत्व किया। फलस्वरूप १८३० ई० के २७ अगस्त को उसे फाँसी दे दी गई।

(प० ला० गु०; सै० अ० अ० रि०)

कोंबम् १. आंध्र राज्य के कुर्नूल जिले में स्थित एक नगर (स्थिति १५°३५' उ० अ० से ७९°६' पू० दे०)। यह एक छोटा व्यापारिक केंद्र है जहाँ दरियाँ बनती हैं। इस नगर के निकट गुंडलकम्मा नदी पर ५७ फुट ऊँचा बाँध बाँधकर ४३० वर्गमील क्षेत्रफल का जलाशय बनाया गया है जिससे सिंचाई होती है। कहा जाता है कि प्राचीनकाल में जमदग्नि ऋषि ने इस जलाशय का निर्माण किया था। १५वीं शताब्दी में उसका जीर्णोद्धार कलिंग के गजपति राजाओं ने और बाद में विजयनगर के राजा वरदरजम्मा ने किया। (न० कि० सिं०)

२. मद्रास राज्य के मदुरै जिले का नगर जो उत्तमपलायम से छह मील दक्षिणपश्चिम में है (स्थिति ९°४४' उ० अ० से ७७°१८' पू० दे०) यह पश्चिमी घाट की इलायची की पहाड़ियों के पूर्व सुरीली नदी की घाटी में स्थित है। यहाँ के निवासी कन्नड़ भाषाभाषी हैं। नगर के पूर्व में एक पुराना किला है। (न० कि० सिं०)

कोंस्तांतीन (कांस्टैंटाइन) रोम का सम्राट्। यह कोंस्तंशस प्रथम का अनौरस पुत्र था; उसकी माता फ्लेविया हेलेना सराय की स्वामिनी थी। उसका जन्म सर्बिया में २७ फरवरी, २८८ ई० को हुआ था। बाल्यावस्था में कोंस्तांतीन बंधक के रूप में पूर्वी रोमन साम्राज्य के राजदरबार में भेजा गया। ३०५ ई० में जब उसका पिता पश्चिमी साम्राज्य का उच्च पदाधिकारी बना तब उसने पूर्वी साम्राज्य के अधिपति गेलेरियस से अपने पुत्र को लौटाने की माँग की। पर कोंस्तांतीन को गेलेरियस के दरबार से छुटकारा पाने के लिये छिपकर भागना पड़ा। भागते समय मार्ग में नियुक्त समस्त संदेशवाहक घोड़ों को भी वह अपने साथ चुरा लाया ताकि उसका पीछा न किया जा सके। उस समय उसका पिता बोलोन में स्कॉट्स एवं पिक्ट्स द्वारा किए गए आक्रमण का सामना कर रहा था। इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गई। पिता की सेना ने पुत्र को पिता का पद प्रदान किया। पूर्वी साम्राज्य ने भी इस पद को मान्यता प्रदान करते हुए, उसे कैसर का पद दिया। ३०७ ई० में उसे पश्चिमी साम्राज्य का सर्वोच्च पद मिला तथा उसने कान्सुल मैक्समीनियस की पुत्री फाउस्ता से विवाह किया।

पूर्वी साम्राज्य के अधिपति गैलेरियस के आक्रमणों का कोस्तातीन ने सफलतापूर्वक मामना किया तथा ३१० ई० मे उसने मैक्स के आक्रमण से भी अपने साम्राज्य की रक्षा की। ३१२ ई० मे उसने आल्प्स को पारकर सूसा की विजय की तथा तूरीन एव वेरोना को जीतता हुआ सीधा रोम पहुँचा। इस घटना के सबध मे किंवदती है कि रोम पर आक्रमण के पूर्व कोस्तातीन ने स्वप्न मे लपटों के मध्य उडता हुआ क्रॉस, जिसपर विजय का आदेश अकित था, देखा था। इस स्वप्न से प्रभावित होकर उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। रोम की इस विजय के फलस्वरूप वह रोम तथा पश्चिमी साम्राज्य का एकछत्र सम्राट् बना तथा ईसाई धर्म को समस्त साम्राज्य मे सुरक्षा प्राप्त हुई। उसने यूनान को जीतकर अपने साम्राज्य में मिलाया। इस प्रकार कोस्तातीन अपनी शक्ति का निरतर प्रसार करता रहा। पूर्वी साम्राज्य के अधिपति लाइसीनियस की, जो गैलेरियस की मृत्यु के पश्चात् शक्ति का सचालक बन गया था, शक्ति क्षीण हो चली और एड्रियानोपुल मे वह कोस्तातीन से बुरी तरह हारा तथा बाइजैटियम के युद्ध मे मार डाला गया। इस प्रकार कोस्तातीन पूर्वी एव पश्चिमी दोनो साम्राज्यो का सम्राट् बन बैठा। ३२६ ई० मे वह साम्राज्य की राजधानी रोम से उठाकर कुस्तुतुनिया ले गया और ईसाई धर्म को राजधर्म घोषित किया। सन् ३३७ ई० मे उसकी मृत्यु हो गई।

कोस्तातीन की महत्ता ईसाई धर्म के प्रति किए गए कार्यों एव विभिन्न क्षेत्रों मे किए गए सुधारों मे निहित है। शासन को उसने वैधानिक राजतत्र से हटाकर निरकुश राजतत्र के आसन पर बैठा दिया और आरेलियन तथा डायोक्लिशियन द्वारा स्थापित प्रणाली को पूर्णतया समाप्त कर वशानुगत निरकुश सिंहासन पर अपने परिवार का आधिपत्य निश्चित कर लिया तथा साम्राज्य मे एक नवीन कुलीन वर्ग का निर्माण किया जो उसकी नीति का प्रबल समर्थक बना। सामाजिक क्षेत्र मे उसके समय मे जाति-प्रथा ने अपनी गहरी जड़ें जमा ली। प्रत्येक व्यक्ति अपना जातिगत पेशा अपनाने के लिये बाध्य किया गया। शासनव्यवस्था के क्षेत्र मे कोस्तातीन का युग निर्माण एव कार्यशीलता का युग माना जाता है। उसने प्रशासनिक एव सैनिक विभागो को विभाजित कर दिया। उसके समय के लगभग ३०० अधिनियम आज भी उपलब्ध है, उनमे सामाजिक सुधार की गहरी उत्कठा परिलक्षित होती है। वह निरकुशता मे विश्वास करता था, चाहे वह प्रशासन के क्षेत्र मे हो अथवा धर्म के, उसका यही विश्वास आनेवाली शताब्दियों का पथप्रदर्शक बना। (प० उ०)

कोएलो, क्लोदियो (१६३०–१६९३ ई०) स्पेन का एक प्रख्यात भित्तिचित्रकार। राजकीय सग्रह मे सगृहीत तिशियन, रूबेंस, वान डाइक के चित्रों के प्रतिलिपिकार के रूप मे वह नियुक्त हुआ और १६८५ मे चार्ल्स द्वितीय ने उसे राजचित्रकार का पद दिया। १६८७ मे उसने सुदरतम चित्र 'पुनीत रूप की पूजा' प्रस्तुत किया। (प० उ०)

कोक पत्थर के कोयले से तैयार किया जानेवाला ईंधन। सब प्रकार के कोयले कोक के लिये उपयुक्त नही होते। जो कोयला गरम करने से कोमल हो जाय और फिर न्यूनाधिक ठोस पिंड मे बदल जाय उसे कोक बननेवाला कोयला कहा जाता है। जो कोयला गरम करने से चूर चूर हो जाय अथवा दुर्बलता से चिपका हुआ जिसका पिंड बने, वह कोयला कोक के लिये अनुपयुक्त समझा जाता है। अच्छे कोक का बनना कोयले की कोशिकाओं, उसमे उपस्थित गधक एव राख की मात्रा, भट्ठी के ताप तथा अन्य परिस्थितियों आदि पर निर्भर करता है। कभी कभी विभिन्न किस्म के कोयलो को मिलाकर गरम करने से अच्छा कोक बनता है।

कोक विभिन्न उद्देश्यो से बनाया जाता है। कुछ कोक धातुओं के निर्माण के लिये, कुछ गैसो के निर्माण के लिये और कुछ जलावन के लिये बनाए जाते है। पहले दो किस्म के कोको को 'कठोर कोक' और तीसरे किस्म के कोक को 'अर्ध कोक' या 'मृदु कोक' कहते हैं। कठोर कोक कुछ भारी तथा सघन होता है। वह जल्द आग नही पकडता। इसका व्यवहार घरेलू ईंधन के लिये नही होता। यह प्रधानतया धातुओं और गैसो के निर्माण मे काम आता है। अर्ध कोक या मृदु कोक अपेक्षया हल्का और सरध्र होता है तथा शीघ्र आग पकड लेता है। कच्चे कोयले की अपेक्षा यह धुआँ भी कम देता है। इस कारण घरेलू ईंधन के लिये यह अधिक उपयुक्त होता है।

उत्तम कोक बननेवाले कोयले मे विभिन्न अवयवो की मात्रा इस प्रकार होनी चाहिए

(१) जल ४ प्रति शत से अधिक न हो;

(२) राख की मात्रा सूखे कोयले के भार का नौ प्रति शत से अधिक न रहे,

(३) राख का द्रवणाक २,२००° सें० से नीचा न रहे।

(४) धातुनिर्माण के निमित्त सूखे कोयले मे गधक की मात्रा १ प्रतिशत से अधिक और भट्ठी मे प्रयुक्त होनेवाले सूखे कोयले मे उसकी मात्रा १.३ प्रतिशत से और गैस निर्माण के कोक मे १.५ प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए।

कोक बनाने के लिये कोयले को बडे बडे पात्रों मे अथवा भिन्न भिन्न प्रकार के चूल्हों या भट्ठियों मे रखकर विभिन्न तापो पर गरम करते है। इस प्रकार कोयले के गरम करने को 'कोयले का कार्बनीकरण' कहते है। इसे कोयले का 'भजन आसवन' भी कहते है। यदि कार्बनीकरण का ताप ९००° से १,३००° सें० है तो इसे 'उच्चताप कार्बनीकरण', यदि ताप ७००° से ९००° सें० है तो इसे 'मध्यताप कार्बनीकरण' और यदि ताप ५५०° से ७००° सें० है तो इसे 'निम्नताप कार्बनीकरण' कहते हैं। ५५०° सें० से नीचे ताप पर कोयले का विच्छेदन नहीं होता। उच्चतम कार्बनीकरण से 'कठोर कोक' और मध्यताप तथा निम्नताप कार्बनीकरण से 'अर्ध कोक' या 'मृदु कोक' प्राप्त होता है।

निम्नताप और उच्चताप कार्बनीकरण से विभिन्न वयव जिस प्रकार प्राप्त होते है वे नीचे की तालिका मे दिये जा रहे है।

कोक बनाने की प्रथा ३०० वर्षों से अधिक प्राचीन है। प्राचीन रीति मे कोयले के बडे बडे टुकडो को ढेर मे रखकर उसी प्रकार गरम करते थे जैसे लकडी का कोयला बनाने मे लकडी के ढेर को करते है।

	निम्नताप कार्बनीकरण		उच्चताप कार्बनीकरण बाह्यतापन
	बाह्यतापन	आभ्यतरतापन	
कोक, प्रति टन कोयले से, हडरवेट मे	१३.५-१५.५	८-१२	१३-१५
गैस का आयतन, प्रति टन कोयले से, घन फुट मे	२,५००-४,०००	३०,०००-५०,०००	१३,००० २०,०००
ऊष्मीय मान, ब्रिटिश ऊष्मक मात्रक, प्रति घन फुट	८००-९००	१८०-२३०	४७०-५६०
अलकतरा, प्रति टन कोयले से, गैलन मे	१८-२२	१६-१८	१०-१४.५
अलकतरे का विशिष्ट गुरुत्व	१.००-१.०४	१.०४-१.०६	१.०९-१.१६
कोयले मे जल की प्रतिशतता	६-१०	१०-१५	२-३

कोयले के ढेर के बीच एक छेद होता था, जो चिमनी का काम करता था। ढेर को कोयले के चूर से ढँक देते थे और नीचे पार्श्व से उसमे आग लगाकर

जलाते थे। कुछ कोयले के जलने से ऊष्मा होती थी, जिससे शेष कोयला गरम होकर कोक बनता था। इस प्रकार कोक बनने मे लगभग १० दिन का समय लगता था। कोक बन जाने पर पानी से ढेर को बुझाकर कोक प्राप्त करते थे। इसमे कुछ कोयला जलकर नष्ट हो जाता था।

१८वीं शताब्दी के मध्य मे ईंट के बने चूल्हो मे कोक बनाने का काम आरंभ हुआ। ऐसे चूल्हो का आकार मधुमक्खी के छत्ते सा था। इससे इस चूल्हे का नाम 'मधुमक्खी छत्ता चूल्हा' पड़ा। यही नाम आजतक प्रचलित है। पीछे उन्नत प्रकार के ऐसे चूल्हे बने जिनकी गच पर २-३ फुट मोटा कोयला रखकर गरम किया जाता था। ऐसे चूल्हों से कोक बनाने मे प्राय: ७२ घंटे लगते थे। इस रीति मे भी कुछ कोयला जलकर नष्ट हो जाता था और कोक भी कम मात्रा में बनती थी और कार्बनीकरण के सारे उपजात नष्ट हो जाते थे। उनको प्राप्त करने का कोई प्रबंध नहीं था। आजकल ऐसे चूल्हे बने हैं जिनमे कोयला बाहर से गरम किया जाता है और सब उपजात नष्ट होने से बचा लिए जाते हैं।

कोक बनाने की आधुनिक रीतियों मे भभके अथवा अग्निमिट्टी के बने कक्षो का व्यवहार होता है। भभके पहले लोहे के बनते थे और केवल ८००° सें० तक ही गरम किए जा सकते थे। इतने ताप पर भभके का जीवन कुछ ही मास का होता था। पीछे अग्निमिट्टी के भभके बनने लगे। ये ९५०° सें० तक गरम किए जा सकते थे। अब अग्निसह ईंटो के बने चूल्हे या कक्षो मे १,४००° सें० तक ताप सरलता से मिल जाता है।

चित्र १. कोक की पुनरुद्धारक भट्ठी

१ निरीक्षण द्वार; २ क्षैतिज वाहिनी; ३ मदक, ४ क्षैतिज वाहिनी का मार्ग, ५. तापन मार्ग, ६. तप्त वायु के लिये नालियाँ, ७ गैस की टोटियाँ, ८. गैस वितरक नलिकाएँ, ९. गैस वाहक नल; १०. गैस प्रत्यागमन का मुख्य नल, ११. वायु की नलियाँ; १२ पुनरुद्धारक तथा १३ वायु का प्रवेश कपाट।

कोक बनाने मे जो भभके प्रयुक्त होते है वे क्षैतिज हो सकते हैं अथवा ऊर्ध्वाधर। क्षैतिज भभके सिलिका के अथवा सिलिकामय अग्निमिट्टी के बनते हैं। ये साधारणतया २० फुट लंबे और २३" × १६" काट के अर्ध अंडाकार होते है। इनमें एक नल लगा रहता है जिसमे वाष्पशील अंश बाहर निकलता है। भभके की कई पंक्तियाँ और पंक्तियो की अनेक श्रेणियाँ होती हैं। भभका उत्पादित गैस से गरम होता है। कार्बनीकरण पूरा हो जाने पर गरम कोक को निकालकर पानी से बुझाते हैं।
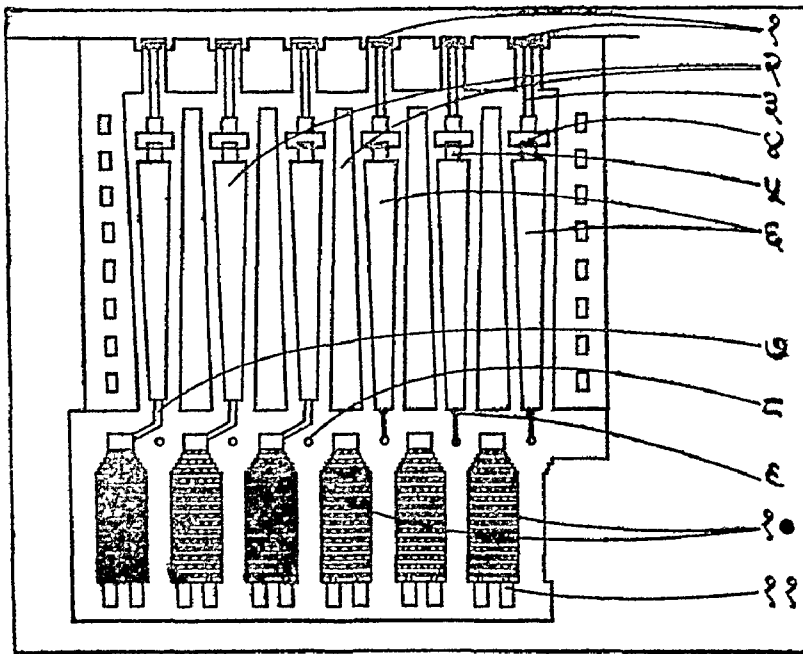
१ निरीक्षण द्वार, २ भट्ठियाँ; ३ क्षैतिज वाहिनियाँ; ४. मंदक वाहिनियो का मार्ग; ६. तापन नाल, ७ तप्त वायु नालियाँ, ८. वितरकनालियाँ; ९ गैस की टोटियाँ, १०. पुनरुद्धार तथा, ११. वायु की नालियाँ।

कोयले का कार्बनीकरण ऊर्ध्वाधर भभके या कक्ष चूल्हे मे भी होता है। चूल्हा आयताकार होता है और इसमे एक बार पाँच टन कोयले का कार्बनीकरण हो सकता है। कक्ष सिलिका का बना होता है। यह भी उत्पादित गैस से गरम होता है। कोयला ऊपर से डाला जाता है और कोक पेंदे से निकलता है। कार्बनीकरण पूरा होने मे लगभग १२ घंटा लगता है। यह भभका सविराम किस्म का होता है।

ऊर्ध्वाधर भभके अविराम किस्म के भी होते हैं। ये आयताकार अथवा अंडाकार होते हैं।

इनमे एक बार मे १० टन कोयले का कार्बनीकरण हो सकता है। ऊपर से कोयला गिरता और पेंदे तक आते आते कोक म परिणत हो जाता है। कोक को शीतक कक्ष मे भाप से बुझाते है। भभका उत्पादक गैस से गरम होता है। सयत्र ऐसा बना रहता है कि कोक बनाने का काम अविराम क्रम से चलता रहे।

कोक बन जाने पर उसे बुझाने की आवश्यकता पडती है। इसे 'कोक का शमन' कहते है। यह काम ईंटो के बने शमनयान मे होता है। बुझाते समय जो भाप बनती है वह ऊपर से निकल जाती है। जलटको से पानी आकर कोक पर गिरता है। साधारणतया कोक का ताप १,०००° सें० रहता है। प्रति टन कोक के बुझाने की प्रक्रिया मे जो भाप बनती है उसमे दस लाख ब्रिटिश-ऊष्मक-मात्रक ऊष्मा नष्ट होती है। इस ऊष्मा की पुन प्राप्ति की चेष्टाएँ हुई है। एक ऐसे प्रयत्न मे शमनयान से कोक को बद कक्ष मे ले जाते है। उस कक्ष का द्वार बदकर उसमे वायु प्रविष्ट कराते है। फिर उसे बायलर की नली मे ले जाकर शमनयान मे बार बार ले जाते है। वायु का आक्सिजन कार्बनडाइआक्साइड और कार्बनमॉनोक्साइड मे परिणत हो जाता है। वायु की निष्क्रिय गैसें बच जाती है। ऐसी वायु को तबतक यान मे ले जाते है जबतक उसका ताप गिरकर २५०° सें० तक नही हो जाता। ऐसे कोक मे जल की मात्रा कम रहती है। अत यह कोक वातभट्ठियो के लिये अच्छा होता है। ऐसा शुष्क शमनसयत्र बैठाने मे खर्च कुछ अधिक पडता है।

कोक बनाने के सयत्र अनेक कपनियो के है। उन सबकी अपनी अपनी विशेषताएँ हैं। कोक बनाने के सयत्र मे निम्नलिखित बातें ध्यातव्य है—

(१) कोक अच्छे किस्म का और एक सा बने।
(२) कोक के निर्माण मे कम से कम ईंधन लगे।
(३) सयत्र मे वाष्पशील अश की न्यूनतम क्षति हो।
(४) सयत्र ऐसा हो कि आवश्यकता पडने पर मरम्मत सरलता से की जा सके।
(५) उसके चूल्हे ऐसे हो कि यदि एक चूल्हा निकम्मा हो जाय तो उसमे अन्य चूल्हो का काम बद न होने पाए।

भिन्न भिन्न भभको या चूल्हो मे बने कोक की प्रकृति एक सी नही होती। यह कोयले की प्रकृति, कार्बनीकरण के ढग और कार्बनीकरण के ताप पर निर्भर करती है। चार विभिन्न विधियो से प्राप्त कोक के विश्लेषण अक इस प्रकार पाए गए है

विभिन्न कोक के विश्लेषण

	मधुमक्खी छत्ता चूल्हा	भभका-पाक चूल्हा	ऊर्ध्वाधर भट्ठी	क्षतिज भट्ठी
स्थिर कार्बन	९२ ६६	८६ ६६	८७ ८०	८६ ०५
आपेक्षिक घनत्व	१ ८६	१ ९०	१ ८२	१ ७३
राख	५ ८९	१० ४८	९ ५८	७ ५४
गधक	० ७४	० ७७	० ९९	० ९६
वाष्पशील अश	० ३४	१ ६१	१ ७३	३ ८४
जल	० ३५	१ ०३	१ ३५	२ ५७

(फू० स० व०)

कोकनद (दे० 'काकिनाड')।

कोकमुख महाभारत और पुराणो मे वर्णित एक प्रख्यात और प्राचीन तीर्थ। वराहपुराण के अनुसार विष्णु के तीन ही निवासस्थल हैं और उनमे से एक कोकमुख है। ब्रह्मपुराण के अनुसार यह तीर्थ हिमालय मे कोका नदी के तट पर स्थित था और वहाँ वराहविष्णु की मूर्ति प्रतिष्ठित थी। अन्य पुराणो मे इस तीर्थ का जो भौगोलिक वर्णन है उसके अनुसार इस तीर्थ प्रदेश म कोका और कौशिकी नामक दो नदियाँ बहती थी और निकट ही उनका सगम था। यह तीर्थ आज भी वराह क्षेत्र के नाम से जन सामान्य म ख्यात है और नेपाल राज्य के मोरग जिले मे स्थित है। इसके निकट ही काकहा (प्राचीन काका) और सप्तकोशी (प्राचीन कौशिकी) का सगम है। यहाँ वराहविष्णु का एक भव्य मंदिर है और प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमा को बहुत बडा मेला लगता है।

ब्रह्मपुराण के अनुसार इस तीर्थ के पवित्र स्थल है जलबिंदु, विष्णुधारा, विष्णुपद विष्णुसर सोमतीर्थ, तुगकूट, अग्निसर, ब्रह्मसर धेनुवट धर्मोद्भव, कोटिवट, पापप्रमोचन, यमव्यासनक, मातग, वज्रभव, शक्ररुद्र, दष्ट्राकुर, विष्णुतीर्थ और सर्वकामिका। इसम से अनेक आज भी उसी रूप मे जाने और माने जाते है। मछमारा ग्राम के निकट विष्णुधारा और वही विष्णुपद भी है जिसे वराहशिला कहते है। तुगकूट वराहपुराण के अनुसार एक उत्तुग शिखर है जिससे चार जलधाराएँ निस्सृत होती थी। इस तुगकूट को लोग चौढुडा कहते है। इसके पास ही अग्निसर की पाँच धाराएँ उद्भूत हुई है। यही ब्रह्मसर भी गुप्त तीर्थ के रूप मे माना जाता है। वराह-मंदिर से लगभग तीन चार मील की दूरी पर धेनुवट है। पापप्रमोचन पत्थरो से बने एक झरने का नाम है।

यहाँ लोग वीरपुर से चतरा होते हुए जाते हैं। चतरा तक कोसी बाँध के ऊपर सडक का रास्ता है। उसके आगे तीन-चार मील पहाड की चढाई है। (प० ला० गु०)

कोकपंडित (दे० 'कोक्कोक')।

कोकशास्त्र (दे० 'कामशास्त्र')।

कोकुरा जापान के क्यूशू द्वीप के फ्यूकोका प्रात मे स्थित नगर (स्थिति ३३° ५०' उ० अ० से ३३०° ५५' पू० दे०)। यह उत्तरी क्यूशू का सास्कृतिक, पर्यटक, व्यापारिक, औद्योगिक और यातायात का केंद्र है। यहाँ लौह एव इस्पात, रसायन, सूती वस्त्रोद्योग, धान कूटने और मिट्टी के बर्तन बनाने के कारखाने है। निकटवर्ती क्षेत्रो से कोयला प्राप्त होता है। (कै० ना० सिं०)

कोकेन कोका नामक झाड से प्राप्त होनेवाला एक क्षार तत्व (ऐलकालायड)। लोग इसका प्रयोग अफीम की भाँति लत के रूप मे करते है। इसके खाने से मस्तिष्क उद्दीप्त होता है। थोडी मात्रा मे खाने से मन प्रसन्न होता है और कुछ समय तक मानसिक तथा शारीरिक शक्ति म वृद्धि जान पडती है, साथ ही धर्माधर्म की पहचान बद हो जाती है। बाद मे शिथिलता और मानसिक खिन्नता का अनुभव होता है। जब तक कोकेन का प्रभाव रहता है, भूख और थकान कम हो जाती है। अधिक मात्रा मे कोकेन विष है। इससे अचैतन्य (narcasis) और वेदनास्नायुओ का सस्तभ (paralysis) हो जाता है। हाथ पैर चलानेवाली स्नायुएँ भी बहुत कुछ शिथिल हो जाती है। मात्रा कुछ कम रहने से तीव्र मानसिक उत्तेजना, बेचैनी, मिचली दुर्बलता पीलापन, पसीना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। अधिक मात्रा मे शीघ्रश्वसन, मद हृदयगति, सिर की पीडा, सूखा कठ आदि क्षण होते हैं। आँख की पुतलियाँ बडी हो जाती है और हाथ पैर मे ऐंठन उत्पन्न होती है। अधिक मात्रा मे प्रयोग से हृदयगति रुक जाती है। कोकेन का उपचार यह है कि आमाशय तुरत खाली कर दिया जाय और तनु ऐमोनिया, काफी, या थोडी मदिरा पीने को दी जाय। यदि आपेक्ष (convulsion) हो तो डाक्टर ईथर या क्लोरोफार्म सूँघने को देते है। इसकी थोडी सी मात्रा भी कुछ लोगो पर तीव्र विष का प्रभाव उत्पन्न करती है।

कोकेन का उपयोग कभी कभी अफीम की लत छुडाने के लिये किया जाता है, फलस्वरूप एक लत के स्थान पर दूसरी विनाशकारी लत लग जाती है। लोगो को कोकेन की लत जुकाम सर्दी इत्यादि दूर करने के लिये सूँघनी के रूप की प्रयोग की जानेवाली कतिपय बाजारू ओषधियो के उपयोग से लग जाती है जिनमे कोकेन मिला रहता है। इनसे जो अस्थायी लाभ प्रतीत होता है उससे उत्साहित होकर लोग इनका उपयोग निरतर करने लग जाते हैं और कुछ दिनो पश्चात अपने को इस घातक द्रव्य की दासता मे फँसा पाते हैं। जिन्हें इस प्रकार कोकेन की लत

लग जाती है उसकी नाक की उपास्थि गल जाती है, शरीर के मांस तथा शक्ति का निरंतर ह्रास होता जाता है और हाथ पैर का सदा काँपना, अनिद्रा, सिरदर्द तथा चक्कर आना इत्यादि व्याधियाँ घेर लेती हैं। दृष्टिभ्रम, मतिभ्रम और यहाँ तक कि प्रचंड क्रोधयुक्त उन्माद इत्यादि साधारणत: होने लगते हैं और पूर्ण मानसिक तथा नैतिक पतन हो जाता है। कोकेन की लतवाले के लिये नियम या उत्तरदायित्व का कोई बंधन नहीं रह जाता। कोकेन की लालसा मिटाने के लिये वह मिथ्याचरण, चोरी या अन्य गर्हित दुष्कर्म करने से नहीं हिचकता। कर्तव्य या समाज का बंधन उसको इन कामों से नहीं रोक पाता। इसलिये कोकेन की लत के विनाशकारी प्रभावों से जनता की रक्षा करने के उद्देश्य से लगभग सभी देशों के शासनों ने कड़े कानून बनाए है। भारत में भी इसके उपयोग तथा बिक्री पर कठोर प्रतिबंध है।

कोका की पत्तियों में चार प्रकार के ऐलकालायड होते है। कोकेन निकालने के लिये पत्तियों को कुचलकर सल्फ्यूरिक अम्ल मिले पानी में चार दिन तक भिगो दिया जाता है। इस मिश्रण में सोडे का विलयन डालने पर कोकेन पृथक् हो जाता है और विलयन में अन्य ऐलकालायड रह जाते है। उन्हें निकालने के लिये विलयन को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ उबाला जाता है और तब विलयन को पानी में डाल दिया जाता है। इससे ट्रुक्सिलिक (Truxillic) अम्ल अलग हो जाता है, जिसे छानकर अलग कर दिया जाता है। विलयन को गाढ़ा करने पर एकगोनिन हाइड्रोक्लोराइड (Ecgonine hydrochloride) मणिभ के रूप में अलग हो जाता है। इसपर बेनजोइक अम्ल तथा मेथिल ऐलकोहल की क्रिया से कोकेन प्राप्त होता है। फिर कोकेन को स्वच्छ किया जाता है। इस प्रकार बाजारों में बिकनेवाला अधिकांश कोकेन रसायन द्वारा बनाई हुई वस्तु है।

ऐलकोहल के विलयन से कोकेन मणिभ के रूप में निकलता है। ये मणिभ चार या छह पहल के एकनत समपार्श्व (Monoclinic prism) होते है। इनका गलनांक ९८° सें० है। कोकेन ऐलकोहल, ईथर, बेंजीन और हलके पेट्रोलियम में विलेय है, परंतु ठंढे पानी में बहुत कम घुलता है। कोकेन वामावर्ती (laevorotatory) है। इसका विलयन लिटमस के प्रति क्षार है, स्वाद कुछ कड़वा होता है और इससे जिह्वा संवेदनारहित हो जाती है।

कोकेन का रासायनिक सूत्र $C_{17}H_{21}NO_4$ तथा संरचना सूत्र निम्नलिखित है :

$$\begin{array}{l} CH_2 \quad CH\text{—}CH.COOCH_3 \\ \quad\quad\; | \quad\;\; | \\ \quad\quad NCH_3CH.OCOC_6H_5 \\ \quad\quad\; | \quad\;\; | \\ CH_2\text{—}CH\text{—}CH_2 \end{array}$$
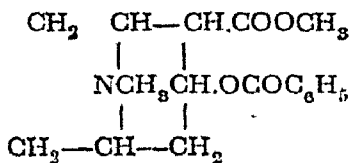
कोकेन के पृथक् करने की विधि का पता १८६० ई० मे लगा था उसके बाद उसके संवेदनाहारी गुण का पता लगा और उसका उपयोग १८८४ ई० के बाद संवेदनाहारी के रूप में लघु शल्यक्रिया यथा—आँखों और दांतों की शल्यक्रिया में किया जाने लगा। इसका विलयन लगाने से त्वचा की पीड़ा अनुभव करने की शक्ति जाती रहती है; आँख में लगाने से वहाँ की संवेदनाशक्ति मिट जाती है; नाक के भीतर लगाने से घ्राणशक्ति नष्ट हो जाती है। संवेदनाहरण के लिये ३ से १० प्रति शत के विलयन का उपयोग किया जाता है। (वि० प्र०)

कोको उस चूर्ण को कहते है जो ककाओ वृक्ष के बीज से बनाया जाता है और पेय के रूप में व्यवहार में आता है। चाकलेट भी उसके बीजों से बनते है। इस वृक्ष का लैटिन नाम थीओब्रोमा ककाओ (Theobroma cacao) है। इसमें प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और वसा तीनों उपलब्ध हैं। यह बहुत पौष्टिक और सुस्वादु भी है। कोको में थिओब्रोमीन ऐलकालायड होता है, जिससे यह कॉफी (Coffee) की भाँति उत्तेजक है। इसमें थोड़ी मात्रा में कैफिन (Caffeine) भी पाया जाता । कोको की भुनी हुई गिरी की औसत संरचना निम्नलिखित है :

वसा	५०	प्रतिशत	
कार्बोहाइड्रेट	[२३	,,	
प्रोटीन	१७	,,	
थियोब्रोमीन	१·५	,,	या कम
जल	५	,,	
खनिज	३·५	,,	

इसमें कैलसियम, लोहा, मैगनीशियम, पोटैसियम और सोडियम धातुओं के लवण रहते हैं। भूनने के समय इसमें वाष्पशील सुगंधित द्रव्य तैयार होता है।

वनस्पति विज्ञान की दृष्टि में—ककाओ मूलत: मेक्सिको, केंद्रीय अमरीका तथा दक्षिण अमरीका के समुद्रतट का वृक्ष है। प्राकृतिक अवस्था में यह ५० फुट तक ऊँचा हो जाता है, परंतु फल तोड़ने की सुविधा के लिये वृक्ष को काट छाँटकर १५-२० फुट तक ही बढ़ने दिया जाता है। आरंभ में इसकी पत्तियाँ ललछौंह रहती है, पीछे हरी हो जाती है और फिर सदा हरी बनी रहती है। पत्तियाँ पतली, चमकीली, अंडाकार और एक फुट तक लंबी होती हैं। फूल बहुत छोटे, हलके गुलाबी रंग के होते है, जो वृक्ष के तने और शाखाओं पर लगते है, टहनियों पर नहीं। फल छह से नौ इंच तक लंबे और तीन से चार इंच तक चौड़े होते हैं जो चार महीने में पकते हैं। बाहरी छिलका लकड़ी की भाँति होता है, इसका बाहरी रूप चमड़े के समान लगता है। लाल फूल धीरे धीरे नारंगी और फिर भूरे रंग का हो जाता है। फल पहले हरा रहता है और फिर पीला हो जाता है। फलों में २० से लेकर ५० तक दाने होते हैं। उनके चारों ओर चिपचिपा रस होता है, जो हवा लगने पर सफेद गूदा सा बन जाता है। प्रत्येक बीज का ऊपरी खोल चमड़े की झिल्ली (चर्मपत्र) की भाँति होता है और भीतर दो गिरियाँ होती है।

कृषि—ककाओ के वृक्ष सूखा, पाला और तीव्र वायु से नष्ट हो जाते हैं। उनको अच्छी खादवाली मिट्टी चाहिए और आसपास पानी भी एकत्र नहीं होना चाहिए। समुद्रतल से ऊँचाई २,५०० फुट से अधिक न हो। बीज पाँच पाँच फुट की दूरी पर बोए जाते हैं। पौधों को तीन चार वर्ष तक तीव्र धूप तथा सूखे से बचाना पड़ता है। कलिकाओं को चार वर्ष तक नष्ट करते रहते हैं। आठ वर्ष में वृक्ष यौवनावस्था प्राप्त करता है और १०-१२ वर्ष में उसकी उपज अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है। साल भर पुष्प और फल लगते रहते है। एक साल में इस प्रकार कई फसलें तैयार होती हैं। यद्यपि पड़े रहने पर ककाओ के वृक्ष ६०-७० वर्ष तक थोड़ा बहुत फल देते रहते हैं, तथापि वृक्ष २५-३० वर्ष के बाद काट दिए जाते हैं।

कोको तैयार करना—पहले फलों को भारी छूरे से काट लिया जाता है। फिर उन्हें चीर दिया जाता है। तब गूदे में से बीजों को निकाल लिया जाता है। चार पाँच दिनों तक गूदे को फफदने (या सड़ने) दिया जाता है, जिससे बीज भूरे रंग के हो जाते हैं और कड़वाहट के बदले सुगंधि आ जाती है। तदनंतर बीजों को धूप में सुखा लिया जाता है।

सूखे बीजों को मशीन में डालकर ऊपर की खोल और भीतर के कड़े सूत्रक को तोड़ डालते है और गिरी को अलग कर लेते हैं। फिर घूमते हुए ढोलों में गिरी को भूना जाता है, जिससे सुगंध, वसा तथा प्रोटीन बढ़ता है और साथ ही कड़वाहट, जो टैनिन के कारण होती है, घटती है। तब उसे मशीन से चूर कर लिया जाता है, जिससे उसका छिलका हट जाता है। तदुपरांत बीजों को पीसा जाता है, जिससे लपसी के समान द्रव्य बन जाता है। ठंढी होने पर यह लपसी जम जाती है। इसे द्रवचालित संपीडकों से दबाकर पर्याप्त तेल निकाल दिया जाता है, जो ककाओ बटर (मक्खन) कहा जाता है। खली में केवल लगभग १८ प्रतिशत तेल रहने दिया जाता है। इस खली के महीन चूर्ण को कोको कहते हैं। खली में चीनी और सुगंध के लिये वैनिला मिलाने पर चॉकलेट बनता

है। यदि दुग्धचूर्ण भी मिला दिया जाय तो दुग्ध चॉकलेट (Milk chocolate) बनता है। कुछ देशो मे बहुत गाढे रग के कोको का प्रचलन है, जो कोको मे थोडा क्षार मिलाने से प्राप्त होता है।
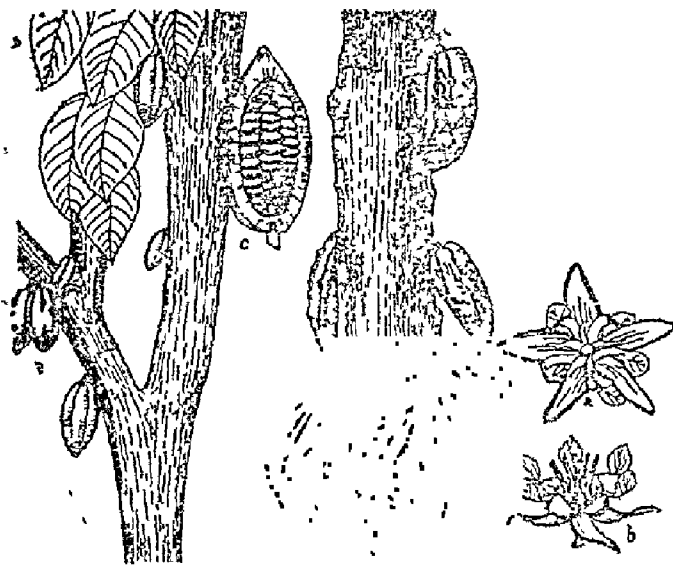
ककाओ वृक्ष के भाग

दाहिनी ओर पत्तियो और फल सहित वृक्ष का तना, मध्य मे : फल लगी शाखा; c फल काटकर दिखाया गया है। अदर गूदे मे लिपटे बीज है, जिनसे कोको बनाया जाता है। a. और b फूल के दो दृश्य।

संयुक्त राज्य (अमरीका) मे प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष लगभग ढाई सेर कोको की खपत है। ओपधिनिर्माण मे ककाओ मक्खन का विशेप उपयोग होता है, क्योकि यह न शीघ्र चिकटता है और न खट्टा होता है।

पेय बनाना—डेढ चम्मच (चाय के चम्मच से नापकर) कोको लें और उसे थोड़े से ठढे पानी में अच्छी तरह मिलाकर एक रूप कर ले। फिर आधा पाव पानी और आधा पाव दूध (या पाव भर दूध) को खौलाएँ और उसे पानी मे मिले कोको मे डाल दें और बराबर चलाते रहें। तब इच्छानुसार चीनी छोड लें। (सा० जा०)

कोकोनाडा (दे० 'काकिनाद')।

कोक्कोक कोकशास्त्र के नाम से प्रख्यात कामशास्त्र के ग्रथ का रचयिता जिसे सामान्यत कोका पडित के नाम मे जानते हैं। यह सिहल निवासी तेजोक का पौत्र और गणविद्याधर का पुत्र था। उसके ग्रंथ का वास्तविक नाम रतिरहस्य है। 'कामकेलिरहस्य' का यह 'व्याकरण' उसने कामुको के मनोरजनार्थ लिखा था और ऐसा करने की प्रेरणा उसे राजा वैयादत्त से हुई थी। शारदा लिपि मे प्राप्त रतिरहस्य की प्रतियो के कारण ही लोग इसका सबध कश्मीरनरेश विनयादित्य (७०० ई०) से जोडते है जो भ्रममूलक है। फारसी, उर्दू और पजाबी अनुवादो मे कोक्कोक को भिन्न भिन्न शासको का अमात्य बताया गया है। लोकानुश्रुति की दृष्टि से रोचक होते हुए भी वे ऐतिहासिक दृष्टि से विश्वसनीय नहीं हैं। उसका समय लगभग ११०० ई० है।

कोक्कोक अनुभवनिष्ठ व्यक्ति थे और 'पडित कवियों' की सभा में उनका बडा मान था। उनकी सुललित शैली उसके पाडित्य की सहृदयता सूचित करती है। वात्स्यायन के अतिरिक्त नदिकेश्वर और गोणिकापुत्र से सामग्री लेना उनकी गवेषणात्मक सजगता का प्रमाण है। रतिरहस्य मे वर्णित नर्मगोष्ठी, सगीतगोष्ठी, उद्यानयात्रा, यानयात्रा, जलान्तार, प्रसाधनोपाय आदि प्रसगो मे तत्कालीन भारत के कलाविलास की झलक मिलती है। इस ग्रंथ की चार ज्ञात टीकाओ मे से अभी तक केवल एक ही प्रकाशित हुई है। (पृ० पु०)

कोच आसाम, बंगाल, बिहार और उडीसा में बसनेवाली एक प्राचीन जाति। ये लोग कामरूप, रगपुर तथा पूर्णिया जिले में मुख्य रूप से बसे हुए हैं। इनके विकास के सबध मे कोई जानकारी नही है। १६वी शती मे इन लोगो ने अपनी राजसत्ता कामरूप मे स्थापित की थी और लगभग २०० वर्ष तक शासन करते रहे। पश्चात् उन्हें मुसलमान और अहोम राजाओ ने पराजित कर दिया और उनका अधिकार कूचविहार तक सीमित हो गया।

नृतत्वविदो की धारणा है कि कोच लोग मगोल रक्त के है। कुछ लोग उन्हें मूलत अनार्य अनुमान करते हैं किंतु उत्तर बंगाल के कोच अपने को राजवशी और क्षत्रिय मानते हैं। उनका कहना है कि वे उन क्षत्रियो के वशज हैं जो परशुराम के भय से इस प्रदेश मे भाग आए थे।

राजवशी कोच रग मे काले है और उनकी नाक चपटी होती है। कुछ राजवशी वैष्णवपथी हैं और कुछ तत्रमार्गावलबी। वे लोग काली, मनसा, ग्रामी, तिस्तू, बुरी, हनुमान, विदुर, तुलसी, ऋषि, किस्तू, बलिभद्र, ठाकुर, कोरा-कुरी आदि देवी-देवताओ की उपासना करते हैं। (प० ला० गु०)

कोच राजवंश सोलहवी शती ई० के आरभ मे विशु (विष्णु) नामक एक पराक्रमी व्यक्ति ने विश्वसिंह नाम धारण करके आसाम के कतिपय भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। यही विश्वसिंह कोच वंश के सस्थापक हुए। करतोया नदी से बर्ना द्वीप तक के सारे भूभाग पर उनका अधिकार था। उन्होने नीलाचल पर्वत पर कामाख्या देवी के मदिर का पुनरुद्धार कराया और उसी समय से उनकी उपासना प्रचलित हुई।

उन्होने कूचविहार को अपनी राजधानी बनाया। १५३३ ई० मे उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके लडके मल्लदेव नरनारायण के नाम से राजा बने। वे अपने वंश के सर्वश्रेष्ठ राजा एव पराक्रमी थे। उन्होंने आहोम और काचारी नरेशो को पराजित किया। मणिपुर और जयतिया नरेशो ने उनकी अधीनता स्वीकार की। उन्होने अपने राज्य का सुप्रबध तो किया ही कला और साहित्य के विकास मे भी योगदान दिया। उनके समय मे वैष्णव धर्म की विशेष उन्नति हुई।

उनके भाई शुक्लध्वज अत्यंत पराक्रमी थे। उन्होने राजविस्तार मे नरनारायण की काफी सहायता की थी। वे अपने अद्भुत पराक्रम और साहस के कारण 'चीलराज' कहे जाते थे और लोग उनके नाम से थरथर कॉपते थे। उनके लडके रघु ने १५८१ ई० मे विद्रोह कर दिया। तब नरनारायण ने उसे सोनकोई (सोकोश) नदी के पूर्व का भाग देकर शात किया और कोच राज्य के दो भाग हो गए।

१५८४ ई० मे नरनारायण की मृत्यु हुई और उनके लड़के लक्ष्मीनारायण राजा हुए, किंतु, उनके समय मे राज्य निर्बल होने लगा। लक्ष्मीनारायण ने मुगलो की सहायता से रघु के पुत्र परीक्षित को पराजित करने का प्रयास किया, किंतु इस प्रयास मे वे अपने राज्य का अधिकाश भाग खो बैठे। पूर्वी भाग पर आहोम राजाओ का तथा पश्चिमी भाग पर मुगलो और भूटिया लोगो का अधिकार हो गया। केवल कूचविहार के आसपास का भूभाग ही उनके पास रह गया। १८वी शती मे यह राज्य अग्रेजो की छत्रछाया मे आया और तबसे उनके भारत छोडने तक उनके अधीन बना रहा। (प० ला० गु०)

कोची जापान के शिकोकू द्वीप के कोची प्रात का प्रादेशिक नगर एव पत्तन (स्थिति ३३° ३०' उ० अ० और १३३° ३७' पू० दे०)। यहाँ एक ऐतिहासिक दुर्ग है। नगर के पार्श्ववर्ती भाग की जलवायु सम है और वर्षा प्रचुर मात्रा मे होती है। निकटवर्ती भाग का ८० प्रतिशत क्षेत्र वनो से घिरा हुआ है। क्षेत्र का जनजीवन लकडी तथा मत्स्योद्योग पर मुख्य रूप से आधारित है। टोसा कागज (Tosa Paper), कृपियत्र, चूना, लकडी और बाँस की टोकरियाँ प्रमुख औद्योगिक उत्पादन हैं। निर्यात की प्रमुख वस्तुओ मे चूना, दाना व भूसा अलग करने के यत्र,

मछली मारने की वंसी और लग्गी उल्लेखनीय है। इसकी जनसंख्या २,१७,८८६ (१९६५) है। (कैं० ना० सिं०)

कोचीन अरब सागर के तट पर स्थित केरल राज्य का एक नगर और बंदरगाह जो अँगरेजी राज्य के समय एक देशी राज्य था (स्थिति: ९° ५८' ५" उ० अ० तथा ७६° ११' ५५" पू० दे०)। इसकी स्थापना २५ दिसंबर, १५०० ई० को पुर्तगालियों ने की थी। १६६३ ई० में यह पुर्तगाली लोगों के हाथों से निकलकर डच शासन में आया। उनके समय में यह विकसित हुआ तथा एक महत्वपूर्ण नगर और बंदरगाह बना। १७९६ ई० में अंग्रेजों ने कोचीन पर आक्रमण किया और अपने अधिकार में कर लिया। १८०६ ई० में इसपर गोलावारी की गई जिससे नगर की बहुत क्षति हुई। डच शासनकाल में यहाँ विभिन्न देशों के लोग—यूरोपीय, अरब, पारसी आदि बड़ी संख्या में आकर बसे।

१७७६ ई० में मैसूर के राजा हैदर अली ने इस प्रदेश को अपने अधिकार में लेकर अपने एक मित्र को कोचीन नरेश के रूप में प्रतिष्ठित किया। १७९१ ई० में इस कोचीन नरेश ने टीपू सुल्तान से भयभीत होकर अँगरेजों से सहायता की प्रार्थना की। गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली ने एक लाख रुपया वार्षिक कर ठहराकर कोचीन को मित्र राज्य स्वीकार किया। किंतु बाद में अँगरेजों ने १७९६ ई० में कोचीन पर आक्रमण कर अपने अधिकार में कर लिया। फिर कुछ शर्तो के साथ कोचीन राजवंश को प्रतिष्ठित किया था। अँगरेजों के भारत से जाने के बाद यह भारत का अंग बन गया और आज यह उसका छठा महत्वपूर्ण बंदरगाह है।

यह नगर लगभग १२ मील लंबे और एक मील चौड़े प्रायद्वीप के उत्तरी भाग में स्थित है। यह प्रायद्वीप मुख्य तट से खाड़ी द्वारा अलग है। स्थल पर पालघाट दर्रे की निकटता तथा जल द्वारा अदन और डर्बन से बंबई की अपेक्षा समीपता ने कोचीन की स्थिति को व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण बना दिया है। १९२०-२३ ई० में इस बंदरगाह को आधुनिक रूप देने की योजनाएँ प्रारंभ हुई। सँकरे स्थलीय भाग को काटकर घाटी और मुख्य समुद्र से जोड़नेवाली एक नहर बनाई गई जिसमें से स्वेज नहर को पार कर सकनेवाले सभी जलयान पार हो सकें। स्थलीय भाग में भी खाड़ी को पार करती हुई सड़कों तथा रेल की बड़ी और छोटी लाइनों का निर्माण किया गया जो कोचीन को कोल्लम (क्विलन) और कोट्टयम से मिलाती है। बंदरगाह पर ४५० फुट लंबे चार जलयानों को एक साथ रख सकने के लिये लंबा, गहरे पानी का क्षेत्र है, विलिंग्टन द्वीप के पूर्वी किनारे पर भी चार जहाजों को रख सकने योग्य एक अन्य स्थान बनाया गया है।

कोचीन में मुख्य आयात अनाज, खनिज पदार्थ, तेल, कोयला, काजू तथा रासायनिक पदार्थो का होता है। निर्यात की वस्तुओं में नारियल, सन, सन का सामान, अदरक, चाय, रबर, काली मिर्च तथा गरम मसाले प्रमुख हैं। यहाँ कपड़ा बनाने के कई कारखाने हैं। (प्र० व०; प० ला० गु०)

कोचीन चीन मलय प्रायद्वीप के धुर दक्षिण में स्थित वियतनाम गणराज्य का एक भूभाग जो १८५९ और १८६७ ई० के बीच फ्रांसीसियों के आधिपत्य में आया और वह फ्रांस द्वारा संरक्षित पाँच राज्यों में से एक था। वह १९४५ ई० में वियतनाम गणराज्य का अंग बना।

इसका क्षेत्रफल २६,४७६ वर्गमील है। इसका पूर्वी तट दक्षिणी चीन सागर में तथा पश्चिमी तट स्याम की खाड़ी में पड़ता है। उत्तरी सीमा उत्तरी वियतनाम तथा कंबोडिया की सीमाओं द्वारा निर्धारित होती है। सामान्य रूप से यह संपूर्ण प्रदेश मेकांग नदी का डेल्टा है; केवल उत्तर के कुछ भाग में अनैम पर्वत की श्रेणियों का समावेश होता है। मेकांग नदी द्वारा लाई हुई मिट्टी से निर्मित इस संपूर्ण डेल्टा का तटीय क्षेत्र बहुत नीचा है अत: अभी भी विस्तृत भाग दलदली है। इन भागों में वायुशिफ (मैनग्रोव *Mangrove*) के वन पाए जाते हैं; तथापि देश के संपूर्ण क्षेत्र का ३६ प्रतिशत भाग कृषियोग्य है।

उष्ण कटिबंध में स्थित यह प्रदेश उष्ण एवं आर्द्र है। दलदल के क्षेत्र जलवायु को अधिक अस्वास्थ्यप्रद बना देते हैं। यह प्रदेश मानसून वायु के प्रभाव में है, जो शीतकाल में उत्तरपूर्व से तथा ग्रीष्मकाल में दक्षिणपश्चिम से आती है। दक्षिणपूर्वी मानसून से यहाँ वृष्टि होती है। यहाँ का औसत वार्षिक ताप २८° सें० है। अप्रैल मई का औसत ताप ३६° सें० तथा दिसंबर का १८° सें० के लगभग रहता है।

डेल्टा की उपजाऊ मिट्टी तथा उष्ण और आर्द्र जलवायु चावल की कृषि के लिये अत्यंत उपयुक्त है और ५९,८०,००० एकड़ भूमि में से ५२,६५,००० एकड़ भूमि में चावल उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से इसकी तुलना बर्मा की ईरावदी नदी के डेल्टा से की जा सकती है। यहाँकी प्रमुख फसलों में शकरकंद, मक्का, नील, पान, गरममसाले, चाय, फलियाँ, गन्ना, तंबाकू तथा कपास उल्लेखनीय हैं। उपयुक्त भौगोलिक परिस्थितियों के कारण रबर का उत्पादन विकसित किया जा रहा है। पशुपालन कृषि का अंग है। भैंस, सुअर, घोड़े, भेड़ें और बकरियाँ बड़ी संख्या में पाली जाती हैं। भैंसों से ही कृषि संबंधी कार्य तथा यातायात के कार्य लिए जाते हैं। नदियों और सागरों के तटों पर मछली मारना यहाँका एक प्रमुख उद्यम है। मछली से इस देश को लगभग ३५,००,००० रुपए प्रतिवर्ष की आय होती है।

उत्तर के पर्वतीय प्रदेश में वनपशु प्रचुरता से पाए जाते हैं। इस देश का चीता अपनी उत्तम नस्ल के लिये विख्यात है। तेंदुआ, जंगली सूअर, भालू, विभिन्न प्रकार के बंदर, मगर तथा साँप यहाँके मुख्य जीव-जंतु हैं।

प्रधानत: मैदान होने के कारण यहाँ केवल 'ग्रेनाइट' तथा 'जेड' की कुछ खानें हैं। टोकरियों तथा लकड़ी के भवनों के निर्माण में यहाँ के निवासी निपुण हैं।

डेल्टा के पूर्वी भाग में मेकांग नदी की एक शाखा पर यहाँका प्रमुख नगर एवं बंदरगाह सैगॉव बसा है जो दक्षिणी वियतनाम की राजधानी है। इस बंदरगाह से चावल, मछली, मछली का तेल, रेशम, काली मिर्च, कपास तथा नारियल का निर्यात होता है। फ्रांसीसियों द्वारा बसाए जाने के कारण नगर पर फ्रांसीसी संस्कृति की स्पष्ट छाप है। तथापि भवनों के शिल्प, सड़कों की सजावट, लोगों की रहन सहन तथा वस्त्राभूषणों में स्थानीय संस्कृति स्पष्ट देखने में आती है। नगर में रासायनिक पदार्थ, शराब, दियासलाई, तंबाकू, वार्निश तथा चीनी बनाने के कारखाने हैं। (प्र० व०)

कोटरी पाकिस्तान के कराची जिले का एक छोटा नगर जो सिंधु नदी के दाहिने तट पर लगभग १०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। (स्थिति २५° २२' उ० अ० से ६८° १८' पू० दे०)। कराची से उत्तर को जानेवाला रेलमार्ग इसके निकट दो शाखाओं में विभक्त होकर क्रमश: सिंधु नदी के दाईं एवं बाईं ओर से होते हुए पंजाब जाता है। हैदराबाद जानेवाले रेलमार्ग पर सिंधु नदी पर निर्मित १,९४८ फुट लंबा पुल है। १९वीं शताब्दी में यह नौकापरिवहन का प्रमुख केंद्र था। इसके दक्षिणपश्चिम में बहती बारन नदी की बाढ़ से बचने के लिये बाँध बनाया गया है। यहाँ नौकानिर्माण तथा मदिरा बनाने के कारखाने हैं। (न० कि० सिं०)

कोटा भारत के राजस्थान राज्य का नगर, जिला और दिल्ली-रतलाम मार्ग पर स्थित एक प्रमुख जंक्शन। (स्थिति २५° ११' उ० अ० से ७५° ५०' पू० दे०), जनसंख्या १,२०,३४५ (१९६१)। यह नगर चंबल नदी के दाहिने तट पर, लगभग ९०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। अँगरेजी शासनकाल में यह एक देशी रियासत था। बूंदी के हाड़ौती राजपूत जैतसिंह ने पंदरहवीं शती में इस नगर की स्थापना की थी। उन दिनों यहाँ कोटिया भीलों की बस्ती थी। उन्होंने इन भीलों से इस भूभाग को अपने अधिकार में लिया। उनके पुत्र सुर्जनदेव ने नगर के चारों ओर एक दुर्ग का निर्माण कराया।

उनके वंशज इस भूभाग पर राज्य करते रहे। १५३= बूंदी के राव सूरजमल ने कोटा पर आक्रमणकर अपने

लिया। १६२५ ई० में राव रत्नसिंह के पुत्र माधवसिंह की सेवाओं से प्रसन्न होकर मुगल सम्राट् जहाँगीर ने पुरस्कार स्वरूप कोटा राज्य की सनद प्रदान की जिसमे कोटा और उसके आसपास के ३६० गाँवो का अधिकार दिया गया था। तबसे कोटा राज्य बूँदी राज्य से स्वतत्र हो गया और उसपर उनके वशज राज्य करते रहे।

२६ दिसबर १८१७ को कोटा राज्य के साथ अँगरेजो ने एक सधि की और अँगरेज सरकार ने उसे मित्र राज्य के रूप मे स्वीकार किया और तत्कालीन नरेश राव उम्मेद सिंह को वशानुक्रम से शासन एव दीवानी, फौजदारी के सपूर्ण अधिकार प्रदान किए। तबसे यह एक रियासत के रूप मे अपना स्थान रखता रहा।

कोटा नगर मे प्रवेश के लिये छह विशाल द्वार है। यह नगर दलपुर, रामपुर तथा चौक नामक तीन खडो मे विभाजित है जो एक दूसरे से दीवारो द्वारा पृथक् हैं। चौक इस नगर का प्राचीनतम भाग है। यहाँ के अनेक मदिरो म से सबसे प्रसिद्ध मथुरेशजी का मदिर है जिसकी मूर्ति गोकुल से लाई गई है। इन मदिरो में नीलकठ महादेव का मदिर सबसे अधिक पुराना है। यहाँका गृह उद्योग मलमल और दरियो का निर्माण रहा है। आजकल यह एक प्रमुख औद्योगिक नगर के रूप मे विकास कर रहा है। नगर के आसपास अनेक कारखाने स्थापित किए गए है।

(न० कि० सिं०, प० ला० गु०)

कोटा बराज कोटा नगर के राजमहल के निकट चबल नदी पर राजस्थान और मध्य प्रदेश राज्यो के सहयोग से निर्मित सिंचाई बाँध जो १९६० मे बनकर तैयार हुआ। इस बाँध के निर्माण मे ६२ लाख घनफुट चट्टान काटे गए और लगभग ६१ लाख घनफुट पक्की ककरीट की चिनाई हुई है तथा ३ करोड ४० लाख घनफुट मिट्टी और पत्थर हटाने का काम हुआ है। इसके निर्माण मे ३ करोड ८० लाख रुपए व्यय हुए है। यह १०८० फुट लबा, ६०५ फुट चौडा और १२२॥ फुट ऊँचा है। बाँध की बाई ओर एक पक्की दीवार का पुश्ता है जिसमे ११६ पक्की नालियाँ है। प्रत्येक मे ४०'×४०' के स्टील के बने अर्धवृत्त दरवाजे है। इसके जलभराव की क्षमता ४४१७ एम० ए० फुट है। इस बाँध से दो मुख्य नहरे निकाली गई है। दाई नहर की लबाई ३७५ किलोमीटर और बाई नहर की लबाई ३५० किलोमीटर है। इसके अधिकतम पानी का निकास ८,८०,००० क्यूसेक्स है। इससे राजस्थान और मध्यप्रदेश की १४ लाख एकड भूमि की सिंचाई किए जाने का अनुमान है।

(प० ला० गु०)

कोटाभारू मलय गणराज्य के कलैनटैन (Kelantan) राज्य की राजधानी, पत्तन एव व्यापारिक नगर, जो मलय के उत्तर-पूर्व तटीय क्षेत्र मे केलैनटैन नदी के मुहाने से छह मील दूर स्थित है (स्थिति ६°५' उ० अ० से १०२°१८' पू० दे०)। यहाँसे रेलमार्ग दक्षिण सिंगापुर तथा उत्तर मे कबोडिया की ओर जाता है। यह अतरराष्ट्रीय वायुमार्ग का अड्डा भी है। कोटाभारू से रबर, नारियल, सुपारी तथा मछलियाँ सिंगापुर भेजी जाती है तथा वहाँसे आवश्यक सामग्री का निर्यात किया जाता है। यहाँ नाव बनाने का उद्योग भी होता है।

(न० कि० सिं०)

कोट्टयम भारत के केरल राज्य का प्रमुख नगर। (स्थिति ९°३६' उ० अ० से ७६°३१' पू० दे०)। यह दक्षिण रेलखड के कोचीन-त्रिवेंद्रम-रेलमार्ग पर स्थित है। यहाँ ईसाइयो द्वारा स्थापित कई स्कूल एव कालिज है। मुद्रणालयो के लिये यह नगर प्रसिद्ध है। यहाँसे मलयालम भाषा के अनेक समाचारपत्र एव पत्रिकाएँ प्रकाशित होती है। यहाँ सीमेट तथा विशेष प्रकार की ईंटो के कारखाने है।

(न० कि० सिं०)

कोठागुडेम गोदावरी नदी के दाहिने तट के समीप स्थित आध्र प्रदेश जिले का एक नगर। यह विद्युच्छक्ति का उत्पादक केंद्र है। यहाँ गोदावरी घाटी मे स्थित कोयले की महत्वपूर्ण खान है जो हैदेराबाद नगर से १२५ मील की दूरी पर स्थित है।

(न० ला०)

कोडिएक द्वीप अलास्का प्रायद्वीप के दक्षिणपूर्व में स्थित एक पहाड़ी द्वीप जो पूर्व की ओर ५,००० फुट उठा हुआ लगभग १०० मील लबा तथा ५० मील चौडा है। पूर्व के वनयुक्त भाग के अतिरिक्त यह द्वीप सर्वत्र वृक्षरहित है परतु अच्छे प्रकार की घास से आच्छादित इसमे एक सुदर चारागाह है। भूमि उत्तम तथा कृषियोग्य, समय औसतन लगभग १६० दिन है। तट के पर्याप्त कटे फटे होने के कारण अनेक पत्तन बनाए गए है जहाँपर विशेषत मछली पकडनेवाले जहाज रुकते है। प्रमुख उद्योग मत्स्योत्पादन, मछली पकडने के धधे, रोएँदार वस्त्र बनाना, भेड तथा पशुपालन है। यहाँके भूरे रग के भालू विख्यात हैं। १९१२ ई० में कतवाई पर्वत के ज्वालामुखी विस्फोट के कारण यह द्वीप राख की एक तह से ढँक गया था। २४ मार्च १९६४ ई०को यहाँ भयकर भूकप आया जिससे इसकी भयकर क्षति हुई।

(न० ला०, प० ला० गु०)

कोडैकानल तमिलनाडु राज्य के मदुरै जिले का एक नगर (स्थिति १०°१४' उ० अ० से ७७°२६' पू० दे०)। यह इसी नाम के तालुक का प्रधान केंद्र है। यहाँ एक राजकीय वेधशाला है जिसमे पार्थिव चुबकत्व, भूकपविज्ञान तथा सौर भौतिकी का अध्ययन किया जाता है। यहाँ एक आरोग्यधाम भी है।

(न० ला०)

कोणमापी (Goniometer) इस यत्र द्वारा मणिभ के अतरतलीय लबो से बने कोण (interfacial angles) नापे जाते है। यह मुख्यत. दो प्रकार का होता है, सपर्क (Contact) कोणमापी तथा परावर्ती (Reflecting) कोणमापी।

संपर्क कोणमापी—इसमे सीधे किनारेवाली दो भुजाएँ लगी होती हैं, जो एक कीलक (Pivot) पर इस प्रकार फँसाई रहती है कि वे स्वतत्रतापूर्वक घुमाई जा सकें। वे अर्धगोलाकार वृत्तखड से जुटी रहती है। इस वृत्तखड पर ० से १८० तक अश अकित रहते हैं। (चित्र १)

उपयोग करते समय कोणमापी की भुजाओ को मणिभ के किसी दो आसन्न तलो पर ठीक ठीक लगा देते है और उनके माध्यम से बने कोण
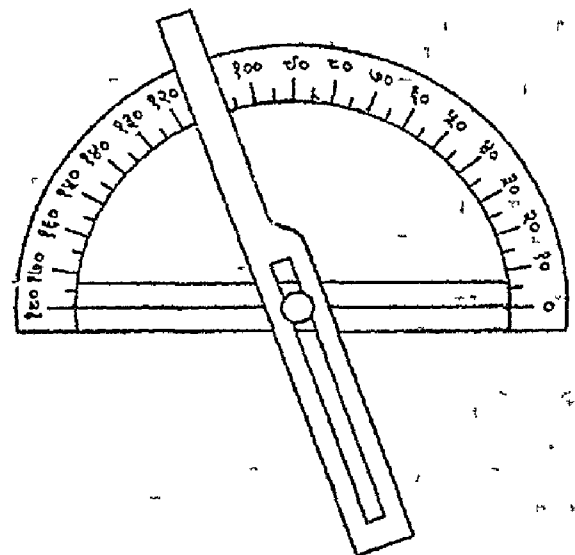
चित्र १ संपर्क कोणमापी

को वृत्तखड पर पढ लेते है। वह दो आसन्न तलो के मध्य का कोण है। इसलिये इसे १८०° मे से घटा देते हैं। यही शेष परिशिष्ट कोण आसन्न अतरतलीय लबो के बीच का कोण है।

परावर्ती कोणमापी—इस प्रकार का कोणमापी, पूर्ण विकसित, चमकीले, सूक्ष्म मणिभो के अतरतलीय लबो के बीच के कोण को अत्यत यथार्थता से मालूम करने के लिये विशेष रूप से उपयुक्त है। इन मणिभों

के तल प्रायः बहुत चमकदार होते हैं तथा किसी वस्तु के बिंब को दर्पण की तरह परावर्तित कर देते हैं।

चित्र २ में दिखाया गया है कि मणिभ अ ब स द की दशा में है। इसके अ ब तल से प्रकाशोत्पादक की रश्मि (signal) का बिंब परावर्तित होकर नेत्र से दिखाई पड़ रहा है। इसके पश्चात् मणिभ के अ ब और स द तलों के बीच के किनारे को इस प्रकार घुमाते हैं कि अ द नई स्थिति द' अ में आ जाता है जहाँ द' अ तथा अ ब एक ही सीधी रेखा में हो जाते हैं। तब फिर वही बिंब इस तल से भी परावर्तित
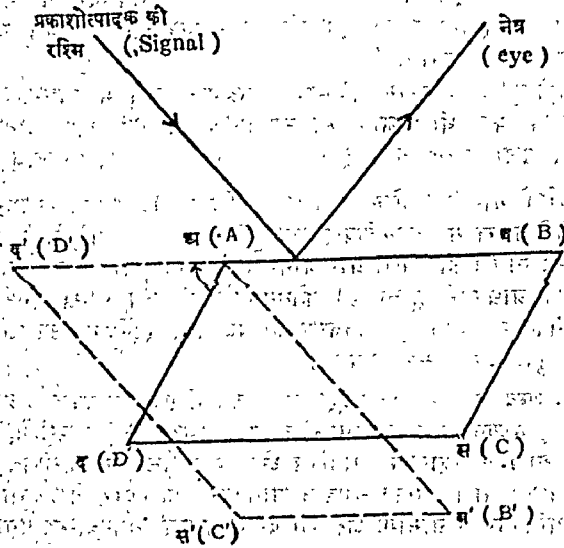
चित्र २. परावर्ती कोणमापी की क्रिया

होकर नेत्र से पहले जैसा स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस प्रकार मणिभ कोण द अ द' से घुमाया गया, जो अ ब तथा अ द तलों के लंबों के बीच का कोण है। इसी सिद्धांत पर आधारित कई प्रकार के परावर्ती कोणमापी बनाए गए हैं। उनमें से एक क्षैतिज वृत्त-कोणमापी (चित्र ३) है। इसमें एक समांतरित्र (कॉलिमेटर, Collimator) ग तथा एक दूरदर्शी दू लगाया गया है। इनके अतिरिक्त चार संकेंद्र अक्ष इस प्रकार लगाए गए हैं कि मणिभधारक क, समंजन (adjustment) चाप च तथा केंद्रणकारी सरकन (centering slides) घ को एक साथ ही ऊपर या नीचे किया जा सकता है या इनको समतल वृत्त वृ से अलग या एक साथ ही घुमाया जा सकता है। आवश्यकतानुसार मणिभधारक 'क' तथा दूरदर्शी यंत्र द को वृत्त वृ के साथ घुमा सकते हैं और अन्य भाग कसा हुआ रख सकते हैं।

मणिभधारक क पर मणिभ को इस प्रकार रखते हैं कि इसका एक किनारा कोणमापी की एक धुरी के समांतर रहे। प्रकाशोत्पादक वस्तु से प्रकाश रश्मियों को समांतरित्र ग के पतले दीर्घछिद्र (slit) के मध्य से इस प्रकार जाने देते हैं कि दीर्घछिद्र का बिंब मणिभ के धरातल से परावर्तित होकर दूरदर्शी दू से स्पष्ट दिखाई पड़े। क्लैंप तथा मंदगति पेंच (slow motion screw) प की सहायता से दीर्घछिद्र के बिंब को दूरदर्शी से क्रूस तंतु (cross wires) पर ठीक ठीक लगा देते हैं और अंशांकित क्षैतिज चक्र पर अंशों को वर्नियर (vernier) तथा लेंस (lens) की सहायता से बिलकुल ठीक ठीक पढ़ लेते हैं।
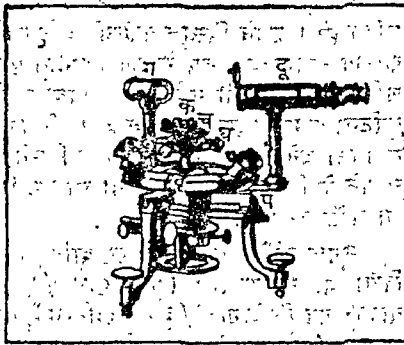
चित्र ३. क्षैतिज वृत्त कोणमापी
क. मणिभधारक; च. समंजन चाप; घ. केंद्रणकारी सरकन; ग. समांतरित्र; दू. दूरदर्शी; वृ. समतल वृत्त तथा प. मंदगति पेंच।

अब मणिभ और वृत्त वृ को इस प्रकार घुमाते हैं कि मणिभ के आसन्न तल से भी पहले ही प्रकार का बिंब दूरदर्शी यंत्र के क्रूस तंतु पर बनकर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगे और फिर वर्नियर तथा दूरदर्शी की सहायता से अंशों को बिल्कुल ठीक ठीक पढ़ लेते हैं। घुमाव का यह कोण ही अंतरतलीय लंबों के बीच का कोण होता है।

इसी प्रकार के कोणमापी की तरह वर्णक्रममापी (Spectrometer) भी होता है। अंतर केवल यह होता है कि परावर्ती कोणमापी में मणिभधारक लगा होता है, जिसे इच्छानुसार घुमाने, ऊपर या नीचे करने की व्यवस्था रहती है। यदि दूरदर्शी स्वतंत्रतापूर्वक घूमने लगे तो यही कोणमापी वर्तनांकमापी की भाँति भी उपयोग में लाया जा सकता है।

उपर्युक्त कोणमापी में यदि एक और उर्ध्वाधर वृत्त जोड़ दें तो वह द्विवृत्त कोणमापी या थियोडोलाइट (Theodolite) कोणमापी कहलाता है, जो अधिक यथार्थ परिणाम देता है। इससे भी अधिक यथार्थ परिणाम देनेवाला त्रिवृत्त कोणमापी (Three circle goniometer) होता है, जिसमें तीसरा वृत्त उर्ध्वाधर वृत्त के लंबवत् लगा रहता है। इस प्रकार के कोणमापी से भीतरी तलीय कोण सीधे माप लिया जाता है और मणिभ को घुमाने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं पड़ती। इसके अतिरिक्त मणिभीय एक्स-रे विवर्तन (diffraction) को नापने के लिये वाइसेनबर्ग एक्स-रे (Weissenbrg X-ray) कोणमापी है तथा ऐसे भी कोणमापी हैं जिनके द्वारा मणिभों को इनके निर्माण के समय ही नापा जा सकता है।
(वं० ध० ति०)

कोणार्क उड़ीसा प्रदेश के पुरी जिले में जगन्नाथपुरी से २१ मील उत्तर-पूर्व समुद्रतट पर चंद्रभागा नदी के किनारे स्थित एक सूर्यमंदिर। इस मंदिर की कल्पना सूर्य के रथ के रूप में की गई है। रथ में बारह जोड़े विशाल पहिए लगे हैं और इसे सात शक्तिशाली घोड़े तेजी से खींच रहे हैं। जितनी सुंदर कल्पना है, रचना भी उतनी ही भव्य है। मंदिर अपनी विशालता, निर्माणसौष्ठव तथा वास्तु और मूर्तिकला के समन्वय के लिये अद्वितीय है और उड़ीसा की वास्तु और मूर्तिकलाओं की चरम सीमा प्रदर्शित करता है। एक शब्द में यह भारतीय स्थापत्य की महत्तम विभूतियों में है।

यह विशाल मंदिर मूलतः चौकोर (८६५ × ५४० फुट) प्राकार से घिरा था जिसमें तीन ओर ऊँचे प्रवेशद्वार थे। मंदिर का मुख पूर्व में उदीयमान सूर्य की ओर है और इसके तीन प्रधान अंग—देउल (गर्भगृह), जगमोहन (मंडप) और नाटमंडप—एक ही अक्ष पर हैं। सबसे पहले दर्शक नाटमंडप में प्रवेश करता है। यह नाना अलंकरणों और मूर्तियों से विभूषित ऊँची जगती पर अधिष्ठित है जिसकी चारों दिशाओं में सोपान बने हैं। पूर्व दिशा में सोपानमार्ग के दोनों ओर गजशार्दूलों की भयावह और शक्तिशाली मूर्तियाँ बनी हैं। नाटमंडप का शिखर नष्ट हो गया है, पर वह निःसंदेह जगमोहन शिखर के आकार का रहा होगा। उड़ीसा के अन्य विकसित मंदिरों में नाटमंडप और भोगमंदिर भी एक ही अक्ष में बनते थे जिससे इमारत लंबी हो जाती थी। कोणार्क में नाटमंडप समानाक्ष होकर भी पृथक् है और भोगमंदिर अक्ष के दक्षिणपूर्व में है; इससे वास्तुविन्यास में अधिक संतुलन आ गया है।

नाटमंडप से उतरकर दर्शक जगमोहन की ओर बढ़ता है। दोनों के बीच प्रांगण में ऊँचा एकाश्म अरुणस्तंभ था जो अब जगन्नाथपुरी के मंदिर के सामने लगा है।

जगमोहन और देउल एक ही जगती पर खड़े हैं और परस्पर संबद्ध हैं। जगती के नीचे गजथर बना है जिसमें विभिन्न मुद्राओं में हाथियों के सजीव दृश्य अंकित हैं। गजथर के ऊपर जगती अनेक घाटों और नाना भाँति की मूर्तियों से अलंकृत है। इनमें देवी देवता, किन्नर, गंधर्व, नाग, विद्याधर

व्यालो और अप्सराओ के सिवा विभिन्न भावभगियो मे नरनारी तथा कामासक्त नायक नायिकाएँ भी प्रचुरता से अकित है। ससारचक्र की कल्पना पुष्ट करने के लिये जगती की रचना रथ के सदृश की गई है और इसमे चौबीस वृहदाकार (९ फुट ८ इच व्यास के) चक्के लगे है जिनका अगप्रत्यग सूक्ष्म अलकरणो स लदा हुआ है। जगती के अग्र भाग मे सोपानपक्ति है जिसके एक ओर तीन और दूसरी ओर चार दौडते घोडे बने है। ये सप्ताश्व सूर्यदेव की गति और वेग के प्रतीक है जिनसे जगत् आलोकित और प्राणान्वित है।

देउल का शिखर नष्ट हो गया है और जघा भी भग्नावस्था मे है, पर जगमोहन सुरक्षित है और बाहर से १०० फुट लबा चौडा और इतना ही ऊँचा है। भग्नावशेष से अनुमान है कि देउल का शिखर २०० फुट से भी अधिक ऊँचा और उत्तर भारत का सबसे उत्तुग शिखर रहा होगा। देउल और जगमोहन दोनो ही पचरथ और पचाग हैं पर प्रत्येक रथ के अनेक उपाग हैं और तलच्छद की रेखाएँ शिखर तक चलती है। गर्भगृह (२५ फुट वर्ग) के तीनो भद्रो मे गहरे देवकोष्ठ बने हैं जिनमे सूर्यदेव की अलौकिक आभामय पुरुषाकृति मूर्तियाँ विराजमान हैं।

जगमोहन का अलकृत नवशाखा द्वार ही भीतर का प्रवेशद्वार है। जगमोहन भीतर से सादा पर बाहर से अलकरणो से सुसज्जित है। इसका शिखर स्तूपकोणाकार (पीढा देउल) है और तीन तलो मे विभक्त है। निचले दोनो तलो मे छह छह पीढे है जिनमे चतुरग सेना, शोभायात्रा, नृत्यगान, पूजापाठ, आखेट इत्यादि के विचित्र दृश्य उत्कीर्ण है। उपरले तल मे पाँच सादे पीढे हैं। तलो के अतराल आदमकद स्त्रीमूर्तियो से सुशोभित है। ये ललित भगियो मे खडी बाँसुरी, शहनाई, ढोल, मृदग, झाझ और मजीरा बजा रही है। उपरले तल के ऊपर विशाल घटा और चोटी पर आमलक रखा है। स्त्रीमूर्तियों के कारण इस शिखर मे अद्भुत सौंदर्य के साथ प्राण का भी सचार हुआ है जो इस जगमोहन की विशेषता है। वास्तुतत्वज्ञो की राय मे इससे सुघड़ और उपयुक्त शिखर कल्पनातीत है। (कृ० दे०)

इस मदिर का निर्माण गग वश के प्रतापी नरेश नरसिंह देव (प्रथम) (१२३८–६४ ई०) ने अपने एक विजय के स्मारक स्वरूप कराया था। इसके निर्माण मे बारह हजार स्थपति १६ वर्ष तक निरतर लगे रहे। अबुल फजल ने अपने आइने-अकबरी मे लिखा है कि इस मदिर मे उडीसा राज्य के बारह वर्ष की समूची आय लगी थी। उनका यह भी कहना है कि यह मदिर नवी शती ई० म बना था, उस समय उसे केसरी वश के किसी नरेश ने निर्माण कराया था। बाद मे नरसिंह देव ने उसको नवीन रूप दिया। इस मदिर के आस पास बहुत दूर तक किसी पर्वत के चिह्न नही हैं, ऐसी अवस्था मे इस विशालकाय मदिर के निर्माण के लिये पत्थर कहाँ से और कैसे लाए गए यह एक अनुत्तरित जिज्ञासा है।

इस मदिर के निर्माण के सबध मे एक दतकथा प्रचलित है कि सपूर्ण मदिर का निर्माण हो जाने पर शिखर के निर्माण की एक समस्या उठ खडी हुई। कोई भी स्थपति उसे पूरा कर न सका तब मुख्य स्थपति के धर्मपाद नामक १२ वर्षीय पुत्र ने यह साहसपूर्ण कार्य कर दिखाया। उसके बाद उसने यह सोचकर कि उसके इस कार्य से सारे स्थपतियो की अपकीर्ति होगी और राजा उनसे नाराज हो जायगा, उसने उस शिखर से कूदकर आत्महत्या कर ली। एक अन्य स्थानीय अनुश्रुति है कि मदिर के शिखर मे 'कुम्भर पाथर' नामक चुबकीय शक्ति से युक्त पत्थर लगा था। उसके प्रभाव से इसके निकट से समुद्र मे आनेवाले जहाज और नौकाएँ खिची चली आती थी और टकराकर नष्ट हो जाती थी।

कहा जाता है कि काला पहाड नामक प्रसिद्ध आक्रमणकारी मुसलमान ने इस मदिर को ध्वस्त किया किंतु कुछ अन्य लोग इसके ध्वस का कारण भूकप मानते हैं।

इस स्थान के एक पवित्र तीर्थ होने का उल्लेख कपिलसहिता, ब्रह्मपुराण, भविष्यपुराण, साबपुराण, वराहपुराण आदि मे मिलता है। उनमे इस प्रकार एक कथा दी हुई है। कृष्ण के जाबवती से जन्मे पुत्र साब अत्यत सुदर थे। कृष्ण की स्त्रियाँ जहाँ स्नान किया करती थी, वहाँ से नारद जी निकले। उन्होने देखा कि वहाँ स्त्रियाँ साब के साथ प्रेमचेष्टा कर रही है। यह देखकर नारद श्रीकृष्ण को वहाँ लिवा लाए। कृष्ण ने जब यह देखा तब उन्होने उसे कोढी हो जाने का शाप दे दिया। जब साब ने अपने को इस सबध मे निर्दोष बताया तब कृष्ण ने उन्हें मैत्रेय वन (अर्थात् जहाँ कोणार्क है) जाकर सूर्य की आराधना करने को कहा। साब की आराधना से प्रसन्न होकर सूर्य ने उन्हें स्वप्न मे दर्शन दिया। दूसरे दिन जब वे चद्रभागा नदी मे स्नान करने गए तो उन्हें नदी मे कमल पत्र पर सूर्य की एक मूर्ति दिखाई पडी। उस मूर्ति को लाकर साब ने यथाविधि स्थापना की और उसकी पूजा के लिये अठारह शाकद्वीपी ब्राह्मणो को बुलाकर वहाँ बसाया। पुराणो मे इस सूर्य मूर्ति का उल्लेख कोणार्क अथवा कोणादित्य के नाम से किया गया है।

कहते है कि रथ सप्तमी को साब ने चद्रभागा नदी मे स्नानकर उक्त मूर्ति प्राप्त की थी। आज भी उस तिथि को वहाँ लोग स्नान और सूर्य की पूजा करने आते है। (प० ला० गु०)

कोतवाल नागरिक क्षेत्र के प्रमुख पुलिस अधिकारी। सामान्यत. छोटे नगरो मे, जहाँ केवल एक पुलिस स्टेशन होता है, वहाँ उस पुलिस स्टेशन की कोतवाली और थाना अध्यक्ष को (जो सब-इस्पेक्टर की काटि का अधिकारी होता है) कोतवाल कहते है। प्रमुख नगरो मे, जहाँ अनेक थाने होते है, कोतवाल का पद तथा कार्यभार उपअधीक्षक (डिप्टी सुपरिंटेंडेंट) सँभालता है।

इस शब्द और पद का उद्भव भारतवर्ष मे मुस्लिम काल मे हुआ। यद्यपि हिंदू मध्यकाल मे 'कोष्ठपाल' का पद, 'नगराध्यक्ष' के अर्थ मे, अनजाना न था। कोतवाल पर नागरिक क्षेत्रो मे पुलिस कार्य के सपादन का दायित्व होता था। उसका समकक्ष अधिकारी 'फौजदार' कहलाता था, जिसके अधिकार मे ग्रामीण क्षेत्र की देखभाल एव व्यवस्था-स्थापना का कार्य था।

मुगलकाल मे पुलिस का कार्य केवल शाति-व्यवस्था-स्थापन तक ही सीमित न था, धर्म-सबधी, नैतिक एव जन साधारण के आचरण की देखभाल भी पुलिस के कर्तव्यो मे सनिहित था। इन समस्त कर्तव्यो का पालन कराने के निमित्त नगर एव ग्रामीण क्षेत्रो मे पुलिस के अधिष्ठाता क्रमश कोतवाल तथा फौजदार होते थे।

कोतवाल के कर्तव्यो और अधिकारो का विस्तृत विवरण आईने-अकबरी मे एव अकबर के सन् १५९५ ई० मे प्रचारित 'फरमान' मे मिलता है। कोतवाल का पद वास्तव मे फारस के 'मुहतासिब' एव हिंदू काल के स्थानिक की सम्मिलित शक्तियो का प्रतीक था। शेरशाह ने अपने काल मे पुलिस का सगठन स्थानीय उत्तरदायित्व के सिद्धात के आधार पर किया था। मुगलकालीन कोतवाल एव फौजदार को भी हम स्थानीय उत्तरदयित्व के सिद्धातों का प्रतीक पाते हैं। अकबर और उसके उत्तराधिकारियो ने इस नियम को ही मान्यता दी कि कोतवाल एव फौजदार को सपत्ति सबधी उन समस्त अपराधो का भागी ठहराया जाय, जो उनके अधिकारक्षेत्र मे घटित हो। इतने विस्तृत कर्तव्यो और दायित्वो का भार वहन करने के कारण स्वाभाविक रूप से इन स्थानीय पुलिस अधिकारियो को विस्तृत शक्ति भी प्रदान की गई थी। कोतवाल को यह अधिकार था कि कोई दुर्घटना अथवा अपराध घटित होने की दशा मे वह लोगो को पुलिस की सहायता देने के निमित्त आदेश दे। उसे अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये अपने सहकारियो और अधीनस्थ कर्मचारियो की नियुक्ति का अधिकार था।

मुगलकालीन कोतवाल के दायित्वो का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है . (१) नगर की सुरक्षा तथा चौकसी, (२) बाजार का नियत्रण, (३) स्वामित्वहीन सपत्ति की व्यवस्था एव देखभाल, (४) जनसाधारण के आचरण का सयमन, (५) अपराधनिरोध एव विवेचन, (६) श्मशान घाट, कब्रिस्तानो आदि की देखभाल।

मुगलकालीन एव आधुनिक कोतवाल मे इस बात मे समरूपता है कि उनपर अपराधनिरोध, विवेचन एव शातिव्यवस्था स्थापित रखने का

भार है। अन्यथा आधुनिक और मुगलकालीन कोतवाल मे शक्ति एवं कर्तव्यों की व्यापकता और स्वरूप में अत्यधिक विभिन्नता है। आधुनिक कोतवाल को जनसाधारण के नैतिक आचरण की देखभाल से सामान्यत: तवतक कोई प्रयोजन नहीं होता, जवतक वह आचरण विधिविरुद्ध अथवा दंडनीय न हो। (भ० स्व० च०)

कोथ जब किसी भी कारण से शरीर के किसी भाग अथवा ऊतक की मृत्यु हो जाती है तब उस व्याधि को कोथ (गैंग्रीन अथवा मॉर्टिफिकेशन, Gangrene or Mortification) कहते हैं। कोथ शब्द प्राय: उन बाहरी अंगों के ऊतको की मृत्यु के लिये उपयोग किया जाता है जो हमको दिखाई देते हैं। इस रोग में ऊतक का नाश अधिक मात्रा में हो जाता है।

धमनी के रोग, धमनी पर दवाव या उसकी क्षति, विषैली ओषधियो, जैसे अरगट अथवा कारवोलिक अम्ल का प्रभाव, विछौने के व्रण, जलना, धूल से दूषित व्रण, प्रदाह, संक्रमण, कीटाणु, तंत्रिकाओ का नाश तथा मधुमेह आदि कोथ के कारण हो सकते हैं।

कोथ मुख्यत: दो प्रकार का होता है : शुष्क और आर्द्र। शुष्क कोथ जिस भाग में होता है, वहाँ रक्तप्रवाह शनै: शनै: कम होकर पहले ऊतक का रग मोम की तरह श्वेत तथा ठंढा हो जाता है, तदुपरांत राख के रंग का अथवा काला हो जाता है। यदि ऊर्ध्व या अध: शाखा मे कोथ होता है तो वह भाग पतला पड़कर सूख जाता है और कडा होकर निर्जीव हो जाता है। इसको अंग्रेजी मे मॉर्टिफिकेशन कहते है। आर्द्र कोथ जिस भाग मे होता है वहाँ रुधिर का सचार एकाएक कट जाता है, परंतु उस स्थान मे रक्त भरा होता है और द्रव भरे छाले दिखाई देते हैं। वहाँ के सब ऊतक मृत हो जाते हैं। मृत भाग सड़े हुए खुरंड (स्लफ, Slough) के रूप मे पृथक् हो जाता है और उसके नीचे लाल रंग का व्रण निकल आता है। आरंभ मे यह असक्रामक होता है। परंतु बाद मे इसमे दंडाणु का संक्रमण हो जाता है।

दोनों प्रकार के कोथ मे शल्य आवश्यक है। पेनिसिलिन की सुई और सल्फोनामाइड तथा निकोटिनिक अम्ल हितकर सिद्ध हुए हैं। (के० डी० व्या०)

कोननगर बंगाल के हुगली जिले का एक नगर (स्थिति २२° ४२' उ० अ० से ८८° २३' पू० दे०) जो हुगली नदी के बाएँ तट पर स्थित है। यह मोटरवाहन संयंत्र तथा रासायनिक उद्योग का केंद्र है। (न० ला०)

कोपर्निकस, निकोलस (१४७३-१५४३ ई०)। सुप्रसिद्ध ज्योतिपशास्त्री। इनका जन्म १६ फरवरी, १४७३ ई० मे पोलैंड मे विश्चुला नदी के तट पर वसे हुए टौरन नामक नगर मे हुआ था। इनके पिता सौदागर थे।

कोपर्निकस की प्रारंभिक शिक्षा टौरन मे हुई थी। प्रारभिक शिक्षा के बाद उन्होंने काकाओ विश्वविद्यालय से गणित की शिक्षा प्राप्त की। इसी विश्वविद्यालय मे प्रसिद्ध ज्योतिषशास्त्री अल्वर्ट ब्रूद्जेवस्की से उन्होंने ज्योतिष की विशेष शिक्षा प्राप्त की। व्यक्तिगत रूप से कोपर्निकस ने वोलोना विश्वविद्यालय के ज्योतिषी मेरिया डी नोवेरा से ज्योतिष के बारे मे काफी जानकारी प्राप्त की थी।

प्राचीन दार्शनिको और खगोलज्ञो का अनुमान था कि पृथ्वी अचल और स्थिर रहती है तथा सूर्य, चंद्र, मंगल, शनि आदि उसकी परिक्रमा करते हैं। इसका सर्वप्रथम सैद्धातिक खंडन कोपर्निकस ने किया और इसकी जगह 'सूर्य केंद्रिक सिद्धात' का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत के अनुसार सूर्य स्थिर तारो की भाँति अचल है और अन्य ग्रह और उपग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं। (विशेष द्रष्टव्य सूर्य केंद्रिक सिद्धांत।) (नि० सिं०)

कोपेट डा एशिया महाद्वीप में स्थित एल्वुर्ज पर्वत की पूर्वी श्रेणियों का सबसे उत्तरी भाग जो उत्तरपश्चिम से दक्षिणपूर्व विस्तृत है। इसका कुछ भाग रूसी तुर्किस्तान मे पड़ता है। कोपेट डा की, जो दक्षिणपूर्वी भाग मे कोह-ए-हजार मस्जिद के नाम से प्रसिद्ध है, सर्वाधिक ऊँचाई १०,००० फुट है। इसका उत्तरी भाग कोह-ए-आलेह तथा दक्षिणी भाग कोह-ए-विनालुद के नाम से विख्यात है। एक तीसरी उच्च श्रेणी कोह-ए-सुर्ख कोह-ए-विनालुद से थोड़ा हटकर है। कोपेट डा तथा कोह-ए-आलेह के बीच एक घाटी है जिसमे दो नदियाँ बहती हैं। आमेक नदी उत्तरपश्चिम मे कैस्पियन सागर की ओर तथा दूसरी काल्क, दक्षिणपूर्व अफगानिस्तान की ओर बहती है। (न० ला०)

कोपेनहेगन डेनमार्क की राजधानी जो जीलैंड द्वीप के पूर्वी तट की समतल भूमि पर स्थित है। प्रारंभ मे यह हान नामक मत्स्योत्पादक ग्राम था जिसने १२५४ ई० मे नगर का रूप धारण किया। जव राजा क्रिस्टोफरतृतीय ने इसे अपनी राजधानी बनाया तब मे इसकी वास्तविक उन्नति हुई। १७०० ई० मे डच, स्वीडन तथा अंग्रेजों की बमवर्षा से, १७२८ एवं १७९५ मे अग्नि से तथा १८०७ मे अंग्रेजो की पुन: बमवर्षा से यह नगर अत्यंत क्षतिग्रस्त हो गया था। इसकी व्यापारिक उन्नति ने, जो १९वीं शताब्दी के मध्य मे मद पड़ गई थी, १८९४ ई० मे करमुक्त बदरगाह के निर्माण मे पुनर्जीवन प्राप्त किया। यहाँ एक प्राकृतिक पत्तन तथा बदरगाह है। मुख्य निर्यात मास, दुग्धपदार्थ, चीनी मिट्टी, मिट्टी के सामान, घड़ियाँ, मशीनें, वस्त्र, रासायनिक पदार्थ, चीनी, मद्य, डिजेल इंजन, जलपोत, काष्ठपदार्थ, कागज तथा चाकलेट इत्यादि हैं।

यहाँ कोपेनहेगन का विश्वविद्यालय, इन्स्टिट्यूट फ़ॉर थियोरेटिकल फिजिक्स (१९२० ई०), रॉयल डैनिश जीओग्राफिकल सोसायटी (१८७६ ई०), अनेक शिक्षण एवं गवेषणा संस्थाएँ तथा तीन प्रमुख संग्रहालय हैं। यहाँ के रॉयल पुस्तकालय मे लगभग १५,००,००० पुस्तकें हैं। नगर मे अनेक प्रमोद वन, झीलें एव भव्य भवन हैं जिनका निर्माण क्रिश्चियन चतुर्थ (१५८८-१६४८ ई०) तथा फ्रेडरिक पंचम (१७४६-१७६६ ई०) के शासनकाल में हुआ था।

इस नगर की जनसंख्या १९६५ ई० मे १,३७७,६०५ थी। (न० ला०)

कोप्त मिस्र निवासी प्राचीन ईसाई जाति एवं प्राचीन मिस्रवासियों के अवशिष्ट विशुद्ध प्रतिनिधि। १४वी शताब्दी मे यूरोपीय भाषाओ के संपर्क के कारण अरवी शब्द 'कुब्त' ने 'कोप्त' का रूप धारण किया। कुब्त स्वयं उस यूनानी शब्द से बना है जिसका अर्थ है मिस्र का रहनेवाला। ७वी शताब्दी मे जब उमर ने मुहम्मद के नए धर्म के प्रसार के लिये मिस्र की विजय की, उस समय वहाँ की संपूर्ण प्रजा ईसाई धर्म को मानती थी तथा परस्पर विरोधी दो संप्रदायो—मोनोफाइसीतिस एव मेल्काइतिस—मे बँटी हुई थी। मेल्काइतिस संप्रदाय रूढिवादी राजधर्म का अनुयायी था जो अधिकतर विदेशी जातियो के मिश्रण से बना था। परंतु प्रजा का एक बड़ा भाग मोनोफाइसीतिस संप्रदाय को मानता था और अपने आपको मिस्र की वास्तविक संतान कहता था। इनकी कोई राजनीतिक आकाक्षा नही थी। यह कहा जाता है कि कोप्तो ने मुसलमानो को देश पर आक्रमण करने के हेतु आमंत्रित किया और उनकी सहायता की ताकि वे पूर्वी रोमन साम्राज्य के राजधर्म के जुए से मुक्त हो सकें। यद्यपि यह बात विश्वसनीय नही है तथापि सदेह नहीं कि ईसाइयों के धार्मिक झगड़ों ने अरबों का कार्य सुगम बना दिया। शासन के इस परिवर्तन मे मोनोफाइसीतिस संप्रदाय लाभान्वित रहा। हजरत मुहम्मद ने स्वयं अपनी मृत्यु से पूर्व इन कोप्तो के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की थी। रोमन सेना के नष्ट हो जाने पर या उनके मिस्र छोडकर चले जाने पर इन्होंने यहीं कहीं अरबों का विरोध किया, परंतु सन् ६४६ ई० मे जब रोमनो ने सिकंदरिया को फिर जीत लिया तब कोप्तों ने इन ईसाई आक्रमणकारियों के विरुद्ध मुसलमानो की सहायता की। कुछ कोप्तो ने इस्लाम धर्म अंगीकार कर लिया परंतु अधिकांश विजयी अरबो की सुरक्षा मे स्वस्थ एवं संपुष्ट ईसाई जाति के ही अंग बने रहे। मुसलमानो तथा इन ईसाइयों मे इतना स्पष्ट अंतर था कि जब ईसाई मुसलमान बन जाता था तब वह कोप्त अथवा मिस्री नही रह जाता था; व्यवहारत: उसकी राष्ट्रीयता ही बदल जाती थी।

मिस्र में ईसाई धर्म का प्रारंभ अंधकारपूर्ण है। देशवासियों में इस धर्म का अस्तित्व तीसरी शताब्दी में दृष्टिगोचर होता है, जब देसियाई अत्याचार के समय कुछ मिस्री शहीदों के नाम समुख आते हैं। सत एथनी (२७०) तथा ४थी शताब्दी में मठवाद का प्रवर्तक पैकोमियस कोप्त था। नैतिकता पर आधारित एव मृत्यूपरात जीवन के स्पष्ट सिद्धात के आधार पर अवलबित धर्म ही मिस्रियों के अनुकूल था। अत जहाँ समाज में निम्न वर्ग की जनता ने बडे उत्साह से ईसाई धर्म को अगीकार किया, वहाँ सिकदरिया की समृद्ध जनता दार्शनिक प्रवृत्तियों में उलझी रही तथा धार्मिक उत्साह के कारण अपनी ईसाई किसान प्रजा को अत्याचार से पीडित करती रही। उस समय मिस्र का चारो ओर से शोषण हो रहा था, देश का उत्तरी भाग न्यूबिया एव मरुभूमि की जनता द्वारा लूटा जा रहा था। इधर साम्राज्यवादी सरकार इतनी शक्तिहीन हो रही थी कि वह अपनी ईसाई प्रजा की ओर से आवाज उठाने में असमर्थ थी। ऐसी परिस्थिति में मठ सबसे सुरक्षित आश्रय बने हुए थे जो इन शक्तिशाली सामतो तथा बर्बर आक्रमणकारियों का निरतर विरोध करते रहे। जब राष्ट्रीय चर्च के सस्थापक शिनाते ने इन्हें रक्षा के हेतु आमत्रित किया तब उन्होंने अत्याचारियों का खुलकर विरोध किया, यहाँ तक कि इस विरोध के वे केंद्र बन गए। ५वीं शताब्दी तक इन ईसाइयों की स्थिति इतनी शक्तिशाली हो गई कि सामतो को ये निरीह एव दया का पात्र समझने लगे।

कोप्त जाति की अध्यात्मवाद में कोई विशेष रुचि नहीं थी। जब कोई विवाद उठ खडा होता तो ये सरल सिद्धात को स्वीकार कर लेते। जब सन् ४५१ में सिकदरिया का कुलपति केलसिडॉन की सभा द्वारा पदच्युत कर दिया गया, तब एक भीषण धर्मभेद उत्पन्न हो गया तथा मोनोफाइसीतिस एव मेलकाइतिस दोनों सप्रदायों में जमकर सघर्ष हुआ। इसके पश्चात् इन दोनों प्रतिद्वद्वी सप्रदायों के दो कुलपति चुने जाने लगे तथा कोप्त मेलकाइतिस के शिकार हो गए। ६३८ में ईरानियों के असफल आक्रमण के पश्चात् हेराक्लियस ने इन दोनों सप्रदायों को एक करने की चेष्टा की, परतु जब वह इस प्रयास में असफल हुआ तो वह मोनोफाइसीतिस सप्रदाय को नृशसतापूर्वक उस समय तक दबाए रहा जब तक कि मिस्र उमर द्वारा मुस्लिम राज्य में मिला नहीं लिया गया। इस अत्याचार काल में बहुत से कोप्त मेलकाइतिस सप्रदाय की ओर खिंच गए। परंतु तब वे कुस्तुतुनिया के सम्राट् के पक्षपाती होने के कारण उत्पीडित किए जाने लगे और मिस्र से इनका प्राय लोप ही हो गया।

उमर के उदार शासन के कुछ वर्षोपरात मिस्री जनता कर एव धर्म के अत्याचार से पीडित होने लगी। कुछ समझदार ईसाइयों ने इस्लाम धर्म के सरल एवं उपयोगी सिद्धातो को मान लिया, कुछ ने भौतिक लाभ से प्रभावित होकर उसे अगीकार किया।

कोप्त अद्भुत लिपिक एव गणितज्ञ थे, अत. अरब शासन में भी वे इन पदों पर बने रहे, परतु उनकी यह योग्यता कभी कभी इनकी विपत्ति का कारण बन जाती थी, आरभ में तो यह विपत्ति की प्रमुख स्रोत ही थी। मुसलमान इन ईसाइयों को अपने से ऊँचे पदों पर सह नहीं पाते थे और इनके विरुद्ध जनता को भडकाया करते थे। कोप्त जाति का निम्नवर्ग तो सदा ही उत्पीडित रहा। ईसाइयों को इस्लाम स्वीकार कर लेने के लिये अनेक प्रकार के लालच दिए जाते थे। उधर अरबों को भी मिस्र में बस जाने के लिये उस समय तक प्रेरित किया जाता रहा जब तक अरबों की सख्या कोप्तों से अधिक न हो गई।

इस जाति को मुसलमानों के अत्याचार का शिकार होना पडा। मठ के साधुओं को एक प्रकार का कर देना पडता था तथा उनका नाम एव सख्या उनके शरीर पर दागी जाती थी। गृहस्थों पर भारी कर लगाया गया था। ७२२ ई० में गिरजाघर भी विध्वस कर दिए गए तथा तस्वीरें और क्रास आदि नष्ट कर दिए गए। ९वीं शताब्दी के मध्य उन्हें अपमानजनक वस्त्र पहनने पडे। ९९७ ई० में हाकिम के शासनकाल में उन्हें भारी क्रूस पहनना पडा एव काली पगडी बाँधनी पडी। यही उनके ईसाई होने की पहचान थी। १२वीं एव १४वीं शताब्दियों में भी उन्हें ऐसे अपमानजनक नियमों का पालन करना पडा। अत बहुत से कोप्तों ने इन नियमों के पालन के बजाय धर्मपरिवर्तन को अधिक उचित समझा और जब १४वीं शताब्दी के मध्य काहिरा में इन दोनों धर्मावलबियों के बीच धार्मिक युद्ध आरभ हुआ तब अधिकाश कोप्तों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इस्लाम धर्म से कोप्ती धर्म में परिवर्तन का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, अतर्जातीय विवाह से भी ये बचते रहे, अत इस जाति ने अरब आक्रमण के पूर्व की अपनी जातीय पवित्रता को बनाए रखा।

विदेशी प्रतिद्वद्विता से पूर्व देश के उद्योग एव व्यापार में भी कोप्त जाति का विशिष्ट स्थान था। यातायात के साधनों के विस्तार के साथ विदेशियों का आगमन हुआ तथा इतालवी, यूनानी, आरमेनियाई आदि शिल्पी अपने उत्तम साधनों से इस जाति के आगे निकल गए। इसके अतिरिक्त यूरोप के सस्ते माल के आयात के कारण देशी उद्योग नष्ट हो गए। अंग्रेजों के आगमन के साथ साथ इनके हाथों से वे पद भी निकल गए जो मुसलमानों ने इन्हें दे रखे थे। फिर भी कुछ कोप्तों ने राज्य के ऊँचे पदों का अधिकार पाया। १९०८ में एक कोप्त प्रधान मत्री तक बन गया। कृषि एव अर्थ विभाग में भी कुछ कोप्तों ने अपना पुराना स्थान बनाए रखा। अब भी उत्तरी मिस्र में बहुत से कोप्त धनी जमींदार एवं कृषक हैं।

मिस्र में अब भी बहुत से सप्रदाय हैं, परतु प्राचीन समय के अनुपात में उनकी सख्या बहुत कम है। ६१६ ई० में सिकदरिया के पास ईरानियों द्वारा छह सौ मठों के विध्वस का उल्लेख किया गया है। १२वीं शताब्दी में अबूसालिह द्वारा दी हुई गिरजाघरों की सख्या आश्चर्यजनक है। ये प्राचीन मठ चट्टानों को काटकर बनाए गए थे। कोस्तातीन तथा जुस्तीनियन के युग में बडे बडे शोभनीय प्रार्थनागृह बने, जैसे सिकदरिया का सेंत मार्क का गिरजाघर तथा उत्तरी मिस्र का लाल मठ। ये कोप्ती वास्तुकला के नमूने हैं, वैसे बीजातीनी पद्धति की गुंबदवाली छतों का भी प्रचलन था। अब मिस्र में एक भी गिरजाघर ऐसा शेष नहीं रहा जिसमें काच की उस प्राचीन पच्चीकारी का दर्शन हो जिससे प्रार्थनागृह सुसज्जित रहा करते थे। परतु कोप्ती वास्तुविशारदों की गुंबददार छत अब भी प्रचलित है। कोप्ती प्रार्थना अध्ययन का विषय है। ७वीं शताब्दी के पश्चात् ये गिरजाघर एकातिक बने रहे तथा दूसरे सप्रदायों के परिवर्तन से सर्वथा अछूते रहे। परिणामत ईसाई धर्म का यह प्राचीनतम रूप रहा, परतु अब शताब्दियों की मुस्लिम दासता ने इसे बहुत क्षीण बना दिया है। अंग्रेजों के सपर्क से इस जाति की धार्मिक एव सामाजिक रीतियों में भी बहुत परिवर्तन आ गया है।

सं०ग्र०—ए० जे० बटलर द एशेंट कोप्टिक चर्चेज ऑव ईजिप्ट; आर० एम० बूली कोप्टिक आफिसेज। (प० उ०)

कोप्ले, जान सिंगिल्टन (१७३७–१८१५ ई०) उपनिवेशकाल का प्रसिद्ध अमरीकी व्यक्तिचित्र (पोर्टेट) शिल्पी। शैशवकाल में ही उसके पिता का देहात हो गया और माता ने बोस्टन के एक अंग्रेज धातुचित्रकार से विवाह कर लिया। १५ साल की आयु में ही वह पोर्ट्रेट चित्रण में दक्ष हो गया और उसके शिल्प की प्रवीणता तथा रेखाओं की शक्ति आरभ में ही लक्षित होने लगी। १७६० तक, २३ साल की अवस्था में ही, वह अमरीका के व्यक्तिचित्रकारों में अद्वितीय माना जाने लगा। १७७४ में वह इग्लैंड पहुँचा और अगले साल इटली की यात्रा कर वहाँ के चित्राचार्यो की चित्रकृतियों की प्रतिलिपियाँ प्रस्तुत कीं। पर उसका इग्लैंड का जीवन सुखी न हो सका। उसकी कलाख्याति, जीवनशक्ति सभी क्षीण हो चलीं और उसके अतिम दिन अत्यत कष्ट और चिंता में बीते। उसके सुदरतम चित्र हैं—नथेनियल हर्ड, मिसेज टामस बोइल्स्टन, गवर्नर तथा मिसेज मिफिलन। (प० उ०)

कोफू जापान देश का एक नगर जो हॉनशू द्वीप पर टोकियो से लगभग ७० मील पश्चिम स्थित यामानाशी प्रात की राजधानी है। यहाँ की जलवायु गर्म है। तुषार तथा हिमपात कम होता है। नगर की निकटवर्ती भूमि उपजाऊ है जहाँ पर विशेषत अगूर पैदा होता है जिससे मदिरा तैयार की जाती है। रेशम के कीडे पालना यहाँ की विशेषता है। इसका प्रमुख औद्योगिक उत्पादन रेशमी वस्त्र है। यहाँ पर कच्चा रेशम

एवं कोकून का वृहत् व्यापार होता है। यहाँ शितो और बौद्ध देवालय एवं एक प्राचीन गढ़ है। १९६४ ई० में यहाँ की जनसंख्या १,७२,००० थी। (न० ला०)

कोवाल्ट एक रासायनिक तत्व है (संकेत Co, परमाणु संख्या २७, परमाणु भार ५८.९४)। प्राचीन काल के रंगीन काच के विश्लेषण से पता लगता है कि कोवाल्ट के खनिज का उपयोग तब ज्ञात था। ऐग्रिकोला ने १५३० ई० में कुछ खनिजों और अयस्कों के लिये कोवाल्ट शब्द का प्रयोग किया था। १७४२ ई० में ब्रांट (Brandt) ने पहले पहल अशुद्ध रूप में इस धातु को प्राप्त किया था। उन्होंने इसके चुंबकीय गुण और ऊँचे द्रवणांक का भी पता लगाया था। कुछ खनिजो के पिघलाने से नीले रंग के बनने का कारण यही तत्व था। इस धातु का प्रारंभिक अध्ययन बेर्गमैन (Bergman) ने किया।

कोवाल्ट अन्य धातुओं के खनिजों, विशेषत: लोहे और सीसे के खनिजों के साथ मिला हुआ पाया जाता है। इसके सामान्य खनिज स्मॉल्टाइट को आ, (Smaltite, $CoAs_2$), लिनीआइट (Linnaeite) कोवाल्ट-सल्फाइड, इरिथ्राइट (Erythrite, $3\ CoO.As_2O_5.8H_2O$) और कोवाल्टाइट ($CoS, CoAs_2$), ऐसबोलाइट (Asbolite, $CoO,2MnO_2,4H_2O$) हैं। इनके खनिज व्यापक रूप से, पर अल्प मात्रा में, अनेक देशों—कांगो, चिली, अमरीका इत्यादि—में पाए जाते है। अधिकांश उल्काश्म (meteorites) में भी लोहे और निकल के साथ यह पाया जाता है। सूर्य और अनेक तारों में इसकी उपस्थिति मिलती है। अनेक पौधों और जंतुओं में भी इसका लेश पाया गया है।

खनिजों से धातु प्राप्त करने की विधि खनिजों की प्रकृति और उनमें उपस्थित धातुओं पर निर्भर करती है। धातुकर्म वस्तुत: कुछ पेचीदा होता है। इस खनिज को दलकर भट्टियों में भूनते है। इससे वाष्पशील अंश बहुत कुछ निकल जाता है। फिर नमक के साथ उत्तप्त करते हैं, जिससे चाँदी अविलेय सिल्वर क्लोराइड में परिणत हो जाती है। जलविलेय निष्कर्ष में कोवाल्ट के अतिरिक्त निकल और ताँबा रहते हैं। लोह धातु के उपचार से ताँबे को अवक्षिप्त करके अलग कर लेते हैं। अवशेष को अब हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में घुलाते हैं। विलयन को चूना पत्थर से उदासीन बनाकर, लोहे को हाइड्रॉक्साइड के रूप में अवक्षिप्त कर लेते हैं। निस्यंद को अब विरंजक चूने के उपचार से कोवाल्ट का काले कोवाल्ट हाइड्रॉक्साइड (Cobalt hydroxide) के रूप में अवक्षेप निकल जाता है और निकल विलयन में रह जाता है।

कोवाल्ट धातु प्राप्त करने के लिये कोवाल्ट के आक्साइड का हाइड्रोजन, या कार्बन, या कार्बन मॉनोक्साइड, या ऐल्यूमिनियम से अवकरण करते हैं, अथवा इसके अल्प अम्लीय ऐमोनिया युक्त विलयन में बिजली के प्रवाह से कोवाल्ट का अवक्षेप प्राप्त करते है।

कोवाल्ट हल्की नीली आभावाली चाँदी सी सफेद धातु है। इसपर पालिश अच्छी चढ़ती है। कोवाल्ट से पालिश की हुई वस्तुएँ अधिक टिकाऊ होती हैं। इसके भौतिक गुण इस प्रकार है :

विशिष्ट घनत्व	८.८
द्रवणांक	१,४८०° सें०
क्वथनांक	२,३७५° सें० (३० मिलीमीटर पर)
विशिष्ट उष्मा	०.०८२८
कठोरता	५.५
तनाव सामर्थ्य	६०,०००° पाउंड प्रति वर्ग इंच

यह घातवर्ध्य और भंगुर होता है, पर भंगुरता अल्प कार्बन डालकर कम की जा सकती है। १,१००° सें० ताप तक यह प्रबल चुंबकीय होता है। इसके दो रूप, साधारण ताप पर ऐल्फा कोवाल्ट और ऊँचे ताप पर बीटा कोवाल्ट, होते है। इसके पाँच रेडियधर्मी समस्थानिक पाए गए हैं।

कोवाल्ट की मिश्र धातुएँ महत्व की है। लौह और अलौह धातुओं से अनेक मिश्र धातुएँ, कोक्रोम (Cochrome), स्टेलाइट (Stellite), वीडिया (Widia) इत्यादि, बनती हैं। इनके उपयोग प्रबल चुंबक बनाने, काटने के औजार, छेनी, खराद, ठप्पे आदि और बिजली के यंत्र इत्यादि बनाने में होते है।

सूक्ष्म विभाजित कोवाल्ट धातु आयतन में ६०-१५० गुना हाइड्रोजन का अवशोषण करती है। इसको निर्वात में २००° सें० तक गरम करने से हाइड्रोजन जल्द निकल जाता है। साधारण ताप पर कोवाल्ट वायु में स्थायी होता है; पर रक्त उष्णता पर आक्साइड बनता है। रक्ततप्त कोवाल्ट तथा जलवाष्प से आक्साइड बनता है। कोवाल्ट तनु अम्लों से लवण बनाता है और हैलोजन से हैलाइड बनते हैं। क्षार की इसपर कोई क्रिया नही होती। कार्बन मॉनोक्साइड के साथ यह कोवाल्ट कारबोनील बनाता है।

सं०ग्रं०—जे० आर० पार्टिंगटन : ए टेक्स्ट बुक ऑव इनॉर्गेनिक केमिस्ट्री; जे० एफ० थॉर्प और एम० ए० ह्वाइटले : थार्प्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री। (वि० वा० प्र०)

उपयोग—कोवाल्ट (आ० घ०, ८.८) एक रजत श्वेत धातु है जो लोहे तथा निकल से कड़ी होती है। लोहे के बाद चुंबकीय धातु के रूप में इसका नाम आता है। १,१५०° सें० तक गर्म करने पर भी इसका चुंबकत्व स्थायी रहता है। इसका उपयोग स्थायी चुंबकीय इस्पातो के औद्योगिक उत्पादन में किया जाता है। स्टेनलेस इस्पात, उच्चवेग इस्पात और तापप्रतिरोधी तथा संक्षरण प्रतिरोधी मिश्रधातुओं का यह आवश्यक अवयव है। इसका उपयोग विद्युत्लेपन में हाइड्रोजन तथा कार्बन मॉनोआक्साइट से कार्बनिक यौगिकों का संश्लेषण करते समय उत्प्रेरक के रूप में तथा काटनेवाले अति कठोर औजारों के सिरों पर लगे हुए टंगस्टन कार्बाइड के बंधक के रूप में होता है।

अब काटने के औजारों तथा तेल के कुएँ खोदने के औजारों के कर्तक भागों के बनाने में उच्चवेग इस्पात के स्थान पर क्रोमियम तथा टंगस्टन के साथ कोवाल्ट की मिश्रधातुएँ इस्तेमाल की जाती है जिन्हें स्टेलाइट कहते हैं। स्टेलाइट की कठोरता काटनेवाले सिरे को लाल तप्त कर देने पर भी कम नही होती। इसका उपयोग छुरी काँटे के औद्योगिक निर्माण में होता है। विद्युत् भट्टियों में कोवाल्ट क्रोमियम ऐल्युमिनियम की मिश्रधातुएँ प्रयुक्त होती हैं। नकली दाँतों की मिश्रधातुओं में तथा जहाजी नोदकों की नाभि में प्रयुक्त बेरीलियम ताम्र मिश्रधातुओं में कोवाल्ट अवश्य रहता है।

रंजकों के औद्योगिक निर्माण में कोवाल्ट के अनेक यौगिक काम आते हैं, जैसे कोवाल्ट सल्फेट कोवाल्ट ऐल्युमिनेट, कोवाल्ट कार्बोनेट तथा कोवाल्ट नाइट्रेट। कोवाल्ट से रंग अत्यंत स्थायी होते हैं किंतु महँगे होते हैं और ठीक से चढ़ते नही। तथापि इनैमल करने और चीनी मिट्टी के उद्योग मे नीले रंजक के रूप में कोवाल्ट यौगिकों के सिवा और कोई पदार्थ नहीं प्रयुक्त होता। आक्सिकरण अभिक्रियाओं में कोवाल्ट के यौगिक उत्प्रेरक की तरह प्रयुक्त किए जाते है।

कोवाल्ट के कार्बनिक यौगिक आयल पेंटों को कम समय में सुखाने के लिये प्रयुक्त किए जाते हैं। कोवाल्ट के आर्द्रताग्राही विलेय लवणों का उपयोग गुप्त स्याही बनाने में होता है। प्रयोगशाला में खनिजों के फूँकनली परीक्षण में, विशेषत: ऐल्युमिनियम, यशद तथा मैग्नीशियम की पहचान के लिये कोवाल्ट नाइट्रेट का प्रयोग होता है। (नि० सिं०)

कोवे जापान में ओसाका से २० मील पूर्व, ओसाका खाड़ी के उत्तरी तट पर स्थित पश्चिमी हॉनशू द्वीप के ह्युगो विभाग (Prefecture) की राजधानी। यह देश का प्रसिद्ध औद्योगिक नगर है। मुख्य उद्योग वस्त्र, मशीन, धातु, रासायनिक पदार्थ, जलपोतनिर्माण, विद्युत् पदार्थ; चीनी तथा रबर के सामान हैं। यह जापान का प्रसिद्ध औद्योगिक बंदरगाह

भी है। यहाँसे सूती, रेशमी, ऊनी वस्त्र और नकली रेशमी धागे, कच्चा रेशम, नकली रेशम, वस्त्र, मशीन, रासायनिक पदार्थ, कच्ची धातु तथा धातुनिर्मित अनेक पदार्थों का निर्यात एवं कच्चे सूत, ऊन, धातु, रासायनिक खाद, पेट्रोल, कोयले तथा अन्य कच्चे माल, मशीन संबंधी हथियार, वाहन, कागज, रबर, खाल एवं चमड़े का आयात होता है। १८६० ई० तक यह प्राचीन ह्यूगो नगर के समीप एक छोटा मत्स्योत्पादक ग्राम था। इसके बंदरगाह तथा नगर का अधिकांश विकास ब्रिटिश एवं अमरीकी व्यापारियों ने निकटवर्ती ओसाका नगर की औद्योगिक उन्नति के समय किया। नगर का अधिकतर भाग तट के निकट ही बसा हुआ है। १९७०ई० में यहाँकी जनसंख्या १२,८८,७५४ थी। यहाँपर अनेक गिरजाघर, शितो तथा बौद्ध देवालय हैं। (न० ला०)

कोब्डेन, रिचर्ड (१८०४-१८६५ ई०)। अँगरेज राजनेता तथा अर्थशास्त्री। मिडहर्स्ट (ससेक्स) के निकट डनफोर्ड फार्म में किसान के घर जन्म। बचपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण यार्कशायर के एक निजी शिक्षालय में शिक्षा। १८१९ ई० में अपने चाचा के ओल्डचेंज (लंदन) स्थित गोदाम में क्लर्क के रूप में काम आरंभ किया। कुछ दिनों गोदाम में काम करने के बाद वे चाचा के फर्म के प्रतिनिधि के रूप में यात्रा करने लगे। १८२८ में दो मित्रों के सहयोग से कपड़े की दूकान खोली। तीन वर्ष पश्चात् उन लोगों ने सैबडेन (लंकाशायर) में एक कारखाना खरीदा और कपड़े की छपाई का काम आरंभ किया। इस व्यवसाय में लगन के साथ कार्य किया फलतः 'कोब्डेन छपाई' का कपड़े की छपाई के रूप में ख्याति प्राप्त हुई।

कोब्डेन ने अपने शिक्षा के अभाव की पूर्ति स्वाध्याय और विविध देशों की यात्राओं द्वारा की। वे जिन देशों में गए वहाँकी आर्थिक प्रणाली का विस्तृत अध्ययन किया। फलस्वरूप उन्होंने दो पुस्तिकाएँ प्रकाशित की जिनको देखने से ज्ञात होता है कि विदेश नीति संबंधी उनके विचारों की रूपरेखा उसी समय परिपक्व हो चुकी थी। इनमें से एक है 'इग्लैंड, आयरलैंड और अमेरिका' जो १८३५ ई० में 'मैंचेस्टर के एक व्यापारी' के नाम से प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि रूस के विरुद्ध तुर्की की प्रतिरक्षा में इग्लैंड का कोई स्वार्थ नहीं है। दूसरी पुस्तिका 'रूस' १८३६ ई० में छपी इसमें उन्होंने शक्तिसंतुलन के सिद्धांत की कटु आलोचना की।

१८३८ ई० के अक्टूबर में मैंचेस्टर के सात व्यापारियों के साथ जिनमें जान ब्राइट का नाम उल्लेखनीय है, मिलकर, कोब्डेन ने 'अन्न कानून रद्द कराने के निमित्त एक संस्था स्थापित की। उन्होंने अपने इस आंदोलन में मुक्त व्यापार का संबंध शांति और निरस्त्रीकरण के साथ जोड़ा और अपने विचारों के समर्थन के लिये मजबूत संगठन बनाए। वे अपने विचारों के प्रचार के लिये उत्साहवर्धक लघु लेख भी लिखते रहे। उन्होंने इग्लैंड के किसानों में आत्मविश्वास उत्पन्न किया और उन्हें विश्वास दिलाया कि अन्न कानून के विलोपन तथा मुक्त व्यापार को अपनाने में ही उनका कल्याण है।

सन् १८४१ में कोब्डेन स्टाकपोर्ट निर्वाचन क्षेत्र से पार्लमेंट (कामन्स सभा) के सदस्य चुने गए और अपने निश्चयात्मक विचारों द्वारा प्रधानमंत्री राबर्ट पील को मुक्त व्यापार के लिये सहमत किया। १८४५ ई० में राबर्ट पील के मंत्रिमंडल ने अन्न कानून के विलोपन का विधेयक पारित किया। विधेयक के सफलतापूर्वक पारित हो जाने पर पील ने कहा, 'इन कार्रवाइयों की सफलता का श्रेय सर्वथा रिचर्ड कोब्डेन को ही है'। कोब्डेन की ख्याति यद्यपि मुक्त व्यापार के दूत के रूप में ही है तथापि उन्होंने १८६० ई० में इग्लैंड और फ्रांस के बीच एक व्यापारिक समझौता कराने में सफलता प्राप्त की थी तथा अमरीका के गृहयुद्ध में इग्लैंड की ओर से महत्वपूर्ण योगदान दिया था।

रिचर्ड कोब्डेन असाधारण व्यक्ति थे। उनमें संगठन की अद्भुत क्षमता थी। वे एक अच्छे वक्ता भी थे। उनके विचारों में निर्भीकता, तर्क और भावना का सम्मिश्रण होता था। जिस युग में वे पैदा हुए थे, उस युग में वित्त, सरकार और राजनीति के विषय कुछ राजनीतिक परिवारों एवं सरकारी अफसरों के ही चिंतन के विषय माने जाते थे। कोब्डेन ने अपनी वक्तृत्व तथा संगठन शक्ति द्वारा अर्थशास्त्र का ज्ञान तथा सरकार के वार्षिक बजट की आलोचना करने की क्षमता व्यापारियों किसानों और मजदूरों तक फैलाई। इस प्रकार कोब्डेन ने राजनीतिक शिक्षा का प्रचार जनसाधारण में किया। कोब्डेन की मृत्यु लंदन में २ अप्रैल १८६५ ई० को हुई। (शु० ते०, प० ला० गु०)

कोब्लेंज मोसेल तथा राइन नदी के संगम पर स्थित जर्मनी का एक नगर। इस नगर का प्राचीन भाग मोसेल नदी के तटपर तथा नवीन नगर राइन नदी के बाम तट पर है। यहाँ के प्रसिद्ध भवन सेंट कैस्टर का गिरजाघर (९वीं शताब्दी में स्थापित), वृहत् निर्वाचन भवन तथा राजभवन आदि हैं। यहाँ पर अनेक शिक्षण संस्थाएँ, एक व्यायामशाला तथा एक संगीतालय हैं। यहाँ के मुख्य औद्योगिक पदार्थ जलपोत, सिगार, जूते, हैट, मशीनें तथा पियानो हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत यह १९२३ ई० तक अमरीकी सेना का प्रधान केंद्र था। द्वितीय विश्वयुद्ध में यह जर्मन तथा अमरीकी सेनाओं का युद्धस्थल था। यहाँकी जनसंख्या १९६८ ई० में १,०७,४३४ थी। (न० ला०, प० ला० गु०)

कोमागाटा मारु एक जापानी जहाज जिसे भारत के प्रवासी क्रांतिकारियों ने १९१५ ई० में चार मास के लिये किराए पर लिया था। उन दिनों कनाडा के प्रवासी भारतीयों और कनाडावासियों के बीच कतिपय श्रम संबंधी प्रश्नों को लेकर विवाद चल रहा था। इससे कनाडा सरकार ने भारतीयों के कनाडा प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया। फलतः कनाडा के प्रवासी भारतीयों के इस असंतोष ने अन्यत्र बसे भारतीय प्रवासियों को उत्तेजित कर दिया और हांगकांग में क्रांतिकारी विचार के लोगों की एक सभा हुई और निश्चय हुआ कि कनाडा में जबर्दस्ती प्रवेश का प्रयास किया जाय। इसके निमित्त उक्त जहाज किराए पर लिया गया और इस कार्य में बाबा गुरुदत्त सिंह नामक एक मलाया प्रवासी सज्जन ने आर्थिक सहायता प्रदान की। जब यह जहाज प्रवासी भारतीयों के दल को लेकर वैंकूअर पहुँचा तो वह रोक दिया गया और वह जहाज वहाँ तीन मास तक खड़ा रहा पर भारतीयों को उतरने न दिया गया।

इससे लोगों में यह भाव जागृत हुए कि अँगरेज लोग भारतीयों का पग पग पर अपमान करना चाहते हैं। सम्मानपूर्वक जीवन के लिये आवश्यक है कि भारत को अँगरेजों के चंगुल से आजाद कराया जाय। सैनफ्रांसिस्को (अमरीका) नगर में भारतीयों की एक विराट सभा हुई। इस सभा में दस हजार प्रवासियों ने भारत को स्वतंत्र कराने के उद्देश्य से भारत चलने का निश्चय किया। सारे संसार के भारतीय प्रवासियों को इस आंदोलन में सम्मिलित होने के लिये 'गदर' नामक पत्र द्वारा आह्वान किया गया। बाबा गुरुदत्त सिंह को भी तार दिया गया।

फलतः कोमागाटा मारु जहाज कनाडा से गदर पार्टी के लोगों को लेकर भारत की ओर रवाना हुआ। रास्ते में जापान से भारी मात्रा में शस्त्रास्त्र भी लिए गए। सशस्त्र क्रांति की योजना भाई परमानंद, सरदार कर्तार सिंह, रासबिहारी बोस आदि ने मिलकर तैयार की। अंग्रेजों से सत्ता छीनने के लिये २१ फरवरी १९१५ का दिन निश्चित किया गया। किंतु इसी बीच किसी विश्वासघाती द्वारा अँगरेज सरकार को सारी योजना दो दिन पूर्व ज्ञात हो गई और कोमागाटा मारु के सभी लोग गिरफ्तार कर लिए गए। लगभग ३०० व्यक्तियों को उन्होंने मौत के घाट उतार दिया और क्रांति की योजना विफल हो गई।

यह घटना भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास में कोमागाटा मारु के नाम से प्रख्यात है। (प० ला० गु०)

कोमाती दक्षिणपूर्व अफ्रीका की एक नदी जो ट्रांसवाल में वॉल नदी के उद्गम स्थान से ११ मील पश्चिम लगभग ५,००० फुट की

ऊँचाई से निकलकर, लगातार उत्तर तथा पूर्व दिशा मे ५०० मील बहती हुई, हिंद महासागर में डेलागोग्रा की खाड़ी में गिरती है। यह अपने मुहाने से, जहाँ जल की गहराई १२ से १८ फुट है, लिबोंबो के निकट तक नौगम्य है। इसकी ऊपरी घाटी में निम्न कोटि के सोने के क्षेत्र हैं। ३२° पूर्व देशांतर रेखा के ठीक पश्चिम तथा २५°२५' दक्षिण अक्षांश पर क्रोकोडाइल नदी इसमें आकर मिलती है। इस संगम के एक मील नीचे संमिलित धारा मनहीसा कहलाती है, लिबोंबो में ६२६ फुट की कोमाटी पूर्ट नामक दरार से बहती हुई यह तटीय मैदान में पहुँचती है। ।यहाँ अनेक मनमोहक प्रपात हैं। (न० ला०)

कोमासीन इटली की कोमा और उसकी समवर्ती झीलों के क्षेत्र में पाई जानेवाली लौहयुगीन संस्कृति जिसका समय ई० पू० १०वीं से ४थी शती आँका जाता है।

कोमा झील के दक्षिणी तट के भूभाग में पुरातत्ववेत्ताओं को प्रारंभिक लौहयुग की पाँच बस्तियों के चिह्न मिले हैं। अनुमान है कि ईसा पूर्व १२००-१००० काल में इस संस्कृति के प्रतिनिधि वेनिस के समीपवर्ती आल्प्स पर्वतमाला को लाँघकर इस क्षेत्र में आए। उनमें मृतकों का दाह करने की प्रथा का प्रचलन था। दाह के उपरांत अस्थियों को मिट्टी के बड़े बड़े बर्तनों में रखकर गाड़ दिया जाता था। मृत व्यक्ति के आभूषण और दैनिक उपयोग की छोटी छोटी वस्तुएँ भी इसी बर्तन में रख दी जाती थीं। उसके अस्त्र शस्त्र इस बर्तन के आसपास रखे जाते थे। सुरक्षा के लिये बर्तन के चारों ओर पत्थर की बड़ी बड़ी शिलाएँ लगा दी जाती थीं।

कोमासीन संस्कृति को तीन युगों में विभाजित किया गया है। आरंभिक कोमासीन युग (ई० पू० १२००) को भौतिक संस्कृति का प्रतिनिधान हाथ से बनाए हुए मिट्टी के बर्तन करते हैं। उभरी हुई पट्टियों और गोलाकार बिंदुओं की पंक्तियों से इन बर्तनों को अलंकृत करने के प्रयत्न किए गए थे। इन अवशेषों के साथ कांस्य युग की कुछ तलवारें भी मिली है। ये संभवतः आल्प्स के उत्तर से लाई गई होंगी। मध्य कोमासीन युग (ई० पू० ७५०-५००) के अवशेषों में पुरातन शैली के हाथ से बनाए हुए मिट्टी के बड़े बड़े पात्र मिले है। इनकी वास्तविक आयु अधिक नहीं है; परंतु इनके निर्माण में पुरातन शैली का अनुकरण अवश्य किया गया है। इन पात्रों की सजावट अनेक प्रकार की रेखागणित की आकृतियों से की गई है। इस काल के अवशेषों में अस्त्र शस्त्र नहीं मिले। पात्रों में मिली सामग्री में विविध प्रकार के अनेक आभूषण भी है। प्राणियों का चित्रण इस काल की कला की विशेषता है। अंतिम कोमासीन युग लगभग ई० पू० ५०० में आरंभ हुआ। पात्रों के अतिरिक्त इस युग के अवशेषों में राख हटाने के बर्तन, नाखून काटने और सँवारने के सोने और चाँदी से बने उपकरण, तथा अनेक प्रकार के आभूषण मिले हैं। इनमें, विशेषकर नए प्रकार के आभूषणों में, बाह्य संस्कृतियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। (ष्या० दु०)

कोमीशिया प्राचीन रोमन प्रजातंत्र की एक सभा। इसका शाब्दिक अर्थ संस्थागार है। जनसभाओं के लिये रोम निवासी तीन शब्दों का प्रयोग करते थे—(१) कंसीलियम, जो किसी भी साधारण सभा को कहते थे; (२) कोमीशिया, जिसका तात्पर्य रोम की समस्त जनता की सभा से था (कालांतर में लातीनी भाषा में यह शब्द चुनाव के लिये भी प्रयुक्त होने लगा था); (३) कोंशियो। कोमीशिया एवं कोंशियो में स्पष्ट अंतर था। कोमीशिया की बैठक में किसी विशेष प्रश्न पर जनता से स्पष्ट राय ली जाती थी, परंतु कोशियो की बैठक में जनता को एकत्रकर या तो राज्य की ओर से कोई आदेश सुनाया जाता, या किसी राजकीय नियम की घोषणा की जाती थी। आरंभ में कोमीशिया केवल उच्च वर्ग की सभा थी। परंतु धीरे धीरे जब साधारण वर्ग को राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकार मिलने लगे, जैसे भूमि के स्वत्व तथा सैनिक अधिकार, तब इस वर्ग ने भी एक सैनिक सभा, सेन्युरिया, का निर्माण किया जो तत्कालीन रोमन सभाओं में सर्वश्रेष्ठ थी। उसे मतदान का भी अधिकार प्राप्त था। परंतु चूँकि उसके संगठन की आधारशिला भूमि पर अधिकार एवं संपन्नता थी, वह साधारण वर्ग को न अपना सकी। परिणामतः साधारण जनता ने एक भिन्न राजनीतिक संघ स्थापित किया। इसका नाम कोर्सीलियम लेबिस पड़ा। यह सभा साधारण वर्ग से आनेवाले प्रशासकों का चुनाव करती, उनसे संबंधित मुकदमे सुनती तथा जनता की ओर से कासुल द्वारा कोमीशिया सेन्युरिया में माँगें पेश करती। उपर्युक्त कार्यों के द्वारा उसे वैधानिक अधिकार मिले। समस्त जनता से संबंधित कोई प्रस्ताव पारित करने का अधिकार भी इसे था। परंतु अब इसका संगठन प्रांतीय जातियों के आधार पर होने लगा, अतः चुनाव के हेतु एक नवीन सुसंगठित जनसभा की आवश्यकता प्रतीत हुई। परिणामतः ३५७ ई० पू० में वैधानिक सभा 'कोमीशिया त्रीब्युता पोपुली' का जन्म हुआ।

इस जनसभा की सदस्यता उच्च वर्ग को नहीं प्राप्त थी। इसके अधिकार बहुत महत्वपूर्ण थे। साधारण जनता इसमें अपना मत निःसंकोच प्रकाशित कर सकती थी। परंपरा के अनुसार जनप्रशासक ही इस मतप्रकाशन का आरंभ करता था। इसके न्याय संबंधी अधिकार भी प्रतिबंध से मुक्त थे। प्रशासकों द्वारा किए हुए निर्णय पर इस सभा में अपील हो सकती थी। कालांतर में इस सभा की महत्ता केवल पारंपरिक रह गई; प्रशासकों द्वारा पारित नियमों को यह स्वीकृति प्रदान करती तथा कभी कभी धार्मिक समारोहों के हेतु भी इसका संमेलन होता। चुनाव, विधान एवं न्यायसंबंधी कार्यों के हेतु इसका संमेलन बुलाया जाता। प्रशासकों का चुनाव एवं युद्ध की घोषणा इसके प्रमुख अधिकार थे। प्रजातंत्र के अंतिम दिनों में यह समस्त जनता द्वारा प्रस्तावित एवं पारित नियमों का उद्गम बनी। इसके अध्यक्ष भी जनता में से ही चुने हुए प्रशासक होने लगे।

कोमीशिया का अपना संविधान था जिसके नियमों का इसके संमेलनों में पालन होता था। प्रजातंत्र समाप्त हो जाने पर भी कोमीशिया की परंपरा बनी रही। संभवतः तीसरी शताब्दी ई० तक यह परंपरागत नियमों के अनुसार कार्य करती रही। (प० उ०)

कोमो इटली का एक प्रांत तथा उस प्रांत की राजधानी जो उसी नाम की झील के दक्षिणपश्चिमी सिरे पर, मिलानो नगर से २४ मील दूर स्थित है। यद्यपि निकटवर्ती देशों का सौंदर्य पर्यटन व्यापार में सहायक है, तथापि यहाँके निवासियों का जीविकोपार्जन अधिकतर उद्योग पर ही निर्भर करता है। यह स्विटजरलैंड तथा मिलानो के बीच रेलमार्ग का जंक्शन है। यहाँके प्रमुख उद्योगों में रेशम की कताई एवं बुनाई, अन्य वस्त्रोद्योग, धातु, मोटर के विभिन्न अवयवों और अन्यान्य मशीनों का निर्माण तथा संतरे और जैतून की खेती उल्लेख्य है। यहाँकी जनसंख्या १९६१ में ८२,०७० थी।

कोमो झील—इटली देश की तृतीय बृहत् झील है जो आल्प्स पर्वत के चरण में स्थित है। दक्षिण की ओर लगभग मध्य में इस झील के दो भाग हो जाते है। जिनमें दक्षिणपश्चिमवाला भाग कोमो तथा दूसरा दक्षिणपूर्ववाला भाग लीको झील कहलाता है। कोमो तथा लीको की लंबाई क्रमशः ३२ एवं १२ मील है। दोनों झीलों को मिलाकर संपूर्ण क्षेत्रफल ५६ वर्गमील है। अधिकतम गहराई तथा लंबाई क्रमशः १३४५ एवं १३,२०० फुट तथा चौड़ाई ६५३ फुट है। कोमो झील अनेक मनोरम दृश्यों, विश्रामगृहों तथा भोजनालयों से सुसज्जित अपने सौंदर्य के लिये समस्त प्रदेश में प्रसिद्ध है। (न० ला०)

कोमौदो पूर्वी द्वीपसमूह का एक छोटा द्वीप जो लगभग २५ मील लंबा तथा १२ मील चौड़ा है। यह सोयेंबावा द्वीप के पूर्व तथा फ्लोरेंस द्वीप के पश्चिम, लेसरसुंडा द्वीप के पास स्थित है। यह निर्जन एवं विषम धरातल से परिपूर्ण है। १९१२ ई० में इस द्वीप में दीर्घकाय छिपकलियों का अन्वेषण किया गया था। (न० ला०)

कोयंमुत्तूर तमिलनाडु प्रदेश का सर्वोच्च औद्योगिक नगर (स्थिति ११° ०' उ०अ० से ७६° ५८' पू०दे०)। यह मद्रास नगर से २८० मील दक्षिणपश्चिम नोइल नदी पर, नीलगिरि पहाड़ी की दक्षिणी ढाल पर समुद्रतल से १,४३७ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ पर वस्त्र बनाने की लगभग ५० मिलें तथा बिनौला निकालने के ५५ कारखाने हैं जिनमें लगभग ५५,००० श्रमिक कार्य करते हैं। यहाँ के मुख्य उद्योग सूत कातना तथा बुनना, चमड़ा पकाना, कहवा, चीनी, सीमेंट तथा लोहे संबंधी कार्य है। यहाँ स्विजरलैंड के सहयोग से खोला गया नकली रत्नों का एक कारखाना है। कोयंमुत्तूर से तीन मील पूर्व पेरूर का विख्यात प्राचीन मंदिर है। यहाँ पर अनेक प्रमुख संस्थाएँ हैं जिनमें क्षेत्रीय कृषि अनुसंधान संस्था, राजकीय ईख बीज संस्था, भारत के वनस्पति सर्वेक्षण का सूखी वनस्पतियों का दक्षिणी संग्रहालय (Herbarium) तथा रूई, ज्वार एवं तेलहन के भारतीय कृषि अनुसंधानिक संस्थान, उल्लेखनीय हैं। (न० ला०)

कोयना महाराष्ट्र के सतारा जिले में देशमुखबाड़ी के निकट पोफली में स्थित कोयना नामक नदी पर स्थापित जलविद्युत् परियोजना। इस परियोजना का आरंभ १९६२-६३ में किया गया था और पहले चरण में भूमिगत बिजली घर की स्थापना की गई थी। इस बिजली घर से ५,४०,००० किलोवाट का संप्रति उत्पादन हो रहा है। इसके अतिरिक्त ३,२०,००० किलोवाट बिजली के उत्पादन के निमित्त व्यवस्था की जा रही है। (प० ला० गु०)

कोयल कुकू (Cuckoo) कुल का सुप्रसिद्ध पक्षी—कोकिल; मीठी बोली बोलनेवाले भारतीय पक्षियों में इसका विशेष स्थान है। कोयल का नर कौए जैसा गहरा काला और मादा भूरी चितली होती है। कोयल सर्वथा भारतीय पक्षी है; यह इस देश के बाहर नहीं जाती, थोड़ा बहुत स्थानपरिवर्तन करके यहीं रहती है।

कोयल शाखाशायी पक्षी है, जो जमीन पर बहुत कम उतरती है। इसके जोड़े सुविधा के अनुसार अपनी सीमा बना लेते हैं और एक दूसरे के अधिकृत स्थान का अतिक्रमण नहीं करते। प्रति वर्ष वे अपने निश्चित स्थान पर ही आते हैं और कुछ समय बिताकर फिर अपने देश लौट जाते हैं।

कुकू कुल के सभी पक्षी दूसरी चिड़ियों के घोंसले में अपना अंडा देने की आदत के लिये प्रसिद्ध हैं। उनकी इस विचित्र आदत को लोग बहुत
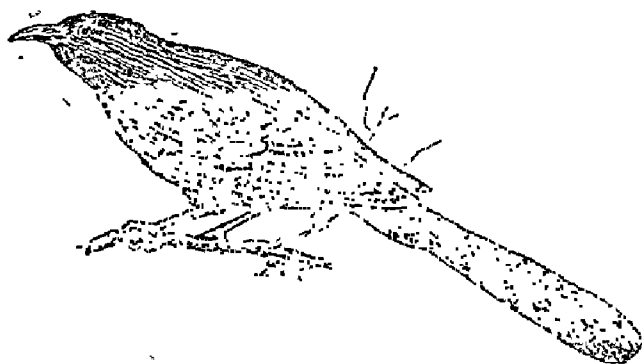
कोयल

समय से जानते थे, किंतु इसका यथेष्ट रहस्योद्घाटन पिछले ५० वर्षों में ही हो सका है।

अन्य पक्षियों की भाँति अंडा देने का समय निकट आने पर कुकू वर्ग के पक्षी घोंसला बनाने की चिंता नहीं करते। वे कौए, पोदना और चरखी आदि के घोंसले में अपना एक अंडा देकर, उसका एक अंडा अपनी चोंच में भरकर लौट आते हैं और किसी पेड़ पर बैठकर उसे चट कर जाते हैं। इसी प्रकार वह दूसरे घोंसले में दूसरा अंडा देकर उसका एक अंडा खा लेते हैं। इस प्रकार अलग अलग घोंसलों में अपने अंडे देने के बाद उसे अपने अंडे बच्चों से छुट्टी मिल जाती है; आगे की चिंता बच्चे स्वयं कर लेते हैं।

अंडा फूटने पर जब कोयल का बच्चा बाहर निकलता है तब उसमें कुछ सप्ताह बाद एक ऐसी अनुभूति पैदा होती है कि वह अपने पंजों से घोंसले का किनारा दृढ़ता से पकड़कर घोंसले के अन्य बच्चों को बारी बारी से अपनी पीठ पर चढ़ाकर ऐसा झटका देता है कि वे पेड़ से नीचे गिरकर मर जाते हैं। इस प्रकार घोंसले में एकछत्र राज्य स्थापितकर, अपने कृत्रिम माँ बाप द्वारा लाए गए भोजन से यह परोपजीवी शावक दिन दूना रात चौगुना बढ़ता है। कुछ दिनों बाद जब यह भेद खुलता है तब वह घोंसले से बाहर खदेड़ दिया जाता है और उसे स्वतंत्र जीवन बिताने के लिये मजबूर होना पड़ता है।

जिस प्रकार बुलबुल उर्दू और फारसी के साहित्योद्यान का प्रसिद्ध पक्षी है उसी प्रकार कोयल के बिना हमारा साहित्योपवन सूना ही रहता है। वसंत ऋतु के आगमन के साथ ही नर पक्षी के कु ऊ ऊ ऊ जैसे मधुर मादक स्वर से हमारी अमराइयाँ गूँज उठती हैं। (सु० सिं०)

कोयला कोयला और कोयल दोनों संस्कृत के 'कोकिल' शब्द से निकले हैं। साधारणतया लकड़ी के अंगारों को बुझाने से बच रहे जले हुए अंश को कोयला कहा जाता है। उस खनिज पदार्थ को भी कोयला कहते हैं जो संसार के अनेक स्थलों पर खानों से निकाला जाता है। पहले प्रकार के कोयले को लकड़ी का कोयला या काठ कोयला, और दूसरे प्रकार के कोयले को पत्थर का कोयला या केवल कोयला, कहते हैं। एक तीसरे प्रकार का भी कोयला होता है जो हड्डियों को जलाने से प्राप्त होता है। इसे हड्डी का कोयला या अस्थि कोयला कहते हैं।

तीनों प्रकार के कोयले महत्व के हैं और अनेक घरेलू कामों, रासायनिक क्रियाओं और उद्योगधंधों में प्रयुक्त होते हैं। कोयले का विशेष उपयोग ईंधन के रूप में होता है। कोयले के जलने से धुआँ कम या बिल्कुल नहीं होता। कोयले की आँच तेज और लौ साफ होती है तथा कालिख या कजली बहुत कम बनती है। कोयले में गंधक बहुत कम होता है और वह आग जल्दी पकड़ लेता है। कोयले में राख कम होती है और उसका परिवहन सरल होता है। ईंधन के अतिरिक्त कोयले का उपयोग रबर के सामानों, विशेषतः टायर, ट्यूब और जूते के निर्माण में तथा पेंट और एनैमल पालिश, ग्रामोफोन और फोनोग्राफ के रेकार्ड, कारबन, कागज, टाइपराइटर के रिबन, चमड़े, जिल्द बाँधने की दफ्ती, मुद्रण की स्याही और पेंसिल के निर्माण में होता है। कोयले से अनेक रसायनक भी प्राप्त या तैयार होते हैं। कोयले से कोयला गैस भी तैयार होती है, जो प्रकाश और उष्मा प्राप्त करने में आजकल व्यापक रूप से प्रयुक्त होती है।

कोयले की एक विशेषता रंगों और गैसों का अवशोषण है, जिससे इसका उपयोग अनेक पदार्थों, जैसे मदिरा, तेलों, रसायनकों, युद्ध और अश्रुगैसों आदि के परिष्कार के लिये तथा अवांछित गैसों के प्रभाव को कम या दूर करने के लिये मुखौटों (mask) में होता है। इस काम के लिये एक विशेष प्रकार का सक्रियकृत कोयला तैयार होता है जिसकी अवशोषण क्षमता बहुत अधिक होती है। कोयला बारूद का भी एक आवश्यक अवयव है। विशेष जानकारी के लिये देखें **काठ कोयला, कोयला (पत्थर)** और **कोयला (हड्डी)**। (फू० स० व०)

कोयला पत्थर (Coal) और **कोयला क्षेत्र** (Coal-field)—आधुनिक युग में उद्योगों तथा यातायात के विकास के लिये पत्थर का कोयला परमावश्यक पदार्थ है। लोहे तथा इस्पात उद्योग में ऐसे उत्तम कोयले की आवश्यकता होती है जिससे 'कोक' बनाया जा सके। भारत में साधारण कोयले के भंडार तो प्रचुर मात्रा में प्राप्त है, किंतु 'कोक' उत्पादन के लिये उत्तम श्रेणी का कोयला अपेक्षाकृत सीमित है (देखें **कोक**)।

भारत में कोयला मुख्यतः दो विभिन्न युगों के स्तरसमूहों में मिलता है : पहला 'गोंडवाना' युग (Gondwana Period) में तथा दूसरा 'तृतीय कल्प' (Tertiary Age) में। इनमें गोंडवाना कोयला उच्च श्रेणी का होता है। इसमें राख की मात्रा अल्प तथा तापोत्पादक शक्ति अधिक होती है। 'तृतीय कल्प' का कोयला घटिया श्रेणी का होता है। इसमें गंधक की प्रचुरता होने के कारण यह कतिपय उद्योगों में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

गोंडवाना युग के प्रमुख क्षेत्र झरिया (बिहार) तथा रानीगंज (बंगाल) में स्थित हैं। अन्य प्रमुख क्षेत्रों में बोकारो, गिरिडीह, करनपुरा, पेंचघाटी, उमरिया, सोहागपुर, सिंगरेनी, कोठागुदेम आदि उल्लेखनीय हैं। भारत में उत्पादित संपूर्ण कोयले का ७० प्रतिशत केवल झरिया और रानीगंज से प्राप्त होता है। तृतीय कल्प के कोयले, लिग्नाइट और ऐंथ्रासाइट आदि के निक्षेप असम, कश्मीर, राजस्थान, मद्रास और कच्छ राज्यों में हैं।

प्रायद्वीपीय भारत के कोयला निक्षेप (Coal Deposits of Peninsular India)—मुख्य गोंडवाना विरक्षा (Exposures) तथा अन्य संबंधित कोयला निक्षेप प्रायद्वीपीय भारत में, दामोदर, सोन, महानदी, गोदावरी और उनकी सहायक नदियों की घाटियों के अनुप्रस्थ एक रेखाबद्ध क्रम (linear fashion) में वितरित हैं।

रानीगंज कोयला क्षेत्र—इस क्षेत्र का अधिकांश भाग बंगाल में स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग ४२२ वर्ग मील है। पूर्वी तथा दक्षिणपूर्वी रेलवे यहाँ यातायात के मुख्य साधन है। अधर मेजर्स (Lower Measures)—बराकर में सात कोयला संस्तर (horizons) हैं, जिनमें चंच (Chanch), लाइकडीह, रामनगर, दामगरिया तथा सालनपुर, जिनकी औसत मोटाई २० फुट है, अधिक महत्व के हैं। उच्च-मेजर्स (Upper Measures)—रानीगंज में नौ स्तर हैं, जिनमें दिशेरगढ़ (१८ फुट), संकटोरिया (Sanctoria) अथवा पोनियाती (१० से १५ फुट) तथा रानीगंज (१० से १२ फुट) आदि भी संमिलित हैं।

कोयले के अनुमानित भंडार १,००० फुट की गहराई तक इस प्रकार आँके गए है :

कोकवर्ती कोयला (Coking coal)	२८·७७ करोड़ टन
उत्कृष्ट श्रेणी का कोयला (Superior coal)	२७५·६२ ,, ,
निकृष्ट श्रेणी का कोयला (Inferior coal)	४६४·६४ ,, ,,
योग	७६६·६३ करोड़ टन
अभी तक प्राप्तव्य कोयले की मात्रा	५४·०० ,, ,,
यथास्थान उपलब्ध भंडार (Reserves available in situ)	७४५·६३ ,, ,,
कम १०%	७४·५६ ,, ,,
प्राप्तव्य कोयला (Recoverable coal)	६७१·०७ करोड़ टन

झरिया कोयला क्षेत्र—लगभग १७५ वर्ग मील के विस्तार में रानीगंज क्षेत्र के दक्षिण में स्थित है। अधर मेजर्स (बराकर) मोटाई में २०० फुट है। इनमें अनेक महत्वपूर्ण स्तर है, जिनमें कुछ की चौड़ाई २०० फुट से भी अधिक है। उच्च मेजर्स (रानीगंज) में अल्प महत्व के स्तर है। घटिया कोकवर्ती कोयले (Inferior coking coal) के उपलब्ध भंडारों का अनुमान ६५८·२० करोड़ टन तथा बोकारो कोयला क्षेत्र के १०वें से १८वें स्तर तक के कोकवर्ती कोयले का अनुमान २१४·५० करोड़ टन है। यह क्षेत्र झरिया क्षेत्र के पश्चिम में २ से ३ मील की दूरी पर स्थित है। बोकारो नदी के जलग्रह क्षेत्र (catchment area) सहित इसका क्षेत्र २०० वर्ग मील है। बराकर (Barakar) २,३७० फुट मोटा है। इसके पूर्वी भाग में चार तथा पश्चिमी में नौ मुख्य स्तर है। पश्चिमी भाग के स्तर राख में समृद्ध हैं।

१००० फुट की गहराई तक अनुमानित भंडार इस प्रकार हैं :

कारगाली (Kargali) स्तर	१७·५० करोड़ टन
बर्मो (Bermo) ,,	१४·८० ,, ,,
कारो (Karo) ,,	११·०० ,, ,,
पश्चिमी बोकारो के नौ स्तर	१०·१० ,, ,,
योग	५३·८० करोड़ टन

रामगढ़ कोयला क्षेत्र—बोकारो के दक्षिणपश्चिम में स्थित है तथा ३० वर्ग मील में फैला हुआ है। इसमें कम से कम २५ फुट मोटे चार स्तर पाए गए हैं। १,००० फुट की गहराई तक भंडारों का अनुमान १०० करोड़ टन तक किया गया है, किंतु स्तरों की मोटाई की तीन गुनी गहराई तक अनुमान केवल ८·७० करोड़ टन का ही है।

करनपुरा कोयला क्षेत्र—यह क्षेत्र दामोदर घाटी में बोकारो के पश्चिम में कुछ ही मील की दूरी पर स्थित है। दक्षिणी करनपुरा क्षेत्र में, जिसका क्षेत्रफल ७५ वर्ग मील है, १८ स्तर है, जिनकी कुल मिलाकर मोटाई २८२ फुट है। उत्तरी करनपुरा कोयला क्षेत्र ४७५ वर्ग मील के विस्तार में है। इसमें १२ फुट से ६० फुट तक की मोटाई के अनेक स्तर हैं।

दक्षिणी करनपुरा क्षेत्र में ११७·५० करोड़ टन तथा उत्तरी क्षेत्र में ४५०·८० करोड़ टन कोयला मिलने का अनुमान है।

तालचीर कोयला क्षेत्र—तालचीर नगर (उड़ीसा) के पश्चिम में तथा कटक से उत्तरपश्चिम में ६४ मील की दूरी पर स्थित है। इसका क्षेत्र ७०० वर्ग मील में है। बराकर की कुल मोटाई १,८०० फुट है, जिसमें केवल दो स्तर क्रमशः ६ तथा १२ फुट मोटाई के प्राप्त हुए हैं। इनमें कोयले का कुल अनुमान ७·४० करोड़ टन है।

इब नदी कोयला क्षेत्र—यह क्षेत्र संबलपुर जिले में स्थित है। कुल मिलाकर यहाँ पाँच स्तर है। लजकुरिया (Lajkuria) तथा रामपुर स्तरों में १,००० फुट की गहराई तक भंडारों का अनुमान ७४·०० करोड़ टन है।

हिंगिर कोयला क्षेत्र—यह इब नदी कोयला क्षेत्र के उत्तरपश्चिम में स्थित है तथा इसमें पाँच स्तर हैं।

वर्धाघाटी कोयला क्षेत्र—यह १,६०० वर्ग मील के विशाल क्षेत्र में फैला हुआ है।

वरोरा कोयला क्षेत्र—यह वरोरा रेलवे स्टेशन के ठीक उत्तरपूर्व में स्थित है। इसमें चार स्तर हैं।

बांदर कोयला क्षेत्र—यह वरोरा के उत्तरपूर्व में ३० मील की दूरी पर स्थित है। इसमें चार स्तर हैं, जिनमें कोयले का कुल अनुमान १०·८० करोड़ टन है।

राजुर कोयला क्षेत्र—कोयले के भंडार ३४·५० करोड़ टन तक आँके गए है।

घुगुस तेलवासा कोयला क्षेत्र—इस संपूर्ण क्षेत्र में १००·०० करोड़ टन तक कोयले का अनुमान है।

बल्लरपुर कोयला क्षेत्र—इस क्षेत्र के ५२ फुट के संस्तर (Horizon) में कोयले के चार स्तर हैं। चांदा (Chanda) से बल्लारशाह के बीच ८०० फुट की गहराई तक कोयले के भंडार दो अरब टन तक आँके गए हैं।

कांपटी कोयला क्षेत्र (Kamptee)—यह कान्हन (Kanhan) रेलवे स्टेशन के समीप स्थित है। इसमें १·८० करोड़ टन कोयले के अनुमानित भंडार हैं।

सास्ती (आंध्र) में कोयले के दो स्तरों पर खनन कार्य किया जा रहा है, जिनमें लगभग १००·०० करोड़ टन कोयला मिलने की संभावना है।

सिंगरेनी (Singareni) कोयला क्षेत्र—सारे क्षेत्र में लगभग १५·६० करोड़ टन कोयला मिलने का अनुमान है।

मध्य प्रदेश के क्षेत्र तीन भागो मे विभाजित किए जा सकते है

(१) दक्षिण छत्तीसगढ बेसिन (basin) के कोयला क्षेत्र ।

(२) मध्य भारत तथा सरगुजा कोयला क्षेत्र ।

(३) सतपुडा कोयला क्षेत्र ।

(१) दक्षिण छत्तीसगढ कोयला क्षेत्र—**(अ) हासदे रामपुर** (Hasde Rampur) **कोयला क्षेत्र**—यह क्षेत्र अंशत सरगुजा तथा अंशत बिलासपुर जिलो म स्थित ह। कुल कोयले का अनुमान १,००० लाख टन का ह।

(ब) कोर्बा कोयला क्षेत्र (Korba C F)।

(स) मड नदी कोयला क्षेत्र—इस क्षेत्र के कोयले मे राख का अनुपात अधिक है।

(द) रायगढ कोयला क्षेत्र—इसमे उत्तरी तथा दक्षिणी क्षेत्र समिलित हैं, किंतु ये विशेष महत्व के नही ह।

(२) सतपुड़ा बेसिन के क्षेत्र—इस क्षेत्र मे मोहपानी (Mohpani), पेंच (Pench), कान्हन घाटी कोयला क्षेत्र आदि समिलित है। पेंच घाटी म १,१४० लाख टन तथा शेष उजाड क्षेत्र मे ७७ ४० करोड टन कोयला मिलने की सभावना है।

(३) मध्य भारत तथा सरगुजा कोयला क्षेत्र—मध्य भारत कोयला क्षेत्र शाहडोल तथा सीधी जिलो के गोंडवाना बेसिन मे स्थित है। उमरिया, जोहिल्ला, कोरार तथा सोहागपुर कोयला क्षेत्र शाहडोल मे और सिंगरौली कोयला क्षेत्र सीधी म स्थित है।

उमरिया कोयला क्षेत्र—मध्य भारत का यह सबसे छोटा क्षेत्र है। साधारण अनुमान २ ४० करोड टन कोयला मिलने का है।

जोहिल्ला नदी कोयला क्षेत्र—यह जोहिल्ला घाटी म उमरिया के दक्षिणपूर्व मे १३ मील की दूरी पर स्थित है। कुल भडार १३५ करोड टन है।

कोरार कोयला क्षेत्र—यह उजाड क्षेत्र है जिसका विस्तार ६ वर्गमील मे है। इसमे ३ २० करोड टन कोयला मिलने का अनुमान है।

सोहागपुर कोयला क्षेत्र—यह क्षेत्र १,२०० वर्ग मील के विशाल क्षेत्र मे फैला हुआ है तथा मध्य भारत का विशालतम क्षेत्र है। बड़हर क्षेत्र मे अनुमानित भडार १२ ४० करोड टन तथा सपूर्ण क्षेत्र मे ८०० ०० करोड टन है।

सिंगरौली कोयला क्षेत्र—लगभग ३० वर्ग मील के क्षेत्र मे कोयला मिलने की सभावना है। क्षेत्र का पूर्वेक्षण किए बिना भडारो का अनुमान लगाना कठिन है।

सरगुजा कोयला क्षेत्र—कुल ६ ०० करोड टन कोयले का अनुमान है।

चिरीमिरी-कुरासीन कोयला क्षेत्र—यह ५० वर्ग मील के विस्तार मे है। सपूर्ण क्षेत्र मे अच्छी श्रेणी का ३८ ८० करोड टन कोयला मिलने की सभावना है।

सनहट कोयला क्षेत्र—केवल ६ ४० करोड टन कोयला प्राप्त होने का अनुमान है।

झिलीमिली कोयला क्षेत्र—सरगुजा क्षेत्र मे स्थित है। इसके विकसित होने की सभावना है।

विश्रामपुर कोयला क्षेत्र—इसमे तृतीय वर्ग (third grade) का १० ७० टन कोयला प्राप्त होने का अनुमान है। (वि० सा० दु०)

कोयला, लकडी का—(दे० 'काठ कोयला')।

कोयला, हड्डी का—हड्डी के कोयले का उपयोग प्रमुख रूप से रगो और गधो को दूर करने के लिये होता है। एक समय अनेक देशो मे सफेद चीनी के प्राप्त करने के लिये इसका उपयोग होता था।

कोयला कठोर हड्डिया से बनाया जाता है। बहुत दिनो से रखी या गाडी हड्डियो से अच्छा कोयला नही बनता। कोयला बनाने मे हड्डिया को टुकडे टुकडेकर, भाप और विलायक से निष्कर्षितकर तथा हड्डा को भभक म रखकर धीरे धीरे गरम करते हं। इससे कुछ गैसें (२० प्रतिशत), कुछ हड्डी तेल (३ से ५ प्रतिशत), कुछ अलकतरा (लगभग ६ प्रतिशत) और कुछ ऐमोनिया (प्राय ६ प्रतिशत) प्राप्त होता ह। हड्डी का लगभग ६० प्रतिशत कोयले के रूप मे प्राप्त हाता है। हड्डी क कायले मे निम्नलिखित पदार्थ रहते है

पदार्थ	प्रतिशत
कैलसियम फास्फेट	७०–७५
कार्बन	६–११
जल	८
सिलिका	० ५
कैलसियम सल्फेट	० २५
लोहे के आक्साइड	० १५
कैलसियम सल्फाइड	० १ से कम

कोयले का रग हल्का काला और कोयले की राख सफेद या मलाई के रग की होती है। कोयला दृढ और सरध्र हाता है। कुछ दिनो के उपयोग के बाद कोयल की सक्रियता नष्ट हो जाती है, पर उसको पुनर्जीवित किया जा सकता है। पीछे यह निष्क्रिय हो जाता है और खाद के लिये प्रयुक्त होता है। इसमे कैलसियम फास्फेट रहने के कारण यह बहुमूल्य खाद है।

सं०ग्रं०—फूलदेव सहाय वर्मा कोयला (हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश *शासन, लखनऊ*)। (फू० स० व०)

कोयला खनन (Coal Mining) भारत मे कोयले के खनन का प्रारभ विलियम जोन्स (William Jones) ने दामलिया (रानीगज) के समीप सन् १८१५ मे किया। उस समय ईंपाएँ (shafts) खोदी गई और उनसे कोयला निकाला गया। जोंस ने 'बेल पिट रीति' (Bell Pit Method) से भी कोयले की कुछ खुदाई कराई थी।

ईंपा खुदाई पर लागत कम होने के कारण, और कोयले की माँग बढने के साथ ईंपाओ द्वारा सँकरे कोयला स्तरों (narrow seams) का पर्याप्त विकास हुआ। १९वीं शताब्दी के मध्य मे समझा जाता था कि 'अधिक सुरगो से अधिक कोयला' प्राप्त होगा। उन दिनो कोयले को धरातल तक लाने के लिय वे विधियाँ प्रयुक्त होती थीं जो कुएँ से जल खीचने म की जाती हैं, अर्थात इसमे बैल तथा मानव शक्ति का उपयोग किया जाता था। जब यातायात के साधन बढे और सँकरे स्तरो तक पहुँचना सभव हो सका तब 'वहन प्रवणको' (Carrying out inclines) का विकास हुआ।

१८५५-५६ ई० मे रेलें तथा नदियो मे यातायात के साधन उपलब्ध हुए। कोयले की कुछ खानो तक पटरी भी बिछा दी गई तथा कलकत्ता के समीप विद्यावती (Bidyabatti) मे ईस्ट इडियन रेलवे पर कोयले का एक सग्रह केंद्र (coal depot) भी स्थापित किया गया। उस समय बगाल मे खनन कार्य सर्वाधिक वृद्धि पर था। फलत सन् १८६० मे रानीगज कोयला क्षेत्र से भारत के कुल उत्पादन का ८८% कोयला निकला। सन् १६०० मे रानीगज क्षेत्र का उत्पादन घटकर २५ ५ लाख टन हो गया जबकि भारत का कुल उत्पादन ६५ ५ लाख टन था। सन् १६०६ तक झरिया क्षेत्र (बिहार) का उत्पादन रानीगज से बढ गया। द्रुत गति से कोयला उद्योग का विकास हाने के फलस्वरूप १६१४ ई० मे उत्पादन १६५ लाख टन तक पहुँच गया, जिसमे ६१ ५ लाख टन झरिया और ५० लाख टन रानीगज का उत्पादन समिलित ह।

कोयला खानो का विद्युतीकरण एव यंत्रीकरण (Electrification and machanisation of coal mines)—भारत मे कोयले की

खानों में सर्वप्रथम वाष्प पंप का प्रयोग १६वीं शताब्दी के प्रारंभ में किया गया था किंतु विद्युद्विकास से ही खानों का विधिपूर्वक यंत्रीकरण संभव हुआ। २०वीं शताब्दी के प्रारंभ में यंत्रीकरण की गति अत्यंत मंद थी तथा यह स्थिति सन् १६३८ तक रही। इसके पश्चात् यंत्रीकरण का वास्तविक विकास प्रारंभ हुआ।

विद्युच्छक्ति वितरण की चरम स्थिति सन् १६५२ में आई जब दामोदर घाटी योजना से खानों में प्रयुक्त विद्युच्छक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई।

आज भारत की कोयले की सभी बड़ी खानें या तो पूर्ण रूप से विद्युतित हैं अथवा कुंचीयन अभियंत्र (Winding Engine) को छोड़कर अन्य कार्यों में वहाँ विद्युच्छक्ति का उपयोग होता है। कुछ खानों में, जहाँ घटिया कोयला प्राप्य है, उसका उपयोग वाष्प बनाने में होता है और इस प्रकार उत्पन्न वाष्प का वहाँ अनेक कार्यों में प्रयोग करते हैं। विद्युच्छक्ति उपभोक्ताओं को पर्याप्त मात्रा मे ११ किलोवोल्ट (K. V.) तथा ३·३ किलोवोल्ट पर वितरित की जाती है, उसे वे आवश्यकतानुसार रूपांतरित कर लेते है। सामान्य पारेषण (transmission) में मुख्य वितरक विंदुओं का वोल्टेज साधारणतया ३,३०० वोल्ट होता है।

कोयला खानों में आपत्कालीन सेवाएँ (Rescue services in collieries)—जब प्राकृतिक आपत्तियों के कारण साधारण खनन कार्य रुक जाता है, जैसे आग अथवा विस्फोट आदि, उस समय आपत्कालीन दल की सेवाओं की आवश्यकता होती है। यह दल 'खनन सैन्य संस्था' (Mining Military Force) के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। इसका मुख्य कार्य उन लोगों की जीवनरक्षा करना है जो इन आपत्कालीन कठिनाइयों से पीड़ित हों। खनिज संपत्ति की रक्षा का भार भी इसी दल पर है।

भारत के कोयला क्षेत्रों में सर्वप्रथम स्वयंधारित श्वासयंत्र का प्रयोग, सन् १६३७ में आग, वाति तथा विस्फोट द्वारा संकट पड़ने पर बराकर कोल कं० लि० ने किया था। उस समय उन्होंने झरिया क्षेत्र से अपनी एक खान की पुन: प्राप्ति की, जो विस्फोट के परिणामस्वरूप बंद हो चुकी थी।

विस्फोट के कारण ध्वस्त वायुसंचालन को पुन: स्थापित करने तथा नष्टभ्रष्ट रोधनों (Stoppings) का जीर्णोद्धार करने के लिये अभी तक आभ्यंतरिक स्थितियों के ज्ञान के बिना ही वायु का प्रवेश कराया जाता था। ये कठिनाइयाँ अब बहुत कुछ सरल हो गई हैं; तथा सुरक्षा एवं पुन: प्राप्ति (recovery) कार्य पर्याप्त सुगमता से संचालित होता है।

सर्वप्रथम भारत सरकार ने सन् १६३६ में पूर्ण रूप से प्रशिक्षित एवं सज्जित (equipped) सुरक्षा दलों सहित सुरक्षा स्टेशनों की स्थापना करने का निश्चय किया, जिससे कोयला क्षेत्रों में किसी भी आपत्कालीन स्थिति का सामना किया जा सके। सन् १६४२ में रानीगंज तथा झरिया में दो सुरक्षा स्टेशनों की स्थापना की गई।

वर्तमान केंद्रीय प्रणाली (Existing Central System)—इस प्रणाली के अंतर्गत एक अधीक्षक (Superintendent) तथा दो शिक्षकों के अतिरिक्त प्रशिक्षितों का एक दल होता है, जो यंत्रों का प्रयोग भली प्रकार जानता है तथा प्रत्येक सुरक्षा स्टेशन (रानीगंज एवं झरिया) पर स्थायी रूप से रहता है। किसी भी खान की आपत्कालीन याचना पर इस प्रशिक्षित दल की सेवाएँ अत्यंत अल्प समय में कोयला क्षेत्र के किसी भी भाग में प्राप्त की जा सकती हैं। इन स्थायी सुरक्षा दलों के अतिरिक्त दोनों कोयला क्षेत्रों की कोयले की खानों में लगभग ५०० प्रशिक्षित व्यक्ति रहते हैं, जो सहायता के लिये सूचना मिलने पर आ सकते है। (वि० सा० दु०)

अभी कुछ वर्ष पहले तक कोयला खनन का कार्य कुछ व्यक्ति या कंपनियाँ करती थी। अब इस उद्योग का राष्ट्रीकरण कर दिया गया है। इसके लिये भारत सरकार ने एक कारपोरेशन की स्थापना की है। (प० ला० गु०)

कोरंडम दे० कुरुविंद।

कोरनर, विल्हेम (१८३६–१९२५ ई०) जर्मन रसायनज्ञ। इनका जन्म कासेल (Kassel) में २० अप्रैल, १८३६ ई० को हुआ था। पालरमो (Palermo) विश्वविद्यालय में अध्ययन कर ये इटली के मिलन विश्वविद्यालय मे रसायन के अध्यापक नियुक्त हुए।

इन्होंने सौरभिक (Aromatic) यौगिकों के कार्बन वलय के विभिन्न स्थलों पर जो समूह प्रविष्ट करते हैं उनका स्थान निर्धारित करने की विधि निकाली, जो उनके नाम पर 'कोरनर की निरपेक्ष विधि' (Korner's Absolute Method) के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने पहली बार बताया कि बेंजीन के डाइ-ब्रोमाइड से बेंजीन के तीन ट्राइ-ब्रोमाइड बनते है। १ अप्रैल, १९२५ ई० मे मिलन में उनकी मृत्यु हुई। (फू० स० व०)

कोरम किसी सभा, संसद्, समिति या कार्यकारिणी की बैठक के लिये आगत न्यूनतम आवश्यक सदस्यों की संख्या को कोरम कहते है। इस न्यूनतम आवश्यक संख्या की उपस्थिति के बिना सभा या समिति या विधायिनी के कार्य को वैधानिकता प्राप्त नहीं हो सकती। अत: इस न्यूनतम संख्या में सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य है। ग्रेट ब्रिटेन मे हाउस ऑव् कामन्स के लिये न्यूनतम सदस्यों की उपस्थिति ४० की मानी गई तथा हाउस ऑव् लार्ड्स के लिये ३ सदस्यों की उपस्थिति पर्याप्त है। भारतीय गणतंत्र के संविधान की वर्तमान व्यवस्था के अनुसार दशांश सदस्यों का कोरम राज्यपरिषद् के लिये तथा दशांश सदस्यों का कोरम लोकसभा के लिये निश्चित किया गया है। यदि किसी समय कोरम न हो तो सभापति या अध्यक्ष के रूप में कार्य करनेवाले व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह सदन को स्थगित कर दे या उसे तब तक निलंबित रखे जब तक कोरम पूरा न हो जाय। यह शब्द मूलत: लातीनी भाषा का है जो अंग्रेजी में भी व्यवहृत होता है और भारतीय भाषाओं में भी इस शब्द को ले लिया गया है।

रोम के नगरों में शांति और सुव्यवस्था बनाए रखने के लिये कुछ लोगों की नियुक्ति की जाती थी जिन्हें 'कोरम के न्यायाधीश' के नाम से संबोधित किया जाता था। ये एक दूसरे की उपस्थिति के बिना कोई कार्य करने के अधिकारी नहीं थे। सभी कार्यों के लिये कोरम के न्यायाधीश सामूहिक और वैयक्तिक रूप से उत्तरदायी होते थे। धीरे धीरे यह शब्द सभी न्यायाधीशों के लिये व्यवहृत होने लगा। कालांतर में इस शब्द में और अर्थांतर हुआ जिससे अब कोरम उपर्युक्त अर्थ में प्रयुक्त होता है। (शु० तें०)

कोरल सागर प्रशांत महासागर का एक भाग जो आस्ट्रेलिया महाद्वीप के पूर्व तथा न्यू हेब्रीडीज एवं न्यू कैलेडोनिया द्वीपों के पश्चिम स्थित है। इसका उत्तरदक्षिण विस्तार तारस जलडमरू से लेकर चेस्टरफील्ड प्रवाली तक है। इसी सागर में विश्व की सबसे बड़ी मूँगे की दीवार आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट के समांतर बनी हुई है जिसकी लंबाई लगभग १,२०० मील तथा चौड़ाई १० से ६० मील तक है। यह कई स्थानों पर खंडित है जिनमें होकर जलपोत भीतर तट तक पहुँचते हैं। (न० ला०)

कोरस दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों का सामूहिक रूप से गान अथवा सहगान मंडली। यह शब्द मूलत: यूनानी है और अंगरेजी के माध्यम से भारतीय भाषाओं में प्रविष्ट हुआ है तथा नाटक अथवा सार्वजनिक स्टेज पर सामूहिक रूप में किए जानेवाले गायन के लिये प्रयुक्त होता है। यूनानी भाषा में इस शब्द का प्रयोग संगीतयुक्त ऐसे धार्मिक नृत्यों के लिये होता था जो विशेष अवसरों अथवा त्योहारों पर किए जाते थे। (प० ला० गु०)

कोरिंथ (१) यूनान का एक प्राचीन नगर जो उस स्थलडमरूमध्य से डेढ मील दक्षिण स्थित है जो मध्य यूनान और पेलोपोनेसस को मिलता तथा सारोनिक और कारेथियन की खाडियो को विलग करता है। यूनान की पौराणिक गाथाओं के अनुसार यह एक समृद्ध सामुद्रिक व्यापार का केंद्र था और यहाँ पणि (फोनेशियन) व्यापारियों की प्रमुखता थी। होमर के महाकाव्यो के अनुसार यह माइसीन लोगो के अधीन था। इसे डोरनियन लोगो ने जीता था। सामुद्रिक व्यापार से इस नगर के सबद्ध होने के प्रमाण ईसापूर्व आठवी-सातवीं शती से मिलते हैं। इसकी वास्तविक समृद्धि साइपसेलस और उसके पुत्र के काल (ईसापूर्व सातवी-छठी शती) में हुई। उस समय इसका प्रभाव पश्चिमी खाडी के सभी तटवर्ती प्रदेश पर छा गया था। उसका इतालवी और एड्रियाटिक सागर के व्यापार मार्ग पर प्रभुत्व था। पश्चिमी यूनान का अधिकाश व्यापार इस नगर के हाथ मे था। लीडिया, फ्रीजिया, साइप्रस और मिस्र के साथ इसका सपर्क विस्तार हुआ। वर्तन, धातु के सामान, सजावट की सामग्री इस नगर का मुख्य उद्योग था। धातुमूर्तियाँ और वर्तन का भूमध्यसागरीय देशो को बडी मात्रा मे निर्यात होता था।

ई० पू० छठी शती मे स्पार्टा के सघ मे कोरिंथ समिलित हुआ किंतु अपने आर्थिक साधनो एव सामरिक महत्व के कारण उसे असाधारण स्वतत्रता उपलब्ध रही। इस नगर ने क्लोमिनेस प्रथम के विरुद्ध एथेसवालो के साथ मैत्री सबध बढाया और अपने व्यापारिक प्रतिद्वद्वी एजिना के विरुद्ध उनका साथ दिया। ई० पू० ४८० ई० मे ईरानियो के विरुद्ध महायुद्ध मे कोरिंथ यूनानियों का सदर मुकाम था। उसमे उसकी जल और स्थल सेना ने सक्रिय भाग लिया। तदनतर इसका इतिहास युद्धो का इतिहास है। ई० पू० १४६ मे रोमन कोरिंथ की समस्त कलानिधि उठा ले गए और नगर को नष्ट कर दिया। ई० पू० ४६ में रोमन सम्राट् जूलियस सीजर ने यहाँसे यूनानियो को निकालकर इतालवी लोगो को बसाया और तब नगर पुन अपनी व्यापारिक समृद्धि को प्राप्त हुआ।

यह प्राचीन नगर दो धरातलो पर बसा हुआ था जिनके बीच लगभग १०० फुट का अतर है। ये दोनो ही धरातल प्राचीन समुद्रतट के अवशेष हैं। आज तो समुद्र यहाँ से डेढ मील हट गया है। वहाँ नगर के निकट पश्चिमी बदरगाह लेक्यूम था जो भीतर की ओर काफी दूर तक धँसा हुआ था और नगर दुर्ग से सटा था। नगर का मध्यवर्ती भाग ऊपरी धरातल के बीचवाले भाग मे था। इस प्राचीन नगर के अवशेषो का उत्खनन १८९६ ई० मे आरभ हुआ फलस्वरूप यूनानी और रोमनकाल के अनेक महत्वपूर्ण अवशेष प्रकाश मे आए हैं। इनमे आगोरा (प्राचीन बाजार), अपोलो का मदिर, सार्वजनिक स्नानागार और प्रेक्षागृह मुख्य हैं।

कोरिंथ का आधुनिक नगर स्थलडमरू मे पश्चिम प्राचीन नगर से साढे तीन मील उत्तरपूर्व स्थित है। जब प्राचीन कोरिंथ भूकप मे नष्ट हो गया तब १८५८ ई० में इस नए नगर की स्थापना की गई थी। इस नए नगर को भूकप ने १९ ८ ई० मे प्राय नष्ट कर दिया था। यह अब एक गाँव सा ही रह गया है। अगूर, जैतून का तेल, रेशम तथा अनाज यहाँ की मुख्य उपज हैं। (प० ला० गु०)

(२) मिसिसिपी (उत्तरी अमरीका) का एक नगर जो अलकार्न काउटी का केंद्र है और मेफिस से लगभग ९० मील पूर्व दक्षिण स्थित है। यहा पर मोबाइल, ओहायो तथा दक्षिण रेलमार्ग से यातायान के साधन उपलब्ध है। यहाँके प्रमुख उद्योग दुग्धपदार्थ, मशीन, सूत, ऊन, वस्त्र तथा काष्ठपदार्थ हैं। यह सूत का प्रमुख बाजार है। अपनी भौगोलिक स्थिति तथा रेलवे जकशन की सुविधा के कारण इस नगर का अमरीकी गृहयुद्ध मे प्रमुख हाथ रहा। (न०, ला०)

कोरिन (१६५८–१७१६ ई०) जापान के एक प्रमुख चित्रकार। इनका प्रकृत नाम ओगाता कोरेतोमी था किंतु लोकप्रिय नाम कारिगानेया तोजुरो और पेशे का नाम होशूकू कोरिन है। वे लिपिकार, जडिया, चायदानियो, दावातो आदि के सुदर डिजाइनकार थे। उनका जन्म क्योतो के एक समृद्ध सौदागर कुल मे हुआ था। वे प्रकृति के कुशल पारखी थे। उनकी यह परख उनकी प्रारभिक अभ्यास-चित्र-पुस्तिकाओं मे ही दिखाई देने लगी थी। पर स्केचो से भिन्न उनके प्रख्यात चित्रों की शालीनता उनकी सादगी मे है, जिनमे अलकरण भी पर्याप्त है, विशिष्ट गुण भी है और रगो का मधुर उपयोग हुआ है। रगमचीय चित्रपटो पर उन्होने अपनी यह विशेषता भरपूर प्रकट की है। इनमे प्रधान 'ईरिस के फूल', 'सारस', 'लहर', 'कलँगी-कली', 'मृग' आदि हैं। उनकी चित्रविधि के अनेकाश चीनी आचार्यो की शैली से अभिव्यक्त काव्योचित छदस् से सपन्न हुए। कोरिन कवि भी थे और अपने काव्य मे जिस सूक्ष्मता के साथ वह अपने विस्तृत भावो को व्यक्त करते थे उसी तकनीक द्वारा उन्होने अपने चित्रो को भी साधा। कोरिन अपने पक्षियो और फूलो के चित्रण के लिये प्रख्यात हैं। (प० उ०)

कोरिया पूर्वी एशिया मे मुख्य स्थल से सलग्न एक छोटा सा प्रायद्वीप जो पूर्व में जापान सागर तथा दक्षिणपश्चिम मे पीतसागर से घिरा है (स्थिति : ३४° ४३' उ० अ० से १२४° १३१' पू० दे०)। उसके उत्तरपश्चिम मे मचूरिया तथा उत्तर मे सोवियत संघ की सीमाएँ हैं। यह प्रायद्वीप दो खडो मे बँटा हुआ है। उत्तरी कोरिया का क्षेत्रफल १,२१,००० वर्ग किलोमीटर और जनसख्या लगभग ८० लाख है। इसकी राजधानी पियागयाग है। दक्षिणी कोरिया का क्षेत्रफल ९८,००० वर्ग किलोमीटर और जनसख्या २ ५ करोड (१९६०) है।

यहाँपर ई० पू० ११९८ से १३९ ई० तक कोर्‍यो (Kor-Yo) वश का राज्य था जिससे इस देश का नाम कोरिया पडा। चीन तथा जापान से इस देश का अधिक सपर्क रहा है। जापान निवासी इसे चोसेन (Chosen) कहते रहे है जिसका शाब्दिक अर्थ है—'सुबह की ताजगी का देश' (Land of morning freshness)। यह देश अगणित बार बाह्य आक्रमणो से त्रस्त हुआ। फलत इसने अनेक शताब्दियो तक राष्ट्रीय एकातिकता की भावना अपनाना श्रेयस्कर माना। इस कारण इसे ससार मे यती देश (Hermit Kingdom) कहा जाता रहा है।

अनेक शताब्दियो तक यह चीन का एक राज्य समझा जाता था। १७७६ ई० मे इसने जापान के साथ सधि-सपर्क स्थापित किया। सन् १९०४–१९०५ई०में रूसी जापानी युद्ध के पश्चात् यह जापान का सरक्षित क्षेत्र बना। २२ अगस्त, १९१० ई० को यह जापान का अग बना लिया गया। द्वितीय महायुद्ध के समय जब जापान ने आत्मसमर्पण किया तब १९४५ ई० मे याल्टा सधि के अनुसार ३८° उत्तरी अक्षाश रेखा द्वारा इस देश को दो भागो मे विभाजित कर दिया गया। उत्तरी भाग पर रूस का और दक्षिणी भाग पर सयुक्त राज्य अमरीका का अधिकार हुआ। पश्चात् अगस्त १९४८ ई० मे दक्षिणी भाग मे कोरिया गणतत्र का तथा सितबर, १९४८ ई० मे उत्तरी कोरिया मे कोरियाई जनतत्र (Korean peoples Democratic Republic) की स्थापना हुई। प्रथम की राजधानी सियोल और द्वितीय की पियांगयाग बनाई गई। सन् १९५३ ई० की पारस्परिक सधि के अनुसार ३८° उत्तर अक्षाश को विभाजन रेखा मानकर इन्हें अब उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया कहा जाने लगा है।

भौगोलिक संरचना एवं प्राकृतिक प्रदेश—यह मुख्यत पर्वतीय देश है। रीढ की हड्डी के समान यहाँकी पर्वतश्रेणियाँ पश्चिमी तट की अपेक्षा पूर्वी तट के अधिक निकट है। पीत सागर मे गिरनेवाली नदियाँ जापान की नदियो से बडी है और कुछ बहुत दूर तक, विशेषकर ज्वारभाटा के समय मे नौगम्य हैं। उत्तरपूर्व का पर्वतीय प्रदेश समुद्रतल से २,९७० मीटर ऊँचा है। उसमे कही कही ज्वालामुखी शिखर हैं। पश्चिमी तटवर्ती भाग मैदानी है। इसमे बहनेवाली मुख्य नदियाँ ताईयोग, हार्न, क्यूम और नाकतोग हैं।

कोरिया को पाँच प्राकृतिक प्रदेशों में विभक्त किया जा सकता है। (१) मध्य और उत्तर के पर्वतों वाला प्रदेश—यह एक अगम्य, विरली
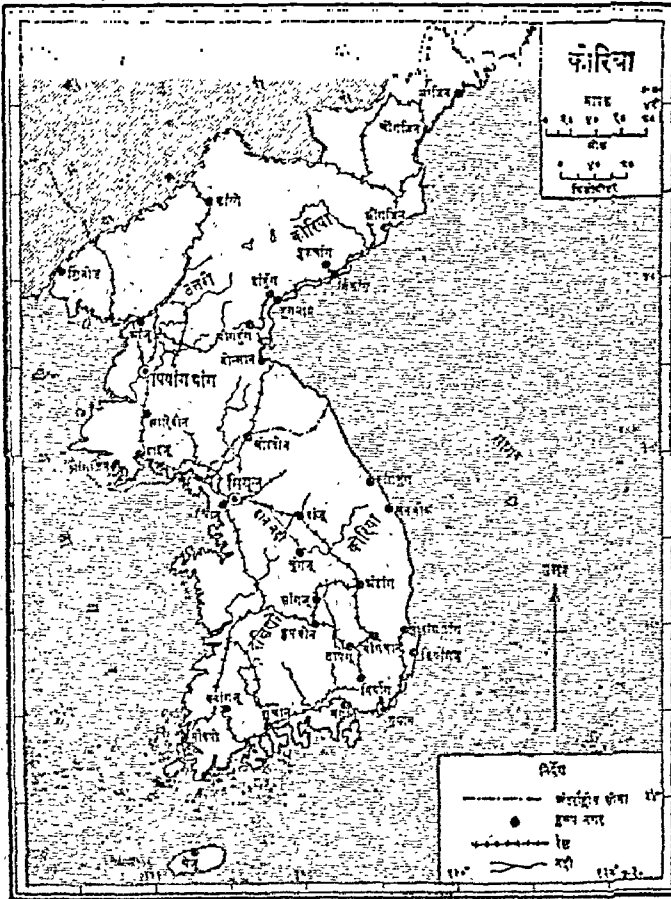
बस्तियों का वनप्रधान पर्वतीय प्रदेश है। इन पर्वतों के शिखर २,४०० मीटर से भी ऊँचे हैं। कैमा का पठार उसी का एक अंग है जो दक्षिण में तैहोकू श्रेणी में विलुप्त हो जाता है। (२) पूर्वीय तटीय पेटी—यह एक सँकरा, एकांत प्रदेश है जिसमें तट के पास मछुओं के ग्राम हैं। यहाँ के मछुए छोटी छोटी नावों तथा परंपरागत पद्धति से मछलियाँ पकड़ते हैं। तटीय पेटी के पीछे कृष्य भूमि की एक सँकरी पेटी है जिसमें चावल, ज्वार, बाजरा इत्यादि अन्न उगाए जाते हैं। (३) दक्षिणी पूर्वी रेशम का क्षेत्र—यह नाकटोंग बेसिन और उसके चारों ओर की पहाड़ियों से बना है तथा ऐसा प्रदेश है जहाँ रेशम उद्योग खूब बढ़ा चढ़ा है। (४) दक्षिणपश्चिमी के खेतिहर बेसिन—यह देश का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग है। 'हान' का मध्यवर्ती बेसिन जो इंचन नदी के मुहाने पर से तीन दिशाओं में फैल जाता है, दीर्घकाल से प्रायद्वीप का आर्थिक तथा राजनैतिक स्थल रहा है। पश्चिम के सभी बेसिनों में शहतूत के वृक्ष लगाए जाते हैं और रेशम उत्पादन कार्य होता है। (५) पश्चिमोत्तर खेतिहर बेसिन तथा खनिज प्रदेश—सिओल के उत्तर में जाड़े में इतनी अधिक ठंड होती है कि शरद ऋतु में बीज बोए नहीं जा सकते फलतः वर्ष में यहाँ केवल एक फसल होती है। गेहूँ, ज्वार, बाजरा तथा सोयाबीन का उत्पादन मुख्य रूप से होता है।

जलवायु—कोरिया की जलवायु उत्तरी चीन से मिलती जुलती है। लगभग संपूर्ण देश में एक मास का माध्यम तापमान हिमांक से नीचे चला जाता है। यहाँ भी जून में अधिकतम वर्षा होती है। दक्षिण कोरिया में अप्रैल में कुछ ही दिनों का वर्षाकाल होता है जिससे यहाँ चावल की अत्यधिक फसल होती है। वर्षा का औसत ३५" तथा ग्रीष्म का ताप ७५° फ० रहता है। उत्तरी पूर्वी भाग में जाड़ों में खूब तुषारपात होता है किंतु दक्षिण जिनसेन और सियोल के दक्षिण वाले भाग में जाड़ों में तापमान कदाचित् ही कभी शून्य से नीचे जाता हो। अतः यहाँ नौ मास उपज काल रहता है। उत्तरपश्चिमी महाद्वीपीय भाग की जलवायु मंचूरिया के निकटवर्ती भागों से मिलती जुलती है।

प्राकृतिक वनस्पति—देश का लगभग एक तिहाई भाग वनाच्छादित है। नदियों के मैदानों में घास होती है। दक्षिणी भाग की वनस्पतियाँ दक्षिणी जापान के पाइन्स, ओक, वालनट्स इत्यादि से मिलती जुलती हैं और उत्तर में उत्तरी जापान के कोणधारी वृक्षों के वन हैं। अधिक वनों के काटे जाने से तथा उनकी उपेक्षा के कारण मध्य और दक्षिणी कोरिया के अधिकांश पर्वत अब नग्न से हो गए हैं। कहीं कहीं वनों को लगाया भी गया है। एक प्रकार से समूचा देश हरी घाटियों और घर्षित नग्न पहाड़ियों का भूलभुलैया सा है।

खनिज—उत्तरी कोरिया खनिज पदार्थों में धनी है तथा यहाँ एंथ्रासाइट, कोयला, कच्चा लोहा और सोना निकाला जाता है। यहाँ टंगस्टन भी प्राप्त होता है। उंसन और सुइअन यहांकी मुख्य सोने की खानें हैं। कच्चा लोहा बांधाई और श्रेष्ठतम एंथ्रासाइट पियोंग्यांग से निकलता है। यहाँ खनिज लोह का सुरक्षित भंडार १० करोड़ टन है। कोयले का उत्पादन १.५ करोड़ टन (१६६०) है जिसमें ६० लाख टन दक्षिण कोरिया से प्राप्त किया जाता है। इन खनिजों के अतिरिक्त कोरिया में जस्ता, सीसा और अभ्रक पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं।

कृषि एवं औद्योगिक विकास—कोरिया कृषिप्रधान देश है। देश के संपूर्ण कृषि क्षेत्र का २१ प्रतिशत भाग कृषियोग्य है। यहांकी मुख्य उपज चावल है। कुल कृषिभूमि के ४०% भाग पर चावल की खेती होती है और अधिकांश निवासी चावल खानेवाले हैं। शेष भाग में जौ, ज्वार, बाजरा, गेहूँ, सोयाबीन तथा लाल फली की खेती होती है। व्यापारिक फसलों में कपास, तंबाकू, सन तथा जिनसेंग पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होती है। यहाँ मूली से 'किंची' तैयार की जाती है।

यहाँ मत्स्योत्पादन क्षेत्र विस्तृत है। जापानियों के प्रोत्साहन से यहाँ मछली पकड़ने का कार्य प्रारंभ हुआ और संपूर्ण देश की ६० प्रतिशत मछलियाँ उत्तरी कोरिया में पकड़ी जाती हैं। गाय, भैंस एवं सूअर यहाँ की जीव संपदा हैं। गाय, भैंस, विशेषकर वे जो उत्तरी कोरिया में हमक्योंग में पाले जाते हैं, अपने आकार तथा नस्ल के लिये प्रसिद्ध हैं और ये पशु अधिक मात्रा में जापान निर्यात किए जाते हैं।

उत्तरी कोरिया में उद्योगों का पर्याप्त विकास हुआ है। यहाँ के मुख्य उद्योग सूती वस्त्र व्यवसाय, रेशमी वस्त्र, सीमेंट, कच्चा लोहा, रसायनक, जलविद्युत् आदि हैं। यह क्षेत्र औद्योगीकरण के साथ साथ खाद्य पदार्थों के उत्पादन में भी आत्मनिर्भर है। दक्षिणी कोरिया में वस्त्रोद्योग, लोहा, सीमेंट आदि का विकास हुआ है। औद्योगिक नगरों में पुसान सिल्क के लिये, केंजिहो और इंचोन लोह इस्पात के लिये प्रसिद्ध हैं। देश की ६५ प्रतिशत जलविद्युत् शक्ति का उत्पादन उत्तरी कोरिया में होता है।

उत्तरी कोरिया का लगभग ६० प्रतिशत विदेशी व्यापार सोवियत रूस के साथ, ३० प्रतिशत चीन के साथ और शेष व्यापार भारतवर्ष तथा अन्य देशों के साथ होता है।

(शि० प्र० सिं०)

कोरियायी भाषा और साहित्य कोरियायी भाषा अल्टाइक कुल की भाषा है जो चीनी की भाँति संसार की प्राचीन भाषाओं में गिनी जाती है। चीनी की भाँति ही यह दाईं से बाईं ओर को लिखी जाती है। इसका इतिहास कोरिया के इतिहास की तरह ही ४००० वर्ष प्राचीन है। प्राचीन काल में चीनी लोग कोरिया में जाकर बस गए थे, इसलिये वहाँ की भाषा चीनी भाषा से काफी प्रभावित है। चीनी और कोरियायी के अनेक शब्द मिलते जुलते हैं :

चीनी (पीकिंग बोली)	कोरियायी	अर्थ
वान	मान	दस हजार
नान	नाम	दक्षिण
मा	माल	घोड़ा
इ	इल	एक

उस समय कोरिया के विद्वानों की बोलचाल की भाषा तो कोरियायी थी लेकिन वे लिखते थे चीनी में। चीनी लिपि में लिखी जानेवाली कोरियायी भाषा की लिपि 'हानमून' कही जाती थी। जबतक कोई विद्वान् चीनी क्लासिक्स का ज्ञाता न हो तबतक वह पूरा विद्वान् नहीं माना जाता था। कोरियायी भाषा अपने माधुर्य और कोमलता के लिये प्रसिद्ध है। शिष्टता और विनम्रतासूचक कितने ही आदरवाची शब्द इस भाषा में पाए जाते हैं। कोरिया के लोग अभिवादन के समय 'आप शांतिपूर्वक आएँ', 'आप शांतिपूर्वक सोएँ' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं।

लिपि का सरलीकरण सन् १४४६ में कोरिया के राजा सेजोंग ने कोरियायी भाषा को सरल बनाने के लिये एक घोषणा की जिसमें कहा गया कि कोरिया की राष्ट्रभाषा चीनी से भिन्न है और चीनी लिपि से उसकी समानता नहीं, इसलिये कोरिया की जनता चीनी भाषा के तरीकों को नहीं अपना सकती। इस समय हानगूल लिपि में २८ ध्वन्यात्मक अक्षरों का आविष्कार हुआ जिनमें १७ व्यंजन और ११ स्वर स्वीकार किए गए। आगे चलकर व्यंजनों को घटाकर १४ कर दिया गया। धीरे धीरे पुस्तकें और अखबार भी इस लिपि में छपने लगे।

व्याकरण कोरियायी भाषा का व्याकरण नियमबद्ध और सरल है। एक ही क्रिया बिना किसी परिवर्तन के अनेक रूपों में प्रयुक्त होती है। कोरियायी की वाक्यरचना जापानी की भाँति है—(क) वाक्यों में सबसे पहले कर्ता, कर्म और अंत में क्रिया आती है, (ख) विशेषण विशेष्य के पहले आता है, (ग) प्रायः संज्ञाओं और क्रियाओं में वचन और पुरुष नहीं रहते, (घ) धातु में सहायक धातुओं के प्रत्यय जोड़ने से क्रियारूप बनते हैं।

कोरियायी साहित्य चीनी आदि भाषाओं के प्राचीन साहित्य की भाँति कोरियायी के प्राचीन साहित्य में भी धार्मिक कर्मकांड की मुख्यता देखने में आती है। नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र तथा कनफ्यूशियस और बौद्धधर्म (ईसवी सन् ३६९ में चीन से होकर प्रविष्ट) के उपदेश इस साहित्य में प्रधानता से पाए जाते हैं।

१४वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी ईसवी तक कोरियायी साहित्य की दिन पर दिन उन्नति होती गई। १४वीं शताब्दी में वासन नामक एक बौद्ध भिक्षु ने 'हाग किल डोंग के साहसपूर्ण कृत्य' नामक उपन्यास लिखा। १४७८ में सुगजोंग ने कोरियाई भाषा के आदि से अंत तक सर्वश्रेष्ठ साहित्य का संकलन करने के लिये २३ विद्वानों का एक आयोग नियुक्त किया जिसके फलस्वरूप तोंगमुन नाम का एक संकलन तैयार हुआ जिसमें ५०० लेखकों की रचनाएँ संकलित की गईं। इस काल में इतिहास, आयुर्वेद, कृषि आदि पर भी साहित्य का निर्माण हुआ। हानगूल वर्णमाला का आविष्कार भी इसी समय हुआ। १८वीं सदी में कोरिया में ईसाई धर्म का प्रवेश हुआ। इस समय जन्म, विवाह, मृत्यु, अंत्येष्टि क्रिया, पितृपूजा और आतिथ्य आदि के संबंध में साहित्य का निर्माण हुआ। १८वीं-१९वीं सदी में कनफ्यूशियस धर्म के आधार पर अनेक उपन्यासों, कहानियों और नाटकों की रचना हुई। 'वसंत ऋतु की सुगंध' नामक उपन्यास में एक पतिव्रता स्त्री का सुंदर चित्रण उपस्थित किया गया। यह साहित्य कोरिया की नई वर्णमाला में लिखा गया।

आधुनिक साहित्य ईसाई मिशनरियों के साथ साथ कोरिया में पश्चिम के साहित्य और संस्कृति का प्रचार बढ़ा। १८९६ ई० में 'स्वतंत्र' नामक समाचारपत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ जिसमें स्वाधीनता, स्वातंत्र्य और समानता को आदर्श मानकर कविता, कहानी और उपन्यास प्रकाशित हुए। सन् १९१० में जापान का फिर कोरिया पर अधिकार हो जाने से कोरियायी भाषा के लिखने पढ़ने पर प्रतिबंध लगा दिया गया, फिर भी अपनी भाषा को उन्नत बनाने के लिये वहाँ के प्रगतिशील लेखकों का प्रयत्न जारी रहा। कोरिया सदियों से लगातार साम्राज्यवादी शक्तियों का शिकार रहा है, इसलिये युद्धविरोधी और शांतिमय जीवन का चित्रण करनेवाला साहित्य यहाँ अधिक मात्रा में लिखा गया। यहाँ के लेखक विक्टर ह्यूगो, टालस्टाय, दोस्तोवस्की, कार्लाइल, इमर्सन, मोपासाँ, बर्नार्ड शॉ, इलियट, आंद्रे जीद आदि पश्चिमी लेखकों से प्रभावित हैं। मार्क्स और एंगेल्स का प्रभाव भी कोरिया के लेखकों पर काफी है।

'रजतमय संसार' कोरिया का प्रथम आधुनिक उपन्यास माना जाता है जिसे यि-इन-रिक ने १९०८ ई० में लिखा था। उसके बाद 'पुष्पों का रक्त' के लेखक यि-हाए-रो और 'हृदयहीन' के लेखक यि-क्वाग-सू आदि उपन्यासकारों ने कोरियायी साहित्य को समृद्ध बनाया। किम कि-रिन ने 'लाल चूहा', छाए मानरिक ने 'गँदला स्रोत' और सिम हुन ने 'सदा हरित वृक्ष' जैसे श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना की। आधुनिक कवियों ने पुरानी परंपराओं को छोड़कर नए साहित्य का सर्जन किया। किम योंग नाग, छोंग इल-वो, यि अन-साग, यि प्योंग-गि आदि कवियों ने मुक्तक लिखकर नई कविता को समृद्ध बनाया। पाग उग-मो ने समकालीन कवियों और आन होए-नाम ने आधुनिक कथाकारों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। यि ताए-रून ने साहित्यिक निबंध लिखकर साहित्य की श्रीवृद्धि की। सदियों से युद्ध की रणस्थली बने हुए कोरिया में आज अत्यंत द्रुत गति से साहित्य के नवनिर्माण का कार्य हो रहा है जिसमें सैकड़ों राष्ट्रवादी लेखक जनवादी प्रेरणादायक साहित्य का सर्जन करने में जुटे हुए हैं। कितने ही नए प्रकाशनगृह इस कार्य को सफल बनाने में लगे हैं।

सं०ग्रं०—कोरियन स्टडीज गाइड, यूनिवर्सिटी आव कैलिफोर्निया प्रेस, १९५४। कोरियन हैंडबुक, फॉरेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, प्याग याग, १९५९। (ज० च० जैं०)

कोरी उत्तर प्रदेश, विदर्भ एवं मध्य प्रदेश में बसनेवाली एक जाति जिसका मुख्य उद्योग कपड़ा बुनना है। इनकी उत्पत्ति के संबंध में एक अनुश्रुति प्रचलित है। कहा जाता है कि एक दिन कबीर गंगा स्नान करने जा रहे थे। मार्ग में एक युवती जा रही थी। उसने उन्हें प्रणाम किया। कबीर ने उसे आशीर्वाद दिया—'पुत्रवती भव'। युवती कुमारी थी। कबीर का आशीर्वाद निष्फल नहीं हो सकता था। अतः उस युवती के हाथ में एक फोड़ा निकला और जब वह फूटा तो उसमें से एक बालक निकला। इसी बालक की संतान यह जाति है और कुमारी से जन्म होने के कारण उनका नाम कोरी पड़ा। अहारवार, बैस, भडौरी, भाइनहार, बकार, धामन, जइसवार, जाटवा, ज्यूरिया करीरवसी, कंथिया, कामा-रिया, कनौजिया, वोरचामरा, कुप्टा, माहुटे, पगसूतिया, साकरवार, सखवार, आदि इसकी अनेक उपजातियाँ हैं।

ये मूलतः हिंदू धर्म के अनुयायी हैं। अवध प्रदेश के कोरी अधिकांशतः रामदासी अथवा शिवनारायणी संप्रदाय के माननेवाले हैं। बिजनौर के आसपास के निवासी कबीरपंथी हैं। कुछ लोग जाहिर पीर की उपासना करते हैं। (प० ला० गु०)

कोरो, कोमिल जाँ वाप्तिस्त (१७९६–१८७५), फ्रेंच भूदृश्य (लैंड स्केप) तथा प्रतिकृति (पोर्ट्रेट) चित्रकार। उन्होंने आरंभ में प्रकृतिचित्रण किया फिर जब १८२५ में उन्होंने इटली की यात्रा की तब उनकी चित्रणशैली बदल गई। इस काल के बनाए हुए चित्र उनके समस्त चित्रों में उत्कृष्ट माने जाते हैं। इनमें मुख्य 'फोरम' और 'नार्नी का दृश्य' हैं जो लूव्र में सुरक्षित हैं। इटली की दूसरी यात्रा के बाद कोरो वृहदाकार ऐतिहासिक विषयों का चित्रण करने लगा। शताब्दी बाद उसकी शैली में क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। उसने वातावरणीय उस महीन शैली का आरंभ किया जिसके लिये वह प्रसिद्ध है। अब वह रोमैंटिक भावात्मकता से अभिभूत था। वे १९वीं शती की क्लासिकल शैली से रोमांटिक शैली को जोड़नेवाली कड़ी माने जाते हैं। अंतिम दिनों में उन्हें बड़ी लोकप्रियता मिली और उनका बड़ा सम्मान हुआ। (प० उ०)

कोरोनर अप्राकृतिक, संदिग्ध अथवा अनिश्चित कारणों से हुई मृत्यु, बंदीगृह में हुई मृत्यु, अथवा ऐसी परिस्थितियों में हुई मृत्यु जिनके

संबंध में किसी कानून द्वारा पंचायतनामा लिया जाना आवश्यक हो, जाँच करनेवाला अधिकारी। कोरोनर के लिये जाँच के निमित्त शव का निरीक्षण करना आवश्यक है और इस जाँच के लिये वह शपथ दिलाकर साक्ष्य एकत्र करता है। यदि वह किसी व्यक्ति को हत्या (भ्रूणहत्या भी) का दोषी पाता है तो उस व्यक्ति का न्यायालय में अभियोगी बनाकर भेजना उसका कर्तव्य होता है। 'सिटी ऑव लंदन फायर इनक्वस्ट ऐक्ट, १८८८' के अनुसार अग्नि से हानि अथवा शारीरिक क्षति होने पर लंदन नगर एवं उसके उपनगरों में, जो मिडिलसेक्स काउंटी के क्षेत्र में आते हैं, कोरोनर पंचायतनामा तैयार करता है।

इंग्लैंड में संभवतः हेनरी प्रथम (१०६८-११३५) के समय राजकीय हित में शेरिफ की सत्ता पर अंकुश के रूप में कोरोनर का पद उद्भूत हुआ। इसका सर्वप्रथम उल्लेख 'आर्टिकिल्स ऑव आयर' (११९४ ई०) में मिलता है। इस पद के अभिलाषी का निर्वाचन होता था, और केवल विचारशील तथा न्यायानुकूल आचरण करनेवाले व्यक्ति ही कोरोनर चुने जा सकते थे। 'कोरोनर्स संशोधन अधिनियम, १९२६' के अंतर्गत कम से कम ५ वर्ष के अनुभववाला डाक्टर ही कोरोनर निर्वाचित हो सकता है। लंदन काउंटी काउंसिल का नियम है कि विधि एवं चिकित्सा संबंधी योग्यताओं से युक्त व्यक्ति ही कोरोनर नियुक्त किया जा सकता है।

अमरीका में काउंटी के वोटर कोरोनर का चुनाव करते हैं। कहीं कहीं उसे शासन की ओर से भी नियुक्त किया जाता है। वहाँ संदिग्ध मृत्यु का पंचायतनामा तैयार करना कोरोनर का कर्तव्य होता है। उसी की आज्ञा से शवपरीक्षा होती है। (भ० स्व० च०)

कोरोलेंको, व्लादिमिर गलक्तिओनोविच (१८५३-१९२१ ई०) रूसी कहानीकार और उपन्यासकार। इनका जन्म जितोमिर नगर में एक कर्मचारी परिवार में हुआ था। अपने विद्यार्थी जीवन में कोरोलेंको स्वदेश के किसानों की बुरी हालत की आलोचना किया करते थे जिसके कारण १८७९ में इन्हें कालापानी मिला। सन् १८८५ में छूटने पर निज्नी नोवगोरोद (आधुनिक गोर्की) नगर में पुलिस की निगरानी में रहने लगे। इनकी पहली कहानी १८७९ ई० में प्रकाशित हुई थी। 'अनोखी' कहानी (१८८०) में एक रूसी क्रांतिकारिणी लड़की के धैर्य और साहस की कथा है। 'अंधा वादक' उपन्यास (१८८६) का मुख्य विचार यह है कि जब तक किसी मनुष्य का जीवन जनता के जीवन से अलग है तब तक उसे सुख नहीं मिल सकता। 'बिना जबान के' उपन्यास में अमरीका में रहने के लिये आए हुए एक उक्रेनी किसान की दुःखमय कथा है। उनके विचारों में रूस के जनवादी साहित्य का गहरा प्रभाव है।

१९०० में कोरोलेंको को 'संमानित अकदेमिक' उपाधि दी गई। परंतु चेखव के समान इन्होंने भी इस उपाधि को लेना अस्वीकार किया। इसका कारण था कि गोर्की को 'संमानित अकदेमिक' उपाधि देने की स्वीकृति रूसी ज़ार ने नहीं दी थी।

कोरोलेंको की सबसे बड़ी कृति 'मेरे समकालीन की कथा' (१९०६-२२) उनकी आत्मकथा के समान है। इसमें उस काल के सामाजिक जीवन का विस्तारपूर्ण चित्रण मिलता है। कोरोलेंको ने दिखाया कि महान् अक्तूबर क्रांति की विजय इसी लिये हुई कि अधिकांश जनता ने इसका समर्थन किया और इसमें सक्रिय भाग लिया।

कोरोलेंको की रचनाएँ उच्च कोटि की हैं। इनमें जनता के जीवन का वास्तविक चित्रण है। इसी लिये १९०७ में लेनिन ने कोरोलेंको को प्रगतिशील लेखक कहा था। तालस्तॉय, चेखव और गोर्की कोरोलेंको को बहुत मानते थे। गोर्की के कथनानुसार 'कोरोलेंको' ने रूसी जनता के जीवन के उन पहलुओं का वर्णन किया जिनका इससे पहले कोई भी लेखक न कर सका।' कोरोलेंको का प्रभाव अनेक लेखकों पर पड़ा। उनकी रचनाओं को बड़ी लोकप्रियता मिली; वे अनेक भाषाओं में अनूदित हैं।

(प्यो० अ० वा०)

कोर्ट मार्शल सैनिक न्यायालय जो स्थल, जल और वायुसेना के अनुशासन के विरुद्ध किए गए अपराधों की जाँच (ट्रायल) करती और अपराध सिद्ध होने पर यह अपराधी को दंड देती है। मार्शल लॉ की व्यवस्था भी कोर्ट मार्शल करती है। कोर्ट मार्शल का मुख्य ध्येय सेना में अनुशासन कायम रखना है। कोर्ट मार्शल की एक विशेषता, जो सिविल कोर्ट में नहीं पाई जाती, यह है कि इसमें एक जज ऐडवोकेट होता है जिसका मुख्य कार्य प्रमाण को कोर्ट के समक्ष रखना और कोर्ट को कानूनी प्रश्नों से अवगत करना है। कोर्ट मार्शल के सदस्य प्रायः सेना के अधिकारी होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र अमरीका के कोर्ट मार्शल को वहाँ के विधान द्वारा असाधारण क्षेत्राधिकार प्राप्त है। युनिफार्म ऑव मिलिटरी जस्टिस, १९५० में कोर्ट मार्शल की स्थापना और उनकी श्रेणियों आदि का विवरण है। इंग्लैंड में आर्मी ऐक्ट, नेवल डिसिप्लिन ऐक्ट, १९२२ के द्वारा संशोधित नेवल डिसिप्लिन ऐक्ट, १८६६ और मैनुएल ऑव एयर फ़ोर्स में कोर्ट मार्शल की स्थापना का विधान है।

भारत में आर्मी ऐक्ट, १९५०, एयर फ़ोर्स ऐक्ट, १९५० और नेवी ऐक्ट, १९५७ में कोर्ट मार्शल की स्थापना का विधान है। आर्मी ऐक्ट, १९५० के अंतर्गत चार प्रकार की कोर्ट मार्शल हैं : (१) जनरल कोर्ट मार्शल, (२) डिस्ट्रिक्ट कोर्ट मार्शल, (३) समरी जनरल कोर्ट मार्शल और (४) समरी कोर्ट मार्शल। एयर फ़ोर्स ऐक्ट, १९५० में केवल प्रथम तीन प्रकार के और नेवी ऐक्ट, १९५७ में केवल एक ही प्रकार के कोर्ट मार्शल का विधान है।

सभी अधिनियमों में कुछ उपबंधों को छोड़कर लगभग एक से ही उपबंध हैं। कोर्ट मार्शल के सदस्यों में से उच्चतर अधिकारी कोर्ट का प्रधान होता है। जज ऐडवोकेट से संबंधित उपबंध को छोड़कर अन्य अधिनियमों में कोर्ट मार्शल के संयोजन, रचना, अधिकार, स्थान आदि का विवरण है। इन अधिनियमों के उपबंधों को दृष्टिगत रखते हुए, कोर्ट मार्शल के समक्ष संपूर्ण कार्यवाही पर १८७२ का एविडेंस ऐक्ट लागू होता है और बहुमत से निर्णय किया जाता है। बराबर मतों पर अभियुक्त के पक्ष में निर्णय माना जाता है। कोर्ट के दो तिहाई सदस्यों के बहुमत निर्णय पर ही मृत्यु दंड दिया जा सकता है। यदि कोर्ट के पाँच सदस्य हों तो चार सदस्यों के निर्णय पर ही मृत्यु दंड दिया जा सकता है।

आर्मी ऐक्ट और एयर फ़ोर्स ऐक्ट में कोर्ट मार्शल के निर्णय को अन्य अधिकारी द्वारा स्वीकृत करने अथवा पुनः विचार करने अथवा संशोधन करने के भी नियम हैं। ऐसे अधिकारी के समक्ष कोर्ट मार्शल के निर्णय के विरुद्ध प्रार्थनापत्र प्रस्तुत करने का अधिकार दंडित व्यक्ति को प्राप्त है। स्वीकृत निर्णय के विरुद्ध भी दंडित व्यक्ति भारतीय सरकार, सेनाध्यक्ष या अन्य मनोनीत अधिकारी को प्रार्थनापत्र दे सकता है। इन लोगों को कोर्ट मार्शल के समक्ष हुई संपूर्ण कार्यवाही को अवैधानिक और न्यायविरुद्ध घोषित करने का अधिकार है। नेवी ऐक्ट में जज ऐडवोकेट जनरल को न्यायिक समीक्षा (जुडिशल रिव्यू) का अधिकार दिया गया है। वह स्वयं अथवा प्रार्थनापत्र के आधार पर अपने इस अधिकार का प्रयोग कर सकता है। वह अपनी रिपोर्ट जलसेनाध्यक्ष के पास भेजता है जो कुछ परिस्थितियों में सारी कार्यवाही को भारत सरकार के पास विचारार्थ भेज सकता है। इसके अतिरिक्त दंडित व्यक्ति को कोर्ट मार्शल के निर्णय के विरुद्ध जलसेनाध्यक्ष अथवा भारत सरकार के पास आवेदनपत्र देने का भी विधान है। सेनाध्यक्ष अथवा भारत सरकार आवेदन पर विचारकर समुचित आदेश दे सकती हैं। (ज० कु० म०)

कोर्वे (कूर्बे) (१८१९-७७ ई०) क्रांतिकारी चित्राचार्य। पेरिस की नागरिक सत्ता से दूर ओरनान के एक जनवादी क्रांतिकारी वंशपरंपरा के किसान परिवार में १८१९ में उनका जन्म हुआ था और चित्रकारिता के केंद्र पेरिस में उनमें प्रांतीय बोधात्मा का प्रवेश हुआ। आरंभ में ही जब वह चित्रकला सीखने के लिये एक जाने माने आचार्य के पास भेजे गए और आचार्य ने उनके सामने परंपरा के अनुसार नारी के मॉडल की अनुकृति बनाने के लिये दिया तब उन्होंने ऐसी अनुकृति बनाने से इनकार कर दिया और कहा कि नारी का सुंदर चित्र बनाना कला का गौरव नहीं, मात्र फूहड़ रूढ़िवादिता है। और जीवन

यह दृष्टिकोण बनाए रखा। उन्होने अपने इस नए व्यक्तित्व के सदर्भ में अपना शिक्षण अपने आप किया तो इससे पेरिस की परपरा को एक धक्का तो लगा, पर इससे उसे देहात की ताजगी भी मिली, उसे एक यथार्थवादी दृष्टिकोण मिला। प्रकृतित वह स्वय कुछ मात्रा मे रामैंटिक था, पर उसने उस आदोलन की काल्पनिक परिधि छोड यथार्थ के परिवेश मे प्रवेश किया, उसने घोषित किया—'चित्रकला का अस्तित्व कलाकार द्वारा साकार तथा गोचर पदार्थों के रूपायन मे ही हो सकता है।'

'ओरनान का भोजोत्तर समूह' नामक उसके चित्र पर उसे पदक मिला और इस माध्यम से उसका प्रवेश पेरिस के 'सलून' म हुआ। इस प्रवेश के साथ ही उस सघर्ष का आरभ हुआ जिसे कोर्बे ने सलून के सत्ताधारियो के साथ आजीवन जारी रखा। कोर्बे की सक्रियता चित्रकारिता तक ही सीमित नही रही, उसने राजनीति में भी खुलकर भाग लिया और १८४८ की फ्रेंच राज्यक्राति मे उसका स्पष्ट योग था। अपनी राजनीतिक विचारधारा के स्वरूप उसने 'पत्थरफोड' (१८४६) जैसे चित्रो का चित्रण किया, जो वस्तुत जीवन की चित्रत व्याख्या थे, सामाजिक समीक्षा। यथार्थवादी चित्रो के अतिरिक्त उसने समकालीन स्टूडियो मे बननेवाले नग्न अभिप्रायो की परपरा मे भी कुछ चित्र बनाए जो उस परपरा पर कसे गए व्यग है। इस व्यगचित्रण की परपरा मे बनाए उसके चित्र 'स्नाता' (१८५३) म नहाती नग्न नारी को देख एक समीक्षक ने टिप्पणी की कि 'यह जीव तो ऐसा है कि इसे मगर तक खाना पसद न करेगा।' कोर्बे की कृतियो मे स्वाभाविक रूप से कुछ अशो मे अहकार का भी समावेश हो गया था।

कोर्बे के क्रातिकारी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप १८५५ ई० मे जब सार्वभौमिक प्रदर्शनी (एक्सपोज़िशन युनिवर्सल) के अवसर पर उसे सलून मे स्थान नही मिला तब उसने अपनी अलग प्रदर्शनी की। अपने नए स्टडियो मे उसने ऐसे चित्रो को सराहा जो दीन जनता और पेरिस के अभिजात्यो के विरोधी भावो के पोषक थे फिर भी उसके चित्रो मे रोमैंटिक भावना की कमी न थी। उसके दोनो ही प्रकारो के प्रसिद्ध चित्र निम्नलिखित है: 'ओरनान का दफन (१८४६), 'देहात के प्रणयी' (१८४५), 'चमडे के कटिबधवाला आदमी' (१८४६), 'ब्रूया से मुलाकात' (१८४५)।

जब १८७१ ई० मे जर्मन विजय और फ्रेंच आत्मसमर्पण को चुनौती देकर पेरिस के सर्वहाराओं ने पेरिस पर अधिकार किया और प्रसिद्ध जनसत्तात्मक पेरिस कम्यून स्थापित किया और जनता के शत्रुओ ने नगर की सडको के मोर्चो पर जनवादी लडाई लडी तब कोर्बे ने उसमे भी सक्रिय भाग लिया। इसका मूल्य उसे अपने सर्वनाश के रूप में चुकाना पडा। वह कैद कर लिया गया। बदी जीवन मे ही उसने अपने प्रसिद्ध पुष्पचित्र चित्रित किए। शीघ्र ही वह देश से निकाल दिया गया। प्रवास मे ही स्विजरलैंड मे, १८७१ ई० मे कोर्बे का देहात हुआ। (प० उ०)

कोर्युसाई, ईसोदा मासाकात्सू (लोकप्रिय नाम शोबे) (१८वी सदी ई०)। जापान का एक चित्रकार। टोकियो के शिगेनागा का शिष्य। १८७० ई० मे उसकी कला को ख्याति मिली और उन्होने ब्लाकमुद्रण छोड तूलिका की साधना विशेष लगन से शुरु की। उसकी प्रसिद्धि के मुख्य आधार उसके स्तभचित्रण, कागज के मुड जानेवाले करविज्ञनो की डिजाइन तथा अलकरण प्लेटें हैं। सौदर्यसाधक होने के कारण वह स्वय अलकृत और कीमती वेशभूषा का व्यवहार करते थे। उसके रगो मे प्रधान गहरे गुलाबी, बैंगनी, गहरे नीले, नारगी पीले और भूरे थे। (प० उ०)

कोलंब केरल प्रदेश के त्रिवलाल के निकट स्थित एक प्राचीन नगर एव बदरगाह। सभवत उस क्षेत्र की सुप्रसिद्ध देवी कोलबा के नाम पर इस नगर का नाम रखा गया है।

ईसा की आरभिक शताब्दियो मे यह नगर वाणिज्य व्यवसाय का प्रमुख केद्र था। वहाँ से व्यापारी वर्मा, पेगू एव पूर्वी द्वीपसमूह निरतर जाया आया करते थे। यहाँ से मिर्च का निर्यात विशेष रूप से होता था।

अनुश्रुतियो के अनुसार प्रथम शती ई० मे सुप्रसिद्ध ईसाई सत टामस यहाँ आकर रहे थे और एक गिरजाघर की स्थापना की थी। एक अन्य सत जेसू जबस का भी यह निवासस्थान था। उन्होने वही ६६० ई० मे शरीर त्याग किया। नवी शती के आरभ मे सिरिया के ईसाई यहाँ आकर बसे। इस प्रकार यह ईसाई धम का एक प्रमुख केंद्र रहा है।

१५०३ ई० मे पुर्तगालियो ने यहाँ अपना एक किला बनाया था। बाद मे डच लोगो ने इसपर अधिकार कर लिया था। (प० ला० गु०)

कोलबस (स्थिति ४०°१' उ० अ० से ८३° ०' प० दे०)। सयुक्त राज्य अमरीका के ओहायो प्रात मे ओलटगी और स्योटो नदियो के सगम पर स्थित एक नगर। इसकी स्थापना १७६७ ई० मे लूका सलिवेट (Luca Sullivant) द्वारा फैंकलिटन ग्राम के रूप मे की गई थी। १६२० ई० मे इस नगर-नियोजन-आयोग द्वारा एव नियोजित नगर का रूप दिया गया। यह प्रधानत औद्योगिक नगर है। यहाँ कल पुर्जे, शीशे और चमडे के सामान, सैनिक युद्धक विमान, बिजली के सामान आदि बनाने के कारखाने हैं। आवागमन के लिये लगभग एक दर्जन रलमार्गो, एक दर्जन राजमार्गों तथा माल लानेवाले ७० मोटर मार्गो का यहाँ सगम है। पार्श्ववर्ती भाग कृपि के लिये प्रसिद्ध है। ओहायो स्टेट विश्वविद्यालय, फैंकलिटन विश्वविद्यालय तथा कैपिटल विश्वविद्यालय प्रमुख शिक्षण सस्थाएँ हैं। इसका क्षेत्रफल ४० वर्गमील है और १९७० ई० मे इसकी जनसख्या ५,३३,४१८ थी। (कैं० ना० सिं०)

सयुक्त राष्ट्र अमरीका मे ही इस नाम के तीन अन्य नगर हैं। एक जार्जिया मे, दूसरा इडियाना मे और तीसरा मिसिसिपी मे। जार्जिया स्थित कोलबस सूती वस्त्र का केंद्र है और उसकी जनसख्या १६६० ई० मे १,१६,७७६ थी। (प० ला० गु०)

कोलबस, क्रिस्तोफर (१४५१-१५०६ ई०)। प्रख्यात नाविक और भू-अन्वेषक। इटली के जेनाआ नगर मे लगभग १४५१ ई० मे जन्म हुआ। इनके पिता बुनकर थे किंतु किशोरावस्था मे ही इन्हे समुद्र ने आकृष्ट किया तथा भूमध्यसागर के पूर्वी हिस्सा मे अनेक बार नाविक के रूप में उन्होंने यात्रा की। उन्हें एक यात्रा दूसरी यात्रा के लिये प्रोत्साहित करती रही। समुद्र का आकर्पण उन्हे सदा पुकारता रहा और इस अनवरत पुकार ने कोलबस मे नई भूमि, नए देश की खोज की चाह पैदा की। कुछ दिनो के पश्चात् उन्होंने इग्लैंड तथा उत्तरी समुद्र की यात्रा की। इस यात्रा से लौटने के पश्चात् वह लिस्बन मे बस गए और वहाँ एक सभ्रात परिवार की महिला से विवाह किया। पत्नी का पिता सेना मे कप्तान था।

उन दिनो मानव पृथ्वी के भेदभरे अनदेखे भाग का पता लगाने की चेप्टा करने और उसके विभिन्न भागो मे पहुँचने का स्वप्न देखने लगा था। अत कोलबस का जिज्ञासु स्वभाव एव उत्साही हृदय भी नए देश, नई धरती की खोज के लिये उतावला हो उठा। अतलातिक स्थित देशो मे अद्भुत वस्तुओ का पाया जाना उसकी उत्सुकता को बढाता रहा। सुदूर पूर्व की कथाएँ उसने सुनी। मार्को पोलो ने चीन के राजा की अपार धनराशि की कथा कही थी तथा जापान के उस प्राचीन द्वीप का दिग्दर्शन कराया था जहाँ घरो की छतें सुवर्ण से मढी होती थी। एशिया और अफ्रीका के महाद्वीप अपनी रहस्यमयी कथाओ से कोलंबस को आकृष्ट करते रहे। नई धरती की खोज की कल्पना उसके मस्तिष्क मे घर करने लगी और उसने निश्चय किया कि वह अतलातिक महासागर मे पश्चिम की ओर तब तब चलता जायगा जब तक वह भारत न पहुँच जाय। मार्ग मे पडनेवाले द्वीपो की खोज करता, विशेषकर आतिलिया को देखता वह आगे बढेगा और इन नए देशो को वह कैथोलिक धर्म से अनुप्राणित करेगा। यह पूर्व तथा पश्चिम का एक समेलन होगा। जो शक्ति और धन वह अर्जित करेगा उससे एक सच्चे ईसाई का स्वप्न पूर्ण होगा। और वह धर्म का रक्षक बनेगा। परतु ऐसी किसी यात्रा के लिये किसी ऐसे धनी राजा के सहयोग की अपेक्षा थी जो १५वी शताब्दी की राजनीति के अनिश्चित

उतार चढ़ाव में एक अनजाने उत्साही की कल्पना पर आयोजित यात्रा को आर्थिक सहायता दे सके। इसके अतिरिक्त उसकी अपनी शर्तें भी विचित्र थीं। वह ऐडमिरल का पद तथा जिन देशों को वह खोजे उनका वह प्रांतपति भी होना चाहता था। इनके अतिरिक्त यात्रा में प्राप्त धन तथा खनिज पदार्थों का दसवाँ भाग भी उसे चाहिए था।

कोलंबस ने सर्वप्रथम पुर्तगाल के शासक जान द्वितीय से संपर्क स्थापित किया। जान ने उसकी यात्रा की योजना मे दिलचस्पी ली परतु कोई परिणाम नही निकला। वह निरंतर प्रयास करता रहा तथा कुछ मित्रों की सहायता से स्पेन के संमिलित शासक अरागान के फार्दिनाद (Ferdinand) तथा कास्तिल की इजाबेला के राजदरबार में उपस्थित होने मे वह सफल हुआ; परंतु वे लोग मूरों से संघर्ष में व्यस्त थे, फिर अतलांतिक में केवल उत्साह एवं कल्पना के आधार पर आयोजित यात्रा में व्यय करने के लिये उनके पास पैसा भी न था। इसके अतिरिक्त कोलंबस की योजना राजा के जिन सलाहकारों के संमुख रखी गई उनके विचार से यह योजना सर्वथा असंभव थी। जब वहाँ वह असफल रहा तो उसने अपने भाई को इंग्लैंड के राजा हेनरी सप्तम को प्रभावित करने के लिये भेजा और स्वयं फ्रांस गया। अंतिम क्षणों में रानी इजाबेला ने कोलंबस की योजना की सार्थकता को पहचाना। नए विजित देशों के हजारो वासियों में ईसाई धर्म के प्रचार के अवसर को वह खोना नही चाहती थी। वह कोलंबस से मिलने तथा उसकी योजना सुनने को तैयार हो गई। १४९२ में जब मूर युद्ध समाप्त हुआ तब अप्रैल मास में कोलंबस तथा स्पेन के शासकों में इस योजना के कार्यान्वित करने के लिये एक अनुबंध हुआ।

सहायता तो मिली परंतु इस अभियान के हेतु साधन जुटाना सहज न था। पालोस नगर को कोलंबस को दो जहाज प्रदान करने का राजकीय आदेश हुआ, परंतु जहाजों के लिये नाविक मिलने कठिन हो गए। कोई कोलंबस की अनिश्चित यात्रा में अपने जीवन की बाजी लगाने के लिये तैयार न था। दंडित अपराधी भी, जिनको राज्य मुआवजा देने को तैयार था, यात्रा के लिये हृदय से तैयार न थे। तथापि वह पिंजोन बंधुओं की सहायता से नाविकों को जुटाने में सफल हुआ। अगस्त, सन् १४९२ में ८७ नाविकों को लेकर, जिनमें कुछ तो अपराधी और अभ्यस्त नाविक थे, उसने पालस से अपनी यात्रा का आरंभ किया। उसके साथ तीन जहाज थे, सांता मारिया जिसका कप्तान वह स्वयं था, तथा पिंता और नीना जिनके कप्तान पिंजान बंधु थे।

यात्रा आरंभ करने के कुछ ही दिनों पश्चात् तीनों जहाजों के नाविकों में असंतोष प्रकट होने लगा जो दिन दिन बढ़ता गया। अनजाना मार्ग एवं अनिश्चित परिणाम का भय उनमें घर कर गया और जब दिन तथा सप्ताह धरती के दर्शन बिना बीतने लगे तब नाविकों के विद्रोह करने की आशंका आ खड़ी हुई। नाविक उसे मार डालने तक को तैयार हो गए। कोलंबस ने इस स्थिति को जैसे तैसे सँभाला। अंततोगत्वा जब भूमि दिखाई पड़ी तब नाविक 'धरती धरती' कह चिल्ला उठे। १२ अक्तूबर को तट पर घुटने टेक कोलंबस ने धरती को चूमा और उस द्वीप पर स्पेन का झंडा गाड़ दिया। उसने द्वीप का नाम सान साल्वेदोर (पवित्र उद्धारक) रखा। इस यात्रा में इस द्वीप के वासियों के प्रति वह बहुत आकृष्ट हुआ। उसके कथनानुसार वहाँ के निवासी बहुत सरल एवं शांतिप्रिय थे। जिन लोगों के संपर्क में वह आया उनसे सदा उसने सद्‌व्यवहार किया, यद्यपि उसके कुछ विचार भ्रांतिपूर्ण प्रमाणित हुए। फिर भी दोनों ओर के संबंध मित्रतापूर्ण बने रहे। कोलंबस के इस आदेश से कि वहाँ के निवासियों के प्रति दया का व्यवहार किया जाय, उसके सहयोगियों ने अपने पर नियंत्रण रखा। किसी तरह की भेंट आदि लेना निषिद्ध था और जब कुछ भी लिया जाता, बदले में उन्हें भाँति भाँति की भेंटें दी जाती।

इस तरह कोलंबस अपनी यात्रा में शांतिपूर्वक अग्रसर होता रहा। उसने क्यूबा की खोज की। उसने समझा कि उसने एशिया महाद्वीप की खोज कर ली है या जापान की महाभूमि के दर्शन किए हैं, जहाँ उसे अपरिमित धनराशि की प्राप्ति होगी। कोलंबस इसके पश्चात् अपनी कल्पना के उस देश की खोज निरंतर करता रहा जहाँ बहुमूल्य धातु (सुवर्ण) इतनी अधिक मात्रा में होगी कि उसे केवल अपने जहाजों में भरना और स्वदेश पहुँचाना होगा। परंतु उसका यह स्वप्न पूरा न हो सका। यद्यपि स्थानीय निवासियों की भाषा वह नहीं समझ सका तथापि उसे यह सदा भासित होता रहा कि वे उसे आग किसी धनी प्रदेश की ओर प्रेरित करते है, जहाँ की सड़कें भी सुनहरे द्रव्य से मढ़ी होंगी। उसे अपने जीवन के अंत तक यह लगता रहा कि यदि वह कुछ दूर और भीतर की ओर बढ़ा होता तो उसकी योजना पूरी हो गई होती। इस प्रथम अभियान की अंतिम खोज हिस्पानियोला (हाइती) था। यहाँ 'सांता मारिया' पृथ्वी में धँस गया जिससे उसे छोड़ देना पड़ा। इस द्वीप मे उसने ४२ यूरोपियनों का एक उपनगर बसाया तथा द्वीप के छह निवासियों को ईसाई धर्म की दीक्षा दी तथा उन्हें अपनी यात्रा के प्रमाण के रूप मे अपने साथ लेकर वह स्पेन लौटा।

स्पेन मे राजा तथा रानी ने उसका भव्य स्वागत किया। वह अब देश का बहुत महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली व्यक्ति था। अपने साथ लाए अमरीका निवासी, तोते, अद्‌भुत पशुपक्षी, अनजाने फल, जहाँ भी वह ले गया, जनता मे एक आश्चर्य उत्पन्न करते रहे। एक समकालीन पत्र द्वारा यह ज्ञात होता है कि कोलंबस बहुमूल्य वस्तुएँ तथा सुवर्ण अपने साथ लेकर लौटा था। पोप ने इन नए प्राप्त द्वीपो पर स्पेन के अधिकार को मान्यता दी।

स्पेन के शासकों ने एक द्वितीय अभियान, प्रथम से अधिक विशाल, आयोजित किया। २५ सितबर, १४९३ को यह यात्रा आरभ हुई परंतु कोलबस की महत्ता का अंत उसकी प्रथम यात्रा के प्रत्यावर्तन के साथ ही आरंभ हो गया। हिस्पीनियोला पहुँचकर उसने देखा कि उसके द्वारा स्थापित उपनगर नष्ट हो चुका है तथा उसके पीछे छोड़े सभी यूरोपीय मारे जा चुके हैं। कोलंबस ने जो नया उपनगर इजाबेला द्वीप पर बसाया था वह भी उसके जीवन के लिये अभिशाप बना।

जब सुवर्ण देश की खोज में कोलंबस असफल हुआ तो १४९४ ई० में उसने दासों के व्यापार की नीव डाली। यह उसके पतन का प्रारभ था। यूरोप में दासों का व्यापार पहले से ही प्रचलित था तथा कभी बुरा नही माना गया। कोलंबस की दृष्टि मे दासों के प्रति निम्न व्यवहार का प्रतिकार उन्हें ईसाई मत में दीक्षित करके किया जा सकता था। और उसका यह दृष्टिकोण उस युग की इस विचारधारा का परिणाम था कि मनुष्य की आत्मा का मूल्य उसकी स्वतंत्रता से अधिक है। कोलंबस स्वयं बहुत दयावान नही था। उसकी नीति से भी कभी लोग ऊब जाते थे। जहाजो मे भरकर वह स्त्रियों और बच्चों को स्वदेश भेजता, जहाँ की जलवायु के वे अभ्यस्त नही थे। सैकड़ों की संख्या में वे मर गए। शासकों से वह कहता रहा कि ये दास युद्ध के कैदी है। बहुतों को दासों का व्यापार भाता था, किंतु रानी इजाबेला को यह नही भाया और स्पेन के राजदरबार में कोलंबस का मान घटने लगा।

कोलंबस क्यूबा के तटीय प्रदेशों की खोज करता फिरा। उसने दोमिनिका का पता लगाया, पोर्तोरिको तथा अन्य द्वीप भी खोजे। उसका स्वास्थ्य बिगड़ता गया और वह अचेतावस्था में इजाबेला द्वीप के उपनगर में पहुँचाया गया। जब वह स्वस्थ हुआ तब उसने पाया कि उसके कार्यों की जाँच करने के लिये इजाबेला में एक कमिश्नर भेजा गया है। अपनी संदेहजनक स्थिति देखकर वह स्वदेश लौटा। जून, सन् १४९६ में वह कादिज पहुँचा। इस बार राजा फार्दिनांद तथा रानी इजाबेला द्वारा किए गए स्वागत से वह आश्चर्यचकित रह गया। उसे ड्यूक की पदवी देने का प्रस्ताव रखा गया। साथ ही तीसरी यात्रा के निमित्त उसके लिये साधन भी एकत्रित किए गए। परंतु कोलंबस के भाग्य का नक्षत्र अब अस्त हो रहा था। उपनिवेशों की स्थिति अनियंत्रित होती जा रही थी। स्थानीय निवासियों के प्रति बर्बरता का व्यवहार हो रहा था। क्रांति तथा षड्यंत्र का बोलबाला था। समय के साथ साथ कोलंबस स्वयं क्रोधी तथा निर्दय होता जा रहा था। हिस्पानियोला क्रांति तथा बर्बरता का केंद्र हो गया था। रानी इजाबेला ने इस अराजकता की कहानी सुनी और सन् १५०० में कोलंबस, जब वह त्रिनिदाद तथा दक्षिणी अमरीका का पता लगा चुका

यह दृष्टिकोण बनाए रखा। उन्होंने अपने इस नए व्यक्तित्व के संदर्भ मे अपना शिक्षण अपने आप किया तो इससे पेरिस की परपरा को एक धक्का तो लगा, पर इसमें उसे देहात की ताजगी भी मिली, उसे एक यथार्थवादी दृष्टिकोण मिला। प्रकृतित वह स्वय कुछ मात्रा मे रोमैंटिक था, पर उसने उस आदोलन की काल्पनिक परिधि छोड़ यथार्थ के परिवेश मे प्रवेश किया, उसने घोषित किया—'चित्रकला का अस्तित्व कलाकार द्वारा साकार तथा गोचर पदार्थों के रूपायन मे ही हो सकता है।'

'ओरनान का भोजोत्तर समूह' नामक उसके चित्र पर उसे पदक मिला और इस माध्यम से उसका प्रवेश पेरिस के 'सलून' मे हुआ। इस प्रवेश के साथ ही उस सघर्ष का आरभ हुआ जिसे कोर्बे ने सलून के सत्ताधारियो के साथ आजीवन जारी रखा। कोर्बे की सक्रियता चित्रकारिता तक ही सीमित नही रही, उसने राजनीति मे भी खुलकर भाग लिया और १८४८ की फ्रेंच राज्यक्राति मे उसका स्पष्ट योग था। अपनी राजनीतिक विचारधारा के स्वरूप उसने 'पत्थरफोड' (१८४९) जैसे चित्रो का चित्रण किया, जो वस्तुत जीवन की चित्रत. व्याख्या थे, सामाजिक समीक्षा। यथार्थवादी चित्रो के अतिरिक्त उसने समकालीन स्टूडियो मे बननेवाले नग्न अभिप्रायो की परपरा मे भी कुछ चित्र बनाए जो उस परपरा पर कसे गए व्यग है। इस व्यगचित्रण की परपरा मे बनाए उसके चित्र 'स्नाता' (१८५३) मे नहाती नग्न नारी को देख एक समीक्षक ने टिप्पणी की कि 'यह जीव तो ऐसा है कि इसे मगर तक खाना पसद न करेगा।' कोर्बे की कृतियो मे स्वाभाविक रूप से कुछ अशो मे अहकार का भी समावेश हो गया था।

कोर्बे के क्रातिकारी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप १८५५ ई० मे जब सार्वभौमिक प्रदर्शनी (एक्सपोजिशन युनिवर्सल) के अवसर पर उसे सलून मे स्थान नही मिला तब उसने अपनी अलग प्रदर्शनी की। अपने नए स्टूडियो मे उसने ऐसे चित्रो को सराहा जो दीन जनता और पेरिस के अभिजात्यो के विरोधी भावो के पोषक थे फिर भी उसके चित्रो मे रोमैंटिक भावना की कमी न थी। उसके दोनो ही प्रकारो के प्रसिद्ध चित्र निम्नलिखित है. 'ओरनान का दफन' (१८४९), 'देहात के प्रणयी' (१८४५), 'चमडे के कटिबधवाला आदमी' (१८४९), 'ब्रूया से मुलाकात' (१८४५)।

जब १८७१ ई० मे जर्मन विजय और फ्रेंच आत्मसमर्पण को चुनौती देकर पेरिस के सर्वहाराओ ने पेरिस पर अधिकार किया और प्रसिद्ध जनसत्तात्मक पेरिस कम्यून स्थापित किया और जनता के शत्रुओ ने नगर की सडको के मोर्चों पर जनवादी लडाई लडी तब कोर्बे ने उसमे भी सक्रिय भाग लिया। इसका मूल्य उसे अपने सर्वनाश के रूप मे चुकाना पडा। वह कैद कर लिया गया। बदी जीवन मे ही उसने अपने प्रसिद्ध पुष्पचित्र चित्रित किए। शीघ्र ही वह देश से निकाल दिया गया। प्रवास मे ही स्विजरलैंड मे, १८७१ ई० मे कोर्बे का देहात हुआ। (प० उ०)

कोर्युसाई, ईसोदा मासाकात्सू (लोकप्रिय नाम शोवे) (१८वी सदी ई०)। जापान का एक चित्रकार। टोकियो के शिगेनागा का शिष्य। १८७० ई० मे उसकी कला को ख्याति मिली और उन्होंने ब्लाकमुद्रण छोड तूलिका की साधना विशेष लगन से शुरू की। उसकी प्रसिद्धि के मुख्य आधार उसके स्तभचित्रण, कागज के मुड जानेवाले करविजनो की डिजाइन तथा अलकरण प्लेटे हैं। सौंदर्यसाधक होने के कारण वह स्वय अलकृत और कीमती वेशभूषा का व्यवहार करते थे। उसके रगो मे प्रधान गहरे गुलाबी, बैंगनी, गहरे नीले, नारगी पीले और भूरे थे। (प० उ०)

कोलंब केरल प्रदेश के क्विलान के निकट स्थित एक प्राचीन नगर एव बदरगाह। सभवत उस क्षेत्र की सुप्रसिद्ध देवी कोलवा के नाम पर इस नगर का नाम रखा गया है।

ईसा की आरभिक शताब्दियो मे यह नगर वाणिज्य व्यवसाय का प्रमुख केंद्र था। यहाँ से व्यापारी बर्मा, पेगू एव पूर्वी द्वीपसमूह निरतर जाया आया करते थे। यहाँ से मिर्च का निर्यात विशेष रूप से होता था।

अनुश्रुतियो के अनुसार प्रथम शती ई० मे सुप्रसिद्ध ईसाई सत टामस यहाँ आकर रहे थे और एक गिरजाघर की स्थापना की थी। एक अन्य सत जेसू जबस का भी यह निवासस्थान था। उन्होंने वही ६६० ई० मे शरीर त्याग किया। नवी शती के आरभ मे सिरिया के ईसाई यहाँ आकर बसे। इस प्रकार यह ईसाई धर्म का एक प्रमुख केंद्र रहा है।

१५०३ ई० मे पुर्तगालियों ने यहाँ अपना एक किला बनाया था। बाद मे डच लोगो ने इसपर अधिकार कर लिया था। (प० ला० गु०)

कोलंबस (स्थिति ४०°१' उ० अ० से ८३° ०' प० दे०)। सयुक्त राज्य अमरीका के ओहायो प्रात मे ओलटगी और स्योटो नदियों के सगम पर स्थित एक नगर। इसकी स्थापना १७९७ ई० मे लूका सलिवैंट (Luca Sullivant) द्वारा फ्रैंकलिटन ग्राम के रूप मे की गई थी। १९२० ई० मे इस नगर-नियोजन-आयोग द्वारा एक नियोजित नगर का रूप दिया गया। यह प्रधानत औद्योगिक नगर है। यहाँ कल पुर्जे, शीशे और चमडे के सामान, सैनिक युद्धक विमान, बिजली के सामान आदि बनाने के कारखाने है। आवागमन के लिये लगभग एक दर्जन रेलमार्गो, एक दर्जन राजमार्गों तथा माल लानेवाले ७० मोटर मार्गो का यहाँ सगम है। पार्श्ववर्ती भाग कृषि के लिये प्रसिद्ध है। ओहायो स्टेट विश्वविद्यालय, फ्रैंकलिटन विश्वविद्यालय तथा कैपिटल विश्वविद्यालय प्रमुख शिक्षण सस्थाएँ है। इसका क्षेत्रफल ४० वर्गमील है और १९७० ई० मे इसकी जनसख्या ५,३३,४१८ थी। (कै० ना० सिं०)

सयुक्त राष्ट्र अमरीका मे ही इस नाम के तीन अन्य नगर है। एक जार्जिया मे, दूसरा इडियाना मे और तीसरा मिस्सिसीपी मे। जार्जिया स्थित कोलबस सूती वस्त्र का केंद्र है और उसकी जनसख्या १९६० ई० मे १,१६,७७९ थी। (प० ला० गु०)

कोलंबस, क्रिस्तोफर (१४५१-१५०६ ई०)। प्रख्यात नाविक और भू-अन्वेषक। इटली के जेनाआ नगर मे लगभग १४५१ ई० मे जन्म हुआ। इनके पिता बुनकर थे किंतु किशोरावस्था मे ही इन्हें समुद्र ने आकृष्ट किया तथा भूमध्यसागर के पूर्वी हिस्सो मे अनेक बार नाविक के रूप में उन्होंने यात्रा की। उन्हें एक यात्रा दूसरी यात्रा के लिये प्रोत्साहित करती रही। समुद्र का आकर्षण उन्हे सदा पुकारता रहा और इस अनवरत पुकार ने कोलबस मे नई भूमि, नए देश की खोज की चाह पैदा की। कुछ दिनो के पश्चात् उन्होने इग्लैड तथा उत्तरी समुद्र की यात्रा की। इस यात्रा से लौटने के पश्चात् वह लिस्बन मे बस गए और वही एक सभ्रात परिवार की महिला से विवाह किया। पत्नी का पिता सेना मे कप्तान था।

उन दिनो मानव पृथ्वी के भेदभरे अनदेखे भाग का पता लगाने की चेष्टा करने और उसके विभिन्न भागो मे पहुँचने का स्वप्न देखने लगा था। अत कोलबस का जिज्ञासु स्वभाव एव उत्साही हृदय भी नए देश, नई धरती की खोज के लिये उतावला हो उठा। अतलातिक स्थित देशो में अद्भुत वस्तुओ का पाया जाना उसकी उत्सुकता को बढाता रहा। सुदूर पूर्व की कथाएँ उसने सुनी। मार्को पोलो ने चीन के राजा की अपार धनराशि की कथा कही थी तथा जापान के उस प्राचीन द्वीप का दिग्दर्शन कराया था जहाँ घरो की छतें सुवर्ण से मढी होती थी। एशिया और अफ्रीका के महाद्वीप अपनी रहस्यमयी कथाओ से कोलबस को आकृष्ट करते रहे। नई धरती की खोज की कल्पना उसके मस्तिष्क मे घर करने लगी और उसने निश्चय किया कि वह अतलातिक महासागर मे पश्चिम की ओर तब तक चलता जायगा जब तक वह भारत न पहुँच जाय। मार्ग मे पडनेवाले द्वीपो की खोज करता, विशेषकर आतिलिया को देखता वह आगे बढेगा और इन नए देशो को वह कैथोलिक धर्म से अनुप्राणित करेगा। यह पूर्व तथा पश्चिम का एक समेलन होगा। जो शक्ति और धन वह अर्जित करेगा उससे एक सच्चे ईसाई का स्वप्न पूर्ण होगा। और वह धर्म का रक्षक बनेगा। परतु ऐसी किसी यात्रा के लिये किसी ऐसे धनी राजा के सहयोग की अपेक्षा थी जो १५वीं शताब्दी की राजनीति के अनिश्चित

उतार चढ़ाव में एक अनजाने उत्साही की कल्पना पर आयोजित यात्रा को आर्थिक सहायता दे सके। इसके अतिरिक्त उसकी अपनी शर्तें भी विचित्र थीं। वह ऐडमिरल का पद तथा जिन देशों को वह खोजे उनका वह प्रांतपति भी होना चाहता था। इनके अतिरिक्त यात्रा में प्राप्त धन तथा खनिज पदार्थों का दसवाँ भाग भी उसे चाहिए था।

कोलंबस ने सर्वप्रथम पुर्तगाल के शासक जान द्वितीय से संपर्क स्थापित किया। जान ने उसकी यात्रा की योजना में दिलचस्पी ली परंतु कोई परिणाम नहीं निकला। वह निरंतर प्रयास करता रहा तथा कुछ मित्रों की सहायता से स्पेन के संमिलित शासक अरागान के फार्दिनाद (Ferdinand) तथा कास्तिल की इजाबेला के राजदरबार में उपस्थित होने में वह सफल हुआ; परंतु वे लोग मूरों से संघर्ष में व्यस्त थे, फिर अतलांतिक में केवल उत्साह एवं कल्पना के आधार पर आयोजित यात्रा में व्यय करने के लिये उनके पास पैसा भी न था। इसके अतिरिक्त कोलंबस की योजना राजा के जिन सलाहकारों के संमुख रखी गई उनके विचार से यह योजना सर्वथा असंभव थी। जब वहाँ वह असफल रहा तो उसने अपने भाई को इंग्लैंड के राजा हेनरी सप्तम को प्रभावित करने के लिये भेजा और स्वयं फ्रांस गया। अंतिम क्षणों में रानी इजाबेला ने कोलंबस की योजना की सार्थकता को पहचाना। नए विजित देशों के हजारों वासियों में ईसाई धर्म के प्रचार के अवसर को वह खोना नहीं चाहती थी। वह कोलंबस से मिलने तथा उसकी योजना सुनने को तैयार हो गई। १४९२ में जब मूर युद्ध समाप्त हुआ तब अप्रैल मास में कोलंबस तथा स्पेन के शासकों में इस योजना के कार्यान्वित करने के लिये एक अनुबंध हुआ।

सहायता तो मिली परंतु इस अभियान के हेतु साधन जुटाना सहज न था। पालोस नगर को कोलंबस को दो जहाज प्रदान करने का राजकीय आदेश हुआ, परंतु जहाजों के लिये नाविक मिलने कठिन हो गए। कोई कोलंबस की अनिश्चित यात्रा में अपने जीवन की बाजी लगाने के लिये तैयार न था। दंडित अपराधी भी, जिनको राज्य मुआवजा देने को तैयार था, यात्रा के लिये हृदय से तैयार न थे। तथापि वह पिंजोन बंधुओं की सहायता से नाविकों को जुटाने में सफल हुआ। अगस्त, सन् १४९२ में ८७ नाविकों को लेकर, जिनमें कुछ तो अपराधी और अभ्यस्त नाविक थे, उसने पालस से अपनी यात्रा का आरंभ किया। उसके साथ तीन जहाज थे, सांता मारिया जिसका कप्तान वह स्वयं था, तथा पिंता और नीना जिनके कप्तान पिंजान बंधु थे।

यात्रा आरंभ करने के कुछ ही दिनों पश्चात् तीनों जहाजों के नाविकों में असंतोष प्रकट होने लगा जो दिन दिन बढ़ता गया। अनजाना मार्ग एवं अनिश्चित परिणाम का भय उनमें घर कर गया और जब दिन तथा सप्ताह धरती के दर्शन बिना बीतने लगे तब नाविकों के विद्रोह करने की आशंका आ खड़ी हुई। नाविक उसे मार डालने तक को तैयार हो गए। कोलंबस ने इस स्थिति को जैसे तैसे सँभाला। अंततोगत्वा जब भूमि दिखाई पड़ी तब नाविक 'धरती धरती' कह चिल्ला उठे। १२ अक्तूबर को तट पर घुटने टेक कोलंबस ने धरती को चूमा और उस द्वीप पर स्पेन का झंडा गाड़ दिया। उसने द्वीप का नाम सान साल्वेदोर (पवित्र उद्धारक) रखा। इस यात्रा में इस द्वीप के वासियों के प्रति वह बहुत आकृष्ट हुआ। उसके कथनानुसार वहाँ के निवासी बहुत सरल एवं शांतिप्रिय थे। जिन लोगों के संपर्क में वह आया उनसे सदा उसने सद्व्यवहार किया, यद्यपि उसके कुछ विचार भ्रांतिपूर्ण प्रमाणित हुए। फिर भी दोनों ओर के संबंध मित्रतापूर्ण बने रहे। कोलंबस के इस आदेश से कि वहाँ के निवासियों के प्रति दया का व्यवहार किया जाय, उसके सहयोगियों ने अपने पर नियंत्रण रखा। किसी तरह की भेंट आदि लेना निषिद्ध था और जब कुछ भी लिया जाता, बदले में उन्हें भाँति भाँति की भेंटें दी जाती।

इस तरह कोलंबस अपनी यात्रा में शांतिपूर्वक अग्रसर होता रहा। उसने क्यूबा की खोज की। उसने समझा कि उसने एशिया महाद्वीप की खोज कर ली है या जापान की महाभूमि के दर्शन किए है, जहाँ उसे अपरिमित धनराशि की प्राप्ति होगी। कोलंबस इसके पश्चात् अपनी कल्पना के उस देश की खोज निरंतर करता रहा जहाँ बहुमूल्य धातु (सुवर्ण) इतनी अधिक मात्रा में होगी कि उसे केवल अपने जहाजों में भरना और स्वदेश पहुँचाना होगा। परंतु उसका यह स्वप्न पूरा न हो सका। यद्यपि स्थानीय निवासियों की भाषा वह नहीं समझ सका तथापि उसे यह सदा भासित होता रहा कि वे उसे आगे किसी धनी प्रदेश की ओर प्रेरित करते है, जहाँ की सड़कें भी सुनहरे द्रव्य से मढ़ी होंगी। उसे अपने जीवन के अंत तक यह लगता रहा कि यदि वह कुछ दूर और भीतर की ओर बढ़ा होता तो उसकी योजना पूरी हो गई होती। इस प्रथम अभियान की अंतिम खोज हिस्पानियोला (हाइती) था। यहाँ 'सांता मारिया' पृथ्वी में धँस गया जिससे उसे छोड़ देना पड़ा। इस द्वीप में उसने ४२ यूरोपियनों का एक उपनगर बसाया तथा द्वीप के छह निवासियों को ईसाई धर्म की दीक्षा दी तथा उन्हें अपनी यात्रा के प्रमाण के रूप में अपने साथ लेकर वह स्पेन लौटा।

स्पेन में राजा तथा रानी ने उसका भव्य स्वागत किया। वह अब देश का बहुत महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली व्यक्ति था। अपने साथ लाए अमरीका निवासी, तोते, अद्भुत पशुपक्षी, अनजाने फल, जहाँ भी वह ले गया, जनता में एक आश्चर्य उत्पन्न करते रहे। एक समकालीन पत्र द्वारा यह ज्ञात होता है कि कोलंबस बहुमूल्य वस्तुएँ तथा सुवर्ण अपने साथ लेकर लौटा था। पोप ने इन नए प्राप्त द्वीपों पर स्पेन के अधिकार को मान्यता दी।

स्पेन के शासकों ने एक द्वितीय अभियान, प्रथम से अधिक विशाल, आयोजित किया। २५ सितंबर, १४९३ को यह यात्रा आरंभ हुई परंतु कोलंबस की महत्ता का अंत उसकी प्रथम यात्रा के प्रत्यावर्तन के साथ ही आरंभ हो गया। हिस्पैनियोला पहुँचकर उसने देखा कि उसके द्वारा स्थापित उपनगर नष्ट हो चुका है तथा उसके पीछे छोड़े सभी यूरोपीय मारे जा चुके हैं। कोलंबस ने जो नया उपनगर इजाबेला द्वीप पर बसाया था वह भी उसके जीवन के लिये अभिशाप बना।

जब सुवर्ण देश की खोज में कोलंबस असफल हुआ तो १४९४ ई० में उसने दासों के व्यापार की नींव डाली। यह उसके पतन का प्रारंभ था। यूरोप में दासों का व्यापार पहले से ही प्रचलित था तथा कभी बुरा नहीं माना गया। कोलंबस की दृष्टि में दासों के प्रति निम्न व्यवहार का प्रतिकार उन्हें ईसाई मत में दीक्षित करके किया जा सकता था। और उसका यह दृष्टिकोण उस युग की इस विचारधारा का परिणाम था कि मनुष्य की आत्मा का मूल्य उसकी स्वतंत्रता से अधिक है। कोलंबस स्वयं बहुत दयावान नहीं था। उसकी नीति से भी कभी लोग ऊब जाते थे। जहाजों में भरकर वह स्त्रियों और बच्चों को स्वदेश भेजता, जहाँ की जलवायु के वे अभ्यस्त नहीं थे। सैकड़ों की संख्या में वे मर गए। शासकों से वह कहता रहा कि ये दास युद्ध के कैदी हैं। बहुतों को दासों का व्यापार भाता था, किंतु रानी इजाबेला को यह नहीं भाया और स्पेन के राजदरबार में कोलंबस का मान घटने लगा।

कोलंबस क्यूबा के तटीय प्रदेशों की खोज करता फिरा। उसने दोमिनिका का पता लगाया, पोर्तोरिको तथा अन्य द्वीप भी खोजे। उसका स्वास्थ्य बिगड़ता गया और वह अचेतावस्था में इजाबेला द्वीप के उपनगर में पहुँचाया गया। जब वह स्वस्थ हुआ तब उसने पाया कि उसके कार्यों की जाँच करने के लिये इजाबेला में एक कमिश्नर भेजा गया है। अपनी संदेहजनक स्थिति देखकर वह स्वदेश लौटा। जून, सन् १४९६ में वह कादिज पहुँचा। इस बार राजा फार्दिनांद तथा रानी इजाबेला द्वारा किए गए स्वागत से वह आश्चर्यचकित रह गया। उसे ड्यूक की पदवी देने का प्रस्ताव रखा गया। साथ ही तीसरी यात्रा के निमित्त उसके लिये साधन भी एकत्रित किए गए। परंतु कोलंबस के भाग्य का नक्षत्र अब अस्त हो रहा था। उपनिवेशों की स्थिति अनियंत्रित होती जा रही थी। स्थानीय निवासियों के प्रति बर्बरता का व्यवहार हो रहा था। क्रांति तथा षड्यंत्र का बोलबाला था। समय के साथ साथ कोलंबस स्वयं क्रोधी तथा निर्दय होता जा रहा था। हिस्पानियोला क्रांति तथा बर्बरता का केंद्र हो गया था। रानी इजाबेला ने इस अराजकता की कहानी सुनी और सन् १५०० में कोलंबस, जब वह त्रिनिदाद तथा दक्षिणी अमरीका का पता लगा चुका

था, बदी की स्थिति में स्वदेश लौटा। एक नया गवर्नर हिस्पानियोला में व्यवस्था स्थापित करने के लिये नियुक्त किया गया।

एक अवसर उसे फिर मिला। उसे चौथी यात्रा का आदेश मिला परतु इस शर्त पर कि वह हिस्पानियोला कभी नहीं जाएगा। कोलबस का उत्साह अपरिमित था। उसका हृदय सदा सुदूर पश्चिम म बढने के लिये तिलमिलाता रहा। वह पच्छिमी द्वीपसमूहों (वेस्ट इडीज) की ओर गया और जमाइका में कुछ दिनो ठहरा। उसके नाविको की सख्या बीमारी के कारण घटती गई, स्थानीय निवासियो के साथ संघर्ष बढता गया और असतोष ने घर कर लिया। और जब दो वर्ष के पश्चात् वह स्पेन लौटा तब स्वास्थ्य और समान सब कुछ वह खो चुका था।

कोलबस के अतिम दो वर्ष चिता और निराशा मे व्यतीत हुए परतु वह कभी निर्धनता का शिकार नहीं हुआ। वालादोलिद की सूनी सडक पर एक साधारण घर में सन् १५०६ मे उसकी मृत्यु हुई।

साधारण परिवार मे जन्म लेकर कोलबस ने ऐश्वर्य तथा समान प्राप्त किया। स्पेन को उसने उपनिवेश तथा मान प्रदान किए। उसकी खोजो ने उसे नए मार्गान्वेषी उत्साही नाविको मे अग्रणी बना दिया। उसने नई दुनिया की खोज की तथा पुरानी दुनिया को उसका ज्ञान कराया। प्रथम अभियान मे उसने साता मारिया, द ला कसेप्शन, सान साल्वेदोर, इजावेला, लाग आइलैंड, क्यूबा तथा हाइती ढूढा, द्वितीय मे दोमिनिका, पोर्तोरिको, गादा लूप, आतिगुआ, साता क्रूज तथा वर्जिन द्वीप, तृतीय मे वह त्रिनीदाद तथा दक्षिणी अमरीका के किनारे जा पहुँचा। उसका यश सुरक्षित है तथा पश्चिमी द्वीपसमूह उसके स्मृतिचिह्न है।

(प० उ०)

कोलंबियम (Columbium)। रसायन की आवर्त-सारणी के पचम अतवर्ती समूह का एक तत्व। अतरराष्ट्रीय रसायन सघ ने इस तत्व का नाम बदलकर नियोबियम रख दिया है, परतु कई जगहों पर इसे अब भी कोलबियम नाम से ही अभिहित किया जाता है।

इस तत्व का केवल एक स्थिर समस्थानिक (भारसख्या ९३) पाया जाता है। इसके अतिरिक्त नौ रेडियमधर्मी समस्थानिक कृत्रिम साधनो से निर्मित किए गए है। इनकी भारसख्या ९०, ९१, ९२, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८ और ९९ है।

सन् १८०१ ई० मे ब्रिटेन के रसायनज्ञ हैचेट ने कनेक्टिकट (सयुक्त राज्य, अमरीका) के एक अयस्क का विश्लेपण किया, जिसमें एक नए ऑक्साइड की खोज हुई। उसने इस ऑक्साइड के स्रोत का नाम कोल-बियम प्रस्तावित किया। सन् १८४४ में रोज ने अपने अन्वेषणो द्वारा सिद्ध किया कि हैचेट द्वारा प्राप्त कोलबियम वास्तव में दो तत्वों का समिश्रण है, जिसमें एक टैंटालम था। यह सन् १८०२ मे खोजा जा चुका था। उसने दूसरे तत्व का नाम नियोबियम रखा। इस प्रकार इस तत्व के दो नाम प्रचलित हो गए।

कोलबाइट अयस्क कोलबियम का मुख्य स्रोत है। इससे कोलबियम तथा टैंटालम के मिश्रित ऑक्साइड निकालकर द्वि-फ्लोराइड मे परिणत किए जाते है। टैंटालम फ्लोराइड की विलेयता कम होने के कारण इसे अलग कर लेते है। अन्य रासायनिक विधियों द्वारा विशुद्ध कोलबिक अम्ल ($HNbO_3$) तैयार करते है, जिसके प्रज्वलन द्वारा ऑक्साइड (Nb_2O_5) बनता है। ऑक्साइड एव कार्बाइड को समतुल्य मात्राओं मे मिश्रित कर निर्वात अवस्था मे गरम करने पर धातु तैयार की जाती है।

कोलबियम मृदु तथा तन्य गुणवाली धातु है। इसके कुछ विशेष गुण निम्नलिखित है

सकेत	Cb या Nb
परमाणुसख्या	४१
परमाणुभार	९२ ९१
गलनाक	२,४१५° सेंटीग्रेड
क्वथनाक लगभग	३,३००° सेंटीग्रेड
घनत्व	८·५७ ग्राम प्रति घ० सें०

कोलबियम धातु सामान्य गुण की है और अधिकतर अम्लीय पदार्थो द्वारा प्रभावित होता है। हाइड्रोफ्लोरिक अम्ल, गरम सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल एव सांद्र क्षारों से इसपर शीघ्र अभिक्रिया होती है। उच्च ताप पर यह धातु सभी साधारण गैसों से अभिक्रिया कर यौगिक बनाती है।

कोलबियम अधिकतर पचसयोजकीय यौगिक बनाता है, परतु इसके कुछ द्वि, त्रि एव चतुस्सयोजक यौगिक भी ज्ञात है।

शुद्ध कोलबियम धातु के सामान्य उपयोग ज्ञात नहीं है। लौह के साथ मिश्रित अवस्था मे यह विशेष इस्पात के निर्माण मे उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(र० च० क०)

कोलंबिया (१) दक्षिण अमरीका के उत्तरपश्चिमी भाग मे वेनेज्वीला (Venezuela) और ब्राजिल के पश्चिम स्थित एक राज्य। इसकी अधिकतम लबाई १,१७० मील, अधिकतम चौडाई ८३४ मील, क्षेत्रफल ४,३९,९९७ वर्गमील है। ऐंडीज पर्वत की तीन श्रेणियाँ काडिलेर अक्सीडेंटल, काडिलेर सेंट्रल और काडिलेर ओरिएटल समातर उत्तर दक्षिण दिशा म फैली हुई हैं। यहाँ की प्रमुख नदी मैग-डालिना १,००० मील लबी है और पश्चिमी तथा मध्यवर्ती श्रेणियो के बीच उत्तर की ओर बहती है। खनिज सपत्ति की दृष्टि से यह राज्य धनी है। देश का ⅔ भाग पर्वतीय है जिसे हाईलैंड हर्ट और ह्वाइट मैस कोलबिया कहा जाता है। ९८% जनसख्या इसी भाग मे रहती है। पेट्रोल मुख्य निर्यातवस्तु है। सोना, चाँदी, ताँबा, शीशा, कोयला आदि अन्य खनिज है।

देश की दूसरी सपत्ति जगल है। इस राज्य में कुल कृषियोग्य भूमि ६०,००,००० एकड़, चराई योग्य भूमि, ६,६०,००,००० एकड तथा जगल १४,८०,००,००० एकड़ मे है। देश की ७४% जनसख्या कृषि और चराई मे लगी है। अच्छी काफी (कहवा) की पैदावार अधिक होती। ९०% पैदावार सयुक्त राज्य को भेजी जाती है। कपास, धान और ईख की भी कृषि काफी होती है।

पूर्वी बृहत् मैदान के कारण, जो देश के आधे से अधिक भाग मे फैला हुआ है, यहा मलेरिया का प्रकोप अधिक रहता है। पूर्वी अमेजन के मैदान में केवल १२% जनसख्या रहती है जबकि क्षेत्रफल २,७०,००० वर्गमील है। दलदली भूमि के कारण आवागमन के साधनो की कमी है। मैग-डालीना नदी ९०० मील तक नौगम्य है। रेलमार्ग २,००० मील एव राज-मार्ग १२,००० मील लबा है। बोगोटा यहाँ की राजधानी और प्रसिद्ध नगर है।

(२) सयुक्त राज्य अमरीका का एक नगर जो कगारी नदी पर स्थित है (स्थिति ३४° ०' उ० अ० से ८०° ५९' प० दे०)। यह दक्षिणी कैरो-लिना की राजधानी है। १७८६ ई० में यह नियोजित नगर बनाया गया। रेलमार्गो और राजमार्गो का केंद्र होने के कारण यह प्रमुख वितरणकेंद्र बन गया। सूती वस्त्र बनाना, लकडी चीरना, पत्थर तोडना और पशु-पालन यहाँ के प्रमुख उद्योग है।

(३) उत्तरी अमरीका की प्रशात महासागर में गिरनेवाली द्वितीय बडी नदी। यह ब्रिटिश कोलबिया मे ५०° उ०अ० तथा ११६° प०दे० से निकलकर उत्तरपश्चिम मे सेलकर्क पर्वत को घेरती हुई दक्षिण मुडकर सयुक्त राज्य के वाशिंगटन और ओरेगन राज्यों की सीमा बनाती हुई प्रशांत महासागर मे गिरती है। इसकी लबाई १,२७० मील तथा प्रवाहक्षेत्र २,५०,००० वर्गमील है। शुष्क प्रदेश मे बहने के कारण इसका महत्व बढ गया है। इसमे कई बाँध बाँधकर सिंचाई और विद्युत्पादन मे इसका उपयोग किया गया है। ग्रैंड कुली डैम, बोनविल्ले डैम, राक आइलैंड डैम इत्यादि इसके प्रसिद्ध बाँध है।

(कै० ना० सिं०)

कोलंबो श्रीलका की राजधानी, पत्तन और प्रमुख व्यापारिक नगर (स्थिति ६° ५०' उ० अ० से ७९° ५५' पू० दे०)। यह कैंडी से ७५ मील दक्षिणपश्चिम केलानी नदी के मुहाने पर स्थित है। इस नगर की स्थापना १४वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुई थी। १६वीं शताब्दी में पुर्तगालियों ने यहाँ एक किला बनाया और इस नगर का नाम अन्वेषक कोलबस के नाम पर रखा। १६५६ से १७९६ ई० तक नगर डचो के

अधिकार में रहा। डचों के बाद यह अंग्रेजों के अधिकार में आया। ब्रिटिश सत्ताकाल में यह नगर अपनी मध्यवर्ती स्थिति के कारण अधिक महत्वपूर्ण था। १८७४-८६ ई० के पहले यहाँ से ७५ मील दक्षिण गाल (Galle) लंका का प्रमुख बंदरगाह था। कोलंबो का पत्तन प्राकृतिक नहीं है बल्कि समुद्र में दीवाल उठाकर ६४३ एकड़ क्षेत्रफल का एक जलाशय बनाया गया है जो पोतों को ज्वार और तूफान से सुरक्षित रखता है। जलाशय को जमाव से बचाने के लिये कीचड़ निकालने का प्रबंध है। इस जलाशय में आवागमन के लिये दो मार्ग हैं। पूर्वी मार्ग ६३० फुट और उत्तरी मार्ग ५५० फुट चौड़ा है। यहाँ लगभग ५० जहाजों के रुकने का स्थान है।

१८६६ ई० में सर हरक्यूलीज राबिन्सन ने किले की दीवाल को, जो सुरक्षा के लिये बनाई गई थी, तुड़वाकर वहाँ कर्मचारियों के लिये निवासस्थान बनवाया। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में होते हुए भी यह नगर बौद्ध धर्म का केंद्र है। डचों का गिरजाघर और कोटाहेरा का बौद्ध मंदिर प्रमुख ऐतिहासिक स्थापत्य कला के उदाहरण हैं। यहाँ मेडिकल कालेज की स्थापना १८७० ई० में हुई थी। जुलाई, १९४२ ई० में लंका विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। इनके अतिरिक्त यहाँ अन्य शैक्षणिक संस्थाएँ भी हैं।

जलवायु गर्म, नम और स्वास्थ्यप्रद है। नगर में विक्टोरिया पार्क, 'गाल फेस इस्प्लनेड', होम लाक रेसकोर्स, होम लाक पार्क आदि कई खुले मैदान हैं। मुख्य नगर के ठीक दक्षिण 'होटेल ऐट माउंट' हवा खाने का स्थान है। लंका की प्राचीन राजधानी कोट्टा नगर से पाँच मील दक्षिण उपनागरिक क्षेत्र में अपने अतीत वैभव को छिपाए स्थित है। नगर का पार्श्ववर्ती क्षेत्र अधिक उपजाऊ है। लंका का विदेशी व्यापार इसी पत्तन से होता है। रेलमार्ग द्वारा यह नगर देश के अन्य भागों से मिला हुआ है।
(कै० ना० सिं०)

कोल मध्य प्रदेश के उत्तरी भाग और दक्षिणी उत्तर प्रदेश में रहनेवाले आदिवासी। विंध्याचल तथा कैमूर की पहाड़ियों में ये परंपरागत रूप से रहते आए हैं। भारतीय आदिवासी जनसंख्या विषयक प्रारंभिक वृत्तों में मुंडा भाषाभाषी सभी कबीलों को सामूहिक रूप से कोल की संज्ञा दी गई है। कालांतर में इन्हें मुंडारी कबीली कहा जाने लगा, और कोल के अंतर्गत अब केवल उन्हीं लोगों का उल्लेख होता है जो मध्य प्रदेश और दक्षिणी उत्तर प्रदेश में बृहत् मुंडा समूह के प्रतिनिधि हैं। इस कबीले का एक अंश छोटा नागपुर में है जो 'लड़ाका कोल' के नाम से प्रसिद्ध है। सिंहभूमि के 'हो' कबीलों का निवासस्थान 'कोलहन' कहलाता है।

कोलों की उत्पत्ति के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सर विलियम क्रुक ने कोलों का मूल हरिवंश पुराण में वर्णित पाँचवें सोमवंशी राजा ययाति से संबद्ध एक पुरावृत्त में खोजा है। ययाति की १०वीं पीढ़ी में कोल नामक राजा हुआ जो कोलों का पितामह था।

शारीरिक लक्षणों के आधार पर कोलों में पर्याप्त प्रजातीय मिश्रण के चिह्न मिलते हैं। बी० के० चटर्जी के मत में इनका मूल प्रजातीय आधार प्रॉग्रास्ट्रेलीय रहा होगा। वर्तमान कोल जनसंख्या में पृथुकपाल (ब्रेकिसेफ़ेलिक) मराठा तथा मंगोल तत्वों की उपस्थिति न्यूनाधिक मात्रा में सूचित करता है।

मूल रूप से कोल वृहद् मुंडारी भाषा की ही एक बोली व्यवहार में लाते थे, किंतु वे अब अपनी प्राचीन भाषा भूलकर स्थानीय हिंद-आर्य (इंडोएरियन) बोली का प्रयोग करने लगे हैं।

कोल कबीले का सांस्कृतिक एवं सामाजिक संगठन बहुत कुछ तक हिंदू समाज के संपर्क से प्रभावित है। इनका निवास अपेक्षाकृत अस्थायी मकानों में ही होता है तथा ये निर्माण के समय हिंदू पंडित को अवश्य बुलाते हैं।

इनमें से अधिकांश कोल हलवाहे का काम करते हैं। केवल कुछ ही व्यक्ति ऐसे हैं जिनके पास निज की भूमि है। अधिक पिछड़े हुए कोल प्रायः जंगल जलाकर वहाँ खेती करते हैं। प्रायः इन्हें एक बीघा जमीन मुफ्त मिल जाया करती है, जिसे ये 'कोल' या 'कोलिन' कहते हैं।

भोजन में कृषि से प्राप्त खाद्यान्नों के अतिरिक्त मांस का भी व्यवहार होता है, यद्यपि मँहगाई के कारण इसका प्रयोग प्रतिदिन नहीं किया जाता। गौ इनके यहाँ पूज्य है अतः उसके मांस के अतिरिक्त मछली, बकरी, मुर्गा, खरगोश तथा सुअर का मांस इनके यहाँ खाया जाता है। हिंदुओं की भाँति इनके यहाँ भी कच्चे तथा पक्के भोजन में भेद किया जाता है। कोलों में मदिरापान अब प्रचलित नहीं रहा, किंतु त्यौहारों और उत्सवों के समय अब भी इसकी खुली छूट होती है।

कोल पुरुष आभूषणों का प्रयोग नहीं करते, किंतु महिलाएँ विभिन्न प्रकार के गहने पहनती तथा गुदना गुदवाती हैं। इनकी धारणा है कि मृत्यूपरांत भगवान् उसी कोलिन का हाथ पकड़कर बैकुंठ ले जाते हैं, जिसके हाथ पर गुदना हो। इनका यह भी विश्वास है कि इससे शव की क्षय होने से रक्षा होती है क्योंकि गोदनेवाले भाग को राक्षसी विमाता निगल नहीं सकती।

कोलों के बीच अंतर्विवाही (एंडोगैमस) प्रथा प्रचलित है। विवाह संबंधी वार्ता वर के पिता द्वारा प्रारंभ की जाती है। अधिकांश हिंदुओं की भाँति ये भी कृष्ण पक्ष में विवाहादि कार्य संपन्न नहीं करते। विवाह कार्य के लिये माघ, फाल्गुन, वैशाख एवं ज्येष्ठ मास शुभ माने जाते हैं। वर के घर में वधू द्वारा प्रथम भोज तैयार करवाया जाता है जिसे 'खिचरी' कहते हैं। भोजन के उपरांत वर के मित्र वधू को 'दैज' या दहेज के रूप में उपहार भेंट करते हैं। इनके यहाँ बहु विवाह-प्रथा नहीं के बराबर है। तलाक प्रथा भी इनके यहाँ नहीं है। विधवा विवाह की अनुमति पति की मृत्यु के एक वर्ष उपरांत दे दी जाती है।

कोलों में दत्तक पुत्र लेने की भी प्रथा है। उत्तराधिकार के सभी नियम पुत्रों के लिये समान हैं। ज्येष्ठ पुत्र को अवश्य कुछ अधिक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

परस्पर विवाह संबंध के आधार पर परिवारों में संबंधक्रम आरंभ होता है। पत्नी के संबंध पति के संबंधों के आधार पर स्थापित होते हैं। पिता की बहन का विवाह जहाँ होता है वह 'फुफुआवर' तथा जहाँ बहन का विवाह हो, 'बहिनावर' कहलाते हैं। दादी का परिवार 'अजियावर' तथा माँ का परिवार 'ननिआवर' और जहाँ स्वयं का विवाह हो 'समुरार' कहलाते हैं। पिता को 'बाबू', 'काका' या 'दादा' कहते हैं।

शव का संस्कार इनके यहाँ जलाकर और गाड़कर दोनों तरह से किया जाता है। चेचक और हैजे आदि बीमारी से हुई मृत्यु के शव को प्रायः नदी में बहा दिया जाता है। मृत पूर्वजों के उपलक्ष में ये भोज दिया करते हैं एवं उनकी पूजा भी करते हैं।

कोल सूर्य को सिंगबोंगा की तरह न मानकर साधारण हिंदू की भाँति ही उनकी पूजा करते हैं। ये भूत प्रेतों तथा मृत आत्माओं में विश्वास करते हैं और इनकी पूजा भी करते हैं। स्थानीय देवी देवताओं के अतिरिक्त इनके अपने भी कुछ देवता हैं, जिनमें प्रमुख देवता को ये 'बड़ादेव' कहते हैं। चैत तथा क्वार मास में इनके यहाँ नवरात्रि का पर्व मनाया जाता है। 'फगुआ' और 'खिचड़ी' इनके मुख्य त्यौहार हैं। नागपंचमी भी इनके यहाँ मनाई जाती है। ये जादू, टोने और अंधविश्वासों तथा शपथ ग्रहण करने में बहुत श्रद्धा रखते हैं। बोआई के पहले ये 'हरिग्री देवी' की पूजा करते हैं। बोआई के बाद 'कुनरु मुंडन' कार्य संपन्न करते हैं। कृषि प्रारंभ करने का श्रेष्ठ दिन इनके अनुसार शुक्रवार है। नागपंचमी को ये जुताई बंद रखते हैं।

इनके यहाँ पंचायत प्रथा है। पंचायत का प्रधान 'चौधरी' कहलाता है, जिसका पद वंशानुक्रम के आधार पर होता है। पंचायत के अन्य पदाधिकारी प्रत्येक परिवार के प्रधान होते हैं। इसका मुख्य कार्य विवाह एवं नैतिकता संबंधी प्रश्नों का निर्णय करना होता है।

सं०ग्रं०—क्रुक, विलियम : दि ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव् दि नॉर्थ वेस्टर्न प्रौविंसेज ऑव् अवध, कलकत्ता, १८९६; ग्रिफ़िस, वॉल्टर जी० : दि कोल ट्राइब ऑव् सेंट्रल इंडिया, कलकत्ता, १९४६; बी० के० चटर्जी : रेशल कंपोनेंट्स ऑव् द ट्राइबल पौपुलेशन ऑव् इंडिया, प्रेसिडेंशियल

था, बदी की स्थिति मे स्वदेश लौटा। एक नया गवर्नर हिस्पानियोला मे व्यवस्था स्थापित करने के लिये नियुक्त किया गया।

एक अवसर उसे फिर मिला। उसे चौथी यात्रा का आदेश मिला परतु इस शर्त पर कि वह हिस्पानियोला कभी नही जाएगा। कोलबस का उत्साह अपरिमित था। उसका हृदय सदा सुदूर पश्चिम म बढने के लिये तिलमिलाता रहा। वह पच्छिमी द्वीपसमूहा (वेस्ट इडीज) की ओर गया और जमाइका मे कुछ दिना ठहरा। उसके नाविका की सख्या बीमारी के कारण घटती गई, स्थानीय निवासियो के साथ सघर्ष बढता गया और असतोष ने घर कर लिया। और जब दो वर्ष के पश्चात् वह स्पेन लौटा तब स्वास्थ्य और समान सब कुछ वह खो चुका था।

कोलबस के अतिम दो वर्ष चिता और निराशा मे व्यतीत हुए परतु वह कभी निर्धनता का शिकार नहीं हुआ। वालादालिद की सूनी सडक पर एक साधारण घर मे सन् १५०६ म उसकी मृत्यु हुई।

साधारण परिवार में जन्म लेकर कोलबस ने ऐश्वर्य तथा समान प्राप्त किया। स्पेन को उसने उपनिवेश तथा मान प्रदान किए। उसकी खोजा ने उसे नए मार्गान्वेषी उत्साही नाविकों म अग्रणी बना दिया। उसने नई दुनिया की खोज की तथा पुरानी दुनिया को उसका ज्ञान कराया। प्रथम अभियान म उसने साता मारिया, द ला कसेप्सान, सान साल्वेदोर, इजाबेला, लाग आइलैंड, क्यूबा तथा हाइती ढूढा, द्वितीय मे दोमिनिका, पोर्तोरिको, गादा लूप, आतिगुआ, साता क्रूज तथा वर्जिन द्वीप, तृतीय मे वह त्रिनीनाद तथा दक्षिणी अमरीका के किनार जा पहुँचा। उसका यश सुरक्षित है तथा पश्चिमी द्वीपसमूह उसके स्मृतिचिह्न हैं।

(प० उ०)

कोलवियम (Columbium)। रसायन की आवर्त-सारणी के पचम अतवर्ती समूह का एक तत्व। अतरराष्ट्रीय रसायन सघ ने इस तत्व का नाम बदलकर नियोवियम रख दिया है, परतु कई जगहों पर इसे अब भी कोलबियम नाम से ही अभिहित किया जाता है।

इस तत्व का केवल एक स्थिर समस्थानिक (भारसख्या ९३) पाया जाता है। इसके अतिरिक्त नौ रेडियमधर्मी समस्थानिक कृत्रिम साधनो से निर्मित किए गए है। इनकी भारसख्या ९०, ९१, ९२, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८ और ९९ है।

सन् १८०१ ई० मे ब्रिटेन के रसायनज्ञ हैचेट ने कनेक्टिकट (सयुक्त राज्य, अमरीका) के एक अयस्क का विश्लेषण किया, जिसमे एक नए ऑक्साइड की खोज हुई। उसने इस ऑक्साइड के स्रोत का नाम कोलबियम प्रस्तावित किया। सन् १८४४ मे रोज ने अपने अन्वेषणो द्वारा सिद्ध किया कि हैचेट द्वारा प्राप्त कोलबियम वास्तव मे दो तत्वो का समिश्रण है, जिसमें एक टैंटालम था। यह सन् १८०२ में खोजा जा चुका था। उसने दूसरे तत्व का नाम नियोबियम रखा। इस प्रकार इस तत्व के दो नाम प्रचलित हो गए।

कोलबाइट अयस्क कोलबियम का मुख्य स्रोत है। इससे कोलबियम तथा टैंटालम के मिश्रित ऑक्साइड निकालकर द्वि-फ्लोराइड मे परिणत किए जाते है। टैंटालम फ्लोराइड की विलेयता कम होने के कारण इसे अलग कर लेते है। अन्य रासायनिक विधियो द्वारा विशुद्ध कोलबिक अम्ल ($HNbO_3$) तैयार करते है, जिसके प्रज्वलन द्वारा ऑक्साइड (Nb_2O_5) बनता है। ऑक्साइड एव कार्बाइड को समतुल्य मात्राओ मे मिश्रित कर निर्वात अवस्था मे गरम करने पर धातु तैयार की जाती है।

कोलबियम मृदु तथा तन्य गुणवाली धातु है। इसके कुछ विशेष गुण निम्नलिखित है

सकेत	Cb या Nb
परमाणुसख्या	४१
परमाणुभार	९२ ९१
गलनाक	२,४१५° सेंटीग्रेड
क्वथनाक लगभग	३,३००° सेंटीग्रेड
घनत्व	८ ५७ ग्राम प्रति घ० सें०

कोलबियम धातु सामान्य गुण की है और अधिकतर अम्लीय पदार्थों द्वारा प्रभावित होती है। हाइड्रोफ्लोरिक अम्ल, गरम साद्र सल्फ्यूरिक अम्ल एव साद्र क्षारो से इसपर शीघ्र अभिक्रिया होती है। उच्च ताप पर यह धातु सभी साधारण गैसो से अभिक्रिया कर यौगिक बनाती है।

कोलबियम अधिकतर पचसयोजकीय यौगिक बनाता है, परतु इसके कुछ द्वि, त्रि एव चतुस्सयोजक यौगिक भी ज्ञात हैं।

शुद्ध कोलबियम धातु के सामान्य उपयोग ज्ञात नहीं है। लौह के साथ मिश्रित अवस्था मे यह विशेष इस्पात के निर्माण मे उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(र० च० क०)

कोलंबिया (१) दक्षिण अमरीका के उत्तरपश्चिमी भाग मे वेनेज्वीला (Venezuela) और ब्राजिल के पश्चिम स्थित एक राज्य। इसकी अधिकतम लबाई १,१७० मील, अधिकतम चौडाई ८३४ मील, क्षेत्रफल ४,३९,९९७ वर्गमील है। एँडीज पर्वत की तीन श्रेणियाँ कार्डिलेर अक्सीडेंटल, कार्डिलेर सेट्रल और कार्डिलेर ओरिएटल समातर उत्तर दक्षिण दिशा मे फैली हुई है। यहाँ की प्रमुख नदी मैगडालिना १,००० मील लबी है और पश्चिमी तथा मध्यवर्ती श्रेणियो के बीच उत्तर की ओर बहती है। खनिज सपत्ति की दृष्टि से यह राज्य धनी है। देश का ⅔ भाग पर्वतीय है जिसे हाईलैंड हर्ट और ह्वाइट मैंस कोलबिया कहा जाता है। ९८% जनसख्या इसी भाग म रहती है। पेट्रोल मुख्य निर्यातवस्तु है। सोना, चाँदी, ताँबा, शीशा, कोयला आदि अन्य खनिज हैं।

देश की दूसरी सपत्ति जगल है। इस राज्य मे कुल कृषियोग्य भूमि ६०,००,००० एकड, चराई योग्य भूमि, ९,६०,००,००० एकड तथा जगल १४,८०,००,००० एकड मे है। देश की ७४% जनसख्या कृषि और चराई मे लगी है। अच्छी काफी (कहवा) की पैदावार अधिक होती। ९०% पैदावार सयुक्त राज्य को भेजी जाती है। कपास, धान और ईख की भी कृषि काफी होती है।

पूर्वी बृहत् मैदान के कारण, जो देश के आधे से अधिक भाग मे फैला हुआ है, यहा मलेरिया का प्रकोप अधिक रहता है। पूर्वी अमेजन के मैदान म केवल १२% जनसख्या रहती है जबकि क्षेत्रफल २,७०,००० वर्गमील है। दलदली भूमि के कारण आवागमन के साधनो की कमी है। मैगडालीना नदी ९०० मील तक नौगम्य है। रेलमार्ग २,००० मील एव राजमार्ग १२,००० मील लबा है। बोगोटा यहाँ की राजधानी और प्रसिद्ध नगर है।

(२) सयुक्त राज्य अमरीका का एक नगर जो कगारी नदी पर स्थित है (स्थिति ३४° ०' उ० अ० से ८०° ५९' प० दे०)। यह दक्षिणी कैरोलिना की राजधानी है। १७८६ ई० मे यह नियोजित नगर बनाया गया। रेलमार्गों और राजमार्गों का केंद्र होने के कारण यह प्रमुख वितरणकेंद्र बन गया। सूती वस्त्र बनाना, लकडी चीरना, पत्थर तोडना और पशुपालन यहाँ के प्रमुख उद्योग है।

(३) उत्तरी अमरीका की प्रशात महासागर मे गिरनेवाली द्वितीय बडी नदी। यह ब्रिटिश कोलबिया मे ५०° उ०अ० तथा ११६° प०दे० से निकलकर उत्तरपश्चिम मे सेलकर्क पर्वत को घेरती हुई दक्षिण मुडकर सयुक्त राज्य के वाशिंगटन और ओरेगन राज्यो की सीमा बनाती हुई प्रशात महासागर मे गिरती है। इसकी लबाई १,२७० मील तथा प्रवाहक्षेत्र २,५०,००० वर्गमील है। शुष्क प्रदेश मे बहने के कारण इसका महत्व बढ गया है। इसमे कई बाँध बाँधकर सिंचाई और विद्युत्पादन मे इसका उपयोग किया गया है। ग्रैंड कुली डैम, बोनविल्ले डैम, राक आइलैंड डैम इत्यादि इसके प्रसिद्ध बाँध हैं।

(कै० ना० सिं०)

कोलंबो श्रीलका की राजधानी, पत्तन और प्रमुख व्यापारिक नगर (स्थिति ६° ५०' उ० अ० से ७९° ५५' पू० दे०)। यह कैंडी से ७५ मील दक्षिणपश्चिम केलानी नदी के मुहाने पर स्थित है। इस नगर की स्थापना १४वी शताब्दी के पूर्वार्ध मे हुई थी। १६वी शताब्दी मे पुर्तगालियो ने यहाँ एक किला बनाया और इस नगर का नाम अन्वेषक कोलबस के नाम पर रखा। १६५६ से १७९६ ई० तक नगर डचो के

अधिकार में रहा। डचों के बाद यह अंग्रेजों के अधिकार में आया। ब्रिटिश सत्ताकाल में यह नगर अपनी मध्यवर्ती स्थिति के कारण अधिक महत्वपूर्ण था। १८७४-८६ ई० के पहले यहाँ से ७५ मील दक्षिण गाल (Galle) लंका का प्रमुख बंदरगाह था। कोलंबो का पत्तन प्राकृतिक नहीं है बल्कि समुद्र में दीवाल उठाकर ६४३ एकड़ क्षेत्रफल का एक जलाशय बनाया गया है जो पोतों को ज्वार और तूफान से सुरक्षित रखता है। जलाशय को जमाव से बचाने के लिये कीचड़ निकालने का प्रबंध है। इस जलाशय में आवागमन के लिये दो मार्ग हैं। पूर्वी मार्ग ६३० फुट और उत्तरी मार्ग ५५० फुट चौड़ा है। यहाँ लगभग ५० जहाजों के रुकने का स्थान है।

१८६६ ई० में सर हरक्यूलीज राबिन्सन ने किले की दीवाल को, जो सुरक्षा के लिये बनाई गई थीं, तुड़वाकर यहाँ कर्मचारियों के लिये निवासस्थान बनवाया। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में होते हुए भी यह नगर बौद्ध धर्म का केंद्र है। डचों का गिरजाघर और कोटाहेरा का बौद्ध मंदिर प्रमुख ऐतिहासिक स्थापत्य कला के उदाहरण हैं। यहाँ मेडिकल कालेज की स्थापना १८७० ई० में हुई थी। जुलाई, १९४२ ई० में लंका विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। इनके अतिरिक्त यहाँ अन्य शैक्षणिक संस्थाएँ भी हैं।

जलवायु गर्म, नम और स्वास्थ्यप्रद है। नगर में विक्टोरिया पार्क, 'गाल फेस इस्प्लनेड', होम लाक रेसकोर्स, होम लाक पार्क आदि कई खुले मैदान हैं। मुख्य नगर के ठीक दक्षिण 'होटेल ऐट माउंट' हवा खाने का स्थान है। लंका की प्राचीन राजधानी कोट्टा नगर से पाँच मील दक्षिण उपनागरिक क्षेत्र में अपने अतीत वैभव को छिपाए स्थित है। नगर का पार्श्ववर्ती क्षेत्र अधिक उपजाऊ है। लंका का विदेशी व्यापार इसी पत्तन से होता है। रेलमार्ग द्वारा यह नगर देश के अन्य भागों से मिला हुआ है। (कै० ना० सिं०)

कोल मध्य प्रदेश के उत्तरी भाग और दक्षिणी उत्तर प्रदेश में रहनेवाले आदिवासी। विंध्याचल तथा कैमूर की पहाड़ियों में ये परंपरागत रूप से रहते आए हैं। भारतीय आदिवासी जनसंख्या विषयक प्रारंभिक वृत्तों में मुंडा भाषाभाषी सभी कबीलों को सामूहिक रूप से कोल की संज्ञा दी गई है। कालांतर में इन्हें मुंडारी कबीली कहा जाने लगा, और कोल के अंतर्गत अब केवल उन्हीं लोगों का उल्लेख होता है जो मध्य प्रदेश और दक्षिणी उत्तर प्रदेश में बृहत् मुंडा समूह के प्रतिनिधि हैं। इस कबीले का एक अंश छोटा नागपुर में है जो 'लड़ाका कोल' के नाम से प्रसिद्ध है। सिंहभूमि के 'हो' कबीलों का निवासस्थान 'कोलहन' कहलाता है।

कोलों की उत्पत्ति के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सर विलियम क्रुक ने कोलों का मूल हरिवंश पुराण में वर्णित पाँचवें सोमवंशी राजा ययाति से संबद्ध एक पुरावृत्त में खोजा है। ययाति की १०वीं पीढ़ी में कोल नामक राजा हुआ जो कोलों का पितामह था।

शारीरिक लक्षणों के आधार पर कोलों में पर्याप्त प्रजातीय मिश्रण के चिह्न मिलते हैं। बी० के० चटर्जी के मत में इनका मूल प्रजातीय आधार प्रॉग्रास्ट्रेलीय रहा होगा। वर्तमान कोल जनसंख्या में पृथुकपाल (ब्रेकिसेफ़ेलिक) मराठा तथा मंगोल तत्वों की उपस्थिति न्यूनाधिक मात्रा में सूचित करता है।

मूल रूप से कोल बृहद् मुंडारी भाषा की ही एक बोली व्यवहार में लाते थे, किंतु वे अब अपनी प्राचीन भाषा भूलकर स्थानीय हिंद-आर्य (इंडोएरियन) बोली का प्रयोग करने लगे हैं।

कोल कबीले का सांस्कृतिक एवं सामाजिक संगठन बहुत कुछ तक हिंदू समाज के संपर्क से प्रभावित है। इनका निवास अपेक्षाकृत अस्थायी मकानों में ही होता है तथा ये निर्माण के समय हिंदू पंडित को अवश्य बुलाते हैं।

इनमें से अधिकांश कोल हलवाहे का काम करते हैं। केवल कुछ ही व्यक्ति ऐसे हैं जिनके पास निज की भूमि है। अधिक पिछड़े हुए कोल प्राय: जंगल जलाकर वहाँ खेती करते हैं। प्राय: इन्हें एक बीघा जमीन मुफ्त मिल जाया करती है, जिसे ये 'कोल' या 'कोलिन' कहते हैं।

भोजन में कृषि से प्राप्त खाद्यान्नों के अतिरिक्त मांस का भी व्यवहार होता है, यद्यपि मँहगाई के कारण इसका प्रयोग प्रतिदिन नहीं किया जाता। गाय इनके यहाँ पूज्य है अत: उसके मांस के अतिरिक्त मछली, बकरी, मुर्गा, खरगोश तथा सुअर का मांस इनके यहाँ खाया जाता है। हिंदुओं की भाँति इनके यहाँ भी कच्चे तथा पक्के भोजन में भेद किया जाता है। कोलों में मदिरापान अब प्रचलित नहीं रहा, किंतु त्यौहारों और उत्सवों के समय अब भी इसकी खुली छूट होती है।

कोल पुरुष आभूषणों का प्रयोग नहीं करते, किंतु महिलाएँ विभिन्न प्रकार के गहने पहनतीं तथा गुदना गुदवाती हैं। इनकी धारणा है कि मृत्यूपरांत भगवान् उसी कोलिन का हाथ पकड़कर बैकुंठ ले जाते हैं, जिसके हाथ पर गुदना हो। इनका यह भी विश्वास है कि इससे शव की क्षय होने से रक्षा होती है क्योंकि गोदनेवाले भाग को राक्षसी विमाता निगल नहीं सकती।

कोलों के बीच अंतर्विवाही (एंडोगैमस) प्रथा प्रचलित है। विवाह संबंधी वार्ता वर के पिता द्वारा प्रारंभ की जाती है। अधिकांश हिंदुओं की भाँति ये भी कृष्ण पक्ष में विवाहादि कार्य संपन्न नहीं करते। विवाह कार्य के लिये माघ, फाल्गुन, वैशाख एवं ज्येष्ठ मास शुभ माने जाते हैं। वर के घर में वधू द्वारा प्रथम भोज तैयार करवाया जाता है जिसे 'खिचरी' कहते हैं। भोजन के उपरांत वर के मित्र वधू को 'देंज' या दहेज के रूप में उपहार भेंट करते हैं। इनके यहाँ बहु विवाह-प्रथा नहीं के बराबर है। तलाक प्रथा भी इनके यहाँ नहीं है। विधवा विवाह की अनुमति पति की मृत्यु के एक वर्ष उपरांत दे दी जाती है।

कोलों में दत्तक पुत्र लेने की भी प्रथा है। उत्तराधिकार के सभी नियम पुत्रों के लिये समान हैं। ज्येष्ठ पुत्र को अवश्य कुछ अधिक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

परस्पर विवाह संबंध के आधार पर परिवारों में संबंधक्रम आरंभ होता है। पत्नी के संबंध पति के संबंधों के आधार पर स्थापित होते हैं। पिता की बहन का विवाह जहाँ होता है वह 'फुफुआवर' तथा जहाँ बहन का विवाह हो, 'बहिनावर' कहलाते हैं। दादी का परिवार 'अजियावर' तथा माँ का परिवार 'ननिआवर' और जहाँ स्वयं का विवाह हो 'ससुरार' कहलाते हैं। पिता को 'बाबू', 'काका' या 'दादा' कहते हैं।

शव का संस्कार इनके यहाँ जलाकर और गाड़कर दोनों तरह से किया जाता है। चेचक और हैजे आदि बीमारी से हुई मृत्यु के शव को प्राय: नदी में बहा दिया जाता है। मृत पूर्वजों के उपलक्ष में ये भोज दिया करते हैं एवं उनकी पूजा भी करते हैं।

कोल सूर्य को सिंगबोंगा की तरह न मानकर साधारण हिंदू की भाँति ही उनकी पूजा करते हैं। ये भूत प्रेतों तथा मृत आत्माओं में विश्वास करते हैं और इनकी पूजा भी करते हैं। स्थानीय देवी देवताओं के अतिरिक्त इनके अपने भी कुछ देवता हैं, जिनमें प्रमुख देवता को ये 'बड़ादेव' कहते हैं। चैत तथा क्वार मास में इनके यहाँ नवरात्रि का पर्व मनाया जाता है। 'फगुआ' और 'खिचड़ी' इनके मुख्य त्योहार हैं। नागपंचमी भी इनके यहाँ मनाई जाती है। ये जादू, टोने और अंधविश्वासों तथा शपथ ग्रहण करने में बहुत श्रद्धा रखते हैं। बोआई के पहले ये 'हरियरी देवी' की पूजा करते हैं। बोआई के बाद 'कुनरु मुंडन' कार्य संपन्न करते हैं। कृषि प्रारंभ करने का श्रेष्ठ दिन इनके अनुसार शुक्रवार है। नागपंचमी को ये जुताई बंद रखते हैं।

इनके यहाँ पंचायत प्रथा है। पंचायत का प्रधान 'चौधरी' कहलाता है, जिसका पद वंशानुक्रम के आधार पर होता है। पंचायत के अन्य पदाधिकारी प्रत्येक परिवार के प्रधान होते हैं। इसका मुख्य कार्य विवाह एवं नैतिकता संबंधी प्रश्नों का निर्णय करना होता है।

सं०ग्रं०—क्रुक, विलियम : दि ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव् दि नॉर्थ वेस्टर्न प्रॉविंसेज ऑव् अवध, कलकत्ता, १८९६; ग्रिफ़िस, वॉल्टर जी० : दि कोल ट्राइब ऑव सेंट्रल इंडिया, कलकत्ता, १९४६; बी० के० चटर्जी : रेशल कंपोनेंट्स ऑव् द ट्राइबल पोपुलेशन ऑव् इंडिया, प्रेसिडेंशियल

ऐड्रैम इन सेक्शन ऑव् ऐंथ्रोपोलोजी ऐंड आर्कियोलोजी ऐट फौर्टी सैकंड इंडियन साइंस कांग्रेस, बडौदा, १९५५। (र० जै०)

कोल, टामस (१८०१-४८) अमरीकन चित्रकार। लंकाशायर (इंग्लैंड) में १८०८ में जन्म। १८१९ ई० में परिवार अमरीका चला गया। अमरीका जाने पर वह घूमकर व्यक्तिचित्रण करनेवाले स्टेन नामक चित्रकार से चित्रकला की आरंभिक शिक्षा प्राप्त की और स्वयं भी घूम घूम कर व्यक्तिचित्र बनाने लगा। किंतु इससे उसे विशेष अर्थप्राप्ति न हो सकी। तब वह १८२५ में न्यूयार्क चला गया और वहाँ उसने एक भोजनालय में अपने कुछ प्राकृतिक दृश्यों के चित्र प्रदर्शित किए। इस प्रकार उसने चित्रसमीक्षकों का ध्यान अपने कृतित्व से आकृष्ट किया और शीघ्र वह अमरीकी रोमैंटिक भूदृश्यकारों में अग्रणी बन गया। उसकी यथार्थवादी भूदृश्यकारिता धीरे धीरे धार्मिक नैतिकता का शिकार हो गई। उसके चित्रों की प्रसिद्ध सीरीज 'कोर्स ऑव् एपायर' उसी दिशा में प्रस्तुत हुई जो आज भी अपने अनियथार्थवादी (सरियलिस्ट) तथ्यों के कारण प्रसिद्ध है। (प० उ०)

कोलतुंग (१०७४-११२३ ई०)। दक्षिण भारत का एक विख्यात नरेश। कोलतुंग राजेंद्र (द्वितीय) चालुक्यवंश में उत्पन्न हुआ था। उसने अपने मामा चोलनरेश अधिराजेंद्र के राज्य को अपने राज्य में संमिलित कर चालुक्य-चोलों का संमिलित राज्य स्थापित किया और इस प्रकार वह चोलवंशीय नरेश के रूप में प्रख्यात हुआ। वह अत्यंत वीर था। उसने कलिंग पर विजय प्राप्त की। उसके इस विजय अभियान के संबंध में उसके प्रधान राजकवि गोर्दन ने तमिल भाषा में 'कलिंगट्टु परनिंद्र' नामक महाकाव्य की रचना की है।

कोलतुंग जैन धर्मानुयायी था। उसने राजेंद्र चोल द्वारा विनष्ट किए गए कतिपय जैन मंदिरों का उद्धार कराया और अनेक जैन विद्वानों को प्रश्रय प्रदान किया। उसके इस जैन धर्मानुराग से रामानुजाचार्य बहुत रुष्ट हुए और उनके राज्य का परित्यागकर होयशल राज्य में चले गए थे। कोलतुंग की ११२३ ई० में मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

कोलब्रुक, हेनरी टामस (१७६५-१८३७ ई०)। इंग्लैंड के प्रख्यात प्राच्य विद्याविशारद। इनका जन्म १५ जून, १७६५ ई० को हुआ था। उनके पिता सर जार्ज कोलब्रुक ईस्ट इंडिया कंपनी के संचालक मंडल के अध्यक्ष थे। अत १७८२-८३ ई० में वे भारत आए और तिरहुत के सहायक कलक्टर के पद पर नियुक्त हुए। १७९५ में उनकी नियुक्ति मिरजापुर (उत्तर प्रदेश) में हुई। वहाँ उनको प्राच्य भाषाओं के अध्ययन के लिये विशेष अवसर प्राप्त हुआ। १८०१ ई० में वे कलकत्ते के सदर दीवानी अदालत के जज नियुक्त किए गए और चार वर्ष के पश्चात् उस अदालत के वे अध्यक्ष बने। उसी समय में कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज में संस्कृत तथा हिंदू कानून के अवैतनिक अध्यापक नियुक्त हुए, ये अनेक वर्षों तक बोर्ड ऑव रेवेन्यू के सदस्य भी रहे।

कोलब्रुक बड़े मेधावी गणितज्ञ, उत्साही ज्योतिषी तथा संस्कृत भाषा के गंभीर विद्वान् थे। इन्होंने प्राच्य विद्या के विविध अंगों पर मौलिक लेख लिखे जिनके द्वारा इन विषयों का प्रथम प्रामाणिक परिचय पाश्चात्य विद्वानों को मिला। वेद, संस्कृत व्याकरण, कोश, जैनमत, हिंदू विधि, भारतीय दर्शन, भारतीय बीजगणित आदि विषयों पर इनके लेख आज भी ज्ञानवर्धक माने जाते हैं। इनके ये लेख कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाली 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक प्रख्यात शोधपत्रिका में छपे। बाद में इनका संग्रह इनके पुत्र ने स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में किया। वे १८०७-१४ तक बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के सभापति रहे। लंदन लौटकर उन्होंने रायल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना (१८२३) में विशेष योग दिया। वे उसके संचालक भी बने। यूरोप की अनेक सभाओं ने अपना संमानित सदस्य बनाकर इनके प्रति विशेष आदर प्रदर्शित किया। भारत में रहते हुए इन्होंने संस्कृत हस्तलेखों का एक विशाल तथा बहुमूल्य संग्रह किया था। इस संग्रह को उन्होंने १८१८ ई० में ईस्ट इंडिया कंपनी के पुस्तकालय को दे दिया। इनके पुत्र सर टामस एडवर्ड कोलब्रुक (१८१३-९० ई०) इंग्लैंड के प्रख्यात राजनीतिज्ञ हुए।

सं०ग्रं०—सी० ई० बकलैंड डिक्शनरी ऑव् इंडियन बायोग्राफी, लंदन, १९०६। (व० उ०)

कोलम तमिलनाडु में रंगोली का नाम कोलम है। कोलम वस्तुत चावल का एक प्रकार है और चावल के आटे से रंगोली की रेखाएँ बनाई जाती है इस कारण इसे कोलम कहते है। वहाँ स्त्रियाँ नित्य प्रात - काल सारे घर में कोलम पूरती हैं। ब्याह शादी एवं उत्सव आदि के अवसर पर कोलम का विशेष महत्व माना जाता है। कृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर तमिल स्त्रियाँ घर में प्रवेश करनेवाले बालक के पैरों को चित्रित करती हैं। संक्राति के अवसर पर स्त्रियाँ अपने घर के द्वार में दूसरे घर के द्वार तक कोलम पूरती हैं और दूसरे घरकी स्त्री उस कोलम की रेखा से जोडकर एक नया कोलम बनाते हुए तीसरे घर तक ले जाती है। इस प्रकार सारे ग्राम का एक अखंड कोलम तैयार होता है। इस कोलम में नाना प्रकार की आकृतियों का अंकन होता है। विवाह के लिये लडकी देखने के लिये जब लोग आते हैं तो प्राय वे यह देखते हैं कि वह कोलम की कला में कितनी कुशल है।

कोलम पूरते समय स्त्रियाँ तालसुर से गाती हैं। इस अवसर पर गाए जानेवाले गीत कोलम प्याट्टू कहलाते है। इसमें कोलम का पूरना और गाना दोनों एक साथ आरंभ होता है और एक साथ ही समाप्त होता है। (प० ला० गु०)

कोलरिज, सैमुएल टेलर (१७७२-१८३४ ई०)। अंगरेज साहित्यकार जिनकी कवि, नाटककार, आलोचक और दार्शनिक के रूप में ख्याति है। उनका जन्म डेवनशायर के आटरी सेंट मेरी नामक स्थान पर सन् १७७२ में हुआ था। उनके पिता जान कालरिज पादरी थे। उनकी इच्छा उन्हें भी पादरी बनाने की थी। अत वे क्राइस्ट्स हास्पिटल में भरती हुए और आठ वर्ष तक वहाँ पढा। पश्चात् १७९१ में उच्च शिक्षा के लिये जेसस कालेज (केंब्रिज) में आए। किंतु दो वर्ष बाद ही वे विश्वविद्यालय जीवन से ऊब गए और लंदन चले आए। यहाँ वे एक कल्पित नाम से सेना में भरती हुए पर वे वहाँ असफल घुड़सवार सिद्ध हुए। उनके मित्र उन्हें वहाँ से वापस लौटा लाए और उन्होंने पुन अध्ययन प्रारंभ किया किंतु बिना उपाधि प्राप्त किए ही उन्हें विश्वविद्यालय छोड़ना पडा। वे आक्सफोर्ड आए और वहाँ उनका परिचय सदे (Southey) से हुआ। दोनों मित्रों ने 'पैंतटिसात्रेसी' नामक एक योजना को अमरीका में सस्क्वेहना के तट पर कार्यान्वित करने का विचार किया। वे ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें युवक और युवतियाँ एक साथ मिल जुलकर रह सकें और सबको समान अधिकार प्राप्त हो। किंतु ऐसे समाज की स्थापना केवल कल्पना बनकर ही रह गई। सन १७९५ में कोलरिज ने सारा फ्रिकर से और सदे ने मारा फ्रिकर की बहिन से विवाह किया। ये विवाह दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुए। शेली को छोडकर कोलरिज संभवत सर्वाधिक अभागे पति कहे जाते हैं। वे जीवन पर्यंत पत्नी की किसी भी अभिलाषा अथवा अनुरोध को पूर्ण करने में असमर्थ रहे।

कोलरिज ने अपना जीवन स्वतंत्र लेखक के रूप में आरंभ किया और गद्य तथा पद्य दोनों में रचनाएँ कीं। उन्होंने अनेक पत्र पत्रिकाओं का संचालन आरंभ किया किंतु उनका अस्तित्व जलबुद्बुदों सा रहा जो क्षणभर अपनी चमक दिखाकर पुन विलीन हो जाते हैं। वर्ड् सवर्थ के सहयोग से उन्होंने युगप्रवर्तक 'लिरिकल बैलेड' नामक एक छोटी सी पुस्तक का प्रकाशन कराया जिसमें उनकी विख्यात कविता 'एश्येंट मैरिनर' भी संकलित थी। कोलरिज की यह महान् कविता सन् १७९७ में, जब वे २५ वर्ष के थे लिखी गई थी।

आगे चलकर कोलरिज का जीवन विषादपूर्ण हो गया। बचपन से ही वातरोग से ग्रस्त कोलरिज ने शारीरिक कष्ट के निवारणार्थ अफीम का आश्रय लिया और तीस वर्ष की अवस्था तक पहुँचते पहुँचते अफीम खाने की लत लग गई। सन् १८०४ में उन्हें माल्टा जाने का निमंत्रण मिला। वहाँ पहुँचने पर वे गवर्नर सर अलेक्जेंडर बाल के सचिव हो गए। उक्त पद पर उन्होंने दस महीने कार्य किया और तत्पश्चात् शरीर और मन दोनों
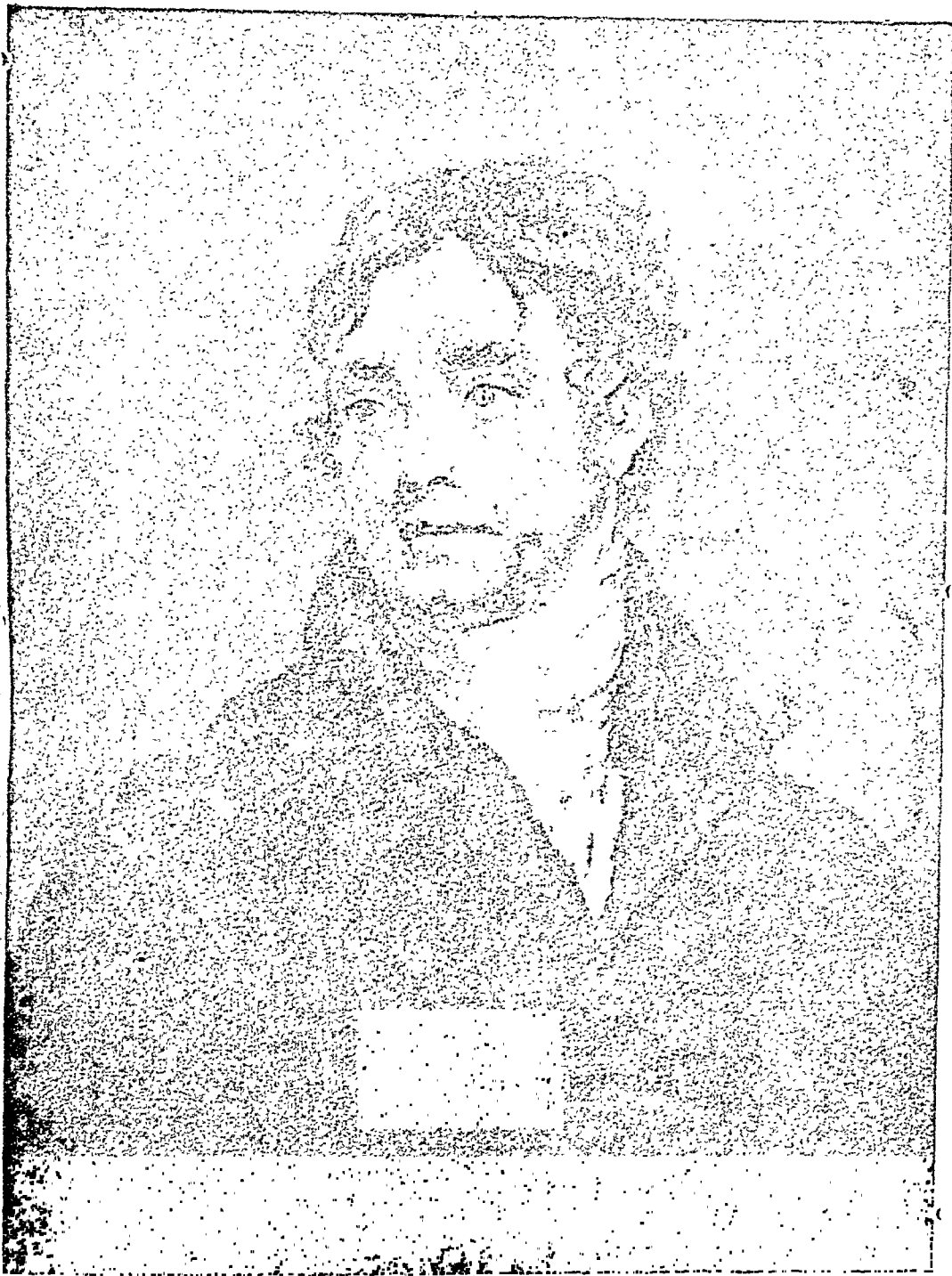
कोलरिज

(देखिए पृष्ठ १७६)

(सौजन्य : ब्रिटिश इन्फ़ार्मेशन सर्विसेज)

क्रीट (देखिए पृष्ठ २०६)

क्नोसस् के राजप्रासाद में सिंहासन का चित्र

चषकवाहक

से ही निराश होकर घर लौट आए। उनके जीवन के अंतिम वर्ष रात्रि-विनोद और संलाप में व्यतीत होने लगे और फलतः उनका काव्य संबंधी प्रेरणास्रोत क्षीण पड़ गया। उनके परम मित्र चार्ल्स लैंब ने एक विनोदपूर्ण काल्पनिक चित्रण प्रस्तुत किया है कि एक बार कोलरिज अपनी आँख बंदकर उनके कोट के एक बटन को पकड़कर इतनी तन्मयतापूर्वक उनसे वार्तालाप करते रहे कि उन्हें वहाँ से एक आवश्यक कार्यवश जाना कठिन हो गया था। इसपर वह धीरे से अपना बटन काटकर चुपचाप चलते बने। किंतु पाँच घंटे के उपरांत पुनः उस स्थान पर आकर क्या देखते हैं कि कोलरिज पूर्ववत् हाथ में बटन पकड़े और आँख बंदकर बातें कर रहे थे। कोलरिज का देहांत हाईगेट स्थान पर २५ जुलाई, १८३४ को हुआ।

अंग्रेजी साहित्य में कोलरिज की ख्याति कवि, समीक्षक, दार्शनिक एवं प्रभावशाली वक्ता, इन चार रूपों में है। अपने समकालीन व्यक्तियों पर उन का वैयक्तिक प्रभाव अलौकिक था। जबतक वर्ड्सवर्थ का संपर्क इनसे नहीं हुआ, वर्ड्सवर्थ की कोई भी रचना वास्तविक रूप में कविता कहलाने योग्य नहीं थी; यहाँ तक कि हैज़लिट जैसे हठी और अहंकारी व्यक्ति तक ने स्वीकार किया है कि कोलरिज एकमात्र व्यक्ति थे जिनसे उसने कुछ सीखा और ग्रहण किया। सन् १७९८ और उनकी मृत्यु के बीच की अवधि में कविता और गद्य आलोचना संबंधी शायद ही कोई ऐसा आंदोलन हुआ हो जो कोलरिज का ऋणी न हो।

कवि रूप में कोलरिज की उत्कृष्ट कविताएँ गिनी चुनी कुल ६-७ हैं—दि राइम ऑव दि ऐंश्येंट मैरिनर', 'कुबला खाँ', 'क्रिस्टाबेल', 'यूथ ऐंड एज', 'दि ओड टु फ्रांस' तथा 'डिजेक्शन'। 'दि राइम ऑव द ऐंश्येंट मैरिनर' अंग्रेजी भाषा की श्रेष्ठ मौलिक कविताओं में गिनी जाती है। वर्णन में सुस्पष्ट संक्षेप, कथात्मक गति, सूक्ष्म विवरण, मध्यकालीन चमत्कार एवं अलौकिक परिवेश में यह कविता अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह पापजन्य ग्लानि और पश्चात्ताप के माध्यम से, उसकी मुक्ति विषयक दुःखांत रचना है और सब जीवों के प्रति प्रेम रखना इसका नैतिक संदेश है।

कुबला खाँ, यद्यपि अधूरी है तथापि अंग्रेजी साहित्य में कदाचित् सर्वाधिक वाय्व्य कविता है। इसमें रम्य वर्णन, अतुलनीय संगीतात्मकता, कल्पनात्मक सांकेतिकता, शब्दचित्र तथा सशक्त काव्यशैली का प्राचुर्य है। 'क्रिस्टाबेल' मध्ययुगीन ऐंद्रजालिक कथा पर आधारित है जिसमें विलक्षण वातावरण की सृष्टि कर पाप तथा पुण्य की परस्पर विरोधी शक्तियों का अनंत संघर्ष दिखाया गया है। 'डिजेक्शन' तथा 'ऐन ओड' कवि की करुण व्यथा की अभिव्यक्तियाँ हैं जिनमें वह कल्पना की सृजनात्मक शक्ति के क्षीण होने पर नैराश्य और असफलता का अनुभव करता है और फलस्वरूप इस कविता में यत्र तत्र दुरूह आध्यात्मिकता आ गई है। सर्वातिशायी सिद्धांत की जितनी पूर्ण अभिव्यंजना इस कविता में हुई है वैसी कोलरिज की किसी अन्य कविता में नहीं है। संक्षेप में, जिस प्रकार वर्ड्सवर्थ प्रकृतिवाद के प्रधान पुजारी थे वैसे ही कोलरिज रोमांटिसिज़्म अर्थात् स्वच्छंदतावाद के प्रमुख पुजारी थे।

समीक्षा के क्षेत्र में उनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं 'बायोग्राफिया लिटरेरिया' और 'लेक्चर्स ऑन शेक्सपीयर'। पहली कृति अंग्रेजी आलोचना की एक प्रमुख पुस्तक कही जाती है। दूसरी पुस्तक के द्वारा कोलरिज शेक्सपीयर के प्रथम महान् समीक्षक माने जाते हैं। कोलरिज ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने काव्य की संश्लेषणात्मक और अलौकिक शक्ति को 'कल्पना' की संज्ञा दी। उनके मतानुसार कल्पना 'अनेक' के पीछे 'एक' को आत्मभूत करती है। यह वह तत्व है जो पदार्थ और मन की पार्श्वभूमि में विद्यमान है, वह ईश्वरीय प्रज्ञा है जो पदार्थ, मन और शक्ति की परिचालित करती हुई ईश्वरीय शक्ति से मिलाती है। कोलरिज ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने भावतरंग अर्थात् 'फैंसी' और 'कल्पना' अर्थात् इमैजिनेशन का भेद प्रस्तुत किया। निस्संदेह अंतर्दृष्टि की स्थिरता और विचारगांभीर्य में यह सबसे महान् अंग्रेज आलोचक हैं।

दार्शनिक के रूप में इंग्लैंड के यह प्रथम सर्वातिशायी विचारक हैं। दर्शन में उनकी सबसे विख्यात पुस्तक 'एड्स टु रिफ्लेक्शन' है जो १८२५ में प्रकाशित हुई थी। इसमें जिस प्रमुख दार्शनिक मत का प्रतिपादन किया गया है वह है, तर्कशक्ति और ज्ञानशक्ति का भेद। तर्कबुद्धि वह शक्ति है जिसके द्वारा हम इंद्रियबोध से चिंतन और विचार की ओर अग्रसर होते हैं जबकि ज्ञानबुद्धि किसी अनुभूति का पहले से ही निर्णय रखती है अथवा किसी अतीत अनुभव पर हावी होकर आगत आवश्यकता का अतिक्रमण करती है। तर्कबुद्धि का उपयुक्त क्षेत्र आध्यात्मिक संसार नहीं वरन् यथार्थ संसार है। किंतु परम आध्यात्मिक सत्यों का उद्घाटन ज्ञानबुद्धि करती है।

सं०ग्रं०—कंप्लीट वर्क्स: डब्ल्यू० जी० टी० शेड द्वारा संपादित (७ खंड) न्यूयार्क; दि कंप्लीट पोएटिकल वर्क्स: ई० एच० कोलरिज द्वारा संपादित (२ खंड); आक्सफोर्ड, लेटर्स: ई० एच० कोलरिज द्वारा संपादित (२ खंड); एच० डी० ट्रेल: कोलरिज (इंग्लिश मेन ऑव् लेटर्स सीरीज़); जे० डी० कैंपबेल: सैमुएल टेलर कोलरिज; सर टी० एल० एच० केन: लाइफ ऑव सैमुएल टेलर कोलरिज; एच० आई० ए० फ़ासेट: सैमुएल टेलर कोलरिज; एच० पॉटर: कोलरिज ऐंड एस० टी० सी०; कोलरिज, स्टडीज बाइ सेवरल हैंड्स ऑन दि हंड्रेड्थ ऐनीवर्सरी ऑव हिज़ डेथ: ई० ब्लंडेन ऐंड ई० एल० ग्रिग्स द्वारा संपादित। (वृ० मो० सा०)

कोलार कर्णाटक का एक प्रमुख एवं प्राचीन नगर। (स्थिति १३°८' उ० अ० से० ७८°८' पू० दे०)। गंग वंश, चोल वंश, विजयनगर के शासकों और फिर बीजापुर के सुल्तान के अधिकार में आया। १६३९ ई० में शाहजी को जागीर के रूप में मिला। १६८९ ई० में मुगलों के अधिकार में; १७६१ ई० में हैदर अली के अधीन, १७६८ ई० में अंग्रेजों के अधीन, फिर मराठों का अधिकार और अंत में १७९१ ई० में पूर्णतः अंग्रेजों के अधीनस्थ हो गया। ऐतिहासिक अवशेषों में हैदर के पिता फतेह मुहम्मद का मकबरा, प्राचीन किला और कोलारम्मा का मंदिर प्रमुख हैं। यह मंदिर विजय के उपलक्ष में चोल शासकों ने बनवाया था। किले की खाई और दीवाल को समतल करके नगर को विस्तृत कर दिया गया है। यह औद्योगिक नगर भी है। रेशम के कीड़े पालना और रेशमी तथा सूती कपड़े और ऊनी कंबल बुनना, साबुन बनाना इत्यादि उद्योग प्रमुख हैं। यहाँ कई शिक्षण संस्थाएँ हैं। दक्षिणी रेलवे का एक स्टेशन भी है। (कै० ना० सिं०)

कोलार गोल्ड फील्ड भारत में मैसूर राज्य के दक्षिणीपूर्वी भाग में फैली सोने की खदान (विस्तार १२° ५' से १३° ०' उ० अ० तथा ७८° १८' पू० से ७८° २१' पू० दे०)।

धारवार युग की चट्टानों में क्वार्ट्ज के साथ सोना पाया जाता है। स्वर्णयुक्त क्वार्ट्ज की लगभग २६ पट्टियाँ उत्तरदक्षिण दिशा में १.४ मील से ४ मील तक की चौड़ाई में फैली हुई हैं जो क्षेत्रफल में लगभग १०० वर्गमील हैं। खुदाई का काम यहाँ १८७६ में आरंभ हुआ। प्रारंभ में १३ मील लंबी पेटी में खुदाई होती थी पर अब केवल पाँच मील की पेटी में खुदाई होती है। २६ पट्टियों में से केवल चैंपियन रीफ पर खुदाई होती है। खुदाई का काम चार कंपनियाँ—मैसूर गोल्ड माइनिंग कंपनी लिमिटेड, चैंपियन रीफ गोल्ड माइनेस ऑव् इंडिया लिमिटेड, उरेगम (Ooregum) गोल्ड माइनिंग कंपनी लिमिटेड और नंदीद्रुग (Nundydroog) माइन्स लिमिटेड करती हैं। इनमें क्रमशः ८,१२८ फुट, ६,२३३ फुट, ६,७५८ फुट और ७,९७५ फुट तक खुदाई होती है। गंधकीय खनिज केवल १ प्रतिशत हैं। शुद्ध धातु की मात्रा ८ से ४८ ग्राम प्रति टन खनिज है। विभिन्न खदानों में शुद्ध धातु प्रति टन १९५४ में इस प्रकार थी।

मैसूर माइंस ११.३० ग्राम, चैंपियन रीफ माइंस १२.७६ ग्राम उरेगम माइंस ८.५४ ग्राम तथा नंदीद्रुग माइंस ७.६४ ग्राम।

खदान	खनिज उत्पादन (औंस में) सन् १९५३	शुद्ध धातु (औंस में) सन् १९५४
मैसूर खदान	१,८८,२८६	७८,२५४
चैंपियन खदान	१,३९,२००	६६,६८६
उरेगम खदान	६६,८३४	१,७१५
नदीद्रुग	२,१६,६७३	७२,०७०

उत्पादन सर्वप्रथम १८७५ ई० में एम० एफ० लैवल ने उरेगम में प्रारंभ किया। १८८१ में नदीद्रुग में तथा १८८२ ई० में दक्षिण चैंपियन खदान में उत्पादन आरंभ हुआ।

दक्षिण रेलवे की १० मील लंबी शाखा इसको मुख्य मार्ग से बोरिंग पेट स्टेशन पर मिलाती है। जलविद्युत् ९२ मील दूर शिवसुंदरम् जलप्रपात से मिलती है। पानी की पूर्ति छह मील पश्चिम पलार नदी पर जलाशय बनाकर की जाती है। (कै० ना० सिं०)

कोलिय भगवान् बुद्ध के काल का एक गणराज्य जो हिमालय की तलहटी में था। शाक्यों के साथ इसका प्राय: उल्लेख मिलता है। एक जातक कथा से ऐसा ज्ञात होता है कि शाक्यों और कोलियों के बीच कोई संघर्ष हुआ था जिसे बुद्ध ने शांत किया। (प० ला० गु०)

कोल्चाक, अलेक्सांदर वासिलयेविच (१८७३–१९२६ ई०)। रूस के एक नौसेनापति जो प्रतिक्रांतिवादी सफेद-गार्द का नेता था। इसने नवंबर, १९१८ में साइबेरिया तथा दूरवर्ती पूर्वी क्षेत्र में सैनिक अधिनायकत्व की स्थापना की और क्रांति आंदोलन का कठोरता से दमन किया, मजदूरों तथा कृषकों पर अकथनीय अत्याचार कर स्वाधीनता आंदोलन की प्रगति में विघ्न उत्पन्न किया था। १९१९ई० की वसंत ऋतु से कोल्चाक की सेना प्राय: वोल्गा नदी तक जब बढ़ चुकी थी तब मई, १९१९ और फरवरी, १९२० के बीच जनता की सहायता से लाल सेना ने उसकी सेना को पराजित कर दिया। कोल्चाक गिरफ्तार कर लिया गया और ७ फरवरी को ईर्कुत्स्क नामक नगर में उसे गोली मार दी गई। (शी० ले० स्ते०)

कोलाबा या कुलाबा महाराष्ट्र के दक्षिणी भाग का एक जिला जिसका क्षेत्रफल २,७१६ वर्गमील है। इस जिले का नाम कोलाबा नाम के एक छोटे टापू पर पड़ा है, जो इसके सदर मुकाम अलीबाग से कुछ ही दूरी पर स्थित है। समुद्र और पश्चिमी घाट के बीच स्थित होने के कारण यह जिला पहाड़ियों से भरा है। इसके समुद्री किनारे के क्षेत्र में नारियल और सुपारी के पेड़ों की अधिकता है। इस क्षेत्र के पीछे सपाट मैदान हैं जिसमें धान की खेती होती है। समुद्रतट के अनेक स्थलों पर नमक से भरी दलदल भूमि है जहाँ नमक तैयार किया जाता है। कोलाबा जिले में कई छोटी छोटी नदियाँ बहती है। इस जिले के कुछ भाग में रेलमार्ग हैं, पर बंबई से संसर्ग तथा आवागमन प्रधानतया स्टीमर से ही होता है।

कोलिकोड (कालीकट) केरल राज्य का एक नगर और पत्तन, (स्थिति: ११°१५' उ० अ० से ७५°४७' पू० दे०)। यह मद्रास से ४१४ मील पश्चिम अरब सागर के किनारे निम्न समतल मैदान में अस्वास्थ्यप्रद जलवायु के भाग में कल्लायी नदी पर स्थित है। १३वीं शताब्दी के अरब लेखकों ने पश्चिमी तट के प्रमुख बंदरगाह के रूप में इसका उल्लेख किया है। १५वीं शताब्दी का मालाबार तट का प्रमुख नगर था।

कोलिकोड शब्द का अर्थ काकदुर्ग है। अंतिम नरेश चेरामन पेरुमल ने मक्का के लिये प्रस्थान करते समय अपना राज्य अपने नायकों में बाँट दिया। किले के चतुर्दिक् जहाँ तक किले में बोलनेवाले मुर्गे की आवाज सुनाई देती थी उतना क्षेत्र उन्होंने जमोरिन नामक नायक को दिया। अत: इस क्षेत्र का नाम कोलिकोड पड़ा।

१४९८ ई० में प्रथम यूरोपवासी वास्को द गामा यहाँ आया और १५२१ ई० तक पुर्तगालियों का व्यापार यहाँसे होने लगा। १६१५ ई० में यह ब्रिटिश अधिकार में आया। १६९८ ई० में यहाँ फ्रांसीसी बस्तियाँ बसीं। फ्रांस और ब्रिटेन के बीच के युद्ध के काल में इसकी सत्ता बदलती रही। मैसूर के शासकों से इसे अधिक क्षति पहुँचती रही। टीपू सुल्तान ने इसे हथियाने का प्रयास किया था।

यहाँके बने सूती कपड़े की बड़ी ख्याति थी। १८८३ ई० में यहाँ एक वाष्पचालित पुतलीघर की स्थापना हुई। यहाँ गृह उद्योग के रूप में बेंत और बाँस के सामान, मृत्तिकला (कुम्हारी), लकड़ी पर नक्काशी, दियासलाई और साबुन रँगाई, आदि के उद्योग मुख्य हैं। यहाँ से काफी और मसाले का निर्यात होता है। १९६१ में यहाँकी जनसंख्या १,९२,५२१ थी। (कै० ना० सिं०; प० ला० गु०)

कोलोन राइन नदी पर बसा जर्मनी का प्रसिद्ध नगर (स्थिति. ५०° ५४' उ० अ० से ६° ५७' पू० दे०)।

ई० पू० ३८ में यह रोमन सैनिक अड्डा था। ५० ई० के बाद रोम के राजा क्लाडियस ने अपनी पत्नी कोलोनिया अग्रीपिनेन्सिस के नाम पर इसका नामकरण किया। ८७० ई० में यह जर्मनी के अधिकार में आ गया।

मध्यकालीन युग में यह नगर पूर्व की वस्तुओं, रेशम और मसाले का वितरणकेंद्र रहा। महत्वपूर्ण स्थिति के कारण इसपर विभिन्न शक्तिशाली राष्ट्रों की निगाह बराबर लगी रहती रही। १७९४ ई० में फ्रांसीसियों ने, १८१५ ई० में प्रशावालों ने तथा १९१८ से १९२६ ई० तक अंग्रेजों ने इसे अपने अधिकार में रखा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय बमवर्षा के कारण इस नगर का दो तिहाई भाग पूर्णत: नष्ट हो गया था। इसकी वर्तमान उन्नति रूर औद्योगिक क्षेत्र के सामीप्य से हुई है। यह नगर अनेक रेलमार्गों का केंद्र और महत्व का नदीपत्तन है। यहाँसे अन्न, मद्य, तेल आदि का बेल्जियम, हालैंड और स्विट्जरलैंड को निर्यात होता है। यहाँ तंबाकू, सिगार, चाकलेट, साबुन, बिजली के सामान, रासायनिक, जहाज, मोटर, सूती कपड़े, रबर, शीशे आदि के सामान बनाने के कारखाने हैं। यहाँका गोथिक कैथेड्रल वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना है। (कै० ना० सिं०)

कोलोरेडो १. संयुक्त राज्य अमरीका की एक नदी। इसकी लंबाई १,७०० मील और प्रवाहक्षेत्र २,४६,००० वर्गमील है। उत्तरी मध्य कोलोरेडो राज्य से निकलकर व्योमिंग, कोलोरेडो, यूटा, न्यू मेक्सिको, नेवादा, एरीजोना, कैलीफोर्निया आदि राज्यों में बहती हुई कैलिफोर्निया की खाड़ी में गिरती है। पचास से अधिक इसकी सहायक नदियाँ हैं। यह नदी अपने मार्ग के प्राकृतिक भूखंडों और क्षेत्रों के लिये जीवनदायिनी है। इस नदी पर अनेक बाँध बने हैं। उनमें हूवर, लैगुना, तथा पारकर मुख्य हैं।

२. संयुक्त राज्य अमरीका का एक राज्य (स्थिति ३७° से ४१° उ० अ०, लगभग २७६ मील, १०२°३' से १०९° प० दे०, लगभग ३८७ मील)। क्षेत्रफल १,०४,२४७ वर्ग मील। इसका नामकरण स्पेनवालों ने 'लाल रँगा हुआ' (Coloured Red) के अभिप्राय से किया है। जनसंख्या का घनत्व १२.७ व्यक्ति प्रति वर्गमील, औसत वार्षिक वर्षा १६.६ इंच, ताप ७°–८° सें०, संयुक्त राज्य में विलयन १८७६ ई० में। संयुक्त राज्य की अधिकतर ऊँची चोटियाँ एवं नदियों के अधिकांश उद्गमस्थल इसी राज्य में हैं। प्रमुख नदियाँ आर्कें जस तथा साउथ प्लाटे पूर्व, कोलोरेडो अपनी सहायक नदियों के साथ पश्चिम तथा रियो ग्रांडे दक्षिणपश्चिम बहती है।

इस राज्य के तीन प्राकृतिक विभाग हैं :

१. पूर्वी मैदान—शुष्क प्रदेश है। जहाँ वायु द्वारा अपक्षरण अधिक हुआ है। सिंचाई द्वारा कृषि की उन्नति हुई है। गेहूँ, आलू, चुकंदर पैदा होता है। पशु भी पाले जाते हैं।

२. मध्यवर्ती पर्वतीय भाग—इसमें राकी पर्वत की श्रेणियाँ फैली हुई हैं। यह क्षेत्र खनिज पदार्थों से संपन्न है। ३० मील चौड़ी पूर्वी पट्टी में दो-तिहाई जनसंख्या निवास करती है। डेनवर, पूएब्लो आदि प्रमुख नगर यहीं स्थित हैं। खान खोदना यहाँका प्रमुख व्यवसाय है।

३. पश्चिमी पठारी भाग—यह शुष्क जलवायु एवं ऊँची नीची भूमि का प्रदेश है। पशुपालन और के निवासियो के मुख्य व्यवसाय है।

खनिज पदार्थ और वन राज्य के प्रमुख साधन हैं। ससार की दो-तिहाई मालिब्डिनम धातु यहा मिलती है। यूरेनियम, टगस्टन, स्वर्ण आदि अन्य प्रमुख खनिज पदाथ है। सयुक्त राज्य का १० प्रतिशत स्वर्ण, २२ ३ प्रतिशत चुकदर, ११ ७ प्रतिशत कॅटालूप्स और ११ ६ प्रतिशत खनन यत्र यहाँ उत्पन्न अथवा निर्मित होते है। ४,००० मील लबे १४ रेलमार्ग तथा ५५,००० मील लबे राजमाग यहाँ फैले हुए है। (कैं० ना० सिं०)

कोल्बेर, जाँ वप्तिस्त (१६१९–१६८३ ई०) फ्रासीसी राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री। रेम्स क एक व्यापारी परिवार मे जन्म। जव वीस वर्ष के भी न हो पाए थे तभी उन्हें परराष्ट्र विभाग मे नौकरी मिल गई और शीघ्र ही व मत्री के निजी सचिव हो गए। बारह वर्ष पश्चात् कार्डिनल मेजरिन ने, जव वे १६५१ ई० मे पेरिस से वाहर रहे, कोलवर्ट को अपना विश्वस्त बनाकर पेरिस की राजनीतिक गतिविधियो की सूचना देने का काम सोंपा। और वे उनके इस कार्य से वहुत सतुष्ट हुए और उसे काफी सम्मान प्रदान किया।

फ्रास के सम्राट् चौदहवे लुई की ऊनवयस्कता मे मेजरिन के हाथ मे शासन व्यवस्था थी। इस कारण उनके विश्वस्त होने के नाते कोलवर्ट को सम्राट् का भी विश्वास प्राप्त हुआ और मेजरिन की मत्यु के पश्चात् शासन के प्रमुख अधिकारी वने।

सम्राट् के सलाहकार के रूप मे वे फ्रास की आर्थिक स्थिति अवस्था सुधारने की दिशा म आगे वढे। उन्हे इस वात की जानकारी थी कि राजकर्मचारी रिश्वत के रूप मे वड़ी रकमे खाते है और सरकारी धन का दुरुपयोग करते हैं। अत. रिश्वतखोरी और सरकारी खयानत को रोकन के लिये कानून वनवाए और इस प्रकार के अपराधो के लिये मत्युदड का विधान किया। इस प्रकार के मामलो की सुनवाई के लिये एक विशेष अदालत की नियुक्ति हुई। इस कठोर दड विधान के परिणाम-स्वरूप लगभग चार हजार व्यक्तियों ने मत्यु से वचने के लिये अपनी अवैध कमाई राजकोप को लोटा दी। फलस्वरूप राजकोप की स्थिति वहुत सुधर गई और राजकर्मचारियो के वीच मे रिश्वतखोरी और अवैध कमाई का धधा समाप्त हो गया। राज्य की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये उसने कर सवधी अनेक विधान वनवाए।

तदनतर देश की समद्धि के निमित्त कोलवर्ट ने उद्योग की ओर ध्यान दिया। अनेक नए उद्योग स्थापित कराए और पुराने उद्योगों को उच्च-कोटि का उत्पादन करने के लिये प्रोत्साहित किया। निर्यात की ओर भी ध्यान दिया और भारत तथा अमरीका से व्यापार करने के लिये ईस्ट इडीज और वेस्ट इडीज कपनियो की स्थापना की। सड़कें और नहरों का भी सुधार कराया। लैंग्गुडाक की वड़ी नहर कोलवर्ट की सरक्षता मे ही पियरे पाल रेके ने तैयार कराई।

कोलवर्ट ने नौकानयन की भी स्थापना की और १६६९ ई० मे वह सामुद्रिक कार्यो के मत्री बने। सम्राट् की रुचि सैनिक अभियानो मे थी, इसलिये उन्होंने नौसेना सघटित की। उसे शक्तिशाली वनाने के लिये अनेक नए तरीके अपनाए। नौसेना के जहाजो के सचालन के निमित्त अधिकाधिक नाविक प्राप्त करने के लिये उसने न्यायाधीशो को आदेश दिया कि वे प्रत्येक अपराधी को पतवार चलाने की सजा दें। फलतः तुर्क, रूमी, हब्शी, गुलाम, वदमाश, बागी सभी तरह के लोग दडित होकर नौसेना मे आए। रॉश्फोर्त का वदरगाह वनवाया, तूलो मे जगी कारखाना स्थापित किया, नौसैनिक शिक्षा के लिये कई स्कूल खुलवाए। देश मे जहाजो के निर्माण को प्रोत्साहित करने के लिये उन्होने समुचित उपाय किए। विदेशो से आनेवाले जहाजों पर कर लगाया गया और फ्रासीसी नाविको को विदेशी जहाजो पर काम करने से रोका गया।

राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री होने के साथ साथ कोलवर्ट कला और साहित्य के सरक्षक भी थे। उनका अपना एक वहुत वडा पुस्तकालय था जिसमे अनेक वहुमूल्य हस्तलिखित ग्रंथ थे। उसने विज्ञान अकादमी और वेधशाला की स्थापना की और रॉयल्ये द्वारा स्थापित चित्रकला और मूर्तिकला की अकादमी को नवसघटित किया तथा अन्य अनेक आदमियो का देखभाल को व्यवस्था की। लूव्र के सग्रहालय को चित्रों और मूर्तियों से भर दिया। साहित्यकारो के पेंशन की व्यवस्था की। इस पेंशन का पाने-वाले न केवल फ्रेंच विद्वान् थे वरन् अनेक विदेशी विद्वानो का भी उसने पेंशन की व्यवस्था की।

इस प्रकार कोलवर्ट एक ऐसा राजनीतिज्ञ था जिसने थोड़े समय मे फ्रास क लिये वहुत किया। (मो० अ० अ०, प० ला० गु०)

कोल्लम केरल राज्य का नगर और पत्तन (स्थिति ८° ३५' उ० अ० से ७६° ३६' पू० दे०)। यह अरव सागर क किनारे अस्टमुदी झील पर स्थित है। मसाले के व्यापार का यह प्रमुख केंद्र था, इसलिये समय समय पर विदेशियो से आक्रात होता रहा। १७८५ ई० से यह अग्रेजो के अधिकार मे आया। कोचीन और कोलिकोट के उत्थान ने इसकी उन्नति मे वाधा पड़ी है। सूती कपड़े के कारखाने, टिन के वर्तन वनाने, दियासलाई, पेंसिल, सावुन, छोटे छोटे कल पुर्जे वनाने तथा मृत्तिका (सिरैमिक्स) के उद्योग प्रमुख हैं। काफी, चाय, मछली, लकड़ी, नारियल की जटा के सामान आदि मुख्य निर्यात की वस्तुएँ है। सीरिया के निवासियों का प्रसिद्ध ऐतिहासिक गिरजाघर दर्शनीय है। (कैं० ना० सिं०)

कोल्लिटम (कॉलिडम या कोलेरुन) तमिलनाडु प्रदेश की एक नदी जो कावेरी नदी की उत्तरी शाखा है और मुख्य नदी से त्रिचना-पल्ली से ६ मील पश्चिम मे अलग होती है। इसकी लवाई ९४ मील, प्रवाहक्षेत्र १,४०४ वर्गमील है। १७ मील तक कावेरी के समातर वहकर उसके अति निकट आ जाती है और इस प्रकार वह श्रीरगम द्वीप का निर्माण करती है। तदनतर उत्तरपूर्व को मुड़कर दक्षिणी अर्काट तथा तजौर जिलो की सीमा वनाती हुई देवीकोट्टै के निकट वगाल की खाड़ी मे गिरती है। इस नदी की धारा मुख्य नदी की धारा से अपेक्षाकृत निम्न भाग की ओर वहती है। अत. अधिक जल इसी धारा से वहता था। इस क्रिया को रोकने और तजौर जिले की भूमि को पानी की कमी से वचाने के लिये ऐतिहासिक काल से ही प्रयत्न होत रहे है। सर्वप्रथम चोल राजाओ ने, जहाँ यह नदी उत्तरपूर्व की ओर मुड़ती है, वहाँ १,०८०' लवा और ४० से ६० फुट चौड़ा वाँध वनवाया था। १८३६-३८ ई० मे ब्रिटिश सरकार ने, जहाँ यह मुख्य धारा से अलग होती है, वहाँ एक दूसरा वाँध वनवाया। इन वाँधो से नहरे निकालकर सिंचाई का कार्य किया जाता है। एक तीसरा वाँध दूसरे वाँध से ७० मील दूर प्रवाह की ओर वनाया गया है। इसमे दक्षिणी अर्काट और तजौर जिले की अधिकाश भूमि की सिंचाई की जाती है। इसमे कुछ दूर तक छोटे छोटे जहाज भी आ सकते हैं। (कैं० ना० सिं०)

कोल्लेरु आध्र प्रदेश स्थित झील (विस्तार १६° ३२' से १६° ४७' उ० अ० तथा ८१° ४' से ८१° २३' पू० दे०)। यह दीर्घ वृत्ताकार झील कृष्णा जिले मे कृष्णा और गोदावरी नदी के वीच स्थित है। यहाँसे २० एवं २५ मील उत्तर मे स्थित पूर्वीघाट पहाड़ी की तीन वरसाती नदियो ने इस झील के खारेपन को वदल दिया है। मलवों की अधिकता से झील दिन प्रति दिन उथली होती जा रही है। यह अव अर्ध दलदल और अर्ध जल मे भरी है। वर्षा ऋतु मे इसका क्षेत्रफल १०० वर्गमील से भी अधिक हो जाता है; पर गर्मी मे यह सकुचित हो जाती है और कभी सूख भी जाती है। दो धाराएँ, पेरतलाम कनामा और उप्पुतेरु कनामा, इसके जल को एक ज्वारीय धारा उप्पुतेरु द्वारा वगाल की खाड़ी मे ले जाती है।

झील मे छोटे छोटे द्वीपो पर २६ ग्राम वसे हुए है। भूमि अधिक उपजाऊ है। डेल्टा की १,००० एकड भूमि की सिंचाई इसके जल से होती है। मत्स्योद्योग और पक्षियो के लिये झील अधिक प्रसिद्ध है। (कैं० ना० सिं०)

कोल्हटकर, गोपाल वालकृष्ण (१८७८–१९५५ ई०)। रसायनशास्त्री। सातारा जिले के एक छोटे से गाँव जाखण मे जन्म

हुआ था। गाँव की प्राथमिक पाठशाला में शिक्षा पाकर मुंबई के मराठा हाई स्कूल में और पीछे सेंट जेवियर्स कालेज में भौतिकी और रसायन का अध्ययन किया। रसायन की एम० ए० परीक्षा में आपको स्वर्णपदक मिला। तदनंतर बँगलोर के इंडियन इंस्टिट्यूट ऑव सायंस से अनुसंधान कार्य द्वारा ए० आई० आई० एस-सी० का डिप्लोमा प्राप्त किया।

१९०७ ई० में पूना के फर्ग्युसन कालेज के आजीवन सदस्य बनकर रसायन के प्राध्यापक नियुक्त हुए और १९४७ ई० तक कालेज से संबद्ध रहे। फर्ग्युसन कालेज की रसायनशाला को निर्मित तथा सुसज्जित करने का श्रेय आपको है। ऐसी सुसज्जित रसायनशाला पूना विश्वविद्यालय से संबद्ध कालेजों में से किसी में नहीं है। बंबई विश्वविद्यालय के सिनेट और एकैडेमिक कौंसिल के आप सदस्य रहे। आपके अनेक छात्र रसायन के अध्यापन और अनुसंधान कार्य में ख्याति पा चुके हैं। आपने अंग्रेजी में रसायन की कुछ पाठ्य पुस्तकें भी लिखी हैं। ९ नवंबर, १९५५ ई० को आपका देहावसान हुआ। (कृ० ख० डो०)

कोल्हटकर, श्रीपाद कृष्ण (१८७१–१९३४) मराठी के स्वच्छंदतावादी नाटकों के जनक। आपकी प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा विदर्भ में हुई। विद्यार्थी अवस्था में ही इनकी नाट्य एवं काव्य प्रतिभा उमड़ पड़ी। हाई स्कूल में पढ़ते समय इन्होंने श्री चिपलूणकर की निबंधमाला तथा अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया। वकील होने के बाद आप खामगाँव तथा जलगाँव में वकालत करने लगे। ज्योतिर्गणित में भी आप निपुण थे। १८९३ ई० के लगभग आपका पहला नाटक अभिनीत हुआ जिसने स्वच्छंदतावाद एवं सौंदर्यपूर्ण नाटकों का श्रीगणेश किया। इन्होंने नाट्यरचना में बहुत कुछ सुधार किया और नाट्य को विनोद से अत्यधिक रंजक बनाया। उर्दू और फारसी गजलों को नाटकों में स्थान दिया। लगभग दस वर्षों तक ये कालेज के विद्यार्थियों के प्रिय नाटककार थे जिनके नाटकों के अभिनय के लिये विद्यार्थी नाटकमंडली के संचालक को प्रार्थनापत्र भेजते थे और नाटकों के प्रयोग शनिवार और रविवार के दिन होते थे। दर्शकों का रंजन करते हुए सौम्य सामाजिक सुधारों का कलापूर्ण उद्घाटन करने में ये सफल रहे। इनके नाटकों की ख्याति का आधार नवशिक्षित युवक युवतियों के चटपटे, आकर्षण एवं तीव्र व्यंग्ययुक्त और बौद्धिक तड़क भड़क से ओतप्रोत कथोपकथन प्रेमविद्ध युवक और युवतियों के तरल, स्निग्ध व्यंग्योक्तिपूर्ण और परस्पर निरुत्तर करनेवाले संवाद थे जिनसे इनके नाटक खूब लोकप्रिय हुए। इनके नाटकों का वातावरण प्रायः विनोदपूर्ण होता है। आपने मोलियर की रचनाशैली के अनुकरण पर १२ रंजन प्रधान नाटकों की रचना की जिनमें वधूपरीक्षा, मतिविकार, मूक नायक, वीरतनय अधिक लोकप्रिय हैं।

कोल्हटकर मराठी के आद्य विनोदाचार्य हैं। इन्होंने जेरोमी, मार्क ट्वेन, मैक्स ऑरेल, मोलिअर, स्टर्न, फील्डिंग इत्यादि साहित्यिकों की अमर कृतियों से स्फूर्ति प्राप्त कर सामयिक सामाजिक परिस्थितियों को सुधारने के अभिप्राय से १९०१ में विनोद-व्यंग्य-पूर्ण लेख लिखना प्रारंभ किया जो 'सुदामा के चाउर' या 'साहित्य बत्तीसी' नामक पुस्तक में संगृहीत हैं। यह पुस्तक आधुनिक मराठी हास्यरस का उद्गम है, जिसका अनुसरण कर परवर्ती लेखकों ने विनोदधारा को पुष्ट किया। इनका विनोद अधिकतर बुद्धिनिष्ठ, कल्पनानिष्ठ और शब्दनिष्ठ है। इन्होंने विनोदनिर्मिति का शास्त्र भी लिखा जो अध्ययन करने योग्य है।

कोल्हटकर प्रौढ़ समीक्षक भी थे। इन्होंने साहित्यसम्राट् नरसिंह चिंतामणि केलकर के 'तोतयाचे बंड' नामक सफल नाट्यकृति की लगभग १२० पृष्ठों में आधुनिक ढंग की समीक्षा लिखी जिसमें नाट्यशास्त्र का उद्बोधक विवेचन है। इसी प्रकार इन्होंने तत्वजिज्ञासु उपन्यासकार वामन मल्हार जोशी के दो उपन्यासों की गंभीर एवं विस्तृत आलोचना की जो पठनीय है।

कोल्हटकर उपन्यासकार, गल्पकार, कवि और आत्मकथा लेखक भी थे। आपकी बहुमुखी प्रतिभा के कारण विद्वत्समाज ने आपको 'साहित्य सम्राट्' की उपाधि से संमानित किया था। (भी० गो० दे०)

कोल्हापुर महाराष्ट्र प्रदेश का नगर, (स्थिति : १६° २४' उ० अ० तथा ७४° १६' पू० दे०)। मूलतः यह मराठा काल का एक ऐतिहासिक नगर था जो अंगरेजी शासन काल में एक देशी रियासत रहा। रियासतों के विलयन के बाद से यह कोल्हापुर जिले का प्रमुख नगर है। यह नगर पहले करावीरा नाम से बसा था, पर कृष्णा की सहायक नदी की बाढ़ के कारण स्थानपरिवर्तन किया गया। नगर मुख्यतः धार्मिक स्थान के रूप में बसाया गया था। करावीरा में महालक्ष्मी देवी का भव्य मंदिर तथा बौद्ध स्तूप नगर की प्राचीनता प्रकट करते हैं। ग्रामीण और लघु उद्योगधंधों में सूती खादी, कृषि के औजार, साबुन, चमड़े और जूते बनाने का काम उल्लेखनीय है। बड़े पैमाने पर मोटर गाड़ियों के निर्माण का कार्य भी होता है। (कै० ना० सिं०)

कोविलपट्टी तमिलनाडु प्रदेश का एक नगर (स्थिति : ९°१०' उ० अ० तथा ७७°५२' पू० दे०)। यह तिरुनेलवेली जिले में स्थित कोविलपट्टी तहसील का प्रमुख नगर तथा दक्षिणी रेलवे का स्टेशन है। यह एक 'इनामी गाँव' था, लघुउद्योग धंधों की उन्नति के कारण इसने नगर का रूप धारण कर लिया है। यहाँ सरकार का एक 'एक्सपेरिमेंटल फार्म' है। यहाँ सूती कपड़ा मुख्य गृह उद्योग है। हाथ करघों के साथ साथ एक पुतलीघर, दियासलाई का कारखाना और रेल के डिब्बे बनाने के कारखाने भी हैं। (कै० ना० सिं०)

कोश 'कोश' एक ऐसा शब्द है जिसका व्यवहार अनेक क्षेत्रों में होता है और प्रत्येक क्षेत्र में उसका अपना अर्थ और भाव है। यों इस शब्द का व्यापक प्रचार वाङ्मय के क्षेत्र में ही विशेष है। और वहाँ इसका मूल अर्थ 'शब्दसंग्रह' है। किंतु वस्तुतः इसका प्रयोग प्रत्येक भाषा में, अक्षरानुक्रम अथवा किसी अन्य क्रम से उस भाषा अथवा किसी अन्य भाषा में शब्दों की व्याख्या उपस्थित करनेवाले ग्रंथ के अर्थ में होता है।

निघंटु भारतीय कोश का प्राचीनतम रूप है। निघंटु सामान्यतः ऐसे कोशों को कहते थे जिनमें ऐसे प्राचीन शब्दों का विवेचन होता था जो तत्काल प्रचलित न हों। निघंटु का आरंभ वैदिक भाषा के ऐसे शब्दों के संग्रह के लिये हुआ था जिनका प्रचलन लोक से उठ गया था और लोगों को उनके समझने में कठिनाई होने लगी थी। यास्क का निरुक्त ऐसे ही एक निघंटु का भाष्य है। यास्क द्वारा व्याख्यात निघंटु पंचाध्यायी कहा जाता है। इसके प्रथम तीन अध्यायों को 'नैघंटुक कांड' कहा गया है। इन कांडों के शब्दों की व्याख्या यास्क ने अपने निरुक्त के दूसरे और तीसरे अध्याय में की है। इनमें १३४१ शब्द हैं पर व्याख्या केवल २३० शब्दों की हुई है। निघंटु के परिगणित शब्दों में संज्ञा अर्थात् नाम और आख्यात् एवं अव्यय पदों का संकलन है। सर्वप्रथम पृथिवीबोधक इक्कीस पर्यायवाची शब्दों का परिचय है; तदनंतर ज्वलनार्थक अग्नि के ग्यारह पर्याय दिए गए हैं। इस रूप में तीनों अध्यायों में पर्यायवाची अथवा समानार्थबोधक शब्दों का समूह है। इनमें अनेक शब्द अनेकार्थक भी हैं। निघंटु में उनका संकलन पर्याय के रूप में ही हुआ है; निरुक्त में उनके अनेक अर्थ उदाहरण सहित बताए गए हैं। चतुर्थ अध्याय में २७८ स्वतंत्र पदों का जो किसी के पर्याय नहीं हैं, संकलन है। इनमें वे शब्द हैं जिनके अनेक अर्थ हैं अथवा ऐसे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति अज्ञात है। अंतिम अध्याय में वैदिक देवताबोधक १५१ नाम हैं। इस निघंटु के रचयिता के संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग यास्क को ही निघंटु और निरुक्त का रचयिता अनुमान करते हैं। कुछ उसे ऐसे वेदज्ञ ऋषि की रचना मानते हैं जिसका नाम अज्ञात है और कुछ उसे अनेक व्यक्तियों की रचना बताते हैं। इस उपलब्ध निघंटु के अतिरिक्त अन्य अनेक निघंटु तैयार हुए होंगे पर वे सभी लुप्त हैं।

वैदिक निघंटुओं की परंपरा कदाचित् आगे चलकर लुप्त हो गई परंतु अथर्ववेद के उपवेद आयुर्वेद में इस नाम के ग्रंथों की परंपरा चलती रही। इस प्रकार का एक निघंटु 'धन्वंतरि निघंटु' है जो चौथी शती ई० के पूर्व किसी समय की रचना अनुमान की जाती है। नौ अध्याय के इस ग्रंथ में पारिभाषिक शब्दों के अर्थ के साथ साथ उनके गुण दोष का भी उल्लेख है।

निघंटु ग्रंथों के अनंतर संस्कृत कोशों की परंपरा का उद्भव धातुपाठ, उणादिसूत्र, गणपाठ, लिंगानुशासन के रूप में हुआ। आगे चलकर संस्कृत के जो कोश प्रस्तुत हुए, वे धातुपाठ अथवा गणपाठ शैली से सर्वथा भिन्न हैं। इन कोशों में मुख्यतः नामपदों और अव्ययों का संग्रह है। कवियों को काव्यरचना करते समय शब्दों के चयन में सुविधा हो, इस दृष्टि से वाङ्मय के विस्तृत क्षेत्र से शब्दों का संग्रह करके मुरारी, मयूर, बाण, श्रीहर्ष, बिल्हण, आदि कवियों ने कोश प्रस्तुत किए। संस्कृत कोश प्रधानतः पद्यात्मक हैं और उनमें शब्द और अर्थ का परिचय है।

संस्कृत के किसी प्राचीनतम कोश का अंश आठ पृष्ठों के रूप में मध्य एशिया के काशगर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। उसे किसी बौद्धधर्मी ने प्रस्तुत किया था। काशिका नानार्थ, कात्यायन का नाममाला, वाचस्पति का शब्दार्णव, विक्रमादित्य का संसारावर्त, व्याडि की उत्पलिनी संस्कृत के प्राचीन कोश हैं। किंतु प्राचीन कोशों में सर्वश्रेष्ठ अमरसिंह विरचित नामलिंगानुशासन है जो अमरकोश के नाम से विख्यात है। इसमें समानार्थी शब्दों का संग्रह है। यह लगभग चौथी-पाँचवीं शती ई० की और उपर्युक्त कोशों के कदाचित् बाद की रचना है।

प्राचीनकालीन जो भारतीय कोश उपलब्ध हैं, उनमें शब्दों का संग्रह किसी विशेष क्रम से नहीं किया गया है। उनमें संक्षेप में अर्थ का ही संग्रह है। संस्कृत के कोष दो प्रकार के हैं: (१) समानार्थी शब्दों के संग्रह और (२) अनेकार्थवाची शब्दों के संग्रह। इन दोनों ही प्रकार के कोशों का कोई व्यवस्थित रूप नहीं है। प्रत्येक कोश में एक दूसरे से भिन्न पद्धति अपनाई गई है। कुछ कोश अक्षर'अनुक्रम से हैं तो कुछ शब्दों के अक्षरों की संख्या के अनुसार हैं और कुछ पर्यायबाहुल्य शब्दों के संग्रह हैं। किसी में लिंग को संग्रह का आधार बनाया गया है।

मध्ययुगीन कोशों में अनेकार्थ समुच्चय महत्व का कोश समझा जाता है। उसके बाद हलायुध के अभिधान रत्नमाला का स्थान है। इसकी रचना दसवीं शती के आसपास हुई थी। इसके सौ वर्ष पश्चात् यादवप्रकाश अथवा वैजयंती नाम से एक विस्तृत कोश की रचना हुई। इसमें प्रथम अक्षर की संख्या के आधार पर शब्दों का संग्रह किया गया है। उसके बाद लिंग-पद्धति से शब्द दिए गए हैं और फिर प्रत्येक प्रकरण में अक्षर-क्रम से शब्द हैं। इस कोश में बड़ी मात्रा में नए शब्दों का संकलन है।

बारहवीं शती के पूर्वार्ध में धनंजय नामक जैन कवि ने नाममाला और महेश्वर कवि ने विश्वप्रकाश नामक कोश प्रस्तुत किए। विश्वप्रकाश नानार्थ कोश है। महेश्वर ने इसकी प्रस्तावना में अपने पूर्ववर्ती कोशकारों के रूप में योगींद्र, कात्यायन, वोपालित और भागुरी का उल्लेख किया है। इसी काल में मंख ने एक अनेकार्थ कोश की रचना की थी किंतु कश्मीर के बाहर उसका प्रचार नहीं है। इसी काल के एक अन्य प्रसिद्ध कोशकार हैं हेमचंद्र (१०८८—११७२ ई०)। उनके चार कोश उपलब्ध होते हैं—(१) अभिधान चिंतामणिमाला—एकार्थ शब्दकोश; (२) अनेकार्थ संग्रह; (३) देशीनाममाला और (४) निघंटुशेष। इन चारों कोशों को उन्होंने अपने व्याकरण के परिशिष्ट के रूप में दिया है।

दसवीं और तेरहवीं शती के बीच किसी समय पुरुषोत्तमदेव ने अमरकोश के परिशिष्ट के रूप में त्रिकांडशेष नामक कोश प्रस्तुत किया। इसमें बौद्ध संस्कृत वाङ्मय से महत्व के शब्द चुने गए हैं। उन्होंने हारावली नाम से एक अन्य कोश की रचना की है जिसमें त्रिकांडशेष की अपेक्षा अधिक महत्व के शब्द संग्रहीत हैं।

१२०० ई० के आसपास केशवस्वामी ने 'नानार्थार्णवसंक्षेप' नामक कोश की रचना की उसमें शब्द अक्षर क्रम और लिंग अनुक्रम से संकलित हैं। चौदहवीं शती में मेदिनीकर ने मेदिनी नामक नानार्थ शब्दकोश तैयार किया था जिसकी काफी ख्याति है।

प्राकृत कोशों में सबसे प्राचीन धर्मपालकृत पाइयलच्छी नाममाला (९७२ ई०) है। इसका उपयोग हेमचंद्र ने अपने देशी नाममाला में किया है। १२वीं शती में रचित अभिधानप्पदीपिका प्राकृत का एक अन्य प्रसिद्ध कोश है।

अकबर के शासनकाल में कृष्णदास ने पारसी प्रकाश नाम से फारसी-संस्कृत कोश तैयार किया था। शाहजहाँ के समय वेदांगराय ने पारसी-प्रकाश नाम से ज्योतिष विषयक कोश बनाया था। इसी काल का क्षेमेंद्र कृत व्यवहारोपयोगी शब्दों का कोश लोकप्रकाश है।

हिंदी में कोशों की रचना हिंदी साहित्य के मध्यकाल से ही होने लगी थी, ऐसा हिंदी ग्रंथों के खोज विवरणों से ज्ञात होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि अनेक छोटे बड़े कोश बने थे जिनमें से अनेक लुप्त हो गए। जो उपलब्ध हैं उनसे ऐसा जान पड़ता है कि उनपर संस्कृत के कोशों से संकलित विषय और उनकी पद्धति का काफी प्रभाव रहा है। अधिकांश कोशकारों ने अमरकोश को अपनी रचना का आधार बनाया है। कुछ कोशकारों ने मेदिनी आदि से भी सहायता ली है। 'नाममाला' और 'अनेकार्थमंजरी', नंददास रचित दो कोश हैं। जिनका स्वरूप उनके नाम से ही स्पष्ट है। तदनंतर गरीबदास का अनंगप्रबोध (१६१५ ई०) और रत्नजीत (१७१३ ई०) के भाषाशब्दसिंधु और भाषाधातुमाला अन्य उल्लेखनीय कोश हैं। मिर्जा खाँ का 'तुहफत्-उल-हिंद' और खुसरो की खालिकबारी मुसलमान कोशकारों के उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। मिर्जा खाँ का कोश अनेक दृष्टि से नूतन पद्धति का निदर्शन उपस्थित करता है। इसमें शब्दसंयोजन में नवीनता और भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है।

यूरोप में लातिन (लैटिन) रोमन धर्म और साम्राज्य की धार्मिक एवं राजनीतिक महत्ता के कारण प्रमुख भाषा बन गई थी। उस भाषा के ग्रंथों का अध्ययन महत्व का माना जाता था। एक प्रकार से वह समस्त विद्या और ज्ञान का प्रवेश द्वार थी। अतः लातिन शब्दसूचियों से, जिन्हें 'ग्लासिज' कहते थे पाश्चात्य कोशरचना कला का प्रस्फुरण हुआ। लातिन ग्रंथों के पाठक ग्रंथों के हाशिए पर दुर्बोध और कठिन शब्दों का नोट देते थे और कभी कभी अपनी स्मृति के आधार पर अथवा अन्य लोगों की सहायता से इन शब्दों के अर्थ भी लिख देते थे। यह 'ग्लास' कहलाता था। यह 'ग्लास-पद्धति' केल्टिक एवं ट्यूटानिक प्रदेशों में उपयोगी सिद्ध हुई और व्यापक रूप से अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत आयाम में इस प्रकार की शब्द-सूचियाँ बनी। इस प्रकार सैक्सन, इंग्लिश, आयरिश, गथिक (प्राचीन जर्मन) आदि भाषाओं के प्राचीन शब्दरूप बड़ी मात्रा में सुरक्षित हुए। और ये शब्दसंग्रह 'ग्लासेरियम' कहलाए।

१२वीं-१३वीं शती ई० पहुँचते पहुँचते यूरोप के विभिन्न भाषाओं में अनेक प्रकार के विभिन्न वर्गों के शब्दों की सूचियाँ संकलित की जाने लगी। जिस प्रकार संस्कृत के अमरकोश आदि में पर्यायवाची शब्दों का वर्गाश्रित संग्रह मिलता है उसी प्रकार इन शब्दसूचियों में भी शारीरिक अंगों पारिवारिक संबंधों, मनुष्य के पदों, श्रेणियों, घरेलू और जंगली पशुओं, वृक्षों, व्यवसायों, वस्त्राभूषणादि का अर्थ सहित संग्रह होता था। ये सूचियाँ 'वाक्युबुलेरियम्' कहलाईं। इन्हीं 'वाक्युबुलेरियम्' से 'डिक्शनेरियम'का विकास हुआ और कालक्रम में यूरोप की विभिन्न भाषाओं के अपने अपने शब्दसंग्रह हुए और उन्होंने अकारादिक्रम वाले कोशों का रूप धारण किया जिसे हम डिक्शनरी के नाम से जानते हैं।

जब यूरोपवासियों, विशेषतः अंगरेजों का भारत के साथ निकट संबंध स्थापित हुआ तब नवागंतुक अंगरेजों को इस देश की भाषाएँ जानने की विशेष आवश्यकता प्रतीत हुई। और तब उन्होंने अपनी सुविधा के लिये अपनी देशभाषा के कोशों के अनुकरण पर भारतीय भाषाओं के कोश बनाए। इस प्रकार इस देश में आधुनिक ढंग के और अकारादि क्रम से बननेवाले शब्दकोशों की रचना का सूत्रपात हुआ। भारतीय भाषाओं में कदाचित् सबसे पहले हिंदी, जिसे उस समय अंग्रेज हिंदुस्तानी कहा करते थे, के दो कोश जे० फर्गुसन ने तैयार किए जो १७७३ ई० में लंदन में छपे। इनमें एक हिंदुस्तानी-अंग्रेजी और दूसरा अंग्रेजी-हिंदुस्तानी का था। इसी प्रकार हेनरी हैरिस के प्रयास के परिणामस्वरूप इसी ढंग का एक अन्य कोश १७९० ई० में मदरास में छपा। १८०८ ई० में जोजेफ टेलर और विलियम हंटर के संयुक्त प्रयास से एक हिंदुस्तानी-अंगरेजी कोश कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। तदुपरांत १८१० में एडिनबरा से जे० बी० गिलक्राइस्ट का और १८१७ में लंदन से जे० शेक्सपियर का अंगरेजी-

हिंदुस्तानी और हिंदुस्तानी-अंगरेजी कोश निकले। ये सभी कोश रोमन अक्षरों में मुद्रित किए गए थे।

हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों में पहला कोश पादरी एम० टी० एडम ने तैयार किया जो १८२९ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। उसके बाद ऐसे अनेक कोश प्रस्तुत हुए जिनमें हिंदी शब्दों के अर्थ अंगरेजी में अथवा अंगरेजी शब्दों के अर्थ हिंदी में होते थे। ऐसे कोश प्रस्तुत करनेवालों में एम० डब्ल्यू० फैलन, जे० टी० प्लाट्स, और जे० डी० बेट के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मुंशी राधेलाल पहले भारतीय थे जिन्होंने १८७३ ई० में कोश प्रस्तुत किया। १८८० ई० में सैयद जामिन अली जलाल का गुलशने फैज नामक कोश प्रकाशित हुआ जो फारसी लिपि में था पर उसमें अधिकांश शब्द हिंदी के थे। १८९२ ई० में बाकीपुर (पटना) से बाबा बैजूदास का विवेक कोश निकला। तदुपरांत हिंदी के छोटे छोटे अनेक कोश निकले।

इस शती के आरंभ में काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी के ऐसे कोश के प्रकाशन की आवश्यकता का अनुभव किया जिसमें हिंदी के पुराने पद्य और नए गद्य दोनों में व्यवहृत होनेवाले समस्त शब्दों का समावेश हो और १९०४ में वह इस ओर अग्रसर हुई तथा उसने दस खंडों में हिंदी शब्दसागर नाम से बृहत् कोश प्रकाशित किया। पूर्ववर्ती अधिकांश कोशों की भाँति यह कोश किसी एक व्यक्ति द्वारा निर्मित न होकर भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ अनेक सुधीजनों द्वारा तैयार किया गया था। इसमें ग्रंथों और व्यवहारप्रयुक्त भाषा और बोलियों के प्रायः समस्त उपलब्ध सामान्य और विशेष शब्द संगृहीत किए गए हैं। इसमें अर्थनिर्धारण के लिये व्याख्यात्मक पद्धति अपनाई गई है।

हिंदी शब्दसागर के प्रकाशन के पश्चात् उसका एक संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित किया गया। इसे प्रथम व्यावहारिक और प्रामाणिक हिंदी कोश कहा जा सकता है। इसके पश्चात् उसके अनुकरण पर अथवा किंचित् भिन्न कोश समय समय पर प्रकाशित हुए हैं।

सामान्य कोशों के अतिरिक्त कोश कला ज्ञानकोश के रूप में विकसित हुई है। इसके बृहत्तम और उत्कृष्ट रूप को अंग्रेजी भाषा में 'एसाइक्लोपीडिया' कहा गया है। इसके लिए हिंदी में 'विश्वकोश' शब्द का प्रयोग होता है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम बंगला भाषा में किया गया था और वहीं से वह हिंदी में गृहीत हुआ है। हिंदी में पहले विश्वकोश के रूप में बंगला विश्वकोश का भाषांतर प्रकाशित हुआ था। तदनंतर नागरीप्रचारिणी सभा ने बारह खंडों में 'हिंदी विश्वकोश' प्रस्तुत किया। (प० ला० गु०)

कोशरचना विषयों की दृष्टि से शब्दकोशों के वर्ग या विभाग बताना कठिन है। अलग अलग कोशकार अपनी समझ के अनुसार इस प्रकार के विषयविभाग बनाया करते थे। उनका न तो कोई निश्चित क्रम होता था और न हो ही सकता था। इसलिये लोगों को प्रायः सारा कोश कंठस्थ करना पड़ता था। इसी कारण पाश्चात्य देशों में शब्दकोश अक्षरक्रम से बनने लगे। ऐसे कोश रटने नहीं पड़ते थे और आवश्यकतानुसार जब जिसका जी चाहता था, तब वह उसका उपयोग कर सकता था। आजकल प्रायः सभी देशों और सभी भाषाओं में कोश के क्षेत्र में इसी क्रम का प्रयोग होने लगा है जो जिज्ञासु की दृष्टि से सबसे अधिक सुभीते का होता है। इसी लिये कोश के जितने प्रकार होते हैं, उन सब में प्रायः अक्षरक्रम का ही प्रयोग किया जाता है।

यों तो कोश के अनेक प्रकार होते हैं, पर अर्थ के विचार से वे दो भागों में बाँटे जा सकते हैं। एक तो वे जिनमें किसी भाषा के शब्दों के अर्थ और विवेचन उसी भाषा में होते हैं, और दूसरे वे जिनमें एक भाषा के शब्दों के अर्थ दूसरी भाषा या भाषाओं में दिए जाते हैं। विषय के विचार से कोश अनेक प्रकार के हो सकते हैं, जैसे—गणित कोश, विधिक कोश, वैद्यक कोश, साहित्य कोश आदि। ऐसे कोशों की गिनती प्रायः शब्दावलियों में होती है, जैसे कृषि शब्दावली, दार्शनिक शब्दावली, भौगोलिक शब्दावली आदि। इनके सिवा कुछ विशिष्ट कवियों, बोलियों आदि के भी अलग अलग कोश होते हैं, जैसे—तुलसी कोश, सूर कोश, अवधी कोश, ब्रजभाषा कोश आदि। किसी विशिष्ट विषय के महत्वपूर्ण ग्रंथ में आए हुए मुख्य प्रतीकों, विषयों या शब्दों की जो कोश या तालिकाएँ होती हैं, उन्हें क्रमात् प्रतीकानुक्रमणिका, विषयानुक्रमणिका या शब्दानुक्रमणिका कहते हैं।

कोशरचना एक कला है। इस कला का ज्ञान वर्तमान युग की परम उन्नत भाषाओं के शब्दकोशों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर प्राप्त हो सकता है। अच्छे और प्रामाणिक कोशों का संपादन तब तक केवल विद्वत्ता के बल पर नहीं हो सकता, जब तक कोशरचना की कला का भी पूरा पूरा ज्ञान न हो और इस कला का ज्ञान कोशों के जीवनव्यापी अध्ययन से ही हो सकता है।

सभी प्रकार के कोश किसी विशेष उद्देश्य तथा किसी विशेष क्षेत्र की आवश्यकता की पूर्ति के लिये ही बनाए जाते हैं। अतः कोशरचना में मुख्यतः इसी उद्देश्य या आवश्यकता का ध्यान रखना पड़ता है। दूसरे, इस बात का भी बराबर ध्यान रखना पड़ता है कि उसका सारा कलेवर सभी दृष्टियों से संतुलित रहे, ऐसा न हो कि कोई अंग तो आवश्यकता या औचित्य से अधिक बढ़ जाय, और कोई उसकी तुलना में क्षीणकाय या हीन जान पड़े। शब्दों का विवेचन भी और उस विवेचन के अंगों का क्रम भी सदा एक सा रहना चाहिए। शब्दों की भी जातियाँ या वर्ग होते हैं, अतः एक जाति या वर्ग के सब शब्दों का सारा विवेचन एक सा होना चाहिए। यदि प्रामाणिक ग्रंथों अथवा लेखकों के उदाहरण लिए जायँ, तो उनका उतना ही अंश लेना चाहिए, जितने में आशय स्पष्ट हो सके और जिज्ञासु का समाधान हो जाय।

अच्छे कोशों में सभी प्रकार के क्षेत्रों और विषयों के पारिभाषिक शब्द भी रहते हैं। इसलिये संपादक को अधिक से अधिक विषयों का सामान्य ज्ञान या बोध होना चाहिए। आवश्यकता होने पर किसी अनजाने या नए विषय के अच्छे और प्रामाणिक ग्रंथ से या उसके अच्छे ज्ञाता से भी सहायता लेना आवश्यक होता है। कोशरचना के कार्य में दृष्टि बहुत व्यापक रखनी चाहिए और वृत्ति मधुकरी होनी चाहिए। दृष्टि इतनी पैनी और सूक्ष्म होनी चाहिए जो सहज में नीर क्षीर का विवेक कर सके और पुरानी त्रुटियों, दोषों, भूलों आदि को ढूँढ़कर सहज में उनका संशोधन तथा सुधार कर सके। कोशकार में पक्षपात या रागद्वेष नाम को भी नहीं रहना चाहिए। उसका एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए भाषा तथा साहित्य की सेवा।

कोशों में प्रधानता अर्थों और विवेचनों की ही होती है, अतः उनमें कहीं व्याप्ति या अतिव्याप्ति नहीं रहनी चाहिए। सभी बातें नपी तुली, मर्यादित और यथासाध्य संक्षिप्त होनी चाहिए। कोश में अधिक से अधिक और ठोस जानकारी कम से कम शब्दों में प्रस्तुत करके ही जानी चाहिए। फालतू या भरती की बातों के लिये कोश में स्थान नहीं होता।

शब्दों के कुछ रूप तो मानक होते हैं और बहुत से रूप स्थानिक या प्रांतीय होते हैं। जिन स्थानिक या प्रांतीय शब्दों के मानक रूप प्राप्त हों, उनका सारा विवेचन उन्हीं मानक शब्दों के अंतर्गत रहना चाहिए, और उनके स्थानिक या प्रांतीय रूपों के आगे उनके मानक रूपों का अभिदेश मात्र होना चाहिए। इससे बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि अन्य भाषाभाषियों को सहज में शब्दों के मानक रूप का पता चल जाता है, और भाषा को मानक रूप स्थिर होने में सहायता मिलती है—अपरिचितों के द्वारा भाषा का रूप सहसा बिगड़ने नहीं पाता। यही बात ऐसे संस्कृत शब्दों के संबंध में भी होनी चाहिए जिसके बहुत से पर्याय हों। जैसे कमल, नदी, पर्वत, समुद्र आदि। शब्दों के आगे उनके पर्याय देते समय भी इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि पर्याय वही दिए जायँ जो मूल शब्द का ठीक आशय या भाव बतानेवाले हों। जिन पर्यायों के कारण कुछ भी भ्रम उत्पन्न हो सकता हो, उन पर्यायों का ऐसे प्रसंगों में परित्याग करना ही श्रेयस्कर होगा।

कोशकारों के सामने इधर हाल में वेब्स्टर की न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी ने एक नया आदर्श रखा है जो बहुत ही उपयोगी तथा उपादेय होने के कारण शब्दकोशों के लिये विशेष अनुकरणीय है। उसमें अनेक शब्दों के अंत-

गंत उनसे मिलते जुलते पर्यायों के सूक्ष्म अंतर भी दिखलाए गए हैं, यथा—फीयर (Fear) के अंतर्गत ड्रेड (Dread), फ्राइट (Fright), एलार्म (Alarm), डिस्मे (Dismay), टेरर (Terror) और पैनिक (Panic) के सूक्ष्म अंतर भी बतला दिए गए हैं। ऐसा यह सोच कर किया गया है कि कोशकार का काम शब्दों के अर्थ बतला देने से ही समाप्त नहीं हो जाता, वरन् इससे भी आगे बढ़कर उसका काम लोगों को शब्दों के ठीक प्रयोग बतलाना होता है। हमारे यहाँ ऐसे सैकड़ों हजारों शब्द मिलेंगे, जिनके पारस्परिक सूक्ष्म अंतर बतलाए जा सकते हैं और इस प्रकार जिज्ञासुओं को शब्दों पर नए ढंग से विचार करने का अभ्यास कराया जा सकता है।

हाल के अच्छे और बड़े अँगरेजी कोशों में एक और नई तथा उपयोगी परिपाटी चली है जो भारतीय भाषाओं के कोशों के लिये विशेष रूप से उपयोगी हो सकती है। प्रायः सभी भाषाओं में बहुत से ऐसे यौगिक शब्द होते हैं जो उपसर्ग लगाकर बना लिए जाते हैं। कनिष्ठ से अकनिष्ठ, करणीय से अकरणीय, अपेक्षित से अनपेक्षित, आवश्यक से अनावश्यक, मंत्री से उपमंत्री, समिति से उपसमिति, पालन से परिपालन, भ्रमण से परिभ्रमण, कर्म से प्रतिकर्म, विधान से प्रतिविधान आदि। उपसर्गों के योग से बननेवाले ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक होती है। ऐसे शब्द दो वर्गों में बँटे होते हैं अथवा बाँटे जा सकते हैं। एक तो ऐसे शब्द जिनके पूर्व पद तथा उत्तर पद मिल कर भी किसी नए या विशिष्ट अर्थ से युक्त नहीं होते, और इसी लिये साधारण शब्दों के अंतर्गत रहते हैं। ऐसे शब्दों और उनके अर्थों से कोश का कलेवर बहुत बढ़ जाता है। इस प्रकार के व्यर्थ विस्तार से बचने के लिये वेब्स्टर के नए कोशों में यह नई पद्धति अपनाई गई है कि उन्हें स्वतंत्र शब्द नहीं मानते और इसी लिये उनके अर्थ भी नहीं लिए गए हैं। पृष्ठ के अंत में एक रेखा के नीचे ऐसे सब शब्दों की सूची मात्र दे दी गई है, यथा—अन्-डिजायर्ड, अन्-डिस्टर्ब्ड, अन्-फ्री, अन्-हर्ट, अन्-इनवाइटेड आदि। हाँ, इनके विपरीत दूसरे वर्ग के कुछ ऐसे शब्द अवश्य होते हैं जिनमें उपसर्गों के योग से कुछ नए अर्थ निकलते हैं। जैसे विशेषण रूप में 'अकच' का रूप 'बिना बालोंवाला' तो है ही, पर संज्ञा रूप में वह केतु ग्रह का भी एक नाम है। 'अनागार' (विशेषण) का अर्थ 'बिना घरबारवाला' तो है ही, पर संज्ञा रूप में वह 'संन्यासी' का भी वाचक है। इसलिये ऐसे शब्द लेना आवश्यक होता है। जिन शब्दों के अर्थ पूर्वपद और उत्तरपद के योग से स्वतः नष्ट हो जाते हों, उन्हें कोशों में अर्थसहित लेना व्यर्थ ही समझा जाने लगा है। अतः पृष्ठांत में ऐसे शब्दों की सूची मात्र दे देना यथेष्ट होगा। हाँ, जिन यौगिक शब्दों में दोनों पदों के योग से कोई नया और विशेष अर्थ निकलता हो, उन्हें यथास्थान अर्थसहित लेना तो आवश्यक है ही।

हमारे यहाँ के पुराने संस्कृत कोशों की पद्धति यह रही है कि अति, प्रति, सह आदि के योग से बननेवाले शब्द अपने पूर्व पदवाले शब्द के अंतर्गत एक ही शीर्षक में एक साथ दे दिए जाते हैं। हिंदी के कुछ कोशों ने भी इस प्रथा का अनुकरण किया है। यद्यपि संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से यह पद्धति युक्तिसंगत होती है, फिर भी संस्कृत कोशों तक में इनका पूरा पूरा पालन होता हुआ नहीं दिखाई देता। इसमें स्थान की कुछ बचत अवश्य होती है, पर साधारण पाठकों के लिये शब्द ढूँढ़ना बहुत कठिन हो जाता है। कभी कभी तो ऐसे लोगों के लिये भी इस पद्धति से शब्द ढूँढ़ना कठिन होता है जो इसके नियमों और सिद्धांतों से बहुत कुछ परिचित होते हैं।

प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो अलग अलग अर्थों के विचार से *अव्यय, क्रियाविशेषण, विशेषण, प्रत्यय, संज्ञा आदि भी होते हैं,* और अलग अलग मूलों से भी व्युत्पन्न होते हैं, यथा हिंदी का 'आन' शब्द संज्ञा भी है, विशेषण भी और प्रत्यय भी। अपने संज्ञा रूप में भी वह अपने कई अर्थों में कुछ अलग अलग मूलों से व्युत्पन्न है। ऐसे शब्द आधुनिक और श्रेष्ठ अँगरेजी कोशों में अलग और स्वतंत्र शब्द माने जाते हैं, और उनके अलग अलग शीर्षक रखकर उनका विवेचन किया जाता है, यथा—अँगरेजी में वाइज़ (Wise) विशेषण भी है, संज्ञा भी और प्रत्यय भी, और तीनों रूपों में उसके शीर्षक अलग अलग रखे गए हैं। यदि भारतीय भाषाओं के कोशों में भी इनका अनुकरण किया जाय तो कई दृष्टियों से बहुत अच्छा होगा। (रा० व०)

कोशिकातत्व (Cytology) प्रोटोज़ोआ (Protozoa), बैक्टीरिया और वाइरस (Virus) से ऊँची श्रेणी के प्रत्येक जंतु अथवा वनस्पति का शरीर छोटी कोशिकाओं से मिलकर बना होता है। कोशिकाएँ इतनी छोटी होती हैं कि सूक्ष्मदर्शी के बिना देखी नहीं जा सकतीं। प्राणी जितना ही बड़ा होता है, वह उतनी ही अधिक कोशिकाओं से बना होता है। जंतुओं और वनस्पतियों की कोशिकाओं में कुछ अंतर अवश्य होता है, परंतु साधारणतः उनकी संरचना एक ही ढंग की होती है। भिन्न भिन्न प्राणियों की कोशिकाओं में भी अंतर होता है। एक ही प्राणी के विभिन्न अंगों की कोशिकाओं के आकार और गुणों में भी विशेषताएँ होती हैं, जैसे किसी भी स्तनधारी (mammal) के यकृत और गुर्दे की कोशिकाओं की संरचना एक समान नहीं होती। इनके कार्य भी भिन्न हैं। यह विभिन्नता होते हुए भी कल्पित साधारण कोशिका का वर्णन किया जा सकता है। कोशिका दो मुख्य भागों की बनी होती हैं : (१) कोशिकाद्रव्य (Cytoplasm) और (२) केंद्रक (Nucleus) : वानस्पतिक कोशिकाओं के चारों ओर सेल्युलोस की एक भित्ति होती है, परंतु जंतुओं में ऐसी भित्ति नहीं मिलती। कोशिकाद्रव्य में कुछ अंगक होते हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

लैंगिक प्रजनन करनेवाला प्रत्येक प्राणी अपना जीवन कोशिका अवस्था से ही आरंभ करता है। कोशिका अंडा होती है और इसके निरंतर विभाजन से बहुत सी कोशिकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कोशिका विभाजन की क्रिया उस समय तक होती रहती है जब तक प्राणी भली भाँति विकसित नहीं हो जाता।

कोशिका विभाजन के समय केंद्रकसूत्र दिखाई पड़ते हैं, किंतु स्थित (resting) केंद्रक में ये प्रायः नहीं दिखाई पड़ते। केंद्रक सब ओर एक आवरण से घिरा होता है।

कोशिकाद्रव्य एक पॉलिफ़ेज़िक कलिल (Polyphasic colloid) है,
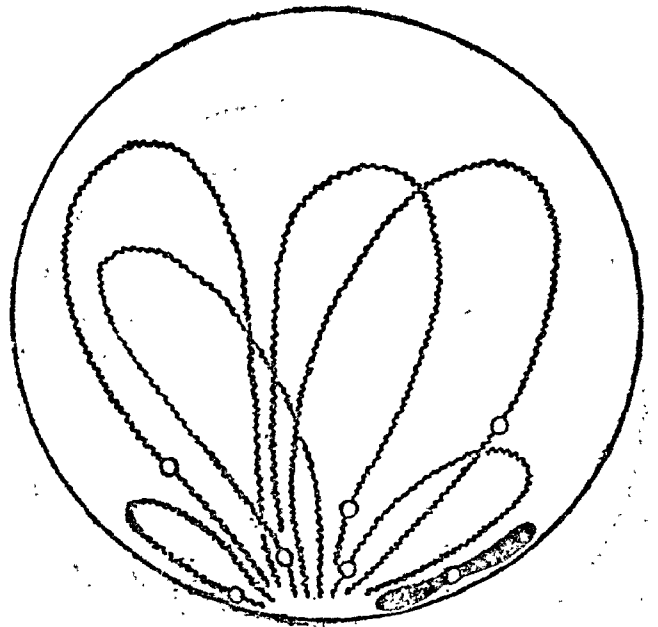
चित्र १ अर्धसूत्रणीय पूर्वावस्था : तनुसूत्रावस्था (Meiotic prophase : Leptotene)

परंतु यह साधारण कलिलों से भिन्न होता है क्योंकि यह संगठित (organised) होता है। कोशिकाद्रव्य में कई पदार्थ ऐसे होते हैं जो

इसकी सरचना मे कोई कार्य नही करते, किंतु उनका कोशिका के जीवन मे बडा महत्व है।

कोशिकाविभाजन—कोशिका के प्रत्येक विभाजन के पूर्व उसके केंद्रक का विभाजन होता है। केंद्रकविभाजन रीत्यनुसार होनेवाली सुतथ्य घटना है, जिसे कई अवस्थाओ मे विभाजित किया जा सकता है।
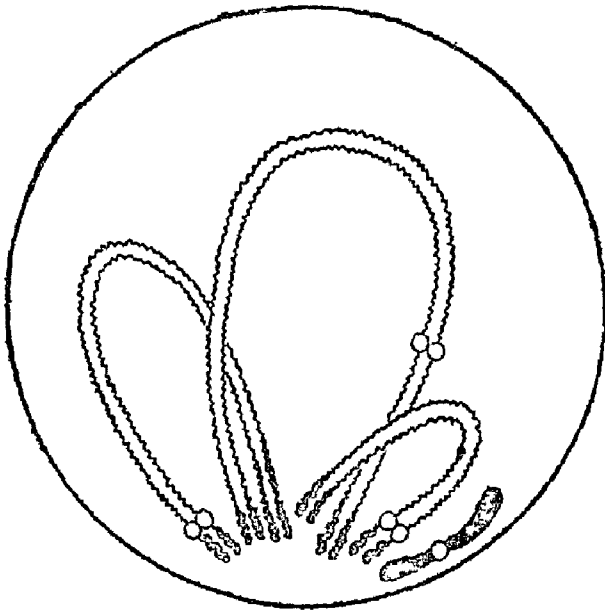
चित्र २. अर्धसूत्रणीय पूर्वावस्था : युग्म तथा स्थूल सूत्रावस्था (Zygotene-pachytene)

ये अवस्थाएँ निम्नलिखित है . (१) पूर्वावस्था (Prophase), (२) मध्यावस्था (Metaphase), (३) पश्चावस्था (Anaphase) तथा (४) अत्यावस्था (Telophase)।

पूर्वावस्था मे केंद्रक के भीतर पतले पतले सूत्र दिखाई पडते है, जिनको
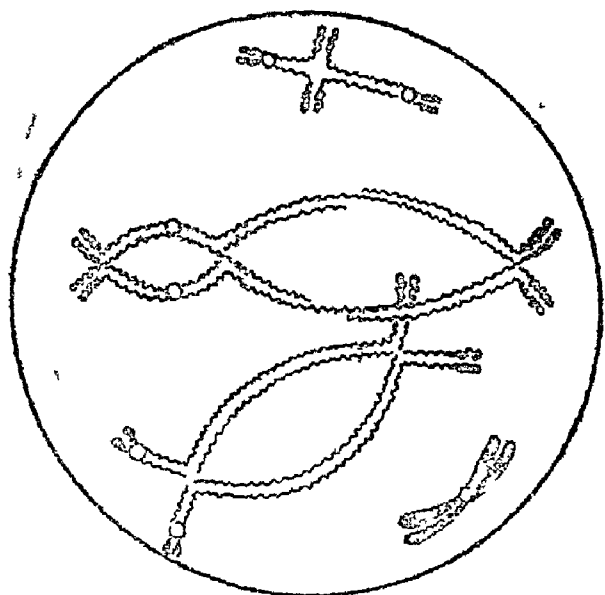
चित्र ३ अर्धसूत्रणीय पूर्वावस्था: द्विसूत्रावस्था (Diplotene)

केंद्रकसूत्र कहते है। ये केंद्रकसूत्र क्रमश. सर्पिलीकरण (spiralization) के कारण छोटे और मोटे हो जाते हैं। मध्यावस्था आते समय तक ये पूर्वावस्था की अपेक्षा कई गुने छोटे और मोटे हो जाते हैं। मध्यावस्था आने तक कोशिका के भीतर कुछ और महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हे। केंद्रक का आवरण नष्ट हो जाता है और उसकी जगह एक तर्कुवत् उपकरण (spindle apparatus) उत्पन्न होता है। अधिकाश प्राणियो की उन कोशिकाओं मे, जिनमे विभाजन की क्षमता बनी रहती है, एक विशेष उपकरण होता है जिसे सेंट्रोसोम (Centrosome) कहते हैं और जिसके मध्य मे एक कणिका होती है, जिसे ताराकेंद्र (Centriole) कहते है। पूर्वावस्था मे ही ताराकेंद्र का विभाजन हो जाता है और एक से दो तारार्केंद्र एक दूसरे को प्रतिकर्षित (repel) करते है। इसके
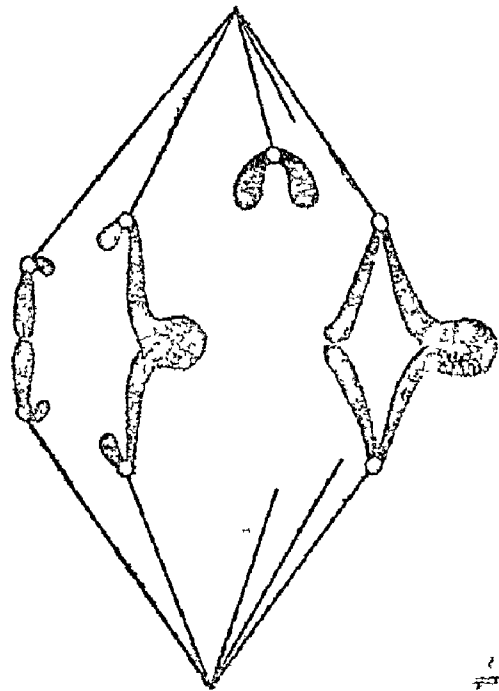
चित्र ४. प्रथम मध्यावस्था (Metaphase)

कारण ये एक दूसरे से दूर होते जाते है और सेंट्रोसोम दो भागो मे विभाजित हो जाता है। दोनो सेंट्रोसोम एक दूसरे से अधिक से अधिक दूरी पर व्यासाभिमुख (diametrically opposite) स्थापित हो जाते हैं। प्रत्येक सेंट्रोसोम के चारो ओर कोशिकाद्रव्य की पतली पतली रेखाएँ बन जाती हे जिनको ताराकिरण (Astral rays) कहते है। दोनो ओर से ताराकिरणे आकर केंद्रकावरण पर आघात करती है। इस समय तक पूर्वावस्था अपनी परिसमाप्ति तक पहुँच जाती है और, जैसा उपर कहा जा चुका हे, केंद्रकावरण नष्ट हो जाता है। अब एक सेंट्रोसोम से लेकर दूसरे तक तर्कु का प्रसार होता है। सेंट्रोसोम और उसकी ताराकिरण को सेंटर कहते है। तर्कु दो प्रकार के तर्कुततुओ (Spindle Fibres) का बना होता है। एक तो वे ततु होते है जो एक सेंटर से दूसरे सेंटर तक फैले होते हैं और जिनको सतत ततु (Continuous Fibres) कहते हैं। दूसरे वे ततु होते हैं, जिनका एक सिरा किसी केंद्रकसूत्र से सटा होता है और दूसरा दोनो मे से किसी एक सेंटर से। मध्यावस्था पर केंद्रकसूत्र तर्कु की मध्यरेखा के समतल पर एकत्रित हो जाते हें। इस समतल को मध्यावस्था फलक (Metaphase plate) कहते है। मध्यावस्था मे प्रत्येक केंद्रकसूत्र अविभाजित ही प्रतीत होता है परतु इसमें सदेह नही कि इस अवस्था के बहुत पहले से ही प्रत्येक केंद्रकसूत्र दो भागो मे विभाजित रहता है। वस्तुत विभाजन की क्रिया के पूर्व ही अतराल अवस्था (Interphase) मे केंद्रक से प्रत्येक केंद्रकसूत्र अपने सदृश एक दूसरा प्रतिवलित (replicate) बना लेता है

और ये दोनों सूत्र एक दूसरे के इतने समीप होते हैं कि देखने में एक ही ज्ञात होते हैं। प्रत्येक केंद्रकसूत्र में एक विशेष स्थान होता है जहाँ तर्कु का केंद्रकसूत्रीय तंतु (chromosomal fibre) जुड़ा होता है। इसको सेंट्रोमियर (Centromere) कहते हैं। किसी किसी जंतु मे केंद्रकसूत्र मध्यावस्था फलक के वाह्य भाग में ही पाए जाते हैं, परंतु अन्य जंतुओं में वाह्य भाग और आंतरिक भाग दोनों मे पाए जाते हैं। पश्चावस्था में प्रत्येक केंद्रकसूत्र के दोनों भाग एक दूसरे से पृथक् होने लगते हैं और इस अवस्था के अंत काल तक अभिमुखकेंद्र तक पहुँच जाते हैं।

इसके पश्चात् अंत्यावस्था आरंभ होती है। इस अवस्था में केंद्रकसूत्रों के दोनों समूहों और केंद्रों के चारों ओर केंद्रावरण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक केंद्रक से दो केंद्रक उत्पन्न होते हैं। जिस समतल पर मध्यावस्था फलक स्थापित था उस स्थान पर एक आवरण बन जाता है, जिसके कारण वह कोशिका दो कोशिकाओं में विभाजित हो जाती है। केंद्रक का विभाजन इसी विधि से होता है। यह बात उपर्युक्त *कथन से स्पष्ट है कि इस प्रकार केंद्रकगुणन में और* केंद्रकसूत्रों की संख्या में कोई अंतर नही होता। केंद्रक विभाजन को समसूत्रण (Mitosis) कहते हैं।

प्राणिजीवन तथा प्राणिप्रजनन के हेतु केंद्रक सूत्रों का बड़ा महत्व है, क्योंकि ये आनुवंशिक पदार्थ से बने होते हैं। भिन्न भिन्न जाति के जंतुओं की कोशिकाओं में केंद्रकसूत्र भिन्न भिन्न संख्याओं में पाए जाते हैं, परंतु किसी भी एक जाति के लिये केंद्रकसूत्रों की संख्या नियत होती है और साधारण अवस्था में इस संख्या में कोई विभिन्नता नहीं होती, जैसे मनुष्य के शरीर की प्रत्येक कोशिका में ४६ केंद्रकसूत्र होते हैं।

उपरिलिखित वर्णन साधारण कोशिकाविभाजन का है, किंतु कोशिकाविभाजन का एक विशेष रुप भी होता है। अन्य स्थान पर यह बतलाया गया है कि जिन प्राणियों में द्विलिंगिक प्रजनन की क्रिया प्रचलित है (और अधिकांश जंतुओं में यही क्रिया पाई जाती है), उनमें प्राणिजीवन एक संसेचित अंडे से आरंभ होता है। संसेचन में अंडे के केंद्रक और शुक्राणु (spermatozoon) के केंद्रक का सायुज्य होता है। सायुज्य का अर्थ यह हुआ कि आनुवंशिक पदार्थ युग्मज (zygote) में (जो अंडे और शुक्राणु के सायुज्य से बनता है) द्विगुण हो गया, क्योंकि यह पदार्थ एक मात्रा में अंडे में था और एक मात्रा में शुक्राणु में। यह स्पष्ट है कि आनुवंशिक पदार्थ प्रत्येक पीढ़ी में द्विगुण नहीं होगा। संसेचनविधि में आनुवंशिक पदार्थ में अनिवार्य द्विगुणन की क्रिया इस प्रकार होती है कि लैंगिक कोशिकाओं का परिपक्वताविभाजन (maturation division) के समय केंद्रकसूत्रों की संख्या आधी हो जाती है। इसका कारण यह है कि लैंगिक कोशिकाओं का परिपक्वताविभाजन, अथवा अर्धसूत्रण (Meiosis), साधारण कोशिकाविभाजन अथवा समसूत्रण से भिन्न होता है। अर्धसूत्रण की पूर्वावस्था साधारण समसूत्रण की पूर्वावस्था की अपेक्षा अधिक समय तक स्थिर रहती है और कई उपावस्थाओं में विभाजित की जा सकती है। ये उपावस्थाएँ निम्नलिखित हैं : (१) लेप्टोटीन (Leptotene), (२) जाइगोटीन (Zygotene), (३) पैकिटीन (Pachytene), (४) डिप्लोटीन (Diplotene) तथा (५) डायाकिनीसिस (Diakinesis)। इसके पश्चात् मध्यावस्था और अंत्यावस्था उसी प्रकार आती है जैसे साधारण समसूत्रण में।

चित्र ५. नरकदली मक्खी की प्रशुक्रकोशिका की मध्यावस्था
(Spermatogonial metaphase of male Drosophila melanogaster)
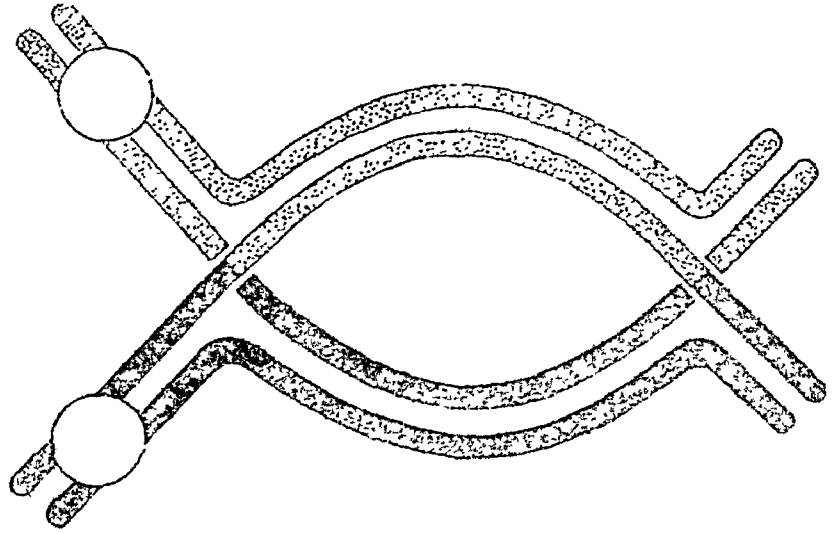
चित्र ६. दो आड़े समेकन सहित, एक द्वियोजी द्विसूत्रावस्था
One diplotene bivalent with two chiasmata

लेप्टोटीन अवस्था में केंद्रक लंबे और पतले केंद्रकसूत्रों से भरा पाया जाता है। इन सूत्रों पर कहीं कहीं कणिकाएँ पाई जाती हैं, जिनको क्रोमोमियर (Chromomere) कहते हैं। क्रोमोमियरों के बीच के केंद्रकसूत्रों के भागों को इंटर क्रोमोमेरिक फाइब्रिली (interchromomeric fibrillae) कहते है। इंटरक्रोमोमेरिक फाइब्रिली की अपेक्षा क्रोमोमियर में अभिरंजित होने की अधिक क्षमता होती है। जाइगोटीन उपावस्था में केंद्रकसूत्रों का युग्मन होता है। लैंगिक केंद्रकसूत्रों के अतिरिक्त जीव के केंद्रक में केंद्रकसूत्रों के दो एकात्मक कुलक होते हैं। एक कुलक में कई केंद्रकसूत्र होते हैं, जो साधारणतः एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक प्रकार के दो केंद्रकसूत्र होते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, युग्मांशु उपावस्था में केंद्रकसूत्रों का युग्मन होता है। युग्मन की क्रिया क्रमहीन रुप में नही होती, वरन् बहुत क्रमबद्ध होती है। यह क्रिया केवल समान केंद्रकसूत्रों के बीच होती है। प्रत्येक केंद्रकसूत्र अपने समान सूत्र के साथ एक सिरे से दूसरे सिरे तक जुड़ जाता है और जुड़े हुए सूत्रों के क्रोमोमियर केवल अपने समान क्रोमोमियर से ही जुड़ते हैं। जाइगोटीन अवस्था के अंत तक युग्मन की क्रिया पूर्ण हो जाती है। सभी केंद्रकसूत्र एक दूसरे के इतने अधिक समीप होते हैं कि वे एक प्रतीत होते हैं। केंद्रकसूत्रों के ऐसे जोड़ों को द्विसंयोजक कहा जाता है।
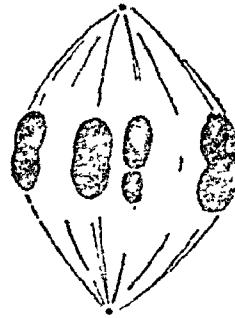
चित्र ७. सामान्य तनुत्री की प्रथम मध्यावस्था
(Primary metaphase of Thyanta custator)

पैकिटीन उपावस्था में प्रत्येक द्विसंयोजक के युग्मित सूत्र एक दूसरे के इतने समीप होते हैं कि पूर्ण द्विसंयोजक देखने में एक सूत्र प्रतीत होता है। पैकिटीन समय में सर्पित संघनन (spiral condensation) के कारण द्विसंयोजक छोटे होने लगते हैं और डिप्लोटीन तथा डायाकिनीसिस समय में द्विसंयोजक और भी छोटे हो जाते हैं। डिप्लोटीन उपावस्था

मे एक द्विसयोजक के दोनो सूत्रो मे से प्रत्येक सूत्र दो दो सूत्रो मे विभाजित हो जाता है। इसका फल यह होता है कि प्रत्येक द्विसयोजक दो जोडी युग्मित सूत्रो से बना पाया जाता है। एक केंद्रकसूत्र के विभाजन से उत्पन्न दो सूत्रो को अर्धसूत्र (Chromatid) कहते है। डिप्लोटीन अवस्था मे ये युग्मित सूत्र एक दूसरे से पृथक् हो जाते है, किंतु कुछ स्थानो पर ये एक दूसरे से अलग नहीं हो पाते। इसका कारण यह है कि प्रत्येक पक्ष का एक अर्धसूत्र जगह जगह पर टूट जाता है और फिर अभिमुख पक्ष के टूटे हुए एक अर्धसूत्र के दोनो खडो से इसके खड जुट जाते है। डिप्लोटीन अवस्था मे युगल अर्धसूत्र (sister chromatid) एक दूसरे से सटे होते हैं और अभिमुख युगल अर्धसूत्रो से स्पष्टत दूर होते हैं, परतु जगह जगह पर उपर्युक्त घटना के कारण एक अर्धसूत्र अपने युगल अर्धसूत्र का साथ छोडकर अभिमुख पक्ष के अर्धसूत्र के साथ सटा प्रतीत होता है। ऐसी सरचनाओ को किऐज़मेटा (Chiasmata) कहते हैं। सूत्रो के अधिक मोटे और छोटे होने के कारण डायाकिनिसिस मे अर्धसूत्रो का पारस्परिक सबध सुगमता से नही देखा जा सकता और मध्यावस्था (Metaphase) मे तो केंद्रकसूत्रो का भूयिष्ठ सघनन हो जाता है, जिससे किऐज़मेटा की उपस्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

यद्यपि अर्धसूत्रण की पूर्वावस्था (Prophase) से पहले ही प्रत्येक केंद्रकसूत्र का विभाजन हो जाता है, तथापि इनके सेंट्रोमियर का विभाजन मध्यावस्था तक भी नही होता। इस कारण विभाजित हो जाने पर भी प्रत्येक केंद्रकसूत्र की निजता बनी रहती है। पश्चावस्था मे प्रत्येक केंद्रकसूत्र अपने साथी से अलग हो जाता है, अर्थात् प्रत्येक द्विसयोजक के दोनो केंद्रकसूत्रो का विघटन (dissociation) हो जाता है और युग्मित केंद्रकसूत्रो मे से एक किसी ध्रुव (Pole) की ओर जाता है और दूसरा उसके विरुद्ध ध्रुव की ओर। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक ध्रुव पर केंद्रकसूत्र अपनी आधी सख्या मे ही पहुँचते हैं।

अतराल अवस्था बहुत ही अल्पकालीन होती है और कुछ जतुओ मे तो होती ही नही। अतराल अवस्था का अत होने पर फिर पूर्वावस्था का प्रारभ होता है। मध्यावस्था, उसके पश्चात् पश्चावस्था तथा अत्यावस्था का क्रम वैसा ही होता है जैसा साधारण समसूत्रण मे। यह ऊपर कहा जा चुका है कि अर्धसूत्रण मे एक के बाद एक, दो बार, कोशिकाविभाजन होता है। इस प्रकार दोनो कोशिकाविभाजनो की अवस्थाओ को पृथक् पृथक् निर्दिष्ट करने के लिये उनको मध्यावस्था–१, मध्यावस्था–२, अत्यावस्था–१, अत्यावस्था–२ इत्यादि कहते है।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि पूर्वावस्था से ही प्रत्येक केंद्रकसूत्र दो अर्धसूत्रो मे विभाजित हो जाता है, परतु उसका सेंट्रोमियर अविभाजित ही रहता है। इसलिये मध्यावस्था–२ पर केंद्रकसूत्र सेंट्रोमियर को छोडकर पूर्णरूप से विभाजित होता है। पश्चावस्था का प्रारभ होने पर सेंट्रोमियर दो भागो मे विभाजित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप केंद्रकसूत्र के दोनो भाग एक दूसरे से मुक्त हो जाते हैं और अभिमुख ध्रुव की ओर जा सकते है।

लैंगिक केंद्रकसूत्र विशेष केंद्रकसूत्र होते है, जो एक लिंग मे युग्मित होते हैं परतु दूसरे मे नही, जैसे ड्रोसॉफिला मेलानोगैस्टर (Drosophila melanogaster) मे साधारण केंद्रकसूत्रो के तीन जोडे होते है, जिनको अलिग सूत्र (Autosome) कहते है, और दो लैंगिक केंद्रकसूत्र होते है। मादा मे दोनो लैंगिक केंद्रकसूत्र एक समान होते हैं। इन्हें य-केंद्रकसूत्र (X-chromosome) कहते है। नर मे भी दो लिंग केंद्रकसूत्र होते हैं। एक य-केंद्रकसूत्र होता है, जो हर मादा य-केंद्रकसूत्र के समान होता है, परतु दूसरा य-केंद्रकसूत्र से भिन्न होता है। इसे र-केंद्रकसूत्र (Y-chromosome) कहते है।

मादा मे अर्धसूत्रण के अत मे प्रत्येक कोशिका मे चार केंद्रकसूत्र होते हैं—तीन अलिंगसूत्र और एक य-केंद्रकसूत्र। प्रत्येक ऊसाइट (Oocyte) दो बार विभाजित होता है। इसमे चार कोशिकाएँ उत्पन्न होती हैं। इनमे से तीन ध्रुवीय पिंड (Polar Bodies) होती हैं, जिनका शीघ्र ही नाश हो जाता है, और एक परिपक्व अडाणु (Ovum) होता है।

मादा की भाँति नर मे प्रत्येक शुक्रकोशिका (Spermatocyte) दो बार विभाजित होती है, जिससे चार स्परमाटिड (Spermatid) उत्पन्न होते है।

ये स्परमाटिड दो भाँति के होते है। एक मे तीन अलिंग सूत्र और एक य-केंद्रकसूत्र होता है और दूसरे मे तीन अलिंग सूत्र और एक र-केंद्रकसूत्र होता है। यह स्पष्ट है कि स्परमाटिड दो प्रकार के होते है, परतु अंडाणु एक ही प्रकार का। प्रत्येक स्परमाटिड क्रमश लबा और पतला हो जाता है। इसको स्परमाटोजोऑन (Spermatozoon) कहते हैं। ससेचन मे एक स्परमाटोजोऑन का सिर एक अंडाणु मे प्रवेश करता है। ससेचित अडाणु को युग्मज (Zygote) कहते हैं और चूंकि शुक्राणु दो प्रकार के होते हैं, अत युग्मज भी दो प्रकार के होते हैं।

एक श्रेणी का युग्मज मादा होता है और दूसरी श्रेणी का नर।

ऐसा भी होता है कि मादा में दो य-केंद्रकसूत्र हों और नर मे केवल एक य-केंद्रकसूत्र । ऐसी दशा में लिंगनिर्णय (sex determination) उसी भाँति होता है जैसे ड्रोसॉफिला मेलानोगैस्टर में। नर के शरीर मे दो प्रकार के शुकाणु उत्पन्न होते हैं—एक में अलिंग सूत्र के अतिरिक्त य-केंद्रकसूत्र होता है और दूसरे में य-केंद्रकसूत्र होता ही नही। ऐसे भी जंतु हैं जिनके नर में परस्पर भिन्न कई य-केंद्रकसूत्र होते है। अर्धसूत्रण के अंत पर दो प्रकार के स्परमाटिड बनते हैं। एक प्रकार के स्परमाटिड में अलिंगसूत्र के अतिरिक्त $य_1$, $य_2$, $य_3$, इत्यादि केंद्रकसूत्र होते हैं और दूसरे में केवल र-केंद्रकसूत्र और अलिंगसूत्र।

केंद्रकसूत्र की संरचना में दो पदार्थ विशेषतः संमिलित रहते हैं—(१) डिआक्सीरिबोन्यूक्लीइक अम्ल (Deoxyribonucleic acid) तथा (२) हिस्टोन (Histone) नामक एक प्रकार का प्रोटीन। डिआक्सीरिबोन्यूक्लीइक अम्ल डी एन ए (D N A) ही आनुवंशिक (hereditary)

चित्र ६. थुम्मी वायुनतंक (Chironomus thummi) की लार ग्रंथि के केंद्रकसूत्र

पदार्थ है। डी एन ए (D N A) अणु की सरचना में चार कार्बनिक समाक्षार संमिलित होते हैं : दो प्यूरिन (purines), दो पिरिमिडीन (pyrimidines), एक चीनी—डिआक्सीरिबोज (Deoxyribose)—और फासफोरिक अम्ल (Phosphoric acid)। प्यूरिन में ऐडिनिन (Adenine) और ग्वानिन (Guanine) होते हैं और पिरिमिडीन मे थाइमीन (Thymine) और साइटोसिन (Cytosine)। डी एन ए (DNA) के एक अणु में दो सूत्र होते हैं, जो एक दूसरे के चारों ओर सर्पिल रूप मे वलयित (spirallyicoiiled) होते है। प्रत्येक डी एन ए (D N A) सूत्र में एक के पीछे एक चारों कार्बनिक समाक्षार इस क्रम से होते हैं—थाइमीन, साइटोसिन, ऐडिनीन और ग्वानिन, एवं ये परस्पर एक विशेष ढंग से जुड़े होते हैं।

इन चार समाक्षारों और उनसे संबंधित शर्करा और फास्फोरिक अम्ल अणु का एक एकक टेट्रान्यूक्लीओटिड (Tetranucleotide) होता है और कई सहस्र टेट्रान्यूक्लीओटिडो का एक डी एन ए (D N A) अणु बनता है।

विभिन्न प्राणियों के डी एन ए की विभिन्नता का कारण समाक्षारों के अनुक्रम मे अंतर है। डी एन ए और ऐसा ही एक दूसरा न्यूक्लीइक अम्ल आर एन ए (R N A) कार्बनिक समाक्षार की उपस्थिति के कारण परावैंगनी को अधिकांश २,६०० ऑ० के क्षेत्र में अंतर्लीन करते हैं। इसी आधार पर डी एन ए का एक कोशिका संबंधी मात्रात्मक आगणन किया जाता है।

प्राणियों में दो विशेष प्रकार के केंद्रकसूत्र पाए जाते हैं। एक तो कुछ डिप्टरा इंसेक्टा (Diptera, Insecta) में डिंभीय लारग्रंथि (larval salivary gland) के केंद्रकों में पाया जाता है। ये केंद्रकसूत्र उसी जाति के साधारण केंद्रकसूत्रों की अपेक्षा कई सौ गुने लंबे और चौड़े होते हैं। इस कारण इन्हें महाकेंद्रकसूत्र (Giant chromosomes)

क

ख

चित्र १० केंद्रक सूत्र के दो अंश (क, ख)

ये शलाकाकार अपिमक्षी (Simulium virgatum) की लार ग्रंथि केवर्णिक (euchromatic) प्रदेश के केंद्रकसूत्र के अंश हैं।

कहते हैं। इनकी संरचना साधारण समसूत्रण और अर्धसूत्रण केंद्रकसूत्रों से कुछ भिन्न दिखाई पड़ती है। यहाँ एक केंद्रकसूत्र के स्थान पर एक अनुप्रस्थ पंक्ति ऐसी कणिकाओं की होती है जिनमें अभिरंजित होने की योग्यता अधिक होती है। केंद्रकसूत्र के एक छोर से दूसरे तक बहुत सी ऐसी अनुप्रस्थ पंक्तियाँ मिलती हैं। किसी भी एक अनुप्रस्थ पंक्ति की सब कणिकाएँ एक समान होती हैं और अन्य पंक्तियों की कणिकाओं में विशेषताएँ और विभिन्नताएँ होती हैं। इन केंद्रकसूत्रों के अधिक लंबे होने का कारण यह समझा जाता है कि इनका पूर्ण रूप से विसर्पिलीकरण (despiralisation) होता है और कदाचित् प्रोटीन का कुछ बढ़ाव भी होता है।

चित्र ११ इतरवर्णिक (heterochromatic) प्रदेश के केंद्रकसूत्र का अंश

यह अंश शलाकाकार अपिमक्षी की लारग्रंथि के इतरवर्णिक प्रदेश के केंद्रकसूत्र का है।

अधिक चौड़े होने का कारण यह है कि एक केंद्रकसूत्र अपने समान एक दूसरे केंद्रकसूत्र का संश्लेषण करता है। साधारण अवस्था में समसूत्रण के समय ये दोनों सूत्र एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं, परंतु महाकेंद्रकसूत्र में यह नहीं होता। दोनों सूत्र एक दूसरे से जुड़े ही रह जाते हैं। महाकेंद्रकसूत्र की संख्या साधारण केंद्रकसूत्र की संख्या की आधी होती है, क्योंकि प्रत्येक सूत्र अपने समान दूसरे सूत्र से युग्मित हो जाता है। इस घटना को दैहिक युग्मन (Somatic pairing) कहते हैं।

जंतुओं में विचित्र प्रकार का एक और भी केंद्रकसूत्र पाया जाता है। इसे लैंपब्रश केंद्रकसूत्र (Lampbrush chromosome) कहते हैं। ये केंद्रकसूत्र ऐसे जंतुओं के अंडों के केंद्रकों में पाए जाते हैं जिनमें अंडपीत की मात्रा अधिक होती है, जैसे मछली, उभयचर, उरग, पक्षीगण इत्यादि। केंद्रकसूत्र साधारण डिप्लोटीन-डायाकिनीसिस (Diplotene-diakinesis) केंद्रकसूत्रों के समान दो दो युग्मित सूत्रों के बने होते हैं। दोनों युग्मित सूत्र कुछ विशेष स्थानों पर एक दूसरे से जुड़े होते हैं और शेष स्थानों पर एक दूसरे से दूर दूर रहते हैं। इन जोड़ों को किएज्मा समझा जाता है। प्रत्येक सूत्र पर, जिसको क्रोमोनिमा (Chromonema) कहते हैं, स्थान स्थान पर विभिन्न परिमाण की कणिकाएँ होती हैं जिनको क्रोमोमियर्स (Chromomeres) कहते हैं। प्रत्येक क्रोमोमियर से एक जोड़ी या अधिक पार्श्वपाश (lateral loops) जुड़े हुए होते हैं। पार्श्वपाश भी क्रोमोनिमा के सदृश सूत्र का बना होता है, परंतु इसके चारों ओर रिबोन्यूक्लिओ-प्रोटीन कणिकाएँ एकत्रित हो जाती हैं जिससे ये सूत्र मोटे दिखाई देते हैं। क्रोमोमियर भी क्रोमोनिमा के कुंडलित होने से उत्पन्न होते हैं और अपने पार्श्वपाश के क्रोमोनिमा से संतत होते हैं। केंद्रिकाएँ विशेष केंद्रकसूत्र पर उत्पन्न होती हैं।

अधिकांश जंतुओं की प्रत्येक कोशिका में केंद्रकसूत्रों के दो एकात्म कुलक होते हैं। परिपक्व लिंगकोशिकाओं (mature sex-cells) में एक कुलक रह जाता है। ऐसे प्राणी और कोशिकाएँ द्विगुणित (diploid) कही जाती हैं, परंतु कुछ प्राणियों, विशेषतः पौधों, में दो से अधिक कुलक केंद्रकसूत्रों के होते हैं ये बहुगुणित (polyploid) कहे जाते हैं।

यदि किसी द्विगुणित प्राणी के केंद्रकसूत्र दुगुने हो जायँ, जिससे उसकी कोशिकाओं में प्रत्येक सूत्र चार चार हों जैसे, $क_1$ $क_1$ $क_1$ $क_1$; $ख_1$ $ख_1$ $ख_1$ $ख_1$, $ग_1$ $ग_1$ $ग_1$ $ग_1$ इत्यादि) तो ऐसे प्राणी को आटोपॉलिप्लॉइड (आटोटेट्राप्लॉइड) [autopolyploid (autotetraploid)] कहते हैं। यदि किसी द्विगुणित संकर (deploid hybrid) के केंद्रकसूत्र दुगुने हो जायँ तो ऐसे प्राणी को ऐलोपॉलिप्लॉइड (allopolyploid) कहते हैं। यदि एक द्विगुणित प्राणी का, जिसके केंद्रकसूत्र $क_1$ $क_1$, $ख_1$ $ख_1$, $ग_1$ $ग_1$ इत्यादि हैं, किसी दूसरे प्राणी से, जिसके केंद्रकसूत्र $क_2$ $क_2$, $ख_2$ $ख_2$, $ग_2$ $ग_2$ इत्यादि हैं, संकरण किया जाय तो उसकी संतान के केंद्रकसूत्र $क_1$ $क_2$, $ख_1$ $ख_2$, $ग_1$ $ग_2$ इत्यादि होंगे। $क_1$ $क_2$ और $ख_1$ $ख_2$ इत्यादि एक दूसरे से भिन्न होंगे और इनमें साधारणतः युग्मन नहीं होगा। यदि इस प्राणी के केंद्रकसूत्र दुगुने हो जायँ तो उनकी

कोशिकाओं में $क_1$ $क_1$ $क_2$ $क_2$; $ख_1$ $ख_1$ $ख_2$ $ख_2$; $ग_1$ $ग_1$ $ग_2$ $ग_2$, इत्यादि केंद्रकसूत्र होंगे। यह ऐलोपॉलिप्लॉइड (ऐलोटेट्राप्लॉइड) कहा जायगा। पॉलिप्लॉइड में चार से अधिक कुलक भी हो सकते हैं।

यह स्पष्ट है कि ऑटोपॉलिप्लॉइड में ज़ाइगोटीन अवस्था में चतुःसंयोजक (quadrivalents) उत्पन्न हो जायँगे, क्योंकि प्रत्येक प्रकार के चार चार केंद्रकसूत्र उपस्थित हैं और चार सूत्रों के युग्मन से एक चतुःसंयोजक बनता है। कोशिकाविभाजन के समय प्रत्येक ध्रुव को बराबर बराबर संख्या में केंद्रकसूत्र नहीं मिलेंगे। प्रायः ऐसा होता है कि एक चतुःसंयोजक के टूटने से किसी ध्रुव पर तीन सूत्र पहुँचे और उसके संमुख ध्रुव पर एक ही सूत्र पहुँचे। कोशिकाविभाजन के अंत पर बने हुए संतति कोशिकाओं (daughter cells) में केंद्रकसूत्र या तो अधिक संख्या में होंगे या कम में और ऐसे असंतुलन का परिणाम यह होता है कि कोशिका मर जाती है। इसी कारण ऑटोटेट्राप्लॉइड बहुत कम उर्वर होते हैं। ऑटोटेट्राप्लॉइड पौधे साधारण द्विगुणित पौधों से बहुत बड़े होते हैं तथा उनके बीज भी बहुत बड़े होते हैं, जिससे उर्वरता कम होने पर भी ये गृहस्थी के लिये अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकते है। ठंढक पहुँचाकर, या कुछ ऐलकेलायडों के प्रभाव से, पौधे ऑटोपॉलिप्लाइड बनाए जा सकते हैं।

ऐलोटेट्राप्लॉइड में दशा इसके विपरीत होती है। यदि दोनों आदिम मातापिता के सूत्र एक दूसरे से पूर्ण रूप से विभिन्न हों तो ऐलोपॉलिप्लाइड क्रियात्मक रूप से द्विगुणित है और पूर्ण रूप से उर्वर होगा। जैसे, यदि किसी संकर में $क_1$ $क_2$, $ख_1$ $ख_2$, $ग_1$ $ग_2$ से सूत्र सर्वथा भिन्न हों तो ऐसा संकर वंध्या होगा, परंतु इसके केंद्रकसूत्रों के दुगुने होने से यह अवस्था बदल जायगी। ऐसी कोशिकाओं में $क_1$ $क_1$ $क_2$ $क_2$, $ख_1$ $ख_1$ $ख_2$ $ख_2$, $ग_1$ $ग_1$ $ग_2$ $ग_2$ इत्यादि सूत्र होंगे और जिन शाखाओं में ऐसी कोशिकाएँ होंगी उनपर फूल और फल लगेंगे, क्योंकि ऐसी कोशिकाओं में माइओटिक विभाजन सफल होगा, $क_1$ $क_1$ से युग्मित होगा, $ख_1$ $ख_1$ से इत्यादि।

धतूरा स्ट्रामोनिअम (Datura stramonium) में द्विगुणित अवस्था में १२ जोड़ी केंद्रकसूत्र होते हैं और अर्धसूत्रण के समय द्विसंयोजक बनते हैं। इसके ऑटोपॉलिप्लॉइड में १२ चतुष्क (४८) केंद्रकसूत्र होते हैं और अर्धसूत्रण के समय १२ चतुःसंयोजक बनते हैं। इसी भाँति प्रिम्यूला साइनेंसिस (Primula sinensis) से द्विगुणित पौधे में १२ जोड़ी केंद्रकसूत्र होते हैं और ऑटोटेट्राप्लॉइड में ४८ सूत्र होते हैं एवं अर्धसूत्रण के समय इसमें ६ से ११ चतुःसंयोजक और २ से ६ तक द्विसंयोजक बनते हैं। सोलेमन लाइकोपरसिकॉन (Solanum lycopersicon) के द्विगुणित में १२ जोड़ी केंद्रकसूत्र होते हैं और उसके ऑटोटेट्राप्लाइड में १२ चतुष्क (४८) केंद्रकसूत्र। ये सब पौधे हैं।

क्रीपिस रुब्रा (Crepis rubra) और क्रीपिस फ़ोएटिडा (Crepis foetida) में ५ जोड़ी केंद्रकसूत्र होते हैं। इनके सूत्र एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं होते और इनके संकरण से उत्पन्न संकर में अर्धसूत्रण के समय ५ द्विसंयोजक बनते हैं। इसके ऐलोपॉलिप्लाइड में २० केंद्रकसूत्र होते हैं और अर्धसूत्रण में ० से ५ चतुःसंयोजक बनते हैं और ० से १० द्वियोसंजक। स्पष्ट है कि ऐलोटेट्राप्लॉइड बहुत उर्वर नहीं होगा। प्रिम्यूला फ्लोरिबंडा (Primula floribunda) और प्रिम्यूला रेस्टिसिलेटा (Primula resticillata) दोनों में ही ६ जोड़ी केंद्रकसूत्र होते हैं, जो एक दूसरे के प्रायः समान होते हैं। इनके संकरण से जो संकर बनता है उसको प्रिम्यूला किवेन्सिस कहते हैं। इसमें भी ६ जोड़ी केंद्रकसूत्र होते हैं। अर्धसूत्रण के समय में युग्मन क्रिया सफल होती है और ६ द्विसंयोजक बनते हैं। सूत्रों के द्विगुण होने से जो ऐलोपॉलिप्लॉइट बनता है उसमें ६ चतुष्क (३६) सूत्र होते हैं और ऐसे पौधे में १२ से १८ तक द्विसंयोजक बनते हैं और ० से ३ तक चतुःसंयोजक। स्पष्ट है कि चतुःसंयोजकों की संख्या बहुत कम है और कभी कभी एक भी चतुःसंयोजक नहीं बनता।

मूली (Raphanus) और करमकल्ला (Brassica) में से प्रत्येक में ६ जोड़ी केंद्रकसूत्र होते हैं, जो एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न होते हैं। इनके संकरण से उत्पन्न संकर रैफ़ानस ब्रैसिका (Raphanus-Brassica) में भी ६ जोड़ी केंद्रकसूत्र होते हैं; परंतु अर्धसूत्रण में एक भी द्विसंयोजक नहीं बनता, क्योंकि युग्मन की क्रिया सफल नहीं होती और सभी सूत्र अयुग्मित रह जाते हैं जिससे १२ एक-संयोजक बनते हैं। इसके सूत्र द्विगुण से उत्पन्न ऐलोटेट्राप्लॉइड में १२ जोड़ी सूत्र होते हैं और अर्धसूत्रण में १२ द्विसंयोजक बनते हैं, चतुःसंयोजक एक भी नहीं। परिणाम यह होता है कि रैफ़ानस-ब्रैसिका-ऐलोटेट्राप्लाइड बहुत उर्वर होता है, यद्यपि रैफ़ानस-ब्रैसिका-द्विगुणित वंध्या होता है।

जंतुओं में पॉलिप्लॉइडी बहुत कम पाई जाती है पर यह अनिषेकजनित (Parthenogenetic) जंतुओं में बहुधा पाई जाती है। पौधों में बहुत सी नई जातियाँ पॉलिप्लॉइट के कारण उत्पन्न हुई होंगी। इसका प्रमाण इससे मिलता है कि ऐंजिओस्पर्मो (Angiosperms) की लगभग आधी जातियाँ ऐसी हैं जिनके परिपक्व युग्मकों (Gametes) के केंद्रकसूत्रों की संख्या किसी संबंधित जाति के युग्मकीय केंद्रकसूत्र की संख्या का गुणित है। गेहूँ की कई जातियाँ हैं। इन जातियों की मूल युग्मकीय केंद्रकसूत्र संख्या ७ है। केंद्रकसूत्रों की संख्या गेहूँ की जातियों में ७ की गुणित १४, २१, ४२ तथा ४६ तक पाई जाती है। इसी भाँति तंबाकू की भिन्न भिन्न जातियों में केंद्रकसूत्रों की संख्या १२ अथवा १२ की गुणित २४ होती है। पौधों में प्रयोग द्वारा बहुत से पॉलिप्लॉइड बनाए गए हैं, जिनमें एकात्मक सूत्रों के दो कुलक होते हैं। ये उर्वर होते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि कोशिकाद्रव्य (Cytoplasm) केंद्रक के नियंत्रण में कार्यशील होता है। अनेक प्रकार के कोशिकासमूह अन्यान्य कार्यों के संचालन में लगे रहते हैं। उदाहरणतः अग्न्याश (Pancreas) की एक्सोक्राइन (Excorine) कोशिकाएँ विशेष पाचक किण्वज उत्पन्न करती हैं। गुद की नलिका की कोशिकाएँ रुधिर से यूरिया निकाल लेती हैं और यकृत की कोशिकाएँ ग्लूकोस को ग्लाइकोजन में परिणत करके एकमित कर लेती हैं। स्पष्ट है कि किसी भी प्राणी की प्रत्येक कोशिका में उसके सब जीन (Gene) साधारणतः उपस्थित होते हैं। इसलिये भिन्न भिन्न प्रकार की कोशिकाओं के विविध प्रकार के प्रोटीनों (जिनकी वे बनी हैं) की उत्पत्ति में कुछ उपयुक्त जीन तो सक्रिय रहे होंगे और शेष सब निष्क्रिय ही गए होंगे और उनकी सक्रियता के संबंध में भी यही बात होती होगी।

इन विभिन्नताओं के होते हुए भी कुछ कोशिकाद्रव्यीय इंद्रियकोशिकाएँ (Cytoplasmic organelles) ऐसी हैं जो सभी प्राणियों में और उनकी हर प्रकार की कोशिकाओं में पाई जाती हैं। ये हैं :(१) माइटोकॉण्ड्रिया (Mitochondria) और (२) गोलजी पदार्थ।

कामिल्लो गोलजी इटली का एक तंत्रिकावैज्ञानिक था, जिसने श्वेत उलूक (Barn Owl) की तंत्रकोशिकाओं में एक कोशिकाद्रव्यीय इंद्रियकोशिका का पता लगाया, जो उसके नाम से ही विख्यात है। अंडों में माइटोकॉण्ड्रिया और गोलजी पदार्थ अंडपीतनिर्माण में योग देते हैं। स्परमाटिड के स्परमाटोजोऑन में परिणत होते समय गोलजी पदार्थ ऐक्रोसोम बनाता है, जिसके द्वारा संसेचन में वह अंडे से जुट जाता है। माइटोकॉण्ड्रिया से स्परमाटिड का नेबेनकेर्न (Nebenkern) बनता है और जिन जंतुओं में मध्यखंड होता है उनमें मध्यखंड का एक बड़ा भाग। ग्रंथि की कोशिकाओं में स्रावी पदार्थ को उत्पन्न और परिपक्व करने में माइटोकॉण्ड्रिया और गोलजी पदार्थ संमिलित होते हैं।

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी से फोटो लेने पर पता चलता है कि प्रत्येक माइटोकॉण्ड्रिया बाहर से एक दोहरी झिल्ली से घिरा होता है और उसके भीतर कई झिल्लियाँ होती हैं जो एक ओर से दूसरी ओर तक पहुँचती हैं या अधूरी ही रह जाती हैं। गोलजी पदार्थ में कुछ धानियाँ (Vacuoles) होती हैं, जो झिल्लीमय लैमेला (membranous lamellae) से कुछ कुछ घिरी होती हैं। इनसे संबंधित कुछ कणिकाएँ भी होती हैं जो लगभग ४०० ऑ० के माप की होती हैं। ये सब झिल्लियाँ इलेक्ट्रान सघन होती हैं। कोशिकाद्रव्य स्वयं ही झिल्लियों के तंत्र का बना होता है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इन झिल्लियों के माइटोकॉण्ड्रीय झिल्लियों और

गोलजी झिल्लियों में कोई विशेष संबंध नहीं होता। ऐसी कोशिकाद्रव्यीय झिल्लियाँ ग्रंथि की कोशिकाओं में अधिक ध्यानाकर्षी अवस्था में पाई जाती है। ये अरगैस्टोप्लाज्म कही जाती है। ये झिल्लियाँ दोहरी होती है और इनपर जगह जगह छोटी छोटी कणिकाएँ सटी होती है।

कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि गोलजी पदार्थ कोई विशेष ऑरगैनेल (Organelle) नहीं है। यह माइटोकॉण्ड्रिया का ही एक विशेष रूप है अथवा केवल धानी के रूपपरिवर्तन से बनता है अथवा केवल एक कृत्रिम द्रव्य है, इस संबंध में विद्वानों में अब भी मतभेद है।

(मु० ला० श्री०)

कोशी, ऑग्युस्ते लुई (Cauchy, Augustin Louis) फ्रांसीसी गणितज्ञ (१७८६-१८५७ ई०)। इनका जन्म २१ अगस्त, १७८९ ई० को पेरिस में हुआ। १८१० ई० में वे एकॉल से इजीनियर बनकर शेरबुर चले गए, वहाँ लाप्लास की 'मेकानिक सेलेस्त' (Mecanique Celeste) और लाग्राज की 'फंक्स्योंजनालिनिक' (Fonctions Analytiques) का अध्ययन करते रहे। तीन वर्ष पश्चात् स्वास्थ्य के कारण ये पेरिस लौटे और लाप्लास और लाग्राज के आग्रह पर इंजीनियरी त्याग गणित को अपनाया।

वे उवरबुद्धि एव परम व्युत्पन्न गणितज्ञ थे। उन्होंने श्रेणियों, काल्पनिक राशियों, संख्याओं के सिद्धांत, अवकल समीकरणों, प्रतिस्थापन के सिद्धांत, फलनों के सिद्धांत, सारणिका, परिणम्य-फलन-कलन, गणितीय खगोल शास्त्र, प्रत्याशिकी और प्रत्यास्थता इत्यादि की शुद्ध एवं अप्रयुक्त दोनों शाखाओं पर अन्वेषण किए। १८२१ ई० में अपने 'कूर दानालीज द लेकोल रॉयाल पालितेक्निक (Coursa Analyse de l' Eole Royale Polytechnique) का प्रकाशित कर इन्होंने विश्लेषण में 'अकगणितीकरण युग' का श्रीगणेश किया। सर्वप्रथम कोशी ने ही 'टेलर के निर्मेय का निर्दोष प्रमाण और चलन कलन के मूल सिद्धांतों को अपने नवीन फलन के सिद्धांत एवं सीमा के नियम पर आधारित अतिशोधित व्याख्या प्रदान की। २३ मार्च, १८५७ ई० को उनका देहांत हुआ।

सं०ग्र०—शा० आ० वाल्जों 'ल वारो ऑग्युस्तें कोशी—सा वी ए से त्रावो', १८६८ ई०। (रा० कु०)

कोष वेदांत का एक पारिभाषिक शब्द जिसका तात्पर्य है आच्छादन। वेदांत में पाँच प्रकार के कोष कहे गए हैं—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनंदमय कोष। ये कोष आत्मा का आच्छादन करनेवाले हैं। आत्मा इनसे भिन्न है। अन्न से उत्पन्न और अन्न के आधार पर रहने के कारण शरीर को अन्नमय कोष कहा गया है। पंच कर्मेंद्रियों सहित प्राण, अपान आदि पंचप्राणों को, जिनके साथ मिलकर शरीर सारी क्रियाएँ करता है, प्राणमय कोष कहते हैं। श्रोत्र, चक्षु आदि पाँच ज्ञानेंद्रियों सहित मन को मनोमय कोष कहते हैं। यह मनोमय कोष अविद्या का रूप है। इसी से सांसारिक विषयों की प्रतीति होती है। पंच कर्मेंद्रियों सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोष कहते हैं। यह विज्ञानमय कोष कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख दुःख आदि अहंकार विशिष्ट पुरुष के संसार का कारण है। सत्वगुण विशिष्ट परमात्मा के आवरक का नाम आनंदमय कोष है। ज्ञान की सुषुप्ति अवस्था को भी आनंदमय कोष कहा गया है। सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य में निद्रासुख के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं रहता। कहते सुना जाता है—'मैं तो सुख से सोया मुझे कुछ ज्ञान नहीं रहा।' जिस प्रकार निद्रा के कारण ज्ञान का लोप होता है उसी प्रकार जिन कारणों से शरीर में अविद्या निवास करे, (जो सत्त्व और तमोगुण के संयोग से मलिन हों तथा इष्ट वस्तुओं का लाभ और प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति हो) और सुख की अनुभूति हो, उसे आनंदमय कोष कहते हैं। (प० ला० गु०)

कोष, कोषाध्यक्ष आधुनिक विचारकों की भाँति प्राचीन भारत के राज्यशास्त्रियों ने भी राज्य के लिये कोष (धन, खजाना) का बड़ा महत्व माना है। कोष मूलो हि राजेति प्रवाद सार्वलौकिक (काम० २१, ३३)—संक्षेप में इसी महत्व की अभिव्यक्ति करता है। कर आदि के रूप में राज्य को जो कुछ भी मिलता उसे कोष में संचित किया जाता था। उसी से राज्य का सब कारोबार चलता था। कोष की रक्षा के लिए विशेष प्रबंध करने की सलाह सभी राज्यशास्त्री देते हैं। मनु० (७, ६५) राजा को स्वयं कोष की देखरेख करने का आदेश देते हैं।

कोष के प्रधान अधिकारी का पदनाम कोषाध्यक्ष था। यद्यपि कोषाध्यक्ष का वर्णन स्पष्ट रूप में अर्थशास्त्र के अधि० २, प्रक० २९ में ही आया है तथापि इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि इस प्रकार का पद मौर्यों से पहले और बाद में भी था। ब्राह्मण ग्रंथों में [शत० ५,१,१,१२, मि०ा० तैत्ति० ब्रा० १,७,३,२ (पूना संस्क०) १, पृ० ३०८-१०, तैत्ति० संहि० १,८,९ (मैसूर संस्क०) १, पृष्ठ १४६-४९] रत्नियों (राज्य के प्रधान अधिकारियों) में संग्रहीता नामक पदाधिकारी का भी उल्लेख आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण काल का कोषाध्यक्ष यही था। राजा अपने अभिषेक के समय इसे उसके घर जाकर रत्नहवि देता था, इसी से इस पद की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। बाद में इसी संगृहीता का परिवर्तित पदनाम संनिधाता था। कौटिल्य (अधि० २, प्रक० २३) राजकीय वस्तुओं का संचय करनेवाले विभाग के सर्वोच्च अधिकारी के रूप में इसका उल्लेख करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोषाध्यक्ष इसी संनिधाता के अंतर्गत कोष विभाग का मुख्य अधिकारी था। इसका कार्य कोष में इकट्ठा किए जानेवाले रत्न (मणि, मोती आदि), सार (चंदन, अगुरु आदि), फल्गु (पट, दुकूल आदि वस्त्र) और कुप्य (धातु, चमड़ा आदि) की उनके विशेषज्ञों से जाँच कराकर उनकी उपस्थिति में कोष में रखना और उनकी रक्षा का प्रबंध करना था। उसे इन पदार्थों की बारीकियों का भी पारखी होने की आवश्यकता थी। कौटिल्य का अर्थशास्त्र इतना प्रामाणिक ग्रंथ बन गया कि बाद के राजा अर्थशास्त्र के अध्यक्षप्रचार अधिकरण के आधार पर ही विभागाध्यक्षों की नियुक्तियाँ करने लगे। परवर्ती स्मृतियों में (मनु० ७ ८१, याज्ञ० १ ३२२) तो इन विभागाध्यक्षों का अलग अलग नाम गिनाने की भी आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। अभिलेखों से भी यही बात प्रकट होती है। भोजवर्मदेव के बेलवा ताम्रपत्र (ए० इ०, जिल्द १२, पृ० ४०) और विजयसेन के बैरकपुर के दानपत्र (ए० इ०, जिल्द १५, पृ० २८३) में **अन्यांश्च सकल राजपादोपजीविनोध्यक्ष प्रचारोक्तान इहाकीर्त्तितान्**—के अन्यांश्च सकल राजपादोपजीविनो में कोषाध्यक्ष भी अवश्य ही रहा होगा।

कोषाध्यक्ष के अतिरिक्त कभी कभी इस पदाधिकारी का दूसरा पदनाम गंजाधिकारिन् (कश्मीर, १०वीं शती) और गंजवर (मथुरा के उत्तरी क्षत्रप) भी मिलता है। आज भी कश्मीरी ब्राह्मणों की एक शाखा की उपाधि गंजू है। इनके पूर्वज संभवत यही गंजाधिकारिन् या गंजवर रहे होंगे।

सं०ग्र०—का० प्र० जायसवाल हिंदू राजतंत्र, ना० प्र० स०, उ० ना० घोषाल कंट्रिब्यूशंस टु दि हिस्ट्री ऑफ दि हिंदू रेवेन्यू सिस्टम, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२९, कौटिलीय अर्थशास्त्र।

(म० ना० सिं०)

कोस दूरी नापने का एक माप। प्राचीनकाल में यह ४,००० हाथ, अथवा किसी किसी के मत से ८,००० हाथ की दूरी का नाम था। आजकल यह दो मील अर्थात् ३,५२० गज का माना जाता है।

(प० ला० गु०)

कोसल, कोशल गौतम बुद्ध के समय तथा उनसे पूर्व भारतवर्ष में जो १६ महाजनपद थे उनमें से एक और प्रमुख। कोसल (जनपद के नाम के 'कोसल' और 'कोशल' दोनों ही रूप मिलते हैं) के इतिहास की जानकारी के मुख्य स्रोत हैं उत्तरवैदिक साहित्य के ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथ संस्कृत साहित्य के दोनों महाकाव्य—रामायण और महाभारत पुराण तथा बौद्ध त्रिपिटक। वाल्मीकि रामायण (बाल०, १ ५५) में इसे सरयू नदी के किनारे स्थित प्रभूत धनधान्य से संपन्न महान तथा विस्तृत जनपद कहा गया है। कोसल महाजनपद भारतीय भूखंड

के उत्तरी पूर्वी भाग में स्थित तथा मध्यदेश अथवा आर्यावर्त का प्रमुख क्षेत्र था। जैन साहित्य में उसे कुणाल विषय की संज्ञा दी गई। उसके पश्चिम में पांचाल, पूर्व में सदानीरा नदी (बड़ी गंडक) और विदेह जनपद तथा दक्षिण में तमसा (टोंस), गोमती और स्यंदिका (सई) नामक नदियों के दुकूल पड़ते थे। दक्षिण में उसकी सीमा कहीं कहीं गंगा को भी छूती थी। शाक्य, मल्ल, कोलिय तथा मोरिय नामक बुद्धकालीन गणतंत्र भी उसी की सीमा में पड़ते थे। अयोध्या (और, अथवा, साकेत), श्रावस्ती, कपिलवस्तु, सेतव्या, रामग्राम, पिप्पलिवन, कुसिनारा और पावा उसके मुख्य नगर एवं सरयू, अचिरवती (राप्ती), रोहिणी, हिरण्यवती (छोटी गंडक), अनोमा, ककुत्था, (घाघी), मही, सुंदरिका (स्यंदिका अथवा सई) और वाहुका (घुमेल) उसकी मुख्य नदियाँ थीं। महावन, जेतवन, अंधकवन और कंटकीवन उसके मुख्य वन थे।

कोसल के सूर्यवंशी राजकुल के प्रथम शासक मनु के पुत्र इक्ष्वाकु थे। अयोध्या को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया और वहाँ से अपने राज्य का विस्तार किया। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार इक्ष्वाकुपुत्र विकुक्षि के पुत्रों ने मेरु (संभवतः पामीर) के उत्तरी प्रदेशों को उपनिविष्ट किया। वंश के १०वें राजा श्रावस्त ने प्रसिद्ध नगर श्रावस्ती की नींव डाली। उनके पौत्र कुवलयाश्व ने राजपूताने के प्रदेशों पर अधिकार प्राप्त किया। मांधाता इस वंश के प्रथम चक्रवर्ती थे और पुराणों तथा महाभारत में उन्हें त्रैलोक्यविजयी कहा गया है, जिसका समर्थन बौद्धों के मंधातु जातक से भी होता है। ऋग्वेद में उन्हें दस्युहंता तथा भागवतपुराण में त्रसदस्यु कहा गया है। यमुना नदी के किनारों पर तथा प्रसिद्ध तीर्थ कुरुक्षेत्र में उन्होंने यज्ञ किया। पुराणों में उनकी विजय महान् मानी गई है। मांधाता के पुत्र पुरुकुत्स ने दक्षिण में नर्मदा के किनारे तक कोसल का प्रभावक्षेत्र बढ़ाया। परंतु पुरुकुत्स के बाद कुछ पीढ़ियों तक कोसल अल्पकालिक अंधकार और विपत्ति से ग्रस्त हो गया। दक्षिण भारत के हैहयों ने कृतवीर्य और अर्जुन के नेतृत्व में उत्तर के अनेक राज्यों के साथ कोसल को भी आक्रांत किया। वहाँ के राजा बाहु को, हैहय तालजंघों तथा उनकी मित्र उत्तरपश्चिमी भारत की कुछ जंगली जातियों ने अपनी राजधानी अयोध्या छोड़कर जंगल में भाग जाने को विवश किया। वन में ही उनकी मृत्यु हो गई तथा उनकी गर्भवती रानी को और्वऋषि के आश्रम में शरण लेनी पड़ी। कालांतर में वहीं उसे सगर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

और्व ने सगर को सभी संभावित समस्याओं का सामना करने के योग्य बनाने में कोई कोर कसर नहीं उठा रखी। परंतु सगर की कठिनाइयाँ और समस्याएँ महान् थीं। एक ओर वे राज्य, राजधानी और सेनादि सबसे विहीन और दूसरी ओर उनके दुर्मद और शक्तिशाली शत्रु। तथापि वे अवसर के अनुकूल साबित हुए और अपने पिता की हार का बदला लेने हैहय तालजंघों एवं उनकी मित्र जातियों को हराने तथा अनेक नए प्रदेशों को जीतने में सफल हुए। उन्होंने अपनी विजयों के उपलक्ष्य में अश्वमेध यज्ञ भी किया। तन्निमित्त विजयाभियान में नियुक्त उनके साठ हजार पुत्रों की जो कथापरंपराएँ मिलती हैं, उनसे उनकी साठ हजार सेना का तात्पर्य समझा जा सकता है। उनकी विशाल विजयों और महान् यज्ञों का उल्लेख एक पालिजातक (फॉसबाल, रोमनाक्षर संस्करण, जिल्द ६, पृष्ठ २०३) में भी प्राप्त होता है, जहाँ उन्हें सागरांत पृथ्वी का विजेता, यज्ञस्तंभों का निर्माता एवं यज्ञाग्नियों का प्रज्वालक कहा गया है।

सगर के वंशज भगीरथ के नाम से ही गंगा भागीरथी कहलाई। संभवतः उन्हीं के समय से गंगा की पूजा भी प्रारंभ हुई। कालांतर में कोसल की गद्दी पर बैठनेवाले राजाओं में दिलीप (द्वितीय), रघु और दशरथ प्रसिद्ध हुए। वाल्मीकि ने दशरथ के शासन की भूमि भूरि प्रशंसा की है (रामा०, बा० ६१-६)। दुर्भाग्यवश उनके अंतिम दिन अयोध्या के राजदरबार में चलनेवाले कलह के कारण दुःख और चिंता में बीते। कलह का कारण था उत्तराधिकार का प्रश्न, जिस संबंध में स्पष्टतः दो पक्ष थे—एक राम का, दूसरा भरत का। दशरथ स्वयं भी स्पष्ट नहीं थे; कैकेयी तथा उनके पिता केकयराज को दिए हुए वचनों के विपरीत जाकर उन्होंने राम को यौवराज्य देने का निश्चय किया। फलस्वरूप भीतरी कलह बाहर फूट पड़ा और राम को १४ वर्षों के लिये दंडकवास को जाना पड़ा। सौभाग्य से राजदरबारी दल में राम की पक्षप्रबलता तथा प्रजाजनों द्वारा उनके प्रभूत समर्थन को देखकर एवं स्वयं अपने भ्रातृप्रेम के कारण भरत ने अपना पक्ष त्याग दिया। राम के वनवासकाल में उन्हीं की ओर से उन्होंने शासन किया। राम के दंडकनिवास की सबसे मुख्य घटना उनके द्वारा राक्षसों की पराजय थी। राक्षस जाति का प्रधान केंद्र तो लंका था, परंतु उनके उपद्रव सारे दक्षिणी भारत में व्याप्त थे। फलस्वरूप वानर और रीछ नामक जातियाँ उनकी शत्रु हो गई। उत्तर भारत से दक्षिण की ओर गए हुए कुछ ऋषिमुनि भी राक्षसों से त्रस्त थे। राम का स्वाभाविक समर्थन और सहयोग उन्हें प्राप्त हुआ और अंतिम संघर्ष में राक्षसों का राजा रावण ससैन्य मारा गया। उसके भाई विभीषण को राम ने लंका में अपना अधीनस्थ राजा बनाया।

राम के बाद कोसल के इतिहास का चक्रवर्तियुग समाप्त हो गया। एक तो उन्होंने अपने पैतृक राज्य एवं नवविजित प्रदेशों को अपने पुत्रों और भतीजों में बाँट दिया और दूसरी ओर उनके वंशज राजनीतिक दृष्टि से अत्यंत कमजोर साबित हुए। महाभारतकालीन कोसलराज बृहद्बल महाभारत की लड़ाई में कौरवों की ओर से लड़ता हुआ अभिमन्यु द्वारा मारा गया। महाजनपदयुग में कोसल के राजाओं ने अपने पार्श्ववर्ती राज्यों से बराबर युद्ध किए जिनका मुख्य उद्देश्य था उत्तर भारत की राजनीतिक अधिसत्ता प्राप्त करना। साम्राज्यनिर्माण की दौड़ में उनके सबसे बड़े संघर्ष मगध से हुए परंतु अंत में मगध विजयी होकर आगे निकल गया। गौतम बुद्ध के समकालीन कोसलराज महाकोसल और प्रसेनजित् उसके सबसे अंतिम मुख्य शासक हुए। प्रसेनजित् कई दृष्टियों से महान् था, तथापि उसके दिनों में ही कोसल राज्य की अवनति के लक्षण दिखाई देने लगे थे। उसके पुत्र विडूडभ के द्वारा शाक्यों के नरसंहार के कारण सभी बौद्ध अप्रसन्न हो गए और उसकी राज्यशक्ति क्रमशः क्षीण होने लगी। थोड़े ही दिनों बाद समय की बढ़ती हुई साम्राज्यशक्ति ने कोसल को आत्मसात् कर लिया और उसकी स्वतंत्र सत्ता जाती रही। कोसल इसके पश्चात् साम्राज्यों का ही अधीनस्थ रहा—नंदों, मौर्यों, शुंगों, गुप्तों, हर्ष, प्रतीहारों, गहड़वालों, पठानों, मुगलों आदि का। उसे अवध के नाम से फिर विशेष प्रतिष्ठा नवाब-वजीरों ने दी। (देखिए, 'अवध')।

(वि० पा०)

कोसी नदी (२६° २७' उ० अ० और ८७° ६' पू० दे०) पूर्वी नेपाल में हिमालय के 'सप्त कोसी' क्षेत्र से निकलती है। सर्वप्रथम यह ६० मील तक दक्षिणपूर्व बहती है। इसी भाग में अरुन तथा तांबर सहायक नदियाँ कोसी के बाईं ओर मिलती हैं। हनुमान नगर से दक्षिण कोसी की कई धाराएँ हो जाती हैं और चाउथम (Chautham) स्थान के समीप एक होकर घुगरी नदी में मिल जाती है। फिर घुगरी कुरसेला नामक स्थान के निकट गंगा में मिलती है। कोसी का प्रवाह क्षेत्र २३,६६२ वर्गमील है।

इस नदी की धारा बहुत ही भयानक है। इसका मार्ग इतना बदलता रहता है कि इसे 'समस्यावाली नदी' या 'भटकती नदी' कहते हैं। २०० वर्ष पूर्व कोसी नदी पूर्णिया नगर के निकट बहती थी। पिछले ७० वर्ष की अवधि में यह नदी लगभग ७० मील पश्चिम खिसक गई है। अतः नदी के प्रवाह का नियंत्रण करके बाढ़ को रोकना, भूमि का कटाव कम करना, सिंचाई, बिजली और जलमार्ग की सुविधा प्रदान करने के लिये भारत तथा नेपाल सरकारों ने मिलकर एक योजना तैयार की है जिसके अनुसार बाढ़ रोकने के लिये १९५६ में बाँध बाँधा गया। नेपाल में हनुमान नगर के पास बराज बनाया गया है। कोसी से पूर्व और पश्चिम की ओर दो नहरें निकालने की योजना है। पूर्व नहर बनकर तैयार हो गई है।

(भू० का० रा०; प० ला० गु०)

कोस्ट रेंज १. संयुक्त राज्य अमरीका के प्रशांततटीय क्षेत्र की एक पर्वतमाला जिसका विस्तार दक्षिण में कैलिफोर्निया की खाड़ी से लेकर उत्तर में ह्वान ड फ़ूका (Juan De Fuca) के मुहाने तक लंबाई में

४०० मील तथा चौड़ाई में ३० से ६० मील है। कैलिफोर्निया में इसका निर्माण दो समांतर पर्वतमालाओं द्वारा हुआ है जिनके बीच मे सैक्रामेटो तथा सैन ह्वाकिन (San Juaquin) की समृद्ध घाटियाँ स्थित है। ८० इंच से भी अधिक वर्षा होने के कारण इस क्षेत्र मे संयुक्त राज्य के सर्वोत्कृष्ट वन मिलते हैं। सैनफ्रासिस्को खाड़ी के दक्षिण मे वर्षा की कमी के कारण झाड़ीदार वनस्पतियाँ पाई जाती है। इस पर्वतमाला का निर्माण तृतीयक युग मे हुआ है। कैलिफोर्निया मे खनिज तेल, सोना तथा निम्न कोटि का कोयला और वैंकूवर द्वीप मे ताँबा और कोयला मिलते है।

२. कनाडा के ब्रिटिश कोलंबिया के तटीय क्षेत्र की एक पर्वतमाला जो कस्केड पर्वत की उत्तरी शाखा है। (न० कि० सिं०)

कोस्टा रीका मध्य अमरीका का सबसे छोटा देश। इसके उत्तर मे निकारागुआ (Nicaragua) गणतंत्र, पूर्व मे कैरिबीएन सागर, दक्षिणपूर्व मे पैनामा और दक्षिणपश्चिम मे प्रशात महासागर स्थित है। इसका क्षेत्रफल १९,६५० वर्गमील है। उत्तर-पूर्व मे केलोडोनिया और दक्षिण-पूर्व मे कारडिलेरा-दी-तालामानका पर्वत है। इस प्रदेश की सबसे ऊँची चोटियाँ पोआस (८,६३० फुट), बारवा (९,५३४ फुट) और इराज़ू (११,२६० फुट) है। मध्य भाग पठारी है। पर्वतों पर वर्फ जमी रहती है तथा मैदानी क्षेत्र उष्ण रहते है। सैनजुआन नदी निकारागुआ (Nicaragua) झील से निकलकर निकारागुआ और कोस्टा रीका प्रदेश की अंतर्राष्ट्रीय सीमा निर्धारित करती हुई कैरिबीएन सागर मे गिरती है। रीवेंटा जान नदी मध्य पठार से निकलकर कैरिबीएन सागर मे मिलती है।

कोस्टा रीका प्रदेश का ५० प्रतिशत भाग घने जंगलो से ढँका है। समुद्रतल से ३,००० फुट की ऊँचाई तक उष्णकटिबंधीय और ७,००० फुट के ऊपर ओक के जंगल प्राप्त होते हैं। आवागमन के साधनो की न्यूनता के कारण जंगलो का उपभोग सुचारु रूप से नही हो रहा है। इस देश की कृषियोग्य भूमि १४,०४,००० एकड़ है। यहाँ से केला, कहवा और सनई का निर्यात होता है। कोस्टा रीका का विदेशी व्यापार संयुक्त राज्य अमरीका से अधिक होता है। यहाँ की राजधानी सैनहोजा (San-Jose) है। अन्य नगरों मे कारतागो (Cartago) और आलाह्वेला (Alajuela) उल्लेखनीय हैं। (मु० का० रा०)

कोस्सुथ, लाओ लुई (१८०२--१८६४ ई०) हंगरी के एक राजनेता। हंगरी निवासी एक सामान्य स्लोवाक परिवार मे मोनोक (ज़ेम्प्लिन) नामक स्थान में १९ सितंबर १८०३ ई० को जन्म। उनके पिता वकील थे और उन्ही के साथ उन्होंने वकालत आरंभ की। बाद मे उन्हें राष्ट्रीय संसद मे काउंट हुन्यडी ने अपना सहायक बनाया और उन्होंने उनके साथ १८२५ से १८२७ तक और पुनः १८३२ ई० मे कार्य किया। सहायक के रूप में संसद् में उन्हें किसी प्रकार का मत देने का अधिकार न था। अतः वे अपने विचार अपने स्वामी के संमुख पत्र रूप में प्रस्तुत करते रहे और हाथ से लिखकर वे पत्र उदार विचार वाले सदस्यो मे वितरित किए जाने लगे उस पत्र ने शीघ्र ही एक व्यवस्थित संसदीय पत्रिका का रूप धारण कर लिया और वे उसके संपादक हो गए। इस पत्र के वितरण पर प्रतिबंध लगाने के अनेक प्रयास हुए पर कोस्सुथ की ख्याति और प्रभाव बढता ही गया। जब १८३६ ई० में संसद् भंग कर दी गई तो कॉउंटी सभाओं मे होनेवाले वादविवादों को पत्र रूप मे प्रस्तुतकर उन्होंने अपना आंदोलन जारी रखा। मई १८३७ में वे राजद्रोह के अपराध में गिरफ्तार कर लिए गए। एक वर्ष तक वे ओफेन के कारागार में बंद रहे तदनंतर उन्हें ४ वर्ष की सजा हुई।

उनकी गिरफ्तारी के विरुद्ध जोरदार आंदोलन उभर उठा और १८३९ में जो संसद् बनी उसने उन्हें तथा अन्य राजनीतिक कैदियों की रिहाई के आंदोलन का समर्थन किया और प्रत्येक सरकारी प्रस्तावो को पारित करने से इंकार कर दिया। पहले तो सरकार अपने निश्चय में दृढ रही पर जब १८४० में युद्ध का खतरा दिखाई पड़ा तो वह झुकी और कोस्सुथ रिहा कर दिए गए। इस प्रकार वे एक लोकप्रिय नेता के रूप मे जनता के सामने आए।

जनवरी १८४१ मे उन्होने अपने दल के एक नए पत्र 'पेस्टी हिरलैप' के संपादन का भार ग्रहण किया और इसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। अपने इस नवीन पत्र द्वारा वे हंगरी की स्वतंत्रता का प्रतिपादन करते रहे। उन्हें अन्य उदारवादी नेताओं की तरह कुछ सुधारमात्र से संतोष न था। अत. सरकार इस बात के लिये प्रयत्नशील हुई कि उक्त पत्र से उनका संबंध टूट जाय और वह १८४४ ई० मे इस कार्य मे सफल भी हो गई। तब उसने स्वय अपना पत्र निकालने का प्रयास किया। सरकार ने उसे एक अच्छा पद प्रदान करने का लालच दिया पर उसने उसे ठुकरा दिया और तीन वर्ष तक वह निरवलंब बना रहा। वह इस बीच निरतर हंगरी की राजनीतिक और व्यावसायिक स्वतंत्रता के लिये आंदोलन करता रहा।

१८४७ ई० में वह बुडापेस्ट से संसद् का सदस्य चुना गया और उसने उग्र उदारवादियो का नेतृत्व ग्रहण किया। उसकी प्रेरणा से ही सम्राट् से राष्ट्रीय सरकार की स्थापना तथा मंत्रियो को पार्लियामेट के प्रति उत्तरदायी बनाने की माँगें प्रस्तुत की गईं। कोस्सुथ के अनुयायियों ने अल्प समय मे ही हंगरी मे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में परिवर्तन कर दिए। किंतु पार्लियामेंट का शासन, प्रेस और धर्म के विषय मे स्वतंत्रता आदि उदारवादी विचारों की प्राप्ति से ही कोस्सुथ संतुष्ट होनेवाला न था।

कोस्सुथ देश के मेग्यारीकरण का पक्षपाती था, वह स्लाव जाति से मेग्यार जाति को उच्च समझता था। इस प्रकार राष्ट्रप्रेम की ज्वाला हंगरी मे प्रज्वलित हुई। और जब १८४८ ई० मे पेरिस और विएना मे राज्यक्राति आरंभ हुई तो उससे प्रेरित होकर हंगरी में भी क्रांति की ज्वाला धधक उठी। किंतु देश के भीतर उभर रही जातीयता के कारण उसने गृहयुद्ध का रूप धारण कर लिया। मेग्यार लोगों की स्थिति खराब हो गई। एक ओर स्लावों और मेग्यारो में युद्ध आरंभ हुआ, दूसरी ओर आस्ट्रिया से।

आरंभ मे कोस्सुथ की विजय हुई। उसने अप्रैल, १८४८ में हंगरी को स्वाधीन घोषित करते हुए हेप्सबर्ग राजवश को सिंहासन से उतार दिया और हंगरी में जनतंत्र स्थापित किया तथा स्वयं गवर्नर बना। 'हकदार राजवंश ही राज कर सकता है', उसकी यह चुनौती थी। तभी दुखी, निरंकुश शासकों को सहायता देना दैवी कर्तव्य समझनेवाला रूस का जार निकोलस (प्रथम), जो प्रगतिशील आंदोलन का कट्टर शत्रु था, कारपेथियन पर्वत लाँघता हुआ हंगरी मे घुस पड़ा। हंगरी की सेना ने रूसियो के सामने आत्मसमर्पण किया और हंगरी की राज्यक्राति समाप्त हो गई। फलत. ११ अगस्त को कोस्सुथ को त्यागपत्र देकर तुर्की की सीमा मे शरण लेनी पडी। उसके बाद वह फ्रांस, इंग्लैंड और अमरीका मे घूमता फिरा। सभी देशों ने इसका स्वागत किया। २० मार्च, १८६४ मे उसकी मृत्यु टूरिन मे हुई। (शु० ते०; प० ला० गु०)

कोहिस्तान १. उस भूखंड का नाम है जो चिलास (Chilas) के दक्षिण और पश्चिम मे सिंधु नदी तथा कागान (Kagan) घाटी के बीच स्थित है। इसका कुछ भाग पाकिस्तान के उत्तरपश्चिम सीमात प्रदेश मे, कुछ भाग अफगानिस्तान मे और कुछ भाग सिंध प्रदेश में पड़ता है। इसका क्षेत्रफल लगभग १,००० वर्गमील है। इसके उत्तरपश्चिम में सिंधु नदी, उत्तरपूर्व मे चिलास और दक्षिण में कागान, चोर की दरी (Chor glen) तथा अल्लाई (Allai) है।

इस प्रदेश मे पूरब-पच्छिम दिशा मे विस्तृत दो प्रमुख घाटियाँ है जिन्हें १६,००० फुट से अधिक ऊची पर्वतश्रेणियाँ पृथक् करती हैं। ये पर्वतश्रेणियाँ हिम से ढकी रहती हैं। इन पर्वतो के नीचे ५,००० से लेकर ६,००० फुट तक ऊँची पहाड़ियाँ है, जो घास और सुंदर जंगली वृक्षो से भरी हैं। सिंधु नदी के निकट घाटियों की भूमि बड़ी उपजाऊ है और उनमे खेती होती है।

२. कोहिस्तान एक जिला भी है, जो अफगानिस्तान मे काबुल के उत्तर हिंदूकुश पर्वत तक फैला हुआ है। (प० ला० गु०)

कोहेनूर भारत का सुविख्यात हीरा। १४वीं शताब्दी से पूर्व इस हीरे का इतिहास ठीक ज्ञात नहीं है। बाबर ने अपने संस्मरण में आगरे की विजय में एक बृहत् उत्तम हीरा प्राप्त करने का उल्लेख किया है। संभवतः वह कोहेनूर ही था, क्योंकि उस हीरे का भार आठ मिस्कल (३२० रत्ती) बताया है। तराशे जाने के पूर्व कोहेनूर का भार इतना ही था। निश्चित रूप से ज्ञात है कि कोहेनूर औरंगजेब के पास था और वह उसे बड़े यत्न से रखता था। १७३९ ई० में जब नादिरशाह ने दिल्ली लूटी तब मुगल बादशाहों की बहुमूल्य वस्तुओं के साथ वह इसे भी ईरान ले गया। नादिरशाह की मृत्यु के पश्चात् वह काबुल के अमीरों के पास रहा। कालवशात् जब काबुल के तत्कालीन अमीर को पंजाब के महाराज रणजीत सिंह की शरण लेनी पड़ी तब १८१३ ई० में वह हीरा उनके हाथ लगा। महाराज रणजीतसिंह के मरने पर १८४९ ई० में ईस्ट इंडिया कंपनी ने पंजाब पर अधिकार किया और इस बहुमूल्य रत्न को महारानी विक्टोरिया को भेंट मे दिया। विक्टोरिया ने इसकी सुंदरता बढ़ाने के लिये इसकी काटछाँट कराई, जिससे इसका भार केवल १०६$\frac{1}{2}$ कैरेट रह गया। यह अनुपम रत्न साम्राज्ञी के मुकुट में लगाया गया। आजकल यह ऐतिहासिक रत्न ब्रिटिश राज्य के अन्यान्य रत्नों के साथ लंदन के टावर नामक किले में सुरक्षित है। किंवदंती है कि कोहेनूर अशुभ रत्न है और अपने स्वामी पर इसका प्रभाव अनिष्टकारी होता है।
(भ० दा० व०)

कौंडिन्य मलय प्रायद्वीप में ईसा की प्रथम शताब्दी में हिंदू राज्य कंबुज की स्थापना करनेवाला भारतीय जिसे इंद्रप्रस्थ के राजा आदित्यसेन का पुत्र बताया जाता है। अनुश्रुति है कि कौंडिन्य को स्वप्न में किसी देवता ने धनुष देकर समुद्रयात्रा के लिये प्रेरित किया था। इस प्रेरणा के अनुसार वह जहाज द्वारा फूनान पहुँचा तथा वहाँ की शासिका नागराजकन्या सोमा से विवाह कर उसने उसे एवं उसकी प्रजा को वस्त्र-धारण करना सिखाया। यह भी अनुश्रुति है कि कौंडिन्य ने उस देश में पहुँचकर एक भाला गाड़ दिया, जो उसे द्रोणपुत्र अश्वत्थामा द्वारा प्राप्त हुआ था। तब वहाँ उसने राज्य की स्थापना की। उसके वंशजों के शासन-काल में कंबुजराज्य खूब फला फूला एवं भारतीय संस्कृति का केंद्र बन गया।
(प० उ०)

कौंदिला, एतियान्न बोनो द (१७१५–१७८० ई०) फ्रांसीसी दार्शनिक जो मूलतः ईसाई महंत था। उसका दिदेरो (Diderot) तथा रूसो (Rousseau) आदि दार्शनिकों से गहरा संपर्क था। उसने प्रसिद्ध फ्रांसीसी विश्वकोश में कुछ लेख और सात बृहत् ग्रंथ लिखे हैं। उसने स्पिनोजावादी परमतत्व (सबस्टैंस), लाइबनीत्सवादी आत्माणु (monad) एवं पूर्वस्थापित साम्य (प्री-एस्टैब्लिश्ड हार्मोनी), तथा मालब्रांशवादी मनःशक्तियों की धारणाओं का खंडन करके, फ्रांस में अंग्रेजी लोकवादी अनुभववाद की स्थापना की। लॉक के मत से सर्वथा भिन्न उसने केवल संवेदना को मूल मान, समस्त मनोवस्थाओं को संवेदना का ही परिवर्तित रूप सिद्ध किया। स्पर्श को वाह्य तथ्यात्मक वस्तु का सूचक बताकर, उसने हमारी सभी प्रकार की संवेदना को ऐसा ही मानना, स्पर्श के संबंध में पड़ी आदत का परिणाम तथा उपस्थित संवेदना का चेतना को पूरी तरह अपने में लगा लेना ही अवधान का स्वरूप बताया और उसी प्रकार किसी गत संवेदना पर अवधान को स्मृति कहा है। उसने यह भी कहा कि एक साथ दो संवेदनाओं पर ध्यान देना ही तुलना है। तुलना में समानता असमानता देखी जाती है, यही बौद्धिक निर्णय है। पूर्व तथा वर्तमान संवेदनाओं के सुख-दुःखात्मक अंगों की तुलना से इच्छा, कल्पना और प्रेम, घृणा, आशा, भय और संकल्प जैसे उद्वेगों की उत्पत्ति होती है। मूल प्रवृत्ति प्रतिभात्मक विचार से उत्पन्न होकर विचारविहीन हो गई आदत होती है, और वह न नैसर्गिक होती है, न आनुवंशिक। विचार सदा भाष्यात्मक होता है, इसलिये मंज्ञापन भाषा का एकमात्र उद्देश्य नहीं है। भाषा का साम्यीकरण विचार में त्रुटि और दोष लाता है, इसलिये सत्य पर पहुँचने के लिये असम्य भाषा द्वारा विकास विश्लेषण ही उपयुक्त विधि है।

कौंदिला के इन विचारों का लगभग पचास वर्ष तक फ्रांस में अविरोध प्रभाव रहा। १९वीं सदी में जर्मनी से आई रोमैंटिक लहर ने संवेदनावाद के स्थान पर कूजँ के अध्यात्मवाद को महत्व दिया। किंतु इंग्लैंड में, मिल, बेन, और स्पेंसर आदि अनुभववादियों और मनोवैज्ञानिकों पर कौंदिला का गहरा प्रभाव बना रहा।

सं०ग्रं०—ई० वी० द कौंदिला : ऊव्र कोंप्लीत; लवी ब्रूल् : हिस्ट्री ऑव मॉडर्न फ़िलासफ़ी इन फ़ास।
(रा० लू०)

कौका (Cauca) दक्षिणी अमरीका के कोलंबिया प्रदेश मे मैगडालीना की सहायक नदी जो ऐंडीज पर्वत के बीच मध्य कॉर्दियेरा से निकलकर ६०० मील उत्तर की ओर १५० मील लंबी और २० मील चौड़ी घाटी बनाती है। यहाँ नदी की सतह एवं उच्चतम कोर्दियेरा शिखर की ऊँचाई में लगभग ३०० फुट का अंतर है। यह नदी मैगडालीना में उत्तर से आकर मिलती है। व्यापार की दृष्टि से यह नदी अधिक उपयोगी नहीं है; केवल इसके निचले भाग मे ही व्यापार हो सकता है। वर्षा की अधिकता एवं जलवायु की अनुकूलता के फलस्वरूप इसकी घाटी में विभिन्न प्रकार की कृषि होती है और वह रमणीय तथा स्वच्छ है। इस भू-भाग में सोने की अनेक खानें हैं।
(वि० रा० सि०)

कौख, रौवर्ट (१८४३–१९१० ई०) जर्मन जीवाणु-अन्वेषी। इनका जन्म ११ दिसंबर, १८४३ ई० को हैनोवर नगर मे हुआ था। गौटिंजेन विश्वविद्यालय में चिकित्सा का अध्ययन किया और १८६६ ई० में डाक्टरी की उपाधि प्राप्तकर उन्होंने पूर्वी प्रशा के एक ग्राम में चिकित्सा का कार्य आरंभ किया; परंतु उनकी रुचि अनुसंधान कार्य में अधिक थी। उन्होने जीवाणुओं को रँगना, उनके वंश की वृद्धिकर उनकी कॉलोनी उत्पन्न करना; केवल एक जीवाणु की शुद्ध कॉलोनी उत्पन्न करना; तरल पदार्थ की 'लटकती हुई बूँद' में सूक्ष्मदर्शी के द्वारा जीवाणुओं की गति को देखना; कैमेरा द्वारा जीवाणुओं का चित्र खीचना आदि विषयों का अनुसंधान किया। उनका कहना था कि किसी जीवाणु को किसी रोग का कारण मानने के पूर्व आवश्यक है कि रोगी के शरीर से जीवाणु को प्राप्तकर उसके वंश की वृद्धि की जाय और फिर उस जीवाणु को किसी जानवर के शरीर में प्रविष्ट कर उस जानवर में वही रोग उत्पन्न किया जाय और तब उस जानवर के शरीर से उस जीवाणु को पुनः प्राप्त किया जाय।

१८७६ ई० में ब्रेसलॉ में प्रोफेसर कोन के संमुख उन्होंने ऐंथ्रैक्स के जीवाणु का प्रदर्शन किया। १८८० ई० में जर्मन सरकार ने उनको वर्लिन में अनुसंधान करने की सुविधा प्रदान की। १४ मार्च, १८८२ ई० को वर्लिन में 'फ़िजिओलॉजिकल सोसायटी' की सभा में उन्होंने तपेदिक के जीवाणुओं का प्रदर्शन किया। १८८३ ई० में ये हैजे के जीवाणु का पता लगाने मिस्र गए और कुछ समय पश्चात् इसी जीवाणु पर अनुसंधान करने के लिये ये कलकत्ता आए। इन्होंने तपेदिक के विष ट्यूबरकुलिन (Tuberculin) के द्वारा तपेदिक की चिकित्सा करने का भी प्रयास किया।

इनके शिष्यों में लोफलर ने डिफ्थीरिया के जीवाणु का, गैफकी ने आंत्रज्वर (टायफायड) के जीवाणु का, फेहलिसेन ने एरिसिपेलैस (Erysipelas) के जीवाणु स्ट्रेप्टोकॉकस (Streptococcus) का तथा गारे ने कार्वंकल (Carbuncle) के जीवाणु स्टैफ़िलोकॉकस (Staphylococcus) का पता लगाया।

१८८० ई० में कौख वर्लिन के 'इंपीरियल बोर्ड ऑव हेल्थ' के सदस्य बनाए गए। १८८५ ई० में वे वर्लिन विश्वविद्यालय मे अध्यापक हुए और 'हाइजीन इंस्टिट्यूट' के अध्यक्ष बने। १८९१ ई० में 'संक्रामक रोगों के इंस्टिट्यूट' के अध्यक्ष बनाए गए। १९०५ ई० में उन्हें चिकित्सा

शास्त्र पर 'नोबेल पुरस्कार' मिला। २८ मार्च, १९१० ई० को उनकी मृत्यु हुई। (गि० ना० ख०)

कौत्स (१) भार्गव गोत्रकार ऋषि। मत्स्यपुराण में भार्गव गोत्र के अनेक ऋषियों के साथ इनका उल्लेख है।

(२) एक विप्रवर ऋषि जिनका गोत्रप्रवर्तक अन्य ऋषियों के साथ मत्स्यपुराण में उल्लेख है।

(३) वरतंतु के शिष्य कौत्स ऋषि जिनके रघु से गुरुदक्षिणा की याचना का वर्णन कालिदास ने रघुवंश में किया है। (रा० श० मि०)

कौनास (Kaunas) नेरिस तथा नर्मन नदियों के संगम पर (५४° ५४' उ० अ० तथा २३°५४' पू० दे०) स्थित लिथुएनिया का प्रमुख नगर और व्यापारिक केंद्र। यह जर्मनी और रूस के बीच बराबर युद्ध का कारण रहा। इस प्रकार इसकी उन्नति और अवनति दोनों होती रही। एक बार नेपोलियन भी मास्को जाते समय इस नगर से होकर गया था। १९१८ ई० में जब लिथुएनिया स्वतंत्र हुआ तब यह पुन: बसाया गया और इसी समय यहाँ के बिजलीघर तथा राष्ट्रीय युद्धसंग्रहालय की नींव पड़ी।

अब यह लिथुएनिया का प्रमुख शिक्षाकेंद्र है, यहाँ वाइनस विश्वविद्यालय है जिसमें कृषि और संगीत की उच्च शिक्षा दी जाती है। यह नगर उद्योग की दृष्टि से मुख्य रूप से धातुनिर्मित वस्तुओं के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। इसका प्राचीन नाम कौनो है। यहाँ की जनसंख्या २,७६,००० (१९६७) है। (वि० रा० सिं०)

कौल तांत्रिक उपासना का विशिष्ट साधक। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'कुल' शब्द से है। 'कुल' शब्द का सांकेतिक अर्थ तंत्रग्रंथों में अनेक प्रकार से किया गया है—(१) भास्कर राय की संमति में 'कुल' का अर्थ है सजातीय समूह अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान का सामरस्य। 'चिद्गगन चंद्रिका' के रचयिता कालिदास इसी मत के पोषक हैं—'मेयमातृमिति लक्षणं कुलं प्रांततो व्रजति यत्र विश्रमम्' अर्थात् जिस साधक की दृष्टि में मेय (ज्ञान का विषय), माता (प्रमाता) तथा मिति (ज्ञान की क्रिया) तीनों वस्तुएँ विश्राम को प्राप्त करती हैं, वही 'कौल' कहलाता है। इस विश्लेषण के अनुसार 'कौल' शक्ति का पूर्ण अद्वैत भावापन्न साधक है जिसकी दृष्टि कर्दम तथा चंदन में, शत्रु और प्रिय में, श्मशान तथा भवन में, कांचन तथा तृण में किसी प्रकार का भेद नहीं देखती (भाव चूडामणितंत्र), (२) 'स्वच्छंद तंत्र' के अनुसार 'कुल' शक्ति का वाचक है तथा 'अकुल' शिव का बोधक है। जो साधक योग की विशिष्ट क्रिया के द्वारा मूलाधार में स्थित होनेवाली कुंडलिनी शक्ति का अभ्युत्थान कर सहस्रार में स्थित शिव के साथ संमेलन कराता है, वही 'कौल' कहलाता है—

> कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
> कुलेऽकुलस्य संबंधः कौलं इत्यभिधीयते॥

प्राचीन काल में कौलों के अनेक संप्रदाय भारतवर्ष में, विशेषत: पूर्वी प्रांतों में, फैले हुए थे जिनमें से कुछ के नाम 'कौल-ज्ञाननिर्णय' के अनुसार रोमकूपादि कौल, वृष्णोत्थ कौल, वह्नि कौल, पद्मोत्थित कौल, महाकौल, सिद्धकौल, योगिनी कौल आदि हैं। इस ग्रंथ में सुप्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में से अन्यतम सिद्ध मत्स्येंद्रनाथ का संबंध योगिनी कौल से स्वीकार किया गया है। कौल संप्रदाय का प्रधान पीठ कामाख्या क्षेत्र (असम राज्य का मुख्य तीर्थ) था जहाँ से इसका प्रचार भारतवर्ष के अन्य प्रांतों में, विशेषत: कश्मीर में हुआ। नाथ संप्रदाय का स्पष्ट संबंध कौल मत से माना जाता है। गोरखनाथ जैसे प्रख्यात हठयोगी तथा अभिनवगुप्त जैसे आचार्य कौल मत के ही अंतर्गत थे। (ब० उ०)

कौलाचार कौलों के आचार विचार तथा अनुष्ठान प्रकार का सामान्य अभिधान। शाक्तमत के अनुसार साधनाक्षेत्र में तीन भावों तथा सात आचारों की विशिष्ट स्थिति होती है। पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव—ये तो तीन भावों के संकेत हैं। वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धांताचार और कौलाचार—ये पूर्वोल्लिखित भावत्रय से संबद्ध सात आचार हैं। इनमें दिव्यभाव के साधक का संबंध कौलाचार से है। जो साधक द्वैतभावना का सर्वथा निराकरण कर देता है और उपास्य देवता की सत्ता में अपनी सत्ता डुबाकर अद्वैतानंद का आस्वादन करता है, वह तांत्रिक भाषा में 'दिव्य' कहलाता है और उसकी मानसिक दशा 'दिव्यभाव' कहलाती है। कौलाचार तांत्रिक आचारों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि यह पूर्ण अद्वैत भावना में रमनेवाले दिव्य साधक के द्वारा ही पूर्णत: गम्य और अनुसरणीय होता है। किन्हीं आचार्यों की संमति में समयाचार ही श्रेष्ठ, विशुद्ध तांत्रिक आचार है तथा कौलाचार उससे भिन्न तांत्रिक मार्ग है। शंकराचार्य तथा उनके अनुयायी 'समयाचार' के अनुयायी थे, तो अभिनवगुप्त तथा गौडीयशाक्त 'कौलाचार' के अनुवर्ती थे। समयमार्ग में अंतर्याग (हृदयस्थ उपासना) का महत्व है, तो कौल मत में बहिर्याग का। पंचमकार—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—दोनों में ही उपासना के मुख्य साधन हैं। अंतर केवल यह है कि समयमार्गी इन पदार्थों का प्रत्यक्ष प्रयोग न करके इनके स्थान पर इनके प्रतिनिधिभूत अन्य वस्तुओं (जिन्हें तांत्रिक ग्रंथों में 'अनुकल्प' कहा जाता है) का प्रयोग करता है, कौल इन वस्तुओं का ही अपनी पूजा में उपयोग करता है। 'सौंदर्यलहरी' के भाष्यकार लक्ष्मीधर ने ४१वें श्लोक की व्याख्या में कौलों के दो अवांतर भेदों का निर्देश किया है। उनके अनुसार पूर्वकौल 'श्री चक्र' के भीतर स्थित योनि की पूजा करते हैं, उत्तरकौल सुंदरी तरुणी के प्रत्यक्ष योनि के पूजक हैं और अन्य मकारों का भी प्रत्यक्ष प्रयोग करते हैं। उत्तरकौलों के इन कुत्सापूर्ण अनुष्ठानों के कारण कौलाचार वामाचार के नाम से अभिहित होने लगा और जनसाधारण की विरक्ति तथा अवहेलना का भाजन बना। कौलाचार के इस उत्तरकालीन रूप पर तिब्बती तंत्रों का प्रभाव बहुश: लक्षित होता है। गंधर्वतंत्र, तारातंत्र, रुद्रयामल तथा विष्णुयामल के कथनानुसार इस पूजाप्रकार का प्रचार महाचीन (तिब्बत) से लाकर वसिष्ठ ने कामरूप में किया। प्राचीनकाल में असम तथा तिब्बत का परस्पर धार्मिक आदान प्रदान भी होता रहा। इससे इस मत की पुष्टि के लिये आधार प्राप्त होता है।

सं०ग्रं०—सर जान उडरफ: शक्ति ऐंड शाक्त (अंग्रेजी, कलकत्ता), शतीशचंद्र सिद्धांतभूषण: कौलमार्ग रहस्य (बँगला), कलकत्ता, १९२०। बलदेव उपाध्याय: आर्य संस्कृति के आधारग्रंथ, काशी, १९६२। (ब० उ०)

कौशल्या (१) कोसल देश के राजा भानुमान की कन्या, अयोध्यानरेश दशरथ की पटरानी और रामायण के नायक राम की माता।

(२) श्रीकृष्ण की एक पत्नी।

(३) शांतनुपुत्र विचित्रवीर्य की स्त्री अंबालिका का दूसरा नाम।

(४) पुरु की पत्नी और जनमेजय की माता।

(५) यदुवंशी राजा सात्वत की पत्नी जिनसे उन्हें पाँच पुत्र हुए थे।

ऐसा जान पड़ता है कि कोसल देश की कन्या होने के कारण इन सभी स्त्रियों को कौसल्या अथवा कौशल्या कहा गया है। (रा० द्वि०)

कौशिक (१) नारायण कवच धारण करनेवाले ऋषि जिन्होंने योग द्वारा मरुभूमि में शरीरत्याग किया। गंधर्वराज चित्ररथ विमान द्वारा उनके ऊपर से निकले और विमान सहित आकाश से पृथ्वी पर गिर पड़े। तब बालखिल्य मुनियों ने उन्हें बतलाया कि वह नारायण कवच धारण करने का प्रभाव है। गंधर्वराज ने उनकी हड्डियों को ले जाकर सरस्वती नदी में प्रवाहित किया।

(२) विश्वामित्र का नाम। (रा० श० मि०)

कौषीतकि ऋग्वेद से संबद्ध उपनिषद्। इसकी गणना प्राचीन उपनिषदों में की गई है। इसका रचनाकाल ईसा पूर्व बारहवीं से छठी शती के मध्य अनुमान किया गया है। यह चार अध्यायों में विभक्त है। पहले अध्याय में देवयान और पितृयान मार्गों का वर्णन है। जो मृत्यु

के बाद मनुष्य के भविष्य का निर्धारण करते हैं। देवयान मार्ग से जानेवाले जीव को संसार में फिर से जन्म नहीं लेना पड़ता। वह अंत में परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। दूसरा मार्ग पितृलोक को जाता है। वहाँ से शुभ कर्मफल के क्षीण होने के बाद जीव का फिर जन्म-मरण-रूपी संसार में लौटना पड़ता है। दूसरे अध्याय में तत्कालीन सामाजिक रीतियों, उपासनाओं तथा इच्छित वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये धार्मिक अनुष्ठानों का वर्णन है। इसमें प्राण तत्व के स्वरूप का भी संक्षेप में प्रतिपादन किया गया है। इसमें कौषीतकि, पैंग्य, प्रतर्दन और शुष्कभृंगार इन चार दार्शनिकों के सिद्धांतों का उल्लेख है। कौषीतकि और पैंग्य के अनुसार प्राण ब्रह्म है। इंद्रियों और मन की अपेक्षा प्राण श्रेष्ठ है क्योंकि इनके बिना मनुष्य जीवित रह सकता है पर प्राण के बिना नहीं। तीसरे अध्याय में इंद्र और प्रतर्दन के संवाद में प्राण को समस्त ज्ञान तथा क्रियाओं का अधिष्ठान तथा मूल कारण माना गया है। प्राण चेतन है। वह प्रज्ञात्मक अथवा चेतन आत्मा है। वही प्रज्ञा अथवा स्वयंप्रकाश ज्ञान है। समस्त ज्ञानेंद्रियाँ, कर्मेंद्रियाँ तथा मन प्रज्ञा के ही विभिन्न अंग हैं। प्रज्ञा के ही कारण इंद्रियों द्वारा अपने विभिन्न विषयों की अनुभूति तथा शरीर की विभिन्न क्रियाएँ संभव हैं। इस प्रकार प्राण को जीवन तत्व, प्रज्ञा, चेतन आत्मा तथा ब्रह्म कहा गया है। वह आनंदमय, अविनाशी तथा अमृततत्व है। चौथे अध्याय में ब्रह्म अथवा परमतत्व के विषय में बालाकि और अजातशत्रु का संवाद है। इसका उल्लेख बृहदारण्यक में भी मिलता है। बालाकि सूर्य, चंद्रमा, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल, शब्द, छायाशरीर, प्रज्ञा आदि सत्रह तत्वों को ब्रह्म अथवा पुरुष की संज्ञा देते हैं। अजातशत्रु इन सबको परमतत्व के रूप में स्वीकार नहीं करते। वह इनको ब्रह्म के कार्य मानते हैं। ब्रह्म इन सभी कार्यों का कारण है, इनका ईश्वर है और इन सबसे परे है। वही पारमार्थिक ज्ञान का विषय है। जाग्रत और सुषुप्तावस्था के विश्लेषण से ब्रह्म अथवा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने का भी यहाँ प्रयत्न किया गया है।

सं०ग्रं०—बेलवलकर और राणाडे : हिस्ट्री ऑव इंडियन फ़िलासाफ़ी, भाग २; मैक्सम्यूलर : सैक्रेड बुक्स ऑव् द ईस्ट, भाग १; राणाडे : कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑव् उपनिषदिक फ़िलासॉफ़ी। (रा० शं० मि०)

क्यूबा पश्चिमी द्वीपसमूह का सबसे बड़ा द्वीप (स्थिति : ७४°२' से ८४°५९' प० दे० और १९°४८' से २३°१२' उ० अ०)। इसका क्षेत्रफल ४४,२०६ वर्गमील है। इसका २० प्रतिशत भाग मैदानी तथा शेष भाग पहाड़ी या पठारी है। पर्वतों की तीन शृंखलाएँ पिनार-देल-रीओ, सियेरा-देल-लॉस तथा ओर-गे-नास है। इनकी अधिकतम ऊँचाई १८,००० फुट है। दक्षिण की ओर गुआ मुहाया श्रेणी (Gua Muhaya Range) स्थित है। छोटा द्वीप होने के कारण क्यूबा का प्रत्येक भाग समुद्र के निकट है। अतः यहाँ कई अच्छे बंदरगाह हैं। नदियाँ अत्यंत छोटी और तीव्रगामी है, फलतः नौगम्य नहीं है। रिओ कुआटो (Rio Cuato) नदी १५० मील लंबी है। जलवायु अर्धोष्ण (Semi tropical) है। मई से अक्टूबर तक ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु और नवंबर से अप्रैल तक शुष्क और शीतकालीन मौसम रहता है। ४५" से ६०" तक वार्षिक वर्षा होती है।

क्यूबा में कुछ खनिज पाए जाते हैं; मुख्यतः मैंगनीज, ताँबा, लोहा, निकल और क्रोमियम अधिक महत्वपूर्ण हैं। संपूर्ण जनसंख्या का ४१.१% भाग कृषिकार्यों में संलग्न है। यहाँ गन्ना, तंबाकू, फल, कहवा, चावल, अधिक होता है। चीनी उद्योग क्यूबा का महत्वपूर्ण आर्थिक आधार है। हवाना इसकी राजधानी है। प्रमुख नगरों में स्तावलारा और सांत्यागो दे-कूबा उल्लेखनीय है। (भू० का० रा०)

क्यूरी रेडियम विकीर्णन के नापने की इकाई। इस इकाई का नामकरण रेडियम की आविष्कारक सुविख्यात वैज्ञानिक श्रीमती मारी क्यूरी (देखिए-आगे) के सम्मान में किया गया है। एक ग्राम रेडियम की तुलना में उससे प्राप्त होनेवाले रेडियम विकीर्णन जिसे रेडॉन कहते हैं, मात्रा को क्यूरी नाम दिया गया है। इस इकाई के प्रभाग मिलीक्यूरी और माइक्रोक्यूरी हैं जो क्रमशः एक मिलीग्राम और माइक्रोग्राम रेडियमों से उत्पन्न होनेवाले किरणों की मात्रा को व्यक्त करते हैं। इन पैमानों का उपयोग रेडियम चिकित्सा में मात्रा नापने के लिये किया जाता है। (प० ला० गु०)

क्यूरी, आइरीन (१८९७–१९५६ ई०) नोबुल पुरस्कार विजेता फ़ार्सीसी वैज्ञानिक; पीरी (Pierre) और मारी (Marie) क्यूरी की पुत्री और जोल्यो (Joliot) की पत्नी। इनका जन्म १२ सितंबर, १८९७ ई० को पेरिस में हुआ था। प्रथम महायुद्ध के दिनों में अध्ययन छोड़कर वह युद्धपीड़ितों की सेवा सुश्रुषा में अपनी माता का हाथ बँटाती रही। तदनंतर १९२५ ई० में पेरिस के रेडियम इंस्टिट्यूट की क्यूरी प्रयोगशाला से डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। इस उपाधि के निमित्त उन्होंने पोलोनियम से निकली ऐल्फा किरणों पर कार्य किया। इसी समय रेडियम इंस्टिट्यूट में फ्रेडरिक जोल्यो नामक एक युवक की नियुक्ति हुई। उसका जन्म १९ मार्च, १९०० को हुआ था। उन्होंने दो वर्ष पूर्व पेरिस के रसायन एवं भौतिकी के एक विद्यालय से इंजीनियरिंग में उपाधि प्राप्त की थी। १९२६ ई० में आइरीन क्यूरी और जोल्यो दोनों का विवाह हो गया।

विवाह के पश्चात् जोल्यो और आइरीन क्यूरी दोनों ने साथ साथ मिलकर कार्य करना आरंभ किया। १९३० ई० में जोल्यो ने डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। १९३२ ई० में उन्होंने देखा कि यदि बेरीलियम तत्व को ऐल्फ़ा किरणों के संपर्क में रखा जाय तो उनमें से ऐसी किरणें निकलती हैं, जो दूर तक पदार्थों के भीतर प्रविष्ट हो सकती हैं। जोल्यो और आइरीन न्यूट्रॉन को ऊर्जा की किरण ही समझते रहे। अपने इस आविष्कार की घोषणा उन्होंने १५ जनवरी, १९३४ ई० को अपने एक शोध निबंध में की जो कोंते रेंडस में प्रकाशित हुआ। पश्चात् चैडविक ने दिखाया कि ये नवीन किरणें वस्तुतः न्यूट्रान नामक किरणों की पुंज हैं। जोल्यो और आइरिन ने न्यूट्रानों के प्रभावों का अध्ययन विस्तार में किया और यह प्रदर्शित किया कि न केवल कुछ प्राकृतिक पदार्थ ही रेडियधर्मी है, वरन् उन्हें कृत्रिम विधि से प्रयोगशाला में तैयार भी किया जा सकता है। यह एक महान् आविष्कार था, जिसने भौतिक और रसायन के क्षेत्र में एक नया युग प्रस्तुत किया। दोनों को इस आविष्कार के उपलक्ष्य में १९३५ ई० में नोबेल पुरस्कार मिला। रेडियधर्मी पदार्थों के संपर्क से चुल्लि ग्रंथियों और हारमोनों में जो परिवर्तन होते हैं उनके संबंध में भी इन्होंने अध्ययन किया।

द्वितीय महायुद्ध के समय जोल्यो विश्वव्यापी शांति के विशेष प्रचारक रहे। उन्हें अपने इन विचारों के कारण हानि भी हुई। आइरीन और जोल्यो भारत भी आए थे। उनकी सद्भावनाओं से इस देश के वैज्ञानिकों ने लाभ उठाया।

जोल्यो को अनेक पुरस्कार मिले—ऐकैडेमी ऑव साइंस का हेनरी विल्डे पुरस्कार (१९३३ ई०), बरनार्ट पदक (१९३८ ई०) तथा स्टैलिन पुरस्कार (१९३८ ई०)। आइरीन को बरनार्ड पदक (१९३२ ई०), हेनरी विल्डे पुरस्कार (१९३३ ई०) तथा मार्क्वे पुरस्कार (१९३४ ई०)। कुछ अन्य पुरस्कार पति-पत्नी को साथ साथ मिले।

आइरीन जोल्यो-क्यूरी की १५ जनवरी १९३४ को और जोल्यो का १४ अगस्त, १९५८ ई० को देहावसान हुआ। (सत्य० प्र०)

क्यूरी, मारी स्क्लोडोस्का (१८६७–१९३४ ई०) एवं **क्यूरी, पीरी** (१८५९–१९०६ ई०) प्रख्यात वैज्ञानिक दंपती। मारी क्यूरी का जन्म ७ नवंबर, १८६७ ई० को वारसाँ में हुआ था। वे पोलैंड की निवासिनी थी। उनके पिता प्रोफेसर स्क्लोडोस्का वारसाँ के लाइसी में विज्ञान के प्राध्यापक थे। उनसे ही मारी ने विज्ञान के प्रति प्रेरणा प्राप्त की। जिस समय वे वारसाँ में शिक्षा प्राप्त कर रही थीं, उनका संबंध अपने देश के क्रांतिकारियों से हो गया। फलतः उन्हें अपना देश छोड़ना पड़ा। वह फ्रांसीसी भाषा बोल सकती थीं और फ्रांस चली

आई। पैरिस के सॉरबॉं विश्वविद्यालय में महिलाओं के प्रवेश पर कोई प्रतिबंध न था। यह वह समय था जब इंग्लैंड में भी महिलाएँ चिकित्सा और आयुर्वेद नहीं पढ़ पाती थी। वह एक विद्यालय में विज्ञान की अध्यापिका भी हो गई और स्वयं भी सॉरबॉं में उच्च विज्ञान के व्याख्यानों में समिलित होने लगी।

पीरी क्यूरी का जन्म १५ मई, १८५६ ई० को पेरिस में हुआ था। उन्होंने सारबान में शिक्षा प्राप्त की और वहाँ वे भौतिक विज्ञान के अध्यापक बने। उनके आरम्भकालिक शोधों में महत्वपूर्ण शोध था कि वस्तुओं के चुंबकत्व गुण एक निश्चित तापमान पर पहुँचकर बदल जाते हैं। इस तापमान को क्यूरी-बिंदु (क्यूरी प्वाइंट) की संज्ञा दी गई।

सारबान में मारी का क्यूरी से परिचय हुआ और १८९५ ई० में दोनों विवाहसूत्र में बँध गए और अब समिलित रूप से अनुसंधान करने लगे। लगभग उन्हीं दिनों रट्जेन ने एक्सरे का आविष्कार किया था और हेनरी बेकरेल ने यह देखा कि यदि कुछ रासायनिक यौगिकों को अँधेरे में रखा जाय तो भी उनमें से ऐसी किरणें निकलती है जो काले कागज में बंद फोटोग्राफी के प्लेट को प्रभावित कर सकती हैं। उन्होंने यूरेनियम के रेडियोधर्मी गुण को पहचाना। इस प्रकार रेडियोधर्मी पदार्थों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। मारी और पीरी ने भी अनेक यौगिकों के परीक्षण आरंभ किए। उनका ध्यान सहसा एक खनिज की ओर गया जिसे पिचब्लेंड कहते हैं। मारी ने पिचब्लेंड का रासायनिक विश्लेषण आरंभ किया और बड़े अध्यवसाय और परिश्रम के अनंतर १८९८ ई० में उन्होंने पिचब्लेंड में से दो तत्व प्राप्त किए। एक तत्व का नाम उन्होंने अपनी जन्मभूमि के नाम पर पोलोनियम रखा और दूसरे का रेडियम। उनकी इस शोध पर उन्हें डाक्टर की उपाधि मिली पश्चात् क्यूरी दंपती ने रेडियों के गुणों की व्याख्या की दिशा में काफी कार्य किया। इस प्रकार उन्होंने आणविक भौतिक एवं रसायन संबंधी शोध की नींव डाली। रेडियम से निकली तीव्र किरणों द्वारा त्वचा संबंधी अनेक रोगों की सफल चिकित्सा की जा सकती है (देखिए रेडियम)।

१९०३ ई० में क्यूरी दंपती को रायल सोसाइटी का पदक प्राप्त हुआ और उसी वर्ष उन्हें हेनरी बेकरेल के साथ भौतिक विज्ञान का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। उन्हें नोबेल पुरस्कार उनके रेडियों किरणों की क्रिया (रेडियो एक्टीविटी) के लिये दिया गया था।

पीरी क्यूरी १९०५ ई० में अकादमी ऑव साइंस में निर्वाचित हुए किंतु १९ अप्रैल, १९०६ ई० को एक दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। पीरी की मृत्यु के अनंतर मारी उनके स्थान पर पेरिस विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बनीं। १९११ ई० में उन्हें दुबारा नोबेल पुरस्कार मिला। इस बार उन्हें रसायन विज्ञान के अंतर्गत रेडियम की खोज और उसके गुणों के अध्ययन के लिये पुरस्कार दिया गया। इस प्रकार वह पहली व्यक्ति है जिन्हें यह पुरस्कार दो बार प्राप्त होने का सम्मान मिला है।

मारी क्यूरी ने अपने जन्मस्थान में रेडियो-सक्रियता की शोध के लिये अनुसंधानशाला स्थापित की। १९२१ ई० में संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति वारेन हार्डिंग ने अपने देश की महिलाओं की ओर से उन्हें उनकी सेवाओं के उपलक्ष्य में एक ग्राम रेडियम भेंट किया। जब वे १९२९ ई० में दुबारा अमरीका गई तो राष्ट्रपति हूवर ने उन्हें उनकी वारसा की अनुसंधानशाला के लिये रेडियम खरीदने के लिये ५० हजार डालर भेंट किया।

क्यूरी दंपती के समान ही उनकी बेटी आइरीन और दामाद को भी १९३५ ई० में कृत्रिम रेडियोधर्मी तत्व की खोज के लिये नोबेल पुरस्कार मिला।

४ जुलाई, १९३४ ई० को मारी की मृत्यु हौटे सेवाय के सैनाटोरियम में हुई। (सत्य प्र०; प० ला० गु०)

क्यूशू जापान के चार प्रमुख द्वीपों में सबसे छोटा द्वीप (स्थिति : लगभग ३१° से ३४° उ० अ० और १३१° से १३२° पू० दे०)। इस रचना पेलियोजोइक और टर्शिएरी युग की चट्टानों से हुई है। इसका उत्तरी तथा दक्षिणी भाग नवनिर्मित ज्वालामुखी चट्टानों से बना है। यहाँ के पर्वत मोड़दार हैं जो उत्तरी भाग में अधिक ऊँचे हैं। नदियाँ छोटी और तीव्र वेगवाली हैं जिनसे जलविद्युत् का विकास किया गया है।

आर्थिक दृष्टिकोण से संपूर्ण जापान में इस द्वीप का सर्वप्रथम स्थान है। जापान के ४६ प्रतिशत कोयले का भंडार इसी द्वीप में संचित है। यहाँ कोयले का उत्पादन प्रति वर्ष प्रायः २,९०,००,००० टन होता है। औद्योगिक दृष्टिकोण से उत्तरी-पश्चिमी भाग अधिक विकसित है। प्रधान केंद्र नागासाकी है। यहाँ लोहा और इस्पात, सीमेंट, शीशा, रासायनिक सामग्री, जहाज और बर्तन उद्योग प्रमुख है। इसी द्वीप में एशिया का सबसे बड़ा लोहा-इस्पात निर्माण केंद्र यवाता स्थित है जो जापान के संपूर्ण कच्चे लोहे और इस्पात का क्रमशः ३५% तथा ४०% उत्पादन करता है। शिक्षा का यहाँ यथेष्ट विकास हुआ है। फुकुओका (Fukuoka) नगर में विश्वविद्यालय भी है जिसकी स्थापना १९१० में हुई थी। (भू० का० रा०)

क्योगा पूर्वी अफ्रीका के दक्षिणी यूगांडा प्रांत में स्थित झील (स्थिति : १°३०' उ० अ० से ३३°०' पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल १,००० वर्गमील है। इस झील के चारों ओर अन्य झीलों के समूह हैं। दक्षिण दिशा में १०० मील की दूरी पर विक्टोरिया झील, १३० मील पूर्व अलबर्टा झील तथा दक्षिणपश्चिम में २७५ मील की दूरी पर एडवर्ड झील है। क्योगा झील का निर्माण भंजन द्वारा हुआ है। अफ्रीका की प्रसिद्ध नदी नील टचागानिका झील से निकलकर आवेन और रिपन जलप्रपातों से होकर क्योगा झील में गिरती हैं और पुनः निकलकर उत्तरी दिशा में बहने लगती है। क्योगा मीठे पानी की झील है। (भू० का० रा०)

क्योतो जापान के यमाशिरो प्रांत में स्थित नगर (स्थिति : ३५°१' उ० अ० तथा १३५°४६' पू० दे०)। जनसंख्या १२,०४,०८४ (१९५५)। क्वामू शासन काल में इसे 'हे यान-जो' अर्थात् 'शांति का नगर' की संज्ञा दी गई थी। ११वीं शताब्दी तक क्योतो जापान की राजधानी था और आज भी पश्चिमी प्रदेश की राजधानी है। १८९० ई० में इस नगर को बीवा झील से लगभग ७ मील लंबी नहर द्वारा संबंधित कर दिया गया।

विशाल मंदिरों, भव्य प्रासादों और कलात्मक भवनों के लिये क्योतो संपूर्ण जापान में प्रसिद्ध है। यहाँ रेशम के कपड़े, चीनी मिट्टी के बर्तन, कशीदाकारी, रंगनिर्माण, पंखा, खिलौना और अन्य प्रकार के धातु के बर्तनों का उद्योग अधिक विकसित है। यह जापान में बौद्ध धर्म का सबसे बड़ा केंद्र है। यहाँ एक विश्वविद्यालय तथा एक कलाकेंद्र हैं। (भू० का० रा०)

क्योनागा (१७५२-१८१५ ई०) जापान का रंगमंचीय कलाकार। उरागा में जन्म; टोकियो में कियोमित्सु द्वारा चित्रशिक्षण। गुरु के मरने के बाद उनकी संपत्ति का स्वामी बना और रंगमंच चित्रण की महान् परंपरा को उसने महत्तर बनाया। रंगमंच के चित्रणों में वह अद्वितीय था। उसके चित्रों में रंगों की अनंतता है, यद्यपि उसे गुलाबी, काई, हरे, पीले, भूरे और नीले रंग प्रिय है। उसके चित्रों में मानवों के अतिरिक्त पक्षियों, पुष्पों तथा अन्य प्राकृतिक प्रसंगों का निरूपण हुआ है, साथ ही बर्तन भाँड़े, मसहरियाँ, समेटे हुए पर्दे आदि घरेलू वस्तुएँ भी रूपायित हैं। उसके चित्रों में प्रधान 'परिमित आवासों की सुंदरियों का चित्रालय' और 'सायोनारा' (विदा) है। कुछ चित्र उसने 'राजकन्याओं' अथवा दरबार की महिलाओं के भी बनाए थे। (प० उ०)

क्योनोबू, तोरीई (१६६४-१७२९ ई०) जापान का रंगमंचीय चित्रकार। टोकियो में जन्म। इसने रंगमंचीय चित्रकारों की एक शालीन परंपरा का प्रारंभ किया। इसका गुरु भी रंगमंचीय साइनबोर्डों का चित्रकार था। क्योनोबू ने आरंभ में ग्रंथचित्रण का कार्य किया किंतु शीघ्र ही (१६९५ तक) वह अभिनेताचित्रों के निर्माण में निष्णात माना जाने लगा। उस काल में अभिनेताओं के चित्र बनाने की

रीति चल पड़ी थी जिसे क्योनोबू ने अपनी प्रवीणता द्वारा संपन्न किया। मर्द अभिनेता ही नारी पात्रों के अभिनय भी करते थे। क्योनोबू दोनों के विविध प्रकारों की आश्चर्यजनक सफलता से अभिव्यक्ति करता था। उनके वस्त्रों पर वह चेरी की कलियों, विभिन्न कुसुमों, विजनों, पक्षियों आदि का अद्भुत रूपायन करता था। उसके चित्रफलक का अधिकांश भाग प्रधान आलेख्य, अभिनेता, अभिनेत्री की आकृति से ही भरा होता, बस प्रतीकतः एक वृक्ष अथवा उसकी टहनी उस आकृति के साथ खचित होती। रंगमंचीय चित्रों के अतिरिक्त शृंगप्रधान चित्रों के अलवम भी इस चित्रकार ने तत्कालीन परंपरा में प्रस्तुत किए। (प० उ०)

क्राउ पोलैंड का एक प्रांत जो उत्तर में कील्से प्रांत, पूर्व में जेजॉंड प्रांत, पश्चिम में स्लास्क प्रांत तथा दक्षिण में जेकोस्लोवाकिया देश से घिरा है (स्थिति : ५३°३' उ० अ०, १९°५८' पू० दे०)। इस प्रांत पर १९३९ ई० में जर्मनों ने अधिकार कर लिया था। १९४५ ई० में उन्होंने उसे पोलैंड को लौटाया। इस प्रांत का क्षेत्रफल ६,१४६ वर्गमील है। इसमें विस्चुला और उसकी सहायक डूनाजेक और विस्लोका बहती हैं। इसका उत्तरी भाग उपजाऊ मैदान है किंतु मध्य भाग पठारीय है। इसके वोचनिया और वीलिज्का के नमक के खान प्राचीनकाल से प्रख्यात रहे हैं। इस प्रांत का अधिकांश भाग पोलैंड के प्रथम विभाजन के समय आस्ट्रिया के अधिकार में था और १९१८ ई० तक पश्चिमी गैलीशिया कहलाता था। द्वितीय महायुद्ध के समय जर्मन सेना युद्ध आरंभ के प्रथम सप्ताह में ही इस प्रांत में घुस आई थी।

क्रकॉउ प्रांत के मुख्य नगर का नाम भी क्रकॉउ ही है। वह विस्चुला नदी के बाएँ किनारे पर बसा है और सामरिक दृष्टि से उसका महत्व है। कहा जाता है कि ७०० ई० में यहाँ पोलिश राजकुमार क्राक ने एक दुर्ग स्थापित किया था। १०वीं शती में वह बोहोमिया में सम्मिलित कर लिया गया था। १२४१ ई० में तातारियों के आक्रमण के फलस्वरूप नगर एकदम नष्ट हो गया था। बाद में जर्मन प्रवासियों ने इसे फिर से बसाया और समृद्ध किया। १३०५ ई० में पोलैंड नरेश लैडिस्लाउस लोकीटेक ने इसे अपनी राजधानी बनाया। १७९९ में इसपर आस्ट्रिया ने अधिकार किया; १८०९ ई० में नैपोलियन ने इसे वारसा के डची का अंग बनाया। १८४६ ई० में इसपर आस्ट्रिया का प्रभुत्व स्थापित हुआ। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर यह पोलिश गणतन्त्र में संमिलित किया गया। यहाँ के मुख्य उद्योग मशीन, कृषि-यंत्र, रसायन, साबुन, तंबाकू है। किंतु यह नगर मुख्यतः व्यापारिक केंद्र है। यहाँ निकटवर्ती प्रदेशों से माल आता और जाता है। १९६५ ई० में यहाँ की जनसंख्या ५,२०,००० थी। (न० प्र० सिं०; प० ला० गु०)

क्रय-अभिक्रय (हायर परचेज़) क्रय-अभिक्रय-अनुबंध (संविदा) उपनिधान (बेलमेंट) की श्रेणी का अनुबंध माना गया है। क्रय-अभिक्रय के नियमन के लिये कोई स्वतंत्र विधि नहीं है। अतः अनुबंध की शर्तों के अलावा संविदा विधि के ही नियम उसपर लागू होते हैं। बंबई हाईकोर्ट के मतानुसार क्रय-अभिक्रय की प्रथा का उदय इंग्लैंड में हुआ और वहीं से इस प्रकार के अनुबंध भारत में भी प्रचलित हुए।

क्रय-अभिक्रय का विधिगत अर्थ है—किसी वस्तु का मालिक अपनी वस्तु को एक निश्चित किराए पर उठाने के साथ साथ यह भी वचन देता है कि उक्त वस्तु को किराए पर लेनेवाले व्यक्ति द्वारा अनुबंध की शर्तें पूरी की जाने पर मालिक उस वस्तु को बेच देगा। इसी से मिलता जुलता क्रय-विक्रय का एक तरीका और भी है जिसमें क्रेता वस्तु का संपूर्ण मूल्य वस्तुविक्रय के समय अदा न करके किस्तों में अदा करने की सुविधा प्राप्त कर लेता है। इसे हम विक्रय करने का अनुबंध कह सकते हैं। वस्तुविक्रय के इन दो प्रकारों में प्रकट साम्य होते हुए भी चार मौलिक अंतर हैं—(१) क्रय-अभिक्रय के अनुबंध में वह वस्तु किराए पर लेनेवाले के सुपुर्द तुरंत कर दी जाती है। किंतु विक्रय अनुबंध से वस्तु को तुरंत क्रेता के सुपुर्द करना आवश्यक नहीं होता। (२) क्रय-अभिक्रय में वस्तु को अंततः खरीदने या न खरीदने का निर्णय उस वस्तु को किराए पर लेनेवाले की इच्छा पर निर्भर होता है। विक्रय-अनुबंध में इच्छा का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि उसमे वस्तु का विक्रय संपादित हो चुका होता है, केवल मूल्य की अदायगी जारी रहती है। (३) क्रय-अभिक्रय में यह वस्तु अनुबंध में निर्धारित कालावधि के भीतर किसी समय भी वस्तु के मालिक के पास लौटाई जा सकती है। अतः स्वभावतः उस वस्तु का उसी समय तक किराया अदा करने का उत्तरदायित्व अभिक्रेता पर होता है। विक्रय अनुबंध मे यह प्रश्न नहीं उठता और विक्रेता सभी किस्तों की रकम वसूलने का अधिकारी होता है क्योंकि वस्तु-विक्रय-कार्य संपादित हो चुका होता है। (४) क्रय-अभिक्रय मे यद्यपि वस्तु अभिक्रेता के सुपुर्द कर दी जाती है तथापि वस्तु का स्वामित्व उस समय तक वस्तु के मालिक में ही निहित रहता है जब तक कि अभिक्रेता वस्तु क्रय करने का निश्चय प्रकट नहीं करता। लेकिन विक्रय अनुबंध में यद्यपि मूल्य की अदायगी किस्तों में चलती रहती है तथापि विक्रय की हुई वस्तु का स्वामित्व क्रेता में निहित हो चुका होता है। इस अंतर का प्रभाव यह है कि विक्रय अनुबंध में यदि विक्रेता क्रेता को वस्तु हस्तांतरित नहीं करता तो क्रेता वस्तु के हस्तांतरण के लिये दावा कर सकता है और यदि क्रेता किस्तों की अदायगी नहीं करता तो विक्रेता मूल्य की वसूली का दावा कर सकता है। किंतु अभिक्रय में यदि किराए की किस्तें अदा नहीं की जाती तो वस्तु का मालिक उस वस्तु की वापसी और उस समय तक के किराए का दावा कर सकता है।

सामान्य रूप से क्रय-अभिक्रय के लिये दो पक्षों की ही आवश्यकता होती है—वस्तु के स्वामी और अभिक्रेता की। किंतु इस प्रकार के व्यापारिक विनिमय के विस्तार के साथ साथ वित्तीय सहायक संगठनों (हायर परचेज फ़ाइनैंस कारपोरेशंस) का भी उदय हुआ है जो उक्त दोनों पक्षों से संपर्क स्थापित कर वस्तु के मालिक का स्थान उपलब्ध कर लेते हैं।

वस्तु विक्रय के इन प्रकारों में तत्संबंधी पक्षों के अधिकार तथा उत्तरदायित्वों में अंतर होता है अतः इस प्रश्न का निर्णय कि कोई समझौता अभिक्रयअनुबंध है अथवा विक्रयअनुबंध, उस समझौते की शर्तों के अर्थविश्लेषण पर ही निर्भर करता है। समझौते की शर्तों में 'विक्रय' या 'अभिक्रय' उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना यह देखना कि दोनों पक्षों की असली मंशा क्या है। यदि वस्तु प्राप्त करनेवाले पर वस्तु लेने का कोई भार नहीं है और वस्तु का स्वामी बनना या न बनना उसकी इच्छा पर छोड़ दिया गया है तो 'क्रय', 'विक्रय', 'किस्त' आदि शब्दों के प्रयोग के बावजूद उसे अभिक्रय ही माना जायगा।

क्रय-अभिक्रय चूँकि अनुबंधसंविदा का ही एक प्रकार है अतः नाबालिग विषयक संविदाविधि के नियम इसपर भी लागू होते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि क्रय-अभिक्रय केवल चल संपत्ति के लिये ही नहीं, अचल संपत्ति के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

सं०ग्रं०—वी० एस० वायर, सी० एल० वर्मा : भारतीय वस्तु-विक्रय-विधि; भारतीय संविदाविधि; हायर ऐंड हायर परचेज। (गो० अ०)

क्रय तथा विक्रयकर (सेल ऐंड परचेज़ टैक्स) वस्तुओं के क्रय तथा विक्रय पर आरोपित एवं संगृहीत कर जो उत्पादन शुल्क (एक्साइज़ ड्यूटीज़) से भिन्न है। इसके लिये 'क्रय' तथा 'विक्रय' वस्तु-क्रय-अधिनियम में दी हुई परिभाषा से विस्तृत सर्वसामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। क्रयकर क्रयी से और विक्रयकर विक्रेता से संगृहीत किया जाता है। क्रयकर परोक्ष कर है और विशेषतः अपनाया जाता है। यह प्रायः दो प्रकार का होता है, बहुपदी एवं एकपदी। युग्मपदी कर कदाचित् ही अपनाया जाता है।

भारत में क्रयकर सर्वप्रथम सन् १९३८ ई० में मध्यप्रदेश और बरार प्रांत में पेट्रोल के क्रय पर आरोपित किया गया था। इस दिशा में ठोस कदम चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने अपने मुख्यमंत्रित्वकाल में १९३९ में मद्रास प्रांत में बहुपदी क्रयकर लगाकर उठाया था। तत्पश्चात् भारत के अन्य प्रांतों में भी यह कर अपना लिया गया। आज भारतीय गणराज्य

के सभी राज्यों में यह कर लागू है। ११ सितंबर, सन् १९५६ के पूर्व समाचारपत्रों के क्रय-विक्रय को छोड़ राज्यों को अन्य सभी वस्तुओं पर कर लगाने का अधिकार था; वह चाहे अंतरराज्यिक व्यापार से ही संबंधित क्यों न हो। अब राज्य अंतरराज्यिक क्रय-विक्रय पर कर नहीं लगाते। यह सुधार संविधान (षष्ठ संशोधन) अधिनियम, १९५६ के आधार पर हुआ है। राज्यों के अधिकार में यह सुधार संविधान के २८६वें अनुच्छेद का ठीक निर्वचन न होने के कारण किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय ने एक वाद (बंबई राज्य बनाम युनाइटेड (मोटर्स) इंडिया लि०, आल इंडिया रिपोर्टर, १९५३, सर्वोच्च न्यायालय, पृष्ठ २५२) में जो निर्णय किया था उसमें वैधानिक स्थिति ठीक प्रकार समझी न जा सकी फलतः उक्त न्यायालय ने स्वयं ही अपने उक्त निर्णय को एक अन्य वाद में (बंगाल इम्यूनिटी कं० बनाम बिहार राज्य, ए० आई० आर०, सं० न्यायालय, ६६१) में गलत बताया। ऐसी दशा में कर-जाँच-आयोग के मत के अनुसार संविधान में सुधार करना आवश्यक था। अब राज्य अंतरराज्यिक क्रय-विक्रयों को छोड़ सभी सौदों पर कर लगा सकते हैं। वे २८६वें अनुच्छेद के प्रभाव से उन क्रय-विक्रयों पर कर नहीं लगा सकते जो उनकी सीमा के बाहर संपन्न हों और न वे वस्तुओं के आयात निर्यात के दौरान में होनेवाले क्रय-विक्रयों पर कर आरोपित कर सकते हैं। अंतरराज्यिक वाणिज्य तथा कारबार की महत्व की वस्तुओं, जैसे कोयला, कपास, लोहा, फौलाद आदि के क्रय-विक्रयों पर कर संसदीय विक्रयकर अधिनियम १९५६ में दी हुई प्रथा के अनुसार लगता है। क्रयकर संप्रति राज्यों के राजस्व का मुख्य साधन बन गया है।

विक्रयकर विक्रेता से वसूल किया जाता है। भारत में यह सामान्यतः लागू नहीं है; पर इग्लैंड एवं संयुक्त राज्य अमरीका में प्रचलित है। विक्रयकर यदि अधिक मूल्यवाली वस्तुओं के विक्रय पर लगाया जाय तो करसंग्रहण आसानी से हो सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका के राज्यों में यह कर प्रायः लगता है। करसंग्रहण और क्षेत्राधिकार के विचार से अमरीकी संयुक्त राज्य के राज्य विक्रयकर आरोपित करते हैं। विक्रयकर बहुधा बहुपदी ही होता है। यह परोक्ष कर नहीं है।

(मं० चं० जै० का०)

क्रय प्राथमिकता, पूर्वक्रय (प्री–एम्यूशन) मुस्लिम विधि के अनुसार विशिष्ट अचल संपत्ति के स्वामी को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अचल संपत्ति का विक्रय होने पर हस्तांतरी के स्थान पर अनिवार्यतः प्रतिष्ठित हो सके। इसे पूर्वक्रय का अधिकार या हकशफा कहते हैं। अधिकारी को शफी अथवा पूर्वक्रयाधिकारी कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति के लिये तीन बातें आवश्यक हैं : १. शफी अचल संपत्ति का स्वामी हो। २. क्रयकर्ता एवं शफी में विशिष्ट संबंध हो। ३. संपत्ति का क्रय हो। संपत्ति शफी की न हो।

पूर्वक्रय का अधिकार पूर्णतः इस्लाम के शास्त्रीय वचनों पर आधारित है। इसके पीछे उद्देश्य यह है कि सहभोगी या पड़ोसी के मध्य कोई अन्य जन न आ जाय जिससे संपत्ति के शांतिमय उपयोग में बाधा हो। भारत में इस अधिकार ने हिंदुओं में भी, विशेषतया पंजाब में, रूढ़िजन्य विधि का रूप ले लिया है। हिंदू धर्मशास्त्रों में इसका उल्लेख नहीं है। तमिलनाडु के उच्च न्यायालय ने इस अधिकार को अवैधानिक घोषित कर दिया है, अतएव वहाँ यह अमान्य है।

यह अधिकार तीन प्रकार के व्यक्तियों को प्राप्त होता है :

१—शफी-ए-शरीक, या संपत्ति का सहभोगी। २—शफी-ए-खलीत' उन्मुक्ति का सहभोगी। ३—शफी-ए-जार, या पड़ोसी। ये तीनों वर्ग इसी अनुक्रम में अधिमान प्राप्त करते हैं। प्रथम वर्ग के व्यक्ति दूसरे वर्ग को तथा दूसरे वर्ग के तीसरे वर्ग को स्थानच्युत कर देते हैं। यथा—

राम और श्याम एक अचल संपत्ति के संयुक्त स्वामी हैं। यदि राम अपने भाग को शंकर के हाथ बेंचता है तो श्याम को शफी-ए-शरीक होने के नाते पूर्वक्रय का अधिकार है। किंतु ये तीन माँगें प्रस्तुत करना अनिवार्य हैं : १—प्रथम माँग (तलब-ए-मुवातब)—पूर्वक्रयाधिकारी को चाहिए कि विक्रय का समाचार ज्ञात होते ही तुरंत अपने अधिकार का दावा करे। दावे की न तो कोई विशेष पद्धति है और न साक्षी की उपस्थिति ही आवश्यक है। किंतु यदि दावा करने में तनिक भी विलंब हो तो वह अधिकार से वंचित माना जाएगा। २—पूर्वक्रयाधिकारी को शीघ्रातिशीघ्र द्वितीय माँग (तलब-ए-इशहाद) भी करनी चाहिए। इस माँग में प्रथम माँग का उल्लेख होना चाहिए, दो साक्षी होने चाहिए एवं विक्रेता या क्रेता की उपस्थिति में की जानी चाहिए। विशेष स्थिति में प्रतिनिधि भी यह कार्य कर सकता है। ३—तृतीय माँग (तलब-ए-तमलीक) वस्तुतः कानूनी दावा है। यह क्रय की तिथि से या पंजीकरण की तिथि से, जैसा भी हो, एक वर्ष की अवधि के भीतर प्रस्तुत की जानी चाहिए। यह अधिकार अभित्याग पूर्वक्रयाधिकारी की मृत्यु या निर्मुक्ति द्वारा नष्ट हो जाता है। यह दावा प्रवर्तित होने पर पूर्वक्रयाधिकारी प्रत्येक प्रकार से क्रेता के स्थान में आ जाता है।

प्राचीन पंडितों में इस बात पर मतभेद है कि इस अधिकार को किसी युक्ति से रोका जा सकता है अथवा नहीं। इमाम मुहम्मद ने ऐसे ढंग को जघन्य माना है और अबू यूसुफ़ ने उचित। यह विषय संदिग्ध है कि आज भारत में इन युक्तियों का प्रयोग हो सकता है या नहीं। यथा—यदि विक्रेता अपने पड़ोसी से मिली हुई भूमि की एक ही पट्टी छोड़कर शेष विक्रय कर दे तो पड़ोसी को पूर्वक्रय का अधिकार न होगा क्योंकि उसने वास्तविक सान्निध्यवाली भूमि नहीं बेची है। न्यायाधिपति महमूद की उक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत के न्यायालय इन युक्तियों को न्यायसंगत नहीं मानेंगे।

सं०ग्रं०—मोहम्मदुल्लाह इब्न एस० जंग : दि मुस्लिम लॉ ऑव प्रिएम्यूशन; तय्यबजी : मोहम्मडन लॉ; के० पी० सक्सेना : मुस्लिम लॉ; ए० ए० ए० फैजी : आउटलाइंस ऑव मोहम्मडन लॉ; विल्सन : ऐंग्लो मुहम्मडन लॉ। (ब्र० श०)

क्रव्यदंत (Creodonta) एक प्राचीन पशु-वर्ग। इस वर्ग के जंतु आज के मांसभक्षी पशुओं के पूर्वज समझे जाते हैं। यही इस जाति के जीवों की विशेषता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस वर्ग के जीवों का एक अलग ही वंश था, जो 'क्रिटेशस' और 'पेलियोसीन' युगों के कीटाहारियों की पहली शाखा में थी। क्रव्यदंत विकास की प्रारंभिक दशा में ये और कीटाहारियों के समान ही वे आकार में भी छोटे थे। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि मांसभक्षी पशुओं के विकास की परंपरा में ये क्रव्यदंत निम्नतम स्थिति में थे। मांसभक्षण का स्वभाव उनके दाँतों तथा शारीरिक रचना के क्रमिक विकास से प्रकट होता है।

मांसभक्षण ही इस जाति के पशुओं की विशेषता है, परंतु इन आदि क्रव्यदंतों में मांस काटने के दाँत नहीं होते थे। इनके दाँतों की पंक्तियाँ प्रथम प्रिमोलर (Premolar) और अंतिम 'मोलर' को छोड़कर
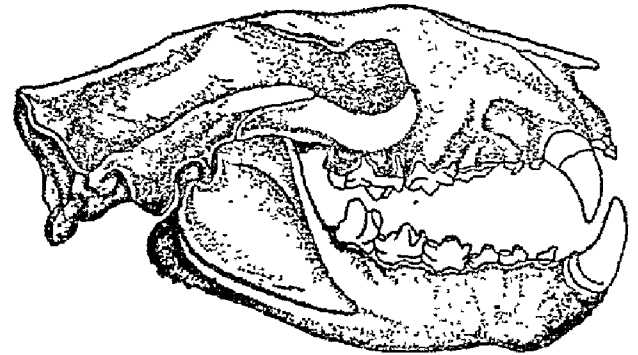
चित्र १. ऑक्सिईना (Oxyaena) नामक क्रव्यदंत के दाँत
इसके चीर फाड़ करनेवाले दाँतों का विकास हो गया है और वे अन्य क्रव्यदंतों तथा इसके पूर्वज कीटाहारी प्राणियों के इसी प्रकार के दाँतों के सदृश तथा सरल नहीं रह गए हैं।

प्रायः पूर्ण विकसित थीं। कालांतर में इनके दाँतों की बनावट में विभिन्नता होने लगी और कुछ कुत्ते के चीरफाड़ करनेवाले 'केनाइन' दाँत की भाँति बड़े और नुकीले होने लगे (देखें चित्र १)। इन प्राचीन क्रव्यदंत मांसभक्षियों की दंतरचना मूलतः प्राचीन कीटभक्षियों की भाँति मिलती थी (देखें चित्र २)। कोप तथा मैथ्यू नामक विशेषज्ञों के मतानुसार पेलियोसीन (Paleocene) तथा इयोसीन (Eocene) युगों के माइसिडी (Mysidae) जंतु क्रव्यदंत के ही परिवार के थे। इन्हीं दोनों के अनुसार 'माइसिडी' व्याघ्र परिवार (जैसे बिल्ली, वनबिलार, कस्तूरी इत्यादि) के जंतुओं और कुत्ता परिवार (जैसे कुत्ता, भालू, भेड़िया इत्यादि) के प्राणियों से इनका उद्‌गम हुआ। इस प्रकार नुकीले दाँतवाले आधुनिक मांसभक्षी वर्ग के जंतुओं के पूर्वज 'पेलियोसीन' युग के क्रव्यदंत ही हैं। ये छोटे छोटे मांसभक्षी जीव छोटी छोटी झाड़ियों या जंगलों में रहते थे। अपने शिकार की खोज में तथा अपनी रक्षा के लिये ये पेड़ों पर भी चढ़ जाते थे। इनमें कुछ मांसभक्षी, कुछ सर्वभक्षी और कुछ कीटभक्षी
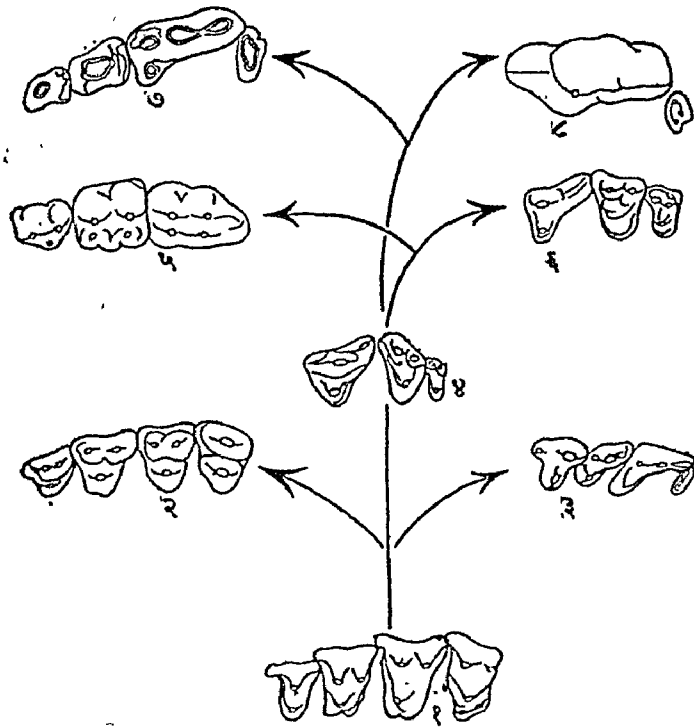
चित्र २. कीटभक्षी की दंतरचना से व्याघ्र तथा कुत्ते की दंतरचना का विकास

१. में डेल्टेरियम नामक कीटभक्षी का चौथा तथा उसके बाद के तीन चर्वणदंत; २. में मेज़ोनिक्स नामक प्रादिनूतन (Eocene) युग के क्रव्यदंत तथा ३. में डिस्लार्प्सलिस नामक अतिनूतन (Pliocene) युग के हाइनोडॉन (Hyaenodon) क्रव्यदंत की पूर्वोक्त क्रम में दंतरचनाएँ; ४. में वल्पैवस (Vulpavus) नामक प्रातिनूतन युग के माइएमिडी (Miacidae) कुलवाले क्रव्यदंत; ५. में आदिनूतन (Oligocene) युग के आर्कटोथीरियम नामक भालू तथा ६. में इसी युग के हेस्पेरोसिऑन नामक कुत्ते के सदृश क्रव्यदंत के चौथे तथा उसके बाद के दो चर्वणदंत; ७. में अतिनूतन युग के लकड़बग्घे का एक चर्वणदंत तथा उसके पहले के तीन दाँत और ८. में प्रातिनूतन (Pleistocene) युग के बड़े दाँतवाले बिल्ले का चौथा प्रथम चर्वणदंत दिखाया गया है।

थे। सड़ा गला मांस खानेवाले इन क्रव्यदंतों में से कुछ का मस्तिष्क बहुत ही छोटे आकार का था और उनकी समझदारी भी निम्नतम अवस्था में थी। समझदारी का अभाव इस श्रेणी के शीघ्र नष्ट हो जाने का एक कारण हो सकता है।

क्रव्यदंतों का विभाजन निम्नलिखित तीन उपवर्गों में किया गया है :

१. **प्रोक्रियोडी** (Procreodi) इन्हें आर्कटोसियोनियोडेई (Arctocyoniodae) भी कहते है। ये 'टर्शरी' युग' के क्रव्यदंत हैं, जो 'पेलियोसीन' युग में अपनी संख्या की चरम सीमा पर पहुँच गए थे। इनके बाद इनकी संख्या तेजी से घटने लगी, फिर भी 'इयोसीन' युग तक ये विद्यमान रहे। यूरोप के 'पेलियोसीन' युग के ऊपरी तहों के आर्कटोसियोन (Arctocyon) आजकल के रीछों के समान (इन्हें रीछों का पूर्वज या संबंधी कदापि नहीं समझा जा सकता) हैं। रीछों के साथ केवल इनके कामों का ही सादृश्य है। इनके अँगूठों में खुर थे और इनके दाँतों की रचना भी अत्यंत सरल थी।

२. **ऐक्रियोडी** (Acreodae), जिसे 'मेसोनिकिडी' (Mesonychidae) की भी संज्ञा दी गई है, क्रव्यदंतों की दूसरी जाति है। इस जाति के क्रव्यदंतों में बड़े आकार मे विकसित होने का भी आभास प्रतीत होता है। इनके दाँतो की रचना में भी अब विशेषता दिखाई पड़ती है। इनके दाँत चीरफाड़ के उपयुक्त नहीं होते थे, परंतु इनके दाढ़ के दाँतों में एक विशेष प्रकार के कुंद दिखाई पड़ते है, जिनकी सहायता से इस उपवर्ग के प्राणी अपने शिकार तथा उनकी हड्डियों को बहुत सरलता से तोड़ते और चबाते थे। इनके पैर भेड़ियों के समान थे, जिनमें उँगलियाँ दूर दूर थीं और नाखून चिपटे थे। इनमें आजकल के लकड़बग्घों की भाँति पंजे नहीं थे, वरन् छोटे छोटे खुर थे। मेसोनिकिडी उपवर्ग के इन क्रव्यदंतों का महत्व उनके विशिष्ट आकार के कारण है। मंगोलिया का अंतिम 'ऐक्रियोडी' क्रव्यदंतों में सबसे दीर्घायु था। इसकी खोपड़ी तीन फुट से भी अधिक लंबी थी।

३. **स्यूडोक्रियोडाई** (Pseudocreodi) क्रव्यदंतों की तीसरी जाति है। चीरने फाड़नेवाले दाँत इनकी विशेषता हैं। दूसरे जानवरों पर आक्रमण करके ये जीवन निर्वाह करते थे। इनकी शरीररचना इस कार्य के लिये विशेष रूप से अनुकूल थी। विकास की प्रारंभिक अवस्था मे ही यह उपवर्ग दो शाखाओं—ऑक्सीनिडी (Oxyaenidae) तथा हाइनोडॉंटिडी (Hyaenodontedae)—में बँट गया था। इन दोनों शाखाओं के क्रव्यदंतों में केवल इतना अंतर था कि प्रथम श्रेणी के क्रव्यदंतों के ऊपरी भाग का प्रथम 'मोलर' तथा निचले भाग का दूसरा 'मोलर' दाँत अब पूर्ण रूप से काटने के लिये बन गए। इसी प्रकार दूसरी श्रेणी के क्रव्यदंतों में ऊपरी भाग के दूसरे 'मोलर' और निचले जबड़े में तीसरे 'मोलर' काटने के काम आने लगे थे। 'पेलियोसीन' युग में इस जाति के क्रव्यदंतों का विकास अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था, परंतु इसके पश्चात् ही इनका ह्रास तीव्र गति से प्रारंभ हुआ। इस जाति के प्राणियों के जीवित रहने के चिह्न हमें 'इयोसीन' युग में भी मिलते हैं। इस जाति के क्रव्यदंत अति प्राचीन 'शफ' वर्ग या खुरवाले प्राणियों के शिकार पर जीवन-निर्वाह करते थे। इन शफ वर्ग के प्राणियों के समाप्त होने पर क्रव्यदंतों की यह वंशशाखा भी धीरे धीरे लुप्त हो गई और 'ऑलिगोसीन' में तो इन क्रव्यदंतों के स्थान पर इनसे मिलते जुलते नए जीवन का प्रादुर्भाव हो गया था, जिन्हें 'फिसिपेड' (Fissiped) कहते हैं। इनमें जीवन-रचना उच्च श्रेणी की थी, किंतु ये भी छोटे आकार के थे और अपने पूर्वजों के समान मांसभक्षी स्वभाव और आकार के थे। इन पुश्तैनी रूपों ने परिस्थितियों के अनुसार अपने में परिवर्तन करते करते कालांतर में मांसभक्षियों की अनेक शाखाएँ हो गई। (ध्रु० ना० व०)

क्राइस्ट, ख्रीस्त यूनानी व्युत्पत्ति के इस शब्द का मूल अर्थ है दैवीशक्ति प्राप्त। यह हीब्रू के मसीह शब्द का पर्याय भी है। बाइबिल के न्यू टेस्टामेंट में यह नाम नजारथ निवासी जीजस (ईसू) को, जो ईसाई मत के प्रवर्तक हैं, प्रदान किया गया है। (दे० ईसा मसीह) (प० ला० गु०)

क्राइस्ट चर्च न्यूज़ीलैंड राज्य के दक्षिणी द्वीप में पूर्वी तट पर स्थित नगर (स्थिति : ४३°३०' द० अ० और १७२°४०' पू० दे०)।

१८५१ ई० के बाद से इसने एक बड़े नगर का रूप धारण किया। इस नगर के मध्य एवान नदी प्रवाहित होती है। क्राइस्ट चर्च कैंटरबेरी के मैदान में स्थित कई नगरों से रेल द्वारा संबद्ध है। यहाँ मोटर, साइकिल, चमड़े, ऊन तथा आटा पीसने के उद्योग हैं। यहाँका प्रमुख विद्याकेंद्र कैंटरबेरी यूनिवर्सिटी कालेज है। क्राइस्ट चर्च नगर सुनियोजित है और यहाँ के मार्गों का निर्माण आधुनिक रूप में समकोणात्मक ढंग से किया गया है। इसकी जनसंख्या १९६६ ई० में २,४६,७७३ थी। (भू० का० रा०)

क्राकाताउ (Krakatau) द्वीप सुंडा जलडमरूमध्य के निकट स्थित छोटा ज्वालामुखी द्वीप (स्थिति ५°५०' द० अ० तथा १०५°२७' पू० दे०) ज्वालामुखी के उद्गारों के कारण इस द्वीप की नींव ने टूटकर द्वीपपुंज का रूप धारण कर लिया है। उद्गारों के फलस्वरूप कई शंकु बन गए हैं जिनमें प्रमुख शंकु की ऊँचाई २,६२३ फुट है। बार बार के उद्गारों के कारण समुद्रतटीय निवासियों की महान् क्षति हुई है। १९२७ ई० में जो ज्वालामुखी का उद्गार हुआ उसके फलस्वरूप इस द्वीप के निकट समुद्रतल से २६५ फुट ऊँचा एक अन्य द्वीप निकल आया जिसे अनाक क्राकाताउ कहते हैं। (भू० का० रा०)

क्रानाश, लूकस (१४७२-१५५३ ई०) जर्मनी का लोकप्रिय चित्रकार। यह फ्रैंकोनिया के क्रोनाश नामक स्थान का निवासी था। बचपन में उसे किसी प्रकार की कलाशिक्षा उपलब्ध नहीं हो सकी, फिर भी कला के प्रति असीम निष्ठा और लगन होने के कारण उसने उसे सीखने का भरसक प्रयत्न किया। इसमें उसे उस समय के कलाकार पोलाईओलो (Pollaiuolo) से कुछ सहायता मिली थी। बाकी उसने उस समय के फ्लोरेंसीय कलाकारों के संपर्क में सीखा और कुछ इटालियन लोककलाकारों से। सन् १५०४ तक वह एक प्रसिद्ध कलाकार बन गया और सैक्सनी के इलेक्टर फ्रेडरिक दि वाइज ने उसे विटेनबर्ग में अपने दरबार का कलाकार नियुक्त किया। विटेनबर्ग के दरबार में वह करीब ५० वर्षों रहा और उसे वहाँ काफी संमान प्राप्त हुआ।

क्रानाश की प्रारंभिक कृतियों में कल्पना तथा नवीनता का बाहुल्य था पर धीरे धीरे दरबारी कलाकार होने के नाते वह लोकरुचि को ही प्रमुखता देने लगा जिसका कारण था कि उसके चित्र बड़े लोकप्रिय हुए। वह वैसे ही चित्र बनाता था जिनकी माँग होती। उसके चित्र सुंदर आकृतियोंवाले, बारीकी से सजे हुए, मनमोहक होते थे। दृश्यों को भी वह अपने चित्रों में बड़े सुंदर ढंग से उपस्थित करता था। एक एक फूल, पत्ती, सुंदर जंगली जानवर तथा पक्षी को वह चुन चुनकर बड़ी बारीकी तथा यथार्थता के साथ चित्रित करता था।

क्रानाश की कला का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब जर्मनी में रेनेसाँ काल का अंत हो रहा था। महान् सुधारक मार्टिन लूथर क्रानाश के अत्यधिक प्रशंसक थे। क्रानाश भी मार्टिन लूथर के विचारों से बड़ा प्रभावित था। उसने लूथर की विचारधाराओं के आधार पर अपने बहुत से चित्र बनाए।

धार्मिक चित्ताकर्षक चित्रों में उसका चित्र 'वीनस और आमोर' अपने समय का प्रसिद्ध चित्र है। उसके अन्य प्रसिद्ध चित्र हैं 'संत जेरोम' तथा 'मिस्री पलायन में विश्राम'। उसके व्यक्तिचित्रों (पोर्ट्रेट्स) में 'डाक्टर कुस्पीनियन', 'सैक्सनी का इलेक्टर' तथा 'मार्टिन लूथर' उल्लेखनीय हैं। उसने मार्टिन लूथर की पुस्तकों के लिये भी चित्र बनाए थे। क्रानाश का एक अधूरा चित्र—सैक्सनी की एलिजाबेथ कैसर, जो बर्लिन के संग्रहालय में है, आज भी अतिप्रशंसित है। इसमें कौमार्य का अद्भुत चित्रण कलाकार की तूलिका से उभर पड़ा है। (रा० च० शु०)

क्रानिकल यह मूलत अंग्रेजी का शब्द है जिसकी व्युत्पत्ति 'क्रोनास' है जिसका अर्थ है 'समय' और इसका व्यवहार मध्यकालिक ऐतिहासिक ग्रंथों के लिये किया जाता है और इसी अर्थ में वह हिंदी भाषा में भी व्यवहृत होता है। किंतु कभी कभी घटनाओं की क्रमबद्ध तालिका के लिये भी इस शब्द का व्यवहार किया जाता है। वस्तुत यह इतिहास से किसी प्रकार भिन्न है यह कहना कठिन है। इसकी परिभाषा कहीं किसी कोश में स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं है। (प० ला० गु०)

क्राफर्ड, फ्रैंसिस मेरियन (१८५४-१९०९ ई०) अमरीकी लेखक। इनका जन्म २ अगस्त, १८५४ ई० को इटली में हुआ था। ये प्रख्यात अमरीकी मूर्तिकार थामस क्राफर्ड के पुत्र और प्रसिद्ध कवि जूलिया वार्ड हॉवे के भतीजे थे। इनकी शिक्षा कैंब्रिज (इंग्लैंड), हाइडलबर्ग (जर्मनी), और रोम (इटली) में हुई थी। १८७० ई० में वे भारत आए और संस्कृत का अध्ययन किया तथा इलाहाबाद से प्रकाशित हो रहे 'इंडियन हेरल्ड' का संपादन किया। अमरीका वापस जाने पर वे एक वर्ष तक हार्वर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत का अध्ययन करते रहे। १८८२ ई० में उन्होंने अपना पहला उपन्यास मिस्टर आइजक्स लिखा जिसमें तत्कालीन ऐंग्लोइंडियन समाज का सजीव चित्रण है और उसमें पौर्वात्य रहस्यवादिता की छाया है। इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही वे लेखकों की पाँत में आ गए और डाक्टर क्लाडियस के १८८३ ई० में प्रकाशित होने पर तो वे काफी प्रसिद्ध हो गए। उसी वर्ष वे इटली आ गए और वहीं स्थायी रूप से बस गए। इटली के जीवन पर उन्होंने न केवल उपन्यास ही लिखे वरन् वहाँ के इतिहास से संबद्ध कई पुस्तकें भी लिखीं। उनके प्रख्यात उपन्यास हैं—रोमन सिंगर (१८८४), अ टेल ऑव अ लोनली पेरिश (१८८६), पालनैटोफर (१८८७), विच आफ प्राहा (१८९१), इन दि पैलेस ऑव दि किंग (१९००), दि ह्वाइट सिस्टर (१९०९)। उनका कहना था कि उपन्यास को मनोविनोद के निमित्त 'जेबी रंगमंच' (पाकेट स्टेज) होना चाहिए। अत आश्चर्य नहीं, उनका 'अ सिगरेट मेकर्स रोमांस' (१८९०) रंगमंच पर प्रभावकारी सिद्ध हुआ। १९०२ ई० में उन्होंने एक नाटक भी लिखा जिसे पेरिस में सारा बर्नहार्ट ने प्रस्तुत किया। ९ अप्रैल, १९०९ ई० को उनका सोरेंटो में देहांत हुआ। (प० ला० गु०)

क्राफ्ट, ऐडम पंद्रहवीं शती का जर्मन कलाकार। ३५ वर्ष की अवस्था में क्राइस्ट के जीवन से संबंधित घटनाओं पर भावकलापूर्ण शिल्पाकृतियों का निर्माण करके शिल्पकला के क्षेत्र में उसने विशेष प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। उसकी ये कृतियाँ अन्य कृतियों के साथ नुरेंबर्ग में सुरक्षित हैं। नुरेंबर्ग के संत सेबाल्द चर्च में उसने जो आकृतियाँ अंकित की हैं वे रूपांकन और वस्त्राभूषण में सामयिक होने के कारण यथार्थवादी कला के बेजोड़ नमूने लगती हैं। उसी चर्च की वेदी पर क्रॉस पहने क्राइस्ट की शिल्पाकृति भी उन्होंने बनाई थी। होल्स्कुहर चैपेल में संत जान्स के समाधिस्थान पर पुरुषाकार आकृतियों से युक्त शिल्प उसकी अंतिम कृति है जिसे उसने १५०७ ई० में बनाया था। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक तथा निजी भवनों के लिये भी वह कलाकृतियाँ बनाता रहा। गरीब नौकरों के घर पर भी उसने कई चित्रशिल्प बनाए, जिनके विषय 'संत जार्ज और अजगर', और 'मैडोना' थे। इसी प्रकार अनेक अलंकृत आकृतियाँ भी उन्होंने बनाई। संत लारेंस चर्च के ६२ फुट ऊँचे भवन में निर्मित उनकी कृतियाँ विशेष प्रभावशाली हैं। (भा० स०)

क्रॉमवेल, आलिवर (१५९९-१६५८ ई०) इंग्लैंड, स्काटलैंड तथा आयरलैंड के कामनवेल्थ के प्रधान संरक्षक। इनका जन्म २५ अप्रैल, १५९९ ई० को हंटिंगडन में हुआ था। ये राबर्ट क्रामवेल तथा एलिजाबेथ स्टेवर्ड के द्वितीय पुत्र और हेनरी अष्टम के प्रमुख सलाहकार के वंशज थे। हंटिंगडन के स्कूल में उन्होंने प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की। वहाँ डाक्टर बियर्ड के प्रभाव में उनकी धार्मिक जीवन की ओर अभिरुचि जागृत हुई, जो जीवन पर्यंत बनी रही। १६१६ ई० में कैंब्रिज के सिडनी ससेक्स कालेज में प्रवेश किया और तदनंतर लिंकन के विद्यापीठ से विधिस्नातक हुए। वे अथक शक्ति, लौह दृढ़ता, व्यावहारिक मतित्व तथा घोर धार्मिक निष्ठा के व्यक्ति थे। साथ ही उनमें कठोरता, बर्बरता तथा निर्दयता भी अधिक मात्रा में थी। ऐसे कम ही व्यक्ति होंगे जिनमें उसके समान स्नेह और समान तथा भय और घृणा का अपूर्व संमिश्रण हो। उनका चरित्र कट्टर प्यूरिटनवादिता तथा रणदक्षता का विरोधाभास प्रस्तुत करता है। जीवन पर्यंत उन्होंने अपने प्यूरिटन मत के कट्टर अनुयायी होने का परिचय दिया। उनका प्रारंभिक जीवन प्यूरिटन मत से अनुप्रेरित ग्रामीण रईस का था। उनका सार्वजनिक स्वरूप सर्वप्रथम

मसदीय अधिकारों के प्रवक्ता के रूप मे प्रकट हुआ, यद्यपि कालातर मे वे ससद् से सतत सघर्ष करता रहे। १६२८ ई० मे वह हटिंगडन से ससद् का मदस्य निर्वाचित हुए, किंतु इसके विघटन के उपरात वह जनदृष्टि से ओझल हो गये। पश्चात् १६३६-४० ई० की सूक्ष्म और दीर्घ समद् मे वह कैंब्रिज से सदस्य होकर आए। वे धाराप्रवाह वक्ता नही थे, फिर भी उनके उद्देश्य की तत्परता ने लोगो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया।

गृहयुद्ध के समय क्रामवेल को विशेष ख्याति प्राप्त हुई। गृहयुद्ध छिड़ने पर उन्होने ससदीय दल को उदार सहायता दी तथा ईस्टर्न असोसिएशन की रचना मे सहायक बने। वे कप्तानो की सेना मे समिलित हुए, अपने प्रदेश मे एक सेना तैयार की तथा उसे स्वय शिक्षा दी। यह सेना इतनी तत्पर सिद्ध हुई कि सारी संसदीय सेना इसी नमूने पर तैयार होकर, फेयर फाक्स के नेतृत्व मे न्यू माडेल आर्मी के नाम से विख्यात हुई। क्रामवेल ने पहले एसेक्स के तत्वावधान मे काम किया तथा एजहिल के (१६४२) घुड़सवार सेना के सुचारु सचालन ने उनके उत्कर्ष का मार्ग सरल कर दिया। उन्हें लेफ्टिनेंट जनरल की उपाधि मिली (१६४३) मार्स्टन मूर (१६४४) की विजय उनकी सैनिक दक्षता का प्रमाण है। निज निग्रह कानून पास कराके उन्होने सेना को और भी अनुशासित कर दिया। १६४५ के नेस्बी के युद्ध मे घुडसवार सेनानी के रूप मे क्रामवेल की ख्याति बढी। इसके उपरात वे राजनीतिक मच पर चार्ल्स प्रथम के विरुद्ध संघर्ष मे नेता के रूप मे आए। सेना की ओर मे उन्होने राजा से वार्ता भी की किंतु इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि राजा का निष्कासन तथा वध अनिवार्य है। द्वितीय गृहयुद्ध के श्रीगणेश तथा प्रेस्टन पर स्काट की हार (१६४८) ने चार्ल्स को फाँसी की ओर द्रुतगति से बढाया (१६४८)। उस समय मार्च, १६४६ मे क्रामवेल आयरलैंड के एक कमाड पर राज्यदलीय विद्रोह को दबाने के लिये नियुक्त किए गए। ड्रोमेडा तथा हेक्सफोर्ड की विजयो ने आइरिशो का दमन किया। स्काटलैंड मे क्रामवेल ने वीरेस्टरो के विरोध को दबाया जिससे राजा तथा प्रेसबीटरो के कुचक्र समाप्त हुए।

'रप' पार्लियामेंट ने इग्लैंड को कामनवेल्थ घोषित किया तथा ४५ सदस्यो की एक कौसिल आँव स्टेट नियुक्त की जिसमे सेना का जनरल कप्तान होने के नाते क्रामवेल भी एक सदस्य बने। २० अप्रैल, १६५३ ई० को क्रामवेल ने रप को विघटित कर दिया। उत्तराधिकारप्राप्त वेयरबोन पार्लियामेंट का भी यही भाग्य रहा। दिसबर, १६५३ ई० मे इंस्ट्रूमेंट ऑव गवर्नमेंट के अतर्गत नामवे लार्ड प्रोटेक्टर बने और क्रामवेल कौंसिल की सहायता से आर्डिनेंस अधिनियम के कुशल उपयोग के द्वारा एक दक्ष प्रशासक सिद्ध हुए। उन्होने इग्लैंड, स्काटलैंड तथा आयरलैंड की ससदीय एकता स्थापित की, इगलिश पादरियो को नियंत्रित किया, वैधानिक सुधार किए। कोर्ट ऑव चासरी पुन: सगठित की गई। उन्होने नैतिक सुधार की एक योजना प्रस्तावितकर वैयक्तिक अधिकारो को भी नियंत्रित किया। रूढिवादियों को छोड सभी के साथ धार्मिक सहिष्णुता की नीति बरती। १६५५ ई० मे उन्होने मेजर जनरलो के तत्वावधान मे स्वायत्त शासन चलाने की चेष्टा की जो बहुत अप्रिय सिद्ध हुआ। उनका गृहशासन सैनिक निरंकुशता पर आधारित था जिसने कामनवेल्थ की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचाया। १६५७ ई० मे द्वितीय प्रोटेक्टरेट ससद् ने एक नया विधान 'हबुल पेटीशन ऐंड ऐडवाइस' नाम से प्रस्तुत किया जिसमे क्रामवेल को राजा की पदवी तथा दो सदनो की संसद् प्रस्तावित की गई थी। किंतु क्रामवेल ने राजा की पदवी लेना स्वीकार नहीं किया; अन्य धाराएँ उन्होने मान ली।

क्रामवेल की वैदेशिक नीति के दो प्रधान लक्ष्य थे। प्रथम इग्लैंड की व्यापारिक एवं नाविक उच्चता स्थापित करना तथा दूसरी मध्य यूरोप के प्रोटेस्टेंटो के हितो की रक्षा। प्रथम लक्ष्य की सिद्धि के लिये उन्होने डच युद्ध मे सफलता प्राप्त की तथा १६५४ ई० मे डचो से एक सधि की। उन्होंने डेन्मार्क, स्वीडन तथा पुर्तगाल से मैत्रीपूर्ण संधियाँ कीं जिनसे इग्लैंड के व्यापारिक स्वार्थो की रक्षा हुई। उन्होंने इग्लैंड की जलसेना का भी विकास किया और औपनिवेशिक साम्राज्य की वृद्धि की। दूसरे लक्ष्य की सिद्धि के लिये यूरोप मे एक प्रोटेस्टेंट गुट की रचना का प्रयास किया किंतु शक्तियो के पारस्परिक वैमनस्य के कारण वह असफल रहे। स्पेन के विरुद्ध फ्रास से मैत्री की जिसके फलस्वरूप स्पेन से घोर औपनिवेशिक युद्ध हुए। एक सैनिक टुकड़ी वेस्ट इडीज भेजी गई जिसने जमाइका पर अधिकार किया (१६५५)। स्थलविजयो ने डनकर्क को इग्लैंड मे मिला लिया था। स्पेन के विरुद्ध फ्रास की सहायता करके वह लुई चतुर्दश के उत्कर्ष के लिये उत्तरदायी बने। साथ ही उन्होने इग्लैंड की महानता का भी बीजारोपण किया।

क्रामवेल के जीवन के अतिम दिन वध के भय से आक्रात रहे। ३ सितंबर, १६५८ ई० को उनकी मृत्यु हुई। उसके छह पुत्रो मे से रिचार्ड उनका उत्तराधिकारी प्रोटेक्टर नियुक्त हुआ किंतु अयोग्य सिद्ध होने के कारण १६६० ई० मे प्रोटेक्टरेट व्यवस्था समाप्त कर दी गई।

सं०ग्रं०—एस० जी० गार्डिनर : हिस्ट्री ऑव कामनवेल्थ ऐंड प्रोटेक्टरेट, १८९९; एस० आर० गार्डिनर : हिस्ट्री ऑव दि ग्रेट सिविल वार १६४२–४८; सी० एच० फर्थ : ओलिवर क्रामवेल (१९२३); सी० वी० वेजउड : ओलिवर क्रामवेल (१९३९); जे० बुचन : ओलिवर क्रामवेल (१९३४); एम० ऐशले . लाइफ ऑव क्रामवेल (१९४०)।

(गि० शं० मि०)

क्राम्पटन, सैम्युएल (१७५३–१८२७ ई०) अंग्रेज आविष्कारक। लंकाशायर के निकट फरउड में ३ दिसंबर, १७५३ ई० को जन्म। बचपन मे ही एक सूत कातने की मिल में काम करने लगा। कातनेवाली चर्खी की खामियो की ओर उसका ध्यान गया और उनको दूर करने का विचार उसके मन मे उठा। पाँच छह वर्ष तक वह अपना अतिरिक्त समय और कमाई का पैसा उसमे लगाता रहा। इसके लिये वह बोल्टन थियेटर मे वायलिन बजाकर भी पैसे जुटाता था। १७७९ ई० के लगभग वह मसलिन बुनने योग्य सूत कातनेवाली मशीन बनाने मे सफल हुआ। उसके इस मशीन पर कते सूत की माँग होने लगी पर वह अपनी मशीन को पेटेंट कराने में सफल न हो सका। निदान अनेक उत्पादको के इस आश्वासन पर कि वे उसके आविष्कृत चर्खे के प्रयोग के लिये उसे धन देंगे, उसने अपने चर्खे का भेद बता दिया। किंतु इसके लिये उसे कुल ६० पौंड प्राप्त हुए। तब उसने स्वयं कातने का कार्य आरभ किया पर उसे अधिक सफलता नही मिली। १८०० ई० मे उसकी सहायता के लिये चदाकर ८००पौड एकत्र किए गए और १८१२ ई० मे पार्लामेंट ने उसे पाँच हजार पौंड प्रदान किए। इस धनराशि से उसने पहले ब्लीचर का बाद मे रुई और सूत कातने का व्यापार आरभ किया पर इसमे भी वह असफल रहा। २६ जून, १८२७ ई० को बोल्टन मे उसकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्रायडन लंदन का एक उपनगर जो दक्षिण की ओर लगभग १५ मी० की दूरी पर स्थित है (स्थिति : ५१° २३' उ० अ० तथा ०° ५' प० दे०)। टेम्स नदी के मुहाने से यह उपनगर प्राय. ३५ मी० दूर है। इस नगर का विकास उत्तरी डाउन्स पर्वत की उत्तरी ढाल पर हुआ है। १९२५ ई० मे वृहत्तर लंदन के निर्माण के फलस्वरूप क्रायडन भी उसकी सीमा मे आ गया। विभिन्न उद्योगो के अतिरिक्त हवाई जहाज तथा बिजली के सामान बनाने के कारखाने भी इस नगर मे स्थापित हुए हैं। यहाँ समस्त आधुनिक सुविधाओ से युक्त लंदन का एक बडा हवाई अड्डा था जो १९५९ मे तोड़ दिया गया। १९६६ ई० मे यहाँकी जनसंख्या ३,२७,००० थी। (भू० का० रा०; प० ला० गु०)

क्रिकेट एक अति प्रसिद्ध अंग्रेजी खेल। इस खेल का प्रचार १३वीं शती मे भी था, यह उस समय के एक चित्र को देखने से ज्ञात होता है। उसमें लडके क्रिकेट खेल रहे हैं। १६वीं शताब्दी से तो निरंतर पुस्तकों मे क्रिकेट की चर्चा प्राप्त होती है। कहा जाता है, इंग्लैंड का प्रसिद्ध शासक ऑलिवर क्रॉमवेल बचपन मे क्रिकेट का खिलाडी था।

क्रिकेट का पुराना खेल आधुनिक खेल से भिन्न था। प्रारंभ मे भेड चरानेवाले लडके क्रिकेट खेला करते थे। वे पेड की एक शाखा काटकर उसका बल्ला बना लेते थे, जो आजकल की हॉकी स्टिक से मिलता जुलता

था। वे कटे हुए किसी पेड के तने (stump) के सामने खडे होकर खेलते थे या अपने घर के छोटे फाटक (wicket gate) को आउट बना लेते थे। आजकल के क्रिकेट मे न तो पेड के तने हैं और न कोई फाटक है, किंतु ये दोनो शब्द स्टप और विकेट अब भी प्रयुक्त होते है। गेंद उस समय भी चमडे की होती थी।

क्रिकेट का खेल दो दलो मे मैदान मे खेला जाता है। प्रत्येक दल मे ग्यारह खिलाडी होते हैं। क्रिकेट के मैदान की लबाई चौडाई निश्चित नही है किंतु मैदान के बीच दो विकेट २२ गज की दूरी पर आमने सामने गडे होते हैं। विकेटो की ऊँचाई २८ इच और चौडाई नौ इच होती है। एक विकेट मे तीन डडे होते हैं और उनपर दो गुल्लियाँ रखी होती है। यदि गेंद विकेट मे लग जाय, जिससे गुल्लियाँ गिर जायँ तो खिलाडी आउट हो जाता है। खेल के मैदान के चारो ओर चूने की एक रेखा खिंची होती है जिसको सीमा कहते हैं। यदि गेंद इस सीमा को पार कर जाय तो चार रन होते हैं और अगर हवा मे उडती हुई सीमा के बाहर गिरे तो छह रन होते है। सीमारेखा पर विकेट की सीध मे दो परदे लगे रहते हैं जिससे लोगो के चलने फिरने से खेल मे अडचन पैदा न हो।

खेल प्रारभ होने से पूर्व, सफेद कोट पहने हुए, दो व्यक्ति निर्णाता (अपायर) के रूप मे मैदान मे आते है और खेल की समाप्ति तक वही रहते है। खेल के प्रारभ से कुछ मिनट पहले दोनो दलो के कप्तान रुपए या किसी और सिक्के से टॉस (Toss) करते हैं। टॉस जीतनेवाला यह निश्चय करता है कि उसका दल पहले खेलेगा या दूसरे दल को खिलाएगा। खिलानेवाले दल के खिलाडी मैदान मे चले जाते हैं, फिर खेलनेवाली टीम के दो खिलाडी खेलने के लिये जाते हैं। क्रिकेट का खिलाडी दूसरे खेलो के खिलाडियो से भिन्न लगता है। उसके कपडे और जूते सफेद होते है, पैर मे पैड बँधे होते हैं, हाथ मे दस्ताने होते हैं और वह खेलने का बल्ला लिए होता है। क्रिकेट का बल्ला ऐश (Ash) की लकडी का
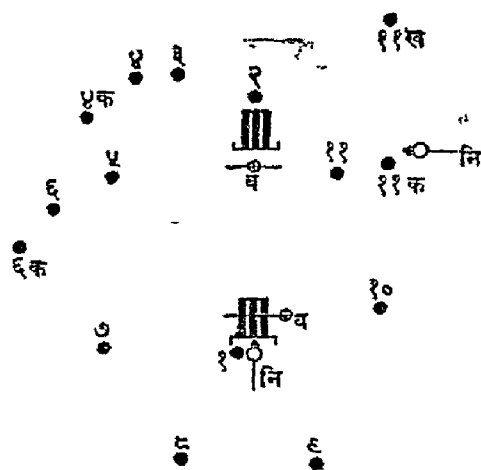
क्रिकेट मे खिलाड़ियों के स्थान

१ बोलर (गेंद फेंकनेवाला, Bowler), २ विकेट रक्षक (Wicket keeper), ३ प्रथम स्लिप (Slip), ४ द्वितीय स्लिप, ४ क,तीसरा खिलाडी, ५,पॉइट (Point), ६ कवर (Cover) पॉइंट, ६ क अतिरिक्त कवर, ७ मिड ऑफ (Mid off); ८, लॉङ्ग ऑफ (Long off), ९ लॉङ्ग ऑन (Long on), १० मिड ऑन (Mid on), ११ शॉर्ट लेग (Short Leg), ११ क स्क्वायर लेग (Square Leg), ब बॉङ्क लेग, ब, ब बल्लेबाज (Batsmen) तथा नि, नि, निर्णाता (Umpires)।

होता है जिसमे बेंत का हत्था लगा होता है। बल्ले की लबाई ३८ इंच ,।६ ४½ इच से अधिक नही हो सकती।

जब खिलाडी विकेट पर पहुँच जाता है तो वह निर्णाता से विकेट की सीध लेता है और गेंदबाज (Bowler) उसकी ओर गेंद फेंकना आरभ करता है। क्रिकेट की गेंद लाल चमडे की होती है। उसमें सुतली और कॉर्क भरा रहता है। उसकी तौल ५½ औंस होती है। एक गेंदबाज एक समय मे एक ओर से छह बार गेंद फेंक सकता है। इसको एक ओवर (Over) कहते हैं। जब ओवर समाप्त हो जाता है तो दूसरा गेंदबाज दूसरी ओर से गेंद फेंकता है। आस्ट्रेलिया मे छह के स्थान पर आठ गेंद का ओवर होता है।

गेंदबाज और मैदानरक्षक (Fielders) प्रयत्न करते हैं कि वे खिलाडी को आउट करे। खिलाडी कई प्रकार से आउट हो सकता है— (१) गेंद उसके विकेट मे लग जाय, (२) वह विकेट के सामने खडा हो और गेंद उसके पैर मे लग जाय, (३) वह हिट मारे और कोई फील्डर गेंद को लोक ले, (४) रन लेते समय वह विकेट तक न पहुँच सके और विकेटकीपर या कोई अन्य फील्डर गेंद को विकेट मे मार दे। खिलाडी को आउट करने के लिये गेंदबाज अनेक विधियो का उपयोग करता है। कभी वह सीधी गेंद फेंकता है, कभी गेंद को ऐसे नचाकर फेंकता है कि गिरने के बाद वह मुड जाय और खिलाडी खेल न सके। गेंदबाज भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। कुछ बहुत तेज फेंकते है और कुछ धीमे।

खिलाडी यही प्रयास करता है कि वह आउट न हो वरन् हिट मारकर खूब रन बनाए। एक खिलाडी के आउट होने पर दूसरा उसका स्थान लेता है। इस प्रकार जब दस खिलाडी आउट हो जाते हैं तो एक टीम की पाली (innings) समाप्त हो जाती है। इस प्रकार सदा एक खिलाडी ऐसा रहता है जो आउट नही होता। फिर दूसरा दल अपनी बारी शुरू करता है। खेल की हार जीत रनो पर निर्भर है। जिस टीम के रन अधिक होते हैं वह जीत जाती है। प्रथम श्रेणी के मैचो मे दो दो पालियाँ प्रत्येक दल खेलते हैं और खेल लगातार तीन दिन होता रहता है। टेस्ट मैचो मे पाँच, छह या सात दिन तक खेल होता है। टेस्ट मैच वे होते हैं जिनमें एक देश की चुनी हुई टीम दूसरे देश की चुनी हुई टीम से खेलती है। टेस्ट मैच प्राय: पाँच होते हैं, जिससे हार जीत का निर्णय आसानी से हो जाय।

क्रिकेट का सबसे प्रसिद्ध मैदान लंदन के निकट लॉर्ड्स क्रिकेट फील्ड है। इसको टामस लॉर्ड नामक एक खिलाडी ने १८वी शताब्दी के अत मे किराए पर लिया था। उसी के नाम पर इसका नामकरण हुआ है। लार्ड स्वयं गेंदबाज था। वह लोगो को क्रिकेट खिलाता और मैचो का प्रबंध करता था। १७८८ ई० मे यहाँ 'मैरिलबोन क्रिकेट क्लब' की स्थापना हुई जो आज तक एम० सी० सी० (M C.C) के नाम से प्रसिद्ध है। ससार मे जहाँ कही भी क्रिकेट का खेल खेला जाता है वहाँ एम० सी० सी० के बनाए हुए नियमो का पालन होता है। ये नियम पहले पहल १७८८ ई० मे बनाए गए थे और समय समय पर उसमे परिवर्तन होता रहा है।

इग्लैंड मे क्रिकेट के विशेष प्रचार का श्रेय एम० सी० सी० को है। सन १८४६ मे इन लोगो ने सारे इग्लैंड की एक टीम बनाई, जिसने देश के बडे बडे नगरो मे मैच खेले। इससे क्रिकेट का शौक बढा और इंग्लैंड के प्रातों (Counties) ने भी अपनी टीमे बनाई और आपस मे मैच खेलना प्रारभ किया। ये टीमें आजकल गरमी के पाँच छह महीनो में लगभग प्रतिदिन मैच खेलती हैं। इनके खिलाडी अधिकतर पेशेवर होते हैं। काउटी मैचो के अतिरिक्त तीन और बडे प्रसिद्ध क्रिकेट मैच होते हैं। ये हैं 'जेंटलमेन विरुद्ध प्लेअर्स', 'ऑक्सफोर्ड विरुद्ध कैंब्रिज' तथा 'ईटन विरुद्ध हैरो'। जेंटलमेन और प्लेयर्स के दल इग्लैंड भर के खिलाडियो मे से चुने जाते हैं। जेंटलमैन मे कोई पेशेवर खिलाडी नही खेल सकता। यह मैच पहली बार १८०६ ई० मे हुआ था। ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज का पहला खेल १८२७ ई० मे हुआ। इग्लैंड मे क्रिकेट के अनेक प्रसिद्ध खिलाडी हुए हैं जिनमे डब्ल्यू० जी० ग्रेस, जे० बी० हॉब्स डब्ल्यू० हैमड एल० हटन डी० कॉम्पटन उल्लेखनीय हैं। डब्ल्यू० जी० ग्रेस (१८४८–१९१५ ई०) ने अपने पचास वर्षीय क्रिकेट के जीवन मे बडी ख्याति प्राप्त की।

समय की गति के साथ क्रिकेट इग्लैंड के बाहर भी फैला। अंग्रेजो के साथ ही खेल भी विदेशो मे पहुँचा। इस प्रकार भारत, आस्ट्रेलिया,

न्यूज़ीलैंड, दक्षिणी अफ्रीका और वेस्ट इंडीज़ में क्रिकेट का प्रचार हुआ। अमरीका में क्रिकेट बेसबाल के सामने जम न सका।

इंग्लैंड से बाहर क्रिकेट की सर्वाधिक उन्नति आस्ट्रेलिया में हुई। क्रिकेट का पहला टेस्ट मैच १८७७ ई० में इन्हीं दो देशों के बीच आस्ट्रेलिया में हुआ, जिसमें आस्ट्रेलिया की विजय हुई। सन् १८८० में आस्ट्रेलिया की टीम इंग्लैंड आई और वहाँ भी टेस्ट जीती। सन् १८८२ में आस्ट्रेलिया के पुनर्विजयी होने पर एक अंग्रेजी पत्र ने लिखा कि इंग्लिश क्रिकेट की मृत्यु हो गई और उसके शव को जला दिया गया; उसकी राख आस्ट्रेलिया ले जायगा। तब से आस्ट्रेलिया और इंग्लैंड के टेस्ट मैच ऐशेज़ की लड़ाई कहलाते हैं। आस्ट्रेलिया के खिलाड़ियों में ग्रिमेट,मैक्कब,ब्रैडमैन, लिंडवाल तथा मिलर उल्लेख्य हैं। ब्रैडमैन इन सब में अधिक प्रसिद्ध थे और उन्हें संसार का सबसे बड़ा क्रिकेट का खिलाड़ी कहा जाता है। १९२८ से १९४८ ई० तक उनके खेल का स्वर्णयुग था।

वेस्ट इंडीज़ यद्यपि छोटा सा देश है, फिर भी वहाँ क्रिकेट के अच्छे खिलाड़ी हुए हैं। वहाँ के सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी एफ० हैडल थे। वेस्ट इंडीज़ के दूसरे खिलाड़ी एल० कॉन्स्टैंटाइन भी चिरस्मरणीय रहेंगे। कॉन्स्टैंटाइन बहुत तेज गेंद फेंकते थे। खूब छक्के मारते थे और मैदान रक्षा में भी बड़े निपुण थे। कैसा भी गेंद क्यों न हो, कोई उनसे बचकर नहीं जा सकता था। वेस्ट इंडीज़ के प्रसिद्ध खिलाड़ी वॉरॅल, वीकीज़ तथा वॉलकॉट हुए हैं। ये तीन डब्ल्यू० (W's) के नाम से प्रसिद्ध थे।

दक्षिणी अफ्रीका के प्रसिद्ध खिलाड़ी हैं—टेलर, मिचेल तथा मेलविल। (इ० अ०)

भारत में क्रिकेट—भारत में क्रिकेट अठारहवीं शती के अंतिम चरण में किसी समय आरंभ हुआ। १७९२ ई० में कलकत्ता में एक क्रिकेट क्लब की स्थापना हुई थी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इंग्लैंड के बाद भारत में ही क्रिकेट का इतिहास सबसे प्राचीन है। आरंभ में इसका विकास बहुत कुछ सांप्रदायिक आधार हुआ। विभिन्न संप्रदाय के लोगों की अपनी अपनी टीमें होतीं और और वे एक दूसरे के विरुद्ध खेलते। इसके फलस्वरूप बंबई में ट्रायंगुलर टूर्नामेंट ने जन्म लिया। आगे चलकर इसने क्वाड्रैंगुलर और पेंटागुलर टूर्नामेंट का रूप धारण किया। इस प्रकार की टीमों और प्रतियोगिताओं से सांप्रदायिकता को प्रश्रय मिलता देखकर महात्मा गांधी ने इस प्रकार के आयोजन का विरोध किया और १९४५ ई० में टीमों के सांप्रदायिक रूप समाप्त कराने में सफल हुए। अब प्रायः खेल प्रादेशिक अथवा विश्वविद्यालयीय आधार पर होते हैं और चुने हुए खिलाड़ियों की एक अखिल भारतीय टीम बनती है। भारतीय क्रिकेट को आरंभ में देशी रियासतों से बड़ा प्रश्रय मिला और आरंभ में अखिल भारतीय टीम के खिलाड़ियों तथा उनके कप्तान के चयन में उनका प्रमुख हाथ रहा। अब इसका नियंत्रण एक क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड द्वारा होता है।

भारतीय क्रिकेट का अंतरराष्ट्रीय रूप १८८६ ई० में ही उभरने लगा था। उस वर्ष बंबई की पारसी टीम इंग्लैंड गई थी। किंतु बहुत दिनों तक भारत को टेस्ट मैच के योग्य नहीं समझा जाता था। यह बात नहीं कि इस काल में अच्छे भारतीय खिलाड़ियों का अभाव रहा हो। रणजीत सिंह (जो रणजी के नाम से विशेष ख्यात हैं), दिलीप सिंह और इफ्तिखार अली खाँ (पटौदी के नवाब) ने अपने खेल की धाक अँगरेज खिलाड़ियों पर जमा रखी थी। अस्तु, १९२६ ई० में पहली बार एम० सी० सी० की टीम भारत आई और भारत की टीम के साथ उसके टेस्ट मैच हुए। उसके बाद १९३६ ई० में सच्चे अर्थों में भारत की पहली टीम सी० के० नायडु के नायकत्व में गई और लार्ड्‌स के मैदान में इंग्लैंड की टीम के साथ खेली। इस खेल में यद्यपि भारतीय टीम विजयी नहीं हुई, उसकी १५८ रनों से पराजय हुई; पर वह खेल चिरस्मरणीय था। इस खेल के संबंध में विश्वविख्यात क्रिकेट समीक्षा नेविल कार्ड्‌स ने लिखा था कि यदि भारत की टीम में दिलीप सिंह, पटौदी के नवाब (इफ्तिखार अली खाँ) संमिलित हुए होते तो इंग्लैंड कदापि जीत नहीं सकता था।

इसके बाद तो भारत टेस्ट मैच खेलनेवालों की श्रेणी में आ गया। अब तो प्रायः हर साल भारतीय टीम टेस्ट मैच खेलने या तो बाहर जाती है या अन्य देशों की टीम उसके साथ खेलने के लिये भारत आती है। भारत की टीम दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर क्रिकेट खेलनेवाले हर देश के साथ टेस्ट मैच खेल चुकी है। अब तक खेले गए टेस्ट मैचों में भारत को विजय बहुत कम ही मैचों में मिल पाई है, अधिकांश मैच अनिर्णीत ही समाप्त हुए हैं। १९७१ ई० तक भारत के साथ हुए टेस्ट मैचों का रिकार्ड इस प्रकार है—

देश	मैच	विजय	पराजय	अनिर्णीत
इंग्लैंड	४३	६	१९	१८
वेस्ट इंडीज	२८	१	१२	१५
आस्ट्रेलिया	२५	३	१६	६
न्यूज़ीलैंड	१६	७	२	७
पाकिस्तान	१५	२	१	१२
	१२७	१९	५०	५८

विजित मैचों का विवरण इस प्रकार है—

वर्ष	स्थान	प्रतिपक्षी	विजयमान	कप्तान
१. १९५१–५२	मद्रास	इंग्लैंड	१ पारी ८ रन	विजय हजारे
२. १९५२–५३	दिल्ली	पाकिस्तान	१ पारी ७० रन	लाला अमरनाथ
३. १९५२–५३	बंबई	पाकिस्तान	१० विकेट	,,
४. १९५५–५६	बंबई	न्यूज़ीलैंड	१ पारी २७ रन	पाली उमरीगर
५. १९५५–५६	मद्रास	,,	१०९ रन	,,
६. १९५९	कानपुर	आस्ट्रेलिया	११९ रन	जी० एस० रामचंद्रन्
७. १९६१–६२	कलकत्ता	इंग्लैंड	१८७ रन	नारी कांट्रैक्टर
८. १९६१–६२	मद्रास	,,	१२८ रन	,,
९. १९६४	बंबई	आस्ट्रेलिया	२ विकेट	मंसूरअली खाँ (पटौदी के नवाब)
१०. १९६५	दिल्ली	न्यूज़ीलैंड	७ विकेट	,,
११. १९६८	ड्यूनेडिन	,,	५ विकेट	,,
१२. १९६८	वेलिंगटन	,,	८ विकेट	,,
१३. १९६८	आकलैंड	,,	२७२ रन	,,
१४. १९६९	बंबई	,,	६० रन	,,
१५. १९६९–७०	दिल्ली	आस्ट्रेलिया	७ विकेट	,,
१६. १९७१	पोर्ट ऑव स्पेन	वेस्टइंडीज	७ विकेट	अजित वाडेकर
१७. १९७१	ओवल	इंग्लैंड	४ विकेट	,,

भारत के विख्यात खिलाड़ियों में रणजीत सिंह, दिलीप सिंह, इफ्तिखार अली खाँ (नवाब पटौदी), सी० के० नायडु, अमर सिंह, अमरनाथ, मुहम्मद निसार, विजय मर्चेंट, वीनू मांकड,मुश्ताक अली, पाली उमरीगर, दिलीप सरदेसाई, सुभाष गुप्ते, ई० ए० एस० प्रसन्ना, अजित वाडेकर, फारुख इंजीनियर, जासू पटेल, सुनील गावस्कर, विजय हजारे, पंकज राय, बुद्धि कुंदरन् हैं।

रणजीत सिंह की शिक्षा इंग्लैंड में हुई थी और वे इंग्लैंड की ओर से ही खेलते थे। १९५५–५६ ई० में न्यूज़ीलैंड के विरुद्ध टेस्ट शृंखला में मद्रास में हुए अंतिम टेस्ट मैच में पहले विकेट की साझेदारी में वीनू मांकड और पंकज राय ने ४१३ रन बनाकर विश्व रिकार्ड स्थापित किया है। इस प्रकार पाँच टेस्ट मैचों की एक शृंखला में बुद्धि कुंदरन् ने १९६४ में ५२५ रन बनाए थे जो उस समय तक विश्व का रिकार्ड था जिसे बाद में दक्षिण अफ्रिका के डेनिस लिंडसे ने तोड़ा। विश्व के उल्लेखनीय खिलाड़ियों को संमानित करने के लिये प्रतिवर्ष विज्डन अलंकरण दिया जाता है। यह अलंकरण अब तक सात भारतीय खिलाड़ियों को प्राप्त हो चुका है। वे हैं—

रणजीत सिंह (१८९६), दिलीप सिंह (१९२९), नवाब पटौदी (इफ्तिखार अली खाँ, १९३२), सी० के० नायडू (१९३३), विजय मर्चेंट (१९३७), वीनू मांकड (१९४७), नवाब पटौदी (मंसूर अली खाँ, १९६४)।

देश में क्रिकेट के प्रचार प्रसार के निमित्त क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड के तत्वावधान में प्रतिवर्ष विभिन्न प्रतियोगिताएँ होती हैं—

(१) रणजी ट्राफी—इसे रणजीत सिंह की स्मृति में पटियाला के महाराज भूपेंद्र सिंह ने १९३४ में प्रदान किया था। इस प्रतियोगिता में प्रादेशिक टीमें भाग लेती हैं।

(२) ईरानी ट्राफी—इसे जे० आर० ईरानी की स्मृति में स्पेंसर बंधुओं ने १९६१ में प्रदान किया था। इस प्रतियोगिता में रणजी ट्राफी के विजेता और भारत की शेष टीमों के चुने खिलाड़ी भाग लेते हैं।

(३) दिलीप सिंह ट्राफी—अंतःक्षेत्रीय आधार पर अखिल भारतीय क्रिकेट चैंपियनशिप के लिए यह ट्राफी १९६१ ई० में दिलीप सिंह के नाम पर स्थापित की गई है।

(४) रोहिंटन बारिया कप—यह पुरस्कार विश्वविद्यालयों की टीमों के बीच प्रतियोगिता के निमित्त दी जाती है।

(५) कूच बिहार ट्राफी—स्कूली बालकों में क्रिकेट के प्रसार के निमित्त इसका आयोजन १९५० ई० में किया गया था। इसमें १८ वर्ष से कम उम्र के खिलाड़ी भाग लेते हैं।

महिलाओं में क्रिकेट—क्रिकेट सामान्यतः पुरुषों का खेल है, पर इस खेल को महिलाएँ भी खेलती है। १७४७ ई० में महिलाओं के दो दलों के बीच इंग्लैंड में क्रिकेट खेले जाने का उल्लेख मिलता है। १७७८ ई० के छपे एक चित्र में एक महिला खिलाड़ी का अंकन मिलता है। वह दो स्टंपोंवाले विकेट पर खड़ी दिखाई गई है। १९वीं शती तक महिलाएँ अपने स्थानीय उत्साह से ही क्रिकेट खेलती रही। १८९० ई० में पहली बार व्यावसायिक प्रशिक्षकों से प्रशिक्षित ११–११ खिलाड़ियों के दो दलों के बीच प्रदर्शन के निमित्त खेल खेले गए। १९२७ ई० में पहली बार इंगलिश वूमेंस क्रिकेट असोशिएशन की स्थापना हुई और धीरे धीरे देशभर में कई सौ की संख्या में क्रिकेट क्लबों की स्थापना हो गई। उसके बाद आस्ट्रेलिया में भी वूमेंस क्रिकेट काउंसिल बनी और दोनों देशों के खिलाड़ी एक दूसरे के देश में खेलने जाने लगे।

भारत में व्यवस्थित रूप से महिला क्रिकेट का आरंभ फरवरी, १९७३ ई० में भारतीय महिला क्रिकेट संघ की स्थापना के बाद हुआ। संघ की ओर से महिलाओं के प्रशिक्षण के लिये समय समय पर शिविरों का आयोजन किया जाने लगा। साथ ही क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर रानी झाँसी क्रिकेट प्रतियोगिता का भी आयोजन किया गया। अंतरक्षेत्रीय रानी झाँसी ट्राफी प्रतियोगिता प्रथम बार नवंबर, १९७४ ई० में कानपुर में और दूसरी बार अक्तूबर, १९७५ ई० में इंदौर में हुई। प्रथम राष्ट्रीय महिला क्रिकेट प्रतियोगिता अप्रैल, १९७३ ई० में पूना में आयोजित की गई जिसमें केवल बंबई, महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश के दलों ने भाग लिया। इसमें बंबई प्रथम और महाराष्ट्र द्वितीय रहा। द्वितीय राष्ट्रीय प्रतियोगिता १९७३ ई० के दिसंबर में वाराणसी में हुई। इसमें बंगाल, बंबई, बुंदेलखंड, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा उत्तर प्रदेश ने भाग लिया। इसमें बंगाल विजयी रहा। तृतीय प्रतियोगिता जनवरी, १९७५ ई० में कलकत्ता में हुई। इसमें विभिन्न राज्यों के १४ दलों ने भाग लिया। इस बार भी बंगाल विजयी रहा।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भारतीय महिला टीम ने फरवरी, १९७५ ई० में आस्ट्रेलिया की महिला टीम के साथ भारत में ही तीन टेस्ट मैच खेले और सभी में बराबर रही। इसके अतिरिक्त चार क्षेत्रीय मैच भी हुए जिनमें केवल एक में भारत की विजय हुई। (प० ला० गु०)

(दे० अक्रिय गैस)

क्रिप्स, सर रिचर्ड स्टफर्ड (१८८९–१९५२ ई०)। अंग्रेज राजनीतिज्ञ और वकील। लंदन में २४ अप्रैल, १८८९ ई० को जन्म। विंचेस्टर तथा लंदन के यूनिवर्सिटी कालेज में शिक्षा। वहीं रसायन विषय में शोध कार्य किया। बाइस वर्ष की आयु में ही रायल सोसाइटी के समुख रसायन विषयक एक निबंध का पाठ किया। विज्ञान के मेधावी विद्यार्थी होते हुए भी उन्होंने वकालत का पेशा चुना और १९१३ ई० में वकील बने। प्रथम महायुद्ध के समय १९१४ ई० में रेडक्रास के ट्रक ड्राइवर बनकर फ्रांस गए। १९१५ ई० में लौटकर एक कारखाने में सहायक निरीक्षक बने।

१९२७ ई० में उन्होंने पुनः वकालत आरंभ की। १९२९ ई० में ही वे मजदूर दल में सम्मिलित हुए और १९३० ई० में वे सालीसिटर जनरल बने। उसी वर्ष उन्हें 'सर' की उपाधि प्राप्त हुई। १९३१ ई० में मजदूर दल की ओर से पार्लामेंट के सदस्य चुने गए। जब रामजे मेकडानेल्ड ने राष्ट्रीय सरकार बनाई तो उन्होंने उसमें सम्मिलित होने से इनकार किया और मजदूर दल के घोर वामपंथी पक्ष के समर्थक होने के नाते १९३२ ई० में समाजवादी संघ की स्थापना में योग दिया। १९३४ ई० में वे मजदूर दल की संचालक समिति के सदस्य चुने गए किंतु जब मजदूर दल ने राष्ट्रसंघ द्वारा इटली की निंदा का समर्थन किया तो वे उससे अलग हो गए और राष्ट्रीय सरकार को परास्त करने के लिए श्रमजीवी वर्ग का संयुक्त मोर्चा बनाने पर जोर देने लगे। मार्च, १९३७ ई० में मजदूर दल ने यह निर्णय किया कि समाजवादी संघ की सदस्यता का मजदूर दल की सदस्यता के साथ सामंजस्य नहीं है। १९३८ ई० में जब नाजी जर्मनी का खतरा सामने आया तब क्रिप्स की वैदेशिक नीति में कुछ परिवर्तन हुआ फिर भी वे लोकप्रिय मोर्चे का समर्थन करते रहे। फलतः वे मजदूर दल से निष्कासित कर दिए गए। २० मई, १९४० ई० को विंस्टन चर्चिल ने उन्हें राजदूत बनाकर रूस भेजा और वहाँ वह आंग्ल-सोवियत संधि कराने में सफल हुए।

जब फरवरी, १९४२ ई० में वे लौटे तो लोकसभा के नेता और युद्ध मंत्रिमंडल के सदस्य बनाए गए। उसी वर्ष वे भारत की स्वतंत्रता की रूपरेखा निर्धारित करने के लिये भारत आए किंतु वे अपने मंतव्य में सफल न हो सके। फिर भी भारतीय नेताओं के दृष्टिकोण बदल पाने में समर्थ रहे।

१९४२ ई० के नवंबर में वे वायुयाननिर्माण के मंत्री बनाए गए और १९४५ ई० तक उस पद पर रहे। जुलाई, १९४५ ई० में व्यापार संघटन (बोर्ड ऑव ट्रेड) के अध्यक्ष बने। १९४६ ई० में वे भारतीय समस्याओं को सुलझाने के लिये भारत आए। किंतु कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच गहरे मतभेद के कारण वे कुछ न कर पाए।

१९४७ ई० के आर्थिक संकट के समय उन्होंने जो स्पष्ट वक्तव्य दिए उससे जनता के बीच उनकी प्रतिष्ठा बढ़ी और वे आर्थिक मामलों के मंत्री बनाए गए। किंतु कुछ ही सप्ताह बाद उन्हें अर्थमंत्री का पद सँभालना पड़ा। शीघ्र ही उनका स्वास्थ्य गिरने लगा फलतः २० अक्तूबर, १९५० ई० को उन्होंने सार्वजनिक जीवन से सन्यास ले लिया। २१ अप्रैल, १९५२ ई० को ज्यूरिच (स्वीजरलैंड) में उनकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्रियोसोट (Creosote) प्रायः पूर्णतया भिन्न दो पदार्थों, कोयला-अलकतरा-क्रियोसोट और काठ-अलकतरा-क्रियोसोट, को क्रियोसोट कहा जाता है। व्यापारिक क्षेत्रों में क्रियोसोट का अभिप्राय कोयला-अलकतरा-क्रियोसोट ही समझा जाता है। यह अलकतरे के आसवन से प्राप्त हाइड्रोकार्बन-बहुल, अनेक कार्बनिक यौगिकों का संकीर्ण मिश्रण होता है। औषध के संबंध में क्रियोसोट का अर्थ सदैव काठ अलकतरा-क्रियोसोट ही लिया जाता है। यह काठ-अलकतरे के आसवन से प्राप्त फीनोलीय यौगिकों का मिश्रण होता है।

कोयला-अलकतरा-क्रियोसोट—अलकतरे के आसवन से भिन्न भिन्न तापों पर विभिन्न गुणवाले पदार्थ निकलते हैं, जैसा आगे दिखाया गया है
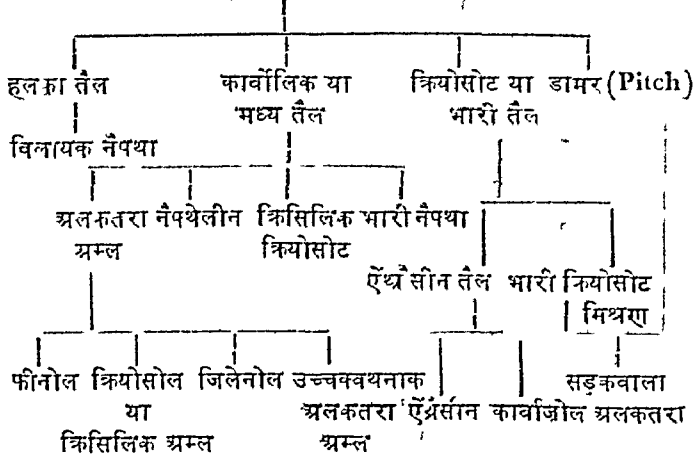
हलका तेल बहुत थोड़ा निकलता है, जो उसी रूप में स्वच्छ करके विलायक नैपथा बना लिया जाता है। कार्बोलिक अम्ल भाग १७०° से २३०° सें० के बीच में और अपरिष्कृत अलकतरा-क्रियोसोट भाग २३०° सें० (या २००° सें०) से ऊपर डामर निकलने के ताप ३००° सें० (या ३६०° सें०) तक प्राप्त होता है। कार्बोलिक या मध्यम तेल में २५ प्रतिशत अलकतरे के अम्ल होते हैं यथा, फीनोल, क्रिसोल, जिलोनोल तथा अन्य उच्च क्वथनाकवाले अलकतरा-अम्ल। ये अम्ल कभी कभी तो अलग कर लिए जाते हैं, किंतु बहुधा केवल नैपथेलीन ही निकालकर शेष पदार्थ क्रिसिलिक क्रियोसोट के नाम से बेच दिया जाता है। यह जीवाणुनाशक पदार्थ बनाने के काम आता है। १८०° सें० और १६०° सें० के बीच आसवन से प्राप्त अंश भारी नैपथा कहलाता है।

अपरिष्कृत अलकतरा-क्रियोसोट (आपेक्षिक घनत्व १·०३) आसवन से प्राप्त मुख्य पदार्थ है। अधिकांश बिना साफ किए ही काष्ठप्रतिरक्षक (wood preservative) के रूप में बिकता है। कभी कभी २७०° सें० से ऊपर निकलनेवाला अंश, ऐंथ्रसीन तेल, अलग कर लिया जाता है, जिससे ऐंथ्रसीन और कार्बाज़ोल प्राप्त होते हैं। ये रजकनिर्माण में काम आनेवाले आवश्यक कच्चे माल हैं। अलकतरा-क्रियोसोट में भी फीनोल इत्यादि अलकतरा अम्लों के कुछ अंश रहते हैं, जो आवश्यक होने पर निकाले जा सकते हैं।

क्रियोसोट अद्वितीय सस्ता काष्ठपरिरक्षक है। काष्ठ का क्षरण करनेवाले कवक (fungus) नामक कुछ विशेष परजीवी होते हैं, जो लकड़ी को ही अपना भोजन बनाते हैं। काठों को सब से अधिक हानि दीमक से पहुँचती है। लकड़ी छेदनेवाले पोतकीट आदि कुछ सामुद्रिक जीव (marine animals) भी होते हैं जो गरम समुद्रों में तो अधिक सक्रिय होते ही हैं, ठंढे समुद्रों में भी भीषण क्षति पहुँचाते हैं। क्रियोसोट से उपचार करने पर क्षरण रुक जाने से लकड़ी का जीवन बढ़ जाता है। उसकी पुष्टता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

लकड़ी का सर्वोत्तम उपचार दाब विधि से होता है। पूर्ण कोशिका या बीथेल विधि (Bethel Process) में बड़े बड़े पीपों में लकड़ी को बंदकर उन्हें निर्वात कर देते हैं जिससे लकड़ी की कोशिकाओं में आंशिक शून्यता उत्पन्न हो जाती है। फिर ६०°-६५° सें० तक गरम किया हुआ क्रियोसोट पीपों में भरकर १६० पाउंड प्रति वर्ग इंच तक दाब बढ़ाया जाता है। लकड़ी की कोशिकाओं में क्रियोसोट का अपेक्षित अवशोषण हो जाने पर शेष द्रव निकाल लिया जाता है और पीपे पुन: निर्वात कर दिए जाते हैं, जिससे चूसा हुआ द्रव भलीभाँति सूख जाय। इस प्रकार उपचार हो जाने पर लकड़ी निकाल ली जाती है। दाब की अन्य विधि यह है कि रिक्त कोशिका या रूपिंग विधि में पीपों को निर्वात करने के स्थान पर उनमें २५-७५ पाउंड प्रति वर्ग इंच पर हवा भरी जाती है, फिर क्रियोसोट भरा जाता है। शेष विधि बीथेल विधि के समान ही है।

उपचार की अन्य विधि तप्त-शीत-मज्जन (Hot-cold bath) उपचार की भी है। इसमें लकड़ी को क्रियोसोट से भरी टंकी में ६०°-११०° सें० तक गरम करते हैं, जिससे लकड़ी के भीतर की कुछ हवा फैलकर निकल जाती है। फिर टंकी लगभग ३५° सें० तक ठंढी की जाती है, जिससे लकड़ी की कोशिकाओं में आंशिक शून्यता उत्पन्न होने से द्रव भीतर प्रविष्ट होता है। इसे खुली टंकी विधि भी कहते हैं। कभी कभी गरम क्रियोसोट में कुछ देर तक लकड़ी को डुबोकर ही काम चलाया जाता है, किंतु इस विधि से द्रव का प्रवेश अधिक नहीं होता। भारी क्रियोसोट तेल, जिसे ऐंथ्रसीन तेल या हरा तेल भी कहते हैं (क्वथनांक ३७° सें०, आपेक्षिक घनत्व १·०८), ब्रश से ही लगाया जाता है।

विभिन्न मिश्रणवाले क्रियोसोटों के काष्ठप्रतिरक्षक गुण भी अलग अलग होते हैं। परीक्षणों से सिद्ध हुआ है कि निम्न क्वथनांक तथा उच्च क्वथनांकवाले दोनों क्रियोसोटों का संतुलित मिश्रण ही उत्तम प्रतिरक्षक होता है। लकड़ी के उपयोग के अनुसार ही उसमें अवशिष्ट क्रियोसोट की मात्रा रखी जाती है। यथा—इमारत में लगनेवाली लकड़ी में ८ पाउंड, तार के खंभों में ८-१२ पाउंड, लट्ठों में १६-२४ पाउंड और रेलवे स्लीपरों में ६—१० पाउंड प्रति घनफुट।

अलकतरा-क्रियोसोट का उपयोग भेड़ों के ऊन के प्रतिरक्षक विलयन, पौधों पर छिड़कने के लिये विलयन, बिटुमेन के विलयन, कारों की धुरी की ग्रीज (चूने के साथ मिलाकर) तथा कज्जल स्याही बनाने में, ईंधन (अकेला या अन्य द्रवों के साथ मिलाकर) और अंतर्दह इंजन के लिये डीज़ल ईंधन के रूप में होता है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय इसका उपयोग किया गया था।

काठ-अलकतरा-क्रियोसोट—यह कठोर काष्ठ (बहुधा बीच वृक्ष की लकड़ी) के अलकतरे के आसवन से प्राप्त तेलों का विशेष रूप से शुद्ध किया हुआ क्षार में विलेय अंश होता है। यह २०३°—२२०° सें० पर आसुत होता है।

इसमें अधिकांश मोनोहाइड्रिक (फीनोल, क्रिसोल तथा जिलेनोल) और डाइहाइड्रिक फीनोलों (ग्वायकोल) के मेथिल ईथर मिले रहते हैं। बीच-काष्ठ के क्रियोसोट का किसी समय औषधनिर्माण में बहुत उपयोग होता था। औषध के रूप में इसका कुछ कुछ उपयोग श्वास के दोषों (दमा आदि) के उपचार में आजकल भी होता है।

सं०ग्रं०—दि वेल्थ ऑव इंडिया . इंडस्ट्रियल प्राडक्ट्स, भाग २, सी० एस० आई० आर०, दिल्ली; एन० चौधरी : इंजीनियरिंग मार्टीरियल्स; इंडियन स्टैंडर्ड स्पेसिफिकेशन २१८ (१६५२)।

(वि० प्र० गु०)

क्रिलोव, इवान अंद्रेयेविच (१७६६—१८४४ ई०)
रूसी कवि और लेखक। सैनिक अफ़सर के परिवार में मास्को में २ फरवरी, १७६६ ई० को जन्म हुआ और वे आजीवन पेतेरबुर्ग (आधुनिक लेनिनग्राद) में रहे। १७८२ से साहित्यिक कार्य आरंभ किया। उन्होंने 'क़हवादानी', 'शैतान', 'फ़ैशनवाली दूकान' (१८०७), 'बेटियों के लिये सबक' (१८०७) आदि कई प्रहसन लिखे। इनमें तत्कालीन रूसी जागीरदारी, रिश्वतखोरी आदि सामाजिक कुरीतियों की कटु आलोचना की गई है। उन्होंने तीन व्यंगात्मक पत्रिका, 'भूतों की डाक', 'दर्शक' और 'संत पेतेरबुर्गस्की मेरकूरी' भी प्रकाशित कीं। १८१२ ई० में वे पेतेरबुर्ग के सार्वजनिक पुस्तकालय में काम करने लगे। उन्हें व्यंगात्मक कविताओं से विशेष ख्याति मिली। ये कविताएँ सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध हैं। इनका रूप अति सजीव है। इनकी भाषा जनसाधारण की है, इन कारणों से इन रचनाओं को बड़ी लोकप्रियता मिली। इनके अनेक छंद कहावतों और मुहावरों के रूप में प्रचलित हुए। इनकी कविताओं के नौ संग्रह हैं।

(प्यो० अ० बा०)

क्रिवाए राक सोवियत संघ के उक्रेनियन प्रदेश का एक प्रमुख नगर (स्थिति : ४७° ५७′ उ० अ० तथा ३३° २३′ ५०″ पू० दे०)। यह नगर लोहे के खदानों के लिये प्रसिद्ध है। ताँबा, कोयला

खनन क्रिवाए राक के निकट होता है। यह केंद्र प्रतिवर्ष ५०,००,००० टन लोहे का उत्पादन करता है। इसके समीप ही नेप्रोपेट्रोस्क नामक स्थान पर जलविद्युत् केंद्र है जो डोनवस औद्योगिक क्षेत्र को शक्ति देता है। १९६७ ई० में यहाँ की जनसख्या ४,९८,००० थी। (भू० का० रा०)

क्रिश्चियन (१) ईसा मसीह के अनुयायी, ईसाई मतावलबी। (देखिए ईसाई धर्म)।

(२) डेनमार्क के नरेशों का नाम। वहा इस नाम से अबतक दस नरेश हुए है।

क्रिश्चियन (प्रथम)–(१४२६–१४८१ ई०)। जन्म ४ मई, १४२६। यह ओल्डेनबर्ग के काउंट थियाड्रिक का लडका और आल्डेनबर्ग राजघराने का सस्थापक था। १४४८ ई० में वह डेनमार्क और १४५० ई० में नार्वे का स्वामी हुआ और उसने दोनों का मिलाकर उनका एक सयुक्त राज्य स्थापित किया। उसने अपनी पत्नीके सहयोगसे १४७९ई०मे कोपनहेगेन विश्वविद्यालय की स्थापना की। २१ मई, १४८१ का कोपेनहेगेन मे उसकी मृत्यु हुई।

क्रिश्चियन (द्वितीय)–(१४८१–१५५९ई०)। १ जुलाई, १४८१ ई० को फ्यूनन द्वीप के न्यूबर्ग स्थान पर जन्म। वह डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन तीनों देशों का शासक था। १५०२ से १५१३ ई० तक वह नार्वे का वाइसराय था। इस रूप में उसने अपनी प्रशासकीय बुद्धिमत्ता का अद्भुत परिचय दिया। डेनमार्क का राजा होने के बाद १५१३ ई० में उसने स्पेन के चार्ल्स पचम की पुत्री इजाबेला से विवाह किया। स्वीडन का शासन हस्तगत करने के प्रयत्न में वह गुस्तावस वाले,स्टेन स्टूरे से दो बार पराजित हुआ लेकिन तीसरी बार १५२० ई० मे बोगरड की लडाई मे सफल हुआ और स्टेन स्टूरे घायल हुआ तथा स्टाकहोम जाते समय रास्ते में उसकी मृत्यु हो गई। क्रिश्चियन ने आम माफी की घोषणा की थी परतु स्टाकहोम को खूनी लडाई के समय उसने अपना वचन भग किया। एक वर्ष तक बाहर रहने के बाद वह डेनमार्क लौटा। वहाँ क्रांतिकारी सुधार लागू किए, लेकिन डेन लोगो ने अपनी स्वतत्रता का अपहरण होते देख विद्रोह कर दिया। १५२३ ई० में गुस्तावस प्रथम के नेतृत्व में स्वीडन ने डेनमार्क की सत्ता को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। इस समय उसे डेनमार्क से निर्वासित होना पडा और ड्यूक वहाँ का राजा बना। १५३१ई०मे क्रिश्चियन ने नार्वे आने का प्रयत्न किया लेकिन सफल नही हो सका और फ्रेडरिक ने उसे गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया। उसने अपने अंतिम दिन कलडबर्ग कैसिल में व्यतीत किए और वहीं जनवरी, १५५९ ई० में उसकी मृत्यु हुई।

क्रिश्चियन (तृतीय)–(१५०३–१५५९ई०)। डेनमार्क और नार्वे का राजा। १२ अगस्त, १५०३ ई० को जन्म। वह जर्मनी के लूथरवादी शिक्षक से शिक्षित और दीक्षित हुआ। वह रोमन कैथोलिको के प्रति बहुत असहिष्णु था। १५२९ ई० में वह नार्वे का वाइसराय बना। १५३३ ई० में जब उसके पिता फ्रेडेरिक प्रथम की मृत्यु हुई तो उत्तराधिकार के लिये बहुत अराजकता फैली। तब वह सबका दमनकर १५३५ ई० मे राजा बना। दूसरे वर्ष उसने डेनमार्क के शासन मे सुधार किए और राज्याधिकार को, जो चुनाव की पद्धति पर आधारित था, हटाकर वशपरपरागत कर दिया। १५४२ ई० मे उसने पवित्र रोमन सम्राट् चार्ल्स पचम से युद्ध की घोषणा की। १५४४ ई० मे जहाजो के लिये स्कैंडिनेविया जलमार्ग को बदकर डचों को सधि करने को बाध्य किया। लूथरवादी सिद्धातो के प्रति विशेष आग्रह के कारण उसके व्यवहार मे कभी कभी कठोरता आ जाती थी, फिर भी उसने प्रथम बार डेन जनता को एक सूत्र मे बाँधा। १ जनवरी, १५५९ को डेनमार्क मे उसकी मृत्यु हुई।

क्रिश्चियन (चतुर्थ)–(१५७७–१६४८ई०)। फ्रेडरिक्सबर्ग मे १२ अप्रैल, १५७७ ई० को जन्म। वह भी डेनमार्क और नार्वे का राजा था। उसके पिता क्रिश्चियन फ्रेडरिक ने १५८२ ई० में अपने सामतो के साथ समझौता किया था कि उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र को राजगद्दी मिलेगी। फलत वह १५८८ ई० मे उनावस्था में ही वह राजगद्दी पर बैठा और १५९६ तक रिजेंसी कौंसिल शासन चलाती रही। उसका शासनकाल ।से भरा लेकिन बहुत महत्वपूर्ण था। उसने स्थलसेना एव नौसेना मे सुधार किए और कोपेनहेगेन को विस्तृत और सुदर बनाया। 'डेनिश ईस्ट ऐंड वेस्ट इंडीज कपनी' का आरभकर उसने अपने व्यापारिक सबधो को दृढ आधार पर खडा किया।

अतरराष्ट्रीय क्षेत्र मे उसकी महत्वाकाक्षा अपने साम्राज्य को उत्तरी जर्मनी तक फैलाने की थी। स्वीडन के साथ १६११–१२ ई० का कालमार युद्ध उसकी इसी महत्वाकाक्षा का परिणाम था। उसी के हस्तक्षेप के कारण तीसवर्षीय युद्ध भी हुआ जिसमे टिली और वालेस्टाइन के हाथो वह पराजित हुआ। अपनी सुरक्षा की दृष्टि से लेनार्ट टारस्टेनसन ने १६४४ मे डेनमार्क पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि इस युद्ध मे क्रिश्चियन की जीत हुई, फिर भी ८ फरवरी, १६४५ की ब्रोमसेब्रो सधि से स्वीडन के मुकाबले वह घाटे में ही रहा। उसके जीवन के अंतिम तीन वर्ष सामतो के साथ गृहकलह मे व्यतीत हुए। २४ फरवरी, १६४८ को फ्रेडरिक्सबर्ग कैसिल मे उसकी मृत्यु हुई। (स० वि०)

क्रिश्चियन (पंचम)–(१६४६–१६९९ ई०)। डेनमार्क-नार्वे का नरेश। फ्रेडरिक (तृतीय) का पुत्र। इसका जन्म फ्लेसबर्ग में १५ अप्रैल, १६४६ ई० को हुआ था और वह ९ फरवरी ,१६७० को सिंहासनारूढ हुआ। निम्नवर्गीय प्रजा मे वह काफी लोकप्रिय बना किंतु पुराने सामत परिवार के लोग उससे घृणा करते रहे। उसने सामतो की दो नई पक्ति बनाने का प्रयास किया जिसमे बहुलश राज्य केअधिकारी और उच्च मध्य वर्ग के लोग थे। अपने सलाहकार ग्रिफेनफेल्ड के निर्देशन मे उसने एकछत्र शासन की कल्पना को मूर्त रूप दिया और नागरिक और सैनिक व्यवस्था को अत्यधिक केंद्रीभूत बनाया। ग्रिफेनफेल्ड ने 'वैदेशिक' मैत्री की नीति और शांति बनाए रखने की चेष्टा की और ऐसा लगने लगा कि डेनमार्क शीघ्र ही अपने पूर्व वैभव को प्राप्त कर लेगा। किंतु तभी ग्रिफेनफेल्ड से विद्वेष रखनेवालो के प्रभाव मे आकर क्रिश्चियन ने उसे आजीवन कारावास दे दिया। फिर तो डेनमार्क की आर्थिक स्थिति गिरती गई। इसका कारण कुछ तो दरबार का अधाधुध खर्च था और कुछ स्वीडेन के साथ १६७५–१६७९ ई० तक हुआ अलाभकर युद्ध। इसके शासनकाल मे नार्वे के लिये एक नया कानून बना। २५ अगस्त, १६९९ ई० को शिकार खेलते समय एक दुर्घटना मे उसकी मृत्यु हो गई।

क्रिश्चियन (सप्तम)–(१७४९–१८०८ ई०)। डेनमार्क-नार्वे का नरेश। डेनमार्क नरेश फ्रेडरिक (पचम) का पुत्र। उसकी पहली पत्नी ग्रेट ब्रिटेन के नरेश जार्ज (द्वितीय) की पुत्री थी। पिता की मृत्यु के उपरात १४ जनवरी, १७७७ ई० को राज्यारूढ हुआ। किंतु वह अत्यत विलासी सिद्ध हुआ और शासन के अतिम २६ वर्ष तक तो वह नाममात्र का शासक रहा। उसकी ओर से उसका सौतेला भाई राजकुमार फ्रेडरिक राजकाज देखता रहा। १३ मार्च, १८०८ ई० को उसकी मृत्यु हुई।

क्रिश्चियन (अष्टम)–(१७८६–१८४८ ई०)। यह क्रिश्चियन (सप्तम) का सौतेला भाई और फ्रेडरिक (पचम) का पुत्र था। उसका जन्म क्रिश्चियनबर्ग कैसल मे १८ सितबर, १७८६ ई० को हुआ था। वह १७ मई १८१४ ई० को नार्वे का नरेश निर्वाचित हुआ। तभी उसका स्वीडन के साथ नार्वे और स्वीडन के एकीकरण के प्रश्न पर विवाद हो गया और युद्ध छिड गया जिसमे क्रिश्चियन (अष्टम) को स्वीडन के युवराज के हाथो पराजित होना पडा। फलत लोगो को उसके प्रजातात्रिक सिद्धातो के प्रति सदेह होने लगा और वह १८३१ ई० तक राजकाज के प्रति एक प्रकार से उदासीन बन गया। १८३१ ई० मे जब वयोवृद्ध नरेश फ्रेडरिक ने उसे काउसिल ऑव् स्टेट मे स्थान दिया तब वह फिर कुछ राजकाज देखने लगा। १३ दिसबर, १८३९ ई० को वह डेनमार्क के सिंहासन पर आरूढ हुआ। उदारवादी दल को आशा थी कि वह उन्हें कोई अच्छा सविधान देगा किंतु उन्हें निराशा हुई। भाषा के प्रश्न पर उसका श्लेसविग और होल्स्टीन के जर्मन निवासियो से सघर्ष हो गया और उसने ८ जुलाई १८४६ ई० को इस बात की घोषणा कि कि उत्तराधिकार के मामले में उन प्रातों में डेनिश राजवश के नियम लागू होगे। फलस्वरूप उसके उत्तराधिकारी को १८४८ ई० मे युद्ध का सामना करना पडा। उसकी मृत्यु प्लाउन मे २० जनवरी, १८४८ ई० को हुई।

क्रिश्चियन (नवम)—(१८१८–१९०४ ई०)। डेनमार्क नरेश। यह श्लेसविग-होलस्टीन-सोंडरबुर्ग-ग्लाउक्सबुर्ग के ड्यूक विलियम का पुत्र और क्रिश्चियन तृतीय की पत्नी की सीधी वंशपरंपरा में था। उसका जन्म ८ अप्रैल १८१८ ई० को गोट्टार्प में हुआ था। वह सेना में भर्ती हुआ। १८४८ ई० के श्लेसविक के विद्रोह के समय वह डेनिश सेना के साथ रहा। १८४२ ई० में उसने तत्कालीन फ्रेडरिक (सप्तम) की चचेरी बहन से विवाह किया। फ्रेडरिक निस्संतान था इस कारण मई १८५२ ई० में लंदन में बड़ी शक्तियों के प्रतिनिधियों की एक बैठक हुई और उसमें राजकुमार क्रिश्चियन को युवराज घोषित किया गया। इस बात को १८५३ ई० में डेनमार्क से भी मान्यता प्राप्त हो गई। फ्रेडरिक की मृत्यु के पश्चात् वह नवंबर १८६२ ई० में गद्दी पर बैठा। उसने तत्काल एक संविधान लागू किया जिसमें श्लेसविग को डेनमार्क में अंतर्भूत करने की बात थी। फलतः उसका जर्मन संघ से संघर्ष ठन गया जो शीघ्र ही जर्मन-डेनिश युद्ध में परिणत हो गया। १३ अक्तूबर १८६४ ई० को इन प्रदेशों के डेनमार्क से अलग किए जाने पर ही युद्ध समाप्त हुआ। राज्य के खंडित हो जाने के बाद भी क्रिश्चियन की कठिनाई में कमी नहीं हुई। उसका सारा शासनकाल अपने देश के दक्षिण और वामपक्षी दलों के संघर्ष के बीच बीता। बहुत दिनों तक तो वह सुधारवादी दल को सत्तारूढ़ होने से रोकता रहा किंतु अंत में १९०१ ई० में उसे वामपक्षियों को मंत्रिमंडल बनाने की अनुमति देनी ही पड़ी। अपने अंतिम दिनों में यूरोप के नरेशों के बीच जिनसे उसका पारिवारिक संबंध था, उसकी स्थिति पितृवत् थी। उसके ज्येष्ठ पुत्र फ्रेडरिक से स्वीडन नरेश चार्ल्स (नवम्) की पुत्री का विवाह हुआ था। उसका द्वितीय पुत्र १८६३ ई० से हेलेंस का नरेश था। कनिष्ठ पुत्र वाल्डमार का विवाह मारी द' आलियंस से हुआ था। उसकी तीन पुत्रियों में से एक का विवाह ग्रेट ब्रिटन नरेश एडवर्ड सप्तम से, दूसरी का रूस के जार अलेक्जांडर (तृतीय) से और तीसरी का कंबरलैंड के ड्यूक से हुआ था। उसका एक पौत्र १९०५ ई० में हाकोन (सप्तम) के नाम से नार्वे का नरेश बना, दूसरा कांस्टेंटाइन यूनान का युवराज (पश्चात् नरेश) हुआ। क्रिश्चियन की मृत्यु २९ जनवरी १७०६ को कोपेनहैगेन में हुई।

क्रिश्चियन (दशम)—(१८७०–१९४७ ई०)। डेनमार्क और आइसलैंड नरेश। युवराज फ्रेडरिक (बाद में फ्रेडरिक अष्टम) के पुत्र जिनका जन्म २६ सितंबर, १८७० ई० को कोपेनहैगेन में हुआ था। १८८९ ई० में मैट्रिक्युलेशन करने के बाद सेना में भर्ती हुए और पदोन्नति करते हुए मेजर जनरल बने। १९०६ ई० में वे युवराज घोषित किए गए और १९१२ ई० में सिंहासनारूढ़ हुए।

प्रथम महायुद्ध के समय स्कैंडिनेवियन देशों के बीच मैत्रीपूर्ण विचार विमर्श का आयोजन उन्होंने किया। ५ जून, १९१५ ई० को उन्होंने स्त्रियों को मताधिकार प्रदान किया। १ दिसंबर, १९१९ ई० को उन्होंने एक संघ कानून पर हस्ताक्षर किया जिसके अनुसार आइसलैंड को एक स्वतंत्र राज्य स्वीकार किया गया और उनको आइसलैंड नरेश की उपाधि दी गई। १९४४ ई० में आइसलैंड ने अपने को डेनमार्क से सर्वथा मुक्त कर लिया। वार्साई के संधि के अनुसार श्लेसविग नार्ड डेनमार्क को मिला और वे वहाँ जुलाई, १९२० ई० में गए।

१९४० ई० में जब जर्मनों ने डेनमार्क पर अधिकार कर लिया तब भी उन्होंने आंतरिक व्यवस्था पर अपना नियंत्रण बनाए रखा और अपने शांतिपूर्ण प्रतिरोध द्वारा जनप्रिय बने। जब अगस्त, १९४३ ई० में अधिकारासीन जर्मन सेना के विरुद्ध डेनमार्क वासियों ने खला विद्रोह किया तब क्रिश्चियन एक प्रकार से अपने राजमहल में बंदी हो गए थे। जब जर्मन सेना ने हथियार डाल दिए तब ९ मई, १९४५ ई० को उन्होंने स्वतंत्र डेनिश संसद् का उद्‌घाटन किया। २० अप्रैल, १९४७ ई० को उनकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्रिसोस्तम, संत जान (३४५–४०७ ई०)। मिस्र के प्रसिद्ध ईसाई संत। इनका जन्म अंतिओक में एक संपन्न परिवार में लगभग ३४५ ई० में हुआ था। इनका मूल नाम क्रिसोस्टोमस जोआन्नेस था। तर्कशास्त्री लिबेनियस के विद्यालय में अपने बाल्यकाल में ही इन्होंने अपनी बौद्धिक शक्ति एवं प्राचीन साहित्य और संस्कृति के प्रति उत्कट प्रेम का परिचय दिया था। सन् ३६० में १५ वर्ष की आयु में अंतिओक के पादरी मेलेतियस द्वारा नामसस्कार होने के पश्चात् ये मरुभूमि की ओर चले गए जहाँ १० वर्षों तक गंभीर अध्ययन तथा तपस्वी का जीवनयापन करते रहे। शारीरिक अस्वस्थता ने इन्हें फिर संसार में लौटाया और ३८१ ई० में वे अंतिओक के डीकन बनाए गए तथा ३८६ ई० में आर्चबिशप हुए। अंतिओक में इनके उपदेशों के, विशेषकर उनके मूर्तियों पर दिए गए उपदेशों के कारण उनकी बहुत प्रशंसा हुई, उस समय जनता, एक दंगे के कारण जिसमें सम्राट् थियोदोसियस की मूर्तियाँ नष्ट कर दी गई थीं बहुत आतंकित हो रही थी।

उनकी उपदेश शैली और उत्कृष्ट सादगी से प्रभावित होकर लोगों ने उन्हें नेक्तारियस के देहांत के पश्चात् ३९८ ई० में कुस्तुंतुनिया का बिशप बना दिया। इस पद पर रहकर उन्होंने जो कार्य किए उनसे उनकी बहुत प्रशंसा हुई। चर्च की आय का बहुत बड़ा भाग इन्होंने चिकित्सालयों की स्थापना में व्यय किया। इनके श्रद्धायुक्त उपदेश इनकी महत्ता के आधार बने। उन्होंने भौतिकतावादी साधुओं और पादरियों के साथ कठोर अनुशासन का व्यवहार किया। छोटे पादरियों को धर्मबहनों को नौकर रखना मना कर दिया; साधु जो इधर उधर व्यर्थ घूमा करते थे उनको मठों में ही रहने का आदेश दिया; दरबार की फजूलखर्जी और धनिक वर्ग की विलासिता की बुरी तरह की भर्त्सना की। इससे कुस्तुंतुनिया के बहुत से लोग उनके शत्रु बन बैठे। इनके शत्रु प्रतिशोध का मौका खोजने लगे जो उन्हें शीघ्र ही मिल भी गया। कुस्तुंतुनिया के पादरी थियोफिलस ने चार निचियन साधुओं को धर्म से बहिष्कृत कर दिया था, उन्हें क्रिस्तोस्तम ने अपने यहाँ आश्रय दे दिया। अतः ४०३ ई० में कैल्सिडान में थियोफिलस (धर्मसभा) आमंत्रित किया गया। उसमें क्रिसोस्तम पर धर्मद्रोह का अपराध लगाया गया और उन्हें धर्मसभा के संमुख उपस्थित होनेका आदेश दिया गया। अस्वीकार करने पर उन्हें बंदी बना देशनिकाला दे दिया गया। उनके नगर छोड़ने के दो-चार दिन बाद ही कुस्तुंतुनियाँ में प्रचंड भूकंप आया। उसे लोगों ने क्रिसोस्तम के देशनिकाले के विरुद्ध दैवी कोप माना। जनता में घोर असंतोष फैलने लगा। जनता की धमकियों के कारण साम्राज्ञी यूदोक्सियों को नगर निष्कासन की आज्ञा उठाकर उन्हें वापस बुलाना पड़ा। दो मास बाद ही वे फिर एक वक्तव्य के कारण निष्कासित किए गए। जनता ने गिरजाघर एवं सभाभवन में आग लगा दी और क्रिसोस्तम को शीघ्रतापूर्वक काकेशस पहुँचा दिया। विभिन्न चर्चों से पत्रव्यवहार एवं रूढ़िवादिता के कारण सम्राट् आरकेदियस ने इन्हें सुदूर रेगिस्तान पाइथस में भेज दिया। ४०७ ई० में जब वे यात्रा पर थे कोमन नामक स्थान पर ६० वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हुई। इनके देशनिकाले ने धर्मभेद को जन्म दिया तथा इनके अनुयायी, जो जॉनिस्ट कहलाते थे, कुस्तुंतुनिया के पादरी के साथ तभी एक हुए जब उनके अस्थि अवशेष को ४३२ ई० में कुस्तुंतुनिया लाया गया और उन्हें संत के रूप में संमानित किया गया। संत जॉन क्रिसोस्तम का भंडारा यूनानी गिरजाघरों में १३ नवंबर को होता है तथा रोमन गिरजाघरों में २७ जनवरी को।

क्रिसोस्तम धर्म में तपस्वी जीवन को बहुत ऊँचा स्थान देते थे, एवं धर्मश्रुतियों के ज्ञान पर बहुत बल देते थे। श्रुतिभाष्य में वे सर्वथा अंतिओकिन हैं तथा अपनी व्याख्या को शुद्ध व्याकरणीय अध्ययन पर आधारित किया है, सिकंदरिया पद्धति अथवा 'ओरिगेन' के लाक्षणिक भावानुवाद पर नहीं। इनके लेखों में कालांतर में आनेवाले उपदेश एवं स्तुति के बीज दृष्टिगोचर होते हैं। परंतु पोप की प्राथमिकता एवं व्यक्तिगत पापस्वीकरण का महत्व स्पष्ट परिलक्षित नहीं होता। सन ४२५ के आसपास से ही क्रिसोस्तम यूनानियों एवं रोमनों द्वारा महान् विज्ञ माने जाने लगे थे।

उनके लिखे ग्रंथों की संख्या बहुत अधिक है। उनकी रचनाओं का एक संग्रह १३ खंडों में १७१८–३८ ई० में पेरिस से प्रकाशित हुआ था। इनमें कुछ प्रारंभ में लिखे मठों संबंधी लेख हैं जिनमें पुरोहित पद पर लिखे लेख, बहुत से उपदेश एवं पुरोहित-पद-काल में लिखे कुछ लेख थे, सर्वोत्तम

हैं। उनमे कुछ पत्र भी है, जिन्हें इन्होंने अपने देशनिकाले की अवधि मे लिखा था। ये सभी इतिहास के मूल्यवान् स्रोत है।

क्रिसोस्तम पर्यटक भी थे और भारत का भी उन्होंने भ्रमण किया था। उस सबध मे उनके लेखो से भारतीय इतिहास पर भी कुछ प्रकाश पडा है। रामायण और महाभारत के कथाप्रबधो की ईलियद और ओदेसी से समानता के कारण इनका विश्वास था कि भारतीयो ने इन ग्रीक काव्यो की छाया मे ही अपने काव्यो का निर्माण किया है। (प० उ०)

क्रिस्टिना (१६२६–१६८६ ई०)। स्वीडन की रानी, ब्राडेंबर्ग के गुस्तावस अडोल्फस की एकलौती बेटी, स्टाकहोम मे ८ दिसबर, १६२६ को जन्म। १२ वर्ष के रिजेंसी शासन के बाद १६४४ ई० मे राजगद्दी पर बैठी। वह बहुत प्रतिभासपन्न और स्वाभिमानिनी थी। उसके अनियत्रित अपव्यय तथा अतरराष्ट्रीय नीति मे अनुचित हस्तक्षेप और लोक-अप्रिय व्यक्तियो के सपर्क ने उसे लोकप्रिय नहीं बनने दिया। उसका दरबार बडा वैभवशाली था जिसमे फ्रासीसी कवि, कलाकार, वैज्ञानिक और दार्शनिक थे।

उसने अपने शासनकाल मे जनता को अधिकाधिक नागरिक अधिकार दिए। उसने व्यापार को उन्नत बनाया एव डेल्स के खदान उद्योग का विकास किया। १६४६ मे उसने स्कूली शिक्षा को सारे राज्य मे अनिवार्य किया। विदेशी विद्वानों को अपने देश मे आकर रहने के लिये उत्साहित किया। उसके उदार शासनकाल मे विज्ञान और साहित्य की जैसी उन्नति हुई वैसी पहले कभी नही हुई थी। वह निस्सतान न रहे, जिससे उसकी मृत्यु के अनतर उसके उत्तराधिकारी के प्रश्न को लेकर कोई बखेडा खडा हो, इस उद्देश्य से सिनेट ने उसपर शादी करने के लिये जोर डाला, लेकिन पुरुष जाति के समक्ष आत्मसमर्पण न करने के अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए उसने १६५० ई० मे चार्ल्स को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और साथ ही चार्ल्स और उसके पुत्रो के लिये स्वीडन की राजगद्दी को वशपरपरानुगत बना दिया।

१६५१ ई० के गर्मी के दिनो मे उसके सामने राजगद्दी छोडने के लिये प्रस्ताव पेश किया गया और तीन वर्ष बाद, ६ जून, १६५४ को उसने राजगद्दी छोड दी। शासन से निवृत्त होने पर उसने कला और विज्ञान की साधना मे लगकर अपनी प्रतिभा से ससार को चकित करने की चेष्टा की।

उसने स्वीडन जाकर राज्याधिकार को पुन प्राप्त करने की दो बार चेष्टा की पर सफल न हो सकी। अत वह रोम से पोप की छत्रछाया मे एकात जीवन व्यतीत करने लगी। १६ अप्रैल, १६८९ को वहीं निर्धन, विस्मृत और उपेक्षित जीवन व्यतीत करते हुए उसकी मृत्यु हुई। (स० चि०)

क्रिस्टी, डेम अगाथा (१८९०–१९७६ ई०)। जासूसी उपन्यासो की विश्वविख्यात अंग्रेजी लेखिका। १५ सितबर, १८९० ई० को टार्के, डेवान (इग्लैंड) मे जन्म। अठारह वर्ष की आयु से ही लिखना आरभ किया। उन्हें उनकी अपनी पहला रचना 'दि मिस्टीरियस अफेयर्स ऐड स्टाइल्स' से ही, जो १९२० मे प्रकाशित हुई थी, ख्याति मिलनी आरभ हो गई थी। अपने लेखक जीवन के पचास वर्षो मे उन्होंने लगभग ८० पुस्तकें लिखीं। उनकी जासूसी उपन्यासो के लिखने की शैली प्रचलित परिपाटी से सर्वथा भिन्न रही है। वे अन्य लेखको की तरह अपराध के सूत्रो को छिपाकर नही रखती थीं वरन् ज्यो ज्यो उनकी कहानी आगे बढती वे सूत्रों को बिखेरती चलती और उन्ही बिखरे हुए सूत्रो को पकडकर उनका जासूस अपराधी को खोज निकालता। वे इस बात मे विश्वास नहीं करती थी कि अपराधी जासूसों के हाथ पकडा ही जाता है। वे इस बात को मानती थी कि अपराधी अपनी कला मे पुलिस और जासूसो से कहीं अधिक चालाक होते हैं। वे कभी कभी ऐसे सुनियोजित अपराध करते हैं कि पुलिस और जासूस उनका पता नही लगा पाते। उनका यह भी विश्वास रहा कि आधुनिक आविष्कारो का लाभ पुलिस की अपेक्षा अपराधियो ने ही अधिक उठाया है। इसी कारण वे अक्सर पकड़े नही जाते और समाज मे मुक्त रूप से विचरते रहते हैं।

जासूसी उपन्यासो के अतिरिक्त उन्होंने सत्रह नाटक भी लिखे जो सफल रहे। उनका 'दि माउस ट्रैप' (चूहेदानी) नामक नाटक लगातार बीस बरसो तक लदन की अबेसडर नाट्यशाला मे खेला जाता रहा। उनको 'विटनेस फार दि प्रासीक्यूशन' पर न्यूयॉर्क ड्रामा क्रिटिक्स एवार्ड प्राप्त हुआ था। १९७१ ई० मे उनको डेम की उपाधि से, जो ब्रिटिश साम्राज्य के नाइटहुड व समकक्ष है, विभूषित किया गया था।

क्रिस्टी ने दो विवाह किए थे। उनके पहले पति कर्नल आर्चिबाल्ड क्रिस्टी थे। उनके निधन के उपरात उन्होंने प्रोफेसर मैक्स मैलोवर्न से विवाह किया था जो एक प्रख्यात पुरातत्वविद् हैं।

उनका निधन १२ जनवरी, १९७६ ई० को वालिगफोर्ड मे हुआ। (प० ला० गु०)

क्रिस्पी फ्रासेस्को (१८१९–१९०१ ई०)। इटली का राजनीतिज्ञ।

इसका जन्म ४ अक्तूबर, १८१९ को सिसिली मे रिबेरा नामक स्थान मे हुआ था। १८४६ मे नेपल्स मे उसने वकालत आरभ की परतु सिसली की क्राति मे सक्रिय भाग लेने के कारण उसे पीदमात मे पत्रकार का जीवन अगीकार करना पडा। मिलान मे मात्सीनी (Mazini) के साथ षड्यत्र मे भाग लेने के कारण उसे भागकर माल्टा मे शरण लेनी पडी। वहाँ से भागकर अत मे वह पेरिस पहुँचा। फ्रास मे भी देशनिकाला मिलने पर वह कुछ दिनो मात्सीनी के साथ लदन मे रहकर इटली की मुक्ति के हेतु षड्यत्र करता रहा। जून, १८५९ मे वह इटली लौटा तथा अपने-आपको राष्ट्रीय-एकता का समर्थक एव लोकतत्रवादी घोषित किया। इन्ही दिनो उसने मेदिसी तथा गारिबाल्दी के साथ एक क्रातिसघ की भी स्थापना की। परिणामस्वरूप गारिबाल्दी सिसली का सेनानायक बना तथा उसकी सरकार के अतर्गत क्रिस्पी अर्थ एव गृहमत्री नियुक्त हुआ। पश्चात् कावूर एव गारिबाल्दी के पारस्परिक मतभेद के कारण उसे अपना पद त्यागना पडा। बाद मे इटली की ससद् का सदस्य बनकर गणतत्रवादी दल के कार्यशील सदस्य के रूप मे उसने विशेष ख्याति प्राप्त की। कुछ ही दिनो पश्चात् उसकी राजनीतिक मान्यताओं मे बहुत अतर आया और वह राजतत्रवाद की ओर झुका। उसका कहना था कि राजतत्र जनता को एक सूत्र मे बाँधता है एव गणतत्र उन्हें विभाजित करता है।

१८७६ई मे वह ससद् का अध्यक्ष चुना गया। अगले वर्ष उसने लदन, पेरिस एव बर्लिन की यात्रा की तथा ग्लैड्स्टन एव बिस्मार्क जैसे राजनीतिज्ञो से सौहार्द का सबध स्थापित किया। सन् १८७७ ई० मे वह फिर गृहमत्री बना। इस पद से देश मे एक केंद्रीभूत राजतत्र की स्थापना मे उसने राजा हबर्ट की सहायता की। फरवरी, १८७८ मे नवें पीयस की मृत्यु के पश्चात एक धर्मसभा बुलाई गई और क्रिस्पी की अकथनीय चेष्टा का ही यह परिणाम था कि इस सभा की बैठक रोम मे हुई। क्रिस्पी के शत्रुओं ने उसके व्यक्तिगत जीवन पर आक्षेप करना प्रारभ किया। फलत उसे पद त्यागना पडा तथा नौ वर्षो तक उसका राजनीतिक जीवन अधकारपूर्ण रहा। १८८७ ई० मे वह फिर गृहमत्री तथा कुछ ही दिनो बाद प्रधान मत्री बना। त्रिराष्ट्रीय सगठन पर विचार विनिमय के हेतु वह बिस्मार्क से मिला। इग्लैंड के साथ नाविक सबध स्थापित करने को भी वह उत्सुक था, परतु फ्रास के प्रति क्रिस्पी की नीति कुछ भिन्न रही यद्यपि फ्रासीसी-इतालवी व्यापारिक सधि भी उसने की। १८९१ ई० मे उसने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, परतु जनता ने सिसिली मे फैली अव्यवस्था के कारण उसकी फिर माँग की और वह १८९५ ई० मे बडे बहुमत द्वारा फिर चुना गया। १८९८ के चुनाव के बाद वह स्वास्थ्य एव नेत्रो की दुर्बलता के कारण कार्यभार वहन करने मे असमर्थ हो चला तथा १२ अगस्त, १९०१ मे नेपल्स मे उसका देहात हो गया।

क्रिस्पी की महत्ता उसके राजनीतिक सुधारो मे नहीं वरन उसकी अटूट देशभक्ति मे निहित है। अपने देशवासियो को जिस राजनीतिक ज्वारभाटे मे उसने पथप्रदर्शन किया, वह स्तुत्य है। अतरराष्ट्रीय क्षेत्र मे उसने इटली की शक्ति एव समान बढाने की अनवरत चेष्टा की तथा उसकी नीति फ्रास के अतिरिक्त समस्त देशो से मित्रतापूर्ण रही। फ्रास

से भी वह मित्रता का इच्छुक था, परंतु फ्रांस ने इटली को सदा नीचा दिखाने का प्रयत्न किया, अतः स्वाभाविक था कि क्रिस्पी उसके आदेशों के संमुख झुकने से इनकार करे। क्रिस्पी का व्यक्तिगत जीवन आक्षेपपूर्ण हो सकता है; परंतु उसका राजनीतिक जीवन सर्वथा निष्कलुष था।

(प० उ०)

क्रिस्मस (बड़ा दिन)। ईसामसीह के जन्म के स्मरणार्थ ईसाइयों द्वारा २५ दिसंबर को मनाया जानेवाला त्योहार। प्रारंभ में ईसाइयों का कोई अपना पर्वचक्र नहीं था; वे सभी यहूदियों के प्रमुख त्योहार पास्का के अवसर पर ईसा के पुनरुत्थान का उत्सव मनाते थे (दे० **पुनरुत्थान**)। लगभग २०० ई० में एपिफानी पर्व का प्रचलन हुआ (दे० **प्रभुप्रकाश**); बाद में संभवतः चौथी शताब्दी के प्रारंभ में, ईसा के जन्म के समादर में २५ दिसंबर को रोम में एक नया पर्व मनाया जाने लगा। उस समय तक ईसा की जन्मतिथि विषयक कोई प्रामाणिक परंपरा नहीं थी; तीसरी शताब्दी ई० में सूर्योपासना रोमन साम्राज्य का प्रधान धर्म बना था तथा रोम में २५ दिसंबर को शिशिर अनयांत (Solstice) के अवसर पर अजेय सूर्य का त्योहार बनाया जाता था। उसी दिन २५ दिसंबर को ईसाइयों ने भी अपने उपास्य के जन्मोत्सव के लिये स्वीकृत कर लिया और यह पर्व पुनरुत्थान की तरह ही बड़े समारोह के साथ मनाया जाने लगा। रोम से यह प्रथा धीरे धीरे सर्वत्र फैली। इतिहास इसका साक्षी है कि चौथी शताब्दी के अंत तक २५ दिसंबर का पर्व अंतिओक तथा कोंस्तांतिनस में मनाया जाता रहा।

क्रिस्मस का अर्थ है ख्रीस्त (ईसा) का मिस्सा (बलि अथवा यज्ञ)। लगभग पाँचवीं शताब्दी के उस दिन तीन बार मिस्सा चढ़ाया जाता था—रात में, उषा के समय और दिन में। आजकल भी प्रत्येक पुरोहित उस दिन तीन बार मिस्सा चढाता है। उस पर्व के अवसर पर गिरजाघरों में बालक ईसा की मूर्ति को एक चरणी में लिटाकर जनता को स्मरण कराया जाता है कि ईसा का जन्म गुफा में हुआ था। यह प्रथा फ्रांसीसी साधुओं की प्रेरणा से सर्वत्र फैली। ईसाई देशों में अन्य अनेक प्रकार के रिवाज प्रचलित है जिनकी उत्पत्ति प्रायः अज्ञात है और उस दिन बरते जाते हैं। अंग्रेजी भाषाभाषियों के यहाँ इस अवसर पर एक दूसरे को उपहार देने तथा शुभ कामनाएँ भेजने का रिवाज है। (का० बु०)

क्रिस्मस (द्वीप) जावा से १६० मील दक्षिण (स्थिति: १०° ३०' द० अ० तथा १०५° ४०' पू० दे०) स्थित एक द्वीप। इसकी औसत लंबाई १२ मील और चौड़ाई ६ मील है। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक है। ताप प्रायः २४° सें० से २६° सें० तक घटता बढ़ता रहता है। दक्षिणी-पश्चिमी वाणिज्य वायु (Trade Winds) की पेटी में पड़ने के कारण इस द्वीप में वर्षा वर्षभर और जून से सितंबर तक अधिक होती है। सर्वप्रथम सन् १८७६ में यहाँ यूरोप निवासी आए। आजकल यहाँ की जनसंख्या में मलय तथा चीनी प्रवासियों की अधिकता है। भूरचना की दृष्टि से यह द्वीप धरातल पर पाई जानेवाली समुद्रस्थ पर्वतश्रेणी का शिखर है, जो समुद्रतल से ऊँचा उठा है। चोटियाँ चौरस हैं। इस द्वीप के चतुर्दिक् मूँगे का जमाव मिलता है। (भू० का० रा०)

क्रीगटन, मैनडेल (१८४३–१६०१ ई०) अँगरेज इतिहासकार और पादरी। ५ जुलाई, १८४३ ई० को कार्लिस्ले में जन्म। डरहम के ग्रामर स्कूल तथा आक्सफोर्ड के मेर्टन कालेज में शिक्षा। आरंभ मे कुछ दिनों अध्यापन कार्य किया फिर १८७३ ई० में पादरी बने। पादरी बनने से पूर्व १८७२ ई० में लुइसवान ग्लेह्न से, जो अनेक इतिहास संबंधी पाठ्य पुस्तकों की लेखिका थीं, विवाह किया। १८५७ ई० में वे इंबलटन (नार्थ हंबरलैंड) के पादरी नियुक्त हुए। वहाँ उन्हें बाम्बर्गकीप के एक सुसंगृहीत पुस्तकालय के संपर्क में आए। फलतः उन्होंने अपने सुविख्यात ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑव द पैपेसी' के दो खंड लिखे। १८८४ ई० में वे कैंब्रिज मे धार्मिक इतिहास के प्राचार्य बनाए गए। कैंब्रिज में ऐतिहासिक समुदाय के संघटन में उनका बहुत बड़ा योग रहा। १८८६ ई० में कतिपय प्रमुख इतिहासकारों के सहयोग से आपने 'इंगलिश हिस्टारिकल रिव्यू' पत्रिका प्रकाशित की और पाँच वर्ष तक उसके संपादक रहे। १८६४ ई० में वे चर्च हिस्टारिकल सोसायटी के प्रथम अध्यक्ष बने और आजीवन उस पद पर रहे।

१८६७ ई० मे वे लंदन के बिशप बनाए गए। उनके पूर्वाधिकारी बिशप के समय में धार्मिक कृत्यों में अनेक प्रकार की अनियमितताएँ की जाने लगी थीं, जिसके कारण इनके संमुख अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई। उन्होंने अपने ज्ञान के आधार पर उसे स्वच्छ करने की चेष्टा की पर उसका परिणाम उल्टा निकला। लोगों ने उन्हें गलत समझ लिया। १६०० ई० में 'होली यूचरिस्ट' के सिद्धांत और कर्मकांडों और उनके व्यावहारिक रूप पर विचार करने के लिये उन्होंने फुलहम में विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों की एक सभा बुलाई। उस सभा का जो कार्यविवरण प्रकाशित हुआ उसकी उन्होंने भूमिका लिखी।

बिशप होने से पूर्व वे इतिहासकार थे इस कारण बिशप के रूप में वे जो कुछ भी करते उसमें उनका इतिहासकार स्वरूप मुखरित रहता। इस कारण वे अनैतिहासिक कर्मकांडों के बाह्याडंबर की आलोचना करते हुए स्वयं कर्मकांडी बन गए थे। १४ जनवरी, १६०१ ई० को उनकी मृत्यु हुई और वे संतपाल के गिरजाघर मे दफनाए गए। (प० ला० गु०)

क्रीजी, सर एडवर्ड शेपर्ड (१८१२–१८७८ ई०) अंग्रेज इतिहासकार। बेस्के (केंट) में जन्म औरऽइटन तथा कैंब्रिज के किंग्स कालेज में शिक्षा। १८३७ ई० मे वे बैरिस्टर बने; १८४० ई० में लंदन विश्वविद्यालय में इतिहास के प्राध्यापक नियुक्त हुए। १८६० ई० में वे लंका के हाईकोर्ट के प्रमुख न्यायाधीश (चीफ जस्टिस) बनाए गए। उसी वर्ष उन्हें 'सर' की उपाधि प्राप्त हुई। २७ जनवरी, १८७८ ई० को लंदन में उनका निधन हुआ।

उनका सबसे प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ है 'फिफ्टीन डिसाइसिव बैटल्स ऑव द वर्ल्ड' जो १८५१ मे प्रकाशित हुआ था। उसमें १५ निर्णायक युद्धों—मेराथान, साइराक्यूस, अर्बेली, मेटाउरस, वारुस की पराजय, चालोंस, टूअर्स, हेस्टिंग्स, आर्लियंस में जोन ऑव आर्क की विजय, स्पेनिश आर्मेडा, ब्लेंहीम, पोल्टावा, सर्टोगा, वाल्मी और वाटरलू का वर्णन है। उनके दो अन्य महत्व के ग्रंथ हैं—हिस्ट्री ऑव इंग्लैंड और राइज ऐंड प्रोग्रेस ऑव द इंगलिश कांस्टिटयूशन। (प० ला० गु०)

क्रीट भूमध्यसागर में ग्रीस के दक्षिण ६० मील पर स्थित सिसिली और सारडिनिया के पश्चात् सबसे बड़ा द्वीप (स्थिति : ३४° ५०' से ३५° ४०' उ० अ० और २०° ३०' से २६° २०' पू० दे०) इसका क्षेत्रफल ३,३३० वर्गमील है। इस द्वीप का उत्तरी समुद्रतट अत्यधिक कटा फटा है। इसके पश्चिम की ओर बुसा पर्वत और पूर्व में केनिया की खाड़ी है। दक्षिणी समुद्री किनारा अपेक्षाकृत कम कटा है। यहाँ पहाड़ी शृंखलाएँ एकाएक तीव्रता से ऊँची होती गई हैं। कम ऊँची पहाड़ियाँ और उपजाऊ घाटियाँ शहतूत के जंगलो से ढकी हैं।

भूमध्यसागरीय जलवायु के कारण अंजीर, सेब, नारंगी और शहतूत की कृषि होती है जिनका निर्यात होता है। ज्वालामुखी मिट्टी के कारण क्रीट खनिजों में धनी है जिनमें लोहा, सीसा, मैंगनीज, लिगनाइट और गंधक मुख्य हैं। अनाज का आयात काला सागर, डैन्यूब क्षेत्र, आस्ट्रिया, फ्रांस और इंग्लैंड से किया जाता है। नगरों में कैंडिया कलाभवन के लिये, केनिया इटली शैली के निर्माण स्थलों के लिये विश्वप्रसिद्ध है। अन्य नगरों में रेटियो, हीरापेट्रा, सिटीया, सेलिनों तथा स्फाकिया हैं। १६६१ ई० में यहाँ की जनसंख्या ४,८३,२५८ थी। (भू० का० रा०)

इतिहास—प्राचीनकाल में यह भूमध्यसागरीय द्वीप क्रेता और केफ्ती नाम से प्रसिद्ध था। ई० पू० द्वितीय और तृतीय सहस्राब्दियों में ग्रीस तथा लघुएशिया में जो महान् सभ्यता फैली हुई थी, जिसके ग्रीस तथा लघुएशिया में प्रधान प्रहरी मिकीनी तथा त्राय थे और जो ईजियाई, मिनोई अथवा मिकीनी सभ्यता के नाम से इतिहासप्रसिद्ध है, उसका मूल यही क्रीट का द्वीप है। इस सभ्यता को, जिसका चरम विकास त्राय नगर में हुआ

था, आर्यग्रीकों ने ई० पू० द्विसहस्राब्दी के अंत में नष्ट कर दिया। श्लीमान तथा ईवांस के प्रयत्नों से उस सभ्यता के भग्नावशेषों का पिछली सदी में उत्खनन हुआ है।

क्रीट का प्राचीनतम नगर और राजधानी क्नोसस था, जो द्वीप के उत्तरी सागरतट पर पहाड़ों में बसा था। उसके और दक्षिणवर्ती फ़ीस्तस् के खंडहरों से उस सभ्यता के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। क्नोसस में एक भूलभूलैया का खडहर मिला है; विद्वानों ने उसे ग्रीक पुराणों की परंपरा में राजा मिनोस के वृषभ मिनोतौर के कारागार की संज्ञा दी है। मिनोस संभवत: मिस्री फराऊनों के प्रथम राजवंश का समकालीन था। ग्रीक परंपरा के अनुसार मिनोतौर मानवीय रति का उपासक था जिसके प्रसादन के लिये प्राचीन ग्रीस को अभिजातकुलीय सात तरुण और सात तरुणियाँ प्रतिवर्ष भेजनी पड़ती थीं। ग्रीक वीर थीसियस ने उसका वधकर ग्रीस को इस ऋणयंत्रणा से मुक्त किया। यह प्रसंग आर्यग्रीकों द्वारा क्रीटी सत्ता और ईजियाई सभ्यता के विध्वंस की ओर संकेत करता है। क्रीट के प्राचीन नगरों की खुदाइयों में जो वस्तुएँ मिली हैं उनसे उस सभ्यता की गतिविधि ज्ञात होती है। उनसे प्रकट है कि जीवन उस काल में उन्मुक्त बहता था, नारी स्वतंत्र थी, सुखी जीवन की सुविधाएँ प्राप्त थीं और कम से कम महलों में सुख सुविधा की सभी प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध थीं। महलों की दीवालों पर जो चित्र बने हैं उनसे तो उस कला का सौंदर्य प्रकट है ही, अनेक प्रकार के बर्तन भाँड़ों, खिलौनों, हाथीदाँत की मूर्तियों आदि से भी तत्कालीन कला के गौरव का ज्ञान प्राप्त होता है। क्रीट के भग्नावशेषों में अनेक अभिलेख मिले हैं जिनसे एक नई लिपि, क्रीटियों की अपनी लिपि, का पता चला है। पर अब तक न तो वह लिपि पढ़ी जा सकी है और न क्रीटियों की भाषा पर ही कोई प्रकाश पड़ा है।

क्रीट का द्वीप यद्यपि विशेष ऋद्ध नहीं है फिर भी वहाँ सभ्यता का विकास अत्यंत प्राचीन काल में हुआ और एक के बाद एक अनेक जातियों का अधिकार उसपर होता गया। प्राचीन क्रीटियों के बाद उस क्रीट का शासन आर्यग्रीकों के हाथ आया जिनसे ई० पू० पहली सदी में रोमनों ने राजसत्ता छीन उसे अपने साम्राज्य का अंग बना लिया। कालांतर में उसे पूर्वी रोमन साम्राज्य का भोज्य बनना पड़ा जिससे अरबों ने कुछ काल के लिये छीन लिया। फिर उसे वेनिस के सौदागरों ने भोगा और फिर तुर्कों ने। अंत में उनपर अंग्रेजी प्रभाव से अभिभूत ग्रीस का अधिकार हुआ, फिर पिछले महायुद्ध में ग्रीक और अंग्रेज सेनाओं को हराकर क्रीट को जर्मनों ने जीत लिया। बाल्कन युद्ध की समाप्ति के बाद १९१३ ई० में क्रीट ग्रीस के शासन में मिला दिया गया। (क्रीट की प्राचीन सभ्यता के लिये दे० **'ईजियाई सभ्यता'**)।

सं०ग्रं०—स्प्राट : ट्रैवेल्स ऐंड रिसर्चेज इन क्रीट (१८६७); लारोख : ला क्रीत आँशियान ए मोदर्न। (भ० श० उ०)

भाषा—क्रीट द्वीप की प्राचीन भाषा क्रीटी है। सर आर्थर ईवांस आदि पुराविदों के अध्यवसाय से क्रीट की प्राचीन सभ्यता के भग्नावशेष खोद निकाले गए हैं। इसी सभ्यता के लघुएशिया के पूर्वोत्तरी संतरी त्राय नगर के ध्वंसावशेषों को खोदकर श्लीमान ने पुरातत्व के विज्ञान की नींव डाली थी। लघुएशिया का यह त्राय और ग्रीस का माइसीनी (मिकीनी) इसी क्रीटी सभ्यता के नगर थे जिनके दूसरे नाम ईजियाई और मिनोसी (मिनोअन) भी हैं।

क्रीटी भाषा और लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी जिससे उसकी भाषा के प्राचीन रूप का पता चल सकना संभव न हो सका है। किंतु अधिकतर विद्वानों का मत है कि प्राचीन क्रीट की यह भाषा आर्येतर थी। वहाँ तक आर्यों की पहुँच होने से पहले ही वह मर चुकी थी। उसके दक्षिण सागर पार प्राचीन मिस्रियों की हामी सभ्यता थी, पूर्व में सुमेरियों और बाबुलियों की सामी सभ्यता उसे छापे हुए थी, जिससे आर्यों के संपर्क से वह वंचित रहा। क्रीट और उसके ग्रीक, लघुएशियाई नगरों का १५वीं सदी ई० पू० के लगभग आर्यों से संपर्क हुआ और वह उनके लिये मारक सिद्ध हुआ। एशियाई और दोरियाई आर्य ग्रीक जातियों ने अपने प्रयत्नों द्वारा उन्हें नष्ट कर दिया।

क्रीटी सभ्यता के नगरों की खुदाइयों में प्राय: दो हजार मिट्टी, चूने आदि की बनी मुहरें मिली हैं। इनके अध्ययन से पता चलता है कि क्रीटी भाषा की प्रारंभिक लिपि चित्रमय थी जो धीरे धीरे रेखांकित हो गई। ये रेखाएँ क्या ध्वनित करती है, इसका अनुमान कर सकना कठिन है। बाद की सदियों की मुहरों पर जो आकृतियाँ बनी हैं उनसे अनुमान किया गया है कि वे संभवत: उस वर्ग की हैं जिसे 'आइडियोग्राफ़' (शब्दचित्र, ध्वनिनाम-चित्र) कहते हैं, जो चित्रलिपि और वर्णलिपि के बीच की लिपि है। इन आकृतियों से स्पष्ट है कि अभी तक क्रीट में वर्णमाला लिपि का उदय नहीं हुआ था। जब तक इन मुहरों की लिपि पढ़ ली नहीं जाती, ईजियाई सभ्यता की भाषा के संबंध में किसी प्रकार का भी अनुमान केवल काल्पनिक होगा। (भ० श० उ०)

क्रीमिया

काला सागर के उत्तर रूस के अंतर्गत एक छोटा प्रायद्वीप (स्थिति : ४४°२३' से ४६°१०' उ० अ० और ३२°३०' से ३६°४०' पू० दे०)। इसकी आकृति विषमकोणात्मक है और क्षेत्रफल ६,७०० वर्गमील है। इस प्रदेश का संबंध पेरेकॉप स्थलडमरू द्वारा उक्रेन के मैदान से है। क्रीमिया का समुद्री तट कटावदार है जिससे कई छोटी छोटी खाड़ियाँ बन गई हैं। दक्षिणी-पूर्वी तट पर समुद्र के समांतर २,००० से २,५०० फुट ऊँची याला दाघ (yaila Dagh) पर्वतश्रेणी तथा १,५०० से १,६०० फुट ऊँची अन्य श्रृंखलाएँ स्थित हैं। इस प्रदेश की मुख्य नदियों में चेरनिया, बेलबेक काला सागर में और सालगीर तथा करासू नदियाँ सिवास झील में गिरती हैं।

क्रीमिया प्रदेश का उत्तरी ३।४ भाग स्टेप्स के प्रकार का है। यहाँ तंबाकू, फल और रुई की पैदावार अधिक होती है। कृषि अधिकतर सामूहिक फार्म पर की जाती हैं। दक्षिणी भाग की जलवायु भूमध्य-सागरी होने तथा पहाड़ों की स्थिति के कारण फल उत्पादन और पशु-चारण मुख्य उद्यम हैं। नमक सिवास झील से प्राप्त होता है। कर्च (Kerch) प्रायद्वीप क्षेत्र में लोहे का उत्खनन होता है। यहाँ का लौह-भंडार २७,२७,००,००० मीट्रिक टन और लौहांश ३६% है। क्रीमिया से लोहा, तंबाकू, शराब, मछली, सोवियत संघ के अन्य क्षेत्रों में वितरित होती है। यहाँ की जनसंख्या अधिकांशत: शहरी है तथा १९५० में संपूर्ण प्रदेश की जनसंख्या १२,००,००० थी। यहाँ की राजधानी सिमफराआॅपल (Simferopol) है। सेवैस्टोपॉल (Sevastopol) नौसेना का, कर्च मछली मारने का और फीओडोशिया अनाज के निर्यात का केंद्र है। (भू० का० रा०)

क्रीमिया का युद्ध

रूस के साथ इंग्लैंड और फ्रांस का युद्ध जो जुलाई, १८५३ ई० से सितंबर, १८५५ ई० तक चलता रहा। यह युद्ध कदाचित् अकारण लड़ा गया था फिर भी यूरोपीय इतिहास में इसका विशेष महत्व आँका जाता है। उन दिनों यूरोपीय देशों में लोगों की यह धारणा हो गई थी कि रूस के पास इतने अधिक शस्त्रास्त्र हैं कि वह अजेय है। उससे लोग आतंकित थे। कुस्तुंतुनिया की ओर राज्यविस्तार करने की रूस की नीति पीतर महान् के समय से ही चली आ रही थी। अपनी इस राज्यविस्तार की आकांक्षापूर्ति के लिये वह कोई न कोई बहाना ढूँढ़ता रहता था।

इस युद्ध का सूत्रपात एक छोटे से धार्मिक विवाद को लेकर हुआ। उन दिनों फ़िलिस्तीन तुर्की साम्राज्य के अंतर्गत था। १५३५ ई० में तुर्की के सुल्तान ने रोमन ईसाइयों के तीर्थस्थानों की देखभाल फ्रांस के संरक्षण में फ्रेंच कॉथलिक पादरियों को सौंपा था। इसी प्रकार तुर्की स्थित यूनानी-ईसाई संप्रदाय के धार्मिक स्थान रूस के जार के संरक्षण में दिए गए थे। किंतु फ्रांस की प्रख्यात राजक्रांति के समय फ्रांस अपने उत्तरदायित्व की ओर समुचित ध्यान न दे सका। धीरे धीरे लैटिन धर्मस्थानों पर यूनानी-ईसाई संप्रदाय के साधुओं का अधिकार हो गया। १८५० ई० में फ्रांसनरेश नेपोलियन (तृतीय) का ध्यान लैटिन चर्च की ओर गया; उसने उनके प्रबंध को फ्रांस के संरक्षण में दे देने के लिये तुर्की को लिखा। १८५२ ई० में उसने अपनी इस माँग को दुहराया। कुछ हीलाहवाली करने के बाद

तुर्की के सुल्तान ने फ्रांस की इस माँग को स्वीकार कर लिया। रूस के लिये कोई कारण न था कि वह तुर्की के इस कार्य पर आपत्ति करता; किंतु उसने इसे तुर्की को हड़प लेने का एक अच्छा अवसर समझा। यूनानी-ईसाई संप्रदाय का पक्ष लेकर जार ने सुल्तान को लैटिन धार्मिक स्थलों का प्रबंध उन्हें लौटा देने को लिखा। इससे इंग्लैंड आशंकित हो उठा। उसे डर लगा कि कुस्तुंतुनिया पर रूस का अधिकार हो जाने पर स्थल मार्ग से भारत के लिये स्थायी खतरा उत्पन्न हो जाएगा और यह ऐसा खतरा होगा जिसका किसी प्रकार भी सामना करना उसके लिये संभव न होगा। वह रूस के विरुद्ध तुर्की की सहायता के लिये उठ खड़ा हुआ।

फ्रांस के लिये तो रुष्ट होने का स्पष्ट कारण था ही। रूस उसके तीर्थ-स्थलों की देखभाल के अधिकार में हस्तक्षेप कर रहा है। किंतु इससे बड़ा कारण यह था कि जार निकोलस (प्रथम) ने फ्रांस के नए सम्राट् को 'भाई' संबोधित न कर 'मित्र' संबोधित किया था। इसलिये रूस के यूनानी-ईसाई संप्रदाय का पक्षधर बनते देख उसे अपने राजवंश पर खतरा आता दिखाई पड़ा। आस्ट्रिया को भी बालकन की ओर रूसी बढ़ाव से घबराहट हुई। यद्यपि १८४९ ई० में आस्ट्रियानरेश को अपना पैतृक सिंहासन रूसी सैनिक सहायता से प्राप्त हुआ था तथापि इस अवसर पर रूस की कृतज्ञता मानना और चुप बैठे रहना उचित नहीं जान पड़ा। उसका झुकाव फ्रांस और इंग्लैंड की ओर होने लगा। संदेह के इस वातावरण में तुर्की की राजनीति ने विस्फोटक रुख धारण किया। उसने ब्रिटिश राजदूत के इशारे पर रूस की चुनौती को ठुकरा दिया। इसका जो परिणाम होना था हुआ।

जुलाई, १८५३ में रूस की सेना ने कूच बोल दिया और दान्यूब नदी के उत्तरवर्ती तुर्की के भूभाग—मोल्डेविया और वालेशिया के प्रांतों पर अधिकार कर लिया। तत्काल इंग्लैंड और फ्रांस का संयुक्त नौसैनिक बेड़ा तुर्की की सहायता के लिये बास्फोरस पहुँचा; किंतु अंगरेजी और फ्रांसीसी युद्धपोतों के देखते देखते साइनोप के निकट रूसी नौसेना ने तुर्की के बेड़े को नष्ट कर दिया। तब जनवरी, १८५४ ई० के आरंभ में इंग्लैंड और फ्रांस का संयुक्त बेड़ा कालासागर में घुसा और दोनों देशों ने शीघ्र ही रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। उन्होंने अपनी रक्षात्मक युद्ध करने की योजना बनाई। कुस्तुंतुनिया की रक्षा के लिये उन्होंने गैलीपोली में किलेबंदी करने का निश्चय किया। किंतु इसके पूर्व कि आंग्ल-फ्रेंच सेनाएँ कालासागर के पश्चिमी तट पर वर्ना में एकत्र हों, आस्ट्रिया के अमैत्रीपूर्ण रुख को देखकर रूस ने अपनी सेना को तुर्की के अधिकृत प्रदेशों से वापस बुला लिया। इस प्रकार रूस द्वारा तुर्की पर आक्रमण की संभावना समाप्त हो गई। फलतः इंग्लैंड और फ्रांस की स्थिति विषम हो गई।

वर्ना में जोरों का हैजा फैला। सेना वहाँ छोड़ी नहीं जा सकती थी। दूसरी ओर बिना युद्ध किए अपनी सेना को स्वदेश लौटा ले जाना दोनों ही देश के शासकों का अपनी हीनता का द्योतक जान पड़ा। अतः कुछ करने की धुन में उन्होंने क्रीमिया पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसके दक्षिणी तट पर सेवास्टोपोल में रूस का नौसैनिक अड्डा था। उसे अधिकार में करना उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया।

दुर्धर्ष निर्णय तो इन दोनों देशों ने ले लिया पर उनमें से किसी को भी क्रीमिया के भूभाग के संबंध में कोई जानकारी न थी। उत्साही फ्रांस ने जब इस कठिनाई का अनुभव किया तब उसने प्लेंचेट पर नैपोलियन महान् की आत्मा को बुलाकर उससे सलाह लेने की बात की। रैफेट ने सेवास्टोपोल और बालक्लावा के जो मानचित्र तैयार किए थे उनका अध्ययन-मनन किया गया; रणव्यूह-विशेषज्ञ जैमिनी से सलाह ली गई किंतु कोई उत्साहजनक बात सामने नहीं आई। असफलता की ही संभावनाएँ जान पड़ीं। इधर ब्रिटिश मंत्रिमंडल को किसी प्रकार के गंभीर चिंतन की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। उसने क्रीमिया के नक्शे पर सामान्य ढंग से दृष्टिपात किया और कहा कि तोपों के बल पर स्थलडमरू को अवरुद्ध कर क्रीमिया के प्रायद्वीप को मुख्य भूभाग से काट देना कोई कठिन काम नहीं है। उन्हें तब तक इस बात का ज्ञान न था कि स्थलडमरू के दोनों ओर समुद्र में दो-तीन फुट से अधिक जल नहीं है। उन्होंने युद्ध के लिये आदेश जारी कर दिए।

१४ सितंबर को सेनाएँ यूपेटोरिया पहुँची। १७ सितंबर को उन्होंने सेवास्टोपोल की ओर बढ़ना आरंभ कर दिया। २० सितंबर को उन्होंने रूसी सेना को हराया किंतु किसी प्रकार का कोई निर्णायक परिणाम नहीं निकला। रूसी सेनापति टाडेलबेन ने सेवास्टोपोल के दुर्ग में घुसकर दुर्ग की रक्षा की पूरी तैयारी कर ली। आँग्ल-फ्रेंच सेना ने दुर्ग पर घेरा डाल दिया। आगे कोई काररवाई वे कर पाएँ, इसके पूर्व जाड़ा आ गया; समुचित खानेपीने, वस्त्रादि की व्यवस्था के अभाव में सैनिक दयनीय स्थिति में पड़ गए। अँगरेजी सेना की स्थिति तो और भी खराब हो गई। जो जहाज उनके लिये सामान ला रहे थे वे बालक्लावा के बंदरगाह में भयंकर समुद्री तूफान में पड़कर नष्ट हो गए। वर्ष समाप्त होते होते ८,००० सैनिक बीमार पड़ गए। अस्पतालों की स्थिति बीमारी को घटाने के बजाय बढ़ानेवाली थी। आधे से भी कम आदमी लड़ने योग्य बचे। जब फ्लोरेंस नाइटएंगेल महिला स्वयंसेविकाओं को लेकर पहुँची और बीमारों की सेवा-सुश्रूषा की व्यवस्था की तब कहीं स्थिति में कुछ सुधार हुआ।

जब सर्दी कम हुई तो दूसरी मुसीबत उठ खड़ी हुई। तार के आविष्कार से त्वरित संपर्क स्थापित करने की सुविधा हो गई। अतः दोनों देशों के सदर मुकाम से जो आदेश दस दिन में पहुँचते थे अब २४ घंटे में पहुँचने लगे। इस सुविधा का उपयोग इंग्लैंड और फ्रांस ने अलग अलग ढंग से किया। इंग्लैंड के लिये सैनिक असफलता का अर्थ मंत्रिमंडल में उलटफेर की संभावना से अधिक और कुछ न था। अतः युद्ध विभाग ने उसका उपयोग केवल अपने कप्तान जेबिस के स्वास्थ्य के प्रति चिंता व्यक्त करने में किया। किंतु फ्रांस के सम्राट् के लिये तो हार राजवंश के विनाश का पैगाम था। अतः वे अपने सेनापति को दनादन सुझाव, सलाह और आदेश भेजने लगे। फलतः दोनों ही देशों के सेनापतियों को तारों के इस प्रकार के आदान-प्रदान के कारण मेज से उठकर और कुछ करने और सोचने की फुरसत ही नहीं रही।

फिर भी अप्रैल आते आते उन लोगों ने सेवास्टोपोल के घेरे की गति तीव्र करने की चेष्टा की। जून में अंगरेजी सेना ने रेडान पर और फ्रांसीसी सेना ने मेलेकाफ पर आक्रमण किया परंतु रूसियों ने दोनों ही आक्रमणों को विफल कर दिया। किंतु जब आँग्ल-फ्रेंच सेना ने किनबर्न पर अधिकार कर लिया तब रूस ने युद्ध जारी रखना व्यर्थ समझा। इस समय तक फ्रेंच नरेश नैपोलियन (तृतीय) भी इस युद्ध से घबरा उठा था। वह आगे युद्ध करने के पक्ष में न था। किंतु अंगरेज, जिन्हें सेवास्टोपोल के आक्रमण में असफलता मिली थी, खीझे हुए थे। वे युद्ध जारी रखना चाहते थे किंतु अकेले रूस से युद्ध कर सकना उनके बस की बात न थी। निदान पेरिस में एक संधि हुई। इस संधि में अन्य बातों के अतिरिक्त मुख्य बात यह थी कि दान्यूब नदी में सभी देशों के जहाजों के लिये यातायात खोल दिया गया; कालासागर तटस्थ क्षेत्र घोषित किया गया; प्रत्येक देश के युद्धपोतों का वहाँ आना निषिद्ध कर दिया गया। दूसरे शब्दों में रूस को अपने युद्धपोत कालासागर से हटा लेने पड़े; किंतु पंद्रह वर्ष के भीतर ही संधि की ये बातें निरर्थक हो गईं।

सामरिक दृष्टि से क्रीमिया का युद्ध केवल इस कारण स्मरण किया जाता है कि वह अंगरेजी इतिहास में सर्वाधिक अव्यवस्थित युद्ध था। यह युद्ध सह-मित्र युद्ध की कठिनाइयों और खतरों का भी एक चिरस्थायी उदाहरण है। व्यापक दृष्टि से इतना ही कहा जा सकता है कि नाना प्रकार की कठिनाइयों के होते हुए भी मित्र-सेनाओं ने अपना रणकौशल पूरी तरह प्रदर्शित करने की चेष्टा की थी। राजनीतिक दृष्टि से लाभ इतना ही हुआ कि तुर्की को रूस के त्रास से मुक्ति मिली और उसकी स्वतंत्रता कायम रही। (प० ला० गु०)

क्रीलोव, ईवान एंड्रिविच (१७६८–१८४४ ई०)। रूस का राष्ट्रीय गल्पकार। इसका जन्म १४ फरवरी, १७६८ ई० को मास्को में एक सैनिक के घर हुआ था। पिता की मृत्यु के पश्चात् वह १७७९

ई० मे माँ के साथ सेंट पीतर्सबर्ग (लेनिनग्राद) चला आया और वहाँ १७८८ ई० तक एक सरकारी नौकरी करता रहा। उसने १७८३ ई०से ही लिखना आरभ कर दिया था। १७८४ ई० मे उसने 'काफी की दूकानवाला' शीर्षक एक ओपेरा (गीति-नाट्य) लिखा था जो १८६९ तक अप्रकाशित रहा। उसने क्लियोपेट्रा (१७८५ ई०) और फिलोमेला (१७८६ ई०) नामक दो दुखात नाटक लिखे, जिनमे से पहले का तो अब पता भी नही है। १७८९ ई० मे 'पोचादुखोव' (भूत की डाक) नाम से एक मजाकिया मासिक पत्रिका प्रकाशित की। १७९२ ई० मे उसने उसी ढग की एक दूसरी पत्रिका निकाली जो बाद मे 'सेंट पीतर्सबर्ग मरकरी' नाम से प्रख्यात हुई। १८०१ ई० मे उसने एक 'पिरॉग' नामक नाटक लिखा जो सेंट पीतर्सबर्ग मे अभिनीत हुआ। पर उसके इन सभी प्रयासों का उसकी ख्याति मे कोई स्थान नही है। उसे जिन रचनाओ के लिये ख्याति प्राप्त है, वे सब उसकी ३७ वर्ष की आयु के बाद की है। १८०५ ई० मे उसने ला फौंतेन के दो गल्पों के अनुवाद दिमित्रीव को दिखाए जिन्हें उन्होंने बहुत पसद किया। इससे उसे प्रोत्साहन मिला। १८०८ ई० मे उसने १७ गल्प प्रकाशित किए जिनमे अधिकाश मौलिक थे। १८०९ ई० मे उसके 'फेबेल्स' का पहला सस्करण प्रकाशित हुआ जिनमे २३ गल्प थे। इन गल्पों मे उसने रूसी प्रबुद्धवर्ग के फ्रासीसी वस्तुओं के अधानुकरण का मजाक उड़ाया था। तभी उसे राज-परिवार का सरक्षण प्राप्त हुआ। १८११ ई० मे वह रूसी अकादमी का सदस्य मनोनीत हुआ और १८२३ ई० मे अकादमी ने उसे स्वर्णपदक प्रदान किए। उसके बाद तो उसके पास समानो के ढेर लग गए। ९ नवबर, १८४४ ई० को उसकी मृत्यु हुई।

रूसी जनता को गल्पकार सदा से प्रिय रहे है और क्रीलोव तो उनके गल्पकारो मे महत्तम था। ला फौंतेन के अनुवादो मे भी उसकी अपनी निजी विशिष्ट शैली की अभिव्यक्ति है। सरकारी नौकर होते हुए भी उसने अपनी रचनाओ मे अपना स्वतत्र अस्तित्व बनाए रखा है। सरकारी अहलकार प्राय उसके चुहल के पात्र रहे है। क्रीलोव के गल्प ग्रामीणो जैसी सरल भाषा मे लिखे गए है, उनमे नित्य प्रति के जीवन की अकर्मण्यता, गदगी, लालच आदि की चुटकी ली गई है। क्रीलोव की रचनाओ का वृहद् सग्रह सेंट पीटर्सबर्ग से १८४४ ई० मे प्रकाशित हुआ था। (प० ला० गु०)

क्रुक्स, सर विलियम (१८३२–१९१९ ई०)

। सुविख्यात रसायनज्ञ और भौतिकविज्ञानी। इनका जन्म १७ जून, १८३२ ई० को लदन मे हुआ था। रॉयल कालेज ऑव केमिस्ट्री मे रसायन का अध्ययन कर पहले सुप्रसिद्ध रसायनज्ञ 'हॉफमान' के सहायक, फिर ऋतु-विज्ञान विभाग मे सहायक और फिर चेस्टर मे रसायन के सहायक अध्यापक नियुक्त हुए। पिता की बडी सपत्ति के अधिकारी होने पर उन्होंने अपनी निजी प्रयोगशाला स्थापितकर रसायन पर अन्वेषण आरभ किया और 'केमिकल न्यूज' नामक पत्र की स्थापनाकर १९०६ ई० तक उसका सचालन करते रहे। १८९७ ई० मे उन्हें 'सर' की और पीछे अन्य कई उपाधियाँ मिली।

क्रुक्स ने थैलियम धातु का आविष्कारकर उसे पृथक् किया। इस सबध मे कार्य करते हुए उन्होंने 'रेडियोमीटर' का आविष्कार किया। रेडियम के आविष्कार के बाद वे रेडियम के अध्ययन मे लगे और उस यत्र का आविष्कार किया जिसे स्पिथेरिस्कोप (Spinthariscope) कहते हैं और जिसमे जिंक सल्फाइड के परदे पर स्फुरदीप्ति (phosphorescence) से लेश मात्र रेडियम तक का भी पता लग जाता है। ऋणाग्र किरणो (cathode rays) के आचरण के अध्ययन मे अनेक युक्तियाँ निकाली और विरल मृदा (rare earths), तत्वो की प्रकृति और सगठन का अध्ययनकर इस परिणाम पर पहुँचे कि एक तत्व के परमाणुओ के विभिन्न परमाणुभार हो सकते हैं। उन्होने कृत्रिम रीति से सूक्ष्म हीरे भी तैयार किए, तथा ऐसे काच का भी आविष्कार किया जिसके उपयोग से पिघले काच से निकली ऊष्माकिरणो और परा-बैंगनी-प्रकाशकिरणो के हानिकारक प्रभावो से आँखो की रक्षा की जा सकती है। चश्मे का क्रुक्स-लेंस इन्ही की देन है। उन्होने रसायन पर अनेक मौलिक पुस्तकें लिखी और कुछ का सपादन भी किया। लगभग ८७-८८ वर्ष की अवस्था मे ४ अप्रैल, १९१९ को उनकी मृत्यु हुई।

स०ग्र०—डब्लू०, टिलडेन . जर्नल ऑव केमिकल सोसायटी, ११७-४४४-४५४ (१९२०), फेमस केमिस्ट्स (१९२१)। (फू० स० व०)

क्रुगर, स्टेफेनस जोहानेस पौलुस (१८२५–१९०४ ई०)

। ट्रासवाल गणतत्र का राष्ट्रपति। १० अक्तूबर, १८२५ ई० को कोलसबर्ग (केपकालोनी) मे जन्म हुआ था। दस वर्ष की अवस्था मे वह अपने माता पिता के साथ केपकालोनी के बडे भगदड के समय आरेंज के उत्तरी प्रदेश मे चला आया। सभ्यता और असभ्यता के सीमावर्ती भू-भाग मे रहने के कारण उसका बचपन भागते, लड़ते, आखेट करते ही बीता इस कारण उसे विशेष शिक्षा प्राप्त न हो सकी। उसका साहित्यिक ज्ञान बाइबिल तक ही सीमित था। उसकी धारणा थी कि ईश्वर उसे विशेष रूप से निर्देश देते हैं। २५ वर्ष की अवस्था मे धर्मोन्माद मे जगल मे जाकर काफी दिनो अकेले रहा।

१४ वर्ष की अवस्था मे उसने मताबेले और जूलू लोगो के विरुद्ध सघर्ष मे भाग लिया। इस प्रकार उसका परिवार ट्रासवाल राज्य के स्थापको मे था। १७ वर्ष की अवस्था मे वह सहायक फील्ड कार्नेट और २० वर्ष की अवस्था मे फील्ड कार्नेट बना। २७ वर्ष की अवस्था मे बेचुआना के मुखिया शेचेले के विरुद्ध अभियान का नेतृत्व किया। इस अभियान मे डेविड लिविंग्स्टन नामक सुविख्यात पादरी का घर नष्ट हो गया था। १८५३ ई० मे वह मांटसिओआ के विरुद्ध अभियान मे समिलित हुआ।

१८५२ ई० मे ट्रासवाल को ग्रेट ब्रिटेन से स्वतत्रता की स्वीकृति प्राप्त हुई। १८५६–५७ ई० मे ट्रासवाल की जिला सरकारो के उन्मूलन और आरेंज फ्री स्टेट की सरकार को अपदस्थ करने तथा दोनों प्रदेशो के बीच सघ स्थापित करने के प्रयास मे प्रिटोरियस का सहयोग किया। १८६४ ई० मे जब गृहयुद्ध समाप्त हुआ और प्रिटोरियस राष्ट्रपति बनाए गए तब क्रुगर ट्रासवाल की सेना का प्रधान सेनापति बना। १८७० ई० मे ब्रिटिश सरकार के साथ सीमा विवाद आरभ हुआ। इस विवाद मे कीट ने जो निर्णय दिया उससे ट्रासवाल के लोग सतुष्ट न हो सके और यह असतोष इतना बढा कि राष्ट्रपति प्रिटोरियस और उसके दल को पदत्याग करना पडा। उनके स्थान पर जब डच पादरी थामस फ्रैंकायस बर्जर्स राष्ट्रपति हुआ तब क्रुगर ने यथाशक्ति उसके अधिकार की अवमानना करने और उसे नीचा दिखाने का प्रयास किया। यहाँ तक कि उसने बोअर लोगो को बर्जर्स की सरकार के रहते कर न देने के लिये भडकाया। इसका फल यह हुआ कि अप्रैल, १८७७ ई० मे ब्रिटिश सरकार ने उसे अपने अधीन ले लिया।

क्रुगर ने तत्क्षण ब्रिटिश सरकार के अतर्गत काम करना स्वीकार कर लिया किंतु ट्रासवाल की स्वतत्रता पुन स्थापित करने के लिये आदोलन करता रहा। इसके लिये दो बार प्रतिनिधिमडल इग्लैंड गया और दोनों बार क्रुगर उसका सदस्य रहा। फलत १८७८ ई० मे अग्रेज प्रशासक सर थियोफिलस शेपस्टोन ने उसे नौकरी से अलग कर दिया। जब १८८० ई० मे बोअर युद्ध छिडा तब शाति समझौता करनेवाले तीन व्यक्तियो मे यह भी एक था। फलस्वरूप अगस्त, १८८१ ई० मे प्रिटोरिया कन्वेशन मे शाति की शर्तें निर्धारित हुई। १८८३ ई० मे वह राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ और १८८८ ई० मे वह फिर दूसरी बार राष्ट्रपति चुना गया। जब १८८९ ई० मे डाक्टर लीड्स नामक व्यक्ति राज्यमत्री बना और राज्य पर अपना जाति अधिकार का जाल फैलाने लगा तब राष्ट्रपति क्रुगर ने बोअरो के राजनीतिक एकाधिकार का प्रयास आरभ किया। फलत १८९०, १८९१, १८९२ और १८९४ ई० मे मतदाता सबधी कानूनो मे धीरे धीरे इस प्रकार के सशोधन किए कि यूट्लैंडर लोग प्रच्छन्न रूप से मतदान से वचित हो गए। १८९३ ई० मे घोर विरोध के बावजूद क्रुगर तीसरी बार पुन राष्ट्रपति चुना गया।

क्रूज़र (देखिए पृष्ठ २१३)
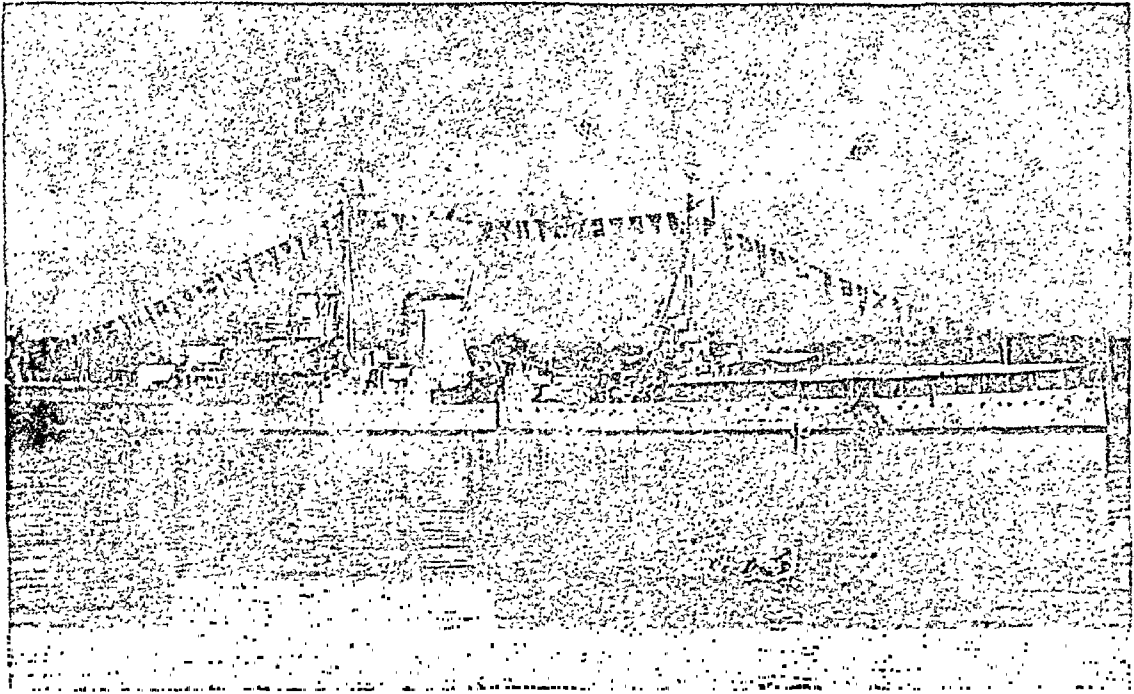
भा० नौ० पो० (I. N. S.) क्रूज़र दिल्ली
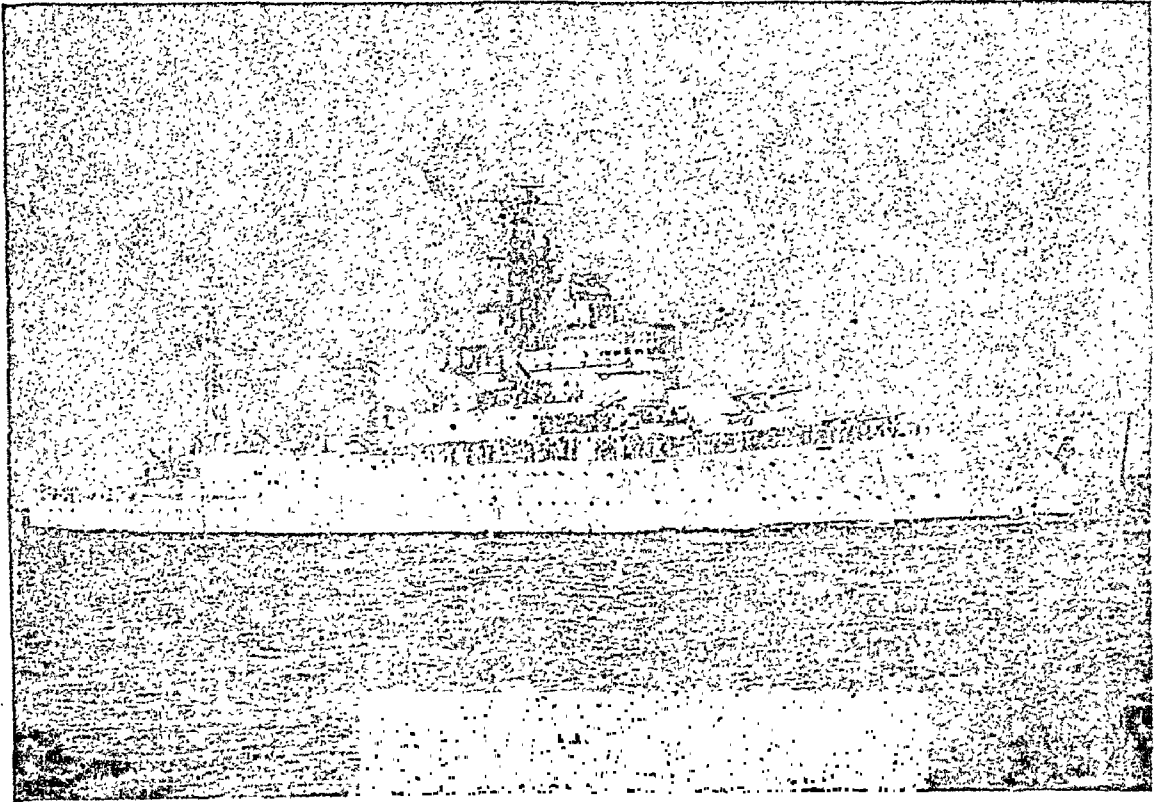
क्रूज़र मैसूर
भारतीय नौसेना का ध्वज पोत
(आर्म्ड फ़ोर्सेज़ इन्फ़ॉर्मेशन आफ़िस के सौजन्य से)

क्रोशिया (देखिए पृष्ठ २२६)
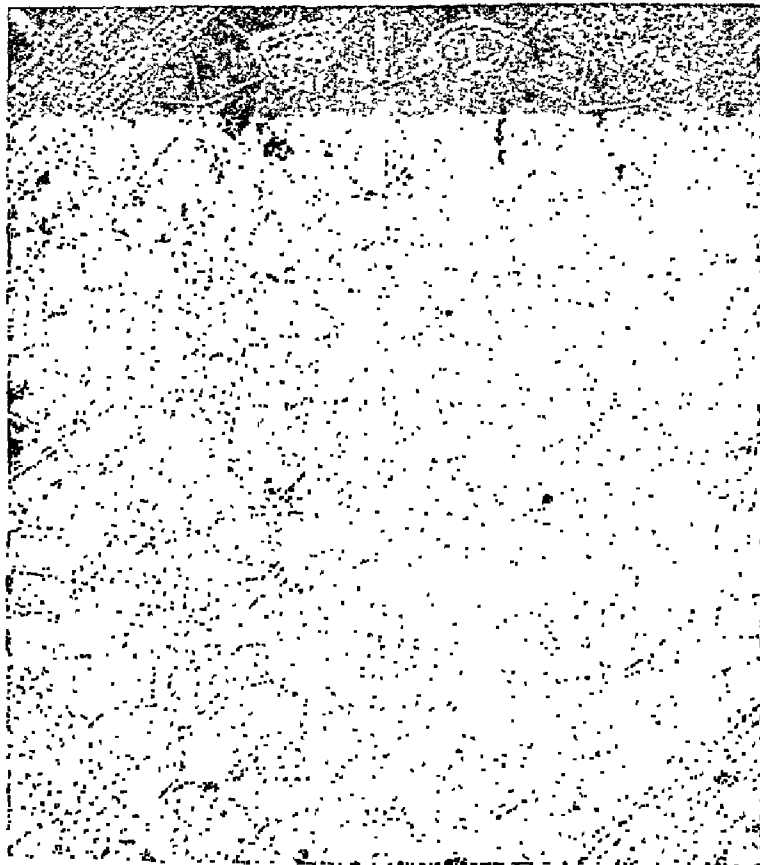
क्रोशिए के काम में बनी झालर का कोना (योरोपीय)
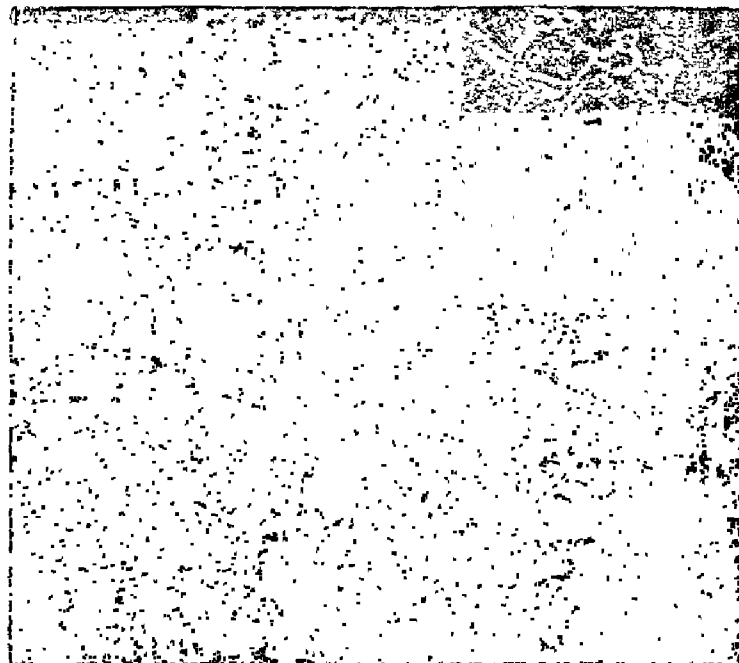
क्रोशिए के काम में बना पर्दा

क्रुगर की नीति सदैव यह रही कि जिस प्रकार भी हो ट्रांसवाल की सीमा का विस्तार किया जाय। इस संबंध में वह इंग्लैंड के साथ जब जब विवाद उठा, कुछ लाभ प्राप्त करता ही रहा।

जब १८९८ ई० में क्रुगर चौथी बार राष्ट्रपति चुना गया तो मतदान एवं अन्य प्रश्नों को लेकर ब्रिटिश हाई कमिश्नर सर अल्फ्रेड मिलनर के साथ वार्तालाप आरंभ हुआ किंतु कोई परिणाम न निकला और १८९९ ई० के अक्तूबर में ट्रांसवाल ने ब्रिटेन को युद्ध के लिये ललकारा। फलस्वरूप ब्रिटिश सेना ने ब्लोमफोंटेन और प्रिटोरिया पर अधिकार कर लिया। क्रुगर अत्यधिक वृद्धावस्था के कारण स्वयं सेना संचालन में असमर्थ था अत: वह अपने मंत्रिमंडल की सहमति से यूरोप के देशों से अपने पक्ष में समर्थन प्राप्त करने वहाँ गया। किंतु इसमें उसे सफलता नहीं मिली।

अंत में वह हालैंड में उट्रेच में बस गया और अपने संस्मरण लिखा। १४ जुलाई, १९०४ ई० को जिनेवा झील के किनारे स्थित क्लेरेंस में उसकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्रुप्स्काया, नादेज्दा कंस्तांतिज्का (१८६९–१९३९ ई०)। लेनिन की सहधर्मिणी और मित्र तथा राष्ट्र और सोवियत कम्यूनिस्ट दल की नेत्री। इनका जन्म एक सैनिक परिवार में पेतरबुर्ग नामक नगर में हुआ था। १८०९ ई० में इन्होंने रूसी क्रांति आंदोलन में सक्रिय भाग लिया। पेतरबुर्ग में लेनिन ने जिस 'मजदूरवर्ग मुक्ति संघर्ष संघ' की स्थापना की थी उसमें क्रुप्स्काया ने १८९५ ई० में योगदान किया। उन्होंने १८९७ से १९०० ई० तक लेनिन के साथ साइबेरिया में निर्वासित जीवन व्यतीत किया। १९०१ ई० में विदेश में रहकर 'ईस्का' (स्फुलिंग), 'व्पिरोद' (आगे की ओर) और 'प्रलितारी' (सर्वहारा) नामक बोलशेविक समाचार पत्रों के संपादकीय विभाग में सचिव का कार्य किया। अप्रैल, १९१८ ई० में रूस लौटने के पश्चात् कम्यूनिस्ट दल की केंद्रीय समिति (बोलशेविक) के कार्यालय में कार्य करती रहीं। १९२७ ई० में कम्यूनिस्ट दल की केंद्रीय समिति की सदस्या चुनी गईं। १९२९ ई० में 'रूसी संघात्मक यूनियन' के शिक्षा विभाग में डिप्टी पीपुल्स कमिश्नर नियुक्त हुईं। जनता की शिक्षा के विषय में ये प्रभावशाली विचारक रही हैं। उन्होंने शिक्षाविज्ञान संबंधी अनेक लेख तथा लेनिन के संस्मरण लिखा है। (शां० ले० स्ते०)

क्रुप एक जर्मन व्यवसायी परिवार जो लोहे के सामान तथा शस्त्रास्त्र तैयार करनेवाले यूरोप के सबसे बड़े और प्रसिद्ध कारखाने का स्वामी रहा। इस परिवार की उन्नति तथा अवनति जर्मनी के राजनीतिक उत्थान तथा पतन से संबंधित रही है। लोहे तथा इस्पात के व्यापार से क्रुप परिवार का संबंध यों तो १६वीं शताब्दी से ही रहा है, किंतु १९वीं तथा २०वीं शताब्दियों में जर्मन इस्पात की उन्नति तथा विश्वव्यापक युद्धों से यह परिवार मुख्यत: संबद्ध था।

इस व्यवसाय के पूर्व संचालकों में फ्रीडरिख क्रुप (१७८७–१८२६ ई०) ने सर्वप्रथम ढला हुआ इस्पात बनाने की चेष्टा की थी। उनकी चेष्टाओं को सफलता नहीं मिली, किंतु जब उनके पुत्र ऐल्फ्रेड (१८१२–१८८७ ई०) ने सन् १८४८ ई० में कारबार सँभाला तब वे इस्पात की ढली तोपें बनाने में सफल हुए और उनका तोपों का व्यवसाय इतना बढ़ा कि वे 'तोपों के राजा' कहलाने लगे। इनके कारखाने ने १८५१ ई० में हुई इंग्लैंड की विराट् प्रदर्शिनी में लगभग ५५ मन (४,००० किलोग्राम) भारवाली इस्पात की निर्दोष ढली हुई सिल का प्रदर्शन कर तत्कालीन उद्योगपतियों को आश्चर्य में डाल दिया था। १८६२ ई० में इस्पात तैयार करने की बेसेमर प्रक्रिया (Bessemer process) नामक रीति का यूरोप में सर्वप्रथम प्रयोग इस कारखाने ने किया। जर्मनी के युद्ध में लगे रहने से तोपें तथा इस्पात की अन्य वस्तुएँ बनाने के कारण इस कारखाने की अतुलनीय उन्नति हुई। ऐल्फ्रेड की मृत्यु के समय उनके कारखाने में २१,००० मनुष्य काम करते थे। जर्मनी की औद्योगिक उन्नति के साथ साथ क्रुप का कारखाना भी अभूतपूर्व उन्नति करता गया।

फ्रीड्रिख ऐल्फ्रेड (१८५४–१९०२ ई०) ने १८९० ई० से कवचपट्ट निर्माण, खानों से धातु निकालने, पोतनिर्माण तथा अन्य कामों के कारखाने स्थापित करना आरंभ किया। रासायनिक तथा भौतिक अनुसंधान के लिये भी उन्होंने एक संस्था स्थापित की जो क्रोम-निकेल-इस्पात संबंधी अनुसंधान के लिये विश्वप्रसिद्ध हुई। फ्रीड्रिख ऐल्फ्रेड की मृत्यु के समय उनके कारखाने में ४३,००० कार्यकर्ता थे। जर्मनी के सम्राट् ने इनकी अंत्येष्टि क्रिया के समय उपस्थित होकर इनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया था।

इनके पश्चात् इनकी पुत्री बर्था मालिक हुई और उन्होंने अपना सब कारबार सन् १९०५ में अपने पति गस्टॉव फ़ान बोहलेन अंड हैलबँख को सौंप दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय तक जर्मनी के अस्त्र शस्त्रों की लगभग सभी आवश्यकताएँ पूरी करनेवाला एकमात्र क्रुप का ही कारखाना था। इस युद्ध की समाप्ति से इस कारखाने को बड़ा धक्का लगा; तब उसने शस्त्रों के स्थान पर रेल के इंजन तथा कृषि के यंत्र तैयार करना आरंभ किया। नात्सी दल तथा हिटलर के अभ्युदय के साथ कारखाने का उत्पादन तथा स्थिति फिर बदली। क्रुप ने हिटलर की धन से सहायता की। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् १९४५ ई० में मित्रराष्ट्रों ने कारखाने को अपने हाथ में ले लिया। क्रुप फ़ॉन बोहलेन पर युद्धापराधी होने का अभियोग लगाया जानेवाला था, किंतु न्यायालय के समुख अपने पक्ष का प्रतिपादन करने में असमर्थ जानकर उन्हें छोड़ दिया गया।

उनके पुत्र ऐल्फ्रीड तथा कारखाने के ११ अधिकारियों पर १९४७ ई० में न्यूरेमबर्ग में मुकदमा चला और ऐल्फ्रीड को १२ वर्ष का कारावास तथा उनकी समस्त संपत्ति के जब्त होने का दंड मिला; किंतु जनवरी, १९५१ ई० में वे छोड़ दिए गए और उनकी संपत्ति जब्ती की आज्ञा भी रद्द कर दी गई। १९५३ ई० में क्रुप को कोयले और इस्पात उत्पादन का कार्य कभी न करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ी; और उन्हें इन उद्योगों के प्रतिकर के स्वरूप लगभग ३३ करोड़ रुपए दिए गए। उनके अन्य उद्योग, जिनका मूल्य ७० करोड़ रुपया आँका जाता है, उन्हें वापस दे दिए गए। (भ० दा० व०)

क्रूज़र नौसेना के उन जलयानों या जहाजों को क्रूज़र कहते हैं जिनकी गति अन्य जहाजों से तेज होती है और उनकी कार्यक्षमता का क्षेत्र काफी विस्तृत होता है। ये कम से कम ईंधन का प्रयोग कर दूर तक जाकर लौटने की क्षमता रखते हैं और पर्याप्त शक्तिशाली तोपों से सुसज्जित और उपयुक्त कवच से सुरक्षित होते हैं। युद्धपोतों की अपेक्षा इनका कवच हल्का और तोपें भी अधिक बड़ी नहीं होतीं; उनकी क्षमता भी उतनी विस्तृत नहीं होती। अत: नौसेना में उनका स्थान युद्धपोतों के बाद ही आता है। ये सँकरे और लंबे होते हैं और युद्धपोतों से जमकर टक्कर लेने में अक्षम होते हैं। साधारणत: इनका उपयोग स्काउटिंग के लिये ही होता है। इनका एकमात्र उद्देश्य अपने शत्रु का पता चलाना, अपने बेड़े को उसकी सूचना देते रहना, शत्रु के वाणिज्यपोतों का नाश करना और अपने वाणिज्यपोतों की रक्षा करना होता है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक संदेशा ले जाने और सुदूर देशों में अपने देश की ध्वजा का प्रदर्शन भी इन्हीं के द्वारा किया जाता है। जहाँ अन्य जहाज साधारणत: झुंडों में जाते हैं वहाँ क्रूजर अकेला या एक छोटी टुकड़ी के साथ समुद्री भागों में भ्रमण करता हुआ प्रहरी का कार्य करता है। इसलिये इन्हें समुद्री बेड़े की आँख कहा जाता है। संदेशवाहन के लिये अब रेडियो का उपयोग होने लगा है, पर अन्य सभी कार्य क्रूज़र ही करता है।

प्राचीन काल में बड़े बड़े वाणिज्यपोतों और छोटे छोटे क्रूज़रों में बहुत कम अंतर होता था। अमरीका ने वाणिज्यपोतों से ही क्रूज़रों का काम लेना प्रारंभ किया था। १९वीं शताब्दी के अंत तक अमरीकी समुद्री बेड़ा उन्हीं से बना था। शांतिकाल में वह अपने छोटे छोटे क्रूज़रों को सुदूर क्षेत्रों में रखता था, जहाँ अमरीकी राष्ट्रध्वज के प्रदर्शन के अतिरिक्त ये अपने वाणिज्यपोतों की संरक्षा का भी भार उठाते थे। पर ऐसे जहाजों से आक्रमण या संरक्षण कर सकना कठिन था। अत: जब १८८३ ई० में अमरीका ने नौसेना का पुनस्संघटन किया तब क्रूज़रों को उनकी तोपों की शक्ति या उनकी युद्ध में ठहर सकने की क्षमता के कारण नहीं,

वरन् उनकी गति के कारण ही महत्व दिया गया। वाष्प इंजनों के आविष्कार के बाद, पालवाले जहाजों के सामने, जिन्हें हमेशा हवा के ही रुख पर निर्भर रहना पड़ता था, इनकी उपादेयता में अपेक्षाकृत वृद्धि हुई साथ ही रणकौशल तथा व्यूहनिर्माण क्षमता में कमी भी आई। कारण, ईंधन के लिए उन्हें उन्हीं बंदरगाहों के समीप रखना आवश्यक हो गया जहाँ कोयला सरलता से उपलब्ध हो सकता था।

जहाँतक युद्धपोतों की घातक तथा सहन शक्ति में दिनोंदिन वृद्धि की जाती रही है वहाँ क्रूज़रों के निर्माण में ऐसी किसी भी नीति का अनुसरण नहीं किया गया। केवल उनकी नाप, उनके तोपों के गोलों की नाप तथा संख्या, उनके संरक्षण कवच और उनकी गति में उलटफेर किए जाते रहे हैं।

एक समय था जब सभी राष्ट्र १४,००० टन विस्थापन (displacement) के ही क्रूज़र बनाते थे। बाद में केवल ४,००० टन के क्रूज़र बनने लगे और फिर थोड़े ही समय बाद पुनः ६८,००० टन विस्थापन के बनाए जाने लगे। इसका कारण मात्र यह है कि यह निश्चित ही नहीं है कि क्रूज़र कैसा होना चाहिए। समय समय पर नौसेना की आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं फलतः उनमें इच्छित परिवर्तन या सुधार कर दिए जाते हैं। शत्रु की शक्ति को देखकर जर्मन ड्रेडनॉट (Dreadnought) के उत्तर में ब्रिटेन ने इन्विंसिबुल (Invincible), इन्फ्लेक्सिबुल (Inflexible) और इन्डौमिटेबुल (Indomitable) नामक युद्ध-क्रूज़रों का निर्माण किया, जिनका विस्थापन १७,२५० टन था। इनमें आठ बारह इंची तथा सोलह चार इंची तोपें टॉरपिडो पोतों का सामना करने के लिये और साथ ही तीन अठारह इंची पानी में डूबी हुई टारपिडो नलिकाएँ (tubes) भी थीं। संरक्षण कवच के रूप में जो कुप इस्पात काम में लाया गया था वह मध्य से तो २ इंच मोटा और सिरों तक ४ इंच मोटा होता था। छत पर भी ३ इंच की मोटी चादर थी और तोप-शिखरिका (turret) पर १० इंच मोटे इस्पात का प्रयोग होता था। इनमें लगे हुए टरबाइन चालक ४१,००० अश्वबल के थे जिनके कारण इनका महत्तम वेग २५ नॉट्स (१ नॉट = १.८५ किलोमीटर प्रति घंटा) तक संभव था। इनके उदर (bunker) में ३,००० टन कोयला रख सकने की क्षमता थी। यह उस तेल के अतिरिक्त थी जो कोयले में छिड़का जाता था। महत्तम वेग से जाते हुए इन क्रूज़रों में ५०० टन कोयला और १२५ टन तेल प्रति दिन जलता था। इनके मुकाबले में जर्मनों के ब्लूचर क्रूज़र थे, जिनका विस्थापन १५,५०० टन था और जिनका वेग २४½ नॉट्स था। उनमें कितनी ही छोटी तोपों के अतिरिक्त, बारह ८.२ इंची और आठ ५.८ इंची तेज गति की तोपें थीं। इसलिये जर्मनों ने २४,३५० टन विस्थापन वाले दो स्लिड्लिट्ज तथा दर्फ्लिङ्गर क्रूज़रों का निर्माण किया, जिनका वेग २७ नॉट और जिनकी आक्रमण क्षमता दस ११ इंची, बारह ५.९ इंची तथा बारह ३.८ इंची तोपों और पाँच टारपिडो नलिकाओं से मालूम पड़ती थी।

इस प्रकार क्रूज़रों के विशालकाय होने पर जापान ने भी कौंगो (Congo) तथा अन्य तीन क्रूज़र बनाए। कौंगो २८,००० टन का था और उसमें आठ १४ इंची, सोलह ६ इंची, सोलह ३ इंची तोपें और आठ टारपीडो नलिकाएँ भी थीं। २७ नॉट वेगवाले ये क्रूज़र ४,००० टन कोयला तक अपने गर्भ में ले जाने की क्षमता रखते थे।

प्रथम विश्वयुद्ध में संरक्षण कवच की कमी के कारण ब्रिटिश बेड़े के कितने ही जलयान समुद्र के गर्भ में समा गए। अतः ब्रिटिश ऐडमिरैल्टी ने ४२,१०० टनवाले हुड (Hood) का निर्माण किया, जिनका वेग था ३१ नॉट और जिसमें आठ १५ इंची एवं कितनी ही और तोपें लगी थीं। धीरे धीरे उत्तम रीति से कवचित (armoured) ऐसे क्रूज़रों का प्रादुर्भाव हुआ जो युद्धपोतों से टक्कर ले सकें। इसके साथ ही यह भी आवश्यक हुआ कि गोलों की मोटाई (calibre) में नहीं बल्कि उन्हें फेंकने की गति में भी वृद्धि हो। चार शिखरिकाओं के लिये आठ या बारह ६ इंची या १२ इंची तोपें पर्याप्त थीं। साथ ही युद्धपोतों से इनकी गति १०-१५ प्रतिशत तेज होना भी जरूरी था। तात्पर्य यह कि क्रूज़रों में आक्रमण शक्ति की दृष्टि से बारह ६.५ इंच की और ५ इंच की सोलह तोपों का होना आवश्यक माना गया। इनके कवच का डेक में ६ इंच, कमर (belt) में ८ इंच और शिखरिका में १० इंच मोटा होना भी आवश्यक जान पड़ा। यह भी अनुभव किया गया कि उनका वेग ३५ नॉट और कार्यक्षेत्र (radius of action) १५,००० मील हो।

१९२२ ई० की वाशिंगटन संधि में निश्चय किया गया कि क्रूज़रों का कवच ८ इंच का और उनका विस्थापन १०,००० टन से अधिक नहीं होना चाहिए। निदान १९३०–३७ ई० तक अमरीका ने इसी मान के सोलह जहाज बनाए पर वे सफल सिद्ध नहीं हुए। तब ऐल्यूमिनियम का प्रयोग होने लगा और साथ ही दस ८ इंची तोपों के अतिरिक्त चार ५ इंची वायुयान विध्वंसी (anti-aircraft) तोपें और छह २१ इंची टारपिडो नलिकाएँ भी आवश्यक मानी गई। इनके इंजनों का अश्वबल १,०७,००० और इनका वेग ३२.७ नॉट ठहराया गया। इस समय ब्रिटेन के पास १०,००० टन के ८ तोपोंवाले १३ जहाज थे, जिनका वेग औसतन ३१ नॉट था। द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका ने वॉरसेस्टर (Worcester) ढंग के हलके १४,७०० टन विस्थापनवाले क्रूज़रों का निर्माण किया, जिनमें १२ द्विधर्मी (double purpose) और छह अन्य तोपें थीं एवं छह तोपें शिखरिकाओं में लगाई गई थीं। साथ ही तीन भारी क्रूज़र भी बनाए जिनमें स्वचालित तीव्र गतिवाली तोपों के साथ ही आठ इंची तोपें भी लगी थीं। हाथ से चलाई जानेवाली तोपों की अपेक्षा स्वचालित तोपें चौगुनी शीघ्रता से काम करती हैं। इन तोपों के अतिरिक्त ३२ अन्य तोपें और २० मिलिमीटर की कई मशीनगनें भी उनमें लगी थीं। उनका वेग ३० नॉट था। अब तो अमरीका ने चालित (guided) टेरियर (Terrier) प्रक्षेपास्त्रों (missiles) से सुसज्जित क्रूज़र भी तैयार किए हैं। यू० एस० एस० कैनबरा इसी ढंग का क्रूज़र है, जो अपनी सौहार्द्र भावना लेकर भारतीय बंदरगाह कोचीन में सन् १९६० में आया था।

भारतीय नौसेना का इतिहास सन् १६१२ ई० से प्रारंभ होता है। उस समय ईस्ट इंडिया कंपनी ने इंडियन मैरिन की स्थापना की और सन् १६८६ ई० में इसी का नाम बंबई मैरीन कर दिया गया। सन् १८९२ में इसको रायल इंडियन मैरीन के नाम से विभूषित किया गया। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद ५ जुलाई, सन् १९४८ में भारत ने ग्रेट ब्रिटेन से पहला क्रूज़र 'दिल्ली' खरीदा, जिसका पुराना नाम एच० एम० एस० एकिलिस था। उसने द्वितीय महायुद्ध में जर्मन बेड़े को हराया था। इसका विस्थापन ७,०३० टन (पूरे वजन के साथ ९,७४० टन), लंबाई ५०० फुट से अधिक और कवच एक इंच से चार इंच तक मोटा है। इसमें छह ६ इंची, आठ ४ इंची और पंद्रह ४० मि० मी० की वायुयान विध्वंसक तोपें तथा आठ २१ इंची नलिकाएँ लगी हुई हैं।

२९ दिसंबर, १९५७ ई० को भारतीय नौसेना ने एक दूसरा क्रूज़र (जो 'नाइजीरिया' के नाम से प्रसिद्ध था) ग्रेट ब्रिटेन से खरीदा। तभी 'मैसूर' जहाज को भारतीय नौसेना का ध्वजपोत बना दिया गया। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में यह हमारी शक्ति और हमारी कार्यक्षमता का ही प्रतीक नहीं है, वरन् हमारे देश के गौरव को भी इंगित करता है। 'मैसूर' का विस्थापन ८,७०० टन (पूरे भार के साथ ११,०४० टन) है और लंबाई ५५० फुट के लगभग। इसकी तोपें अधिक वेगवाली तथा चौड़ी हैं। (गो० ब० प०)

क्रूस, क्रूसदंड रोम में विद्रोहियों और घोर अपराधी दासों को दंड देने का एक साधन। अपराधी को पहले कोड़ों से मारा जाता, इसके बाद उसे अपने क्रूस (आड़ी और खड़ी लकड़ी से बनी टिकठी) अथवा उसकी आड़ी लकड़ी को प्राणदंड के स्थान पर ले जाने के लिये बाध्य किया जाता था। वहाँ पहुँचकर जल्लाद अपराधी को भूमि पर लिटाकर उसकी फैली हुई भुजाओं को क्रूस की आड़ी लकड़ी पर रखकर कीलों से ठोंकता था अथवा रस्सी से बाँध देता था। इसके बाद अपराधी सहित उस आड़ी लकड़ी को क्रूस की खड़ी लकड़ी अथवा खूँटे में जोड़ देते थे तथा अपराधी के पैरों को कीलों से ठोंककर अथवा रस्सी से बाँधकर क्रूस के खड़े खूँटे पर जकड़ देते थे। अपराधी प्यास, भूख तथा पीड़ा सहता रहता था और कभी कभी रात में खूँखार जानवरों से भी सताया जाता था। इस तरह असीम वेदना झेल झेलकर उसे मृत्यु की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।

कभी कभी अपराधी को क्रूस पर चढ़ाने के बाद जल्लाद उसकी हड्डियाँ मार मारकर तोड़ते थे। क्रूस की मृत्यु इतनी अपमानजनक समझी जाती थी कि रोमी-नागरिकता-प्राप्त व्यक्तियों के लिये इस प्रकार का दंड वर्जित था। सम्राट् कोंस्तांतिनस ने अपने राज्यकाल के अंतिम दिनों में क्रूस दंड उठा दिया।

ईसामसीह को भी क्रूस पर चढ़ाया गया था इस कारण ईसाइयों का विश्वास रहा है कि मनुष्य जाति के पापों के प्रायश्चित्त के लिये उन्होंने क्रूस का दंड स्वीकार किया। किंतु अपराधियों को क्रूस की घृणित मृत्यु मरते देखकर कदाचित् ईसाइयों को अपने आराध्य को क्रूस पर चित्रित करने में संकोच हुआ होगा। संभवतः इसी कारण प्रारंभिक तीन शताब्दियों के क्रूसदंडित ईसा के केवल तीन ही चित्र मिले हैं। इसी प्रकार चौथी शताब्दी के पूर्व के केवल क्रूस के चित्र भी कम ही मिलते हैं। कैटाकूंब्स अर्थात् रोम की ईसाई कब्रों के तहखानों में दूसरी-तीसरी शताब्दी के कुल मिलाकर लगभग २० क्रूस के ही चित्र मिले हैं। इनमें क्रूस का स्वरूप अनेक प्रकार का है, यथा—

सम्राट् कोंस्तांतिनस के समय (सन् ३०७–३३७ ई०) से क्रूस विजय का चिह्न माना जाने लगा। चौथी शताब्दी के अंत तक ईसाइयों का दृढ़ विश्वास बन गया कि ईसा का क्रूस येरुसलेम में मिल गया है। और ईसा के इस क्रूस के छोटे छोटे टुकड़ों (तबर्रुक) की सर्वत्र पूजा होने लगी। क्रूस की इस भक्ति के कारण क्रूसदंडित ईसा के चित्रों का निर्माण व्यापक रूप से होने लगा। परवर्ती ईसाई कला में ईसा का क्रूसदंड लोकप्रिय विषय रहा है। इसी प्रकार क्रूसमूर्तियों (क्रूसिफिक्स) अर्थात् क्रूस पर ठोंके हुए ईसा की मूर्तियों का भी प्रचलन हुआ।

द्वितीय शताब्दी से ईसाई पुरोहित धर्मसंस्कारों में हाथ से दो आड़ी खड़ी लकीरें खींचकर क्रूस का चिह्न (साइन ऑव दि क्रॉस) बनाते चले आ रहे हैं। ईसाई विश्वासी भी धर्मक्रियाओं के समय अपने माथे पर अँगूठे से क्रूस का चिह्न बना लेते रहे। आजकल प्रत्येक धार्मिक क्रिया के पूर्व ईसाई माथे पर से छाती तक तथा छाती की बाईं ओर से दाहिनी ओर तक दाहिना हाथ ले जाकर अपने ऊपर क्रूस का चिह्न बनाते हैं। इस क्रिया को ईसाई धर्म में अंगन्यास कहा जा सकता है। (का० बु०)

क्रूसीफ़ेरी द्विदल वनस्पतियों का एक जगद्व्यापी कुल। इसके प्रतिनिधि विशेषतः उत्तरी समशीतोष्ण एवं भूमध्यसागरीय भूभागों में अधिक पाए जाते हैं। इसमें लगभग १,९०० उपजातियों की तथा प्रायः सभी क्षुप (कोई कोई गुल्मक) श्रेणी की वनस्पतियाँ हैं। इनमें कुछ वर्षायु, परंतु अधिकांश शाकीय, बहुवर्षायु होती हैं। ये प्रति वर्ष नवीन होकर उत्पन्न होती रहती हैं। किसी में खाद्य पदार्थों के संचय के कारण मूल कांड एवं पत्रादि स्थूल और मांसल होते हैं। यह कुल अहिफेन कुल (Papaveraceae) और करीर कुल (Capparidaceae) से कुछ मिलता जुलता है, परंतु निम्नांकित लक्षणों से युक्त इसका वैशिष्ट्य स्पष्ट होता है।

पत्तियाँ प्रायः एकांतर (alternate), अनुपपत्र और एककोणी, सशाख, या निःशाख एवं रोमों से युक्त होती हैं। पुष्पमंजरी एकवर्ध्यक्ष (raceme) अथवा समशिख (corymb) होती है और निपत्र तथा निपत्रक प्रायः सर्वदा अनुपस्थित पाए जाते हैं। पुष्प उभयलिंगी, नियताकार और अधोजाय (hypogynous) होते हैं, जिनका पुष्पसूत्र $K_2+2C_4A_2+4G(2)$ होता है। [यहाँ के K_2 = कैलिक्स (Calyx, बाह्यदल पुंज); C = कोरोला (Corolla, दलपुंज); A = एंड्रोसियम Androecium; पुमंग) G = गाइनासियम (Gynaecium, जायांग)]।

बाह्य दलपुंज (Calyx) में चार स्वतंत्र बाह्यदल दो चक्रों अर्थात् दो पार्श्वीय धरातल के भीतरी चक्रों, में स्थित रहते हैं। दलपुंज (corolla) में चार स्वतंत्र दल एक ही चक्र में और विकर्ण समतलों (diagonal planes) में निकलते हैं। ये दल कलाई के आकार के, अर्थात् नीचे पतले और ऊपर चौड़े, तथा समकोण पर मुड़कर बाहर की ओर फैले रहते हैं। इनकी इस स्वस्तिक आकृति के कारण ही इस कुल का नाम क्रूसीफ़ेरी पड़ा है। पुमंग (Androecium) छह पुंकेसरों का होता है। इसे चतुर्दीर्घक (tetradynamous) कहते हैं, क्योंकि पुंकेसरों में दो छोटे, पार्श्वीय समतल और बाहरी चक्र में, तथा चार बड़े, मध्य समतल और भीतरी चक्र में, रहते हैं। इनके परागकोश (anthers) अंतर्मुख (introrse) होते हैं। जायांग (Gynaecium) मध्य धरातल में परस्पर संयुक्त दो स्त्रीकेसरों का होता है। अंडाशय द्विगह्वर, परंतु जरायुन्यास (placentation) भित्तिलग्न (parietal) होता है। दोनों ओर के जरायु भीतर की ओर क्रमशः बढ़कर एक पतला परदा बना लेते हैं, जिसे रेप्लम (Replum, कूटपटी) कहते हैं। अंडाशय में बीजांड (ovules) अधोमाव (anatropous) अथवा वक्रावत (campylotropous) होते हैं। दूसरे प्रकार के बीजांडों से बने हुए बीजों में भ्रूण और भ्रूणकोष इस तरह व्यवस्थित होते हैं कि मूलांकुर (radicle) बीज के एक भाग में और बीजपत्र (Cotyledons) दूसरे भागों में रहते हैं। दोनों जरायुज-संधियों के ठीक ऊपर दो वर्तिकाग्र (stigma) और इनके नीचे छोटी वर्तिका (style) होती है।

परागण प्रायः कीटों द्वारा होता है। पुंकेसरों के मूल के पास मधुकोश होते हैं, जिनसे मधु स्रवित होकर पार्श्वीय बाह्यदलों के पुटाकार (saccate) आधार भागों में एकत्र होता है। पृथक्पक्वता (dichogamy) आदि अनुकूल अवस्थाओं के कारण कीटादिकों द्वारा अपर परागण होता रहता है, परंतु सभी में अंततः स्वयं परागण भी अनिवार्य रूप से होता है।

फल शिंबितुल्य (फली समान) और स्फोटी (dehiscent) होते हैं। मोटाई अथवा चौड़ाई के लगभग तीन गुना या अधिक लंबा होने पर इन्हें सिलिक्वा (Siliqua) और छोटा होने पर सिलिकुला (Silicula) कहते हैं। पकने और सूखने पर फलावरण (pericarsp) दोनों संधियों पर नीचे से फटता हुआ दो भागों में पृथक् हो जाता है और दोनों जरायु, उनसे संबद्ध बीज और बीज की अंतर्भित्ति सब एक साथ बीच में रह जाती हैं। फल बेलनाकार अथवा चिपटा, कभी बीजों के बीच बीच में संकुचित, कभी अस्फोटी एवं एकबीज और कभी मूंगफली की तरह भौमिक भी होता है। चिपटा होने पर फल का चिपिट पार्श्व अंतर्भित्ति के समांतर, या उससे समकोण पर, होता है। बीज अभ्रूणपोषी (nonendospermic) और बीजकवच (tasta) प्रायः क्लेद (muscilage) युक्त होता है, जिससे भीगने पर ये लसलसे हो जाते हैं। फल, बीज, गर्भ एवं गर्भकोश आदि के उपर्युक्त लक्षण कुलांतर्गत वंशों (genera) के पृथक्करण में बहुत उपयोगी होते हैं।

उपयोगिता की दृष्टि से इस कुल की समस्त वनस्पतियाँ उल्लेखनीय हैं। इनमें सरसों, राई, मूली, तीनों प्रकार की गोभी और सलजम खाद्योपयोगी, चनसुर, खाकसीर, तोदरी, स्कर्वी घास और हॉर्स रैडिश चिकित्सोपयोगी तथा वाल फ्लावर, मैथिओला, नैस्टर्शियम तथा कैंडीटफ्ट सौंदर्यार्थ उद्यानोपयोगी होते हैं। इस कुल की वनस्पतियों में प्रायः गंधक के यौगिक पाए जाते हैं। इनके कारण अवस्थाविशेष में दुर्गंध उत्पन्न होती है। स्कर्वी आदि कुछ रोगों में ये वनस्पतियाँ उपयोगी मानी जाती हैं। (ब० सि०)

क्रूसेड (देखिए ईसाई धर्मयुद्ध)।

क्रूसेन स्टर्न, आदम इवान (१७७०–१८४६ ई०)। रूसी नाविक और समुद्रान्वेषक। हग्गद (एस्टोनिया) में १९ नवंबर, १७७० ई० को जन्म। रूसी नौसेना में कार्य प्रारंभ करने के बाद अंग्रेजी नौसेना में काम करने के लिये भेजा गया जहाँ वह १७९३ से ९९ ई० तक रहा। इस अवधि में उसने अमरीका, चीन और भारत की यात्रा की। लौटकर उसने रूस और चीन के बीच केपहार्न और केप ऑव गुड होप के रास्ते सीधी यातायात के लाभ पर एक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित किया। फलस्वरूप उसे ही इस अभियान का भार दिया गया। यह दो जहाजों

वरन् उनकी गति के कारण ही महत्व दिया गया। वाष्प इंजनों के आविष्कार के बाद, पालवाले जहाजों के सामने, जिन्हें हमेशा हवा के ही रुख पर निर्भर रहना पड़ता था, इनकी उपादेयता में अपेक्षाकृत वृद्धि हुई साथ ही रणकौशल तथा व्यूहनिर्माण क्षमता में कमी भी आई। कारण, ईंधन के लिए उन्हें उन्हीं बंदरगाहों के समीप रखना आवश्यक हो गया जहाँ कोयला सरलता से उपलब्ध हो सकता था।

जहाँतक युद्धपोतों की घातक तथा सहन शक्ति में दिनोंदिन वृद्धि की जाती रही है वहाँ क्रूजरों के निर्माण में ऐसी किसी भी नीति का अनुसरण नहीं किया गया। केवल उनकी नाप, उनके तोपों के गोलों की नाप तथा संख्या, उनके संरक्षण कवच और उनकी गति में उलटफेर किए जाते रहे हैं।

एक समय था जब सभी राष्ट्र १४,००० टन विस्थापन (displacement) के ही क्रूजर बनाते थे। बाद में केवल ४,००० टन के क्रूजर बनने लगे और फिर थोड़े ही समय बाद पुनः ६८,००० टन विस्थापन के बनाए जाने लगे। इसका कारण मात्र यह है कि यह निश्चित ही नहीं है कि क्रूजर कैसा होना चाहिए। समय समय पर नौसेना की आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं फलतः उनमें इच्छित परिवर्तन या सुधार कर दिए जाते हैं। शत्रु की शक्ति को देखकर जर्मन ड्रेडनॉट (Dreadnought) के उत्तर में ब्रिटेन ने इन्विसिबुल (*Invincible*), इन्फ्लेक्सिबुल (Inflexible) और इन्डोमिटेबुल (Indomitable) नामक युद्ध-क्रूजरों का निर्माण किया, जिनका विस्थापन १७,२५० टन था। इनमें आठ बारह इंची तथा सोलह चार इंची तोपें टॉरपिडो पोतों का सामना करने के लिये और साथ ही तीन अठारह इंची पानी में डूबी हुई *टारपिडो नलिकाएँ (tubes) भी थी।* संरक्षण कवच के रूप में जो कुप इस्पात काम में लाया गया था वह मध्य में तो २ इंच मोटा और सिरों तक ४ इंच मोटा होता था। छत पर भी ३ इंच की मोटी चादर थी और तोप-शिखरिका (turret) पर १० इंच मोटे इस्पात का प्रयोग होता था। इनमें लगे हुए टरबाइन चालक ४१,००० अश्वबल के थे जिनके कारण इनका महत्तम वेग २५ नॉट्स (१ नॉट = १.८५ किलोमीटर प्रति घंटा) तक संभव था। इनके उदर (bunker) में ३,००० टन कोयला रख सकने की क्षमता थी। यह उस तेल के अतिरिक्त थी जो कोयले में छिड़का जाता था। महत्तम वेग से जाते हुए इन क्रूजरों में ५०० टन कोयला और १२५ टन तेल प्रति दिन जलता था। इनके मुकाबले में जर्मनों के ब्लूचर क्रूजर थे, जिनका विस्थापन १५,५०० टन था और जिनका वेग २४½ नॉट्स था। उनमें कितनी ही छोटी तोपों के अतिरिक्त, बारह ८.२ इंची और आठ ५.८ इंची तेज गति की तोपें थीं। इसलिये जर्मनों ने २४,३५० टन विस्थापन वाले दो स्लिड्लिट्ज तथा दर्फलिङ्गर क्रूजरों का निर्माण किया, जिनका वेग २७ नॉट और जिनकी आक्रमण क्षमता दस ११ इंची, बारह ५.९ इंची तथा बारह ३.८ इंची तोपों और पाँच टारपिडो नलिकाओं से मालूम पड़ती थी।

इस प्रकार क्रूजरों के विशालकाय होने पर जापान ने भी कौंगो (Congo) तथा अन्य तीन क्रूजर बनाए। कौंगो २८,००० टन का था और उसमें आठ १४ इंची, सोलह ६ इंची, सोलह ३ इंची तोपें और आठ टारपीडो नलिकाएँ भी थीं। २७ नॉट वेगवाले ये क्रूजर ४,००० टन कोयला तक अपने गर्भ में ले जाने की क्षमता रखते थे।

प्रथम विश्वयुद्ध में संरक्षण कवच की कमी के कारण ब्रिटिश बेड़े के कितने ही जलयान समुद्र के गर्भ में समा गए। अतः ब्रिटिश ऐडमिरैल्टी ने ४२,१०० टनवाले हुड (Hood) का निर्माण किया, जिनका वेग था ३१ नॉट और जिसमें आठ १५ इंची एवं कितनी ही और तोपें लगी थीं। धीरे धीरे उत्तम रीति से कवचित (armoured) ऐसे क्रूजरों का प्रादुर्भाव हुआ जो युद्धपोतों से टक्कर ले सकें। इसके साथ ही यह भी आवश्यक हुआ कि गोलों की मोटाई (calibre) में नहीं बल्कि उन्हें फेंकने की गति में भी वृद्धि हो। चार शिखरिकाओं के लिये आठ या बारह ६ इंची या १२ इंची तोपें पर्याप्त थीं। साथ ही युद्धपोतों से इनकी गति १०-१५ प्रतिशत तेज होना भी जरूरी था। तात्पर्य यह कि क्रूजरों में आक्रमण शक्ति की दृष्टि से बारह ६.५ इंच की और ५ इंच की सोलह का होना आवश्यक माना गया। इनके कवच का डेक में ६ इंच, कमर (belt) में ८ इंच और शिखरिका में १० इंच मोटा होना भी आवश्यक जान पड़ा। यह भी अनुभव किया गया कि उनका वेग ३५ नॉट और कार्यक्षेत्र (radius of action) १५,००० मील हो।

१९२२ ई० की वाशिंगटन संधि में निश्चय किया गया कि क्रूजरों का कवच ८ इंच का और उनका विस्थापन १०,००० टन से अधिक नहीं होना चाहिए। निदान १९३०–३७ ई० तक अमरीका ने इसी मान के सोलह जहाज बनाए पर वे सफल सिद्ध नहीं हुए। तब ऐल्यूमिनियम का प्रयोग होने लगा और साथ ही दस ८ इंची तोपों के अतिरिक्त चार ५ इंची वायुयान विध्वंसी (anti-aircraft) तोपें और छह २१ इंची टारपिडो नलिकाएँ भी आवश्यक मानी गईं। इनके इंजनों का अश्वबल १,०७,००० और इनका वेग ३२.७ नॉट ठहराया गया। इस समय ब्रिटेन के पास १०,००० टन के ८ तोपोंवाले १३ जहाज थे, जिनका वेग औसतन ३१ नॉट था। द्वितीय महायुद्ध के बाद अमरीका ने वॉरसेस्टर (Worcester) ढंग के हलके १४,७०० टन विस्थापनवाले क्रूजरों का निर्माण किया, जिनमें १२ द्विधर्मी (double purpose) और छह अन्य तोपें थीं एवं छह तोपें शिखरिकाओं में लगाई गई थीं। साथ ही तीन भारी क्रूजर भी बनाए जिनमें स्वचालित तीव्र गतिवाली तोपों के साथ ही आठ इंची तोपें भी लगी थीं। हाथ से चलाई जानेवाली तोपों की अपेक्षा स्वचालित तोपें चौगुनी शीघ्रता से काम करती हैं। इन तोपों के अतिरिक्त ३२ अन्य तोपें और २० मिलिमीटर की कई मशीनगनें भी उनमें लगी थीं। उनका वेग ३० नॉट था। अब तो अमरीका ने चालित (guided) टेरियर (Terrier) प्रक्षेपास्त्रों (missiles) से सुसज्जित *क्रूजर भी तैयार किए हैं। यू० एस० एस० कैनबरा इसी ढंग का क्रूजर है,* जो अपनी सौहार्द्र भावना लेकर भारतीय बंदरगाह कोचीन में सन् १९६० में आया था।

भारतीय नौसेना का इतिहास सन् १६१२ ई० से प्रारंभ होता है। उस समय ईस्ट इंडिया कंपनी ने इंडियन मैरिन की स्थापना की और सन् १६८६ ई० में इसी का नाम बंबई मैरीन कर दिया गया। सन् १८९२ में इसको रायल इंडियन मैरीन के नाम से विभूषित किया गया। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद ५ जुलाई, सन् १९४८ में भारत ने ग्रेट ब्रिटेन से पहला क्रूजर 'दिल्ली' खरीदा, जिसका पुराना नाम एच० एम० एस० एकिलेस था। उसने द्वितीय महायुद्ध में जर्मन बेड़े को हराया था। इसका विस्थापन ७,०३० टन (पूरे वजन के साथ ९,७४० टन), लंबाई ५०० फुट से अधिक और कवच एक इंच से चार इंच तक मोटा है। इसमें छह ६ इंची, आठ ४ इंची और पंद्रह ४० मि० मी० की वायुयान विध्वंसक तोपें तथा आठ २१ इंची नलिकाएँ लगी हुई हैं।

२९ दिसंबर, १९५७ ई० को भारतीय नौसेना ने एक दूसरा क्रूजर (जो 'नाइजीरिया' के नाम से प्रसिद्ध था) ग्रेट ब्रिटेन से खरीदा। तभी 'मैसूर' जहाज को भारतीय नौसेना का ध्वजपोत बना दिया गया। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में यह हमारी शक्ति और हमारी कार्यक्षमता का ही प्रतीक नहीं है, वरन् हमारे देश के गौरव को भी इंगित करता है। 'मैसूर' का विस्थापन ८,७०० टन (पूरे भार के साथ ११,०४० टन) है और लंबाई ५५० फुट के लगभग। इसकी तोपें अधिक वेगवाली तथा चौड़ी हैं। (गो० व० पं०)

क्रूस, क्रूसदंड रोम में विद्रोहियों और घोर अपराधी दासों को दंड देने का एक साधन। अपराधी को पहले कोड़ों से मारा जाता; इसके बाद उसे अपने क्रूस (आड़ी और खड़ी लकड़ी से बनी टिकठी) अथवा उसकी आड़ी लकड़ी को प्राणदंड के स्थान पर ले जाने के लिये बाध्य किया जाता था। वहाँ पहुँचकर जल्लाद अपराधी को भूमि पर लिटाकर उसकी फैली हुई भुजाओं को क्रूस की आड़ी लकड़ी पर रखकर कीलों से ठोंकता था अथवा रस्सी से बाँध देता था। इसके बाद अपराधी सहित उस आड़ी लकड़ी को क्रूस की खड़ी लकड़ी अथवा खूँटे से जोड़ देते थे तथा अपराधी के पैरों को कीलों से ठोककर अथवा रस्सी से बाँधकर क्रूस के खड़े खूँटे पर जकड़ देते थे। अपराधी प्यास, भूख तथा पीड़ा सहता रहता था और कभी कभी रात में खूँखार जानवरों से भी सताया जाता था। इस तरह असीम वेदना झेल झेलकर उसे मृत्यु की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।

कभी कभी अपराधी को क्रूस पर चढ़ाने के बाद जल्लाद उसकी हड्डियाँ मार मारकर तोड़ते थे। क्रूस की मत्यु इतनी अपमानजनक समझी जाती थी कि रोमी-नागरिकता-प्राप्त व्यक्तियों के लिये इस प्रकार का दंड वर्जित था। सम्राट् कोंस्तांतिनस ने अपने राज्यकाल के अंतिम दिनों में क्रूस दंड उठा दिया।

ईसामसीह को भी क्रूस पर चढ़ाया गया था इस कारण ईसाइयों का विश्वास रहा है कि मनुष्य जाति के पापों के प्रायश्चित्त के लिये उन्होंने क्रूस का दंड स्वीकार किया। किंतु अपराधियों को क्रूस की घृणित मत्यु मरते देखकर कदाचित् ईसाइयों को अपने आराध्य को क्रूस पर चित्रित करने में संकोच हुआ होगा। संभवत: इसी कारण प्रारंभिक तीन शताब्दियों के क्रूसदंडित ईसा के केवल तीन ही चित्र मिले है। इसी प्रकार चौथी शताब्दी के पूर्व के केवल क्रूस के चित्र भी कम ही मिलते है। कैटाकूंस अर्थात् रोम की ईसाई कब्रों के तहखानों में दूसरी-तीसरी शताब्दी के कुल मिलाकर लगभग २० क्रूस के ही चित्र मिले हैं। इनमें क्रूस का स्वरूप अनेक प्रकार का है, यथा—

सम्राट् कोंस्तांतिनस के समय (सन् ३०७-३३७ ई०) से क्रूस विजय का चिह्न माना जाने लगा। चौथी शताब्दी के अंत तक ईसाइयों का दृढ़ विश्वास बन गया कि ईसा का क्रूस येरुसलेम में मिल गया है। और ईसा के इस क्रूस के छोटे छोटे टुकड़ों (तबर्रुक) की सर्वत्र पूजा होने लगी। क्रूस की इस भक्ति के कारण क्रूसदंडित ईसा के चित्रों का निर्माण व्यापक रूप से होने लगा। परवर्ती ईसाई कला में ईसा का क्रूसदंड लोकप्रिय विषय रहा है। इसी प्रकार **क्रूसमूर्तियों** (क्रूसिफिक्स) अर्थात् क्रूस पर ठोके हुए ईसा की मूर्तियों का भी प्रचलन हुआ।

द्वितीय शताब्दी से ईसाई पुरोहित धर्मसंस्कारों में हाथ से दो आड़ी खड़ी लकीरें खींचकर क्रूस का चिह्न (साइन ऑव दि क्रॉस) बनाते चले आ रहे हैं। ईसाई विश्वासी भी धर्मक्रियाओं के समय अपने माथे पर अँगूठे से क्रूस का चिह्न बना लेते रहे। आजकल प्रत्येक धार्मिक क्रिया के पूर्व ईसाई माथे पर से छाती तक तथा छाती की बाईं ओर से दाहिनी ओर तक दाहिना हाथ ले जाकर अपने ऊपर क्रूस का चिह्न बनाते हैं। इस क्रिया को ईसाई धर्म में अंगन्यास कहा जा सकता है। (का० बु०)

क्रूसीफ़ेरी द्विदल वनस्पतियों का एक जगद्व्यापी कुल। इसके प्रतिनिधि विशेषत: उत्तरी समशीतोष्ण एवं भूमध्यसागरीय भूभागों में अधिक पाए जाते हैं। इसमें लगभग १,९०० उपजातियों की तथा प्राय: सभी क्षुप (कोई कोई गुल्मक) श्रेणी की वनस्पतियाँ है। इनमें कुछ वर्षायु, परंतु अधिकांश शाकीय, बहुवर्षायु होती हैं। ये प्रति वर्ष नवीन होकर उत्पन्न होती रहती है। किसी में खाद्य पदार्थों के संचय के कारण मूल कांड एवं पत्रादि स्थूल और मांसल होते हैं। यह कुल अहिफेन कुल (Papaveraceae) और करीर कुल (Capparidaceae) से कुछ मिलता जुलता है, परंतु निम्नांकित लक्षणों से युक्त इसका वैशिष्ट्य स्पष्ट होता है।

पत्तियाँ प्राय: एकांतर (alternate), अनुपपत्र और एककोशा, सशाख, या नि:शाख एवं रोमों से युक्त होती हैं। पुष्पमंजरी एकवर्ध्यक्ष (raceme) अथवा समशिख (corymb) होती है और निपत्र तथा निपत्रक प्राय: सर्वदा अनुपस्थित पाए जाते हैं। पुष्प उभयलिंगी, नियताकार और अधोजाय (hypogynous) होते हैं, जिनका पुष्पमूत्र $K+2C_8A_2+8G(2)$ होता है। [यहाँ के K_2 = कैलिक्स (Calyx, बाह्यदल पुंज); C - कोरोला (Corolla, दलपुंज); A = एंड्रोसियम Androecium; पुमंग) G = गाइनासियम (Gynacium, जायांग)]।

बाह्य तलपुंज (Calyx) में चार स्वतंत्र बाह्यदल दो चक्रों अर्थात् दो पार्श्वीय धरातल के भीतरी चक्रों, में स्थित रहते है। दलपुंज (corolla) में चार-स्वतंत्र दल एक ही चक्र में और विकर्ण समतलों (diagonal planes) में निकलते हैं। ये दल कलाई के आकार के, अर्थात् नीचे पतले और ऊपर चौड़े, तथा समकोण पर मुड़कर बाहर की ओर फैले रहते है। इनकी इस स्वस्तिक आकृति के कारण ही इस कुल का नाम क्रूसीफ़ेरी पड़ा है। पुमंग (Androecium) छह पुंकेसरों का होता है। इसे चतुर्दीर्घक (tetradynamous) कहते हैं, क्योंकि पुंकेसरों मे दो छोटे, पार्श्वीय समतल और बाहरी चक्र में, तथा चार बड़े, मध्य समतल और भीतरी चक्र में, रहते हैं। इनके परागकोश (anthers) अंतर्मुख (introrse) होते है। जायांग (Gynaecium) मध्य धरातल में परस्पर संयुक्त दो स्त्री केसरों का होता है। अंडाशय द्विगह्वर, परंतु जरायुन्यास (placentation) भित्तिलग्न (parietal) होता है। दोनों ओर के जरायु भीतर की ओर क्रमश: बढ़कर एक पतला परदा बना लेते हैं, जिसे रेप्लम (Replum, कूटपटी) कहते हैं। अंडाशय में बीजांड (ovules) अधोमाव (anatropous) अथवा वक्रावत (campylotropous) होते है। दूसरे प्रकार के बीजांडों से बने हुए बीजो में भ्रूण और भ्रूणकोश इस तरह दकित होते हैं कि मूलांकुर (radicle) बीज के एक भाग में और बीजपत्र (Cotyledons) दूसरे भागों में रहते हैं। दोनों जरायुजसंधियों के ठीक ऊपर दो वर्तिकाग्र (stigma) और इनके नीचे छोटी वर्तिका (style) होती है।

परागण प्राय: कीटों द्वारा होता है। पुंकेसरों के मूल के पास मधुकोश होते है, जिनसे मधु स्रवित होकर पार्श्वीय बाह्यदलो के पुटाकार (saccate) आधार भागों में एकत्र होता है। पथक्पक्वता (dichogamy) आदि अनुकूल अवस्थाओं के कारण कीटादिकों द्वारा अपर परागण होता रहता है, परंतु सभी में अंततः स्वयं परागण भी अनिवार्य रूप से होता है।

फल शिंबितुल्य (फली समान) और स्फोटी (dehiscent) होते है। मोटाई अथवा चौड़ाई के लगभग तीन गुना या अधिक लंबा होने पर इन्हें सिलिक्वा (Siliqua) और छोटा होने पर सिलिकुला (Silicula) कहते हैं। पकने और सूखने पर फलावरण (pericarsp) दोनों संधियों पर नीचे से फटता हुआ दो भागो में पथक् हो जाता है और दोनों जरायु, उनसे संबद्ध बीज और बीज की अंतर्भित्ति सब एक साथ बीच में रह जाती हैं। फल बेलनाकार अथवा चिपटा, कभी बीजो के बीच बीच में संकुचित, कभी अस्फोटी एवं एकबीज और कभी मूँगफली की तरह भौमिक भी होता है। चिपटा होने पर फल का चिपिट पार्श्व अंतर्भित्ति के समांतर, या उससे समकोण पर, होता है। बीज अभ्रूणपोषी (nonendospermic) और बीजकवच (tasta) प्राय: क्लेद (muscilage) युक्त होता है, जिससे भीगने पर ये लसलसे हो जाते हैं। फल, बीज, गर्भ एवं गर्भकोश आदि के उपर्युक्त लक्षण कुलांतर्गत वंशों (genera) के पृथक्करण में बहुत उपयोगी होते हैं।

उपयोगिता की दृष्टि से इस कुल की समस्त वनस्पतियाँ उल्लेखनीय है। इनमें सरसों, राई, मूली, तीनों प्रकार की गोभी और शलजम खाद्योपयोगी, चनसुर, खाकसीर, तोदरी, स्कर्वी घास और हॉर्स रैडिश चिकित्सोपयोगी तथा वाल फ्लावर, मैथिओला, नैस्टर्शियम तथा कैंडीटफ्ट शोभनार्थ उद्यानोपयोगी होते हैं। इस कुल की वनस्पतियों में प्राय: गंधक के यौगिक पाए जाते हैं। इनके कारण अवस्थाविशेष में दुर्गंध उत्पन्न होती है। स्कर्वी आदि कुछ रोगों में ये वनस्पतियाँ उपयोगी मानी जाती हैं। (व० सिं०)

क्रूसेड (देखिए **ईसाई धर्मयुद्ध**)।

क्रूसेन स्टर्न, आदम इवान (१७७०-१८४६ ई०)। रूसी नाविक और समुद्रान्वेषक। हग्गुड (एस्टोनिया) में १९ नवंबर, १७७० ई० को जन्म। रूसी नौसेना में कार्य आरंभ करने के बाद अंग्रेजी नौसेना में काम करने के लिये भेजा गया जहाँ वह १७९३ से ९९ ई० तक रहा। इस अवधि में उसने अमरीका, चीन और भारत की यात्रा की। लौट कर उसने रूस और चीन के बीच केपहार्न और केप ऑव गुडहोप के रास्ते सीधी यातायात के लाभ पर एक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित किया। फलस्वरूप उसे ही इस अभियान का भार दिया गया। वह दो अंग्रेजी

जहाज लेकर क्रोनस्तात से अगस्त, १८०३ ई० में रवाना हुआ और केपहॉर्न जाकर वह सैंडविच द्वीप और कामचट्का होता हुआ जापान पहुँचा और वहाँ से वह केप ऑव गुडहोप के मार्ग से अगस्त, १८०६ ई० में क्रोनस्तात वापस आया। संसार की परिक्रमा का यह पहला रूसी प्रयास था। उसकी इस यात्रा का वृत्त तीन खंडों में प्रकाशित हुआ है जिसमें १०४ नक्शे हैं। उसने पीछे प्रशांत महासागर के नक्शों का एक अटलस और समुद्रान्वेषण पर एक ग्रंथ भी प्रकाशित किए। २८ अगस्त, १८४६ ई० को रेवाल में उसकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्रेउजर, जार्ज फ्रेडरिच (१७७१–१८५८ ई०)। जर्मन भाषाविद् तथा पुरातत्वविद्। १० मार्च, १७७१ ई० को मार्बुर्ग में एक जिल्दसाज के घर जन्म। लगभग ४५ वर्षों तक हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय में भाषाविज्ञान और प्राचीन इतिहास के प्राध्यापक रहे। बीच में कुछ काल के लिये लाइडेन (हालैंड) विश्वविद्यालय गए थे। उनकी प्रमुख कृति यूनानी मिथक और प्रतीकों से संबंधित ग्रंथ है, जो १८१०–१२ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने इस बात का प्रतिपादन किया है कि होमर और हेसायक में जिन पौराणिक कथाओं (माइथॉलोजी) का वर्णन किया है उनका मूल सूत्र पूर्वी देश है और उसमें अतीतकी स्मृतियों के अवशेष हैं। १६ फरवरी, १८५८ ई० को उनका निधन हुआ। (प० ला० गु०)

क्रेउत्स, गुस्ताफ फिलिप (१७३१–१७८५ ई०)। स्वीडेन का प्रख्यात कवि। इनका जन्म फिनलैंड में और शिक्षा अबो में हुई थी। १७५१ ई० में वे स्टाकहोम में कोर्ट ऑव चासेरी में नौकर हुए। इसी काल में १७५१ ई० और १७६३ ई० के बीच उन्होंने अपनी कविताएँ लिखीं। १७६३ ई० में वे राजदूत बनाकर मैड्रिड (स्पेन) और तीन वर्ष पश्चात् पेरिस (फ्रांस) भेजे गए। १७८३ ई० में स्वीडन नरेश गुस्ताफ तृतीय ने वापस बुलाकर उन्हें नाना रूप से संमानित किया। उनकी अधिकांश रचनाएँ गाइलानबुर्ग के साथ संयुक्त रूप में प्रकाशित हुई हैं। गाइलानबुर्ग ने अपने मित्र की साहित्यिक प्रतिभा का सर्वप्रथम मूल्यांकन किया और उनकी महत्ता स्वीकार की थी। क्रेउत्स ने अपनी रचनाओं द्वारा स्वीडिश काव्य में पहली बार स्वर और लालित्य का समावेश किया, जिसका उस समय तक सर्वथा अभाव था। वे अपने देश में 'भाषा सँवारनेवालों में अन्यतम' कहे जाते हैं। ३० अक्तूबर, १७८५ ई० को उनकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्रेजर, मैक्स (१८५४–१९४१ ई०)। जर्मनी का प्रख्यात उपन्यासकार। ७ जून, १८५४ ई० को एक सरायवाले के घर पोसेन में जन्म। उसे मजदूर (१८८३ ई०) और मिस्टर टिपे (१८८८ ई०) नामक उपन्यासों से ख्याति प्राप्त हुई। इनमें उसने बर्लिन के मजदूरों का जो सजीव चित्रण किया है वह उसकी वैयक्तिक अनुभूति का परिणाम है। पिता-पुत्र दोनों ने कुछ काल तक एक कारखाने में काम किया था। क्रेजर को यथार्थवादी शैली का जन्मदाता माना जाता है किंतु बाद की रचनाओं में वह प्रतीकवादी परिलक्षित होता है। उसकी मृत्यु १४ अगस्त, १९४१ ई० को हुई। (प० ला० गु०)

क्रेजेवस्की, जोजेफ इग्नेशियस (१८१२–१८८७ ई०)। पोलैंड का प्रख्यात उपन्यासकार। इसका जन्म २८ जुलाई, १८१२ ई० को वारसा में हुआ था। उसकी रचनाएँ स्पष्टतः दो कालों में विभाज्य हैं। एक तो उस काल की है जब वह अपनी जमींदारी ग्रोडास में रहता था। इस काल में उसने जर्मोला, उलाना (१८४३), कोर्डेकी (१८५२ ई०) लिखे। इनमें कोई दिशाविशेष निर्दिष्ट प्रतीत नहीं होती। दूसरी रचनाएँ १८६३ ई० के बाद उस काल की हैं जब रूसी सरकार की दृष्टि में वह संदिग्ध माना गया और उसे ड्रेसडेन में रहने को बाध्य होना पड़ा। इस काल के बोलेस्लेविटा (बोलशेविक) छद्म नाम से लिखे गए राजनीतिक उपन्यास, काउंटेस कैसेल सदृश ऐतिहासिक उपन्यास तथा मारिच्युरी (१८७४–७५ ई०) और रिसम्बुरी (१७७६ ई०) सदृश सांस्कृतिक ...न उल्लेखनीय हैं। अपने इन उपन्यासों के कारण वह अपने देश ...न्यत्र अधिक प्रख्यात है। १८८४ ई० में जर्मन सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र करने के अभियोग में उसे ७ वर्ष के कारावास का दंड दिया गया किंतु वह दूसरे वर्ष ही छोड़ दिया गया और जिनेवा चला आया।

क्रेजेवस्की उपन्यासकार ही नहीं वरन् कवि और नाटककार भी था। उसका प्रख्यात काव्य लिथूनिया के इतिहास पर आधारित 'अनाफियालाज' है जो तीन जिल्दों में प्रकाशित है। साहित्यिक समालोचक, संपादक और अनुवादक के रूप में भी उसका व्यक्तित्व अद्भुत था। उसने अनेक ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे हैं और पोलैंड के राष्ट्रीय पुरातत्व के अध्ययन को पुनरुज्जीवित करने का श्रेय उसे प्राप्त है। १९ मार्च, १८८७ ई० को जिनोवा में उसकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्रेडी, लोरेंजो, दि (१४५७–१५३७ ई०)। इटली का प्रख्यात चित्रकार जो बार्ड यूसी के नाम से प्रसिद्ध था। उसका जन्म फ्लोरेंस में हुआ था और वह लोनार्डो दि विंसी और वरोशियो नामक प्रख्यात चित्रकारों का समकालिक और मित्र था। क्रेडी ने फ्लोरेंस में काम करना आरंभ किया और लोग सार्वजनिक स्थानों के सजाने सँवारने में उससे राय लिया करते थे। उसी की सलाह के अनुसार फ्लोरेंटाइन के सुप्रसिद्ध कैथिड्रल (गिर्जाघर) का सामना बना और उसको प्रदीप्त करने की व्यवस्था की गई थी। जब माइकेल एंजिलो के चित्र 'डेविड' के टाँगने की बात आई तब भी उससे सलाह ली गई थी। उसने अधिकांशतः छोटे चित्र बनाए हैं। कभी कभी वह बड़े धार्मिक चित्र भी बनाया करता था। उसकी ख्याति महीन काम के लिये ही रही है। उसके बनाए मेडोन्ना (ईसा की माता कुमारी मेरी) के चित्र यूरोप की अनेक चित्रशालाओं में सुरक्षित हैं। उसका सुविख्यात भित्तिचित्र पिस्टोइया के गिर्जाघर में है। उसमें उसने संतों के बीच माता-पुत्र (वर्जिन एंड चाइल्ड) अंकित किया है। भेज के चित्रशाला में भी उसकी एक सुंदर कृति सुरक्षित है। लंदन की राष्ट्रीय चित्रशाला में भी क्रेडी के बनाए माता-पुत्र के दो चित्र तथा चास्टाजा दे मेडिसी का पोर्ट्रेट है। उसकी मृत्यु १२ जनवरी, १५३७ ई० को हुई। (प० ला० गु०)

क्रेन भारी मशीनों और उनके भागों को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थानों पर ले जानेवाला यंत्र। हाथ की शक्ति से किसी भारी वस्तु को अधिक ऊँचा उठाना कठिन है इसलिये इस प्रकार के भारी काम क्रेनों से लिए जाते हैं। कई प्रकार के क्रेनों का आकल्पन हुआ है, और कामों के अनुसार उनका उपयोग होता है। कुछ क्रेन ऐसे हैं जो अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं। ये भार या मशीनों को उठाकर केवल एक ही क्षैतिज दिशा में ले जा सकते हैं। यदि क्रेनों के नीचे चक्र लगा दिए जायँ तो ये क्रेन भार को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी ढोकर ले जाते हैं। क्रेन शब्द से मूलतः अभिप्राय उस लंबी छड़ से ही है, जिसके द्वारा भार या मशीनों को उठाया जाता है, परंतु अब पूरी मशीन को ही क्रेन कहते हैं। इस प्रकार छड़, घिरनियाँ और इनके चलानेवाले भागों के संमिलित रूप को क्रेन कहते हैं। उपयोगिता के कारण क्रेनों का विशेष प्रचलन हो गया है। कारखानों में भारी मशीनों को यथास्थान स्थापित करने और बनाई हुई चीजों को उठाकर ले जाने के काम में ये आते हैं। जिन स्थानों पर नदी, नाले या बाँध बनाए जा रहे हों वहाँ ये मिट्टी उठाने के काम में भी आते हैं। जो काम हाथ से महीनों में नहीं हो सकता वह इन क्रेनों से कुछ घंटों में ही हो सकता है।

चित्र १ घिरनियाँ (Pulleys)
१. बिंदु पर बल लगता है तथा
२. स्थान पर भार लटकाया जाता है।

क्रेन के काम करने के नियम को समझनेके लिये चित्र १ की घिरनियाँ देखें। इसमें ऊपर नीचे दो दो घिरनियाँ हैं और एक ही रस्सा सब घिरनियों पर से होता हुआ भार तक चला जाता है। बिंदु १ पर बल लगाने से रस्सा खिंचना आरंभ होगा और भार ऊपर को उठने लगेगा। मान लें, भार एक फुट ऊपर उठता है, तो रस्से की

चार लंबाइयाँ कम होकर भार को एक फुट उठाएँगी, क्योंकि सब घिरनियों पर से रस्से की चार लंबाइयाँ गई हैं। अतः भार को एक फुट उठाने के लिये रस्से को चार फुट खींचना होगा। इससे पूरा भार चारों रस्सों पर बँट जायगा और भार को उठाने के लिये भार से कम बल की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार की घिरनियाँ क्रेन में भी लगी होती है जहाँ भार के उठते ही क्रेन की छड़ भी चलने लगती है और भार खड़ी तथा क्षैतिज दिशा में ले जाया जाता है।

क्रेन दो प्रकार के होते हैं, एक घूमनेवाला, दूसरा न घूमनेवाला। घूमनेवाले क्रेन वे हैं जिनसे भार को उठाकर क्षैतिज दिशा में कहीं पर भी डाला जा सकता है। इनमें कुछेक ऐसे हैं जो अपने स्थान से चारों ओर घूम जाते हैं और कुछ वे है जो केवल १८०° के कोण पर ही घूमते हैं। इस प्रकार के क्रेनों को बाहु-क्रेन (Jib crane) कहा जाता है। दूसरे प्रकार के क्रेन वे है जिनसे भार को उठाकर क्रेन को आगे या पीछे, दाएँ या बाएँ करके, दूसरे स्थान पर रखा जा सकता है। इस प्रकार के क्रेन कारखानों में छतों के नीचे लगाए जाते हैं। इनको उपरि (over head) क्रेन कहा जाता है, क्योंकि ये सिरों के ऊपर ही ऊपर चलते हैं। इन क्रेनों से साज सामान उठाकर कारखाने के किसी कोने में कहीं पर भी रखा जा सकता है।

क्रेन विविध उपायों से चलाए जाते हैं। छोटे और कम भारी भागों को उठानेवाले क्रेन हाथ से चलाए जाते हैं। बड़े क्रेनों को चलाने के लिये भाप, बिजली के आंभस (hydraulic) शक्ति का उपयोग होता है। काम या महत्व के अनुसार ही शक्ति की आवश्यकता होती है। हाथ से चलाए जानेवाले क्रेन अधिक भारी भारों को देर तक उठाने के लिये उपयोगी नहीं होते, केवल थोड़े ही समय के लिये सामान उठाना हो तभी वे उपयोगी होते है। यदि इन क्रेनों से भारी मशीनों को उठाना हो तो अधिक समय और अधिक मनुष्यशक्ति की आवश्यकता होगी। अतः छोटे कामों के लिये ही ये क्रेन अच्छे रहते हैं।

भाप से चलनेवाले क्रेन भारी कामों के लिये प्रयुक्त होते हैं। इन क्रेनों के लिये भाप बनाने का वाष्पित्र (boiler) या तो क्रेन के साथ

चित्र २. आंभस क्रेन

१. दाहिनी ओर पूरा क्रेन तथा बाईं ओर इसका आंभस रंभ है, जिसमें २. तथा ३. घिरनियाँ हैं और ४. मेष (ram) है। दाहिनी ओर के चित्र में १. पर उस रस्से का किनारा बँधा है जो २. और ३. घिरनियों पर होता हुआ भार ४. पर चला जाता है।

ही लगा रहता है, अथवा एक वाष्पित्र से ही अनेक क्रेनों को भाप दी जाती है। जिन क्रेनों में वाष्पित्र साथ होता है उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर सरलता से ले जाया जा सकता है। इनका प्रयोग उन स्थानों पर हो सकता है जहाँ बिजली नहीं है और भारी काम करना हो। यथा—उस स्थान पर जहाँ बाँध या पुल बनाया जा रहा हो और वह आबादी से दूर हो, यह आवश्यक होता है। यदि एक स्थान पर कई क्रेनों को काम करना है तो हर एक के लिये अलग अलग वाष्पित्र देने से लागत अधिक आएगी और हर क्रेन को चलाने में समय भी अधिक लगेगा। ऐसे स्थान के लिये एक बड़ा वाष्पित्र लगाया जाता है, जिससे सब क्रेनों को भाप दी जाती है।

आंभस क्रेन बहुत शक्तिशाली और अधिक काम करनेवाले होते हैं। केवल एक कपाट (valve) को खोलने और बंद करने से ही इस क्रेन को चलाया जा सकता है। इस प्रकार के क्रेन चित्र (२) में देखें। इस चित्र में बाईं ओर आंभस रंभ है जिसके नीचे एक घिरनी (२) लगाई गई है। इसके मेष (४) के ऊपर घिरनी (३) है। दाहिनी ओर के चित्र में रंभ के स्थान पर रस्से या क्रेन का एक किनारा बाँध दिया गया है। यह रस्सा घिरनी (२) तथा (३) पर से होता हुआ उस भार पर चला जाता है जिसको उठाना है। इस क्रेन में कुल तीन घिरनियाँ है। इसलिये जब मेष को एक फुट उठाया जायगा तो भार छह फुट उठेगा, क्योंकि घिरनियों पर छह रस्से हैं। इस प्रकार इस क्रेन से भार को क्रेन के मेष की गति से छह गुना ऊँचा उठाया जा सकता है।

कम दाम पर बिजली मिल जाने के कारण विद्युच्चालित क्रेनों का उपयोग बढ़ गया है। ये क्रेन बिना किसी कठिनाई के चलाए जा सकते हैं। ऐसे क्रेनों को चलानेवाले गरमी और धुएँ से भी बचे रहते हैं। मोटर की शक्ति पर ही क्रेन की शक्ति आधारित है। क्रेन पर पूरा भार कभी ही पड़ता है, इसीलिये क्रेन के मोटर की शक्ति की जानकारी के लिये इसका भार अनुपात (Load factor) देखा जाता है।

चित्र ३. बाहु क्रेन

१. खंभा तथा २. धरणी।

भार अनुपात पूरे समय तथा कार्य के समय का अनुपात बताता है। मान लीजिए, किसी मोटर का भार अनुपात ¼ है। इसका अर्थ यह है कि मोटर १२ मिनट में केवल तीन ही मिनट पूरी शक्ति देगी या तीन मिनट में केवल एक ही मिनट पूरी शक्ति मिलेगी और रुकाव दो ही मिनट रहेगा। इसलिये ऐसे स्थानों पर जहाँ भार को अधिक ऊँचा उठाना है और काम थोड़े थोड़े समय के पश्चात् करना है भार-अनुपात भी अधिक होना चाहिए। यदि भार कम ऊँचा उठाना है और अधिक दूर नहीं ले जाना है, जैसा उन कारखानों में होता है जहाँ भारी भार कभी कभी उठाए जाते हैं और वह भी कम समय के लिये, तो अधिक भार-अनुपात के मोटर की आवश्यकता नहीं होती। कम ऊँचाई पर दूर तक भार उठाकर ले जाने-

वाली क्रेन को चलानेवाली मोटर का भार-अनुपात भार उठानेवाली मोटर के भार-अनुपात से अवश्य ही अधिक होना चाहिए।

भाप से चलनेवाली क्रेनों के वाष्पित्र को भार उठाते समय ही भाप देना पड़ता है। इसलिये वाष्पित्र पर कभी कभी पूरा भार पड़ेगा। जब भार को काँटे मे बाँधा जा रहा हो, अथवा क्रेन भार को डालकर वापस आ रहा हो, तब वाष्पित्र से पूरी भाप नही ली जाती और इसी समय मे वाष्पित्र अपना निपीड बना लेता है। मान लें, क्रेन में ४० अश्व शक्ति का इंजन लगा हुआ है। इस इंजन के लिये क्रेन पर जो वाष्पित्र लगाया जाय उसका तापक्षेत्र उस वाष्पित्र से, जो इसको बराबर भाप देने के लिये आवश्यक है, ½ भी हो तो काम ठीक चल जायगा। इसलिये क्रेनों मे छोटे वाष्पित्रों से बड़ा अच्छा काम लिया जाता है। इसी कारण क्रेन का आकार भी कम रहता है और खर्च भी कम होता है। अतः हम कह सकते हैं कि क्रेनों की मोटरों के लिये यदि भार-अनुपात ⅓ से ½ तक रखा जाय तो क्रेन के काम पर कोई दुष्प्रभाव न पड़ेगा। बिजली के क्रेनों के लिये श्रेणीवलित (series wound) मोटरें होती है जिनमें बराबर विद्युद्धारा जाती है और चलने के समय इनका बहुत अधिक ऐंठन होता है। भार उठाते समय अधिक बल की आवश्यकता होती है, किंतु एक बार भार उठा लेने पर इतने अधिक बल की आवश्यकता नही पड़ती। इसलिये इस मोटर के अधिक ऐंठन के कारण भार को उठाते समय कोई कठिनाई नही होती। इस मोटर का एक गुण यह भी है कि मंद गति पर इससे बड़े भार भी उठाए जा सकते है और हलके भारों को अधिक गति से।

क्रेन का सर्वप्रथम कार्य भार को ऊपर की ओर उठाना है। किसी काँटे में लटकाकर भार उठा लिया जाता है। इस कार्य के लिये एक तो लंबी धरणी

चित्र ४. सरल क्रेन

की आवश्यकता होगी, जिससे क्रेन के काम करने का क्षेत्र बड़ा हो, और दूसरे इस धरणी को चलाने के लिये मशीनें आवश्यक होंगी। चित्र ३. मे दिखलाई गई क्रेन मे (२) इसकी धरणी है, जिसपर इस क्रेन की क्षैतिज दिशा का काम निर्भर है। इस धरणी के ऊपरी भाग पर एक घिरनी लगी है जिसपर से क्रेन की मशीनों से आई जंजीर भार उठानेवाले काँटे तक चली जाती है। यह जंजीर पर्याप्त लंबी होती है और क्रेन की मशीन पर लगे हुए एक बड़े बेलन पर लिपटी रहती है। किसी भार या यंत्र को उठाते समय मशीन को उलटा घुमाने से जंजीर खुलकर नीचे चली जाती है और भार को उठाते समय बेलन सीधा घूमता है और जंजीर को अपने ऊपर लपेटता रहता है। जब भार उठ जाता है तो क्रेन के खंभे (१) को घुमाकर भार को यथास्थान ले जाते हैं।

स्थिर क्रेनों में सबसे सरल क्रेन चित्र ४ में दिखलाया गया है। तीन टाँगों के डेरिक के बीच घिरनियां लगाकर रस्सों के द्वारा भार को ऊपर उठा लिया जाता है। इस प्रकार क्रेन से भार को क्षैतिज दिशा मे नही ले जाया जा सकता। यह केवल मशीनों के अंगों को एक दूसरे के ऊपर रखने के ही काम आता है। चित्र ५. के क्रेन मे एक खड़े खंभे पर एक क्षैतिज धरणी है, जो चारों ओर घूम सकती है। इस प्रकार के क्रेन से भार को उठाकर कहीं भी रखा जा सकता है। यदि इस क्रेन के आधार के नीचे पहिए लगा दिए जायँ तो इसको ठेलकर या चलाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी ले जाया जा सकता है। धरणी के दाहिनी ओर काँटा है जो आगे पीछे और ऊपर नीचे किया जा सकता है। इस धरणी के बाईं ओर घिरनियाँ

चित्र ५. सब स्थानों पर रखनेवाला क्रेन

और क्रेन को चलानेवाली मशीनें हैं। धरणी के ये दोनो भाग एक दूसरे का संतुलन बनाए रखते हैं। धरणी को घुमानेवाले दंत खंभे के ऊपर या नीचे की ओर किसी भी स्थान पर लगाए जा सकते हैं।

भाप से चलनेवाला एक क्रेन चित्र ६. में दिखाया गया है। इसमे (६)
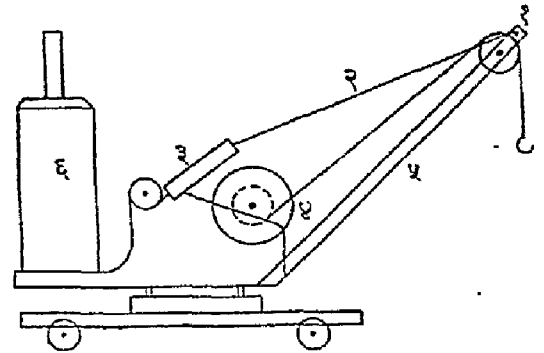
चित्र २. परिवहनीय वाष्पचालित क्रेन

१. धरणी का सिरा; २. जंजीर, ३. धरणी को उठाने का यंत्र, ४. ढोल जिसपर जंजीर लिपटी रहती है; ५. धरणी तथा ६. वाष्पित्र।

क्रेन का वाष्पित्र है, जो घूमनेवाले आधार पर है। (४) इंजन से चलनेवाला वह ढोल है जिसपर क्रेन की जंजीर लिपटी रहती है। इसी के साथ साथ धरणी (५) को उठाने और गिराने के लिये जंजीर (२) को खीचा या छोड़ा जाता है। इस प्रकार भार उठाने के समय काँटे के साथ साथ क्रेन की धरणी को उठाने का भी प्रबंध किया जाता है। इससे भार यथेष्ट ऊपर उठाया जा सकता है। भार को उठाने के पश्चात् क्रेन के आधार को घुमाकर भार को आवश्यक स्थान पर छोड़ देते हैं। इन क्रेनों के संतुलन का विशेष ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के क्रेनो के उलटने से दुर्घटनाएँ हो चुकी हैं। भाप से चलनेवाले क्रेनो मे तो वाष्पित्र ही तोलन का काम देता है, परंतु दूसरे क्रेनों मे पृष्ठ की ओर भारी भारी पत्थर बाँध देते हैं। जैसे ही भार उठाया जाता है पीछे के भार उसका संतुलन करते हैं और जैसे जैसे यह ऊपर उठता है वैसे वैसे क्रेन के केंद्र से इसकी दूरी कम होती चली जाती है। इस समय क्रेन के संतुलन के लिये पीछे की ओर उतने की भार आवश्यकता नही रहती जितने की भार को उठाने के समय थी। इसलिये यदि जंजीर टूट जाय, या पीछे इतना भार रख दिया गया हो कि क्रेन अपना संतुलन न रख सके, तो क्रेन उलट जायगा।

चित्र ७. में उपरि क्रेन दिखाई गयी है। घिरनियों और मशीनों को क्षैतिज धरणियों पर रखा जाता है और यह धरणी कार्य के स्थान पर स्थित रहती है। यदि इस क्रेन को कारखाने की लंबाई में भी काम में
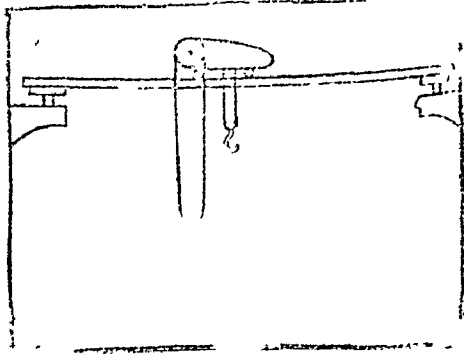
चित्र ७, उपरि (Overhead) क्रेन

लाना पड़े तो इसको चलनेवाली क्रेन बनाते है। इसके लिये कारखाने की लंबाईवाली दोनों दीवारों पर धरणियाँ लगाते हैं और क्रेनवाली धरणियों के नीचे चक्र लगाकर दीवारवाली धरणियों पर रख दिया जाता है। इस प्रकार यह क्रेन कारखाने की लंबाई और चौड़ाई दोनो ओर काम कर सकता है।

आरोधों (brakes) के उपयोग के बिना क्रेनों से काम लेना कठिन होता है। भार उठाते समय संघर्ष तथा गुरुत्व के विरुद्ध काम किया जाता है। जब भार को नीचे लाया जाता है तो सावधानी से लाना होता है। इसी काम के लिये क्रेनों में आरोध लगाए जाते है, जिनसे चलती हुई क्रेन को रोका जा सकता है। आंभस पर काम करनेवाली क्रेनों में तो यह काम इसके कपाट से ही ले लिया जाता है और फिर आंभस आरोध अधिक समर्थ भी होते है। क्रेन की मशीनो के ढोलों पर संघर्षपट्टियाँ चढ़ाई जाती हैं। आवश्यकता पड़ने पर इन्हें ढोल के ऊपर जकड़ दिया जाता है और क्रेन रुक जाता है। इन आरोधों को क्रेन के चलाने के स्थान से ही लगाया जा सकता है। बिजली की क्रेनों में इसकी मोटर की तारों को इस प्रकार लगाया जाता है कि जब भार नीचे उतारा जा रहा हो तो मोटर डाइनमो बन जाय, जिससे बिजली पैदा होने लगती है और आरोध का काम देती है। भाप से चलनेवाली क्रेनों में सब काम दो सिलिंडर के इंजन से होता है।

आजकल विभिन्न प्रकार के क्रेनों का उपयोग हो रहा है। नया आकल्पन बिजली की नई मशीनों के कारण है, परंतु हर क्रेन के काम करने का सिद्धांत वही है जो ऊपर बताया गया है। बिजली की मोटर से अधिक और आवश्यक शक्ति मिलती है और इसको जिस प्रकार भी चाहें चला सकते हैं। काम करने में समय भी कम लगता है और लागत भी कम आती है। (गु० वे०)

क्रेन, वाल्टर (१८४५–१९१५ ई०)। अँगरेज चित्रकार। १५ अगस्त, १८४५ ई० को लिवरपूल में जन्म। बारह वर्ष की अवस्था में लंदन आया। चित्रकार पिता का पुत्र होने के कारण चित्रकला में उसकी अभिरुचि जागृत हुई और रेफल के पूर्ववर्ती चित्रकारों के संपर्क में आया तथा रस्किन का शिष्य बना। पश्चात् १८५९ से १८६२ ई० तक उडइंग्रेवर विलियम जेम्स लिटन के यहाँ काम सीखने लगा। लकड़ी पर चित्रों की उकेरी करते समय उसके सामने समसामयिक प्रख्यात चित्रकारों के चित्र आए। इससे मनोयोगपूर्वक उनके अध्ययन का उसे पर्याप्त अवसर मिला। फिर उसने जापानी रंगीन चित्रों के प्रिंट का अध्ययन किया, जिसका उपयोग आगे चलकर उसने बाल पुस्तकों के चित्रण में किया। १८६२ ई० में उसका 'लेडी ऑव शालोट' शीर्षक चित्र प्रदर्शित हुआ। १८६४ ई० में रंगीन चित्रों के मुद्रक एडमंड इवास के लिये लोरियों की बालपोथियों का चित्रण आरंभ किया। इनमें उसने अपनी अद्भुत कल्पना और डिजाइन के सौंदर्य का परिचय दिया। यह सब कुछ उसने केवल तीन रंगों के सहारे किया। जब १८७३ ई० में 'फ्राग प्रिंस' नाम से एक नई बाल पुस्तकमाला प्रकाशित हुई तो उसमें उसकी प्रतिभा को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई। उसके इन चित्रों पर जापानी चित्रकला का प्रभाव है। ग्रिम की कहानियों के लिये उसने हंसकुमारी का जो चित्रण किया था उसका उपयोग एक पर्दे पर भी किया गया जो अब साउथ केंसिंगटन संग्रहालय में है। इस प्रकार उसने कितने ही चित्र बालपोथियों के लिये बनाए जो मात्र पुस्तकचित्रण न होकर कला की दृष्टि से उत्कृष्ट रचनाएँ समझी जाती हैं और उनसे क्रेन को ख्याति प्राप्त हुई है।

समाजवादी पत्रिका 'जस्टिस' और 'द कामनवील' के लिये क्रेन प्रति सप्ताह कार्टून भी बनाता रहा। इनमें से अनेक कार्टून 'कार्टून्स फार द काज़' नाम से १८९६ ई० में ग्रंथ रूप में भी प्रकाशित हुए। उसने 'कलाकार के संस्मरण' नाम से अपनी एक आत्मकथा लिखी है। (प० ला० गु०)

क्रेन, स्टेफ़ेन (१८७१–१९०० ई०)। अमरीकी लेखक। इसका जन्म १ नवंबर, १८७१ ई० को एक पादरी के घर नेवार्क (न्यू जर्सी) में हुआ था। उसने लाफेंटे और साइराक्यूज विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की किंतु कोई डिगरी नहीं ली। पत्रकारिता से जीवन आरंभ किया। उसका पहला उपन्यास 'मैगी : ए गर्ल ऑव द स्ट्रीट्स' छद्मनाम से प्रकाशित हुआ। दूसरी कृति १८९५ ई० में 'द रेड बैज ऑव करेज' प्रकाशित होते ही वह ख्याति के शिखर पर पहुँच गया। उसकी इस रचना का अनेक लोगो ने अनुकरण किया है। इसमें अमरीकी गृहयुद्ध की साहसिकता का अद्भुत मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। जिन दिनों क्रेन ने इस उपन्यास को प्रकाशित किया था वह युद्ध से नितांत अपरिचित था, युद्ध देख पाने का उसे कोई अवसर नहीं मिला था फिर भी वह उसमें लहू से सराबोर दिखाई पड़ता है। सैनिकों का चित्रण इतना सजीव और विश्वसनीय है कि उसे देखकर कतिपय अमरीकी और अंगरेजी पत्रों ने उसे तत्काल अपना युद्ध संवाददाता नियुक्त कर लिया। वह यूनान-तुर्की युद्ध में क्यूबा के विध्वंसक अभियान में संमिलित हुआ। जिस जहाज से वह यात्रा कर रहा था वह टूट गया फलतः फ्लोरिडा वापस आने में उसे अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसने इस दुर्घटना की अनुभूतियाँ 'द ओपेन बोट' शीर्षक कहानी में अंकित की हैं जिसे एच० जी० वेल्स ने अँगरेजी भाषा की सर्वोत्तम कहानी बताया है। इस दुर्घटना का उसके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ा। वह क्षय रोग से ग्रस्त हो गया और ५ जून, १९०० ई० को उसकी मृत्यु हो गई।

क्रेन की रचनाएँ तीन तरह की हैं—(१) उपन्यास, (२) कहानी और रेखाचित्र तथा (३) कविताएँ। कथाकार के रूप में अमरीकी यथार्थवादी लेखकों के प्रारंभकालिक लेखकों में उसे अग्रगण्य माना जाता है। उसकी अनेक कहानियाँ चिरस्थायी मूल्य रखती हैं। मुक्तकाव्य की रचना अमरीका में उसने आरंभ की। उसकी गणना अमरीका के सर्वोत्तम लेखकों में की जाती है। (प० ला० गु०)

क्रेनब्रूक, गैथार्न-हार्डी (१८१४–१९०६ ई०)। अँगरेज राजनीतिज्ञ। १ अक्तूबर, १८१४ ई० को ब्रैडफोर्ड में जन्म। आक्सफोर्ड से ग्रेजुएट होने के बाद वकालत आरंभ की। १८५६ में वह ल्योमिस्टर से निर्वाचित होकर पार्लमेंट में आया। १८६५ के निर्वाचन में उसने आक्सफोर्ड निर्वाचन क्षेत्र से ग्लैडस्टन को पराजित किया। १८६६ में लार्ड डर्बी के शासनकाल में पुअर ला बोर्ड का अध्यक्ष बना। जब १८६७ में डिजराइली के सुधार बिल से असंतुष्ट होकर वालपोल ने पदत्याग किया तब क्रेन ब्रूक ने गृहमंत्री का भार सँभाला। १८७४ ई० में युद्धमंत्री बना और चार वर्ष पश्चात् जब वे वाइकाउंट की पदवी से विभूषित हुए तब उन्होंने इंडिया आफिस का भार लिया। लार्ड सैलिसबरी के मंत्रित्वकाल में १८८५ और १८८६ में लार्ड क्रेनब्रूक कांउसिल के अध्यक्ष रहे। १८९२ में वह मंत्रिमंडल से अलग हो गए और सार्वजनिक जीवन से संन्यास ले लिया। उसी वर्ष उन्हें अर्ल की उपाधि प्राप्त हुई। ३० अक्तूबर, १९०६ को उनकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्रेनमर, टामस (१४८९–१५५६ ई०)। इंग्लैंड के आर्चबिशप (प्रधान धर्माधिकारी)। नाटिंघमशायर के ऐसलैक्टन नगर में एक साधारण परिवार में २ जुलाई, १४८९ को जन्म। १४ वर्ष की आयु में केंब्रिज के जीसस कालेज में प्रवेश किया और वहाँ धर्मशास्त्र, यूनानी भाषा और साहित्य का अध्ययन किया। १५२३ ई० में धर्माचार्य के रूप में उनका दीक्षा संस्कार हुआ। पाँच वर्ष तक उन्होंने केंब्रिज में ही धर्मशास्त्र के अध्यापन के पद पर कार्य किया। १५२८ में नगर में महामारी के प्रकोप के कारण अन्यत्र चले गए। इस बीच उनका इंग्लैंड के राजा हेनरी अष्टम के कमिश्नरों से संपर्क हुआ जो राजमहिषी कैथरीन के विवाह-संबंध-विच्छेद के प्रश्न पर विचार कर रहे थे। क्रेनमर ने यह मत व्यक्त किया कि दैवी विधान के प्रतिकूल होने के कारण बड़े भाई की विधवा के साथ विवाह संबंध अवैध है और इस मामले पर इंग्लैंड का धर्मन्यायालय निर्णय दे सकता है; विश्वविद्यालयों का मत भी इस संबंध में प्राप्त किया जा सकता है, पोप का निर्णय आवश्यक नहीं है। राजा ने उनसे इस विषय पर निबंध लिखने और शास्त्रवचनों, धर्माचार्यों के विचारों तथा धर्मसभा (कौंसिल) के निर्णयों से अपने मत की पुष्टि करने को कहा। क्रेनमर ने अविलंब यह निबंध तैयारकर राजा के पास भेज दिया। राजा उसकी विद्वत्तापूर्ण रचना से संतुष्ट हुआ। उसको टौंटन का आर्चडिकन और अपना पुरोहित नियुक्त किया और अपने मत के प्रतिपादन के लिये आक्सफ़र्ड और केंब्रिज विश्वविद्यालयों के विद्वानों को भी भेजा। किंतु राजा संबंधविच्छेद का निर्णय पोप से ही चाहता था। उसने १५३० ई० में क्रेनमर को अपने कानूनी सलाहकार के रूप में पोप के पास रोम और १५३१ ई० में राजदूत नियुक्तकर राजमहिषी के भतीजे सम्राट् चार्ल्स पंचम के पास जर्मनी भेजा। वह उनसे तो संबंधविच्छेद की स्वीकृति प्राप्त करने में सफल नहीं हुआ पर इटली और जर्मनी के कई धर्माचार्यों ने उनके मत की पुष्टि की। जर्मनी में क्रेनमर ने प्रसिद्ध धर्मसुधारक ओसिंडर की भतीजी मार्गरेट ऐन से गुप्तविवाह कर लिया। उसका यह कार्य तात्कालीन धर्मव्यवस्था के अनुकूल न था। स्वदेश लौटने पर वह दंड पा सकता था। हेनरी को शीघ्रातिशीघ्र संबंधविच्छेद के पक्ष में निर्णय की आवश्यकता थी और इस कार्य के लिये क्रेनमर एक उपयुक्त साधन था। अतः हेनरी ने उसको इंग्लैंड का आर्चबिशप (प्रधान धर्माधिकारी) नियुक्त कर दिया। क्रेनमर ने ३० मार्च, १५३३ ई० को यह नया पदभार ग्रहण किया और शीघ्र ही यॉर्क तथा कैंटरबरी की धर्मपरिषदों का आयोजनकर उनसे हेनरी और कैथरीन के विवाह की वैधता पर पोप के निर्णय का खंडन करा दिया। १५३६ और १५४० ई० में भी राजा के विवाह-संबंध-विच्छेद का निर्णय क्रेनमर ने तो दिया ही था; इंग्लैंड की धर्मव्यवस्था से पोप के निष्कासन और उसके स्थान पर देश के राजा को धर्मव्यवस्था के परम प्रमुख का पद दिलाने के १५३४ ई० के सर्वशक्तिमत्ता का कानून (ऐक्ट ऑव सुप्रिमेसी) बनवाने में भी वह प्रमुख रूप से प्रेरक और सहायक रहा।

क्रेनमर धर्मसुधार के तत्कालीन विचारों से प्रभावित था। पोप की सर्वशक्तिमत्ता के खंडन और धर्मग्रंथों के देशी भाषाओं में अनुवाद के प्रश्न पर वह यूरोप के धर्मसुधारकों से सहमत था। राजा से उसने यह आज्ञा प्राप्त की कि देशभाषा में लिखी बाइबिल की एक प्रति प्रत्येक गिरजाघर में उपयुक्त स्थान पर पठनार्थ रखी रहे और स्वयं अंग्रेजी में बाइबिल का नया अनुवाद किया। यह 'महान् बाइबिल' १५४० में देशवासियों को उपलब्ध हो गई। क्रेनमर के अनुवाद में धर्मसुधार की प्रवृत्ति का स्पष्ट आभास था। १५४० और १५४५ ई० के बीच क्रेनमर उपासना आदि धर्म संबंधी पुस्तकों के संशोधित संस्करण तैयार और प्रकाशित कराने में व्यस्त रहे।

हेनरी की मृत्यु के बाद क्रेनमर ने १५४७ ई० में उसके उत्तराधिकारी एडवर्ड छठें का राज्याभिषेक कराया। धर्मव्यवस्था के सुधार कार्य में राज्य के दोनों संरक्षकों समरसेट और नार्थंबरलैंड का उसने साथ दिया। हेनरी के समय और उससे पूर्व के सुधारबाधक कानूनों की समाप्ति, दोनों नई प्रार्थनापुस्तकों और धर्मव्यवस्था संबंधी ४२ नियमों (फार्टी टू आर्टिकिल्स) की रचना तथा कानून द्वारा उन्हें कार्यान्वित कराने में क्रेनमर सहायक बने। १५४७ ई० में जो धर्मोपदेश प्रकाशित हुए, उनमें मुक्ति, श्रद्धा, शुभकर्म और स्वाध्याय संबंधी उपदेश उसने स्वयं लिखे थे। जर्मन भाषा में उपलब्ध 'धर्म प्रश्नोत्तरी' का अंग्रेजी में अनुवाद कर उसने उस पुस्तक को अगले वर्ष ही सर्वसाधारण के लिये सुलभ कर दिया था। १५५० ई० में उसने कैथोलिक धर्म के पदार्थपरिवर्तन संबंधी प्रमुख सिद्धांत का खंडन किया; ऑक्सफ़र्ड में एक कमीशन के समक्ष कहा कि यदि ईसा के जन्म के हजार वर्ष की अवधि तक के किसी भी धर्माचार्य के कथन से यह सिद्ध किया जा सके कि 'पदार्थपरिवर्तन' के संस्कार से सचमुच ही ईसा के शरीर का आविर्भाव होता है तो मैं अपना मत त्याग दूँगा।

हेनरी अष्टम की मृत्यु के बाद रानी मेरी ने क्रेनमर को पदच्युत कर दिया और उसपर राजद्रोह का अभियोग लगाया। मेरी को उत्तराधिकार से वंचित करने की एडवर्ड छठें की वसीयत का क्रेनमर ने समर्थन किया था। मेरी ने पार्लमेंट से एडवर्ड छठें के समय के सभी धर्म, नियम और कानून समाप्त करा दिए तथा पुनः कैथोलिक धर्म की देश में स्थापना की और पोप को इंग्लैंड की धर्मव्यवस्था का परम प्रमुख मान लिया। धर्मव्यवस्था के परिवर्तन करने का पार्लमेंट और राज्याधिपति का अधिकार क्रेनमर मानता था। कैथोलिक धर्म की पुनः स्थापना पार्लमेंट के कानून से हुई थी। अतः क्रेनमर को विवश होकर यह व्यवस्था माननी पड़ी। उसने अपने पूर्वविचारों का खंडन भी किया, किंतु रानी ने उसे क्षमा नहीं किया। उसको जीवित जला देने का दंड दिया गया। जब उसके अग्निप्रवेश का अवसर आया तो दुर्बलता के क्षणों में किए अपने खंडनों को मानने से उसने इनकार किया और जिस हाथ से खंडन की बात लिखी थी, सबसे पहले उसको ही एकत्र समुदाय के समक्ष सहर्ष अग्नि को सौंप दिया। यह घटना २१ मार्च, १५५६ ई० को ऑक्सफ़र्ड में घटी। क्रेनमर मरकर भी अमर हो गया। इस वीरतापूर्ण बलिदान ने प्रोटेस्टैंट धर्म की नींव को दृढ़ किया। मेरी के बाद ही एलिजाबेथ प्रथम के शासन के दूसरे ही वर्ष १५५९ ई० में प्रोटेस्टैंट सिद्धांतों पर आधारित ऐंग्लिकन धर्मव्यवस्था को इंग्लैंड ने अपना लिया। (व्रि० पं०)

क्रेप झिलमिल बनावट का रेशमी कपड़ा जो देखने में एक अजीब ढंग का कड़ा और सलवट पड़ा जान पड़ता है। यह कड़े रेशमी सूत से बुना जाता है। इसकी दो किस्में प्रचलित हैं—(१) नर्म पूर्वी अथवा कैंटन क्रेप और कड़ा क्रेप। कैंटन क्रेप देखने में लहरदार दिखाई पड़ता है। इसके बाने का तार दो सूतों को गोंद के साथ उल्टी दिशा में बटकर कड़ा तैयार किया जाता है। बुनते समय कपड़ा एकदम चिकना होता है। उसमें किसी प्रकार की सलवट नहीं होती। बादमें जब उबालकर गोंद निकाल दिया जाता है, वह एकदम नरम हो जाता है और धागे की ऐंठन ढीली हो जाती है जिससे कपड़े में सलवटें पड़ जाती हैं जो इस वस्त्र की विशेषता मानी जाती है। चीनी और जापानी इस प्रकार का क्रेप तैयार करने में निपुण माने जाते हैं।

कड़े क्रेप की कताई और बुनाई सामान्य होती है। उसका क्रेप स्वरूप बुनाई के बाद की प्रक्रिया में निहित है। किंतु इसकी क्या प्रक्रिया है यह निर्माता ही जानते हैं और वे उसे गोपनीय रखते हैं। इस प्रकार का क्रेप एक धागे, दो धागे, तीन धागे या चार धागे का बनता है और प्रायः काले रंग में तैयार किया जाता है। इंग्लैंड में यह एसेक्स. नार्विच, यारमथ, मैनचेस्टर और ग्लासगो में बनता है। अब रेशमी क्रेप की नकल पर सूती क्रेप भी बनने लगे हैं। (प० ला० गु०)

क्रेबिलाँ, प्रास्पर जोलियो द (१६७४–१७६२ ई०)। फ्रांस का करुण रस का कवि जो एक राजदरबारी का पुत्र था। १७०३ ई० में उसने 'इडोमेने' की रचना की; १७०७ ई० में उसका लिखा नाटक 'अत्रे एत थीस्ते' राजदरबार में कई बार अभिनीत हुआ। १७०८ ई० में 'एलेक्त्रे' प्रकाशित हुआ। १७११ ई० में उसने अपना सर्वोत्तम नाटक 'रादे मिस्ते एत जेनोबी' लिखा जो बहुत दिनों तक निरंतरखेला जा तारहा।

दो नन्हें बच्चों को छोड़कर पत्नी के मर जाने पर क्रेबिलाँ इतना दुखी हुआ कि छत के ऊपर एक छोटे से कमरे में उसने अपने को सीमित कर

लिया और निहायत गंदगी से रहने लगा। उसने कुछ कुत्ते, बिल्लियाँ पाल रखी थीं, वही उसके मित्र थे। निरंतर तंबाकू पीकर वह अपना गम गलत करता रहा। इस प्रकार के एकांतिक जीवन व्यतीत करने के बावजूद १७३१ ई० में फ्रेंच अकादमी ने उसे अपना सदस्य चुना। १७३५ ई० में वह रायल सेंसर नियुक्त हुआ। १७४५ ई० में मदाम द पाँपदूर ने १००० फ्रैंक की पेंशन बाँध दी और राजकीय पुस्तकालय में उसे नियुक्त कर दिया। १७४६ ई० में वह पुन: 'पाइरस' नामक नाटक लेकर रंगमंच पर उतरा। १७४८ ई० में 'कैटिलीना' का सफल अभिनय राजदरबार में हुआ। ८० वर्ष की अवस्था में उसका अंतिम दु:खांत नाटक 'लिट्रेम्विरेट' प्रकाशित हुआ। कुछ लोग क्रेविलाँ को करुण रस के कवि के रूप में वाल्तेयर से श्रेष्ठ मानते हैं। वाल्तेयर ने क्रेविलाँ के पाँच दु:खांत नाटकों के विषय को अपने दु:खांत नाटकों का विषय बनाया है। जिस वर्ष क्रेविलाँ की मृत्यु हुई, 'यूलोजी द क्रेविलाँ' नाम से एक निंदापरक काव्य निकला जिसके संबंध में वाल्तेयर के नकारने पर भी कहा जाता है कि उसी ने लिखा था। क्रेविलाँ का एकमात्र पुत्र क्लाउ की ख्याति उपन्यासकार के रूप मे है। (प० ला० गु०)

क्रेमर, जेकब जान (१८२७–१८८० ई०)। डच उपन्यासकार। आर्नहेम में जन्म। चित्रकार के रूप में जीवन का आरंभ। १८५५ ई० में पहली बार उसकी कहानियाँ प्रकाशित हुईं। उनसे उसे ख्याति मिली और वे जर्मन और फ्रेंच में भी अनूदित हुईं। उसकी कहानियाँ डच के आंचलिक जीवन पर आधारित है और वेतुवे के विदग्धपूर्ण भाषा में लिखी गई है। बाद में उसने इस आंचलिक भाषा को छोड़कर व्यावहारिक डच भाषा में लिखना आरंभ किया। उसकी रचनाओं का संग्रह १८८७–८८ ई० में १२ खंडों में प्रकाशित हुआ। (प० ला० गु०)

क्रेमलिन सामंतवादी युग में रूस के विभिन्न नगरों में जो दुर्ग बनाए गए थे वे क्रेमलिन कहलाते हैं। इनमें प्रमुख दुर्ग मास्को, नोव्गोरॉड, काज़ान और प्सकोव, अस्त्राखान और रोस्टोव में हैं। ये दुर्ग लकड़ी अथवा पत्थर की दीवारों से बने थे और रक्षा के निमित्त ऊपर बुर्जियाँ बनी थीं। ये दुर्ग मध्यकाल में रूसी नागरिकों के धार्मिक और प्रशासनिक केंद्र थे, फलत: इन दुर्गो के भीतर ही राजप्रासाद, गिरजा, सरकारी भवन और बाजार बने थे।

आजकल इस नाम का प्रयोग प्रमुख रूप से मास्को स्थित दुर्ग के लिये होता है। यह डेढ़ मील की परिधि में त्रिभुजाकार दीवारों से घिरा है जो १४६२ ई० के आसपास गुलाबी रंग की ईंटों से बना था। इसके भीतर विभिन्न कालों के बने अनेक भवन हैं जिनमें कैथिड्रेल ऑव अज़ंप्शन नामक गिरजाघर की स्तूपिका सब भवनों में ऊँची है। इसका बनना १३६३ ई० में आरंभ हुआ था। इसके भीतर के अन्य प्रख्यात भवन हैं—विंटर चर्च (यह भी १३६३ में बनना आरंभ हुआ था) और कंवेंट ऑव अज़म्पशन (जो १३०० के आसपास का बना है)। इस मठ का द्वार गोथिक शैली का है जो १७०० ई० के आसपास रोमांतिक काल में बना था। अधिकांश राजप्रासाद रिनेंसाँ काल के हैं और अधिकांशत: उन्हें इतालवी शिल्पकारों ने बनाया था। इनमें उन लोगों ने रिनेंसाँ कालीन वास्तुरूपों को रूसी रुचि के अनुरूप ढालने का प्रयास किया है। ग्रैंड पैलेस नामक राजप्रासाद रास्ट्रेली नामक इतालवी बोरोक वास्तुकार की कृति थी। १८१२ में जब नैपोलियन ने मास्को पर आक्रमण किया उस समय यह प्रासाद अग्नि में जलकर नष्ट हो गया। उसके स्थान पर अब १९वीं शती के पूर्वार्ध में बना एक सादा भवन है।

क्रेमलिन का दृश्य बाहर से अद्भुत जान पड़ता है। दुर्ग की भीमकाय दीवारों के पीछे भवनों की चमकती हुई अनंत स्तूपिकाएँ और द्वार तोरणों के पिरामिडाकृत मीनार की भव्यता बाहर से देखते ही बनती है। भीतर वास्तु शैली की विविधता, उनके असीम अलंकरण और भवनों की बेतरतीब पाँतें भी उतनी ही सशक्त भव्यता का प्रदर्शन करती हैं। तेरहवीं शती के बैजंटाइन कला, १४वीं-१५वीं शती की रिनेंसाँ कला और १६वीं शती की अपनी रूसी कला और परवर्ती रोमांतिक क्लासिज्म वाली कला, सबका मिश्रण देखने में आता है फिर भी उनमें रूसी निजत्व की अनुभूति बनी हुई है।

१९१७ से पूर्व यह सोवियत विरोधी शक्तियों का गढ़ था। अब यह सोवियत समाजवादी गणतंत्र का केंद्र है। जिन भवनों में किसी समय राजदरबारी रहते थे उनमें आज सोवियत सरकार के अधिकारी निवास करते हैं। पास में ही रेड स्क्वायर है जहाँ राष्ट्रीय अवसरों पर रूसी सैनिक प्रदर्शन होते हैं। इसी स्क्वायर में लेनिन की समाधि है। (प० ला० गु०)

क्रेमैंजी, आक्टेव (१८२२–१८७९ ई०) कनाडा का कवि। ८ नवंबर, १८२२ई० को क्वेबेक में जन्म और वहीं शिक्षा। १८४८ ई० में उसने अपने दो भाइयों के सहयोग से एक किताब की दूकान खोली जो एक प्रकार से साहित्यकारों का अड्डा बना। वहाँ से उसने 'ले स्वायरे कनेडियंस' नामक पत्रिका निकाली जिसका उद्देश्य फ्रासीसी कनाडा के लोकगीतों को संगृहीत करना था ताकि वे लुप्त न हो जायें। क्रेमैंजी ने स्वयं अपनी कविताएँ १८५४ ई० से 'जर्नल द क्यूबेक' मे प्रकाशित करना आरंभ किया। १८६३ ई० मे वह कतिपय व्यापारिक कठिनाइयों में पड़ गया और कनाडा छोड़कर फ्रांस चला गया जहाँ उसका सारा जीवन दरिद्रतापूर्ण बीता। इस काल में उसने जूल्स फांटेन के छद्म नाम से कविताएँ लिखीं। इस काल में उसने एक नैराश्यपूर्ण लंबी कविता लिखी और 'पेरिस के घेरे' पर, जिसे उसने आँखों देखा था एक खंड काव्य लिखा। उसकी कविताएँ कनाडा की राष्ट्रीयता और कनाडा की प्राकृतिक छवि से ओतप्रोत हैं। हार्वे में १६ जनवरी, १८७९ ई० को उसकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्रेमोना, ल्यूगी (१८३०–१९०३ ई०) इतालवी गणितज्ञ। पाविया में जन्म। १८४८–४९ ई० के उत्तरी इटली के विद्रोह में सक्रिय भाग लिया। पाविया विश्वविद्यालय मे फ्रेंसिस्को ब्रोश्ची के अधीन शिक्षा प्राप्त की और क्रेमोना में प्रारंभिक गणित का अध्यापक बना। बाद में मिलान चला गया। १८६० ई० में वह बोलोन्या में उच्च ज्यामिति का प्राध्यापक नियुक्त हुआ। १८६६ ई० में वह मिलान के उच्च तकनीकी महाविद्यालय में उच्च ज्यामिति और ग्राफवाली सांख्यिकी का प्राध्यापक और १८७३ ई० में रोम में उच्च गणित का प्राध्यापक बना। रोम में उसने एक इंजीनियरिंग कालेज संघटित किया। इस समय तक उसकी ख्याति सारे यूरोप में गणितज्ञ के रूप में फैल चुकी थी। १८७९ ई० में वह ब्रिटिश रायल सोसाइटी का करस्पांडिंग मेंबर मनोनीत हुआ और इटली में सिनेटर चुना गया। उसने इटली में उच्च गणित की शिक्षा में सुधार करने में अपना जीवन लगाया था। वह इटली और यूरोप की शोध पत्रिकाओं में निरंतर लिखता रहा। उसकी कतिपय पुस्तकों का अँगरेजी में भी अनुवाद हुआ है। उसकी ख्याति ज्यामितिक के रूप में विशेष है। (प० ला० गु०)

क्रेल, अगस्त लियोपोल्ड (१७८०–१८५५ ई०) जर्मन गणितज्ञ। १७ मार्च, १७८० ई० को ऐशवर्डर (क्रीज़ेन) मे जन्म। इसकी अनेक बातों में रुचि थी और उसमें संघटन की अद्भुत क्षमता थी। उसने यथार्थविज्ञान के विकास के लिये बहुत कार्य किया। व्यावसायिक रूप से वह सिविल इंजीनियर था और उसने जर्मनी के प्रथम रेलमार्ग का निर्माण किया था किंतु उसकी रुचि शिक्षाविषयक बातों में अधिक थी। जिस तकनीकी संस्था मे वह काम करता था उसे उसने १८२८ ई० में छोड़ दिया और जनशिक्षा विभाग में काम करने लगा। उसने गणितविषयक अनेक शोध निबंध लिखे किंतु गणित को उसकी महत्वपूर्ण देन एक गणित संबंधी पत्रिका है जो आगे चलकर 'क्रेल्स जर्नल' के नाम से प्रख्यात हुई। इसके माध्यम से उसने अनेक गणितज्ञों को प्रोत्साहित किया। यदि उसने प्रोत्साहित न किया होता तो सुविख्यात गणितज्ञ अबेल की प्रमुख कृति कदाचित कभी न पूरी होती और न प्रकाशित। १८३८–४०ई० में बर्लिन-पॉट्सडैम रेलवे का निर्माण उसी की योजना के अनुसार हुआ। क्रेल की मृत्यु ६ अक्तूबर, १८५५ ई० में बर्लिन में हुई। (प० ला० गु०)

क्रेस्नोवोदस्क सोवियत गणतंत्र के तुर्कोमन प्रदेश का एक पोत पत्तन जो कास्पियन सागर के दक्षिणी और बलखान की खाड़ी के उत्तरी

किनारे पर स्थित है (स्थिति ४०°१' उ० तथा ५२°५२' पू०)। यह नगर सेंट्रल एशियन रेलवे का पश्चिमी छोर का अंतिम स्टेशन है। यह रेलवे सामरिक दृष्टि से १८८० ई० में बनाई गई थी जो माइकेल की खाड़ी से आरंभ होकर क्रैस्नावोदस्क की खाड़ी के दक्षिण तक जाती थी। माइकेल की खाड़ी मे जल छिछला होने के कारण १८९६ ई० में क्रैस्नोवोदम्क जहाँ १८१७ ई० का बना एक दुर्ग है, रेल का अंतिम स्टेशन बना। मध्य एशिया के कपास उत्पादक क्षेत्र और यूरोपीय रूस के कपडा उत्पादक क्षेत्र के बीच व्यावसायिक कडी होने के कारण जब रेल की महत्ता बढ़ी तब उतारने चढाने की कठिनाई कम करने तथा ऋतु सबधी बाधाओ को दूर करने की दृष्टि से क्रैस्नोवोदस्क से अस्त्राखान तक के रेलमार्ग के स्थान पर ताशकद से ओरेनबुर्ग के बीच एक नया रेलमार्ग बना किंतु इससे इस नगर की महत्ता में विशेष कमी नही आई। यह आज भी तुर्कमानिस्तान और पश्चिमी उजबेकिस्तान की रूई और मेवे के निर्यात की मुख्य मडी है। यहाँ नेप्था, लकडी, मक्का और चीनी का आयात होता है। यहाँ तेल साफ करने का कारखाना है। (प० ला० गु०)

क्रैडलाक, चार्ल्स एकवर्ट (१८५०–१९२२ ई०) अमरीकी लेखिका मेरी न्वायल्स मर्फी का छद्मनाम। बचपन में वह पक्षाघात के कारण अपग हो गई थी, फिर भी उसने नैशविले और फिलाडेल्फिया में शिक्षा प्राप्त की। गर्मी के दिनो मे वह पूर्वी टेनेसी के पर्वतो मे जाया करती थी। उसका वहाँ के आदिवासियों से निकट परिचय हुआ और उनका उसने अपनी रचनाओ मे प्रमुख रूप से चित्रण किया है। उसकी रचनाएँ जब एपल्टन जर्नल और अतलातिक जर्नल में प्रकाशित हुई तब कोई कल्पना न कर सका कि यह कहानियाँ किसी महिला की लिखी हुई हैं। उसने इस रहस्य का उद्घाटन १८८४ ई० मे किया जब उसकी कहानियो का पहला सग्रह 'इन द टेनेसी माउटेंस' प्रकाशित हुआ। उसने अपनी कहानियो में पर्वतवासियो के कठोर जीवन का चित्रण किया है जो विकसित सभ्यता से अलग थलग, परपराओ और रिवाजो के बीच रहते और अपनी एक विशिष्ट भाषा मे बोलते है। उसकी रचनाएँ प्राकृतिक चित्रण से भरी हुई है। उसके प्रमुख उपन्यास 'द बैटल वाज फाट' (जहाँ युद्ध हुआ था, १८८४ ई०) में दक्षिण के पुराने सामतवादी जीवन का चित्रण है, 'डाउन द रैवाइन' (खड्ड के नीचे, १८८५ ई०), 'द स्टोरी ऑव कीडन ब्लप्स' (कीडन ब्लप्स की कहानी, १८८७ ई०), 'द प्राफेट ऑव द ग्रेट स्मोकी माउटेन' (बडे काले पर्वत का मसीहा, १८८५ ई०), 'इन द क्लाउड्स' (बादलो के भीतर, १८८६ ई०), 'द डिस्पाट ऑव ब्रूमसेज कोव' (ब्रूमसेज कोव का स्वेच्छाचारी शासक, १८८८ ई०), 'हिज वैनिश्ड स्टार' (उसका बुझा सितारा, १८९४ ई०), तथा कहानी सग्रहो मे 'द मिस्ट्री ऑव विचफेस माउटेन' (मायामुखी पर्वत का रहस्य, १८९५ ई०), 'फैंटम्स ऑव द फुटब्रिज' (फुटब्रिज का भूत), 'यग माउटेनियर्स' (युवा पर्वतारोही, १८९७ ई०) और 'द बुशह्वेकर्स' (जगली महामानव, १८९९ ई०) प्रमुख है।

क्रैडलाक की मृत्यु मरफीबोरो (टेनेसी) में २१ जुलाई, १९२२ ई० मे हुई। (प० ला० गु०)

क्रैब, जार्ज (१७५४–१८३२ ई०) अँगरेज कवि और कहानीकार। अल्डेबरा (सफॉक) मे एक जकात अधिकारी के घर जन्म। पिता की इच्छा उसे डाक्टर बनाने की थी अतः वह एक दवाफरोश के यहाँ सहायक के रूप मे काम करने लगा। फिर वह एक डाक्टर का सहायक बना। कुछ दिनों वह मजदूरी भी करता रहा। फिर उसने स्वय डाक्टरी करनी आरभ की पर उसे सफलता न मिली और वह भूखो मरने लगा। तब १७८० मे एक उदार दानी के दिए हुए पाँच पाउड लेकर वह अपना भाग्य आजमाने लदन आया। इस समय तक उसकी पहली कविता इनेब्राइटी (उन्माद) छप चुकी थी। वह अपनी कई रचनाएँ लेकर लदन आया था पर 'कैंडिडेट' (प्रत्याशी) को छोडकर कोई भी प्रकाशन के निमित्त स्वीकार न हो सकी। मार्च, १७८१ ई० मे उसकी भेंट एडमड बर्क से हुई। उन्होने उसकी रचनाएँ पढी, सुझाव दिए और 'द लाइब्रेरी' (पुस्तकालय) शीर्षक रचना प्रकाशितकर उसकी सहायता की तथा अन्य लोगो से उसका सपर्क स्थापित कराया। फलत वह अपने जन्मस्थान के गिर्जे का सरक्षक (क्यूरेट) नियुक्त किया गया किंतु वहाँ के पादरी उसे मजदूर के रूप मे देख चुके थे, वे उसे क्यूरेट के रूप में सम्मान न दे सके। तब बर्क के कहने से ड्यूक ऑव रटलैंड ने उसे अपने बेलवायर कासल के गिर्जे मे पुजारी नियुक्त कर दिया और डारसेटशायर मे रहने के लिये मकान दे दिया।

उसी वर्ष उसकी 'विलेज' (ग्राम) शीर्षक रचना प्रकाशित हुई जिसे उसने बर्क के सुझाव पर सशोधित कर पूरा किया था। इस रचना मे क्रैब ने अपनी बात सत्यता के साथ मुक्त और निधडक होकर कही है। इसमे उसने ग्राम जीवन के अधकारमय पक्ष का ही विशेष चित्रण किया है। इसी का उसे अनुभव भी था। उसने प्रकृति के जो चित्रण किए हैं उनमे पशु-पक्षी, फूल, पत्ती के प्रति उसका सूक्ष्म निरीक्षण प्रतिबिंबित है। उसकी वीर रस की कविताएँ प्रभावकारी है। स्कॉट ने उन्हे इस मनोयोग से पढा था कि दस वर्ष बाद भी उसे ज्यो की त्यो याद रही।

'विलेज' के प्रकाशन के बाद बीस वर्ष तक उसने कुछ भी प्रकाशित नहीं किया। इस काल मे वह विभिन्न कार्य करता रहा और १८१४ ई० म वह विल्टशायर में बस गया और वहीं अपना अतिम जीवन व्यतीत किया। उसके जीवन का यही काल सबसे सुखद था। इस काल मे वह लदन आता जाता और अपने समकालिक साहित्यकारो से घुलता मिलता रहा। १८१७ ई० मे उसने अपना 'टेल्स ऑव द हाल' पूरी की।

आलोचको ने क्रैब की कविताओ की भूरि भूरि सराहना की है। एडवर्ड फिट्ज्जेरल्ड ने अपने 'लेटर्स' मे, कार्डिनल न्यूमैन ने अपने 'अपालाजिया' मे और सर लिडले स्टिफेन ने अपने 'आवर्स इन द लाइब्रेरी' मे उसके सबध मे बहुत ही प्रशसात्मक बातें कही है। चार्ल्स जेम्स फॉक्स और सर वाल्टर स्कॉट को अपने अतिम क्षणो मे उसकी रचनाएँ सात्वनापूर्ण लगी थी और टामस हार्डी ने अपने उपन्यासो पर उसके यथार्थवाद के प्रभाव को स्वीकारा है। आलोचको और साहित्यकारो के बीच प्रिय होते हुए भी विचित्र बात यह है कि क्रैब की रचनाएँ जनता के बीच बहुत दिनो तक उपेक्षित ही रही। जहाँ उसके समसामयिक काउपर, स्कॉट, बायरन, शेली आदि की रचनाओ के अनेक पुनर्मुद्रण उनके जीवनकाल मे ही हुए, क्रैब की रचनाएँ काफी दिनो तक उपेक्षित रही। मरणोपरात ही १८४७ ई० के बाद उसकी रचनाओ के पुनर्मुद्रण होने प्रारभ हुए। इसका कारण कदाचित् यह है कि वह शब्दो का शिल्पी न था। उसकी रचनाओ मे तात्विकता है। उसने अपनी लय प्रधान रचनाएँ अफीम की पिनक मे लिखी है जिसका कि वह अतिम दिनो मे आदी हो गया था। उसकी कहानियो में कटुता भरी हुई है। उनके पढने पर जान पडता है कि वह अँगरेजी साहित्यकारो के बीच यथार्थ का एक महान् चितेरा था। (प० ला० गु०)

क्रैशा, रिचर्ड (१६१२–१६४९ ई०)। अग्रेज कवि। इसका जन्म लदन मे एक पोप विरोधी पादरी के घर हुआ था। उसने चार्टर हाउस और कैंब्रिज मे शिक्षा प्राप्त की और बी० ए० की डिगरी ली। १६३६ ई० मे उसे पीटरहाउस (कैंब्रिज) कालेज की फेलोशिप प्राप्त हुई और उसने एम० ए० किया किंतु १६४४ ई० मे उसके धार्मिक विचारों के कारण फेलोशिप छीन ली गई। जब गृहयुद्ध आरभ हुआ तो वह फ्रास चला गया और कैथोलिक मतावलबी बन गया। फ्रास में उसे आर्थिक कष्ट का सामना करना पडा किंतु रानी हेनरिटा मेरिया के परिचयपत्र के आधार पर कार्डिनल पैलोटा ने उसे अपना निजी सचिव नियुक्त कर लिया। उनके पास वह १६४९ तक रहा। बाद मे कार्डिनल ने उसे लोरेट्टो के गिर्जाघर का गायक बनाकर भेज दिया जहाँ उसकी तीन सप्ताह बाद ही बुखार से मृत्यु हो गई। सदेह किया जाता है कि उसे जहर दिया गया था।

क्रैशा का आरभ से ही धर्म की ओर झुकाव था, और १८३४ ई० में उसने लैटिन भाषा में अपनी पहली कविताओ की पुस्तक 'एपिग्रैमैरम् सैक्रोरम लिबर' प्रकाशित की। उसकी धार्मिक और लौकिक कविताओं का एक सग्रह उसके फ्रास प्रवासकाल में किसी अनामा मित्र ने 'स्टेप्स टु द

टेंपुल' तथा 'द डिलाइट ग्रॉव द म्यूजेस' शीर्षक से प्रकाशित कराई। १६५२ ई० में उसकी धार्मिक रचनाओं का एक संग्रह पेरिस से प्रकाशित हुआ जिसमें क्रैशा के अपने बनाए हुए १३ चित्र हैं।

क्रैशा लैटिन और यूनानी भाषा के अतिरिक्त इतालवी और स्पेनी भाषा का भी जानकार था। वह कवि के साथ साथ संगीतज्ञ और चित्रकार भी था और इस क्षेत्र में भी उसकी प्रतिष्ठा थी। कवि के रूप में उसने नाना प्रकार की रचनाएँ की हैं। आलोचकों ने उसे मधुर वक्ता, स्तुतिकार, अलौकिक गायक (डिवाइन सिंगर) के रूप में स्मरण किया है। उसकी कुछ रचनाएँ अध्यात्मवादी हैं; कुछ रचनाएँ धार्मिक होते हुए भी भौतिकवादी जान पड़ती हैं। उसकी कविताओं में जहाँ मौलिकता है वहीं पारंपरिकता भी है। अभिव्यक्ति की नूतनता के साथ साथ पुराने घिसेपिटे शब्दों का प्रयोग भी है। उसने अपनी रचनाओं में कहीं कहीं विचित्र उपमान प्रयुक्त किए हैं। यथा—आँखों को उसने 'वाकिंग वाथ्स' (चलता फिरता स्नानागार) और पोर्टेबुल ओशंस (सहज उठाया जा सकनेवाला सागर) कहा है। (प० ला० गु०)

क्रैस्नोदार (Krasnodars) १. नगर तथा प्रदेश; स्थिति : उत्तरी कॉकेशस क्षेत्र में (४५°२' उ० अ० तथा ३६°०' पू० दे०); जनसंख्या ३,६५,००० (१६६७)। इसकी स्थापना १७६४ ई० में कूबैन नदी के तट पर की गई थी। कूबैन नदी में बाढ़ आने से इसके चारों ओर की भूमि दलदली हो गई है। कूबैन नदी द्वारा यातायात के कारण यह नगर उन्नति कर रहा है। इस नगर का रेलों द्वारा नॉवरस्सीस्क (Novorossisk), रोस्टोव तथा बाकू नगरों से संबंध है। यहाँ मजदूर वैज्ञानिक संस्था, कलाभवन तथा कई प्रौद्योगिक स्कूल स्थापित किए गए है। सरकार ने यहाँ प्रयोगात्मक फलोद्यान की स्थापना की है जहाँ नए फलों की कलमें तैयार की जाती हैं।

२. क्रैस्नोदार प्रदेश सोवियत संघ का एक प्रमुख प्रांत है। क्षेत्रफल ३४,२०० वर्ग मील है। इस प्रदेश के उत्तर में रोस्टोव, पूर्व में स्टैव्रोपॉल, दक्षिणपूर्व में जोर्जिया तथा दक्षिण एवं दक्षिणपश्चिम में काला सागर स्थित है। यहाँ की जलवायु प्रेरी (Prairie) प्रकार की है। ग्रीष्म काल सूखा रहता है तथा वर्षा १५" से १७" प्रति वर्ष होती है। दक्षिणी भाग पहाड़ी तथा पठारी है। प्रमुख नदियों में कूबैन और मनीच हैं।

पहाड़ी भाग होने से कृषि का महत्व कम है। केवल तरकारियाँ, तरबूजा, तंबाकू, सूरजमुखी अधिक बोई जाती है। नदियों की घाटियों में चावल और ज्वार बाजरे की कृषि होती है। इस प्रांत में तेलशोधक कारखाने तथा मछली एकत्र करने के केंद्र हैं। क्रैस्नोदार प्रांतीय राजधानी है जहाँ साबुन बनाने, चमड़ा पकाने और तंबाकू के कारखाने भी हैं। यहाँ के अन्य प्रमुख नगर मैकाप और आरमावीर हैं।

(भू० का० रा०)

क्रैस्नोयार्स्क (Krasnoyarsk) नगर तथा प्रदेश; स्थिति : ५६°३०' उ० अ०, ६२°०' पू० दे०, जनसंख्या ५,५७,००० (१६६७)। यह नगर रूसी मध्य साइबिरिआ में येनिसे (Yenisei) नदी के बाएँ तट पर स्थित है। येनिसे नदी का पाट यहाँ एक मील है जो दिसंबर से मई के प्रथम सप्ताह तक बर्फ से ढकी रहती है। इस नगर की स्थापना १६२८ ई० में कजाक जाति के लोगों द्वारा की गई थी। इस नगर का विकास ट्रांस-साइबिरिअन रेलवे बनने के पश्चात् आरंभ हुआ जिसका यह एक प्रमुख स्टेशन है। यहाँ म्युनिसिपल कलाभवन, प्रौद्योगिक स्कूल तथा रेलवे स्कूल भी हैं।

क्रस्नोयार्स्क प्रदेश पश्चिमी मध्य साइबिरिआ (सोवियत संघ) में स्थित है। क्षेत्रफल ८,२७,५०७ वर्ग मील। यह भाग रूस के टाइमिर (Taimyr) तथा एवेंकी (Evenki) जिलों से मिलकर बना है। इस प्रदेश का अधिकांश भाग दलदली है। शीतकालीन ठंढी हवाओं के कारण यहाँ दिसंबर से मई तक हिमपात होता है। वर्तमान समय में इस भाग का विकास अधिक हो रहा है क्योंकि यहाँ सोने और कोयले की खानें प्राप्त हुई हैं। उद्योगों के साथ साथ कृषि का भी विकास किया जा रहा है। बिजली का उत्पादन करने के लिये क्रैस्नोयार्स्क में ३२,००,००० किलोवाट का स्टेशन बनाया गया है। किज़िल (Kyzyl) से क्रैस्नोयार्स्क तक हवाई जहाजों से आवागमन होता है। क्रैस्नोयार्स्क प्रमुख नगर तथा प्रांतीय राजधानी है। यहाँ कागज तथा चमड़े के कारखाने भी हैं। मिनिसिन्स्क (Minisinsk) अचिंस्क (Achinsk) तथा इगारके अन्य प्रसिद्ध नगर हैं।

(भू० का० रा०)

क्रोघ, शैक अगस्त स्टीनवर्ग (१८७४–१६४६ ई०)। डेनमार्क निवासी शरीर वैज्ञानिक (फ़िज़िओलॉजिस्ट)। ग्रेना (डेनमार्क) में १५ नवंबर, १८७४ ई० को जन्म। उसकी आरंभिक शिक्षा आर्हुस कैथिड्रल स्कूल में हुई तदनंतर उसने उच्च शिक्षा कोपेनहेगेन विश्वविद्यालय में प्राप्त की। १८६६ से १६०८ ई० तक विश्वविद्यालय की फ़िजियोलॉजी की अनुसंधानशाला में सहायक रहा। इसी बीच उसने १६०३ ई० में मेंढकों की श्वास प्रक्रिया पर शोध निबंध लिखकर डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। १६०८ ई० में वह उसी विश्वविद्यालय में जंतुओं के शरीर विज्ञान का लेक्चरर और १६१६ ई० में प्रोफसर बना और इस पद पर वह १६४५ ई० तक रहा।

क्रोघ ने श्वास प्रक्रिया संबंधी अनेक महत्वपूर्ण खोज किए हैं। १६०६ ई० में वह 'मैकानिज्म ऑव गैस एक्सचेंज इन लंग्ज' (फुफ्फुस में गैस विनिमय की प्रक्रिया) शीर्षक शोध के लिये विएना अकादमी ऑव साइंस से पुरस्कृत हुआ। उसके बाद वह निरंतर श्वास तथा रक्तसंचार में धमनियों की क्रिया संबंधी समस्याओं पर शोध करता रहा। उसने एक ऐसे तत्व को ढूँढ़ निकाला जो धमनियों के सिकुड़न को प्रभावित करते हैं। उसके ये शोध चिकित्सा विज्ञान में विशेष महत्व रखते हैं। १६१६ ई० में वह डेनिश रायल सोसाइटी ऑव मेडिसिन का फेलो बनाया गया। १६२० ई० में उसे फ़िजिओलॉजी और मेडिसिन का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। १६४५ ई० में उसे इंग्लैंड की रायल सोसाइटी का बाली पदक मिला। वाशिंगटन नेशनल अकादमी ऑव साइंस तथा स्वीडन और नार्वे की अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं से उसे संमान प्राप्त हुआ। १३ सितंबर, १६४६ ई० को उसकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्रोटन भारत और मलय प्रायद्वीप में उत्पन्न होनेवाला यूफारेबाइसी परिवार का एक वृक्ष जिसके बीज से तेल निकाला जाता है। उसके बीज अरंड के बीज के आकार के होते हैं किंतु उसके छिलके पर न तो चित्ती होती है और न चमक। इसके बीज के गूदे में ५० से ६० प्रतिशत तक तेल होता है और गर्म तवे के बीच दाब कर निकाला जाता है। यह तेल चिपचिपा हल्का पीलापन लिए होता है और स्वाद में कटु और इसकी गंध असह्य होती है। वह उड़नशील तेलों, कार्बन डाइसल्फाइड, ईथर तथा कुछ सीमा तक अल्कोहल में घुलनशील है। इसमें एसेटिक, व्यूटाइरिक और वेलटिक एसिड होते हैं। इसका मुख्य अंश रेज़ीन होता है।

इसका प्रयोग दवाओं, मुख्यत: पशुओं की दवाओं में होता है। किंतु त्वचा पर प्रयोग करने से तीव्र खुजली होती है और वह सूज जाता है। एक बूँद से भी कम खाने से तत्काल पेचिश हो जाती है, इस कारण यह अत्यंत खतरनाक तेल समझा जाता है। (प० ला० गु०)

क्रोनेकर, लियोपोल्ड (Kronecker, Leopold) (१८२३–१८६१ ई०), जर्मन गणितज्ञ। जन्म ७ दिसंबर, १८२३ ई० को लाइग्निट्ज़ में और शिक्षा बर्लिन एवं ब्रेसलाओ में हुई। १८४४ ई० से १८५५ ई० तक व्यापार एवं संपत्ति की देखभाल में व्यस्त रहने पर भी इन्होंने गणित का अध्ययन जारी रखा। तदुपरांत ये बर्लिन चले गए और १८६१ ई० से बर्लिन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हो गए। गणित को इनकी सबसे महान् देन है, 'अपूर्व भाषांकों की सहायता से संख्याओं के सिद्धांतों और बीजगणित में स्थापित सुंदर संबंध'। इनका विचार सर्वदा यह रहा कि भिन्नात्मक और अपरिमेय राशियों का आधार केवल पूर्ण संख्याएँ हैं। १८६०-६१ ई० में संख्यात्मक गुणकवाले बीजीय समीकरण के एक सिद्धांत का इन्होंने अन्वेषण किया, परंतु इसके प्रकाशन के पूर्व ही, २६ दिसंबर, १८६१ ई० को इनकी मृत्यु हो गई

क्रोपोत्किन, पीटर अलेक्सेविच (१८४२--१९२१ ई०)। रूस का प्रख्यात भौगोलिक, क्रांतिकारी और समाज दर्शन का विद्वान्। इसका जन्म मास्को मे ९ दिसंबर, १८४२ ई० को राजकुमार अलेक्सी पेट्रोविच क्रोपोत्किन के घर हुआ था। पंद्रह वर्ष की अवस्था मे १८५७ ई० में वह जार अलेक्जेंडर द्वितीय के यहाँ 'पेज' बन गया। वहाँ उसे सैनिक चरित्र के साथ साथ राजदरबार की मर्यादा का परिचय प्राप्त हुआ। किंतु आरंभ से ही रूस के किसानों के जीवन के प्रति सहानुभूति के भाव उसके मन मे जाग रहे थे। विद्यार्थी जीवन के अंतिम दिनों मे उदार क्रांतिकारी साहित्य से उसका परिचय हुआ और उसमे उसे अपने भाव प्रतिबिंबित होते दिखाई पड़े जो आगे चलकर उसके क्रांतिकारी बनने मे सहायक हुए।

१८६२ ई० में वह साइबेरियन कजाक रेजिमेंट के सैनिक के रूप मे नवविजित अमूर जिले मे भेजा गया। कुछ दिनो वह चिता मे ट्रांसबैकालिया के प्रशासक का सचिव रहा, बाद मे वह इर्कुटस्क मे पूर्वी साइबिरिया के गवर्नर जनरल का कज्जाकी मामले का सचिव नियुक्त हुआ। १८६४ ई० मे उसने एक भौगोलिक सर्वेक्षण अभियान का संचालन किया और उत्तरी मंचूरिया को पारकर ट्रांसबैकालिका से आमूर तक गया। उसके बाद उसने एक दूसरे अभियान में भाग लिया जो मंचूरिया के भीतर सुंगरी नदी तक गया। इन दोनों अभियानों से महत्वपूर्ण भौगोलिक जानकारी प्राप्त हुई।

१८६७ में सैनिक सेवा से विलग होकर विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ और रूसी भौगोलिक सोसाइटी के प्राकृतिक भूगोल विभाग का मंत्री बना। १८७३ ई० मे उसने एक शोध निबंध तथा नक्शा प्रस्तुत किया जिसमें उसने यह सिद्ध किया कि एशिया के जो नक्शे हैं उनमे देश के प्राकृतिक स्वरूप का गलत अंकन हुआ है। उसने प्रचलित धारणा के विपरीत प्रतिपादित किया कि मुख्य संरचना की रेखा दक्षिणपश्चिम से उत्तरपूर्व है उत्तरदक्षिण नहीं। उसने ज्योग्राफ़िकल सोसाइटी की ओर से १८७१ ई० मे फिनलैंड और स्वीडन के ग्लेशियल डिपाजिट्स की खोज की। इसी समय उससे सोसाइटी के मंत्री का भार सँभालने को कहा गया किंतु उसने आगे कोई नई खोज न कर ज्ञात ज्ञान का ही जनप्रसार करने का निश्चय किया और मंत्री पद अस्वीकार कर दिया। सेंट पीटर्सबर्ग लौटकर क्रांतिकारी दल में संमिलित हो गया।

१८७२ ई० मे स्वीटजरलैंड गया और वहाँ जिनेवा मे वह अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ का सदस्य बन गया। कुछ दिनो वहाँ नेताओं के संपर्क मे रहकर उनके कार्यक्रम का अध्ययन किया और पूरी तरह क्रांतिकारी बन गया। रूस लौटकर उसने निहलिस्ट प्रचार मे सक्रिय भाग लेना आरंभ किया। १८७४ ई० मे वह गिरफ्तारकर जेल भज दिया गया। १८७६ ई० मे वह जेल से भाग निकला और पहले इंग्लैंड फिर स्वीजरलैंड चला गया और जूरा फेडरेशन में संमिलित हो गया। १८७७ ई० मे वह पेरिस गया जहाँ उसने समाजवादी आंदोलन मे भाग लिया। १८७८ ई० मे स्वीजरलैंड लौटकर वह 'ले रिवोल्ते' नामक क्रांतिकारी पत्रिका का संपादक हो गया। और अनेक क्रांतिकारी पुस्तिकाएँ प्रकाशित की। जार अलेक्जेंडर (द्वितीय) की हत्या के कुछ ही दिन बाद स्विस सरकार ने उसे अपने देश से निर्वासित कर दिया। तब वह कुछ दिनों फ्रांस में रहकर लंदन चला गया और १८८२ ई० के अंत में वह पुनः फ्रांस लौट आया। वहाँ फ्रांस सरकार ने उसपर लियान मे मुकदमा चलाया और अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के सदस्य होने के अपराध मे उसे पाँच वर्ष की सजा हुई। १८८६ ई० मे, जब फ्रेंच चैंबर (संसद्) में उसकी ओर से निरंतर आंदोलन हुए तब वह १८८६ ई० मे रिहा किया गया और वह लंदन जाकर बस गया और साहित्यिक कार्य करने तथा अपने 'प्रास्परिक सहायता' के सिद्धांत को विकसित करने लगा।

क्रोपोत्किन भूगोल और कृषि का एक आधिकारिक विद्वान् था। ...सने उनके विकास के लिये अनेक व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत किए। ...ी 'ओरोग्राफी ऑव एशिया' भूगोल संबंधी प्रसिद्ध पुस्तक है। ...त्किन का समाज संबंधी अपना एक दर्शन था। इस विषय पर उसकी कुछ पुस्तकें हैं--(१) रोटी पर विजय, (२) अराजकतावाद और उसका दर्शन, (३) राज्य--उसका इतिहास में स्थान, (४) सहकारिता-विकास का तत्व, (५) आधुनिक विज्ञान और अराजकतावाद। रूस के अराजकतावादी लेखकों मे उसे सबसे अधिक ख्याति प्राप्त है। उसको अराजकतावादी साम्यवाद का अग्रदूत कहा जाता है। उसने उत्तर क्रांतिकालीन समाज की जिस धारणा का प्रतिपादन किया है, उससे आधुनिक साम्यवाद अत्यधिक प्रभावित है। क्रोपोत्किन ने जीवन तथा आचरण का जो सिद्धांत बताया है उसके अंतर्गत समाज शासनविहीन होगा। उस समाज मे सामंजस्य उत्पन्न करने के लिये किसी कानून अथवा सत्ता के आदेशों और उनके पालन की आवश्यकता नहीं होगी। यह सामंजस्य उत्पादन तथा उपभोक्ताओं और अन्य सभ्य व्यक्तियों की विभिन्न एवं अनंत आवश्यकताओं और इच्छाओं की संतुष्टि के लिये स्वतंत्र आत्मप्रेरणा तथा स्वेच्छा से संगठित प्रादेशिक, स्थानीय, राष्ट्रीय और व्यावसायिक-व्यापारिक समुदायों के ऐच्छिक तथा स्वतंत्र समझौते से उत्पन्न होगा। अतः क्रोपोत्किन के अनुसार व्यवस्था एवं संगठन में अनिवार्यता नहीं होगी, कोई कानून नहीं होगा, और कोई शासन नहीं होगा। अराजकतावादी समाज मे प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक होगा। अराजकतावादी समाज का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना करना है जो राज्य एवं वर्गरहित हो। इस समाज मे व्यक्तिगत संपत्ति अथवा उत्पादन के व्यक्तिगत साधन जैसे कोई मूल्य नहीं होंगे। क्रोपोत्किन के विचारानुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का अधिकार होगा। ऐसे समाज में प्रतियोगिता और संघर्ष का अंत होगा और नए समाज मे नए मूल्यों का सृजन होगा, समाज मे व्यक्ति व्यक्ति के संबंध में पारस्परिक सहायता, सहयोग एवं सौहार्द्र ही जीवन का आधार होगा।

क्रोपोत्किन के दर्शन का मूल तत्व यह था कि हरएक की सत्ता या अनिवार्यता व्यक्ति की स्वतंत्रता को कम कर देती है। सत्ता या बल अनुचित एवं अन्यायपूर्ण होता है। वह राज्य, व्यक्तिगत संपत्ति एवं धर्म का निंदक एवं परम विरोधी था। उसका विश्वास था कि राजनीतिक संगठन की कोई आवश्यकता नहीं है; फलतः राज्य का अस्तित्व अनावश्यक ही नहीं वरन् मनुष्य के विकास एवं स्वतंत्रता की दृष्टि से हानिकारक भी है। राज्य के न रहने से संगठित सेनाएँ नहीं रहेंगी, इस प्रकार संसार से युद्ध का अंत हो जायगा। राज्य की असंतुलित आर्थिक व्यवस्था मनुष्य को अपराध की ओर प्रवृत्त करती है। राज्य तथा कानून निर्बलों के शोषण के निमित्त बनाई हुई व्यवस्था है। राज्य के कानून इस प्रकार बनाए गए हैं जिससे विशेषाधिकारसंपन्न वर्ग के व्यक्ति अधिकारों का अनुचित उपयोग करके अपनी सत्ता बनाए रखें। वर्तमान कानून का उद्देश्य उत्पादक से उत्पादन का अधिक से अधिक भाग छीन लेना है। बाह्य क्षेत्र में स्वार्थपरता एवं महत्वाकांक्षाएँ युद्ध, संघर्ष एवं विनाश को जन्म देती हैं। आंतरिक क्षेत्र में राज्य, कानून या संपत्ति द्वारा प्राप्त शक्तिसंपन्न सत्ता नागरिकों मे उत्तम प्रवृत्तियों को कुचल देती है। मानव का उत्साह निर्मूल कर उसे आज्ञापालन का एक यंत्र सा बना देती है।

क्रोपोत्किन अराजकतावादी समाज को कोरी आदर्श कल्पना नहीं मानता था। उसका विश्वास था कि अराजकतावादी समाज तर्कयुक्त, न्यायोचित और व्यावहारिक है। अराजकतावादी समाज का आर्थिक संगठन पूर्णतया साम्यवादी प्रणाली पर आधारित है। भूमि तथा उत्पादन के समस्त साधनों पर समाज का स्वामित्व होगा। क्रोपोत्किन के अनुसार 'प्रत्येक वस्तु पर प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार होगा। प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन क्रिया मे अपना उचित योग देगा और प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादन मे से उचित हिस्सा पाने का अधिकार होगा।' अर्थात् अराजकतावादी समाज मे प्रत्येक व्यक्ति समाज मे अपनी आंतरिक प्रेरणा, प्रवृत्ति एवं क्षमता के अनुसार काम करेगा और अपनी आवश्यकता के अनुसार पुरस्कृत होगा। अराजकतावादी समाज में सभी व्यक्तियों को जीवन की आवश्यकताएँ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होंगी। प्रत्येक व्यक्ति को उचित अवकाश मिलेगा, जिस अवकाश को वह विज्ञान, कला तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये तथा अपने विकास के लिये प्रयुक्त करेगा।

जब रूस में क्रांति आरंभ हुई तब उसने स्वदेश लौटने का निश्चय

किया और जून, १९१७ ई० में रूस लौटकर मास्को के निकट बस गया। उसने क्रांति में किसी प्रकार का कोई भाग नहीं लिया। उसने 'मेमायर्स ऑव ए रिवोल्यूशनिस्ट' शीर्षक अपने संस्मरण और फ्रांस की राज्यक्रांति पर एक पुस्तक लिखी। ८ फरवरी, १९२१ ई० को उसकी मृत्यु हुई।
(प० ला० गु०; शु० तें०)

क्रोमाइट जिसे क्रोम अयस्क, क्रोम लौह अयस्क, क्रोमिक लौह अयस्क आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है, क्रोमियम धातु का मुख्य अयस्क है। यह उन गिने गिनाए कुछ खनिजों में से एक है, जिसका उपयोग वर्तमान धंधों में अनेक प्रकार से किया जाता है। यह संसार के कुछ ही देशों में मिलता है, जिसमें भारत भी संमिलित है। सामान्यतः सोवियत रूस को छोड़कर, जहाँ क्रोम अयस्क का उत्पादन अधिक होता है, अधिकांश देश इस धातु को अन्य उत्पादक देशों से आयात करके अपनी आवश्यकता पूरी करते हैं। इसी लिये द्वितीय विश्वयुद्ध में संमिलित अधिकांश देशों की सामरिक खनिजों की सूची में क्रोमाइट का उच्च स्थान था। सामान्य दिनों में भी, क्रोमाइट की अच्छी माँग रहती है। इस धातु का अधिकांश भाग फेरोक्रोम, स्टेनलेस इस्पात, रिफ्रेक्टरी तथा चमड़ा उद्योग में रसायन के रूप में प्रयुक्त होता है।

क्रोम अयस्क या क्रोमाइट ($F_e O. C_{r2} O_3$) को लोहे का क्रोमेट माना जा सकता है, जिसमें सिद्धांततः ६८ प्रतिशत क्रोमिक सेस्क्वीऑक्साइड ($C_{r2}O_3$) तथा ३२ प्रतिशत लौह ऑक्साइड (F_eO) होना चाहिए। किंतु प्रकृति में यह अयस्क कभी भी शुद्ध रूप में नहीं मिलता, इसमें क्रोमियम के स्थान पर फेरिक लौह तथा ऐल्यूमिनियम और फेरस आयरन के स्थान पर मैग्नीशियम विभिन्न मात्राओं में प्रवेश कर जाते हैं। फलस्वरूप इसमें ५०–५२ प्रतिशत से अधिक क्रोमिक ऑक्साइड नहीं रहता।

क्रोमाइट (आ० घ०, ४.०–४.६; कठोरता ५.५) में अष्टभुजाकार निरवम होते हैं परंतु साधारणतया इसका गठन स्थूल दानेदार से लेकर संहत तक होता है और साधारणतया भूरा निशान छोड़ता है। इस खनिज में धात्विक से लेकर अल्पधात्विक चमक होती है। यह कुछ कुछ चुंबकीय होता है। यह काफी कठोर होता है और चाकू द्वारा कठिनाई से खुरच जा सकता है। संघटन के अनुसार इसका गलनांक १५४५° से १७३०° तक होता है।

क्रोमाइट को फुँकनी परीक्षण (ब्लो-पाइप टेस्ट) द्वारा आसानी से पहचाना जा सकता है। उपचायक ज्वाला में यह खनिज गर्म रहने पर सुहागा-मनका को रक्ताभ-पीत कर देता है। और ठंडा होने पर पीताभ-हरा रंग प्रदान करता है (लोह की अभिक्रिया) और उपचायक ज्वाला में माणिक हरित (क्रोमियम की अभिक्रिया)। माइक्रोकारमिक लवण का मनका क्रोमाइट के साथ उपचायक तथा अपचायक दोनों ही ज्वालाओं में, गर्म रहने पर गंदा हरा रंग और ठंडा होने पर निखरा हरा रंग उत्पन्न करता है। सोडियम कार्बोनेट के साथ गलाने पर क्रोमाइट अपारदर्शी पीला मनका बनाता है।

इसके निक्षेप मैसूर, आंध्र में किस्तिना, मद्रास में सेलम, बिहार में सिंहभूम (चायबासा) तथा उड़ीसा में क्योंझर जिलों में प्राप्त हुए हैं। कुछ नवीन निक्षेप उड़ीसा के कटक तथा ढेंकानल जिलों में मिले हैं। सुकिंदा में सभी वर्गों के क्रोमाइट की मात्रा दो लाख टन तथा ढेंकानल में १ लाख २० हजार टन है। सेलम में २० फुट तक की गहराई में क्रोमाइट की अनुमानित मात्रा २ लाख २० हजार टन है। कुछ साधारण निक्षेप काश्मीर राज्य में भी प्राप्त हुए है। संपूर्ण भारत में क्रोमाइट की अनुमानित निधि १३ लाख टन आँकी गई है। उच्च श्रेणी के क्रोमाइट की, जिसमें ४५% अथवा उससे अधिक क्रोमियम आक्साइड की मात्रा होती है, अनुमानित निधि प्रायः दो लाख टन आँकी गई है।

भारत में सन् १९६८ ई० में क्रोमाइट का कुल उत्पादन २,०५,६५६ टन हुआ जिसका मूल्य १३,३०६ हजार रुपए बताया गया है। इसमें से १,०८,८२२ टन क्रोमाइट का निर्यात किया गया जिससे १६,४५६ हजार रुपए की विदेशी मुद्रा प्राप्त हुई।

क्रोमाइट का अधिकतम उपयोग धातुकर्मीय तथा रासायनिक उद्योगों में होता है। इसके निम्न श्रेणी के अयस्कों का उपयोग दुर्गलनीय पदार्थ (रिफ्रैक्टरी) के लिये होता है। इसके लवण फोटोग्राफी, चमड़े तथा कपड़े के उद्योगों में एवं रंजक और दियासलाई बनाने के काम आते हैं।
(वि० सा० दु०; नि० सिं०)

क्रोमियम एक रासायनिक तत्व है। इसकी खोज वॉक्वेलिन (Vauquelin) तथा क्लैप्राथ (Klaproth) ने की। इसका मुख्य खनिज क्रोमाइट, $FeCr_2O_4$, है और इसी से लगभग सब आवश्यक क्रोमियम प्राप्त होता है। अन्य अधिक दुर्लभ खनिज क्रोकोआइट, (Crocoite, $PbCrO_4$, मेलांक्रोआइट (Melanchroite), क्रोम-ओकर (Chrome-ochre) इत्यादि हैं। यह बहुमूल्य पत्थरों (जो इसके कारण रंगीन होते हैं), उल्का पिंडों (meteorites) तथा जीवों की राख में भी निम्नमात्रा में मिलता है।

धातु प्राप्त करने की विधियों में क्रोमियम के ऑक्साइड का उपयोग होता है। १,५००° सें० पर ऑक्साइड गरम कर, शुद्ध किया हुआ, सूखा हाइड्रोजन गैस, प्रवाहित करने से अवकरण होता है। ऐल्यूमिनियम धातु के चूर्ण के उपयोग से धातु प्राप्त करने की गोल्डस्मिट (Goldschmidt) की थर्माइट विधि अति उत्तम है। क्रोमिक ऑक्साइड और ऐल्यूमिनियम चूर्ण का मिश्रण बेरियम परॉक्साइड तथा ऐल्युमिनियम अथवा मैग्नीशियम के फ्यूज से प्रज्वलित करने पर तापक्षेपी (exothermic) क्रिया होती है, जिसमें क्रोमियम धातु पिघली हुई अवस्था में प्राप्त होती है।

व्यावसायिक मात्रा में क्रोमियम इसी थर्माइट विधि द्वारा अथवा, विद्युद्भट्ठी में सिलिकन द्वारा, आक्साइड के अवकरण से प्राप्त होता है। क्रोमियम के लवण के विद्युद्विश्लेषण से प्राप्त अमलगम को गरम करने पर शुद्ध क्रोमियम मिलता है। क्रोमियम तथा लोहे की एक उपयोगी मिश्रधातु 'फेरोक्रोम' सीधे क्रोम आयरनस्टोन को कारबन के साथ विद्युद्भट्ठी में गरम कर बनाई जाती है, जो अधिकतर क्रोमइस्पात बनाने में प्रयुक्त होती है।

क्रोमियम नीली आभायुक्त चमकदार सफेद रंग की कठोर धातु है। इसपर अत्यंत चमकदार पालिश होती है। इस धातु का आपेक्षिक घनत्व ७.१ है। इसका द्रवणांक १,९००° सें० तथा क्वथनांक २,२००° सें० है। शुद्ध क्रोमियम धातु प्राप्त करने की कठिनाई के कारण वैज्ञानिक को अनेक विभिन्न प्रयोगों में इसके भिन्न भिन्न भौतिक मान (Physical values) प्राप्त हुए हैं। इस धातु में सामान्यतया हाइड्रोजन की बड़ी मात्रा शोषित रहती है। गरम करने पर अनीक-केंद्रित-घन-जाल (face centred cubic lattice) का क्रोमियम प्राप्त होता है।

विशुद्ध क्रोमियम रासायनिक वस्तुओं के प्रति साधारणतया निष्क्रिय है। इसी कारण इस धातु की बनी अथवा पालिश की हुई वस्तुओं में चमक बनी रहती है। उच्च ताप पर नमक के अम्ल, गंधक तथा हाइड्रोजन सल्फाइड के वाष्प से क्रिया होती है। हाइड्रोक्लोरिक अथवा गंधक के अम्ल में यह घुलता है। यह क्रिया गरम करने, अथवा धातु में अशुद्धियाँ रहने से, तीव्र होती हैं। ऑक्सि-हाइड्रोजन ब्लोपाइप की लौ में गरम करने से चिनगारी निकलने के साथ यह धातु जलती है तथा क्रोमियम का आक्साइड बनता है। क्लोरीन अथवा ब्रोमीन जल, नाइट्रिक, क्रोमिक या क्लोरिक अम्ल, पोटैसियम परमैंगनेट, फेरिक क्लोराइड के घोल अथवा आक्सीजन में यह निश्चेष्ट (passive) हो जाता है। गरम कर, अथवा ऋणाग्र ध्रुवण (cathodic polarisation) द्वारा यह कुछ अम्लों के प्रति पुनः सक्रिय (active) किया जा सकता है। सतह को खरोचने पर, अनावृत्त सतह पर क्रिया पुनः संभव होती है।

बहुत सी धातुओं से मिलाने पर क्रोमियम की कई मिश्रित धातुएँ बनती हैं। जस्ता, ऐल्यूमिनियम तथा ऐंटिमनी से प्राप्त मिश्रधातुएँ भंगुर (brittle) होती हैं। निकल, कोबाल्ट, प्लैटिनम, लोहा और

कारबन से मिश्रित क्रोमियम की धातुओं में लोह-क्रोमियम श्रेणी की अनेक प्रकार की धातुएँ, विशेष गुण होने के कारण, विविध कार्यों में अधिक उपयोगी होती हैं। क्रोमियम की उपस्थिति से लोहे तथा इस्पात में अधिक कठोरता, तनाव, प्रत्यास्थता (elasticity) तथा उत्कृष्ट विन्यास (fine texture) प्राप्त होता है। १% क्रोमियम तथा उच्च कारबन के ऐसे ही इस्पात से बेयरिंग के छर्रे (balls), शंकु (cones), बेलन बेयरिंग (roller bearing) तथा दलने और पेरनेवाली (crushing) मशीनें बनाई जाती हैं। अन्य प्रकार के इस्पात में भी क्रोमियम मिलाने से दृढ़ता (toughness) तथा कठोरता बढ़ जाती है। क्रोमियम के निकल-इस्पात मोटर के पुर्जे बनाने में काम आते हैं। क्रोम स्टील से विशेष प्रकार की रेती बनती है। ११–१४% क्रोमियम तथा ०.३–०.४% कारबन के अकलुष इस्पात (स्टेनलेस स्टील) छुरी काँटे (cutlery) बनाने में प्रयुक्त होते हैं। रासायनिक उपकरणों के लिये प्रयुक्त अकलुष इस्पात में ८–१८% क्रोमियम, ८% निकल अथवा ४% मैंगनीज रहता है। अम्ल तथा कास्टिक क्षार की क्रिया के प्रति यह अवरोधक है। निकल तथा क्रोमियम से निर्मित विद्युदवरोधक तार साधारण विद्युत् चूल्हों में प्रयुक्त होता है।

क्रोमस तथा क्रोमिक आक्साइड, CrO तथा Cr_2O_3 क्षारीय हैं और अम्ल से लवण बनाते हैं। इनमें क्रोमियम की संयोजकता क्रमश: दो तथा तीन रहती है। क्रोमिक आक्साइड तथा क्रोमिक ऐनहाईड्राइड क्षारों से क्रमश: क्रोमाइट तथा क्रोमेट एवं डाइक्रोमेट लवण बनते हैं। इनके अतिरिक्त क्रोमियम डाइआक्साइड CrO_2 भी है। क्रोमियम अमलगम पर शोरे के तनु अम्ल की क्रिया से काला क्रोमस आक्साइड प्राप्त होता है। सीधे धातु के आक्सीकरण से, अथवा क्रोमिक हाइड्राक्साइड या कुछ क्रोमेट के उष्माविघटन से, क्रोमिक आक्साइड बनता है। चीनी मिट्टी के बर्तन, अथवा दूसरी वस्तुएँ रँगने और चित्रकला तथा रंगलेपन में प्रयुक्त होनेवाले तरह तरह के स्थायी हरे रंग बनाने में यह काम आता है।

क्रोमस लवण धातु तथा अम्ल की क्रिया अथवा क्रोमिक लवण के अवकरण से प्राप्त होते हैं। ऐनहाइड्रस क्रोमस लवणों का रंग अम्ल के जलीय घोल में नीला होता है। सामान्यतया इनका सरलता से आक्सीकरण होने के कारण ये शक्तिशाली अवकारक यौगिक हैं। कुछ कार्बनिक यौगिकों के अवकरण के लिये भी क्रोमस क्लोराइड का उपयोग होता है। क्रोमिक लवण अधिक स्थायी होते हैं। गरम की हुई धातु, अथवा क्रोमिक आक्साइड और कारबन के मिश्रण पर क्लोरीन प्रवाहित करने से क्रोमिक क्लोराइड बनता है। ब्रोमाइड और आयोडाइड भी गरम क्रोमियम पर हैलोजन की क्रिया से प्राप्त होते हैं। ये पानी से मिलकर हाइड्रेट बनाते हैं।

क्रोमेट तथा डाइक्रोमेट व्यावसायिक महत्व के होने के कारण अधिक मात्रा में बनाए जाते हैं। इनके बनाने में क्रोमाइट के आक्सीकरण की क्रिया का उपयोग होता है। इस कार्य के लिये पहले पोटैसियम नाइट्रेट का उपयोग होता था। हवा के आक्सिजन के उपयोग की विधि द्वारा क्रोमाइट, सोडा ऐश तथा चूने के मिश्रण को प्रतिक्षेपी (reverberatory) भट्ठी में गरम करने से सोडियम क्रोमेट बनता है। अन्य अघुलनशील क्रोमेट, जैसे चाँदी, बेरियम, सीसा इत्यादि के क्रोमेट, धातु के लवण तथा पोटैसियम डाइक्रोमेट के घोल से द्विविच्छेदन (double decomposition) द्वारा सरलता से प्राप्त होते हैं। साधारण क्रोमेट के संयुक्त घोल से गंधक के अम्ल द्वारा, पोटैसियम डाइक्रोमेट बनता है। यह चमकदार नारंगी रंग का रवेदार लवण, क्रोमियम के बहुत से यौगिक बनाने, साधारण आक्सीकारक वस्तु के समान तथा रासायनिक मात्रात्मक विश्लेषण में उपयोगी होता है। कपड़े की रंगाई छपाई आदि में, चमड़े के उद्योग में तथा लेड, बिस्मथ, जस्ता और बेरियम क्रोमेट से चमकीले रंग बनाने में भी इसका उपयोग होता है। डाइक्रोमेट तथा गंधक के सांद्र अम्ल के अति आक्सीकारक क्रोमिक अम्ल के ऐनहाइड्राइड का घोल मिलता है।

सं०ग्रं०—जे० आर० पार्टिंगटन : ए टेक्स्ट बुक ऑव इनॉर्गेनिक केमिस्ट्री, जे० एफ० थॉर्प और एम० ए० व्हाइटले : थॉर्प्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री। (वि० वा० प्र०)

क्रोशिया 'क्रोशिया' एक प्रकार की हुकदार लगभग छह इंच लंबी सलाई का नाम है जिससे 'लेस' या 'जाली' हाथों से बुनी जाती है। इससे बुने काम को 'क्रोशिए का काम' कहते हैं। अंग्रेजी में 'क्रोशिया' 'क्रोचेट' (crochet) कहलाता है। 'लेस' तीन प्रकार से बनाई जाती है, बाबिन से, क्रोशिया से और सलाइयों से। इस तरह क्रोशिया लेस बनाने के तीन प्रकारों में से एक है।

लेस बनाने में दो सलाइयों द्वारा केवल एक धागे को बुना जाता है, पर चाहे तो अन्य रंग भी ले सकते हैं। 'बॉबिन' वाले काम में कई रंगों का प्रयोग एक साथ हो सकता है, जितने रंग होंगे उतनी 'बॉबिनें' इस्तेमाल की जाएँगी लेकिन क्रोशिया में केवल एक धागा और क्रोशिए का एक हुक प्रयोग किया जाता है। वैसे तो किसी भी रंग के धागे से लेस या क्रोशिए का काम बुना जाता है पर सर्वप्रिय तथा कलात्मक सफेद रंग ही रहा है। इस काम में धागे को सलाइयों या हुक पर लपेटते और मरोड़ी (गाँठें) बनाते चलते हैं। 'क्रोशिए' के हुक से लंबी लेस या झालर, गोल मेजपोश तथा चौकोर पर्दे आदि वस्तुएँ बनाई जा सकती हैं। प्रयुक्त धागे के अनुसार काम भी मोटा या महीन होगा। क्रोशिए का काम रेशमी, सूती और ऊनी तीनों प्रकार के धागों से किया जाता है पर अधिकतर सूती धागा ही बरता जाता है।

डिजाइनों में ज्यामितिक आकार, फूल पत्ती, पशु पक्षी और मनुष्याकृतियाँ बनाई जाती हैं। डिजाइन को घना बुना जाता है और आसपास के स्थान को जाली डालकर। इस प्रकार आकृतियाँ बहुत स्पष्ट और उभरी दीखती हैं।

क्रोशिए का काम वैसे तो बड़ा कष्टसाध्य है। अच्छा काम बनाने में काफी समय लग जाता है। यही कारण है कि आजकल समय के अभाव में और बदलते फैशन के कारण इसका चलन बहुत कम हो गया है।

'क्रोशिए' या 'लेस' का काम वास्तव में यूरोपीय है जहाँ इसका प्रारंभ १५वीं सदी में हुआ। वेनिस 'लेस बनाने की कला' में अग्रणी था। वैसे बाद में फ्रांस और आयरलैंड में भी इस कला की काफी प्रगति हुई। 'ब्रसेल्स' १६वीं सदी के अंत से बॉबिन से बनी लेसों के लिये विख्यात था। रूस में भी इसका विकास १६वीं सदी से शुरू हुआ।

भारत में यह कला यूरोपीय मिशनरियों द्वारा शुरू हुई। सर्वप्रथम दक्षिण भारत में क्विलन (Quilon) में इसे डच और पुर्तगालियों ने प्रारंभ कराया तथा दक्षिण तिरुवांकुर में यह काम श्रीमती माल्ट द्वारा १८१८ ई० में शुरू कराया गया और वहाँ से यह तिनेवेली और मदुराई तक फैल गया। इसके अलावा आंध्र में हैदराबाद, पालकोल्लु और नरसापुर, उत्तर प्रदेश में मिर्जापुर तथा दिल्ली में भी इसका निर्माण बड़े पैमाने पर होता रहा है। उत्तर भारत में आज से लगभग २० वर्ष पूर्व तक प्राय: सभी घरों में लड़कियाँ क्रोशिए का काम करती थीं। राजस्थान और गुजरात में वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी परिवार मंदिरों में सजाने के लिये कृष्णलीला की दीर्घाकार 'पिछवाइयाँ' भी क्रोशिए से बनाते थे।

पहले तो केवल कुछेक परिवारों, कानवेंट और स्कूलों में ही इसे बनाया जाता था पर बाद में यह दक्षिण भारत में एक प्रकार का कुटीर शिल्प ही बन गया। दक्षिण भारत की अनेक ग्रामीण महिलाएँ इसे बनाकर उत्तर भारत तथा विदेशों में इसे भेजती थीं। सस्ती होने के कारण विदेशों में यह बिकती भी खूब थी, पर दूसरे महायुद्ध के बाद से इसका निर्यात धीरे धीरे कम होता जा रहा है।

क्रोशिए का काम चाहे कितनी भी दक्षता और सुघड़ाई से क्यों न किया जाय, यह लखनऊ की चिकन का मुकाबिला नहीं कर सकता. इसमें न तो चिकन जैसी कमनीयता तथा कलात्मकता है और न भारतीयता। इतने दीर्घकाल के प्रचलन के बाद भी इसकी 'तरहें' (डिजाइन) विदेशी ही रहीं, भले ही उनमें कहीं कहीं मोर, हंस, हाथी, हिरन और घोड़े आदि पशु-पक्षियों का प्रयोग क्यों न हुआ हो। (क० मि०)

क्रोसस (ईसापूर्व ५६०–५४६) लीडिया के मर्मनाद वंश का अंतिम शासक। अपने सौतेले भाई को पराजितकर अपने पिता अल्यतेस

क्रोशिया (देखिए पृष्ठ २२६)
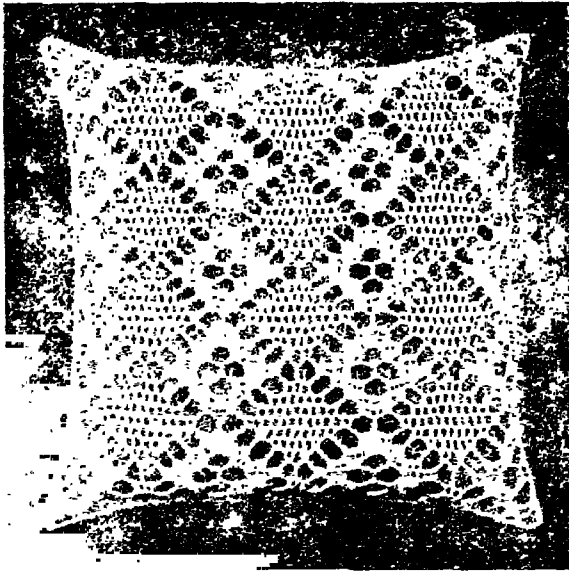
क्रोशिया के काम की गद्दी

क्रोशिया की बेल (योरोपीय)
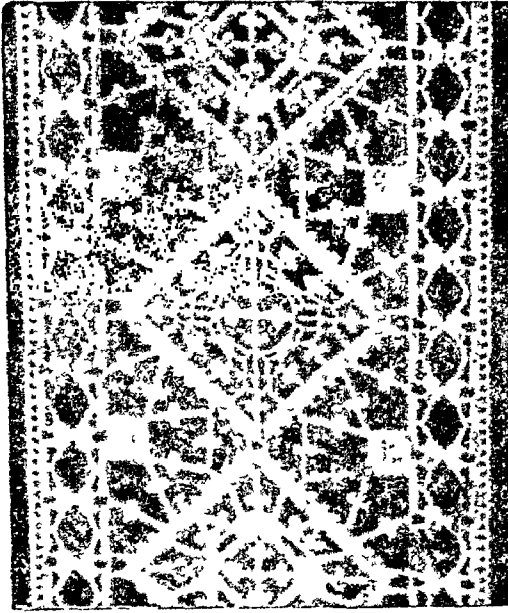
खजुराहो (देखिए पृष्ठ २८४)

चित्रगुप्त मंदिर का एक मिथुन

कंडरिया महादेव मंदिर का बहिरंग

भारतीय अधिकारियों को सदस्य बनाया जाने लगा किंतु व्यवहार में परोक्ष रूप से भेदभाव बना रहा।

खेलों के अखिल भारतीय महत्ता के क्लब हैं, बंबई का 'क्रिकेट क्लब ऑव इंडिया', दिल्ली का 'नैशनल स्पोर्ट्स क्लब ऑव इंडिया' और कलकत्ते का 'मोहन बागान', जो फुटबाल के खिलाड़ियों का विशिष्ट क्लब है। उत्तर प्रदेश के क्लबों में लखनऊ का 'मोहम्मद बाग' और 'रिफाए-आम' क्लब प्रसिद्ध हैं। दिल्ली स्थित पत्रकारों ने आजादी मिलने के बाद 'प्रेस क्लब ऑव इंडिया' स्थापित किया। लखनऊ के पत्रकारों ने नवंबर, १९५६ ई० में 'उत्तर प्रदेश प्रेस क्लब' स्थापित किया। देश के बड़े बड़े नगरों में प्रवासी प्रादेशिक भारतीयों ने भी अपने मिलन के लिये क्लब खोले, यथा लखनऊ का प्रसिद्ध 'बंगाली क्लब'। साहित्यिक क्लबों की परंपरा भी देश में प्रारंभ हुई। अमरनाथ झा ने प्रयाग विश्वविद्यालय में 'फ्राइडे क्लब' की स्थापना की थी। दिल्ली के चार हिंदी साहित्यकारों ने सन् १९४३ ई० में 'शनिवार समाज' स्थापित किया था, जो प्राय बारह वर्ष तक राजधानी की सक्रिय साहित्यिक गतिविधि का केंद्र रहा। इसकी बैठक शनिवार को ही होती थी। प्रयाग के हिंदी साहित्यकारों ने 'परिमल' की स्थापना की।

रोटरी क्लब—२३ फरवरी, १९०५ ई० को सयुक्त राज्य अमरीका के इलिनाय प्रदेश की राजधानी शिकागो में पाल पी० हेरिस (वकील) ने रोटरी क्लब की संस्थापना की। इसका आदर्श परसेवा था। वाणिज्य व्यवसाय तथा विविध धंधों में लगे हुए लोग इसके सदस्य होते हैं। इस क्लब की बैठकें क्रम से इसके प्रत्येक सदस्य के कार्यालय अथवा घर पर होतीं, इसलिये इसका नाम 'रोटरी' (चक्र की भाँति घूमनेवाला) पड़ा। फिर अमरीका के अन्य नगरों में भी इस प्रकार के क्लब खुले। १९१० ई० तक इसकी संख्या १६ हो गई। उसी वर्ष अगस्त में इन क्लबों ने मिलकर शिकागो में अपनी राष्ट्रीय संस्था—नैशनल एसोशियेशन ऑव रोटरी क्लब्स की स्थापना की। सन् १९१२ में विनीपेग (कनाडा), डबलिन (आयरलैंड) और लंदन (इंग्लैंड) में भी रोटरी क्लब स्थापित हुए। और तब इसका नाम बदलकर 'इंटरनेशनल एसोसिएशन ऑव रोटरी क्लब्स' (रोटरी क्लबों की अंतर्राष्ट्रीय संस्था) कर दिया गया। सन् १९२२ ई० से इसको 'रोटरी इंटरनेशनल' कहा जाने लगा।

आज रोटरी क्लब संसार के ८२ अन्य देशों में है जिनमें भारत भी है। समस्त संसार में आज लगभग ८,००० रोटरी क्लब हैं, जिनकी सदस्य-संख्या लगभग चार लाख है। भारत में इनकी सदस्यता धनी, उच्च-वर्गो तथा शक्तिसंपन्न एवं प्रभावशाली व्यक्तियों तक ही सीमित है। सदस्यता निर्वाचन पद्धति से प्राप्त होती है। आमंत्रित करके सम्मानित सदस्य भी बनाए जाते हैं। इन क्लबों का प्रबंध संचालकों की एक समिति करती है, जिसकी सहायता के निमित्त कई स्थायी समितियाँ होती हैं। समिति के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, मंत्री और कोषाध्यक्ष का वार्षिक चुनाव होता है। क्लब की बैठक दोपहर अथवा रात्रि के भोज के साथ सप्ताह में एक बार होती है। इनमें जो सदस्य निश्चित बार को क्लब की बैठकों में उपस्थित नहीं होते, उनकी सदस्यता समाप्त कर दी जाती है।

कई क्लबों को मिलाकर एक रोटरी जिला बनाया जाता है, जिसका प्रधान 'गवर्नर' कहलाता है। जिले के क्लबों का वार्षिक संमेलन होता है। फिर समस्त जिलों का विश्वसंमेलन होता है, जिसमें गवर्नर अपने जिले का प्रतिनिधित्व करता है। अंतर्राष्ट्रीय रोटरी संस्थान का एक अध्यक्ष और संचालक मंडल होता है, जिसके १४ सदस्यों में से कम से कम सात अनिवार्य रूप से अमरीका के बाहर अन्य देशों के होते हैं। इसका मुख्य कार्यालय शिकागो में है और शाखाएँ लंदन तथा ज्यूरिख में। इसके दो प्रमुख पत्र हैं . अंग्रेजी में 'द रोटेरियन' और स्पैनिश में 'रिविस्ता रोते- [illegible]। ये दोनों शिकागो से प्रकाशित होते हैं। यों कुछ जिले अथवा [illegible] भी अपने पत्र प्रकाशित करते हैं।

[illegible] और पोषित करना रोटरी [illegible] का [illegible] मानना और उसे परसेवा का अवसर मानकर तदनुकूल आचरण करना जिससे उपार्जन गौरवान्वित हो; (३) परसेवा के आदर्श का पालन व्यक्तिगत, सामाजिक तथा व्यावसायिक जीवन में करना, और (४) सेवा के आदर्श से प्रेरित व्यापारियों और व्यवसायियों को विश्वमैत्री के एक सूत्र में पिरोना, जिससे अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना और शांति स्थापित हो।

रोटरी क्लब की ही तरह एक अन्य अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विस्तृत 'लायंस क्लब' है। इसके उद्देश्य और कार्य भी रोटरी क्लब के ढंग के हैं और उसकी व्यवस्था भी कुछ उसी ढंग से होती है। इसके सदस्य 'लायन' (सिंह) और उनकी पत्नियाँ लायनेस (सिंहनी) तथा बच्चे 'लायनेट' (सिंह-शावक) कहे जाते हैं। सदस्यों की पत्नियाँ अपने पतियों से सर्वथा भिन्न स्वतंत्र रूप से इस क्लब में एकत्र होती हैं और अपने आयोजन करती हैं। 'लायनेट' लोगों के मिलने जुलने के लिये भी उनके यहाँ व्यवस्था है। भारत के प्राय सभी प्रमुख नगरों में यह क्लब स्थापित हो गया है। इनके अतिरिक्त अब कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में 'रोटरैक्ट' क्लब भी खुलने लगे हैं।

सं०ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका।

(का० च० सी०; प० ला० गु०)

क्लाइड स्काटलैंड की मुख्य नदी जो गेमा पहाड़ी (२१९० फुट) से निकलकर कई मील उत्तर की ओर प्रवाहित होती है, फिर टिंटा पर्वत के निकट पूर्व की ओर बहती हुई कार्स्टेयर्स के समीप उत्तर पश्चिम की ओर मुड़ जाती है। पुन. लर्नाक से चार मील आगे हरपरफील्ड (Herperfield) के समीप फर्थ में मिल जाती है। क्लाइड नदी की मुख्य शाखाएँ मेडविन, मोज, दक्षिणी तथा उत्तरी केल्डर एवं एवान हैं। इस नदी पर कोरालीन (८४ फुट), लर्नाक (३० फुट) तथा डुनडैफ्लीन (१० फुट) में आकर्षक प्रपात बन गए हैं। उद्योग धंधों के दृष्टिकोण से क्लाइड क्षेत्र इंग्लैंड का मुख्य औद्योगिक भाग है जिसमें क्राफोर्ड, लेमिंगटन, न्यू कासिल, लर्नाक, बोथवेल और हैमिल्टन आदि उल्लेखनीय औद्योगिक केंद्र हैं। (भू० का० रा०)

क्लाइव, राबर्ट (१७२५–१७७४ ई०) भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का संस्थापक। २९ सितंबर, १७२५ को स्टाएच में जन्म हुआ। पिता काफी दिनों तक माटगुमरी क्षेत्र से पार्लमेंट के सदस्य रहा। बाल्यकाल से ही वह निराली प्रकृति का था। वह एक स्कूल से दूसरे स्कूल में भर्ती कराया जाता किंतु वह खेल में इतना विलीन रहता कि पुस्तक आलमारी में ही धरी रह जाती। १८ वर्ष की आयु में मद्रास के बंदरगाह पर क्लर्क बनकर आया। यहीं से उसका ईस्ट इंडिया कंपनी का जीवन आरंभ होता है। १७४६ में जब मद्रास अंग्रेजों के हाथ से निकल गया तब उसे बीस मील दक्षिण स्थित सेंट डेविड किले की ओर भागना पड़ा। उसे वहाँ सैनिक की नौकरी मिल गई। यह समय ऐसा था जब भारत की स्थिति ऐसी हो रही थी कि फ्रांसीसी और अंग्रेजों में, जिसमें भी प्रशासनिक और सैनिक क्षमता दोनों होगी, भारत का विजेता बन जाएगा। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् के ४० वर्षों में मुगल साम्राज्य धीरे धीरे उसके सूबेदारों के हाथ आ गया था। इन सूबेदारों में तीन प्रमुख थे। एक तो दक्षिण का सूबेदार जो हैदराबाद में शासन करता था, दूसरा बंगाल का सूबेदार जिसकी राजधानी मुर्शिदाबाद थी और तीसरा था अवध का नवाब वजीर। बाजी डूप्ले और क्लाइव के बीच थी। डूप्ले मेधावी प्रशासक था किंतु उसमें सैनिक योग्यता न थी। क्लाइव सैनिक और राजनीतिज्ञ दोनों था। उसने फ्रांसीसियों के मुकाबिले इन तीनों ही सूबों में अंगरेजों का प्रभाव जमा दिया। किंतु उसकी महत्ता इस बात में है कि उसने अपनी योग्यता और दूरदर्शिता से इन तीनों ही सूबों में से सबसे धनी सूबे पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की थी।

क्लाइव ने सेंट डविड के किले में आने के बाद मेजर लारेंस की अधीनता में कई छोटी मोटी लड़ाइयों में भाग लिया ही था कि १७४८ में फ्रांस और इंग्लैंड के बीच समझौता हो गया और क्लाइव को कुछ काल के लिये पुन [illegible] क्लर्की करनी पड़ी। उसे उन्हीं दिनों जोरों का बुखार आया फल-

स्वरूप वह बंगाल आया। जब वह लौटकर मद्रास पहुँचा, उस समय दक्षिण और कर्नाटक की नवाबी के लिये दो दलों में संघर्ष चल रहा था। चंदा साहब का साथ फ्रांसीसी और मुहम्मद अली का अंग्रेज दे रहे थे। डूप्ले की सहायता से चंदा साहब कर्नाटक का नवाब बन गया। मुहम्मद अली ने अंग्रेजों से समझौता किया, सारे कर्नाटक में लड़ाई की आग फैल गई, जिसके कारण कर्नाटक की बड़ी क्षति हुई। तंजोर और मैसूर के राजाओं ने भी इसमें भाग लिया। मुहम्मद अली त्रिचनापल्ली को काबू में किए हुए थे। चंदा साहब ने उसपर आक्रमण किया। अंग्रेजों ने मुहम्मद अली को बचाने के लिये क्लाइव के नेतृत्व में एक सेना आर्काट पर आक्रमण करने के लिये भेजी। क्लाइव ने आर्काट पर घेरा डाल दिया और डटकर मुकाबला किया। चंदा साहब की फ्रांसीसी सेनाओं की सहायता प्राप्त थी, फिर भी वह सफल न हो सके। इसी बीच डूप्ले को वापस फ्रांस बुला लिया गया। अंग्रेजों की सहायता से मुहम्मद अली कर्नाटक के नवाब बन गए।

आर्काट के घेरे के कारण यूरोप में क्लाइव की धाक जम गई। विलियम पिट ने उसे 'स्वर्ग से जन्मे सेनापति' कह कर संमानित किया। ईस्ट इंडिया कंपनी के संचालकमंडल ने उसे ७०० पाउंड मूल्य की तलवार भेंट करनी चाही तो उसने उसे तब तक स्वीकार नहीं किया जब तक उसी रूप में लारेंस का संमान नहीं हुआ।

दस वर्ष भारत रहने के बाद वह १७५३ के आरंभ में स्वदेश लौटा। दो वर्ष वह अपने घर रह पाया था तभी भारत की स्थिति ऐसी हो गई कि कंपनी के संचालकमंडल ने उसे भारत आने को विवश किया। वह १७५६ ई० में सेंट फोर्ट डेविड का गवर्नर नियुक्त किया गया और उसे सेना में लेफ्टिनेंट कर्नल का पद दिया गया। वह मद्रास पहुँचकर अपना पद ग्रहण कर भी न पाया था कि इसी बीच अंग्रेजों की शक्ति बंगाल में डाँवाडोल हो गई, क्लाइव को बंगाल आना पड़ा।

९ अप्रैल, १७५६ को बंगाल और बिहार के सूबेदार की मृत्यु हो गई। १७५२ में अल्लावर्दी खाँ ने सिराजुद्दौला को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। अल्लावर्दी खाँ की मृत्यु के पश्चात् सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बना। १८वीं शताब्दी के आरंभ में ही अंग्रेजों ने फोर्ट विलियम की नींव डाली थी और १७५५ तक उसके आसपास काफी लोग बस चुके थे, इसी लिये उसने नगर का रूप ले लिया था जो बाद में कलकत्ता कहलाया। बंगाल में फोर्ट विलियम अंग्रेजी कंपनी का केंद्र था। सिराजुद्दौला ने नवाबी पाने के बाद ही अपने एक संबंधी सलामत जंग के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई आरंभ की और पुर्णिया पर आक्रमण किया। २० मई, १७५६ को राजमहल पहुँचने के पश्चात् उसने अपना इरादा बदल दिया और मुर्शिदाबाद लौट आया और कासिम बाजारवाली अंग्रेजी फैक्ट्री पर अधिकार कर लिया। यह घटना ४ जून, १७५६ को घटी। ५ जून को सिराजुद्दौला की सेना कलकत्ते पर आक्रमण करने को रवाना हुई और १६ जून को कलकत्ता पहुँची। १९ जून को कलकत्ता के गवर्नर, कमांडर और कमेटी के सदस्यों को नगर और दुर्ग छोड़कर जहाज में पनाह लेना पड़ा। २० जून को कलकत्ता पर नवाब का कब्जा हो गया। जब इसकी खबर मद्रास पहुँची तो वहाँ से सेना भेजी गई, जिसका नेतृत्व क्लाइव के हाथ में था।

दिसंबर में क्लाइव हुगली पहुँचा। उसकी सेना की संख्या लगभग एक हजार थी। वह नदी की ओर से कलकत्ते की तरफ बढ़ा और २ जनवरी, १७५७ को उसपर अपना अधिकार कर लिया। सिराजुद्दौला को जब इसकी खबर मिली तो उसने कलकत्ते की ओर बढ़ने का प्रयत्न किया मगर असफल रहा और संधि करने पर विवश हुआ। इस संधि से अंग्रेजों को अधिक लाभ हुआ। सिराजुद्दौला ने कलकत्ते की लूटी हुई दौलत वापस करने का वादा किया; कलकत्ता को सुरक्षित करने की इजाजत दी और वाट को मुर्शिदाबाद में अंग्रेजी प्रतिनिधि के रूप में रखना स्वीकार किया।

इसी बीच यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध आरंभ हो गया। इसका प्रभाव भारत की राजनीति पर भी पड़ा। यहाँ भी अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में लड़ाई छिड़ गई। बंगाल में चंद्रनगर पर फ्रांसीसियों का प्रभाव रहा। अंग्रेजों ने वहाँ अपना समुद्री बेड़ा भेजने की तैयारी आरंभ कर दी। १४ मार्च, १७५७ को चंद्रनगर पर आक्रमण हुआ और एक ही दिन के बाद फ्रांसीसियों ने हथियार डाल दिए। वाटसन ने नदी की ओर से और क्लाइव ने दूसरी ओर से फ्रांसीसियों पर आक्रमण किया। सिराजुद्दौला इस लड़ाई में खुलकर भाग न ले सका। अब्दाली के आक्रमण के कारण वह फ्रांसीसियों की सहायता और अंग्रेजों से लड़ाई करने में संभवतः समर्थ न था।

चंद्रनगर की लड़ाई के बाद क्लाइव को ज्ञात हुआ कि सिराजुद्दौला से उसके अपने ही आदमी असंतुष्ट हैं; और उनमें उसका सेनापति मीरजाफर प्रमुख है। क्लाइव ने इससे लाभ उठाने का निश्चय किया। फलस्वरूप मीरजाफर और अंग्रेजों के बीच एक गुप्त समझौता हुआ। जिसके अनुसार क्लाइव ने मीरजाफर को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी दिला देने का वादा किया। इसके लिये मीर जाफर को कलकत्ता में हुए कंपनी की हानि और सैनिक व्यय के लिये १० लाख पाउंड, कलकत्ते के अंग्रेज निवासियों को २ लाख पाउंड और अरमीनियन व्यापारियों को ७० हजार पाउंड देने की बात ठहरी। अमीचंद ने, जिसने अंग्रेजों और मीरजाफर के बीच समझौता कराया था, नवाब से उसके खजाने का पाँच प्रतिशत कमीशन माँगा और इस बात का उल्लेख संधिपत्र में किए जाने का आग्रह किया। फलतः क्लाइव ने दो संधिपत्र तैयार कराए। एक असली दूसरा नकली। नकली संधिपत्र में अमीचंद की शर्तें लिख दी गई थीं। नकलीवाले संधिपत्र पर अंग्रेज गवर्नर का हस्ताक्षर बनाकर उसे दिखाया गया। मीरजाफर ने लड़ाई में तटस्थ रहने का वादा किया। यह निश्चय हुआ कि लड़ाई के मैदान में मौजूद रहते हुए भी वह अलग रहेगा।

अंग्रेजी सेना ने क्लाइव के नेतृत्व में सिराजुद्दौला के खिलाफ कार्रवाई की और परिणामस्वरूप प्लासी की लड़ाई हुई। प्लासी में सिराजुद्दौला की हार हुई और अंग्रेजों ने मीरजाफर को बंगाल का नवाब बना दिया। इस प्रकार क्लाइव के कारण अंग्रेज बंगाल के मालिक बन गए। ईस्ट इंडिया कंपनी को १५ करोड़ पौंड मिले। क्लाइव को उसमें से २ लाख ३४ हजार पौंड दिया गया और मीरजाफर ने भी उसे तीस हजार पौंड सालाना की जागीर दूसरे रूप से दी।

१७५९ में राजकुमार अली गौहर ने, जो आगे चलकर शाहआलम के नाम से शासक हुआ, दिल्ली से भागकर अवध में शरण ली। वह अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये बिहार और बंगाल पर भी कब्जा करना चाहता था। उसने पटना को घेर लिया। नवाब के प्रतिनिधि रामनारायण ने उसका मुकाबला तब तक किया जब तक कलकत्ता से अंग्रेजों की सहायता नहीं पहुँची। नवाब ने चौबीस परगना की भूमि, जो इस सहायता के लिये रख छोड़ी गई थी, क्लाइव को दे दी। यह रकम ३० हजार पौंड की थी जो कंपनी किराए के रूप में अदा किया करती थी।

१७५९ में डच लोगों ने मीरजाफर के लड़के से साजिश कर अंग्रेजों को बंगाल से निकालने की योजना बनाई और फलस्वरूप उन्होंने सात जहाज नागापट्टम से रवाना किए; मगर जब वे हुगली के पास पहुँचे तो नवाब की ओर से उन्हें अपनी सेना उतारने की मनाही मिली। फलतः डच और अंग्रेजों में झड़प हुई, जिसमें डचों को जान और माल का नुकसान हुआ।

१७६० ई० में क्लाइव इंग्लैंड वापस लौटा। उस समय क्लाइव के पास ३० लाख पौंड नकद थे और ३० हजार पौंड सालाना की रकम मिलने की व्यवस्था थी। इंग्लैंड पहुँचने पर उसे 'बैरन ऑव प्लासी' की उपाधि मिली। उसने बड़ी जायदाद खरीदी और अपने मित्रों को पार्लमेंट का सदस्य बनवाया।

१७६४ में फिर क्लाइव को बंगाल का गवर्नर बनाकर भेजा गया और मई, १७६५ में क्लाइव दुबारा कलकत्ता आया। इस समय उसके सामने दो समस्याएँ थीं—एक राजनीतिक और दूसरी प्रशासकीय। राजनीतिक समस्या मुगल बादशाहों, अवध राज्य तथा बंगाल के नवाब से संबध रखती थी। प्रशासकीय समस्या कंपनी के नौकरों की मुनाफाखोरी की थी।

भारतीय अधिकारियों को सदस्य बनाया जाने लगा किंतु व्यवहार में परोक्ष रूप से भेदभाव बना रहा।

खेलों के अखिल भारतीय महत्ता के क्लब हैं, बंबई का 'क्रिकेट क्लब ऑव इंडिया', दिल्ली का 'नैशनल स्पोर्ट्स क्लब ऑव इंडिया' और कलकत्ते का 'मोहन बागान', जो फुटबाल के खिलाड़ियों का विशिष्ट क्लब है। उत्तर प्रदेश के क्लबों में लखनऊ का 'मोहम्मद बाग' और 'रिफाए-आम' क्लब प्रसिद्ध हैं। दिल्ली स्थित पत्रकारों ने आजादी मिलने के बाद 'प्रेस क्लब ऑव इंडिया' स्थापित किया। लखनऊ के पत्रकारों ने नवंबर, १९५९ ई० में 'उत्तर प्रदेश प्रेस क्लब' स्थापित किया। देश के बड़े बड़े नगरों में प्रवासी प्रादेशिक भारतीयों ने भी अपने मिलने के लिये क्लब खोले, यथा लखनऊ का प्रसिद्ध 'बंगाली क्लब'। साहित्यिक क्लबों की परंपरा भी देश में प्रारंभ हुई। अमरनाथ झा ने प्रयाग विश्वविद्यालय में 'फ्राइडे क्लब' की स्थापना की थी। दिल्ली के चार हिंदी साहित्यकारों ने सन् १९४३ ई० में 'शनिवार समाज' स्थापित किया था, जो प्राय बारह वर्ष तक राजधानी की सक्रिय साहित्यिक गतिविधि का केंद्र रहा। इसकी बैठक शनिवार को ही होती थी। प्रयाग के हिंदी साहित्यकारों ने 'परिमल' की स्थापना की।

रोटरी क्लब—२३ फरवरी, १९०५ ई० को संयुक्त राज्य अमरीका के इलिनाय प्रदेश की राजधानी शिकागो में पाल पी० हैरिस (वकील) ने रोटरी क्लब की संस्थापना की। इसका आदर्श परसेवा था। वाणिज्य व्यवसाय तथा विविध धंधों में लगे हुए लोग इसके सदस्य होते हैं। इस क्लब की बैठकें क्रम से इसके प्रत्येक सदस्य के कार्यालय अथवा घर पर होती, इसलिये इसका नाम 'रोटरी' (चक्र की भाँति घूमनेवाला) पड़ा। फिर अमरीका के अन्य नगरों में भी इस प्रकार के क्लब खुले। १९१० ई० तक इसकी संख्या १६ हो गई। उसी वर्ष अगस्त में इन क्लबों ने मिलकर शिकागो में अपनी राष्ट्रीय संस्था—नैशनल एसोशियेशन ऑव रोटरी क्लब्स की स्थापना की। सन् १९१२ में विन्नीपेग (कनाडा), डबलिन (आयरलैंड) और लंदन (इंग्लैंड) में भी रोटरी क्लब स्थापित हुए। और तब इसका नाम बदलकर 'इंटरनेशनल एसोसिएशन ऑव रोटरी क्लब्स' (रोटरी क्लबों की अंतर्राष्ट्रीय संस्था) कर दिया गया। सन् १९२२ ई० से इसको 'रोटरी इंटरनेशनल' कहा जाने लगा।

आज रोटरी क्लब संसार के ८२ अन्य देशों में है जिनमें भारत भी है। समस्त संसार में आज लगभग ८,००० रोटरी क्लब हैं, जिनकी सदस्य-संख्या लगभग चार लाख है। भारत में इनकी सदस्यता धनी, उच्च-वर्गो तथा शक्तिसंपन्न एवं प्रभावशाली व्यक्तियों तक ही सीमित है। सदस्यता निर्वाचन पद्धति से प्राप्त होती है। आमंत्रित करके सम्मानित सदस्य भी बनाए जाते हैं। इन क्लबों का प्रबंध संचालकों की एक समिति करती है, जिसकी सहायता के निमित्त कई स्थायी समितियाँ होती हैं। समिति के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, मंत्री और कोषाध्यक्ष का वार्षिक चुनाव होता है। क्लब की बैठक दोपहर अथवा रात्रि के भोज के साथ सप्ताह में एक बार होती है। इनमें जो सदस्य निश्चित बार को क्लब की बैठकों में उपस्थित नहीं होते, उनकी सदस्यता समाप्त कर दी जाती है।

कई क्लबों को मिलाकर एक रोटरी जिला बनाया जाता है, जिसका प्रधान 'गवर्नर' कहलाता है। जिले के क्लबों का वार्षिक सम्मेलन होता है। फिर समस्त जिलों का विश्वसम्मेलन होता है, जिसमें गवर्नर अपने जिले का प्रतिनिधित्व करता है। अंतर्राष्ट्रीय रोटरी संस्थान का एक अध्यक्ष और संचालक मंडल होता है, जिसके १४ सदस्यों में से कम से कम सात अनिवार्य रूप से अमरीका के बाहर अन्य देशों के होते हैं। इसका मुख्य कार्यालय शिकागो में है और शाखाएँ लंदन तथा ज्यूरिख में। इसके दो प्रमुख पत्र हैं अंग्रेजी में 'द रोटेरियन' और स्पैनिश में 'रिविस्ता रोते-रिया'। ये दोनों शिकागो से प्रकाशित होते हैं। यों कुछ जिले अथवा कई जिलों के समूह भी अपने पत्र प्रकाशित करते हैं।

शोभनीय साहसिक कार्य को प्रोत्साहित और पोषित करना रोटरी क्लब का प्रमुख आदर्श है। इसके विशेष उद्देश्य हैं (१) परसेवा का अवसर प्राप्त करने के हेतु परिचय बढ़ाना, (२) व्यापार और व्यवसाय में नैतिकता का पालन करना तथा सभी उपादेय धंधों को गौरवपूर्ण मानना और उसे परसेवा का अवसर मानकर तदनुकूल आचरण करना जिससे उपार्जन गौरवान्वित हो, (३) परसेवा के आदर्श का पालन व्यक्तिगत, सामाजिक तथा व्यावसायिक जीवन में करना, और (४) सेवा के आदर्श से प्रेरित व्यापारियों और व्यवसायियों को विश्वमैत्री के एक सूत्र में पिरोना, जिससे अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना और शांति स्थापित हो।

रोटरी क्लब की ही तरह एक अन्य अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विस्तृत 'लायंस क्लब' है। इसके उद्देश्य और कार्य भी रोटरी क्लब के ढंग के हैं और उसकी व्यवस्था भी कुछ उसी ढंग से होती है। इसके सदस्य 'लायन' (सिंह) और उनकी पत्नियाँ लायनेस (सिंहनी) तथा बच्चे 'लायनेट' (सिंह-शावक) कहे जाते हैं। सदस्यों की पत्नियाँ अपने पतियों से सर्वथा भिन्न स्वतंत्र रूप से इस क्लब में एकत्र होती हैं और अपने आयोजन करती हैं। 'लायनेट' लोगों के मिलने जुलने के लिये भी उनके यहाँ व्यवस्था है। भारत के प्राय सभी प्रमुख नगरों में यह क्लब स्थापित हो गया है। इनके अतिरिक्त अब कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में 'रोटरेक्ट' क्लब भी खुलने लगे हैं।

सं०ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका।

(का० च० सौ०, प० ला० गु०)

क्लाइड स्काटलैंड की मुख्य नदी जो गेमा पहाड़ी (२१६० फुट) से निकलकर कई मील उत्तर की ओर प्रवाहित होती है, फिर टिंटो पर्वत के निकट पूर्व की ओर बहती हुई कोस्टेयर्स के समीप उत्तर पश्चिम की ओर मुड़ जाती है। पुन लनार्क से चार मील आगे हरपरफील्ड (Herperfield) के समीप फर्थ में मिल जाती है। क्लाइड नदी की मुख्य शाखाएँ मेडविन, मौज, दक्षिणी तथा उत्तरी केल्डर एवं एवान हैं। इस नदी पर कोरालीन (८४ फुट), लनार्क (३० फुट) तथा डुनडैपलीन (१० फुट) में आकर्षक प्रपात बन गए हैं। उद्योग धंधों के दृष्टिकोण से क्लाइड क्षेत्र इंग्लैंड का मुख्य औद्योगिक भाग है जिसमें क्राफोर्ड, लेमिंगटन, न्यू कासिल, लनार्क, बोथवेल और हैमिल्टन आदि उल्लेखनीय औद्योगिक केंद्र हैं। (भू० का० रा०)

क्लाइव, राबर्ट (१७२५–१७७४ ई०) भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का संस्थापक। २९ सितंबर, १७२५ को स्टाएच में जन्म हुआ। पिता काफी दिनों तक माटगुमरी क्षेत्र से पार्लमेंट के सदस्य रहा। बाल्यकाल से ही वह निराली प्रकृति का था। वह एक स्कूल से दूसरे स्कूल में भर्ती कराया जाता किंतु वह खेल में इतना विलीन रहता कि पुस्तक आलमारी में ही धरी रह जाती। १८ वर्ष की आयु में मद्रास के बंदरगाह पर क्लर्क बनकर आया। यहीं से उसका ईस्ट इंडिया कंपनी का जीवन आरंभ होता है। १७४६ में जब मद्रास अंग्रेजों के हाथ से निकल गया तब उसे बीस मील दक्षिण स्थित सेंट डेविड किले की ओर भागना पड़ा। उसे वहाँ सैनिक की नौकरी मिल गई। यह समय ऐसा था जब भारत की स्थिति ऐसी हो रही थी कि फ्रांसीसी और अंग्रेजों में, जिसमें भी प्रशासनिक और सैनिक क्षमता दोनों होंगी, भारत का विजेता बन जाएगा। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् के ४० वर्षों में मुगल साम्राज्य धीरे धीरे उसके सूबेदारों के हाथ आ गया था। इन सूबेदारों में तीन प्रमुख थे। एक तो दक्षिण का सूबेदार जो हैदराबाद में शासन करता था, दूसरा बंगाल का सूबेदार जिसकी राजधानी मुर्शिदाबाद थी और तीसरा था अवध का नवाब वजीर। बाजी डुप्ले और क्लाइव के बीच थी। डुप्ले मेधावी प्रशासक था किंतु उसमें सैनिक योग्यता न थी। क्लाइव सैनिक और राजनीतिज्ञ दोनों था। उसने फ्रांसीसियों के मुकाबिले इन तीनों ही सूबों में अंगरेजों का प्रभाव जमा दिया। किंतु उसकी महत्ता इस बात में है कि उसने अपनी योग्यता और दूरदर्शिता से इन तीनों ही सूबों में से सबसे धनी सूबे पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की थी।

क्लाइव ने सेंट डेविड के किले में आने के बाद मेजर लारेंस की अधीनता में कई छोटी मोटी लड़ाइयों में भाग लिया ही था कि १७४८ में फ्रांस और इंग्लैंड के बीच समझौता हो गया और क्लाइव को कुछ काल के लिये पुन अपनी क्लर्की करनी पड़ी। उसे उन्हीं दिनों जोरों का बुखार आया फल-

क्लाइव, रावर्ट

स्वरूप वह बंगाल आया। जब वह लौटकर मद्रास पहुँचा, उस समय दक्षिण और कर्नाटक की नवाबी के लिये दो दलों में संघर्ष चल रहा था। चंदा साहब का साथ फ्रांसीसी और मुहम्मद अली का अंग्रेज दे रहे थे। डूप्ले की सहायता से चंदा साहब कर्नाटक का नवाब बन गया। मुहम्मद अली ने अंग्रेजों से समझौता किया, सारे कर्नाटक में लड़ाई की आग फैल गई, जिसके कारण कर्नाटक की बड़ी क्षति हुई। तंजोर और मैसूर के राजाओं ने भी इसमें भाग लिया। मुहम्मद अली त्रिचनापल्ली को काबू में किए हुए थे। चंदा साहब ने उसपर आक्रमण किया। अंग्रेजों ने मुहम्मद अली को बचाने के लिये क्लाइव के नेतृत्व में एक सेना आर्काट पर आक्रमण करने के लिये भेजी। क्लाइव ने आर्काट पर घेरा डाल दिया और डटकर मुकाबला किया। चंदा साहब की फ्रांसीसी सेनाओं की सहायता प्राप्त थी, फिर भी वह सफल न हो सके। इसी बीच डूप्ले को वापस फ्रांस बुला लिया गया। अंग्रेजों की सहायता से मुहम्मद अली कर्नाटक के नवाब बन गए।

आर्काट के घेरे के कारण यूरोप में क्लाइव की धाक जम गई। वलियम पिट ने उसे 'स्वर्ग से जन्मे सेनापति' कह कर संमानित किया। ईस्ट इंडिया कंपनी के संचालकमंडल ने उसे ७०० पाउंड मूल्य की तलवार भेंट करनी चाही तो उसने उसे तब तक स्वीकार नहीं किया जब तक उसी रूप में लारेंस का संमान नहीं हुआ।

दस वर्ष भारत रहने के बाद वह १७५३ के आरंभ में स्वदेश लौटा। दो वर्ष वह अपने घर रह पाया था तभी भारत की स्थिति ऐसी हो गई कि कंपनी के संचालकमंडल ने उसे भारत आने को विवश किया। वह १७५६ ई० में सेंट फोर्ट डेविड का गवर्नर नियुक्त किया गया और उसे सेना में लेफ्टिनेंट कर्नल का पद दिया गया। वह मद्रास पहुँचकर अपना पद ग्रहण कर भी न पाया था कि इसी बीच अंग्रेजों की शक्ति बंगाल में डाँवाडोल हो गई, क्लाइव को बंगाल आना पड़ा।

९ अप्रैल, १७५६ को बंगाल और विहार के सूबेदार की मृत्यु हो गई। १७५२ में अल्लावर्दी खाँ ने सिराजुद्दौला को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। अल्लावर्दी खाँ की मृत्यु के पश्चात् सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बना। १८वीं शताब्दी के आरंभ में ही अंग्रेजों ने फोर्ट विलियम की नींव डाली थी और १७५५ तक उसके आसपास काफी लोग बस चुके थे, इसी लिये उसने नगर का रूप ले लिया था जो बाद में कलकत्ता कहलाया। बंगाल में फोर्ट विलियम अंग्रेजी कंपनी का केंद्र था। सिराजुद्दौला ने नवाबी पाने के बाद ही अपने एक संबंधी सलामत जंग के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई आरंभ की और पुर्णिया पर आक्रमण किया। २० मई, १७५६ को राजमहल पहुँचने के पश्चात् उसने अपना इरादा बदल दिया और मुर्शिदाबाद लौट आया और कासिम बाजारवाली अंग्रेजी फैक्ट्री पर अधिकार कर लिया। यह घटना ४ जून, १७५६ को घटी। ५ जून को सिराजुद्दौला की सेना कलकत्ते पर आक्रमण करने को रवाना हुई और १६ जून को कलकत्ता पहुँची। १९ जून को कलकत्ता के गवर्नर, कमांडर और कमेटी के सदस्यों को नगर और दुर्ग छोड़कर जहाज में पनाह लेना पड़ा। २० जून को कलकत्ता पर नवाब का कब्जा हो गया। जब इसकी खबर मद्रास पहुँची तो वहाँ से सेना भेजी गई, जिसका नेतृत्व क्लाइव के हाथ में था।

दिसंबर में क्लाइव हुगली पहुँचा। उसकी सेना की संख्या लगभग एक हजार थी। वह नदी की ओर से कलकत्ते की तरफ बढ़ा और २ जनवरी, १७५७ को उसपर अपना अधिकार कर लिया। सिराजुद्दौला को जब इसकी खबर मिली तो उसने कलकत्ते की ओर बढ़ने का प्रयत्न किया मगर असफल रहा और संधि करने पर विवश हुआ। इस संधि से अंग्रेजों को अधिक लाभ हुआ। सिराजुद्दौला ने कलकत्ते की लूटी हुई दौलत वापस करने का वादा किया; कलकत्ता को सुरक्षित करने की इजाजत दी और वाट को मुर्शिदाबाद में अंग्रेजी प्रतिनिधि के रूप में रखना स्वीकार किया।

इसी बीच यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध आरंभ हो गया। इसका प्रभाव भारत की राजनीति पर भी पड़ा। यहाँ भी अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में लड़ाई छिड़ गई। बंगाल में चंद्रनगर पर फ्रांसीसियों का प्रभाव रहा। अंग्रेजों ने वहाँ अपना समुद्री बेड़ा भेजने की तैयारी आरंभ कर दी। १४ मार्च, १७५७ को चंद्रनगर पर आक्रमण हुआ और एक ही दिन के बाद फ्रांसीसियों ने हथियार डाल दिए। वाटसन ने नदी की ओर से और क्लाइव ने दूसरी ओर से फ्रांसीसियों पर आक्रमण किया। सिराजुद्दौला इस लड़ाई में खुलकर भाग न ले सका। अब्दाली के आक्रमण के कारण वह फ्रांसीसियों की सहायता और अंग्रेजों से लड़ाई करने में संभवतः समर्थ न था।

चंद्रनगर की लड़ाई के बाद क्लाइव को ज्ञात हुआ कि सिराजुद्दौला से उसके अपने ही आदमी असंतुष्ट हैं; और उनमें उसका सेनापति मीरजाफर प्रमुख है। क्लाइव ने इससे लाभ उठाने का निश्चय किया। फलस्वरूप मीरजाफर और अंग्रेजों के बीच एक गुप्त समझौता हुआ। जिसके अनुसार क्लाइव ने मीरजाफर को बंगाल, विहार और उड़ीसा की दीवानी दिला देने का वादा किया। इसके लिये मीर जाफर को कलकत्ता में हुए कंपनी की हानि और सैनिक व्यय के लिये १० लाख पाउंड, कलकत्ते के अंग्रेज निवासियों को २ लाख पाउंड और आरमीनियन व्यापारियों को ७० हजार पाउंड देने की बात ठहरी। अमीचंद ने, जिसने अंग्रेजों और मीरजाफर के बीच समझौता कराया था, नवाब से उसके खजाने का पाँच प्रतिशत कमीशन माँगा और इस बात का उल्लेख संधिपत्र में किए जाने का आग्रह किया। फलतः क्लाइव ने दो संधिपत्र तैयार कराए। एक असली दूसरा नकली। नकली संधिपत्र में अमीचंद की शर्तें लिख दी गई थी। नकलीवाले संधिपत्र पर अंग्रेज गवर्नर का हस्ताक्षर बनाकर उसे दिखाया गया। मीरजाफर ने लड़ाई में तटस्थ रहने का वादा किया। यह निश्चय हुआ कि लड़ाई के मैदान में मौजूद रहते हुए भी वह अलग रहेगा।

अंग्रेजी सेना ने क्लाइव के नेतृत्व में सिराजुद्दौला के खिलाफ कार्रवाई की और परिणामस्वरूप प्लासी की लड़ाई हुई। प्लासी में सिराजुद्दौला की हार हुई और अंग्रेजों ने मीरजाफर को बंगाल को नवाब बना दिया। इस प्रकार क्लाइव के कारण अंग्रेज बंगाल के मालिक बन गए। ईस्ट इंडिया कंपनी को १५ करोड़ पौंड मिले। क्लाइव को उसमें से २ लाख ३४ हजार पौंड दिया गया और मीरजाफर ने भी उसे तीस हजार पौंड सालाना की जागीर दूसरे रूप से दी।

१७५९ में राजकुमार अली गौहर ने, जो आगे चलकर शाहआलम के नाम से शासक हुआ, दिल्ली से भागकर अवध में शरण ली। वह अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये विहार और बंगाल पर भी कब्जा करना चाहता था। उसने पटना को घेर लिया। नवाब के प्रतिनिधि रामनारायण ने उसका मुकाबला तब तक किया जब तक कलकत्ता से अंग्रेजों की सहायता नहीं पहुँची। नवाब ने चौबीस परगना की भूमि, जो इस सहायता के लिये रख छोड़ी गई थी, क्लाइव को दे दी। यह रकम ३० हजार पौंड की थी जो कंपनी किराए के रूप में अदा किया करती थी।

१७५९ में डच लोगों ने मीरजाफर के लड़के से साजिश कर अंग्रेजों को बंगाल से निकालने की योजना बनाई और फलस्वरूप उन्होंने सात जहाज नागापट्टम से रवाना किए; मगर जब वे हुगली के पास पहुँचे तो नवाब की ओर से उन्हें अपनी सेना उतारने की मनाही मिली। फलतः डच और अंग्रेजों में झड़प हुई, जिसमें डचों को जान और माल का नुकसान हुआ।

१७६० ई० में क्लाइव इंग्लैंड वापस लौटा। उस समय क्लाइव के पास ३० लाख पौंड नकद थे और ३० हजार पौंड सालाना की रकम मिलने की व्यवस्था थी। इंग्लैंड पहुँचने पर उसे 'बैरन ऑव प्लासी' की उपाधि मिली। उसने बड़ी जायदाद खरीदी और अपने मित्रों को पार्लमेंट का सदस्य बनवाया।

१७६४ में फिर क्लाइव को बंगाल का गवर्नर बनाकर भेजा गया और मई, १७६५ में क्लाइव दुबारा कलकत्ता आया। इस समय उसके सामने दो समस्याएँ थीं—एक राजनीतिक और दूसरी प्रशासकीय। राजनीतिक समस्या मुगल बादशाहों, अवध राज्य तथा बंगाल के नवाब से संबंध रखती थी। प्रशासकीय समस्या कंपनी के नौकरों की मुनाफाखोरी की थी।

क्लाइव को भारत आने पर ज्ञात हुआ कि पुराने गवर्नर वांसीटार्ट ने अवध का राज्य मुगल बादशाह को वापस दे देने का वादा किया है। क्लाइव ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला के पास इस आशय का प्रस्ताव भेजा कि यदि वह पचास लाख रुपए कपनी को देना स्वीकार करें तो इलाहाबाद प्रात को छोडकर उसकी रियासत उसे वापस कर दी जाएगी। तदनुसार, इलाहाबाद मुगल बादशाह को देकर उसके बदले क्लाइव ने बगाल की दीवानी माँगी। मुगल बादशाह ने फरमान जारीकर बगाल के नवाब के अधिकार को कम कर दिया और कपनी को वह अधिकार दे दिया।

क्लाइव के भारत आने के पहले कपनी के डाइरेक्टरो ने एक आदेश जारीकर कपनी के नौकरो को भेंट लेने की मनाही कर दी थी। क्लाइव ने बगाल पहुँचते ही समस्त सिविल और फौजी अफसरों से एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर कराए, जिससे भेंट लेना नाजायज हो गया। बगाल पहुँचकर क्लाइव ने देखा कि बहुत से पदों पर नए लोग काम कर रहे हैं और वे नाजायज मुनाफा उठा रहे हैं। क्लाइव ने व्यापार की नीति मे परिवर्तन किया और उससे जो लाभ हुआ उसे कपनी के नौकरो मे बाँट दिया। उसकी नीति का जिसने विरोध किया उसे उसने हटा दिया और अन्य लोगों को मद्रास से लाकर उनकी जगह रखा।

बगाल की गवर्नरी से पहले उसने कपनी के भत्ते के सबध मे नए कानून बनाए थे मगर वे कार्यान्वित न हो सके थे। क्लाइव ने बगाल पहुँचते ही इस कानून को जारी किया। इस कानून के अनुसार सैनिक अफसरो को बगाल और बिहार मे उसी समय भत्ता मिल सकता था जब वे छावनी से बाहर हो। केवल मुगेर और पटना केंद्र मे रहनेवाले अफसरो को भत्ता मिलता था। अवध मे अफसरो को दोगुना भत्ता मिलता था। इस प्रकार एक अफसर को तीन छह और बारह रुपए प्रति दिन भत्ता मिलता था। सिविल अफसरो की भाँति जब सैनिक अफसरो ने भी इस कानून के विरोध मे नौकरी से इस्तीफा देने की ठानी तब क्लाइव ने उनका इस्तीफा स्वीकार किया और उसके स्थान पर मद्रास से बुलाकर अफसर रखे। जो लोग विद्रोह पर तैयार हुए उन्हे दबा दिया। मीरजाफर ने अपनी वसीयत मे ७० हजार पौड क्लाइव के लिये लिखे थे। उनको क्लाइव ने उन लोगों के नाम कर दिया जो युद्ध मे घायल हुए थे।

फरवरी, १७६७ मे क्लाइव ने अतिम बार भारत छोडा मगर जाने से पूर्व ईस्ट इडिया कपनी की नीव मजबूत कर दी। इग्लैंड जाने पर उनके ऊपर भ्रष्टाचार का मुकदमा चला, किंतु उससे वह बरी कर दिया गया और अपनी सेवाओं के लिये उसे वजीफा दिया गया।

(मो० अ० अ०, प० ला० गु०)

क्लाइस्ट, बर्न हेनरिच विल्हेम वान (१७७७–१८११ ई०)

जर्मन कवि, नाटककार एव उपन्यासलेखक। १८ अक्तूबर, १७७७ को फ्रैंकफुर्ट-आन-ऑाडर मे जन्म। नाममात्र शिक्षा प्राप्त कर १७९२ मे प्रशा की सेना मे भर्ती हुआ। १७९६ मे राइन के अभियान मे भाग लिया और १७९९ मे लेफ्टिनेंट पद से सेवानिवृत्त हुआ। तदनतर उसने कानून और दर्शन का अध्ययन किया और १८०० मे बर्लिन मे अर्थ-मत्रालय मे नौकरी आरभ की। अगले वर्ष वह पेरिस आदि नगरो में घूमता फिरा और स्वीजरलैंड मे इस आशा से जा बसा कि वहाँ प्रकृति के शात वातावरण मे वह अपनी मेधा का विकास कर सकेगा। वहाँ उसकी हेनरिच जाक्के और अगस्त वीलैंड से भेंट हुई और उन्हें उसने अपने प्रथम नाटक 'द फेमिली श्रोफेस्टीन' का प्रारूप सुनाया। उसमे उन्हे उसकी प्रतिभा परिलक्षित हुई और प्रोत्साहन मिला।

१८०२ ई० मे क्लाइस्ट जर्मनी लौटा और वेमर मे गेटे, शिलर और वीलैंड से मिला। वहाँ रहते हुए उसने अपना नाटक 'रॉबर्ट ग्विस्कार्ट' लिखना आरभ किया किंतु उसे लोगों ने इतना हतोत्साह किया कि उसे अपनी प्रतिभा पर सदेह होने लगा। वह लाइपजिक, ड्रेस्डेन, पेरिस घूमता फिरा। पेरिस मे वह लगभग पागल सा हो गया और उसी पागलपन मे उसने अपने नाटक की पाडुलिपि जला डाली। केवल प्रथम अक बच पाया। १८०४ मे जब वह बर्लिन लौटा तब उसकी बदली राजकीय भूमि के प्रशासन विभाग मे कोनिग्सबर्ग कर दी गई। यहाँ रहते उसने 'दर जरब्रोशेन कुग' नाटक लिखा जो जर्मन भाषा के सुखात नाटको मे क्लासिक समझा जाता है। १८०७ मे जब वह ड्रेसडेन जा रहा था तो फ्रासीसियो ने उसे जासूस समझकर गिरफ्तार कर लिया और वह छह मास तक वहाँ बदी रहा। जेल से मुक्त होने पर वह ड्रेसडेन आया और हेनरिच म्युलर के साथ मिलकर 'फ्यूबस' नामक पत्रिका प्रकाशित की जिसमे उसकी कविताएँ तथा दुखात नाटक 'पेंथेसीलिया' छपी है।

१८०९ में वह प्राहा (प्राग) गया और फिर बर्लिन आकर बस गया। वहाँ से 'बर्लिनर अबेड्ब्लाट्टर' नामक पत्र प्रकाशित किया जो हार्डेनबर्ग की नीति का कटु आलोचक था। इसी काल मे १८०८ मे उसने अपना रोमाटिक नाटक 'दस काथचेन वान हाइल ब्रान' और कतिपय कहानियाँ लिखी। इनमे 'माइकल कलहास' लूथर काल की कथा है और जर्मन कथासाहित्य की युगातरकारी रचना मानी जाती है। उसकी बर्लिन-निवास काल की महत्वपूर्ण रचनाएँ मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुई। वे हैं 'दाइ हरमैन श्लाख्त (जिसमें नैपोलियन और फ्रासीसियो को वारुस और रोमनो के छद्म मे प्रस्तुत किया गया है) और प्रिंज हेनरिच वान हामबुर्ग है।

क्लाइस्ट का जर्मन साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान है। नाट्य साहित्य मे चल रही क्लासिकी परपरा का, जिसके पोषक गेटे थे, उसने जमकर विरोध किया। उसका उद्देश्य गेटे को पछाडकर अपने युग के सर्वोच्च नाटककार की ख्याति प्राप्त करना था। उसने अपने नाटको में ग्रीक नाट्य साहित्य तथा शेक्सपियर के दुखात नाटको के मूल तत्वो के सामजस्यपूर्ण मिश्रण द्वारा एक नई नाट्य शैली को जन्म देने का प्रयास किया।

साहित्यिक महत्वाकाक्षा की पूर्ति मे विफल होने के कारण उसका जीवन दुखी एव सघर्षमय रहा। अत उसके नाटको मे हमे वेदना एव सघर्ष की झलक मिलती है। उसके नाटको के पात्र अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उसी दृढता और एकनिष्ठ भाव का परिचय देते हैं जिसका समावेश उसके अपने व्यक्तित्व मे था। उनमे जो भी विशेषता देखने को मिलती है, वह अपने चरम रूप मे। जहाँ एक ओर 'पेंथेसीलिया' की नायिका, अमेजन की रानी शासन की मनोवृत्ति का अत्यधिक उग्र रूप प्रदर्शित करती है वहाँ 'काथेन फॉन हीलब्रॉन' की नायिका मे हम अत्यधिक की दासता पाते है। इन नाटको में मानसिक भावनाओं की तीव्र अभिव्यक्ति है।

क्लाइस्ट का नाटक 'द प्रिंस ऑव हाबुर्ग' राष्ट्र के प्रति जर्मन जाति की कर्तव्यनिष्ठा एव अनुशासनप्रियता का उदाहरण प्रस्तुत करता है। हाबुर्ग का राजकुमार, जिसने अपने देश के लिये युद्ध मे विजय प्राप्त की, इसलिये मत्युदड पाता है कि उसने अपने से ऊँचे सैनिक अफसरो की आज्ञा की अवहेलना की। पहले तो वह घबडाता है, लेकिन यह सोचकर कि राष्ट्र का अस्तित्व इसके नागरिको की अनुशासन भावना पर निर्भर करता है, वह साहस के साथ मृत्युदड स्वीकार करता है। अत मे अनुशासनप्रियता का परिचय देने पर उसे क्षमा मिल जाती है।

क्लाइस्ट के दुखद अत का पूर्ण वृत्तात अज्ञात है। अपनी कतिपय रचनाओ की उपेक्षा से वह कुछ कटु हो गया था और पत्रिका के बद हो जाने के कारण अर्थाभाव मे था। उसने २१ नवबर, १८११ को पाट्सडैम के निकट वासी के समुद्रतट पर आत्महत्या कर ली।

(प० ला० गु०, तु० ना० सिं०)

क्लाडियस, टाइबीरियस क्लाडियस ड्रूसस नीरो जरमेनिकस

(४१–५४ ई०) रोम का सम्राट्। ड्रूसस और अटोनि का पुत्र, सम्राट् टाइबेरियस का भतीजा, सम्राट् आगस्तस की पत्नी लीविया का पौत्र। इसका जन्म १ अगस्त, १० ई० पू० हुआ था। कैलिगुला की हत्या के पश्चात् प्रेटोरियनो ने इसे सम्राट् बनाया। अपने शासनकाल के आरभिक काल मे ही उसने अपने साम्राज्य का सीमाविस्तार किया। ४३ ई० मे उसने मॉरिटानिया को परातिजकर अपने अधिकार मे किया। उसी वर्ष वह स्वय एक सैनिक अभियान पर ब्रिटेन गया और दक्षिणी ब्रिटेन पर रोमनो का अधिकार जमा। ४४ ई० मे जूडिया को, जो राजा अग्रिप्पा को मिला था, अपने साम्राज्य का एक प्रात बनाया और ४६ ई० मे थ्रेस के राज्य पर अधिकार किया।

इसके शासनकाल में काफी प्रशासनिक विकास हुए। प्रांतों में प्रोक्युटोरियल सरकारों का विस्तार हुआ। प्रांतीय प्रोक्युटरों को आर्थिक मामलों में सम्राट् के समान अधिकार प्राप्त हुए। वेतन का एक नियमित मान निर्धारित किया गया। राजा के फ्रीडमैनों के अधिकारों में वृद्धि हुई। वे राजा के निजी नौकर होते हुए भी शक्तिशाली मंत्री बन गए और उन्हें अधिक संमान और पुरस्कार प्राप्त हुए। फ्रीडमैनों का शासन यद्यपि सुव्यवस्थित था किंतु वे स्वयं धृष्ट और भ्रष्टाचारी बन गए जिसका संभ्रांत समाज ने विरोध किया।

इस काल में सम्राट् के निजी दरबार का महत्व बढ़ गया। उसके पूर्ववर्ती सम्राट् अगस्टस और टाइबीरियस के समय में दरबार का न्यायाधिकार कुछ ही सीमित अवस्थाओं में प्रयोग में आता था। किंतु क्लाडियस को न्याय करने की कुछ अधिक धुन थी। बहुत से मुकदमों को वह बंद कमरे में सुनता था और प्रायः अपनी वहम के अनुसार निर्णय करता था।

इसके काल के सार्वजनिक कार्यों में ओस्टिया के नए बंदरगाह, फुसाइन भील की नहर के निर्माण आदि उल्लेखनीय है।

क्लाडियस शासक के अतिरिक्त लेखक भी था। उसने कई इतिहास ग्रंथ और अपनी आत्मकथा लिखी थी।

अगस्तस और टाइबीरियस के शासन काल में भारत के साथ जो व्यापारिक संबंध बढ़ा था वह इसके शासनकाल में चरम सीमा पर पहुँचा। इसके सोने और चाँदी के सिक्के बड़ी मात्रा में दक्षिण भारत के तटवर्ती प्रदेशों में प्राप्त होते हैं। भारत से निर्यात होनेवाली वस्तुओं के मूल्य स्वरूप रोम से ये सिक्के उन दिनों बड़ी मात्रा में आते थे।

जीवन के अंतिम दिनों क्लाडियस अपने मुसाहिबों और स्त्रियों के प्रभाव में आ गया था जिसके कारण शासन में बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी। ५४ ई० में उसे जहर दिया गया जिससे उसकी मृत्यु हो गई। (प० ला० गु०)

क्लाप्स्टाक, फ्रेडरिच गौटलेव (१७२४–१८०३ ई०)

जर्मन कवि। इसका जन्म क्वेडलिनबुर्ग में हुआ था और उसने शुल्पफोर्टा के धार्मिक विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। अपने अध्ययन काल में ही उसने हेनरी फाउलर के संबंध में एक महाकाव्य लिखने की योजना बनाई थी किंतु मिल्टन का 'पैराडाइज लॉस्ट' पढ़ने के बाद उसका विचार बदल गया और उसने अपने महाकाव्य का विषय मसीह को बनाने का निश्चय किया। १७४५ में जेना विश्वविद्यालय जाने के बाद उसने इसे लिखना आरंभ किया और लाइपजिग आने तक वह उसके तीन सर्ग लिख चुका था। वे १७४८ में एक पत्रिका में प्रकाशित हुए और समकालिक कवियों ने उसकी भूरिभूरि प्रशंसा की। तत्पश्चात् समय समय पर उसके चार और खंड प्रकाशित हुए। १७७३ में यह महाकाव्य पूरा होकर प्रकाशित हुआ।

१७४६ के बाद क्लाप्स्टाक ने मैत्री, प्रकृति, धर्म, देशभक्ति, कविता और भाषा से संबंधित अनेक गीत लिखे जिनका एक संग्रह १७७१ में प्रकाशित हुआ। उसने बाइबिल की यथावस्तु पर अनेक नाटक लिखे। उसने हरमैन को, जिसने ९ ई० में रोमनों को पराजित किया था, नायक बनाकर कई नौटंकी (बार्डिक ड्रामा) भी लिखे जिनका बहुत दिनों तक प्रभाव रहा और हरमैन विषयक नाटकों में उनका अग्रगण्य स्थान माना जाता था।

१७५१ में डेनामर्क नरेश फ्रेडरिक (पंचम) ने उसे कोपेनहेगेन बुलाया और उसके लिये वार्षिक वृत्ति बाँध दी ताकि वह मुक्त रहकर काव्यरचना करे। कुछ दिनों वह डेनमार्क में रहा, यदाकदा जर्मनी आता था। १७७० में वह हंबुर्ग में स्थायी रूप से आ बसा। अंतिम दिनों में वह भाषा और छंद पर ही लिखता रहा।

क्लाप्स्टाक का महत्व जर्मन साहित्य में उसके गीतिकाव्यों के लिये है। 'डेर मसीह' यद्यपि महाकाव्य के रूप में काफी दोषपूर्ण है तथापि वह उस युग के लिये काव्य की भाषा में व्यक्त की जानेवाली नई चीज थी। उसमें कवि की आस्था मूर्तिमान होकर प्रकट हुई है। उसने वस्तुओं के वर्णन करने की अपेक्षा उनके प्रभाव की अभिव्यक्ति की है। अव्यक्त को व्यक्त करने के लिये उसने जो शब्दावली प्रस्तुत की है उनमें अद्भुत काव्यसंकेत हैं। यही बात उसके गीतों में भी परिलक्षित होती है। प्रकृति विषयक रचनाओं में स्वानुभूति की अभिव्यक्ति (सब्जेक्टिव इंप्रेशन) के लिये उसने जो मायास प्रयास किया है उससे एक नई और प्रभावोत्पादक ढंग की वर्णनात्मक कविता को जन्म दिया। उसने जर्मन भाषा में वैयक्तिक अनुभूति के रूप में गीति को एक नया रूप प्राप्त हुआ। उसने अपनी गीतिकाव्यों में लय की स्वच्छंदता को अपनाया है जिसके कारण उनमें संगीत प्रतिध्वनित होता है। इन मुक्त छंदों को उसके लचीले पद के कारण गेटे, होल्डरिन, नोवालिस, हेन सदृश परवर्ती कवियों ने अनुभूति और विचारों की अभिव्यक्ति के लिये ग्रहण किया। इस प्रकार क्लाप्स्टाक आधुनिक जर्मन गीतिकाव्य का पुनरुद्धारक और प्रेरक था। (प० ला० गु०)

क्लार्क, अब्राहम (१७२६–१७९४ ई०)

अमरीकी देशभक्त जिसने स्वतंत्रता के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किए थे। उसका जन्म १५ फरवरी, १७२६ को न्यूजर्सी के इलिजबेथ टाउन नामक कस्बे में हुआ था। गणित और दीवानी कानून की शिक्षा प्राप्तकर उसने भू-मापन और भू-विक्रय का धंधा आरंभ किया। वकालत उसके पेशे का विषय नहीं था तथापि वह अपने पड़ोसियों को मुफ्त कानूनी सलाह देता रहता था जिसके कारण लोगों के बीच वह 'गरीबों का सलाहकार' कहा जाने लगा। न्यूजर्सी के उपनिवेश असेंबली में वह लेखक बना; बाद में वह इसेक्स का हाइ शेरिफ नियुक्त हुआ। ह्विग दल का सक्रिय सदस्य होने के कारण वह अपने प्रांत की जनरक्षक कमेटियों का सदस्य रहा। जून, १७७६ में वह कांग्रेस के लिये प्रतिनिधि चुना गया और इंग्लैंड से विलग होने के पक्ष में उसने मत दिया तथा स्वतंत्रता के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किए। उसके बादवह आठ बार कांग्रेस का सदस्य निर्वाचित हुआ।

१७८७ में फिलाडेल्फिया में संविधान बनाने के लिये जो कन्वेंशन हुआ उसमें वह प्रतिनिधि था किंतु अस्वस्थ होने के कारण वह उसमें भाग न ले सका। २ जुलाई, १७८८ को उसने कांग्रेस में संघ संविधान लागू करने का प्रस्ताव उपस्थित किया जो पारित हुआ। राज्य विधानसभा ने १७८९–९० में न्यूजर्सी के उस ऋण के निपटारे के लिये, जो क्रांति के समय लिए गए थे उसे कमिश्नर बनाया। दूसरी बार १७९४ में कांग्रेस में निर्वाचित होनेतक वह इस कार्य को करता रहा। १५ सितंबर, १७९४ को अपनी जन्मभूमि में ही उसकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्लार्क, चार्ल्स काउडेन (१७८७–१८७७ ई०)

अंग्रेज लेखक और शेक्सपियर साहित्य का विशेषज्ञ। १५ दिसंबर, १७८७ को एनफील्ड (मिडिलसेक्स) में जन्म। उसके पिता जान क्लार्क स्कूल में अध्यापक थे। जान कीट्स उनके शिष्यों में से था। चार्ल्स क्लार्क ने अपना जीवन संगीत पुस्तकों के प्रकाशक के रूप में आरंभ किया। जब उसने मेरी विक्टोरिया से विवाह किया तब वह शेक्सपियर साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। विवाह के अनंतर श्रीमती क्लार्क ने शेक्सपियर साहित्य की शब्दानुक्रमणिका तैयार करना आरंभ किया जो १८४४–४५ के बीच पहले १८ मासिक खंडों के रूप में और बाद में १८४५ में 'कंप्लीट कंकार्डेंस टु शेक्सपियर, बीइंग वर्बल इंडेक्स टु आल द पैसेजेज इन द ड्रामैटिक वर्क्स ऑव द पोएट' नाम से प्रकाशित हुआ। इस कार्य ने १७९० में प्रकाशित सैम्युएल एरस्काइन और १८०५–०७ में प्रकाशित फ्रांसिस ट्विस की अनुक्रमणिकाओं को निरर्थक बना दिया। इसने क्लार्क की शेक्सपियर के ग्रंथों में अभिरुचि पैदा कर दी। फलत. उसने १८३४ और १८५६ के बीच शेक्सपियर तथा अन्य साहित्यिक विषयों पर व्याख्यान दिए। उनमें से प्रमुख व्याख्यान बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। उनमें 'शेक्सपियर्स कैरेक्टर्स, चीफली दोज सुबार्डिनेट' (१८६३) और 'मोलियर्स कैरेक्टर्स' (१८६५) उल्लेखनीय हैं। १८५९ में उसने अपनी कुछ कवि-

ताओं का संग्रह प्रकाशित किया। १८७९ में पति-पत्नी ने संयुक्त रूप से द शेक्सपियर की, अनलाकिंग द ट्रेजर्स ऑव हिज स्टाइल' प्रकाशित की। इसके पूर्व उन दोनों ने शेक्सपियर के ग्रंथों का संस्करण तैयार किया जो पहले धारावाहिक रूप में प्रकाशित होकर १८६८ में पूर्ण हुआ। १८८६ में उसका पुनर्मुद्रण हुआ।

चार्ल्स क्लार्क की मृत्यु १३ मार्च, १८७७ को जिनेवा में हुई।
(प० ला० गु०)

क्लार्क, जॉन मेसन (१८५७–१९२१) भूगर्भवेत्ता और पुराप्राणिविज्ञान-वेत्ता। इनका जन्म १५ अप्रैल, १८५७ ई० को न्यूयार्क के कैनेनडेग्वा में हुआ था। वहाँ शिक्षा पाकर ये जर्मनी के गोटिंजेन विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। वहाँ से लौटने पर १८८८ ई० में न्यूयार्क में पहले सहायक और पीछे स्वतंत्र प्राध्यापक नियुक्त हुए। फिर राज्य संग्रहालय के भूगर्भवेत्ता और पुराप्राणिविज्ञानवेत्ता निर्देशक नियुक्त हुए। इनके समय में इस संग्रहालय ने बड़ी उन्नति की और वह संयुक्त राज्य अमरीका का सर्वश्रेष्ठ संग्रहालय बन गया।

बाल्यकाल से ही इनमें फॉसिल (प्रस्तरीभूत जीव) संग्रह की लगन थी और इसका इन्होंने गहन अध्ययन किया था। ब्राकियोपॉड, त्रस्टेशिया काचस्पज, प्रवालयुगीन प्राणियों, मत्स्ययुगीन प्राणियों आदि के संबंध में इन्होंने अनेक निबंध और ग्रंथ लिखे। इनके निबंधों की संख्या ३८० के लगभग है जिनकी सूची अमरीकन जियोलॉजिकल सोसायटी के बुलेटिन (खंड ३७ पृष्ठ ४९–६३, १९२६) में प्रकाशित हुई है।
(फू० स० व०)

क्लासिक मूलत प्राचीन यूनान और रोम के लेखकों और उनकी कृतियों, किंतु अब, किसी भी देश और युग के कालजित्, कीर्तिलब्ध, सर्वमान्य या प्रतिष्ठित लेखकों और उनकी कृतियों के लिये प्रयुक्त शब्द। वर्तमान अर्थ में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ईसा की दूसरी सदी में रोमन लेखक औलस गेलियस ने किया। उसके अनुसार लेखक दो कोटि के होते हैं (१) क्लासिकस स्क्रिप्तोर अर्थात् वह जिनकी रचना प्रथम कोटि की या कीर्तिमानस्थापक होती है, और (२) प्रालीतारियस स्क्रिप्तोर अर्थात् वह जिसकी रचना सर्वहारा की शैली में होने के कारण साधारण कोटि की या कालसापेक्ष होती है।

रोम के छठे राजा सेवियस तुलियस ने अपने संवैधानिक सुधारों में संपत्ति के अधिकार पर रोम के नागरिकों के पाँच वर्ग बनाए थे। रोमन समाज के इस वर्गीय विभाजन में सबसे वैभवसंपन्न नागरिक 'क्लासिक' (सर्वोच्च या अभिजात) और सबसे निराश्रित और संपत्तिहीन नागरिक 'प्रालीतारी' (सर्वहारा) कहे गए थे। लेखकों की उपर्युक्त दो कोटियों का नामकरण इसी सामाजिक विभाजन के अनुकरण के आधार पर हुआ। आधुनिक युग में संगीत, चित्र, मूर्ति, चलचित्र आदि कलाओं के प्रतिष्ठित मेधावियों और उनकी रचनाओं के लिये भी 'क्लासिक' शब्द का व्यवहार किया जाने लगा है।

क्लासिक शब्द की अर्थसीमा को और भी विस्तृत कर अब जीवन के किसी क्षेत्र में भी विश्रुत या स्थायी कीर्तिमान स्थापित करनेवाले व्यक्ति, उसकी दक्षता, शैली या उपलब्धि, अनन्य या विख्यात क्रीडाप्रतियोगिताओं इत्यादि को भी 'क्लासिक' कहा जाता है। यथा—'क्रिकेट में डब्ल्यू० जी० ग्रेस और रणजी और हाकी में ध्यानचंद को क्लासिक' कहा जाता है। इसी प्रकार विश्वविख्यात घुड़दौड़ प्रतियोगिता डर्बी, नौकादौड़ प्रतियोगिता हेनली रीगैटा, टेनिस प्रतियोगिता 'विंबलडन इत्यादि को, उनके व्यावसायिक या अव्यावसायिक रूप को ध्यान में रखे बिना, 'क्लासिक' की संज्ञा दी जाती है। टी० एस० ईलियट ने अपने प्रसिद्ध लेख 'ह्वाट इज ए क्लासिक' में 'ए गाइड टु द क्लासिक्स' नामक पुस्तक का उल्लेख किया है जिसका उद्देश्य पाठकों को प्रतियोगिता के पूर्व ही डर्बी में प्रथम आनेवाले घोड़े के विषय में सही अनुमान करने की क्षमता प्रदान करना था। इस प्रकार क्लासिक शब्द के विभिन्न संदर्भों में विभिन्न अर्थ हैं।

जहाँ तक 'क्लासिक' शब्द के साहित्यिक प्रयोग का प्रश्न है पश्चिम की देन होते हुए भी, इसका प्रचलन अब संसार की सभी भाषाओं और साहित्यों में है। किसी भी प्राचीन भाषा या साहित्य को उससे प्रभावित या विकसित किसी आधुनिक भाषा या साहित्य के संदर्भ में 'क्लासिक' कहा जाता है। इस प्रकार संस्कृत को अधिकांश भारतीय भाषाओं या साहित्यों के संदर्भ में या प्राचीन चीनी भाषा और उसके साहित्य को आधुनिक चीनी भाषा और साहित्य के संदर्भ में 'क्लासिक' कहा जाता है। दूसरी ओर प्रत्येक भाषा के साहित्य का कालविभाजन कुछ विशेष साहित्यिक मूल्यों के आधार पर 'क्लासिक' तथा अन्य शब्दों में व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार स्वयं संस्कृत और प्राचीन चीनी साहित्य के भीतर 'क्लासिक' काल माने जाते हैं। साथ ही संस्कृत के सापेक्ष हिंदी अ-'क्लासिक' भाषा और साहित्य है, किंतु हिंदी में भी अपना 'क्लासिक'-काल है।

यहाँ 'क्लासिक' शब्द और उसके मूल्यों की विवेचना उन्हीं संदर्भों में की गई है जिनमें उनका विकास हुआ।

प्राचीन ग्रीक और रोमन साहित्य—प्राचीन ग्रीस और रोम का साहित्य कालविस्तार, वस्तु और विधाओं की विविधता, शिल्पगत समृद्धि और यूरोपीय साहित्य और संस्कृति की मुख्य प्रेरणात्मक शक्ति की दृष्टि से असाधारण महत्व का है। उसका प्रसार होमर (ल० ९०० ई० पू०) से लेकर जुस्तिनियन (५२७ ई०) तक माना जाता है। १४ सदियों के इस लंबे साहित्यिक इतिहास के तीन कालविभाग किए जाते हैं (१) क्लासिकल—होमर से लेकर सम्राट् सिकंदर की मृत्यु तक (ल० ९०० ई० पू०—३२३ ई० पू०), (२) हेलेनिक (३२३ ई० पू०–१०० ई०), (३) हेलेनिकोत्तर या ग्रेको-रोमन (१०० ई०–५२९ ई०)।

(१) क्लासिकल काल, जिसे अंशत वीरगाथाकाल कहना अनुचित न होगा, महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक और गद्य—सभी में नवीन किंतु श्रेष्ठ कृतित्व का काल है। अंधकवि होमर वीरगाथाकाल के साथ साथ यूरोप का आदि कवि भी है। उसकी प्रसिद्ध रचनाओं, 'ईलियद' और 'ओदेसी', में यूनान के चारणों की लंबी मौखिक परंपरा और उसकी व्यक्तिगत प्रतिभा का संगम है। ग्रीक वीरछंद हेक्सामीटर में रचित युद्ध और पराक्रम की ये कथाएँ इतनी लोकप्रिय हुईं कि इनके गायकों की 'होमरीदाई' (होमर के पुत्र) नामक श्रेणी बन गई। इन्हें होमर के लगभग ३०० वर्ष बाद छठी सदी ई० पू० में लिपिबद्ध किया गया। इसी वीरछंद का प्रयोग आठवीं सदी ई० पू० में हेसिओद ने अपनी नीतिपरक और दार्शनिक कविताओं में किया। बाद में हेसिओद की परंपरा में ही जेनोफेनिज, पारमेनीदीज, एंपिदोक्लीज आदि दार्शनिक कवि हुए।

सातवीं सदी ई० पू० में ग्रीक लिरिक या गीतिकाव्य का जन्म हुआ। 'लीरे' नामक तंत्री वाद्ययंत्र के स्वर पर गाए जानेवाले इन गीतों का प्रारंभ राजनीतिक विषयवस्तु से हुआ लेकिन बाद में उन्होंने प्रधानत प्रयाणनिवेदन या मरसिया (ऐलेजी) का रूप ग्रहण किया। इनकी रचना अ-डएथिक छंदों में होती थी। व्यक्तिगत गायन के लिये रचित इन गीतों के क्षेत्र में सबसे प्रसिद्ध नाम आल्कीअस और कवयित्री सैफो के हैं। इन व्यक्तिगत गीतों के अतिरिक्त सामूहिक (कोरस) गीतों का भी उदय हुआ। इनका चरमोत्कर्ष छठी-पाँचवीं सदी ई० पू० में पिंदार की रचनाओं में हुआ।

धार्मिक कृत्यों के अवसर पर साधारण जन द्वारा गाए जानेवाले 'कोरस' गीतों से पाँचवीं सदी ई० पू० में प्राचीन यूनानी साहित्य में नाटकों का अत्यंत महत्वपूर्ण विकास हुआ। त्राजेदी (दु खांत नाटक) के क्षेत्र में ईस्किलस, सोफोक्लीज और यूरीपीदीज और कामेदी (सुखांत नाटक) के क्षेत्र में अरिस्तोफनीज के नाम विख्यात हैं।

गद्य का विकास साहित्य की अन्य विधाओं के बाद, प्राय चौथी सदी ई० पू० में हुआ। इसकी तीन मुख्य दिशाएँ थीं वक्तृता, जिसमें

सबसे प्रसिद्ध नाम दिमास्थेनीज का है, इतिहास, जिसमें सबसे प्रसिद्ध नाम हेरोदोतस, थूकिदीदीज, (थूसिडाइडीज़) और ज़ेनोफ़ोन के हैं।

(२) हेलेनिक काल के साहित्य में मौलिक प्रयोगों के स्थान पर अनुकरण और विद्वत्ता की प्रवृत्ति अधिक है। इस काल की कविताएँ प्रायः प्रेमविषयक, लघु और परिमार्जित हैं। अपोलोनियस रोदियस ने प्राचीन वीरकाव्य की परंपरा को जीवित रखने और लोकप्रिय बनाने का असफल प्रयत्न किया। कालीमाखस के नेतृत्व में स्फुट प्रेमविषयक कविताओं का प्रचलन अधिक हुआ। अन्य कवियों में एरातस और निकांदर उल्लेखनीय हैं।

यह नाटक का ह्रासकाल था। दुःखांत नाटक के क्षेत्र में इस काल का सबसे प्रसिद्ध लेखक ली कोफ़ोन है।

इस काल की कविता में विकास की एक नई दिशा के रूप में थियोक्रितस, बियोन और मोस्कस के पशुचारण, शोकगीतों, ग्वालगीतों का महत्वपूर्ण स्थान है।

वस्तुतः यह काल गद्य में अधिक समृद्ध है। गणित, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, आलोचना, व्याकरण, भाषाशास्त्र आदि के संबंध में रचनाएँ प्रस्तुत हुईं। इस काल के इतिहासकारों में पोलीबियस, स्त्राबो और प्लूतार्क विशेष प्रसिद्ध हैं।

(३) रोम द्वारा यूनान पर विजय के बाद का, अर्थात् ग्रेको-रोमन साहित्य गद्य में इतिहास और आलोचना शास्त्र की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है। रोम के ईसाई धर्म में दीक्षित होने के बाद प्रकृतिपूजक ग्रीस के साहित्य और संस्कृति को बहुत चोट पहुँची। फिर भी इस युग में प्लूतार्क और लूसियन जैसे इतिहासकार और दियोनीसियस तथा लांजिनस जैसे आलोचनाशास्त्री हुए।

प्राचीन रोमन या लातीनी साहित्य प्रसार और समृद्धि दोनों ही दृष्टियों से प्राचीन ग्रीक साहित्य से घटकर है। इसके भी तीन विभाजन किए जाते हैं : (१) रिपब्लिक या गणतंत्र युग (२५०-२७ ई० पू०), (२) आगस्तस युग (२७ ई० पू०-१४ ई०), (३) साम्राज्य युग (१४ ई०-५२४ ई०)।

(१) रिपब्लिक युग में प्रहसन, नाटक, गद्य और कविता के क्षेत्र में विशेष कार्य हुआ। प्रहसन में माक्कियस प्लातस, स्तातियस और तेरेंस या तेरेंतियस आफ़ेर, गद्य में वारो और प्रसिद्ध वक्ता तथा राजनीतिज्ञ सिसरो और कविता में लुक्रिशियस तथा कातुलस इस युग के प्रसिद्ध साहित्यकार है।

इन सभी लेखकों की विषयवस्तु रोम के जीवन से संबद्ध थी, लेकिन इनकी रचनाओं के रूप पर प्राचीन ग्रीक साहित्य का गहरा असर है।

(२) आगस्तस काल लातीनी साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता है। इसके साथ लातीनी कविता के सबसे महान् कवि वर्जिल का नाम जुड़ा हुआ है। गड़ेरिया जीवन संबंधी दस कविताओं, एक्लोग्ज और ग्रीक योद्धा ईनिस के जीवन पर आधारित महाकाव्य, ज्योर्जिक्स के लिये प्रसिद्ध है। उसके साहित्य में ग्रीक और रोमन सांस्कृतिक परंपराओं, रोमन साम्राज्य के तत्कालीन गौरव और एक महान् यूरोपीय सभ्यता के उदय के स्वप्न की अत्यंत प्रौढ़, परिमार्जित और समन्वित अभिव्यक्ति है। उसके दृष्टिकोण की सार्वभौम व्यापकता और उदारता और उसकी कविता में ग्रीक और लातीनी कविता की रूपगत शालीनता और सौंदर्य के चरमोत्कर्ष का उल्लेख करते हुए टी० एस० ईलियट ने कहा है : 'हमारा क्लासिक, समस्त यूरोप का क्लासिक, वर्जिल है।'

इस युग के दो अन्य विख्यात कवियों में होरेस और ओविद हैं। पहला अपनी व्यंग्य और कटाक्षपूर्ण रचनाओं और कसीदों (ओटों) के लिये और दूसरा प्रणयकविताओं और मरसियों के लिये प्रसिद्ध है।

लिवियस या लिवी इस युग का प्रसिद्ध इतिहासकार है। उसने रोम का इतिहास लिखा।

(३) साम्राज्यकाल के दो उपविभाजन किए जाते हैं : (अ) रजत काल (१४ ई०-११७ ई०), (ब) ईसाई काल (११७ ई०-५२४ ई०)। रजतकाल के प्रसिद्ध साहित्यकारों में सेनेका ने ग्रीक परंपरा में त्राजेदी, ल्यूकन ने महाकाव्य, फ्लाकस और जुवेनाल व्यंग्य और कटाक्ष, प्लिनी ने इतिहास, क्विंतिलियन ने साहित्यालोचन और इतिहास तथा तासितस ने जीवनचरित, इतिहास, साहित्यिक आलोचना इत्यादि की रचना से लातीनी साहित्य को समृद्ध किया। विद्वानों के मतानुसार वास्तव में रजतयुग के साथ लातीनी साहित्य के क्लासिकल युग का अंत हो जाता है, क्योंकि इसके बादवाले लातीनी साहित्य में भाषा और भाव की शालीनता का उत्तरोत्तर क्षय होता गया।

दूसरी सदी के बाद लातीनी साहित्य पर ईसाई धर्म की प्रभुता स्थापित हो गई। इस साहित्य में प्राचीन ग्रीक और लातीनी मूर्ति और प्रकृतिपूजक परंपरा और ईसाई धर्म की मान्यताओं के बीच तीव्र द्वंद्व की अभिव्यक्ति हुई। इस युग के उल्लेखनीय साहित्यकारों में तरतूलियन, मिनूसियस फ़ेलिक्स, लाक्तांतियस, संत जेरोम, संत आगुस्तिन, बाएथियम, कासियोदोरस, संत बेनेदिक्त, ग्रेगरी महान्, संत इसीदोर आदि हैं।

ईसा की छठी सदी से लेकर पूरे मध्य युग तक लातीनी साहित्य की रचना होती रही। चर्च का सारा कार्य लातीनी में होता ही था, इसके अतिरिक्त लौकिक साहित्य, दर्शन और शिक्षा के क्षेत्र में भी इस भाषा का प्रमुख स्थान था। इस लंबे काल के रचनाकारों में कुछ प्रसिद्ध नाम ये हैं : कालवानस (५४३-६१५), बीड (६७३-७३५), अल्कुइन (७३५-८०४), संत बर्नार्ड (१०९०-११५३), संत तॉमस अक्विनस (१२२४-७४), दांते (१२६५-१३२१)। इस युग में लातीनी की महत्वपूर्ण भूमिका का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि इसके साहित्यकार न केवल इटली या रोम के थे, बल्कि आयर्लैंड, इंग्लैंड और पश्चिमी यूरोप के अनेक देशों के भी थे।

पुनर्जागरण (रेनेसाँ) : १४५०–१५५० : पुनर्जागरण यूरोप में ग्रीक और रोमन साहित्य, कला और दर्शन के प्रति नई सजगता और अभिरुचि का काल है। रेनेसाँ का उदय अधिकतर विद्वान् १४५३ ई० के बाद से मानते हैं, जब तुर्कों ने कुस्तुनतुनिया पर विजय प्राप्तकर ग्रीक-रोमन सभ्यता को पश्चिम की ओर इटली में शरण लेने के लिये विवश किया। कुछ इसका प्रारंभ १४४० ई० में मुद्रण के आविष्कार से मानते हैं। इससे भी पूर्व १०वीं और १२वीं सदियों में नवस्फुरण के संकेत मिलते हैं। १५वीं सदी के पहले और उसके पूर्वार्ध में ही इस जागरण की पूर्वपीठिका इटली के अनेक नगरों में, जिनमें रोम और फ्लोरेंस प्रधान थे, तैयार हो चुकी थी। इसका नेतृत्व करनेवालों में दांते, पेत्रार्क : (१३०४-७४), बोक्काचो (१३१३-७५), कोजीमो मेदिची (१३८९-१४६४) इत्यादि प्रमुख थे। किंतु १५वीं सदी के मध्य से यह प्रक्रिया इतनी वेगवती और व्यापक हो गई कि यहाँ से मध्ययुगीन यूरोप का आधुनिकता में संक्रमण माना जाता है। इस संक्रमण के साथ ग्रीक और रोमन साहित्य, संस्कृति और कला के उदार लौकिक एवं मानवतावादी दृष्टिकोण ने मध्ययुगीन यूरोप की संकुचित तथा रूढ़ धार्मिकता और परलोकपरायणता एवं उनके सहयोगी व्यक्ति-स्वातंत्र्य-विरोधी सामंती अंकुशों को निःसत्व कर दिया। पुनर्जागरण ने आदिपाप और हीनता के सिद्धांत के स्थान पर मानव काया की पवित्रता और व्यक्ति के विकास की अमित संभावनाओं में आस्था की प्रतिष्ठा की। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल थी कि स्वयं चर्च को इसके साथ समझौता करना पड़ा। फ्रेंच विद्वान् जसरां के अनुसार लौकिकता और मानवतावाद की इस असंदिग्ध विजय का प्रतीक कांसे की बनी औरत की वह नंगी मूर्ति थी जो पुनर्जागरण के बाद स्वयं एक पोप की समाधि पर स्थापित की गई।

पुनर्जागरण ने मानवतावाद के साथ साथ प्राचीन ग्रीक और रोमन साहित्यिक परंपरा को भी पुनरुज्जीवित किया, जिसके फलस्वरूप इतालवी साहित्य को काव्य, नाटक, आख्यायिका, इतिहास आदि की वस्तु और रचना के आदर्श विधान प्राप्त हुए। प्राचीन ग्रीक और लातीनी साहित्यकारों की रचनाओं से प्रेरणा ग्रहण करने के अतिरिक्त १६वीं सदी के इतालवी साहित्यकारों ने अरस्तू और होरेस की 'पोएतिक्स' और 'आर्स पोएतिका' नामक रचनाओं को काव्य के लक्षणग्रंथ के रूप में स्वीकृत किया। पुनर्जागरण ने ही फ्लोरेंस में लोरेंत्सो मेदिची के नेतृत्व में,

अफलातूनवाद को भी जन्म दिया, जिसका गहरा असर इटली और यूरोप के अन्य देशों की प्रेमसबंधी कविताओं पर पड़ा।

इटली की सीमाओं को लाँघकर क्लासिकल नवजागृति १५वीं-१६वीं सदी में फ्रांस में और १६वीं सदी में स्पेन, जर्मनी और इंग्लैंड में पहुँची। इस नवजागृति ने रोमन कैथोलिक चर्च के अंतर्गत यूरोप की एकसूत्रता भंगकर इन देशों की निजी प्रतिभा को उन्मुक्त किया। इसलिए इनमें से हर देश ने इस नई चेतना का अपने अपने साँचों में ढाला। धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला, विज्ञान, शिक्षा सभी पर इस जागृति की छाप पड़ी। इस आंदोलन के संदेश को इटली के अग्रणियों ने यूरोप के देशों में पहुँचाया और उसे ग्रहण करने के लिये यूरोप के देशों के अग्रणी इटली पहुँचे। इटली के लियोनार्दो दा विंसी और अलामन्नी फ्रांस और कास्तिग्लिओने स्पेन पहुँचे। पश्चिमी यूरोप से महान् धार्मिक नेता लूथर (१४८३–१५४६) और मेधावी मानवतावादी इरैस्मस (१४६६-६७-१५३६) इटली पहुँचे। फ्रांस के प्लेइया (Pleiad) के कवियों, जर्मनी के धर्मसुधार आंदोलन (रिफर्मेशन), स्पेन की लिरिक काव्यधारा, इंग्लैंड के एलिजाबेथयुगीन साहित्य की मूल प्रेरणा यही नवजागृति थी।

इस नवजागृति की विशेषता यह थी कि उसने जहाँ एक ओर अपने प्राचीन क्लासिकल आदर्श उपस्थित किए, वहाँ दूसरी ओर व्यक्ति की चेतना को मुक्तकर उसे प्रयोग और सृजन की नई दिशाओं में जाने का साहस भी दिया।

१७वीं और १८वीं सदियों में इन्हीं आदर्शों के रूढ़ि बन जाने के बाद इस रचनात्मक स्फूर्ति का भी लोप हो गया। प्राचीन क्लासिकों के प्रवाह को रीति के कुंड में बाँधकर एक नए वाद ने जन्म लिया, जिसे नियो-क्लासिसिज्म कहा जाता है। अक्सर 'क्लासिसिज्म' और 'नियो-क्लासिसिज्म' पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं, किंतु पुराने क्लासिकों के आदर्श और 'वाद' में बँध जाने के बाद क्लासिसिज्म या नियो-क्लासिसिज्म के आदर्शों के भेद को समझना आवश्यक है।

क्लासिसिज्म या नियो-क्लासिसिज्म (रीतिवाद) यूरोप में नियो-क्लासिसिज्म को प्रतिष्ठित करने में मुख्य भूमिका १७वीं सदी के फ्रेंच साहित्यकारों और आलोचकों की थी, जिन्होंने १६वीं सदी के इतालवी आलोचकों द्वारा अरस्तू, होरेस आदि प्राचीन ग्रीक और रोमन साहित्य-चिंतकों के सिद्धांतों पर किए गए मतैक्यहीन विचारविमर्श को कठोर व्यवस्थित, और प्राय निर्जीव रीति का रूप दे दिया। फ्रेंच आलोचना-शास्त्री प्राचीन ग्रीक और रोमन चिंतकों के पास सीधे न पहुँचकर अपनी रुचि के इतालवी आलोचनाशास्त्रियों के माध्यम से पहुँचे, जिसके फलस्वरूप उन्होंने काफी स्वच्छंदता के साथ प्राचीन क्लासिकों, विशेषत अरस्तू के सिद्धांतों पर अपनी रीति-अरीति आरोपित कर दी।

आलोचना में इस रीतिवाद का प्रथम महत्वपूर्ण प्रचारक मैलर्ब (१५५५–१६२८) हुआ। १६३० से १६६० के बीच इस रीतिवाद का प्रसार और भी हुआ। यह कार्य शाप्ले (१५९४–१६७४), ब्वायलो (१६३६–१७११), रापैं, ले बोस्सू इत्यादि के द्वारा संपन्न हुआ और इसमें उन्हें लुई के दरबार के संरक्षण में संस्थापित फ्रेंच अकादमी, देकार्त के बुद्धिवाद और कैथोलिक चर्च से प्रेरणा और समर्थन प्राप्त हुआ।

नियो-क्लासिकल आलोचनाशास्त्र का ध्यान कविता, जिसमें महाकाव्य और दुःखांत तथा सुखांत रूपक भी शामिल थे, की ओर ही गया। उसके कुछ साधारण सिद्धांत थे, जैसे, कविता का लक्ष्य मनोरंजन से अधिक नैतिक शिक्षा है, काव्यशास्त्र या रीति का ज्ञान प्रतिभा से अधिक आवश्यक है, रीति का अर्थ क्लासिकों का अनुकरण है, काव्य की वस्तु में 'सत्य' सर्वोपरि है और सत्य का अर्थ है मानव द्वारा अनुभूत सार्वभौम सत्य, और कल्पना के उद्वेग के स्थान पर बौद्धिक संयम और संतुलन होना चाहिए, अभिव्यक्ति में स्पष्टता और लाघव होना चाहिए, रचनाविधान में व्यवस्था, अनुपात और संतुलन का सम्यक् निर्वाह होना चाहिए। संक्षेप में इन साधारण नियमों की तीन धुरियाँ थीं, बुद्धि, नीर-क्षीर-विवेक और कल्पनात्मक अभिरुचि।

जहाँ तक काव्यरूपों का प्रश्न था, नियो-क्लासिकल आलोचना-शास्त्रियों के अनुसार प्रत्येक रूप के विषय, लक्ष्य, प्रभाव और शैलियाँ प्राचीनों ने निश्चित कर दी थीं। इसी आधार पर उन्होंने महाकाव्य और सुखांत नाटकों के रचनाविधान को रीतिबद्ध किया। उन्होंने दुःखांत में प्रहसन और प्रहसन में दुःखांत के तत्वों के सम्मिश्रण की निंदा की और काल, देश एवं घटना के संघिक्य को रूपक के रचनाविधान का केंद्रीय सिद्धांत माना।

नियो-क्लासिकल सिद्धांतों का गहरा असर तत्कालीन यूरोपीय साहित्य पर पड़ा क्योंकि १४वें लुई का फ्रांस यूरोप का सांस्कृतिक केंद्र था। १८वीं सदी का अंग्रेजी साहित्य नियो-क्लासिकल आदर्शों का प्रतिबिंब है।

स्पष्ट है कि प्राचीन ग्रीक और लातीनी क्लासिकों और रेनेसाँ के उनके अनुयायियों को नियो-क्लासिकल साहित्यकारों से एक नहीं किया जा सकता। एक ओर अन्वेषण या परंपरानुमोदित अन्वेषण है, दूसरी ओर इस अन्वेषण की उपलब्धि को रूढ़ि में बदल देने का प्रयत्न। टी० एस० ईलियट ने वर्जिल पर लिखे गए अपने लेख 'ह्वाट इज ए क्लासिक' में क्लासिसिज्म की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है वे संक्षिप्त रूप में इस प्रकार हैं चिंतन और लोकव्यवहार की प्रौढ़ता की अभिव्यक्ति, इतिहास, परंपरा और सामाजिक नियति का बोध, भाषा या शैली में साधारणीकरण, दृष्टिकोण की उदार और व्यापक ग्रहणशीलता, सार्वभौमिकता। प्राचीन क्लासिकों ने अपना कार्य साहित्य, सामाजिक जीवन और चिंतन की महान् परंपराओं के संदर्भ में संपन्न किया। नियो-क्लासिकल साहित्यकारों में भी यह बोध था, किंतु उनके सामने ये महान् संदर्भ नहीं थे। नियो-क्लासिसिज्म ऐसे युग की उपज है जब समाज किसी विकास के दौर से गुजरकर जड़ता की स्थिति में आ जाता है, जब वह बंद गली के छोर पर पहुँचकर रुक जाता है। ऐसे समय साहित्य में वस्तु का स्थान गौण और रूप का स्थान प्रधान हो जाता है। यह रूपासक्ति साहित्य में रूढ़ि या रीतिवाद की अत्यंत उर्वर भूमि है। यह आश्चर्य की बात नहीं कि पश्चिमी यूरोप के सांस्कृतिक संकट के इस युग में अंग्रेजी और अन्य साहित्य में नियो-क्लासिसिज्म का पुनरुद्धार हुआ। आधुनिक अंग्रेजी कविता के प्रसिद्ध प्रवर्तक और सिद्धांतकार एजरा पाउंड, टी० ई० हुल्म और टी० एस० ईलियट ने रेनेसाँ की मानवतावादी परंपरा के आधार पर विकसित रोमांटिक साहित्यधारा की तुलना में १८वीं सदी की नियो-क्लासिकल अंग्रेजी कविता को अधिक महत्व दिया है। हुल्म के अनुसार 'मनुष्य असाधारण रूप से स्थिर और सीमित जीवधारी है, जिसकी प्रकृति सर्वथा अपरिवर्तनीय है। केवल परंपरा और संगठन के द्वारा ही उसके हाथों किसी अच्छी चीज का निर्माण हो सकता है।' 'मनुष्य अनंत संभावनाओं का स्रोत है'—इस रोमांटिक आस्था को मानसिक व्याधि और इसलिये त्याज्य बतलाते हुए उसका कहना है 'मेरी भविष्यवाणी है कि शुष्क, कठोर, क्लासिकल कविता का युग आ रहा है', जिसमें कल्पना से अधिक महत्व चित्रकौशल (फैंसी) का होगा। इस प्रकार रोमांटिसिज्म और क्लासिसिज्म का संघर्ष केवल साहित्यिक संघर्ष ही नहीं बल्कि राजनीतिक और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति प्रगति और रूढ़ि के दृष्टिकोणों का संघर्ष भी है।

सं०ग्रं०—जे० ई० सैंडीज . हिस्टरी ऑव क्लासिकल स्कालरशिप, एफ० एम० सिंपसन . द रेनेसाँ इन इटली, फ्रांस ऐंड इंग्लैंड, डब्ल्यू० एच० हडसन द स्टोरी ऑव द रेनेसाँ, एल्टन . द आगस्टन एजेज, सेंट्सबरी : हिस्टरी ऑव क्रिटिसिज्म, टी० एस० ईलियट ह्वाट इज ए क्लासिक, टी० ई० हुल्म स्पेकुलेशंस, भगवतशरण उपाध्याय विश्वसाहित्य की रूपरेखा। (च० व० सिं०)

भारतीय क्लासिक साहित्य—'क्लासिक' की रूढ़ परिभाषा के अंतर्गत यूनानी और रोमन साहित्य और उनके परिप्रेक्ष्य में यूरोपीय साहित्य की ही चर्चा ऊपर की गई है। उपर्युक्त साहित्य के संदर्भ में ह्यूम ने यह प्रश्न उठाया कि होमर आज से हजार-दो हजार साल पूर्व रोम और एथेंस में पढ़े जाते थे और आज भी वे लंदन और पेरिस में पढ़े जाते हैं। अनेक विभिन्नताओं और परिवर्तनों के होते हुए भी आज तक उनका महत्व बना

हुआ है इसका क्या कारण है ? इस प्रश्न के उत्तर में यह अनुभव किया गया कि जो साहित्य काल की कसौटी पर खरा उतरे वही 'क्लासिक' है। अतएव अब यह समझा जाने लगा है कि क्लासिक साहित्य वह है जिसमें जीवन के उन तत्वों का समावेश निश्चित रूप से हो जिनकी उपयोगिता और सार्थकता प्रत्येक युग और देश के लिये अपरिहार्य है।

भारतीय साहित्य को 'क्लासिक' की इसी परिभाषा की दृष्टि से देखा जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर रामायण और महाभारत तो क्लासिक की कोटि में आते ही हैं, संस्कृत के अनेक काव्यों और महाकाव्यों की गणना उसके अंतर्गत की जा सकती है। कालिदास का समग्र साहित्य अपने आप में क्लासिक है किंतु 'रघुवंश' और 'अभिज्ञान शाकुंतल' सर्वोपरि हैं।

हिंदी का साहित्यिक इतिहास अभी कुछ ही सौ बरसों का है। इस बीच जिस प्रकार का साहित्य रचा गया उसने अधिकांशत: संस्कृत के साहित्यशास्त्र के उन्हीं केंद्र बिंदुओं को अपनाया जिन्हें रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति और अलंकार कहते हैं। इस काल के लेखकों के प्रेरणास्रोत थे संस्कृत के ह्रासोन्मुख साहित्यिक आचार्य। अत: उस काल में ऐसा बहुत नहीं है जिसे क्लासिक कहा जाय। अकेले तुलसीदास के रामचरितमानस को इस कोटि में रखा जा सकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने यों सूर और जायसी की रचनाओं को क्लासिक माना है। निओ-क्लासिक के रूप में प्रेमचंद के गोदान और जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' की गणना की जा सकती है। (प० ला० गु०)

क्लिंजर (१८५७–१९२०) चित्रकला, शिल्पकला और एचिंग (खुदाई) कला में निष्णात् जर्मन कलाकार। इसका जन्म लाइपत्सिग में एक व्यापारी के घर हुआ था। सन् १८७४ में कार्ल्सरुन में कला के अध्ययन अभ्यास का श्रीगणेश किया। सन् १८७८ में इनकी कला तथा हस्तकौशल की कटु आलोचना हुई। मूर्खतापूर्ण अनावश्यक शंकाएँ उपस्थित कर कुछ काल तक इनकी कला पर प्रतिबंध लगाया गया था। अंतत: बर्लिन की नैशनल गैलरी में इनके चित्रों को स्थान मिला। बाइबिल और पौराणिक विषयों से संबंधित इनकी त्रासात्मक कलाकृतियाँ लाइपत्सिग युनिवर्सिटी तथा म्यूज़ियम के लिये विशेष रूप से बनाई गई थीं। (भा० स०)

क्लियोपेट्रा मिस्र की टालमी वंश की यवन रानियों का सामान्य प्रचलित नाम। मूलत: यह सिल्यूक वंशी अंतियोख महान् की पुत्री टालमी (पंचम) की पत्नी का नाम था। किंतु इस नाम की ख्याति ११वें तालेमी की पुत्री ओलीतिज़ के कारण है। उसका जन्म ल० ६९ ई० में हुआ था। उससे पूर्व इस वंश में इस नाम की छह रानियाँ हो चुकी थीं। इस कारण उसे क्लियोपेट्रा (सप्तम) कहते हैं। जब क्लियोपेट्रा १७ वर्ष की थी तभी उसके पिता की मृत्यु हो गई। पिता की वसीयत के अनुसार उसे तथा उसके छोटे भाई तोलेमी दियोनिसस को संयुक्त रूप से राज्य प्राप्त हुआ और वह मिस्री प्रथा के अनुसार अपने इस भाई की पत्नी होनेवाली थी। किंतु राज्याधिकार के लिये कशमकश के परिणामस्वरूप उसे राज्य से हाथ धोकर सीरिया भाग जाना पड़ा। फिर भी उसने साहस नहीं त्यागा। उसी समय जूलियस सीज़र पोंपे का पीछा करता हुआ मिस्र आया। वहाँ वह क्लियोपेट्रा पर आसक्त हो गया और उसकी ओर से युद्ध करने को तैयार हो गया। फलस्वरूप तोलेमी मारा गया और क्लियोपेट्रा मिस्र के राजसिंहासन पर बैठी। मिस्र की प्राचीन प्रथा के अनुसार वह अपने एक अन्य छोटे भाई के साथ मिलकर राज करने लगी। किंतु शीघ्र ही उसने अपने इस छोटे भाई को विष दे दिया और रोम जाकर जूलियस सीज़र की रखैल के रूप में रहने लगी। उससे उसके एक पुत्र भी हुआ किंतु रोमवालों को यह संबंध किसी प्रकार न भाया। अत: सीज़र की हत्या (४४ ई० पूर्व) कर दी गई। तब वह मिस्र वापस चली आई।

४१ ई० पू० में मार्क अंतोनी भी क्लियोपेट्रा की सुंदरता का शिकार हुआ। दोनों ने शीत ऋतु एक साथ सिकंदरिया में व्यतीत की। रोमनों ने उनका विरोध किया। ओक्तावियन (ओगुस्तस) ने उसपर आक्रमण कर २ सितंबर, ३१ ई० पू० को आक्तियम के युद्ध में उसे पराजित कर दिया। क्लियोपेट्रा अपने ६० जहाजों के साथ युद्धस्थल से सिकंदरिया भाग आई। अतोनी भी उससे आ मिला किंतु सफलता की आशा न देख ओक्तावियन के कहने पर वह अतोनी की हत्या करने पर तैयार हो गई और अतोनी को साथ साथ मरने के लिये फुसलाकर उस समाधि भवन में ले गई जिसे उसने बनवाया था। वहाँ अतोनी ने इस भ्रम में कि क्लियोपेट्रा आत्महत्या कर चुकी है, अपने जीवन का अंत कर लिया। ओक्तावियन क्लियोपेट्रा के रूप जाल में न फँसा। जनश्रुति के अनुसार उसने उसकी एक डंकवाले जंतु के माध्यम से हत्या कर दी। इस प्रकार २९ अगस्त, ३० ई० पू० उसकी मृत्यु हुई और टालेमी वंश का अंत हो गया। मिस्र रोमनों के अधीन हो गया।

क्लियोपेट्रा का नाम आज तक प्रेम के संसार में उपाख्यान के रूप में प्रसिद्ध है। वह उतनी सुंदर न थी जितनी कि मेधाविनी। कहते हैं, वह अनेक भाषाएँ बोल सकती थी और एक साथ अन्यदेशीय राजदूतों से एक ही समय उनकी विभिन्न भाषाओं में बात किया करती थी। उसकी चतुराई से एक के बाद एक अनेक रोमन जनरल उसके आश्रित और प्रियपात्र हुए। अतोनी के साथ तो उसने विवाहकर उसके और अपने संयुक्त रूप के सिक्के भी ढलवाए। उससे उसके तीन संतानें हुईं। धनी वह इतनी थी कि भारत के गरम मसाले, मलमल और मोती भर जहाज सिकंदरिया के बंदर में खरीद लिया करती थी। अनेक कलाकारों ने क्लियोपेट्रा के रूप अनुकरण पर अपनी देवीमूर्तियाँ गढ़ीं। साहित्य में वह इतनी लोकप्रिय हुई कि अनेक भाषाओं के साहित्यकारों ने उसे अपनी कृतियों में नायिका बनाया। अंग्रेजी साहित्य में तीन नाटककारों—शेक्सपियर, ड्राइडन और बर्नार्ड शा—ने अपने नाटकों को उसके व्यक्तित्व से सँवारा है।

सं०ग्रं०—कार्लो मारिया फ्रेंज़ेरो : दि लाइफ़ ऐंड टाइम्स ऑव क्लियोपेट्रा; एमिल लुडविग : क्लियोपेट्रा।

(सं० अ० अ० रि०; प० ला० गु०)

क्लीवाणुक (Neutrino) यह एक नया कण (Partcle) है जिसका सर्वप्रथम अनुसंधान सन् १९३० में पौली ने किया था। इस कण का प्रथम सैद्धांतिक आधार प्रसिद्ध भौतिकीविद्, फर्मी ने सन् १९३४ में बतलाया। क्लीवाणुक के लिये मान लिए गए गुण संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

(क) आवेशरहित।

(ख) न्यूनतम भार। लागर एवं मोफ़ात ने सन् १९५२ में भार का अनुमान लगाया और बतलाया कि क्लीवाणक का भार इलेक्ट्रान के भार के ०·०५ प्रतिशत से भी कम है।

(ग) भ्रमि (स्पिन, Spin) $\frac{1}{2}\left(\frac{h}{\cdot\pi}\right)$ है।

(घ) फर्मी-डिराक सांख्यिकी (स्टाटिस्टिक्स, statistics) का अनुसरण करता है।

(ङ) द्विध्रुवीघूर्ण (डाइपोल मोमेंट, dipole moments) यदि हैं, तो $१०^{-७}$ बोर मेंगनेतान से भी कम हैं।

उन अभिक्रियाओं की, जिनसे बीटा किरणें मिलती हैं, जाँच करते समय यह देखा गया कि निकले हुए कणों का ऊर्जा वर्णक्रम (Spectrum) ऐल्फ़ा किरण के ऊर्जा वर्णक्रम से भिन्न है। ऐल्फ़ा किरणें पृथक् रेखा वर्णक्रम के अनुसार मिलती है, पर बीटा किरणें उनसे पूर्णत: भिन्न प्रकार के संतत वर्णक्रम का अनुकरण करती है। रेडियम-ई (Radium E) के लिये प्राप्त बीटा किरण का ऊर्जा वर्णक्रम चित्र में दिखाया गया है (दे० चित्र)। बीटा किरणों की ऊर्जा का शून्य से लेकर अधिकतम मान E_m के बीच कोई भी मान हो सकता है। ऐसा ही संतत वर्णक्रम उन अभिक्रियाओं में भी मिलता है जिनसे पॉज़िट्रान प्राप्त होते हैं।

बीटा किरणों द्वारा दिए गए सतत वर्णक्रम का सैद्धांतिक आधार स्थिर करना बहुत समय तक कठिन समस्या बना रहा। मान लिया
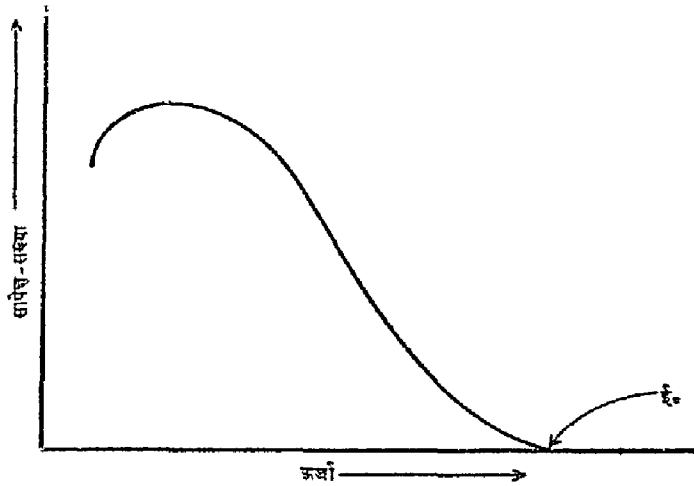
बीटा-किरण वर्णक्रम रेडियम-ई

जाय कि किसी नाभिक क से, जो एक विशेष ऊर्जा के तल पर है, एक बीटा किरण निकलती है और इस अभिक्रिया द्वारा एक दूसरा नाभिक ख बनता है, जो पुन एक विशेष ऊर्जा के तल पर है। पुंज एव ऊर्जा-स्थिरता के सिद्धांत के अनुसार, निकले हुए बीटा कण की ऊर्जा नाभिक क एव ख के ऊर्जातलों के अंतर के बराबर होनी चाहिए। यह ऊर्जा सिद्धांतत सर्वदा ई॰ (चित्र देखे) के तुल्य प्राप्त होती है। परीक्षा से कण शून्य से लेकर ई॰ तक सभी मान की ऊर्जा लेकर निकलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी अभिक्रियाओं में ऊर्जा का कुछ अंश लुप्त हो जाता है और पुंज एव ऊर्जा स्थिरता के सिद्धांत का अतिक्रमण होता है।

इस समस्या को फर्मी ने बीटा किरण के बादवाली अपनी क्लीवाणुक उपकल्पना देकर सर्वप्रथम सफलतापूर्वक सुलझाया। उन्होंने यह सुझाव दिया कि बीटा किरण देनेवाली अभिक्रियाओं में एक और कण क्लीवाणुक भी प्राप्त होता है और वही लुप्त प्रतीत होनेवाली ऊर्जा को ग्रहण कर लेता है। आज तक परीक्षा से क्लीवाणुक की पहचान नही हो पाई है, फलत इसके गुण ऐसे होने चाहिए जिनके कारण इसकी पहचान अति कठिन हो। इसलिये यह धारणा की गई कि क्लीवाणुक आवेशरहित है और इसका भार इलेक्ट्रान की तुलना में अतिन्यून है, शून्य के ही लगभग है। क्लीवाणुक का आवेशरहित होना, बीटा किरण की अभिक्रिया के लिये आवेशस्थिरता के सिद्धांत के अनुसार है।

क्लीवाणुक परिकल्पना के अनुसार, बीटा-किरण-अभिक्रिया में प्राप्त हुई ऊर्जा की मात्रा ई॰ है। यह ऊर्जा बीटा कण, क्लीवाणुक एव प्रतिक्षिप्त नाभिक को प्राप्त होती है। तीन कणों में ऊर्जा विभाजन अनेकानेक भाँति हो सकता है, इसलिये सतत वर्णक्रम बन जाता है।

जब एक नाभिक से बीटा किरण प्राप्त होती है, तब नाभिक के आवेश का इकाई द्वारा परिवर्तन होता है, भार अपरिवर्तित रहता है। यदि एक इलेक्ट्रान प्राप्त हो, तो नाभिक के प्रोटान की संख्या में इकाई की वृद्धि होती है तथा क्लीवाण संख्या इकाई द्वारा कम हो जाती है। उसी भाँति यदि बीटा-किरण-अभिक्रिया में एक पॉज़िट्रॉन प्राप्त हो तो प्रोटान संख्या इकाई द्वारा कम तथा क्लीवाण संख्या में इकाई की वृद्धि होती है। इन बीटा रूपांतरों को निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है :

बीटा$^-$ उत्सर्जन : न्यूट्रान→प्रोटान + इलेक्ट्रान + क्लीवाणुक . . . (क)

बीटा$^+$ उत्सर्जन . प्रोटान→न्यूट्रान + पॉज़िट्रान + क्लीवाणुक . (ख)

इन अभिक्रियाओं में न्यूट्रान को प्रोटान, इलेक्ट्रान एव क्लीवाणुक से बना हुआ नही माना गया है। बीटा$^-$ उत्सर्जन के समय, न्यूट्रान का तीन कणों में तत्क्षण परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार का परिवर्तन बीटा$^+$ उत्सर्जन में प्रोटान में हो जाता है।

(क) एव (ख) समीकरणों द्वारा क्लीवाणुक के अन्य गुणों के बारे में भी सूचना मिलती है। कोणीय गमता ½ ($h/2\pi$) मान ली जाने पर ही उसकी (कोणीय गमता की) स्थिरता का नियम ठीक ठीक घटित होता है। उसी भाँति, सांख्यिकी के बारे में भी सूचना मिलती है। समीकरण (क) एव (ख) में यदि सांख्यिकी की स्थिरता देखी जाय, तो यह नियम तभी सत्य ठहरता है जब क्लीवाणुक फर्मी-डिराक सांख्यिकी का अनुसरण करे।

मेसॉन के अपक्षय की समस्याओं को हल करने के लिये भी क्लीवाणुक परिकल्पना का प्रयोग किया गया। म्यू-मेसॉन (μ-meson) जब एक इलेक्ट्रान में परिवर्तित होता है तब बीटा-किरण-अभिक्रिया की भाँति, भ्रमि तथा ऊर्जा स्थिरता के नियम खंडित हो जाते हैं। इन नियमों की सत्यता के लिये निम्नलिखित विधि बतलाई गई -

म्यू-मेसॉन → बीटा कण + दो क्लीवाणुक . (ग)

उसी प्रकार ऐल्फा-मेसॉन अपक्षय निम्नलिखित समीकरण द्वारा दिखलाया जा सकता है :

ऐल्फा मेसॉन → म्यू-मेसॉन + क्लीवाणुक . . (घ)

(ग) एव (घ) समीकरणों के विरुद्ध कोई सपरीक्षीय साक्ष्य नहीं है।

इस भाँति क्लीवाणुक द्वारा बीटा किरण एव मेसान के अपक्षय की समस्याओं का समाधान हुआ है। इस कण के लिये सभी साक्ष्य अभी तक अप्रत्यक्ष ही हैं।

सं०ग्रं०—(क) लागर और मोफात . फिजिकल रिव्यू, अंक ८८, पृ० ६८६, १९५२। (ख) कापलान : न्यूक्लियर फ़िज़िक्स।

क्लीवलैंड (१) अमेरीका का सातवाँ बड़ा नगर। यह ओहायो राज्य का प्रवेश द्वार और मुख्य बंदरगाह है जो ऐरी झील के किनारे क्येहोग नदी के मुहाने पर बसा है (स्थिति . ४०° ३१' उ० अ० ८१° ४२' प० दे०)। यह झील से ७५ फुट ऊपर पठार पर बसा है और धीरे धीरे दक्षिणपूर्व की ओर ११५ फुट तक ऊँचा होता गया है। धुर-पूर्व की ओर यह झील से २०० फुट से अधिक ऊँचा है। इस नगर की स्थापना १७९६ ई० में जनरल मोजेज क्लीवलैंड ने की थी, जो कनेक्टीकट लैंड कंपनी के एजेंट थे। इस कंपनी के अधिकार में ऐरी नदी के किनारे १२० मील का भूभाग था जो वेस्टर्न रिजर्व कहलाता था। १७९९ में लारोजो कार्टर ने यहाँ पहली बार स्थाई बस्ती बसाई जिसने १८३६ में नगर का रूप धारण किया। जब १८३२ में ओहायो नहर बनी तब नगर के विकास में प्रगति हुई।

यह नगर ७३.१ वर्गमील में बसा है और उसका अधिकाश भाग नदी के पूर्व है। इसकी सड़कें असाधारण रूप में ६० से १३२ फुट तक चौड़ी हैं, ईंट और अस्फाल्ट की बनी हैं तथा अधिकांश वृक्षाच्छादित हैं जिनके कारण उसे 'वन्य नगर' कहा जाता है।

इस नगर के निवासियों का सभी राष्ट्रीय युद्धों में महत्वपूर्ण योग रहा है। दासता विरोधी आदोलन के समय यहाँ शरणार्थी गुलामों के ठहरने के लिये कैंप बनाए गए थे। बीसवीं शती के आरंभ में यह सुधारवादी आदोलन का प्रमुख केंद्र था। यहाँ मजदूर आदोलन सदा प्रबल रहा। इस नगर के प्रख्यात नागरिक रहे हैं–हास्य लेखक आर्टिमस वार्ड, जान डी० राकफेलर जिन्होंने यहाँ १८७० में स्टैंडर्ड आयल कंपनी की स्थापना की; १८७५ में कार्बन आर्कलैंप के आविष्कारक चार्ल्स एफ० ब्रुश, राजनेता जान हे, राजनीतिज्ञ मार्कुसहन्ना आदि। अमरीका के बीसवें राष्ट्रपति की समाधि इसी नगर में है।

क्लीवलैंड एक अंतर्राष्ट्रीय महत्व का निर्यात केंद्र है। लेक सुपीरियर की लोहे की खानों और ओहायो पेनसलवानिया के कोयले की खानों की निकटता के कारण यह नगर अमरीका के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा असख्य

प्रकार के औद्योगिक उत्पादन प्रस्तुत करता है। लोहा और इस्पात का उत्पादन प्रमुख है। मशीनी औजार, रंग, वार्निश, बिजली के सामान, चीनी मिट्टी के सामान, रसायन, मोटर और वायुयान के पुरजे कुछ अन्य प्रमुख उत्पादन हैं। १९७० में यहाँ की जनसंख्या २०,४३,००० थी।

(२) दक्षिण टेनेसी (अमरीका) का एक छोटा नगर जिसे १८३८ में आदिवासी चेरोकी लोगों को निष्कासित कर बसाया गया। इसका नामकरण कर्नल बेंजमिन क्लीवलैंड के नाम पर हुआ है जिन्होंने क्रांति के समय किंग्स माउंटेन के युद्ध में भाग लिया था। इसके निकट चेरोकी राष्ट्रीय वन है। यहाँ के मुख्य उद्योग, लकड़ी, ऊनी कपड़ा, होजियरी, आटा है। (प० ला० गु०)

(३) इंग्लैंड में यार्कशायर के नार्थ राइडिंग क्षेत्र में स्थित पर्वत स्थिति : ४५° २४' उ० अ० तथा १° १०' प० दे०। इसकी ऊँचाई १,४८९ फुट है। इसके उत्तर में टीज नदी प्रवाहित होती है। यहाँ से विस्के नदी निकलकर पश्चिमी भाग में स्वेल नदी में मिलती है। इस पर्वत के दक्षिणी भाग में होडे, डोभ तथा सेवेन नदियों द्वारा अत्यधिक अपक्षरण के कारण गहरी घाटियाँ बन गई हैं। कटाव और गहरी घाटियों के कारण कृषि अधिक नहीं होती किंतु चराई अधिक होती है। क्लीवलैंड पर्वत क्षेत्र में लोहे की खानें हैं। यहाँ के लौहांश २८% है। १९वीं शताब्दी में यहाँ की खदानों का शोषण आरंभ हुआ, फलस्वरूप मिडिल्स वरो क्लीवलैंड क्षेत्र के लोहा इस्पात का प्रमुख केंद्र हो गया है। (भू० का० रा०)

क्लीवलैंड, जान (१६१३–१६५८ ई०) अंग्रेज कवि और व्यंग-लेखक। लौबरा में जन्म। १४ वर्ष की अवस्था में कैंब्रिज के क्राइस्ट-चर्च में भरती हुआ और १६३४ में सेंट जान्स कालेज का फेलो नियुक्त हुआ। कैंब्रिज के निर्वाचन क्षेत्र से ओलिवर क्रामवेल के विरुद्ध पार्लमेंट की सदस्यता के लिये खड़ा हुआ। प्यूरिटन दल के सफल होने पर आक्स-फोर्ड चला आया। इस समय तक वह व्यंगलेखक के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका था अत: राजा ने उसे आदर प्रदान किया और वह उनके साथ १६४५ में नेवार्क गया। नेवार्क में वह जज एडवोकेट रहा और १६४६ में नगर की रक्षा में सक्रिय भाग लिया। वह कट्टर रायलिस्ट था। जब स्काट लोगों ने राजा चार्ल्स प्रथम को पार्लमेंट के सुपुर्द कर दिया तो उसने अपना क्षोभ १६४७ में 'द रिबेल स्काट' लिखकर प्रकट किया। अपनी इन भावनाओं के कारण उसे १६५५ ई० में जेल भुगतना पड़ा। जीवन के अंतिम दिनों में वह लंदन आकर रहने लगा।

क्लीवलैंड अध्यात्मवादी धारा का कवि था। उसकी अधिकांश रचनाएँ व्यंगात्मक हैं। उसकी कविताओं का एक संग्रह 'द पोयम्स' नाम से प्रकाशित हुआ। कलात्मक दृष्टि से 'एलेजी आन बेन जानसन' एक सुंदर रचना है। समसामयिकों के बीच उसकी लोकप्रियता मिल्टन की अपेक्षा अधिक थी। उसकी लोकप्रियता का पता उसकी रचनाओं के असंख्य संस्करणों से लगता है और उन्हें सत्रहवीं शती की जनरुचि का मापदंड कहा जाता है। २९ अप्रैल, १६५८ ई० को उसकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्लीवलैंड, स्टीफ़ेन ग्रोवर (१८३७–१९०८) अमेरिका के राष्ट्रपति। नार्थ जर्सी के कोल्डवेल में १८ मार्च, १८३७ को जन्म। अपने पिता की नौ संतानों में पाँचवीं संतान। पिता पादरी थे। उनके पूर्वज इंग्लैंड से मेसाचुसेट्स आए थे। जन्म के बाद इनका परिवार क्लीव-लैंड से न्यूयार्क आ गया। पिता की मृत्यु पर वह क्लीवलैंड छोड़कर बफैलो में अपने चाचा के यहाँ गया। १८५९ में वकालत आरंभ की और चार वर्ष पश्चात् जिले का उप-अटार्नी नियुक्त हुआ। जब गृहयुद्ध आरंभ हुआ तो तीन भाइयों ने लाटरी डालकर निश्चय किया कि एक भाई घर पर रहकर माँ की देखभाल करे। यह भार इनके सर आया। जब इनके युद्ध में जाने की बारी आई तो उन्होंने अपने एवज में दूसरे को भेज दिया। १८६९ में डिमाक्रेटिक पार्टी की ओर से शेरिफ चुना गया। कार्यकाल समाप्त होने पर पुन: वकालत शुरू की और प्रसिद्ध वकीलों में उनकी गणना होने लगी। १८८२ में डिमोक्रेटिक पार्टी ने उन्हें मेयर चुना; १८८२ में ही वह गवर्नर चुना गया। उन्होंने सिविल सर्विस का कानून बनवाया। १८८४ में वे प्रथम बार राष्ट्रपति चुने गए। उन्होंने सिविल सर्विस को पार्टियों के प्रभाव से स्वतंत्र किया जिसके फलस्वरूप राजसेवा के लिये प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा व्यक्तियों का चयन होने लगा।

१८९२ में डिमोक्रेटिक पार्टी की ओर से वे दुबारा राष्ट्रपति चुने गए। इस बार उन्होंने अनेक काम किए। कागजी मुद्रा के लिये सोना जमा किया। अप्रैल, १८९३ में जमा की हुई पूंजी में कमी हुई तो राज्यसभा बुलाई गई और रिपब्लिकन पार्टी द्वारा कानून भी पास हुआ, मगर आर्थिक कठिनाइयाँ बीच में आ गईं। जमा किया हुआ सोना उस घाटे को भरने के काम में आया। फलस्वरूप व्यापार में लूट एक साधारण सी बात हो गई। तनख्वाह कम होने लगी, मजदूर आंदोलन आरंभ हुए। शिकागो में गड-बड़ी हो गई। राष्ट्रपति ने सेना द्वारा इस पर काबू पाया और हड़ताल एक हफ्ते में खत्म हो गई। दूसरी बात जो हुई वह इंग्लैंड और वीनीज्वीला का आपसी तनाव था। क्लीवलैंड ने कांग्रेस बुलाई और उनके सामने यह प्रस्ताव रखा कि मुनरो सिद्धांत के बचाव के लिये अमरीका को भी बीच में आना चाहिए। इस प्रकार एक कमेटी नियुक्त हुई, मगर दोनों के बीच सुलह पहले ही हो गई और एक बहुत बड़ा झगड़ा सुलझ गया। व्यापार पर जो रोक लगाई गई उसपर क्लीवलैंड और सीनेट में अधिक समय तक संघर्ष चलता रहा। महसूल बिल बिना उसकी दस्तखत के पास हो गया मगर उसने उस कानून में कोई निजी बाधा नहीं डाली।

हवाई द्वीपसमूह के प्रश्न पर क्लीवलैंड ने बड़ा काम किया। उसको अमरीकी संयुक्त राष्ट्र में मिलाने का जो बिल पेश किया गया था उसने उसे वापस ले लिया और यही कोशिश की कि रानी लिलिओकालानी को फिर से वहाँ की गद्दी पर बैठाया जाय। मगर वहाँ के लोगों के कारण इसमें उसे सफलता प्राप्त न हो सकी। इस पद से अलग होने के पश्चात् क्लीवलैंड ने अपने जीवन के शेष दिन घर पर ही बिताए। उनकी मृत्यु १९०८ में हुई। (मो० अ० अं०)

क्लीस्ट एवाल्ड क्रिश्चियन वान (१७१५–५९) जर्मन कवि और सैनिक। जेब्लिन (पोमेरानिआ) में जन्म, कोनिग्सबर्ग में शिक्षा। १७३६ में डेनिश सेना में भरती हुआ और जब फ्रेडरिक महान् गद्दी पर बैठा तो वह प्रशा की सेना में चला आया तथा सप्तवर्षीय युद्ध में भाग लिया और १७५९ में वह कुनर्सडोर्फ में बुरी तरह घायल हुआ। वह आरंभ से प्रकृत्या कवि था। उसकी प्रख्यात रचना 'दर फ्रूहलिंग' है जो १७४९ में प्रकाशित हुई। वह जर्मन भाषा में वर्णनात्मक शैली की प्रकृति संबंधी कविता का आदिकालिक नमूना मानी जाती है। इस पर टामसन के 'सीज़ंस' का प्रभाव है। उसके दो कविता संग्रह १७५६ और १७५८ में प्रकाशित हुए। (प० ला० गु०)

क्लूचेवस्काया (Klyuchevskaya) यह ज्वालामुखी पर्वत, रूस के कमचटका प्रायद्वीप की पूर्वी श्रेणी में १६०° पू० दे० तथा ५५° उ० अ० रेखाओं पर स्थित है। इसकी ऊँचाई लगभग १६,१२० फुट है। यह सोवियत संघ के खबरोस्क प्रांत में है तथा साइबीरिया का सर्वोच्च ज्वालामुखीय शिखर है। (भू० का० रा०)

क्लूज़ ट्रैनसिलवेनिया का प्रमुख नगर स्थिति : ४६° ४५" उ० अ० तथा २३° ३३" पू० दे०। जनसंख्या २,०४,४०० (१९६३)। इस नगर की स्थापना सर्वप्रथम नेपोका नामक स्थान पर की गई थी। इस नगर में मेगयार, रूमानी तथा यहूदी जाति के लोगों की संख्या अधिक है। संपूर्ण नगर कई वर्गों में विभक्त है। यहाँ के दर्शनीय स्थानों में गिरजाघर, विश्वविद्यालय, कचहरी, ओपेरा घर तथा अजायबघर हैं। यहाँ के प्राचीन भवन गोथिक स्थापत्य कला के लिये प्रसिद्ध हैं। चीनी, कपड़ा, कागज, मोमबत्ती, साबुन और मिट्टी के बर्तन बनाने के उद्योगों का विकास यहाँ हुआ है। (भू० का० रा०)

क्लेइस्थेनीस्, क्लीस्थेनीज़ यूनान में ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में इस नाम के दो महान् राजनीतिज्ञ हुए। सीसियन का क्लेइस्थेनीस (ई० पू० ६००-५७०) और दूसरा एथेंस का क्लेइस्थेनीस्।

पहला दूसरे का नाना था। दौहित्र क्लेइस्थेनीस् ने ही अधिक यश कमाया और प्रसिद्धि पाई। सीसियन की प्रजा के पराजित आयोनियाई वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में प्रथम क्लेइस्थेनीस् अत्यंत अत्याचारी कुख्यात हुआ। उसने दोरियाई प्रभुत्व को नष्ट करने के लिये उनके कबीलों को 'सुअर के बच्चे' और 'गधे के बच्चे' जैसी गालियों से दूषित किया। दोरियाई वीरों की गाथा गानेवालों का उसने दमन किया। ई० पू० ५६० में जो धर्मयुद्ध हुआ, उसमें उसने देल्फी के देवताओं का पक्ष लेकर कीसा नगर का सर्वनाश कर दिया। तत्पश्चात् देल्फी ही देल्फी के संसद् सदस्यों का सभास्थल बन गया। नई शान शौकत से पाइथियाई खेल पुन: स्थापित किए गए और ५८२ ई० पू० में क्लेइस्थेनीस् ने ही रथों की प्रथम दौड़ जीती। सीसियन में भी उसने ये खेल चलाए और सीसियन का एक नया धनकोष भी देल्फी में स्थापित किया। कालांतर में क्लेइस्थेनीस् की ऐसी धाक जमी कि यूनान के अति संभ्रांत सामंत भी उससे अपना संबंध जोड़ने के लिये लालायित रहने लगे। जब उसकी पुत्री अगारिस्ते के विवाह की बात चली, तब यूनान के श्रेष्ठतम कुलीन युवकों ने उससे विवाह का प्रस्ताव किया। तब अल्कमीयोनिद वंश के संभ्रांत युवक मेगाक्लीज से अगारिस्ते का विवाह हुआ। इस विवाह से जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह 'एथेंस का क्लेइस्थेनीस्' के नाम से विख्यात हुआ। अल्कमीयोनिदी परिवार को पीसिसत्रातिद के अत्याचारी राजा ने देश निकाला दे दिया था, किंतु देल्फी के मंदिर के पुनर्निर्माण में अति उदार योग देने के कारण स्पार्ता के राजा क्लीमीनिस को धर्मगुरु का आदेश हुआ कि इस परिवार को देश में पुन:स्थापित किया जाय। अरस्तूकृत 'एथेंस का संविधान' में तत्कालीन यूनान के शक्तिशाली वंशों के पारस्परिक वैमनस्य और स्पर्धा से संत्रस्त एथेंस की दुर्दशा का विशद वर्णन मिलता है।

निष्कासन से स्वदेश लौटने पर क्लेइस्थेनीस् को लगा कि एथेंस अब किसी नए अत्याचारी राजा को सहने के लिये तैयार नहीं है; एथेंस के अन्य सामंत भी किसी एक वंश की इजारेदारी स्वीकार करने को प्रस्तुत न थे। एथेंस का शासन जनता के सहयोग से ही चल सकता था। पीसिसत्रस ने कई प्रकार से जनसहयोग का अपने शासन में उपयोग किया था, किंतु सोलोन के सुधार असफल सिद्ध हुए, वह भूमिधर सामंतों की शक्ति पर कोई अंकुश नहीं लगा सका। क्लेइस्थेनीस् ने इसी काँटे को उखाड़ फेंकने का बीड़ा उठाया। भूपतियों ने इस चुनौती का मुकाबला करने के लिये अपना बल संगठित किया और उनके नेता ईसागोरास ने स्पार्ता राज की सहायता भी माँगी। किंतु गणतंत्रवादी जनता ने डटकर मोर्चा लिया और क्लियोमेनिस तथा ईसागोरास को ऐक्रोपोलिस में घेर लिया। तत्पश्चात् उन्हें क्षमादान कर जान बचाने के लिये भाग जाने दिया और जो परिवार निष्कासित कर दिए गए थे, उन्हें स्वदेश वापस बुला लिया।

क्लेइस्थेनीस् ने अनुभव किया कि जब तक कबायली कुनबों की धार्मिक सांप्रदायिकता राजनीति के मार्ग में पथरीला रोड़ा बनकर पड़ी रहेगी, तब तक गणतंत्र की प्रगति अवरुद्ध रहेगी। इसलिये उसने राजनीति को वंशप्रभुत्व और बिरादरीवाद से मुक्त करने का निश्चय किया। उसने निर्वाचन के लिये मतदान की एक नई विधि निकाली, जिससे वंशवाद और संप्रदायवाद के रूढ़ स्वार्थ कुंठित हो सके। इसलिये उसने चार प्रधान सोलोनियाई कबीलों को भंगकर दस टुकड़ों में विभाजित कर दिया। प्रत्येक का एक जनपद बना दिया। किंतु इस योजना से कबीलों की मूल सांप्रदायिक काया पर कोई आँच नहीं आई और उनका धार्मिक प्रभुत्व भी यथापूर्व बना रहा। उनके राजनीतिक पंख अवश्य कट गए। नवविभक्त कबीलों का उसने यूनान के प्रसिद्ध पौराणिक वीरों के नाम पर नामकरण किया। इस प्रकार स्थानीय स्वार्थों से निरपेक्ष एक वीर उनको पूजा करने तथा प्रेरणा देने को मिल गया। उनके अपने अपने देवताओं के मंदिर भी बने। फलस्वरूप प्रभुत्वशाली परिवारों की राजनीतिक चौधराई समाप्त हो गई। नए जनपदों में राष्ट्रीय एकता की भावना स्थापित करने के उद्देश्य से क्लेइस्थेनीस् ने एथेंस के बड़े बाजार में आदर्श पौराणिक वीरों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करा दीं।

पश्चात् क्लेइस्थेनीस् ने प्रत्येक जनपद के संगठन का कार्य हाथ में लिया। जनपदों की जनगणना की गई। प्रत्येक जनपद का एक राजपाल निर्वाचित किया गया। जिसका शासनकाल केवल एक वर्ष रखा गया। उसका कार्य स्थानीय शासन के लिये निर्वाचित जनसभा की अध्यक्षता करना और देश की नौसेना के लिये सैनिक जुटाना था। एथेंस के संविधान में अरस्तू ने बताया है कि क्लेइस्थेनीस् ने अत्तिका (प्राचीन यूनान) को तीन जिलों में विभक्त किया, यथा (१) नागरिक तथा उपनागरिक, (२) अंत प्रदेश और (३) समुद्रतटवर्ती प्रदेश। प्रत्येक विभाग के उसने फिर दस उपविभाग किए। प्रत्येक कबीले के भी तीन हिस्से किए और प्रत्येक को अलग अलग जिले में रखा। इस सुधार का ध्येय कबीलों की धार्मिक गुटबंदी को छिन्न भिन्न करना था, जिससे धर्मनिरपेक्षता के आधार पर जनता को मतदान का अधिकार दिया जा सके। फलस्वरूप यूपात्रिद परिवारों की प्रभुता यूनान में दुर्बल हो गई। इससे हानि यह हुई कि एथेंस नगर तथा उसके पड़ोसी उपनगरों के निवासियों की चुनावों में प्रधानता हो गई और एथेंस से दूर अंतरप्रदेशीय उपमंडलों और समुद्रतटवर्ती प्रांतों के निवासियों का निर्वाचनमहत्व गौण हो गया। अन्य दुष्परिणाम यह भी हुआ कि सोलोन के सुधारों के कारण एथेंस में जो एक नया व्यावसायिक वर्ग उत्पन्न हो गया था, उसे कबायली छिन्नता से बल मिला और वह व्यापारी वर्ग शीघ्र ही नगरों और उपनगरों के शासन में अपने प्रभाव का जाल फैलाने लगा।

क्लेइस्थेनीस् ने मतदान संबंधी जो सुधार किया, उसके अनुसार यूनान में प्रवासी विदेशियों तथा परतंत्रता से मुक्त गुलामों को भी नागरिकता के अधिकार मिल गए। इन नवीन नागरिकों में अनेक कुशल शिल्पी थे। अरस्तू ने क्लेइस्थेनीस् के इस सुधार को अपने संविधान में "समस्त जनता को नागरिक अधिकारदान" कहकर विशेष रूप से सराहा। इस प्रकार यूनानी अभिजात वर्ग का एक प्रतिद्वंद्वी खड़ा हो गया और गणतंत्रवाद यूनान में प्रबल हो गया।

कबायलियों का विभाजन एवं वितरण क्लेइस्थेनीय राजनीति की आधारशिला रही, जिसका आदर्श और व्यवहार दोनों ही प्रारंभ में स्तुत्य, किंतु कालांतर में क्रमश: पतित होता गया। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० आते आते वह शासनारूढ़ शक्तिशाली राजनीतिक दल के हाथ में अपने विपक्षी एवं प्रतिद्वंद्वी दलों को नष्ट करने के लिये एक खतरनाक कूटनीतिक युक्ति बन गई।

सं०ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका; अरस्तूकृत राजनीति और एथेंस का संविधान; हेरोडोटस : पंचम कांड, ६३–७३ तथा षष्ठ कांड, १३१; यूनान के विविध इतिहास और केंब्रिज एंश्येंट हिस्ट्री के चतुर्थ भाग के छठे परिच्छेद में ई० एम० वाकर लिखित टिप्पणी—'क्लेइस्थेनीस के सुधार'। (कां० चं० सी०)

क्लेडेल, लियाँ (१८३५–१८९२ ई०) फ्रेंच उपन्यासकार। १३ मार्च, १८३५ को मांतौबाँ में जन्म हुआ था। उसे अपने पहले उपन्यास 'ले मार्टर्स रिडिक्लस' से, जो १८६२ में प्रकाशित हुआ था, ख्याति मिल गई। उसके सर्वोत्तम उपन्यासों में क्वेर्सी जिले के, जहाँ का वह स्वयं निवासी था, ग्राम्य जीवन के यथार्थ चित्रित हुए हैं। उपन्यासों के नाम हैं—ले नोम्मे कौएल (१८६८), ले बौसासे (१८६९), और लेस वान्पेड्स (१८७३)। उसकी कहानियों का भी एक संग्रह है। २० जून, १८९२ को सेव्रे में उसकी मृत्यु हुई। (प० ना० गु०)

क्लेन, फ्लेक्स (१८४९–१९२५ ई०) जर्मन गणितज्ञ। आरंभ में १८७२–७५ में एर्लांजेन में और पीछे १८८६ से १९१३ ई० में गार्टिजेन में गणित के प्राध्यापक रहे। इन्होंने क्रांतिवृत्त की क्रियाओं, फलीय समीकरण और यूक्लिडेतर ज्यामिति संबंधी अनेक महत्वपूर्ण शोध प्रस्तुत किए हैं। इन शोधों के लिये १८८५ में रायल सोसाइटी ने इन्हें अपना फेलो निर्वाचित किया और १९१२ में काप्ले पदक प्रदान किया। किंतु अनेक वर्षों तक स्वदेश में इनके कार्यों का महत्व न आँका जा सका था। (प० ला० गु०)

क्लेब्स, जार्ज (१८५७–१९१८ ई०) जर्मन वनस्पति वैज्ञानिक। पूर्वी प्रशा के नीडेनबुर्ग नामक स्थान में २३ अक्तूबर, १८५७ को जन्म। कोनिगवर्ग में रसायन का अध्ययन किया। बास्ले में रेक्टर बने पश्चात् हाइडलवर्ग विश्वविद्यालय में वनस्पतिशास्त्र के प्राध्यापक नियुक्त हुए। उनकी ख्याति, काई, सेवार और फफूँद के विकास और अवस्था पर वाह्य परिस्थितियों के प्रभाव संबंधी अनुसंधान के लिये है। उन्होंने चलजन्यु (Zoospores) के उत्पन्न करने के तकनीक में 'कैपिलरी पाइप मैथड' का आविष्कारकर सुधार प्रस्तुत किया। उनकी १५ अक्तूबर, १९१८ को मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्लेमांसो, जार्ज बेंजमिन (१८४१–१९२९ ई०) फ्रांसीसी प्रशासक तथा पत्रकार। २८ सितंबर, १८४१ को मुलेरों में जन्म। इन्होंने ओषधि विज्ञान में शिक्षा प्राप्त की और चिकित्सक के रूप मे पेरिस आए। सन् १८६० ई० में चिकित्सक का कार्य परित्याग कर उन्होंने सार्वजनिक जीवन में मोंतमात्र के नगर अभियंता के रूप में प्रवेश किया। राजनीतिक आदर्शों में वे गणतंत्र के पक्षपाती तथा द्वितीय फ्रांसीसी साम्राज्य के शत्रु थे। साथ ही निरंकुश सरकारों के प्रति गुप्त रूप से लगाव भी था। उनकी दृष्टि में राजनीति शक्ति के अर्जन का एक संघर्ष है और इसीलिये यह कहा जाता है कि उनके देशप्रेम में कुछ रोमन तत्व विद्यमान था जिसके फलस्वरूप वे शांतिपरायण व्यक्तियों को हेय दृष्टि से देखते थे।

इस रूप में उनका संघर्ष कम्यून से हो गया जिसने उन्हें गोली से उड़ाकर मृत्युदंड देने की धमकी भी मिली थी। जार्ज स्टुअर्ट मिल के प्रगतिशील विचारों से प्रभावित होकर जनतंत्र के सिद्धांत के व्यावहारिक रूप के परिणामों के अध्ययन के प्रति उनकी उत्सुकता जागी। फलस्वरूप वे १८६६ ई० के आरंभ में न्यूयार्क पहुँचे और वहाँ तीन वर्ष तक रहे। युद्धोत्तर अमरीका की अवस्था का विवरण पेरिस की पत्रिका 'टेंप्स' के लिये भेजते और जीविका के लिये लड़कियों के एक स्कूल में फ्रेंच पढ़ाते रहे।

१८६९ ई० मे पेरिस वापस आए और १८७० की राजक्रांति के बाद वे पेरिस के मेयर मनोनीत हुए। ८ फरवरी, १८७१ को रेडिकल दल की ओर से राष्ट्रीय असेंबली के सदस्य चुने गए। सन् १८७६ ई० में फ्रांस की संसद् के निचले सदन के सदस्य निर्वाचित होकर रिपब्लिकन दल मे संमिलित हुए। सन् १८७६ ई० के बाद, जब राजतंत्र के पक्षपातियों की हार हो चुकी थी और गणतंत्र संगठित हो रहा था, वे क्रांतिकारी और जाकोवें दल के सदस्य बने। संसद् सदस्य के रूप में उन्होंने सर्वमताधिकार, सीनेट की शक्तियों में कमी, चर्च और राज्य के पूर्ण अलगाव, औपनिवेशिक प्रसार से दुराव आदि के आदर्श व्यक्त किए। संसद् के सदस्य के रूप में लगातार १५ वर्षो तक फ्रांस की प्रत्येक सरकार का विरोध करने के कारण अनेक लोग उनके शत्रु हो गए। फलत: १८९३ ई० के चुनाव में उनकी हार हुई।

उस समय से १८९७ ई० तक उन्होंने पत्रकारिता का जीवन व्यतीत किया। १८९७ ई० में 'द्रफू' कांड ने इन्हें आकृष्ट किया जिसमें जोला के साथ अपराधी कप्तान का पक्ष लेते हुए ये गणतंत्र के कार्यो मे पुन: दिलचस्पी लेने लगे। १९०२ ई० में ये सेनेट के सदस्य चुने गए तथा उसके चार वर्ष बाद गृहमंत्री नियुक्त हुए। १९०६ ई० से १९०९ ई० तक प्रधान मंत्री के रूप में कार्य किया। १९०९ ई० में इस पद से त्यागपत्र देकर १९१७ ई० तक राजनीति से अलग रहे।

१९१७ ई० में युद्ध के फलस्वरूप फ्रांस की बिगड़ी हुई स्थिति के सुधार के निमित्त योग्य नेतृत्व की मांग को पूरा करने के लिये इन्होंने ७६ वर्ष की अवस्था में पुन: प्रधान मंत्री का पद संभाला। १९१७ से १९२० ई० का काल उनके जीवन का सबसे सफल काल था। इसी काल में वे 'फ्रांस केसरी' के नाम से पुकारे गए। युद्धोपरांत जब शांतिस्थापना का समय आया तब उन्हें वरसाई संमेलन का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। वरसाई संधि हो जाने पर इन्होंने राजनीतिक जीवन से संन्यास ले लिया। पेरिस में २४ नवंबर, १९२९ को उनकी मृत्यु हुई।

सं०ग्रं०—ऐडम्स, जार्ज : द टाइगर, न्यूयार्क, १९३०।

(रा० अ०)

क्लेमेंट्स, फ्रेडरिक एडवर्ड (१८७४–१९४५ ई०) अमरीकन वनस्पति वैज्ञानिक। इनका जन्म संयुक्त राज्य, अमरीका, के लिंकन नगर में हुआ था। नेब्रास्का विश्वविद्यालय से सन् १८९८ में आपने डाक्टर ऑव फ़िलॉसफ़ी की उपाधि प्राप्त की तथा सन् १८९४ से सन् १९०६ तक इसी विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर और सन् १९०६–१९०७ में पादप कायिकी (Plant Physiology) के प्रोफेसर रहे। सन् १९०७–१९१७ तक मिनेसोटा विश्वविद्यालय मे वनस्पति विज्ञान के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष पद पर आपने काम किया। सन् १९१७ में वे वाशिंगटन के कारनेगी इंस्टिटयूशन के सहकारी बनाए गए और पारिस्थितिकी (Ecology) में अनुसंधान का कार्य आपको सौंपा गया।

इन्होंने पारिस्थितिकी, पुरापारिस्थितिकी, प्रायोगिक विकास तथा जलवायु विज्ञान में विस्तृत अन्वेषण किए। उत्तरी अमरीका मे पारिस्थितिकी के अध्ययन के विकास में इनका प्रमुख हाथ रहा है और वनस्पतियों के विकासक्रम (Succession of Vegetation) संबंधी अनुसंधान के लिये आप विख्यात थे।

इन्होंने उद्भिद्-भूवृत्त (Phyto-geogrohy), कायिकी तथा पारिस्थितिकी पर अनेक लेख लिखे हैं और विश्व के विविध क्षेत्रों में किए गए अपने अनुसंधानों के फलों को आपने 'पादप विकासक्रम' विषयक अपनी पुस्तक में क्रमबद्ध किया है।

'पादप कायिकी' तथा पारिस्थितिकी और 'पादप पारिस्थितिकी में अन्वेषण की रीतियाँ' विषयक आपकी दो पुस्तकें पारिस्थितिकी के अध्ययन मे बहुत सहायक हुई हैं। (सा० जा०)

क्लेयर, जान (१७९३–१८६४ ई०) अंग्रेज कवि। पीटरबरा के निकट हेल्पस्टोन में एक कृषक-श्रमिक के घर जन्म। १२-१३ वर्ष की अवस्था मे वह दिन मे खेत पर काम करता और रात को पढ़ने जाता। उसने नाना प्रकार के धंधे करने का यत्न किया। बर्थले पार्क मे माली बना, सेना में भर्ती हुआ। १८१७ मे वह एक चूना भट्ठी पर काम करने लगा। वहाँ से वह काम के समय अपनी कविता पुस्तक का विज्ञापन बाँटने के कारण निकाल दिया गया। विज्ञापन का कोई परिणाम न निकला। किंतु उसी समय अकस्मात् ड्रूरी नामक पुस्तक विक्रेता ने उसकी 'द सेटिंग सन' शीर्षक कविता देखी और वह उसकी ओर आकृष्ट हुआ। उसने उसका परिचय कीट्स और शेली के प्रकाशक जान टेलर से करा दिया। टेलर ने क्लेयर की कविताओं का एक संग्रह 'पोयम्स डिस्क्रिप्टिव ऑव रूरल-लाइफ़ ऐंड सीनरी' १८२० में और दूसरी 'विलेज मिंस्ट्रेल ऐंड अदर पोयम्स' १८२१ में प्रकाशित किया। इन पुस्तकों मे उसे थोड़ी सी आय होने लगी और उससे किसी प्रकार परिवार का खर्च चलने लगा। १८२७ मे 'द शेपर्ड्स कैलेंडर' प्रकाशित हुआ पर वह उतना सफल न रहा। निदान क्लेयर को पुन: कृषि श्रमिक का काम करना पड़ा। चिंता और श्रम की अधिकता से वह बीमार हो गया। तब अर्ल फ़िट्ज विलियम ने उसे एक छोटा सा मकान और कुछ जमीन प्रदान की पर वह जम न सका। धीरे धीरे उसका मस्तिष्क विकृत होने लगा। १८३७ में वह पागलखाने मे भेज दिया गया जहाँ वह मृत्यु पर्यंत रहा। इस अवस्था में भी वह कविताएँ लिखता रहा। उसकी अंतिम प्रकाशित रचना 'रूरल म्यूज' है जो १८३७ में प्रकाशित हुई थी। (प० ला० गु०)

क्लेयरेंडन, एडवर्ड हाइड (१६०९–१६७४)। इंग्लैंड का राजनीतिज्ञ और इतिहासकार। विल्टशायर स्थित डिंटन नगर में १८ फरवरी, १६०९ को एक साधारण गृहस्थ एडवर्ड हाइड के घर जन्म। १६२२ से १६२५ तक आक्सफर्ड के मैडेलेन हाल में अध्ययन किया और स्नातक की उपाधि प्राप्त की। लंदन के मिडिल टेंपल में कानून का अध्ययन करने के बाद वकालत आरंभ की। कुछ ही वर्षों में वह सफल वकील माना जाने लगा। लोकप्रिय वकील के रूप में १६४० में वह वूटन बैसे से अल्पकालीन पार्लमेंट का सदस्य निर्वाचित हुआ। इसी वर्ष आयोजित, दीर्घकालीन पार्लमेंट में वह सेल्टाश का प्रतिनिधि चुना गया।

यह वह काल था जब स्टुअर्ट वंशीय नरेश चार्ल्स (प्रथम) और पार्लमेंट के बीच संघर्ष चल रहा था जो अब चरम सीमा पर पहुँच रहा था। चार्ल्स पहले दो बार पार्लमेंट को विघटित कर चुका था। मार्च, १६२८ में जो तीसरी पार्लमेंट बनी उसने 'पेटिशन ऑव राइट्स' पारित किया। उसपर नरेश ने हस्ताक्षर तो कर दिया था पर उसका वह पालन नहीं कर रहा था। चौथी बार चार्ल्स ने पार्लमेंट का फिर से निर्वाचन कराया। इस पार्लमेंट का अधिवेशन ३ नवंबर, १६४० को आरंभ हुआ और उसकी बैठक दस मास तक होती रही। इस कारण यह दीर्घ पार्लमेंट के नाम से प्रख्यात है। इस पार्लमेंट ने आरंभ में ही राजा के १२ वर्षों के व्यक्तिगत शासन में कानूनों की उपेक्षा, असाधारण न्यायालयों का राजा के स्वार्थ-साधन में उपयोग, न्यायाधीशों द्वारा दुर्व्यवहार, जहाजी कर संबंधी निर्णय आदि अवैध कार्यों का विरोध किया। क्लेयरेडन ने विरोध पक्ष का समर्थन तो किया किंतु वह धर्मव्यवस्था में परिवर्तन के प्रश्न पर विरोधियों से सहमत न था। इस मामले में उसने राजा का समर्थन किया। फलत १६४१ से वह उसका प्रच्छन्न परामर्शदाता बन गया। पार्लमेंट की माँगों और प्रस्तावों के संबंध में राजा के उत्तर वही तैयार करता था। राजा ने जब कामन्स सभा के पाँच सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया तब उसने उसका विरोध किया किंतु जब पार्लमेंट से संघर्ष छिड़ा तो वह प्रत्यक्ष रूप से राजा के साथ हो गया। उसने राजा को अवैध कार्यों के त्याग का परामर्श दिया। वह मानता था कि राजा के कार्यों का आधार कानून होना चाहिए। उसने राजा की नीति निश्चित की और कामन्स सभा में राजा के पक्ष में दल संगठित किया।

१६४३ में राजा ने उसको नाइट की पदवी दी, प्रिवी कौंसिल का सदस्य और कोष विभाग का प्रमुख अधिकारी (चांसलर ऑव ऐक्सचेकर) नियुक्त किया। उस वर्ष की आक्सफर्ड की पार्लमेंट में विवादग्रस्त मामलों में पार्लमेंट से बात करने के लिये राजा ने उसे अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया था।

क्लेयरेडन के सारे प्रयास के बावजूद जब गृहयुद्ध छिड़ गया और राजा के पक्ष की हार हुई तो वह राजा के ज्येष्ठ पुत्र चार्ल्स के साथ इंग्लैंड के पश्चिमी प्रदेश में चला गया। स्किली और जरैसी द्वीपों में राजकुमार के प्रवासकाल में भी यह उसके साथ रहा। १६४८ में दूसरी बार गृहयुद्ध आरंभ होने के बाद क्लेयरेडन राजकुमार के साथ हॉलैंड चला गया। राजपक्ष के समर्थन में सहायताप्राप्ति के लिये १६४९ में वह स्पेन गया और राजदूत के रूप में दो वर्ष वहाँ रहा, किंतु अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल न हुआ। १६५२ में वह फिर राजकुमार के पास हॉलैंड लौट आया और इंग्लैंड के राजतंत्र की पुन स्थापना तक वह उसका प्रधान मंत्री रहा। इन आठ वर्षों में वह राजकुमार की अर्थ व्यवस्था और विदेशों के राज-दरबारों तथा शासनव्यवस्था से असंतुष्ट स्वदेश के व्यक्तियों से संपर्क स्थापित करता रहा। १६५८ में राजकुमार ने उसको अपना लॉर्ड चांसलर नियुक्त किया। १६६० की ब्रेडा की घोषणा, जिसमें राजकुमार ने विवाद के सभी मामले पार्लमेंट के निर्णय पर छोड़ दिए थे, क्लेयरेडन ने ही तैयार की थी।

१६६० में पुन राजतंत्र की प्रतिष्ठा होने पर राजकुमार चार्ल्स द्वितीय के नाम से इंग्लैंड का राजा बना। उसने क्लेयरेडन को लार्ड चांसलर बनाए रखा और उसे प्रधान मंत्री के पद पर प्रतिष्ठित किया। राजा ने उसको आक्सफर्ड विश्वविद्यालय का चांसलर भी नियुक्त किया। १६६१ में राजा ने उसको क्लेयरेडन के अर्ल की पदवी और बीस हजार पौंड का अनुदान दिया। इसके अतिरिक्त भी उसे समय समय पर अनेक जागीरें और आयरलैंड का खिराज प्राप्त हुआ। राजा के छोटे भाई यार्क के ड्यूक जेम्स के साथ उसने १६६० में अपनी पुत्री का विवाह किया और इस प्रकार वह राजा का संबंधी बना। उसे पीछे इंग्लैंड की दो शासिकाओं —क्वीन मेरी और क्वीन ऐन का पितामह होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

क्लेयरेडन के प्रधान मंत्री बनने के बाद मई, १६६१ ई० में पार्लमेंट का नया निर्वाचन हुआ। यह पार्लमेंट इतिहास में 'कैवेलियर' पार्लमेंट के नाम से प्रख्यात है। कैवेलियर शब्द राजपक्ष का वाची था और पार्लमेंट में इसी पक्ष का बहुमत था।

क्लेयरेडन इंग्लैंड की राजमान्य ऐंग्लिकन संप्रदाय का कट्टर समर्थक था। धर्मव्यवस्था की पुष्टि और रक्षा के लिये उसकी प्रेरणा से १६६१ से १६६५ के बीच इस पार्लमेंट ने ईसाई मत के प्यूरिटन संप्रदाय को दबाने के लिये चार विधि स्वीकृत किए जो 'क्लेयरेडन कोड' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये विधि थे—(१) कार्पोरेशन ऐक्ट जिसके अनुसार केवल ऐंग्लिकन संप्रदाय के व्यक्ति ही शासन सभा के सदस्य हो सकते थे, (२) ऐक्ट ऑव यूनिफार्मिटी, जिसके अनुसार सभी पादरियों के लिये ऐंग्लिकन चर्च की प्रार्थना पुस्तक का व्यवहार अनिवार्य घोषित किया गया। इसे न माननेवाले लगभग २,००० पादरी निष्कासित किए गए (३) कान्वेंटिकल ऐक्ट, जिसके अनुसार ऐंग्लिकन संप्रदायेतर ईसाइयों के पाँच से अधिक एकत्र होकर प्रार्थना करने पर रोक लगाई गई, (४) फाइव माइल ऐक्ट, इसके अनुसार निष्कासित पादरी किसी स्कूल में अध्यापन नहीं कर सकते थे और न प्रत्येक बड़े नगर की पाँच मील की परिधि के भीतर आ सकते थे। क्लेयरेडन राजा के संवैधानिक अधिकार विदेशों के साथ मैत्री संबंध का समर्थक था। फ्रांस के साथ उसने क्रामवेल के समय की मैत्री नीति निभाई और डकर्क का बंदरगाह फ्रांस के हाथ बेचा। पुर्तगाल की राजकुमारी का राजा के साथ विवाह कराने में उसकी प्रेरणा थी। हालैंड के विरुद्ध युद्ध का समर्थक न होते हुए भी जब २२ फरवरी, १६६५ को युद्ध छिड़ गया तो उसने उसका समर्थन किया। साथ ही उसने युद्ध समाप्त कराने और स्वीडन और स्पेन से संधि कराने का प्रयास किया, किंतु उसकी वैदेशिक नीति सफल न हो सकी।

क्लेयरेडन धीरे धीरे अप्रिय होने लगा। पार्लमेंट के भीतर और देश में उसके कार्यों के प्रति असंतोष व्यक्त किया जाने लगा। निदान, राजा ने १६६७ में उसको चांसलर के पद से हटा दिया, वह प्रधान मंत्री भी नहीं रहा। उसी वर्ष भ्रष्टाचार, स्वेच्छाचारी शासन और युद्ध में विश्वासघात के लिये कामन्स सभा ने उसपर महाभियोग लगाया। तब वह फ्रांस चला गया। लार्ड सभा ने तत्काल उसे देश निकाला का प्रस्ताव स्वीकार किया। उसने अपना यह निर्वासन काल फ्रांस में ही बिताया। इस निर्वासन काल में उसे नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़े। उसने अपना ध्यान धर्म की ओर लगाया और नित्य वह कुछ समय 'कंटेम्प्लेशंस आन द साम्स' तथा अपने सदाचार संबंधी लेखों के लिखने में बिताता। इसके साथ ही उसने इस अवधि में 'हिस्ट्री ऑव रिबेलियन', जिसने उसे १६४६-४८ के बीच राजकुमार के साथ प्रवास के समय लिखना आरंभ किया था, पूरा किया और अपनी एक आत्मकथा भी लिखी।

राजनीतिज्ञ के रूप में उसकी अपनी सीमाएँ और दुर्बलताएँ थीं फिर भी उसने कितने ही महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों को उभारा। लेखक और इतिहासकार के रूप में अंगरेजी साहित्य में उसका उच्च स्थान माना जाता है। (लि० प०, प० ला० गु०)

क्लेयरेडन, जार्ज विलियम फ्रेडरिक विलियर्स (१८००-१८७० ई०) अंग्रेज कूटनीतिज्ञ। लंदन में १२ जनवरी, १८०० को जन्म। सेंट जॉन कॉलेज, कैंब्रिज में शिक्षा। १८२० में केवल २० वर्ष की आयु में सेंट पीटर्सबर्ग स्थित ब्रिटिश दूतावास में एक ऊँचे पद पर नियुक्त हुआ। १८२३ में वह आयात कर का उच्च पदाधिकारी बना। १८३३ में माद्रिद में ब्रिटिश मंत्री बनाए गए। माद्रिद में स्पेनी उत्तराधिकार के संबंध में इजाबेला द्वितीय के उदार शासन का पक्ष लेकर ख्याति अर्जित की। १८३८ में उन्हें अर्ल की उपाधि से विभूषित किया गया तथा १८३९ में वेरुलम के प्रथम अर्ल की पुत्री कैथरीन से इनका विवाह हुआ। लार्ड मेलबोर्न के शासनकाल में उन्हें ऊँचे पद मिलते रहे परंतु पामर्स्टन की मिस्र एवं फ्रांस संबंधी नीति का उन्होंने जमकर विरोध किया। १८४६ में जॉन रसेल के मंत्रिमंडल में व्यापारमंडल के अध्यक्ष की हैसियत से आए। दो बार उन्हें भारत का और एक बार कनाडा का वायसराय बनने के लिये निमंत्रण मिला परंतु उन्होंने अस्वीकार किया। १८४७ में वह आयरलैंड के लार्ड लेफ्टिनेंट बनाए गए। १८५२ तक वह इस पद पर रहे। १८५३ में वे अंतरराष्ट्रीय विभाग के राजकीय सचिव बने। यह उनकी आकांक्षा की पूर्ति थी, जीवन का वरदान था। इस पद को सँभालते ही

उन्हें रूसी तुर्की राजनीतिक कुहरे का सामना करना पड़ा जिसका अंतिम परिणाम क्रीमिया का युद्ध था। परिणामस्वरूप पेरिस में राष्ट्रों का जो संमेलन हुआ उसमें क्लेयरेंडन की कूटनीति द्वारा समता के स्तर पर शांतिपूर्ण संधि संभव हुई। उन्होंने आस्ट्रिया को तटस्थ रहने या मित्र-राष्ट्रों को सहयोग देने को विवश किया। सम्राट् नेपोलियन पर भी क्लेयरेंडन का प्रभाव असीम था, और इसी प्रभाव के कारण नेपोलियन संधि के प्रति निष्ठावान् बना रहा। संमेलन की सफलता का श्रेय भी अधिकांशतः क्लेयरेंडन को है। उन्हीं की सहायता से कावूर इटली की समस्या को यूरोप के संमुख रख सका। संमेलन की महान् सफलताओं, जैसे जलयुद्ध के नियमों की घोषणा आदि, का श्रेय भी उन्हें ही है। १८५३ में जान रसेल के व्यक्तिगत विरोध के कारण वे मंत्रिमंडल से अलग हो गए। १८६४ मे लंकास्टर की डची के चांसलर बनाए गए और पामर्स्टन की मृत्यु के पश्चात् १८६५ में वह पुनः विदेश विभाग के मंत्री हुए। इस पद पर वे मृत्युपर्यंत, १८७० के जून तक, रहे।

क्लेयरेंडन का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली था। भव्य रूप, सुंदर आचरण, प्रखर बुद्धि, सरल व्यवहार तथा मनोहारी नम्रता, ये सब उनके आकर्षक व्यक्तित्व के अंग थे। उनके जीवन की तीन महान् राजनीतिक सफलताएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। प्रथम स्पेनी उत्तराधिकार के झगड़े का निपटारा, द्वितीय क्रीमिया युद्ध संबंधी उनका कूटनीतिक व्यवहार, तृतीय पेरिस संमेलन में युद्ध संबंधी घोषणा की स्वीकृति। आस्ट्रिया-प्रशा-युद्ध संबंधी कठिनाइयों तथा श्लेस्विग-होलस्टीन प्रश्न को सुलझाने मे भी उन्होंने कम ख्याति नहीं पाई। बिस्मार्क की एक ही युक्ति क्लेयरेंडन की योग्यता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है: 'यदि क्लेयरेंडन जीवित होता तो फ्रांस और प्रशा के मध्य युद्ध संभव न हुआ होता।' निःसंदेह यदि यह युद्ध न हुआ होता तो बिस्मार्क जैसे कूटनीतिज्ञ की समस्त योजनाओं पर पानी भी फिर गया होता। (प० उ०)

क्लेरमाँ फ़ेराँ केंद्रीय फ्रांस में पेरिस से दक्षिण-दक्षिण-पूर्व मे २१० मील दूर पुई-डि-डोम क्षेत्र का प्रसिद्ध नगर। जूलियस सीजर के समय में यह नगर अस्तित्व में था। यहाँ १२वीं शताब्दी का बना नॉटर-डैम रोमन गिरजाघर तथा १५वीं शताब्दी का बना विशाल गोथिक गिरजाघर दर्शनीय हैं। यहाँ विश्वविद्यालय, पुरातत्व संग्रहालय और वेधशाला हैं। इससे दो मील पश्चिम पहाड़ियों में स्पा ऑव रोयाट (Spa of Royat) प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ ब्लेज़ पैस्कल (Blaise Pas_al) का जन्म हुआ था। यहाँ टायर, ट्यूब, और रबर के अन्य सामानों, कपड़े, धातु, खनन के यंत्रों, साइकिल और रेडियो आदि बनाने के कारखाने हैं। उत्तम चाकलेट, संरक्षित फल और अन्य खाद्य सामग्री का उत्पादन होता है। सुप्त ज्वालामुखी पर्वत मांट्स डोम की तलहटी में बसा होने के कारण यहाँ के प्राकृतिक और रम्य वातावरण में देशी और विदेशी पर्यटक सदा आते रहते हैं। १९६८ में यहाँ की जनसंख्या १,५४,११० थी। (कृ० मो० गु०)

क्लेरो, अलेक्से क्लाड (१७१३–१७६५ ई०) फ्रेंच गणितज्ञ। पेरिस में ७ (अथवा १३) मई, १७१३ को जन्म। पिता गणित के अध्यापक थे। पिता के शिक्षण में गणित की शिक्षा में उसकी प्रतिभा ऐसी विकसित हुई कि बारह वर्ष की अवस्था में ही उसने फ्रेंच अकादमी के सम्मुख चार वक्र रेखाओं के गुण पर किए अपने आविष्कार के संबंध में एक निबंध पढ़ा। १७२९ में उन्होंने देकोर्ट की वैश्लेषिक ज्यामिति को तीन आयामों तक विस्तृत करते हुए एक पुस्तक लिखी जो १७३१ में प्रकाशित हुई। उसके प्रकाशित होते ही १८ वर्ष की आयु में ही आयु संबंधी नियमों की अवहेलना कर फ्रांस की अकादमी ऑव साइंस ने उसे अपना सदस्य मनोनीत किया। १७३६ में वह मापटियाँ के साथ मध्य रेखा के एक अंश की लंबाई निर्धारित करने के लिये लैपलैंड गया और वहाँ से लौटने पर इंग्लैंड की रायल सोसायटी ने उसे अपना फेलो बनाया। १७४३ ई० में उसने अपनी सुप्रसिद्ध 'क्लेरो थियोरम' पुस्तक प्रकाशित की जिसमें भिन्न अक्षांशों के स्थानों पर गुरुत्वाकर्षण के नियतांक के जानने का सूत्र स्थापित किया है। १७५० में वह अपने चंद्रमा संबंधी सिद्धांत के प्रतिपादन पर सेंट पीटर्सबर्ग अकादमी से पुरस्कृत हुआ। १७५९ मे उसने हेली (Halley) केतु के चक्कर पूरा करने के समय की गणना कर ख्याति प्राप्त की। इसके अनंतर भी वह गणित संबंधी महत्वपूर्ण शोध करता रहा। १७ मई, १७६५ को पेरिस मे उसकी मृत्यु हुई। (भ० दा० व०; प० ला० गु०)

क्लेश योगदर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश पाँच क्लेश हैं (अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः, योगदर्शन २।३)। भाष्यकार व्यास ने इन्हें 'विपर्यय' कहा है और इनके पाँच अन्य नाम बताए हैं—तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र (यो० सू० १।८ का भाष्य)। इन क्लेशों का सामान्य लक्षण है कष्टदायिकता। इनके रहते आत्मस्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता। अविद्या सभी क्लेशों का मूल कारण है। वह प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार चार रूपों मे प्रकट होती है। पातंजल के योगदर्शन (२।५) के अनुसार अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म विषय पर क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मस्वरूपता की ख्याति 'अविद्या' है। दूसरे शब्दों में अविद्या वह भ्रांत ज्ञान है जिसके द्वारा अनित्य नित्य प्रतीत होता है। अभिनिवेश नामक क्लेश मे भी यही भाव प्रधान होता है। अशुचि को शुचि समझना अविद्या है अर्थात् अनेक अपवित्रताओं और मलों के गेह शरीर को पवित्र मानना अविद्या है। जैन विद्वान् स्थान, बीज, उपष्टम्भ, निस्यंद, निधन और आधेय शौचत्व के कारण शरीर को अशुचि मानते हैं किंतु वे यह स्वीकार नहीं करते कि वह अविद्याग्रस्त है। नित्यता, शुचिता, सुख और आत्म नामक धर्मों पर आश्रित होने के कारण अविद्या को चतुष्पदा कहा गया है। संतों ने इन्हीं चार पदों को ध्यान मे रखकर अविद्या (माया) को गाय की उपमा दी है।

अस्मिता अर्थात् अहंकार बुद्धि और आत्मा को एक मान लेना दूसरा क्लेश है। 'मैं' और 'मेरा' की अनुभूति का ही नाम अस्मिता है।

सुख और उसके साधनों के प्रति आकर्षण, तृष्णा और लोभ का नाम राग है (सुखानुशायी रागः) यह तीसरा क्लेश है।

चौथा क्लेश द्वेष पतंजलि के अनुसार दुखानुशयी है। दुःख या दुःखजनक वृत्तियों के प्रति क्रोध की जो अनुभूति होती है उसी का नाम द्वेष है। क्रोध की भावना तभी जाग्रत होती है जब किसी व्यक्ति अथवा वस्तु को किसी अनुचित अथवा अपने अनुकूल मान लेते हैं। यह धारणा अविद्याजन्य है। आत्मा अकर्ता है अतः द्वेष के वशीभूत होना अकारण क्लेश का आह्वान करना है।

पतंजलि के अनुसार जो सहज अथवा स्वाभाविक क्लेश विद्वान् और अविद्वान् सभी को समान रूप से होता है वह पाँचवा क्लेश अभिनिवेश है। प्रत्येक प्राणी—विद्वान्, अविद्वान् सभी की आकांक्षा रही है कि उसका नाश न हो, वह चिरजीवी रहे। इसी जिजीविषा के वशीभूत होकर मनुष्य न्याय अन्याय, कर्म कुकर्म सभी कुछ करता है और ऊँच नीच का विचार न कर पाने के कारण नित्य नए क्लेशों में बँधता जाता है।

योगशास्त्र में इन क्लेशों का क्षय कैवल्यप्राप्ति के लिये आवश्यक बताया गया है। यौगिक क्रियाओं द्वारा योगी इन क्लेशों का नाश करता है और उनका नाशकर परमार्थ की सिद्धि करता है। (प० ला० गु०)

क्लैपरटन, ह्यू (१७८८–१८२७)। अफ्रीका के भूभागों का अन्वेषी स्काटलैंड निवासी। डम्फ्रीशशायर के अन्नान नामक स्थान में जन्म। कुछ दिनों तक व्यापारिक जहाजों पर नौकरी करने के बाद नौसेना में भर्ती हुआ। १८१७ में लेफ्टिनेंट बनकर घर लौटा। १८२० में आउने और डेनहेम बोर्नू की खोज के लिये जिस सरकारी अभियान में जा रहे थे, उसमें उसने भाग लिया। बोर्नू के बाद वे नाइग प्रदेश की खोज में निकले। मर्मर में जब आउने की मृत्यु हो गई तब क्लैपरटन कानो और सोकोटो की खोज में निकला और जातियों और काटसेन होता कूका लौटा। उसने १८२६ में अपनी इस यात्रा के खोजों का विवरण प्रकाशित किया।

इस अन्वेषण यात्रा से लौटते ही क्लैपरटन को कमांडर का पद दिया गया और अन्वेषण करने के लिये पुन. अफ्रीका भेजा गया। वह बैडागी मे उतरकर नाइगर प्रदेश के लिये रवाना हुआ। योरुबा प्रदेश होता हुआ उसने बुसा के निकट नाइगर को पार किया और कानो आया। वहाँ से बोर्नू जाने के लिये सोकोतो आया। वहाँ के सुल्तान ने उसे कैद कर लिया। १३ अप्रैल, १८२७ को पेचिश से उसकी मृत्यु हो गई।

क्लैपरटन पहला यूरोपियन था जिसने अर्ध सभ्य हौसा प्रदेश का आँखो देखा परिचय दिया। मृत्यूपरात उसके दूसरी अफ्रीका यात्रा का वृत्त प्रकाशित हुआ। इस वृत्त को उसका नौकर लैंडर लाया था। लैंडर ने इसके अतिरिक्त क्लैपरटन के कुछ अन्य अन्वेषण सबधी लेखो को अपनी अभियान यात्रा वृत्त के साथ प्रकाशित किया है। (प० ला० गु०)

क्लैपराथ, हेनरिच जुलियस वान (१७८३–१८३५ ई०) जर्मन प्राच्य विद्या विशारद्। ११ अक्तूबर, १७८३ को बर्लिन मे जन्म। १४ वर्ष की अवस्था से उसने चीनी भाषा सीखनी आरभ की। १८०५ मे वह चीन के रूसी दूतावास मे दुभाषिया के पद पर नियुक्त हुआ किंतु सीमा पर वह रोक दिया गया। अत वह साइबेरिया सबधी भौगोलिक खोज मे लग गया। आगे चल कर १८०७–०८ ई० मे उसने काकेशस और जाजिया के सबध मे खोज की। १८१२ मे जर्मनी लौटा और तीन वर्ष पश्चात् पेरिस मे जा बसा। वहाँ १८१६ मे एशियाई भाषाओ का प्राध्यापक नियुक्त हुआ। १८०२ से ही वह पहले जर्मन बाद मे फ्रेंच मे अपने भौगोलिक शोध, एशियाई भाषा और नृवश, मिस्री कीलाक्षर आदि के सबध मे लेख लिखने लगा था। उसकी ख्याति उसके विषय विवेचन मे गहन प्रवेश के लिये तो है ही, लोग उसे अन्य विद्वानो के कटु आलोचक के रूप मे भी याद करते है। (प० ला० गु०)

क्लोनडिके कनाडा के उत्तर पश्चिम यूकॉनप्र देश मे स्थित ८०० वर्ग मील का भू भाग जिसमे अनेक सोने उत्पन्न करनेवाले स्थल स्थित हैं। यहाँ १८९५ मे राबर्ट हैंडरसन ने सर्वप्रथम गोल्ड बाटम मे सोने की खान का पता लगाया। १७ अगस्त, १८९६ को जार्ज कार्मैक के साथ मिलकर पहली बार खुदाई की और उस खुदाई मे ही अपार सोना प्राप्त हुआ। फिर तो लगभग सारे ससार से लोग धनी बनने की अभिलाषा लेकर इस प्रदेश पर टूट पडे। जूनो और स्कैगवे के नगर रातो रात बस गए। छह महीने के भीतर डाउसन नगर मे ५०० घर बन गए और एक वर्ष बीतते बीतते वह ससार का सबसे धनी खदान नगर बन गया। अनेक लोग इस देश तक पहुँचने से पहले ही ठड और रोग से मर गए।

सोने की खान का पता लगने के दो मास के भीतर ही इस प्रदेश से लगभग ५० लाख डालर का सोना प्राप्त हुआ। एक खनिक के सबंध मे बताया जाता है कि वह कुछ ही सप्ताह मे डेढ लाख डालर कमा कर लौट गया था।

क्लोनडिके प्रदेश की जलवायु ध्रुवीय है। वर्ष के सात महीने वहाँ घोर शीत रहता है। वहाँ नाममात्र को अन्न पैदा होता है। मछली तथा अन्य शिकार के जानवर बहुतायत से मिलते हैं। यह देश मध्यरात्रि के सूर्य का देश है। मई के मध्य से अगस्त के प्रथम सप्ताह तक निरतर दिन बना रहता है। (प० ला० गु०)

क्लोमपाद (Branchiopoda) सधिपदा प्राणी समुदाय की क्रस्टेशिया (Crastacea) श्रेणी की एक उपश्रेणी। इस उपश्रेणी के प्राणियो का शरीर वर्म से ढका होता है। विभिन्न क्लोमपादो के वर्म की रचना मे बडी भिन्नता होती है, किंतु उन सभी के पाद, जो किसी किसी मे बहुसख्यक होते है, चिपटे और मीनपक्ष (Fin) अथवा गलफड (gill) सदृश होते है। इसीलिये इस श्रेणी का नाम क्लोमपाद अथवा 'गलफड पाद' पडा है।

यद्यपि खोलकी प्राणियों की भाँति इनके प्रचलित नाम नहीं है, तथापि प्राकृतिक इतिहास के अनेक लेखको ने इस उपश्रेणी के अनेक जीवों का
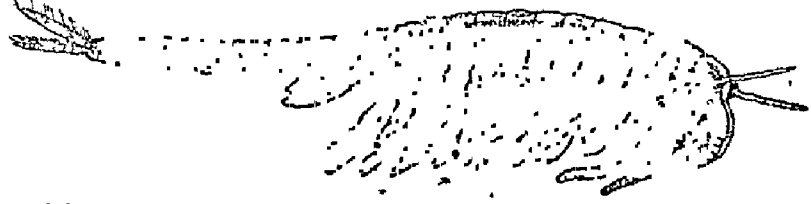
चित्र१. परी चिगट का नर (काइरोसेफालस, Chirocephalous) आलिगक (Claspers) सिर के अग्र भाग के नीचे मोड़े हुए हैं।

नामकरण फेयरी श्रिप (Fairy Shrimp), अथवा परी चिंगट, बालमडूक (Tadpole) चिंगट, 'क्लाम' (Clam) चिंगट तथा जल पिस्सू (वाटर फ्ली, Water flea) इत्यादि किया है। प्राय. सभी क्लोमपाद प्राणी मधुरजलीय होते है और सभी अलैंगिक जनन के लिये उल्लेखनीय हैं। इनके अडो की एक विशेषता यह है कि ये शीघ्र सूखते नही और शुष्कावस्था मे भी दीर्घकाल तक जीवित रह सकते हैं। अतएव शुष्क प्रदेशो के जलकुडों में भी ये बड़ी संख्या में उपलब्ध होते है।

इस उपश्रेणी के अतर्गत चार मुख्य वर्ग है. (क) ऐनॉस्ट्राका (Anostraca), (ख) नोटॉस्ट्रॉका (Notostraca), (ग) कॉनकॉस्ट्राका (Conchostraca) तथा (घ) क्लाडॉसरा (Cladocera)। यद्यपि इन चारो वर्गो के प्राणियो की रचना एक दूसरे से बहुत भिन्न होती है तथापि इनके खड (Segments), धड तथा शाखाएँ समान होती है।

ऐनॉस्ट्राका—इस वर्ग का प्रतिनिधि परी चिंगट अथवा फेयरी श्रिप है। यह पोखरे, तालाब और बरसाती गड्ढे मे मिलता है। यह लगभग एक इच लबा, पारदर्शक और दुम तथा शाखाओ पर लाल होता है। कृमि की भाँति सपूर्ण शरीर खडो मे बँटा होता है। सिर के पीछे प्रथम ग्यारह खडों मे से प्रत्येक मे गलफड सदृश युग्म शाखाएँ होती हैं। किंतु पश्च खडा मे अधिक शाखाएँ नही होती, केवल दो मे विभाजित होकर पूँछ बन जाती है। सिरवाले भाग मे दो चलायमान डठलो पर काली एव बड़ी बडी दो आँखे होती है और सामने दो पतले सस्पर्शक होते हैं। मादा के तलभाग मे, शाखाओ के अतिम जोडे के ठीक पीछे, अडे ढोने के लिये एक बडी थैली होती है। नर के सिरवाले भाग मे एक जोडा आलिंगक (Claspers) होते है। प्रत्येक आलिंगक हाथ सदृश बना होता है, जिसमे झिल्लीदार अँगुलियाँ होती है। ये मादा का आलिंगन करने के काम आती है।

परी चिंगट प्राय पीठ के बल तैरता है। तैरते समय पैर विशेष रीति और क्रम से चलते हैं। यह तैरनेवाले सूक्ष्म जंतुओ का भोजन करता है। भोजन पैर द्वारा उत्पन्न जलधारा के साथ पीछे से आगे की ओर मुख मे पहुँच जाता है।

अनेक क्लोमपादो की भाँति परी चिंगट भी छोटे छोटे जलाशयो मे, जिनके ग्रीष्म ऋतु मे सूखने की संभावना रहती है, पाए जाते है। जलाशय सूखने पर अडे कीचड मे सुप्तावस्था मे पड़े रहते हैं और वर्षा होने पर क्रियाशील होकर विकसित होने लगते है। डिंभ (larva) तीन बार त्वचाविसर्जन करता है। इसके फलस्वरूप शरीर लबा और खडयुक्त होता चलता है तथा शाखाएँ विकसित होने लगती है। अतिम त्वचा विसर्जन के बाद डिंभ वयस्क मे बदल जाता है। (चित्र १)

परी चिंगट की भाँति एक और चिंगट होता है जिसे खारे जल का चिंगट (Brine shrimp) कहते है। यह ऐसे खारे जल मे मिलता है जिसमें अन्य जीवो का जीना कठिन होता है। यह परी चिंगट से आधा और हल्के लाल रंग का होता है। यह इतनी सख्या मे पाया जाता है कि जल लाल रक्तमय दिखाई पडता है। खारे जल के चिंगट की एक विशेषता

यह है कि कहीं कहीं केवल मादाएँ ही पाई जाती हैं और उनमें अलैंगिक जनन होता है।

नोटॉस्ट्राका—इस वर्ग के प्राणियों की पीठ चौड़ी ढाल अथवा वर्म से ढकी होती है। वर्म घोड़े के पादचिह्न के आकार का होता है जिसके अग्रभाग के मध्य में एक जोड़ा अर्द्धचंद्राकार आँखें होती हैं। शरीर के खंडों की संख्या बहुत अधिक होती है और युग्म पत्राकार शाखाओं की संख्या और भी अधिक होती है। शरीर के अंतिम छोर पर परी चिंगट की भाँति द्विशाखीय पूँछ पर चाबुकनुमा अवयव होते हैं। इस वर्ग में नर विरले ही होते हैं। इनकी संतानोत्पत्ति अलैंगिक रीति से होती है। एपस (Apus) इस वर्ग का मुख्य गण है जो दो अथवा तीन इंच लंबा होता है (चित्र २)।

चित्र २. नोटॉस्ट्राका (Notostraca) लेपिड्यूरस प्रॉडक्टस (Lepidurus Productus)

कॉनकॉस्ट्राका (Conchostraca) या क्लाम चिंगट—इनमें वर्म सीपी की भाँति द्विपाटिक खोली होती है। क्लाम चिंगट का संपूर्ण शरीर और शाखाएँ खोली से ढकी होती है। शंबुक की भाँति कपाटों पर एक केंद्रीभूत होकर वृद्धि के स्तर होते हैं। युग्म नेत्र डंठल विहीन तथा एक दूसरे में समाहित होते हैं।

क्लाडॉसेरा—इस वर्ग के सदस्य जलपिस्सू (Water flea) कहलाते हैं और सभी स्थानों के गड्ढों और पोखरों में पाए जाते हैं।

चित्र ३. सामान्य जलपिस्सू (Common water flea) डैफनिया प्यूलेक्स (Daphnia pulex) के शावक भाग (brood chamber) में अंडे भरे हैं।

ये सभी सूक्ष्म होते हैं और केवल सूक्ष्मदर्शी द्वारा ही उनका अध्ययन किया जा सकता है। कॉनकॉस्ट्राका की भाँति इनका वर्म द्विपाटिक खोल होता है, जिसके भीतर से सिर भाग, जिसमें एक जोड़ा द्विशाखीय संस्पर्शक लगे होते हैं, आगे की ओर निकला होता है। संस्पर्शकों द्वारा पीछे की ओर बार बार थपेड़े देकर यह विचित्र उछाल के साथ तैरता है। इसी कारण इसका नाम जलपिस्सू पड़ा है। शरीर पारदर्शक होने के कारण इसकी अंतःरचना का अध्ययन जीवित अवस्था में सूक्ष्मदर्शी द्वारा किया जा सकता है। पाँच या छह जोड़ी शाखाओं की गति के कारण इसके शरीर के मध्यतलीय भाग में जल की एक धारा भोजन कुल्या (Food groove) में प्रवाहित होती है। इस जलधारा के साथ आया हुआ अपना विशेष प्रकार का भोजन यह अपने पक्ष्मदार शूकों द्वारा छानकर ग्रहण कर लेता है।

सिर के अग्रभाग में केवल एक बड़ी आँख होती है। पीठ के समीप हृदय की धड़कन देखी जा सकती है। इसके ठीक पीछे शरीर और खोल के बीच एक स्थान होता है जो मादा में अंडे सेने की थैली का काम करता है और प्रायः अनेक विकसित अंडों से भरा रहता है। वर्ष के अधिकांश भाग में नर नहीं पाए जाते। अतएव मादा ऐसे अंडे देती है जिनका विकास बिना गर्भाधान के होता है, किंतु वर्ष की किसी विशेष ऋतु में नर के प्रकट होने पर मादा ऐसे अंडे देती है जिनके विकास के लिये गर्भाधान की आवश्यकता होती है। ये अंडे मोटी खोल के भीतर बंद होते हैं और जब खोल का विसर्जन हो जाता है तब उनपर रक्षात्मक आवरण बन जाता है। वे कुछ दिनों तक निष्क्रिय पड़े रहते हैं। सूखने पर भी इन्हें कोई हानि नहीं पहुँचती। इस अवस्था में चिड़ियों के पंख में फँसकर अथवा हवा के साथ उड़कर वे एक जलाशय से दूसरे में भी पहुँच जाते हैं। अन्य क्लोमपादों की भाँति क्लाडॉसरा में नियमतः डिंभावस्था नहीं होती और बच्चा छोटे पैमाने के वयस्क जैसा ही अंडे से बाहर निकलता है। जलपिस्सू की कुछ जातियों की लंबाई एक इंच के सौवें भाग से भी कम होती है। अतएव यह विद्यमान खोलकियों में सबसे छोटा होता है। (चित्र ३)।

सं०ग्रं०—पाइक्राफ्ट : द स्टैंडर्ड नैचुरल हिस्ट्री; द साइंस ऑव लिविंग थिंग्स, ऐटम्स प्रेस लिमिटेड, लंदन (१९४७)। (भु० ना० प्र०)

क्लोरल (Chloral, ट्राइक्लोरो ऐसीटैल्डीहाइड, CCl_3CHO) यह एक निद्रापक (hypnotic) है। औद्योगिक पैमाने पर यह एथिल ऐलकोहल पर क्लोरीन की क्रिया से प्राप्त किया जाता है। पहले ठंडे एथिल ऐलकोहल में क्लोरीन प्रवाहित किया जाता है और फिर ६०° सें० ताप पर तब तक प्रवाहित किया जाता है जब तक क्लोरीन का अधिक अवशोषण नहीं हो जाता। अंतिम क्रियाफल क्लोरल ऐलकोहोलेट ($CCl_3CH(OH).OC_2H_5$) का मणिभीय ठोस रूप होता है, जिसका सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ आसवन करने पर क्लोरल प्राप्त होता है :

$$CH_3CH_2OH + 4\ Cl_2 = CCl_3CHO + 5\ HCl$$

यह रंगहीन, लाक्षणिक सुगंधवाला तैलीय द्रव, क्वथनांक ९७° सें०, पानी, एथिल ऐलकोहल और ईथर में विलेय है। पोटैशियम हाइड्रॉक्साइड के सांद्र विलयन के साथ गरम करने पर शुद्ध क्लोरोफार्म प्राप्त होता है। सांद्र नाइट्रिक अम्ल द्वारा आक्सीकृत होकर ट्राइक्लोरोऐसीटिक अम्ल, और ऐल्यूमिनियम एथाक्साइड के द्वारा अवकृत होकर ट्राइक्लोरो-एथिल ऐलकोहल देता है :

$$CCl_3COOH \xleftarrow{HNO_3} CCl_3CHO \xrightarrow{2H} CCl_3CH_2OH$$

ट्राइक्लोरो ऐसीटिक अम्ल — नाइट्रिक अम्ल — क्लोरल — ट्राइक्लोरोएथिल ऐलकोहल

यह ऐलडिहाइड की साधारण अभिक्रियाएँ दर्शाता है पर पानी और ऐलकोहल के साथ असाधारण अभिक्रिया फल देता है। पानी और ऐलकोहल से मिलने पर ऊष्मा के निकास के साथ संयोजन होता है और मणिभीय ठोस—क्रमशः क्लोरल हाइड्रेट (गलनांक ५७°) तथा क्लोरल ऐलकोहोलेट (गलनांक ४६°) बनते हैं। ये यौगिक स्थायी होते हैं, जिनसे जल अथवा ऐलकोहल केवल सांद्र सलफ्यूरिक अम्ल से ही पृथक् किए जा सकते हैं। इससे यह विदित होता है कि क्लोरल हाइड्रेट में जल उसके अणुओं में संघटित है और उसका अणुसूत्र $CCl_3CH(OH)_2$ तथा क्लोरल ऐलकोहोलेट का $CCl_3CH(OH.OC_2H_5)$ है। यह यौगिक सैद्धांतिक महत्व का है, क्योंकि इसमें दो हाइड्राक्सिल समूह एक ही कार्बन परमाणु से संबद्ध रहते हैं। इसका उपयोग संमोहन के रूप में किया जाता है तथा विशेष उपयोग प्रसिद्ध कीटनाशक डी० डी० टी० के निर्माण में होता है। (शि० सो० व०)

क्लोरीन अनिमस्निय रासायनिक तत्व। शेले (Scheele) ने १७७४ ई० में काले मैंगनीज डाइऑक्साइड की म्यूरिएटिक अम्ल पर क्रिया में हरे पीले रंग की गैस प्राप्त की, जिसे वे 'फ्लाजिस्टन' रहित म्यूरिएटिक अम्ल कहते हैं। लवाज़िए (Lavoisier) तथा बर्थोले (Berthollet) इसे आक्सीजन का ही यौगिक समझते थे। १८१० ई० में डेवी (Davy) ने फास्फोरस, गंधक एवं कार्बन ऐसी वस्तुओं का इस गैस में आक्सीजन से, यदि हो तो, संयोग कराकर पहिचाने

हुए आक्साइड प्राप्त करने के विचार से प्रयोग किए और यह प्रमाणित किया कि इस गैस में आक्सीजन नहीं है और वास्तव में यह एक तत्व है। हरा पीला रंग होने से डेवी ने ही इस गैस का नाम क्लोरीन रखा।

क्लोरीन यौगिक रूप में व्यापक रूप से मिलता है। लवण निक्षेपों में, समुद्र के पानी में और जीवों तथा वनस्पतियों में सोडियम तथा पोटैसियम के क्लोराइड बहुत मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य धातुओं के क्लोराइड खनिजों में भी उपलब्ध हैं। क्लोरीन की आवश्यकता सामान्यतया इन्हीं बड़े बड़े सोडियम क्लोराइड के निक्षेपों, शैल लवण अथवा खारे पानी को सुखाकर प्राप्त होनेवाले लवण से पूरी की जाती है।

साधारणतया हाइड्रोक्लोरिक अम्ल तथा मैंगनीज डाइआक्साइड की क्रिया द्वारा क्लोरीन गैस तैयार की जाती है।

$$4\,HCl + MnO_2 = MnCl_2 + Cl_2 + 2H_2O$$
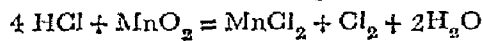
इस आक्सीकरण के लिये दूसरी वस्तुएँ भी, जैसे लेड परआक्साइड, पोटैसियम डाइक्रोमेट, पोटैसियम परमैंगनेट, ब्लीचिंग पाउडर इत्यादि भी उपयुक्त हो सकते हैं। सांद्र हाइड्रोक्लोरिक अम्ल पर पोटैसियम परमैंगनेट की क्रिया से साधारण ताप पर ही सरलता से यह गैस मिलती है। रसायनशाला में क्लोरीन प्राप्त करने के लिये इसी क्रिया का उपयोग होता है। प्राप्त क्लोरीन सांद्र गंधक के अम्ल से सुखाकर हवा के अधोमुख विस्थापन (downward displacement) द्वारा गैस जार में इकट्ठा किया जाता है। गैस की थोड़ी मात्रा के लिये कुछ धातुओं के क्लोराइड, जैसे क्यूप्रिक क्लोराइड, अधिक उपयोगी हैं। इन्हें गरम कर शुद्ध क्लोरीन प्राप्त हो सकता है। अधिक मात्रा में अथवा क्लोरीन की सतत प्राप्ति के लिये गैस सिलिंडर उपयुक्त होते हैं।

आक्सीजन अथवा हवा के साथ हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का गैसीय मिश्रण तप्त उत्प्रेरक (तांबे के क्लोराइड) पर प्रवाहित करने पर क्लोरीन मुक्त होता है

$$4\,HCl + O_2 = 2H_2O + 2Cl_2$$
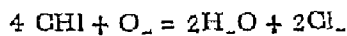
क्लोरीन के उत्पादन की डीकन (Deacon) विधि इसी क्रिया पर आधारित है।

क्लोरीन के औद्योगिक उत्पादन के लिये प्रारंभिक विधियों में मुख्यतया हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के आक्सीकरण का ही उपयोग हुआ है। साधारण नमक तथा सांद्र गंधक के अम्ल से प्राप्त हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से सीधे मैंगनीज डाइआक्साइड के खनिज पाइरोलुसाइट (Pyrolusite) द्वारा अभिक्रिया में क्लोरीन प्राप्त होती है

$$2NaCl + 2H_2SO_4 + MnO_2 = Na_2SO_4 + MnSO_4 + Cl_2 + 2H_2O$$
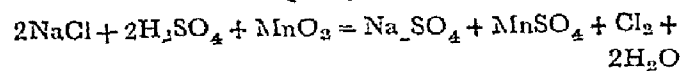
लब्लां (Leblanc) की क्षार बनाने की विधि के विकास से क्लोरीन के उत्पादन में विशेष सहायता मिली, क्योंकि हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का, जो इस विधि में उपजात के रूप में प्राप्त होता है, क्लोरीन तैयार करने के उद्योग में उचित उपयोग हुआ। इस विधि की मुख्य कठिनाई मैंगनीज डाइ-आक्साइड का खर्च होना था, जिसके उपयोगी रूप में पुनः-प्राप्ति के लिये आगे चलकर चूने के दूध के प्रयोग की वेल्डन (Weldon) विधि अपनाई गई।

हाइड्रोक्लोरिक अम्ल पर हवा के आक्सिजन की क्रिया, विशेषकर तांबे के क्लोराइड जैसे उत्प्रेरकों की उप[illegible] थक उपयोगी हुई। डीकन की इस विधि में दो कठिनाइयाँ [illegible] सेनि[illegible] अथवा गंधक के यौगिकों द्वारा उत्प्रेरक का निष्क्रि[illegible] [illegible]रीन का दूसरी गैसों से मिश्रित रहना। [illegible] [illegible]क अम्ल गैस, जलवाष्प तथा प्रयुक्त हव[illegible] [illegible] के लिये क्रिया के पहले [illegible] गई [illegible] [illegible]रीन में प्रवाहित [illegible]

उपयोग विद्युत्-डाइनेमो-मशीन का अधिक विस्तार होने के बाद ही हुआ। इस समय तो औद्योगिक आवश्यकता का लगभग सभी क्लोरीन इसी विद्युद्विश्लेषण की विधि द्वारा प्राप्त होता है। इसके लिये अनेक प्रकार के सेल बने हैं।

कास्टनर-केलनर सेल (Castner Kellner-Cell)—पूरा सेल तीन भागों में इस प्रकार विभाजित रहता है जिससे विविध उपयुक्त वस्तुएँ प्रत्यक्ष संपर्क में आ सकें। सेल के पेंदे में रखे पारे से, जो तीनों भागों तक
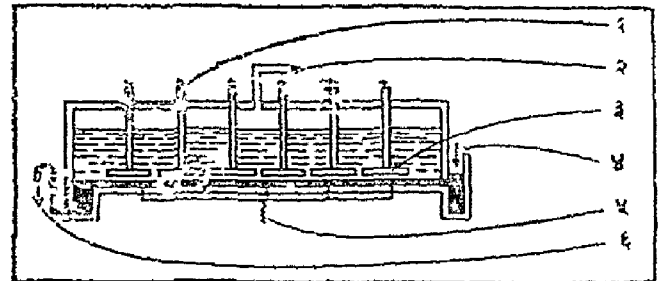
चित्र १. पारद के सेल का सिद्धांत

१ कार्बन धनाग्रों से संबंध, २ क्लोरीन के निकलने का मार्ग, ३ कार्बन धनाग्र, ४ पारद का प्रवेश, ५ पारद ऋणाग्र से संबंध, ६ सरस के निकलने का मार्ग।

एक यांत्रिक युक्ति के कारण सेल के एक सिरे से पारद प्रवेश करता है। सेल के भीतर नमक का विलयन (जिसका प्रवेश तथा निष्क्रमण दिखाया नहीं गया है) उसी दिशा में बहता है जिसमें पारद। विद्युद्विश्लेषण द्वारा उत्पन्न पारद तथा सोडियम का सरस, सेल के बाहर, एक अन्य कोष्ठ में जाता है, जहाँ वह जल के संपर्क में आता है। सोडियम निकल जाने के पश्चात् पारद सेल में पुनः आ जाता है और ऊपर का क्रम फिर चालू हो जाता है।

फैला रहता है, होकर ही संपर्क संभव होता है। नमक के विलयन में ग्रैफाइट के धनाग्र तथा दूसरे भाग में पानी अथवा सोडियम हाइड्राक्साइड, लोहे के ऋणाग्र सहित, रहता है। सेल के पारे को, जो विद्युदवरोधक द्वारा ऋणाग्र से जुड़ा रहता है, उत्केंद्रीय (eccentric) पहिया अथवा हवा द्वारा हिलाते रहने से उन्मुक्त सोडियम का प्रवाह संभव होता है, जिससे सोडियम दूसरे भाग में आकर सोडियम हाइड्राक्साइड बना सके।

दूसरे प्रकार के मुख्य सेल ऐसबेस्टस डायफ्राम (asbestos diaphragm) का प्रयोग करते हैं। इनमें अति प्रसिद्ध गिब्स (Gibbs), ऐलेन-मूर (Allen-moore) तथा नेलसन (Nelson) के सेल हैं। गिब्स सेल में ग्रैफाइट का धनाग्र ऐसबेस्टस के डायफ्राम द्वारा बेलनाकार तथा सछिद्र लोहे के ऋणाग्र से पृथक् होता है। इसमें सोडियम हाइड्राक्साइड बहुत शुद्ध नहीं प्राप्त होता।

पिघले हुए सोडियम क्लोराइड के विद्युद्विश्लेषण से क्लोरीन तथा सोडियम प्राप्त करने की विधि पर इधर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है।

क्लोरीन हरे-पीले रंग की तीव्र गंधयुक्त गैस है और बहुत कम मात्रा में होने पर भी अपनी तीखी और विशेष गंध द्वारा पहिचानी जा सकती है। यह विषैली गैस है। इसमें श्वास लेने से श्लेष्मा झिल्ली (Mucous-Membrane) तथा फेफड़े तुरत आक्रांत होते हैं। इस भारी गैस का आपेक्षिक घनत्व २.२८६ (आक्सीजन १)। पानी में यह विलेय है। आयतन में तिगुना से अधिक १०° सें० पर घुल जाता है। ताप बढ़ने से विलेयता घटती है। जलीय विलयन को क्लोरीन जल कहते हैं। आरंभ में क्लोरीन जल हलके हरे पीले रंग का रहता है, पर रख देने पर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल बनने से रंगहीन हो जाता है। संतृप्त विलयन

से ठंढा करने पर क्लोरीन हाइड्रेट के मणिभ प्राप्त होते हैं। अन्य द्रवों में भी यह घुलता है, परंतु सोडियम क्लोराइड के जलीय विलयन में विलेयता कम है। इसका उपयोग गैस के इकट्ठा करने में किया जाता है।
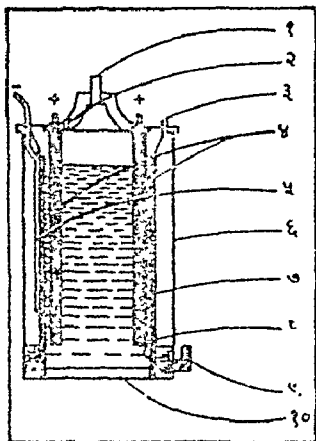
चित्र २. बेलनाकार तनुपटवाला सेल

१. क्लोरीन के निकलने का मार्ग; २. नमक के विलयन का प्रवेश; ३. हाइड्रोजन का निकास मार्ग; ४. धनाग्र; ५. ऋणाग्र से विद्युतीय संबंध; ६. वाह्य पात्र; ७. छिद्रित बेलनाकार ऋणाग्र; ८. बेलनाकार तनुपट; ९. दाहक सोडे का निकास मार्ग तथा १०. सेल का आधार। छिद्रित ऋणाग्र पर उन्मुक्त सोडियम की नमक के विलयन के साथ अभिक्रिया होती है, जिससे दाहक सोडा तथा हाइड्रोजन बनता है। कार्बन धनाग्रों पर क्लोरीन उन्मुक्त होती है।

क्लोरीन का द्रवीकरण सरलता से होता है (क्रांतिक ताप १४४° सें० तथा दवाव ७६·१ वायुमंडलीय है)। द्रव क्लोरीन पीला होता है, और अधिक ठंढा करने से पीला ठोस रूप प्राप्त होता है। द्रव का घनत्व –३३·६° सें० पर १·५०७ ग्राम घ० सें० है। क्लोरीन का द्रवणांक –१०३·५° सें० तथा क्वथनांक –३४·६° सें० हैं। क्लोरीन गैस बहुत से तत्वों से क्रिया करती है। इनमें धात्विक तथा अधात्विक दोनों ही हैं। कुछ में तो इतनी ऊष्मा निकलती है कि वस्तुएँ जल उठती हैं। ऐंटिमनी या आर्सेनिक के चूर्ण तथा फास्फोरस की इसी प्रकार क्रिया होती है। ताँबा, लोहा, सीसा, वंग इत्यादि भी क्लोरीन से संयोग कर तत्संबंधी क्लोराइड बनाते हैं। धातुओं से होनेवाली इन क्रियाओं में जलवाष्प की उपस्थिति तथा धातु की स्थिति (चूर्ण अथवा ढेर) विशेष महत्वपूर्ण होती है। यद्यपि हाइड्रोजन तथा क्लोरीन गैस का सूखा मिश्रण अँधेरे में बहुत समय तक रखा जा सकता है, तथापि प्रकाश या गर्मी मिलने पर धड़ाके के साथ क्रिया होती है।

बहुत से रासायनिक यौगिकों, जैसे सल्फर डाइआक्साइड, कार्बन मोनोक्साइड, फास्फोरस ट्राइक्लोराइड इत्यादि से अकेले अथवा उत्प्रेरक की उपस्थिति में क्रिया होती है। बुझे चूने से क्लोरीन संयुक्त होकर ब्लीचिंग पाउडर बनाता है। कार्बनिक यौगिकों से भी क्लोरीन की क्रिया होती है, जिससे प्रतिस्थापक या योगशील यौगिक प्राप्त होते हैं। तारपीन से भीगा कागज क्लोरीन में जल उठता है।

क्लोरीन विरंजक होता है। वस्त्र, कागज, तेल इत्यादि का रंग हटाने और उन्हें परिष्कृत करने मे प्रयुक्त होता है। यह कृमिनाशक भी होता है। पेय पानी को जीवाणुरहित करने में इसका उपयोग व्यापक रूप से होता है। क्लोरीन से पानी का उपचार करने पर टायफायड से होनेवाली मृत्युसंख्या में बहुत कमी हो गई है। नालियों की सफाई में भी यह काम आता है।

क्लोरीन के अनेक कार्बनिक यौगिक, जैसे क्लोरोफार्म, कार्बन टेट्राक्लोराइड आदि ओषधियों में काम आते हैं। धातुओं के निर्माण में भी क्लोरीन का महत्वपूर्ण योग है। हाइड्रोजन के साथ इसका यौगिक हाइड्रोजन क्लोराइड बनता है। हाइड्रोजन क्लोराइड गैसीय पदार्थ है, जो जल में बहुत विलेय होता है। इस जलीय विलयन को ही साधारणतया हाइड्रोक्लोरिक अम्ल कहते हैं। यह बहुमूल्य अभिकर्मक है और अनेक औद्योगिक पदार्थों के निर्माण मे प्रयुक्त होता है। क्लोरीन आक्सीयौगिक भी बनता है पर ये आक्सीयौगिक अपेक्षया अस्थायी होते है। क्लोरीन के आक्सीअम्ल महत्व के हैं और वे तथा उनके कुछ लवण बड़े औद्योगिक महत्व के हैं।

सं०ग्रं०—जे० एफ० थॉर्प और एम० ए० ह्वाइटले : थॉर्प्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री; जे० आर० पारटिंगटन : ए टेक्स्ट बुक ऑव इनआर्गैनिक केमिस्ट्री (१९५०)। (वि० वा० प्र०)

क्लोरोफ़ार्म (ट्राइक्लोरोमेथेन, Chloroform, $CHCl_3$) सन् १८३१ मे लीबिख (Liebig) और सोवेरियन (Souberian) ने क्लोरोफार्म का आविष्कार किया पर इसके संमोहक गुणों की पहचान सिंपसन (Simpson) ने १८४६ ई० मे की।

यह भारी (१७° सें० ताप पर आपेक्षिक घनत्व १·४९१) रंगहीन, अज्वलनशील तथा मीठी गंधवाला द्रव है, जिसका क्वथनांक ६२° सें० है। यह अल्प जलविलेय है, पर ऐलकोहल और ईथर मे शीघ्र ही विलेय है। यह अच्छा संमोहक है और कुछ देर के लिये अचेतना पैदा कर देता है। अतः यह शल्यचिकित्सा में उपयोग होता है।

बड़े पैमाने पर एथिल ऐलकोहल और विरंजन चूर्ण (Bleaching Powder) के आसवन से प्राप्त होता है। समझा जाता है कि पहले ऐलकोहल आक्सीकृत होकर ऐलटीहाइड बनता है और क्लोरीन द्वारा प्रतिस्थापित होकर क्लोरल मे परिवर्तित होता है। यह आगे चूने की उपस्थिति में फार्मिक अम्ल और क्लोरोफार्म देता है। एथिल ऐलकोहल के स्थान पर ऐसीटोन का भी उपयोग हो सकता है। अमरीका में अधिक क्लोरोफार्म कार्बन टेट्राक्लोराइड के अवकरण से प्राप्त होता है। शुद्ध क्लोरोफार्म क्लोरल हाइड्रेट को क्षार के साथ गर्म करके प्राप्त होता है।

यह प्रकाश और हवा से विघटित होकर क्लोरीन, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल तथा एक विषैली गैस, कार्बोनिल क्लोराइड, उत्पन्न करता है। ओषधि में प्रयुक्त होनेवाले क्लोरोफार्म मे एक प्रतिशत ऐलकोहल मिलाते हैं और रंगीन बोतलों में गरदन तक भरकर रखते हैं।

(शि० मो० व०)

क्वांटम यांत्रिकी क्वांटम लैटिन शब्द है। इसका अर्थ विविक्त भाग अथवा कण है। क्वांटम यांत्रिकी के अंतर्गत विश्व के गुणों में विद्यमान विविक्ति का अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दों में इस विज्ञान के अंतर्गत पदार्थ के अति सूक्ष्म कणों (परमाणु, न्यूक्लियस तथा इलेक्ट्रान प्रोटॉन आदि सभी मौलिक कणों) के आचरण और उनके उपयोग के संबंध में अध्ययन किया जाता है। इसकी नींव सन् १९०० में मैक्स प्लांक (Max Planck) ने डाली। उस समय लोगों का विचार था कि भौतिकी में जितने नियमों का आविष्कार होना था, हो चुका, और अब इन नियमों को सब जगह लागू भर करना है। किंतु कुछ समस्याएँ ऐसी थीं जो तब तक सुलझ नही पाई थीं। उनमें से एक थी किसी गरम काले पिंड (body) के सतत वर्णक्रम (Continuoms spectrun) के भिन्न भिन्न भागों की ऊर्जा के वितरण (distribution) की व्याख्या करना। यदि हम इस वर्णक्रम के भिन्न भिन्न भागो की आवृत्ति (frequ-ncy) न्यू (ν) और उनकी तीव्रता (Intensity) के बीच के संबंध देखें तो परीक्षणों का फल है कि बहुत थोड़ी आवृत्ति के लिये तीव्रता शून्य होती है, फिर बढ़ती जाती है। ताप के अनुसार एक आवृत्ति पर महत्तम हो जाती है, तथा और अधिक आवृत्तियों पर फिर

कम हो जाती है (चित्र १)। यह अंतिम बात चिरसमत सिद्धात (classical theory) से बिल्कुल समझ मे नही आती। इसे
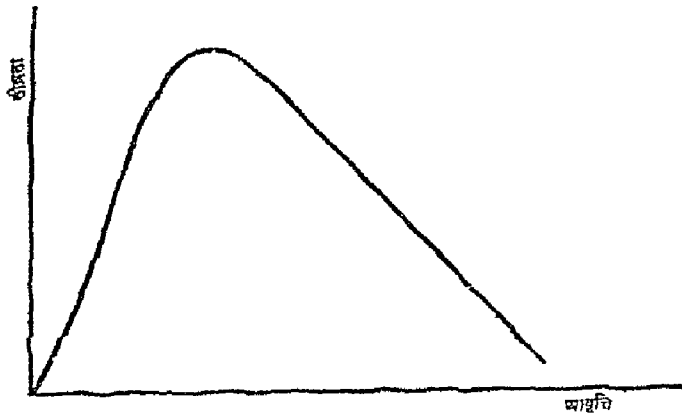
चित्र १

समझने के लिये प्लाक ने सुझाव रखा कि यदि हम मान ले कि प्रकाश उत्सर्जन (emission) करनेवाले द्रव्यकणो की गति सतत (continuous) नही किंतु केवल ऐसी ही हो सकती है जिसमे उनकी ऊर्जा छुट्टक (discrete) रहे तो हम काले पिंड के वर्णक्रम की व्याख्या कर सकते है। इस आधार पर प्लाक ने विकिरण (रेडिएशन, radiation) तीव्रता के लिये जो सूत्र निकाला वह परीक्षणो के बिलकुल अनुकूल है।

प्लाक का यह प्रस्ताव भौतिकी के लिये बडा क्रांतिकारी था। वह तत्कालीन यान्त्रिकी सिद्धात, अथवा विद्युच्चुबकीय सिद्धात, के भी अनुकूल न था। पुरातन यान्त्रिकी मे ऐसा कोई नियम न था जो द्रव्यकणो की गति सतत होने से रोकता। यदि द्रव्यकण की गति की ऊर्जा सतत न होकर छुट्टक है तो उनमे निकलनेवाले विकिरण की ऊर्जा भी छुट्टक होगी। दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ था कि विकिरण सतत रूप से नही होता बल्कि उसकी पोटलियाँ होती हैं। इन पोटलियो को हम विकिरण के 'कण' कह सकते हैं। इस बात को विद्युच्चुबकीय सिद्धात के आधार पर समझना कठिन था, क्योंकि मैक्सवेल (Maxwell) के समीकरणो के अनुसार विकिरण कणो मे नही वरन् तरगो मे चलता है।

चित्र २

प्रकाश-विद्युत्-प्रभाव (Photo electric effect)—पाँच वर्ष पश्चात् आइन्स्टाइन ने प्रकाशविद्युत् पर बडा महत्वपूर्ण लेख लिखा। यह देखा गया था कि कुछ धातुओं की सतह पर जब लघुतरगी प्रकाश पडता है तो वे सतहें धनात्मक आवेशयुक्त हो जाती हैं और उनमे से कुछ ऋणात्मक (Negative) इलेक्ट्रान निकलने लगते है। इन इलेक्ट्रानो की ऊर्जा आपाती (incident) विकिरण की आवृत्ति पर ही निर्भर करती है, उसकी तीव्रता पर नही। इलेक्ट्रानो की सख्या विकिरण की तीव्रता के अनुपात मे बढती जाती है। ये प्रयोगात्मक परिणाम प्रकाश के तरग-सिद्धात के विरुद्ध है। तरग की ऊर्जा उसकी तीव्रता पर निर्भर होती है, इसलिये तरगसिद्धात के अनुसार विकिरण यदि अधिक तीव्र हो तो उत्सर्जित इलेक्ट्रानो की ऊर्जा भी अधिक होनी चाहिए। इस प्रतिकूलता को दूर करने के लिये आइन्स्टाइन ने सुझाव दिया कि प्रकाश कण की तरह आचरण करता है और किसी एक प्रकाशकण की ऊर्जा E, उस प्रकाश की आवृत्ति, v, पर

$$E = h\,v \qquad (1)$$

सबध के अनुसार निर्भर रहती है। यहाँ h एक अचर (constant) है, जिसके घात (dimensions) कोणिक सवेग (angular momentum) के है। इसका सख्यामान $(6\ 624_2 \pm 0\ 002_4) \times 10^{-27}$ अर्ग सेकड (erg sec) है। यह वही अचर है जिसका पहिले प्लाक ने समावेश किया था। इसे प्लाक का अचर कहते हैं।

कापटन प्रभाव (Compton effect)—प्रकाश के कणसिद्धात का प्रबल समर्थन सन् १९२२ मे कापटन के प्रभाव से हुआ। कापटन ने पैरेफिन (Paraffin) का एक टुकडा एक्सरेओ के सामने रखा और विभिन्न दिशाओ मे उससे प्रकीर्णित (scattered) एक्सरेओ की आवृत्ति को नापा (देखें चित्र २)। उसने देखा कि आपाती प्रकाश के साथ ९०° से कम कोण बनानेवाली दिशाओ मे प्रकीर्ण विकिरण की आवृत्ति आपाती विकिरण की आवृत्ति से कम होती है। इसकी व्याख्या तरगसिद्धात से नही की जा सकती। किंतु यदि हम यह मान लें कि विकिरण कण की तरह आचरण करता है तो यह बात सरलता से समझ मे आ सकती है। यदि ऐसा हो तो पैरैफिन के इलेक्ट्रानो से विकिरण की टक्कर ऐसी ही है जैसी एक स्थित गेंद से दूसरी गेंद की। जिस प्रकार इस स्थिति मे दूसरी गेंद की ऊर्जा कुछ कम हो जायगी और पहली गेंद मे पहुँच जायगी, उसी प्रकार विकिरण की ऊर्जा (जो यहाँ दूसरी गेंद के समान है) प्रकीर्णित होने के बाद कुछ घट जाती है और शेष ऊर्जा पैरेफिन के इलेक्ट्रानो को (जो पहली गेंद के समान है) गति देने मे लग जाती है। अतएव समीकरण (१) के अनुसार प्रकीर्णित विकिरण की आवृत्ति आपाती विकिरण की आवृत्ति से कम होगी।

द ब्रॉगली की परिकल्पना (de Broglie's hypothesis)—सन् १९२४ मे द ब्रॉगली (de Broglie) ने सुझाव रखा कि जिस प्रकार प्रकाश की तरगें कण की तरह आचरण करती हैं उसी प्रकार कण भी तरगो की तरह आचरण करता है। यदि किसी कण की ऊर्जा E है और उसका सवेग (मोमेंटम, momentum) x, y, z, दिशाओं मे p_x, p_y, p_z, है तो द ब्रॉगली के सिद्धात के अनुसार उस कण की सगी तरगो की आवृत्ति $\frac{E}{h}$ होगी { समी० (1) से तुलना कीजिए } और तरगदैर्घ्य (weve length) λ तीनो दिशाओ मे h/p_x, h/p_y, h/p_z, होगा

$$v = \frac{E}{h} \qquad (2)$$

$$\lambda_x = h/p_x,\ \lambda_y = h/p_y,\ \lambda_z = h/p_z \qquad (3)$$

यदि हम तरगदैर्घ्य की जगह उसके व्युत्क्रम (wave number), K का उपयोग करें

$$K_x = 1/\lambda_x,\ K_y = 1/\lambda_y,\ K_z = 1/\lambda_z \qquad (4)$$

तो (3) को हम इस प्रकार लिख सकते हैं

$$K_x = p_x/h,\ K_y = p_y/h,\ K_z = p_z/h, \qquad (5)$$

जिस प्रकार v से ज्ञात होता है कि एक सेकड मे कितने कपन (vibrations) होते हैं उसी प्रकार

$$K = \sqrt{K_x^2 + K_y^2 + K_z^2}$$

से पता चलता है कि एक सेंटीमीटर मे कितने तरगदैर्घ्य है।

[$(\lambda_x, \lambda_y, \lambda_z)$ एकदिष्ट (vector) नहीं है, पर (K_x, K_y, K_z) है। इसलिये λ का परिमाण (magnitude) $\sqrt{\lambda^2_x + \lambda^2_y + \lambda^2_z}$ नहीं प्रत्युत

$$\frac{1}{\sqrt{\frac{1}{\lambda^2_x} + \frac{1}{\lambda^2_y} + \frac{1}{\lambda^2_z}}}$$ है।]

काल (time) और आकाश (space) की यह अनुरूपता (correspondence) आइन्स्टाइन के आपेक्षिकता (relativity) सिद्धांत मे संगत है।

द ब्रॉगली की परिकल्पना का प्रयोगात्मक सत्यापन १९२७ ई० मे डेविसन (Davisson) और गेर्मर (Germer) के परीक्षणों से हुआ। उन्होने देखा कि यदि इलेक्ट्रानो को धातुओं से परावर्तित (reflect) किया जाय तो उनसे उसी प्रकार का विवर्तन प्रतिरूप (diffraction pattern) बनता है जैसा एक्सरे से। क्योकि विवर्तन ही तरंगो का विशेष लक्षण है, अत. इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि इलेक्ट्रानों के साथ तरंगों का संमेलन करना अनिवार्य है।

आपेक्षिकतारहित (nonrelativistic) यात्रिकी मे किसी कण की ऊर्जा और उसके संवेग मे यह संबध होता है :

$$E = \frac{p^2}{2m} \tag{6}$$

यहाँ m उस कण की संहति (mass) है। इसलिये उसके सभी तरग की आवृत्ति और व्युत्क्रम मे (2) और (5) के अनुसार यह संबंध होगा :

$$\upsilon = \frac{hK^2}{2m} \tag{7}$$

श्रेडिंगर तरंगें (Schroedinger waves)—द ब्रॉगली के सुझाव को श्रेडिंगर ने सन् १९२६ मे गणितीय रूप दिया। प्रकाशतरंगों के निरूपण के लिये मैक्सवेल के अवकल समीकरणों (differential equations) से लोग पहले ही परिचित थे। ध्वनि (sound) तरंगो के निरूपण मे भी अवकल समीकरण प्रयुक्त होते है। इनका रूप

$$\left(\frac{1}{v^2} \frac{\partial^2}{\partial t^2} - \nabla^2\right)\psi = 0 \tag{8}$$

की तरह होता है। प्रकाश के लिये ψ अदिश या सदिश विभव (scalar or vector potential) हो सकता है; ध्वनि के लिये वह अपने माध्यम (medium) का विस्थापन (displacement) हो सकता है, इत्यादि। v तरंग का वेग है और ∇^2 का अर्थ है :

$$\nabla^2\psi = \frac{\partial^2\psi}{\partial x^2} + \frac{\partial^2\psi}{\partial y^2} + \frac{\partial^2\psi}{\partial z^2} \quad \text{आयताकारनिर्देशांक (cartesian coordinates)} \tag{9a}$$

$$= \frac{1}{r}\frac{\partial^2}{\partial r^2}(r\psi) + \frac{1}{r^2\sin\theta}\frac{\partial}{\partial\theta}\left(\sin\frac{\partial\psi}{\partial\theta}\right) + \frac{1}{r^2\sin^2\theta}\frac{\partial^2\psi}{\partial\phi^2} \quad \text{ध्रुवीय निर्देशांक (polar coordinates)} \tag{9b}$$

यदि हम समीकरण (8) में

$$\psi \sim ei2\pi(Kr - \upsilon t) \tag{10}$$

रखें तो

$$\upsilon^2 = v^2K^2 \tag{11}$$

आ जाएगा। यह संबध आपेक्षिकतानुकूल (relativistic) यात्रिकी से मेल खा सकता है [समी० (50) और (51) से तुलना करें], किंतु आपेक्षिकतारहित (nonrelativistic) यात्रिकी के सबध (7) से मेल नही खाता। (10) से यह प्रत्यक्ष है कि संबंध (7) तभी आ सकता है कि जब (8) की जगह हम

$$i\frac{\partial\psi}{\partial t} + \frac{h}{4\pi m}\nabla^2\psi = 0 \tag{12}$$

लें। क्वांटम यांत्रिकी मे h, υ और K के स्थान पर प्राय: ħ, ω और K का प्रयोग सरल रहता है, जो इस प्रकार संबंधित हैं :

$$h = 2\pi\hbar, \quad \omega = 2\pi\upsilon, \quad K = 2\pi K \tag{13}$$

अब से हम ħ, ω और K का ही प्रयोग करेंगे। समीकरण (12) को हम यों भी लिख सकते हैं :

$$i\hbar\frac{\partial\psi}{\partial t} = -\frac{\hbar^2}{2m}\nabla^2\psi \tag{14}$$

लिखने की यह विधि पहली विधि (12) से अधिक गंभीर है देखें समी० (45) और (46)।

समीकरण (६) तभी सत्य है जब कण मुक्त (free) हो। यदि उसपर कोई बाह्य बल (force) काम कर रहा है तो उसके कारण उत्पन्न स्थितिज ऊर्जा (potential energy), V, की भी हमे साथ मे गणना करनी पड़ेगी। तब संपूर्ण ऊर्जा, E, गतिज (kinetic) ऊर्जा और स्थितिज ऊर्जा का योग होगी :

$$E = \frac{p^2}{2m} + V \tag{15}$$

(14) मे हम गतिज ऊर्जा को गिन चुके है; V को भी संमिलित करने पर वह समीकरण निम्नलिखित हो जायगा :

$$i\hbar\frac{\partial\psi}{\partial t} = \left(-\frac{\hbar^2}{2m}\nabla^2 + V\right)\psi \tag{16}$$

इस विख्यात समीकरण का आविष्कार श्रेंडिगर ने किया था। ऊपर दिए हुए तर्क इस समीकरण को ग्राह्य बनाते हैं। ये तर्क इसकी उपपत्ति (proof) अथवा व्युत्पत्ति (derivation) नहीं है। वास्तव में इसकी उपपत्ति तो इससे निकाले हुए परिणाम हैं, जो परीक्षणों से मनोहर मेल खाते है।

बहुत सी घटनाएँ काल पर आश्रित नही होतीं, जैसे परमाणुओं (atoms) के ऊर्जासमतल (energy levels)। उनके लिये हम ψ की कालपरतंत्रता को ψ (t, X) के स्थान पर $\psi(X)e^{i\omega t}$ रखकर दूर कर सकते हैं। तब (16) हो जायगा :

$$\left(-\frac{\hbar^2}{2m}\nabla^2 + V\right)\psi = E\psi \tag{17}$$

जहाँ $E = \hbar\omega$. [(2) और (13) देखें]

यह सूक्ष्मांतरिक समीकरण अप्रगामी अवस्था (stationary state) का श्रेंडिगर समीकरण कहलाता है।

ψ का भौतिक अर्थ—समीकरण (16) से स्पष्ट है कि साधारणतया ψ संकुल (complex) होगा। ψ का सकुल सबद्ध (complex conjugate), φ, यह समीकरण मानेगा :

$$-i\hbar\frac{\partial\varphi}{\partial t} = \left(-\frac{\hbar^2}{2m}\nabla^2 + V\right)\varphi \tag{18}$$

यदि हम (16) को φ से और (18) को ψ से गुणा करे और दूसरे समीकरण मे से पहले को घटा दें तो हमे प्राप्त होगा :

$$\frac{\partial\rho}{\partial t} + \text{div}\, j = 0 \tag{19}$$

$$\text{जहाँ} \quad \rho = \varphi\psi \tag{20a}$$

$$\text{और} \quad j = \frac{i\hbar}{2m}\left(\psi \,\text{grad}\, \varphi - \varphi \,\text{grad}\, \psi\right) \tag{20b}$$

(19) जैसे समीकरणों से हम परिचित हैं। (19) को हम निरंतरता (continuity) समीकरण कह सकते हैं। ऐसे समीकरण द्रवगतिकी (hydrodynamics) मे भी आते है। ρ ऐसा है जैसे किसी वस्तु का घनत्व हो और j ऐसा है जैसे उसकी धारा का घनत्व हो। यदि

हम काफी बड़ा एक आयतन, τ, लें जिसमें हमारा कण सीमित रहता हो तो हम यह मान सकते हैं कि j का अभिलंब घटक (normal component) τ की सतह (surface) पर शून्य है, तब (19) से परिणाम निकलता है कि

$$\frac{d}{dt}\int_{\tau}\rho d\tau = 0 \qquad (21)$$

यह $\int_{\tau}\rho d\tau$ के लिये अविनाशिता (conservation) समीकरण है, क्योंकि इस राशि का मान (21) के अनुसार सदा एक ही रहता है। कण के आयतन τ में कहीं न कहीं होने की प्रायिकता एक ऐसी भौतिक राशि है जिससे हम ठीक इसी प्रकार का गुणधर्म (property) रखने की आशा करते हैं। अतएव $\rho d\tau$ को हम अपने कण के $d\tau$ आयतन में होने की प्रायिकता का समानुपाती मान सकते हैं। साधारणतया संपूर्ण आयतन में कण के कहीं न कहीं होने की प्रायिकता को हम इकाई रख सकते हैं

$$\int_{\tau}\rho d\tau = 1$$

या

$$\int_{\tau}\bar{\psi}\psi d\tau = 1 \qquad (22)$$

इस दशा में हम कह सकते हैं कि ψ प्रकृत (normalised) है। प्रकृत होने पर भी ψ में थोड़ी सी स्वच्छंदता रह जाती है, हम ψ को तब भी $e^{i\alpha}$ से गुणा कर सकते हैं जहाँ α कोई भी वास्तविक संख्या है। कला गुणनखंड (phase factor) की यह स्वच्छंदता क्वांटम यांत्रिकी में महत्वपूर्ण है। यहाँ इस कठिनाई का निर्देश असंगत न होगा कि कभी कभी (22) का बायाँ पक्ष अनंत (infinit) हो जाता है और ψ का प्रकृतिकरण असंभव हो जाता है। तब हम आपेक्षिक (relative) प्रायिकता ही ज्ञात कर सकते हैं। ['अनिश्चितता सिद्धांत' भी देखें]।

हाइड्रोजन का वर्णक्रम—यदि V के लिये हम उद्गम (origin) स्थित प्रोटान (proton) और (x, y, z) बिंदु पर स्थित इलेक्ट्रान के बीच कूलंब (Coulomb) ऊर्जा का प्रयोग करें,

$$V = -\frac{e^2}{r}, \quad r = \sqrt{x^2+y^2+z^2}$$

$-e$ = इलेक्ट्रान का आवेश

तो समीकरण (17) को हम हाइड्रोजन परमाणु की समस्या के लिये काम में ला सकते हैं। ψ के ऊपर हमें ये सीमा प्रतिबंध (boundary conditions) लगाने पड़ेंगे

जब $r \to \infty$, तब $\psi \to 0$, (23a)

जब $r \to 0$, तब $\psi \to r^n$, जहाँ $n > -1$, (23b)

ψ सब जगह एकमान (single valued) हो। (23c)

इनमें से पहले प्रतिबंध के अर्थ ये हैं कि इलेक्ट्रान को प्रोटान से अधिक दूर पाने की प्रायिकता बहुत कम होती जानी चाहिए। दूसरे प्रतिबंध की आवश्यकता का वर्णन थोड़ा पेंचीदा है, वह इसमें संबद्ध है कि यदि हम ψ को $\frac{1}{r^s}$, $s \geq 1$, रखें तो उद्गम के ऊपर वह समीकरण (17) का उल्लंघन करेगा। तीसरा प्रतिबंध, जो ψ की प्रायिकता में संबंध रखनेवाली व्याख्या पर निर्भर है, थोड़ा शिथिल किया जा सकता है। यह मानने की आवश्यकता नहीं कि ψ एकमान हो, केवल $\bar{\psi}\psi$ का एकमान होना पर्याप्त है। परंतु हाइड्रोजन परमाणु के लिये फल तभी ठीक आते हैं इस शिथिल प्रतिबंध का नहीं बल्कि (23c) का ही उपयोग किया जाय। पर (23c) को शिथिल कर सकने की यह संभावना बहुत महत्वपूर्ण है और आधे आवर्तन (spin) के कणों के विवरण के लिये आवश्यक है। प्रतिबंध (23a से 23c तक) तभी पूरे हो सकते हैं जब E कुछ विशेष छूटक मान (values), E_n, ले जहाँ

$$E_n = -\frac{R}{n^2} \qquad (24)$$

$$R = \frac{me^4}{\hbar^2}$$

$$n = 1, 2, 3, \ldots$$

(24) द्वारा दिए गए ऊर्जास्तल प्रयोगों के अनुकूल हैं। इन्हें सर्वप्रथम नील्स बोर (Niels Bohr) ने १९१३ ई० में बहुत सहज प्रतिरूप (modle) के आधार पर निकाला था। परंतु इस प्रतिरूप में बहुत सी बेमेल बातें थीं जो अस्पष्ट थीं। क्वांटमवाद ने उनको बिल्कुल नया आकार दे दिया, जिसमें बेमेल बातों को कोई जगह न रही।

अन्य उपयोग—श्रेडिंगर समीकरण (16) का बहुत जगह, न केवल परमाणु और अणु भौतिकी में, अपितु नाभिकीय (nuclear), मणिभ अवस्था तथा धातु सिद्धांतों इत्यादि के विस्तार में भी उपयोग हुआ है। इस अनेकानेक उपयोगों से अब श्रेडिंगर समीकरण (16) की सत्यता में संदेह नहीं रहा है। क्योंकि (16) का अनुरूप (corresponding) समीकरण (5) तभी सत्य है जब कण का वेग प्रकाश के वेग से बहुत कम हो, अतः (16) भी आपेक्षिकतारहित प्रदेश (region) में ही सत्य है। इस प्रदेश में (16) न केवल हाइड्रोजन परमाणु जैसी अप्रगामी अवस्था के लिये लागू है, बल्कि उससे प्राय अप्रगामी (quasistationary) तथा प्रकीर्णन (scattering) घटनाओं का भी वर्णन हो सकता है। श्रेडिंगर समीकरण के उपयोग पाठ्य पुस्तकों में दिए हुए हैं, जहाँ उनका विस्तृत विवरण मिल सकता है (Bohm 1951)।

प्रबंधिनी व्यवस्थापन और पुरातनवाद से अनुरूपता (Matrix formulation and correspondence with classical theory)—ऊपर हमने क्वांटमवाद को श्रेडिंगर के ढंग से व्यवस्थापित किया है, परंतु वास्तव में उससे पहले हाइज़ेनबर्ग (Heisenberg) ने सन् १९२५ में उसे एक और ही रीति से प्रस्तुत किया था। इस विधि को बॉर्न (Born), हाइज़ेनबर्ग, यॉर्दान (Jordan) तथा डिरैक (Dirac) ने और आगे उन्नत किया (Born, Heisenberg and Jordan 1925, Born and Jordan 1925, Dirac 1925, 1926 1958)। बाद में डिरैक और यॉर्दान ने यह भी प्रमाणित किया कि चाहे हम हाइज़ेनबर्ग की रीति अपनाएँ चाहे श्रेडिंगर की, प्रश्नों का उत्तर सदा एक ही आएगा (Dirac 1925 1926, Jordan 1926, Jordan and London 1926)। पर हाइज़ेनबर्ग की विधि अधिक गंभीर और व्यापक है और श्रेडिंगर समीकरण (16) उसकी केवल एक विशेष स्थिति है। श्रेडिंगर तथा हाइज़ेनबर्ग के व्यवस्थापनों की तुल्यता (equivalence) डिरैक के रूपांतर सिद्धांत (transformation theory) पर निर्धारित है। यह रूपांतर सिद्धांत आधुनिक क्वांटमवाद का मूलाधार है। इसकी चर्चा करने से पूर्व क्वांटम और पुरातन यांत्रिकी की अनुरूपता का अनुसंधान करना आवश्यक है।

गतिकी (dynamics) के सिद्धांतों के अनुसार यदि हमें किसी जगत् (system) का लैग्राजियन (Lagrangian) ज्ञात हो तो उस जगह के संबंध में हम सब कुछ जान सकते हैं। यह लैग्राजियन साधारणतया उस जगत् के व्यापक निर्देशांक (generalised coordinates) $q_1, q_2, \ldots, q_N$ और व्यापक वेग (generalised velocities) $\dot{q}_1, \dot{q}_2, \ldots \dot{q}_N$ पर निर्भर करता है। [बिंदु (dot) काल सूक्ष्मांतरिककरण निर्दिष्ट करता है]

$$L = L(q_1, q_2, \ldots, q_N, \dot{q}_1, \dot{q}_2, \ldots, \dot{q}_N) \qquad (25)$$

लैग्राजियन की सहायता से हम अपने जगत् का व्यापक संवेग (generalized momenta), p_r परिभाषित कर सकते हैं।

$$p_r = \frac{\partial L}{\partial \dot{q}_r}, \quad r = 1, 2, \ldots, N, \tag{26}$$

और हैमिल्टोनियन फलन (Hamiltonian function), H, भी समाविष्ट कर सकते हैं :

$$H = \sum_{r=1}^{N} p_r \dot{q}_r - L, \tag{27}$$

यदि हम H में से (26) की सहायता से वेग का निरसन (elimination) कर दें तो वह संवेग, p_r और निर्देशांक, q_r का फलन हो जायगा :

$$H = H(q_1, q_2, \ldots, q_N; p_1, p_2, \ldots, p_N) \tag{28}$$

और तब जगत् के गतिसमीकरण ये हो जायँगे :

$$\dot{q}_r = \frac{\partial H}{\partial p_r}, \tag{29a}$$

$$\dot{p}_r = -\frac{\partial H}{\partial q_r}, \quad r = 1, 2, \ldots\ldots, N \tag{29b}$$

लैग्रांजियन में परिणमन (variation) करते समय हम $q_1, \ldots, q_N$ को ही स्वतंत्र चर लेते हैं; फलत. $q_1, \ldots, q_N$ के परिणमन से वेगों के परिणमन $\delta\dot{q}_1, \ldots, \delta\dot{q}_N$, स्वयं निर्धारित हो जाते हैं। हैमिल्टोनियन व्यवस्थापन में $q_1, \ldots, q_N$ और $p_1, \ldots, p_N$ दोनों को स्वतंत्र माना जाता है, अतः $\delta q_1, \ldots, \delta q_N$ और $\delta p_1, \ldots, \delta p_N$ में कोई संबंध नहीं होता। समीकरण (29a) को प्राप्त करने में केवल संवेग की परिभाषा (26) और हैमिल्टोनियन परिभाषा (27) का प्रयोग होता है; अत. (29a) परिभाषा (26) के तुल्य होता। पर हैमिल्टोनियनवाद में (29a) को परिभाषा नहीं बल्कि गतिसमीकरण माना जाता है, उसी प्रकार जैसे (29b), जो लैग्रांजियन गतिसमीकरण

$$\dot{p}_r = \frac{\partial L}{\partial q_r} \tag{30}$$

के तुल्य है, गति समीकरण है। क्वांटमवाद में निर्देशांक और संवेग के साथ साथ नापने में अनिश्चितता उत्पन्न करने का मूल कारण हैमिल्टन सिद्धांत में q_r और p_r को एक समान बरतने की उपर्युक्त प्रणाली है।

अधिकतर L में काल प्रकट रूप से संबद्ध नहीं होता, तब हम H को जगत् की संपूर्ण ऊर्जा E कह सकते हैं :

$$H = E \tag{31}$$

$q_1, \ldots, q_N$ और $p_1, \ldots, p_N$ के स्थान पर हम और भी निर्देशांक, $Q_1, \ldots, Q_N$ और संवेग, P_1, P_2, P_N प्रयुक्त कर सकते हैं,

$$\left.\begin{aligned} Q_r &= Q_r(q_1, \ldots, q_N; p_1, \ldots, p_N) \\ P_r &= P_r(q_1, \ldots, q_N; p_1, \ldots, p_N) \end{aligned}\right\} \tag{32}$$

तब, साधारणतया Q_r और P_r के गतिसमीकरणों का रूप (29a, b) से भिन्न हो जायगा। किंतु यदि तब भी गतिसमीकरणों का रूप वही रहे, अर्थात् पुनः

$$\dot{Q}_r = \frac{\partial H}{\partial P_r}$$

$$\text{और} \quad \dot{P}_r = -\frac{\partial H}{\partial Q_r}$$

सत्य हों, तो ऐसे रूपांतरों (transformations) को हम 'नियमानुसारी (canonical) रूपांतर' कहते हैं। Q_r और P_r अथवा q_r और p_r, नियमानुसार संबद्ध (canonically conjugate) चर कहलाते हैं। ऐसे रूपांतरों की शर्तें हम पायसाँ कोष्ठकों (Poisson brackets) के आधार पर व्यक्त कर सकते हैं। यदि f और g निर्देशांक $q_1 \cdots q_N$ और संवेग $p_1, \cdots, p_N$ के कोई फलन हों तो उनके पायसाँ कोष्ठक, (f, g), की इस प्रकार परिभाषा की जा सकती है :

$$(f, g) = \sum_{r=1}^{N} \left(\frac{\partial f}{\partial q_r} \frac{\partial g}{\partial p_r} - \frac{\partial g}{\partial q_r} \frac{\partial f}{\partial p_r} \right), \tag{33}$$

और तब नियमानुसारी रूपांतरों की शर्तें हैं :

$$(Q_r, Q_s) = 0, \tag{34a}$$
$$(P_r, P_s) = 0, \tag{24b}$$
$$(Q_r, P_s) = \delta rs, \tag{34c}$$

जहाँ

$$\delta_{rs} = \begin{cases} 0 \text{ यदि } r \neq s \\ 1 \text{ यदि } r = s. \end{cases} \tag{35}$$

यदि हम (34a—c) को मानकर चलें तो f और g का पायसाँ कोष्ठक इस बात पर निर्भर नहीं करता कि (33) में हम $q_1, \cdots, q_N, p_1, \cdots, p_N$ के प्रति अवकलन (differentiation) करें या $Q_1, \ldots, Q_n, P_1, \ldots, P_N$ के प्रति।

हैमिल्टोनियन सिद्धांत क्वांटमवाद का अभिन्न आधार है। हम क्वांटम यांत्रिकी में फिर वही हैमिल्टोनियन लेते हैं जो (28) में है; पर $q_1, \ldots, q_N, p_1, \ldots, p_N$ को साधारण संख्या समझने की अपेक्षा अब हम उन्हें कारक (operators) समझते हैं। साधारणतया कारकों का परस्पर दिक्परिवर्तन (commutation) नहीं होता। उदाहरण के लिये यदि एक कारक का अर्थ किसी फलन f को x से गुणा करने का हो और दूसरे का x के प्रति अवकलन का, तो यदि इसी क्रम में ये दोनों क्रियाएँ की जायँ तो इनका फल होगा

$$\frac{d}{dx}(xf) = f + x\frac{df}{dx}, \tag{36}$$

↑ ↑

दूसरा कारक पहला कारक

किंतु यदि हम पहले अवकलन करें और फिर x से गुणा करें तो फल होगा :

$$x\left(\frac{d}{dx} f\right) = x\frac{df}{dx} \tag{37}$$

↑ ↑

दूसरा कारक पहला कारक

स्पष्ट है कि (36) और (37) बराबर नहीं हैं; वास्तव में

$$\left(x \frac{d}{dx} - \frac{d}{dx} x \right) f = -f \tag{38}$$

यदि A और B दो कारकों के दिक्परिवर्तक (commutator) को हम गुरु कोष्ठकों से निर्दिष्ट करें

$$[A, B] = AB - AB \tag{39}$$

तो (38) को हम इस प्रकार लिख सकते हैं :

$$\left[x, \frac{d}{dx} \right] = x\frac{d}{dx} - \frac{d}{dx} = -1 \tag{40}$$

क्योंकि क्वांटमवाद में q_r और p_r कारक हैं, अतः वे दिक्परिवर्तित नहीं होते। इसलिये यह समस्याप्रद रहता है कि पुरातनवाद से क्वांटमवाद में जाते समय कौन से गुणनखंड (factors) पहले और कौन से बाद में लिखे जायँ। सौभाग्यवश सामान्य उपयोगों में यह शंका अधिक कठिनाई नहीं उत्पन्न करती।

यदि (34a—c) के धनुःकोष्ठकों को हम (39) के गुरु कोष्ठकों के किसी गुणज (multiple) में बदल दें, तो क्वांटमवाद में इन पायसाँ कोष्ठक संबंधों को जैसे का तैसा ले सकते हैं। इस अचर गुणनखंड को परिमाणों में अनुकूलता लाने के लिये $\frac{1}{i\hbar}$ रखना आवश्यक है :

$$(A,B) \rightarrow \frac{1}{i\hbar} [A,B] \qquad (41)$$

यह प्रतिस्थापन न्यायसगत है क्योकि पायसाँ कोष्ठको के सभी बीजगणितीय (algebraic) सबध,

$$[f,g] = -[g,f]$$
$$[f,c] = 0 \qquad (c = \text{अचर})$$
$$[f_1 + f_2, g] = [f_1, g] + [f_2, g]$$
$$[f, g_1 + g_2] = [f, g_1] + [f, g_2]$$
$$[f_1 f_2, g] = [f_1, g] f_2 + f_1 [f_2, g]$$
$$[f, g_1 g_2] = [f, g_1] g_2 + g_1 [f, g_2]$$
$$[f, [g, h]] + [g, [h, f]] + [h, [f,g]] = 0,$$

दिक्परिवर्तको के लिये भी सत्य है। अब (34a–c) के स्थान पर लिख सकते है

$$[Q_r, Q_s] = 0 \qquad (42a)$$
$$[P_r, P_s] = 0 \qquad (42b)$$
$$[Q_r, P_s] = i\hbar\delta_{rs} \qquad (42c)$$
$$r, s = 1, \ldots, N$$

यदि (42c) की हम (10) से तुलना करे तो स्पष्ट है कि निम्नलिखित प्रतिस्थापन सभव है

$$P_s = -i\hbar \frac{\partial}{\partial Q_s} \qquad (43)$$
$$S = 1, \ldots, N$$

यहाँ हम $Q_1 \ldots Q_N$ को साधारण सख्या लेते है, किंतु $P_1, \ldots P_N$ को अवकलन कारक। प्रत्यक्ष है कि यह प्रतिस्थापन (42a–c) मे प्रयुक्त कारको की एक विशेष स्थिति (special case) है।

क्वाटम यान्त्रिकी से किसी समस्या को हल करने की विधि का अब हम इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं हमे ऐसी प्रवघनियाँ $Q_1, \ldots Q_N$ तथा $P_1, \ldots P_N$ मालूम करनी है जो एक तो (42a–c) सबधो को माने और दूसरे H को विकर्ण (diagonal) बना दे। यदि हम ऐसा करने मे सफल हो जायँ तो H के विकर्ण अवयव (elements) हमे उस जगत् के भिन्न भिन्न ऊर्जासमतल दे देंगे। Q_r और P_r के अवयवो की सहायता से उस जगत् के विषय मे हम प्राय सक्रमण (transition) प्रायिकताएँ जैसी और भी सूचनाएँ ज्ञात कर सकते है।

इस सबध मे कुछ बातें निर्देश योग्य है। उपर्युक्त पुरातनवाद से क्वाटमवाद प्राप्त करने की विधि बहुत व्यापक लगती है, परतु वास्तव मे वह तभी सफल होती है जब $q_1, \ldots, q_N$ के लिये आयताकार निर्देशाक उपयोग किए जायें। सब A और B फलना के लिये अनुरूपता (41) भी सत्य नही है। पुन Q_r P_r गतिकी चरो के लिये हमे न केवल रैखात्मक (linear) किंतु हर्मिटीय (Hermitean) कारक व्यवहार करने चाहिए, जिससे उनके विशेष मान (eigenvalues) वास्तविक आएँ।

कालाश्रित श्रोडिंगर समीकरण निकालने के लिये इसपर ध्यान रखना चाहिए कि t और – H आपस मे नियमानुसार सबद्ध चर है। अत उनका दिक्परिवर्तक भी (42c) की तरह का होना चाहिए

$$[t, -H] = i\hbar$$

इससे स्पष्ट है कि हम (43) के सदृश H को $i\hbar \frac{\partial}{\partial t}$ से प्रतिस्थापित कर सकते हैं

$$H = i\hbar \frac{\partial}{\partial t} \qquad (44)$$

या
$$i\hbar \frac{\partial\psi}{\partial t} = H\psi, \qquad (45)$$

जहाँ ψ, t तथा x का कोई फलन है और दाहिनी ओर H कारक q और p का फलन है। यदि हम

$$H = \frac{p^2}{2m} + V \qquad (46)$$

लिखें और P_r को $-i\hbar\frac{\partial}{\partial x_r}$ से प्रतिस्थापित कर दे [(43) देखे) तो समीकरण (45) और (46) से श्रोडिंगर समीकरण आ जायगा। पर (45) मे (46) से भिन्न अथवा जटिल हैमिल्टोनियन पदसहति (expression) लेना भी सभव है जो समीकरण (16) के हमारे पिछले व्यवस्थापन से विदित नही था.

जिस प्रकार पुरातन यान्त्रिकी मे नियमानुसारी रूपातर सभव है, उसी प्रकार क्वाटम यान्त्रिकी मे भी हम ऐकिक (unitary) रूपातर कर सकते है। यदि U कोई ऐकिक प्रवघनी हो, अर्थात्

$$U^* = U^{-1}$$

जहाँ * हर्मिटीय सबद्ध प्रवघनी (Hermitean conjugate matrix) सूचित करता है, तो q, p, H इत्यादि गतिकी चरो के स्थान पर हम

$$q' = UqU^{-1}, \quad p' = UpU^{-1}, \quad H' = UHU^{-1} \qquad (48)$$

इत्यादि का भी उपयोग कर सकते है, बशर्ते ψ की जगह हम ψ' बरतें, जहाँ

$$\psi' = U\psi \qquad (49)$$

ऐकिक रूपातरो की इस सभावना का क्वाटमवाद मे अत्यत महत्व है, किंतु यहाँ हम इसका अधिक वर्णन नही कर सकते। [देखे Dirac *1958 von Neumann, 1955*]।

इलेक्ट्रान का भ्रमि (Spin) तथा निषेध सिद्धात—1925 मे ऊहलेनबेक (Uhlenbeck) और गौदश्मित (Goudsmit) ने हाइड्रोजन परमाणु की सूक्ष्म बनावट (fine structure) की व्याख्या करने के लिये सुझाव रखा कि इलेक्ट्रान भ्रमि भी करता है। इस सभावना को हाइज़ेनबर्ग और यॉर्दान (१९२६ ई०) तथा पाउली (Pauli, १९२७ ई०) ने गणित रूप दिया और डिरैक ने सन् १९२८ मे एक मनोहर सिद्धात रचा जो 'इलेक्ट्रान' मे वर्णित है (सन् १९२८)। इलेक्ट्रान की भ्रमि का मान $\frac{1}{2}$ $\hbar$ होता है [(23a–c) के बाद की व्याख्या देखें] और क्वाटीकरण (quantisation) करने पर उसकी दिशा या तो किसी एक ओर या ठीक उसके दूसरी ओर ही हो सकती है। इसलिये, यदि हम चाहे, तो इलेक्ट्रान को दो कणो के योग के समान भी मान सकते है। यह बात पाउली के निषेध सिद्धात के सबध मे, जिसके अनुसार किसी जगत् मे एक ही अवस्था के दो इलेक्ट्रान नही हो सकते, याद रखने योग्य है।

आपेक्षिकतानुकूल समीकरण (Relativistic equations)—हैमिल्टोनियन की पदसहति (46) आपेक्षिकतारहित है। यदि आपेक्षिकता के प्रभावो का भी हम अपनी गणना मे समावेश करना चाहें तो (46) की जगह समीकरण (45) मे

$$H = c\sqrt{p^2 + m^2c^2} \qquad (50)$$

(c = प्रकाशगति)

उपयोग करना पडेगा। परतु P यहाँ पर कारक है इसलिये उसका वर्गमूल चिह्न के अदर आना अच्छा नही। इस अवाछनीय स्थिति का हम (45) के दोनो पक्षो पर फिर से H द्वारा क्रिया करके दूर कर सकते है। तब बाएँ पक्ष मे (44) और दाहिने मे (43) का प्रयोग करने से यह आ जायगा

$$\frac{1}{c^2}\frac{\partial^2\psi}{\partial t^2} = \nabla^2\psi - \frac{m^2c^2}{\hbar^2}\psi$$

या
$$\left(\frac{1}{c^2}\frac{\partial^2}{\partial t^2} - \nabla^2 + \frac{m^2c^2}{\hbar^2}\right)\psi = 0 \qquad (51)$$

आपेक्षिकतानुकूल समीकरणो मे यही सबसे सरल है। हम ψ को आपेक्षिकता

रूपांतरों के प्रति अदिश (scalar), सदिश (vector), प्रदिश (tensor) इत्यादि ले सकते हैं। यदि ψ को हम मिथ्यादिश (pseudoscalar) लें तो (51) पाई-मेसान (π-meson) का निरूपण करेगा। (51) मुक्त कणों का समीकरण है (समी० (14) के बाद की व्याख्या से तुलना करें)। यदि बाह्य बल भी हो तो (51) में कुछ संशोधन करना होगा।

आधे आवर्तन के कणों के लिये समीकरण 'इलेक्ट्रान' के अंतर्गत दिया गया है। वास्तव में आधे आवर्तन के कण अन्य कणों की तुलना में संभवतः अधिक मौलिक (fundamental) हैं। उदाहरण के लिये हम यह अनुमान कर सकते हैं कि शून्य या इकाई आवर्तन का कोई कण आधे आवर्तन के दो कणों से बना हुआ हो, परंतु आधे आवर्तन के कण को हम किसी प्रकार भी शून्य या इकाई आवर्तनवाले कणों के योग से नहीं बना सकते।

आधे आवर्तन के समीकरण के प्रतिरूप (model) पर अधिक (जैसे $\frac{3}{2}$, इत्यादि) आवर्तनवाले समीकरण भी दिए गए हैं, किंतु यह बात अभी संदेहयुक्त है कि वे किसी भौतिक कण का निरूपण करते हैं।

क्षेत्रवाद (Field theory) **और द्वितीय क्वांटीकरण** (second quantization)—(51) या उसी प्रकार के समीकरण तरंगों का तो भली भाँति निरूपण करते हैं पर उनसे कण के लक्षण लुप्त हो गए हैं। (51) से कण के लक्षण पुनः संग्रह करने के लिये उस समीकरण का दुबारा क्वांटीकरण करना पड़ेगा। दुबारा क्वांटीकरण की यह विधि आधुनिक भौतिकी का अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इसकी सहायता से न केवल द्रव्य के तरंग और कण रूपों को एक सिद्धांत में संबद्ध कर सकते हैं, बल्कि उसके द्वारा कणों के सृजन (creation) और नाश (annihilation) की व्याख्या भी संभव है [देखें Wentzel]।

अब कोई संदेह नहीं रहा है कि द्रव्य का गुणधर्म समझने के लिये क्वांटम सिद्धांत का उपयोग अनिवार्य है। क्षेत्रवाद में क्वांटनवाद का उपयोग अत्यंत महत्वपूर्ण है। जहाँ तक विद्युद्गति (electro-dynamics) का संबंध है, परीक्षणों के परिणाम क्वांटम क्षेत्रवाद के परमानुकूल हैं। गणना करने के ढंग अवश्य असंतोषजनक हैं। यहाँ तक कि प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धांत और परीक्षणों का मेल कहीं आकस्मिक ही तो नहीं। यह भावना और भी प्रबल हो जाती है जब हम विद्युद्गति को छोड़कर और क्षेत्रों का, जैसे मेसान क्षेत्र का, अनुसंधान करते हैं। वहाँ कुछ स्थितियों में तो अनंत (infinite) पदसंहतियों के कारण गणना करना असंभव ही हो जाता है; शेष कुछ में जहाँ हम गणना कर भी सकते हैं, परिणाम परीक्षणों से भिन्न निकलते हैं। ऐसी दशा में क्वांटम यांत्रिकी केवल कुछ गुणात्मक आकार (qualitative features) ही व्यक्त कर सकती है। पिछले कुछ वर्षों से वैज्ञानिक विस्तृत गणना छोड़कर मूल सिद्धांतों द्वारा ही जितने परिणाम निकल सकते हैं, निकालने में लगे हुए हैं। क्वांटम यांत्रिकी के मुख्य सिद्धांत तो ठीक ही माने जाते हैं, पर उनके सविस्तार वर्णन में परिवर्तन की आवश्यकता है। पिछले २० वर्षों में बहुत से नए कणों का आविष्कार हुआ है, पर अभी यह स्थिर नहीं किया जा सका है कि उनको वर्तमान सिद्धांतों के साँचे में किस प्रकार ठीक ठीक बैठाया जाय। भौतिकज्ञ इन प्रश्नों के गंभीर अन्वेषण में लगे हुए हैं। संभव है, शीघ्र ही नए सिद्धांत उद्भावित हों, जो वर्तमान कठिनाइयों को दूर कर सकें और जिनमें नए कणों का भी यथातथ्य प्राकृतिक स्थान हो।

सं०ग्रं०—डि० बोम (D. Bohm) : क्वांटम थ्योरी, प्रेंटिस-हॉल (१९५१); एम. बॉर्न (M. Born) : ऐटमिक फिजिक्स, ब्लैकी ऐंड संस, पंचम संस्करण (१९५१); पी० ए० एम० डिरैक (P.A.M. Dirac) : द प्रिंसिपल्स ऑव क्वांटम मिकैनिक्स, ऑक्सफोर्ड, चतुर्थ संस्करण,(१९५८); ए० मार्च (A. March): क्वांटम मिकैनिक्स ऑव पार्टिकल्स ऐंड वेव फील्ड्स, जॉन विली (१९५१); जे० फॉन न्यूमैन (J. von Neumann) : मैथेमेटिकल फाउंडेशंस (रॉबर्ट टी० बीयर का अंग्रेजी अनुवाद), प्रिंसटन (१९५५); एल० आई० शिफ (L. I. Schiff): क्वांटम मिकैनिक्स, मैकग्रॉ हिल, द्वितीय संस्करण,(१९५५)।
[बा०]

क्वांटम यांत्रिकी का पहला शिल्पिक प्रयोग परमाणु भट्ठी में किया गया जिसमें न्यूट्रान धाराएँ भारी परमाणुओं के न्यूक्लियसों का विखंडन कर ऊष्मा और विद्युत् उत्पन्न करती हैं। वैज्ञानिकों का ध्यान इसके पश्चात् हल्के न्यूक्लियसों जैसे हाइड्रोजन के समस्थानिकों की ओर गया। क्वांटम यांत्रिकी की सहायता से गणना द्वारा संलयन (fusion) अभिक्रियाओं से संबंधित कई तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है और इससे उत्पन्न होनेवाली ऊर्जा का पहले से पता लगाया जा सकता है। क्वांटम यांत्रिकी से द्रव्यों के आश्चर्यजनक गुणों की व्याख्या के साथ साथ यह भी जानना संभव हो सका कि इन गुणों को किस प्रकार विकसित किया जा सकता है।

आज से लगभग १५ वर्षों पूर्व सोवियत वैज्ञानिक वी० फा० विक्रात ने विद्युत् चुंबकीय तरंगों के क्वांटम प्रवर्धन की कल्पना प्रस्तुत की थी। इस प्रकार क्वांटम यांत्रिकी के क्वांटम प्रवर्धक और फिर क्वांटम दोलित्र के रूप में प्रयोग से अनेक उपस्करों तथा मेसर और लेसर का आविष्कार संभव हुआ। (नि० सि०)

क्वांटम सांख्यिकी

क्वांटम सांख्यिकी (Quantum Statistics) भौतिकी में मुख्य रूप से तीन प्रकार की सांख्यिकी का उपयोग होता है। चिरसंमत सांख्यिकी (मैक्सवेल-बोल्ट्ज़मैन सांख्यिकी), बोस-आइंस्टाइन और फर्मी-डिरैक सांख्यिकी। दूसरे और तीसरे प्रकार को संमिलित रूप में क्वांटम सांख्यिकी भी कहते हैं, क्योंकि इनमें हम क्वांटम सिद्धांत के द्वारा जटिल समुदायों के गुणधर्मों का अध्ययन करते हैं। क्वांटम सांख्यिकी के आविष्कार के पूर्व चिरसंमत (classical) सांख्यिकी से ही यह कार्य लिया जाता था और इसमें पर्याप्त सफलता भी मिलती थी। परंतु कालांतर में प्रकाश-विद्युत्-प्रभाव न्यून ताप पर विशिष्ट ऊष्मा, काली वस्तु का विकिरण (black body radiation) विषयक कुछ ऐसे आविष्कार हुए जिनको चिरसंमत भौतिकी भली प्रकार से समझा नहीं सकी। इस प्रकार क्वांटम सिद्धांत का जन्म हुआ।

क्वांटम सांख्यिकी का आविष्कार भारत के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एस० एन० बोस ने सन् १९२४ में किया जब उन्होंने पहली बार प्लैंक का विकिरण नियम सांख्यिकी ढंग से निकाला। गैसीय समुदाय के लिये इसी नियम का प्रसार करते हुए आइंस्टाइन ने बोस-आइंस्टाइन सांख्यिकी नामक सिद्धांत का मौलिक रूप से प्रतिपादन किया। फर्मी और डिरैक ने सन् १९२६ में स्वतंत्र रूप से फर्मी-डिरैक सांख्यिकी की नींव डाली, जो पाउली के अपवर्जन (exclusion) सिद्धांत पर आधारित थी।

समान कणों के किसी समुदाय में सिद्धांततः कण कण में अंतर कर पाना असंभव है, इसलिये समुदाय का तरंगफलन (wave function) किन्हीं दो कणों के निर्देशांकों (coordinates) में सममित (symmetrical) अथवा असममित (asymmetrical) होना चाहिए। इससे विनिमय क्रिया (exchange phenomena) जैसे बहुत से प्रभाव होते हैं, जो कतिपय धातुओं में लोह चुंबकत्व तथा प्रतिलोहचुंबकत्व (anti-ferro magnetism) के लिये उत्तरदायी हैं। विभिन्न कणों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है जिससे एक प्रकार के समान कणों का समुदाय बोस-आइंस्टाइन सांख्यिकी के अनुसार होगा और दूसरे प्रकार के समान कणों का व्यवहार फर्मी-डिरैक-सांख्यिकी पर आधारित होगा। वे सब परमाणवीय नाभिक जिनकी संहतिसंख्या युग्म होती है, बोस-आइंस्टाइन-सांख्यिकी में संमिलित हैं (उदाहरणतः फ़ोटान, पाइओन (pion), के-मेसान (K-meson) आदि, तथा जिनकी संहतिसंख्या विषम होती है, वे सब फर्मी-डिरैक-सांख्यिकी के अनुसार व्यवहार करते हैं (उदाहरणतः इलेक्ट्रान, न्यूट्रान, प्रोटान आदि)।

सीमांत दशा में फर्मी-डिरैक, बोस-आइंस्टाइन तथा मैक्स्वेल सांख्यिकी का व्यवहार एक समान होता है। अक्रिय (non-interacting) समान कणों के समुदाय के गुण आदर्श गैस के गुणों से कितने भिन्न होते हैं, इसका अनुमान हमें $\rho = \frac{nh^3}{g(2\pi mkT)^{\frac{3}{2}}}$ से मिलता है। इस सूत्र में m = कण की संहति, n = एक घन सम में कणों की संख्या, h = प्लैंक

नियतांक, k = बाल्ट्ज़मैन नियतांक, T - समुदाय का परम ताप और g को हम भारगुणांक कहते हैं जिसका मूल्य इलेक्ट्रान के लिये दो और मेसान के लिये तीन है। यदि ρ का मान एक से कम है ($\rho<1$) तो गैस का व्यवहार आदर्श गैस के समान होता है। बोस गैस के लिये ρ का अधिकतम मान २.६१२ है और ऐसी गैस को पूर्णतया अपकृष्ट (degenerate) कहा जाता है। यह बोस-आइंस्टाइन सघनन क्रिया से संबधित है, जो द्रव He^4 में २.१९° परम ताप पर होता है। इस परम ताप से निम्न ताप पर इस द्रव के कुछ गुण बड़े अद्भुत हैं, जैसे अतितरलता (superfluidity)। He^3, जो फर्मी-डिरैक-सांख्यिकी का परिपालन करता है, He^4 की तरह शून्य परम ताप तक द्रव ही रहता है और ०.०८° परम ताप तक अतितरल नहीं बनता। इन दो द्रवों को क्वांटम द्रव कहते हैं।

फर्मी-डिरैक सांख्यिकी में जब ρ एक से बहुत अधिक बड़ा होता है, तब गैस पूर्णतया अपकृष्ट कहलाती है। धातुओं में चालन इलेक्ट्रान अपकृष्ट गैस बनाते हैं। धातुओं के वैद्युत और उष्मीय गुण इसी विधि से भली भाँति समझाए जा सकते हैं। ऊपर लिखे सूत्र से यह स्पष्ट है कि कोई गैस साधारण ताप पर मैक्स्वेल सांख्यिकी के अनुसार व्यवहार करती है, परंतु ज्यों ज्यों उसका ताप कम होता जाता है और उसकी दाब बढ़ती जाती है, ρ का मूल्य बढ़ता जाता है और गैस क्वांटम हो जाती है। एक विशेष श्रेणी के तारों का घनत्व, जिन्हें ह्वाइट ड्वार्फ (white dwarf) तारे कहते हैं, बहुत ही अधिक होता है (उदाहरणत: एक जीव जिसका भार धरती पर एक मन हो, ह्वाइट ड्वार्फ तारे पर, यदि वह जीवित रह सके तो, एक लाख मन भार का भी हो सकता है)। ऐसे तारों के द्रव्य का व्यवहार पूर्णतया फर्मी-डिरैक-सांख्यिकी के अनुसार है।

अब तक बोस तथा फर्मी सांख्यिकी का केवल उन गैसों के गुणों के अध्ययन के लिये प्रयोग किया गया जिनके कणों में कोई आकर्षक शक्ति नहीं है और जिनके कण का मान शून्य है। परंतु गत दस-पंद्रह वर्षों से क्वांटम सांख्यिकी की सहायता से उन गैसों का भी अध्ययन किया जाने लगा है जिनके कणों में कुछ आकर्षण शक्ति होती है और जिनके कण कठोर गोले (hard sphere) की भाँति हैं। आज हमें क्वांटम सांख्यिकी द्वारा निम्न ताप पर धातुओं के गुणों के विषय में पहले से कहीं अधिक ज्ञान है, उदाहरणत:, अतिचालकता (super-conductivity) के विषय में। आशा है कि आगामी कुछ वर्षों में हम इस पथ पर और भी अधिक प्रगति कर सकेंगे। (फ० च० औ०)

क्वांदो (Kwando) दक्षिणी मध्य अफ्रीका में जैंबेज़ी नदी की मुख्य सहायक नदी, जिसे लिन्याती भी कहते हैं। ऐंगोला के मध्य पठार से निकलकर दक्षिणपूर्व बहती हुई ऐंगोला और राडेशिया की दक्षिणी सीमा बनाती है। बाद में दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका के कैप्रिवी क्षेत्र को पार करती है। अंत में १८° ३०' द० अ० तथा २३° ३०' पू० दे० के समीप बेचुआना लैंड प्रोटेक्टोरेट की सीमा के पास दलदलों में विलीन हो जाती है। यह लगभग ६०० मील लंबी है। दलदलों को पार करने के बाद चोबे नदी है, जो क्वांदो का ही बढ़ा हुआ रूप है। दक्षिणी अफ्रीका में इसी नाम का पत्तन और नगर भी है। (कृ० मो० गु०)

क्विंतस, इन्नियुस (२३९–१६९ ई० पू०)। लैटिन भाषा का आदि कवि। दक्षिणी-पूर्वी इटली के रूदिआए नामक ग्राम में जन्म। आरंभ में सैनिक के रूप में नौकरी करने के बाद रोम चले गए जहाँ उनकी काव्यप्रतिभा का विकास हुआ और उन्होंने लैटिन, यूनानी और अस्कन तीन भाषाओं में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं पर वे सब अब उपलब्ध नहीं हैं। केवल यत्रतत्र कुछ अवतरण मात्र उपलब्ध होते हैं। उन्होंने होमर की पद्य शैली में 'एनाल्स' नामक एक महाकाव्य और लगभग २५ नाटक भी लिखे थे। (प० ला० गु०)

क्विंतस कर्तिये, रूफस रोम का प्रख्यात इतिहासकार जिसने सिकंदर महान् का इतिहास प्रस्तुत किया था। उसने यह इतिहास दस अध्यायों में लिखा था जिनमें से प्रथम दो छोड़कर आठ उपलब्ध हैं। जो अध्याय उपलब्ध हैं, उनमें भी यत्रतत्र के अंश नहीं हैं। उसने अपने ग्रंथ की सामग्री का विश्वस्तसूत्रों से चयन किया और तटस्थ भाव से प्रस्तुत किया है। उसका यह इतिहास सिकंदर के भारत आक्रमण के विस्तृत विवरण के साथ ही तात्कालीन भारतीय स्थिति भी प्रस्तुत करता है। इस कारण उसके इतिहास का भारतीय इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्व माना जाता है।

स्वतः क्विंतस की जीवन संबंधी जानकारी अप्राप्य है। यह भी निश्चय नहीं है कि वह कब पैदा हुआ था। कुछ लोग उसे वेस्पियन के शासन में होने का अनुमान करते हैं, अन्य उसे बहुत पीछे कांस्तेंतीन काल में रखते हैं, किंतु उसके वेस्पियन काल में होने की ही संभावना अधिक है। (प० ला० गु०)

क्विंतीतस सिसिनेतस प्राचीन रोम का एक ग्रामीण जिसने अधिनायकत्व ग्रहणकर रोम की रक्षा की। उसका समय ई० पू० ५७२ अनुमान किया जाता है। उन दिनों एक्वियन लोगों ने रोम पर आक्रमण कर दिया था। सामना करनेवाली रोमन सेना को उन्होंने पराजित कर अपने घेरे में कर लिया था। इससे रोमवासी बड़े चिंतित हुए और उन्हें उस घिरी हुई सेना को बचाने के लिये किसी योग्य अधिनायक की आवश्यकता जान पड़ी। ऐसे संकट के समय क्विंतीतस सिसिनेतस नामक किसान ही एक ऐसा व्यक्ति जान पड़ा, जो उनकी रक्षा कर सकता था।

निदान नागरिक उसके झोपड़े पर पहुँचे। उस समय वह अपने खेत पर काम कर रहा था। उसने जब रोम पर आए संकट की बात सुनी तो खेती का काम छोड़कर अधिनायक का पद ग्रहण करना स्वीकार किया और नगर में आया। उसने रोमवासियों को पाँच दिन की भोजन सामग्री के साथ शस्त्रास्त्र लेकर तैयार रहने का आदेश दिया। इस प्रकार जब रोमवासी युद्ध के लिये तैयार हो गए तब उसने उन्हें लेकर आधी रात के समय एक्वियन सेना पर आक्रमण कर दिया। उस समय वे लोग असावधान थे। वे दो रोमन सेनाओं के बीच बुरी तरह घिर गए। उनकी पराजय हुई। इस प्रकार चौबीस घंटे के भीतर सेना संघटित कर क्विंतीतस ने शत्रु के हाथ से रोम की रक्षा की।

इस विजय के पश्चात् क्विंतीतस अपने झोपड़े को लौट गया। रोम के इतिहास में उसका नाम कर्तव्यपरायणता और स्वार्थहीनता के लिये अमर है। (प० ला० गु०)

क्विंतीलियन, मार्कुस फेबियस (३०–९६ ई०)। रोम का प्रख्यात वक्तृत्वशास्त्री। उसका जन्म स्पेन के कैलागुरिस नामक स्थान में हुआ था। उसका परिवार निपुण वक्ताओं के लिये प्रख्यात था। उसने रोम में शिक्षा प्राप्त की थी। शिक्षा प्राप्तकर वह स्पेन लौट गया था और वहाँ कदाचित् गैल्बा की सेवा में रहा। उन्हीं के साथ ६८ ई० में रोम वापस आया और बीस वर्षों तक वक्तृत्वकला की शिक्षा देता रहा। वेस्पियन ने उसके लिये वक्तृत्वकला के प्राध्यापक का पद स्थापित किया। पीछे डोमीटियन के शासनकाल में वह राजकुमारों का शिक्षक रहा। कभी कदा वह वकालत भी करता था। उसने भाषणकला के ह्रास के कारणों पर एक पुस्तक लिखी थी जो अब अप्राप्य है। उसकी उपलब्ध और प्रख्यात रचना है—ट्रेनिंग ऑफ ए ओरेटर (वक्ता की ट्रेनिंग)। यह ग्रंथ न केवल भाषणकला से संबंध रखता है वरन् उसमें बचपन से आरंभ कर अंत तक शिशु की साहित्य और सदाचार दोनों क्षेत्रों की शिक्षा का विवेचन है। उसमें उसने कितनी ही ऐसी बातें कही हैं जो आज अत्याधुनिक शिक्षापद्धति के रूप में कही जा रही हैं, किंतु उनमें दोष यह है कि उसमें उसकी दृष्टि अच्छे भाषण की क्षमता और गई बात कहने की योग्यता तक ही सीमित रही है। इस सीमा के भीतर उसने जो कुछ भी कहा है, शिष्ट और अच्छे ढंग से कहा है। वह भाषणशैली में चातुर्य और असत्य का विरोधी था, जो तत्कालीन वक्ताओं में प्राय: देखने में आता था।

उसका कहना था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास और चरित्र का निर्माण होना चाहिए। प्रारंभिक शिक्षा का उत्तरदायित्व मातापिता का है अतः मातापिता को चाहिए कि वे अपने बालकों को प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करें और उनके सर्वांगीण विकास में सहायक हों। उसने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा उसकी रुचि और परिस्थिति के अनुकूल होने से व्यक्तित्व का विकास शीघ्रता से होता है। स्कूलों में बच्चों को दंड देने की प्रणाली का उसने तीव्र विरोध किया है। उसका कहना था—शिक्षक और विद्यार्थी का संबंध मधुर होना चाहिए। उसने शिक्षा को रोचक बनाने और साहित्य, दर्शन, इतिहास, गणित आदि के अध्ययन पर बल दिया है।

क्विंतीलियन रोमी शिक्षा के स्वर्णयुग का शिक्षाशास्त्री था। अतः उसके शिक्षासिद्धांतों का पालन हुआ और इसके फलस्वरूप रोमी समाज में नैतिकता की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा। उसने शिक्षा द्वारा मानव समाज में सुधार की आवश्यकता पर बल दिया है। वह बार बार नैतिकता और चरित्रनिर्माण पर जोर देता था; उसका विश्वास था कि इन गुणों के बिना कोई भी राष्ट्र दीर्घजीवी नहीं हो सकता। अतः उसका कहना था कि रोम साम्राज्य का अंत नैतिक पतन से होगा। क्विंतीलियन दूरदर्शी था। वह आनेवाले युगों की कल्पना कर सकता था। उसके शिक्षा-सिद्धांत ऐसे थे जो १५०० वर्ष बाद भी उपयोगी सिद्ध हुए। योरोपीय शिक्षा के इतिहास में १५वीं से लेकर १८वीं शताब्दी तक क्विंतीलियन के विचारों का प्राधान्य था। (सी० रा० जा०; प० ला० गु०)

क्वींजलैंड ऑस्ट्रेलिया के राष्ट्रमंडल में दूसरा बड़ा राज्य (स्थिति: १३८° से १४१° पू० दे० तथा २९° से २६° द० अ०)। इसका क्षेत्रफल ६,६७,७०० वर्ग मील है। इसके किनारे ३२-३६ मील लंबा समुद्रतट है। उत्तरी प्रायद्वीप न्यूगिनी तक फैला है। इसके किनारे दुनिया की सबसे बड़ी मूँगे की चट्टानें हैं जिन्हें ग्रेट बैरियर रीफ़ (लंबाई १,२०० मील तथा समुद्र तट से २० से १५० मील दूर) कहते हैं। मुख्य भूमि और रीफ के बीच शांत खाड़ी में अनेक द्वीप हैं। जलयानों के लिये ये चट्टानें पहले अत्यधिक विपज्जनक थीं; किंतु अब लोग इन द्वीपों पर अवकाश व्यतीत करते हैं। इसके पाँच प्राकृतिक विभाग हैं—(१) जलनिमग्न (Continental shelf), (२) तटीय मैदान, (३) पूर्वी पर्वतीय देश, (४) उत्तरपश्चिमी उच्च भूमि तथा (५) पश्चिमी मैदान। ग्रेट डिवाइडिंग रेंज पर्वत। सबसे ऊँची चोटी माउंट बार्टिल फ्रेरे ५,४३८ फुट ऊँची है तथा उत्तरदक्षिण दिशा में फैली है। कुपर्स क्रीक, डायमेंटीना (Dimantina), वारगो और कोंडामाइन (Condamine) प्रसिद्ध नदियाँ हैं। उत्तरी भाग उष्णकटिबंध में और दक्षिणी भाग उपोष्ण कटिबंध में है, लेकिन पूर्वी द्वीपसमूह की भाँति दलदली नहीं हैं। नम जंगल और मलेरिया से मुक्त है। ३२° सें० ऊँचा ताप नहीं होता। उत्तर में १६०" वार्षिक वर्षा होती है जब कि पश्चिमी सीमाओं पर केवल ६" होती है।

नदियों के किनारे और पर्वतीय ढालों पर जंगल है। पश्चिमी और मध्य क्वींजलैंड चरागाह हैं। पशुओं से दूध, ऊन और मांस तथा जंगलों से बहुमूल्य लकड़ियाँ मिलती हैं। पर्वतों पर सोना, चाँदी, टिन और विस्मथ की खानें हैं। पश्चिमी भाग में ताँबे की खान और पूर्वी भाग में कोयला मिलता है। गन्ने की खेती अधिक होती है। इसके अतिरिक्त जौ, गेहूँ, जई, कपास, तंबाकू और चारे की खेती होती है। उष्णकटिबंधीय फल उत्पन्न होते हैं। चीनी, शराब, मांस, चमड़े की सफाई आदि उद्योग हैं। यहाँ से ऊन, फल, मांस, चीनी और खाल का निर्यात होता है। प्रारंभिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य है। यहाँ की राजधानी ब्रिसबेन है। इसके अतिरिक्त राक हैंपटन, टाउंस विल्ले, टूउंबा, इप्सविच प्रसिद्ध नगर हैं। १९६८ में इस राज्य की जनसंख्या १७,५१,८०० थी। (कृ० मो० गु०)

क्वेंटल, एंटेरो टार्क्वीनियो द (१८४२–१८९१ ई०) पुर्तगाली कवि। १८ अप्रैल, १८४२ को अजोरेस प्रदेश के पौंटा डेलगाडा नामक स्थान में जन्म। १८६४ ई० में कोयंब्रा विश्वविद्यालय से कानून की डिग्री प्राप्त की। तदनंतर लिस्बन के राजनीतिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में प्रवेश किया। अपनी कविताओं के प्रकाशन के साथ वह विद्रोही युवकों के साथ हो गया और पूर्ववर्ती पीढ़ी के प्रमुख जीवित कवि कास्टिल्हो को उनके तत्कालीन पुर्तगाली साहित्य के अधिनायकत्व से अपदस्थ कर दिया। समाजवादी विचारधारा से प्रेरित होकर सपन्न होते हुए भी कंपोजीटर का काम करने लगा और समाजवाद का प्रचारक बना। जीवन में असफल होने के कारण वह कुछ वेदनावादी बन गया और उसकी वेदना उसकी रचनाओं मे प्रस्फुटित हुई हैं। रीढ़ के रोग के कारण वह इतना दुखी हुआ कि उसने अततोगत्वा आत्महत्या कर ली।

क्वेंटल ने अधिकांशतः सॉनेट ही लिखे हैं। सॉनेट लिखनेवाले कवियों में कम ही ऐसे होंगे जिन्होंने इसकी तरह सुंदर रचनाएँ प्रस्तुत की होंगी। उसकी अधिकांश रचनाएँ वस्तुत काव्यकला के अनुपम नमूने हैं। अपनी रचनाओं में या तो वह अपने संशय और अंतर्द्वंद्व को भूल बैठा है या फिर उन्हें उसने सजीवता के साथ प्रस्तुत किया है। उसने अपनी अनुभूतियों, भावों और विचारों को प्रस्तुत करने के लिये लोकजीवन से प्रतीक चुने हैं। उसकी रचनाओं का चार खंडों में संग्रह उसके मित्र ओलवेरा मार्टिन ने किया है। उसके सॉनेट के अनुवाद अनेक यूरोपीय भाषाओं में हुए हैं और वे उसकी लोकप्रियता के प्रतीक हैं। (प० ला० गु०)

क्वाट्रेफाज द ब्रेउ, जीन लुई आरमंड दे (१८१०–१८९२ ई०) फ्रेंच नृतत्वविद् और जीव वैज्ञानिक। १० फरवरी, १८१० को वॅलरेग में जन्म। २२ वर्ष की अवस्था होते होते उसने स्ट्रासबर्ग विश्वविद्यालय से दो विषयों में डाक्टरेट प्राप्त की। एक गणित में और दूसरा चिकित्साशास्त्र में। टूलो में कुछ काल सफलतापूर्वक चिकित्सक का कार्य करने के पश्चात् १८४० में उसने प्रकृति विज्ञान में पेरिस विश्वविद्यालय से एक तीसरी डाक्टरेट प्राप्त की। अगले पंद्रह वर्षों तक वह समुद्रतटीय जीवों का अध्ययन करता रहा और तुलनात्मक सूक्ष्मौतिक विज्ञान (Histology) का सूत्रपात किया।

१८५५ में वह पेरिस के जंतु संग्रहालय में शरीर रचनाशास्त्र एवं नृतत्व विभाग के अधिकारी के पद पर नियुक्त हुआ और तब उसके जीवन में एक नया अध्याय खुला। उसने अपने अनुसंधानों द्वारा शारीरिक नृतत्व को एक सुस्थिर आधार प्रदान किया और इस दिशा में पेरिस शोध का एक केंद्र बना। उसे अपने देश की विभिन्न संस्थाओं द्वारा जो मान-सम्मान मिला, वह तो मिला ही, अन्यत्र भी उसकी नृतत्व के प्रमुख विद्वान् के रूप में ख्याति हुई। १२ जनवरी, १८९२ को पेरिस में उसकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्वारंटीन यह लैटिन मूल का शब्द है। इसका मूल अर्थ चालीस है। पुरा काल में जिन जहाजों में किसी यात्री के रोगी होने अथवा जहाज पर लदे माल मे रोग प्रसारक कीटाणु होने का संदेह होता तो उस जहाज को बंदरगाह से दूर चालीस दिन ठहरना पड़ता था। ग्रेट ब्रिटेन में प्लेग को रोकने के प्रयास के रूप में इस व्यवस्था का आरंभ हुआ। उसी व्यवस्था के अनुसार इस शब्द का प्रयोग पीछे ऐसे मनुष्यों, पशुओं और स्थानों को दूसरों से अलग रखने के सभी उपायों के लिये होने लगा जिनसे किसी प्रकार के रोग के संक्रमण की आशंका हो। क्वारंटीन का यह काल अब रोग विशेष के रोकने के लिये आवश्यक समय के अनुसार निर्धारित किया जाता है।

अंतर्राष्ट्रीय क्वारंटीन की जाँच बंदरगाहों, हवाई अड्डों और दो देशों के बीच सीमास्थ स्थानों पर होता है। विदेश से आनेवाले सभी जहाजों की क्वारंटीन संबंधी जाँच होती है। जाँच करनेवाले अधिकारी के संमुख जहाज का कप्तान अपने कर्मचारियों और यात्रियों का स्वास्थ्य विवरण प्रस्तुत करता है। जहाज के रोगमुक्त घोषित किए जाने पर ही उसे बंदरगाह में प्रवेश करने की अनुमति दी जाती है। यदि जहाज में किसी प्रकार का कोई संक्रामक रोगी अथवा रोग फैलानेवाली वस्तु मौजूद हो तो जहाज को बंदरगाह से दूर ही रोक दिया जाता है और उस पर क्वारंटीन काल के समाप्त होने तक पीला झंडा फहराता रहता है। रोग संबंधी गलत सूचना देने अथवा सत्य बात छिपाने के अपराध में कप्तान को कड़ा दंड मिल

सकता है। क्वारटीन व्यवस्था के अंतर्गत आनेवाले रोगों में हैजा, ज्वर, चेचक, टायफायड, कुष्ट, प्लेग प्रमुख हैं।

वायुयान से यात्रा करनेवाले यात्रियों को अपने गंतव्य स्थान जाने तो दिया जाता है पर रोगग्रस्त व्यक्ति पर स्वास्थ्य विभाग की निगरानी रहती है ताकि रोग का संक्रमण न हो सके। अनेक देशों में कतिपय रोगों का टीका लगा लेने का प्रमाण प्रस्तुत करने पर ही प्रवेश की अनुमति दी जाती है। इस प्रकार के प्रवेश पत्र की जाँच वायुयान से उतरकर बाहर जाने के पूर्व स्वास्थ्य अधिकारी करते हैं।

रोग के संक्रमण को रोकने के निमित्त नगरों, स्थानों, मकानों अथवा व्यक्ति विशेष का भी अनेक देशों में क्वारटीन होता है। इसके लिये प्रत्येक देश के अपने अपने नियम और कानून हैं। यूरोप और अमेरिका में जिस घर में किसी संक्रामक रोग का रोगी होता है उसके द्वार पर इस आशय की नोटिस लगा दी जाती है। कहीं कहीं रोगी के साथ डाक्टर और नर्स भी अलग रखे जाते हैं। जहाँ डाक्टर या नर्स अलग नहीं रखे जाते उन्हें विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है।

वृक्ष और पशुओं का भी क्वारटीन होता है। अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया में इसका पालन बड़ी कठोरता के साथ होता है। यहाँ तक कि यदि किसी यात्री के पास ऐसा कोई फल है जिसके माध्यम से वृक्षों का रोग फैलानेवाले कीड़े आ सकते हों, तो वह फल कितना भी अच्छा क्यों न हो तत्काल नष्ट कर दिया जाता है। इसी प्रकार कुछ निर्धारित किस्म के निर्दोष लकड़ी के बक्सों में पैक किया माल ही इन देशों में प्रवेश कर सकता है। पैकिंग के बक्से के रोगी किस्म की लकड़ी से बना होने का संदेह होने पर माल सहित बक्से को नष्ट कर दिया जाता है।

(प० ला० गु०)

क्वार्टज एक प्रकार का प्राकृतिक खनिज जो साधारणतया एक-अक्षीय, रंगहीन, पारदर्शी और कठोर होता है। यह दो प्रकार का होता है—वामघूर्णक और दक्षिणघूर्णक। ध्रुवणकारी प्रिज्मों के निर्माण में इसका उपयोग किया जाता है।

क्वार्टज कभी कभी विदलन भी प्रदर्शित करता है तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के अतिरिक्त अन्य सब अम्लों में अविलेय होता है। क्वार्टज शुद्ध होने पर ही रंगहीन रहता है। प्रायः यह अंतर्वेशों की प्रकृति के अनुसार लाल, नारंगी, पीले, हरे, बैंगनी तथा काले रंगों में पाया जाता है। गर्म करने पर इसके बहुत से रंग अदृश्य हो जाते हैं। क्वार्टज के एक खनिज स्फटिक, शैल क्रिस्टल में दाब विद्युत् गुण होते हैं। (विशेष द्र० 'रत्न')।

(नि० सिं०)

क्वार्ल्स, फैंसिस (१५९२–१६४४) अंगरेज कवि। ८ मई, १५९२ ई० को रॉमफोर्ड (एसेक्स) में जन्म। कैंब्रिज से ग्रेज्युएट होकर लंदन में कानून का अध्ययन किया। पश्चात् जर्मनी चला गया। वहाँ सात वर्ष रहने के पश्चात् १६२० में लंदन वापस आया और अपनी आरंभकालिक रचनाओं को प्रकाशित कराया जिनमें अधिकांश वीरकाव्य में प्रयुक्त होनेवाले छंदों में बाइबिल का रूपांतर था। इनमें 'आर्गलुस ऐंड पार्थेमिया' (१६२९) और 'डिवाइन फैंसीज' (१६३२) मुख्य हैं। इनसे उसे इतनी ख्याति प्राप्त हुई कि आर्माघ के आर्कबिशप जेम्स उशर ने उसे अपना निजी सचिव बना लिया। १६३५ में उसकी रचना 'इम्लेम्स' प्रकाशित हुई जिसने तत्काल अद्भुत लोकप्रियता प्राप्त की। १६३९ में वह लंदन नगर का वृत्तलेखक नियुक्त हुआ और मृत्यु पर्यंत उस पद पर रहा।

'इम्लेम्स' के अतिरिक्त गद्य और पद्य में उसकी बहुत सी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। ८ सितंबर, १६४४ को उसकी मृत्यु हुई।

(प० ला० गु०)

क्वालालूमपुर मलाया संघ एवं उसके अंतर्गत सलैंगर (Selangor) राज्य की राजधानी (स्थिति ३°८' उ० अ० तथा १०१° ३७' पू० दे०)। इसका विकास सर्वप्रथम टिन की खान खोदने उद्देश्य से हुआ। तत्पश्चात् जब इसके निकटवर्ती क्षेत्रों में टिन की अन्य खानों का पता चला तथा रबर के बगीचे लगाए गए तब इस नगर की उन्नति बहुत तेजी से हुई। फलतः पिछले २० वर्षों में इसकी जनसंख्या लगभग चौगुनी हो गई। मलाया का अब यह प्रमुख व्यापारिक केंद्र है। यहाँ टिन गलाने का कारखाना है। १९५८ ई० में मलाया विश्वविद्यालय सिंगापुर से स्थानांतरित कर क्वालालूमपुर में स्थापित किया गया। इस नगर में अनेक आधुनिक शैली के भवन हैं। १९५९ में यहाँ की जनसंख्या ४,७७,२३८ थी। यहाँ के निवासियों में चीनियों की संख्या काफी बड़ी है।

(न० कि० सिं०)

क्विजलिंग, विदकुन (१८८७–१९४५ ई०) नार्वे का राजनीतिक। १८ जुलाई, १८८७ को फाइरिसडाल में जन्म। सैनिक शिक्षा के निमित्त सैनिक स्कूल में भर्ती हुआ। १९११ में वहाँ से ग्रेज्युएट होकर निकला। सेना के साथ साथ परराष्ट्र विभाग में भी काम करता रहा। १९३१ में वह नार्वे का रक्षामंत्री बनाया गया। मंत्री के रूप में मजदूर दल को कम्युनिस्ट बताकर उसकी आलोचना करता रहा। राइखटाग (जर्मन संसद्) के अनुकरण पर उसने अपने कार्यालय में आग लगवा दी तब उसे पदत्याग करना पड़ा। उसके बाद उसने नैशनल सैमलिंग (राष्ट्रीय संघटन) नाम से अपने एक दल की स्थापना की पर इस दल का एक भी सदस्य स्टॉर्टिंग (संसद्) में चुना न जा सका। तब वह जर्मनी चला गया। अब नाजी सिद्धांतों में उसका विश्वास पक्का हो गया। उसने १९३७ में रीगा में हुए बाल्टिक सम्मेलन में अल्फ्रेड रोज़ेनबर्ग के साथ भाग लिया।

द्वितीय महायुद्ध आरंभ होने पर वह हिटलर के सिद्धांतों का समर्थक बन गया और अप्रैल १९४० में नार्वे पर जर्मन आक्रमण से तीन दिन पूर्व वह देशद्रोही की तरह बर्लिन चला गया। उसने नार्वे पर जर्मनों द्वारा अधिकार करने में हर प्रकार की सहायता की। जर्मनों द्वारा नार्वे पर अधिकार हो जाने के बाद क्विजलिंग ने अपने को प्रधान मंत्री घोषित किया और नैशनल सैमलिंग की ओर से मंत्रिमंडल गठित किया। किंतु इस मंत्रिमंडल को जब जर्मनों का अनुमोदन न मिला तो वह जर्मन अधिकारियों को समझाने बर्लिन गया। फलस्वरूप नार्वे की सरकार का शासन जर्मन राइख की ओर से जोजेफटर्बोवेन को दिया गया साथ ही तेरह आदमियों की एक परामर्शदात्री समिति बना दी गई जिसके अधिकांश सदस्य क्विजलिंग के अनुयायी थे। नार्वे में क्विजलिंग के नैशनल सैमलिंग को एकमात्र राजनीतिक दल की मान्यता दी गई। छिपे हुए राष्ट्रवादियों को खोजकर पकड़वाने में नार्वे के नाजी दल—हर्ड को उसका सहायक बनाया गया।

महायुद्ध समाप्त होने पर क्विजलिंग गिरफ्तार कर लिया गया और देशद्रोह के अपराध में उसे मृत्युदंड मिला। २४ अक्तूबर, १९४५ को आकेर्शुस के दुर्ग में उसे गोली मार दी गई। क्विज़लिंग का नाम देशद्रोही के पर्याय के रूप में अनेक भाषाओं में गृहीत किया गया। आज 'क्विज़लिंग' का अर्थ है देशद्रोही।

(प० ला० गु०)

क्विनीन (देखिए कुनैन)।

क्विनोन (Quinones) सौरभिक यौगिकों से प्राप्त कार्बनिक यौगिकों का एक समूह क्विनोन के नाम से जाना जाता है, जिसमें बेंज़ीन नाभिक के दोनों हाइड्रोजन परमाणु दो आक्सिजनों द्वारा प्रतिस्थापित होते हैं, अर्थात् दो कीटोनीय मूलक $>C=O$ विद्यमान होते हैं। इस वर्ग के सभी यौगिक रंगीन हैं, पर अपचयन पर रंगहीन हाइड्रोक्विनोन देते हैं। आक्सीजन अणुओं के स्थान के अनुसार क्विनोनों को पारा अथवा आर्थोक्विनोन संबोधित करते हैं। अभी तक किसी मेटाक्विनोन का पता नहीं लगा है।

इस वर्ग का सबसे सरल तथा सर्वप्रथम ज्ञात यौगिक बेंज़ोक्विनोन, $C_6H_4O_2$ है। इसे केवल क्विनोन भी कहते हैं। इसकी अणुसंरचना नीचे दिखाई गई है। सोडियम डाइक्रोमेट तथा सल्फ्यूरिक अम्ल के द्वारा आक्सीकरण होने पर ऐनिलीन से बेंज़ोक्विनोन प्राप्त होता है। यह ऊर्ध्वपातन पर लंबे लंबे सुनहले मणिभ (गलनांक ११५.७°) देता

है। यह ईथर, ऐलकोहल तथा गरम जल में विलेय है। इसकी गंध बड़ी लाक्षणिक तथा तीव्र होती है। यह अपचयित होकर रंगहीन हाइड्रोक्विनोन,
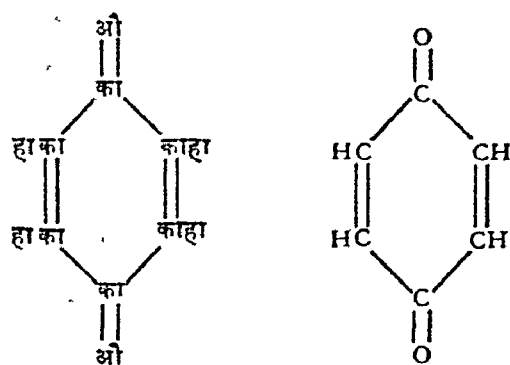
क्विनोन (Quinone)

[$C_6H_4(OH)_2$] में परिवर्तित हो जाता है। इस विलेय ठोस का अधिकतम उपयोग फोटोग्राफी में परिवर्धक (Developer) के रूप मे किया जाता है। इसके एक संजात, अर्थात् टेट्राक्लोरो बेंज़ोक्विनोन, का, जिसे क्लोरैनिल भी कहते हैं, उपयोग आक्सीकारक और कवकनाशक (fungicide) के रूप मे किया जाता है।

इस वर्ग के यौगिक बहुत क्रियाशील होते है तथा इनके संजातों का विशेष आर्थिक महत्व है। कृत्रिम रंजकों के निर्माण में इनका उपयोग उल्लेखनीय है। ऐंथ्राक्विनोन ($C_6H_4C_2O_2C_6H_4$) का उपयोग सबसे अधिक किया जाता है, जिससे ऐलिजरिन, पर्लवन, इंडैंथ्रीन, कैलेडान, जेड-ग्रीन ऐसे अनेक मूल्यवान् रंजक प्राप्त होते हैं। (शि० मो व०)

क्विनोलीन (Quinoline) को रुंगे (Runge) ने अलकतरे के उच्चतापीय आंशिक आसवन से प्राप्त किया, पर बाद में गेरहार्ट (Gerhardt) ने बताया कि क्विनीन (Quinine) अथवा सिनकोनीन (Cinchonine) और कास्टिक पोटाश के आसवन से भी यह प्राप्त होता है। क्विनीन से प्राप्त होने के कारण इसका नाम क्विनोलीन पड़ा। यह अस्थितैल तथा अलकतरा मे प्राप्य है।

क्विनोलीन शुद्ध रूप से रंगहीन तैलीय द्रव है, पर हवा के संपर्क से धीरे धीरे काला पड़ जाता है। इसका आपेक्षिक घनत्व १·०९५ और क्वथनांक २३९° सें० है। इसमें लाक्षणिक दुर्गंध होती है। यह जल मे थोड़ा विलेय है लेकिन साधारण विलायकों में सरलता से विलेय है। लिटमस के साथ क्षारीय परख देता है तथा एकाम्लीय समाक्षार की भाँति अम्लों, जैसे हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, के साथ मणिभीय लवण बनाता है, जो पानी में अधिक विलेय होते हैं।

अपरिष्कृत क्विनोलीन को, जो कोलतार अथवा अस्थितैल से प्राप्त होता है, विशुद्ध बनाना कठिन है, क्योंकि उसमें उसके सजातीय भी मिश्रित रहते हैं। इसलिये शुद्ध क्विनोलीन कृत्रिम विधि से प्राप्त किया जाता है। स्क्राउप (Skraup) की विधि के अनुसार ऐनिलीन (१९ भाग), ग्लिसरीन (६० भाग), सल्फ्यूरिक अम्ल (५० भाग) तथा नाइट्रोबेंज़ीन (१२ भाग) के मिश्रण को दो घंटे तक उबालते है। नाइट्रोबेंज़ीन (आक्सीकारक) के स्थान पर आर्सेनिक अम्ल का प्रयोग अधिक उपयोगी होता है। इस रासायनिक क्रिया में ग्लिसरीन ऐक्रोलीन में परिवर्तित हो जाता है। यह ऐनिलीन के साथ संयोजित होकर ऐक्रोलीन ऐनिलीन बनाता है, जो आक्सीकृत होकर क्विनोलीन बन जाता है।

यह तृतीयक ऐमिन होने के कारण ऐल्किल-आयोडाइडों के साथ चतुष्क ऐमोनियम लवण और अकार्बनिक लवणों के साथ द्विगुण लवण बनाता है, जैसे प्लैटीनीक्लोराइड के साथ $(C_9H_7N)_2H_2PtCl_6 \cdot 2H_2O$। क्विनोलीन के ऊपर नाइट्रिक और क्रोमिक अम्ल की कोई क्रिया नहीं होती पर क्षारीय परमैंगनेट इसे क्विनोलिनिक अम्ल में आक्सीकृत करता है। इसकी अणुरचना नैफ्थेलीन की भाँति है, जिसे हम दो नाभिकों, एक बेंज़ीन तथा दूसरे पिरिडीन के संगलन से प्राप्त समझ सकते हैं :

पिरिडीन नाभिक का शीघ्र ही हाइड्रोजनीकरण होता है। टिन और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से अपचयित होकर क्विनोलीन टेट्राहाइड्रोक्विनोलीन में परिवर्तित होता है। क्विनोलीन के बहुत से प्रतिस्थापन उत्पाद पदार्थ ज्ञात हैं, और इसके संजातों (Homologues) में क्विनैल्डीन, लेपिडीन तथा गामा फेनील क्विनोलीन महत्वपूर्ण हैं।

कुछ क्विनोलीन संजातों का उपयोग ओषधि में प्रतिपूय तथा पीड़ानाशक के रूप में किया जाता है। डिफ्थीरिया रोग में गला धोने के लिये
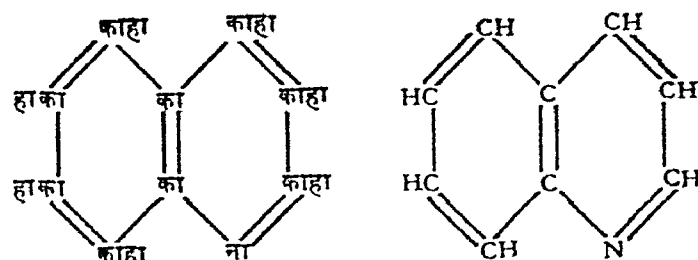
क्विनोलिन
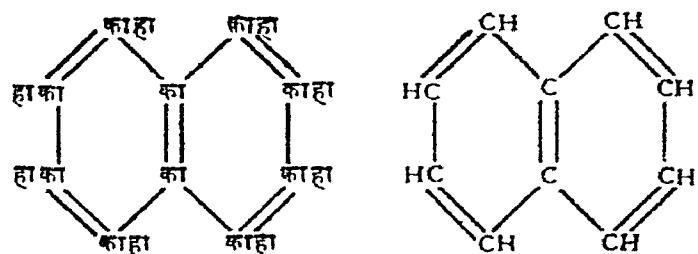
नैफ्थेलीन

भी इसका उपयोग किया जाता है। कृत्रिम रंजकों के संश्लेषण में यह महत्वपूर्ण मध्यवर्ती है। (शि मो० व०)

क्विबेक पूर्वी कैनाडा का सबसे प्राचीन, बड़ा और फ्रांसीसी उद्भव का प्रांत (स्थिति : ४५° से ६२° उ० अ० तक और ५७° से ७९° प० दे०)। क्षेत्रफल : ५,९४,८६० वर्ग मील, जिसमें भूमि ५,२३,८६० वर्ग मील तथा जल ७१,००० वर्ग मील है। इस प्रांत पर फ्रांसीसी संस्कृति की छाप है। इसके तीन प्राकृतिक विभाग है : (१) कैनाडा का पठार, जिसमें प्रांत का ९३% भाग है, (२) ऐपलेशियन प्रदेश तथा (३) सेंट लारेंस नदी की घाटी, जिसमें अधिकांश जनता रहती है। २,१०० मील लंबी, जल यातायात के लिये सेंट लारेंस नदी आदर्श है तथा सेंट फ्रैंसिस, सेंट लुई और सेंट पीटर प्रसिद्ध झीलें हैं। १,२२५ मील लंबे और ९७५ मील चौड़े विशाल क्षेत्र के कारण विविध जलवायु है। ताप ३६° सें० से ऊँचा नहीं जाता। सेंट लारेंस घाटी में पालामुक्त १६० दिन होते हैं। काफी भाग में हिमवर्षा होती है। कैनाडा के कृषि उत्पादनों का १४% इस प्रांत में होता है। रिजका (alfalfa), आलू, चुकंदर, जौ, जई, गेहूँ, मटर, सेम, तंबाकू और गन्ने की खेती होती है। पशुपालन, मत्स्याखेट, मुर्गीपालन, दुग्धउद्योग, मधमक्खी पालन यहाँ के उद्यम हैं। कई प्रकार की मछलियाँ पाई जाती हैं। जंगलों पर आधारित समूर (Fur), कागज तथा लुगदी उद्योग और इमारती लकड़ियों के पेशे में काफी लोग लगे हैं। दुनियाँ की $\frac{1}{3}$ लुगदी और $\frac{1}{4}$ अखबारी कागज यहाँ बनाया जाता है। लैब्रेडार में लोहे के अयस्क की योजना, बर्सीमी (Bersimics) नदी पावर प्लांट स्कीम तथा गैस्पे प्रायद्वीप में ताँबे के उद्योग प्रसिद्ध हैं। मुद्रणयंत्रों, रासायनिक और खाद्य पदार्थों, इस्पात तथा मादक पदार्थों का उत्पादन किया जाता है। पर्यटक उद्योग भी विक-

सित होता जा रहा है, कैनाडा की जलविद्युच्छक्ति का आधा भाग क्विबेक में उत्पन्न होता है। क्विबेक का मनोहर राष्ट्रोद्यान (National Park) २,००० वर्ग मील में फैला हुआ है। यहाँ का प्रसिद्ध नगर माट्रियल है। इस प्रांत की जनसख्या १९६६ मे ५९,७६,००० थी। यहाँ ८२ प्रतिशत फ्रांसीसी, १२ प्रतिशत अंग्रेज, शेष अन्य प्रवासी लोग हैं।

प्रांत की राजधानी का नाम भी क्विबेक है। इसके उत्तर में सेंट चार्ल्स नदी और दक्षिण मे सेंट लारेंस बहती है। समुद्र से ८०० मील दूर स्थित होने पर भी यह प्रसिद्ध नदी बदरगाह है। यहाँ सरकारी भवन, विश्वविद्यालय, प्रसिद्ध स्मारक तथा प्राचीन इमारतें हैं। जूते, कपडे, ईंट, चमडे की सफाई और मुद्रण प्रमुख व्यवसाय हैं। यहाँ से वस्त्र, कागज और अनाज का निर्यात होता है। इस नगर की जनसख्या १९६६ मे ४,१३,३९७ थी। (कृ० मो० गु०)

क्विलरकूच, सर आर्थर टामस (१८६३–१९४४ ई०)

अंग्रेज कवि, उपन्यास लेखक, कहानीकार और समालोचक। २१ नवबर, १८६३ को कार्नवाल मे जन्म और आक्सफोर्ड के क्लिफ्टर कालेज और ट्रिनिटी कालेज मे शिक्षा। वहीं १८८६ मे प्राचीन साहित्य के अध्यापक नियुक्त हुए। १८९९ ई० में लदन से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'स्पीकर' के सपादक बने। १९१० ई० मे उन्हें 'सर' की उपाधि प्राप्त हुई, १९१२ ई० मे वे कैंब्रिज विश्वविद्यालय में अंग्रेजी साहित्य के प्रोफेसर नियुक्त हुए और जीजस कालेज के फेलो निर्वाचित हुए। १९३७ ई० में वे अपने नगर के मेयर चुने गए।

जब वे आक्सफोर्ड मे थे तभी उनकी ख्याति कवि के रूप मे हो गई थी। उनकी अधिकांश कविताएँ १८९६ मे 'पोयम्स ऐंड बैलेड्स' के नाम से प्रकाशित हुई है। वे आरभ मे अपने लिये केवल 'क्य' अक्षर का प्रयोग करते थे। यह 'क्यू' इतना प्रचलित हुआ कि वे समालोचकों और लेखकों के बीच इसी अक्षर से ही जाने और पहचाने जाते है।

१८९५ मे उन्होंने १६वीं-१७वीं शती के गीतकारों की रचनाओं का एक सग्रह 'द गोल्डेन पाम्प'—प्रकाशन किया। उसके बाद विभिन्न कालों के अंग्रेजी कवियों की प्रतिनिधि रचनाओं का तीन सग्रह प्रकाशित किए। वे हैं—'आक्सफोर्ड बुक ऑव इगलिश वर्स' (१९००), 'आक्सफोर्ड बुक ऑव बैलेड्स' (१९१०) और 'आक्सफोर्ड बुक ऑव विक्टोरियन वर्स' (१९१३)।

१८८७ मे उन्होंने अपना पहला उपन्यास 'डेड मैंस राक' प्रकाशित किया जो आर० एल० स्टीवेंसन की रोमांटिक कहानियों के ढग पर लिखा गया था। 'द एस्टानिशिंग हिस्ट्री ऑफ टोरी टाउन' (१८८८), द स्प्लैंडिड स्पर (१८८९), द शिप ऑव स्टार्स (१८९९) उनके अन्य प्रख्यात उपन्यास है। 'रोल काल ऑफ द रीफ' शीर्षक से उन्होंने भूतकथा भी लिखी है।

उनकी समालोचनाओं और निबधों के अनेक सग्रह हैं। उनमे एडवेंचर्स इन क्रिटिसिज्म (१८९६), आन द आर्ट ऑफ राइटिंग (१९१६), शेक्सपियर वर्क मैनशिप (१९१८), स्टडीज इन लिटरेचर (१९१८, १९२२), आन द आर्ट ऑव रीडिंग (१९२०), पेटर्निटी इन शेक्सपियर (१९३२), द पोयट एज सिटिजन ऐंड अदर पेपर्स (१९३४) प्रख्यात है।

१२ मई, १९४४ ई० को फावे (कार्नवाल) मे उनकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्वेटा

उत्तरपश्चिम पाकिस्तान मे लगभग ५,५०० फुट ऊँचाई पर स्थित नगर (स्थिति ३०° ७' उ० अ० और ६७° ३' पू० दे०)। यह बिलोचिस्तान जिले का मुख्य नगर है। इस नाम के मूल मे क्वात-कोट है और स्थानीय लोग इसे 'शलकोट' कहते हैं। गर्मी मे गर्म दिन और ठढी रातें होती हैं। जाडे का ताप प्राय १८° सें० से नीचे रहता है। वार्षिक वर्षा का औसत १० इच है। प्रसिद्ध बोलन दर्रे पर स्थित होने से इसका सैनिक महत्व रहा है। १८७६ ई० मे जब सर राबर्ट सडेमन ने वहाँ छावनी स्थापित की तब उसे महत्व प्राप्त हुआ। इससे पूर्व वह एक छोटा सा बाजार था और कुछ मिट्टी के घर तथा छिटपुट बगीचे थे। यहाँ १९०७ मे एक सैनिक स्कूल खोला गया और यह पश्चिमी अफगानिस्तान, पूर्वी ईरान और अधिकांश मध्य एशिया से व्यापार का केंद्र बना और इसे रेलमार्ग से जोडा गया। १९३५ में यह नगर एक भीषण भूकप मे प्राय एकदम नष्ट हो गया था। इस भूकप से मरे लोगों की सख्या २० से ४० हजार के बीच आँकी गई थी। १९५५ में यहाँ दुबारा भूकप आया था।

आजकल यहाँ पाकिस्तान का सबसे बडा सैनिक अड्डा तथा सैनिक शिक्षालय है और रेलों के द्वारा यह अफगानिस्तान तथा ईरान की सीमा से जुडा है। पाकिस्तान के अन्य नगरों को यहा से सडकें जाती हैं। यहाँ मुख्यत ताजे और सूखे मेवे, फल, जडी बूटी और खाल का व्यवसाय होता हैं। १९६१ मे यहाँ की जनसख्या ५,८५,००० थी। (कृ० मो० गु०, प० ला० गु०)

क्वेमॉए द्वीप

चीन के फ्यूकिन प्रांत के दक्षिणपूर्व फारमोसा जलडमरूमध्य में स्थित द्वीप (स्थिति २४° ४०' उ० अ० तथा ११८° १९' पू० दे०)। एमॉए से यह १५ मील पूर्व है। यहाँ पर चावल और गहूँ की खेती होती है। यहाँ चीनी मिट्टी का खनन होता है, जिसमे सुदर सामान बनाए जाते है। १९४९ ई० मे चीनी साम्यवादी क्रांति के समय यह द्वीप राष्ट्रवादियों का आश्रय बन गया था। यहाँ की अनुमानित जनसख्या लगभग ५० हजार है। (कृ० मो० गु०)

क्वेसान, मैन्युएल लुइस (१८७४–१९४४ ई०)।

फिलीपीन के प्रथम राष्ट्रपति। लूजान द्वीप के तायाबास प्रांत मे बेलर नामक स्थान मे जन्म। १५ वर्ष की अवस्था मे ग्रेज्युएट हुए और मनीला के सत टामस विश्वविद्यालय में कानून की शिक्षा प्राप्त की। १९०३ मे वकालत आरभ की। इसी बीच जब स्पेन अमरीका के बीच युद्ध छिडा तो वे फिलीपीन की सेना मे मेजर रहे। १९०५ मे तायाबास के प्रांतीय प्रशासक के रूप मे राजनीतिक जीवन आरभ किया। १९०७ से १९०९ तक वे फिलीपीन असेंबली के सदस्य रहे। १९०९ मे अमेरिका की कांग्रेस मे फिलीपीन के प्रतिनिधि बनाए गए और १९१६ तक वे वाशिंगटन मे रहे। १९१६ मे वे फिलीपीन के सिनेट के अध्यक्ष चुने गए और १९३५ तक इस पद पर रहे।

इस अवधि मे वे सतत फिलीपीन की स्वतत्रता के लिये प्रयास करते रहे। उनका यह स्वातत्र्य सघर्ष १९३४ मे समाप्त हुआ और फिलीपीन की स्वतत्रता का कानून स्वीकार किया गया। फिलीपीन के स्वतत्र होने पर १९३५ मे वे उसके राष्ट्रपति बनाए गए और मृत्यु पर्यंत इस पद पर बने रहे। अमेरिका के साथ अटूट मित्रता मे उनका विश्वास था। द्वितीय महायुद्ध काल मे उन्होंने जापानियों के विरुद्ध अमेरिका को फिलीपिन मे सुरक्षा पाँत बनाने मे सहायता की। १९४२ मे फिलीपीन पर जापानियों के अधिकार करने से पूर्व ही वे फिलीपीन से बाहर निकल गए और निर्वासित फिलीपीन सरकार का सचालन करते रहे। १ अगस्त, १९४४ को अमरीका मे न्यूयार्क के निकट सारनाक मे उनकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

क्षणिकवाद

बुद्ध के मूलभूत उपदेशों मे 'सर्वं दुखम्' 'सर्वमनित्यम्' और 'सर्वमनात्मम्' का विशिष्ट स्थान है। बौद्ध धर्म और दर्शन का सारा विस्तार इन्हीं तीन सूत्रों के आधार पर हुआ है। ससार दुखमय है क्योंकि वह अनित्य है और उसकी अनित्यता उसकी निस्सारता के कारण है। अनात्मवाद के अनुसार ससार मे नित्य (आत्मा-जैसी) वस्तु का एकदम अभाव है। यदि औपनिषदिक आत्मा नित्य होती तो या तो ससार की उत्पत्ति ही न होती या फिर, इससे छुटकारा ही न मिलता। यदि आत्मा स्वभावत नित्य, शुद्ध, बुद्ध अद्वितीय और मुक्त हो तो उसमे अज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? बिना अज्ञान की उत्पत्ति के ससार कैसे हो सकता है? यदि थोडी देर के लिये मान लें कि आत्मा किसी कारणवश अज्ञान के बधन मे बँध जाती है और ससार का निर्माण होने लगता है, तो फिर आत्मा स्वभावत दूषित हो जायगी। इस दोष से आत्मा का छुटकारा तभी सभव है जब आत्मा

का भी नाश हो। इसी प्रकार बुद्ध ने मूलतत्व का भी खंडन किया और कहा कि उत्पत्ति का अर्थ है परिवर्तन और परिवर्तन एक रूप को त्याग कर दूसरे रूप का ग्रहण करना कहलाता है। नित्य तत्व में परिवर्तन संभव नहीं है क्योंकि परिवर्तन नित्यता का विरोधी है। अतएव उत्पत्ति और विनाशशील विश्व के पीछे किसी नित्य सत्ता का होना बुद्ध को स्वीकृत न हुआ। अनातमवाद के विचार से सहमत होते ही हमें कहना होगा कि विश्व उत्पन्न और नष्ट होनेवाली अनित्य सत्ता है और इसी लिये यह रागादि दोषों से युक्त लोगों के लिये दुःखमय है।

अनित्यता का अर्थ है अल्पकालिक स्थिति। मनुष्य की स्थिति यदि सौ वर्ष की मान लें तो मकान तो १०० वर्षों से भी अधिक समय तक चलता रहता है, परंतु एक समय ऐसा आता है जब सभी नष्ट हो जाते हैं। उत्पत्ति का अर्थ है विनाश। जो उत्पन्न न होगा उसका विनाश भी नहीं होगा, परंतु उत्पत्ति से परे संसार में कुछ भी नहीं है। बुद्ध ने अनित्यता का इसी अर्थ में प्रयोग किया, परंतु विचार करने पर मालूम होगा कि वस्तु का नाश आकस्मिक नहीं है। जरा के उदाहरण से स्पष्ट है कि उत्पत्ति से लेकर नाश तक के बीच में एक क्रम है और हर वस्तु को इस क्रम से गुजरना पड़ता है। अतः नाश क्रमिक है। कालसापेक्ष नाश की व्याख्या तभी संभव है जब हम यह मानें कि वस्तु उत्पन्न होते ही प्रतिक्षण परिवर्तित होने लगती है। आरंभ में परिवर्तन का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता परंतु समय पाकर युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था आती है। इससे स्पष्ट है कि वस्तु के भीतर निरंतर परिवर्तन हो रहा है। सभी भावात्मक पदार्थ प्रतिक्षण बदल रहे हैं। बुद्ध के अनित्यवाद का तार्किक विकास यही क्षणिकवाद अथवा क्षणभंगवाद कहलाता है।

काल का मानव-बुद्धि-गम्य लघुतम अंश क्षण कहलाता है। प्रत्येक वस्तु, चाहे वह आत्मा हो या अन्य कोई पदार्थ, उतने समय के लिये ही रहती है और फिर नष्ट हो जाती है। ग्रीक दार्शनिक हेरेक्लाइतीज़ कहा करता था कि आदमी एक ही धारा में दुबारा स्नान नहीं कर सकता क्योंकि एक बार स्नान करते ही वह धारा आगे बढ़ जाती है और उसका स्थान दूसरी धारा ले लेती है। अंग्रेज दार्शनिक ह्यूम के अनुसार जब कभी हम अपने भीतर किसी नित्य तत्व को ढूँढ़ते हैं तब हमें कोई विशेष अनुभव, विचार या संवेदन ही मिलता है और ये सभी उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाते हैं। बुद्ध के दर्शन में भी इसी गत्यात्मक दर्शन का प्रतिपादन है। सभी तत्व निरंतर स्वभावतः गतिशील हैं, वे अपने आप उत्पन्न और नष्ट होते हैं। यही कारण है कि संसार में नित्यता का दर्शन नहीं होता।

यदि सब क्षणिक है तो एकता का ज्ञान क्यों होता है? एकता के बिना परिवर्तन का ज्ञान असंभव है। हम स्थिर वस्तु के आधार पर ही गति का ज्ञान करते हैं। क्षणिकवाद में ऐसी सत्ता का अभाव है। फिर भी उसके अनुसार एकता का ज्ञान सापेक्षता से होता है। जिस प्रकार विपरीत दिशा में जाते समानांतर रथों पर बैठे व्यक्ति दूसरे रथ को अधिक वेगशाली मानते हैं उसी प्रकार एक व्यक्ति स्वयं परिवर्तित होता हुआ भी, अपने परिवर्तन को भूलकर दूसरे के परिवर्तन को देखता है और उस परिवर्तन की तुलना में अपने को अपरिवर्तित समझता है। इसी प्रकार प्रतिक्षण परिवर्तित वस्तु को 'यह वही है' ऐसा समझना भी भ्रम मात्र है। कारण यह है कि बाल, युवा और वृद्ध की तीन अलग अवस्थाएँ हैं। क्या बाल ही युवा है और क्या वह बालक जो युवा था अब वृद्ध हो गया है? वे सभी एक नहीं हैं क्योंकि हम उनमें स्पष्ट भेद देखते हैं, वे भिन्न भी नहीं हैं क्योंकि व्यवहार में हम उन्हें एक मानते हैं। उनमें भेद तो सत्य है परंतु एकता काल्पनिक है। बहुत से भेद को हम अलग अलग नाम न दे सकने के कारण एक शब्द से ही जानते हैं। अतः भिन्नता में एकता का भान प्रातिभासिक और शाब्दिक है, परमार्थ में क्षण मात्र सत्य है।

एक क्षण स्वयं नष्ट होते ही दूसरे स्वसदृश क्षण को उत्पन्न करता है। एक क्षण में स्थित आत्मा के संस्कार दूसरे क्षण की आत्मा को मिल जाते हैं, जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक जलता है। इसीलिये भेद होते हुए भी स्मृति होती है और व्यक्तित्व की एकता दिखाई देती है। यह कहा जाता है कि क्षणिकवाद को मानने पर आचार के नियमों का लोप हो जाएगा। उदाहरण के लिये, किसी की हत्या करनेवाला व्यक्ति दंड के समय बदल गया है और यह सिद्धांतविरुद्ध बात है कि दूसरे द्वारा किए गए कर्म का फल दूसरे को भोगना पड़े। संतोजपनक समाधान न देते हुए भी क्षणिकवादी कहता है कि व्यवहार दशा में व्यक्ति की एकता तो रहती है अतः वही व्यक्ति दंड पाता है जिसने हत्या की है। परमार्थ दशा में यद्यपि दोनों व्यक्तियों में भेद है तथापि यह भेद व्यक्तित्व के एक सीमित दायरे में ही होता है अतः व्यक्तित्व तो एक है परंतु अवस्था में भेद है। यह आरोप तब सही होता जब एक व्यक्तित्व की सीमा में बद्ध परिवर्तनशील प्राणी हत्या करता और उसके लिये दूसरे व्यक्तित्व की सीमा में बद्ध जीव दंड पाता, परंतु यहाँ व्यक्तित्व वही है क्योंकि उसके सारे संस्कार दंड के समय भी वर्तमान हैं, वह हत्या के समय का स्मरण करता है और उस हत्याकर्म में अपने व्यक्तित्व को लिप्त जानता भी है।

इस क्षणिकवाद का बौद्धों के अतिरिक्त सबने विरोध किया है। यह विरोध केवल इस आधार पर है कि एकता के बिना परिवर्तन संभव नहीं है। यदि व्यक्तित्व के दायरे में जीव को भिन्न मानते हैं तो भी व्यक्तित्व तो कम से कम अपरिवर्तित है। आत्मा और अन्य वस्तुओं में पूर्ण परिवर्तन मानना, उनके अनुसार, संभव नहीं है। हाँ, कुछ अंश में परिवर्तन माने बिना काम भी नहीं चल सकता।

सं० ग्रं०—नागसेन : मिलिंद पञ्हो; बुद्धघोष : विसुद्धि मग्गो; शांतरक्षित और कमलशील : तत्वसंग्रह तथा पंजिका; विश्वनाथ : न्यायसिद्धांतमुक्तावली; उदयन : आत्मतत्वविवेक; कुमारिल : श्लोकवार्तिक; वाचस्पति : न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका। (रा० चं० पां०)

क्षतिपूर्ति किसी अन्य व्यक्ति के व्यवहार से जब किसी को कुछ हानि पहुँचती है तब उसमें एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह जानने की होती है कि इसका उपचार क्या होगा? विधि का यह अंतर्निहित कर्तव्य है कि वह हानियों की पूर्ति करे। इस पूर्ति की कई रीतियाँ हैं। एक तो यह कि हानि उठानेवाले को कुछ मुद्राएँ देकर क्षतिपूर्ति की जाय। अतः क्षतिपूर्ति वह वस्तु है जिससे प्रतिवादी के कर्तव्योल्लंघन से हुई हानि की पूर्ति उसके ही द्वारा वादी को दी जानेवाली एक निश्चित धनराशि से की जा सके। इस क्षतिपूर्ति की दो समस्याएँ हैं। पहली यह कि वादी की उक्त क्षति की परिधि कितनी है जिसके लिये प्रतिवादी को उत्तरदायी ठहराया गया। दूसरी यह कि पूरणीय क्षति की सीमा निश्चित हो जाने पर भी रुपयों में उसका मूल्य कैसे कूता जाय। दोनों ही बातें एक सुव्यवस्थित विचार की अपेक्षा रखती हैं। इन समस्याओं से संबद्ध कुछ आधारभूत नियम हैं :

पहला यह कि 'मानवीय दुष्कृत्य अपने होनेवाले प्रभावों तक ही नहीं सीमित रहते। बहुधा कार्यकारण की एक श्रृंखला होती है जो उसके दुष्परिणामों की दूरस्थ दिशाओं तक चली जाती है।'[1] 'एक जहाज यदि किसी दूसरे जहाज से टकरा जाय तो जहाज का स्वामी दिवालिया हो ही जायगा, बाद को उसका परिवार भी शिक्षा एवं अवसरों के अभाव से पीड़ित हो सकता है।'[2] नैतिक सदाचार एवं सुनागरिकता की दृष्टि से तो दोषी को वादी की उक्त हानि से उत्पन्न सभी प्रकार के अभावों के लिये उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए। हम प्रतिवादी द्वारा किए गए अपराध के परिणामों को किसी निश्चित अंश तक नहीं पहुँचा सकते। परिणामों का तो अंत नहीं, किंतु अपेक्षित कर्तव्यों का एक अंत अवश्य है। विधि इसी अपेक्षित कर्तव्य की व्यवहार्य एवं सुसंगत सीमाएँ तय करना आवश्यक समझती है। जहाँ कहीं भी प्रतिज्ञाबद्ध समझौते के उल्लंघन का प्रश्न सामने आता है, 'हैडली बनाम बैक्सेंडल'[3] वाले मुकदमे के नियम लागू होते हैं। इनके अनुसार केवल उन्हीं क्षतियों की पूर्ति होनी चाहिए जो या तो स्वभावतः उत्पन्न हैं (अर्थात् उस समझौते के उल्लंघन से होनेवाले स्वाभाविक व्यापारों की उपज हैं) या जिनके विषय में तर्कसंगत उपायों से ऐसा समझ लिया गया कि उभय पक्ष ने समझौता करते समय ही उसके उल्लंघन से उत्पन्न, इन परिणामों की कल्पना कर ली थी।

हानि विषयक विधि (लॉ ऑव टॉर्ट्स) में 'ग्रीनलैंड बनाम चैप्लिन'[4] वाले मामले में बताया गया है कि प्रतिवादी से केवल उन्हीं ... की अपेक्षा की जा सकती है जिनकी पूर्वकल्पना कोई ...

समझा जानेवाला व्यक्ति कर सकता हो। किंतु भविष्यदर्शिता की इस कसौटी को 'स्मिथ बनाम लदन ऐंड साउथ वेस्टर्न रेलवे क०'[4] वाले मामले के निपटारे मे नही अपनाया गया था। इसमे तय हुआ था कि 'असावधानी (नेग्लिजेंस) की स्थिति मे दोषी सभी प्रकार के परिणामो के लिये उत्तरदायी है, चाहे उन्हे उसने पहले से सोच रखा हो अथवा नही। असावधानी सिद्ध हो जाने के बाद इस आपत्ति की गुजाइश नही रह जाती की क्षतिपूर्ति की माँग आशा से अधिक है। यह नियम 'इन रे पोलेमिस फर्नेस विदी एड क० वाले मामले मे स्थिर हुआ'[5]। प्रतिवादी के नौकर जहाज से माल उतार रहे थे। एक ने शहतीर के एक तख्ते को ठोकर मारी और वह तख्ता जहाज के पेट्रोल-वाष्प (पेट्रोल वेपर से) रगड़ खाता नीचे की ओर गया। इस क्रिया से उसमे आग लग गई और यह आग कुछ देर मे पूरे जहाज मे फैल गई। जहाज के मालिक ने पूरे जहाज की क्षतिपूर्ति का दावा किया। बचाव मे प्रतिवादी का कहना था कि उसे इतने बड़े दुष्परिणाम की कल्पना न थी किंतु यह युक्ति स्वीकार नही की गई। किसी भी क्रिया मे असावधानी सिद्ध हो जाने के पश्चात् प्रतिवादी उन सभी परिणामो का उत्तरदायी होगा जिनका सबध सीधे तौर पर उक्त कार्य से जोड़ा जा सकता है।

दूसरी समस्या है क्षतिपूर्ति के स्वरूप एव सीमा को निर्धारित कर देने के बाद उसका मूल्य रुपया मे कूतने की। क्षतिपूर्ति का मूल्याकन नीचे लिखे नियमो द्वारा होता है

पहला यह कि शर्तबध समझौते की विधि मे क्षतिपूर्ति का आधारभूत उद्देश्य होता है—हानि सहनेवाले पक्ष को उपयुक्त धनराशि दिलाकर उसी स्थिति पर ले आना जिस पर वह समझौता भग होने के बदले उसकी पूर्ति हो जानेवाली दशा मे पहुँच पाता। यो क्षतिपूर्ति वादी द्वारा झेले जानेवाले नुकसान को भरने के लिये ही होती है, न कि उस उल्लघनकर्ता को सजा देने के लिये। हानिविषयक विधि मे भी नियम तो इसी आपूर्ति का ही है, किंतु इसमें क्षति किए जाने के ढग पर क्षतिपूर्ति का परिमाण बढ़ाया घटाया जा सकता है। जहाँ क्षति जनबूझकर अथवा द्वेषवश पहुँचाई जाती है वहाँ न्यायालय वादी की क्षति की आपूर्ति यथोचित धन से भी अधिक देकर कर सकता है। इस प्रकार की क्षतिपूर्तियाँ आदर्श अथवा दडात्मक समझी जाती है। दडात्मक क्षतिपूर्तियो का उद्देश्य एक ओर तो प्रतिवादी को दड देना है, दूसरी ओर अभावग्रस्त वादी को अनुप्राणित करना भी है। जहाँ क्षति अजानवश पहुँचाई गई है अथवा वादी वैसे भोगदड के उपयुक्त है, उसे बहुत छोटी रकम से क्षतिपूर्ति करने को कहा जाता है। ये मानभजक क्षतिपूर्तियाँ मानी गई है। ये वादी के कार्य के विरुद्ध न्यायालय की बेरुखी प्रकट करती है।

दूसरा यह कि चूँकि प्रतिज्ञाबद्ध समझौते (कट्रैक्ट) और विक्षति (टॉर्ट) दोनो ही मामलो मे अतर्निहित उद्देश्य अभावपूर्ति का ही होता है, एक यह नियम अपने आप नि सृत होता है कि यदि वादी ने हानि नही उठाई है तो वह किसी क्षतिपूर्ति का भी दावेदार नही है। किंतु वादी के वैध अधिकारो के अतिक्रमण की अवस्था मे न्यायालय एक छोटी रकम की क्षतिपूर्ति उसे दिला सकता है। ये नाम्ना क्षतिपूर्तियाँ है जो वस्तुत रकम कही जाने योग्य तो होती है किंतु परिमाण की दृष्टि से उनका कोई खास अस्तित्व नहीं होता। 'ऐशबी बनाम ह्वाइट'[7] का मामला इसका उदाहरण है। वादी ससदीय चुनाव मे मतदाता था। चुनाव-अधिकारी से उसे अपना मत देने से रोका। वादी ने उसपर अपने वैध अधिकार के हनन का दावा किया। प्रतिवादी ने बचाव मे यह तर्क उपस्थित किया कि वादी को उससे कोई वित्तीय क्षति नही हुई। किंतु न्यायालय ने कहा—हर हानि अपनी क्षतिपूर्ति लेती ही है, भले ही उस पक्ष की एक कौड़ी भी हानि न हुई हो। क्षतिपूर्ति केवल दडात्मक ही नही होती। हानि अपनी क्षतिपूर्ति उस दशा मे भी लेती है जब किसी अधिकारक्षेत्र मे कोई बाधा होती है। जैसे गलत प्रचार मे कहे गए शब्दो द्वारा किसी को भी, कम से कम, मात्र कहे जानेवाले शब्दो से कोई आर्थिक हानि नही होती लेकिन उसपर कार्रवाई की जा सकती है। किसी व्यक्ति ने यदि किसी अन्य की कनपटी पर एक मुक्का मारा तो इससे पीड़ित व्यक्ति का कुछ भी व्यय नहीं हुआ, किंतु एतदर्थ उसपर कार्रवाई हो सकती है। किसी दूसरे की भूमि पर सवारी ले जाना हानि न होते हुए भी उसकी सपत्ति पर आक्रमण माना जा सकता है।

तीसरा यह कि समझौते एव विक्षति, दोनो ही मामलो मे वादी का कर्त्तव्य क्षति का शमन करने के लिये आवश्यक कदम उठाना हो जाता है। उदाहरणार्थ, प्रतिवादी ने समझौता भग करते हुए यदि वादी के माल को अपने जहाज पर लादने से इनकार कर दिया तो यह वादी का कर्त्तव्य है कि, उपलब्ध हो सके तो, वह किसी दूसरे जहाज पर सामान लदवा दे। यदि उसने इसमे असावधानी दिखलाई और अकस्मात् तूफान आ जाने से डॉकयार्ड मे पड़ा पड़ा सामान नष्ट हो गया तो प्रतिवादी इस हानि के लिये उत्तरदायी नही। इसी प्रकार किसी एक दल द्वारा सामग्रीवाही जहाज दिए जाने से इनकार किए जाने पर क्षति के शमन के लिये जहाज के मालिक का कर्त्तव्य है कि वह वैसे अन्य किसी भी सुलभ जहाज का उपयोग करे।

इस सिद्धात का विश्लेषण 'जमाल बनाम मुल्ला, दाउद ऐंड क०'[8] वाले मामले मे हुआ है। एक समझौते के अनुसार २३,५०० शेयरो के बेचने और ३० दिसबर, १९११ तक उसे भेजे जाने तथा भुगतान होने की बात तय हुई। शेयर आमत्रित किए गए लेकिन प्रतिवादी ने उनकी डिलीवरी लेने अथवा पैसे चुकाने से हाथ खीच लिया। अब ऐसे मामलो मे समझौतेवाले तथा बाजार के मूल्यो के बीच अतर ही इसकी पूर्ति का आधार होगा। समझौता भग वाले दिन शेयरो पर समझौतेवाले मूल्य से १,०६,२१८ रु० कम मिलना चाहिए था। लेकिन २८ फरवरी, १९१२ तक कोई बिक्री नही हुई। इस समय बाजार दर बढ़ रही थी अत शेयरो पर, समझौतेवाले दाम से केवल ७९,८६२ रु० कम मिले। प्रतिवादी का आग्रह था कि उसे केवल ७९,८६२ रु० का ही उत्तरदायी ठहराया जाय। किंतु निश्चित हुआ कि ऐसी क्षतिपूर्तियों की माप, समझौता भग होनेवाले दिन की बाजार दर और समझौते की दर के बीच का निहित अतर होना चाहिए। यहाँ बेचनेवाला अपनी क्षतिपूर्ति के लिये उसका भरपूर मूल्य ले सकता है। यदि विक्रेता समझौता-भग होने के बाद भी उन अशो को रखता है तो वह खरीदनेवाले से, बाजार दर गिर जाने की अवस्था मे, न तो किसी प्रकार की अतिरिक्त क्षतिपूर्ति पाने का अधिकारी होगा और न बाजार दर बढ जाने की अवस्था मे क्षतिपूर्ति की रकम घटा ही सकेगा।

प्रतिवादी द्वारा देय क्षतिपूर्ति का मूल्याकन मुख्यत न्यायालय ही करता है। मूल्याकन न्यायालय के विचाराधीन होने की अवस्था मे की गई कार्रवाई 'अगृहीत क्षतिपूर्ति' के लिये हुई कहलाती है। किंतु कभी कभी ये समझौतेवाले पक्ष क्षतिपूर्ति की रकम की माँग समझौता भग करनेवाले व्यक्तियो से करते हैं। यदि उस तय की हुई रकम का अनुमान सभावित हानि के बिलकुल बराबर होना ठीक मान लिया गया तो वह 'अदा की गई क्षतिपूर्ति' समझी जायगी और पूरी रकम ही दोषी पक्ष को देनी होगी। किंतु यदि वह सभावित हानि के बराबर नहीं समझा गया वरन् यह माना गया कि समझौता भजक को दड देने अथवा इस प्रकार की गलती का अत्यधिक भुगतान के लिये निश्चित की गई है तो इसे जुर्माने के बराबर समझा जायगा। न्यायालय इससे असहमति रखता है और केवल उन्ही क्षतिपूर्तियो को अनुमति देता है जो वादी की वास्तविक हानि को पूरी करते हो।

पादटिप्पणियाँ—१. अमरीकी मुकदमे 'वावे बनाम वैरिंगटन' मे स्थिर। २ लार्ड राइट—लिसे बाश ड्रेजर बनाम एडिसन एस० एस० १९३३ ए० सी। ३. १८५४ प्र० उदा० ३४१। ४ १८५० ५ उदा० २४३। ५ १८७० एल० आर० ६ सी० पी० १४। ६ १९२१ ३ के० बी० ५६०। ७ १ स्मिथ 'प्रमुख मामले' (१३वाँ सस्क०) २५३। ८ १९१५, ४३ आई० ए० ६ या १९१५ ए० सी० १७५।

(अ० नि०)

क्षत्रप प्राचीन काल मे फारस के सम्राटो द्वारा प्रातीय शासको के लिये दिया हुआ नाम (क्षत्रपावन)। इरानी का शत्रप्रपन भी इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ प्रदेश का रक्षक होता है। ग्रीक लेखको—हेरोदोतस, थ्यूसिदीदिज़ तथा जेनोफन ने बाबुल, मिस्र आदि

देशों के अभिलेखों में इसका अर्थ उपशासक अर्थात् लेफ्टिनेंट गवर्नर किया है। हेरोदोतस के अनुसार कुरुष महान् ने अपने साम्राज्य को अनेक प्रांतों में विभक्त किया; दारयवौष ने उनका एक निश्चित ढंग से संगठन किया तथा अपने पूरे साम्राज्य मे २१ क्षत्रप प्रांतों का निर्माण किया और उनका कर भी निश्चित किया। क्षत्रपों तथा उपक्षत्रपों का सर्वप्रथम कार्य अपने प्रांतों का भूमिकर इकट्ठा करना था। क्षत्रप इस कर में से राजकीय सेना, न्यायाधीशों तथा अपने व्यक्तिगत व्ययों को निकालकर अवशिष्ट भाग सम्राट् को देता था। यदि क्षत्रप सम्राट् का कृपापात्र बनना चाहता तो वह सम्राट् के भाग की मात्रा अधिक कर देता। क्षत्रपों की ओर से सम्राट् के लिये कोई निश्चित रकम नहीं बँधी होती थी।

सारे आय का हिसाब रखने तथा सम्राट् के भाग की निगरानी करने के लिये राजकीय कायस्थ रहता था। उन्हीं को सम्राट् की ओर से राजकीय आदेश प्राप्त हुआ करते थे। इस प्रकार दी हुई आज्ञा के शीघ्रातिशीघ्र पालन की आशा की जाती थी। इसमें तनिक भी अवरोध विद्रोह समझ लिया जाता था। क्षत्रपों को इसके लिये दंड मिलता था और तुर्की साम्राज्य की भाँति उनके दंड में कोई औपचारिकता नहीं बरती जाती थी। क्षत्रपों के पास सम्राट् की आज्ञा पहुँचाने की विधि के लिये एक एक दिन की यात्रा की दूरी पर एक-एक व्यक्ति रहता था। एक दूसरे के पास, दूसरा तीसरे के पास, इस प्रकार क्षत्रपों तक संदेश पहुँचाया जाता था। फारस के सम्राटों के पास क्षत्रपों की अधीनता प्राप्त करने के लिये अन्य प्रकार भी थे। एक कमिश्नर को सेना के संरक्षण के साथ वातावरण तथा आवश्यकता के अनुसार कृपा प्रदान करने अथवा दंड देने के लिये भेजा जाता था। जेनोफ़न के अनुसार यह प्रथा साम्राज्य के आरंभ से ही चली आ रही थी और उसके समय भी प्रचलित थी। क्षत्रपों के कार्यो की निगरानी के लिये सम्राट् स्वयं साम्राज्य के प्रत्येक प्रदेश में प्रति वर्ष जाया करता था। यदि वह स्वयं नहीं जा पाता तो अपने किसी प्रतिनिधि को भेज देता था। क्षत्रपों के अपने प्रांत में भूमि की उर्वरता अथवा कृषि की अभिवृद्धि के लिये विशेष प्रयास करने पर उनको कुछ और भी प्रांत प्रदान कर दिए जाते थे किंतु जहाँ यह सुव्यवस्था नहीं प्राप्त होती थी वहाँ से प्रदेश को काटकर दूसरे क्षत्रप प्रांतों में मिला दिया जाता था। प्रांतों के प्रशासन के विधान का भार सम्राट् पर होता था जो अपने भाई, किसी कुटुंबी अथवा दामाद को क्षत्रप नियुक्त करता था। भारतवर्ष में नहपान ने अपने दामाद उषवदात को क्षत्रप बना रखा था।

सम्राट् के साथ बहुधा निकट संबंध के कारण क्षत्रपों के जीवन में सम्राट् की ही भाँति विलासिता परिलक्षित होती थी। क्षत्रप के दरबार में भी सम्राट् की भाँति औपचारिकता बरती जाती थी। सम्राट् की भाँति ही क्षत्रपों का भी अपना अंतःपुर होता था। अंतःपुर में क्लीबों की पर्याप्त संख्या रहती थी। राजकीय सेना के अतिरिक्त क्षत्रपों की व्यक्तिगत सेना हुआ करती थी। सम्राट् की ही भाँति उनके भी महलों में उद्यान, प्रमदवन, आदि होते थे। सम्राटों की भाँति वे भी वर्ष के कतिपय महीनों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर समय व्यतीत करने के लिये जाते थे। क्षत्रपों को इस प्रकार अधिक राजकीय शक्ति स्वतः प्राप्त थी। सैन्य तथा अन्य शक्तियों के अधिष्ठाता होने के अतिरिक्त एक और भी बात थी जिसके कारण क्षत्रप अत्यंत शक्तिशाली हो जाते थे और उनके विद्रोह करने की आशंका बनी रहती थी। कभी कभी वे विद्रोह भी कर देते थे। कभी दो या अधिक क्षत्रप प्रांतों का अधिष्ठाता एक ही क्षत्रप बना दिया जाता था जिसे महाक्षत्रप कहते थे। इन्हें अधिक सैन्यशक्ति तथा राजकीय शक्ति प्राप्त होती थी जो उनके विद्रोह में सहायक होती थी। इसका उदाहरण दारयवौष के राज्यकाल में ही प्राप्त है। आरोक्लीज ने, जो फ़ीज़िया तथा लीदिया दोनों का क्षत्रप था, विद्रोह कर दिया था। परवर्ती शासकों के काल में, विशेषकर लघु एशिया में, क्षत्रपों के विद्रोह अधिक होने लगे। लघु कुरूष् के काल से क्षत्रपों की इस प्रवृत्ति में निरंतर वृद्धि होती गई। क्षत्रप कभी कभी खुला विद्रोह करते थे और अपने को स्वतंत्र शासक घोषित कर देते थे। इन विद्रोही क्षत्रपों में से बहुतों ने कई राज्यवंशों की स्थापना की और बाद में बिलकुल स्वतंत्र हो गए। इन सबके बावजूद सम्राट् उनकी अधीनता प्राप्त करने में सफल रहता था। इसका प्रमुख कारण क्षत्रपों में पारस्परिक कलह और युद्ध था। इसके अतिरिक्त दरबार में स्त्रियों की अधिकता तथा व्यभिचार के वातावरण से भी क्षत्रपों के व्यक्तित्व में सहज ढीलापन आने लगता था। क्षत्रप अपने को प्रांतों के रक्षार्थ नियुक्त नहीं समझते थे बल्कि उनपर अपना आधिपत्य समझते थे। इसका एक कारण यह भी था कि क्षत्रपीय प्रशासन व्यवस्था अंशतः आनुवंशिक भी थी। वे क्षत्रप प्रांतों के भूमिकर तथा अन्य आयों का उपभोग करते थे।

जेनोफ़न के समय मिसिया के एक क्षत्रप ने उपक्षत्रप भी नियुक्त किया था जिसे उस प्रदेश के लोग कर देते थे और वह उसके बदले व्यवस्था करता था। यही व्यवस्था उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा के लिये भी होती रही। इस प्रकार की व्यवस्था ने साम्राज्य के ढाँचे को सहज ही ढीला कर दिया। परवर्ती काल में क्षत्रपों को राजकीय सेना के संचालन का भी अधिकार मिल गया था, विशेषकर तब जब वह राज्यपरिवार का, अथवा उसका संबंधी होता था। लघुकुरुष मिसिया, फ़्रीज़िया, तथा लीदिया का क्षत्रप था पर युद्ध में सपूर्ण सेना का सेनापति भी वही था। यही स्थिति फ़ार्नबेसस तथा अन्य क्षत्रपों की भी है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि क्षत्रप प्रांतों में सैनिक शासन हो गया था। वस्तुतः सम्राट् सैनिक तथा समाज के अधिकारियों, दोनों को स्वयं नियुक्त करता था। मैजिस्ट्रेटों की नियुक्ति भी वह स्वयं करता था। क्षत्रप मजिस्ट्रेटों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। क्षत्रपीय प्रशासन व्यवस्था को सिकंदर तथा उसके उत्तराधिकारियों ने भी अपनाया था, विशेषकर सिल्युकस के साम्राज्य में यही व्यवस्था थी।

भारतवर्ष में शकों के जो राज्य स्थापित हुए उनमें भी क्षत्रपीय राज्यव्यवस्था थी। भारतीय क्षत्रपों के तीन प्रमुख वंश और एक राजवंश था--

(१) कपिशा, पुष्पपुर और अभिसार के क्षत्रप,
(२) पश्चिमी पंजाब के क्षत्रप,
(३) मथुरा के क्षत्रप, और
(४) उज्जैन के क्षत्रप।

(१) कपिशा, पुष्पपुर तथा अभिसार के क्षत्रपों का पता वहाँ से प्राप्त अभिलेखों से मिलता है। माणिक्याला अभिलेख में ग्रणव्हयक के पुत्र किसी क्षत्रप का उल्लेख मिलता है। उसे कापिशि का क्षत्रप बताया जाता है। ८३वें वर्ष (संवत ?) के काबुल संग्रहालय अभिलेख में पुष्पपुर के तिरव्हर्ण नामक एक क्षत्रप का उल्लेख है। अभिसारप्रस्थ से प्राप्त एक ताँबे की अँगूठी के आकार की मुद्रा पर क्षत्रप शिवसेन का नाम प्राप्त है।

(२) पंजाब के क्षत्रप तीन वंशों से संबंध रखते हैं--

(अ) कुजुलक अथवा कुजुलुक वंश--इसमें लिअक तथा उसके पुत्र पतिक, जो संभवतः क्षहरात वंश के थे, गिने जाते हैं। इनका शासन चुक्ष जिले के आस पास था। कभी एक कभी दो पतिकों के भी होने का अनुमान विद्वान् करते हैं। कुजुलुअ का यह वंश मथुरा के क्षत्रपों से संबंधित अनुमान किया जाता है। शकों को यह प्रांत यूक्रेतीदीज़ के वंशजों से प्राप्त हुआ था। ७८वें वर्ष के (संवत् ?) तक्षशिला के एक ताम्रपत्र से पता चलता है कि लिअक मोग नामक नरेश का क्षत्रप था। उसके पुत्र पप्कि को अभिलेख में महादानपति कहा गया है।

(ब) मणिगुल तथा उसका पुत्र जिहोनिक--मुद्राशास्त्रियों ने इन्हें अयस द्वितीय का, पुष्कलावती पर शासन करनेवाला, क्षत्रप माना है। किंतु तक्षशिला से प्राप्त रजतपात्र अभिलेख (वर्ष १९१ संवत् ?) के अनुसार जिहोनिक चुक्ष जिले का क्षत्रप बताया गया है। इनका उत्तराधिकारी कुपुलकर कहा जाता है।

(स) इंद्रवर्मन् का वंश--इस वंश में इंद्रवर्मन्, उसके पुत्र अस्पवर्मन् तथा अस्पवर्मन् के भतीजे सस आते हैं। अस्पवर्मन् ने अयस द्वितीय तथा गुदूफर दोनों के राजत्व काल में क्षत्रप का कार्य किया और सस ने गुदूफर तथा उसके उत्तराधिकारी पैकोरिज के राज्यकाल में क्षत्रप का कार्य किया।

(३) मथुरा के क्षत्रप—इस वश मे सबसे पहला रजुवुल अथवा रजुवुल था जिसने सभवत. पहले साकल पर भी राज्य किया। स्टेन-कोनो ने उसके वश का इस प्रकार अनुमान किया है
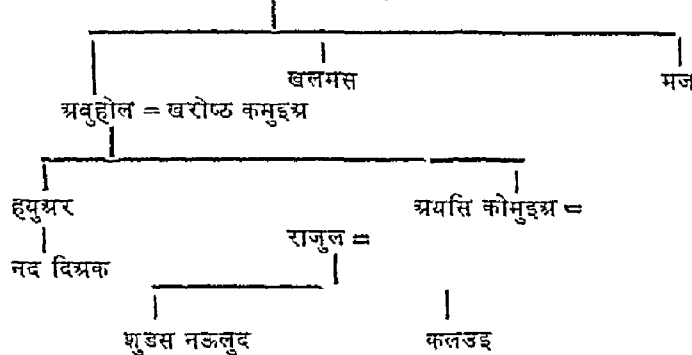
रजुवुल का नाम अभिलेखो तथा मुद्राओ मे प्राप्त होता है। मोरा कूप अभिलेख मे उसे महाक्षत्रप कहा गया है। किंतु उसकी मुद्राओ पर प्राप्त लेख मे उसे राजाधिराज कहा है। रजुवुल (राजुल) का उत्तराधिकारी शुडस (अथवा शोडास) था। अभिलेखो मे उसे भी महाक्षत्रप कहा गया है। इनके अभिलेखो में दिए गए वर्षों को कुछ विद्वान् शक और कुछ विक्रम सवत् मे मानते हैं। इस मतभेद को मिटाने का साधन अभी तक नहीं प्राप्त हो सका है। खरोष्ठ, कोनो के अनुसार, राजुवुल का श्वसुर तथा फ्लीट के अनुसार, दौहित्र था। एक मुद्रा पर खरोष्ठी लिपि मे 'क्षत्रपस प्रखर ओप्टस अर्टसपुत्रस' लिखा हुआ मिलता है।

इन क्षत्रपो के मूलदेश के सबध मे विद्वानो मे मतभेद है। कभी उन्हे पह्लाव, कभी शक देश से आया हुआ बताया जाता है। सभवत. वे शक थे। फारस से होकर आने के कारण वे क्षत्रपीय शासन व्यवस्था से परिचित और उससे सबद्ध हो गए, इनके अतिरिक्त हगान और हगामश नामक दो क्षत्रपो की भी मुद्राएँ मथुरा से प्राप्त होती है जो रजुवुल वश के पश्चात् मथुरा के शासक अनुमान किए जाते है। कुछ सिक्को पर इन दोनो के सयुक्त नाम मिलते हैं और कुछ पर केवल हगामश का ही। इनके पश्चात् मथुरा मे दो तीन क्षत्रप और हुए जिनके नाम भारतीय हैं। कदाचित् इस काल तक इन विदेशियो ने पूर्ण रूप से भारतीयता ग्रहण कर ली थी।

(४) उज्जैन के क्षत्रप—उज्जैन के क्षत्रपो को पश्चिमी भारत के क्षत्रप के नाम से भी पुकारते हैं। ये क्षत्रप दो वशो के प्रतीत होते है। पहला वश भूमक और नहपान का था तथा दूसरा चष्टन का। भूमक के उत्तराधिकारी नहपान का पता उसकी रजत एव ताम्रमुद्राओ से ही नहीं वरन् उसके दामाद उषवदात के अभिलेखो से भी लगता है। नहपान ने पश्चिमी भारत के कुछ भाग पर भी राज्य किया था। उसने सातवाहन साम्राज्य का कुछ भाग भी जीत लिया था। इसके वश को पहरात कहते हैं। पहरात वश को रुद्रदामन् प्रथम ने समाप्त किया। गिरनार अभिलेख मे उसे 'खखरात वसनिवसेम करस' कहा गया है।

उज्जैन मे शासन करनेवाले द्वितीय वंश के क्षत्रपो मे कार्दमकवशीय चष्टन के पिता यस्मोतिक का नाम सर्वप्रथम आता है। चष्टन का पुत्र जयदामन् क्षत्रप था किंतु सभवत. वह पिता के जीवनकाल मे ही मर गया और उज्जैन पर चष्टन तथा रुद्रदामन् ने संमिलित रूप से शासन किया। जूनागढ अभिलेख मे महाक्षत्रप रुद्रदामन् के सबंध मे कहा गया है कि उसने महाक्षत्रप की उपाधि अर्जित की थी। प्रतीत होता है कि उसके वश की राज्यश्री संभवतः गौतमीपुत्र सातकर्णि ने छीन ली थी और रुद्रदामन् को महाक्षत्रप की उपाधि पुन उन प्रदेशो को जीतकर अर्जित करनी पड़ी। जूनागढ अभिलेख मे उसकी विजयो तथा उनके व्यक्तित्व की प्रशस्ति है। रुद्रदामन् प्रथम का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र दामघसद (प्रथम) हुआ। उसके पश्चात् दामघसद का पुत्र जीवदामन् तथा उसका २ रुद्रसिंह प्रथम उत्तराधिकारी हुए। इसी रुद्रसिंह के समय आभीरों ने पश्चिमी क्षत्रपो के राज्य का कुछ भाग हड़प लिया था। रुद्रसिंह प्रथम के उत्तराधिकारी उसके तीन पुत्र रुद्रसेन प्रथम, सघदामन् तथा दामसेन हुए। तदनतर दामसेन के तीन पुत्र यशोदामन्, विजयसेन तथा दामजदश्री महाक्षत्रप हुए। दामदजश्री का उत्तराधिकारी उसका भतीजा रुद्रसेन द्वितीय हुआ। इसके पश्चात् उसके पुत्र विश्वसिंह तथा भर्तृदामन् हुए। भर्तृदामन् के ही काल से उसका पुत्र विश्वसेन उसका क्षत्रप बना। भर्तृदामन् तथा विश्वसिंह का सबध महाक्षत्रप रुद्रदामन् द्वितीय से क्या था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इस वश का अतिम क्षत्रप रुद्रसिंह तृतीय हुआ जिसने लगभग ३८८ ई० तक शासन किया। गुप्तवश के चद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने उज्जैनी के क्षत्रपो का अत कर उनके साम्राज्य को अपने साम्राज्य मे मिला लिया और उनके सिक्को के अनुकरण पर अपने सिक्के प्रचलित किए।

स० ग्र०—पर्शिया (स्टोरी ऑव द नेशन सिरीज); कॉरपस इन्स्क्रिप्शनम इडिकेरम, भाग २, टी० राइस सीदियस; डब्ल्यू० डब्ल्यू० टार्न . ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐड इडिया, रायचौधुरी . पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एशेंट इडिया (पचम सस्करण), रैप्सन . एशेट इडिया, रैप्सन . केब्रिज हिस्ट्री ऑव इडिया, भाग १। (चं० भा० पा०, प० ला० गु०)

क्षत्रिय क्षत्रिय (पाली रूप 'खत्तिय'), क्षत्र, राजन्य एव राजपूत ये चारो शब्द सामान्यतया हिंदू समाज के द्वितीय वर्ण और जाति के अर्थ मे व्यवहृत होते हैं किंतु विशिष्ट ऐतिहासिक अथवा सामाजिक प्रसग मे परिपार्श्वो से सबद्ध होने के कारण इनके अपने विशेष अर्थ और ध्वनिया है। क्षत्र (ऋ०, १,१५७,२) का अर्थ मूलत. 'वीर्य' अथवा 'परित्राण शक्ति' था किंतु बाद मे यह शब्द उस वर्ग को अभिहित करने लगा जो शस्त्रास्त्रो के द्वारा अन्य वर्णो का परिरक्षण करता था ('क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्र', रघु०)। राजन्य का यौगिक अर्थ है राजकुल से सबद्ध वर्ग। पूर्वमध्यकाल से राजपुत्र शब्द का अपभ्रश राजपूत शब्द द्वितीय वर्ण के अंतर्गत चौहान, परमार आदि वशो के अर्थ मे व्यवहृत होने लगा। क्षत्रिय शब्द इन सबमे अधिक व्यापक है। वेदो तथा ब्राह्मणो मे क्षत्रिय शब्द राजवर्ग के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जातको (रीज डेविड्स, बुधिस्ट इडिया, पृ० ५२, डायलाग्स ऑव द बुद्ध, १, पृ० ६५) और रामायण-महाभारत मे (हॉप्किस, जरनल ऑव अमेरिकन ओरिएंटल सोसायटी, १३, पृ० ७३) क्षत्रिय शब्द से सामंत वर्ग और अनेक युद्धरत जन अभिहित हुए हैं। स्मृतियों मे कुछ युद्धपरक जनजातियाँ व्रात्य क्षत्रिय वर्ग के अतर्गत अनुसूचित की गईं।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण समाज मे सर्वाधिक महत्वशाली थे। वैदिक परपरा मे ब्राह्मण का स्थान क्षत्रिय से उच्चतर है किंतु ब्राह्मण, उपनिषद् (शतपथ ब्रा० १४, ४, १, २३, तैत्तरीय, ३, १, १४) और पाली साहित्य मे कुछ ऐसे उल्लेख है जिनसे ज्ञात होता है कि अवसरविशेष पर क्षत्रियो ने ब्राह्मणो से श्रेष्ठतर पद प्राप्त करने की चेष्टा की। यह भी सत्य है कि क्षत्रियो मे जनक, प्रवाहण जैवलि (बृहदा० उप० ६, ११), अश्वपति कैकेय (श० ब्रा० १०, ६, १), अजातशत्रु (बृहद० उप० २, १, १) के समान ब्रह्मविद्या के ज्ञाता और उपदेष्टा थे। गार्बे (डायसन कृत फिलासफी ऑव उपनिषद्, पृ० १७), ग्रियर्सन (एंसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन ऐंड एथिक्स मे 'भक्ति' पर निबध), रा० गो० भाडारकर (वैष्णविज्म ऐंड शैविज्म, पृ० ६) आदि विद्वानो का मत है कि ब्राह्मणों द्वारा अनुशासित वैदिक कर्मकाड की परपरा के विरुद्ध क्षत्रियों ने ज्ञानपरक औपनिषद् धारा का प्रवर्तन किया। ब्राह्मण क्षत्रिय के परस्पर सघर्ष का उल्लेख प्राचीन परपरा मे भी हुआ है :

> धिग्बल क्षत्रियबल ब्रह्मतेजो बल बलम्।
> बलाबले विनिश्चित्य तप एव परं बलम्॥

प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य मे पग पग पर इस सघर्ष के प्रमाण मिलते हैं। बौद्ध साहित्य और जैन आगमो मे बराबर यह कहा गया है कि धर्म-प्रणेता सदैव क्षत्रिय परिवार मे ही जन्म लेते हैं। फिर भी वैदिक परंपरा मे ब्राह्मण वर्ण से क्षत्रिय निम्न माने जाते थे किंतु वैश्य शूद्रो के ऊपर उनकी

प्रमुखता समाज में स्वीकृत थी (काठक सं० ३, ३, १०, २२, १; ऐ० ब्रा० ११-३-३)।

धर्मशास्त्रों में द्विजातिविहित धर्म—यज्ञ करना और दान देने के अतिरिक्त शस्त्र द्वारा जीविकोपार्जन तथा पृथिवी की रक्षा करना कहा गया है। विष्णु स्मृति के अनुसार क्षत्रिय का कर्तव्य प्रजापालन है। वस्तुतः प्राचीनकाल से ही शासन पर क्षत्रियों का ही अधिकार रहा। धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि आपद्काल में क्षत्रिय चाहें तो वैश्यकर्म अपना सकते हैं। गुप्तकाल में क्षत्रिय वस्तुतः वैश्यकर्म करने लगे थे। ऐसा इंदौर (बुलंदशहर, उत्तरप्रदेश) से प्राप्त एक ताम्रलेख से ज्ञात होता है। साहित्य सूत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि इस काल में वंश के आधार पर वर्गभेद होने लगे थे और वे लोग अपने को सूर्यवंशी, सोमवंशी, पुरुवंशी, क्रथकैशिक, नीपवंशी, आदि कहने लगे थे। गुप्तकाल से पूर्व ही यवन, शक, कुशाण आदि विदेशी जातियाँ भारत आकर भारतीय जनसमाज में घुलमिल गई थीं। लड़ाकू होने के कारण कदाचित् इनका समावेश क्षत्रिय समाज में हो गया था।

क्रमशः पूर्वमध्यकाल और उत्तरमध्यकाल में क्षत्रियों के संबंध में दो महत्वपूर्ण सिद्धांत प्रतिपादित हुए। प्रथम यह कि वसिष्ठ ने चौहान, परमार, प्रतिहार और सोलंकी राजवंशों को आबू के यज्ञकुंड से उत्पन्न किया और दूसरा यह कि कलि में क्षत्रियों और वैश्य जाति का लोप हो गया। अग्निकुंड से राजपूतों की उत्पत्ति की कहानी क्रमशः परिवर्तित हुई और इस परिवर्तन के साथ ही साथ उसके प्रयोजन और अर्थ में भी परिवर्तन हुआ। नवसाहसांकचरित (११, ६४-७१), तिलकमंजरी (१.३९) और वसंतगढ़ में प्राप्त पूर्णपाल के वि० सं० १०४९ के अभिलेख में इसके प्राथमिक उल्लेख हैं। बाद में विभिन्न शिलालेखों, चारण कृतियों और चंदकृत 'पृथ्वीराजरासो' में इसका विशेष पल्लवन हुआ। इस कथा के आधार पर टॉड (एनल्स ऐंड ऐंटीक्विटीज ऑव राजस्थान, १९२०, पृ० १४४४-१४४५) और स्मिथ (द अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, १९२४, पृ० ४२८) आदि विद्वानों ने यह मत स्थिर किया कि अनार्य और अभारतीय जातियों का संस्कार कर पूर्वमध्ययुग में उन्हें राजपूत-क्षत्रिय वर्ग में स्वीकृत किया गया। तब के विविध जातियों के संमिश्रण से इस स्थिति का संभव हो जाना अनिवार्य था।

कलि में क्षत्रियों के लोप का सिद्धांत शुद्धितत्व (पृ० २६८) शूद्रकमलाकर और व्रात्यताप्रायश्चित्तनिर्णय आदि ग्रंथों में उपलब्ध होता है। किंतु यह मत १६-१७वीं शताब्दी में ही प्रतिपादित हुआ।

(वि० श० पा०; पु० ला० गु०)

क्षपणक तपस्वी जैन श्रमणों को जैन ग्रंथों में क्षपणक, क्षपण, क्षमण अथवा खवण कहा गया है। क्षपणक अर्थात् कर्मों का क्षय करनेवाला। महाभारत में नग्न जैन मुनि को क्षपणक कहा है। चाणक्यशतक में उल्लेख है कि जिस देश में नग्न क्षपणक रहते हों वहाँ धोबी का क्या काम? (नग्नक्षपणके देशे रजकः किं करिष्यति?) राजा विक्रमादित्य की सभा में क्षपणक को एक रत्न बताया गया है। यह संकेत सिद्धसेन दिवाकर की ओर जान पड़ता है। मुद्राराक्षस नाटक में जीवसिद्धि क्षपणक को अर्हंतों का अनुयायी कहा गया है। वह चाणक्य का अंतरंग मित्र था और ज्योतिषशास्त्र के अनुसार शुभ अशुभ नक्षत्रों का बखान करता था। बौद्ध भिक्षु को भी क्षपणक कहा गया है। संस्कृत के अर्वाचीन कोशकारों ने मागध अथवा स्तुतिपाठक के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है।

(ज० चं० जै०)

क्षयचक्र या अपक्षयचक्र समुद्रतल से ऊपर उठने के उपरांत धरातल के किसी भाग पर होनेवाली भूम्याकृतियों के क्रमिक परिवर्तन को ही क्षयचक्र (Cycle of Erosion) अथवा भूम्याकृतिक चक्र (जियोमॉर्फिक साइकिल) कहते हैं। भूभागों की आकृति सदा एक सी नहीं रहती। कालांतर में उनका रूपांतर होता रहता है। उनका क्रमिक विकास नियमबद्ध होता है। उनमें जीवन चक्र भी चलता है। प्रारंभिक अवस्था के बाद उनके जीवन की किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था पहचानी जा सकती है। उनका कायाकल्प भी होता है। उनकी आकृतियों में हो रहे इस परिवर्तन का मुख्य कारण क्षयक्रिया ही है; जिससे किसी न किसी रूप में वे सर्वदा प्रभावित होती रहती हैं। इनका व्यापक अध्ययन आज के युग में एक स्वतंत्र विषय बन गया है, जिसे भूम्याकृतिशास्त्र (जियोमॉर्फोलॉजी) की संज्ञा दी जा सकती है। इस विषय के गहन अध्ययन एवं मौलिक शोधकार्य के लिये अमरीकी वैज्ञानिक डब्ल्यू० एम० डेविस तथा जर्मन वैज्ञानिक वाल्थर पेंक के नाम उल्लेखनीय हैं। डेविस इस शास्त्र की जटिल समस्याओं की गुत्थियों को सुलझाने में अग्रगण्य माने जाते हैं और पेंक उनके कुछ सिद्धांतों के कटु आलोचक एवं स्वतंत्र विचारक। आज भी लोग इन दोनों वैज्ञानिकों की देन की सराहना करते हैं और उनके पांडित्य का लोहा मानते हैं।

भूम्याकृति में होनेवाले परिवर्तनों की परंपरा तथा परिमाण मुख्यतः तीन बातों पर निर्भर हैं: भूभाग की संरचना, क्षयक्रिया की रीति एवं उस विशेष भूभाग के जीवनचक्र की अवस्था। विभिन्न भूभागों पर क्षयक्रिया की जो जो रीतियाँ कार्यरत हैं उनका उदाहरण लेकर भूम्याकृति में अवस्थानुसार होनेवाले क्रमिक परिवर्तनों का अध्ययन किया जा सकता है।

आर्द्र जलवायुवाले भूभाग पर क्षयकार्य मुख्यतः नदियों (जलप्रवाहों) द्वारा होता है, अतः ऐसे प्रांत के क्षयचक्र को नदीकृत (fluvial) क्षयचक्र कहते हैं। धरातल के अधिकांश भाग पर मुख्यतः नदीकृत क्षयकार्य होने के कारण इसे सामान्य क्षयचक्र (Normal cycle of erosion) भी कहते हैं। किसी नवीन धरातल के समुद्रतल से ऊपर उठते ही उसपर ऋतुक्षरण (weathering) का प्रहार आरंभ होता है। वर्षा का जल उसकी ढाल पर प्रवाहित होने लगता है। प्रारंभिक अवस्था में अपेक्षाकृत अधिक जलप्रवाहवाले स्थान पर प्राकृतिक नालियों (gullies) का विकास होता है। तत्पश्चात् कुछ बड़ी और बलवती नालियाँ नदियों का रूप धारण कर घाटियों का निर्माण आरंभ करती हैं और वह भूभाग किशोरावस्था को प्राप्त होता है। क्रमशः सहायक नदियों का विकास होता है और नदियाँ अपनी घाटियों का लंबवत् अपक्षरण करती हैं। उस भूभाग के प्रारंभिक तल का क्षेत्र घटते घटते टेढ़े मेढ़े जलविभाजक के रूप में परिणत हो जाता है। जलविभाजक और घाटी का तलांतर (relative relief) बढ़ने लगता है। जलविभाजक, ढाल के विकास के कारण, धार सदृश *प्रतीत होते हैं और उस भूभाग की प्रौढ़ावस्था प्रारंभ होती है।* इस अवस्था में विभाजकों की ऊँचाई ऋतुक्षरण द्वारा घटती है और इसके परिणामस्वरूप तलांतर में भी कमी होती है। फिर घाटियाँ क्रमशः चौड़ी होती हैं, ढाल मंद होते हैं, विभाजक नीचे एवं खंडित होते हैं और आसन्न घाटियों का बीच बीच में प्राकृतिक मार्गों द्वारा मिलन होता है। अंत में वृद्धावस्था आने पर प्रायसमभूमि (peneplain) का विकास होता है, जिसपर कहीं कहीं अवरोधी अवशिष्टशैल (मोनाडनॉक्स, monadnocks) उपस्थित रहते हैं। इस अवस्था में नदियाँ प्रायः बलहीन होती हैं और अपक्षरण की क्षमता नहीं रखतीं। क्षयचक्र की पूर्णता नहीं हो पाती। इसके पूर्णत्व के लिये बाधारहित करोड़ों वर्ष का समय चाहिए और इतने दीर्घ काल तक भूपर्पटी शांत नहीं रह सकती। यदि भूचाल (earth movement) के कारण क्षयचक्र की किसी भी अवस्था में बाधा उत्पन्न हुई, अर्थात् यदि उस भूभाग की ऊँचाई (समुद्रतल से) अपेक्षाकृत कुछ बढ़ गई, तो उस क्षेत्र में प्रवाहित नदियों का कायाकल्प हो जायगा। वे पुनः बलवती होकर अपक्षरण कार्य में लीन हो जायँगी और उस भूभाग पर द्वितीय क्षयचक्र का प्रादुर्भाव होगा। इस तरह धरातल के अनेक भागों पर बहुचक्रीय भूम्याकृतियाँ देखने को मिलती हैं। नदी की तलवेदी (terraces) इसके उपयुक्त उदाहरण हैं।

कार्स्ट क्षेत्र के चक्रीय विकास में चूने के पत्थर से बनी उस क्षेत्र की संरचना का विशेष महत्व है। किशोरावस्था में जलप्रवाह धरातल से भूमिगत मार्गों में प्रविष्ट होता है। इस अवस्था की प्रमुख भूम्याकृति निगिरछिद्र (dolines) होते हैं। प्रौढ़ावस्था में भूमिगत प्रवाह तथा निगिरछिद्रों का चरम विकास होता है। धरातल से जलप्रवाह का प्रायः पूर्णतया लुप्त होना, निगिरछिद्रों, कुंडों एवं संकुंडों (उवाला) की संख्या में अत्यधिक वृद्धि, भूमिगत कंदराओं का पूर्ण विकास, आदि इस अवस्था के मुख्य लक्षण हैं। वृद्धावस्था में भूमिगत कंदराओं की छत

के कारण जलप्रवाह का भूपृष्ठ पर पुनरागमन होता है, प्राकृतिक सेतुओं का निर्माण होता है, राजकुंड बनते है और अद्रवित अवशेष चूनापत्थरटीले (hums) के रूप में विराजमान रहते है।

मरु प्रदेश के चक्रीय विकास के लिये पर्वतों से घिरे प्राकृतिक खातो का होना आवश्यक है। ऐसे भूभाग पर प्रारंभिक अवस्था में स्थानीय तलांतर (*local relief*) अधिकतम रहता है। किशोरावस्था में ऋतुक्षरण द्वारा पर्वतश्रेणियों की ऊँचाई घटती है। खातों के तल अवसादों के निक्षेपता से ऊँचे होते हैं। अवसाद खातों की सीमा के बाहर नहीं जा पाते। अतः तलांतर क्रमशः घटता है। प्रौढ़ावस्था आने पर भी यह क्रम चलता रहता है और अपेक्षाकृत ऊपरी खात क्रमशः भरते जाते है। अपक्षरण जनित अवसाद निचले खातों में निक्षिप्त होते रहते है। इस क्रम द्वारा उस भूभाग के उच्चतम स्थान से निम्नतम स्थान तक सामान्य ढाल स्थापित हो जाती है। इस अवस्था तक के भूम्याकृति विकास मे जलप्रवाह का विशेष हाथ रहता है। किंतु, इसके बाद पर्वतश्रेणियों के नीची होने के कारण वर्षा की मात्रा घट जाती है और ढाल मंद होने से अवसाद भी केंद्र तक नही पहुँच पाते। अतः इस अवस्था में पथरीली ढाल (bajda) मृण्मय समतल (playa) एवं लवण-पर्पटी-युक्त समतल (salina), का निर्माण होता है। इसके बाद वृद्धावस्था मे मुख्यतः वायु द्वारा संपन्न अपक्षरण, परिवहन एवं निक्षेपण होता है। इस अवस्था की मुख्य भूम्याकृतियाँ उच्छेल, वरखन तथा विभिन्न प्रकार के बालुकाकूटो की शृंखलाएँ होती है।

हिमनदियों द्वारा आक्रांत पर्वतीय ढालो पर सर्वप्रथम हिमज गह्वरो (cirques) का निर्माण होता है। गह्वर के नीचे की ढाल पर हिमनदी अपनी घाटी बनाती है, जो हिम के अपक्षरण के कारण U आकृति की हो जाती है। किशोरावस्था मे गह्वरो एवं धाटियों का विकास होता है। कभी कभी हिमानियो द्वारा अपक्षरित घाटियों में सीढ़ियों जैसी भूम्याकृति का विकास होता है। ऐसी घाटियो को भीम सोपान कहते है। हिमसुमाजित (roche moutonnee) तथा लंबित धाटियाँ (hanging valleys) भी इसी अवस्था में बनती है। प्रौढ़ावस्था मे गह्वरों के विस्तृत होने से हिमज गह्वर (compound cirques) बनते है। विपरीत ढालो पर स्थित हिमज गह्वरों के शीर्षोन्मुख हिमानी अपक्षरण द्वारा रीढ़ सदृश धारयुक्त प्रशिखा (arete) तथा शृंगों (horns) का निर्माण होता है। जब घाटियाँ शीर्षोन्मुख अपक्षरण द्वारा हिमज गह्वरों का अंत करके अपना विस्तार कर लेती है तब प्रौढ़ावस्था का अंत माना जाता है। वृद्धावस्था में उस भूभाग का तलांतर क्रमशः घटता ही जाता है और अंत मे पर्वतीय ऊँचाई घटने के कारण हिमनदियाँ जलप्रवाह में परिणत हो जाती है। प्रारंभिक भूभाग के उच्च अवशेष हिमावृत्तशैल (nunatak) कहे जाते हैं, जो टीलों के रूप में वर्तमान रहते हैं।

सागर के तटीय भूभाग पर सागर की लहरें निरंतर आक्रमण करती रहती है। समुद्रतल से ऊपरवाले भाग लहरो द्वारा अपक्षरित हो क्रमश. नष्ट होते है और अवसादो का लहरों द्वारा ही समुद्र के छिछले भाग में निक्षेपण होता है। यह कार्य अविराम चलता रहता है, जिसके परिणामस्वरूप उपकूलीय समतल भूमि का निर्माण होता है। (न० प्र०)

क्षयार्षा (जरक्सीज) फारस (ईरान) नरेश दारयवौष (दारा) प्रथम का पुत्र और उत्तराधिकारी। दारयवौष प्रथम की प्रथम पत्नी को तीन संताने थीं। उनमें ज्येष्ठ आर्तज़ेबीज को उसने शक आक्रमण के समय राज्य का उत्तराधिकारी बनाया था। किंतु खव्वास के विद्रोह के समय उसकी दूसरी पत्नी अत्तोस्स (कुरूप की कन्या) ने अपने ज्येष्ठ पुत्र क्षयार्षा को उत्तराधिकारी मनोनीत करवा दिया। क्षयार्षा की नसों में कुरुप का भी राजरक्त था अतः उसके उत्तराधिकारी होने में कोई कठिनाई नहीं हो सकी। दारयवौष के पश्चात् राज्यारोहण के समय वह किसी भी देश पर आक्रमण करने के पक्ष में नहीं था, किंतु प्रमुख राजपुरुषो ने उसे स्मरण दिलाया कि मराथान की पराजय का बदला अभी नही लिया जा सका है। उधर मिस्र में विद्रोह की आग भड़क उठी थी। खव्वास ने उस विद्रोह का पूरा इंतजाम कर रखा था। निरंतर दो वर्षो तक उसने डेल्टा तथा समीपवर्ती भाग पर मोर्चेबंदी की थी। क्षयार्षा को सर्वप्रथम इसी विद्रोह को दबाने के लिये प्रयास करना पड़ा। खव्वास का सारा प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुआ। क्षयार्षा ने विद्रोह दबा दिया, पुजारियों को मुक्त कर दिया गया तथा उसके मंदिर का खजाना ले लिया गया। राजा का भाई आखमीनस वहाँ का क्षत्रप बनाया गया। खव्वास भाग निकला उसकी मृत्यु न होने से क्षयार्षा को मिस्र में पूरी शक्ति नहीं प्राप्त हो सकी। अनुश्रुति है कि उसने एक बार पुनः आकर खलदों को चौंका दिया किंतु वह अपने मनचाहे नरेश को सिंहासन पर न बैठा सका। यदि जनुश्रुति सत्य न भी हो तो भी प्रतीत होता है कि मिस्र मे एक बार विद्रोह हुआ। जोपिरस के पुत्र मेगाबीसस ने, जो वहाँ का आनुवंशिक क्षत्रप था, बड़ी निर्दयता से विद्रोह को शांत किया। बेलूस का मंदिर लूट लिया गया। देवता की मूर्ति निकाल ली गई। पुजारियों का वध कर दिया गया तथा जनता को अंशतः दास बना लिया गया।

मिस्र से लौटने के पश्चात् क्षयार्षा ने एक विशाल सेना एकत्र की। हेरोदोतस के अनुसार इस सेना की सख्या, जिसको उसने अपने विशाल साम्राज्य के सभी प्रांतों से एकत्र किया था, बहुत बड़ी थी। वह इस सेना के साथ अपने पिता की मराथान की पराजय का बदला लेने के लिये चल पड़ा। इस अभियान की तिथि ४८० ई० पू० है। क्षयार्षा ने अपनी सेना को समुद्र के पथ से संचालित किया। तटवर्ती प्रदेश से जिस प्रकार इस विशाल सेना को रसद पहुँचाई गई उसकी प्रशंसा इतिहासकार करते हैं। क्षयार्षा स्वयं सैन्यसंचालन कर रहा था। इस संभावित युद्ध का पता यूनानियों को लग चुका था। वे सभी संमिलित रूप मे फारसियो की सेना को रोकने के लिये प्रस्तुत हो गए। केवल वे ही उसमें संमिलित न हो सके जो तब तक फारस के अधीन हो चुके थे। १४०१ वीर लियोनिदस के संरक्षण में थर्मापिली के तंग रास्ते पर आ डटे जो फारस की सेना के अवरोध के लिये सर्वोत्तम था। एक ओर गहरा समुद्र दूसरी ओर अभ्रंलिहाग्र पर्वतशृंखला और इन्ही दोनों के बीच में थर्मापिली का तंग रास्ता। यूनानियों ने फारसियो के आक्रमण के पूर्व ही इस स्थान पर और सेना भेजना चाहा। किंतु फारसियों ने कुछ पहले ही आक्रमण कर दिया। एक ओर असंख्य सेना और दूसरी ओर केवल १४०० वीर। यूनानी कुछ घबड़ाए और लौटाने का इरादा किया। किंतु वीर लियोनिदस ने कहा---यदि आप लोग चाहें तो लौटें पर हमें और स्पार्ता के इन वीरों को इस दर्रे पर अड़े रहना है, हम यहीं रहेंगे। एक भी न हटा। सभी अड़े रहे। घनघोर युद्ध हुआ और दो दिन तक अस्त्र शस्त्रों की खनखनाहट में यह निश्चित न हो पाया कि विजय किसकी होगी। विश्व के इतिहास में विश्वासघातियों का भी अपना स्थान रहा है। इतिहास के क्रम को बदलने में इन्होने महत्वपूर्ण कार्य किए है। एफियाल्तीस नामक एक गडेरिए ने क्षयार्षा की सेना को भेड़ों का पहाड़ी रास्ता दिखा दिया। फलस्वरूप फारसियों की सेना के कुछ भाग ने पहाड़ों को पारकर वीर लियोनिदस पर पीछे से आक्रमण किया। लियोनिदस ने तुरंत वीरों को छाँटकर मुकाबला करने के लिये भेजा और स्वयं स्पार्ता के केवल ३०० वीरों के साथ सामने से फारसियों का मुकाबला किया। पर थर्मापिली की रक्षा न हो सकी। सभी यूनानी वीर खेत रहे। फारसियों की सेना दर्रे से होकर यूनान में उमड़ पड़ी। थीब्ज ने बिना लड़े ही घुटने टेक दिए तथा फारसियों की शर्ते स्वीकार कर लीं। एथेंसवासियों को आकाशवाणी से आदेश मिला कि उनकी रक्षा केवल एलामीज के काष्ठप्राचीरों के भीतर ही संभव है। सचमुच यही से यूनानियों का पासा पलटा। थेमिस्तोक्लीज ने २० सितंबर, सन् ४०० ई० पूर्व को फारसियों को सलामीज की खाड़ी की राह लेने के लिये बाध्य कर दिया। यदि क्षयार्षा सलामीज पर विजय प्राप्त कर लेता तो पूरा ग्रीस उसके चरणों में होता। अतः एथेंस की सेना का कप्तान कौंसिल से छिपकर बाहर निकला और गुप्त रूप से क्षयार्षा के पास झूठा संदेश भेजा कि यूनानी सेना के आधे लोग भागने के पक्ष में हैं। यह खबर पाकर क्षयार्षा ने ठीक वही किया जैसा थेमिस्तोक्लीज ने सोचा था। उसने जलडमरूमध्य के मुहाने से अपनी सेना के कुछ भाग को हट जाने का आदेश दिया। इस तरह चालाकी और वीरता से यूनानी विजयी हुए। फारसियों की सेना बड़ी वीरता से लड़ी पर उनकी विशाल संख्या और

जब लवणपिंड तैयार हो जाता है तब इसे चूने के पत्थर और कोक (कार्बन) के साथ गरम करके अपचयित करते हैं। ऐसा करने पर काली राख मिलती है, जो सोडियम कार्बोनेट और कैलसियम सल्फाइड का मिश्रण होती है

$$Na_2SO_4 + CaCO_3 + 4C = Na_2CO_3 + CaS + 4CO$$

पानी के साथ जब काली राख खलभलाई जाती है, तब सोडियम कार्बोनेट तो इसमें घुल जाता है और कैलसियम सल्फाइड का काला कीचड बच रहता है। १८३५ ई० में चास (Chance) भाइयों ने इस काले कीचड में से गंधक प्राप्त करने की एक विधि निकाली। कार्बन डाइ-ऑक्साइड के योग से यह कैलसियम सल्फाइड हाइड्रोजन सल्फाइड देता है और यह गैस फेरिक ऑक्साइड की विद्यमानता में भट्ठी के ताप पर हवा द्वारा उपचयित होकर गंधक देती है।

एमोनिया सोडा विधि या सॉलवे विधि—इस विधि में द्वारा साधारण नमक पाँच पदों में क्रिया करके सोडियम कार्बोनेट देता है। यह विधि ऐमोनिया की सहायता पर निर्भर है।

पहला पद ३१ प्रति शत, अर्थात् लगभग संतृप्त, सोडियम क्लोराइड के विलयन में ऐमोनिया प्रवाहित करते हैं। विलयन को ऐमोनिया गैस से बिलकुल संतृप्त कर लेते हैं।

दूसरा पद फिर चूने के भट्ठे से प्राप्त कार्बन डाइऑक्साइड गैस द्वारा ऐमोनिया-नमक-विलयन को अभिकृत करते हैं। अभिक्रिया में ऐमोनिया और कार्बन डाइऑक्साइड के योग से ऐमोनियम बाइकार्बोनेट बनता है। यह सोडियम क्लोराइड से अभिकृत होकर सोडियम बाइकार्बोनेट ($NaHCO_3$) का अवक्षेप देता है। अभिक्रिया में ऐमोनियम क्लोराइड (NH_4Cl) भी बनता है

$$NH_3 + CO_2 + H_2O = NH_4HCO_3$$

$$NH_4HCO_3 + NaCl = NaHCO_3 + NH_4Cl$$

तीसरा पद दूसरे पद में जो सोडियम बाइकार्बोनेट, ($NaHCO_3$) का अवक्षेप आया वह कपड़े के पट्टों पर जमा हो जाता है। इसे चाकू की धार से छुडा लेते हैं। ऐमोनियम क्लोराइड विलयन में रहता है।

चौथा पद सोडियम बाइकार्बोनेट को बड़े डेगों में तपाकर सोडियम कार्बोनेट बना लेते हैं

$$2NaHCO_3 = Na_2CO_3 + H_2O + CO_2$$

पाँचवाँ पद . ऐमोनियम क्लोराइड विलयन में बुझा चूना डालकर फिर ऐमोनिया गैस तैयार कर लेते हैं, जिसकी सहायता से फिर यही चक्र स्थापित किया जाता है।

इन विधियों से तैयार किया गया सोडियम कार्बोनेट श्वेत, अजल चूर्ण होता है, जिसका गलनांक ८५०° सें० है। इसके विलयन का मणिभीकरण करने पर जो मणिभ मिलते हैं, उन्हें धोबी का सोडा (वाशिंग सोडा) कहते हैं। इसमें १० अणु पानी होता है, अर्थात् इसका सूत्र $Na_2CO_3,10H_2O$ है। सोडियम कार्बोनेट की अपेक्षा सोडियम बाइ-कार्बोनेट पानी में कम विलेय है, २०° सें० पर केवल ९.६ प्रति शत। लब्लाँ विधि में यदि नमक की जगह पोटासियम क्लोराइड लें, तो पोटासियम कार्बोनेट (K_2CO_3) भी तैयार कर सकते हैं। पर सॉलवे विधि से पोटासियम बाइकार्बोनेट ($KHCO_3$) नहीं तैयार कर सकते, क्योंकि पानी में इसकी विलेयता बहुत ही अधिक है। पानी में पोटासियम कार्बोनेट २५° सें०, पर ११३.५ प्रतिशत और पोटासियम बाइकार्बोनेट ३६.१ प्रतिशत विलेय है।

दाहक (कॉस्टिक, caustic) सोडा—इसे तैयार करने की पुरानी विधि तो बुझे चूने और सोडियम कार्बोनेट के योग से थी

$$CaO + Na_2CO_3 + H_2O = 2NaOH\ CaCO_3$$

इस विधि का परिवर्धित रूप ही लोविग (Lowig) की विधि है। सोडियम कार्बोनेट या सोडा राख को फेरिक ऑक्साइड के साथ मिलाते हैं और लोहित ताप तक भ्रामक भट्ठी में गरम करते हैं। इस प्रकार क्रिया करने से सोडियम फेराइट, ($NaFeO_2$) बनता है। ठंढा करके इसके छोटे छोटे टुकडे कर लिए जाते हैं और फिर गरम पानी में ये टुकडे छोड दिए जाते हैं। पानी की क्रिया से दाहक सोडा विलयन मिल जाता है और फेरिक ऑक्साइड का अवक्षेप आ जाता है, जिसका फिर उपयोग किया जा सकता है

$$Na_2CO_3 + Fe_2O_3 = 2NaFeO_2 + CO_2$$

$$2NaFeO_2 + H_2O = 2NaOH + Fe_2O_3$$

आजकल बहुधा दाहक (कॉस्टिक) सोडा साधारण नमक के विलयन से विद्युद्विश्लेषण से तैयार करते हैं। इस प्रकार नमक से दाहक सोडा और क्लोरीन दोनों व्यापारिक मात्रा में मिलते हैं। विद्युद्विश्लेषण के कार्य के लिये विभिन्न देशों में तरह तरह के विद्युत्सेलों का उपयोग करते हैं। कास्टनर-कैलनर सेल (Castner-Kellner Cell) इनमें बहुत प्रसिद्ध है। सॉलवे सेल भी इसी का परिवर्तित रूप है। नमक के विद्युद्विश्लेषण के धनाग्र पर क्लोरीन गैस और ऋणाग्र पर सोडियम जमा होता है। ऋणाग्र पर पारा रखते हैं। सोडियम इस पारे से संयुक्त होकर सरस या आमॅल्गम बनाता है। यह सरस पानी के योग से दाहक सोडा देता है। अगर सोडियम को पारे द्वारा पृथक् न करें, तो नमक और कॉस्टिक सोडे का मिश्रण ऋणाग्र पर मिलेगा। निर्वात वाष्पकों में गरम करके पानी उडावें तो पहले सोडियम क्लोराइड के मणिभ मिलेंगे, जिन्हें छानकर अलग कर दिया जाता है। फिर दाहक सोडा के ढोके बना लिए जाते हैं।

दाहक सोडा श्वेत रंग का पारभासी ठोस पदार्थ है। यह ३१८.४° सें० पर गलता है। इसका घनत्व २.१३ है। कॉस्टिक सोडा के समान ही कॉस्टिक पोटाश होता है, जिसका गलनांक ३६०.४° सें० है (और यदि शुष्क हो तो ४१०° सें०)। लिथिआ (Li_2O) और लिथियम हाइड्राक्साइड भी दाहक सोडा के समान क्षारीय पदार्थ हैं। ये लिथियम सल्फेट और बाराइटा जल के योग से तैयार किए जाते हैं। चूने के पत्थर को तपाकर जो चूना (CaO) मिलता है, वह पानी में बुझाने पर कैलसियम हाइड्राक्साइड [$Ca(OH)_2$] का क्षारीय विलयन देता है। १५° सें० पर पानी में १.२९ ग्राम चूना प्रति लिटर घुलता है। कैलसियम हाइड्राक्साइड के समान ही बाराइटा या बेरियम हाइड्राक्साइड [$Ba(OH)_2, 8H_2O$] है। इसका विलयन भी अच्छा खासा क्षारीय है और यह मणिभ भी देता है। यह ६५०° सें० से नीचे ताप पर पिघलता है। अनेक रासायनिक क्रियाओं में बाराइटा जल का उपयोग होता है।
(सत्य० प्र०)

क्षारीय और लवणमय भूमि उस प्रकार की भूमि को कहते हैं जिसमें क्षार तथा लवण विशेष मात्रा में पाए जाते हैं। शुष्क जलवायुवाले स्थानों में यह लवण श्वेत या भूरे श्वेत रंग के रूप में भूमि पर जमा हो जाता है। यह भूमि पूर्णतया अनुपजाऊ एवं ऊसर होती है और इसमें शुष्क ऋतु में कुछ लवणप्रिय पौधों के अलावा अन्य किसी प्रकार की वनस्पति नहीं मिलती। पानी का निकास न होने के कारण बरसात में इन भूमिखंडों पर बरसाती पानी अत्यधिक मात्रा में भरा रहता है। यह पानी कृत्रिम नालियों के अभाव, प्राकृतिक ढाल की कमी एवं नीचे की मिट्टी के अप्रवेश्य होने के कारण भूमिखंडों से बाहर नहीं निकल पाता और गर्मी पडने पर वायुमंडल में उडकर सूख जाता है। बरसात में यह गँदला बना रहता है और सूखने पर भूमि की सतह पर लवण छोड देता है तथा साथ ही साथ इसे क्षारीय बना देता है।

विभिन्न प्रांतों में इस भूमि को अलग अलग नामों से पुकारते हैं, जैसे उत्तर प्रदेश में ऊसर या रेहला, पंजाब में ठूर, कल्लर या बारा, मुंबई में चोपन, करल इत्यादि। ऐसी भूमि अधिकतर उत्तर प्रदेश, पंजाब एवं बंबई प्रांतों में पाई जाती है। हैदराबाद तथा मद्रास में भी यह मिलती है। ऐसी भूमि तीन मुख्य श्रेणियों की होती है। पहली वह जिनमें केवल लवण की मात्रा अधिक हो, दूसरी वह जिसमें लवण तथा क्षार दोनों वर्तमान हों और तीसरी वह जिसमें क्षार अधिक हो तथा लवण कम हों। रासायनिक तरीका द्वारा इस भूमि को पहचाना जाता है। इस भूमि का पुनर्निर्माण करने के लिये अधिक मात्रा में पानी भरकर लवण को घुल जाने

देते हैं। फिर यह पानी कृत्रिम नालियों द्वारा बाहर निकाल देते हैं। अधिक क्षारवाली भूमि में जिप्सम का चूर्ण और विलेय कैलसियमयुक्त पदार्थ का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। प्रारंभ में केवल लवण और जलप्रिय पौधे, जैसे धान या जौ, उगाए जाते हैं। (रा० र० अ०)

क्षारीय मृदा (Alkaline Earths) प्रारंभ में रसायनज्ञ उन पदार्थों को मृदा कहते थे जो अधातुएँ थीं और जिनपर अत्यधिक ताप का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। इनमें कुछ पदार्थों जैसे चूने के गुण क्षारों के गुणों से बहुत मिलते जुलते थे। इससे उन्होंने उसे क्षारीय मृदा नाम दिया।

क्षारीय मृदा में चूना, स्ट्रॉन्शिया और बाराइटा १८०७ ई० तक रासायनिक तत्व समझे जाते थे। डेवी ने पहले पहल प्रमाणित किया कि ये वस्तुतः कैलसियम, स्ट्रॉन्शियम और बेरियम धातुओं के आक्साइड हैं। ये धातुएँ असंयुक्त दशा में नहीं पाई जाती। इनके दो प्रकार के आक्साइड बनते हैं। एक सामान्य आक्साइड, जो उष्माक्षेपण के साथ जल में घुलते हैं और दूसरे पेराक्साइड, जो जल में घुलकर हाइड्राक्साइड [$R(OH)_2$] बनाते हैं और वायु में खुला रखने से कार्बन डाइ आक्साइड का अवशोषण करते हैं। धातुओं के दोनों ही आक्साइड समाक्षारीय होते हैं और अम्लों में शीघ्र घुलकर तदनुकूल लवण बनाते हैं। तत्वों के परमाणुभार की वृद्धि से हाइड्राक्साइडों की विलेयता बढ़ती जाती है, पर सल्फेटों की विलेयता घटती जाती है।

ये धातुएँ वायु में खुली रहने से जल्द उपचयित हो जाती हैं। इनके लवण अच्छे मणिभ बनाते हैं। क्लोराइड और नाइट्रेट जल में शीघ्र घुल जाते हैं, पर कार्बोनेट, फास्फेट और सल्फेट कम घुलते अथवा घुलते ही नहीं। (फू० स० व०)

क्षिपप्रणोदन (Jet Propulsion) एक प्रकार की प्रतिक्रिया प्रणोदन है, अर्थात् इसमें प्रतिक्रिया की शक्ति को काम में लाया जाता है। न्यूटन के तीन प्रसिद्ध नियमों में से एक नियम यह है कि हर कार्य की प्रतिक्रिया होती है। जैसे किसी मेज के ऊपर यदि कोई भार दिया गया है, तो यह भार मेज को नीचे की ओर दबाने का कार्य कर रहा है, और क्योंकि मेज इस भार को उठा रही है, इसलिये मेज का दबाव ऊपर की ओर है जिसके कारण भार उठा हुआ है। इसी ऊपरी दबाव को प्रतिक्रिया कहा जाता है और जहाँ भी कोई कार्य हो रहा हो, प्रतिक्रिया का किसी न किसी रूप में होना आवश्यक है। जब कोई बंदूक चलाई जाती है तो पीछे की ओर धक्का लगता है। यदि इस बंदूक के पीछे कोई गेंद रख दी जाय तो इस धक्के के कारण गेंद उछलकर बहुत दूर जा सकती है। प्रत्येक मशीन में क्रिया की शक्ति को ही काम में लाया जाता है और प्रतिक्रिया को सहन करने का प्रबंध किया जाता है, जैसे बंदूक में गोली को चलाया जाता है और उसके कारण धक्के को सहन किया जाता है। परंतु क्षिपप्रणोदन में इसी प्रतिक्रिया से वह काम लिया जाता है जो अच्छी मशीनें भी नहीं कर सकतीं।

हर प्रकार की मोटर गाड़ियों, हवाई तथा पानी के जहाजों के चलाने में पिस्टन इंजनों का उपयोग होता चला आया है। दिन प्रति दिन इन इंजनों में नई नई खोज होती रही और इनसे अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त होने लगी। इन मशीनों की और अधिक तीव्र चाल की माँगों ने इन इंजनों के आकल्पन को यहाँ तक पहुँचा दिया कि अब इनकी और उन्नति संभव नहीं। साथ ही साथ इस उन्नति के कारण इनकी मशीनें इतनी उलझ गई कि इनका सुविधा से बनाना और उपयोग करना कठिन हो गया। इसलिये गैस टरबाइन का उपयोग हुआ, जिसके कारण हवाई तथा पानी के जहाजों की गति अत्यधिक बढ़ सकी। अब क्षिपप्रणोदन को दो प्रकार से लिया जा सकता है, एक तो गैस टरबाइन के साथ और दूसरा केवल क्षिप का ही उपयोग।

चित्र (१) की हलकी गाड़ी को लें जिसपर एक रंभ लगा हुआ है। इस रंभ में किसी भी प्रकार का ईंधन जलाया जाता है। ईंधन के जलने से गैस भड़क उठती है और वह बाहर आने के लिये जोर करती है। यदि इस गैस के बाहर निकलने का छेद छोटा हो तो यह जोर के साथ बाहर निकलेगी, जिससे गाड़ी को धक्का लगेगा और वह आगे की ओर चलने

चित्र १, रंभ लगी हलकी गाड़ी

लगेगी। जैसे जैसे गैस जोर से बाहर निकलेगी वैसे वैसे गाड़ी की चाल भी बढ़ती जायगी। यदि गाड़ी हलकी है और इसमें घर्षण नहीं होता, तो इसकी चाल अधिक तेज होगी। इस गाड़ी के इस प्रकार चलने का कारण यह कहा जाता है कि यह गैस छेद से बाहर निकलती है तो बाहर की हवा से टकराती है और इसी कारण गाड़ी आगे बढ़ जाती है, परंतु वस्तुस्थिति यह नहीं है। यदि इसे बिना हवा के स्थान पर चलाया जाय तो इसकी चाल और भी तीव्र होगी। इसलिये यह केवल प्रतिक्रिया ही है जो इसको चलाती है। इस प्रकार पीछे निकलनेवाले क्षिप के दबाव के ही कारण यह शक्ति प्राप्त होती है।

जहाँ अधिक चाल की आवश्यकता हुई वहाँ क्षिपप्रणोदन का उपयोग किया गया। वस्तुतः क्षिपप्रणोदन का व्यवहार वहीं पर सफल होगा जहाँ अधिक गति की आवश्यकता हो। युद्धकाल में समय की बचत के लिये क्षिप हवाई जहाजों की उन्नति हुई और उड़नेवाले बमगोलों में इसका उपयोग हुआ। भूमि पर चलनेवाली मशीनों में घर्षण अधिक होता है। और वे तीव्र गति से नहीं चलाई जा सकतीं। अतः उनमें क्षिपप्रणोदन लाभकर सिद्ध नहीं हुआ। क्षिपप्रणोदन की वास्तविक उन्नति हवाई तथा पानी के जहाजों में हुई। इस प्रकार के हवाई जहाजों के हलके इंजनों और तीव्र चाल ने समय को इतना घटा दिया है कि संसार के एक कोने से दूसरे कोने में बहुत थोड़े समय में ही पहुँचा जा सकता है।

क्षिपप्रणोदन के लिये सभी प्रकार के इंजनों के निमित्त एक ही नियम है। सब इंजन बाहर की हवा को अपने भीतर खींचते हैं और इसके भीतर हवा तथा ईंधन मिल जाते हैं, जहाँ दोनों जलकर फैलते हैं। इस फैलाव के कारण मशीन को धक्का लगता है। जलने के समय ईंधन और हवा की निष्पत्ति अधिक होती है और जब मशीन चल पड़ती है तो हवा का मिश्रण अधिक हो जाता है। हवा तथा ईंधन के जलने से जो गैस तैयार होती है उसको अधिक गति दी जाती है। गैस को अधिक गति उसी समय मिल सकती है जब उसे ठीक प्रकार से फैलने का अवसर दिया जाय। परंतु इस फैलाव में गैस की दाब घट जायगी, क्योंकि गैस को उसी हवा में छोड़ना है जहाँ से हवा को ईंधन के साथ मिलाने के लिये भीतर खींचा गया था। इसलिये दाब के घटाव से पूरी शक्ति प्राप्त न होगी। जब तक गैस के पीछे पूरी दाब नहीं होगी, प्रणोदन समर्थ न होगा। अतः गैस के पीछे पूरी दाब प्राप्त करने के लिये संपीडक मशीन की व्यवस्था की जाती है। इस संपीडक को चलाने के लिये गैस टरबाइन लगाया जाता है। हवा को संपीडक बाहर से खींचकर टरबाइन की ओर पूरे बल के साथ फेंकता है। टरबाइन तथा संपीडक के बीच ईंधन को इसी हवा में मिला दिया जाता है और इस मिश्रण को जलने का अवसर दिया जाता है। इसके जलने से आयतन तथा ताप एक ही दाब पर बढ़ते हैं। यह शक्ति इतनी होती है कि इससे टरबाइन भी चलाया जा सके और क्षिप के लिये भी इसमें पूरी गतिज ऊर्जा (kinetic energy) रह जाय। ऐसा एक इंजन चित्र (२) में दिखाया गया है जिसमें एक ही धुरी पर संपीडक और टरबाइन के पंखों को चढ़ाया गया है।

संपीडक हवा को क्रमानुसार दहन कोठरियों को देता है, जहाँ ईंधन पहले से जलता हुआ मिलता है और यह गैस अधिक ताप पर टरबाइन को जाती है। टरबाइन इस गैस से चलता है और यह टरबाइन संपीडक

जब लवणपिंड तैयार हो जाता है तब इसे चूने के पत्थर और कोक (कार्बन) के साथ गरम करके अपचयित करते हैं। ऐसा करने पर काली राख मिलती है, जो सोडियम कार्बोनेट और कैलसियम सल्फाइड का मिश्रण होती है

$$Na_2SO_4 + CaCO_3 + 4C = Na_2CO_3 + CaS + 4CO$$

पानी के साथ जब काली राख खलभलाई जाती है, तब सोडियम कार्बोनेट तो इसमें घुल जाता है और कैलसियम सल्फाइड का काला कीचड बच रहता है। १८३५ ई० में चास (Chance) भाइयों ने इस काले कीचड में से गंधक प्राप्त करने की एक विधि निकाली। कार्बन डाइ-ऑक्साइड के योग से यह कैलसियम सल्फाइड हाइड्रोजन सल्फाइड देता है और यह गैस फेरिक ऑक्साइड की विद्यमानता में भट्ठी के ताप पर हवा द्वारा उपचयित होकर गंधक देती है।

एमोनिया सोडा विधि या सॉल्वे विधि—इस विधि के द्वारा साधारण नमक पाँच पदों में क्रिया करके सोडियम कार्बोनेट देता है। यह विधि ऐमोनिया की सहायता पर निर्भर है।

पहला पद ३१ प्रति शत, अर्थात् लगभग संतृप्त, सोडियम क्लोराइड के विलयन में ऐमोनिया प्रवाहित करते हैं। विलयन को ऐमोनिया गैस से बिलकुल संतृप्त कर लेते हैं।

दूसरा पद फिर चूने के भट्ठे से प्राप्त कार्बन डाइऑक्साइड गैस द्वारा ऐमोनिया-नमक-विलयन को अभिकृत करते हैं। अभिक्रिया में ऐमोनिया और कार्बन डाइऑक्साइड के योग से ऐमोनियम बाइकार्बोनेट बनता है। यह सोडियम क्लोराइड से अभिकृत होकर सोडियम बाइकार्बोनेट ($NaHCO_3$) का अवक्षेप देता है। अभिक्रिया में ऐमोनियम क्लोराइड (NH_4Cl) भी बनता है

$$NH_3 + CO_2 + H_2O = NH_4HCO_3$$
$$NH_4HCO_3 + NaCl = NaHCO_3 + NH_4Cl$$

तीसरा पद दूसरे पद में जो सोडियम बाइकार्बोनेट, ($NaHCO_3$) का अवक्षेप आया वह कपड़े के पट्टों पर जमा हो जाता है। इसे चाकू की धार से छुड़ा लेते हैं। ऐमोनियम क्लोराइड विलयन में रहता है।

चौथा पद सोडियम बाइकार्बोनेट को बडे डेगों में तपाकर सोडियम कार्बोनेट बना लेते हैं

$$2NaHCO_3 = Na_2CO_3 + H_2O + CO_2$$
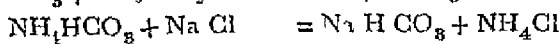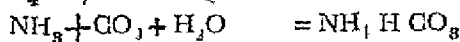
पाँचवाँ पद ऐमोनियम क्लोराइड विलयन में बुझा चूना डालकर फिर ऐमोनिया गैस तैयार कर लेते हैं, जिसकी सहायता से फिर यही चक्र स्थापित किया जाता है।

इन विधियों से तैयार किया गया सोडियम कार्बोनेट श्वेत, अजल चूर्ण होता है, जिसका गलनांक ८५२° से० है। इसके विलयन का मणिभीकरण करने पर जो मणिभ मिलते हैं, उन्हें धोबी का सोडा (वाशिंग सोडा) कहते हैं। इसमें १० अणु पानी होता है, अर्थात् इसका सूत्र $Na_2CO_3,10H_2O$ है। सोडियम कार्बोनेट की अपेक्षा सोडियम बाइ-कार्बोनेट पानी में कम विलेय है, २०° से० पर केवल ९.६ प्रति शत। सॉल्वे विधि में यदि नमक की जगह पोटासियम क्लोराइड लें, तो पोटासियम कार्बोनेट (K_2CO_3) भी तैयार कर सकते हैं। पर सॉल्वे विधि से पोटासियम बाइकार्बोनेट ($KHCO_3$) नहीं तैयार कर सकते, क्योंकि पानी में इसकी विलेयता बहुत ही अधिक है। पानी में पोटासियम कार्बोनेट २५° से०, पर ११३.५ प्रतिशत और पोटासियम बाइकार्बोनेट ३६.१ प्रतिशत विलेय है।

दाहक (कॉस्टिक, caustic) सोडा—इसे तैयार करने की पुरानी विधि तो बुझे चूने और सोडियम कार्बोनेट के योग से थी

$$CaO + Na_2CO_3 + H_2O = 2NaOH\ CaCO_3$$

इस विधि का परिवर्धित रूप ही लोविग (Lowig) की विधि है। सोडियम कार्बोनेट या सोडा राख को फेरिक ऑक्साइड के साथ मिलाते हैं और लोहित ताप तक भ्रामक भट्ठी में गरम करते हैं। इस प्रकार क्रिया करने में सोडियम फेराइट, ($NaFeO_2$) बनता है। ठंढा करके इसके छोटे छोटे टुकडे कर लिए जाते हैं और फिर गरम पानी में ये टुकडे छोड दिए जाते हैं। पानी की क्रिया से दाहक सोडा विलयन मिल जाता है और फेरिक ऑक्साइड का अवक्षेप आ जाता है, जिसका फिर उपयोग किया जा सकता है

$$Na_2CO_3 + Fe_2O_3 = 2NaFeO_2 + CO_2$$
$$2NaFeO_2 + H_2O = 2NaOH + Fe_2O_3$$

आजकल बहुधा दाहक (कॉस्टिक) सोडा साधारण नमक के विलयन से विद्युद्विश्लेषण से तैयार करते हैं। इस प्रकार नमक से दाहक सोडा और क्लोरीन दोनों व्यापारिक मात्रा में मिलते हैं। विद्युद्विश्लेषण के कार्य के लिये विभिन्न देशों में तरह तरह के विद्युत्सेलों का उपयोग करते हैं। कास्टनर-केलनर सेल (Castner-Kellner Cell) इनमें बहुत प्रसिद्ध है। सॉल्वे सेल भी इसी का परिवर्तित रूप है। नमक के विद्युद्विश्लेषण के धनाग्र पर क्लोरीन गैस और ऋणाग्र पर सोडियम जमा होता है। ऋणाग्र पर पारा रखते हैं। सोडियम इस पारे से संयुक्त होकर सरस या अामैल्गम बनाता है। यह सरस पानी के योग से दाहक सोडा देता है। अगर सोडियम को पारे द्वारा पृथक् न करें, तो नमक और कॉस्टिक सोडे का मिश्रण ऋणाग्र पर मिलेगा। निर्वात वाष्पकों में गरम करके पानी उडावें तो पहले सोडियम क्लोराइड के मणिभ मिलेंगे, जिन्हें छानकर अलग कर दिया जाता है। फिर दाहक सोडा के ढोंके बना लिए जाते हैं।

दाहक सोडा श्वेत रंग का पारभासी ठोस पदार्थ है। यह ३१८.४° से० पर गलता है। इसका घनत्व २.१३ है। कॉस्टिक सोडा के समान ही कॉस्टिक पोटाश होता है, जिसका गलनांक ३६०.४° से० है (और यदि शुष्क हो तो ४१०° से०)। लिथिआ (Li_2O) और लिथियम हाइड्राक्साइड भी दाहक सोडा के समान क्षारीय पदार्थ हैं। ये लिथियम सल्फेट और बाराइटा जल के योग से तैयार किए जाते हैं। चूने के पत्थर को तपाकर जो चूना (CaO) मिलता है, वह पानी में बुझाने पर कैलसियम हाइड्राक्साइड [$Ca(OH)_2$] का क्षारीय विलयन देता है। १५° से० पर पानी में १.२९ ग्राम चूना प्रति लिटर घुलता है। कैलसियम हाइड्राक्साइड के समान ही बाराइटा या बेरियम हाइड्राक्साइड [$Ba(OH)_2, 8H_2O$] है। इसका विलयन भी अच्छा खासा क्षारीय है और यह मणिभ भी देता है। यह ६७०° से० से नीचे ताप पर पिघलता है। अनेक रासायनिक क्रियाओं में बाराइटा जल का उपयोग होता है।

(सत्य० प्र०)

क्षारीय और लवणमय भूमि उस प्रकार की भूमि को कहते हैं जिसमें क्षार तथा लवण विशेष मात्रा में पाए जाते हैं। शुष्क जलवायुवाले स्थानों में यह लवण श्वेत या भूरे श्वेत रंग के रूप में भूमि पर जमा हो जाता है। यह भूमि पूर्णतया अनुपजाऊ एवं ऊसर होती है और इसमें शुष्क ऋतु में कुछ लवणप्रिय पौधों के अलावा अन्य किसी प्रकार की वनस्पति नहीं मिलती। पानी का निकास न होने के कारण बरसात में इन भूमिखंडों पर बरसाती पानी अत्यधिक मात्रा में भरा रहता है। यह पानी कृत्रिम नालियों के अभाव, प्राकृतिक ढाल की कमी एवं नीचे की मिट्टी के अप्रवेश्य होने के कारण भूमिखंडों से बाहर नहीं निकल पाता और गरमी पडने पर वायुमंडल में उडकर सूख जाता है। बरसात में यह गँदला बना रहता है और सूखने पर भूमि की सतह पर लवण छोड देता है तथा साथ ही साथ इसे क्षारीय बना देता है।

विभिन्न प्रांतों में इस भूमि को अलग अलग नामों से पुकारते हैं, जैसे उत्तर प्रदेश में ऊसर या रेहला, पंजाब में ठूर, कल्लर या बारा, मुंबई में चोपन, करल इत्यादि। ऐसी भूमि अधिकतर उत्तर प्रदेश, पंजाब एवं बंबई प्रांतों में पाई जाती है। हैदराबाद तथा मद्रास में भी यह मिलती है। ऐसी भूमि तीन मुख्य श्रेणियों की होती है। पहली वह जिसमें केवल लवण की मात्रा अधिक हो, दूसरी वह जिसमें लवण तथा क्षार दोनों वर्तमान हों और तीसरी वह जिसमें क्षार अधिक हो तथा लवण कम हो। रासायनिक तरीकों द्वारा इस भूमि को पहचाना जाता है। इस भूमि का पुनर्निर्माण करने के लिये अधिक मात्रा में पानी भरकर लवण को घुल जाने

देते हैं। फिर यह पानी कृत्रिम नालियों द्वारा बाहर निकाल देते है। अधिक क्षारवाली भूमि में जिप्सम का चूर्ण और विलेय कैलसियमयुक्त पदार्थ का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। प्रारंभ मे केवल लवण और जलप्रिय पौधे, जैसे धान वा जौ, उगाए जाते है। (रा० र० अ०)

क्षारीय मृदा (Alkaline Earths) प्रारंभ में रसायनज्ञ उन पदार्थों को मृदा कहते थे जो अधातुएँ थीं और जिनपर अत्यधिक ताप का कोई प्रभाव नही पड़ता था। इनमे कुछ पदार्थो जैसे चूने के गुण क्षारो के गुणो से बहुत मिलते जुलते थे। इसस उन्होंने उसे क्षारीय मृदा नाम दिया।

क्षारीय मृदा मे चूना, स्ट्रॉन्शिया और बाराइटा १८०७ ई० तक रासायनिक तत्व समझे जाते थे। डेवी ने पहले पहल प्रमाणित किया कि ये वस्तुतः कैलसियम, स्ट्रॉन्शियम और बेरियम धातुओं के ऑक्साइड हैं। ये धातुएँ असंयुक्त दशा म नही पाई जाती। इनके दो प्रकार के ऑक्साइड बनते हैं। एक सामान्य ऑक्साइड, जो उष्माक्षेपण के साथ जल में घुलते हैं और दूसरे पेरॉक्साइड, जो जल मे घुलकर हाइड्रॉक्साइड [R $(OH)_2$] बनाते है और वायु में खुला रखने से कार्बन डाइ ऑक्साइड का अवशोषण करते है। धातुओं के दोनों ही ऑक्साइड समाक्षारीय होते ह और अम्लो में शीघ्र घुलकर तदनुकूल लवण बनाते है। तत्वों के परमाणुभार की वृद्धि से हाइड्रॉक्साइडो की विलेयता बढ़ती जाती है, पर सल्फेटो की विलेयता घटती जाती है।

ये धातुएँ वायु में खुली रहने से जल्द उपचयित हो जाती है। इनके लवण अच्छे मणिभ बनाते है। क्लोराइड और नाइट्रेट जल मे शीघ्र घुल जाते हैं, पर कार्बोनेट, फास्फेट और सल्फेट कम घुलते अथवा घुलते ही नहीं। (फू० स० व०)

क्षिपप्रणोदन (Jet Propulsion) एक प्रकार की प्रतिक्रिया प्रणोदन है, अर्थात् इसमे प्रतिक्रिया की शक्ति को काम मे लाया जाता है। न्यूटन के तीन प्रसिद्ध नियमो मे से एक नियम यह है कि हर कार्य की प्रतिक्रिया होती है। जैसे किसी मेज के ऊपर यदि कोई भार दिया गया है, तो यह भार मेज को नीचे की ओर दबाने का कार्य कर रहा है, और क्योंकि मेज इस भार को उठा रही है, इसलिये मेज का दबाव ऊपर की ओर है जिसके कारण भार उठा हुआ है। इसी ऊपरी दबाव को प्रतिक्रिया कहा जाता है और जहाँ भी कोई कार्य हो रहा हो, प्रतिक्रिया का किसी न किसी रूप में होना आवश्यक है। जब कोई बंदूक चलाई जाती है तो पीछे की ओर धक्का लगता है। यदि इस बंदूक के पीछे कोई गेंद रख दी जाय तो इस धक्के के कारण गेंद उछलकर बहुत दूर जा सकती है। प्रत्येक मशीन मे क्रिया की शक्ति को ही काम में लाया जाता है और प्रतिक्रिया को सहन करने का प्रबंध किया जाता है, जैसे बंदूक में गोली को चलाया जाता है और उसके कारण धक्के को सहन किया जाता है। परंतु क्षिपप्रणोदन में इसी प्रतिक्रिया से वह काम लिया जाता है जो अच्छी मशीनें भी नहीं कर सकती।

हर प्रकार की मोटर गाड़ियो, हवाई तथा पानी के जहाजों के चलाने में पिस्टन इंजनों का उपयोग होता चला आया है। दिन प्रति दिन इन इंजनों में नई नई खोज होती रही और इनसे अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त होने लगी। इन मशीनों की और अधिक तीव्र चाल की माँगों ने इन इंजनों के आकल्पन को यहाँ तक पहुँच दिया कि अब इनकी और उन्नति संभव नहीं। साथ ही साथ इस उन्नति के कारण इनकी मशीनें इतनी उलझ गई कि इनका सुविधा से बनाना और उपयोग करना कठिन हो गया। इसलिये गैस टरबाइन का उपयोग हुआ, जिसके कारण हवाई तथा पानी के जहाजों की गति अत्यधिक बढ़ सकी। अब क्षिपप्रणोदन को दो प्रकार से लिया जा सकता है, एक तो गैस टरबाइन के साथ और दूसरा केवल क्षिप का ही उपयोग।

चित्र (१) की हलकी गाड़ी को लें जिसपर एक रंभ लगा हुआ है। इस रंभ में किसी भी प्रकार का ईंधन जलाया जाता है। ईंधन के जलने से गैस भड़क उठती है और वह बाहर आने के लिये जोर करती है। यदि इस गैस के बाहर निकलने का छेद छोटा हो तो यह जोर के साथ बाहर निकलेगी, जिससे गाड़ी को धक्का लगेगा और वह आगे की ओर चलने

चित्र १, रंभ लगी हलकी गाड़ी

लगेगी। जैसे जैसे गैस जोर से बाहर निकलेगी वैसे वैसे गाड़ी की चाल भी बढ़ती जायगी। यदि गाड़ी हलकी है और इसमे घर्षण नहो होता, तो इसकी चाल अधिक तेज होगी। इस गाड़ी के इस प्रकार चलने का कारण यह कहा जाता है कि यह गैस छेद से बाहर निकलती है तो बाहर की हवा से टकराती है और इसी कारण गाड़ी आगे बढ़ जाती है, परंतु वस्तुस्थिति यह नही है। यदि इसे बिना हवा के स्थान पर चलाया जाय तो इसकी चाल और भी तीव्र होगी। इसलिये यह केवल प्रतिक्रिया ही है जो इसको चलाती है। इस प्रकार पीछे निकलनेवाले क्षिप के दबाव के ही कारण यह शक्ति प्राप्त होती है।

जहाँ अधिक चाल की आवश्यकता हुई वहाँ क्षिपप्रणोदन का उपयोग किया गया। वस्तुत. क्षिपप्रणोदन का व्यवहार वही पर सफल होगा जहाँ अधिक गति की आवश्यकता हो। युद्धकाल मे समय की बचत के लिये क्षिप हवाई जहाजो की उन्नति हुई और उड़नेवाले बमगोलो में इसका उपयोग हुआ। भूमि पर चलनेवाली मशीनो मे घर्षण अधिक होता है। और वे तीव्र गति से नही चलाई जा सकती। अतः उनमे क्षिपप्रणोदन लाभकर सिद्ध नहीं हुआ। क्षिपप्रणोदन की वास्तविक उन्नति हवाई तथा पानी के जहाजो मे हुई। इस प्रकार के हवाई जहाजों के हलके इंजनों और तीव्र चाल ने समय को इतना घटा दिया है कि संसार के एक कोने से दूसरे कोने मे बहुत थोड़े समय मे ही पहुँचा जा सकता है।

क्षिपप्रणोदन के लिये सभी प्रकार के इंजनो के निमित्त एक ही नियम हैं। सब इंजन बाहर की हवा को अपने भीतर खीचते है और इसके भीतर हवा तथा ईंधन मिल जाते हैं, जहाँ दोनो जलकर फैलते हैं। इस फैलाव के कारण मशीन को धक्का लगता है। जलने के समय ईंधन और हवा की निष्पत्ति अधिक होती है और जब मशीन चल पड़ती है तो हवा का मिश्रण अधिक हो जाता है। हवा तथा ईंधन के जलने से जो गैस तैयार होती है उसको अधिक गति दी जाती है। गैस को अधिक गति उसी समय मिल सकती है जब उसे ठीक प्रकार से फैलने का अवसर दिया जाय। परंतु इस फैलाव में गैस की दाब घट जायगी, क्योंकि गैस को उसी हवा में छोड़ना है जहाँ से हवा को ईंधन के साथ मिलाने के लिये भीतर खींचा गया था। इसलिये दाब के घटाव से पूरी शक्ति प्राप्त न होगी। जब तक गैस के पीछे पूरी दाब नही होगी, प्रणोदन समर्थ न होगा। अतः गैस के पीछे पूरी दाब प्राप्त करने के लिये संपीडक मशीन की व्यवस्था की जाती है। इस संपीडक को चलाने के लिये गैस टरबाइन लगाया जाता है। हवा को संपीडक बाहर से खीचकर टरबाइन की ओर पूरे बल के साथ फेंकता है। टरबाइन तथा संपीडक के बीच ईंधन को इसी हवा मे मिला दिया जाता है और इस मिश्रण को जलने का अवसर दिया जाता है। इसके जलने से आयतन तथा ताप एक ही दाब पर बढ़ते हैं। यह शक्ति इतनी होती है कि इससे टरबाइन भी चलाया जा सके और क्षिप के लिये भी इसमे पूरी गतिज ऊर्जा (kinetic energy) रह जाय। ऐसा एक इंजन चित्र (२) में दिखाया गया है जिसमें एक ही धुरी पर संपीडक और टरबाइन के फलों को चढ़ाया गया है।

संपीडक हवा को खींचकर दहन कोठरियों को देता है, जहाँ ईंधन पहले से जलता हुआ मिलता है और यह गैस अधिक ताप पर टरबाइन को जाती है। टरबाइन इस गैस से चलता है और यह टरबाइन संपीडक

भी चलाता है। टरबाइन से निकलकर यह गैस क्षिप की भाँति फैलती हुई अधिक दाब पर बाहर निकलती है। चलने के समय यह टरबाइन दूसरे इंजनों से अधिक ईंधन खर्च करता है, परंतु गति बढ़ जाने पर यह सब इंजनों से कम ईंधन लेता है। ऊँचाई पर पहुँचकर तो यह और भी कम ईंधन खर्च करता है।

इस टरबाइन से चलनेवाले हवाई जहाज की गति आवश्यकतानुसार नहीं होती। समय की बचत और लंबी यात्राओं के लिये आवश्यक है कि हवाई जहाज का वजन कम हो और गति अधिक। यदि हवाई जहाज में केवल क्षिपप्रणोदन ही हो जिसमें टरबाइन का उपयोग न हो तो ऐसा हो सकता है। इसकी मशीन में बहुत से कल पुरजों की आवश्यकता
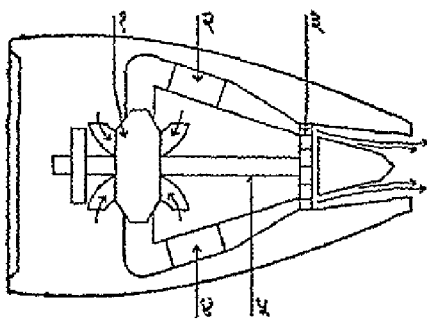
चित्र २. इंजन जिसमें संपीडक और टरबाइन के फल एक धुरी पर हैं

१ संपीडक, २ ज्वलन कक्ष, ३ टरबाइन ४ ज्वलन कक्ष तथा ५ धुरी।
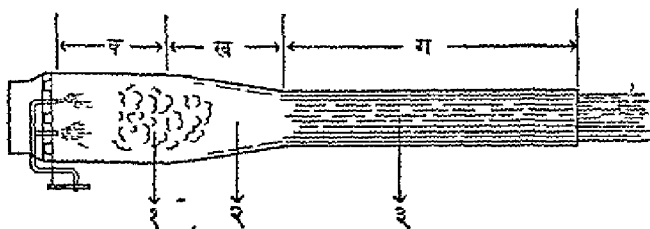
चित्र ३ क्षिपप्रणोदनवाला इंजन

१ ताप २५०° सें०, २ ताप १८००° सें०, ३ ताप ६००° सें०,

क पहला भाग, ख दूसरा भाग तथा ग, तीसरा भाग।

नहीं होती। इस प्रकार का इंजन चित्र (३) में दिखाया गया है। इस मशीन के केवल तीन भाग हैं। पहला भाग आगे का है जिसमें हवा के लिये कपाट हैं और ईंधन की नली है जिसके द्वारा पंप से ईंधन भीतर फेंका जाता है। इन कपाटों के समय पर खुलने से हवा भीतर जाती है। यह कपाट उस समय बंद होते हैं जब ईंधन और हवा जलकर गैस बन जाती है। ईंधन के जलने पर धड़ाका होता है और गैस बाहर की ओर भागती है। दूसरा भाग दहन कोठरी का है और तीसरा भाग इंजन के पीछे की नाली का है, जिसकी लंबाई इंजन की शक्ति के अनुसार रखी जाती है। जब इसको चलाना होता है तो इसमें सबसे पहले ईंधन छिड़का जाता है और आग लगा दी जाती है। इस समय हवा के कपाट खुल जाते हैं और हवा भीतर आकर ईंधन के साथ मिल जाती है। मिलावट ठीक प्रकार से की जाती है। ईंधन और हवा का मिश्रण लगभग २ मिलीसेकंड में जल जाता है और इसका ताप २५०° सेंटीग्रेड और दाब १०० प्रतिशत बढ़ जाती है। अब यह गैस नाली की ओर चलती है पर नाली में जाने से पहले यह फैलती है। जब यह नाली में जाती है तो नाली का व्यास छोटा होने के कारण इसका ताप ६००° सें० और दाब घटकर ६५ प्रतिशत हो जाती है। कोठरी से बाहर निकलने तक का समय ८ मिलीसेकंड हो सकता है। इस प्रकार ईंधन और हवा के मिश्रण में उत्पन्न धड़ाका एक दूसरे के पश्चात् जल्दी जल्दी होता है। इसी धड़ाके के बल पर और गैस के तीव्र गति से बाहर निकलने के कारण प्रणोदन के लिये शक्ति मिलती है। ईंधन को पहले बिजली से जलाया जाता है, किंतु मशीन के चलन पर दहन कोठरी इतनी तप जाती है कि ईंधन अपने आप ही जल जाता है। ईंधन की नाली की लंबाई इतनी रखी जाती है कि हवा के कपाट खुलने से पहले ही जली हुई गैस बाहर निकल जाय। इस प्रकार की मशीनों का उपयोग आपसे आप चलनेवाले बमगोलों में किया गया था और अब हवाई जहाजों में किया जाता है, परंतु इसको चलाने के लिये लंबे स्थान की आवश्यकता होती है और चलने के समय इसकी गति अधिक होनी चाहिए।

पहले यह विचार था कि पिस्टन इंजन के स्थान पर क्षिपप्रणोदन का व्यवहार करने पर बहुत ज्यादा कल पुरजों की आवश्यकता नहीं होगी, परंतु ऐसा नहीं हुआ। क्षिपप्रणोदन के उपयोग के साथ ही यह पता चला कि केवल ईंधन के पंपों को बड़ी सावधानी से बनाना है और ईंधन तथा हवा का नियंत्रण ठीक रखना नितांत आवश्यक है।

मान लें गैस निकलने का परिमाण म प्रति सेकंड है और इसकी गति ग है। मशीन को चलानेवाली शक्ति म × ग हुई। यदि गैस के बाहर निकलने के स्थान का क्षेत्रफल क्ष है तो इस स्थान पर दो दाबें होंगी, एक तो बाहर निकलनेवाली गैस की दाब जो $नि_1$ है और दूसरी इस स्थान पर हवा की दाब, जो, मान लें, $नि_2$ है। ये दोनों दाबें एक दूसरे के विरुद्ध होंगी। इसलिये इस स्थान पर दाब होगी क्ष ($नि_1$—$नि_2$) जो म × ग के साथ काम करेगी। इसलिये प्रणोदन की पूरी शक्ति = म × ग + क्ष ($नि_1$—$नि_2$) होगी।

यदि गैस बाहर निकलनेवाले छेद को ऐसा बनाया जाय कि गैस फैलकर दाब $नि_2$ तक आ जाय तो $नि_1$ = $नि_2$, इसलिये शक्ति = म × ग। यही प्रणोदय का समीकरण कहा जाता है।

प्रणोदन का कार्यानुपात निम्नांकित समीकरण से दिखाया जा सकता है।

$$\text{कार्यानुपात} = \frac{2V \times N}{V^2 + N^2},$$

जहाँ ग (V) क्षिप की गति है और र (N) मशीन के चलने की गति। यह कार्यानुपात महत्तम होगा यदि ग = र, अर्थात् मशीन की चाल यदि क्षिप की चाल के बराबर हो। (गु० वे०)

क्षीरी (मैना, Manna, ओलिएसी, Oleaceae)। एक ओषधि मालतीकुल के पौधे फ्रैक्सिनस ओरनस लिन (Fraxinus Ornus Linn, Manna ash tree) से प्राप्त होती है। यह पौधा दक्षिण यूरोप का देशज है और ओषधि के लिये इटली और विशेषकर

क्षीरी प्रमूर्ज की पुष्पित शाखा

सिसिली में उगाया जाता है। ग्रीष्म ऋतु के आरंभ में इसमें श्वेत पुष्प के गुच्छे निकल आते हैं। जब पौधा लगभग आठ वर्ष का एवं उसके तने का व्यास कम से कम तीन इंच का हो जाता है तब जुलाई या अगस्त में भूमि के ऊपरवाले तने की छाल में केवल एक ओर प्रति दिन डेढ़ से दो इंच

लंबी एक अनुप्रस्थ काट (incision) लगाई जाती है। प्रत्येक कटन एक दूसरे से प्राय: एक अथवा दो इंच ऊपर लगती है। इन कटनों में से शर्करायुक्त स्राव (exudation) निकलता है जिसको तने पर ही सूखने दिया जाता है। इसी को क्षीरी (Flake manna) कहते हैं। कटनों में लकड़ी आदि के टुकड़े खोंस देने से उनपर क्षीरी जम जाती है जो सबसे उत्तम होती है। इसको 'मैना आ कानोलो' (Manna a cannolo) कहते हैं।

क्षीरी जल एवं ऐलकोहल में घुल जाती है और इसके द्वारा चमकीले समचतुर्भुज स्तंभ (rhombic prism) और सूचियों के रूप में प्राप्त होती है। क्षीरी में ६० से ९० प्रतिशत मैनिटोल (Mannitol) $[C_6H_8(OH)_6]$, फ्रेक्सिन नामक प्रतिदीप्त ग्लूकोसाइड (fluorescent glucoside), शर्कराएँ (Manninotriose और Manneotetrose), श्लेष्म (Mucilage) और रेज़िन इत्यादि पाए जाते हैं। यह हलकी रेचक ओषधि है। मीठी होने के कारण बच्चों को जुलाब के लिये भी दी जाती है। इसकी सबसे अधिक खपत दक्षिणी अमरीका में होती है। अन्य पौधों के रस से भी कई प्रकार की क्षीरियाँ बनाई जाती है, परंतु उनमें मैनिटोल नहीं होता। (रा० कु० स०)

क्षेत्रमिति और आयतनमिति (Mensuration) गणित की वह शाखा जो लंबाइयों, क्षेत्रफलों और आयतनों की यथार्थ अथवा संनिकट मापों से संबंधित है। इस अनुच्छेद में मुख्यत: सूत्र दिए गए हैं; इनकी उपपत्तियाँ सामान्यतया रेखागणित अथवा त्रिकोणमिति और कोई कोई कलन गणित के विषयांग हैं।

(१) समतल ऋजुरेखीय आकृतियाँ

१. **प्राथमिक समतल क्षेत्रफल और लंबाइयाँ**—किसी लंबाई के एकक (इंच, फुट, गज, मील, आदि; अथवा सेंटीमीटर, मीटर, आदि) के क्षेत्रफल का एकक उस वर्ग का क्षेत्रफल है जिसकी भुजा मनोनीत लंबाई के बराबर है। इस वर्ग के क्षेत्रफल को एक वर्ग एकक, अर्थात् एक वर्ग-इंच, एक वर्गफुट, एक वर्गमीटर आदि कहते हैं। इन एककों में किसी आयत का क्षेत्रफल उसकी लंबाई में एककों की संख्या को उसकी चौड़ाई के एककों की संख्या से गुणा करने पर प्राप्त होता है (देखें चित्र १.)।

मान लीजिए, आयत की लंबाई l है और चौड़ाई b है तो उसका क्षेत्रफल $A = l \times b$

और विकर्ण $d = \sqrt{(l^2 + b^2)}$
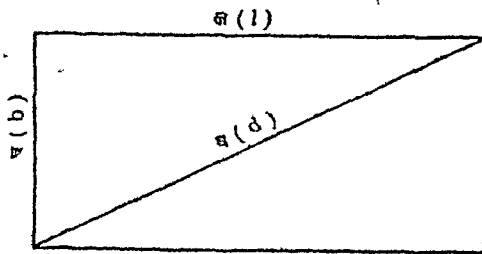
चित्र १.

ऐसे चतुर्भुज को समांतर चतुर्भुज कहते हैं जिसकी संमुख भुजाएँ समांतर हैं। इसका क्षेत्रफल प्रकट करने के लिये किन्हीं दो समांतर भुजाओं को आधार माना जाय तो उनके बीच की लांबिक दूरी को ऊँचाई कहा जाता है। यदि आधार की लंबाई a तथा ऊँचाई h है तो

$$\text{क्षेत्रफल } A = a\,h$$

यदि समांतर चतुर्भुज के विकर्ण d_1 तथा d_2 हैं तो $d_1^2 + d_2^2 = 2(a^2 + b^2)$ जहाँ a तथा b उसकी भुजाएँ हैं।

किसी भी विकर्ण से समांतर चतुर्भुज दो समान त्रिभुजों में विभाजित हो जाता है और विलोमत: किसी भी त्रिभुज को एक समांतर चतुर्भुज के समद्विभाजन से प्राप्त हुआ माना जा सकता है। इस प्रकार समांतर चतुर्भुज का आधार और उसकी ऊँचाई उसके समद्विभाजन में प्राप्त किसी भी त्रिभुज का आधार और उसकी ऊँचाई बन जाते हैं। अतएव त्रिभुज के क्षेत्रफल के लिये सूत्र $A = \frac{1}{2}\,a\,h$ है। (देखें चित्र २.)।
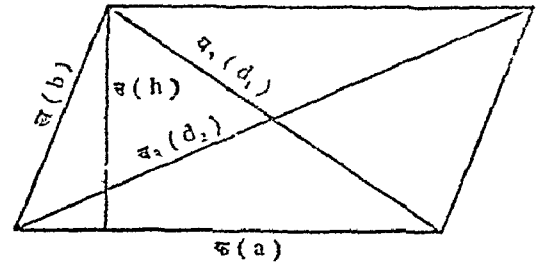
चित्र २.

प्राय: त्रिभुज की भुजाओं से क्षेत्रफल निकालने की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये सूत्र यह है :

$$A = \sqrt{s(s-a)(s-b)(s-c)}$$

जहाँ त्रिभुज की भुजाएँ a, b, c हैं और $s = \frac{1}{2}(a+b+c)$।
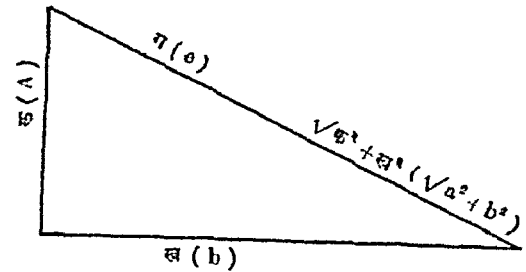
चित्र ३. समकोण त्रिभुज

यदि त्रिभुज का एक कोण समकोण है और समकोणवाली भुजाओं की लंबाइयाँ a तथा b हैं तो क्षेत्रफल $A = \frac{1}{2}ab$ होगा। तीसरी भुजा (कर्ण) $c = \sqrt{(a^2 + b^2)}$ (देखें चित्र ३.)। इस संबंध की खोज पाइथैगोरस ने ५०० ई० पू० में की थी। उसी के नाम से यह प्रमेय विख्यात है। विलोमत:, यदि यह संबंध किसी त्रिभुज की भुजाओं से संतुष्ट होता है तो वह त्रिभुज समकोण त्रिभुज है। इस सूत्र का उपयोग करके समतल मैदान में फीते की सहायता से समकोण बनाया जा सकता है। यदि १२ गज लंबे फीते के सिरों को मिलाकर उसे ३, ४, ५, गज की भुजाओंवाले त्रिभुज के रूप में तान दिया जाय तो एक समकोण त्रिभुज बन जायगा क्योंकि

$$3^2 + 4^2 = 5^2$$

ऐसे चतुर्भुज को जिसकी दो भुजाएँ समांतर होती हैं समलंब कहते हैं। यदि समांतर भुजाओं की लंबाइयाँ a तथा b हैं और उनके बीच की लांबिक दूरी h है तो समलंब का क्षेत्रफल (देखें चित्र ४.)।
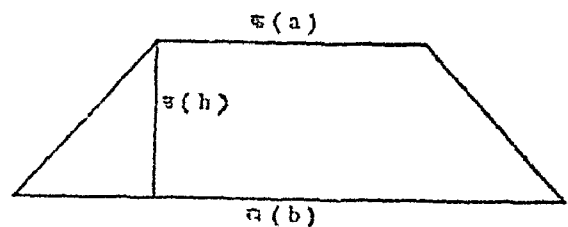
चित्र ४. समलंब चतुर्भुज

$$A = \frac{1}{2}\,(a+b)\,h$$

२. व्यापक बहुभुज—पूर्वोक्त आकृतियों के अतिरिक्त यदि कैसा भी बहुभुज $A B \ldots G$ दिया हो तो उसका क्षेत्रफल ज्ञात करने के लिये कोई
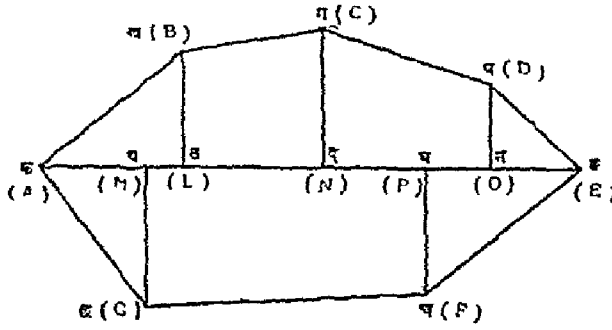
चित्र ५. ऋजुरेखीय आकृति

विकर्ण, मान लें AE खीचें और बहुभुज के AE के अतिरिक्त अन्य शीर्षों से इसपर लंब BL, CN इत्यादि खीचें।

इस प्रकार बहुभुज त्रिभुजों और समलंबों मे विभक्त हो जाता है और इनके क्षेत्रफलों का योगफल बहुभुज का क्षेत्रफल है (देखें चित्र ५.)।

(२) वृत्त

३. परिधि और वृत्तीय चाप की लंबाई—वृत्त की परिधि व्यास की π गुनी होती है। π एक अपरिमेय बीजातीत संख्या है (देखें संख्या पर लेख)।

चार दशमलव स्थानों तक शुद्ध π का मान ३.१४१६ है, इससे भी अधिक शुद्ध मान $\frac{३५५}{११३}$ है (इसे स्मरण रखने के लिये ध्यान रखें कि हर के आगे अंश लिखने पर प्रथम तीन विषम संख्याओं के जोड़े बन जाते हैं)।

सामान्यतया π को $\frac{२२}{७}$ मान लिया जाता है, जो यथार्थ मान से लगभग ·०४% अधिक है। क्योंकि वृत्त के किन्हीं दो समान लंबाई के चापों से केंद्र पर समान कोण बनते हैं, इसलिये वृत्तीय चाप की लंबाई उससे केंद्र पर बने कोण की समानुपाती है। क्योंकि त्रिज्या r वाले वृत्त के केंद्र पर १८०° का ऋजुकोण बनानेवाला चाप, अर्धपरिधि, लंबाई π r का है, इसलिये केंद्र पर, θ° का कोण बनानेवाले चाप की लंबाई $\pi r\, \theta/180$ है। इस प्रकार त्रिज्या के बराबर की लंबाई का चाप वृत्त पर १८०/π अंश का कोण बनाएगा। इस कोण को रेडियन कहते हैं, अर्थात् π रेडियन = १८०°। यदि केंद्र पर बने कोण की माप θ रेडियन हैं तो चाप = r θ, जहाँ r वृत्त की त्रिज्या है (देखें चित्र ६.)।
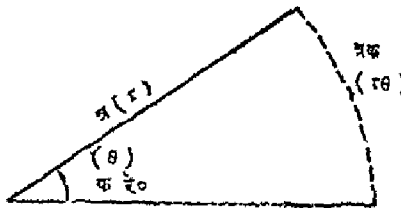
चित्र ६.

कभी कभी चाप के केंद्र की स्थिति जानने में असुविधा होती है; तब उसके सिरों को मिलानेवाली ऋजु रेखा, अर्थात् उसकी जीवा c और उसके एक सिरे से चाप के मध्य बिंदु तक की ऋजु रेखा a के पदों में चाप की लंबाई l निम्नांकित संनिकट सूत्र से ज्ञात की जा सकती है :

$$l \simeq \tfrac{8}{3} a - \tfrac{1}{3} c$$

चित्र ७. अर्धवृत्त

इस सूत्र से ·१% की यथार्थता का मान तब तक मिलता है जब तक कि चाप के मध्यबिंदु की जीवा के मध्यबिंदु से दूरी h, से कम अर्थात् $h < \frac{1}{8} c$ है। यदि ऐसा न हो तो चाप के अलग अलग खंडों की लंबाइयाँ इस सूत्र से निकालकर उन्हें जोड़ देना चाहिए (देखें चित्र ७)।
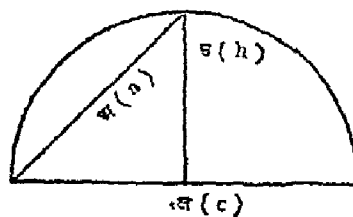
४. द्वैत्रिज्य और वृत्तखंडों के क्षेत्रफल—त्रिज्या r के वृत्त का क्षेत्रफल $A = \pi r^2$। वृत्त की किन्हीं दो त्रिज्याओं और उनके सिरों को मिलानेवाले चाप से घिरा हुआ क्षेत्र द्वैत्रिज्य कहलाता है। त्रिज्याओं के बीच के कोण को द्वैत्रिज्य का कोण कहते हैं (चित्र ८. में A O P। एक वृत्त मे समान कोणों के द्वैत्रिज्यों के क्षेत्रफल समान होते हैं। इस तथ्य के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि द्वैत्रिज्य का क्षेत्रफल उसके कोण का समानुपाती है। अतएव यदि वृत्त की त्रिज्या r है तो कोण θ रेडियनवाले द्वैत्रिज्य का क्षेत्रफल $A = \frac{1}{2} r^2 \theta$।
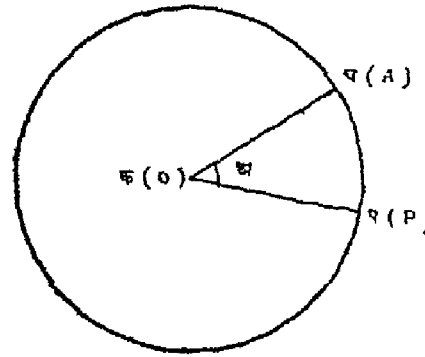
चित्र ८ वृत्त

यदि द्वैत्रिज्य कोण θ° है, तो $A = \pi r^2 \theta/360$। किसी वृत्तीय चाप और उसकी जीवा से घिरे हुए क्षेत्र को वृत्तखंड कहते हैं। चाप और वृत्त के मध्यबिंदुओं को मिलानेवाली रेखा को वृत्तखंड की ऊँचाई कहते हैं। अनुच्छेद ३ के अंतिम चित्र में वृत्तखंड की जीवा c, ऊँचाई h और अर्धचाप की जीवा a है। वृत्तखंड के क्षेत्रफल क्ष A के लिये एक संनिकट सूत्र यह है :

$$A \simeq h\left(\tfrac{2}{3}c + \tfrac{8}{15}a\right)$$

जब तक $h < \frac{1}{5} c$। इस सूत्र में ·०३% के लगभग त्रुटि रहती है।

(३) क्षेत्रकलन

५. समतल वक्ररेखीय आकृति का क्षेत्रफल—ऐसी समतल आकृतियों के क्षेत्रफल की गणना, जो एक या अधिक रेखाओं (ऋजु या वक्र) से घिरी हों, निर्देशांक ज्यामिति और कलन की विधियों से की जा सकती है। सामान्यतया आकृति के समतल में पहले दो निर्देशाक्ष चुने जाते हैं। फिर आकृति की परिसीमा को ऐसे खंडों में विभक्त किया जाता है कि उनमें से प्रत्येक Y– अक्ष की समांतर रेखा द्वारा एक से अधिक बिंदु पर न कटता हो और X– से बिलकुल न कटता हो। ऐसे प्रत्येक खंड का निरूपण समीकरण y = f(x) से किया जा सकता है। यदि इसके सिरों के भुज a तथा b हैं तो कोटियों x = a; x = b; वक्र y = f(x) और (X–) अक्ष में घिरे हुए क्षेत्र का क्षेत्रफल

$$A = \left| \int_a^b f(x)\,dx \right|$$

इस सूत्र से प्राप्त विविध खंडों के क्षेत्रफलों को जोड़ और घटाकर अभीष्ट क्षेत्रफल ज्ञात किया जा सकता है।

६. संनिकट गणना—यदि फलन f (x) का समाकलन कठिन तथा अज्ञात हो, या वक्र का समीकरण ज्ञात न किया जा सकता हो, तो संनिकट गणना द्वारा क्षेत्रफल प्राप्त किया जाता है। संनिकट गणना के कई सूत्र हैं। इन सबका आधार यह है कि वक्र को समदूरस्थ कई एक कोटियों से विभक्त किया जाता है। जिन बिंदुओं पर ये कोटियाँ वक्र को काटती हैं उनमें दो दो या तीन तीन ...... पर समीकरण

$$(y = a_0 + a_1 x + a_2 x^2 + \ldots)$$

वाले वक्रों का आसंजन किया जाता है और प्रत्येक खंड का क्षेत्रफल कोटियों के पदों में प्रकटकर उनके योगफल में अभीष्ट सूत्र मिल जाता है।

समलंबीय नियम—यदि दो दो बिंदु लिए जायँ तो उनसे होकर ऋजु रेखा खींची जायगी और तब यह सूत्र मिलेगा :

$$\int_a^b f(x)dx = h\left[\tfrac{1}{2}y_0 + y_1 + y_2 + \cdots + y_{n-1} + \tfrac{1}{2}y_n\right];$$

जहाँ h दो क्रमागत कोटियों के बीच की दूरी है और $b-a = nh$।

सिम्सन नियम—यदि तीन तीन विंदु लिए जायँ तो उनमें होकर (द्वितीयघात के) सामान्य परिवलय खींचे जायँगे, तब यह सूत्र मिलेगा :

$$\int_a^b f(x)dx = \tfrac{1}{3}h\{y_0 + 4y_1 + 2y_2 + 4y_3 + \ldots 2y_{n-2} + 4y_{n-1} + y_n\}$$

(४) प्रमुख ठोसों के आयतन और पृष्ठ

किसी लंबाई के एकक के संगत आयतन का एकक उस घन का आयतन है जिसकी भुजा मनोनीत लंबाई के बराबर है। इस घन के आयतन को एक घन एकक अर्थात् १ घन इंच, १ घन मीटर, आदि कहते हैं। अब कुछ महत्वपूर्ण ठोसों की परिभाषाएँ और उनके आयतन सूत्र दिए जाते हैं :

७. **समपार्श्व**—ऐसे ठोस को जो समतल पृष्ठों (वस्तुत: फलकों) से घिरा होता है बहुफलक कहते हैं। बहुफलक के फलक बहुभुज होते हैं। ऐसे बहुफलक का नाम समपार्श्व है जिसके दो फलक, जिन्हें सिरे अथवा आधार कहते हैं, समांतर समतलों में स्थित दो सर्वांगसम बहुभुज हैं और शेष फलक, जिन्हें पार्श्वफलक कहते हैं, समांतर चतुर्भुज हैं। यदि समपार्श्व के सिरे समांतर चतुर्भुज हैं, तो एक समांतर फलक बनता है, जो तीन जोड़े सर्वांगसम समांतर चतुर्भुजों से सीमाबद्ध होता है। यदि पार्श्वफलक सिरों पर लंब हैं, तो लंबसमपार्श्व मिलता है। लंबसमपार्श्व के सिरे आयत होने पर घनाभ मिलता है और घनाभ के सभी फलक वर्ग होने पर घन मिलता है।

बहुफलक पर स्थित दो फलकों की प्रतिच्छेद रेखा को कोर कहते हैं; दो कोरों के प्रतिच्छेदबिंदु को शीर्ष कहते हैं। समपार्श्व के समांतर सिरों के बीच की लांबिक दूरी को समपार्श्व की ऊँचाई कहते हैं। यदि समपार्श्व के आधार का क्षेत्रफल A और समपार्श्व की ऊँचाई h है, तो उसका आयतन Ah। विशेषत:, यदि घनाभ की लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई क्रमानुसार a, b, c, हैं तो उसका आयतन = a b c।

घनाभ की तीन संगामी कोरों के सर्वनिष्ठ शीर्ष को शेष तीन कोरों के शीर्ष से मिलाने पर एक विकर्ण मिलता है। इसकी लंबाई $\sqrt{(a^2+b^2+c^2)}$।

यदि लंब समपार्श्व के आधार की परिमाप p है और आधार पर लंब कोरों की लंबाई k है तो समपार्श्व का पार्श्वपृष्ठ = p k। विशेषत: घनाभ का पृष्ठ = 2(ab + bc + ca) जहाँ a, b, c, घनाभ की कोरें हैं।

८. **सूचीस्तंभ**—यह बहुफलक सूचीस्तंभ कहलाता है जिसमें एक फलक, जिसे आधार कहते हैं, बहुभुज हो और शेष फलक ऐसे त्रिभुज हों जिनका एक शीर्ष सबमें सर्वनिष्ठ हो। इस शीर्ष को सूचीस्तंभ का शीर्ष कहते हैं। शीर्ष से आधार पर खींचे गए लंब की माप सूचीस्तंभ की ऊँचाई है। यदि सूचीस्तंभ के आधार का क्षेत्रफल A और उसकी ऊँचाई h है तो उसका आयतन = $\frac{1}{3}$Ah। ऐसे सूचीस्तंभ को लंब सूचीस्तंभ कहते हैं जिसका आधार या तो कोई सम बहुभुज हो या आयत और आधार के केंद्र को शीर्ष से मिलानेवाली रेखा आधार पर लंब हो। लंबी सूचीस्तंभ में शीर्ष को आधार की एक भुजा के मध्यबिंदु से मिलानेवाली रेखा को तिर्यक् ऊँचाई कहते हैं। यदि किसी लंब सूचीस्तंभ के आधार की परिमाप p है और तिर्यक् ऊँचाई l है, तो उसका पार्श्वपृष्ठ = $\frac{1}{2}$pl।

यदि सूचीस्तंभ का आधार त्रिभुज है तो उसके सभी फलक त्रिभुज हो जाते हैं और उनकी संख्या चार होने के कारण उसे चतुष्फलक कहते हैं। सम चतुष्फलक की सब कोरें समान होती हैं।

यदि कोर a है तो ऊँचाई = $a\sqrt{\frac{2}{3}}$ पृष्ठ = $a^2\sqrt{3}$ तथा आयतन = $\frac{1}{12}a^3\sqrt{2}$।

९. **समपार्श्वाभ**—यदि किसी बहुफलक के सभी शीर्ष दो समांतर समतलों में हों तो वह एक समपार्श्वाभ कहलाता है। इन समांतर समतलों में स्थित फलकों को आधार और अन्य फलकों को पार्श्वफलक कहते हैं। आधारों में से एक कोर मात्र भी हो सकती है और केवल एक बिंदु भी। समपार्श्व और सूचीस्तंभ का छिन्नक (अर्थात् सूचीस्तंभ के आधार और उसके समांतर समतल के बीच का खंड) दो आधारवाले समपार्श्वाभ हैं। सूचीस्तंभ स्वयं ऐसा समपार्श्वाभ है जिसका एक आधार बिंदुमात्र है। समपार्श्वाभ के पार्श्वफलक या तो चतुर्भुज होंगे या त्रिभुज। आधारवाले समांतर समतलों के बीच की दूरी समपार्श्वाभ की ऊँचाई है। इस ऊँचाई के समद्विभाजक, आधार के समांतर, समतल में समपार्श्वाभ की काट मध्य काट कहलाती है। यदि आधारों के क्षेत्रफल A_1, A_2 तथा मध्यकाट का क्षेत्रफल Am और ऊँचाई h हैं तो

समपार्श्वाभ का आयतन = $\frac{1}{6}h\ (A_1 + 4A_m + A_2)$।

यह अत्यंत व्यापक सूत्र है। यदि एक आधार केवल कोर या शीर्ष मात्र हो तो उसका क्षेत्रफल शून्य मान लेना चाहिए। पीपे (drum) आदि बहुत से ऐसे ठोसों का भी संनिकट आयतन इस सूत्र से ज्ञात हो जाता है जो यथार्थत: समपार्श्वाभ नहीं हैं। सूचीस्तंभ के छिन्नक के लिये यह सूत्र सरल होकर $\frac{1}{3}h\{A_1 + A_2 + \sqrt{(A_1 A_2)}\}$ हो जाता है।

१०. **स्फान**—यदि समपार्श्वाभ का एक आधार आयत है और दूसरा आधार इस आयतवाले समतल के समांतर एक कोर है तो एक स्फान प्राप्त होता है। यदि स्फान की ऊँचाई (अर्थात् आधार से कोर तक की दूरी) h है, कोर की माप l, उसके समांतर आधार की लंबाई a तथा आधार की चौड़ाई ख b है, तो स्फान का आयतन $\frac{1}{6}bh(2a+l)$।

(५) रेखज तल और परिक्रमज ठोस

११. **बेलनीय तल**—जब कोई ऋजु रेखा अपने समांतर किसी दिए हुए वक्र के बिंदुओं से होकर चलती है तो एक बेलनीय तल बनता है। इस तल पर रेखा की विविध स्थितियों को जनक रेखाएँ अथवा केवल जनक कहते हैं। जो वक्र जनक के असमांतर किसी समतल द्वारा बेलनीय तल की काट से मिलता है उसे तल का नियता कहते हैं। नियता के आधार पर बेलनीय तल का भी नाम पड़ता है। यदि नियता दीर्घवृत्त है, तो तल को दीर्घवृत्तीय कहते हैं; यदि नियता अतिपरिवलय है, तो तल अतिपरवलीय है। यदि नियता बंद वक्र है, तो बेलनीय तल भी एक बंद तल है।

१२. **बेलन**—ऐसे ठोस को बेलन कहते हैं जो एक बंद बेलनीय तल और दो समांतर तलों से घिरा हो। समतल फलकों को बेलन के आधार या सिरे और बेलनीय तल को पार्श्वपृष्ठ या वक्रपृष्ठ कहते हैं। आधारों के बीच की लांबिक दूरी को बेलन की ऊँचाई और आधार के बीच जनक की माप को बेलन की लंबाई कहते हैं। जनक पर लंब किसी समतल से बेलन की काट को लंब काट कहते हैं। यदि लंब काट क्षेत्रफल A_c और परिमाप p_c की है तथा बेलन की लंबाई l है, तो बेलन का वक्रपृष्ठ = lp_c, आयतन = $A_c l$ = Ah जहाँ A आधार का क्षेत्रफल है और h बेलन की ऊँचाई है।

बेलन का सरलतम और सामान्यतम रूप लंबवृत्तीय बेलन है, जिसमें लंब काट और सिरे समान वृत्त हैं। यदि वृत्त की त्रिज्या r और ऊँचाई h है तो लंब वृत्तीय बेलन का

आयतन = $\pi r^2 h$;

वक्रपृष्ठ = $2\pi rh$

यदि लंब बेलन के सिरे सकेंद्र वक्र हैं, तो सिरों के केंद्रों को मिलानेवाली रेखा को बेलन का अक्ष कहते हैं। किसी लंबवृत्तीय बेलन से उसी अक्षवाला एक छोटा लंबवृत्तीय बेलन निकाल लेने पर रिक्त बेलन मिलता है। नल आदि रिक्त बेलन के आकार होते हैं। यदि रिक्त बेलन के बाह्य पृष्ठ की त्रिज्या r_1, भीतरवाले की r_2 और ऊँचाई h है, तो इसके द्रव्य का आयतन = $\pi(r_1^2 - r_2^2)h$ और उसकी धारिता (आयतन) = $\pi r_2^2 h$।

१३. शंकु—जब कोई ऋजु रेखा इस प्रकार चलती है कि वह सदा एक स्थित बिंदु से और एक दिए हुए वक्र के विभिन्न बिंदुओं से होकर जाय तो शाकव तल का जनन होता है। रेखा की विभिन्न स्थितियो को जनक कहते है और स्थित बिंदु को शीर्ष। नियता की परिभाषा पूर्ववत् है। शीर्ष के एक ओर के बंद शाकव पृष्ठ और एक समतल से घिरे हुए ठोस को शकु कहते हैं : पृष्ठ का समतल भाग आधार है और शीर्ष से आधार की लाबिक दूरी शंकु की ऊँचाई है। यदि आधार का क्षेत्रफल A है और शकु की ऊँचाई h है, तो शंकु का आयतन $=\frac{1}{3}$ Ah। यदि शकु का आधार (त्रिज्या r का) वृत्त है और शीर्ष को आधारकेंद्र से मिलानेवाली रेखा आधार लब पर है, तो शंकु लबवृत्तीय शंकु कहलाता है। शीर्ष को आधार की परिधि के किसी बिंदु से मिलानेवाली रेखा शंकु की तिर्यक् ऊँचाई है और जो कोण यह आधार के लब से बनाते है शंकु का अर्धशीर्ष कोण है। यदि तिर्यक् ऊँचाई l, अर्धशीर्ष कोण है, तो r, h, l, α वक्र पृष्ठ c, सपूर्ण पृष्ठ s और आयतन V के कुछ संबध ये हैं :

$$h = l\cos\alpha \quad r = l\sin\alpha,\ V = \tfrac{1}{3}\pi r^2 h$$
$$c = \pi r l \quad S = \pi r(r+l)$$

वस्तुत किन्ही दो राशियो के पदो मे अन्य राशियाँ प्रकट की जा सकती हैं। लबवृत्तीय रूप ही शकु का सर्वाधिक सामान्य रूप है और साधारण बोलचाल मे शकु शब्द से ऐसे ही शंकु का बोध होता है।

यदि शंकुछिनक के सिरों की त्रिज्याएँ r_1 r_2, लाबिक ऊँचाई h और तिर्यक् ऊँचाई l हैं, तो छिनक का आयतन $=\frac{1}{3}\pi h\ (r_1^2 + r_1 r_2 + r_2^2)$

तथा वक्रपृष्ठ $= \pi l\ (r_1 + r_2)$।

१४. गोला—अवकाश मे ऐसे बिंदु का पथ जिसकी किसी स्थिर बिंदु से (जिसे केंद्र कहते है) दूरी सदा एक अचर राशि r है, एक गोला है और यह अचर दूरी r गोले की त्रिज्या है। गोले का वक्रपृष्ठ एक बंद तल है और इसका क्षेत्रफल $= 4\pi r^2$ तथा गोले का आयतन $=\frac{4}{3}r^3$। कोई भी केंद्रगामी समतल गोले को त्रिज्या r के दीर्घवृत्त मे काटता है। केंद्र से दूरी $= p < r$ वाला समतल गोले को त्रिज्या $\sqrt{(r^2 - p^2)}$ के लघुवृत्त मे काटता है। इस समतल से गोले के पृष्ठ का दो खडो मे विभाजन हो जाता है, जिनकी ऊँचाइयाँ $r - p$ और $r + p$ हैं। गोलीय खंड के वक्रपृष्ठीय भाग को टोपी कहते है। यदि गोलीय खड की ऊँचाई h, आधारत्रिज्या r_1 है तो

वक्रपृष्ठ $= 2\pi r h$

और आयतन $= \pi h^2\ (r - \frac{1}{3}h) = \frac{1}{6}\pi h\ (3\ r_1^2 + h^2)$।

दो समातर समतलो के बीच गोले के पृष्ठ का भाग कटिबंध कहलाता है। कटिबंध के सिरे वृत्त होते है। इनके केंद्रो को मिलानेवाली रेखा कटिबंध की ऊँचाई है। यदि सिरो की त्रिज्याएँ r_1 r_2 और ऊँचाई h हैं तो कटिबंध का वक्रपृष्ठ $= 2\pi r\,h$ और आयतन

$= \frac{1}{6}\pi h\ (3r_1^2 + 3r_2^2 + h^2)$

गोले के एक ही व्यासवाले किन्हीं दो अर्धवृत्तो से गोलपृष्ठ का जो भाग कटता है वह इंदुक कहलाता है, क्योंकि यह नए चंद्रमा के आकार का होता है। इन वक्रपृष्ठ और अर्धवृत्तों मे घिरे हुए ठोस को भी इंदुक कहते हैं। इसके समतलीय सिरो के बीच का कोण इंदुक का कोण है। त्रिज्या r के गोले से कोण α वाले इंदुक का

वक्रपृष्ठ $= \alpha r^2$

आयतन $= \frac{2}{3}\alpha r^3$

जो ठोस गोले से ऐसे लंबवृत्तीय शंकु द्वारा कटता है जिसका शीर्ष गोले के केंद्र पर है, उसे गोलीय शकल कहते हैं। यह एक गोलीय खंड और एक ऐसे लबवृत्तीय शकु के योग से बना माना जा सकता है जिसका आधार वही है जो खंड का और शीर्ष गोले का केंद्र है। यदि खंड की ऊँचाई h है, आधारत्रिज्या r_1 और गोले की त्रिज्या r है, तो शकल का आयतन $= \frac{2}{3}\pi r^2 h$ और संपूर्ण पृष्ठ $\pi r\ (2h + r_1)$।

(६) समाकलन द्वारा आयतन और वक्रपृष्ठ

१५. व्यापक सूत्र—पूर्वोक्त ठोसो के अतिरिक्त अन्य ठोसों का आयतन समाकलन द्वारा ही ज्ञात किया जा सकता है। कभी कभी सरल समाकलन से भी काम चल जाता है, अन्यथा बहुल समाकलन आवश्यक हो जाता है। सरल समाकलन तब पर्याप्त होता है जब ठोस की समातर काटो मे से किसी का क्षेत्रफल उस काट के एक स्थिर बिंदु से दूरी x का कोई समाकलनीय फलन A(x) हो। यदि काटे समतल x = a और x = b के बीच मे है तो

$$\text{आयतन} = \int_a^b A\ (x)\ dx$$

विशेषत यदि ठोस वक्र $y = f\ (x)$ के X – अक्ष के परितः घुमाने से बना है, अर्थात् एक परिक्रमज ठोस है, और समतल x = a तथा x = b सीमित है, तो ठोस का

$$\text{आयतन} = \pi \int_a^b \{ f(x)\}^2\, dx$$

$$\text{और वक्रपृष्ठ} = 2\ \pi \int_a^b f(x)\sqrt{\{1 + [f'(x)]^2\}}\, d\,x$$

जहाँ $f'(x) = df(x)/dx$

क्योंकि किसी बद समतल से क्षेत्र α के केंद्रक

$\bar{x}$, $\bar{y}$ के लिये सूत्र

$$\bar{x} = \frac{1}{A}\iint_\alpha x\ dy\ dx;\ \bar{y} = \frac{1}{A}\iint_\alpha y\ dy\ dx$$

है जहाँ A क्षेत्र का क्षेत्रफल है, इसलिये क्षेत्र α को इसके समतल मे स्थित और इससे प्रतिच्छेदन न करनेवाली किसी ऋजु रेखा के परितः चार समकोण या कम घुमाने पर बने हुए ठोस का आयतन Al जहाँ ल l केंद्रकपथ की लबाई है।

इस प्रकार यदि वक्र की परिमाप p है और इसकी परिसीमा का केंद्रक लबाई l_1 का पथ चलता है तो उत्पादित ठोस का वक्रपृष्ठ $= pl_1$

इन सूत्रो की खोज ३०० ई० के लगभग ऐलेक्जेंड्रिया के गणितज्ञ पैपस ने की थी। बेलन, शकु, गोल, परिक्रमज ठोस है। इनके छिनक, खड, गोलीय शकल, इंदुक आदि का भी जनन आंशिक परिक्रमण से हो सकता है, इसलिये इनके आयतन और वक्रपृष्ठ पैपस के नियमो मे प्राप्त किए जा सकते हैं। बेलन, शकु और उनके छिनको का वक्रपृष्ठ किसी जनक रेखा के अनुदिश काटने के बाद समतल पर फैलाया जा सकता है। इसलिये वे उद्घाटनीय तल हैं।

सिमसन और समलंब नियमों के उपयोग से आयतन समाकलन की सनिकट गणना सुगमतापूर्वक की जा सकती है। इन सूत्रो का उपयोग करने के लिये ठोस की काट यदि लगभग वृत्ताकार है तो उसका क्षेत्रफल $\approx p^2/4\pi$, जहाँ p काट की परिमाप है।

सं० ग्रं०—ए० लॉज : मेन्सुरेशन फॉर सीनियर स्टूडेंट्स (लंदन, १८९५); डब्ल्यू० एफ० केर्न और जे० आर ब्लैंड : सॉलिड मेंसुरेशन (१९३४); ए० पियरपाइंट : मेसुरेशन फॉर स्कूल्स (दिल्ली, १९५६); हरिश्चंद्र गुप्त : मेसुरेशन ऑव सॉलिड्स (इलाहाबाद, १९४१)।

(ह० च० गु०)

क्षेपण विज्ञान प्रयुक्त भौतिकी की वह शाखा है जिसमे किसी गोले या स्फोट की गति तथा उस गति की नियामक परिस्थितियों के संबंध मे विचार किया जाता है। स्थूलत इस विषय के अध्ययन को तीन प्रमुख भागो मे विभाजित किया जा सकता है :

१. आभ्यंतर क्षेपण विज्ञान; २. बाह्य क्षेपण विज्ञान तथा ३. अंतस्थ क्षेपण विज्ञान।

आभ्यंतर क्षेपण विज्ञान—इसमें गोले की गति तथा प्रक्षेप्य वस्तु के बंदूक या तोप की नाल के भीतर रहने तक गति की नियामक परिस्थितियों के संबंध मे अध्ययन किया जाता है। चित्र १ मे तोप की योजना दिखाई है। जब कक्ष में रखा हुआ प्रणोदक (बारूद) जलता है, गैसें निकलती हैं। गैसों के निकलने मे उत्पन्न दाव गोले को आगे ढकेलती है और अंत
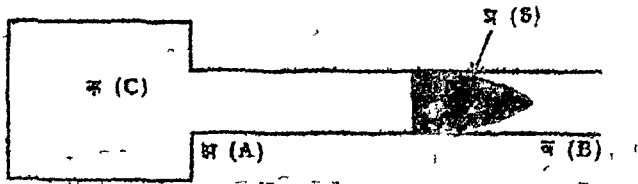
चित्र १. तोप का योजना चित्र
क (c) अक्ष, प्र (s) प्रक्षिप्त तथा
(A B) तोप की नाल है।

मे वे तोप की मोहरी के सिरे ब (B) से वेग से निकलते हैं। इस वेग को मोहरी वेग (मजल वेलॉसिटी, muzzle velocity) कहते हैं। नाल के भीतर गोले की गति के संबंध मे विचार करने की दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं। १. अमरीकन पद्धति और २. ब्रिटिश (अंग्रेजी) पद्धति।

ब्रिटिश पद्धति अधिक सही है, इसीलिये उसके संबंध मे यहाँ कुछ विस्तृत विवेचन किया जायगा। अमरीकन पद्धति निम्नलिखित प्रयोगसिद्ध सूत्र पर निर्भर है जिसे लडुक का (Le Duc's) सूत्र कहते हैं :

$$V = \frac{ax}{b+x}$$

यहाँ V गोले की गति, x नाल के भीतर गोले द्वारा पार की हुई दूरी तथा a और b दो नियतांक हैं। यह सरलता से दिखाया जा सकता है कि इस निकाय मे दाव P तथा महत्तम दाव P_{max} निम्नलिखित सूत्र से प्राप्त होते हैं :

$$P = \frac{Wa^2bx}{gA(b+x)^3} \text{ और } P_{max} = \frac{4Wa^2}{27gAb}$$

यहाँ W स्फोट के गोले का भार, A नाल की अनुप्रस्थ काट का क्षेत्रफल तथा g पृथ्वी का साधारण गुरुत्वाकर्षण है।

ब्रिटिश पद्धति मे नाल के भीतर प्रक्षेप की गति के नियामक निम्नलिखित चार मुख्य समीकरण हैं :

$$\frac{FCz}{Al} = p\left(1 + \frac{x}{l} - Bz\right) + \frac{\gamma - 1}{2Al}W_1v^2$$

$$D\frac{df}{dt} = -\beta p^{\alpha} \qquad W_1\frac{dv}{dx} = Ap$$

$$z = (1-f)(1+\theta f)$$

यहाँ F = प्रणोदक का बल नियतांक
C = प्रणोदक का द्रव्यमान
z = स (t) समय मे प्रणोदक का जला भाग
A = नाल के छिद्र का क्षेत्रफल
k_o = कक्ष का आयतन
δ = ठोस प्रणोदक का घनत्व
$Al = k_o - \frac{C}{\delta}$
p = गैस की औसत दाव
x = t समय मे गोले की यात्रा दूरी
$B = \frac{C}{Al}\left(b - \frac{1}{\delta}\right)$
b = गैस के इकाई द्रव्यमान का सह आयतन
γ = नियत दाव तथा नियत आयतन पर विशिष्ट उष्माओं का अनुपात
W = गोले का भार
$W_1 = 1{\cdot}04W + \frac{1}{3}C$
v = t समय पर गोले का वेग
D = प्रणोदक की वह न्यूनतम मोटाई, जिसके जल जाने पर समस्त प्रणोदक समाप्त हो जाता है।
f = t समय पर D का बचा हुआ अंश
β = ज्वलन नियतांक की दर
α = दाव का घातांक

उपर्युक्त चार समीकरणों को ऊर्जा समीकरण, गति का गत्यात्मक समीकरण, रूपफलन तथा ज्वलन की दर का समीकरण कहते हैं। गोला नाल के भीतर तभी गतिमान होता है जब एक नियत दाव उत्पन्न हो जाती है। यह दाव मध्यम नाप की तोपों मे २ टन प्रति वर्ग इंच के क्रम की होती है। प्रणोदक गैसें बड़ी तीव्रता से उत्पन्न होती हैं और यद्यपि प्रक्षेप चलना आरंभ कर देता है, फिर भी आरंभ मे दाव बढ़ती जाती है
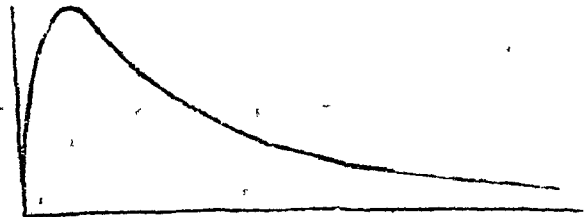
चित्र २ दाव-दूरी वक्र

और नियत महत्तम पर पहुँच जाती है। इसके पश्चात् दाव घटती जाती है। चित्र २ मे लाक्षणिक दाव-अवकाश (आयतन) वक्र दिखाया गया है।

ऊर्जा समीकरण : तोप की नाल मे प्रसारित होती गैसों को निम्नलिखित प्रतिरोधों का सामना करना पड़ता है :

१. गोले का अवस्थितत्व।

२. ठीक मार्ग पर चलानेवाले ताम्रपट्ट और नाल मे राइफ्लिंग की लकीरों के परस्पर स्पर्श से उत्पन्न घर्षण।

इन दोनों में मे केवल प्रथम कारक (factor) ऊर्जा व्यय का लाभदायक अंश है। दूसरा तो प्राप्य ऊर्जा का अनुपयोगी भाग है। कुछ ऊर्जा तोप की नाल को गरम करने मे व्यय होती है। ऊर्जा की अविनाशिता के सिद्धांत की सहायता से ऊर्जा का समीकरण प्राप्त किया जा सकता है। बल का नियतांक व इस सूत्र से मिलता है : $F = \Sigma RT$
यहाँ Σ प्रणोदक गैसों से प्रति ग्राम मे ग्राम अणुओं (gram-molecules) की संख्या है, R सार्वत्रिक गैस नियतांक तथा T_o विस्फोटन ताप है। इस अवस्था में प्रणोदक के ईकाई द्रव्यमान से प्राप्त कुल ऊर्जा $F/\gamma-1$ है। प्रक्षेप के स्थानांतरण करने की गतिक ऊर्जा $\frac{1}{2}Wv^2$ है और यदि हम उष्ण हो जाने के कारण होनेवाली ऊर्जा की हानि, छिद्र का प्रतिरोध तथा प्रणोदक गैसों की गतिज ऊर्जा का विचार करें तो गोले के भार W के स्थान पर हमें गोले का 'कार्यकारी' W_1 रखना होगा और इस तरह गोले की 'कार्यकारी' गतिक ऊर्जा $\frac{1}{2}W_1v^2$ होगी।

प्रणोदक गैसों की उष्मीय ऊर्जा स्पष्टतः निम्नांकित है : $J\sigma_v TCz$

यहाँ J उष्मा का यांत्रिक तुल्यांक, σ_v स्थिर आयतन पर गैसों की विशिष्ट उष्मा तथा T तापक्रम है। गैस की अवस्था के समीकरण का प्रयोग कर पूर्वोक्त समीकरण को उपयुक्त रूप $\frac{p(V-b)}{\gamma-1}Gz$ मे रूपांतरित कर सकते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि जब ताप T और दाव p हो तो उत्पन्न गैसों के इकाई द्रव्यमान मे उष्मा के रूप मे बची ऊर्जा की मात्रा

$$\frac{P(V-b)}{\gamma-1}$$

होती है।

गति का गतिवैज्ञानिक समीकरण—न्यूटन के द्वितीय गतिनियम के अनुसार गतिवैज्ञानिक समीकरण निम्नलिखित रूप में लिखा जा सकता है :

$$1\ 04W\frac{dv}{dt} = Ap_s$$

यहाँ p_s गोले के आधार पर पडनेवाली दाब है। यह ध्यान रखना चाहिए कि नाल के भीतर गैसो की दाब की प्रवणता होती है। यदि हम प्रणोदक गैसो की अवस्थितत्व के प्रभाव का भी विचार कर ले तो p_s और औसत दाब p का पियोवर्ट (Piobert) के नियम के अनुसार निम्नलिखित निकट संबंध प्राप्त होता है :

$$\frac{p_s}{1\cdot 04W} = \frac{p}{1\ 04W+\frac{1}{3}C} = \frac{p_B}{1\ 04W+\frac{1}{2}C}$$

यहाँ p_B तोप की पेंदी पर की दाब है जब गैस का वेग शून्य होता है। इस संबंध का उपयोग कर गतिवैज्ञानिक समीकरण निम्नलिखित रूप मे मिला है

$$W_1\ \frac{dv}{dt} = W_1 v\ \frac{dv}{dx} = Ap$$

ज्वलन की दर का समीकरण [व्येय् (Vielle's) का नियम]—समय t पर विस्फोटक के आयाम D मे $(1-f)D$ कमी होती है और इसलिये ज्वलन का मान $-D\frac{df}{dt}$ होगा। बंद वर्तन मे किए गए प्रायोगिक विस्फोटो से निम्नलिखित समीकरण प्राप्त होता है :

$$D\frac{df}{dt} = -\beta\ p^{\alpha}$$

दाब का घाताक α तथा ज्वलन नियताक की दर β प्रणोदक की व्याकृति तथा विस्फोटक के ताप पर निर्भर रहती है। ऋजु ज्वलन की दर के नियम का भी, जिसमे दाब का घाताक १ मान लिया जाता है, प्रयोग किया जाता है। इस अवस्था मे पूर्वोक्त समीकरण का रूप यह हो जाता है :

$$D\frac{df}{dt} = -\beta p\ ।$$

यहाँ पर β का मूल्य वही नही है जो पहलेवाले समीकरण मे है। तोपों के क्षेपण विज्ञान मे वल नियम तथा ऋजु नियम दोनों का विस्तृत उपयोग किया जाता है, किंतु गणितीय प्रयोग मे सुविधा के लिये पिछले का ही उपयोग करते हैं।

रूपफलन (पिओवर्ट का नियम)—पिओवर्ट ने प्रणोदक के ज्वलन के संबंध मे एक सरल परिकल्पना प्रस्तुत की। इस नियम से प्रकट होता है कि प्रणोदक समातर स्तरो मे जलता है तथा इसके अनुसार यदि विस्फोटक नली के रूप मे हो तो

$$x = \frac{D_0 - f\,D_0}{D_0} = 1-f$$

यहाँ D_0 वेलन का आद्य आयतन है तथा $f\ (D_0)$ समय t के पश्चात् आयतन।

इसी प्रकार ऐसे वेलन सदृश रूपवाले विस्फोटक के संबंध मे जो मोटाई D की तुलना मे बहुत लंबा है,

$$z = \frac{\frac{\pi D^2 l}{4} - \frac{\pi f^2 D^2 l}{4}}{\frac{1}{4}\pi\ D^2\ l} = 1 - {}^2$$

जहाँ (l) विस्फोटक की लंबाई है।

उपयोग मे आनेवाले अधिकाश प्रणोदको के लिये पिओवर्ट का नियम निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है

$$z = (1-f)(1-\theta f)$$

यहाँ θ विस्फोटक के दानों के रूप पर निर्भर रहनेवाला नियताक है जिसे आकृतिगुणाक कहते हैं। बेलनाकार विस्फोटको के लिये $\theta = 1$ और नलिकाकार विस्फोटको के लिये $\theta = 0$। θ का भौतिकीय अर्थ यह है कि θ के ऋणात्मक, धनात्मक अथवा शून्य होने पर प्रणोदक का ज्वलत तल क्रमानुसार बढता, घटता या स्थिर रहता है।

क्षेपण यंत्राभ्यंतरीय समीकरणो का हल—यदि हम यंत्राभ्यंतरीय क्षेपण के चारो मुख्य समीकरणों को हल करने की चेष्टा करे तो हमारे संमुख बडी गणितीय कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती है। यदि ऐसा सरल उदाहरण ले जिसमे नियत ज्वलन तल हो और सह आयतन (co-volume) गुणाक छोड दिया जाय तथा ज्वलन की गति के स्थान पर शक्ति का नियम लगाया जाय तो हमे निम्नलिखित रूप का अवकल समीकरण मिलता है :

$$a_1\,xy\,\frac{d^2y}{dx^2} + a_2x\left(\frac{dy}{dx}\right)^2 + a_3y\ \frac{dy}{dx} = 1$$

यहाँ a_1, a_2 तथा a_3 नियताक है। यह अनेकघात (non-linear) अवकल समीकरण है और इसका हल सरलता से नही ज्ञात हो सकता। इस कारण किसी न किसी सरल स्थिति मे पूर्वोक्त समीकरणो का फल निकालने की चेष्टा करनी पड़ती है। किंतु साख्यिक रीतियो से ऐसे अवकल समीकरणो का हल निकालने की एक अन्य रीति भी है।

भारत मे बहुत सा कार्य, विशेषकर मिश्रित विस्फोटको (सरचना, आकृति तथा आकार मे भिन्न दो या इससे अधिक प्रणोदको) के प्रयोग, गोले के चलने की आरंभवाली दाब का प्रभाव, नाल के छिद्र का अवरोध तथा महत्तम दाब पर (विस्फोटक के) भराव का घनत्व, मोहरी वेग तथा अन्य संबंधित क्षेपणशास्त्रीय राशियों पर हो चुका है।

वाह्य क्षेपण विज्ञान—वाह्य क्षेपण विज्ञान वह शास्त्र है जिसमे प्रक्षेप के मोहरी छोड देने के पश्चात्‌वाली गति का विचार किया जाता है। यह तो सभी को ज्ञात है कि यदि वायु का प्रतिरोध न हो तो प्रक्षेप का मार्ग परवलय के रूप मे होगा। वायु मे गतिमान् प्रक्षेप की गति के समीकरण निम्नलिखित हैं (चित्र ३)

$$\frac{d^2x}{dt^2} = -R\cos\theta$$

$$\frac{d^2y}{dt^2} = -R\sin\theta - g$$

यहाँ R वायु के प्रतिरोध का वल तथा θ वह कोण है जो t समय पर प्रक्षेपपथ को स्पर्शरेखा क्षैतिज दिशा से बनाती है। वायु के प्रतिरोध के कारण क्षैतिज वेगसघटक स्थिर नही रहता, वरन् समय के साथ साथ घटता जाता है। ऊर्ध्वाधर सघटक भी प्रक्षेपमार्ग के चढते हुए भाग पर
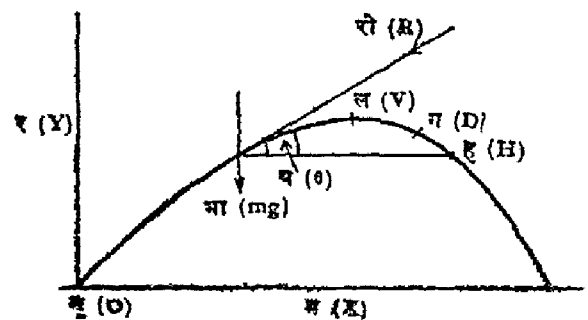
चित्र ३ वायु में प्रक्षेपपथ

दो कारणो से घटता जाता है, एक तो गुरुत्व के कारण तथा दूसरे प्रतिरोध के कारण। सर्वोच्च विंदु पर वेग का ऊर्ध्वाधर सघटक शून्य हो जाता है

और इसके पश्चात् वह बढने लगता है। किसी विंदु H पर ऊर्ध्वाधर संघटक की वृद्धि क्षैतिज संघटक की हानि को सतुलित कर देती है और इ सलिये न्यूनतम वेग V विंदु पर न होकर किसी विंदु H पर होता है।

शीर्ष तक का परास कुल परास के ०·५ से ०·६ भाग तक तथा शीर्ष तक पहुँचने का समय साधारणतः उड़ान के कुल समय का ०·४ से ०·५ भाग तक होता है। प्रक्षेपपथ की महत्तम वक्रता शीर्ष तथा न्यूनतम वेगवाले विंदु के मध्य किसी विंदु D पर होगी।

प्रतिरोध के नियम तथा क्षेपणगुणांक—जब कोई प्रक्षेप वायु मे गतिमान् होता है तो वस्तुत. अनुभूत प्रतिरोध के निम्नलिखित कारण हैं :

१. गोले (shell) के समुखवाली वायु संपीडित होती है और प्रक्षेप की कुछ ऊर्जा वायु-तरंग-उत्पादन मे व्यर्थ चली जाती है। इसे प्रक्षेप-शीर्ष प्रतिरोध कहते हैं और यह प्रक्षेप की अनुप्रस्थ काट के क्षेत्रफल, गोले के शीर्ष तथा माक (Mach) सख्या पर निर्भर रहता है।

२. गोले की पेंदी के चारों ओर वायु विना वाधा के स्थान नहीं ले पाती, इसलिये गोले के पिछले भाग मे कम दाव का क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के प्रतिरोध वल को पेंदी का खिचाव (वेस ड्रैग, base drag) कहते है और यह गोले की आकृति पर निर्भर रहता है, विशेपकर पिछले भाग की रचना पर।

३. घर्षणप्रतिरोध द्वारा जनित कुछ ऊर्जा का उष्मा के रूप मे अपव्यय हो जाता है। इस प्रभाव को धरातलघर्पण (skin friction) कहते है और यह गोले के पृष्ठ को घेरनेवाली पतली परत तक ही सीमित रहता है। यह गोले की आकृति तथा उसके धरातल के क्षेत्रफल और गुणों पर निर्भर रहता है।

भिन्न भिन्न देशों मे गोलों की अंगीकृत आकृति के अनुसार भिन्न भिन्न प्रतिरोध के नियम व्यवहार मे आ रहे हैं। अभी तक ज्ञात प्रतिरोध नियम निम्नलिखित है :

१. गैवर का नियम (Gavre Law)—इससे गैवर का फलन प्राप्त होता है तथा इसका प्रयोग साधारणतः फ्रास मे होता है।

२. मायेव्स्की का नियम (Mayevski Law)—इसका आधार सन् १८७५ से १८८१ तक के वर्षो मे क्रूप (जर्मनी के संसारप्रसिद्ध अस्त्रो के कारखाने) के तोपों के दागने और सन् १८६६ मे किए गए मायेव्स्की के अपने तथा सन् १८६६ से १८७० तक के वैशफोर्ड (Bashford) के प्रयोग थे। यह नियम निम्नलिखित सूत्र से प्राप्त होता है :

$$R(V) = \frac{A}{C} v^n$$

यहाँ A तथा n एक मंडल से दूसरे मंडल मे वदलते रहते है किंतु किसी एक मडल मे स्थिर होते हैं, R वेग की क्षति है तथा C गोले का क्षेपण गुणाक है, जिसकी परिभापा आगे दी गई है।

३. जे फलन नियम (J-Function law)—यह नियम संयुक्त *राज्य, अमरीका, मे अनेक प्रकार के गोलो का प्रयोग कर क्रमवद्ध परीक्षाओ* पर आधारित है।

४. १९१० का नियम—इस नियम का प्रयोग इंग्लैंड मे किया जाता था। इसका आधार 2 c. r. h. गोले हैं।

५. १९४० का नियम—यह 5/10 c. r. h. प्रक्षेप पर आधारित है और इस समय यूनाइटेड किंग्डम (इंग्लैंड) मे प्रयुक्त होता है।

६. १९५० का नियम—१९४० के नियम मे कुछ असंगतियाँ पाने के फलस्वरूप यह नियम प्रयोग मे आया है।

अधिकातर गणना १९४० के नियम के आधार पर की जाती है, किंतु निम्नलिखित प्रक्षेपपथ के लिये १९१० का नियम अभी तक वैध है।

राविन्स (Robins) द्वारा सन् १७४० मे, हुटेन (Hutten) द्वारा सन् १७७५ मे, डीडिआँ (Didion) द्वारा सन् १८४० मे तथा वैशफोर्थ (Bashforth) द्वारा सन् १८६५ मे सन् १८७० तक मे किए गए प्रयोगों के फलस्वरूप यह पाया गया कि गोले का प्रतिरोध उसके व्यास d के वर्ग, वायु के घनत्व ρ तथा वेग के एक फलन $f(v)$ का समानुपाती होता है। क्योकि $\rho v^2 d^2$ के आयाम के वल होते है, अतः हम आयामों का विचार करके लिख सकते हैं

$$R = \rho v^2 d^2 k$$

यहाँ k आयामरहित राशियो $\frac{v}{a}$ तथा $\frac{v\,d}{\nu}$ पर निर्भर करता है, जिन्हें क्रमशः माक (Mach) संख्या और रेनॉल्ड्स (Reynolds) संख्या कहते हैं। यहाँ a से ध्वनि का स्थानीय वेग तथा ν प्रगतिकीय (किनेमैटिक, Kinematic) श्यानता का गुणाक है। इससे निम्नलिखित फल प्राप्त होता है :

$$R = \rho v^2 d^2 f_R \left(\frac{v}{a}, \frac{vd}{\nu}, \ldots\right)$$

क्षेपण विज्ञान मे व्यावहारिक प्रयोजनो के लिये प्रतिरोध की पदसंहति को निम्नलिखित रूप मे लिखते है .

$$R = \frac{\rho}{\rho_0} K \sigma d^2 \left(\frac{v}{100}\right)^2 \rho\left(\frac{v}{a}\right)$$

यहाँ ρ तथा ρ_0 का अर्थ क्रमश. किसी भी ऊँचाई पर तथा समुद्रतल पर की वायु का घनत्व है, K σ आकृति का गुणाक, या अमरीकनो के
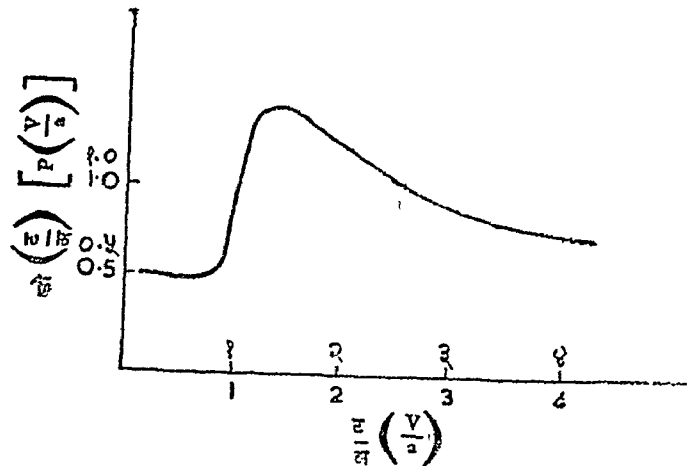
चित्र ४. P(v/a) का सन् १९१० के नियमानुसार लेखाचित्र

कथनानुसार अज्ञान का गुणाक है, तथा $P\left(\frac{v}{a}\right)$, जिसका परिणमन चित्र ४ मे दिखाया गया है, वेग की हानि के गुणाक f_R की भमानुपाती एक राशि है।

प्रक्षेप (गोला) का मंदन r निम्नलिखित समीकरण से मिलता है :

$$r = \frac{R}{m} = \frac{1}{C_0} \frac{\rho}{\rho_0} \left(\frac{v}{100}\right)^2 \rho\left(\frac{v}{a}\right)$$

यहाँ $$C_0 = \frac{m}{K \sigma d^2}$$

राशि C_0, जो गोले के द्रव्यमान, आकृति तथा आयतन पर निर्भर रहती है, क्षेपण गुणाक (Ballistic Coefficient) कहलाती है। वायु में गोले को गति के सबंध मे इस गुणाक का महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में यह गोले की वहनशक्ति की माप है, अर्थात् जितना ही उच्च यह गुणाक होगा उतना ही अधिक पराम होगा।

यहाँ यह लिखना उचित होगा कि पूर्वोक्त प्रतिरोध के भिन्न भिन्न नियमों से जो मदन प्राप्त होता है वह केवल विभिन्न प्रामाणिक प्रक्षेपों के कारण होता है और किसी नियत नियम तथा उससे संबंधित गोले के लिये (K σ) का मान १ मान लिया जाता है।

बाह्य क्षेपण समीकरणों का हल—प्रतिरोध फलन R सारणी के रूप में मिलता है। इसलिये पूर्ण प्रक्षेप पथ पाने के लिये गति के दोनों समीकरणों का उत्तर संख्यात्मक रीति से निकाला जाता है। समय, या प्रसार, निर्देशांक को छोटे अंतरालों में, जिनका आरंभ में तत्पर होना आवश्यक है, विभाजित करके खंडश अनुकलन की रीति का प्रयोग किया जा सकता है।

तोपें यदि लघु कोणों पर दागी जायँ तो ऐसी स्थिति के लिये सियासी (Siacci) ने चार फलनों का निर्माण किया है, जिन्हें सियासी के प्राथमिक फलन कहते हैं। ये नति फलन I (u), अवकाश फलन S(u) समय फलन T(u) तथा उच्चता फलन A(u) निम्नांकित प्रकार के हैं .

$$I(u) = \int_k^u \frac{10^4 g\, du}{u^3 P(u)}$$

$$S(u) = \int_k^u \frac{10^4\, du}{u P(u)}$$

$$T(u) = \int_k^u \frac{10^4\, du}{u^2 P(u)}$$

$$A(u) = \int_k^u \frac{10^4 I(u) du}{u P(u)}$$

यहाँ u तथा कथित 'मिथ्या वेग' है और k इस मिथ्या वेग का यथेष्ट अल्पमान है। सन् १६४० की क्षेपण सारणियों में k का मान ४०० माना गया है।

गोले का स्थिरत्व—गति के समय गोले का स्थिरत्व बना रखने के लिये तोप या बंदूक की नाल में सर्पिल लकीर काट (राइफलिंग) कर गोले को एक कोणीय वेग दे दिया जाता है। मोहरी पर का घूर्णन (घुमाव) निम्नलिखित सूत्र से प्राप्त होता है

$$\omega = \frac{2v \tan \phi}{d}$$

यहाँ ω से मोहरी पर घुमाव का, v से मोहरी पर के वेग का, d से गोले की मोटाई की माप (कैलिबर, calibre) तथा ϕ से सर्पिल लकीर (राइफलिंग) की ऐंठन के कोण का तात्पर्य है। यदि निम्नलिखित समीकरण से प्राप्त स्थिरत्व गुणक S का मान १ से अधिक हो तो गोला स्थिर है।

$$S = \frac{C^2 N^2}{4 A \mu}$$

यहाँ C तथा A गोले के अवस्थितत्व के क्रमश ध्रुवीय तथा तिर्यक् घूर्ण हैं, N घूर्णन है तथा μ दाब के केंद्र तथा गोले के गुरुत्व केंद्र के मध्य की दूरी है। कुछ गोलों के लिये स्थिरत्व गुणक ५ तक उच्च पाया जाता है।

पृथ्वी की वक्रता का प्रभाव—ऊपर गोले के पथ के संबंध में जो कुछ विचार किया गया है उसका आधार यह मान्यता है कि गोले के परास तक पृथ्वी चौरस है तथा इस कारण गुरुत्व का बल सदा अपनी प्रारंभिक दिशा के समांतर रहता है। जब परास दीर्घ होता है, इस मान्यता का प्रभाव अत्यधिक स्पष्ट हो जाता है। दूसरे, हमें पृथ्वी की वक्रता के प्रभाव को भी अपनी गणना में स्थान देना पड़ता है। गुरुत्व का बल पृथ्वी के केंद्र से दूरी के वर्ग का प्रतिलोमानुपाती होता है। इसकी दिशा पृथ्वी के केंद्र की ओर होती है और फलस्वरूप गुरुत्व का बल प्रक्षेपपथ पर बदलता रहता है। इसके सिवाय प्रक्षेप के संघात बिंदु का पृथ्वी की वक्रता के कारण अवनमन हो जाता है और इस कारण परास में वृद्धि हो जाती है। इन प्रभावों का विवेचन अवकलशोधन की रीति से किया जाता है।

पृथ्वी के घूर्णन का प्रभाव—गोले के मोहरी से निकल जाने के पश्चात् उसकी स्थिति पृथक् तथा पृथ्वी के घूर्णन से स्वतंत्र हो जाती है। उसके प्रारंभिक वेग को एक नवटक गोला दागने के समय पृथ्वी के तल का वेग होता है। इस कारण जब गोला संघात बिंदु के निकट पहुँचता है तो वह अपने लक्ष्य से चूक जायगा। यह चूक प्रक्षेप पथ के क्षितिज चाप (Azimuth), परास तथा प्रक्षेप पथ की ऊँचाई पर निर्भर रहती है। इसे कोरिओलिस (Corioles) का प्रभाव कहते हैं। गणना में कोरिओलिस प्रभाव का भी अवकल शोधन से विचार कर लेते हैं।

अंतस्थ क्षेपण विज्ञान—यह क्षेपण विज्ञान की वह शाखा है जिसमें इस बात पर विचार किया जाता है कि जब गोला लक्ष्य को बेधता है तो क्या होता है।

साधारण प्रक्षेप जिसके गोले में टी० एन० टी० (बारूद) के समान उच्च विस्फोटक भरा रहता है, दो प्रकार से हानि पहुँचाता है : खंडित होकर तथा वायुवेग से।

जब गोला लक्ष्य को बेधता है तो गोले के अग्रभाग में लगे यंत्र उच्च विस्फोटक का विस्फोट करा देते हैं। इससे गोले की पेटी (धातु का आवरण) टुकड़े टुकड़े हो जाती है, जिन्हें खंड कहते हैं। ये खंड वेग से उड़ते हैं और इसलिये किसी इमारत की दीवार को, या मनुष्य के शरीर को, छेदकर अत्यधिक हानि पहुँचा सकते हैं। खंडों का आकार के अनुसार विभाजन मॉट (Mott) के सूत्र से प्राप्त होता है

$$N = C M_A \exp\left(-\frac{M}{M_A}\right)$$

यहाँ N उन खंडों की संख्या है जिनका द्रव्यमान m से अधिक है, $M = m^{\frac{1}{2}}$ तथा C और M_A नियतांक हैं, जो गोले तथा विस्फोटक की जाति पर निर्भर हैं।

गोले के अंदर रखे विस्फोटक के विस्फोट से जो वायुवेग उत्पन्न होता है उससे भी हानि होती है। टी० एन० टी० या पेंटोलाइट (Pentolite) के M पाउंड को दागने पर विस्फोटन बिंदु से S सेंटीमीटर की दूरी पर उत्पन्न महत्तम दाव π_m ज्ञात करने के लिये निम्नलिखित सूत्र है

$$\pi_m = \frac{a}{Z} - \frac{b}{Z^2} + \frac{c}{Z_3}$$

यहाँ $Z = S/10(M)^{\frac{1}{3}}$ तथा a, b, c, नियतांक हैं, जो विस्फोटक की जाति तथा आकृति पर निर्भर हैं।

कवच का छेदन—लक्ष्य को हानि पहुँचाने की उपर्युक्त दो रीतियों का प्रभाव टैंकों पर कुछ नहीं होता, क्योंकि इनके समुखवाले कवच लगभग छह इंच तक मोटे होते हैं। प्रचलित प्रकार के कवच छेदनेवाले गोले में साधारणत टंग्स्टेन कारबाइड का बना एक ठोस शंकु होता है, जो अत्युच्च वेगवाले शंकु से बाहर फेंके जाने पर कवच को छेदता है, किंतु यह छेदन ऐसे अवसरों पर तीन या चार इंच तक ही सीमित रहता है। इनके सिवाय, ऐसे ठोस गोले को उच्च वेग देने पर वह छटककर लौट पड़ता है।

अधिक मोटे कवच को छेदने के लिये आकृति दिए हुए विस्फोटक के सिद्धांत का प्रयोग किया जाता है (चित्र ५)। इस सिद्धांत पर आधारित गोले में ताँबे के बने धातु के शंकु के बाहर विस्फोटक रखा जाता है। इस शंकु को लाइनर (liner) कहते हैं। उच्च विस्फोटक के दगने पर
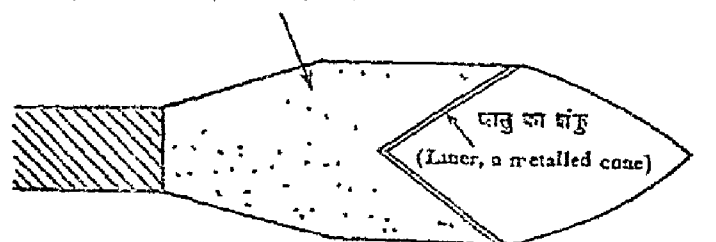
चित्र ५. आकृति दिए हुए विस्फोटकवाले गोले

लाइनर का अवसाद हो जाता है, जिसके फलस्वरूप एक अति वेगवान धार (jet), जिसे मनरो (Munroe) जेट भी कहते हैं, तथा तुलना में उससे कम वेगवाली एक अन्य धार (जेट) उत्पन्न होती है। उस

धार के शीर्ष तथा पश्च सिरों के वेग क्रमशः ८,००० तथा २,००० मीटर प्रति सेकंड के क्रम के होते हैं। जब यह वेगवान धार किसी लक्ष्य पर टकराती है, तो यह वायुमंडल की दाब की ढाई लाख गुनी दाब उत्पन्न करती है। इस अत्युच्च दाब पर लक्ष्य का पदार्थ, सुघट्य द्रव्य हो जाता है और धार (जेट) कवच में, चाहे वह इस्पात हो या अन्य कोई वस्तु, कई इंच घुस जाती है।

भारत में भिन्न भिन्न प्रकार के विस्फोटक, भिन्न पदार्थों से बने लाइनर, भिन्न कोणोंवाले शंकु तथा विस्फोटन बिंदु से भिन्न दूरियाँ लेकर आकृति दिए विस्फोटकों पर अधिक प्रयोग किए गए हैं।

जब आकृति दिया हुआ (shaped) विस्फोटक अपने अक्ष के चतुर्दिक् घूमता है तो छेदन में कमी हो जाती है। घूर्णन करते हुए लाइनर का प्रत्येक भाग धार के संगत भाग को कोणीय वेग दे देता है और इसका फल यह होता है कि ज्यों ज्यों धार आगे बढ़ती जाती है त्यों त्यों उसकी अनुप्रस्थ काट का क्षेत्रफल अधिक होता जाता है तथा साथ ही साथ छेदन की गहराई घटती जाती है। घूर्णन करते हुए निशेष आकृतिवाले (Shaped) विस्फोटक के लाइनर के कोणीय वेग में तथा छेदन की गहराई में एक सैद्धांतिक संबंध रहता है। इस युक्ति से कड़े इस्पात का कवच लगभग १० इंच तक छेदा जा सकता है।

सं० ग्रं०—इंटर्नल बैलिस्टिक्स (१९५१), हिज मैजेस्टीज स्टेशनरी आफिस पब्लिकेशन, लंदन; कानर जे० : थ्योरी ऑव इंटीरिअर बैलिस्टिक्स ऑव गंस (१९५०), जॉन विली, न्यूयॉर्क; टेक्स्ट बुक ऑव बैलिस्टिक्स ऐंड गनरी, पार्ट १ (१९३८), हिज मैजेस्टीज स्टेशनरी ऑफिस पब्लिकेशन, लंदन; एडवर्ड जे० मैकशेन, जान एल० केली तथा फ्रैंकलीन वी० रेनो : एक्सटीरियर बैलिस्टिक्स (१९५३), युनिवर्सिटी ऑव डेनेवर प्रेस, यू० एस० ए; ब्लिस जी० ए० : मैथमैटिक्स फॉर एक्सटीरियर बैलिस्टिक्स (१९४४), जान विली, न्यूयॉर्क; डिफेंस सायंस जरनल, खंड ५, संख्या ३, १९५५, स्टडीज ऑन एक्सप्लोज़िव्स विथ लाइंड कैविटीज (स्पेशल नंबर); मेलविन ए० कूक : द सायंस ऑव हाई एक्सप्लोज़िव्स (१९५८), राइनहोल्ड पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, न्यूयॉर्क। (रा० प्र० व०)

क्षेमेंद्र संस्कृत के प्रतिभासंपन्न काश्मीरी महाकवि। ये विद्वान् ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। ये सिंधु के प्रपौत्र, निम्नाशय के पौत्र और प्रकाशेंद्र के पुत्र थे। इन्होंने प्रसिद्ध आलोचक तथा तंत्रशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् अभिनवगुप्त से साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया था। इनके पुत्र सोमेंद्र ने पिता की रचना 'बोधिसत्वावदानकल्पलता' को एक नया पल्लव (कथा) जोड़कर पूरा किया था। इन्होंने अपने ग्रंथों के रचनाकाल का उल्लेख किया है जिससे इनके आविर्भाव के समय का परिचय हमें मिलता है। काश्मीर नरेश अनंत (१०२८–१०६३) तथा उनके पुत्र और उत्तराधिकारी राजा कलश (१०६३–१०८९) के राज्यकाल में क्षेमेंद्र का जीवन व्यतीत हुआ। क्षेमेंद्र के ग्रंथ 'समयमातृका' का रचनाकाल १०५० ई० तथा इनके अंतिम ग्रंथ 'दशावतारचरित' का निर्माणकाल इनके ही लेखानुसार १०६६ ई० है। फलतः एकादश शती का मध्यकाल (लगभग १०२५–१०६६) क्षेमेंद्र के आविर्भाव का निश्चित रूप से, समय माना जा सकता है।

क्षेमेंद्र के पूर्वपुरुष राज्य के अमात्य पद पर प्रतिष्ठित थे। फलतः इन्होंने अपने देश की राजनीति को बड़े निकट से देखा तथा परखा। अपने युग के अशांत वातावरण से ये इतने असंतुष्ट और मर्माहत थे कि उसे सुधारने में, उसे पवित्र बनाने में तथा स्वार्थ के स्थान पर परार्थ की भावना दृढ़ करने में इन्होंने अपना जीवन लगा दिया तथा अपनी द्रुतगामिनी लेखनी को इसी की पूर्ति के निमित्त काव्य के नाना अंगों की रचना में लगाया। इनके आदर्श थे महर्षि वेदव्यास और उनके ही समान क्षेमेंद्र ने सरस, सुबोध तथा उदात्त रचनाओं से संस्कृतभारती के प्रासाद को अलंकृत किया। प्रथमतः इन्होंने प्राचीन महत्वपूर्ण महाकाव्यों के कथानकों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया। रामायणमंजरी, भारतमंजरी तथा बृहत्कथामंजरी—ये तीनों ही क्रमशः रामायण, महाभारत तथा बृहत्कथा के अत्यंत रोचक तथा सरस संक्षेप हैं। बोधिसत्वावदानकल्पलता में बुद्ध के पूर्व जन्मों से संबद्ध पारमितासूचक आख्यानों का पद्यबद्ध वर्णन है। दशावतारचरित इनका उदात्त महाकाव्य है जिसमें भगवान् विष्णु के दसों अवतारों का बड़ा ही रमणीय तथा प्रांजल, सरस एवं मंजुल काव्यात्मक वर्णन किया गया है। 'औचित्य-विचार-चर्चा' में क्षेमेंद्र ने औचित्य को काव्य का मूलभूत तत्व माना है तथा उसकी प्रकृष्ट व्यापकता काव्य के प्रत्येक अंग में दिखलाई है।

क्षेमेंद्र संस्कृत में 'परिहासकथा' (सटायर) के धनी हैं। हम निःसंदेह कह सकते हैं कि संस्कृत में इनकी जोड़ का दूसरा सिद्धहस्त 'सटायर' लेखक नहीं है। इनकी सिद्ध लेखनी पाठकों पर चोट करना जानती है, परंतु उसकी चोट मीठी होती है। 'परिहास कथा' विषयक इनकी दो अनुपम कृतियाँ हैं (नर्ममाला तथा देशोपदेश) जिनमें उस युग का वातावरण अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है। ये विदग्धों के कवि होने के अतिरिक्त जनसाधारण के भी कवि हैं जिनकी रचना का उद्देश्य विशुद्ध मनोरंजन के साथ ही साथ जनता का चरित्रनिर्माण भी है। कलाविलास, चतुर्वर्गसंग्रह, चारुचर्या, समयमातृका आदि लघुकाव्य इस दिशा में इनके सफल उद्योग के समर्थ प्रमाण हैं। इनकी भाषा सरस और सुबोध है, न पांडित्य का व्यर्थ प्रदर्शन है और न शब्द का अनावश्यक चमत्कार है। भावों की उदात्त व्यंजना में तथा भाषा के सुबोध सरस विन्यास में क्षेमेंद्र सचमुच ही अपने उपनाम के सदृश 'व्यासदास' हैं।

सं० ग्रं०—मैकडॉनेल, 'ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर'; कीथ : 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर; बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, काशी, १९६१; सूर्यकांत : क्षेमेंद्र स्टडीज, पूना, १९५०। (ब० उ०)

खंजन भारतीय साहित्य का एक चिरपरिचित और उपमेय पक्षी। इसे खिड़रिच, खंजरीट, खडलिच आदि नामों से भी पुकारते हैं। यह मोटासिलिडी (Motacillidae) कुल के मोटासिला (motacilla) वंश (genus) का पक्षी है जिसे अंग्रेजी में वैगटेल कहते हैं। यह हमारे देश का बहुत प्रसिद्ध पक्षी है जो जाड़ों में उत्तर की ओर से आकर सारे देश में फैल जाता है और गरमी आरंभ होते ही शीत प्रदेशों को लौट जाता है। यह छोटा सा चंचल पक्षी है। इसकी लंबाई ७ से ९ इंच तक होती है। देह लंबी तथा पतली होती है। यह पानी के किनारे बैठा अपनी पूँछ बराबर हिलाता रहता है। इसके नेत्र हर समय चंचल रहते हैं जिसके कारण भारतीय कवि नेत्रों की उपमा खंजन से दिया करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'मानस' में लिखा है : 'खंजन मंजु तिरीछे नैननि।' रंगरूप और स्वभाव में भेद के अनुसार इसकी चार जातियाँ देश में पाई जाती हैं।
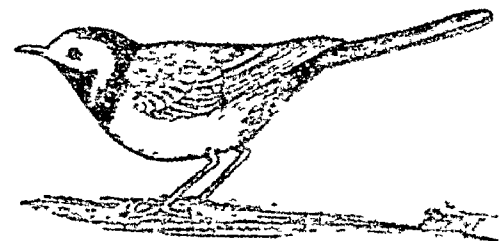
खंजन (Wag tail)

(१) सफेद खंजन—यह खंजन लगभग ८ इंच लंबा और रंग में चितकबरा होता है। जाड़ों में इसके नर के सिर के पीछे एक काला चकत्ता रहता है जो गले के चारों ओर फैल जाता है। सिर का ऊपरी भाग और शरीर का निचला हिस्सा सफेद होता है जिसमें थोड़ी कलई झलक रहती है। ऊपर का हिस्सा हलका सिलेटी और डैने काले होते हैं। डैने के परों के किनारे सिलेटी और सफेद होते हैं; दुम काली होती है जिसके दोनों बाहरी पंख सफेद रहते हैं। गर्मियों में ठुड्डी से सीने तक का रंग काला हो जाता है। नर की अपेक्षा मादा धूमिली होती है और शरीर पर

चितियाँ चटक नहीं होती। यह जाडों में देश में प्राय सर्वत्र पानी के किनारे दिखाई देता है। गरमियों में यह यहाँ से लौटकर कश्मीर तथा हिमालय की तराई में अपने घोंसले बनाकर रहता है और वहीं अंडे देता है। इस प्रकार ऋतु के अनुसार इतनी-इतनी दूरियों का स्थानांतरण प्रकृति का एक आश्चर्यजनक चमत्कार ही कहा जायगा।

यह पानी के किनारे छोटे छोटे झुंडों में कीडे मकोडों का शिकार करता रहता है और दौडकर चलता है, अन्य पक्षियों की भाँति फुदकता नहीं। खतरे का आभास मिलने पर उड जाता है किंतु थोडी ही दूर के बाद पुन जमीन पर उतर आता है। इसकी उडान लहराती हुई होती है और उडते समय चिट् चिट् जैसी बोली बोलता रहता है। सामान्यत यह पक्षी दो चार की ही टोली में देखा जाता है किंतु जब वे पहाडों की ओर लौटते है तो इनका एक बडा समूह बन जाता है।

(२) **शबल खजन**—इसे ममोला और कालकंठ भी कहते हैं। यह सफेद खजन से कुछ बडा और उससे अधिक चितकबरा होता है। नर का सिर, ऊपरी सीना और शरीर का सारा ऊपरी भाग काला होता है। आँख के ऊपर एक चौडी पट्टी होती है जो नथुने से लेकर कान तक चली जाती है। डैने काले होते है, जिनके किनारे सफेद रहते है, दुम काली होती है जिसके बाहर के दोनों पखों का अधिकांश भाग सफेद होता है। नीचे शरीर का सारा भाग सफेद होता है। नर और मादा रूपरंग में प्राय एक से ही होते है। अंतर केवल इतना ही है कि मादा का काला भाग चटक काला न होकर कुछ रखीले भूरेपन को लिए होता है। यह भारतवर्ष का बारहमासी पक्षी है और अपना देश छोडकर कहीं बाहर नहीं जाता। यह देश के प्राय सभी स्थानों पर तथा हिमालय में भी पाँच हजार *फुट की ऊँचाई तक देखने में आता है। यह अकेले या झुंड में नदियों,* झीलों और तालाबों के किनारे कीडे मकोडे ढूँढता फिरता है। इसकी प्राय सभी आदतें सफेद खजन जैसी ही होती है। घोंसला बनाने के मामले में यह पक्षी अत्यंत लापरवाह है। पानी के निकट किसी भीटे या चट्टान की सूराख में थोडा सा घासफूस रखकर ही मादा अंडा दे देती है।

(३) **भूरा खजन**—इसे खैरैया भी कहते हैं। यह जाडों में उत्तर और पश्चिम की ओर से आता है और हिमालय से लेकर धुर दक्षिण तक फैल जाता है। यह पानी के किनारे अकेले ही रहता है। यह अपनी लंबी दुम, सिलछौंह स्लेटी पीठ और पीले पेट के कारण आसानी से पहचाना जा सकता है। जाडों में नर और मादा दोनों का ऊपरी भाग सिलछौंह स्लेटी रहता है और उसमें हरछौंह झलक भी जान पडती है। दुम की जड के पास एक पिलछौंह हरा चकत्ता रहता है और आँख के ऊपर एक गदी सफेद रेखा जाती है। डैने काले भूरे होते हैं जिसके किनारे पिलछौंह सफेद रहते है। दुम काली जिसके किनारे हरछौंह और बाहर के तीन जोडे पख एकदम सफेद रहते हैं। ठुड्ढी, गला और गर्दन का अगला भाग सफेद रहता है। नीचे का सारा भाग पीला होता है जो दुम तक जाते जाते अधिक चटक हो जाता है। गर्मियों में नर की ठुड्ढी गला और गर्दन का अगला भाग काला हो जाता है। यह सामान्यत पहाडी झरनों के किनारे रहनेवाला पक्षी है लेकिन इसे सभी प्रकार के जलाशयों के किनारे देखा जा सकता है। गर्मियों में यह पक्षी स्वदेश लौट जाता है, कुछ हिमालय में रह भी जाते हैं और वहीं मई जून में अंडे देते हैं।

(४) **पीला खंजन**—इसे पिनाकी भी कहते हैं। यह ७ इंच का छोटा पक्षी है। जाडों में इसके नर के सिर का ऊपरी हिस्सा सिलछौंह सिलेटी और पीठ का सारा भाग धुनैला जैतूनी भूरा रहता है। डैने गाढे भूरे रंग के होते हैं; दुम काली होती है। सिर के दोनों ओर एक चौडी कलछौंह पट्टी होती है। शरीर के नीचे का सारा हिस्सा पीला होता है। गर्मियों में नर के सिर के ऊपर का हिस्सा सिलेटी और पीठ का सारा भाग पिलछौंह हरा हो जाता है। सिर के दोनों ओर की पट्टी काली हो जाती है और नीचे का पीला रंग और चटक हो जाता है। मादा सामान्यत नर के समान ही होती है, अंतर यह है कि उसका सिर हरा और पीठ गाढी जैतूनी भूरी होती है। शरीर के नीचे का पीला रंग हलका रहता है। यह खजनों में सबसे सुंदर कहा जाता है। इस जाति का खजन जाडा में अगस्त महीने के आसपास उत्तर और पश्चिम से आते हैं और जाडा समाप्त होने पर अप्रैल तक उसी ओर लौट जाते हैं। यह अकेला रहनेवाला पक्षी है किंतु शाम को बहुत से पीले खजन एकत्र होकर नरकुल आदि पर बसेरा करते है।

इन सभी जातियों के खजन ४ से ७ अंडे देते हैं।

सं० ग्रं०—सुरेश सिंह भारतीय पक्षी। (प० ला० गु०)

खडकाव्य साहित्य में प्रबंध काव्य का एक रूप। संस्कृत साहित्य में इसकी जो एकमात्र परिभाषा 'साहित्य दर्पण' में उपलब्ध है वह इस प्रकार है—

> भाषा विभाषा नियमात् काव्य सर्गसमुत्थितम्।
> एकार्थप्रवणै पद्यै संधि-सामग्रयवर्जितम्।
> खंड काव्य भवेत् काव्यस्यैक देशानुसारि च।
> (६।३२८–२९)

इस परिभाषा के अनुसार किसी भाषा या उपभाषा में सर्गबद्ध एवं एक कथा का निरूपक ऐसा पद्यात्मक ग्रंथ जिसमें सभी संधियाँ न हों वह खंडकाव्य है। वह महाकाव्य के केवल एक अंश का ही अनुसरण करता है। तदनुसार हिंदी के कतिपय आचार्य खंडकाव्य ऐसे काव्य को मानते हैं जिसकी रचना तो महाकाव्य के ढंग पर की गई हो पर उसमें समग्र जीवन न ग्रहण कर केवल उसका खंड विशेष ही ग्रहण किया गया हो। अर्थात् खंडकाव्य में एक खंड जीवन इस प्रकार व्यक्त किया जाता है जिससे वह *प्रस्तुत रचना के रूप में स्वत पूर्ण प्रतीत हो। वस्तुत खंडकाव्य* एक ऐसा पद्यबद्ध काव्य है जिसके कथानक में एकात्मक अन्विति हो, कथा में एकांगिता (साहित्य दर्पण के शब्दों में एकदेशीयता) हो तथा कथाविन्यास क्रम में आरंभ, विकास, चरम सीमा और निश्चित उद्देश्य में परिणति हो और वह आकार में लघु हो। लघुता के मापदंड के रूप में आठ से कम सर्गों के प्रबंध काव्य को खंडकाव्य माना जाता है।

(प० ला० गु०)

खंडगिरि उडीसा में पुरी जिले में खुर्दा के निकट स्थित एक पर्वत। इसमें तथा इससे संबद्ध उदयगिरि तथा नीलगिरि में उत्खनित जैन लयण (गुफाएँ) हैं। खंडगिरि स्थित लयणों की संख्या १९ है। इसी प्रकार उदयगिरि में ४४ और नीलगिरि में ३ गुफाएँ हैं। ये सभी ईसापूर्व दूसरी-पहली शती की अनुमान की जाती हैं। उनके अनेक भागों में मूर्तियों का उच्चित्रण हुआ है। इन गुफाओं में सबसे प्रख्यात हाथी गुफा है जिसके ऊपर महामेघवाहन खारवेल की प्रशस्ति अंकित है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बडे महत्व का है। (प० ला० गु०)

खडपाड़ा उडीसा प्रांत का एक नगर जो पहले देशी राज्य था। (स्थिति : २०° ११' से २०° १५' उ० अ० तथा ८५° से ८५° २२' पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल २४४ वर्गमील है। भूमि उपजाऊ तथा खाद्यान्न पर्याप्त मात्रा में पैदा होता है। कुँवरिया तथा होकर दो प्रधान नदियाँ यहीं से निकलकर महानदी में मिलती है। इस भूभाग में आम के वृक्ष अधिकता से पाए जाते है। (रा० लो० सिं०)

खंडप्रलय भारतीय प्राचीन विश्वासानुसार त्रिदेवों में से प्रथम—ब्रह्मा का एक दिन, एक हजार चतुर्युगी व्यतीत होने पर आंशिक रूप में प्रलय होता है। पुराणों का मत है कि इस खंडप्रलय में स्वर्गलोक से नीचे के सब लोकों का विनाश हो जाता है। (स०)

खंडवा मध्य प्रदेश के नीमाड जिले का प्रमुख नगर। यह एक प्राचीन नगर है। यहाँ अनेक जैन मंदिर है और आधुनिक काल में राष्ट्रकवि स्व० माखनलाल चतुर्वेदी का निवासस्थान होने का गौरव इसे प्राप्त है। यह मध्य रेलवे के बंबई-दिल्ली भाग पर स्थित एक प्रमुख जंकशन है। यहाँ से इंदौर और उज्जैन को ट्रेन जाती है। रुई यहाँ का

मुख्य उत्पादन है और यहाँ रुई धुनने और गाँठ बाँधने तथा तेल पेरने के अनेक कारखाने हैं। यहाँ से रुई का निर्यात होता है। (प० ला० गु०)

खंडाला महाराष्ट्र प्रांत के अंतर्गत पूना जिले का एक छोटा नगर (स्थिति : १८° ४६' उ० अ० और ७३° २२' पू० दे०)। यह पश्चिमी घाट पर्वतमाला शृंखला पर पूना से ४१ मील उत्तरपश्चिम में बसा है। चारों ओर से पर्वतमालाओं से घिरा रहने एवं समीप में दो जलप्रपात होने के कारण यहाँ का दृश्य बहुत ही सुहावना एवं रमणीक है। अतएव ग्रीष्म ऋतु में समीपस्थ नगरों से लोग स्वास्थ्यलाभ के लिये यहाँ आया करते हैं। यहाँ पर होटल, चिकित्सालय आदि भी हैं। पर्वत में ही खुदा हुआ गंभीरनाथ जी का दर्शनीय मंदिर भी यहाँ है।

(रा० लो० सिं०)

खंडित व्यक्तित्व व्यक्ति सामान्य रूप से अपने व्यक्तित्व के सभी अंगों का एक सामंजस्यपूर्ण और समेकित रूप होता है। अपने इस रूप में वह एक स्थिर इकाई की भाँति व्यवहार करता है। किंतु विकार उत्पन्न होने पर व्यक्तित्व निर्माण करनेवाले तत्व अथवा घटक असंबद्ध होने लगते हैं, और उसकी समेकितता भंग हो जाती है। ऐसी स्थिति प्राय: प्रबल मानसिक संघर्ष के कारण उत्पन्न होती है। इससे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व पर से चेतना का अधिकार खो बैठता है। तब विचारों, भावों अथवा प्रवृत्तियों में असंबद्धता आने लगती है। यथा—किसी परिचित नाम अथवा घटना की स्मृति न रहना असंबद्ध विचार का ही रूप है। इसी प्रकार संवेगजनक परिस्थिति में होते हुए भी पहले की तरह प्रभावित न हो पाना भी व्यक्तित्व की असंबद्धता का परिणाम है।

असंबद्ध विचार, भाव और प्रेरणाएँ जब बढ़कर प्रबल हो जाती हैं तब वे संघटित होकर एक ही व्यक्ति में एक दूसरे स्वतंत्र व्यक्तित्व का रूप धारण कर लेती हैं। यह दूसरा व्यक्तित्व व्यक्ति के भीतर मूल व्यक्तित्व के साथ रह सकता है अथवा अलग अलग भी प्रकट हो सकता है। इसे ही मनोवैज्ञानिकों ने खंडित व्यक्तित्व (Split Personality) का नाम दिया है।

सामान्य जीवन में भी असंबद्ध अथवा खंडित व्यक्तित्व देखने में आता है। यथा—आदर्शों और आचरणों में अंतर खंडित व्यक्तित्व का ही परिणाम है। व्यक्तित्व, जीवन और व्यवसाय की नैतिकताओं को एक दूसरे से भिन्न मानना भी खंडित व्यक्तित्व है। (प० ला० गु०)

खंडेलवाल (१) हिंदू और जैन धर्म को माननेवाले वैश्य समाज की एक जाति जो मूलत: राजस्थान के खंडेला नामक स्थान की निवासी है।

(२) राजस्थान निवासी ब्राह्मणों का एक वर्ग जिनकी गणना पंचगौड़ों में की जाती है। वे अपने को खंडेल ऋषि की संतान कहते हैं। ये लोग मुख्यत: खेती करते हैं। कुछ लोग दरबानी की नौकरी में हैं। इनकी बावन शाखाएँ कही जाती हैं। (प० ला० गु०)

खंडेला राजस्थान स्थित एक प्राचीन स्थान जो सीकर से २८ मील पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम खंडिल्ल और खंडेलपुर था। यहाँ से तीसरी शती ई० का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है और यहाँ अनेक प्राचीन मंदिरों के ध्वंसावशेष हैं। यह सातवीं शती ई० तक शैव-मत का एक मुख्य केंद्र था। यहाँ आदित्यनाग नामक राजा ने ६४४ ई० में अर्धनारीश्वर का एक मंदिर बनवाया था। इसी मंदिर के ध्वंसावशेष से एक नया मंदिर बना है जो खंडेलेश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। जैन धर्म की दृष्टि से भी इस स्थान का महत्व है। ८वीं शती में जिनसेनाचार्य ने यहाँ एक चौहान नरेश को जैन धर्म की दीक्षा दी थी। १३वीं शती में यहाँ जिनप्रभसूरि रहते थे। तीर्थ के रूप में इस स्थान का उल्लेख 'सकलतीर्थसूत्र' में सिद्धसेन सूरि ने किया है। जैनों का एक प्रख्यात गच्छ—खंडिल्ल गच्छ इसी के नाम पर है। खंडेलवाल वैश्य भी इस स्थान के मूल निवासी कहे जाते हैं। (प० ला० गु०)

खंडोबा महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रदेश की बहुसंख्यक जनता के कुल देवता। उनकी उपासना निम्नवर्गीय समाज से लेकर ब्राह्मण तक सभी करते हैं। खंडोबा और स्कंद दोनों नामों के सादृश्य के कारण कुछ लोगों में खंडोबा स्कंद के अवतार समझे जाते हैं। अन्य लोग उन्हें शिव अथवा उनके भैरव रूप का अवतार बताते हैं। इसके प्रमाण में कहा जाता है कि खंडोबा परिवार में कुत्ते को स्थान प्राप्त है और कुत्ता भैरव का वाहन है। इनके चार आयुधों में खड्ग (खांडे) का विशेष महत्व है। और इसी खांडे के कारण इनका खंडोबा नाम पड़ा है। खंडोबा के संबंध में यह भी कहा जाता है कि वे मूलत: ऐतिहासिक वीर पुरुष थे। उन्हें कालांतर में देवता मान लिया गया है। इस कल्पना का आधार 'समयपरीक्षा' नामक कन्नड भाषा का एक ग्रंथ है।

खंडोबा के सेवक के रूप में वाघ्या और मुरली का उल्लेख किया जाता है। वाघ्या को तो लोग कहते हैं कि वह खंडोबा के कुत्ते का नाम है। मुरली खंडोबा की उपासिका कोई देवदासी थी। सारे दक्षिण में वाघ्या और मुरली नाम के खंडोबा के उपासकों का दो वर्ग प्रख्यात है। ये लोग घूमते फिरते हैं और भिक्षा माँग कर खाते हैं।

खंडोबा के संबंध में यह भी कहा जाता है कि खंडोबा की उपासना कर्णाटक से महाराष्ट्र में आई है और खंडोबा महाराष्ट्र और कर्णाटक के बीच सांस्कृतिक संबंध के प्रतीक हैं। कर्णाटक में खंडोबा मल्लारी, मल्लारि मार्तंड, मैलार आदि नाम से जाने जाते हैं। वहाँ उनके बारह प्रसिद्ध स्थान बताए जाते हैं। मद्रास के उपनगर मैलापुर के संबंध में कहा जाता है कि मूलत: उसका नाम इन्हीं के नाम पर मैलारपुर था। दक्षिण में कुछ मुसलमान उन्हें मल्लू खाँ के नाम से पूजते हैं। महाराष्ट्र में इनके कन्नड नाम मैलार का संस्कृतकरण कर मल्लारि माहात्म्य नाम से एक ग्रंथ की रचना हुई है। उसमें उनके संबंध में जो कथा दी गई है वह इस प्रकार है—

कृतयुग में मणिचूल पर्वत पर धर्मपुत्र सप्तर्षि तप कर रहे थे। वहाँ मणि और मल्ल नामक दो दैत्यों ने आकर उपद्रव करना आरंभ किया और ऋषि के तपोवन को ध्वस्त कर दिया। तब शोकाकुल ऋषि इंद्र के पास गए। इंद्र ने कहा कि मणि-मल्ल दोनों दैत्यों को अमर रहने का वरदान ब्रह्मा ने दे रखा है। इस कारण वे उनका वध करने में असमर्थ हैं। उन्होंने ऋषि को विष्णु के पास जाने की सलाह दी। ऋषि विष्णु के पास गए। जब विष्णु ने भी अपनी असमर्थता प्रकट की तब वे शिव के पास आए। शिव ने जब ऋषि की दु:खगाथा सुनी तो वे दु:खी हुए और उन्होंने मणि और मल्ल के विनाश के लिये मार्तंड भैरव का रूप धारण किया और कार्तिकेय के नेतृत्व में अपने सात कोटि गणों को लेकर मणिचूल पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उनका मणि-मल्ल के साथ तुमुल युद्ध हुआ। अंत में मार्तंड भैरव ने मणि के वक्षस्थल को विदीर्ण कर दिया और वह भूमि पर गिर पड़ा। गिरने पर उसने शिव से प्रार्थना की कि वह उसे अश्व के रूप में अपने निकट रहने की अनुमति दें। शिव ने उसका अनुरोध स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार मल्ल ने भी मरने से पूर्व मार्तंड भैरव से अनुरोध किया कि मेरे नाम से आप मल्लारि (मल्ल + अरि) नाम से ख्यात हों। तब सप्तऋषि ने भयमुक्त होकर मार्तंड भैरव से स्वयंभूलिंग के रूप में प्रेमपुर (पेंबर) में रहने का अनुरोध किया और उन्होंने उनका भी अनुरोध मान लिया। इस प्रकार मल्लारि (मैलार) की कथा प्रख्यात हुई। मल्लारि (मैलार) अर्थात् खंडोबा को श्वेत अश्व पर आरूढ अंकित किया जाता है। उनके साथ कुत्ता रहता है। उनके हाथ में खड्ग (खंडा) और त्रिशूल होता है। (प० ला० गु०)

खंभात गुजरात राज्य में खंभात की खाड़ी के उत्तर में, माही नदी के मुहाने पर स्थित एक प्राचीन नगर (स्थिति : २२° १९' उ० अ० और ७२° ३९' पू० दे०)। टॉलमी नामक विद्वान् ने भी इसका उल्लेख किया है। प्रथम शती में यह महत्वपूर्ण सागर पत्तन था। १५वीं शताब्दी में खंभात पश्चिमी भारत के हिंदू राजा की राजधानी था। जेनरल गॉडार्ड ने १७८० ई० में इस नगर को अधिकृत कर लिया था, किंतु १७८३ ई० में यह पुन: मराठों को लौटा दिया गया। १८०३

ई० के बाद से यह अंग्रेजी राज्य के अंतर्गत रहा। नगर के दक्षिण-पूर्व मे प्राचीन जैन मंदिर के भग्नावशेष विस्तृत प्रदेश मे मिलते हैं।

प्राचीनकाल मे रेशम, सोने का सामान और छींट यहाँ के प्रमुख व्यापार थे। कपास प्रधान निर्यात थी। किंतु नदियो के निक्षेपण से पत्तन पर पानी छिछला होता गया और अब यह जलयानो के रुकने योग्य नही रहा। फलत. निकटवर्ती नगरो का व्यापारिक महत्व खंभात की अपेक्षा अधिक बढ गया और अब यह एक नगर मात्र रह गया है।

खंभात की खाडी गुजरात और काठियावाड प्रायद्वीप के मध्य मे स्थित है। इस खाडी मे तृतीयक (Tertiary) युग के निक्षेप मिलते हैं। भूगर्भिक क्रियाओ का प्रभाव इस क्षेत्र पर रहा है, अत यहाँ अनेक भ्रंश (Faults) पाए जाते हैं। बाद के युग मे यह क्षेत्र ऊपर की ओर उठ गया। तटीय क्षेत्र मे नदियो की पुरानी घाटियाँ तथा झीलें आज भी दृष्टिगत होती है। नर्मदा, ताप्ती, माही, साबरमती तथा काठियावाड की अन्य नदियो के वेगवान निक्षेपण के कारण विस्तृत तटीय क्षेत्र दलदल से परिपूर्ण हो गए हैं और खाडी के बीच कुछ द्वीप बन गए हैं। हाल मे हुई खोज के परिणामस्वरुप इस क्षेत्र मे मिट्टी के तेल के कई स्रोत मिले हैं। अनुमान है कि इस क्षेत्र मे मिट्टी के तेल का विशाल भांडार निहित है। (प्र० व०)

खंभावती भारतीय संगीत की एक रागिनी जिसका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

> धैवतांशग्रहन्यासा षाडवा त्यक्तपंचमा।
> खंभावती च विज्ञेया मूर्च्छना पौरवीमता।

अर्थात् यह रागिनी धैवत, स्वर, अंश, ग्रह एवं न्यास युक्त है। यह पंचम स्वर रहित और षाडव है। इसकी मूर्छना पौरवी मानी गयी है। इसके दो रूप प्रचलित है। एक मे माड और झिंझोटी का मिश्रण है और दूसरे मे रागश्री का। दूसरे प्रकार मे पंचम स्वर सर्वथा वर्जित है और ऋषभ भी अत्यल्प है। इसे कौशिक राग की रागिनी कहा गया है। यह रागिनी शृंगार और करुणरस प्रधान है और रात्रि के दूसरे पहर मे गाई जाती है। (प० ला० गु०)

खंसा अरबी कवयित्री। इनका पूरा नाम तुमादिर बिंत अम्र था। कैस कबीले के सुलेम शाखा के एक परिवार मे जन्म हुआ था। पिता का नाम अम्र था। इन्होने अपने दो भाइयो और पिता की मृत्यु के वियोग मे वेदनापूर्ण रचनाएँ की थी जिनसे इन्हें ख्याति प्राप्त हुई। इनका एक दीवान १८९५ मे बेरूत मे प्रकाशित हुआ जिसका बाद मे फ्रेंच मे द कूपियर ने अनुवाद किया है। इस्लाम धर्म के उत्थान होने पर अपने कबीले के लोगो के साथ इस धर्म को ग्रहण कर लिया। कदीसिया की लडाई मे इनके चार बेटे मारे गए। तब उमर ने उनके शहीद होने पर इन्हे बधाई भेजी और उनके लिये पेंशन बाँध दी। इन्ही की तरह इनकी बेटी अम्रा भी कविताएँ लिखती थी।

इनकी मृत्यु ६४५ ई० मे हुई। (प० ला० गु०)

खँजड़ी, खँजरी डफ के ढंग का एक छोटा वाद्य यंत्र जो दो ढाई इंच चौडे काठ की बनी गोलाकार परिधि के एक ओर चमडे से मढा होता है। उसकी दूसरी ओर खुला रहता है। इसे एक हाथ में पकडकर दूसरे हाथ से थाप देकर बजाया जाता है। कुछ मे लोग गोलाकार परिधि मे धातु के बने चार-पाँच गोलाकार टुकडे लगा लेते है जो झाँझ की तरह थाप के साथ स्वत झंकार उठते हैं। इस वाद्य का प्रयोग मुख्यत गीत गाकर भीख माँगनेवाले भिखारी अथवा लोकगीत गायक तथा साधु भजन गाने के लिये करते है। (प० ला० गु०)

खँभालिया सौराष्ट्र मे जामनगर जिले के अंतर्गत एक नगर (स्थिति : २२° १२' उ० अ० तथा ६९° ५०' पू० दे०)। यह तेली तथा घी नदियो के संगम पर बना है। यह पूर्व मे नवानगर राज्य का प्रसिद्ध नगर था। यहाँ पर अनेक प्राचीन मंदिर हैं। यहाँ के लुहार अपनी कला के लिये प्रसिद्ध है। (रा० लो० सिं०)

खगोलिकी ब्रह्मांड मे अवस्थित आकाशीय पिंडो की ज्योति, रचना और उनके व्यवहार का अध्ययन खगोलिकी का विषय है। अब तक ब्रह्मांड के जितने भाग का पता चला है उसमें लगभग १९ अरब आकाश गंगाएँ होने का अनुमान है और प्रत्येक आकाश गंगा मे लगभग १० अरब तारे है। आकाश गंगा का व्यास लगभग एक लाख प्रकाशवर्ष है। हमारी पृथ्वी पर आदिम जीव २ अरब साल पहले पैदा हुआ, और आदमी का धरती पर अवतरण १०—२० लाख साल पहले हुआ।

वैज्ञानिको के अनुसार इस ब्रह्मांड की उत्पत्ति एक महापिंड के विस्फोट से हुई है। सूर्य एक औसत तारा है जिसके नौ मुख्य ग्रह हैं, उनमे से पृथ्वी भी एक है। इस ब्रह्मांड मे हर एक तारा सूर्य सदृश है। बहुत-से तारे तो ऐसे हैं जिनके सामने अपना सूर्य रेणु (कण) के बराबर भी नही ठहरता है। जैसे सूर्य के ग्रह है और उन सबको मिलाकर हम सौर परिवार के नाम से पुकारते है, उसी प्रकार हरेक तारे का अपना अपना परिवार है। बहुत से लोग समझते हैं कि सूर्य स्थिर है, लेकिन संपूर्ण सौर परिवार भी स्थानीय नक्षत्र प्रणाली के अंतर्गत प्रति सेकेंड १३ मील की गति से घूम रहा है। स्थानीय नक्षत्र प्रणाली आकाश गंगा के अंतर्गत प्रति सेकेंड २०० मील की गति से चल रही है और संपूर्ण आकाश गंगा दूरस्थ बाह्य ज्योतिमालाओ के अंतर्गत प्रति सेकेंड १०० मील की गति से विभिन्न दिशाओ मे घूम रही है।

चंद्रमा पृथ्वी का एक उपग्रह है जिस पर मानव के कदम पहुँच चुके है। इस ब्रह्मांड मे जो सबसे विस्मयकारी दृश्य है—वह है आकाश गंगा (गलैक्सी) का दृश्य। रात्रि के खुले (जब कि चंद्रमा न दिखाई दे) आकाश मे प्रत्येक मनुष्य इन्हें नंगी आँखो से देख सकता है। देखने मे यह हलके सफेद धुएँ जैसी दिखाई देती है, जिसमे असंख्य तारो का बाहुल्य है। यह आकाश गंगा टेढ़ीमेढ़ी होकर बही है। इसका प्रवाह उत्तर से दक्षिण की ओर है। पर प्रात काल होने से थोडा पहले इसका प्रवाह पूर्वोत्तर से पश्चिम और दक्षिण की ओर होता है। देखने मे आकाश गंगा के तारे परस्पर सटे से लगते है, पर यह दृष्टि भ्रम है। परस्पर सटे हुए तारो के बीच की दूरी अरबो मील हो सकती है। जब सटे हुए तारो का यह हाल है तो दूर दूर स्थित तारो के बीच की दूरी ऐसी गणनातीत है जिसे कह पाना मुश्किल है। अतएव ताराओ के बीच तथा अन्य लंबी दूरियाँ प्रकाशवर्ष मे मापी जाती हैं। एक प्रकाशवर्ष वह दूरी है जो दूरी प्रकाश एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकेंड की गति से एक वर्ष मे तय करता है। उदाहरण के लिये सूर्य और पृथ्वी के बीच की दूरी सवा नौ करोड मील है, प्रकाश यह दूरी सवा आठ मिनट मे तय करता है। अत पृथ्वी से सूर्य की दूरी सवा आठ प्रकाश मिनट हुई। जिन तारो से प्रकाश आठ हजार वर्षों मे आता है, उनकी दूरी हमने पौने सैंतालिस पद्म मील आँकी है। लेकिन तारे तो इतनी इतनी दूरी पर हैं कि उनसे प्रकाश के आने मे लाखो, करोडो, अरबो वर्ष लग जाता है। इस स्थिति मे हमे इन दूरियो को मीलो मे व्यक्त करना संभव नही होगा, और न कुछ समझ मे ही आएगा। अतएव 'प्रकाशवर्ष' की इकाई का वैज्ञानिको ने प्रयोग किया है।

मान लीजिए, ब्रह्मांड के किसी और नक्षत्रो आदि के बाद बहुत दूर दूर तक कुछ नही है—लेकिन यह बात अंतिम नही हो स[illegible] मान लीजिए उसके बाद कुछ है तो तुरत यह प्रश्न सामने [illegible] वह कुछ कहाँ तक है और उसके बाद क्या है? इसी[illegible] ब्रह्मांड को अनादि और अनंत माना। इसके अतिरिक्त [illegible] ब्रह्मांड की विशालता, व्यापकता व्य[illegible] [illegible]भव न[illegible]

अंतरिक्ष मे कुछ स्थानो पर टे[illegible] [illegible] हैं। इन्हे 'स्टार क्लस्टर' या ग्लोट्यू[illegible] हैं। इसमे बहुत से तारे होते हैं जो बी[illegible] होते हैं। टेलिस्कोप से आकाश मे दे[illegible] देते हैं। ये बादल के समान बडे सफे[illegible] को ही नीहारिका कहते हैं। इस [illegible] उनमे से कुछ ही हम देख पाते हैं [illegible]

इस अपरिमित ब्रह्मांड का एक अति क्षुद्र अंश हम देख पाते हैं। आधुनिक गवेषणाओं के कारण जैसे जैसे दूरबीन की क्षमता बढती जाती है, वैसे वैसे ब्रह्मांड के इस दृश्यमान क्षेत्र की सीमा बढ़ती जाती है, पर यह निर्विवाद सत्य है कि ब्रह्मांड की पूरी थाह मानव क्षमता की कल्पना के भी परे है।

खगोल भौतिकी का आधुनिक युग जर्मन भौतिकविद् किरचाफ से आरंभ हुआ। सूर्य के वातावरण में सोडियम, लौह, मैग्नेशियम, कैल्शियम तथा अनेक अन्य तत्वों का उन्होंने पता लगाया (सन् १८५९)। हमारे देश में स्वर्गीय प्रोफेसर मेघनाद साहा ने सूर्य और तारों के भौतिक तत्वों के अध्ययन में महत्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने वर्णक्रमों के अध्ययन से खगोलीय पिंडों के वातावरण में अत्यंत महत्वपूर्ण खोजें की हैं। आजकल हमारे देश के दो प्रख्यात वैज्ञानिक डा० एस० चंद्रशेखर और डा० जयंत विष्णु नारलीकर भी ब्रह्मांड के रहस्यों को सुलझाने में उलझे हुए हैं।

बहुत पहले कोपर्निकस, टाइको ब्राहे और मुख्यतः कैप्लर ने खगोल विद्या में महत्वपूर्ण कार्य किया था। कैप्लर ने ग्रहों के गति के संबंध में जिन तीन नियमों का प्रतिपादन किया है वे ही खगोल भौतिकी की आधारशिला बने हुए हैं। खगोल विद्या में न्यूटन का कार्य बड़ा महत्वपूर्ण और शानदार रहा है।

ब्रह्मांड विद्या के क्षेत्र में पिछले कुछ वर्षों (लगभग ४५ वर्षों पूर्व) की गवेषणाओं के फलस्वरूप महत्वपूर्ण बातें सामने आई हैं। विख्यात वैज्ञानिक हबल ने अपने निरीक्षणों से ब्रह्मांडविद्या की एक नई प्रक्रिया का पता लगाया। हबल ने सुदूर स्थित आकाश गंगाओं से आनेवाले प्रकाश का परीक्षण किया और बताया कि पृथ्वी तक आने में प्रकाश तरंगों का कंपन बढ़ जाता है। यदि इस प्रकाश का वर्णपट प्राप्त करें तो वर्णपट का झुकाव लाल रंग की ओर अधिक होता है। इस प्रक्रिया को डोपलर प्रभाव कहते हैं। ध्वनि संबंधी 'डोपलर प्रभाव' से बहुत लोग परिचित होंगे। जब हम प्रकाश के संदर्भ में डोपलर प्रभाव को देखते हैं, तो दूर से आनेवाले प्रकाश का झुकाव नीले रंग की ओर होता है और दूर जाने वाले प्रकाश स्रोत के प्रकाश का झुकाव लाल रंग की ओर होता है। इस प्रकार हबल के निरीक्षणों से यह मालूम हुआ कि आकाश गंगाएँ हमसे दूर जा रही हैं। हबल ने यह भी बताया कि उनकी पृथ्वी से दूर हटने की गति, पृथ्वी से उनकी दूरी के अनुपात में है। माउंट पैलोमर वेधशाला में स्थित २०० इंच व्यासवाले लेंस की दूरबीन से खगोलशास्त्रियों ने आकाश गंगाओं के दूर हटने की प्रक्रिया को देखा है।

दूरबीन से ब्रह्मांड को देखने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम इस ब्रह्मांड के केंद्रबिंदु हैं और बाकी चीजें हमसे दूर भागती जा रही हैं। यदि अन्य आकाश गंगाओं में प्रेक्षक भेजे जाएँ तो वे भी यही पावेंगे कि हम इस ब्रह्मांड के केंद्र बिंदु हैं, बाकी आकाश गंगाएँ हमसे दूर भागती जा रही हैं। अब जो सही चित्र हमारे सामने आता है, वह यह है कि ब्रह्मांड का समान गति से विस्तार हो रहा है। और इस विशाल प्रारूप का कोई भी बिंदु अन्य वस्तुओं से दूर हटता जा रहा है।

हबल के अनुसंधान के बाद ब्रह्मांड के सिद्धांतों का प्रतिपादन आवश्यक हो गया था। यह वह समय था जब कि आइन्स्टीन का सापेक्षवाद का सिद्धांत अपनी शैशवावस्था में था। लेकिन फिर भी आइन्स्टीन के सिद्धांत को सौरमंडल संबंधी निरीक्षणों पर आधारित निष्कर्षों की व्याख्या करने में न्यूटन के सिद्धांतों से अधिक सफलता प्राप्त हुई थी। न्यूटन के अनुसार दो पिंडों के बीच की गुरुत्वाकर्षण शक्ति एक दूसरे पर तत्काल प्रभाव डालती है लेकिन आइन्स्टीन ने यह साबित कर दिया कि पारस्परिक गुरुत्वाकर्षण की शक्ति की गति प्रकाश की गति के समान तीव्र नहीं हो सकती है। आखिर यहाँ पर आइन्स्टीन ने न्यूटन के पक्ष को गलत प्रमाणित किया। लोगों को आइन्स्टीन का ही सिद्धांत पसंद आया। ब्रह्मांड की उत्पत्ति की तीन धारणाएँ प्रस्तुत हैं—

१. स्थिर अवस्था का सिद्धांत,
२. विस्फोट सिद्धांत (बिग बंग सिद्धांत) और
३. दोलन सिद्धांत।

इन धारणाओं में दूसरी धारणा की महत्ता अधिक है। इस धारणा के अनुसार ब्रह्मांड की उत्पत्ति एक महापिंड के विस्फोट से हुई है और इसी कारण आकाश गंगाएँ हमसे दूर भागती जा रही हैं। इस ब्रह्मांड का उलटा चित्र आप अपने सामने रखिए तब आपको ब्रह्मांड प्रसारित न दिखाई देकर संकुचित होता हुआ दिखाई देगा और आकाश गंगाएँ भागती हुई न दिखाई देकर आती हुई प्रतीत होंगी। अतः कहने का तात्पर्य यह है कि किसी समय कोई महापिंड रहा होगा और उसी के विस्फोट होने के कारण आकाश गंगाएँ भागती हुई हमसे दूर जा रही हैं। क्वासर और पल्सर नामक नए तारों की खोज से भी 'विस्फोट सिद्धांत' की पुष्टि हो रही है। (नि० सिं०)

खगोलीय यांत्रिकी में आकाशीय पिंडों (heavenly bodies) की गतियों के गणितीय सिद्धांतों का विवेचन किया जाता है। न्यूटन द्वारा प्रिंसिपिया में उपस्थापित गुरुत्वाकर्षण नियम तथा तीन गतिनियम खगोलीय यांत्रिकी के मूल आधार हैं। इस प्रकार इसमें विचारणीय समस्या द्वितीय वर्ग के सामान्य अवकल समीकरणों के एक वर्ग के हल करने तक सीमित हो जाती है।

१७वीं शताब्दी के प्रारंभ में जोहैन केप्लर (Johann Kepler) ने ग्रहगति के तीन प्रसिद्ध अनुभूतिमूलक (empirical) नियमों का निर्माण किया, जिनके साथ उसका नाम जुड़ा है। ये नियम न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण तथा गति के तीन आधारभूत नियमों के दो कायों पर प्रयोग के उपफल (corollary) हैं तथा इस प्रकार ये न्यूटन की प्राक्कल्पना (hypothesis) को पुष्ट करते हैं। न्यूटन के तीन गतिनियम सदा एक जडता प्रणाली (*inertial system*) के संदर्भ में हैं, जिसका प्रायः पर्याप्त सूक्ष्मता के साथ आकाशगंगा के सापेक्ष स्थिर प्रणाली से एकात्म स्थापित किया जा सकता है। दो कायों के प्रश्नों को तीन कायों के प्रश्नों तक तथा व्यापक रूप में 'न' (n) कायों के प्रश्नों तक, विस्तृत करने में बहुत कठिनाई उपस्थित होती है। दो कायों के प्रश्नों के विपरीत 'न' कायों के प्रश्न, यदि 'न' दो से अधिक हो तो, हल नहीं होते। सौर परिवार, जिसमें सूर्य तथा नवग्रह हैं, और अधिकांश ग्रह उपग्रहोंवाले हैं, एक बहुकायिक प्रश्न प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार सूर्य, पृथ्वी तथा चंद्रमा की संहति (*system*) तीन कायों के प्रश्न का उदाहरण है।

खगोलीय यांत्रिकी संबंधी नियमनिर्माण के प्रारंभिक दिनों में ही गणितज्ञ ज्योतिषियों का ध्यान तीन कायों के प्रश्न की ओर गया था। इस प्रश्न के हल के लिये बीजगणितीय प्रकृति के दस ज्ञात अनुकल अपेक्षित हैं। इस प्रश्न का समीकरण १८ वर्गों की संहति का है, जिसे जोसेफ लुई लाग्राज (Joseph Louis Lagrange) ने दस अनुकलों की सहायता, पातविलोपन (elimination of nodes) तथा कालविलोपन (elimination of time) के छह वर्गों के समीकरण में सीमित कर दिया था। परुष दशा (rigorous case) में इससे अधिक लाघव (reduction) संभव नहीं था। ऐसी दशा में, जिसमें एक काय का द्रव्यमान अत्यल्प मान लिया जाय और वह ऐसे दो द्रव्यमानों के क्षेत्र में गतिशील हो जो वृत्ताकार कक्षाओं में भ्रमण करते हों, समस्या सीमित हो जाती है और इसका हल सरल है। व्यापक रूप में तीन कायों के प्रश्न का हल मिल सकता है, जिसे संसृत घात श्रेणियों में व्यक्त किया जा सकता है। इस विधि का के० एफ० सुंडमान ने प्रयोग किया था। 'न' कायों के प्रश्न में ग्रहों के परस्पर आकर्षण की तुलना में सूर्य का आकर्षण अधिक होता है। इसके कारण उत्तरोत्तर आसन्नीकरण (approximation) की विधि का प्रयोग किया जा सकता है। अन्य ग्रहों की उपस्थिति के कारण ग्रहकक्षाओं के दीर्घवृत्ताकार में होनेवाले विचलन क्षोभ (perturbations) कहलाते हैं। लाग्रांज ने ग्रहों के क्षोभों की गणना के लिये एक विधि निकाली थी। दीर्घवृत्ताकार कक्षा में छह स्थिरांक होते हैं, जिन्हें अवयव कहते हैं। क्षुब्ध कक्षा में उन छह अवयवों को काल का फलन माना जा

ई० के बाद से यह अंग्रेजी राज्य के अंतर्गत रहा। नगर के दक्षिण-पूर्व में प्राचीन जैन मंदिर के भग्नावशेष विस्तृत प्रदेश में मिलते हैं।

प्राचीनकाल में रेशम, सोने का सामान और छींट यहाँ के प्रमुख व्यापार थे। कपास प्रधान निर्यात थी। किंतु नदियों के निक्षेपण से पत्तन पर पानी छिछला होता गया और अब यह जलयानों के रुकने योग्य नहीं रहा। फलत निकटवर्ती नगरों का व्यापारिक महत्व खंभात की अपेक्षा अधिक बढ़ गया और अब यह एक नगर मात्र रह गया है।

खंभात की खाड़ी गुजरात और काठियावाड प्रायद्वीप के मध्य में स्थित है। इस खाड़ी में तृतीयक (Tertiary) युग के निक्षेप मिलते हैं। भूगर्भिक क्रियाओं का प्रभाव इस क्षेत्र पर रहा है, अत यहाँ अनेक भ्रंश (Faults) पाए जाते हैं। बाद के युग में यह क्षेत्र ऊपर की ओर उठ गया। तटीय क्षेत्र में नदियों की पुरानी घाटियाँ तथा झीलें आज भी दृष्टिगत होती हैं। नर्मदा, ताप्ती, माही, साबरमती तथा काठियावाड की अन्य नदियों के वेगवान निक्षेपण के कारण विस्तृत तटीय क्षेत्र दलदल से परिपूर्ण हो गए हैं और खाड़ी के बीच कुछ द्वीप बन गए हैं। हाल में हुई खोज के परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में मिट्टी के तेल के कई स्रोत मिले हैं। अनुमान है कि इस क्षेत्र में मिट्टी के तेल का विशाल भांडार निहित है। (प्र० व०)

खंभावती भारतीय संगीत की एक रागिनी जिसका लक्षण इस प्रकार बताया गया है--

धैवतांशग्रहन्यासा पाडवा त्यक्तपचमा।
खंभावती च विज्ञेया मूर्च्छना पौरवीमता।

अर्थात् यह रागिनी धैवत, स्वर, अंश, ग्रह एवं न्यास युक्त है। यह पंचम स्वर रहित और पाडव है। इसकी मूर्छना पौरवी मानी गयी है। इसके दो रूप प्रचलित हैं। एक में मांड और झिंझोटी का मिश्रण है और दूसरे में रागश्री का। दूसरे प्रकार में पंचम स्वर सर्वथा वर्जित है और ऋषभ भी अत्यल्प है। इसे कौशिक राग की रागिनी कहा गया है। यह रागिनी शृंगार और करुणरस प्रधान है और रात्रि के दूसरे पहर में गाई जाती है। (प० ला० गु०)

खंसा अरबी कवयित्री। इनका पूरा नाम तुमादिर बिंत अम्र था। कैस कबीले के सुलेम शाखा के एक परिवार में जन्म हुआ था। पिता का नाम अम्र था। इन्होंने अपने दो भाइयों और पिता की मृत्यु के वियोग में वेदनापूर्ण रचनाएँ की थीं जिनसे इन्हें ख्याति प्राप्त हुई। इनका एक दीवान १८९५ में बेरूत में प्रकाशित हुआ जिसका बाद में फ्रेंच में द कूपियर ने अनुवाद किया है। इस्लाम धर्म के उत्थान होने पर अपने कबीले के लोगों के साथ इस धर्म को ग्रहण कर लिया। कदीसिया की लड़ाई में इनके चार बेटे मारे गए। तब उमर ने उनके शहीद होने पर इन्हें बधाई भेजी और उनके लिये पेंशन बाँध दी। इन्हीं की तरह इनकी बेटी अम्रा भी कविताएँ लिखती थी।

इनकी मृत्यु ६४५ ई० में हुई। (प० ला० गु०)

खँजड़ी, खँजरी डफ के ढंग का एक छोटा वाद्य यंत्र जो दो ढाई इंच चौड़े काठ की बनी गोलाकार परिधि के एक ओर चमड़े से मढ़ा होता है। उसकी दूसरी ओर खुला रहता है। इसे एक हाथ में पकड़कर दूसरे हाथ से थाप देकर बजाया जाता है। कुछ मे लोग गोलाकार परिधि में धातु के बने चार-पाँच गोलाकार टुकड़े लगा लेते हैं जो झाँझ की तरह थाप के साथ स्वत झंकार उठते हैं। इस वाद्य का प्रयोग मुख्यत गीत गाकर भीख माँगनेवाले भिखारी अथवा लोकगीत गायक तथा साधु भजन गाने के लिये करते हैं। (प० ला० गु०)

खँभालिया सौराष्ट्र में जामनगर जिले के अंतर्गत एक नगर (स्थिति : २२° १२' उ० अ० तथा ६९° ५०' पू० दे०)। यह तेली तथा घी नदियों के संगम पर बसा है। यह पूर्व में नवानगर राज्य का प्रसिद्ध नगर था। यहाँ पर अनेक प्राचीन मंदिर हैं। यहाँ के लुहार अपनी कला के लिये प्रसिद्ध हैं। (रा० लो० सिं०)

खगोलिकी ब्रह्मांड में अवस्थित आकाशीय पिंडों की ज्योति, रचना और उनके व्यवहार का अध्ययन खगोलिकी का विषय है। अब तक ब्रह्मांड के जितने भाग का पता चला है उसमें लगभग १९ अरब आकाश गंगाएँ होने का अनुमान है और प्रत्येक आकाश गंगा में लगभग १० अरब तारे हैं। आकाश गंगा का व्यास लगभग एक लाख प्रकाशवर्ष है। हमारी पृथ्वी पर आदिम जीव २ अरब साल पहले पैदा हुआ, और आदमी का धरती पर अवतरण १०--२० लाख साल पहले हुआ।

वैज्ञानिकों के अनुसार इस ब्रह्मांड की उत्पत्ति एक महापिंड के विस्फोट से हुई है। सूर्य एक औसत तारा है जिसके नौ मुख्य ग्रह हैं, उनमें से पृथ्वी भी एक है। इस ब्रह्मांड में हर एक तारा सूर्य सदृश है। बहुत-से तारे तो ऐसे हैं जिनके सामने अपना सूर्य रेणु (कण) के बराबर भी नहीं ठहरता है। जैसे सूर्य के ग्रह है और उन सबको मिलाकर हम सौर परिवार के नाम से पुकारते है, उसी प्रकार हरेक तारे का अपना अपना परिवार है। बहुत से लोग समझते हैं कि सूर्य स्थिर है, लेकिन संपूर्ण सौर परिवार भी स्थानीय नक्षत्र प्रणाली के अंतर्गत प्रति सेकेंड १२ मील की गति से घूम रहा है। स्थानीय नक्षत्र प्रणाली आकाश गंगा के अंतर्गत प्रति सेकेंड २०० मील की गति से चल रही है और संपूर्ण आकाश गंगा दूरस्थ बाह्य ज्योतिमालाओं के अंतर्गत प्रति सेकेंड १०० मील की गति से विभिन्न दिशाओं में घूम रही है।

चंद्रमा पृथ्वी का एक उपग्रह है जिस पर मानव के कदम पहुँच चुके है। इस ब्रह्मांड में जो सबमें विस्मयकारी दृश्य है--वह है आकाश गंगा (गलैक्सी) का दृश्य। रात्रि के खुले (जब कि चंद्रमा न दिखाई दे) आकाश में प्रत्येक मनुष्य इन्हें नंगी आँखों से देख सकता है। देखने में यह हलके सफेद धुएँ जैसी दिखाई देती है, जिसमें असंख्य तारों का बाहुल्य है। यह आकाश गंगा टेढ़ीमेढ़ी होकर बही है। इसका प्रवाह उत्तर से दक्षिण की ओर है। पर प्रात काल होने से थोड़ा पहले इसका प्रवाह पूर्वोत्तर से पश्चिम और दक्षिण की ओर होता है। देखने में आकाश गंगा के तारे परस्पर सटे से लगते हैं, पर यह दृष्टि भ्रम है। परस्पर सटे हुए तारों के बीच की दूरी अरबों मील हो सकती है। जब सटे हुए तारों का यह हाल है तो दूर दूर स्थित तारों के बीच की दूरी ऐसी गणनातीत है जिसे कह पाना मुश्किल है। अतएव तारों के बीच तथा अन्य लंबी दूरियाँ प्रकाशवर्ष में मापी जाती हैं। एक प्रकाशवर्ष वह दूरी है जो दूरी प्रकाश एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकेंड की गति से एक वर्ष में तय करता है। उदाहरण के लिये सूर्य और पृथ्वी के बीच की दूरी सवा नौ करोड मील है, प्रकाश यह दूरी सवा आठ मिनट में तय करता है। अत पृथ्वी से सूर्य की दूरी सवा आठ प्रकाश मिनट हुई। जिन तारों से प्रकाश आठ हजार वर्षों में आता है, उनकी दूरी हमने पौने सैंतालिस पद्म मील आँकी है। लेकिन तारे तो इतनी इतनी दूरी पर हैं कि उनसे प्रकाश के आने में लाखों, करोड़ों, अरबों वर्ष लग जाता है। इस स्थिति में हमें इन दूरियों को मीलों में व्यक्त करना संभव नहीं होगा, और न कुछ समझ में ही आएगा। अतएव 'प्रकाशवर्ष' की इकाई का वैज्ञानिकों ने प्रयोग किया है।

मान लीजिए, ब्रह्मांड के किसी और नक्षत्रों आदि के बाद बहुत दूर दूर तक कुछ नहीं है--लेकिन यह बात अंतिम नहीं हो सकती है--और मान लीजिए उसके बाद कुछ है तो तुरत यह प्रश्न सामने आ जाता है कि वह कुछ कहाँ तक है और उसके बाद क्या है? इसीलिये हमने इस ब्रह्मांड को अनादि और अनंत माना। इसके अतिरिक्त अन्य शब्दों में ब्रह्मांड की विशालता, व्यापकता व्यक्त करना संभव नहीं है।

अंतरिक्ष में कुछ स्थानों पर टेलिस्कोप से गोल गुच्छे दिखाई देते हैं। इन्हें 'स्टार क्लस्टर' या 'ग्लोब्यूलर स्टार' अर्थात् तारा गुच्छ कहते हैं। इसमें बहुत से तारे होते हैं जो बीच में घने रहते हैं और किनारे विरल होते हैं। टेलिस्कोप से आकाश में देखने पर कहीं कहीं कुछ धब्बे दिखाई देते हैं। ये बादल के समान बड़े सफेद धब्बे में दिखाई देते हैं। इन धब्बों को ही नीहारिका कहते हैं। इस ब्रह्मांड में असंख्य नीहारिकाएँ हैं। उनमें से कुछ ही हम देख पाते हैं।

इस अपरिमित ब्रह्मांड का एक अति क्षुद्र अंश हम देख पाते हैं। आधुनिक गवेषणाओं के कारण जैसे जैसे दूरबीन की क्षमता बढ़ती जाती है, वैसे वैसे ब्रह्मांड के इस दृश्यमान क्षेत्र की सीमा बढ़ती जाती है, पर यह निर्विवाद सत्य है कि ब्रह्मांड की पूरी थाह मानव क्षमता की कल्पना के भी परे है।

खगोल भौतिकी का आधुनिक युग जर्मन भौतिकविद् किरचाफ से आरंभ हुआ। सूर्य के वातावरण में सोडियम, लौह, मैग्नेशियम, कैल्शियम तथा अनेक अन्य तत्वों का उन्होंने पता लगाया (सन् १८५९)। हमारे देश में स्वर्गीय प्रोफेसर मेघनाद साहा ने सूर्य और तारों के भौतिक तत्वों के अध्ययन में महत्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने वर्णक्रमों के अध्ययन से खगोलीय पिंडों के वातावरण में अत्यंत महत्वपूर्ण खोजें की हैं। आजकल हमारे देश के दो प्रख्यात वैज्ञानिक डा० एस० चंद्रशेखर और डा० जयंत विष्णु नारलीकर भी ब्रह्मांड के रहस्यों को सुलझाने में उलझे हुए हैं।

बहुत पहले कोपर्निकस, टाइको ब्राहे और मुख्यत: कैप्लर ने खगोल विद्या में महत्वपूर्ण कार्य किया था। कैप्लर ने ग्रहों के गति के संबंध में जिन तीन नियमों का प्रतिपादन किया है वे ही खगोल भौतिकी की आधारशिला बने हुए हैं। खगोल विद्या में न्यूटन का कार्य बड़ा महत्वपूर्ण और शानदार रहा है।

ब्रह्मांड विद्या के क्षेत्र में पिछले कुछ वर्षों (लगभग ४५ वर्षों पूर्व) की गवेषणाओं के फलस्वरूप महत्वपूर्ण बातें सामने आई हैं। विख्यात वैज्ञानिक हबल ने अपने निरीक्षणों से ब्रह्मांडविद्या की एक नई प्रक्रिया का पता लगाया। हबल ने सुदूर स्थित आकाश गंगाओं से आनेवाले प्रकाश का परीक्षण किया और बताया कि पृथ्वी तक आने में प्रकाश तरंगों का कंपन बढ़ जाता है। यदि इस प्रकाश का वर्णपट प्राप्त करें तो वर्णपट का झुकाव लाल रंग की ओर अधिक होता है। इस प्रक्रिया को डोपलर प्रभाव कहते हैं। ध्वनि संबंधी 'डोपलर प्रभाव' से बहुत लोग परिचित होंगे। जब हम प्रकाश के संदर्भ में डोपलर प्रभाव को देखते हैं, तो दूर से आनेवाले प्रकाश का झुकाव नीले रंग की ओर होता है और दूर जाने वाले प्रकाश स्रोत के प्रकाश का झुकाव लाल रंग की ओर होता है। इस प्रकार हबल के निरीक्षणों से यह मालूम हुआ कि आकाश गंगाएँ हमसे दूर जा रही हैं। हबल ने यह भी बताया कि उनकी पृथ्वी से दूर हटने की गति पृथ्वी से उनकी दूरी के अनुपात में है। माउंट पोलोमर वेधशाला में स्थित २०० इंच व्यासवाले लेंस की दूरबीन से खगोलशास्त्रियों ने आकाश गंगाओं के दूर हटने की प्रक्रिया को देखा है।

दूरबीन से ब्रह्मांड को देखने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम इस ब्रह्मांड के केंद्रबिंदु हैं और बाकी चीजें हमसे दूर भागती जा रही हैं। यदि अन्य आकाश गंगाओं में प्रेक्षक भेजें जाएँ तो वे भी यही पावेंगे कि हम इस ब्रह्मांड के केंद्र बिंदु हैं, बाकी आकाश गंगाएँ हमसे दूर भागती जा रही हैं। अब जो सही चित्र हमारे सामने आता है, वह यह है कि ब्रह्मांड का समान गति से विस्तार हो रहा है। और इस विशाल प्रारूप का कोई भी बिंदु अन्य वस्तुओं से दूर हटता जा रहा है।

हबल के अनुसंधान के बाद ब्रह्मांड के सिद्धांतों का प्रतिपादन आवश्यक हो गया था। यह वह समय था जब कि आइन्सटीन का सापेक्षवाद का सिद्धांत अपनी शैशवावस्था में था। लेकिन फिर भी आइन्सटीन के सिद्धांत को सौरमंडल संबंधी निरीक्षणों पर आधारित निष्कर्षों की व्याख्या करने में न्यूटन के सिद्धांतों से अधिक सफलता प्राप्त हुई थी। न्यूटन के अनुसार दो पिंडों के बीच की गुरुत्वाकर्षण शक्ति एक दूसरे पर तत्काल प्रभाव डालती है लेकिन आइन्सटीन ने यह साबित कर दिया कि पारस्परिक गुरुत्वाकर्षण की शक्ति की गति प्रकाश की गति के समान तीव्र नहीं हो सकती है। आखिर यहाँ पर आइन्सटीन ने न्यूटन के पक्ष को गलत प्रमाणित किया। लोगों को आइन्सटीन का ही सिद्धांत पसंद आया। ब्रह्मांड की उत्पत्ति की तीन धारणाएँ प्रस्तुत हैं—

१. स्थिर अवस्था का सिद्धांत,
२. विस्फोट सिद्धांत (बिग बंग सिद्धांत) और
३. दोलन सिद्धांत।

इन धारणाओं में दूसरी धारणा की महत्ता अधिक है। इस धारणा के अनुसार ब्रह्मांड की उत्पत्ति एक महापिंड के विस्फोट से हुई है और इसी कारण आकाश गंगाएँ हमसे दूर भागती जा रही हैं। इस ब्रह्मांड का उलटा चित्र आप अपने सामने रखिए तब आपको ब्रह्मांड प्रसारित न दिखाई देकर संकुचित होता हुआ दिखाई देगा और आकाश गंगाएँ भागती हुई न दिखाई देकर आती हुई प्रतीत होंगी। अत: कहने का तात्पर्य यह है कि किसी समय कोई महापिंड रहा होगा और उसी के विस्फोट होने के कारण आकाश गंगाएँ भागती हुई हमसे दूर जा रही है। क्वासर और पल्सर नामक नए तारों की खोज से भी 'विस्फोट सिद्धांत' की पुष्टि हो रही है। (नि० सिं०)

खगोलीय यांत्रिकी में आकाशीय पिंडों (heavenly bodies) की गतियों के गणितीय सिद्धांतों का विवेचन किया जाता है। न्यूटन द्वारा प्रिंसिपिया में उपस्थापित गुरुत्वाकर्षण नियम तथा तीन गतिनियम खगोलीय यांत्रिकी के मूल आधार हैं। इस प्रकार इसमें *विचारणीय समस्या द्वितीय वर्ग के सामान्य अवकल समीकरणों के एक* वर्ग के हल करने तक सीमित हो जाती है।

१७वीं शताब्दी के प्रारंभ में जोहैन केप्लर (Johann Kepler) ने ग्रहगति के तीन प्रसिद्ध अनुभूतिमूलक (empirical) नियमों का निर्माण किया, जिनके साथ उसका नाम जुड़ा है। ये नियम न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण तथा गति के तीन आधारभूत नियमों के दो कायों पर प्रयोग के उपफल (corollary) हैं तथा इस प्रकार ये न्यूटन की प्राक्कल्पना (hypothesis) को पुष्ट करते हैं। न्यूटन के तीन गतिनियम सदा एक जड़ता प्रणाली (inertial system) के संदर्भ में है, जिसका प्राय: पर्याप्त सूक्ष्मता के साथ आकाशगंगा के सापेक्ष स्थिर प्रणाली से एकात्म स्थापित किया जा सकता है। दो कायों के प्रश्नों को तीन कायों के प्रश्नों तक तथा व्यापक रूप में 'न' (n) कायों के प्रश्नों तक, विस्तृत करने में बहुत कठिनाई उपस्थित होती है। दो कायों के प्रश्नों के विपरीत 'न' कायों के प्रश्न, यदि 'न' दो से अधिक हो तो, हल नहीं होते। सौर परिवार, जिसमें सूर्य तथा नवग्रह हैं, और अधिकांश ग्रह उपग्रहोंवाले हैं, एक बहुकायिक प्रश्न प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार सूर्य, पृथ्वी तथा चंद्रमा की संहति (system) तीन कायों के प्रश्न का उदाहरण है।

खगोलीय यांत्रिकी संबंधी नियमनिर्माण के प्रारंभिक दिनों में ही गणितज्ञ ज्योतिषियों का ध्यान तीन कायों के प्रश्न की ओर गया था। इस प्रश्न के हल के लिये बीजगणितीय प्रकृति से दस ज्ञात अनुकल अपेक्षित हैं। इस प्रश्न का समीकरण १८ वर्गों की संहति का है, जिसे जोसेफ लुई लाग्रांज (Joseph Louis Lagrange) ने दस अनुकलों की सहायता, पातविलोपन (elimination of nodes) तथा कालविलोपन (elimination of time) के छह वर्गों के समीकरण में सीमित कर दिया था। परुष दशा (rigorous case) में इससे अधिक लाघव (reduction) संभव नहीं था। ऐसी दशा में, जिसमें एक काय का द्रव्यमान अत्यल्प मान लिया जाय और वह ऐसे दो द्रव्यमानों के क्षेत्र में गतिशील हो जो वृत्ताकार कक्षाओं में भ्रमण करते हो, समस्या सीमित हो जाती है और इसका हल सरल है। व्यापक रूप में तीन कायों के प्रश्न का हल मिल सकता है, जिसे संसृत घात श्रेणियों में व्यक्त किया जा सकता है। इस विधि का के० एफ० सुंटमान ने प्रयोग किया था। 'न' कायों के प्रश्न में ग्रहों के परस्पर आकर्षण की तुलना में सूर्य का आकर्षण अधिक होता है। इसके कारण उत्तरोत्तर आसन्नीकरण (approximation) की विधि का प्रयोग किया जा सकता है। अन्य ग्रहों की उपस्थिति के कारण ग्रहकक्षाओं के दीर्घवृत्ताकार में होनेवाले विचलन क्षोभ (perturbations) कहलाते हैं। लाग्रांज ने ग्रहों के क्षोभों की गणना के लिये एक विधि निकाली थी। दीर्घवृत्ताकार कक्षा में छह स्थिरांक होते हैं, जिन्हें अवयव कहते हैं। क्षुब्ध कक्षा में इन छह अवयवों को काल का फलन माना जा

सकता है। लाग्राज की विधि से इन फलनो के अवकलजो के लिये वैश्लेषिक व्यजक आ जाते हैं, जिनके अनुकलन के लिये उत्तरोत्तर आसन्नीकरण की विधि का प्रयोग करना पडता है। छह अवयवों के अतिम रूप मे आवर्तक पद (periodic terms) और काल के अनुपाती पद अर्थात् तथाकथित दीर्घकालिक पद (secular terms) रहते हैं। क्षोभ के प्रश्न को हल करने की दूसरी विधि यह है कि सीधे नियामकों (co-ordinates) मे ही क्षोभो को निकाल लिया जाय। इस प्रचार की विधियो का लाप्लास (Laplace) तथा न्यूकॉम्ब (Newcomb) ने प्रयोग किया था।

नेप्चून का आविष्कार ग्रहगति के सिद्धात की महत्वपूर्ण सफलता है। जे० सी० ऐडम्स (Adams) तथा यू० जे० जे० लेवेरियर (Leverrier) ने यूरेनस ग्रह की गति के क्षोभो का विचार करते समय सिद्धात रूप से इसकी सत्ता तथा आकाश मे इसकी स्थिति की भविष्यवाणी की थी।

चद्रमा तथा व्यापक रूप मे उपग्रहो की गति ग्रहो की गति से भिन्न है। इनमे पहली गति पिछली से बहुत द्रुत है। अत. जिस प्रकार ग्रहो के सिद्धात में काल क्षोभ के पदो के गुणक रूप मे आता है, वैसा नही होने दिया जा सकता। इसलिये ऐसे सिद्धात के निर्माण की आवश्यकता है जो इस दोष से रहित हो। उपग्रहो की गति के विवेचन के लिये चद्रमा का सिद्धात सर्वोत्तम है। यह प्रयत्न किया गया है कि चद्रमा के सिद्धातो मे प्रयुक्त अधिक शुद्ध विधियों का ग्रहगति के प्रश्नो मे प्रयोग किया जा सके।

न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण नियम द्रव्यकणो के लिये विहित है। खगोलीय यात्रिकी की समस्याओ मे आकाशीय पिडो को सामान्यत विदु-द्रव्य-मान से व्यक्त किया जाता है। सात काय, जिनका द्रव्यमान गोलीय सममिति से बँटा है, एक दूसरे को इस प्रकार आकर्षित करते है मानो तुल्य-मान के द्रव्यकण केंद्र में निहित हों। किंतु आकाशीय पिंड गोलाकार नही है। दूरी बढने से गोलाकार न होने के प्रभाव का दोष इस प्रकार कम हो जाता है कि पर्याप्त दूरी पर स्थित दो कायो की दशा मे गोलाकार न होने का प्रभाव महत्वपूर्ण नही होता। यदि दो काय परस्पर निकट हों, जैसे शनि तथा उसका सबसे भीतरी उपग्रह हे, तो इसका प्रभाव काफी दृश्य होता है।

यह अच्छी तरह ज्ञात हो चुका है कि न्यूटन का विश्वव्यापी गुरुत्वाकर्षण नियम तथा तीन गतिनियम आसन्न रूप मे शुद्ध है। शुद्ध गतिनियम तो सापेक्षवाद ही प्रस्तुत करता है, तथापि ज्योतिष की अधिकाश समस्याओ मे आपेक्ष शोधन अति न्यून होते है। बुध के रविनीच की गति मे आपेक्ष प्रभाव काफी दृश्य होता हे और इसे वेध द्वारा भी पुष्ट किया जा चुका है। खगोलीय यात्रिकी में प्राय अपनाई जानेवाली विधि यह है कि पहले न्यूटन के सिद्धातो मे गणना कर ली जाती है तथा बाद मे आपेक्ष प्रभावो के लिये उपयुक्त शोधन कर दिया जाता है।

स० ग्र०—१. एच० सी० प्लूमर डाइनैमिकल ऐस्ट्रॉनोमी। २. एफ० आर० मोल्टन . ऐन इट्रोडक्शन टु सिलेस्चियल मिकैनिक्स।
(स्व० र० रा०)

खगोलीय फोटोग्राफी लुई डागेयर (Louis Daguerre) द्वारा सन् १८३९ मे फोटोग्राफो का आविष्कार होने के उपरात २३ मार्च, १८४० को न्यूयार्क के जॉन विलियम ड्रेपर (John W Draper) ने २० मिनट का उद्भासन देकर चद्रमा का फोटो लिया। किसी खगोलीय पिंड का यह प्रथम फोटो चित्र था। इसके लगभग साढे नौ वर्ष बाद, १८ दिसबर, १८४९ को, बोस्टन के कुछ उत्साही फोटोग्राफरों ने एक नई विधि का अनुसरण कर चद्रमा का एक अत्यत उत्कृष्ट फोटो लिया। इस प्रयास ने खगोलीय फोटोग्राफी के प्रति ज्योतिर्विदो को आकर्षित किया। इग्लैंड और अमरीका के कई ज्योतिर्विदो एव फोटोग्राफरों के संयुक्त प्रयास से चंद्रमा के अनेक चित्र लिए गए।

नक्षत्रों का फोटोचित्र लेने की दिशा मे हार्वर्ड वेधालय अग्रणी बना। अभिजित नक्षत्र (Vega) का एक चित्र १७ जुलाई १८५० को लिया गया। उत्कृष्ट साधनो के अभाव मे वह चित्र संतोषजनक नही हो सका। मार्च, १८५८ मे रॉयल सोसायटी की ओर से क्यू वेधालय (Kew Observatory) मे ड ला र्‍यू (De la Rue) के निर्देशन मे सूर्य के कई चित्र लिए गए और तब से सुदूरस्थ, ज्योतिर्मय, आकाशीय पिंडों के चित्र लेने के प्रयास निरतर होते रहे। फूको (Foucault) तथा फिज़ो (Fizeau) ने १८५१ तथा १८५४ मे और सिराक्यूज के ए० बधुओं (A. brothers) द्वारा २२ दिसबर, १८७० को सूर्यग्रहण तथा रक्तज्वालाओ, सूर्यमुकुट (Corona) इत्यादि के अत्यंत सफल फोटो चित्र लिए गए।

सन् १८७० मे कैप्टेन ऐब्नी (Capt W de W. Abney) ने एक विशेष प्रकार के फोटोग्राफिक पायस (emulsion) का आविष्कार किया जो लाल रग के प्रकाश के लिये अत्यत सुग्राही था। उस पायस से युक्त पट्टिका पर उन्होने वर्णक्रम (spectrum) के अवरक्त (infra-red) क्षेत्र मे सूर्य का एक स्पष्ट चित्र प्राप्त किया। ऐब्नी का आविष्कार खगोलीय फोटोग्राफी के क्षेत्र मे सचमुच एक क्राति थी। इसी के द्वारा सन् १८७०–७४ मे डा० गाउल्ड (Gould) ने दक्षिणी गोलार्ध के अनेक प्रमुख युग्म (binaries) तारो के चित्र लिए। इसके बाद विलियम हिगिंज़ (William Higgins) ने आधुनिक श्लेप-पट्टिका (gelatine plates) का आविष्कार किया, जिसने खगोलीय फोटोग्राफी की पद्धति को भी सामान्य फोटोग्राफी की ही भाँति सुगम एव आडबरहीन बना दिया। फिर तो असंख्य छोटे बडे नक्षत्रो, धूमकेतुओ एव उल्काओ के चित्र लिए जाने लगे। इग्लैंड के ऐंसली कामन (Anslie Common) ने ३० जून, १८८३ को ओरायन नीहारिका का एक अत्यंत उत्कृष्ट चित्र प्राप्त किया, जिसके लिये उन्हें रायल सोसायटी का स्वर्णपदक मिला। खगोलीय फोटोग्राफी के यंत्रो, उपकरणो एव फोटोग्राफिक पायसो तथा फोटो पद्धतियो मे अत्यत द्रुत गति से सुधार एव विकास होते रहे और आज यह अपने विकास की प्रौढता को प्राप्त कर सकी हे। अब तो फोटोग्राफी की सहायता से असंख्य आकाशगगीय (galactic) तथा पार-आकाशगगीय (extra-galactic) नीहारिकाओ के चित्र लिए जा चुके हैं, जिनसे ब्रह्माड के विस्तार एव रचना के संबंध मे ज्ञानकोष की निरंतर अभिवृद्धि हो रही है।

नक्षत्रों के कातिमानो (magnitudes) तथा ग्रहो के धरातल एव परिवर्ती वायुमडल की रचना तथा विशेषताओ के अध्ययन के हेतु वर्ण-फोटोग्राफी का भी प्रयोग किया जाता है। यह ज्ञातव्य है कि कोई नक्षत्र सभी रगो के लिये समान रूप से दीप्तिमान् नही होता। इसलिये विभिन्न प्रकार के फिल्टरो और फोटोग्राफिक पायसो का योग कर विभिन्न वर्णो के क्षेत्र मे उनका कातिमान ज्ञात किया जाता है। इससे उनकी रचना, ताप, धरातल, घनत्व तथा वायुमडल आदि के सबध मे अनेक अमूल्य जानकारियाँ प्राप्त होती है। सन् १९२४ मे मगल के तथा १९२७ में वृहस्पति के जो फोटोचित्र लिक (Lick) वेधालय की ओर से डब्ल्यू० एच० राइट (W H. Wright) ने वर्णपट के अवरक्तक्षेत्र मे लिए थे, उन चित्रो की वृहस्पति के सामान्य विधि से लिए गए फोटो चित्रो से तुलना करने पर जो विशेष अतर अथवा विभिन्नता दृष्टिगोचर हुई उससे इन पिंडो के धरातल एव वायुमडल के बारे मे महत्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त हुई। सूर्य के धब्बे (सौर कलक, sun spots), सौर वर्णपट इत्यादि के चित्रो का अध्ययन करने पर उन कलको में चुबकीय क्षेत्रो का अस्तित्व तथा सूर्य मे हीलियम, सोडियम आदि तत्वो की प्रचुरता का पता चला है।

खगोलीय पिंडो के अध्ययन मे फोटोग्राफी का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि फोटोपायस (photographic emulsion) की प्रकाश ग्रहण करने की क्षमता के कारण अत्यंत मद ज्योतिवाले पिंडो का भी स्पष्ट चित्र पर्याप्त उद्भासन देकर प्राप्त किया जा सकता है। दूसरा यह कि फोटोग्राफ द्वारा प्राप्त चित्र स्थायी होते है और उन्हे सूक्ष्म अध्ययन के हेतु सुरक्षित रखा जा सकता है। अत्युक्ति न होगी यदि कहा जाय कि फोटोग्राफी की कला के अभाव मे आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान का विकास इतनी दूर तक कभी सभव न होता।

सामान्यतया फोटोग्राफ किए जानेवाले आकाशीय पिंड दो प्रकार के होते हैं। तारों या नक्षत्रों सदृश विंदुवत् तथा ग्रहों, चंद्रमा, सूर्य अथवा नीहारिकाओं (nebulae) सदृश विस्तृत। विशद ज्योतिषीय अध्ययन के लिये खगोलीय पिंडों से आनेवाले प्रकाश के वर्णचित्र (spectrum) का भी फोटो लेना पड़ता है। इन सब फोटोग्राफों से निम्नलिखित महत्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त होती हैं : (१) लक्ष्य आकाशीय पिंडों के धरातल तथा वायुमंडल आदि की रचना और उन पिंडों के रूप एवं उनकी भौतिक दशाएँ तथा (२) विभिन्न पिंडों के ज्योति एवं दीप्तिमानों की तुलनात्मक जानकारी।

खगोलीय फोटोग्राफी की प्रक्रिया सामान्य फोटोग्राफी-से बहुत कुछ भिन्न होती है, क्योंकि इसे कुछ ऐसी समस्याओं का समाधान करना पड़ता है जो सामान्य फोटोग्राफी द्वारा नहीं हो सकती। इनमें से कुछ ये हैं : (१) आकाशीय पिंडों की दूरी बहुत ही विशाल होती है और पृथ्वी के समीपस्थ तारों को छोड़कर शेष कोरी आँखों से नहीं दिखलाई पड़ते। इस कारण उन तारों के चित्र सामान्य कैमरों से नहीं खींचे जा सकते। (२) बहुत से तारे हमसे अपरिमित दूरी पर होने के कारण परस्पर अत्यंत पास पास अथवा सटे सटे से दिखलाई पड़ते हैं, यद्यपि उनके बीच की दूरी अरबों, खरबों मील से भी कहीं अधिक होती है। इसके अतिरिक्त द्विदैहिक या 'युग्मक' तारों (binaries) की भी अत्यधिक संख्या आकाश में छिटकी पड़ी है। सामान्य कैमरे से उन्हें पृथक् कर सकना संभव नहीं होता, क्योंकि इन कैमरों के लेंसों की विभेदनक्षमता (resolving power) अत्यंत सीमित होती है। (३) सुदूरस्थ तारों की मंदता के कारण पर्याप्त दीर्घकालिक उद्भासन (exposure) देना पड़ता है, जो कभी कभी कई घंटों तक का होता है। पृथ्वी के दैनिक घूर्णन के कारण आकाशीय पिंड पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इसलिये इनका फोटोचित्र लेने के लिये आवश्यक है कि कैमरे का अभिदृश्यक (objective) भी उन्हीं की गति से उसी दिशा में घूमता रहे।

इन समस्याओं का समाधान करने के हेतु खगोलीय फोटोग्राफी में व्यवहृत होनेवाले कैमरे में एक दूरदर्शी लगा होता है, जो आकाशीय पिंडों से आनेवाली प्रकाशरश्मियों को फोटोपट्टिका पर अभिसृत करता है। यह फोटो प्लेट दूरदर्शी के नेत्रक (eye-piece) के स्थान पर और अभिदृश्यक के फोकस-तल (focal plane) पर लगा होता है। ऐसे दूरदर्शी के लिये अभिदृश्य का चयन पूर्व उद्देश्य को ध्यान में रखकर किया जाता है। आकाशीय पिंडों की धूमिलता के कारण द्रुत कैमरे का ही प्रयोग किया जाता है। किसी विंदुवत् वस्तु का फोटो लेनेवाले
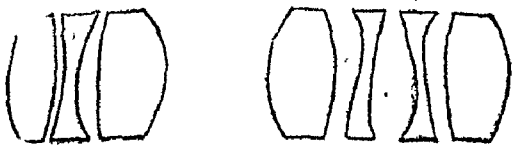
चित्र १. अभिदृश्यक

बाईं ओर तीन लेंसयुक्त वस्तुताल तथा दाहिनी ओर चार लेंसयुक्त वस्तुताल का अभिदृश्यक।

कैमरे की क्षिप्रता (speed) अभिदृश्यक के द्वारक या छिद्रद्वार (aperture) पर निर्भर करती है, किंतु विस्तृत वस्तु के लिये क्षिप्रता अभिदृश्यक के छिद्रांक (aperture number), अर्थात् ताल के संगमांतर (focal length) और छिद्र की निष्पत्ति पर निर्भर करती है। बिंब के उच्च विभेदन (high resolution) के लिये अधिक नाभ्यंतरवाले अभिदृश्यक की आवश्यकता पड़ती है। इस कारण कैमरे की क्षिप्रता एवं दूरदर्शी के आकार में उचित आनुपातिक संबंध को ध्यान में रखना पड़ता है।

तारों की स्थितियों एवं गतियों का मापन करने के हेतु दीर्घ नाभिवर्तक (long focus refractors) या खगोल रेखाचित्रक (astrographs) का प्रयोग किया जाता है, जो उत्तम बिंब उत्पन्न कर सकते हैं। इन वर्तकों के दूरदर्शियों द्वारा आवृत दृष्टिक्षेत्र (field of vision) साधारणतया कम होता है, अर्थात् उनमें आकाश के केवल छोटे से भाग का ही स्पष्ट बिंब बन सकता है। इसके अतिरिक्त, लेंस द्वारा बननेवाला बिंब 'चपटा', अर्थात् पट्टिका पर सर्वत्र एक सी तीव्रतावाला नहीं होता वरन् उसकी तीव्रता दृष्टिक्षेत्र के केंद्र पर सर्वाधिक होती है तथा उससे परे क्रमशः द्रुत गति से घटती जाती है। खगोलीय फोटोग्राफी में यह विपथन (aberration) गंभीर त्रुटि का कारण हो सकता है। इन सब कठिनाइयों का परिहार करने के लिये अभिदृश्यक की रचना कई लेंसों के संयोग द्वारा की जाती है। ऐसे अभिदृश्यक युक्त कैमरे को विस्तृतक्षेत्र कैमरा (wide-Field camera) कहते हैं। हैंबर्ग वेधशाला के वैज्ञानिक बर्नहार्ड श्मिट ने सन् १९३० में ऐसे कैमरे का सर्वप्रथम निर्माण किया और रूस के डी० टी० माक्सुतोव (D. D. Maksntov) तथा हालैंड के ए० बॉवर्स (A Bouwers) द्वारा सन् १९४० में स्वतंत्र रूप से उसमें कुछ सुधार किए गए। साधारण तौर पर मास्कुतोव प्रणाली दीर्घ संगमांतरों के लिये तथा श्मिट प्रणाली लघु संगमांतरों के लिये उपयुक्त है। इन कैमरों का दृष्टिक्षेत्र ६०° या
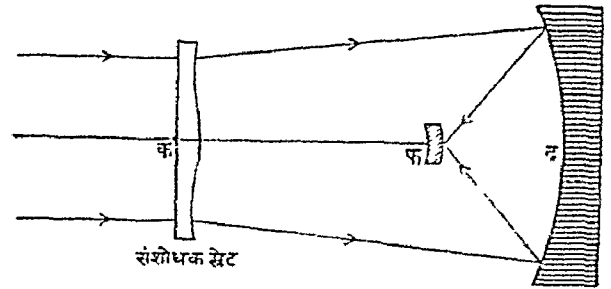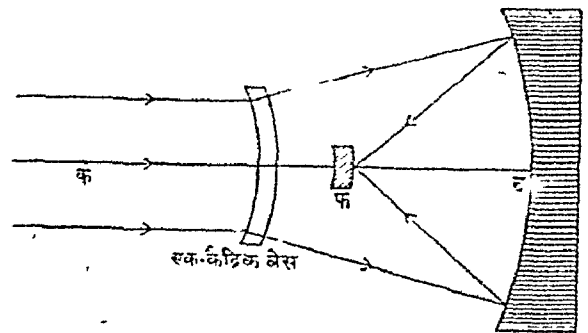
श्मिट प्रणाली

चित्र २. माक्सुतोव प्रणाली

क. दर्पण द का वक्रताकेंद्र; द. अवतल दर्पण तथा फ. फोटो पट्टिका।

इससे भी कुछ अधिक होता है और इनसे एक साथ ही आकाश के काफी विस्तृत भाग का पर्यवेक्षण किया जा सकता है। श्मिट प्रणाली का सर्वोत्कृष्ट व्यावहारिक रूप बेकर-नन (Baker-Nunn) कैमरा है, जो कृत्रिम ग्रहों, उपग्रहों तथा उल्काओं (meteors) के पथों को अंकित करने के लिये बनाया गया है। इसमें प्रकाश एकत्र करने की क्षमता बहुत अधिक होती है, जिसके कारण अत्यंत अल्पावधिक उद्भासन से लगभग ५५° दृष्टिक्षेत्र का अत्यंत स्पष्ट चित्र प्राप्त होता है।

खगोलीय कैमरे का आरोपण (mounting)—पृथ्वी के घूर्णन के कारण गतिमान् प्रतीत होनेवाले आकाशीय पिंडों का चित्र लेने के लिये कैमरे के दूरदर्शी को इस प्रकार आरोपित करते हैं कि वह घटीयंत्र (clock work) की सहायता से पिंडों की आभासी गति की दिशा में चलता रहे, जिससे उद्भासन काल में वस्तु से आनेवाली

किरणें फोटो पर बिंब के स्थान पर ही पड़ती रहें और इस प्रकार बिंब पट्टिका पर 'जमा' रहे। इसके लिये कैमरे को एक विशेष विधि से आरोपित कर देते हैं जिसे 'विषुवत् आरोपण' (equatorial mounting) कहते हैं। इसमें दो परस्पर लंबवत् घूर्णाक्ष (axes of rotation) होते हैं—एक तो पृथ्वी के अक्ष के समांतर, जिसे ध्रुवीय अक्ष कहते हैं और दूसरा इसके लंबवत्, जिसे दिक्पात अक्ष (declination axis) कहते हैं। सर्वप्रथम दूरदर्शी को किसी विद्युन्मोटर द्वारा खगोलीय विषुवत् वृत्त (celestial equator) के उत्तर या दक्षिण की ओर लक्ष्य तारे के दिक्पात के बराबर घुमाते हैं और क्रांति कोण यंत्र को इस प्रकार क्लैंप (शिकंजे) में कस देते हैं कि वह उत्तर या दक्षिण की ओर हट बढ़ न सके। इस कारण अब दूरदर्शी केवल विषुवत्वृत्त के ही समांतर घूम सकता है। यही वह रेखा होगी जिसपर वह तारा चलता हुआ आभासित होगा। कैमरे से संबद्ध घटीयंत्र दूरदर्शी को ध्रुवीय अक्ष के चारों ओर इस गति से घुमाता है कि उसका एक चक्कर एक नाक्षत्र दिवस (sidereal day) में पूरा होता है। चूंकि पृथ्वी के घूर्णन के कारण आकाशीय पिंड पूर्व से पश्चिम की ओर गतिमान् प्रतीत होते हैं, इसलिये दूरदर्शी की भी गति उसी दिशा में होती है। ध्रुवीय अक्ष से लगे हुए एक अंशांकित वृत्त पर दूरदर्शी का घुमाव पढ़कर यह ज्ञात किया जा सकता है कि दूरदर्शी किसी क्षण आकाश में किस दिशा की ओर संकेत कर रहा है।

इतनी सारी व्यवस्था करने पर भी एक अत्यंत महत्वपूर्ण समस्या का समाधान शेष रह जाता है। कोई तारा ज्यों ज्यों क्षितिज की ओर बढ़ता है, उसके प्रकाश की किरणों को दूरदर्शी तक पहुँचने के लिये क्रमश: अधिकाधिक वायुमंडलीय दूरी पार करनी पड़ती है। चित्र ३ में देखने
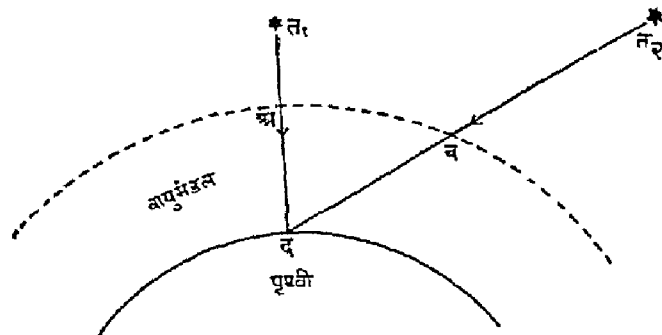
चित्र ३

से यह स्पष्ट होगा कि जब कोई तारा त₁ स्थिति में होता है तो पृथ्वी तल पर द स्थान पर स्थित दूरदर्शी तक उसकी प्रकाशरश्मियाँ वायु में अ द दूरी पार करके पहुँचती हैं, किंतु जब वह तारा त₂ स्थिति में आता है तो प्रकाशरश्मियों को वायु में ब द दूरी पार करनी पड़ती है, जो अपेक्षाकृत अधिक है। इसलिये वायु द्वारा प्रकाश की किरणों में होनेवाले वर्तन (refraction) की मात्रा निरंतर बदलती रहती है। इस कारण किरणों के पथविचलन के लिये संशोधन करने की कोई यांत्रिक अथवा स्वचालित व्यवस्था संभव नहीं हो सकती। इसलिये प्रेक्षक को एक अन्य दूरदर्शी से तारे को देखते रहना पड़ता है और उसकी सहायता से कैमरे के दूरदर्शी को हाथ से घुमाकर इस प्रकार समयोजित करना पड़ता है कि किरणें फोटो पट्टिका पर बिंब के स्थान पर ही एकत्र होती रहें।

(सु० च० गो०)

खजुराहा, खजुराहो मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले का एक ऐतिहासिक स्थान जो छतरपुर नगर से २५ मील दूर स्थित है (स्थिति : २४° ५१' उ० अ० तथा ७९° ५६' पू० दे०)। इसका शुद्ध नाम खजुराहा है, किंतु बुंदेलखंडी भाषा की ध्वनि की दीर्घता के कारण यह सुनने में खजुराहो सदृश लगता है। परिणामस्वरूप लोग इसे खजुराहो ही कहने लगे हैं और साहित्य में लोग इसी रूप में लिखते हैं। किंतु यह अशुद्ध है।

(प० ला० गु०)

यह चंदेलों की प्रारंभिक धार्मिक राजधानी थी। चंदेलों का शासन काल ९वीं सदी के प्रारंभ से किसी न किसी रूप में १३वीं सदी के अंत तक रहा। प्रारंभ में ये प्रतीहारों के सामंत थे, किंतु १०वीं सदी के पूर्वार्ध में हर्ष और यशोवर्मन् के शासनकाल में चंदेलों ने पर्याप्त शक्ति अर्जित की और व्यावहारिक रूप से स्वतंत्र हो गए। धंग (९५०-१००२), विद्याधर (१०१७-२९), कीर्तिवर्मन् (१०७०-९८) और मदनवर्मन् (११२९-६३) इस वंश के दूसरे प्रतापी शासक थे। अलबरूनी (११वीं सदी) और इब्नबतूता (१४वीं सदी) ने क्रमश: 'कजुराहा' और 'काजुर' या 'कजरी' नाम से इसका उल्लेख किया है। अभिलेखों से ज्ञात इसका प्राचीन नाम 'खर्जूरवाहक' था। खजुराहा के चारों ओर खेतों में फैली हुई गिट्टियों एवं छोटे छोटे टीलों से उसका प्राचीन समय में विशाल नगर होना स्पष्ट है, किंतु उसके प्राचीन वैभव के स्मारक वहाँ के चंदेलयुगीन विश्वविख्यात कलापूर्ण मंदिर हैं, जिन्हें देखने देश और विदेश के सहस्रों लोग आते हैं।

स्थानीय परंपरा के अनुसार यहाँ लगभग ८५ मंदिर थे, किंतु आज उनमें केवल २५ विभिन्न दशाओं में सुरक्षित हैं। इनमें चौसठ योगिनी शाक्त, चित्रगुप्त सौर, ब्रह्मा, वराह, देवी, लक्ष्मण, देवी जगदंबा, जवारी, वामन, खाखरामठ और चतुर्भुज मंदिर वैष्णव, ललगवाँ महादेव, विश्वनाथ, कंडरिया महादेव, दूलादेव, मतंगेश्वर, पार्वती तथा महादेव मंदिर शैव हैं। घंटई, पार्श्वनाथ, आदिनाथ तथा इन्हीं के समीप के दो अन्य छोटे छोटे मंदिरों का संबंध जैन धर्म से है। इन मंदिरों के समय के संबंध में अब तक यह मान्यता रही है कि ९५० ई० और १०५० ई० के बीच लगभग १०० वर्षों में इनका निर्माण हुआ, किंतु हाल के शोधों से इनका समय ९वीं सदी के मध्य से १२वीं सदी के मध्य तक ठहरता है, जो सत्य के अधिक समीप है।

स्थापत्य के विकास की दृष्टि से मोटे तौर से इन मंदिरों के दो वर्ग हो सकते हैं—चौसठ योगिनी, ललगवाँ महादेव, ब्रह्मा, मतंगेश्वर एवं वराह का पहला तथा शेष मंदिरों का दूसरा। शिखर की शैली की दृष्टि से पुन: इनके दो वर्ग हो सकते हैं। पहले वर्ग के, चैत्यगवाक्ष से अलंकृत, स्वरूप में सादे हैं, दूसरे वर्ग के वे हैं जो अनेक अंगशिखरों से युक्त होने के कारण अधिक सुंदर हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार सादे शिखरवाले मंदिर अंगशिखरवालों से पूर्व के हैं, किंतु वास्तव में इनके बीच समय की ऐसी रेखा खींचना समीचीन नहीं है। साधारण शिखरवाले सभी और अंगशिखरों से अलंकृत कुछ मंदिर निरधार (बिना प्रदक्षिणापथवाले) और शेष पार्श्वनाथ, लक्ष्मण, विश्वनाथ और कंडरिया महादेव साधार (प्रदक्षिणापथवाले) हैं। मूलत: सभी साधार मंदिर पंचायतन थे, किंतु केवल लक्ष्मण के चारों और विश्वनाथ मंदिर के दो सहायक मंदिर सुरक्षित हैं। विकसित मंदिरों में लक्ष्मण मंदिर ही सर्वाधिक सुरक्षित है यद्यपि स्थापत्य का चरम परिष्कार कंडरिया महादेव में उपलब्ध है।

प्रारंभिक मंदिरों के निर्माण में ग्रैनाइट और बलुए पत्थर का मिश्रित रूप से और परवर्ती विकसित मंदिरों में पन्ना के समीप की खदानों से प्राप्त अच्छी कोटि के केवल बलुए पत्थर का प्रयोग हुआ है। विकसित मंदिरों के मुख्य अंग गर्भगृह, अंतराल, महामंडप, मंडप तथा अर्धमंडप हैं जिनका निर्माण अलग अलग न होकर सुसंबद्ध इकाई के रूप में किया गया है। बड़े मंदिरों में गर्भगृह के चारों ओर आच्छादित प्रदक्षिणापथ है। वायु और प्रकाश के लिये प्रदक्षिणापथ में तीन तथा महामंडप के पार्श्वों में दो बालकनीदार स्तंभयुक्त वातायन (कक्षासन) हैं। मंडप और अर्धमंडप, दोनों के पार्श्वों में एक छोर से दूसरे छोर तक इसी प्रकार के कक्षासन बने हैं। विशाल महामंडप की छत को सँभालने के लिये बीच में एक साधारण चत्वर पर चार अलंकृत स्तंभों की व्यवस्था है। मंदिर विस्तृत एवं उच्च जगती पर खड़े प्रतीत होते हैं जिनका निर्माण वास्तव में उनके चारों ओर बाद में किया गया है। पंचायतन मंदिरों का मुख्य मंदिर जगती के बीच में तथा चार सहायक मंदिर चारों कोनों पर निर्मित है। केवल लक्ष्मण मंदिर की जगती अपने मूल रूप में सुरक्षित है। जिनसे ज्ञात होता है कि जगती पर गोले, गलतो (मोल्डिंग्स) तथा अभियान, मृगया

आदि के सजीव एवं गतिमान् दृश्यों से उत्कीर्ण पट्टियों का अलंकरण होता था। सभी मंदिर नीचे से ऊपर तक प्रचुर रूप से अलंकृत हैं। अधिष्ठान (बेसमेंट) पर गोलों, गलतों एवं पट्टियों की सजावट है। अधिष्ठान के ऊपर महामंडप और गर्भगृह की भित्तियों पर एक के ऊपर एक, दो या तीन तीन पंक्तियों में नियोजित मूर्तियों का मनोज्ञ अलंकरण है। कोर्निस (वरंडिका) के ऊपर प्रत्येक भाग पर स्वतंत्र शिखर हैं जो आगे अर्धमंडप से लेकर पीछे गर्भगृह के मुख्य शिखर तक क्रमशः ऊँचे होते गए हैं। मूल शिखर की ऊर्ध्वगामिनी रेखाएँ अटूट प्रवहमान हैं किंतु अन्य भागों के ऊपर के शिखर संवरणा प्रकार के हैं जो क्रमशः ऊपर की ओर पीछे खिसकते गए शिलापट्टों से बने हैं। प्रत्येक शिखर की समाप्ति आमलक, कलश, बीजपूरक में होती है। मंदिरों का भीतरी भाग भी अलंकृत है जिसमें महामंडप के स्तंभों के शीर्षभाग की अप्सरा मूर्तियाँ तथा सुघड़ कटाईवाले वितान (सीलिंग) नितांत कमनीय हैं। सांधार मंदिरों में प्रदक्षिणापथ तथा गर्भगृह दोनों की दीवालों पर मूर्तियों का अलंकरण है। तीन मंदिरों के अतिरिक्त सभी पूर्वाभिमुख हैं। इनके प्रवेशद्वार मकरतोरण से सुसज्जित हैं।

मूर्ति अलंकरण के प्राचुर्य की दृष्टि से खजुराहा के देवमंदिर बेजोड़ हैं। मंदिर की दीवालों पर उद्‌गमों (प्रोजेक्शन) एवं अंतरितों (रिसेस) पर सैकड़ों की संख्या में गढ़ी गई मूर्तियाँ, विभिन्न मुद्राओं की कमनीयता, स्वरूप की सजीवता एवं भावपूर्णता की दृष्टि से कला की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। इनमें देवताओं, नायिकाओं, मिथुनों, अप्सराओं एवं नागकन्याओं की मूर्तियाँ उद्‌गमों तथा विभिन्न काल्पनिक रूपों में शार्दूल मूर्तियाँ अंतरितों में सजाई गई हैं। नाना प्रकार की चेष्टाओं एवं क्रियाओं में रत अप्सरा और मिथुन मूर्तियाँ कला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट हैं। कला और स्वरूप की दृष्टि से खजुराहो की नारी मूर्तियाँ दो वर्गों में विभाज्य हैं। प्रथम वर्ग की उन्नत नासिका और लंबे मुखवाली मूर्तियाँ गुप्त युग की क्रमिक परंपरा में गढ़ी गई हैं, जिनमें शरीर की ससारता और निष्पाप सौंदर्य गोचर होता है। दूसरे वर्ग की मूर्तियों में कलाकार ने संभवतः अपने चारों ओर सुलभ नारी सौंदर्य को मूर्त रूप दिया है जो अपनी कमनीय देहयष्टि, एवं वासनास्निग्ध लावण्य की दृष्टि से अनोखी हैं। इनमें से अनेक मूर्तियों को अतिभंग की दुरूह मुद्राओं में गढ़कर मानों तक्षक ने अपने कौशल की परीक्षा ली है। कुछ मिथुन एवं अन्य मूर्तियाँ अपने वाह्य स्वरूप में अश्लील आँकी गई हैं, जिनका संबंध कौल, कापालिक जैसे वासना को प्रश्रय देनेवाले संप्रदायों से जोड़ा गया है। किंतु यह विचार भ्रांत है। साहित्यिक, अभिलेख एवं मूर्तिपरक साक्षी इसके विरोध में बैठती है। मिथुन मूर्तियों का अंकन परंपरागत है, किंतु पुरुष की उदासीनता और नारी की निस्संकोच चेष्टा एवं संतृप्ण याचना खजुराहो की मिथुन मूर्तियों की अपनी विशेषता है। देवी जगदंबा मंदिर पर के एक मिथुन में मानों मूर्तिकार ने देव सौंदर्य की कल्पना की हो। शेष मूर्तियों के एक वर्ग में समसामयिक सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों का यथार्थ चित्रण कर जनचेतना को सजग करने का प्रयास किया गया है। कला की दृष्टि से ये मूर्तियाँ उत्कृष्ट कोटि की हैं, जिनमें मानसिक विकार की विभिन्न अवस्थाओं का सूक्ष्म और सफल अंकन है। ये नितांत गतिपूर्ण और प्राणवान् हैं।

इन सहस्रों मूर्तियों में देवमूर्तियों की भी यथेष्ट संख्या है जो शैव, वैष्णव एवं जैन अर्चाशास्त्र के अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं। पार्श्वनाथ जैनमंदिर पर हिंदू देवताओं एवं रामायण तथा भागवत के दृश्यों का अंकन रोचक है। जैन तीर्थंकरों के अतिरिक्त इन मंदिरों से प्राप्त यक्षिणी मूर्तियाँ जैन अर्चाशास्त्र की एक नई परंपरा प्रकाश में लाती हैं।

प्रायः सभी मंदिरों के कोनों पर नीचे की मूर्तिपंक्ति में अष्ट दिक्पालों की और उनके ऊपर गोमुख नंदीश्वर की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। कुछ सांधार मंदिरों के अधिष्ठान पर बनी रथिकाओं में चामुंडा, ब्राह्मणी आदि सप्तमातृकाओं की मूर्तियाँ गणेश और दुर्गा या गणेश और वीरभद्र की मूर्तियों के साथ बनी हैं। शेष मूर्तियों को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है : शैव, वैष्णव और संयुक्त। प्रथम वर्ग में शिव की साधारण एवं कल्याणसुंदर, उमामहेश्वर, अंधकासुरसंहारक, नटराज आदि रूपों में मूर्तियों के साथ गणेश, कार्तिकेय, दुर्गा आदि की विभिन्न मुद्राओं में अंकित मूर्तियाँ हैं। वैष्णव मूर्तियों में विष्णु को आयुधक्रम से विभिन्न मूर्तियों, दशावतारों, लक्ष्मी, गजेंद्रमोक्ष आदि के अंकन संमिलित हैं। तीसरे वर्ग में वे मूर्तियाँ हैं जिनमें दो या दो से अधिक देवताओं का संयुक्तरूप से अंकन किया गया है, जैसे हरिहर, अर्धनारीश्वर, सदाशिव, वैकुंठ, अनंत हिरण्यगर्भ आदि। इनमें छह मुखों, चार पैरों और बारह हाथोंवाली, सदाशिव की मूर्ति बड़ी रोचक है जिसमें शिव के साथ ब्रह्मा और विष्णु को संयुक्त रूप से अंकित किया गया है, जैसा त्रिदेवों के नंदी, हंस एवं गरुड़ वाहनों के अंकन से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा, सूर्य, नवग्रह, योगिनी आदि की अन्य रोचक मूर्तियाँ हैं। ये सभी इस दृष्टि से भी खजुराहो के मंदिरों की संपन्नता सिद्ध करती हैं।

किंतु इन सबसे अधिक महत्व का इन देवमंदिरों का स्थापत्य है, जिसमें मंदिरवास्तु का चरम परिष्कार लक्षित होता है। अपने अंगों के संतुलन एवं सुसंबद्धता, अनुरूप कलापूर्ण अलंकरण के प्राचुर्य, तथा मुख्य शिखर के निखरे हुए स्वरूप की मनोज्ञता की दृष्टि से वे बेजोड़ हैं, जिन्होंने समसामयिक एवं परवर्ती वास्तु आंदोलनों को पर्याप्त प्रभावित किया है।

(ल० कां० त्रि०)

खजूर पामी (Palmae) कुल के अंतर्गत फीनिक्स (Phoenix) जाति की कई उपजातियों को प्रायः खजूर नाम दिया जाता है। इनमें फीनिक्स डैक्टिलिफेरा (P. dactylifera) और फीनिक्स सिल्वेस्ट्रिस (Sylvestris) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहला उत्तरी, अफ्रीका तथा दक्षिणी-पश्चिमी एशिया का देशज है और सिंध, पंजाब, बलूचिस्तान तथा कई अरब देशों में इसकी खेती की जाती है। इस विदेशी जाति के ताजे, पके फल को खजूर, पिंडखजूर, तमर या खुर्मा और पके, सूखे फल को छुहारा, खारिक अथवा डेट (Date) कहते हैं।
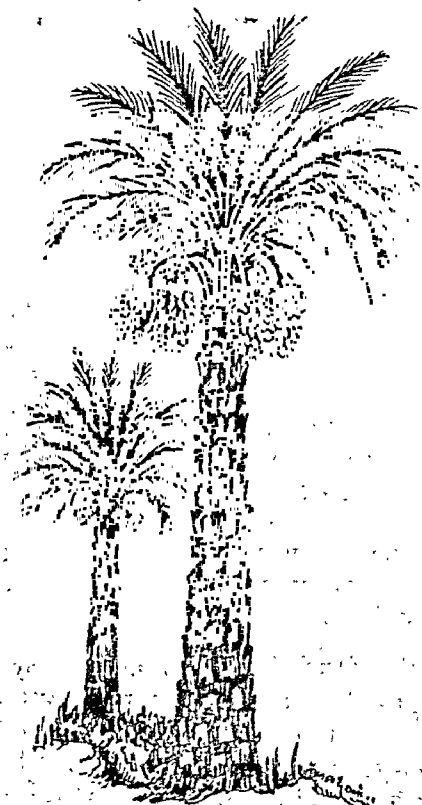
खजूर और उसका फल

दूसरी जाति का भारतीय खजूर भारत में अनेक जगह स्वयंजात, या लगाया हुआ, मिलता है। इसके फल भी पकने पर खाए

ताड़ी की तरह इससे निकलनेवाले खजूरी रस और उससे तैयार किए हुए मद्य तथा गुड़ का प्रचुर उपयोग होता है।

भारतीय खजूर के वृक्ष ३०–४० फुट ऊँचे होते हैं। इनका तना गिरी हुई पुरानी पत्तियों के कड़े पत्राधारों से ढका रहता है। पत्तियाँ १२–१५ फुट तक लंबी, पक्षाकार और पत्रक ६–१८ इंच तक लंबे तथा १ इंच तक चौड़े, गुच्छबद्ध तथा नीचेवाले काँटों में परिवर्तित होते हैं। पुष्प छोटे, एकलिंगी, अलग अलग सशाख मंजरियों में निकले हुए रहते हैं, जो आधार पर कड़े पत्रकोशों (Spathes) से ढकी रहती हैं। नर मंजरियाँ सघन, श्वेत और सुगंधित तथा नारी मंजरियाँ एवं उनमें लगनेवाले फल नारंग-पीत वर्ण के होते हैं। फल लगभग एक इंच बड़े, मधुर, परंतु अत्यल्प मज्जावाले होते हैं।

खजूर के फल का रस मधुर, गुरु, शीतल तथा क्षत, क्षतक्षय तथा रक्तपित्त को दूर करनेवाला होता है। छुहारा (सूखाफल) पौष्टिक, वाजीकर, उष्णताजनक और वातनाड़ी के लिये बलदायक होता है। खजूरी शीतल, मूत्रजनक और पौष्टिक होती है। सड़ाने से इसमें मद्य बनता और अम्लत्व उत्पन्न होता है। इससे खींचा हुआ मद्य दीपक, पाचक और उत्तेजक होता है। इसके रस से तैयार गुड़ गन्ने के गुड़ से अधिक पौष्टिक और मारक होता है। पत्तियों का उपयोग चटाई तथा टोकरियाँ बनाने में होता है। (ब० सिं०)

खट भारतीय संगीत का एक राग। इस राग में ऋषभ, धैवत, निषाद स्वर शुद्ध और कोमल दोनों ही लगते हैं। गंधार केवल कोमल लगता है। षड्ज व पंचम ये दोनों स्वर अचल हैं। तीसरा स्वर मध्यम और शुद्ध लगता है। इसका वादी स्वर पंचम और संवादी षड्ज है। इसमें आसावरी, सुहा, कानडा, सारंग, देशी, गांधारी व सुघराई राग रागिनियों का मिश्रण भी है। इस कारण इसका गान सहज नहीं कहा जाता। इसे भैरव राग का पुत्र कहा गया है और प्रातःकाल गेय है। (प० ला० गु०)

खटमल मैलेकुचैले, गंदे बिछौनों तथा चारपाइयों में पैदा होनेवाला एक ऊष्मज कीड़ा। यह मच्छरों के समान मनुष्य का रक्त पीकर जीवित रहता है। (स०)

खटाँव महाराष्ट्र के सतारा जिले का एक परगना (स्थिति : १७° १८'–१७°४८' उ० अ० तथा ७४°१४'–७४°५१' पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल ५०१ वर्गमील है। इसके अंतर्गत ५१ ग्राम हैं तथा एक भी नगर नहीं है। यहाँ की जनसंख्या २८१ मनुष्य प्रति वर्गमील है। परला नदी इसके उत्तरी भाग से निकलती है। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा २०" है। (रा० लो० सिं०)

खटिक उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में बसनेवाली एक जाति। समझा जाता है कि इसके मूल में संस्कृत खट्टिक शब्द है जिसका अर्थ कसाई अथवा व्याध होता है। किंतु उत्तर प्रदेश और बिहार के खटिक खेती करते और तरकारी तथा फल बेचने का कार्य करते हैं। महाराष्ट्र में सखार, बकरकसाब, चलनमहाराव एवं घोर मराव नामक इसकी उपजातियाँ कही जाती हैं। बकरकसाब मांस बेचने का काम करते हैं। (प० ला० गु०)

खटी तंत्र एवं खटी युग (Cretaceous System and Cretaceous Period) पृथ्वी के तृतीय भौमिक कल्प का एक युग। यह युग लगभग ११,५०,००,००० वर्ष पूर्व शुरू हुआ था और लगभग ५,५०,००,००० वर्ष पूर्व तक रहा। भौमिकों के अनुसार पृथ्वी का तृतीय कल्प तीन भागों में विभाजित है जिसमें खटी युग सबसे नवीन है। इस युग का नामकरण लैटिन शब्द क्रिटा के मूल से ओमेलियस डी हैलवा ने १८२२ ई० में किया था। क्रिटा का अर्थ खड़िया है, जो इस युग की शिलाओं में बहुतायत से मिलती है। खटी युग का प्रारंभ महासरट युग (Jurassic Period) के पश्चात् होता है। इन दोनों युगों के मध्य किसी प्रकार की असमरूपता नहीं है, जिससे विदित होता है कि इस युग के पहले पृथ्वी की भौमिक दशा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इसके विपरीत इस युग के अपराह्नकाल में अनेकों भौमिक उत्क्षेप, आग्नेय उद्गार आदि ऐसी परिवृत्तियाँ हुईं जिनसे भूपटल पर पर्याप्त असर पड़ा। यही कारण है कि खटी युग के निक्षेपों के समान विभिन्नता अन्य किसी युग में नहीं पाई जाती।

खटी युग के संस्तर (beds) संसार में कई स्थानों पर मिलते हैं जिनमें यूरोप, उत्तरी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, भारतवर्ष, उत्तरी चीन और अमरीका मुख्य हैं। इन संस्तरों में खड़िया मिट्टी, चूना पत्थर, बालू का पत्थर (sand stones) और काङ्‌ग्लोमरेट (conglomerate) विशेष हैं।

खटी युग के जीवाश्मों में शृंगाश्मगण (ऐमोनॉइड्स, Ammonoids), शल्याश्म प्रजाति (बेलेम्नाइट्स, Belemnites), पादछिद्रगति (फारामिनिफेरा, forminiera) और प्रवालों (Corals) का विशेष महत्व है, यद्यपि बाहुपाद (ब्रैकियोपाड्स, Brachiopods), फलकक्लोम (लैमेलिब्रैंक्स, Lamellibranchs), शल्यकंदुक वर्ग (एकिनॉयड्स, Echinoids) और स्पंज भी बहुतायत से मिलते हैं। मेरुदंडधारी जीवों में रेंगनेवाले वर्ग (उरग, Reptilia) के जीवों का अत्यधिक बाहुल्य इस युग में था। यहाँ तक कि जल, थल और आकाश तीनों स्थानों में इन जीवों का आधिपत्य था। स्तनपायी जीवों (Mammalia) का विकास अभी धीरे धीरे हो रहा था और वे कम संख्या में तथा छोटे होते थे। पौधों में कंगुताल (साइकेड्स, Cycads), शंकुधर (कोनिफर्स, Conifers) और पर्णांग (फर्न, fern) अधिक थे।

भारतवर्ष में इस युग का प्रादुर्भाव महासरट युग के स्पिटी शेल्स (Spiti shales) के उपरांत हुआ था। उत्पत्ति के आधार पर इस संस्थान के शैलसमूहों का विभाजन पाँच प्रकार का है. पहला वर्ग उन भूद्रोणी निक्षेपों का है जो हिमालय के स्पिटी प्रदेश से लेकर कुमायूँ, गढ़वाल और नेपाल तक फैले हैं। कश्मीर के खटी युग के संस्तर भी इसी वर्ग में आते हैं। दूसरा, महाद्वीपीय निक्षेप जो साल्ट रेंज, सिंध और बलूचिस्तान में मिलता है। तीसरा समुद्री उत्थान (Marine Transgression) से बने संस्तर, जो नर्मदा नदी की घाटी में ग्वालियर से बाघ तक और भारत के पूर्वी किनारों पर, मुख्यत. त्रिचनापल्ली में, मिलते हैं। चौथा वर्ग अक्षारीय जलजों का है, जो मध्य प्रदेश और जबलपुर में लैमेटा शैलसमूह के नाम से विख्यात है। पाँचवें वर्ग में वे आग्नेय शिलाएँ आती हैं जो दक्षिण सोपानाश्म (Deccan Trap) के अंतर्गत हैं और बंबई, हैदराबाद, मध्यप्रदेश और गुजरात से लेकर बिहार तक फैली हैं। भारत के भूद्रोणी निक्षेप दो भागों में बँटे हैं : नीचे पाए जानेवाले बलुआ पत्थर, जो जिउमल शैलसमूह (Giumal series) कहलाते हैं, और उनके ऊपर मिलनेवाले शैल, जिन्हें चिक्कम समूह कहते हैं।

भारत के खटी युग के निक्षेपों में बाघ और त्रिचनापल्ली में स्थित निक्षेपों का बहुत महत्व है, क्योंकि इनसे न केवल इस युग के अपराह्न में हुए भौमिक उत्क्षेपों का पता लगता है अपितु उस समय के जीवधारियों का भी ज्ञान होता है। त्रिचनापल्ली की खटी युग की शिलाओं में अत्यधिक संख्या में विभिन्न प्रकार के जीवाश्म पाए जाते हैं, यहाँ तक कि इसी आधार पर इस प्रदेश को भूगर्भवेत्ताओं ने 'पुराजैविकीय संग्रहालय' कहा है। आर्थिक दृष्टिकोण से खटी संस्थान का भारत में महत्व उसमें पाए जानेवाले चूना पत्थर, जिप्सम, चीनी मिट्टी आदि से है।

इंग्लैंड और जर्मनी में पाए जानेवाले खटी युग के शैलों का वर्गीकरण दो मुख्य भागों में हुआ है, जिनमें नीचे महाद्वीपीय और ऊपर भूद्रोणी निक्षेप हैं। फ्रांस और स्विट्जरलैंड में इस प्रकार का वर्गीकरण संभव न होने से वहाँ खटी-शैल-समूह पाँच भागों में बँटे हैं। भारतवर्ष में मिलनेवाले इस युग के शैल तीन प्रकार के हैं। विभिन्न स्थानों के खटी संस्तरों का संक्षिप्त विवरण और सह-तुल्यक विन्यास (correlation) पृष्ठ २८७ पर दिए गए हैं। (रा० च० सिं०)

प्रधान विभाजन	यूरोपीय विभाजन		भारत: हिमाचल प्रदेश	भारत: दक्षिणी भारत	भारत: मध्य भारत	भारत: मध्य भारत	पश्चिम पाकिस्तान	जर्मनी	इंग्लैंड		संयुक्त राज्य (अमरीका): दक्षिण विभाग (South Region)		संयुक्त राज्य (अमरीका): पश्चिमी विभाग (Western Region)	अफ्रीका	आस्ट्रेलिया
			गूढ्रोणी जलज	समुद्री उत्थान से बने जलज	अक्षार जलीय		महाद्वीपीय संस्तर								
उत्तर खटीयुग (UPPER CRETACEOUS)		डैनियन Danian													
	सेनोनियन (Senonian)	मिस्ट्रीशियन Maestrichtian	चिक्किम (Chikkim) ↑ चूना पत्थर	निनियुर	बा	लै		किदेतुफ चॉक	चॉक	उत्तर	गल्फ सीरीज	नवैरो (Navarro)	लैन्से (Lance)		
		कैंपेनियन (Campanion)	तथा									टेलरमार्ल (Taylor marl)	↑ मॉन्टेना (Montana) ↓		
		सैंटोनियन (Santonian)		एरियालुर (Ariyalur)	घ	मे	कारडिटा ब्यूमनटाइ शिलाएँ	प्लै		मध्य		ऑस्टिन चॉक Austin chalk		चूना पत्थर	जिंगिन चॉक (Gingin chalk)
		कोनियेशियन (Coniacian)	शेल्स (Shales) २५०'	त्रिचनापली	सं	टा		न		अवर					
		टुरोनियन (Turonian)			स्त	सं	पबसिरीज	र		उत्तर ग्रीनलैंड		ईगल फोर्ड (Eagle Ford)	कोलोरेडो (Colorado)		
		सेनोमैनियन Cenomanian	↓	उतातुर (Utatur)	र	स्त र		(Planer)				वुडबाइन (Woodbine)			
अवर खटीयुग (LOWER CRETACEOUS)		ऐल्बियन (Albian)						प्लैमेन (Plammen) शिलाएँ		गॉल्ट (Gault)		↑ कोमैन्चे (Comanche) ↓			विंटन (Winton)
		ऐप्टियन (Aptian)						ब्रंजविक		अवर ग्रीन सैंड Greensand			↑ इन्यैन कारा (Inyan-Kara) ↓		टैम्बो (Tambo) रोमा (Roma)
	नियोकोमियन (Niocomian)	बैरेमियन (Barremian)	जिउमल (Giumal) ३००'				पारसिरीज	हिल्स (Hills) क्ले				कोआहुइला (Coahuila)		बालू की शिलाएँ	
		हॉटेरिवियन (Hauterivian)						हिल्सफालों-मरिट		वील्डेन (Wealden)				(उटेनहेग, Uitenhage)	वैलून (Walloon)
		वैलेंजिनियन Valanginian	आग्नेय शिलाएँ				बेलेमनाइट शेल्स	वाल्डरदाऊ		स्पीटन (Speeton) [अक्षारीय-जलज]					
		बेरियासियन (Berriasian)						डिशटर		हेस्टिंग्स					

खट्वांग (१) शिव के हाथ का एक आयुध। इसमे दड के ऊपर पशु के खुर के बीच मानव कपाल लगा होता है। योगी और सन्यासी भी इस आयुध का उपयोग करते हैं। लोकजीवन मे इसे जादू की लकडी कहा जाता है।

(२) सूर्यवशी राजा विश्वसह का पुत्र। इसने देवदानव युद्ध के समय स्वर्ग जाकर देवताओ की बडी सहायता की थी। वायु पुराण मे इस राजा की बड़ी महिमा गाई गई है।

खड्ग एक प्राचीन शस्त्र जिसे हम तलवार का रूप कह सकते है। इसमें मूठ और लवा पत्र दो भाग होता है। तलवार के पत्र मे केवल एक ओर धार होती है। इसके दोनो ओर धार होती है। इससे काटना और भोंकना, दोनो कार्य किए जाते है।

खड्ग की उत्पत्ति के सबध मे एक पौराणिक कथा इस प्रकार है—दक्ष प्रजापति की साठ कन्याएँ थी जिनसे सारी सृष्टि का निर्माण हुआ। उनसे देव, ऋषि, गधर्व, अप्सरा ही नहीं हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यपु सदृश दैत्यो ने भी जन्म लिया। इन दैत्यो ने सब लोगो को तग करना आरभ किया तब देवो ने हिमालय पर एक यज्ञ किया। इस अग्नि की ज्वाला मे नील वर्ण, कृशोदर, तीक्ष्णदत एव तेजपुजयुक्त एक आयुध की उत्पत्ति हुई। उसके प्रभाव से सारी पृथ्वी थरथरा उठी। तब ब्रह्मा ने कहा कि मैंने लोकरक्षा के लिये इस खड्ग का निर्माण किया है।

खड्ग के तीन प्रकार बताए गए हैं—(१) कमलपत्र के समान गोल, (२) मडलाग्र तथा (३) असियष्टि। ५० अगुल लवे खड्ग को वराहमिहिर ने सर्वोत्तम माना है। इससे छोटे आकार के खड्गो को आकार के अनुसार तलवार, दीर्घक, नारसिंहक (कटार), कात्यायन, ऊना, भुजाली, करौली और लालक कहते हैं।

खड्ग का उल्लेख मुख्यत: देवियो के आयुध के रूप मे हुआ है। बौद्ध मजुश्री के हाथ के खड्ग को प्रज्ञा खड्ग कहा गया है। उसमे अज्ञान का विनाश होता है। (प० ला० गु०)

खड़की महाराष्ट्र के पूना नगर का एक उपनगर, जिसे अंग्रेजी मे किरकी (Kirkee) कहते हैं। (स्थिति १८°३४' उ० अ०, ७३°५१' पू० दे०) यह पूना नगर से ४ मील उत्तरपश्चिम स्थित है। अंग्रेज और मराठो के बीच हुए प्रथम महायुद्ध के रणक्षेत्र के रूप मे इतिहास मे इसकी प्रसिद्धि है। आजकल यह भारतीय पदाति सेना का प्रमुख केंद्र है तथा यहाँ युद्धास्त्र तैयार करने का एक कारखाना है।

(स० स० का०, प० ला० गु०)

खड़गपुर पश्चिमी बगाल राज्य के मेदिनीपुर जिले का एक औद्योगिक नगर (स्थिति २२°२०' उ० अ० और ८७°२१' पू० दे०)। यह कलकत्ता से ७० मील पश्चिमदक्षिण-पश्चिम मे है और दक्षिण-पूर्व रेलवे का प्रमुख केंद्र है। मुख्य रेलमार्ग द्वारा यह नगर बबई और कलकत्ता से तथा शाखा द्वारा उत्तर में बाँकुडा और झरिया से तथा दक्षिण में मद्रास से मिला हुआ है। यहाँ पीर लोहानी का धार्मिक स्थान है, जो हिंदुओ और मुसलमानो का पूजास्थल है। १९५१ ई० मे यहाँ एक प्राविधिक संस्थान (Institute of Technology) की स्थापना हुई जो इसकी वर्तमान उन्नति एव प्रसिद्धि का कारण है। यहाँ पर रेल संस्थान, बडी बडी उद्योगशालाएँ, रसायन, इजीनियरिंग की साधारण वस्तुएँ, जूता और सिल्क के वस्त्र बनाने के कारखाने तथा धान कूटने की मिलें हैं। (रा० प्र० मि०)

खडी बोली इससे तात्पर्य खडी बोली हिंदी से है जिसे भारतीय सविधान मे राष्ट्रभाषा का पद मिला है और सविधान ने जिसे राजभाषा के रूप मे स्वीकृत किया है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इसे आदर्श (स्टैंडर्ड) हिंदी, उर्दू तथा हिंदुस्तानी की मूल आधार स्वरूप बोली होने का गौरव प्राप्त है। खडी बोली पश्चिम रुहेलखंड, गंगा के उत्तरी दोआब तथा अबाला जिले की उपभाषा है जो ग्रामीण जनता के द्वारा मातृभाषा के रूप मे बोली जाती है। इस प्रदेश मे रामपुर, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरपुर, मुरादाबाद, सहारनपुर, देहरादून का मैदानी भाग, अबाला तथा कलसिया और भूतपूर्व पटियाला रियासत के पूर्वी भाग आते हैं। इस उपभाषा के बोलनेवालो की सख्या ५३ लाख के ऊपर है। मुसलमानी प्रभाव के निकटतम होने के कारण इस बोली मे अरबी फारसी के शब्दो का व्यवहार हिंदी प्रदेश की अन्य उपभाषाओ की अपेक्षा अधिक है।

साहित्यिक सदर्भ मे ब्रज, अवधी आदि बोलियो मे साहित्य का पार्थक्य करने के लिये आधुनिक हिंदी साहित्य को 'खड़ी बोली' साहित्य के नाम से अभिहित किया जाता है। यह भारतवर्ष की सर्वाधिक प्रचलित, सरल तथा बोधगम्य भाषा है। बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान ये चार हिंदी (खडी बोली) भाषाभाषी राज्य हैं। परतु इनके अतिरिक्त सुदूर दक्षिण के कुछ स्थानो को छोडकर इसका प्रचार न्यूनाधिक समस्त देश मे है।

नामकरण—खडी बोली अनेक नामो से अभिहित की गई है यथा—हिंदुई, हिंदवी, दक्खिनी, दखनी या दकनी, रेखता, हिंदोस्तानी, हिंदुस्तानी आदि। डा० ग्रियर्सन ने इसे 'वर्नाक्यूलर हिंदुस्तानी' तथा डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसे 'जनपदीय हिंदुस्तानी' का नाम दिया है। डा० चाटुर्ज्या खडी बोली के साहित्यिक रूप को 'साधु हिंदी' या 'नागरी हिंदी' के नाम से अभिहित करते है। परतु डा० ग्रियर्सन ने इसे 'हाई हिंदी' का अभिधान प्रदान किया है। इसकी व्याख्या विभिन्न विद्वानो ने भिन्न भिन्न रूप से की है। इन विद्वानो के मतो की निम्नांकित श्रेणियाँ हैं—१ कुछ विद्वान् खडी बोली नाम को ब्रजभाषा सापेक्ष मानते हैं और यह प्रतिपादन करते है कि लल्लू जी लाल (१८०३ ई०) के बहुत पूर्व यह नाम ब्रजभाषा की मधुरता तथा कोमलता की तुलना मे उस बोली को दिया गया था जिससे कालातर मे आदर्श हिंदी तथा उर्दू का विकास हुआ। ये विद्वान् 'खडी' शब्द से कर्कशता, कटुता, खरापन, खडापन आदि ग्रहण करते हैं। २ कुछ लोग इसे उर्दू सापेक्ष मानकर उसकी अपेक्षा इसे प्रकृत 'शुद्ध', ग्रामीण ठेठ बोली मानते हैं। ३. अनेक विद्वान् खडी का अर्थ सुस्थित, प्रचलित, सुसंस्कृत, परिष्कृत या परिपक्व ग्रहण करते हैं। ४. अन्य विद्वान् उत्तरी भारत की 'ओकारात' प्रधान ब्रज आदि बोलियों को 'पडी बोली' और उसके विपरीत इसे 'खडी बोली' के नाम से अभिहित करते हैं, जबकि कुछ लोग रेखता शैली को 'पडी' और इसे 'खडी' मानते हैं। खडी बोली को 'खरी बोली' भी कहा गया है। संभवत 'खडी बोली' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग लल्लू जी लाल द्वारा 'प्रेमसागर' में किया गया है। किंतु इस ग्रंथ के मुखपृष्ठ पर 'खरी' शब्द ही मुद्रित है।

खडी बोली की उत्पत्ति तथा इसके संबंध में विभिन्न मत—अत्यंत प्राचीन काल से ही हिमालय तथा विंध्य पर्वत के बीच की भूमि 'आर्यावर्त' के नाम से प्रख्यात है। इसी के बीच के प्रदेश को 'मध्य प्रदेश' कहा जाता है जो भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का केंद्रबिंदु है। संस्कृत, पालि तथा शौरसेनी प्राकृत विभिन्न युगो मे इस मध्यदेश की भाषा थी। कालक्रम से शौरसेनी प्राकृत के पश्चात इस प्रदेश मे शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार हुआ। यह काव्य (बोलचाल की) शौरसेनी अपभ्रंश भाषा ही कालातर मे कदाचित खडी बोली (हिंदी) के रूप में परिणत हुई है। इस प्रकार खडी बोली की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से मानी जाती है, यद्यपि इस अपभ्रंश का विकास साहित्यक रूप में नही पाया जाता। भोज और हम्मीरदेव के समय से अपभ्रंश काव्यों की जो परंपरा चलती रही उसके भीतर खडी बोली के प्राचीन रूप की झलक दिखाई पडती है। इसके उपरात भक्तिकाल के आरंभ मे निर्गुण धारा के संत कवि खडी बोली का व्यवहार अपनी 'सधुक्कडी' भाषा मे किया करते थे।

कुछ विद्वानो का मत है कि मुसलमानों के द्वारा ही खडी बोली अस्तित्व मे लाई गई और उसका मलरूप उर्दू है, जिससे आधुनिक हिंदी की भाषा अरबी फारसी शब्दो को निकालकर गढ़ ली गई। सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री, डा० ग्रियर्सन के मतानुसार खडी बोली अंग्रेजों की देन है। मुगल साम्राज्य के ध्वंस ने खडी बोली के प्रचार मे सहायता पहुँची।

जिस प्रकार उजड़ती हुई दिल्ली को छोड़कर मीर, इंशा आदि उर्दू के अनेक शायर पूरब की ओर आने लगे उसी प्रकार दिल्ली के आसपास के हिंदू व्यापारी जीविका के लिये लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना, आदि पूरबी शहरों में फैलने लगे। इनके साथ ही साथ उनकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली भी लगी चलती थी। इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की भाषा भी खड़ी बोली हो गई। यह खड़ी बोली असली और स्वाभाविक भाषा थी, मौलवियों और मुंशियों की 'उर्दू-ए-मुअल्ला' नहीं। १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के संबंध में वे लिखते हैं कि यह समय हिंदी (खड़ीबोली) भाषा के जन्म का समय था जिसका आविष्कार अंग्रेजों ने किया था और इसका साहित्यिक गद्य के रूप में सर्वप्रथम प्रयोग गिलक्राइस्ट की आज्ञा से लल्लू जी लाल ने अपने प्रेमसागर में किया।

लल्लू जी लाल और पं० सदल मिश्र को खड़ी बोली के उन्नायक अथवा इसको प्रगति प्रदान करनेवाला तो माना जा सकता है, परंतु इन्हें खड़ी बोली का जन्मदाता कहना सत्य से युक्त तथा तथ्यों से प्रमाणित नहीं है। खड़ी बोली की प्राचीन परंपरा के संबंध में ध्यानपूर्वक विचार करने पर इस कथन की अयथार्थता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

मुसलमानों के द्वारा इसके प्रसार में सहायता अवश्य प्राप्त हुई। उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं बल्कि खड़ी बोली की ही एक शैली मात्र है जिसमें फारसी और अरबी के शब्दों की अधिकता पाई जाती है तथा जो फारसी लिपि में लिखी जाती है। उर्दू साहित्य के इतिहास पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट प्रमाणित है। अनेक मुसलमान कवियों ने फारसी मिश्रित खड़ी बोली में, जिसे वे रेख्ता कहते थे, कविता की है। यह परंपरा १८वीं-१९वीं शती में दिल्ली के अंतिम बादशाह बहादुरशाह तथा लखनऊ के अंतिम नवाब वाजिदअली शाह तक चलती रही।

साधारणत: लल्लू जी लाल, सदल मिश्र, इंशाअल्ला खाँ तथा मुंशी सदासुखलाल खड़ी बोली गद्य के प्रतिष्ठापक कहे जाते हैं परंतु इनमें से किसी को भी इसकी परंपरा को प्रतिष्ठित करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं है। आधुनिक खड़ी बोली गद्य की परंपरा की प्रतिष्ठा का श्रेय भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र एवं राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' को प्राप्त है जिन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा एक सरल सर्वसंमत गद्यशैली का प्रवर्तन किया। कालांतर में लोगों ने भारतेंदु की शैली अधिक अपनाई।

वस्तुत: आधुनिक हिंदी साहित्य खड़ी बोली का ही साहित्य है जिसके लिये देवनागरी लिपि का सामान्यत: व्यवहार किया जाता है और जिसमें संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि के शब्दों और प्रकृतियों के साथ देश में प्रचलित अनेक भाषाओं और जनबोलियों की छाया अपने तद्भव रूप में वर्तमान है।

सं० ग्रं०—आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास; ग्रियर्सन : 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिंदुस्तान' की भूमिका, कलकत्ता, १८८६; तासी : हिस्ट्री दि ला हिंदुई ऐंड हिंदुस्तानी (प्रथम संस्करण, भाग १; टी० ग्रैहम बेली : दि हिस्ट्री ऑव उर्दू लिटरेचर; डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिंदी; डा० धीरेंद्र वर्मा : हिंदी भाषा का इतिहास (पंचम संस्करण, १९५८); डा० उदयनारायण तिवारी : हिंदी भाषा का उद्गम और विकास। (कृ० दे० उ०)

खतना सामी (Semitic) प्रथा है जो यहूदियों एवं कुछ अन्य लोगों में बहुत पहले से प्रचलित थी और जिसे अरब में धार्मिक आदर्श का रूप दे दिया गया। प्राय: पुरुषों के खतने का ही प्रचार पाया जाता है, यद्यपि अफ्रीका की गैला (Galla) और होटेंटाट (Hotantot) आदि जातियों में स्त्रियों का भी खतना होता था। अरबी में यह शब्द खितान, खितना तथा खतना तीन रूपों में प्रयुक्त होता है। लिंग के अगले भाग की त्वचा काट देने की प्रथा को खतना कहते हैं। इसका उल्लेख कुरान शरीफ में कहीं नहीं है और न किसी अन्य ग्रंथ से इस बात का पता चलता है कि हजरत मुहम्मद का खतना हुआ था। कहा जाता है, यह प्रथा हजरत इब्राहीम पैगंबर के समय से प्रचलित हुई। 'सहीह बुखारी' की एक हदीस से पता चलता है कि हजरत इब्राहीम का खतना ८ वर्ष की अवस्था में हुआ था। इसी प्रकार जब अब्बास से यह पूछा गया कि हजरत मुहम्मद की मृत्यु के समय आपकी क्या अवस्था थी तो उन्होंने उत्तर दिया कि उस समय मेरा खतना हो चुका था। 'सहीह बुखारी' से इस बात का भी पता चलता है कि हजरत मुहम्मद ने खतना कराने का आदेश मुसलमानों को दिया था, इसी कारण इसे सुन्नत कहा जाता है। बच्चे के जन्म के सात दिन के भीतर ही खतना करा देना बड़ा उत्तम माना जाता है किंतु सात वर्ष से १२ वर्ष की अवस्था के भीतर मुसलमान खतना अवश्य करा देते है। जो लोग अधिक अवस्था में इस्लाम स्वीकार करते है उनके लिये, उनकी आयु को देखते हुए, यदि वे चाहें तो खतना न भी कराएँ किंतु खतना करा लेना सराहनीय समझा जाता है। मुसलमानों के लिये अकबर खतना आवश्यक नहीं मानता था। लिंग के कुछ रोगों के लिये भी लिंग के अगले भाग की त्वचा कटवा देने की चिकित्सक सलाह दिया करते हैं। भारतवर्ष में खतना प्राय: नाई अथवा जर्राह करते हैं। खतना करने की विधि बड़ी विचित्र है जिसमें नाई अथवा जर्राह ही कुशल होते हैं। पहले एक सलाई लिंग के अग्र भाग से अंदर की ओर डाली जाती है और सुपारी तथा उसके ऊपर की खाल के बीच उस सलाई को गोलाई से घुमाया जाता है ताकि यह पता चल जाय कि सुपारी का घाव कहाँ पर है और किसी जगह पर अप्राकृतिक रूप से खाल जुड़ी तो नहीं है। लिंग के ऊपर की खाल को फिर आगे की ओर खींचा जाता है और बाँस के खपाचों की बनी चिमटी (जो ५ या ६ इंच लंबी और चौथाई इंच मोटी होती है और एक सिरे पर एक इंच की दूरी तक तार से या डोरे से बाँध दी जाती है) को तिरछा करके ऊपर से लिंग को फाँसा जाता है। चिमटी की पकड़ का स्थान जड़ से १½ इंच छोड़कर तथा अग्रभाग से पौन इंच ऊपर की ओर होता है। चिमटी से कसकर पकड़ने पर बच्चे को तकलीफ तो होती है परंतु थोड़ी देर के लिये ही, क्योंकि तुरंत ही नाई उस्तुरे से उस ऊपरी खाल को क्षण भर में काट देता है। थोड़ा सा रक्त निकलता है परंतु नाई उसपर सादी राख या जले हुए चीथड़ों की राख लगा देता है जिससे रक्त बहना बंद हो जाता है। खतने के समय प्राय: बड़ा जश्न मनाया जाता है। मुगलों के इतिहास में अकबर के खतने का बड़ा ही विशद विवरण दिया गया है। तदुपरांत मुगलों के संबंध में जितने भी ग्रंथ लिखे गए उनमें शाहजादों के खतनों का विशेष उल्लेख हुआ।

सं० ग्रं०—सहीह बुखारी : डिक्शनरी ऑव इस्लाम; मुगलकालीन भारत : हुमायूँ, भाग १; इन्साइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स, खंड ३ (दे० Cirumcision)। (सै० अ० अ० रि०)

खत्ती दे० 'हत्ती, हित्ती।'

खत्री भारत की एक जाति, जिसका मुख्य तथा प्राचीन आवासक्षेत्र पंजाब और परंपरागत मुख्य व्यवसाय व्यापार है। कश्मीर को छोड़कर खत्री प्राय: समस्त पश्चिमोत्तर भारत में फैले हुए हैं, किंतु पंजाब के बाहर बहुधा कस्बों तथा नगरों तक ही सीमित हैं। सुदूर दक्षिण के सिवा भारत के मध्य तथा दक्षिणी भाग में भी नगरों में न्यूनाधिक संख्या में खत्री आबाद हैं। इसके अतिरिक्त खत्रियों की आबादी काबुल, कंधार और तुर्किस्तान तक में है जहाँ वे छोटे व्यापारिक समूहों के रूप में बहुत पहले से जा बसे हैं।

भारत के विभाजन के पहले सीमाप्रांत, पंजाब और सिंध का प्राय: समस्त व्यापार इसी जाति के लोगों में केंद्रित था किंतु उसके बाद अन्य हिंदुओं तथा सिक्खों के साथ पश्चिमी पाकिस्तान से खत्री भी पूर्वी पंजाब तथा भारत के अन्य भागों में जा बसे। गुजरात और मारवाड़ के ब्रह्मखत्री सोनारी, बढ़ईगिरी आदि अनेक शिल्पिक धंधे भी करते हैं और कांगड़ा घाटी के खत्री ब्रात्य पशुपालक हैं। खत्री प्राय: हिंदू हैं, किंतु कुछ ने सिक्ख धर्म भी स्वीकार कर लिया है, जिन्हें सिखड़ा खत्री कहते हैं। सिखड़े खत्रियों का मूल खत्रियों से जातीय संबंध बना हुआ है।

पतली नाक, लंबी कपालिका और गौर वर्ण से विदित होता है कि खत्री जाति की उत्पत्ति आर्य नस्ल की किसी जनजाति से हुई जो प्राचीन काल में पंजाब में संभवत: लुप्त सरस्वती नदी की घाटी में

थी। कुछ विद्वानों का मत है कि खत्री शब्द संस्कृत के क्षत्रिय शब्द का अपभ्रंश है और वह एक ऐसी जाति है जिसने इतिहास में किसी समय सैनिक वृत्ति को छोड़कर व्यापार को अपना लिया। इसकी पुष्टि में वे यह भी कहते हैं कि खत्रियों के गोत्र वे ही हैं जो क्षत्रियों के हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन आर्यों का कश्मीरियों से भी अधिक प्रतिनिधि होने का अधिकार इन खत्रियों को ही है। पंजाब में साधारणतः क्षत्रिय नहीं मिलते। आखिर पंजाब के क्षत्रिय हो क्या गए ? प्रमाणतः खत्री ही उनके प्रकृत प्रतिनिधि हैं जो अब सैनिक वृत्ति छोड़ दूसरा व्यवसाय करने लगे हैं। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में सिकंदर के साथ भारत में आए यूनानी इतिहासकारों ने सिंधु घाटी में जिस जथराई (एतरोई) जनपद का उल्लेख किया है, बहुत संभव है वह क्षत्रिय या खत्री जनपद के लिये प्रयुक्त हुआ हो।

खत्री अनेक उपजातियों और शाखोपशाखाओं में विभक्त हैं। फिर भी, समस्त खत्रियों को दो बड़े भागों में बाँटा जा सकता है—ख्यातनामा खत्री और अख्यातनामा खत्री। ख्यातनामा खत्री उनको कह सकते हैं जो केवल खत्री नाम से विदित और मान्य हैं। अख्यातनामा खत्रियों में खुखरान, अरोड़ा, ब्रह्मखत्री (अथवा गुजराती खत्री), भाटिया, सरीन, पेशावरिया, लोहाणे (नागपुर के आसपास), बाहबल, सूद और कांगड़ा घाटी के खत्री (गद्दी) आदि हैं। अख्यातनामा खत्रियों का खत्रीत्व भी न्यूनाधिक विवादास्पद रहा है। परंपरा से खत्रियों की प्रत्येक जाति विवाह संबंध अपने आंतरिक समूहों में ही करती थी। किंतु धीरे धीरे इन बंधनों की सर्वमान्यता समाप्त हो रही है।

ख्यातनामा खत्री छह उपजातियों में विभक्त हैं। ये उपजातियाँ चौजाति, पंजाजाति, छेजाति, बारहजाति, बावन जाति, या बावनजाई और बहुजाति या बनजाई खुर्द के नाम से अभिहित हैं। इनमें से प्रत्येक उपजाति पछैंया या पछादे और पूरबिया या पचाधे, इन दो समूहों में विभक्त है। जो ख्यातनामा खत्री पंजाब से बहुत पहले निकलकर भारत के पूर्वी भागों में बस गए वे पचाधे और पंजाब में रहनेवाले या वहाँ से बाद में प्रवास करनेवाले पछादे कहलाए। शेरशाह के अर्थमंत्री और अकबर के नवरत्नों में प्रसिद्ध राजा टोडरमल खत्री ही थे। अनेक खत्रियों ने दिल्ली की सल्तनत के पाए मजबूत किए और मुगल संस्कृति तथा उर्दू भाषा के उन्नायक सिद्ध हुए। सिक्ख धर्म के प्रवर्तक और प्रथम गुरु नानक तथा अन्य गुरु भी खत्री परिवार में ही उत्पन्न हुए थे।

(रा० रा० ना० म० सि० जा०)

खत्री, अयोध्याप्रसाद १९वीं शती के खड़ी बोली के प्रख्यात आंदोलनकर्ता। ये मुजफ्फरपुर (बिहार) में कलक्टरी कचहरी में पेशकार थे। कहा जाता है, खड़ी बोली के प्रचार के लिये इन्होंने इतना धन खर्च किया जितना इस तरह के कामों में धनी से धनी व्यक्ति से भी आशा नहीं की जा सकती। १८८८ ई० में उन्होंने 'खड़ी बोली का आंदोलन' नामक एक पुस्तक प्रकाशित कराई जिसमें उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि खड़ी बोली की चार शैलियाँ हैं—मौलवी शैली, मुंशी शैली, पंडित शैली और मास्टर शैली। इन चारों शैलियों के नमूने के रूप में उन्होंने दो खंडों में 'खड़ी बोली का पद्य' नामक ग्रंथ भी प्रकाशित किया।

(प० ला० गु०)

खत्री, दुर्गाप्रसाद (१८९५–१९७४)। हिंदी के प्रख्यात उपन्यासकार। ये देवकीनंदन खत्री (द्र० आगे) के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म १८९५ में काशी में हुआ था। १९१२ ई० में विज्ञान और गणित में विशेष योग्यता के साथ स्कूल लीविंग परीक्षा पास की। तदनंतर इन्होंने लिखना आरंभ किया और डेढ़ दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे। इनके उपन्यास चार प्रकार के हैं—(१) तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास—भूतनाथ और रोहतासमठ इनके इस विधा के उपन्यास हैं और इनमें इन्होंने अपने पिता की परंपरा को जीवित रखने का ही प्रयत्न नहीं किया है वरन् इनकी शैली का इन सूक्ष्मता से अनुकरण किया है कि यदि नाम न बताया जाय तो सहसा यह कहना संभव नहीं कि ये उपन्यास देवकीनंदन खत्री ने नहीं वरन् किसी अन्य व्यक्ति ने लिखे हैं। (२) जासूसी उपन्यास—प्रतिशोध, लालपंजा, रक्तमंडल, सुफेद शैतान जासूसी उपन्यास होते हुए भी राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत हैं और भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन को प्रतिबिंबित करते हैं। 'सुफेद शैतान' में समस्त एशिया को मुक्त कराने की मौलिक उद्भावना की गई है। शुद्ध जासूसी उपन्यास हैं—सुवर्णरेखा, स्वर्गपुरी, सागर सम्राट्, साकेत और कालाचोर। इनमें विज्ञान की जानकारी के साथ जासूसी कला को विकसित करने का प्रयास है। (३) सामाजिक उपन्यास के रूप में अकेला कलंककालिमा है जिसमें प्रेम के अनैतिक रूप को लेकर उसके दुष्परिणाम को उद्घाटित किया गया है। 'बलिदान' को भी सामाजिक चरित्रप्रधान उपन्यास कहा जा सकता है किंतु उसमें जासूसी की प्रवृत्ति काफी मात्रा में झलकती है। (४) 'संसार चक्र' अद्भुत किंतु संभाव्य घटनाचक्र पर आधारित है। 'माया' उनकी कहानियों का एकमात्र संग्रह है। ये कहानियाँ सामाजिक-नैतिक हैं। उनकी साहित्यिक महत्ता यह है कि उन्होंने देवकीनंदन खत्री और गोपालराम गहमरी की ऐयारी-जासूसी परंपरा को तो विकसित किया ही है, सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं को जासूसी वातावरण के साथ प्रस्तुतकर एक नई परंपरा को विकसित करने की चेष्टा की है।

(प० ला० गु०)

खत्री, देवकीनंदन (१८६१–१९१३)। ऐयारी उपन्यास लेखक। इनका जन्म १८६१ ई० में मुजफ्फरपुर में ननिहाल में हुआ था। आपके पिता लाला ईश्वरदास अपनी युवावस्था में लाहौर से काशी आए थे और यहीं रहने लगे थे। उनका गया जिले के टिकारी राज्य में अच्छा कारबार था। उन्होंने महाराज बनारस से चकिया और नौगढ़ के जंगलों का ठीका लिया था। इसी सिलसिले में देवकीनंदन की युवावस्था अधिकतर उक्त जंगलों में ही बीती थी। इन्हीं जंगलों और उनके खंडहरों से आपको वह स्फूर्ति मिली थी जिसने आपसे चंद्रकांता, चंद्रकांता संतति, भूतनाथ ऐसे ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासों की रचना कराई जिन्होंने आपको हिंदी साहित्य में अमर बना दिया। यद्यपि आपके उपन्यासों में बहुत कुछ उस प्रकार की बातें मिलती हैं जिस प्रकार की बातें उर्दू के अमीर हम्जा और तिलिस्म होशरुबा सरीखे किस्से कहानियों में मिलती हैं, फिर भी निःसंदेह आपके सभी उपन्यासों का रचनातंत्र मौलिक और स्वतंत्र है, और उसमें तिलस्मी तत्व के सिवा उक्त ग्रंथों का कुछ भी नहीं है। इस तिलस्मी तत्व में आपने अपने चातुर्य और बुद्धिकौशल से ऐयारीवाला वह तत्व भी मिला दिया था जो बहुत कुछ भारतीय है। १९वीं शताब्दी के अंत में लाखों पाठकों ने बहुत ही चाव और रुचि से आपके उपन्यास पढ़े और हजारों आदमियों ने केवल आपके उपन्यास पढ़ने के लिये हिंदी सीखी। अब भी बहुत से ऐसे पाठक मिलेंगे जिन्होंने आपके उपन्यासों का बीसियों बल्कि पचासों बार पारायण किया हो।

आपका पहला और परम प्रसिद्ध उपन्यास चंद्रकांता सन् १८८८ ई० में प्रकाशित हुआ था। उसके चारों भागों के कुछ ही दिनों में कई संस्करण हो गए जिससे उत्साहित होकर आपने चंद्रकांता संतति, २४ भागों में लिखा। दस वर्षों में ही बहुत अधिक कीर्ति और यश संपादित कर चुकने और अपनी रचनाओं का अत्यधिक प्रचार देखकर १८९८ ई० में आपने अपने निजी प्रेस की स्थापना की। आप स्वभावतः बहुत ही 'लहरी' अर्थात् मनमौजी और विनोदप्रिय थे। इसीलिये आपने अपने प्रेस का नाम 'लहरी प्रेस' रखा। आपके उपन्यासों के अनेक ऐयारों और पात्रों के नाम आपने अपनी मित्रमंडली में से ही चुने थे। आपकी अन्यान्य रचनाओं के नाम हैं 'अनूठी बेगम', 'काजल की कोठरी', 'कुसुम कुमारी', 'गुप्त गोदना' और 'नरेंद्र मोहिनी'। आपकी सभी कृतियों में मनोरंजन की जो इतनी अधिक कुतूहलवर्धक और रोचक सामग्री है उसका श्रेय आपके अनोखे और अप्रतिम बुद्धिबल को ही है। हिंदी के औपन्यासिक क्षेत्र का आपने आरंभ ही नहीं किया, वरन् उसके क्षेत्र में बहुत ही उच्च, उज्ज्वल और बेजोड़ स्थान भी प्राप्त किया। भारतेंदु के उपरांत आप प्रथम और सर्वाधिक प्रभावमान् लेखक के रूप में हिंदी जगत् के सामने आए। प्रायः ५२ वर्ष की अवस्था में १ अगस्त, १९१३ को आप परलोकवासी हुए।

(रा० चं० व०)

खनिकर्म (देखिए पृष्ठ २६१)
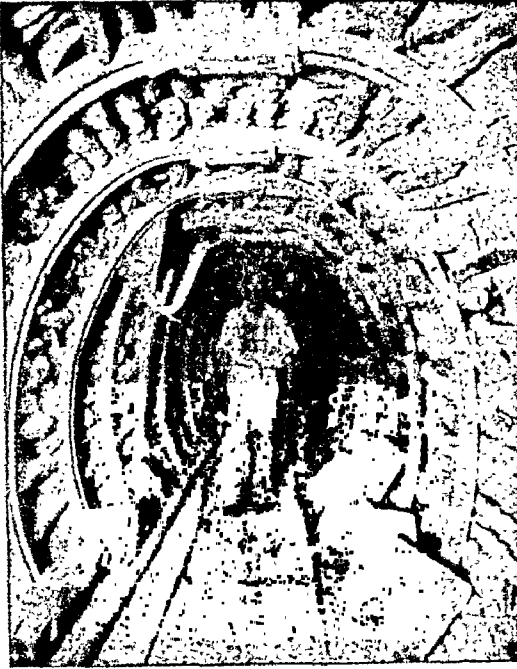
खान के अंदर का एक दृश्य
इस स्तर को इस्पात की रेलों के चक्कों से सुरक्षित किया गया है।

भूगर्भी परिवहन
विद्युत् इंजिन गाड़ियों को खींच रहा है।

नलाकार मिल (Mill)
कूटकर तोड़ने के पश्चात् पीसने के लिये मशीन।
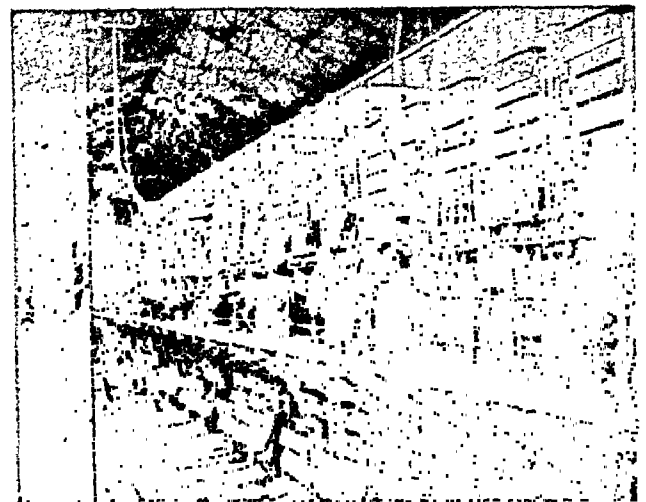
मुगरी मशीनों का समूह
द्वितीय बार कुचलकर, कूटने की चक्की में धातु को पीसनेवाली मशीनें।
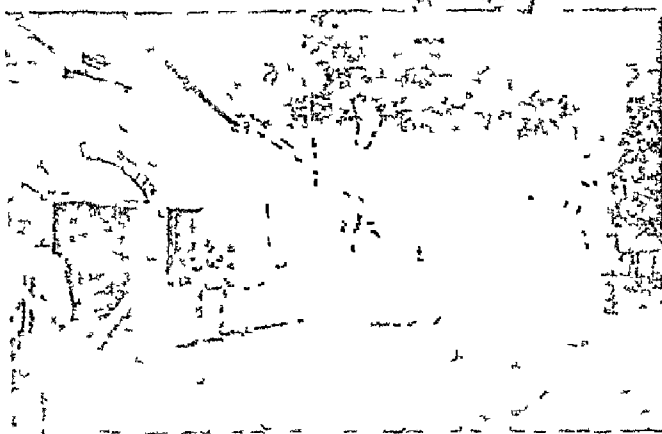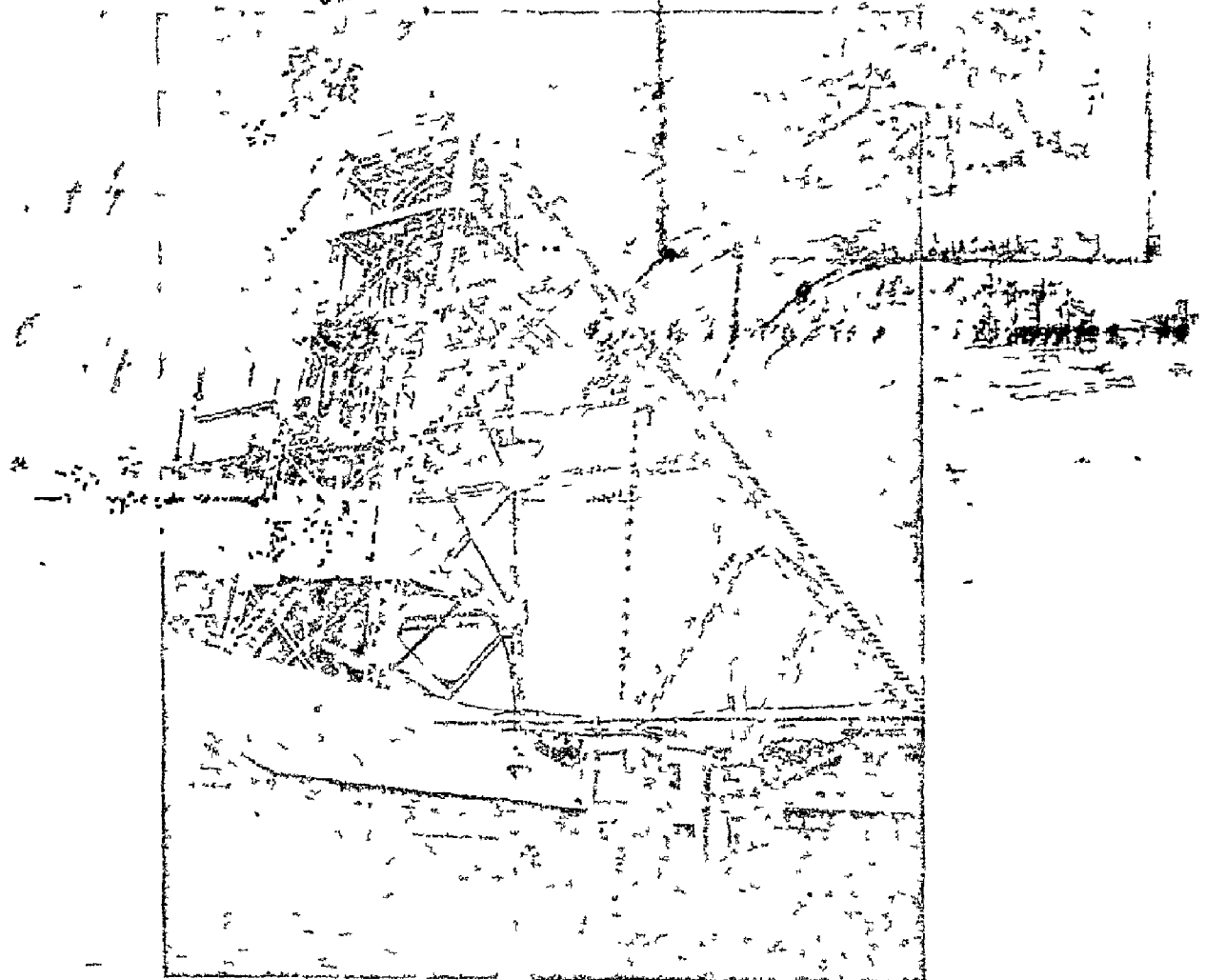
खदिरवनी बौद्ध देवी तारा का एक रूप। खैर के वन मे रहनेवाली, इस शब्द का अर्थ होता है। यह हरितवर्ण, वरद मुद्रा मे तथा कमल धारण किए अंकित की जाती है। अशोक काता और एक जटा इनकी सहचरी कही गई है। (प० ला० गु०)

खदीजा हजरत मुहम्मद की पहली पत्नी, जो उनसे विवाह के समय विधवा हो चुकी थी। इससे पूर्व उसके दो विवाह हुए थ। वे कुरैश वंश के ख्वेलिद की पुत्री तथा अत्यधिक धनी थीं। जब मक्कावालो के काफिले व्यापार हेतु रवाना होते तो अकेले उनकी धन सपत्ति ही समस्त कुरैश की धन संपत्ति के बराबर होती। २५ वर्ष की अवस्था म हजरत मुहम्मद ने व्यापार मे अपनी ईमानदारी तथा कार्य कुशलता से अपना सिक्का जमा लिया था, अतः खदीजा ने अपनी व्यापारिक धन सपत्ति हजरत मुहम्मद को इस आशय से सौंप दी कि वे उसे लेकर शाम व्यापार हेतु जायँ। इस यात्रा से लौटने के लगभग तीन मास बाद खदीजा से उनका विवाह हो गया। उस समय खदीजा की अवस्था ४० वर्ष की थी और मुहम्मद साहब २५ वर्ष के थे। विवाह के उपरात वे २५ वर्ष तक और जीवित रही। इस बीच हजरत मुहम्मद ने कोई दूसरा विवाह नही किया। खदीजा की मृत्यु के उपरांत भी वे सर्वदा उन्हें याद किया करते थे। इसपर उनकी एक अन्य प्रिय पत्नी आयशा ईर्ष्या भी करती थीं किंतु हजरत मुहम्मद ने खदीजा की प्रशंसा करने मे कभी भी सकोच नही किया।

जब हजरत मुहम्मद ४० वर्ष के हुए तो मक्के से तीन मील पर स्थित हिरा नामक एक गुफा में ध्यान एवं मनन के समय उन्हे यह आभास हुआ कि कोई फिरिश्ता ईश्वर का संदेश पहुँचा रहा है। वे अत्यधिक भयभीत हुए किंतु खदीजा ने उन्हें सांत्वना दी और हजरत मुहम्मद अपने पथ पर शातिपूर्वक दृढ़ हो गए। स्त्रियों मे सर्वप्रथम उन्हा ने हजरत मुहम्मद को रसूल माना और उनकी बराबर सहायता करती रही। उनके प्रभाव के कारण जब तक वे जीवित रहीं, हजरत मुहम्मद को मक्के मे अधिक कष्टो का सामना नहीं करना पड़ा और वे १० वर्ष तक हजरत मुहम्मद की, उनके रसूल होने के बाद तक, उनकी सहायता करती रही। किंतु ६१९ ई० मे ६५ वर्ष की अवस्था मे उनका निधन हो गया और तीन वर्ष उपरात हजरत मुहम्मद को भी विवश होकर मक्का छोड़ना पड़ा। खदीजा से हजरत मुहम्मद को जो संतान हुई उनके विषय मे बड़ा मतभेद है, किंतु उनकी पुत्री फातिमा, जिनका हजरत अली से विवाह हुआ, बड़ी यशस्विनी थी। (सै० अ० अ० रि०)

खनादेवी राजा विक्रमादित्य के नवरत्न, ज्योतिपाचार्य वराहदेव की पुत्रवधू एव मिहिर की पत्नी थी। इनका ज्योतिषज्ञान प्रकाड था। कृषि विषयक इनकी कहावतें बंगाल में अत्यधिक समादरित हैं। उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान मे भी 'खोना' या 'डाक' नाम से कृषि विषयक कुछ कहावतें पाई जाती है। विक्रमादित्य का काल भारतीय इतिहास मे 'स्वर्णिम युग' कहा जाता है। खना इसी युग मे हुई थी।

जनश्रुतियों के आधार पर यह कहा जाता है कि खना के पिता का नाम मय दानव था। एक बार यह सुनकर कि आगे चलकर खना ज्योतिषशास्त्र में परम निपुण निकलेगी, राक्षसो ने खना को चुरा लिया। एक दिन जब खना समुद्र के किनारे घूम रही थी, तब समुद्र मे बहता हुआ एक शिशु मिला। राक्षसों ने पालन पोषण के बाद इसका नाम मिहिर रखा। बाद मे खना और मिहिर का व्याह कर दिया।

जब मिहिर खना सहित अपने देश लौटे तब वराहदेव बहुत प्रसन्न हुए। पुत्रवधू की ज्योतिष विद्या से तो वे और भी प्रसन्न थे। मिहिर तथा खना की प्रशसा सुनकर विक्रमादित्य ने दोनो को अपनी सभा का 'रत्न' बनाना चाहा, परंतु इसमें कुछ पड्यंत्र समझकर मिहिर ने खना की जीभ काट ली।

खना देवी की कहावतें बँगला पुस्तक, 'वराहमिहिर खना ज्योतिषग्रंथ' में संगृहीत हैं। इसे कालीमोहन विद्यारत्न ने सुलभ कलकत्ता लाइब्रेरी से प्रकाशित किया है।

इन कहावतों मे वर्षा के शुभाशुभ लक्षण, आँधी और वर्षा का ज्ञान, धान की खेती, उसकी कटाई तथा जातने के नियम तथा मूली, पान, सरसो, राई, कपास, परवल, बैंगन, हल्दी, अरुई, लौकी, नारियल, बाँस तथा केला की खेती क संबध मे प्रचुर ज्ञानवर्धक बातें पाई जाती है। खना ने खादों के विषय मे भी महत्वपूर्ण कहावते कही ह। उदाहरणार्थ, 'सड़ी गली चीजें, जा मनुष्य क स्वास्थ्य क लिये अहितकर ह, वे पौधो के लिये आवश्य हैं', इस कहावत मे वर्तमान कपोस्ट प्रणाली का पूर्वाभास है। सरसो, उरद, मूग एक साथ बोने मे वर्तमान दालो की खती से नाइट्रोजन स्थिरीकरण की ओर सकेत है। जहाँ राख डाली जाती ह वहाँ लौकी लगाना, पेड़ो मे कीड़े लग जायँ तो राख छोड़ना, अरुई के खेत मे राख से उर्वराशक्ति बढ़ाना, मछली के धोवन से अच्छी लौकी पैदा करना, सुपारी के खेत मे मदार लगाना, सुपारी के पेड़ मे गोबर की खाद डालना, सूरन के खेत मे कूड़ा करकट डालना तथा नारियल के पेड़ मे लोना छिड़कना आदि के द्वारा गोबर, राख, पत्ती, लोना, मछली आदि की खादो के उपयोग की बात कही गई ह। इसके अतिरिक्त फसलो को दूर दूर बोए जाने, समय पर नारियल के काटे जाने इत्यादि का भी वर्णन ह। *खेतो की सफाई, कटाई, बोआई के उचित समय पर भी दृष्टिपात है।* वस्तुतः ये ऐसी बाते ह जो आधुनिक कृषिविज्ञान द्वारा मान्य हो चुकी है। इस दृष्टि स खना प्राचीन भारत की कृषिविशेषज्ञ महिला ह। (शि० गो० मि०)

खनिकर्म पृथ्वी के गर्भ से धातुओं, अयस्कों, औद्योगिक तथा अन्य उपयोगी खनिजो को बाहर निकालना खनिकर्म है। ससार के अनेक देशो मे, जिनमे भारत भी एक ह, खनिकर्म बहुत प्राचीन समय से ही प्रचलित है। वास्तव म प्राचीन युग म धातुओं तथा अन्य खनिजों की खपत बहुत कम थी, इसलिये छोटी छोटी खान ही पर्याप्त थी। उस समय ये खाने १०० फुट की गहराई से अधिक नहीं जाती थी। जहा पानी निकल आया करता था वहाँ नीचे खनन करना असभव हो जाता था; उस समय आधुनिक ढग के पप आदि यत्र नहीं थे।

आधुनिक युग मे खनिजों तथा धातुओं की खपत इतनी अधिक हो गई है कि प्रति वर्ष उनकी आवश्यकता करोड़ों टन की होती है। इस खपत की पूर्ति के लिये बड़ी बड़ी खानो की आवश्यकता का उत्तरोत्तर अनुभव हुआ। फलस्वरूप खनिकर्म ने विस्तृत इंजीनियरी का रूप धारण कर लिया है। इसको खनि इंजीनियरी कहते है।

किसी भी प्रकार के खननविकास के लिये खनन के पूर्व की दो अवस्थाएँ—पूर्वेक्षण (Prospecting) तथा गवेषणा (Exploration)—बहुत महत्वपूर्ण ह। पूर्वेक्षण के अतर्गत खनिजो तथा अयस्को की खोज, निक्षेपो का सामान्य अध्ययन तथा खनन की सभावनाओं को समिलित किया जाता है। इन तथ्यो की जानकारी के लिये किन साधनो की सहायता ली जाय, यह उस क्षेत्र की आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। गवेषणात्मक कार्य के अतर्गत सभाव्य निक्षेपो का विस्तार और क्षेत्र, उनकी औसत मोटाई, खनिज की संभाव्य मात्रा तथा मूल्य, निक्षेपो के अंतर्गत खननयोग्य क्षेत्रो का वितरण, खान को खोलने, विकसित करने तथा खनन को प्रभावित करनेवाली अवस्थाएँ एवं खान के विकास के लिये उपयुक्त विधि का निश्चय आदि महत्वपूर्ण तथ्य समिलित हैं। गवेषणा के तीन मुख्य अंग हैं: तलीय गवेषणा, वेधन (Drilling) तथा भूमिगत गवेषणा।

खनिकर्म को मुख्य रूप से तीन भागो मे विभाजित किया गया है: तलीय खनन (Surface mining), जलोढ खनन (Alluvial mining) तथा भूमिगत खनन (Underground mining)।

तलीय खनन—इस प्रकार के खनन मे धरातल के ऊपर जो पहाड़ आदि हैं उनको तोड़कर खनिज प्राप्त किए जाते हैं, जैसे चूने का पत्थर, बालू का पत्थर, ग्रैनाइट, लौह अयस्क आदि। इस विधि में मुख्य कार्य पत्थर का तोड़ना ही है। शिलाएँ कठोरता, मजबूती तथा टूटने मे भिन्न होती हैं। जो शिलाएँ कोमल होती है, उनको तोड़ने मे कोई कठिनाई नहीं होती। ऐसी शिलाओं के उदाहरण जिप्सम, चीनी मिट्टी, सेलखड़ी आदि

है। जिन शिलाओं में धातुएँ मिलती हैं वे अत्यंत कठोर होती हैं, जैसे ग्रैनाइट, डायोराइट आदि। इन शिलाओं को विस्फोटक पदार्थों द्वारा तोड़ा जाता है। प्राचीन तथा मध्यकालीन युगों में खनन की विधियाँ नितांत अनुपयुक्त थीं। धीरे धीरे खनन विधियों का विकास हुआ और उनमें बारूद आदि का उपयोग होने लगा। विगत एक शताब्दी में डायनेमाइट, जेलिग्नाइट, नाइट्रोग्लिसरीन आदि अनेक प्रकार के अन्यान्य विस्फोटक पदार्थों का विकास हुआ है। खनन में विस्फोटक पदार्थों का उपयोग करने के लिये पहले शिलाओं में छिद्र बनाया जाता है तथा उसमें ये विस्फोटक जो कारतूस के रूप में मिलते हैं, रख दिए जाते हैं और विद्युद्द्वारा द्वारा या फ्यूज लगाकर उनमें आग लगा दी जाती है। विस्फोट के साथ ही पत्थर के टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं। फिर इनको घन आदि से तोड़कर और छोटा कर लिया जाता है, जिससे उन्हें हटाने में सुविधा हो। पत्थरों में छिद्र बनाने के लिये जैक हेमर आदि अनेक प्रकार के वेधनयंत्रों का उपयोग किया जाता है। ये यंत्र संपीड़ित वायु अथवा किसी द्रव ईंधन द्वारा संचालित होते हैं। छिद्रों की गहराई ३-४ फुट तक तथा व्यास १–१½ इंच से लेकर २½ इंच तक होता है। कभी कभी किसी शिलातल पर ऐसे बहुत से छिद्र कर दिए जाते हैं और सब में विस्फोटक कारतूस भर दिए जाते हैं तथा विद्युत् द्वारा सभी को एक साथ ही जला दिया जाता है, इससे पूरे का पूरा पहाड़ टूट जाता है। भारत में इस प्रकार के तलीय खनन के उदाहरण चूना पत्थर तथा लौह अयस्क आदि हैं। पत्थरों को हटाने के लिये बड़ी खानों में रेल की पटरियाँ बिछाकर ठेलों का उपयोग किया जाता है। इस काम में यांत्रिक खुरपे भी बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। ये खुरपे उन पत्थरों को उठाकर बड़े बड़े ट्रकों में भर देते हैं। भारत में इस प्रकार के खनन की लागत ५ रु० से लेकर ६-१० रु० प्रति टन तक पड़ती है। तलीय खनन में ४०-५० फुट तक गहराई के पत्थर निकाले जाते हैं।

खुले हुए गड्ढों से खनन करके अयस्क तथा खनिज निकालने की विधि ताँबा, लोहा, कोयला, चूना पत्थर तथा अन्य औद्योगिक खनिजों के उत्खनन में प्रयुक्त होती है। कुछ अंशों तक यह विधि सोने, चाँदी, जस्ते तथा सीसे के खनन में भी सहायक सिद्ध हुई है। इस प्रकार के खनन में खुदाई करनेवाले विशाल यंत्र तथा अयस्क या खनिज को लादकर खान से बाहर ले जानेवाले यंत्र प्रमुख हैं। खुदाई के लिये शक्तिशाली यांत्रिक खुरपों का प्रयोग होता है। ये खुरपे विस्फोट द्वारा उड़ाए हुए पत्थरों के टुकड़ों को ट्रक अथवा मालगाड़ी के डिब्बों में भर देते हैं। कम दूरी के लिये खनन गाड़ियों (cars), डिब्बों तथा ट्रकों से काम चल जाता है और अधिक दूरी के लिये भारी ट्रकों का उपयोग किया जाता है जो लदे हुए पत्थरों को स्वचालित ढंग से किसी एक स्थान पर इकट्ठा कर देते हैं।

खुली हुई खनियों के रूप में खनन करने से पूर्व उस क्षेत्र की स्थलाकृति के मानचित्र बनाए जाते हैं और फिर खाइयाँ, परीक्षणात्मक गड्ढे तथा वेधन द्वारा निक्षेप की मोटाई तथा खनिज की उपलब्ध मात्रा का निश्चय किया जाता है। पानी के निकास की दशाओं पर भी सावधानी से विचार किया जाता है। खनन कार्य प्रारंभ होने पर सबसे पहले निक्षेपों पर स्थित मिट्टी हटाने का काम होता है। कभी कभी बड़ी खानों को खोलने के लिये मिट्टी हटाने में २-३ वर्ष तक लग जाते हैं। खनन कार्य चोटी से प्रारंभ होता है तथा एक के बाद एक सपाट बेंचें तब तक काटी जाती हैं जब तक तलहटी नहीं आ जाती। आजकल आधुनिक बोरिंग यंत्रों के आविष्कार के फलस्वरूप २५-३० फुट तक मोटाई की बेंचें काटना सरल हो गया है। इन बेंचों के ऊपर हल्के ट्रक तथा लोहे की पटरियों पर चलनेवाले ठेलों के आने जाने का प्रबंध किया जाता है। साधारणतया बेंच बनाने के लिये शिलाओं में कई छिद्र किए जाते हैं तथा विस्फोट करने के लिये नमकीली विस्फोटक टोपिकाओं का प्रयोग किया जाता है। एक पौंड विस्फोटक पदार्थ से ४ से १५ टन तक शिलाएँ टूट सकती हैं। यह मात्रा शिलाओं की दृढ़ता पर निर्भर करती है।

भारत में खुली हुई खानों के रूप में खनन की प्रणाली मुख्यतः चूना ॰ आदि के लिये बड़े स्तर पर प्रयुक्त होती है। जिन खानों में सीमेंट उत्पादन के लिये चूना पत्थर निकाला जाता है, वहाँ २००० टन तक का दैनिक उत्पादन असामान्य नहीं समझा जाता। बिहार, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा आदि में लौह अयस्क के उत्खनन में भी इसी विधि का उपयोग होता है। अन्य अयस्कों तथा खनिजों के अतिरिक्त इस प्रकार की खनन प्रणाली कोयले के लिये भी वहाँ प्रयुक्त की जा सकती है जहाँ कोयले के स्तरों की गहराई अधिक न हो। इस प्रकार कोयले के स्तर की मोटाई से यदि उस पर स्थित मिट्टी की मोटाई दस गुनी तक अधिक होती है तो भी इस प्रकार का खनन आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त ही समझा जाता है।

जलोढ खनन—कुछ प्राचीन नदियों में जो अवसाद एकत्रित हुए हैं उनमें कभी कभी बहुमूल्य धातुएँ भी निक्षिप्त हो जाती हैं। इन अवसादों को तोड़कर धातुओं की प्राप्ति करना इस प्रकार के खनन के अंतर्गत आता है। कभी कभी ये धातुएँ नदी की तलहटी में मिलती हैं और कई बार इनमें सोने जैसी बहुमूल्य धातुएँ पर्याप्त मात्रा में मिल जाती हैं। कुछ अवस्थाओं में ये अवसाद दूसरे नए अवसादों से ढक भी जाते हैं। तब उन्हें हटाकर धातुओं की प्राप्ति की जाती है। विशेष परिस्थितियों में ये धातुएँ संपीडित शैलों (conglomerates) में भी एकत्रित हुई देखी गई हैं। प्रक्षालन निक्षेपों (Placer deposits) के खनन में विशेष रूप से इसे प्रयुक्त किया जाता है। ये शिलाएँ मलबा निर्मित (detrital) होती हैं तथा इनके कणों का आकार भी भिन्न होता है। प्रक्षालन निक्षेपों के प्रमुख उपयोगी खनिज सोना, टिन, प्लैटिनम तथा विरल मिट्टियाँ हैं। शिलाओं में इन धातुओं की प्रतिशत मात्रा बहुत कम होती है। इस विधि में ऊँचे दबाव पर पानी बड़े वेग के साथ नाजल से निकलता है और शिला पर टकराता है। पानी के टक्कर के फलस्वरूप शिला टूट जाती है तथा सूक्ष्म कणों में विच्छिन्न हो जाती है। पानी की धारा के साथ ये कण आगे चल देते हैं, जहाँ पानी 'स्लूस बक्सों' जिनमें बाधक (baffle) प्लेटें लगी रहती हैं, प्रवाहित किया जाता है। बाधक प्लेटों के समीप भारी धातुएँ एकत्रित हो जाती हैं तथा धातुकणों से विहीन पानी विच्छिन्न शिला को लिए आगे बह जाता है।

जलोढ खनन विधि में प्रमुख आवश्यकता विशाल मात्रा में जल की होती है। पानी का दबाव ५० से ६०० फुट तक हो सकता है। खनन का मूल्य भी कम होता है, क्योंकि इसमें पानी से उत्पन्न शक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार खनित पदार्थों की माप घन गजों में की जाती है। बड़े निक्षेपों के खनन में यांत्रिक साधनों का भी उपयोग किया जाता है तथा कभी कभी इस विधि से ३० फुट मोटाई के निक्षेपों तक का खनन होता है। भारत में जलोढ खनन व्यवहार में नहीं है; कुछ क्षेत्रों में रेत छानकर तथा धोकर सोना आदि प्राप्त किया जाता है। बिहार में स्वर्णरेखा नदी के तट पर रहनेवाले निवासी इसी प्रकार सोने की प्राप्ति किया करते हैं।

जलोढ खनन की एक अन्य विधि में एक विशेष प्रकार की यांत्रिक नौकाओं का भी उपयोग होता है। इन नौकाओं में घूमनेवाली बाल्टियों की व्यवस्था रहती है, जो तलहटी से बालू को खरोंचकर नाव पर ला देती हैं। इस बालू के साथ ही अनेक अपचर्षी खनिज भी आ जाते हैं जिनको उपर्युक्त विधि द्वारा पृथक् कर लिया जाता है। बर्मा और मलाया के टिन क्षेत्रों के प्रक्षालन निक्षेपों के खनन में यही विधि प्रयुक्त की गई है। इस खनन में शक्ति की आवश्यकता तथा धन की लागत भी यथेष्ट पड़ती है। ये नौकाएँ २० फुट की गहराई तक की बालू खरोंच सकती हैं। इनमें प्रयुक्त बाल्टियों का समावेशन १½ से १४ घनफुट तक का होता है।

भूमिगत खनन—उन अनेक प्रकार के खनिजों तथा अयस्कों के उत्खनन में भूमिगत खनन का सहारा लेना पड़ता है जिनका खुली हुई खानों के रूप में खनन, गहराई पर स्थित होने के कारण, आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त अथवा असंभव होता है। यद्यपि भूमिगत खनन में भी बड़ी पूंजी की आवश्यकता होती है, तथापि इन निक्षेपों के खनन के लिये कोई अन्य विकल्प नहीं है। भूमिगत निक्षेप दो प्रकार के हो सकते हैं . (१) जो स्तर रूप में मिलते हैं, जैसे कोयला तथा (२) धात्विक पट्टिकाएँ।

इन दोनों प्रकार के निक्षेपों की प्रकृति नितांत भिन्न होती है, इसलिये इनके खनन की विधियाँ भी सुविधानुसार अलग अलग होती हैं। खानों में कार्य आरंभ होने से पहले पूर्वेक्षण तथा गवेषणात्मक कार्यों को सावधानी से समाप्त कर लिया जाता है। इसके पश्चात् खान का विकास कार्य प्रारंभ होता है। सर्वप्रथम कूप (shaft) बनाए जाते हैं। इनका व्यास १०-१२ फुट तक हो सकता है। यदि निक्षेपों की गहराई कम होती है तो प्रवणकों का ही निर्माण कर लिया जाता है। यदि आवश्यकता हुई तो भूमिगत मार्ग तथा गैलरियाँ भी बना ली जाती हैं। जिन शिलाओं से होता हुआ कूप जाता है, यदि वे सुदृढ़ नहीं होतीं तो इस्पात, सीमेंट आदि के अस्तर की भी आवश्यकता पड़ती है। भूमिगत खनन में कूपों का बड़ा महत्व है, क्योंकि कर्मचारियों का खान में आना जाना, खनित पदार्थों का बाहर आना, वायु का संचालन तथा खान से पानी बाहर फेंकने के लिये पंपों का स्थापन इन्हीं से संचालित होता है। किसी भी खान में कम से कम दो कूप अवश्य होते हैं।

खनिजों तथा अयस्कों को तोड़ने में फावड़े, कुदाली तथा सब्बल अथवा यंत्रों या विस्फोटक पदार्थों की सहायता ली जाती है। प्रयत्न इस बात का किया जाता है कि खनिज की अधिकाधिक मात्रा निकाल ली जाय। किंतु इससे खान में शिलाओं का संतुलन बिगड़ने लगता है। यह बहुत कुछ अभी तक शिलाओं के लचीलेपन तथा उनकी शक्ति पर निर्भर करता है। खान में शिलाओं का संतुलन बिगड़ने से बचाने के लिये खान की दीवारों तथा छत को सहारे की आवश्यकता होती है। इसके लिये जिस स्तर पर कार्य चल रहा है उसमें स्तंभ छोड़ दिए जाते हैं और आसपास से खनिज निकाल लिया जाता है। किंतु इसमें खनिज की काफी मात्रा का ह्रास होता है। इसलिये आजकल प्रयत्न यह किया जाता है कि खाली स्थानों में बालू अथवा वैसा ही कोई अन्य पदार्थ भर दिया जाय तथा उन स्तंभों का खनिज भी निकाल लिया जाय। यह विधि अधिकांश भारतीय कोयला खानों में प्रयुक्त होती है। इसके अतिरिक्त, लकड़ी, लोहा, कंक्रीट, पत्थर, ईंट आदि भी प्रयुक्त होते हैं। खनित पदार्थ को खान से ऊपर लाने के लिये पिंजड़े के आकार का झूला, इस्पात के रस्से तथा वाइंडिंग इंजन की आवश्यकता होती है। खानों के अंदर खनिज को एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाने के लिये ट्रालियाँ प्रयुक्त होती हैं, जो अधिकतर लोहे की पटरियों पर चलती हैं। कूप से होकर खान के कर्मचारी भी खान में इन्हीं झूलों से उतरते हैं। कुछ खानों में सीढ़ियाँ भी काम में आती हैं, जैसे कोडर्मा (बिहार) की अभ्रक की खानों में।

भूमिगत खानों में उपयुक्त प्रकाश तथा शुद्ध वायु के आवागमन का प्रबंध अत्यंत आवश्यक है। अधिकांश खानों में अब विद्युत् प्रकाश उपलब्ध है। अभ्रक आदि की खानों में मोमबत्तियाँ भी प्रयुक्त होती हैं। वायु के आवागमन के लिये वायुमार्ग बड़े होने चाहिए तथा वायु का प्राकृतिक प्रवाह नहीं रुकना चाहिए। कुछ स्थितियों में इसके लिये कुछ यांत्रिक साधनों की भी आवश्यकता होती है। ये यंत्र खान में शुद्ध वायु का संचालन करते हैं।

खान में कूप खोदते समय, अथवा जलपटल आ जाने पर, पानी का प्राकृतिक प्रवाह प्रारंभ हो जाता है। यह पानी नाली बनाकर एक जगह ले जाया जाता है तथा वहाँ से पंप द्वारा खान से बाहर निकाल दिया जाता है।

भूमिगत खानों में दुर्घटनाएँ भी बड़ी भयावनी होती हैं। इनमें आग लगना एक बड़ी समस्या है। आग की दुर्घटनाएँ विस्फोटक गैसों के अकस्मात् विस्फोट से, विस्फोटक पदार्थों के माध्यम से या किसी अन्य कारणवश हो सकती हैं। कोयले की खानों में आग बुझाना बहुत कठिन होता है। झरिया क्षेत्र की कुछ खानों में वर्षों से आग लगी हुई है, किंतु अभी तक उसको बुझाया नहीं जा सका है। कुछ दुर्घटनाएँ खान के बैठने से या उसमें अचानक पानी भर जाने से हो जाया करती हैं। अभी हाल २७ दिसंबर, १९७५ को धनबाद से २७ किलोमीटर दूर स्थित चासनाला कोयला खान के ८० फुट ऊपर स्थित पानी के एक विशाल हौज के फलस्वरूप ८.३५ मीटर टेढ़ हो गया और पानी बड़ी तेजी के साथ भरने लगा। फलतः उस समय खान के भीतर जो ३७२ मजदूर काम कर रहे थे वे सब खान के भीतर ही प्रवाह में फँस गए और किसी प्रकार निकाले न जा सके। इस दुर्घटना से पहले १९७३ में जितपुर में ८० मजदूर मर गए थे। हजारीबाग के प्योरी खान में हुई दुर्घटना २६८ मजदूर मरे थे। १९५८ में चनाकुरी में एक दुर्घटना हुई थी जिसमें १७६ लोग मरे थे।

खनन इंजीनियरी के आधुनिक विकास के फलस्वरूप इन दुर्घटनाओं तथा अन्य सभी समस्याओं को कम करने के यथासाध्य सभी प्रकार के प्रयास किए जाते हैं। दुर्घटना की स्थिति में आपत्कालीन खनन सैन्य दल, जो पूर्ण रूप से सुसज्जित रहता है, धन और जन की रक्षा में अपूर्व सहयोग देता है। प्रत्येक खनन क्षेत्र में इन सेवा के लिये केंद्रों की व्यवस्था रहती है। चासनाला की दुर्घटना में पानी के निकास के लिये अनेक देशों ने पंपादि यंत्र भेजकर सहायता की।

खानों का काम सुचारु रूप से संचालित होता रहे इसके लिये सभी देशों की सरकारें कानून बनाती हैं। इन कानूनों में कर्मचारियों की सुरक्षा, उनके स्वास्थ्य, खनन में उपयुक्त विधियों का उपयोग तथा अन्य संबंधित विषय रहते हैं। श्रमिकों के कल्याण के लिये भी प्रत्येक देश में, और लंबे समय से भारत में भी, योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं, जिनसे उनके सुख, सुविधा और सुरक्षा के साधनों में वृद्धि हो। (वि० सा० दु०)

खनिज फास्फेट पृथ्वी की सतह में ०.११% फास्फेट तत्व विद्यमान है। यह अनेक धातुओं अथवा तत्वों के यौगिक के रूप में है। प्रायः १५० से अधिक ऐसे खनिज ज्ञात हैं जिनमें एक प्रतिशत या अधिक फास्फोरस पेंटाक्साइड के रूप में वर्तमान है। किंतु पृथ्वी की सतह का अधिकांश फास्फोरस एक ही खनिज वर्ग में सबंधित है, जो ऐपेटाइट समूह के अंतर्गत है। इस समूह का रासायनिक सूत्र [$Ca_{10}(PO_4, CO_3)_6F(Cl, F, OH)_2$] है। इन प्रकार के धातुओं और फास्फोरस के यौगिकों को प्रायः खनिज फास्फेट कहते हैं। इन खनिज फास्फेटों को शैल फास्फेट (Rock phosphate) अथवा फास्फेटीय शैल (Phosphate rock) के नाम से भी सामान्य रूप से अभिहित किया जाता है। कभी कभी ऐपेटाइट या शैल फास्फेट न कहकर फास्फोराइट कहा जाता है। वास्तव में ये तीनों नामकरण एक ही खनिज के लिये प्रयुक्त होते हैं, जो चूने की चट्टानों के तथा कैलसियम फास्फेट की ग्रंथियों के अत्यंत ठोस पदार्थ के रूप में पृथ्वी की सतह पर या नीचे पाए जाते हैं। पहले यह धारणा थी कि इनमें जितना भी फास्फेट है वह ट्राइ-कैल्सियम फास्फेट के रूप में वर्तमान रहता है, किंतु अर्वाचीन अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि सभी प्रकार के फास्फेट शैलों में ऐपेटाइट समूह ही प्रमुख रीति से उपस्थित रहता है। मिट्टी में पाए जानेवाले फास्फेटों के स्रोत ये ही शैल फास्फेट हैं। इनके अतिरिक्त ये समुद्र के गर्तों में भी पाए जाते हैं। ऐसा विश्वास है कि समुद्र के जल से ही संसार के बड़े-से बड़े फास्फेट भंडारों की उत्पत्ति हुई है, क्योंकि ये भंडार प्रत्यक्ष अवक्षेपण अथवा चिड़ियों की बीट, या समुद्र में रहनेवाले प्राणियों द्वारा संगृहीत फास्फोरस के परिणामस्वरूप बने हैं। ऐपेटाइट की पाँच किस्में ज्ञात हैं, जो फास्फेट के स्थान पर कुछ फ्लोराइड, क्लोराइड, हाइड्रॉक्साइड, कार्बोनेट या सल्फेट के प्रतिस्थापन के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। इनके नाम हैं फ्लोर, क्लोर, हाइड्रॉक्सी, कार्बोनेट तथा सल्फेटो-ऐपेटाइट। फ्लोरीन की उपस्थिति के कारण स्फटीय चट्टानें जल में नितांत अविलेय होती हैं और इसीलिये वे युगयुगों से नष्ट भी नहीं हो रही हैं। कुछ मिट्टी में क्रांडेलाइट, ऐल्युमिनियम तथा लौह फास्फेट भी पाए जाते हैं, जो जल में अविलेय हैं। ऐपेटाइट में कैल्सियम के साथ मैग्नीशियम, मैंगनीज, स्ट्रॉन्शियम, सीसा, सोडियम, यूरेनियम, सीरियम तथा अन्य तत्व प्रतिस्थापन द्वारा स्थान ग्रहण करके नाना प्रकार के यौगिकों को जन्म दे सकते हैं। कहीं कहीं, फास्फेट का भी प्रतिस्थापन वैनेडेट, आर्सेनेट, सिलिकेट, सल्फेट, कार्बोनेट और सल्फोनेट द्वारा हो सकता है।

प्रकृति में इस प्रकार से ऐपेटाइट पाया जा सकता है :

१. आग्नेय उत्पत्ति, जिसमें ५-२१% फास्फोरस पेंटॉक्साइड वर्तमान रहता है।

२. समुद्री फास्फोराइट, जो अकार्बनिक उत्पत्ति के होते हैं और प्रधानतया कैलसियम फास्फेट होते हैं।

३ अवशिष्ट कार्बोनेटो-फ्लोर ऐपेटाइट, जो अविलेयता के कारण अब भी अवशिष्ट है।

४. नदियों के कंकरीले भंडार, जिनमें अविलेय फास्फेट रहता है।

५ फास्फेटीकृत चट्टानें जिनमें दूर-दूर से विलेय फास्फेट आ आकर कैल्सियम, ऐल्यूमिनियम तथा लौह के साथ अविलेय फास्फेट बनाते हैं।

६ गुआनो (guano) या चिड़ियों की बीट, जो समुद्री पक्षियों तथा चूहों के मल से बनता है और नाइट्रोजन तथा फास्फेट के साथ साथ कार्बनिक पदार्थयुक्त होता है।

इसके अतिरिक्त प्राचीन अस्थियों के आगार और फास्फेटीय लौह-अयस्क अथवा क्षारीय धातुमल (basic slag) भी महत्वपूर्ण स्रोत हैं। ये खनिज फास्फेट क्रमानुसार निम्नलिखित देशों में अधिक पाए जाते हैं

संयुक्त राज्य अमरीका, (फ्लोरिडा, टेनेसी तथा इडाहो के भंडार), उत्तरी अफ्रीका (अल्जीरिया, ट्यूनिस, मिस्र, मोरक्को के भंडार), सोवियत संघ (कोला महाद्वीप के भंडार), प्रशांत महासागर तथा हिंद महासागर के द्वीप (ओशनिया, क्रिस्टमस तथा नारु के आगार) तथा आस्ट्रेलिया, जापान, न्यूज़ीलैंड, बेल्जियम, फ्रांस और इंग्लैंड।

विश्व भर में फास्फेटीय चट्टान तथा ऐपेटाइट की अनुमानित मात्रा २६,३८,११,२६,००० टन होगी, जिसमें से भारत में केवल १,०१,२८,००० टन (सन् १८६६ तक के अनुमानानुसार) है। स्पष्ट है कि भारत जैसे विशाल देश के लिये यह मात्रा पर्याप्त नहीं, किंतु फिर भी इस देश की कृषि की उन्नति के लिये इतनी ही मात्रा महत्वपूर्ण है। अभी तक भारत में केवल दो स्थानों पर फास्फेट की खुदाई की जाती है। त्रिचनापल्ली के आसपास जो फास्फेट ग्रंथियाँ हैं उनमें २०-३०% फास्फोरस-पेंटॉक्साइड वर्तमान है और अनुमानित संग्रह २० लाख टन होगा जब कि बिहार में सिंहभूमि के पास पाए जानेवाले संग्रह में १५-२०% ही फॉस्फोरस पेंटॉक्साइड है और अनुमानित संग्रह ७ लाख टन होगा।

अस्थियों में प्राय. ट्राइकैल्सियम फास्फेट के अतिरिक्त सोडियम, मैग्नीशियम तथा कार्बोनेट वर्तमान रहते हैं। कच्ची अस्थियों में २-४% नाइट्रोजन, तथा २२-२५% फास्फोरस पेंटाक्साइड होता है। अस्थियों को उबालकर उनमें फास्फेटों की उपलब्धि बढ़ाई जा सकती है। भारत में सभी उपलब्ध स्रोतों से प्रतिवर्ष ४-५ लाख टन कच्ची अस्थियाँ पशुओं से प्राप्त की जा सकती हैं, किंतु प्रतिवर्ष १½ लाख टन से अधिक का एकत्रीकरण नहीं हो पाता। सन् १९५७ में भारत में ३०-३५ हजार टन अस्थियों का चूर्ण खाद के रूप में खेतों में डाला गया।

धातुमल का निर्माण इस्पात उद्योगों में उपजात के रूप में होता है। लौह अयस्कों में अशुद्धि के रूप में थोड़ा फास्फोरस वर्तमान रहता है। इनका निष्कासन इस्पात की कोटि उन्नत करने के लिये आवश्यक होता है। यदि २% से अधिक फास्फोरस इस्पात में रहे तो वह भजनशील हो जाता है अत सन् १८७७ में टॉमस (Thomas) और गिलक्राइस्ट (Gilchrist) ने मिलकर इस्पात निर्माण की एक नवीन पद्धति निकाली जिसमें लोहे की अशुद्धियों—कैल्सियम, सिलिकन, गंधक तथा फास्फोरस—को चूना-परिवर्तक (Lime converter) में रखकर गरम करने से इन अशुद्धियों को चूने के जटिल के रूप में निकाल दिया जाने लगा। यही धातुमल के नाम से विख्यात है। इसमें ७-८% से लेकर १७-२०% तक फास्फोरस पेंटॉक्साइड वर्तमान होता है। इस प्रकार से लाखों टन धातुमल जर्मनी, इंग्लैंड तथा फ्रांस में तैयार किया जाता है। इसे टॉमस फास्फेट, सिंडर फास्फेट, गंधविहीन फास्फेट या कभी कभी लौह फास्फेट के नाम से अभिहित किया जाता है। कृषकों के लिये यह सस्ता एवं उपयोगी फास्फेट उर्वरक है। भारतवर्ष में इस्पात उद्योग की उन्नति के साथ साथ धातुमल के उत्पादन में भी वृद्धि की संभावना है। अभी भी जमशेदपुर, [illegible]नगर के इस्पात-उद्योग से प्रति वर्ष कई लाख टन धातुमल निकलता है।

खनिज फास्फेटों का सर्वाधिक प्रयोग फास्फेट उर्वरकों के निर्माण में होता है। फास्फेटीय चट्टान को चूर्ण करके सल्फ्यूरिक अम्ल से अभिकृत करने पर सुपरफास्फेट बनता है। इस पदार्थ का प्रयोग उर्वरक के रूप में अत्यधिक होता है। साधारण फास्फेटीय चट्टान के चूर्ण में ३०-४०% फास्फोरस पेंटॉक्साइड, ३-४% फ्लोरीन तथा भिन्न मात्राओं में चूना रहता है। फ्लोरीन की उपस्थिति के कारण चट्टानों का फास्फेट पौधों के लिये उपलब्ध रूप में नहीं रहता। अम्लों की अभिक्रिया से इनके फास्फेटों को उपलब्ध बनाया जाता है। इन अम्लों में सल्फ्यूरिक अम्ल, नाइट्रिक अम्ल तथा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल प्रमुख रूप से प्रयुक्त किए जाते हैं। भारतवर्ष में सन् १९५७ में करीब १½ लाख टन सुपरफास्फेट का वितरण हुआ। फास्फेटीय चट्टानों में फास्फोरिक अम्ल की भी प्राप्ति की जाती है, जो निम्न कोट की फास्फेटीय चट्टानों को त्रयगी-फास्फेट बनाने के काम आता है। ऐसे फास्फेटों में फास्फोरस की मात्रा अधिक होने के कारण किसानों को कम मात्रा में उर्वरक डालना पड़ता है। फास्फेट उर्वरकों की उपयुक्तता के लिये आवश्यक है कि उनका फास्फोरस विलेय अवस्था में हो।

फास्फेटीय चट्टान को चूर्ण करके खेतों में फास्फोरस उर्वरक के रूप में काम में लाया जाता है। यदि कार्बनिक पदार्थों के साथ इस चूर्ण को मिट्टी में छोड़ा जाय तो पौधों को अधिक फास्फोरस की प्राप्ति हो सकती है। इसका कारण यह है कि कार्बनिक पदार्थों से कार्बन डाइऑक्साइड बनता है, जो पानी में घुलकर अविलेय फास्फेट को विलेय बनाता है। क्षारीय धातुमल का फास्फेट भी इसी प्रकार उपलब्ध किया जाता है। इसके चूर्ण को डालने से घासों एवं जड़ोंवाली फसलों को विशेष लाभ पहुँचता है। अम्लीय मिट्टी में फास्फेट उर्वरकों की अत्यधिक आवश्यकता होती है। कंपोस्ट बनाने में भी चूर्ण फास्फेटीय चट्टानों का उपयोग होता है। अमरीका में चूर्ण फास्फेटीय चट्टान तथा इंग्लैंड में धातुमल का उपयोग उर्वरकों के रूप में सफलतापूर्वक किया गया है। इस प्रकार के फास्फेटीय उर्वरकों के उपयोग से अन्नोत्पादन में वृद्धि होती है।

सं० ग्रं०—एस० दास . ए मॉनोग्राफ ऑव फॉस्फेट मान्योरिंग इन इंडिया, (१९५२), डब्ल्यू० एच० पियरे तथा ए० जी० नॉर्मन साएल ऐंड फर्टिलाइज़र फास्फोरस इन क्रॉप न्यूट्रिशन (१९५४); जी० एच० कोलिंग्स · कॉमर्शियल फर्टिलाइज़र्स (१९५४), के० डी० जैकोब . फर्टिलाइज़र टेक्नॉलाजी ऐंड रिसोर्सेज इन यूनाइटेड स्टेट्स, डब्ल्यू० एच० वैगामान : फास्फोरिक ऐसिड, फास्फेट ऐंड फ़ॉस्फेटिक फर्टिलाइज़र्स; भारत सरकार खाद्य और कृषि मंत्रालय की रिपोर्ट (१९५७-५८) तथा जिऑलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया। (शि० नाँ० मि०)

खनिज विज्ञान या खानिजी

खनिज (minerals) समांग (homogeneous) निर्जीव पदार्थ हैं, जो हमें प्रकृति से प्राप्त होते हैं तथा जिनका भौतिक और रासायनिक संघटन निश्चित होता है। खनिजों के योग से शिलाएँ बनती हैं। खनिजों का अध्ययन करनेवाले शास्त्र को हम खनिज विज्ञान या खानिजी कहते हैं। इस विज्ञान के अंतर्गत खनिजों के भौतिक, रासायनिक तथा प्रकाशीय गुणों का अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त खनिजों का निष्कासन और वितरण भी खानिजी के क्षेत्र में आता है।

खानिजी का अन्य विज्ञानों से निकट संबंध है। खनिजों के भौतिक तथा प्रकाशीय गुणों के अध्ययन के लिये भौतिकी का ज्ञान आवश्यक है। उनका रासायनिक विश्लेषण रसायन पर आधारित है। खनिजों के मणिभों के विस्तृत अध्ययन के लिये गणित का आश्रय लेना पड़ता है। खनिजों का वितरण भूगोल की परिधि में आता है। उत्खनन और धातुकर्म से तो खनिज विज्ञान का घनिष्ठ संबंध है। उत्खनन से हम खनिजों को बाहर निकालते और धातुकर्म से उपयोगी धातु प्राप्त करते हैं।

खानिजी का इतिहास—अभिलेखों से ज्ञात है कि पौराणिक युग में भी मनुष्यों का ध्यान खनिजों की ओर आकर्षित हुआ था, पर कब से मनुष्य ने खनिजों का उपयोग आरंभ किया, यह कहना कठिन है। कदाचित् मानवोत्पत्ति के साथ साथ खनिजों का उपयोग शुरू हो गया होगा। दीर्घ-

खनिज विज्ञान (देखिए पृष्ठ २९४)
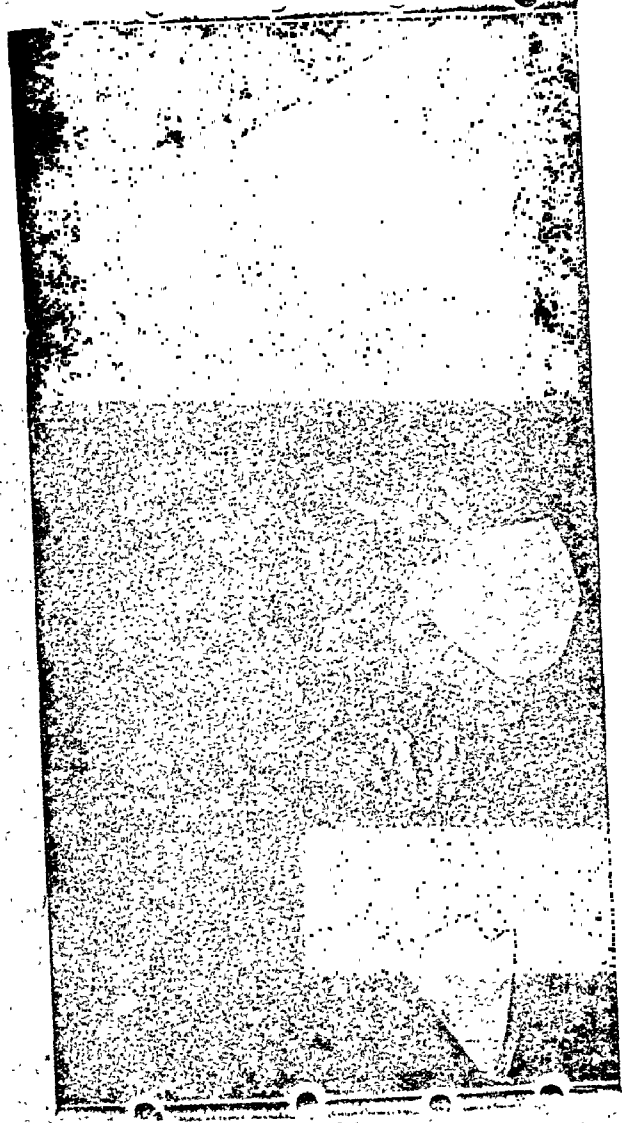
पुखराज (Topaz) के मणिभ
इन मणिभों की आकृति में विभिन्नता है।

सैन डिगो, कैलिफोर्निया से प्राप्त टूरमेलिन (Tourmaline)

फ्लोराइट (Fluorite) के युग्मज, घन मणिभ

(दि अमेरिकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)

ब्रिउस्टर (न्यूयॉर्क) से प्राप्त अभ्रक की जाति का खनिज, मसकोवाइट (Muscovite)
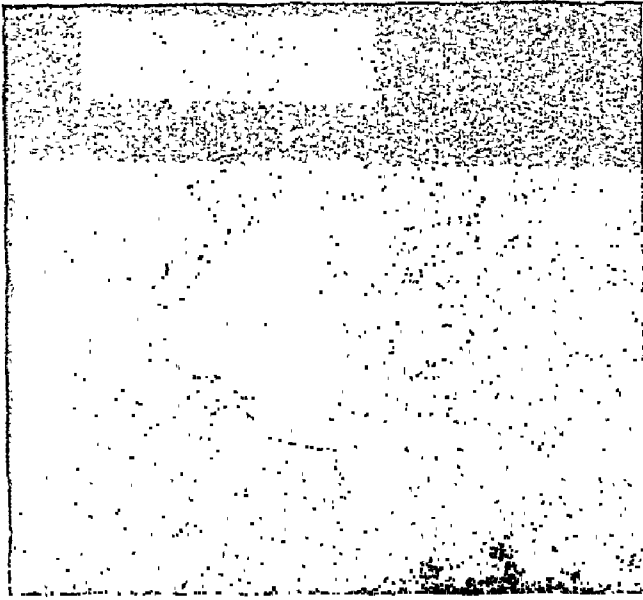
अलैस्का की खान से प्राप्त प्राकृतिक सोने का डला

स्फटिक के समपार्श्वीय मणिभ

वेवेलाइट (Wavellite) का विकीर्ण समूह
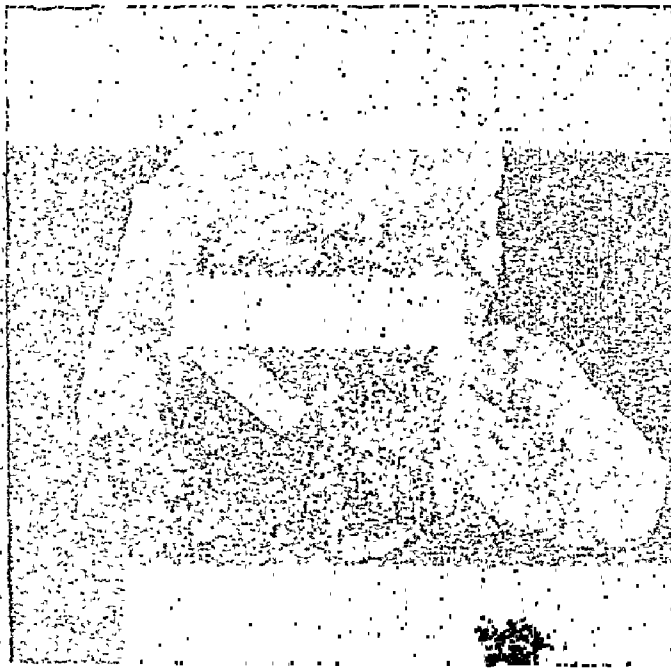
अमेरिका से प्राप्त इस रत्न का मणिभ आधार द्रव्य में दबा हुआ है

कहरुवा (Amethyst) का मणिभ

काल से मनुष्य खनिज 'हैलाइट' (सेंधा नमक) का उपयोग करता चला आ रहा है। ऐतिहासिक काल को खनिजों के आधार पर ही विद्वानों ने पाषाण युग, ताम्र युग, लौह युग आदि में विभाजित किया है।

खनिजों पर सबसे प्राचीन ग्रंथ थियोफ्रैस्टस (Theophrastus) (लगभग ३१५ ई० पू०) का लिखा है, जिसमें खनिजों को (१) धातु, (२) पत्थर तथा (३) मिट्टी तीन भागों में बाँटा है। दूसरा उल्लेखनीय ग्रंथ, प्लिनी का हिस्टोरिया नेचुरालिस (Historia Naturalis) ७७ ईस्वी में लिखा गया था जिसमें खनिजों को धातु, अयस्क (Ores), पत्थर तथा रत्न, चार भागों में विभक्त किया है।

१६वीं शती में सैक्सनी के रसायन के प्रोफेसर जॉर्ज ऐग्रिकोला ने खनिजविज्ञान पर बहुमूल्य ग्रंथ प्रकाशित किए। इनमें प्रमुख खनिज अयस्कों के विस्तृत वर्णन के साथ साथ उनके खनन, संकेंद्रण तथा धातुप्राप्ति का भी उल्लेख है। इनके दिए कुछ खनिजों के नाम आज भी प्रचलित हैं।

१६वीं तथा १७वीं शती मे खनिजों पर कार्य करनेवाले वैज्ञानिकों में गेसनर (K. von Gesner), ऐन्सेल्म बोईथियस डि बूड (Anselm Boethius de Boodt) तथा इरैसमस बारथोलिनस (Erasmus Bartholinus) उल्लेखनीय हैं। ऐन्सेल्म ने मूल्यवान् पत्थरों तथा गेसनर ने खनिजों पर ग्रंथ लिखे हैं।

१७२५ ई० में हेंकेल (J. F. Henckel) का ग्रंथ पाइराइटोलॉजिया (Pyritologia) प्रकाशित हुआ। उसके दस वर्ष पश्चात् कार्ल लिने ने सिस्टेमा नैचुरल (Systema Natural) ग्रंथ की रचना की। १८वीं शती के मध्य भाग में वैलेरियस (J. G Wallerius) ने खनिजों के रासायनिक गुणों के अध्ययन पर जोर दिया।

पर विज्ञान के रूप में खानिजी की प्रगति १८वीं शती के अंतिम भाग में आरंभ हुई। इस समय मणिभ विज्ञान (Crystallography) की नींव पड़ी। रोमे द लिल (Rome de l'Isle) ने एक ही पदार्थ के मणिभों की भिन्न भिन्न आकृतियों के संबंधों का अध्ययन किया तथा मणिभों के कोणों की माप की।

ऐबे हाउई (Abbe Hauy) ने सममिति के नियम (Laws of Symmetry), परिमेय घातांक के नियम (Laws of Rational Indices), खनिजों की विदलन सतह, उनकी मणिभ आकृति के संबंध तथा मणिभों की मौलिक रचना आदि हमें प्रदान की है, जिससे मणिभ विज्ञान के जन्मदाता के रूप में वे प्रसिद्ध हैं।

हाउई के नियमों के आधार पर १९वीं शताब्दी में खनिज अध्ययन में तीव्रता आई। इस काल के मुख्य खनिज वैज्ञानिकों में हैसल, डाना, ब्रियूस्टर, फ्रांकेन हाइम, ब्रेविस, फेडरोव आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

खनिजों के गुण——खनिजों की पहचान के लिये उनके भौतिक और रासायनिक गुणों का अध्ययन आवश्यक है। मुख्य भौतिक गुण निम्नलिखित हैं :

(१) आकृति, (२) रंग और चूर्ण का रंग, (३) चमक, (४) कठोरता, (५) विदलन, (६) टूट, (७) आपेक्षिक घनत्व, (८) स्पर्श, स्वाद तथा गंध और (९) नम्यता तथा प्रत्यास्थता।

(१) **आकृति**——खनिजों के रूप तथा आकृति का ठीक ठीक अध्ययन तभी संभव है जब वे पूर्ण मणिभ रूप में उपलब्ध हों। पर पूर्ण और सुंदर मणिभ दुर्लभता से प्राप्त होते हैं। आदर्श मणिभों की रचना के लिये मणिभीकरण क्रिया का स्वतंत्र पर्यावरण में होना आवश्यक है। स्वतंत्र पर्यावरण की अनुपस्थिति में खनिजों में निम्नलिखित आकृतियाँ पाई जाती है——सूच्याकार, उदाहरण स्टिबनाइट (Stib ite); फलकासम, उदाहरण कायनाइट (Kyanite); गुच्छाकार, उदाहरण कैलसिडोनी (Chalcedony); स्तनितस्तन जैसी आकृति, उदाहरण मैलेकाइट (Malachite); रेशेदार, जैसे ऐस्बेस्टस (Asbestos); परतदार, जैसे अभ्रक (Mica); दानेदार, जैसे क्रोमाइट (Chromite); वृक्काकार——गुर्दे के समान——जैसे हीमेटाइट (Hematite); पटलाकार, जैसे बैराइट (Barite); कलायाश्मिक (pisolitic), चने के समान गोल दाने का समूह, जैसे बॉक्साइट (Bauxite) आदि।

(२) **रंग और चूर्ण का रंग**——खनिजों के वास्तविक रंग उनके रासायनिक संघटन तथा आंतरिक परमाणु व्यवस्था दोनों पर निर्भर करते हैं। एक ही रासायनिक संघटन के दो खनिज, ग्रैफाइट और हीरा, क्रमशः काले और रंगहीन होते हैं। इन दोनों के रासायनिक संघटन एक से हैं, पर भौतिक रचनाएँ भिन्न भिन्न हैं।

एक ही खनिज, उसमें विद्यमान विषमताओं के कारण, विभिन्न रंगों का होता है। कैलसाइट रंगहीन होता है, पर बहुधा श्वेत, नीले तथा पीले रंगों का भी मिलता है।

साधारणतः खनिज तथा उसके चूर्ण का रंग एक सा होता है। पर बहुत से ऐसे भी खनिज हैं जिनके चूर्ण का रंग उनके रंग से भिन्न होता है। खनिज के चूर्ण का रंग पकी चीनी मिट्टी की खुरदुरी सतह पर चूर्ण को रगड़ने मे देखा जा सकता है। पाइराइट का रंग पीतल की तरह पीला होता है, पर इस खनिज के चूर्ण का रंग काला होता है। अयस्क खनिजों (ore minerals) की पहचान मे यह गुण विशेष रूप से सहायक होता है।

(३) **चमक**——खनिजों की चमक उनकी सतह से परावर्तित प्रकाश की मात्रा और गुण पर निर्भर है। अधिकतर धातु खनिजों की चमक धात्विक (metallic) तथा अधातु खनिजों की चमक अधात्विक होती है। अधात्विक चमक कई प्रकार की हो सकती है, जैसे हीरकसम, मोतीसम, राल्सम, काचोपम (काच या टूटे शीशे की तरह), जैसे क्वार्ट्ज् में। रेशेदार खनिजों की चमक रेशमी होती है। इसके विपरीत कुछ खनिजों में चमक नहीं होती, जैसे केओलिनाइट (Kaolinite)।

(४) **कठोरता**——खनिजों की कठोरता एक खनिज को दूसरे खनिज से रगड़ने पर जानी जाती है। एक खनिज जो दूसरे खनिज को आसानी से खुरच देता है, अपेक्षाकृत कठोर होता है। इस प्रकार खनिजों की तुलनात्मक कठोरता मापी जाती है। सुप्रसिद्ध खनिजज्ञ मोस (Mohs) ने १८२० ई० में खनिजों की कठोरता मापने के लिये एक पैमाना तैयार किया जो आज भी उपयोग में लाया जाता है तथा अपने रचयिता के नाम पर 'मोस का कठोरता मापक' कहलाता है। इस मापक में दस खनिज हैं जो बढ़ती हुई कठोरता के अनुसार व्यवस्थित रहते हैं। इन खनिजों के नाम क्रम से नीचे दिए गए हैं :

१. टाल्क (Talc), २. जिपसम (Gypsum), ३. कैल्साइट (Calcite), ४. फ्लोराइट, (Fluorite), ५. ऐपेटाइट, (Apatite), ६. फेल्सपार (Feldspar), ७. क्वार्ट्ज (Quartz), ८. पुष्पराग (Topaz), ९. कुरुविंद (Corundum) तथा १०. हीरा (Diamond)।

इन खनिजों में टाल्क सबसे मुलायम तथा हीरा सबसे कठोर है। इनकी कठोरता यथाक्रम १ और १० है। यदि कोई खनिज फ्लोराइट को खुरच देता है और ऐपेटाइट से खुरच जाता है तो उस खनिज की कठोरता ४ से ५ के बीच में होगी। इस प्रकार इस मापक के भिन्न भिन्न अवयवों से रगड़ने पर वांछित खनिज की कठोरता जानी जा सकती है।

इस मापक के संबंध में यह तथ्य जानना आवश्यक है कि मापक की कठोरता कोई निश्चित अनुपात में नहीं रहती, अर्थात् कैल्साइट टाल्क से तीन गुना तथा ऐपेटाइट टाल्क से पाँच गुना कठोर नहीं है। यह एक स्वच्छंद (arbitrary) मापक है।

उपर्युक्त मापक का उपयोग प्रयोगशालाओं में किया जाता है, पर वनों तथा पर्वतों पर भ्रमण करनेवाले भौमिकीविद् सुविधा की दृष्टि से एक अन्य मापक उपयोग में लाते हैं। इसे 'कठोरता नापने का क्षेत्र पैमाना' कहते हैं :

१ से २ तक कठोरतावाले खनिज नाखून से खुरच जाते हैं।

२½ से ३ कठोरतावाले खनिज ताँबे के पैसे से खुरच जाते हैं।

३ से ५ तक कठोरतावाले खनिज चाकू से खुरच जाते हैं।

६ कठोरतावाले खनिज पर चाकू का निशान पड जाता है।

७ से १० तक कठोरतावाले खनिज शीशे को क्रमानुसार सरलता से खुरच देते हैं।

खनिजो की कठोरता मापते समय कुछ सावधानी बरतना आवश्यक है। कुछ खनिज परिवर्तित अवस्था में पाए जाते हैं। अत उनकी कठोरता अपेक्षाकृत कम हो जाती है। खनिजों की यथार्थ कठोरता जानने के लिये उनकी नई टूटी हुई सतह की जाँच करनी चाहिए। कुछ खनिजो में भिन्न दिशाओं में कठोरता भिन्न भिन्न पाई जाती है, जैसे कायनाइट में। आतरिक अणुव्यवस्था की विभिन्नता के कारण ऐसा होता है। कुछ खनिज खदान पर निकलने पर मुलायम होते है, पर कुछ समय के उपरात कठोर हो जाते है, जैसे बॉक्साइट।

(५) भाजन (Cleavage)——अधिकतर खनिज विशेष दशाओं में सरलता से टूटते है और टूटने पर उनकी सतह चिकनी और समतल बनी रहती हैं। खनिजो के इस गुण को ही भाजन कहते हैं। भाजन की दिशाओं में अणु व्यवस्था दुर्बल होती है। भाजन कई दिशाओं में हो सकता है, जैसे अभ्रक में एक दिशा में, फेल्सपार में दो दिशाओं में, कैल्साइट में तीन दिशाओं में और स्फेलेराइट में चार दिशाओं में। अभ्रक का भाजन आदर्श होता है। एक दिशा में इसके बहुत पतले पत्र अलग किए जा सकते हैं और हर पत्र में समान चिकनापन और चमक रहती है। अन्य खनिजो में इतना परिपूर्ण भाजन देखने को नहीं मिलता। यह ध्यान में रखना चाहिए कि सभी खनिजो में भाजन पृष्ठ नहीं विद्यमान होते, जैसे अमणिभीय खनिजो (amorphous minerals) में।

(६) भंग (Fracture)——भाजन सतह के अतिरिक्त अन्य किसी दिशा में जब खनिजों को तोड़ा जाता है तब उसे भग कहते है। भग कई प्रकार के हो सकते हैं जैसे शखाभ (conchoidal)। इस प्रकार टूटने पर पृष्ठ चिकना और नतोदर होता है, जैसा फ्लिंट (Flint) में, अथवा जैसा टूरमेलीन (Tourmaline) में। रेशेदार खनिजो के टूटने पर सतह असमान होती है और छोटे बड़े रेशे दोनो सतहो पर दिखाई देते हैं। इस भग को 'खपच्चीदार' (splintery) कहते हैं। धातुओं के वितरण अधिकतर खुरदुरे (hackly) होते हैं।

(७) आपेक्षिक गुरुत्व (Specific Gravity)——खनिज के (हवा में) भार और उसके बराबर आयतनवाले पानी के भार के अनुपात को उस खनिज का आपेक्षिक गुरुत्व कहते हैं। आपेक्षिक गुरुत्व एक गणितीय सख्या होती है। अत खनिजो को पहचानने में इसका विशेष महत्व है। खनिजो का आपेक्षिक गुरुत्व नियत होता है, पर उन खनिजो का, जिनका यौगिक नियत (constant) नहीं होता, आपेक्षिक गुरुत्व यौगिक के साथ साथ बदलता है। उदाहरण के लिये समरूपी प्लेजियोक्लेस (Plagioclase) वर्ग में ऐल्बाइट (Albite), ओलिगोक्लेस (Oligoclase) ऐंडिजिन (Andesine) आदि के आपेक्षिक गुरुत्व भिन्न भिन्न है।

आपेक्षिक गुरुत्व जानने की बहुत सी विधियाँ हैं, पर सबसे सरल विधि है भारी द्रवो की सहायता से आपेक्षिक गुरुत्व निकालना। इसके लिये साधारणत मेथिलीन आयोडाइड (Methylene Iodide) द्रव (आ० गु० ३.३२) प्रयुक्त किया जाता है। इसके लिये भिन्न भिन्न आपेक्षिक गुरुत्व के सूचक पहले से ही तैयार कर लिए जाते हैं, जैसे जिपसम (आ० गु० २.३२), आर्थोक्लेस(Orthoclase), आ० गु० २.५६, क्वार्ट्ज (Quartz) आ० गु० २.६५, कैल्साइट (Calcite) आ० गु० २.७२, ऐरेगोनाइट (Aragonite) आ० गु० २.९३, एपेटाइट आ० गु० ३.२ आदि। ३.३ से अधिक आपेक्षिक गुरुत्ववाले खनिजो के लिये मेथिलीन-आयोडाइड से भारी द्रव उपयोग में लाए जाते हैं। साधारणत शिला निर्माणकारी खनिजों के आपेक्षिक गुरुत्व १.५ से ३ तक, रत्न पत्थरों में २.२ से ४.९ तक, अयस्को के ३ से ८ तक और धातुओं के १९ तक होते हैं।

(८) स्पर्श, स्वाद एव गध—स्पर्श करने पर कुछ खनिज चिकने [illegible] सीपियोलाइट, कुछ साबुन की तरह, उदाहरण टाल्क [illegible] तथा सर्पेंटीन (Serpentine), कुछ शीतल, उदाहरण सोना, चाँदी आदि, प्रतीत होते हैं। जो खनिज जल में घुल जाते हैं उनमें स्वाद होता है, जैसे हेलाइट (सेंधा नमक)। कुछ खनिज रगड़ने या गरम करने पर गध देते हैं, जैसे गधक और आर्सेनिक खनिज।

(९) नम्यता तथा प्रत्यास्थता——कुछ खनिज नम्य होते हैं, अर्थात् उनको आसानी से मोड़ा या झुकाया जा सकता है, उदाहरण टाल्क, क्लोराइट। कुछ खनिज आसानी से झुकाए जा सकते है, पर ज्यों ही बल हटाया जाता है, वे पुन अपने पूर्व रूप में आ जाते हैं। खनिजो के इस गुण को 'प्रत्यावस्था' कहते हैं। अभ्रक इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

इनके अतिरिक्त कुछ खनिजो को हथौड़े से पीटकर चादर का रूप दिया जा सकता है। यह गुण कुछ धातुओं, जैसे सोना, चाँदी, ताँबा आदि में ही पाया जाता है। कुछ खनिजो की पतली पतली चादरें काटी जा सकती हैं तथा कुछ के तार खींचे जा सकते है। कुछ खनिज चुबकीय होते हैं, जैसे मैग्नेटाइट (Magnetite)। कुछ अल्प चुबकीय होते हैं, जैसे पिरहोटाइट, प्लैटिनम। कुछ खनिज ताप और विद्युत् के सुचालक होते है तथा कुछ कुचालक। सपीडन या ताप के प्रभाव से कुछ खनिजो में ध्रुवत्व (Polarity) विकसित हो जाता है।

(१०) पारदर्शक——खनिजों में कुछ भौतिक गुण सूक्ष्मदर्शी की सहायता से देखे जाते है, जैसे स्वरूप, रग, विदलन, वर्तनाक (Refractive Index) तथा खनिज की भिन्न भिन्न दिशाओं में प्रकाश का व्यवहार। पारदर्शक खनिजो में अतिम दो गुण अर्थात् वर्तनाक तथा भिन्न भिन्न दिशाओं में प्रकाश के व्यवहार का अध्ययन अति महत्वपूर्ण है। जिन खनिजो का वर्तनाक सभी दिशाओं में समान होता है वे समदिक् (isotropic) कहलाते है। इसके विपरीत, जिन खनिजो का वर्तनाक विभिन्न दिशाओं में भिन्न भिन्न होता है, वे विषमदिक् (anisotropic) कहलाते हैं। कुछ खनिजो की भिन्न दिशाओं में प्रकाश का शोषण असमान होता है, अत भिन्न भिन्न दिशाओं में खनिज के भिन्न भिन्न रग दिखलाई देते है। इस परिवृत्ति को वर्णपरिवर्तन (Pleochroism) कहते हैं।

अपारदर्शक खनिज अयस्को का अध्ययन अयस्क सूक्ष्मदर्शी (ore microscope) द्वारा किया जाता है। इन खनिजों की सतह को पालिश करके परावर्तित प्रकाश में उनका अध्ययन किया जाता है। इससे अयस्को के भिन्न भिन्न अवयवों, उनके पारस्परिक सबध, उनमें विद्यमान सरचनाओं तथा उनके उद्गम का ज्ञान प्राप्त होता है। अयस्क सूक्ष्मदर्शी से खनिज अध्ययन में एक नए युग का आरभ हो गया है।

खनिजो के रासायनिक गुण——खनिज या तो रासायनिक तत्वो के रूप में पाए जाते है, या तत्वों के यौगिकों के रूप में। तत्व रूप में पाई जानेवाली मुख्य धातुएँ हैं सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा। कुछ अधातुएँ भी तत्व रूप में पाई जाती हैं, जैसे गधक, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन आदि। यौगिको की रचना धातुओं और अधातुओं के मेल से होती है। अधिकतर खनिज सिलिकेट के रूप में पाए जाते है, फिर आक्साइड के रूप में, जैसे क्वार्ट्ज (Silica, SiO_2) तथा कुरड (Alumina, Al_2O_3)। कुछ खनिज सल्फाइड के रूप में, जैसे गैलेना तथा पाइराइट्स, कुछ सल्फेट के रूप में, जैसे बेराइट (Barytes), कुछ कार्बोनेट के रूप में, जैसे कैल्साइट आदि तथा कुछ फॉस्फेट, नाइट्रेट, क्लोराइड, फ्लोराइट, आदि के रूप में मिलते हैं।

खनिजो के अध्ययन के लिये उनका रासायनिक योग अत्यधिक महत्व नहीं रखता, क्योंकि एक ही रासायनिक आकृति के दो या दो से अधिक खनिज हो सकते हैं, उदाहरण के लिये रासायनिक तत्व कार्बन के दो खनिज हैं, ग्रैफाइट और हीरा। रासायनिक सघटन समान होते हुए भी इन दोनो के भौतिक गुण अलग अलग हैं। ग्रैफाइट काला, मुलायम तथा हलका होता है, हीरा रगहीन, कठोर तथा भारी होता है। साथ ही, दोनों की अणुव्यवस्था भी भिन्न भिन्न होती है। खनिजों के इस गुण को बहुक्रूतिकता (Polymorphism) कहते हैं।

अनुरूप (analogous) रासायनिक सयोग के खनिज बहुधा समान आकृति तथा लगभग समान भौतिक गुणवाले होते हैं। खनिजों के इस गुण

को समाकृतिकला (Isomorphism) कहते हैं। समाकृतिकता का कारण भिन्न अनुरूप खनिजों में चेणुओं की समान व्यवस्था है। समाकृतिकता का सबसे अच्छा उदाहरण प्लैजियोक्लेस माला है नाइस माला के खनिज हैं : ऐल्वाइट, ओलिगोक्लेस (Oligoclase), ऐंडीसीन, लैब्रोडराइट (Labrodctite), वाइटाउनाइट (Bytownite) और ऐनॉर्थाइट (Anorthite)। प्रथम खनिज ऐल्वाइट का योग है—$Na\ Al\ Si_3\ O_8$ और अंतिम खनिज ऐनॉर्थाइ का योग है—$Ca\ Al_2\ Si_2\ O_8$ शेष खनिज ऐल्वाइट और ऐनॉर्थाइट के भिन्न भिन्न मात्राओं में मिलने से बनते हैं। स्वयं ऐल्वाइट और ऐनॉर्थाइट में भी एक दूसरे की विद्यमानता रहती है। इस प्रकार इस माला के सभी खनिज अनुरूप संयोग के हैं। ये सभी खनिज ट्राइक्लीनिक समुदाय के मणिभ बनाते हैं। इनके भौतिक गुणों का अंतर नियमित और क्रमिक है।

अधिकतर खनिज समांग मिश्रण ही होते है, जैसे गार्नेट, ऑलोवीन, टूरमेलीन इत्यादि। कैल्साइट$CaCO_3$, डोलोमाइट, $CaCO\ MgCO_3$, सिडराइट $FeCO_3$, मैग्नेसाइट $MgCO_3$, स्मियसोनाइट $ZnCO_3$ भी एक दूसरे खनिज के मूल तत्व के आंशिक या पूर्ण परिवर्तन से बने है। ऐसा उनकी रासायनिक व्याकृति से विदित है। ये सभी खनिज समाकृतिक है। सब के मणिभ हेक्सागोनल समुदाय के होते हैं तथा इन सबके गुण भी लगभग समान हैं।

खनिज आकृतियों में कभी कभी एक अन्य विशेषता दिखाई पड़ती है। खनिज ऐसी आकृति में मिलता है जो स्वत: उसकी नहीं होती। खनिज की इस आकृति को छद्माकृतिकता (Pseudomorphism) कहते हैं। हीमेटाइट के पट्कोणीय (hexagonal) वर्ग के मणिभ बनते है, पर कभी कभी यह घनाकार आकृति में, जो घन प्रणाली (cubic system) की प्रतीक है, मिलता है। इस प्रकार क्वार्ट्ज (Quartz) कभी कभी कैल्साइट (Calcite) की आकृति में, सर्पेंटीन ऑलिवीन की आकृति में तथा गैलेना पाइरोमोरफाइट की आकृति में मिलता है। छद्माकृतिक खनिज की रचना एक खनिज के दूसरे खनिज द्वारा प्रतिस्थापन या पुन:-स्थापन द्वारा होती है। कभी कभी यह रचना एक खनिज के घुल जाने या नष्ट हो जाने पर उसके रिक्त स्थान में दूसरे खनिज के घोल के जमने से भी होती है। कभी कभी खनिज परिवर्तन द्वारा भी छद्माकृति का हो जाता है।

खनिजों के रासायनिक संबंध में एक बात और महत्वपूर्ण है। बहुत से खनिजों के योग में जल विद्यमान रहता है। कुछ खनिजों का जल साधारण ताप पर ही बाहर निकल जाता है, जैसे जिओलाइट, पर कुछ खनिजों, जैसे अभ्रक तथा मैलेकाइट का जल केवल उच्च ताप पर ही निष्कासित होता है। इसमें पहले को 'मणिभ' का जल' (water of crystallization) तथा पिछले को' संघटन का जल' (water of constitution) कहते हैं।

खनिजों के कृतिम निर्माण भी खनिज रसायन के अंतर्गत आते है। प्रयोगशालाओं में कृत्रिम विधि से बहुत से खनिज तथा कुछ रत्न पत्थर भी तैयार किए जा चुके हैं। कुछ ऐसे मणिभ भी तैयार किए गए हैं जिनके अनुरूप-खनिज प्रकृति में नहीं पाए जाते। रासायनिक प्रक्रियाओं के ज्ञान से खनिजों का उद्गम जानने में बड़ी सहायता मिलती है। इस दिशा में वाशिंगटन (सं० रा०, अमरीका) के कार्नेगी इंस्टिट्यूट की भू-भौतिकीय प्रयोगशाला में किया गया कार्य विशेष रूप से सराहनीय है।

खनिजों के उद्गम और प्राप्तिस्थान—खनिज हमें भूपटल से प्राप्त होते हैं। भूपटल शिलाओं का बना है। शिलाएँ खनिजों की बनी होती है। ये शिलाएँ तीन प्रकार की हैं : आग्नेय (igneous), तलछटी (sedimentary) और कायांतरित (metamorphic) । आग्नेय शिलाएँ पृथ्वी के अंतरंग में विद्यमान तरल पाषाणीय पदार्थ मैग्मा, (magma) के जमने से बनती हैं। अपक्षरण के फलस्वरूप आग्नेय शिलाओं का विघटन होता है। इस विघटित पदार्थ के सागर में जमा होने पर तलछटी शिलाओं का निर्माण होता है। उच्च दाब और ताप के प्रभाव में आग्नेय और तलछटी शिलाओं का रूप बदल जाता है। नए नए खनिज निर्मित हो जाते हैं। इस प्रकार परिवर्तित शिलाओं को 'कायांतरित शिलाएँ' कहते हैं।

भिन्न भिन्न शिलाओं का योग भिन्न भिन्न होता है। कुछ खनिज तो एक विशेष प्रकार की शिलाओ में ही पाए जाते है, जैसे क्रोमाइट (Chromite) के निक्षेप अति समाक्षारीय शिलाओं, पेरिडोटाइट (Peridotite) तथा ड्यूनाइट (Dunite), मे ही मिलते हैं। टिन, टंग्स्टन तथा यूरेनियम धातुओं से खनिज अम्लीय आग्नेय शिलाओं में ही सीमित हैं। लौह और मैंगनीज के निक्षेप अधिकतर जलज उद्गम (sedimentary origin) के है। कोयला, तेल, चूने का पत्थर आदि हमे तलछटी शिलाओं से प्राप्त होते है। इसके विपरीत ऐस्बेस्टस (Asbestos), सिलिमेनाइट (Sslimenite), गार्नेट (Garnet), काइनाइट (Kainite) आदि खनिज केवल कायांतरित शिलाओं मे ही मिलते है।

खनिज निक्षेपों को दो वर्गो में विभाजित किया गया है : समकालीन निक्षेप और उपकालीन निक्षेप। समकालीन निक्षेपों में खनिज और शिला का निर्माण साथ साथ होता है, किंतु उपकालीन निक्षेपो मे शिलाओ का निर्माण होने के उपरांत खनिजो का जमाव होता है। मुख्य खनिज निक्षेप निम्नलिखित हैं :

१. द्रुतपुंज पृथक्करण (Magmatic segregations)—कुछ खनिज मैग्मा के ठंढा होने के पूर्व ही मणिभीय होकर शिला में किनारों पर या नीचे के भागों में जमा हो जाते हैं। बहुधा यह ऐसे खनिज होते हैं जिनका आपेक्षिक घनत्व अधिक होता है। क्रोमाइट, मैगनेटाइट तथा प्लैटिनम के निक्षेप द्रुतपुंज पृथक्करण द्वारा बने है।

२. पेगमेटाइट निक्षेप (Pegmetite deposits)—द्रुतपुंज के प्रथम भाग के मणिभीकरण के पश्चात् अवशिष्ट द्रुतपुंज में द्रावक (fluxes) तथा गैसीय पदार्थो का आधिक्य हो जाता है। इस अवशिष्ट द्रव द्रुतपुंज के जमने से जो शिलाएँ बनती है उन्हें 'पेगमेटाइट' कहते है। इन शिलाओं की विशेषता है इनके खनिजों का बृहदाकार। क्वार्ट्ज़, फेल्स्पार, श्वेताभ्रक, बेरिल,गार्नेट एपेटाइट, टूरमेलीन आदि खनिजों के आर्थिक निक्षेप पेगमेटाइट शिलाओं में ही पाए जाते हैं।

३. वात्यंशिक खनिज निक्षेप (Pneumatolytic deposits)—अवशिष्ट द्रुतपुंज में विद्यमान गैसें और वाष्प अपने साथ बहुत सा खनिज पदार्थ ले जाती हैं, जो अंतत: शिलाओं में निक्षिप्त हो जाता है। इन निक्षेपों में पाए जानेवाले मुख्य खनिज है : टूरमेलीन (Tourmaline), फ्लोराइट (Fluorite) तथा कैसिटराइट (Cassiterite)।

४. उष्णजलीय खनिज निक्षेप (Hydrothermal deposits)—उपर्युक्त तीनों प्रकार की रचनाओं के उपरांत द्रुतपुंज में जल की प्रधानता रहती है। जल उष्ण होता है। इसका ताप लगभग ५०° से ५००° सेंटीग्रेड तक होता है। अत: जल में वाष्प भी मिली रहती है। इस उष्ण जल में बहुत से खनिज पदार्थ सरलता से घुली अवस्था में रहते हैं तथा जल के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को सुगमता से ले जाए जाते हैं। उपयुक्त स्थान मिलने पर शिलाओं की दरारों में, भ्रंश समतलों में या विभंगों आदि में जल द्वारा ये खनिज पदार्थ जमा कर दिए जाते है, जैसे सीसा और जस्ते के निक्षेप अधिकतर उष्णजलीय उद्गम के है।

५. कायांतरित खनिज निक्षेप (Metasomatic mineral deposits)—अधस्थल जल में बहुत से क्षार मिले रहते हैं। इस जल में शिलाओं तथा उनमें विद्यमान खनिजों को घुलाने का सामर्थ्य होता है। इस प्रकार खनिज घोलों की रचना होती है। खनिज घोलों और शिलाओं की क्रिया के फलस्वरूप बहुधा ऐसा होता है कि शिला के एक कण के स्थान पर खनिज घोल से एक कण निक्षिप्त हो जाता है। इस प्रकार धीरे धीरे कण कण करके पूरी शिला का परिवर्तन हो जाता है। इसी परिवर्तन को कायांतरित पुनरस्थापन (Metasomatic replacement)

कहते हैं, जैसे कुछ हीमेटाइट (Haematite) निक्षेप। बिहार और उड़ीसा के हीमेटाइट निक्षेप कुछ विद्वानों के विचार में कायातरण क्रिया के फलस्वरूप निर्मित हुए हैं। कुछ वैज्ञानिक तरल पाषाणीय पदार्थ (मैग्मा) के जल से बने निक्षेपों को भी इसी के अंतर्गत रखते हैं।

६. कछारी निक्षेप (Placer deposist)—पहाड़ी प्रदेशों में नदियाँ वेगवती होती हैं। उनमें शिलाओं के अपक्षरण से प्राप्त खनिजों और धातुओं को अपने साथ बहा ले जाने का सामर्थ्य होता है। पर मैदान में प्रवेश करने पर जलधारा का वेग कम हो जाता है। वह अधिक भारवाले खनिजों और धातुओं को अपने साथ आगे ले जाने में असमर्थ रहती है। परिणामस्वरूप गति धीमी होने के साथ साथ भारी खनिज नदियों के किनारे या नीचे की बालू में बैठ जाते हैं। इस प्रकार बहुधा बालू में सोना, प्लैटिनम, मैग्नेटाइट, जरकन (Zircon) आदि के निक्षेप मिलते हैं। इन्हें ही कछारी निक्षेप कहते हैं। कछारी निक्षेपों के लिये दो बातें आवश्यक हैं प्रथम खनिज भारी होना चाहिए, अर्थात् उसका आपेक्षिक घनत्व अधिक होना चाहिए। द्वितीय, खनिज प्रतिरोधी होना चाहिए, अर्थात् अपनी यात्रा के मार्ग में वह अपना स्वरूप बनाए रखे, जल में घुल न जाए तथा अपरिवर्तित रहे। भारत में भी बहुत सी नदियों की बालू में सोने के कण मिलते हैं। आंध्र प्रदेश में समुद्री किनारों की बालू में से जरकन, गार्नेट, मोनाजाइट (Monazite) आदि महत्वपूर्ण खनिज प्राप्त होते हैं।

तलछटी और कायातरित शिलाओं में पाए जानेवाले खनिजों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

खनिजों की नामकरण पद्धति (या नामावली) और वर्गीकरण—खनिजों के नामकरण की पद्धति अति प्राचीन है। ऋग्वेद में हिरण, रजत तथा अयस का उल्लेख है। इनका अर्थ क्रमशः सोना, चाँदी और लोहा है। इनके अतिरिक्त स्टिबियम (Stibium) के लिये अंजन, कुप्रम (Cuprum) के लिये ताम्र, सल्फर (Sulphur) के लिये शुल्वारि, आर्सेनिक (Arsenic) के लिये नेपाली आदि नामों का प्रयोग भारत में प्राचीन काल से होता चला आया है। ग्रीस में पत्थरों के नामकरण के अंत में आइट (ite) शब्द का उपयोग किया जाता है। खनिज का नाम उसके प्राप्तिस्थान के नाम पर, या उसके अन्वेषक के नाम पर, या किसी बड़े वैज्ञानिक के नाम पर, अथवा खनिजों में विद्यमान किसी विशेष गुण के आधार पर, रखा जाता था और उसके अंत में बहुधा 'आइट' जोड़ दिया जाता था। उदाहरण के लिये मैग्नेटाइट, कैल्साइट, हीमेटाइट, पाइरोल्यूसाइट (Pyrolusite), बायोटाइट (Biotite), जोइसाइट (Zoisite), फ्लोराइट (Fluorite), विचाइट आदि। इनमें हीमेटाइट, फ्लोराइट और मैग्नेटाइट नाम गुणों के आधार पर हैं तथा बायोटाइट, विचाइट और जोइसाइट व्यक्तियों के नाम पर आधारित हैं। बहुत से खनिजों के नाम में 'आइट' शब्द का अभाव भी है, जैसे फेल्सपार, बेरिल और गार्नेट, एवं कुछ नामों के अंत में आइट के स्थान पर 'ईन' (ine) शब्द लगा है, जैसे नैफेलीन, ओलिवीन, टूरमेलीन।

खनिजों की संख्या लगभग ६,००० है। खोज के फलस्वरूप नए नए खनिज तो प्रकाश में आते ही हैं, कभी कभी किसी खनिज का स्वतंत्र अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। खनिजों का वर्गीकरण भिन्न भिन्न आधार पर किया गया है, जैसे उपयोग के आधार पर, रासायनिक संरचना पर, मणिभ समुदाय के आधार पर एवं उत्पत्ति के आधार पर। पर उपर्युक्त कोई भी वर्गीकरण परिपूर्ण नहीं है। किसी भी एक वर्गीकरण से सबका काम नहीं चल सकता। कोई वर्गीकरण रसायनज्ञ के लिये उपयुक्त है, तो क्षेत्रभौमिकीविद् के लिये अधिक लाभकारी नहीं, कोई वर्गीकरण मणिभीकरण की दृष्टि से यदि महत्वपूर्ण है तो उससे खनिजों के गुण और उद्गम का पता नहीं चलता। खानिजी के विभिन्न ग्रंथों में दिए गए वर्गीकरण एक दूसरे से विस्तार में बिल्कुल भिन्न हैं। खानिजी के विशेषज्ञ डाना ने खनिजों को १. प्राकृत तत्वों, २. सल्फाइडों, सेलेनाइडों, टेलुराइडों, आर्सेनाइडों तथा ऐंटीमोनाइडों, ३. सल्फो लवणों, ४ हैलॉइडों, ५. आक्साइडों, ६. आक्सीजन लवणों (कार्बोनेट, सिलिकेट आदि), ७. कार्बनिक अम्लों के लवणों (ऑक्जैलेट आदि) तथा ८ हाइड्रोकार्बन यौगिकों के वर्गों में विभाजित किया है। अधिकतर वैज्ञानिक इसी आधार को लेकर चलते हैं तथा आवश्यकतानुसार इसमें कुछ संशोधन कर लेते हैं।

(म० ना० मे०)

खनिजों का बनना अनेक प्रकार से होता है। बनने में उष्मा, दाब तथा जल मुख्य रूप से भाग लेते हैं। निम्नलिखित विभिन्न प्रकारों से खनिज बनते हैं :

(१) **मैग्मा का मणिभीकरण** (Crystallization from magma)—पृथ्वी के आभ्यतर में मैग्मा में अनेक तत्व आक्साइड एवं सिलिकेट के रूपों में विद्यमान हैं। जब मैग्मा ठंढा होता है तब अनेक यौगिक खनिज के रूप में मणिभ हो जाते हैं और इस प्रकार खनिज निक्षेपों (deposist) को जन्म देते हैं। इस प्रकार के मुख्य उदाहरण हीरा, क्रोमाइट तथा मेग्नेटाइट हैं।

(२) **ऊर्ध्वपातन** (Sublimation)—पृथ्वी के आभ्यतर में उष्मा की अधिकता के कारण अनेक वाष्पशील यौगिक गैस में परिवर्तित हो जाते हैं। जब यह गैस शीतल भागों में पहुँचती है तब द्रव दशा में गए बिना ही ठोस बन जाती है। इस प्रकार के खनिज ज्वालामुखी द्वारों के समीप, अथवा धरातल के समीप, शीतल आग्नेय पुंजों (igneous masses) में प्राप्त होते हैं। गंधक का बनना ऊर्ध्वपातन क्रिया द्वारा ही हुआ है।

(३) **आसवन** (Distillation)—ऐसा समझा जाता है कि समुद्र की तलछटों (sediments) में अंतर्भूत (imebdded) छोटे जीवों के कायविच्छेदन के पश्चात् तैल उत्पन्न होता है, जो आसुत होता है, और इस प्रकार आसवन द्वारा निर्मित वाष्प पेट्रोलियम में परिवर्तित हो जाता है अथवा कभी कभी प्राकृतिक गैसों को उत्पन्न करता है।

(४) **वाष्पायन एवं अतिसंतृप्तीकरण** (Vaporisation and Supersaturation)—अनेक लवण जल में घुल जाते हैं और इस प्रकार लवण जल के झरनों तथा झीलों को जन्म देते हैं। लवण जल के वाष्पायन द्वारा लवणों का अवक्षेपण (precipitation) होता है। इस प्रकार लवण निक्षेप अस्तित्व में आते हैं। इसके अतिरिक्त कभी कभी वाष्पायन द्वारा सतृप्त स्थिति आ जाने पर घुले हुए पदार्थों के मणिभ पृथक् हो जाते हैं।

(५) **गैसों, द्रवों एवं ठोसों की पारस्परिक अभिक्रियाएँ**—जब दो विभिन्न गैसें पृथ्वी के आभ्यंतर से निकलकर धरातल तक पहुँचती हैं तथा परस्पर अभिक्रिया करती हैं तो अनेक यौगिक उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ :

$$2H_2S + SO_2 = 3S + 2H_2O$$
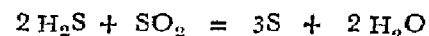
इसी प्रकार गैसें कुछ विलयनों पर अभिक्रिया करती हैं। फलस्वरूप कुछ खनिज अवक्षिप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिये, जब हाइड्रोजन सल्फाइड गैस ताम्र-सल्फेट-विलयन से पारित होती है तब ताम्र सल्फाइड अवक्षिप्त हो जाता है। कभी ये गैसें ठोस पदार्थों से अभिक्रिया कर खनिजों को उत्पन्न करती हैं। यह क्रिया अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि अनेक खनिज सिलिकेट, आक्साइड तथा सल्फाइड के रूप में इसी क्रिया द्वारा निर्मित होते हैं। किसी समय ऐसा होता है कि पृथ्वी के आभ्यंतर का उष्ण जल आग्नेय शिलाओं से पारित होता है एवं विशाल संख्या में अयस्क कायों (ore bodies) को अपने में विलीन कर लेता है। यह विलयन पृथ्वीतल के समीप पहुँच कर अनेक धातुओं को अवक्षिप्त कर देता है। स्वर्ण के अनेक निक्षेप इसी प्रकार उत्पन्न हुए हैं।

कुछ अवस्थाओं में इस प्रकार के विलयन पृथ्वीतल के समीप विभिन्न शिलाओं के संपर्क में आते हैं तथा एक एक करके कणों का प्रतिस्थापन (replacement) होता है, अर्थात् जब शिला से एक कण का निष्का-

मन होता है तो उस निष्कासित कण के स्थान पर धात्विक विलयन के एक कण का प्रतिस्थापन हो जाता है। इस प्रकार प्राचीन शिलाओं के स्थान पर नितांत नवीन धातुएँ मिलती है, जिनका आकार और परिमाण प्राचीन प्रतिस्थापित शिलाओं का ही होता है।

अनेक दशाओं में यदि शिलाओं में कुछ विदार (cracks) या *शून्य स्थान (void or void spaces)* होते है तो पारच्यवित विलयन (percolating solution) उन शून्य स्थानों में खनिज निक्षेपों को जन्म देते हैं। यह क्रिया अत्यंत सामान्य है, जिसने अनेक धात्विक निक्षेपों को उत्पन्न किया है।

(६) **जीवाणुओं** (bacteria) **द्वारा अवक्षेपण**—यह भली प्रकार से ज्ञात है कि कुछ विशेष प्रकार के जीवाणुओं में विलयनों से खनिज अवक्षिप्त करने की क्षमता होती है। उदाहरणार्थ, कुछ जीवाणु लोह को अवक्षिप्त करते है। ये जीवाणु विभिन्न प्रकार के होते हैं तथा विभिन्न प्रकार के निक्षेपों का निर्माण करते है।

(७) **कलिलीय निक्षेपण** (Colloidal Deposition)—वे खनिज, जो जल में अविलेय हैं, विशाल परिमाण में कलिलीय विलयनों में परिवर्तित हो जाते हैं तथा जब इनसे कोई विद्युद्विश्लेष्य (electrolyte) मिलता है तब ये विलयन अवक्षेप देते हैं। इस प्रकार कोई भी धातु अवक्षिप्त हो सकती है। कभी कभी अवक्षेपण के पश्चात् अवक्षिप्त खनिज मणिभीय हो जाते हैं, किंतु अन्य दशाओं में ऐसा नहीं होता।

(८) **ऋतुक्षारण प्रक्रम** (Weathering Process)—यह ऋतुक्षारण शिलाओं के अपक्षय के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण है और इस प्रकार जो विलयन बनते है उनमें लोह, मैंगनीज तथा दूसरे यौगिक हो सकते हैं। ये यौगिक, विलयनों द्वारा सागर में ले जाए जाते है और वहीं वे अवक्षिप्त हो जाते हैं। लोह तथा मैंगनीज़ के निक्षेप इसी प्रकार उत्पन्न हुए। ऋतुक्षारण या तो पूर्ववर्ती (pre-existing) शिलाओं से अथवा पूर्ववर्ती खनिज निक्षेपों से हो सकता है। कुछ दशाओं में किसी शिला में कुछ अधोवर्ग (low grade) के विकीरित खनिज (disseminated minerals) होते हैं। तलीय जल शिलाओं के साधारण अवयवों को विलीन कर लेता है और अवशिष्ट भाग को मूल विकीरित खनिजों से समृद्ध करता है। अनेक अयस्क निक्षेप, अवशिष्ट उत्पाद के रूप में पाए जाते हैं, जैसे बाक्साइट। कुछ शिलाएँ, जैसे ग्रैनाइट (कणाश्म), वियोजन (disintegration) के पश्चात् काइनाइट जैसे खनिजों को उत्पन्न करती है।

(९) **उपरूपांतरण** (Metamorphism)—कुछ निक्षेप पूर्ववर्ती तलछटों के उपरूपातरणों द्वारा निर्मित होते हैं। उदाहरण के लिये, चूना पत्थर संगमरमर को तथा कुछ मृत्तिकाएँ और सिलिका निक्षेप सिलीमनाइट को उत्पन्न करते हैं। (वि० शा० दु०)

खनित्रपाद (Scaphopoda) समुद्र में रहनेवाले द्विपार्श्वीय सममितिवाले मोलस्का (Mollusca) है, जिनका शरीर और कवच अग्रिम-पश्च-अक्ष की दिशा में लंबा होकर वर्तुलाकार हो जाता है। इनका सिर छोटा होता है, आँखें नहीं होती और पैर बर्तुलाकार होता है, जो खोदने के काम आता है। इसीलिये खनित्रपाद नाम रखा गया है।

अंग्रेजी नाम स्कैफोपोडा ग्रीक शब्द "स्कैफ" के आधार पर बना है। इस शब्द का अर्थ है 'नाव'। चूंकि इस जीव के पैर की बनावट नाव जैसी है, इसलिये नाव जैसे पैर वाला, अर्थात् स्कैफोपोडा, नाम इसे दिया गया। साधारण बोलचाल की भाषा में इन्हें 'टुथ शेल' (Tooth shell) या टस्क शेल (Tusk shell) कहते है। यह इसलिये कि इनका आकार हाथीदाँत जैसा होता है। पहले इन्हें नली में रहनेवाला ऐनेलिडा (Annelida) समझा जाता था। परंतु बाद की खोजों से इनके सही रूप का पता चला। ये समुद्री प्राणी है और उथले पानी में १५,००० फुट की गहराई तक पाए जाते हैं। ये कीचड़ या रेत में गड़े रहते हैं, जिसकी वजह से शरीर का पश्च भाग सतह के ऊपर निकला रहता है। ये एककोशीय प्राणियों का भोजन करते हैं। इनकी लगभग २०० जीवित जातियाँ (Species) हैं और लगभग ३०० जीवाश्म मिल चुके है। डेंटेलियम (Dentalium) इस समूह के प्राणियों का उदाहरण है।

चित्र १. डेंटेलियम एलिफैंटिनम (Dentalium elephantinum)
ऊपर इस खनित्रपाद के गजदंत समान कवच के अनुप्रस्थ काट की रूपरेखा दिखाई है।

डेंटेलियम का कवच लंबे नाकु की भाँति होता है और सारे जानवर को ढके रहता है (चित्र १.)। कवच दोनों ओर खुला रहता है। शरीर के चारों ओर मैंटल नामक एक पतली मांसल चादर रहती है। यही मैंटल कवच को जन्म देती है। मैंटल और शरीर के मध्य जो स्थान होता है उसे मैंटल गुहा कहते हैं। डेंटेलियम में मैंटल गुहा कवच के एक छेद से दूसरे छेद तक फैली रहती है। सिर शरीर के अग्रिम भाग में रहता है। सिर बहुत छोटा होता है। जिस जगह सिर रहता है उस जगह कवच का पृष्ठीय भाग थोड़ा सा कटा जैसा रहता है जिससे सिर के हिलने डुलने से रुकावट न हो। मुँह के चारों ओर कई पतले रोमाभयुक्त कुंचनशील स्पर्शांग होते हैं, जिन्हें कैपैटुला (Capatula) कहते हैं। ये संवेदक और परिग्राही होते हैं तथा भोजन पदार्थ को ग्रहण करने का कार्य करते है। पैर (पाद) एक लंबे फैलने योग्य बेलन के रूप का होता है और कवच के चौड़े प्रतिपृष्ठीय द्वार से निकला रहता है। यह कीचड़ या रेत को खोदने के काम में आता है।

मुँह सीधे मुखगुहा में खुलता है। मुखगुहा के अंदर प्रतिपृष्ठीय भाग में रैडुला (Radula) नामक दाँतदार एक पट्टी होती है और पृष्ठीय ओर जबड़े। मुखगुहा अंदर एक छोटी ग्रसिका में खुलती है। ग्रसिका में दो पार्श्वीय थैलियाँ खुलती है और पीछे वह आमाशय में खुलती है। आमाशय एक चौड़ी थैली के आकार का होता है। उसके बाद आंत्र होती है, जो रेक्टम में खुलती है, और रेक्टम (Rectum) गुदा पर बाहर खुलती है। रेक्टम या मलाशय के दाहिनी ओर गुदा ग्रंथि नामक एक ग्रंथि होती है।

रुधिरवाही तंत्र बहुत साधारण होता है। उसमें भिन्न भिन्न प्रकार की रुधिरवाहिकाएँ नहीं होतीं और न ही निलय (Ventricle) होता है। स्पष्ट रुधिरवाहिकाओं के स्थान पर चौड़ी चौड़ी रुधिर से भरी थैलियाँ जैसी होती हैं, जिन्हें रुधिरपात्र (Blood sinus) कहते हैं। श्वासोच्छ्वास क्रिया के लिये विशेष अंग नहीं होते। मैंटल की भीतरी सतह से ही ऑक्सिजन अंदर जाती है और कार्बन डाइऑक्साइड निकलती है। उत्सर्जन के लिये वृक्क नामक दो विशेष अंग होते हैं। ये शरीर के प्रतिपृष्ठीय भाग में जननांगों के निकट स्थित रहते हैं। प्रत्येक वृक्क छोटा, पर चौड़ा, थैली जैसा होता है और आमाशय तथा आंत्र के बीच में रहता है।

तंत्रिकातंत्र में दो गुच्छिकाओं का बना प्रमस्तिष्क होता है जो ग्रसिका के पृष्ठीय ओर स्थित रहता है। इससे चिपटी हुई दो और गुच्छिकाएँ होती है, जिन्हें प्ल्यूरल गैंग्लिया (Pleural ganglia) कहते हैं। पीछे पैर में पीडैल गैंग्लिया (Pedal ganglia) होती हैं। ये सब तंत्रिकाओं से जुड़े रहते है। गुदा के दोनों ओर दो गुच्छिकाएँ होती है। इन्हें विसरल गैंग्लिया (Visceral ganglia) कहते हैं। यह प्ल्यूरल गैंग्लिया से जुड़ी रहती है। ज्ञानेंद्रियों में प्रमुख है: कैपैटुला या स्पर्शांग, स्टैटोसिस्ट (Statocyst) और सबरैडुलर (Subradular) अंग। स्टैटोसिस्ट या स्थिति अंग पैर में स्थित रहता है। स्पर्श

रोमाभयुक्त उद्रेख (ridge) है, जो मुखगुहा मे प्रतिपृष्ठीय ओर स्थित रहता है।
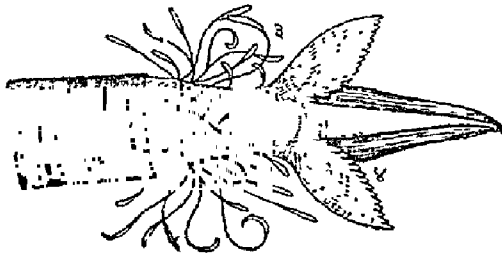
चित्र २. खनित्र पाद डेंटेलियम डेंटेल (D. dentale) के अंग
१. कवच का अगला सिरा; २. प्रावार (mantle),
३. स्पर्शिकाएँ या रामगुच्छ तथा ४. पद।

खनित्रपाद मे नर और मादा अलग अलग होते हैं। जननाग एक होता है और शरीर के पश्च भाग के मध्य में स्थित रहता है। यह यथेष्ट लबा होता है, यहाँ तक कि शरीर के पश्चपृष्ठीय भाग को पूरी तरह भरे रहता है। यह कई भागों में विभाजित रहता है और इससे एक नलिका निकलती है जो दाहिनी ओर मुड़कर दाहिन वृक्क मे खुलती है। माता अंडे अलग अलग देती है। ससेचन बाहर जल म होता है। ससेचित अडा कुछ ही समय के बाद विभाजन प्रारभ कर देता है, जिसके फलस्वरूप शीघ्र ही रोमाभयुक्त डिंभ (Larva) बनता है। अंडे से बाहर निकलने पर यह कुछ समय तक तैरकर जीवन व्यतीत करता है फिर तली मे पहुँचकर रूपातरित हो जाता है।

पुराने समय में प्रशात महासागर के किनारो पर बसनेवाले रेड इंडियन डेंटेलियम के कवचो को धागे मे पिरोकर रखते थे। इनका उपयोग क्रय विक्रय के लिये सिक्के की भाँति किया जाता था। १½ इच लबे कवच का मूल्य अमरीकी सिक्कों मे २५ सेंट के बराबर माना जाता था और २½ इच लबे कवच का मूल्य लगभग ५ डालर था। (स० ना० प्र०)

खनि भौमिकी (Mining Geology) भूविज्ञान का वह अंग है जो खनन के उन सभी पहलुओं का विशेष अध्ययन करता है जिनसे एक अयस्क, या खनिज निक्षेप, पूर्ण विकसित खान मे परिवर्तित हो जाय। आज, चाहे वह कोई सरकारी भूतात्विक सस्था हो अथवा निजी खनन व्यापार, हर जगह खनन भूवैज्ञानिक की आवश्यकता अनुभव की जाती है। इस प्रकार खनन भूविज्ञान की देन खनन क्षेत्र मे सर्वमान्य है। किसी भी क्षेत्र में संभावनाओं का ज्ञान प्राप्त करने तथा बाद में वास्तविक खनन प्रारभ करने के पूर्व खनन भूवैज्ञानिक को इन क्षेत्रों का निरीक्षण करने के लिये भेजा जाता है। सर्वप्रथम वह ऐसे क्षेत्रों को चुनता है जिनका आर्थिक दृष्टि से विकास होने की संभावना हो। इसके पश्चात् वह इन निक्षेपो का भूवैज्ञानिक तथा आर्थिक दृष्टि से अध्ययन करता है और इस तथ्य पर विशेष ध्यान देता है कि निक्षेप वाणिज्य स्तर पर उपयोगी होगा या नहीं। यहाँ पर खनन भूविज्ञान मे आर्थिक भूविज्ञान का समावेश होता है। इस स्थिति में अनेक छोटे मोटे निक्षेपों को त्याग दिया जाता है तथा विशाल एवं उत्तम निक्षेपों का अध्ययन सावधानी तथा विस्तार से किया जाता है।

आर्थिक दृष्टि से उन्नत हो सकने योग्य निक्षेपों को विकसित करने के लिये भूवैज्ञानिक की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। इन क्षेत्रों के मानचित्र बड़े पैमाने पर, जैसे १" = १०० फुट अथवा १" = ५०० फुट पर, बनाए जाते हैं। खनन प्रारंभ करने के लिये उपयुक्त क्षेत्र चुनकर वेधन कार्य के लिये योजनाएँ बना ली जाती है। वेधन से निक्षेपों के विस्तार तथा उनकी मोटाई का भी अनुमान हो जाता है। विभिन्न मुख्य आँकड़ों का संकलन भी इससे संपन्न होता है, जैसे निक्षेप के भिन्न भिन्न भागो मे अयस्क का संकेंद्रण, उसका औसत मूल्याकन तथा संभाव्य '१। कई बार खनन भूवैज्ञानिक को भू-भौतिक-विधियो का भी सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार चुबकीय, वैद्युतिक, स्वाकृप्टि, भूकपीय तथा रेडियो सक्रिय साधन बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। भूतात्विक सरचनाओं का भी विस्तृत अध्ययन किया जाता है, क्योंकि इससे खनिजो के सरचनात्मक प्रतिबधीकरण के सबध मे अनेक महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं। खनन भूविज्ञान को समृद्ध करने मे भूरसायन का भी प्रमुख सहयोग रहा है। इसकी सहायता से भूवैज्ञानिक को शिलाओ की रासायनिक तथा खनिज रचना, शिलापरिवर्तन, सूक्ष्मोपलब्ध तत्व (Trace elements) तथा खनिजो के निर्माण की आधारिक विधियों आदि का ज्ञान होता है। भूवैज्ञानिक को सूक्ष्मदर्शक यंत्र, भारी खनिज विश्लेषण, शिलातात्विक अध्ययन तथा शिलाविज्ञान से भी बड़ी सहायता मिलती है।

इन सारे अध्ययनो के साथ साथ खनन-भूवैज्ञानिक उपयोगी मानचित्र, काटचित्र तथा ब्लॉक चित्र तैयार करता है। सारे तथ्यों के आधार पर विस्तृत प्रतिवेदन प्रस्तुत होता है, जिससे खनन की कार्यपद्धति तथा भविष्य के लिये कार्यक्रमो की रूपरेखा का भी संकेत रहता है। खनन-कार्य प्रारभ हो जाने के पश्चात् भूवैज्ञानिक अनवरत रूप से नवीन सभावनाओं का अध्ययन करता रहता है, जिसमे खान के उत्पादन मे कमी न हो पाए और नवीन स्रोत सामने आते रहें। वास्तव मे खनन के समय ही भूवैज्ञानिक के अनुमान का मूल्याकन होता है तथा जैसे जैसे खनन कार्य उन्नत होता जाता है, नवीन रहस्य खुलते जाते हैं, जिससे आगे के काम मे निरंतर सहायता मिलती है। (वि० सा० दू०)

खपरैल और चौके भारतवर्ष मे मिट्टी की पकाई हुई खपरैल तथा चौके तीन प्रकार के बनाए जाते है:

१—छत के लिये विभिन्न प्रकार की खपरैलें तथा चौके

२—फर्श के लिये चौके

३—नाली के लिये गोल तथा अर्धगोल खपरैल

इनके अलावा चीनी मिट्टी के ग्लेज किए हुए तथा सीमेंट के चौके फर्श तथा दीवाल पर जड़ने के लिये भी बनाए जाते हैं, जो कई आकृतियों तथा रगो के होते हैं।

छत छाने के लिये ऐसबेस्टस तथा अन्य वस्तुओ के भी तरह तरह के चौके अथवा टाइले भिन्न भिन्न आवश्यकताओ के लिये प्रयोग मे आती है, जैसे संगमर्मर, स्लेट, टेराकोटा इत्यादि के चौके।

मिट्टी के चौके और खपरैलें प्राय: उसी प्रकार बनाई जाती हैं जैसे ईंट, पर इनके बनाने मे अधिक मेहनत और ध्यान देना पड़ता है। इन खपरैलो तथा चौको की तरह तरह की डिजाइनो के लिये फर्मा बहुत सावधानी से तथा सच्चा बनाना पड़ता है और उनको पकाने और निकासी मे बहुत सावधानी रखनी पड़ती है।

छत छाने के लिये स्थानीय देशी खपरैल से लेकर स्यालकोट, इलाहाबाद, मँगलौर इत्यादि में अच्छे मेल की खपरैलें काफी बनती थी, पर इनका प्रचलन अब धीरे धीरे सीमेंट कंक्रीट तथा प्रबलित ईंटों (reinforced-bricks) के कारण कम होता जा रहा है।

देशी खपरैलों में दो प्रकार की खपरैलें अधिक प्रचलित है। एक मे दो अर्धगोली नालीदार खपरैलें एक दूसरे पर औंधाकर रख दी जाती है। दूसरे मे दो चौकोर चौके, जिनके किनारे थोड़ा सा ऊपर मुड़े रहते हैं, अगल बगल रखकर उन दोनों के ऊपर एक अर्धगोली खपरैल उलटकर रख दी जाती है, जिससे दोनो चौको के बीच की जगह ढक जाय। करीब १,२०० खपरैलें १०० वर्गफुट छत छाने के लिये अपेक्षित होती है।

मँगलौर चौके चिपटे होते हैं। इनमें आपस मे एक दूसरे को फँसाने के लिये खाँचा बना रहता है। करीब १३० दक्षिणी चौके या १०० कानपुरी चौके १०० वर्गफुट छत छाने के लिये आवश्यक होते हैं।

इलाहाबादी टाइल का नमूना चित्र में देखिए। इनसे एकहरी या दोहरी छवाई की जाती है। उभरे हुए भाग (ridge), कटि प्रदेश (hip) तथा निम्न भूमि (valley) के लिये विशेष टाइलें बनानी पड़ती हैं। नाली के लिये जो टाइल या चौके बनते हैं, या तो चिपटे,
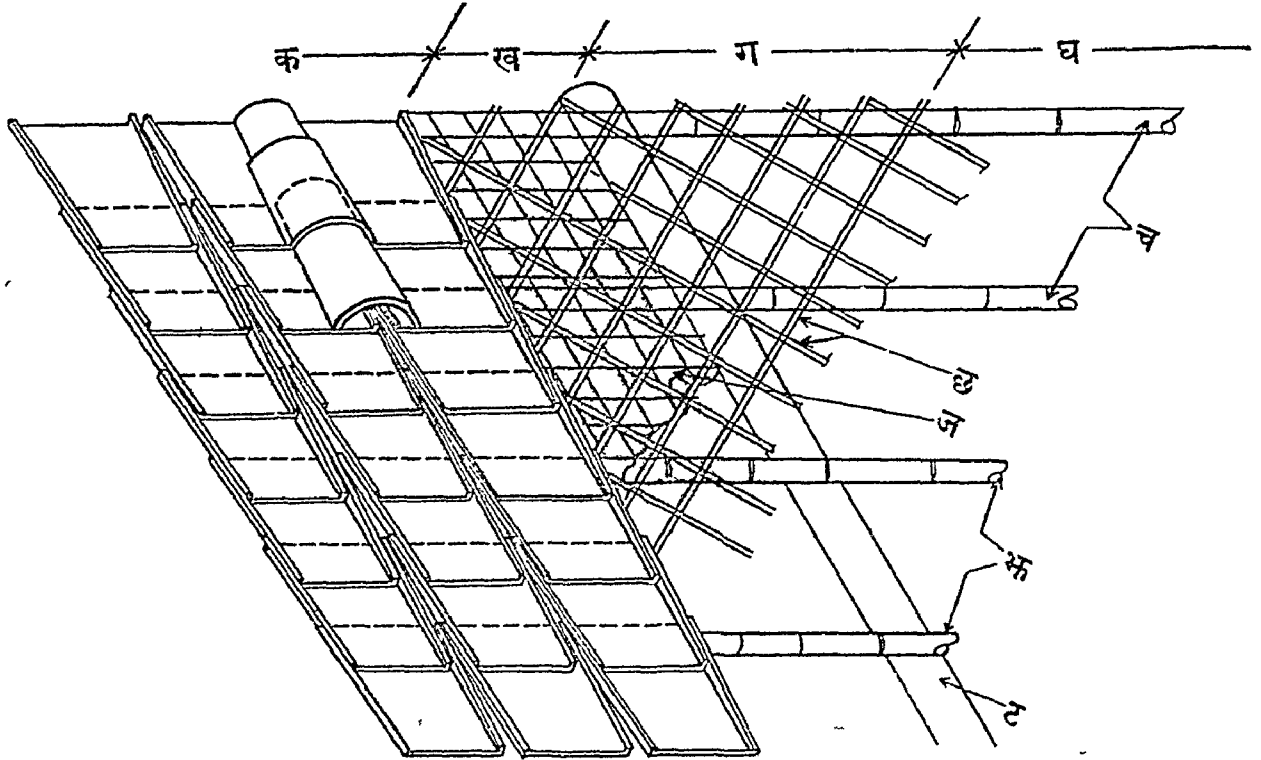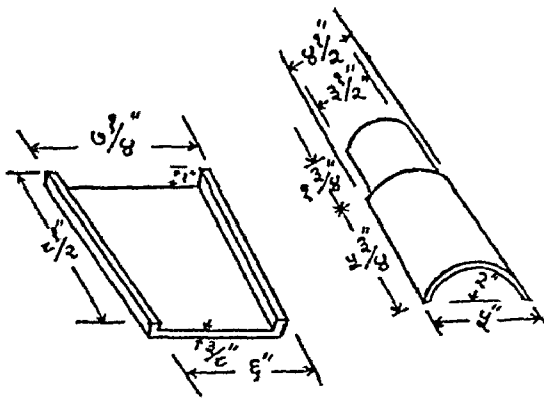
चित्र १. देशी खपरैल

क. चौथी तह; ख. तीसरी तह; ग. दूसरी तह; घ. पहली तह; च. बाँस का ढाँचा; छ. बाँस की जाली; ज. जाल पर बिछावन तथा झ. बल्लियाँ।
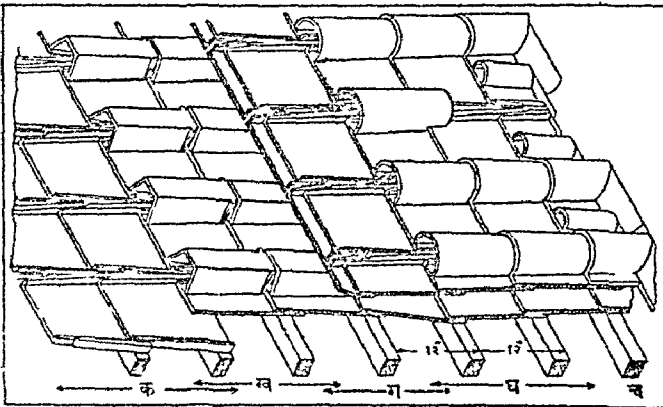
क. पहली या नीचे की तह; ख. दूसरी तह; ग. तीसरी तह; घ. चौथी या ऊपरी तह तथा च. रीढ़ या काठी का खपड़ा।

चित्र २. इलाहाबादी खपरैल

बनाकर सुखाने तथा पकाने से पहले लकड़ी के गोल फर्मे पर मोड़ लिए जाते हैं, अथवा आरंभ में ही अधगोले के आकार में मशीन द्वारा ढाल लिए जाते हैं।

ग्लेज किए हुए चीनी मिट्टी के चौके महँगे होते हैं और स्नानागार अस्पताल तथा अन्य स्थानों पर सौंदर्य तथा सफाई के विचार से फर्श या दीवाल में सीमेंट द्वारा बैठा दिए जाते हैं। अब सीमेंट के मोज़ेइक टाइल भी बहुत बनने लगे हैं और इनका प्रचलन दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। ये सब कई डिजाइनों तथा रंगों के बनते हैं और इनसे बने फर्श बहुत सुंदर लगते हैं।
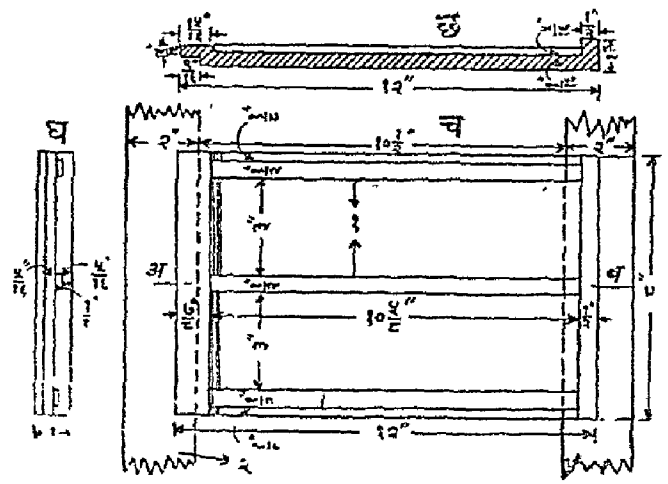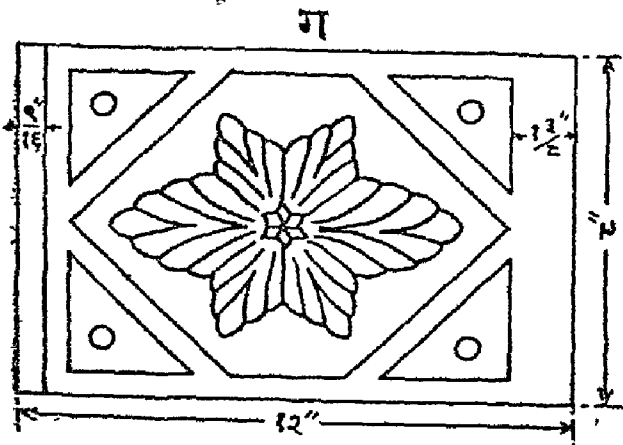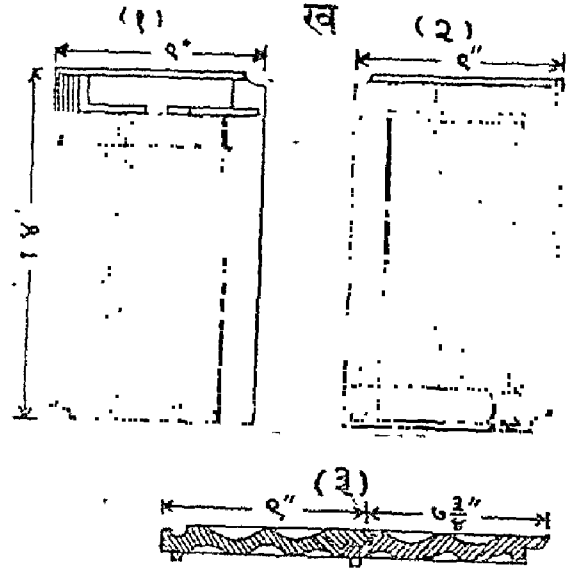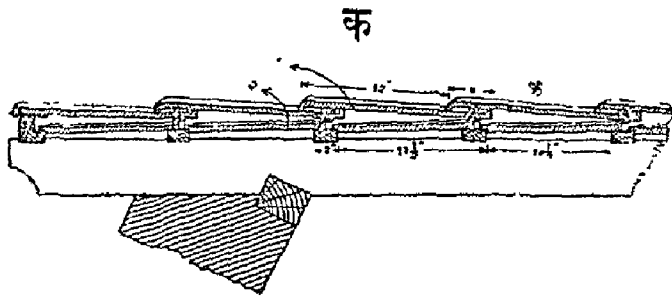
चित्र ३. मंगलौरी खपरैल

क. खपरैलों की सामान्य व्यवस्था : १. छत के ऊपर के खपड़े, २. छत के नीचे के खपड़े; ख. छत के ऊपर के खपड़े : १. ऊपरी सतह, २. निचली सतह, ३. ठीक जम जाने पर अनुप्रस्थ काट; ग. निचली सतह; घ. उन्नयन दर्शन (Elevation) तथा च. ऊपरी सतह : १. पसलियाँ (Ribs), २. बत्ता (Batten); छ. अ ब पर काट।

(का० प्र०)

खप्पर मिट्टी के घड़े के फोड़े हुए अर्ध खंड को सामान्यतया खप्पर कहते हैं। किंतु इसका तात्पर्य योगसाधकों, औघड़ों तथा कापालिकों द्वारा प्रयुक्त खाद्यपात्र के अर्थ में भी माना जाता है जो नरकपाल से निर्मित होता था। संभवतः पूर्वकाल में यह मिट्टी का ही पात्र रहा होगा किंतु आजकल यह दरियाई नारियल का बना देखने में आता है। अनेक योगी काँसे का बना खप्पर रखते हैं। (प० ला० गु०)

खफ़्रे प्राचीन मिस्र देश के चतुर्थ राजवंश का दूसरा फराउन और गीजा स्थित 'महान् पिरामिड नं० २' का निर्माता। महान् पिरामिड नं० १ का निर्माता सुप्रसिद्ध फराऊन खुफू उसका बड़ा भाई था जिसका उत्तराधिकार उसे प्राप्त हुआ था। भाई के बाद मिस्र का राजदंड धारण कर उसने देश का शासन खुफू की ही देवविरोधी नीति से किया। उसके बाद उसके भतीजे, खुफू के पुत्र मनकोरा को राजगद्दी मिली। उसने शासन की नीति बदल दी, प्राचीन देवताओं के पूजन को पूर्वप्रतिष्ठा प्रदान की, मंदिरों के द्वार खोल दिए और उनकी जब्त देवोत्तर संपत्ति उन्हें लौटा दी। उसके बनवाए सोपानवद्ध पिरामिड की गणना भी गीजा के महान् पिरामिडों में की जाती है। खफ़्रे और मनकोरा खुफू के बाद ई० पू० चतुर्थ-तृतीय सहस्राब्दी में किसी समय हुए थे। (भ० श० उ०)

खबारोवस्क रूस देश के सोवियत गणतंत्र का एक राज्य और उसकी राजधानी : स्थिति : ४८°४०' उ० अ० और १३५°५' पू० दे०। यह सुदूरपूर्व की आमूर नदी के दाहिने किनारे ३१५' ऊँची खड़ी चट्टान पर स्थित सबसे बड़ा औद्योगिक नगर है। १७वीं शताब्दी के रूसी व्यापारी एवं अन्वेषक, खबारवस्क के नाम पर इसका नामकरण हुआ है। ट्रांस साइबेरियन रेलवे आमूर नदी को यहीं पार करती है। यह रेल, नदी, सड़क और यातायात का प्रसिद्ध केंद्र है। यहाँ मत्स्य उद्योग, लकड़ी, उद्योग, समूर उद्योग, तेल साफ करने, मशीन बनाने, वायुयान बनाने, चमड़ा कमाने, शराब, तंबाकू, एवं लोहे के छोटे सामान बनाने के कारखाने हैं। यहाँ आटा पीसने की वायु संचालित चक्कियाँ है। यह एक लंबे पाइप लाइन द्वारा उत्तरी सखलीन के तेल के खान से जुड़ा हुआ है। यहाँ एक बड़ा गिरजाघर, काउंट मुराविएव का स्मारक, एक संग्रहालय सहित रूस की भौगोलिक समिति की शाखा तथा औद्योगिक और अन्य विद्यालय हैं। १९६७ ई० में यहाँ की जनसंख्या ४,२०,००० थी। (रा० प्र० सि०; प० ला० गु०)

खमसा १. एक प्रकार की गजल जिसके प्रत्येक बंद में पाँच चरण होते हैं।
२. संगीत का एक प्रकार का ताल। (स०)

खमाच भारतीय संगीत का एक राग। यह संपूर्ण षाडव है। इसका वादी स्वर गांधार और संवादी निषाद है। आरोह में ऋषभ वर्जित है। निषाद शुद्ध, अवरोह कोमल और अन्य सभी स्वर शुद्ध लगते हैं। यह राग शृंगारप्रधान है। इसके गाने का समय रात्रि का द्वितीय पहर बताया गया है। (प० ला० गु०)

खमो भारत, बर्मा और अंदमान के सागरतटीय दरारों में पाया जानेवाला एक छोटा सदाबहार पेड़ जिसके छिलके में सज्जी अधिक होती है तथा जो चमड़ा सिझाने के काम आता है। इसके रंग से सूती कपड़े भी रँगे जाते हैं। फल खाने में सुस्वादु होते हैं, डालियों से निकली हुई पतली जटाओं से एक प्रकार का नमक बनता है। इसे राई भी कहते हैं। (स०)

खम्मुरब्बी बाबुल (बेबिलोनिया का एक नरेश) जिसे हम्मुरब्बी भी कहते हैं। इसका काल अभी तक पूर्णतया निश्चित नहीं हो पाया है। पहले इसका समय ईसापूर्व २१ वीं शती माना जाता था किंतु नवीन शोधों के अनुसार उसका समय ईसापूर्व १९५० और १७०० के बीच किसी समय समझा जाता है। यह सामी (अमोरी) वंश का छठा शासक था। इसके शासन काल में बाबुल साम्राज्य उत्तर की ओर फारस की खाड़ी तक, पश्चिम की ओर दजला-फरात का दोआ, असुर तथा भूमध्य सागर के सामी तट तक फैला हुआ था। खम्मुरब्बी मुख्यतः सफल शासक और सैनिक था, उसकी ख्याति कानूनों को नियमबद्ध करने के कारण है। १९०२ में उसके बनाए हुए कानून शूषा में एक चट्टान पर अंकित पाए गए हैं। उसके कानून की अनेक धाराओं का संबंध वैयक्तिक संपत्ति, व्यापार, व्यापार-प्रबंध, परिवार, श्रम, वैयक्तिक आघात से है। उसका सिद्धांत था—'आँख के बदले आँख'। खम्मुरब्बी के अधिकांश कानून सुमेरी कानूनों पर आधारित हैं और उनमें पारिवारिक अपराधों के लिये कठोर दंड के मूल में सामी प्रभाव झलकता है। उसके कानून में मानव जीवन से अधिक महत्व वैयक्तिक संपत्ति को दिया गया है, जो बाबुल के निस्सीम पूँजीवाद का प्रतीक है। (प० ला० गु०)

खयरवाल बारहवीं शती ई० में बिहार के शाहाबादवाले भू-भाग पर शासन करनेवाला एक राजवंश। इस वंश का प्रथम नरेश साधव था। उसका पुत्र रणधवल और पौत्र प्रतापधवल हुआ। प्रतापधवल के अनेक अभिलेख प्राप्त होते हैं। ये लोग गहड़वाल नरेश के करद सामंत थे। प्रतापधवल का पुत्र साहस और पौत्र इंद्रधवल थे। इंद्रधवल ने ११९७ में शासन आरंभ किया और इस वंश का प्रतापी शासक रहा। उसके पश्चात् इस वंश के संबंध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। (प० ला० गु०)

खरतरगच्छ जैन संप्रदाय का एक पंथ। इस गच्छ की उपलब्ध पट्टावली के अनुसार महावीर के प्रथम शिष्य गौतम हुए। जिनेश्वर सूरि रचित 'कथाकोषप्रकरण' की प्रस्तावना में इस गच्छ के संबंध में बताया गया है कि जिनेश्वर सूरि के एक प्रशिष्य जिनवल्लभ सूरि नामक आचार्य थे। इनका समय ११११ से ११५४ ई० है। इनका जिनदत्त सूरि नामक एक पट्टधर था। ये दोनों ही प्रकांड पंडित और चरित्रवान् थे। इन लोगों के प्रभाव से मारवाड़, मेवाड़, वागड़, सिंध, दिल्ली एवं गुजरात प्रदेश के अनेक लोगों ने जैन धर्म की दीक्षा ली। इन लोगों ने इन स्थानों पर अपने पक्ष के अनेक जिन-मंदिर और जैन उपाश्रय बनवाए और अपने पक्ष को 'विधिपक्ष' नाम दिया। उनके शिष्यों ने जो जिन मंदिर बनवाए वे 'विधि चैत्य' कहलाए। यही 'विधि पक्ष' कालांतर में खरतरगच्छ कहा जाने लगा और यही नाम आज भी प्रचलित है।

इस गच्छ में अनेक गंभीर एवं प्रभावशाली आचार्य हुए हैं। उन्होंने भाषा, साहित्य, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, वैद्यक आदि विषयों पर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं देश भाषा में हजारों ग्रंथ लिखे। उनके ये ग्रंथ केवल जैन धर्म की दृष्टि से ही महत्व के नहीं हैं वरन् समस्त भारतीय संस्कृति के गौरव माने जाते हैं। (प० ला० गु०)

खरदूषण खर, सुमाली राक्षस की कन्या राका तथा विश्रवसु मुनि का पुत्र था। दूषण एक मत से इसका भाई, किंतु दूसरे मत से इसका सेनापति था। ये दोनों रावण के आदेश से उसकी और उसके देश लंका की रक्षा के लिये दक्षिणी भारत के जंगलों में रहा करते थे। शूर्पणखा खर की बहिन थी। पंचवटी में जब लक्ष्मण ने शूर्पणखा के नाक कान काट लिए तो उसके कहने पर खर दूषण तथा त्रिशिरा आदि के साथ राम से लड़ने गया। युद्ध में राम के हाथों वे सभी मारे गए। (औ० ना० ति०)

खरनाद आयुर्वेद के एक प्राचीन आचार्य। उन्होंने वैद्यक शास्त्र की एक संहिता तैयार की थी। मूल रूप में वह आज उपलब्ध नहीं है। उसके अनेक उद्धरण टीका ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। ऐसा समझा जाता है कि उन्होंने अपनी संहिता चरक के टीकाकार भट्टार हरिश्चंद्र से पूर्व रची थी। खरनाद संहिता का अधिकांश हेमाद्रि और अरुणदत्त के ग्रंथों में उपलब्ध होता है। शिवदासनाथ ने भी खरनाद के तीन योग उद्धृत किए हैं। (प० ला० गु०)

खरवानक टिट्टिभ (टिटिहरी) वर्ग का एक प्रसिद्ध पक्षी। इसे करवानक, लंची, गम्मा, पाराविक आदि भी पुकारते हैं।

इसके नर और मादा दोनों ही एक ही रंगरूप के होते हैं। यह पक्षी लगभग १६ इंच लंबा होता है। शरीर का रंग राखीपन लिए होता है, उस पर गाढ़ी भूरी लकीर और चिह्न होते हैं। पीठ की चित्तियाँ घनी और नीचे की ओर बिखरी बिखरी सी रहती है। आँख पर होकर एक काली धारी सिर के बगल तक आती है। इसके ऊपर और नीचे की ओर एक हलकी भूरी लकीर होती है। डैने भूरे, दुम राख के रंग की और नीचे का हिस्सा सफेद होता है। गर्दन और पूँछ के नीचे का भाग ललछौंह भूरा और सीने पर खड़ी गाढ़ी भूरी धारियाँ होती हैं। आँख चटक पीली और चोंच तथा टाँगें पीली होती हैं।

यह बाग बगीचों और जंगलों के निकट जहाँ सूखे ताल और नरकुल तथा सरपत की झाड़ियाँ हों, प्रायः रहता है। यह एकदम भूमि पर रहनेवाला पक्षी है और अपना सारा समय खुले मैदान में घूमकर बिताता है। यह अपनी खूराक के लिये दिन की अपेक्षा रात मे चक्कर लगाता है। अपने मटमैले रंग के कारण लोगों का ध्यान इसकी ओर तब तक आकृष्ट नहीं हो पाता जब तक यह आवाज कर भागता या उड़ता नहीं। खतरे के समय यह पर समेट कर जमीन में दुबक जाता है। सामान्यतः यह अकेले या जोड़े में रहता है। इसका मुख्य भोजन कीड़े मकोड़े हैं।

सं० ग्रं०—सुरेश सिंह : भारतीय पक्षी। (प० ला० गु०)

खरबूजा कर्कटीकुल (Cucurbitaceae) की कुकुमिस मेलो लिन. (Cucumis melo Linn) नामक लता का फल जिसकी खेती उष्णतर प्रदेशों में होती है। भारत मे सर्वत्र, विशेषतः उत्तरी पश्चिमी भारत के उष्ण और शुष्क भागों में, प्रायः नदीतटों की बलुई जमीन मे यह बोया जाता है। इसीलिये पहले अधिक सिंचाई की आवश्यकता होती है। फल पकने के समय सिंचाई बंद कर दी जाती है।

यह लता एक वर्षायु, आरोही या विसर्पी, अविभक्त सूत्रों से युक्त और रोमश एवं खरस्पर्श होती है। पत्तियाँ प्रायः वृत्ताकार लट्वाकार और किनारों पर किंचित् खंडित और दंतुर होती हैं। पुष्प एकलिंगी, पीले, एकाकी (नारीपुष्प) अथवा गुच्छबद्ध (नरपुष्प) होते हैं। इनके दलपत्र बहुत नीचे तक, परस्पर पृथक्, पुंकेसर संख्या में तीन और परागाशय दुहरे और शिखरदार होते है। फल प्रायः गोलाकार और धारीदार होते हैं।

खरबूजे की लताएँ जंगली अथवा कृषिगत, दोनो प्रकार की होती है। कृषिजात खरबूजे की अनेक उपजातियाँ होती हैं, जो भिन्न प्रांतो में और भिन्न भिन्न नामों से प्रचलित है। इन उपजातियों को परस्पर पृथक् करनेवाले लक्षण फलों के परिमाण एवं आकार, छिलके की मोटाई, रंग और पृष्ठचिह्न और मज्जा के स्वाद, गंध और वर्ण से संबंधित होते हैं। फल प्रायः गोलाकार ही होते हैं, परंतु उनका छिलका नरम या कड़ा, हरा, पीला, मलाई अथवा संतरे के रंग का हो सकता है। उसका पृष्ठ चिकना, समतल, जाल सदृश निशानों अथवा शल्य सदृश उभारों से युक्त रहता है। गूदे का रंग श्वेत, हरा, पीला या संतरे के रंग का हो सकता है। उपर्युक्त लक्षणों के भिन्न भिन्न मेल होते हैं, जो अलग अलग उपजातियों में पाए जाते है।

खरबूजा पौष्टिक और तरी पहुँचानेवाला फलाहार है। इसका गूदा सारक और मूत्रजनक होता है। बीज मूत्रजनक, लेखन और अवरोध निवारक होने के कारण यकृत, वस्ति और वृक्क के शोथों में उपयोगी होते हैं। फलत्वक् का लेप भी चर्म तथा चर्मरोगों के लिये उपयोगी माना गया है। (ब० सिं०)

खरमोर चरक जाति का लंबी टाँगों वाला भारतीय पक्षी जिसे चीनीमोर या केरमोर भी कहते है। यह मुख्यतः खानदेश, नासिक और अहमदनगर से लेकर पश्चिमी घाट तक के प्रदेश में पाया जाता है किंतु बरसात में यह मध्य प्रदेश, राजस्थान, काठियावाड़ और गुजरात-तक फैल जाता है। कभी कदा यह दिल्ली और उत्तर प्रदेश के कुछ पश्चिमी भागों तक भी पहुँच जाता है। पर भारत के बाहर यह पक्षी अनजाना है।

नर और मादा बहुत कुछ एक से ही होते हैं। इसके सिर, गर्दन और नीचे का भाग काला और ऊपरी हिस्सा हलका सफेद और तीर सदृश काले चित्तियों से भरा रहता है। कान के पीछे कुछ पंख बढ़े हुए रहते हैं। प्रणय ऋतु में नर बहुत चमकीला काले रंग का हो जाता है और सिर पर एक सुंदर कलँगी निकल आती है। मादा नर से कुछ बड़ी होती है। नर का जाड़ों में और मादा का पूरे वर्ष ऊपरी और बगल का भाग काले चिह्नों युक्त हलका बादामी रहता है।

इस पक्षी को ऊबड़ खाबड़ और झाड़ियों से भरे मैदान बहुत पसंद हैं; जाड़ों मे इसे खेतो में भी देखा जा सकता है। इसका मुख्य भोजन घासपात, जंगली फल, पौधों की जड़ें, नए कल्ले एवं कीड़े मकोड़े हैं।

सं० ग्रं०—सुरेश सिंह : भारतीय पक्षी। (प० ला० गु०)

खराद (Lathe) एक यंत्र जिसपर गोल अंशों को तैयार किया जाता है। हाथ के किसी उपकरण (औजार) से किसी चीज को इच्छित गोल रूप में नहीं लाया जा सकता। इसलिये इसको खराद में बाँधा जाता है, जो इस चीज को घुमाता रहता है। तब औजार से इसपर काम किया जाता है। जिस मशीन से यह सब काम लिया जाता है उसी को खराद कहते है। (द्र० चित्र)। चित्र में एक सरल खराद दिखाया गया है। खराद के बाईं ओर इसका शिरोदंड (Head stock) है, जो तैयार होनेवाले अंग को पकड़ने और घुमाने का काम करता है। शिरोदंड में एक खोखला तकला (Spindle) है जो दो धारकों (Bearings) पर घूमता है। दोनों धारकों के बीच मे तकले पर एक पद घिरनी (Step pulley) होती है, जिसपर प्रायः तीन पद (steps) होते हैं, इन्हीं पदों से शिरोदंड की ईषा (shaft) की गति को बढ़ाया और घटाया जा सकता है। इसी प्रकार की एक घिरनी उस धुरी पर भी होती है जिससे मोटर द्वारा इस खराद को चलाया जाता है। घिरनी के ऊपर के पट्टे को घिरनी के एक पद से सरकाकर दूसरे पद पर लाने से खराद की गति बदली जाती है। तकले के बाएँ किनारे पर दाँतोंवाले चक्र होते हैं, जिनको दंतिचक्र (Gears) कहा जाता है। इनके द्वारा खराद की नेतृभ्रमि (Leading screw) चलाई जाती है। किसी अंग पर चूड़ियाँ काटने के लिये नेतृभ्रमि का उपयोग आवश्यक है और इसी से उपकरण स्तंभ (Tool post) अपने आप चलता है। जिस प्रकार की चूड़ी काटनी होगी उसी प्रकार का उपकरण प्रयोग में लाया जाएगा, परंतु प्रति इंच में चूड़ियों की संख्या दंतिचक्रों द्वारा व्यवस्थित की जाएगी। तकले के दाहिने किनारे पर खराद का चक (Chuck) होता है। इससे उस चीज को पकड़ते हैं जिसपर काम करना होता है।

चक प्रायः दो प्रकार के होते हैं : (१) तीन जबड़ोंवाले चक, जिसके एक जबड़े (Jaw) के घुमाने से सब जबड़े काम करते हैं। इस चक में गोल चीजों को आसानी से पकड़ा जा सकता है। (२) चार जबड़ों का चक, जिसका हर जबड़ा अलग अलग काम करता है। यह असममित माप की वस्तु को पकड़ने के लिये उपयोगी होता है। इस प्रकार खराद का पहला भाग शिरोदंड है, जो किसी अंग को ठीक प्रकार पकड़ने और उसको
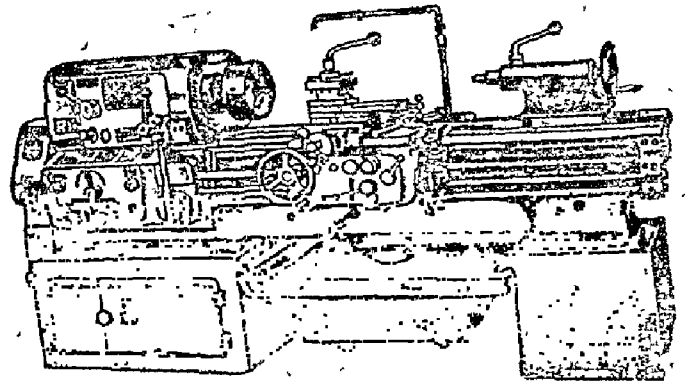
खराद (Lathe)

घुमाने का काम करता है और साथ ही साथ उन दाँतोंवाले चक्रों को भी घुमाता है जिससे खराद की ईषा (Shaft) मिलती है।

शिरोदंड के पश्चात् का उपकरण स्तंभ है। यह स्तंभ उपकरणों को पकड़ने और उनको ठीक स्थिति में रखने के काम आता है। इसमें दो चक्र होते हैं, जो हाथ से चलाए जाते हैं। एक चक्र से स्तंभ को खराद की लंबाई में चलाया जाता है और दूसरे चक्र से उपकरण को खराद की चौडाई में आगे पीछे किया जाता है। इसलिये बडे चक्र से उपकरण की काट (cutting) की गति और छोटे चक्र से काट की गहराई को स्थिर किया जाता है। अत: उपकरण स्तंभ का काम किसी वस्तु पर ठीक प्रकार की काट लगाना है।

खराद के दाहिने किनारे पर पुच्छदंड (Tail stock) होता है, जिसका काम शिरोदंड की सहायता करना है; जैसे, यदि किसी लंबी वस्तु पर काम करना है और उसको केवल चक में ही पकडा जाय तो बल पड़ने पर वस्तु झुक जायगी। इसलिये ऐसी वस्तु के दूसरे किनारे के बीच छेद बनाकर पुच्छदंड के केंद्र से जमा देते हैं, तब यह वस्तु इस केंद्र पर भी घूमती रहती है। इसके कारण इसके झुकने का डर नहीं होता।

किसी खराद का आकार उसपर काम करनेवाले अंगो के नाम से माना जाता है। यदि हम कहें कि खराद का आकार १२×६० इंच है, तो इसका मतलब हुआ कि इस खराद पर सबसे बड़ा कृत्यक (job) १२ इंच व्यास का और ६० इंच लंबाई का बाँधा जा सकता है। इस प्रकार की खराद को फलकी खराद (Bench Lathe) कहा जाता है। यदि शिरोदंड के चक के नीचे खराद में अधिक स्थान छोड दिया जाय, जिसके कारण खराद के आकार से बड़े काम को उसपर बाँधा जा सके, तो उसको अंतराल खराद (Gap Lathe) कहा जायगा।

खराद पर किसी वस्तु (कृत्यक) को बाँधने की तीन रीतियाँ हैं: (१) चक और पुच्छदंड के केंद्रो पर वस्तु को बाँधना—वस्तु के दोनों किनारो के व्यास के बीच छेद बनाकर, दोनों दंडो के केंद्रों पर चढाकर कस दिया जाता है। यह कसाव पुच्छदंड के चक्र को घुमाने से होता है। काम की लंबाई के अनुसार पुच्छदंड को आगे पीछे किया जा सकता है। (२) काम को चक में बाँधना और (३) मुखपट्ट पर काम को बाँधना। जैसा काम होता है, वैसी ही रीति का उपयोग होता है। शिरोदंड का तकला खोखला होने के कारण लंबी छड़ों को पकडने में सुविधा होती है। पुच्छदंड का काम केवल काम को सँभाले रखना ही नहीं, बल्कि छेद करना और भीतर के व्यास को बड़ा करना भी है।

खराद पर कई प्रकार के काम किए जाते हैं। किसी वस्तु को गोल करना और उसको एक विशेष व्यास का बनाना, चूडी काटना, किसी वस्तु पर ढलाव बनाना, छोटे छेदों को बडा करना, भीतर के व्यास को बढ़ाना तथा इसी प्रकार के अन्य दूसरे काम किए जाते हैं। वस्तु पर पहले गहरी काट (cut) लेकर उसको नाप से कुछ ही ज्यादा रख लिया जाता है। इसके पश्चात् कम काट लेकर काम को उसके ठीक नाप पर लाया जाता है। हर प्रकार की काट के लिये अलग अलग उपकरण होते हैं। जिस प्रकार का काम करना हो उसी प्रकार के उपकरण को खराद में लगाना पडता है। चूडियाँ काटने के लिये उपकरण उसी रूप का बनाया जाता है जिस रूप की चूडी होती है।

खरादें कई प्रकार की होती हैं जिनको यहाँ बतलाना कठिन है, परंतु हर खराद के काम करने का नियम वही है जो ऊपर बतलाया गया है। खराद पर काम करने से पहले कुछ बातो को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है। खराद को चलाने से पहले उसको साफ करना और उसके सब अंगों को तेल देना लाभदायक तथा आवश्यक है। तेल देने से खराद का हर भाग अच्छा काम करता है। जिस वस्तु पर काम हो रहा है वह काट लगने से गरम हो जाती है। यदि इसको ठंढा नहीं किया गया तो उपकरण भी गरम हो जायगा और उसकी धार नष्ट हो जाएगी। इससे धातु को काटने में कठिनाई होगी और धातु भी ठीक नहीं कट पाएगी। इसलिये धातु काटने के साथ साथ उसपर तेल भी दिया जाता है। एक तो यह तेल उपकरण के काम में सुविधा करता है और दूसरे धातु को ठंढा रखता है। यह तेल खास तौर से इसी काम के लिये बनाया जाता है। इस कार्य के लिये साबुन को पानी में घोलकर भी काम में लाया जाता है।

यह भी देखा गया है कि खराद पर काम करनेवाले का कोई कपड़ा खराद के किसी चलनेवाले भाग में फँस गया और इसके कारण दुर्घटना हो गई। इसलिये ढीले कपडे पहनकर खराद पर काम करना ठीक नहीं है। खराद के चलनेवाले सब अंगो पर भी कोई रोक लगाना आवश्यक होता है। धातु काटनेवाले सब उपकरणों को तेज करते रहने से अच्छा काम होता है। कम गहरे और छोटी काट लेने से काम का रूपक अच्छा होता है।

कुछ कारखानों में खरादों को चलाने के लिये ऊपर की ओर एक धुरी लगाई जाती थी, जिसको इंजन से चलाया जाता था। इस धुरी पर कई घिरनियाँ लगाई जाती थीं और हर घिरनी में एक खराद चलती थी। इस प्रणाली के उपयोग से कई कठिनाइयाँ होती थीं, एक तो यह कि यदि एक या दो खरादें चलाना हो तो भी उसी शक्ति का इंजन चलाना पडता था जो सब खरादों को एक साथ चलाने के लिये प्रयुक्त होता। इससे खरादो को चलाने में अधिक लागत आती थी। दूसरे, यदि इंजन में कोई खराबी आ गई तो सब खरादों का काम रुक जाता था। तीसरे, इसमें दुर्घटनाएँ भी अधिक होती थीं। इसलिये आजकल इस प्रणाली का प्रयोग नहीं किया जाता। अब हर खराद के साथ उसकी अपनी मोटर आती है, जिसको जब भी आवश्यक होता है चला लिया जाता है। इस प्रकार हर खराद की शक्ति उसके साथ अलग रहती है। (गु० वे०)

खरे, वासुदेव वामन शास्त्री (१८५८–१९२४) इनका जन्म कोंकण के गुहागर नामक गाँव में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा वहीं पर प्राप्त करने के बाद सतारा में अनंताचार्य गजेंद्रगडकर के पास संस्कृत का विशेष अध्ययन किया। उसके बाद पूना के न्यू इंग्लिश स्कूल में संस्कृत के अध्यापक हुए। वहीं लोकमान्य तिलक के साथ परिचय और दृढ स्नेह हुआ। 'केसरी' और 'मराठा' से उनका संबंध उनके जन्म से ही था। तिलक की प्रेरणा से वे मिरज के नए हाई स्कूल में संस्कृत के अध्यापन का काम करने लगे। यहीं उन्होंने ३० वर्षों तक विद्यादान का कार्य किया, यहीं पर अंग्रेजी भाषा का अध्ययन किया। यहीं इतिहास अन्वेषण के प्रति रुचि उत्पन्न हुई। उनकी कीर्ति इतिहास के प्रति की गई सेवाओं के कारण चिरंतन है। २७ वर्षों तक पटवर्धन दफ्तर के अमूल्य ऐतिहासिक साधनों का अध्ययन कर 'ऐतिहासिक लेखसंग्रह' के रूप में उसे उन्होंने महाराष्ट्र को दिया। इसमें १७६० से १८०० तक के मराठों के इतिहास का विवेचन है। रसिक और विद्वान् होने के नाते उनसे इतिहास के संबंध में अनेक नई बातें लोगों को सुनने को मिलती थीं।

बचपन से ही वे कविता करते थे। 'यशवंतराव' नामक एक महाकाव्य की उन्होंने रचना की थी। संस्कृत पढाते समय संस्कृत श्लोकों का समवृत्त मराठी अनुवाद अपने विद्यार्थियों को सुनाते थे। शिक्षक के रूप में वे बहुत अनुशासनप्रिय थे। वे नाटककार भी थे। गुणोत्कर्ष, तारामंडल, उग्रमंडल आदि अनेक ऐतिहासिक नाटकों की उन्होंने रचना की। इसके अतिरिक्त नाना फडणवीस चरित्र, हरिवंशाची बखर, इचल करंजी चा इतिहास, मालोजी व शहाजी उनकी विशेष प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

उनका अधिकतर जीवन गरीबी में बीता। उन्होंने बिना किसी आर्थिक सहायता के अपने ही पैरों पर खड़े होकर श्रेष्ठ इतिहास अन्वेषक और ग्रंथकार के रूप में कीर्ति प्राप्त की। इन परिस्थितियों में लगभग तीन दशाब्दियों तक इतिहास-अन्वेषण का जो ठोस और सुव्यवस्थित कार्य उन्होंने किया वह किसी भी उच्च कोटि के विद्वान् के लिये अभिमानास्पद है। उनकी विवेचनाशक्ति तथा सारग्रहण करने की क्षमता अद्भुत थी। ठोस और सत्य आधार पर वे अपने मतों को स्थिर करते थे इसीलिये वे अकाट्य और अबाधित रहते थे। तपेदिक से ११ जून, १९२४ को मिरज में उनका देहांत हुआ। (हु० अ० फ०)

खरेघाट; मनशेरजी पेस्तनजी इनका जन्म दिसंबर, १८६४ ई० में हुआ था। वे बचपन से ही बड़े मेधावी थे। मुख्य रूप से गणित की समस्याओं को हल करके उन्होंने अपनी कुशलता का परिचय दिया। मैट्रीकुलेशन की परीक्षा १३ वर्ष की उम्र में ही उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् कालेज की पढ़ाई समाप्तकर इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में १८८२ ई० में सफलता प्राप्त की। भारत लौटने पर आप सहायक कलेक्टर, मैजिस्ट्रेट, सहायक न्यायाधीश और सत्र न्यायाधीश के रूप में क्रमश थाना, बस्ती, भड़ौंच और शिकारपुर रहे। जब आप रत्नगिरि में सत्र न्यायाधीश थे तभी बंबई के उच्च न्यायालय की बेंच पर आसीन किए गए। परंतु आप शीघ्र ही छुट्टी पर चले गए जिसका प्रमुख कारण प्राणदंड की सजा के प्रति अपनी अनिच्छा प्रकट करना था। आप पुन रत्नगिरि के सत्र जज बना दिए गए जहाँ आप सन्यासी की भाँति धार्मिकतापूर्वक जीवन व्यतीत करने के कारण सबके द्वारा पूजित तथा प्रशंसित हुए। गरीब जनता के लिये आपके हृदय में जो स्नेह था उसके कारण उनकी सेवा करने के लिये आपने अवकाशप्राप्ति की उम्र तक पहुँचने के पूर्व ही सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। पारसी पंचायत के 'बोर्ड ऑव ट्रस्टी' के सभापति के रूप में आप जीवन के अंतिम दिनों तक कार्य करते रहे। (ह० म०)

खरोष्ठी सिंधुघाटी की चित्रलिपि को छोड़कर, भारत की दो प्राचीनतम लिपियों में से एक। यह दाएँ से बाएँ को लिखी जाती थी। सम्राट अशोक ने शाहबाजगढ़ी और मनसेहरा के अभिलेख खरोष्ठी लिपि में ही लिखवाए हैं। इसके प्रचलन की देश और कालपरक सीमाएँ ब्राह्मी की अपेक्षा संकुचित रहीं और बिना किसी प्रतिनिधि लिपि को जन्म दिए ही देश से इसका लोप भी हो गया। इसका कारण संभवत ब्राह्मी जैसी दूसरी परिष्कृत लिपि की विद्यमानता अथवा देश की बाएँ से दाहिने लिखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। प्रारंभ में इसके पढ़ने का प्रयास करनेवाले योरोपीय विद्वानों ने इसे बैक्ट्रियन, इंडो-बैक्ट्रो-पालि या एरियनो-पालि जैसे नाम दिए थे। 'खरोष्ठी' नाम 'ललितविस्तर' में उल्लिखित ६४ लिपियों की सूची में है। इसके नाम की व्युत्पत्ति के संबंध में अनेक मत हैं जिनमें सर्वाधिक मान्य प्रजलुस्की का है। उनके मतानुसार खरोष्ठी का मूल खरपोस्त (>खरपोस्त>खरोष्ठ) है। पोस्त ईरानी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ खाल होता है। महामायूरी में उत्तरपश्चिम भारत के एक नगरदेवता का नाम खरपोस्त आया है। चीनी परंपरा के अनुसार इसका आविष्कार ऋषि खरोष्ठ ने किया था। लिपि के नाम की व्युत्पत्ति चाहे जो हो, इसमें संदेह नहीं कि इस देश में यह उत्तरपश्चिम से आई और कुछ काल तक, अशोक के अतिरिक्त, मात्र विदेशी राजकुलों द्वारा उनके ही प्रभाव के क्षेत्र में प्रयुक्त होकर उनके साथ ही समाप्त हो गई।

खरोष्ठी लिपि के उदाहरण प्रस्तरशिलाओं, धातुनिर्मित पत्रों, भांडों, सिक्कों, मूर्तियों तथा भूर्जपत्र आदि पर उपलब्ध हुए हैं। खरोष्ठी के प्राचीनतम लेख तक्षशिला और चारसद्दा (पुष्कलावती) के आसपास से मिले हैं, किंतु इसका मुख्य क्षेत्र उत्तरपश्चिमी भारत एवं पूर्वी अफगानिस्तान था। मथुरा से भी कुछ खरोष्ठी अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त दक्षिण भारत, उज्जैन तथा मैसूर के सिद्दापुर से भी खरोष्ठी में लिखे स्फुट अक्षर या शब्द मिले हैं। मुख्य सीमा के उत्तर एवं उत्तर-पूर्वी प्रदेशों में भी खरोष्ठी लेखोंवाले सिक्के, मूर्तियाँ तथा खरोष्ठी में लिखे हुए प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। ई० पू० की चौथी, तीसरी शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक उत्तरपश्चिम भारत से मथुरा तक खरोष्ठी का प्रचलन रहा। कुषाणयुग के बाद इस लिपि का भारत से बाहर चीनी तुर्किस्तान में प्रवेश हुआ और कम से कम एक शताब्दी वह वहाँ जीवित रही।

खरोष्ठी के उद्भव के संबंध में सर्वाधिक प्रचलित मत है कि हखमनी शासकों को परिस्थितिवश पहले असुरिया और बाबुल में प्रयुक्त होनेवाली अरमई (Aramaic) लिपि को शासन संबंधी कार्यों के लिये अपनाना पड़ा और उनके शासन के साथ ही उत्तरपश्चिम भारत में इसका प्रवेश। आवश्यकतावश कुछ भारतीयों को इसे सीखना पड़ा, किंतु बाद में ब्राह्मी के सिद्धांतों के आधार पर इसमें परिवर्तन हुए और इस प्रकार खरोष्ठी का जन्म हुआ। मुख्य रूप से भारत के ईरान द्वारा अधिकृत प्रदेश में इसका प्रचार, प्राचीन फारसी शब्द 'दिपि' (लिखना) एवं इससे उद्भूत 'दिपपति' शब्दों का अशोक के अभिलेखों में प्रयोग, दीर्घस्वरों का अभाव, ईरानी आहत सिक्कों पर ब्राह्मी अक्षरों के साथ खरोष्ठी अक्षरों की विद्यमानता तथा कुछ खरोष्ठी वर्णों का अरमई के वर्णों से साम्य एवं अनेकों के अरमई वर्णों से उद्भव की प्रतिपाद्यता इस मत के पोषक तत्व हैं।

प्रत्येक व्यंजन में अ की विद्यमानता, दीर्घस्वरों एवं स्वरमात्राओं का अभाव, अन्य स्वरमात्राओं का ऋजुदंडों द्वारा व्यक्तीकरण, व्यंजनों के

अ		ञ		ब		१	/
इ		ट		भ		२	//
उ		ठ		म		३ ४	/// X
ए		ड		य		५	/X
ओ				र		६	//X
क		ण		ल		८	XX
ख		त		व		१०	7
ग		थ		श		२०	3
घ		द		ष		५०	733
च		ध		स		६०	333
छ		न		ह		७०	7333
ज		प		ग्र		१००	ʎ/
झ		फ		प्र		२००	ʎ//

खरोष्ठी लिपि के अशोककालीन वर्ण और शककालीन संख्याएँ

पूर्व पंचम वर्णों के लिये सर्वत्र अनुस्वार का प्रयोग तथा संयुक्ताक्षरों की अल्पता खरोष्ठी लिपि की कुछ विशेषताएँ हैं।

इसकी विशेषताओं एवं वर्णों के घसीट स्वरूप से सिद्ध होता है कि यह लिपिकों और व्यापारियों आदि की लिपि थी किंतु खरोष्ठी में लिखी खोतान में प्राप्त पांडुलिपि से इसके एक दूसरे परिष्कृत रूप का अस्तित्व भी सिद्ध होता है, जिसका प्रयोग शास्त्रों के लेखन में होता था।

(ल० का० त्रि०)

खर्गा मिस्र का सबसे बड़ा नखलिस्तान जो लीबिया की मरुभूमि के बीच स्थित है स्थिति ३४° और २६° उ० तथा ३०° और ३१° पू० के बीच। यह नखलिस्तान उत्तरदक्षिण १०० मील लंबा और पूर्वपश्चिम १२ से ५० मील चौड़ा, १८,००० वर्गमील विस्तृत है। यहाँ वर्षा बिलकुल नहीं होती और न कोई प्राकृतिक जलस्रोत ही है किंतु लीबिया के रेगिस्तान के नीचे दबे छिद्रयुक्त बलुए पत्थर में रिसते पानी के अनेक कुएँ हैं। इस नखलिस्तान में खजूर के विस्तृत बगीचे हैं। यहाँ सुपारी और झाऊ के भी कुछ वृक्ष हैं।

यहाँ के निवासी बर्बर कबीले के हैं, जो चावल, जौ और गेहूँ पैदा करते हैं। खेती के अतिरिक्त यहाँ खजूर के छिलके और रेशों से चटाई और टोकरी बनाने का भी उद्योग होता है। १९०६ से बोरिंग द्वारा जल प्राप्तकर भूमि को उपजाऊ बनाने का प्रयास जारी है।

पुरा प्रस्तर युग में यहाँ लोगों के रहने का प्रमाण मिलता है और नव प्रस्तर युग के अवशेष यहाँ मिले हैं। फिराऊन के काल में समझा जाता था कि वहाँ भूत रहते थे। सत्ताइसवें ईरानी वंश के शासकों के समय इस भूभाग का अधिक दृष्टि से विकसित करने के प्रयास हुए। दारा (डेरियस) के समय के बने १४२ फुट लंबे और ६३ फुट चौड़े अमेन के मंदिर के अवशेष यहाँ मिले हैं। नखलिस्तान के पूर्वी निकास के पास गिर्गा के रास्ते में एक विशाल रोमन दुर्ग के अवशेष हैं। असियुत की सड़क पर एक भव्य रोमन स्तंभ मंडप है। खर्ग नगर से, जो इस नखलिस्तान का मुख्य नगर है, कुछ दूर पर ईसाइयों का कब्रिस्तान है जिसमें लगभग २०० चौकोर समाधि-भवन हैं। उनमें से अधिकांश में ममी (सुरक्षित शव) रखें पाए गए हैं। मिस्र के ईसाई इस प्राचीन प्रथा का बहुत दिनों तक पालन करते रहे।

खर्ग नगर खजूर के जंगलों के बीच बसा हुआ नगर है। वहाँ कच्चे ईंटों के बने मकान हैं। गलियाँ टेढ़ी मेढ़ी और सँकरी हैं। कुछ सड़कें पत्थर काटकर बनाई गई हैं। समझा जाता है कि हिरादोतस ने नखलिस्तान के इसी नगर का उल्लेख किया है जो थेबीज से सात दिन की यात्रा के मार्ग पर स्थित था। उसे यूनानियों ने 'आशीर्वाद का द्वीप' कहा है। रोमन काल में और उससे पूर्व फिराऊनों के समय यहाँ देश से निर्वासित लोग भेजे जाते थे। (प० ला० गु०)

खलीफ़ा इस्लाम के नबी के वास्तविक अथवा कल्पित 'उत्तराधिकार' में मुसलमानों का अभिभावक; किंतु इस्लाम के इतिहास में खलीफा का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है और छह प्रकार के खलीफा बताए गए हैं (द्र० खिलाफत)। इन छहों प्रकार की ख़िलाफत से नितांत असंबद्ध कुछ मुसलमान शाहों ने, विशेषतः तुर्कों ने, भी ख़लीफा अल्लाह के प्रतिनिधि का दावाकर यह उपाधि धारण की थी। किंतु इस प्रकार के दावों को कुरान का समर्थन नहीं प्राप्त है।

आधुनिक उर्दू में ख़लीफ़ा शब्द का अर्थ हज्जाम (नाई तथा दर्जी) होता है। नाइयों ने किस तरह यह महान् उपाधि प्राप्त कर ली, यह अभी अन्वेष्टव्य है। (मो० ह०)

खलील, इब्न अहमद (७१८–७९१) ओमन निवासी अरब भाषा तत्वविद्। इनका पूरा नाम अब्दुर्रहमान उल खलील था। ये अहमद के पुत्र अम्र के पौत्र और तमीम के प्रपौत्र थे। इन्होंने सर्वप्रथम अरबी कोश तैयार किया था जो किताबुल-एन के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें अक्षरों का आरंभ ऐन से होकर ये पर समाप्त हुआ है। इन्होंने अरबी काव्य छंदों को व्यवस्थित रूप दिया था। कुछ व्याकरण ग्रंथ भी इनके बनाए जाते हैं किंतु कुछ लोगों ने इस बात में संदेह प्रकट किया है। (प० ला० गु०)

खलीलाबाद यह उत्तरप्रदेश के बस्ती जिले की दक्षिणपूर्वी तहसील है (स्थिति : २६° २५' से २७° ५' उ० अ० तथा ८२° ५०' से ८३° १२' पू० दे०)। इसका विस्तार ५६४ वर्गमील है। यहाँकी भूमि उपजाऊ और समतल है। कुआनो, आमी तथा अन्य कई छोटी नदियाँ इसमें बहती हैं। मेंहदावल और खलीलाबाद इस तहसील के व्यापारिक केंद्र हैं। (रा० लो० सिं०)

खलीलुल्ला खाँ मुगलकालीन एक प्रमुख राज्याधिकारी। मीरबख्शी असालत खाँ का छोटा भाई और सैफ खाँ का दामाद। जहाँगीर के समय महाबत खाँ के विद्रोह में यह कैद हुआ था। शाहजहाँ के राज्य में उन्नति की सीढ़ियाँ चढता सेना के खास भाग का अध्यक्ष नियुक्त हुआ। उसने बड़ी वीरता से शाहजहाँ के आज्ञानुसार कहमर्द और गोरी दुर्गों की विजय की। यह शाहजादा औरंगजेब के साथ बलख पर आक्रमण के लिये गया और उन्नति करता हुआ, अलीमर्दान खाँ अमीर उल उमरा के साथ काबुल का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया गया। युद्ध के विषय में यह अत्यंत चतुर, वीर और अपनी धुन का पक्का था। शाहजहाँ ने इसी कारण इसे श्रीनगर पर अधिकार करके वहाँके शासक को अपदस्थ करने के लिये भेजा। वहाँ जाकर इसने चाँदनी के थाने पर अधिकार कर लिया, किंतु वर्षा ऋतु आ जाने के कारण इसे पीछे हटना पड़ा। वह हरद्वार के कराड़ी को चाँदनी का शासक नियुक्त करके वापस आया। इस समान में उस और उच्च पद मिले। १०६८ हिजरी में जब शाहजहाँ अस्वस्थ होकर जलवायु परिवर्तन के विचार से आगरा आया तो खलीलुल्ला खाँ को उसने दिल्ली का अध्यक्ष नियुक्त किया।

शाहजहाँ के शासन का अंत होने पर दाराशिकोह ने मीरबख्शी मोहम्मद अमीन खाँ को कारागार में डाल दिया और उसके पद पर खलीलुल्ला को नियुक्त किया। दाराशिकोह का अधिक विश्वासपात्र होने के कारण, उसने इसे औरंगजेब के विरुद्ध युद्ध करने के लिये धौलपुर भेजा। इसे सेना के विशिष्ट भाग का अध्यक्ष भी बनाया गया। इसने अत्यंत वीरता के साथ पंद्रह सहस्र सैनिकों को लेकर युद्ध किया।

जब परिस्थितियाँ बदलीं और इसकी गलत सलाह के कारण दारा की पराजय हुई तब इसके प्रसादस्वरूप औरंगजेब ने इसे अपने पास रख लिया और छह हजारी तथा ६००० सवार का भारी मंसब देकर उसे दिल्ली से दाराशिकोह का पीछा करने के लिये भेजा। उसने बहादुर खाँ कोका के साथ दाराशिकोह का मुल्तान तक पीछा किया। इसी समय इसे १०६६ हिजरी में पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया गया।

औरंगजेब के राज्य के चौथे वर्ष खलीलुल्ला खाँ अपने घर दिल्ली वापस आया और १६६२ ई० में (२ रज्जब, सन् १०७२ हिजरी को) उसकी मृत्यु हुई। सम्राट् औरंगजेब ने इसकी मृत्यु के पश्चात् इसके संबंधियों को अच्छे पद और वृत्तियाँ देकर सम्मानित किया। कहा जाता है, इसका बड़ा भाई असालत खाँ जितनी शांत प्रकृति का था, उतना ही यह खलीलुल्ला उग्र स्वभाव का था।

खलीलुल्ला खाँ, यज्दी मीर कदाचित् इमाम मूसा काजिम का वंशज। यह किरमान का रहनेवाला था। यह महान् साहित्यिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। इसकी लिखी पुस्तकों की संख्या ५०० बताई जाती है। इसी कारण इसके शिष्य भी बहुत थे। अहमदशाह बहमनी ने भी इसकी शिष्यता स्वीकार कर ली थी। इसके साहित्यिक गुणों के कारण इसके पुत्र और पौत्रों को अनेक राजाओं के यहाँ सम्मान प्राप्त हुआ था। ऐसा माना जाता है कि १८वीं शताब्दी तक इसके वंशज यज्द नगर में बसे रहे। मीर खलीलुल्ला खाँ यज्दी की मृत्यु ७२७ हिजरी (७३४ ई०) में हुई।

खल्द अरब की खाड़ी में गिरनेवाली नदियों—दजला और फरात—के मुहाने पर बसा भूभाग। इसका अधिकांश भाग दोनों नदियों के द्वाब में, जिसके मुहाने पहले आज की तरह मिले हुए नहीं थे, बसा था और प्राचीन बाबुल (बेबिलोनिया) का दक्षिणी खंड था। इस खंड का बेबिलोनिया अथवा बाबुल नाम तब पड़ा जब सामी बाबुलियों ने उसपर अधिकार किया। उससे पहले, नदियों के द्वाब के इस भूभाग के प्राचीनतम निवासी सुमेरी थे जिनके नाम से संबंधित वह भूमि सुमेरिया कहलाती थी, जिसकी सुमेरी सभ्यता गैर-सामी थी। यद्यपि वह सुमेरी संस्कृति बाबुली-सामी राजनीतिक सत्ता के नीचे दब गई तथापि शीघ्र ही उसके अनेक अंकुर, सामी अधिकार के बावजूद, फूट पड़े और सुमेरी भाषा, शब्दावली, लिपि तथा देवता बाबुलियों और उनके पश्चात् असूरिया के असुरों के पूज्य बने। सुमेरी लिपि का साम्राज्य तो फारस और एलाम से लेकर आज के तुर्की तथा आर्मीनिया तक फैला था।

सुमेरियों के बाद खल्द में उस सामी जाति का निवास हुआ जो अरब से आई थी और जिसके नेता यहूदियों के पितामह अब्राहम (इब्राहिम) थे। बाइबिल की पुरानी पोथी (ओल्ड टेस्टामेंट) में 'ऊर के खल्दियों' का जो उल्लेख हुआ है, संभवतः वह इसी जाति के प्रति है। जिन दिनों अब्राहम अपनी यहूदी जाति को लिए, दजला फरात का द्वाब लाँघ, सीरिया होते फिलिस्तीन और मिस्र की ओर चले गए थे उन्हीं दिनों बाबुल को अपनी राजधानी बनाकर सामी सम्राट् हम्मुराबी ने अपना साम्राज्य एलाम से भूमध्यसागर तक स्थापित किया और खल्द की [illegible] मिस्री

फराऊनों की शक्ति से टकराने लगी। बाबुली साम्राज्य को तोड़कर दजला फरात के उपरले द्वाब में बसनेवाले असुरों ने शीघ्र ही आज के समूचे इराक पर अधिकार कर लिया और खल्द उनकी 'भुक्ति' बना। प्राचीन अभिलेखों में असुर राजाओं ने खल्द का प्रायः इसी नाम से पुकारा है। शर्रुकिन (ई० पू० ७२२–७०५) तथा सेनाखेरिब दोनों के अभिलेख खल्द राजा रामिदाख-बलादीन का उल्लेख करते हैं जिसने अनेक बार असूरी साम्राज्य के विरुद्ध बगावत की थी।

कालांतर में असूरी साम्राज्य की घटती हुई शक्ति के रहते ही खल्द में फिर राजनीतिक सत्ता की प्रतिष्ठा हुई और न केवल वह उस साम्राज्य से सर्वथा स्वतंत्र हो गया वरन् शीघ्र ही उसने असूरिया के अधिकतर प्रांतों के साथ साथ ईरान, इसराइल और मिस्र तक पर अधिकार कर लिया। इस खल्दी सत्ता का प्रतिष्ठित करनेवाले नबोपोलज्जार के पुत्र नेबूखदनेज्जार (७वीं सदी ई० पू०) ने खल्दी शक्ति को चोटी तक पहुँचा दिया। उसके द्वारा जुरुसलम का विध्वंस इतिहासप्रसिद्ध है। विध्वंस के बाद उसने वहाँ के विचारवान् नेताओं को पकड़कर बाबुल में कैद कर लिया। उनके नाम बाइबल की प्राचीन पोथी में लिखे हैं और उनके बंदीकाल का महत्वपूर्ण तथा पुनीत माना गया है। बाइबिल की पुरानी पोथी के पहले पाँच खंड उसी बंदीकाल में बाबुल में ही प्रस्तुत हुए थे जिनका नाम 'पेंतुतुख' पड़ा। नबुखदनेज्जार के बाद उसका नाती बलशेज्जार खल्द का अंतिम सम्राट् हुआ जिसके जशनों का बयान करते हुए प्राचीन पोथी में लिखा है कि जब उसका नाचरंग चल रहा था तभी उसके महल की दीवार से एक हाथ निकला जिसने दीवार पर लिख दिया—'मने मने तेकेल उफर्सीन'—तुम्हें तराजू में तौला गया है और तुम बहुत हल्के सिद्ध हुए हो। ठीक तभी ईरानियों ने बाबुल का सिंहद्वार तोड़कर बेलशेज्जार का जशन समाप्त कर दिया और खल्द की सत्ता का वह केंद्र सदा के लिये टूट गया। खल्दियों का नाम बाबुलियों की ही भाँति तब से केवल फलित और गणित ज्योतिष के संदर्भ में लिया जाने लगा।

(भ० श० उ०)

खस एक प्राचीन जाति, जो कदाचित् शकों की कोई उपजाति थी। मनु ने इन्हें क्षत्रिय बताया है किंतु कहा है कि संस्कार लोप होने और ब्राह्मणों से संपर्क छूट जाने के कारण वे शूद्र हो गए। महाभारत के सभापर्व एवं मार्कंडेय तथा मत्स्यपुराण में इनके अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। समझा जाता है कि महाभारत में उल्लिखित खस का विस्तार हिमालय में पूर्व से पश्चिम तक था। राजतरंगिणी के अनुसार ये लोग कश्मीर के नैर्ऋत्य कोण के पहाड़ी प्रदेश अर्थात् नेपाल में रहते थे। अतः वहाँ के निवासियों को लोग खस मूल का कहते हैं।

सिल्वाँ लेवी की धारणा है कि खस हिमालय में बसनेवाली एक अर्धसंस्कृत जाति थी जिसने आगे चलकर हिंदू धर्म ग्रहण कर लिया। यह भी धारणा है खस लोग काशगर अथवा मध्य एशिया के निवासी थे और तिब्बत के रास्ते से नेपाल और भारत आए। (प० ला० गु०)

खस या खसखस एक सुगंधित पौधा। (Khus Khus) इसका वानस्पतिक नाम वेटिवीरिआ (Vetiveria) है जिसकी व्युत्पत्ति तमिल शब्द 'वेटिवर' से हुई प्रतीत होती है। यह सुगंधित, पतले एकवर्धाक्ष (Racemes) का लंबे पुष्पगुच्छवाला वर्षानुवर्षी पौधा है। इसकी अनुशूकी का जोड़ा सीकुररहित होता है जिसमें से एक अवृंत और पूर्ण तथा दूसरा वृंतयुक्त और पुंपुष्पी होता है। अवृंत अनुशूकि में बारीक कंटक होते हैं। इसका प्रकंद (rhizome) बहुत सुगंधित होता है। प्रकंद का उपयोग भारत में इत्र बनाने और ओषधि के रूप में प्राचीन काल से हो रहा है। पौधे की जड़ों का उपयोग विशेष प्रकार का पर्दा बनाने में होता है जिसे 'खस की टट्टी' कहते हैं। इसको ग्रीष्म ऋतु में कमरे तथा खिड़कियों पर लगाते हैं और पानी से तर रखते हैं जिससे कमरे में ठंढी तथा सुगंधित वायु आती है और कमरा ठंढा बना रहता है। प्रकंद के वाष्प आसवन से सुगंधित वाष्पशील तैल प्राप्त होता है जिसका उपयोग इत्र बनाने में होता है। फूलों की गंध को पोड़ रखने की इनमें क्षमता पर्याप्त होती है। (अ० न० मे०)

खसम हठयोग साधना का एक पारिभाषिक शब्द जो ख + सम से बना है और इसका मूल अर्थ है ख (आकाश) के समान। हठयोग साधना का उद्देश्य चित्त को सारे सांसारिक धर्मो से मुक्तकर उसे निर्लिप्त बना देना था। इस सर्वधर्मशून्यता को मन की शून्यावस्था कहते हैं और शून्य का प्रतीक गगन है। अतः परिशुद्ध, स्थिर, निर्मल चित्त को खसम कहते हैं। इस अर्थ में बौद्ध परंपरा में खसम शब्द का प्रयोग प्रायः हुआ है। सिद्धाचार्यों द्वारा बोधिचित्त की साधना में मन को खसम स्वरूप (शून्य स्वरूप) धारण करने का उपदेश दिया गया है। पलटूदास आदि संतों ने भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का प्रयोग कुछ संतों ने इस अर्थ के अतिरिक्त पति और प्रियतम के अर्थ में किया है, किंतु वहाँ इसके मूल में फारसी शब्द खसम (पति) है।

(प० ला० गु०)

खसर्पण बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के अनेक रूपों में से एक रूप। इनका अभिज्ञान चिह्न कमल है और तारा, सुधन कुमार, भ्रुकुटी तथा हयग्रीव इनके सहचर माने गए हैं। तिब्बत के बौद्धों के बीच यह देवता काफी लोकप्रिय रहे हैं। उनकी अनेक मूर्तियाँ तिब्बत और नेपाल से प्राप्त हुई हैं। बंगाल की पाल कालीन मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं।

(प० ला० गु०)

खांडव प्राचीन भारत का एक प्रख्यात वनखंड जो कुरुक्षेत्र में यमुना के किनारे था। कृष्ण और अर्जुन ने इसे जलाकर निवास योग्य भूमि तैयार की थी और पांडवों ने वहाँ इंद्रप्रस्थ नगर की स्थापना की और उसे अपनी राजधानी बनाया। यहीं से वे दिग्विजय के लिये चतुर्दिक् गए थे और युधिष्ठिर ने यहीं राजसूय यज्ञ भी किया था। (प० ला० गु०)

खाँ, अलाउद्दीन उस्ताद विख्यात संगीतज्ञ। आपका जन्म १८७० में त्रिपुरा जिले के शिवपुर गाँव में हुआ था। उनके पिता साधु खाँ बड़े संगीतप्रेमी थे, इसी कारण अलाउद्दीन खाँ भी संगीत की ओर उन्मुख हुए। पिता जब सितार का रियाज करते तो बालक अलाउद्दीन भी गुनगुनाते फलतः स्वर और लय से वे परिचित हो गए। तब वे सुप्रसिद्ध वाद्यवृंद संगीतज्ञ हाबू दत्त के पास गए। उन्होंने 'फिडल' बजाकर उनकी परीक्षा ली थी। अलाउद्दीन ने तुरत धुन की सरगम बना दी। फिर लोबो नामक बैंड मास्टर से उन्होंने अंग्रेजी नोटेशन का ज्ञान प्राप्त करते हुए शहनाई सीखी। पर इतने से ही वे संतुष्ट नहीं हुए। अहमद अली से उन्होंने सरोद सीखना चाहा पर इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। तब वे गुरु की खोज करते रामपुर पहुँचे। वहाँ उस्ताद वजीर खाँ ने काफी कठिन परीक्षा के बाद उन्हें अपना शिष्य बनाया और अपना सारा ज्ञान उनमें समाहित कर दिया। जब शिक्षा समाप्त हो गई तो वे क्रमशः बड़ संगीत के महफिलों में भाग लेने लगे। अंत में मैहर (मध्य प्रदेश) पहुँचकर वहाँके राजा ब्रजनाथ के यहाँ नौकरी कर ली और फिर वे वहीं बस गए। आज भी उनकी ख्यादि मैहरवाले के नाम से है। उनके पास ध्रुपद और धमार के तीन हजार चीजों का संग्रह था और १२०० तो उन्हें कंठस्थ थे। भारतीय संगीत के प्रचार के लिये वे इंग्लैंड और अमरीका भी गए थे। उनकी संगीतसेवा पर भारत सरकार ने उन्हें पद्मश्री की उपाधि से विभूषित किया था। (प० ला० गु०)

खाँ फैयाज (उस्ताद) ख्याल गायन के आगरा घराने के सुप्रसिद्ध कलाकार। खयाल गायकी में ग्वालियर, आगरा और दिल्ली घराने प्रमुख माने जाते रहे हैं। इन्हीं में विख्यात गायक हद्दू खाँ हस्सू खाँ और गगे खुदाबख्श हुए हैं। आगरा घराना उस्ताद फैयाज, खाँ के कारण बहुत प्रसिद्ध हुआ। इनका जन्म आगरा के निकट सिकंदरा में हुआ था और संगीत की आरंभिक शिक्षा गगे खुदाबख्श के पुत्र अपने नाना उस्ताद गुलाम अब्बास खाँ द्वारा हुई। उनके चरणों में यह तब तक शिक्षा प्राप्त करते रहे जब तक उनकी १२० वर्षो की आयु में मृत्यु नहीं हो गई। नाना अपने साथ इन्हें बराबर यात्राओं पर भी ले जाते रहे जहाँ विभिन्न संगीताचार्यों के संपर्क में आने का उन्हें अवसर मिला।

जब वह १८–२० वर्षों के ही थे उसी समय की एक घटना है जो इनकी दैवी संगीत प्रतिभा को व्यक्त करती है और जो बहुत कम लोगों को ज्ञात है। एक संगीत सभा में तत्कालीन सुविख्यात गायक उस्ताद मियाँ जान ख़ाँ ने अपने विशिष्ट ढंग से मुल्तानी में ख़याल गाया। फ़ैयाज़ ख़ाँ वहाँ उपस्थित थे, जनता मंत्रमुग्ध थी और अब किसी का गायन वहाँ उस समय जम पाने का प्रश्न ही नहीं था। मियाँ जान ख़ाँ से लोहा लेना असंभवप्राय था। कुछ देर फ़ैयाज़ ख़ाँ हिचके किंतु फिर स्वयं भी आलाप, अंतरा और स्थायी में मियाँ जान ख़ाँ की भाँति ही मुलतानी ख़याल गाया, तदनंतर उसी राग को अपने रंग में गाया। मियाँ जान ख़ाँ विभोर हो उठे, स्वयं उठकर फ़ैयाज़ ख़ाँ के पास आए और भूरि भूरि प्रशंसा की।

ख़याल गायकी के ग्वालियर और दिल्ली घराने धीरे धीरे प्रमुखता से पीछे हटने लगे किंतु फ़ैयाज़ ख़ाँ के कारण आगरा घराना जीवित और सशक्त रहा। संगीत के क्षेत्र में वह धीरे धीरे भारत विख्यात होने लगे और यह निर्विवाद है कि वह ख़याल गायन के सर्वश्रेष्ठ कलाकार थे। ध्रुपद, होरी और अलाप की परंपराओं को ख़याल गायकी में उत्कृष्ट रूप से उतारना उनकी विशेषता थी। उनका अलाप वस्तुतः राग की रचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता था। सजीव चित्र सम्मुख उपस्थित कर देता था। कहा जा सकता है कि वह केवल राग की अवतारणा कंठ द्वारा ही नहीं करते थे प्रत्युत उसे जीवंत कर देते थे, उसमें प्राण फूँक देते थे। वह अमर हो उठता था। उसमें जन-जन का हृदय धड़कने लगता था। इसी कारण, तकनीकी दृष्टि से कठिन और पेचीदा होते हुए भी उनके होरी गायन जनता द्वारा बहुप्रशंसित थे। गत्यात्मकता और लयात्मकता उनके लिये आयाससिद्ध न होकर नैसर्गिक गुण थे। धमार ताल को लेकर जहाँ अन्य गायक उलझन में पड़ जाते हैं वहाँ फैयाज़ ख़ाँ, लगता है, उसे अपनी उँगलियों पर नचाते थे।

अभी भी फैयाज ख़ाँ के गाए हुए दरबारी, पूरिया, टोडी, असावरी, देसी, रामकली, इमनकल्याण, जयजयवंती तथा अन्य कुछ राग लोगों के कानों में गूँज रहे हैं। उनकी गाई हुई भैरवी 'बाबुल मोरा नैहर छूटो जाय', परज 'मनमोहन ब्रज को रसिया' आदि अब उस रूप में कहाँ सुनने को मिलेंगे?

वह बहुत उदार और संतोषी प्राणी थे। भीड़ में भी अपने व्यक्तित्व के कारण सहज ही पहचाने जा सकते थे। विनम्र, सुसंस्कृत तथा आत्मप्रचार से दूर रहते थे। संगीत क्षेत्र के 'महान्' की शृंखला की वह अंतिम कड़ी थे, अपनी उपमा आप स्वयं थे। वह अपनी विद्या में अद्वय थे। राष्ट्र को उनपर गर्व होना उचित ही है। आज के संगीतज्ञ उस प्रकाशस्तंभ के नीचे बैठकर कला-साधना करने में गौरवान्वित होंगे।

संगीत विद्या में वह जितनी ऊँचाई पर पहुँच गए थे उसे देखते हुए जनता उन्हें 'आफताब-ए-मौसीकी' (संगीत का सूर्य) कहने लगी थी। (स०)

खाँ, मुहम्मद अयूब फील्डमार्शल (१६०७–१६७२ ई०) पाकिस्तान के राष्ट्रपति। अबटाबाद में १४ मई १६०७ में जन्म। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत सैंडहर्स्ट (इंग्लैंड) में सैनिक शिक्षा प्राप्तकर १६२८ में भारतीय सेना में भर्ती होकर १४वीं पंजाब रेजिमेंट में संमिलित हुए। १६३६–४५ के द्वितीय महायुद्ध में भाग लिया। १६४७ में ब्रिगेडियर बनाए गए। पाकिस्तान बनने पर वह पाकिस्तानी सेना में संमिलित हुए तथा अगले वर्ष मेजर जनरल के रूप में पूर्वी पाकिस्तान की सेना के कमांडर बनाए गए। १६५० में एडजुटेंट जनरल के पद पर उन्नति हुई। १६५१ में पाकिस्तान की सेना के प्रधान सेनापति नियुक्त हुए। तदनंतर १६५४–५६ तक पाकिस्तान सरकार के सुरक्षा मंत्री पद पर काम किया। १६५८ में उन्होंने चीफ मार्शल, ला एडमिनिस्ट्रेटर और समस्त सेना के कमांडर का भार ग्रहण किया; और इसी वर्ष उन्होंने राष्ट्रपति इस्कंदर मिर्जा को पद त्याग करने को बाध्य किया तथा स्वयं राष्ट्रपति बन बैठे और १६६६ तक इस पद पर रहे। यह काल एक प्रकार से पाकिस्तान में सैनिक शासन का काल था। इस काल में वे राष्ट्रपति के साथ साथ सुरक्षा मंत्री का भी कार्य देखते थे। उन्होंने भारत के विरुद्ध युद्ध छेड़ा जिसमें उनकी सेना को मुँह की खानी पड़ी। पश्चात् यहिया ख़ाँ ने उन्हें पदत्याग करने पर विवश किया और मार्च, १६६६ में उन्हें अपने पद से हटना पड़ा। तदनंतर वे देश छोड़कर बाहर चले गए, वहीं उनकी मृत्यु हुई। उन्होंने 'फ्रेंड्स नाट मास्टर्स' नाम से अपनी एक आत्मकथा लिखी थी जो १६६७ में प्रकाशित हुई। (प० ला० गु०)

खाँ, हाफिज अली (उस्ताद) सुप्रसिद्ध सरोदवादक। रामपुर के स्वर्गीय उस्ताद फ़िदा हुसेन के बाद सर्वोत्कृष्ट सरोदवादक हुए। दादा गुलाम अली ख़ाँ बंगश (काबुल) के रहनेवाले थे और वहाँ वादक के रूप में प्रसिद्ध थे। वह भारत चले आए तथा तत्कालीन संगीतज्ञों से मिलने जुलने के लिये भारत के विभिन्न भागों में यात्राएँ कीं। वह फ़र्रुख़ाबाद के नवाब के यहाँ नियुक्त थे और ग्वालियर भी गए थे। वहीं सर्वप्रथम इस काबुली वाद्ययंत्र—सरोद—को भारत ले आए। हाफ़िज़ अली के पिता का नाम उस्ताद नन्हे ख़ाँ था जो फ़िदा हुसेन के लड़कों में से एक थे। नन्हे ख़ाँ रामपुर आकर रहने लगे। उन्होंने हाफ़िज़ अली को सरोद की बारीकियाँ समझाईं। उन्होंने मथुरा के गणेशी चौबे से भी कई राग और ध्रुपद की बंदिशें सीखीं। रामपुर में यह उस्ताद वजीर ख़ाँ के शिष्य रहे।

हाफ़िज़ अली को सरोदवादन की शिक्षा विरासत में मिली—दादा और पिता, दोनों इस विद्या में निष्णात थे। उस्ताद वज़ीर ख़ाँ के सरोदवादन के जादू से—जो उस समय रामपुर के प्रसिद्ध वादक थे—वह प्रभावित हुए तथा उनसे वादन के शास्त्रीय और पारंपरिक रूपों की शिक्षा ली और सरोदवादन में वीणावादन की तकनीक का समन्वय किया।

उनके आदर्श थे महान् सरोदवादक फ़िदा हुसैन और वह उनकी पद्धति पर चलने की चेष्टाएँ करते रहे। उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ की भाँति हाफ़िज़ अली ख़ाँ का भी निराला सरोदवादक व्यक्तित्व है। संगीत के जानकार सुनते ही पहचान लेंगे कि यह हाफ़िज़ अली का वादन है। अपने समय में वह महान् सरोदवादक थे जिनके वादन में फ़िदा हुसेन की याद संगीतशास्त्रियों को आ जाया करती थी।

उनका व्यक्तित्व काबुली लोगों जैसा था, चेहरे पर सदैव मुसकान रहती थी। उनके शिष्य आज भी बहुत से हैं। अपनी प्रशंसा सुनने पर वह सदैव कहा करते थे—'ख़ुदा सबसे महान् है, मैं क्या हूँ?'

उस्ताद हाफ़िज़ अली ख़ाँ भारत सरकार के संगीत नाटक अकादमी के रत्नसदस्य (Fellow) भी रहे थे तथा सरोदवादन के लिये संगीत नाटक अकादमी का पुरस्कार भी प्राप्त कर चुके थे। (स०)

खाकास रूसी सोवियत गणतंत्र का एक स्वशासित प्रदेश जिसकी स्थापना १६३० में की गई थी। यह मध्य साइबेरिया में क्रास्नायार्स्क प्रदेश के आगे उत्तरपूर्व स्थित २३,६७६ वर्गमील का भूभाग है। केमेरोवा और ओरियो के स्वशासित प्रदेश इसके दक्षिण और केमेरोवा प्रदेश पश्चिम में है। इसमें येनिसे नदी की सहायिका अबाकान नदी बहती है और आगे चल कर मिनुसिंस्क कांठे में गुजरती हुई इसकी पूर्वी सीमा निर्धारित करती है। इस प्रदेश का ६० प्रतिशत भूभाग टैगा वन्य प्रदेश है अतः सोवियत सरकार यहाँ काष्ठ के उद्योग और सैनिक अड्डे के रूप में इसे विकसित करने का प्रयास कर रही है। लकड़ी नदी द्वारा बहाकर अबाकान पहुँचाया जाता है वहाँ अनेक आरा मिलें हैं। कांठे के भीतर भेंड़ और दुग्ध पशुपालन होता है और उनके विकास के लिये अनुसंधानशाला की स्थापना की गई है। पहले मिनुसिन्स्क के कांठे में घोड़े आदि पशु स्वतंत्र विचरण किया करते थे किंतु अब वहाँ गेहूँ, जौ और जई की खेती होती है। यहाँ के ५२ प्रतिशत तुर्क-मंगोल संकर जाति के खाकासी लोग हैं जो किसी समय घुमंतू थे। (प० ला० गु०)

खाकी मटमैले रंग का विशेष प्रकार का कपड़ा जो मूलतः अंग्रेजी और भारतीय सैनिकों की वर्दी के लिये प्रयोग किया जाता रहा है। इस शब्द की व्युत्पत्ति फारसी के खाक (मिट्टी) से है। इस वस्त्र का सर्वप्रथम प्रयोग

१८४८ में सीमांत सेना के लिये किया गया जो उन दिनों गाइड्स कहे जाते थे। उसके बाद समस्त सेना की वर्दी इसी कपड़े से बनने लगी। यह वस्त्र मूलत किस प्रकार का बना था यह स्पष्ट ज्ञात नहीं है किंतु भारतीय विद्रोह के समय सैनिकों की खाकी वर्दी ड्रिल की बनी थी। उसके बाद रंग संबंधी बिना किसी विचार के यह शब्द ड्रिल कपड़े का पर्याय बन गया। (प० ला० गु०)

खाकी एलेक्शन ग्रेट ब्रिटेन के दो संसद् निर्वाचनों के लिये प्रयुक्त शब्द जिनका संबंध युद्ध से था। पहला खाकी एलेक्शन १९०० ई० में हुआ था उस समय संयुक्तवादी बड़ी संख्या में चुने गए। उन्होंने अपनी इस विजय का यह अर्थ लगाया कि जनता ने उन दिनों चल रहे दक्षिणी अफ्रीका के युद्ध का सफल अंत करने का अधिकार उन्हें प्रदान किया है। दूसरा खाकी एलेक्शन प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के तत्काल बाद १९१८ के दिसम्बर में हुआ था। १९११ ई० के बाद यह पहला निर्वाचन था और इसमें भी संयुक्त दल विजयी रहा। मतदाताओं की धारणा थी कि इसी दल ने युद्ध को सफल बनाया था। (प० ला० गु०)

खाकी पंथ उत्तर भारत का एक वैष्णव पंथ जिसकी स्थापना कृष्णदास पयहारी के शिष्य कील्ह ने की थी। इस नाम के भी मूल में फारसी शब्द खाक (राख, धूल) ही है। इस पंथ के लोगों का कहना है कि रामचंद्र के वन जाते समय लक्ष्मण ने अपने अंग में राख मल ली थी इससे उनका नाम खाकी पड़ा और उसी नाम को इन लोगों ने ग्रहण किया है।

नवाब शुजाउद्दौला के राज्याधिकारी दयाराम ने इस पंथ का एक अखाड़ा संवत् १६०५ में स्थापित किया। उस समय वहाँ १८० व्यक्ति थे। तबसे वहाँ अखाड़ा कायम है और उसका संचालन एक महंत करते हैं। इस पंथ का एक दूसरा अखाड़ा रेवा काँठा स्थित लुनावाड़ा में है और उसकी एक शाखा अहमदाबाद में है।

इस पंथ के लोग मिट्टी अथवा राख में रँगा वस्त्र पहनते हैं। राम, सीता और हनुमान इनके आराध्य देव हैं। ये लोग शैवों की भाँति जटा धारण करते हैं और शरीर में राख लपेटते हैं। इनकी धारणा है कि नदी के प्रवाह के समान साधु को सदा भ्रमणशील होना चाहिए। अत इस पंथ के साधु कहीं एक जगह नहीं ठहरते। (प० ला० गु०)

खागा उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जिले की पूर्वी तहसील (स्थिति २५° २६' से २६° १' उ० अ० तथा ८१° से ८१° २०' पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल ४८१ वर्गमील है। तहसील के उत्तर एवं दक्षिण में गंगा और यमुना नदियाँ बहती हैं। मध्यवर्ती भाग में ससुरखदेडी नदी बहती है। गंगा के समीप की भूमि बलुई है तथा यमुना की तरफ कटाव अधिक होने के कारण अनुपजाऊ है। इस क्षेत्र में आधी सिंचाई कुओं से होती है। (रा० लो० सि०)

खाडिलकर, कृष्णाजी प्रभाकर (१८७२-१९४८ ई०) नाट्याचार्य। इनका जन्म सांगली में हुआ था। विद्यार्थी अवस्था में ही इनकी नाट्यप्रतिभा चमक उठी। ये बहुमुखी प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे जो परीक्षा में, खेल में और वक्तृत्व की स्पर्धा में सदा चमकते थे। हाई स्कूल तथा कालेज में पढ़ते हुए इन्होंने संस्कृत तथा अंग्रेजी नाटकों का गहन अध्ययन किया।

वकील होने पर स्वदेशसेवा करने की उदात्त भावना से ये लोकमान्य तिलक के सहकारी बने। इनके स्वभाव में लालित्य और गांभीर्य का अलौकिक मेल था। लोकजागरण के उदात्त उद्देश्य से ये नाट्यसर्जना करने लगे। इन्होंने शेक्सपियर की नाट्यशैली को अपनाकर लगभग १५ कलापूर्ण एवं प्रभावशाली नाटकों की सफल रचना की। इन्होंने कलापूर्ण गद्यनाटक के समान ही संगीतनाटक भी लिखे और गद्यनाटकों को संगीतनाटक जैसा कलापूर्ण बनाया।

१८९७ में इनका 'सवाई माधवराव की मृत्यु' नामक गद्य एवं दुःखांत नाटक अभिनीत हुआ जिसने दर्शकों को विशेष आकर्षित किया। इसके उपरांत 'कीचकवध' और 'भाऊबंदकी' जैसे गद्यनाटकों ने इनकी लोकप्रियता को चार चाँद लगाए। इनका 'कीचकवध' नाटक सामयिक राजनीतिक परिस्थितियों पर लिखा व्यंग्य करने में इतना सफल रहा कि अंग्रेज सरकार को उसे जब्त करना पड़ा। पौराणिक नाट्यवस्तु द्वारा सामयिक राजनीति की मार्मिक आलोचना करने में ये बड़े सफल थे। इसी प्रकार 'भाऊबंदकी' नामक ऐतिहासिक नाटक लिखने में भी ये खूब सफल रहे। १९१२ से इन्होंने संगीतनाटक लिखने प्रारंभ किए और १९३६ तक इस प्रकार के सात नाटक लिखे। जिनमें १ संगीत मानापमान, २ संगीत स्वयंवर, ३ संगीत द्रौपदी उत्कृष्ट नाटक हैं।

नाट्यवस्तु के विन्यास, चरित्रचित्रण, प्रभावकारी कथोपकथन, रसों के निर्वाह, सभी दृष्टियों से खाडिलकर के नाटक कलापूर्ण हैं। इनकी नाट्यसृष्टि शृंगार, वीर, करुणादि रसों से ओतप्रोत है। इनकी नाट्यरचना से नाट्यसाहित्य और रंगमंच का यथेष्ट उत्कर्ष हुआ। इनकी रचना का स्रोत आदर्शवाद था जो इनके जीवन में प्राय उमड़ पड़ता था। इन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'राष्ट्रोन्नति में सहायक हो, ऐसा लोकजागरण करना या लोकशिक्षा देना मेरी नाट्यकला का प्रधान उद्देश्य है। नाटककार को चाहिए कि वह आदर्श चरित्रचित्रण दर्शकों के सामने प्रस्तुत करे ताकि वे उनसे प्रभावित होकर कर्मयोग का आचरण करें।

खाडिलकर प्रखर राष्ट्रभक्त और तेजस्वी संपादक भी थे जिन्होंने बंबई में 'नवाकाल' नामक दैनिक पत्र को लगभग १६ साल तक सफलता से संपादित किया। ये मराठी के शेक्सपियर कहलाते हैं। आयु के अंतिम दिनों में इन्होंने अध्यात्म पर भी गंभीर ग्रंथ लिखे। (भी० गो० दे०)

खाद और उर्वरक अति प्राचीन काल से ही यह ज्ञात रहा है कि खेतों की उपज बढ़ाने के लिये खाद की आवश्यकता होती है और तब से खाद के रूप में हड्डियाँ, काठ की राख, मछलियाँ और चूना-पत्थर प्रयुक्त होते आ रहे हैं। पर ऐसा क्यों होता है, इसका कारण उन दिनों मालूम नहीं था।

पौधों की वृद्धि के लिये जो विभिन्न पोषक तत्व उपयुक्त होते हैं, उनके प्रभाव के उचित मूल्यांकन के लिये यह जानना आवश्यक है कि मिट्टी से पौधों को (१) आवश्यक पोषण तत्व, (२) जल के भंडार, (३) जड़ के श्वसन के लिये ऑक्सीजन और (४) सीधा खड़े रहने के लिये सहारा कैसे प्राप्त होते हैं।

पौधों के सूखे ऊतकों के भार का लगभग ९५ प्रतिशत केवल कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का बना होता है। ये तीनों तत्व पौधों को वायु और जल से प्राप्त होते हैं। ये तत्व प्रकाश संश्लेषण के जटिल प्रक्रमों द्वारा पौधों के ऊतक बनाते हैं (द्र० प्रकाश संश्लेषण)। पौधों की वृद्धि के लिये कुछ अन्य आवश्यक वस्तुओं, जैसे विटामिन, हारमोन तथा अन्य संकीर्ण कार्बनिक पदार्थों का निर्माण पौधों के ही अंदर होता है।

उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त पौधों की वृद्धि के लिये कुछ और तत्वों की आवश्यकता होती है। इनमें कुछ को 'मुख्य तत्व' और कुछ को 'अल्प तत्व' कहते हैं। मुख्य तत्वों में कैलसियम, मैग्नीशियम, पोटासियम, नाइट्रोजन, फास्फरस और गंधक हैं। अल्प तत्वों में ताँबा, मैंगनीज, जस्ता, लोहा, मोलिबडेनम और बोरन हैं।

जहाँ तक मिट्टी की उर्वरता का संबंध है, नाइट्रोजन (N), फास्फोरस (P) और पोटाशियम (K) बहुत अधिक महत्व के हैं। इन्हें NPK कहते हैं। ये अपेक्षया बड़ी मात्रा में पौधों द्वारा मिट्टी से अवशोषित होते हैं। इस कारण ये तत्व मिट्टी से जल्द निकल जाते हैं और इनकी कमी हो जाती है। ये तत्व जलविलेय रूप में पौधों द्वारा अवशोषित होते हैं। यदि ये तत्व विलेय रूप में न होंगे तो मिट्टी में रहते हुए भी पौधों को उपलब्ध न होंगे।

नाइट्रोजन—प्रोटीन और क्लोरोफिल का एक प्रमुख अवयव नाइट्रोजन है। प्रकाश संश्लेषण में यह सक्रिय भाग लेता है। जब मिट्टी में खेती की जाती है तब नाइट्रोजन चक्र पर प्रभाव पड़ता है। फसल काटने पर पौधों की केवल जड़ें और खूँटियाँ ही मिट्टी में रह जाती हैं, शेष भाग

का नाइट्रोजन निकल जाता है। संकर्षण से भी मिट्टी का नाइट्रेट बहुत कुछ निकल जाता है। इससे प्रतिवर्ष नाइट्रोजन की क्षति बहुत अधिक होती रहती है।

फास्फोरस—शरीर-क्रिया-संचालन मे एक महत्व का पदार्थ फास्फोप्रोटीन है। पौधों में इसकी कमी से जड़ों का उचित विकास नहीं होता और फसलों के पकने मे भी बाधा पहुँचती है।

पोटासियम—पोटासियम से प्रकाश-संश्लेषण-प्रक्रिया मे सहायता पहुँचती है।

खाद—कार्बनिक अवशिष्ट द्रव्य महत्व की खाद है, क्योंकि इनसे मिट्टी की भौतिक दशा सुधरती है जो पौधों की वृद्धि के लिये आवश्यक हैं। कार्बनिक पदार्थों के आंशिक विच्छेदन से कुछ धुंधले भूरे रंग के गठन रहित कलिल पदार्थ बनते है, जिन्हें ह्यूमस कहते है। ह्यूमस से मिट्टी को नमी और पोषण के रोक रखने में सहायता मिलती है। इससे सूक्ष्माणुओ को अनुकूल परिस्थिति भी प्राप्त होती है।

गोबर खाद—खेत खलिहान के अवशिष्ट द्रव्यों मे सबसे अधिक महत्व का पदार्थ गोबर खाद है। एक टन गोबर खाद से १० से १५ पाउंड तक नाइट्रोजन और प्राय: पाँच पाउंड फास्फोरस प्राप्त होते हैं। सामान्य फसल के लिये मिट्टी मे बड़ी मात्रा मे गोबर खाद देने की आवश्यकता पड़ती है। गोबर खाद का संगठन एक सा नही होता, प्रत्युत गोबर और घासपात की प्रकृति पर, जिनसे यह बनती है, निर्भर करता है। पशुओ के चारे और खाद तैयार करने की स्थिति पर भी खाद की प्रकृति निर्भर करती है। पशुओं का मूत्र भी समान रूप से उपयोगी खाद है। विभिन्न पशुओं के मलमूत्र एक से नही होते और उनमे पोषक तत्वों की मात्रा भी विभिन्न रहती है।

पशुओं के मलमूत्र का औसत संघटन, प्रतिशतता में

अवयव	ठोस मल				द्रव मूत्र			
	गाय	घोड़ा	सूअर	भेड़	गाय	घोड़ा	सूअर	भेड
जल	८४	७६	८०	५८	९२	८९	९७·५	८६·५
ठोस पदार्थ	१६	२४	२०	४२	८·०	११·०	२ ५	१३·५
राख	२·४	३	३	·६	२·०	३·०	१·०	३·६
कार्बनिक पदार्थ	१३·६	२१	१७	३६	६·०	८·०	१·५	९·९
नाइट्रोजन	०·३	०·५	०·६	० ७५	०·८	१ २	०·३	१·४
फास्फोरस P_2O_5	०·२५	०·३५	०·४५	०·६	—	—	०·१२	०·०५
क्षार	०·१	०·३	०·५	०·३	१·४	१·५	०·२	२·०
चूना और मैग्नीशिया	०·८	० ३	०·३	·१·५	०·१५	०·८	०·०५	० ६
सल्फर ड्रायक्साइड (SO_3)	०·०५	०·०५	०·०५	०·१५	०·१५	०·१५	०·०५	०·२५
नमक	० ००५	लेश	०·०५	० ०२५	० १	०·२	०·५	०.२५
सिलिका	१·६	२ ०	१·६	३·२	० ०१	० ०२५	लेश	लेश

ये आंकड़े स्टोएकहार्ट (Stockhardt) के हैं।

पशुओं का मलमूत्र सीधे खेतों में डाला जा सकता है पर उसे सड़ा गलाकर डालना ही अच्छा होता है। ऐसी खाद पौधों को आवश्यक पोषक तत्व प्रदान करने के साथ साथ मिट्टी की दशा भी सुधारती है और मिट्टी मे पानी को रोक रखने की क्षमता बढ़ाती है। गोबर को घासपात के साथ मिलाकर कंपोस्ट तैयार करके प्रयुक्त करना अच्छा होता है।

पशुओ का मूत्र भी अच्छी खाद है। पशुओं के चारे का अधिकांश नाइट्रोजन मूत्र के रूप मे ही बाहर निकलता है। मूत्र के साथ यदि कंपोस्ट तैयार किया जाय तो वह खाद अधिक मूल्यवान् होती है।

साधारणतया तीसरे या चौथे वर्ष खेतो मे खाद डाली जाती है और केवल विशेष परिस्थितियों मे ही प्रतिवर्ष डाली जा सकती है।

हरी खाद—ताजे, हरे पेड़ पौधों को मिट्टी मे जोत देने से कार्बनिक पदार्थ मिट्टी मे मिल जाते है। इससे ह्यूमस के साथ साथ उनकों मे उपस्थित पोषक तत्व भी पौधो को मिल जाते हैं। ये हरे पौधे घासपात, फलीदार पौधे, सनई, रिजका, सेंजी आदि होते हैं, जो खेतो मे बोए जाते और प्रौढ होने पर जोत दिए जाते हैं। फलीदार पौधो के साथ साथ बेफलीदार पौधे भी अच्छे समझे जाते है। इनके सिवाय ग्वानो (इसमें २५ प्रतिशत तक P_2O_5 रहता है), मछली चूरा (इसमे ५ से १० प्रतिशत नाइट्रोजन और इतना ही फा० औ० रहता है) तथा तेलहन खली (इसमें ५ से ७ प्रतिशत नाइट्रोजन और २ से ३ प्रतिशत फा० औ० और १ से २ प्रतिशत K_2O रहते हैं) भी कार्बनिक खाद है।

खनिज या अकार्बनिक खाद—सन् १९१० से पहले संयुक्त नाइट्रोजन के केवल दो ही स्रोत, कोयला और लवणनिक्षेप थे। अब स्थिति बदल गई है और नीचे के आंकडो से पता लगता है कि कृत्रिम रीति से संयुक्त नाइट्रोजन के निर्माण मे कितनी प्रगति हुई है।

संसार के नाइट्रोजन उर्वरक उत्पादन के आंकड़े (ये संयुक्त नाइट्रोजन के १,००० मीटरी टन मे दिए गए हैं):

	१९५९-६०	१९६०-६१
ऐमोनियम सल्फेट	३,०८७	३,१४६
ऐमोनियम नाइट्रेट (उर्वरक के लिये)	१,३७५	१,६०२
नाइट्रोचॉक (कैलसियम ऐमोनियम नाइट्रेट)	१,७२८	१,८५८
ऐमोनिया और अन्य विलयन	१,५२४	१,६६८
यूरिया (उर्वरक के लिये)	५६७	७८०
कैलसियम साइनेमाइड	३३१	३०४
सोडियम नाइट्रेट	२२७	१८५
कैलसियम नाइट्रेट	४८२	४६५
नाइट्रोजन के अन्य रूप	३,०३७	३,३३५
गत वर्ष से वृद्धि	९·१%	८·४%

अधिकांश नाइट्रोजनीय उर्वरकों मे नाइट्रोजन या तो नाइट्रिक नाइट्रोजन के रूप मे, या ऐमोनिया नाइट्रोजन के रूप मे, अथवा इन दोनों रूपों मे रहता है। नाइट्रीकारी बैक्टीरिया के अधिक सक्रिय न रहने पर भी नाइट्रोजन पौधों को तत्काल उपलब्ध होता है। यह मिट्टी के कलिलों से अवशोषित नही होता और जल्द पानी मे घुलकर निकल जाता है। दूसरी ओर मिट्टी कलिल से ऐमोनिया जल्द अवशोषित हो जाता है और नाइट्रीकारी बैक्टीरिया उसे धीरे धीरे नाइट्रेट मे परिणत करते हैं। यह जल घुलघुलाकर निकल नहीं जाता, बल्कि इसका प्रभाव खेतो मे अधिक समय तक बना रहता है।

यूरिया मे नाइट्रोजन सबसे अधिक रहता है। इससे इसका महत्व अधिक है। मिट्टी मे उपस्थित सूक्ष्माणुओ से उत्पन्न एंजाइमों के कारण यह बहुत शीघ्र ऐमोनियम कार्बोनेट मे परिणत हो जाता है, जो फिर नाइट्रीकारी बैक्टीरिया से आक्सीकृत होकर जल, कार्बन डाइ-आक्साइड और नाइट्रिक अम्ल मे परिणत हो जाता है।

फास्फोरस—पिसी हुई फास्फेट चट्टानों को सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा उपचारित करने से सुपरफास्फेट प्राप्त होता है। जलविलेय उर्वरकों मे सुपरफास्फेट अत्यंत महत्व का होता है। सल्फ्यूरिक अम्ल के उपचार से

अविलेय ट्राइकैलसियम फास्फेट [$Ca_3(PO_4)_2$] विलेय मोनोकैलसियम फास्फेट [$Ca(H_2PO_4)_2$] में परिणत हो जाता है। सुपरफास्फेट में १५ से २५ प्रतिशत तक P_2O_5 रहता है।

डबल या ट्रिपल सुपरफास्फेट में जल विलेय P_2O ४५ से ५० प्रतिशत तक रहता है। यह उच्चकोटि के फास्फेट खनिज को फास्फरिक अम्ल द्वारा उपचारित करने पर (फास्फेट खनिज के तापीय विघटन से भी) प्राप्त होता है। पिसा हुआ फास्फेट खनिज अम्लीय मिट्टी के लिये जिसका पीएच ६ से नीचा हो, लाभप्रद हो सकता है। ऐसी दशा में ट्राइकैलसियम फास्फेट धीरे धीरे विघटित होकर उपलब्ध रूप में आ जाता है।

बेसिक स्लैग—कुछ पाश्चात्य देशों के लोहे के खनिजों में फास्फरस की मात्रा अपेक्षया अधिक रहती है। ऐसे खनिजों से प्राप्त स्लैग में १२ से २० प्रतिशत P_2O, ४० से ५० प्रतिशत चूना (CaO), ४ से १० प्रतिशत लोहा (FeO और Fe_2O_3) ५ से १० प्रतिशत मैंगनीज (MnO) और २ से ३ प्रतिशत मैग्नीशियम (MgO) रहता है। उपोत्पाद के रूप में लाखों टन बेसिक स्लैग के इस्पात के कारखानों में प्रति वर्ष उत्पन्न होता है। फास्फोरस खाद का यह सबसे सस्ता और उपयोगी स्रोत है।

नाइट्रोफास्फेट—फास्फेट चट्टान के सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा उपचार से कैलसियम सल्फेट भी बनता है। यह उर्वरक को हल्का बना देता है और फास्फोरस (P_2O_5) की प्रतिशतता को भी कम कर देता है। कुछ समय से फास्फेट चट्टान के विघटन के लिये नाइट्रिक अम्ल का उपयोग होने लगा है। इससे फास्फेट सांद्र ही नहीं होता, वरन् उसमें उपयोगी खाद नाइट्रोजन भी आ जाता है। इसमें कठिनता है कैलसियम नाइट्रेट के निकालने की, क्योंकि यह बहुत ही आर्द्रताग्राही होता है। इसके निकालने के लिये (१) हिमीकरण, या (२) कार्बन डाइ आक्साइड के साथ अभिक्रिया, या (३) ऐमोनियम सल्फेट अथवा पोटासियम सल्फेट के साथ अभिक्रिया का उपयोग हो सकता है। भारत ऐसे देश के लिये, जहाँ गंधक की कमी है, नाइट्रो-फास्फेट का उत्पादन लाभप्रद हो सकता है।

पोटासियम उर्वरक—पोटासियम उर्वरकों में सबसे अधिक उपयोग में आनेवाला लवण पोटासियम क्लोराइड है। कार्नेलाइट नामक प्राकृतिक खनिज ($KCl\ MgCl_2, 6H_2O$) और कुछ अन्य खनिजों में यह रहता है और उनसे अलग करना पड़ता है। कुछ पौधों के लिये पोटासियम क्लोराइड हानिकारक होता है। इससे पोटासियम सल्फेट अधिक पसंद किया जाता है।

कभी कभी यह समस्या खड़ी हो जाती है कि कार्बनिक उर्वरक अच्छे हैं या अकार्बनिक। मिट्टी से पौधे उर्वरकों को आयन के रूप में ही ग्रहण करते हैं। यह महत्व का नहीं कि आयन कार्बनिक पदार्थों से जैविक विघटन द्वारा प्राप्त होते हैं या अकार्बनिक उर्वरकों से सीधे प्राप्त होते हैं। दोनों के परिणाम एक होते हैं। अंतर केवल यह है कि अकार्बनिक उर्वरकों में पोषक तत्व आयन के रूप में ही रहते हैं, जब कि कार्बनिक उर्वरकों में धीरे धीरे विघटित होकर आयन के रूप में आते हैं। इस कारण कार्बनिक उर्वरकों की क्रिया अपेक्षया मंद होती है और गँवार किसानों के लिये इनका उपयोग निरापद होता है। ऐसी खादों में पोषक तत्वों, नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटासियम की मात्रा भी कम रहती है, अत 'अति' का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यह सच है कि मिट्टी के ह्यूमस के लिये कार्बनिक खाद अत्यावश्यक है। अकार्बनिक खाद से ह्यूमस नहीं प्राप्त होता। अत कार्बनिक और अकार्बनिक खादों में संतुलन स्थापित होना आवश्यक है जिससे मिट्टी के ह्यूमस की वृद्धि के साथ साथ आवश्यक पोषक तत्व पौधों को मिलते रहें।

मिट्टी की उर्वरता के लिये ह्यूमस महत्वपूर्ण है। उसपर विशेष ध्यान देने से ही उर्वरता बढ़ सकती है। पौधों अथवा मिट्टी के विश्लेषण से मिट्टी में पोषक तत्वों के अभाव का पता लगता है। किंतु केवल [illegible] के विश्लेषण से पोषक तत्वों की कमी का पता नहीं लगता। पोषक तत्व मिट्टी में होने पर भी वे ऐसे रूप में रह सकते हैं कि पौधे उन्हें ग्रहण करने में असमर्थ हों। अत बहुत सोच समझकर ही उर्वरकों का व्यवहार करना चाहिए अन्यथा लाभ के स्थान में हानि हो सकती है। यह सच है कि हमारी मिट्टी में सैकड़ों वर्षों से फसल उगाते उगाते उर्वरता का ह्रास हो गया है तथा उर्वरक के व्यवहार से उपज बहुत कुछ बढ़ाई जा सकती है पर आवश्यकता से अधिक अकार्बनिक उर्वरकों के व्यवहार से पाश्चात्य देशों, विशेषकर अमरीका में, हानि होती देखी गई है।

स० ग्रं०—फूलदेव सहाय वर्मा 'खाद और उर्वरक' (१९६०)।
(म० व०)

भारत में खाद के कारखाने—भारत में सुपर फास्फेट का उत्पादन १९०६ में ही तमिलनाडु के रानीपेट स्थित एक कारखाने ने आरंभ कर दिया था, किंतु बड़े पैमाने पर उद्योग के रूप में रासायनिक खादों के उत्पादन का कार्य पाँचवें दशक के आरंभिक वर्षों में ही शुरू हुआ। १९५० में रासायनिक खाद के नौ कारखाने खुले और धीरे धीरे उनकी संख्या बढ़ने लगी। १९७३ ई० आते आते इसके पचास कारखाने हो गए और इन कारखानों में १९७३–७४ के वर्ष में १० ६० लाख टन रासायनिक खाद तैयार हो गई है।

भारत सरकार ने १९६१ में एक भारतीय खाद निगम की स्थापना की थी। उसके अंतर्गत छह कारखाने चालू हैं और ग्यारह निर्माणावस्था में हैं। चल रहे कारखाने सिंदरी (बिहार), नागल (पंजाब), ट्रांबे (महाराष्ट्र), गोरखपुर (उत्तरप्रदेश), नामरूप (असम) और दुर्गापुर (पश्चिम बंगाल) में हैं। बरौनी (बिहार), रामगुंडम् (आंध्र प्रदेश), तालचेर (उड़ीसा) हल्दिया (पश्चिम बंगाल), कोरबा (मध्य प्रदेश) में नए कारखाने निर्माणाधीन हैं। पुराने कारखानों में नामरूप, सिंदरी, ट्राबे, गोरखपुर और नगल का विस्तार किया जा रहा है।

खाद निगम के इन कारखानों के अतिरिक्त कुछ निजी कारखाने भी हैं जिनमें फर्टिलाइजर्स ऐंड केमिकल्स (त्रिवांकुर) के अंतर्गत कोचीन और अलवाये के कारखाने हैं। यह रासायनिक खादों के उत्पादन में अग्रणी है। मद्रास और वाराणसी में निजी क्षेत्र के अन्य कारखाने हैं। राउरकेला इस्पात संयत्र से संलग्न राउरकेला रासायनिक खाद का एक कारखाना है जो १९६२ में चालू हुआ था। इस प्रकार का नैवेलि में एक कारखाना है जो नैवेली लिग्नाइट निगम से संबद्ध है।

कोक भट्ठी संयंत्र के ३४ उत्पादों सहित सिंदरी, नगल, ट्राबे, राउरकेला, अलवाये, नैवेलि, नामरूप, गोरखपुर, दुर्गापुर, कोचीन तथा मद्रास स्थित सरकारी कारखानों और एन्नूर, वाराणसी, बड़ौदा, विशाखापत्तन कोटा, गोवा और कानपुर के निजी कारखानों की कुल क्षमता ३१ मार्च, १९७४ को १९.३६ लाख टन नत्रजन थी। १८ अन्य बड़ी परियोजनाएँ जिनकी समन्वित क्षमता २२ २२ लाख टन नत्रजन और ६ ६२ लाख टन P_2O_5 की है, कार्यान्वियन के विभिन्न चरणों में हैं इनमें से बरौनी खेतड़ी, तूती कोरन, और काँदला के नए कारखाने लगभग तैयार हैं तथा नामरूप, कोटा और विशाखापत्तन के पुराने कारखानों का विस्तारीकरण पूरा होने की अवस्था में है। इन कारखानों की क्षमता ८ २२ लाख टन नत्रजन और २ ६६ लाख टन फास्फेट की है। (प० ला० गु०)

खादी चर्खे पर कते सूत से हाथकरघे द्वारा तैयार किया गया वस्त्र।

अन्न वस्त्र जैसी मूलभूत आवश्यकताओं के लिये भी विदेशों पर रहने की विवशता दूर करने के लिये राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने खादी के निर्माण और उपयोग पर विशेष जोर दिया था। फलस्वरूप देश में चरखासंघ की स्थापना हुई और खादी का कार्य उत्तरोत्तर अग्रसर होने लगा।

महात्मा गांधी का संदेश था कि देश का प्रत्येक व्यक्ति चरखा चलाए और खादी पहने। खादी और चर्खे का प्रयोग देश की स्वतंत्रताप्राप्ति के लिये अमोघ, अहिंसक अस्त्र के रूप में जनता ने करना आरंभ किया और वह कांग्रेस के नेतृत्व में हुए स्वातंत्र्य आंदोलन का एक महत्वपूर्ण अंग बनी। स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार ने खादी का कार्य आगे बढ़ाने पर विशेष ध्यान दिया। खादी और ग्रामोद्योग कमीशन की स्थापना

की गई। उसके तथा आंदोलनकालीन चरखासंघ की प्रेरणा से संप्रति छोटी बड़ी हजारों संस्थाएँ देश मे काम कर रही है। इन सबके उद्योग से प्रतिवर्ष करोड़ों रुपयों की खादी तैयार होती है। लाखों व्यक्ति सूत कातने और बुनकरों का काम करते हैं। इनके अतिरिक्त भिन्न भिन्न छोटे मोटे कार्यो पर भी हजारों व्यक्ति नियोजित है।

किंतु जितनी खादी तैयार होती है, उतनी सब की सब देश में नही खप पाती। सरकार खादी को प्रोत्साहित करने के निमित्त ग्राहकों को देने के लिये कमीशन के रूप में मूल्य में कमी करने के लिये खादी विक्रेताओं को यथेष्ट सहायता प्रदान करती है। खादी के निर्माता प्रतिष्ठानों को भी अनुदानादि देकर सरकार नियमित रूप से वित्तीय सहायता पहुँचाती है।

इस प्रकार खादी के प्रचार की चेष्टा पिछले ४० वर्षों से की जा जा रही है, परंतु जितने विस्तृत और व्यापक रूप में राष्ट्रपिता इसका व्यवहार देश में कराना चाहते थे उतने विस्तृत और व्यापक रूप में इसका प्रचार नहीं हो पाया है। सरकार द्वारा संघटित खादी और ग्रामोद्योग कमीशन इसके लिये सचेष्ट है और खादी उद्योग की बहुविध सहायता करता रहता है। (ध्व० प्र० सा०)

खान यह शब्द 'क़ागान' अथवा अरबी के 'ख़ाक़ान' से बना है (जिसका संबंध संभवत: चीनी 'क़्आँ' से है) और मुसलमानो मे सर्वप्रथम १०वी शताब्दी ई० में मध्य एशिया के तुर्कों के एक वंश इलेक़खानो के लिये प्रयुक्त हुआ। १२वी तथा १३वी सदी ई० में तुर्क लोग इसका प्रयोग राज्य के सर्वोच्च अधिकारी के लिये किया करते थे। जियाउद्दीन बरनी ने तारीखे-फीरोजशाही में लिखा है, 'जिस किसी 'सरखेल' के पास दस अच्छे तथा चुने हुए सवार न हों, उसे 'सरखेल' न कहना चाहिए। जिस 'सिपहसालार' के पास दस 'सरखेल' ऐसे न हों जो उसकी आज्ञानुसार अपने परिवार की भी बलि दे दें, उसे 'सिपहसालार' न कहना चाहिए। जिस 'अमीर' के पास प्रबंध करने के लिये दस 'सिपहसालार' न हों उसे 'अमीर' न कहना चाहिए। जिस 'मलिक' के अधीन दस अमीर न हों उस 'मलिक' को व्यर्थ समझना चाहिए। जिस 'खान' के पास दस 'मलिक' न हों उसे 'खान' नही कहा जा सकता। जिस बादशाह के पास दस सहायक तथा विश्वासपात्र 'खान' न हों उसे जहाँदारी (राज्यव्यवस्था) एवं जहाँगीरी (दिग्विजय) का नाम भी न लेना चाहिए'। इस प्रकार खान बादशाह के सामंतों को कहा जाता था। मध्य एशिया के मंगोलों के राज्यकाल में सम्राट् को खान तथा चंगेज खाँ के वंशज अन्य शाहजादों को, जो छोटे राज्यों के स्वामी होते थे, सुल्तान कहा जाता था। भारतवर्ष में मुगलों के राज्यकाल में खानेखाना की उपाधि भी दी जाने लगी। बाबर के समय में यह तुर्की 'बिगलर बेगी' का अनुरूप था। सर्वप्रथम बाबर ने दौलत खाँ के पुत्र दिलावर खाँ को खानेखाना की उपाधि प्रदान की थी। इसीप्रकार खानेदौराँ तथा खानेजहाँ की उपाधियाँ भी मुगलों के राज्यकाल में उच्चतम अमीरों एवं सरदारों को प्रदान की जाती थीं।

सं० ग्रं०—जियाउद्दीन बरनी : तारीखे फीरोजशाही; बाबरनामा; रिजवी : आदि तुर्ककालीन भारत, 'मुगल कालीन भारत—बाबर'; एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम, भाग २। (सै० अ० अ० रि०)

खान, अब्दुल गफ्फार सीमाप्रांत और बलूचिस्तान के एक महान् राजनेता जिन्होंने भारत के स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया और अपने कार्य और निष्ठा के कारण 'सरहदी गांधी' और 'बादशाह खान' के नाम से पुकारे जाने लगे। उनके परदादा आबेदुल्ला खान सत्यवादी होने के साथ ही साथ लडाकू स्वभाव के थे। पठानी कबीलियों के लिये और भारतीय आजादी के लिये उन्होंने बडी बड़ी लड़ाइयाँ लड़ी थी। आजादी की लड़ाई के लिये उन्हें प्राणदंड दिया गया था। वे जैसे बलशाली थे वैसे ही समझदार और चतुर भी। इसी प्रकार बादशाह खाँ के दादा सैफुल्ला खान भी लडाकू स्वभाव के थे। उन्होने सारी जिंदगी अंग्रेजो के खिलाफ लड़ाई लडी। जहाँ भी पठानो के ऊपर अंग्रेज हमला करते रहे, वहाँ सैफुल्ला खान मदद में जाते रहे।

आजादी की लड़ाई का यही सबक अब्दुल गफ्फार खान ने अपने दादा से सीखा था। उनके पिता बैराम खान का स्वभाव कुछ भिन्न था। वे शांत स्वभाव के थे और ईश्वरभक्ति मे लीन रहा करते थे। उन्होंने अपने लड़के अब्दुल गफ्फार खान को शिक्षित बनाने के लिये मिशन स्कूल में भरती कराया यद्यपि पठानों ने उनका बड़ा विरोध किया। मिशनरी स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने के पश्चात् वे अलीगढ गए किंतु वहाँ रहने की कठिनाई के कारण गाँव मे ही रहना पसंद किया। गर्मी की छुट्टियों में खाली रहने पर समाजसेवा का कार्य करना उनका मुख्य काम था। शिक्षा समाप्त होने के बाद यह देशसेवा में लग गए।

पेशावर में जब १९१९ ई० में फौजी कानून (मार्शल ला) लागू किया गया उस समय उन्होंने शांति का प्रस्ताव उपस्थित किया, फिर भी वे गिरफ्तार किए गए। अंग्रेज सरकार उनपर विद्रोह का आरोप लगाकर जेल में बंद रखना चाहती थी अत: उसकी ओर से इस प्रकार के गवाह तैयार करने के प्रयत्न किए गए जो यह कहें कि बादशाह खान के भड़काने पर जनता ने तार तोड़े। किंतु कोई ऐसा व्यक्ति तैयार नही हुआ जो सरकार की तरफ से झूठी गवाही दे। फिर भी इस झूठे आरोप में उन्हें छह मास की सजा दी गई।

खुदाई खिदमतगार का जो सामाजिक संगठन उन्होंने बनाया था, उसका कार्य शीघ्र ही राजनीतिक कार्य में परिवर्तित हो गया। खान साहब का कहना है : 'प्रत्येक खुदाई खिदमतगार की यही प्रतिज्ञा होती है कि 'हम खुदा के बंदे हैं, दौलत या मौत की हमें कदर नहीं है। और हमारे नेता सदा आगे बढते चलते हैं। मौत को गले लगाने के लिये हम तैयार हैं'। १९३० ई० में सत्याग्रह करने पर वे पुन: जेल भेजे गए और उनका तबादला गुजरात (पंजाब) के जेल में कर दिया गया। वहाँ आने के पश्चात उनका पंजाब के अन्य राजबंदियों से परिचय हुआ। जेल में उन्होंने सिख गुरुओं के ग्रंथ पढ़े और गीता का अध्ययन किया। हिंदू तथा मुसलमानों के आपसी मेल मिलाप को जरूरी समझकर उन्होंने गुजरात के जेलखाने में गीता तथा कुरान के दर्जे लगाए, जहाँ योग्य संस्कृतज्ञ और मौलवी संबंधित दर्जे को चलाते थे। उनकी संगति से अन्य कैदी भी प्रभावित हुए और गीता, कुरान तथा ग्रंथ साहब आदि सभी ग्रंथों का अध्ययन सबने किया।

सन् १९३० ई० के गांधी इरविन समझौते के बाद खान साहब छोड़े गए और वे सामाजिक कार्यों में लग गए।

गांधीजी इंग्लैंड से लौटे ही थे कि सरकार ने कांग्रेस पर फिर पाबंदी लगा दी अत: बाध्य होकर व्यक्तिगत अवज्ञा का आंदोलन प्रारंभ हुआ। सीमाप्रांत में भी सरकार की ज्यादतियों के विरुद्ध मालगुजारी आंदोलन शुरु कर दिया गया और सरकार ने उन्हें और उनके भाई डॉ० खान को आंदोलन का सूत्रधार मानकर सारे घर को कैद कर लिया।

१९३४ ई० में जेल से छूटने पर दोनों भाई वर्धा में रहने लगे। और इस बीच उन्होंने सारे देश का दौरा किया। कांग्रेस के निश्चय के अनुसार १९३९ ई०में प्रांतीय कौंसिलों पर अधिकार प्राप्त हुआ तो सीमाप्रांत में भी कांग्रेस मंत्रिमंडल उनके भाई डॉ० खान के नेतृत्व में बना लेकिन स्वयं वे उससे अलग रहकर जनता की सेवा करते रहे। १९४२ई० के अगस्त आंदोलन के सिलसिले में वे गिरफ्तार किए गए और १९४७ई० में छूटे।

देश का बटवारा होने पर उनका संबंध भारत से टूट सा गया किंतु वे देश के विभाजन से किसी प्रकार सहमत न हो सके। इसलिये पाकिस्तान से उनकी विचारधारा सर्वथा भिन्न थी। पाकिस्तान के विरुद्ध उनका स्वतंत्र 'पख्तूनिस्तान' आंदोलन जारी है।

१९७० में वे भारत और देश भर में घूमे। उस समय उन्होंने शिकायत की 'भारत ने उन्हें भेड़ियों के सामने डाल दिया है तथा भारत से जो आकांक्षा थी, एक भी पूरी न हुई। भारत को इस बात पर बार बार विचार करना चाहिए'।

आजकल भी वह एक प्रकार से पाकिस्तान सरकार की नजरबंदी मे हैं। (शि० प्र०; प० ला० गु०)

खानकाह मुस्लिम रहस्यवादी (सूफी) संतों का निवासस्थान। इस्लाम के संस्थापक ने ईसाइयों की तरह के साधु-संघ-जीवन के प्रत्येक रूप का निषेध किया था; किंतु जब मुसलमानों में रहस्यवाद अथवा तसव्वुफ का विकास हुआ तब रहस्यवादियों ने भौतिक जीवन के उत्पीडन से अलग रहने की आवश्यकता का अनुभव किया। मौलाना जामी के कथनानुसार मुस्लिम रहस्यवादियों के लिये इस्लामी इतिहास में पहला खानकाह आठवीं सदी ईसवी में किसी ईसाई राजा ने ईराक में बनवाया था: ९वीं और १०वीं शताब्दियों में जनतांत्रिक ढंग पर संगठित खानकाह के उल्लेख मिलते हैं, जहाँ सदस्यगण उसके संगठन के नियम बनाते थे। बाद में इसका प्रयोग उस स्थान के अर्थ में होने लगा जिसमें कोई रहस्यवादी शेख, पीर या गुरु अपने चुने शिष्यों के साथ रहता हो। अविवाहित शिष्य प्राय: बड़े कमरे (हाल) में रहते थे। वहाँ प्रत्येक शिष्य को एक कोना मिला होता था। विवाहित शिष्य अपने घरों में रहते थे। खानकाह में रहनेवालों की आजीविका का मुख्य साधन फीतु: अथवा पड़ोसियों का अयाचित दान हुआ करता था। 'खानकाह' शब्द का मूल अज्ञात है। (मो० ह०)

खानपुर १. पाकिस्तान में बहावलपुर जिले की एक तहसील (स्थिति : २७°४३' से २९°८' उ० अ० तथा ७०°२७' एवं ७०°५३' पू० दे०)। यह मध्य सिंधु नदी के किनारे फैला हुआ है। इसका संपूर्ण क्षेत्रफल २,४१५ वर्गमील है। इसके दक्षिण की भूमि बलुई है। उत्तर में तथा सिंधु के तट पर उर्वर भूमि पाई जाती है। यह खजूर के लिये अधिक प्रसिद्ध है।

२. पाकिस्तान स्थित खानपुर तहसील का प्रधान नगर (स्थिति : २८°३९' उ० अ० तथा ७०°३९' पू० दे०)। यह दक्षिणी बहावलपुर में पड़ता है। इसके संस्थापक नवाब बहावल खाँ द्वितीय थे। अब यह नगर एक प्रमुख व्यापारिक केंद्र है।

३. पंजाब के गुजरानवाला नगर को भी खानपुर कहते हैं।

४. महाराष्ट्र प्रांत में मैसूर की सीमा के निकट दक्षिण सतारा का एक परगना (स्थिति : १५°२२' से १५°४७' उ० अ० तथा ७४°५' से ७४°४४' पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल ६३३ वर्गमील है। इसके दक्षिणी एवं दक्षिणपश्चिमी भाग में पर्वत तथा जंगल हैं। केवल मध्यवर्ती भाग में ही खेती की जाती है। गर्मी में जलवायु स्वास्थ्यवर्धक है परंतु जाड़े में स्वास्थ्य के लिये अनुपयुक्त है। औसत वर्षा ७१ इंच होती है। (रा० लो० सिं०)

खानजमाँ, अलीकुली मुगल दरबार का एक प्रमुख व्यक्ति। यह हैदर सुलतान उजबेक शैबानी का पुत्र था। उसने अपने पिता के साथ हुमायूँ की सहायता करके कंधार के विजय में खूब वीरता दिखाई। भारत को जीतने में भी इसने अच्छा काम किया; फलस्वरूप इसे 'अमीर' पद प्राप्त हुआ। इसने कंवर दीवाना को, जिसने संभल और दोआबे में विद्रोह मचा रखा था, बड़ी बहादुरी से परास्त किया। जिस समय अकबर ने शासन सँभाला, हेमू ने दिल्ली पर आक्रमण किया। उस समय मुगल सेना को लेकर इसने उसका सामना किया। युद्ध में हेमू आहत हुआ और उसकी सेना भाग गई। इस कार्य से प्रसन्न होकर अकबर ने इसे 'खानजहाँ' की उपाधि, कुछ जागीरें और मंसब प्रदान किए। किंतु उसके आचरणों और अफगानों में मित्रता के प्रसंग में घटी एक घटना के कारण अकबर के हृदय में उसके प्रति मालिन्य उत्पन्न हो गया और उसने उसकी सारी जागीर छीनकर अन्य व्यक्तियों को दे दी जिसके प्रतिक्रियास्वरूप वह हठी हो गया। अकबर के शासन के चौथे वर्ष जो कुछ उसके पास जागीर शेष थी, इसने छीनकर जलायर सरदारों को दे दी गई। इसे अफगानों का षड्यंत्र दबाने के लिये जौनपुर में नियुक्त किया गया।

खानजमाँ ने अपने सेवक 'बुर्जअली' को दरबार इस आशय से भेजा कि वह अकबर से फिर अच्छे संबंध स्थापित कर सके, किंतु पीरमुहम्मद खाँ ने, जो फीरोजाबाद दुर्ग में नियत था, और खानजमाँ से ईर्ष्या करता था, बुर्जअली को मरवा डाला। इधर खानजमाँ ने केंद्रीय शासन के विरुद्ध अफगानों से मेल जोल बढ़ाया तथा शाहमबेग को इतना बढ़ावा दिया कि वह सरदारों की पत्नियों से दुर्व्यवहार तक करने लगा। फलत: उसे कत्ल कर दिया गया। यहीं से खानजमाँ की प्रकृति विद्रोही हो गई। बैरम खाँ के पदच्युत होने पर उस प्रांत के अफगानों ने पुन: सर उठाया जिनका खानजमाँ ने बड़ी वीरता से दमन तो किया किंतु उससे फिर चूक हुई और इसने विजय में प्राप्त सामान बादशाह अकबर को भेंट नहीं किया। जुलाई, १५६२ ई० में जब अकबर पूर्व की ओर गया तब वह अपने भाई बहादुर खाँ के साथ कड़ा में बादशाह की सेवा में उपस्थित हुआ और विजय की सारी सामग्री भेंट की।

समय बदला, इसकी प्रकृति में परिवर्तन हुआ और इसने अकबरी शासन के १०वें वर्ष कुछ उजबेग सरदारों को साथ लेकर विद्रोह कर दिया। अकबर उसके विद्रोह को दबाने के लिये जौनपुर आया। खानजमाँ ने क्षमायाचना की, किंतु पुन: धूर्ततापूर्वक व्यवहार किया, और बादशाह अकबर की अवज्ञा करके अपनी जागीर पर अधिकार करने चला गया। अकबर पुन: इसके दमन हेतु चल पड़ा। इसने पुन: क्षमायाचना दुहराई।

अकबर के लाहौर गमन के अवसर पर इसने फिर सर उठाया और अवध, कड़ा तथा मानिकपुर पर अधिकार कर लिया। इस बार बादशाह ने पूरे निश्चय के साथ ९ जून, १५६७ ई० को खानजमाँ पर आक्रमण किया। यह युद्ध सँकरावल गाँव के मैदान में (वर्तमान फतेहपुर) हुआ जिसमें खानजमाँ अलीकुली बहादुर खाँ के साथ मारा गया।

खानजहाँ बार: मुगल दरबार का एक प्रमुख व्यक्ति। इसका वास्तविक नाम अबुल मुजफ्फर था। जहाँगीर के राज्य के १४वें वर्ष इसने दक्षिणियों से लड़ कर बड़ी वीरता का प्रदर्शन किया। उस समय युद्ध में इसके साथ शाहजादा खुर्रम भी था। यह कई विद्रोहों में शाहजादे के साथ रहा। इसकी स्वामिभक्ति से शाहजादा इतना प्रभावित हुआ कि जब शासनसत्ता उसके हाथ में आई, उसने खानजहाँ को ग्वालियर का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। इसी समय इसने महाबत खाँ और जुझारसिंह बुंदेला के विद्रोह का दमन करने में उत्साहपूर्वक भाग लिया।

इसके दूसरे वर्ष इसने अपने पौत्र शफी और कई सैयदों का बलिदान करके खानजहाँ लोदी के साथ धौलपुर के पास चंबल नदी के किनारे युद्ध किया। इसके पुरस्कारस्वरूप उसे खानजहाँ लोदी का दमन करने के लिये आजम खाँ के अधीन सेना का 'हरावल' नियुक्त किया गया। खानजहाँ ने बड़ी वीरतापूर्वक युद्ध किया, किंतु अंततोगत्वा उसकी पराजय हुई। फिर भी बादशाह ने इसका संमान किया और उच्च मंसब प्रदान किया। इसी वर्ष यह अमीनुद्दौला के साथ आदिलशाह बीजापुरी को दंड देने के लिये भेजा गया। तदनंतर इसने परिंदः पर आक्रमण किया। इस बीच मालवा के बुंदेलों का दमन करने के लिये इसने यथेष्ट प्रबंध किया। आदिलशाह बीजापुरी के विरुद्ध युद्ध में इसने पराक्रम दिखाया। जब बादशाह आगरे गया तो शाहजादा औरंगजेब बहादुर के साथ इसे खानदेश, बरार, तेलंगाना और निजामुल्मुल्क के राज्य के कुछ अंश का शासक नियुक्त कर दिया।

कंधार पर दाराशिकोह के आक्रमण के समय यह उसके साथ था। तत्पश्चात् आगरे का प्रधान नियुक्त किया गया। सन् १५०५ हिजरी के लगभग यह बीमार रहने लगा और कुछ समय पश्चात मर गया। बादशाह ने इसके पुत्रों का संमान करके उच्च पद प्रदान किए।

खानजहाँ लोदी मुगल दरबार का एक प्रमुख व्यक्ति। इसका पूर्वनाम पीर खाँ था। यह दौलत खाँ लोदी साहूखेल का बेटा था। अपने बड़े भाई के साथ, जिसका नाम मोहम्मद खाँ था, बंगाल के राजा मानसिंह की शरण में गया। उसके पश्चात् वह सुल्तान दानियाल के पास गया। दोनों में प्रगाढ़ मैत्री संबंध स्थापित हुआ। जब सुल्तान दानियाल मर गया तो इसने जहाँगीर के दरबार में शरण ली। उस समय खानजहाँ लोदी की आयु लगभग २० वर्ष की थी। जहाँगीर ने इसे तीन हजारी मंसब और 'सलाबत खाँ' की उपाधि प्रदान की। कुछ दिनों पश्चात् इसका मंसब बढ़ा, और इसे खानजहाँ की उपाधि दी गई। इतना ही नहीं, अधिक विश्वास पात्र होने के कारण उसे राजमहल में भी स्वतंत्रता

प्राप्त थी। १०१८ हिजरी मे बादशाह ने इसे १२ हजार सैनिको के साथ दक्षिण की स्थिति सुधारने के लिये भेजा। मलकापुर में मलिक अंबर से घनघोर युद्ध हुआ; किंतु परिस्थितियों ने ऐसी करवट बदली कि मलिक अंबर ने खानजहाँ को धोखा दिया और स्थिति बिगड़ने पर सारा दोष इसी के सर पर आया। इसने उसे सँभालने का भरसक प्रयत्न किया और बादशाह के दरबार में अपना संमान पूर्ववत् रखा। इसके अतिरिक्त इसे थानेदार की जागीरदारी मिली। १५वें वर्ष यह मुल्तान का सूबेदार नियुक्त हुआ। १७वें वर्ष के आरंभ से लेकर १८वें वर्ष तक समय ने इसकी कठिन परीक्षा ली, जबकि कंधार घिर गया तथा बादशाह और शाहजादे मे युद्ध ठन गया तब उससे कुछ करते न बन पड़ा। उन्हीं दिनों यह बहुत अस्वस्थ भी हो गया। तत्पश्चात् इसे आगरे के दुर्ग और फतहपुर सीकरी के कोष की रक्षा के लिये नियुक्त किया गया। फिर १९वें वर्ष खान आजम की मृत्यु के पश्चात् इसे गुजरात का सूबेदार बनाया गया।

२१वें वर्ष, सन् १०३५ हिजरी में, सुलतान पर्वेज की मृत्यु के पश्चात् दक्षिण का सारा कार्यभार इसे सौंपा गया। यह मलिक अंबर के विद्रोही पुत्र फतेह खाँ का दमन करने के लिये बालाघाट और खिरकी की ओर गया। इस समय उसने निजामशाह के मंत्री हमीद हब्शी से ३ लाख होन की घूस लेकर निजामशाही का राज्य उसके लिये छोड़ दिया। इसी स्थिति मे महाबत खाँ विद्रोह करके शाहजहाँ के पास गया तब जहाँगीर ने इसे सेनाध्यक्ष बनाया।

जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ ने इसे आश्वासन दिया कि उसे कोई भय नहीं है, किंतु खानजहाँ के बुरे दिन थे, अत: लोगों के बहकावे में पड़ गया। इतना सब कुछ होते हुए भी शाहजहाँ ने उसे क्षमा करके मालवा के सूबेदार के रूप में मान्यता दी; किंतु वह सदैव सशंकित रहता था। अधिक शंका से विकल होकर २७ सफर, सन् १०३९ हिजरी को यह आधी रात के समय आगरे से भाग निकला। वह धौलपुर पहुँचा ही था कि बादशाह के सरदारों ने उसे घेर लिया। वह भी जमकर लड़ा। इस युद्ध में उसके कई संबंधी और विश्वासपात्र लोग मारे गए। खानजहाँ आहत अवस्था में चंबल नदी पारकर गोंड़वाने पहुँचा। अंत में निजामशाह का मित्र बन गया। तब शाहजहाँ ने इसे दंड देने के लिये सेनाएँ भेजीं। निजाम इसकी अच्छी सहायता नहीं कर सका। इसलिये वह भाग खड़ा हुआ। शाही सेना इसके पीछे पड़ी हुई थी। भांडेर के पास फिर टक्कर हुई, किंतु इसे फिर भागना पड़ा। भागते भागते यह शिथिल हो चुका था। शाहजहाँ की सेना पीछा नहीं छोड़ रही थी। अंत में कोई विकल्प न देखकर इसने शाही फौज पर प्रत्याक्रमण किया और लड़ते लड़ते मारा गया। इसकी संतानों में कुछ मारे गए, कुछ भागते फिरते रहे।

खानदेश महाराष्ट्र में दक्षिणी पठार के उत्तरीपश्चिमी कोने पर स्थित प्रसिद्ध ऐतिहासिक क्षेत्र, जो बंबई से लगभग २०० मील उत्तर-पश्चिम है। १८वीं शताब्दी में यह भाग मराठा शासन में था तथा यहाँ अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाएँ हुई थीं। उसके पूर्व यह अहमद नगर के सुल्तानों के अधिकार में था। १६०१ ई० में अकबर ने इसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया। पूरे क्षेत्र का क्षेत्रफल ९,९१८ वर्गमील है। १९०६ ई० में इस क्षेत्र को दो जिलों में विभाजित कर दिया गया (१) पश्चिमी खानदेश और (२) पूर्वी खानदेश।

पश्चिमी खानदेश—इसका क्षेत्रफल ५,३२० वर्गमील है। इसके उत्तरपूर्व में सतपुड़ा पर्वत, उत्तरपश्चिम में नर्मदा नदी तथा पश्चिम में पश्चिमी घाट का उत्तरी किनारा है। इसमें ताप्ती और पनझरा नदियाँ बहती हैं। पश्चिमी भाग में जंगल है, जिनमें कीमती लकड़ियाँ मिलती हैं। इस जिले की मुख्य उपज ज्वार, बाजरा, कपास, गेहूँ और तिलहन है। इस जिले का केंद्रीय नगर धुलिया है, जो व्यापार और शिक्षा का केंद्र है। इसके अतिरिक्त शिरपुर, शाहदा और नंदउर्बर आदि प्रसिद्ध स्थान हैं। इन सभी नगरों में कपास से बिनौला निकालने के कारखाने हैं। यहाँके निवासियों में अधिक संख्या हिंदुओं की है, फिर आदिवासी और तब मुसलमान हैं।

पूर्वी खानदेश—महाराष्ट्र के उत्तरपूर्व में दक्षिणी पठार पर स्थित है, जिसका क्षेत्रफल ४,५९८ वर्गमील है। इसका केंद्रीय नगर जलगाँव है। इसके उत्तर में सतपुड़ा पर्वत और दक्षिण में अजंता की पहाड़ियाँ हैं। इसमें ताप्ती और गिरना नदियाँ बहती हैं। चालीस गाँव के उत्तर-उत्तर-पश्चिम में आठ मील की दूरी पर जमदा सिंचाई प्रणाली प्रारंभ होती है। यहाँपर कपास, मक्का, ज्वार, गेहूँ और आम उत्पन्न होते हैं। सतपुड़ा पर्वत की ढालों पर पर्वतीय वन में इमारती लकड़ियाँ मिलती हैं जिन्हें फैजपुर और यावल के बाजारों में बेचा जाता है। यहाँपर कपास से बिनौला निकालने के कारखाने हैं। कुटीर उद्योग में वस्त्र बनाए जाते हैं। अमलनेर, चालीसगाँव, जलगाँव और भुसावल में कपास का व्यापार होता है। यहाँ भी अधिक संख्या हिंदुओं की फिर मुसलमानों की तथा आदिवासियों की है। (कृ० मो० गु०)

खानदौराँ, नुसरतजंग जहाँगीरकालीन मसबदार। इसके पिता ख्वाजा हिसारी नक्शबंदी थे और इसका नाम ख्वाजा साबिर था। जहाँगीर ने इसे मंसब देकर दक्षिण में नियुक्त किया था। इसके पश्चात् निजामशाह के राज्य में पहुँचने पर यह शाहनवाज खाँ कहलाया। तदनंतर यह शाहजादा खुर्रम के यहाँ आया। समय बदला, इसे घोड़ों की देखभाल का काम सौंपा गया। टोंस में यह शाही सेना का नेतृत्व करता हुआ लड़ा। फिर चल फिरकर यह मलिक अंबर के यहाँ पहुँचा, जब मलिक मरा तो निजामुल्मुल्क का पल्ला इसने पकड़ा। शाहजहाँ के राज्य के दूसरे साल यह लौट आया तथा तीन हजारी ३००० सवार का मंसब प्राप्त किया और नसीरी खाँ की उपाधि। शाहजहाँ द्वारा यह खानजहाँ को दंड देने के लिये राजा गजसिंह के साथ बुरहानपुर भेजा गया। चौथे वर्ष इसने कंधार दुर्ग बड़ी वीरता से लड़कर जीत लिया। पाँचवें वर्ष मालवा का सूबेदार नियुक्त हुआ। छठे वर्ष महाबत खाँ के साथ इसने दौलताबाद दुर्ग पर विजय प्राप्त की। इस कारण से इसे खानदौराँ की उपाधि और ५००० सवार का मंसब प्राप्त हुआ।

सातवें वर्ष मुहम्मद शुजाअ के साथ परिंद: दुर्ग जीतने के लिये भेजा गया। जमकर युद्ध हुआ। खानदौराँ ने ऐसी चालाकी दिखाई कि शत्रु दुर्ग छोड़कर भाग गए। ऐसे अवसर पर इसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि स्वाभाविक थी। महाबत खाँ मरा कि यह बालाघाट और पाईंघाट पर नियुक्त हुआ। जुझार सिंह बुंदेला के पुत्र विक्रमाजीत के विद्रोह को दमन करने के लिये यह मालवा का सूबेदार नियुक्त किया गया। वहाँ पहुँचकर इसने जुझारसिंह और विक्रमाजीत के सिर कटवा लिए। इसी वर्ष शाहजहाँ ने इसे ओसा जीतने तथा बीजापुर और गोलकुंडा में उपद्रव मचाने के लिये भेजा। उसने आसपास के कई दुर्ग विजित किए तथा नागपुर के राजा से डेढ़ लाख रुपए और १७० हाथी वसूल किए। १०वें वर्ष इसने शाहजहाँ को बहुत सा लूट का सामान भेंट किया जिसके प्रसादस्वरूप शाहजहाँ ने इसे नुसरतजंग की उपाधि दी। साथ ही छह हजारी मंसब और बहुत से पुरस्कार भी दिए। औरंगजेब से असंतुष्ट होकर शाहजहाँ ने इसे दक्षिण के प्रबंध पर नियुक्त किया। मंसब भी सात हजारी ७००० सवार का कर दिया और पुरस्कृत किया। दक्षिण के प्रबंध में इसने जनता के प्रति मनमानी करके खूब स्वामिभक्ति प्रदर्शित की। अंतिम काल में यह लाहौर में नियुक्त किया गया और वहीं ७ जमादि-उल्-अव्वल, सन् १०५५ हिजरी में मर गया। कहते हैं, एक ब्राह्मण के घायल करने से उसकी मृत्यु हुई।

खानाबदोश मानवसमाज का वह समुदाय जो अपने रहने का स्थान बराबर बदलता रहता है। साधारणत: खानाबदोश कबीलों और जातियों का अपना क्षेत्र होता है जिसमें वे आवश्यकतानुसार घूमते फिरते रहते हैं। आम तौर से उनका स्थानपरिवर्तन खाद्य की उपलब्धि पर निर्भर करता है। शिकारी खानाबदोश आखेट की खोज में निरंतर घूमते रहते हैं, परंतु पशुपालक खानाबदोश मौसम के अनुसार अपने पशुदलों को लेकर घास और चरागाह की खोज में घूमते रहते हैं।

उद्विकासवादी मानव वैज्ञानिकों का विचार है कि अपनी प्रारंभिक सांस्कृतिक अवस्था में मनुष्य [illegible] रहा होगा। यह दशा 'आखेट

युग' और 'पशुपालन युग' तक रही होगी। कृषि की जानकारी के साथ मनुष्य ने स्थायी जीवन सीखा। कुछ कबीले जो अभी भी शिकारी या पशुपालक हैं, खानाबदोश जीवन व्यतीत करते हैं।

शिकारी खानाबदोश का सामाजिक जीवन अधिकतर छोटे छोटे पारिवारिक समूहों में संगठित होता है। इसका कारण स्पष्टत: यह है कि जंगलों में इतना शिकार या कंद-मूल-फल नहीं मिल सकता कि बड़े समुदाय का भरण पोषण हो सके। सरगुजा (मध्य प्रदेश) के पहाड़ी कोरवा, २५-३० व्यक्तियों के छोटे छोटे समुदायों में रहते हैं और ऐसा प्रत्येक समुदाय पाँच छह वर्गमील जंगल पर अधिकार किए रहता है। कोचीन के कादार, लंका के वेद्दा, उत्तरी ध्रुव के एस्कीमो, मध्य आस्ट्रेलिया के अरुटा, अफ्रीका के बुशमेन और ब्राजील के जंगली आदिवासी सभी छोटे छोटे दलों में संगठित हैं।

पशुपालक खानाबदोश दल का आकार बहुत बड़ा होता है। अरब के बद्दू, मध्य एशिया के खिरगिज और मंगोल, उत्तरी अमेरिका के एलगोंक्विन, अफ्रीका के नुरम और मसाई, ये सभी खानाबदोश सैकड़ों की संख्या में दल बनाकर रहते और घूमते हैं। ये अपने पालतू पशु ऊँट, खच्चर, घोड़ा, गाय-बैल या भैंसे लिए चरागाह और पानी की तलाश में घूमते हैं और किसी भी स्थान पर एक मौसम से अधिक नहीं टिकते। इनका जीवन सब प्रकार से इस मौसमी परिवर्तन के अनुकूल हो जाता है। पशु इनका मुख्य धन है। पशुओं की देखभाल पुरुष करते हैं, स्त्रियाँ गृहकार्य सँभालती और बागबानी करती हैं। ऐसे समुदायों में स्त्रियों का स्थान नीचा समझा जाता है। शिकारी खानाबदोशों की भाँति ही इनका राजनीतिक जीवन गणतांत्रिक होता है, परंतु उनमें बड़े बूढ़ों को विशेष मान्यता प्राप्त होती है।

भारत में अनेक खानाबदोश कबीले और जातियाँ हैं। इनमें से कई 'अपराधोपजीवी' हैं जो चोरी और ठगी जैसे अपराधों द्वारा जीवनयापन करते रहे हैं। आसानी से धन प्राप्त करने के अवसर की खोज में और पुलिस के भय से ये लोग खानाबदोश रहे हैं। ऐसे [illegible] में मुख्य हबूड़ा, कंजर, भाँट, ससिया, नट, बागड़ी, यनादि, कालबेलिया आदि हैं। कुछ अन्य जातियाँ हैं, जो पशुपालक हैं या दस्तकारी का काम करती हैं, जैसे उत्तरी-पश्चिमी भारत में गूजर, या राजस्थान में गाड़ूलिया लोहार।

अनेक पशुपालक खानाबदोशों ने दुर्दम सैनिक संगठन बनाए हैं। इतिहासप्रसिद्ध मंगोल, 'गोल्डेन होर्ड', मंचू और तुर्क खानाबदोश ही थे जिन्होंने मध्ययुग में एशिया और यूरोप में विस्तृत साम्राज्यों की स्थापना की। अफ्रीका के जूलू और मसाई भी इसके उदाहरण हैं। (द्र० 'जिप्सी')। (कृ० शं० मा०)

खामगाँव (१) महाराष्ट्र के बुल्दाना जिले का एक परगना (स्थिति : २०° २६' से २०° ५५' उ० अ० तथा ७६° ४८' पू० दे० के बीच)। यह ४३३ वर्गमील में फैला है। इसके पूरब में मुन तथा उत्तर में पुना नदियाँ बहती हैं।

(२) यह परगने का मुख्य नगर है (स्थिति : २०° ४३' उ० पू० तथा ७६° ३८' पू० दे०)। यह रूई का प्रधान केंद्र रहा है। अमरावती के विकसित होने से यह कुछ प्रभावित हुआ है। पहले यहाँ कुछ व्यापारियों ने कपास एवं घी का उद्योग आरंभ किया था परंतु अब यहाँ अनेक मिलें खुल गई हैं। यहाँ गुरुवार को साप्ताहिक बाजार लगता है। (रा० लो० सिं०)

खारकोव यूक्रेन (रूस) का यह प्रमुख औद्योगिक केंद्र है (स्थिति : ५०° उ० अ० तथा ३६°१३' पू० दे०)। यह मास्को से ४६० मील दक्षिणपश्चिम लोपान तथा खारकोव नामक दो छोटी नदियों के संगम पर स्थित है। यह रेल एवं वायुमार्गों का केंद्र है। १६५४ ई० में इस नगर की स्थापना एक स्वतंत्र किले के रूप में हुई थी। १६३४ ई० तक यह नगर यूक्रेन की राजधानी रहा। आधुनिक खारकोव रूस में मशीन निर्माण उद्योग का चौथा बड़ा केंद्र है। यहाँ ट्रैक्टर, वायुयान, टर्बाइन, विद्युत्‌उत्पादक यंत्र, रेल इंजन, मशीन यंत्र, कृषि यंत्र, उत्थापक (एलीवेटर), रसायनक, साइकिल तथा सैनिक टैंक बनाए जाते हैं। लुगदी और कागज उद्योग के अतिरिक्त ऊनी कपड़े, शीशे, जूते तथा भोजननिर्माण के कारखाने हैं। डोनेट्ज एवं क्रिवाइरोग क्षेत्र से यहाँ कोयले एवं इस्पात की पूर्ति होती है। यह नगर 'डोनेट्ज कोल ट्रस्ट' तथा 'सदर्न मशीनरी ऐंड मेटालर्जिकल ट्रस्ट' का प्रधान केंद्र है।

यहाँ विश्वविद्यालय, पालिटेकनिक इंस्टिट्यूट, प्राविधिक संस्थान, वैज्ञानिक अनुसंधान संस्थान तथा प्रशिक्षण, कृषि, कानून और चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय हैं। इसकी जनसंख्या १६६७ में १०,६२,००० थी। (रा० प्र० सिं०)

खारतूम खारतूम प्रांत एवं सूडान की राजधानी (स्थिति : १५°३६' उ० अ० और ३२°३२' पू० दे०)। यह नगर नीली नील और श्वेत नील के संगम पर १,२५२' की ऊँचाई पर स्थित है। यह सूडान पत्तन से रेलमार्ग द्वारा ४३२ मील दक्षिणपश्चिम और काहिरा से १,३४५ मील दक्षिण है। सड़क, रेल, वायु तथा आंतरिक जलमार्ग द्वारा यह देश के अन्य भागों से संबद्ध है। यह अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण प्रमुख व्यावसायिक एवं राजनीतिक केंद्र है।

आधुनिक नगर के रूप में इसका पुनर्निर्माण १८६८ ई० में लार्ड किचनर की योजनानुसार हुआ। यहाँ विभिन्न धर्मानुयायियों के गिरजाघर तथा बहुत से मकबरे हैं। यहाँपर राज्य विश्वविद्यालय, गवर्नर जनरल का महल, सैनिक अस्पताल तथा गार्डन मेमोरियल कालेज दर्शनीय हैं। यहाँ प्राविधिक संस्थान, नागरिक अस्पताल, औषध विद्यालय, सूडान वास्तुकला का संग्रहालय तथा काहिरा विश्वविद्यालय और उच्च न्यायालय की शाखाएँ भी हैं। सूडान वायुमार्ग का प्रधान कार्यालय भी यहीं है। १६६५ में यहाँकी जनसंख्या २,७५,००० थी। (रा० प्र० सिं०)

खारवेल मौर्य साम्राज्य की अवनति के पश्चात् कलिंग में उदय होनेवाले चेदि राजवंश का प्रख्यात् नरेश। अनुमान किया जाता है कि यह वंश बुंदेलखंड के चेदि वंश की ही कोई उपशाखा थी जो कलिंग में स्थापित हो गई थी। खारवेल इस वंश का तीसरा नरेश था और इसे कलिंग चक्रवर्ती कहा जाता है। उदयगिरि में हाथीगुफा नामक लयण के ऊपर एक अभिलेख है जिसमें इसकी प्रशस्ति अंकित है। उस प्रशस्ति के अनुसार यह जैन धर्म का अनुयायी था। उसे १० वर्ष की आयु में युवराज पद प्राप्त हुआ था; २४ वर्ष की अवस्था में वह महाराज पद पर आसीन हुआ। राज्यभार ग्रहण करने के दूसरे ही वर्ष सातकर्णि की उपेक्षा कर अपनी सेना दक्षिण विजय के लिये भेजी और मूषिक राज्य को जीत लिया। चौथे वर्ष पश्चिम दिशा की ओर उसकी सेना गई और भोजकों ने उसकी अधीनता स्वीकार की, सातवें वर्ष उसने राजसूय यज्ञ किया।

उसने मगध पर भी चढ़ाई की। उस समय मगध नरेश बृहस्पति मित्र था। इस अभियान में वह उस जिनमूर्ति को उठाकर वापस ले गया जिसे नंदराज अपने कलिंग विजय के समय ले आया था। उसने पंडितों की एक विराट् सभा का भी आयोजन किया था, ऐसा उक्त प्रशस्ति से प्रकट होता है। इसके समय के संबंध में मतभेद है। उसकी प्रशस्ति में जो संकेत उपलब्ध हैं उनके आधार पर कुछ विद्वान् उसका समय ईसा पूर्व दूसरी शती में मानते हैं और कुछ उसे ईसा पूर्व की प्रथम शती में रखते हैं। इन पंक्तियों का लेखक इस दूसरे मत को ही समीचीन स्वीकार करता है। (प० ला० गु०)

खालसा पंजाब स्थित एक सिख पंथ। इस शब्द की व्युत्पत्ति अरबी शब्द खालिस (शुद्ध) शब्द से है। आरंभ में सिख धर्म शांति और सहिष्णुता का प्रतिपादक था। मुगल सम्राट् जहाँगीर द्वारा गुरु अर्जुन को, और औरंगजेब द्वारा गुरु तेगबहादुर को प्राणदंड दिए जाने पर सिक्खों में स्वरक्षा की भावना से युद्धवृत्ति जागृत हुई। किंतु, सिक्ख एक ओर शासकीय अधिकारियों तथा पहाड़ी राजाओं से संघर्षरत थे दूसरी ओर गुरुपद के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर कतिपय स्वार्थपरक आंतरिक विग्रह से ग्रसित थे, तथा तीसरी ओर हिंदू भी उनका विरोध कर रहे थे। इस चतुर्दिक् संघर्ष के वातावरण में सिक्खों को एकता के सूत्र में आबद्ध करने, तथा उन्हें नए आदर्शों और मान्यताओं से प्रेरित करने के लिये

खारतूम (देखिए पृष्ठ ३१६)
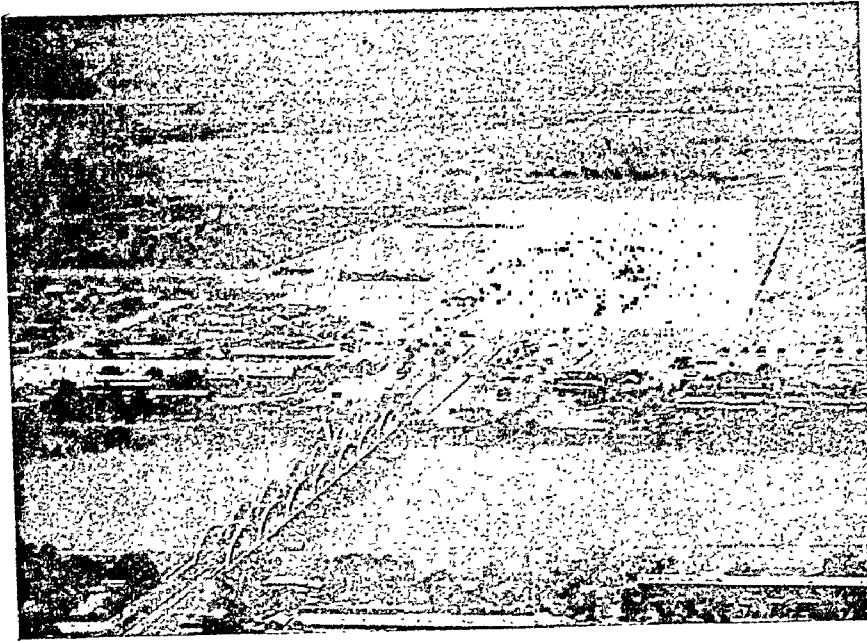
ब्लू नाइल नदी पर पुल
यह पुल खारतूम को उत्तरी खारतूम से जोड़ता है।
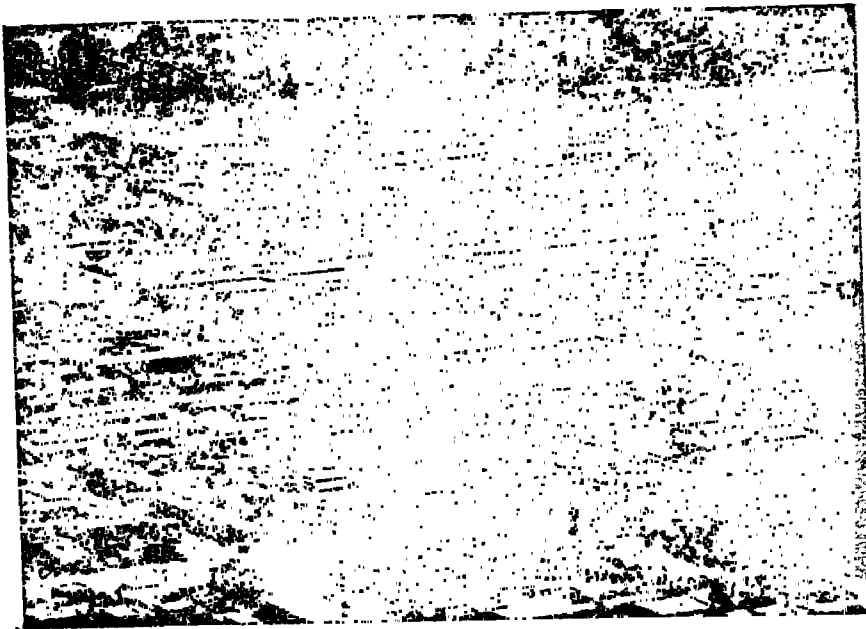
आकाश से खारतूम का दृश्य
नगर की मसजिद, गिरजाघर तथा पहले के गवर्नर जेनरल का महल चित्र में दिखाई पड़ता है।

खिलौने (देखिए पृष्ठ ३२२)

वाराणसी के बने काठ के खिलौने
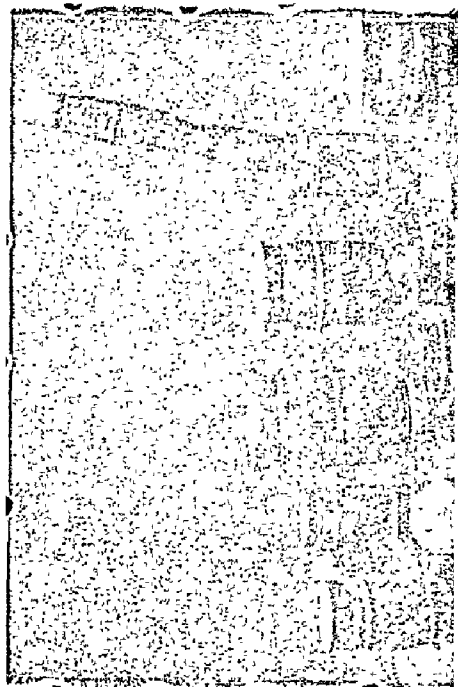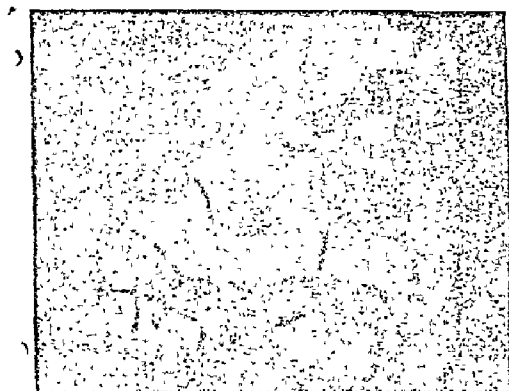
खिलौने (देखिए पृष्ठ ३२२)
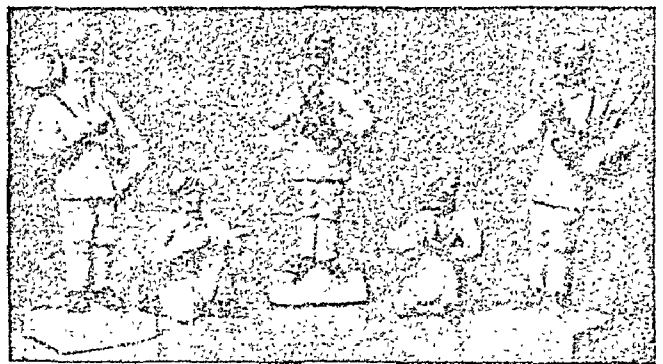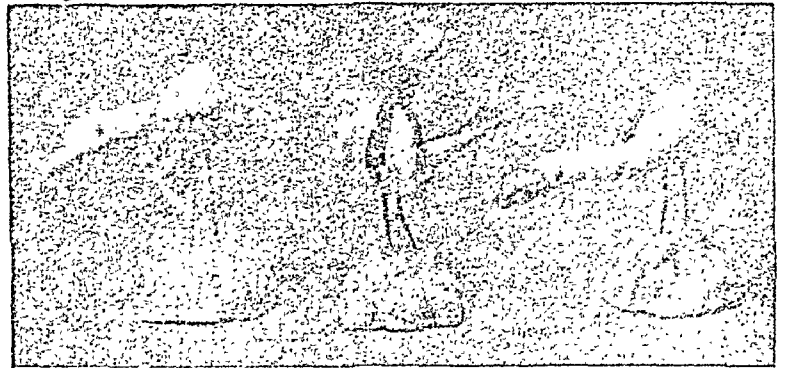
वाराणसी के बने पकी मिट्टी के खिलौने

गढ़वाल (देखिए पृष्ठ ३५४)
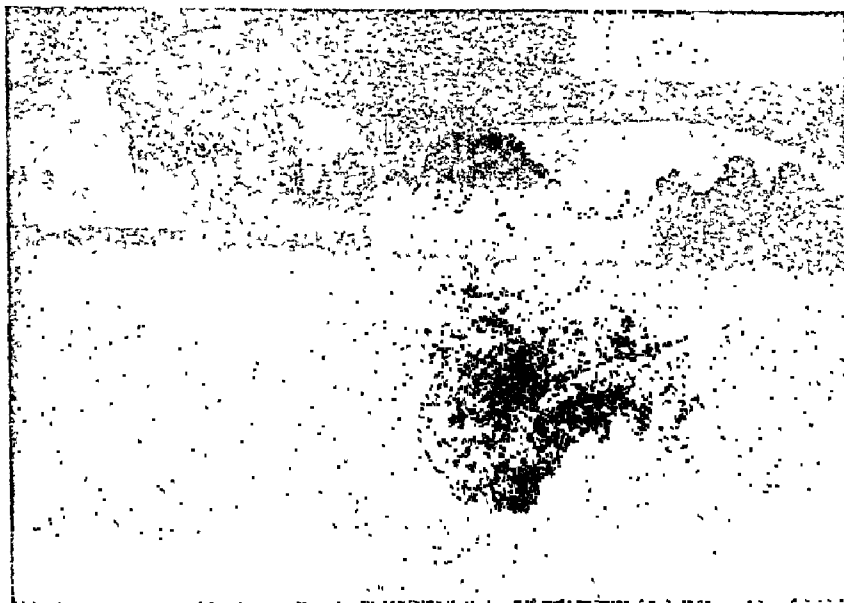
देवरिया ताल—
समुद्र तल से ८,०००
फुट की ऊँचाई पर स्थित
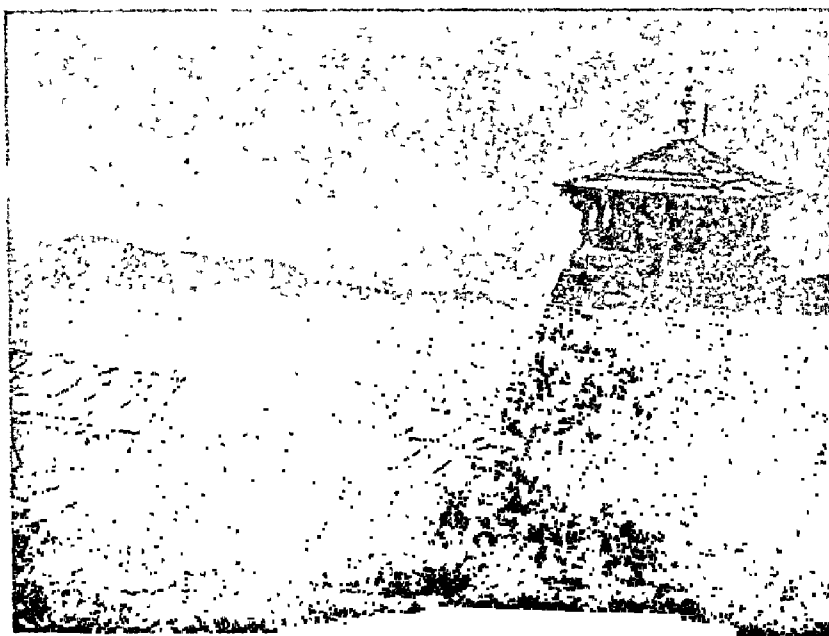
तुंगनाथ मंदिर, गढ़वाल

उनके १०वें तथा अंतिम गुरु गोविंदसिंह ने खालसा की स्थापना की। तत्पश्चात् सिक्ख इतिहास, वास्तव में, खालसा की ही प्रगति का इतिहास बना, भारतीय इतिहास का रोमांचकारी, रक्तरंजित पृष्ठ।

१६९९ ई० में, आनंदपुर में, बैसाखी मेले के दिन सार्वजनिक सभा में गुरु गोविंदसिंह ने तलवार म्यान से निकालकर ऐसे अनुयायी का आह्वान किया जो अपना मस्तक अर्पित करने के लिये प्रस्तुत हो। एक के आगे आने पर उसे वे अलग खेमे में ले गए और रक्त से सनी तलवार लेकर अकेले बाहर आए। इसी प्रकार एक एक करके उन्होंने चार और अनुयायियों को चरम बलिदान के लिये आमंत्रित किया। वास्तव में, गुरु ने उन पाँच व्यक्तियों के बजाय पाँच बकरों की बलि दी थी जो वहाँ पहले से ही एकत्र कर रखे गए थे। अंततः, पाँचों को वे सभा के समक्ष फिर ले आए; एक लौहपात्र में जल भरकर उसमें अपनी कृपाण डाली, फिर जपजी के जापमंत्र से जल को अभिसिंचित किया; तत्पश्चात् 'पहुल' विधि द्वारा 'अमृत' जल से पाँचों को अभिषिक्त किया और उन्हें 'पंज प्यारा' की उपाधि प्रदान की। फिर, घोषणा की कि गुरु का स्थान अब इन 'पंज प्यारों' ने ग्रहण किया है। इसके बाद, उन्होंने स्वयं भी पहुल-विधि से पंज प्यारों से दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार, गोविंदसिंह ने न केवल सिक्ख संगठन को पूर्ण जनसत्तात्मक विधान भेंट किया, बल्कि गुरु-पद को लेकर आंतरिक कलह की संभावना का भी निराकरण किया। इस विधि से अभिसिंचित होनेवाले सिक्ख खालसा कहलाए। गुरु ने प्रत्येक खालसा के नाम के साथ 'सिंह' जोड़ना, तथा उनके लिये पाँच 'ककार'— केश, कंघा, कच्छ, कड़ा और कृपाण धारण करना अनिवार्य कर दिया। खालसा के विजयघोष बने 'वाह गुरु का खालसा', 'वाह गुरु की फतह'। इस प्रकार वस्तुत: एक ही दिन में, एक ही प्रयास में, गोविंदसिंह ने ऊँच नीच, जात पाँत का समूल उच्छेदन कर, सिक्ख विधान और मनोवृत्ति में आमूल परिवर्तन कर, प्रत्येक खालसा सिक्ख को प्राणोत्सर्ग की चरम भावना से उद्वेलित कर दिया। खालसा सिक्ख धर्म का मेरुदंड बना। गोविंदसिंह के नेतृत्व में उसने मुगल शासन से कठोर संघर्ष किया।

गोविंदसिंह की मृत्यु के बाद खालसा का नेतृत्व सेनानी के रूप में बंदा ने सम्हाला। मुगल शासन द्वारा उसकी पराजय तथा मृत्युदंड के बाद खालसा पर दीर्घकाल तक निरंतर चारों ओर से कैसे भीषण घात-प्रतिघात हुए तथा उनका सिक्खों ने कैसे अदम्य साहस, अपूर्व त्याग तथा अचल दृढ़ता से सामना किया, इसके उदाहरण इतिहास में कम ही मिलते हैं। एक ओर मुगल शासकीय अधिकारियों ने तथा दूसरी ओर उत्तर-पश्चिमी सीमाद्वार से अफगान आक्रामकों ने खालसा सिक्खों के साथ वही व्यवहार किया जो आखेटक जंगल के पशुओं से करते हैं। एक एक खालसा मस्तक के लिये इनाम बँधा था और उसके आश्रयदाता के लिये प्राणदंड निश्चित था। फिर भी खालसा की आत्मशक्ति अजेय सिद्ध हुई। वे निरंतर संघर्ष ही नहीं करते रहे, वरन् उन्होंने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमारेखा को भी सुरक्षित रखा। २९ मार्च, १७४८ के दिन अमृतसर में दलखालसा की स्थापना हुई। खालसा ग्यारह दलों में विभाजित हुआ। प्रत्येक दल का एक नेता बना। प्रधान नेता जस्सासिंह अहलूवालिया निर्वाचित हुए। प्रत्येक खालसा का किसी एक दल के साथ संबद्ध होना अनिवार्य था। इस प्रकार ३२ वर्षों के अनवरत मरणांतक संघर्ष के बाद पंजाब में सिक्खों की राजनीतिक तथा सैनिक शक्ति की योजनाबद्ध नींव पड़ी। यद्यपि १७६२ में अहमदशाह के हाथों सिक्खों की भीषण पराजय हुई, जिसे उन्होंने 'घल्लू घारा' (वस्तुत, रक्त-स्नान) की संज्ञा दी, फिर भी वे १३ मिस्लों के रूप में सिक्ख राज्य की स्थापना में समर्थ हुए। उसी भित्ति पर खालसा शक्ति का चरमोत्कर्ष राजा रणजीतसिंह द्वारा संपन्न हुआ। किंतु, उनकी मृत्यु के बाद, प्रथम तथा द्वितीय अँगरेज-सिक्ख-युद्धों के फलस्वरूप अँगरेजी साम्राज्य द्वारा उसपर पटाक्षेप भी हो गया। यद्यपि वह सिक्ख राज्य का अस्त था, तथापि धार्मिक पक्ष के रूप में खालसा आज भी सजीव है।

सं० ग्रं०—कनिंघम : हिस्ट्री ऑव द सिक्ख्स, इंदुभूषण बनर्जी : इवोल्यूशन ऑव द खालसा; गोकुलचंद्र नारंग : ट्रांसफर्मेशन ऑव सिक्खिज्म। (रा० ना०)

खासा कुमायूँ (उत्तरप्रदेश) निवासी एक कबीला। कहा जाता है कि यह लोग आर्य जाति के हैं और पहले खेवे में भारत आए थे। बाद के खेवे में आनेवाले आर्यों ने उन्हें खदेड़ दिया और वे लोग कुमायूँ-वाले भूखंड में आ बसे।

देहरादून जिले के जौनसार बावर में रहनेवाले खासा लोगों में सम्मिलित कुटुंब की पद्धति प्रचलित है। एक पिता के समस्त पुत्र एक घर में रहते हैं और एक स्त्री उन सबकी संयुक्त रूप से पत्नी होती है। उसमें होने वाली पहली संतान सबसे बड़े भाई की, दूसरी संतान उसमें छोटे भाई की और तीसरी संतान तीसरे भाई की, इस क्रम से समझी जाती है। इसी प्रकार सारे बच्चे ज्येष्ठ पिता को बड़ा बाबा, दूसरे पिता को डगर (पशु चरानेवाला) बाबा और तीसरे पिता को दगर (भेड़ पालनेवाला) बाबा कहकर पुकारते हैं। कदाचित् ये नाम इस बात के द्योतक हैं कि भाइयों में पारिवारिक काम बाँटकर करने की प्रथा थी और अलग अलग काम की देखभाल करने के कारण बच्चों द्वारा अपने पिताओं को इस प्रकार पुकारने की प्रथा प्रचलित हुई होगी। बच्चों का पालन पोषण सभी समान रूप से मिलकर करते हैं।

खासा लोगों में उत्तराधिकार स्वरूप बँटवारे में खेत के अतिरिक्त सारी संपत्ति में सभी भाइयों का समान अधिकार होता है। खेत के बँटवारे में छोटे भाई को आधा अंश अधिक मिलता है। (प० ला० गु०)

खासिया कुमायूँ और टेहरी गढ़वाल (उत्तरप्रदेश) में बसनेवाली एक जाति जो कदाचित् उस प्राचीन खस लोगों की वंशज है, जिसका उल्लेख महाभारत, पुराण एवं अन्य साहित्य में मिलता है। प्राचीनकाल में खसों ने कश्मीर की सीमा से लेकर नेपाल पर्यंत हिमालय के निचले भाग पर अधिकार कर लिया था। इस कारण कुमायूँ प्रदेश को खास देश भी कहते हैं। मूल खस और अन्य स्थानीय लोगों के पारस्परिक सामाजिक आदान प्रदान के फलस्वरूप खासिया जाति ने रूप धारण किया।

कत्यूरी वंश के राजाओं ने इस प्रदेश के अपने समग्र राज्य में बाहर से ब्राह्मण और क्षत्रियों को लाकर बसाया था। उनका स्थानीय खासिया लोगों के साथ जब रोटी-बेटी का व्यवहार आरंभ हुआ तो उनमें खास ब्राह्मण और खास क्षत्रिय के रूप में दो भेद हो गए।

(प० ला० गु०)

खासिया, खासा असम प्रदेश के खासी तथा जयंतिया की पहाड़ियों में रहनेवाली एक मातृकुलमूलक जनजाति। इनका रंग काला मिश्रित पीला, नाक चपटी, मुँह चौड़ा तथा सुघड़ होता है। ये लोग हृष्ट-पुष्ट और स्वभावत परिश्रमी होते हैं। स्त्री तथा पुरुष दोनों सिर पर बड़े बड़े बाल रखते हैं, निर्धन लोग सिर मुँड़वा लेते हैं।

खासियों की विशेषता उनका मातृमूलक परिवार है। विवाह होने पर पति ससुराल में रहता है। परंपरानुसार पुरुष की विवाहपूर्व कमाई पर मातृपरिवार का और विवाहोत्तर कमाई पर पत्नीपरिवार का अधिकार होता है। वंशावली नारी से चलती है और संपत्ति की स्वामिनी भी वही है। संयुक्त परिवार की संरक्षिका कनिष्ठ पुत्री होती है। अब कुछ खासिए शिलांग आदि में संयुक्त परिवार से अलग व्यापार, नौकरी आदि कृषीतर वृत्ति भी करने लगे हैं। ऐसे पुरुषों का स्वार्जित संपत्ति पर स्वामित्व स्वीकार कर लिया गया है। परंपरागत पारिवारिक जायदाद बेचना निषिद्ध है। विवाह के लिये कोई विशेष रस्म नहीं है। लड़की और माता पिता की सहमति होने पर युवक ससुराल में आना-जाना शुरू कर देता है और संतान होते ही वह स्थायी रूप से वहीं रहने लगता है। संबंधविच्छेद भी अक्सर सरलतापूर्वक होते रहते हैं। संतान पर पिता का कोई अधिकार नहीं होता।

खासियों में ईश्वर की कल्पना होते हुए भी केवल उपदेवताओं की पूजा होती है। कुछ खासियों ने काली और महादेव जैसे हिंदू देवदेवियों को अपना लिया है। रोग होने पर ये लोग ओषधि का उपयोग न कर संबंधित देवता को बलि द्वारा प्रसन्न करते हैं। शव का दाह किया और मृत्यु के तुरंत बाद काग कभी कभी बैल या

बलि दी जाती है। मृत्यूपरांत महीनों तक कर्मकांड का सिलसिला चलता रहता है और अंत में अवशिष्ट अस्थियों को परिवार-समाधिशाला में रखते समय बैल की बलि दी जाती है और इस अवसर पर तीन चार दिन तक नृत्यगान तथा दावतें होती है। खासियों का विश्वास है कि जिनका अंत्येष्टि संस्कार विधिवत् संपन्न होता है उनकी आत्माएँ ईश्वर के उद्यान में निवास करती हैं, अन्यथा पशु पक्षी बनकर पृथ्वी पर घूमती हैं।

खासिया खेतिहर हैं और धान के अतिरिक्त नारंगी, पान तथा सुपारी का उत्पादन करते हैं। ये लोग कपड़ा बुनना बिलकुल नहीं जानते और एतत्संबंधी आवश्यकता बाहर से पूरी करते हैं।

खासिया अनेकानेक शाखाओं में विभक्त हैं। खासी, सिंतेंग, वार और लिंगम, उनकी चार मुख्य शाखाएँ हैं। इनके बीच परस्पर विवाहसंबंध होता है। केवल अपने कुल या कबीले में विवाहसंबंध निषिद्ध है।

प्रत्येक कबीले में राजवंश, पुरोहित, मंत्री तथा जन सामान्य ये चार श्रेणियाँ हैं। किंतु वार शाखा में विशिष्ट सामाजिक श्रेणियाँ नहीं हैं। कबीले के सरदार या मंत्री संबंधित विशिष्ट श्रेणी के सदस्य ही बन सकते हैं। एक कबीले में स्त्री ही सर्वोच्च शासक होती है और वह अपने पुत्र अथवा भांजे को लिंगडोह (मुख्य मंत्री) बनाकर उसके द्वारा शासन करती है।

अनेक खासिया ने पिछले डेढ़ सौ वर्षों में ईसाई तथा हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया है, फिर भी विभिन्न मतावलंबी एक ही परिवार के सदस्य हैं। असम की राजधानी शिलांग खासियों के क्षेत्र में स्थित है, फलत खासियों पर बाहरी संस्कृति तथा आधुनिक सभ्यता का बराबर प्रभाव पड रहा है। अब अनेक खासिए व्यापार तथा नौकरी और कुछ पढ़ लिखकर अध्यापकी एवं वकालत जैसे पेशे भी करने लगे हैं।

(रा० रा० शा०, स० मि० शा०)

खासी, जयंतिया और गारो असम के सूरमा कांठे में स्थित प्रदेश जो प्राय. असम के पठार कहे जाते हैं। यह विस्तार में पूरब-पश्चिम २२५ मील लंबा और ७० मील चौड़ा है और इसकी अन्यतम ऊँचाई समुद्रतल से ६००० फुट है, अधिकांश भागों की ऊँचाई ३ और ४ हजार फुट के बीच है। इस प्रदेश में बंगाल के मैदान से दक्षिण और पश्चिम की ओर सीधे उठे हुए हैं। उत्तर की ओर ब्रह्मपुत्र नदी बहती है और मैदान है। पूर्व की ओर पर्वतमाला बरेल पर्वत शृंखला के उत्तरपूर्वी और दक्षिणपश्चिमी घुमाव के साथ लगी है, दोनों के बीच कपेली नदी बहती है और उनके बीच विभाजन रेखा का काम करती है।

इस पठार के बीच बीच में गहरी घाटियाँ हैं जिनका दृश्य अत्यंत मनोरम है। इन घाटियों के कारण यह प्रदेश सपाट पर्वतीय चोटी सा बन गया है। दक्षिणी छोर बहुत ही ढालुआँ है और सर्वाधिक ख्यात है। इसी भूभाग में चेरापूंजी है जहाँ संसार में सबसे अधिक वर्षा होती है। यहाँ की वर्षा का औसत ४०० इंच है। इसी भाग में मुख्य नगर शिलांग भी बसा है। इस भूभाग का तापमान कभी २६·५° से ऊपर नहीं जाता।

इस भूभाग में ३००० फुट की ऊँचाई पर एक विशेष जाति का चीड़ (pine) होता है जो हिमालय अथवा अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। और यह भूभाग एक प्रकार से इसी वृक्ष के वनों से आच्छादित है। ऊँची पहाड़ियों पर इमारती लकड़ियों के जंगल बिखरे हुए है जिनमें शाहबलूत (Oak), पांगर (Chest nut) और मैग्नोलिया (magnolias) प्रमुख है। वनस्पति विशारदों के मतानुसार इस प्रदेश में सर्वाधिक भांति की वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। अकेले २५० प्रकार के ऑर्किड (Orchid) यहाँ पाए जाते हैं।

नारंगी, अनन्नास और सुपारी खासिया (खासी) लोगों के लिये आय के सबसे बड़े साधन हैं। यहाँ की नारंगी सारे बंगाल में जाती है। अनन्नास की पैदावार अकूत है। आलू की खेती होती है और उसका निर्यात भी होता है। मध्य पठार में लोहे की खानें हैं। चेरापूंजी के आगे अयस्क गलाने की भट्ठियाँ मीलों तक फैली पड़ी है, किंतु अंग्रेजों के आगमन के बाद उनकी प्रतिद्वंद्विता में स्थानीय लोग टिक न सके और ईंधन का अभाव होने लगा। फलत यह उद्योग ठप्प हो गया। पहाड़ के दक्षिणी किनारे पर चूने की खदानें हैं। कई जगह अच्छे किस्म का कोयला भी मिलता है।

१८३३ में अंग्रेजों ने खासी पर अधिकार किया किंतु वहाँ छोटे छोटे राजे बने रहे। वहाँ इस प्रकार के २५ राज्य थे जो सेभ कहे जाते थे। १८३५ में जयंतिया पर अंग्रेजों ने अधिकार किया किंतु वह एक छोटे राज्य के रूप में बना रहा।

इस क्षेत्र का केंद्र अंग्रेजी शासन के अंतर्गत १८६४ के पूर्व, चेरापूंजी था। बाद में शिलांग में केंद्र स्थापित हुआ। १८९७ में शिलांग में एक भयंकर भूकंप आया था।

आजकल इस प्रदेश का संघटन मेघालय नाम से एक स्वतंत्र प्रदेश के रूप में हुआ है।

(प० ला० गु०)

खिचड़ी (१) हिंदुओं की, विशेषतया उत्तरप्रदेश में, एक वैवाहिक प्रथा जिसमें कन्या पक्ष की ओर से वर पक्ष वालों को खिचड़ी (मिलाकर पकाया हुआ दाल चावल) खिलाते हैं।

(२) मकर संक्रांति का एक जनप्रचलित नाम। (स०)

खिचिंग उड़ीसा स्थित भंज वंश की प्राचीन राजधानी। भंज का राजवंश चित्तौड़ के राजपूतों की एक शाखा थी। इस राज्य के दो खंड थे जो क्रमश. खिचिंग और खिजर्ला कहे जाते थे। इस राजवंश के संस्थापक वीरभद्र थे। उन्हें आदि भंज कहा जाता है। उनके संबंध में जनुश्रुति है कि उनका जन्म किसी पक्षी के अंडे से हुआ था और वशिष्ठ ऋषि ने उनका पालन पोषण किया।

खिचिंग में दो दुर्गों के अवशेष हैं जो विराटगढ़ और कीचक गढ़ कहे जाते हैं। भंज राजघराने की देवी की चक्रेश्वरी कही जाती है। वहाँ उनकी एक दर्शनीय मूर्ति है। वहाँ नीलकंठेश्वर महादेव का मंदिर है जो वास्तुकला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। वह भुवनेश्वर के मंदिरों की परंपरा में बना है और कदाचित् ११वीं या १२वीं शती का है।

(प० ला० गु०)

खिलअत वह बहुमूल्य वस्त्र जिसे बादशाह प्रसन्न होकर किसी को प्रदान किया करते थे। इब्ने खलदून ने इसके लिये 'तिराज' शब्द का प्रयोग किया है। यह शुद्ध अथवा अन्य प्रकार के रेशम का होता था। कभी कभी इसके ताने बाने में ही कलाबत्तू से सुल्तानों के नाम अथवा उनके विशेष चिह्नों को बुन दिया जाता था। खिलअत देते समय पुरस्कृत किए जानेवाले व्यक्ति की योग्यता, पद एवं जिस कार्य के लिये खिलअत प्रदान होती थी, उसका भी विशेष रूप से ध्यान रखा जाता था। इस्लाम के पूर्व अजम के सुल्तानों के समय में बादशाहों के चित्र अथवा अन्य चित्र भी खिलअत में काढ़े अथवा बुने जाते थे किंतु इस्लाम में चित्र के प्रयोग का निषेध होने पर इसमें कमी आ गई फिर भी यह प्रथा पूर्णत. बंद न हो सकी। सुल्तान फीरोजशाह तुगलक के अधिनियम के ग्रंथ 'फतुहाते फीरोजशाही' से पता चलता है कि उसके राज्यकाल से पूर्व खिलअतों पर चित्र बनाने की प्रथा प्रचलित थी। फिर भी उसने उसका निषेध किया।

बनी उमय्या तथा बनी अब्बास के राज्यकाल में खिलअतों की प्राप्ति बड़े गर्व का विषय समझी जाती थी। खिलअतों के बनाने के लिये राजप्रासाद में एक कारखाना होता था जो दारुत्तिराज अथवा कपड़ा बनाने का कारखाना कहलाता था। इसके लिये एक अधिकारी होता था जो 'साहिबुत्तिराज' कहलाता था। कारखाने के अधिकारी का पद राज्य के किसी बड़े सम्मानित व्यक्ति को दिया जाता था। स्पेन में बनी उमय्या की सल्तनत एवं उसके उपरांत मुलूकुत्तवायफ में यही प्रथा रही। मिस्र में उबैदीईन के राज्यकाल अथवा उनके समकालीन पूर्वी अजम के बादशाहों के यहाँ भी यही प्रथा रही। दिल्ली के सुल्तानों के इतिहास में इन कारखानों का उल्लेख बड़े ही विस्तार से किया गया है। सुल्तान फीरोजशाह के राज्यकाल में दासों की बहुत बड़ी संख्या इन कारखानों में काम किया करती थी। आईने अकबरी में भी खिलअतों की चर्चा की गई है। मुगलों के इतिहास में खिलअत के स्थान पर सरोपा शब्द का प्रयोग हुआ है।

सं० ग्रं०—फीरोजशाह : फतूहाते फीरोजशाही, आईने अकबरी; रिजवी : इब्ने खल्दून का मुकद्दमा, तुगलक कालीन भारत, भाग २, मुगलकालीन भारत—बाबर मुगल कालीन भारत—हुमायूँ।
(नं० अ० अ० रि०)

खिलजी, खलजी अति प्राचीन काल से तुर्क-मुगल जातियों के दल मध्य एशिया के उत्तरी सूखे मैदानों (जिन्हें 'स्टेपीज' कहते हैं), दक्खिन-पश्चिम और दक्खिन-पूरब के प्रदेशों पर धावे करते रहते थे। उन्हें प्राय तुर्क कहा गया है। वे २४ वंशों में बँटे थे जिनमें इसलाम के इतिहास में तीन अति प्रसिद्ध हुए। आठवीं सदी के मध्य में इसलाम मध्य एशिया में पहुँचा था; उत्तरी जातियों ने बहुत दिनों तक उसका विरोध किया था। यहाँ तक कि चिंगेजखानी मंगोलों ने तो १२५८ में अब्बासी खिलाफत को ही नष्ट कर डाला। पर अंत में मंगोल भी मुसलमान हो गए।

इन्हीं तीन वंशों में एक वंश 'खलीज' या 'खलजी' कहलाया था, जो पूर्वी अफगानिस्तान में पहुँचकर पश्तो भाषा में 'गलजी' या 'खलजी' बना रहा और उसका फारसी रुपांतर 'गिल्जई' हो गया। इस बात को अनेक इतिहासकार नहीं मानते। 'गिल्जई' प्राचीन खल्जी वंश का ही नाम था किंतु इतना निश्चय है कि गिल्जई भी अपने को तुर्क कहते हैं और उसी प्रदेश में बसे हैं जहाँ खलजी बसे थे। यह भी सर्वमान्य है कि खलजी का फारसी रुपांतर गिल्जई है।

खल्जी कब अफगानिस्तान में आकर बसे यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। बहुत काल तक उस प्रदेश में रहने के कारण उनका चरित्र भी बहुत कुछ अफगानों का सा ही हो गया था और उन्हें प्राय: अफगानवंशीय ही समझा जाता था।

१३वीं सदी ई० के आरंभ में जब इल्बरी तुर्कों ने दिल्ली की विजय कर अपनी सल्तनत कायम की तो बहुत से खल्जी सैनिक भी उनके साथ भारत चले आए। थोड़े दिन बाद मंगोलों के प्रलयंकर आक्रमणों से जान बचाने के लिये भी कुछ और खल्जी भारत में आ बसे। इनमें कई बड़े वीर अपने सैनिक गुणों के कारण ऊँचे पदों पर नियुक्त हुए। (प० श०)

खिलजी (दिल्ली के सुल्तान) दिल्ली की तुर्क सल्तनत के दासवंशी सुल्तान बलबन की मृत्यु के पश्चात् कैकुबाद नामक एक १७ वर्षीय बालक को दिल्ली का सुल्तान घोषित किया गया किंतु विलासी होने के कारण शासन की देखरेख मलिक निजामुद्दीन नामक एक व्यक्ति करता रहा। इससे शासनतंत्र में जब अव्यवस्था फैली तब उसकी हत्या कर दी गई और आरिज-ए-ममालिक (सेना का निरीक्षक) जलालुद्दीन फिरोज ने, जो खिलजी वंश का था, सत्ता पर अधिकार कर लिया और १३ जून, १२९० ई० को वह कीलूगढ़ी नामक स्थान पर सिंहासन पर बैठा। उसका वंश भारतीय इतिहास में खिलजी वंश के नाम से प्रख्यात हुआ। उसके पूर्वजों का हाल अविदित है। कदाचित उसके पिता का नाम गाँ था और यगरीश खाँ उसका खिताब। जलालुद्दीन सुल्तान वयोवृद्ध, अनुभवी तथा युद्ध-कला-निपुण था परंतु बुढ़ापे के कारण उसका हृदय दयालु और मृदु हो गया था। उसके इस गुण का दुरुपयोग करके उसके भतीजे अलाउद्दीन मुहम्मद ने १२९६ में घोर नृशंसता से उसका वध करवा दिया और उसके बेटों को मारकर स्वयं सुल्तान बन बैठा। अलाउद्दीन ने १३१६ ई० तक २० बरस राज किया। (द्र० खिलजी 'अलाउद्दीन')।

अलाउद्दीन के बाद उसके परम प्रिय मलिक काफूर ने उसके बड़े बेटों को जेल में डाल सबसे छोटे शिहाबुद्दीन उमर को गद्दी पर बैठाया और स्वयं उसके प्रतिनिधि के रूप में शासन करने लगा। ३५ दिन तक इस प्रकार राज करने के बाद अलाउद्दीन के तीसरे बेटे मुबारक खाँ के अनुरोध पर सेना ने काफूर का वध कर डाला। फिर निःसहाय बालक शिहाबुद्दीन को अंधा कर कुतुबुद्दीन मुबारक शाह सुलतान बन गया।

मुबारक शाह लगभग चार बरस राज किया। उसने शासन में बड़ी योग्यता तथा कर्तव्यपरायणता का परिचय दिया और अलाउद्दीन के शासन से हारी प्रजा की दशा को सुधारने का यत्न किया। उसने विद्रोही सूबों को फिर से जीत भी लिया। पर वह जल्दी ही भोग विलास में इतना फँस गया कि उसके प्रेमपात्र खुसरो बखारी ने उसका वध कर सल्तनत पर अधिकार कर लिया और नासिरुद्दीन के नाम से गद्दी पर बैठा। किंतु उसके इस कार्य से अनेक सरदार असंतुष्ट हुए और दीपालपुर के सेनाध्यक्ष गाजी मलिक को उसके कुकृत्यों की सूचना भेजी। उसने सेना के साथ दिल्ली पर आक्रमण किया। खुसरो उसका सामना न कर सका। वह मारा गया और सब सरदारों ने मिलकर गाजी मलिक को सुलतान बनाया और वह गयासुद्दीन तुगलक के नाम से सुलतान बना। इस प्रकार १३२० ई० में खिलजी वंश का अंत हो गया। (प० श०; प० ला० गु०)

खिलजी, मालवा के सुलतान मालवा के तुर्क सुलतान होशंगशाह की मृत्यु के पश्चात् १४३५ ई० में गजनी खाँ शासक बना। विलासी होने के कारण उसने सारा राज काज अपने मंत्री महमूद खाँ खिलजी पर छोड़ दिया जो उसका फुफेरा भाई था। महमूद खिलजी ने राजलिप्सा से प्रेरित होकर अपने स्वामी का वध कर दिया और १४३६ ई० में स्वयं शासक बन बैठा।

महमूद खिलजी के शासनकाल में मालवा अत्यंत समृद्ध और शक्तिशाली राज्य बना। उसने अपने राज्य का दक्षिण में सतपुड़ा पर्वतश्रेणी तक, पश्चिम में गुजरात की सीमा तक पूर्व में बुंदेलखंड तथा उत्तर में मेवाड़ तक विस्तार किया। महमूद के पश्चात उसका पुत्र गयासुद्दीन १४६९ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसको उसके पुत्र नासिरुद्दीन ने विष देकर मार डाला और स्वयं १५०० ई० में गद्दी पर आरूढ़ हुआ किंतु वह अत्यंत विलासी निकला। एक दिन वह मदिरोन्मत्त होकर माडू के कालियादह भील में गिर पड़ा और डूबकर मर गया।

उसके पश्चात् महमूद (द्वितीय) सिंहासनारूढ़ हुआ। १५३१ ई० में गुजरात को सुलतान बहादुरशाह ने परास्त कर इस वंश का अंत कर दिया।
(प० ला० गु०)

खिलजी, अलाउद्दीन अलाउद्दीन दिल्ली तुर्की सल्तनत के खिलजी वंश का दूसरा सुलतान था। वह सुलतान जलालुद्दीन के भाई शहाबुद्दीन मसूद के चार बेटों में सबसे बड़ा था। शिहाबुद्दीन के बारे में केवल इतना ज्ञान है कि जलालुद्दीन की तरह वह भी बलबन की नौकरी में था। अलाउद्दीन के आरंभिक जीवन के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। १७वीं सदी के लेखक हाजी उद्दबीर से ज्ञात होता है कि रणथंभोर की चढ़ाई के समय अर्थात् १३०२ में वह ३४ बरस का था।

१२९१ में अलाउद्दीन को कड़ा का मुक्तअ नियुक्त किया गया था। एक बरस में सेना की पूरी तैयारी करके उसने सुलतान को सूचना दिए बिना ही भेलसा (प्राचीन विदिशा) पर आक्रमण कर दिया और उसके मंदिरों को नष्ट करके बहुत सा धन लूटा। इस सफलता से उसका साहस बढ़ गया और उसने फिर ८००० सेना तैयार करके १२९४ में मालवे के मार्ग से दक्षिण के देवगिरि राज पर हमला किया। वहाँ के यादव राजा रामचंद्र की असावधानी एवं कायरता के कारण अलाउद्दीन को पूरी सफलता मिली और वह नगर की जनता को अत्यंत निर्दयता से लूटकर तथा राजा रामचंद्र से अतुल धन संपत्ति लेकर कड़ा वापस आया। वहाँ पहुँचकर उसने १२९६ में बूढ़े सुलतान जलालुद्दीन को घोर निर्दयता तथा विश्वासघात से मरवा डाला और उसके बेटों का वध करके स्वयं सुलतान बन बैठा।

इस समय अलाउद्दीन के चार विश्वसनीय मित्र थे। इतिहासकार बरनी कहता है कि उसने सोचा कि जिस प्रकार मुहम्मद साहब ने चार मित्रों की सहायता से एक नए मत (मजहब) की स्थापना की थी उसी प्रकार मैं भी कर सकता हूँ और अतुल धन संपत्ति के बल से सेना बनाकर सिकंदर महान् के समान समस्त संसार को जीत सकता हूँ। परंतु उसके सखियों में एकमात्र विचारशील काजी अलाउल्मुल्क ने उसकी मूर्खता का ज्ञान उसे कराया और उसे समझाया कि वह निराधार स्वप्नों को छोड़ दे। तथापि उसे अपनी सैनिक शक्ति पर इतना विश्वास था कि मुगलों के बराबर भयानक हमलों की कोई चिंता न करके उसने गुजरात, रणथंभौर, चित्तौड़ आदि पर चढ़ाइयाँ कीं। इन्हीं दिनों कई आतंरिक विद्रोह तथा बाहर के मुगलों के हमले हुए। अंत में १३०३ में भयानक हमले

से वह अधिक सजग हो गया और इस संकट से अपनी रक्षा करने के लिये अपने मंत्रियों से परामर्श से उसने दो उपाय किए। करों को अधिक उपजवाले क्षेत्रों में उपज का पचास प्रतिशत तक बढ़ा दिया, और अपना एक बड़ा कड़ा गुप्तचर विभाग बनाया तथा बहुत बड़ी सेना का निर्माण किया और उसके व्यय को पूरा करने के लिये उत्तरी प्रदेश के किसानों, व्यवसायियों तथा व्यापारियों से जबर्दस्ती कम मूल्य पर सामान खरीदा। उसने बाजार की हर एक वस्तु के मूल्य का नियंत्रण कर दिया और इस बात का प्रयत्न किया कि हर आवश्यक वस्तु बाजार में आ जाय। इसके लिये उसने लोगों को अग्रिम धन तक दिया परंतु बाजार संबंधी कानून कठोर बनाया। इस प्रकार हर प्रकार की सामग्री एकत्रित करने का उद्देश्य थोड़े वेतन पानेवाले सैनिकों को सब प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ सस्ते दामों में उपलब्ध कराना था। उसकी इस व्यवस्था को कुछ आधुनिक लेखकों ने उसके सैनिक तथा आर्थिक सुधारों का नाम दे दिया है। निस्संदेह सेना की संख्या में बढ़ोतरी एवं उसकी उपयोगिता में काफी सुधार किया गया था, किंतु जो आर्थिक उपाय इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किए गए वे अवश्य चिंत्य थे। सर्वसामान्य का कोई विशेष हित इन उपायों से नहीं हुआ।

उपर्युक्त साधनों से सिंहासन को अधिक स्थायी करके अलाउद्दीन ने साम्राज्य का विस्तार करना आरंभ किया। गुजरात की चढ़ाई में सन् १२९७ में उसके सेनापति नसरत खाँ ने खंभात से काफूर नामक गुलाम मोल लाकर दिया। वह हिंदू था जो मुसलमान बना लिया गया था। काफूर बड़ा चतुर था, थोड़े दिनों में वह अलाउद्दीन का इतना प्रिय तथा विश्वासपात्र बन गया कि उसने उसे 'मालिक नायब' (उपराजा) के सर्वोच्च पद पर नियुक्त कर दिया। १३०६ के अंतिम दिनों में अलाउद्दीन ने काफूर को दक्षिण के राज्यों पर आक्रमण करने के लिये एक बड़ी सेना के साथ भेजा और गुजरात के शासक अल्पखाँ को आज्ञा दी कि काफूर के साथ चढ़ाई में शामिल हो। अल्पखाँ ने गुजरात से भागे हुए राजा करण को, जो यादव राजा का करद बनकर 'नजरबाग' में रहता था, बड़ी कठिनाई से हराया, और उसकी छोटी बेटी देवलदेवी को पकड़कर उसकी माता कमला देवी के पास, जो कि सुलतान के अंतःपुर में १२९७ में ही पहुँचाई जा चुकी थी, भेजा।

जब मालिक नायब देवगिरि के निकट पहुँचा तो राजा रामचंद्र यादव ने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया और पूरे तौर से दिल्ली सुलतान का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। तदनंतर सुलतान के आदेशानुसार काफूर ने १३०९ में वारंगल के राजा प्रताप रुद्रसेन को तथा १३१० में होयशल वंश के राजा को परास्त करके करद बनाया। इन चढ़ाइयों के समय उसने दक्षिण के हिंदू धर्मस्थानों को बड़ी निर्दयता से लूटा और ध्वस्त किया।

अलाउद्दीन पहला तुर्क मुसलमान बादशाह था जिसने दक्षिण भारत पर आक्रमण किए और उसके अधिकतर प्रदेशों को अपना करद बनाया। उसकी यह साम्राज्यवादी नीति उसके पूर्वगामी सुलतानों की नीति की पूर्ति मात्र थी ही। अलाउद्दीन पढ़ा लिखा नहीं था तथापि वह राजपूतों के सदृश बड़ा वीर था। उसकी सैनिक सफलताएँ कुछ तो सौभाग्य के कारण प्राप्त हुईं, और अधिकतर जफरखाँ तथा गियास तुगलक सरीखे सुयोग्य सेनानायकों के कारण। अलाउद्दीन ने भूमि नापकर कर और वसूली की पद्धति चलाई, किंतु करों की मात्रा जितनी उसके शासन में बढ़ाई गई उतनी उससे पहले या पीछे किसी शासन में नहीं हुई। उसकी आर्थिक व्यवस्था से प्रजा आहत हो गई और देश की स्थिति इतनी बिगड़ी कि उसके बाद आनेवाले सुलतानों को प्रजा की स्थिति सुधारने के लिये विशेष यत्न करने पड़े। अलाउद्दीन चाहता था कि यथासंभव इस्लाम के नियमों का पालन करे किंतु अपने बल के मद में अंधा होकर मनमानी करता था और उसे राज्य के हित के लिये आवश्यक समझता था। उसके समय में वास्तुकला की गहरी उन्नति हुई। इसका नमूना उदाहरण उसका बनवाया हुआ अतीव सुंदर अलाई दर्वाजा है जो मीनार के उत्तर में स्थित है।

उसके समकालीन गुणी विद्वानों में कवि अमीर खुसरो तथा ख्वाजा हसन निजामी सबसे प्रसिद्ध हैं। सुप्रसिद्ध सूफी संत शेख निजामुद्दीन औलिया उसका समकालीन था। इतिहास लेखकों में जियाउद्दीन बरनी सुविख्यात है। दक्षिण का विश्वविख्यात संगीतज्ञ गोपाल नायक भी उसके दरबार में आमंत्रित किया गया था।

२ जनवरी, १३१६ को जलोदर के रोग से उसकी मृत्यु हुई।

सं० ग्रं०—जियाउद्दीन बरनी तारीख-ए-फीरोजशाही, प्रका० ए० सो० बं०, मुख्य मुख्य स्थलों का हिंदी अनुवाद, सै० अ० अ० रिजवी (अलीगढ़), इलियट ऐंड डाउसन, खंड ३। (प० श०)

खिलाफत (आंदोलन) १९०८ ई० में तुर्की में 'युवा तुर्की दल' द्वारा शक्तिहीन खलीफा के प्रभुत्व का उन्मूलन खलीफत (खलीफा के पद) की समाप्ति का प्रथम चरण था। इसका भारतीय मुसलमान जनता पर नगण्य प्रभाव पड़ा। किंतु, १९१२ में तुर्की-इतालवी तथा बाल्कन युद्धों में तुर्की के विपक्ष में, ब्रिटेन के योगदान को इस्लामी संस्कृति तथा सर्व इस्लामवाद पर प्रहार समझकर भारतीय मुसलमान ब्रिटेन के प्रति उत्तेजित हो उठे। यह विरोध भारत में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध रोषरूप में परिवर्तित हो गया। इस उत्तेजना को अबुलकलाम आजाद, जफर अली खाँ तथा मोहम्मद अली ने अपने समाचारपत्रों अल-हिलाल, जमींदार तथा कामरेड और हमदर्द द्वारा बड़ा व्यापक रूप दिया। प्रथम महायुद्ध में तुर्की पर ब्रिटेन के आक्रमण ने असंतोष को प्रज्वलित किया। सरकार की दमननीति ने इसे और भी उत्तेजित किया। राष्ट्रीय भावना तथा मुस्लिम धार्मिक असंतोष का समन्वय आरंभ हुआ। महायुद्ध की समाप्ति के बाद राजनीतिक स्वत्वों के बदले भारत को रौलट बिल, दमनचक्र, तथा जलियानवाला बाग हत्याकांड मिले, जिसने राष्ट्रीय भावना में आग में घी का काम किया। अखिल भारतीय खिलाफत कमेटी ने जमियत-उल्-उलेमा के सहयोग से खिलाफत आंदोलन का संगठन किया तथा मोहम्मद अली ने १९२० में खिलाफत घोषणापत्र प्रसारित किया। राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व गांधी जी ने ग्रहण किया। गांधी जी के प्रभाव से खिलाफत आंदोलन तथा असहयोग आंदोलन एकरूप हो गए। मई, १९२० तक खिलाफत कमेटी ने महात्मा गांधी की अहिंसात्मक असहयोग योजना का समर्थन किया। सितंबर में कांग्रेस के विशेष अधिवेशन ने असहयोग आंदोलन के दो ध्येय घोषित किए—स्वराज्य तथा खिलाफत की माँगों की स्वीकृति। जब नवंबर, १९२२ में तुर्की में मुस्तफा कमाल-पाशा ने सुलतान खलीफा मोहम्मद चतुर्थ को पदच्युत कर अब्दुल मजीद को पदासीन किया और उसके समस्त राजनीतिक अधिकार अपहृत कर लिए तब खिलाफत कमेटी ने १९२४ में विरोधप्रदर्शन के लिये एक प्रतिनिधिमंडल तुर्की भेजा। राष्ट्रीयतावादी मुस्तफा कमाल ने उसकी सर्वथा उपेक्षा की और ३ मार्च १९२४ को उन्होंने खलीफा का पद समाप्त कर खिलाफत का अंत कर दिया। इस प्रकार, भारत का खिलाफत आंदोलन भी अपने आप समाप्त हो गया। (रा० ना०)

खिलाफत खलीफा और खिलाफत का व्यवहार तीन अर्थों में हुआ है—

१—कुरान यह घोषित करता है कि अल्लाताला ने इन्सान को (मुस्लिम कौम को नहीं) इस जमीन पर अपने खलीफा या प्रतिनिधि के रूप में उत्पन्न किया है क्योंकि एकमात्र मनुष्य ही अपने कार्यों के लिये नैतिक रूप से उत्तरदायी है। कुरान खलीफा शब्द का किसी और अर्थ में प्रयोग नहीं करता।

२—चूंकि रोम और फारस के सम्राट् दैवी माने जाते थे अतः जिन मुस्लिम बादशाहों ने उस परंपरा का अनुसरण करने का प्रयत्न किया उन्होंने अपने को 'खुदा की छाया' (प्रतिबिंब, जिल्लल्लाह) होने का दावा किया। उन्होंने यह भी दावा किया कि उन्हें खुदा ने सीधे अपना खलीफा या प्रतिनिधि चुना है और अपने सिक्कों पर खलीफा उपाधि उत्कीर्ण कराई और उसे जुमे (शुक्रवार) के वाज (प्रवचन) में कहलाया। किंतु इस प्रकार के अनर्गल दावे इस्लाम के मौलिक सिद्धांतों के नितांत विरुद्ध हैं और मुस्लिम धार्मिक चेतना द्वारा कभी मान्य नहीं हुए। मुस्लिम बादशाहों के व्यक्तित्व के साथ किसी प्रकार की 'धार्मिक पवित्रता'

संलग्न नहीं, वे कभी दैवी नहीं माने गए, और अधिसंख्यक (संभवत: ४० के लगभग) मुस्लिम बादशाह गद्दी से उतार दिए गए, अंधे कर दिए गए और यंत्रणा देकर उनकी हत्या कर दी गई।

३—खलीफ़ा का तीसरा अर्थ होता है 'नबी (पैगंबर) का वारिस' तथा 'निष्ठावानों (मुसलमानों) का समादेशक'। खिलाफत वह शासन है जिसका वह नियंत्रण करता है। इसी राजनीतिक और प्रशासकीय संस्था के रूप में ख़िलाफ़त प्राय: समझा और माना जाता है।

ख़िलाफ़त के संबंध में इस्लाम के दोनों महान् संप्रदाय का अपने विचारों में मौलिक रूप से मतभेद है। शिया लोगों के अनुसार नबी के मनोनीत होने और वंशगत अधिकार के कारण हजरत अली को (चौथा नहीं) पहला खलीफ़ा होना चाहिए था, और उनके बाद ख़िलाफ़त १२ इमामों को मिलनी चाहिए थी। शियों के अनुसार अन्य समस्त शासकों की ख़िलाफ़त अवैध रही। ख़लीफ़ाओं द्वारा निष्ठावानों (मुसलमानो) का शासन एकमात्र सुन्नियों की समस्या रही है।

पैगंबर मुहम्मद बिना किसी उत्तराधिकारी को मनोनीत किए मरे और कुरान भी सिवा समान कार्यो मे परामर्श के, किसी शासनविधान का निर्देश नही करता। सुन्नी विचारकों ने ख़िलाफ़त को पूर्णतया मुसलमानी इजमा-ए-उम्मत के जनमतैक्य पर आधारित किया।

मुस्लिम इतिहास में निम्नलिखित ख़िलाफ़त का परिचय मिलता है—

१. **धर्मनिष्ठ ख़िलाफ़त** (६३२–६६१)—सुन्नी मुसलमानों का पहले चार ख़लीफ़ाओं के प्रति बड़ा स्निग्ध संमान है—ये खलीफ़ा है, अबू बक्र (६३२-६३४), उमर (६३४-६४४), उस्मान (६४४-६५६) और अली (६५६-६६१)। ये नबी के चुने हुए साथी (साहिबा) थे और उन्होने भी उनकी ही तरह अभाव और दरिद्रता में जीवन बिताया। उनके न तो महल या अंगरक्षक थे और न समसामयिक बादशाहों के से परिच्छद ही थे। वे नबी की मस्जिद में उनके साथियों के परामर्श से राजकाज किया करते थे और मदीना का प्रत्येक नागरिक सीधे उन तक बेरोक पहुँच सकता था। उन्होंने नबी द्वारा आरंभ किए सामाजिक तथा अन्य सुधारों को जारी रखने का यथासंभव प्रयत्न किया। उन्हें इज्तिहाद अथवा व्याख्यात्मक विधिनिर्माण का अधिकार था और सुन्नी कुछ महत्वपूर्ण बातों में उनके निर्णय अनुल्लंघनीय मानते है। धर्मनिष्ठ ख़िलाफ़त ने इस्लाम को पुष्ट और उसका प्रसार किया। अबू बक्र ने उस विद्रोह का दमन किया जो मदीना, मक्का और थाइफ नगरों को छोड़कर समूचे अरब में भड़क उठा था। खलीफ़ा उमर को, संभवत: निजी इच्छाओं के विपरीत, ईराक, फारस, सीरिया और मिस्र को जीतना पड़ा था। अरबों की भुखमरी की स्थिति बदलकर उमर ने उन्हें सुसंपन्न कर दिया। फिर भी शासन का ढाँचा नगरराज्य की भाँति ही था और धर्मनिष्ठ ख़िलाफ़त संक्रमणकालीन ही सिद्ध हुई, क्योंकि उसने ऐसी संस्थाओं की स्थापना नही की जो उमर द्वारा निर्मित विस्तृत मुस्लिम साम्राज्य का शासन कर सकती। इसके अतिरिक्त दो और कठिनाइयाँ थीं। धर्मनिष्ठ ख़िलाफ़त उत्तराधिकार के लिये कोई व्यवहार नहीं व्यवस्थित कर सकी थी। मदीना की एक अनुशासनहीन सभा ने अबू बक्र को चुना था किंतु यह समुचित प्रमाण नहीं माना गया। उमर अबू बक्र द्वारा मनोनीत किए गए थे और लोगों द्वारा मान्य हुए। उसमान छह व्यक्तियों की समिति द्वारा चुने गए। अपनी मृत्यु के पहले उमर ने अपने में से खलीफ़ा चुनने के लिये इस समिति को मनोनीत किया था। इसके बाद मदीनावासियों ने अली को चुना था किंतु उनमें बहुत से वे लोग भी थे जो मदीना के नहीं थे और जिनमें उस्मान के हत्यारे भी थे। जो भी हो, पूरे मुस्लिम जगत् के लिये मदीनावालों द्वारा शासक चुने जाने के अधिकार पर देर सबेर आपत्ति होना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त देश के बाहर बहुत बड़ी सेना की अध्यक्षता करते हुए भी खलीफ़ा से अपनी रक्षा की व्यवस्था करने की अपेक्षा नही की जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि उमर और अली, दो ख़लीफाओं की ऐसे समय हत्या कर दी गयी जब वे धर्मनिष्ठ लोगों को नमाज पढ़ा रहे थे। उस्मान अपने ही घर में घेर लिए गए और कूफ़ा, बसरा और मिस्र के उन विद्रोहियों द्वारा शहीद किए गए थे जिन्हें सेना की साधारण टुकड़ी कुचल दे सकती थी। इन समस्याओं का विशेष तो नहीं पर आंशिक हल वंशानुगत राजतंत्र द्वारा हुआ।

२. **उमैयद ख़िलाफ़त** (६६१-७५०)—नवीन ख़िलाफ़त के संस्थापक अमीर मुआविया (६६१-६८०) ने खलीफ़ा की उपाधि तो कायम रखी किंतु अपने पुत्र याजिद को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर और अपने अफसरों तथा प्रधान नागरिको को उसके प्रति राजभक्ति की शपथ लेने पर विवश कर ख़िलाफ़त को रोम और फारस के सम्राटों के परिच्छद प्रदान कर उसे वंशानुगत राजतंत्र मे परिवर्तित कर दिया। उसके बाद तो निकटतम संबंधी को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर उसके प्रति राजशक्ति की शपथ दिला देना ख़लीफ़ाओं के लिये सामान्य प्रथा बन गई। मुसलमानों में जब धर्मनिरपेक्ष राजतंत्र का आरंभ हुआ तब उन्होंने या तो अमीर मुआविया द्वारा स्थापित प्रथा का अनुसरण किया अथवा उत्तराधिकार के युद्ध द्वारा झगड़ा निबटाया। उमैयद काल ख़िलाफ़त के इतिहास में बड़े संघर्ष का रहा। यह समस्त मुस्लिम जगत् पर छाया हुआ था और अपने उच्चाधिकारियो को कुलीन अरब कबीलों से ही भरती करता था। किंतु इसके अधिकार को स्थानीय और धार्मिक विद्रोहों द्वारा निरंतर चुनौती मिलती रही। फिर भी इससे सर्वाधिक शक्तिशाली शासक वलीद बिन अब्दुल मलिक (७०५-७१५) विख्यात हज्जाज बिन यूसुफ सकफी की सहायता से एक दशक के लिये समस्त आतरिक विरोधों को दबाने में सफल हुए। इस बीच उसके सेनाध्यक्षों ने साम्राज्य की सीमाओं का और भी विस्तार किया। मुहम्मद बिन कासिम सिंध को जीत रावी तक बढ़ आया, कुतैबा ने मध्य एशिया के तुर्की इलाकों को चीन तक जीत लिया। उधर मूसा और उसके अधीनस्थ सेनाध्यक्ष तारीक ने पश्चिमी अफ्रीका मे ख़िलाफत की सत्ता स्थापित की और स्पेन को जीता। सर विलियम म्योर का कथन है कि वलीद का युग देश विदेश दोनों मे गौरवशाली था। किसी खलीफ़ा के शासनकाल में देश से बाहर इस्लाम का न इतना प्रसार हुआ और न वह इतना दृढ़ ही हुआ, उमर की ख़िलाफ़त तक में नही। धीरे धीरे विजित लोगों ने नया धर्म अपना लिया और इंडोनेशिया के समान कुछ बाद के परिवर्धनों को और स्पेन के समान कुछ हानियों को छोड़ आबादियों की सीमाएँ आज प्राय: वही हैं जो वलीद ने ७१५ ई० में खीच दी थी।

३. **महत्तर अब्बासी** (७४९-८४२)—नए अब्बासी राजवंश के प्रतिनिधि अबू मुस्लिम खोरासानी के नेतृत्व में फारस मे विद्रोह हुआ जिसने उमैयद राजवंश और उसके शासकवर्ग को उखाड़ फेंका। संघर्ष रक्तरंजित था। अबू मुस्लिम पर आरोप है कि उसने युद्ध में मारे गए लोगों के अतिरिक्त ६,००,००० मुसलमानो की निर्दयतापूर्वक हत्या कर दी। और उमैयद कबीले के कुरैशी अरबो का तो क़त्लेआम ही कर दिया गया, यद्यपि पराजित राजवंश का एक शाहजादा, खलीफ़ा हिशाम का पुत्र, अब्दुर्रहमान निकल भागा और उसने कोरोडोवा में उमैयद राजवंश (७५६–१०१४) स्थापित किया।

४. **अब्बासी ख़िलाफ़त** (७५०-१२५८)—मुस्लिम इतिहास में यह सबसे लंबा राजवंश है, किंतु मुस्लिम जगत् के बृहत्तम भाग पर शासन करनेवाले सफ़ाह, मंसूर, महदी, हादी, हारूँ अरशीद, अमीर, मुनव्वर रशीद और मुअतम नामक आठ महान् अब्बासी खलीफ़ाओं (७५०–८४२) और उनके शक्तिहीन उत्तराधिकारियों में हमें अंतर करना होगा। महान् अब्बासी खलीफाओं के शासनकाल में मुस्लिम धर्मशास्त्र तथा धर्मनिरपेक्ष ज्ञान का भी विकास हुआ। विधान के चार समुदाय स्थापित हुए, पैगंबर के वचनों अथवा अनुश्रुति (हदीस) के महान् संकलन का प्रकाशन हुआ और यूनानी क्लासिकी रचनाओं तथा हिंदू वैज्ञानिक ग्रंथों के अरबी में अनुवाद हुए। इस काल में धर्मशास्त्र विषयक विवाद तो बहुत हुए किंतु उमैयद के युग की अपेक्षा विद्रोह और रक्तपात कम हुए। शासक वर्ग अरबों और ऊँची अरबीयत के फारसी लोगों में से चुना जाता था। कुलीन अरब कबीलों का अब शासन पर एकाधिपत्य नहीं रह गया। कुछ लेखकों ने इसे 'इस्लाम का स्वर्णयुग' माना है।

५. **गौण अब्बासी** (८४२-१२५८)—प्रांतों में अब्बासियों की

केंद्रीय शक्ति या तो उन प्रातीय शासको ने तोड दी जिन्होने अपने को स्वतत्र घोषित कर दिया अथवा कुछ साहसिको ने, जिन्होने नए राजवशो की स्थापना कर खलीफाओ को उन्हे मानने पर विवश किया। बगदाद तक मे खलीफा वास्तव मे स्वतत्र नही थे। पहले तो वे अपने ही तुर्की अगरक्षको के नियत्रण मे रहते थे और बाद मे शिया बुवैहिदो के। बुवैहिद की पराजय के बाद खलीफा लोग सेलजुको, ख्वारिज्मी और मगोल सम्राटो के आश्रय मे रहने लगे थे। इस प्रकार से खलीफाओ का बगदाद मे कोई समान न था। वसीक से मुस्तसीम तक के २६ गौण खलीफाओ मे आठ की हत्या कर दी गई, दो अधे कर दिए गए यद्यपि सभवत उनकी हत्या नही की गई, और एक को गद्दी से उतार दिया गया। किंतु विशाल मुस्लिम जगत् ने खिलाफत के प्रति तीन प्रकार से समान प्रकट किया। प्रत्येक नए राजवश को खलीफा से मान्यता प्राप्त करना आवश्यक हो गया, यद्यपि खलीफा की यह मान्यता उसकी इच्छा पर निर्भर नही करती थी और चाहने पर वह उसे रोक देने की स्थिति मे न था। शुक्रवार (जुम्मे) के खुतबा मे खलीफा का नाम पढा जाता था और वह सिक्को पर उत्कीर्ण होता था। किंतु जब अधिष्ठित खलीफा दूर देशो मे विख्यात न होता (जैसा अनेक बार होता था) तब खुतबा और सिक्कों के लिये केवल 'अमीरुल मोमिनीन' (धर्मनिष्ठों का समादेशक) उपाधि का उल्लेख ही पर्याप्त होता था।

६ काहिरा की खिलाफत—१२५८ मे चगेज खाँ के पोते हलाकू ने बगदाद को घेर लिया और खलीफा तथा अब्बासी वश के सारे लोगो की हत्या का आदेश दिया। किंतु खलीफा नासिर का बेटा अब्बासी शाहजादा अबुल कासिम मुहम्मद बचकर मिस्र भाग गया और मिस्र के मामलूक शासको (१२५०–१५१७) ने उसका और उसके वशजो को खलीफा मानकर स्थानीय प्रयोजनों के लिये उनका उपयोग किया। सर हेनरी होवोर्थ का कहना है कि 'उसके काम अधिकारप्राप्त लोगों को वैधता और अच्छी उपाधि देना मात्र था, अन्यथा उसके अधिकार नही के बराबर थे।'

७ उसमानी खिलाफत (१५१७–१९२४)—जब उसमान सुल्तान सलीम प्रथम ने मिस्र विजय की तब उसने काहिरा के उपाधिकारी खलीफा को या तो विवश किया अथवा समझाकर सहमत किया कि वह उसे और उसके उत्तराधिकारियो को तुर्की के सुलतान के रूप मे खिलाफत का निर्वीर्य पद हस्तातरित कर दे। किंतु उसमान सम्राट् के प्रजाजनो के अतिरिक्त शेष मुस्लिम जगत् ने उसकी खिलाफत को नहीं माना। उनके राज्य के बाहर के सुन्नी मुसलमानो ने पवित्र नगर मक्का और मदीना के अभिभावक के रूप में ही उनका समान किया। ३ मार्च, १९२४ को तुर्की की बृहत् राष्ट्रीय सभा ने खिलाफत को समाप्त कर दिया। काहिरा की खिलाफत कांग्रेस (१९२६) की तीसरी समिति को विवश होकर स्वीकार करना पडा कि जिस स्थिति मे मुसलमान सप्रति हैं, खलीफा लोग इस्लामी नियम की शर्तो के अनुसार कार्य करने मे अक्षम हैं। इनमें सबसे महत्व-पूर्ण शर्त सारे इस्लामी देशों मे धर्म की रक्षा करना और इस्लामी नियम के धर्मादेशों को कार्यरूप मे परिणत करना थी। (मो० ह०)

खिलौना बच्चों के खेलने की सामग्री। इसका सबध शैशव से है और शैशव चूँकि सार्वभौम है इसलिये खिलौने भी सर्वदेशीय हैं। ससार के सारे देशों मे प्रस्तरयुगीन सभ्यताकाल से ही खिलौनों का प्रचार मिलता है, जिनके असख्य उदाहरण देश विदेश के सग्रहालयो मे प्रद-र्शित है।

मिट्टी, पत्थर, लकडी, धातु, कपडे, मूंज, तृण, हड्डी, सीग, बहुमूल्य रत्न आदि से बने सभी प्रकार के खिलौने अत्यत प्राचीन सभ्यताओं की खुदाई मे मिले हैं, जिनसे उनकी विविधता और वैचित्र्य पर प्रभूत प्रकाश पडता है। मानवाकृतियों के अतिरिक्त गार्हस्थ्य जीवन के अतिनिकट रहने-वाले, गाय, बैल, हाथी, घोडे, कुत्ते, भेड और जगल के बदर, शेर, सिंह, मोर आदि सभी जानवरों की प्रतिकृतियाँ मिली हैं, जिनसे प्रकट है कि किस मात्रा मे बच्चा के मन को बहलाने के लिये खिलौनो का उपयोग होता रहा है। मिस्री और फिलिस्तीनी, बाबुली और असूरी, क्रीटी और चीनी, [illegible] और हडप्पा के मिट्टी आदि के बने खिलौनो की अमित राशि मिली है। धातु, रबर और प्लास्टिक आदि के बने खिलौने आज की सभ्यता की विशेष देन है। इस दिशा मे जापान और जर्मनी ने खासी प्रगति की है। वैसे तो कपडे के खिलौनो का विशेष विकास भारत मे हुआ है, पर इधर रूस ने कपडे के जो खिलौने बनाए हैं वे भी कुछ कम मनोरजक नही हैं।

भारतीय साहित्य मे अति प्राचीन काल से ही खिलौनो का उल्लेख हुआ है। सैंधव सभ्यता मे मिस्री-बाबुली-असूरी सभ्यताओं की भाँति अनेक प्रकार के खिलौने मिले ही है, वैदिक आर्यो के साहित्य मे भी उनका कुछ कम वर्णन नही मिलता। खेली जानेवाली पुतलियो का उल्लेख ऋग्वेद मे हुआ है। इद्राणी अपनी सपत्नियो के ऐश्वर्य का नाश ओषधिविशेष तथा पुत्तलिकाओं के माध्यम से करती है। कठपुतलियो का भी उदय तभी हो चुका था, जो अद्यावधि मनोरजक खेल के रूप मे सारे ससार मे प्रचलित है।

ऐतिहासिक युग मे प्राड्मौर्य, मौर्यकाल और गुप्तकाल की पकाई हुई मिट्टी के खिलौने पुरातात्विक खुदाइयो मे अत्यधिक मात्रा मे उपलब्ध हुए है। पटना, मथुरा, कौशाबी, राजघाट (वाराणसी) आदि की खुदा-इयो मे उपलब्ध खिलौने हमारे विभिन्न सग्रहालयो मे सुरक्षित हैं। प्राय-तभी से साँचे का प्रयोग शुरू हो गया था, जिसकी सहायता से मृदु उपादानो के खिलौने ढाले जाते थे। कही कही खुदाई मे ऐसे सांचे भी मिले है। शुगकालीन खिलौनो मे साँचे से बनी भेडें, मकर आदि अत्यत सुदर हैं और जिन खिलौनो पर नारी आकृतियाँ उभारी गई है वे अत्यत आकर्षक और दर्शनीय है। मेष अर्थात् मेढे जुती गाडियों से खेलने की प्रथा दूसरी सदी से पूर्व के शुगकाल मे अत्यधिक थी। इनमे मिट्टी के बडी सुदर सींगवाले मेढे अथवा मेष ऊँचे पहियोवाली गाडियो अथवा रथो में जुते होते थे। पहिए भी धुरी के साथ साँचे से बनते थे। एक लकडी इस पार से उस पार डाल दी जाती थी जो पहियो की धुरी का काम करती थी। कौशाबी से उसी काल की बैलगाडी के कुछ ऐसे नमूने उपलब्ध हुए है जिनमे केले आदि फल और आहार की दूसरी वस्तुएँ अलग अलग तश्तरियो मे रखी हुई है, लोग उनपर बैठे हुए है। वातावरण पिकनिक के लिये वन की ओर जाने का है। उस काल के घोडे, हाथी और अद्भुत मगरो की आकृतियाँ आज भी सुलभ हैं। कुषाण काल मे मिट्टी के खिलौनो का रूप 'सर्वतोभद्र' (चारो तरफ से कोरी हुई मरत) हो जाता है। गुप्तकालीन मिट्टी के खिलौनो मे, अपूर्व छदस और मासलता के दर्शन होते हैं और अडाकार मानव-मुख-मंडल पर पीछे की ओर कधो तक कुचित केशराशि लटकी देख पडती है। इनका पिछला भाग सपाट होता है और ऊपर की चूडा मे एक छिद्र रहता है, जिसमे डोरा डालकर सुरुचिपूर्ण नागरिक अपनी बैठको की दीवारो पर लटका दिया करते थे। ये खिलौने कई प्रकार के रगो से रँग दिए जाते थे। इसी प्रकार के एक रँगे हुए, वरणचित्रित, मयूर का वर्णन अभिज्ञान शाकुतल के सातवे अक मे हुआ है। आज के भारतीय खिलौने, जिनका निर्माण अतिरिक्त विशेषता से दीवाली के अवसर पर होता है—जानवरो, मनुष्यो, जलजीवो आदि की कृतियाँ—अधिकतर गुप्तकालीन खिलौनों के दूर के सबंधी हैं, यद्यपि उनकी रचिरता और भाव-भगी में जमीन आसमान का अतर हो गया है। गुप्तकालीन खिलौने जितने सूक्ष्मप्राण हैं, आधुनिक भारतीय गाँवो और नगरो के खिलौने उतने ही स्थूलकाय।

नि सदेह भारतीय गाँवो मे बननेवाले मूँज, तृण और कपडे के खिलौने प्रशसनीय और आज भी दर्शनीय है। घोडो, हाथियो के खिलौने तो तीन तीन, चार चार फुट की ऊँचाई तक पहुँच जाते है और बच्चो के खेलने के अतिरिक्त उन्हें विवाह आदि के अवसरो पर सबधियो द्वारा भेंट के रूप मे भी दिया जाता है।

यह उल्लेख करने की आवश्यकता नही कि ससार के सभी देशो के बच्चे खिलौनो से मनोरजन करते है और कम से कम इस सदर्भ मे समूची मानवता अखड है। प्राय एक ही प्रकार से खिलौनो का सर्वत्र विकास हुआ है। मानव जाति के विकास के साथ साथ उसके खिलौनो के विकास का अध्ययन भी कुछ कम मनोरजक नही है। अब तो ऐसे खिलौने बनने लगे हैं जिनमे मनोरजन के साथ साथ अनेक उपयोगी बातो की शिक्षा भी

मिलती है। ऐसा ही एक खिलौना 'मेकानो' है, जिससे इंजीनियरी की अनेक बातें बालक खेल खेल में सीख लेते हैं। कुछ वर्षों पूर्व उत्तर प्रदेश शासन ने अंतरराष्ट्रीय खिलौनों की प्रदर्शनी आयोजित की थी जिसमें अनेक देशों के खिलौने प्रदर्शित किए गए थे। अब दिल्ली में खिलौनों का एक स्थायी संग्रहालय है जिसमें प्रायः सभी देशों के खिलौने हैं।

(फू॰ न॰ च॰)

रूस देश के कुछ प्रचलित खिलौने

खीरा बरसाती फल। इसे त्रपुसी या त्रपुस, कसद या खियार और कुकुंबर (cucumber) कहते हैं। यह ककड़ी और खरबूजे की जाति का फल है जो कर्कटी कुल (cucurbitaceae) के अंतर्गत क्यूक्यूमिस सेटाइवस (cucumis sativus) नामक लता से पैदा होता है। यह लता दृढ रोमों के कारण खरस्पर्श और नि शाख ततुओं (tendrils) से युक्त होती है। पत्तियाँ व्यास मे पाँच इच तक, पतली, दोनों पृष्ठों पर रोमश, किनारों पर कोण अथवा खडयुक्त और आधार मे हृदयाकार तथा भीतर घुसी हुई होती हैं। पुष्प एकलिंगी, पीले और व्यास मे एक इच तक के होते हैं। नरपुष्प गुच्छों में और नारी पुष्प एकाकी, नरपुष्पों के परागाशय सयुक्त, लवाई मे दोहरे हुए होते और उनके सयोजक ऊपर की ओर बढ़े हुए होते हैं। फल बेलनाकार, पहले दृढ रोमों अथवा तीक्ष्णाग्र अवयवों से ढके हुए और तैयार होने पर, इसीलिये, खुरदुरे होते हैं।

खाने मे कच्चे फल का तथा चिकित्सा मे इनके बीजो और बीजतैल का समान उपयोग होता है। यह शीतल, मूत्रल, और कामला, रक्तपित्त एव उष्णताजन्य विकारों मे उपयोगी माना जाता है। (ब० सिं०)

खीरी १ उत्तर प्रदेश के खीरी जिले के लखीमपुर तहसील मे लखनऊ-बरेली-रेलमार्ग पर लखनऊ से ८१ मील उत्तर-पश्चिम मे स्थित कस्बा (स्थिति २७°५४' उ० अ० तथा ८०°४८' पू० दे०)। इसकी जनसख्या १०,२१० (१९६१) है यह खीरी जिले के प्रशासनिक केंद्र से तीन मील दक्षिण लखीमपुर-बलरामघाट-राजमार्ग पर स्थित।

यहाँ के जुलाहे कपड़े बुनते हैं। यह प्राचीन कस्बा है, पहले यह समुन्नत था। मध्यकाल में इसपर मुसलमानों (सैय्यदों) का आधिपत्य हो गया। सैय्यदों के पतन के बाद यह चौधरी लोगों के अधिकार में आया था जिनके चौहान वशज पूरे परगनों के मालिक थे।

लखीमपुर के निकट होने के कारण इस कस्बे की उन्नति अवरुद्ध सी है।

२. उत्तर प्रदेश का एक जिला है जिसका क्षेत्रफल ७,६६१ वर्ग किलोमीटर तथा जनसख्या १४,८६,५६० (१९७१) है। इसके उत्तर में नेपाल, दक्षिण में शाहजहाँपुर और हरदोई जिले, पूर्व में बहराइच जिला तथा पश्चिम में शाहजहाँपुर एव पीलीभीत जिले हैं। साधारणतया इसका धरातल विशाल उत्थापित मैदान (Elevatedplain) है जिसके अर्धोत्तर भाग मे नदी नाले तथा वन हैं। नदी नालो, इनके ऊँचे कगारों तथा पुरानी बस्तियो के ढूहों के अतिरिक्त कहीं धरातलीय असमता नहीं दिखाई देती। जल का बहाव उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर है।

धरातल तथा जल के बहाव की दृष्टि से इस जिले को चार प्रमुख भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम, दक्षिण-पश्चिम का गोमती पार क्षेत्र जिसका पश्चिमी भाग अपेक्षाकृत नीचा, दलदली और घासवाले अनुर्वर स्थलों एव ढाक के जगलो से भरा है, मध्य मे उपजाऊ दोमट क्षेत्र है लेकिन पूर्वांत मे गोमती के तटीय भागों म बालू पड़ गया है। द्वितीय, गोमती कथना का दोआब जिसे 'परिहर' (Parihar) कहते हैं। इसका अधिकांश भाग अपेक्षाकृत ऊँचा तथा बलुआ है लेकिन मध्य की तलहटी उपजाऊ है। तृतीय, कथना नदी से पूर्व स्थित जनपद का मध्यवर्ती क्षेत्र, जो सर्वाधिक उपजाऊ भाग है। इसमें अधिकाशत दोमट मिट्टी पाई जाती है लेकिन नदियो के तटीय भागो मे मिट्टी बलुई हो गई है। मुहम्मदी तहसील का उत्तर-पश्चिमात तथा लखीमपुर तहसील का दक्षिण-पूर्वांत क्षेत्र नीचा तथा उपजाऊ मटियार भूमि का भाग है। चतुर्थ, ऊल नदी के उत्तर वाला क्षेत्र, जो नदी नालो से भरा है, अधिकाशत घनाच्छादित तथा अस्वास्थ्यकर है। केवल कहीं कहीं वनों को काटकर खेती की जाती है। गोमती, ऊल, कथना तथा चौका मुख्य नदियाँ हैं।

जिले की लगभग ४.३ प्रति शत भूमि जल से घिरी हुई है। नदियों का मार्ग परिवर्तनशील होने के कारण उनके पुराने छोड़े हुए भागो मे झीलें तथा गड्ढे बन गए हैं। जिले मे मुख्यत तीन प्रकार की मिट्टी पाई जाती है—नदीतट के भागो मे बलुई भूर, बाँगर क्षेत्र मे दोमट तथा निचले भागों मे मटियार। इनके अतिरिक्त चौका के पार क्षेत्र मे 'टापर' नामक अनुर्वर मिट्टी मिलती है।

पर्वतीय भाग समीप होने के कारण यहाँ की उपोष्णकटिबधीय जलवायु उतनी विषम नहीं हो पाती लेकिन अधिक वर्षा एव बाढ आदि के कारण अस्वास्थ्यकर है। औसत वार्षिक वर्षा ४४" के लगभग होती है।

प्रशासनिक सुविधा के लिये जिला तीन तहसीलों—लखीमपुर, मुहम्मदी तथा निघासन—१७ परगनों तथा १३ थानो मे बँटा है। इस जिले की गणना उत्तर प्रदेश के कम आबाद जिलो मे की जाती है। जिले मे कुल चार नगर तथा कस्बे हैं लखीमपुर, गोला गोकर्णनाथ, मुहम्मदी तथा खीरी। (का० ना० सिं०)

खीव उजबेक रूस के खौरेज्म प्रात मे आमू नदी के निकट खीव मरुद्यान मे स्थित नगर (स्थिति . ४१°३०' उ० अ० तथा ६०°१८' पू० दे०)। नदी के लगातार पूर्व मे खिसकने अर्थात् मार्गपरिवर्तन से नखलिस्तान मे सिंचाई की कठिनाई होने से सिंचित क्षेत्र बहुत कम हो गया। इस कारण यह नगर उन्नति नही कर सका है।

यहाँ कपास साफ करने, तेल निकालने तथा हस्तकला की वस्तुओं का उद्योग होता है। प्राचीन ऐतिहासिक भवनो में इस्लाम खोदझा की मीनार, आश्रम और भूतपूर्व खाँ लोगों का विशाल मकबरा तथा खाँ का महल, जो अब सग्रहालय है, प्रसिद्ध हैं। (रा० प्र० सिं०)

खीव एक युग मे महान् राज्य था जो विभिन्न कालो मे कोरस्मिया, ख्वारेज्म और जुर्जानिया (जुर्गेज, उरगेज) के नाम से पुकारा जाता रहा है। उन दिनों वक्षु (आमू दरिया) मध्य एशिया और यूरोप के बीच कास्पियन सागर के राह से जलमार्ग का काम देती थी। कोरस्मिया का उल्लेख हेरोदोतस के इतिहास मे पाया जाता है। उन दिनों यह ईरानी साम्राज्य का एक अग था। दारा ने वहाँ एक क्षत्रप नियुक्त कर रखा था। किंतु ६८० ई० से पूर्व का उसका विशेष इतिहास ज्ञात नहीं है। जब यह अरबो के अधिकार मे आया और खलीफा की शक्ति का ह्रास हुआ तो प्रातीय शासक स्वतत्र हो गए। इतिहास मे प्रथम ज्ञात शासक ९९५ ई० में मामून-इब्न-मुहम्मद हुआ। १०१७ ई० में महमूद गजनी ने उसपर अधिकार किया। पश्चात् वह सेल्जुक तुर्कों के हाथ आया। १०९९ ई० मे प्रातीय शासक कुतुबुद्दीन ने राज्याधिकार हस्तगत कर लिया। पश्चात् उसके वशज अलाउद्दीन मुहम्मद ने ईराक तक अपना अधिकार किया। १२१९ ई० मे जब चगेज खाँ का उत्थान आरभ हुआ उन दिनों यह मध्य एशिया का सबसे बड़ा नरेश था। १३७९ मे तैमूर ने इस भू भाग पर अधिकार किया और १५१२ ई० में वह उजबेकों के हाथ लगा।

१७वीं शती मे खीव रूसियों के सपर्क में आया। येक (उराल नदी का प्राचीन नाम) के काँठे मे रहनेवाले कज्जाक लोगों को कास्पियन सागरीय प्रदेश मे धावा मारने के प्रसग मे जब इस धनिक प्रदेश की बात ज्ञात हुई तो उन्होंने इसके मुख्य नगर उरगेज को लूटने के लिये अनेक धावे किए। १७१७ ई० मे रूस सम्राट् पीतर महान् को जब वक्षु (आमू) नदी मे लौह मिश्रित बालू की बात ज्ञात हुई तो कुछ इस कारण और कुछ तूरान के रास्ते भारत से व्यापारिक सपर्क स्थापित करने के उद्देश्य से खीव मे अपनी सेना भेजी और तीन दिन तक घनघोर युद्ध करने के बाद खीव के खान हार गए। किंतु शीघ्र ही खीववासियो ने छल करके रूसी सेना को नष्ट कर दिया।

खीव की ओर रूस का ध्यान १९वीं शती के तीसरे दशक मे पुन गया। १८३९ मे जनरल पेरोवस्की ने उसपर अधिकार करने का प्रयास किया। इस बार भी रूसियो को मुँह की खानी पड़ी और विनाश का सामना करना पड़ा। १८४७ ई० मे रूसियो ने सीर दरिया के मुहाने पर एक दुर्ग खड़ा किया। फलस्वरूप खीव के लोगो को अपना न केवल भू भाग खोना पड़ा वरन् उनके हाथ से कर देने वाले खिरगिजी भी निकल गए और रूसियो को आगे के अभियान के लिये एक आधार प्राप्त हुआ। १८६९ मे कास्पियन सागर के पूर्वी तट पर क्रास्नोवोदस्क नगर की स्थापना हुई और १८७१–७२ मे खीव जाने वाले भू भाग की रूसी तुर्किस्तान के विभिन्न

भागों से काफी जाँच पड़ताल करने के बाद १८७३ मे खीव के विरुद्ध बड़े पैमाने पर सैनिक अभियान आरंभ हुआ और १० हजार सैनिक लेकर जनरल काफमैन तीन ओर से क्रस्नोवोदस्क, ओरेनबुर्ग और ताशकंद से खीव की ओर बढ़े और बिना अधिक श्रम किए वक्षु नदी के दाहिने किनारे स्थित ३५,७०० वर्ग मील भूमि को रूस मे संमिलित कर लिया। खान को भारी कर देने पर बाध्य किया।

१९१९ मे सोवियत सरकार ने खीव के खान को निष्कासित कर खीव को अपने पूर्ण अधिकार मे ले लिया। अब रूसी तुर्किस्तान, खीव, बुखारा तथा कास्पियन तटवर्ती प्रदेशों को मिला कर दो सोवियत समाजवादी गणराज्य—उजबेकिस्तान और तुर्कमेनिस्तान बन गए हैं। अक्टूबर, १९२४ मे ये दो गणराज्य सोवियत संघ मे समिलित हो गए।

(प० ला० गु०)

खीहा एक भारतीय पक्षी जिसे संस्कृत मे प्रियवद कहते है। इसके दो स्पष्ट प्रादेशिक भेद हैं। एक तो ललमुँही खीहा (रक्तकपोल प्रियंवद) जो हिमालय मे गढ़वाल से सिक्किम तक प्राय: २ से ७ हजार फुट की ऊँचाई पर पाए जाते हैं। कभी कदा ये १० हजार फुट तक की ऊँचाई पर भी देखे जाते है। इस वर्ग का खीहा ११ इंच का होता है। इसकी चोच टेढ़ी होती है, ऊपरी पूँछ और डैने का घिरा हुआ भाग काही भूरा होता है और निचला भाग अखरोटी तथा सफेद होता है। ठुड्ढी और गले पर धूमिल भूरे रंग की धारियाँ होती हैं। यह झाड़ियों मे निवास करता है और पहाड़ियो पर ही अधिकाश जीवन व्यतीत करता है। इसकी बोली मधुर होती है। नर पक्षी की बोली दुहरी होती है। दूसरी बोली पहली बोली के तत्काल बाद ध्वनित होती है। यदि मादा उसके निकट होती है तो दूसरी ध्वनि के बाद अपनी मधुर ध्वनि से तत्काल उत्तर देती है। यह पक्षी दूसरे पक्षी की बोलियो का भी प्रत्युत्तर देते हैं। यह पक्षी नाचता भी हैं। गुबरीला, केंचुआ, कीड़े आदि इसके मुख्य भोजन है।

दूसरी जाति का खीहा मुख्यत. दक्षिण भारत के पर्वतों मे पाया जाता है। किंतु आबू की पहाड़ियो, मध्य प्रदेश और खानदेश के आसपास भी ये देखे जाते हैं। यह ललमुँही खीहा से कुछ छोटा होता है। इसका ऊपरी भाग भूरा और माथा काला होता है। आँख के ऊपर एक सफेद पट्टी सी होती है, जिसके ऊपर काली काली किनारी होती है। छाती और पेट पर एक पतली काली भूरी लकीर होती है। चोच पीली होती है। इसकी बोली सामान्यत: कर्कश होती है पर कभी कभी यह मधुर सीटी भी बजाता है। लोग सीटी बजाकर अपने निकट रखने का प्रयास करते हैं। यह अपनी लंबी तलवारनुमा चोंच से फूलो का रस चूसता है। वैसे, कीड़े मकोड़े भी इसके भोजन हैं।

सं० ग्रं०—सुरेश सिंह : भारतीय पक्षी। (प० ला० गु०)

खुजिस्तान क्षेत्रफल ४०,००० वर्ग मील। ईरान का छठा प्रात है जिसके पश्चिम में ईराक और दक्षिण मे फारस की खाड़ी स्थित है। इसका अधिकाश भाग पहाड़ी, पठारी तथा मरुस्थलीय है। केवल दक्षिणी भाग, जिसमें कारूँ तथा अन्य नदियाँ बहती हैं, उपजाऊ रह गया है लेकिन जब से कारूँ नदी पर स्थित शाहद खाँ बाँध बह गया, बहुत सी नहरे व्यर्थ हो गईं और अधिकाश उपजाऊ भाग परती रह गया। लेकिन अब भूमिसुधार योजनाओं द्वारा पुन: उन्हें कृषि के अंतर्गत ला दिया गया है।

यहाँ की जलवायु उष्ण और शुष्क है। भूमि के छोटे टुकड़ो मे मुख्यत: गेहूँ और जौ पैदा होते है, लेकिन धान, कपास, सोयाबीन, ईख, तिल, तिलहन, मक्का और दाल की खेती सभी भागो मे होती है। कुछ स्थानों पर नील, पीपर, अफीम तथा तंबाकू भी पैदा किया जाता है।

इस प्रांत की राजधानी अहवाज है जो व्यापार तथा यातायात का मुख्य केंद्र है। इस क्षेत्र का मुख्य खनिज पदार्थ तेल है, जो मस्जिद-ए-सुलेमान, नफ्त-सफीद आदि नगरों से निकालकर अबादान के तेलशोधक कारखाने को भेजा जाता है, जहाँ से इसका निर्यात होता है। खुर्रम शहर और बंदर शाहपुर यहाँ के बंदरगाह है जो सड़क तथा रेलमार्ग द्वारा अन्य क्षेत्रो मे मिले हुए हैं। यहाँ के अधिकांश निवासी खानाबदोश है।

(रा० प्र० सिं०)

खुतन (खोतन, खोतान) मध्य एशिया मे चीनी तुर्किस्तान (सिंकियाग) की मरुभूमि (तकलामकान) के दक्षिणी सिरे पर स्थित नखलिस्तान का एक नगर (स्थिति : ३७° १८' उ०, ८०° २' पूर्व)। जिस नखलिस्तान मे यह स्थित है, वह यारकद से २०० मील दक्षिण पूर्व है और अति प्राचीन काल से ही तारिम उपत्यका के दक्षिणी किनारे वाले नखलिस्तान में सबसे बड़ा है। खुतन जिले को स्थानीय लोग इल्वी कहते है तथा इस नखलिस्तान के दो अन्य नगर युरुगकाश और काराकाश तीनों एक ४० मील हरियाली लंबी पट्टी के रूप मे कुन-लुन पर्वत के उत्तरी पेटे मे है। इसकी हरियाली के साधन युरुगकाश और काराकाश नदियाँ हैं जो मिलकर खुतन नदी का रूप ले लेती हैं। खुतन नाम के संबध मे कहा जाता है कि वह कुस्तन (भूमि है स्तन जिसका) के नाम पर पड़ा है जिसे मातृभूमि से निर्वासित हो कर धरती माता के सहारे जीवनयापन करना पड़ा था।

खुतन पूर्ववर्ती हूनवश के काल मे एक सामान्य सा राज्य था। किंतु प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध मे, जिस समय चीन तारिम उपत्यका पर अधिकार करने के लिये जोर लगा रहा था, अपनी भौगोलिक स्थिति—अर्थात् सबसे बड़ा नखलिस्तान होने तथा पश्चिम जाने वाले दो मार्गों मे अधिक दक्षिणी मार्ग पर स्थित होने के कारण मध्य एशिया और भारत के बीच एक जोड़नेवाली कड़ी के रूप मे इसे विशेष महत्व प्राप्त हुआ। भारत के साथ इसका अत्यत घनिष्ठ सबध बहुत दिनो तक बना रहा। खुतन के मार्ग से ही बौद्ध धर्म चीन पहुँचा। एक समय खुतन बौद्ध धर्म की शिक्षा का बहुत बड़ा केंद्र था। वहाँ भारतीय लिपि तथा प्राकृत भाषा प्रचलित थी। वहाँ गुप्तकालीन अनेक बौद्ध विहार मिले है जिनकी भित्ति पर अजंता शैली से मिलती जुलती शैली के चित्र पाए गए है। काशगर से चीन तथा चीन से भारत आनेवाले सार्थवाह, व्यापारी खुतन होकर ही आते जाते थे। फाह्यान, सुगयुन, युवानच्वाग और मार्कोपोलो ने इसी मार्ग का अनुसरण किया था। यह सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् बुद्धसेना का निवासस्थान था।

अपनी समृद्धि और अनेक व्यापार मार्गों का केंद्र होने के कारण इस नगर को अनेक प्रकार के उत्थान पतन का सामना करना पड़ा। ७० ई० मे सेनापति पानचाउ ने इसे विजित किया। और उत्तरवर्ती हून वश के अधीन रहा। उसके बाद पुन: सातवी शती मे टाग वश का इसपर अधिकार था। आठवी शती मे पश्चिमी तुर्किस्तान से आनेवाले अरबो ने और दसवी शती मे काशगरवासियो ने इसपर अधिकार किया। १३वीं शती मे चगेज खाँ ने उसपर कब्जा किया। पश्चात् वह मध्य एशिया मे मंगोलों के अधीन हुआ। इसी काल मे मार्कोपोलो इस मार्ग से गुजरा था और उसने यहाँ की खेती, विशेष रूप से कपास की खेती तथा इसके व्यापारिक महत्व और निवासियो के वीर चरित्र की चर्चा की है।

हाल की शताब्दियो मे यह चीनी मध्य एशिया मे मुस्लिम सक्रियता का केंद्र रहा और १८६४–६५ मे चीन के विरुद्ध हुए डगन विद्रोह मे इस नगर की प्रमुख भूमिका थी। १८७८ मे काशगर और खुतन ने प्रख्यात 'कृषि सेना' को आत्मसमर्पण किया। फलस्वरूप वह पुन: चीन के अधिकार मे चला गया। आजकल सिंकियाग प्रात के अंतर्गत है।

यह क्षेत्र आज भी कृषि की दृष्टि से अपना महत्व रखता है। गेहूँ, चावल, जई, बाजरा और मक्का की यहाँ खेती होती है। कपास भी काफी मात्रा मे उपजता है। फलों मे जैतून, लुकाट, नाशपाती और सेब होते है। मेवे का भी काफी मात्रा मे निर्यात होता है। रेशम के उद्योग के आनुषंगिक साधन के रूप मे शहतूत की भी खेती की जाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ कालीन और नमदे का भी उद्योग है। नदियो से लोग सोना छानते है। बहुत दिनो तक खुतन के यशद भी बहुत प्रसिद्ध थे।

(प० ला० गु०)

खुतबा शुक्रवार की नमाज पर अथवा ईद-उल-फित्र तथा ईदुज्जुहा के बड़े त्योहारों पर एकत्रित हुई प्रार्थना सभा मे मुल्ला द्वारा दिया

खीरा बरसाती फल। इसे त्रपुसी या त्रपुस, कसद या खियार और कुकुंबर (cucumber) कहते हैं। यह ककड़ी और खरबूजे की जाति का फल है जो ककटी कुल (cucurbitaceae) के अंतर्गत क्यूक्यूमिस सेटाइवस (cucumis sativus) नामक लता से पैदा होता है। यह लता दृढ़ रोमों के कारण खरस्पर्श और नि शाख ततुओं (tendrils) से युक्त होती है। पत्तियाँ व्यास में पाँच इंच तक, पतली, दोनों पृष्ठों पर रोमश, किनारा पर कोण अथवा खंडयुक्त और आधार में हृदयाकार तथा भीतर घुसी हुई होती हैं। पुष्प एकलिंगी, पीले और व्यास में एक इंच तक के होते हैं। नरपुष्प गुच्छों में और नारी पुष्प एकाकी, नरपुष्पों के परागाशय संयुक्त, लंबाई में दोहरे हुए होते और उनके संयोजक ऊपर की ओर बढे हुए होते हैं। फल बेलनाकार, पहले दृढ़ रोमों अथवा तीक्ष्णाग्र अवयवों से ढके हुए और तैयार होने पर, इसीलिये, खुरदुरे होते हैं।

खाने में कच्चे फल का तथा चिकित्सा में इनके बीजों और बीजतैल का समान उपयोग होता है। यह शीतल, मूत्रल, और कामला, रक्तपित्त एवं उष्णताजन्य विकारों में उपयोगी माना जाता है। (ब० सिं०)

खीरी १ उत्तर प्रदेश के खीरी जिले के लखीमपुर तहसील में लखनऊ-बरेली-रेलमार्ग पर लखनऊ से ८१ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित कस्बा (स्थिति २७°५४' उ० अ० तथा ८०°४८' पू० दे०)। इसकी जनसंख्या १०,२१० (१९६१) है यह खीरी जिले के प्रशासनिक केंद्र से तीन मील दक्षिण लखीमपुर-बलरामघाट-राजमार्ग पर स्थित।

यहाँ के जुलाहे कपड़े बुनते है। यह प्राचीन कस्बा है, पहले यह समुन्नत था। मध्यकाल में इसपर मुसलमानों (सैय्यदों) का आधिपत्य हो गया। सैय्यदों के पतन के बाद यह चौधरी लोगों के अधिकार में आया था जिनके चौहान वंशज पूरे परगनों के मालिक थे।

लखीमपुर के निकट होने के कारण इस कस्बे की उन्नति अवरुद्ध सी है।

२ उत्तर प्रदेश का एक जिला है जिसका क्षेत्रफल ७,६९१ वर्ग किलोमीटर तथा जनसंख्या १४,८६,५६० (१९७१) है। इसके उत्तर में नेपाल, दक्षिण में शाहजहाँपुर और हरदोई जिले, पूर्व में बहराइच जिला तथा पश्चिम में शाहजहाँपुर एवं पीलीभीत जिले हैं। साधारणतया इसका धरातल विशाल उत्थापित मैदान (Elevatedplain) है जिसके अर्धोत्तर भाग में नदी नाले तथा वन है। नदी नालों, इनके ऊँचे कगारों तथा पुरानी बस्तियों के ढूहों के अतिरिक्त कहीं धरातलीय असमता नहीं दिखाई देती। जल का बहाव उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर है।

धरातल तथा जल के बहाव की दृष्टि से इस जिले को चार प्रमुख भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम, दक्षिण-पश्चिम का गोमती पार क्षेत्र जिसका पश्चिमी भाग अपेक्षाकृत नीचा, दलदली और घासवाले अनुर्वर स्थलों एवं ढाक के जंगलों से भरा है, मध्य में उपजाऊ दोमट क्षेत्र है लेकिन पूर्वांत में गोमती के तटीय भागों में बालू पड गया है। द्वितीय, गोमती कथना का दोआब जिसे 'परिहर' (Parihar) कहते है। इसका अधिकांश भाग अपेक्षाकृत ऊँचा तथा बलुआ है लेकिन मध्य की तलहटी उपजाऊ है। तृतीय, कथना नदी से पूर्व स्थित जनपद का मध्यवर्ती क्षेत्र, जो सर्वाधिक उपजाऊ भाग है। इसमें अधिकांशत दोमट मिट्टी पाई जाती है लेकिन नदियों के तटीय भागों में मिट्टी बलुई हो गई है। मुहम्मदी तहसील का उत्तर-पश्चिमांत तथा लखीमपुर तहसील का दक्षिण-पूर्वांत क्षेत्र नीचा तथा उपजाऊ मटियार भूमि का भाग है। चतुर्थ, ऊल नदी के उत्तर वाला क्षेत्र, जो नदी नालों से भरा है, अधिकांशत वनाच्छादित तथा अस्वास्थ्यकर है। केवल कहीं कहीं वनों को काटकर खेती की जाती है। गोमती, ऊल, कथना तथा चौका मुख्य नदियाँ है।

जिले की लगभग ४ ३ प्रति शत भूमि जल से घिरी हुई है। नदियों का मार्ग परिवर्तनशील होने के कारण उनके पुराने छोड़े हुए भागों में झीलें तथा गड्ढे बन गए हैं। जिले में मुख्यत तीन प्रकार की मिट्टी मिलती है—नदीतट के भागों में बलुई भूर, बाँगर क्षेत्र में दोमट तथा निचले भागों में मटियार। इनके अतिरिक्त चौका के पार क्षेत्र में 'टापर' नामक अनुर्वर मिट्टी मिलती है।

पर्वतीय भाग समीप होने के कारण यहाँ की उपोष्णकटिबंधीय जलवायु उतनी विषम नहीं हो पाती लेकिन अधिक वर्षा एवं बाढ़ आदि के कारण अस्वास्थ्यकर है। औसत वार्षिक वर्षा ४४" के लगभग होती है।

प्रशासनिक सुविधा के लिये जिला तीन तहसीलों—लखीमपुर, मुहम्मदी तथा निघासन—१७ परगनों तथा १३ थानों में बँटा है। इस जिले की गणना उत्तर प्रदेश के कम आबाद जिलों में की जाती है। जिले में कुल चार नगर तथा कस्बे हैं लखीमपुर, गोला गोकर्णनाथ, मुहम्मदी तथा खीरी। (का० ना० सिं०)

खीव उजबेक रूस के खोरेज्म प्रांत में आमू नदी के निकट खीव मरूद्यान में स्थित नगर (स्थिति . ४१°३०' उ० अ० तथा ६०°१८' पू० दे०)। नदी के लगातार पूर्व में खिसकने अर्थात् मार्गपरिवर्तन से नखलिस्तान में सिंचाई की कठिनाई होने से सिंचित क्षेत्र बहुत कम हो गया। इस कारण यह नगर उन्नति नहीं कर सका है।

यहाँ कपास साफ करने, तेल निकालने तथा हस्तकला की वस्तुओं का उद्योग होता है। प्राचीन ऐतिहासिक भवनों में इस्लाम खोदझा की मीनार, आश्रम और भूतपूर्व खाँ लोगों का विशाल मकबरा तथा खाँ का महल, जो अब संग्रहालय है, प्रसिद्ध है। (रा० प्र० सिं०)

खीव एक युग में महान् राज्य था जो विभिन्न कालों में कोरस्मिया, ख्वारेज्म और जुर्जानिया (जुर्गेज, उरगेंज) के नाम से पुकारा जाता रहा है। उन दिनों वक्षु (आमू दरिया) मध्य एशिया और यूरोप के बीच कास्पियन सागर के राह से जलमार्ग का काम देती थी। कोरस्मिया का उल्लेख हेरोदोतस के इतिहास में पाया जाता है। उन दिनों यह ईरानी साम्राज्य का एक अंग था। दारा ने वहाँ एक क्षत्रप नियुक्त कर रखा था। किंतु ६८० ई० से पूर्व का उसका विशेष इतिहास ज्ञात नहीं है। जब यह अरबों के अधिकार में आया और खलीफा की शक्ति का ह्रास हुआ तो प्रांतीय शासक स्वतंत्र हो गए। इतिहास में प्रथम ज्ञात शासक ९९५ ई० में मामून-इब्न-मुहम्मद हुआ। १०१७ ई० में महमूद गजनी ने उसपर अधिकार किया। पश्चात् वह सेल्जुक तुर्कों के हाथ आया। १०९९ ई० में प्रांतीय शासक कुतुबुद्दीन ने राज्याधिकार हस्तगत कर लिया। पश्चात् उसके वंशज अलाउद्दीन मुहम्मद ने ईराक तक अपना अधिकार किया। १२१९ ई० में जब चंगेज खाँ का उत्थान आरंभ हुआ उन दिनों यह मध्य एशिया का सबसे बड़ा नरेश था। १३७९ में तैमूर ने इस भू भाग पर अधिकार किया और १५१२ ई० में वह उजबेकों के हाथ लगा।

१७वीं शती में खीव रूसियों के संपर्क में आया। येक (उराल नदी का प्राचीन नाम) के काँठे में रहनेवाले कज्जाक लोगों को कास्पियन सागरीय प्रदेश में धावा मारने के प्रसंग में जब इस धनिक प्रदेश की बात ज्ञात हुई तो उन्होंने इसके मुख्य नगर उरगेंज को लूटने के लिये अनेक धावे किए। १७१७ ई० में रूस सम्राट् पीटर महान् को जब वक्षु (आमू) नदी में लौह मिश्रित बालू की बात ज्ञात हुई तो कुछ इस कारण और कुछ तूरान के रास्ते भारत से व्यापारिक संपर्क स्थापित करने के उद्देश्य से खीव में अपनी सेना भेजी और तीन दिन तक घनघोर युद्ध करने के बाद खीव के खान हार गए। किंतु शीघ्र ही खीववासियों ने छल करके रूसी सेना को नष्ट कर दिया।

खीव की ओर रूस का ध्यान १९वीं शती के तीसरे दशक में पुन गया। १८३९ में जनरल पेरोवस्की ने उसपर अधिकार करने का प्रयास किया। इस बार भी रूसियों को मुँह की खानी पडी और विनाश का सामना करना पडा। १८४७ ई० में रूसियों ने सीर दरिया के मुहाने पर एक दुर्ग खडा किया। फलस्वरूप खीव के लोगों को अपना न केवल भू भाग खोना पडा वरन् उनके हाथ से कर देने वाले खिरगिजी भी निकल गए और रूसियों को आगे के अभियान के लिये एक आधार प्राप्त हुआ। १८६९ में कास्पियन सागर के पूर्वी तट पर क्रस्नोवोदस्क नगर की स्थापना हुई और १८७१–७२ में खीव जाने वाले भू भाग की रूसी तुर्किस्तान के विभिन्न

भागों से काफी जाँच पड़ताल करने के बाद १८७३ में खीव के विरुद्ध बड़े पैमाने पर सैनिक अभियान आरंभ हुआ और १० हजार सैनिक लेकर जनरल काफमैन तीन ओर से क्रस्नोवोदस्क, ओरेनबुर्ग और ताशकंद से खीव की ओर बढ़े और बिना अधिक श्रम किए वक्षु नदी के दाहिने किनारे स्थित ३५,७०० वर्ग मील भूमि को रूस में संमिलित कर लिया। खान को भारी कर देने पर बाध्य किया।

१९१९ में सोवियत सरकार ने खीव के खान को निष्कासित कर खीव को अपने पूर्ण अधिकार में ले लिया। अब रूसी तुर्किस्तान, खीव, बुखारा तथा कास्पियन तटवर्ती प्रदेशों को मिला कर दो सोवियत समाजवादी गणराज्य—उजवेकिस्तान और तुर्कमेनिस्तान बन गए हैं। अक्टूबर, १९२४ में ये दो गणराज्य सोवियत संघ में संमिलित हो गए।

(प० ला० गु०)

खीहा एक भारतीय पक्षी जिसे संस्कृत में प्रियवद कहते है। इसके दो स्पष्ट प्रादेशिक भेद हैं। एक तो ललमुँही खीहा (रक्तकपोल प्रियंवद) जो हिमालय में गढ़वाल से सिक्किम तक प्रायः २ से ७ हजार फुट की ऊँचाई पर पाए जाते हैं। कभी कदा ये १० हजार फुट तक की ऊँचाई पर भी देखे जाते हैं। इस वर्ग का खीहा ११ इंच का होता है। इसकी चोंच टेढ़ी होती है, ऊपरी पूंछ और डैने का घिरा हुआ भाग काही भूरा होता है और निचला भाग अखरोटी तथा सफेद होता है। ठुड्ढी और गले पर धूमिल भूरे रंग की धारियाँ होती हैं। यह झाड़ियों में निवास करता है और पहाड़ियों पर ही अधिकाश जीवन व्यतीत करता है। इसकी बोली मधुर होती है। नर पक्षी की बोली दुहरी होती है। दूसरी बोली पहली बोली के तत्काल बाद ध्वनित होती है। यदि मादा उसके निकट होती है तो दूसरी ध्वनि के बाद अपनी मधुर ध्वनि से तत्काल उत्तर देती है। यह पक्षी दूसरे पक्षी की बोलियों का भी प्रत्युत्तर देते हैं। यह पक्षी नाचता भी है। गुबरीला, केंचुआ, कीड़े आदि इसके मुख्य भोजन हैं।

दूसरी जाति का खीहा मुख्यतः दक्षिण भारत के पर्वतों मे पाया जाता है। किंतु आबू की पहाड़ियों, मध्य प्रदेश और खानदेश के आसपास भी ये देखे जाते है। यह ललमुँही खीहा से कुछ छोटा होता है। इसका ऊपरी भाग भूरा और माथा काला होता है। आँख के ऊपर एक सफेद पट्टी सी होती है, जिसके ऊपर काली काली किनारी होती है। छाती और पेट पर एक पतली काली भूरी लकीर होती है। चोंच पीली होती है। इसकी बोली सामान्यतः कर्कश होती है पर कभी कभी यह मधुर सीटी भी बजाता है। लोग सीटी बजाकर अपने निकट रखने का प्रयास करते हैं। यह अपनी लंबी तलवारनुमा चोंच से फूलों का रस चूसता है। वैसे, कीड़े मकोड़े भी इसके भोजन हैं।

सं० ग्रं०—सुरेश सिंह : भारतीय पक्षी। (प० ला० गु०)

खुजिस्तान क्षेत्रफल ४०,००० वर्ग मील। ईरान का छठा प्रांत है जिसके पश्चिम में ईराक और दक्षिण में फारस की खाड़ी स्थित है। इसका अधिकाश भाग पहाड़ी, पठारी तथा मरुस्थलीय है। केवल दक्षिणी भाग, जिसमें कारूँ तथा अन्य नदियाँ बहती हैं, उपजाऊ रह गया है लेकिन जब से कारूँ नदी पर स्थित शाहद खाँ बाँध बह गया, बहुत सी नहरें व्यर्थ हो गई और अधिकांश उपजाऊ भाग परती रह गया। लेकिन अब भूमिसुधार योजनाओं द्वारा पुनः उन्हें कृषि के अंतर्गत ला दिया गया है।

यहाँ की जलवायु उष्ण और शुष्क है। भूमि के छोटे टुकड़ों मे मुख्यतः गेहूँ और जौ पैदा होते हैं, लेकिन धान, कपास, सोयाबीन, ईख, तिल, तिलहन, मक्का और दाल की खेती सभी भागों मे होती है। कुछ स्थानों पर नील, पीपर, अफीम तथा तंबाकू भी पैदा किया जाता है।

इस प्रांत की राजधानी अहवाज है जो व्यापार तथा यातायात का मुख्य केंद्र है। इस क्षेत्र का मुख्य खनिज पदार्थ तेल है, जो मस्जिद-ए-सुलेमान, नफ्त-सफीद आदि नगरों से निकालकर अबादान के तेलशोधक कारखाने को भेजा जाता है, जहाँ से इसका निर्यात होता है। खुर्रम शहर और बंदर शाहपुर यहाँ के बंदरगाह है जो सड़क तथा रेलमार्ग द्वारा अन्य क्षेत्रों से मिले हुए हैं। यहाँ के अधिकाश निवासी खानाबदोश हैं।

(रा० प्र० सि०)

खुतन (खोतन, खोतान) मध्य एशिया मे चीनी तुर्किस्तान (सिंकियांग) की मरुभूमि (तकलामकान) के दक्षिणी सिर पर स्थित नखलिस्तान का एक नगर (स्थिति : ३७° १८' उ०, ८०° २' पूर्व)। जिस नखलिस्तान मे यह स्थित है, वह यारकंद से २०० मील दक्षिण पूर्व है और अति प्राचीन काल से ही तारिम उपत्यका के दक्षिणी किनारे वाले नखलिस्तान मे सबसे बड़ा है। खुतन जिले को स्थानीय लोग इल्ची कहते है तथा इस नखलिस्तान के दो अन्य नगर युरुंगकाश और काराकाश तीनों एक ४० मील हरियाली लंबी पट्टी के रूप में कुन-लुन पर्वत के उत्तरी पेटे मे हैं। इसकी हरियाली के साधन युरुंगकाश और काराकाश नदियाँ हैं जो मिलकर खुतन नदी का रूप ले लेती हैं। खुतन नाम के संबंध मे कहा जाता है कि वह कुस्तन (भूमि है स्तन जिसका) के नाम पर पड़ा है जिसे मातृभूमि से निवासित हो कर धरती माता के सहारे जीवनयापन करना पड़ा था।

खुतन पूर्ववर्ती हनवंश के काल मे एक सामान्य सा राज्य था। किंतु प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध मे, जिस समय चीन तारिम उपत्यका पर अधिकार करने के लिये जोर लगा रहा था, अपनी भौगोलिक स्थिति—अर्थात् सबसे बड़ा नखलिस्तान होने तथा पश्चिम जाने वाले दो मार्गों मे अधिक दक्षिणी मार्ग पर स्थित होने के कारण मध्य एशिया और भारत के बीच एक जोड़नेवाली कड़ी के रूप मे इसे विशेष महत्व प्राप्त हुआ। भारत के साथ इसका अत्यंत घनिष्ठ संबंध बहुत दिनों तक बना रहा। खुतन के मार्ग से ही बौद्ध धर्म चीन पहुँचा। एक समय खुतन बौद्ध धर्म की शिक्षा का बहुत बड़ा केंद्र था। वहाँ भारतीय लिपि तथा प्राकृत भाषा प्रचलित थी। वहाँ गुप्तकालीन अनेक बौद्ध विहार मिले हैं जिनकी भित्ति पर अजंता शैली से मिलती जुलती शैली के चित्र पाए गए हैं। काशगर से चीन तथा चीन से भारत आनेवाले सार्थवाह, व्यापारी खुतन होकर ही आते जाते थे। फाह्यान, सुंगयुन, युवानच्वांग और मार्कोपोलो ने इसी मार्ग का अनुसरण किया था। यह सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् बुद्धसेना का निवासस्थान था।

अपनी समृद्धि और अनेक व्यापार मार्गों का केंद्र होने के कारण इस नगर को अनेक प्रकार के उत्थान पतन का सामना करना पड़ा। ७० ई० मे सेनापति पानचाउ ने इसे विजित किया। और उत्तरवर्ती हन वंश के अधीन रहा। उसके बाद पुनः सातवीं शती मे टांग वंश का इसपर अधिकार था। आठवीं शती में पश्चिमी तुर्किस्तान से आनेवाले अरबों ने और दसवीं शती मे काशगरवासियों ने इसपर अधिकार किया। १३वीं शती मे चंगेज खाँ ने उसपर कब्जा किया। पश्चात् यह मध्य एशिया मे मंगोलों के अधीन हुआ। इसी काल मे मार्कोपोलो इस मार्ग से गुजरा था और उसने यहाँ की खेती, विशेष रूप से कपास की खेती तथा इसके व्यापारिक महत्व और निवासियों के वीर चरित्र की चर्चा की है।

हाल की शताब्दियों मे यह चीनी मध्य एशिया में मुस्लिम सक्रियता का केंद्र रहा और १८६४-६५ मे चीन के विरुद्ध हुए डंगन विद्रोह मे इस नगर की प्रमुख भूमिका थी। १८७८ मे काशगर और खुतन ने प्रख्यात 'कृषि सेना' को आत्मसमर्पण किया। फलस्वरूप वह पुनः चीन के अधिकार में चला गया। आजकल सिंकियांग प्रांत के अंतर्गत है।

यह क्षेत्र आज भी कृषि की दृष्टि से अपना महत्व रखता है। गेहूँ, चावल, जई, बाजरा और मक्का की यहाँ खेती होती है। कपास भी काफी मात्रा में उपजता है। फलों में जैतून, लूकाट, नागपाती और सेव होते हैं। मेवे का भी काफी मात्रा में निर्यात होता है। रेशम के उद्योग के आनुषंगिक साधन के रूप में शहतूत की भी खेती की जाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ कालीन और नमदे का भी उद्योग है। नदियों से लोग सोना छानते है। बहुत दिनों तक खुतन के यशद भी बहुत प्रसिद्ध थे।

(प० ला० गु०)

खुतबा शुक्रवार की नमाज पर अथवा ईद-उल-फित्र तथा ईदुज्जुहा के बड़े त्योहारों पर एकत्रित हुई प्रार्थना सभा में मुल्ला द्वारा दिया

जाने वाला भाषण। किंतु कुरान में इसका इस अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता। इस्लाम के पैगंबर खुतबा दिया करते थे किंतु आजकल की भांति उनके खुतबे विस्तृत नहीं हुआ करते थे। वे अपने भाषणों में सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला करते थे। पैगंबर के जीवन पर लिखित इब्न इसहाक की पुस्तक में पैगंबर द्वारा दिए गए कुछ खुतबों का मूल रूप दिया हुआ है। उनके अंतिम भाषण को खुत्बत-अल-विदा कहते हैं जो बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें उन्होंने उन सारे सिद्धांतों की चर्चा की है जिनपर इस्लाम का सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन आधारित होना था। पैगंबर विस्तृत खुतबा देने के पक्ष में नहीं थे और इस विषय में अपने अनुयायियों को अपनी नमाज (सलात) विस्तीर्ण तथा खुतबा संक्षेप में करने के लिये उत्साहित किया करते थे।

आजकल खुतबा अरबी भाषा में देने का प्रचलन है तथा उसके विषय भी निर्धारित हैं। ईश्वर की स्तुति तथा पैगंबर के आशीर्वचन के अतिरिक्त उसमें मुस्लिम समाज के लिये प्रार्थना, कुरान की एक आयत तथा धर्मनिष्ठ बनने के लिये चेतावनी का होना आवश्यक है। तुर्किस्तान में सुधारों के बाद खुतबे तुर्की भाषा में ही दिए जाने लगे। भारतवर्ष में दिल्ली के प्रसिद्ध चिश्ती संत शाह फखरुद्दीन (१७८४ ई०) ने खुतबा 'हिंदवी' भाषा में दिए जाने के पक्ष में राय दी, परंतु उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

मध्ययुगीन खुतबों में मुस्लिम राजा का नाम भी संमिलित कर लेने की प्रथा हो गई थी। किसी शासक का नाम खुतबा में दिया जाना तथा प्रचलित सिक्कों पर उसका नाम आ जाना प्रभुत्व का परिचायक माना जाता था। इस कारण भारत के मुस्लिम सुलतान और मुगल सम्राट् किसी स्थान या प्रदेश पर अधिकार करने के पश्चात् वहाँ से अपने सिक्के चलाते और अपने नाम का खुतबा पढ़वाते थे।

सं० ग्रं०—डिक्शनरी ऑव इस्लाम, मुल्ला निजाम, फतावा-ए-आलमगिरी। (खा० अ० नि०)

खुदकाश्त वह भूमि जिसपर उसका स्वामी स्वयं खेती करता हो।

उत्तर प्रदेश टेनेंसी ऐक्ट, १९३९ की धारा ३ की उपधारा ९ के अनुसार खुदकाश्त सीर को छोड़कर वह भूमि है जिसपर भू-स्वामी (लैंडलार्ड), उप-भूस्वामी (अंडरप्रोप्राइटर) अथवा वह व्यक्ति जिसको भूमि स्थायी रूप से पट्टे पर दे दी गई हो (पर्मानेंट टेन्योरहोल्डर) खेती करता हो। खेती वह स्वयं कर सकता है अथवा अपने नौकरों या किराए पर मजदूरों से करा सकता है। यदि भूस्वामी अपने ही काश्तकार (टेनेंट) की भूमि को उपकाश्तकार (सबटेनेंट) के रूप में जोतता बोता हो तो ऐसी भूमि खुदकाश्त नहीं हो सकती। खुदकाश्त की परिभाषा के अर्थों में भूस्वामी किसी काश्तकार की भूमि पर बलपूर्वक अधिकार करके और जोत बोकर कानूनी अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। जमींदारी उन्मूलन एवं भूमिसुधार अधिनियम के द्वारा 'खुदकाश्त' से संबंधित अनेक परिवर्तन किए गए हैं पर परिभाषा में कोई भी अंतर नहीं किया गया है। (जि० कु० मि०)

खुदा ईश्वर के लिये फारसी शब्द। इसी का अरबी पर्याय अल्लाह है। ईश्वर की अभिव्यक्ति के लिये इस्लाम के अनुयायी खुदा और अल्लाह दोनों शब्दों का प्रयोग करते हैं। खुदा अथवा अल्लाह (ईश्वर) की व्याख्या इस्लाम के पंडित जीवन (हया), ज्ञान (इल्म), शक्ति (कुद्र), इच्छा (इराद), श्रवण (समअ), दृष्टि (बसर) और वाक् (कलाम) इन सात बातों के आधार पर इस प्रकार करते हैं

जीवन (हया)—ईश्वर का न तो कोई सहयोगी है और न उसके समान है। ईश्वर के सिवा यदि और कोई देवता पृथ्वी या स्वर्ग में रहे भी हों तो वे नष्ट हो गए। वह निर्विकल्प, अदृश्य, अरूप और अनंत है। वह किसी भौतिक तत्व से नहीं बना है।

ज्ञान (इल्म)—ईश्वर भूत, वर्तमान और भविष्य दृश्य-अदृश्य सबका ज्ञाता है चाहे वह पृथ्वी से संबंधित हो या स्वर्ग से। मनुष्य के मन में क्या है इसे वह जानता है। मनुष्य क्या कहेगा, यह भी उसे कहने के पहले ही मालूम है। वह विस्मृति, उपेक्षा और भूल से परे है। उसका ज्ञान शाश्वत है।

शक्ति (कुद्र)—ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। वह मुर्दे को जिला सकता है, पत्थर में प्राण फूंक सकता है, वृक्ष को सचल कर सकता है। स्वर्ग और पृथ्वी को विनष्ट और उनकी पुनर्सृष्टि कर सकता है। उसकी सर्वशक्तिमत्ता पहले भी रही है और आगे भी रहेगी।

इच्छा (इराद)—ईश्वर जो चाहे वह कर सकता है। उसकी इच्छा में अच्छा बुरा सभी कुछ निहित है। आस्तिकों की आस्तिकता और नास्तिकों की नास्तिकता दोनों ही उसकी इच्छा है। उसमें इच्छा शाश्वत है।

श्रवण (समअ)—ईश्वर श्रवणरहित होते हुए भी सब सुनता है क्योंकि उसके अवयव मनुष्य सरीखे नहीं हैं।

दृष्टि (बसर)—ईश्वर सभी वस्तुओं को देखता है चाहे वह कितनी ही सूक्ष्म क्यों न हो। उसके मनुष्य के सदृश आँखें नहीं हैं।

वाक् (कलाम)—ईश्वर बोलता है किंतु मनुष्य की तरह जिह्वा से नहीं। ईश्वर का वाक्य एक है, किंतु उसके रूप विभिन्न हैं यथा—आदेश, निषेध, आश्वासन और धमकी। अपने कुछ सेवकों से सीधे बात करता है जैसा कि उसने पर्वत पर मूसा से और मुहम्मद से ज्ञान की रात्रि में किया था। अन्य लोगों से वह जिब्रील के माध्यम से बात करता है। इस प्रकार वह पैगंबरों से बातें करता है। कुरान अल्लाह का कलाम है अतः शाश्वत है।

ईश्वर के इन गुणों की संख्या के प्रति तो इस्लाम में कोई मतभेद नहीं है किंतु उसके स्वभाव और ज्ञान को मनुष्य किस सीमा तक जान सकता है इस संबंध में मतभेद है।

परंपरावादी लोगों का कहना है कि जिस प्रकार सूर्य की रोशनी की ओर देखने पर आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है और कुछ दिखाई नहीं पड़ता उसी प्रकार ईश्वर के गुणों के ऊहापोह में मनुष्य चकाचौंध हो जाता है। ईश्वर के गुणों की व्याख्या नहीं की जा सकती। अतः मनुष्य उन्हें समझ नहीं सकता। मनुष्य को अपनी धारणाओं पर विश्वास नहीं करना चाहिए, इसीलिये मुहम्मद ने जो कहा है उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। ईश्वर के गुणों के संबंध में किसी प्रकार का कोई तर्क नहीं करना चाहिए।

इस संबंध में तार्किकों के तीन संप्रदाय हैं : (१) सिफाती—इन लोगों का कहना है कि ईश्वर के गुण शाश्वत हैं और वे बिना विभेद अथवा परिवर्तन के उनमें अंतर्भूत हैं। और सारे गुण एक दूसरे से गुँथे हुए हैं। यथा जीवन का संबंध ज्ञान से है, ज्ञान का संबंध शक्ति से है। (२) मुतजिली—ये लोग सिफातियों की इस बात को स्वीकार नहीं करते। उनका शाश्वत गुणों में विश्वास नहीं है। उनका कहना है कि इसको स्वीकार करने का अर्थ शाश्वत के अस्तित्व में विविधता स्वीकार करना है। वे सुनने, देखने और बोलने को स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं, ये तो शरीरधारियों के गुण हैं। इन्हें ईश्वर की शक्ति की अभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के लिये उसका हाथ मात्र कहा जा सकता है। तीसरा संप्रदाय अशारी लोगों का है। वे गुणों को शाश्वत तो मानते हैं पर उन्हें ईश्वर से सर्वथा भिन्न समझते हैं। इस प्रकार वे मुतजिली लोगों के विरोधी हैं। उनका कहना है कि ईश्वर के गुण तो हैं पर वे उसके तत्व नहीं हैं, उनसे भिन्न हैं। उनकी भिन्नता ऐसी है कि ईश्वर और उसकी सृष्टि के बीच किसी प्रकार की तुलना हो ही नहीं सकती।

ईश्वर से साक्षात्कार के प्रश्न पर भी इस्लाम के अनुयायियों में काफी मतभेद है। परंपरावादी इसे संभव मानते हैं किंतु मुतजिली ईश्वर को मानव चक्षुओं से देख पाना संभव नहीं समझते। (प० ला० गु०)

खुद्दक निकाय बौद्ध धर्म के सुत्तपिटक के पाँच निकायों में से एक। इसमें धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, थेर-थेरी गाथा, जातक आदि सोलह ग्रंथ संगृहीत हैं। इनमें से कुछ में बुद्ध के प्रामाणिक वचनों का संग्रह है। (प० ला० गु०)

खुफिया पुलिस (दे० गुप्तचर)।

खुफू प्राचीन मिस्र का एक फराऊन जो वहाँ के चतुर्थ राजवंश

का प्रारंभयिता माना जाता है। प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकार हेरोदोतस् ने भ्रमवश उसे ऐतिहासिक विवरण में २०वें राजवश के संदर्भ मे रखा है, जो आधुनिक खोजों की दृष्टि से गलत है। प्रसिद्ध मिस्री पुराविद् पेत्री के अनुसार खुफू लगभग ३९६९ ई० पू० मे उत्पन्न होकर लगभग ३९०८ ई० पू० में मरा और उसने ५० वर्ष राज किया। अन्य विद्वानों का मत इससे भिन्न है जो २९०० ई० पू० के लगभग उसका २३ वर्ष राज करना संभव मानते है। आबीदोस के मंदिर आदि में मिली कुछ प्राचीन सामग्रियों के आधार पर खुफू की ऐतिहासिकता में संदेह नहीं है। प्राचीन मिस्री परंपराओं के आधार पर कुछ विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि खुफू ने प्राचीन मंदिरों को बंद कर दिया था, उनकी देवोत्तर संपत्ति छीन ली थी और प्राचीन देवताओं का पूजन समाप्त कर दिया था। उसकी विशेष प्रसिद्धि गीजा के महान् पिरामिड के निर्माण पर संस्थित है। कहते हैं, उसे बनवाते समय उसने हर तीसरे महीने एक एक लाख मिस्री मजदूरों का उपयोग किया था। खुफू संभवतः मध्य मिस्र में बनीहसन के निकट किसी नगर में जन्मा था जिसे, उसके जन्म के कारण ही, 'खुफू की धाय' कहा जाने लगा था। (भ० श० उ०)

खुरई १. मध्य प्रदेश के सागर जिले की उत्तर-पश्चिमी तहसील (स्थिति : २३°५१' से २४°७३' उ० अ० तथा ७८°४' से ७८°४३' पू० दे० के बीच)। यह ९४० वर्ग मील में फैला हुआ है। इसमें १२४ वर्ग मील सुरक्षित वन हैं। शेष भूमि के ४५ प्रति शत भाग पर खेती की जाती है। इस तहसील की भूमि ऊँची नीची है। उत्तर में पहाड़ है तथा बेतवा और बीना नदियों के किनारे जंगल है।

२. खुरई तहसील का प्रधान केंद्र (स्थिति : २४°३' उ० अ० तथा ७८°२०' पू० दे०)। यह सागर शहर से ३३ मील दूर बीना रेलवे स्टेशन पर पड़ता है। पुराने किले का उपयोग तहसील के भवन के रूप में होता है। यहाँ पर अनेक जैन मंदिर है। यहाँ सप्ताह में एक बार पशुओं का मेला भी लगता है। यहाँ का प्रबंध नगरपालिका द्वारा होता है। (रा० लो० सिं०)

खुरजा उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में बुलंदशहर जिले में दिल्ली से ४५ मील दक्षिण-पूर्व स्थित प्रसिद्ध नगर। यहाँ से सड़कें चारों ओर जाती है। गेहूँ, तेलहन, जौ, ज्वार, कपास और गन्ना का व्यापार होता है। यह नगर घी के लिये प्रसिद्ध है। खुरजा में एक विशाल जैन मंदिर है। यहाँ मिट्टी के कलात्मक बर्तन बनते हैं। (कृ० मो० गु०)

खुराना, हरगोविंद भारतीय वैज्ञानिक। इनका जन्म १९२२ ई० में अविभाजित भारतवर्ष के रायपुर (जिला मुल्तान, पंजाब) नामक कस्बे में हुआ। पटवारी पिता के चार पुत्रों मे ये सबसे छोटे थे। प्रतिभावान् विद्यार्थी होने के कारण स्कूल तथा कालेज में इन्हें छात्रवृत्तियाँ मिली। पंजाब विश्वविद्यालय से सन् १९४३ में बी० एस-सी० (आनर्स) तथा १९४५ में एम० एस-सी० (आनर्स) परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए और भारत सरकार से छात्रवृत्ति पाकर इंग्लैंड गए। यहाँ लिवरपूल विश्वविद्यालय में प्रोफेसर ए० रॉबर्टसन् के अधीन अनुसंधान कर इन्होंने डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। इन्हें फिर भारत सरकार से दूसरी शोधवृत्ति मिली और ये जूरिख (स्विट्‌जरलैंड) के फेडरल इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलोजी मे प्रोफेसर वी० प्रेलॉग के साथ अन्वेषण मे प्रवृत्त हुए।

डा० खुराना

भारत वापस आने पर जब डाक्टर खुराना को अपने योग्य कोई काम न मिला तो वे इंग्लैंड वापस चले गए, जहाँ कैंब्रिज विश्वविद्यालय में फेलोशिप तथा लार्ड टाड के साथ कार्य करने का अवसर मिला। सन् १९५२ मे आप वैंकुवर (कैनाडा) की ब्रिटिश कोलंबिया अनुसंधान परिषद् के जैवरसायन विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। १९५८ ई० में वे न्यूयार्क के राकफेलर इंस्टिट्यूट मे वीक्षक (visiting) प्रोफेसर नियुक्त हुए। सन् १९५९ मे ये कैनाडा के केमिकल इंस्टिट्यूट के सदस्य निर्वाचित हुए। सन् १९६० में उन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका के विस्कांसिन विश्वविद्यालय के इंस्टिट्यूट ऑव एंजाइम रिसर्च में प्रोफेसर का पद पाया और अब इसी संस्था के निदेशक हैं। १९६७ ई० में जैवरसायन की अंतरराष्ट्रीय परिषद् का उद्घाटन भाषण उन्होंने किया। १९६८ में डा० निरेनबर्ग के साथ उनको पचीस हजार डालर का लूशिया गौटज हॉर्विट्ज पुरस्कार भी मिला है। उन्होंने अब अमरीकी नागरिकता प्राप्त कर ली है।

डाक्टर खुराना जीवकोशिकाओं के नाभिकों की रासायनिक संरचना के अध्ययन मे लगे रहे। नाभिकों के नाभिकीय अम्लों के संबंध मे खोज दीर्घकाल से होती रही है, पर डाक्टर खुराना की विशेष पद्धतियों मे उसे खोज पाना संभव हुआ। इनके अध्ययन का विषय न्यूक्लिओटिड नामक उपसमुच्चयों की अत्यंत जटिल मूल, रासायनिक संरचनाएँ है। वे इन समुच्चयों का योग कर महत्व के दो वर्गो के न्यूक्लिओटिड इन्जाइम नामक यौगिकों को बनाने मे सफल हो गए है।

नाभिकीय अम्ल सहस्रों एकल न्यूक्लिओटिडो से बनते हैं। जैव कोशिकाओं के आनुवंशिकीय गुण इन्हीं जटिल बहु न्यूक्लिओटिडों की संरचना पर निर्भर रहते है। डॉ० खुराना ग्यारह न्यूक्लिओटिडों का योग करने में पहले सफल हुए थे; अब उन्होंने ज्ञात शृंखलाबद्ध न्यूक्लिओटिडोंवाले न्यूक्लीक अम्ल का प्रयोगशाला में संश्लेषण करने में सफलता प्राप्त की है। इस सफलता से गेमिनो अम्लों की संरचना तथा आनुवंशिकीय गुणों का संबंध समझना संभव हो गया है और वैज्ञानिक अब अनुवंशिकीय रोगों का कारण और उनको दूर करने का उपाय ढूंढने में सफल हो सकेंगे। (विशेष विवरण के लिये देखिए 'कृत्रिम जीन')

इस महत्वपूर्ण खोज के लिये उन्हें अन्य दो अमरीकी वैज्ञानिकों के साथ सन् १९६८ का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ है। इसके पूर्व १९५९ ई० में कैनाडा के केमिकल इंस्टिट्यूट से एक पुरस्कार मिला था। (भ० दा० व०)

खुरासान मूलतः ईरान के पूर्व आमू दरिया के दक्षिण और हिंदूकुश के उत्तर स्थित विस्तृत भू भाग का नाम खुरासान था। अरब भौगोलिकों के कथनानुसार इसके पूर्व में सीस्तान और भारत, पश्चिम में घूज्ज (जुर्जन) का रेगिस्तान, उत्तर में वक्षुप्रदेश और दक्षिण एवं दक्षिण-पश्चिम में ईरान का रेगिस्तान था। किंतु अब इस नाम का प्रयोग अत्यंत सीमित अर्थ में होता है। यह ईरान के उस उत्तर-पूर्वी प्रांत का नाम है जो उत्तर में रूसी कास्पियन प्रदेश से लगा है। अत्रक नदी घाट तक इसकी सीमा बनाती है। इसके पूर्व में अफगानिस्तान, पश्चिम में अस्त्राबाद, शाहरुद, सेमनान दमधान और यज्द के ईरानी प्रांत और दक्षिण मे केरमान है। इस प्रकार इसका क्षेत्रफल १२५,००० वर्गमील है : विस्तार में यह उत्तर दक्षिण ५०० मील और पूर्व पश्चिम ३०० मील है।

इस प्रांत का अधिकांश धरातलीय भाग पहाड़ी, मरुस्थलीय या नमकीन झील का निचला गर्त (Depression) है। दक्षिण में पहाड़ी भाग की ऊँचाई ११,०००' से लेकर १३,०००' तक है।

इस प्रदेश मे कुओं तथा बीच बीच में लुप्त हो जानेवाली नदियों द्वारा सिंचित बहुत से नखलिस्तान पाए जाते हैं। आतरेक और कशाफ की उपजाऊ घाटियों में खाद्यान्न, कपास, तंबाकू, चुकंदर तथा फलों की खेती होती है। यह प्रांत केशर, पिस्ता, गोंद, काष्ठफल (Nut), कंबल, शाल और नीलमणि के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ पर लोहा, सीसा, नमक, सोना, ताँबा और स्फटिक भी पाया जाता है।

मेशेद इस प्रांत की राजधानी है जो सड़क द्वारा अन्य प्रमुख नगरों से मिली हुई है। मूल्य की दृष्टि से निर्यात की वस्तुएँ क्रमशः कालीन, चमड़ा

तथा खाद्य, अफीम, इमारती लकड़ी, कपास की चीजें, सिल्क और नीलमणि है। (रा० प्र० सिं०; प० ला० गु०)

खुरीय (Ungulata) नालोत्पन्न स्तनपोषियों का एक बड़ा वर्ग है, जिसके अंतर्गत खुरवाले शाकाहारी चौपाए आते हैं। अरस्तू ने अपने 'पशुओं के अवयव' नामक ग्रंथ मे जरायुज चौपायों के अवयवों के छोरों का वर्णन करते हुए कहा है कि 'कुछ पशुओं के नख के स्थान पर द्विखंडित खुर होते है, जैसे भेड़, बकरी, हाथी, दरियाई घोड़ा, इत्यादि के और कुछ पशु अखंडित खुर वाले होते हैं, जैसे घोडा और गधा।' नवयुग के पश्चात् ई० वॉटन् (E. Wotton) (१५५२) ने जरायुज चौपायों को बहुपादांगुलीय, खुरीय एवं सुमवालों में विभाजित किया। १६९३ में जॉन रे ने इन चौपायों को दो बड़े वर्गों, खुरीय (Ungulata) और नखरिण (Unguiculata) मे विभक्त किया। रे के पश्चात् कुछ लुप्त एवं कुछ बाद में पता लगे हुए वर्ग भी खुरीय के अंतर्गत समाविष्ट कर लिए गए। ऑस्वार्न के 'स्तनपोषियों का युग' नामक ग्रंथ मे खुरीयों के गणों का उल्लेख मिलता है। अधिकांश खुरीयों के पैर पतले एवं दौड़ने मे समर्थ होते हैं तथा उनका शरीर पृथ्वी से पर्याप्त ऊँचा रहता है। वे खुरों के बल चलते हैं। इनके अगले, पिछले पैरों के ऊपरी भाग धड़ से इतने सटे रहते है कि दिखलाई नहीं पड़ते।

सामान्यतया खुरीय पशु खुले भूभाग में रहने के अभ्यस्त होते है। जहाँ वे घास पात पर जीते हैं। इनके बहुत से गण विलुप्त हो चुके हैं। जीवित गणों का विवरण निम्नलिखित है :

१. विषमांगुल गण (Perissodactyla)—इस वर्ग के पशुओं में अगले और पिछले पैरों के मध्यांगुल मुख्य है जिनपर शरीर का अधिकांश भार रहता है। तीसरा अंगुल ही अवयव का केंद्रवर्ती भाग है। इनके दाँत सामान्यतया कूटदंत होते है। वर्तमान विषमांगुल तीन वंशों में विभक्त किए गए हैं।

(क) अश्व वंश (घोड़ा, गधा तथा चित्रगर्दभ)—इस वंश के पशुओं की मुख्य विशेषता यह है कि इनके प्रत्येक पैर में केवल एक ही अंगुल (अर्थात् तीसरा अंगुल) कार्यशील होता है। दूसरे और चौथे अंगुल के अवशेषमात्र ही रह गए हैं, जिन्हें 'भग्नास्थिबंध' (Splint bones) कहते है। इनके पश्चहानव्यों (molars) की रचना बड़ी जटिल होती है। वे उनके जीवनकाल में बराबर घिसते रहते है तथा उनके विघर्षण की मात्रा से पशुओं की आयु का पता लगाया जा सकता है।

(ख) लुलायवंश (जलतुरग, Tapir)—इनकी मुख्य विशेषताएँ हैं मझोला आकार एवं नाक तथा उत्तरोष्ठ के आगे बढ़ जाने से बनी हुई सूंड़ की सी आकृति। इनके अगले पैरों में चार चार तथा पिछले में तीन तीन अंगुल होते हैं। जलतुरग केवल दक्षिणी एवं मध्य अमरीका। मलाया प्रायद्वीप में पाए जाते है।
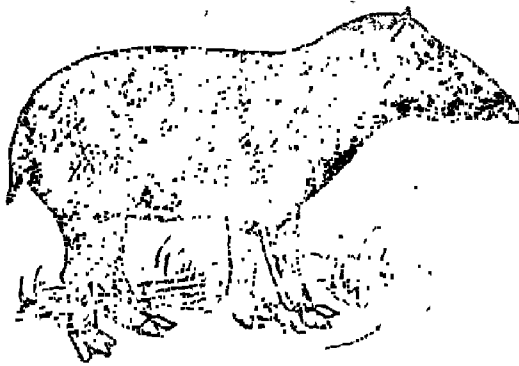
चित्र १. टेपर (Tapir)
यह पशु दक्षिणी अमरीका के ब्राजील देश तथा मलाया में पाया जाता है।

(ग) गंडक वंश (गैंडा)—इस वर्ग में कुछ विशालकाय पशुजातियाँ समाविष्ट है। इनका वैशिष्ट्य नाक के मध्य में स्थित एक या दो सींगों से सूचित होता है; किंतु वे वास्तव में सींग नहीं हैं, क्योंकि वे नासिका की ऊपरी अस्थियों से जुड़े हुए बाल जैसे रेशों के समूह हैं। इनके अगले पैरों में सामान्यतया तीन, या कभी कभी चार तक, अंगुल होते हैं, किंतु तीसरा अंगुल ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। पिछले पैरों में सर्वदा तीन ही अंगुल होते हैं। उत्तरोष्ठ लंबा होने के साथ साथ परिग्राही भी होता है, किंतु जलतुरगों के समान सूंड़ का आकार धारण नहीं करता। त्वचा बहुत मोटी होती है और उसपर बाल बहुत छिदरे होते है। गैंडे बहुत भयंकर और दुर्दम्य होते है तथा शत्रु पर बड़े क्रोध एवं अप्रतिहत वेग से आक्रमण करते है। वे भारत तथा अफ्रीका में पाए जाते है।
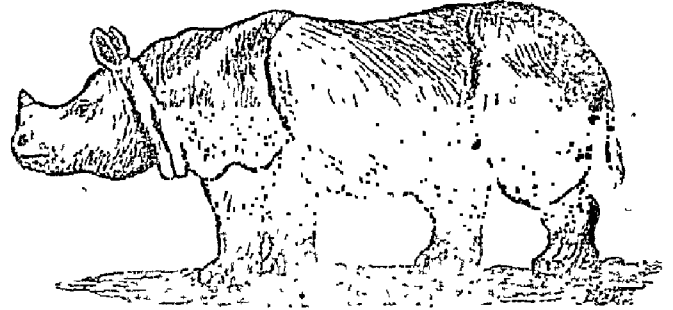
चित्र २. एक सींगवाला गैंडा

२. समांगुल गण (Artiodactyla)—इस गण में सूअर, जलहस्ती, पोक्री (Peccaries), ऊँट, मृग, मूस (Moose, उत्तरी अमरीका का हिरन), ऋष्य (Elk), महाग्रीव (जिराफ, Giraffe), शूलशृंग (Prong horn), चौपाए, भैंस और भैंसे, वृषहरिण (Gnus), हरिण, कुरंग (Gazelle), चमरी (Yak), भेंड़, रंकु (Ibex), बकरे और बकरियाँ तथा अन्य बहुत से अख्यात प्रकार के पशु आते हैं। ये साधारणतया केवल स्थलचर प्राणी हैं, यद्यपि इनमें से कुछ अर्धजलचर भी होते हैं। ये अर्धजलचर प्राणी अधिकांश शीघ्रगामी होते हैं, परंतु इतने भारी शरीर के होते हैं कि इनके पैर अधिक शीघ्रता से नहीं उठते। इनके दो या चार अंगुलों में खुर होते हैं। शुद्ध शाकाहारी होने के कारण इनके उदर में कई विभाग मिलते हैं।

वर्ग १० शूकर (सूअर) : इस वर्ग में तीन वंश उपलब्ध हैं। वे क्रमश: इस प्रकार हैं : जलहस्ती (Hippopotamus), सूअर तथा पोक्री। जलहस्ती विशाल एवं भारी शरीरवाले होते है। इनके हरेक
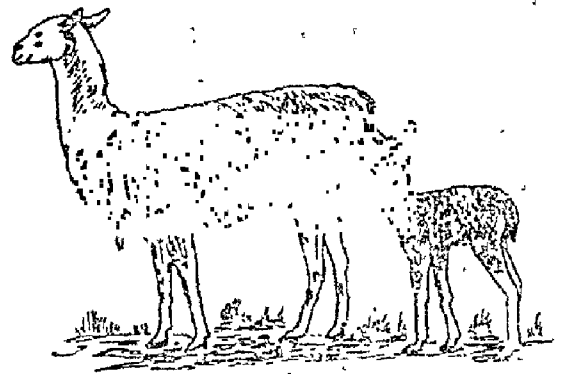
चित्र ३. लामा (Llama)
अगले पैरों की तुलना में पिछले पैर बड़े होने के कारण इसकी पीठ आगे की ओर झुकी होती है। यह रोमंथी दक्षिणी अमरीका का निवासी है।

पैर में चार चार खुर होते हैं। ये अफ्रीका में पाए जाते हैं। छोटे आकार के जलहस्ती साइबीरिया मे मिलते है। शूकर वंश में यूरोप के जंगली सूअर, कीलयुक्त चर्मवाले तथा अन्य कई प्रकार के सूअर हैं। पोत्री सूअर जैसे द्रुतगामी प्राणी है, जो सदैव बड़े बड़े समूहों में रहते है। इस कारण ये इतने भयंकर होते हैं कि उनका सामना नही किया जा सकता।

वर्ग २० रोमंथिन (Ruminantia) : ये खुरीय पशु जुगाली करनेवाले कहे जाते हैं, क्योंकि ये अपने भोज्य पदार्थ को पहले तो बिना चबाए ही निगल जाते हैं, फिर उसमें से थोड़ा थोड़ा मुँह में लाकर चबाते है। ये पशु तीन महागणों में विभाजित है। प्रथम, मुंडि महागण, यथा मातृका मृग। द्वितीय, उष्ट्र महागण, यथा ऊँट एवं विकूट (Llama)। तृतीय, प्ररोमंथि महागण, जैसे मृग, हरिण, वृषभ, महाग्रीव, अज तथा अवि।

मातृका मृग रोमंथियों में सबसे आद्य है। ऊँट रोमंथियो का एक छोटा समूह है। यह एशिया और अफ्रीका के मरुस्थल मात्र में सीमित है। इसकी दो विशेषताएँ प्रसिद्ध है—यह जल के बिना लंबे समय तक रह सकता है एवं भोजन के अभाव मे अपने कूबड़ के चर्बीयुक्त अंश से निर्वाह कर लेता है। इन्ही दोनों विशेषताओं से यह अपना जीवन मरुभूमि में सुचारु रूप से व्यतीत कर सकता है। अतएव यह एशिया तथा अफ्रीका के लंबे मरुमार्गो के लिये नितांत उपयुक्त भारवाहक सिद्ध हुआ है। इसलिये इसे 'मरुस्थल का जहाज' भी कहा गया है। विकूटो में भी ऊँटों जैसे गुण है। ये दक्षिण अमरीका के प्राणी है।

प्ररोमंथि महागण में (१) मृग वंश अति विशाल है। इसमें ऋष्य-हरिण इत्यादि पूर्ण परिचित जीव हैं। सींगो की शाखाओं का नरों में होना इनकी विशेषता है, परंतु वाहमृग (Reindeer) में यह नर और मादा दोनों में पाई जाती है। ये शृंगशाखाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। किसी मे छोटे तथा बिना शाखाओं के शृंग होते हैं, जैसे क्षुद्र
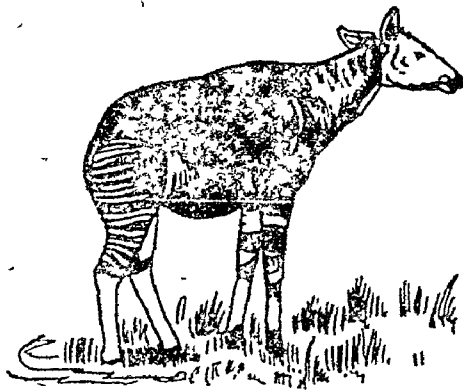
चित्र ४. ओकापी (Okapi)

यह दुर्लभ खुरीय अफ्रीका के कांगो देश मे सन् १९०० में पाया गया।

मृग में, तथा कुछ मे बहुशाखोपशाखायुक्त विशाल शृंग होते हैं, जैसे ऋष्य में। परंतु ये सभी शृंग ठोस अस्थियों से निर्मित होते हैं। अमरीका के ऋष्य मृगवंश के राजा कहे जाते है, क्योंकि ये विशालकाय होते हैं। वाह मृग उत्तर के परिध्रुवीय प्रदेशों में मिलते है। कस्तूरी मृग अपवाद-स्वरूप है। इनके सींग नही होते, किंतु हाथी के दाँत सरीखे दो लंबे, नुकीले उद्दंत होते है, जो आहार के लिये कंद मूलों को उखाड़ने में प्रयुक्त होते है।

(२) महाग्रीव वंश रोमंथियो का एक लघु परंतु विशिष्ट समूह है। अधिक ऊँचाई, लंबी गर्दन और पतले पैर इनकी विशेषताएँ हैं। इनके सींग विशेष प्रकार के होते है। ये ललाटास्थि से निकलते है तथा बालो और चमड़ी से परिपूर्ण होते हैं। यह जीव अफ्रीकावासी है। यहाँ पर इसी वंश का एक छोटे आकार का पशु प्रग्रीव (Okapi) मिलता है, जो कुछ कुछ हरिण सा प्रतीत होता है।

ढोर वंश रोमंथियों का विशाल वंश है। इसमें बैल, भैंसा, भेड़ एवं बकरी इत्यादि संमिलित है। इनके सींगों की अपनी विशेषता है। ये खोखले, बिना हड्डी के एवं शृंगि (Keratine) के निर्मित होते है तथा नर एवं मादा दोनों में ही पाए जाते है। इस वंश के अधिकांश पशु पालतू हैं।

३. प्रशश गण—इस गण मे आद्य खुरीयों की एक ही जीवित प्रजाति है जिसे प्रशश (Cony) कहते हैं। यह कृंतक जैसे प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनके बंटाखु सरीखे छोटे कान तथा छोटी पूँछ होती है और इनके कर्तनदंत स्थायी मज्जा (Pulp) से निकलते रहते हैं। अपनी कुछ विशेषताओं के कारण ये आद्य खुरीयों में संमिलित है। इनमें कुछ तो चट्टानों पर रहते हैं और कुछ अंशतः वृक्षवासी भी होते हैं। इनके अगले
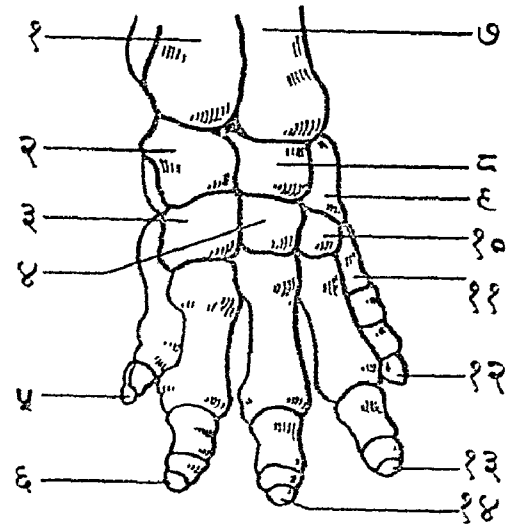
चित्र ५. भारतीय हाथी के अगले, दाहिने पैर के भाग

१. अंतः प्रकोष्ठिका (Ulna); २. स्फानकास्थि (Cuneiform); ३. अंकुशिका (Unciform); ४. महामणि (Magnum); ५. पंचम अंगुल; ६. चतुर्थ अंगुल; ७. बहिःप्रकोष्ठिका (Radius); ८. अर्धचंद्रक (Lunar); ९. नौकाकार अस्थि; १०. ट्रैपिज़ाइड (Trapezoid); ११, ट्रैपीजियम; १२. प्रथम अंगुल; १३. द्वितीय अंगुल तथा १४. तृतीय अंगुल।

पैरों में चार और पिछले पैरों मे तीन खुर होते हैं।

४. शुंडि गण (हाथी)—इस गण में विशाल आकृति के अत्यंत विशिष्ट स्थलचर स्तनपोषी है। इनकी विशेषताएँ ये हैं : नासिका एवं उत्तरोष्ठ से निकली हुई लंबी सूँड़, उत्तर हनु के दो कर्तनदंत बाहर की ओर हाथीदाँत के रूप मे निकले हुए और पश्चहानव्य नितांत कूटदंत होते हैं। इनकी करोटि की अस्थियों मे बड़े बड़े वायुकूप होते हैं और ये बहुत मोटी होती है। हाथी की दो जीवित प्रजातियाँ है, प्रथम भारतीय (Elephas indicus) तथा द्वितीय, कालद्वीपीय (E. africanus)। कालद्वीपीय हस्ती विशालतरकाय तथा बड़े कानोंवाला होता है। भारतीय हाथी भारवहन में अतिप्रयुक्त है। इसकी आयु २०० वर्ष तक की होती है।

५. समुद्र गो (Sea cow) गण (हस्ती, मकर एवं कटिमकर)—यह प्रारंभिक खुरीय संजाति की एक जलीय शाखा मानी जाती है, जो शुंडिगण से दूरतया संबद्ध है। यह बड़े, लगभग बिना बालों के, स्तनपोषी

है। इनके पश्चपाद नहीं होते तथा इनकी पूँछ चपटी पुच्छपक्ष के रूप में होती है। इनका उदर अन्य खुरीयों के समान होता है। ये सामुद्रिक वनस्पतियों पर ही निर्वाह करते हैं। (म० म० गो०)

खुर्रम भारतीय इतिहास में मुगल सम्राट् जहाँगीर के पुत्र का नाम जो बाद में शाहजहाँ के नाम से प्रख्यात हुआ। (प० ला० गु०)

खुर्रमशहर फारस की खाड़ी के मुँह से ३५ मील उत्तर-पश्चिम शत्तुल अरब और कारूँ नदियों के संगम पर बसा हुआ ईरान का प्राचीन नगर तथा प्रमुख बंदरगाह (स्थिति : ३०°२७' उ० अ० और ४८°१६' पू० दे०)। इसका पुराना नाम 'मुहम्मेरा' (मोहम्मेरा) है। ईरान में तेल की प्राप्ति से इसकी महत्ता और बढ़ गई है तथा १९४३ ई० में रूस को पट्टे पर देने के लिये संयुक्त राज्य की सेना द्वारा इसे आधुनिक सुविधाएँ प्रदान की गई। इस बंदरगाह से खजूर, चावल, गोंद, कपास और चमड़ा बाहर भेजा जाता है। यह रेलमार्ग द्वारा शाहबाज से तथा सड़क द्वारा तेहरान से मिला हुआ है। खुर्रमशहर संसार के उष्णतम नगरों में से एक है। (रा० प्र० सिं०)

खुलना १. बँगला देश के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में गंगा नदी के काँठे में स्थित जिला। इसका क्षेत्रफल ४,८०५ वर्गमील है। इसके पूर्व में मधुमती नदी तथा दक्षिण में बंगाल की खाड़ी है। इसके दक्षिणी भाग में सुंदरवन है, जहाँ से इमारती लकड़ी मिलती है। इस जंगल में बंगाल के बाघ, चीते और जंगली भैंसे आदि जानवर निवास करते हैं। नदी की मिट्टी प्रत्येक वर्ष बिछती है, जिससे यह क्षेत्र अत्यंत उपजाऊ है। यहाँ मानसूनी हवाओं से काफी वर्षा होती है। नारियल, खजूर और सुपारी के वृक्ष पाए जाते हैं। धान, तेलहन, गन्ना और तंबाकू की खेती होती है। खुलना और बैगरहट में कपड़े का उद्योग है। मछली पालने का उद्योग प्रसिद्ध है। बैगरहट में प्राचीन गौड़ राज्य के खँडहर हैं। १६वीं शताब्दी तक यहाँ स्वतंत्र मुसलमानी राज्य था, जिसकी राजधानी ईश्वरीपुर थी। १५७६ ई० में अकबर के हिंदू सेनापति ने इसको जीतकर मुगल साम्राज्य में मिला लिया। १९४७ ई० में यह पूर्वी पाकिस्तान में चला गया था।

२. खुलना जिले का मुख्य नगर जो भैरव नदी पर कलकत्ता से ७७ मील पूर्व उत्तर-पूर्व में स्थित है। ढाका से यह ८० मील दक्षिण-पश्चिम में है। सुंदरवन में पैदा होने वाले पदार्थों का यह व्यापारिक केंद्र है। कलकत्ते से यह टेढ़े मेढ़े रेलमार्ग तथा सड़क के द्वारा संबंधित है। यहाँ चावल, जूट, तेलहन, गन्ना, नारियल और सुपारी का व्यापार होता है। यहाँ तेल पेरने के कोल्हू, आटा चक्की, लकड़ी चीरने के कारखाने तथा नाव बनाने के प्रसिद्ध उद्योग हैं। राजशाही विश्वविद्यालय से संबधित यहाँ चार कालेज हैं। (कृ० मो० गु०)

खुल्दाबाद आंध्र प्रदेश के औरंगाबाद जिले का एक नगर (स्थिति : २०°१' उ० अ० तथा ७२°१२' पू० दे०)। यह २,७३२ फुट की ऊँचाई पर बसा है। यह औरंगाबाद शहर से १४ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित है। खुल्दाबाद में औरंगजेब, उसके पुत्र आजमशाह, आसफशाह (हैदराबाद का संस्थापक) नासिरजंग, निजामशाह आदि मुसलमान राजाओं की कब्रें है। पहले इस नगर का नाम रौजा (Rauza) था। परंतु औरंगजेब की मृत्यु के बाद इसका नाम खुल्दाबाद पड़ा क्योंकि औरंगजेब को 'खुल्दमकान' भी कहते थे। समीप में ही एलोरा के सुप्रसिद्ध पर्वत काटकर बनाए गए प्राचीन लयण (मंदिर) हैं जिनकी अजंता के समान ही भित्तिचित्रों एवं मूर्तियों के लिये ख्याति हैं। यह स्वास्थ्यलाभ का केंद्र भी है। (रा० लो० सिं०)

खुसरू (खुसरौ) ईरान के सासानी वंश के दो शासकों का नाम। प्रथम खुसरू को खुसरू अनुशिखान कहते हैं। यह ५३१ ई० में शासनारूढ़ हुआ और बजंतीन नरेश जस्तीनियन प्रथम पर आक्रमण किया। शीघ्र ही दोनों में संधि हो गई। किंतु ५४० ई० में खुसरू ने अंतिओख नगर को ध्वस्त कर कालासागर और काकेशस के प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया। ५६२ ई० में उसने पुन: बजंतीन पर आक्रमण किया। यह युद्ध ५७१ ई० तक चलता रहा। ५७३ ई० में उसने दारा के दुर्ग पर अधिकार किया किंतु ५७६ ई० में उसे पराजय का मुख देखना पड़ा। खुसरू एक योग्य किंतु कठोर शासक था। उसने राज्यकर व्यवस्था में सुधार किया और जरदुस्थरी की उपासना को पुनर्प्रतिष्ठित किया। इसके शासनकाल में पहलवी साहित्य ने प्रचुर उन्नति की। उसकी मृत्यु ५७९ ई० में हुई।

खुसरू (द्वितीय)—इसे खुसरू परवेज कहते हैं। यह प्रथम खुसरू का पौत्र था। यह बजंतीन नरेश मॉरिशियस की सहायता से ५९० ई० में गद्दी पर बैठा। जब ६०२ ई० में मॉरिशियस की हत्या कर दी गई तब इसने बजंतीन साम्राज्य के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया और दक्षिण-पश्चिमी एशिया के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया। ६१६ ई० में उसका मिस्र पर अधिकार हुआ। ६१७ ई० में वह कुस्तुंतुनिया के दूसरी ओर कैलिसडोन तक जा पहुँचा। ६२३ और ६२८ ई० के बीच हेराक्लियस ने धीरे धीरे उसे दजला (Tigris) नदी तक खदेड़ दिया। बाद में उसके पुत्र कवथ द्वितीय ने उसे पदच्युत कर दिया और पीछे उसको मार भी डाला। (प० ला० गु०)

खुसरू सुलतान मुगल शासन का एक प्रमुख अधिकारी। इसका पिता नजर मोहम्मद खाँ बलख बदख्शाँ का शासक था। १०५५ हिजरी में उसने अपने द्वितीय पुत्र खुसरू सुलतान को बदख्शाँ की राजधानी कंदोज का मुख्य शासक बना दिया। जब मोहम्मद खाँ के शासन में घोर अशांति मची तो उसे हटा कर खुसरू सुलतान को बदख्शाँ का शासक बनाया गया।

खुसरू सुलतान अलमानों और उजबकों के अत्याचार से तंग आ गया था। इस अवसर का लाभ उठाकर मुगल सम्राट् शाहजहाँ ने सोचा कि एक बड़ी सेना भेजकर बलख और बदख्शाँ के पैतृक प्रांत को जीत लिया जाय। फलत: उसने वहाँ अपनी सेना १०वें राजवर्ष में भेजी। जैसे ही शाही सेना बलख और बदख्शाँ की सीमाओं पर पहुँची, अलमान और उजबक भाग खड़े हुए। खुसरू सुलतान अपने पुत्र बदीअ सुलतान के साथ शाहजहाँ से मिलने आया। धूमधाम से उसका स्वागत किया गया। जब वह काबुल पहुँचा, तो शाहजहाँ उससे बड़े प्रेम से मिला। उसे ५०,००० रुपया तथा छह हजारी २,००० सवार का मनसब प्रदान किया। खानदौराँ बहादुर जहाँ रहता था, वहीं इसे सत्कारपूर्वक रहने को स्थान दिया गया। बदीअ सुलतान को भी १२,००० वार्षिक वृत्ति दी गई। यहाँ खुसरू सुलतान बड़ी शांति और बड़े सुख के साथ अपना जीवन व्यतीत करने लगा। इच्छानुसार यह कभी दिल्ली में रहता था, कभी लाहौर में। २९वें वर्ष इससे मनसब लेकर इसे एक लाख वार्षिक वृत्ति देना शाहजहाँ ने आरंभ किया। तत्पश्चात् उसके पुत्र को मनसब प्राप्त हुआ।

खुसरो, अमीर (द्र० अमीर खुसरो)।

खेंट (*Gant*) लीज और शेल्ट (*Lys and Sheldt*) नदियों के मुहाने पर, ब्रुसेल्स से ३१ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित नगर (स्थिति : ५१°४' उ० अ० और ३°४२' पू० दे०)। यह बेल्जियम के फ्लैंडर्स राज्य की राजधानी है। इसकी स्थापना ६०० ई० में इस प्रांत के प्रथम काउंट द्वारा हुई। धीरे धीरे प्रसिद्धि प्राप्त करता हुआ, यह नगर १४०० ई० में उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। इस काल से लेकर ४०० वर्ष तक खेंट का इतिहास हिंसा, विप्लव और निरंतर युद्ध का रहा है और इसी काल में स्पेन, फ्रांस और आस्ट्रिया के अधीन रहते हुए इसने अपनी आर्थिक और औद्योगिक प्रभुता खो दी; लेकिन १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में यांत्रिक बुनाई द्वारा इसने पुन: अपनी औद्योगिक ख्याति प्राप्त कर ली।

१८१२ ई० में ब्रिटेन और नेदरलैंड के बीच 'खेंट की संधि' हुई। काउंट्स का किला, गोथिज गिरजाघर, टाउनहाल तथा संत बावो का बड़ा गिरजाघर प्राचीन वास्तुकला के स्मारक हैं। यह 'लिनेन' और सूती वस्त्र के लिये संसार प्रसिद्ध है। बेल्जियम का दो तिहाई 'लिनेन' यहाँ बुना जाता है। यह फूलों के लिये भी विख्यात है। यहाँ विश्वविद्यालय, संग्रहालय,

कृषि संस्थान, रायल कंजर्वेटरी और रायल एकेडमी ऑव फाइन आर्ट्स है। (रा० प्र० मि०)

खेचरी योग साधना की एक मुद्रा। इस मुद्रा में चित्त एवं जिह्वा दोनों ही आकाश की ओर केंद्रित किए जाते हैं जिसके कारण इसका नाम खेचरी पड़ा है। इस मुद्रा की साधना के लिये पद्मासन में बैठकर दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच स्थिर करके फिर जिह्वा को उलटकर तालू से सटाते हुए पीछे रंध्र में डालने का प्रयास किया जाता है। इसके लिये जिह्वा को बढ़ाना आवश्यक होता है। जिह्वा को लोहे की शलाका से दबा कर बढ़ाने का विधान पाया जाता है। कौल मार्ग में खेचरी मुद्रा को प्रतीकात्मक रूप में गोमांस भक्षण कहते हैं। गो का अर्थ इंद्रिय अथवा जिह्वा और उसे उलटकर तालू से लगाने को भक्षण कहते हैं। (प० ला० गु०)

खेड़ (१) महाराष्ट्र के अंतर्गत रत्नागिरी जिले का परगना (स्थिति : १७° ३३' से १७° ५५' उ० अ० तथा ७३° २०' से ७३° ४२' पू० दे० के मध्य)। इसका क्षेत्रफल ३६२ वर्ग मील है। इस प्रदेश की भूमि पर्वतीय तथा कटी फटी है। बीच बीच में अनुपजाऊ भूमि आंशिक रूप में पाई जाती है। उत्तर एवं पश्चिम में भूमि में कटाव अधिक है। यहाँ धान तथा अनेक प्रकार की मटर पैदा की जाती है। जुगबुदी नदी इस प्रदेश से होकर बहती है। खेड़ इसका प्रधान नगर है। नगर के चारों तरफ पर्वतमालाएँ हैं।

२. पूना जिले में भीमा नदी के बाएँ किनारे पर स्थित एक नगर (स्थिति १८° ५१' उ० अ० तथा ७३° ५५' पू० दे०)। यहाँ अनेक प्राचीन भग्नावशेष हैं। श्री सिद्धेश्वरनाथ जी का मंदिर तथा दिलावर खाँ की मसजिद दर्शनीय है।

३. पूना जिले का एक परगना (स्थिति : १८° ३७' से १९° १३' उ० अ० तथा ७३° ३१' से ७४° १९' पू० दे० के मध्य)। इसका क्षेत्रफल ८७६ वर्ग मील है। यहाँ की भूमि लाल एवं भूरे रंग की है। जलवायु साधारणतया अच्छी है। इसके उत्तर तथा दक्षिण में पहाड़ हैं तथा यहाँ जंगलों की अधिकता है। वर्षा २६" होती है। (रा० लो० सिं०)

खेड़ा गुजरात प्रदेश का एक जिला (स्थिति : २२° १४' से २३° ७' उ० अ० तथा ७२° ३०' से ७३° २३' पू० दे०)। इसका संपूर्ण क्षेत्रफल ७,१९४ किलोमीटर है। उत्तर में धान होता है। मध्यवर्ती भाग ज्यादा उपजाऊ है। माही इस जिले की प्रधान नदी है। खेड़ा नगर जिले का प्रधान केंद्र है। इस जिले की जनसंख्या २४,५१,३८७ (१९७१) है। (रा० लो० सिं०)

खेड़ा सत्याग्रह १९१८ ई० में गुजरात जिले की पूरे साल की फसल मारी गई। किसानों की दृष्टि में फसल चौथाई भी नहीं हुई थी। स्थिति को देखते हुए लगान की माफी होनी चाहिए थी, पर सरकारी अधिकारी किसानों की इस बात को सुनने को तैयार न थे। किसानों की जब सारी प्रार्थनाएँ निष्फल हो गई तब महात्मा गांधी ने उन्हें सत्याग्रह करने की सलाह दी और लोगों से स्वयंसेवक और कार्यकर्ता बनने की अपील की। गांधी जी की अपील पर वल्लभभाई पटेल अपनी खासी चलती हुई वकालत छोड़ कर सामने आए। यह उनके सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश था। उन्होंने गाँव गाँव घूम घूम कर किसानों से प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर कराया कि वे अपने को झूठा कहलाने और स्वाभिमान को नष्ट कर जबर्दस्ती बढ़ाया हुआ कर देने की अपेक्षा अपनी भूमि को जब्त कराने के लिये तैयार हैं। निदान सरकार की ओर से कर की अदायगी के लिये किसानों के मवेशी तथा अन्य वस्तुएँ कुर्क की जाने लगीं। किसान अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे। उन्हें अधिक दृढ़ बनाने के लिये महात्मा गांधी ने किसानों से कहा कि जो खेत बेजा कुर्क कर लिये गए हैं उसकी फसल काट कर ले आएँ। गांधी जी के इस आदेश का पालन करने मोहनलाल पंड्या आगे बढ़े और वे एक खेत से प्याज की फसल उखाड़ लाए। इस कार्य में कुछ अन्य किसानों ने भी उनकी सहायता की। वे सभी पकड़े गए, मुकदमा चला और उन्हें सजा हुई। इस प्रकार किसानों का यह सत्याग्रह चल निकला।

सरकार को अपनी भूल का अनुभव हुआ पर उसे वह खुल कर स्वीकार नहीं करना चाहती थी अतः उसने बिना कोई सार्वजनिक घोषणा किए ही गरीब किसानों से लगान की वसूली बंद कर दी। सरकार ने यह कार्य बहुत देर से और बेमन से किया और यह प्रयत्न किया कि किसानों को यह अनुभव न होने पाए कि सरकार ने किसानों के सत्याग्रह से झुककर किसी प्रकार का कोई समझौता किया है। इससे किसानों को अधिक लाभ तो न हुआ पर उनकी नैतिक विजय अवश्य हुई। इस सत्याग्रह के फलस्वरूप गुजरात के जन जीवन में एक नया तेज और उत्साह उत्पन्न हुआ और आत्मविश्वास जागा। यह सत्याग्रह यद्यपि साधारण सा था तथापि भारतीय चेतना के इतिहास में इसका महत्व चंपारन के सत्याग्रह से कम नहीं है। (प० ला० गु०)

खेतड़ी राजस्थान में जयपुर जिले के अंतर्गत जयपुर नगर से ८० मील उत्तर स्थित नगर (स्थिति : २८° उ० अ० तथा ७५° ४७' पू० दे०)। यह नगर चारों तरफ से पर्वत द्वारा घिरा है तथा बहुत ही मनोरम है। यहाँ एक किला भी है। समीप में ही ताँबे की खदानें हैं जिनका मुगल काल में बड़ा महत्व था। बीच में यह खान एकदम बंद पड़ी थी। अब पुनः भारतीय ताँबा निगम की ओर से खान चालू की गई है और ताँबा प्राप्त किया जा रहा है। (रा० लो० सिं०; प० ला० गु०)

खेमकरी चील जाति का एक प्रसिद्ध पक्षी जो मुख्य रूप से भारतीय पक्षी है किंतु थाइलैंड, मलय, चीन से लेकर आस्ट्रेलिया तक पाया जाता है और पानी के आस पास रहता है। यह बंदरगाहों के आसपास काफी संख्या में पाया जाता है और जहाज के मस्तूलों पर बैठा देखा जा सकता है। यह सड़ी गली चीजें खाता और पानी के सतह पर पड़े कूड़े कर्कट को अपने पंजों में उठा लेता है। यह धान के खेतों के आसपास भी उड़ता देखा जाता है और मेढकों और टिड्डियों को पकड़ कर अपना पेट भरता है। यह १९ इंच लंबा पक्षी है जिसका रंग कत्थई, डैने के सिरे काले और सिर तथा सीने का रंग सफेद होता है। चोंच लंबी, दबी दबी और नीचे की ओर झुकी हुई होती है। इसकी बोली अत्यंत कर्कश होती है। यह अपना घोंसला पानी के निकट ही पेड़ की दोफकी डाल के बीच काफी ऊँचाई पर लगाता है। एक बार में मादा दो या तीन अंडे देती है।

सं० ग्रं०—सुरेश सिंह : भारतीय पक्षी। (प० ला० गु०)

खेल मानव संस्कृति में खेल का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दार्शनिक तो जीवन को ही खेल मानते हैं। कहते हैं, परमेश्वर ने खेल खेल में ही सारी सृष्टि रच डाली है। अन्य अनेक देशों में भी इसी प्रकार की मान्यताएँ पाई जाती हैं। दार्शनिक दृष्टि से सृष्टि को या जीवन को खेल समझना मानवीय जीवन के स्वास्थ्य के लिये बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हुआ है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य को जीवन की कठिनाइयाँ झेलनी मुश्किल हो जातीं। यही कारण है कि मानवीय जीवन में खेल आदिकाल से आज तक समान रूप से महत्वपूर्ण बना हुआ है। असभ्य तथा सभ्य, सभी जातियों में खेल का महत्व बराबर बना रहा है। प्राचीन काल में जो भी देश महान् गिने गए, उन देशों में खेल का महत्व उतना ही बढ़ा।

खेल को पूर्ण व्यवस्थित रूप सर्वप्रथम यूनानियों ने दिया। उनकी नागरिक व्यवस्था में खेल का महत्वपूर्ण स्थान था। उस युग में 'ओलिंपिक' खेलों में विजय मनुष्य की सबसे बड़ी उपलब्धि समझी जाती थी। गीतकार उनकी प्रशंसा में गीत लिखते थे और कलाकार उनके चित्र तथा मूर्ति बनाते थे। राज्य की ओर से उन्हें सम्मान मिलता था और उनका सारा व्यय राज्य सँभालता था। यूनानी खेल की विशेषता यह थी कि पुरस्कारों का कोई भौतिक मूल्य नहीं होता था। यह पुरस्कार प्रतीक मात्र, लारेल वृक्ष की पत्ती, होता था।

यूनान के पश्चात् रोम मे ऐसे ही सुव्यवस्थित खेल देवताओं की उपासना में खेले जाने लगे। इनके खेलो का भी धर्म से सबंध था। बड़े आदमी की मृत्यु या विजय के उपलक्ष में भी वहाँ खेल होने लगे थे। रोमन जनता की प्रवृत्ति देखकर निर्वाचन के उम्मीदवार प्राय. खेलो का आयोजन करते थे, जिससे जनता उनसे प्रसन्न होकर उनको निर्वाचित करे। इन खेलो को देखने के लिये जनता उमड़ पड़ती थी। यहाँ तक कि स्वयं सम्राट् इन्हें देखते थे।

प्राचीन भारत में भी शारीरिक परिश्रम की प्रतिष्ठा थी। हड़प्पा की खुदाई मे बच्चो के खेलने के बहुत से मिट्टी के खिलौने मिले हैं। ताँबे की बैलगाड़ी, मिट्टी आदि के अनत खिलौने, पासो के खेल के पट्टे इत्यादि सिंध सभ्यता के नगरों से प्राप्त हुए है। पासो की गोटें बड़े पत्थरो की बनी होती थी। जुए के खेल, पासे आदि के पट्टे प्राचीन नगरो के खडहरों से भी मिले हैं, जिससे उस खेल की लोकप्रियता प्रकट है। भारतीय इतिहास मे तो इससे अनेक राजवंश नष्ट हो गए थे। नल और पांडव इसी व्यसन से संकटग्रस्त हुए। ऋग्वेद मे जुआरी की पत्नी तक को दाँव पर लगाकर हार जाने, उसके तत्पश्चात् करुण विलाप तथा पासो की मोहक शक्ति का बड़ा विशद और मार्मिक वर्णन हुआ है। जुआ लकड़ी के पासों से खेला जाता था। ऋग्वेद मे जिस 'समन' नामक मेले का उल्लेख हुआ है, उसमे सामूहिक नृत्यादि रात मे और घुड़दौड़, रथधावन आदि खेल दिन मे हुआ करते थे। वही कुमारियो के लिये वर भी प्राप्त हो जाया करते थे। ऋषि का वाक्य है : नाऽन्य आत्मा बलहीनेन लभ्यः, अर्थात् निर्बल द्वारा आत्मा की उपलब्धि नही होती। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष केवल बलवान् को ही मिल सकता है। उस समय विनोद और व्यायाम के बहुत से खेल खेले जाते थे। घुड़दौड़ तथा रथों की दौड़ का बहुत प्रचार था।

जलविहार, जिसका वर्णन संस्कृत महाकाव्यों मे बहुधा हुआ है, प्रायः हुआ करते थे। कंस के राज्य मे कुश्ती का बड़ा प्रचार था। चाणूर, शल, और तोषल नामक मुख्य पहलवान कंस के दरबार मे थे। कृष्ण को मारने के लिये कंस ने इन्ही पहलवानो से उनकी कुश्ती कराई थी। महाभारत के समय गुल्ली डंडे का खेल भी प्रचलित था। पांडव और कौरव इस खेल के प्रति विशेष अनुरक्त थे। मदमत्त हाथी को छेड़ना और उससे बचना भी बहुत प्रचलित था। कृष्ण, बलराम, भीमसेन आदि ने हाथी से होड़ लिया था। इस खेल को 'सायामारी' कहते थे। घुड़सवार भी हाथी को छेड़कर अपने को और घोड़े को बचाते थे। इस खेल को 'दागदारी' कहते थे। यह कला आजकल भी विवाह शादी के अवसरों पर कहीं कहीं देखने को मिलती है। द्वारचार के समय घुड़सवार हाथी के मस्तक पर घोड़ा चढ़ाने का प्रयत्न करते हैं।

बौद्धकाल मे भी खेलो की कमी न थी। उस समय दौड़ना, उछलना, कूदना, फाँदना और घूसेबाजी (मुक्की) का विशेष प्रचार था। खेलकूद तथा मालिश के अलग अलग कमरे बने हुए थे और पास ही एक स्नानागार हुआ करता था। समयांतर से तक्षशिला और नालंदा के विश्वविद्यालय खुले। शिक्षा के इन केंद्रों मे बहुत से विभाग थे, जिनमे खेलकूद का विशेष स्थान था। तैराकी, कुश्ती, तीरदाजी, लँगड़ी इत्यादि क्रियाएँ छात्रों से कराई जाती थी।

चौगान का खेल भी प्राचीन भारतीय है। राम का अपने भाइयो के साथ चौगान खेलने की परंपरा प्रसिद्ध है। पोलो उसी से मिलता जुलता घुड़सवारों का खेल है, जिसका आविष्कार, जैसा उसके नाम पोलो से ध्वनित है, संभवतः तिब्बत मे हुआ। संसार के सबसे सुंदर पोलो खेलनेवाले आज भारतीय हैं। जयपुर की टीम इस दिशा मे मूर्धन्य है। ईरानियो ने तिब्बतियो से सीखकर इसका विशेष विकास किया था। अकबर के दरबारी चौगान खेलने मे प्रसिद्ध थे। उसके दरबार मे पहलवानो, नटो तथा अस्त्र शस्त्र मे निपुण लोगो का जमघट लगा रहता था। धनुष और तलवार आदि के खेल सभी देशों मे युद्ध के अतिरिक्त खेले जाते रहे हैं। पोल ड्रिल का खेल मुगलों की ही देन है। बाबर ने अपने सैनिको को बहुत से नए नए खेल सिखाए थे जिनमें मेढक कूद बहुत प्रसिद्ध है। महाराष्ट्र मे श्री समर्थ रामदास स्वामी के प्रोत्साहन द्वारा व्यायामशालाओ मे लाठी, लेजिम, कुश्ती, मलखम, बनेठी, खांखो और हौतूतू आदि खेल जाते थे। १८वी शताब्दी के अंत मे पेशवा बाजीराव ने बहुत से दंगल कराए और व्यायामशालाएँ खुलवाई। श्री दादा, जिन्होंने मलखम का आविष्कार किया, इन्ही व्यायामशालाओं मे शिक्षित हुए थे। अपने मलखम की बदौलत निजाम के दरबार के अली और गुलाम दो नामी पहलवानों को श्री दादा मिनटों में चित्त कर देते थे। दादा ने कई जगहों में भ्रमण किया। काशी मे अनंतराम गुरु इनके शिष्य थे। इनकी अध्यक्षता मे काशी भी मलखम कला मे अग्रणी हो गई।

विदेशो मे क्रिकेट, हाकी, फुटबाल, टेनिस, गोला आदि का प्रचार सदियो पहले हो चुका था। भारत में भी १९वी सदी के उत्तरार्ध मे लार्ड मेकाले की शिक्षानीति के कारण स्कूलो आदि मे खेलो का प्रचार हुआ। कुछ देशी खेलो ने राष्ट्रीय स्तर भी प्राप्त कर लिया है, जैसे कबड्डी और खोखो। खेलकूद का प्रसार भारत मे 'कौंसिल ऑव स्पोर्ट्स' द्वारा हो रहा है। भारत ने सब विदेशी खेलो, जैसे क्रिकेट, हाकी, फुटबाल, टेनिस तथा दौड़ धूप को खूब अपनाया है और कुछ मे तो विश्व भर मे समानजनक स्थान प्राप्त कर लिया है। हाकी में १९२८ ई० से ही भारतीय खिलाड़ी विश्व के ओलिंपिक मे सर्वोपरि सिद्ध हुए है। ध्यानचंद को हाकी का जादूगर कहा गया है। १९६० ई० में पहली बार पाकिस्तान ने रोम की ओलिंपिक हाकी प्रतियोगिता मे भारत को हराया। यह खेल भारत के हर भाग मे खेला जा रहा है। राजकुमारी कोचिंग स्कीम के अंतर्गत प्रत्येक राज्य मे खेलो का प्रशिक्षण चल रहा है। राष्ट्रीय प्रतियोगिताएँ भी चलती है, जिनमे 'बाइटन कप', 'आगा खाँ कप' और अंतरराज्य प्रतियोगिताएँ प्रमुख है।

फुटबाल का खेल बंगाल और दक्षिण भारत में विशेष प्रचलित है। अब उत्तरी भारत ने भी इसे अपना लिया है। इस खेल के प्रशिक्षण की सुविधा भी प्राप्त है। १९६३ ई० के चौथे एशियन गेम्स की प्रतियोगिता में भारत की टीम विजयी रही है। राष्ट्रीय प्रतियोगिताओ मे 'आई० एफ० ए० शील्ड', 'डुरैंड कप' और 'रोवर्स कप' प्रमुख हैं। क्रिकेट के खेल मे भारत को पहले पहल सन् १९३२ में टेस्ट स्तर मिला और यह खेल भारत और इग्लैंड के बीच खेला गया। तब से आज तक भारत और इग्लैंड के खिलाड़ियों का एक का दूसरे देश मे आवागमन बना हुआ है। १९४७ ई० मे भारत की टीम आस्ट्रेलिया गई थी। उसके बाद वेस्ट इडीज और कामनवेल्थ की टीमो से भी टेस्ट स्तर पर मैच खेले जा चुके है।

बैडमिंटन मे भी भारत का स्थान विश्वविख्यात है। कहा जाता है, बैडमिंटन विदेशी खेल नही है। इसकी उत्पत्ति बबई प्रांत के पूना शहर मे हुई। वहाँ से अंग्रेज इसे विलायत ले गए और उसमे संशोधन तथा परिवर्तन कर आधुनिक रूप ग्लोसेस्टर (इग्लैंड) मे दिया। धीरे धीरे इसका प्रचार बढ़ता गया और अन्य देशो ने भी इसे अपना लिया। अब तो यह अंतरराष्ट्रीय खेल हो गया है। अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता में २५ से भी अधिक देश भाग लेते हैं। भारत मे इस खेल का स्तर ऊँचा उठता जा रहा है।

'टेनिस' का खेल भी भारत मे खूब पनपा। भारत के खिलाड़ी रामनाथन कृष्णन् एक बार अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ चार खिलाड़ियो तक पहुँच गए थे और उस सेमीफाइनल मैच मे नील फ्रेजर के हाथ पराजित हुए। यही नील फ्रेजर अंत मे विश्वविजेता रहा।

'दौड़धूप' (टैक और फील्ड स्पोर्ट्स) मे अभी भारत पिछड़ा हुआ है। १०० गज और दो सौ गज की दौड़ मे लेवी पिंटो का स्थान है। १९५८ के टोकियो के एशियन गेम्स मे इन दोनो खेलो मे ये विजेता रहे। पोलो, गोल्फ, बौक्सिंग, तैराकी, ऐंगलिंग और हंटिंग के खेल भी काफी प्रचलित है। शतरंज, बिलियर्ड्स, टेबिल टेनिस और ताश के खेल भी भारत मे राष्ट्रीय स्तर पर खेले जाते है।

'कुश्ती' मे भी भारत का स्थान विश्वविख्यात है। भारत का पहलवान गामा विश्वविजयी रहा है और विदेशो में उसका गौरवमय स्थान है।

भारत में 'कबड्डी' का खेल प्राचीन काल से खेला जाता है। देहातों में भी लोग इस खेल को बहुत पसंद करते हैं। स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों मे इसने अन्य खेलो के बराबर स्तर प्राप्त कर लिया है। भारत में इस खेल के कई नाम हैं। बंबई और मध्य प्रदेश मे इसे 'हीतूतू' कहते है, मद्रास तथा मैसूर में 'चेडूगुडू' और उत्तर प्रदेश मे 'कबड्डी' कहते हैं। १९१८-१९२१ ई० में सतारा के खिलाड़ियों ने इस खेल को एक विशेष रूप दिया और प्रतियोगिताएँ सगठित कीं। १९२३ ई० में एच० वी० जिमखाना ने इस खेल की नियमावली प्रकाशित की। बड़ौदा में राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगिताएँ की गई और इसमे पचास टीमों ने भाग लिया। आजकल राष्ट्रीय स्तर पर और अंतर विश्वविद्यालय स्तर पर प्रतियोगिताएँ होती हैं।

देशी खेलों में 'खोखो' खेल का स्थान भी ऊँचा हो गया है। यह खेल महाराष्ट्र की देन है। इस खेल की पहली नियमावली १९१४ ई० में डेकन जिमखाना ने पूना में प्रकाशित की। १९२४ ई० में एच० वी० जिमखाना ने कुछ परिवर्तन कर इसे पुनः प्रकाशित किया। इस खेल को भी विश्वविद्यालयों में अन्य खेलों के समान उच्च स्तर प्राप्त हो गया है। १९३६ ई० में अमरावती व्यायामशाला के कुछ युवकों की टोली जर्मनी गई थी और विश्व-खेल-प्रदर्शन मे इन्होंने खाखो खेल का प्रदर्शन किया था। वहाँ इस खेल की बड़ी सराहना की गई थी। अमरावती की इस टीम को हिटलर पदक और पुरस्कार प्रदान किया गया है।

'मुक्की' का खेल भी काफी प्रचलित है। मुक्की का खेल काशी में होली और निर्जला एकादशी के अवसर पर खेला जाता है और प्रदर्शको को पुरस्कार बाँटा जाता है।

आजकल अंतरराष्ट्रीय खेलों का महत्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। ऐसे खेलों के लिये 'वर्ल्ड ओलिंपिक्स, 'विंटर स्पोर्ट्स', 'एशियन गेम्स' इत्यादि संघटन बहुत लोकप्रिय हैं। इनमें संसार के प्रायः सभी देश भाग लेते हैं। ऐसे खेलों से विभिन्न देशों में परस्पर सद्भावना बढ़ाने मे यथेष्ट सहायता मिलती है। ये खेल बारी बारी से विभिन्न देशो मे आयोजित होते हैं और वहाँ की जनता इन खेलों को देखने के लिये उमड़ पड़ती है। एक ही स्थान पर विभिन्न देशों के खिलाड़ी अपनी विभिन्नताओं के साथ इकट्ठा होते हैं और एक दूसरे से मिलकर वे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। प्रायः देखा जाता है कि जो देश जितना सुखी और संपन्न है, उतना ही वह खेलों में भी कुशल है, अर्थात् खेल भी देश की संस्कृति तथा सभ्यता के विकास का आजकल मानदंड होता जा रहा है।

नटों के विविध खेल, बाँसों और रस्सियों पर नृत्य आदि, भारत में अति प्राचीन काल से प्रचलित रहे हैं। अशोक ने जिस 'समज्जा' नामक मेले का उल्लेख अपने अभिलेख में किया है, वह संभवतः ऋग्वेद का मेला 'समन' ही था, जिसमें नटों के भी विशेष करतब दिखाए जाते थे। कालांतर में नटों के खेल इतने लोकप्रिय होने लगे कि उनमें अनेक अनैतिक असामाजिक कुरीतियाँ आ गई। इस कारण अशोक को आदेश द्वारा समज्जा को बंद कर देना पड़ा।

जादू के खेल संसार में सर्वत्र सदा से लोकप्रिय रहे हैं। उनमें मिस्र और मास्को विशेष प्रसिद्ध हैं। रोंगटे खड़े कर देनेवाले अनेक आश्चर्यजनक खेल दर्शकों को सर्वथा अवाक् कर दिया करते हैं। भारत के विख्यात जादूगर स्व० पी० सी० सरकार ने अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा अर्जित की थी और आज भी के० लाल की इस क्षेत्र में प्रसिद्धि हो रही है।

साँपों का प्रदर्शन, उनसे नेवलों की लड़ाई, रीछ बंदरों के नाच इत्यादि भारत के अपने खेल हैं, जिनसे इस देश के निवासियों से भी अधिक विदेशी पर्यटकों का कुतूहलपूर्ण मनोरंजन होता है। भेड़ों, मुर्गो, बटेरों की लड़ाई तथा बड़ी बड़ी पतंगों की पतंगबाजी अवध का विशेष व्यसन रहा है। पतंगबाजी तो उत्तर भारत का बड़ा आकर्षक खेल है। कठपुतलियों (देखिए कठपुतली) के खेल तो आज सारे संसार में प्रचलित हैं और नागरिकों का बड़ा मनोरंजन करते हैं। मास्को और पेरिस में तो उनके स्वतंत्र रंगमंच भी हैं। भारत में, विशेषकर राजस्थान में, यह खेल असाधारण जीवित संस्था है। इसी प्रकार शतरंज, चौपड़, आदि का भी एशिया के देशों मे विशेष प्रचलन है। शतरंज का आविष्कार भारत ने किया और ईरान से इसका विस्तार हुआ। ताश का खेल तो इतना जनसाधारण है कि उसका उल्लेख करने की आवश्यकता ही नहीं। (ग० प्र० सि०)

खेल का मैदान या क्रीड़ांगण (Stadium) ग्रीस में इलिस (Elis) के मैदान मे पहाड़ों एवं नदियों से घिरा हुआ एक मनोरम स्थान है जिसको ओलिंपिया (Olympia) कहते हैं। वहीं दुनिया का पहला खेल का मैदान बना था। ग्रीक लोग इस बात में विश्वास करते थे कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क हो सकता है। उन्होने खेल के महत्व को समझा और खेलो को अपनी सभ्यता मे ऊँचा स्थान दिया। ग्रीस में लगभग हर बड़े शहर मे व्यायामशाला (gymnasium) होती थी जिसमे शहर के नवयुवक जाकर कसरत करते थे। फिर उन्होंने बड़े बड़े खेल संगठित किए जिनमे सारे ग्रीस से नवयुवक आकर भाग लेते थे। इन खेलो में ओलिंपियन, पीथियन, निमियन तथा इस्थमियन (Olympian, Pythian, Nemean and Isthmian) बड़े मशहूर है। इन चारों खेलों में सबसे पुराने और सबसे बड़े ओलिंपियन खेल थे।

ओलिंपियन खेल चार साल मे एक बार होते थे और जिस महीने में ये होते थे उसमे आपस की लड़ाइयाँ और झगड़े बंद हो जाते थे ताकि नौजवान शांतिपूर्वक आकर उनमे भाग ले सकें और असंख्य दर्शक भी आ सकें।

ओलिंपिया का मैदान बहुत बड़ा था जिसमे दर्शको के बैठने की पर्याप्त जगह थी और बीच मे दौड़ने का मैदान था। इसमे आदमी दौड़ते थे और रथो की दौड़ होती थी। फाँदने की जगह और कुश्ती के अखाड़े भी होते थे। करीब की पहाड़ी के ऊपर जियस (Zeus) का मंदिर था जहाँ ओलिंपिक दौड़ मे जीतनेवाले खिलाड़ी ले जाए जाते थे। ओलिंपिक एक दौड़ होती थी जो एक स्टेड (Stade) या ६०६ फुट की दूरी मे होती थी। स्टेड से ही "स्टेडियम" (Stadium) शब्द बना। ग्रीस में स्थान स्थान पर ऐसे मैदान थे जहाँ पर दौड़नेवाले और देखनेवाले इकट्ठा होते थे।

ग्रीस के बाद रोम में खेलो की बहुत चर्चा रही और रोमवासियो ने कई प्रकार के खेल के मैदान बनवाए। रोम में खेल सरकारी खर्चे पर होते थे तथा बहुधा त्योहारों के अवसर पर आयोजित किए जाते थे। लड़ाई जीतने की खुशी में, या किसी बड़े आदमी के मर जाने पर भी, रोम मे खेल होते थे। रोमवासी खेलो के पीछे पागल थे, परंतु उन्हें ग्रीसवासियों की तरह खेल में स्वयं भाग लेने की चाह नहीं थी, वरन् देखने का अधिक शौक था। रोम का सब से बड़ा खेल का मैदान 'कोलोसियम' (Colosseum) था, जिसके खंडहर अब भी मौजूद हैं। इसमें पचास हजार आदमी बैठ सकते थे। रोम के खेलों के मैदान मे रथों और मामूली घोड़ों के अलावा और भी खेल होते थे, उदाहरणतः जंगली जानवरों की लड़ाई या जंगली पशुओं एवं आदमियों की लड़ाई। एक एक खेल में हजारों जानवर और सैकड़ों आदमी मारे जाते थे। कोलोसियम के निर्माण के अवसर पर जो खेल हुए थे उनमें ९,००० जानवर मारे गए थे। फिर इन मैदानों में ग्लैडिएटरों (Gladiators) की लड़ाई भी होती थी। ये लोग मामूली या लड़ाई के कैदी होते थे और आपस में जान की बाजी लगाकर लड़ते थे। जब कोई मारा जाता था तो मैदान दर्शकों के शोर गुल से गूँज उठता था। रोम में खेल के कुछ मैदान ऐसे भी थे जिनमें पानी भर दिया जाता था और एक झील बन जाती थी। इस झील में नियमित रूप से समुद्री लड़ाइयाँ होती थीं और बहुत आदमी मारे जाते थे।

मध्य युग में खेल का महत्व समाप्त हो गया। १९वीं सदी तक खेल का कोई मैदान नहीं बना। सिर्फ स्पेन और मेक्सिको में साँड़ों की लड़ाई के कुछ मैदान बने। इन मैदानों में आदमी साँड़ों से लड़ते थे और हजारों आदमी उसका तमाशा देखते थे। ये लड़ाइयाँ स्पेन में अब भी होती हैं।

१६वीं सदी में यूरोपवालों ने खेल के महत्व को फिर से समझा और ओलिपिक खेलो को पुनरुज्जीवित किया (देखें ओलिपिक खेल)। आधुनिक युग मे पहला ओलिपिक खेल १८९६ म एथेंस में आयोजित किया गया और उसके लिये संगमरमर का क्रीडागण वनाया गया जिसमें ६६ हजार आदमी बैठ सकते थे। तब से बरावर खेल के मैदान सारी दुनिया मे बनते जा रहे हैं। २०वीं सदी में जितने क्रीडागण बने है, उतने इतिहास के किसी काल में नहीं बने। केवल अमेरिका मे ही सौ से ऊपर खेल के मैदान बने है, जिनमें बंद एवं खुले दोनों प्रकार के मैदान शामिल है। लदन, न्यूयार्क तथा शिकागो मे बहुत बड़े बडे ढँके हुए क्रीडागण है। इनमे बैडमिंटन, टेनिस, बॉक्सिग और बर्फ के खेल होते हैं। शिकागो का बंद क्रीडागण इतना वडा है कि उसमें दो लाख आदमी आ सकते है।

खेल के इन मैदानों का आकार भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। कुछ मैदान गोल होते है, कुछ अडे की शकल के, कुछ चौकोर और कुछ घोड़े की नाल की तरह। बीच में दौड़ने वालों के लिये क्रमशः ऊँची होती जानेवाली आसनों की श्रेणियाँ होती हैं। आजकल के स्टेडियम दर्शनीय होते है। इनके सीमेंट के भवन बहुत शानदार और सुदर होते हैं। ओलिपिक खेलो का आजकल ढग यह होता है कि भिन्न भिन्न देश उनको बारी बारी से अपने यहाँ आयोजित करते है। इसलिये जिस देश की बारी होती है उसमें एक बहुत बड़ा स्टेडियम तैयार हो जाता है। बहुत से देशों में आधुनिक स्टेडियम इसी प्रकार बने है।

भारत ने अभी तक ओलिपिक खेल आयोजित नही किए। इसलिये यहाँ पर कोई ऐसा खेल का मैदान नही बना जो दूसरे देशों का मुकाबला कर सके। वैसे बंबई का ब्रबोर्न (Brabourne) स्टेडियम, जहाँ क्रिकेट होता है, और दिल्ली का स्टेडियम, जहाँ दौड होती है, काफी शानदार है। (इ० अ०)

खेवट जमींदारी उन्मूलन एव भूमि-सुधार-अधिनियम से पूर्व पटवारी का वह रजिस्टर या खाता जिसमें प्रत्येक भूस्वामी और पट्टेदार का भाग लिखा जाता था और उसपर निर्धारित राजस्व स्पष्ट किया जाता था। अवध में उप-भू-स्वामियों से सबंध रखनेवाले खेवट भी होते थे। इनके अतिरिक्त राजस्व से मुक्त भूमि को धारण करनेवाले व्यक्तियों से संबंधित खेवट भी होता था। (जि० कु० मि०)

खेशलू (१) गुजरात राज्य के खेडा जिले का एक परगना। इसका संपूर्ण क्षेत्रफल ३४६ वर्ग मील है। यहाँ की भूमि समतल है; अधिकाश भूभाग वनों से ढका हुआ है। खारी नदी इसके भीतर पूर्व से पश्चिम को बहती है।

(२) खेडा जिले का एक नगर (स्थिति : २३°५४' उ० अ० तथा ६२°३६' पू० दे०)। यह वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित गोसाई जी के मदिर के लिये प्रख्यात है। (रा० तो० मि०)

खेसारी एक प्रकार की दाल जो सस्ती होने के कारण गरीब लोग अक्सर खाते है पर जिसमें पर्याप्त रोगकारक तत्व है। यह केराव (मटर) की जाति का एक कदन्न है। (म०)

खैवर दर्रा उत्तर-पश्चिमी पाकिस्तान की सीमा और अफगानिस्तान के काबुलिस्तान मैदान के बीच हिंदुकुश के सफेद कोह पर्वत श्रृंखला में स्थित एक प्रख्यात दर्रा। यह दर्रा ३३ मील लवा है और इसका सबसे सँकरा भाग केवल १० फुट चौड़ा है। यह सँकरा मार्ग ६०० से १००० फुट की ऊँचाई पर बल खाता हुआ बृहदाकार पर्वतो के बीच खो सा जाता है।

पेशावर से काबुल तक इस दर्रे से होकर अब एक सड़क बन गई है। यह सडक चट्टानी ऊसर मैदान से होती हुई जमरूद से, जो अंग्रेजी सेना की छावनी थी और जहाँ अब पाकिस्तानी सेना रहती है, तीन मील आगे शादीवगियार के पास पहाडो मे प्रवेश करती है और यहीं से खैवर दर्रा आरंभ होता है। कुछ दूर तक सड़क एक खड्ड में से होकर जाती है फिर बाईं ओर शंगाई के पठार की ओर उठती है। इस स्थान से अली मसजिद
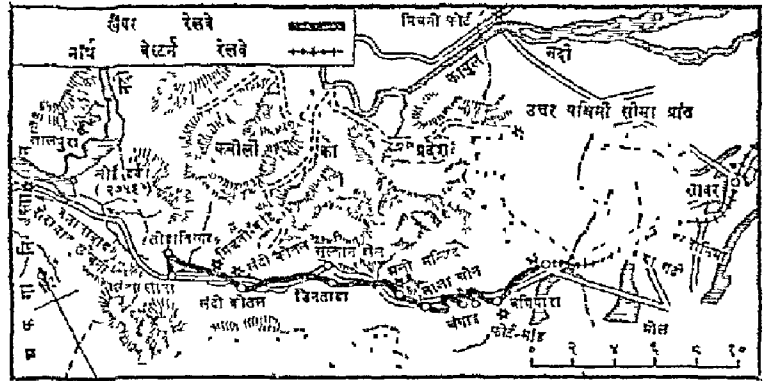
खैवर दर्रे का मानचित्र

दुर्ग दिखाई पड़ता है जो दर्रे के लगभग बीचोबीच ऊँचाई पर स्थित है। यह दुर्ग अनेक अभियानों का लक्ष्य रहा है। पश्चिम की ओर आगे बढती हुई सड़क दाहिनी ओर घूमती है और टेढ़े मेढ़े ढलान से होती हुई अली मसजिद की नदी मे उतर कर उसके किनारे किनारे चलती है। यहीं खैवर दर्रे का सँकरा भाग है जो महज पंद्रह फुट चौड़ा है और ऊँचाई में २,००० फुट है। तीन मील आगे बढने पर घाटी चौडी होने लगती है। इस घाटी के दोनों ओर छोटे छोटे गाँव और जक्काखेल अफ्रीदियों की लगभग साठ मीनारें है। इसके आगे लोआर्गी का पठार आता है जो सात मील लंबा है और उसकी अधिकतम चौड़ाई तीन मील है। यह लंदी कोतल में जाकर समाप्त होता है। यहाँ अंगरेजों के काल का एक दुर्ग है। यहाँ से अफगानिस्तान का मैदानी भाग दिखाई देता है। लंदी कोतल से आगे सडक छोटी पहाड़ियों के बीच से होती हुई काबुल नदी को चूमती डक्का पहुँचती है। यह मार्ग अब इतना प्रशस्त हो गया है कि छोटी लारियाँ और मोटरगाड़ियाँ काबुल तक सरलता से जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त लंदी खाना तक, जिसे खैवर का पश्चिम कहा जाता है, रेलमार्ग भी बन गया है। इस रेलमार्ग का बनना १९२५ में आरंभ हुआ था।

सामरिक दृष्टि से ससार भर में यह दर्रा सबसे अधिक महत्व का समझा जाता रहा है। भारत के प्रवेश द्वार के रूप में इसके साथ अनेक स्मृतियाँ जुडी हुई हैं। समझा जाता है कि सिकदर के समय से लेकर बहुत बाद तक जितने भी आक्रामक शक-पल्लव, वाख्त्री यवन, महमूद गजनी, चंगेज खाँ, तैमूर, बाबर आदि भारत आए उन्होंने इसी दर्रे के मार्ग से प्रवेश किया। किंतु यह बात सर्वांश में सत्य नहीं है। दर्रे की दुर्गमता और इस प्रदेश के उद्दड निवासियों के कारण इस मार्ग से सबके लिये बहुत हाल तक प्रवेश सहज न था। भारत आनेवाले अधिकाश आक्रमणकारी या तो बलूचिस्तान होकर आए या काबुल से घूमकर जलालाबाद के रास्ते काबुल नदी के उत्तर होकर आए जहाँ से प्रवेश अधिक सुगम रहा है। (प० ला० गु०)

खैर भारतीय पहाडी पक्षी जो प्रायः ४ हजार से १५ हजार फुट की ऊँचाई पर ही देखने मे आता है। किंतु अपनी शर्मीली आदत के कारण यह सरलता से देखने में नही आता। अपनी तेज आवाज के आधार पर ही उसके वहाँ होने का पता चलता है। वह हमेशा घनी झाड़ियों में घुसा रहता है। पेड़ पर कभी नहीं चढ़ता। यदाकदा कीडे मकोड़ों की तलाश में घास के मैदानों में भी इसके झुंड दिखाई पड जाते हैं।

यह पक्षी आकार मे छोटा, महज ६ इंच का, होता है। इसकी पीठ और डैने का रंग खैरा (कत्थई) होता है; सिर का ऊपरी भाग ललछौंह

और आँख के ऊपर एक सफेद लकीर होती है। दुम के परों के सिरे सफेद और नीचे का हिस्सा हलका पीलापन लिए सफेद होता है।

सं० ग्रं०—सुरेश सिंह : भारतीय पक्षी। (प० ला० गु०)

खैरपुर सक्खर से २० मील दक्षिण और सिंध नदी से १५ मील पूर्व मीरवाह नामक नहर पर स्थित पश्चिमी पाकिस्तान का नगर (स्थिति : २७°३१' उ० अ० और ६८°४८' पू० दे०)। पहले यह खैरपुर रियासत की राजधानी था और उत्तरी सिंध के प्रधान मीर यहाँ रहते थे जो जाति के बलूची थे और तालपुर कहलाते थे। सिंध के कल्होरा वंश के पतन के पश्चात् ये उठे थे। १८१३ से पूर्व ये लोग अफगानिस्तान के शासकों को खिराज देते थे। काबुल की राजनीतिक अशांति के समय इन्होंने खिराज देना बंद कर दिया और स्वतंत्र हो गए। १८३२ में अंग्रेजों ने खैरपुर के मीर की स्वतंत्रता को मान्यता दी और पाकिस्तान बनने तक रियासत के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व था। जब अंगरेजों ने काबुल पर सैनिक अभियान करने का निश्चय किया तब खैरपुर के तत्कालीन मीर अलीमुराद ने अंग्रेजों की नीति का समर्थन किया। उसी के प्रतिदान स्वरूप जब मियानी और डाबानी लड़ाइयों के बाद सिंध अंग्रेजी राज्य का अंग बन गया, उन्हें स्वतंत्र रियासत के रूप में बने रहने दिया गया।

खैरपुर नगर अनियमित ढंग से बसा हुआ है। अधिकांश मकान कच्चे हैं। यहाँ वस्त्र बुनने, रँगने, कालीन बनाने, आभूषण बनाने तथा अस्त्र बनाने का काम होता है। ऊन, सिल्क, कपास, धातुएँ और कपड़े की वस्तुएँ आयात की जाती हैं। यहाँ एक महल, एक अतिथिगृह और पीर रुहाँ (जियाउद्दीन और हाजी जफल शहीद) के स्मारक हैं।

(रा० प्र० सिं०, प० ला० गु०)

खैर मुनिया श्येन परिवार का एक शिकारी पक्षी जो संसार के अनेक देशों में पाया जाता है। भारत में यह हिमालय में काफी ऊँचाई तक देखा जाता है। यह जाड़ों में पहाड़ों से नीचे उतर कर सारे देश में फैल जाता है और जाड़ा समाप्त होने पर फिर उत्तर की ओर पहाड़ों में लौट जाता है। इसकी एक जाति नीलगिरि के आसपास पायी जाती है जो जाड़ों में त्रिवांकुर तक फैल जाती है। यह खुले मैदानों, खेतों और झाड़ियों वाले ऐसे स्थानों में रहता है जहाँ इसे कीड़े मकोड़े, टिड्डे, चूहे, छिपकली तथा अन्य छोटे जंतु खाने को मिल सकें। यह छोटी मोटी चिड़ियों को भी आसानी से पकड़ लेता है। यह अपना अधिक समय आकाश में उड़ते हुए बिताता है। हवा में चक्कर लगाते हुए यदि जमीन पर कोई शिकार दिखाई पड जाय तो वह ऊपर से सीधे नीचे तीर की तरह आता है और झपट्टा मार कर उसे पकड़ लेता है। अपनी इस आदत के कारण यह आसानी से पहचाना जा सकता है।

इसके नर के सिर का ऊपर का भाग और गरदन के अगल बगल के हिस्से राखीपन लिए स्लेटी और महीन काली रेखाओं से भरे रहते हैं। चोंच की जड़ के पास से गले तक एक सिलेटी पट्टी होती है; चेहरे के दोनों भाग सफेद और गाढ़ी भूरी धारियों के बने होते हैं। शरीर के नीचे का भाग हलका ललछौंह लिए भूरा और सीने और बाजुओं पर भूरी बिंदियाँ और लकीरें होती हैं। मादा के शरीर का ऊपरी भाग चटक ललछौंह भूरा होता है।

(प० ला० गु०)

खैरागढ़ १. छत्तीसगढ़ (मध्य प्रदेश) का एक नगर (स्थिति : २१°४' से २१°३४' उ० अ० और ८०°२७' से ८१°१२' पू० दे०)। यह नांदगाँव और भंडारा जिले के बीच के भूभाग में स्थित है। पहले यह देशी रियासत था। यहाँ के राजा गोंड वंशी थे और उन्हें १८६८ ई० में अंग्रेजों ने राजा की पदवी प्रदान की थी।

इसका क्षेत्रफल ९३१ वर्ग मील है। यहाँ की भूमि समतल और उपजाऊ है। यहाँ कोदो, धान तथा कपास पर्याप्त मात्रा में पैदा होता है। पूर्व की भूमि काली मिट्टी की है परंतु पश्चिम में बलुई मिट्टी पाई जाती है।

२. आगरा जिले का दक्षिणी-पश्चिमी तहसील (स्थिति : २६°४१' से २७°४' उ० अ० तथा ७७°२६' से ७८°७' पू० दे०)। इस तहसील में इसी नाम का एक परगना भी है। खैरागढ़, तहसील का प्रधान केंद्र है। उतंगन नदी इस तहसील को दो भागों में विभक्त करती है। इसका दक्षिणी भाग विंध्य पर्वतमाला का ही प्रसार है जो लाल पत्थरों का बना हुआ है। पत्थरों का उपयोग इमारत बनाने में किया जाता है। पर्वत के समीप की भूमि बलुई है। नदी के पूर्व की भूमि मटियार है।

(रा० लो० सिं०; प० ला० गु०)

खोंग अराकान प्रदेश निवासी एक जनसमाज। इनकी अपनी भाषा और अपनी लिपि है। इस कारण विद्वानों की धारणा है कि यह अति प्राचीन काल से एक सुशिक्षित समाज रहा है। इस समाज में स्त्री पुरुष दोनों की एक सी वेशभूषा होती है। इनके बीच इस संबंध में एक अनुश्रुति प्रचलित है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में अराकान के किसी राजा की एक रूपवती रानी थी। राजा उसी के प्रेम में निमग्न रहकर राजकाज की उपेक्षा करने लगा। जब रानी ने यह देखा तो वह स्वयं राजकाज देखने लगी। उसकी सुव्यवस्था देखकर प्रजा उसे देव समान मानने लगी। रानी ने देखा कि लोग स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा हेय मानते हैं। उसे यह बात अच्छी न लगी। उसने आदेश दिया कि स्त्रियाँ पुरुषों के समान लुंगी धारण करेंगी और पुरुष केश बढ़ायेंगे और हाथ पाँव में गुदना गुदवाएँगे। प्रजा ने रानी की इस आज्ञा का पालन किया और आज तक यह बात मान्य होती चली आ रही है।

ये लोग बौद्ध धर्मावलंबी हैं। विवाह प्रसंग में लड़के का पिता लड़की के घर जाकर अपने लड़के के लिये लड़की माँगता है। इस संबंध के स्वीकार करने या न करने पर गाँव के चार प्रतिष्ठित जनों के सामने विचार होता है और एक मुर्गे के माध्यम से शुभाशुभ का विचार कर निर्णय किया जाता है।

(प० ला० गु०)

खोंड (कंध) दक्षिणी उड़ीसा और उत्तरी आंध्र प्रदेश की एक आदिवासी जनजाति। ये मुख्यत: उड़ीसा में फूलबनी, गंजाम, काँडी तथा कोराजोंस प्रदेशों में और आंध्र प्रदेश में विशाखपत्तनम् जिले के जंगली और पहाड़ी प्रदेशों में रहते हैं। ये नाटे कद, भारी शरीर और गहरे भूरे रंग के होते हैं। पुरुष के चेहरे और शरीर पर बाल प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। इस जनजाति के लोग जंगलों में कंद, मूल, फल संग्रह करना, वन्य पशुओं का शिकार और मछली पकड़ना, अस्थायी (जिसे ये जंगम कहते हैं) तथा स्थायी खेती करना इनके धंधे हैं जिनके द्वारा ये अपना जीवनयापन करते हैं। नगरों, रेलवे लाइनों और सड़कों के किनारे रहनेवाले खोंड अब मजदूरी भी करने लगे हैं।

पिछली शताब्दी तक इस जाति में नरबलि की प्रथा प्रचलित थी। इसे ये विशिष्ट धार्मिक रीति मानते थे और नव वर्ष को शुभ बनाने के लिये मनुष्य की बलि देते थे। इसे वे 'मेरिया' कहते थे। इस जाति में कन्यावध की भी प्रथा थी। १९वीं शताब्दी के मध्य अंग्रेज सरकार ने इन दोनों अमानवीय और निर्दय प्रथाओं का कठोरतापूर्वक दमन किया। इन लोगों में आज भी पशुबलि की प्रथा प्रचलित है। मिश्रित ग्रामों में बसनेवाले खोंड धीरे धीरे हिंदू रीति रिवाज अपनाते जा रहे हैं।

खोंड द्रविड़ भाषाभाषी हैं और इनके रीति रिवाज पड़ोसी द्रविड़ जाति से काफी मिलते जुलते हैं। इनमें युवकों तथा युवतियों के लिये पृथक् शयनगृह की व्यवस्था होती है। जन्म, विवाह और मृत्यु संबंधी कृत्यों में ये हिंदुओं का अनुकरण करने आ रहे हैं, यद्यपि इन सभी अवसरों पर मनाई जानेवाली रीतियों में धर्म के अनुसार सामाजिक रूढ़ियों को अधिक महत्व दिया जाता है।

खोंडों की दो उपजातियाँ हैं (१) पहाड़िया या कुटिया और (२) डिहरिया। जंगलों, पहाड़ों में रहनेवाले कुटिया और समतल भूमि पर बसनेवाले डिहरिया कहलाते हैं। प्रत्येक उपजाति में बहिर्विवाही गोत्र होते हैं जिनमें अधिकांश के नाम पशु पक्षी या जंगली पेड़ पौधों पर रखे जाते हैं। इनमें विधवाविवाह, बड़े भाई की विधवा से विवाह (नियोग)

और तलाक की प्रथा प्रचलित है। आंध्र प्रदेश के खोडो में ममेरी, फुफेरी बहन के साथ विवाह करना उत्तम माना जाता है।

(कृ० श० मा०)

खोइँछा एक विशुद्ध पारिवारिक स्थानिक प्रयोग, जिसका शाब्दिक अर्थ मुडा या मोडा हुआ आँचल होता है। विवाह के बाद कन्या के जाते समय मातृस्थानीया महिला अथवा अन्य शुभ अवसरों पर भी पद में छोटी समझी जानेवाली स्त्रियों के आँचल में चावल, हल्दी की गाँठें और कुछ रुपए डालकर, मस्तक में सिंदूर लगाकर, बडी बूढियाँ यह रस्म पूरी करती है।

(स०)

खोकर भारतीय संगीत का एक राग जिसमें खमाच, विहाग और बिलावल, तीन रागों का मिश्रण है। यह निषाद और कोमल मध्यम दोनों में ही गाया जाता है।

(प० ला० गु०)

खोखो भारत का एक लोकप्रिय खेल है। इसका जन्मस्थान बडौदा कहा जाता है। यह गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश आदि प्रदेशों में अधिक खेला जाता है किंतु भारत के अन्य प्रदेशों में भी इसका प्रचार अब बढ रहा है। यह खेल सरल है और इसमें कोई खतरा नहीं है। पुरुष और महिलाएँ दोनों समान रूप से इस खेल को खेल सकते हैं।

खोखो खेल में न किसी गेंद की आवश्यकता होती है, न बल्ले की। इसके लिये केवल १११ फुट लंबे और ५१ फुट चौडे मैदान की आवश्यकता होती है। दोनों ओर दस दस फुट स्थान छोडकर चार चार फुट ऊँचे, लकडी के दो खंभे गाड दिए जाते हैं और इन खंभों के बीच की दूरी आठ बराबर भागों में इस प्रकार विभाजित कर दी जाती है कि दोनों दलों के खिलाडी एक दूसरे की विरुद्ध दिशाओं की ओर मुँह करके अपने अपने नियत स्थान पर बैठ जाते हैं। प्रत्येक दल को एक एक पारी के लिये सात सात मिनट दिए जाते हैं और नियत समय में उस दल को अपनी पारी समाप्त करनी पडती है। दोनों दलों में से एक एक खिलाडी खडा होता है, पीछा करनेवाले दल का खिलाडी विपक्षी दल के खिलाडी को पकडने के लिये सीटी बजाते ही दौडता है। विपक्षी दल का खिलाडी पंक्ति में बैठे हुए खिलाडियों का चक्कर लगाता है। जब पीछा करनेवाला खिलाडी उस भागनेवाले खिलाडी के निकट आ जाता है, तब वह अपने ही दल के खिलाडी के पीछे जाकर 'खोखो' शब्द का उच्चारण करता है तो वह उठकर भागने लगता है और पीछा करनेवाला खिलाडी पहले को छोडकर दूसरे का पीछा करने लगता है।

आज से पचास वर्ष पूर्व इस खेल का कोई व्यवस्थित नियम न था। खेल की लोकप्रियता के साथ इसके नियम बनते बिगडते रहे। १९१४ ई० में पहली बार पूना के डकन जिमखाना ने अनेक मैदानी खेलों के नियम लिपिबद्ध किए और उनमें खोखो भी था। तब से उसके बनाए नियम के अनुसार, थोडे स्थानीय हेरफेर के साथ यह खेल खेला जाता है।

खोखो की पहली प्रतियोगिता पूना के जिमखाने में १९१८ ई० में हुई। फिर सन् १९१९ में बडौदा के जिमखाने में भारतीय स्तर पर प्रतियोगिता का आयोजन हुआ। तब से समय समय पर इस खेल की अखिल भारतीय स्तर पर प्रतियोगिताएँ होती रहती हैं। (प० ला० गु०)

खोजा मुसलमानों का एक समाज जो मुख्यत पंजाब और महाराष्ट्र के निवासी हैं। खोजा (ख्वाजा) हिंदू ठाकुर का समानार्थी समझा जाता है। ये लोग मिस्र के इस्माइली पंथ के अनुयायी शिया हैं। ये लोग मूलत सिंध निवासी लोहाडा जाति के हिंदू हैं जिन्हें १२वीं शती ई० में नूर सतागुर नामक फकीर ने मुसलमान धर्म में दीक्षित किया। खोजा इसमाइलियों पर वैष्णव पंथ की छाप है। वे लोग अपने गुरु को कृष्ण का अवतार कहते हैं। इस पंथ के पीर नसीरुद्दीन का कहना था कि आदम विष्णु हैं, हसन उनके दसवें अवतार हैं। मुहम्मद शिव हैं, पाँचों इमाम पंच पांडव हैं। इस संप्रदाय के हसन अली नामक इमाम ने अपनी गद्दी भारत में स्थापित की। उन्हीं के वंशज आगा खाँ हैं जो खोजा लोगों के [illegible] माने जाते हैं।

खोजा लोग अधिकांशत व्यापारी हैं और श्रीलंका, सिंगापुर, चीन, जापान, ईरान, अरब तथा पूर्वी अफ्रीका तक इनके व्यापार का विस्तार है। इस कारण कुछ खोजा लोग अरब, जंजीबार आदि देशों में जा बसे हैं।

(प० ला० गु०)

खोट्टिग राष्ट्रकूट राजवंश के कृष्ण तृतीय का छोटा भाई जो उसके मरने के बाद ९६८ ई० में मान्यखेट की गद्दी पर बैठा। वे दोनों ही अमोघवर्ष तृतीय के पुत्र थे, परंतु उनकी माताएँ संभवत भिन्न थीं। खोट्टिग की माता का नाम कंदक देवी था। उसके समय से राष्ट्रकूट साम्राज्य का पतन प्रारंभ हो गया। उसके उत्तर में स्थित मालवा के परमारों ने राष्ट्रकूटों के क्षेत्रों पर धावे शुरू कर दिए। उदयपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि परमार राजा हर्षदेव (सियक द्वितीय) ने खोट्टिग की राज्यलक्ष्मी को युद्ध में बंदी बना लिया। परमारों के इस आक्रमण के समय खोट्टिग काफी वृद्ध था और वह उसका सफलतापूर्वक सामना न कर सका। परमार सेनाओं ने नर्मदा नदी को पारकर राष्ट्रकूट की राजधानी मान्यखेट को ९७२ ई० में घेर लिया, उसे लूटा और उसपर कब्जा कर लिया। लौटते समय उसके सैनिकों ने सचिवालय में रखी हुई राष्ट्रकूट दानपत्रों की प्रतिलिपियों तक को ले लिया। निश्चय ही राष्ट्रकूट शक्ति का यह भारी अपमान था और खोट्टिग उसके दुख से सँभल न सका। अल्तेकर के मतानुसार सितंबर, ९७२ ई० में भग्नहृदय वह मर गया।

(वि० नं० पा०)

खोडमाल उडीसा के अंगुल तहसील का एक परगना (स्थिति २०°१३' से २०°४१' उ० अ० तथा ८३°५०' से ८४°३६' पू० दे० मध्य)। इसका क्षेत्रफल ८०० वर्ग मील है। संपूर्ण प्रदेश १,७०० फुट ऊँचे पठार पर स्थित है। इसका अधिकतर भाग जंगल से ढका हुआ है। यहाँ द्रविड वंश के खोंड जाति के मनुष्य निवास करते हैं। पहले यहाँ नरबलि प्रथा प्रचलित थी परंतु अब वह समाप्त कर दी गई है।

(रा० लो० सिं०)

खोतान (देखिए खुतन)

खोतानी रामायण मध्य एशिया के खतन प्रदेश में प्रचलित रामकथा जिसकी रचना संभवत ९वीं शती ई० में हुई थी। कदाचित् यह तिब्बत में प्रचलित किसी रामायण का प्रतिसंस्करण है। इसमें गौतम बुद्ध की आत्मकथा के रूप में कथा आरंभ होती है। इसमें राम को बुद्ध और लक्ष्मण को मैत्रेय बताया गया है और सीता राम और लक्ष्मण दोनों की पत्नी हैं। यह कदाचित् मध्य एशिया की कतिपय प्राचीन जातियों में प्रचलित बहु-पति-प्रथा से प्रभावित है। इसमें रावण के वध का कोई प्रसंग नहीं है। सहस्रबाहु (सहस्रार्जुन) को दशरथ का पुत्र कहा गया है। राम लक्ष्मण इस सहस्रबाहु के पुत्र थे। उनकी माँ ने उन्हें बारह वर्ष तक भूमि में छिपा कर रखा था। परशुराम के पिता की गाय का सहस्रबाहु ने अपहरण कर लिया था। इस कारण परशुराम ने सहस्रबाहु का वध किया। राम ने पृथिवी से वर प्राप्त कर परशुराम को मारा।

(प० ला० गु०)

खोवई असम राज्य की एक नदी जो त्रिपुरा राज्य से निकलकर श्रीहट्ट जिले के हबीबगंज परगने से होकर बराक नदी में गिरती है। नदी की संपूर्ण लंबाई ८४ मील है।

(रा० लो० सिं०)

ख्मेर कंबुज (कंबोडिया) का प्राचीन नाम। इसका प्रयोग इतिहास में कंबुज के आरंभिक राजवंश, कला एवं संस्कृति की अभिव्यक्ति के लिये होता है। इस प्रकार ५वीं शती से लेकर १३वीं शती ई० तक का कंबुज का इतिहास ख्मेर का इतिहास कहा जाता है। ख्मेर की ख्याति सूर्यवर्मन द्वितीय द्वारा निर्मित अंकोर वाट नामक विख्यात मंदिर के लिये है।

(प० ला० गु०)

ख्यांग असम के अराकान पर्वत के बाह्य भाग में कुलाडन नदी के किनारे रहने वाली आदिवासी जाति। ये लोग घर न बनाकर गुहाओं में

रहते हैं और पशु चर्म और ऊन से बने वस्त्र पहनते हैं। इनकी धारणा के अनुसार ईश्वर के दो रूप हैं। एक तो खोजिंग नामक देव है जो अराकान पर्वत के उच्च शिखर पर रहता है और सिंह उसका प्रहरी है। संकट के समय वे पशुबलि देकर उसे संतुष्ट करने का प्रयास करते हैं। दूसरा ईश्वर पैंती है जो दूर पश्चिम किसी महल में रहता है। सूर्य उसका सचिव है। वह दिन भर संसार की गतिविधि पर तीव्र दृष्टि रखता है और सायंकाल प्रत्येक व्यक्ति के पाप-पुण्य का लेखा जोखा तैयार करता है। वे लोग अपनी भूमि छोड़कर अन्यत्र जाना पाप समझते हैं। अपने जंगल के बाहर उनका अन्यत्र कोई ठिकाना नहीं है, यह उनका विश्वास है। (प० ला० गु०)

ख्यातिवाद सामान्य अर्थ में ख्याति से तात्पर्य प्रसिद्धि, प्रशंसा, प्रकाश, ज्ञान आदि समझा जाता है। पर दार्शनिकों ने उसे सर्वथा भिन्न अर्थ में ग्रहण किया है। उन्होंने वस्तुओं के विवेचन की शक्ति को 'ख्याति' कहा है और विभिन्न दार्शनिकों ने उसकी अलग अलग ढंग से व्याख्या की है। इसकी पाँच व्याख्याएँ अधिक प्रसिद्ध हैं :

(१) **आत्मख्याति**—विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार आत्मा के साथ जो बुद्धि है उसकी ख्याति विषय के रूप में प्रतिभासित होती है। यथा—सीप को देखकर चाँदी का भ्रम उत्पन्न होता है। इस भ्रम का कारण बुद्धि द्वारा उसका तदाकार मान लिया जाना है। इस स्थिति में अन्य को बाह्य विषय की अपेक्षा नहीं होती।

(२) **असत् ख्याति**—शून्यवादी बौद्धों के मत से चाँदी का सीप प्रतीत होना असत् ख्याति है। वाचस्पति ने इसी असत् ख्याति का प्रतिपादन किया है।

(३) **अख्याति**—'यह चाँदी है।' इस वाक्य में 'यह' प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय है। 'चाँदी' प्रत्यक्ष प्रतीति का विषय नहीं है क्योंकि नेत्रादि का उसके साथ कोई संबंध नहीं। वस्तुतः चाँदी की प्रतीति स्मरण रूप मात्र है। किंतु यह भेद समझ नहीं पड़ता। इसलिये यह अख्याति है। मीमांसक इस प्रकार के अख्यातिवादी हैं।

(४) **अन्यथा ख्याति**—एक वस्तु में दूसरे वस्तु के आकार की प्रतीति को अन्यथा ख्याति कहते हैं। यथा—सदोष इंद्रियों के संयोग के कारण ही सीप चाँदी जान पड़ता है। यह नैयायिकों का कहना है।

(५) **अनिर्वचनीय ख्याति**—जिसमें सत् असत् समझ न पड़े; इस प्रकार वस्तु की प्रतीति इसका स्वरूप है। यथा—सीप के स्थान पर चाँदी का आभास सत्य नहीं है। प्रमाण का निरूपण करने से सत् वस्तु का बोध होता है या नहीं, यह विचारणीय है। विवेचन से जान पड़ता है कि यह चाँदी नहीं है। इस प्रमाण से वह असत् है किंतु वह असत् है ही यह निश्चित नहीं; क्योंकि जो असत् है उसकी प्रतीति संभव नहीं। यहाँ सीपी चाँदी जान पड़ती है। इस प्रकार भ्रामक पदार्थ की प्रतीति अनिर्वचनीय ख्याति है, यह वेदांतियों का कथन है। (प० ला० गु०)

ख्याल (ख़याल) (१) भारतीय संगीत का एक रूप। वस्तुतः यह ध्रुपद का ही एक भेद है। अंतर केवल इतना ही है कि ध्रुपद विशुद्ध भारतीय है। ख्याल में भारतीय और फारसी संगीत का मिश्रण है। इसका आरंभ कब हुआ यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में प्रबंध और रूपक, दो प्रकार की गान शैली प्रचलित थी। प्रबंध शैली से ध्रुपद का विकास हुआ और रूपक से ख्याल और ठुमरी का। अमीर खुसरो ने ख्याल गायकी का परिशोधन किया। चौदहवीं शती में जौनपुर के सुलतान हुसैन शाह ने ख्याल को विशेष प्रोत्साहित किया। किंतु उनके पश्चात् यह उपेक्षित सा ही रहा। १८वीं शती में मुगल सम्राट् मुहम्मद शाह के समय में इसकी पुनः पूछ हुई। उनके दरबार में सदारंग और अदारंग नामक दो गायक बंधु थे जो तानसेन के वंशज कहे जाते हैं। इन लोगों ने हजारों की संख्या में ख्याल की रचना की और अपने शिष्यों में उनका प्रसार किया। किंतु आश्चर्य की बात यह है कि इन दोनों गायकों ने स्वयं कभी ख्याल नहीं गाया और न अपने वंशजों को ही गाने की अनुमति दी। इस कारण ख्याल की गणना शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत नहीं की जाती। इसके बावजूद उनके शिष्यों ने ख्याल को लोकप्रियता प्रदान की। ख्याल के प्रचार प्रसार में जिन गायकों को ख्याति प्राप्त हुई है उनमें कुछ उल्लेखनीय हैं—भातखंडे, विष्णु दिगंबर पलुस्कर, उस्ताद करीम खाँ, उस्ताद फैयाज खाँ।

विलंबित और द्रुत ख्याल के दो प्रकार हैं। जिस ख्याल की रचना ध्रुपद शैली पर होती है वह विलंबित लय और तिलवाड़ा, झूमरा, झाड़ा चौताल अथवा एक ताल में गाया जाता है। इसे 'बड़ा ख्याल' कहते हैं। जो ख्याल चपल चाल में त्रिताल, एक ताल अथवा झपताल में गाया जाता है वह द्रुत ख्याल है, उसे 'छोटा ख्याल' भी कहते हैं। बड़े ख्याल की रचना सदारंग और अदारंग ने की थी। उनसे पहले शास्त्रीय संगीत के रूप में ध्रुपद-धमार और छोटा ख्याल गाया जाता था। आजकल महफिलों में गायक पहले बड़ा ख्याल उसके बाद छोटा ख्याल, दोनों गाते हैं। ख्याल गायकी के कितने ही घराने और उनमें प्रत्येक के गाने का ढंग अपना अपना है।

ख्याल के अस्थायी और अंतरा दो भाग हैं। गायक पहले बंदिश बाँधकर आलाप और तान द्वारा स्वर का विस्तार करता है और फिर धीरे धीरे राग की इमारत उभारता है। जो गायक अपनी प्रतिभा द्वारा ख्याल की कल्पनापूर्ण सजावट करने की क्षमता रखता है वही ख्याल का श्रेष्ठ गायक माना जाता है। ख्याल का मुख्य रस सामान्यतः विप्रलंभ शृंगार है।

(२) हास्य प्रधान मालवी गीत और चित्र को ख्याल कहते हैं। किंतु इसका अभिप्राय राजस्थान में एक प्रकार के लोक नाट्य से समझा जाता है जो उत्तर प्रदेश की नौटंकी तथा मालवा के नाच से मिलता जुलता है। यह खुले प्रांगण में खेला जाता है। चारों ओर दर्शक बैठते हैं, बीच में रंगमंच के लिये स्थान खाली रहता है। वहाँ ख्याल प्रदर्शित करने वाली मंडली बैठती है; नगाड़ा, ढोल, सारंगी और हारमोनियम का बाजे के रूप में प्रयोग किया जाता है। ख्याल की कथा की अभिव्यक्ति लावनी, दूहा, दोहा, चौबोला, चौपाई, छंद, शेर, कवित्त, छप्पय आदि छंदों तथा पांड, सोरठ, कालंगड़ा, आसावरी आदि किसी राग रागनी में गाकर की जाती है। अभिनेता ऊँचे स्वर में गाता हुआ भूमिका के अनुरूप अभिनय करता है। ख्याल के अभिनेता मंच से बाहर रहकर गणपति और सरस्वती पूजन करते हैं। तदनंतर मंच पर एक एक कर भंगी, भिश्ती आदि आकर मंच की सफाई, झाड़पोंछ का अभिनय करते हैं। तदनंतर आख्यान का मुख्य नायक उपस्थित होकर आत्मपरिचय देता है और ख्याल आरंभ होता है। ख्याल का विषय पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा प्रेम कथा होते हैं। इस नाटक का आरंभ मूलतः वीरपूजा की भावना से हुआ था। अनेक कवियों ने राजस्थानी भाषा में ख्यालों की रचना की है। (प० ला० गु०)

ख्रीस्त (क्राइस्ट) (देखिए ईसा मसीह)।

ख्रुश्चेव, निकिता सेर्ग्येयेविच सोवियत संघ के साम्यवादी दल एवं अंतर्जातिक क्रांति आंदोलन के कार्यकर्ता, जो सोवियत संघ के साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति के प्रथम सचिव तथा सोवियत संघीय मंत्रिमंडल के अध्यक्ष थे। इनका जन्म १७ जनवरी, १८९४ को कुर्स्की प्रांत के कालीनोवोका स्थान में एक सामान्य खान मजदूर परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था से ही उनका जीवन श्रमशील रहा। सर्वप्रथम इन्होंने चरवाहे के रूप में, तदनंतर कुछ दिनों तक विभिन्न संस्थाओं—जैसे मशीन निर्माणशाला (वर्कशॉप), मशीनी पुर्जों का मरम्मती कारखाना तथा दोनेत्स्क और यूक्रेन के कोयला क्षेत्र, कोक के रासायनिक कारखाने आदि—में काम सीखा और किया।

१९१८ ई० में साम्यवादी दल में संमिलित हुए। तब से १९२० तक गृहयुद्ध में दक्षिणी मोर्चे पर सक्रिय भाग लिया। युद्ध के पश्चात् दनबस की खान में सहायक व्यवस्थापक के पद पर रहे। पुनः दोनेत्स्क

के औद्योगिक शिक्षण संस्थान में श्रम विभाग का कार्य सीखते रहे। इस बीच वे अनेक बार दल के सचिव निर्वाचित हुए। श्रमिक विभाग का कार्यसमापन करने के पश्चात् उन्होंने दल की कलिंस्की जिला समिति के पेत्रवासिक शाखा के सचिव रूप में कार्य किया तथा यूजफ्का (आजकल दोनेत्स्क) नगर की दलीय जिला समिति के मचालक बने। तत्पश्चात् कियेव के दलीय कार्य का नेतृत्व किया। सन् १९२९ में मस्कर की औद्योगिक विज्ञान परिषद् में शिक्षा ली। वहाँ ये दलीय समिति के सचिव भी चुने गए। जनवरी, १९३१ से मास्को में दल का नेतृत्व करते रहे। १९३५ से १९३८ तक मास्को क्षेत्र तथा नगर दल समिति के प्रथम सचिव बनाए गए। १९३४ में दल की केंद्रीय समिति के सदस्य बने। जनवरी, १९३८ में यूक्रेन साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति के प्रथम सचिव नियुक्त हुए। १९३८ में केंद्रीय समिति के पोलित ब्यूरो के उम्मीदवार सदस्य चुने गए तथा १९३९ में सोवियत संघ की केंद्रीय समिति के पोलित ब्यूरो के सदस्य। सन् १९४१ से ४५ तक चलनेवाले महान् देशभक्तिपूर्ण युद्ध में दक्षिणी पश्चिमी क्षेत्र, स्तालिनग्राद, दक्षिणी क्षेत्र तथा यूक्रेन के मुख्य मोरचे के लिये गठित युद्धपरिषद् के विशिष्ट सदस्य नियुक्त हुए। शत्रु पक्ष से चतुर्दिक् घिरे हुए सोवियत यूक्रेन क्षेत्र के गुरिल्ला युद्ध का संचालन किया तथा जर्मन फासिस्ट आक्रामकों से यूक्रेन को मुक्त कराने में बड़े जीवट का परिचय दिया। फरवरी, १९४४ में ये लेफ्टिनेंट जनरल बनाए गए। १९४७ में मार्च से दिसंबर तक सोवियत यूक्रेन की मंत्रिपरिषद् के अध्यक्ष हुए। दिसंबर, १९४७ से दिसंबर, १९४९ तक पुन. यूक्रेन की साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति के प्रधान सचिव रहे। दिसंबर, १९४९ से मार्च, १९५२ तक साम्यवादी दल की केंद्रीय तथा मास्कोक्षेत्रीय समिति के सचिव नियुक्त हुए। १९५२ में सोवियत संघ के साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति के सचिव तथा सभापति मंडल के सदस्य चुने गए। सितंबर, १९५३ में ये सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के प्रधान सचिव बनाए गए। मार्च, १९५८ में ये सोवियत संघ के प्रधान हुए।

निकिता ख्रुश्चेव के दिखलाए पथ पर सोवियत साम्यवादी दल तथा सरकार ने सन् १९५१ में सर्वप्रथम महान् राजनीतिक तथा अर्थनीतिक दिशा में वैधानिक योजनाएँ बनानी प्रारंभ की, सोवियत समाज को साम्यवाद की दिशा में तीव्र गति से संचालित किया और स्तालिन के काल में देश में जो कुछ अवैध होता था उसे समाप्त कर लेनिन के महान् आदर्श तथा मानक पर राष्ट्रीय और दलीय जनतंत्रवाद का पुन स्थापन किया। सोवियत अर्थव्यवस्था को मजबूत करने के पश्चात् आगे चलकर औद्योगीकरण तथा ग्रामीण अर्थव्यवस्था से जनतंत्रीकरण का प्रबंध कर सोवियत संस्थाओं में सही कदम उठाया। ख्रुश्चेव ने अछूती तथा परती धरती पर अन्न उत्पादन के लिये लोगों को सर्वप्रथम अनुप्रेरित किया। देश की जनता के आर्थिक विकास तथा गृहनिर्माण में महान् सफलता प्राप्त की। श्रमजीवी वर्ग के जीवन के भौतिक तथा सांस्कृतिक स्तर की प्रगति हुई। देश के महत्वपूर्ण आर्थिक क्षेत्रों, मिलों, राजकीय सोवियत फार्मों में स्वयं जाकर नियमित रूप से मिलते थे। इस प्रकार इन्होंने नगरों तथा ग्रामों के श्रमजीवियों से घनिष्ठतम संबंध स्थापित किया। असाधारण प्रतिभाशाली नेता लेनिन के समान इनका भी मानवजीवन के विषय में गंभीर ज्ञान था।

ख्रुश्चेव साम्यवादी दल के महान् प्रचारक तथा विचारक थे। मार्क्सवादी तथा लेनिनवादी सिद्धांतों के महत्वपूर्ण विषयों पर इन्होंने रचनात्मक विकास किया। ख्रुश्चेव विश्वशांति के लिये, विश्व के विभिन्न देशों की समाजवादी व्यवस्था के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व तथा जनमैत्री के लिये महान् प्रयास करते रहे। ये विभिन्न महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय वार्ताओं में सक्रिय भाग लेते रहे। जुलाई, १९५५ में चार बड़े राष्ट्रों के प्रधानों के संमेलन में निकिता ख्रुश्चेव ने भी भाग लिया था। विश्वशांति करने, जनमैत्री बढ़ाने तथा विदेशों के राजनीतिज्ञों से व्यक्तिगत संपर्क स्थापित करने के महान् उद्देश्य से प्रेरित होकर ख्रुश्चेव ने सन् १९५४ से १९६२ तक यूरोप, एशिया तथा अमरीका आदि के विभिन्न देशों की कई बार [illegible] की।

१९५९ तथा १९६० में ख्रुश्चेव ने न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्रसंघ के साधारण अधिवेशन में भाषण दिया। वहाँ इन्होंने विश्वशांति पर सोवियत संघ के साधारण अधिवेशन में भाषण दिया। विश्वशांति के हेतु सोवियत संघ की विदेशनीति पर प्रकाश डाला। १८ सितंबर, १९५९ को ख्रुश्चेव ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के साधारण अधिवेशन की १४वीं बैठक में आम तथा पूर्ण निरस्त्रीकरण पर प्रारूप उपस्थित किया। एक वर्ष में ही इन्होंने पुन , १३ सितंबर, १९६० को, संयुक्त राष्ट्रसंघ के साधारण अधिवेशन की १५वीं बैठक में औपनिवेशिक देशों तथा जनता के स्वाधीनतादान की घोषणा में निरस्त्रीकरण के संबंध में सोवियत सरकार का वक्तव्य तथा आम और पूर्ण निरस्त्रीकरण पर मौलिक स्थिति की संधि पर अपना विचार प्रकट किया।

कम्यूनिस्ट पार्टी तथा सोवियत जनजीवन पर असाधारण स्वीकृतियों के कारण इनको तीन बार १९५४, १९५७, १९६१ में 'समाजवादी श्रमवीर' की उपाधि प्रदान की गई। विश्वशांति की रक्षा के लिये इनकी असाधारण प्रतिभा पर मानवजाति में शांति दृढ़ करने के लिये अंतरराष्ट्रीय लेनिन पुरस्कार प्रदान किया गया। (शां० ले० स्तें०)

ख्वारेज्म मध्य एशिया में स्थित खीव का प्राचीन नाम। ऐतिहासिक दृष्टि से मुस्लिम काल तक भारत के साथ इसका घना संबंध था। (विशेष विवरण के लिये द्र० खीव)। (प० ला० गु०)

गंगई मैना जाति का एक भारतीय पक्षी जिसे गलगलिया भी कहते हैं।

यह ग्यारह इंच लंबा भूरे रंग का पक्षी है और देश भर में सर्वत्र पाया जाता है। खेतों और मैदानों में घूमता हुआ आसानी से देखा जा सकता है। इसकी आवाज बहुत तेज होती है। मादा झाड़ों में घोंसला बनाती है। अंडा देने का समय निश्चित नहीं है, किंतु जब देती है तो चार अंडे देती है। (प० ला० गु०)

गंग कवि अकबर के दरबार के हिंदी कवि। जन्म, निधनतिथि तथा जन्मस्थान विवादास्पद है। वैसे ये इकनौर (जिला इटावा) के ब्रह्मभट्ट कहे जाते हैं। शिवसिंह सेंगर के आधार पर मिश्रबंधु इनका जन्म सं० १५६५, तासी इनका रचनाकाल सं० १६१२ और आचार्य रामचंद्र शुक्ल १७वीं शताब्दी विक्रमी का अंत मानते हैं। इनका निधन सं० १६५२ और १६६५ के बीच हो सकता है। अकबर तथा उनके दरबार के अन्य लोग, यथा—रहीम, बीरबल, मानसिंह, टोटरमल इनका बहुत आदर करते थे। प्रवाद है कि रहीम ने इनके एक छप्पय पर प्रसन्न होकर ३६ लाख रुपए भेंट किए थे।

अकबर के दरबार में रहकर वे समस्याओं की पूर्ति किया करते थे। इनकी गंग छापधारी स्फुट रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें प्रशस्तियाँ और हास्य व्यंग्य की चुभती उक्तियाँ हैं। गंग पदावली, गंगपचीसी और गंग रत्नावली नाम से इनकी रचनाएँ संगृहीत पायी जाती हैं। शृंगार, वीर आदि रसों की इनकी उक्तियाँ वाग्वैदग्ध्यपूर्ण एवं प्रभावकारी हैं। इनकी आलोचनात्मक एवं व्यंग्यपरक उक्तियाँ मार्मिक, निर्भीक और स्पष्ट हैं। 'चंद छंद बरनन की महिमा' नामक खड़ी बोली का एक ग्रंथ भी इनका लिखा बताया जाता है पर इसमें अनेक विद्वानों को संदेह है।

कहा जाता है कि जहाँगीर इनकी किसी रचना से अत्यंत रुष्ट हुए और उन्हें हाथी से कुचलवा कर मार डालने का दंड दिया। किंतु इस प्रकार उनकी मृत्यु हुई, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

(वि० त्रि०; प० ला० गु०)

गंगवंश (पश्चिमी) दक्षिण भारत का एक प्रख्यात राजवंश।

कदाचित् यह वंश नागार्जुनी कोंड के इक्ष्वाकु वंश की शाखा थी जिसने गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के दक्षिण अभियान काल में राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित कर लिया था। किंतु इस वंश ने गंग नाम क्यों और किस प्रकार धारण किया, यह अज्ञात है। किंतु कुछ लोग गंगा नदी के नाम के साथ इस नाम के संबंध की कल्पना करते हैं। ये लोग काण्वायन गोत्र के थे और इनकी भूमि गंगवाडी कही गई है। इस वंश का संस्थापक कोंगुनिवर्मन अथवा माधव

प्रथम था। उसका शासन कदाचित् ३५० और ४०० ई० के बीच रहा। उसकी राजधानी कोलार थी। उसके पश्चात् माधव द्वितीय (४००–४३५ ई०) शासक हुआ। वह न केवल नीतिशास्त्र का ज्ञाता था वरन् उपनिषद् का भी विद्वान् था। उसने कामसूत्रकार वात्स्यायन के पूर्ववर्ती दत्तक के वेश्या सूत्र पर एक वृत्ति भी तैयार की थी। तदनतर हरिवर्मन (४५०–४६० ई०) के समय में गंगावाड़ी की राजधानी शिवसमुद्रम् के निकट कावेरी तट पर तलवनपुर (तलकाड़) बनी। उसे पल्लव नरेश सिंह वर्मन प्रथम ने बाणों को निर्मूल करने की दृष्टि से अभिषिक्त किया था। उसका उत्तराधिकारी माधव तृतीय (४६०–५०० ई०) दबंग शासक था। उसने एक कदंब राजकुमारी से विवाह किया था। उसके बाद अविनीत (५००–५४० ई०) शासक हुआ। जब वह अवयस्क था तभी उसने राज्य प्राप्त किया।

तदनतर दुर्विनीत (५४०–६००) शासक हुआ। उसने पुन्नाड़ (दक्षिण मैसूर) और कोंगु देश विजित किए, चालुक्यों से मैत्री की और पल्लवों से शत्रुता निभाई। उसने काँची के काडुवट्टि को पराजित किया। वह कन्नड और संस्कृत का प्रख्यात विद्वान् हुआ। स्वयं वह जैन वैयाकरण पूज्यपाद का शिष्य था और उसने शब्दावतार नामक ग्रथ की रचना की तथा प्राकृत वृहत्कथा का संस्कृत में अनुवाद किया था। संस्कृत के प्रख्यात कवि भारवि का वह संरक्षक था। भारवि के किरातार्जुनीय के १५वें सर्ग के टीकाकार के रूप में भी उसकी ख्याति है। इस प्रकार वह गंग वंश का एक महान् शासक था।

सातवी शती में इस वंश में मुष्कर, श्रीविक्रम, भूविक्रम और शिवमार (प्रथम) शासक हुए। वे लोग निरंतर पल्लवों से लड़ते रहे। शिवमार प्रथम (६७०–७१३ ई०) कदाचित् दुर्विनीत का प्रपौत्र था। उसके पश्चात् उसका पौत्र श्रीपुरुष राज्य का अधिकारी हुआ। कुछ दिनों तक उसने उपराज का भार सँभाला था। अपने उपराज काल में उसने बाण नरेश जगदेकमल को परास्त किया था। उसके राज्यकाल में राज्य की समृद्धि चरम सीमा तक पहुँच गई थी। फलस्वरूप उसका राज्य श्रीराज्य कहा जाने लगा था। कदाचित् इस श्रीवृद्धि से आकृष्ट होकर राष्ट्रकूटों ने गंगवाड़ी पर आक्रमण करना आरंभ किया। राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम ने ७६८ ई० में उसपर आक्रमण किया और अधिकार करने में सफल रहा। श्रीपुरुष के पश्चात् उसका पुत्र शिवमार द्वितीय (७८८–८१२ ई०) राज्याधिकारी बना। राष्ट्रकूट ध्रुव ने गंगवाड़ी पर आक्रमण कर उसे कैद कर लिया और अपने पुत्र स्तंभ को गंगवाड़ी का उपराज बना दिया। जब राष्ट्रकूट गोविंद (तृतीय) का अपने बड़े भाई स्तंभ के साथ राज्याधिकार के प्रश्न पर झगड़ा उठ खड़ा हुआ तब गोविंद ने उसे रिहा कर दिया किंतु रिहा होने पर शिवमार ने स्तंभ का पक्ष लिया। निदान वह फिर कैद कर लिया गया। बाद में इस आशा से राष्ट्रकूट नरेश ने उसे छोड़ दिया कि कदाचित् उससे उन्हें पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध सहायता मिल सके। शिवमार विद्वान् था। उसने तर्क, दर्शन, नाटक, व्याकरण, आदि का अध्ययन किया था। कन्नड में उसने गजशतक की रचना की थी।

राष्ट्रकूटों के समय गंगवाड़ी राज्य की दयनीय स्थिति का परिणाम यह हुआ कि गंग राज्य शिवमार के बेटे मारसिंह और भाई विजयादित्य में बँट गया। मारसिंह ने अपना एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया जिसमें क्रम से मारसिंह, पृथिवीपति प्रथम, मारसिंह द्वितीय और पृथिवीपति द्वितीय शासक हुए।

शिवमार द्वितीय के पश्चात् उसका भतीजा (विजयादित्य का पुत्र) राजमल्ल द्वितीय (८१३–८५३ ई०) मूल वंशक्रम में शासक हुआ। उसके शासन काल में राष्ट्रकूट अमोघवर्ष प्रथम को अपने प्रयासों में सफलता न मिली और शिवमार अपने राज्य को अक्षुण्ण रखने में सफल रहा। राजमल्ल प्रथम के बाद उसका बेटा नीतिमार्ग प्रथम (८५३–८७० ई०) गंगवाड़ी का अधिकारी हुआ और उसने बाणों और राष्ट्रकूटों को पराजित किया। फलस्वरूप अमोघवर्ष प्रथम को अपनी बेटी चंद्रोबेलब्बा का विवाह नीतिमार्ग प्रथम के बेटे बूतुग प्रथम से करना पड़ा। बूतुक प्रथम और उसके छोटे भाई राजमल्ल (द्वितीय ८७०–९०७ ई०) ने पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध युद्ध किया। पाड्यों के विरुद्ध पल्लवों की सहायता की। बूतुग प्रथम के असमय मर जाने के कारण उसका पुत्र नीतिमार्ग द्वितीय, राजमल्ल द्वितीय के बाद गद्दी पर बैठा। नीतिमल्ल द्वितीय ने गंगवाड़ी में अपनी स्थिति सुदृढ़ की। किंतु उसका शासनकाल अत्यंत संक्षिप्त था। उसके बाद उसका बेटा राजमल्ल तृतीय राजा हुआ पर उसके भाई बूतुक द्वितीय ने उसे ९३७ ई० में मार डाला और स्वयं राजा बन बैठा।

बूतुक द्वितीय से राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय की बहन रेवका ब्याही गई थी। बूतुक ने तक्कोलम के युद्धक्षेत्र में राजादित्य को मार डाला। फलस्वरूप कृष्ण ने पुरस्काररस्वरूप उसे बनवासी का प्रांत प्रदान किया। इस प्रकार बीस बरसों तक बूतुक राष्ट्रकूटों के अधीन सामंत के रूप में सुव्यवस्थित शासन करता रहा। बूतुक के बाद उसके बेटे मारसिंह तृतीय ने गग राष्ट्रकूट मैत्री संबध को बनाए रखा और गुजरात और मालवा के अभियान में कृष्ण तृतीय की सहायता की तथा नोलंबों की राजधानी उच्चगी पर अधिकार कर लिया और नोलब-कुलातक की उपाधि धारण की। जैन होने के कारण उसने सल्लेखना (उपवास कर मरना) कर अपनी जीवनलीला समाप्त की।

बूतुक के बाद राजमल्ल चतुर्थ और उसके भाई रक्कस क्रमशः राजा हुए। रक्कस के समय १००८ ई० में चोलों ने तलकाट पर अधिकार कर लिया और गगवंश का अत हो गया।

गंगवंश (पूर्वी) यह राजवश उड़ीसा में शासन करता था। अनुमान है कि यह वश गंगवाड़ी (कर्णाटक) के राजवंश की ही कोई शाखा होगी पर इस अनुमान के लिये कोई स्पष्ट आधार नहीं है। इस वश का संस्थापक महाराज इंद्रवर्मन (प्रथम) था। वह अपने को त्रिकलिंगाधिपति कहता है। इसने अपने शासन पत्रों में अपने राजवर्ष का प्रयोग किया है। उसी क्रम में उसके उत्तराधिकारियों ने भी अपने शासन पत्रों में तिथि अकन किया; फलस्वरूप उनमें अंकित वर्ष को गंग संवत् के नाम से अभिहित किया जाने लगा। इस संवत् का प्रथम वर्ष ४९६–४९ ई० के बीच अनुमान किया जाता है। महाराज इंद्रवर्मन के शासन पत्र ३९वें वर्ष तक के प्राप्त होते हैं। उसके बाद ६४वें वर्ष का महासामंतवर्मन का शासन पत्र मिलता है। अतः यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि महासामंतवर्मन इंद्रवर्मन का तात्कालिक उत्तराधिकारी था अथवा उसके पूर्व इंद्रवर्मन के बाद कोई अन्य शासक भी रहा।

तदनंतर ७९वें वर्ष का महाराज हस्तिवर्मन का शासन पत्र उपलब्ध है। वह राजसिंह और रणजीत कहा जाता था। उसके बाद महाराज इंद्रवर्मन (द्वितीय) राजसिंह के ८७वें और ९१वें वर्ष के बीच के शासन प्राप्त होते हैं। इंद्रवर्मन द्वितीय के बाद कदाचित् इंद्रवर्मन (तृतीय) हुआ। उसका अद्यतन ज्ञात शासन १२८वें वर्ष का है। समझा जाता है कि यही मित्रवर्मन का पुत्र इंद्राधिराज है जिसने विष्णु कुंडिन वंश के इंद्र भट्टारक को पराजित किया था। किंतु यह अनुमान विवादास्पद है।

इंद्रवर्मन तृतीय के बाद दानार्णवपुत्र महाराज इंद्रवर्मन चतुर्थ हुआ। इसकी अंतिम ज्ञात तिथि १४५ (६५० ई०) है। तदनंतर गुणार्णवपुत्र परममाहेश्वर महाराज देवेंद्रवर्मन का नाम ज्ञात होता है। उसका कहना था कि उसने समस्त कलिंग का अधिकार अपनी शक्ति से प्राप्त किया। इसके बाद दसवीं सदी तक इस वंश में क्रमशः महाराज अनंतवर्मन, महाराज नंदवर्मन, देवेंद्रवर्मन द्वितीय, अनंतवर्मन द्वितीय, देवेंद्रवर्मन तृतीय, राजेंद्रवर्मन द्वितीय, सत्यवर्मन, अनंतवर्मन तृतीय, भूपेंद्रवर्मन मारसिंह, देवेंद्रवर्मन चतुर्थ शासक हुए। इन सबके शासन पत्र उपलब्ध होते हैं और उनसे उत्तराधिकार परंपरा का परिचय मिलता है।

नवी शती में पूर्वी चालुक्य नरेश विजयादित्य तृतीय (८४४–८८८) ने इन गंग राजाओं का ऐश्वर्य बलात् छीन कर उन्हें अपना करद बना लिया था। दसवीं शती में कदाचित् यह वंश खंडित होकर पाँच भागों में बँट गया था। तदनंतर गंगवंश का पुनरुत्थान ग्यारहवीं शती (१०३८ ई०) में वज्रहस्त अनंतवर्मन के समय में हुआ। उसने खंडित पाँचों शाखाओं का पुनः एकीकरण किया। उनके इस उत्थान के मूल में कदाचित् राजेंद्र चोल (९८५–१०१६ ई०) का कलिंग के विरुद्ध अभियान है।

१००३ ई० के लगभग कलिंग विजय किया था। उस समय लगता है गंगवंशीय शासक चोलों के मित्र बन गए और चोल नरेश के संरक्षण में उन्होंने शक्ति प्राप्त की तथा चोलों के साथ विवाह संबंध स्थापित किए। वज्रहस्त के समय कलचुरि नरेश कर्ण ने कलिंग पर आक्रमण किया था।

वज्रहस्त के बाद उसका पुत्र राजराज प्रथम देवेंद्रवर्मन शासक हुआ। उसने आंध्र के पदच्युत नरेश विजयादित्य (सप्तम) को शरण देकर कोलुत्तुंग चोल प्रथम को रुष्ट कर दिया जिसने तत्काल अपने पुत्र मुम्मणि चोल को सेना सहित गंग नरेश को सबक सिखाने भेजा। राजराज ने इस चोल आक्रमण को असफल कर दिया और सोमवंशियों की गंभीर राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाकर अपने राज्य के विस्तार का प्रयास किया। राजराज (प्रथम) के पश्चात् अनंतवर्मन चोलगंग १०७८ ई० में शासक हुआ। वह महादेवी राजसुंदरी के गर्भ से, जो कोलुत्तुंग प्रथम की पुत्री थीं, उत्पन्न राजराज का पुत्र था।

अनंत वर्मन चोलगंग के शासन के प्रथम चरण में कोलुत्तुंग चोल प्रथम ने अपने सेनापति करुणाकर के नेतृत्व में कलिंग के विरुद्ध एक बड़ी सेना भेजी। अनंतवर्मन चोल सेना का प्रतिरोध न कर सका और उसकी स्थिति अत्यंत विषम हो गई किंतु उसने साहस नहीं खोया और कुछ ही दिनों के भीतर उसने न केवल अपना खोया राज्य ही प्राप्त कर लिया वरन् चोलों से विशाखापत्तन का भूभाग भी छीन लिया। तदनंतर उसने आंध्र देश पर आक्रमण कर गोदावरी तट तक अपने राज्य की सीमा बढ़ा ली। उसने पूर्व में भी अपनी सीमा का विस्तार किया और कुछ ही दिनों में सारा उत्कल उसके अधीन हो गया। तब वह दक्षिण बंगाल की ओर बढ़ा और उसके राज्य का विस्तार गंगा तट से गोदावरी तट तक फैल गया। उसने उत्तर की ओर भी बढ़ने का प्रयास किया पर उस ओर वह सफल न हो सका। अनंतवर्मन ने पुरी में जगन्नाथ का मंदिर बनाया था। उसके शासन काल में शतानंद ने ज्योतिष ग्रंथ भास्वती की रचना की थी।

अनंतवर्मन के पश्चात् कामार्णव और फिर उसका सौतेला भाई राघव (११५७–११७० ई०) शासक हुआ। राघव के शासन काल में दक्षिण बंगाल से गंगों का प्रभुत्व समाप्त हो गया। राघव के पश्चात् क्रम से उसके दो सौतेले भाई राजराज द्वितीय (११७१–११९२) और अनंगभीम द्वितीय फिर अनंगभीम का पुत्र राजराज तृतीय (१२०५–१२०६ ई०) शासक हुए। राजराज के समय उड़ीसा पर आक्रमण होना आरंभ हुआ। पर उसने तथा उसके पुत्र और उत्तराधिकारी अनंगभीम तृतीय ने सफलतापूर्वक उनका प्रतिरोध किया। अनंगभीम के बाद नरसिंह प्रथम १२३८ ई० में शासक बना। उसका शासन काल उड़ीसा के इतिहास का गौरवशाली अध्याय है। उसने मुसलमान शासकों के आक्रमणों के प्रतिरोध की अपेक्षा उनपर सीधे आक्रमण करने की नीति अपनाई। उसने १२४३ ई० में सेना भेजकर लखनावती को विध्वस किया और लखनौर पर अधिकार कर राढ़ (दक्षिण बंगाल) में मुस्लिम शासन का अंत कर दिया। फिर वारेंद्र (उत्तरी बंगाल) की ओर बढ़ा। पर दिल्ली सुलतान की ओर से सेना आ जाने के कारण वह रुक गया। अंतिम दिनों में वह बंगाल पर अपना अधिकार बनाए रखने में समर्थ न हो सका। तथापि उसकी ख्याति तत्कालीन उत्तर भारतीय राजाओं के बीच मुसलमान शासकों से जमकर मोर्चा लेते रहने के कारण सर्वदा स्मरणीय रहेगी। उसकी ख्याति का एक अन्य कारण है कोणार्क स्थित सूर्यमंदिर (द्र० कोणार्क)।

उसके पुत्र भानुदेव प्रथम तथा उसके पौत्र नरसिंह द्वितीय का काल राजनीति की दृष्टि से महत्वहीन है किंतु उसके पुत्र भानुदेव द्वितीय के समय से उड़ीसा के इतिहास का एक नया अध्याय आरंभ होता है। भानुदेव के समय गयासुद्दीन तुगलक के पुत्र उलूग बेग ने उड़ीसा पर आक्रमण किया किंतु भानुदेव ने उसे खदेड़ बाहर किया। ऐसे समय जब एक के बाद एक हिंदू राजे मुसलमानी आक्रमणों के सामने धराशायी हो रहे थे, भानुदेव की इस सफलता का अपना महत्व है। भानुदेव द्वितीय के पश्चात् उसके पुत्र नरसिंह तृतीय और फिर उसका पुत्र भानुदेव तृतीय शासक हुए। ...व तृतीय के समय मुस्लिम आक्रमण फिर आरंभ हुए और बंगाल ... शम्सुद्दीन इलियास शाह उड़ीसा को लूटकर लूट का माल ४४ हाथियों पर लादकर ले गया। तदनंतर फीरोज तुगलक ने उड़ीसा पर आक्रमण किया। भानुदेव तृतीय भाग खड़ा हुआ। फीरोज तुगलक ने राजधानी पर अधिकार कर लिया। खुलकर नरसंहार हुआ और जगन्नाथ मंदिर भ्रष्ट किया गया। कहा जाता है कि भानुदेव ने तुगलक की अधीनता मानकर कर देना स्वीकार किया पर इसका समर्थन किसी ऐतिहासिक सूत्र से नहीं होता।

भानुदेव के बाद नरसिंह चतुर्थ और भानुदेव चतुर्थ शासक हुए। भानुदेव चतुर्थ के समय मालवा सुलतान होशंगशाह को कुछ हाथियों की आवश्यकता हुई और वह घोड़े के व्यापारी के वेश में उड़ीसा आया। भानुदेव घोड़ों का शौकीन था। जब वह अपने थोड़े से आदमियों के साथ होशंगशाह के खेमे में घोड़े देखने आया तब होशंगशाह ने उसे पकड़ लिया और तब तक नहीं छोड़ा जब तक उसे अनेक बहुमूल्य हाथी भेंट नहीं किए गए। इस घटना के अतिरिक्त उसके शासन काल में कोई दूसरी घटना मुसलमान शासकों से संबंधित नहीं घटी किंतु उसे विजय नगर के बढ़ते हुए साम्राज्य का सामना करना पड़ा। जब वह दक्षिण में अपनी स्थिति सँभालने में लगा था तभी राजधानी में उसके विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा हुआ और उसकी अनुपस्थिति में उसके मंत्रियों ने कपिलेंद्र नामक व्यक्ति को शासक बना लिया जिसके वंशज उड़ीसा के गजपति नरेश के नाम से प्रख्यात हुए। इस विद्रोह के फलस्वरूप भानुदेव राजधानी वापस न आ सका। उसका क्या हुआ, यह अज्ञात है पर गंगवंश समाप्त हो गया।

(प० ला० गु०)

गंगवंश (श्वेतक) गंग नामक एक अन्य वंश। उड़ीसा में ही श्वेतक में चिकटी (जिला गंजाम) में राज करता था जो कदाचित् पूर्वी गंगवंश की कोई उपशाखा थी। इस वंश का आदि नरेश महाराज जयवर्मन था जो कदाचित् कलिंग नगर के शासन के अंतर्गत राणक (सामंत) था। यह छठीं शती ई० के अंतिम दशक में रहा। इसके बाद इस वंश के संबंध में अगले सौ वर्ष तक कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। ६८० ई० के आसपास इस वंश में महाराज सामंतवर्मन के होने की बात ज्ञात होती है। वह अपने को समस्त कलिंग का नरेश बताता है। तदनंतर आठवीं-नवीं शती में इस वंश में महाराज इंद्रवर्मन हुए। इन शासकों का पारस्परिक संबंध अज्ञात है। इस वंश के परवर्ती कुछ अन्य शासकों के भी नाम ज्ञात होते हैं। इस वंश का अंतिम शासक देवेंद्रवर्मन था। ग्यारहवीं शती के अंत में अनंतवर्मन चोलगंग ने इस वंश को समाप्त कर दिया।

(प० ला० गु०)

गंगटोक (गंतोक) भारत के उत्तर पहाड़ों पर स्थित सिक्किम राज्य की राजधानी तथा व्यापारिक नगर (स्थिति: २७° २०' उ० अ० तथा ८८° ३८' पू० दे०)। यह दार्जिलिंग के उत्तर-पूर्व २८ मील की दूरी पर भारत और तिब्बत के बीच में व्यापारिक मार्ग पर स्थित है। यहाँ सिक्किम के महाराज का महल तथा मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के आवास हैं। इस नगर में सरकारी भवनों के अतिरिक्त विद्यालय, प्राविधि संस्थान, कारागार तथा औषधालय भी हैं। यहाँ से चार मील दक्षिण-पश्चिम में रुमटेक का बौद्ध-मठ या आश्रम है। यहाँ दाल, मक्का, चावल, नारंगी और गलीचों का व्यापार होता है। (रा० प्र० सिं०)

गंगा भारत की सबसे बड़ी नदी तथा संसार के लंबे जलमार्गों में से एक।

गंगा का उद्गम उत्तर भारत में स्थित टेहरी गढ़वाल में १३,८००' ऊँची हिमाच्छादित गंगोत्री के समीप एक हिमगुफा में है (स्थिति ३०° ५५' उ० अ० तथा ७९° ७' पू० दे०)। इस स्थान को गोमुख कहते हैं। यहाँ इस नदी का नाम भागीरथी है।

इस नदी को संसार के अनेक पर्वतशिखरों—नंदा देवी, गुरला मांधाता, धौलागिरि, गोसाईंथान, कंचनजंगा और एवरेस्ट—की पिघली हुई बर्फ से जल प्राप्त होता है। इस नदी का प्रसवण क्षेत्र वस्तुतः यामुन (बदरपूँछ) से लेकर नंदादेवी तक विस्तृत है और यह नदी अनेक नदियों से मिलकर बनी है। इस कारण इस क्षेत्र को प्राचीनकाल में 'सप्तगंगम्' कहा करते थे। इसके पूर्व-पश्चिम दो भाग हैं। पूर्वी क्षेत्र में बदरीनाथ

तक यह विष्णुगंगा कही जाती है और पश्चिमी क्षेत्र में द्रोणगिरि के किनारे धौला गंगा की धारा है। यह धारा जोशी मठ के निकट विष्णुगंगा में मिलती है और तब तक संयुक्त धारा अलकनंदा कही जाती है। इसके आगे नंदप्रयाग में मंदाकिनी आकर अलकनंदा में मिलती है और कर्णप्रयाग में पिंडरगंगा का मिलन होता है। तदनंतर रुद्रप्रयाग में गंगोत्री से निकलनेवाली भागीरथी और अलकनंदा का संगम होता है। और तब इसके आगे इन सभी धाराओं के संयोग से बनी धारा गंगा कहलाती है। ऋषिकेश क्षेत्र से होकर सुर्खी स्थान के निकट यह मैदान में प्रवेश करती है और दक्षिण-पश्चिम हरिद्वार की ओर, जो अति प्राचीन और पवित्र स्थान है, मुड़ जाती है। इसके बाद देहरादून, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बुलंदशहर और फर्रुखाबाद जिलों में टेढ़ी मेढ़ी बहती है। फर्रुखाबाद जिले में रामगंगा इसमें आकर मिलती है। और तब आगे बढ़ने पर इलाहाबाद में यमुना आकर मिलती है। कदाचित् पुराकाल में यहीं एक सरस्वती नाम की तीसरी नदी भी मिलती थी जिसका अब पता नहीं है। इस कारण यह स्थान त्रिवेणी संगम के नाम से प्रख्यात है। हिमालय से लेकर गंगा-यमुना के संगम तक का सारा भूभाग प्राचीन काल में अंतर्वेद के नाम से प्रख्यात था। यह प्रदेश धन धान्य से समृद्ध और वैदिक संस्कृति का केंद्र रहा है।

प्रयाग से दक्षिण-पूर्व से पूर्व को बहती मिर्जापुर से होती हुई वाराणसी नगरी में प्रवेश करती है। यहाँ इसके किनारे सुंदर घाटों का दृश्य बहुत ही आकर्षक और अनुपम है। ऐसा दृश्य संसार में अन्यत्र किसी नदी का नहीं मिलता। आगे जाने पर इसमें गोमती मिल जाती है। इसके बाद यह गाजीपुर जिले से होती हुई बिहार राज्य में प्रवेश करती है। यहाँ उत्तर प्रदेश और बिहार की सीमा पर बलिया जिले में घाघरा नदी इसमें मिलती है। घाघरा गंगा का संगम बदलता रहता है। बिहार में प्रवेश करने के कुछ दूर बाद दक्षिण से सोन आकर इसमें मिल जाती है। पटना के संमुख नेपाल से निकली हुई गंडक नदी इससे मिल जाती है। पूर्व में कोसी से मिलने के बाद राजमहल की पहाड़ियों के किनारे किनारे बहती प्राचीन गौड़ नगर को छूती हुई पूर्वमुखी हो गई है। किंतु राजमहल से लगभग २० मील पहले यह दो धाराओं में बँट गई है। एक धारा मुर्शिदाबाद, बहरामपुर, नदिया, कालना, हुगली, चंदननगर होती हुई पश्चिम-दक्षिण की ओर बढ़कर बंगाल की खाड़ी में जा गिरती है। यही हुगली कही जाती है किंतु इस धारा को इस भूभाग के निवासी गंगा या भागीरथी कहते हैं। दूसरी धारा, जिसे मूल धारा कहना अधिक उचित होगा, अपने फूटने के स्थान से आगे पद्मा कहलाती है। और वह पाबना होती गोआलंद पहुँचती है। गोआलंद के निकट इसमें ब्रह्मपुत्र की यमुना नामक धारा आकर मिलती है। यह मूल धारा ब्रह्मपुत्र के साथ मिलकर मेघना कही जाती है और वह नोआखाली के निकट समुद्र में गिरती है। वस्तुतः यही गंगा है और भूगोल ग्रंथों में इसे ही गंगा कहा गया है। इस प्रकार अपने उद्गम से लेकर मुहाने तक गंगा १५५७ मील लंबी है।

इन दोनों धाराओं और समुद्र की रेखा के बीच जो त्रिकोणात्मक मुखभूमि (डेल्टा) है उसका क्षेत्रफल २८,०८० वर्ग मील है। इन दोनों धाराओं के बीच सागरतट की लंबाई सागरतीर्थ से चट्टग्राम (चटगाँव) तक ३७० मील के लगभग है। इस मुखभूमि में इन दो धाराओं के बीच उद्गम क्षेत्र के समान ही नौ धाराएँ हैं जो अलग अलग सागर में गिरती है और उन सबके अपने नाम हैं। यथा—गंगा (मेघना), ब्रह्मपुत्र, हरिणहाट, पुस्फर, मुर्जाटा (कागा), बड़पुंग, मलिंजु, रायमंगल (यमुना), हुगली।

ये संयुक्त नदियाँ बाढ़ में १८,००,००० घन फुट पानी का प्रस्राव (Disharge) प्रति सेकंड करती हैं, जो मिसीसिपी के उच्चतम प्रस्राव से भी अधिक है। व्यापार के लिये गंगा की सर्वप्रमुख डेल्टायी शाखा हुगली है। इसके मुहाने से लगभग ८० मील की दूरी पर स्थित कलकत्ता प्रमुख व्यावसायिक नगर एवं पत्तन है। नदी के मुहाने पर सुंदरवन का प्रसिद्ध एवं विस्तृत वन है जहाँ सदाबहार वृक्षों के सघन जंगल है। यहाँ सुंदरी नामक पेड़ अधिकता से उगते है।

गंगा का अपवाह क्षेत्र उत्तर में हिमालय की ७०० मील लंबी श्रेणियों, दक्षिण में विंध्याचल पर्वत और पूर्व में बंगाल (अविभाजित) और ब्रह्मदेश को विभाजित करने वाली श्रेणियों द्वारा घिरा हुआ है। इसका क्षेत्रफल ४,३२,४८० वर्ग मील है।

इसकी ढाल लगभग समान है। सर्वाधिक ढाल (औसत ६" प्रति मील) इलाहाबाद और वाराणसी के बीच में है। वाराणसी और कलकत्ता के बीच में औसत ढाल ४" से ५" तथा कलकत्ता से समुद्र तक १" से २" प्रति मील है। समय समय पर नदी की धारा परिवर्तित होती रहती है और कभी कभी नई धारा कई मील दूर होती है। प्राचीन काल के कितने ही ध्वस्त नगर इसके प्रमाण हैं।

नदी की घाटी उपजाऊ एवं घनी जनसंख्यावाली है। भारत के कुछ बड़े नगर, जैसे कलकत्ता, हवड़ा, पटना, वाराणसी, इलाहाबाद, कानपुर आदि इसी नदी के किनारे स्थित हैं। व्यापारिक दृष्टि से गंगा का महत्व पहले की अपेक्षा अब कम हो गया है। इसका अधिक जल सिंचाई के लिये प्रयुक्त होता है। इसके लिये नदी से दो प्रमुख नहरें निकाली गई हैं; ऊपरी गंगा नहर और निचली गंगा नहर, जिसका उद्गम स्थल हरिद्वार में है। ये उत्तर प्रदेश में सिंचाई की दो प्रमुख सदावाही प्रणालियाँ हैं। इस नदी पर छह रेलपुल क्रमशः गढ़मुक्तेश्वर, कानपुर, वाराणसी, प्रयाग, मोकामा और हावड़ा (हुगली पर) हैं।

(रा० प्र० सिं०; प० ला० गु०)

धार्मिक महत्व—गंगा का जो भौगोलिक महत्व है वह तो है ही, भारत निवासी अधिकांश लोगों की दृष्टि में उसका धार्मिक महत्व भी है। वह भारतवर्ष का राष्ट्रीय महातीर्थ है। आध्यात्मिक क्षेत्र में जो महत्व गीता को प्राप्त है वही धर्म के क्षेत्र में गंगा का है। उसे यह महत्व पुराणकाल में ही प्राप्त हुआ है। उससे पूर्व यद्यपि गंगा का उल्लेख ऋग्वेद में दो स्थलों (१०।७५।५, ६।४५।३१) में उपलब्ध है तथापि उनमें उनके किसी महत्व की चर्चा नहीं है। उन दिनों आर्यों का मुख्य निवास पंजाब में सिंधु और सरस्वती नदी के काँठे में था इस कारण वे गंगा के नाम से परिचित होते हुए भी उसके महत्व से अपरिचित रहे। ऋग्वेदोत्तर काल में वे जब गंगा-यमुना के अंतर्वेदी प्रदेश में आए तो उन्होंने स्वाभाविक रूप से शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक में गंगा की विशेष चर्चा की और पुराणों में तो गंगा की महत्ता की चर्चा जितनी हुई है उतनी किसी अन्य नदी की नहीं। पुराणों के मतानुसार पृथिवी के सर्व तीर्थों में गंगा प्रधान हैं। गंगा में मृत्यु होने से मनुष्य ही नहीं, निकृष्ट, कीट पतंग तक भी मोक्ष प्राप्त करते हैं। गंगा के दर्शन करने से ज्ञान, ऐश्वर्य, आयु, प्रतिष्ठा, सम्मान आदि प्राप्त होता है। गंगा का जल स्पर्श करने से ब्रह्महत्या, गोहत्या, गुरुहत्या आदि के समस्त पाप छूट जाते हैं। सिंह को देखकर जिस प्रकार मृगादि पलायित होते हैं उसी प्रकार गंगास्नान निरत व्यक्तिको देखकर यमदूत भी भय खाते हैं। गंगा में अज्ञान में भी स्नान करने से सर्व पाप नष्ट होते है, ज्ञानपूर्वक स्नान करने पर मुक्ति प्राप्त होती है। गंगा की मृत्तिका सिर पर धारण करने से मनुष्य तेजशाली होता है; आदि आदि। इस विश्वास के फलस्वरूप लोग गंगा को माता के नाम से अभिहित करते हैं और पर्वो के अवसर पर दूर दूर से गंगास्नान करने आते है। काशी और प्रयाग में गंगास्नान का विशेष महत्व है। फलस्वरूप प्रायः सभी नगरों के गंगातट पर घाट बने हुए हैं। मृत्यूपरांत गंगातट पर शवदाह भी मोक्ष अथवा स्वर्गप्राप्ति में सहायक माना जाता है। आसन्न मृत्यु जानकर बहुत से लोग वाराणसी आकर रहने लगते है।

गंगा की उत्पत्ति के संबंध में अनेक कथाएँ मिलती है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार गंगा मनोरमा अथवा मैना के गर्भ से जन्मी हिमालय की कन्या है। देवगण ने किसी कारण गंगा का अपहरण कर लिया और स्वर्ग ले गए। तब से ब्रह्मा के कमंडलु में रहने लगीं। कृत्तिवास रामायण के अनुसार देवगण उन्हें शिव से विवाह कराने के निमित्त ले गए थे। जब मैना ने गंगा को घर में गायब देखा तो उसे जलमयी होने का शाप दे दिया।

उधर सूर्यवंशी राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ आरंभ किया और दिग्विजय के निमित्त अश्व छूटा। उस अश्व के रक्षार्थ उन्होंने अपने साठ हजार पुत्रों को भेजा। इंद्र ने यज्ञ को विध्वंस करने के उद्देश्य से यज्ञ के अश्व को कपिल मुनि के आश्रम में बाँध दिया। सगरपुत्र अश्व ढूँढते हुए आश्रम में पहुँचे। कपिल मुनि ध्यानावस्थित थे। राजकुमारों ने उत्पात करना आरंभ किया तब मुनि ने उन्हें भस्म होने का शाप दे दिया और वे सब भस्म हो गए। सगर का पौत्र उनको खोजता हुआ मुनि के आश्रम में पहुँचा और जब उसे वहाँ सारी बातें ज्ञात हुई तो उसने कपिल मुनि से अनुनय विनय की। मुनि ने प्रसन्न होकर कहा कि स्वर्ग से गंगा को पृथिवी पर लाओ और उनके जल को सगरपुत्रों की राख पर छिड़को तब उनका उद्धार होगा। निदान अंशुमान ने गंगा को भूतल पर लाने के लिये हिमालय पर जाकर तप करना आरंभ किया। किंतु उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं हुई। उनके पुत्र दिलीप ने भी प्रयास किया पर वे भी सफल नहीं हुए। दिलीप के पुत्र भगीरथ ने तप कर ब्रह्मा को संतुष्ट किया। ब्रह्मा देवगण सहित भगीरथ के पास आए। भगीरथ ने उनसे अपनी मनोकामना प्रकट की और ब्रह्मा ने गंगा का देना स्वीकार कर लिया और गंगा भी पृथिवी पर आने को राजी हो गई। किंतु उनके प्रवाह का वेग असाधारण था अतः आवश्यक था कि कोई बीच में उन्हें रोक ले अन्यथा वे सीधे पाताल में चली जाएँगी। तब भगीरथ ने शिव को प्रसन्न कर उन्हें गंगा को अपने ऊपर धारण करने के लिये राजी किया और गंगा शिव जी के जटा जूट पर गिरकर उसमें समा गई। तब शिव ने अपनी जटा खोलकर उन्हें भूमि पर छोड़ा और वे बिंदुसरोवर में गिरीं। सरोवर में गिरने से उनकी सात धाराएँ हुईं। ह्लादिनी, पावनी और नलिनी नाम की तीन धाराएँ पूर्व की ओर और वक्षु, सीता और सिंधु नामक धाराएँ पश्चिम की ओर बह निकलीं। सातवीं धारा भगीरथ की बताई हुई राह से चली इस कारण उसका नाम भागीरथी पड़ा। उनके जल के छींटों से सगरपुत्रों का उद्धार हुआ।

गंगा का एक नाम जाह्नवी है। इस संबंध में एक उपकथा रामायण और विष्णुपुराण में उपलब्ध होती है। भगीरथ रथ पर चढ़कर आगे आगे चलने लगे और गंगा उनका अनुगमन करती हुई प्रबल वेग से चलीं। उनके इस प्रबल वेग के कारण मार्ग में पड़नेवाले ग्राम, नगर, वन, उपवन डूबने और बहने लगे तथा जह्नु ऋषि की यज्ञशाला भी डूब गई। इस प्रकार उनके यज्ञ में विघ्न पड़ गया। ऋषि ने जब यह देखा तो अपने योग-बल से गंगा को पी गए। इसे देखकर मनुष्य, देव सभी व्याकुल हो उठे और उन्होंने ऋषि से गंगा को मुक्त कर देने के लिये अनुनय विनय किया। तब ऋषि ने अपने कर्णरंध्र से गंगा को निकाल दिया। इस कारण गंगा को जह्नुसुता और जाह्नवी कहते हैं।

भागवत पुराण में गंगा संबंधी एक अन्य आख्यान है। लक्ष्मी, सरस्वती और गंगा विष्णु की पत्नियाँ थीं। वे तीनों उनके निकट ही रहती थीं। एक दिन गंगा किसी कारण विष्णु को एकटक निहारने लगीं। भगवान् इसे देख मुस्करा पड़े। यह देख सरस्वती सौतियाडाह के कारण जल भुन गई और विष्णु की खरी खोटी कहने लगीं। विष्णु ने चुपचाप खिसक जाने में ही कुशल समझी। गंगा और सरस्वती दोनों उलझ पड़ीं। पद्मा मध्यस्थ बनकर दोनों के कलह को शांत करने गई। परिणाम उलटा निकला। सरस्वती ने पद्मा को शाप दे दिया—"नदी रूप धारण कर पापियों के आवास मर्त्यलोक में रहो।" गंगा से यह देखा नहीं गया। वे बोल उठीं—"जिस तरह निर्दोष पद्मा को सरस्वती ने शाप दिया है उसी तरह उसे भी शाप लगे। उसे भी मर्त्यलोक जाकर पापराशि ग्रहण करनी पड़े।" तब इसी प्रकार सरस्वती ने भी गंगा को पाप का फल भोगने का शाप दिया। इस प्रकार तीनों नदी बनकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुईं। इसी के क्रम में विष्णु के वचन के माध्यम से भगीरथवाली कथा भी इस पुराण में जोड़ दी गई है।

एक अन्य पौराणिक कथा है कि गंगा और गौरी हिमालय की दो कन्याएँ थीं। गंगा ज्येष्ठ और गौरी कनिष्ठ थीं। जिस तरह गौरी ने शिव को प्राप्त करने की आकांक्षा की थी उसी तरह की आकांक्षा गंगा की भी थी। किंतु गंगा कुछ गर्विष्ठ थीं। जिस समय प्रलय से सारा संसार डूब गया उस समय गंगा किसी प्रकार बची रह गई। उन्होंने अपने गर्व में अपने भीगे केश झाड़े। उस समय उनके केश का एक बाल टूटकर कैलाश पर तपरत शिव के शरीर पर जा गिरा। इससे शिव क्रुद्ध हुए और उसे पृथ्वी पर जन्म लेने का शाप दिया। शाप सुनकर गंगा बहुत घबराई और शिव से अनुनय विनय करने लगीं। तब शिव ने कहा कि पृथ्वी पर जन्म लेने के बाद ही मैं तुम्हारा पाणिग्रहण करूँगा। इस प्रकार गंगा का पृथ्वी पर अवतरण हुआ और वे शंकर की भार्या बनीं। पार्वती के मन में सौत के भाव जागे और वह गंगा को तरह तरह से त्रास देने लगीं। तब गंगा ने शिव से शिकायत की। शिव ने उन्हें अपनी जटा में छिपा लिया। गंगा और पार्वती के इस सौत भाव की कथा महाराष्ट्र में विशेष प्रचलित है और इसका वर्णन वहाँ के लोकगीतों में मिलता है।

गंगा की मूर्ति—भारतीय कला में गंगा की कल्पना का विशद मूर्तन हुआ है। गंगा में मकर और यमुना में कच्छप (कछुआ) अधिक संख्या में मिलते हैं। अतः मूर्तिकारों ने इन दोनों का अंकन क्रमशः मकरवाहिनी और कच्छपवाहिनी घटधारिणी नारी के रूप में किया है। इन दोनों के प्राकृतिक (भौगोलिक) स्वरूप को कलाकारों ने विदिशा (मध्य प्रदेश) के निकट स्थित उदयगिरि पहाड़ी में कोरे गए लयणों में से एक की दीवार पर सजीव रूप में मूर्त किया है। दो जलधाराएँ दो भिन्न दिशाओं से आकर एक स्थान पर एकाकार होती हैं। इन दोनों जलधाराओं के बीच में *गंगा और यमुना की अभिव्यक्ति के लिये उपर्युक्त वर्णित रूप में* मकरवाहिनी और कच्छपवाहिनी नारी का अंकन हुआ है। गंगा और यमुना दोनों को नदी देवता का पद प्राप्त है किंतु उनका मूर्तन देवमंदिरों के द्वारों के द्वार-पाल के स्थान पर ही पाया जाता है। इस रूप का आरंभ गुप्तकाल (चौथी शती ई०) से आरंभ होता है और बहुत बाद तक चलता रहता है। आरंभ में अकेले गंगा की ही कल्पना उद्भूत हुई जान पड़ती है। उदयगिरि के लयण द्वारों के दोनों ओर केवल मकरवाहिनी वृक्षिकाओं (वृक्ष पकड़कर खड़ी नारी) का ही अंकन हुआ है। कच्छपवाहिनी की कल्पना परवर्ती वास्तुओं में ही देखने को मिलती है। (प० ला० गु०)

गंगागोविंद सिंह

पाइकपाड़ा (बंगाल) के राजवंश के एक प्रख्यात व्यक्ति जो वारेन हेस्टिंग्स के दीवान थे। वे उत्तर राढ़ीय कायस्थ समाज के मान्य लक्ष्मीधर के वंशज थे। उनके पिता का नाम गौरांग था। आरंभ में वे बंगाल के नायब सूबेदार मुहम्मद रजा खाँ के अधीन कानूनगो पद पर थे। किंतु जब रजा खाँ पदच्युत कर दिए गए तो इनकी नौकरी छूट गई और १७६६ ई० में वे कलकत्ता चले आए। वहाँ कंपनी में नौकर हो गए। कुछ ही दिनों में इनकी कार्यदक्षता और चातुरी के कारण हेस्टिंग्स की दृष्टि उनपर पड़ी और उसने उन्हें दीवान नियुक्त कर दिया। राजस्व विभाग का सारा उत्तरदायित्व उन्हें मिला। इस पद पर रहकर वे स्वयं तो उत्कोच प्राप्त करते ही थे, वारेन हेस्टिंग्स को भी उनके माध्यम से उत्कोच मिलता था। मई, १७७५ ई० में उत्कोच लेने के अपराध में पकड़े गए और नौकरी से निकाल दिए गए। किंतु जब मानसन की मृत्यु के पश्चात् हेस्टिंग्स को शासन का एकछत्र अधिकार प्राप्त हुआ तो वे पुनः ८ नवंबर, १७७६ ई० को दीवान के पद पर बहाल कर दिए गए। हेस्टिंग्स उनके हाथों में खेलता था। बिना उनकी सलाह के हेस्टिंग्स कुछ नहीं करता था। इस प्रकार जब तक हेस्टिंग्स भारत में रहा, गंगागोविंद सिंह ही कंपनी सरकार के सर्वेसर्वा थे। राजस्व विभाग में उनकी तूती बोलती थी। जब वारेन हेस्टिंग्स स्वदेश लौट गया तब इनका भी पतन हुआ और ये नौकरी से निकाल दिए गए। तब तक वे इतने संपन्न हो गए थे कि इन्होंने अपनी माँ के श्राद्ध में बारह लाख रुपए खर्च किए थे। जब पार्लामेंट में हेस्टिंग्स के विरुद्ध अभियोग लगा उस समय एडमंड बर्क ने अभियोग उपस्थित करते हुए जो भाषण किया वह गंगागोविंद सिंह के उल्लेखों से भरा है। कोई अपनी सत्कीर्ति से ख्याति प्राप्त करता है, गंगागोविंद सिंह ने अपने काले कारनामों से ही भारतीय इतिहास में स्थान बना रखा है। (प० ला० गु०)

गंगाजमुनी

सोना चाँदी अथवा पीतल ताँबे का बना ऐसा पात्र जिसमें

दोनों धातुएँ स्पष्ट अलग अलग जान पड़ती हैं। बोलचाल में दो रंगों की बनी वस्तु को भी गंगाजमुनी कहा जाता है। (प० ला० गु०)

गंगाजल बंगाल में प्रचलित एक वस्त्र। यह गंगाजल के समान स्फटिक काषाय वस्त्र और बंगाली साड़ियों का एक प्रकार है। बँगला लोकगीतों में इस वस्त्र और साड़ी का प्रायः उल्लेख मिलता है। कृत्तिवासकृत रामायण में इसे वीर पुरुष का परिधान कहा गया है।
(प० ला० गु०)

गंगाजली १. किसी धातु या काँच की सुराही या अन्य पात्र जिसमें यात्री हरिद्वार आदि से गंगा नदी का जल ले आते हैं।

२. बंगालियों में सहेलियाँ परस्पर एक दूसरे को इस प्रकार पुकारती हैं। विश्रुत उपन्यासकार शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासों में यह प्रयोग पाया जाता है। (स०)

गंगादेवी चौदहवीं शती ई० की एक प्रख्यात कवयित्री। विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक बुक्क की पुत्रवधू और कृष्ण की पट्टमहिषी। उन्होंने संस्कृत में मधुरा विजय (वीरकंपराय चरित्र) नामक एक काव्य की रचना की थी। इसमें उन्होंने अपने पति के पराक्रम का वर्णन किया है किंतु वह मात्र यशोगान नहीं है। काव्य की दृष्टि से वह एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना है और ऐतिहासिक दृष्टि से भी उसका महत्व है। यह काव्य अपने पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है। उसके केवल आठ सर्ग ही मिले हैं। (प० ला० गु०)

गंगाद्वार महाभारत में हरिद्वार का उल्लेख गंगाद्वार के रूप में हुआ है (वन पर्व ८१।१४; अनुशासन पर्व २५।१३)। कहा जाता है कि यहीं विष्णु ने वामन रूप धारण कर बलि को छला था। शैव क्षेत्र के रूप में इसकी ख्याति है। (प० ला० गु०)

गंगाधर (१) भगीरथ की प्रार्थना पर शिव ने गंगा को अपने मस्तक पर धारण किया था अतः उनका एक नाम।

(२) विभिन्न समयों में हुए अनेक प्रसिद्ध पंडितों, टीकाकारों और ग्रंथकारों के नाम। इनमें से एक प्राचीन कोशकार और कात्यायनसूत्र की टीका, आधानपद्धति, संस्कारपद्धति आदि संस्कृत ग्रंथों के रचयिता माध्यंदिन शाखाध्यायी प्राचीन स्मार्त पंडित थे। देवतार्चनविधि, निर्णयमंजरी, योगरत्नावली, रसपद्माकर (अलंकार ग्रंथ) आदि ग्रंथों के विविध प्रणेता इसी नाम के विविध व्यक्ति थे। तर्कदीपिका, सूर्यशतक और संगीतरत्नाकर के गंगाधर नामधारी टीकाकार भी एक दूसरे से भिन्न बताए गए हैं। संस्कृत के एक अन्य प्रसिद्ध ग्रंथकार भी इसी नाम से विख्यात हैं जिन्होंने गंगास्तोत्र, तर्कचंद्रिका, तीर्थकाशिका प्रपचसारविवेक आदि अनेक ग्रंथों की रचना की है। न्यायकुतूहल और न्यायचंद्रिका के प्रणेता तथा इनसे भिन्न एक प्रसिद्ध वैयाकरण और एक नैयायिक पंडित भी इसी नाम के व्यक्ति हैं। (रा० शं० मि०)

गंगानगर (१) राजस्थान प्रदेश का सर्वोत्तरी जनपद जिसके उत्तर में फीरोजपुर एवं हिसार (पू० पंजाब), दक्षिण में बीकानेर तथा चूरू (राजस्थान), पूर्व में हिसार एवं चूरू तथा पश्चिम में पाकिस्तान हैं। पहले यह बीकानेर राज्य का एक भाग था। वर्षा की मात्रा, जलवायु तथा जलपूर्ति की दृष्टि से यह जनपद राजस्थान के रेतीले एवं 'शुष्क' क्षेत्र में पड़ता है। इस संपूर्ण क्षेत्र में जल का धरातलीय प्रवाह (Surface run off) नहीं के बराबर है। संपूर्ण जनपद बृहत् बालुकामय मैदान है। एकमात्र नदी घग्गर है जिसका प्रवाह हनुमानगढ़ के पास ही रेत में समाप्तप्राय हो जाता है। जनवरी का अधिकतम ताप २०.७° सें० तथा निम्नतम २.४° सें० रहता है। ग्रीष्म के जून महीने में अधिकतम ताप ४३° सें० तक हो जाता है किंतु गंगानगर में ५०° सें० तक की संभावना रहती है। जिले में औसत वार्षिक वर्षा ८.५८" होती है और वर्षा के कुल दिन १५.२ हैं। अधिकांश वर्षा (६.६६") जून-जुलाई-अगस्त महीनों में हो जाती है। राजस्थान में सर्वाधिक रेत के तूफान गंगानगर जिले में ही आते हैं। ओले शायद ही कभी, दशाब्दियों में एकाध बार, पड़ते हों। जिले की रेतीली भूमि में जलपूर्ति करने पर उत्पादन शक्ति बहुत अधिक हो जाती है। घग्गर-घाटी की मटियार भूमि तथा वर्षा ऋतु में भर जाने वाले तालाब तथा झीलों के तल में प्राप्य मटियार दोमट गेहूँ एवं चने की फसलों के लिये प्रसिद्ध हैं। न केवल भाखड़ा-नंगल-योजना के जल द्वारा (संभाव्य सिंचनक्षेत्र ७,७०,००० एकड़), प्रत्युत हनुमानगढ़ से विकसित विशाल राजस्थान-नहर-परियोजना द्वारा, जो विश्व में अपने ढंग की सर्वाधिक लंबी नहर है, जनपद का सर्वांगीण विकास किया जा रहा है। जिले का गंगा-नहर उपनिवेशक्षेत्र भारत का सबसे कोरा क्षेत्र है जहाँ सर्वाधिक ट्रैक्टर प्रयुक्त हो रहे हैं। सिंचाई की वृद्धि के साथ कृषि के यांत्रिक साधनों का अधिक उपयोग होता जा रहा है। जनपद में स्थित सूरतगढ़ फार्म एशिया महादेश का बृहत्तम सुनियोजित ३०,६७० एकड़ का फार्म है जिसमें यांत्रिक कृषि होती है। यह कृषिक्षेत्र प्रयोगशाला सदृश है जिसमें शुष्क प्रदेश के उपयुक्त कृषि का विकास करने, समुन्नत बीज उत्पन्न करने, पशुओं की नस्लें समुन्नत करने आदि के प्रयोग किए जा रहे हैं। अतः जनपद की कृषिव्यवस्था 'जीविकायापन कृषि' की स्थिति से निकलकर 'वाणिज्य कृषि' की ओर तीव्र गति से अग्रसर हो रही है। खाद्यान्नों के अतिरिक्त गन्ना एवं कपास का उत्पादन बढ़ रहा है। कृषि पदार्थों पर आधारित उद्योग धंधे पनप रहे हैं। गंगानगर में चीनी का कारखाना तथा औद्योगिक संस्थान, हनुमानगढ़ में उर्वरक कारखाना, रायसिंह नगर में औद्योगिक, प्राविधिक तथा शैक्षणिक संस्थान आदि जनपद की विकासशीलता के सूचक हैं। भाखड़ा-नंगल-योजना द्वारा जनपद के प्रमुख स्थानों को बिजली प्राप्त हो रही है।

(२) गंगानगर जनपद का प्रमुख प्रशासकीय केंद्र तथा विकासशील नगर। इसका नामकरण बीकानेर के महाराज गंगासिंह के नाम पर हुआ है। यह जिले के सर्वाधिक समुन्नत तथा सिंचित कृषिक्षेत्र में स्थित होने के कारण प्रमुख व्यापारिक मंडी तथा यातायात केंद्र हो गया है। यहाँ जनपदीय प्रशासनिक कार्यालयों तथा न्यायालयों के अतिरिक्त कई स्नातक महाविद्यालय तथा अन्य सांस्कृतिक संस्थान हैं। यह नगर पूर्णतया २०वीं शताब्दी की देन है। प्रारंभिक दशाब्दियों में यह अज्ञात ग्राम रहा। लेकिन गंगा-नहर सिंचाई परियोजना द्वारा क्षेत्र में कृषि का विकास होने के कारण इसकी जनसंख्या अधिक बढ़ गई है। यहाँ १९४५ में चीनी का कारखाना खोला गया। यहाँ एक औद्योगिक संस्थान की भी स्थापना हुई है।

गंगापुर राजस्थान राज्य के सवाई माधोपुर जनपद में गंगापुर सबडिवीजन का प्रमुख प्रशासनिक, व्यापारिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक केंद्र (स्थिति : २६°२९' उ० अ०; ७६° ४४' पू० दे०)। यह जयपुर नगर से ७० मील दक्षिण-पूर्व में स्थित है और पहले जयपुर राज्य में गंगापुर निजामत तथा तहसील का केंद्र था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यहाँ कस्बे तथा क्षेत्र में विभिन्न लघु उद्योग धंधों के लिये प्रशिक्षण तथा साधन के निमित्त एक औद्योगिक संस्थान की स्थापना हुई।
(का० ना० सिं०)

गंगापूजा उत्तर भारत की एक प्रमुख वैवाहिक रस्म। वधू के ससुराल आने के पश्चात् घर की स्त्रियाँ वर-वधू सहित गाजे बाजे के साथ गंगा अथवा गंगा के न होने पर अन्य नदी के किनारे पूजन हेतु जाती हैं। (स०)

गंगाबाई पेशवा नारायण की पत्नी। अठारह वर्ष की अवस्था में ही जब नारायण राव को ३० अगस्त, १७७३ ई० को समय से वेतन प्राप्त न होने के कारण क्रोधोन्मत्त सिपाहियों ने मार डाला तब रघुनाथ राव पेशवा बनकर राजकाज देखने लगे। किंतु यह बात अनेक लोगों को अप्रिय थी। अतः रघुनाथ राव के विरोधी लोगों ने नाना फड़नवीस और हरिपंथ फड़के के नेतृत्व में एक परिषद् की स्थापना की। उस समय गंगाबाई गर्भवती थी। अतः इन लोगों ने रघुनाथ राव को पदच्युत करने की योजना बनाई जिसके अनुसार गंगा बाई के गर्भ से बालक का जन्म होने पर उसे पदच्युत करना सहज था। अतः इन लोगों ने गंगा बाई को पुरंदर

भेजने की व्यवस्था की ताकि उनका कोई अनिष्ट न कर सके। और वे लोग इस भावी पेशवा के जन्म की प्रतीक्षा में गंगाबाई के नाम से पेशवा का काम चलाने लगे। १८ मई, १७७४ ई० को गंगाबाई के पुत्र हुआ जिसे माधवराव नारायण के नाम से अभिहित किया गया और जन्म के चालीसवें दिन उसे लोगों ने पेशवा घोषित कर दिया। पीछे यही सवाई माधवराव के नाम से प्रख्यात हुआ। उसके बड़े होने तक गंगाबाई उसके नाम पर शासन कार्य देखती रहीं और वे नाना फड़नवीस के परामर्श के अनुसार ही चलती थीं। इससे परिषद् में मतभेद उत्पन्न हो गया और लोगों ने यह अपवाद फैलाना आरंभ किया कि गंगाबाई का फड़नवीस के साथ अवैध संबंध है और उससे उन्हें गर्भ है। वे इस लोकापवाद को सहन न कर सकीं और विष खाकर उन्होंने अपना प्राणांत कर लिया। (प० ला० गु०)

गंगालहरी (१) पंडित जगन्नाथ तर्कपंचानन रचित गंगास्तव। इसमें केवल ५२१ श्लोक हैं जिसमें उन्होंने गंगा के विविध गुणों का वर्णन करते हुए अपने उद्धार के लिये अनुनय किया है। इसके संबंध में एक कथा प्रसिद्ध है। पंडित जगन्नाथ ने लवंगी नामक एक मुसलमान स्त्री से विवाह कर लिया था। जब तक दिल्ली दरबार में रहे, उसके साथ सुखभोग करते रहे। जब वार्धक्य को प्राप्त हुए तो वे काशी आए। पर काशी के पंडितों ने मुसलमान स्त्री रखने के कारण उनको बहिष्कृत कर दिया। यह अपमान उनसे सहन न हुआ। वे सपत्नीक गंगा तट पर जा बैठे और अपनी गंगालहरी का स्तवन करने लगे। गंगा प्रसन्न होकर प्रत्येक श्लोक पाठ के साथ एक एक पग बढ़ने लगीं और ५२१ श्लोक पढ़ते पढ़ते वह ५२ पग बढ़ कर उनके निकट पहुँच गईं और पति पत्नी दोनों का आत्मसात् कर लिया। अब गंगालहरी की इतनी महत्ता है कि कितने ही लोग उसका नित्य पाठ करते हैं। ज्येष्ठ के दशहरे के दस दिनों तक तो देवालयों और गंगातट पर इसका पाठ लोग अवश्य करते हैं।

(२) हिंदी के प्रख्यात कवि पद्माकर की अंतिम रचना। अंतिम समय निकट जानकर पद्माकर गंगातट पर निवास करने की दृष्टि से सात वर्ष कानपुर रहे। इन्हीं दिनों उन्होंने इसकी रचना की। इसमें उनकी विरक्ति तथा भक्ति भावना अभिव्यक्त हुई है। (प० ला० गु०)

गंगासागर कलकत्ता से ९० मील दूर एक छोटा द्वीप जिसका क्षेत्रफल केवल १५० वर्गमील है। इस द्वीप में घने जंगल हैं इस कारण यह द्वीप जंगल है। लोकविश्वास के अनुसार गंगा यहीं आकर समुद्र में मिली है। वस्तुत: उनका मुहाना इस स्थान से कुछ हट कर समुद्र के उस पार ही है। यहाँ मकर संक्रांति को बहुत बड़ा मेला लगता है जिसमें सारे देश से यात्री आते हैं। यहाँ कपिल मुनि का एक मंदिर है किंतु इस द्वीप का अधिकांश जलमग्न रहता है इस कारण इस मंदिर की मूर्ति कलकत्ता में रखी रहती है और मेले से पूर्व किसी समय वहाँ से लाकर प्रतिष्ठित की जाती है और मेले के बाद पुन: हटा ली जाती है। यहाँ आने वाले यात्री मूँड मुड़ा कर स्नान और श्राद्ध करते हैं तदनंतर मंदिर में कपिल मुनि के दर्शनार्थ जाते हैं। (प० ला० गु०)

गंगेश नव्य न्याय के प्रतिपादक प्रख्यात नैयायिक। इनके संबंध में अनुमान किया जाता है कि ये तेरहवीं शती में हुए थे और मिथिला निवासी थे। नवद्वीप के नैयायिकों का कहना है कि उनका जन्म एक अत्यंत दरिद्र ब्राह्मण के घर हुआ था। बालकाल में उनके पिता ने उन्हें पढ़ाने लिखाने का बहुत प्रयास किया पर जब कोई लाभ न हुआ तो उन्होंने उसे ननिहाल भेज दिया। गंगेश के मामा एक अच्छे विद्वान् थे। उनके यहाँ अनेक शिष्य पढ़ते थे। उनके मामा और उनके शिष्यों ने भी उन्हें पढ़ाने लिखाने की चेष्टा की। पर वे भी असफल रहे। निदान उन्हें हुक्का भरने के काम में लगा दिया गया। इस प्रकार अति दीन भाव से वे कालयापन करते रहे।

एक दिन उनके मामा के एक शिष्य ने काफी रात गए उन्हें जगाया और हुक्का भर कर लाने का आदेश दिया। आँख मलते मलते वे उठे, चिलम पर तंबाकू रखा पर घर में खोजने पर कहीं भी आग नहीं मिली। मामा के घर के सामने एक विस्तृत मैदान था। इसके दूसरे छोर पर आग जलती दिखाई पड़ी। उस शिष्य ने डरा धमका कर गंगेश को वहाँ से आग लाने भेजा। वे भय से रोते रोते आग लेने वहाँ पहुँचे तो देखते क्या हैं कि एक व्यक्ति शवसाधना कर रहा है। पहले तो वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए, बाद में उस व्यक्ति के पैरों पर गिर पड़े। जब उस व्यक्ति ने उनसे आने का कारण पूछा और उनकी दीनावस्था उसे ज्ञात हुई तो वह उन्हें अपने साथ ले गया। कहते हैं, उस शवसाधक की कृपा से वे कुछ ही दिनों में पंडित बनकर ननिहाल पहुँचे।

इधर लोगों ने समझा कि लड़का आग लेने गया था, वहीं भूतों ने उसे खा डाला है। उन्होंने उसकी खोज खबर की कोई चिंता नहीं की। उसे इस प्रकार अचानक प्रकट होते देख सब चकित हुए और मामा ने उन्हें गो (बैल) कह कर पुकारा। इसके उत्तर में उन्होंने तत्काल कहा—

"किं गवि गोत्वं किं गविगोत्वं यदि गवि गोत्व मयि नहि तत्त्वम्।
अगवि च गोत्वं यदि भवदिष्टं भवति भवत्यपि संप्रति गोत्वम्॥"

(यदि गोत्व गो में होना है तो वह मैं नहीं हूँ; यदि गोभिन्न में गोत्व संभव है, तो यह बात अकेले मुझ पर नहीं, यहाँ उपस्थित सभी लोगों पर लागू होती है)।

यह सुनकर मामा अवाक् रह गए। उसी दिन से गंगेश की ख्याति विद्वान् के रूप में होने लगी। उनकी अक्षयकीर्ति उनका 'तत्वचिंतामणि' है। उन्होंने गौतम के मात्र एक सूत्र 'प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दा: प्रमाणानि' की व्याख्या में इस ग्रंथ की रचना की है। यह न्याय ग्रंथ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, चार खंडों में विभाजित है। इसमें उन्होंने अवच्छेद्य-अवच्छेदक, निरूप्य-निरूपक, अनुयोगी-प्रतियोगी आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर एक नई स्वतंत्र लेखन शैली को जन्म दिया जिसका अनुसरण परवर्ती अनेक दार्शनिकों ने किया है। तत्वचिंतामणि के पश्चात् जितने न्यायग्रंथ लिखे गए वे सब नव्यन्याय के नाम से प्रख्यात हैं।

तत्वचिंतामणि पर जितनी टीकाएँ जितने विस्तार के साथ लिखी गई है उतनी किसी अन्य ग्रंथ पर नहीं लिखी गई। पहले इसकी टीका पक्षधर मिश्र ने की तदनंतर उनके शिष्य रुद्रदत्त ने एक अपनी टीका तैयार की। और इन दोनों से भिन्न वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, गंगाधर, जगदीश, मथुरानाथ, गोकुलनाथ, भवानंद, शशधर, शितिकंठ, हरिदास, प्रगल्भ, विश्वनाथ, विष्णुपति, रघुदेव, प्रकाशधर, चंद्रनारायण, महेश्वर और हनुमान कृत टीकाएँ हैं। इन टीकाओं की भी असंख्य टीकाएँ रची गई हैं। (प० ला० गु०)

गंगैकोंडपुरम् तमिलनाडु के त्रिचुरापल्ली जिले में स्थित एक स्थान (स्थिति १०°१२' उ० अ०; ७९°२८' पू० दे०)। यह जैयमकोंड सोलापुर से छह मील पर है। प्राचीन काल में यह एक प्रख्यात नगर था। लोकप्रवाद है कि बाणासुर के तपस्या के फलस्वरूप शिव ने यहाँ एक कूप में गंगा बहा दी थी जिसके कारण यह नाम पड़ा है। वस्तुत: इसे प्रथम राजेंद्र चोल ने बसाया था जो गंगैकोंडचोल कहा जाता था। यहाँ चोलकालीन एक विशाल मंदिर के अवशेष हैं। (प० ला० गु०)

गंगोत्री टेहरी गढ़वाल (उत्तर प्रदेश) स्थित एक तीर्थ (स्थिति ३१° उ० अ०; ७८°५७' पू० दे०)। यह स्थान कैलास से १४२ मील पर स्थित है। यहाँ पर शंकराचार्य ने गंगादेवी की एक मूर्ति स्थापित की थी। जहाँ इस मूर्ति की स्थापना हुई थी वहाँ १८वीं शती ई० में एक गुरखा अधिकारी ने मंदिर का निर्माण करा दिया है। इसके निकट भैरवनाथ का एक मंदिर है। इसे भगीरथ का तपस्थल भी कहते हैं। जिस शिला पर बैठकर उन्होंने तपस्या की थी वह भगीरथशिला कहलाती है। उस शिला पर लोग पिंडदान करते हैं। गंगोत्री में सूर्य, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवताओं के नाम पर अनेक कुंड हैं।

भगीरथशिला से कुछ दूर पर रुद्रशिला है जहाँ कहा जाता है कि शिव ने गंगा को अपने मस्तक पर धारण किया था। इसके निकट ही केदारगंगा, गंगा में मिलती है। इससे आधी मील दूर पर वह पाषाण के बीच से होती हुई ३०—३५ फुट नीचे प्रपात के रूप में गिरती है। यह प्रताप नाला

गौरीकुंड कहलाता है। इसके बीच में एक शिवलिंग है जिसके ऊपर प्रपात के बीच का जल गिरता रहता है।

यद्यपि जनसाधारण के बीच यही माना जाता है कि गंगा यहीं से निकली हैं किंतु वस्तुत: उनका उद्गम १८ मील और ऊपर श्रीमुख नामक पर्वत में है। वहाँ गोमुख के आकार का एक कुंड है जिसमें से गंगा की धारा फूटी है। (प० ला० गु०)

गंगोह सहारनपुर (उत्तर प्रदेश) स्थित एक प्राचीन कस्बा (स्थिति : २९°४७' उ० अ०; ७७°१७' पू० दे०)। यहाँ मुसलमान बहुल बस्ती है। यहाँ अकबरकालीन दो तथा जहाँगीरकालीन एक मसजिद है। यहाँ अब्दुर्कुद्दूस गंगोही नाम के एक प्रख्यात विद्वान् मध्यकाल में हुए थे। (प० ला० गु०)

गंजाम १. उड़ीसा राज्य का एक जिला (स्थिति : १८°४७' से २०°२४' उ० अ० तथा ८३°४५' से ८५°१२' पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल लगभग १२,५२७ वर्ग किलोमीटर है। १९७१ में इसकी जनसंख्या २२,६३,८०८ थी।

बंगाल की खाड़ी के किनारे स्थित इस जनपद का अधिकतम भूभाग उत्तर-दक्षिण दिशा में फैली हुई पूर्वी घाट पहाड़ियों की चट्टानों से निर्मित है। महेंद्रगिरि और सिलराजू सर्वोच्च चोटियाँ (५,००० फुट या १५२४ मीटर) हैं। रुशी कुल्या, वंसधारा और लांगुल्य तीन मुख्य नदियाँ हैं जो सिंचाई के लिये प्रयुक्त होती हैं तथा अपनी सहायक नदियों के साथ पहाड़ियों को काटती हुई बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। सामान्य धरातल पर्वतीय और मैदानी दोनों है। तटीय भागों तथा नदी घाटियों की काँप के अतिरिक्त प्राचीन युग की नाइस तथा सिस्ट चट्टानें धरातल पर मिलती हैं। १,२१९.२ मीटर की ऊँचाई पर प्राय: ९.०१ मीटर मोटी लैटराइट चट्टान फैली हुई है। गंजाम खंड के अतिरिक्त शेष जनपद की जलवायु अच्छी है। औसत वार्षिक वर्षा २२४.३ सेंटीमीटर है जिसकी व्याप्ति लगभग ५९ दिनों तक रहती है। वर्षा उत्तर-पूर्वीय तथा दक्षिण-पश्चिमी दोनों मौसमी वायुओं से होती है। जनपद का अधिक भाग वनों से आच्छादित है जिनमें साल प्रमुख हैं। साँभर, हिरन, जंगली कुत्ते, नीलगाय आदि जंगली जानवर पाए जाते हैं। काली, दुमट और लाल मिट्टी के प्रकार यहाँ मिलते हैं। धान प्रमुख उपज है। बुरहानपुर जनपद का प्रमुख नगर है जहाँ इंजीनियरिंग स्कूल, औद्योगिक प्रशिक्षण केंद्र, संस्कृत कालेज और चेंबर ऑव कामर्स व्यापारिक संस्थान हैं। इसके अतिरिक्त उत्कल विश्वविद्यालय से संबद्ध अनेक शिक्षा संस्थाएँ हैं। जनसंख्या का घनत्व लगभग १५२ व्यक्ति प्रति वर्ग मील तथा साक्षरता २१ प्रति शत है।

२. दक्षिण-पूर्वी-रेलवे की हवड़ा-विजयवाड़ा-शाखा पर स्थित एक प्राचीन महत्व का नगर (स्थिति : १९°२३' उ० अ० तथा ८५°५' पू० दे०)। १८१५ ई० के बाद जनपद के प्रशासनिक कार्यालयों का स्थानांतरण बुरहानपुर हो जाने से इसका व्यापारिक महत्व घट गया है। नगर में नमक बनाने का कार्य गृहउद्योग के रूप में प्रचलित है। चावल यहाँ का प्रमुख निर्यात पदार्थ है। (कैं० ना० सिं०)

गंजीफा ताश के ढंग का एक प्राचीन भारतीय खेल। इसका वर्णन बाबरनामा, कानु-ने-इस्लाम, आइने-अकबरी, गिरधर कृत गंजीफा खेलन, श्रीतत्वनिधि आदि ग्रंथों में मिलता है। इसमें ९६ पत्ते होते हैं जो चंग, बरात, किमाश, शमशेर आदि आठ वर्गों में बँटे होते हैं। श्रीतत्वनिधि में गंजीफा के १३ रूपों का वर्णन है। गंजीफा एक रूप में वर्ग विभाजन राशि अथवा दशावतार के रूप में विभाजित पाया जाता है। इसमें १२० पत्ते होते हैं जो १२ पत्तों के दस वर्ग में विभाजित होते हैं। ये पत्ते मत्स्य, कच्छ, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध (अथवा कल्की), राजा, वजीर और इक्का कहे जाते हैं। तीन खिलाड़ियों के बीच पत्ते बाँटे जाते हैं जिसके हाथ में राम राजा के रूप में आते है वह खेल आरंभ करता है और राम वर्ग का एक हलका पत्ता फेंकता है। शेष दो खिलाड़ी भी हलके पत्ते फेंकते हैं। इस प्रकार तीनों पत्तों को मिलाकर गणना की जाती है। इसी तरह विविध प्रकार से पत्ते मिलाने का प्रयास होता है। जिसके पास पत्ते अधिक हो जाते हैं वह विजयी समझा जाता है।

यह खेल संप्रति इस देश में मृतप्राय है। इस कारण पुस्तकों में वर्णित इस खेल की प्रणाली बोधगम्य नहीं रही। उसके समझने का अन्य कोई साधन नहीं है। (प० ला० गु०)

गंडक, बड़ी गंडक हिमालय से निकलकर दक्षिण-पश्चिम बहती हुई भारत में प्रवेश करनेवाली नदी (स्थिति : २७°२७' उ० अ० तथा ८३°५६' पू० दे०)। नेपाल में इसे सालग्रामी तथा उत्तर प्रदेश में नारायणी और सप्तगंडकी कहते हैं। यह ग्रीस के भूगोलवेत्ताओं की कोंडोचेट्स (Kondochates) तथा महाकाव्यों में उल्लिखित सदानीरा है। त्रिवेणी पर्वत के पहले इसमें एक सहायक नदी त्रिशूलगंगा मिलती है। गंडक नदी काफी दूर तक उत्तर प्रदेश तथा बिहार राज्यों के बीच सीमा निर्धारित करती है। इसकी सीमा पर उत्तर प्रदेश का केवल गोरखपुर जिला पड़ता है। बिहार में यह चंपारन, सारन और मुजफ्फरपुर जिलों से होकर बहती हुई १९२ मील के मार्ग के बाद पटना के संमुख गंगा में (२५°४१' उ० अ० तथा ८५°१२' पू० दे० पर) मिल जाती है।

विगलित हिम द्वारा वर्ष भर पानी मिलते रहने से यह सदावाही बनी रहती है। वर्षा ऋतु में इसकी बाढ़ समीपवर्ती मैदानों को खतरे में डाल देती है क्योंकि उस समय इसका पाट २-३ मील चौड़ा हो जाता है। बाढ़ से बचने के लिये इसके किनारे बाँध बनाए गए हैं। यह नदी मार्ग-परिवर्तन के लिये भी प्रसिद्ध है। इस नदी द्वारा नेपाल तथा गोरखपुर के जंगलों से लकड़ी के लट्ठों का तैरता हुआ गट्ठा निचले भागों में लाया जाता है और उसी मार्ग से अनाज और चीनी भेजी जाती है। त्रिवेणी तथा सारन जिले की नहरें इससे निकाली गई हैं जिनसे चंपारन और सारन जिले में सिंचाई होती है।

बूढ़ी गंडक या सिकराना नदी की प्राचीन धारा है जो मुंगेर के संमुख गंगा में मिलती है। (रा० प्र० सिं०)

गंडभेरुंड एक काल्पनिक पक्षी जिसका अंकन भारतीय कला में पाया जाता है। इसके एक धड़ किंतु दो सिर होते हैं और धड़ गरुड़ के सदृश होता है। यह अपने दोनों चोंच तथा पंजे में हाथी दबोचे अंकित किया जाता है। इसका प्राचीनतम अंकन विजयनगर के आरंभकालिक कतिपय सिक्कों पर पाया जाता है। दक्षिण के शैव मंदिरों में उत्सव मूर्तियों के रूप में गंडभेरुंड देखने में आता है। मैसूर रियासत के राजचिह्न के रूप में इसका प्रयोग हुआ था और आधुनिक काल में बेंगलूर के नए विधान सौध पर इस प्रतीक का प्रयोग हुआ है। इस पक्षी के संबंध में जनश्रुति है कि हिरण्यकश्यप के मारने के पश्चात् भी जब नृसिंह का क्रोध शांत नहीं हुआ तब गंडभेरुंड उन्हें अपने पंजे में दबोच कर आकाश में ले उड़ा था। (प० ला० गु०)

गंडमाला (Scrofula, गलगंड) इस रोग में मनुष्य के शरीर की लसीका ग्रंथियों, विशेषत: ग्रीवा की लसीका ग्रंथियों में दोष उत्पन्न हो जाता है। यक्ष्मा प्रकृति के बच्चों में यह रोग प्राय: अधिक होता है।

लक्षण—इस रोग में लसीका ग्रंथियाँ बढ़ जाती हैं। रोगी को ज्वर आने लगता है और स्वास्थ्य शनै: शनै: गिरता जाता है।

कारण—संतुलित तथा पुष्टिकारक भोजन का अभाव, अस्वस्थ्य तथा दूषित वातावरण में रहने तथा दूषित दूध के उपयोग से रोग की अवस्था उपस्थित हो सकती है। बच्चों में जब भी शरीर में 'रोग से लड़ने की क्षमता' कम हो जाती है, 'गंडमाला' होने की संभावना रहती है। यह रोग अधिकतर यक्ष्माजीवाणु के शोथ के कारण होता है। यदि उचित उपचार न किया जाय तो लसीका ग्रंथियाँ फोड़े का उग्र रूप धारण कर लेती हैं।

उपचार—इस रोग का मुख्य उपचार स्वच्छ वायु का सेवन, प्रकाशयुक्त वातावरण में रहना तथा पुष्टकर भोजन है। यह केवल रोग का उपचार ही नहीं, वरन् इससे रोग की रोकथाम भी की जा सकती है। 'स्ट्रेप्टोमाइसीन' तथा अन्य ओषधियों का, जो यक्ष्मा में प्रयुक्त होती हैं, इस रोग में भी उपयोग करने से लाभ होता है। (क० दे० मा०)

गंडव्यूह बौद्ध महायान संप्रदाय का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ। इसमें बोधिसत्व का गुणगान और उनकी उपासना की चर्चा है। इस ग्रंथ के संबंध में अनुश्रुति है कि एक दिन भगवान् बुद्ध श्रावस्ती स्थित जेतवन में विहार कर रहे थे। उनके साथ सामंतभद्र, मंजुश्री आदि पाँच हजार बोधिसत्व थे। उन्होंने बुद्ध से ज्ञान प्रदान करने की प्रार्थना की। तब बुद्ध ने बोधिसत्व की उपासना के संबंध में बताया। इस ग्रंथ में बोधिसत्व के लक्षण कहे गए हैं। बोधिसत्व प्राप्ति के निमित्त जो कुछ करणीय है वह बताया गया है। समस्त जीवों में प्रेम और करुणा करना, उनके दुःख की निवृत्ति के निमित्त प्रयत्न करना और जीवों को स्वर्ग मार्ग बताने के निमित्त उपदेश करना बोधिसत्व का कर्तव्य है। इस ग्रंथ के अंत में भद्रचारीप्रणिधानगाथा नामक एक स्तोत्र है। उसमें महायान पंथ के तत्वज्ञान के निमित्त बुद्ध की स्तुति है। (प० ला० गु०)

गंध और स्वाद भोजन का स्वाद हमारी जिह्वा पर ही नहीं वरन् नाक अर्थात् गंध पर भी निर्भर करता है। नाक बंद करके भोजन करने पर उसका स्वाद वही न होगा जो नाक खुली रहने पर भोजन करने में होता है। भोजन के स्वाद में वस्तुतः कितना भाग जिह्वा का है और कितना नाक का, यह कहना कठिन है। पर तथ्य यह है कि नाक और जिह्वा दोनों के सहयोग से स्वाद की अनुभूति होती है। स्वाद और गंध के इस घनिष्ठ संबंध के कारण ही इनकी चर्चा एक साथ की जा रही है।

गंध—प्रत्येक गंधयुक्त पदार्थ से गंध के छोटे छोटे अणु निकलकर वायु में मिश्रित हो जाते हैं। श्वासक्रिया के समय यह वायु नासिकारंध्र में प्रवेश करती है और नासिकारंध्र के एक विशेष भाग घ्राण क्षेत्र (Olfactoy area) में पहुँचती है। वहाँ पहुँचकर यह वायु इस क्षेत्र में विस्तरित हो जाती है। गंध अणुओं के विस्तार के कारण गंध अनुभव करने में कुछ विलंब होता है। इसी समय श्वास खींचने की प्रतिवर्त (reflex) क्रिया अचानक उत्पन्न होती है। कुछ समय तक लंबी श्वास खींची जाती है और इसके बाद कुछ मुहूर्तों के लिये श्वास लेने की क्रिया रुक जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि नासिकाकोष्ठ में संवहन धाराएँ (convection currents) उत्पन्न होती है। इसका कारण यह है कि बाहर की वायु ठंढी होती है और नासिका के अंदर की गरम। परिणाम यह होता है कि गंध की शक्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार की गंधयुक्त वायु नासिका की श्लेष्मा (mucous) में मिश्रित होकर घ्राणक्षेत्र पर रासायनिक प्रभाव डालती है। यह रासायनिक क्रिया मस्तिष्क से संबंधित प्रथम कपालतंत्रिका (Cranial nerve number one) पर वैद्युतिक प्रभाव डालती है। यह वैद्युतिक प्रभाव प्रथम तंत्रिका से होकर मस्तिष्क के घ्राणक्षेत्र में पहुँचता है और वहाँ मस्तिष्क द्वारा गंध का अनुभव होता है।

किसी भी सूखे पदार्थ को, जिससे गंध के अणु नहीं निकलते, सूँघने से गंध का अनुभव नहीं होता। किंतु जब उसमें नमी आ जाती है और रासायनिक क्रिया होती है तब उसकी गंध अणुओं द्वारा हवा में फैल जाती है और उस पदार्थ को सूँघने से उसमें एक प्रकार की गंध का अनुभव होता है। छोटे छोटे जानवरों में, जैसे कुत्ता, बिल्ली, शृगाल तथा मक्खी आदि में, गंध अनुभव करने की शक्ति बहुत तीव्र होती है। इनका खाद्य पदार्थ कहाँ है, इसे ये लोग बहुत दूर रहकर भी जान जाते हैं। गंध के द्वारा ये लोग अपने दुश्मन की स्थिति का भी पता लगा लेते हैं। इन लोगों की प्रेमचर्या (courtship) में भी गंध सहायक है।

भित्तिका (Septum) द्वारा नासिका दो भागों में विभक्त है। बीच का है और उसके दाहिनी ओर बाईं ओर नासिकारंध्र है। नासिका के पीछे की ओर नासिकारंध्र मुँह के अंदर ग्रसनी (Pharynx) के पास पहुँचकर पुनः दो छिद्रों में विभक्त हो जाता है, जिन्हें बाह्य छिद्र और आंतरिक छिद्र कहते हैं।

नासा अंतर्गुहा (Nasal cavity) की प्राकृतिक बनावट बहुत विस्तृत तथा सुंदर है। इसमें तीन दराजें तथा तीन नासामार्ग (Meatus) हैं। नासिका की अंतर्गुहा संपूर्ण रूप से श्लेष्मल कला (membrane) द्वारा आच्छादित है। ऊपरी नासामार्ग के पश्चाद्भाग में घ्राणक्षेत्र (Olfactory area) है। नासिका के अंदर का संपूर्ण भाग गंध अनुभव करने के काम में नहीं आता। छोटा सा घ्राणक्षेत्र ही गंध अनुभव करने का मुख्य कार्य करता है। श्लेष्मल कला से सदैव श्लेष्मा निकलती रहती है। सर्दी जुकाम होने पर इसके निकलने की मात्रा बहुत बढ़ जाती है, जिससे नासिकारंध्र बंद हो जाता है और श्वास लेने में कठिनाई होती है। किसी भी प्रकार की सुगंध या दुर्गंध अनुभव करने की शक्ति ऐसी स्थिति में नहीं रहती। इसका मुख्य कारण यही है कि घ्राणक्षेत्र बंद हो जाता है। जब बहुत जोरों से श्वास खींची जाती है और गंधयुक्त वायु का प्रवेश घ्राणक्षेत्र में होता है तब गंध का अनुभव अवश्य होता है।

प्रत्येक पदार्थ की अपनी विशेष सुगंध या दुर्गंध होती है। किस प्रकार की गंध किस वस्तुविशेष की है, इसे पहचानने के लिये मस्तिष्क को विगत अनुभव की आवश्यकता होती है। बारबार कोई गंधविशेष मस्तिष्क को क्यों न मिले, वह अपने विगत ज्ञान के कारण उसे प्रत्येक बार पहचान लेता है। गंध के सूक्ष्मतम प्रभेद की पहचान भी मस्तिष्क में स्थित इसी घ्राणक्षेत्र द्वारा होती है।

स्वाद—इसे अनुभव करने के लिये जीवजंतुओं के शरीर में जिह्वा मुख्य अंग है। जिह्वा मुँह के अंदर एक मांसपेशी है। उसका ऊपरी भाग श्लेष्मलकला से आच्छादित है। यह मस्तिष्क तंत्रिका (cranial nerves) संख्या पाँच, सात, नौ और बारह से संबंधित है। ये तंत्रिकाएँ जिह्वा में परिपूर्ण रूप से विस्तृत हैं। रक्तसंचालन की भी उचित व्यवस्था संपूर्ण जिह्वा में है।

स्वाद अनुभव करने का गुण जिह्वा के ऊपर के भाग की श्लेष्मल कला में है। यह श्लेष्मल कला जिह्वा के अग्रिम ऊपरी भाग पृष्ठ भाग एवं नीचे के भाग में छोटे छोटे प्रक्षेपणों (projections) के रूप में होती है। ये प्रक्षेपण देखने में लाल रंग के अंकुरकों (Papillae) के समान दिखाई देते हैं। ये अंकुरक तीन प्रकार के होते हैं—सूत्राकार (Filiform), कवकरूप (Fungiform) और प्राचीरयुक्त (Vallate)। सूत्राकार अंकुर जिह्वा के अग्रिम दो तिहाई भाग पर होते हैं। कवक रूप अंकुर सूत्राकार अंकुर से कुछ बड़े होते हैं और जिह्वा के अगल बगल तथा एकदम अग्र भाग में रहते हैं। प्राचीरयुक्त अंकुर जिह्वा के पश्च भाग में होते हैं। आईने के सामने जिह्वा को बाहर निकालने पर जिह्वा के पश्च भाग में छह से लेकर बारह तक बड़े बड़े दाने देखे जा सकते हैं। वे एक विशेष प्रकार के अंकुर हैं। इनके प्रत्येक दाने में छोटे छोटे गड्ढे होते हैं। इस प्रकार का अंकुर खाली आँख से देखने पर भले ही छोटे छोटे दाने की तरह दिखाई देता हो, किंतु वास्तव में यह एक छोटे स्तंभ के समान है जिसके चारों ओर किले की तरह खाई बनी हुई है। सूक्ष्मदर्शी यंत्र द्वारा देखने पर अंकुर की स्तंभ जैसी बनावट के चारों ओर तराशे हुए प्याज जैसे आठ से लेकर बारह तक की संख्या में जो अंश दिखाई देते हैं उन्हें स्वादकलिका (Taste bud) कहते हैं। विभिन्न प्रकार के जीवजंतुओं में यह संख्या विभिन्न होती है। मनुष्य में इसकी संख्या लगभग नौ हजार होती है और साँड में चौंतीस हजार से भी अधिक है। सूत्राकार अंकुर में कलिका नहीं होती। कवक रूप में प्राचीरयुक्त अंकुरों में कलिकाओं का बाहुल्य है। कलिका में खाईं की ओर एक बहुत ही सूक्ष्म छिद्र होता है और प्रत्येक कलिका मस्तिष्क की सातवीं और नवीं तंत्रिकाओं से संबंधित रहती है। इन दोनों तंत्रिकाओं में विकार आ जाने में जीवजंतुओं में स्वाद अनुभव करने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

स्वाद अनुभव करने की विधि यह है कि खाद्य पदार्थ जब मुँह के अंदर जाता है तब वह लाला रस में, जो मुँह के अंदर स्थित लाला ग्रंथि में

निकलता है, मिश्रित हो जाता है। जब खाद्य पदार्थ लालारस मे मिलकर विलयन बन जाता है तब वह अंकुर की खाइ में प्रवेश कर जाता है और कलिका के छिद्र द्वारा कलिका के अंदर पहुँच जाता है। कलिका के अंदर रासायनिक क्रिया होती है जिसमे तंत्रिका के अंतिम भाग में विद्युत् की तरंग उत्पन्न होती है। यह विद्युत्तरंग तंत्रिका द्वारा मस्तिष्क के उस विशेष भाग में पहुंचती है जहा स्वाद अनुभव करने की शक्ति है। इस प्रकार स्वाद का अनुभव वास्तव में मस्तिष्क करता है। किसी विशेष खाद्य पदार्थ के विशेष स्वाद को पुनः पहचानने के लिये मस्तिष्क अपना पूर्व का अनुभव स्मरण करता है और इस प्रकार अपने विगत स्वाद के ज्ञान के आधार पर उपस्थित स्वाद की पहचान कर पाता है।

जिह्वा के विभिन्न भाग में विभिन्न स्वाद की कलिकाएँ विस्तारित हैं। मीठा और नमकीन अनुभव करने की कलिकाएँ जिह्वा के अग्रभाग में हैं। खट्टा अनुभव करने की कलिकाएँ जिह्वा के पार्श्व में हैं, अर्थात् कवक रूप अंकुर की कलिकाओं में हैं। कड़वा स्वाद अनुभव करने की कलिकाएँ जिह्वा के एकदम पश्चात् भाग, अर्थात् प्राचीरयुक्त अंकुर की कलिकाओं में है। अज्ञान के कारण साधारणतः मनुष्य किसी कड़वी दवा का प्रयोग करते समय मुँह खोलकर दवा को जिह्वा के पश्च भाग में डाल देता है। इसे निगलने में वह शीघ्रता करता है, किंतु इस सावधानी पर भी कड़वाहट का स्वाद मिल ही जाता है, क्योंकि इस स्वाद का कारण तो जिह्वा के पश्च भाग और गले (घाँटीढाँपन, Epiglottis) में रहता है।

स्वाद अनुभव करने की शक्ति जिह्वा की कलिकाओं के अतिरिक्त मुंह के अन्य भागों में भी होती है, जैसे गाल, तालू और गले में। किंतु इन सब स्थानों में कलिकाओं की संख्या बहुत कम रहती है। खट्टे स्वाद का अधिक अनुभव करने के लिये मनुष्य जिह्वा को तालू से दबाता है और इस तरह खटाई का अधिक अनुभव होता है।

मुख्यतः चार प्रकार के स्वादों का अनुभव हमें होता है: मीठा, खट्टा, नमकीन और कड़वा। किसी किसी प्रकार के खाद्य पदार्थ में इन चारों स्वादों का मिश्रण रहता है। किंतु जिह्वास्थित कलिकाओं को इन्हें पहचानने में कठिनाई नहीं होती। नासिका भी स्वाद अनुभव करने में सहायता पहुँचाती है। अदरक का स्वाद जिह्वा द्वारा पहचानने के पहले ही नासिका में गंध चली जाती है और स्वाद का अनुभव हो जाता है। रक्त में जब रासायनिक पदार्थ का अधिक संचालन होता है तब भी स्वाद का अनुभव होता है, जैसे जब पित्त की मात्रा बढ़ जाती है तब मुँह में कड़वाहट का अनुभव होता है।

स्वाद अधिक या कम अनुभव करना अंकुर की कलिकाओं पर निर्भर करता है। बच्चों में कलिकाओं की संख्या अधिक होती हैं और वृद्धावस्था में कम। आयु की वृद्धि के साथ साथ जिह्वा में स्वाद अनुभव करने की शक्ति अग्रिम भाग से घटते घटते पश्च भाग, अर्थात् प्राचीरयुक्त अंकुरों की कलिकाओं में रह जाती है।

जब मनुष्य रक्त के रोगों से, विशेषतः रक्तहीनता के रोग (Anaemia) से पीड़ित रहता है, तब स्वाद की कमी का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में जिह्वा स्थित अंकुरों की संख्या कम हो जाती है, जिह्वा चिकनी हो जाती है और सुस्वादु से सुस्वादु भोजन खाने पर भी वह स्वादिष्ट नहीं लगता। किसी किसी जन्मजात (Conjenital) रोगी मनुष्य की जिह्वा में कलिकाएँ बचपन से ही अनुपस्थित रहती हैं और किसी प्रकार का भोजन करने पर भी किसी स्वाद का अनुभव नहीं होता। जब मस्तिष्क की सातवीं और नवीं तंत्रिकाओं में विकास आ जाता है तब भी स्वाद का अनुभव नहीं होता। कभी कभी मेनिन्जाइटिस (meningitis) रोग होने पर भी स्वाद अनुभव करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। किसी किसी व्यक्ति को जब मस्तिष्क की अग्रपालि (Frontal lobe) में अर्बुद (tumour) हो जाता है तब वह साधारण स्वाद के बदले विकृत स्वाद का अनुभव करता है। मतिविभ्रम रोग (Hallucination) से पीड़ित रहने पर मनुष्य विचित्र विचित्र स्वाद का अनुभव करता है।

मानव शरीर की वृद्धि के लिये सुस्वादु भोजन अति आवश्यक है, क्योंकि मनपसंद भोजन करने से आमाशय के रस में वृद्धि होती है और पाचन क्रिया में सहायता मिलती है। जीव जंतु अधिकांशतः ऐसे खाद्य पदार्थ खाना अस्वीकार करते हैं जो प्रकृति के अनुकूल न हों, स्वादिष्ट न हों या शरीर के लिये किसी प्रकार से हानिकारक हों। (वि० प्र० सि०)

गंधक एक रासायनिक अधातुक तत्व है। बहुत प्राचीन काल से यह ज्ञात है। तब ओषधों और युद्धों में यह प्रयुक्त होता था। मध्ययुग के कीमियागरों को भी गंधक मालूम था और अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं में प्रयुक्त होता था। वे गंधक को 'ज्वलनीय वायु का सार' समझते थे। फ्लोजिस्टन सिद्धांत से इसका घनिष्ठ संबंध रहा। लवाज़िए ने पहले पहल इसको रासायनिक तत्व की संज्ञा दी थी। गे लूसाक (Gay Lussac) और लुई थेनार्ड (Louis Thenard) ने १८०९ ई० में इसकी पुष्टि की।

गंधक हल्के पीले रंग का स्वादरहित और गंधरहित ठोस पदार्थ है। यह प्रधानतया तीन रूपों—समचतुर्भुजीय मणिभ, ऐल्फा गंधक और एकनत मणिभ, बीटा गंधक—में पाया जाता है। समचतुर्भुजीय मणिभ सामान्य ताप पर स्थायी होता है। एकनत मणिभ उच्च ताप पर बनता और सामान्य ताप पर धीरे धीरे समचतुर्भुजीय रूप में परिणत हो जाता है। क्रांतिक ताप ९५.५° सें० है। गंधक का एक चौथा रूप, गामा या प्लास्टिक गंधक है, जो रबर सा सुनम्य होता है। इन तीनों रूपों के बाह्य रूप मणिभ संरचना और भौतिक गुण विभिन्न होते हैं। ऐल्फा गंधक का विशिष्ट घनत्व २.७ (२०° सें० पर), गलनांक ११२.८° सें० और द्रवण उष्मा ११.९ कैलरी है। बीटा गंधक का आपेक्षिक घनत्व १.९५, गलनांक ११८.९° सें० और प्लास्टिक गंधक का आपेक्षिक घनत्व १.९२ है। गरम करने से गंधक में कुछ विचित्र परिवर्तन होते हैं। इसके पिघलते ही हल्के पीले रंग का द्रव गंधक बनता है। गंधक का समचतुर्भुजीय रूप ११२.८° सें० पर और एकनत रूप ११८.९° सें० पर पिघलता है। १२०° सें० के ऊपर गरम करने से लगभग १५७° सें० तक द्रव की श्यानता कम होती जाती है। १५९°-१६०° सें० से श्यानता बढ़ने लगती और १८६°-१८८° सें० पर महत्तम हो जाती है। इस ताप के ऊपर श्यानता फिर कम होने लगती है और रंग में भी स्पष्ट परिवर्तन होते हैं। १६०° सें० से ऊपर रंग अधिक गाढ़ा होता है तथा २५०° सें० पर भूरा काला होता है। ठंढा करने पर ये परिवर्तन ठीक प्रतिकूल दिशा में उसी प्रकार होते हैं। ४४४.६° सें० पर गंधक उबलने लगता है। उबलने पर पहले संतरे जैसे पीले रंग का वाष्प बनता है। ये परिवर्तन गंधक के अणुओं में परिवर्तन होने के कारण होते हैं। विभिन्न दशाओं में अणुओं में परमाणु की संख्या भिन्न होती है और उनकी बनावट में भी भिन्नता होती है।

गंधक जल में अविलेय, पर कार्बन डाइ सल्फाइड नामक द्रव में अतिविलेय होता है। कार्बनिक विलायकों में गंधक न्यूनाधिक मात्रा में घुलता है।

गंधक सक्रिय तत्व है। स्वर्ण और प्लाटिनम को छोड़कर अन्य तत्वों के साथ यह संयोग करता तथा अनेक यौगिक बनाता है। इन यौगिकों में गंधक की संयोजकता दो, चार या छह रहती है। हाइड्रोजन के साथ इससे हाइड्रोजन सल्फाइड, ऑक्सीजन के साथ ऑक्साइड और धातुओं के साथ धातुओं के सल्फाइड बनते हैं। यह एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है, जिसका रासायनिक उद्योगों में उपयोग किया जाता है। यद्यपि इसके स्थान पर अनेक अन्य पदार्थ उपयोग में लाए जाने लगे हैं, तथापि आज भी इसकी खपत बहुत अधिक है। किसी भी राष्ट्र की रासायनिक उद्योगों की प्रगति का अनुमान सल्फ्यूरिक अम्ल की खपत से किया जा सकता है, जो गंधक द्वारा ही निर्मित होता है। सल्फ्यूरिक अम्ल के अतिरिक्त गंधक के उपयोग कुछ अन्य उद्योगों, जैसे कीटनाशक पदार्थों, दियासलाई, बारूद, विस्फोटक पदार्थों आदि आदि में भी होते है।

गंधक संयुक्त और असंयुक्त, दोनों रूपों में पाया जाता है। असंयुक्त गंधक कुछ देशों में, विशेषतः ज्वालामुखी और गंधकवाले झरनों के निकटवर्ती स्थानों में, पाया जाता है। विशेष रूप से यह सिसिली द्वीप, जापान, चिली और अमरीका के अनेक क्षेत्रों में पाया जाता है।

संयुक्त गंधक सल्फाइड (लोहे के सल्फाइड लौहमाक्षिक, जस्ते के सल्फाइड जिक ब्लेंड, सीस के सल्फाइड गैलीना और तांबे के सल्फाइड ताम्रमाक्षिक) और सल्फेट (कैलसियम सल्फेट जिपसम, बेरियम सल्फेट बेराइटा, मैग्नीशियम सल्फेट किसेराइट) के रूप में पाया जाता है। कुछ झरनों के जलों में हाइड्रोजन सल्फाइड मिलता है। समुद्र जल में कैलसियम और मैग्नीशियम के सल्फेट पाए जाते हैं। बाल, ऊन, ऐल्ब्युमिन, लहसुन, सरसों, मूली, करमकल्ला और कुछ प्रोटीन आदि कार्बनिक पदार्थों में गंधक रहता है। भूपृष्ठ की पर्पटी में ० ०६ प्रति शत गंधक विभिन्न रूपों में पाया जाता है।

खान से निकले गंधक के खनिज को भट्ठे के, जिसे कालकेरोनी, (Calcaroni) कहते हैं, ढालवें तल पर जलाने से कुछ गंधक जलकर जो उष्मा उत्पन्न करता है उससे खनिज का शेष गंधक पिघल और बहकर अपद्रव्यों से अलग हो जाता है। इस प्रक्रिया में गंधक का एक तिहाई अंश जलकर नष्ट हो जाता है। फिर ऐसे भट्ठे बने जिनके एक भट्ठे की गरम गैसों से दूसरा भट्ठा गरम होता था। इससे गंधक की हानि कुछ कम हो गई। जापान में खान से निकले गंधक को बंद भभके में गरम कर गंधक के वाष्प के आसवन से गंधक प्राप्त होने लगा। भभकों को भाप से अथवा ऑटोक्लेव में अतितप्त जल से गरम करते थे। आजकल फ्रैश विधि (Frasch process) से अमरीका में खानों से गंधक निकाला जाता है, वहाँ २०० से २,००० फुट तक की गहराई में गंधक पाया जाता है। खानों में छेद करके सकेंद्रित नलीवाली पाइप बैठाई जाती है। बाहर से अतितप्त जल प्रवाहित करने से गंधक पिघलकर गड्ढे में इकट्ठा होता है, जहाँ से संपीडित वायु के सहारे बीच की नली से पिघला गंधक बाहर निकालकर, लकड़ी के साँचों में डालकर, बत्ती के रूप में प्राप्त किया जाता है।

माक्षिकों (Pyrites) से गंधक प्राप्त करने के अनेक सफल प्रयत्न हुए हैं और अनेक भट्ठियाँ बनी हैं जिनमें उपोत्पाद के रूप में गंधक या सल्फर डाइआक्साइड प्राप्त होता है। इससे सलफ्यूरिक अम्ल बनाया जा सकता है।

भारत में प्राकृतिक गंधक का कोई भी विशाल निक्षेप नहीं है। भारत विभाजन से पूर्व बलूचिस्तान में कोह-ए-सुल्तान (Koh-i-Sultan) के समीप शिथिल ज्वालामुखी से गंधक प्राप्त होने के संकेत मिले थे, किंतु इसपर कोई विशेष कार्य नहीं किया गया। विश्वयुद्ध में भी अनेक बार इस प्रकार के प्रयत्न किए गए जिससे वाणिज्य स्तर पर गंधक इस स्रोत से प्राप्त किया जा सके, किंतु कभी भी सफलता हाथ न लगी तथा युद्ध समाप्त होने पर पुन आयात आरंभ कर दिया गया। इस प्रकार वर्तमान समय में भारत में कोई भी ऐसा स्रोत नहीं है जो प्राकृतिक गंधक की आवश्यकतापूर्ति कर सके।

गंधक के अतिरिक्त कुछ यौगिक ऐसे भी हैं जिनमें गंधक का कुछ भाग होता है तथा जो सलफ्यूरिक अम्ल के निर्माण में प्रयुक्त किए जा सकते हैं। मुख्यत ये लौहपाइराइट तथा चाल्कोपाइराइट (Chalchopyrites) हैं। चाल्कोपाइराइट लौह, तांबा तथा गंधक का यौगिक है, जिसके उत्तम निक्षेप सिंहभूम (बिहार) में मोसाबानी के समीप स्थित हैं। चाल्कोपाइराइट से तांबे का शोधन करने पर प्रति वर्ष कई हजार टन सल्फर डाइआक्साइड गैस निकलती है, जो व्यर्थ ही वायु में विलीन हो जाती है। कुछ देशों में इस प्रकार प्राप्त गैस को सलफ्यूरिक अम्ल के निर्माण में प्रयुक्त किया जाता है। कैनाडा में इस गैस से गंधक की प्राप्ति की जाती है।

चाल्कोपाइराइट के अतिरिक्त पाइराइट भी गंधक का मुख्य स्रोत है तथा यह सलफ्यूरिक अम्ल के निर्माण में प्रयुक्त होता है। भारत में बिहार, बंबई, मैसूर तथा पंजाब के अनेक भागों में इसके निक्षेप मिले हैं। एक उत्तम निक्षेप तारादेव स्टेशन (शिमला) के समीप हिमाचल घाटी में और दूसरा निक्षेप अमजोर (शाहाबाद, बिहार) में है। इसमें ४०% गंधक की मात्रा विद्यमान है, कुल भंडारों की अनुमित मात्रा ७,५०,००० [illegible] । मैसूर के चितालद्रुग जिले में तथा मद्रास के नीलगिरि जिले में भी व्यापक कार्य किया गया है तथा इनसे भी आशाजनक सफलता प्राप्त हुई है। (धि० वा० प्र०, वि० सा० दु०)

गंधकुटी बुद्ध, केवली या भगवान् के विराजने का स्थान। मोह का क्षय होने से कैवल्य (पूर्ण ज्ञान) की प्राप्ति होती है। तीर्थंकर केवली के लिये इंद्र विशाल गगन सभा (समवसरण) का निर्माण करता है। समवसरण के केंद्र में उच्च स्थान पर भगवान् के लिये कुटी होती है। इसमें सदैव मलयचंदन, कालागर आदि जलते रहते हैं अतएव इसे गंधकुटी कहते हैं। साधारण केवलियों के लिये केवल गंधकुटी बनती है। समवसरण के प्रतीक जिनमंदिरों में गंधकुटी के स्थान पर गर्भगृह होता है तथा मूर्तियाँ इसी में रहती हैं।

महात्मा बुद्ध के बैठने के स्थान को भी दिव्यावदान आदि में गंधकुटी नाम से ही अभिहित किया गया है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति (गाथा ८८७-८९२) में गंधकुटी का वर्णन है। ऋषभदेव की गंधकुटी की लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई क्रमश ६००, ६०० और ९०० दंड थी। इसके बाद नेमिनाथ पर्यंत तीनों में २५, २५ और ३७॥ दंड घटते गए। पार्श्वनाथ की गंधकुटी ६२॥ लं०, चौ० और ९३॥। ऊँची थी। महावीर स्वामी की ५०, ५० और ७५ दं० लं० चौ० ऊँ० थी। सारनाथ में बुद्ध की भी गंधकुटी अथवा मूलगंधकुटी थी। (खु० च० गो०)

गंधमार्जार (Civets) मांसभक्षी, स्तनपोषी जीवों के विवेरिडी कुल (Family Viverridae) के जीव हैं। इनकी कई जातियाँ संसार में फैली हैं।

ये बिल्ली के पद के जीव हैं। इनके पैर छोटे और मुँह लंबा होता है। ये जीव पेड़ पर सरलता से चढ़ लेते हैं और रात में ही बाहर निकलते हैं। इन प्राणियों के दुम के नीचे एक गंधग्रंथि रहती है, जिससे गाढ़ा, गंधपूर्ण, पीला पदार्थ निकलता है। इसे व्यापारी लोग मुश्क या कस्तूरी में मिलाकर बेचते हैं। इसमें से सिवेटोन (Civetone) नामक कीटोन निकाला गया है। सुगंधित द्रव्यों के निर्माण में इसकी गंध प्रयुक्त होती है।

इनकी वैसे तो कई जातियाँ हैं जिनमें एक हमारे यहाँ का प्रसिद्ध कस्तूरी मृग (The Zibeth, Viverra zibetha) है, जो आस्ट्रेलिया से

गंधमार्जार (Civet)

भारत और चीन तक फैला हुआ है। कद लगभग तीन फुट लंबा और १० इंच ऊँचा होता है। रंग स्लेटी, जिसपर काली चित्तियाँ रहती हैं। दूसरा अफ्रीका का कस्तूरी मृग (African civet, Civette des civetta) है, जो इससे बड़ा और ऊँचा तथा इससे गाढ़े रंग का और बड़े बालोंवाला होता है। इसे लोग पालतू करके मुश्क निकालते हैं। (मु० सिं०)

गंधमादन पर्वत एक पुराणवर्णित पर्वत जो इलावृत के पूर्व और मेरु तथा उत्तर कुरु के पश्चिम में है। इसका विस्तार उत्तर दक्षिण है। इसके दक्षिण नील और उत्तर में निषध पर्वत है। पश्चिमी सागर तक विस्तृत इसके मध्य का प्रदेश भद्राश्ववर्ष कहा जाता है। वानर यहाँ निवास करते हैं। इसे पुराणों में नरनारायण का निवास स्थान बताया गया है। इसी पर्वत पर उर्वशी के साथ पुरुरवा दस वर्ष तक रहे। वनवास काल में युधिष्ठिर भी यहाँ रहे थे। जातक कथा में कहा गया है कि वेस्संतर राजा अपनी पत्नी तथा पुत्र के साथ यहाँ आए थे। इस पर्वत पर मुगध नामक एक तीर्थ है जहाँ एक शिवलिंग स्थापित है। बाणभट्ट ने गंधमादन की स्थिति हिमालय में बताई है। (प० ला० गु०)

गंधर्व यक्ष, राक्षस, पिशाच, सिद्ध, चारण, नाग, किंनर आदि अंतराभवसत्व (शाश्वतकोश, १०१) में स्थित देवयोनियों में गंधर्वों की भी गणना है (अमरकोश, १, २; क्षीरस्वामी : गंधर्वास्तुम्बुरुप्रभृतय. देवयोनय:; भागवत, ३, ३, ११)। गंधर्व शब्द की क्लिष्ट कल्पनाओं पर आश्रित अनेक व्युत्पत्तियाँ प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों ने दी हैं। सायण ने दो स्थानों पर (ऋग्वेद ८,७७,५ और १,१६२,२) दो प्रकार की व्याख्याएँ की हैं--प्रथम 'गानुदकं धारयतीति गंधर्वोमेघ' और द्वितीय 'गवां रश्मीनां धर्तारं सूर्य'। फ्रेंच विद्वान् प्रिजुलुस्की (इंडियन कल्चर ३,६१३-६२०) में गंधर्वों का संबंध गर्दभों से जोड़ा है, क्योंकि गधर्व 'गर्दभनादिन्' (अथर्ववेद ८, ६) है एवं गर्दभों के समान ही गंधर्वों की कामुकता का वर्णन है। एक परंपरा उज्जयिनी के राजा गंधर्वसेन को गर्दभिल्ल कहती है। ये सारी व्युत्पत्तियाँ दूरारूढ़ कल्पनाजन्य हैं। (खंडन के लिये देखिए, आ० बे० कीथ : ए न्यू एक्सप्लेनेशन ऑव द गंधर्वाज, जर्नल ऑव इंडियन सोसाइटी ऑव ओरिएंटल आर्ट, ५, ३२-३६)। साधारणत: मान्य व्युत्पत्ति है--गंध संगीत वाद्यादिजनित प्रमोदं अर्वति प्राप्नोति गंधर्व: स्वर्गगायक: (शब्दकल्पद्रुम)। गंध और गंधर्व की सगंधता अथर्ववेद (१२,१,२,३) *में भी व्यंजित है, फिर भी 'संगीतवाद्यादिजनित प्रमोद'* गंध का साधारण अर्थ नहीं, इसलिये यह व्युत्पत्ति भी संतोषप्रद नहीं। कुछ विद्वान् ग्रीक केंतोरों (Kentauros), ईरानी गंधरव, संस्कृत गंधर्व तथा पाली गंधब्ब को एक ही स्रोत से नि:सृत मानते हैं।

ऋग्वेद में गंधर्व वायुकेश (ऋक्, ३, ३८, ६) सोमरक्षक, मधुरभाषी (तुलनीय, अथर्ववेद, २०, १२८, ३), संगीतज्ञ, (ऋ० १०, ११) और स्त्रियों के ऊपर अतिप्राकृत रूप से प्रभविष्णु बतलाए गए हैं। अथर्ववेद (२, ५, २) में गंधर्वों की गणना देवजन, पृथग्देव और पितरों के साथ की गई है। विवाहसूक्त (अथर्ववेद १४,२,३४-३६) में नवविवाहित दंपति के लिये गंधर्वों के आशीर्वचन की याचना की गई है। सिर पर शिखंड धारण किए अप्सराओं के पति गंधर्वों के नृत्यों का अनेकश: वर्णन हैं (आनृत्यत: शिखंडिन: गंधर्वस्याप्सरापते: ५,३७,७)। उनके हाथों में लोहे के भाले और भीम आयुध हैं (५,३७,८)। प्राचीन शिलालेखों में (यथा राज्ञी बालश्री का नासिक में उपलब्ध अभिलेख, पंक्तियाँ ८-९, तालगुंड स्तंभाभिलेख, पद्य ३३ आदि में) गंधर्वों के उल्लेख हैं, किंतु प्रतिमाओं से ही कुछ विशिष्ट सूचनाएँ उनके विषय में उपलब्ध होती हैं। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (३,४२) में उनके लिये शिखर से शोभित किंतु मुकुट से विरहित प्रतिमाओं का विधान है। मथुरा, गांधार, गुप्त, चालुक्य और पल्लव कला-केंद्रों में इनकी प्रतिमाएँ कुछ विभिन्नताओं के साथ मिलती हैं (द्रष्टव्य, आर० एस० पंचमुखी, गंधर्वाज ऐंड किन्नराज इन इंडियन आइकोनोग्राफ़ी, ३१-४६)। मानसार (५८, ९-१०) उनकी प्रतिमाओं की विशेषताओं का समाहार करता हुआ लिखता है : नृत्तं वा वैष्णवं वापि वैशाखं स्थानकं तु वा। गीतवीणा-विधानैश्च गंधर्वाश्चेति कथ्यते। रामायण, महाभारत और पुराणों में वे देवगायकों के रूप में चित्रित किए गए। जैन परंपरा में गंधर्वों को किंपुरुष, महोरग आदि के साथ व्यंतरलोक के देवों के रूप में स्वीकार किया गया। (द्र०, कपाडिया, जाइगैंटिक फ़ेबुलस ऐनिमल्स इन जैन-लिटरेचर, न्यू इंडियन ऐंटीक्वेरी, १९४६)। बौद्ध अवदानों और जातकों में गंधर्वों के बहुविध उल्लेख हैं। (ओ० एच० द० ए० विजेसेकर : *वेदिक गंधर्व ऐंड पाली गंधब्ब*, यूनीवर्सिटी ऑव सीलोन रिव्यू, ३ भी द्रष्टव्य हैं) संगीतशास्त्र से प्रधानत: संबद्ध गंधर्वों की कल्पना ने तक्षण और वास्तुकला में अभिनव सौंदर्योपचायक अभिप्रायों की अभिवृद्धि की। महाकाव्य और कथाओं में, विशेषत: पूर्वमध्ययुगीन जैन कथाओं में, विद्याधर और यक्षों के साथ गंधर्वकल्पना अतिरंजित, हृद्य और काल्पनिक कथावृत्तों के सर्जन और गुंफन में सहायक हुई। (वि० श० पा०)

गंधर्व विवाह प्राचीन भारतीय स्मृतिकारों ने विवाह के जो आठ प्रकार मान्य किए थे, उनमें से एक रूप। इस विवाह में अभिभावकों की अनुमति की आवश्यकता न थी। युवक युवती के परस्पर राजी होने पर किसी श्रोत्रिय के घर से लाई अग्नि में हवन कर तीन फेरे कर लेने मात्र से इस प्रकार का विवाह संपन्न हो जाता था। इसे आधुनिक प्रेम विवाह का प्राचीन रूप कह सकते हैं। इस प्रकार का विवाह करने के पश्चात् वर-वधू दोनों अपने अभिभावकों को अपने विवाह की निस्संकोच सूचना दे सकते थे क्योंकि अग्नि को साक्षी देकर किया गया विवाह भंग नहीं किया जा सकता था। अभिभावक भी इस विवाह को स्वीकार कर लेते थे। किंतु इस प्रकार का विवाह लोकभावना के विरुद्ध समझा जाता था, लोग इस प्रकार किए गए विवाह को उतावली में किया गया विवाह मानते थे। लोगों की धारणा थी कि इस प्रकार के विवाह का परिणाम अच्छा नहीं होता। शकुंतला-दुष्यंत, पुरुरवा-उर्वशी, वासवदत्ता-उदयन के विवाह गंधर्व-विवाह के प्रख्यात उदाहरण हैं। (प० ला० गु०)

गंधशास्त्र देवताओं के षोडशोपचार में सुगंध एक आवश्यक उपचार माना गया है। आज भी नित्य देवपूजन में सुवासित अगरबत्ती और कपूर का उपयोग होता है। यही नहीं, भारत के निवासी अपने प्रसाधन में सुगंधित वस्तुओं और विविध वस्तुओं के मिश्रण से बने हुए सुगंध का प्रयोग अति प्राचीन काल से करते आ रहे हैं। सुगंधि की चर्चा से प्राचीन भारतीय साहित्य भरा हुआ है। इन सुगंधियों के तैयार करने की एक कला थी और उसका अपना एक शास्त्र था। किंतु एतत्संबंधित जो ग्रंथ १२वीं-१३वीं शती के पूर्व लिखे गए थे वे आज अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं। वैद्यक ग्रंथों में यत्रतत्र सुगंधित तेलों का उल्लेख मिलता है।

चरक संहिता में अमृतादि तैल, सुकुमारक तैल, महापद्म तैल आदि अनेक तेलों की चर्चा है। इनके बनाने के लिये चंदन, उशीर (खस), केसर, तगर, मंजिष्ठ (मजीठ), अगुरु आदि सुगंधित वस्तुओं का प्रयोग होता था। इससे प्रकट होता है कि ईसा की आरंभिक शती में सुगंधियों का प्रचुर प्रचार था। उस समय उनके तैयार करने की कला समुन्नत थी। वात्स्यायन ने, जिनका समय गुप्त काल (चौथी-पाँचवीं शती ई०) आँका जाता है, अपने कामसूत्र में नागरिकों के जानने योग्य जिन चौसठ कलाओं का उल्लेख किया है उसमें सुगंधयुक्त तेल एवं उबटन तैयार करना भी है। वराहमिहिर के बृहत्संहिता में, जो इसी काल की रचना है, गंधयुक्ति नामक एक प्रकरण है। इसी प्रकार अग्निपुराण के २२४वें अध्याय में गंध की चर्चा है। उसमें सुगंध तैयार करने की आठ प्रक्रियाओं का उल्लेख है। वे हैं--(१) शोधन; (२) आचमन; (३) विरेचन; (४) भावन; (५) पाक; (६) बोधन; (७) धूपन और (८) वासन। जिन वस्तुओं के धूम से सुगंध प्राप्त हो सकती है, ऐसी इक्कीस वस्तुओं के नाम इस पुराण में गिनाए गए हैं। इसी प्रकार स्नान के लिए भी सुगंधित वस्तुओं का उसमें उल्लेख है। मुख को सुगंधित बनाने के लिये मुखवासक चूर्ण के अनेक नुस्खे उसमें उपलब्ध हैं। फूलों के वास से सुगंधित तेल तैयार करने की बात भी उसमें कही गई है। इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तर पुराण में गंधयुक्ति प्रकरण है। कालिका पुराण में देवपूजन के निमित्त पाँच प्रकार के सुगंध की चर्चा है--(१) चूर्ण करने से प्राप्त सुगंध; (२) घास के समान उगनेवाली सुगंध; (३) जल से निकलनेवाली सुगंध; (४) प्राणियों के अंग से उत्पन्न होनेवाली सुगंध तथा (५) कृत्रिम रूप से तैयार की जानेवाली सुगंध।

बारहवीं शती में सोमेश्वर ने मानसोल्लास की रचना की थी। उसमें गंधभोग नामक एक प्रकरण है। इसमें तिल को केतकी, पुन्नाग और चंपा के फूलों से सुवासित करने तथा उन्हें पेरकर तेल निकालने की प्रक्रिया का उल्लेख है। इसी प्रकार शरीर पर लगाए जानेवाले सुगंधित उबटनों का भी विस्तृत उल्लेख है। इसी तरह सुगंधित जल तैयार करने की विधि भी उसमें दी हुई है। मानसोल्लास के इन प्रकरणों के आधार पर नित्यनाथ ने तेरहवीं शती में अपने रसरत्नाकर नामक ग्रंथ में गंधवाद नामक प्रकरण लिखा है जिसमें सुगंधि तैयार करने की विस्तृत चर्चा है।

गंध शास्त्र पर चौदहवीं शती के लिखे दो ग्रंथों की हस्तलिपि पूना के भंडारकर प्राच्य शोध संस्थान में है। एक का नाम है गंधवाद। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। इसपर १६वीं शती के पूर्वार्ध की लिखी हुई एक टीका भी है। दूसरा ग्रंथ गंगाधर नायक कृत गंधसार है। इसमें उन्होंने सुगंधि को आठ वर्गों में विभाजित किया है। यथा--(१

पत्र, (२) पुष्प, (३) फल (जायफल आदि), (४) लौंग आदि भाड़ियों से उत्पन्न डंठल, (५) लकड़ी (चंदन आदि); (६) मूल (जड़), (७) वनस्पति स्राव (यथा—कपूर) और (८) प्राणिज पदार्थ (यथा—कस्तूरी)। उन्होंने सुगंध तैयार करने की छह प्रक्रियाएँ बताई हैं और उनकी विस्तृत चर्चा की है।

मुस्लिम काल, विशेषत: मुगल, काल में सुगंध का महत्व काफी बढ़ गया था और उसने एक समुन्नत उद्योग का रूप धारण कर लिया था। सुगंधित जल और सुगंधित तेलों का प्रचुर उल्लेख इस काल में मिलता है किंतु इस विषय पर रचे गए इस काल के किसी ग्रंथ की जानकारी नहीं प्राप्त होती।

सं० ग्रं०—प० कृ० गोड़े : प्राचीन भारतीय गंधशास्त्र।

(प० ला० गु०)

गंधहस्ती बौद्ध धर्म के अंतर्गत एक बोधिसत्व। इनका उल्लेख निष्पन्न योग में मिलता है। उसमें इनके दो स्वरूपों का वर्णन है। किंतु इनकी प्रतिमा देखने में नहीं आती। नैपाली चित्रपटों में कभी कदा इनका चित्रण मिलता है। (प० ला० गु०)

गंधार, गांधार (१) सिंधु नदी के पूर्व और उत्तर-पश्चिम की ओर स्थित देश जिसमें वर्तमान अफगानिस्तान का पूर्वी भाग सम्मिलित था। ऋग्वेद (१,१२६,१८) में गंधार के निवासियों को गंधारी कहा गया है और उनकी भेड़ों के ऊन को सराहा गया है। अथर्ववेद (५,२२,१४) में गंधारियों का मूजवतों के साथ उल्लेख है। अथर्ववेद में गंधारियों की गणना अवमानित जातियों में की गई है। किंतु परवर्ती काल में गंधारवासियों के प्रति आर्यजनों का दृष्टिकोण बदल गया था और गंधार में बड़े बड़े विद्वान् और पंडित जाकर बसने लगे थे। बौद्धकाल से पूर्व तक्षशिला गंधार की लोकविश्रुत राजधानी थी जो अपने विद्याकेंद्र के कारण भारत भर में सर्वमान्य समझी जाती थी। छांदोग्योपनिषद् में उद्दालक आरुणि ने सद्गुरुवाले शिष्य के अपने अंतिम लक्ष्य पर पहुँचने के उदाहरण के संबंध में गंधार का उल्लेख किया है। जान पड़ता है, छांदोग्य के रचयिता का गंधार विशेष रूप से परिचित देश था। शतपथ ब्राह्मण के (११,४,१) तथा अनुवर्ती वाक्यों में उद्दालक आरुणि का उदीच्यों या उत्तरी देश (गंधार) के निवासियों के साथ संबंध बताया गया है। पाणिनि ने, जो स्वयं गंधार देश के निवासी थे, तक्षशिला का (४,३,९३) उल्लेख किया है। ऐतिहासिक अनुश्रुति में कौटिल्य चाणक्य को तक्षशिला महाविद्यालय का ही रत्न बताया गया है।

वाल्मीकि रामायण (उत्तर० १०१,११) में गंधार विषय के अंतर्गत गंधर्वदेश की भी स्थिति मानी गई है। केकय जनपद इसके पूर्व की ओर स्थित था। केकयनरेश युधाजित् के कहने से रामचंद्र के भाई भरत ने गंधर्वदेश को जीतकर यहाँ की तक्षशिला एवं पुष्कलावती नामक नगरियों को भले प्रकार से बसाया था। महाभारत काल में गंधारदेश का मध्यदेश से बहुत निकट का संबंध था। धृतराष्ट्र की रानी गांधारी, गंधार की राजकन्या थी। शकुनि इसका भाई था। जातकों में कश्मीर और तक्षशिला प्रदेश दोनों की ही स्थिति गंधार में बताई गई है। तक्षशिला के अनेक उल्लेख जातकों में हैं। इस समय यह नगरी एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय के केंद्र रूप में दूर दूर तक प्रख्यात थी। पुराणों (मत्स्य ४८।६, वायु ९९,९) में गंधार नरेशों को द्रुह्यु का वंशज बताया गया है। जैन उत्तराध्ययन सूत्र में गंधार के जैन नरेश नग्गति या नग्नजित् का उल्लेख है। बुद्ध तथा पूर्व बुद्धकाल में गंधार उत्तरी भारत के १६ जनपदों में परिगणित था (अंगुत्तरनिकाय)। सिकंदर के भारत पर आक्रमण के समय गंधार में कई छोटी छोटी रियासतें थीं जिनमें तक्षशिला और अभिसार प्रमुख थीं।

मौर्य साम्राज्य में संपूर्ण गंधारदेश सम्मिलित था। कुशान साम्राज्य का भी यह अभिन्न अंग था। इसी समय यहाँ की नई राजधानी पुरुषपुर या पेशावर में बनाई गई थी। इस काल तक्षशिला का पूर्वगौरव समाप्त [illegible] गया था। गुप्तकाल में गंधार संभवत गुप्त साम्राज्य के बाहर था क्योंकि [illegible] यहाँ यवन, शक आदि विदेशी जातियों का प्रभुत्व था। ७वीं सदी ई० में गंधार के अनेक भागों में बौद्धधर्म पर्याप्त उन्नत था। ८वीं ९वीं सदी ई० में मुसलमानों के उत्कर्ष के साथ धीरे धीरे यह देश उन्हीं के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव के अंतर्गत आ गया। ८७० ई० में अरब सेनापति याकूब एलेस ने अफगानिस्तान को अपने अधिकार में कर लिया किंतु इसके बाद भी यहाँ के हिंदू तथा बौद्ध अनेक क्षेत्रों में रहते रहे, जैसे वे आज भी रह रहे हैं। अलप्तगीन और सुबुक्तगीन के हमलों का भी उन्होंने डटकर सामना किया था। ९९० ई० में लमगान (प्राचीन लपाक) का किला उनके हाथ से निकल गया और इसके बाद काफिरिस्तान को छोड़कर सारा अफगानिस्तान मुसलमान धर्म में दीक्षित हो गया। प्रसिद्ध नगर कंधार आज भी प्राचीन गंधार की स्मृति को जीवित रखे हुए है।

(२) **गंधार (स्याम)**—स्याम के उत्तरी भाग में स्थित युन्नान का प्राचीन भारतीय नाम। चीनी इतिहास ग्रंथों से सूचित होता है कि द्वितीय शती ई० पू० में ही इस प्रदेश में भारतीयों ने उपनिवेश बसा लिए थे और ये लोग बंगाल, असम तथा ब्रह्मदेश के व्यापारिक स्थलमार्ग से वहाँ पहुँचे थे। जैसा तत्कालीन मुसलमान लेखक रशीदुद्दीन के वर्णन से ज्ञात होता है, १३वीं सदी ई० तक युन्नान का भारतीय नाम गंधार ही अधिक प्रचलित था। इस प्रदेश का चीनी नाम नानचाओ था। १२५३ ई० में चीन के सम्राट् कुबला खाँ ने गंधार को जीतकर यहाँ के हिंदू राज्य की समाप्ति कर दी। (वि० कृ० मा०)

(३) सप्तक का तीसरा स्वर।

(४) भारतीय संगीत का एक राग।

गंधार कला ईसा की आरंभिक शताब्दियों में गंधार प्रदेश में जिस कला का विकास हुआ वह भारतीय शिल्प शास्त्र में गंधार कला के नाम से प्रख्यात है। इस कला की विषयवस्तु सर्वथा भारतीय, मुख्यत: बौद्ध है किंतु उसको जिस शैली में प्रस्तुत किया गया है उसपर यूनानी कला की प्रचुर और कुछ कुछ रोमनी कला की छाप है। यह एक प्रकार से भारतीय और यूनानी कला की संकर कला है। धार्मिक होते हुए भी इस कला में आध्यात्मिकता का सर्वथा अभाव है। उसमें पूर्ण लौकिक मांसलता की अभिव्यक्ति हुई है। इस कला का प्रसार गंधार के बाहर मध्य एशिया में काफी दूर तक था और इस कला के पत्थर और गचकारी (स्टको) में बनी मूर्तियाँ अफगानिस्तान तथा उसके तटवर्ती प्रदेशों में काफी मात्रा में उपलब्ध हुई हैं। (प० ला० गु०)

गंभीरनाथ नाथ पंथ के एक प्रख्यात योगी जिनका जन्म कश्मीर के एक धनी परिवार में हुआ था। किंतु युवावस्था में ही उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने गोरखपुर में गोपालनाथ से दीक्षा प्राप्त की। कहा जाता है कि उन्होंने तीनों योगों की सिद्धि प्राप्त की थी। आध्यात्मिक क्षेत्र में उनका उच्च स्थान समझा जाता है। वे उन्नीसवीं शती में किसी समय हुए थे। (प० ला० गु०)

गक्खर झेलम और चेनाब नदी के बीच का भूभाग मध्यकाल में गक्खर कहलाता था। तबकात-अकबरी में सिंधु नदी के किनारे के नीलाब प्रांत को गक्खर बताया गया है। शिवालिक पर्वत के निकट कश्मीर की सीमा तक किसी समय इस प्रदेश का विस्तार था। मध्यकालीन इतिहास में इस प्रदेश का विशेष महत्व था। उसकी चर्चा तत्कालीन ग्रंथों में बहुत हुई है। (प० ला० गु०)

गगनगंज बौद्ध धर्म के एक बोधिसत्व। वे रत्नसंभव नामक ध्यानी बुद्ध के पुत्र कहे जाते हैं। (प० ला० गु०)

गच्छ जैन आचार्य का परिवार अथवा एक आचार्य से दीक्षित साधु समुदाय। किंतु यह अब जैन धर्म के विभिन्न संप्रदायों और उपसंप्रदायों का बोधक माना जाता है। प्रत्येक गच्छ की गुरु परंपरा को गच्छावली अथवा पट्टावली कहते हैं। इन गच्छावलियों का आरंभ भगवान् महावीर से होकर अंतिम गुरु तक आता है और नए गुरुओं का नाम जुटता जाता है। इस समय जैन धर्म में चौरासी गच्छ कहे जाते हैं पर वस्तुत: उनकी संख्या इनसे कहीं अधिक है। एक उपलब्ध सूची में उनके

१७३ नाम गिनाए गए हैं। गच्छों के नाम या तो स्थानवाची या आचार्यवाची होते हैं। (पृ० ला० गु०)

गज (द्र० हाथी)।

गजट संवादपत्र का पर्याय तथा समानार्थक एवं बहुप्रयुक्त प्राचीन शब्द। गजट सामयिक घटनाओं का सारसंग्रह होता है। यह आदि समाचारपत्र का एक भेद है जिसका नामकरण और प्रकाशन, वेनिस की सरकार द्वारा सन् १५६६ में 'गजट' के रूप में हुआ। १६६५ में इंग्लैंड में 'आक्सफ़र्ड गजट' प्रकाशित हुआ जो अगले वर्ष 'लंदन गजट' हो गया। वह ब्रिटिश सरकार का राजकीय मुखपत्र है। स्थानीय तथा प्रादेशिक समाचारों के ऐसे प्रकाशन समाचारपत्रों की ही श्रेणी में आते हैं, जैसे पालमाल गजट, सेंट जेम्स गजट, वेस्टमिंस्टर गजट आदि जो आज भी अस्तित्व में हैं। भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में प्रारंभिक अखबारों के बीच यही नाम प्रचलित हुआ, जैसे बंगाल गजट (१७८०), हिकी गजट (१७८०), इंडियन गजट (१७८०), मद्रास गजट (१७९५) आदि। इस प्रकार 'गजट' प्रांतीय अखबारों का सूचक पद रहा है। भारतीय समाचारपत्र के लिये गजट शब्द का प्रयोग २०वीं शताब्दी के आरंभ तक बहुतायत से मिलता है किंतु अब यह नाम अप्रचलित है। 'सिविल मिलिटरी गजट', 'मसूरी गजट' आदि इने गिने अंग्रेजी पत्र इसके अपवाद हैं। इसके विपरीत 'गजट' ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल से ही विधिप्रारूपों, विभागीय सूचनाओं और विज्ञप्तियों के शासकीय प्रकाशनों के लिये प्रयुक्त होता आया है, जैसे उत्तरप्रदेश गजट, बिहार गजट आदि। इस दृष्टि से किसी प्रकार की स्वतंत्र अथवा वैयक्तिक आलोचना से रहित सरकारी, अर्धसरकारी अथवा सरकारी सहायताप्राप्त सूचनापत्रों और राजपत्रों के लिये यह नाम रूढ़ है और अपनी इन विशेषताओं के कारण 'गजट' आधुनिक समाचारपत्र से भिन्न हो जाता है। इसे हम सरकारी और प्रशासकीय सूचनाओं तथा कार्यो का विवरणपत्र कह सकते हैं। (विशेष द्र० 'समाचारपत्र')। (श्या० ति०)

गजनी, गजना अफगानिस्तान का प्राचीन नगर है जो अरगंदाब तथा तारनक नदियों की जलधारा पर स्थित है। यह युवान च्वाङ कथित होसीना नामक नगर है। उसके समय में यह बौद्धों का एक बहुत बड़ा केंद्र था। इस्तखरी नामक अरब भूगोलवेत्ता (१०वीं सदी ई०) ने इसे उत्तम नदियों एवं उद्यानों से परिपूर्ण बताया है। मुकदिसी नामक भूगोलवेत्ता ने इसके अधीनस्थ बहुत से कस्बों के नाम लिखे हैं जिनका इस समय पता लगाना कठिन है।

गजनी के संबंध में बाबर ने लिखा है कि इसे जाबुलिस्तान कहते हैं। यह तीसरी हकलीम में है। यहाँ कृषि योग्य भूमि बहुत थोड़ी है। इसकी जलधारा में चार पाँच पनचक्कियों के लायक जल होगा। कृषि के लिये बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। जितनी भूमि पर कृषि होती है उसके ऊपर प्रत्येक वर्ष नई मिट्टी डालनी होती है। काबुल की कृषि की अपेक्षा यहाँ की कृषि से अधिक आय होती है। गजनी के खुले मैदानों में हजारा तथा अफगान कबीले निवास करते हैं। बाबर ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि जिन बादशाहों ने हिंदुस्तान तथा खुरासान को विजय कर लिया था उन्होंने भी इन स्थानों को छोड़कर गजनी सरीखे साधारण स्थान को क्यों अपनी राजधानी बनाए रखा।

९वीं सदी ई० के प्रारंभ में गजनी सामानी नामक ताजीक ईरानी वंश के अधीन था किंतु ९१२ ई० के बाद यहाँ के इतिहास में तुर्कों के नाम मिलने लगते हैं। ९९० ई० तक गजनी से सामानी वंश का पूर्णतः अंत हो गया और उसपर यमीनी तुर्कों ने अधिकार जमा लिया। सुबुक्तगीन इस वंश का संस्थापक था उस समय हिंदुस्तान के शाही (साहिय) वंश का राज्य हिंदूकुश तक फैला था। हिंदू शाहीय राजा जयपाल को सुबुक्तगीन की बढ़ती हुई शक्ति से खतरा पैदा होना स्वाभाविक था। उसने सुबुक्तगीन की बढ़ती हुई सत्ता को रोकने का अत्यधिक प्रयत्न किया किंतु वह सफल न हो सका और सुबुक्तगीन ने लमगान तथा पेशावर के मध्य के भाग अपने राज्य में मिला लिए। उसके बाद जब महमूद ने सत्ता ग्रहण की तो उसने इसे समृद्ध बनाने का प्रयास किया और उसके समय में यह वैभव के उच्च शिखर पर था। उसके वंश के लोग ५८८ हि० (११९१ ई०) तक यहाँ शासन करते रहे। इस वंश के अंत के साथ गजनी का वैभव समाप्त हो गया। (सै० अ० अ० रि०)

नगर—मध्य अफगानिस्तान के ऊँचे पठार पर ७,२८०' की ऊँचाई पर कंदहार और काबुल की सड़क पर इनसे क्रमश: २२१ मील उ० पू० तथा ९२ मील द० प० गजनी नदी के किनारे स्थित काबुल प्रांत का यह प्रसिद्ध एवं प्राचीन नगर (स्थिति : ३३°४४' उ० अ० तथा ६८°१८' पू० दे०) है। यहाँ लगभग तीन महीने तक निरंतर २' या ३' हिम पड़ा रहता है। कभी कभी तो यह बहुत अधिक बर्फ से ढका रहता है।

यह कृषि तथा व्यापार का क्षेत्र है। यहाँ गेहूँ और जौ की अच्छी खेती होती है। छोटी वस्तुओं के उत्पादन के अतिरिक्त यहाँ मजीठ की विस्तृत खेती होती है। गजनी में कृषि योग्य भूमि का अभाव है, साथ ही पानी की कमी भी है। जो जल उपलब्ध है वह केवल गजनी नगर और चार पाँच अन्य गाँवों की सिंचाई के लिये ही पर्याप्त होता है। अन्य ग्रामों में भूमिगत जल की नालियों से सिंचाई होती है। गजनी के अंगूर काबुल के अंगूर से उत्तम होते हैं। खरबूजे और सेब भी यहाँ उत्तम होते हैं।

नगर में दिल्ली के कुतुबमीनार सरीखे लगभग १४०' ऊँचे दो मीनार हैं जिनके मध्य की दूरी लगभग १२००' है, जो महमूद की बुर्जी (Minaret) कहलाते हैं। यहाँ से एक मील दूर काबुल की सड़क पर 'रौजा' नामक गाँव के एक बाग में प्रसिद्ध विजेता महमूद का मकबरा है। (रा० प्र० सिं०)

गजनी, महमूद गजनी का प्रख्यात शासक जिसने भारत पर सत्तरह बार आक्रमण किए थे। यह गजनी के सुलतान सुबुक्तगीन की एक दासी का पुत्र था और ९९७ ई० में उसके मरने पर गजनी का शासक बना। शासक होते ही उसने अपने राज्य का विस्तार आरंभ किया और खुरासान तक का भूभाग अपने राज्य में मिला लिया। उसकी सत्ता को अब्बासी खलीफा ने भी स्वीकार कर लिया। तदनंतर उसने १००१ ई० से भारत पर आक्रमण करना आरंभ किया और १०३० ई० के बीच निरंतर आक्रमण करता रहा। उसके इन सभी आक्रमणों का उद्देश्य राज्य विस्तार न होकर धन लूटना और कदाचित इस्लाम धर्म का विस्तार करना था। पहले आक्रमण का सफल प्रतिरोध तत्कालीन साही नरेश जयपाल ने किया। जब भी वह आक्रमण करता जयपाल उसके आड़े आता। जब १००९ ई० में उसने भारत पर आक्रमण किया उस समय जयपाल का पुत्र अनंगपाल शासक था। उसने उसके प्रतिरोध के लिये भारत के अनेक राजाओं को संगठित किया। पेशावर के पास भटिंडा में महमूद की सेना पर उसने अचानक धावा बोल दिया। महमूद के हजारों घुड़सवार मारे गए और विजय भारतीयों के हाथ लगी। भारतीय अपनी इस विजय के उन्माद में असावधान हो गए। आनंदपाल के हाथी को एक तीर आकर लगा और वह भाग निकला। इससे भारतीय सेना में भगदड़ मच गई। इस परिस्थिति का लाभ महमूद ने उठाया और बीस हजार भारतीय सैनिक मारे गए। यह महमूद की भारत में पहली विजय थी। उसने नगरकोट पर धावा कर उसे तथा वहाँ के मंदिर को लूटा और उसके हाथ अपार संपत्ति लगी।

उसके बाद तो जब जब महमूद ने भारत पर आक्रमण किया कोई उसके प्रतिकार का साहस न कर सका। १०१८ ई० तक तो उसके आक्रमण पंजाब तक ही सीमित रहे। १०१९ में उसने कन्नौज तक धावा किया और वहाँ भयंकर लटपाट की। इसी के साथ उसने पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया और लाहौर का नामकरण महमूदपुर किया। इस अवसर पर उसने वहाँ से अपने नाम के सिक्के प्रचलित किए जिनमें उसने अपने आक्रमण को जिहाद की संज्ञा दी है।

१०२५ ई० में उसने सोमनाथ पर आक्रमण किया। उस समय वहाँ चालुक्यवंशी भीम (प्रथम) शासक था। वह महमूद का आगमन सुनते ही भाग खड़ा हुआ। सोमनाथ के मंदिर के लूट में उसे इतना धन

प्राप्त हुआ जितना उसे सभी लूटों मे मिलाकर भी नही मिला था। १०३० ई० मे महमूद की मृत्यु हुई।

महमूद शूर, साहसी और कुशल सेनानी था। भारत की दृष्टि से वह अत्यत क्रूर और लुटेरा था किंतु जितना अत्याचार उसने भारतीयो पर किया उससे कम अत्याचार उसने अपने सहधर्मी शत्रुओ पर नही किया। इसके साथ ही वह विद्या और काव्य का प्रेमी था। उसने गजनी मे एक विशाल विद्यालय की स्थापना की थी। प्रति वर्ष विद्याप्रसार के लिये काफी धन खर्च करता था। प्रख्यात विद्वान् और इतिहासकार अलबेरूनी उसके दरबारी थे। उसने अपने जीवन के अतिम दिनो मे कुछ ऐसे सिक्के प्रचलित किए जिनपर एक ओर नागरी लिपि और सस्कृत भाषा मे कलिमा का अनुवाद अकित है। इस अनुवाद मे ईश्वर की मुस्लिम अवधारणा को बहुत सुदर ढग से व्यक्त किया गया है। यह उसकी बदली हुई भावना का प्रतीक है।

वह अपने साथ अनेक कुशल शिल्पी गजनी ले गया था। उनसे उसने अनेक सुदर भवन निर्माण कराए थे।

उसके आक्रमण के कारण जो नरसहार और अपार सपत्ति का विनाश हुआ उसमे भारत पर विशेष प्रभाव नही पडा किंतु उसके आक्रमण का भयकर परिणाम यह हुआ कि भारत का द्वार मुस्लिम आक्रामको के लिये खुल गया। (प० ला० गु०)

गजपति उडीसा का एक प्रख्यात राजवश। इस वश की स्थापना १४३४–३५ ई० मे कपिलेंद्र नामक व्यक्ति ने की थी। गगवश के नरेश भानुदेव की अनुपस्थिति मे वह राज्य हस्तगत कर स्वय शासक बन बैठा था। वह अपने समय का सबसे शक्तिशाली हिंदू राजा था। उसके शासनकाल में उडीसा मे गगा से लेकर दक्षिण मे कावेरी तक अपना राज्य फैला लिया था। किंतु वह महान् सैनिक ही था, उसमे राजनीतिक चातुरी का अभाव था। वह समय की राजनीतिक आवश्यकताओ को परख न सका। वह कृष्णा नदी को पार कर कोडविडु तक बढता गया। बगाल के सुलतानों के विरुद्ध भी उसने सफल अभियान किए और पश्चिमी बगाल की कुछ भूमि और हुगली जिले मे स्थित मादारन दुर्ग पर अधिकार कर लिया। उसके शासनकाल मे जौनपुर के सुलतानो ने उडीसा को दो बार लूटने का प्रयास किया। कहा जाता है कि १४४४–४५ ई० मे सुलतान महमूद शाह उडीसा के मदिरो को नष्ट कर उनका बहुत सा धन लूटकर ले गया। इसी प्रकार शासक होते ही सुलतान हुसेन शाह ने भी उडीसा के विरुद्ध अपनी सेना भेजी। कपिलेंद्र उसका मुकाबिला न कर सका और उसे बहुत सा धन देकर सतुष्ट किया। बहमनी सुलतानो के साथ भी तेलगाना मे कपिलेंद्र की निरतर झडप होती रही पर बहमनी सेना उसकी विशेष क्षति न कर पाई। बहमनी सुलतान के साथ वास्तविक गभीर युद्ध १४५६ ई० मे हुआ। उस समय बहमनी सुलतान से विद्रोह कर उसके दो सरदार तेलगाना के राजा वेलम की शरण मे आए। बहमनी सुलतान की सेना ने तेलगाना के दुर्ग देवरकोड को घेर लिया। कपिलेंद्र ने वेलम की सहायता के लिये अपने पुत्र हवीर के नेतृत्व मे सेना भेजी। बहमनी सेना के ६–७ हजार घुडसवार मारे गए। हवीर ने आगे बढकर वारगल पर अधिकार कर लिया। इसके बाद पुन बहमनी नरेश हुमायूँ शाह के मरने पर आठ वर्ष की अवस्था मे निजाम शाह गद्दी पर बैठा तब कपिलेंद्र ने बहमनी राज्य मे राजधानी से दस मील तक घुसकर उसके राज्य को खूब लूटा। किंतु इस बार बहमनी सेना उसे भगाने मे सफल रही। तदनतर कपिलेंद्र की सेना ने तमिल देश के तटवर्ती प्रदेश पर अधिकार करने का प्रयास किया। उसका पुत्र हवीर उदयगिरि, चद्रगिरि और काची पर अधिकार करते हुए कावेरी तट तक पहुँच गया। उसने इन प्रदेशो पर स्थायी अधिकार करने की चेष्टा की पर इसमे उसे अधिक सफलता नही मिली। १४६७ मे कपिलेंद्र की मृत्यु हो गई।

मरने के पूर्व कपिलेंद्र ने अपने दूसरे बेटे पुरुषोत्तम को राज्याधिकारी घोषित कर दिया था। इससे उसका भाई हवीर बहुत क्षुब्ध हुआ। बहमनी सुलतान से जा मिला और उनसे राज्य वापस पाने का आश्वासन पा उनकी ओर से राजमहेंद्री और कोडविड के प्रात विजित किए। किंतु इस विजय के बाद ही बहमनी सुलतान हवीर की ओर से उदासीन हो गए। तब हवीर ने पुरुषोत्तम से सधि करने की चेष्टा की और उसकी ओर से राजमहेंद्री पर अधिकार करने की चेष्टा की। बहमनी सेना ने उसके इस प्रयत्न को न केवल विफल कर दिया वरन् वह उसे खदेडती हुई उडीसा मे घुस आई। विवश होकर पुरुषोत्तम को बहमनी सुलतान से सधि करनी पडी और अनेक बहुमूल्य हाथी भेंट करने पडे। किंतु शीघ्र ही बहमनी वश को ह्रासोन्मुख पाकर पुरुषोत्तम ने उदयगिरि हस्तगत कर लिया। १४६७ ई० मे उसकी मृत्यु हुई।

पुरुषोत्तम के पश्चात् उसका बेटा प्रतापरुद्र राजा बना। राजा होने के पश्चात उसने दक्षिण विजय करने की चेष्टा की। जब अपने इस अभियान मे १५०६-१० ई० मे वह दक्षिण की ओर गया हुआ था, बगाल सुलतान हुसेन शाह ने उडीसा पर धावा किया और जगन्नाथपुरी की मूर्तियाँ नष्टभ्रष्ट कर डाली। खबर पाकर पुरुषोत्तम दौडा आया और हुसेन शाह की सेना को मादरान के किले मे जा घेरा। किंतु अपने ही सेनापति गोविंद विद्याधर के विश्वासघात के कारण उसे हुसेन शाह से सधि कर लेनी पडी।

१५१३ ई० मे विजयनगर नरेश ने गजपति राज्य पर आक्रमण किया। निदान पुरुषोत्तम और कृष्णदेव राय के बीच निरतर युद्ध होता रहा। १५१५ ई० मे विजयनगर की सेना ने उडीसा के कई राजकुमारो तथा पुरुषोत्तम की एक पत्नी और एक पुत्र को बदी बना लिया। फिर भी युद्ध कई बरसो तक चला। अत मे १५१६ ई० मे बार बार की पराजय और सेना के ह्रास के साथ साथ अन्य अनेक कारणो से पुरुषोत्तम को सधि करने पर विवश होना पडा। इस सधि के फलस्वरूप पुरुषोत्तम को कृष्णा नदी के दक्षिण का सारा भूभाग छोडना पडा तथा अपनी बेटी का विवाह कृष्णदेव राय के साथ करना पडा। यह विवाह सुखकर न हो सका। गजपति राजकुमारी की कृष्णदेव राय ने बहुत उपेक्षा की। अत कृष्णदेव राय के मरने पर पुरुषोत्तम ने विजयनगर पर आक्रमण कर प्रतिशोध लेने का प्रयास किया पर सफल न हो सका। विजयनगर के साथ अपमानजनक सधि के बाद ही बहमनी नरेश की ओर से कुतुब-उल-मुल्क ने कृष्णा-गोदावरी का सारा भूभाग हस्तगत कर लिया। १५४० ई० मे प्रतापरुद्र की मृत्यु हुई।

इस प्रकार प्रतापरुद्र का शासन काल, सैनिक और राजनीतिक दोनो ही दृष्टि से, बडा ही दयनीय रहा तथापि उसका राज्य विस्तार उतना तो अवश्य बना रहा जितना कि उसके पूर्वजो ने गगो से हस्तगत किया था। किंतु उसके मरते ही गजपति वश का सूर्यास्त होने लगा। उसके बेटे कालुआ देव की एक वर्ष के शासन के पश्चात ही, गोविंद विद्याधर ने, जिसके विश्वासघात का पहले उल्लेख हो चुका है, हत्या कर दी। तब उसका भाई कखारुआ देव गद्दी पर बैठा किंतु तीन मास बाद वह भी गोविंद विद्याधर के हाथो मारा गया और गजपति वश का अत हो गया।

प्रतापरुद्र के राजनीतिक जीवन के सबध मे चाहे जो भी कहा जाय, भारत के धार्मिक इतिहास मे उसका अपना एक विशेष महत्व है। चैतन्य महाप्रभु के साथ उसकी निकट घनिष्ठता थी और महाप्रभु ने पुरी मे सत्तर वर्ष व्यतीत किए थे। (प० ला० गु०)

गजमुक्ता भारतीय पारपरिक विश्वास के अनुसार मुक्ता (मोती) गज, मेघ, वराह, शख मत्स्य, सर्प, शुक्ति और वेणु, आठ साधनो से प्राप्त होते हैं। गजमुक्ता इसी प्रकार की एक मुक्ता है जिसके सबध मे कहा जाता है कि वह हाथी के मस्तिष्क से प्राप्त होता है। किंतु आधुनिक विज्ञान इस प्रकार किसी मोती की उत्पत्ति को स्वीकार नही करता। उसकी दृष्टि मे यह कोरी कविकल्पना है। (प० ला० गु०)

गजपुरी, मन्नन द्विवेदी (१८८४–१९२१ ई०) हिंदी साहित्यकार। गजपुर जिला गोरखपुर मे जन्म। शिक्षा जुबिली स्कूल, गोरखपुर, क्वीन्स कालेज, काशी और म्योर कालेज, इलाहाबाद। शिक्षा के अनतर सरकारी पद पर आसीन हुए और तहसीलदार रहे। बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार थे। गद्य और पद्य दोनो मे उनकी समान गति थी। उनकी

भाषा शैली नवीनता की दृष्टि से अपने युग से कहीं आगे थी। उनकी कविताओं में प्रकृतिप्रेम और देशप्रेम की अभिव्यक्ति जिस शैली में हुई है, वह भी अपने युग की सीमाओं का अतिक्रमण करती हुई है। आपकी रचनाएँ हैं--प्रेम (खंडकाव्य), विनोद (बालोपयोगी काव्य), रामलाल और कल्याणी (उपन्यास), मुसलमानी राज्य का इतिहास; भीषण ह्रास, आर्य ललना (निबंध)। (प० ला० गु०)

गजल *अरबी काव्यशास्त्र की शैली विशेष का नाम। यह शैली* अरबी से फारसी में अपनाई गई और वहाँ से उर्दू में आई। अब तो अन्य भारतीय भाषा के कवि भी इस शैली में कभी कदा अपनी रचना करते हैं। मराठी में यह विशेष रूप से ग्रहण की गई है।

गजल वस्तुतः पाँच से सत्तर शेरों (छंदों) के संग्रह को कहते हैं। किंतु उर्दू में छंदों की संख्या का कोई प्रतिबंध नहीं है। इसका प्रत्येक शेर (छंद) अपने अर्थ और भाव की दृष्टि से अपने आपमें पूर्ण होता है। इसके प्रत्येक शेर में समान विस्तार की दो पंक्तियाँ या टुकड़े होते हैं जिन्हें मिसरा कहते हैं। गजल के प्रत्येक शेर के अंत का शब्द प्राय: एक सा ही होता है और रदीफ कहलाता है और तुक व्यक्त करनेवाला शब्द काफिया कहा जाता है।

गजल का शाब्दिक अर्थ 'प्रेमालाप' है। इस प्रकार यह श्रृंगार प्रधान काव्य शैली है। इसमें मुख्यतः प्रेम भावनाओं का चित्रण होता रहा है। किंतु इसमें लौकिक प्रेम के अतिरिक्त तसव्वुफ अर्थात् भक्तिपरक रचनाएँ भी की जाती रही हैं। अनेक सूफी कवियों ने इस रंग में गजलें लिखी हैं। तसव्वुफ में भगवान् तक पहुँचने के लिये प्रेम के प्रतीक की आवश्यकता होती है किंतु वह ऐसा प्रेम हो जिसमें वासना की गंध न हो अत: उन्होंने प्रेम प्रतीक लड़कों को बनाया। इसी प्रभाव से फारसी और उर्दू गजलों की परंपरा में प्रेयसी के लिये सर्वदा पुल्लिंग का प्रयोग किया जाता रहा है भले ही अन्य प्रकार से उसके नारीत्व का बोध होता हो। गजल में इन दो प्रकार के प्रेम के अतिरिक्त अन्य भाँति के प्रेम से संबंधित रचनाएँ की जाती रही हैं। किंतु इन सभी में शायर प्रतीकों का ही प्रयोग करता है: उदाहरणार्थ, गजल में प्रयुक्त 'चमन' शब्द विषयानुसार कहीं अपने देश का बोधक है तो कहीं घर, गाँव आदि का। इसी प्रकार गजल में प्रयुक्त होनेवाले अन्य प्रतीकात्मक शब्द हैं--गुल, आशियाँ, सैयाद, बागवान, साकी, खंजर, शमशीर, रकीब आदि। इनका प्रयोग कवि उसके शाब्दिक अर्थ में नहीं करता वरन् उनके भाव को ग्रहण कर जीवन के विविध पहलुओं पर अपना मंतव्य व्यक्त करता है।

उत्तर भारत में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने पहले पहल फारसी और भारतीय भाषा में गजल की रचना की। इसी प्रकार दक्षिण भारत के प्रथम गजल रचयिता बीजापुर नरेश इब्राहीम अली आदिलशाह कहे जाते हैं। उनके बाद मुहम्मद कुली कुतुबशाह का नाम लिया जाता है। किंतु उर्दू में इसे सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। इसका मुख्य कारण मुशायरे (कवि संमेलनों) के माध्यम से उसका प्रचार है।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद से ही उत्तर भारत में गजल मिलने लगता है। 'फायज' उत्तर भारत के पहले साहबे-दीवान शायर हैं। साहबे-दीवान शायर वह कवि कहा जाता है जिसके दीवान (काव्यसंग्रह) में कम से कम एक गजल प्रत्येक अक्षर की रदीफ में हो। 'फायज' के अलावा उस काल के अन्य प्रख्यात गजल-गो हैं शाह हातिम, शाह मुबारक आबरू और मुहम्मद शाकिरनाजी। अठारहवीं शती के दूसरे चरण में उर्दू गजल ने काफी उन्नति की। मीर तकी मीर इसी काल के गजल-गो हैं। इनके अतिरिक्त सौदा और मीर दर्द अन्य प्रख्यात गजल लिखनेवाले हुए हैं। इंशा, मुसहफी, नासिख, आतिश उन्हीं की परपरा के कवि हैं। उनके बाद मोमिन, जौक और गालिब का नाम लिया जाता है। हाली, दाग, अमीर मीनाई और जलाल उसी परंपरा में पीछे आते हैं। बीसवीं शती के प्रख्यात गजल लेखक हसरत, फानी, असर लखनवी, जिगर, फिराक गोरखपुरी उल्लेखनीय हैं।

हिंदी कवियों में सर्वप्रथम भारतेंदु हरिश्चंद्र ने गजल लिखने का प्रयास किया। प्रसाद जी की 'भूल' शीर्षक कविता गजल शैली में लिखी गई है। निराला ने भी गजल शैली अपनाई थी। अब तो अनेक हिंदी कवि इस शैली में लिखते हैं। (प० ला० गु०)

गजलक्ष्मी मूर्ति अंकन में लक्ष्मी का एक स्वरूप। इस स्वरूप में बैठी अथवा खड़ी कमलासना लक्ष्मी के दोनों ओर हाथी जल से अभिषेक करता अंकित किया जाता है। इस प्रकार का प्राचीनतम अंकन भारतीय शक नरेश भाव के सिक्कों पर मिलता है। तदनंतर भारहुत, साँची, बोधगया, अमरावती आदि की बौद्ध कला में प्रचुरता से देखने में आता है। मध्यकालीन कला में इसका विशेष प्रचार हुआ।

गज अभिषिक्त लक्ष्मी की कल्पना का उद्भव सूत्र अज्ञात है। श्रीसूक्त में 'हस्तिनाद प्रबोधिनी' शब्द के प्रयोग से हाथी और लक्ष्मी का संपर्क ज्ञात होता है। हाथी वैभव का प्रतीक माना जाता है और लक्ष्मी समृद्धि की देवी हैं। इस कारण कदाचित् शिल्पियों ने दोनों की यह संयुक्त कल्पना उपस्थित की है। (प० ला० गु०)

गजानन (द्र० गणेश)।

गजेटियर भौगोलिक वर्णनात्मक विवरण जिसमें अकारादि क्रम से नगरों, नदियों, पहाड़ों, जातियों, इतिहास आदि का क्रमबद्ध उल्लेख होता है। पहले इसका रूप स्थानीय अथवा प्रादेशिक था लेकिन १९वीं शताब्दी में समस्त संसार के उपर्युक्त विषयों से संबंधित हो गया और इस ढंग के अनेक कोश अद्यावधि प्रकाशित हो चुके हैं। (श्या० ति०)

गजेंद्र सहजिया सिद्धों का एक अत्यंत प्रिय प्रतीक। कण्हपाद ने गजेंद्र को अविद्या का प्रतीक कहा है। चर्यापद के एक अन्य साधक ने उसे चित्त का प्रतीक माना है। गजेंद्र को मत्त करनेवाला आसव ज्ञान आसव है। उसका सबोवर महासुख सरोवर अर्थात् गमन है। जिन दो खंभों पर वह टिका है वह संसार पाश है और उसकी शृंखला अविद्या है। (प० ला० गु०)

गजेंद्रगढ़ धारवाड़ (कर्णाटक) जिले में स्थित एक नगर (स्थिति: १५° ४४' उ० अ०; ७५° ५८' पू० दे०)। शिवाजी ने यहाँ एक दुर्ग स्थापित किया था और उसे गजेंद्रगढ नाम दिया था। उसी के नाम पर अब इस स्थान को गजेंद्रगढ कहते हैं। यहाँ विरुपाक्ष का एक प्राचीन मंदिर है। गढ़ के निकट ही शिव पहाड़ी पर एक शिवतीर्थ है। (प० ला० गु०)

गजेंद्रमोक्ष भागवत-पुराण-वर्णित एक प्रसिद्ध आख्यान। अगस्त्य ऋषि ने संमान न करने के अपराध में इंद्रद्युम्न नामक राजा को गज योनि में जन्म लेने का शाप दिया। वह गज एक दिन गंगा नदी में क्रीड़ा कर रहा था तभी एक मगर ने उसका पैर पकड लिया। हाथी ने मगर से छूटने की बहुत चेष्टा की। जब सफल न हो सका तो उसने विष्णु से गुहार की और विष्णु ने आकर उसे छुड़ाया। भक्तिमार्ग के बीच इस आख्यान का विशेष महत्व है। कहा जाता है, गजेंद्र मोक्ष का स्थान गंडकी और गंगा के संगम पर था। फलतः मुजफ्फरपुर जिलांतर्गत सोनपुर के निकट इस स्थान की पहचान की जाती है। प्रति वर्ष वहाँ कार्तिक पूर्णिमा को एक विशाल मेला लगता है। (प० ला० गु०)

गटापरचा सैपोटेसिई (Sapotaceae) कुल के तथा पालेंक्विअम् गट्टा (*Palanquium gutta*) और पालेक्विअम ऑब्लांगिफोलिया (*P. oblongifolia*) प्रजाति के कतिपय वृक्षों के आक्षीर (latex) को रबर की तरह ही सुखाने में जो पदार्थ प्राप्त होता है उसे गटापरचा कहते हैं। ये पेड़ प्रधानतया मलय द्वीपसमूह और ब्राजील में पाए जाते हैं। मलाया के पेड़ों का गटापरचा सर्वश्रेष्ठ होता है। इसी कुल के कुछ अन्य पेड़ों से भी अपेक्षाकृत निकृष्ट कोटि का गटापरचा

प्राप्त हुआ जितना उसे सभी लूटो मे मिलाकर भी नहीं मिला था १०३० ई० में महमूद की मृत्यु हुई।

महमूद शूर, साहसी और कुशल सेनानी था। भारत की दृष्टि से वह अत्यंत क्रूर और लुटेरा था किंतु जितना अत्याचार उसने भारतीयो पर किया उससे कम अत्याचार उसने अपने सहधर्मी शत्रुओ पर नहीं किया। इसके साथ ही वह विद्या और काव्य का प्रेमी था। उसने गजनी मे एक विशाल विद्यालय की स्थापना की थी। प्रति वर्ष विद्याप्रसार के लिये काफी धन खर्च करता था। प्रख्यात विद्वान् और इतिहासकार अलबेरुनी उसके दरबारी थे। उसने अपने जीवन के अंतिम दिनो मे कुछ ऐसे सिक्के प्रचलित किए जिनपर एक ओर नागरी लिपि और संस्कृत भाषा मे कलिमा का अनुवाद अंकित है। इस अनुवाद मे ईश्वर की मुस्लिम अवधारणा को बहुत सुंदर ढंग से व्यक्त किया गया है। या उसकी बदली हुई भावना का प्रतीक है।

वह अपने साथ अनेक कुशल शिल्पी गजनी ले गया था। उनसे उसने अनेक सुंदर भवन निर्माण कराए थे।

उसके आक्रमण के कारण जो नरसंहार और अपार संपत्ति का विनाश हुआ उससे भारत पर विशेष प्रभाव नही पडा किंतु उसके आक्रमण का भयंकर परिणाम यह हुआ कि भारत का द्वार मुस्लिम आक्रामको के लिये खुल गया। (प० ला० गु०

गजपति उडीसा का एक प्रख्यात राजवंश। इस वंश की स्थापना १४३४-३५ ई० मे कपिलेंद्र नामक व्यक्ति ने की थी। गंगवंश के नरेश भानुदेव की अनुपस्थिति मे वह राज्य हस्तगत कर स्वयं शासक बन बैठा था। वह अपने समय का सबसे शक्तिशाली हिंदू राजा था। उसके [illegible] मे उडीसा मे गंगा से लेकर दक्षिण मे कावेरी तक अपना [illegible] था। किंतु वह महान् सैनिक ही था, उसमे राजनी[illegible] था। वह समय की राजनीतिक आवश्यकता[illegible] वह कृष्णा नदी को पार कर कांडविद्रु तक [illegible] के विरुद्ध भी उसने सफल अभियान किए अ[illegible] भूमि और हुगली जिले मे स्थित मादारन दुर्ग पर अधिक[illegible] उसके शासनकाल मे जौनपुर के सुलतानो ने उडीसा को दो बार लूटने का प्रयास किया। कहा जाता है कि १४४४-४५ ई० मे सुलतान महमूद शाह उडीसा के मंदिरो को नष्ट कर उनका बहुत सा धन लूटकर ले गया इसी प्रकार शासक होते ही सुलतान हुसेन शाह ने भी उडीसा के विरुद्ध अपनी सेना भेजी। कपिलेंद्र उसका मुकाबिला न कर सका और उसे बहुत सा धन देकर संतुष्ट किया। बहमनी सुलतानो के साथ भी तेलगाना मे कपिलेंद्र की निरंतर झडप होती रही पर बहमनी सेना उसकी विशेष क्षति न कर पाई। बहमनी सुलतान के साथ वास्तविक गंभीर युद्ध १४५९ ई० मे हुआ। उस समय बहमनी सुलतान से विद्रोह कर उसके दो सरदार तेलगाना के राजा वेलम की शरण मे आए। बहमनी सुलतान की सेना ने तेलगाना के दुर्ग देवरकोंड को घेर लिया। कपिलेंद्र ने वेलम की सहायता के लिये अपने पुत्र हंबीर के नेतृत्व मे सेना भेजी। बहमनी सेना के ६-७ हजार घुडसवार मारे गए। हंबीर ने आगे बढकर वारंगल पर अधिकार कर लिया। इसके बाद पुन बहमनी नरेश हुमायूँ शाह के मरने पर आठ वर्ष की अवस्था मे निजाम शाह गद्दी पर बैठा तब कपिलेंद्र ने बहमनी राज्य मे राजधानी से दस मील तक घुसकर उसके राज्य को खूब लूटा। किंतु इस बार बहमनी सेना उसे भगाने मे सफल रही। तदनंतर कपिलेंद्र की सेना ने तमिल देश के तटवर्ती प्रदेश पर अधिकार करने का प्रयास किया। उसका पुत्र हंबीर उदयगिरि, चंद्रगिरि और कांची पर अधिकार करते हुए कावेरी तट तक पहुँच गया। उसने इन प्रदेशों पर स्थायी अधिकार करने की चेष्टा की पर इसमे उसे अधिक सफलता नही मिली। १४६७ मे कपिलेंद्र की मृत्यु हो गई।

मरने के पूर्व कपिलेंद्र ने अपने दूसरे बेटे पुरुषोत्तम को राज्याधिकारी घोषित कर दिया था। इससे उसका भाई हंबीर बहुत क्षुब्ध हुआ। बहमनी सुलतान से जा मिला और उनसे रा[illegible] ने [illegible] आश्वासन [illegible] उनकी ओर से राजमहेंद्री और कोंडवी[illegible] जीत किए।

गवल या गीर (देखिए पृष्ठ ३८२)

गीर का एक जोड़ा
(दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)

गण (देखिए पृष्ठ ३५५)

शिव के गण के विविध रूप; इलाहाबाद के संग्रहालय में सुरक्षित)

प्राप्त होता है। गटापरचा के पेड़ ७० से १०० फुट तक ऊँचे और धड़ पर दो से तीन फुट व्यास तक के होते हैं। ३० वर्ष में पेड़ तैयार होता है। पेड़ की उपज के लिये आर्द्र जलवायु और २०° से ३२° सें० तक का ताप अच्छा होता है। बीज या धड की कलम से पेड़ उगाया जाता है। पेड़ की छाल को छेदने से आक्षीर निकलता है, पर मलाया में पेड़ों को काटकर धड़ में एक एक फुट की दूरी पर एक इंच चौड़ी नली बनाकर आक्षीर इकट्ठा कर लेते हैं और फिर वहाँ से निकालकर खुले पात्र में आग पर उबालकर गटापरचा प्राप्त करते हैं।

गटापरचा दो मणिभीय रूपों—ऐल्फा रूप, गलनांक ६५° सें० तथा बीटा रूप, गलनांक ५६° सें०—और अमणिभीय रूपों में पाया जाता है।
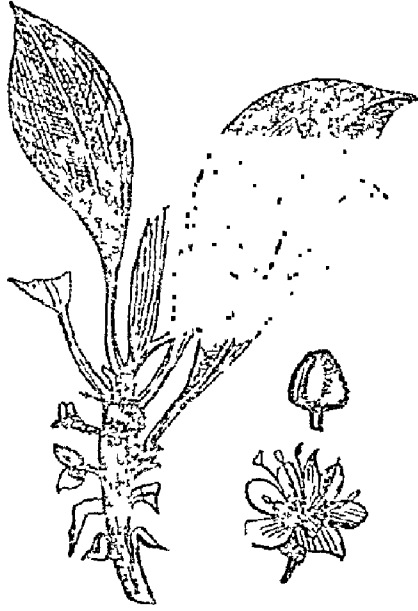
गटापरचा वृक्ष की पत्तियाँ तथा फूल
बाईं ओर एक टहनी तथा दाहिनी ओर ऊपर कली तथा नीचे फूल दिखाया गया है।

यह ठोस, कड़ा और अप्रत्यास्थ होता है, किंतु गरम करने से कोमल हो जाता है। ऊँचे ताप से यह विघटित हो जाता है। क्षारों और तनु अम्लों का इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सांद्र अम्लों से यह आक्रांत होता है। क्लोरीन और गंधक की इसपर क्रिया होती है। यह जल में घुलता नहीं, पर कार्बनिक विलायकों में घुल जाता है। रसायनतः यह का, हा$_8$ (C_5H_8) एककों से बना है। इसका अणुभार ३०,००० के लगभग पाया गया है।

कड़ा और अभंगुर होने के कारण गॉल्फ की गेंदों और केबल के आवरणों, विद्युत् पृथक्कारियों (electrical insulators), छड़ियों, छुरी की मूठों और चाबुकों, च्युइंग गम इत्यादि के बनाने में प्रयुक्त होता है। इसके स्थान में अब सस्ते संश्लिष्ट प्लास्टिकों का व्यवहार बढ़ रहा है।

गटापरचा से बहुत मिलता जुलता एक पदार्थ बलाटा (Balata) है, जिसे बलाटा गोंद या बलाटा गटा भी कहते हैं। यह अन्य पेड़ों से प्राप्त होता है। इसके भी उपयोग वे ही हैं जो गटापरचा के।

(फू० स० व०)

गटिंगन (नगर) (स्थिति : ५१° ३२' उ० अ० तथा ९° ५६' पू० दे०)। पश्चिमी जर्मनी के हैनोवर देश के भूतपूर्व प्रशिया प्रांत का प्राचीन नगर जो लीन नदी पर हैनोवर से ६७ मील दक्षिण रेलमार्ग पर स्थित है। ९५० ई० में यह नगर गाडिंग या गार्टिंगी नाम का एक गाँव था। धीरे धीरे उन्नति करता हुआ यह औद्योगिक एवं शैक्षणिक केंद्र हो गया है। चश्मा तथा दर्शक यंत्र, मशीन, विद्युत् संबंधी सामान, ऐल्युमीनियम वस्तुएँ, औद्योगिक रासायनिक ओषधियाँ, सौंदर्यवर्धक वस्तुएँ, वस्त्र, कागज, फर्नीचर, मुद्रण सामग्री, शराब तथा स्पिरिट आदि बनाने के कारखाने हैं।

यहाँ एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय के अतिरिक्त जर्मनी के आधुनिक साहित्य का सब से भरा पूरा संग्रह है जो प्राणिविज्ञान, नृतत्व विज्ञान तथा खनिज विज्ञान से संबंधित है। यहाँ प्रसिद्ध विज्ञान समिति है जो गटिंगिशेगेलेरटे आनट्साइजेन (Gottingische gelehrte Angeigen) का प्रकाशन करती है। प्राचीन भवनों में १४वीं शताब्दी का नगरभवन तथा १४वीं और १५वीं शताब्दी के गिरजाघर उल्लेखनीय हैं।

(रा० प्र० सिं०)

गडक कर्णाटक प्रदेश के धारवाड़ जिले का एक प्राचीन नगर (स्थिति : १५° २५' उ० अ० तथा ७५° ३८' पू० दे०)। यह दसवीं शती ई० से चौदहवीं शती के आरंभ तक चालुक्य, कलचुरी और होयशल नरेशों के आधिपत्य में था। १४वीं शती से १६वीं शती के मध्य तक यह विजयनगर साम्राज्य का अंग था। तदनंतर मुगलों ने उसपर अधिकार किया। १८१८ ई० में यह अँगरेजों के हाथ लगा। यहाँ अनेक प्राचीन मंदिरों के ध्वंसावशेष हैं जो यहाँ के कलावैभव के प्रतीक हैं। यह कपास और सूती कपड़ों का एक बहुत अच्छा व्यावसायिक केंद्र है। (प० ला० गु०)

गड़ेरिया उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश की भेड़ पालनेवाली जाति।
ये अपने को यादववंशी क्षत्रिय कहते हैं ... अपनी भेड़ों को
कृषकों के खेतों में बैठाते हैं जो ... में १५१९ ई० में बार बार ...
है और इस कार्य के बदले उन्हें ... अन्य अनेक कारणों से पुरुषोत्तम को
अपनी भेड़ों के ऊन से ये लोग कं... । इस संधि के फलस्वरूप पुरुषोत्तम
... भूभाग छोड़ना पड़ा तथा ...

गढ़मंडला मध्यप्रदेश के गोंडवा... करना पड़ा। यह विवाह ... प्रदेश।
यहाँ मध्यकाल में गोंड राज... कृष्णदेव राय ने बढ़ इसकी ख्याति
रानी दुर्गावती के कारण है। वह ... पुरुषोत्तम ने वि... दलपतशाह की पत्नी
थी और पति की मृत्यु के उपरांत ... पर ... वर्ष के पुत्र के अभिभावक के
रूप में शासन किया था तथा मुगलों के विरुद्ध बड़ी वीरता दिखाई थी।
(द्र० दुर्गावती)। इस वंश के शासक अपने को पुलस्त्य ऋषि का वंशज कहते थे। (प० ला० गु०)

गढ़मुक्तेश्वर उत्तर प्रदेश में मेरठ जिले के अंतर्गत गंगा के काँठे में स्थित एक प्राचीन और प्रख्यात तीर्थस्थान। कार्तिक की पूर्णिमा को यहाँ विशाल मेला लगता है। महाभारत की कथा के अनुसार यहीं अगस्त्य ऋषि के शाप से ग्रस्त राजा नहुष अजगर होकर रहते थे और उन्होंने यहीं धर्मराज युधिष्ठिर के हाथों मुक्ति प्राप्त की। यहाँ शिव के सात मंदिर हैं जिनमें मुक्तेश्वर का मंदिर प्रमुख है। इसके अतिरिक्त यहाँ एक गंगा का भी मंदिर है। इसके आसपास कई छोटे मोटे अन्य तीर्थ भी हैं। (प० ला० गु०)

गढ़वाल उत्तर प्रदेश का एक जिला (स्थिति : २९° २६' से ३१° ५' उ० अ० तथा ७८° १२' से ८०° ६' पू० दे०; क्षेत्रफल ५,४४० वर्ग किलोमीटर)। यह मध्य हिमालय में स्थित है जो उत्तरपूर्व में तिब्बत द्वारा घिरा है। इस असमतल पर्वतीय क्षेत्र का अधिकांश भाग सँकरी और गहरी घाटियों तथा साल, चीड़, ओक आदि के जंगलों से पूर्ण है जिनमें हाथी, चीता, तेंदुआ, भेड़िया, गीदड़ तथा रीछ पाए जाते हैं। इस जिले में हिमालय की कुछ हिमाच्छादित चोटियाँ, नंदादेवी (२५,६४५'), कामत (२५,४७७'), त्रिशूल (२३,३८२'), बदरीनाथ (२३,२१०'), दुनागिरि (२३१८१') और केदारनाथ (२२,८५३)' हैं तथा गोहना की मुख्य झील है। इसमें गंगा की सहायक अलखनंदा अपनी शाखाओं सहित बहती है। कृषि केवल नदी की घाटी में केंद्रित है जहाँ गेहूँ, जौ, धान, मक्का, सरसों, मिर्च और चाय की खेती होती है। खेती के अतिरिक्त यहाँ के लोगों का पेशा चराई करना तथा टोकरी, कंबल और लकड़ी के सामान बनाना तथा पत्थर खोदना है। १९७१ में यहाँ की जनसंख्या ५,५३,०२८ थी।

गवल या गौर (देखिए पृष्ठ ३८२)
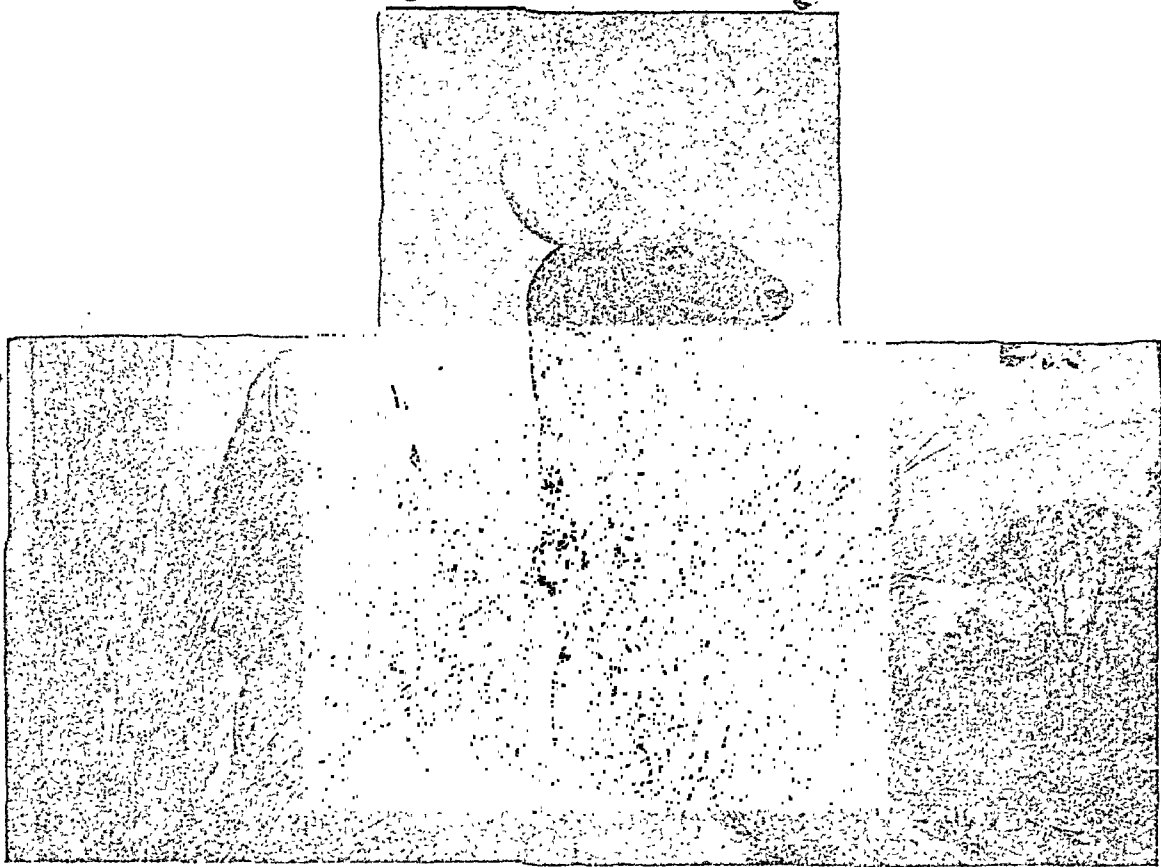
गौर का एक जोड़ा
(दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)

गण (देखिए पृष्ठ ३५५)
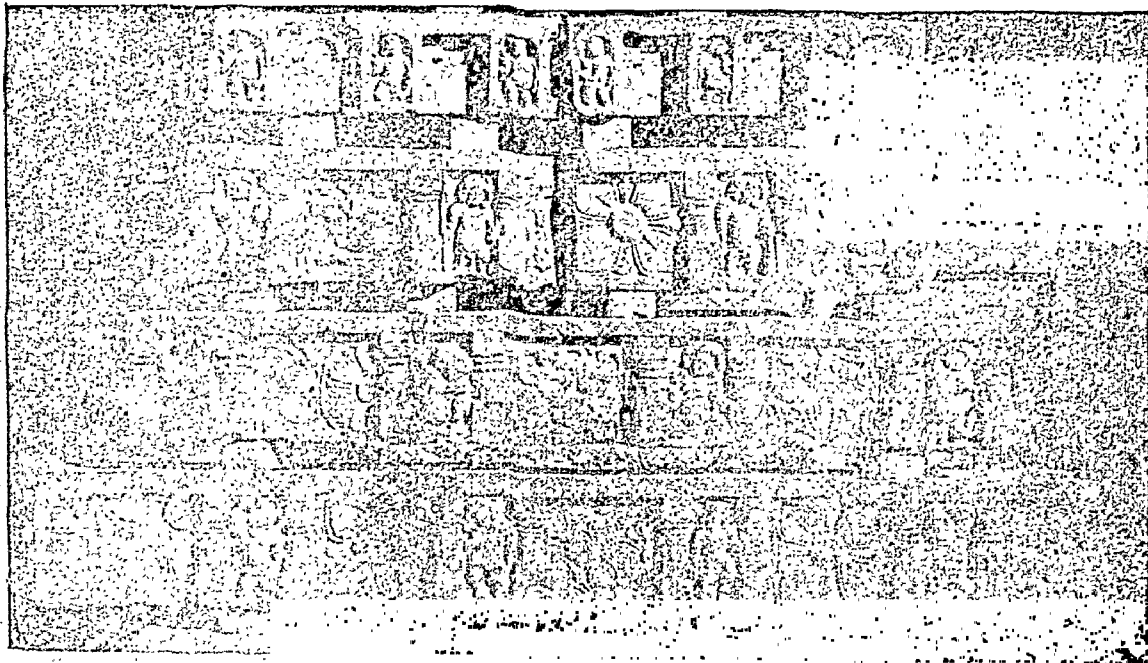
शिव के गणों के विविध रूप; इलाहाबाद के संग्रहालय में सुरक्षित)
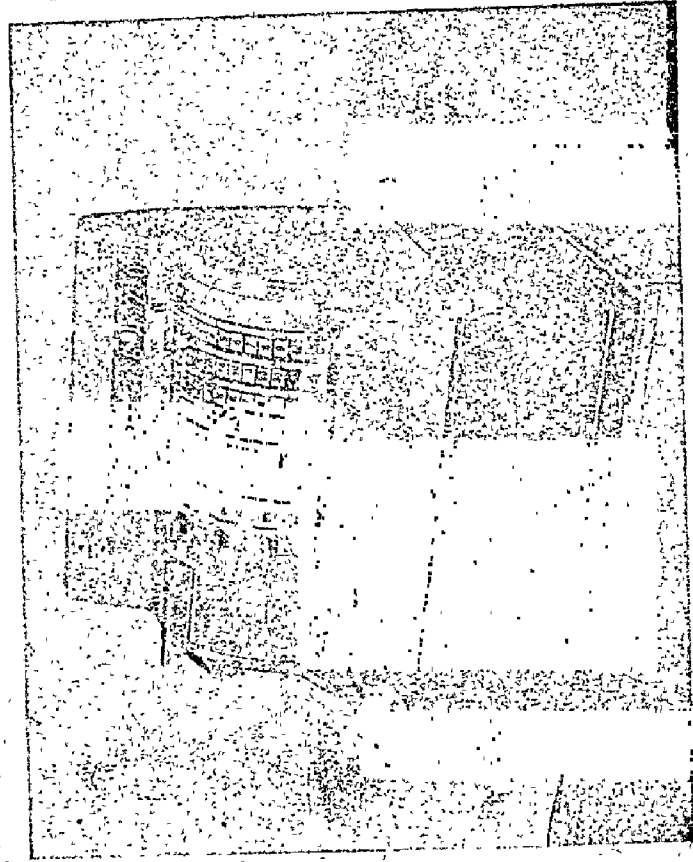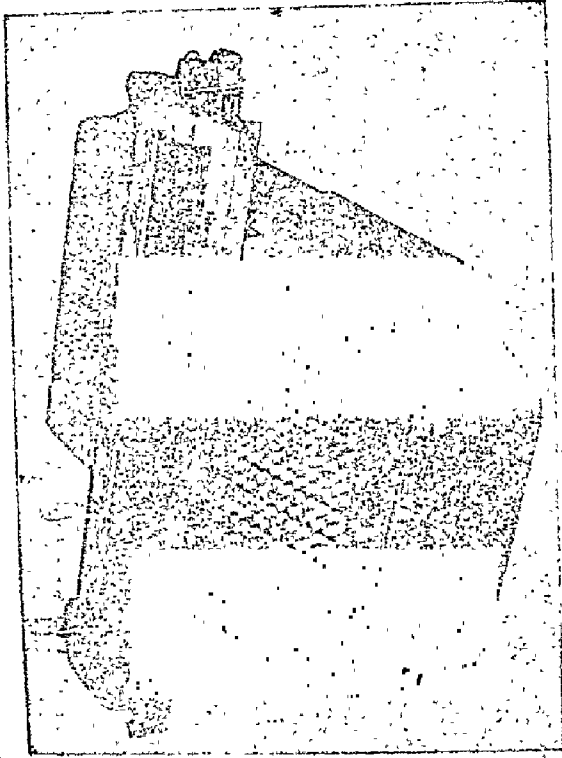
ऊपर बाएँ लेखा यंत्र—इस यंत्र के द्वारा खाता प्रविष्टि तथा हिसाब का विवरण साथ ही साथ तैयार होते हैं; ऊपर दाहिने : लाइव की-बोर्ड —यह स्वचालित यंत्र लंबे जोड़, बाकी, गुणा और भाग करने के काम आता है; नीचे बाएँ : नैशनल माडल ८४—यह यंत्र कैशमैमो के साथ रोकड़ पर भी सही अंक अंकित करता है, प्रत्येक लेन देन का ब्योरा छापकर जोड़ देता है और रोकड़ बता देता है; नीचे दाहिने : रोकड़ बही और बही खाता यंत्र—इसके द्वारा किए और नगद अदायगी, हिसाब में वसूली और भुक्तान के अभिलेख तुरंत प्रस्तुत हो जाते हैं।

गणना यंत्र (देखिए पृष्ठ ३५७)
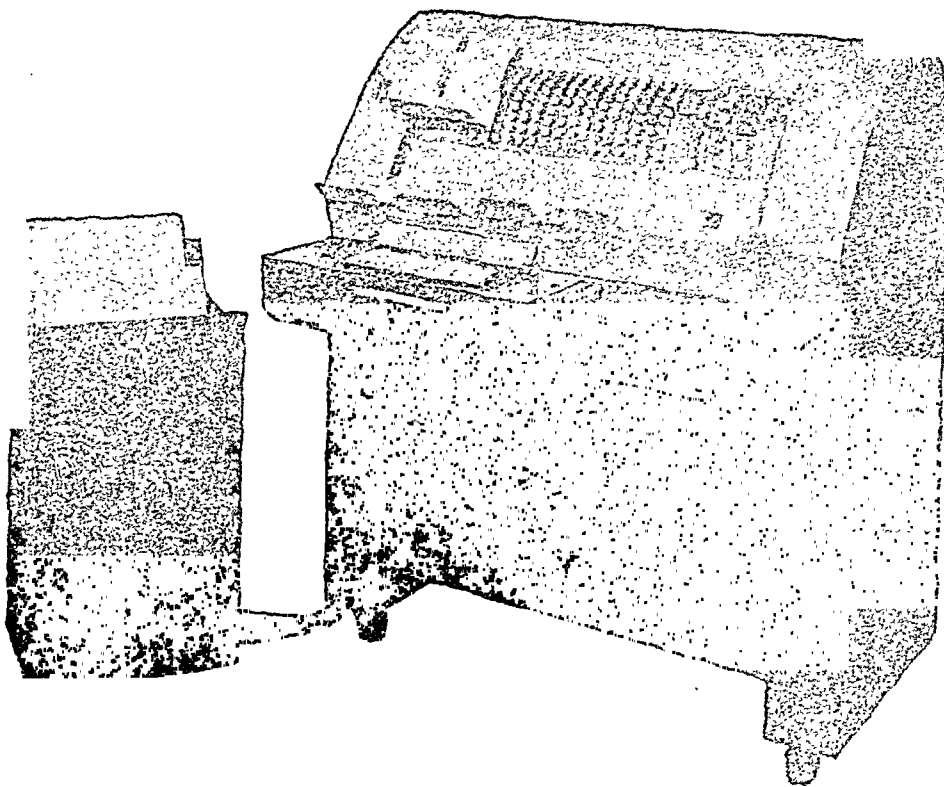
पोस्ट-ट्रॉनिक (Post-Tronic) **यंत्र :** यह यंत्र (१) उचित लेखे के चुनाव की जांच करता है, (२) पुराना बकाया ढूंढ़ निकालता है और उसका सत्यापन करता है, (३) संगृहीत अंकशीर्षकों की संख्या का सत्यापन करता है, (४) सही या ओवरड्रैफ्ट बकाया ज्ञात करता है, (५) प्रविष्टियों की सही रेखा चुन लेता है, (६) रुकी हुई अदायगी ज्ञात करता है। (७) शेष परीक्षण के उद्देश्य से बकाया रकमों को ढूंढ़ निकालता है; उनकी जांचकर सूची तैयार करता है तथा तलपट के लिये उन्हें उपलब्ध कर देता है, और (८) शेष स्थानांतरण के समय अवशिष्टियों की जांच करता है, तथा संगृहीत कर सूची बनाता है।

फ्राइडेन (Frilen) **गणना यंत्र :** यह यंत्र सारणीयन, कुल योग तथा इच्छित दशमलव अंक तक गुणा और भाग अपने आ
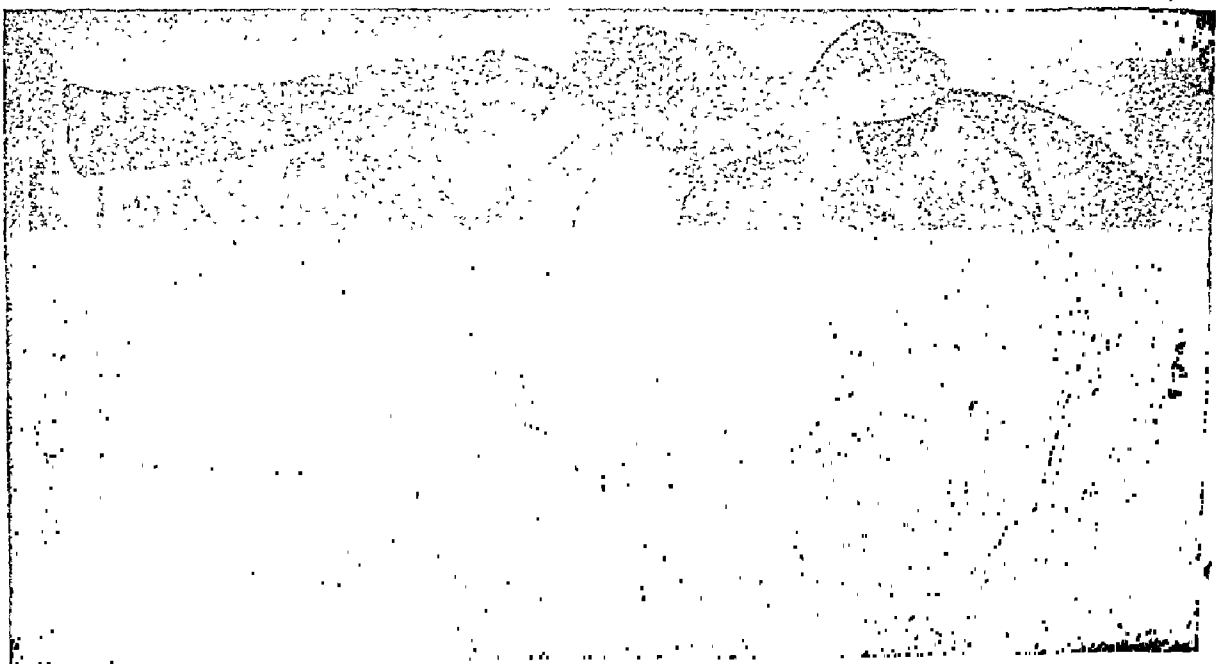
गणेश (देखिए पृष्ठ ३६६)

गरुड़ (देखिए पृष्ठ ३७८)
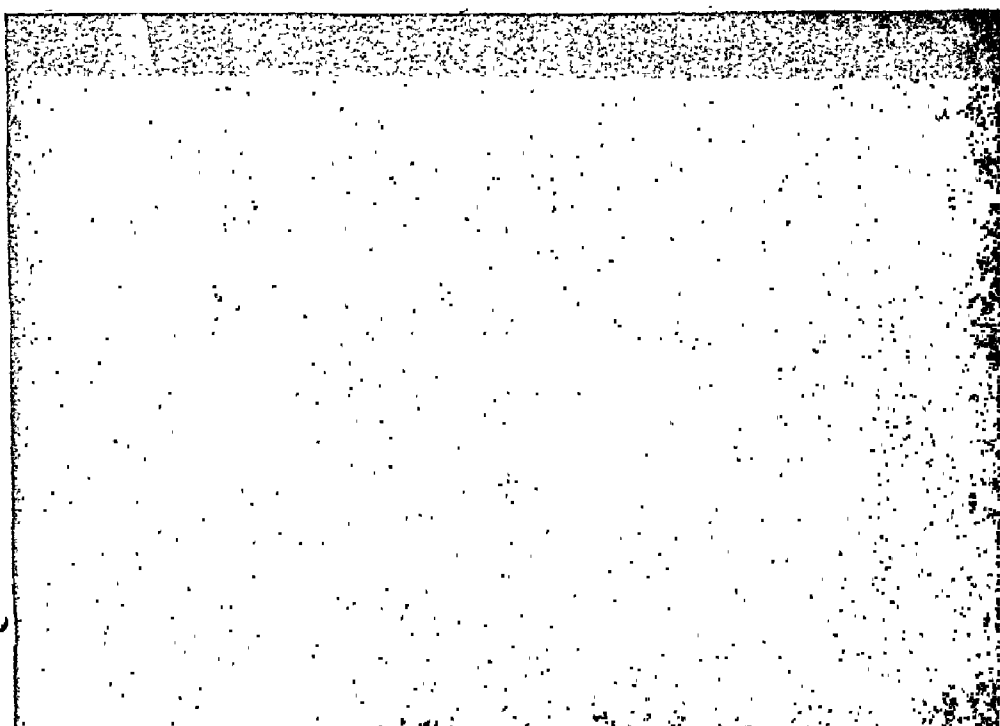
कंबुज में प्रतिष्ठित गरुड़ की मूर्ति

यहाँ घाटी में मार्च से अक्टूबर तक कड़ी गर्मी पड़ती है तथा जाड़े में ताप बहुत ही कम रहता है। गर्मी में हिमरेखा १८,०००' और जाड़े में ४,०००'—५,०००' की ऊँचाई पर रहती है।

इस जिले का प्रशासनिक केंद्र पौड़ी है। लैंसडाउन की सैनिक छावनी, देवप्रयाग, केदारनाथ और बदरीनाथ के प्रख्यात तीर्थस्थान तथा श्रीनगर और कोटद्वारा के मुख्य बाजार हैं।

तिब्बत से यहाँ का व्यापार नीति दर्रे द्वारा होता है। अनाज और मोटे कपड़े का निर्यात तथा नमक, सोहागा, ऊन और पशुओं का आयात किया जाता है। (रा० प्र० सिं०)

गण यह मूल में वैदिक शब्द था। वहाँ गणपति और गणानागणपति ये प्रयोग आए हैं। इस शब्द का सीधा अर्थ समूह था। देवगण, ऋषिगण, पितृगण—इन समस्त पदों में यही अर्थ अभिप्रेत है। वैदिक मान्यता के अनुसार सृष्टि मूल में अव्यक्त स्रोत से प्रवृत्त हुई है। वह एक था, उस एक का बहुधा भाव या गण रूप में आना ही विश्व है। सृष्टि-रचना के लिये गणतत्व की अनिवार्य आवश्यकता है। नानात्व से ही जगत् बनता है। बहुधा, नाना, गण इन सबका लक्ष्य अर्थ एक ही था। वैदिक सृष्टिविद्या के अनुसार मूलभूत एक प्राण सर्वप्रथम था, वह गणपति कहा गया। उसी से प्राणों के अनेक रूप प्रवृत्त हुए जो ऋषि, पितर, देव कहे गए। ये ही कई प्रकार के गण हैं। जो मूलभूत गणपति था वही पुराण की भाषा में गणेश कहा जाता है। शुद्ध विज्ञान की परिभाषा में उसे ही समष्टि (युनिवर्सल) कहेंगे। उससे जिन अनेक व्यष्टि भावों का जन्म होता है, उसकी संज्ञा गण है। अगणपति या गणेश को महत्तत्व भी कहते हैं। जो निष्कलरूप से सर्वव्यापक हो वही गणपति है। उसी का खंड भाव में आना या पृथक् पृथक् रूप ग्रहण करना गणभाव की सृष्टि है। समष्टि और व्यष्टि दोनों एक दूसरे से अविनाभूत या मिले हुए रहते हैं। यही संतति संबंध गणेश के सूँड़ से इंगित होता है। हाथी का मस्तक महत् या महान् का प्रतीक है और 'आखु' या चूहा पार्थिव व्यष्टि पदार्थों या केंद्रों का प्रतीक है। वही पुराण की भाषा में गणपति का पशु है। वस्तुतः गणपति तत्व मूलभूत रुद्र का ही रूप है। जिसे महान् कहा जाता है उसकी संज्ञा समुद्र भी थी। उसे ही पुराणों ने एकार्णव कहा है। वह सोम का समुद्र था और उसी तत्व के गणभावों का जन्म होता है। सोम का ही वैदिक प्रतीक मधु या अपूप था, उसी का पौराणिक या लोकगत प्रतीक मोदक है जो गणपति का प्रिय कहा जाता है। यही गण और गणपति की मूल कल्पना थी।

गणों के स्वामी गणेश हैं और उनके प्रधान वीरभद्र जो सप्तमातृका मूर्तियों की पंक्ति के अंत में दंड धारण कर खड़े होते हैं। शिव के अनंत गण हैं जिनके वामन तथा विचित्र स्वरूपों का गुप्तकालीन कला में पर्याप्त आकलन हुआ है। खोह (म० प्र०) से प्राप्त और इलाहाबाद के संग्रहालय में सुरक्षित स्थूल वामन गणों की अपरिमित संख्या है। विकृत रूपधारी-गण पट्टिकाओं पर उत्खचित हैं। परंपरया शिव की बारात में इन अप्राकृतिक रूपधारी गणों का विशेष महत्व माना जाता है। (वा० श० अ०)

गणगौर राजस्थान की कुमारी तथा सौभाग्यवती स्त्रियों का एक महत्वपूर्ण उत्सव और व्रत। कुमारियाँ सुंदर वर प्राप्त करने तथा विवाहित स्त्रियाँ अपनी सौभाग्यवृद्धि के निमित्त गणगौरी की पूजा करती हैं। यह पूजा होली के दूसरे दिन से आरंभ होकर चैत्र शुक्ल तृतीया तक चलती है। लड़कियाँ होली की राख से आठ पिंड तैयार करती हैं और प्रातःकाल उठकर साज शृंगार कर अपनी सहेलियों के साथ गीत गाती पानी और दूर्वा लेने निकलती हैं और फिर उन्हें लाकर उक्त पिंड का शिव पार्वती के रूप में पूजन करती हैं। यह पूजा अठारह दिन तक चलती रहती है। अठारहवें दिन वे दिन भर उपवास कर रात्रि में फलाहार करती हैं।

चैत्र शुक्ल तृतीया को सायंकाल गणगौरी को नदी अथवा तालाब में विसर्जन के लिये ले जाती हैं। उस दिन का राजस्थान में विशेष महत्व माना जाता है। इसमें छोटे बड़े, राजा महाराजा सभी उत्साह के साथ संमिलित होते हैं।

उत्तर प्रदेश की स्त्रियाँ भी गणगौर का पूजन करती हैं किंतु उसका रूप सर्वथा भिन्न है। चैत्र शुक्ल तृतीया पार्वती की जन्मतिथि है। पूर्वांचल में उस दिन सौभाग्यवती स्त्रियाँ बालू की गौरी बनाकर पूजन करती

गण

है और सौभाग्य की वस्तु भेंट करती है। गौरी से सेंदुर लेकर अपनी माँग भरती है। (प० ला० गु०)

गणचिह्नवाद (टोटेमिज्म) पशु-पक्षी, वृक्ष-पौधों पर व्यक्ति, गण, जाति या जनजाति का नामकरण अत्यंत प्रचलित सामाजिक प्रथा है जो सभ्य और असभ्य दोनों प्रकार के समाजों में पाई जाती है। असभ्य समाजों में यह प्रथा बहुत प्रचलित है और कहीं कहीं इसे जनजातीय धर्म का स्वरूप भी प्राप्त है। उत्तरी अमरीका के पश्चिमी तट पर रहनेवाली हैडा, टिलिंगिट, क्वाकीटुल आदि जनजातियों में पशु आकार के विशाल और भयानक खंभे पाए जाते हैं, जिन्हें इन जातियों के लोग देवता मानते हैं। इनके लिये इन जातियों में 'टाडेम', 'ओडोडेम' आदि शब्दों का प्रयोग होता है, जिसकी ध्वनि 'टोटेम' शब्द में है। मध्य आस्ट्रेलिया के अरुंटा आदिवासी, अफ्रीका के पूर्वी मध्य प्रदेशों तथा भारत की जनजातियों में यह प्रथा प्रचलित है।

संसार के विभिन्न प्रदेशों में इस प्रथा का विभिन्न रूप पाया जाता है। परंतु इतिहासकारों का ऐसा मत है कि प्राचीन काल में कभी 'टोटेमीयुग' रहा होगा, जिसके अवशेष आज के टोटेमी रीति-रिवाज हैं। ऐसे इतिहासकारों में राईनाख और मैकलनन के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार की विचारधारा के अनुसार राईनाख ने (१९०० ई० में) टोटेमिज्म के प्रधान लक्षणों की एक तालिका प्रस्तुत की। इस तालिका के अनुसार (१) कुछ पशु मारे या खाये नहीं जाते और ऐसे पशुओं को उन समुदायों में व्यक्ति पालते हैं। (२) ऐसा कोई पशु यदि मर जाय, तो उसकी मृत्यु का शोक मनाते हैं। मृतक पशु का कहीं कहीं विधिवत् संस्कार भी किया जाता है। (३) कहीं कहीं पशुमांस भक्षण पर निषेध विशिष्ट पशु के विशिष्ट अंग पर ही होता है। (३) ऐसे पशु को यदि मारना या बलि देना पड़ जाय तो प्रार्थना आदि के साथ निषेध का उल्लंघन विधिपूर्वक किया जाता है। (५) बलि देने पर भी उस पशु का शोक मनाया जाता है। (६) त्योहारों पर उस पशु की खाल आदि पहन कर उसका स्वाँग भरा जाता है। (७) गण और व्यक्ति उस पशु पर अपना नाम रखते हैं। (८) गण के सदस्य अपने झंडों और अस्त्रों पर पशु का चित्र अंकित करते हैं या उसे अपने शरीर पर गुदवाते हैं। (९) यदि पशु खूँखार हो तो भी उसे मित्र और हितैषी मानते हैं। (१०) विश्वास करते हैं कि टोटेम-पशु उन्हें यथासमय चैतन्य और सावधान कर देगा। (११) पशु गण के सदस्यों को उनका भविष्य बताकर उनका मार्गदर्शन करता है, ऐसी उनकी धारणा है। (१२) टोटेमवादी उस पशु से अपनी उत्पत्ति मानते हैं और उससे घनिष्ठ संबंध बनाये रखते हैं।

संसार में गणचिह्नवाद के लक्षण सब कहीं एक से नहीं पाये जाते। उदाहरणतः, हैडा तथा टिलिंगिट जातियों में गणचिह्नवाद सामाजिक प्रथा है, परंतु उसका धार्मिक स्वरूप विकसित नहीं है। मध्य आस्ट्रेलिया की अरुन्टा जाति में टोटेम-धर्म और रीतियाँ पूर्ण विकसित हैं, टोटेमी पशु की नकल या स्वाँग नहीं उतारते। अफ्रीका की बंगडा जाति में गणचिह्नवाद का धार्मिक रूप अप्राप्य है। भारत की मुंडा, उराँव, संथाल आदि जातियों में टोटेम केवल गणनाम और गणचिह्न के रूप में प्रयुक्त होता है। वहाँ टोटेम-बलि और टोटेम-पूजा की परंपराएँ नहीं पाई जातीं।

आदिवासी कला पर गण का प्रभाव प्रचुर मात्रा में मिलता है। छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश में घरों की दीवारों पर टोटेम के चित्र देखने में आते हैं। न्यूजीलैंड के माओरी अपनी नौकाओं पर अपने टोटेम का चित्र उकेर देते हैं। कई अन्य जनजातियों में पहनने के वस्त्र, शस्त्र, उपकरण और झंडे सब पर टोटेम चित्रित रहता है। विशेषतः उत्तरी अमरीका और आस्ट्रेलिया की आदिवासी कला पर गणचिह्नवाद का प्रभाव बहुत गहरा है।

टोटेमगण के सदस्य अपने को टोटेम की अलौकिक और मानसिक संतान मानते हैं। वे अपने गण में विवाह नहीं करते। इस प्रकार टोटेमवादी समाजों में बहिर्विवाह की रीति मान्य होती है। सर जेम्स फ्रेजर का है कि टोटेमवाद और बहिर्विवाह में कार्यकारण का संबंध है और वे सदैव साथ साथ पाए जाते हैं। टोटेम को अलौकिक रूप से गणचिह्न मानने के कारण टोटेमी गण के सदस्य आपस में रक्तसंबंध मानते हैं और इस कारण परस्पर विवाह नहीं करते।

हमारे देश में अनेक टोटेमी जातियाँ हैं। संथाल जाति में सौ से अधिक ऐसे गण हैं जिनके नाम पशु, पक्षी और वृक्ष पर रखे जाते हैं। इसी प्रकार दक्षिण बिहार की हो जाति में लगभग पचास ऐसे 'टोटेमी' गण हैं। राजस्थान और खानदेश के भील २४ गणों में विभाजित हैं, जिनमें से कई के नाम पशुपक्षियों तथा वृक्षों पर आधारित लगते हैं। महाराष्ट्र के कतकरी, मध्यप्रदेश के गोंड और राजस्थान के मीना, मिरासी आदि जातियों में भी गणों के नाम उनके प्रदेश में पाए जानेवाले पशु-पक्षियों पर ही रखे जाते हैं। इन सभी जातियों में टोटेमी गण नाम के साथ साथ टोटेमवाद के कई अन्य लक्षण भी वर्तमान हैं जैसे टोटेम को अलौकिक पितृ मानना, टोटेम के शरीर की वस्तुओं (जैसे पंख, खाल, पत्तियाँ या लकड़ी) और टोटेम के चित्र तथा संकेतों को भी पवित्र मानकर उनको पूजा जाता है और टोटेम को नष्ट करने पर कठोर प्रतिबंध होता है।

इनके साथ ही भारत में ऐसी अनेक जातियाँ हैं जो टोटेम पर अपने गण अथवा समुदाय का केवल नाम रखती हैं। बहुत सी ऐसी हैं जो केवल टोटेम की पूजती भर हैं। मजूमदार ने बंगाल में रहनेवाली ऐसी अनेक जातियों (बागड़ी, महिष्य और मीरा) का उल्लेख किया है। मालवा और राजस्थान में भी ऐसी अनेक जातियाँ हैं जिनमें नाम के अतिरिक्त टोटेमवाद का कोई अन्य लक्षण नहीं मिलता।

यह कहना ठीक नहीं होगा कि पशु-पक्षी-वृक्षों के पूजक सदैव ही टोटेमवादी हुआ करते हैं। हिंदुओं के विभिन्न संप्रदायों में गौ, भैंस, बंदर, चूहा, उल्लू, सर्प, मयूर आदि को पवित्र मानकर पूजा जाता है। इसी प्रकार तुलसी, बिल्व, अश्वत्थ और वट को पवित्र मानकर पूजते हैं। परंतु इन संप्रदायों को टोटेमवादी कहना असंगत होगा क्योंकि इनमें न तो टोटेम पर गण का नाम ही रखा जाता है और न गण के सदस्य टोटेम को पितृ ही मानते हैं। रिज़ले का विचार है कि भारत की वे सब जातियाँ जिनमें टोटेमवाद का एक भी लक्षण पाया जाता है प्रारंभ में पूर्ण रूप से टोटेमवादी थी। इन्होंने धीरे धीरे अपने विभिन्न टोटेमों की पूजा आदि करना छोड़ दिया और अब उनमें टोटेम केवल गणनाम और गणचिह्न के रूप में मिलता है। (कृ० रा० मा०)

गणतंत्र दिवस भारत का एक राष्ट्रीय पर्व जो प्रति वर्ष २६ जनवरी को मनाया जाता है। १९२९ के दिसंबर में लाहौर में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन पंडित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुआ जिसमें प्रस्ताव पारित कर इस बात की घोषणा की गई कि यदि अंग्रेज सरकार २६ जनवरी, १९३० तक भारत को उपनिवेश का पद (डोमीनियन स्टेटस) नहीं प्रदान करेगी तो भारत अपने को पूर्ण स्वतंत्र घोषित कर देगा। २६ जनवरी, १९३० तक जब अंग्रेज सरकार ने कुछ नहीं किया तब कांग्रेस ने उस दिन भारत की पूर्ण स्वतंत्रता के निश्चय की घोषणा की और अपना सक्रिय आंदोलन आरंभ किया। उस दिन से १९४७ में स्वतंत्रता प्राप्त होने तक २६ जनवरी स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाता रहा। तदनंतर स्वतंत्रता प्राप्ति के वास्तविक दिन १५ अगस्त को स्वतंत्रता दिवस के रूप में स्वीकार किया गया। २६ जनवरी का महत्व बनाए रखने के लिये विधान निर्मात्री सभा (कांस्टीट्युएंट असेंबली) द्वारा स्वीकृत संविधान में भारत के गणतंत्र स्वरूप को मान्यता प्रदान की गई। (प० ला० गु०)

गणधर जैन धर्मानुयायियों में प्रचलित एक उपाधि। जो अनुत्तर, ज्ञान और दर्शन आदि धर्म के गण को धारण करता है वह गणधर कहा जाता है। इसका तीर्थंकर के शिष्यों के अर्थ में ही विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। गणधर को द्वादश अंगों में पारगत होना आवश्यक है। प्रत्येक तीर्थंकर के अनेक गणधर कहे गए हैं। महावीर के ११ गणधर थे। उनके नाम, गोत्र और निवासस्थान इस प्रकार हैं—

१. इंद्रभूति	गोतम	गोर्वरग्राम
२. अग्निभूति	,,	,,
३. वायुभूति	,,	,,
४. व्यक्त	भारद्वाज	कोल्लक सन्निवेश
५. सुधर्म	अग्निवेश्यायन	,,
६. मंडिकपुत्र	वाशिष्ठ	मौर्य सन्निवेश
७. मौमपुत्र	कासव	,,
८. अकंपित	गोतम	मिथिला
९. अचलभ्राता	हरिभाण	कोसल
१०. मेतार्य	कौडिन्य	तुगिक सन्निवेश
११. प्रभास	,,	राजगृह

ये सभी ब्राह्मण थे। इससे ऐसा जान पड़ता है कि महावीर के समय में ब्राह्मणों में ही वैचारिक क्रांति का आरभ हुआ था।

(प० ला० गु०)

गणनायंत्र गणना के सरल और महत्वपूर्ण सर्वप्रथम उपकरण गणनागोलक (abacus) में गणना और सांख्यिक अभिगणना का विकास निहित है। कुशल व्यक्ति के हाथों मे इस उपकरण की दक्षता प्राचीन काल से ही मानी गई है और अब भी कुछ देशों मे इसका प्रचार है।

सन् १६१७ मे जान नेपियर ने गणनोपयोगी अपनी सख्याछड़ों का वर्णन प्रकाशित किया। तब से ये छड़ें "नेपियर की अस्थियाँ" के नाम से विख्यात है। १७वीं शताब्दी में इनका विस्तृत प्रचार था और इनमें कई एक संशोधन भी हुए। साउथ केंसिंगटन के विज्ञान संग्रहालय में चार्ल्स वैवेजवाला दंडकुलक रखा है। इसकी पत्तियों पर सामान्य पहाड़े की संख्याएँ लिखी हैं। प्रत्येक गुणनफल एक वर्ग के भीतर लिखा है—उसका इकाई अंक विकर्ण द्वारा समद्विभाजित वर्गार्ध मे और हर दहाई अंक ऊपरवाले में। उदाहरणतः, ७ वाली पत्ती पर पहाड़ा इस प्रकार है:

७	१ / ४	२ / १

......। इसकी प्रयोगविधि यह है। मान लें ७,६५,४७६ को ६ से गुणा करना है, तो गुण्य के अंकोवाली पंक्तियाँ पहले क्रम मे रखी जायँगी। इनकी बाईं ओर सूचिका पत्ती पर २ से ९ तक के अंक लिखे रहते है। इस पत्ती पर ६ की पंक्ति में हर जोड़ी विकर्ण के बीच के अंक जोड़ने पर गुणनफल ४५,९२,८७४ मिल जाता है। यदि गुणक में कई अंक हैं तो सामान्य गुणनविधि के अनुसार प्रत्येक अंक का गुणनफल एक दूसरे के नीचे लिखकर जोड़ने से अभीष्ट गुणनफल मिल जाता है। मोरलैंड ने सन् १६६६ में एक ऐसे गुणन उपकरण का आविष्कार किया जिसमें नेपियर दंडों के स्थान मे घूणनशील मंडलकों का प्रयोग था और गुणनफल के अंक इन मंडलकों के व्यासों के सिरो पर लिखे थे।

प्रथम वास्तविक गणनायंत्र—ब्लेस पास्काल ने सन् १६४२ मे पहली वार उस प्रकार का संकलनयंत्र बनाया जिसे सामान्यतया गणनायत्र की संज्ञा दी जाती है। इसने कई एक यंत्र बनाए जिनमें से कुछ पेरिस के सुरक्षालय, कंजर्वेटॉयर डि आर्त ए मैटियर (Conservatoire des Arts et Metiers) में रखे हैं। एक मंजूषा मे कुछ अंकचक्र समांतर अक्षों पर चढ़े होते हैं, जिनपर ० से ९ तक के अक लिखे रहते हैं। यंत्र के ढक्कन से लगे हरेक अंकचक्र के ऊपर सामने की ओर एक क्षैतिज चक्र रहता है, जो एक चक्कर के १/१० भाग से लेकर ९/१० भाग तक एक डंडी अथवा सूचिका द्वारा आगेवाली दिशा में घुमाया जा सकता है। यह संचालनसूची (पिन) चक्र के योक्तण द्वारा संगत अंकचक्र मे प्रेषित हो जाता है। प्रत्येक अंकचक्र का सर्वोच्च अंक ढक्कन में लगे एक दृष्टिछिद्र से दिखाई देता है। किसी भी अंकचक्र के ९ से ० तक के संचलन में, हाथ लगे अंक को जोड़ने के लिये एक नीति-युक्ति द्वारा, उसके बाएँ हाथवाला अंकचक्र १/१० चक्कर घूम जाता है। सन् १६६६ में मॉर्लैंड ने इसी ध्येय से ३" × ४" के क्षेत्रफल का और १/४ इंच से भी कम ऊँचा एक सुगठित लघु उपकरण बनाया। यह सूचिका द्वारा चलता था, किंतु इसमें दहाई को नीत करने की युक्ति नहीं थी। नीत किए जानेवाले अंकों का अभिलेखन छोटे प्रतिमंडनकों (counters) पर होता था। आगे चलकर सन् १७८० में वाइकाउंट चार्ल्स माहून (Mahon) ने इस उपकरण मे दहाई नीत-युक्ति का समावेश कर दिया। इसमें इकाई के चक्र से अन्य कोटियोंवाले चक्र तक एक साथ सचलन होता था, किंतु अधिक चक्रों को एक साथ चलाने मे यथेष्ट बल की आवश्यकता थी। इस कारण इसके द्वारा छह अंकों की सख्याओं का जोड़ना भी दुर्लभ था। रॉथ (Roth) ने सन् १८४२ मे इस सूचिकाचालित उपकरण मे यह सुधार किया कि नीत अक एक एक करके जोड़े जा सकें। इस प्रकार के अल्पमूल्य उपकरणों का अब भी बाजार मे प्रचुर रूप से प्रचलन है।

गुणनयंत्र—गुणन वास्तव में पुनरागत सकलन है। उदाहरणतः ३६८७ × २१४ = (३६८७ + ३६८७ + ३६८७ + ३६८७) + ३६८७० + (३६८७०० + ३६८७००)। अतएव पास्काल प्रकार के सभी सकलन-यत्रों से गुणन किया जा सकता है, किंतु समय लगभग उतना ही लगेगा जितना कागज पर लिखकर सामान्य विधि से गुणा करने मे। उदाहरणतः, पूर्वोक्त गुणन मे हाथ से अलग अलग २८ क्रियाएँ करनी होंगी। हर क्रिया मे सूचिका को समुचित छिद्र मे रखकर उसके द्वारा अकचक्र को समुचित कोण तक घुमाना होगा। सन् १६७१ में लाइब्नित्ज़ (Leibnitz) को यह विचार सूझा कि ऐसा यत्र बनाया जाय जिसमें द्रुत गति से पुनरागत सकलन की क्रिया द्वारा गुणन हो जाय। ऐसा पूर्ण यत्र सन् १६९४ में बन पाया। इस यत्र में खिसकनेवाले खंड में गुण्य की स्थापना की जाती थी और यह खंड एक एक स्थान करके बाईं ओर खिसकाया जा सकता था, जिसका अर्थ है १०, १००, ... इत्यादि से क्रमानुसार गुणा करना। यंत्र के स्थिर भाग मे अकचक्रों पर गुण्य को नौ बार तक द्रुत-गति से जोड़ने के परिणामों का अभिलेखन होता जाता था। यह यत्र हैनोवर के राजकीय पुस्तकालय मे सुरक्षित था। परीक्षा से ज्ञात हुआ कि दहाईप्रेषण का तंत्र पूर्णतः विश्वसनीय नहीं था। ऐसी एक मशीन सन् १७०४ मे बनी, किंतु यह अब लुप्त हो गई है। इस यंत्र का एक महत्व-पूर्ण अवयव वर्धितपग (stepped) चक्र था, जिसमे एक बेलनाकार चक्र या बेलन (drum) के बाह्य पृष्ठ पर वर्धमान लबाई के नौ दाँत थे। इस अवयव की योजना बाद के ऐसे अनेक यंत्रों मे की गई है जिनमें पुनरागत संकलन द्वारा गुणन होता है। वर्तमान युग में इसका बहुत प्रचार है। १८वीं शताब्दी में विभिन्न गणितज्ञों और यत्रकलाविदों ने वाणिज्योपयोगी यंत्र बनाने का प्रयत्न किया। इसके निर्माण मे मुख्य कठिनाई चक्रों के दाँत जैसे अवयवों को उच्च कोटि की यथार्थता तक बनाने में थी।

प्रथम वाणिज्योपयोगी गणनायंत्र—इसका आविष्कार सन् १८२० मे चार्ल्स जेवियर टॉमस ने किया। मूल रूप से यह प्रतिमान (मॉडल) आज तक प्रचलित है, यद्यपि विस्तार की गौण बातों में निरंतर संशोधन और सुधार होते चले आ रहे है। एक ऐसा संशोधित यंत्र सन् १८६६ के लगभग बना था।

इस यंत्रतंत्र के क्रमानुसार स्थापन, गणन और अभिलेखन से संबंधित तीन पृथक् खंड किए जा सकते हैं। ये खंड क्रमपूर्वक यंत्र में आगे से पीछे की ओर व्यवस्थित रहते हैं। स्थिर आवरणपट्टिका (plate) मे छह खाँचे है। प्रत्येक मे एक संकेतक है जो ० से ९ तक की अंकोंवाली स्थितियों में से किसी एक मे लाया जा सकता है। ये अंक हर खाँचे की बाईं ओर खुदे हैं। इन संकेतकों को चलाकर ९,९९,९९९ तक किसी भी संख्या की स्थापना की जा सकती है। प्रत्येक संकेतक के संचलन से दस दाँतों का एक छोटा दंतिकाचक्र (pinion) एक वर्ग धुरी के अनुदिश खिसकता है। इस दंतिकाचक्र के नीचे और बाईं ओर लाइब्नित्ज़ के ढंग का एक पगवर्धित चक्र रहता है, जो एक प्रवणचक्र (bevel wheel) द्वारा प्रधान ईषा (shaft) से हट जाता है और छोटा दंतिकाचक्र उतने दाँत घूमता है जितने बेलन के स्थापित अंकवाले अनुप्रस्थ समतल मे होते हैं। उसी अक्षवाले परिक (sleeve) पर स्थित प्रवणचक्र की जोड़ी में से एक के द्वारा यह घूर्णन कीलित (कब्जे से कसी) पट्टिका के पीछे की पंक्ति मे लगे परिणामसूचक अंकचक्र को प्रेषित हो जाता है। इस पट्टिका मे वह अंकचक्र भी लगा रहता है जिससे (कीलित पट्टिका की प्रत्येक स्थिति के लिये) चालक हत्थे (कूर्पर, crank) के चक्करों की संख्या का अभिलेखन होता है। स्थिर पट्टिका के ऊपरी बाएँ कोने पर एक उत्तोलक लगा

है जिसकी दो स्थितियाँ हैं—एक संकलन और गुणन के लिये तथा दूसरी व्यवकलन और भाजन के लिये। इन स्थितियों में प्रवण (bevel) चक्रों की जोड़ी में से एक एक परिणामसूचक अंकचक्र के नीचेवाले प्रवणचक्र से युक्त हो जाता है। इससे यह परिणामचक्र पहली दशा में वामावर्त और दूसरी दशा में दक्षिणावर्त ० से ९ तक घूम जाता है। उदाहरणार्थ, ३,०४२ को ५३६ से गुणन की क्रिया इस प्रकार होगी. पहले कीलित पट्टिका को उठाएँ, दानेदार आक्षरित मुंडा (Milled knobs) का घुमाकर छोड़ दें जिससे सभी अंकचक्रों पर शून्य दिखाई दे। कीलित पट्टिका को नीचे दबाकर चरम बाईं स्थिति में लाएँ, अब स्थिर पट्टिका के चार खाँचों में संख्या ३,०४२ की स्थापना करें, बाईं ओर के उत्तोलक को *गुणनवाली स्थिति* में लाएँ और हत्थे को छह बार दक्षिणावर्त घुमाएँ (हत्था वामावर्त नहीं घूमेगा), कीलित पट्टिका को उठाकर उसे एक पग दाहिनी ओर खिसकाएँ और फिर नीचेवाली स्थिति में ले आएँ, हत्थे को तीन बार घुमाएँ, एक पग फिर पट्टिका को खिसकाकर पाँच बार हत्थे को घुमाएँ। गुणनफल १६,३०,५१२ चोटी की पंक्ति पर और गुणक ५३६ अंकों की दूसरी पंक्ति में दिखाई देगा। सन् १८७८ में आधुनिक जर्मन गणना-यंत्र-उद्योग की स्थापना आर्थर बुर्खार्ट (Burkhardt) ने की और बुर्खार्ट अंकगणितमापी (एरिथमोमीटर, Arithmometer) के नाम से इस गणनायंत्र का निर्माण आरंभ हुआ। इस प्रकार के यंत्र अन्य व्यावसायिक निर्माताओं ने भी बनाए।

ऑढनर (Odhner) प्रकार के यंत्र—सन् १८७५ में फ्रैंक स्टिफेन बाल्डविन ने एक ऐसे यंत्र का पेटेंट कराया जिसमें लाइब्निट्स के वर्धितपगचक्र के स्थान पर ऐसा चक्र प्रयुक्त था जिसकी परिमा (periphery) से बाहर १ से ९ तक कितने ही दाँत निकल आते थे। लगभग उसी समय डब्ल्यू० टी० ऑढनर (Odhner) ने इसी युक्ति पर आधारित यंत्र बनाया जिसका विकास और निर्माण सन् १८९२ से 'ब्रुंसविगा' (Brunsviga) के नाम से जर्मनी में होता रहा है। सन् १९१२ तक इस प्रकार के २०,००० यंत्र बने।

यद्यपि इस यंत्र में भी टॉमस के यंत्र की भाँति गुणन पुनरागत संकलन द्वारा होता है, तथापि लाइब्निट्स चक्र के स्थान में पतले ऑढनर चक्र के प्रयोग से यह प्ररचना (design) अत्यंत सुगठित हो गई है। ऑढनर चक्र पीछे की ओर धुरी पर बहुत कसकर बैठते हैं। प्रत्येक चक्र का एक अंग स्थापक उत्तोलक है, जिसका सिरा आवरण पट्टिका के बेलनाकार भाग में खाँचे से बाहर निकला रहता है। जब कोई उत्तोलक अपने खाँचे के किसी अंक (१ से ९ तक) पर ला दिया जाता है तो उतने ही दाँत उसके चक्र से बाहर निकल आते हैं। जब चालक हत्था घुमाया जाता है तो ये दाँत गुणनफल पंजित्र (Product register) के छोटे दाँतेदार चक्रों से युक्त हो जाते हैं और ये चक्र सामने के संख्याचक्रों से युक्त हो जाते हैं। गुणनफल पंजित्र यंत्र में सामने की ओर लंबाई की दिशा में चलनशील वाहक पर चढ़ा रहता है। इस वाहक पर एक गणक (counter) और लगा रहता है, जिसमें गुणनक्रिया का गुणक और भाजनक्रिया का भागफल आलेखित होता रहता है। संकलन तथा गुणन के लिये हत्था दक्षिणावर्त घुमाया जाता है, व्यवकलन तथा भाजन के लिये वामावर्त और टॉमस के यंत्रों की भाँति योक्त्र (gear) परिवर्तन की आवश्यकता नहीं रहती। वाहक (Carriage) एक पद दाहिनी या बाईं ओर सामने निकली हुई दो खडिकाओं (पुरजों) में से एक को दबाकर खिसकाया जा सकता है। गुणनफल और गुणक पंजित्रों (रजिस्टरों) के शून्यीकरण के लिये वाहक के सिरों के डिबरियों (Butterfly nuts) को एक पूरा चक्कर घुमाना पड़ता है।

मौलिक ऑढनर एकस्वों (पेटेंटों) के अंतर्गत, और जब से इन एकस्वों की अवधि समाप्त हुई तब से विभिन्न देशों में अनेक निर्माताओं ने विभिन्न नामों से इस प्रकार के यंत्र बनाए हैं।

ये यंत्र कई मापों और क्षमताओं के बनाए गए हैं। वर्तमान काल तक इसके गौण पुरजों के निर्माण में निरंतर संशोधन और सुधार होते ' मौलिक जर्मन निर्माता के बाद के नमूने में, जो सन् १९२७ में नोवा ब्रुंसविगा (Nova Brunsviga) के नाम से चला, प्रतिरूप ही परिवर्तित है। नई युक्तियों में से एक युक्ति गुणनफल अंकानीक (Dial) पर पंजीकृत परिणाम को एक बार में ही नियोजक उत्तोलकों पर प्रेषित करने की है। इससे पूर्व प्रचलित २० अंकों के परिणाम देनेवाले प्रतिरूप ट्रिप्लेक्स (Triplex) में परिणामपंजित्र के दो खंड किए जा सकते हैं। इसके फलस्वरूप दो भिन्न संख्याओं का एक ही गुणक से गुणन केवल एक क्रिया में किया जा सकता है। 'द्विचन' (ब्रुंसविगा, मार्चेंट) नामक प्रकार में वस्तुतः दो यंत्र जुड़े हैं जो एक ही हत्थे (crank) से चलते हैं।

कुंजीचालित यंत्र—कुंजीपट्ट प्रकार के गणनायंत्र का आविष्कार और विकास प्रधानतः संयुक्त राज्य (अमरीका) में हुआ। इसके दो वर्ग स्पष्ट हैं। कुंजीचालित और कुंजीनियोजित। कुंजीचालित में यंत्र को चलाने के लिये आवश्यक ऊर्जा केवल कुंजियों को दबाने से मिल जाती है। ऐसा पहला यंत्र सन् १८४० में बना, किंतु उससे एक बार में अंकों का केवल एक स्तंभ जोड़ा जा सकता था। सन् १८८७ में फेल्ट ने अपने गणनमापी (Comptometer) का पेटेंट कराया। यह पहला कुंजीचालित गणनायंत्र था जिससे कई अंकोंवाली संख्याएँ एक साथ जोड़ी जा सकती थीं। आरंभ के प्रतिमानों (माडलों) में दहाईवाले नीतांकों के कारण प्रत्येक कुंजी को अलग अलग चलाना पड़ता था। बाद के प्रतिमानों में बहुत से सुधार किए जाने के फलस्वरूप उनके प्रयोग में द्रुति, सुविधा और शुद्धता बढ़ गई। सन् १९०३ में आविष्कृत ड्प्ले (Duplex) प्रतिमान में पहली बार कुंजियों को एक साथ दबाकर संकलन क्रिया करना संभव हुआ। इससे बड़ी प्रगति हुई और गणना बड़ी तीव्रता से होने लगी। आगे चलकर, दोषपूर्ण प्रयोग के कारण गणना में कोई त्रुटि न आने पाए, इसका निश्चय करने के लिये नियंत्रित कुंजीप्रतिरूप का आविष्कार हुआ। प्रत्येक कुंजी से लगी एक व्यतिकरण रक्षी (Interfence guard) लगा देने से जिस कुंजी को दबाना अभीष्ट है उसके पासवाली का आकस्मिक दबना रुक गया। यदि कुंजी पूरी न दबे तो अन्य स्तंभ की सभी कुंजियाँ अटक जाती हैं और चलती नहीं। साथ ही, जिस स्तंभ में त्रुटि होती है उसमें उत्तरसूचक पंजित्र (रजिस्टर) का अंक विक्षिप्त स्थिति में दिखाई पड़ता है। तब उस कुंजी को पूरा दबाकर त्रुटि दूर की जा सकती है। एक अन्य स्वतःचालित अटकाव युक्ति के कारण दबाई हुई कुंजी जब तक पूरी नहीं उठती तब तक दूसरी कुंजी नहीं दबाई जा सकती। कुछ प्रतिमानों में लंबे द्विराघात (double stroke) उत्तोलक के स्थान में शून्यकारी उत्तोलक लगा रहता है, जिसे थोड़ा ही खींचना पड़ता है, और प्रत्येक बार नई गणना के आरंभ में यंत्रचालक को पंजित्र (रजिस्टर) के मुक्त होने का पता दृश्य, श्रव्य अथवा स्पर्शानुभूत संकेतों से मिल जाता है। कुछ प्रतिमानों में संकलनमात्र को चलाने के लिये आवश्यक ऊर्जा कुंजी को दबाते ही विद्युत् द्वारा मिल जाती है।

संकलन (Adding) और सूचीकरण (Listing) यंत्र—वैसे तो सन् १८७२ से संकलनयुक्ति के साथ मुद्रणयुक्ति का संयोजन हो गया था, किंतु प्रथम प्रायोगिक यंत्र फेल्ट ने सन् १८८९ में और बरोज (Burroughs) ने सन् १८९२ में बनाए। अब तक बरोज यंत्र के सौ से अधिक विभिन्न प्रतिमान और दस लाख से अधिक यंत्र बन चुके हैं। इन यंत्रों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : (क) **एकल गणक (काउंटर) संकलन यंत्र**—ऐसे कुछ यंत्रों में व्यवकलन का भी आयोजन होता है। वियोजक की स्थापना कुंजीपट्ट पर उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार किसी जोड़ी जानेवाली संख्या की और 'व्यवकलन'-नियंत्रक-कुंजी के दबाने पर व्यवकलन क्रिया हो जाती है। (ख) **ड्प्ले और बहुगणक संकलनयंत्र**—इनमें दो या अधिक गणनायंत्रों का समावेश होने के कारण कई एक ऐसी क्रियाएँ, जो एकल गणकवाले यंत्र पर अलग अलग करनी पड़ती हैं, एक साथ की जा सकती हैं। (ग) **बिल, लेखा, बहीखाता इत्यादि तैयार करनेवाले यंत्र**—इनसे बीजक, रिपोर्ट, व्यापारप्रपत्र आदि बन जाते हैं। कुछ में संख्यात्मक अभिगणन और अभिलेखन के साथ साथ टंकण भी होता जाता है। इस वर्ग के यंत्र अत्यंत ही परिपूर्ण और जटिल बने हैं, जिनसे स्वतः विस्तृत क्रियाओं का संपादन

हो जाता है। कुछ प्रतिमानों में एक सहायक कुंजीपट्ट लगा रहता है, जिसमें नई संख्याओं को उस समय भी स्थापित किया जा सकता है जब पूर्व-संख्याओं पर क्रियाएँ की जाती हों। उपर्युक्त विशेष वर्गीकरण के अनुसार संयुक्त राज्य में निर्मित यंत्रों को निम्नलिखित समूहों में विभाजित कर सकते हैं (बड़े निर्माता, हस्तचालित और विद्युच्चालित दोनों प्रकार के, विभिन्न क्षमताओं के यंत्र बनाते हैं) : आर० सी० ऐलेन (क, ग); ऐलेन-वेल्स (क, ख, ग): बैरेट (क); बरोज (क, ख, ग); कॉरोना (क); मॉनरो (क, ख, ग); नैशनल (क, ख, ग); रेमिंग्टन (क, ग); स्विफ्ट (क); अंडरवुड संडर्स्ट्रैंड (क, ख, ग) तथा विक्टर (क)।

सर्वाधिक सामान्य प्रकार का कुंजीपट्ट वह है जिसमे प्रत्येक कोटि के प्रत्येक अंक के लिये एक कुंजी है। इसे "पूरा कुंजीपट्ट" कहते हैं। एक दूसरे प्रकार के कुंजीपट्ट में कुल १० कुंजियाँ होती हैं, जो स्वतः क्रम-पूर्वक विभिन्न कोटियों में अंक स्थापित करती हैं। इस कुंजीपट्ट का प्रयोग टाल्टन ने सन् १६०२ में और संडर्स्टैंड ने सन् १६१४ में किया। यदि इसमें पुनरावृत्ति की भी विशेषता हो तो दस कुंजीवाले संकलनयंत्र से गुणन भी पुनरावृत्ति संकलन के रूप में किया जा सकता है, क्योंकि प्रतिवद्ध संख्या में शून्य बढाने पर संख्या एक स्थान बाईं ओर खिसक जाती है। इस प्रकार के कुछ विशेष यंत्र ऐसे विशेष नियंत्रणों से सज्जित रहते हैं, जिनसे गुणन और भाजन की क्रियाओं मे सुविधा रहती है। दस कुंजीवाले साज का प्रयोग कुछ चलनशील वाहकवाले गणनायंत्रों में भी होता है। जैसे फ्रिडेन (Friden), मैथेमैटन (Mathematon), ऐलेन, फैसिट, (Facit)। सन् १६१६ में अमरीकी प्रकार के यंत्रों का निर्माण जर्मनी में भी आरंभ हुआ और वहाँ इनका बहुत विकास हुआ। संकलन यंत्रों का अन्य अनेक वाणिज्य उपकरणों में प्रयोग होता है, जैसे पतालेखक (Addressograph) में, जिससे आँकड़े छपते जाते और उनका प्रगामी योग पतालेख में बढ़ता जाता है।

रोकपंजी (Cash Register)—सामान्य जनता को संकलनयंत्रोंवाले विभिन्न उपकरणों मे सबसे अधिक सुविदित रोकपंजी है, जो प्रायः फुटकर बिक्री करनेवाले बड़े भांडारों (स्टोर्स) मे प्रयुक्त होती है। ऐसे लाखों यंत्र सन् १८८४ से अब तक नैशनल कैश रजिस्टर कं०, बरोज और ओमर (Ohmer) कॉरपोरेशन आदि निर्माताओं ने बनाए हैं। इस यंत्र के बनाने का मौलिक ध्येय फुटकर बिक्रीवाले भांडारों मे बेईमानी रोकना था; किंतु अब इसमें इतना विकास हो गया है कि इससे सभी प्रकार के फुटकर सौदों का स्वतः अभिलेखन हो जाता है, ग्राहकों की रसीदें बन जाती हैं और भांडारप्रबंध के निमित्त विविध प्रकार की विवरणात्मक सूचनाएँ मिल जाती हैं। इस यंत्र के एक संवर्धित रूप से हिसाब और लेखा-बहीखाता भी हो जाता है। सन् १६१६ से नगद रजिस्टर और संकलन तथा सूचीकरण यंत्र के संयोजनवाले यंत्र का भी निर्माण होता है, जिसमें हर सौदे पर नकद दराज खुल जाता है और संकलन तथा सूचीकरण क्रियाएँ भी साथ साथ होती रहती हैं। आवश्यकता पड़ने पर यंत्र के केवल एक भाग से भी काम किया जा सकता है।

सीधे (अनाश्रित) गुणनयंत्र—लेओ बॉले (Leon Bollee) को सन् १८८७ में ऐसे यंत्र का निर्माण करने में सफलता मिली, जिसमें बिना पुनरावृत्त-संकलन-क्रिया के गुणन हो जाता है। किंतु ऐसे यंत्र कम बने, क्योंकि इसमें स्वतःचालन की बड़ी विकट समस्या उपस्थित हो जाती है। ऑटो स्टाइगर (Otto Steiger) ने सन् १८६३ मे मिलियनेयर यंत्र बनाया। इसमें बॉले द्वारा आविष्कृत यांत्रिक गुणनसारणी का उपयोग होता है, जिसके चलाने से गुणक के प्रत्येक अंक के लिये चालक हत्थे का केवल एक चक्कर लगाना पड़ता है। अभिलेखक (Recorder) या वाहक को दाहिनी ओर चरम स्थिति तक हटा, गुणनोत्तोलक को गुणक के सर्वोच्च कोटि के अंक से आरंभ कर उसके एक एक अंक पर क्रमपूर्वक स्थापित किया जाता है। गुणनोत्तोलक के प्रत्येक स्थापन के उपरांत चालक हत्थे (Crank) को एक बार घुमाया जाता है और हर चक्कर के दूसरे चतुर्थांश में वाहक स्वतः बाईं ओर एक पग खिसक जाता है।

अन्य गुणन और भाजन मशीनें—सन् १६०० से अनेक परिष्कृत यंत्र बनने लगे हैं, जिनमें गुणन पुनरावृत्त संकलन से और भाजन पुनरावृत्त व्यवकलन से होता है। सन् १६०५ में बोस्टन नगर में बने एनसाइन नामक यंत्र में ऐसी कई विशेषताएँ थीं जो आगे चलकर सामान्यतया सभी यंत्रों मे ग्रहण की गईं—मोटरचालन, कुंजीपट्ट आयोजन, गुणन कुंजियाँ और स्वतः पग-वर्धित-वाहक (Automatic stepping-carriage)। इसमे नौ गुणन कुंजियाँ थीं और इनमें से एक को दबाने से कुंजीपट्ट पर स्थापित गुण्य उतनी बार जुड़ जाता था जितना अंक उस कुंजी पर होता था। मर्सेडेज यूक्लिड का प्रारूप हामान (Hamann) ने सन् १६१० मे बनाया। मैडेस नामक यंत्र सन् १६०८ में एगली (Egli) ने बनाया। यह टॉमस के यंत्र से मिलता जुलता है। संकलन, व्यवकलन और गुणन सामान्य विधि के किए जाने के अतिरिक्त, इसमे ऐसी यंत्ररचना है कि भाज्य और भाजक की स्थापना करने पर स्वतः भाजनक्रिया हो जाती है और घंटी बजने से भागफल और शेष के अभिलेखन की सूचना मिल जाती है। सन् १६११ मे मॉनरो यंत्र का प्रचार हुआ जो कुंजीपट्टवाला प्रथम घूर्णनशील (rotary) यंत्र था। ऑडनर जैसे (सन् १६११ वाले मार्चैंट के यंत्र के अतिरिक्त) अनेक प्रकार के कुंजीपट्टवाले विद्युत्संचालित प्रतिमान, जिनमे स्वतःचालित विविध विशेषताएँ भी होती हैं, बन गए हैं। ये प्रति मिनट १,३५० चक्कर तक लगा लेनेवाले हैं। यूनाइटेड लिस्टिंग मल्टिप्लायर ऐंड कैल्क्युलेटर से, जो सन् १६२६ में बना, दो संख्याओं का गुणनफल ज्ञात हो जाता था और दोनो संख्याएँ छप जाती थीं। इसी प्रकार का सन् १६३२ में बना इंटरनैशनल मल्टिप्लायर था।

रिले (Relay) और इलेक्ट्रनीय गणक—अब तक के वर्णित यंत्रों के आधार ऐसे संकलनकारी यंत्र हैं जिनमे जोड़नेवाले चक्र रहते हैं। किंतु इन चक्रों के स्थान में इलेक्ट्रो-यांत्रिकीय योजन और इलेक्ट्रान नली का भी प्रयोग किया जा सकता है। इंटरनैशनल और बेल टेलिफोन लेबोरेटरीज ने वृहत् रूप से योजनायंत्रों के जालों का प्रयोग किया है। उनके एक यंत्र मे २०० योजनायंत्र हैं और उससे प्रति घंटे छह अंकवाले १२,००० गुणनफल ज्ञात किए जा सकते हैं। इलेक्ट्रान नली का क्रियाकाल एक सेकेंड का दस लाखवाँ भाग होने के कारण यह तीव्र गति गणकों के लिये अत्यंत उपादेय है। इस प्रकार के यंत्र द्वितीय विश्वयुद्ध मे बने और उनके रहस्य अभी जनता को उपलब्ध नहीं हैं।

छिद्रित पत्रक (*Punched card*) यंत्र—सन् १८६० की संयुक्त राज्य (अमरीका) की जनगणना मे संबंधित विपुल सामग्री का सांख्यिकीय विश्लेषण करने के लिये होलेरिथ (Hollerith) नामक प्रणाली का आविष्कार हुआ। इसका उपयोग सन् १६११ की ब्रिटिश जनगणना में होने के कारण, इसमें कई वाणिज्योपयोगी सुधार भी हो गए। इस प्रणाली का आधार ८" × ३" का जैकार्ड (Jacquard) पत्रक है, जिसपर छिद्रों द्वारा सूचना का अभिलेखन होता है। इस पत्रक पर लंबाई के अनुदिश बारह बारह छिद्रों के स्तंभ होते हैं। पहले दस छिद्र शून्य से नौ तक के अंकों के लिये और शेष परिचालन (operational) नियंत्रणों, जैसे धन और ऋण के लिये रहते हैं। एक स्तंभ के दो छिद्रों के संयोजन से एक अक्षर निरूपित होता है। पहले न्यास (data) का पत्रकों पर अभिलेखन होता है। ये पत्रक जब विभिन्न यंत्रों में होकर जाते हैं तो अभीष्ट क्रियाएँ प्रत्येक पत्रक पर स्वतः होती हैं और बड़े वेग के साथ, लगभग ४०० पत्रक प्रति मिनट का चयन होता जाता है। इंटरनैशनल यंत्रों में छिद्रों द्वारा किए गए विद्युत् संपर्कों की सहायता से पत्रक पढ़े जाते हैं और यंत्र के संकलन पहिए, मुद्रणदंड आदि, विविध अंग विद्युच्चुंबकों द्वारा नियंत्रित होते हैं।

अंतर और वैश्लेषिक यंत्र (Difference and Analytical Engines)—सन् १८१२ में चार्ल्स बैबेज (सन् १७६२-१८७१) ने ऐसा गणनायंत्र बनाने का विचार किया जिससे लघुगणक जैसी गणितीय सारणियाँ बनकर छप सकें। इस यंत्र का सिद्धांत अंतरविधि पर आश्रित था और इस कारण इसे अंतरयंत्र कहा गया। प्रत्येक बहुपद के किसी न किसी

कोटिवाले अंतर अचल हो जाते हैं (कलन, परिमित अंतरों का नामक लेख देखें)। अतः इन अचर अंतरों के क्रमिक संकलन से अभीष्ट सारणीयन किया जा सकता है। इस यंत्र को बनाने के लिये ब्रिटिश शासन से इन्हें आर्थिक सहायता भी मिली और सन् १८३३ में उसका कुछ अंश संयोजित कर प्रदर्शित भी किया गया, किंतु अंत में वैश्लेषिक यंत्र की सूझ के कारण अंतरयंत्र बनाने का विचार छोड़ देना पड़ा। विश्लेषी यंत्र का उद्देश्य किसी भी गणितीय सूत्र का स्वतः गणना करना था और जैकार्ड के छिद्रित पत्रकों का प्रयोग करने का विचार भी बैबेज का था, किंतु इसमें भी उन्हें असफलता मिली। सन् १८३४ से १८५३ तक स्टॉकहोम (Stockholm) के श्यूज (Scheutz) और उसके पुत्र एडवर्ड ने एक अन्य अंतरयंत्र का प्रतिमान (model) बनाया। ऐसे प्रतिमान अन्य व्यक्तियों ने भी बनाए, किंतु वाणिज्य के कार्यों के लिये विश्वसनीय गणनायंत्रों का निर्माण हो जाने के कारण ध्यान उन्हीं की ओर आकर्षित रहा। कई देशों में बैबेज के विचारों का उपयोग कर भीमकाय स्वतःचालित गणक यंत्र बन गए हैं, जिनसे अवकल समीकरण तक हल हो जाते हैं।

अनंकी (Non-digital) यंत्र—पूर्वोक्त यंत्रों में आधारभूत क्रिया असतत (discreet) एककों के गिनने की थी। इसलिये इन्हें अंकी यंत्र कहते हैं। गणक यंत्रों का बड़ा वर्ग ऐसा है जिसका कार्य गिनती के स्थान में मापों से संबंधित है जैसे लंबाई, कोण, विद्युद्धारा, द्रवस्थितीय दाब इत्यादि को सम्मिलित करना या नापना। जितनी यथार्थता से मापन किया जाता है उतना ही यथार्थ परिणाम इन यंत्रों से मिलता है। इनमें से कई का वर्णन गणितीय उपकरणिकाएँ नामक लेख में दिया है। अधिकांश में ये उपकरणिकाएँ किसी समस्याविशेष, या समस्यावर्ग, के हल के निमित्त बनाई गई हैं। इनमें सर्प रेखनी (Slide rule) सामान्य अभिगणना के लिये अंकगणितीय उपकरणिका है।

स्लाइड रूल (Slide rule, सर्प रेखक)—परिमित यथार्थता की गणना करने के लिये एक सुगठित युक्ति लघुगणक स्लाइड रूल है। सन् १६१४ में जॉन नेपियर द्वारा लघुगणकों के आविष्कार ने और लघुगणक सारणियों की अभिगणना तथा उनके प्रकाशन ने, सरलतर संकलन और व्यवकलन की क्रियाओं द्वारा, गुणन और भाजन की क्रियाओं को संभव कर दिया (लघुगणक शीर्षक लेख देखें)। इस विधि का उपयोग कर एडमंड गुंटर (Edmund Guntur) ने दो फुट लंबे ऋजु रेखक (Rule) पर लघुगणक अंकित किए और इसपर अंकित लंबाइयों को एक विभाजिनी (a pair of dividers) द्वारा जोड़ और घटाकर गुणन और भाजन की क्रियाएँ संपन्न कीं। विलियम आटरेड (Oughtred) ने सन् १६२१ में ही दो गुंटर रेखाओं को एक दूसरे पर सरकने योग्य बनाकर विभाजिनी की आवश्यकता न रहने दी। ये रेखाएँ ऋजु और वृत्तीय दोनों आकारों से प्रयुक्त होने लगीं। तब से निरंतर इसकी प्ररचना (डिजाइन) में अभिगणना की यथार्थता, द्रुति, उपयोग की सुविधा आदि के दृष्टिकोण से सुधार होते रहे। इसमें सर्प लेखक (Cursor) का प्रयोग सन् १८५० से होने लगा और सन् १८८६ से पारदर्शी सेल्यूलाइड पर अंक बनाए जाने लगे, जिससे पढ़ने में अत्यंत सुविधा हो गई। वर्तमान युग में बनाए जानेवाले अधिकांश स्लाइड रूलों में मापनी व्यवस्था मैनहैम (Mannheim) के रेखक (Rule) की भाँति होती है। सर्पी भाग (Slider) की पीठ पर ज्या, स्पर्श और समान भागों की मापनियाँ रहती हैं। स्कंध (Stock) के मुखपृष्ठवाली मापनी के साथ इन्हें प्रयुक्त करने से क्रमानुसार ज्याएँ, स्पर्शियाँ और लघुगणक पढ़े जा सकते हैं।

सगणना में एक और सार्थक अंक की यथार्थता लाने के लिये लघुगणकीय मापनी की लंबाई १० गुनी बढ़ानी होगी। ऐसी मापनियों की लंबाई अत्यधिक न बढ़ने देने के उद्देश्य से चार विभिन्न प्रकार की रचनाओं का उद्विकास हुआ है (क) चपटा सर्पिल रूप (Flat spiral form), (ख) बेलनाकार कुंडलिनी (Cylindrical helix), (ग) चपटी झँझरी (Gridiron) के आकार की तथा (घ) बेलनाकार झँझरी सदृश। अंतिम दो प्रकारों में समांतर पट्टियाँ रहती हैं। सन् १८१५ में रोजेट (Roget) ने लघु-लघु (log-log) स्लाइड रूल बनाया। जिससे संख्याओं का मूलन (evolution) और घातन (involution) दोनों हो सकते हैं। इसमें स्थिर मापनी पर अंकित लंबाइयाँ लघुगणक के लघुगणक की समानुपाती होती हैं और सर्प मापनी लघुगणकीयतः विभाजित होती है। इस नए अंकन द्वारा $र^य$ सदृश पद (expression) का मान उसी यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा प्राप्त किया जा सकता है जिससे साधारण सर्प रेखनी पर रय का। चूँकि लघु $र^य$ = य लघु र, लघु (लघु $र^य$) = लघु य + लघु लघु रय। अतः यदि सर्पी (Slider) पर विभाजन अंक १ स्थिर मापनी अंक र से सटा दिया जाय, तो सर्पीवाले अंक य से सटा हुआ $र^य$ का मान स्थिर भाग पर पढ़ा जा सकता है। इस प्रकार चक्रवृद्धि ब्याज, जनसंख्यावृद्धि आदि के प्रश्न केवल निरीक्षण से हल हो जाते हैं। लघु-लघु-मापनियाँ भी विविध प्रकार की और अनेक सुविधाओंवाली बनी हैं।

विज्ञान, इंजीनियरी और वाणिज्य के अनेक क्षेत्रों के लिये विशेषोपयुक्त सर्पी मापनियाँ प्रचलित हैं। इनमें से कुछ वणिग्वर्ग, विद्युत्कारों, वैद्युत् इंजीनियरों, रेडियो इंजीनियरों, सर्वेक्षकों आदि के लिये भी हैं। सब से अधिक प्रचलित, विशेषोपयुक्त मापनी नौपरिवहन अभिगणना के लिये वृत्तीय प्रकारवाली है जिससे ताप के अनुसार निर्देशित पवनवेग में संशोधन किया जा सकता है। यह उड़ाकों के लिये अत्यंत उपयोगी होती है और सुलभ भी है।

सं० ग्रं०—एच० पी० बैबेज : बैबेजेज कैल्क्युलेटिंग एंजिन्स (१८८६), एफ० केजोरी : ए हिस्ट्री ऑव द लोगैरिथ्मिक स्लाइड रूल, ई० एम० हार्सबर्ग : हैंडबुक ऑव द एग्जिबिशन ऐट द नेपियर टरसेंटिनरी सेलिब्रेशन (१९१४), जे० ए० वी० टर्क : ओरिजिन ऑव माडर्न कैल्क्युलेटिंग मशीन्स (शिकैगो, १९२१), ई० एम० होर्सबर्ग : कैल्क्युलेटिंग मशीन्स, ग्लेजब्रुक्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड फिजिक्स (१९२३), डी० वैक्सैंडॉल : मैथेमैटिक्स १म, कैल्क्युलेटिंग मशीन्स ऐंड इंस्ट्रुमेंट्स (एच० एम० स्टेशनरी ऑफिस, १९२६), एल० जे० कॉमरी : ऑन दि ऐप्लिकेशन ऑव द ब्रुंसविगा-डुप्ले कैल्क्युलेटिंग मशीन टु डबल समेशन विद फाइनाइट डिफरेंसेज, मथली नोटिसेज ऑव द रायल ऐस्ट्रोनॉमिकल सोसा०, खंड ८८ (१९२८), पृ० ४४७-४५९। (ह० च० गु०)

गणपति (द्र० गणेश)।

गणपति मुनि (१८७८-१९३६ ई०)। तमिलनाडु के प्रख्यात विद्वान। इनका जन्म विशाखापत्तन जिले में कवलरायी ग्राम में अय्यल सोमयाज के घर हुआ था। बचपन से रोगग्रस्त रहने के कारण शिक्षा की कोई व्यवस्था न हो सकी। उसके बाद रोगमुक्त होने पर चौदह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने संस्कृत, गणित, ज्योतिष, पंच महाकाव्य और साहित्यशास्त्र का अध्ययन समाप्त कर डाला। और उसी समय से उन्होंने सहस्रावधि संस्कृत श्लोकों की रचना तथा संस्कृत में प्रवचन करना आरंभ कर दिया। १८ वर्ष की अवस्था में गोदावरी तट पर परेमा तीर्थ में जाकर तप करने लगे, पश्चात् काशी आए और यहाँ अपने बुद्धि वैभव का चमत्कार प्रदर्शित किया। फिर नवद्वीप (बंगाल) जाकर अंबिकादत्त को शास्त्रार्थ में पराजित कर काव्यकंठ की उपाधि प्राप्त की। अट्ठावन वर्ष की अवस्था में आंध्र में त्रिपुरा स्थित वैदिक संघ आश्रम में अपनी इहलीला समाप्त की। उमासहस्रम्, इंद्राणी सप्तशती, शिवशतकम् नामक स्तोत्र और विश्वमीमांसा, महाविद्यासूत्रम्, राजयोगसारसूत्रम्, शब्दप्रमाण चर्चा, विवाह धर्मसूत्र, ईशोपनिषद भाष्य उनके प्रख्यात धर्म और दर्शन ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने आयुर्वेद और ज्योतिष विषयक ७-८ ग्रंथ लिखे तथा महाभारतविमर्श नामक एक बृहत् ग्रंथ की रचना की। (प० ता० गु०)

गणपूरक आधुनिक शब्दावली में यह 'कोरम' का पर्याय है (द्र० कोरम)। भारत में यह प्रथा अति प्राचीन काल से प्रचलित थी। विनयपिटक में बौद्ध संघ की सभाओं की कार्यप्रक्रिया का जो वर्णन है उससे ज्ञात होता है कि संघ की सभाओं के नियमों में एक यह भी था कि सदस्यों की निश्चित न्यूनतम उपस्थिति संख्या निर्दिष्ट विषय पर विचार करने के लिये बैठकों में अवश्य शामिल हो। ऐसा न होने पर उन बैठकों

को वैध नहीं माना जाता था, फलतः उनके निर्णय भविष्य मे किसी भी पूर्ण सभा द्वारा अवैध और अमान्य घोषित किए जा सकते थे। अतः इस व्यवस्था की पूर्ति आवश्यक थी। यह प्रथा प्राचीन भारतीय गणतंत्रों की केंद्रीय सभाओं मे भी प्रचलित थी। संभवतः इसी कारण इसे 'गणपूर्ति' की संज्ञा भी दी गई। बौद्धसंघ की स्थानीय सभाओं की बैठकों मे बीस भिक्षुओं की उपस्थिति से गणपूर्ति की जाती थी। भगवान् बुद्ध ने कहा था, "हे भिक्षुओ! यदि कोई कार्य अवैध ढंग से गणपूर्ति के बिना ही कर लिया गया है तो उसे सही कार्य नहीं कह सकते और उसे नहीं किया जाना चाहिए था।" इस व्यवस्था की सफलता के लिये एक अधिकारी नियुक्त किया जाता था, उसे 'गणपूरक' कहते थे। बैठकों में गणपूर्ति सर्वदा बनी रहे, यही प्रयत्न करना उसका काम होता था, जिसमे वे कहीं भविष्य में अवैध न घोषित कर दी जायँ। काशीप्रसाद जायसवाल ने बुद्धकालीन गणपूरक को आधुनिक संसद् अथवा विधानसभा का 'ह्विप' (सचेतक) कहा है। बौद्ध संघ की भिन्न भिन्न बैठकों के निमित्त संभवतः अन्यान्य भिक्षु गणपूरक नियुक्त किए जाते थे। (वि० पा०)

गणराज्य प्राचीन काल में दो प्रकार के राज्य कहे गए हैं। एक राजाधीन और दूसरे गणाधीन। राजाधीन को एकाधीन भी कहते थे। जहाँ गण या अनेक व्यक्तियों का शासन होता था, वे ही गणाधीन राज्य कहलाते थे। इस विशेष अर्थ में पाणिनि की व्याख्या स्पष्ट और सुनिश्चित है। उन्होंने गण को संघ का पर्याय कहा है (संघोद्धौ गणप्रशंसयोः, अष्टाध्यायी ३,३,८६)। साहित्य से ज्ञात होता है कि पाणिनि और बुद्ध के समय मे अनेक गणराज्य थे। तिरहुत से लेकर कपिलवस्तु तक गणराज्यों का एक छोटा सा गुच्छा गंगा से तराई तक फैला हुआ था। बुद्ध शाक्यगण मे उत्पन्न हुए थे। लिच्छवियों का गणराज्य इनमे सबसे शक्तिशाली था, उसकी राजधानी वैशाली थी। किंतु भारतवर्ष मे गणराज्यो का सबसे अधिक विस्तार वाहीक (आधुनिक पंजाब) प्रदेश मे हुआ था। उत्तर-पश्चिम के इन गणराज्यो को पाणिनि ने आयुधजीवी संघ कहा है। वे ही अर्थशास्त्र के वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ ज्ञात होते हैं। ये लोग शांतिकाल में वार्ता या कृषि आदि पर निर्भर रहते थे किंतु युद्धकाल मे अपने संविधान के अनुसार योद्धा बनकर संग्राम करते थे। इनका राजनीतिक संघटन बहुत दृढ था और ये अपेक्षाकृत विकसित थे। इनमे क्षुद्रक और मालव दो गणराज्यों का विशेष उल्लेख आता है। उन्होंने यवन आक्रांता सिकंदर से घोर युद्ध किया था। वह मालवों के बाण से तो घायल भी हो गया था। इन दोनों की संयुक्त सेना के लिये पाणिनि ने गणपाठ मे क्षौद्रकमालवी संज्ञा का उल्लेख किया है। पंजाब के उत्तरपश्चिम और उत्तरपूर्व में भी अनेक छोटे मोटे गणराज्य थे, उनका एक सिलसिला त्रिगर्त (वर्तमान काँगडा) के पहाड़ी प्रदेश में फैला हुआ था जिन्हें पर्वतीय संघ कहते थे। दूसरा सिलसिला सिंधु नदी के दोनों तटों पर गिरिगह्वरों मे बसनेवाले महाबलशाली जातियों का था जिन्हें प्राचीनकाल में ग्रामणीय संघ कहते थे। वे ही आजकल के कबायली हैं। इनके संविधान का उतना अधिक विकास नहीं हुआ जितना अन्य गणराज्यों का। वे प्रायः उत्सेधजीवी या लूटमार कर जीविका चलानेवाले थे। इनमें भी जो कुछ विकसित थे उन्हें पूग और जो पिछड़े हुए थे उन्हें व्रात कहा जाता था। संघ या गणों का एक तीसरा गुच्छा सौराष्ट्र मे फैला हुआ था। उनमें अंधकवृष्णियो का संघ या गणराज्य बहुत प्रसिद्ध था। कृष्ण इसी संघ के सदस्य थे अतएव शांतिपर्व में उन्हें अर्धभोक्ता राजन्य कहा गया है। ज्ञात होता है कि सिंधु नदी के दोनों तटों पर गणराज्यों की यह शृंखला ऊपर से नीचे को उतरती सौराष्ट्र तक फैल गई थी क्योंकि सिंध नामक प्रदेश में भी इस प्रकार के कई गणों का वर्णन मिलता है। इनमें मुचकर्ण, ब्राह्मणक और शूद्रक मुख्य थे।

भारतीय गणशासन के संबंध मे भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। गण के निर्माण की इकाई कुल थी। प्रत्येक कुल का एक एक व्यक्ति गणसभा का सदस्य होता था। उसे कुलवृद्ध या पाणिनि के अनुसार 'गोत्र' कहते थे। उसी की संज्ञा वंश्य भी थी। प्रायः ये राजन्य या क्षत्रिय जाति के ही व्यक्ति होते थे। ऐसे कुलो की संख्या प्रत्येक गण मे परंपरा से नियत थी, जैसे लिच्छविगण के संगठन मे ७७०७ कुटुंब या कुल संमिलित थे। उनके प्रत्येक कुलवृद्ध की संघीय उपाधि राजा होती थी। सभापर्व मे गणाधीन और राजाधीन शासन का विवेचन करते हुए स्पष्ट कहा है कि साम्राज्य शासन मे सत्ता एक व्यक्ति के हाथ मे रहती है। (साम्राज्यशब्दो हि कृत्स्नभाक्) किंतु गण शासन मे प्रत्येक परिवार मे एक एक राजा होता है (गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः, सभापर्व, १४,२)। इसके अतिरिक्त दो बातें और कही गई हैं। एक यह कि गणशासन में प्रजा का कल्याण दूर दूर तक व्याप्त होता है। दूसरे यह कि युद्ध से गण की स्थिति सकुशल नहीं रहती। गणो के लिये शम या शांति की नीति ही थी। यह भी कहा है कि गण मे परानुभाव या दूसरे की व्यक्तित्व गरिमा की भी प्रशंसा होती है और गण में सबको साथ लेकर चलनेवाला ही प्रशंसनीय होता है। गण शासन के लिये ही पारमेष्ठ्य यह पारिभाषिक संज्ञा भी प्रयुक्त होती थी। संभवतः यह आवश्यक माना जाता था कि गण के भीतर दलो का संगठन हो। दल के सदस्यों को वर्ग्य, पक्ष्य, गृह्य भी कहते थे। दल का नेता परमवर्ग्य कहा जाता था।

गणसभा में गण के समस्त प्रतिनिधियों को संमिलित होने का अधिकार था किंतु सदस्यों की संख्या कई सहस्र तक होती थी अतएव विशेष अवसरों को छोड़कर प्रायः उपस्थिति परिमित ही रहती थी। शासन के लिये अंतरंग अधिकारी नियुक्त किए जाते थे। किंतु नियमनिर्माण का पूरा दायित्व गणसभा पर ही था। गणसभा मे नियमानुसार प्रस्ताव (ज्ञप्ति) रखा जाता था। उसकी तीन वाचना होती थीं और शलाकाओं द्वारा मतदान किया जाता था। इस सभा मे राजनीतिक प्रश्नों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के सामाजिक, व्यावहारिक और धार्मिक प्रश्न भी विचारार्थ आते रहते थे। उस समय की राज्य सभाओं की प्रायः ऐसी ही लचीली पद्धति थी।

भारतवर्ष में लगभग एक सहस्र वर्षों (६०० सदी ई० पू० से ४थी सदी ई०) तक गणराज्यों के उतार चढ़ाव का इतिहास मिलता है। उनकी अंतिम झलक गुप्त साम्राज्य के उदय काल तक दिखाई पड़ती है। समुद्रगुप्त द्वारा धरणिबंध के उद्देश्य से किए हुए सैनिक अभियान से गणराज्यों का विलय हो गया। अर्वाचीन पुरातत्व के उत्खनन मे गणराज्यों के कुछ लेख, सिक्के और मिट्टी की मुहरें प्राप्त हुई हैं। विशेषतः विजयशाली यौधेय गणराज्य के संबंध की कुछ प्रामाणिक सामग्री मिली है। (वा० श० अ०)

भारतीय इतिहास के वैदिक युग में जनों अथवा गणों की प्रतिनिधि संस्थाएँ थीं विदथ, सभा और समिति। आगे उन्हीं का स्वरूपवर्ग, श्रेणी, पूग और जानपद आदि में बदल गया। गणतंत्रात्मक और राजतंत्रात्मक परंपराओं का संघर्ष जारी रहा। गणराज्य नृपराज्य और नृपराज्य गणराज्य में बदलते रहे। ऐतरेय ब्राह्मण के उत्तरकुरु और उत्तरमद्र नामक वे राज्य—जो हिमालय के पार चले गए थे—पंजाब मे कुरु और मद्र नामक राजतंत्रवादियों के रूप में रहते थे। बाद मे ये ही मद्र और कुरु तथा उन्हीं की तरह शिवि, पांचाल, मल्ल और विदेह गणतंत्रात्मक हो गए।

महाभारत युग में अंधकवृष्णियों का संघ गणतंत्रात्मक था। साम्राज्यों की प्रतिद्वंद्विता में भाग लेने में समर्थ उसके प्रधान कृष्ण महाभारत की राजनीति को मोड़ देने लगे। पाणिनि (ईसा पूर्व पाँचवी-सातवीं सदी) के समय सारा वाहीक देश (पंजाब और सिंध) गणराज्यों से भरा था। महावीर और बुद्ध ने न केवल क्षात्रिकों और शाक्यों को अमर कर दिया वरन् भारतीय इतिहास की काया पलट दी। उनके समय मे उत्तर पूर्वी भारत गणराज्यों का प्रधान क्षेत्र था और लिच्छवि, विदेह, शाक्य, मल्ल, कोलिय, मोरिय, बुली और भग उनके मध्य प्रतिनिधि थे। लिच्छवि अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा से मगध के उदीयमान राज्य के शत्रु बने। पर वे अपनी रक्षा में पीछे न रहे और कभी तो मल्लों के साथ तथा कभी आसपास के अन्यान्य गणों के साथ उन्होंने संघ बनाया जो वज्जिसंघ के नाम से विख्यात हुआ। अजातशत्रु ने अपने मंत्री वर्षकार को भेजकर उन्हें जीतने

का उपाय बुद्ध से जानना चाहा। मंत्री को, बुद्ध ने आनद को सबोधित कर अप्रत्यक्ष उत्तर दिया—'आनद ! जब तक वज्जियो के अधिवेशन एक पर एक और सदस्यो की प्रचुर उपस्थिति मे होते हैं, जब तक वे अधिवेशनो मे एक मन से बैठते, एक मन से उठते और एक मन मे सघकार्य सपन्न करते है, जब तक वे पूर्वप्रतिष्ठित व्यवस्था के विरोध मे नियमनिर्माण नही करते, पूर्वनियमित नियमो के विरोध मे नवनियमो की अभिसृष्टि नही करते और जब तक वे अतीत काल मे प्रस्थापित वज्जियो की सस्थाओ और उनके सिद्धातो के अनुसार कार्य करते है, जब तक वे वज्जि अर्हतो और गुरुजनो का समान करते है उनकी मत्रणा को भक्तिपूर्वक सुनते है, जब तक उनकी नारियाँ और कन्याएँ शक्ति और अपचार से व्यवस्था विरुद्ध व्यसन का साधन नही बनाई जाती, जब तक वे वज्जिचैत्यो के प्रति श्रद्धा और भक्ति रखते है, जब तक वे अपने अर्हतो की रक्षा करते है, उस समय तक हे आनद, वज्जियो का उत्कर्ष निश्चित है, अपकर्ष सभव नही।' गणो अथवा सघो के ही आदर्श पर स्थापित अपने बौद्ध सघ के लिये भी बुद्ध ने इसी प्रकार के नियम बनाए। जब तक गणराज्यो ने उन नियमो का पालन किया, वे बने रहे पर धीरे धीरे उन्होने भी 'राजा' की उपाधि अपनानी शुरू कर दी और उनकी आपसी फूट, किसी की ज्येष्ठता, मध्यता तथा शिष्यत्व न स्वीकार करना, उनके दोष हो गए। सघ आपस मे ही लडने लगे और राजतत्रवादियो की बन आई। तथापि गणतत्रो की परपरा का अभी नाश नही हुआ। पजाब और सिंध से लेकर पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार तक के सारे प्रदेश मे उनकी स्थिति बनी रही। चौथी सदी ईसवी पूर्व मे मकदूनियाँ के साम्राज्यवादी आक्रमणकारी सिकदर को अपनी विजय मे एक एक इच जमीन के लिये केवल लडना ही नही पडा, कभी कभी छद्म और विश्वासघात का भी आश्रय लेना पडा। पजाबी गणो की वीरता, सैन्यकुशलता, राज्यभक्ति, देशप्रेम तथा आत्माहुति के उत्साह का वर्णन करने मे यूनानी इतिहासकार भी न चूके। अपने देश के गणराज्यो से उनकी तुलना और उनके शासनतत्रो के भेदोपभेद उन्होने समझ बूझकर किए। कठ, अस्सक, यौधेय, मालव, क्षुद्रक, अग्रश्रेणी क्षत्रिय, सौभूति, मुचुकर्ण और अबष्ठ आदि अनेक गणो के नरनारियो ने सिकदर के दाँत खट्टे कर दिए और मातृभूमि की रक्षा मे अपने लहू से पृथ्वी लाल कर दी। कठो और सौभूतियो का सौंदर्यप्रेम अतिवादी था और स्वस्थ तथा सुदर बच्चे ही जीने दिए जाते थे। बालक राज्य का होता, माता पिता का नही। सभी नागरिक सिपाही होते और अनेकानेक गणराज्य आयुधजीवी। पर सब व्यर्थ था, उनकी अकेलेपन की नीति के कारण। उनमे मतैक्य का अभाव और उनके छोटे छोटे प्रदेश उनके विनाश के कारण बने। सिकदर ने तो उन्हे जीता ही, उन्ही गणराज्यो मे से एक के (मोरियो के) प्रतिनिधि चद्रगुप्त तथा उसके मत्री चाणक्य ने उनके उन्मूलन की नीति अपनाई। परतु साम्राज्यवाद की धारा मे समाहित हो जाने की बारी केवल उन्ही गणराज्यो की थी जो छोटे और कमजोर थे। कुलसघ तो चद्रगुप्त और चाणक्य को भी दुर्जय जान पडे। यह गणराज्यो के सघात्मक स्वरूप की विजय थी। परतु ये सघ अपवाद मात्र थे। अजातशत्रु और वर्षकार ने जो नीति अपनाई थी वही चद्रगुप्त और चाणक्य का आदर्श बनी। साम्राज्यवादी शक्तियो का सर्वात्मसाती स्वरूप सामने आया और अधिकाश गणतत्र मौर्यो के विशाल एकात्मक शासन मे विलीन हो गए।

परतु गणराज्यो की आत्मा नही दबी। सिकदर की तलवार, मौर्यो की मार अथवा बाख्त्री यवनो और शक कुषाणो की आक्रमणकारी बाढ उनमे से कमजोरो को ही बहा सकी। अपनी स्वतत्रता का हर मूल्य चुकाने को तैयार मल्लोई (मालव), यौधेय, मद्र और शिवि पजाब से नीचे उतरकर राजपूताना मे प्रवेश कर गए और शताब्दियो तक आगे भी उनके गणराज्य बने रहे। उन्होने शाकल आदि अपने प्राचीन नगरो का मोह छोड माध्यमिका तथा उज्जयिनी जैसे नए नगर बसाए, अपने सिक्के चलाए और अपने गणो की विजयकामना की। मालव गणतत्र के प्रमुख विक्रमादित्य ने शको से मोर्चा लिया, उनपर विजय प्राप्त की, 'शकारि' उपाधि धारण की और स्मृतिस्वरूप ५७–५६ ई० पू० मे एक नया सवत् चलाया जो क्रमश कृतमालव और विक्रम सवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जो आज भी भारतीय गणनापद्धति मे मुख्य स्थान रखता है। तथापि स्वातत्र्य भावना की यह अतिम लौ मात्र थी। गुप्तो के साम्राज्यवाद ने उन सबको समाप्त कर डाला। भारतीय गणो के सिरमौरो मे से एक—लिच्छवियो—के ही दौहित्र समुद्रगुप्त ने उनका नामोनिशान मिटा दिया और मालव, आर्जुनायन, यौधेय, काक, खरपरिक, आभीर प्रार्जुन एव सनकानीक आदि को प्रणाम आगमन और आज्ञाकरण के लिये बाध्य किया। उन्होने स्वय अपने को 'महाराज' कहना शुरू कर दिया और विक्रमादित्य उपाधिधारी चद्रगुप्त ने उन सबको अपने विशाल साम्राज्य का शासित प्रदेश बना लिया। भारतीय गणराज्यो के भाग्यचक्र की यह विडबना ही थी कि उन्ही के सबधियो ने उनपर सबसे बडे प्रहार किए—वे थे वैदेहीपुत्र अजातशत्रु मोरिय राजकुमार चद्रगुप्त मौर्य, लिच्छविदौहित्र समुद्रगुप्त। पर पचायती भावनाएँ नही मरी और अहीर तथा गूजर जैसी अनेक जातियो मे वे कई शताब्दियो आगे तक पलती रही।

प्राचीन भारत की भाँति ग्रीस की भी गणपरपरा अत्यत प्राचीन थी। दोरियाई कबीलो ने ईजियन सागर के तट पर १२वी सदी ई० पू० मे ही अपनी स्थिति बना ली। धीरे धीरे सारे ग्रीस मे गणराज्यवादी नगर खडे हो गए। एथेंस, स्पार्ता, कोरिंथ आदि अनेक नगरराज्य दोरिया ग्रीक आवासो की कतार मे खडे हो गए। उन्होने अपनी परपराओ, सविधानो और आदर्शो का निर्माण किया, जनसत्तात्मक शासन के अनेक स्वरूप सामने आए। प्राप्तियो के उपलक्ष्यस्वरूप कीर्तिस्तभ खडे किए गए और ऐश्वर्यपूर्ण सभ्यताओ का निर्माण शुरू हो गया। परतु उनकी गणव्यवस्थाओ मे ही उनकी अवनति के बीज भी छिपे रहे। उनके ऐश्वर्य ने उनकी सभ्यता को भोगवादी बना दिया, स्पार्ता और एथेंस की लाग डाट और पारस्परिक सघर्ष प्रारभ हो गए और वे आदर्श राज्य—'रिपब्लिक'—स्वय साम्राज्यवादी होने लगे। उनमे तथाकथित स्वतत्रता ही बच रही, राजनीतिक अधिकार अत्यत सीमित लोगो के हाथो रहा, बहुल जनता को राजनीतिक अधिकार तो दूर, नागरिक अधिकार भी प्राप्त नही थे तथा सेवको और गुलामो की व्यवस्था उन स्वतत्र नगरराज्यो पर व्यग्य सिद्ध होने लगी। स्वार्थ और आपसी फूट बढने लगी। वे आपस मे तो लडे ही, ईरान और मकदूनियाँ के साम्राज्य भी उनपर टूट पडे। सिकदर के भारतीय गणराज्यो की कमर तोडने के पूर्व उसके पिता फिलिप ने ग्रीक गणराज्यो को समाप्त कर दिया था। साम्राज्यलिप्सा ने दोनो ही देशो के नगरराज्यो को डकार डाला।

परतु पश्चिम मे गणराज्यो की परपरा समाप्त नही हुई। इटली का रोम नगर उनका केंद्र और आगे चलकर अत्यत प्रसिद्ध होनेवाली रोमन जाति का मूलस्थान बना। हानिबाल ने उसपर धावे किए और लगा कि रोम का गणराज्य चूर चूर हो जायगा पर उस असाधारण विजेता को भी जामा की लडाई हारकर अपनी रक्षा के लिये हटना पडा। रोम की विजयिनी सेना ग्रीस मे लेकर इग्लैंड तक धावे मारने लगी। पर जैसा ग्रीस मे हुआ, वैसा ही रोम में भी। सैनिक युद्धो मे ग्रीस को जीतनेवाले रोमन लोग सभ्यता और संस्कृति की लडाई मे हार गए और रोम मे ग्रीस का भोगविलास पनपा। अभिजात कुलो के लाडले भ्रष्टाचार मे डूबे, जनवादी पाहरू बने और उसे क्रमश निगल गए—पांपेई, सीजर, अतोनी सभी। भारतीय मलमल, मोती और मसालो की बारीकी, चमक और सुगध मे वे डूबने लगे और प्लिनी जैसे इतिहासकार की चीख के बावजूद रोम का सोना भारत के पश्चिमी बदरगाहो से यहाँ आने लगा। रोम की गणराज्यवादी परपरा सुख, सौंदर्य और वैभव की खोज मे लुप्त हो गई और उसके श्मशान पर साम्राज्य ने महल खडा किया। आगस्तस् उसका पहला सम्राट बना और उसके वशजो ने अपनी साम्राज्यवादी सभ्यता मे सारे यूरोप को डबो देने का उपक्रम किया। पर उनकी भी रीढ उन हूणो ने तोड दी, जिनकी एक शाखा ने भारत के शक्तिशाली गुप्त साम्राज्य को झकझोरकर धराशायी कर देने मे अन्य पतनोन्मुख प्रवृत्तियो का साथ दिया।

तथापि नए उठते साम्राज्यो और सामती शासन के बावजूद यूरोप मे नगर गणतत्रो का आभास चार्टरो और गिल्डो (श्रेणियो) आदि के

जरिए फिर होने लगा। नगरों और सामंतों में, नगरों और सम्राटों में गजब की कशमकश हुई और सदियों बनी रही; पर अंतत: नगर विजयी हुए। उनके चार्टरों को सामंतों और सम्राटों को स्वीकार करना पड़ा।

मध्यकाल में इटली में गणराज्य उठ खड़े हुए, जिनमें प्रसिद्ध थे जेनोआ, फ्लोरेंस, पादुआ एवं वेनिस और उनके संरक्षक तथा नेता थे इनके ड्यूक। पर राष्ट्रीय नृपराज्यों के उदय के साथ वे भी समाप्त हो गए। नीदरलैंड्स के सात राज्यों ने स्पेनी साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर संयुक्त नीदरलैंड्स के गणराज्य की स्थापना की।

आगे भी गणतंत्रात्मक भावनाओं का उच्छेद नहीं हुआ। इंग्लैंड आनुवंशिक नृपराज्य था, तथापि मध्ययुग में वह कभी कभी अपने को 'कामनवील' अथवा 'कामनवेल्थ' नाम से पुकारता रहा। १८वीं सदी में वहाँ के नागरिकों ने अपने अधिकारों की रक्षा के लिये अपने राजा (चार्ल्स प्रथम) का वध कर डाला और 'कामनवेल्थ' अथवा रिपब्लिक (गणतंत्र) की स्थापना हुई। पुन: राजतंत्र आया पर गणतंत्रात्मक भावनाएँ जारी रहीं, राजा जनता का कृपापात्र, खिलौना बन गया और कभी भी उसकी असीमित शक्ति स्थापित न हो सकी। मानव अधिकारों (राइट्स आव मैन) की लड़ाई जारी रही और अमरीका के अंग्रेजी उपनिवेशों ने इंग्लैंड के विरुद्ध युद्ध ठानकर विजय प्राप्त की और अपनी स्वतंत्रता की घोषणा में उन अधिकारों को समाविष्ट किया। फ्रांस की प्रजा भी आगे बढ़ी; एकता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के नारे लगे, राजतंत्र ढह गया और क्रांति के फलस्वरूप प्रजातंत्र की स्थापना हुई। नेपोलियन उन भावनाओं की बाढ़ पर तैरा, फ्रांस स्वयं तो पुन: कुछ दिनों के लिये निरंकुश राजतंत्र की चपेट में आ गया, किंतु यूरोप के अन्यान्य देशों और उसके बाहर भी स्वातंत्र्य भावनाओं का समुद्र उमड़ पड़ा। १९वीं सदी के मध्य से क्रांतियों का युग पुन: प्रारंभ हुआ और कोई भी देश उनसे अछूता न बचा। राजतंत्रों को समाप्त कर गणतंत्रों की स्थापना की जाने लगी। परंतु १९वीं तथा २०वीं सदियों में यूरोप के वे ही देश, जो अपनी सीमाओं के भीतर जनवादी होने का दम भरते रहे, बाहरी दुनियाँ में—एशिया और अफ्रीका में—साम्राज्यवाद का नग्न तांडव करने से न चूके। १९१७ ई० में मार्क्सवाद से प्रभावित होकर रूस में राज्यक्रांति हुई और जारशाही मिटा दी गई। १९४८ ई० में उसी परंपरा में चीन में भी कम्युनिस्ट सरकार का शासन शुरू हुआ। ये दोनों ही देश अपने को गणतंत्र की संज्ञा देते हैं और वहाँ के शासन जनता के नाम पर ही किए जाते हैं। परंतु उनमें जनवाद की डोरी खींचनेवाले हाथ अधिनायकवादी ही हैं। सदियों की गुलामी को तोड़कर भारत भी आज गणराज्य की परंपरा को आगे बढ़ाने के लिये कटिबद्ध है और अपने लिये एक लोकतंत्रीय सांवैधानिक व्यवस्था का सृजन कर चुका है।

साम्राज्यों और सम्राटों के नामोनिशान मिट चुके हैं तथा निरंकुश और असीमित राज्यव्यवस्थाएँ समाप्त हो चुकी हैं, किंतु स्वतंत्रता की वह मूल भावना मानवहृदय से नहीं जा सकती जो गणराज्य परंपरा की कुंजी है। विश्व इतिहास के प्राचीन युग के गणों की तरह आज के गणराज्य अब न तो क्षेत्र में अत्यंत छोटे हैं और न आपस में फूट और द्वेषभावना से ग्रस्त। उनमें न तो प्राचीन ग्रीस का दासवाद है और न प्राचीन और मध्यकालीन भारत और यूरोप के गणराज्यों का सीमित मतदान। उनमें अब समस्त जनता का प्राधान्य हो गया है और उनके भाग्य की वही विधायिका है। सैनिक अधिनायकवादी भी विवश होकर जनवाद का दम भरते और कभी कभी उसके लिये कार्य भी करते हैं। गणराज्य की भावना अमर है और उसका जनवाद भी सर्वदा अमर रहेगा। (वि० पा०)

गणिका अमरकोश में वारांगना, गणिका और वेश्या समानार्थी कहे गए हैं। किंतु मेधातिथि ने वेश्या के दो रूप बताए हैं। एक तो ऐसी स्त्री जो संभोग की इच्छा से अनेक व्यक्तियों के प्रति अनुरक्त होती है। इसे उसने पुंश्चली नाम दिया है। दूसरी वह जो सजधजकर युवकों को वशीभूत तो करती है किंतु हृदय में संभोग की इच्छा नहीं रखती और धन प्राप्त होने पर ही संभोग के लिये तत्पर होती है। ऐसी स्त्री को उसने गणिका कहा है। वस्तुत: ऐसी स्त्री वेश्या कही जाती थी, गणिका नहीं। यह अभिसारिका के वेश्याभिसारिका और गणिकाभिसारिका नामक दो भेदों से स्पष्ट है। वेश्या केवल रूपाजीवा और और अधम नायक को भी तन विक्रय करनेवाली थी। उसकी गणना नायिका में नहीं की गई है। गणिका वेश्या और वारांगना की अपेक्षा श्रेष्ठ समझी जाती थी। वस्तुत: कलावती (कला-रूप-गुणान्विता) स्त्री को गणिका कहते थे। वह प्राचीन काल में राज दरबार में नृत्य-गायन करती थी और उसे इस कार्य के लिये हजार पण वेतन प्राप्त होता था। वह राजा के सिंहासनासीन रहने अथवा पालकी में बैठने के समय उसपर पंखा झलती थी। एक प्रकार से गणिका राजसेविका थी। उसे राज दरबार में सम्मान प्राप्त था, ऐसा नाट्यशास्त्र के प्रचुर उल्लेखों से प्रकट होता है। भरत ने उसके गुणों का इस प्रकार उल्लेख किया है—

प्रियवादी प्रियकथा स्फुटा दक्षा जितश्रमा।
एभिर्गुणैस्तु संयुक्ता गणिका परिकीर्तिता॥

ललितविस्तर में एक राजकुमारी को गणिका के समान शास्त्रज्ञ कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि गणिका काव्य-कला-शास्त्र की ज्ञाता होती थी। गणिकापुत्री को नागरपुत्रों के साथ बैठकर विद्याध्ययन करने का अधिकार प्राप्त था।

गणराज्यों में गणिका समस्त राष्ट्र किंवा गण की संपत्ति मानी जाती थी। बौद्ध साहित्य में उसका यही रूप प्राप्त होता है। संस्कृत नाटकों में उसे नगरश्री कहा गया है। मृच्छकटिक की नायिका वसंतसेना गणिका थी। उसमें उसके प्रति आदर व्यक्त किया गया है। वैशाली की अंबपालि वसंतसेना की तरह ही नगर के अभिमान की वस्तु थी। गणराज्य का ह्रास होने पर साम्राज्य के प्रभावविस्तार से गणिका और वारांगना (वेश्या) का भेद जाता रहा। गणिका को वारांगना से हेय माना जाने लगा। मनु ने उसका अन्न खाने का निषेध किया है। (प० ला० गु०)

गणित ज्ञान का एक क्षेत्रविशेष। इसके शुद्ध और नियोज्य दो भेद कहे गए हैं। शुद्ध गणित के अंतर्गत अंकगणित, बीजगणित, ज्यामिति और संख्या सिद्धांत आते हैं। नियोज्य के अंतर्गत यंत्रशास्त्र, भूमापन, भूपदार्थ विज्ञान, ज्योतिष आदि विषय हैं। इस ज्ञान क्षेत्र ने अति प्राचीन काल में भारत, मिस्र, बाबुल आदि देशों में विशेष उन्नति की थी। इस संबंध की विशेष जानकारी के लिये उपर्युक्त विषय द्रष्टव्य हैं। (प० ला० गु०)

गणितीय उपकर्णिकाएँ विज्ञान और उद्योग की समस्याओं को प्रकट करने और उन्हें हल करने के लिये गणित के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रयोग ने ऐसे तीव्र और मितव्ययी साधनों का विकास किया है जिनसे इन समस्याओं से प्रस्तुत गणितीय प्रश्नों के उत्तर सरलता से मिलते हैं। स्थूल रूप से ऐसे उत्तरों को देनेवाला कोई भी उपकरण गणितीय उपकर्णिका है, किंतु इनके उस वृहत् वर्ग का वर्णन, जिनमें संख्यात्मक प्रश्नों का हल गणनात्मक और अंकीय (Digital) विधि द्वारा मिलता है, गणनायंत्र नामक लेख में है। गणितीय उपकर्णिकाओं में गणितीय राशियों को मापनीय भौतिक राशियों, जैसे रेखनी पर अंकित दो बिंदुओं के बीच की दूरी, तारों में विद्युद्धारा, इत्यादि द्वारा निरूपित किया जाता है। और इस उपकर्णिका में भौतिकी के जो नियम लगते हैं वे उन गणितीय संबंधों के प्रतिरूप हैं जिन्हें हल करना अभीष्ट है।

अपनी साधारण गणितीय क्रिया के अनुसार गणितीय उपकर्णिकाओं को तीन प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। एक वर्ग वह है जो परिमित (बीजीय अथवा बीजातीत) समीकरणों को हल करता है। इसमें अधिकांश कैम (Cam), संयोजक (Linkage), गीयर (Gear) और चर वैद्युतीय तत्वों का प्रयोग किया जाता है। दूसरे वर्ग से समाकलों और अवकलजों की गणना ऐसी युक्तियों की सहायता से की जाती है जैसे विभिन्न आकार के तलों पर लुढ़कते हुए पहिए, अथवा विद्युत्क्षेत्र में धारा और आवेश (Charge), अथवा विशेष प्रकार के प्रकाशीय माध्य में पारेषित प्रकाश की मात्रा। तीसरे वर्ग में आंशिक अवकल समीकरणों

का हल करने के लिये प्रत्यास्थ झिल्लियों (membranes), सुचालक चादरों में विद्युद्धारा, अथवा ध्रुवित प्रकाश आदि का उपयोग होता है।

परिमित समीकरणों के हल के लिये उपकर्णिकाएँ

ज्वार पुर्वानुमानी—यह देखा गया है कि ज्वार की ऊँचाई समय के ऐसे कई ज्यावक्रीय या सरल आवर्त फलनों का योगफल है जिनका आवर्तकाल सूर्य और चंद्रमा के दृष्ट घूर्णनकाल के सन्निकट है। अतएव ज्वार की ऊँचाई एक त्रिकोणमितीय यंत्र द्वारा निरूपित की जा सकती है और संबंधित बंदरगाह के लिये विभिन्न ज्यावक्रीय अवयवों के आयामों (amplitudes) के एक बार ज्ञात हो जाने पर ज्वार की ऊँचाई तुरत प्राप्त की जा सकती है। संगणनाश्रम से बचने के लिये लार्ड केलविन ने सन् १८७२ में ज्वार पूर्वानुमापी बनाया, जो केंसिंगटन के संग्रहालय में सुरक्षित है। केल्विन के प्रथम प्रतिरूप में समाधेय (छोटी बड़ी की जाने योग्य) लंबाई के आठ क्रैंकों (Cranks) के सिरों के अक्षों पर भ्रमणशील आठ घिरनियाँ रहती हैं, जिनसे आठ त्रिकोणमितीय अवयवों का जनन होता है। चार घिरनियाँ एक आयताकार लकड़ी के चौखटे पर ऊपर की ओर और चार नीचे की ओर रहती हैं। एक सिरे पर बँधी डोर एकांतर क्रम से नीचे की घिरनियों के नीचे से और ऊपरवालियों के ऊपर से होकर जाती है। डोर के दूसरे सिरे पर एक भार और एक चिह्नक (Marker) बँधे रहते हैं। प्रत्येक घिरनी का केंद्र समाधेय आयाम की वृत्तीय गति से चल सकता है, यह गति एक क्षैतिज और एक ऊर्ध्वाधर सरल आवर्त गतियों की परिणामी है। क्षैतिज अवयव के कारण डोर ऊर्ध्वाधर स्थिति से हट जाती है, किंतु यदि उस वृत्त की त्रिज्या जिसमें घिरनी का केंद्र चलता है ऊपर और नीचे की घिरनियों के बीच की दूरी की अपेक्षा लघुतर है तो क्षैतिज अवयव का प्रभाव नगण्य हो जाता है और मुख्य प्रभाव आवर्त गति के ऊर्ध्वाधर अवयव का बच रहता है। इस प्रकार लटकनेवाले भार की गति वही होगी जो घिरनियों की गति के ऊर्ध्वाधर अवयवों के योगफल के तुल्य है।

इस प्रतिरूप के आधार पर प्रथम पूर्ण प्रायोगिक यंत्र में दस अवयवों का योगफल मिल जाता है और किसी बंदरगाह के एक वर्ष के ज्वार को निरूपित करनेवाला वक्र चार घंटे में खिंच जाता है। बादवाले अधिक क्षमतापूर्ण यंत्रों में स्कॉच क्रास हेड (Scotch cross head) के उपयोग से घिरनियों की क्षैतिज गति बिल्कुल नहीं होती और ऊपर तथा नीचे की घिरनियों के बीच का तार सदा ऊर्ध्वाधर रहता है।

प्रसंवादी संश्लेषक—प्रत्यावर्ती धाराजनित्र से उत्पादित वोल्टता (voltage) आदि भौतिकी फलन ऐसे अवयवों के योगफल के रूप में निरूपित किए जा सकते हैं जिनके सभी आवर्तकाल केवल एक मूलभूत आवर्तकाल के अपवर्तक हैं। पूर्वोक्त केलविन ज्वार पूर्वानुमानी के आधार पर कई एक संश्लेषक बनाए गए हैं, लेकिन उनमें यह विशेषता रखी गई है कि घिरनी वाहक क्रैंकों के घूर्णनवेग १ : २ : ३ आदि के अनुपात में हैं और फलतः संघटक गतियों के आवर्तकाल एक मूल आवर्तकाल के अपवर्तक हैं।

१८९८ ई० में अलबर्ट ए० माइकलसन और सैम्युअल डब्ल्यू० स्ट्रैटन ने एक प्रसंवादी संश्लेषक बनाया, जिसका सिद्धांत केलविन उपकर्णिका से इस बात में भिन्न है कि अवयवों का योग कुछ कमानियों से उत्पादित बलों के संकलन से होता है।

बहुपद साधक—संचरण परिपथ की अभिकल्पना और गतिविज्ञान संबंधी निकायों के स्थायित्व के निर्धारण आदि में बहुपद

$$\text{फ}\ (\text{ल}) = \text{क}_0 + \text{क}_1\,\text{ल} + \text{क}_\text{न}\ \text{ल}^\text{न}$$

के मूल ज्ञात करना आवश्यक होता है, अर्थात् ल के वे मान ज्ञात करने होते हैं जिनके लिये फ (ल) = ०। संमिश्र चर के फलनों के सिद्धांत के अनुसार यदि प्राचल समीकरणों

$$\text{य} = \text{प}\ \text{क}_1\ \text{ज्या}\ \text{व} + \text{प}^2\text{क}_2\ \text{ज्या}\ २\ \text{व} + \ldots + \text{प}^\text{न}\ \text{क}_\text{न}\ \text{ज्या}\ \ \text{नव}$$

$$\text{र} = \text{क}_0 + \text{प}\ \text{क}_1\ \text{कोज्या}\ \text{व} + \text{प}^2\ \text{क}_2\ \text{कोज्या}\ २\ \text{व} + \ldots + \text{प}^\text{न}\ \text{क}_\text{न}$$

। नव

से (जो दिए हुए बहुपद के गुणांकों से प्राप्त किए गए हैं) निरूपित वक्र मूलबिंदु य = ०, र = ० के परित: म बार घूमता है तो फ (ल) = ० के म मूल मापांक प से कम वाले हैं।

सन् १९३७ में थार्नटन सी० फ्राई और आर० एल० डीजोल्ड द्वारा बनाई गई समलेखी (Isograph) नामक उपकर्णिका से यह वक्र खींचा जाता है। यांत्रिक दृष्टि से यह उपकर्णिका केलविन प्रकार का दस अवयवी प्रसंवादी संश्लेषक है, जिसमें ज्या (sine) वाले अवयव जुड़कर एक पेंसिल को चलाते हैं और कोज्या (cosine) वाले अवयव अलग से जुड़कर उस मेज को चलाते हैं जिसपर पेंसिल वक्र का अनुरेखण करती है। ये दो गतियाँ लंब दिशाओं में होती हैं।

क्रिया के लिये पहले प का कोई मान छाँटा जाता है और वक्र का अनुरेखण कर उन मूलों की संख्या ज्ञात की जाती है जिनका मापांक प के इस मान से कम है। अब प के किसी अन्य मान के लिये ऐसे मूलों की संख्या ज्ञात की जाती है। यदि मूलों का इन दो संख्याओं में परिवर्तन हो जाता है तो प के दोनों मानों के बीच कम से कम एक मूल अवश्य है। क्रमिक परीक्षणों से मूल की स्थिति का क्षेत्र, उपकर्णिका की त्रुटिसीमा के भीतर जितना भी चाहे छोटा किया जाता है। एस० लेरॉय ब्राउन ने इससे मिलता जुलता ऐसा संश्लेषक बनाया है जिससे संमिश्र गुणांकोंवाले बहुपद के मूल भी ज्ञात किए जा सकते हैं। एक विद्युच्छचालित बहुपदसाधक एच० सी० हार्ट और इविन ट्रैविस ने सन् १९३७ में बनाया। एक अन्य प्रकार के बहुपदसाधक का निर्माण फेलिक्स ल्यूकस ने सन् १८८७ में किया था। इसकी क्रिया का आधार संमिश्र चर के फलनों के सिद्धांत और सुचालक द्रव्य की चादरों में विद्युद्धारा के प्रवाह सिद्धांत के कतिपय प्रमेय हैं। इस उपकर्णिका में एक बड़ी (सिद्धांततः अनंत) चादर के कुछ बिंदुओं पर बहुपद के गुणांकों से निर्धारित विद्युद्धाराएँ लगाई जाती हैं। जिन बिंदुओं पर धारा शून्य होती है वे बहुपद के अभीष्ट मूल हैं।

एकघात बीजीय समीकरण साधक—इंजीनियरी की अनेकों समस्याओं और सांख्यिकी न्यास के सहसंबंध निर्धारण आदि में निम्नलिखित रूप से एकघात समीकरण निकाय को हल करना होता है :

$$\text{क}_{00} + \text{क}_{01}\ \text{य}_1 + \text{क}_{02}\ \text{य}_2 \cdots + \text{क}_{0\text{म}}\ \text{य}_\text{म} = 0$$

$$\text{क}_{10} + \text{क}_{11}\ \text{य}_1 + \text{क}_{12}\ \text{य}_2 \cdots + \text{क}_{\ \text{म}}\ \text{य}_\text{म} = 0$$

$$\text{क}_{\text{म}0} + \text{क}_{\text{म}1}\ \text{य}_1 + \text{क}_{\text{म}2}\ \text{य}_2 \cdots + \text{क}_{\text{मम}}\ \text{य}_\text{म} = 0$$

जहाँ क... दी हुई संख्याएँ हैं और य ओं के वे मान ज्ञात करने हैं जो इन समीकरणों को संतुष्ट करते हैं।

इन समीकरणों को हल करने के लिये समुचित उपकर्णिका की अभिकल्पना में अत्यंत विद्वत्ता और परिश्रम से काम करना पड़ा है, और कुछ सिद्धांततः शुद्ध उपकर्णिकाएँ बनी भी हैं, किंतु इनका प्रयोग करने में समय अधिक लगता है और इतना यथार्थ हल नहीं मिलता। इस कारण ये अधिक प्रचलित नहीं हुईं। इनका आधार बटखरों अथवा कमानियों के बलों का संतुलन अथवा एक दूसरे से जुड़े हुए बरतनों में भरे द्रव का स्तर (level) है। जोहैन बी० विलबर द्वारा सन् १९३६ में बनाए गए एकघात समीकरण साधक का आधार यांत्रिक विस्थापनों का संकलन था। इसकी सहायता से दस अज्ञात राशियों के मान निर्धारित किए जा सकते हैं, जो महत्तम अज्ञात राशि के १% के भीतर की यथार्थता के हैं। सन् १९३३ में आर० आर० एम० मैलॉक ने एकघात समीकरण निकाय को हल करने के लिये एक विद्युद्यंत्र बनाया। इसे सुधारकर कैंब्रिज इंस्ट्रुमेंट कंपनी ने विलबर जैसी क्षमता की उपकर्णिका बनाई जिससे असंगत समीकरण निकाय का न्यूनतम वर्ग हल भी मिल जाता है। मैलॉक यंत्र विद्युत् परिणामित्र (ट्रांसफार्मर) और बंद विद्युत्परिपथों का बना होता है, जिनमें से प्रत्येक परिणामित्र एक अज्ञात राशि के लिये है और प्रत्येक परिपथ एक समीकरण के लिये।

समाकलन और अवकलन करनेवाली उपकर्णिकाएँ

क्षेत्रमापी—बावेरिया के इंजीनियर जे० एच० हरमैन ने सन् १८१४ में सबसे पहले अनियमित वक्र से सीमाबद्ध क्षेत्र का सीधे ही क्षेत्रफल

मापने का यंत्र बनाया। उसके बाद कई एक यंत्र बनाए गए। सन् १८६० में वेटली स्पर्क ने एक क्षेत्रमापी बनाया, जिसमें घूर्णनशील क्षैतिज वृत्तीय मंडलक (disc) पर आलेखक बेलन विराम किए रहता है। तीन समातर पटरियों पर लुढ़कनेवाके तीन घिर्रीदार पहियो के ऊपर सधे हुए एक चौखटे पर यह मडलक चढ़ा रहता है। मडलक के नीचे और चौखटे पर एक क्षैतिज छड़ दो जोड़ी निदेशक (guide) बेलनो के बीच इस प्रकार चढ़ी रहती है कि वह पटरियो से लंब दिशा मे चल सके। मंडलक की धुरी के परितः लिपटे हुए और छड़ के सिरों पर बँधे हुए पतले तार द्वारा मंडलक को छड़ के अनुदैर्घ्य विस्थापन के समानुपात मे कोणीय संचलन मिलता है। जब छड़ के एक सिरे पर बँधे अनुरेखक की नोक उस वक्र की परिसीमा पर चलती है जिसका क्षेत्रफल मापना है तो मंडलक के केंद्र और आलेखक पहिए के समतल के बीच की दूरी सदा वक्र की कोटि के समानुपात में रहती है। इसलिये आलेखक पहिए के परिक्रमणों की संख्या क्षेत्रफल का मापक है।

जेकब एम्सलर ने सन् १८५४ के लगभग एक ध्रुवीय क्षेत्रमापी बनाया, जो अपने सरल निर्माण और अल्प मूल्य के कारण बहुत प्रचलित हो गया। सन् १८७५ के लगभग इसी आधार पर जो उपकरणिका स्टेनले ने बनाई उसमें भारयुक्त बिंदु नियत है, और अनुरेखक संकेतक दिए हुए वक्र पर चलता है। अंशाकित बेलन पर आरंभ के और अत के पाठ्याको के अंतर से अनुरेखक बाहु की लंबाई के अनुसार क्षेत्रफल ज्ञात हो जाता है।

समाकलक—एम्सलर ने सन् १८५६ मे व्यापक रूप से क्षेत्रमापी का आविष्कार किया, जिसे समाकलक कहते हे। इस उपकरणिका से क्षेत्रफल के अतिरिक्त अक्ष र = ० के परितः घूर्ण $\frac{1}{2}$ र^2 ताय और जड़ता घूर्ण $\frac{1}{3}$ र^3 ताय भी नापे जा सकते है।

समाकल लेखी—गणितीय भषा में क्षेत्रमापी द्वारा निश्चित समाकल का मान ज्ञात किया जाता है। कुछ अनुप्रयोगो मे किसी वक्र से निरूपित फलन के अनिश्चित समाकल के लेखाचित्र की आवश्यकता रहती है। जिस यंत्र से यह लेखाचित्र खिंचता है उसे समाकललेखी कहते हैं। ऐसी उपकरणिका प्रोफेसर बॉयज ने सन् १८८१ मे बनाई। तबसे उसमे काफी सुधार हो गया है।

प्रसंवादी विश्लेपक—प्रायः किसी जटिल फलन अथवा वक्र को कई एक सरल प्रसंवादी अथवा ज्यावक्रीय संघटकों के योगफल द्वारा निरूपित करने मे सुविधा रहती है। ऐसे निरूपण का आरंभ उष्मा के संवरण और विसरण के अध्ययन मे फूरिये ने किया और तबसे इसका महत्व बढ़ता जा रहा है। आनुभविक न्यास के प्रसंवादी संघटकों का निर्धारण संवादन सरणियों (Communication lines), विद्युत्यंत्रों, यांत्रिकीय कंपनों और शोर, गानयंत्रो और सांख्यिकीय न्यास के पूर्वानुमान (prediction) सिद्धांत आदि के अध्ययन में महत्वपूर्ण है।

यद्यपि इन क्षेत्रों मे अधिकांश विश्लेपण संख्यात्मक प्रक्रियाओ द्वारा किया जाता है, तथापि कुछ अंश तक प्रसंवादी विश्लेपको का भी उपयोग किया जाता है। प्रसंवादी विश्लेपण सिद्धात मे यह सिद्ध किया गया हैकि समुचित प्रतिबंधों सहित आवर्त फलन फ (य) का निरूपण निम्नांकित श्रेणी द्वारा किया जा सकता है :

$$फ\ (य) = \sum\ (क_म\ ज्या\ मय + ख_म\ कोज्या\ मय),$$

जहाँ आयाम $क_म$ और $ख_म$ के मान ये हैं :

$$क_म = \frac{1}{\pi}\int_0^{2\pi} फ\ (य)\ ज्या\ मय\ ता\ य$$

$$और\ ख_म = \frac{1}{\pi}\int_0^{2\pi} फ\ (य)\ कोज्या\ मय\ ता\ य।$$

प्रसंवादी विश्लेपक का उद्देश्य इन गुणांकों $क_म$ और $ख_म$ का सरल और त्वरित विधि से निर्धारण करना होता है। ये विश्लेपक कम से कम तीन मूलतः भिन्न प्रकार के हैं। इनमें सबसे प्राचीन क्षेत्रमापी और समाकलक का विस्तरण-मात्र है। बाद के विश्लेपक ऐसे बने हैं जिनमें फलन को फोटो पटल पर निरूपित कर उसका विश्लेपण प्रकाशविद्युत् विधि से किया जाता है। एक अन्य प्रकार के विश्लेपकों में न्यास को विद्युद्धाराओ मे परिवर्तित कर इन धाराओ के विश्लेपण हेतु उपलब्ध विस्तृत साधनों का उपयोग किया जाता है।

अवकल विश्लेपक—इंजीनियरी और भौतिकी मे बहुप्रायः गणितीय समस्याएँ अवकल समीकरणों (साधारण अथवा आंशिक) द्वारा व्यक्त की जाती हैं। इनमे से कुछ का ही हल साधारण फलनो (ज्या, कोज्या, लघुघातीय, बेसल, आदि) के पदों में प्रकट किया जा सकता है। लेकिन इंजीनियरी मे इन औपचारिक हलों की उस दशा मे आवश्यकता तो क्या उपयोगिता भी नही होती जब इन समीकरणों का कोई संख्यात्मक अथवा लेखाचित्रीय हल उपलब्ध हो, जिनके लिये संयुक्त राज्य (अमरीका), ब्रिटेन और अन्य देशो मे अवकल विश्लेपक बन गए है। भौतिकी और इंजीनियरी के अतिरिक्त इन विश्लेपको का द्वितीय विश्वयुद्ध मे प्राक्षेपिक पथो की सगणना के लिये बहुल उपयोग हुआ।

अवकल विश्लेपको मे मूल प्राथमिक युक्ति वही मडलक और पहिया समाकलक वाली है जो आरभ के क्षेत्रमापियों में प्रयुक्त हुई थी। इसका कार्य समाकलन ल = ∫ र ताय को करना है; समाकलक में य मडलक का कोणीय विस्थापन है, र समाकलक पहिए की मडलक के केंद्र से दूरी है और ल समाकलक पहिए का परिणामी कोणीय विस्थापन है। दो राशियो य और र का योगफल, जिनमे से हरेक ईषा (Shaft) के कोणीय विस्थापन से निरूपित होता है, एक तीसरी ईषा के य + र के बराबर कोणीय विस्थापन से प्राप्त होता है। विश्लेपण मे समुचित योक्त्रण द्वारा अचर राशि क से गुणन हो जाता है। स्वेच्छ अथवा आनुभविक फलनों के लेखाचित्र पटलों पर खीचकर उन्हें विश्लेपक में प्रविष्ट कर दिया जाता है और विश्लेपक का हल बाहर आनेवाले पटलो पर लेखाचित्र के रूप मे प्राप्त होता है।

११. बीज समाकलक—जब अचर गुणाकवाले एकघात अवकल समीकरणो का सनिकट हल शीघ्र प्राप्त करना हो तो बीज द्वारा सन् १९४४ मे आविष्कृत युक्ति का प्रयोग किया जाता है। सुविदित वैश्लेषिक तथ्यो के अनुसार ऐसे समीकरण निकाय ऐसी किसी भी युक्ति की सहायता से हल किए जा सकते है जो निम्नलिखित सरल अवकल समीकरणो को

क तार/ताय–खर = फ (य)

क ता^{2}र/ताय^2–ख तार/ताय–ग र = फ (य)

जिनमे क, ख, ग वास्तविक संख्याएँ हैं, हल कर देगी।

सं० ग्रं०—ई० एम० होर्सबर्घ (स०) : 'हैंडबुक ऑव दि एग्ज़िबिशन ऐट द नेपियर टर्सेंटिनरी सेलिब्रेशन' (एडिनबरा, १९१४), लदन मे 'माडर्न इंस्ट्रूमेंट्स ऑव कैलक्युलेशन' के नाम से पुन. प्रकाशित। निम्नाकित लेख भी देखिए : सी० ट्वीडी द्वारा इटीग्रापस पर; जी० ए० कार्स और जे० उक्वार्टह द्वारा 'इंटीग्रोमीटर्स, प्लैनिमीटर्स और हारमोनिक ऐनेलेसिस' पर और ए० एम० रॉब द्वारा दि यूस ऑव मिकैनिकल इंटिग्रेटिग मशीस इन नेवल आर्किटेक्चर पर। ग्लेज़रब्रुक की 'डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड फ़िजिक्स', खंड ३, पृ० ४५०-४५७ (१९२३) में एच० लेवी का लेख 'मिकैनिकल मेथड्स ऑव इंटिग्रेशन'; डी० वैकमैडाल : मैथेमैटिक्स १. मे कैल्क्युलेटिंग मशीस ऐंड इंस्ट्रुमेंट्स (१९२६); वी० बुश : "द डिफरेंशल ऐनैलाइजर...", फ्रैंकलिन इंस्टिट्यूट, खंड ५-२१२ पृष्ठ ४४७-८ (१८३१); "मिकैनिकल एड्स टु मैथेमैटिक्स : आइसोग्राफ फॉर द सोल्यूशन ऑव कॉम्प्लेक्स पॉलिनोमियल्स"; इलेक्ट्रॉनिक्स, खं० ११, पृ० ५४ (१९३८); एस० एल० ब्राउन ऐंड एल० एल० व्हीलर, "ए मिकैनिकल मेथड फॉर ग्रैफिकल साल्यूशंस ऑव पालिनोमियल्स, फ्रैंकलिन इंस्टि० ज० खंड २३१, पृष्ठ २२३-२४३ (१९४१); संदर्भ के लिये देखिए : ज़े० एम० फ्रेम, "मशीस फॉर सॉल्विग ऐल्जेब्रेइक इक्वेशंस, "मैथेमैटिकल टेबुल्स ऐंड अदर एड्स टु कॉम्प्यूटेशन, खंड १, सं० ९ (१९४५)।

(ह० च० गु०)

गणितीय प्रतिरूप गणितीय संकल्पनाओं से मानव का सर्वप्रथम परिचय कदाचित् बालकोपयोगी ढेलों के डिब्बे के रूप में हुआ।

यदि ऐबाकस (गिनने की गोलियों का चौखटा) से शिशु मस्तिष्क में गणितीय मनोभावों को कुछ अंश तक उत्तेजना मिलती है तो घनाकार गिट्टका से, जिनसे शिशुपालन गृह (Nursery) वाले प्रहेलिका चित्र बनते है, और घन, समपार्श्व, बेलन आदि आकारों के ठोसों के संग्रह से, जिनसे उसी काल की निर्माणमंजूषा बनती है, अवश्य शिशु मस्तिष्क की सुप्त गणितीय मन शक्ति किसी अंश तक जागृत होती है। बालक को आरंभ मे यह बताया जाता है कि घन, समपार्श्व आदि मे ऐसे विशेष गुण है जिनके कारण उन्हें समुचित संख्याओं और क्रमविन्यास में रखने पर अत्यंत मनमोहक वास्तुकलात्मक वस्तुएँ बन सकती हैं। यही नहीं, इन प्रतिरूपों द्वारा क्रियावान पुरुष को उन गणितीय संकल्पनाओं का बोध कराया जा सकता है जो गणित की अपूर्व प्रतिभावाले व्यक्ति के लिये स्वत बोधगम्य हों। उदाहरणत, लंब समपार्श्व का तीन समान आयतन वाले सूचीस्तंभों में विभाजन प्रतिरूप द्वारा छात्रों की समझ में सरलता से आ जाता है।

बिना प्रतिरूपों का आश्रय लिए समतल ज्यामिति का ज्ञान एक प्रकार से मस्तिष्क को समतलीय कर देता है और उसमें ऐसी विचारधारा पैदा कर देता है कि आगे चलकर गणित में त्रिविमितीय ज्यामिति का समझना उसके लिये दुर्घट हो जाता है।

समतल रेखागणित—यूक्लिड के कुछ आरंभिक संस्करणों में ऐसे रेखाचित्र खीचे रहते थे जिन्हें काटकर और मोडकर रेखागणित के तथ्यों को समझने में सहायता मिलती थी और सन् १७५२ को कौली की 'न्यू ऐंड मेथॉडिकल एक्स्प्लेनेशंस ऑव दि एलिमेंट्स ऑव ज्योमेट्री' (रेखागणित के मूल तत्वों की नई और विधिमय व्याख्याएँ) नामक कृति में विभिन्न प्रतिरूपों को बनाने के लिये गत्ते के कटे टुकडों का भी सन्निवेश था। हर्बर्ट स्पेंसर जैसे प्रतिभावान् विचारक और दार्शनिक ने अपने पिता को लिखे एक पत्र में प्रतिरूप के लाभों की चर्चा की थी।

प्रेरणाभूत (इंट्यूटिव) रेखागणित—जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रतिरूपों द्वारा रेखागणित के तथ्य बोधगम्य हो जाते हैं। यही नहीं, प्राय उनकी सहायता से नए गणितीय तथ्यों को छात्र स्वयं ज्ञात कर सकता है। उदाहरणार्थ, एक ही परिमापवाले विभिन्न भुजाओं के त्रिभुज एक समान गत्ते से काटकर और उन्हें तौलकर छात्र यह तथ्य खोज सकता है कि दी हुई परिमापवाले त्रिभुजों में समबाहु त्रिभुज का क्षेत्रफल सबसे अधिक होता है, इसी प्रकार वह यह भी खोज सकता है कि दिए हुए पृष्ठीय क्षेत्रफल वाले चतुष्फलकों में समचतुष्फलक सबसे बड़े आयतन का होता है।

बहुफलक—कुछ मनोरंजक तिर्यक्छिन्न समबाहु फलकों के प्रतिरूप बनाने की विधि यह है किसी दफ्ती या कड़े कागज पर एक सम षड्भुज खीचें और इसकी प्रत्येक भुजा पर ऐसा ही षड्भुज खींचें। इन सात षड्भुजों से घिरे हुए क्षेत्र की परिसीमा में १८ भुजाएँ है। इनके अनुदिश तेज चाकू या ब्लेड से काट कर इस क्षेत्र को अलग कर लें। फिर इस क्षेत्र से बीचवाला षड्भुज भी काट कर अलग कर दें। अब हर जोड़ी षड्भुजों की उभयनिष्ठ कोरों में से पाँच को भीतर से आधी दूर तक काट दें और शेष अर्धभाग में शिकन बना दें। छठी उभयनिष्ठ कोर को पूरा काट दें। अब यदि इस कटी हुई कोरवाले षड्भुजों को एक दूसरे के ऊपर सपाती कर दिया जाय तो बीच में समपंचभुजाकार छिद्र मिलेगा। यदि ऐसे सिरे के दो षड्भुजों को दूसरे सिरे के दो षड्भुजों पर सपाती कर दिया जाय तो वर्गाकार छिद्र मिलेगा। यदि सिरे के तीन षड्भुजों को सपाती कर दिया जाय तो समबाहु त्रिभुजाकार छिद्र मिलेगा। तीन संलग्न षड्भुजों की मुक्त कोरों को सटाकर चिपका देने से भी समबाहु त्रिभुजाकार छिद्र मिलेगा। यदि त्रिभुजाकार छिद्रवाले वलय के एक सिरे पर कटा हुआ षड्भुज बैठा दिया जाय तो ऐसा तिर्यक्छिन्न समचतुष्फलक मिलेगा जिसके चारों शीर्षों पर से ४ छोटे समान समचतुष्फलक काट दिए गए हैं। वर्गाकार छिद्रवाले दो वलयों को इस प्रकार रखने पर कि वर्गाकार छिद्र के संमुखवाले भाग सपाती हो जायँ, वह तिर्यक्छिन्न अष्टफलक बनता है जो सम अष्टफलक के शीर्षों से समान वर्गाधारवाले सूचीस्तंभ काट लेने पर मिलता है। पंचभुजाकार छिद्रवाले १२ वलयों को इस प्रकार रखने पर कि षड्भुज सपाती होते जायँ, वह तिर्यक्छिन्न समविंशतिफलक बनता है जिसके शीर्षों से समपंचभुजाकारवाले सूचीस्तंभ काट लिए गए हैं।

तिर्यक्छिन्न अष्टफलकों को सटाकर अवकाश को उसी प्रकार भरा जा सकता है जैसे ईंटों से। इस दशा में षड्भुज एक ऐसे समस्पंज अर्थात् कुटिल (तिरछे, skew) बहुफलक के फलक हो जाते है जिसके प्रत्येक शीर्ष पर चार षड्भुज है। इसी प्रकार तिर्यक्छिन्न चतुष्फलकों से जो कुटिल बहुफलक बनता है उसके प्रत्येक शीर्ष पर छह षड्भुज रहते हैं। इन दो के अतिरिक्त एक और प्रकार का कुटिल बहुफलक है जिसके प्रत्येक शीर्ष पर छह वर्ग रहते है। यह बहुफलक ऐसे घनवलयों से बन सकता है जिनमें दो संमुख फलक न हों। इस बहुफलक की घरी हो सकती है। इन तीनों कुटिल बहुफलकों के पाँच प्लेटोनीय ठोसों की भाँति फलक समभुज और कोण समान होते हैं।

प्रतिरूपों के लिये सामग्री—गणितीय प्रतिरूपों का प्रयोजन साध्यों की उपपत्ति देना नहीं होता, केवल उन्हें समझने में सहायता देना और खोज की नई दिशाएँ सुझाना होता है। इसलिये उनका इतना यथार्थ होना आवश्यक नहीं जितना कि लेखाचित्रों और गणनाचित्रों (nomograms) का। तब भी प्रतिरूप यथासंभव सावधानी से और समुचित सामग्री से बनाए जाने चाहिए।

वर्णनात्मक रेखागणित—वर्णनात्मक रेखागणित, यथादर्शन (सदृश, perspective) आदि के अध्ययन के लिये कब्जों से जुड़े हुए समतलों की जोड़ी, और कभी कभी संदर्भ के लिये तीसरे समतल का दिया रहना, एक लाभदायक युक्ति है। ऐसे घरी होनेवाले (Collapsible) समतलों में छिद्र करने पर समस्याओं का यथास्थिति अध्ययन और लंबप्रक्षेप की समस्याओं का स्पष्टीकरण हो जाता है।

काष्ठप्रतिरूप—अनेक समस्याओं का स्पष्टीकरण काष्ठ के ठोस प्रतिरूपों की काट से हो जाता है। इसका एक ज्वलंत उदाहरण घन को छह समान चतुष्फलकों में इस प्रकार विभक्त करना है कि कोई नया शीर्ष न बने। इस प्रकार बने हुए चतुष्फलकों में तीन तीन सर्वांगसम हैं और एक त्रिक् दूसरे का परावर्तित रूप है। प्रत्येक फलक समकोण त्रिभुज है।

एक और उदाहरण द्विपद घन का है, जिसमें एक बड़ा घन किन्हीं दो स्वेच्छ भुजाओं क और ख वाले घनों और ऐसे आयतनों से जिनकी विमितियाँ क × क × ख तथा क × ख × ख है, बन जाता है। वस्तुत इस प्रकार सूत्र $(क + ख)^3 = क^3 + ख^3 + ३ क^2ख + ३ कख^2$ का प्रदर्शन हो जाता है।

शांकव गणित का अध्ययन, जो अधिकांश वैश्लेषिक विधि से किया जाता है, प्रतिरूप के प्रयोग द्वारा सरल और सुबोध हो जाता है। इस प्रतिरूप में केवल एक लंब वृत्ताधार शंकु के विभिन्न काट दिखाए जाते हैं। (१) यदि काटवाला समतल आधार के समांतर है तो काट वृत्त है, (२) यदि समतल आधार से थोड़ा झुका है, अर्थात् अक्ष से अर्धशीर्ष कोण की अपेक्षा बड़ा कोण बनता है, तो काट दीर्घवृत्त है, (३) यदि समतल किसी जनक रेखा के समांतर है तो काट परवलय है और (४) यदि समतल अक्ष से अर्धशीर्ष कोण की अपेक्षा छोटा कोण बनाता है तो काट अपरिवलय की एक शाखा है (द्विशंकु अर्थात् पूर्ण शंकु लेने पर दोनों शाखाएँ मिल जाती हैं)। यदि शंकु के भीतर दो गोले और इन गोलों को स्पर्श करता हुआ एक समतल बना दें तो इन गोलों के उभय स्पर्शों के बराबर एक तार द्वारा यह तथ्य सरलता से स्थापित किया जा सकता है कि समतल में गोलों के स्पर्शबिंदु उस दीर्घवृत्त की नाभियाँ हैं जो शंकु की काट से मिलता है।

वृत्तज वलय, बेलन और उनके अंतर्प्रवेश संबंधी समस्याएँ काष्ठ प्रतिरूपों की सहायता से सरलतापूर्वक उद्धृत की जा सकती है।

प्राविधिक निर्माण—सममित ठोस और परिक्रमज पृष्ठ खराद पर तैयार किए जा सकते हैं। जो पृष्ठ अक्ष के सापेक्ष सममित नहीं हैं उनका भी निर्माण समुचित खराद में, उत्केंद्र गति से चलनेवाले चक (Chuck)

लगाकर, किया जा सकता है। इस प्रकार प्रतिरूप उच्च कोटि की सूक्ष्मता के बनाए जा सकते हैं, क्योंकि मशीन का काम सूक्ष्म मापों के साथ किया जा सकता है।

बहुत से पृष्ठों के प्रतिरूप मुड़े हुए स्थायी तारों से उनके मुख्य काट प्रदर्शित कर बनाए जा सकते हैं, किंतु कितने ही चक्करदार नम्य प्रतिरूप, छड़ों और पत्तियों में सिरों पर कीलें और कब्जे जड़कर, बनाए जा सकते
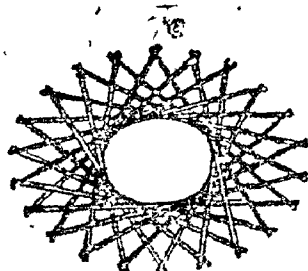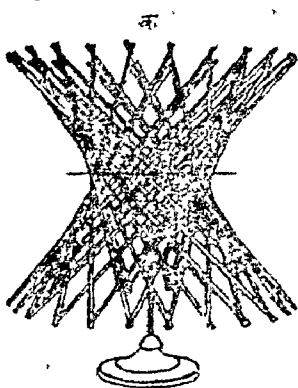
गणितीय प्रतिरूप

क. एकपृष्ठीय अतिपरवलयज का चल-छड़-प्रतिरूप; ख. इसी प्रतिरूप का ऊपर से दर्शन।

हैं। इस प्रकार ऐसी यंत्ररचना की जा सकती है, जिसमें सतत रूपांतर कर संनाभि पृष्ठ प्राप्त किए जा सकते हैं।

डोरक प्रतिरूप—ऋजु रेखाओं द्वारा जनन होनेवाले, अर्थात् रेखज पृष्ठों के प्रतिरूप, सरलतापूर्वक बनाए जा सकते हैं, क्योंकि जनकों को क्रमिक ताने हुए डोरकों से निरूपित किया जा सकता है। उदाहरणतः, दो समान वृत्तीय मंडलकों में पास पास समदूरस्थ छेद करें और उन्हें एक ही अक्ष पर इस प्रकार कसें कि एक स्थिर रहे और दूसरा अक्ष पर घुमाया जा सके। अब मंडलकों के संगत (जोड़ीदार) छिद्रों में से डोरक पिरोएँ। ऊपर के छिद्र में डोरक बँधा रहे और नीचेवाले सिरे पर भार बँधा रहे, जिससे डोरक सीधा रहे। जब मंडलकों में से डोरक स्वतंत्रतापूर्वक लटकते हैं तब डोरकों से बेलन का पृष्ठ बनता है। जब एक मंडलक को घुमाते हैं तब डोरकों से परिक्रम अतिपरवलयज का और सीमांत अवस्था में द्विशंकु का पृष्ठ बनता है।

दूसरा उदाहरण ऐसे प्रतिरूप का है जिससे समतल से आरंभ कर क्रमशः अतिपरवलयिक परवलयज के सभी रूप और अंत में द्विसमतल बनाए जा सकते हैं। इस प्रतिरूप को बनाने के लिये दो छड़ों में समदूरस्थ छेद करें। एक छड़ को स्थिर तथा दूसरी को एक ऐसे अक्ष से पुनः घूर्णनशील रखें, जो स्वयं भी स्थिर छड़ से विभिन्न कोणों पर झुक सके। छिद्र युग्म से डोरक पिरोएँ। ये पृष्ठों के जनक हैं। घूर्णनशील छड़ को घुमाने से विभिन्न पृष्ठ प्राप्त होते हैं। यह बात ध्यान देने की है कि अतिपरवलयिक परवलयज धातु की समतल चादर को केवल ऐंठने और मोड़ने से नहीं बनता। बेलन और शंकु जैसे पृष्ठों को, जो समतल से बनाए जा सकते हैं, उद्घाटनीय (developable) कहते हैं।

अवकाश वक्र—व्यावृत्त (twisted) वक्रों के प्रतिरूप या तो तारों को समुचित रूप से मोड़कर या डोरकों में उनके स्पर्शियों को निरूपित कर बनाए जा सकते हैं। स्पर्शियों से एक उद्घाटनीय पृष्ठ का जनन होता है। यह पृष्ठ आश्लेषी समतलों का अन्वालोप भी है।

कुंडलिनीय पृष्ठ—कुंडलिनीय पृष्ठों के प्रतिरूप तारों को मोड़कर बनाए जा सकते हैं। यदि जनक रेखाएँ और वक्र रेखाएँ विभिन्न रंगों की रहें तो स्पष्टता बढ़ जाती है। ये प्रतिरूप टीन पृष्ठों के छोटे छोटे टुकड़ों को कीलित करके भी बनाए जा सकते हैं। तारवाले प्रतिरूप अपेक्षया अधिक सस्ते और नम्य होते हैं।

१२. गत्ते के प्रतिरूप—गत्ते के ऐसे वृत्त काटकर, जिनके व्यास नियमित रूप से क्रमशः बदलते हों, और उन्हें समदूरस्थ ऊर्ध्वाधर समतलों में रखकर द्वितीय वर्ग के सभी पृष्ठों (दीर्घवृत्तज, अतिपरवलयज, परवलयज आदि) के प्रतिरूप बनाए जा सकते हैं।

सं० ग्रं०—प्रोसीडिंग्ज, लंडन मैथिमैटिकल सोसायटी (२), खंड ४३, पृ० ३३-६२ (१९३७); स्क्रिप्टा मैथिमैटिका, खंड ६, पृ० २४०-२४८ (१९३९); एच० एस० एम० कॉक्सटर, पी० ड्यूवाल, एच० टी० फ्लेटर और जे० एफ० पेट्री : द फिफ्टिनाइन आइकोसेहेड्रा (टोरोंटो, १९३८); माइकल गोल्डबर्ग : 'पॉलिहेड्रल लिंकेजेज' नेशनल मैथिमैटिक्स मैगज़ीन, खंड १६, पृ० १-१० (१९४२); एच० एम० कुंडी ऐंड ए० पी० रोलेट, मैथिमैटिकल मॉडेल्स (न्यूयार्क ऐंड लंदन, १९५२)।
(ह० च० गु०)

गणितीय विश्लेषण में शब्दार्थ के अनुसार गणित को सरलतम तत्वों में विघटित करने का तात्पर्य होता है। ये तत्व अंततोगत्वा संख्याएँ ही हैं। क्रॉनेकर ने भी कहा है : 'ईश्वर ने धन पूर्णांकों की रचना की है, तथा अन्य सभी संख्याएँ मनुष्य द्वारा बनाई हुई हैं'।

संख्या की कल्पना ने अनेक सामान्य सिद्धांतों से ही रूप ग्रहण किया है। हम धन पूर्णांकों से प्रारंभ करते हैं। जोड़ने तथा गुणन की कठिनाइयों को दूर करने के लिये ऋण संख्याओं तथा भिन्नांकों की कल्पना की गई तथा परिमेय संख्याओं (rational number) के निकायों का निर्माण हुआ। परिमेय संख्याओं का निकाय क्रमित है, अर्थात् यदि हम निकाय की दो भिन्न संख्याएँ क तथा ख हों तो उनमें से एक दूसरी से बड़ी होगी, तथा यदि क > ख और ख > ग तो क > ग जबकि क, ख और ग इस निकाय की संख्याएँ हैं। यदि दो भिन्न परिमेय संख्याएँ क तथा ख दी हुई हों तो हम सदा एक तीसरी परिमेय संख्या ग प्राप्त कर सकते हैं, जो उनमें से एक से बड़ी हो तथा दूसरे से छोटी हो। इससे यह सिद्ध होता है कि किन्हीं दो भिन्न परिमेय संख्याओं के बीच असंख्य परिमेय संख्याएँ होती हैं।

भिन्नांकों तथा ऋणांकों का समावेश दो दृष्टिकोणों से न्यायोचित सिद्ध किया जा सकता है। किसी इकाई के बराबर भागों में से कुछ को व्यक्त करने के लिये भिन्नांकों की आवश्यकता होती है तथा ऋण संख्याएँ विपरीत दिशाओं में स्थित मापों को नापने के लिये उपयुक्त साधन प्रदान करती हैं। इस तर्क को व्यावहारिक गणित के विद्वान् का तर्क माना जा सकता है। दूसरी ओर शुद्ध गणितज्ञ का भी तर्क है। इसके लिये धन, ऋण, भिन्न तथा पूर्ण संख्याओं की कल्पना एक ऐसे आधार पर स्थित है जो मापों से स्वतंत्र है। इनकी दृष्टि में गणितीय विश्लेषण एक ऐसी पद्धति है जो केवल संख्याओं से संबद्ध है तथा जिनका नापी जानेवाली वस्तुओं से कोई वास्तविक संबंध नहीं है।

गणितीय विश्लेषण को पूर्णांकों की कल्पना पर आधारित करना संभव है। तत्पश्चात् भिन्न प्रकार की संख्याओं की, उनके बीच समानता तथा असमानता की, तथा चारों आधारभूत संक्रियाओं की क्रमागत परिभाषाएँ अमूर्त रूप से प्रस्तुत की जा सकती हैं।

परिमेय से अपरिमेय तक की संख्याओं की कल्पना का विस्तार उतना ही स्वाभाविक है जितना धन पूर्णांकों से भिन्न संख्याओं तथा ऋण परिमेय संख्याओं तक का। यदि अ तथा ब दो धन पूर्णांक हों, तो जब तक अ सर्व पूर्ण घात की संख्या न हो, समीकरण $क^{ब}$ = अ का हल धन पूर्णांकों के रूप में नहीं निकल सकता। सभी स्थितियों में हल संभव होने के लिये अपरिमेय संख्याओं की कल्पना की गई। यदि हमें ऐसे वर्ग की कर्ण रेखा को नापना हो जिसकी हर भुजा इकाई हो तो व्यावहारिक दृष्टि से भी इस विस्तार की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है।

अपरिमेय संख्याओं का समावेशन करने के लिये डेडेकिंड (Dedekind) तथा कैंटर (Cantor) ने अपने अपने सिद्धांत प्रस्तुत किए। परिमेय तथा अपरिमेय संख्याएँ दोनों वास्तविक संख्याओं के नाम से अभिहित की जाती हैं। इसके बाद संख्या की कल्पना का विस्तार सम्मिश्र

संख्याओं तक किया गया य + ए र एक समिश्र संख्या है जहाँ य और र वास्तविक संख्याएँ हैं तथा ए = √ – १। संख्याओं की कल्पना से चरों (Variables) की कल्पना का उद्गम होता है, जो इन मूल्यों को ग्रहण करते हैं। चरों की कल्पना में हम वास्तविक चरों के फलन अथवा समिश्र चरों के फलन (Function) की कल्पना तक पहुँचते हैं। तब समिश्र चरों के फलित सिद्धांत और वास्तविक चरों के फलन सिद्धांत का विकास होता है। यह सब गणितीय विश्लेषण के अंतर्गत आता है।

सं० ग्रं०—कार्सलॉ : थ्योरी ऑव फूरयेज सिरीज ऐंड इंटीग्रल्स, चैप्टर १। (ना० गो० श०)

गणितीय संकेतन (Mathematical Notations) वे चिह्न अथवा संकेत हैं जो किसी गणितीय क्रिया अथवा संबंध को व्यक्त करने में किसी गणितीय राशि की प्रकृति अथवा गुण को दर्शाने में, अथवा गणित में प्राय प्रयुक्त होनेवाले वाक्यांश, विशिष्ट संख्या या गणितीय राशि को निर्दिष्ट करने के लिये प्रयुक्त किए जाते हैं। इस प्रकार अ – ब म भाग का चिह्न (–) निर्दिष्ट करता है कि अ में ब का भाग देना है, अ < ब में असमता का चिह्न (<) अ का ब से छोटा होने का संबंध दर्शाता है, फ (य) ↑ में, संकेत ↑ यह सूचित करता है कि फलन फ (य) एकरूप वर्धमान फलन (Monotonic increasing function) है। इसी प्रकार चिह्न ∑ वाक्यांश 'का एक सदस्य है' के लिये प्रयोग किया जाता है और। निह्न √–1 के लिये है तथा ∠ कोण के लिये है।

गणितीय संकेतन की सहायता से गणित के तर्क संक्षिप्त रूप से लिखे जा सकते हैं और इस प्रकार यह गणितीय चिंतन में सहायक है। पाठक सूक्ष्म और तर्कसंगत भाषा की सहायता से जटिल संबंधों को सरलता से समझ सकता है। मध्ययुगीन शताब्दियों में संकेतन के यथेष्ट विकास के अभाव में गणित की प्रगति अवरुद्ध हो गई थी। १६वीं शताब्दी के अंत में प्रारंभिक बीजगणित का शुद्ध सांकेतिक रूप में विकास होने के पश्चात् ही १७वीं शताब्दी में गणित की कुछ विशिष्ट शाखाओं की उन्नति हो सकी।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में विभिन्न संकेत तथा संश्लेषण मिलते हैं, किंतु समय के साथ उन सबमें परिवर्तन हुए और वे अनेक रूपांतर के पश्चात् वर्तमान रूप में आए। व्यावहारिक संकेतन की उन्नति बहुत धीरे-धीरे हुई और वे ही संकेत प्रयुक्त होते रह सके जो संक्षिप्त थे, गणितीय सिद्धांतों के प्रयोगानुकूल पाए गए और सरलता से मुद्रित किए जा सके। कभी कभी किसी संकेत का दीर्घकालीन प्रचलन भी उसके ग्रहण किए जाने का कारण हुआ है, यद्यपि उसके स्थान पर अधिक उपयोगी संकेत का प्रचार हो चुका था, जैसे करणी चिह्न √ का, जो अधिक लचीले भिन्नात्मक घातांक के होते हुए अब भी उपयोग किया जाता है

प्रारंभिक बीजगणित के धन (+) तथा ऋण (–) चिह्न सबसे पूर्व सन् १४८९ में मुद्रित हुए थे और गुणन (×) तथा भाग (÷) के चिह्न सबसे पहले क्रमश सन् १६३१ और १६५९ में प्रकाशित हुए थे। समता का चिह्न (=) रॉबर्ट रिकार्ड (Robert Ricarde) ने सन् १५५७ में प्रचलित किया था। गणित के कुछ संकेत इस प्रकार हैं

$$=, \equiv, \neq, \not>, \not<, \parallel, \perp, \Sigma, \pi, \frac{\text{अर}}{\text{अय}}, \int \text{रअय}, \infty \text{ इत्यादि।}$$

सं० ग्रं०—फ्लोरियन केजोरी : हिस्ट्री ऑव मैथिमैटिकल नोटेशंस, २ भाग (१९२८, '२९), डीग सैनफोर्ड : शॉर्ट हिस्ट्री ऑव मैथिमैटिक्स (१९३०), एरिक टेंपुल बेल : डेवलपमेंट ऑव मैथिमैटिक्स (१९४०)। (कृ० मु० स०)

गणितीय सारणियाँ गणित निदर्शनात्मक विज्ञान है। फलस्वरूप इसकी विस्तृत प्रयोज्यता के कारण बहुत समय पूर्व सारणीकृत माना के कुलकों, अर्थात् गणितीय सारणियों, की आवश्यकता अनुभव की गई, जिससे संगणना कम करनी पड़े। उसका मुख्य श्रेय आर्थर केली (Arthur Cayley, सन् १८२१-१८९५) को मिला, जिसने विज्ञान के लिये ब्रिटिश ऐसोसिएशन द्वारा सन् १८७३ में प्रकाशित, जेम्स डब्ल्यू० एल० ग्लेशर (Glaisher) द्वारा लिखित, गणितीय सारणियों पर विस्तृत विवरण के आधार पर इनका निर्माण किया। किंतु विज्ञान का उत्तरोत्तर विकास होने से उपर्युक्त सारणी की उपादेयता क्रमश कम होने लगी थी। अतएव सन् १९४० में अमरीका की राष्ट्रीय अनुसंधान समिति ने रमंड सी० आर्चिबाल्ड (Archibald) की अध्यक्षता में संगणना की नई प्रणाली तथा नए साधनों की उद्भावना की जिनसे सारणियाँ अधिक सूक्ष्म तथा उपयोगी हो सकें। समिति ने निम्नलिखित वर्गीकरण स्वीकार किया (क) अंकगणितीय सारणियाँ, गणितीय स्थिरांक, (ख) घात, (ग) लघुगणक, (घ) वृत्तीय फलन, (ङ) अतिपरवलयिक तथा घातीय फलन, (च) संख्यासिद्धांत, (छ) उच्चतर बीजगणित, (ज) समीकरणों के संख्यात्मक हल, (झ) परिमित अंतर, (ञ) श्रेणी संकलन, (ट) सांख्यिकी, (ठ) उच्चतर गणितीय फलन, (ड) समाकल, (ढ) ब्याज तथा निवेश, (ण) बीमा विज्ञान, (त) इंजिनीयरी, (थ) ज्योतिष, (द) भूगणित, (ध) भौतिकी, (न) रसायन, (प) नाविकविद्या और (फ) गणनायंत्र तथा यांत्रिक संगणना।

अधिकांश गणितीय सारणियाँ एक मानीय फलन फ (य) के स्वतंत्र चर य के एक कुलक के लिये बनाई जाती हैं, यथा लघु य, स्पर्शज्या य इत्यादि। सारणी में अंकित संख्याएँ प्रविष्टियाँ तथा सारणीकृत मान कोणांक कहलाते हैं। इस प्रकार की सारणी (array), अर्थात् य के कुलक के लिये फ (य) के मान, इकहरी प्रविष्टिसारणी कहलाती है। तदनुसार यदि फ (य), र गुणज फलन अर्थात यह प्रत्येक य के संगत र मान ग्रहण करे तो इसे हम र प्रविष्टिसारणी कहेंगे। प्राय हमें दो चरों की सारणी की आवश्यकता होती है, जिसे हम दोहरी प्रविष्टिसारणी कहते हैं। सारणी की लंबाई तथा आकार तीन अभिलक्षणों से निश्चित किए जाते हैं : सारणीकृत फलन की प्रकृति, अभीष्ट संनिकटन का क्रम तथा प्रयोग, जिनके लिये सारणी अभीष्ट है। उदाहरणार्थ, त्रिकोणमितीय ज्या य, कोज्या य आदि के लिये, जहाँ य अंश कला विकला में नापा जाता है, यह पर्याप्त है कि य को ०° तथा ९०° के उपयुक्त अंतराल में ले लिया जाय, क्योंकि संख्यात्मक मान एक वृत्तपाद से दूसरे वृत्तपाद तक पुनरावृत्त होते हैं। दूसरी ओर यदि य रेडियन माप में दिया गया है तो π की असमेयता के कारण य को ० से लेकर ∞ तक पूर्ण सारणी की अपेक्षा होगी। १०० रेडियन तक सारणियाँ बन सकती हैं। कोणांकों के परिकलन के अंतराल को सीमांतर तथा कोणांक प्रविष्टियों के बीच के अंतराल को सारणीय अंतराल कहते हैं। दशमलव के स्थानों की संख्या को, जहाँ तक फलने की संगणना की जाती है, सारणी का स्थानमान कहते हैं। इस प्रकार दशमलव के पाँच स्थानों तक संगणित लघुगणक सारणी (Logarithm table) को हम पंचस्थान सारणी एवं दशमलव के र स्थानों तक संगणित सारणी को र-स्थान सारणी कहते हैं। कभी कभी दशमलव स्थानों की अपेक्षा सार्थक अंकों की संख्या का निर्देश करना अधिक महत्वपूर्ण होता है। उदाहरणार्थ, √२ = १.४१४२ चार दशमलव स्थानों का उदाहरण है, यद्यपि इसमें पाँच सार्थक अंक हैं। जिन सारणियों में सार्थक अंकों पर बल दिया रहता है, वे प्राय उन अंकों की सारणी के नाम से निर्दिष्ट रहती हैं।

यह स्पष्ट है कि सारणी का आकार तीन घटकों : अर्थात् सीमांतर, सारणीय अंतराल तथा स्थानमान, पर निर्भर करता है। सामान्यत हमें दशमलव के पाँच स्थानों तक की सारणी की आवश्यकता पड़ती है। दस स्थानों तक की सारणी की बहुत कम तथा दस से अधिक स्थानों की तो अपवादात्मक दशाओं में ही अपेक्षा होती है।

यदि सारणीय अंतराल काफी कम चुना जाय, जिससे एकघाती अंतर्वेशन (Interpolation) सारणी के स्थान मान का संनिकटन प्राप्त करने के लिये पर्याप्त हो, तो उस सारणी को एकघाती सारणी कहते हैं। एकघाती सारणी के दो मुख्य लाभ हैं : एक तो यह सरलता से संगणित हो जाती है, दूसरे यह सारणीकृत फलन के प्रतिलोम फलन की सारणी के रूप में भी काम देती है। इस प्रकार लघुगणक, ज्या य तथा

वर्गों की एकघाती सारणियाँ क्रमश: प्रतिलघुगणक, चाप ज्या य तथा वर्गमूल की सारणियों का भी काम देती हैं। उस दशा में जब लंबे सीमांतर के मानों की आवश्यकता हो और तदनुसार एकघाती अंतर्वेशन अपर्याप्त हो तो हम द्वितीय या उच्चतर क्रम के अंतरों का अंतर्वेशन के लिये प्रयोग करते हैं। प्राचीनतर सारणियों में न्यूटन ग्रेगरी अंतर्वेशन अर्थात् $फ(य+पह) = फ(य) + प\triangle फ(य) + \frac{१}{२}प(प-१)\triangle^{२}फ(य) + \ldots$, $फ(य+पह) = फ(य) + पहफ'(य) + \frac{१}{२}प^{२}ह^{२}फ''(य)$ का प्रयोग किया गया था, जहाँ पर ह सारणीय अंतर, य कोणांक तथा प भिन्न है। सामान्यत: सारणियाँ भी दो बनाई जाती हैं, एक फलन के लिये तथा दूसरी फलन के प्रतिलोम के लिये, यथा लघुगणक सारणी तथा प्रतिलघुगणक सारणी इत्यादि, क्योंकि प्रतिलोम फलन के लिये मानों का अंतर्वेशन क्लिष्ट हो जाता है।

संकेतन—(१) यदि फ(य) को र दशमलव के स्थानों तक $अ_१$ से $ब_१$ सीमांतर तक $स_१$ के अंतरालों में सारणीबद्ध करना हो तो हम संकेत रूप में व्यक्त करते हैं कि फ(य) का मान $य = \{अ_१ (स_१) ब_१;$ र द० ल०$\}$ के लिये दिया गया है। (२) यदि फ(य) को $य = अ_१$ से $ब_१$ तक $स_१$ के अंतरालों में और $ब_१$ से $द_१$ तक $इ_१$ के अंतरालों में सारणीबद्ध करना हो तो $य = \{अ_१ (स_१) ब_१ (इ_१) द;$ र द० ल०$\}$ द्वारा फ(य) के मानों को व्यक्त करते हैं। यदि संनिकटन दशमलव स्थान की अपेक्षा सार्थक स्थानों तक अभीष्ट हो तो द० ल० के स्थान पर सा० रख दिया जाता है। उदाहरण के लिये यदि स्पज्या य के $०°$ से $९०°$ तक $१०''$ के अंतराल में दशमलव के ५ स्थानों के लिये मानों को परिकलित करना है तो हम लिखते हैं $य = \{०° (१०'') ९०°;$ ५ द० ल०$\}$। यदि यही $०°$ से $४५°$ तक $१०''$ के अंतरालों तथा $४५°$ से $९०°$ तक $१५''$ के अंतरालों पर ३ सार्थक स्थानों तक अभीष्ट हो तो हम लिखते हैं $= \{०° (१०'') ४५° (१५'') ९०°;$ ३ सा०$\}$।

सारणियों की संगणना के लिये ये तीन विशेष सूचक हैं : सीमांतर, संनिकटन और सारणीय अंतराल, जिसमें फलन को सारणीबद्ध करना है। प्रथम दो मुख्यतया सारणी के उद्देश्य पर निर्भर करते हैं और अंतिम सोचे हुए सीमांतर से क्रम पर। सारणीय अंतराल के निश्चित हो जाने पर फलन का लंबे सीमांतर तक मान निकालना क्लिष्ट क्रिया थी। आधुनिक समय में फलनों, घात श्रेणियों, अनंतस्पर्शी श्रेणियों तथा वितत भिन्नों के गुणों, पुनरुक्त प्रक्रिया, समकोणीय श्रेणियों, प्रतिलोम फलन श्रेणियों तथा अन्य प्रकार की श्रेणियों में विस्तार द्वारा यह कार्य सरल हो गया है। इसके अतिरिक्त परिमित अंतरकलन के सूत्रों को भी अंतर्वेशन, संख्यात्मक समाकलन, अवकलन आदि के उपयुक्त बना लिया जाता है। विस्तृत सीमांतरवाले फलनों, उदाहरणार्थ $\sqrt{य}$, $इ^{प}$ इत्यादि को सारणीबद्ध करने के लिये क्रमश: $\sqrt{य} + १ = य\sqrt{य}$ और $इ^{प} . इ^{र} = इ^{प+र}$ गुणों का प्रयोग करते हैं। अन्यथा $फ(य+ह) = फ(य) + हफ'(य) + \frac{१}{२}ह^{२} फ''(य) + \ldots$ श्रेणी का प्रयोग करते हैं। विलियम शैंक्स (सन् १८१२–१८८२) ने १८७३ ई० में मैशिन के सूत्र $\frac{\pi}{४} =$ चाप स्पज्या $\frac{१}{५}$ + चाप स्पज्या $\frac{१}{१३९}$ के प्रयोग से π के मान को दशमलव के ७०७ स्थानों तक (जिनमें से ५२७ के शुद्ध होने का निश्चय है) प्रकाशित किया। ऐसे चरम सीमागत मानों का संगणना के अतिरिक्त कोई निजी महत्व नहीं है।

संगणक के लिये इसके बाद का तथा अंतिम महत्वपूर्ण कार्य है सारणी की परिशुद्धि का निश्चय करना। निस्संदेह पूर्ण परिशुद्धि प्राप्त करना बहुत कठिन है, क्योंकि एक अति प्रसिद्ध प्रामाणिक सारणी के ८२वें संस्करण में एक अशुद्धि रह गई थी। इस प्रकार सारणी की परिशुद्धि की जाँच के लिये पूर्वप्रयुक्त विधि से भिन्न विधि द्वारा सारणी का पुनर्निर्माण उत्तम माना जाता है। कुछ सारणियों की सामान्य अशुद्धि संनिकटन के लिये दशमलव के अंतिम स्थान की अपरिशुद्धि होती है।

अंतिम कार्य यह देखना है कि सारणी अच्छी तरह तथा परिशुद्धत: छपी हो। प्रामाणिक सारणियों की परिशुद्धि को नष्ट करने के लिये छपाई की अशुद्धियाँ समान रूप से उत्तरदायी होती हैं, जिससे वे तथ्य मिथ्या सिद्ध होते हैं जिन्होंने छपाई को मूल मान निर्धारण जैसा महत्व दिया है। (ग० च० शु०)

गणेश पौराणिक हिंदू धर्म के शिव परिवार में बुद्धि के अधिदेवता हैं और मंगलकारी माने जाते हैं। विघ्नों को दूर करने के लिये गणेश की पूजा विवाहादि प्रत्येक मांगलिक कार्य के आरंभ में की जाती है। तुलसीदास जी ने इन्हें 'बुद्धिरासि सुभ-गुण-सदन' एवं मंगलों का कर्ता कहा है। इनकी संज्ञा विनायक भी है क्योंकि ये समस्त देवगणों में अग्रणी हैं। इन्हें रुद्र का पुत्र माना जाता है। किंतु इन्हें रुद्र या शिव से अभिन्न भी कहा गया है। कोशों के अनुसार इनके विघ्नेश्वर, परशुपाणि, गजानन, एकदंत, द्वैमातुर, लंबोदर, आखुग आदि अनेक नाम हैं। इन नामों से इनका स्वरूप प्रकट होता है। लोक में गणेश का जो स्वरूप प्रचलित है उसमें इनका मस्तक हाथी का है। हाथ में फरसा और पाश लिए रहते हैं। इनका पेट तुंदिल दिखाया जाता है और प्राय: ये नागयज्ञोपवीत पहने रहते हैं। अपने वक्र सूँड़ से मोदक या लड्डुओं का भोग लगाते हुए गणेश की अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। मोदकप्रिय होने के कारण इनकी एक संज्ञा ढुंढिराज भी है। सिद्धि और बुद्धि इनकी दो स्त्रियाँ हैं। कहीं पुष्टि को भी इनकी पत्नी कहा है। वामांग में सिद्धि और दक्षिण भाग में बुद्धि की कल्पना की गई है। इनकी चूहे की सवारी प्रसिद्ध है।

गणेश की पूजा का आरंभ कब से हुआ इस विषय में कई कल्पनाएँ हैं। लोकवार्ताशास्त्र के विज्ञ कहते हैं कि आदिम युग में किसी यक्ष राक्षस में लोगों का विश्वास था जो विघ्न बनकर उन्हें दुखी करता था, वही यक्ष गणेश रूप में पूजा जाने लगा। उसे अनुकूल करना कार्यों को विघ्न से बचाने के लिये आवश्यक था। इसीलिये गणेश का नाम विघ्नेश्वर या विघ्नविनायक हुआ। एक अन्य धारणा है कि किन्हीं आर्येतर गण अथवा समूह में हाथी की पूजा प्रचलित रही होगी। उसी से गणेशपूजा का विकास हुआ है। एक तीसरी धारणा यह भी है कि ये आर्येतर ग्रामदेव थे। उन्हें नरबलि दी जाती थी और उसके रक्त से उनका अभिषेक होता था। आज गणेश को जो सिंदूर दिया जाता है वह इसी रक्ताभिषेक का परिवर्तित रूप है जो आर्यदेव माने जाने पर गृहीत हुआ। वस्तुस्थिति जो भी हो, गणेश की गणना सर्वप्रथम शिव के गण के रूप में होने लगी। लोक में जितने यक्ष राक्षस थे, वे सब शिव के गण माने गए हैं, फिर उन्हें गणों के बीच प्रमुखता प्राप्त हुई और वे गणपति या गणेश कहे गए। नृतत्वशास्त्र की दृष्टि से, संभव है, यह भी कहा जा सके कि लोकमान्यता में जो गण या प्रमथ या यक्ष था उसका रूप हाथी के मस्तकवाला रहा हो।

किंतु भारतीय धर्मपद्धति और धर्मतत्व स्थूल के साथ सूक्ष्म को लेकर अर्थात् बाह्य रूप और अध्यात्म अर्थ इन दोनों के मिलने से बनता है। अतएव पुराणों में बाह्य रूपों को आंतरिक अर्थों का प्रतीक मानकर व्याख्या की गई है। इस दृष्टि से गणपति तत्व पर विचार करें तो कई तथ्य सामने आते हैं और गणेश के बाह्य रूप की व्याख्या भी हो जाती है। गणेश को शिव-पार्वती का पुत्र माना गया है। वे विश्व के आदि में हैं। क्योंकि, जैसा गोसाईं जी ने लिखा है—स्वयं शिव पार्वती ने अपने विवाह में गणेश का पूजन किया। वस्तुत: शिव और पार्वती अर्धनारीश्वर देवता हैं, दक्षिणांग नर और वामांग नारी। यही नर नारी रूप शिव पार्वती हैं। शिव पिता पार्वती माता हैं। शिव अग्नि और पार्वती सोम के रूप हैं। अर्धनारीश्वररूप में मानों अग्नि और सोम ये दोनों तत्व मिल जाते हैं जिनसे मैथुनी सृष्टि या यज्ञ का आरंभ होता है। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है। शिव के इस स्वरूप में जो दो शक्तियाँ हैं उनसे दो पुत्र जन्म लेते हैं। अग्नि के पुत्र स्कंद और सोम के प्रतिनिधि गणेश हैं। कई स्तोत्रों में गणेश को ब्रह्मणस्पति और ज्येष्ठराज कहा गया है। ज्येष्ठराज का वही अर्थ है जो महायज्ञ का।

गणेश की पूजा घर घर होती है। प्रत्यक शुभ कार्य मे पहले उनका पूजन और स्मरण किया जाता है। श्री गोपीनाथ राव ने कई प्रकार की मूर्तियों का उल्लेख किया है, जैसे बालगणपति, तरुणगणपति, भक्तिविघ्नेश्वर, शक्तिगणेश, उच्छिष्टगणपति, नृत्तगणपति, हेरंब-गणपति, प्रसन्नगणपति आदि। इसके रूपभेद आगमों और शिल्पग्रथो में पाए जाते हैं। (वा० श० अ०)

गणेश को शिव-पार्वती का पुत्र कहा जाता है पर पुराणों म इस सबध मे घोर मतभेद है। ब्रह्मवैवर्त और लिगपुराण के अनुसार गणेश का जन्म अयोनिज है। एक अनुश्रुति के अनुसार गणेश का जन्म शिव से है। उन्होंने अपने तप सामर्थ्य से एक तेजस्वी बालक का निर्माण किया और पार्वती ने उसका पालन पोषण किया। बाद मे उनमे उस बालक के प्रति द्वेष उत्पन्न हो गया और उन्होंने शाप देकर उसे कुरूप बना दिया। अनुश्रुति है कि एक दिन पार्वती स्नान करने जा रही थी। अपने शरीर स मल निकालकर उससे एक बालक का निर्माण किया और उसे द्वार पर बैठा दिया कि कोई भीतर जाने न पाए। इतने मे शिव आए। वे अदर जाने लगे। गणेश ने उन्हें रोका। शिव ने क्रुद्ध होकर उनका सर धड से उडा दिया। गणेश मस्तकविहीन हो गए। यह देख पार्वती बहुत दु खी हुई। उनके सात्वनार्थ शिव ने इद्र के हाथी का सिर काटकर गणेश के धड मे जोड दिया। तब से वे गजानन हो गए। ब्रह्मवैवर्त पुराण मे गजानन सबधी सर्वथा भिन्न कथा है। उसके अनुसार शनि की दृष्टि से गणेश का सिर गल गया। पार्वती शोकाकुल होकर ब्रह्मा के पास पहुँची। ब्रह्मा ने कहा, तुम्हें जो पहला प्राणी दिखाई पडे उसका सिर लाओ। उसे मैं गणेश के धड से लगाकर सजीव कर दूँगा। तदनुसार पार्वती मस्तक की खोज मे निकली और उन्हे गजमस्तक ही पहले मिला। उसे ही वे ले आई और उसे ब्रह्मा ने गणेश के धड मे जोड दिया। गणेश के योनिज जन्म की भी कथा प्राप्त होती है। ऐसी एक कथा के अनुसार एक दिन जब शिव-पार्वती हिमालय मे विहार कर रहे थे उन्होंने एक गज-दपति को रति क्रीडा मे रत देखा। उन दोनों की भी इच्छा गज के समान ही रति करने की हुई। इस प्रकार की रतिक्रिया के कारण उन्हें गज-मुख पुत्र उत्पन्न हुआ।

गणेश के गज-मुख की लौकिक मीमासा करने का प्रयास वेदमर्मज्ञ सातवलेकर ने किया है। इसके सबध मे उनकी दो तीन कल्पनाएँ हैं। उनकी धारणा है कि शिव अति प्राचीन काल मे भूतान (भूटान) के प्रबल प्रशासक थे। (इस कल्पना का आधार शिव का भूतपति कहा जाना है। वे भूटान (भूतान) की व्याख्या मे कहते हैं वह प्रदेश जहाँ भूत लोग बसते हों।) कैलाश उनकी राजधानी थी। ये भूत लोग हाथी के मुखौटे का प्रयोग करते थे, उसी से गणेश को गजमुख प्राप्त हुआ है। इसी कल्पना के समान उनकी एक और कल्पना है। शिव-पार्वती दोनो ही गजचर्म धारण करते है। रुद्र और उनके विनायक आदि जिस अरण्य में निवास करते थे वह हाथी के लिये प्रख्यात रहा होगा। इस कारण गणेश ने गजानन नाम प्राप्त किया होगा।

गणेश की वदना 'नमो व्रातपतये' को लेकर एक कल्पना और भी की गई है। जब क्रमश आर्य सस्कृति मे आर्येतर सस्कृति का प्रवेश होने लगा उस समय आर्यो ने जब व्रात्य नामक आर्येतर लोगो को अपने समाज मे ग्रहण किया तभी उनके देवता व्रातपति (गणेश) का प्रवेश आर्य संस्कृति मे हुआ। गृत्समद नामक एक वैदिक ऋषि सर्वश्रेष्ठ गणेशभक्त कहे जाते है। वे वर्णसकर थे। रुद्राध्याय मे गृत्स, व्रातगण शब्द प्राप्त होते हैं और वे अपने साथ गणेश के नैकट्य का बोध कराते हैं।

यद्यपि गणेश के आर्येतर समाज से आर्यो के समाज मे प्रवेश की बात अनेक विद्वानो ने नाना प्रकार से प्रतिपादित की है तथापि कुछ लोग उन्हें विशुद्ध आर्य देवता मानते हैं और उसके लिये प्रमाण उपस्थित करते है। ऐसे लोगों की धारणा है कि शिव और गणेश मूलत एक हैं। जो शिव हैं वही गणेश हैं जो गणेश हैं वही शिव है। इसके प्रमाणस्वरूप वे भालचद्र, तृतीय नेत्र और नागभूषण की ओर ध्यान आकृष्ट करते है। ये तीनों ...व तो है ही, गणेश मे भी उनका सबध है। भालचद्र तो गणेश का नाम है ही। गणेश सबधी स्तोत्र 'गजवदनम् चिन्त्यम्' म जो गणेश का ध्यान श्लोक है उसमें त्रिनेत्र का उल्लेख हुआ है और गणेश की कमर मे नागबध होता है। अनुश्रुति है कि शकर ने हलाहल पान करने के पश्चात उसके दाह को शात करने के निमित्त सर्पभूषण और मस्तक मे चद्र धारण किया। ठीक यही कथा गणेश के सबध मे गणेशपुराण में प्राप्त होती है। अनलासुर ने अग्नि के रूप मे जग को जलाना चाहा तब गणेश ने उसका भक्षण कर लिया। उसके दाह को शात करने के लिये देवताओं ने गणेश के सर्प चद्र आदि शीतोपचार किए।

सपूर्णानद ने शिव और गणेश की अभिन्नता की चर्चा करते हुए तैत्तिरीय आरण्यक मे रुद्रगायत्री तथा गणेशगायत्री सबधी एक मत्र के साम्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। यह मत्र है तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुडाय धीमहि। तन्नो दति प्रचोदयात। इस मत्र मे तत्पुरुष नाम रुद्र का है और वक्रतुड और दती ये नाम गणेश के ही कहे जाते हैं।

रुद्र और गणेश की अभिन्नता की धारणा की प्राचीनता के प्रसग मे तैत्तिरीय सहिता के एक मत्र की ओर ध्यान जाता है जिसमे कहा गया है कि हे रुद्र, मूषक तुम्हारा पशु है (१।८।६) जब कि हम सब को यही ज्ञात है कि वह गणेश का वाहन है। लगता है, जिस समय तत्पुरुष रुद्र से वक्रतुड और दती रूपी गणेश भिन्न माने जाने लगे उसी समय मूषक रुद्र के स्थान पर गणेश का वाहन बन गया।

पुराणो मे शिव और गणेश की अभिन्नता के अनेक सकेत मिलते है। अग्निपुराण मे गणेश को त्रिपुरातक कहा गया है और वायुपुराण मे शिव लबोदर और गजकर्ण है। सौर पुराण का कहना तो यह है कि गणेश ही वास्तविक शिव हैं।

गणेश के गजमुख के समान ही उनके एकदत के सबध मे भी अनेक प्रकार की अनुश्रुतियाँ हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार एक बार परशुराम क्षत्रियों का विनाश करने के उपरात शिव-पार्वती का दर्शन करने गए। उस समय गणेश द्वार पर पहरा दे रहे थे ताकि उनकी निद्रा मे कोई बाधक न हो। गणेश ने परशुराम को भीतर जाने से रोका और थोडी देर प्रतीक्षा करने का अनुरोध किया। परशुराम उतावली मे थे। वे गणेश की उपेक्षा कर भीतर जाने लगे। इसपर गणेश ने उन्हें पकडकर त्रिभुवन मे घुमा दिया। इसपर परशुराम ने अपने परशु से उनपर प्रहार किया। परशु के आघात से उनका एक दाँत उखड गया। तब से वे एकदत कहलाने लगे। दूसरी अनुश्रुति के अनुसार शिव ने क्रुद्ध होकर गणेश का एक दाँत उखाड लिया। यह भी अनुश्रुति है कि एक बार गणेश को चद्र देखकर हँस पडे तब गणेश जी ने क्षुब्ध होकर अपना दाँत उखाडकर उसे फेक मारा। इसी प्रकार की और भी कथाएँ हैं।

इन पौराणिक कथाओं से सर्वथा भिन्न कुछ नृतत्वविदो की धारणा है कि गणेश कृषिदेवता है। वे कृमि कीट आदि के उपद्रव से खेती की रक्षा करते हैं। शूर्पकर्ण और एकदत दोनो इसी ओर सकेत करते हैं। शूर्प (सूप) अन्न पछोरने का साधन है और एकदत हल का प्रतीक है।

मूषक वाहन—गणेश को मूषकवाह और मूषकध्वज कहते हैं। मूषक जैसे लघु प्राणी को लंबोदर महाकाय गणेश ने अपना वाहन क्यो बनाया इस सबध मे गणेशपुराण की कथा है कि क्रौच नामक एक गधर्व था। वह इद्रसभा मे बैठा गा रहा था। उसने गाते गाते ही थूका। उसका थूक वामदेव पर आ गिरा। तब वामदेव ने क्रुद्ध होकर उसे मूषक होने का शाप दिया। और वह मूषक बन कर पराशर के आश्रम मे आकर रहने और आश्रम की चीजें खाने लगा। वामदेव ने मूषक के उपद्रव से परेशान होकर गणेश से प्रार्थना की। गणेश ने उस मूषक को पकड लिया। मूषक ने अनुनय विनय कर गणेश को प्रसन्न कर लिया और उन्होने उसे अपना वाहन बनाकर अपने पास रख लिया।

गणेश की ख्याति त्वरा लेखक के लिये है। महाभारत मे कहा गया है कि महामुनि व्यास को अपने महाभारत को लिपिबद्ध करने की आवश्यकता हुई। उन्होने हिरण्यगर्भ के सुझाव पर गणेश से अपना लेखक बनने का अनुरोध किया। गणेश ने कहा कि लेखक होना मैं स्वीकार करता हूँ किंतु

शर्त यह है कि आप बिना रुके निरंतर बोलते जाएँगे। जहाँ आप रुके, मैं लिखना बंद कर दूँगा और आगे फिर नहीं लिखूँगा। शर्त टेढ़ी थी। कुछ सोचकर व्यास ने कहा कि शर्त मंजूर है पर मेरी भी शर्त यह है कि आप जो कुछ लिखेंगे वह सोच समझकर ही लिखेंगे। गणेश ने लिखना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार व्यास महाभारत की रचना करते और बोलते जाते थे और गणेश लिखते जाते थे। जब कभी व्यास को रुकने की आवश्यकता होती तभी वे एक दो कूट श्लोक कह देते और गणेश उन्हें समझने में लग जाते। इस प्रकार व्यास को आगे सोचने और रचना करने का अवसर मिल जाता।

शैव-वैष्णव सभी मतावलंबियों के बीच गणेश की विघ्नेश के रूप में पूजा होती है। इसी रूप में उनकी प्रतिष्ठा तत्त्वमार्गियों के बीच भी है। समस्त मंगलकार्यों में नवग्रह और मातृका के साथ गणेश की पूजा की जाती है। वाममार्गी अपनी विधि के अनुसार गणेश की पूजा करते हैं और उनके यहाँ गणेश के अनेक रूप माने जाते हैं। तांत्रिक बौद्ध धर्म में भी गणेश गृहीत हुए हैं। उत्तरवर्ती काल की जो बौद्ध देवियों की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं उनमें गणेश देवी द्वारा पददलित होते पाए जाते हैं। कदाचित् यह हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता की अभिव्यक्ति का एक रूप है, ऐसा कुछ विद्वानों का अनुमान है।

मूर्तिकला में गणेश—भारतीय मूर्तिकला में (और चित्रकला में भी) गणपति की मूर्ति दो, तीन, चार और पाँच सिरवाली अंकित पाई जाती है। इसी प्रकार उनके एक से तीन दाँत हैं। सामान्यतः उनके दो आँखें पाई जाती हैं किंतु तंत्रमार्ग संबंधी मूर्तियों में उनके एक तीसरा नेत्र भी पाया जाता है। आरंभिक मूर्तियाँ दोभुजी हैं, उनके एक हाथ में परशु और दूसरे में मूली होती है। पीछे उनकी चार, आठ और सोलह भुजाओंवाली मूर्तियाँ बनने लगीं। पूजा में गणेश की एक दसभुजी मूर्ति है। वहाँ अन्यत्र उनकी त्रिसुंड मूर्ति भी है। त्रिमुख मूर्ति जापान और चतुर्मुख मूर्ति कंबोडिया में देखने में आती है। सामान्यतः उनका वाहन मूषक है पर वे कभी कदा सिंह अथवा मयूर पर बैठे भी पाए जाते हैं। उनकी मूर्तियाँ सामान्यतः समभंग खड़ी अथवा पद्मासन स्थित पाई जाती हैं। किंतु कुछ में वे नृत्य मुद्रा में भी अंकित किए गए हैं। भारत के बाहर भी कई देशों में गणेश की बहुविध मूर्तियाँ पाई जाती हैं, कहीं कहीं तो वह पाजामा तथा जूता पहने भी देख पड़ते हैं। (प० गा० गु०)

गणेश चतुर्थी भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी से आरंभ होनेवाला एक धार्मिक समारोह। गणेश देवता और खेती के समय से इसका घनिष्ठ संबंध है क्योंकि समय पर पानी न बरसने से फसल की अनिश्चितता का संकट दूर करने के लिये 'विघ्नहर्ता' के रूप में इनकी पूजा की जाती है। गणेश चौथ का चंद्रमा देखना अशुभ माना जाता है। यदि भूल से उसको देख लिया तो लोगों के घरों पर ईंट पत्थर फेंककर, उनसे गालीगलौज खाकर शुद्धि की जाती है। १८वीं सदी में महाराष्ट्र में पेशवाओं के राजमहल में प्रति वर्ष भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी से दशमी तक बड़े धूमधाम से गणेशोत्सव मनाया जाता था। रंगमहल में गणपति की स्थापना करके वहाँ पर सब कार्यक्रम होते थे। सुंदर सुंदर चित्र, रंगबिरंगे दीपकों का प्रकाश, मूल्यवान् कालीन आदि से रंगमहल भरा रहता था। गाना, नाच, कथा, कीर्तन आदि हुआ करते थे। इस समारोह में ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था। विसर्जन के दिन पुष्पों से सजाई हुई पालकी में गणेश का जुलूस निकालते थे। इस अवसर पर पेशवा स्वयं विराजमान रहते थे। इस प्रकार महाराष्ट्र में शासन की ओर से हजारों रुपए इस समारोह के लिये खर्च किए जाते थे। पेशवाओं का शासन समाप्त होते ही (१८१८) इसका राजकीय स्वरूप जाता रहा और घरेलू धार्मिक समारोह बनकर रह गया। १८९५ ई० में बाल गंगाधर तिलक ने इस घरेलू एवं व्यक्तिगत धार्मिक समारोह को पुनः सामाजिक रूप दिया। महाराष्ट्र के प्रत्येक नगर के मुहल्ले में मंडलियाँ स्थापित होती हैं जो गणेशपूजा का समारोह बड़ी धूमधाम से करती हैं। इन मंडलियों में दस दिनों तक भाषण, कथा कीर्तन, प्रवचन और मनोविनोद आदि बड़े ही उत्साह से होते हैं। लोक-जागरण की दृष्टि से ही तिलक ने इसे सामाजिक रूप दिया और इसी रूप में महाराष्ट्र में आज भी यह समारोह होता है। अनंत चतुर्दशी के दिन रात भर कथा कीर्तन होता है। भोर में श्री गणेश का जुलूस निकालकर, भजन करते हुए किसी तालाब या नदी में गणेश का विसर्जन करते हैं। महाराष्ट्र में इस समारोह का वही महत्व है जो बंगाल में दुर्गापूजा का। (भी० गो० दे०)

गणेशप्रसाद (१८७६–१९३५ ई०) भारतीय गणितज्ञ। इनका जन्म १५ नवंबर, १८७६ ई० को बलिया (उत्तर प्रदेश) में हुआ। इनकी आरंभिक शिक्षा बलिया और उच्च शिक्षा म्योर सेंट्रल कालेज, इलाहाबाद में हुई। १८९८ ई० में इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से डी० एस-सी० की उपाधि प्राप्त की। तदुपरांत कायस्थ पाठशाला, इलाहाबाद, में दो वर्ष प्राध्यापक रहकर राजकीय छात्रवृत्ति की सहायता से ये गणिताध्ययन के लिये कैंब्रिज (इंग्लैंड) और गटिंगेन (जर्मनी) गए।

१९०४ ई० में भारत लौटने पर ये उत्तर प्रदेश में दस वर्ष तक गणित के प्रोफेसर रहे। तदुपरांत १९१४ से १९१८ ई० तक कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रयुक्त गणित के घोष-प्रोफेसर, १९१८ ई० से १९२३ ई० तक बनारस विश्वविद्यालय में गणित के प्रोफेसर और १९२३ ई० के पश्चात् आजीवन कलकत्ता विश्वविद्यालय में शुद्ध गणित के हार्डिंज प्रोफेसर रहे। १९१८ ई० में इन्होंने 'बनारस मैथिमैटिकल सोसायटी' की स्थापना की। इन्होंने विभवों, वास्तविक चल राशियों के फलनों, फूरिए-श्रेणी और तलों आदि के सिद्धांतों पर ५२ शोधपत्र और ११ पुस्तकें लिखीं। इनमें से इनका शोधपत्र 'ऑन द कान्स्टिट्यूशन ऑव मैटर ऐंड ऐनालिटिकल थ्योरीज़ ऑव हीट (On the Constitution of Matter and Analytical Theories of Heat) अत्यंत विख्यात है। ९ मार्च, १९३५ ई० को, जब ये आगरा में विश्वविद्यालय की एक बैठक में भाग ले रहे थे, मस्तिष्क संबंधी रक्तस्राव के कारण इनकी मृत्यु हुई।

सं० ग्रं०—डॉ० गोरखप्रसाद : प्रो० गणेशप्रसाद ('नेचर' का २७ अप्रैल, १९३५ का अंक)। (रा० कु०)

गति नरक, तिर्यंच, मानुष और देव लोक में बँटे संसार के व्यवस्थापक आठ कर्म हैं। अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के पुंजीभूत इस आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान, आदि को जिस प्रकार ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी कर्म विरूप करते हैं, उसी प्रकार छठा (नाम) कर्म विविध शरीरों का निर्माण कराता है और आत्मा के अनेक (मनुष्य, देव आदि) नाम रखता है। नामकर्म के प्रथम भेद का नाम गति है। यतः गति नामकर्म जीवों को अनेक रंगभूमियों पर चलाता है अतएव इसे गति कहते हैं (पंचसंग्रहगाथा, ५९)। गति नामकर्म के मुख्य भेद नरक, तिर्यंच (पशुपक्षी), मनुष्य और देव ये चार हैं। १—जो शरीर (द्रव्य), निवास (क्षेत्र), काल और आत्मस्वरूप (भाव) से न स्वयं प्रसन्न रहें और न दूसरों को प्रसन्न रहने दें उन्हें नारकी कहते हैं। इनके लोक (पाताल) को नरक कहते हैं। २—जिनके मन-वचन-काय ऋजु (सीधे) न हों, जो आहारादि संज्ञाओं के अधीन हों, अज्ञानी हों अतएव पापलीन हों उन्हें तिर्यंच कहते हैं। ३—जो मन से भला बुरा सोचें, कुशल विवेकी हों, सबसे अधिक मन का उपयोग करते हों तथा मनुष्य की परंपरा में हों उन्हें मनुष्य कहते हैं। ४—जो अणिमा, लघिमा, आदि आठ ऋद्धियों के कारण आनंद से विहार करते हों, भले भावों में मग्न रहते हों तथा जिनके शरीर सदैव सतेज, कांतिमय और वीर्यवान् रहते हों उन्हें देव कहते हैं।

सं० ग्रं०—जविकांड, गाथा, १४५-१६२। (खु० चं० गो०)

गति के नियम १—दूसरी शताब्दी का अंत होने से पूर्व यूनानी ज्योतिषियों ने आकाशीय पिंडों की नियमित गति पर प्रेक्षण आरंभ कर दिए थे। भारत में सूर्यसिद्धांत आदि ग्रंथों में (जिनके रचनाकाल के बारे में ३,००० ई० पू० से ६०० ई० तक के बीच की कई तिथियाँ हैं) इन प्रेक्षणों पर आधारित ग्रहों की स्थितियों का वर्णन है। (ज्योतिष, गणित पर लेख देखें)। ग्रीकों ने एक समान वृत्तीय गति के आधार पर इन पिंडों की गति की व्याख्या करने की चेष्टा की। कोपरनिकस (सन् १४७३-१५४३) ने सौर परिवार का केंद्र सूर्य को मानकर गति की

व्याख्या को सरल कर दिया, किंतु सर्वप्रथम महत्वपूर्ण ज्योतिष खोज केप्लर (सन् १५७१-१६३०) के ग्रहीय गति संबंधी नए नियम थे, जो सन् १६०९ और १६१९ में प्रकाशित किए गए। सन् १५९० के लगभग गिरते हुए पिंडों की गति पर गैलिलीयो ने वे विख्यात प्रयोग किए जिनके आधार पर केप्लर के नियमों की स्थापना की गई। वायु के घर्षण को ध्यान में रखकर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि निर्वात में सभी पिंड एक ही प्रकार से, अर्थात् एक ही त्वरण से, गिरेंगे। उसने यह भी खोज की कि स्थिर चिक्कण समतल पर सभी पिंड समान त्वरण से खिसकते हैं और यह त्वरण समतल के आनति-कोण के साथ साथ घटता जाता है। इससे उसने यह निष्कर्ष निकाला कि बिना किसी अवरोध के गतिशील पिंड क्षैतिज समतल पर अचल वेग से ऋजु रेखा में चलेगा। प्रक्षेप्यों के वेग को उसने क्षैतिज अचर वेग और अचर त्वरणयुक्त ऊर्ध्वाधर वेग के संघटन का परिणाम मानकर उनके पथ का परवलयाकार होना सिद्ध कर दिया। इन परिणामों और गैलिलीयो द्वारा उनकी विशद व्याख्या के कारण, गति के बारे में यह नया विचार जड़ पकड़ता गया कि गतिशील पिंड का त्वरण उसकी गति का वह अंश है जिसका निर्धारण उसकी परिवेश (Surrounding) परिस्थितियाँ करती हैं और यदि वह अन्य द्रव्य के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो जाय तो वह एक ऋजु रेखा में एक समान वेग से चलेगा। यह गतिसिद्धांत वस्तुत: ऐसे पिंड के लिये सत्य है जो बिंदुवत् है, किंतु प्रत्येक द्रव्य संस्थान ऐसे कणों से संगठित है जो गणना के लिये सूक्ष्मातिसूक्ष्म माने जा सकते हैं।

गैलिलीयो और न्यूटन के गवेषणाकालों के बीच सबसे अधिक महत्वपूर्ण खोज इस विषय में हाइगन (सन् १६२९-९५) ने की। उसने वक्र में गतिमान बिंदु के त्वरण की खोज की और अपकेंद्रीय बल की प्रकृति पर प्रकाश डाला। जब घड़ियों से यह ज्ञात हुआ कि विभिन्न अक्षांशों में पिंड विभिन्न त्वरण से गिरते हैं तब इसका कारण उसने पृथ्वी का भ्रमण बताया। उसने भाँति भाँति के दोलकों की गतियों की भी तुलना की। इस काल में कठोर पिंडों के संघटन पर प्रयोग किए जाने के फलस्वरूप यह स्थापित हो गया कि पिंडों के द्रव्यमानों की तुलना उनके अवस्थितत्व के आधार पर वही है जो उन्हें तोलने पर होती है। पिंडों द्वारा गतिपरिवर्तन के प्रतिरोध को सामान्यतया अवस्थितत्व कहा जाता है।

२. गैलिलीयो-न्यूटन-सिद्धांत—न्यूटन (सन् १६४२-१७२७) ने अपने काल में प्रचलित गति संबंधी विचारों का समन्वय करते हुए गति के व्यापक सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत का सौर परिवार के सभी पिंडों के लिये अनुप्रयोग करने पर ज्योतिष तथ्यों का उच्च कोटि की यथार्थता तक समाधान हो गया और पार्थिव गति विज्ञान का आधार सुदृढ़ हो गया। इसकी व्याख्या न्यूटन ने (सन् १६८७) अपनी 'प्रिंसिपिया' नामक पुस्तक में की है। पृथ्वी पर गिरते हुए पिंडों के त्वरण के अनुरूप उसने आकाशीय पिंडों के बीच गुरुत्वाकर्षण की कल्पना कर उनमें भी त्वरण का समावेश कर दिया। इस गति सिद्धांत के अनुसार अवस्थितत्व द्वारा *प्रदर्शित द्रव्यमान पिंड का मूलभूत गुण है।* यह द्रव्यमान सदा अपरिवर्तित रहता है। आकाशीय पिंडों के द्रव्यमान की भी गणना इस प्रकार की गई कि इस सिद्धांत से उनकी गति ठीक ठीक मिल जाय। न्यूटन समय की अपनी माप को निरपेक्ष माप मानता था। सामान्यतया घड़ियों का उद्देश्य इसी माप को देना होता है (समयमापन पर लेख देखें)।

गतिमापन के लिये न्यूटन को एक ऐसे आधार की आवश्यकता थी जिसके सापेक्ष गति की गणना की जा सके। आकाशीय पिंडों के लिये यह आधार सौर परिवार का द्रव्यमानकेंद्र और वे दिशाएँ मान ली जाती हैं जो 'स्थिर' तारों के सापेक्ष नहीं बदलतीं। पार्थिव गति के लिये आधार कुछ भी मान सकते हैं, किंतु गति की व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि न्यूटन के नियम ठीक बैठते हैं। इस आधार को सामान्यतया गैलिलीय ...र कहते हैं और इसके सापेक्ष गति को न्यूटन परम (निरपेक्ष) गति ...। गैलिलीय आधार के सापेक्ष एक समान वेग से, बिना घूर्णन के ..., कोई भी आधार गैलीलिय आधार ही है।

३. गुरुत्वाकर्षण नियम—जिस प्रकार दो स्पर्शी पिंडों के बीच दाब और चुंबकीय *आकर्षण, अथवा अपकर्षण,* पारस्परिक क्रियाएँ होती हैं, उसी प्रकार न्यूटन ने भी गुरुत्वाकर्षण को पारस्परिक बल मानकर यह नियम स्थिर किया कि किन्हीं दो कणों के बीच एक आकर्षण बल रहता है, जो उनके द्रव्यमानों के गुणनफल का अनुलोमानुपाती और उनके बीच की दूरी के वर्ग का *प्रतिलोमानुपाती है।* इस नियम के अनुसार गैलिलीय आधार के सापेक्ष सभी त्वरणों की व्याख्या कणयुग्मों के बीच समान और विपरीत बलों के द्वारा की जा सकती है। इस नियम की परीक्षा प्रयोगशाला में इस कारण नहीं की जा सकती कि सामान्य पिंडों के लिये यह बल अत्यंत ही क्षीण है, किंतु इसका ज्योतिष सत्यापन सरल है। इस नियम से न्यूटन ने पृथ्वी का द्रव्यमान ज्ञात किया, जो बाद के अन्य निर्धारणों से मेल खाता है। इसी से उसने सौर परिवार के ग्रहों की गतियाँ, चंद्रमा की पृथ्वी के परित: गति, धूमकेतुओं के पथ, और पृथ्वी के अक्ष की गति के कारण विषुवों का अयन-सिद्धांत, ज्वारभाटा सिद्धांत आदि भी प्राप्त किए। सूर्य के कारण पृथ्वी के परित: चंद्रपथ क्षोभों (Perturbances) की ठीक गणना हो जाने पर न्यूटन सिद्धांत अकाट्य रूप से प्रमाणित हो गया।

४. सापेक्षवाद—१९वीं शताब्दी तक न्यूटन-सिद्धांत के सौर परिवार संबंधी सत्यापन होते रहे। यद्यपि वे यथार्थत: शुद्ध नहीं थे, तथापि इस सिद्धांत में सन् १९१५ तक कोई दोष नहीं निकाला जा सका। तब बुध ग्रह की गति में एक छोटी सी त्रुटि की व्याख्या, जो न्यूटन के सिद्धांत पर नहीं हो सकती थी, एलबर्ट आइंसटाइन ने अपने सापेक्षवाद सिद्धांत के आधार पर की। इससे ७० वर्ष पहले जब वारुणी (यूरेनस) के पथक्षोभ *का ज्ञान हुआ तो उसकी व्याख्या के प्रयत्न में* वरुण (नेपचून) की खोज हुई थी। बुध के बारे में भी ऐसे ही एक ग्रह की खोज का कठिन परिश्रम किया गया, किंतु सफलता नहीं मिली। अंत में सापेक्षवाद सिद्धांत से यह स्थापित हो गया कि सूर्य के इतने समीप पथ के लिये केप्लर के नियम पूर्णत: यथार्थ नहीं है। सन् १९१७ और १९२२ के सूर्यग्रहण संबंधी प्रेक्षणों से सापेक्षवाद द्वारा प्राप्त सूर्य के समीप तारों के विस्थापन सत्य निकले। यही नहीं, वरन् यह सिद्धांत दार्शनिक दृष्टिकोण से भी पूर्णत: संतोषजनक है। ऐसी बात गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत के बारे में नहीं थी।

सं०ग्रं०—गैलिलीयो गैलिली : द सिस्टम आव द वर्ल्ड, अंग्रेजी अनुवादक टी० सैल्सबरी (१६६१), मिकैनिक्स ऐंड लोकल मोशन, अंग्रेजी अनुवादक टी० सैल्सबरी (१६६१); सर आइजक न्यूटन प्रिंसिपिया, अंग्रेजी अनुवादक ए० मोट (१८४८), डब्ल्यू० राउज़बॉल ऐन एसे ऑन न्यूटन्स 'प्रिंसिपिया' (१८९३), ए० बेरी ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव ऐस्ट्रॉनोमी (१८९८), ई० मेक : द साइंस ऑव मिकैनिक्स, अंग्रेजी अनुवादक टी० जे० मैक्कॉर्मेक (चौथा सं०, १९०३); गति विज्ञान पर पाठ्य पुस्तकें भी देखें। (हृ० च० गु०)

गति विज्ञान प्रयुक्त गणित की वह शाखा पिंडों की गति से तथा इन गतियों को नियमित करनेवाले बलों से संबद्ध है। गतिविज्ञान को दो भागों में अंतर्विभक्त किया जा सकता है। पहला शुद्धगतिकी (Kinematics), जिसमें माप तथा यथातथ्य चित्रण की दृष्टि से गति का अध्ययन किया जाता है, तथा दूसरा बलगतिकी (Kinetics), अथवा वास्तविक गति विज्ञान, जो कारणों अथवा गतिनियमों से संबद्ध है।

व्यापक दृष्टि से दोनों दृष्टिकोण संभव है। पहला गति विज्ञान को ऐसे विज्ञान के रूप में प्रस्तुत करता है जिसका निर्माण परीक्षण की प्रक्रियाओं (प्रयोगों) के आधार पर तथ्योपस्थापन (आगम, अनुमान) द्वारा हुआ है। तदनुसार गति विज्ञान में गतिनियम यूक्लिड के स्वयंसिद्धों का स्थान ग्रहण करते हैं। दावा यह है कि प्रयोगों द्वारा इन नियमों की परीक्षा की जा सकती है, परंतु यह भी निश्चित है कि व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण कोई सैद्धांतिक नियम यथातथ्य रूप में प्रकाशित नहीं हो पाता है। इन नियमों को प्रमाणित कर सकने में व्यावहारिक कठिनाइयों के अतिरिक्त कुछ तर्कविषयक बाधाएँ भी हैं, जो इस स्थिति को दूषित अथवा त्रुटिपूर्ण बना देती हैं। इन कठिनाइयों का परिहार

किया जा सकता है, यदि हम दूसरा दृष्टिकोण अपनाएँ। उक्त दृष्टिकोण के अनुसार गतिविज्ञान शुद्ध अमूर्त विज्ञान है, जिसके समस्त नियम कुछ आधारभूत कल्पनाओं से निकाले जा सकते हैं।

गतिविज्ञान में ध्येय यह होता है कि समुचित निर्देशांक कुलक के मानों और उनके परिवर्तन की दर द्वारा किसी परस्पर क्रियाशील पिंडसमुदाय की गति और उसकी संस्थिति (कनफ़िगरेशन, Configuration) का विवरण दिया जा सके। प्रेक्षित अनुभूति (फ़ेनॉमेना, Phenomena) के वर्णनार्थ उपयुक्त समीकरणों की रचना में गणितज्ञों ने बल, द्रव्यमान, जड़ता तथा स्वप्रेरण (सेल्फ़ इंडक्शन, Self-induction) का प्रयोग मुक्त गतिशील निकायों के संबंध में किया है। दो भिन्न निकायों के बीच के बलों के वर्णन के लिये घर्षणात्मक और विक्षेपी संज्ञाएँ प्रयुक्त होती हैं, जो आकर्षण और प्रतिकर्षण से भिन्न हैं। संपर्कजन्य बलों को पृष्ठबलों की और दूरवर्ती क्रिया को पिंडबलों की संज्ञा दी जाती है। पृथ्वी के घूर्णनजन्य बल को ऋतु वैज्ञानिक विक्षेपी बल और विशिष्ट प्रकार के घूर्णनजन्य बल को, चाहे वह पृथ्वी के घूर्णन के कारण न भी हो, अपकेंद्र (सेंट्रिफ्यूगल, Centrifugal) बल कहते है।

कई एक पिंडों की समस्या—तीन पिंडों की गतिकी (dynamical) समस्या की जटिलता का आभास तब हुआ जब सन् १७४३-५० में आलेक्सी क्लेरो (Alexis C. Clairaut) ने सूर्य और पृथ्वी के आकर्षण के वशीभूत चंद्रमा की गति पर अपनी खोजें कीं और १८वीं शताब्दी के महान् गणितज्ञ ग्रहों की क्षुब्ध गतियों और चांद्र सिद्धांत की गवेषणा में बहुत समय तक जुटे रहे। इसके फलस्वरूप वैश्लेषिक गतिविज्ञान (ऐनालिटिकल डाइनैमिक्स, *Analytical Dinamics*) जैसे वृहत् विषय का विकास हुआ, जिसमें अब प्राक्षेपिकी, (बैलिस्टिक्स, Ballistics), खगोलीय बलविज्ञान (सिलेश्चैल मिकैनिक्स, Celestial Mechanics), कण गतिविज्ञान, दृढ़ गतिविज्ञान और कंपन सिद्धांत का समावेश है। संघट्टन में आकुंचन और प्रभरण की जटिल प्रक्रियाओं की छानबीन से बचने के लिये यह सरलकारी कल्पना की गई है कि संघटनकारी पिंडों में क्षणिक संपर्क होता है और गति की एक व्यवस्था से दूसरी में परिवर्तन असतत होता है। इस कल्पना पर जब न्यूटन ने अपने गति नियमों को लगाया तो ऐसे समीकरण प्राप्त हुए जिनमें केवल अवस्थितत्वपद विद्यमान थे और जो यह प्रकट करते थे कि प्रत्येक पिंड संघटन से पूर्व और उसके पश्चात् एक समान वेग से चलता है। (देखें बलविज्ञान)।

कण गतिविज्ञान—इस विषय में यह सरलकारी कल्पना है कि कम से कम एक पिंड अन्य पिंडों में से एक की अपेक्षा इतना छोटा है कि उसे द्रव्यबिंदु, अर्थात् कण, माना जा सकता है। गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव में प्रक्षेप्य की गति इस कल्पना का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। इसका दूसरा उदाहरण तब मिला जब केप्लर ने १७वीं शताब्दी के आरंभ में ग्रहीय गति के तीन नियम खोजे और न्यूटन ने अपने गति समीकरणों को हल कर उनकी व्युत्पत्ति दी। वस्तुतः उसका क्षेत्रफल का नियम अब कोणीय संवेग अविनाशिता के सिद्धांत के नाम से सुविदित है। दोलक गति की समस्या एक दूसरी महत्वपूर्ण समस्या थी और हाइगन ने निरोध को लगाकर जब गति को वस्तुतः समकालिक बनाया तो गणितज्ञों द्वारा गुरुत्व के वशीभूत कण की निरुद्ध गति के अध्ययन का सूत्रपात हुआ। निदेशक के रूप में पृष्ठों और चक्रज आदि वक्रों का विशेष अध्ययन किया गया। चक्रज ही द्रुततम उतार का वक्र निकला। इन खोजों के फलस्वरूप गणितज्ञों की रुचि लघुतम की समस्याओं की ओर हुई और फ़र्मा (Fermat) ने लघुतम समय के सिद्धांत का प्रतिपादन किया तथा मोपरट्वी (Maupertius) ने लघुतम क्रिया के सिद्धांत का। इन्हें आयलर (Euler) और लाग्रांञ्ह (Lagranage) ने विशद रूप से समझा और अंत में हैमिल्टन ने एक विशालतर विधि में इनका समावेश किया।

कंपन सिद्धांत—तीसरी महत्वपूर्ण सरलकारी कल्पना ब्रुक टेलर ने सन् १७१५ के लगभग यह की कि तनी हुई डोर के कंपन का विवेचन लघु-दोलन-सिद्धांत द्वारा किया जा सकता है। इस विधि से आवर्तगति के लिये उसने एकघात अवकल समीकरण की उद्भावना की, जिसे छोर सर्वथा समुचित प्रतिबंधों के साथ हल करने पर विभिन्न, संभव कंपनरूप मिलते हैं। इस विश्लेषण को जोहन बरनूली (Johann Bernoulli) ने बड़े मन से अध्ययन किया और उसने लघु दोलन के व्यापक सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस उसके बाद उसके पुत्र डैनियल और दो शिष्यों, आयलर तथा मोपरट्वी, इन तीनों ने मिलकर विकसित किया। समान अंतरालों पर भारित भारहीन डोर की प्रसिद्ध समस्या कणों की संख्या और कंपन से मुक्त रूपों की संख्या में संबंध स्थापित करने में अत्यंत सहायक सिद्ध हुई। जब डोर एक नियत बिंदु से लटकी हुई ऊर्ध्वाधर स्थिति में कंपन करती है तब मिश्र दोलक बन जाती है और भारों की संख्या अनंत होने पर इसके कंपन भारयुक्त शृंखला के हो जाते हैं। जोज़ेफ लुई लाग्रांज ने सन् १७८८ में लिखित अपनी मिकैनिक ऐनालिटिक में इस समस्या का विस्तृत विवेचन किया है। इसी प्रकार का विश्लेषण ध्वनिक, वैद्युत और यांत्रिक छन्नों (फ़िल्टर्स, filters) के लिये व्यवहृत किया गया है। लघु-दोलन-सिद्धांत का उपयोग इंजनों के लिये कंपन अवमंदकों के अध्ययन में और ईषाओं (Shaft) के ऐंठनात्मक दोलनों के अध्ययन में किया गया है।

अपरिवर्ती गति—सन् १७३८ में डैनिएल बरनूली ने चौथी महत्वपूर्ण सरलकारी कल्पना द्रव्य की अपरिवर्ती गति के अध्ययन में की। धारारेखा के अनुदिश वेग, घनत्व और दाब में जो संबंध उसने दिया वह वस्तुतः ऊर्जा अविनाशिता के सिद्धांत की पुनरुक्ति जैसा है। अपरिवर्ती घूर्णनवाले गुरुत्वपूर्ण द्रव का व्यवहार मैकलारिन (Maclaurin, सन् १७४२) के ज्वार-भाटा-सिद्धांत में और क्लेरो (Clairaut, सन् १७४३) के पृथ्वी के आकार विषयक सिद्धांतों में हुआ है।

दृढ़ गतिविज्ञान—सन् १७४३ में बेंजामिन रॉबिंज की 'न्यू प्रिंसिपुल्स ऑव गनरी' के प्रकाशन से घूर्णनकारी प्रक्षेप के गतिविज्ञान में रुचि उत्पन्न हुई। तभी डिलैंबर्ट ने अपनी 'ट्रेट डिनैमिक' में आभासी कर्म का सिद्धांत दिया जो अब तक उसके नाम से प्रसिद्ध है (देखें बलविज्ञान)। इसके अनुसार दृढ़ पिंड के प्रत्येक लघु अंश को एक गतियुक्त निकाय माना जाता है, जिसका अपना द्रव्यमान और अपने गतिसमीकरण होते हैं। सभी अंशों के समीकरणों को जोड़ने पर आंतरिक बल कट जाते हैं और फलतः संपूर्ण पिंड के गतिसमीकरणों में केवल जड़ता के पद और पृष्ठ तथा पिंडबलों के परिणामी विद्यमान रहते हैं। घूर्णनकारी गतिसमीकरणों में निर्देशाक्षों के सापेक्ष जड़ताघूर्ण और निर्देश-समतल-युग्मों के सापेक्ष जड़ता-गुणनफल वाले पद रहते हैं। मुख्य पक्ष चुनने से ये गुणनफल शून्य हो जाते हैं और तब आयलर समीकरण मिलते हैं, जिनका उपयोग जलयान, रेलइंजन, वायुयान और गुब्बारे (balloon) के गतिविज्ञान में प्रमुख हैं। कालमापी (chronometer) और घूर्णदर्शी (gyroscope) का निर्माण भी इन्हीं समीकरणों का परिणाम है।

लाग्रांज समीकरण—लघु दोलन सिद्धांत में बलफलन V को विभव ऊर्जा माना जाता है, जो संतुलन की अवस्था में, जिसमें व्यापकीकृत निर्देशांकों $Q_1, Q_2 \ldots Q_n$ के मान शून्य लिए जाते हैं, लघुतम और शून्य रहता है। क्षुब्ध अवस्था में V संनिकटतः $Q_1, Q_2 \ldots Q_n$ के एक घन द्विघात रूप से निरूपित होता है और गतिज ऊर्जा T व्यापकीकृत निर्देशांकों के परिवर्तन $Q'_1, Q'_2 \ldots Q'_n$ में समघात द्विघात रूप होता है। लाग्रांज ने बताया कि व्यापकीकृत निर्देशांकों में गतिसमीकरण वे ही हैं, जो विचरण कलन द्वारा राशि $L = T - V$ के समय समाकल से प्राप्त की जा सकती है। L को गतिज विभव भी कहते हैं। कभी कभी L की महत्वपूर्ण भौतिक सार्थकता होती है। उदाहरणतः क्लेश (सन् १८५९) के द्रव-गति-विज्ञान में विचरण सिद्धांतों पर खोजों में L दाब समाकल है। यदि कण पृष्ठ

$$x = f(Q, Q_2),\ y = g(Q, Q_2),\ z = h(Q_1, Q_2)$$

पर चलने को नियद्ध है, तो प्राचलों Q_1, Q_2 को व्यापकीकृत निर्देशांक माना जा सकता है, जिनकी संख्या ३ से घटकर २ रह गई। अब क्योंकि V केवल x, y, z पर आश्रित है और T Q'_1, Q'_2 का द्विघात फलन

है, जिसमे गुणाक Q_1, Q_2 पर आश्रित हैं लाग्राज के समीकरण

$$d/dt\,(\partial L/\partial q'_r) - \partial L/\partial q'_r = 0,\ r = 1, 2$$

मिलते है। यहाँ कण और पृष्ठ से एक युग्मित निकाय बनता है, किंतु पृष्ठ को इतने अधिक द्रव्यमान का मान लिया जाता है कि उसकी गति की उपेक्षा की जा सके।

क्षोभ और स्थायित्व---सन् १७७०-१८१० तक लाप्लास ने खगोलीय बलविज्ञान, ज्वारभाटों और सौर मडल के स्थायित्व पर गवेषणा करके गति विज्ञान को समृद्ध किया। उसने प्राणोदित दोलनसिद्धात को, उसमे निकाय के स्वभावत अवमदन को मिलाकर, परिवर्धित किया और उसे सरचना (Structure) सिद्धात तथा वैद्युत् परिपथ के सिद्धात मे उपयोगी बनाया। ध्वनिविज्ञान मे यह परिवर्धित सिद्धात अनुनादक (Resonator) और अनुरणन (गुजन) सिद्धात का आधार है। वैश्लेषिक गति विज्ञान, हैमिल्टन के वैध समीकरण, हैमिल्टन जैकोबी के आशिक अवकल समीकरण, प्रथमत सुरक्षा का सिद्धात, मिश्रित समीकरण, ह्रासमान निकायो तथा परिवर्तनशील द्रव्यमान के पिंडो के बारे मे जानकारी के लिये सदर्भ मे उल्लिखित पुस्तके देखें।

स० ग्र०---जी० जूस . थ्योरेटिकल फिजिक्स (लदन, १९३४), डब्ल्यू० एफ० ऑसगुड मिकैनिक्स (न्यूयार्क, १९३७), लार्ड केल्विन और पी० जी० टेट नैचुरल फिलॉसफी (कैंब्रिज, १९१२), एच० लैब डाइनैमिक्स, हायर मिकैनिक्स, हाइड्रोडाइनैमिक्स (कैंब्रिज, १९१४, १९२०, १९२८), ई० जे० राउथ रिजिड डाइनैमिक्स ऐंड डाइनैमिक्स ऑव ए पार्टिकल (कैंब्रिज, १८९८), ई० टी० ह्विटेकर ऐनालिटिकल डाइनैमिक्स (न्यूयार्क, १९४५), जी० डी० बिरखोफ डाइनैमिकल सिस्टम्स (न्यूयार्क, १९२७), आर० एफ० डीमेल मिकैनिक्स ऑव द जाइरोस्कोप (न्यूयार्क, १९३०), एल० बेरस्टो ऐप्लाइड एयरोडाइनैमिक्स (लदन, १९३९), एल० एम० मिलने टामसन थ्योरेटिकल हाइड्रोडाइनैमिक्स (लदन, १९३८), सी० आर० फ्रेंबर्ग और ई० 'एन० केप्लर एयरक्राफ्ट वाइब्रेशन ऐंड फ्लटर (न्यूयार्क, १९४३), एच० सी० प्लूमर डाइनैमिकल ऐस्ट्रॉनोमी (कैंब्रिज, १९१८), ए० विंटनर सिलेश्चल मिकैनिक्स (प्रिंसटन, १९४१), आर० सी० टालमन प्रिंसिपुल्स ऑव स्टैटिस्टिकल मिकैनिक्स (ऑक्सफोर्ड, १९३८)।

(ह० च० गु०)

गदा एक प्राचीन आयुध। इसमे एक लबा दड होता है और उसके एक सिरे पर भारी गोल लट्टू सरीखा शीर्ष होता है। दड पकडकर शीर्ष की ओर से शत्रु पर प्रहार किया जाता था। इसका प्रयोग बल सापेक्ष्य और अति कठिन माना जाता था। गदायुद्ध की चर्चा प्राचीन साहित्य मे बहुत हुई है। महाभारत के पात्र भीम, दुर्योधन, जरासध, बलराम आदि प्रख्यात गदाधारी थे। राम के सेवक हनुमान भी गदाधारी है। अग्नि पुराण मे गदा युद्ध के आहत, गोमूत्र, प्रभृत, कमलासन, ऊर्ध्वगत्र, नमित, वामदक्षिण, आवृत्त, परावृत्त, पदोद्धृत, अवप्लुत, हसमार्ग और विभाग नामक प्रकारो का उल्लेख है। महाभारत मे भी कई प्रकारो के गदायुद्ध और कौशल का विस्तृत वर्णन है।

आजकल गदा का उपयोग व्यायाम के निमित्त होता है। इसमे लोग एक हाथ अथवा दोनो हाथो मे गदा लेकर आगे, पीछे, ऊपर तथा नीचे घुमाते है। इससे हाथ और वक्ष के स्नायु मजबूत होते है। उत्तर भारत के पहलवानी अखाड़ो मे इसका विशेष प्रचार है। (प० ला० गु०)

गदाधर विभिन्न समयो मे हुए पडित, ग्रथप्रणेता, कवि और टीकाकार। इनमे एक प्राचीन वैद्यक ग्रथ के रचयिता है जिनके मत का उल्लेख भावमिश्र एव वैद्यवाचस्पति ने किया है। यह वैदिक सूत्रो के एक प्राचीन भाष्यकार का भी नाम है जो 'आश्वलायन गृह्यसूत्र भाष्य' और 'पारस्कर गृह्यसूत्र भाष्य' नामक ग्रथो की रचना के लिये प्रसिद्ध है। गदाधर भट्टाचार्य नाम के नव्यन्याय के एक प्रकाड पडित तथा दार्शनिक ने प्रसिद्ध ग्रथ 'दीधिति' पर एक विस्तृत व्याख्या लिखी है जो 'गादाधरी' ।म से प्रसिद्ध है। नव्यन्याय के ग्रथो मे इसका स्थान अत्यत महत्व का है। इन्होंने न्याय के मौलिक तथा महत्वपूर्ण विषयो पर अन्य अनेक सस्कृत ग्रथ रचे है। इनका समय प्राय १७वी शताब्दी माना जाता है। गदाधर चक्रवर्ती नाम के काव्यप्रकाश के एक टीकाकार भी है। महाप्रभु *चैतन्य के अत्यत प्रिय गदाधर पडित नाम के एक व्यक्ति हो गए हैं।* गदाधरदास और गदाधर भट्ट हिंदी के दो प्राचीन कवि प्रसिद्ध है। गदासुर की अस्थि से निर्मित गदा को धारण करने से विष्णु का भी एक नाम गदाधर पडा। वायुपुराण मे विष्णु द्वारा उक्त गदा की प्राप्ति की कथा वर्णित है। गया तीर्थ मे इसी नाम की एक देवप्रतिमा भी है।

(रा० श० मि०)

गद्य सामान्यत मनुष्य की बोलने या लिखने पढने की छदरहित साधारण व्यवहार की भाषा को गद्य कहा जाता है। इसमे केवल आशिक सत्य है, क्योकि इसमे गद्यकार के रचनात्मक बोध की अवहेलना है। साधारण व्यवहार की भाषा भी गद्य तभी कही जा सकती है जब वह व्यवस्थित और स्पष्ट हो। रचनात्मक प्रक्रिया को ध्यान मे रखते हुए गद्य को मनुष्य की साधारण किंतु व्यवस्थित भाषा या उसकी विशिष्ट अभिव्यक्ति कहना अधिक समीचीन होगा।

कविता और गद्य मे बहुत सी बाते समान हैं। दोनो के उपकरण शब्द है जो अर्थपरिवर्तन के बिना एक ही भाडार से लिए जाते है, दोनो के व्याकरण और वाक्यरचना के नियम एक ही है (कविता के वाक्यो मे कभी कभी शब्दो का स्थानातरण, वाक्यरचना के आधारभूत नियमो का खडन नही), दोनो ही लय और चित्रमय उक्ति का सहारा लेते है। वर्ड्सवर्थ के अनुसार गद्य और पद्य (या कविता) की भाषा मे कोई मूलभूत अतर न तो है और न हो सकता है।

लेकिन इन सारी समानताओ के बावजूद कविता और गद्य अभिव्यक्ति के दो भिन्न रूप है। समान उपकरणो के प्रति भी उनके दृष्टिकोणो की असमानता प्राय स्तर पर उभर आती है। लेकिन उनमे केवल स्तरीय नही बल्कि तात्विक या गुणात्मक भेद है, जिसका कारण यह है कि कविता और गद्य जगत् और जीवन के विषय मे मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया के दो भिन्न रूपो की अभिव्यक्ति है। उनके उदय और विकास के इतिहास मे इसके प्रमाण मौजूद है।

अपनी पुस्तक 'इल्यूजन ऐंड रिएलिटी' मे काडवेल ने कविता की उत्पत्ति, सामाजिक उपादेयता और तकनीक का विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है कि साहित्य के सबसे प्रारभिक रूप मे कविता मनुष्य की साधारण भाषा का उन्मेषीकरण थी। उस काल कविता केवल रागात्मक न होकर इतिहास, धर्म, दर्शन, तत्र, मत्र, ज्योतिष, नीति और भेषज सबधी ज्ञान का भी वहन करती थी। उसे उन्मेष प्रदान करने के लिये सगीत, छद, तुक, मात्रा या स्वराघात, अनुप्रास, पुनरावृत्ति, रूपक इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। कालातर मे सभ्यता के विकास, समाज के वर्गीकरण, श्रमविभाजन और उद्बुद्ध साहित्यिक चेतना के कारण पहले की उन्मेषपूर्ण भाषा भी विभक्त हो गई---कविता ने अपने को रागो की उन्मेषपूर्ण भाषा के रूप मे सीमित कर लिया और विज्ञान, दर्शन, इतिहास, धर्मशास्त्र, नीति, कथा और नाटक ने साधारण व्यवहार, अर्थात् कथ्य की भाषा को अपनाया। आवश्यकतानुसार प्रत्येक शाखा ने अपनी विशिष्ट शैली की विधि का विकास किया, उनमे आदान प्रदान हुआ और उनसे स्वय साधारण व्यवहार की भाषा भी प्रभावित हुई। मनुष्य का मानसिक जगत अपने को भाषा के दो विशिष्ट रूपो---कविता और गद्य---मे प्रतिबिंबित करने लगा।

कविता और गद्य के उद्देश्यो मे भेद और भाषा के उपकरण शब्दो के प्रति उनके दृष्टिकोणो मे भेद का गहरा सबध है। कविता की उत्पत्ति मनुष्य के सामूहिक श्रम के साथ हुई। शब्द अनिवार्यत सगीत और प्राय नृत्य के सहारे पूरे समूह के आवेगो को एक बिंदु पर सगठित कर कार्य सपन्न करने की प्रेरणा देते थे। फसल सामने नही थी, बीज बोना था। शब्दो का कार्य था लहलहाती फसल का मायावी चित्र उपस्थित कर पूरे समूह को बीज बोने के लिये प्रेरित करना। कॉडवेल के अनुसार इस

मायावी सृष्टि के द्वारा शब्द शक्ति बन जाते थे। कविता सामूहिक भावों और आकांक्षाओं का प्रतिबिंब थी और उन्हें उद्बुद्ध और संगठित करने का अस्त्र थी। 'इसलिये कविता का सूक्ष्म कथ्य—उसके तथ्यों की वस्तु—नहीं, बल्कि समाज में उसकी गद्यात्मक भूमिका—उसके सामूहिक भावों की वस्तु—कविता का सत्य है।' (कॉडवेल)

सामाजिक जीवन में शब्द वस्तुनिष्ठ जगत् के शुष्क प्रतीक मात्र नहीं रह जाते बल्कि उनके साथ जीवन के अनुभव से उत्पन्न सरल से जटिल होते हुए भावात्मक संदर्भ जुड़ जाते हैं। कविता शब्दों के शुद्ध प्रतीकात्मक अर्थ की उपेक्षा नहीं कर सकती, लेकिन उसका मुख्य उद्देश्य शब्दों के भावात्मक संदर्भों का अर्थपूर्ण संगठन है। कविता शब्दों की नई सृष्टि है। हर्बर्ट रीड के शब्दों में 'कविता में चिंतन के दौरान शब्द बार बार नया जन्म लेते हैं।' अनेक भाषाओं में कवि के लिये प्रयुक्त शब्द का अर्थ स्रष्टा है।

गद्य शब्दों के भावात्मक संदर्भों के स्थान पर उनके वस्तुनिष्ठ प्रतीकात्मक अर्थ को ग्रहण करता है। गद्य में शब्दों के इस प्रकार के प्रयोग को ध्यान में रखकर हर्बर्ट रीड ने गद्य को 'निर्माणात्मक अभिव्यक्ति' कहा है, ऐसी अभिव्यक्ति जिसमें शब्द निर्माता के चारों ओर प्रयोग के लिये ईंट गारे की तरह बने बनाए तैयार रहते हैं।

स्पष्ट है कि शब्द के वस्तुनिष्ठ अर्थ और उसके भावात्मक संदर्भ को पूर्णतया विभक्त करना असंभव है। यही कारण है कि कविता सर्वथा कथ्यशून्य नहीं हो सकती, और गद्य सर्वथा भावशून्य नहीं हो सकता। कविता और गद्य की तकनीकों में पारस्परिक आदान प्रदान स्वाभाविक है। किंतु जहाँ उनके विशिष्ट धर्मों का बोध नहीं होता, वहाँ हमें कविता के स्थान पर फूहड़ गद्य और गद्य के स्थान पर फूहड़ कविता के दर्शन होते हैं।

वस्तुनिष्ठ सत्य की भाषा कहने का अर्थ यह नहीं कि गद्य कविता से हेय है, या उसका सामाजिक प्रयोजन कविता से कम है, या वह भाषा की कलाशून्य अभिव्यक्ति है। वास्तव में बहुत से ऐसे कार्य जो कविता की शक्ति के बाहर हैं, गद्य द्वारा संपन्न होते हैं। बहुत पहले यह अनुभव किया गया कि कविता की छंदमय भाषा में विचारों का तर्कमय विकास संभव नहीं। कविता से कम विकसित अवस्था में भी गद्य की विशिष्ट शक्ति को पहचानकर अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'रेटॉरिक' में उसे 'प्रतीति', 'परसुएशन', दूसरों को अपने विचारों से प्रभावित करने की भाषा कहा था, जिसके मुख्य तत्व हैं—विचारों का तर्कसंगत क्रम, वर्णन की सजीवता, कल्पना, चित्रयोजना, सहजता, लय, व्यक्तिवैचित्र्य, उक्तिसौंदर्य, ओज, संयम। इनमें से प्रत्येक बिंदु पर कविता और गद्य की सीमाएँ मिलती हुई जान पड़ती हैं, किंतु दोनों में इनके प्रयोग की अलग अलग रीतियाँ हैं।

उदाहरणार्थ, उनके दो तत्व, लय और चित्रयोजना, लिए जा सकते हैं, जिनकी बहुल चर्चा होती है। गद्य की लय में कविता की लय से अधिक लोच या विविधता होती है क्योंकि गद्य में लय वाक्यरचना की नहीं बल्कि विचारों की इकाई होती है। कविता में प्रायः लय को वाक्यरचना की इकाई बनाकर पुनरावृत्ति से प्रभाव को तीव्रता दी जाती है। कविता से कहीं ज्यादा गद्य में लय अनुभूति की वाणी है। प्रायः लय के माध्यम से ही गद्यकार के व्यक्तित्व का उद्घाटन होता है।

कविता के प्राण चित्रयोजना में बसते हैं, जबकि गद्य में उसका प्रयोग अत्यंत संयम के साथ विचार को आलोकित करने के लिये ही किया जाता है। अंग्रेजी गद्य के महान् शैलीकार स्विफ्ट के विषय में डॉ० जान्सन ने कहा था : 'यह दुष्ट कभी एक रूपक का भी खतरा मोल नहीं लेता'। मुख्य वस्तु यह है कि गद्य में भाषा की सारी क्षमताएँ विचार की अचूक अभिव्यक्ति के अधीन रहती हैं। कविता में भाषा को अलंकृत करने की स्वतंत्रता अक्सर शब्दों के प्रयोग और वाक्यरचना के प्रति असावधान रहने की प्रवृत्ति का कारण है। विशेषणों का जितना दुरुपयोग कविता में संभव है उतना गद्य में नहीं। कविता में संगीत को अक्सर सस्ती भावुकता का आवरण बना दिया जाता है। गद्य में कथ्य का महत्व उसपर अंकुश का काम करता है। इसलिये गद्य का अनुशासन भाषा के रचनासौंदर्य के बोध का उत्तम साधन है। टी० एस० इलियट के शब्दों में 'अच्छे गद्य के गुणों का होना अच्छी कविता की पहली और कम से कम आवश्यकता है।'

गद्य का प्रारंभ इतिहास, विज्ञान, सौंदर्यशास्त्र इत्यादि की भाषा के रूप में हुआ। बाद में वह उपयोग से कला की ओर प्रवृत्त हुआ। रूपों के विकास के आधार पर उसकी तीन स्थूल कोटियाँ बनी हैं—वर्णनात्मक, जिसमें कथा, इतिहास, जीवनी, यात्रा इत्यादि आते हैं। विवेचनात्मक, जिसमें विज्ञान, सौंदर्यशास्त्र, आलोचना, दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र, विधि, राजनीति इत्यादि आते हैं, एवं भावात्मक, जिसमें ऊपर के अनेक विषयों के अतिरिक्त आत्मपरक निबंध और नाटक आते हैं। विषयों के अनुसार गद्य में प्रवाह, स्पष्टता, चित्रमयता, लय, व्यक्तिगत अनुभूति, अलंकरण इत्यादि की मात्राओं में हेर फेर का होना आवश्यक है, किंतु गद्य की कोटियों के बीच दीवारें नहीं खड़ी की जा सकतीं। लेखक की रुचि और प्रयोजन के अनुसार वे एक दूसरे में अंतःप्रविष्ट होती रहती हैं।

आधुनिक युग में उपन्यास गद्य की विशेष प्रयोगशाला बन गया है। कविता से रहकर काफी दिनों तक शब्दों के पथ्य पर रहती है, गद्य में नए पुराने, रूखे चिकने सभी प्रकार के शब्दों को पचाने की अद्भुत शक्ति होती है। बोनामी डाब्री (Bonamy Dobree) के अनुसार 'सारा अच्छा जीवित गद्य प्रयोगात्मक होता है।' उपन्यास गद्य की इस क्षमता का पूरा उपयोग कर सकता है। ऐसे प्रयोग इंग्लैंड की अपेक्षा अमरीका में अधिक हुए हैं और विढम लिविस, हेमिंग्वे, स्टीन, फाकनर, ऐंडर्सन इत्यादि ने अपने प्रयोगों के द्वारा अंग्रेजी गद्य को नया रक्त दिया है। गद्य में तेजी से केंचुल बदलने की शक्ति का अनुमान हिंदी गद्य के तेज विकास से भी किया जा सकता है, हालाँकि उसका इतिहास बहुत पुराना नहीं। भविष्य में गद्य के विकास की ओर संकेत करते हुए एक अंग्रेज आलोचक मिडिलटन मरी ने लिखा है : 'गद्य की विस्तार सीमा अनंत है और शायद कविता की अपेक्षा उसकी संभावनाओं की कम खोज हुई है।'

सं० ग्रं०—क्रिस्टोफर काडवेल : इल्यूजन ऐंड रिऐलिटी; मिडिलटन मरी : द प्राब्लेम ऑव स्टाइल; हर्बर्ट रीड : इंग्लिश प्रोज स्टाइल; बोनामी डॉब्री : माडर्न प्रोज स्टाइल; राल्फ फाक्स : द नॉवेल ऐंड द पीपुल।

(चं० ब० सिं०)

गधा घोड़े की प्रजाति की एक उपजाति 'एसिनस' वर्ग का पशु। इस वर्ग के अनेक पशु हैं पर इससे अभिप्राय इस वर्ग के उस पशु से समझा जाता है जिसे लोग पालते हैं और सामान ढोने का काम लेते हैं। यह आकार में घोड़े से छोटा होता है, कान लंबे होते हैं, पूँछ का आकार और रंग घोड़े से सर्वथा भिन्न होता है। यह पशु अपनी मंद बुद्धि और हठीलेपन के लिये प्रख्यात है। भारतवर्ष में इसका प्राचीनतम उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है (ऋग्वेद ३।५३।२३; ऐतरेय ब्राह्मण ४।६; तैत्तिरीय संहिता ५।१।२।१)। आजकल इसका प्रयोग मुख्यतः धोबियों द्वारा कपड़ों को घाट से लाने और ले जाने के लिये होता है। (प० ला० गु०)

गनकॉटन एक प्रकार का विस्फोटक जो सैलूलोज का नाइट्रेट एस्टर है, और रुई या सैलूलोज को सांद्र नाइट्रिक और सांद्र सल्फ्यूरिक अम्लों के मिश्रण के साथ उपचारित करने से प्राप्त होता है। देखने में यह बिलकुल रुई सा लगता है और रुई सा ही सफेद, गंधहीन और स्वादहीन ठोस होता है। जल, ऐल्कोहल, ईथर और ग्लेशियल ऐसीटिक अम्ल (*glacial acetic acid*) में यह अविलेय होता है. पर ऐसीटोन, ऐल्किल ऐसीटेट और नाइट्रोबेंजीन में घुल जाता है। गनकॉटन में नाइट्रोजन की मात्रा लगभग १४.१४% रहनी चाहिए। यदि नाइट्रोजन की प्रति शत मात्रा कम हो तो ईथर-ऐल्कोहल में घुलकर कोलोडियन बनता है।

गनकाटन बड़ी तीव्रता से जलता है। यह प्रस्फोटन से ही विस्फुटित होता है। प्रस्फोटन के लिये मरकरी फलिमनेट प्रयुक्त होता है। संपीडन से

विस्फोटन के लिये टारपीडो और कारतूस मे प्रयुक्त होता है। पाइरॉक्सीलीन के साथ मिलकर यह धूम्रहीन चूर्ण बनाता है, जिसमे विस्फोटनतरग का वेग बहुत मद हो जाता है। प्रणोदक के लिये अधिक सुविधाजनक होता है। बदूक और तोपो में इसका प्रयोग व्यापक रूप से होता है। यदि गनकॉटन को नाइट्रोग्लिसरीन के साथ ऐसीटोन के सहारे मिलाया जाय तो ऐसे मिश्रण को कॉर्डाइट कहते है। यह बहुत महत्व का विस्फोटक है। नाइट्रो-ग्लिसरीन को कोलोडियन के साथ मिलाने से भी बिना ऐसीटोन की सहायता से कॉर्डाइट प्राप्त हो सकता है। (स० व०)

इसका आविष्कार १८४६ मे स्विटजरलैंड के एक जर्मन वैज्ञानिक सी० एफ० शायन बीन ने किया था। रूई को अम्लो के मिश्रण मे डुबाकर निचोड और सुखा लिया जाता है फिर उसे सारे अम्ल और अशुद्धियो से परिशुद्ध करने के निमित्त पानी मे उबाला जाता है। इस प्रकार परिशुद्ध रूई की लुगदी बनाकर फिर धोया जाता है और गीली अवस्था मे ही उसकी छोटी छोटी ईंटें बना ली जाती है।

सूखा गनकाटन बडी तेजी से 'हिस' की आवाज करता जलता है। यदि उसपर हथौडे से चोट की जाय तो विस्फोट करेगा। गन काटन की विस्फोटक गति तीन मील प्रति सेकेंड है इस कारण इसका प्रयोग बदूक या तोप मे नही किया जाता। उसमे अनेक धूमरहित चूर्ण मिश्रित किया जाता है। इसका प्रयोग प्लास्टिक बनाने मे भी होता है।

(प० ला० गु०)

गन्ना (दे० 'ईख')।

गफ, लार्ड यह आयरलैंड का फील्ड मार्शल था। इसका जन्म लाइमरिक मे ३ नवबर, सन् १७७९ को हुआ तथा २ मार्च, १८५९ को इसकी मृत्यु हो गई। लगभग १५ वर्ष की आयु मे यह सेना मे प्रविष्ट हुआ। इसने उत्तमाशा अतरीप तथा वेस्ट इडीज मे कार्य किया, फिर सन् १८०९ मे वेलिंग्टन के अधीन पुर्तगाली सेना मे मेजर बन गया। फ्रासीसियो से ओपार्तो लेने मे इसने बडा शौर्य दिखाया। तालवेरा मे यह घायल हो गया और बाद मे लेफ्टिनेंट कर्नल बना दिया गया। बरोसा तथा निवेद के युद्धो मे इसने बडा पराक्रम दिखाया, पर बाद मे वह पुन काफी घायल हो गया। इसपर स्पेन के राजा ने उसे 'नाइट' की उपाधि दी।

कुछ वर्षो तक आराम करके वह भारत आया और सन् १८३७ मे मैसूर में सेनापति बना दिया गया। इसके बाद प्रथम चीनी युद्ध के सबध मे इसे चीन जाना पडा। सन् १८४२ मे नानकिंग की सधि हो जाने पर सारी अग्रेज सेनाएँ वापस बुला ली गई। गफ भी लौट आया और 'बैरोनेट' बना दिया गया। अगले वर्ष (सन् १८४३) मे वह भारतस्थित अग्रेज सेनाओ का प्रधान सेनापति बना दिया गया। उसी वर्ष के अत मे उसने मराठो के विरुद्ध युद्ध करके उन्हे महाराजपुर मे हरा दिया। दो वर्ष बाद अग्रेजो की सिखो से भिडत हो गई। मुदकी तथा फिरोजशाह के युद्धो के बाद गफ ने सोबरॉव मे सिखो पर पूर्ण विजय पा ली और उन्हें लाहौर की सधि करने के लिये बाध्य किया। पुरस्कारस्वरूप पार्लमेट ने गफ को अर्ल बना दिया। सन् १८४८ मे पुन सिखो से युद्ध प्रारभ हो गया और गफ रणक्षेत्र मे जा डटा। चिलियानवाला के युद्ध मे अग्रेजो की बडी क्षति हुई इसलिये गफ के स्थान पर सिंधविजयी सर चार्ल्स नेपियर को भेजा गया। नेपियर के पहुँचने के पूर्व ही, फरवरी, १८४९ मे, गुजरात के युद्ध मे गफ ने सिखो को पीस डाला। इसके बाद वह इग्लैंड वापस चला गया। उसे 'वाइकाउट' बना दिया गया। पार्लमेंट तथा कपनी ने उसे चार हजार पाउड वार्षिक पेंशन देने के लिये आधा आधा भार ग्रहण किया। सन् १८६२ मे उसे फील्ड मार्शल बना दिया गया। (मि० च० पा०)

गबेल, फान कार्ल एबरहार्ट (Goebel, von Karl Eberhardt), जर्मन वनस्पति वैज्ञानिक। इनका जन्म बाडेन (Baden, Austria) प्रदेश के बिएटिंघाइम (Bietigheim) कस्बे मे हुआ था। इन्होंने ट्यूबिंजेन (Tubingen) मे हॉफमाइस्टर (Hofmeister) के और स्ट्रैसबर्ग (Strasbourg) मे डे बारी (De Barry) के अधीन अध्ययन किया था।

कुछ समय तक जाक्स (Sachs) के सहायक के रूप मे तथा अन्य पदो पर कार्य करने के पश्चात्, ये सन् १८९१ मे म्यूनिख विश्वविद्यालय मे वनस्पति विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए। इनका समस्त वैज्ञानिक जीवन इसी पद पर कार्य करते बीता।

बीजवाले तथा अडधानी (archegonium) पौधो की आकारिकी (morphology) तथा जैविकी (biology) सबधी महत्वपूर्ण कृतियों के लिये ये प्रसिद्ध है। इन्होंने कई प्रसिद्ध पुस्तकें लिखी है। इनमे 'फ्लाजेन बायोलोगिश शिल्डरुगेन(Pflanzen Biologische Schilderungen), जाक्स की पुस्तक के लिये लिखी वर्गीकरण तथा विशेष आकारिकी की रूपरेखा (Outlines of Classification and Special Morphology), पौधो की अगवर्णना(Organography), 'आर्गेनोग्राफी डेर फ्लाजेन इसबेजाडेर डेर आर्कीगोनिएटेन उड सामेन फ्लाजेन' इत्यादि प्रसिद्ध हैं। अतिम पुस्तक इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है। (सा० जा०)

गबेल्स, जाजेफ (१८९७–१९४५) जर्मन राजनीतिज्ञ। इतिहास और साहित्य का अध्ययन कर १९२५ मे जर्मनी के राष्ट्रीय समाजवादी दल का वैतनिक कर्मचारी बना। १९२६ मे वह इस दल की बर्लिन शाखा का नेता (ग्वालेटर) बना दिया गया। १९२८ मे वह बर्लिन से प्रकाशित होनेवाली पार्टी की पत्रिका 'दर अग्रिफ' का सपादक हुआ। इसी वर्ष वह रीशटाग (जर्मन ससद्) का सदस्य निर्वाचित हुआ। १९२९ मे प्रचार विभाग के प्रधान के रूप मे दल के निर्देशक गुट मे सम्मिलित हुआ। जब उसके दल की 'रीश' (ससद्) मे प्रधानता हुई तो १९३३ मे एक नया विभाग स्थापित कर उसे प्रचार और लोकचेतना विभाग का मत्री बना दिया गया। मेधावी तो था ही। नैतिकता की चिंता न करके अत्यत विध्वसक दृष्टिकोण के साथ उसने अपने दल का खूब विकास किया और उसकी शक्ति के अतिक्रमण मे भी नहीं चूका। उसका प्रचार विकृत तथ्यो, झूठ, गालियो से भरा रहता था। प्रेस नाटक, फिल्म, सगीत और कला सस्थाओ का अनिवार्य प्रधान होने के कारण वह एक प्रकार से जर्मनी के सास्कृतिक जीवन का अधिनायक (डिक्टेटर) बन बैठा था। द्वितीय महायुद्ध के समय वह देश विदेश के प्रचार का निर्देशक और पार्टी के नेता (ग्वालेटर) के रूप मे बर्लिन के स्थानीय शासन और युद्धकालीन अर्थनीति का नियामक था। पूर्ण सैनिकीकरण भी उसके हाथो मे दे दिया गया था। दल के भीतर अनेक दलो से तटस्थ रहकर वह आजीवन हिटलर का साथ देता रहा। हिटलर ने उसे अपनी वसीयत मे चासलर बनाने की बात लिखी थी। हिटलर की मृत्यु के दूसरे ही दिन उसने आत्महत्या कर ली। १९४८ मे उसकी दैनदिनी प्रकाशित हुई। (प० ला० गु०)

गब्रीएल बाइबिल मे उल्लिखित देवदूतो मे से एक। इब्रानी भाषा मे इस नाम का अर्थ है—ईश्वर का सामर्थ्य। बाइबिल के पूर्वार्ध मे वे दानियाल नामक नबी के लिये मसीह के राज्य सबधी भविष्यद्वाणियो की व्याख्या करते हैं। उत्तरार्ध मे वे मसीह के अग्रदूत योहन बपतिस्मा का तथा बाद मे ईसामसीह का आगामी जन्म घोषित करते हैं। इस्लाम मे माना जाता है कि हजरत मुहम्मद ने गब्रीएल से अपना धर्म ग्रहण किया था। ईसाई गब्रीएल की उपासना रक्षक के रूप मे करते है।

(आ० बे०)

गया बिहार राज्य मे पटना से ५५ मील दक्षिण बिहार का सर्वाधिक जनसख्यावाला नगर (स्थिति २४° ४९' उ० अ० तथा ८५° १' पू० दे०)। यह फल्गू नदी के किनारे पूर्वी रेलवे पर स्थित है। यह नगर दो भागो मे विभक्त है—मुख्य या पुराना नगर और साहबगज या नया नगर। प्राचीन नगर मे विष्णुपाद मदिर तथा अन्य पवित्र समाधियाँ हैं। नया नगर प्रशासनिक केंद्र है, जहाँ सरकारी कार्यालय, न्यायालय, औषधालय, सरकिट हाउस, डाक बँगला, रेलवे कार्यालय, गिरजाघर, पुस्तकालय, कारागार तथा विद्यालय आदि हैं।

भागवत पुराण के अनुसार त्रेतायुग के गया नामक राजा के कारण इसका नाम गया पडा लेकिन अधिक मानी जानेवाली कथा वायुपुराण की है जिसके अनुसार गया एक असुर था, जिसने अपनी तपस्या से यहाँ

तक सिद्धि प्राप्त की कि उसे देखने और स्पर्श करनेवाले लोग स्वर्ग जाने लगे। इससे यमराज तथा देवताओं को बड़ी चिंता हुई। विष्णु के समझाने बुझाने पर उस असुर ने प्राचीन गया नगर में प्राणोत्सर्ग किया। इसपर भगवान् ने वरदान दिया कि यह स्थान संसार में पवित्रतम होगा, देवता लोग वहाँ विश्राम करेंगे तथा वह भाग गया क्षेत्र जाना जायगा और जो भी वहाँ दाहक्रिया या पिंडदान करेगा, वह अपने पूर्वजों सहित ब्रह्मलोक में जायगा। इसी आधार पर प्रतिवर्ष हजारों हिंदू यात्री मोक्षप्राप्ति के निमित्त अपने पूर्वजों का श्राद्ध करने विष्णुपाद मंदिर आते हैं। यह मंदिर इंदौर के होल्कर की पत्नी अहिल्याबाई द्वारा बनाया गया है।

नगर से १४ मील पूर्व पुनावन में बौद्ध समाधियाँ हैं तथा १६ मील उत्तर में बराबर की गुफाओं (२६४–२२५ ई० पूर्व) की दीवारों पर अशोककालीन अभिलेख है। यहाँ हवाई अड्डा भी है।

बिहार में इसी नाम का जिला भी है जिसका क्षेत्रफल १२,३४८ किलोमीटर है। यहाँ की मुख्य उपज धान, चना, गेहूँ, ईख और तेलहन हैं। वहाँ शोरा निकालने, पत्थर तथा अभ्रक की खान खोदने, चपड़ा तथा लाख तैयार करने, मिट्टी एवं पीतल के बरतन बनाने और रेशम के वस्त्र बुनने आदि का कार्य होता है। १९७१ में इस जिले की जनसंख्या ४८,५७,४७३ थी। (रा० प्र० सि०)

गया, बोधगया गया नगर से सात मील दक्षिण स्थित प्रख्यात बौद्ध तीर्थ। यहाँ गौतम ने बुद्धत्व प्राप्त किया था। बुद्ध के समय यह उरुवेला नामक ग्राम मात्र था। इसके निकट बुद्ध ने एक पीपल के वृक्ष के नीचे समाधिस्थ होकर संबोधि प्राप्त की थी। उरुवेला में वहाँ के ग्रामणी की पत्नी सुजाता या नंदबला का दिया हुआ पायस खाकर बुद्ध ने अपना कई दिन का उपवास भंग किया था और वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि काया को उपवासादि से क्लेश पहुँचाकर मनुष्य सर्वोच्च सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। बुद्ध के पश्चात् गया का नाम संबोधि भी पड़ गया था जैसा कि अशोक के एक अभिलेख से ज्ञात होता है। मौर्य सम्राट् ने इस स्थान की पावन यात्रा अपने राज्यकाल के १०वें वर्ष में की थी। चीनी यात्री फाह्यान ४थी सदी ई० में तथा युवान्च्वांग ७वीं सदी में गया आए थे। इन्होंने इस स्थान पर अशोक के बनवाए हुए विशाल मंदिर का उल्लेख किया है। जनरल कनिंघम तथा अन्य पुरातत्वविदों ने गया में विस्तृत उत्खनन कार्य किया था किंतु खुदाई में अशोक के मंदिर के कोई चिह्न नहीं मिल सके हैं। कहा जाता है, यह मंदिर ७वीं सदी तक विद्यमान था। वर्तमान मंदिर काफी समय बाद बना किंतु जिस स्थान पर यह बना है वह अवश्य ही बहुत प्राचीन है, क्योंकि इसके पास ही शुंगकालीन (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) वेष्टनी (रेलिंग) बनी हुई है। यह मंदिर नौ तलों में स्तूपाकार बना है। इसकी ऊँचाई १६० फुट और चौड़ाई ६० फुट है। फर्ग्युसन का विचार था कि नौतला मंदिर बनवाने की प्रथा, जो चीन तथा बौद्ध धर्म से प्रभावित अन्य देशों में प्रचलित थी वह मूलरूप से इसी मंदिर की परंपरा की अनुकृति थी (हिस्ट्री ऑव इंडियन ऐंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, जिल्द १, पृ० ७६)।

१३वीं सदी के आरंभ में जब बिहार पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ तब अवश्य ही यह मंदिर भी विध्वंस किया गया होगा। इससे पहले ही हिंदू धर्म के पुनरुत्थान के साथ ही बौद्ध मंदिर का महत्व समाप्तप्राय हो चला था। सिंहल के बौद्ध इतिहास ग्रंथ महावंश में वर्णित है कि ६ठी सदी में सिंहलनरेश महानामन् ने गया के बुद्ध मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया था।

कहा जाता है, मूल बोधिद्रुम अथवा पीपल के वृक्ष को गौड नरेश शशांक ने, जो महाराज हर्षवर्धन (६०६–६३६ ई०) का समकालीन था, अधिकांश रूप से नष्ट कर दिया था। संभवतः वर्तमान वृक्ष मूलवृक्ष का ही वंशज है। इसी वृक्ष की एक शाखा अशोक की पुत्री संघमित्रा ने सिंहलदेश के नगर अनुराधापुर में ले जाकर लगाई थी। यह वृक्ष वहाँ पर अभी तक स्थित है और इसी की एक टहनी वर्तमान सारनाथ में उसके पुनरुत्थान के समय कुछ वर्ष पूर्व आरोपित की गई थी।

महाभारत के वनपर्व (८४, ८३) में गया में स्थित एक अक्षयवट का उल्लेख है, जिसे पितरों के लिये किए जानेवाले सभी पुण्यकर्मों को अक्षय कर देनेवाला माना गया है। स्यात् यह वृक्ष (वट, पीपल या बरगद) बौद्धों का संबोधि वृक्ष ही है, जिसे हिंदूधर्म के पुनरुज्जीवनकाल में हिंदुओं ने अपनाकर अपने धर्म से संबंधित मान लिया होगा। बौद्ध साहित्य में फल्गु की सहायक नदी वर्तमान निलांजना को नैरंजना कहा गया है—'स्नातो नैरांजनातीरादुत्ततार शनैः कृशः' (बुद्धचरित् १२, १०८)। यह नदी गया से दक्षिण की ओर तीन मील दूर महाना या फल्गु में जाकर मिल जाती है। (वि० कु० मा०)

गरबा गुजरात, राजस्थान और मालवा प्रदेशों में प्रचलित एक लोकनृत्य जिसका मूल उद्गम गुजरात है। आजकल इसे आधुनिक नृत्यकला में स्थान प्राप्त हो गया है। इस रूप में उसका कुछ परिष्कार हुआ है फिर भी उसका लोकनृत्य का तत्व अक्षुण्ण है।

आरंभ में देवी के निकट सछिद्र घट में दीप ले जाने के क्रम में यह नृत्य होता था। इस प्रकार यह घट दीपगर्भ कहलाता था। वर्णलोप से यही शब्द गरबा बन गया। आजकल गुजरात में नवरात्र के दिनों में लड़कियाँ कच्चे मिट्टी के सछिद्र घड़े को फूलपत्ती से सजाकर उसके चारों ओर नृत्य करती हैं।

गरबा सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है और आश्विन मास की नवरात्र को गरबा नृत्योत्सव के रूप में मनाया जाता है। नवरात्र की पहली रात्रि को गरबा की स्थापना होती है। फिर उसमें चार ज्योतियाँ प्रज्वलित की जाती हैं। फिर उसके चारों ओर स्त्रियाँ ताली बजाती फेरे लगाती हैं।

गरबा नृत्य में ताली, चुटकी, खंजरी, डंडा, मंजीरा आदि का ताल देने के लिये प्रयोग होता है तथा स्त्रियाँ दो अथवा चार के समूह में मिलकर विभिन्न प्रकार से आवर्तन करती हैं और देवी-के गीत अथवा कृष्णलीला संबंधी गीत गाती हैं। शाक्त-शैव समाज के ये गीत गरबा और वैष्णव अर्थात् राधा कृष्ण के वर्णनवाले गीत गरबी कहे जाते हैं। (प० ला० गु०)

गरहार्ट, चार्ल्स फ्रेडेरिक (सन् १८१६–१८५६), फ्रांसीसी रसायनज्ञ। इनका जन्म २१ अगस्त, १८१६ ई० को स्ट्रासबर्ग (Strasbourg) नामक स्थान में हुआ था। इन्होंने लाइपज़िग में ओटो एर्डमान (Otto Erdmann) के अधीन रसायन का अध्ययन किया और उन्हीं की सिफारिश पर ड्यूमा के सहायक नियुक्त हुए। पैरिस विश्वविद्यालय से इन्हें डाक्टर की उपाधि मिली और १८४४ ई० में मोंटपेलिये (Montpellier) में और १८५५ ई० में स्ट्रासबर्ग में रसायन के प्रोफेसर नियुक्त हुए। १८५२ ई० में इन्होंने पहले पहल अम्ल ऐनहाइड्राइड (Acid Anhydride) तैयार किया। १८३८ में इन्होंने कार्बनिक यौगिकों के 'मूलक सिद्धांत' (Radicle Theory) को पुनरुज्जीवित किया और 'अवशिष्ट सिद्धांत' (Residual Theory) की स्थापना की। १८४५ ई० में सजातीय यौगिकों (Homologues) और अनुबद्ध यौगिकों (Conjugated Compounds) का सुझाव रखा। इन्होंने यह विचार भी व्यक्त किया कि सब वस्तुएँ चार प्रमुख वर्गों, हाइड्रोजन, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, जल और ऐमोनिया पर ही आधारित हैं। इस विचार को पीछे त्याग देना पड़ा, पर कार्बनिक रसायन में संरचनासूत्र के विकास में इससे बड़ी सहायता मिली है। (फू० स० व०)

गरीबदास (१७१७–१७७८ ई०)। प्रख्यात संत जिनसे गरीब पंथ विकसित हुआ। इनका जन्म हरियाणा प्रदेश के रोहतक जिले के छुडानी ग्राम में एक जाट जमींदार के घर हुआ था। कुछ लोगों का कहना है कि बारह वर्ष की अवस्था में कबीरदास से इनकी भेंट हुई; कुछ लोगों का कहना है कि भेंट नहीं हुई थी वरन् उन्होंने स्वप्न में देखा और अपना गुरु मान लिया। कबीर अथवा किसी अन्य को उन्होंने अपना गुरु माना यह निश्चित नहीं है; उनके सिद्धांत कबीरपंथ से निकट भी नहीं हैं।

लगता है कि उनका किसी संप्रदाय से संबंध न था। वे आजीवन अपने ग्राम छुड़ानी में रहे और गृहस्थ बने रहे। गृहस्थ रहते हुए वे सत्संग करते रहे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्य सलोत गद्दीदार बने। अपने जीवनकाल में गरीबदास ने अपने गाँव में एक मेले का आयोजन किया था। वह मेला आज तक होता है।

गरीब पंथ का प्रचार मुख्य रूप से पूर्व पंजाब और हरियाणा में ही है और दिल्ली, अलवर, नारनौल, बिजेसर उसके केंद्र है और उसके अनुयायी सभी वर्ग के लोग है। उनमें हिंदू-मुसलमान जैसा कोई भेद नहीं है। गरीबदास शब्दातीत, निर्गुण परब्रह्म के उपासक थे। उनकी दृष्टि में भूलोक और स्वर्गलोक में कोई भेद नहीं था। माया के कारण ही वह लोगों को भिन्न जान पड़ता है। वे भावनाशील पंडित और अच्छे गायक थे। उन्होंने २४ हजार पदों का हिंखर बोध नाम से संग्रह किया था जिसमें १७ हजार पद तो स्वयं उनके हैं। शेष कबीर अथवा अन्य लोगों के कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त उनमें प्रबोध और अध्यात्म बोध उनकी अन्य रचना है।

स्वामी दयालुदास नाम के उनके एक शिष्य हुए। उन्होंने अपने पंथ के मठों की स्थापना की। आज उनके उत्तर प्रदेश और पंजाब में १२५ मठ बताए जाते हैं। उन्हें वे लोग गुरुद्वार कहते हैं। वहाँ वे गरीबदास के ग्रंथों की पूजा अर्चा करते हैं। (प० ला० गु०)

गरुड़ (१) श्येन परिवार का एक पक्षी जो यूरोप और एशिया के सभी ठंडे देशों में पाया जाता है। भारत में यह केवल हिमालय के चार हजार फुट से ऊँचे स्थानों पर ही पाया जाता है। इससे नीचे कभी नहीं उतरता। इसके नीचे पाया जाने वाला इसका छोटा भाई उकाब है जिसे लोग भूल से गरुड की संज्ञा देते हैं।

यह बहुत ही बहादुर शिकारी पक्षी है और जानवरो और पक्षियों का शिकार कर अपना पेट भरता है। यह घने जंगलों की अपेक्षा पहाड़ के खुले स्थानों में रहता और गिद्धों की तरह शिकार की तलाश में चक्कर लगाता रहता है। बहुधा इसे ऊँचे पेड़ या पहाड़ की चोटी पर बैठे देखा जा सकता है। वहीं से वह अपने शिकार की टोह लेता रहता है। जैसे ही गिलहरी, खरगोश, चूहा आदि छोटा जानवर या पक्षी दिखाई पडा, बाज की तरह झपट्टा मारकर अपने पंजे में दबोच लेता है।

यह सुनहले भूरे रंग का बड़े कद का पक्षी है और आकार में २७ से ३० इंच तक होता है। नर से मादा आकार में बड़ी होती है। डैने कलछौंह भूरे रंग के होते है जिनके सिरे पर सफेद पट्टियाँ होती हैं। टाँगें पीली और परों से ढँकी रहती हैं। (प० ला० गु०)

(२) धार्मिक मान्यता के अनुसार भगवान् विष्णु का वाहन। शिल्प में इसकी आकृति पुरुष विग्रहवाले पक्षी की दिखाई जाती है। विष्णु की मूर्तियों में प्रायः गरुड़ वाहन अंकित दिखाया जाता है। कभी कभी गरुड़ की मूर्तियाँ अलग भी पाई जाती हैं।

पुराणों के अनुसार गरुड का स्थान वैकुंठ है। वे पक्षियों के राजा हैं। नागों से उनका सदा विरोध है। कथा है कि गरुड़ की माता विनता और सर्पों की माता कद्रू दोनों प्रजापति कश्यप की पत्नियाँ थी। एक बार कद्रू और विनता में होड़ हुई। विनता ने कहा, सूर्य के घोड़ों का रंग श्वेत है, कद्रू ने उसे काला बताया। जब सूर्योदय हुआ, कद्रू के पुत्र सूर्य के घोड़ों के अंगों मे लिपट गए और घोड़ों का रंग काला दिखाई पड़ने लगा। इससे पराजित विनता ने कद्रू का दास्य स्वीकार किया। अब नाग गरुड़ की पीठ पर सवारी करने लगे। गरुड़ को बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने माता से इसका उपाय पूछा। उनसे कहा गया कि यदि तुम स्वर्ग लोक से अमृत का घड़ा ले आओ तो तुम दास्य भाव से मुक्त हो सकोगे। गरुड महापराक्रमी थे। वे अपने सशक्त पंखों से वायु को धुनते हुए आकाश की ओर उड़े और स्वर्ग मे सोम की रक्षा करनेवाले गंधर्वों से घोर संग्राम कर अमृत का घट उठा लाए। फलस्वरूप उनकी माता विनता और वे दास्य से मुक्त हो गए। इस कथा का मूल ऋग्वेद में ही पाया जाता है किंतु ब्राह्मण ग्रंथों में इसका विस्तार आता है। वहाँ इसे सौपर्ण काद्रवेय आख्यान कहा है। किंतु कथा का उससे भी अधिक विस्तार महाभारत आदिपर्व के सौपर्णाख्यान में है। वेद मे जिन गरुत्मान पर्ण का उल्लेख आता है, वे ही पुराणों के गरुड़ हैं। गति इनका मुख्य लक्षण है, और वह भी छंदयुक्त गति होनी चाहिए। वस्तुतः भागवत में गजेंद्रमोक्ष के प्रसंग में विष्णु के वाहन को छंदोमय गरुड़ कहा है।

सूर्य की माता अदिति और गरुड की माता विनता दोनों अभिन्न हैं। वैसे ही सर्पों की माता कद्रू और दिति एक हैं। गरुड़ की गति दो पंखों मे ही संभव होती है। इसका आशय यह है कि गति एक छंद या तालयुक्त क्रिया है। गति के साथ आगति अवश्य रहती है। इन दोनों को चक्रगति कहते हैं। ये ही गरुड़ के दो पंख है जिनके सिकुड़ने फैलने से उठान संभव होती है। इन्हें वैदिक भाषा में समंचन प्रसारण कहते हैं। ऋग्वेद मे गरुत्मा सुपर्ण या गरुड़ को अग्नि, इंद्र, मित्र, वरुण आदि महान् देवों की कोटि मे रखा गया है। वस्तुतः स्वयं विश्वकर्मा प्रजापति ही गरुत्मा सुपर्ण हैं और जो देव प्रजापति के रूप हैं, वे सब सुपर्ण के ही रूप हैं।

तात्विक दृष्टि से गरुड ज्योति के देवता हैं और नाग तम के प्रतीक है। ज्योति और तम का संघर्ष ही विश्व का फल है और यही नाग और गरुड़ का संग्राम है जिसका अंकन करनेवाली कई मूर्तियाँ मथुरा की कुषाण कला में पाई गई है। (वा० श० अ०)

गरुलिया पश्चिम बंगाल मे चौबीस परगना जनपद के बैरकपुर सबडिवीजन में हुगली नदी के पूर्वी तट पर औद्योगिक नगर जो बृहत्तर कलकत्ता क्षेत्र में पड़ता है (स्थिति : २२°४९' उ० अ० तथा ८८°२२' पू० दे०)। यहाँ जूट तथा सूती कपड़े के कारखाने हैं। हुगली नदी से सामुद्रिक यातायात की सुविधा है। पहले यह कस्बा बैरकपुर नगरपालिका क्षेत्र में पड़ता था लेकिन प्रशासनिक सुविधा तथा इसकी अलग स्थिति होने के कारण १८९६ ई० में यहाँ स्वतंत्र नगरपालिका की स्थापना हुई। (का० ना० सिं०)

गर्ग नाम के अनेक आचार्य हो गए हैं। आयुर्वेद, वास्तुशास्त्र आदि विभिन्न विद्याओं के आचार्य 'गर्ग' एक ही व्यक्ति हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनके काल भी भिन्न भिन्न हैं। आयुर्वेदशास्त्रज्ञ गर्ग के विषय में आयुर्वेद का इतिहास द्रष्टव्य है।

वास्तुशास्त्रविद् गर्ग भी प्रसिद्ध हैं। इनका काल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से ईसा की प्रथम शताब्दी के बीच है (देखिए स्टडी ऑन वास्तुविद्या, पृ० १०२)।

ज्योतिर्विद्याविद् गर्ग पुराणों में स्मृत हैं। मत्स्यपुराण २२९-२३८; महाभारत, गदापर्व ३।१४; भागवत, १०।८ अ० में ज्योतिषी गर्ग का निर्देश है। निबंध ग्रंथों में ज्योतिर्गर्ग का बहुधा उल्लेख है। एक गार्गीसंहिता का नाम भी मिलता है (काणे कृत हिस्ट्री ऑव द धर्मशास्त्र भाग १, पृ० ११९)। कर्न कृत बृहत्संहिता की भूमिका में इस गर्ग के काल आदि के विषय में विचार किया गया है।

एक गर्ग कृषिशास्त्रविद् भी थे। कृषिपुराण ग्रंथ में इसका नाम मिलता है। गर्ग के वचन और मन बृहत्संहिता (सटीक) मे वेदांग ज्योतिष के सोभाकार भाष्य में, अद्भुतसागर में तथा निबंध ग्रंथ और ज्योतिष विद्या के ग्रंथों में बहुलतया मिलते हैं। शंकर बालकृष्ण दीक्षित कृत 'भारतीय ज्योतिष' ग्रंथ में भी ज्योतिषी गर्ग संबंधी विशद विवेचन है।

स्मृति शास्त्र में भी गर्ग का उल्लेख है (देखिए हिस्ट्री ऑव द धर्मशास्त्र, भाग १, पृ० ११९)। (रा० शं० भ०)

गर्दभ (द्र० 'गधा')।

गर्दे, लक्ष्मण नारायण (१८८९-१९६०) प्रख्यात संपादक तथा साहित्यकार। उनका जन्म काशी में महाशिवरात्रि को हुआ था। १९०७ ई० में विज्ञान लेकर स्कूल फाइनल परीक्षा उत्तीर्ण की। कुछ समय तक एफ़० ए० कक्षा में अध्ययन किया किंतु राष्ट्रीय भावनाओं के कारण पढ़ाई छोड़ दी तथा उन्हीं कार्यों मे लग गए। ५० वर्षों तक आप भारतीय साहित्य और संस्कृति का पत्रकारिता के माध्यम से संवर्धन

करते रहे। हिंदी पत्रकारिता के विकासकाल में आपने उसे ऐसे साँचे में ढालने का सफल कार्य किया, जो राष्ट्रीयता से तो ओतप्रोत थी ही, आध्यात्मिकता, नैतिकता और सांस्कृतिक भावना से भी युक्त थी।

संपादक के रूप में आपका संबंध 'वेंकटेश्वर समाचार', 'हिंदी बंगवासी', 'भारत मित्र' तथा 'नवजीवन' से रहा। काशी के दैनिक 'सन्मार्ग' में आप 'चक्रपाणि' के नाम से विशेष लेख लिखा करते थे। जुलाई, १९१९ में आप 'भारत मित्र' के संपादक हुए और छह वर्षों तक 'भारत मित्र' के माध्यम से गांधीवाद तथा साम्यवाद का प्रमुख रूप से प्रचार करते रहे। उस समय साम्यवाद का प्रचार अंग्रेजों से विरोध प्रकट करने के निमित्त किया जाता था। जब लोग महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन के समर्थन में हिचकते थे, आपने निर्भीकता से उसका समर्थन किया। इस संबंध में आपने महामना मालवीय जी और विश्वकवि रवींद्रनाथ से भी महत्वपूर्ण विचारविमर्श कर अपनी स्थापनाएँ उनके संमुख प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत की थीं। उक्त दैनिक पत्रों के अतिरिक्त आपने कलकत्ते से 'श्रीकृष्ण संदेश' साप्ताहिक तथा काशी से मासिक 'नवनीत' पत्रिका भी निकाली थी, जिनका हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। 'श्रीकृष्ण संदेश' प्रथम सचित्र विचारशील आदर्श साप्ताहिक था।

आप बहुमुखी प्रतिभा के यशस्वी साहित्यकार भी थे। आपकी 'सरल गीता' का देश में ही नहीं, बृहत्तर भारत के प्रवासी भारतीयों में भी खूब प्रचार हुआ। श्रीकृष्ण चरित्र, एशिया का जागरण, जापान की राजनीतिक प्रगति, गांधी सिद्धांत, आरोग्य और उसके साधन आपकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। गांधी सिद्धांत, महात्मा गांधी की 'स्वराज्य' पुस्तक का अनुवाद है, जिसकी भूमिका स्वयं बापू ने लिखी थी। आपके दो उपन्यास नकली प्रोफेसर तथा मियाँ की करतूत उस समय काफी लोकप्रिय हुए। गीता तथा अरविंद दर्शन के आप महान् व्याख्याता थे। अरविंद आश्रम से आपके योग प्रदीप तथा गीता प्रबंध के दो अनुवाद प्रकाशित हुए। आपने माननीय श्री श्रीप्रकाश के साथ माटेगू-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट का हिंदी अनुवाद किया था। 'कल्याण' के योगांक, संतांक, वेदांतांक, साधनांक आदि अनेक विशेषांकों के संपादन में आपका महान् योगदान रहा है। आपने महाराष्ट्र के संतों, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम के चरित्र भी लिखे हैं। गूढ़ से गूढ़ विषयों को सरलता से बोधगम्य कर देना आपकी शैली की प्रमुख विशेषता है।

१९२० ई० की विशेष कांग्रेस के बाद आप बड़ा बाजार (कलकत्ता) जिला कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष चुने गए थे। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रसंग में आप जेल भी गए। (ल० श० व्या०)

गर्भगृह मंदिरस्थापत्य का शब्द। यह मंदिर का वह भाग है जिसमें देवमूर्ति की स्थापना की जाती है। वास्तुशास्त्र के अनुसार देवमंदिर के ब्रह्मसूत्र या उत्सेध की दिशा में नीचे से ऊपर की ओर उठते हुए कई भाग होते हैं। पहला जगती, दूसरा अधिष्ठान, तीसरा गर्भगृह, चौथा शिखर और अंत में शिखर के ऊपर आमलक और कलश। जगती मंदिरनिर्माण के लिये ऊँचा चबूतरा है जिसे प्राचीन काल में मंड भी कहा जाता था। इसे ही आजकल कुरसी कहते हैं। इसकी ऊँचाई और लंबाई, चौड़ाई गर्भगृह के अनुसार नियत की जाती है। जगती के ऊपर कुछ सीढ़ियाँ बनाकर अधिष्ठान की ऊँचाई तक पहुँचा जाता था, इनके बाद का भाग (मूर्ति का कोठा) गर्भगृह होता है जिसमें देवता की मूर्ति स्थापित की जाती है। गर्भगृह ही मंदिर का मुख्य भाग है। यह जगती या मंड के ऊपर बना होने के कारण मंडोवर (सं० मंडोपरि) भी कहलाता है। गर्भगृह के एक ओर मंदिर का द्वार और तीन ओर भित्तियों का निर्माण होता है। प्रायः द्वार बहुत अलंकृत बनाया जाता था। उसके स्तंभ कई भागों में बँटे होते थे। प्रत्येक बाँट को शाखा कहते थे। द्विशाख, त्रिशाख, पंचशाख, सप्तशाख, नवशाख तक द्वार के पार्श्वस्तंभों का वर्णन मिलता है। इनके ऊपर प्रतिहारी या द्वारपालों की मूर्तियाँ अंकित की जाती हैं एवं प्रमथ, श्रीवृक्ष, फुल्लावल्ली, मिथुन आदि अलंकरण भी शोभा के लिए बनाए जाते हैं। गर्भगृह के द्वार के उत्तरांग या सिरदल पर एक छोटी मूर्ति बनाई जाती है, जिसे ललाटबिंब कहते हैं। प्रायः यह मंदिर में स्थापित देवता के परिवार की होती है; जैसे विष्णु के मंदिरों में या तो विष्णु के किसी अवतारविशेष की या गरुड़ की छोटी मूर्ति बनाई जाती है। गुप्तकाल में मंदिर के पार्श्वस्तंभों पर मकरवाहिनी गंगा और कच्छपवाहिनी यमुना की मूर्तियाँ अंकित की जाने लगी।

गर्भगृह के तीन ओर की भित्तियों में बाहर की ओर जो तीन प्रतिमाएँ बनाई जाती है, उन्हें रथिकाबिंब कहते हैं। ये भी देवमूर्तियाँ होती हैं जिन्हें गर्भगृह की प्रदक्षिणा करते समय प्रणाम किया जाता है।

गर्भगृह की लंबाई चौड़ाई प्रायः छोटी और बराबर होती है। प्रदक्षिणा पथ से घिरे मंदिरों में प्रायः अँधेरा रहता है, इस कारण उन्हें सांधार कहते हैं। गर्भगृह मंदिर का हृदयस्थान है। यह मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा हो जाने के बाद अत्यंत पवित्र माना जाता है। विष्णु आदि की मूर्तियाँ प्रायः पिछली दीवार के सहारे रखी जाती है और शिवलिंग की स्थापना गर्भगृह के बीचोबीच होती है। देवतत्त्व की दृष्टि से गर्भगृह अत्यंत मांगलिक और महत्वपूर्ण स्थान होता है। यहाँ मंदिर का ब्रह्मस्थान है। देवगृह के भीतरी भाग में दीवारों पर प्रायः और कोई रचना नहीं करते, किंतु इसके अपवाद भी हैं। देवगृह की छत प्रायः सपाट होती हैं किंतु शिखर सहित मंदिरों में इसका भी अपवाद देखा जाता है। आरंभकाल में देवगृह या मंडोवर की रचना संयत और सादी होती थी। उस समय विशेष अलंकरणों का प्रयोग न था, किंतु समय पाकर देवगृह की भित्तियों में नाना प्रकार के अलंकरण बनाए जाने लगे। देवगृह के द्वार सहित चारों ओर की भित्तियाँ चार भद्र कही जाती है। भद्र के तीन भाग करके यदि बीच का भाग कुछ निकाल दिया जाय तो वह तीन भागों में बँटा हुआ भद्र त्रिरथ कहलाता है। ऐसे ही पंचरथ, सप्तरथ, नौरथ तक बनाए जा सकते हैं। बीच का निकला हुआ भाग या निर्गम रथ और दोनों कोनों के अंत.प्रविष्ट भाग प्रतिरथ कहलाते हैं। यदि निर्गम और प्रवेशवाले भागों की संख्या पाँच हुई तो बीच का भाग रथ, उसके दोनों ओर के भाग प्रतिरथ और दोनों कोनों के कोणरथ कहलाते हैं। उत्सेध, उदय या ऊँचाई में भी गर्भगृह के बाहर की ओर बहुत से अलंकरण बनाए जाते हैं; उनमें ऊपर नीचे दो जंघाएँ और उनके बीच की तीन पट्टियाँ बंधन कहलाती हैं। जंघाओं पर प्रायः स्त्रीमूर्तियों का अंकन रहता है, जिन्हें प्रेक्षणिका, सुरसुंदरी, अलसकन्या, अप्सरा आदि कई नाम दिए गए हैं। वे प्रायः नृत्य, नाट्य, संगीत और मिथुनशृंगार की मुद्राओं में अंकित की जाती हैं। देवगृह का उठान नीचे की खुरशिला से लेकर कलश तक, वास्तु और शिल्प के सुनिश्चित नियमों के अनुसार बनाया जाता है। उसमें एक एक थर के पत्थरों के नाम, रूप या अलंकरण निश्चित हैं, किंतु उनके भेद भी अनंत हैं। गर्भगृह प्रायः चौकोर होता है, किंतु चतुरस्र आकृति के अतिरिक्त आयताकार वेसर (द्व्यस्र) अर्थात् एक ओर गोल तथा एक ओर चौकोर और परिमंडल ये आकृतियाँ भी स्वीकृत हैं, किंतु व्यवहार में बहुत कम देखी जाती हैं।

(वा० श० अ०)

गर्भनाल, अपरा (Placenta) यह वह अंग है जिसके द्वारा गर्भाशय में स्थित भ्रूण के शरीर में माता के रक्त का पोषण पहुँचता रहता है और जिससे भ्रूण की वृद्धि होती है। यह अंग माता और भ्रूण के शरीरों में संबंध स्थापित करनेवाला है। यद्यपि माता का रक्त भ्रूण के शरीर में कहीं पर नहीं जाने पाता, दोनों के रक्त पूर्णतया पृथक् रहते हैं और दोनों की रक्तवाहिनियों के बीच एक पतली झिल्ली या दीवार रहती है, तो भी उस दीवार के द्वारा माता के रक्त के पोषक अवयव छनकर भ्रूण की रक्तवाहिकाओं में पहुँचते रहते हैं।

गर्भनाल की उत्पत्ति—जब संसेचित डिंब डिंबवाहिनी से गर्भाशय में आता है तो वह वहाँ की उपकला या अंत.स्तर में, जो पिछले मासिक स्राव में नए सिरे से बन चुकी है, अपने रहने के लिए स्थान बनाता है। वह अंत.स्तर को खोदकर उसमें घुस जाता है। इस क्रिया में अंतःस्तर की कुछ रक्तवाहिकाएँ फटकर उनसे निकला हुआ रक्त संसेचित डिंब के चारों ओर एकत्र हो जाता है और अंत.स्तर का एक पतला स्तर

डिंब के ऊपर भी छा जाता है। अब डिंब की वृद्धि होने लगती है। उसके चारों ओर जो रक्त एकत्र है उसी से वह पोषण लेता रहता है। उसके बाहरी पृष्ठ में अंकुर निकलते हैं। उधर गर्भाशय के डिंब के नीचे के खुले हुए भाग से भी अंकुर निकलते हैं। भ्रूण के और बढ़ने पर उसके ऊपर के आच्छादित भाग के अंकुर लुप्त हो जाते हैं और केवल अंतःस्तर की ओर के अंकुर रह जाते हैं। इन अंकुरों में रक्तवाहिकाओं की केशिकाएँ भी बन जाती हैं, जो अंतःस्तर की केशिकाओं से केवल एक झिल्ली द्वारा पृथक् रहती है। अंत में यह झिल्ली भी लुप्त हो जाती है और माता और
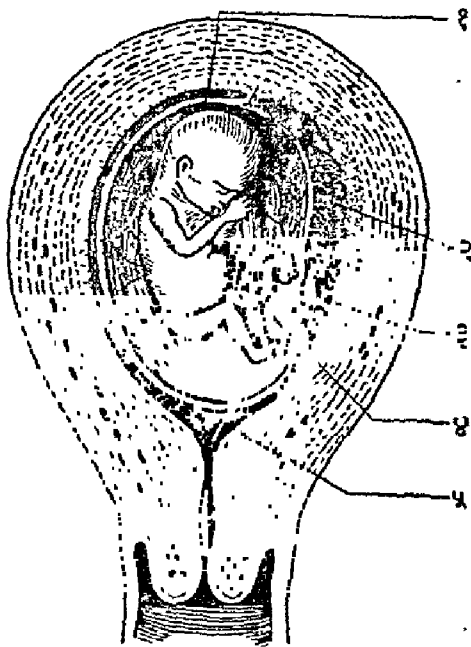
गर्भ में भ्रूण

१. जरायु; २. अंकुर; ३. गर्भनाल; ४. नाभिनाल तथा ५. गर्भाशय।

भ्रूण के रक्त के बीच में केवल रक्तकेशिकाओं की सूक्ष्म दीवार रह जाती है, जिसके द्वारा माता के रक्त से ऑक्सीजन और पोषण विसरण (diffusion) और रसाकर्षण की भौतिक क्रियाओं से भ्रूण के रक्त में चले जाते है और भ्रूण के शरीर में रासायनिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न हुई कार्बन डाइऑक्साइड तथा अन्य त्याज्य पदार्थ माता के रक्त में चले आते हैं।

पूर्ण गर्भनाल (मनुष्य में) सात या आठ इंच व्यास का और बीच में १½ इंच मोटा, चपटा, परिधि मे गोल मंडल होता है; किंतु परिधि के पास, जहाँ वह गर्भाशय की उपकला में मिल जाता है, पतला होता है। उसका भार लगभग एक पौंड होता है। प्रसव के समय गर्भाशय के मांसस्तर में संकोच होने से माता और भ्रूण के अंकुरों का संबंध विच्छिन्न हो जाता है। मांससूत्रों के संकोच से गर्भाशय के अंकुरों की रक्तवाहिकाओं के मुँह बंद हो जाते है, इससे उनसे रक्त नही निकलता, किंतु गर्भनालवाले अंकुरों की वाहिनियों के मुँह खुले रहने से कुछ रक्त निकलकर प्रसव में बाहर आता है।

गर्भनाल का कर्म—इस प्रकार गर्भनाल शिशु की वृद्धि और उसके जीवन के लिये अत्यंत महत्व का अंग है: (१) वह भ्रूण के फुफ्फुस की भाँति श्वसन (respiraton) का कर्म करता है। माता के रक्त का ऑक्सीजन इसके द्वारा भ्रूण में पहुँचता है; (२) भ्रूण के शरीर में उत्पन्न हुई कार्बन डाइऑक्साइड तथा भ्रूण के चयापचय से उत्पन्न हुए अन्य अंतिम त्याज्य पदार्थ माता के रक्त मे गर्भ द्वारा लौट जाते हैं। इस प्रकार वह उत्सर्जन (excretion) का कर्म करता है; (३) भ्रूण में माता के रक्त से पोषक अवयवों को पहुँचाने का काम इसी अंग का है। अतएव वह पोषण (nutrition) भी करता है; (४) वह अवरोधक (barrier) का भी काम करता है; रोगों के पराश्रयी जीवों तथा बहुत से विषों को माता के रक्त से भ्रूण में नही जाने देता तथा (५) गर्भनाल में एक अंतःस्रावी रस या हॉरमोन (hormone) भी बनता है, जो भ्रूण की वृद्धि करता है। (मु० स्व० व०)

गर्भपात, गर्भस्राव

(Abortion, miscarriage) गर्भावस्था में प्रसव के निश्चित समय से पूर्व गर्भ या भ्रूण के गर्भाशय से बाहर आ जाने को गर्भपात या गर्भस्राव कहते है। आयुर्वेद के ग्रंथों में पाँचवें महीने तक गर्भस्राव और उसके पश्चात् गर्भपात कहा गया है, किंतु दोनों में कोई अंतर नहीं है। क्रिया की विधि समान है। यह घटना १०० में से ७५ स्त्रियों में अंतिम मासिक धर्म के प्रथम दिन से १६वें सप्ताह के अंत के पूर्व होती है। पाश्चात्य देशों में अनुसंधान से पता लगा है कि लगभग एक चौथाई प्रति शत स्राव गर्भावस्था के निश्चित लक्षण प्रकट होने के पूर्व होते हैं। स्रवित भागों की परीक्षा करने पर बहुतों में संकोचित डिंब या भ्रूण का पता भी नहीं लगता, केवल अपूर्ण गर्भनाल और कलाएँ मिलती है।

गर्भस्राव का कारण प्रायः गर्भोत्पत्ति में कोई विकार होता है। गर्भनाल का विकार, या विकास में त्रुटि, अनेक स्रावों का कारण होती है। ऐसे रोगियों में गर्भस्राव का कोई विशेष कारण नहीं निश्चित किया जा सकता। कुछ रोग, विशेषकर सिफिलिस, विषाक्तिक दशाएँ, अंतःस्राव या हॉरमोनों की कमी, पोषण की अति न्यूनता, अथवा माता की रचनात्मक त्रुटियाँ समुचित गर्भवृद्धि के अवरोध का विशेष कारण होती है और उनसे गर्भस्राव हो सकता है।

गर्भस्राव के विशेष लक्षण उदर के निचले भाग में प्रसव के समान पीड़ाएँ और योनि से रक्त का निकलना है। शामक उपचार करने से तथा गर्भाशय के संकोचों को रोकने से गर्भस्राव रोका जा सकता है। प्रोजेस्टेरोन (Progesterone) अथवा ऐसी ही अन्य दवाओं का इंजेक्शन देने से गर्भाशय के संकोच रुक जाते है, किंतु यदि भ्रूण ही विकृत हो तो गर्भस्राव अवश्यंभावी है। लक्षण प्रकट होते ही रोगी को शैयासीन करके चिकित्सक का परामर्श लेना आवश्यक है।

गर्भपात कराना अधिकांश देशों में अवैधानिक और विधान से दंडनीय माना जाता है। केवल ऐसी दशा में, जब माता के जीवन की रक्षा के लिये चिकित्सा की दृष्टि से अनिवार्य समझा जाय तभी गर्भस्राव कराना वैध होता है। इसको चिकित्सात्मक गर्भस्राव कहते हैं। अन्यथा गर्भस्राव करानेवाला और जो स्त्री गर्भस्राव कराए, दोनों दोषी और दंडनीय होते है।

अवैध गर्भमोचन से माता के जीवन के प्रति बहुत आशंका उपस्थित होती है। इस प्रकार के गर्भमोचन से अमरीका में तथा अन्य सभ्य देशों में पर्याप्त मृत्यु दर पाई गई है। जिन गर्भस्थ शिशुओं की मृत्यु का ठीक ठीक कारण नहीं मालूम होता उनकी संख्या कम नहीं है। शासन को इसी कारण कानून बनाना पड़ा है जिससे विशेष परिस्थितियों में चिकित्सकों को गर्भपात कराने का अधिकार है। (मु० स्व० व०)

गलगल

नीबू की अनेक जातियों में एक जातिविशेष को गलगल, जबीर अथवा दंतशठ, जंबीरी नीबू या पहाड़ी कागजी, इडलिंबू तथा लेमन (Lemon) कहते हैं। यह निंबुकुल रुटेसिई (Rutaceae) के सिट्रस मेडिका वार लिमोनम (Citrus medica var limonum) नामक छोटे वृक्ष का फल है, जो पूर्वी पंजाब में पठानकोट के आसपास अधिक पैदा होता है।

इसमे पत्तियों के नाल लगभग पंखहीन, फल मध्यम परिमाण के, अंडाकार (ovoid), पीले, चूचुकवत (mammillate) और मोटे छिलकेवाले होते हैं और उनकी मज्जा प्रचुर और आम्लिक होती है। जंबीरी नीबू आयुर्वेद में अम्ल, गुरु, पित्तकारक तथा तृष्णा, शूल, वमन, श्वास, वात, कफ और विबंध को दूर करनेवाला माना जाता है। फल का उपयोग लेमनेड, मुरब्बा, शरबत, चटनी एवं अचार बनाने और व्यंजनों को सुस्वादु

करने में होता है। इसका निचोड़ा हुआ रस शीतल, झागदार पेय तैयार करने के काम आता है। इसमें स्कर्वी नाशक विटामिन सी अधिक रहता है। फलत्वक् दीपक, पाचक और वायुनाशक होता है और इससे लेमन तेल तथा टिंक्चर आदि बनाए जाते हैं। (व० सि०)

गलगुटिकाशोथ (तालुमूलप्रदाह, Tonsilitis), मनुष्य के तालु के दोनों ओर बादाम के आकार की दो ग्रंथियाँ होती है, जिन्हें हम गलगुटिका, तुंडिका या टॉन्सिल कहते हैं। इन ग्रंथियों के रोग को गलगुटिकाशोथ कहते है।

कारण—यह रोग पूयजनक जीवाणुओं के उपसर्ग, प्रधानत माला-गोलाणु (streptococcus) से होता है। शारीरिक रोग-प्रतिरोध-शक्ति की दुर्वलता, अधिक परिश्रम, दूपित वातावरण में निवास तथा दूषित जल एवं दूपित दूध के व्यवहार से गलगुटिकाशोथ के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ऋतु परिवर्तन के समय शीत लग जाने से भी रोग हो जाने का भय रहता है।

लक्षण—इस रोग में गलगुटिकाएँ बड़ी एवं रक्तवर्ण दिखलाई देती है। शोथ की अवस्था में ज्वर, कंठ मे वेदना, मुख में थूक अधिक आना, खाँसी, शिरशूल, भोजन निगलने मे कष्ट, श्वसन दुर्गंधित आदि लक्षण उपस्थित रहते हैं।

गलगुटिकाओं के पृष्ठ पर पीतवर्ण के पीव के धव्वे दिखलाई देते है। यदि रोग का उचित उपचार नहीं किया जाता तो गलगुटिकाओं की यह अवस्था स्थायी हो जाती है और थोड़े थोड़े समय के अंतर पर ये कष्ट देने लगती हैं।

उपचार—उग्र अवस्था मे सल्फा औपधों का उपयोग करने से लाभ होता है। पोटासियम परमैंगनेट के तनु विलयन, या लवणजल का गरारा (gargle) करना चाहिए। दीर्घस्थायी अवस्था में शल्यकर्म द्वारा गल-गुटिकाओं को निकलवा देना चाहिए। (क० दे० मा०)

गलनीय धातु कुछ मिश्रधातुएँ, जो सरलता से निम्न ताप पर ही पिघल जाती हैं, गलनीय धातु कही जाती हैं। ऐसी मिश्रधातुओं मे साधारणतया विस्मथ, वंग, सीस, कैडमियम या पारा रहते हैं। वंग, सीस अथवा इनसे प्राप्त मिश्रधातुओं में विशेष अनुपात में विस्मथ मिलाने से गलनांक कम हो जाता है। ऐसी कुछ तृतीयक (Ternary) धातुओं का गलनांक पानी के उवलने के ताप से भी कम है। न्यूटन की धातु (Newton's metal), जिसमें ५०% विस्मथ के साथ ३१.२५% सीस तथा १८.७५% वंग रहता है, ९८° सें० पर पिघलती है। इन्हीं धातुओं से प्राप्त रोज़ (Rose), दार्सेट (D'Arcet) तथा लिचेनवर्ग (Lichtenberg) की धातुएँ भी कम ताप पर गलनीय है। इनमें ५० भाग विस्मथ के साथ विविध मात्रा में वंग और सीस रहते हैं। इनमे कैडमियम मिलाने पर और भी कम ताप पर पिघलनेवाली चतुर्थक (qwarternary) धातुएँ प्राप्त होती हैं। पारा मिलाने से भी गलनांक कम हो जाता है।

वुड की धातु (Wood's metal) मे, जो ७१° सें० पर पिघलता है, ५० भाग विस्मथ, २५ भाग सीस, १२.५ भाग कैडमियम और १२.५ भाग वंग रहते हैं। इन्हीं चारों धातुओं से लिपोविट्ज (Lipowitz) धातु भी प्राप्त होती है।

ये मिश्रधातुएँ वायलर के सुरक्षाडाट (safety plug), स्वचालित छिड़काव करनेवाले (automatic sprinkler) तथा अग्निसे वचाव के अन्य उपकरणों में प्रयुक्त होती है। ताप की निश्चित सीमा से ऊँचा होने पर इन धातुओं से निर्मित डाट गल जाते हैं। जैसे आग लगने पर, अथवा विशेष ऊँचा ताप होने पर, पानी के नल में लगे ऐसे डाट के गलने से पानी का प्रवाह स्वयं ही आरंभ हो जाता है। अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में, जैसे विद्युत् का फ्यूज़, सोल्डर तथा गैसप्रवाह के रोक बनाने और पतली नली को मोड़ने में भी इन धातुओं का उपयोग होता है। पारेवाली ऐसी मिश्र धातुएँ शरीर के विभिन्न अंगों के साँचे बनाने में काम आती है।

सं० ग्रं०—जे० एफ० थॉर्प और एम० ए० व्हाइटले : थॉर्प्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री; चार्ल्स डी० हॉजमैन : हैंडवुक ऑव केमिस्ट्री ऐंड फ़िज़िक्स। (वि० वा० प्र०)

गलता (गालव ताल) राजस्थान प्रदेश के जयपुर जिले का एक प्रसिद्ध तान्न। कहते हैं, प्राचीन काल में गालव ऋषि यहाँ तप करते थे। गालव ताल का अपभ्रंश रूप गलता है। वर्षा का जल तो इसमें रहता ही है, एक गोमुख सा ऊँचे पर बना है जिसमें से अरावली पहाड़ियों से होकर जल वरावर आता रहता है किंतु उस जल के स्रोत का पता नहीं है। (स०)

गल्फ स्ट्रीम अंध महासागर की गहरी नीली, गर्म, समुद्री धारा जो मेक्सिको की खाड़ी से ७० मील प्रति दिन की गति से फ्लोरिडा जलसंयोजक से होती हुई उत्तर-पूर्व दिशा मे सयुक्त राज्य अमरीका के पूर्वी तट के समातर चलती है। यह ५० मील चौड़ी और २,००० फुट गहरी धारा आयतन में मिसीसिपी नदी से लगभग १,००० गुना वड़ी है। ठंढे पानी की एक पतली धारा, जिसे सेलर्स कोल्ड विल (Sailor's Cold Will) कहते है, इसे तट से अलग करती है। आगे बढ़ने के साथ इसकी गति भी मद होती जाती है। न्यूफाउंडलैंड तट के बाद यह पूर्व की ओर मुड़ जाती है। ४०° उ० अ० और ४५° प० दे० पर इसका विलय उत्तरी अंध महासागर के गर्म जलप्रवाह (North Atlantic Drift) मे हो जाता है और फिर दोनों एक साथ उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिणी यूरोप के तट पर प्रवाहित होती है। ३०° प० दे० पर इसकी दो शाखाएँ, उत्तरी और दक्षिणी हो जाती हैं। इस धारा की उत्पत्ति मे व्यापारिक हवाएँ, ब्राजील के उत्तर-पूर्वी तट का आकार तथा ताप सहायक होते हैं। जलवायु पर इस धारा का विशेष प्रभाव पड़ता है। पश्चिमी और उत्तरी यूरोप की जलवायु को सम बनाने का श्रेय इसी धारा को है। हैमरफेस्ट, जो सुदूर उत्तर मे होने पर भी वर्ष भर जहाजों के आवागमन के लिये खुला रहता है, वह इस धारा और उत्तरी अंध महासागर के प्रवाह के प्रभाव से ही। जलयानायात मे भी इस धारा से सुविधा मिलती है।

(कैं० ना० सिं०)

गवर्नर जनरल अंग्रेजी भाषा मे गवर्नर शब्द का अर्थ शासक है। ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत विभिन्न स्तर की इकाइयाँ थीं। कुछ उपनिवेश थे, कुछ संरक्षित राज्य थे और कुछ शासनादेश भी थे। अतः ब्रिटिश साम्राज्य के अतर्गत होने के नाते ब्रिटिश राजमुकुट के प्रतिनिधि, जो अपने पदों, शक्तियों और स्तरो के अनुसार गवर्नर जनरल, गवर्नर या लेफ्टिनेंट गवर्नर कहलाते थे, इन इकाइयो पर शासन करते थे।

१७७३ के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के पूर्व बंगाल, मद्रास तथा बंबई मे संचालकों द्वारा नियुक्त कंपनी का एक एक गवर्नर रहता था। इन गवर्नरों के अधिकार समान थे। अतः भारतीय राज्यक्षेत्र के अंदर कोई ऐसा अधिकारी नही था जिसकी आज्ञाएँ सर्वमान्य हों। रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के द्वारा भारतीय प्रदेशों का राजनीतिक एकीकरण हुआ, बंगाल का गवर्नर जनरल बनाया गया और बंबई और मद्रास के गवर्नर इसके अधीन कर दिए गए। गवर्नर जनरल की सहायता के लिये चार सदस्यों की एक कौंसिल नियुक्त कर दी गई। १७७३ में भारत का पहला गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज़ नियुक्त हुआ। हेस्टिंग्ज़ को विकट समस्याओं का सामना करना पड़ता था क्योंकि उसके सहायतार्थ जो समिति संगठित हुई थी, वह उसका विरोध करती थी। अतः केंद्रीय शासन को सुधारने के लिये पार्लमेंट को नए ऐक्ट बनाने पड़े जिनमें १७८१, १७८६ तथा १८५८ के ऐक्ट विशेष उल्लेखनीय हैं। सन् १८५८ में महारानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा द्वारा लार्ड केनिंग को अपना प्रथम वाइसराय तथा गवर्नर जनरल बनाया। फलस्वरूप गवर्नर जनरल को वाइसराय की उपाधि प्राप्त हुई। अतः अब ईस्ट इंडिया कंपनी से शासनसत्ता छीनकर उसे ब्रिटिश पार्लमेंट के अधीन करने का निश्चय हुआ। अब से भारतीय शासन महारानी विक्टोरिया के नाम से होगा, ऐसी घोषणा १८५१ में की गई। अस्तु, भारत के शासन का सत्ताधिकार ब्रिटिश क्राउन के अधीन हो गया अतः १८५६ से गवर्नर

जनरल तथा वाइसराय इन दो शब्दों के दो अर्थ हो गए। गवर्नर जनरल का पद भारत के शासक के रूप में था। उसके पद एवं अधिकार कानून के द्वारा निश्चित किए गए थे और भारत म वह ब्रिटिश राजशक्ति (राजा) का प्रतिनिधि था। वाइसराय की उपाधि के पीछे कोई कानूनी उद्‌घोषणा नहा थी। पार्लमेंट के द्वारा भारत के शासन के लिये जो अधिनियम बनाए गए है उनमे गवर्नर जनरल शब्द का प्रयोग है, वाइसराय शब्द का प्रयोग नहीं है। परतु लार्ड केनिंग के बाद जितने गवर्नर जनरल हुए वे वाइसराय की उपाधि से विभूषित थे। वस्तुत वाइसराय भारत में इग्लैंड के राजा का प्रतिनिधि होने से वह ब्रिटिश राजा का प्रतीक था और गवर्नर जनरल ब्रिटिश राजमुकुट का प्रतिनिधि था। भारतीय सविधान में गवर्नर जनरल का स्थान अद्वितीय रहा है। उसकी सवैधानिक शक्तियाँ अत्यधिक थी। रैमजे मैकडोनल्ड के अनुसार 'वाइसराय प्रभुशक्ति का आदरसूचक चिह्न तथा भारत मे ब्रिटिश राजमुकुट का स्वरूप है।' प्रेसिडेंट लावेल के शब्दो मे 'आधुनिक ससार मे दो ही अनियत्रित सत्ताधारी शासक है—एक रूस का जार तथा दूसरा भारत का वाइसराय और गवर्नर जनरल।' १८५७ के विद्रोह के बाद भारतीय शासन पर ब्रिटिश राजतत्र का पूर्ण अधिकार स्थापित हो गया। भारत मे इस शासनतत्र का प्रतिनिधि गवर्नर जनरल था। भारतीय लोकमत को सतुष्ट करने के लिये ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा अधिनियम निर्मित हुए जिनमे १६०६, १६१६ तथा १६३५ के भारतीय ऐक्ट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सुधारो के द्वारा सपूर्ण अधिकार गवर्नर जनरल के हाथो में सुरक्षित रखे गए थे। १६३५ के ऐक्ट मे पहले के विधानो की अपेक्षा उत्तरदायी शासन स्थापित करने की ओर एक लबा कदम उठाया गया था। परतु इससे भारतीय लोकमत सतुष्ट नहीं था। प्रथम तो गवर्नर जनरल तथा गवर्नर के विशेषाधिकार काफी विस्तृत थे। १६३५ के सविधान के अनुसार गवर्नर जनरल सघराज्य के सर्वोच्च शासकीय अधिकारी थे। वाइसराय का पद इस पद से सर्वथा अलग था पर प्रचलित प्रथा के अनुसार दोनो ही पदो के लिये एक ही व्यक्ति नियुक्त किए जाने की व्यवस्था थी। सविधान द्वारा द्वैध प्रणाली के आधार पर केंद्र मे आशिक उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था की गई थी। देशरक्षा, ईसाई धर्म, परराष्ट्र सबध, कबायली प्रदेशो की देखभाल आदि सरक्षित विषय निश्चित हुए थे। इनका शासन गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार भारत मत्री के निरीक्षण मे, उनके आदेशानुसार करते थे। अन्य कर्तव्यों का पालन मत्रिमडल की सहायता एव मत्रणा से होता था। इनकी नियुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा होती थी। अत १६३५ के शासनसबधी ऐक्ट द्वारा गवर्नर जनरल के कुछ अधिकार साधारण तथा कुछ असाधारण श्रेणी के थे। साधारण अधिकारो का प्रयोग उन्हे मत्रियो के परामर्श से और विशेपाधिकारो का प्रयोग अपने विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार करना था। उक्त दोनो प्रकार के कामो को गवर्नर जनरल मत्री के निरीक्षण मे उनके आदेशानुसार करता था। अत गवर्नर जनरल को जो अनेक अधिकार दिए गए थे उनका वर्गीकरण इस प्रकार से किया जा सकता है: शासनसबधी अधिकार, विधानमडल सबधी अधिकार, तथा विशेष उत्तरदायित्व के अधिकार। गवर्नर जनरल सम्राट् का प्रतिनिधि अर्थात् वाइसराय होने के नाते भारतीय रियासतों से सबधित विषयो तथा सम्राट् के अधिकारो की रक्षा और उनके कर्तव्यो के पालन के लिये भी उत्तरदायी थे। अत गवर्नर जनरल निरकुश शासक थे। मार्च, १६४७ मे गवर्नर जनरलो की इस महान् परपरा के अतिम गवर्नर जनरल लार्ड लुई माउटबैटन हुए। उन्होंने जून मे भारतविभाजन की योजना प्रस्तुत की और १८ जुलाई, १६४७ को भारत-स्वतत्रता-अधिनियम पारित किया गया तथा चक्रवर्ती राजगोपालाचारी भारत के अतिम गवर्नर जनरल हुए। (गु० ते०)

गल्वा, सर्वियस सर्पीशियस (ई० ५०४–६६ ई०) रोमन सम्राट्। उच्च कुल मे जन्म और धन के बल पर ३३ ई० में कौंसुलशिप प्राप्त कर गाल, अफ्रीका और स्पेन का प्रशासन किया। इस काल मे उसे साहस, निष्पक्ष न्याय और शासन योग्यता के लिये बड़ी ख्याति मिली। फलत जब विडेक्स ने नीरो के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया तब उसने गल्वा को सम्राट् घोषित कर दिया। अत वह जून, ८६ ई० मे स्पेन से रोम आया। किंतु रोम मे वह शासन के अयोग्य सिद्ध हुआ और शीघ्र ही उसकी लोकप्रियता खो गई। उसके कठोर व्यवहार को लोगो ने अत्याचार की सज्ञा दी। जब उसने पीसो को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया तो ओथो विद्रोह कर बैठा और जनवरी, ६६ मे गल्वा की हत्या कर दी गई। इस प्रकार वह कुल ६-७ मास सम्राट् के पद पर रहा। (प० ला० गु०)

गवल या गौर बोविडी कुल (Bavidae Family) के शफ गण (Order Ungulate) का एक जगली स्तनपोषी, शाकाहारी पशु है। भारतके भिन्न भिन्न भागों मे इसका भिन्न भिन्न स्थानीय नाम है, जैसे गौरी गाय, वोदा इत्यादि।

गवल का सिर बड़ा, शरीर मासल तथा गठीला और भुजाएँ पुष्ट होती है। यह आकृति से ही ओजस्वी और बलवान् प्रतीत होता है। कुछ नरों की कधे तक की ऊँचाई ६ फुट तक होती है, पर इसकी सामान्य औसत ऊँचाई ५ फुट से लेकर ५ फुट १० इच तक होती है। मादा पाँच फुट से ज्यादा ऊँची नही होती। लबाई में नर लगभग नौ फुट के और मादा सात फुट तक की होती है। इसकी सीगें अग्रेजी के अक्षर सी (C) की आकृति की और लबाई मे २७ से ३० इच तक की होती हैं। नर तथा मादा दोनो को सीगें होती है, किंतु मादा की सीगें अपेक्षाकृत छोटी निर्बल, बेलनाकार और नुकीली होती है। गवल के स्कध पर मासल पुट्ठा होता है, जो पीठ की ओर क्रमश ढालुआ होता हुआ एकाएक समाप्त हो जाता है। दुम ठेहुने तक लबी होती है।

गवल का रग बचपन से वृद्धावस्था तक एक समान नही रहता, बल्कि बदलता रहता है। नवजात शिशु का रग हल्का सुनहला पीला होता है। अल्प काल के उपरात यह रग हल्का पीला हो जाता है। पुन कुछ कालोपरात यह भूरा हो जाता है। वयस्क नर या मादा का रग काफी जैसा, अर्थात् ललाई लिए भूरा, होता है। प्रौढावस्था मे यह रग बदलकर काजल जैसा काला तथा शरीर निर्लोम हो जाता है। कपाल का रग खाकी तथा पीलापन लिए और आँखो का रग भूरा होता है। कुछ का रग हलका होता है और प्रतिबिंब के कारण नीला प्रतीत होता है। पैरो का रग घुटने के कुछ ऊपर से लेकर नीचे खुर तक श्वेत होता है।

गवल पहाडी पशु है। यह मुख्यत विस्तृत जगलो मे ही रहता है। कतिपय ऋतुओं मे गवल चारागाह की टोह मे निम्न सतह पर भी उतर आता है। गवल के चरने का समय प्रात ६ बजे या कुछ उपरात तक

गवल या गौर

और पुन मध्याह्नोत्तर होता है। यदि मौसम शीतल और आकाश मेघाच्छन्न रहा तो दोपहर मे भी यह चरता रहता है। ग्रीष्म ऋतु में दोपहर को यह वन के किसी शात एव छायादार स्थान मे विश्राम करता है। इसका मुख्य आहार घास पात तथा बाँस के नरम कल्ले हैं। पेडो की पत्तियो और कोमल छाल से भी इसे रुचि है।

साधारणतः गवल परिवार में आठ या दस सदस्य होते हैं। ये सदस्य एक गरोह में रहा करते हैं। मैथुन ऋतु के अतिरिक्त अन्य समय में सभी आयु के नर तथा मादा मिल जुलकर हेलमेल के साथ रहते हैं। वयस्क हो जाने पर नर समूह से निकलकर अकेले, अथवा अन्य नरों के साथ, आहार की खोज में निकल पड़ता है। साधारणतया ये परित्यक्त गवल गिरोह से अधिक दूर नहीं जाते। मैथुन ऋतु में समस्त नर पुनः समूह में आकर मिल जाते हैं।

मैथुन ऋतु में वयस्क नर गवलों का पारस्परिक सद्भाव और सहिष्णुता मिट जाती है और मादा पर आधिपत्य स्थापना के लिये स्पर्धा एवं द्वंद्वयुद्ध होने लगता है। इस स्पर्धा में जो नर विजयी होता है वह समूह के समस्त वयस्क मादा गवलों का एकमात्र स्वामी हो जाता है। वह अन्य वयस्क नरों को गरोह से मार भगाता है और अपनी प्रेयसियों के साथ किसी क्षेत्रविशेष में चरने के लिये उपनिवेश सा बना लेता है। मैथुन ऋतु की समाप्ति पर नर गवल अपनी पत्नियों का परित्याग कर अकेला जीवनयापन करने लगता है। नर का एकाकी, अथवा अन्य नरों के साथ जीवनयापन आगामी मैथुन ऋतु तक चलता रहता है। मैथुन ऋतु के आगमन पर वह मादा आधिपत्य प्रतियोगिता में भाग लेने के लिये पुनः उन्मत्त हो जाता है और समूह में आ मिलता है। मैथुन करते समय नर एक प्रकार की सीटी अथवा बाँसुरी जैसी विचित्र ध्वनि करता है, जो इस जानवर के डीलडौल को देखते हुए बहुत हास्यास्पद मालूम होती है। मैथुन शक्ति क्षीण हो जाने पर वृद्ध नर सर्वदा के लिये एकाकी जीवन व्यतीत करने लगता है।

मादा गवल किसी एकांत स्थान में बच्चा जनती है। ९-१० महीनों पर यह एक या दो बच्चे जनती है। नवजात शिशु उत्पन्न होने के कुछ ही क्षण के उपरांत उछलने कूदने लगता है। साधारणतया प्रसूता गवल शिशु के समीप ही रहती है और शिशु के बड़े हो जाने पर समूह में संमिलित हो जाती है। किंतु किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका होने पर वह शिशु को त्यागकर समूह में मिल जाती है। मैथुन ऋतु के अतिरिक्त नर मादा से पृथक् ही रहता है और संतान पालन तथा समूह का नेतृत्व मादा ही करती है।

मध्य प्रदेश में गवल का मैथुनकाल दिसंबर, जनवरी होता है और संतानोत्पत्ति वर्षाऋतु के उपरांत सितंबर में होती है। मैसूर में भी गवलों का यही ऋतुकाल है, यद्यपि दिसंबर मास तक संतानोत्पत्ति होती रहती है।

गवल निपुण आरोही होता है और खड़ी पहाड़ियों पर भी अत्यंत सरलतापूर्वक तथा शीघ्रता से चढ़ जाता है। हाथी तथा गवल समानभोजी तथा वियागप्रेमी होते हैं, अतः साथ ही साथ चरते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। हाथी लंबे बाँसों को खींचकर झुका देता है और गवल उनकी पत्तियों तथा टहनियों को सुगमतापूर्वक प्राप्त कर लेता है। हाथी जैसे मित्र तथा बाघ जैसे शत्रु के अतिरिक्त गवल का अन्य वन्य पशुओं से कोई लगाव नहीं होता। ग्रीष्म ऋतु में तथा मानसून के उपरांत मक्खियाँ इन्हें बहुत सताती हैं, अतएव मक्खियों से बचने के लिये गवल मैदानों में चले आते हैं।

अन्य वन्य पशुओं की अपेक्षा इसकी दृष्टि तथा श्रवणशक्ति कमजोर होती है। यह स्वभावतया शर्मीला और भीरु होता है, किंतु कभी कभी मनुष्य पर आक्रमण भी कर बैठता है। यदि नर एकाकी हुआ तो वह बिना किसी प्रकार की उत्तेजना के भी अकारण आक्रमण कर बैठता है। न तो यह खेतों में प्रवेश करता है और न कृषि को ही हानि पहुँचाता है। पालतू, रोगी पशुओं द्वारा चरी हुई घास खाने से इनमें भी खुर तथा मुँह के रोगों का संक्रमण हो जाता है। गवल अनेक प्रकार की बोलियों द्वारा अपने समूह के अन्य सदस्यों को अपना मंतव्य प्रकट करते हैं।

यूरोपीय शिकारी गवल को बाइसन (Bison), एक प्रकार का जंगली भैंसा, कहते हैं, परंतु भारतीय गवल को बाइसन कहना ठीक प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः यूरोप तथा उत्तरी अमरीका के बाइसन भारतीय गवल से भिन्न होते हैं। पाश्चात्य बाइसनों की सींगें छोटी और रुक्ष दाढ़ियाँ होती हैं।

गवल भारत प्रायद्वीप, असम, बर्मा, मलाया प्रायद्वीप तथा स्याम के पहाड़ी वनों में पाया जाता है। इसका सर्वोत्तम विकास दक्षिण भारतीय पहाड़ियों तथा असम में होता है। किसी समय यह प्राणी लंका में भी प्राप्य था, किंतु अब वहाँ से, संभवतः किसी पशुरोग के ही कारण, लुप्त हो गया है।

सं० ग्रं०—फ़ैक फ़ीन : स्टर्नडेल्स मैमेलिया ऑव इंडिया (२); एस० एच० प्रेटर : द बुक ऑव इंडियन ऐनिमल्स। (भू० ना० प्र०)

गशरब्रुम (पर्वत)—हिमालय की मुख्य पर्वतमाला कराकोरम की एक ऊँची चोटी (२६,४७०') उत्तरी कश्मीर में ३५°४४' उ० अ० और ७६°४२' पू० दे० पर स्थित है। इसे गुप्त या अज्ञात चोटी (Hidden peak) भी कहा जाता है, यह श्रेणी गाडविन आस्टिन पर्वत के दक्षिण-पूर्व में है। इसपर १९३४ ई० में द्वितीय 'डीह्रेनफर्थ (Dyhrenfurth) हिमालयन एक्सपेडिशन' द्वारा चढ़ने का प्रयास किया गया था। इसके बाद सन् १९३६ में फ्रांसीसी पर्वतारोहण अभियान हुआ।

इस चोटी के ठीक उत्तर-पूर्व में गशरब्रुम द्वितीय पर्वत भी है जिसकी ऊँचाई २६,३६०' है और जो ३५°४६' उ० अ० तथा ७६°३९' पू० दे० पर स्थित है। इसके अतिरिक्त गशरब्रुम तृतीय (२६,०९०') और गशरब्रुम चतुर्थ (२६,०००') चोटियाँ भी पास ही में हैं। इस क्षेत्र में हिमालय की कुछ बड़ी हिमसरिताएँ, जैसे बालटोरो, हिस्पार, वियाफो सियाचेन तथा गाडविन आस्टिन (आटविन-आस्टिन या के के' आधार के पास में), हैं। (रा० प्र० सिं०)

गहड़वाल एक क्षत्रिय राजवंश। इस वंश के मूल स्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है किंतु विशेष ख्याति इन्होंने कन्नौज और काशी के प्रदेश में ही प्राप्त की। कदाचित् किसी समय ये प्रतिहारों के सामंत थे। प्रतिहार साम्राज्य के नष्ट होने पर गांगेयदेव और कर्ण कलचुरि ने उत्तर प्रदेश में कुछ समय तक शांति रखी। किंतु कर्ण के यत्र तत्र शत्रुओं से पराजित होने पर अनेक सामंतों ने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की। इनमें गहड़वालवंशी चंद्रदेव भी था।

देश पर बार बार मुसलमानी आक्रमणों से प्रजा त्रस्त थी। चंद्रदेव (१०८९–११०३ ई०) ने एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना कर काशी, कुशिक (कान्यकुब्ज), उत्तरकोसल (अयोध्या) और इंद्रप्रस्थ आदि पवित्र स्थानों की रक्षा की। कन्नौज अनेक महाराज्यों की राजधानी रह चुका था। अब इसपर गहड़वालों का अधिकार हुआ। चंद्रदेव ने कुछ समय के लिये वहाँ पर अपनी राजधानी की स्थापना की, किंतु उसके बाद वाराणसी गहड़वालों की राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित हुई। चंद्रदेव के पुत्र मदनपाल के समय मसूद गजनवी ने कन्नौज को लूटा। मदनपाल स्वयं कुछ न कर सका। किंतु महाराजकुमार गोविंदचंद्र ने स्थिति सँभाली और मुसलमानी सैन्य को हराकर देश की रक्षा की। इसके बाद भी मुसलमानों ने राज्य पर आक्रमण किए। इनमें से एक आक्रमण में मुसलमानी सेनानायक मारा गया।

गहड़वाल वंश का सबसे प्रतापी राजा गोविंदचंद्र था। उसके समय राज्य का चारों ओर विस्तार हुआ। उत्तर में श्रावस्ती, उत्तर-पूर्व में घग्घर और छोटी गंडक के पार पाली, लार और दोनबुर्ग आदि स्थानों और पूर्व में मनेर (पटना, बिहार) आदि स्थानों से उसके शिलालेख मिले हैं। मुंगेर भी उसके अधिकार में था। दक्षिण की ओर कलचुरियों को हराकर उसने अश्वपति, नरपति, गजपति राज्यत्रयाधिपति का विरुद धारण किया। पश्चिम की ओर उसका राज्य [illegible] तक पहुँच चुका था। पूर्वी मालवे में उसने अपने पौत्र जयचंद्र के जन्मदिन [illegible] को हराया। मुसलमानों के विरुद्ध भी उसे सफलता मिली जिसका कारण केवल गोविंदचंद्र का शौर्य ही नहीं, गजनवी सुल्तानों के गृहयुद्ध भी थे।

गोविंदचंद्र कुशल राजनीतिज्ञ भी था। कुमारदेवी से विवाह कर उसने कुछ समय के लिये पालों के विग्रह को शांत कर दिया और इस तरह से प्राप्त शांति को दूसरे शत्रुओं को दबाने में प्रयुक्त किया। रत्नपुर के चेदियों और चंदेलराज मदनवर्मा से उसका संबंध मैत्रीपूर्ण था। चोल, गुजरात और काश्मीर से भी उसके सांस्कृतिक संबंध के प्रमाण हमें प्राप्त हैं।

गोविंदचंद्र के दरबार मे विद्वानों का आदर था। कृत्यकल्पतरु का विद्वान् लेखक भट्ट लक्ष्मीधर उसका सांधिविग्रहिक था और राजा की प्रेरणा से ही संभवतः उसने राजधर्म, व्यवहार आदि विषयों पर ग्रंथ लिखे। अपने पुत्रों को संस्कृत मे सुशिक्षित करने के लिये गोविंदचंद्र ने दामोदर पंडित से उक्तिव्यक्तिविवेक नामक ग्रंथ की रचना करवाई। उसकी निजी विद्वत्ता उसके विविध-विद्या-विचार-वाचस्पति नामक विरद मे प्रकट है।

गोविंदचंद्र के पुत्र विजयचंद्र ने लगभग चौदह वर्ष तक राज्य किया। उसके राज्यकाल में भी मुसलमानों से कुछ लड़ाइयाँ हुईं। पूर्व की ओर से लक्ष्मणसेन ने भी गहड़वाल राज्य पर आक्रमण किया। शायद नैषधकार कवि श्रीहर्ष उसका राजपंडित रहा हो।

गहड़वालवंश का अंतिम प्रतापी राजा जयचंद्र सन् ११७० में गद्दी पर बैठा। अपने दादा गोविंदचंद्र की तरह उसने भी चंदेलों से मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखा। किंतु चाहमानों से उसका आरंभ से ही विद्वेष रहा। पूर्व में लक्ष्मणसेन ने गहड़वाल राज्य पर कुछ आक्रमण किए जिनसे धन जन की कुछ हानि हुई होगी। किंतु ऐसे छोटे मोटे आक्रमण सहने की शक्ति गहड़वाल राज्य में थी। जब मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण किया तब जयचंद्र ही सबसे अधिक साधनसंपन्न राजा था। कवियों ने उसे दलपंगुल नाम दिया है, क्योंकि उसकी सेना इतनी बहुसंख्यक थी कि उसे बढ़ने के लिये मानों एक ओर से गंगा का तो दूसरी ओर से यमुना का सहारा लेना पड़ता था।

अजमेर में जयचंद्र के समय दो प्रतापी चौहान राजा हुए, सोमेश्वर और उसका पुत्र पृथ्वीराज तृतीय। परंपरागत कथाओं में दिल्ली पर अधिकार की अभिलाषा चौहानों और गहड़वालों के वैमनस्य के कारण के रूप में प्रस्तुत की गई। यह संभवतः ठीक हो। दिल्ली पर चौहानों का अधिकार गहड़वालों को अखरा होगा। पृथ्वीराज के समय यह वैमनस्य और बढ़ा। पृथ्वीराज ने जयचंद्र के मित्र परमर्दि के देश को लूटा, भादानक राज्य को अपने अधिकार में कर लिया और चारों ओर अपने राज्य को बढ़ाने का प्रयत्न किया। भाटों की अनुश्रुति के अनुसार, कहा जाता है, जयचंद्र ने जब राजसूय यज्ञ करने का प्रयत्न किया तब पृथ्वीराज ने उसे विफल किया। स्वयंवर से जयचंद्र की पुत्री संयोगिता का अपहरण कर उसने विद्वेषाग्नि में और आहुति दी। इसका फल दोनों राज्यों के लिये बुरा हुआ। तलावड़ी के दूसरे युद्ध में पराजित होकर पृथ्वीराज ने अपना राज्य ही नहीं प्राण भी खोए। लगभग एक साल बाद सन् ११९३ या ११९४ में जयचंद्र भी चंदवाड़ के युद्ध में पराजित होकर मारा गया। गहड़वाल महाराज्य की सन् ११९३ में समाप्ति हुई, किंतु गहड़वालवंश का राज्य उसके बाद भी कुछ समय तक चलता रहा। इस समय गहड़वाल अधिकतर अंतर्वेद और मध्यदेश में हैं। राजस्थान के जोधपुर, बीकानेर आदि के राठौड़ भी अपने को जयचंद्र का वंशज मानते हैं, किंतु यह मत इतिहाससंमत नहीं प्रतीत होता। (द० श०)

गांगेयदेव (सन् १०१५–१०४१ ई०) सन् १०१५ के लगभग गांगेयदेव कलचुरि चेदि राज्य के सिंहासन पर बैठा। उसके पिता कोकल्लदेव द्वितीय और दादा युवराजदेव द्वितीय के समय राज्य की स्थिति कुछ कमजोर हो चली थी। गांगेयदेव ने इस स्थिति को केवल सँभाला ही नहीं, उसने चेदिराज को फिर भारत का अत्यंत शक्तिशाली और प्रभावशाली राज्य बना दिया।

कोकल्ल द्वितीय के समय चेदिराज्य और कल्याण के चालुक्यों में लड़ाई आरंभ हो चुकी थी। गांगेयदेव के समय यह चलती रही। गांगेयदेव ने परमार राजा भोज और चोलराज राजेंद्र से मिलकर चालुक्य राजा जयसिंह पर आक्रमण किया, किंतु इस आक्रमण में इसे कुछ विशेष सफलता न मिली। परमारों में क्षणिक मैत्री को भी समाप्त होने में देर न लगी। गांगेयदेव परमार राजा भोज के हाथों परास्त हुआ और शायद, इसी करारी पराजय के कारण 'कहाँ राजा भोज, कहाँ गांगा तेली' की कहावत प्रसिद्ध हुई।

गांगेयदेव ने इसके बाद पूर्व की ओर अपनी दृष्टि की। उसने उत्कल और दक्षिण कोसल के राजाओं को हराया और उनसे काफी धन वसूल किया। मगधराज नयपाल ने भी पराजित होकर उसे बहुत सा धन दिया। किंतु उसकी सबसे महत्वपूर्ण विजय चंदेलों पर हुई। अपने राज के आरंभकाल मे शायद उसे चंदेलराज विद्याधर के सामने नतमस्तक होना पड़ा था। किंतु उसकी मृत्यु के बाद गांगेयदेव ने चंदेलों को परास्त कर मध्यदेश पर अपने आधिपत्य के लिये रास्ता साफ कर लिया। प्रतिहार राज्य अब समाप्त हो चुका था। उनकी अविद्यमानता में हिंदू संस्कृति और हिंदू तीर्थों की रक्षा का भार गांगेयदेव ने ग्रहण किया। उसने तीर्थराज प्रयाग को प्राय: अपने वासस्थान में ही परिणत कर लिया। काशी के पवित्र तीर्थ पर भी सन् १०३० में उसका अधिकार था। उत्तर में काँगड़े तक उसकी सेनाओं ने धावे किए। उत्तर प्रदेश में अब भी उसकी मुद्राएँ मिलती हैं। इनमें एक ओर गांगेयदेव का नाम और दूसरी ओर लक्ष्मी की मूर्ति है।

अपनी महान् विजयों के उपलक्ष में गांगेयदेव ने विक्रमादित्य का विरुद धारण किया। विद्वानों का उसने आदर किया और अनेक शैव मंदिर बनवाए। फाल्गुन कृष्णा, द्वितीया, वि० सं० १०७७ (२२ जनवरी, सन् १०४१) को उसका देहांत हुआ। (द० श०)

गाँजा एक मादक द्रव्य जो कैनाबिस सैटाइवा (Cannabis sativa Linn) नामक वनस्पति से प्राप्त होता है। यह मोरेसिई (Moreaceae) कुल के कनाब्वायडी समुदाय का पौधा है। यह मध्य एशिया का आदिनिवासी है, परंतु समशीतोष्ण एवं उष्ण कटिबंध के अनेक प्रदेशों में स्वयंजात अथवा कृषिजन्य रूपों में पाया जाता है। भारत में बीज की बोआई वर्षा ऋतु में की जाती है। गाँजे का क्षुप प्राय: एकलिंग, एकवर्षायु और अधिकतर चार से आठ फुट तक ऊँचा होता है। इसके कांड सीधे और कोणयुक्त, पत्तियाँ करतलाकार, तीन से आठ पत्रकों तक में विभक्त, पुष्प हरिताभ, नर पुष्पमंजरियाँ लंबी, नीचे लटकी हुई और नारी मंजरियाँ छोटी, पत्रकोणीय शुकिओं (Spikes) की होती हैं। फल गोलाई
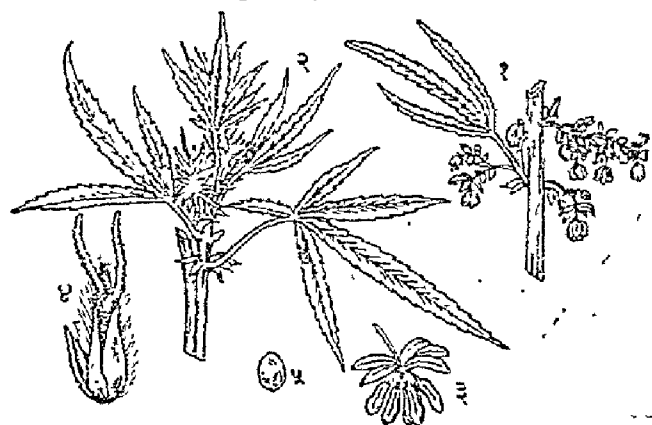
गाँजे के पौधे के भाग

१. तथा २. पुष्पित प्ररोह : १. नर तथा २. मादा पौधे का; ३. पुंकेसरी पुष्प; ४. स्त्रीकेसरी पुष्प तथा ५. फल।

लिए लट्टू के आकार का और बीज जैसा होता है। पौधे गंधयुक्त, मृदुरोमावरण से ढके हुए और रेज़िन स्राव के कारण किंचित् लसदार होते हैं। कैनाबिस के पौधों से गाँजा, चरस और भाँग, ये मादक और चिकित्सोपयोगी द्रव्य तथा फल, बीजतैल और हेंप (सन सदृश रेशा), ये उद्योगोपयोगी द्रव्य, प्राप्त किए जाते हैं।

गाँजा—नारी पौधों के फूलदार और (अथवा) फलदार शाखाओं को क्रमशः सुखा और दबाकर चप्पड़ों के रूप में गाँजा तैयार किया जाता है। केवल कृषिजात पौधों से, जिनका रेजिन पृथक् न किया गया हो, गाँजा तैयार होता है। इसकी खेती आर्द्र एवं उष्ण प्रदेशों में भुरभुरी, दोमट (loamy), अथवा बलुई मिट्टी में बरसात में होती है। जून जुलाई में बोआई और दिसंबर जनवरी में, जब नीचे की पत्तियाँ गिर जाती हैं और पुष्पित शाखाग्र पीले पड़ने लगते हैं, कटाई होती है। कारखानों में इनकी पुष्पित शाखाओं को बारंबार उलट पलटकर सुखाया और दबाया जाता है। फिर गाँजे को गोलाकार बनाकर दबाव के अंदर कुछ समय तक रखने पर इसमें कुछ रासायनिक परिवर्तन होते हैं, जो इसे उत्कृष्ट बना देते है। अच्छी किस्म के गाँजे में से १५ से २५ प्रतिशत तक रेजिन और अधिक स अधिक १५ प्रति शत राख निकलती है। कारखानों से निकलने के बाद चप्पड़ों में हलकी गंध, हलका हरापन, अथवा हरापन लिए भूरा रंग होता है और उनका रेज़िन सूखकर कड़ा और भंगुर हो जाता है।

चरस—नारी पौधों से जो रालदार स्राव निकलता है उसी को हाथ से काछकर अथवा अन्य विधियों से संगृहीत किया जाता है। इसे ही चरस या सुल्फा कहते हैं। ताजा चरस गहरे रंग का और रखने पर भूरे रंग का हो जाता है। अच्छी किस्म के चरस में ४० प्रति शत राल होती है। वायु के संपर्क में रखने से इसकी मादकता क्रमशः कम होती जाती है। रेजिन स्राव पुष्पित अवस्था में कुछ पहले निकलना प्रारंभ होता है और गर्भाधान के बाद बंद हो जाता है। इसलिये गाँजा या चरस के खेतों से नर पौधों को छाँट छाँटकर निकाल दिया जाता है। प्रायः शीततर प्रदेशों में यह स्राव अधिक निकलता है। इसलिये चरस का आयात भारत में बाहर से, प्रायः यारकंद से तिब्बत मार्ग द्वारा, होता रहा है।

भाँग—कैनाबिस के जंगली अथवा कृषिजात, नर अथवा नारी, सभी प्रकार के पौधों की पत्तियों से भाँग प्रायः तैयार की जाती है। पुष्पित शाखाएँ भी कभी कभी साथ में मिली पाई जाती है, परंतु नीचे की पुरानी और निष्क्रिय पत्तियाँ संग्रह के समय छोड़ दी जाती हैं। तैयार करते समय पत्तियों को बारी बारी से धूप और ओस में रखते है और सूख जाने पर इन्हें दबाकर रखते है। उत्तरी भारत के सभी प्रदेशों एवं मद्रास में, जंगली पौधों से, हलके दर्जे की भाँग तैयार की जाती है। भाँग, सिद्धि, विजया, सब्जी तथा पत्ती आदि नामों से यह प्रसिद्ध है।

उपयोग—गाँजा और चरस का तंबाकू के साथ धूम्रपान के रूप में और भाँग का शक्कर आदि के साथ पेय अथवा तरह तरह के माजूमों (मधुर योगों) के रूप में प्रायः एशियावासियों द्वारा उपयोग होता है। उपर्युक्त तीनों मादक द्रव्यों का उपयोग चिकित्सा में भी उनके मनोल्लास-कारक एवं अवसादक गुणों के कारण प्राचीन समय से होता आया है। ये द्रव्य दीपन, पाचन, ग्राही, निद्राकर, कामोत्तेजक, वेदनानाशक और आक्षेपहर होते है। अतः पाचनविकृति, अतिसार, प्रवाहिका, काली खाँसी, अनिद्रा और आक्षेप में इनका उपयोग होता है। वाजीकर, शुक्रस्तंभ और मनःप्रसादकर होने के कारण कतिपय माजूमों के रूप में भाँग का उपयोग होता है। अतिशय और निरंतर सेवन मे क्षुधानाश, अनिद्रा, दौर्बल्य और कामावसाद भी हो जाता है।

फ़ल और बीजतैल—स्वयंजात पौधों से, फलो का संग्रह, मुर्गी आदि पालतू चिड़ियों को खिलाने के लिये होता है। इसे पेरने पर लगभग ३५ प्रति शत हरितपीत तैल निकलता है, जिसका उपयोग प्रायः अलसी तैल के स्थान पर होता है।

हेंप—यद्यपि हेंप शब्द का व्यवहार कई जाति के पौधों से प्राप्त होनेवाले रेशों के लिये होता है, तथापि वास्तविक हेंप (true hemp) कैनाबिस के रेशे को ही कहते है। रेशे के लिये कैनाबिस की खेती यूरोप, अमरीका, चीन, जापान, भारत (अलमोड़ा आदि के ऊँचे पहाड़ी भागो एवं ट्रावनकोर) और कुछ कुछ नेपाल में होती है। इसके लिये किंचित् आर्द्र जलवायु और अच्छी दोमट मिट्टी चाहिए। नीचे की पत्तियो के गिरने और शाखाओं के पीले पड़ने पर खेत काटे जाते है। तनो को पानी (भारत) या ओस (यूरोप, अमरीका) में सड़ाकर रेशे पृथक् किए जाते हैं। पुष्पितावस्था के ठीक पहले काटी हुई फसल से उत्तम रेशे निकलते हैं। श्वेत या तृणवर्ण के और अलसीसूत्र (linen) के सदृश चमकवाले सूत्र उत्तम माने जाते हैं, यद्यपि भूरे, पीले, धूसर, हरे या काले सभी रंग के रेशे निकलते है। सूत्र लंबाई में प्रायः ४० से ८० इंच तक बड़े, सूत्राग्र कुंठित, गोल और पृष्ठ असमतल होता है। जिन कोशों से ये बने होते है, वे प्रायः पौन इंच लंबे और २२ म्यू (म्यू = १/१,००० मिमी०) मोटे होते हैं। इनका कोषावरण सैलूलोज और लिग्नोसैलूलोज का बना होता है। हेंप सूत्रों का उपयोग पतली डोरियों, रस्से, पाल आदि के विशेष प्रकार के कपड़े और गलीचे बनाने में होता है। हेंप कांड का उपयोग मोटे किस्म का कागज बनाने में भी हो सकता है। (व० सिं०)

गाँठ विभिन्न वस्तुओं को बाँधकर जोड़ने के लिये रस्सी, सूत या डोर का अंतर्ग्रथन गाँठ कहलाता है। यह शब्द गाँठ की तरह दिखाई पड़नेवाले किसी भी दृढ़ पिंड के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है; उदाहरणार्थ पेड़ के तने पर शाखा फूटने के स्थान पर बने पिंड को भी गाँठ कहते है। आलंकारिक अर्थ में टेंट या गठरी तथा वैर—मन की गाँठ—के संबंध में भी इस शब्द का प्रयोग होता है।

गाँठ, बंध, फंदा, शिरबंधन तथा अभिग्रहण बंध (seizings), ये सभी एक या अधिक रस्सियों, डोरियों आदि के भागों को जोड़ने, या रस्सी के किसी हिस्से को छल्ले या बल्ली से जोड़ने के प्रकार हैं। संकीर्ण अर्थ में गाँठ, रस्सी के एक छोर के बल को खोलकर जोड़ने से, या फंदे द्वारा रस्सी पर बनी हुई घुंटी का नाम है। बंध तथा फंदे के द्वारा रस्सियों को आपस में या बल्ली से जोड़ा जाता है। दो रस्सियों के छोर के बल को खोलकर जोड़ने से शिरावंधन बनता है। दो बल्लियों, दो रस्सियों, या एक ही रस्सी के दो भागों को जोड़ने से अभिग्रहण बंध बनता है। इन भिन्न भिन्न नामों का प्रयोग स्वेच्छ है। साधारणतः गाँठ तथा अभिग्रहण बंध स्थायी होते हैं और इन्हें उधेड़कर ही खोला जा सकता है। बंध तथा फंदे को सुलझाने के लिये पकड की उलटी दिशा में खींचना भर पड़ता है। इनके अभिकल्प (design) का सिद्धांत यह है कि जो तनाव उन्हें दूर खींचता है वही उन्हें मिलाता भी है।

गाँठ—गाँठें कई प्रकार से बनाई जाती हैं। इनमें से कुछ चित्र में प्रदर्शित हैं। 'सर्जन की गाँठ' कटी नस पर पट्टी बाँधने के लिये अत्यंत उपयुक्त है। 'गिरह' द्वारा रस्सी की लंबाई अस्थायी रूप से घटाई बढ़ाई जा सकती है।

जोड़ बंधन (Splices)—प्रत्येक रस्सी के छोर के बल खोल लिए जाते हैं, फिर एक के सूत को दूसरी के सूत से बट लिया जाता है।

नेत्राकार जोड़ बंधन—एक छोर से सूतों को खींचकर पीछे लाते है ताकि इच्छित आकार का नेत्र बन जाय, फिर उस स्थान के बल को कील से उभाड़कर बिना बल के सूत को ठूंस देते हैं। पाल में इसका प्रयोग किया जाता है।

अभिग्रहण बंध—बल्लियों या रस्सों या रस्से के हिस्सों को आपस में जोड़ने के लिये अभिग्रहण बंध बनाया जाता है।

विविध—रस्से मे कुंदे को बाँधने के कई तरीके है। सबसे सरल तरीका यह है कि रस्सी के एक छोर पर उचित आकार का जोड़ बंधन बनाकर, उसमें कुंदे को फँसाकर, अभिग्रहण बंध द्वारा फाँस स्थिर कर लिया जाय। एक लघुजोड़ बंधन से रस्सी के छोर को मिलाकर पट्टी बना ली जाती है। इस पट्टी को कुंदे पर चढ़ाकर अभिग्रहण बंध से जकड़ दिया जाता है। बहुधा हुकवाले थिंबल (जोटनल) को कुंदे से जोड़ना होता है। इसके लिये पट्टे को हुक में से निकालकर थिंबल की नाली के ऊपर से पिरो दिया जाता है और थिंबल तथा कुंदे के बीच अभिग्रहण बंध लगा दिया जाता है।

ग्रोमेट फीता (Grommete Strap)—फीते की परिधि के तिगुने से अधिक लंबाई के सूत से बनता है। सूत के एक छोर को लपेटकर
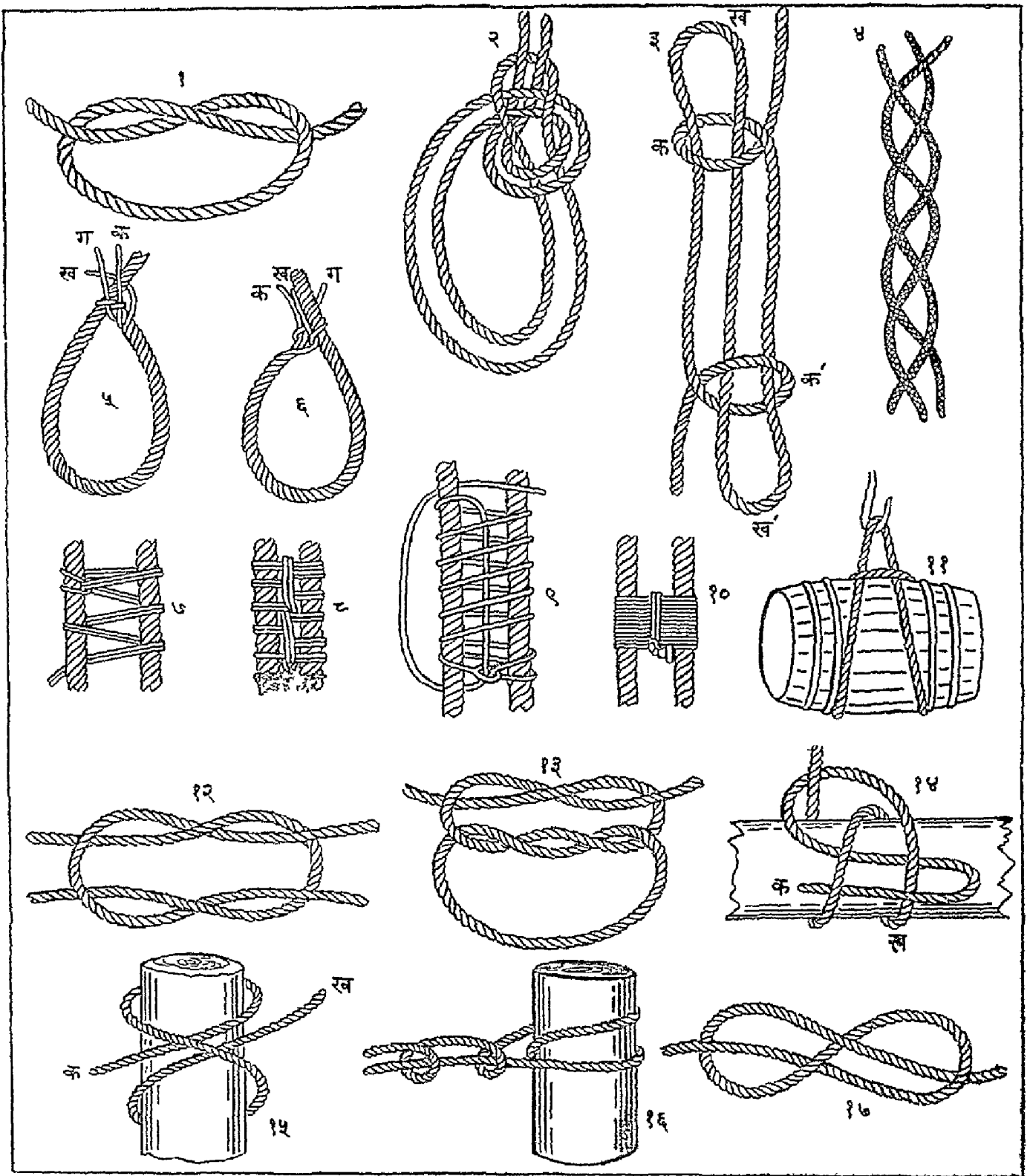
विभिन्न गाँठें—१ ओवरहैड गाँठ (सरलतम गाँठ), २ बोलाइन ऑन ए बाइट (Bowline on a Bight) यह ऐसी गाँठ है कि खींचने पर फंदा अधिक कसता नही, ३ शीप शैंक (Sheep Shank) यह गाँठ रस्से को छोटा बड़ा करने के काम आती है, ४ सेनिट (Sennit) रस्सी के तीन सूतों को एक में गूँथकर बनाया जाता है, ५ और ६ नेत्र शिरोबंधन (Eye Splice), ७ और ८ रैकिंग अभिग्रहण (Racking Seizing), ९ और १० गोल अभिग्रहण (Round Seizing), ११ पीपा उद्बंधन (Barrel Sling), १२ चोर (Thief) गाँठ चुने हुए सिरों को खींचने पर खुल जाती है। १३ ग्रैनी (Granny), १४ स्टडिंग सेल हैलयार्ड बेंड (Studding Sail Halyard Bend), १५ खूँटा गाँठ या राज गाँठ (Clove Hitch, or Builder's Hitch), १६ लपटा और दोसकरी गिरह (Round Turn and Two Half Hitches) तथा १७ फिगर ऑव ऐट नॉट (Figure of Eight Knot)।

छल्ला बना लिया जाता है और फिर शेष सूत को छल्ले से बटकर तीन लड़ का बना लिया जाता है। छोरों को चीरकर, गाँठ बाँधकर, बची डोर को बट मे ठूँस दिया जाता है।

सेल्वाजी फीता—गियर पर रस्से-कुप्पियाँ चढ़ाने के काम आता है। यह आनम्य होता है। दो या इससे अधिक खूँटियाँ उचित दूरी पर रखकर उनके चारों ओर सूत लपेटा जाता है। जब लपेटकर इच्छित मजबूती का फीता बना लिया जाता है तब उसे मारलीन से जोड़ लिया जाता है।

सेनिट—तीन सूतों को मिलाकर बनाया जाता है। इसे इसकी बनावट के कारण चिपटी रस्सी कह सकते हैं।

गाँठ का गणितीय सिद्धांत—स्थितीय विश्लेषण (Analysis-situs) के दृष्टिकोण से गाँठ त्रिविमितीय अवकाश मे एक ऐसा बंद वक्र है जो अवकाश के किसी एक बिंदु से एक बार से अधिक होकर नही जाता। दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि गाँठ एक ऐसा बंद वक्र है जो किसी बिंदु प से आरंभ होकर अंत में फिर उसी बिंदु में पर्यवसित होता है। यदि किसी ग्रंथि को दूसरी ग्रंथि की प्रारंभिक स्थिति में ले जानेवाले अवकाश की सतत विकृति (Continuous deformation of space) हो, तो दोनों ग्रंथियाँ एक ही वर्ग की समझी जाती हैं। यदि गाँठ वृत्त के वर्ग की हो तो वह बेगाँठ होती है।

पूर्णत. व्यापक गणितीय वक्र (perfectly general mathematical curve) की संरचना अत्यधिक जटिल हो सकती है, अत. गाँठ की चर्चा के प्रसंग में प्रायः युक्तिसंगत समत्वसंपन्न वक्र (curves of reasonable degree of regularity) ही विचार्य होते हैं। यदि युक्तिसंगत समत्वसंपन्न वक्र को स्वेच्छा से मरोड़ा, उलझाया हुआ, तथा सिरों को जोड़कर बंद किया हुआ भौतिक सूत्र (physical thread) कहा जाय तो कोई गंभीर त्रुटि न होगी। इस भौतिक दृष्टि से गाँठ के वर्गीकरण की समस्या घटकर, झुकाने, खीचने तथा संकुचन द्वारा किन्हीं दो सूत्रों में से एक को दूसरे के आकार में विकृत करना किन प्रतिबंधों पर संभव है, इसका पता लगाने मे परिवर्तित हो जाती है।

गाँठदार सूत्र में कुछ आभासी संकरण बिंदु (apparent crossing points) दिखाई पड़ते हैं जिनमें, निरीक्षण बिंदु से सूत्र की एक शाखा दूसरे के सामने से गुजरती है। प्रत्येक गाँठ के लिये संकरण बिंदु की एक न्यूनतम संख्या भी होती है जो गाँठ को विकृत कर प्राप्त की जा सकती है। इसे ग्रंथिनिश्चर कहते हैं तथा 'क' से प्रदर्शित करते हैं। यह गाँठ के अह्रास्य संकरणों (irreducible crossings) की संख्या है। आर्टिन (Artin) ने गूँथन (Braids) का संतोषजनक वर्गीकरण किया है।

गांडीव महाभारत के प्रख्यात पांडव वीर अर्जुन का धनुप। अनुश्रुति है कि इस धनुप का निर्माण स्वयं ब्रह्मा ने किया था और एक हजार वर्ष तक धारण करते रहे। वह क्रमशः वरुण के पास आया। अग्नि ने उसे वरुण से माँगकर अर्जुन को प्रदान किया।

गांडीव धनुप के सामने, कहते हैं, अन्य सभी शस्त्र बेकार थे। किंतु कृष्ण के इहलोक छोटने के बाद गांडीव की यह सामर्थ्य नष्ट हो गई थी, ऐसा विष्णु पुराण में उल्लेख है। अर्जुन ने अपने महाप्रस्थान से पूर्व इस धनुप को वरुण को वापस दे दिया, ऐसा भी कहा जाता है।

(प० ला० गु०)

गांडो राज्य पश्चिमी अफ्रीका मे नाइजीरिया के उत्तर-पश्चिमी प्रांत सोकोतो का एक भाग, जो नाइजीरिया के स्वतंत्र होने के पहले पश्चिमी अफ्रीका में ब्रिटिश संरक्षित नाइजीरिया के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में नाइजर नदी के पश्चिम एक मुस्लिम रियासत (Emirate) था। गांडो राज्य के विभिन्न भागों में २०"–४०" वर्षा होती है लेकिन वर्षा ऋतु में ही अधिक वाष्पीकरण होने के कारण कृषि के लिये पर्याप्त जल का अभाव रहता है। अतः जलसंचय प्रधान समस्या है। इस क्षेत्र का अधिकांश भूडान तुल्य सवाना वनस्पति क्षेत्र में पड़ता है। यहाँ मकई (Guinea corn), ज्वार, बाजरे, जिन्हें स्थानीय लोग 'गेरो' (Gero) कहते हैं, तथा धान पैदा होता है। निर्यात के लिये बलुई मिट्टी में मूँगफली तथा मटियार भूमि पर कपास उगाते हैं। यहाँ पशुपालन उद्योग बढ़ रहा है। चमड़ा भी यहाँ से निर्यात किया जाता है। (का० ना० सिं०)

गांधार देखिए 'गंधार'।

गांधारी गांधार देश के राजा सुबल की कन्या, धृतराष्ट्र की स्त्री तथा दुर्योधनादि एक सौ कौरवों की माता। इनके पति धृतराष्ट्र जन्मांध थे। जब गांधारी को इस बात का पता चला तब उन्होंने अपनी आँखो पर पट्टी बाँध ली और वे आजीवन पट्टी बाँधे रहीं। गांधारी की मृत्यु महाभारत युद्ध के बाद एक जंगल में आग लगने से हुई, जहाँ वे तपस्या कर रही थीं। (भो० ना० ति०)

गांधी, इंदिरा भारतीय गणतंत्र की वर्तमान प्रधान मंत्री, पं० जवाहरलाल नेहरू और श्रीमती कमला नेहरू की पुत्री तथा पं० मोतीलाल नेहरू की पौत्री हैं। आपका जन्म प्रयाग में १६ नवंबर, १९१७ को हुआ था। आपकी शिक्षा एकोल इंटरनैशनल, जिनेवा, प्यूपिल्स ओन स्कूल, पूना और बंबई; बैडमिंटन स्कूल, ब्रिस्टल; विश्वभारती कालेज, शांति निकेतन और सकरविले कालेज, आक्सफोर्ड में हुई। आपका विवाह श्री फिरोज गांधी से २६ मार्च, १९४२ को हुआ था और आपके दो पुत्र हैं—राजीव और संजय।

आपने अपने बचपन मे ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यों में योगदान आरंभ कर दिया था। आपके पैतृक निवास 'आनंद भवन' का वातावरण राष्ट्रीय जीवन दर्शन और स्वतंत्रता आंदोलन का केंद्रबिंदु था। आपने बचपन में ही बाल चरखा संघ की स्थापना की। १९३० में असहयोग आंदोलन के दौरान कांग्रेस पार्टी की सहायता करने के लिये बच्चों की एक वानरी सेना बनाई, जो पुलिस तथा अन्यान्य सरकारी गतिविधियों की सूचना कांग्रेस को देती रही। सन् १९४२ की अगस्त की महाक्रांति के आंदोलन में आपने जेलयात्रा की। भारत की आजादी के अवसर पर दिल्ली में जो भीपण हिंदू-मुस्लिम-दंगा हुआ, उसमें गांधी जी के निर्देशानुसार आपने सेवा और शांतिस्थापन का काम किया। देश की सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और समाजसेवी संस्थाओं से भी आपका निकट का संबंध रहा है, जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं: अध्यक्ष, ट्रस्टीज बोर्ड, (१) कमला नेहरू मेमोरियल अस्पताल और (२) कस्तूरबा गांधी मेमोरियल ट्रस्ट; संस्थापक ट्रस्टी और अध्यक्ष, बाल सहयोग, नई दिल्ली; अध्यक्ष, बाल भवन बोर्ड और बाल राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली; संस्थापक और अध्यक्ष, कमला नेहरू विद्यालय, इलाहाबाद; उपाध्यक्ष, केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड; आजीवन संरक्षक, भारतीय बाल कल्याण परिषद्; संरक्षक, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी; उपाध्यक्ष, अंतरराष्ट्रीय बाल कल्याण परिषद्; मुख्य संरक्षक, इंडियन कौंसिल फॉर अफ्रीका (१९६०), पेट्रन, भारत में विदेशी छात्र संघ; सदस्य, कांग्रेस कार्यकारिणी समिति, केंद्रीय चुनाव समिति और केंद्रीय संसदीय बोर्ड; अध्यक्ष, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की राष्ट्रीय एकता परिषद्; अध्यक्ष, अखिल भारतीय युवक कांग्रेस; अध्यक्ष, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (१९५९–६०); सदस्य, दिल्ली विश्वविद्यालय कोर्ट; यूनेस्को में भारतीय शिष्टमंडल (१९६०); यूनेस्को का कार्य कारिणी बोर्ड (१९६०–६४); सदस्य, राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् (१९६२); राष्ट्रीय सुरक्षा निधि की कार्यकारिणी समिति (१९६२); अध्यक्ष, केंद्रीय नागरिक परिषद् (१९६२); सदस्य, राष्ट्रीय एकता परिषद्, भारत सरकार; अध्यक्ष, संगीत नाटक अकादमी (१९६५ में); आचार्य, विश्वभारती; चांसलर, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय; अध्यक्ष, हिमालय पर्वतारोहण संस्था और दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा; पेट्रन, इंडियन सोसाइटी ऑव इंटरनैशनल ला; अध्यक्ष, नेहरू मेमोरियल संग्रहालय तथा लाइब्रेरी सोसाइटी; ट्रस्टी, गांधी स्मारक निधि; अध्यक्ष, स्वराज्य भवन ट्रस्ट; मदर्स एवार्ड, अमरीका (१९५३); कूटनीति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य के लिये इटली का इजाबेला द-एस्ते एवार्ड और येल यूनिवर्सिटी, हालैंड मेमोरियल प्राइज प्राप्त किए।

फ्रांस की जनमत संस्था द्वारा लिए गए अभिमत के अनुसार १९६७ तथा १९६८ लगातार दो वर्ष के लिये फ्रांसीसियों में सबसे अधिक विख्यात

महिला, अमरीका में एक गेलप अभिमत सर्वेक्षण के अनुसार वर्ष १९७१ में विश्व का सबसे अधिक विख्यात व्यक्तित्व, १९७१ में अर्जेंटीना सोसाइटी फार प्रोटेक्शन ऑव ऐनिमल्स द्वारा १९७१ में डिप्लोमा ऑव ग्रानर से विभूषित; आंध्र विश्वविद्यालय, आगरा विश्वविद्यालय, विक्रम विश्वविद्यालय, ब्यूनेस आयर्स के एलसैल्वाडोर विश्वविद्यालय, जापान के वासेटा विश्वविद्यालय, मास्को राज्य विश्वविद्यालय और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से मानार्थ डाक्टरेट की उपाधियाँ प्राप्त हुईं। सिटीजन ऑव डिस्टिंक्शन, कोलंबिया विश्वविद्यालय; सदस्य, राज्य सभा (अगस्त १९६४ से फरवरी, १९६७)। १९७१ में लोकसभा के लिये चुनी गई। सूचना और प्रसारण मंत्री, भारत सरकार, १९६४-६६; १९६६ से भारत की प्रधान मंत्री—२४ जनवरी, १९६६ को प्रथम बार, १३ मार्च, १९६७ को दूसरी बार और १८ मार्च, १९७१ को तीसरी बार शपथ ग्रहण; साथ ही, परमाणु ऊर्जा मंत्री; चेयरमैन, योजना आयोग; अध्यक्ष, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् तथा चेयरमैन, हिंदी समिति आदि के रूप में देश की महती सेवा की।

श्रीमती इंदिरा गांधी के जीवन का इस देश के जीवन से इतना तादात्म्य हो गया है कि इन दोनों को पृथक् पृथक् करके देखना कठिन है। २४ जनवरी, सन् १९६६ ई० को उन्होंने भारत गणराज्य के प्रधान मंत्री का पद सँभाला और तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने एक सादे समारोह में राष्ट्रपति भवन में उन्हें शपथ दिलाई। दो ही दिन बाद, २६ जनवरी, १९६६ को, अपने प्रधान मंत्रित्व काल के प्रथम गणराज्य दिवस में उन्हें संमिलित होना पड़ा। इस दिन दिल्ली के लाल किले पर राष्ट्रीय पताका फहराने के अनंतर उन्होंने राष्ट्र के नाम जो संदेश प्रसारित किया उसके ये शब्द बड़े महत्व के हैं और बीजमंत्र की तरह आज तक अडिग भाव से वे अपनी प्रगति नीति में इनका पालन करती हुई देश को आगे, और आगे बढ़ाती चल रही हैं—"आज मैं फिर से राष्ट्र निर्माताओं के आदर्शों के प्रति, लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता के प्रति, योजनाबद्ध आर्थिक और सामाजिक प्रगति के प्रति, अंतरराष्ट्रीय शांति और मैत्री भाव के प्रति अपने आपको समर्पित करती हूँ। भारत के नागरिको! आइए, भविष्य में फिर से अपनी आस्था जगाएँ; दृढ़ता और संकल्प के साथ यह कहें और मानें कि हममें अपनी नियति को ढालने की क्षमता है। एक विराट् प्रयत्न में हम सब संगी साथी हैं। आइए, हम अपने आपको इस विराट् प्रयत्न के और इस महान् देश के योग्य सिद्ध कर दिखाएँ।"

श्रीमती इंदिरा गांधी की जगत् को चमत्कृत कर देनेवाली दुर्धर्ष सफलता को ठीक ठीक हृदयंगम करने के लिये उनकी पूर्वपीठिका को जान लेना आवश्यक है, अतः बहुत संक्षेप में उसकी कुछ मुख्य बातें यहाँ चर्चित हैं:

श्रीमती इंदिरा गांधी के दादा स्वर्गीय पं० मोतीलाल नेहरू उस असेंबली भवन में उपस्थित थे जिसमें सरदार भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने देश की जनता की आवाज कान में तेल डाले बैठे ब्रिटिश अधिकारियों तक पहुँचाने के लिये बम फेंका था। पं० मोतीलाल नेहरू ने संभवतः वहीं से यह ठान लिया कि ऐसी निर्दयी और बेईमान सरकार से सहयोग करना महापाप है। सारे परिवार का जीवन देश को, राज्य को समर्पित हो गया। स्वर्गीय पं० मोतीलाल नेहरू, स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती इंदिरा गांधी और अब हमारे युवा नेता श्री संजय गांधी, सबका जीवन इसका साक्षी है। सारे संसार के लोकतंत्र के इतिहास में ऐसी बेमिसाल कुलपरंपरा देखने में नहीं आती जिसने किसी राष्ट्र के हृदय और मन पर इस गौरव एवं सहजता के साथ शासन किया हो और राष्ट्र ने भी अपनी पूरी हार्दिकता के साथ अपना प्रेम और अपनी श्रद्धा जिसके प्रति उड़ेल दी हो।

स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू के प्रधान मंत्रित्वकाल में ही श्रीमती इंदिरा गांधी ने यूरोप, एशिया, अफ्रिका और अमरीका के विभिन्न देशों की अनेक यात्राएँ की थीं। इन यात्राओं में उन्हें अंतरराष्ट्रीय राजनीति की बारीकियों को गंभीरता से जानने समझने और उससे परिचित होने का पूरा मौका मिला था। राष्ट्रमंडलीय प्रधान मंत्री संमेलन के सिलसिले में ब्रिटेन की अनेक यात्राएँ, सोवियत संघ की यात्रा, चीन की यात्रा, पंचशील सिद्धांत के जनक बांडुग संमेलन के लिये इंडोनेशिया की यात्रा आदि इन वैदेशिक यात्राओं में उल्लेखनीय हैं। अपने देश में भी श्रीमती इंदिरा गांधी को चीन के प्रधान मंत्री चाउ एन लाई, रूस के प्रधान मंत्री बुल्गानिन और ख्रुश्चेव, अमरीकी राष्ट्रपति की पत्नी जैकलीन केनेडी, युगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो आदि विश्वप्रसिद्ध राजनीतिज्ञों का अतिथिसत्कार करने के अवसर मिले थे। इन सारे सुअवसरों ने श्रीमती गांधी को व्यावहारिक राजनीतिज्ञता में उसी समय परिपक्व कर दिया था जब वे नेपथ्य में थीं।

सन् १९५९ में इंदिरा जी के सामने कांग्रेस की अध्यक्षता का प्रस्ताव आया। इससे पहले वे कांग्रेस की कार्यकारिणी की सदस्य रह चुकी थीं। खूब सोच विचारकर और अपनी शक्ति को तौल परखकर उन्होंने अध्यक्ष पद स्वीकार कर लिया। प्रगतिशील कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में इंदिरा जी अत्यंत सफल सिद्ध हुईं। कांग्रेसी मठाधीशों के स्थान पर योग्य युवकों को, जब भी अवसर मिलता, लाने में वे कभी हिचकी नहीं। उनकी कार्यशक्ति, सामर्थ्य, ओज और निष्ठा देखकर उनके पिता जी को भी कहना पड़ा था—"इंदिरा पहले मेरी मित्र और सलाहकार थी, बाद में मेरी साथी बनी और अब तो वह मेरी नेता भी है।"

कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में श्रीमती इंदिरा गांधी की अपने पिता प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू से टक्कर भी हुई। प्रश्न केरल की बिगड़ती हुई राजनीतिक स्थिति का था। इंदिरा जी की राय थी कि केरल की इस स्थिति को सुधारने के लिये वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू कर देना चाहिए। सरकार ने ऐसा कदम पहले कभी उठाया नहीं था, इसलिये नेहरू जी द्विविधा में थे। पर परिस्थिति को जाँच परखकर अंततः उन्हें इंदिरा जी की बात माननी पड़ी और केरल में देश का सबसे पहला राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। कुछ ऐसी ही हालत उड़ीसा में भी थी। वे दिन दूर नहीं थे जब उड़ीसा के शासन से कांग्रेस को निकाल बाहर किया जाता और वहाँ हाय तोबा मच जाती। उड़ीसा जाकर वहाँ की परिस्थिति का अध्ययन करके इंदिरा जी ने वहाँ के नेताओं को सलाह दी कि कांग्रेस को तत्काल वहाँ की गणतंत्र परिषद् के साथ मिली जुली सरकार बना लेनी चाहिए। यह समयोचित परामर्श भी मान लिया गया और उड़ीसा का आसन्न संकट टल गया। मात्र ये दो घटनाएँ उनकी सूझबूझ और त्वरित-निर्णय-बुद्धि का परिचय देने के लिये, आशा है, पर्याप्त होंगी।

देश की महासभा कांग्रेस का दो टुकड़ों में विभाजन श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रधान मंत्रित्वकाल में एक दुःखद घटना हुई जो राष्ट्र के लिये इंदिरा जी के समयोचित भाव के कारण अंततः कल्याणप्रद सिद्ध हुई। संक्षेप में कहा जाय तो इस विभाजन का कारण कांग्रेस के वरिष्ठ और वयोवृद्ध नेताओं में उस सहनशीलता, सौमनस्य और नई पीढ़ी के साथ उनकी आकांक्षाओं का समादर करते हुए मिलकर चलने की कमी तथा कांग्रेस पर अपना प्रभाव बनाए रखने के लिये जनता से कट जाने की स्थिति थी जिसका परिणाम सन् १९६७ में देश ने देखा। कांग्रेस के विभाजन के बाद देश की जनता तथा कांग्रेस ने श्रीमती गांधी की कांग्रेस को ही सही और असली कांग्रेस माना। किंतु जिन परिस्थितियों में यह सब हुआ था उससे श्रीमती गांधी भीतर भीतर संतुष्ट और प्रसन्न नहीं थीं। वे चाहती थीं कि संपूर्ण देश की इस विषय में जो राय हो उसी के अनुसार देश का कार्य आगे बढ़ाना उचित होगा। अतः बहुत सोच समझकर २७ दिसंबर, १९७० को उन्होंने घोषणा कर दी कि लोकसभा और राज्यविधान-सभाओं के लिये तत्काल आम चुनाव होंगे। यथासमय चुनाव हुए और गांधी की आँधी में जितने खर पतवार थे सब उड़ गए। लगता था जैसे श्रीमती गांधी ने सारे देश पर जादू की लकड़ी घुमा दी हो। इंदिरा कांग्रेस की अभूतपूर्व विजय हुई। उनके उम्मीदवारों ने लोकसभा में ३५० सीटें प्राप्त कीं, अर्थात् ६० प्रतिशत। इतना बड़ा बहुमत कांग्रेस को पहले भी कभी नहीं मिला था। उनकी लोकप्रियता और देश का उनपर पूर्ण विश्वास स्वतः सिद्ध हुआ।

भिन्न भिन्न प्रकार की अंतरराष्ट्रीय झंझटों और उलझनों के अलावा श्रीमती इंदिरा गांधी को देश के भीतर की झंझटों और उलझनों से भी बराबर निपटना पड़ता है। ऐसा ही एक प्रसंग जून, सन् १९७५ में उठ खड़ा हुआ था, जो सन् १९७१ की चुनावयाचिका के सिलसिले में था। श्री

राजनारायण द्वारा इलाहाबाद हाईकोर्ट में इंदिरा जी के रायबरेली वाले चुनाव के विरुद्ध एक दावा दायर किया गया था। न्यायाधीश श्री जगमोहनलाल सिन्हा ने ६ आरोपों को तो अमान्य कर दिया परंतु दो तकनीकी आरोपों को स्वीकार करके श्रीमती गांधी का चुनाव अवैध घोषित कर दिया। श्री सिन्हा ने यह भी आदेश दिया कि २० दिनों तक उनका निर्णय लागू न किया जाय। पर इलाहाबाद हाईकोर्ट की इस निषेधाज्ञा को ताक पर रखकर विरोधियों ने आम सभाएँ कीं, प्रदर्शन किए और गला फाड़ फाड़कर प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के इस्तीफे की माँग करने लगे। इतना ही नहीं, उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री अजितनाथ रे के पुतले भी विरोधियों ने जलाए। उन्हें यह आशंका थी कि यतः मुख्य न्यायाधीश के पद पर श्री रे की नियुक्ति कराने का श्रेय प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को है, अतः श्रीमती गांधी की अपील पर वे वैसा ही निर्णय करेंगे जैसा श्रीमती गांधी चाहेंगी। सारा प्रतिपक्ष एकजुट होकर श्रीमती गांधी को उखाड़ फेंकने के लिये कटिबद्ध था, पर वे अडिग भाव से अपना काम करती रहीं। इलाहाबाद हाईकोर्ट के फैसले के ठीक पंद्रहवें दिन, अर्थात् २६ जून, १९७५ को, प्रधान मंत्री ने देश में आपात स्थिति लागू की जाने की घोषणा कर दी। यह एक पखवारा इस देश के इतिहास में अव्यवस्था, अराजकता, अनर्गल प्रचार, फूहड़ राजनीतिक प्रदर्शनों, ओछी हरकतों और निम्न कोटि की इश्तिहारबाजी के लिये बेमिसाल रहा। देश के असामाजिक लोगों द्वारा किया गया यह गैरकानूनी, असंवैधानिक और राष्ट्र को विघटित करनेवाला विध्वंसक कदम था। साथ ही देश की सत्ता को गैरकानूनी ढंग से उलटने का आंदोलन भी आरंभ किया गया था। उच्चतम न्यायालय के निर्णय की प्रतीक्षा किए बिना न्याय और शासन व्यवस्था को पंगु बनाने के सारे प्रयत्न हुए और विधिसंमत व्यवस्था को उलटने का ही प्रयत्न नहीं हुआ, उससे संबद्ध व्यक्तियों के साथ अनैतिक दुर्व्यवहार भी हुए। इस स्थिति में इस आपात स्थिति की घोषणा ने देश में लोकतंत्र और शासन व्यवस्था की वैसी ही स्थापना की जैसी जनता चाहती थी। केवल सहज सामान्य स्थिति उत्पन्न करने में ही यह सहायक नहीं हुई बल्कि अर्थ से लेकर शासन व्यवस्था तक सर्वत्र उन्नयन हुआ। अंततः भारत के उच्चतम न्यायालय ने ७ नवंबर, १९७५ को सर्वसंमति से श्रीमती इंदिरा गांधी के रायबरेली क्षेत्र के चुनाव को वैध घोषित कर दिया। उच्चतम न्यायालय के पाँच न्यायाधीशों—मुख्य न्यायाधीश श्री अजितनाथ रे तथा न्यायाधीश सर्वश्री एच० आर० खन्ना, मैथ्यू, चंद्रचूड़ और बेग—ने अपने पृथक् पृथक् निर्णयों में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री जगमोहनलाल सिन्हा के निर्णय को रद्द करते हुए श्रीमती गांधी के चुनाव को जो वैध घोषित किया उसपर भारत की कोटि कोटि जनता ने हर्षोल्लास प्रकट करके उन्हें सिर माथे चढाया।

इंदिरा जी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे इस बात से पूरी तरह परिचित हैं कि निर्णय कब और किस प्रकार के किए जायँ। अपनी इस अचूक निर्णायक बुद्धि के बल पर अपने प्रधान मंत्रित्व के कार्यकाल में भारत गणराज्य के हर महत्वपूर्ण निर्णय पर उन्होंने अपनी अमिट छाप छोड़ी है। प्रधान मंत्री के रूप में उनकी प्रगतिशीलता और सफलता का मुख्य आधार उनकी यही बेमिसाल निजता एवं व्यावहारिकता है।

प्रधान मंत्री पद सँभालते ही श्रीमती इंदिरा गांधी ने यह अनुभव किया कि देश की अर्थव्यवस्था पर यहाँ के व्यापारियों, पूँजीपतियों और उद्योगपतियों का जो एकाधिकार है उसने राष्ट्र को पंगु बना रखा है और मनोनुकूल अर्थवितरण में यह व्यवस्था बाधक और घातक है। देश के बड़े बड़े बैंक इस अभिसंधि में उक्त वर्ग के सहायक थे। इन बैंकों का राष्ट्रीयकरण ही इस रोग का एकमात्र उपचार था। बिना किसी हिचकिचाहट के उन्होंने निम्नांकित १४ प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर डाला—

१. सेंट्रल बैंक ऑव इंडिया लि०, २. यूनाइटेड कामर्शियल बैंक लि०, ३. इंडियन बैंक लि०, ४. इंडियन ओवरसीज बैंक लि०, ५. पंजाब नेशनल बैंक लि०, ६. बैंक ऑव बड़ौदा लि०, ७. कनारा बैंक लि०, ८. यूनाइटेड बैंक ऑव इंडिया लि०, ९. बैंक ऑव इंडिया लि०, १०. इलाहाबाद बैंक लि०, ११, यूनियन बैंक ऑव इंडिया लि०, १२. देना बैंक लि०, १३. बैंक ऑव महाराष्ट्र लि० तथा १४. सिंडिकेट बैंक लि०।

बैंकों के इस राष्ट्रीयकरण के दो पहलू थे—प्रथमतः बैंक व्यवसाय को सामाजिक दृष्टि से उद्देश्यपूर्ण बनाना, उसमें ऐसा सुधार करना कि छोटे से छोटे किसानों को, छोटे छोटे निर्माताओं को और आधुनिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रदेशों को ऋण के रूप में आर्थिक सहायता सुलभ हो सके; द्वितीयतः बैंकों की संपूर्ण व्यवस्था पर सरकार का नियंत्रण हो जिसमें उच्चवर्गीय व्यापारियों द्वारा की जानेवाली अनियमितताओं और बेईमानियों पर, चोर दरवाजे से उद्योगपतियों को दी जानेवाली आर्थिक सहायता पर तथा राष्ट्र और समाजविरोधी गतिविधियों पर नियंत्रण लगाया जा सके। राष्ट्रीयकरण के तत्काल बाद १९ जुलाई, सन् १९६९ को उन्होंने जो घोषणा की उसमें गैर सरकारी उद्योगों और व्यापारियों को यह स्पष्ट आश्वासन दिया कि उनकी उचित आवश्यकताएँ अवश्य पूरी की जायँगी। बैंकों का यह राष्ट्रीयकरण देश के साधनों का पूरा पूरा उपयोग कर पाने के लिये अवश्यंभावी हो गया था। इतने दिनों के इस प्रयोग ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह उपचार बिलकुल ठीक और सामयिक था, अन्यथा कहा नहीं जा सकता, राष्ट्र की कैसी अधोगति होती।

थोड़े दिनों पहले १४ कैरेट से ज्यादा के सोने के गहनों पर पाबंदी लगा दी गई थी। इसका भी बड़ा प्रतिकूल प्रभाव राष्ट्र के अर्थतंत्र पर पड़ रहा था। श्रीमती इंदिरा गांधी ने इसके सुधार के लिये भारतीय रुपए का निःसंकोच अवमूल्यन कर दिया और १४ कैरेट से अधिक के सोने के गहनों पर लगी पाबंदी भी उठा ली। दूरदर्शिता और साहस का यह कार्य एक ओर राष्ट्र के लिये कल्याणकारी हुआ और दूसरी ओर उसने श्रीमती गांधी की लोकप्रियता में चार चाँद लगा दिए। वित्त व्यवस्था के सुधार के लिये जुलाई, १९६९ में यह विभाग देसाई जी से लेकर श्रीमती गांधी ने स्वयं सँभाला था। देश की अर्थव्यवस्था को ठीक करने के लिये श्रीमती गांधी के कुछ अन्य उल्लेखनीय कार्य इस प्रकार हैं—(१) ४६४ नान कुकिंग कोयला खानों का प्रबंध सरकारी नियंत्रण में लेना; (२) १०३ बीमार कपड़ा मिलों की व्यवस्था राष्ट्रीय सरकार द्वारा सँभालना; (३) बैंकों की पहले की हुई राजकीय नियंत्रण की व्यवस्था को और अनुशासित करना, इत्यादि।

देश की वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति के लिये श्रीमती गांधी सतत सजग रही हैं। बंबई के निकट ट्रांबे में भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र पहले से कार्य कर रहा है। प्रधान मंत्री पद ग्रहण करने के थोड़े दिनों बाद ही, नवंबर, सन् १९६७ में त्रिवेंद्रम के पास उन्होंने थुंबा राकेट केंद्र की स्थापना कराई और वहाँ से भारत द्वारा निर्मित 'रोहिणी' नामक पहला राकेट छोड़कर उन्होंने भारत को अंतरिक्ष युग में प्रवेश करने का गौरव दिलाया। अंतरिक्ष युग का दूसरा चरण भारत ने तब बढ़ाया जब इसी देश के वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित 'आर्यभट' नामक उपग्रह वैज्ञानिक अनुसंधानों के लिये अंतरिक्ष में छोड़ा गया। निकट भविष्य में ही शांतिपूर्ण अनुसंधान कार्यों के लिये, संपूर्ण रूप से भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित, एक दूसरा उपग्रह भी छोड़ा जानेवाला है।

पर वैज्ञानिक जगत् को चमत्कृत और स्तब्ध कर देनेवाला श्रीमती गांधी का कार्य मई, सन् १९७४ में किया गया पोखरण नामक स्थान में भूमिगत परमाणु विस्फोट है। विश्व के जिन पाँच देशों (अमरीका, ब्रिटेन, सोवियत संघ, फ्रांस और चीन) ने परमाणु विस्फोट की सफलता पाई थी उनकी यह कल्पना भी नहीं थी कि भारत जैसा विकासशील देश वैज्ञानिक क्षेत्र में ऐसी उपलब्धि भी प्राप्त कर सकता है। कुछ देशों ने तो ऐसी हाय तोबा मचाई मानों भारत परमाणु बम बनाकर उनपर आक्रमण करनेवाला हो। पर श्रीमती गांधी ने और उनके सहयोगी नेताओं ने बारंबार विश्व को यह विश्वास दिलाया और अब भी दिला रहे हैं कि भारत परमाणु शक्ति का उपयोग विध्वंसक और विनाशक शक्ति के रूप में नहीं, बल्कि रचनात्मक और शांतिपूर्ण कार्यों के लिये ही करेगा।

हिंदुस्तान एयरक्रैफ्ट कंपनी; हिंदुस्तान मशीन टूल्स; बंबई, विशाखापट्टनम् और कोचीन में नागरिक और सैनिक उपयोग के जो संयंत्र बनते हैं उनसे सारा विश्व आश्चर्यचकित है। सेवरजेट विमानों के पुर्जे उड़ानेवाले

भारतीय विमान 'नैट' को देखकर सेबरजेट के निर्माताओं तक को दाँतो तले उँगली दबानी पड़ी थी। पिछले पाक-भारत-युद्ध में बहुसख्यक अमरीकी पैंटन टैंक जहाँ भारतीय गोलों से ध्वस्त किए गए थे, भारतीय जवानों ने उस स्थान का नाम ही 'पैंटन नगर' रखकर पैंटन टैंक की जो खिल्ली उड़ाई थी उससे उसके निर्माता और प्रयोक्ता दाँत पीसकर रह गए थे।

इधर ताशकंद समझौते की स्याही सूखने भी न पाई थी कि १९७१ में पाकिस्तान के हाथ फिर खुजलाने लगे। शेख मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व में पूर्वी पाकिस्तान की जनता ने 'बँगला देश' के नाम से अपने स्वतंत्र गणराज्य की घोषणा कर दी थी और भारत से अपनी सुरक्षा के लिये सैनिक सहायता माँगी थी। भारत ने इसे मंजूर कर लिया। मात्र १४ दिनों की लड़ाई में पाकिस्तान ने घुटने टेक दिए और ढाका में लेफ्टिनेंट जनरल ए० ए० के० नियाजी ने अपने ९३ हजार पाक सैनिकों के साथ विधिवत् आत्मसमर्पण कर दिया। जुलाई, सन् १९७२ में प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी और पाकिस्तानी राष्ट्रपति श्री जुल्फिकार अली भुट्टो के बीच शिमला में वार्ता हुई और यह निश्चय किया गया कि दोनों देशों के जो भी मामले होंगे उन्हें आपसी बातचीत द्वारा सौमनस्यपूर्वक हल किया जायगा।

श्रीमती इंदिरा गांधी की इन सफलताओं और लोकप्रियता से कुछ विरोधी जल भुन उठे और उन्होंने उन्हें बदनाम करने के तरह तरह के हथकंडे अपनाने शुरू किए। आपात स्थिति में श्रीमती गांधी ने २६ सांप्रदायिक संघटनों पर प्रतिबंध लगा दिए। जुलाई, १९७५ में राष्ट्र के कल्याण के लिये उन्होंने जो सुप्रसिद्ध २० सूत्रीय आर्थिक कार्यक्रम घोषित किया उसकी मुख्य बातें संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) सरकारी खर्च में कमी, कीमतों में लगातार गिरावट को प्रश्रय तथा उत्पादन बढ़ाकर आवश्यक वस्तुओं के वितरण की व्यवस्था में सुधार।
(२) कृषिभूमि के सीमानिर्धारण के लिये कानून का निर्माण। सीमा से अधिक भूमि का भूमिहीनों में वितरण तथा भूमि का ठीक रिकार्ड रखना।
(३) भूमिहीनों तथा गरीबों के लिये आवासभूमि का आवटन।
(४) बँधुआ मजदूरी तथा बेगार प्रथा का उन्मूलन।
(५) ग्रामीणों के कर्जों की माफी।
(६) खेतिहर मजदूरों के लिये न्यूनतम वेतन।
(७) पचास लाख हेक्टेयर पर सिंचाई की व्यवस्था तथा भूमिगत जल का उपयोग।
(८) बिजली उत्पादन और वितरण में सुधार।
(९) हथकर्घा उद्योग के विकास के लिये नई योजना।
(१०) जनता के कपड़े की किस्म में सुधार और उसके वितरण की समुचित व्यवस्था।
(११) शहरी भूमि का समाजीकरण तथा सीमानिर्धारण।
(१२) शहरी संपत्ति की कीमत कम दिखानेवालों और करों की चोरी करनेवालों की जाँच के निमित्त विशेष दस्तों का गठन। आर्थिक अपराधी के लिये कठोर कार्रवाई।
(१३) तस्करों की संपत्ति जब्त करने के लिये कानून का निर्माण।
(१४) पूँजी नियोजन की व्यवस्था का सरलीकरण। आयात लाइसेंस का दुरुपयोग करनेवालों को कठोर दंड की व्यवस्था।
(१५) उद्योग में श्रमिकों की भागीदारी।
(१६) सड़क परिवहन के लिये राष्ट्रीय परमिट योजना।
(१७) मध्य वर्ग को आयकर में छूट।
(१८) विद्यार्थियों के छात्रावासों को सभी आवश्यक वस्तुओं की नियंत्रित मूल्यों पर उपलब्धि।
(१९) विद्यार्थियों को पाठ्य पुस्तकों तथा कापियों की नियंत्रित मूल्यों पर प्राप्ति।
) शिक्षित लोगों को रोजगार तथा ट्रेनिंग की योजनाएँ।

इस बीस सूत्री योजना के साथ श्री संजय गांधी द्वारा प्रवर्तित पंचसूत्री कार्यक्रम भी राष्ट्रोत्थान के लिये प्रयुक्त हुए हैं जो असामान्य रूप से कल्याणकारी सिद्ध हुए हैं। घोषणा के बाद में ही इन सभी सूत्रों पर गंभीरता और शीघ्रता से अमल होने लगा है। अनेक विरोधी लोग गिरफ्तार और नजरबंद हुए। त्रस्त और दलित वर्ग ने सुख की साँस ली। आपात स्थिति तथा उक्त बीस और पाँच सूत्रीय कार्यक्रम अभी चालू हैं और देश की स्थिति में उत्तरोत्तर सुधार, विकास और कल्याण हो रहा है।

इन्हीं उद्देश्यों की सम्यक सिद्धि के लिये नवंबर, १९७६ में हुए लोकसभा के अधिवेशन में भारतीय संविधान में यथोचित संशोधन स्वीकृत हुए और यह स्पष्ट कर दिया गया कि सारे देश के जनगण के प्रतिनिधित्व का एकमात्र सार्वभौम अधिकार लोकसभा में निहित है। इसी वर्ष श्रीमती इंदिरा गांधी ने अफ्रीकी देशों की यात्रा की और भारत की तटस्थता नीति को दृढ़तापूर्वक स्थापित किया। स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करनेवाले या विकासशील देशों को समर्थन देकर विश्वनेतृत्व के रूप में श्रीमती गांधी का व्यक्तित्व बड़े प्रोज्वल रूप में उभरकर विश्व के सामने आया है और दिनानुदिन अधिकाधिक दमकता चल रहा है। (सु० पा०)

गांधी-इरविन समझौता १९२९ ई० में कांग्रेस ने अपने लाहौर अधिवेशन में स्वतंत्रता संबंधी प्रस्ताव पास किया और २६ जनवरी, १९३० को स्वतंत्रता दिवस घोषित कर कांग्रेस के सदस्यों ने शपथ ली। तदनंतर उग्र रूप में सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ हो गया जो क्रमशः सारे देश में आँधी की तरह फैल गया। भारत की अंग्रेजी सरकार ने आँख मूँदकर अपना दमन चक्र चलाया, पर इससे आंदोलन फूस की आग की तरह फैलता गया। इसी प्रसंग में ४ मार्च, १९३१ को वाइसराय लार्ड इरविन और महात्मा गांधी के बीच एक समझौता हुआ जो 'गांधी-इरविन समझौता' के नाम से ख्यात है। इस समझौते की मुख्य शर्तें निम्नांकित थीं :

१—सविनय अवज्ञा आंदोलन को तत्काल स्थगित कर दिया जायगा। अर्थात् कानूनों की अवहेलना करना, भूमिकर तथा अन्य कर न देना, सविनय अवज्ञा के संबंध में समाचारपत्र छापना तथा सैनिक, साधारण एवं सरकारी कर्मचारियों को सरकार के विरुद्ध भड़काना अथवा उन्हें त्यागपत्र देने के लिये प्रोत्साहन देना आदि कार्यों को तत्काल बंद कर दिया जायगा। सरकार सविनय अवज्ञा आंदोलन के कानूनों को रद्द कर देगी।

२—सविनय अवज्ञा आंदोलन के संबंध में गिरफ्तार किए गए ऐसे सभी लोग रिहा कर दिए जाएँगे जिनके दंड का आधार हिंसा न हो।

३—सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय में जिन लोगों ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया है, उन्हें यदि इस प्रकार के पदों को स्थायी रूप से भर दिया गया है तो सरकार पुनः नियुक्त करने को बाध्य न होगी। किंतु ऐसे कर्मचारियों को पुनः स्थान प्राप्त करने के लिये आवेदनपत्र देने पर स्थानीय सरकारें उन्हें पुनः नियुक्त करने का भरसक प्रयत्न करेंगी।

४—कानून उल्लंघन के मुकदमे उठा लिए जायँगे। जुर्माने भी माफ कर दिए जायँगे। जब्त की गई संपत्ति, यदि अभी तक बेची न गई होगी तो, वापस लौटा दी जायगी।

५—आंदोलन के संबंध में नियुक्त की गई अतिरिक्त पुलिस, जिसका खर्च स्थानीय निवासियों को उठाना पड़ता था, स्थानीय सरकार की इच्छा पर वापस बुला ली जायगी।

६—महात्मा गांधी भारतीय पुलिस के अत्याचारों की सार्वजनिक छानबीन पर जोर न देंगे।

७—विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, यदि यह राजनीतिक आधार पर केवल अंग्रेजी वस्त्रों अथवा मद्यपान आदि के विरुद्ध हो तो उसे समाप्त कर दिया जायगा। भारतीय वस्तुओं के प्रयोग की माँग करने के संबंध में धरना देने का सहारा नहीं लिया जायगा। यदि धरना दिया भी जाएगा तो उसका रूप उग्र नहीं होगा। अनुचित दबाव डालना, धमकाना, विदेशी वस्तुओं के विरुद्ध प्रदर्शन, जनता के साधारण कार्यों में विघ्न नहीं होगा। और न कानून की अवहेलना ही की जायगी।

८—नमक पर कर समाप्त नहीं होगा और न नमक कानून उठाया जायगा।

९—देश के लिये नया शासनविधान बनाने के लिये कांग्रेस द्वितीय गोलमेज संमेलन में अपने प्रतिनिधि भेजेगी।

१०—यदि कांग्रेस ने इस समझौते की इन शर्तों का ठीक से पालन नहीं किया तो सरकार जो उचित समझेगी करेगी।

इस समझौते के फलस्वरूप सविनय अवज्ञा आंदोलन समाप्त कर दिया गया। इस संबंध में बंदी बनाए गए लोग छोड़ दिए गए।

इस समझौते से देश के राष्ट्रीय आंदोलन को लाभ हुआ या क्षति, इस प्रश्न पर लोगों का मतभेद है। महात्मा गांधी का कहना था कि यह समझौता दोनों पक्षों की विजय है। इसका कारण यह है कि वे तथा लार्ड इरविन दोनों ही निष्कपट भाव से समझौता करने को उत्सुक थे। अनेक भारतीयों का कहना था कि यह समझौता कांग्रेस की विजय थी। उनके अनुसार महात्मा गांधी ने लोगों को सरकार के दमनचक्र से बचा लिया और भविष्य में सरकार ने अपनी माँगें पूरी करवाने के लिये कांग्रेस की स्थिति पहले से सुधार दी।

इस समझौते के आलोचकों की भी कमी न थी। उनका कहना था कि इस समझौते से भारत को क्या मिला। नमक कानून ज्यों का त्यों रहा। महात्मा गांधी भगत सिंह तथा उनके साथियों को फांसी से नहीं बचा पाए।

१९३१ के कांग्रेस के कराची अधिवेशन में इस समझौते का विरोध किया गया और बड़ी कठिनता से कांग्रेस इस समझौते को स्वीकार कर सकी। (मि० च० पा०)

गांधी, कस्तूरबा (१८६९–१९४४ ई०) महात्मा गांधी की पत्नी जो भारत में 'बा' के नाम से विख्यात हैं। महात्मा गांधी की तरह काठियावाड़ के पोरबंदर नगर में अप्रैल, १८६९ में जन्म, इस प्रकार वे गांधी जी से ६ मास बड़ी थीं। उनके पिता गोकुलदास मकनजी साधारण स्थिति के व्यापारी थे। बा उनकी तीसरी संतान थीं। उन दिनों कोई लड़कियों को पढ़ाता तो था नहीं, विवाह भी अल्पवय में ही कर दिया जाता था। इसलिये बचपन में बा निरक्षर थीं और सात साल की अवस्था में ६॥ साल के मोहनदास के साथ सगाई कर दी गई। तेरह साल की आयु में उन दोनों का विवाह हो गया। बापू ने उनपर आरंभ से ही अंकुश रखने का प्रयास किया और चाहा कि बा बिना उनसे अनुमति लिए कहीं न जायँ। किंतु वे बा को जितना ही दबाते उतना ही वे आजादी लेतीं और जहाँ चाहतीं चली जातीं।

पति पत्नी १८८८ ई० तक लगभग साथ साथ ही रहे किंतु बापू के इंग्लैंड प्रवास के बाद से लगभग अगले बारह वर्ष तक दोनों प्राय: अलग अलग से रहे। इंग्लैंड प्रवास से लौटने के बाद शीघ्र ही बापू को अफ्रीका चला जाना पड़ा। जब १८९६ में वे भारत आए तब बा को अपने साथ ले गए। तब से बा बापू के पद का अनुगमन करती रहीं। उन्होंने उनकी तरह ही अपने जीवन को सादा बना लिया था। वे बापू के धार्मिक एवं देशसेवा के महाव्रतों में सदैव उनके साथ रहीं। यही उनके सारे जीवन का सार है। बापू के अनेक उपवासों में बा प्राय: उनके साथ रहीं और उनकी सार सँभाल करती रहीं। जब १९३२ में हरिजनों के प्रश्न को लेकर बापू ने यरवदा जेल में आमरण उपवास आरंभ किया उस समय बा साबरमती जेल में थीं। उस समय वे बहुत बेचैन हो उठीं और उन्हें तभी चैन मिला जब वे यरवदा जेल भेजी गईं।

धर्म के संस्कार बा में गहरे पैठे हुए थे। वे किसी भी अवस्था में मांस और शराब लेकर 'मानुस देह' भ्रष्ट करने को तैयार न थीं। अफ्रीका में कठिन बीमारी की अवस्था में भी उन्होंने मांस का शोरबा पीना अस्वीकार कर दिया और आजीवन इस बात पर दृढ़ रहीं।

दक्षिण अफ्रीका में १९१३ में एक ऐसा कानून पास हुआ जिसके अनुसार ईसाई मत के अनुसार किए गए और विवाह विभाग के अधिकारी के यहाँ दर्ज किए गए विवाह के अतिरिक्त अन्य विवाहों की मान्यता अग्राह्य की गई थी। दूसरे शब्दों में हिंदू, मुसलमान, पारसी आदि लोगों के विवाह अवैध करार दिए गए और ऐसी विवाहित स्त्रियों की स्थिति पत्नी की न होकर रखैल सरीखी बन गई। बापू ने इस कानून को रद कराने का बहुत प्रयास किया। पर जब वे सफल न हुए तब उन्होंने सत्याग्रह करने का निश्चय किया और उसमें सम्मिलित होने के लिये स्त्रियों का भी आह्वान किया। पर इस बात की चर्चा उन्होंने अन्य स्त्रियों से तो की किंतु बा से नहीं की। वे नहीं चाहते थे कि बा उनके कहने से सत्याग्रहियों में जायँ और फिर बाद में कठिनाइयों में पड़कर विषम परिस्थिति उपस्थित करें। वे चाहते थे कि वे स्वेच्छया जायँ और जायँ तो दृढ़ रहें। जब बा ने देखा कि बापू ने उनसे सत्याग्रह में भाग लेने की कोई चर्चा नहीं की तो बड़ी दुखी हुई और बापू को उपालंभ दिया। फिर स्वेच्छया सत्याग्रह में सम्मिलित हुई और तीन अन्य महिलाओं के साथ जेल गईं। जेल में जो भोजन मिला वह अखाद्य था अत: उन्होंने फलाहार करने का निश्चय किया। किंतु जब उनके इस अनुरोध पर कोई ध्यान नहीं दिया गया तो उन्होंने उपवास करना आरंभ कर दिया। निदान पाँचवें दिन अधिकारियों को झुकना पड़ा। किंतु जो फल दिए गए वह पूरे भोजन के लिये पर्याप्त न थे। अत: बा को तीन महीने जेल में आधे पेट भोजन पर रहना पड़ा। जब वे जेल से छूटीं तो उनका शरीर ठठरी मात्र रह गया था।

दक्षिण अफ्रीका में जेल जाने के सिवा कदाचित् वहाँ के किसी सार्वजनिक काम में भाग नहीं लिया किंतु भारत आने के बाद बापू ने जितने भी काम उठाए, उन सबमें उन्होंने एक अनुभवी सैनिक की भाँति हाथ बँटाया। चंपारन के सत्याग्रह के समय बा भी तिहरवा ग्राम में रहकर गाँवों में घूमती और दवा वितरण करती रहीं। उनके इस काम में निलहे गोरों को राजनीति की बू आई। उन्होंने बा की अनुपस्थिति में उनकी झोपड़ी जलवा दी। बा की उस झोपड़ी में बच्चे पढ़ते थे। अपनी यह चटशाला एक दिन के लिये भी बंद करना उन्हें पसंद न था अत: उन्होंने सारी रात जागकर घास का एक दूसरा झोपड़ा खड़ा किया। इसी प्रकार खेड़ा सत्याग्रह के समय बा स्त्रियों में घूम घूमकर उन्हें उत्साहित करती रहीं।

१९२२ में जब बापू गिरफ्तार किए गए और उन्हें छह साल की सजा हुई उस समय उन्होंने जो वक्तव्य दिया वह उन्हें वीरांगना के रूप में प्रतिष्ठित करता है। उन्होंने गांधी जी के गिरफ्तारी के विरोध में विदेशी कपड़ों के त्याग के लिये लोगों का आह्वान किया। बापू का संदेश सुनाने नौजवानों की तरह गुजरात के गाँवों में घूमती फिरीं। १९३० में दांडी कूच और धरासणा के धावे के दिनों में बापू के जेल जाने पर बा एक प्रकार से बापू के अभाव की पूर्ति करती रहीं। वे पुलिस के अत्याचारों से पीड़ित जनता की सहायता करती, धैर्य बँधाती फिरीं। १९३२ और १९३३ का अधिकांश समय उनका जेल में ही बीता।

१९३९ में राजकोट के ठाकुर साहब ने प्रजा को कतिपय अधिकार देना स्वीकार किया था किंतु बाद में मुकर गए। जनता ने इसके विरुद्ध अपना विरोध प्रकट करने के लिये सत्याग्रह करने का निश्चय किया। बा ने जब यह सुना तो उन्हें लगा कि राजकोट उनका अपना घर है। वहाँ होने वाले सत्याग्रह में भाग लेना उनका कर्तव्य है। उन्होंने इसके लिये बापू की अनुमति प्राप्त की और वे राजकोट पहुँचते ही सविनय अवज्ञा के अभियोग में नजरबंद कर ली गईं। पहले उन्हें एक एकांत सूनसान में बसे गाँव में रखा गया जहाँ का वातावरण उनके तनिक भी अनुकूल न था। जनता ने आंदोलन किया कि उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है, उन्हें चिकित्सा की सुविधा से दूर रखना अमानुषिक है। फलत: वे राजकोट से १०–१५ मील दूर एक राजमहल में रखी गयीं। बा के जाने के कुछ समय बाद बापू ने भी सत्याग्रह में भाग लेने का निश्चय किया और वहाँ पहुँचकर उपवास आरंभ किया। जब बा को इसकी खबर मिली तो उन्होंने एक समय ही भोजन करने का निश्चय किया। बापू के उपवास के समय वे सदैव ही ऐसा करती थीं।

दो तीन दिन बाद ही राजकोट सरकार ने यह भुलावा देकर कि वे बापू से मिलना चाहें तो जा सकती हैं, उन्हें बापू के पास भेज दिया। किंतु जब शाम को कोई उन्हें नजरबंदी के स्थान पर वापस ले जाने नहीं आया तब

पता चला कि इस छलावे से उन्हे रिहा किया गया है। बापू को यह सह्य न था। उन्होंने बा को एक बजे रात को जेल वापस भेजा। राजकोट सरकार की हिम्मत न हुई कि वह सारी रात उन्हें सड़क पर रहने दे। वे वापस राजमहल ले जाई गयी और उसके बाद दूसरे दिन वे बाकायदा रिहा की गयी।

६ अगस्त, १६४२ को बापू आदि के गिरफ्तार हो जाने पर बा ने, शिवाजी पार्क (बबई) मे, जहाँ स्वय बापू भाषण देने वाले थ, सभा मे भाषण करने का निश्चय किया किंतु पार्क के द्वार पर पहुँचने पर गिरफ्तार कर ली गई। दो दिन बाद वे पूना के आगा खाँ महल मे भेज दी गई। बापू गिरफ्तार कर पहले ही वहाँ भेजे जा चुके थे। उस समय वे अस्वस्थ थी। १५ अगस्त को जब यकायक महादेव देसाई ने महाप्रयाण किया तो वे बार बार यही कहती रहीं 'महादेव क्यो गया, मै क्यों नहीं ?' बाद मे महादेव देसाई का चितास्थान उनके लिये शकर-महादेव का मदिर सा बन गया। वे नित्य वहाँ जाती, समाधि की प्रदक्षिणा कर उसे नमस्कार करती। वे उसपर दीप भी जलवाती।

गिरफ्तारी की रात को उनका जो स्वास्थ्य बिगडा वह फिर सतोषजनक रूप से सुधरा नही और अततोगत्वा उन्होने २२ फरवरी, १६४४ को अपना ऐहिक जीवन समाप्त किया। उनकी मृत्यु के उपरात राष्ट्र ने महिला कल्याण के निमित्त एक करोड रुपया एकत्र कर कस्तूरबा ट्रस्ट की स्थापना की। (प० ला० गु०)

गाधीधाम गुजरात मे कांदला नामक स्थान पर नवस्थापित नगर।

इस नगर के निकट बबई के बदरगाह के दबाव को घटाने के लिये एक नए बदरगाह का विकास किया गया है जिसकी गणना भारत के आठ बडे बदरगाहो मे की जाती है। (प० ला० गु०)

गाधी, महात्मा मोहनदास करमचद ससार के श्रेष्ठ महापुरुष और भारतीय राष्ट्र के जनक। इसीलिये इन्हे राष्ट्रपिता कहा जाता है। आदर्श चरित और योग्य नेतृत्व से उन्होने भारतीय जनजीवन के प्रत्येक अग को प्रभावित किया। जनता की भावनाओ, धारणाओ और कल्पनाओ को एक नई दिशा प्रदान की, राष्ट्र के विचारो, सस्कारो और गतिविधियो को आदोलित किया तथा देश के जीवन और इतिहास को सर्वतोभावेन प्रभावित कर असीम और अलौकिक शक्ति का परिचय दिया। वे अहिंसक योद्धा, अन्याय और अनाचार के विरोधी, कुशल राजनीतिज्ञ, मानवता के मार्गदर्शक, सास्कृतिक नेता, नैतिकता के पोषक, समाज के सघटनकर्ता, दलित किंतु महान् भारतीय राष्ट्र के उद्धारक, निर्माता और जनक के रूप में समादृत हुए। जनता और इतिहास ने गाधी जी को महात्मा, सत, युगनिर्माता आदि के विशेषणो से समानित किया।

उनका जन्म आश्विन कृष्ण १२, स० १६२५ (२ अक्टूबर, १८६६ ई०) को पोरबदर (काठियावाड) मे हुआ था। इनके पिता श्री करमचद गाधी पोरबदर राज्य के दीवान थे। वे राज स्थानिक कोर्ट के सभासद भी थे, फिर कुछ समय तक राजकोट और बीकानेर में दीवान रहे। उनकी चार पत्नियो मे से अतिम पत्नी पुतलीबाई से जन्मे मोहनदास सबसे छोटी सतान थे।

उनकी शिक्षा दीक्षा हाई स्कूल तक राजकोट मे हुई। आठ वर्ष की उम्र मे एक देहाती पाठशाला मे पढाई आरभ हुई, १८८७ ई० में मैट्रिक परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए। इसके बाद भावनगर के श्यामलदास कालेज मे भर्ती हुए। ४ दिसबर, १८८८ ई० को वे वकालत की शिक्षा के लिये विलायत गए और बैरिस्टरी की परीक्षा मे उत्तीर्ण होकर १० जून, १८६१ को भारत लौटे और वकालत आरभ की। अप्रैल, १८६३ ई० मे सेठ अब्दुल करीम जवेरी के साथ दक्षिण अफ्रीका गए। वहाँ भारतीयो की चिंत्य स्थिति देखकर उन्होंने अफ्रीका को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाया और २२ मई, १८६४ ई० को नेटाल इडियन काग्रेस की स्थापना की। सन् १८६६ मे भारत लौटकर यहाँ रानडे, जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी, सर फीरोजशाह मेहता, बाल गगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, रामकृष्ण

सुरेंद्रनाथ बनर्जी आदि से मिले और पुन दक्षिण अफ्रीका चले गए। अर्जित लोकप्रियता के कारण इस बार वकालत अच्छी चली। अवैतनिक रूप से चिकित्सा-सेवा-कार्य मे रुचि ली और बोअर युद्ध के समय घायलो की जो सेवा की उससे यश फैला। सन् १६०१ मे पुन भारत लौटे और भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन मे समिलित हुए। सन् १६०२ मे पुन दक्षिण अफ्रीका गए। सन् १६०४ मे इनके सहयोग से वहा 'इडियन ओपीनियन' नामक साप्ताहिक निकला जो महत्वपूर्ण और प्रभावकारी सिद्ध हुआ। इसी वर्ष जोहासबर्ग मे भयकर प्लेग फैला। उस महामारी मे उन्होने मानवोचित सेवा सुश्रूषा की। इससे उनका सुयश और बढा।

इसी प्रवास मे इन्होंने श्री रस्किन की लिखी 'अटु दिस लास्ट' नामक पुस्तक पढी। उस पुस्तक ने इनके जीवन मे महत्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन किया। बाद म उसका उन्होंने 'सर्वोदय' नाम से अनुवाद भी किया। इस पुस्तक मे 'वसुधैव कुटुबकम्' की भावना को बल दिया गया है। फलस्वरूप 'फिनिक्स नामक सस्था की स्थापना हुई।

सन् १६०६ मे जुलू विद्रोह हुआ। घायलो की सेवा करने के लिये गाधी अग्रसर हुए। स्वयसेवको की टुकड़ी लेकर वहाँ डट गए। इसके लिये इन्हें सार्जट मेजर का अस्थायी पद मिला। इस सुश्रूषा कार्य से गाधी जी और प्रकाश मे आए। इसी वर्ष (१६०६) इन्होने ब्रह्मचर्य के पालन का व्रत लिया।

जुलू विद्रोह शात होने के बाद ही ट्रासवाल सरकार ने एक बिल प्रस्तुत किया जिसमे प्रवासी भारतीयो को हाथ पाँव आदि अगो के छापो से युक्त परवाना रखने का विधान था। कठिन विरोध के बावजूद १ जनवरी, १६०७ को यह काला कानून पास हो गया। इसका सत्याग्रह (पैसिव रेजिस्टेंस) प्रतिविरोध करने के लिये सस्था बनी। इस आदोलन मे भाग लेने पर उन्हें दो मास कैद की सजा मिली। उनकी गिरफ्तारी से आदोलन तीव्रतर हो उठा और सरकार को बाध्य होकर समझौता करना पडा। सारे सत्याग्रही छोड दिए गए। किंतु जब जनरल स्मट्स ने समझौते की अवहेलना कर काला कानून वापस नहा लिया तब पुन सत्याग्रह शुरू हुआ। गाधी जी पुन जेल गए। छूटने पर समझौते के लिये इग्लैंड गए पर निराश लौटे। आदोलन को बल मिला। गोपाल कृष्ण गोखले आए, फिर समझौता हुआ, पर स्मट्स ने पुन वचनभग किया। इससे भारत मे भी उत्तेजना फैली और १२ सितबर, १६१३ को सत्याग्रह की घोषणा हुई। आदोलन ने जोर पकडा। स्त्रियो ने भी योगदान दिया। मजदूर भी आ मिले। सघर्ष उग्र हो उठा। श्री एड्रयूज और श्री पियर्सन आए। जनवरी, १६१४ मे अतिम समझौता हुआ।

इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका मे सचालित उनका कार्य समाप्त हो चला था और वह भारत आने को उत्सुक हो उठे। किंतु इसी बीच ४ अगस्त, १६१४ को महायुद्ध की घोषणा हुई। लदन जाकर इन्होंने ब्रिटेन के सहायतार्थ भारतीय स्वयसेवक दल की स्थापना की। सन् १६१५ मे भारत लौटे। सरकार ने इन्हे 'कैसरे हिंद' पदक प्रदान किया।

उन दिनो बिहार मे नील के व्यवसाय का एकाधिकार अग्रेजो के हाथ मे था और वे किसानो के साथ बर्बरतापूर्ण मनमानी किया करते थे। अफ्रीका के आदोलन की बात जब इन किसानो के कान मे पहुँची तब उनमे इनसे सहायता की आशा जागी और उन्होंने अपनी दु खगाथा इन तक पहुँचाई। फलत चपारन जाकर उन्होने वहाँ की स्थिति का गभीर अध्ययन किया और घूम घूमकर सात हजार किसानो का बयान लिया। परिणामस्वरूप निलहे गोरो के अत्याचार की जांच के लिये एक कमीशन नियुक्त हुआ। कमीशन की सस्तुति पर गवर्नर ने तिनकठिया कानून रद्द कर दिया। चपारन मे गाधी जी को जो सफलता मिली उससे वह सारे भारत मे प्रसिद्ध हो उठे और प्रथम श्रेणी के नेताओ मे इनकी गणना होने लगी।

चपारन से गाधी मिल मजदूरो की समस्या सुलझाने के लिये अहमदाबाद पहुँचे। वहाँ मजदूरो को हडताल करने के लिये प्रेरित किया। गाधी ने इसी क्रम म उपवास भी किया। अत मे समझौता हुआ। मिल मजदूरो की समस्या सुलझाने के बाद ही खेडा का सत्याग्रह शुरू हुआ।

खेड़ा में किसानों की फसल नष्ट हो जाने पर भी लगान में कमी नहीं की जा रही थी, इसीलिये सत्याग्रह का आश्रय लिया गया। सरकार ने दमन शुरू किया, किंतु वह कामयाब न हुई। उसे झुकना पड़ा। गांधी जी को, जो इस समय गुजरात सभा के अध्यक्ष थे, यह दूसरा यश मिला। इसी बीच उन्होंने साबरमती में अपना आश्रम भी स्थापित किया।

इनके साथ ही प्रथम महायुद्ध में फँसे इंग्लैंड की सहायता के लिये भी गांधी जी ने कार्य किया। रंगरूटों की भरती के लिये दौड़ धूप की पर महायुद्ध की समाप्ति पर जब भारतीय जनता के अधिकारों में कमी करने के उद्देश्य से रौलट बिल पेश हुआ तब जनता में उसका भयंकर विरोध हुआ। गांधी तथा अन्य नेताओं के प्रयास के बावजूद जब उसने कानून का रूप ले लिया तब सत्याग्रह करने का निश्चय हुआ। बंबई में गांधी जी की अध्यक्षता में केंद्रीय सत्याग्रह समिति बनी। २८ फरवरी, १९१९ को ऐतिहासिक प्रतिज्ञापत्र प्रकाशित हुआ जिसमें कानून को न मानने की घोषणा थी। ६ अप्रैल का दिन हड़ताल, उपवास और सभा करने के लिये निश्चित हुआ। जब्त किताबें बेची गईं। गांधी जी ने बिना डिक्लेरेशन 'सत्याग्रही' नामक पत्र निकाला। १० अप्रैल को वह सीमाप्रवेश न करने के आदेश का उल्लंघन करने के आरोप में गिरफ्तार किए गए और बंबई में ले जाकर छोड़ दिए गए। इससे रोष और भी भड़का। कई स्थानों पर दंगे हो गए। इस कारण गांधी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया और तीन दिनों का उपवास किया।

इधर यह सब हो रहा था, उधर पंजाब में फौजी कानून लागू कर दिया गया। अमृतसर के जालियाँवाला बाग की सभा में शांत और निर्दोष व्यक्ति जनरल डायर की क्रूरता के शिकार हुए। शासकों का ऐसा भयंकर और बर्बरतापूर्ण शासन देखकर सारा देश उग्र हो उठा। विदेशों में भी इस क्रूर अन्याय और अनीति के संबंध में आवाजें उठीं। फलतः सरकार की ओर से उक्त घटना की जाँच के लिये हंटर कमेटी बैठी पर राष्ट्रीय महासभा ने उसका बहिष्कार किया और अपनी ओर से सर्वश्री मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजनदास, गांधी जी, तैयब जी और जयकर की स्वतंत्र कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी ने जो रिपोर्ट पेश की उससे ऐसे रोमांचकारी कृत्यों का पता चला जो मानव जाति के लिये अत्यंत घृणित घटनाओं में गिने जाएँगे। इस घटना ने इस देश की बलहीन, असहाय और दलित तथा अपमानजनक स्थिति को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिया। पराधीनता का अभिशाप कैसी विभीषिका है, इसका दिग्दर्शन उस समय हुआ जब पंजाब की गलियों में भारतीय पेट के बल रेंगने के लिये बाध्य हुए। विदेशी सत्ता की उद्दंडता भी तब नग्न रूप में व्यक्त हुई जब गांधी की यह छोटी सी माँग कि डायर की पेंशन बंद कर दी जाय, ब्रिटेन की पार्लियामेंट ने ठुकरा दी। गांधी जी के तेजोमय व्यक्तित्व को विदेशी शासन के इस हिंसामय दर्प से गहरी ठेस लगी। जीवन पर्यंत अनाचार और पशुता का प्रतिरोध करनेवाली गांधी की आत्मा विकल हो उठी। वे इसका सामना करने के लिये सचेष्ट हो उठे।

इस समय इस देश के मुसलमानों में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उठे हुए खिलाफत के प्रश्न को लेकर घोर क्षोभ फैला हुआ था (द्र० खिलाफत)। मुसलमानों के साथ किए गए विश्वासघात ने गांधी जी की प्रबुद्ध आत्मा को इस अन्याय का प्रतिरोध करने के लिये और भी अधिक प्रोत्साहित किया। इसी परिस्थिति के गर्भ से गांधी की उस दिव्य और अहिंसक क्रांति ने जन्म लिया जो असहयोग और सत्याग्रह के रूप में मूर्त हुई। सितंबर, १९२० की नागपुर कांग्रेस में गांधी जी द्वारा प्रस्तुत असहयोग आंदोलन कार्यक्रम (द्र० 'कांग्रेस, भारतीय राष्ट्रीय' तथा 'असहयोग आंदोलन) स्वीकृत हुआ। इस प्रकार १९२० ई० में स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में एक नए युग का समारंभ हुआ।

इस आंदोलन में जनजागरण का दृश्य सामने आया। गांधी की अपील पर अनेक वकीलों ने वकालत छोड़ी, छात्रों ने स्कूल कालेज छोड़े, कौंसिलों और अदालतों का बहिष्कार हुआ, सरकारी उपाधियाँ लौटाई गईं। हजारों आदमी गिरफ्तार हुए। गांधी जी के 'नवजीवन' और 'यंग इंडिया' नामक पत्र प्रसिद्ध हो उठे। सन् १९२१ में अहमदाबाद की कांग्रेस में गांधी इस आंदोलन के अधिनायक बनाए गए और बारदोली सत्याग्रह का श्री गणेश हुआ, किंतु तभी उत्तेजित जनता ने चौरीचौरा (गोरखपुर) की पुलिस चौकी में आग लगा दी और २२ पुलिसवाले मार डाले गए। इस हिंसक प्रवृत्ति को देखकर अहिंसा के पथगामी गांधी ने आंदोलन स्थगित कर दिया।

इसी क्रम में राजद्रोह के अभियोग में गांधी जी १० मार्च, १९२२ ई० को साबरमती आश्रम में गिरफ्तार किए गए। उन्हें छह वर्ष का कारावास मिला। ये यरवदा जेल में रखे गए। वहाँ करीब दो वर्ष के बाद अस्वस्थ होने के कारण ६ फरवरी, १९२४ को रिहा किए गए। असहयोग आंदोलन चलता रहा। उसमें देश की प्रायः सभी जातियों और वर्गों को आमंत्रण था, किंतु सन् १९२४ के अंत में कई स्थानों पर हिंदू-मुसलिम दंगे हो गए जिनमें कोहाट का दंगा भीषण था। इन घटनाओं से गांधी जी को कष्ट हुआ और १७ सितंबर से प्रायश्चित्तस्वरूप उन्होंने २१ दिनों का उपवास किया।

दिसंबर में बेलगाँव में कांग्रेस हुई। गांधी अध्यक्ष हुए। इसमें खादी, हिंदू मुसलिम एकता, अस्पृश्यता निवारण आदि के कार्यक्रम को बढ़ाने का निश्चय हुआ। गांधी ने देश का दौरा शुरू किया और कांग्रेसजनों के लिये १८ सूत्रीय कार्यक्रम बनाया जिसमें खादी, शिक्षा, गृहशिल्प, अछूतोद्धार, धर्मप्रेम, मादक-द्रव्य-निषेध, ग्रामोदय, स्वास्थ्य, नारी, किसान, मजदूर, आदिवासी आदि के समुदय और कुष्ठ एवं यक्ष्मा के रोगियों की चिकित्सा तथा मातृभाषा का प्रचार मुख्य थे। सन् २७ में गांधी चरखासंघ के लिये लंका गए।

१९२९ ई० में साइमन कमीशन भारत आया। इंग्लैंड की सरकार ने इस कमीशन को स्वायत्त शासन पर विचार करने की दृष्टि से भारत की राजनीतिक स्थिति के अध्ययन के लिये भेजा था। पर इस कमीशन में एक भी भारतीय नहीं था। यह बात भारतीयों को खली। उन्होंने कमीशन का बहिष्कार किया। वे जहाँ भी गए काले झंडे दिखाए गए; विलायती कपड़ों की होली जलाई गई और बारदोली में किसानों की कतिपय समस्याओं को लेकर श्री वल्लभभाई पटेल के अधिनायकत्व में सत्याग्रह आरंभ हुआ। इस किसान आंदोलन का दमन करने में शासन ने कुछ भी उठा न रखा। पर अंत में सरकार को झुकना पड़ा। गांधी जी वायसराय से मिले। वायसराय ने स्वायत्तशासन का अधिकार देने के निश्चय की घोषणा की। इस प्रसंग में गांधी ने भारतवासियों की दृष्टि से ब्रिटिश सरकार के संमुख ११ प्रस्ताव रखे। ब्रिटिश सरकार ने गांधी जी के प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया। फलतः ३१ दिसंबर, '२९ को लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव स्वीकार किया (द्र० 'कांग्रेस')। अंग्रेज सरकार के रुख से असंतोष बढ़ता गया। देश ने गांधी के हाथों में राष्ट्रीय संघर्ष का सूत्र अर्पित किया और उन्होंने सत्याग्रह युद्ध की घोषणा कर दी। सविनय अवज्ञा के रूप में यह युद्ध आरंभ हुआ।

सरकार ने देशी नमक पर कर लगाकर उसे विदेशी नमक से महँगा बना दिया था। गांधी जी ने इस कानून को तोड़ने की घोषणा की। १२ मार्च, १९३० ई० के प्रातःकाल गांधी जी साबरमती नदी के किनारे आ खड़े हुए। उनके साथ ७९ आश्रमवासी थे। वहाँ से पैदल चलकर २४ दिनों में गांधी जी समुद्रतट पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने नमक बनाया। उनकी यह दांडीयात्रा इतिहास के पृष्ठों में अमर है। लोगों को सत्याग्रह की जीवनी शक्ति का पता गांधी की इन २४ दिनों की दांडीयात्रा में मिला। निरुपाय और निश्चेष्ट पड़ा हुआ देश यात्रा में गांधी के बढ़ते हुए एक एक पग से अनुप्राणित और उज्जीवित हो चला। गांधी चलते गए और कोटि कोटि नर नारियों से निवसित यह महादेश क्षण क्षण जागता, उठता और स्पंदित होता गया। दांडी पहुँचते पहुँचते सारे देश में सविनय अवज्ञा आंदोलन की अग्नि भड़क उठी। देश भर में नमक कानून तोड़कर नमक बनाया गया। शराब और विलायती कपड़ों की दूकानों पर धरना देने का कार्य भी शुरू हुआ। अनेक स्थानों पर गिरफ्तारियाँ हुईं, लाठी-प्रहार हुए और गोलियाँ चलीं। गांधी ने धरसना के नमक गोदाम पर धावा बोलने की घोषणा की; घोषणा के बाद ही ५ मई को वे गिरफ्तार

कर लिए गए। इसपर वातावरण और अधिक क्षुब्ध हो उठा। शहरों में हड़ताल हुई और इसका प्रभाव गाँवों पर भी पड़ा। जुलूस निकले, गोलियाँ चलीं। सीमांत प्रदेश में गढ़वाली सैनिकों ने जनता पर गोली चलाने से इनकार कर दिया। श्रीमती सरोजिनी नायडू ने धरसना पर धावा किया। दो घंटे तक पुलिस ने लाठी चार्ज किया। करीब २०० व्यक्ति घायल हुए। आंदोलन दबनेवाला न था। सप्रू तथा जयकर ने मध्यस्थता की और यरवदा जेल में नेताओं की बैठक हुई। लंदन में गोलमेज कानफ्रेंस हुई। कांग्रेस के सहयोग की आवश्यकता का अनुभव किया गया। कांग्रेस से प्रतिबंध हटा और ३० नेता बिना शर्त रिहा किए गए। गांधी जी ने वायसराय से भेंट की। १५ दिनों की बातचीत के बाद ५ मार्च, १९३१ को सरकार और कांग्रेस के बीच समझौता हुआ (द्र० 'गांधी-इरविन-समझौता')। सत्याग्रह आंदोलन स्थगित कर दिया गया। आर्डिनेंस उठा लिए गए और बंदी छोड़ दिए गए।

१४ सितंबर को कांफ्रेंस शुरू हुई, जो ११ सप्ताह तक चली। गांधी ने कांग्रेस के उद्देश्य और महत्व पर भाषण दिया और जोरदार शब्दों में कहा कि "दुर्बल हो या सबल, सब स्वतंत्रता के अधिकारी हैं।" गांधी जी ने भारतवासियों की नैतिकता और आदर्श भावना के संबंध में वहाँ कहा कि "भारत शासकों का रक्तपात कर स्वाधीनता नहीं चाहता, अपितु स्वातंत्र्य अर्जन के लिये प्रयोजन होने पर हम भारतवासी अपने रक्त से ही गंगाजल को भी लाल कर देंगे।" कोई परिणाम नहीं निकला।

गांधी २८ दिसंबर को भारत वापस आए। दमनचक्र पूर्ववत् चलने लगा। कई नेता गिरफ्तार किए गए। गांधी जी ने तत्कालीन वायसराय विलिंगडन से बातचीत करने की असफल चेष्टा की। बंबई में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई। सत्याग्रह आंदोलन का नेतृत्व गांधी जी को सौंपा गया, किंतु वे ४ जनवरी को तड़के ही गिरफ्तार कर लिए गए। कांग्रेस के साथ साथ अनेक राष्ट्रीय संस्थाएँ गैरकानूनी करार दी गईं। गिरफ्तारियाँ हुईं। हड़तालें हुईं। जुर्माने हुए। समाचारपत्रों पर भी प्रतिबंध लगे। दमन चक्र चलता रहा। डेढ़ वर्ष में हजारों देशभक्त और कांग्रेस के कार्यकर्ता जेल गए।

उधर ब्रिटिश सरकार की ओर से अछूतों के संबंध में कुछ गोलमटोल योजनाएँ घोषित हुईं। इसके विरोध में गांधी जी ने २१ सितंबर को आमरण अनशन प्रारंभ किया; सवर्ण हिंदू नेताओं और अछूतों के प्रतिनिधियों के बीच समझौता हुआ। सरकार ने उसे माना। फलतः २६ सितंबर को अनशन समाप्त हुआ और गांधी को जेल में ही इस संबंध में कार्य करने की सुविधाएँ उपलब्ध हुईं। सवर्ण हिंदुओं का दिल बदलने तथा आत्मिक विकास के निमित्त उन्होंने ८ मई, १९३३ से २१ दिनों का उपवास आरंभ किया। स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण जेल ने रिहा कर दिए गए। आंदोलन कुछ दिनों के लिये स्थगित हुआ और १ अगस्त से 'व्यक्तिगत' सत्याग्रह करने की योजना बनाई गई।

गांधी ने अपने आश्रम के ३२ सदस्यों के साथ १ अगस्त, १९३३ ई० को व्यक्तिगत सत्याग्रह के निमित्त गुजरात के रास गाँव की ओर जाने का निश्चय किया, किंतु गिरफ्तार कर लिए गए। आज्ञा भंग करने के अपराध में इन्हें एक वर्ष की सादी सजा हुई। गांधी की गिरफ्तारी के बाद सभी प्रदेशों में यह आंदोलन चला और हजारों की संख्या में कार्यकर्ता गिरफ्तार हुए। गांधी को जेल से हरिजन कार्य करने की जो सुविधा दी गई थी, वह छीन ली गई। इस कारण उन्होंने १६ अगस्त से उपवास आरंभ किया, पर बीच में ही स्वास्थ्य अधिक खराब हो जाने के कारण २३ अगस्त को बिना शर्त रिहा कर दिए गए। स्वास्थ्यलाभ होने पर उन्होंने हरिजन कार्य में योग दिया और इसके लिये ८ लाख रुपए एकत्र किए।

जिस समय गांधी दक्षिण भारत की यात्रा कर रहे थे उसी समय १४ जनवरी, १९३४ को उत्तरी बिहार में भयंकर भूकंप से भीषण क्षति हुई। हजारों व्यक्ति मर गए और अनेक नगर तथा गाँव ध्वस्त हो गए। । तत्काल बिहार पहुँचे और बाबू राजेंद्रप्रसाद के साथ पीड़ितों के सहायता कार्य में लग गए तथा जनता से सरकार का सहयोग करने के लिये कहा।

७ अप्रैल को गांधी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह स्थगित कर दिया। इस संबंध में सत्याग्रह का अर्थ समझाते हुए गांधी जी ने लिखा: "मैं महसूस करता हूँ कि जनता को सत्याग्रह का पूरा संदेश नहीं मिला है, क्योंकि वह अशुद्ध रूप से उसके पास पहुँचाया गया है। शुद्ध सत्याग्रह का असर दोनों पर होना चाहिए। इसकी परीक्षा के लिये सत्याग्रह केवल एक अधिकारी व्यक्ति तक ही सीमित रहना चाहिए। इसका प्रयोग होना चाहिए।" इस प्रकार वैयक्तिक सत्याग्रह एक व्यक्ति (स्वयं गांधी जी) तक ही सीमित कर दिया गया।

बिहार का सेवा कार्य समाप्त होने पर वह पुन हरिजनोद्धार के कार्य में लग गए। अनेक कट्टर सनातनियों को गांधी जी का यह हरिजन कार्य अच्छा नहीं लग रहा था। २५ जून को पूना में किसी अज्ञात व्यक्ति ने इनकी मोटर पर बम फेंकने की चेष्टा की, बम दूसरी मोटर पर लगा।

१७ सितंबर, '३४ को गांधी ने कांग्रेस से अलग होने की घोषणा की। इन्होंने अपने वक्तव्य में कहा: शिक्षित कांग्रेसजनों का बहुत बड़ा वर्ग मेरे उपायों, विचारों और उनपर आधारित प्रोग्रामों से ऊब गया है। मैं कांग्रेस के विकास में सहायक होने के बजाय बाधक हो रहा हूँ। वह संस्था मेरे व्यक्तित्व से बँध रही है। जन्मजात लोकतंत्रवादी के लिये यह बात बड़ी अपमानजनक है। १४ वर्षों के प्रयोग के बाद अधिकांश कांग्रेस-जनों के लिये अहिंसा केवल एक नीति बनी है, किंतु मेरे लिये वह धर्म है। मैंने इस प्रयोग के लिये सारा जीवन अर्पित कर दिया है और मुझे पूर्ण तटस्थता तथा कार्य की पूरी स्वाधीनता की आवश्यकता है।

कांग्रेस से अलग होकर गांधी पूरे तौर से ग्रामोद्योग और हरिजनोद्धार के कार्य में लग गए। इसी बीच वर्धा के निकट (सेवाग्राम) में उन्होंने अपना केंद्र बनाया। इनके सुझाव पर ही पहली बार कांग्रेस का अधिवेशन एक गाँव (फैजपुर) में हुआ।

१९३७ के प्रांतीय विधायक सभाओं के चुनाव में कांग्रेस ने भारी विजय प्राप्त की और ११ में से ९ प्रांतों में कांग्रेस शासन आरंभ हुआ। गांधी इन कांग्रेस मंत्रिमंडलों के गैरसरकारी परामर्शदाता बने। उनके सुझाव पर इन मंत्रिमंडलों ने मद्यनिषेध, बुनियादी शिक्षा, जेल सुधार और किसानों को सुविधाएँ देने का कार्यक्रम बनाया। इसके बाद बंगाल के महत्वाकांक्षिक नजरबंदों को रिहा कराने के लिये कलकत्ता गए और अंशतः सफल हुए। १९३८ में हरिपुरा कांग्रेस के अधिवेशन में शामिल हुए और खान अब्दुलगफ्फार खाँ के साथ पेशावर (सीमाप्रांत) की यात्रा की। १९३९ ई० के सितंबर में द्वितीय महायुद्ध की घोषणा हुई। वायसराय के निमंत्रण पर गांधी जी उनसे मिले। इंग्लैंड के प्रति सहानुभूति प्रकाश भी किया, किंतु स्पष्ट कहा कि यदि कोई समझौता होना चाहिए तो कांग्रेस और सरकार के बीच में होना चाहिए। प्राय: ५० भारतीय नेताओं से मिलने के बाद १७ अक्तूबर को वायसराय ने जो घोषणा की उससे घोर निराशा हुई। उस घोषणा में कहा गया था कि युद्ध समाप्त होने पर ही विचार विनिमय होगा। इसपर उन्होंने अपना ऐतिहासिक वक्तव्य दिया: यह घोषणा अत्यंत निराशाजनक है। कांग्रेस को फिर बाहर आना पड़ेगा और इसके बाद ही वह सशक्त और समर्थ बन सकेगी। कांग्रेस ने रोटी माँगी और उसे मिला पत्थर।

नवंबर में सभी कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने प्राय: दो वर्ष के शासन के बाद, इस्तीफा दे दिया और प्रांतों में गवर्नरी राज्य हो गया। मार्च, सन् '४० में कांग्रेस का अधिवेशन रामगढ़ में मौलाना अबुलकलाम आजाद की अध्यक्षता में हुआ। उसमें गांधी ने कहा कि 'प्रत्येक कांग्रेस कमेटी को सत्याग्रह कमेटी बन जाना चाहिए।'

कांग्रेस कार्यकारिणी के अनुमोदन करने पर गांधी ने अक्टूबर में वैयक्तिक सत्याग्रह आंदोलन शुरू किया। इसके प्रथम सत्याग्रही चुने गए आचार्य विनोबा भावे। वह युद्धविरोधी भाषण करने के अभियोग में २१ अक्टूबर को गिरफ्तार हुए। इसके बाद तो इस सत्याग्रह आंदोलन ने

जोर पकड़ लिया और वर्ष भर चलता रहा। इसमें ६० हजार व्यक्तियों ने भाग लिया, जिनमें ४०० से अधिक प्रांतीय तथा केंद्रीय धारा सभाओं के सदस्य थे। गांधी को छोड़ प्रायः सभी कांग्रेसी नेता जेल में थे। अंत में समझौते की भावना से दिसंबर, सन् '४१ में सरकार ने सभी सत्याग्रहियों को मुक्त कर दिया।

७ दिसंबर को जापानियों ने पर्ल बंदरगाह पर आक्रमण किया और युद्ध भारत के द्वार पर आ पहुँचा। एक बार पुनः सिद्धांत के प्रश्न पर गांधी कांग्रेस से अलग हो गए। वे कांग्रेस की जिम्मेदारी से मुक्त कर दिए गए।

मार्च, सन् '४२ में सर स्टैफर्ड क्रिप्स समझौते का प्रस्ताव लेकर भारत आए। इस प्रस्ताव को गांधी ने पोस्टडेटेड चेक (भविष्य की तारीख पड़ी हुई चेक) कहा। प्रस्ताव में घोषित किया गया था कि सभी दलों के एकमत हो जाने पर भी भारत की रक्षा का भार भारतीयों को नहीं दिया जा सकता। सभी दलों ने उसे अस्वीकार कर दिया और क्रिप्स विफल होकर लौट गए।

इसके बाद, सीमा पर आसन्नप्राय युद्ध की विषम स्थिति पर विचार करते हुए गांधी ने अंग्रेजों के सामने 'भारत छोड़ो' की माँग रखी। शीघ्र ही भारत के कोने कोने से यह माँग की जाने लगी। कांग्रेस कार्यसमिति ने भी इसे प्रस्ताव के रूप में स्वीकार किया। ८ अगस्त को बंबई में भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में उक्त प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और गांधी ने समग्र राष्ट्र को 'करो या मरो' का अग्निमय संदेश दिया और कहा कि संघर्ष के पहले हम समझौता करने का प्रयत्न करेंगे। किंतु सरकार ने इसके लिये कोई अवसर नहीं दिया और ९ अगस्त को भोर में ही वे तथा बंबई में उपस्थित सभी प्रमुख नेता गिरफ्तार कर लिए गए। अपने अपने नगरों के सभी बड़े कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गए और कांग्रेस कमेटियाँ अवैध घोषित कर दी गईं। दमनचक्र चलने लगा और जनता के रोष और क्षोभ का अकस्मात् विद्रोह के रूप में विस्फोट हो उठा। स्थान स्थान पर रेलवे स्टेशन, डाकघर, अदालतें, थाने आदि जला दिए गए, रेल और तार की लाइनें यत्रतत्र काट दी गईं। देखते देखते थोड़े दिनों के लिये विप्लव का दृश्य सामने आ गया। एक ओर भयंकर जनविक्षोभ और दूसरी ओर शासन की उग्रता और प्रचंडता। निहत्थी जनता पर गोलियों की वर्षा की गई, लोग घसीटे गए, पीटे गए, पेड़ों पर लटकाए गए। गाँव के गाँव फूँक दिए गए। सामूहिक जुर्माने किए गए और कठोरतापूर्वक उसकी वसूली की गई। तत्कालीन सरकारी सूचना के अनुसार २,४६३ व्यक्ति हताहत हुए और ६०-७० हजार से अधिक व्यक्ति गिरफ्तार हुए। विदेशों में भी इस दमन के विरोध में आवाजें उठीं। गांधी आगा खाँ महल में नजरबंद थे। उन्होंने १४ अगस्त को वायसराय को पत्र लिखकर दमन के खिलाफ अपना मन व्यक्त किया और पुनः सरकारी नीति पर विचार करने का अनुरोध किया, पर इसपर कोई ध्यान नहीं दिया गया। अतः सरकारी नीति के विरोध में विवश होकर उन्होंने १० फरवरी से २१ दिनों का उपवास करने का निश्चय किया। इससे और भी हलचल मची। उनकी रिहाई की माँग की जाने लगी। विदेशी पत्रों ने भी सरकारी नीति की निंदा की। वायसराय की कौंसिल से छः सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया। गांधी के साथ कस्तूरबा, सरोजनी नायडू और मीरा बहन ने भी अनशन आरंभ किया। एक सप्ताह बाद उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। २१ फरवरी को उनकी स्थिति चिंताजनक हो गई थी, किंतु उन्होंने अपना उपवास पूरा कर लिया।

२२ फरवरी, '४४ को गांधी की जीवनसंगिनी कस्तूरबा का आगा खाँ महल में ही निधन हो गया। इस आघात से वे विचलित और व्यथित हो उठे। उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। ६ मई को वे बिना शर्त मुक्त किए गए। स्वास्थ्यलाभ के लिये वे जुहू ले जाए गए। वहाँ उन्होंने १५ दिनों का मौन धारण किया। कुछ दिनों बाद पंचगनी गए। वहाँ से उन्होंने वायसराय को पत्र लिखकर कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों को छोड़ देने की माँग की। वह अस्वीकृत हुई। यही नहीं, उनको उन नेताओं से मिलने भी नहीं दिया गया। पर वे हताश नहीं हुए। उनका उद्योग जारी रहा।

हिंदू मुसलिम समस्या के समाधान के लिये गांधी ने जिना से वार्ता की, पर उसका भी कोई परिणाम न निकला। १४ जून को वायसराय ने कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों की रिहाई की घोषणा की और समझौते की दृष्टि से शिमला में नेताओं का संमेलन बुलाया। गांधी भी उसमें सलाहकार के रूप में शामिल हुए। यह संमेलन २५ जून से १४ जुलाई तक चला, पर कोई परिणाम नहीं निकला। कांग्रेस ने संमानपूर्ण समझौता करना चाहा, पर लीग ने रोड़े अटकाए। शिमला संमेलन असफल रहा।

इंग्लैंड में विंस्टन चर्चिल हार गए और एटली के नेतृत्व में मजदूर दल का शासन स्थापित हुआ। जर्मनी और जापान के आत्मसमर्पण कर देने के कारण महायुद्ध समाप्त हो गया था पर युद्धजन्य जर्जरता के कारण ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति चिंत्य हो उठी और यह स्पष्ट हो गया कि उसमें शक्ति के बल पर, भारत पर शासन करने की क्षमता नहीं रह गई। फलतः मजदूर सरकार ने अपनी घोषणा के अनुसार भारतीय गत्यवरोध को दूर करने की दिशा में प्रयत्न किया। कांग्रेस को पुनः वैध घोषित किया गया। प्रांतीय तथा केंद्रीय धारासभाओं के पुनः चुनाव हुए। इन चुनावों में कांग्रेस को अभूतपूर्व सफलता मिली। यह जनजागृति का प्रतीक था।

१९४६ के प्रारंभ में एक ब्रिटिश मंत्रिदल भारत आया। उसने भारतीय नेताओं से बातचीत की और भारत छोड़ने की नीति स्वीकार की। अस्थायी संघ सरकार बनाए जाने का प्रस्ताव स्वीकार हुआ। गांधी ने इस गतिविधि में पूरा योगदान और उचित पथप्रदर्शन किया। कांग्रेस द्वारा अस्थायी सरकार का संगठन कर लेने पर लीग ने उक्त योजना अस्वीकार कर दी और प्रत्यक्ष कार्रवाई पर तुल गई। फलतः कलकत्ता में भयंकर दंगा हुआ। लाखों व्यक्ति हताहत हुए; हजारों दूकानें लूटी गईं। नोआखाली में भी भयानक कांड हुए। लीग का दमन करने के बजाय वायसराय लार्ड वैवेल ने अस्थायी सरकार में उसके प्रतिनिधियों को भी स्थान दे दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मंत्रिमंडल में कांग्रेस-लीग-संघर्ष प्रारंभ हो गया।

गृहयुद्ध की आशंका देखकर गांधी जी नोआखाली जाने को उद्यत हुए। नोआखाली में जो कुकांड हुआ, उसके प्रतिशोध में बिहार में सांप्रदायिकता का दानव जाग उठा। गांधी ने इसपर चिंता व्यक्त की और कहा कि 'बिहार के दंगे बंद न हुए तो मैं आमरण अनशन करूँगा'। इसका उचित प्रभाव पड़ा और बिहार में शांति स्थापित हो गई। वे २० नवंबर, १९४६ को श्रीरामपुर पहुँचे। वहाँ से उन्होंने गाँव गाँव पैदल यात्रा की। इस शांतियात्रा का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। वहाँ के मुसलमानों ने पश्चात्ताप प्रकट किया और प्रेम तथा सद्भाव के साथ रहने का आश्वासन दिया। नोआखाली से वे बिहार आए और यहाँ भी उन्होंने आपसी प्रेम और पड़ोसी के धर्म का महत्व समझाया। इधर पूर्व की आग शांत हुई तो पंजाब तथा सीमाप्रांत में लीग ने सांप्रदायिकता की ज्वाला भड़का दी। वहाँ जो कुछ कांड हुआ, उसके कारण देश को देशविभाजन की माँग स्वीकार करनी पड़ी और अंग्रेज सरकार १५ अगस्त, १९४७ को हटने के लिये तैयार हो गई।

१५ अगस्त को भारत को स्वतंत्रता मिली किंतु गांधी के लिये वह दिन आनंद या उल्लास का नहीं, आत्मचिंतन का था। जिस स्वराज्य और रामराज्य की स्थापना करने का वह स्वप्न देख रहे थे वह प्रत्यक्ष न था। देश के दो टुकड़े हो गए थे--भारत और पाकिस्तान। उन्होंने दोनों को एक में जोड़ने के लिये निश्चय किया कि मैं पाकिस्तान में रहूँगा और ६ अगस्त को वह नोआखाली जाने के लिये कलकत्ता पहुँचे। वहाँ उन्हें आश्वासन मिला कि अब सांप्रदायिकता की आग न भड़केगी। १४ अगस्त को कलकत्ते में हिंदू मुसलमान गले मिले, किंतु अचानक १५ दिन के बाद यह पैशाचिकता फिर जाग उठी। वे मर्माहत हुए। उन्होंने उपवास की घोषणा की। इसका प्रभाव पड़ा। तीन दिनों बाद उपवास तोड़ वे पाकिस्तान की ओर अग्रसर हुए।

गांधी की उपस्थिति से बंगाल में तो शांति रही, पर पंजाब में उपद्रव शुरू हो गए। उन्होंने ६ सितंबर को पंजाब जाने का निश्चय किया, पर वहाँ न जा सके। दिल्ली और पंजाब के हिंदुप्रधान क्षेत्रों में भी सांप्रदायिकता की आग भड़क उठी; भीषण नरसंहार होने लगा। दिल्ली में रुककर वे शांतिस्थापनार्थ प्रयास करने लगे और अंत में अपने अमोघ अस्त्र उपवास का उन्होंने आश्रय लिया। उन्होंने १३ जनवरी १९४८ को प्रातः ११ बजे आमरण अनशन आरंभ किया और कहा कि 'मैं तभी यह अनशन तोड़ूँगा, जब दिल्ली में सारे संप्रदाय के लोग भयरहित होकर रह पाएँ।' इस समाचार से चिंता व्याप्त हो गई। लोगों ने उनसे अनशन भंग करने का विशेष अनुरोध किया पर वह अडिग रहे। १८ जनवरी को दोनों संप्रदायों के प्रतिनिधियों के अनुरोध पर उन्होंने अनशन भंग किया। २० जनवरी को बिड़ला भवन के सभामंडप में उनपर एक देशी बम फेंका गया। गांधी जी अविचल रहे और प्रार्थना सभा में नित्य प्रति उनकी प्रार्थना का कार्यक्रम चलता रहा।

३० जनवरी को प्रार्थना सभा में जब गांधी जी मंच की ओर बढ़ रहे थे, तब भीड़ में से एक व्यक्ति ने उनपर दनादन तीन गोलियाँ चलाईं। पहली गोली पेट में लगी, दूसरी दाहिनी पसली में और तीसरी सीने में। सायंकाल ५ बजकर ४० मिनट पर 'हे राम' कहते हुए उनका प्राणांत हो गया।

गांधी जी का हत्यारा, नाथूराम गोडसे, घटनास्थल पर ही गिरफ्तार किया जा चुका था। उसपर मुकदमा चला और उसे प्राणदंड मिला। गोडसे ने जघन्य कर्म कर गांधी के प्राणांत करने का दुस्साहस अवश्य किया, किंतु वह अलौकिक एवं आलोकमय आत्मा को मलिन एवं पराभूत करने में सर्वथा असफल एवं घृण्य रहा।

इस युग के लिये गांधी और भारत दोनों शब्द अन्योन्याश्रय के रूप में प्रयुक्त हो सकते है। जब से गांधी जी भारत के राजनीतिक रंगमंच पर आए तब से लेकर अपने अंतिम क्षणों तक वह भारतीयता के अनुपम देवदूत-स्वरूप ही समादृत हुए। उनका सारा जीवन देश के न केवल राजनीतिक जागरण को, प्रत्युत राष्ट्रीयता की भावना एवं उसकी चतुर्मुखी चेतना को जागरित और प्रसारित करने में ही व्यस्त एवं न्यस्त रहा। गांधी जी इस देश के केवल राजनीतिक नेता ही नहीं, सांस्कृतिक गुरु, धर्म के संस्थापक, नैतिकता के उन्नायक, विप्लवयज्ञ के अध्वर्यु, साहित्यिक सरणि के निर्माता और राष्ट्र की आत्मा के उज्जीवक के रूप में सामने आए। उनके जीवन के अंतिम ३० वर्ष भारत की राजनीति के ज्योतिर्मय इतिहास के तथा राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस के स्वतंत्रता संग्राम के प्रज्वलंत पृष्ठ हैं।

भारत के राष्ट्रीय जीवन के रंगमंच पर उनका अवतरण ऐसे समय हुआ जब देश निरुपाय और असहाय हो गया था। राष्ट्र का नैतिक अधःपतन अपने चरमबिंदु पर पहुँच चुका था। उसकी पराधीनता के बंधन कठोरता के साथ जकड़ चुके थे। भारत अपनी तेजस्विता खो चुका था और अपने अतीत का गौरव भी पूरी तरह भूल गया था। देश की स्वाधीनता को पाने के लिये जो संघर्ष गांधीयुग के पूर्व इधर उधर छोटे मोटे रूप में हुए थे वे सब असफल हो चुके थे। कुछ देशभक्तों ने प्रथम महायुद्ध के समय सशस्त्र क्रांति की जो योजना बनाई थी वह क्रूर ब्रिटिश संगीनों से पूरी तरह कुचल दी गई थी। अंग्रेजों के सद्भाव में विश्वास करके प्रार्थना और अनुरोध के द्वारा भारत की मुक्ति का मार्ग खोजनेवाले बुरी तरह विफल हो चुके थे। ऐसी स्थिति में भारत के उद्धार का मार्ग अवरुद्ध दिखाई दे रहा था। देश हताश था। दुनियाँ में अनेक देशों में बड़े से बड़े विप्लव हुए हैं पर उनमें हिंसात्मक विद्रोह के द्वारा सफलता प्राप्त हुई थी। भारत में भी इसके प्रयास हुए पर विफलता मिली।

ऐसे समय गांधी जी का आविर्भाव हुआ जिसने इस राष्ट्र के संमुख एक नई दिशा प्रस्तुत की जिसकी दूसरी मिसाल दुनियाँ के इतिहास में कहीं मिल नहीं सकती। उन्होंने एक नई क्रांतिशैली, संघर्ष और युद्ध का एक नूतन पथ उपस्थित किया। बिना हिंसा का सहारा लिए महती क्रांति की कल्पना प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि हिंसा का प्रतिकार हिंसा से नहीं हो सकता। असत्य असत्य से पराजित नहीं किया जा सकता, अनैतिकता अनैतिकता पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती, अंधकार का प्रतिकार अंधकार से नहीं हो सकता और पाप को पाप से धोकर बहाया नहीं जा सकता। हिंसा का पराभव अहिंसा से, असत्य का सत्य से, अंधकार का प्रकाश से और अनैतिकता का नैतिकता से ही हो सकता है। भारत पर विदेशियों का शासन हिंसा पर आश्रित है, अनैतिक है और मनुष्य तथा भगवान् के प्रति अपराध है। जो अनैतिक है वह भगवान् के विधान के विरुद्ध है, अतः वह असत्य है। अनैतिक और असत्य के उन्मूलन के लिये नैतिकता और सत्य का आश्रय लेना पड़ेगा। हिंसा का मूलोच्छेद करने के लिये अहिंसा ही एकमात्र उपाय हो सकती है।

इस प्रकार सत्य, अहिंसा और नैतिकता के आधार पर उस महान् विप्लव की व्यूहरचना करने में वे सफल हुए जिसने पददलित और प्रताड़ित भारतीय राष्ट्र को युद्ध और क्रांति की प्रेरणा प्रदान की और जो देश निरुपाय पड़ा हुआ था उसमें नए स्फुरण और प्राण का संचार किया। गांधी जी के असहयोग और सत्याग्रह में उनकी वही अहिंसक क्रांतिशैली मूर्त हुई।

किसी क्रांति की सफलता के लिये पहले विचारों में क्रांति उत्पन्न करना आवश्यक होता है। क्रांतियाँ केवल प्रस्तावों से नहीं हुआ करतीं। गांधी जी ने इस देश के विचार में क्रांति कर दी; और जब विचार बदलते हैं तो जीवन के मूल्यों में परिवर्तन हो जाता है। ये नए मूल्य अंतर में प्रस्तावित होते हैं और नए जीवन की प्रेरणा के स्रोत बनते हैं। गांधी जी के नेतृत्व से जिस युग का आविर्भाव हुआ उसमें हमारे देश के विचारों में, आदर्शों में, अनुभूतियों में, मूल्यों में, पद्धतियों में और व्यवहार में आमूल क्रांति हुई। भारत की इस आंतरिक क्रांति ने असहयोग और सत्याग्रह के रूप में मूर्त हुए नैतिक विद्रोह की योजना को सफलतापूर्वक चरितार्थ किया।

(क० लि०)

गांधी दर्शन महात्मा गांधी ने किसी नए दर्शन की रचना नहीं की है वरन् उनके विचारों का जो दार्शनिक आधार है, वही उनका दर्शन है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास करनेवाले भारतीय आस्तिक के ऊपर जिस प्रकार के दार्शनिक संस्कार अपनी छाप डालते हैं वैसी ही छाप गांधी जी के विचारों पर पड़ी हुई है। वे भारत के मूलभूत कुछ दार्शनिक तत्वों में अपनी आस्था प्रकट करके अग्रसर होते हैं और उसी से उनकी सारी विचारधारा प्रवाहित होती है। किसी गंभीर रहस्यवाद में न पड़कर वे यह मान लेते हैं कि शिवमय, सत्यमय और चिन्मय ईश्वर सृष्टि का मूल है और उसने सृष्टि की रचना किसी प्रयोजन से की है। वे ऐसे देश में पैदा हुए जिसने चैतन्य आत्मा की अक्षुण्ण और अमर सत्ता स्वीकार की है। वे उस देश में पैदा हुए जिसमें जीवन, जगत्, सृष्टि और प्रकृति के मूल में एकमात्र अविनश्वर चेतन का दर्शन किया गया है और सारी सृष्टि की प्रक्रिया को भी सप्रयोजन स्वीकार किया गया है। उन्होंने यद्यपि इस प्रकार के दर्शन की कोई व्याख्या अथवा उसकी गूढ़ता के विषय में कहीं विशद और व्यवस्थित रूप से कुछ लिखा नहीं है, पर उनके विचारों का अध्ययन करने पर उनकी उपर्युक्त दृष्टि का आभास मिलता है। उनका वह प्रसिद्ध वाक्य है—"जिस प्रकार मैं किसी स्थूल पदार्थ को अपने सामने देखता हूँ उसी प्रकार मुझे जगत् के मूल में राम के दर्शन होते हैं"। एक बार उन्होंने कहा था, "अंधकार में प्रकाश की और मृत्यु में जीवन की अक्षय सत्ता प्रतिष्ठित है।"

यहाँ उन्हें जीवन और जगत् का प्रयोजन दिखाई देता है। वे कहते हैं कि जीवन का निर्माण और जगत् की रचना शुभ और अशुभ, जड और चेतन को लेकर हुई है। इस रचना का प्रयोजन यह है कि असत्य पर सत्य की और अशुभ पर शुभ की विजय हो। वे यह मानते है कि जगत् का दिखाई देनेवाला भौतिक अंश जितना सत्य है उतना ही और उससे भी अधिक सत्य न दिखाई देनेवाला वह चेतन भावलोक है जिसकी व्यंजना जीवन है। फलतः वे यह विश्वास करते हैं कि मनुष्य में जहाँ अशुभ वृत्तियाँ हैं वहीं उसके हृदय में शुभ का निवास है। यदि उसमें पशुता है तो देवत्व भी प्रतिष्ठित है। सृष्टि का प्रयोजन यह है कि उसमें देवत्व का प्रबोधन हो और पशुता प्रताड़ित हो, शुभांश जागृत हो और अशुभ

का पराभव हो। उनकी दृष्टि मे जो कुछ अशुभ है, असुदर है, अशिव है, असत्य है, वह सब अनैतिक है। जो शुभ है, जो सत्य है, जो शुभ्र है वह नैतिक है। वही सत्य, वही शिव और सुदर है। जो सुदर है उसे शिवमय और सन्मय होना चाहिए। उन्होंने यह माना है कि सदा से मनुष्य अपने शरीर को, अपने भोग को, अपने स्वार्थ को, अपने अहकार को, अपने पेट को और अपने प्रजनन को प्रमुखता प्रदान करता रहा है। पर जहाँ ये प्रवृत्तियाँ मनुष्य मे है, जिनसे वह प्रभावित होता रहता है, वही उसी मनुष्य के उत्सर्ग और त्याग, प्रेम और उदारता, नि:स्वार्थता तथा व्यष्टि को समष्टि मे लय करके, अहभाव का सर्वथा त्याग करके विराट् मे लय हो जाने की दैवी भावना भी वर्तमान है। इन भावों का उद्बोधन तथा उन्नयन दानव पर देव की विजय का साधन है। इसी मे अनैतिकता का पराभव और अजेय नैतिकता की जीत है।

इसी के प्रकाश मे महात्मा गाधी ने सारी सृष्टि के विकास और मानव के इतिहास को देखा। उनका दर्शन एक प्रकार से जीवन, मानव समाज और जगत् का नैतिक भाष्य है। इसी की गर्भदृष्टि से उनकी अहिंसा का प्रादुर्भाव हुआ है। उनकी अहिंसा प्राचीन काल से सतों और महात्माओं की अहिंसा मात्र नही है। उनकी अहिंसा शब्दप्रतीक रूप मे उच्चरित होती है जिसमे उनकी सारी दृष्टि भरी हुई है। वह मानते है कि जगत् मे जो कुछ अनैतिक है वह सब हिंसा है। स्वार्थ, दंभ, लोलुपता, अहकार, भोग की प्रवृत्ति, तृप्ति के लिये किए गए शोषण, प्रभुता तथा अधिकार और अपने को ही सारे सुखों, सपदाओं और वैभव तथा ऐश्वर्य का दावेदार समझने की प्रवृत्ति उनकी दृष्टि मे वे पशुभाव है जो मनुष्य को पशुता, अमानवता और अनैतिकता की ओर ले जाते है। उनकी अहिंसा केवल आदर्श तक ही परिमित नही है। वे उसे ही लक्ष्य की ससिद्धि के लिये शक्तिमय साधन के रूप मे भी देखते है। अहिंसा को पशुता के विरुद्ध विद्रोह के रूप मे प्रस्तुत करने और उसे अजेय तथा अमोघ शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित करने मे गाधी जी की प्रतिभा अपनी अभूतपूर्व अभिनवता प्रदर्शित करती है। उनकी अहिंसा केवल जीवहिंसा न करने तक ही परिमित नही है, प्रत्युत जहाँ कही हिंसा हो, अन्याय हो, पशुता हो, उसका मुकाबला करने के लिये परमशक्ति के रूप में अग्रसर होती है। अन्याय और अनीति के संमुख मस्तक झुकाना पाप है। पशुता को प्रश्रय मत दो, पशुता के सामने सिर न झुकाओ, अनीति और पशुता का सामना अनैतिकता और पशुता के द्वारा मत करो क्योकि वह पशुता पर पशुता की विजय होगी। पशुता पर देवत्व की विजय तब होगी जब नैतिक और शुभ अस्त्रों से अनैतिक और दानव भाव की पराजय हो। शस्त्र से शस्त्र का, हिंसा से हिंसा का, क्रोध से क्रोध का पराभव नही किया जा सकता। उनकी अहिंसा निष्क्रिय नही सक्रिय है। वह कायर और पलायनवादी अथवा शस्त्र से भयभीत होनेवाले के लिये निकल भागने का मार्ग प्रस्तुत करने के निमित्त नही आयोजित होती। वह वीरता, दृढता, संकल्प और धैर्य को आधार बनाकर खड़ी होती है जो अन्याय और अनाचार को, जगत् की सारी शस्त्रशक्ति को, और दर्प तथा दंभ से अधीर हुई शासनसत्ता की सारी दमनात्मक प्रवृत्ति को चुनौती देती है।

उनकी इस चिंतनधारा से असहयोग और सत्याग्रह का जन्म हुआ। यही उनकी अहिंसक क्राति, रक्तहीन विप्लव और हिंसाहीन युद्ध का मूर्तरूप है। उनकी दृष्टि मे अहिंसा अमोघ शक्ति है जिसका पराभव कभी हो नही सकता। सशस्त्र विद्रोह से कही अधिक शक्ति अहिंसक विद्रोह मे है। शस्त्र का सहारा लेकर अहिंसक वीर की आत्मा का दलन करने मे कोई सत्ता, साम्राज्य अथवा शक्ति समर्थ नही हो सकती। अहिंसा नैतिकता पर आश्रित है, अत: सत्य है और सत्य ही सदा विजयी होगा। इस प्रकार संसार के सामने अहिंसा के रूप मे उन्होंने उज्वल, महान् और नैतिक पथ निर्मित किया जिसने मनुष्यसमाज और जगत् को गतिशील होने की प्रेरणा प्रदान की। वे उन समस्त मान्यताओं, धारणाओं और दृष्टियों के प्रतिवाद है जिनका आधार भौतिकवाद है। वे प्रतीक हैं उन समस्त भावों के जो मनुष्य को पशुता की ओर नही, देवत्व की ओर बढने की दिशा का संकेत करते हैं।

इस अहिंसक पथ को प्रदर्शित करके वे कल्पना करते हैं एक ऐसे लक्ष्य तक पहुँचने की जहाँ अहिंसा के आधार पर ही मनुष्य के जीवन, उसके समाज और उसके जगत् की व्यवस्था की रचना की जा सके। वे मानते हैं कि मनुष्य परिवर्तित किया जा सकता है और उसका विकास शुभ्रता की ओर हो सकता है। वे यह भी मानते है कि निसर्गत: मनुष्य भला है और भलाई की ओर ही उन्मुख है। वे समझते है कि व्यक्ति से समाज बनता है और व्यक्ति का परिवर्तन समाज को परिवर्तित कर देगा। वे यह भी मानते है कि परिवर्तित समाज व्यक्ति के लिये उन सस्कारों की रचना करेगा जिससे नूतन सस्कृति का आविर्भाव होगा। अहिंसा के आधार पर समाज की रचना किस प्रकार हो सकती है इसकी सारी कल्पना उनके 'चरखे' मे प्रतिष्ठित है। वे यह स्वीकार करते हैं कि आर्थिक व्यवस्था का व्यक्ति और समाज पर सबसे अधिक प्रभाव होता है और फिर उससे उत्पन्न हुई आर्थिक और सामाजिक मान्यताएँ राजनीतिक व्यवस्था को जन्म देती है। आज पदार्थो के उत्पादन की प्रणाली वैज्ञानिक यत्रवाद के कारण केंद्रित हो गई है और वही आधुनिक विश्व की समस्त समस्याओं के मूल मे बैठी हुई है। उत्पादन की केंद्रित प्रणाली केंद्रीभूत पूंजी को जन्म देती है जिसके फलस्वरूप समाज के थोड़े से व्यक्तियों के हाथो मे आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का सूत्र आता है। उसकी रक्षा के लिये शक्ति तथा अधिकार और प्रभुता को केंद्रीभूत करने के लिये महती और केंद्रीकृत शस्त्रशक्ति के आधार पर राजनीतिक सत्ता आसन जमाती है। फल होता है समाज के बहुत बड़े अग का शोषण, दोहन और दलन। इस प्रकार अधिकारवंचित और शोषित जनसमाज आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से मूलत: पराधीन होता है यद्यपि देखने मे स्वाधीन दिखाई देता है। तात्पर्य यह है कि शस्त्र और अनीति का सहारा लेकर जो व्यवस्था परिचालित होगी उसमे मानव द्वारा मानव का उत्पीड़न अवश्यभावी है। इस समस्या का हल अहिंसक समाज की रचना है और उस समाज की रचना विकेंद्रीकरण के आधार पर की जा सकती है। उत्पादन की प्रणाली विकेंद्रित हो, उत्पादन के साधन विकेंद्रित हों, पूंजी विकेंद्रित हो, समाज, जीवन के लिये आवश्यक पदार्थो की उपलब्धि मे स्वावलबी हो। उसे किसी का मुखापेक्षी न बनना पड़े। अपनी कमाई का भोग वह स्वय कर सके और इस प्रकार विकेंद्रित उत्पादन और पूंजी के आधार पर बना हुआ समाज किसी वर्गविशेष के स्वार्थ का साधन न बन पाए। फिर जब पूंजी विकेंद्रित होगी और समाज की इकाइयाँ स्वावलबी बनेंगी तब शस्त्रशक्ति से संपन्न किसी केंद्रीय राजनीतिक सत्ता की आवश्यकता न रहेगी और वह अवस्था होगी जब मानव मानव के दमन, दलन और दोहन से मुक्त होकर सच्ची स्वतंत्रता का उपभोग करेगा। चरखा उसी विकेंद्रीकरण के सिद्धात का प्रतीक है। वह प्रतीक है अहिंसक समाज की रचना के पथ का। वह चुनौती देता है आधुनिक विश्व की सामाजिक व्यवस्थाओं, धारणाओं और मान्यताओं को।

महात्मा गाधी साध्य से अधिक साधन पर ध्यान देना आवश्यक मानते थे। उनका कहना था कि यदि साध्य पवित्र और मानवीय है तो साधन भी वैसा ही शुद्ध, वैसा ही पुनीत और वैसा ही मानवीय होना चाहिए। हम देखते है कि साध्य और साधन की समान पवित्रता पर बल देना और उसका आश्रय ग्रहण करना उनकी साधना रही है। उनके इन मौलिक विचारो ने मानव समाज के विकास के इतिहास मे एक अत्यंत उज्वल और पवित्र अध्याय की रचना की है। गाधी जी मे युग युग मे मनुष्यता के विकास द्वारा प्रदर्शित आदर्शो का प्रादुर्भाव समवेत रूप मे ही दिखाई देता है। उनमे भगवान् राम की मर्यादा, श्रीकृष्ण की अनासक्ति, बुद्ध की करुणा, ईसा का प्रेम एक साथ ही समाविष्ट दिखाई देते है। ऊँचे ऊँचे आदर्शो पर, धर्म और नैतिकता पर, प्राणिमात्र के कल्याण की भावना पर जीवनोत्सर्ग करनेवाले महापुरुषों की समस्त उच्चता निहित दिखाई देती है। (क० त्रि०)

गांधीवाद महात्मा गांधी के कार्यो और विचारो को लोगो ने दो भिन्न दृष्टियो से देखने की चेष्टा की है। एक वर्ग ऐसे लोगो का है जो उन्हें महात्मा के रूप मे देखता है। उन्हे उनके कार्यो और विचारो में

गॉग (कोक), विंसेंट वान (देखिए पृष्ठ ३९६)

ग़ालिब, मिर्ज़ा असदुल्ला खाँ
(देखिए पृष्ठ ४०७)
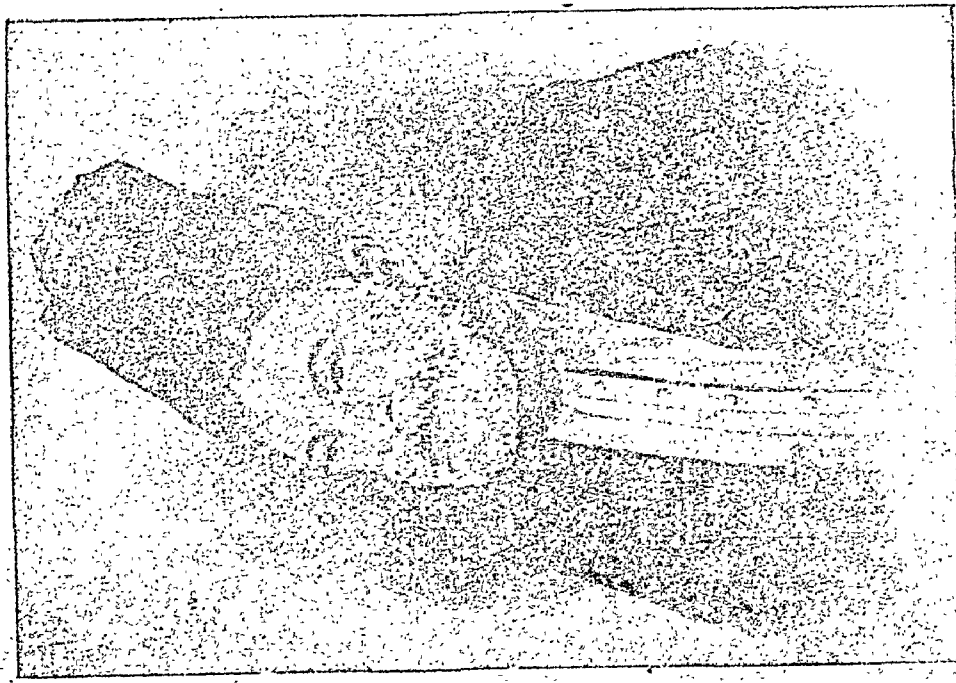
(भारत सरकार के केंद्रीय सूचना एवं प्रकाशन मंत्रालय के सौजन्य से)

आध्यात्मिकता की झलक दिखाई पडती है। और इस रूप मे जिन लोगो ने उनका अध्ययन और मनन किया है, उनमे उनको गाधी का एक अपना दर्शन दिखाई पडता है और उन्होंने उसकी दार्शनिक व्याख्या की है। दूसरे वे लोग है जो गाधी की आध्यात्मिकता मे विश्वास नही करते। उनकी दृष्टि मे वे मात्र राजनेता थे, समाज सुधारक थे, अर्थवेत्ता थे और शिक्षाशास्त्री थे। उनकी अपनी धर्म और अध्यात्म सबधी मान्यता जो भी रही हो, सार्वजनिक दृष्टि से उनके कार्यो मे उनका विशेष स्थान नही है। उन्होंने उनका विश्लेषण विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टि से किया है और उनके विचारो को एक 'वाद' के रूप मे देखा है। इस प्रकार उन्होंने महात्मा जी की विचार पद्धति को 'गाधीवाद' नाम दिया है। उनका कहना है कि समाज और शासन के सघटन तथा जीवन सबधी पक्षो के सबध मे उन्होने जो कुछ भी कहा है वह उनके अपने विचार थे, जिनका प्रतिपादन उन्होने अपने जीवनक्रम के मध्य से गुजरते हुए किया है।

महात्मा गाधी के कार्यो और विचारो मे समाज मे बँधी हुई परपराजनित कल्पनाओ को तोडने के स्थान पर उनका परिष्कार कर उनको विकसित करने की भावना रही है। सत्याग्रह उनका सामाजिक आदर्श और रामराज्य उनका शासनादर्श था। सत्य और अहिंसा को गाधीवाद का मूल स्तभ कहा जा सकता है। सत्य और अहिंसा को उन्होंने एक दूसरे का पहलू माना है। उनकी दृष्टि मे अहिंसा मे द्वेष का अभाव ही नही प्रेम की सप्राप्ति भी है।

इनकी विशद व्याख्या करने पर लगता है कि महात्मा गाधी की विचारधारा सतो की परपरा की एक नई कड़ी है। उन्होंने उनकी तरह ही त्याग और तप को महत्व दिया है। इस प्रकार उनके विचार और कार्य भौतिक स्तर पर सामान्य लगते हुए भी मात्र भौतिक नही हैं। कही न कही अध्यात्म को छूते अवश्य है। इसलिये उसे कोरा 'वाद' नही कहा जा सकता। (प० ला० गु०)

गाधीसागर बाँध चबल नदी पर कोटा नगर से ११२ किलोमीटर दूर राजस्थान और मध्य प्रदेश की सीमा पर बनाई गई जलविद्युत् परियोजना। यह एक चिनाईदार बाँध है जिसके निर्माण मे ८ वर्ष (१९५३ से १९६० ई०) लगे और १८४ करोड रुपए व्यय हुए। यह १,६८४ फुट लबा, १७६ फुट चौडा और २०६ फुट ऊँचा है। इस बाँध के जल भराव की क्षमता ६.२८ एम० ए० फुट है। इसके अधिकतम पानी का निकास ११,६७,००० क्यूसेक्स है। इसकी निरतर विद्युत् क्षमता ४८ मेगावाट तथा स्थापित क्षमता ११५ मेगावाट है। इसमे पाँच क्रियाशील जेनरेटर है जिनमे चार जेनरेटर २३ मेगावाट और एक २७ मेगावाट क्षमता का है। यहाँ से बिजली राजस्थान और मध्य प्रदेश को नवबर, १९६० से उपलब्ध हो रही है। (प० ला० गु०)

गांबेता ल्यों (१८३८–१८८२ ई०) फ्रासीसी राजनीतिज्ञ। जन्म २ अप्रैल, १८३८ को कोहोरो नामक स्थान मे हुआ। युवावस्था मे एक दुर्घटना के कारण उनकी बाई आँख जाती रही।

मई, १८६९ मे वे विधानसभा के सदस्य निर्वाचित हुए। जर्मनी से लड़ाई रोकने के लिये पहले तो उन्होने पूरी कोशिश की किंतु जब युद्ध अवश्यभावी हो गया तो उन्होंने अपनी समस्त शक्ति राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की दिशा मे लगा दी। शत्रुओं द्वारा पेरिस जीत लिए जाने पर राजकुमार बिस्मार्क की शर्तो को स्वीकार करते हुए आत्मसमर्पण कर दिया। यद्यपि विधानसभा के लिये उनका निर्वाचन पुन हुआ तथापि किसी महत्वपूर्ण विषय पर मतातर होने के कारण विधानसभा की सदस्यता त्यागकर वे स्पेन चले गए। फ्रास लौटने पर देश मे गणतात्रिक सरकार की स्थापना के लिये ला फ्रांस्वा (La Francoise) नामक पत्र के माध्यम से उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया। 'ला ग्रॉ मिनिस्तर' नामक मत्रिमडल सगठित करने पर लोगो ने ल्यों पर निरकुशता का आरोप लगाया जिसके फलस्वरूप २५ जनवरी, १८८२ को मात्र ६६ दिन के उपरात उन्हें मंत्रिमडल भग कर देना पडा। २७ नवबर, १८८२ को किसी ने रिवाल्वर से गोली मार दी जिससे ३१ दिसबर को उनकी मृत्यु हो गयी। (ला० सि०)

गॉग (काक), विसेंट वान (१८५३–१८९० ई०) आधुनिक चित्रकला के जनक और उत्तर प्रभाववादी आदोलन के क्रांतिकारी डच चित्रकार। हालैंड के गुटजडर्ट ग्राम मे ३ मार्च, १८५३ को पैदा हुए। उनके पिता पादरी थे। सोलह साल की अवस्था मे अपने एक चित्रविक्रेता चाचा की दूकान मे नौकरी करना आरभ किया। पश्चात् 'गोपिल ऐंड कपनी' की पेरिस एव लदन शाखा मे काम करते रहे। सन् १८७६ मे रम्स गेट मे शिक्षक बने और पिता के मार्ग का अनुसरण करते हुए धर्मोपदेशक हो गए। दलितो के प्रति अन्याय देखकर ख्रिस्ती साम्यवाद के आदर्शो द्वारा आकृष्ट हुए और वासमेस खदानो के मजदूरो मे जाकर रहने लगे। फुर्सत मे कला की साधना भी करते रहे। सन् १८८० मे वह चित्रकला का अध्ययन करने ब्रुसेल्स गए। तत्पश्चात् अपने पिता के यहाँ न्युनेन मे कुछ वर्ष रहे और वहाँ के सादे एव सरल जीवन का सूक्ष्मता से अध्ययन कर वहाँ उसका चित्रण किया। उन दिनो की अनेक कृतियो मे उनकी कृति 'आलूखोर', जिसमे एक मेज के चारो ओर ग्रामीण बैठे दिखाए गए हैं, काफी प्रसिद्ध है। इस चित्र मे प्रयुक्त कत्थई रग द्वारा उसने मजदूरो के कष्ट एव कुरूपता को मुखरित किया है। सन् १८८५ मे ऐंटवर्प अकादमी मे शिक्षा प्राप्त कर पेरिस स्थित अपने भाई थेरो के पास रहने लगे। उसने उनका नवप्रभाववादी शैली के चित्रकारो से परिचय कराया। थेरो ने उसको कत्थई तथा काले भूरे रग को त्यागने तथा सूरा के चमकदार रगो की तकनीक का अनुसरण करने की सलाह दी। गॉग ने जापानी चित्रो को, देला क्रोआ एव मोतिचेली की कृतियो का भी अध्ययन किया। 'रेस्तराँ मोतमात्र' और 'कलर मन' शीर्षक चित्रो मे चमकदार रगो का प्रयोग किया। 'कफे लाबोरिन' मे चित्रित भित्तिचित्र इसी समय बनाया। पेरिस से दक्षिण की ओर गए और वहाँ फलो से लदे वृक्ष, सूर्यप्रकाश मे नहानेवाले खेत, साइप्रस, सूरजमुखी तथा एक चित्र में अपने सादे कमरे, देहाती कुर्सी तथा स्वय का व्यक्तिचित्र खीचा जिसमे अपनी नीली, बेचैन, गहरी आँखें और बेढगा सिर भी चित्रित किया।

साधारण परिवार के पात्र उसके चित्रो के मॉडेल रहे। इन दिनो की कृतियो मे उसने शुद्ध गहरे तथा रगो की मोटी पर्त से मुक्त लबी लबी रेखाओ से चित्रण किया।

गॉग ने हर वस्तु के स्पर्शसवेदन को चित्रो मे अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। उनका यह तकनीक सूरा के समान शास्त्रीय एव नपा तुला नही है, बल्कि अपनी तीव्र भावाभिव्यक्ति मे पर्याप्त रुखापन लिए हुए है। अक्टूबर मे पेरिस मे उसकी सूरा से भेंट हुई। उनका आग्रहपूर्वक निमत्रण पाकर वह उनके पास चला गया। दोनो मिलकर काम करने लगे।

कुछ ही दिनो बाद निरतर धूप मे परिश्रम करने के कारण गॉग को पागलपन के दौरे आने लगे। भावुक वह इतना था कि एक बार रेस्तराँ की वेट्रेस ने चिढकर कहा कि अगर टिप देने को और कुछ नही है तो वह अपना लबा कान ही क्यो नही देता, और एक दिन जब वेट्रेस ने अपनी डाक का पर्सल खोला तो उस मे गॉग का कान देख कर वह चीख उठी। १८८९ ई० मे उसे फिर दौरे आने लगे, यद्यपि वह लगातार चित्र बनाता रहा। उसका उर्वर जीवन अधिकाशत अधकार मे ही बीता। उसे सेंट मेरी मे स्थानातरित किया गया और मई, १८९० मे ओवर सर आईस मे डा० गाचेट की निगरानी मे रखा गया। गॉग ने इस डाक्टर का व्यक्तिचित्र बनाया जो अब फ्राकफुर्ट म्यूजियम मे है। २९ जुलाई, १८९० को अपना अतिम चित्र बनाते हुए उसे पागलपन का दौरा आया और उसने पिस्तौल से आत्महत्या कर ली।

गॉग का जीवन नारीप्रेम से वचित रहा। सभी ने उसे ठुकराया। यदि किसी ने उसकी कला पर विश्वास किया और उसे सहायता पहुँचाई तो वह उसका भाई थेरो था। गॉग के थेरो को लिखे हुए अनेक पत्रो से उसकी कला तथा उद्देश्य पर प्रकाश पडता है। उसके लिखे पत्रो के आधार पर समूचे उपन्यास लिखे गए है। 'लस्ट फार लाइफ' उसके जीवन को अभिराम, निश्छल, भावुक व्यक्त करना है, जिस प्रकार 'मोला रूज' उसके मित्र और समकालीन असाधारण क्षमतावाले लुज चित्रकार तूलू

गॉग (क़ाक), विंसेंट वान (देखिए पृष्ठ ३९६)
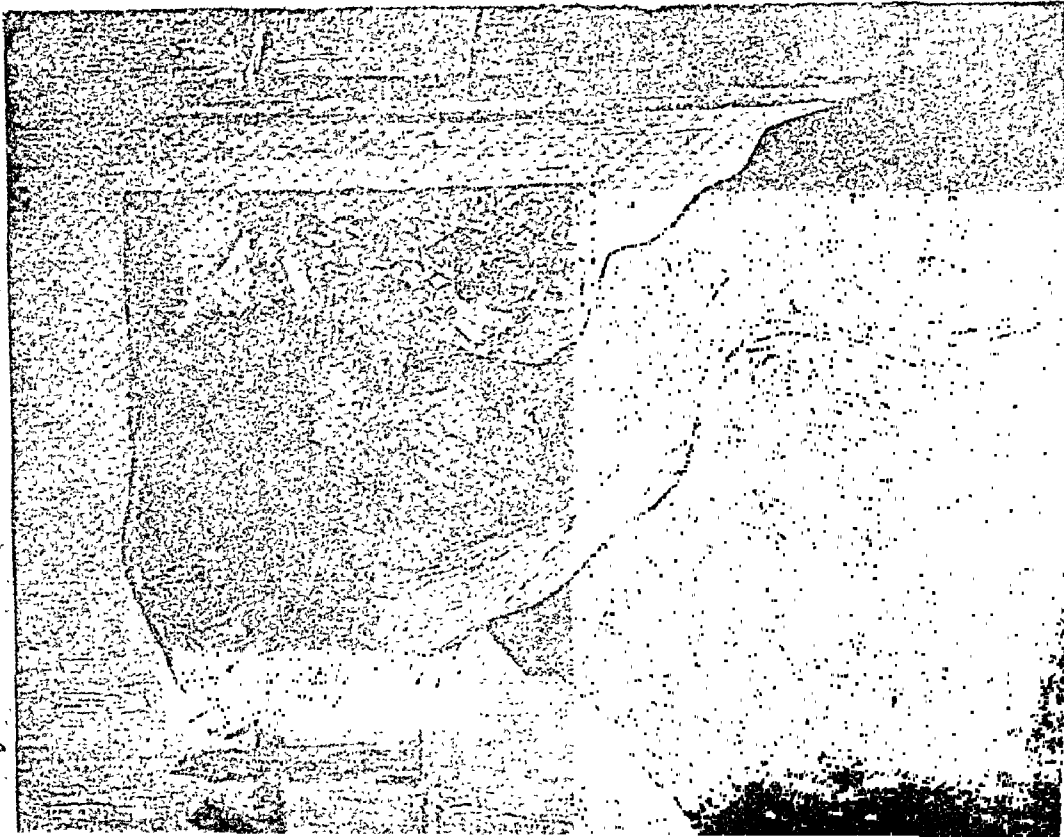
गॉग की आत्मानुकृति (सेल्फपोर्ट्रेट)

ग़ालिब, मिर्जा असदुल्ला खाँ

(देखिए पृष्ठ ४०७)

(भारत सरकार के केंद्रीय सूचना एवं प्रकाशन मंत्रालय के सौजन्य से)
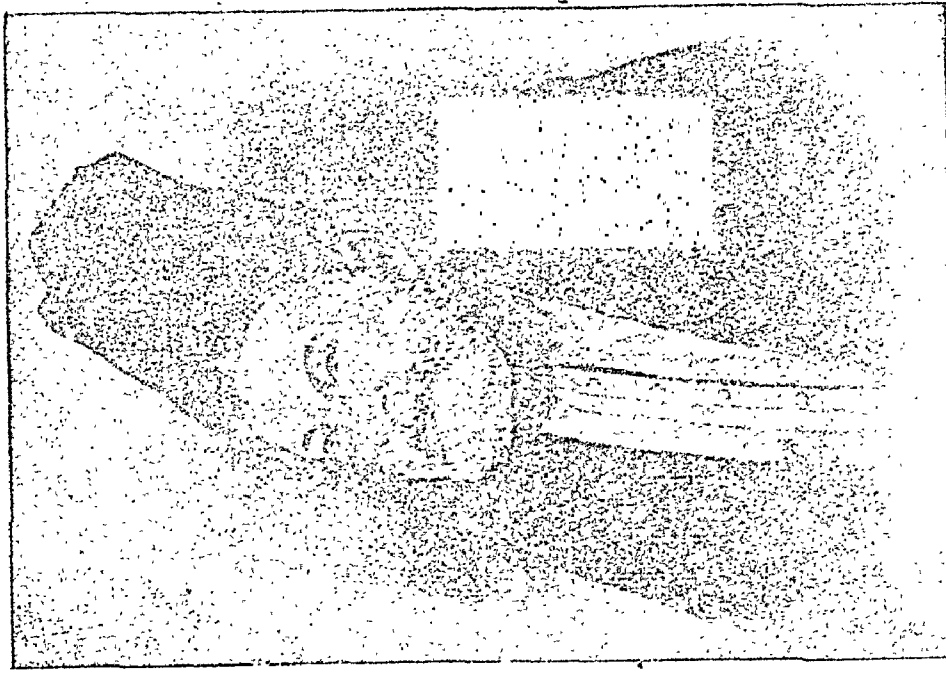
गाजर (देखिए पृष्ठ ३६७)

जंगली गाजर
(अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)

गीजा (देखिए पृष्ठ ४१६)

गीजा के महान पिरामिड का
निर्माता
(लगभग ई० पू० ३०००)

सरों का रास्ता (देखिए पृष्ठ ३६६)

गॉग की एक कलाकृति

लूने के जीवन का उद्घाटन करता है। गॉग का जीवन मरण पर्यंत संघर्ष का था। (भा० स०)

गाइगर, लुडविग विल्हेम (१८५६–१९४३ ई०) जर्मन प्राच्यविद्। २१ जुलाई, १८५६ को नूर्नबुग में जन्म। स्पाइगेल के शिष्य के रूप में उन्होंने संस्कृत और ईरानी भाषा का अध्ययन किया। १८९१ में उन्होंने अर्लाजेन विश्वविद्यालय में भोरोपीय भाषा का अध्यापन आरंभ किया। १८९५ ई० में वे भारत और श्रीलंका आए और लौटकर अपने यात्रा संस्मरण प्रकाशित किए। तदनंतर उन्होंने ईरानी भाषाशास्त्र पर शोधपूर्ण ग्रंथ लिखा। १९२० में म्यूनिख विश्वविद्यालय में भारतीय और ईरानी भाषाविज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए और आजीवन वहाँ पढ़ाते रहे। उनका 'महावंश' का पाठालोचित संस्करण विश्वविख्यात है। संस्कृत भाषा, पाली साहित्य और पाली धम्म पर जर्मन भाषा में लिखे उनके ग्रंथ महत्व के माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त सिंहली और अफगानिस्तान की भाषा पर भी उन्होंने ग्रंथ लिखा है। ६ सितंबर, १९४३ ई० को उनकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

गाइगर-मुलर काउंटर परमाणु शक्ति के विघटन में रेडियो सक्रियता के प्रसार को नापने का एक यंत्र। यह यंत्र शीशे की एक नली में बंद धातु के पतले सिलेंडर के ढग का होता है। धातु की दीवार एक इलेक्ट्रोरॉड का काम करती है और सिलेंडर में लगा सीधा तार दूसरे इलेक्ट्रोरॉड का। इलेक्ट्रोरॉड में विद्युत्शक्ति सिलेंडर के भीतर की वायु अथवा अन्य गैस की विघटन शक्ति से कुछ ही कम रहती है। सिलेंडर के भीतर आयोनाइजिक प्रभाव प्रेषित किया जाता है जिससे गैस आयोनाइज हो जाता है और एक हलकी तरंग उत्पन्न होती है। यह तरंग प्रकाश संकेतो या इयरफोन से सुनी जाने वाली ध्वनियों के द्वारा प्रकट होता है। (प० ला० गु०)

गाउस, कार्ल फ्रेडरिक (१७७७–१८५५ ई०) जर्मन गणितज्ञ जिसे विद्युत् के गणितीय सिद्धांत का संस्थापक कहा जाता है। विद्युत् की चुंबकीय इकाई का गाउस नाम उसी के नाम पर रखा गया है। जर्मनी के ब्रुसविक नामक स्थान में एक ईंटा चुननेवाले मेमार के घर उसका जन्म हुआ था। जन्म से ही उसमें गणित के प्रश्नो को तत्काल हल कर देने की क्षमता थी। उसकी इस प्रतिभा का पता जब ब्रुंसविक के ड्यूक को लगा तो उन्होंने उसे गटिंगन विश्वविद्यालय में अध्ययन करने की व्यवस्था कर दी। वहाँ विद्यार्थी जीवन में ही उसने अनेक गणितीय आविष्कार किए। ज्यामिति के माध्यम से उसने सिद्ध किया कि एक वृत्त सत्तरह समान आर्क में विभाजित हो सकता है। सिरेस नामक ग्रह के संबंध में उसने जो गणना की उसके कारण उसकी गणना खगोलशास्त्रियों में की जाती है। १८०७ ई० से मृत्यु पर्यंत वह गटिंगन वेधशाला का निदेशक रहा। (प० ला० गु०)

गाजर *जैसा विश्वास किया जाता है, गाजर की उत्पत्ति का आरंभ* एशिया, यूरोप तथा उत्तरी अफ्रीका से हुआ है और इसका मुख्य उत्पत्तिकेंद्र अफगानिस्तान तथा समीपवर्ती क्षेत्र है। इसमें कैरोटीन (Carotene) रहता है, जो विटामिन ए में परिणत हो जाता है, इसीलिये इसका पोषणमूल्य अधिक है तथा यह बच्चों के लिये विशेष लाभदायक है। विटामिन ए की मात्रा पशुओं से प्राप्त वस्तुओं में ही साधारणतया अधिक होती है। इसी कारण शाकाहारी भोजन में गाजर के उपयोग पर अधिक जोर दिया गया है। छोटी गाजर की अपेक्षा बड़ी में कैरोटीन अधिक होता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि गाजर का खाने के रूप में उपयोग पहली बार दवा के रूप में हुआ तथा यूनान के कृषकों और डाक्टरों ने गाजर तथा आमाशय को शक्ति देनेवाले इसके गुणों के बारे में इस युग की पहली शताब्दी में ही लिखा। अन्न की कमी के अवसर पर, अथवा अकाल में, यह अमूल्य खाद्य का काम देता है। अपने पोषक गुणों के अतिरिक्त यह पर्याप्त कार्बोहाइड्रेट तथा प्रोटीन भी देता है।

वायुजलीय आवश्यकताएँ—गाजर पूर्णतया शीत ऋतु की फसल है। तुषार को यह यथेष्ट सहन कर सकता है। अच्छे रंग के साथ सबसे अच्छी जड़ों का आदर्श ताप १५° से २२° सें० है। किंतु गाजर की जो जातियाँ भारत में वायुजलानुकूलित हो गई हैं वे यथेष्ट गर्मी सहन कर सकती हैं।

मिट्टी और खाद—ऐसी बलुई दुमट अथवा दुमट भूमि में, जो बहुत अच्छी तरह से गहरी खुदाई करके तैयार की गई हो तथा जिसमें कार्बनिक खाद भी अच्छी प्रकार से दी गई हो, गाजर की उपज बहुत अच्छी होती है। कड़ी भूमि में जड़ें भली प्रकार बढ़ नहीं सकतीं। अत्यधिक आम्लिक भूमि गाजर के विकास के लिए अनुकूल नहीं होती। अतः ऐसी दशा में पी-एच प्राय. ६.५ कर लेना चाहिए। इसकी नाइट्रोजन की आवश्यकता प्रति एकड़ ७५ से १०० पाउंड तक होती है। चूंकि जड़वाली फसलों को कार्बनिक तत्वों की अधिक आवश्यकता होती है, इसलिये लगभग १० से १५ टन तक अच्छी सड़ी हुई खाद का उपयोग करना चाहिए तथा उसे ६" से १०" की गहराई तक अच्छी तरह से मिला देना चाहिए, जिससे भोजन तत्वों का सम भाग में वितरण हो जाय। इससे जड़ें अपने वास्तविक आकार में बढ़ती है तथा छोटी और विभाजित नहीं होतीं। गाजर को पोटाश की भी यथेष्ट आवश्यकता होती है, अर्थात् एक एकड़ में लगभग १०० पाउंड पोटाश लाभकारी सिद्ध हो सकता है।

बुआई—गाजर का बीज सीधा खेत में ही बोया जाता है। वायुजलानुकूलित बीज अगस्त के अंत से लेकर सितंबर के अंत तक किसी भी समय बोया जा सकता है तथा आयात किया हुआ बीज सितंबर के आरंभ से नवंबर के आरंभ तक बलुई या दुमट मिट्टी में बीज छिटकाकर बोया जा सकता है, किंतु यह अधिक अच्छा होगा कि इसे ६" से १' तक चौड़ी कतारों में बोया जाय तथा गहराई ½" से ¾" रखी जाय। वर्षा ऋतु में बुआई मेड़ो पर भी की जा सकती है। १०० फुट की बुआई के लिये लगभग १४ ग्राम बीज की आवश्यकता होती है तथा एक एकड़ के लिये लगभग २ किलोग्राम की। गाजर के बीज को जमने में अधिक समय लगता है, लगभग १० दिन वर्षा ऋतु में। जब पौधे ऊपर आ जायँ तब ३" से ४" तक गहरी निकाई, गोड़ाई करनी चाहिए। मध्यम आकार की जड़ें खाने के लिए सबसे अच्छी समझी जाती हैं। मटियार भूमि में गाजर मेड़ों पर यथेष्ट सफलता से बोई जाती है। लगातार मुलायम जड़ें पाने के लिये खेत के भिन्न भिन्न अंशों में विभिन्न समयों पर बोने की प्रथा अपनानी चाहिए, अर्थात् प्रत्येक तीन सप्ताह पर अथवा प्रत्येक मास पर। उथली जोत द्वारा क्यारियों को खरपात से रहित रखना चाहिए। सर्दी में प्रत्येक ७ से १० दिनों में सिंचाई करनी चाहिए। पर्वतों पर फरवरी के अंत में जब मौसम गरम होने लगता है तभी बुआई की जाती है, जो मई के अंत तक चलती है।

उपज—गाजर की माध्य उपज प्रति एकड़ लगभग ७,०००–६,००० किलोग्राम है, किंतु १७,००० किलोग्राम प्रति एकड़ तक की उपज भी संभव है।

जातियाँ—गाजर की जातियाँ तीन बड़े वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं। *'छँटेने'* छोटी, स्थूल, चौकोर कंधोवाली तथा नारंगी के रंग की होती है। इस जाति की नई गाजर के आंतरक तथा छाल में अच्छा नारंगी रंग होता है, जबकि पुरानी गाजर के आंतरक में नींबू के समान पीला तथा छाल में नारंगी रंग होता है। *'नैट्स'* की भी लंबाई लगभग उतनी ही है जितनी 'छँटेने' की किंतु यह पतली और गोल होती है। ऊपर की ओर गोल और जड के निचले भाग में एक छोटा आंतरक (Core) होता है। इसका रंग सभी जगह गहरा नारंगी होता है। यह जाति गुणों में अन्य से उत्तम मानी जाती है। *'डैनवर्स'*, *'इंपरेटर'* आदि उस विभाग में आती हैं जिनके पौधों की जड़ें लंबी, थोड़ी पतली तथा ऊपर से गोलाकार पतली होती हुई सिरे पर नुकीली हो जाती हैं।

औद्भिदी—गाजर 'डाकस केरोटा' (Daucus Carota) वंश 'अंबेलिफेरी' (Umbelliferae) के अंतर्गत आती है। जंगली तथा खेती की जानेवाली गाजर एक ही जाति के अंतर्गत आती हैं। इनमें पहली

की पहचान उसके पुष्पप्रदेश के मध्य में बैंगनी रंग की पखुडियाँ है। प्रत्येक फूल में दोहरे फल होते है, जिनके प्रत्येक आधे भाग में एक बीज होता है।

बीज उपजाना—इसमे परागण क्रिया हवा तथा कीडो द्वारा होती है। अत कई जातियाँ यदि साथ साथ उगाई गई हैं, अथवा ½ से १ मील की त्रिज्या में बोई गई हैं तो संकरण क्रिया हो जायगी तथा जो बीज मिलेगा उसकी फसल मिश्रित होगी। फसल की उन्नति का एक सरल उपाय 'सामूहिक चुनाव' है। जाति की असली, पकी हुई, सबसे अच्छी जड को चुनना चाहिए। इसका नीचे का आधा अथवा तीन चौथाई भाग काट दिया जाता है तथा इसकी पत्तियाँ छाँट दी जाती है, केवल ऊपर का बीचवाला छोटी पत्तियों का गुच्छा छोड दिया जाता है। जड का यह ऊपरी भाग, पत्तियों के गुच्छे के साथ, मध्य दिसबर-जनवरी मे, उपजाऊ भूमि मे, लगभग दो दो फुट की दूरी पर रोपित कर सींच दिया जाता है। इसमे नई पत्तियाँ तथा फूलों के डठल निकलते है। जड़ो के चुनाव पर भी पहले वर्ष मे यह सभव है कि कई जाति के पौधे निकलें, जिनमे से कुछ मे रगदार कक्ष तथा पुष्पप्रदेश मे बैंगनी रग की पखुडियाँ हो। तने का शेष भाग और फूलो का डठल हरा हो सकता है, किंतु तब इनके पुष्पप्रदेश मे बैंगनी रग की पखुडियाँ नही होंगी। आगामी वर्षो मे दूसरी जाति के पौधों से अलग बीज लेना चाहिए। इन चुनावो का बीज जितनी दूर हो सके बोना चाहिए, जिससे सकर परागण क्रिया न हो सके। शुद्ध जाति के उत्पादन के लिये कठोर चुनाव करना चाहिए। उदाहरणार्थ, जिस खेत मे हरे पौधे और बिना बैंगनी पखुडियोवाले पौधो का बीज बोया गया हो, उसमे कुछ वर्षो तक कुछ ऐसे पौधे निकलते रहते हैं जिनमे बैंगनी रग की पखुडियाँ हो। इनको तुरत उखाडकर फेंक देना चाहिए, जिससे कुछ वर्ष बाद वह जाति शुद्ध हो जाय। गाजर के बीज को पकने मे यथेष्ट समय लगता है, अत जडो का रोपण मध्य जाडो मे करना चाहिए, अर्थात् दिसबर या जनवरी मे, जिससे गर्म हवाओं के चलने तक बीज पक जायँ। (य० र० मे०)

गाजियाबाद पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मेरठ जनपद का एक नगर (स्थिति २८°४०' उ० अ० तथा ७७°२६' पू० दे०)। यह नगर दिल्ली महानगरी के बृहत्तर क्षेत्र मे पडता है और इसका आधुनिक विकास दिल्ली क्षेत्र मे कार्य करनेवालो के प्रवासीय नगर (Dormitary town) के रूप मे होकर अब यह दिल्ली का एक उपनगर सा हो गया है।

दक्षिणापथ के शासक आसफजाह के पुत्र वजीर गाजीउद्दीन ने १७४० ई० मे इस नगर की स्थापना की और इसे गाजीउद्दीन नगर नाम दिया था। यहाँ उसने बृहत् सराय का निर्माण कराया था। कालातर मे उच्चारण सुविधा से नगर गाजियाबाद कहा जाने लगा। १८५७ के प्रथम भारतीय स्वातत्र्य सग्राम मे यह नगर स्वदेश प्रेमियों का विशाल अड्डा था। १९वी सदी के उत्तरार्ध मे रेलमार्ग की सुविधा पाकर यह कृषिपदार्थों की बडी मडी बना। अब यहाँ कृषि पदार्थों पर आधारित उद्योग विकसित हो गए हैं। रेलमार्गों का जक्शन होने के कारण यहाँ एक स्वतत्र रेलवे बस्ती बन गई है।

इस नगर के केंद्रीय क्षेत्र मे दो लबी चौडी पक्की मडियाँ हैं जो आयोजित रूप से स्थापित की गई हैं। बाद मे दो अन्य मडियाँ—राइटगज और विपरगज भी बनी। १८६८ मे यहाँ नगरपालिका की स्थापना हुई। (का० ना० सिं०)

गाजी मूलत यह शब्द स्वेच्छया सैनिक (वालटियर) अथवा अधिकारी का पर्याय है जो नबी के किसी गजवा या धर्मयुद्ध मे विजयी हुआ हो। यदि ऐसे सग्राम मे वह मृत्यु को प्राप्त होता तो वह ऐसा शहीद माना जाता था जिसे अल्लाह की अनत कृपा उपलब्ध होती। कुरान घोषित करता है कि 'दीन के मामलो मे कोई दबाव नहीं है' और वह बलप्रयोग की अनुज्ञा धार्मिक मामलो मे केवल निम्नोक्त कारणों के हेतु देता है अल्लाह की आराधना करने के कारण यदि शत्रु तुम्हें अपने घर से ... करे तो किसी दूसरे स्थान पर बस जाने के बाद उसके विरुद्ध ... सकते हो। नबी के हदीस (आदेश) यह स्पष्ट कहते हैं कि यदि किसी मुस्लिम सैनिक के विचार मे कोई भौतिक उद्देश्य आ जाता है तो यह कदापि नहीं मानना चाहिए कि वह धर्म के हेतु लड रहा है। चूँकि कुरान का आदेश केवल नबी के धर्मयुद्धों के ही लिये है अत मुस्लिम विद्वानो ने गजवा और गाजी शब्द केवल नबी के युद्ध तक ही सीमित माना है। यह युद्ध स्वेच्छा सैनिकों द्वारा लडे जाते थे। आवश्यक व्यय चदे से आता था और जनहानि अकथनीय कम होती थी। नबी के उन सारे धर्मयुद्धो के परिणामस्वरूप जिनमे समस्त अरब का धर्मपरिवर्तन हो गया, दानो पक्षो के हत लोगो की सख्या सभवत एक सहस्र से भी अधिक न होगी। स्पष्टत. जिन अधिकारियो को लडने के लिये नियमित वेतन मिलता है, न तो वे गाजी समझे जा सकते है, न शहीद।

बाद मे मुस्लिम बादशाहो और उनके अधीनस्थ विद्वानो ने धर्मयुद्धो के विचार का अपने साम्राज्यवादी तथा आक्रामक प्रयोजनो के हेतु गलत अर्थ लगाया। इस प्रकार के आक्रामक युद्धो को जिहाद (जिहद से) कहा गया। विशिष्ट मुस्लिम विद्वानो ने महान् आदर्श की इस अप्रतिष्ठा का विरोध किया किंतु बादशाहो और शासक वर्ग की भौतिक महत्वाकाक्षा के आगे उनका विरोध प्रभावहीन सिद्ध हुआ। स्वय बादशाह भी अपने को गाजी कहने लगे। (मो० ह०)

गाजीउद्दीन, खाँ बहादुर फीरोजजग मुगलकालीन प्रख्यात दरबारी। कुलीज खाँ ख्वाजा आबिद का पुत्र शिहाबुद्दीन। यह औरगजेब के यहा सर्वप्रथम ७० सवारो का मसबदार हुआ। इसने हसन अली खाँ आलमगीरशाही को खोज निकाला जो उदयपुर के राणा से लडते लडते पहाडो मे चला गया था। इसके लिये वह भरपूर पुरस्कृत हुआ। इसने दुर्गादास और सोनिंग के विद्रोह को बडी चतुरता से नष्ट किया जिसके प्रसादस्वरूप यह दारोगा अर्जमुकर्रर नियुक्त किया गया। जुनेर के उपद्रवियों का दमन करने से इसे गाजीउद्दीन खाँ बहादुर की उपाधि से विभूषित किया गया। इसने बड़ी नृशस वीरता से शभाजी से राहिरी दुर्ग विजय कर फीरोजजग की उपाधि पाई। बीजापुर की विजय का सारा श्रेय औरगजेब ने इसी को दिया है।

इसने इब्राहीमगढ जीता, जिसका नाम बाद मे फीरोजगढ रखा गया। इसकी इस जीत के फलस्वरूप हैदराबाद मे घायल हो जाने पर भी औरगजेब ने इसका मसब सातहजारी कर दिया। इसी के प्रयास से अदोनी दुर्ग की रियासत बादशाही राज्य मे मिली। शभाजी का दमन करने उसे बीजापुर जाना पडा किंतु महामारी फैलने के कारण यह अधा हो गया, फिर भी सैन्य सचालन करता रहा। देवगढ की विजय कर इसने सिंधिया का मालवा तक पीछा किया। औरगजेब की मृत्यु के बाद यह बरार का सूबेदार बना और एलिचपुर मे रहने लगा। १७१० मे इसकी मृत्यु हुई।

गाजीउद्दीन, खाँ बहादुर फीरोज जग अमीर उल-उमरा निजामुलमुल्क आसफजाह का पुत्र मीर मोहम्मद पनाह। बचपन से ही मोहम्मद शाह के दरबार मे पला और अठदियो का बख्शी बना। सन् १७४० से खानदौरा के मरने पर जब इसका पिता दक्षिण मे मीरबख्शी नियुक्त किया गया, तब यह अपने पिता के पद पर काम करने लगा। पिता की मृत्यु के पश्चात् अमीर-उल-उमरा की उपाधि के साथ यह स्वय मीरबख्शी नियुक्त हुआ। नासिरजग की मृत्यु के पश्चात् गाजीउद्दीन ने होल्कर से दक्षिण की सूबेदारी प्राप्त करने मे सहायता माँगी। मोहम्मद शाह ने इसको निजामुलमुल्क की उपाधि देकर दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया। अब यह बुरहानपुर और वहाँ से औरगाबाद पहुँचा। परतु सन् १७५२ ई० मे विषाक्त भोजन खाने से उसकी मृत्यु हो गई।

गाजीउद्दीन हैदर (१७६६–१८२७ ई०) अवध का नवाब। नवाब वजीर सआदत अली खाँ का ज्येष्ठ पुत्र जो अपने प्रतिद्वद्वी तथा अनुज शम्सउद्दौला के विरुद्ध, अग्रेजो की सहायता से, १८१४ मे, रिफतउद्दौला रफीउलमुल्क की उपाधि धारण कर राज्यासीन हुआ। अँगरेजी सरकार के ही निर्देशन पर उसने १८१९ ई० मे मुगल सम्राट् से सबध विच्छेद कर अबूजफर मुइजउद्दीन शाहेजमाँ की उपाधि ग्रहण कर, अपने को अवध का स्वतत्र शासक घोषित किया। उसकी यह स्वतत्रता नाम-

मात्र की थी; वस्तुतः बाह्य नीति में तो वह पूर्णतः अँगरेजी प्रभुत्व के अधीन था; आंतरिक नीति भी परोक्ष अपरोक्ष रूप में ब्रिटिश रेजिडेंट द्वारा संचालित होती थी।

गाजीउद्दीन हैदर का बचपन सुखी न था। प्रायः बाईस वर्ष तक पिता से पृथक् रहने के कारण उसे प्रशासकीय अनुभव प्राप्त न हो सका। शराब की लत ने उसे विलासप्रिय तथा पराधीन प्रकृति का बना दिया था। उसका दांपत्य जीवन भी कटु ही था। उसकी ज्येष्ठ पत्नी बादशाह-बेगम विदुषी होते हुए भी कर्कशा और महत्वाकांक्षिणी थी। अपना एकाधिकार जमाए रखने के लिये उसने राजकीय षड्यंत्रों में पर्याप्त भाग ले राजकीय विच्छृंखलता में योग दिया। अपने एकमात्र पुत्र तथा उत्तराधिकारी नसीरुद्दीन हैदर को महल की चहारदीवारी में सुरक्षित रख उसके व्यक्तित्व को कुंठित बना उसे विकृतप्रकृति तथा विलासी बना दिया।

चरित्र से गाजीउद्दीन जितना विलासी था उतना ही विद्याप्रेमी भी। वह फारसी, अरबी और उर्दू भाषाओं में पारंगत था। वह स्वयं लेखक और कवि था। ज्योतिष, रसायन तथा तंत्र मंत्र में उसकी रुचि थी। उर्दू काव्य को उसने विशेष प्रोत्साहन दिया। मीर तकी मुसहफी, *नासिख, आतिश, नसीम, इंशा ऐसे गजल-गो; तथा दबीर और अनीस* जैसे मसिया-गो उसके दरबार की शोभा थे। उसने चित्रकला तथा स्थापत्यकला को भी यथेष्ट प्रोत्साहन दिया। उसके माता पिता के मकबरे लखनऊ स्थापत्य शैली के सुंदर उदाहरण है। गाजीउद्दीन हैदर प्रकृति से उदार, शिष्ट और सहिष्णु था। हिंदुओं के प्रति उसका सद्व्यवहार था। राजा बख्तावरसिंह उसका दीवान था; तथा राजा गुलजारीमल उसका कोषाध्यक्ष। किंतु कुशाग्रबुद्धि होते हुए भी, पराधीनप्रकृति होने के कारण, न उसमें संकट से संघर्ष करने की क्षमता ही थी, और न स्वावलंबी प्रशासक बनने की दृढ़निश्चयता ही।

उसके राज्यकाल की तीन मुख्य समस्याएँ थीं। तीनों ही में वह, अपनी चारित्रिक त्रुटियों तथा अँगरेजों के निरंतर हस्तक्षेप के कारण, नितांत असफल रहा। उसके जीवनकाल में राजकीय षड्यंत्रों का ताँता बना रहा। इन संघर्षों में, अपने प्रतिद्वंद्वियों—बादशाह बेगम, हाजी मिर्जा तथा मेहदी अली खाँ—के विरुद्ध विजय अंततः आगामीर की हुई। बादशाह के प्रधान मंत्री के नाते राज्य में सबसे अधिक प्रभुत्व उसी का था, किंतु उसके निरंकुश स्वार्थपर व्यवहार ने वातावरण तथा व्यवस्था को विषाक्त बना दिया। शासन की दूसरी समस्या भूमि-व्यवधान संबंधी था। सैन्य अधिकार से वंचित होने के कारण वह उद्दंड विद्रोही जमींदारों को नियंत्रित करने में असमर्थ था। अँगरेजों ने उसे सैनिक सहायता देने से इनकार कर दिया था। शासक पर अव्यवस्था के आरोपों की आड़ में वे स्वनिर्देशित सुधार तथा अँगरेज कर्मचारी स्थापित करवाना चाहते थे। इसी कशमकश में, राज्य में, अव्यवस्था तथा अराजकता, और उसी मात्रा में, अँगरेजों का आंतरिक हस्तक्षेप बढ़ता ही रहा। उसकी तीसरी बड़ी समस्या थी अँगरेजों के परोक्ष अपरोक्ष हस्तक्षेप से मुक्ति पाना, जिसका समाधान असंभव ही था। वास्तव में, अवध राज्य अँगरेजों का 'गुल्लक' बन गया था। इस प्रकार, अपने ही आश्वासनों के विरुद्ध, नितांत अशोभनीय रूप से, गवर्नर जनरल ने शाहंशाहे अवध से, चार किस्तों में, कर्ज के रूप में, तीन करोड़ पचास लाख रुपए वसूल किए। वास्तव में गाजीउद्दीन हैदर की दशा पिंजड़े के उस पक्षी की तरह थी जो पिंजड़े से बाहर उड़ने में तो घबड़ाता था और कुचोए जाने पर पिंजड़े के अंदर पंख फड़फड़ाकर रह जाता था।

सं० ग्रं०—मेजर आर० डब्ल्यू० बर्ड : डकोयटीज इन एक्सेलासिस ऑर द स्पोलिएशन ऑव अवध बाई दि ईस्ट इंडिया कंपनी; खान बहादुर मौलवी मोहम्मद मसीहउद्दीन : अवध, इट्स प्रिंसेज ऐंड इट्स गवर्नमेंट; एच० सी० इर्विन : द गार्डेन ऑव इंडिया; विलियम नाइटन : द प्राइवेट लाइफ ऑव ऐन ईस्टर्न किंग; अजमत अली : मुरक्क-ए-खुसरवी; कमालुद्दीन हैदर : सवानिहात-ए-सलातीन; मोहम्मद अहदअली : मुरक्क-ए-अवध; नजमुल गनी खाँ : तारीख-ए-अवध। (रा० ना०)

गाजी खाँ बदख्शी मुगल दरबारी। यह पहले मिर्जा सुल्तान का मुसाहिब था फिर मुगल सम्राट् अकबर के यहाँ एकहजारी मंसबदार बना। राणा प्रताप के विरुद्ध युद्ध में यह मानसिंह की सेना के एक भाग का अध्यक्ष था। ७० वर्ष की आयु में (१५८४ ई०) अवध में ही मरा। लेखनी और तलवार दोनों के धनी गाजी खाँ ने ही अकबर के सामने सिज्दः करने की रीति का प्रचलन किया था। इसका वास्तविक नाम काजी निजाम था।

गाजीपुर पूर्वी उत्तर प्रदेश का एक प्रधान नगर तथा जिला (स्थिति : २५° ३५' उ० अ० तथा ८३° ३६' पू० दे०)।

गंगा के ऊँचे कगार पर बसा यह नगर दो मील से अधिक लंबा तथा ३/४ मील चौड़ा है। गंगा पर कई पक्के घाट निर्मित है। यहाँ एक किला, चालीस खंभों पर खड़ा राजमहल तथा अनेक मस्जिदें और मंदिर हैं। यह नगर उत्तर प्रदेश के अफीम विभाग का केंद्र है और यहाँ अफीम का एक बड़ा कारखाना (४५ एकड़ में विस्तृत) है। यह नगर विभिन्न प्रकार के फूलों से बने तेल, इत्र तथा सुगंधित जल (केवड़ाजल, गुलाबजल) आदि के लिये मध्यकाल से प्रसिद्ध रहा है। रेलमार्ग खुलने के पहले गंगा नदी द्वारा व्यापार होता था और गाजीपुर उत्तर भारत के इने गिने व्यापारिक नगरों में था। (का० ना० सिं०)

गाटलैंड (द्वीप) बाल्टिक सागर में स्थित स्वीडन का १,२२४ वर्ग मील का एक द्वीप (स्थिति : ५६° ५४' से ५७° ५६' उ० अ० तथा १८° ६' से १९° ७' पू० दे०)। इसकी लंबाई ७५ मील, चौड़ाई दो मील से २८ मील तक है। इसमें फारो तथा गाटस्का सैंडो नामक द्वीप भी संमिलित हैं। इसका धरातल असमान है जिसकी सर्वाधिक ऊँचाई २७२' है।

इसकी शीतोष्ण जलवायु में राई, गेहूँ, जई, चुकंदर, आलू, पटसन और जौ की खेती होती है। जौ की शराब बनाने के लिये वह स्वीडन स्थित कारखानों को भेज दिया जाता है तथा चुकंदर का निर्यात होता है। कृषि के अतिरिक्त यहाँ पशुपालन, चूना पत्थर का समाक्षारीकरण, चीनी तथा सीमेंट बनाने, मछली मारने, पत्थर खोदने तथा लकड़ी काटने का कार्य होता है। रोमा में भेड़ों का सरकारी फार्म है।

मुख्य व्यापारिक एवं प्रशासनिक केंद्र विस्बी है। वास्तुकला के अवशेषों से पता चलता है कि यह प्रस्तरयुग से ही आबाद है। प्राचीन वास्तुकला के द्योतक गिरजाघर एवं किले के अवशेष है। रोमा और हैम्से के गिरजाघरों की दीवारों पर उल्लेखनीय चित्रकारी है। इस द्वीप में पर्यटक व्यवसाय महत्वपूर्ण है। (रा० प्र० सिं०)

ग़ाज़ी मियाँ महमूद गजनवी का भांजा सैयद सालार मसऊद ग़ाज़ी। उत्तर प्रदेश में पूर्वांचल में यह ग़ाज़ी मियाँ के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तर कोसल स्थित लव की पुरी श्रावस्ती, जो रामायण में 'शरावती' नाम से अभिहित की गई है, के नरेश सुहेल देव (सुहृद्देव ?) ने बहराइच से प्रायः तीन मील पूर्व स्थित एक ग्रामीण जनपद में इसके आक्रमण को रोका था और इसे मार टाला था। उस ग्राम का निश्चित पता अभी कुछ ही वर्षों पूर्व लगा है और उसका नाम सुहेलनगर रख दिया गया है। सुहेलनगर नाम का यहाँ रेलवे स्टेशन भी बन गया है।

ग़ाज़ी मियाँ का मेला भी लगता है पर इसका कोई विशेष कारण समझ में नहीं आता। (स०)

गाडविन आस्टिन (पर्वत) हिमालय पर्वत की कराकोरम पर्वतमाला की सबसे ऊँची चोटी जो उत्तरी कश्मीर में ३५° ५३' उ० अ० और ७६° ३१' पू० दे० पर है। यह संसार में ऐवरेस्ट के बाद दूसरी ऊँची चोटी (२८,२५०') है। यह चोटी प्रायः हिमाच्छादित तथा बादलों में छिपी रहती है। इसके पार्श्व में ३० और ४० मील लंबी हिमसरिताएँ है। इसके नाम की हिमसरिता तो इसके आधार पर ही है।

इसका नामकरण हेनरी हैवरशम गाडविन आस्टिन (१८३४–१९२३ ई०) के नाम पर हुआ है जिसने १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इसका सर्वेक्षण किया था। उसने उस समय इसका नाम के टू (K_2) रखा था। इसको स्थानीय लोग दाप्सांग कहते हैं।

इस चोटी पर कई पर्वतारोहण अभियान हुए है जिनमें १९०६, १९३८ और १९३९ ई० के अभियान उल्लेखनीय हे जो क्रमश: एब्रूजी के ड्यूक, डा० चार्ल्स ह्राउस्टन तथा फ्रिट्ज विसनर के नेतृत्व में हुए थे। अंतिम अभियान मे २७,५००' तक की ही ऊँचाई चढ़ी गई थी लेकिन १९५४ ई० की जुलाई में मिलन विश्वविद्यालय के भूगर्भशास्त्र के प्रोफेसर आर्दितो देसिओ के नेतृत्व मे सर्वप्रथम इताली अभियानदल इसकी चोटी पर पहुँचने में सफल हुआ था। (रा० प्र० सिं०)

गाडिनिया पोलैंड देश का एक वंदरगाह एवं नौसेना केंद्र जो डैनजिग (Danzig) की खाड़ी पर गेडास्क (Gdansk) अर्थात् डैनजिग नगर से १२ मील उत्तर स्थित हे (५४° ३५' उ० अ० और १८° ३०' पू० दे०)।

पोलैंड के बढ़ते हुए विदेशी व्यापार को सुचारु ढंग से चलाने के लिये गेडास्क के अलावा एक अन्य पोताश्रय की आवश्यकता प्रतीत हुई तब १९२४ ई० में मछुओं के छोटे से गाँव मे गाडिनिया वंदरगाह का जन्म हुआ। दस वर्षो के अंदर ही इसकी गणना यूरोप महाद्वीप के सर्वश्रेष्ठ पोताश्रयों में की जाने लगी। बदरगाह का कुल क्षेत्रफल २,४६५ एकड़ है जिसमे ८२७ एकड़ भाग जलमग्न है। १९६५ में यहाँ की जनसंख्या १,६५,००० थी। (रा० ना० मा०)

गाथा वैदिक साहित्य का यह महत्वपूर्ण शब्द ऋग्वेद की संहिता मे गीत या मंत्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (ऋग्वेद ८।३२।१, ८।७१।१४)। गै (गाना) धातु से निष्पन्न होने के कारण गीत ही इसका व्युत्पत्तिलभ्य तथा प्राचीनतम अर्थ प्रतीत होता है। 'गाथ' शब्द की उपलब्धि होने पर भी आकारांत शब्द का ही प्रयोग लोकप्रिय हे (ऋग्० ९।९९।४)। 'गाथा' शब्द से बने हुए शब्दो की सत्ता इसके वहुल प्रयोग की सूचिका है। 'गाथानी' एक गीत का नायकत्व करनेवाले व्यक्ति के लिये प्रयुक्त है (ऋग्० १।४३।४)। 'ऋजुगाथ' शुद्ध रूप से मंत्रो के गायन करनेवाले के लिये (ऋग्० ८।९२।२) तथा 'गाथिन्' केवल गायक के अर्थ में व्यवहृत किया गया है (ऋग्० ५।४४।५)। यद्यपि इसका पूर्वोक्त सामान्य अर्थ ही बहुश: अभीप्ट है, तथापि ऋग्वेद के इस मत्र मे इसका अपेक्षाकृत अधिक विशिष्ट आशय है, क्योंकि यहाँ यह 'नाराशंसी' तथा 'रैभी' के साथ वर्गीकृत किया गया है : रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी। सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्॥—ऋग्वेद १०।८५।६। यह सहवर्गीकरण ऋक् संहिता के बाद अन्य वैदिक ग्रंथों मे भी बहुश: उपलब्ध होता है (तैत्तिरीय संहिता ७।५।११।२; काठक संहिता ५।२; ऐतरेय ब्राह्मण ६।३२; कौषीतकि ब्राह्मण ३०।५; शतपथ ब्राह्मण ११।५।६।८, जहाँ 'रैभी' नहीं आता तथा गोपथ ब्राह्मण २।६।१२)। इन तीनों शब्दो के अर्थ के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। भाष्यकार सायण ने इन तीनों शब्दों को अथर्ववेद के कतिपय मंत्रों के साथ समीकृत किया है। अथर्ववेद के २०वे कांड, १२७वें सूक्त का १२वाँ मंत्र 'गाथा'; इसी सूक्त का १–३ मंत्र नाराशंसी तथा ४–६ मंत्र रैभी बतलाया गया है। इस समीकरण को डाक्टर ओल्डेनबर्ग ऋग्वेद की दृष्टि मे दोषपूर्ण मानते है, परंतु डाक्टर ब्लूमफील्ड की दृष्टि में यह समीकरण ऋक् संहिता में स्वीकृत किया गया है।

ब्राह्मण संहिता के अनुशीलन से 'गाथा' के लक्षण और स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण की दृष्टि में (ऐ० ब्रा० ७।१८) मंत्रों के विविध प्रकार मे 'गाथा' मानव से संबंध रखती है, जब कि 'ऋच्' देव से संबंध रखता है। अर्थात् गाथा मानवीय होने से और ऋच् दैवी होने से परस्पर भिन्न तथा पृथक् मंत्र हैं। इस तथ्य की पुष्टि 'शुन:शेप' आख्यान के लिये प्रयुक्त 'शतगाथम्' (सौ गाथाओं मे कहा गया) शब्द से पर्याप्तरूपेण होती है, क्योंकि शुन:शेप अजीगर्त ऋषि का पुत्र होने से मानव था जिसकी कथा ऋग्वेद (१।२४; १।२५ आदि) के अनेक सूक्तों में दी गई है। इन सूक्तों के मंत्रों की संख्या सौ के आसपास है इसलिये ऐतरेय ब्राह्मण की दृष्टि में 'गाथा' शब्द मनुष्य तथा मनुष्योचित विषयों के द्योतक के लिये स्पप्टत: प्रयुक्त हुआ है। ऐतरेय आरण्यक (२।३।६) गाथा ऋच् तथा कुम्ब्या से भिन्न तथा पृथक्, मंत्र का एक प्रकार मानता है जिससे गाथा के पद्यबद्ध होने का पर्याप्त संकेत मिलता है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से गाथाएँ, यद्यपि धर्म से संबद्ध विषयों की अभिव्यक्ति के कारण धार्मिक ही हैं, परंतु वेदों के सास्कारिक साहित्य मे ऋच्, यजुष् तथा सामन् की तुलना मे अवैदिक कही गई हैं अर्थात् इस युग में ये मंत्र नही मानी जाती। मैत्रायणी संहिता (३।७।३) का कथन है कि विवाह के समय 'गाथा' आनंद प्रदान करती है और गृह्यसूत्रों (आश्वलायन, आपस्तंब आदि) में अनेक गाथाएँ दी गई हैं जिन्हें विवाह के शुभ अवसर पर वीणा पर गाया जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण के ऐंद्र महाभिषेक के प्रसंग मे (८।२१–२३) यज्ञ मे विशाल दान देनेवाले तथा विशिष्ट पुरोहित के द्वारा अभिषिक्त किए जाने वाले प्रसिद्ध राजाओं की स्तुति में अनेक प्राचीन गाथाएँ उद्धृत की गई हैं जो पुराणों के तत्तत् प्रसंग में भी उपलब्ध होती हैं। शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४) मे भी ऐसी दानपरक गाथाएँ सुरक्षित हैं। पिछले युग में गाथा तथा नाराशंसी (किसी राजा की दानस्तुति में प्रयुक्त) ऋचाएँ प्राय: समानार्थक ही मानी जाने लगी, परंतु मूलत: दोनों मे पार्थक्य है। 'गाथा' गेय मंत्रों का सामान्य अभिधान है जिसके अंतर्गत 'नाराशंसी' का अंतर्भाव मानना सर्वथा न्याय्य है। इस तथ्य की पुष्टि ऐतरेय आरण्यक (२।३।६) के सायण भाष्य से होती है। सायण मे यहाँ 'प्रात: प्रातर् अनृतं ते वदंति' (सवेरे सवेरे वे झूठ बोलते हैं) की गाथा का उदाहरण दिया है जो स्पप्टत: 'नाराशंसी' नहीं है।

'गाथा' की भाषा वैदिक मंत्रों की भाषा से भिन्न है। इसमें वेद के विषम वैयाकरण रूपों का सर्वथा अभाव है तथा पदों का सरलीकरण ही स्फुटतया अभिव्यक्त होता है। गाथाओं के कतिपय उदाहरणों से यह स्पप्ट हो जाता है :

अथर्ववेद (२०।१२७।९)—

> कतरत् त आहराणि दधि मन्थां परिश्रुतम्।
> जाया पतिं विपृच्छति राप्ट्रे राज्ञ: परीक्षित:॥

यह मंत्र प्रसिद्ध कुंताप सूक्तों के अंतर्गत आया है, परंतु इसकी शैली तथा वर्ण्य विषय का प्रकार इसे गाथा सिद्ध कर रहे हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में राजा दुष्यंत के पुत्र भरत से संबद्ध गाथा में :

> हिरण्येन परीवृतान् कृष्णान् शुक्लदतो मृगान्–
> मष्णारे भरतोऽददाच्छतं बद्वानि सप्त च॥
> भरतस्यैष दौष्यन्तेरग्नि: साची गुणे चित:।
> यस्मिन् सहस्रं ब्राह्मणा बद्वशो गा विभेजिरे॥ (८।४)

यहाँ ये श्लोक नाम से अभिहित होने पर भी प्राचीन गाथा मे हैं जो परंपरा से प्राप्त होती पुराणों तक चली आती हैं। ऐसी कितनी ही गाथाएँ ब्राह्मण ग्रंथों मे उद्धृत की गई है।

जैन तथा बौद्ध धर्म मे भी महावीर तथा गौतम बुद्ध के उपदेशों का निष्कर्ष उपस्थित करनेवाले पद्य 'गाथा' नाम से विख्यात हैं। जैन गाथाएँ अर्धमागधी मे तथा बौद्ध गाथाएँ पाली भाषा मे है। इनको हम उन महापुरुषों के मुखोद्गत साक्षात् वचन होने के गौरव से वंचित नही कर सकते। तथागत की ऐसी ही उपदेशमयी गाथाओं का लोकप्रिय संग्रह 'धम्मपद' है तथा जातकों की कथा का सार प्रस्तुत करनेवाली गाथाएँ प्राय: प्रत्येक जातक के अंत मे उपलब्ध होती ही हैं। संस्कृत की 'आर्या' के समान पालि तथा प्राकृत मे 'गाथा' एक विशिष्ट छंद का भी द्योतक है। 'थेरगाथा' तथा 'थेरीगाथा' की गाथाओं में हम संसार के भोग विलास का परित्याग कर संन्यस्त जीवन वितानेवाले थेरों तथा थेरियों की मार्मिक अनुभूतियों का संकलन पाते हैं। 'हाल की गाहा' सत्तसई' प्राकृत में निबद्ध गाथाओं का एक नितांत मंजुल तथा सरस संग्रह है, परंतु 'गाथा' का संबंध पारसियों के अवेस्ता ग्रंथ में भी बड़ा अंतरंग है। (ब० उ०)

गाथा (अवेस्ता) अवेस्ता में भी गाथा का वही अर्थ है जो वैदिक गाथा का है अर्थात् गेय मंत्र या गीति का। ये संख्या मे पाँच हैं, जिनके भीतर १७ मंत्र संमिलित माने जाते हैं। ये पाँचों छंदों की दृष्टि से वर्गीकृत है और अपने आदि अक्षर के अनुसार विभिन्न नामो से विख्यात हैं। गाथा 'अवेस्ता' का प्राचीनतम अंश है जो रचना की दृष्टि से भी अत्यंत

महनीय मानी जाती है। इनके भीतर पारसी धर्म के सुधारक तथा प्रतिष्ठापक जरथुस्त्र मानवीय और ऐतिहासिक रूप में अपनी अभिव्यक्ति पाते हैं; यहाँ उनका वह काल्पनिक रूप, जो अवेस्ता के अन्य अंशों में प्रचुरता से उपलब्ध होता है, नितांत सत्ताहीन है। यहाँ वे ठोस जमीन पर चलनेवाले मानव हैं जिनमें जगत् के कार्यों के प्रति आशा निराशा, हर्ष विषाद की स्पष्ट छाया प्रतिबिंबित होती है। एक द्वितीय ईश्वर के प्रति उनकी आस्था नितांत दृढ है जो जीवन के गतिशील परिवर्तनों में भी अपनी एकता तथा सत्ता दृढ़ता से बनाए रहता है।

गाथा की भाषा अवेस्ता के अन्य भागों की भाषा से वाक्यविन्यास, शैली तथा छंद की दृष्टि से नितांत भिन्न है। विद्वानों ने अवेस्ता की भाषा को दो स्तरों में विभक्त किया है: (१) गाथा अवेस्तन तथा (२) अर्वाचीन अवेस्तन। इनमें से प्रथम में प्राचीनतम भाषा का परिचय इन गाथाओं के अनुशीलन से ही मिलता है जो अपने वैयाकरण रूपसंपत्ति में आर्ष हैं और इस प्रकार वैदिक संस्कृत से समानता रखती हैं। द्वितीय भाषा अवांतर काल में विकसित होनेवाली भाषा है जो सामान्य संस्कृत भाषा के समान कही जा सकती है। गाथा की शैली रोचक है। फलतः अवेस्ता के पिछले भागों की पुनरावृत्ति तथा समरसता के कारण उद्वेजक शैली से यह शैली नितांत भिन्न है। छंद भी वैदिक छंदों के समान ही प्राचीन हैं। विषय धर्मप्रधान होने पर भी पदों के रोचक विन्यास के कारण इन गाथाओं का साहित्यिक सौंदर्य कम नहीं है। नपे तुले शब्दों में रचित होने के कारण ये गेय प्रतीत होती हैं। पिशल तथा गेल्डनर का मत है कि इन गाथाओं में तार्किक कार्य-कारण-संबंध का अभाव नहीं है। तथापि ये फुटकल हैं और जरथुस्त्र के उपदेशों का सार प्रस्तुत करनेवाले उनके साक्षात् वचन हैं जिन्हें उन्होंने अपने शिष्य, बाख्त्री (बैक्ट्रिया) के शासक राजा विश्ताश्प से कहा था। पैगंबर के अपने वचन होने से इनकी पवित्रता तथा महत्ता की कल्पना स्वतः की जा सकती है।

जरथुस्त्र ने इन गाथाओं में अनेक देवताओं की भावना की बड़ी निंदा की है तथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर के, जिसे वे 'अहुरमज्द' (असुर महान्) के अभिधान से पुकारते है, आदेश पर चलने के लिये पारसी प्रजा को आज्ञा दी है। वे एकेश्वरवादी थे—इतने पक्के कि उन्होंने उस सर्वशक्तिमान् के लिये 'अहुरमज्द' नाम के अतिरिक्त अन्य नामों का सर्वथा निषेध किया है।

गाथा का स्पष्ट कथन है :

तेम् ने यस्नाईस आर्म तो ईस् मिमर्झो
ये आन्मेनी यज्दाओ स्रावि अहूरो
(गाथा ४५।१०)

अर्थात् हम केवल उसी को पूजते हैं जो अपने धर्म के कार्यों से और 'अहुरमज्द' के नाम से विख्यात है। जरथुस्त्र ने स्पष्ट शब्दों में ईश्वर के ऊपर अपनी दृढ आस्था इस गाथा में प्रकट की है :

नो इत् मोइ वास्ता क्षमत् अन्या
(गाथा २९।१)

इसका स्पष्ट अर्थ है कि भगवान् के अतिरिक्त मेरा अन्य कोई रक्षक नहीं है। इतना ही नहीं, इसी गाथा में आगे चलकर वे कहते हैं— मज्दाओ सखारे मइरी श्तो (गाथा २९।४) अर्थात् केवल मज्दा ही एकमात्र उपास्य हैं। इनके अतिरिक्त कोई भी अन्य देवता उपासना के योग्य नहीं है। अहुरमज्द के साथ उनके छह अन्य रूपों की भी कल्पना इन गाथाओं में की गई है। ये वस्तुतः आरंभ में गुण ही है जिन षड्गुणों से युक्त अहुरमज्द की कल्पना 'षाड्गुण्य विग्रह' भगवान् विष्णु से विशेष मिलती है। अवेस्ता के अन्य अंशों में वे देवता अथवा फरिश्ता बना दिए गए हैं और 'अमेषा स्पेन्ता' (पवित्र अमर शक्तियाँ) के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके नाम तथा रूप का परिचय इस प्रकार है :

(१) अस (वैदिक ऋतम्) = संसार की नियामक शक्ति।
(२) वोहुमनो (भला मन) = प्रेम तथा पवित्रता।
(३) स्पेन्त आर्मइति = धार्मिक एकनिष्ठा।
(४) क्षथ्रवइर्य (क्षत्रवीर्य) = प्रभुत्व का सूचक।
(५) हऊर्वतात् = संपूर्णता का सूचक।
(६) अमृततात् = अमरता, या अमृतत्व।

जरथुस्त्र ने इन छहों गुणों से युक्त अहुरमज्द की आराधना करने का उपदेश दिया तथा 'आतश' (अग्नि) को भगवान् का भौतिक रूप मानकर उसकी रक्षा करने की आज्ञा ईरानी जनता को दी। 'गाथा अहुनवैती' में जरथुस्त्र का अन्य दार्शनिक सिद्धांत भी सुगमता के साथ प्रतिपादित किया गया है। वह है सत् और असत् के परस्पर संघर्ष का तत्व, जिसमें सत्-असत् को दबाकर आध्यात्मिक जगत् में अपनी विजय उद्घोषित करता है। सत् असत् के इस परस्पर विरोधी युगल की संज्ञा है—अहुरमज्द तथा अह्रिमान्। अह्रिमान् असत् शक्ति (पाप) का प्रतीक है तथा अहुरमज्द सत् शक्ति (पुण्य) का प्रतिनिधि है। प्राणी मात्र का कर्तव्य है कि वह आह्रिमान के प्रलोभनों से अपने को बचाकर, अहुरमज्द के आदेश का पालन करता हुआ अपना अभिनंदनीय जीवन बिताए क्योंकि पाप की हार और पुण्य की विजय अवश्यंभावी है। इस प्रकार रहस्यानुभूतियों से परिपूर्ण ये गाथाएँ विषयप्रधान उपदेशों के कारण पारसी धर्म में अपनी उदात्त आदर्शवादिता के लिये सर्वदा से प्रख्यात हैं। इन गाथाओं में चित्रित आदर्श पूर्ण अद्वैतवाद से पृथक् नहीं है। अद्वैतवाद के भारतीय आंदोलन के पूर्व ही जरथुस्त्र का उस दिशा में आकर्षण मनोरंजक है।

सं० ग्रं०—मैकडानल तथा कीथ : वैदिक इंडेक्स (हिंदी अनुवाद, काशी, १९६२); जैक्सन : द प्राफेट ज़ारथुष्ट्र (अमेरिका); जे० एम० चैटर्जी : एथिकल कंसेप्शन ऑव द गाथा (कलकत्ता); डाक्टर तारापुरवाला : गथाज, देयर फिलासफी (बंबई)। (ब० उ०)

गाथा सप्तशती महाराष्ट्री प्राकृत में रचित सात सौ पद्यात्मक सूक्तियों का संग्रह। इसकी रचना हाल ने की थी। इसका उल्लेख स्वयं इसमें प्राप्त है, किंतु वह कौन था इस संबंध में कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। लोकप्रवाद के अनुसार इसका रचयिता सातवाहन वंशी नरेश हाल माना जाता है। इस ग्रंथ की रचना दूसरी अथवा तीसरी शती ई० में हुई थी ऐसा समझा जाता है। इसका मूल नाम कदाचित् गाथाकोश था। इसका सप्तशती नाम नवीं अथवा किन्हीं लोगों के मतानुसार तेरहवीं शती ई० में प्रचलित हुआ। इस ग्रंथ की संस्कृत में तेरह टीकाएँ प्रस्तुत हुई थीं जिनमें बारह आज भी उपलब्ध हैं। इन टीकाओं से ऐसा जान पड़ता है कि इसमें संग्रहीत गाथा में विभिन्न काल के कवियों की रचनाएँ हैं। उन्होंने विभिन्न गाथाओं से संबद्ध उनके नाम भी बताने की चेष्टा की है। उससे इसमें कम से कम ११२ कवियों की रचनाओं के संग्रह होने की बात जान पड़ती है।

महाराष्ट्री प्राकृत का अद्यतम काव्यसंग्रह होने के कारण इसका महत्व जो है सो है ही, इसकी विशेषता यह है कि इसकी गाथाओं में कृत्रिमता लेशमात्र भी नहीं है। प्रकृति का सजीव चित्रण, रुचिर भावदर्शन, ललित मधुर सौंदर्य उनमें फूट पड़ा है। शृंगार के साथ साथ करुण रस की रचनाएँ भी प्रचुर है। प्रकृतिचित्रण और प्रेमवर्णन के अतिरिक्त इसमें नीति और व्यवहारपरक गाथाएँ भी हैं। (प० ला० गु०)

गाधि राजा कुशिक के पुत्र तथा विश्वामित्र के पिता। वायुपुराण के अनुसार इनके पिता का नाम कुशाश्व था। इनकी माता पुरुकुत्स की कन्या थी। एक मत से ये इंद्र के अंश से उत्पन्न हुए थे। ये कान्यकुब्ज के राजा थे। इनकी कन्या सत्यवती का विवाह ऋचीक से हुआ था। ऋचीक ऋषि ने अपनी पत्नी सत्यवती को एक बार दो चरु दिए। एक उनके लिये तथा दूसरी उनकी माता के लिये। गाधि की स्त्री अर्थात् सत्यवती की माता ने यह जानकर कि ऋचीक ने जो चरु अपनी स्त्री (सत्यवती) के लिये दिया है, वह अवश्य ही अच्छा होगा, उसी को खा लिया, जिसके प्रभाव से इन्हें विश्वामित्र नामक पुत्र हुआ, जिसमें

ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के गुण थे। सत्यवती ने दूसरा चरु खाया, जिससे उन्हें क्षत्रियगुणसंपन्न जमदग्नि हुए। (भो० ना० ति०)

गान, गाना सामान्य दृष्टि से शास्त्रीय संगीतपद्धति की मुक्त रचना और गानपद्धति की संज्ञा गान अथवा गाना है। सस्ते प्रकार के गीतों को भी गाना कहते हैं। किंतु अमरकोश के अनुसार गीत और गान समानार्थक हैं—'*गीत गानमिमे समे*'। *गान के संबंध में लोकप्रवाद है कि स्वयंभु* शिव ने रागरागिणी भाषांग क्रियांगोपांग सहित गान विद्या का सर्जन किया और उसे नारद को सिखलाया और नारद के द्वारा यह गानविद्या पृथिवी पर उतरी।

गीत का कर्तृरूप गान है। गीत का संबंध रचनाविशेष से है, गान का संबंध गेयता की पद्धति अर्थात् संगीत तत्व के प्रयोगात्मक रूप से है। गानपद्धति का संबंध रस से है। गानपद्धति के अनेक विधि-निषेध हैं। (विशेष द्र० 'संगीत')। (प० ला० गु०)

गामा, पहलवान (द्र० कुश्ती)।

गामा, वास्को द (द्र० वास्को द गामा)।

गाय एक प्रख्यात पशु जो संसार में प्राय सर्वत्र पाई जाती है तथा दूध के निमित्त पाली जाती है। इसका भारत में वैदिक काल से महत्व माना जाता है। आरंभ में आदान प्रदान एवं विनिमय आदि के माध्यम के रूप में इसका उपयोग होता था और मनुष्य की समृद्धि की गणना उसकी गोसंख्या से की जाती थी। धार्मिक दृष्टि से भी वह पवित्र मानी जाती रही है। उसकी हत्या महापातक पापों में की जाती है।

लोकोपयोगी दृष्टि से भारतीय गाय को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहले वर्ग में वे गाएँ आती हैं जो दूध तो खूब देती हैं, लेकिन उनकी पुंसंतान अकर्मण्य अत कृषि में अनुपयोगी होती हैं। इस प्रकार की गाएँ दुग्धप्रधान एकांगी नस्ल की हैं। दूसरी गाएँ वे हैं जो दूध कम देती हैं किंतु उनके बछड़े कृषि और गाड़ी खींचने के काम आते हैं। इन्हें वत्स-प्रधान एकांगी नस्ल कहते हैं। कुछ गाएँ दूध भी प्रचुर देती हैं और उनके बछड़े भी कर्मठ होते हैं। ऐसी गायों को सर्वांगी नस्ल की गाय कहते हैं। भारत की गोजातियाँ निम्नलिखित हैं

सायवाल जाति—सायवाल गायों में अफगानिस्तानी तथा गीर जाति का रक्त पाया जाता है। इन गायों का सिर चौड़ा, सींग छोटी और मोटी, तथा माथा मझोला होता है। ये पंजाब में माटगुमरी जिला और रावी नदी के आसपास लायलपुर, लोधरान, गंजीवार आदि स्थानों में पाई जाती हैं। ये भारत में कहीं भी रह सकती हैं। एक बार ब्याने पर ये १० महीने तक दूध देती रहती हैं। दूध का परिमाण प्रति दिन १०–१६ सेर होता है। इनके दूध में मक्खन का अंश पर्याप्त होता है।

सिंधी—इनका मुख्य स्थान सिंध का कोहिस्तान इलाका है। बिलोचिस्तान का केलसबेला इलाका भी इनके लिये प्रसिद्ध है। इन गायों का वर्ण बादामी या गेहुँआ, शरीर लंबा और चमड़ा मोटा होता है। ये दूसरी जलवायु में भी रह सकती है तथा इनमें रोगों से लड़ने की अद्भुत शक्ति होती है। ये कोरिया, मलाया और ब्राजील आदि देशों में निर्यात की जाती हैं। संतानोत्पत्ति के बाद ये ३०० दिन के भीतर कम से कम ५० मन दूध देती हैं।

कांकरेज—कच्छ की छोटी खाड़ी से दक्षिण-पूर्व का भूभाग, अर्थात् सिंध के दक्षिण-पश्चिम से अहमदाबाद और रधनपुरा तक का प्रदेश, कांकरेज गायों का मूलस्थान है। वैसे ये काठियावाड, बड़ौदा और सूरत में भी मिलती हैं। ये सर्वांगी जाति की गाएँ हैं और इनकी माँग विदेशों में भी है। इनका रंग रुपहला भूरा, लोहिया भूरा या काला होता है। टाँगों में काले चिह्न तथा खुरों के ऊपरी भाग काले होते हैं। ये सिर उठाकर और सम कदम रखती हैं। चलते समय टाँगों को छोड़कर शेष शरीर प्रतीत होता है जिससे इनकी चाल अटपटी मालूम पड़ती है।

मालवी—ये गाएँ दुधारू नहीं होतीं। इनका रंग खाकी होता है तथा गर्दन कुछ काली होती है। अवस्था बढ़ने पर रंग सफेद हो जाता है। ये ग्वालियर के आसपास पाई जाती हैं।

नागौरी—इनका प्राप्तिस्थान जोधपुर के आसपास का प्रदेश है। ये गाएँ भी विशेष दुधारू नहीं होतीं, किंतु ब्याने के बाद बहुत दिनों तक थोड़ा थोड़ा दूध देती रहती हैं।

थरपारकर—ये गाएँ दुधारू होती हैं। इनका रंग खाकी, भूरा या सफेद होता है। कच्छ, जैसलमेर, जोधपुर और सिंध का दक्षिणपश्चिमी रेगिस्तान इनका प्राप्तिस्थान है। इनकी खूराक कम होती है।

बचौर—ये गाएँ प्रति दिन सेर दो सेर दूध देती हैं। इनका प्राप्ति-स्थान बिहार में सीतामढ़ी जिले का बचौर और कोइलपुर परगना है।

पवाँर—पीलीभीत, पूरनपुर तहसील और खीरी इनका प्राप्तिस्थान है। इनका मुँह सँकरा और सींग सीधी तथा लंबी होती है। सींगों की लंबाई १२–१८ इंच होती है। इनकी पूँछ लंबी होती है। ये स्वभाव से क्रोधी होती हैं और दूध कम देती हैं।

भगनाड़ी—नाड़ी नदी का तटवर्ती प्रदेश इनका प्राप्तिस्थान है। ज्वार इनका प्रिय भोजन है। नाड़ी घास और उसकी रोटी बनाकर भी इन्हें खिलाई जाती है। ये गाएँ दूध खूब देती हैं।

दज्जल—पंजाब के डेरागाजीखाँ जिले में पाई जाती हैं। ये दूध कम देती हैं।

गावलाव—दूध साधारण मात्रा में देती हैं। प्राप्तिस्थान सतपुड़ा की तराई, वर्धा, छिंदवाड़ा, नागपुर, सिवनी तथा बहियर हैं। इनका रंग सफेद और कद मझोला होता है। *ये कान उठाकर चलती हैं।*

हरियाना—ये ८-१२ सेर दूध प्रतिदिन देती हैं। गायों का रंग सफेद, मोतिया या हल्का भूरा होता है। ये ऊँचे कद और गठीले बदन की होती हैं तथा सिर उठाकर चलती हैं। इनका प्राप्तिस्थान रोहतक, हिसार, सिरसा, करनाल, गुड़गाँव और जिंद है।

अंगोल या नीलोर—ये गाएँ दुधारू, सुंदर और मंथरगामिनी होती हैं। प्राप्तिस्थान मद्रास, हैदराबाद, गूटूर, नीलोर, बपटतला तथा सदन-पल्ली है। ये चारा कम खाती हैं।

राठ—अलवर राज्य की गाएँ हैं। खाती कम और दूध खूब देती हैं।

गीर—ये प्रतिदिन ५-८ सेर दूध देती हैं। इनका मूलस्थान काठिया-वाड़ का गीर जंगल है।

देवनी—दक्षिण हैदराबाद और हिंगोल में पाई जाती हैं। ये दूध खूब देती हैं।

नीमाड़ी—नर्मदा नदी की घाटी इनका प्राप्तिस्थान है। ये गाएँ दुधारू होती हैं।

अमृतमहल, हल्लीकर, बरगूर, आलमबादी नस्लें मैसूर की वत्सप्रधान, एकांगी गाएँ हैं। कंगायम और कृष्णावल्ली दूध देनेवाली हैं।

सं० ग्रं०—चंद्रावती राधारमण संतुलित गो-पालन।

गायकवाड़ बड़ौदा का मराठा राजवंश। इस वंश के संस्थापक दामाजी एक गायकवाड़ (गाय चरानेवाला) के पुत्र थे, इस कारण ही यह वंश गायकवाड़ कहलाया। मुगल सम्राट् मुहम्मदशाह और दक्षिण के निष्कासित सूबेदार निजाम-उल-मुल्क की सेनाओं के बीच १७२१ ई० में बरार स्थित बालापुर में जो युद्ध हुआ था उसमें जो मराठा सेना निजाम-उल-मुल्क की सहायता कर रही थी, उसमें दामाजी मात्र सैनिक थे। किंतु उसमें उन्होंने जिस साहस और रणकौशल का परिचय दिया, उससे प्रभावित होकर मराठा सेनापति ने उन्हें शमशेर बहादुर की उपाधि प्रदान की और अपना सहायक सेनापति नियुक्त कर दिया।

इस घटना के दो वर्ष बाद दामाजी की मृत्यु हो गई और उनके स्थान पर उनके भतीजे पीलाजी राव त्र्यंबक राव सेनापति के सहायक बने। इन लोगों ने गुजरात और उसके आसपास के इलाकों में धावे मारना और

मनमाने रूप में कर वसूलना आरंभ किया। बाजीराव पेशवा उनके इस कार्य से बहुत नाराज हुआ और उन्हें विद्रोही करार दिया। १७३१ ई० में पेशवा की सेना के साथ बड़ौदा के पास भिड़त हुई और त्र्यबक राव और उनके अनेक साथी मारे गए। निदान विद्रोहियों ने हथियार डाल दिए। तब त्र्यबक राव के शिशु पुत्र सेनापति घोषित किए गए। पीलाजी उनके अभिभावक बनाए गए और उन्हें 'सेना खास खेल' की उपाधि दी गई। विजित क्षेत्र से कर वसूलने का उत्तरदायित्व उन्हें सौंपा गया।

इस प्रकार गुजरात का सारा प्रबंध पीलाजी के हाथ में आया। उन्होंने आय का आधा भाग पेशवा को देना स्वीकार किया। इस प्रकार गायकवाड़ राज्य की स्थापना हुई और १७३२ में बड़ौदा उसकी राजधानी बनी।

उसी वर्ष पीलाजी की हत्या हो गई और उनके पुत्र दामाजी राव गायकवाड़ (द्वितीय) अधिकारी बने। उन्हीं के वंशज बड़ौदा क्षेत्र में अंग्रेजों के संरक्षण में राज्य करते रहे। अंग्रेजों के हाथ से भारत के स्वतंत्र होने पर बड़ौदा राज्य भारतीय जनसंघ का अंग बन गया और इस वंश के लोग उसके सामान्य नागरिक। (प० ला० गु०)

गायत्री ऋग्वेद के सात प्रसिद्ध छंदों में एक। इन सात छंदों के नाम हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, विराट, त्रिष्टुप् और जगती। गायत्री में आठ-आठ अक्षरों के तीन चरण होते हैं। ऋग्वेद के मंत्रों में त्रिष्टुप् को छोड़कर सबसे अधिक संख्या गायत्री छंदों की है। गायत्री के तीन पद होते हैं (त्रिपदा वै गायत्री)। अतएव जब छंद या वाक् के रूप में सृष्टि के प्रतीक की कल्पना की जाने लगी तब इस विश्व को त्रिपदा गायत्री का स्वरूप माना गया। जब गायत्री के रूप में जीवन की प्रतीकात्मक व्याख्या होने लगी तब गायत्री छंद की बढ़ती हुई महिमा के अनुरूप विशेष मंत्र की रचना हुई, जो इस प्रकार है :

तत् सवितुर्वरेण्यंभर्गोदेवस्य धीमहि। धियो यो न. प्रचोदयात् (ऋग्वेद ४,६२,१०)।

यह मंत्र चारों वेदों में आया है। इसके ऋषि विश्वामित्र हैं और देवता सविता हैं। वैसे तो यह मंत्र विश्वामित्र के इस सूक्त के १८ मंत्रों में केवल एक है, किंतु अर्थ की दृष्टि से इसकी महिमा का अनुभव आरंभ में ही ऋषियों ने कर लिया था, और संपूर्ण ऋग्वेद के १० सहस्र मंत्रों में इस मंत्र के अर्थ की गंभीर व्यंजना सबसे अधिक की गई। इस मंत्र में २४ अक्षर हैं। उनमें आठ आठ अक्षरों के तीन चरण हैं। किंतु ब्राह्मण ग्रंथों में और कालांतर के समस्त साहित्य में इन अक्षरों से पहले तीन व्याहृतियाँ और उनसे पूर्व प्रणव या ओंकार को जोड़कर मंत्र का पूरा स्वरूप इस प्रकार स्थिर हुआ :

(१) ॐ
(२) भूर्भुव: स्व.
(३) तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न. प्रचोदयात्।

मंत्र के इस रूप को मनु ने सप्रणवा, सव्याहृतिका गायत्री कहा है और जप में इसी का विधान किया है।

गायत्री तत्व क्या है और क्यों इस मंत्र की इतनी महिमा है, इस प्रश्न का समाधान आवश्यक है। आर्ष मान्यता के अनुसार गायत्री एक ओर विराट् विश्व और दूसरी ओर मानव जीवन, एक ओर देवतत्व और दूसरी ओर भूततत्त्व, एक ओर मन और दूसरी ओर प्राण, एक ओर ज्ञान और दूसरी ओर कर्म के पारस्परिक संबंधों की पूरी व्याख्या कर देती है। इस मंत्र के देवता सविता हैं, सविता सूर्य की संज्ञा है, सूर्य के नाना रूप हैं, उनमें सविता वह रूप है जो समस्त देवों को प्रेरित करता है। जाग्रत् में सवितारूपी मन ही मानव की महती शक्ति है। जैसे सविता देव हैं वैसे मन भी देव है (देव मन.. ऋग्वेद, १,१६४,१८)। मन ही प्राण का प्रेरक है। मन और प्राण के इस संबंध की व्याख्या गायत्री मंत्र को इष्ट है। सविता मन प्राणों के रूप में सब कर्मों का अधिष्ठाता है, यह सत्य प्रत्यक्षसिद्ध है। इसे ही गायत्री के तीसरे चरण में कहा गया है। ब्राह्मण ग्रंथों की व्याख्या है—कर्माणि धिय., अर्थात् जिसे हम धी या बुद्धि तत्त्व कहते हैं वह केवल मन के द्वारा होनेवाले विचार या कल्पना सविता नहीं किंतु उन विचारों का कर्मरूप में मूर्त होना है। यही उसकी चरितार्थता है। किंतु मन की इस कर्मक्षमशक्ति के लिये मन का सशक्त या बलिष्ठ होना अत्यावश्यक है। उस मन का जो तेज कर्म की प्रेरणा के लिये आवश्यक है 'वही वरेण्य भर्ग' है। मन की शक्तियों का तो पारावार नहीं है। उनमें से जितना अंश मनुष्य अपने लिये सक्षम बना पाता है, वही उसके लिये उस तेज का वरणीय अंश है। अतएव सविता के भर्ग की प्रार्थना में विशेष ध्वनि यह भी है कि सविता या मन का जो दिव्य अंश है वह पार्थिव या भूतों के धरातल पर अवतीर्ण होकर पार्थिव शरीर में प्रकाशित हो। इस गायत्री मंत्र में अन्य किसी प्रकार की कामना नहीं पाई जाती। यहाँ एक मात्र अभिलाषा यही है कि मानव को ईश्वर की ओर से मन के रूप में जो सबसे दिव्य शक्ति प्राप्त हुई है उसके द्वारा वह उसी सविता का ज्ञान करे और कर्मों के द्वारा उसे इस जीवन में सार्थक करे।

गायत्री के पूर्व में जो तीन व्याहृतियाँ हैं, वे भी सहेतुक हैं। भू. पृथ्वीलोक, ऋग्वेद, अग्नि, पार्थिव जगत् और जाग्रत् अवस्था का सूचक है। भुव. अंतरिक्षलोक, यजुर्वेद, वायु देवता, प्राणात्मक जगत् और स्वप्नावस्था का सूचक है। स्व. द्युलोक, सामवेद, आदित्यदेवता, मनोमय जगत् और सुषुप्ति अवस्था का सूचक है। इस त्रिक के अन्य अनेक प्रतीक ब्राह्मण, उपनिषद् और पुराणों में कहे गए हैं, किंतु यदि त्रिक के विस्तार में व्याप्त निखिल विश्व को वाक् के अक्षरों के संक्षिप्त संकेत में समझना चाहें तो उसके लिये ही यह ॐ संक्षिप्त संकेत गायत्री के आरंभ में रखा गया है। अ, उ, म इन तीन मात्राओं से ॐ का स्वरूप बना है। अ अग्नि, उ वायु और म आदित्य का प्रतीक है। यह विश्व प्रजापति की वाक् है। वाक् का अनंत विस्तार है किंतु यदि उसका एक संक्षिप्त नमूना लेकर सारे विश्व का स्वरूप बताना चाहें तो अ, उ, म या ॐ कहने से उस त्रिक का परिचय प्राप्त होगा जिसका स्फुट प्रतीक त्रिपदा गायत्री है। (वा० श० अ०)

गारीबाल्दी, गुइसेप्पे (१८०७–१८८२) इटली का जननेता। इनका जन्म नीस में ४ जुलाई, १८०७ को हुआ था। इटली दीर्घकाल तक विदेशी सत्ता की क्रीड़ाभूमि रही और उसके देशभक्तों ने विशेषकर १९वीं सदी में उसे विदेशियों के चंगुल से मुक्त करने का निरंतर प्रयास किया। उस आजादी की लड़ाई में अग्रणी मात्सीनी और गारीबाल्दी थे। दोनों ने आस्ट्रियनों के खिलाफ षड्यंत्र किया और यह तै हुआ कि जब मात्सीनी का दल पीदमांत में प्रवेश करे तभी गारीबाल्दी अपने साथियों के साथ यूरीदीचे नामक लड़ाकू जहाज पर कब्जा कर ले। इस षड्यंत्र का भेद खुल जाने से गारीबाल्दी को १८३६ में दक्षिणी अफ्रीका भागना पड़ा। उधर इटली के तत्कालीन विधाताओं ने उसे प्राणदंड की घोषणा कर दी। दक्षिण अफ्रीका के उरुगुवे में उसने इतालवी सेना का निर्माण कर वहाँ के विद्रोह में सफल भाग लिया। इटली में जब विद्रोह का आंदोलन चला तब वह स्वदेश लौटा और अपनी सेवाएँ चार्ल्स अलबर्ट को समर्पित कर दीं। वहाँ उसने एक स्वयंसेवक सेना प्रस्तुत की पर शीघ्र ही हारकर उसे स्विटजरलैंड भागना पड़ा। अगले ही साल वह फिर स्वदेश लौटा और रोम की ओर से लड़ता हुआ उसने फ्रांसीसियों से सान पान कालिसमो की लड़ाई जीती। अनेक स्थलों पर युद्ध जीतने के बाद रोम की पराजय पर उसे भी भागना पड़ा। फ्रांस, आस्ट्रिया, स्पेन और नेपुल्स की सेनाएँ पीछा करती जा रही थीं और वह मध्य इटली से पीछे हटता जा रहा था। उसका वह मार्च इतिहासप्रसिद्ध हो गया है। गारीबाल्दी को फिर अमरीका में शरण लेनी पड़ी पर स्वदेश को विदेशियों के कब्जे में न देख सकने के कारण १८५४ में वह फिर इटली लौटा। पाँच साल बाद जो देश के दुश्मनों से युद्ध छिड़ा तो उसने बार बार आस्ट्रिया की सेनाओं को परास्त किया। शीघ्र ही उसने सिर्फ जहाजों की सहायता से सालेर्नो जीत ली जहाँ उसे डिक्टेटर घोषित किया गया। नेपुल्स की सेनाओं को गारीबाल्दी ने बार बार परास्त किया और ...

से उसने नेपुल्स में भी प्रवेश किया जहाँ एमैनुएल को प्रतिष्ठित कर वह स्वयं फ्रांसीसियों की बची खुची सेना को नष्ट करने में लग गया।

इटली में जो नई सरकार बनी उसका विधाता काव्वूर था। उसके सैनिकों के प्रति काव्वूर और उसकी सरकार की अरुचि तथा उदासीनता के कारण गारीबाल्दी उनसे चिढ़ गया। शीघ्र ही रोम पर उसने चढ़ाई की पर वह कैद कर लिया गया, यद्यपि उस कैद से उसका तत्काल छुटकारा हो गया। अब तक गारीबाल्दी के बलिदानों की ख्याति सर्वत्र पहुँच गई थी और सर्वत्र उसका शौर्य सराहा जाने लगा था। १८६४ में वह इंग्लैंड पहुँचा जहाँ उसका भव्य स्वागत हुआ। १८६६ में जब आस्ट्रिया के साथ फिर युद्ध छिड़ा तब वह इटली लौटा और उसने स्वयंसेवक सेना की कमान अपने हाथ में ली और शीघ्र ही अपनी विजयों का ताँता बाँध लिया। पर जब वह अपनी विजयों की चोटी छू रहा था और ट्रेंट पर हमला करने ही वाला था कि जेनरल लामारमोरा की आज्ञा से उसे पीछे लौटना पड़ा। इस आज्ञा ने उसका जी तोड़ दिया पर अपने मन को मथकर उसने इस आदेश का जो उत्तर दिया—'ओबेदिस्को'—मैं आज्ञा के प्रति आत्मसमर्पण करता हूँ—वह इतिहासप्रसिद्ध हो गया है। इसके बाद वह काप्रेरा लौट गया जहाँ उसने अपना स्थान बना लिया था।

रोम पर अभी तक इतालवी जनता का अधिकार नहीं हुआ था जिसे संपन्न करने की अब गारीबाल्दी ने तैयारी की। १८६७ में उसने रोम में प्रवेश करने का प्रयत्न किया पर वह पकड़ लिया गया। अब गारीबाल्दी फ्लोरेंस भागा और रातात्सी कैबिनेट की सहायता से फिर रोम की ओर लौटा, पर फ्रांस और पोप की समिलित सेनाओं ने उसकी सेना को नष्ट कर दिया। गारीबाल्दी पकड़कर काप्रेरा भेज दिया गया। १८७० में उसने अपनी सेना द्वारा फ्रांस की मदद कर जर्मनी को हराया। पहले वह वर्साई की विधान सभा का प्रतिनिधि चुना गया पर फ्रेंच अपमान से चिढ़कर वह काप्रेरा लौटा और १८७४ में रोम की विधान सभा का प्रतिनिधि चुन लिया गया। उपर्युक्त इतालवी कैबिनेट ने अंत में उसे एक भारी पेंशन दी। गारीबाल्दी २ जून, १८८२ को मरा और इतालवी क्रांति के युद्धों में देशभक्त योद्धा के रूप में विख्यात हुआ।

सं० ग्रं०—जी० एम० ट्रेवेलियन गैरिबाल्डीज डिफेंस ऑव द रोमन रिपब्लिक (१९०७), गैरिबाल्डी ऐंड द थाउजैंड (१९०९), गैरिबाल्डी ऐंड द मेकिंग ऑव इटली (१९११)। (प० उ०)

गारो आसाम के नैर्ऋत्य भाग में स्थित गारो पर्वत में रहनेवाला एक आदिवासी समूह। यह संसार की उन कुछेक जनजातियों में से है जिसका मातृमूलक परिवार आज भी अपनी सभी विशेषताओं के साथ कायम है। वंशावली नारी से चलती है और संपत्ति की स्वामिनी भी नारी होती है। विवाह होने पर पुरुष रात्रि की ओट में ससुराल में पत्नी के पास जाता है और वहाँ न भोजन ग्रहण करता है न पानी। घर की सबसे छोटी बहन संपत्ति की स्वामिनी (नोकना) होती है। विवाह होने पर स्त्रियाँ अपने घर पर ही रहती हैं। सामान्यतः बुआ की लड़की से विवाह होता है। पुरुष को अधिकार होता है कि वह अपने भानजे को अपना जामाता बना ले और पुत्र को भानजी के साथ एक कमरे में बंद कर दे। जब गारो युवक अपने मामा की लड़की से विवाह करता है, तब उस समय, यदि सास भी विधवा हो, तब उससे भी विवाह करना पड़ता है।

गारो तिब्बती-बर्मी भाषा बोलते हैं जिसकी शब्दावली तथा वाक्यरचना का तिब्बती से बहुत सादृश्य है। जनश्रुति के अनुसार, जिसमें पर्याप्त सत्यांश जान पड़ता है, गारो तिब्बत से पूर्वी भारत और बर्मा होते हुए अंततोगत्वा असम की गारो पहाड़ियों पर आकर रहने लगे।

गारो पीतवर्ण हैं, कुछ में श्यामलता भी है, कद नाटा, चेहरा छोटा, गोल और नाक चपटी होती है। जब उत्सव में जाते हैं तब गारो पुरुष नीली पट्टी का वस्त्र और सिर पर मुर्गे के पखवाला मकुट पहनते हैं।

गारो की उपजीविका का आधार भूम (दहिया) की खेती और मछली शिकार है। जंगल काटकर उसमें आग लगा दी जाती है और उसकी राख से एक दो फसलें उगाकर स्थान परिवर्तन कर दिया जाता है। घर बाँस और फूस के बने होते हैं। गाँव के युवक अपने नाचने गाने के लिये अलग घर बनाते हैं जिसे 'नोकोपाटे' कहते हैं। मृत पूर्वजों की पूजा की जाती है जिनकी आत्माएँ घर के बीचवाले सबसे बड़े कमरे में निवास करती हैं। मद्यपान जीवन का आवश्यक अंग है।

मुर्दों को जलाने की प्रथा है। पूर्ववर्ती काल में सरदार तथा राजा के मृत शरीर के साथ उनके दासों को भी जला दिया जाता था और संबंधी लोग चिता में जलाने के लिये अधिक से अधिक नरमुंड काटकर लाने का प्रयत्न करते थे। रोग का जोर होने पर गाँव के बाहर रास्ता को घेर लिया जाता है और डंडों से वृक्षों को पीटा जाता है ताकि प्रेत आत्माएँ भाग जाएँ। ऐसे अवसर पर सूअर और मुर्गों की बलि भी दी जाती है।

गारो जाति के लोग 'पहाड़ी' तथा 'मैदानी' दो समूहों में बँटे हैं। गारो पहाड़ियों से बाहर रहनेवाले सभी गारो लोग मैदानी कहलाते हैं। कुछ गारो ईसाई हो गए हैं किंतु उनके मातृमूलक परिवार पर इसका विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा है। पर अन्य बहुत-सी भारतीय जनजातियों की भाँति गारो जाति भी बाहरी प्रभाव के परिणामस्वरूप विशृंखलता और परिवर्तन की पीड़ा का अनुभव कर रही है।

(रा० रा० शा०, स० मि० शा०)

गारो (पहाड़ी) (स्थिति २५° ९' से २६° १' उ० अ० तथा ८९° ४९' से ९१° २' पू० दे०, क्षेत्रफल ३,११९ वर्ग मील)।

भारत के असम राज्य में एक पहाड़ी है तथा इसी के नाम का जिला भी है। इसके पूर्व में खासी और जयंतिया पहाड़ियाँ, उत्तर में ग्वालपाड़ा जिला और पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में बँगलादेश है। इस पहाड़ी की सर्वाधिक ऊँचाई ४,६५२' (नोकरेक चोटी की) है जो असम श्रेणी के बिल्कुल पश्चिम में, तुर्रा स्टेशन के पूर्व में है। ब्रह्मपुत्र की सहायक नदियों द्वारा जल निकासी होती है, इनमें मुख्य सोमेश्वरी नदी है। इस जिले का अधिकांश भाग क्रिटेशियस प्रणाली के बालुकाप्रस्तर तथा कांग्लोमरेट से बना हुआ नीस चट्टान का है।

यहाँ औसत वर्षा १२५', तुर्रा में, अभिलिखित है। संपूर्ण जिला मलेरिया से आक्रांत तथा अस्वास्थ्यकर है। इसका नामकरण तिब्बती तथा बर्मी उत्पत्ति की जनजाति 'गारो' पर हुआ है और यही यहाँ मुख्यतः आबाद है। गारो जनजाति के लोगों के बाल घुँघराले होते हैं तथा ये आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं।

यहाँ की कृषि स्थानपरिवर्तन करनेवाली (Shifting) है। जंगल का कुछ भाग जला देते हैं और वहीं फसलें उगाई जाती हैं। कुछ साल के बाद फिर दूसरे भागों को इसी प्रकार साफ करके कृषि करते हैं। जंगलों में साल और बाँस के पेड़ बहुतायत से मिलते हैं। यहाँ लाख का उत्पादन भी होता है। कृषि उपज में धान, कपास, सरसों, जूट, ईख तथा तंबाकू मुख्य हैं।

आवागमन के साधनों का अभाव है। यहाँ तेल, चूना पत्थर तथा कोयले के निक्षेप मिलते हैं। कोयले के निक्षेप तक रेलमार्ग गया हुआ है। सभी भागों में बैलगाड़ी के मार्ग हैं।

मुख्य गाँव तुर्रा, गारोबाधा तथा फूलबाड़ी है।

(रा० प्र० सिं०)

गार्गी उपनिषत् काल की एक ब्रह्मवादिनी विदुषी। बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी वाचक्नवी के नाम से इनका उल्लेख आता है। शंकराचार्य के अनुसार गार्गी वचक्नु नामक किसी व्यक्ति की कन्या थी। कुछ अन्य आचार्य गर्ग ऋषि के गोत्र में उत्पन्न होने के कारण इनको गार्गी कहते हैं और वाचक्नवी इनका नाम मानते हैं। इनका याज्ञवल्कीय कांड में उल्लेख मिलता है। विदेह के राजा जनक ने एक समय यज्ञ किया जिसमें कुरु और पांचाल देशों के ब्राह्मण एकत्र थे। उनकी सभा में जनक ने यह जानने के लिये कि कौन सबसे बड़ा ब्रह्मज्ञानी है, घोषणा की कि जो अपने को सबसे महान् ज्ञानी सिद्ध कर देगा उसे एक सहस्र स्वर्णपत्रों से

जड़ी सींगोंवाली गाएँ पारितोपिक में दी जायँगी। किसी विद्वान् को साहस नहीं हुआ, परंतु याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से उन गायों को आश्रम की ओर हाँक ले जाने की आज्ञा दी। इसपर सभा के सभी विद्वान् याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करने लगे परंतु याज्ञवल्क्य ने सारे प्रश्नों का बड़ी विद्वत्ता के साथ समाधान किया। जनक की इसी सभा में अन्य विद्वानों के साथ गार्गी का भी उल्लेख आता है। उसने भी याज्ञवल्क्य की परीक्षा के लिये प्रश्न पूछे थे।

इसकी विद्वत्ता का पता उनके द्वारा याज्ञवल्क्य से पूछे गए प्रश्नों से चलता है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि सारी सृष्टि जल में ओतप्रोत है, तो गार्गी ने पूछा कि जल किसमें ओतप्रोत है? आकाश में। आकाश किसमें ओतप्रोत है? इस प्रकार प्रश्नों की परंपरा में याज्ञवल्क्य ने कहा कि सब ब्रह्म में ओतप्रोत है तो गार्गी ने पूछा कि ब्रह्म किसमें ओतप्रोत है? याज्ञवल्क्य ने कहा कि गार्गी तू अब प्रश्न की सीमा का अतिक्रमण कर रही है। अब आगे मत पूछ, अन्यथा कहीं तेरा सिर कटकर न गिर पड़े। इसपर गार्गी के मन को संतोष नहीं हुआ। जब सभी सभासदों ने याज्ञवल्क्य की परीक्षा ले ली और निरुत्तर हो गए तो गार्गी ने सभासदों की आज्ञा लेकर कहा कि यदि याज्ञवल्क्य मेरे दो प्रश्नों का उत्तर दे दें तो वास्तव में याज्ञवल्क्य सबसे बड़े ब्रह्मज्ञानी मान लिए जायँगे; फिर याज्ञवल्क्य से उसने कहा कि जैसे कोई काशी या विदेह का योद्धा अपने धनुष पर दो बाण चढ़ाकर किसी के सामने खड़ा हो जाय, उसी प्रकार मैं (गार्गी) तुम्हारे सामने दो प्रश्नों को लेकर खड़ी हूँ। इस प्रकार की उक्ति से यह स्पष्ट है कि उपनिपत्काल में गार्गी एक अत्यंत प्रतिभासंपन्न ज्ञानी मानी विदुपी थीं।

गार्गी ने जो प्रश्न किए वे भी बड़े कठिन से थे। ब्रह्म अनिर्वचनीय और निर्गुण माना गया है। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि वह अक्षर तत्व ब्रह्म क्या है जिसमें आकाश प्रभृति सारी सृष्टि समाविष्ट है? यदि याज्ञवल्क्य इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अक्षर तत्व का वर्णन करें तो अवाच्य का वर्णन करने का दोप होता है और यदि वर्णन ही न करें तो गार्गी के प्रश्न का उत्तर न दे सकने के कारण उनकी हार होती है। इस घटना से ज्ञात होता है कि गार्गी तर्कनिष्णात् थीं। उसी के प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने अपने दर्शन का प्रतिपादन किया।

हरिवंश पुराण में दुर्गा को भी गार्गी कहा गया है। (रा० चं० पां०)

गार्दी, फ्रांसिस्को वेदूता (१७१२–९३) वेनिस का चित्रकार।

वह प्रसिद्ध कलाकार जिओवानी आंतोनिओ का भाई तथा तीपोलो का दामाद था। वह कलाकार कनालेत्तो का शिष्य था। गार्दी ने वेनिस नगर के सौंदर्य को ही अधिकतर अपने चित्रों में दर्शाया है। उसके चित्रों में झीने प्रकाश तथा खुले वातावरण का चित्रण विशेप रूप से दर्शनीय है। बाद में चित्रकला का यही सौंदर्य और विकसित होकर आभासवादी (इंप्रेशनिस्ट) चित्रकला के रूप में और अधिक निखरकर सामने आया।

(रा० चं० शु०)

गार्नेट सिलिकेट से संबद्ध एक खनिज वर्ग। इस वर्ग के मुख्य खनिज निम्नलिखित हैं:

ग्रॉसुलर; ३ कै ओ, ऐं$_2$ ओ$_3$, ३ सि ओ$_2$
(Grossular; $3CaO, Al_2O_3, 3SiO_2$)
पाइरोप; ३ मैं$_{\text{ग}}$ ओ, ऐं$_2$ ओ$_3$, ३ सि ओ$_2$
(Pyrope; $3MgO, Al_2O_3\ 3SiO_2$)
ऐल्मैंडाइन; ३ लो ओ, ऐं$_2$ ओ$_3$, ३ सि ओ$_2$
(Almandine; $3FeO, Al_2O_3, 3SiO_2$)
स्पेसरटाइट; ३ मै ओ, ऐं$_2$ ओ$_3$, ३ सि ओ$_2$
(Spessartite; $3MnO, Al_2O_3, 3SiO_2$)
एँड्राडाइट; ३ कै ओ, लो$_2$ ओ$_3$, ३ सि ओ$_2$
(Andradite; $3CaO, Fe_2O_3, 3SiO_2$)
ऊवारोवाइट; ३ कै ओ, क्रो$_2$ ओ$_3$, सि ओ$_2$
(Uvarovite; $3CaO, Cr_2O_3, 3SiO_2$).

इस खनिज के मणिभ घन प्रणाली (Cubic system) के होते हैं और अधिकतर रॉबडोडेकाहेड्रन (Rhombdodecahedron) तथा ट्रैपाज़ोहेड्रन (Trapezohedron) आकृति में मिलते हैं। बालू में यह छोटे बड़े कण के रूप में पाया जाता है। रासायनिक संगठन में भिन्नता होने के कारण इन कणों के रंग भी भिन्न भिन्न होते हैं। इनका रंग अधिकतर लाल या भूरा लाल होता है, पर कुछ जातियाँ हरी, पीली तथा नारंगी रंग की भी मिलती हैं। चमक काचोपम और भाजन (fraction) असम या अनुशंखाभ (subconchoidal) होता है। कठोरता ६.५ से ७.५ तक तथा आपेक्षिक घनत्व ३.५ से ४.३ तक होता है।

ये खनिज मुख्यतः रूपांतरित शिलाओं में मिलते हैं। इनके छोटे छोटे कण नदियों और समुद्री किनारों की बालू में भी मिलते हैं। तलछटी और कुछ आग्नेय शिलाओं में भी ये पाए जाते हैं। रंग बिरंगे पारदर्शक गार्नेट रत्नों की श्रेणी में आते हैं। भारतवर्ष में गार्नेट रत्न मुख्यतः राजस्थान प्रदेश में उदयपुर, जयपुर, अजमेर और किशनगढ़ में पाए जाते हैं। भारत के अभ्रक क्षेत्र में भी गार्नेट मिलता है। केरल और उड़ीसा के समुद्रतट की बालू में गार्नेट कण बहुतायत से मिलते हैं। इस खनिज का दूसरा उपयोग घर्षक पदार्थ के रूप में होता है। घर्षक गार्नेट के सर्वमान्य *निक्षेप संयुक्तराष्ट्र अमरीका, के अडिरोंडाक क्षेत्र में हैं।*

(म० ना० मे०)

गारफील्ड, जेम्स अब्राहम (१८३१–१८८१) संयुक्त राष्ट्र अमरीका

का चतुर्थ राष्ट्रपति। उसका जन्म १९ नवंबर, १८३१ को ओहायो प्रांत के क्यूपहोगा जिले के एक ग्राम में हुआ था। दो वर्ष के थे तभी पिता का देहांत हो गया। इस कारण उन्हें बचपन से ही कृपि कार्य में श्रम करना पड़ा। खेती के काम के साथ कुछ कुछ पढ़ते भी रहे। सत्तरह वर्ष की अवस्था में घर से काम की खोज में निकले पर नौकरी में सफल न होने पर घर लौट आए और पढ़ने में दत्तचित्त हो गए और १८५६ में शिक्षा समाप्त कर हिरम कालेज में ग्रीक और लैटिन के अध्यापक बन गए। अध्यापक के रूप में उन्हें काफी सफलता मिली और एक वर्ष के बाद ही वे कालेज के प्रेसीडेंट हो गए। तदनंतर राजनीति में भाग लेने लगे। १८५९ में वे ओहायो राज्य के सिनेट के सदस्य चुने गए। किंतु बीच में ही युद्ध छिड़ जाने पर अगस्त, १८६१ को उन्हें वालंटियरों के एक दस्ते का लेफ्टिनेंट कर्नल बनाकर युद्ध में भेज दिया गया। १८६२ की जनवरी में एक ब्रिगेड के कमांडर के रूप में उन्हें शत्रु को पराजित करने में सफलता मिली और वे ब्रिगेडियर जनरल बना दिए गए। युद्धक्षेत्र में ही थे तभी वे १८६२ में संयुक्त राष्ट्र की संसद् की लोकसभा के सदस्य चुने गए और उसके बाद तो वे संसद् के सदस्य अनेक बार चुने गए। १८८० में वे राष्ट्रपति के लिये रिपब्लिकन दल की ओर से खड़े किए गए। वस्तुतः वे इस पद के लिये किसी रूप में उम्मीदवार न थे, वरन् दलगत फूट और मतभेदों ने उन्हें अचानक ला खड़ा किया और वे केवल १०,००० मत के बहुमत से डेमोक्रेटिक के उम्मीदवार को हराकर राष्ट्रपति चुने गए। किंतु वे इसका उपयोग केवल चार मास कर पाए थे कि २ जुलाई, १८८१ को, जब वे छुट्टी मनाने जा रहे थे, एक असंतुष्ट कर्मचारी ने उनकी पीठ पर पिस्तौल से गोली दाग दी। १९ सितंबर, १८८१ को अस्पताल में उनकी मृत्यु हो गई।

(प० ला० गु०)

गार्बोग आनी (Garborg Arne) नार्वेई, १८५४–१९२४।

का जन्म नार्वे के एक साधारण किसान परिवार में हुआ था। इन्होंने अपने चारों ओर औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप पुरानी अर्थव्यवस्था तथा उसपर आधृत ग्रामीण जीवन को छिन्न भिन्न होते देखा। यह इनके लिये बड़ा ही कटु अनुभव था। पारिवारिक वातावरण भी सुखप्रद नहीं था। पिता ने घोर अवसाद की मनःस्थिति में शुचिता और ईश्वरभक्ति की ऐसी आदतें बना ली थीं कि जो अंत में उनके विनाश का कारण हुईं। अनेक कठिनाइयाँ होते हुए भी ये क्रिस्तियानिया विश्वविद्यालय में शिक्षा के लिये पहुँच गए। इन्होंने उपन्यास, कविता, नाटक, निबंध सभी क्षेत्रों में सफलतापूर्वक रचना की। इनके बांडेस्टूदेंतार (Bondestudentar, १८८३) नामक उपन्यास में विद्यार्थी जीवन का चित्र मिलता है।

Frede) नामक उपन्यास में जो सन् १८९२ में प्रकाशित हुआ, इन्होंने नार्वे के किसानों की भावात्मक तथा धार्मिक समस्याओं की व्याख्या की है जो पुरानी व्यवस्था के ह्रास के कारण उत्पन्न हुई थी। इनके अन्य मुख्य उपन्यास 'दर ब्रिक्तोम मे फादरन' (Der briktom me fa_eren) (१८९९) और 'हीमकोमिसन' (Heimkominson) (१९०८) है। 'हंस ट्यूमा' (Hans tumo) (the Hill Innocent) कविताओं का संग्रह है जो १८९५ में छपा। इन कविताओं में इन्होंने बीते युग के ग्रामीण जीवन का चित्र मध्ययुगीन तौर तरीकों और अंधविश्वासों की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है। 'लाएरानेन' (Laeraren) नामक नाटक सन् १८९६ में छपा। (तु० ना० सि०)

गार्लैंड, हैनिबल हैमलिन (१८६०–१९४० ई०) अमेरिकी कहानी लेखक और उपन्यासकार। आरंभ खेतिहर जीवन से किया था। फलतः अपने अंचल के जीवन का सशक्त सजीव चित्रण उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में किया है। सामाजिक सुधार की आवश्यकताओं पर बल देनेवाले प्रचारात्मक उपन्यास भी उन्होंने लिखे। उपन्यास के रूप में उन्होंने 'आसन आव द मिडिल आर्डर' शीर्षक अपना जो आत्मवृत्त प्रस्तुत किया है वह सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। (प० ला० गु०)

गार्सां द तासी, जोसफ हेलिओदोर (१७९४–१८७८) फ्रांसीसी प्राच्यविद्याविशारद। इनका जन्म २५ जनवरी, १७९४ ई० को हुआ था। उन्होंने बैरन सिल्वेस्तर द सैसी (Baron Silvestre de sa_y) से पूर्वीय भाषाओं की शिक्षा प्राप्त की। १८२२ में स्थापित 'सोसिएते एसियातीक' के मंत्री के रूप में गार्सां द तासी ने उसी वर्ष पूर्वीय साहित्य पर एक रचना प्रकाशित की। १८२८ में वे पूर्वीय भाषाओं के अध्ययन के लिये स्थापित एक विशेष स्कूल में हिंदुस्तानी के सर्वप्रथम प्रोफेसर नियुक्त हुए। इसके अतिरिक्त वे पेरिस के फ्रांसीसी इंस्टीट्यूट, लंदन, कलकत्ता, मद्रास और बंबई की एशियाटिक सोसाइटियों, सेंट पीटर्सबर्ग की इंपीरियल एकेडेमी ऑव साइंसेज, म्यूनिख, लिस्बन और ट्यूरिन, की रायल एकेडेमियों, नार्वे, उप्साला और कोपनहेगेन की रायल सोसायटियों, अमरीका के ओरिएंटल इंस्टिट्यूट, लाहौर के 'अंजुमन' और अलीगढ़ इंस्टिट्यूट के सदस्य थे। उनकी सदस्यता का यह क्रम १८३८ से प्रारंभ हुआ। १८३७ में उन्होंने 'नाइट ऑव द पोल' आदि उपाधियाँ प्राप्त की थीं, और संभवतः युद्धक्षेत्र से भी अपरिचित न थे।

तासी की सर्वाधिक प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण रचना 'इस्त्वार द ला लितेरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंद ऐंदूस्तानी' (हिंदी और हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास) (प्रथम संस्करण, दो जिल्दों में, १८३९ और १८४७– द्वितीय परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण, तीन जिल्दों में, पहली दो जिल्दें १८७०, तीसरी १८७१)। 'इस्त्वार' के अतिरिक्त उनकी रचनाओं में 'ले ओत्यूर ऐंदूस्तानी उल्यूर उवरज' (१८६८, पेरिस, द्वितीय संस्करण), 'ल लांग ए ल लितरेत्यूर ऐंदूस्तानी द १८५० ओ १८६९, 'दिस्कुर द उवरव्यूर दु कुरा द ऐंदूस्तानी', 'ल लांग ए ल लितरेत्यूर ऐंदूस्तानी—रेव्यू ऐन्युऐल, १८७०-१८७६', 'रु दी मा द ल लांग ऐंदुइ (ग्रैमैग्रर द ल लांग ऐंदुई)' 'रु दी मा द ल लांग ऐंदूस्तानी', 'मेम्वार सूर ल रेलीजिओ मुसलमान दा लिंद', 'ल पोएजी फिलोसोफीक ऐ रेलीज्यूज शे लै पेर्सा', 'रेह्तोरीक दे नैशि ओ मुसलमान', 'इस्लाम द प्रे ल कोरान' (१८७४) आदि रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सर विलियम जोंस कृत फारसी व्याकरण (अनुवाद, १८४५), अल अत्तार (El attar) कृत 'लेंग्वेज ऑव बर्ड्‌स', वली की कविताओं और दि ऐडवेंचर्स ऑव कामरूप' (अनुवाद १८५४-५) आदि के अनुवाद भी गार्सां द तासी ने किए। साथ ही उन्होंने फारसी, अरबी, हिंदुस्तानी और तुर्की भाषाओं की रूपक रचनाओं, कविताओं और लोकप्रिय गीतों का संग्रह किया। उनके अनेक भाषण भी मिलते हैं। उनके इतिहास ग्रंथ से ज्ञात होता है कि उन्होंने भारत के लोकप्रिय उत्सवों का विवरण भी प्रस्तुत किया था, और 'महाभारत' का एक संस्करण भी प्रकाशित किया था। उनके कुछ भाषण तो 'खुतबात तासी' के नाम से उर्दू में अनूदित हो चुके हैं। उनके अनेक लेख 'सोसिएते एसियातीक' के जर्नल में मिलते हैं। गार्सां द तासी की मृत्यु ३ सितंबर, १८७८ को पेरिस में हुई। (ल० सा० वा०)

गार्सिलासो देला वेगा (१५०१–१५३६) स्पेनिश कवि। इटालियन लेखक कास्तिग्लियोनी की पुस्तक 'कोर्टियर' में राजदरबारियों के लिये निर्देशित नियमों के अनुसार चलकर साहित्य तथा व्यावहारिक जीवन में सफलता प्राप्त की। कवि होने के अतिरिक्त वे चार्ल्स पंचम की सेना में भी रहे और एक युद्ध में ही इनकी मृत्यु हुई। एक संबंधी के गुप्त विवाह में सहयोग देने के अपराध में सम्राट् ने इन्हें राज्य से निर्वासित कर दिया। इनकी सर्वोत्कृष्ट कविताएँ इसी घटना के बाद नेपुल्स में लिखी गईं।

गार्सिलासो द्वारा स्पेनिश कविता में इटालियन प्रभाव का प्रवेश हुआ। इन्होंने न केवल स्वयं इटालियन छंदों को स्वीकार किया, वरन् अपने मित्र बोस्कन (Boscon) को भी इस दिशा में प्रयोग के लिये प्रोत्साहित किया। इन्होंने इक्लॉग, एलेजी, ओड और सानेट, काव्य के इन सभी रूपों में रचना की। इनका एक पुर्तगाली महिला से प्रेम था जिसने किसी अन्य व्यक्ति के साथ विवाह कर लिया। इनकी बहुत सी कविताओं में निराश प्रेम की अभिव्यक्ति है। बोस्कन की विधवा पत्नी ने इनकी मृत्यु के बाद अपने पति की कविताओं के साथ १५४३ में इनकी रचनाओं को भी प्रकाशित किया। (तु० ना० सि०)

गाल (१) गाल उस प्रदेश का अंग्रेजी नाम है जिसे रोमन लोग गैलिया कहते थे। इसके अंतर्गत आधुनिक समूचा फ्रांस और पूर्व की ओर फ्रांस की सीमा से कुछ आगे का भाग संमिलित था। आरंभिक रोमन युग में यहाँ बेल्गे, एक्वीतानी और केल्टी अथवा गैली लोग रहते थे। संयुक्त रूप से ये तीनों समूह गाल कहलाते थे। वे लोग दाढ़ी और केश दोनों रखते थे। ३९० ई० पू० गाल लोग आल्प्स पार कर इटली में घुसे और रोम को नष्टभ्रष्ट कर डाला। वे इटली से निकाल बाहर तो किए गए पर काफी समय तक वे इटली प्रायद्वीप के उत्तरी भाग पर अपना प्रभुत्व बनाए रहे। २०० ई० पू० गाल लोगों ने थ्रेस और मैसीडोनिया पर आक्रमण किया और लघु एशिया में घुसे। इस प्रदेश में वे गैलीशियन के नाम से प्रख्यात हुए।

रोमनों ने गालों को इटली से निकालने के बाद आल्प्स के उत्तर में रहनेवाले गालों पर आक्रमण किया और ई० पू० १०० तक भूमध्यसागर की गालों वाली पट्टी पर अधिकार कर लिया। जूलियस सीजर ने समस्त गालों पर अधिकार प्राप्त किया। इसके लिये उसने ई०पू० ५८ और ई०पू० ५० के बीच अनेक अभियान किए। उन सबका वर्णन अपनी पुस्तक 'द गैलिक वार्स' में किया है। रोम के अधीन वे चार प्रांतों में बँटे रहे और इसी रूप में अगले चार सौ साल तक रहे। उनका परवर्ती इतिहास जर्मन जातियों यथा, गाथ, बर्गुंडी आदि में घुल मिल गया है। (प० ला० गु०)

(२) श्रीलंका के दक्षिण-पश्चिमी समुद्रतट पर अवस्थित एक नगर तथा पत्तन है। अपनी उत्कृष्ट स्थिति के कारण यह उन्नतिशील नगर है। इसकी जनसंख्या ३८,४२४ (१९३१ ई०) से बढ़कर ५५,८४८ (१९५३ ई०) हो गई। श्रीलंका के नगरों में इसका पाँचवाँ स्थान है। इसके समीप बगानी कृषिक्षेत्र है, अतः यहाँ के पत्तन से नारियल का तेल, जटाएँ, रेशे और उससे बनी रस्सियाँ, रबर, तथा चाय का निर्यात होता है। यद्यपि यह नगर प्राचीन प्रतीत होता है, तथापि १२६७ ई० से पहले इसका कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता। १४वीं सदी के मध्य में अरब यात्री इब्नबतूता ने इसका उल्लेख 'काली (Kali) नाम से किया है। वस्तुतः इसका समृद्धिकाल पुर्तगालियों के आगमन के पश्चात् (१५०५) प्रारंभ होता है। यह डचों द्वारा स्थापित बंदरगाह है। पोताश्रय (harbour) के किनारे प्राकृतिक हैं किंतु प्रवेशद्वार खुला तथा खतरनाक चट्टानों से युक्त है। यहाँ डचों ने एक किला भी बनवाया था। यह १९वीं सदी के पूर्वार्ध तक श्रीलंका का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पत्तन रहा। स्वेज नहर (१८६९ ई०) बनने तथा कोलंबो के विशाल कृत्रिम बंदरगाह के निर्माण के बाद इसका महत्व घट गया। यह उत्तर में कोलंबो से तथा दक्षिण-दक्षिण-पूर्व में मतारा से रेल तथा राजमार्ग द्वारा जुड़ा हुआ है। यह गाल जनपद का प्रधान प्रशासनिक

नगर भी है। इसे प्वांट डी गाल (*Point de Gall*) भी कहते हैं।
(का० ना० सि०)

गालव विश्वामित्र के शिष्य, एक प्रसिद्ध ऋषि। हरिवंश पुराण में इन्हें विश्वामित्र का पुत्र कहा गया है। गालव का हठ प्रसिद्ध है। विद्याध्ययन के बाद इन्होंने अपने गुरु विश्वामित्र से गुरुदक्षिणा माँगने का बहुत हठ किया। चिढ़कर विश्वामित्र ने ८०० श्यामकर्ण घोड़े माँगे। गालव ने बहुत प्रयत्न किया किंतु असफल रहे। अंत में इन्होंने विष्णु की आराधना की और उनकी कृपा से, ययाति ने अपनी पुत्री माधवी, को इन्हें इस कार्य में सहायता के लिये दिया। गालव माधवी को लेकर क्रमशः हर्यश्व, दिवोदास और उशीनर के यहाँ गए, जिन्होंने बारी बारी से माधवी से विवाह करके एक एक पुत्र प्राप्त किया। इस प्रकार ६०० घोड़े तो मिल गए। शेष की प्राप्ति असंभव जान गालव ने उसके बदले माधवी को ही विश्वामित्र को समर्पित कर गुरुदक्षिणा पूरी की। विश्वामित्र को भी माधवी से एक पुत्र पैदा हुआ। उसके बाद उन्होंने माधवी को लौटा दिया, जिसे गालव ययाति को दे आए। माधवी को चिरकुमारी रहने का वरदान प्राप्त था। बाद में गालव जंगल में तपस्या करने चले गए।
(भो० ना० ति०)

गालाट्स डैन्यूब नदी के बाएँ किनारे पर, नदी के मुहाने से लगभग १४५ किमी० पश्चिम में स्थित, रूमानिया का एक प्रसिद्ध नगर (स्थिति: ४५° ३०' उ० अ०, २८° पू० दे०)। डैन्यूब की दो सहायक नदियाँ, सिरेत तथा प्रुथ, इस नगर से क्रमशः ५ किमी० पश्चिम तथा १६ किमी० पूर्व मुख्य नदी से मिलती हैं। यह नगर उपकूलीय दलदली भूमि में अपेक्षाकृत उच्च भूमि पर बसा है। यह रूमानिया के जलसेना विभाग, डैन्यूब जलमार्ग कंपनी तथा वहाँ की व्यापारिक संस्थाओं का प्रधान केंद्र है। यह नगर ब्रैला तथा बुकारेस्ट से रेल द्वारा जुड़ा है। औद्योगिक दृष्टिकोण से भी यह महत्वपूर्ण है। यहाँ खनिज तेल साफ करने, लकड़ी, चीरने, साबुन एवं अनेक अन्य रासायनिक पदार्थ बनाने के कारखाने हैं। देश के सभी आयात एवं लकड़ी के निर्यात के लिये गालाट्स ही मुख्य बंदरगाह है। केवल खाद्यान्न के निर्यात में यह ब्रैला के बाद देश में अपना द्वितीय स्थान रखता है। सन् १९४४ में पीछे हटते हुए जर्मन सैनिकों ने इसके पोताश्रय को काफी क्षति पहुँचाई थी। (न० प्र०)

गालिब, मिर्जा असदुल्ला खाँ (१७९६-१८६९) उर्दू-फारसी के प्रख्यात कवि। यह मिर्जा नौशे के नाम से प्रसिद्ध थे। पहले 'असद' उपनाम रखा था पर बाद में 'गालिब' रखा। इनका जन्म आगरे में हुआ था। इनके वंशवाले ऐबक तुर्कमान थे। इनके पितामह भारत आए और शाही सेना में भर्ती हुए। इनके पिता मिर्जा अब्दुल्ला बेग अलवरनरेश की सेवा में रहे और एक युद्ध में मारे गए। गालिब इस समय पाँच वर्ष के थे। पिता की मृत्यु के बाद यह अपने चाचा नसरुल्ला खाँ के यहाँ रहने लगे। यह भी सन् १८०६ ई० में मर गए तब इनका लालन पालन ननिहाल में हुआ। एक विद्वान् मिर्जा मुअज्जम ने इन्हें शिक्षा दी। इन्होंने चौदह वर्ष की अवस्था में एक पारसी मुसलमान अब्दुस्समद से दो वर्ष तक फारसी की शिक्षा प्राप्त की। तेरह वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हुआ। जागीर के बदले में इन्हें जो पेंशन मिलती थी, वह सन् १८२६ में बंद हो गई। इसके लिये यह कलकत्ते गए और दो वर्ष इसमें व्यतीत कर असफल लौट आए। लौटते समय यह बनारस तथा लखनऊ होते हुए गए थे। अवध के शाह नसीरुद्दीन हैदर ने एक कसीदे पर प्रसन्न होकर पाँच सौ रुपए वार्षिक वृत्ति नियत की। सन् १८४१ ई० में दिल्ली कालेज की फारसी की प्राध्यापकी इन्होंने इस कारण अस्वीकार कर दी कि आगरा सरकार के सेक्रेटरी ने इनका उचित समादर नहीं किया। सन् १८४९ में दिल्ली के दरबार में इन्हें नज्मुद्दौला दबीरुलमुल्क निजाम जंग पदवी और पचास रुपए मासिक वृत्ति मिली। रामपुर के नवाब यूसुफ अली खाँ इनके शिष्य हो चुके थे। सन् १८५९ ई० में यह रामपुर गए और कुछ दिन रहकर दिल्ली लौट आए। इन्हें वहाँ से एक सौ रुपए मासिक मिलता था। इनकी पेंशन भी इसी समय मिलने लगी जिससे यह अंत तक दिल्ली ही में रहे। यहीं १५ फरवरी, सन् १८६९ ई० को इनकी मृत्यु हुई। निजामुद्दीन औलिया के पास चौसठ खंभे में इनका मकबरा है।

गालिब ने फारसी भाषा में कविता करना आरंभ किया था और इसी फारसी कविता पर ही इन्हें सदा अभिमान रहा परंतु यह दैव की कृपा है कि इनकी प्रसिद्धि, संमान तथा सर्वप्रियता का आधार इनका छोटा सा उर्दू का 'दीवाने गालिब' ही है। इन्होंने जब उर्दू में कविता करना आरंभ किया उसमें फारसी शब्दावली तथा योजनाएँ इतनी भरी रहती थीं कि वह अत्यंत क्लिष्ट हो जाती थी। इनके भावों के विशेष उलझे होने से इनके शेर पहेली बन जाते थे। अपने पूर्ववर्तियों से भिन्न एक नया मार्ग निकालने की धुन में यह नित्य नए प्रयोग कर रहे थे। किंतु इन्होंने शीघ्र ही समय की आवश्यकता को समझा और स्वयं ही अपनी काव्यशैली में परिवर्तन कर डाला तथा पहले की बहुत सी कविताएँ नष्ट कर क्रमशः नई कविता में ऐसी सरलता ला दी कि वह सबके समझने योग्य हो गई।

गालिब की कविता में प्राचीन बातों के सिवा उनके अपने समय के समाज की प्रचलित बातें भी हैं और इससे भी बढ़कर एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी है, जो पहले पहल उर्दू कविता में दिखलाई पड़ता है। धर्म तथा समाज के बँधे नियमों तथा रीतियों की हँसी उड़ाने का इनमें साहस था और यह अपने समय के तथा भविष्य में आनेवाले समाज को अच्छी प्रकार समझते थे। यह मानव जीवन तथा कविता के संबंध को जानते थे और इन सबके वर्णन के लिये इनकी शैली ऐसी अनोखी तथा तीखी थी, जो न पहले और न बाद में दिखलाई पड़ी। मानव जीवन के प्रति इनके विचार बहुत अच्छे हैं, यह जीवनसंघर्ष से भागते नहीं और न इनकी कविता में कहीं निराशा का नाम है। यह इस संघर्ष को जीवन का एक अंग तथा आवश्यक अंग समझते हैं। मानव की उच्चता तथा मनुष्यत्व को सब कुछ मानकर उसके भावों तथा विचारों का वर्णन करने में यह अत्यंत निपुण थे और यह वर्णनशैली ऐसे नए ढंग की है कि इसे पढ़कर पाठक मुग्ध हो जाता है। गालिब में जिस प्रकार शारीरिक सौंदर्य था उसी प्रकार उनकी प्रकृति में विनोदप्रियता तथा वक्रता भी थी और ये सब विशेषताएँ उनकी कविता में यत्रतत्र झलकती रहती हैं। यह मदिराप्रेमी थे इसलिये मदिरा के संबंध में इन्होंने जहाँ भाव प्रकट किए हैं वे शेर ऐसे चुटीले तथा विनोदपूर्ण हैं कि उनका जोड़ उर्दू कविता में अन्यत्र नहीं मिलता।

गालिब ने केवल कविता में ही नहीं, गद्यलेखन के लिये भी एक नया मार्ग निकाला था, जिसपर वर्तमान उर्दू गद्य की नींव रखी गई। सच तो यह है कि गालिब को नए गद्य का प्रवर्तक कहना चाहिए। इनके दो पत्रसंग्रह 'उर्दूए हिंदी' तथा 'उर्दूए मुअल्ला' ऐसे ग्रंथ हैं कि इनका उपयोग किए बिना आज कोई उर्दू गद्य लिखने का साहस नहीं कर सकता। इन पत्रों के द्वारा इन्होंने सरल उर्दू लिखने का ढंग निकाला और उसे फारसी अरबी की क्लिष्ट शब्दावली तथा शैली से स्वतंत्र किया। इन पत्रों में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विवरणों का अच्छा चित्र है। गालिब की विनोदप्रियता भी इनमें दिखलाई पड़ती है। इनकी भाषा इतनी सरल, सुंदर तथा आकर्षक है कि वैसी भाषा कोई उर्दू लेखक अब तक न लिख सका। गालिब की शैली इसलिये भी विशेष प्रिय है कि उसमें अच्छाइयाँ भी हैं और कचाइयाँ भी हैं तथा पूर्णता और त्रुटियाँ भी हैं। यह पूर्ण रूप से मनुष्य हैं और इसकी छाप इनके गद्य पद्य दोनों पर है।

इनकी अन्य रचनाएँ लतायफे गैबी, दुरपशे कावेयानी, नामए गालिब, मेह्रीम आदि गद्य में हैं। फारसी के कुल्लियात में फारसी कविताओं का संग्रह है। दस्तंबू में इन्होंने १८५७ ई० के बलवे का आँखों देखा विवरण फारसी गद्य में लिखा है।
(र० स० ज०)

गालेगास, रोमुलो अमरीकी उपन्यासकार। इनका जन्म १८८४ ई० में हुआ था। इनके उपन्यासों में हमें उनके देश वेनिजुएला के ग्रामीण जीवन का बड़ा ही रोचक और यथार्थ चित्र मिलता है। वहाँ के सामाजिक जीवन की विशेषताओं के साथ ही साथ ये प्राकृतिक वातावरण को भी सजीव रूप में प्रस्तुत करते हैं। पाठक उपन्यास के कुछ चरित्रों

और उनकी कहानी से ही परिचित नहीं होता बल्कि उसे वेनिजुएला देश एवं वहाँ के सामाजिक जीवन की पूरी झाँकी मिल जाती है।

रोमुलो गालेगास के उपन्यासों की एक और विशेषता है। उनमें हमें सभ्यता और बर्बरता के बीच मच रहे संघर्ष का भी चित्र मिलता है। आधुनिकता के व्यापक प्रभाव के कारण किस प्रकार जीवन के पुराने तौर तरीके बदल रहे हैं और नवीन मूल्यों की स्वीकृति कितने तीव्र विरोध के बाद हो पाती है यह उनके उपन्यासों में बड़े ही मार्मिक ढंग से दिखाया गया है। प्रारंभिक रचनाओं में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असाधारण चरित्रों के अध्ययन में इनकी विशेष रुचि का आभास मिलता है लेकिन बाद की रचनाओं में जीवन को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास है। 'दोना बारबरा' (Dona Barbara) द्वारा, जो सन् १९२९ में मैड्रिड से प्रकाशित हुआ, इन्हें अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। इनकी अन्य मुख्य रचनाएँ इस प्रकार हैं : 'ला त्रेपदोरा' (La Trepadora) (१९२५), कैंटाक्लेरो 'Cantaclaro' (१९४१); पोबर नीग्रो 'Pobre Negro' (१९३७)। (लु० ना० सि०)

गाल्जवर्दी, जॉन (१८६७–१९३३ ई०) अंग्रेज उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार और कवि। उच्च कुल में जन्म हुआ, जिसके अनुभवों के आधार पर उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति 'द फोरसाइट सागा' की सृष्टि की। उच्च मध्यकुल के टूटने, विश्रृंखल होने और उसकी आशा निराशाओं की कहानी गाल्जवर्दी ने बृहत् कथावृत्त में कही है।

उनकी शिक्षा सुप्रसिद्ध स्कूल, ईटन, में हुई और फिर आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में। गाल्जवर्दी ने बैरिस्ट्री की डिग्री ली, किंतु कानून के प्रति उन्हें विशेष रुचि न थी। अध्ययन समाप्त करके वे विश्वभ्रमण के लिये निकल पड़े। साहित्यरचना उन्होंने ३० वर्ष की अवस्था पार करने के बाद आरंभ की।

उनके सुप्रसिद्ध उपन्यासों में 'दि आइलैंड फैरिसीज' (१९०४), 'द कंट्री हाउस' (१९०७), 'फ़ैटर्निटी' (१९०९), 'द पैट्रिशियन' (१९११) और फोरसाइट सागा से संबंधित नौ उपन्यासों की लड़ी विशेष उल्लेखनीय है। फोरसाइट गाथा के उपन्यासों का रचनाकाल इस प्रकार है : 'द मैन ऑव प्रॉपर्टी' (१९०६), 'इन चासरी' (१९२०), 'टू लेट' (१९२१), यह उपन्यासमाला 'द फोरसाइट सागा' के नाम से विख्यात है। फोरसाइट परिवार से संबधित इस गाथा को उन्होंने 'ए माडर्न कॉमेडी' में बढ़ाया। इस माला में भी तीन उपन्यास हैं : 'द ह्वाइट मंकी' (१९२४), 'द सिलवर स्पून' (१९२६) और 'द स्वान सांग' (१९२८)। एक बार फिर अपने जीवन के अंतकाल में उन्होंने इस गाथा को तीन उपन्यासों की एक लड़ी में पिरोया। इन उपन्यासों के नाम हैं : 'मेड इन वेटिंग' (१९३१), 'फ्लॉवरिंग विल्डरनेस' (१९३२) और 'ओवर द रिवर' (१९३३)।

गाल्जवर्दी बड़े सफल कहानीकार भी थे। उनकी कहानियाँ 'कारवाँ' नाम के संग्रह में एकत्रित हैं। इनमें 'दि ऐपुल ट्री', द फर्स्ट ऐंड द लास्ट', 'डिफ़ीट' आदि कहानियाँ बड़ी मार्मिक हैं।

गाल्जवर्दी के नाटक भी उनके उपन्यासों के समान ही महत्वपूर्ण हैं। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं : 'द सिल्वर बॉक्स' (१९०९), 'स्ट्राइफ' (१९०९), 'जस्टिस' (१९१०), 'द स्किन गेम' (१९२०), लॉयल्टीज' (१९२२)।

उनकी कविताएँ 'वर्सेज—ओल्ड ऐंड न्यू' के शीर्षक से 'दि इन ऑव ट्रैंक्विलिटी' के साथ संगृहीत हैं। गाल्जवर्दी ने अनेक आलोचनात्मक निबंध भी लिखे हैं, जिनका संकलन 'कैंटिलैंग्रा' (१९३२) शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इनमें अनेक निबंध बहुत महत्व के हैं, उदाहरण के लिये, 'सम प्लैटिट्यूड्ज कंसर्निंग ड्रामा', 'क्रिएशन ऑव कैरेक्टर इन लिटरेचर' 'बेग यॉट्स ऑन आर्ट' आदि।

गाल्जवर्दी का साहित्य इंग्लैंड के विक्टोरियन युग का सामाजिक इतिहास कथाबद्ध करता है। जिस वर्ग में गाल्जवर्दी ने जन्म लिया, उसकी उन्होंने साहित्य में बड़ी मार्मिक आलोचना की है। फॉरसाइट परिवार इंग्लैंड के उच्च मध्यकुलों का प्रतीक है। इस परिवार के सदस्य एक ओर तो धन संपत्ति बटोरने में लगे हैं, दूसरी ओर वे सुंदरता के स्वप्न भी देखते हैं। इस अंतर्द्वंद्व का प्रतीक 'फोरसाइट सागा' का नायक सोम्ज, है। संपत्तिसंग्रह की भावना के प्रति गाल्जवर्दी के हृदय में तीव्र विद्रोह था। इसे उन्होंने 'दि आइलैंड फ़ैरिसीज' नाम के उपन्यास में व्यक्त किया है। 'स्ट्राइफ' और 'द स्किन गेम' शीर्षक नाटकों में भी गॉल्जवर्दी इन्हीं भावनाओं को व्यक्त करते हैं। वे इंग्लैंड की न्यायव्यवस्था से बहुत असंतुष्ट थे। उनका विचार था कि इस व्यवस्था में धनी के लिये एक न्याय है और गरीब के लिये दूसरा। विवाह और तलाक से संबंधित कानून से भी उनका तीव्र मतभेद था। इन क्रूर नियमों के शिकार वे स्वयं हुए थे। 'द मैन ऑव प्रॉपर्टी' का ढाँचा इसी विद्रोह पर आधारित है।

गॉल्जवर्दी का संपूर्ण कथासाहित्य और नाटकसाहित्य इस युग की सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र विरोध की भावना व्यक्त करता है, किंतु इस प्रक्रिया में उन्होंने मानव संबंधों की बड़ी कोमल और सूक्ष्म व्याख्या भी की है। उनके अनेक पात्र अंग्रेजी साहित्य के चिरस्मरणीय पात्र बन गए हैं; ये पात्र मनुष्य के हृदय के अनेक सूक्ष्म व्यापारों को बड़ी कोमलता से प्रकट करते हैं।

गाल्जवर्दी शासकवर्ग के संपत्तिसंचय के आदर्शों पर घन की चोट करते हैं। साथ ही अपनी सौंदर्य कल्पना को भी वे निरंतर मार्मिक शैली में व्यक्त करते हैं। गॉल्जवर्दी का साहित्य मानवीय संबंधों का अनुभूति और संवेदना से परिपूर्ण अध्ययन है, जिसमें सूक्ष्म दृष्टि के साथ गहराई और विस्तार दोनों ही हैं। इसीलिये आधुनिक युग के प्रथम श्रेणी के कुछ ही कलाकारों में गाल्जवर्दी की गणना है।

सं० ग्रं०—नेटली क्रोमैन : जॉन गाल्जवर्दी; लेओं शैलिट 'जॉन गाल्जवर्दी', हर्मन ओल्ड 'जॉन गाल्जवर्दी, मैरट : लाइफ ऐंड लेटर्स ऑव जॉन गाल्जवर्दी'। (प्र० चं० गु०)

गालेनस्टॉक (Galenstock) पर्वत मध्य 'स्विट्जरलैंड के दक्षिणी भाग में स्थित वाले (Valais) और ऊरी (Uri) नामक जिलों में फैला हुआ है। इसकी सर्वाधिक ऊँचाई ११,८०५ फुट है। (भ० दा० व०)

गाल्टन, फ़्रैंसिस (१८२२–१९११ ई०)। अंग्रेज वैज्ञानिक जिसकी ख्याति उल्का विज्ञान, आनुवंशिकता और नृतत्व संबंधी शोधों के लिये है। वे चार्ल्स डार्विन के भतीजे थे। उन्होंने सूडान में रहकर वहाँ के आदिवासियों का अध्ययन किया, फिर अनुसंधान के निमित्त दक्षिण पश्चिम अफ्रीका गए। यात्रावृत्तों के लिये रायल ज्योग्राफिकल सोसाइटी ने उन्हें सुवर्ण पदक प्रदान किया। उल्का के संबंध में उन्होंने कई सिद्धांत प्रतिपादित किए। तूफानों (साइक्लोन) के संबंध में अनेक लेख लिखे और मौसम संबंधी तालिका तैयार की। अंगुलि विज्ञान की दिशा में भी कुछ काम किया। आनुवंशिकता के संबंध में उन्होंने ऐसे विचार प्रकट किए जो समय से बहुत आगे थे। उन्होंने माता पिता के चयन द्वारा अयोग्य व्यक्तियों की संख्या कम करने का सुझाव दिया। उन्होंने मानव-प्रजनन विज्ञान की नींव डाली। आक्सफोर्ड और कैंब्रिज ने उन्हें मानद उपाधियाँ देकर संमानित किया। (प० ला० गु०)

गॉल्फ इतिहास : गॉल्फ बहुत पुराना खेल है। अत: निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि इसका आरंभ कब, कहाँ और कैसे हुआ। इतिहासकार गॉल्फ का संबंध स्कॉटलैंड से जोड़ते हैं, किंतु इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि गॉल्फ के मूलभूत नियम हालैंड से स्कॉटलैंड पहुँचे। हालैंड में डच लोग बर्फीले मैदानों में डंडे तथा गेंद से गॉल्फ खेलते थे। एक खूँटा गाड़ दिया जाता था और गेंद को उसी पर मारा जाता था।

स्कॉटलैंड के इतिहास में गॉल्फ का जिक्र वहाँ की संसद् की मार्च, १४५७ की आज्ञप्ति (decree) में है। उन दिनों स्कॉटलैंड की जनता गॉल्फ में मगन होकर धनुर्विद्या की उपेक्षा कर रही थी। संसद् ने देश

की सुरक्षा की दृष्टि से जनता को गॉल्फ से विरत होने की सलाह दी थी। लेकिन इस आज्ञप्ति का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। अंत में सन् १४६१ में स्कॉटलैंड शासन ने गॉल्फ को निषिद्ध घोषित कर दिया। एक शताब्दी तक गॉल्फ वहाँ लुप्त रहा, किंतु पुन: पनपा और पहले से भी अधिक जनप्रिय हुआ।

प्राचीन काल से ही गॉल्फ राजकीय खेल रहा है। इंग्लैंड का राजा चार्ल्स प्रथम इसका बहुत बड़ा भक्त था। वह जब गॉल्फ खेलने में तल्लीन था तभी उसे आयरलैंड की गदर की सूचना मिली। बाद में जब यह स्कॉटलैंड में न्यूकैसल में बंदी हो गया था तब उसे खुले मैदान में गॉल्फ खेलने की छूट मिली थी। जेम्स द्वितीय भी गॉल्फ का उपासक था। सन् १६८१-८२ में एडिनबरा की संसद् में वह राजकीय प्रतिनिधि नियुक्त हुआ। एडिनबरा में दो उच्चकुलीन व्यक्तियों ने उसे चाहे जिसे साथी रखकर गॉल्फ खेलने की चुनौती दी। जेम्स ने जॉन पैटरसन नामक मोची को अपना साथी रखकर खेल जीत लिया और जीती रकम का आधा मोची को दे दिया। मोची ने उक्त धन से 'गॉल्फर्स लैंड' नामक भवन बनवाया।

गॉल्फ का खेल—यह खुले भूभाग में खेला जाता है। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि एक विशेष प्रकार के डंडे से गेंद को मारकर मैदान में बने विशेष छिद्र में ले जाने का नाम गॉल्फ है। डंडा इस प्रकार का बना होता है कि गेंद कैसी भी स्थिति में क्यों न हो, उसे सहज ही मारा जा सकता है। खेल के मैदान में १८ छिद्र होते हैं। ये छिद्र खेल के मैदान की एक सीमा से आरंभ होकर समस्त क्षेत्र (green) तक फैले रहते हैं। छिद्र का व्यास ४¼ इंच होता है। खेल का मैदान शाद्वल होना चाहिए। छिद्रों का क्रम नियत होता है और उसी क्रम से प्रत्येक खिलाड़ी अपने दौर में सभी छिद्रों को खेल आता है।

खेल के आरंभ में लकड़ी की छोटी खूँटी, या मुट्ठी भर बालू, पर गेंद रखकर वार किया जा सकता है ताकि पहला वार ठीक हो। लेकिन खेल आरंभ हो जाने पर जब तक गेंद छिद्र में नहीं चला जाता उसे हाथ या शरीर के किसी भाग से छूना मना है। इस खेल में खिलाड़ी या प्रतिद्वंद्वी किसी प्रकार की रुकावट या अड़चन नहीं पैदा करता। गॉल्फ में विजयी वह होता है जो कम से कम प्रहार में गेंद को टी (Tee) से पीटकर गड्ढे (Cup) में छोड़ दे। देखने में सीधा सादा होने पर भी इस खेल में अनेक जटिलताएँ हैं। ज्यों ज्यों गेंद आगे बढ़ती है वह खिलाड़ी को परेशानी में डालती है। कहीं बालू में घुस जाती है, कहीं घास में छिप जाती है, तो कहीं पेड़ के पीछे छिप जाती है। वह टीले, पहाड़ी या नाले में भी जा सकती है। गॉल्फ के प्राय: प्रत्येक मैदान में एक या अधिक "जल संकट" (water hazard) की व्यवस्था की जाती है। खिलाड़ी शायद ही कभी एक ही प्रकार की मार (shot) दूसरी बार मार पाता है।

प्रतियोगिताओं में गॉल्फ दो प्रकार से खेला जाता है। एक का नाम है मैच (match) खेल तथा दूसरे का स्ट्रोक (Stroke) खेल। मैच खेल में हार जीत का निर्णय जीते हुए छिद्रों की संख्या पर निर्भर होता है। जो भी खिलाड़ी अपने विरोधी से अधिक छिद्र जीतता है, वही जीतता है। स्ट्रोक में पूरे दौर में खिलाड़ी ने गेंद पर कितने वार किए, इसी पर हार जीत का फैसला होता है। अनौपचारिक दौर में स्ट्रोक और मैच एक साथ खेले जाते हैं, जिसे बहुत से लोग पसंद नहीं करते।

शौकिया खिलाड़ी प्रतियोगिताओं में मैच खेलते हैं, यद्यपि प्रारंभ में एकाध दौर स्ट्रोक खेलकर खिलाड़ियों की संख्या कम कर ली जाती है। स्ट्रोक में जो हार जाते हैं उन्हें छाँट दिया जाता है और अंत में बचे हुए दो खिलाड़ियों में मैच होता है।

व्यावसायिक खिलाड़ियों की प्रतियोगिता स्ट्रोक में होती है। ७२ छिद्रों या खेल के चार दौरों में जय पराजय का निर्णय होता है।

गॉल्फ का डंडा—गॉल्फ के डंडे (Club) में भी समय के साथ बहुत परिवर्तन होता आया है। पहले गॉल्फ का डंडा लकड़ी का बनता था, जिसका शीर्ष पतला तथा सँकरा होता था। आधुनिक गॉल्फ डंडे में इस्पात का दंड होता है तथा उसका शीर्ष सघन और छोटा होता है, ताकि जिस बिंदु से गेंद पर वार किया जाता है वहीं सारा भार केंद्रित हो जाय। गॉल्फ के डंडे में लकड़ी के शीर्ष भी होते हैं। काष्ठशीर्ष के लिये तेंदु (Persimmon) उत्तम है और लौहशीर्ष के लिये क्रोमियम पट्टित कुट्टित इस्पात (*chromium plated forged steel*)। ऐल्यूमीनियम, पीतल, इस्पात, प्लास्टिक तथा काठ के छोटे डंडे (पटर्स, putters) के लिये संतोषजनक सिद्ध हुए हैं।

पहले गॉल्फ के डंडे हाथ के बने होते थे, किंतु जब गॉल्फ बहुत जनप्रिय हो गया तब यह संभव नहीं था कि गॉल्फ के इतने डंडे हाथ से बन पाते। गॉल्फ के डंडे बनाने के बड़े बड़े कारखाने स्थापित हुए। सन् १६२० के लगभग गॉल्फ के डंडों की समकक्ष श्रेणियाँ (matched sets) बनीं। एक श्रेणी के सभी डंडे लंबाई, भार तथा दंडदुर्नम्यता में वर्गीकृत होते हैं। फलत: उन्हें चलाने पर 'अनुभूति' (feel) एक सी होती है। खिलाड़ी एक श्रेणी (सेट) के चाहे जिस डंडे से सुविधापूर्वक खेल सकता है।

प्रत्येक अच्छे खिलाड़ी के अपने सेट में ३-४ लकड़ी के डंडे तथा ६-१० लोहे के डंडे होते हैं। सभी डंडे लंबाई, लचीलेपन, भार, शीर्ष के आकार तथा उस कोण, जिसपर दंड (shaft) का अंत तथा शीर्ष (head) आरंभ होता है, तथा ऊर्ध्वाधर के डंडे के फलक के कोण की दृष्टि से भिन्न होते हैं। खिलाड़ी को उसकी शक्ति तथा दोलवैशिष्ट्य (swing characteristics) के अनुरूप भार, लंबाई तथा अन्य गुणों से युक्त गॉल्फ डंडा मिले इसके लिये खिलाड़ी को मापित (measured) होना चाहिए। अत: गॉल्फ का डंडा खरीदते समय गॉल्फ के अनुभवी तथा व्यावसायिक खिलाड़ियों का परामर्श लेना आवश्यक है।

गेंद—सन् १८४८ के पूर्व चमड़े की गेंदों से, जिनमें चिड़ियों के पंख ठूँस ठूँसकर भरे होते थे, गॉल्फ खेला जाता था। ये चर्मकंदुक महँगे, पिटने पर विकृत और गीले हो जाने पर व्यर्थ हो जाते थे। सन् १८४८ में गट्टी (Guttie) बनी। गट्टी गटापार्चा की गेंद होती थी। इन गेंदों में खराबी यह थी कि नई गेंद मारने पर पचक जाती और बल खाने लगती थी तथा वार की दिशा में आगे नहीं जाती थी। किंतु शीघ्र ही देखा गया कि क्षतविक्षत पुरानी गट्टी पिटने पर वार की दिशा में सीधे जाती है। अत: खेलने के पूर्व नई गट्टी को पीट पीटकर उसमें खरोंच, गड्ढे आदि बनाए जाने लगे। इसके बाद ऐसे साँचे बने जिसकी सहायता से गेंद पर खरोंचें बना ली जाती थीं। गट्टी गेंद सस्ती, पिटने पर विकृत न होनेवाली तथा पानी से अप्रभावित थी। इसका एकमात्र दोष यह था कि इसके चूर चूर हो जाने का भय रहता था। किंतु इन चूरों को एकत्रित कर, पिघलाकर पुन: गट्टी बनाई जा सकती थी। अत: यह दोष विशेष महत्वपूर्ण नहीं समझा गया।

सन् १८६६ में रबर के आंतरकवाली (rubber cored) गेंद का आविष्कार हुआ। इसने शीघ्र ही गट्टी को प्रतिस्थापित कर दिया।

पकड़ (Grip)—गॉल्फ खेलते समय डंडों को पकड़ने के कई ढंग हैं। उन सभी ढंगों से खेल ठीक से खेला जा सकता है, किंतु गॉल्फ खिलाड़ी 'अतिछादी पकड़' (Overlapping Grip) सबसे अधिक पसंद करते हैं। इस पकड़ में दोनों हाथ एक दूसरे से सटे होते हैं जिसमें उनकी शक्ति तथा नियंत्रण समरस हो। प्रारंभ में यह पकड़ अटपटी लगती है, किंतु अभ्यास हो जाने पर स्वाभाविक लगने लगती है। इसी प्रकार अंतर्ग्रथित पकड़ भी गॉल्फ खिलाड़ियों में प्रिय है। अतिछादी पकड़ से यह थोड़ी भिन्न है। इसमें दाएँ हाथ की कनिष्ठिका बाएँ हाथ की तर्जनी पर चढ़ती नहीं, वरन् बाएँ हाथ की तर्जनी तथा मध्यमा के बीच बैठ जाती है।

गॉल्फ के नियम—गॉल्फ की सरलता देखकर यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि चूँकि गेंद को पीटकर टी से कप में ले जाने में गॉल्फ की सार्थकता है, अत: इसमें नियम के बंधन कम होंगे। किंतु तथ्य यह है कि खेल के बीच गेंद इतनी उलझनों में पड़ सकती है कि टी और कप के बीच एक हजार एक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। परिस्थितियों में मार्ग ढूँढ़ने के लिये बहुत से नियमों की आवश्यकता है। किंतु गॉल्फ के प्रारं-

भिक खिलाडी को सभी नियमो की जानकारी आवश्यक नही। केवल मोटे नियम जान लेने चाहिए।

गॉल्फ प्रतियोगिता के दो प्रकार है मैच तथा स्ट्रोक। स्ट्रोक प्रतियोगिता का दूसरा नाम मेडल (Medal) खेल हे। मैच तथा स्ट्रोक खेलो के नियमो मे अतर है।

गॉल्फ का आधारभूत पहला नियम यह है कि गेद को टी पर रखकर मारो, फिर उसे तव तक हाथ से या शरीर के किसी अन्य अग से मत छुओ जब तक वह छेद मे न चला जाय। कुछ परिस्थितिया मे खिलाडी विना दड (penalty) के गेंद उठा सकता है और कभी कभी दडित होकर उठा सकता है, किंतु साधारणतया वह गेंद डडे से ही छू सकता है।

गॉल्फ का दूसरा आधारभूत नियम यह है कि जो खिलाडी छेद से सबसे दूर हो वही खेल प्रारभ करे। इसे 'समान' कहते हे। 'टीइग' भूमि (Teeing Ground) पर 'समान' उसे मिलता है जो उसके पहलेवाले छेद को जीत लेता है। पहली 'टीइग भूमि पर टॉस द्वारा समान का निर्णय होता है।

हर टीइग भूमि पर दो टी-चिह्न (Tee markers) एक दूसरे से कुछ गज के अतर पर खडे रहते है। इनके बीच मे या इनके पीछे दो डडे से कम दूरी पर गेद को टी किया जाता हे।

इच्छापूर्वक किया गया प्रत्येक वार गिना जाता है, भले ही वह गेंद के ऊपर से निकल जाय और गेद टस से मस न हो। प्रारभ मे यदि टी पर से गेंद हवा लगकर गिर जाय तो उसे हाथ से उठाकर टी पर रखकर फिर मारा जा सकता है।

खिलाडी को यह अधिकार नही हे कि वह मैदान की किसी चीज को दबाए या हटाए, या उबड खाबड स्थान को पीटकर ठीक करे, भले ही वह खिलाडी के मार्ग मे बाधक हो। मैदान के किसी भी झाड आदि को झुकाने, हिलाने या तोडने का भी अधिकार उसे नही है। हाँ, वार करते समय या पैंतरा बदलते समय स्वत कोई हेर फेर हो जाय तो वह क्षम्य है। खिलाडी को पेड, भाडी तथा अन्य अचल प्राकृतिक बाधाओ के बीच खेलना पडता है। खिलाडी को अधिकार है कि वह मैदान मे पडे कंकड, कागज, सूखे पत्ते, टहनी तथा अन्य मनुष्यकृत बाधाओ को दूर करे। उसके मार्ग मे जलनिकास नाली पड जाय तो वह गेंद को उठाकर नाली के दूसरी तरफ तथा छिद्र के दूसरी तरफ फेक सकता ह। लेकिन जब गेद 'आपद्ग्रस्त हो (in hazard), जैसे खाडी के किनारे या बालुकाजाल मे हो, तब गेंद का स्पर्श वर्जित है। आपद्ग्रस्त गेद को मारने के कुछ नियम हैं। अधोमुखी दोलन (downward swing) के पूर्व खिलाडी वनस्पति के अतिरिक्त किसी चीज को छू नही सकता। किसी स्थान को पीट पाटकर समतल नही कर सकता। आपद्ग्रस्त गेंद जिस स्थिति मे हो उसी मे उसे मारने का नियम है। गेंद यदि चल रही है और वह जलमग्न नहीं है तो उसे मारना वर्जित है।

खिलाडी की गेंद का विरोधी की गेंद से लड जाना दडनीय नही है। मैच खेल मे यदि गेद खिलाडी, उसके नौकर या डडे को लग जाती है तो वह छिद्र खो बैठता है।

मैच खेल मे गेंद यदि विरोधी को या उसके नौकर को या विरोधी के गॉल्फ के डडे को छू ले तो विरोधी छिद्र खो बैठता है। गेंद का किसी गतिशील पिड मे घुस जाना दडनीय नही है। पडी हुई गेंद को यदि खेल मे गैरशामिल व्यक्ति ठोकर मार दे तो खिलाडी दडित नही होते।

विरोधी की गेंद भूल से मार देने पर खिलाडी छिद्र खो बैठता है, बशर्ते विरोधी भी भ्रम से उसकी गेंद को मारने न लग जाय। यदि खिलाडी खेल मे गैरशामिल व्यक्ति की गेंद को भ्रम से मारने लग जाय और तुरत अपना भ्रम समझकर विरोधी को बता न दे तो वह छिद्र हार जाता ह।

यदि गेंद मैदान से बाहर जाकर गायब हो जाती है, या पिटकर खेलने लायक नही रह जाती, तो नई गेंद ली जाती है और खिलाडी के नाम एक वार (stroke) दड के रूप मे जोडा जाता है। गेंद खेलने लायक है या नही इसका निर्णय खिलाडी स्वय करता है।

ग्रीन्स के नियम—यदि सूखे पत्ते वगैरह हटाते समय गेंद छ इच से अधिक सरक जाय तो खिलाडी के नाम एक वार दड के रूप मे जोडा जाता है।

पट्टरेखा (Line of putt) का स्पर्श वर्जित है। केवल मारने के पहले गेंद के ठीक सामनेवाला स्थान स्पर्श किया जा सकता है। नौकर या सहयोगी पट्ट की दिशा निर्देशित कर सकते है, किंतु जमीन छूकर या जमीन पर कोई चिह्न बनाकर नही।

मैच खेल मे जब पट्टरेखा विरोधी की गेद से अडी हुई हो तब खिलाडी को चाहिए कि वह विरोधी की गेंद को बचाता हुआ खेले। यदि विरोधी की गेद छह इच या इससे कम दूरी पर है तभी वह उसे हटा सकता है। स्ट्रोक मैच मे पास की गेद उठाकर अलग रखी जा सकती है, भले ही वह पट्टरेखा पर न हो।

जिस गेंद को खेलने का क्रम नही आया ह, उसे भूल से मारने पर उसे तुरत यथास्थान रख देना चाहिए। यह दडनीय नहीं है।

मैच खेल मे विरोधी द्वारा खिलाडी की गेंद का मारा जाना दडनीय नही है परतु स्ट्रोक मे यह दडनीय है।

मैच में यदि गेंद छिद्र मे पडे हुए ध्वजदड के सहारे रुक जाय तो खिलाडी ध्वजदड हटाकर गेद को छिद्र मे डाल सकता है। स्ट्रोक मे भी यही नियम है, यदि वार २० गज से अधिक दूरी से हुआ हो। कम होने पर दड होता ह।

गार्शिया, इनिग्वेज कैलिक्स्टो (१८३६–१८६६ ई०) क्यूबा का सैनिक, वकील और क्रातिकारी, जो क्यूबा की स्वतत्रता के लिये तीस वर्ष तक सघर्ष करता रहा। उसका जन्म सेंटियागो प्रदेश के होलग्वीन नामक स्थान मे हुआ था। कुछ काल तक वकालत करने के बाद १८६८ ई० मे वह क्यूबा विद्रोह का नेता बन बैठा जो दसवर्षीय युद्ध के नाम से प्रख्यात है। वह गिरफ्तार कर स्पेन ले जाया गया।

१८६५ मे जब क्यूबा ने अतिम वार विद्रोह किया, गार्शिया स्पेन से भाग निकला और क्यूबा पहुँचा तथा क्यूबा सेना का अध्यक्ष बना। जब क्यूबा और स्पेन के बीच युद्ध ठना तब अमरीका ने क्यूबा का साथ देने का निश्चय किया। किंतु इसके लिये गार्शिया से सपर्क आवश्यक था। उस समय वह क्यूबा के जगलो मे था। उसका किसी को पता न था। उस समय रोवाँ नामक व्यक्ति जान जोखिम मे डालकर उसके पास गया था। (प० ला० गु०)

गाल्हूपिगेन नार्वे के योतूनहेमेन (Jotunheimen) प्रदेश मे स्थित पर्वतीय शिखर (स्थिति ६१° ४५' उ० अ० तथा ८°४०' पू० दे०)। यह नार्वे की सर्वोच्च चोटी ह। यदि इसपर जमी हुई बर्फ भी सम्मिलित कर ली जाय तो इसकी ऊँचाई ८,१४० फुट हो जाती है, इसकी वास्तविक ऊँचाई ८,०६७ फुट है। (अ० न० मे०)

गास्पेल द्र० "सुसमाचार"।

गिआना दक्षिणी अमरीका के उत्तरी उपकूल पर स्थित प्रदेश (स्थिति १° से ८°४०' उ० अ० तथा ५६° से ६१°३०' प० दे०)। इसके उ० प० मे वेनेजुएला, पश्चिम मे ब्राजील, पूर्व मे सुरिनाम और उ० पू० मे अटलांटिक महासागर है। देश का निम्न उपकूलीय भाग १६ से ४८ कि०मी० की चौडाई मे समुद्रतट के सहारे फैला हुआ है जो दलदली और वनाच्छादित है। कहीं कहीं यह भाग समुद्रतल से भी नीचा है। सागरतट से दूरी बढने के साथ साथ धरातलीय ऊँचाई भी बढती जाती है और वनो की सघनता क्रमश घटती जाती है। उपकूलीय भाग की मिट्टी कृषिकार्य के लिये पर्याप्त अनुकूल है। मध्यवर्ती भाग मे ऊँची ऊँची पहाडियाँ हैं जो पश्चिम मे पाकाराइमा पर्वत मे विलीन हो जाती है। इन उच्च पहाड़ियो का कुछ भाग क्रिस्टेलाइन चट्टानो द्वारा निर्मित है और पठारी भाग क्षैतिज सस्तर तलवाली बालुकाश्मो पर आधारित है जिसमे

गिद्ध (देखिए पृ० ४११)

जेबरा की मृत देह को गिद्ध खा रहे हैं। (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)

गिलहरी (देखिए पृष्ठ ४१७)

गिलहरी का बच्चा
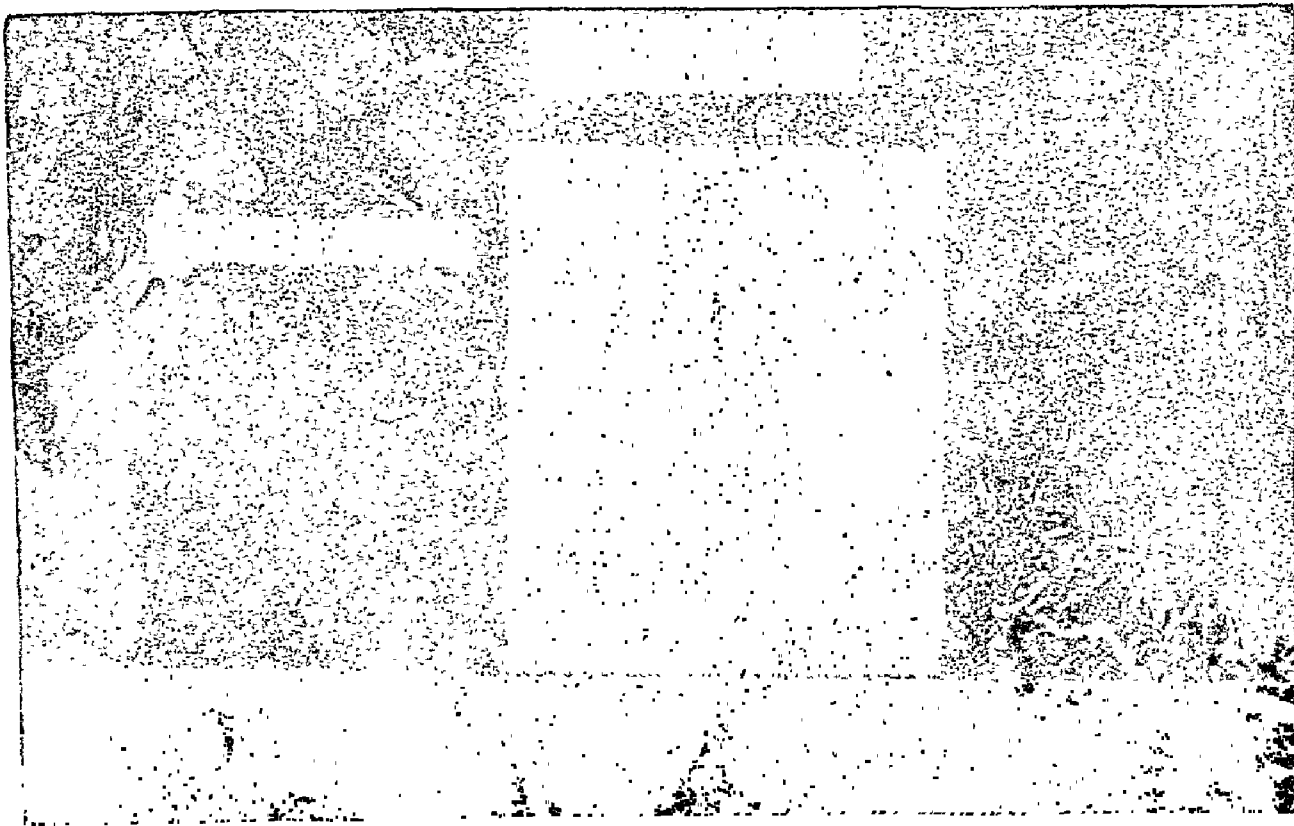
चिपमंक नामक गिलहरी।
कृंतक की यह जाति अमरीका में पाई जाती है।
(अमेरिकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)

अनेक स्थलों पर बड़े बड़े जलप्रपात पाए जाते हैं। बालू पत्थरों तथा निर्मित पठार की ऊँचाई १,२०० मीटर से २,४०० मीटर तक है जिसमें अधिकतम ऊँचाई रोराइमा पर्वत की है। नदियों के मार्ग उच्चस्थ जलप्रपातों से घिरे हुए हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण इसेक्विबे, देमेरारा और बर्बिस हैं। नदियों में केवल थोड़ी दूर तक नौका परिवहन संभव है। मध्यवर्ती क्षेत्रों में प्रवेश करने के लिये नदियाँ ही एकमात्र साधन है जिससे बहुत सा क्षेत्र आज भी अज्ञात पड़ा हुआ है। इस देश का कुल क्षेत्रफल २,३२,६४८ वर्ग किलोमीटर है।

यह भूमध्यरेखीय जलवायु के अंतर्गत पड़ता है। यहाँ का औसत वार्षिक तापमान २७° सेंटीग्रेड और वर्षा १७५ से ३२५ सें० मी० तक होती है। देश का अधिकांश भाग घने सदाबहार वनों से आवृत है। वनों में कठोर इमारती लकड़ी के वृक्ष अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। दलदल और आर्द्र सवाना के वन तटीय भाग में ही सीमित हैं। पठारी भाग में शुष्क सवाना प्रदेश की वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। आवागमन के साधनों के अभाव में केवल तटीय वनों का प्रयोग हो पा रहा है।

गिआना में कृषि कार्य उपकूलीय भाग में सीमित है। गन्ना यहाँ की मुख्य फसल है जो संपूर्ण निर्यात की मात्रा का ४० प्रतिशत है। राज्य द्वारा सिंचाई और जलप्रवाह के लिये ८,००० कि०मी० लंबी नहर का निर्माण कराया गया है। खेती योग्य भूमि का अधिकांश भाग वर्ष के ६ मास तक जल में डूबा रहता है और आगे बोई जानेवाली फसल के लिये उपजाऊ मिट्टी उपलब्ध हो जाती है। चावल यहाँ की द्वितीय मुख्य फसल है जिसका संचालन और कृषि कार्य बहुधा पूर्वी भारतीयों द्वारा किया जाता है। यहाँ से पर्याप्त मात्रा में चावल ट्रिनिडाड और जमैका को निर्यात होता है। पिछले कुछ वर्षों से यहाँ केला की खेती प्रारंभ हुई है और उसका निर्यात व्यापार भी होने लगा है। तिलहन और नारियल की खेती भी लोगों ने प्रारंभ की है। यद्यपि इस देश के पास मध्यवर्ती भाग में पर्याप्त चरागाह हैं लेकिन यातायात के साधनों के अभाव में पशुपालन कार्य में प्रगति नहीं हो सकी है। यहाँ के पक्षियों और तितलियों के रंग में असाधारण चमक होती है।

गिआना मैंगनीज, बाक्साइट में काफी धनी है और यहाँ से हीरा भी निकाला जाता है। बाक्साइट देमेरारा और बर्बिस नदियों के बीच के क्षेत्र से निकाला जाता है और मैकेंजी नगर में इसका उद्योग केंद्रित है। वेनेजुएला की सीमा के पास मैंगनीज निकाला जाता है और हीरे की खानें पाकाराइमा पर्वत के क्षेत्र में सीमित हैं।

यहाँ के मूलनिवासी इस क्षेत्र के भीतरी भाग में पाए जाते हैं। अन्य भागों के निवासी कई जातियों के मिश्रण हैं। उपकूलीय क्षेत्र में अफ्रीकी गुलामों के वंशज निग्रो, विदेशी मजदूर, चीनी और अनेक प्रकार के वर्णसंकर पाए जाते हैं।

गिआना में १४४ कि०मी० रेलमार्ग, ६० कि० मी० नहरें तथा १,३६० कि०मी० पक्की सड़कें हैं। यहाँ का कैतर जलप्रपात नियाग्रा से ५ गुना ऊँचा (६८ मीटर) है और विश्व का सुंदरतम जलप्रपात माना जाता है। देमेरारा नदी के मुहाने पर वनाच्छादित मैदान में स्थित जार्जटाउन नगर उस देश की राजधानी है। यहाँ की जनसंख्या १,६५,२५० (१९७०) है। इस नगर में मकान लकड़ी के बने हुए और चमकीले रंगों से रंजित हैं। यह देश का मुख्य बंदरगाह है और यहाँ पर जलयान निर्माण उद्योग का विकास हुआ है। बर्बिस नदी के मुहाने पर न्यू एम्स्टर्डम नगर बसा हुआ है जिसकी जनसंख्या १९६६ में १५,००० थी। मैकेंजी नगर (जनसंख्या २०,०००) बाक्साइट उद्योग का केंद्र है। गिआना के मुख्य निर्यात किए जाने वाले पदार्थ चीनी, रम, चोटा, बाक्साइट, एल्यूमिना, चावल, हीरा और लकड़ियाँ हैं तथा मशीनों, वस्त्र, पेट्रोल इत्यादि का आयात किया जाता है।

१६२० ई० में डच ईस्ट इंडिया कंपनी ने यहाँ उपनिवेशन किया और यह प्रदेश १७९६ ई० तक उसके अधिकार में रहा। उसके बाद कुछ ही भाग डच लोगों के हाथ में रह गया जो डच गिआना कहा जाता रहा। और अब यह डच शासन के अंतर्गत सुरिनाम से पृथक् एक स्वतंत्र राज्य है। यह १,४०,१८० वर्ग कि०मी० क्षेत्र में फैला हुआ है। यहाँ की संपूर्ण जनसंख्या ४ लाख है जिसमें नीग्रो, पूर्व भारतीय और जावा निवासी सम्मिलित हैं। इस भूभाग की कृषि तटीय भाग में ही सीमित है। चावल यहाँ की मुख्य फसल है और कहवा का भी उत्पादन होता है। बाक्साइट सुरिनाम का मुख्य खनिज है और पर्याप्त मात्रा में निर्यात किया जाता है। तट से ६६ कि०मी० दूर अोकोपोंडो नामक स्थान पर तीव्र प्रवाहिनी सुरिनाम नदी से जलविद्युत् उत्पन्न कर एल्यूमीनियम गलाने की भट्ठी में इसका उपयोग किया जाता है। परामरिबो इस देश की राजधानी और मुख्य बंदरगाह है। यह एक सुनियोजित नगर है जिसमें सड़कें काफी चौड़ी हैं। इस नगर की जनसंख्या १,५०,००० (१९६६) है।

गिआना का शेष भाग अँगरेजों और फ्रांसीसियों के बीच बँट गया। और वे क्रमशः ब्रिटिश गिआना और फ्रेंच गिआना कहे जाते रहे। फ्रेंच गिआना का उपकूलीय भाग को छोड़कर शेष क्षेत्र महत्वहीन है। इसका संपूर्ण क्षेत्रफल ९१,३५० वर्ग किलोमीटर है। इसका उपयोग फ्रेंच लोगों ने दंडभोगियों को बसाने (पेनल सेटलमेंट) के लिये किया था। समुद्र तट से कुछ ही दूर पर कुख्यात सतुल द्वीप (डेविल्स आइलैंड) स्थित है जिसके प्रायः सभी निवासी दंडभोगी हैं। यह प्रदेश जंगलों से आच्छादित है लेकिन उनका समुचित उपयोग नहीं हो पा रहा है। स्थानीय प्रयोग के लिये यहाँ चावल, गन्ना, मक्का, केला इत्यादि का उत्पादन भी होता है। यहाँ से निर्यात किए जानेवाले मुख्य पदार्थ लकड़ी, रम और सोना हैं। यहाँ की राजधानी कायेन [जनसंख्या १४,००० (१९६६)] अपने ही नाम की नदी के मुहाने पर स्थित है।

ब्रिटिश गिआना पर अँगरेज प्रारंभ में नीग्रो दासों की सहायता से उत्पादन करते रहे। जब १८३८ ई० में दास प्रथा समाप्त हो गई और नीग्रो श्रमिकों ने अँगरेजों के लिये काम करने के प्रति अनिच्छा प्रकट की तब भारत से श्रमिकों का आयात किया जाने लगा और यह क्रम १९१७ तक चलता रहा। अब १९६६ में इसने स्वतंत्र राष्ट्र का रूप धारण किया है और अब केवल इसे ही गिआना (Guyana) कहते हैं। इसकी जनसंख्या लगभग ७ लाख है जिसमें आधे से अधिक भारतीय, एक तिहाई नीग्रो, शेष चीनी, यूरोप निवासी आदि हैं। यहाँ के मूल निवासी अमेर इंडियन अब भी मध्यवर्ती भाग में आदिमकालीन जीवन व्यतीत करते हैं।

(शी० प्र० सिं०)

गिटार एक यूरोपीय वाद्य। मूलतः यह प्राच्य वाद्य सितार से विकसित हुआ है। यह हलकी लकड़ी का बना हुआ होता है जिसका निचला और ऊपर का हिस्सा सपाट होता है। इसमें छह तार होते हैं। यह उँगली से तारों को छेड़कर बजाया जाता है। इसका प्रयोग मुख्यतः अकेले गायन के लिये होता रहा है पर अब यह वृंदवादन में भी प्रयोग किया जाने लगा है। इसका सबसे प्राचीन रूप स्पेनी है। इसमें पहले छह जोड़े ताँत के तारों के होते थे किंतु अब केवल छह तार ही होते हैं। स्पेन से सत्रहवीं सदी में यह सारे यूरोप में फैला और लोकगीतों के साथ इसका प्रयोग किया जाने लगा। अठारहवीं शती में अँगरेजी गिटार प्रादुर्भूत हुआ। इसका पेंदा नाशपाती के आकार का होता है और उसमें छह से लेकर चौदह तक तार होते हैं जो सिटर्न कहलाते हैं। इसका एक तीसरा रूप हवाइयन गिटार है जो आज अमरीकी लोकप्रिय गीतों के साथ प्रयोग होता है। १९३६ के आसपास से लोकगीतों के साथ विद्युत् गिटार का प्रयोग होने लगा है। इसमें स्वर को विद्युत् विस्तारक के माध्यम से चाहे जितना भी ऊँचा खींचा जा सकता है।

(प० ला० गु०)

गिद्ध शिकारी पक्षियों के अंतर्गत आनेवाले मुर्दाखोर पक्षी हैं, जिन्हें गृद्ध कुल (Family Vulturidae) में एकत्र किया गया है। ये सब पक्षी दो भागों में बाँटे जा सकते हैं। पहले भाग में अमरीका के काॅण्डर (Condor), किंग वल्चर (King Vulture), कैलिफोर्नियन वल्चर (Californian Vulture), टर्की बज़र्ड (Turkey Buzzard) और अमरीकी ब्लैक वल्चर (American Black Vulture) होते हैं और दूसरे भाग में अफ्रिका और एशिया के राजगृद्ध (King Vulture), काला गिद्ध (Black Vulture), चमर गिद्ध (White bac'

Vulture), बड़ा गिद्ध (Griffon Vulture) और गोबर गिद्ध (Scavenger Vulture) मुख्य हैं।

ये कत्थई और काले रंग के भारी कद के पक्षी हैं, जिनकी दृष्टि बहुत तेज होती है। शिकारी पक्षियों की तरह इनकी चोंच भी टेढ़ी और मजबूत होती है, लेकिन इनके पंजे और नाखून उनके जैसे तेज और मजबूत नहीं होते। ये झुंडों में रहनेवाले मुर्दाखोर पक्षी हैं जिनसे कोई भी गंदी और घिनौनी चीज खाने से नहीं बचती। ये पक्षियों के मेहतर हैं जो सफाई जैसा आवश्यक काम करके बीमारी नहीं फैलने देते।

ये किसी ऊँचे पेड़ पर अपना भद्दा सा घोसला बनाते हैं, जिसमें मादा एक या दो सफेद अंडे देती है। (सु० सि०)

गिनी अफ्रीका के पश्चिमी भाग में इसी नाम की खाड़ी पर स्थित प्रदेश जो पालमास अंतरीप से गाबुन एस्चुअरी (Gabun Estuary) तक फैला प्रदेश (स्थिति १०°२० उ० अ०, १२° पू० दे०)। गोम्स अज़ुरारा (Gomes Azurara) नामक पुर्तगाली इतिहासकार के अनुसार इसका फैलाव नन अंतरीप से लेकर सेनेगल तक १३° उ० अ० से १६° द० अ० तक था। प्रदेश नाइजर की घाटी के एक प्राचीन प्रसिद्ध नगर जेने (Djenne) से संबंधित प्रतीत होता है। इस प्रदेश के अन्वेषण के विषय में भिन्न तिथियाँ तथा मत प्रचलित हैं। १२७० ई० में लैन्सलाट मैलोसेलो (Lancelot Malocello) नामक जिनोआ वासी के कनारी द्वीप तक पहुँचने का अनुमान है। १०४६ ई० में कैटालन अभियान (Catalan expedition) सुवर्ण नदी की खोज में हुआ पर उसका कुछ पता न चला। १५वीं शताब्दी तक संपूर्ण गिनीतट यूरोपवासियों को ज्ञात हो चुका था।

इस प्रदेश की धरातलीय बनावट तट पर मैदानी तथा अंतर्वर्ती भाग में पर्वतीय है। प्रमुख नदी नाइजर ही है। उष्ण कटिबंध में होने के कारण जलवायु प्रायः गर्म और तर है, ताप ३८° सें० तक पहुँच जाता है जो तट पर ३२° सें० तक ही सीमित रहता है। वर्षा की मात्रा भिन्न भिन्न भागों में भिन्न है। साधारणतया २०" से १५०" के बीच वर्षा होती है। कैमरून की पर्वतीय तलहटियों में ३५०" तक वर्षा होती है। वर्षाकाल उत्तरी भाग में अप्रैल से सितंबर तक तथा दक्षिणी भाग में मार्च से नवंबर तक है।

प्राचीन काल में प्रमुख उत्पादन की दृष्टि से तटीय भाग कई उपविभागों में विभक्त था जो अब भी अपना तटीय नाम रखते हैं। ग्रीन कोस्ट ४०० मील लंबा तट का सियरा लियोन से पालमास अंतरीप तक, जो पीपर और मिर्च के व्यापार के लिये प्रसिद्ध था, आइवरी तट (Ivory Coast) जो हाथीदाँत के लिये प्रसिद्ध था, पालमास अंतरीप से ३° प० दे० तक फैला है। इसके पूर्व गाबुन एस्चुअरी तक का तट क्रमशः गोल्ड कोस्ट और स्लेव कोस्ट कहा जाता है। गिनी प्रदेश की प्रमुख पैदावार धान, मक्का, कसावा, केला, नारियल, मूँगफली, ज्वार, बाजरा आदि हैं और खनिज पदार्थों में सोना, घाना और इचारी तट पर कोयला और टिन नाइजीरिया में पाए जाते हैं। प्रशासकीय दृष्टि से यह पुर्तगाल के अधीन है। घाना, सियरा लियोन, लाइबेरिया, आइवरी कोस्ट, टोगोलैंड, नाइजीरिया और कैमरून के राज्यों के भाग सम्मिलित हैं। प्रमुख नगर घाना (१,३५,९२६), इबादान (५,००,०००), लागोस (३,५०,०००), फ्रीटाउन (१,००,०००) अबीदजान (१,२०,०००) हैं। (कै० ना० सिं०)

गिबन छोटा, लंबी बाहोंवाला पेड़ों पर दौड़नेवाला बंदर जाति का पशु जो दक्षिण पूर्वी एशिया और मलय के कतिपय द्वीपों में पाया जाता है। इसके पूँछ नहीं है। आदि जीवों में यह सर्वाधिक कुशल कलाबाज होते हैं। एक डाल से दूसरी डाल पर अपने लंबे हाथों एवं लंबी छलाँगों द्वारा जाया आया करते हैं। ये पृथ्वी पर खड़े होकर तो चल सकते ही हैं, पेड़ों पर भी हाथ के सहारे से खड़े होकर चलते हैं। गिबन की सात किस्में पाई जाती हैं और सभी काले रंग की होती हैं पर कभी कदाच वर्मा और उसके आसपास भूरे रंग के भी गिबन देखे जाते हैं। (प० ला० गु०)

गिबन, एडवर्ड (१७३७-१७९४) इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध इतिहासकार तथा साहित्यकार। जन्म पुटने नगर के एक पुराने शिक्षित घराने में हुआ। पिता पार्लमेंट के मेंबर थे। पितामह के समृद्ध पुस्तकालय का गिबन ने सदुपयोग किया। उच्च शिक्षा के अर्थ आक्सफर्ड युनिवर्सिटी के मग्डालेन कालिज में यह भर्ती किए गए, किंतु वहाँ से इनको चौदह महीने बाद ही हटा लेना पड़ा। गिबन ने अपनी जीवनी में लिखा है, 'ये चौदह मास मेरे जीवन का सबसे अनुपयोगी काल सिद्ध हुआ।' युनिवर्सिटी का स्वच्छंद जीवन किशोर गिबन के लिये अहितकर हुआ। अपने पैतृक धर्म प्रोटेस्टेंट धर्म से इनका मन विचलित हो गया। कुछ दिन तो यह इस दुविधा में पड़े रहे कि 'मुहम्मद' के अनुयायी बनें अथवा 'पोप' के। किंतु अंत में उन्होंने काल्विनी पादरी के प्रभाव से प्रोटेस्टेंट धर्म ग्रहण कर लिया। इन्हीं पादरी महोदय के संरक्षण में गिबन ने फ्रांसीसी, ग्रीक और रोमन, साहित्य, दर्शन, न्याय, गणित आदि का अत्यंत साधना के साथ अध्ययन और अनुशीलन किया। फ्रांस के सुप्रसिद्ध साहित्यकार वोल्तेयर से गिबन का इसी काल में परिचय हुआ, जिससे उन्हें विचारविन्यास में बड़ी प्रेरणा मिली। इसी बीच एक फ्रांसीसी कुलीन कन्या के प्रति आकर्षित होकर गिबन ने उससे विवाह करना चाहा, किंतु अपने पिता के विरोध के कारण उन्होंने अपना संकल्प त्याग दिया। इस घटना के संबंध में गिबन ने अपनी आत्मकथा में ये मार्मिक शब्द प्रयुक्त किए हैं कि उसने 'पुत्र की तरह पिता की आज्ञा का पालन किया और प्रेमी की तरह वियोग की आह भरी।', निदान, शिक्षा समाप्त करके १७५८ में गिबन इंग्लैंड लौट आए।

१७६१ में गिबन ने अपनी पहली रचना 'ऐसे आन द स्टडी ऑव लिटरेचर' फ्रेंच में प्रकाशित की जिससे विद्वत्समाज में उनका मान होने लगा। तदनंतर गिबन ने यूरोप की यात्रा की। इसी यात्रा के दौर में रोम के भग्नावशेषों को देखकर गिबन को अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'डिक्लाइन ऐंड फाल ऑव द रोमन एंपायर' लिखने की प्रेरणा हुई। इस ग्रंथ के पूरा करने में गिबन को १५ (१७७२-१७८७) साल लगे। इस बृहद्ग्रंथ में यूरोप और उसके समीपवर्ती प्रदेशों और जातियों की चौदह शताब्दियों के इतिहास का, जिसमें विश्वइतिहास के कई अत्यंत मार्के के युग भी शामिल हैं, ललित और सुव्यवस्थित वर्णन तथा विवेचन है। रोम की राज्यव्यवस्था, ईसाइयत का प्रादुर्भाव, प्रसार और विजय, बिजांतीनी साम्राज्य की स्थापना, इस्लामियत की विजय, माध्यमिक युग के धार्मिक और राजनीतिक वितंडावाद, पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रीय राज्यों का उदय, तथा ईसाई महाराष्ट्र और मुहम्मदी तुर्कों का कालक्रमागत द्वंद्वयुद्ध, इत्यादि इतिहास की अनेकानेक सारगर्भित घटनाओं का रोचक भाषा में विशद विवरण और विवेचन उपलब्ध है। गिबन की उदार कल्पना, विशिष्ट बुद्धि, प्रचुर खोज, सतत परिश्रम और मनोहर शब्दविन्यास का इस महती पुस्तक में सर्वत्र परिचय मिलता है। इस ग्रंथ को प्रकाशित हुए दो शताब्दियाँ बीत गईं, इस बीच पुरातत्ववेत्ताओं के अन्वेषणों ने इतिहासशास्त्र को बहुत उन्नत और संपन्न बना दिया, किंतु फिर भी यह अनुपम पुस्तक पुरानी नहीं पड़ी। प्रो० फ्रीमैन का मत है कि इतिहास में चाहे और कुछ पढ़ा जाय या न पढ़ा जाय, 'गिबन' अवश्य पढ़ा जाना चाहिए। इसी प्रकार फ्रेडरिक हैरिसन का मत है कि जैसे अफलातून की अकादमी के द्वार पर यह उल्लेख था कि जिसने रेखागणित को सिद्ध नहीं कर लिया वह यहाँ प्रवेश न करे, उसी प्रकार इतिहास की आदर्श पाठशाला को अपने सिंहद्वार पर यह सूक्ति खुदवा लेनी चाहिए कि 'गिबन' को सिद्ध किए बिना यहाँ प्रवेश वर्जित है। सारांश यह कि गिबन की यह पुस्तक इतिहास के संपूर्ण साहित्य में अद्वितीय नहीं तो चोटी के गिने चुने ग्रंथों में से है।

अंतिम दिनों में गिबन ने अपनी जीवनी की रचना की जो साहित्यिक कला की दृष्टि से उपर्युक्त ऐतिहासिक ग्रंथ से भी अनेक आलोचकों को महत्तर लगती है।

गिबन के ग्रंथों की भाषा बड़ी मँजी हुई है। वाक्य और वाक्यांश लंबे और दीर्घगामी होते हुए भी आदि से अंत तक ऐसे गुँथे हुए और सूत्रबद्ध हैं और उनमें शब्द और स्वर का ऐसा मधुर योग है कि पाठक को वाद्य का स्वाद मिलता है।

गिबन लगभग आठ बरस (१७७४-८२) पार्लमेंट के भी मेंबर रहे थे किंतु उनका कर्तृत्व वहाँ केवल साधारण रहा।

गिवन के जीवन के अंतिम दिन रुग्णावस्था और चिंता में बीते। १७९४ की जनवरी में लंदन में उनका देहांत हो गया।

एडवर्ड गिवन अपने युग के प्रतीक थे। वह सरासर बौद्धिक और विवेकवादी थे। उनका स्वभाव सुशील, शीतल और शांतिप्रिय था। मित्रों के प्रति वड़े सहृदय थे। संगी साथियों से उनका वार्तालाप वड़ा मनोरंजक और ज्ञानवर्धक होता था। किंतु उनके व्यवहार मे अभिमान, शिष्टाचार और भद्रभाव का इतना समावेश था कि उनके साथियों को वह वनावटी प्रतीत होता था। गिवन के विषय में एक परिहास प्रसिद्ध है कि गिवन होते हुए भी वे अपने आपको रोमन साम्राज्य समझने लगे थे।

सं० ग्रं०—डिक्लाइन ऐंड फाल ऑव द रोमन एंपायर; एल० शेफील्ड : आटोवायग्राफी; जे० स्काटर मोरिसनो : लाइफ ऑव गिवन; फ्रेडरिक हेरिसन : द मीनिंग ऑव हिस्ट्री; सम ग्रेट वुक्स ऑव हिस्ट्री; एडवर्ड गिवन ऐंड अदर एट्टींथ सेंचुअरी प्रोज राइटर्स। (वि० च०)

गिरजाघर जिस भवन में ईसाई मिलकर उपासना करते हैं उसे गिरजाघर अथवा चर्च कहते हैं। वह प्रायः आयताकार होता है। लंवाई के एक छोर पर प्रवेशद्वार और दूसरे छोर पर वेदी होती है।

वेदी गिरजाघर का प्रधान अंग है। वह पत्थर की मेज होती है जिसपर ईसाई चढ़ावा चढ़ाया जाता है। वेदी पर वीच मे क्रूसमूर्ति और उसके अगल वगल वत्तीदान रहते हैं। वेदी के मध्य मे प्रायः एक पात्र (टेवर्नेकल) होता है जिसमें प्रसाद रखा रहता है। प्रसाद के आदर मे वेदी के पास अखंड दीप जलता है।

वेदी से कुछ दूरी पर वने एक कठघरे द्वारा गिरजाघर दो भागों में विभक्त होता है। वेदी के आसपास का भाग गर्भगृह (सैंक्चुअरी) कहलाता है। जनसाधारण उपासना के समय कठघरे के पास जाकर प्रसाद ग्रहण करते हैं। गर्भगृह में पुरोहित वर्ग के लिये आसन होते हैं और मंदिर के इस भाग से लगा हुआ एक वस्त्रालय (सैक्रिस्ती) होता है, जिसमें पूजा के कपड़े, पुस्तकें आदि रखी जाती है।

गिरजाघर में अनिवार्य रूप से कठघरे के पास प्रवचन मंच होता है और प्रवेशद्वार के निकट वपतिस्मा कक्ष जिसमें एक कुंड वना होता है। वहाँ वच्चों तथा दीक्षार्थियों को वपतिस्मा (दीक्षास्नान) दिया जाता है। प्रवेशद्वार के ऊपर अथवा पार्श्व भाग में एक छज्जे पर वाद्यराज (आर्गन) रहता है। उपासना के समय गायक मंडली वहाँ एकत्र हो जाती है। गिरजाघर के घंटे एक वुर्ज में लटकाए जाते है।

अधिकांश गिरजाघरों में पार्श्वभागों में कई और वेदियाँ होती हैं। काथलिक गिरजों में मूर्तियाँ तथा पाप स्वीकार करने के लिये पीठिकाएँ (कन्फेशनल्स) भी रखी रहती हैं और प्रवेशद्वार के पास आशिप् का जल रखा जाता है, जिसमें उँगलियाँ डुवोकर भक्तगण अपने ऊपर क्रूस का चिह्न वनाते हैं (द्र० 'क्रूस')। (का० वु०)

गिरनार जूनागढ़ नगर से १० मील पूर्व भारत के गुजरात प्रदेश के काठियावाड़ क्षेत्र में की पवित्र पहाड़ियाँ (स्थिति : २१° २९' उ० अ० तथा ७०° ४२' पू० दे०)। इनकी औसत ऊँचाई ३,५०० फुट है पर चोटियों की संख्या अधिक है। इनमें अंवामाता, गोरखनाथ, औघड़ सीखर, गुरु दत्तात्रेय और कालका प्रमुख हैं। सर्वोच्च चोटी गोरखनाथ ३,६६६, फुट ऊँची है। गिरनार का प्राचीन नाम उज्जयंत अथवा गिरिवर था। ये पहाड़ियाँ ऐतिहासिक मंदिरों, राजाओं के शिलालेखों तथा अभिलेखों (जो अव प्रायः ध्वस्तप्राय स्थिति में हैं) के लिये भी प्रसिद्ध है। पहाड़ी की तलहटी में एक वृहत् चट्टान पर अशोक के मुख्य १४ धर्मलेख उत्कीर्ण हैं। इसी चट्टान पर क्षत्रप रुद्रदामन् का लगभग १२० ई० का प्रसिद्ध संस्कृत अभिलेख है। इसमें सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य तथा परवर्ती राजाओं द्वारा निर्मित तथा जीर्णोद्धारकृत सुदर्शन तड़ाग और विष्णुमंदिर का सुंदर वर्णन है। यह लेख संस्कृत काव्यशैली के विकास के अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण समझा जाता है। इस वृहत् अभिलेख में रुद्रदामन् के नाम और वंश का उल्लेख तथा रुद्रदामन् संवत् ७२ में, भयानक आँधी पानी के कारण प्राचीन सुदर्शन झील के टूट फूट जाने का काव्यमय वर्णन है। विशेषकर सुवर्णसिकता तथा पलाशिनी नदियों के पानी को रोककर वाँध वनाए जाने तथा महावृष्टि एवं तूफान से टूट जाने का वर्णन तो वहुत ही सुंदर है।

इस अभिलेख की चट्टान पर ४५८ ई० का एक अन्य अभिलेख गुप्त-सम्राट् स्कंदगुप्त के समय का भी है जिसमें सुराष्ट्र के तत्कालीन राष्ट्रिक पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित द्वारा सुदर्शन तड़ाग के सेतु या वाँध का पुनः एक वार जीर्णोद्धार किए जाने का उल्लेख है क्योंकि पुराना वाँध, जिसे रुद्रदामन् ने वनवाया था, स्कंदगुप्त के राज्याभिषेक वर्ष में जल के महावेग मे नष्ट भ्रष्ट हो गया था।

अंवामाता का मंदिर अंवामाता चोटी पर स्थित है।

गोमुखी, हनुमानधारा और कमंडल नामक तीन कुंड यहाँ स्थित हैं। प्राचीन काल मे ये पहाड़ियाँ अघोरी संतो की क्रीड़ास्थली रहीं। पालिटाना (Palitana) के वाद यह जैनियों का द्वितीय प्रमुख तीर्थ है। यहाँ के सिंहों की नस्ल भी अधिक विख्यात है जिनकी संख्या धीरे धीरे कम होती जा रही है।

२. (जिला जूनागढ़, काठियावाड़, गुजरात) प्राचीन नाम गिरिनगर। महाभारत मे उल्लिखित रैवतक पर्वत के क्रोड़ में वसा प्राचीन तीर्थ-स्थल। पहाड़ की चोटी पर कई जैनमंदिर है। यहाँ तक पहुँचने का मार्ग वड़ा दुर्गम तथा वीहड़ है। गिरिशिखर तक पहुंचने के लिये ७,००० सीढ़ियाँ हैं। इनमें सर्वप्राचीन मंदिर गुजरात नरेश कुमारपाल के समय का वना हुआ है। दूसरा वस्तुपाल और तजपाल नामक भाइयों ने वनवाया था। इस तीर्थंकर मल्लिनाथ का मंदिर कहते हैं। यह विक्रम संवत् १२८८ (१२३७ ई०) मे वना। तीसरा मंदिर नेमिनाथ का है जो लगभग १२७७ ई० मे तैयार हुआ। यह सवसे अधिक विशाल एवं भव्य है। प्राचीन काल में इन पर्वतो की शोभा अपूर्व थी क्योंकि इनके सभा-मंडप, स्तंभ, शिखर, गर्भगृह आदि स्वच्छ संगमरमर से निर्मित होने के कारण वहुत चमकदार और सुंदर दीखते थे। अव अनेक वार मरम्मत होने से इनका स्वाभाविक सौंदर्य कुछ फीका पड़ गया है। पर्वत पर दत्तात्रेय का मंदिर और गोमुखी गंगा है जो हिंदुओं का तीर्थ है।

(वि० कु० मा०; कै० ना० सि०)

गिरि, दीनदयाल हिंदी कवि (१८०२-१८६५ ई०)। इनका जन्म १८०२ ई० में वाराणसी के गायघाट मुहल्ले में हुआ था। वे दशनामी संन्यासी और कृष्णभक्त थे तथा देहली विनायक पर रहते थे। इनके गुरु का नाम गुशगिर था। स्वयं वे संस्कृत और हिंदी के विद्वान् थे। अनुरागवाग, दृष्टांततरंगिणी, अन्योक्तिमाला, वैराग्यदिनेश और अन्योक्तिकल्पद्रुम इनके पाँच ज्ञात ग्रंथ हैं जिनमें तीन नीति विषयक हैं। इनकी मृत्यु १८६५ ई० में हुई। (प० ला० गु०)

गिरिधर कविराय हिंदी के प्रख्यात कवि। इनके समय और जीवन के संवंध में प्रामाणिक रूप से कुछ भी उपलब्ध नहीं है। अनुमान किया जाता है कि वे अवध के किसी स्थान के निवासी थे और कदाचित् जाति के भाट थे। शिवसिंह सेंगर के मतानुसार इनका जन्म १७१३ ई० में हुआ था। इनके संवंध में एक जनश्रुति प्रख्यात है। कहा जाता है कि किसी कारण एक वढ़ई से इनकी अनवन हो गई। उस वढ़ई ने एक ऐसी चारपाई वनाई जिसके चारों कोनों पर चार पंख लगे हुए थे। जैसे ही कोई उसपर सोता था वे पंखे चलने लगते थे। उसने चारपाई अपने प्रदेश के राजा को भेंट की। राजा वहुत प्रसन्न हुए और उससे वैसे ही कुछ और चारपाइयाँ वनाने को कहा। वढ़ई को गिरिधर कविराय से वदला लेने का यह अच्छा अवसर जान पड़ा। उसने कहा कि खाटों को वनाने के लिये वेर की लकड़ी चाहिए। गिरिधर के आँगन में वेर का एक अच्छा पेड़ है उसे दिला दीजिए। राजा ने उनसे वह पेड़ माँगा। जव उन्होंने नहीं दिया तो वह जवर्दस्ती काट लिया गया। इस कृत्य से वे वहुत क्षुब्ध हुए और सपत्नीक उस राज से निकलकर चले गए। आजीवन अपनी कुंडलियाँ सुनाकर माँगते खाते रहे।

इनकी कुंडलियाँ दैनिक जीवन की वातों से संवद्ध हैं और सीधी सरल भाषा में कही गई हैं। वे प्रायः नीतिपरक हैं जिनमें परंपरा के अतिरिक्त

Vulture), बड़ा गिद्ध (Griffon Vulture) और गोबर गिद्ध (Scavenger Vulture) मुख्य हैं।

ये कत्थई और काले रंग के भारी कद के पक्षी हैं, जिनकी दृष्टि बहुत तेज होती है। शिकारी पक्षियों की तरह इनकी चोंच भी टेढ़ी और मजबूत होती है, लेकिन इनके पंजे और नाखून उनके जैसे तेज और मजबूत नहीं होते। ये भुंडों में रहनेवाले मुर्दाखोर पक्षी हैं जिनसे कोई भी गंदी और घिनौनी चीज खाने से नहीं बचती। ये पक्षियों के मेहतर हैं जो सफाई जैसा आवश्यक काम करके बीमारी नहीं फैलने देते।

ये किसी ऊँचे पेड़ पर अपना भद्दा सा घोंसला बनाते हैं, जिसमें मादा एक या दो सफेद अंडे देती है। (सु० सिं०)

गिनी अफ्रीका के पश्चिमी भाग में इसी नाम की खाड़ी पर स्थित प्रदेश जो पालमास अंतरीप से गाबुन एश्चुअरी (Gabun Estuary) तक फैला प्रदेश (स्थिति : १०°२०' उ० अ०, १२° पू० दे०)। गोम्स अजुरारा (Gomes Azurara) नामक पुर्तगाली इतिहासकार के अनुसार इसका फैलाव नन अंतरीप से लेकर सेनेगल तक १३° उ० अ० से १६° द० अ० तक था। प्रदेश नाइजर की घाटी के एक प्राचीन प्रसिद्ध नगर जेने (Djenne) से संबंधित प्रतीत होता है। इस प्रदेश के अन्वेषण के विषय में भिन्न तिथियाँ तथा मत प्रचलित हैं। १२७० ई० में लैन्सलाट मैलोसेलो (Lancelot Malocello) नामक जिनोआ वासी के कनारी द्वीप तक पहुँचने का अनुमान है। १०४६ ई० में कैटालन अभियान (Catalan expedition) सुवर्ण नदी की खोज में हुआ पर उसका कुछ पता न चला। १५वीं शताब्दी तक संपूर्ण गिनीतट यूरोपवासियों को ज्ञात हो चुका था।

इस प्रदेश की धरातलीय बनावट तट पर मैदानी तथा अंतर्वर्ती भाग में पर्वतीय है। प्रमुख नदी नाइजर ही है। उष्ण कटिबंध में होने के कारण जलवायु प्राय: गर्म और तर है, ताप ३८° सें० तक पहुँच जाता है जो तट पर ३२° सें० तक ही सीमित रहता है। वर्षा की मात्रा भिन्न भिन्न भागों में भिन्न है। साधारणतया २०" से १५०" के बीच वर्षा होती है। कैमरून की पर्वतीय तलहटियों में ३५०" तक वर्षा होती है। वर्षाकाल उत्तरी भाग में अप्रैल से सितंबर तक तथा दक्षिणी भाग में मार्च से नवंबर तक है।

प्राचीन काल में प्रमुख उत्पादन की दृष्टि से तटीय भाग कई उपविभागों में विभक्त था जो अब भी अपना तटीय नाम रखते हैं। ग्रीन कोस्ट ४०० मील लंबा तट का सियरा लियोन से पालमास अंतरीप तक, जो पीपर और मिर्च के व्यापार के लिये प्रसिद्ध था, आइवरी तट (Ivory Coast) जो हाथीदाँत के लिये प्रसिद्ध था, पालमास अंतरीप से ३° पू० दे० तक फैला है। इसके पूर्व गाबुन एस्चुअरी तक का तट क्रमश: गोल्ड कोस्ट और स्लेव कोस्ट कहा जाता है। गिनी प्रदेश की प्रमुख पैदावार धान, मक्का, कसावा, केला, नारियल, मूंगफली, ज्वार, बाजरा आदि हैं और खनिज पदार्थों में सोना, घाना और इवारी तट पर कोयला और टिन नाइजीरिया में पाए जाते हैं। प्रशासकीय दृष्टि से यह पुर्तगाल के अधीन है। घाना, सियरा लियोन, लाइबेरिया, आइवरी कोस्ट, टोगोलैंड, नाइजीरिया और कैमरून के राज्यों के भाग संमिलित हैं। प्रमुख नगर घाना (१,३५,६२६), इबादान (५,००,०००), लागोस (३,५०,०००), फ्रीटाउन (१,००,०००) अबीदजान (१,२०,०००) हैं। (कै० ना० सिं०)

गिबन छोटा, लंबी बाहोंवाला पेड़ों पर दौड़नेवाला बंदर जाति का पशु जो दक्षिण पूर्वी एशिया और मलय के कतिपय द्वीपों में पाया जाता है। इसके पूँछ नहीं है। आदि जीवों में यह सर्वाधिक कुशल कलाबाज होते हैं। एक डाल से दूसरी डाल पर अपने लंबे हाथों एवं लंबी छलांगों द्वारा आया जाया करते हैं। ये पृथ्वी पर खड़े होकर तो चल सकते ही हैं, पेड़ों पर भी हाथ के सहारे से खड़े होकर चलते हैं। गिबन की सात किस्में पाई जाती हैं और सभी काले रंग की होती हैं पर कभी कदाच बर्मा और उसके आसपास भूरे रंग के भी गिबन देखे जाते हैं। (प० ला० गु०)

गिबन, एडवर्ड (१७३७-१७९४) इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध इतिहासकार तथा साहित्यकार। जन्म पुटने नगर के एक पुराने शिक्षित घराने में हुआ। पिता पार्लमेंट के मेंबर थे। पितामह के समृद्ध पुस्तकालय का गिबन ने सदुपयोग किया। उच्च शिक्षा के अर्थ आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी के मग्डालेन कालिज में यह भर्ती किए गए, किंतु वहाँ से इनको चौदह महीने बाद ही हटा लेना पड़ा। गिबन ने अपनी जीवनी में लिखा है, 'ये चौदह मास मेरे जीवन का सबसे अनुपयोगी काल सिद्ध हुआ।' युनिवर्सिटी का स्वच्छंद जीवन किशोर गिबन के लिये अहितकर हुआ। अपने पैतृक धर्म प्रोटेस्टेंट धर्म से इनका मन विचलित हो गया। कुछ दिन तो यह इस दुविधा में पड़े रहे कि 'मुहम्मद' के अनुयायी बनें अथवा 'पोप' के। किंतु अंत में उन्होंने कार्ल्वीनी पादरी के प्रभाव से प्रोटेस्टेंट धर्म ग्रहण कर लिया। इन्हीं पादरी महोदय के संरक्षण में गिबन ने फ्रांसीसी, ग्रीक और रोमन, साहित्य, दर्शन, न्याय, गणित आदि का अत्यंत साधना के साथ अध्ययन और अनुशीलन किया। फ्रांस के सुप्रसिद्ध साहित्यकार वोल्तेयर से गिबन का इसी काल में परिचय हुआ, जिससे उन्हें विचारविन्यास में बड़ी प्रेरणा मिली। इसी बीच एक फ्रांसीसी कुलीन कन्या के प्रति आकर्षित होकर गिबन ने उससे विवाह करना चाहा, किंतु अपने पिता के विरोध के कारण उन्होंने अपना संकल्प त्याग दिया। इस घटना के संबंध में गिबन ने अपनी आत्मकथा में ये मार्मिक शब्द प्रयुक्त किए हैं कि उसने 'पुत्र की तरह पिता की आज्ञा का पालन किया और प्रेमी की तरह वियोग की आह भरी।', निदान, शिक्षा समाप्त करके १७५८ में गिबन इंग्लैंड लौट आए।

१७६१ में गिबन ने अपनी पहली रचना 'ऐसे आन द स्टडी ऑव लिटरेचर' फ्रेंच में प्रकाशित की जिससे विद्वत्समाज में उनका मान होने लगा। तदनंतर गिबन ने यूरोप की यात्रा की। इसी यात्रा के दौर में रोम के भग्नावशेषों को देखकर गिबन को अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'डिक्लाइन ऐंड फाल ऑव द रोमन एंपायर' लिखने की प्रेरणा हुई। इस ग्रंथ के पूरा करने में गिबन को १५ (१७७२-१७८७) साल लगे। इस बृहद्ग्रंथ में यूरोप और उसके समीपवर्ती प्रदेशों और जातियों की चौदह शताब्दियों के इतिहास का, जिसमें विश्वइतिहास के कई अत्यंत मार्के के युग भी शामिल हैं, ललित और सुव्यवस्थित वर्णन तथा विवेचन है। रोम की राज्यव्यवस्था, ईसाइयत का प्रादुर्भाव, प्रसार और विजय, विजोतीनी साम्राज्य की स्थापना, इस्लामियत की विजय, माध्यमिक युग के धार्मिक और राजनीतिक वितंडावाद, पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रीय राज्यों का उदय, तथा ईसाई महाराष्ट्र और मुहम्मदी तुर्कों का कालक्रमागत द्वंद्वयुद्ध, इत्यादि इतिहास की अनेकानेक सारगर्भित घटनाओं का रोचक भाषा में विशद विवरण और विवेचन उपलब्ध है। गिबन की उदार कल्पना, विशिष्ट बुद्धि, प्रचुर खोज, सतत परिश्रम और मनोहर शब्दविन्यास का इस महती पुस्तक में सर्वत्र परिचय मिलता है। इस ग्रंथ को प्रकाशित हुए दो शताब्दियाँ बीत गईं, इस बीच पुरातत्ववेत्ताओं के अन्वेषणों ने इतिहासशास्त्र को बहुत उन्नत और संपन्न बना दिया, किंतु फिर भी यह अनुपम पुस्तक पुरानी नहीं पड़ी। प्रो० फ्रीमैन का मत है कि इतिहास में चाहे और कुछ पढ़ा जाय या न पढ़ा जाय, 'गिबन' अवश्य पढ़ा जाना चाहिए। इसी प्रकार फ्रेडरिक हरिसन का मत है कि जैसे अफलातून की अकादमी के द्वार पर यह उल्लेख था कि जिसने रेखागणित को सिद्ध नहीं कर लिया वह यहाँ प्रवेश न करे, उसी प्रकार इतिहास की आदर्श पाठशाला को अपने सिंहद्वार पर यह सूक्ति खुदवा लेनी चाहिए कि 'गिबन' को सिद्ध किए बिना यहाँ प्रवेश वर्जित है। सारांश यह कि गिबन की यह पुस्तक इतिहास के संपूर्ण साहित्य में अद्वितीय नहीं तो चोटी के गिने चुने ग्रंथों में से है।

अंतिम दिनों में गिबन ने अपनी जीवनी की रचना की जो साहित्यिक कला की दृष्टि से उपर्युक्त ऐतिहासिक ग्रंथ से भी अनेक आलोचकों को महत्तर लगती है।

गिबन के ग्रंथों की भाषा बड़ी मँजी हुई है। वाक्य और वाक्यांश लंबे और दीर्घगामी होते हुए भी आदि से अंत तक ऐसे गुँथे हुए और सूत्रबद्ध हैं और उनमें शब्द और स्वर का ऐसा मधुर योग है कि पाठक को नाद्य का स्वाद मिलता है।

गिबन लगभग आठ बरस (१७७४-८२) पार्लमेंट के भी मेंबर रहे थे किंतु उनका कर्तृत्व वहाँ केवल साधारण रहा।

गिवन के जीवन के अंतिम दिन रुग्णावस्था और चिंता में वीते। १७९४ की जनवरी में लंदन में उनका देहांत हो गया।

एडवर्ड गिवन अपने युग के प्रतीक थे। वह सरासर वौद्धिक और विवेकवादी थे। उनका स्वभाव सुशील, शीतल और शांतिप्रिय था। मित्रों के प्रति वड़े सहृदय थे। संगी साथियों से उनका वार्तालाप वड़ा मनोरंजक और ज्ञानवर्धक होता था। किंतु उनके व्यवहार में अभिमान, शिष्टाचार और भद्रभाव का इतना समावेश था कि उनके साथियों को वह वनावटी प्रतीत होता था। गिवन के विषय मे एक परिहास प्रसिद्ध है कि गिवन होते हुए भी वे अपने आपको रोमन साम्राज्य समझने लगे थे।

सं० ग्रं०—डिक्लाइन ऐंड फाल ऑव द रोमन एंपायर; एल० शेफील्ड : आटोवायग्राफी; जे० स्काटर मोरिसनो : लाइफ ऑव गिवन; फ्रेडरिक हेरिसन : द मीनिंग ऑव हिस्ट्री; सम ग्रेट वुक्स ऑव हिस्ट्री; एडवर्ड गिवन ऐंड अदर एट्टीथ सेंचुअरी प्रोज़ राइटर्स। (वि० च०)

गिरजाघर जिस भवन में ईसाई मिलकर उपासना करते हैं उसे गिरजाघर अथवा चर्च कहते हैं। वह प्रायः आयताकार होता है। लंवाई के एक छोर पर प्रवेशद्वार और दूसरे छोर पर वेदी होती है।

वेदी गिरजाघर का प्रधान अंग है। वह पत्थर की मेज होती है जिसपर ईसाई चढ़ावा चढ़ाया जाता है। वेदी पर वीच मे क्रूसमूर्ति और उसके अगल वगल वत्तीदान रहते हैं। वेदी के मध्य मे प्रायः एक पात्र (टेवर्नेक्ल) होता है जिसमें प्रसाद रखा रहता है। प्रसाद के आदर मे वेदी के पास अखंड दीप जलता है।

वेदी से कुछ दूरी पर बने एक कठघरे द्वारा गिरजाघर दो भागों मे विभक्त होता है। वेदी के आसपास का भाग गर्भगृह (सैंक्चुअरी) कहलाता है। जनसाधारण उपासना के समय कठघरे के पास जाकर प्रसाद ग्रहण करते हैं। गर्भगृह में पुरोहित वर्ग के लिये आसन होते हैं और मंदिर के इस भाग से लगा हुआ एक वस्त्रालय (सैक्रिस्ती) होता है, जिसमे पूजा के कपड़े, पुस्तकें आदि रखी जाती हैं।

गिरजाघर में अनिवार्य रूप से कठघरे के पास प्रवचन मंच होता है और प्रवेशद्वार के निकट वपतिस्मा कक्ष जिसमें एक कुंड वना होता है। वहाँ वच्चों तथा दीक्षार्थियों को वपतिस्मा (दीक्षास्नान) दिया जाता है। प्रवेशद्वार के ऊपर अथवा पार्श्व भाग मे एक छज्जे पर वाद्यराज (आर्गन) रहता है। उपासना के समय गायक मंडली वहाँ एकत्र हो जाती है। गिरजाघर के घंटे एक वुर्ज में लटकाए जाते हैं।

अधिकांश गिरजाघरों में पार्श्वभागों में कई और वेदियाँ होती हैं। कार्थलिक गिरजों में मूर्तियाँ तथा पाप स्वीकार करने के लिये पीठिकाएँ (कन्फेशनल्स) भी रखी रहती हैं और प्रवेशद्वार के पास आशिप् का जल रखा जाता है, जिसमें उँगलियाँ डुवोकर भक्तगण अपने ऊपर क्रूस का चिह्न वनाते हैं (द्र० 'क्रूस')। (का० वु०)

गिरनार जूनागढ़ नगर से १० मील पूर्व भारत के गुजरात प्रदेश के काठियावाड़ क्षेत्र में की पवित्र पहाड़ियाँ (स्थिति : २१° ३१' उ० अ० तथा ७०° ४२' पू० दे०)। इनकी औसत ऊँचाई ३,५०० फुट है पर चोटियों की संख्या अधिक है। इनमें अंवामाता, गोरखनाथ, औघड़ सीखर, गुरु दत्तात्रेय और कालका प्रमुख है। सर्वोच्च चोटी गोरखनाथ ३,६६६, फुट ऊँची है। गिरनार का प्राचीन नाम उज्जयंत अथवा गिरिनार था। ये पहाड़ियाँ ऐतिहासिक मंदिरों, राजाओं के शिलालेखों तथा अभिलेखों (जो अव प्रायः ध्वस्तप्राय स्थिति में हैं) के लिये भी प्रसिद्ध हैं। पहाड़ी की तलहटी में एक वृहत् चट्टान पर अशोक के मुख्य १४ धर्मलेख उत्कीर्ण हैं। इसी चट्टान पर क्षत्रप रुद्रदामन् का लगभग १२० ई० का प्रसिद्ध संस्कृत अभिलेख है। इसमें सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य तथा परवर्ती राजाओं द्वारा निर्मित तथा जीर्णोद्धारकृत सुदर्शन तड़ाग और विष्णुमंदिर का सुंदर वर्णन है। यह लेख संस्कृत काव्यशैली के विकास के अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण समझा जाता है। इस वृहत् अभिलेख में रुद्रदामन् के नाम और वंश का उल्लेख तथा रुद्रदामन् संवत् ७२ में, भयानक आँधी पानी के कारण प्राचीन सुदर्शन झील के टूट फूट जाने का काव्यमय वर्णन है। विशेषकर सुवर्णसिकता तथा पलाशिनी नदियों के पानी को रोककर वाँध वनाए जाने तथा महावृष्टि एवं तूफान से टूट जाने का वर्णन तो वहुत ही सुंदर है।

इस अभिलेख की चट्टान पर ४५८ ई० का एक अन्य अभिलेख गुप्तसम्राट् स्कंदगुप्त के समय का भी है जिसमे सुराष्ट्र के तत्कालीन राष्ट्रिक पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित द्वारा सुदर्शन तड़ाग के सेतु या वाँध का पुनः एक वार जीर्णोद्धार किए जाने का उल्लेख है क्योंकि पुराना वाँध, जिसे रुद्रदामन् ने वनवाया था, स्कंदगुप्त के राज्याभिषेक वर्ष में जल के महावेग से नष्ट भ्रष्ट हो गया था।

अंवामाता का मंदिर अंवामाता चोटी पर स्थित है।

गोमुखी, हनुमानधारा और कमंडल नामक तीन कुंड यहाँ स्थित हैं। प्राचीन काल मे ये पहाड़ियाँ अघोरी संतों की क्रीड़ास्थली रहीं। पालिटाना (Palitana) के वाद यह जैनियों का द्वितीय प्रमुख तीर्थ है। यहाँ के सिंहों की नस्ल भी अधिक विख्यात है जिनकी संख्या धीरे धीरे कम होती जा रही है।

२. (जिला जूनागढ़, काठियावाड़, गुजरात) प्राचीन नाम गिरिनगर। महाभारत मे उल्लिखित रैवतक पर्वत के क्रोड़ मे वसा प्राचीन तीर्थस्थल। पहाड़ की चोटी पर कई जैनमंदिर हैं। यहाँ तक पहुँचने का मार्ग वड़ा दुर्गम तथा वीहड़ है। गिरिशिखर तक पहुँचने के लिये ७,००० सीढ़ियाँ हैं। इनमें सर्वप्राचीन मंदिर गुजरात नरेश कुमारपाल के समय का वना हुआ है। दूसरा वस्तुपाल और तेजपाल नामक भाइयों ने वनवाया था। इस तीर्थंकर मल्लिनाथ का मंदिर कहते हैं। यह विक्रम संवत् १२८८ (१२३७ ई०) मे वना। तीसरा मंदिर नेमिनाथ का है जो लगभग १२७७ ई० मे तैयार हुआ। यह सवसे अधिक विशाल एवं भव्य है। प्राचीन काल में इन पर्वतों की शोभा अपूर्व थी क्योंकि इनके सभामंडप, स्तंभ, शिखर, गर्भगृह आदि स्वच्छ संगमरमर से निर्मित होने के कारण वहुत चमकदार और सुंदर दीखते थे। अव अनेक वार मरम्मत होने से इनका स्वाभाविक सौंदर्य कुछ फीका पड़ गया है। पर्वत पर दत्तात्रेय का मंदिर और गोमुखी गंगा है जो हिंदुओं का तीर्थ है।

(वि० कु० मा०; कै० ना० सिं०)

गिरि, दीनदयाल हिंदी कवि (१८०२-१८६५ ई०)। इनका जन्म १८०२ ई० मे वाराणसी के गायघाट मुहल्ले में हुआ था। वे दशनामी संन्यासी और कृष्णभक्त थे तथा देहली विनायक पर रहते थे। इनके गुरु का नाम कुशगिर था। स्वयं वे संस्कृत और हिंदी के विद्वान् थे। अनुरागवाग, दृष्टांततरंगिणी, अन्योक्तिमाला, वैराग्यदिनेश और अन्योक्तिकल्पद्रुम इनके पाँच ज्ञात ग्रंथ हैं जिनमे तीन नीति विषयक हैं। इनकी मृत्यु १८६५ ई० में हुई। (प० ला० गु०)

गिरिधर कविराय हिंदी के प्रख्यात कवि। इनके समय और जीवन के संवंध में प्रामाणिक रूप मे कुछ भी उपलब्ध नहीं है। अनुमान किया जाता है कि वे अवध के किसी स्थान के निवासी थे और कदाचित् जाति के भाट थे। शिवसिंह सेंगर के मतानुसार इनका जन्म १७१३ ई० में हुआ था। इनके संवंध में एक जनश्रुति प्रख्यात है। कहा जाता है कि किसी कारण एक वढ़ई से इनकी अनवन हो गई। उस वढ़ई ने एक ऐसी चारपाई वनाई जिसके चारों कोनों पर चार पंख लगे हुए थे। जैसे ही कोई उसपर सोता था वे पंखे चलने लगते थे। उसने चारपाई अपने प्रदेश के राजा को भेंट की। राजा वहुत प्रसन्न हुए और उससे वैसे ही कुछ और चारपाइयाँ वनाने को कहा। वढ़ई को गिरिधर कविराय से वदला लेने का यह अच्छा अवसर जान पड़ा। उसने कहा कि खाटों को वनाने के लिये वेर की लकड़ी चाहिए। गिरिधर के आँगन मे वेर का एक अच्छा पेड़ है उसे दिला दीजिए। राजा ने उनसे वह पेड़ माँगा। जव उन्होंने नहीं दिया तो वह जवर्दस्ती काट लिया गया। इस कृत्य से वे वहुत क्षुब्ध हुए और सपत्नीक उस राज से निकलकर चले गए। आजीवन अपनी कुंडलियाँ सुनाकर माँगते खाते रहे।

इनकी कुंडलियाँ दैनिक जीवन की वातों से संवद्ध हैं और सीधी ... भाषा मे कही गई हैं। वे प्रायः नीतिपरक हैं जिनमें परंपरा के ...

अनुभव का पुट भी है। कुछ कुंडलियों में 'साईं' छाप मिलता है जिनके संबंध में धारणा है कि उनकी पत्नी की रचना है। (प० ला० गु०)

गिरधरदास (१८३३-१८६० ई०)। भारतेंदु हरिश्चंद्र के पिता और ब्रजभाषा के कवि। इनका मूल नाम गोपालचंद्र था, रचनाएँ गिरधरदास अथवा गिरधर नाम से करते थे। इनकी रचनाओं की संख्या चालीस कही जाती है। जरासंध वध, भारती भूषण, बलराम कथामृत, बुद्ध कथामृत, नहुष नाटक आदि मुख्य हैं। इनकी रचनाओं पर भक्तिकाव्य परंपरा और रीतिकाव्य परंपरा दोनों का प्रभाव है। इनका नहुष नाटक हिंदी का प्रथम नाटक समझा जाता है। (प० ला० गु०)

गिरियुद्ध पर्वतीय क्षेत्र में लड़ा जानेवाला युद्ध। गिरियुद्ध के कोई विशेष सिद्धांत नहीं है। इसमें भी युद्ध का उद्देश्य शत्रु के मुख्य स्थानों पर अधिकार करना तथा उसकी शक्ति एवं सामग्री को समूल नष्ट करना है। यह युद्ध चाहे पर्वतीय क्षेत्र में राजद्रोहियों के विरुद्ध हो, जैसा अँगरेजी शासनकाल में भारत के उत्तर-पश्चिम सीमांत में कबायलियों के साथ हुआ था, अथवा संगठित सेनाओं के विरुद्ध हुआ युद्ध, इसके कौशल और सिद्धांत एक ही प्रकार के होते हैं।

पहाड़ों में सेनाओं की गतिविधि और खाद्य सामग्री को ले जाने में कठिनाई होती है। यह कठिनाई न केवल अनतिक्रमशील ऊँचाई, सघन जंगलवाले भूभाग, हिम और नदी नालों से होती है, अपितु अकस्मात् ऋतु-परिवर्तन एवं प्रचंड झंझावात भी बाधाएँ डालता है।

पहाड़ी क्षेत्रों में यातायात के साधन बहुत कम होते हैं। केवल घाटियों में कहीं कहीं सड़कें होती हैं, जो प्राय. कच्ची होती हैं और इनमें वर्फ के पिघलने और वर्षा से बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसीलिये इस क्षेत्र में सैनिकों को विशेष सामग्री और विशेष प्रकार के शस्त्रों का उपयोग करना पड़ता है। इस क्षेत्र में लड़नेवाली सेनाओं को हर प्रकार आत्म-निर्भर होना चाहिए, क्योंकि हर समय पीछे की सेना से संपर्क रखना कठिन होता है। खाद्य सामग्री, भारी शस्त्रों तथा गोला बारूद आदि सामग्री ढोने के लिये खच्चरों और कुलियों का उपयोग करना पड़ता है। युद्ध के शस्त्र भी ऐसे होते हैं जिनका स्थानांतरण सरल नहीं होता।

इन्फैंट्री या पैदल सेना---पैदल सेना को इस प्रकार संगठित किया जाता है कि एक कंपनी अपनी बटालियन से काफी समय तक पृथक् रह सके। इस कंपनी को अपनी मशीनगनें, गोले बारूद, हथियार, राशन आदि खच्चरों पर लादकर आगे बढ़ने एवं युद्ध में उपयोग करने के लिये सर्वदा तैयार रहना चाहिए।

तोपखाना---तोपें ऐसी होनी चाहिए जो खोलकर खच्चरों पर लादी जा सकें। हाविट्ज़र (howitzer) प्रकार की तोपें इस क्षेत्र में उत्तम एवं लाभदायक रहती हैं।

अश्वारोही सेना---पहाड़ी क्षेत्र में सड़कों के न होने के कारण घुड़सवार सेनाओं का उपयोग कम होता है, परंतु कतिपय उदाहरण ऐसे भी उपलब्ध हैं, जिनमें पहाड़ी क्षेत्रों में घुड़सवार लाभदायक सिद्ध हुए।

अभियंता (Engineers)---अभियंताओं के पास पुल निर्माण करने और सड़कों का जीर्णोद्धार करने के लिये पर्याप्त सामग्री होनी चाहिए। यह सामग्री ऐसी होनी चाहिए जो खच्चरों पर सरलतापूर्वक लादी जा सके।

संकेत (Signal)---पहाड़ी क्षेत्र में संदेशवाहन का सबसे महत्व-पूर्ण साधन वायरलेस सेट है। इसके अतिरिक्त झंडी और घुड़सवार सूचना वाहकों का उपयोग किया जाता है। टेलिफोन लाइनों का पर्वतीय क्षेत्र में प्रतिष्ठापन अति दुष्कर है।

टैंक (Tank)---पहाड़ी क्षेत्रों में टैंकों का सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है, परंतु इनका इन्फैंट्री और तोपखाने से संपर्क रखना बहुत आवश्यक है।

चिकित्सा विभाग---पहाड़ी क्षेत्रों में सेना की टुकड़ियाँ सुदूर विस्तृत होती हैं। अत: चिकित्सकों की संख्या पर्याप्त होनी चाहिए। उन्हें छोटे छोटे भागों में इस प्रकार संगठित करना चाहिए कि प्रत्येक टुकड़ी के पास चिकित्सा-व्यवस्था रहे। आहत तथा रोगियों को ले जाने के लिये डोलियों का समुचित प्रबंध होना चाहिए।

हवाई सेना---वायुयानों के उतरने के लिये पास में पर्याप्त भूमि की कमी, वायु की अस्थिरता और बादलों के कारण हवाई सेना से बहुत काम नहीं लिया जा सकता। वायुयान द्वारा शत्रुओं की चौकियों तथा यातायात के साधनों के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

टैंकनाशी (Antitank) तोपखाना---पहाड़ी युद्ध में टैंकों के उपयोग से टैंकनाशी हथियार का महत्व बढ़ गया है। टैंकों के प्रयोग के लिये रास्तों की संख्या कम होने के कारण टैंकनाशी तोपों के लिये उपयुक्त स्थान ढूँढ़ना सरल होता है। *इन टैंकनाशी तोपों की मार थोड़ी दूर* तक ही की जा सकती है, क्योंकि दृष्टि के मार्ग में थोड़ी ही दूर पर अवरोध होता है।

वायुयाननाशी (antiaircraft) तोपखाना---संकीर्ण मार्गों में सेना दलों को हवाई आक्रमण से बचाना अनिवार्य है। इसलिये सेनादलों के गुजरनेवाले संकीर्ण मार्गों पर वायुयाननाशी तोपें लगाई जाती हैं।

युद्ध संबंधी योजनाएँ---पहाड़ों में युद्ध की योजना बनाने के पूर्व ऐसी भौगोलिक स्थितियों का भली भाँति गहन अध्ययन करना चाहिए जो सेना की गतिविधि पर प्रभाव डाले। पहाड़ी स्थानों के मानचित्र प्राय. *पूर्णतया ठीक नहीं होते और संपूर्ण* रुकावटों का संतोषजनक वर्णन नहीं करते। जब भी संभव हो, उस क्षेत्र की पूर्णत: जाँच कर लेनी चाहिए, यद्यपि यह प्राय. कठिन होता है। वायुयानों द्वारा लिए गए फोटो से इलाके के विषय में बहुत जानकारी प्राप्त हो सकती है।

पहाड़ी युद्ध अपनी और शत्रु की गतिविधि पर निर्भर होता है। इसलिये सड़कों का ज्ञान महत्वपूर्ण है। आक्रमणों का प्रथमोद्देश्य सड़क को अधिकार में लेना रहता है। गतिविधि की कठिनाइयों के कारण युद्ध की आरंभिक तैयारी विशेष महत्वपूर्ण है। एक बार सेनाओं को किसी कार्यविशेष पर नियुक्त कर दिया जाए तो उसमें फिर अदल बदल करना प्राय. कठिन होता है। इसमें भी फौजों की दिशाओं का इतस्तत: बदलना महान् कठिनाई उत्पन्न करता है।

आक्रमण---आक्रमण की पहली समस्या सेना का विभाजन है। पहाड़ में युद्ध काफी लंबे क्षेत्र में विकीर्ण होता है। इसलिये यह अनिवार्य है कि सैनिकों को घाटियों के अनुसार बाँटा जाय और उनका अनुशासन भी पृथक् पृथक् कर दिया जाय। प्रत्येक घाटी में सैनिकों की संख्या भूमि के आधार पर निश्चित की जाती है। जैसे जैसे सेना घाटियों के निचले भागों से आगे बढ़ती है वैसे वैसे दोनों ओर की चोटियों पर भी अधिकार होना चाहिए। जिस पक्ष का चोटियों पर अधिकार हो जाता है घाटियों पर भी उसी पक्ष का अधिकार रहता है। कई पहाड़ों की चोटियों पर पठार पाए जाते हैं। उनपर सेनाओं को ले जाकर फैलाया जा सकता है।

शत्रु का सामना प्राय. संकीर्ण मार्गों पर होता है, क्योंकि प्रत्येक कुशाग्र एवं दूरदर्शी शत्रु ऐसे ही कटकाकीर्ण स्थानों पर अपनी सुरक्षा की व्यवस्था करता है। यह विचार करना पड़ता है कि ऐसे स्थान से शत्रु पर पहाड़ी की ओर से आक्रमण किया जाए अथवा घाटी की ओर से; क्योंकि जिस पक्ष का ऊँची भूमि पर अधिकार होता है वह नीचे की भूमि और दर्रों पर भी स्वाधिपत्य रखता है। इसलिये ऐसे स्थानों पर यह सतत प्रयत्न होना चाहिए कि दर्रों के आसपास की ऊँची भूमि पर आरंभ में ही अधिकार कर लिया जाए। आक्रमण की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि शत्रु को धोखे में रखा जाय। आक्रमण अकस्मात् होना चाहिए और शत्रु को यह मालूम नहीं होने देना चाहिए कि आक्रमण किस स्थान पर होगा। अनिश्चित दिशा से और अनिश्चित समय पर आक्रमण होने से शत्रु के बचाव में गड़बड़ी हो जाती है। फलत: सफलता की आशा अधिक होती है। कई ऐसे उदाहरण हैं जिनमें पहाड़ी क्षेत्र के ऐसे कठिन मार्गों का प्रयोग करने से युद्ध में सफलता मिली जो यातायात के योग्य नहीं समझे जाते थे। १९४० ईस्वी में जर्मन सेनाओं ने नार्वे

के युद्ध में एक ऐसे मार्ग का उपयोग किया जिससे नार्वेवालों को उनके आने की आशा न थी और इस कूटनीति से जर्मन सुगमतापूर्वक विजयी हुए।

गिरियुद्ध में आक्रमण प्राय: छोटी छोटी झड़पों का रूप होता है। शत्रु को एकबार पराजित करने के पश्चात् अच्छा होता है कि उसका पीछा करके पलायित कर दिया जाय जिससे वह कहीं भी आश्वस्त न हो सके।

गिरियुद्ध में प्राय: एक कठिनाई यह होती है कि दो या अधिक स्थानों पर एक साथ होनेवाले आक्रमणों में सहयोग नहीं हो पाता।

बचाव—पहाड़ी क्षेत्र की ऊबड़ खाबड़ भूमि आत्मरक्षा के लिये अत्युत्तम होती है, परंतु बचाव में गहराई नहीं दी जा सकती। बचाव का मुख्य उद्देश्य घाटियों की सड़कों को शत्रु के अधिकार में जाने से रोकना है। सड़कों के बचाव के लिये ऐसा स्थान चुनना चाहिए जहाँ प्राकृतिक रचना तथा भूमि की आकृति बचाव में सहायता करे। उदाहरणार्थ, ऐसे ऊँचे स्थान चुनने चाहिए जहाँ से शत्रु को आगे बढ़ने का दूसरा मार्ग न मिले। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि शत्रु के आगे बढ़ने के अन्य मार्गों पर भी गोली की मार की जा सके।

ऊँचे स्थानों या पहाड़ों की चोटियों पर अधिकार करना ही उद्देश्य का अंत नहीं होना चाहिए, अपितु यह भी देखना आवश्यक है कि उन चोटियों से घाटी की पूरी चौकीदारी की जा सके। यदि इन ऊँचे स्थानों से नीचे के मार्गों की देख भाल नहीं की जा सकती तो कई अवसरों पर नीचे की ढालों पर ऐसे स्थान ढूँढ़ने पड़ते हैं जहाँ से पूरी देखभाल की जा सके।

ऊबड़ खाबड़ भूमि के बचाव के लिये कम सैनिकों की आवश्यकता होती है, परंतु पर्याप्त रक्षित सेना निकट रखनी चाहिए जिससे प्रत्युत्तर में आक्रमण तेजी से किया जा सके और शत्रु को पराजित किया जा सके।

यदि बचाव के लिये मोर्चे पहाड़ के सामने की ढाल पर बनाए जायँ तो उनसे देखभाल अच्छी की जा सकती है और शत्रु के आक्रमण को ऊँचाई की ओर बढ़ने से पहले ही रोका जा सकता है। परंतु इसमें हानि यह है कि ऐसे मोर्चे शत्रु की दृष्टि में रहते हैं। उनपर शत्रु गोली की मार कर सकता है। यदि मोर्चे पहाड़ के शिखर पर बनाए जायँ तो नीचे की ढालों पर ऐसे कई स्थान होते हैं जो देखभाल और गोली की मार से बचे रहते हैं। इस अवस्था में शत्रु सुगमता से ऊँचाई की ओर बढ़ सकता है। शिखर पर बनाए हुए मोर्चों का लाभ यह होता है कि वे शत्रु की सीधी मार के भीतर नहीं आते और सहायक सेना को अच्छा छिपाव मिल जाता है।

यदि मोर्चे पहाड़ के पीछे की ओर बनाए जायँ तो शत्रु की गोलाबारी से यथेष्ट बचाव हो सकता है, परंतु इन मोर्चों के सामने की ढालों और नीचे घाटी के मार्गों का नियंत्रण एवं निरीक्षण करना कठिन हो जाता है।

बचाव को सुदृढ़ करने के लिये मोर्चों के आगे काँटेदार तार और सुरंगें लगाई जाती हैं। शत्रु के आगे बढ़ने के रास्तों पर भी कई प्रकार की बाधाएँ डाली जा सकती है, जैसे, नदी नालों के पुल बारूद लगाकर उड़ाना इत्यादि।

बचाव में टैंकनाशी तोपें और दूसरा तोपखाना ऐसे स्थानों पर लगाया जाता है जहाँ से वह जिस भूभाग से आक्रमण की आशंका हो उस ओर मार कर सके। वायुयाननाशी तोपखाना ऊँचाई पर लगाना चाहिए जिससे वह चारों ओर भली भाँति देखभाल और मार कर सके। मशीनगनें तंग रास्तों की मार के लिये बहुत लाभदायक होती है।

शरद् ऋतु में युद्ध—पहाड़ी क्षेत्र में शरत्कालीन युद्ध बहुत कठिन होता है। ऐसी भीषण परिस्थिति में विशेष प्रशिक्षित सैनिकों की आवश्यकता होती है, जो बर्फीले स्थानों पर रह तथा लड़ सकें। इसके अतिरिक्त इन सैनिकों के लिये विशेष प्रकार की युद्धसामग्री का भी प्रबंध करना पड़ता है।

असंगठित सेनाओं से युद्ध—कई बार सेनाओं को पहाड़ी क्षेत्र में राजद्रोहियों की असंगठित सेनाओं से युद्ध करना पड़ता है। जैसे भारत के उत्तर-पूर्वीय सीमांत में नागा लोगों के साथ हुआ युद्ध। ये अव्यवस्थित क्षेत्रीय सैनिक युद्धकला में बड़े प्रवीण एवं अनुभवी हैं। ये युद्धसामग्री का कोई विशेष प्रबंध नहीं करते, इसीलिये ये प्राय: गतिमान रहते हैं तथा छापे मारकर युद्ध करते हैं। ऐसे शत्रु पर विजयप्राप्ति के लिये उसी प्रकार की चतुरता एवं युद्धविद्या में प्रवीणता अपेक्षित है। (दे० रा० क०)

गिरिव्रज महाभारतकाल और बिंबिसार तक के परवर्ती काल की मगध की राजधानी। समझा जाता है कि यह आधुनिक राजगिर से छह मील पूर्व और गया से प्राय: ३६ मील पूर्व-उत्तर पंचना नदी के तीर स्थित था। बार्हद्रथ राजकुल की राजधानी होने के कारण महाभारत के अनुसार इसका दूसरा नाम बार्हद्रथपुर था। महाभारत ने गिरिव्रज और बार्हद्रथ के अतिरिक्त उसका एक तीसरा नाम मागधपुर दिया है। 'महावग्ग' में उसी को गिरिव्वज कहा गया है। रामायण में गिरिव्रज को वसुमति नाम से अभिहित किया गया है और बौद्धग्रंथों में कहीं कहीं उसका नाम कुशाग्रपुरी भी मिलता है। गिरिव्रज, जैसा नाम से ही प्रकट है, पहाड़ों से घिरा था और वैहार, वराह (विपुल), वृषभ, ऋषिगिरि और सोमगिरि की पाँच पहाड़ियों के परकोटे से सुरक्षित था। बाद में हर्यंक कुल के राजा बिंबिसार ने गिरिव्रज को छोड़ नगर के बाहर अपने राजप्रासाद बनवाए जिससे गिरिव्रज उजड़ गया और मगध की नई राजधानी बिंबिसार के प्रासाद के चतुर्दिक् बसी जो राजगृह कहलाई। राजगृह का परकोटा अब भी राजगिर की पहाड़ियों पर खड़ा है।

गिलक्राइस्ट, जॉन बौथविक (१७५९-१८४१ ई०) हिंदी के अँगरेज लेखक। इनका जन्म १७५९ में एडिनबरा में हुआ था। वहाँ से जार्ज हैरिएट्स अस्पताल में चिकित्सा संबंधी शिक्षा प्राप्त कर वे ३ अप्रैल, १७८३ को ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारी के रूप में सहायक सर्जन नियुक्त होकर कलकत्ते आए। १२ अक्टूबर, १७९४ को वे सर्जन नियुक्त हुए। १८०० में जब मार्क्विस वेलेज़ली ने कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की तो वे हिंदुस्तानी विभाग के प्रोफेसर नियुक्त हुए। इस पद पर कार्य करते हुए उन्होंने हिंदी (हिंदुई) और प्रधानत: उर्दू (हिंदुस्तानी) में अनेक ग्रंथों का निर्माण कराया। भारतवर्ष में रहते हुए उन्होंने हिंदुस्तानी के अध्ययन और प्रचार के लिये विशेष प्रयत्न किया और निम्नलिखित प्रधान ग्रंथों की रचना की।

'ए डिक्शनरी : इंग्लिश ऐंड हिंदुस्तानी, दो भाग (१७८७-१७९०)

'ए ग्रैमर ऑव द हिंदुस्तानी लैंग्वेज' (१७९६)

'दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट (१७९८, द्वितीय संस्करण, १८०२ में)। फोर्ट विलियम कॉलेज (१८००) में हिंदुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हो जाने पर उन्होंने अनेक पाठ्य पुस्तकों (भारतीय अध्यापकों द्वारा रचित) का संपादन और निर्माण किया।

'दि ऐंटी-जार्गोनिस्ट' ('दि ओरिएंटल लिंग्विस्ट' का संक्षिप्त संस्करण, १८००)

'द स्ट्रेंजर्स ईस्ट इंडियन गाइड टु द हिंदुस्तानी' (१८०२, द्वितीय संस्करण लंदन से १८०८ में, वहीं से तृतीय संस्करण १८२० में)

'द हिंदी स्टोरी टेलर' (१८०२)

'ए कलेक्शन ऑव डायलॉग्स, इंग्लिश ऐंड हिंदुस्तानी (१८०४, एडिनबरा से १८०९ में द्वितीय संस्करण, लंदन से १८२० में तृतीय संस्करण)

'द हिंदी मॉरल प्रीसेप्टर' (१८०३)

'दि ओरिएंटल फैब्यूलिस्ट' (१८०३)

स्वास्थ्य ठीक न रहने तथा अन्य कारणों से १८०४ में त्यागपत्र देकर इंग्लैंड वापस चले गए। भारत के गवर्नर जनरल ने उनकी ईस्ट इंडिया कंपनी के लंदन स्थित कोर्ट से सिफारिश की और साथ ही एक व्यक्तिगत पत्र श्री एडिंगटन (बाद को लॉर्ड सिड्मथ) को भी लिखा। कुछ दिन तक गिलक्राइस्ट एडिनबरा में रहे जहाँ के विश्वविद्यालय ने ३० अक्टूबर, १८०४ को उन्हें एल-एल० डी० की उपाधि प्रदान की। फरवरी से मई, १८०६ तक उन्होंने हेलीबरी में पूर्वीय भाषाओं के प्रोफेसर के रूप में कार्य किया। १८०९

में कंपनी की नौकरी छोड़ देने के बाद उन्होंने एक बैंक भी खोला। किंतु इस कार्य में उन्हें सफलता नहीं मिली।

१८०६-८ में गिलक्राइस्ट ने एडिनवरा से 'ऐंटी जार्गोनिस्ट', 'स्ट्रेंजर्स गाइड', 'ओरिएंटल लिंग्विस्ट' तथा कई अन्य हिंदुस्तानी भाषा संबंधी रचनाएँ मिलाकर 'द ब्रिटिश इंडियन मॉनीटर' (दो भाग) नामक ग्रंथ प्रकाशित किया। १८१५ में उन्होंने ग्लास्गो से 'पार्लियामेंट्री रिफॉर्म ऑन कॉन्स्टीट्यूशनल प्रिंसिपल्स और ब्रिटिश लॉयल्टी अगेंस्ट कॉन्टीनेंटल रॉयल्टी' नामक एक सनसनीपूर्ण राजनीतिक रचना प्रकाशित की। १८१६ से वे लंदन में भारत में सरकारी नौकरी पाने के इच्छुक व्यक्तियों को निजी तौर से पूर्वीय भाषाओं की शिक्षा देने लगे। दो वर्ष बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने कर्मचारियों, विशेषत: चिकित्सक अफसरों को भारत भेजने से पूर्व हिंदुस्तानी के प्राथमिक सिद्धांतों की शिक्षा देने का निश्चय किया और इस कार्य के लिये गिलक्राइस्ट दो सौ पौंड वार्षिक पर लाइसेस्टर स्क्वायर में स्थापित ओरिएंटल इंस्टीट्यूशन में प्रोफेसर नियुक्त किए गए। किंतु आर्थिक तथा अपनी पुस्तकों की बिक्री की दृष्टि से कंपनी के अधिकारियों से मतभेद हो जाने के कारण १८२५ में उन्हें दी जानेवाली सहायता बंद कर दी गई। इसी समय उन्होंने अपने समस्त ग्रंथों का संकलन 'दि ओरिएंटल, ऑक्सीडेंटल ट्यूशनरी पायनियर' के नाम से एक ही जिल्द में किया। १९२८ के प्रारंभ में उन्होंने ओरिएंटल इंस्टीट्यूशन के पास ही हिंदुस्तानी कक्षा स्थापित करने की असफल चेष्टा की और इंस्टीट्यूशन के प्रथम वार्षिक विवरण (१ अप्रैल, १८२८ को प्रकाशित) में उनकी कड़ी आलोचना की गई।

गिलक्राइस्ट ने अपने जीवन का शेष भाग अवकाश में व्यतीत किया। ९ जनवरी, १८४१ को पेरिस में उनका देहांत हो गया। उनके कोई संतान नहीं थी। (ल० सा० वा०)

गिलगमेश प्राचीन सुमेरी वीरकाव्य और उसके नायक का नाम।

गिलगमेश उस काव्य में जलप्रलय की कथा मनु और नूह के अग्रवर्ती अपने पूर्वज जिउसुद्दू के मुख से सुनता है कि किस प्रकार उसने प्रलय के अवसर पर जीवों के जोड़े अपनी नौकाओं में एकत्र कर उनकी रक्षा की थी। सुमेरी बाबुली परंपरा की वह कहानी गिलगमेश महाकाव्य में सुमेरी कीलनुमा अक्षरों में गीली ईंटों पर लिखी सातवीं सदी ई० पू० के असुर सम्राट् असुर बनिपाल के निनेवे के संग्रहालय से मिली है। जलप्रलय की कथा का नायक गिलगमेश का पूर्वज जिउसुद्दू है पर वीरकाव्य का नायक स्वयं गिलगमेश है। विद्वानों का मत है कि जलप्रलय ३२०० ई० पू० के लगभग हुआ था और उसका पहला उल्लेख नुर निनसुबुर ने १९८४ ई० पू० के लगभग कराया था।

गिलगमेश, संसार का प्राचीनतम वीरकाव्य होने के अतिरिक्त, मानव जाति की संभवत: प्रथम पुस्तक है। इसमें गिलगमेश नाम के उरुक के अति प्राचीन राजा के वीरोचित कार्यों का वृत्तांत संरक्षित है। उस परंपरा से ज्ञात होता है कि गिलगमेश ने उरुक पर कई साल तक घेरा डालकर उसे जीता था। पश्चात् वह वहीं निरंकुश होकर शासन करने लगा और तब देवताओं को बाध्य होकर एंकि-दू नाम के अर्धमानव अर्धपशु को उसके संहार के लिये भेजना पड़ा। गिलगमेश ने उसको जीतने के लिये एक आकर्षक नारी भेजी जिसने अपने कल छल से उसे जीत लिया। उस नारी से प्रभावित होकर वह गिलगमेश के दरबार में आया और दोनों मित्र हो गए। फिर दोनों ने एक साथ अनेक नगरों की विजय की और एक भयानक दैत्य की खोज में रेगिस्तान, बीहड़ और जंगल पार करते हुए वे उत्तर पश्चिम गए जहाँ उस दैत्य का संहार कर उन्होंने उसका गढ़ जीत लिया।

गिलगमेश का यह वीरकाव्य प्राचीन बाबुली कथानकों और साहित्यिक रचनाओं में सबसे मधुर, सबसे सुंदर है, और लोकप्रिय तो यह काव्य इतना हुआ कि जहाँ जहाँ कीलनुमा लिपि का प्रचार हुआ वहाँ वहाँ वह कथा भी प्रचलित हुई। इसका प्राचीनतम सुमेरी पाठ अभाग्यवश टूटी स्थिति में मिलता है परंतु उसके अनेक पश्चात्कालीन संस्करणों को मिलाकर डा० कैंपबेल-टामसन ने जो उसका समूचा पाठ प्रस्तुत किया है वह नीचे दिया [illegible] है। गिलगमेश वीरकाव्य १२ पट्टिकाओं अथवा ईंटों पर लिखा [illegible] है।

पहली ईंट पर कथा का आरंभ होता है जिसमें गिलगमेश अर्ध पिशाच अर्ध मानुस पिता और देवी निन्सुन (लुगालबंदा की पत्नी) माता से उत्पन्न होकर अपनी प्रजा को निरंकुश शासन द्वारा पीड़ित करता है। उसकी उरुक की प्रजा तब रक्षा के लिये देवताओं से प्रार्थना करती है और देवता एंकि-दू नामक अद्भुत जीव को गिलगमेश के संहार के लिये भेजते हैं। पहले वह वन्य पशुओं के बीच आता है और उन्हीं में रमता है, यद्यपि उनकी तरह का वह नहीं है। रेगिस्तान के अहेरी तक गिलगमेश से उसके भयानक रूप का वर्णन करते हुए शिकायत करते हैं कि जब जब वे पशु पकड़ते हैं तब तब एंकि-दू जालगत जीवों को स्वतंत्र कर देता है। तब गिलगमेश उसके पास एक देवदासी भेजता है जो अपने हावभाव द्वारा उसे रिझाकर अपने वश में कर लेती है। दूसरी ईंट का पाठ है कि एंकि-दू को देवदासी रोटी खाना और सुरा पीना सिखाती है और उसे सभ्य बनाकर वह गिलगमेश के दरबार में ले जाती है जहाँ दोनों पहले द्वंद्व युद्ध करते हैं फिर एक दूसरे की शक्ति से प्रभावित होकर परस्पर आजीवन मैत्री के सूत्र में बँध जाते हैं। तीसरी ईंट के वृत्तांत के अनुसार दोनों मित्र सीरिया या लेबनान की ओर घने जंगलों के आक्रमण को जाते हैं। देवदारों के उस वन की हुवावा (या हुम्बाबा) नाम का भयानक दैत्य रक्षा करता है जिसकी गरज आँधी की तरह है, जिसका मुँह आग की लपटों की तरह है और जिसकी साँस मौत की साँस है। एंकि-दू उस भीषण दैत्य की बात सुनकर डर जाता है पर गिलगमेश उसे उत्साहित करता है और उरुक के वयोवृद्धों की चेतावनी की परवाह न कर दोनों दैत्य की खोज में निकल पड़ते हैं। चौथी ईंट में उनके राह के संकट झेलते देवदारों के वन तक पहुँच जाने का वृत्तांत है और पाँचवें में गिलगमेश अनेक स्वप्नों द्वारा आक्रांत होता है जिनकी व्याख्या एंकि-दू दैत्य हुवावा (हउआ ?) के नाश की ओर संकेत द्वारा करता है। गिलगमेश पर कृपा कर तब सूर्य दैत्य के विरुद्ध अपने आठ पवन भेजता है और गिलगमेश अंत में दैत्य का सिर काट लेता है। छठी ईंट के अनुसार दोनों विजयी वीर उरुक लौटते हैं। देवी इनिन्ना अब गिलगमेश के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करती है पर वह उसके पूर्वप्रेमियों के नाश की कथा की ओर संकेत कर उसका प्रणय अस्वीकार कर देता है। तब देवी खीझकर अपने पिता देवता अन से गिलगमेश के संहार के लिये दैवी साँड़ की सृष्टि के अर्थ प्रार्थना करती है। देवता साँड़ सिरज देता है जिसके गिलगमेश के नगर में आने से नागरिकों पर त्रास छा जाता है। अंत में एंकि-दू उसकी सींग पकड़कर उसे पटक देता है, फिर दोनों मित्र उसे मार डालते हैं और उसकी सींग काटकर लुगालबंदा के मंदिर में टाँग देते हैं। इस महान् कृत्य के उपलक्ष्य में एक असाधारण भोज का आयोजन होता है पर रात एंकि-दू के लिये भयानक सपनों से भरी होती है।

सातवीं ईंट के अनुसार एंकि-दू सपने में देखता है कि देवता अपनी सभा में निश्चय करते हैं कि साँड़ के वध के फलस्वरूप उसे मार डाला जाय, और एंकि-दू जागकर अपने भाग्य को कोसने लगता है कि क्यों वह गिलगमेश की भेजी रमणी के चक्कर में फँसा, क्यों उसने सादे रेगिस्तान का सुखी जीवन छोड़ मानवों की खतरे की दुनियाँ में प्रवेश किया ? फिर सूर्यदेव की भर्त्सना के बाद वह उस नारी को आशीर्वाद देता है। आठवीं ईंट के वृत्तांत में गिलगमेश अपने मरणासन्न मित्र का परितोष करता है। परंतु एंकि-दू की शक्ति निरंतर घटती जाती है और धीरे धीरे उसके प्राण निकल जाते हैं। गिलगमेश तब उसकी मृत्यु पर विलाप करता है और उसे मिट्टी से ढककर दफना देता है। स्वयं गिलगमेश को एक दिन अपने संबंध में भी घटनेवाली मृत्यु का सहसा डर हो आता है और वह जलप्रलय के वीर नायक अपने पूर्वज जिउसुद्दू की खोज में चल पड़ता है जिससे वह अमरता का भेद उससे ले ले। नवीं ईंट के वृत्तांत में उसकी इसी यात्रा का वर्णन है। अनेक जीवों द्वारा रक्षित भीषण पर्वतों की यात्रा संपन्न कर वह समुद्र की गहराइयों में रहनेवाली देवी से मिलता है जिसके प्रति दसवीं ईंट के अनुसार वह अपनी पिछली यात्रा का वर्णन करता है। देवी अमरता की उसकी खोज की बात सुन उसे घर लौट जाने और मानव का अपेक्षित जीवन व्यतीत करने को उत्साहित करती है पर गिलगमेश उसका कहना न सुन आगे बढ़ जाता है और मृत्यु के समुद्र में नाव चलानेवाले नाविक से

जा मिलता है। नाव और पाल तोड़ देने की धमकी से डरकर नाविक अंत में गिलगमेश को मृत्युसागर के पार जाकर उसके पूर्वज जिउसुद्दू के समक्ष खड़ा कर देता है। जिउसुद्दू उसे देख विस्मित होता है और गिलगमेश उससे अमरता का मंत्र पूछता है। आगे, ११वीं ईंट की कहानी में उस जलप्रलय का वर्णन है, उस वीरकाव्य के भीतर के वीरकाव्य का, जिसके नायक का कार्य स्वयं जिउसुद्दू ने किया था। जिउसुद्दू तब उसे सागर के तल में उगनेवाली अमरतादायक ओषधि का भेद बताता है और गिलगमेश समुद्र के तल तक पैठ ओषधि उखाड़ लाता है। नाविक तब उसे मर्त्यों के जगत् में लौटा लाता है और गिलगमेश स्नान के लिये एक तालाब के तट पर आ खड़ा होता है। स्नान करते समय एक साँप ओषधि की गंध से प्रभावित हो उसे ले भागता है और तालाब में प्रवेश कर अपनी पुरानी केंचुल छोड़ नवीनतम धारण कर लेता है। तब गिलगमेश इस नए संकट से आहत विलाप करने लगता है और उसकी आँखों से आँसू बह चलते हैं। वीरकाव्य का वस्तुत: यहीं अंत हो जाता है, यद्यपि एक ईंट, १२वीं, का वृत्तांत उसका उपसंहार प्रस्तुत करता है जो संभवत: पीछे जोड़ा गया है। इसकी कथा के अनुसार वृद्ध और अत्यंत दुखी गिलगमेश मृत्यूपरांत मनुष्य की दशा जानने के लिये देवता नेर्गल की सहायता से पाताल लोक जाता है। वहाँ वह अपने मित्र एंकिन्दू के प्रेत से मिलता है जो उसे प्रेतजीवन का रहस्य समझाता है। कहता है कि कब्र में दफना दिए जाने के बाद कीड़े वस्त्र की भाँति तन को खा जाते हैं और प्रेत रात में सड़कों पर भटकता मल खाता और गंदा जल पीता फिरता है। जब उसके वंशज उसका श्राद्ध करते हैं, उसको पेय और आहार देते हैं तभी वह शांतिपूर्वक रह पाता है। काव्य का अंत नितांत दु:खमय है।

विद्वानों का अनुमान है कि इस वीरकाव्य का नायक गिलगमेश उरूक का ऐतिहासिक राजा था जिसने दक्षिणी बाबुल पर ३००० ई० पू० से कुछ ही पहले राज किया था, जलप्रलय के कुछ ही सौ वर्ष बाद। गिलगमेश काव्य की कहानी सुमेरी है, यद्यपि वह लिखी अक्कादी या सामी काल में गई और जहाँ जहाँ कीलनुमा लिपि का प्रचार हुआ वहाँ वहाँ की विदेशी भाषाओं में भी वह लिख ली गई। जलप्रलय की कथा इसी काव्य का एक अंश है।

सं० ग्रं०—पैट्रिक कार्लटन : बरीड एंपायर्स, लंदन, १९४८; भगवतशरण उपाध्याय : द ऐंशेंट वर्ल्ड, हैदराबाद, १९५४। (भ०श०उ०)

गिलगिट नगर और प्रदेश (वज़ारत, wazaret) स्थिति : ३५° ५५′ उ० अ० और ७४°२३′ पू० दे०। कश्मीर में सिंधु नदी की सहायक गिलगिट नदी के दाहिने किनारे पर सिंधु से २४ मील दूर ४,८९० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ ६५ मील के घेरे में १८,००० फुट से लेकर २६,००० फुट तक की ऊँचाई की लगभग ३२ चोटियाँ हैं। वर्षा की मात्रा कम है। जलवायु स्वास्थ्यप्रद और शुष्क है। बर्फ अधिक समय तक रुकती नहीं। घाटी अत्यधिक उपजाऊ है और कृषिगत भूमि पर जनसंख्या का घनत्व लगभग १,२०० व्यक्ति प्रति एकड़ से ऊपर है। ७,००० फुट की ऊँचाई के ऊपर पाइन और फर के जंगल पाए जाते हैं जिनमें बकरियाँ, जंगली कुत्ते, लाल रीछ तथा स्थानपरिवर्तन करनेवाले पक्षी आदि पाए जाते हैं। कृषिकर्म अधिकतर ६,००० फुट के ऊपर होता है। नदियों में सोना प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। नगर से घाटी में सड़कें विकेंद्रित होती हैं। पट्टू नगर का प्रमुख औद्योगिक उत्पादन है। यारकंद से राजमार्ग द्वारा संबंधित हो जाने पर नगर की औद्योगिक उन्नति की अधिक संभावना है। निकटतम रेलवे स्टेशन हसन अब्दाल यहाँ से २५० मील दूर है।

मंदिरों में शिलालेखों के आधार पर यह एक हिंदू राज्य की राजधानी प्रतीत होता है। इसका प्राचीन नाम सरगिन (Sargin) था जो बदलकर गिलिट और फिर गिलगिट हो गया। स्थानीय भाषा में अब भी यह गिलिट या सरगिन गिलिट ही कहा जाता है। अंतिम हिंदू राजा बादत (Badat), जो आदमखोर के नाम से प्रसिद्ध था, मुसलमानों द्वारा मार डाला गया। बौद्ध धर्म के भी अवशेष यहाँ प्राप्त होते हैं।

(कै० ना० सिं०)

गिलहरी भारत में सामान्य रूप से गिलहरियों की दो जातियाँ पाई जाती हैं। दोनों के ही शरीर का रंग कुछ कालापन लिए हुए भूरा होता है, परंतु एक की पीठ पर तीन और दूसरी की पीठ पर पाँच, अपेक्षाकृत हलके रंग की धारियाँ होती हैं, जो आगे से पीछे की ओर जाती हैं। इनमें से पीठ पर बीचों बीच होनेवाली धारी सबसे अधिक लंबी होती है। तीन धारियोंवाली गिलहरी को त्रिरेखिनी (three striped palm squirrel, *Funambulus palmarum*) तथा पाँच धारियोंवाली गिलहरी को पंचरेखिनी (five-striped palm squirrel, Funambulus pennanti) कहते हैं। त्रिरेखिनी के केवल तीन धारियाँ ही नहीं होतीं, वरन् दुम के निचले तल का रंग भी चमकता हुआ हलका पीला होता है तथा कंधों और शरीर के दोनों पार्श्वों पर भी पीलापन देखने को मिलता है। यही नहीं, त्रिरेखिनी की कई, कम से कम स्थानीय, उपजातियाँ भी पाई जाती हैं, जिनमें आपस में मुख्य रूप से शरीर के रंगों की गहराई तथा हलकेपन अथवा धारियों के वर्णाभास (tone) में ही भिन्नता होती है। त्रिरेखिनी तथा पंचरेखिनी दोनों जातियों की गिलहरियों के कान छोटे होते हैं। इनपर बहुत कोमल लोम तो होते हैं, परंतु लोमगुच्छ (ear tufts) नहीं होते। इनकी झबरी तथा चपटी दुम लगभग उतनी ही लंबी होती है जितना लंबा शेष सारा शरीर। स्तनों के दो युग्म होते हैं, एक तो उदर प्रदेश पर और दूसरा वंक्षण (inguinal) प्रदेश पर। शिश्नमुंड एक कड़ी तथा पतली अस्थीय नोक के रूप में होता है और शिश्नास्थि (os penis) कहलाता है। दोनों जातियों की गिलहरियाँ हिमालय से लेकर लंका द्वीप तक तथा अफगानिस्तान से लेकर ब्रह्मदेश तक पाई जाती है।

इन दोनों जातियों के अतिरिक्त दक्षिण भारत तथा लंका के सघनतम जंगलों में उलझी हुई लताओं में छिपकर रहनेवाली फुनैंबुलस प्रजाति की ही एक और गिलहरी पाई जाती है जिसे चतुर्रेखिनी (Funambulus sublimatus) कहते हैं। इसकी पीठ पर आगे से पीछे की ओर जाती हुई चार गहरे बादामी रंग की धारियाँ होती हैं, जिन्हें तीन हलके बादामी रंग की पट्टियाँ अलग करती हैं। फुनैंबुलस प्रजाति के अतिरिक्त भारत में कैलोसाइयूरस (Callosiurus) तथा ड्रेम्नोमिस (Dremnomys) नामक दो प्रजातियों की गिलहरियाँ और पाई जाती हैं, जो हिमालय प्रदेश के वनप्रांतों में ५,००० से ६,००० फुट तक की ऊँचाई पर रहती हैं।

पेड़ों और झाड़ियों से दूर गिलहरियाँ शायद ही कभी देखी जाती हों। वृक्षों की छालों, कोमल प्रांकुरों, कलिकाओं तथा फलों का ये आहार करती हैं। फलों में भी इन्हें अनार सबसे अधिक प्रिय है। सेमल के फूलों का रस पीकर उनके परागण में ये बड़ी सहायक बनती हैं। अभिजनन काल में इनकी मादा दो से लेकर चार तक बच्चे किसी वृक्ष के कोटर या पुरानी दीवार के किसी छिद्र में, अथवा छत में बाँसों के बीच घासपात या मुलायम टहनियों का नीड़ बनाकर, देती है। जीवन इनका साधारणतया पाँच छह साल का होता है। आवाज 'चिर्प' या 'ट्रिल' सरीखी होती है, जो उत्तेजित अवस्था में यथेष्ट देर तक और बराबर होती रहती है।

(शं० मो० दा०)

गिलोटिन मृत्युदंड के निमित्त एक यंत्र। फ्रांसीसी राज्यक्रांति के समय विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ था। डा० जोजेफ इग्नेस गिलोटिन ने, जो वहाँ की संविधान परिषद् के सदस्य थे, १७८९ में एक प्रस्ताव द्वारा अपराधी के मृत्युदंड के कष्ट को न्यूनातिन्यून करने के लिये इस यंत्रविशेष के प्रयोग का प्रस्ताव रखा। फलत: वह उन्हीं के नाम पर प्रख्यात हो गया। वस्तुत: वह उनके आविष्कारक न थे। इस यंत्र का प्रयोग रोमनकाल और मध्ययुग में भी होता था।

इसमें दो सीधे खंभों के बीच क्षैतिज आधार पर एक तिरछे फल का चाकू बड़ी शक्ति से घूमता है। इसके लिये चाकू के पृष्ठभाग को बोझिल कर देते हैं। फलत: यह चाकू बड़ी सरलता से अपराधी का शिरोच्छेदन कर देता है।

गिलोय यह गुडूची कुल (मेनिस्पर्मेसिई, Menispermaceae) की टिनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया (Tinospora Cordyfolia) नामक लता जाति की आरोही वनस्पति है, जो तिक्त ज्वरनाशक वनौषधि के रूप में लोकप्रसिद्ध है। इसे गुडूची (संस्कृत), गुरुच, गुडुच या गिलोय (हिंदी), गुलच (बँगला) अथवा गुलवेल (मराठी) कहते हैं। यह बहुवर्षायु, मासल और ऊँचे वृक्षों पर चढ़नेवाली लता है। इसके पत्र एकातर, मसृण और हृदयाकृति तथा फूल छोटे, पीले रग के और गुच्छों में निकलते हैं। फल पकने पर मटर के बराबर, गोल और लाल रग के होते हैं। काड की अतस्त्वचा हरे रग की और मासल होती है। ग्रीष्म ऋतु मे, वर्षा के पूर्व, इसका सग्रह होता है, परतु चिकित्सा मे ताजी गिलोय का प्रयोग अच्छा समझा जाता है। इसमे तिक्त ग्लुकोसाइड और दारुहारिद्रिक (Berberine) अत्यल्प प्रमाण में और स्टार्च प्रचुर मात्रा में होता है।

इसे कटुपौष्टिक, दीपक, पित्तसारक, सग्राहक, त्वग्रोगहर, मूत्रजनक और ज्वरघ्न माना जाता है। इसलिये ज्वर, जीर्ण अतिसार एव रक्तातिसार, अम्लपित्त, सूजाक, प्रमेह तथा कुष्ठादि त्वचा के रोगो मे किसी न किसी रूप मे इसके काड का, अथवा इससे निकले हुए स्टार्च (गुडूचीसत्व) का, प्रयोग होता है। (ब० मि०)

गिल्वर्ट एटॉल्स (Attols) के १६ द्वीपों का समूह (स्थिति : ३° से ४° द० अ० तथा १७८° से १७७° पू० दे०)। मुख्य द्वीप मैकिन, कुटारी टारी, मराकी, अवाइग, तरावा, कुरिप, अरनुका, नोनौटी आदि है। क्षेत्रफल लगभग १०० वर्ग मील है। इन द्वीपों की खोज सर्वप्रथम स्पेन के अन्वेषक मेडाना (Mendana) ने सन् १५६७-६८ मे की थी, परतु प्रमाण के अभाव मे खोज का श्रेय ब्रिटिश जलसेना को मिला जो सन् १७६४ मे यहाँ पहुँची। १६४२ ई० मे यह द्वीप जापानी आक्रमण से प्रभावित हुआ था। वर्तमान काल मे प्रशामल प्रशात उच्चायुक्त द्वारा होता है। यहाँ की जलवायु गरम और तर है। औसत वार्षिक वर्षा ४०" से १००" होती है। ताप दिन मे २७°–३२° सें० तक रहता है पर रात्रि मे २१° सें० तक हो जाता है। प्रमुख उपज नारियल और खजूर है और प्रमुख निर्यात खोपरा और रासायनिक खाद। यहाँ के निवासी माइक्रोनेसियन नस्ल के है। (कै० ना० सि०)

गिल्वर्ट, सर जोसेफ हेनरी (१८१८–१९०१) अँगरेज रसायनज्ञ। इनका जन्म हल (Hull) नामक स्थान में २ अगस्त, सन् १८१७ को हुआ था। इनकी शिक्षा दीक्षा पहले ग्लास्गो और फिर लदन मे हुई। बाद मे ये जर्मन वैज्ञानिक लीबिख के यहाँ गीसेन भी गए। सन् १८६० मे इन्हे एफ० आर० एस० की उपाधि मिली। सन् १८८४ मे ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे रूरल इकॉनोमी के प्रोफेसर हुए।

गिलवर्ट का नाम लाज़ के नाम के साथ स्मरण किया जाता है। लाज़ ने इनके सहयोग से सन् १८४३ मे रॉथैम्स्टेड के प्रायोगिक केंद्र (Rothamsted Experimental Station) की स्थापना की थी। तब से आज तक अबाध गति से उनके प्रचारित प्रयोग चालू हैं। ये प्रयोग मिट्टी की उर्वरता, उर्वरको के सफल प्रयोग एव पौधो द्वारा निकाले गए जल की मात्रा से सबधित हैं।

जिन दिनों गिल्वर्ट ने लाज़ के सुझाव पर रॉथैम्स्टेड मे कृषि विज्ञान पर कार्य प्रारभ किया, जर्मनी मे लीबिख का बोलबाला था। उनके 'खनिज सिद्धात' (Mineral Theory) ने उर्वरको के उपयोग एव निर्माणमे एक नवीन क्राति ला दी थी। गिल्वर्ट ने नाइट्रोजन एव फास्फेट द्वारा मिट्टियों की उर्वरता सबधी लीबिख की अनेक मान्यताओ को रॉथैम्स्टेड मे दोहराया और उनमे से कई को असत्य भी सिद्ध किया। इन समस्त प्रयोगो का [illegible] मे मिलता है जिन्हे १० भागो मे रॉथैम्स्टेड [illegible]) के नाम से सकलित कर दिया [illegible] ए० डी० हाल द्वारा लिखित [illegible] (The Book of [illegible] है। इन प्रयोगो की [illegible]

१. फसलों को फास्फेटीय तथा क्षारीय लवणो की आवश्यकता पडती है, परतु लीबिख द्वारा प्रचारित राख की सरचना से इनकी आवश्यकता की पूरी पूरी जानकारी नहीं हो पाती।

२. अदालीय फसलों (non-leguminous crops) को नाइट्रोजनीय यौगिकों की आवश्यकता पडती है। बिना इन यौगिको के फसलों का समुचित विकास नही हो पाता। वायुमडल मे वर्तमान ऐमोनिया इतनी अल्प मात्रा मे है कि उससे फसलो की नाइट्रोजन पूर्ति असभव है।

३. कृत्रिम उर्वरको द्वारा भूमि की उर्वरता को स्थिर रखा जा सकता है, भले ही वह कुछ वर्षो के लिये हो।

४. परती डालने से भूमि में नाइट्रोजन यौगिक अधिकाधिक उपलब्ध होते है। यही कारण है कि परती रखने के बाद भूमि मे अच्छी फसलें होती हैं।

२३ दिसबर, १९०१ ई० को गिल्बर्ट की मृत्यु हार्पेंडेन (हर्ट्ज़) मे हुई।

सं० ग्रं०—ए० वी० हॉवर्ड चैबर्स डिक्शनरी ऑव साइंटिस्ट्स (१९५२)। (शि० गो० मि०)

गिलबर्ट हंफ्री (१५३९–१५८३) ब्रिटिश सैनिक, नाविक तथा अमरीका मे उपनिवेश के प्रथम सस्थापक। वे कापटन निवासी ओथो गिल्वर्ट के द्वितीय पुत्र थे। उनकी शिक्षा ईटन तथा आक्सफोर्ड मे हुई। जुलाई, १५६६ ई० मे आयरलैंड मे कप्तान के पद पर नियुक्त हुए। १५६९ ई० मे मस्टर के राज्यपाल बने। १५७० ई० में 'नाइट' की उपाधि से सम्मानित किए गए। १५७१ ई० मे प्लाईमाउथ के ससद् सदस्य निर्वाचित हुए। उन्होंने उत्तर-पश्चिमी मार्ग खोजने और उपनिवेश स्थापन की आज्ञा ११ जून, १५७८ को प्राप्त की। इसका प्रथम प्रयास उन्होने १५७९ ई० मे किया जो असफल रहा। १५८२ ई० मे साउथैंप्टन के अन्वेषकों के साथ द्वितीय प्रयास की तैयारी और ११ जून, १५८३ ई० को महारानी से आशीर्वाद और पाँच जहाजो के साथ प्लाईमाउथ से प्रस्थान किया। ३० जुलाई को न्यू फाउडलैंड के पास तथा ३ अगस्त को सेंट जान्स द्वीप पर पहुँचे। ५ अगस्त मे अमरीका मे प्रथम आग्ल उपनिवेश की स्थापना प्रारभ की। दक्षिण के लिये तीन जहाजो के साथ प्रस्थान किया जिसमे सबसे बड़ा जहाज २९ अगस्त को ब्रेटान अतरीप मे नष्ट हो गया। ३१ अगस्त को इग्लैंड के लिये प्रस्थान किया। अजोर्स के निकट दुर्घटनाग्रस्त हो गए परतु ९ सितबर को जीवित मिले। १५ सितबर, १५८३ ई० को हुई एक अन्य दुर्घटना मे मृत्यु हुई। (कै० ना० सिं०)

गीकी, सर आर्किबाल्ड (१८३५–१९२४ ई०) प्रसिद्ध भूविज्ञानविद्। इनका जन्म २८ दिसबर, १८३५ को एडिनबरा मे हुआ था। आपकी उच्च शिक्षा एडिनबरा विश्वविद्यालय मे हुई। सन् १८५५ मे आपकी नियुक्ति भौमिकी सर्वेक्षण विभाग मे हुई। आपने यहाँ पर जो कार्य किया वह बडा सराहनीय रहा। स्कॉटलैंड की भौमिकी पर आपके लेख बहुत सारगर्भित थे। फलस्वरूप सन् १८६७ में जब स्कॉटलैंड मे भौमिकी सर्वेक्षण विभाग की प्रथम शाखा स्थापित हुई तब आपको उसका सचालक बनाया गया। सन् १८७१ मे आपकी नियुक्ति एडिनबरा विश्वविद्यालय में मरचिसन प्रोफेसर ऑव जियॉलाजी ऐंड मिनरॉलोजी के पद पर हुई। इन दोनों पदो का कार्यभार आपने सन् १८८१ तक सँभाला। इसके उपरात आप ग्रेट ब्रिटेन के भौमिकी सर्वेक्षण विभाग के महानिदेशक (Director General) तथा लदन के भौमिकी सग्रहालय के सचालक चुने गए। सन् १९०१ में आपने अवकाश ग्रहण किया।

सन् १८९२ मे आप ब्रिटिश ऐसोसिएशन के सभापति चुने गए तथा सन् १९०८ में आप रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। सन् १९१४ में आपको 'आर्डर ऑव मेरिट' मिला। आपकी मृत्यु १० नवबर, १९२४ ई० को सरे में हास्लेमेर के निकट हुई।

आपने भौमिकी पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। आपकी टेक्स्टबुक ऑव जियॉलोजी तो आज भी सदर्भग्रथ के रूप मे मान्य है। (म० ना० मे०)

गीज (कुल) फ्रांस के लोरेन राजवंश की अत्यधिक विख्यात शाखा जिसने १६वीं शताब्दी में पूर्ण वैभव प्राप्त किया था। लोरेन के ड्यूक रेने द्वितीय ने लोरेन वंश की दोनों शाखाओं को एक सूत्र में बाँधा। उसके ज्येष्ठ अनुजीवित पुत्र ऐंथोनी लोरेन ने ड्यूक की पदवी प्राप्त की जबकि द्वितीय पुत्र क्लाद क्रमश: काउंट और गीज़ के ड्यूक की पदवियों से सुशोभित हुआ।

क्लाद (१४९६-१५५०) गीज़ का प्रथम ड्यूक था। इसे फ्रेंच दरबार में शिक्षा मिली। इसने फ्रांसिस प्रथम के प्रति अनन्य भक्ति दिखाई। इसने सैनिक जीवन अपनाया और मैरिग्नैनो के युद्ध में ख्याति प्राप्त की तथा १५२६ ई० में लोरेन स्थित अनाबप्तिस्ती के विद्रोह का दमन करने के प्रतिफल स्वरूप गीज़ के ड्यूक की पदवी प्राप्त की। इसके पश्चात् १५४२ ई० में लक्जेम्बर्ग की चढ़ाई में इसे विशेष ख्याति मिली। इसका विवाह बूरवान कुल की आंत्वानेत से १५१३ ई० में हुआ था जिससे १२ संतानें हुईं। इसकी पुत्री मेरी का विवाह स्काटलैंड के जेम्स पंचम से हुआ जो स्काट्स की रानी मेरी की माँ थी।

फ्रांसिस (१५१९-६३) गीज़ का द्वितीय ड्यूक तथा क्लाद का पुत्र था। आगे चलकर यह महान् सेनाध्यक्ष तथा कैथोलिक नेता हुआ। चार्ल्स पंचम (१५५२) के विरुद्ध इसने मेट्स की रक्षा सफलतापूर्वक की। रेंटी के युद्ध (१५५४) में इसे विशेष ख्याति मिली। नेपिल्स की चढ़ाई (१५५६) का इसने नेतृत्व किया तथा १५६८ ई० में इंग्लैंड से कैले छीन लिया। कैले के घेरे में ही (१५६८) एक ह्यूगोनाट के हाथों इसकी मृत्यु हुई। इसने एस्ते की ऐन से १५४८ ई० में विवाह किया था।

हेनरी प्रथम (१५५०-८८) गीज़ का तृतीय ड्यूक था। फ्रांसिस का पुत्र होने के कारण उसे कैथोलिक दल का नेतृत्व मिला। इसने प्वाइटी-यर्स, जारनैक तथा डारमैंस के युद्ध किए। यह सेंट बार्थलोम्यू (१५७२) के रक्तपात का उत्तरदायी था। इसकी राजा बनने की महत्वाकांक्षा थी किंतु हेनरी तृतीय की आज्ञा से ब्लवा में इसका वध कर दिया गया। इसका विवाह क्लीव्स की कैथरीन से हुआ था जिससे १४ संतानें थीं। चार्ल्स चतुर्थ (१५७१-१६४०) गीज़ का चतुर्थ ड्यूक था, हेनरी प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र। अपने पिता की मृत्यु पर इसे तीन वर्ष जेल में रखा गया। १५९१ ई० में इसे मुक्ति मिली। इसने हेनरी चतुर्थ को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं और विद्रोही राजाओं तथा प्रोटेस्टेंटों के विरुद्ध संघर्ष करता रहा। १६१३ ई० में रिशलू द्वारा देशनिकाला होने पर इसने इटली में अपना जीवन समाप्त कर दिया।

हेनरी द्वितीय (१६१४-६४) गीज का पंचम ड्यूक तथा चार्ल्स चतुर्थ का पुत्र था। यह १६२९ ई० में रेम्स का आर्चबिशप हुआ और १६४० में ड्यूक का पद प्राप्त किया। यह रिशलू के विरुद्ध षड्यंत्र में संमिलित हुआ था जिसपर इसे मृत्युदंड मिला और इसे फ्लांडर्स में शरण लेनी पड़ी। १६४७ ई० में इसने नेपिल्स का राजमुकुट हथियाना चाहा, और १६४८ से १६५२ ई० तक स्पेन में बंदी रहा। १६५२ ई० में किसी प्रकार जेल से निकल भागा और फिर एक बार नेपिल्स जीतने का प्रयत्न किया किंतु असफल रहा। १६५५ ई० में यह फ्रांस का हाई चैंबरलेन हुआ।

लुई जोज़ेफ (१६५०-७१) हेनरी द्वितीय का भतीजा तथा गीज का षष्ठ ड्यूक था। फ्रांसिस जोज़ेफ, (१६७०-७५) लुई जोज़ेफ का पुत्र तथा सप्तम् और गीज का अंतिम ड्यूक था। इसकी मृत्यु पर गीज़ की ड्यूक शृंखला समाप्त हो गई और पद तथा जागीर दोनों उसकी चाची, लोरेन की मेरी के पास चली गई जो चतुर्थ ड्यूक की पुत्री और गीज की डचेस (१६१५-८८) थीं।

सं० ग्रं०—आर० टी० बूटली : गीज के ड्यूकों का इतिहास, भाग चतुर्थ (१९४९); एच० एम० विलियम्स : गीज के ड्यूक का इतिहास, भाग द्वितीय (१९१८)। (गि० शं० मि०)

गीज़र तप्त जल का प्राकृतिक फौवारा जो वाष्पयुक्त मेघाच्छन्न जल स्तंभ सरीखा जान पड़ता है। इस प्रकार के जलस्रोत अमरीका में यलो स्टोन राष्ट्रीय उद्यान में है। वहाँ २०० सक्रिय गीज़र बताए जाते हैं। आइसलैंड में रेकजाविक से सत्तर मील दूर ज्वालामुखी की राखों के मैदान के बीच दूसरा गीज़र समूह है। वहाँ दस मील की परिधि में दर्जनों गीज़र हैं। तीसरा गीज़र समूह न्यूजीलैंड में है। अधिकांश गीज़रों से जल के फौवारे निकलने का कोई निश्चित क्रम अथवा समय नहीं है। यह कहना कठिन है कि गीज़र कब फूटेगा। अनेक घंटे भर के भीतर कई बार छूटते हैं। कुछ घंटों, दिनों, महीनों सुप्त रहते हैं। कुछ के जल का उछाल कुछ ही फुट ऊँचा होता और कुछ में जल सौ फुट से भी ऊँचे जाता है। यलो स्टोन उद्यान स्थित 'ओल्ड फेथफुल' नामक गीज़र प्राय: ६५ मिनट में एक बार ६ सेकेंड के लिये फूटता है। और उसका जल १२० से १५० फुट ऊँचे तक जाता है।

गीज़र प्राय: नदी अथवा झीलों के तटवर्ती प्रदेशों में होता है जहाँ जल पृथिवी में रिसकर धरातल तक एक नाली के रूप में पहुँचता है। ठंढा जल इस नाली के भाग से ऐसे चट्टानों तक पहुँच जाता है जो पृथिवी के भीतर अत्यंत तप्त अवस्था में है। तल का पानी इन तप्त चट्टानों के संसर्ग से गर्म होता है किंतु ऊपर पानी का स्तंभ होने के कारण उबल नहीं पाता। धीरे धीरे जलस्तंभ के नीचे का भाग उबाल के ताप से ऊँचा उठता है और भाप बनना आरंभ होता है। उठते हुए बबूलों से पानी को ऊपर उठाता है और पानी को नाली के मुँह की ओर उछालता। इससे पानी के स्तंभ में हलकापन आता और अधिक पानी वाष्प का रूप धारण करने लगता है। तब अकस्मात् तल के निकट का पानी भाप के रूप में विस्तृत होता है और शेष भाप को बाहर की ओर विस्फोट करने को बाध्य करता है। घरों में भी पानी गर्म करने के लिये जो उपकरण आजकल प्रयोग में आते हैं उन्हें गीज़र कहते हैं। (प० ला० गु०)

गीजा अफ्रीका महाद्वीप में मिस्र के उत्तरी भाग में नील नदी के किनारे स्थित प्रांत और नगर (स्थिति : ३०°१' उ० अ० तथा ३१°११' पू० दे०)। मिस्र की राजधानी कैरो इसके पास ही स्थित है। नगर के प्राचीन भग्नावशेष इसके प्राचीन वैभव की याद दिलाते हैं। मिस्र के पिरामिड, जो यहाँ से पाँच मील पश्चिम स्थित है, इसी नगर के नाम पर 'गीजा के पिरामिड' कहे जाते हैं। ये पिरामिड अपनी अद्भुत कला के कारण संसार के आश्चर्यों में गिने जाते हैं। प्राचीन वैभव नष्ट हो जाने पर भी नगर उन्नतिशील अवस्था में है। (कै० ना० सि०)

गीजेर, एरिक गुस्ताव (१७८३–१८४७ ई०) स्वीडिश इतिहासकार, कवि और संगीतज्ञ। इनके विचारों पर जर्मन दर्शन का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। सन् १८०९-१० में इन्होंने इंग्लैंड की यात्रा की जिसका विवरण इन्होंने अपनी पुस्तक 'इंप्रेशंस ऑव इंग्लैंड' में दिया है। स्वीडिश रोमांटिक साहित्य को इन्होंने गाथिक कला में लोगों की रुचि जगाकर एक नया तत्व दिया। इनकी 'वाइकिंग' (Viking) कविताओं में गॉथिक तत्व की प्रधानता है। इनकी मुख्य कविताएँ 'ओडल्स-बांडेन' (द पीज़ेंट फ्री-होल्डर) तथा 'देन लिटिल कोलागॉसेन' (द लिटिल चारकोल बर्नर) हैं। अपने लेखक जीवन के प्रारंभिक दिनों में ये रूढ़िवादी थे लेकिन बाद में इनकी विचारधारा काफी उदार हो गई थी और स्वीडन में उदारवादी परंपरा को विकसित करने में इनका बड़ा हाथ रहा है। 'स्वेंस्का फॉकेट्स हिस्तोरिया' (Svenska folkats historia) में, जो तीन भागों में छपा, इन्होंने सन् १६५४ तक के स्वीडन के इतिहास पर व्यापक प्रकाश डाला। 'स्वेया रीकस' (Svea Rikes) में इनका विचार स्वीडन के पूरे इतिहास को देने का था लेकिन इसे ये पूरा नहीं कर पाए। इतिहासज्ञ के रूप में इन्होंने घटनाओं पर जोर न देकर इतिहास का निर्माण करनेवाले व्यक्तियों को अधिक महत्व दिया। (नु० ना० सि०)

गीत स्वर, पद और ताल से युक्त जो गान होता है वह गीत कहलाता है।

गिलोय यह गुडूची कुल (मेनिस्पर्मेसिई, Menispermaceae) की टिनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया (Tinospora Cordyfolia) नामक लता जाति की आरोही वनस्पति है, जो तिक्त ज्वरनाशक वनौषधि के रूप में लोकप्रसिद्ध है। इसे गुडूची (संस्कृत), गुरुच, गुड़ुच या गिलोय (हिंदी), गुलंच (बँगला) अथवा गुलवेल (मराठी) कहते हैं। यह बहुवर्षायु, मांसल और ऊँचे वृक्षों पर चढ़नेवाली लता है। इसके पत्र एकांतर, मसृण और हृदयाकृति तथा फूल छोटे, पीले रंग के और गुच्छों में निकलते हैं। फल पकने पर मटर के बराबर, गोल और लाल रंग के होते हैं। कांड की अंतस्त्वचा हरे रंग की और मांसल होती है। ग्रीष्म ऋतु में, वर्षा के पूर्व, इसका संग्रह होता है, परंतु चिकित्सा में ताजी गिलोय का प्रयोग अच्छा समझा जाता है। इसमें तिक्त ग्लुकोसाइड और दारुहारिद्रिक (Berberine) अत्यल्प प्रमाण में और स्टार्च प्रचुर मात्रा में होता है।

इसे कटुपौष्टिक, दीपक, पित्तसारक, संग्राहक, त्वग्रोगहर, मूत्रजनक और ज्वरघ्न माना जाता है। इसलिये ज्वर, जीर्ण अतिसार एवं रक्तातिसार, अम्लपित्त, सूजाक, प्रमेह तथा कुष्ठादि त्वचा के रोगों में किसी न किसी रूप में इसके कांड का, अथवा इससे निकले हुए स्टार्च (गुडूचीसत्व) का, प्रयोग होता है। (ब० सिं०)

गिल्बर्ट एटॉल्स (Attols) के १६ द्वीपों का समूह (स्थिति : ३° से ४° द० अ० तथा १७८° से १७७° पू० दे०)। मुख्य द्वीप मैकिन, कुटारी टारी, सराकी, अबाइंग, तरावा, कुरिप, अरनुका, नोनौटी आदि हैं। क्षेत्रफल लगभग १०० वर्ग मील है। इन द्वीपों की खोज सर्वप्रथम स्पेन के अन्वेषक मेंडाना (Mendana) ने सन् १५६७-६८ में की थी, परंतु प्रमाण के अभाव में खोज का श्रेय ब्रिटिश जलसेना को मिला जो सन् १७६४ में यहाँ पहुँची। १९४२ ई० में यह द्वीप जापानी आक्रमण से प्रभावित हुआ था। वर्तमान काल में प्रशासन प्रशांत उच्चायुक्त द्वारा होता है। यहाँ की जलवायु गरम और तर है। औसत वार्षिक वर्षा ४०" से १००" होती है। ताप दिन में २७°–३२° सें० तक रहता है पर रात्रि में २१° सें० तक हो जाता है। प्रमुख उपज नारियल और खजूर है और प्रमुख निर्यात खोपरा और रासायनिक खाद। यहाँ के निवासी माइक्रोनेसियन नस्ल के हैं। (कैं० नां० सिं०)

गिल्बर्ट, सर जोसेफ़ हेनरी (१८१८–१९०१) अँगरेज रसायनज्ञ। इनका जन्म हल (Hull) नामक स्थान में २ अगस्त, सन् १८१७ को हुआ था। इनकी शिक्षा दीक्षा पहले ग्लास्गो और फिर लंदन में हुई। बाद में ये जर्मन वैज्ञानिक लीबिख के यहाँ गीसेन भी गए। सन् १८६० में इन्हें एफ० आर० एस० की उपाधि मिली। सन् १८८४ में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में रुरल इकॉनोमी के प्रोफेसर हुए।

गिलबर्ट का नाम लाज़ के नाम के साथ स्मरण किया जाता है। लाज़ ने इनके सहयोग से सन् १८४३ में रॉथैम्स्टेड के प्रायोगिक केंद्र (Rothamsted Experimental Station) की स्थापना की थी। तब से आज तक अबाध गति से उनके प्रचारित प्रयोग चालू हैं। ये प्रयोग मिट्टी की उर्वरता, उर्वरकों के सफल प्रयोग एवं पौधों द्वारा निकाले गए जल की मात्रा से संबंधित है।

जिन दिनों गिल्बर्ट ने लाज़ के सुझाव पर राथैम्स्टेड में कृषि विज्ञान पर कार्य प्रारंभ किया, जर्मनी में लीबिख का बोलबाला था। उनके 'खनिज सिद्धांत' (Mineral Theory) ने उर्वरकों के उपयोग एवं निर्माणमें एक नवीन क्रांति ला दी थी। गिल्बर्ट ने नाइट्रोजन एवं फास्फेट द्वारा मिट्टियों की उर्वरता संबंधी लीबिख की अनेक मान्यताओं को रॉथैम्स्टेड में दोहराया और उनमें से कई को असत्य भी सिद्ध किया। इन समस्त प्रयोगों का विवरण उन शोध निबंधों में मिलता है जिन्हें १० भागों में रॉथैम्स्टेड मेम्वॉयर्स (Rothamsted Memoirs) के नाम से संकलित कर दिया गया है। इन प्रयोगों की विस्तृत विवेचना ए० डी० हाल द्वारा लिखित पुस्तक 'द बुक ऑव रॉथैम्स्टेड एक्सपेरिमेंट्स' (The Book of [illegible]hamsted Experiments) में भी मिलती है। इन प्रयोगों की बातें इस प्रकार हैं :

१. फसलों को फास्फेटीय तथा क्षारीय लवणों की आवश्यकता पड़ती है, परंतु लीबिख द्वारा प्रचारित राख की संरचना से इनकी आवश्यकता की पूरी पूरी जानकारी नहीं हो पाती।

२. अदालीय फसलों (non-leguminous crops) को नाइट्रोजनीय यौगिकों की आवश्यकता पड़ती है। बिना इन यौगिकों के फसलों का समुचित विकास नहीं हो पाता। वायुमंडल में वर्तमान ऐमोनिया इतनी अल्प मात्रा में है कि उससे फसलों की नाइट्रोजन पूर्ति असंभव है।

३. कृत्रिम उर्वरकों द्वारा भूमि की उर्वरता को स्थिर रखा जा सकता है, भले ही वह कुछ वर्षों के लिये हो।

४. परती डालने से भूमि में नाइट्रोजन यौगिक अधिकाधिक उपलब्ध होते हैं। यही कारण है कि परती रखने के बाद भूमि में अच्छी फसलें होती हैं।

२३ दिसंबर, १९०१ ई० को गिलबर्ट की मृत्यु हार्पेडेन (हर्ट्ज) में हुई।

सं० ग्रं०—ए० बी० हॉवर्ड : चैंबर्स डिक्शनरी ऑव साइंटिस्ट्स (१९५२)। (शि० गो० मि०)

गिलबर्ट हंफ्री (१५३९–१५८३) ब्रिटिश सैनिक, नाविक तथा अमरीका में उपनिवेश के प्रथम संस्थापक। वे कांपटन निवासी ओटो गिलबर्ट के द्वितीय पुत्र थे। उनकी शिक्षा ईटन तथा ऑक्सफोर्ड में हुई। जुलाई, १५६६ ई० में आयरलैंड में कप्तान के पद पर नियुक्त हुए। १५६९ ई० में मन्स्टर के राज्यपाल बने। १५७० ई० में 'नाइट' की उपाधि से संमानित किए गए। १७५१ ई० में प्लाईमाउथ के संसद् सदस्य निर्वाचित हुए। उन्होंने उत्तर-पश्चिमी मार्ग खोजने और उपनिवेश स्थापन की आज्ञा ११ जून, १५७८ को प्राप्त की। इसका प्रथम प्रयास उन्होंने १५७९ ई० में किया जो असफल रहा। १५८२ ई० में साउथैम्प्टन के अन्वेषकों के साथ द्वितीय प्रयास की तैयारी और ११ जून, १५८३ ई० को महारानी से आशीर्वाद और पाँच जहाजों के साथ प्लाईमाउथ से प्रस्थान किया। ३० जुलाई को न्यू फाउंडलैंड के पास तथा ३ अगस्त को सेंट जान्स द्वीप पर पहुँचे। ५ अगस्त से अमरीका में प्रथम आंग्ल उपनिवेश की स्थापना प्रारंभ की। दक्षिण के लिये तीन जहाजों के साथ प्रस्थान किया जिसमें सबसे बड़ा जहाज २९ अगस्त को ब्रेटान अंतरीप में नष्ट हो गया। ३१ अगस्त को इंग्लैंड के लिये प्रस्थान किया। अजोर्स के निकट दुर्घटनाग्रस्त हो गए परंतु ६ सितंबर को जीवित मिले। १५ सितंबर, १५८३ ई० को हुई एक अन्य दुर्घटना में मृत्यु हुई। (कैं० ना० सिं०)

गीकी, सर आर्किबाल्ड (१८३५–१९२४ ई०) प्रसिद्ध भूविज्ञानविद्। इनका जन्म २८ दिसंबर, १८३५ को एडिनबरा में हुआ था। आपकी उच्च शिक्षा एडिनबरा विश्वविद्यालय में हुई। सन् १८५५ में आपकी नियुक्ति भौमिकी सर्वेक्षण विभाग में हुई। आपने यहाँ पर जो कार्य किया वह बड़ा सराहनीय रहा। स्कॉटलैंड की भौमिकी पर आपके लेख बहुत सारगर्भित थे। फलस्वरूप सन् १८६७ में जब स्कॉटलैंड में भौमिकी सर्वेक्षण विभाग की प्रथम शाखा स्थापित हुई तब आपको उसका संचालक बनाया गया। सन् १८७१ में आपकी नियुक्ति एडिनबरा विश्वविद्यालय में मरचिसन प्रोफेसर ऑव जियॉलॉजी ऐंड मिनरॉलोजी के पद पर हुई। इन दोनों पदों का कार्यभार आपने सन् १८८१ तक सँभाला। इसके उपरांत आप ग्रेट ब्रिटेन के भौमिकी सर्वेक्षण विभाग के महानिदेशक (Director General) तथा लंदन के भौमिकी संग्रहालय के संचालक चुने गए। सन् १९०१ में आपने अवकाश ग्रहण किया।

सन् १८९२ में आप ब्रिटिश ऐसोसिएशन के सभापति चुने गए तथा सन् १९०८ में आप रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। सन् १९१४ में आपको 'आर्डर ऑव मेरिट' मिला। आपकी मृत्यु १० नवंबर, १९२४ ई० को सरे में हास्लेमेर के निकट हुई।

आपने भौमिकी पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। आपकी टेक्स्टबुक ऑव जियॉलोजी तो आज भी संदर्भग्रंथ के रूप में मान्य है। (म० ना० मे०)

गीज (कुल) फ्रांस के लोरेन राजवंश की अत्यधिक विख्यात शाखा जिसन १६वीं शताब्दी में पूर्ण वैभव प्राप्त किया था। लोरेन के ड्यूक रेने द्वितीय ने लोरेन वंश की दोनों शाखाओं को एक सूत्र में बाँधा। उसके ज्येष्ठ अनुजीवित पुत्र ऐंथोनी लोरेन ने ड्यूक की पदवी प्राप्त की जबकि द्वितीय पुत्र क्लाद क्रमश: काउंट और गीज के ड्यूक की पदवियों से सुशोभित हुआ।

क्लाद (१४९५-१५५०) गीज़ का प्रथम ड्यूक था। इसे फ्रेंच दरबार में शिक्षा मिली। इसने फ्रांसिस प्रथम के प्रति अनन्य भक्ति दिखाई। इसने सैनिक जीवन अपनाया और मैरिगनैनो के युद्ध में ख्याति प्राप्त की तथा १५२६ ई० में लोरेन स्थित अनाबप्तिस्ती के विद्रोह का दमन करने के प्रतिफल स्वरूप गीज के ड्यूक की पदवी प्राप्त की। इसक पश्चात् १५४२ ई० में लक्जेम्बर्ग की चढ़ाई में इसे विशेष ख्याति मिली। इसका विवाह बूरबान कुल की आंत्वानेत से १५१३ ई० में हुआ था जिससे १२ संतानें हुई। इसकी पुत्री मेरी का विवाह स्काटलैंड के जेम्स पंचम से हुआ जो स्काट्स की रानी मेरी की माँ थी।

फ्रांसिस (१५१९-६८) गीज़ का द्वितीय ड्यूक तथा क्लाद का पुत्र था। आगे चलकर यह महान् सेनाध्यक्ष तथा कैथोलिक नेता हुआ। चार्ल्स पंचम (१५५२) के विरुद्ध इसने मेट्स की रक्षा सफलतापूर्वक की। रेंटी के युद्ध (१५५४) मे इसे विशेष ख्याति मिली। नेपिल्स की चढ़ाई (१५५६) का इसन नेतृत्व किया तथा १५६८ ई० मे इंग्लैंड से कैले छीन लिया। कैले के घेरे में ही (१५६८) एक ह्यूगोनाट के हाथों इसकी मृत्यु हुई। इसने एस्ते की ऐन से १५४८ ई० में विवाह किया था।

हेनरी प्रथम (१५५०-८८) गीज़ का तृतीय ड्यूक था। फ्रांसिस का पुत्र होने के कारण उसे कैथोलिक दल का नेतृत्व मिला। इसने प्वाइटी-यर्स, जारनैक तथा डारमैंस के युद्ध किए। यह सेंट बार्थलोम्यू (१५७२) के रक्तपात का उत्तरदायी था। इसकी राजा बनने की महत्वाकांक्षा थी किंतु हेनरी तृतीय की आज्ञा से ब्लवा में इसका वध कर दिया गया। इसका विवाह क्लीव्स की कैथरीन से हुआ था जिससे १४ संतानें थी। चार्ल्स चतुर्थ (१५७१-१६४०) गीज का चतुर्थ ड्यूक था, हेनरी प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र। अपने पिता की मृत्यु पर इसे तीन वर्ष जेल में रखा गया। १५९१ ई० में इसे मुक्ति मिली। इसने हेनरी चतुर्थ को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं और विद्रोही राजाओं तथा प्रोटेस्टेंटों के विरुद्ध संघर्ष करता रहा। १६१३ ई० में रिशलू द्वारा देशनिकाला होने पर इसने इटली में अपना जीवन समाप्त कर दिया।

हेनरी द्वितीय (१६१४-६४) गीज़ का पंचम ड्यूक तथा चार्ल्स चतुर्थ का पुत्र था। यह १६२९ ई० में रेम्स का आर्चबिशप हुआ और १६४० में ड्यूक का पद प्राप्त किया। यह रिशलू के विरुद्ध षड्यंत्र में संमिलित हुआ था जिसपर इसे मृत्युदंड मिला और इसे फ्लांडर्स में शरण लेनी पड़ी। १६४७ ई० में इसने नेपिल्स का राजमुकुट हथियाना चाहा, और १६४८ से १६५२ ई० तक स्पेन में बंदी रहा। १६५२ ई० में किसी प्रकार जेल से निकल भागा और फिर एक बार नेपिल्स जीतने का प्रयत्न किया किंतु असफल रहा। १६५५ ई० में यह फ्रांस का हाई चैंबरलेन हुआ।

लुई जोजेफ (१६५०-७१) हेनरी द्वितीय का भतीजा तथा गीज का षष्ठ ड्यूक था। फ्रांसिस जोज़ेफ, (१६७०-७५) लुई जोज़ेफ का पुत्र तथा सप्तम् और गीज़ का अंतिम ड्यूक था। इसकी मृत्यु पर गीज की ड्यूक शृंखला समाप्त हो गई और पद तथा जागीर दोनों उसकी चाची, लोरेन की मेरी के पास चली गई जो चतुर्थ ड्यूक की पुत्री और गीज की डचेस (१६१५-८८) थीं।

सं० ग्रं०—आर० डी० बूइली : गीज के ड्यूक्स का इतिहास, भाग चतुर्थ (१९४९); एच० एम० विलियम्स : गीज के ड्यूक का इतिहास, भाग द्वितीय (१९१८)। (गि० शं० मि०)

गीज़र तप्त जल का प्राकृतिक फौवारा जो वाष्पयुक्त मेघाच्छन्न जल स्तंभ सरीखा जान पड़ता है। इस प्रकार के जलस्रोत अमरीका में यलो स्टोन राष्ट्रीय उद्यान में हैं। वहाँ २०० सक्रिय गीज़र बताए जाते हैं। आइसलैंड में रेकजाविक से सत्तर मील दूर ज्वालामुखी की राखों के मैदान के बीच दूसरा गीज़र समूह है। वहाँ दस मील की परिधि में दर्जनों गीज़र हैं। तीसरा गीज़र समूह न्यूजीलैंड में है। अधिकांश गीज़रों से जल के फौवारे निकलने का कोई निश्चित क्रम अथवा समय नहीं है। यह कहना कठिन है कि गीज़र कब फूटेगा। अनेक घंटे भर के भीतर कई बार छूटते हैं। कुछ घंटो, दिनों, महीनों सुप्त रहते हैं। कुछ के जल का उछाल कुछ ही फुट ऊँचा होता और कुछ मे जल सौ फुट से भी ऊँचे जाता है। यलो स्टोन उद्यान स्थित 'ओल्ड फेथफुल' नामक गीज़र प्राय: ६५ मिनट में एक बार ६ सेकेंड के लिये फूटता है। और उसका जल १२० से १५० फुट ऊँचे तक जाता है।

गीज़र प्राय: नदी अथवा झीलो के तटवर्ती प्रदेशों में होता है जहाँ जल पृथिवी में रिसकर धरातल तक एक नाली के रूप में पहुँचता है। ठंढा जल इस नाली के भाग से ऐसे चट्टानो तक पहुँच जाता है जो पृथिवी के भीतर अत्यंत तप्त अवस्था में हैं। तल का पानी इन तप्त चट्टानों के संसर्ग से गर्म होता है किंतु ऊपर पानी का स्तंभ होने के कारण उबल नही पाता। धीरे धीरे जलस्तंभ के नीचे का भाग उबाल के ताप से ऊँचा उठता है और भाप बनना आरंभ होता है। उठते हुए बबूलों से पानी को ऊपर उठाता है और पानी को नाली के मुँह की ओर उछालता। इससे पानी के स्तंभ में हलकापन आता और अधिक पानी वाष्प का रूप धारण करने लगता है। तब अकस्मात् तल के निकट का पानी भाप के रूप में विस्तृत होता है और शेष भाप को बाहर की ओर विस्फोट करने को बाध्य करता है। घरों में भी पानी गर्म करने के लिये जो उपकरण आजकल प्रयोग में आते हैं उन्हें गीज़र कहते हैं। (प० ला० गु०)

गीजा अफ्रीका महाद्वीप में मिस्र के उत्तरी भाग में नील नदी के किनारे *स्थित प्रांत और नगर (स्थिति : ३०° १' उ० अ० तथा ३१° ११'* पू० दे०)। मिस्र की राजधानी कैरो इसके पास ही स्थित है। नगर के प्राचीन भग्नावशेष इसके प्राचीन वैभव की याद दिलाते हैं। मिस्र के पिरामिड, जो यहाँ से पाँच मील पश्चिम स्थित हैं, इसी नगर के नाम पर 'गीजा के पिरामिड' कहे जाते हैं। ये पिरामिड अपनी अद्‌भुत कला के कारण संसार के आश्चर्यो में गिने जाते हैं। प्राचीन वैभव नष्ट हो जाने पर भी नगर उन्नतिशील अवस्था में है। (कै० ना० सिं०)

गीजेर, एरिक गुस्ताव (१७८३–१८४७ ई०) स्वीडिश इतिहासकार, कवि और संगीतज्ञ। इनके विचारों पर जर्मन दर्शन का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। सन् १८०९-१० में इन्होंने इंग्लैंड की यात्रा की जिसका विवरण इन्होंने अपनी पुस्तक 'इंप्रेशंस ऑव इंग्लैंड' में दिया है। स्वीडिश रोमांटिक साहित्य को इन्होंने गॉथिक कला में लोगों की रुचि जगाकर एक नया तत्व दिया। इनकी 'वाइकिंग' (Viking) कविताओं में गॉथिक तत्व की प्रधानता है। इनकी मुख्य कविताएँ 'ओडल-बांडेन' (द पीज़ैंट फ्री-होल्डर) तथा 'देन लिटिल कोलार्गासिन' (द लिटिल चारकोल बर्नर) हैं। अपने लेखक जीवन के प्रारंभिक दिनों में ये रूढ़िवादी थे लेकिन बाद में इनकी विचारधारा काफी उदार हो गई थी और स्वीडन में उदारवादी परंपरा को विकसित करने में इनका बड़ा हाथ रहा है। 'स्वेंस्का फॉकेट्स हिस्तोरिया' (Svenska folkats historia) में, जो तीन भागों में छपा, इन्होंने सन् १६५४ तक के स्वीडन के इतिहास पर व्यापक प्रकाश डाला। 'स्वेया रीका' (Svea Rikes) में इनका विचार स्वीडन के पूरे इतिहास को देने का था लेकिन इसे ये पूरा नहीं कर पाए। इतिहासज्ञ के रूप में इन्होंने घटनाओं पर जोर न देकर इतिहास का निर्माण करनेवाले व्यक्तियों को अधिक महत्व दिया। (तु० ना० सिं०)

गीत स्वर, पद और ताल से युक्त जो गान होता है वह गीत कहलाता है।

गिलोय यह गुडूची कुल (मेनिस्पर्मेसिई, Menispermaceae) की टिनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया (Tinospora Cordyfolia) नामक लता जाति की आरोही वनस्पति है, जो तिक्त ज्वरनाशक वनौषधि के रूप में लोकप्रसिद्ध है। इसे गुडूची (संस्कृत), गुरुच, गुड़ूच या गिलोय (हिंदी), गुलंच (बँगला) अथवा गुलवेल (मराठी) कहते हैं। यह बहुवर्षायु, मांसल और ऊँचे वृक्षों पर चढ़नेवाली लता है। इसके पत्र एकांतर, मसृण और हृदयाकृति तथा फूल छोटे, पीले रंग के और गुच्छों में निकलते हैं। फल पकने पर मटर के बराबर, गोल और लाल रंग के होते हैं। काड की अंतस्त्वचा हरे रंग की और मांसल होती है। ग्रीष्म ऋतु में, वर्षा के पूर्व, इसका संग्रह होता है, परंतु चिकित्सा में ताजी गिलोय का प्रयोग अच्छा समझा जाता है। इसमें तिक्त ग्लुकोसाइड और दारुहारिद्रिक (Berberine) अत्यल्प प्रमाण में और स्टार्च प्रचुर मात्रा में होता है।

इसे कटुपौष्टिक, दीपक, पित्तसारक, संग्राहक, त्वग्रोगहर, मूत्रजनक और ज्वरघ्न माना जाता है। इसलिये ज्वर, जीर्ण अतिसार एवं रक्तातिसार, अम्लपित्त, सूजाक, प्रमेह तथा कुष्ठादि त्वचा के रोगों में किसी न किसी रूप में इसके कांड का, अथवा इससे निकले हुए स्टार्च (गुडूचीसत्व) का, प्रयोग होता है। (ब० सिं०)

गिलबर्ट एटॉल्स (Attols) के १६ द्वीपों का समूह (स्थिति: ३° से ४° द० अ० तथा १७८° से १७७° पू० दे०)। मुख्य द्वीप मैकिन, कुटारी टारी, सराकी, अबाइंग, तराबा, कुरिप, अरनुका, नोनौटी आदि हैं। क्षेत्रफल लगभग १०० वर्ग मील है। इन द्वीपों की खोज सर्वप्रथम स्पेन के अन्वेषक मेंडाना (Mendana) ने सन् १५६७-६८ में की थी, परंतु प्रमाण के अभाव में खोज का श्रेय ब्रिटिश जलसेना को मिला जो सन् १७६४ में यहाँ पहुँची। १९४२ ई० में यह द्वीप जापानी आक्रमण से प्रभावित हुआ था। वर्तमान काल में प्रशासन प्रशांत उच्चायुक्त द्वारा होता है। यहाँ की जलवायु गरम और तर है। औसत वार्षिक वर्षा ४०" से १००" होती है। ताप दिन में २७°-३२° सें० तक रहता है पर रात्रि में २१° सें० तक हो जाता है। प्रमुख उपज नारियल और खजूर है और प्रमुख निर्यात खोपरा और रासायनिक खाद। यहाँ के निवासी माइक्रोनेसियन नस्ल के हैं। (कै० ना० सिं०)

गिलबर्ट, सर जोसेफ़ हेनरी (१८१८-१९०१) अँगरेज रसायनज्ञ। इनका जन्म हल (Hull) नामक स्थान में २ अगस्त, सन् १८१७ को हुआ था। इनकी शिक्षा दीक्षा पहले ग्लासगो और फिर लंदन में हुई। बाद में ये जर्मन वैज्ञानिक लीबिख के यहाँ गीसेन भी गए। सन् १८६० में इन्हें एफ० आर० एस० की उपाधि मिली। सन् १८८४ में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में रूरल इकॉनोमी के प्रोफेसर हुए।

गिलबर्ट का नाम लाज़ के नाम के साथ स्मरण किया जाता है। लाज़ ने इनके सहयोग से सन् १८४३ में रॉथैम्स्टेड के प्रायोगिक केंद्र (Rothamsted Experimental Station) की स्थापना की थी। तब से आज तक अबाध गति से उनके प्रचारित प्रयोग चालू हैं। ये प्रयोग मिट्टी की उर्वरता, उर्वरकों के सफल प्रयोग एवं पौधों द्वारा निकाले गए जल की मात्रा से संबंधित हैं।

जिन दिनों गिलबर्ट ने लाज के सुझाव पर रॉथैम्स्टेड में कृषि विज्ञान पर कार्य प्रारंभ किया, जर्मनी में लीबिख का बोलबाला था। उनके 'खनिज सिद्धांत' (Mineral Theory) ने उर्वरकों के उपयोग एवं निर्माण में एक नवीन क्रांति ला दी थी। गिलबर्ट ने नाइट्रोजन एवं फास्फेट द्वारा मिट्टियों की उर्वरता संबंधी लीबिख की अनेक मान्यताओं को रॉथैम्स्टेड में दोहराया और उनमें से कई को असत्य भी सिद्ध किया। इन समस्त प्रयोगों का विवरण उन शोध निबंधों में मिलता है जिन्हें १० भागों में रॉथैम्स्टेड मेम्वॉयर्स (Rothamsted Memoirs) के नाम से संकलित कर दिया गया है। इन प्रयोगों की विस्तृत विवेचना ए० डी० हाल द्वारा लिखित पुस्तक 'द बुक ऑव रॉथैम्स्टेड एक्सपेरिमेंट्स' (The Book of [Ro]thamsted Experiments) में भी मिलती है। इन प्रयोगों की बातें इस प्रकार हैं:

१. फसलों को फास्फेटीय तथा क्षारीय लवणों की आवश्यकता पड़ती है, परंतु लीबिख द्वारा प्रचारित राख की संरचना से इनकी आवश्यकता की पूरी पूरी जानकारी नहीं हो पाती।

२. अदालीय फसलों (non-leguminous crops) को नाइट्रोजनीय यौगिकों की आवश्यकता पड़ती है। बिना इन यौगिकों के फसलों का समुचित विकास नहीं हो पाता। वायुमंडल में वर्तमान ऐमोनिया इतनी अल्प मात्रा में है कि उससे फसलों की नाइट्रोजन पूर्ति असंभव है।

३. कृत्रिम उर्वरकों द्वारा भूमि की उर्वरता को स्थिर रखा जा सकता है, भले ही वह कुछ वर्षों के लिये हो।

४. परती डालने से भूमि में नाइट्रोजन यौगिक अधिकाधिक उपलब्ध होते हैं। यही कारण है कि परती रखने के बाद भूमि में अच्छी फसलें होती हैं।

२३ दिसंबर, १९०१ ई० को गिलबर्ट की मृत्यु हार्पेंडेन (हर्ट्‌ज) में हुई।

सं० ग्रं०—ए० वी० हॉवर्ड: चैंबर्स डिक्शनरी ऑव साइंटिस्ट्स (१९५२)। (शि० गो० मि०)

गिल्बर्ट हंफ्री (१५३९-१५८३) ब्रिटिश सैनिक, नाविक तथा अमरीका में उपनिवेश के प्रथम संस्थापक। वे कॉपटन निवासी ओथो गिल्बर्ट के द्वितीय पुत्र थे। उनकी शिक्षा ईटन तथा आक्सफोर्ड में हुई। जुलाई, १५६६ ई० में आयरलैंड में कप्तान के पद पर नियुक्त हुए। १५६९ ई० में मस्टर के राज्यपाल बने। १५७० ई० में 'नाइट' की उपाधि से संमानित किए गए। १५७१ ई० में प्लाईमाउथ के संसद् सदस्य निर्वाचित हुए। उन्होंने उत्तर-पश्चिमी मार्ग खोजने और उपनिवेश स्थापन की आज्ञा ११ जून, १५७८ को प्राप्त की। इसका प्रथम प्रयास उन्होंने १५७९ ई० में किया जो असफल रहा। १५८२ ई० में साउथैम्प्टन के अन्वेषकों के साथ द्वितीय प्रयास की तैयारी और ११ जून, १५८३ ई० को महारानी से आशीर्वाद और पाँच जहाजों के साथ प्लाईमाउथ से प्रस्थान किया। ३० जुलाई को न्यू फाउंडलैंड के पास तथा ३ अगस्त को सेंट जान्स द्वीप पर पहुँचे। ५ अगस्त से अमरीका में प्रथम आंग्ल उपनिवेश की स्थापना प्रारंभ की। दक्षिण के लिये तीन जहाजों के साथ प्रस्थान किया जिसमें सबसे बड़ा जहाज २९ अगस्त को ब्रेटान अंतरीप में नष्ट हो गया। ३१ अगस्त को इंग्लैंड के लिये प्रस्थान किया। अजोर्स के निकट दुर्घटनाग्रस्त हो गए परंतु ९ सितंबर को जीवित मिले। १५ सितंबर, १५८३ ई० को हुई एक अन्य दुर्घटना में मृत्यु हुई। (कै० ना० सिं०)

गीकी, सर आर्किबाल्ड (१८३५-१९२४ ई०) प्रसिद्ध भूविज्ञानविद्। इनका जन्म २८ दिसंबर, १८३५ को एडिनबरा में हुआ था। आपकी उच्च शिक्षा एडिनबरा विश्वविद्यालय में हुई। सन् १८५५ में आपकी नियुक्ति भौमिकी सर्वेक्षण विभाग में हुई। आपने यहाँ पर जो कार्य किया वह बड़ा सराहनीय रहा। स्कॉटलैंड की भौमिकी पर आपके लेख बहुत सारगर्भित थे। फलस्वरूप सन् १८६७ में जब स्कॉटलैंड में भौमिकी सर्वेक्षण विभाग की प्रथम शाखा स्थापित हुई तब आपको उसका संचालक बनाया गया। सन् १८७१ में आपकी नियुक्ति एडिनबरा विश्वविद्यालय में मरचिसन प्रोफेसर ऑव जियॉलाजी ऐंड मिनरॉलोजी के पद पर हुई। इन दोनों पदों का कार्यभार आपने सन् १८८१ तक सँभाला। इसके उपरांत आप ग्रेट ब्रिटेन के भौमिकी सर्वेक्षण विभाग के महानिदेशक (Director General) तथा लंदन के भौमिकी संग्रहालय के संचालक चुने गए। सन् १९०१ में आपने अवकाश ग्रहण किया।

सन् १८९२ में आप ब्रिटिश ऐसोसिएशन के सभापति चुने गए तथा सन् १९०९ में आप रॉयल सोसायटी के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। सन् १९१४ में आपको 'आर्डर ऑव मेरिट' मिला। आपकी मृत्यु १० नवंबर, १९२४ ई० को सरे में हास्लेमेर के निकट हुई।

आपने भौमिकी पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। आपकी टेक्स्टबुक ऑव जियॉलोजी तो आज भी संदर्भग्रंथ के रूप में मान्य है। (म० ना० मे०)

गीज (कुल) फ्रांस के लोरेन राजवंश की अत्यधिक विख्यात शाखा जिसने १६वीं शताब्दी में पूर्ण वैभव प्राप्त किया था। लोरेन के ड्यूक रेने द्वितीय ने लोरेन वंश की दोनों शाखाओं को एक सूत्र में बाँधा। उसके ज्येष्ठ अनुर्जीवित पुत्र ऐंथोनी लोरेन ने ड्यूक की पदवी प्राप्त की जबकि द्वितीय पुत्र क्लाद क्रमश: काउंट और गीज के ड्यूक की पदवियों से सुशोभित हुआ।

क्लाद (१४६६-१५५०) गीज़ का प्रथम ड्यूक था। इसे फ्रेंच दरबार में शिक्षा मिली। इसने फ्रांसिस प्रथम के प्रति अनन्य भक्ति दिखाई। इसने सैनिक जीवन अपनाया और मैरिगनैनो के युद्ध में ख्याति प्राप्त की तथा १५२६ ई० में लोरेन स्थित अनाबप्तिस्तों के विद्रोह का दमन करने के प्रतिफल स्वरूप गीज के ड्यूक की पदवी प्राप्त की। इसके पश्चात् १५४२ ई० में लक्जेमबर्ग की चढ़ाई में इसे विशेष ख्याति मिली। इसका विवाह बूरबान कुल की आंत्वानेत से १५१३ ई० में हुआ था जिससे १२ संतानें हुईं। इसकी पुत्री मेरी का विवाह स्काटलैंड के जेम्स पंचम से हुआ जो स्काट्स की रानी मेरी की माँ थी।

फ्रांसिस (१५१६-६८) गीज का द्वितीय ड्यूक तथा क्लाद का पुत्र था। आगे चलकर यह महान् सेनाध्यक्ष तथा कैथोलिक नेता हुआ। चार्ल्स पंचम (१५५२) के विरुद्ध इसने मेट्स की रक्षा सफलतापूर्वक की। रेटी के युद्ध (१५५४) में इसे विशेष ख्याति मिली। नेपिल्स की चढ़ाई (१५५६) का इसने नेतृत्व किया तथा १५६८ ई० में इंग्लैंड से कैले छीन लिया। कैले के घेरे में ही (१५६८) एक ह्यूगोनाट के हाथों इसकी मृत्यु हुई। इसने एस्ते की ऐन से १५४८ ई० में विवाह किया था।

हेनरी प्रथम (१५५०-८८) गीज़ का तृतीय ड्यूक था। फ्रांसिस का पुत्र होने के कारण उसे कैथोलिक दल का नेतृत्व मिला। इसने प्वाइटी-यर्स, जारनैक तथा डारमैंस के युद्ध किए। यह सेंट बार्थलोम्यू (१५७२) के रक्तपात का उत्तरदायी था। इसकी राजा बनने की महत्वाकांक्षा थी किंतु हेनरी तृतीय की आज्ञा से ब्लवा में इसका वध कर दिया गया। इसका विवाह क्लीव्स की कैथरीन से हुआ था जिससे १४ संतानें थीं।

चार्ल्स चतुर्थ (१५७१-१६४०) गीज का चतुर्थ ड्यूक था, हेनरी प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र। अपने पिता की मृत्यु पर इसे तीन वर्ष जेल में रखा गया। १५९१ ई० में इसे मुक्ति मिली। इसने हेनरी चतुर्थ को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं और विद्रोही राजाओं तथा प्रोटेस्टेंटों के विरुद्ध संघर्ष करता रहा। १६१३ ई० में रिशलू द्वारा देशनिकाला होने पर इसने इटली में अपना जीवन समाप्त कर दिया।

हेनरी द्वितीय (१६१४-६४) गीज का पंचम ड्यूक तथा चार्ल्स चतुर्थ का पुत्र था। यह १६२६ ई० में रेम्स का आर्चबिशप हुआ और १६४० में ड्यूक का पद प्राप्त किया। यह रिशलू के विरुद्ध षड्यंत्र में संमिलित हुआ था जिसपर इसे मृत्युदंड मिला और इसे फ्लाडर्स में शरण लेनी पड़ी। १६४७ ई० में इसने नेपिल्स का राजमुकुट हथियाना चाहा, और १६४८ से १६५२ ई० तक स्पेन में बंदी रहा। १६५२ ई० में किसी प्रकार जेल से निकल भागा और फिर एक बार नेपिल्स जीतने का प्रयत्न किया किंतु असफल रहा। १६५५ ई० में यह फ्रांस का हाई चैंबरलेन हुआ।

लुई जोज़ेफ (१६५०-७१) हेनरी द्वितीय का भतीजा तथा गीज़ का षष्ठ ड्यूक था। फ्रांसिस जोजेफ, (१६७०-७५) लुई जोजेफ का पुत्र तथा सप्तम् और गीज का अंतिम ड्यूक था। इसकी मृत्यु पर गीज़ की ड्यूक शृंखला समाप्त हो गई और पद तथा जागीर दोनों उसकी चाची, लोरेन की मेरी के पास चली गई जो चतुर्थ ड्यूक की पुत्री और गीज की डचेस (१६१५-८८) थी।

सं० ग्रं०—आर० डी० बूड्ली : गीज़ के ड्यूक्स का इतिहास, भाग चतुर्थ (१६४६); एच० एम० विलियम्स : गीज के ड्यूक का इतिहास, भाग द्वितीय (१६१८)। (गि० शं० मि०)

गीज़र तप्त जल का प्राकृतिक फौवारा जो वाष्पयुक्त मेघाच्छन्न जल स्तंभ सरीखा जान पड़ता है। इस प्रकार के जलस्रोत अमरीका में यलो स्टोन राष्ट्रीय उद्यान में हैं। वहाँ २०० सक्रिय गीज़र बताए जाते हैं। आइसलैंड में रेकजाविक से सत्तर मील दूर ज्वालामुखी की राखों के मैदान के बीच दूसरा गीज़र समूह है। वहाँ दस मील की परिधि में दर्जनों गीजर हैं। तीसरा गीजर समूह न्यूजीलैंड में है। अधिकांश गीजरों से जल के फौवारे निकलने का कोई निश्चित क्रम अथवा समय नहीं है। यह कहना कठिन है कि गीज़र कब फूटेगा। अनेक घंटे भर के भीतर कई बार छूटते हैं। कुछ घंटों, दिनों, महीनों सुप्त रहते हैं। कुछ के जल का उछाल कुछ ही फुट ऊँचा होता और कुछ में जल सौ फुट से भी ऊँचे जाता है। यलो स्टोन उद्यान स्थित 'ओल्ड फेथफुल' नामक गीजर प्राय: ६५ मिनट में एक बार ६ सेकेंड के लिये फूटता है। और उसका जल १२० से १५० फुट ऊँचे तक जाता है।

गीज़र प्राय. नदी अथवा झीलों के तटवर्ती प्रदेशों में होता है जहाँ जल पृथिवी में रिसकर धरातल तक एक नाली के रूप में पहुँचता है। ठंढा जल इस नाली के भाग से ऐसे चट्टानों तक पहुँच जाता है जो पृथिवी के भीतर अत्यंत तप्त अवस्था में हैं। तल का पानी इन तप्त चट्टानों के संसर्ग से गर्म होता है किंतु ऊपर पानी का स्तंभ होने के कारण उबल नहीं पाता। धीरे धीरे जलस्तंभ के नीचे का भाग उबाल के ताप से ऊँचा उठता है और भाप बनना आरंभ होता है। उठते हुए बबूलों में पानी को ऊपर उठाता है और पानी को नाली के मुँह की ओर उछालता। इससे पानी के स्तंभ में हलकापन आता और अधिक पानी वाष्प का रूप धारण करने लगता है। तब अकस्मात् तल के निकट का पानी भाप के रूप में विस्तृत होता है और शेष भाप को बाहर की ओर विस्फोट करने को बाध्य करता है। घरों में भी पानी गर्म करने के लिये जो उपकरण आजकल प्रयोग में आते हैं उन्हें गीज़र कहते हैं। (प० ला० गु०)

गीज़ा अफ्रीका महाद्वीप में मिस्र के उत्तरी भाग में नील नदी के किनारे स्थित प्रांत और नगर (स्थिति : ३०° १' उ० अ० तथा ३१° ११' पू० दे०)। मिस्र की राजधानी कैरो इसके पास ही स्थित है। नगर के प्राचीन भग्नावशेष इसके प्राचीन वैभव की याद दिलाते हैं। मिस्र के पिरामिड, जो यहाँ से पाँच मील पश्चिम स्थित हैं, इसी नगर के नाम पर 'गीज़ा के पिरामिड' कहे जाते हैं। ये पिरामिड अपनी अद्भुत कला के कारण संसार के आश्चर्यों में गिने जाते हैं। प्राचीन वैभव नष्ट हो जाने पर भी नगर उन्नतिशील अवस्था में है। (कै० ना० सिं०)

गीजेर, एरिक गुस्ताव (१७८३–१८४७ ई०) स्वीडिश इतिहासकार, कवि और संगीतज्ञ। इनके विचारों पर जर्मन दर्शन का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। सन् १८०९-१० में इन्होंने इंग्लैंड की यात्रा की जिसका विवरण इन्होंने अपनी पुस्तक 'इंप्रेशंस ऑव इंग्लैंड' में दिया है। स्वीडिश रोमांटिक साहित्य को इन्होंने गॉथिक कला में लोगों की रुचि जगाकर एक नया तत्व दिया। इनकी 'वाइकिंग' (Viking) कविताओं में गॉथिक तत्व की प्रधानता है। इनकी मुख्य कविताएँ 'ओडल-बाडेन' (द पीजैंट फ्री-होल्डर) तथा 'देन लिटिल कोलार्गासेन' (द लिटिल चारकोल बर्नर) हैं। अपने लेखक जीवन के प्रारंभिक दिनों में ये रूढ़िवादी थे लेकिन बाद में इनकी विचारधारा काफी उदार हो गई थी और स्वीडन में उदारवादी परंपरा को विकसित करने में इनका बड़ा हाथ रहा है। 'स्वेंस्का फॉकेट्स हिस्तोरिया' (Svenska folkats historia) में, जो तीन भागों में छपा, इन्होंने सन् १६५४ तक के स्वीडन के इतिहास पर व्यापक प्रकाश डाला। 'स्वेया रीका' (Svea Rikes) में इनका विचार स्वीडन के पूरे इतिहास को देने का था लेकिन इसे ये पूरा नहीं कर पाए। इतिहासज्ञ के रूप में इन्होंने घटनाओं पर जोर न देकर इतिहास का निर्माण करनेवाले व्यक्तियों को अधिक महत्व दिया। (तु० ना० सिं०)

गीत स्वर, पद और ताल से युक्त जो गान होता है वह गीत कहलाता है।

प्राचीन समय में जिस गान मे सार्थक शब्दों के स्थान पर निरर्थक या शुष्काक्षरों का प्रयोग होता था वह निर्गीत या बहिर्गीत कहलाता था। तनोम, तननन या दाड़ा दिड़ दिड़ या दिग्ले भट्टु भंट्टु इत्यादि निरर्थक अक्षरवाला गान निर्गीत कहलाता था। आजकल का तराना निर्गीत की कोटि मे आएगा।

भरत के समय मे गीति के आधारभूत नियत पदसमूह को 'ध्रुवा' कहते थे। नाटक मे प्रयोग के अवसरो मे भेद होने के कारण पाँच प्रकार के ध्रुवा होते थे, यथा, प्रावेशिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी और अतरा।

स्वर और ताल में जो बँधे हुए गीत होते थे वे लगभग ९वी १०वी सदी से 'प्रबंध' कहलाने लगे। प्रबंध का प्रथम भाग, जिससे गीत का प्रारभ होता था, 'उद्ग्राह' कहलाता था, द्वितीय भाग 'मेलापक' और तृतीय 'ध्रुव' कहलाता था। यह गीत का वह अंश होता था जिसे बार बार दुहराते थे और जो छोड़ा नहीं जा सकता था। 'ध्रुव' शब्द का अर्थ ही है 'निश्चित, स्थिर'। इस भाग को आजकल की भाषा मे 'टेक' कहते है।

अंतिम भाग को 'आभोग' कहते थे। कभी कभी ध्रुव और आभोग के बीच मे भी पद होता था जिसे 'अंतरा' कहते थे। अतरा का पद प्रायः 'सालगसूड' नामक प्रबंध मे ही होता था। जयदेव का 'गीतगोविंद' प्रबंध में लिखा गया है। प्रबंध कई प्रकार के होते थे जिनमे थोड़ा थोड़ा भेद होता था। प्रबंध गीत का प्रचार लगभग चार सौ वर्ष तक रहा। अब भी कुछ मंदिरो में कभी कभी पुराने प्रबंध सुनने को मिल जाते हैं।

प्रबंध के अनंतर 'ध्रुवपद' गीत का काल आया। यह प्रबंध का ही रूपांतर है। ध्रुवपद मे उद्ग्राह के स्थान पर पहला पद 'स्थायी' कहलाया। इसके स्थायी का ही एक टुकड़ा बार बार दुहराया जाता है। दूसरे पद को 'अतरा' कहते है, तीसरे को 'संचारी' और चौथे को 'आभोग'। कभी कभी दो या तीन ही पद के ध्रुवपद मिलते हैं। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (१५वीं सदी) के द्वारा ध्रुवपद को बहुत प्रोत्साहन मिला। तानसेन ध्रुवपद के ही गायक थे। ध्रुवपद प्रायः चौताल, आड़ा चौताल, सूलफाक, तीव्रा, रूपक इत्यादि तालों मे गाया जाता है। धमार ताल में अधिकतर 'होरी' गाई जाती है।

१४वीं सदी में अमीर खुसरो ने खयाल या ख्याल गायकी का प्रारंभ किया। १५वीं सदी में जौनपुर के शर्की राजाओं के समय में खयाल की गायकी पनपी, किंतु १८वी सदी मे यह मुहम्मदशाह के काल में पुष्पित हुई। इनके दरबार के दो गायक अदारंग और सदारंग ने सैकड़ों खयालो की रचना की। खयाल में दो ही तुक होते है—स्थायी और अंतरा। खयाल अधिकतर एकताल, आड़ा चौताल, झूमरा और तिलवाड़ा मे गाया जाता है। इसको अलाप, तान, बोलतान, लयबाँट इत्यादि से सजाते है। आजकल यह गायकी बहुत लोकप्रिय है।

ठुमरी में अधिकतर श्रृंगार के पद होते हैं। यह पंजाबी ठेका, दीपचंदी इत्यादि तालो में गाई जाती है। ठुमरी दो प्रकार की होती है—एक बोल आलाप की ठुमरी और दूसरी बोल बाँट की ठुमरी। पहले प्रकार की ठुमरी मे बोल या कविता की प्रधानता होती है। स्वर द्वारा बोल के भाव व्यक्त किए जाते हैं। बोल बाँट ठुमरी में लय की काँट छाँट का अधिक काम रहता है।

दादरा गीत अधिकतर दादरा ताल मे गाया जाता है। कभी कभी यह कहरवा ताल में भी गाया जाता है। इसमे भी स्थायी और अंतरा ये दो ही तुक होते है। टप्पा अधिकतर पंजाबी भाषा मे मिलता है। इसमे भी स्थायी और अंतरा दो तुक होते है। इसकी तानें द्रुत लय में होती हैं और एक विचित्र कंप के साथ चलती हैं। गिटकिरी और जमजमा टप्पे की विशेषता है।

चतुरंग गीत में, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, चार अंग होते हैं—(१) बोल या साहित्य, (२) तर्राना, (३) सरगम, (४) मृदंग या तबले के बोल।

साक्षर सरगम या सार्थ सरगम—इस गीत में षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद इनके प्रथम सांकेतिक अक्षर स, रे, ग, म, प, ध, नि इस प्रकार से बाँधे जाते है कि इनका कुछ अर्थ भी निकलता है। जिस राग का सरगम होता है उसी राग के स्वर प्रयुक्त होते हैं।

सरगम अथवा स्वरावर्त अथवा स्वरसाहित्य अथवा स्वरमालिका—इस प्रकार के गीत मे किसी विशिष्ट राग का सरगम ताल मे निबद्ध होता है। इसमें केवल स्वर की बंदिश होती है। उसका कोई अर्थ नहीं होता। 'तर्राना या तिल्लाना'—इसमे 'त नोम तनन तदरे दानि' इत्यादि अक्षर किसी विशिष्ट राग या ताल मे निबद्ध होते है। कभी कभी इसमें मृदंग या तबले के बोल भी होते है। अथवा फारसी या संस्कृत का कोई पद भी संमिलित कर लिया जाता है। इस प्रकार के गीत को हिंदुस्तानी संगीत मे प्रायः तर्राना कहते है और कर्णाटक संगीत मे तिल्लाना।

सादरा—ध्रुवपद अंग से जो गीत मध्य या द्रुत लय मे झपताल में गाया जाता है उसे 'सादरा' कहते हैं।

रागमालिका या रागमाला या रागसागर—एक ही गीत के भिन्न भिन्न पद या अंश जब भिन्न भिन्न रागो मे बँधे होते हैं तो उसे रागमालिका या रागमाला कहते है। हिंदुस्तानी संगीत मे इस प्रायः रागसागर कहते है। इसमे प्रायः भिन्न भिन्न रागो के नाम भी आ जाते है। बंदिश इस प्रकार होनी चाहिए कि गीत भिन्न भिन्न अंशो का समुच्चय मात्र न जान पड़े, किंतु वे परस्पर संहत या संश्लिष्ट हों जिससे सारे गीत से एक भाव या अर्थ सूचित होता हो।

कीर्तन और कृति—इस प्रकार के गीत कर्णाटक संगीत में होते है। इसके प्रथम भाग को पल्लवी कहते है जो हिंदुस्तानी संगीत के स्थायी जैसा होता है, द्वितीय भाग को अनुपल्लवी कहते हैं जो हिंदुस्तानी संगीत के अंतरा जैसा होता है। अन्य भाग या पद 'चरणम्' कहलाते हैं। कृति में भिन्न भिन्न स्वरसंगतियाँ आती है जबकि कीर्तन सीधा सादा होता है। त्यागराज ने बहुत सी कृतियों की रचना की। इस प्रकार के गीतो के और प्रसिद्ध रचयिता श्याम शास्त्री और मुथुस्वामी दीक्षितार हुए। दीक्षितार की रचनाएँ ध्रुवपद से मिलती जुलती है।

बंगाल के कीर्तन प्रबंध और ध्रुवपद के आधार पर बँधे हुए होते है। उनमे कुछ ऐसे भी तालों का प्रयोग होता है जो हिंदुस्तानी संगीत मे अन्यत्र नहीं मिलते, जैसे दोठुकी, लोफा, दासप्यारी, दशकुशि, चंपूपुट इत्यादि। बंगाल के कीर्तन के साथ खोल बजता है। यह एक प्रकार का नाटकीय गीत है। गीत श्रीकृष्ण और राधा से संबद्ध होते हैं और उनमें रूपानुराग, अभिसार, मिलन, आत्मनिवेदन इत्यादि का वर्णन होता है।

महाराष्ट्र में कीर्तनगान द्वारा कथा कही जाती है और भजन गाए जाते हैं। भक्तों के पद, जो त्रिताल, दादरा, कहरवा इत्यादि सरल तालो मे बँधे होते हैं, 'भजन' कहलाते है। कर्णाटक शैली मे 'पद' गीत विलंबित लय में बँधा होता है। इसमे श्रृंगार रस प्रधान होता है। यह प्रायः नृत्य के साथ गाया जाता है। जावड़ि गीत भी कर्णाटक मे ही प्रचलित है। इसमें भी श्रृंगार रस ही प्रधान होता है, किंतु इसकी लय पद की लय की अपेक्षा द्रुत और चंचल होती है।

सं० ग्रं०—भरत : नाट्यशास्त्र; शार्ङ्गदेव : संगीतरत्नाकर; भातखंडे : हिंदुस्तानी संगीतपद्धति, ४ भाग; साबमूर्ति : साउथ इंडियन म्यूज़िक, ५ भाग। (ज० दे० सि०)

गीतगोविंद संस्कृत का अत्यंत ललित तथा सरस कृष्णकाव्य।

इस अमर काव्य के रचयिता महाकवि जयदेव बंगाल के अंतिम स्वतंत्र हिंदू राजा लक्ष्मणसेन (१२वीं सदी) की सभा के कविरत्नों मे अन्यतम थे। इनके पिता का नाम भोजदेव और माता का राधा (रामा) देवी था तथा जन्मस्थान बंगाल का 'केंदुबिल्व' (वर्तमान केंदुली) नामक स्थान था जहाँ आज भी इनकी स्मृति में वैष्णव भक्तो और साधकों का विशाल मेला लगता है। गीतगोविंदकार जयदेव 'पीयूषवर्ष' उपाधिधारी, 'प्रसन्नराघव' नाटक तथा 'चंद्रालोक' नामक अलंकारग्रंथ के रचयिता मैथिल जयदेव (१३वीं सदी) से भिन्न तथा प्राचीनतर है। गीतगोविंद १२ सर्गो का काव्य है जिसमें श्रीकृष्ण तथा राधा की ललित-ललाम लीलाओं का विराम-रस-निस्पंदी वर्णन है। संस्कृत भाषा के

शब्दलालित्य तथा अर्थमाधुर्य की पराकाष्ठा का प्रमुख प्रतीक गीतगोविंद काव्य है।

संस्कृत भाषा कितनी सरस, ललित तथा मधुर हो सकती है, इसके शोभन दृष्टांत के निमित्त इस काव्य की अष्टपदियाँ ही पर्याप्त हैं। शब्द-माधुर्य के निदर्शन के लिये वसंत का वर्णनपरक 'ललित-लवंग-लता-परिशीलन कोमल-मलय-समीर' वाली अष्टपदी ही यथेष्ट है। भावों का सौष्ठव भी उतना ही हृदयाकर्षक है। इस काव्य में श्रीकृष्ण आदर्श नायक तथा श्रीराधा आदर्श नायिका के रूप में चित्रित की गई हैं। इस काव्य में आध्यात्मिक रहस्यवाद की भी अभिव्यक्ति हुई है। रसिकशिरोमणि कृष्ण भगवत्तत्व के प्रतिनिधि हैं और उनकी प्रेयसी गोपिकाएँ जीव की प्रतीक हैं। फलतः राधा कृष्ण का वृंदावन की वीथी में मिलनसमारंभ जीव का भगवान् के साथ परम मंजुल प्रेमपाश में आबद्ध होने तथा परस्पर मिलने का ही प्रतीक है।

गीतगोविंद काव्य बहुत लोकप्रिय है। इस लोकप्रियता का एक प्रबल प्रमाण है इसकी विपुल व्याख्यासंपत्ति। राणा कुंभा (कुंभकर्ण, १५६३ ई०) तथा शंकर मिश्र (१७५९ ई०) की प्रकाशित व्याख्याओं के अतिरिक्त वनमाली भट्ट, विट्ठलेश्वर तथा भगवद्दास ('रसकदंबकल्लोलिनी' नामक) की व्याख्याएँ भी उपलब्ध हैं। इसका प्रभाव केवल उत्तर भारत के साहित्य पर ही नहीं, प्रत्युत महाराष्ट्र, गुजरात तथा कन्नड प्रांत के साहित्य पर भी पड़ा है। महाप्रभु चैतन्यदेव गीतगोविंद की माधुरी के परम उपासक थे और इनके पदों को गाते गाते समाधिस्थ हो जाते थे। उत्कलनरेश प्रतापरुद्र (१६वीं सदी) ने उत्कल के अनेक मंदिरों में इसके नियमित गायन के लिये भूमिदान दिया था। महानुभावी पंथ के प्रमुख कवि भास्कर भट्ट बोरीकर (१२७५ ई०–१३२० ई०) का काव्य 'शिशुपालवध' गीतगोविंद द्वारा विशेष रूप से प्रभावित है। अप्रमेय शास्त्री (१७५० ई०) ने इस ग्रंथ पर 'शृंगारप्रकाशिका' नामक व्याख्या कन्नड भाषा में लिखी है।

संस्कृत साहित्य में 'पदशैली' के निर्माण का श्रेय गीतगोविंदकार जयदेव को दिया जाना चाहिए, क्योंकि इनसे पूर्व 'अष्टपदी' लिखने की पद्धति संस्कृति में नहीं थी। इस प्रकार की शैली का उदय कृष्णलीला के संबंध में ही उत्पन्न हुआ, क्योंकि क्षेमेंद्र ने अपने 'दशावतारचरित्' महाकाव्य में कृष्ण के विरहप्रसंग में गोपियों का हृदयोद्गार गीत के रूप में किया है। गीतगोविंद से स्फूर्ति तथा प्रेरणा ग्रहण कर संस्कृत में अत्यंत सुंदर 'गीत साहित्य' का उद्गम हुआ जिसमें कवियों ने विभिन्न देवताओं के विषय में इसी शैली में तथा इन्हीं माधुर्य भावनाओं को ग्रहण कर काव्यग्रंथों का प्रणयन किया। ऐसे गीतग्रंथों में कतिपय प्रधान ग्रंथों का उल्लेख यहाँ किया जाता है—गीतगौरीपति (भानुदत्तरचित १४वीं शती), संगीतमाधव (गोविंददास १५५७ ई०–१६१२ ई०), गीतराघव (हरिशंकर, प्रभाकर तथा रामकवि के द्वारा निर्मित विभिन्न काव्य), गीतगंगाधर (कल्याण, राजशेखर तथा चंद्रशेखर सरस्वती), गीतशंकर (भीष्म मिश्र, अनंतनारायण तथा हरिकवि), गीत गणपति (कृष्णदत्त, हस्तलेख १८वीं शती), कृष्णगीत (सोमनाथ)। इनमें भानुदत्त कृत गीतगौरीपति गीतगोविंद का बड़ा ही सफल अनुकरण है। इस प्रकाशित काव्य में गौरी तथा महादेव की प्रेमलीला का रोचक साहित्यिक वर्णन किया गया है। इतर ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। प्रांतीय भाषाओं में भी गीतगोविंद की शैली पर निर्मित काव्यों का अभाव नहीं है। मैसूर के राजा चिक्कदेव राय (१६७२ ई०–१७०४ ई०) ने गीतगोविंद के आदर्श पर 'गीतगोपाल' नामक सुंदर काव्य लिखा जो कर्नाटक में प्रसिद्ध है। श्री रूपगोस्वामी ने भी जयदेव का अनुसरण कर अपनी 'स्तवमाला' में कृष्णलीला के विषय में बड़े ही सुंदर तथा हृदयावर्जक 'पदों' का प्रणयन किया है। विद्यापति की 'अभिनव जयदेव' उपाधि इस तथ्य की पर्याप्त सूचिका है कि मैथिल कोकिल की कविता पर भी जयदेव का प्रभाव कम नहीं पड़ा था। हिंदी, गुजराती तथा बँगला के पदकारों के ऊपर भी जयदेव का प्रभाव स्पष्टतः अंकित है। इस प्रकार जयदेव के इस विश्वविश्रुत काव्य का वैष्णव काव्य के विकास में बड़ा ही महत्वशाली योगदान है।

गीतगोविंद के अनेक संस्करण उपलब्ध हैं जिनमें निर्णयसागर प्रेस का संस्करण राणा कुंभकर्ण तथा शंकर मिश्र की टीकाओं से युक्त होने के कारण विशेष महत्वपूर्ण माना जाता है। इसके अनेक अनुवाद भारतीय तथा यूरोपीय भाषाओं में प्राप्त होते हैं जिनमें जर्मन कवि रुकर्ट का जर्मन अनुवाद तथा सर एड्विन आर्नल्ड का अंग्रेजी अनुवाद विशेष प्रसिद्ध है। हिंदी भाषा के प्राचीन अनुवादों में रायचंद नागर का 'गीतगोविंदादर्श' तथा भारतेंदु हरिश्चंद्र का 'गीतगोविंदानंद' ब्रजभाषा में हैं। खड़ी बोली में श्री विनयमोहन शर्मा का अनुवाद सुंदर है। मराठी में श्री परशुराम पाटणकर का समश्लोकी अनुवाद भी सुंदर है।

सं० ग्रं०—डॉ० कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, हिंदी संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६०; दासगुप्त तथा दे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर (अंग्रेजी, कलकत्ता); बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास (काशी, १९६१)। (ब० उ०)

गीता

गीता कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था वह श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध है। यह महाभारत के भीष्मपर्व का अंग है। गीता में १८ अध्याय और ७०० श्लोक हैं। जैसा गीता के शांकर भाष्य में कहा है—तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञोभगवान् गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबंध। ज्ञात होता है कि लगभग ८वीं सदी के अंत में शंकराचार्य (७८८-८२०) के सामने गीता का वही पाठ था जो आज हमें उपलब्ध है। १०वीं सदी के लगभग भीष्मपर्व का जावा की भाषा में एक अनुवाद हुआ था। उसमें अनेक मूलश्लोक भी सुरक्षित हैं। श्री बेल्वेलकर के अनुसार जावा के इस प्राचीन संस्करण में गीता के केवल साढ़े इक्यासी श्लोक मूल संस्कृत के हैं। उनसे भी वर्तमान पाठ का समर्थन होता है। गीता की गणना प्रस्थानत्रयी में की जाती है, जिसमें उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र भी संमिलित हैं। अतएव भारतीय परंपरा के अनुसार गीता का स्थान वही है जो उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रों का है। गीता पर अनेक आचार्यों एवं विद्वानों ने टीकाएँ की हैं। संप्रदायों के अनुसार उनकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार है :

(अ) अद्वैत—शांकरभाष्य, श्रीधरकृत सुबोधिनी, मधुसूदन सरस्वतीकृत गूढार्थदीपिका। (आ) विशिष्टाद्वैत—यामुनाचार्य कृत गीता अर्थसंग्रह, जिसपर वेदांतदेशिककृत गीतार्थ-संग्रह-रक्षा टीका है। २. रामानुजाचार्यकृत गीताभाष्य, जिसपर वेदांतदेशिककृत तात्पर्यचंद्रिका टीका है। (इ) द्वैत—मध्वाचार्य कृत गीताभाष्य, जिसपर जयतीर्थकृत प्रमेयदीपिका टीका है, मध्वाचार्यकृत गीता-तात्पर्य-निर्णय।

(ई) शुद्धाद्वैत—वल्लभाचार्य कृत तत्वदीपिका, जिसपर पुरुषोत्तमकृत अमृततरंगिणी टीका है।

(उ) कश्मीरी टीकाएँ—१. अभिनवगुप्तकृत गीतार्थसंग्रह। २. आनंदवर्धनकृत ज्ञानकर्मसमुच्चय।

इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र संत ज्ञानदेव या ज्ञानेश्वरकृत भावार्थदीपिका नाम की टीका (१२९०) प्रसिद्ध है जो गीता के ज्ञान को भावात्मक काव्यशैली में प्रकट करती है। वर्तमान युग में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलककृत गीतारहस्य टीका, जो अत्यंत विस्तृत भूमिका तथा विवेचन के साथ पहली बार १९१५ ई० में पूना से प्रकाशित हुई थी, गीता साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। उसने गीता के मूल अर्थों को विद्वानों तक पहुँचाने में ऐसा मोड़ दिया है जो शंकराचार्य के बाद आज तक संभव नहीं हुआ था। वस्तुतः शंकराचार्य का भाष्य गीता का मुख्य अर्थ ज्ञानपरक करता है जबकि तिलक ने गीता को कर्म का प्रतिपादक शास्त्र सिद्ध किया है।

गीता के माहात्म्य में उपनिषदों को गौ और गीता को उसका दुग्ध कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि उपनिषदों की जो अध्यात्म विद्या थी, उसको गीता सर्वांश में स्वीकार करती है। उपनिषदों की अनेक विद्याएँ गीता में हैं। जैसे, संसार के स्वरूप के संबंध में अश्वत्थ विद्या, अनादि अजन्मा ब्रह्म के विषय में अव्ययपुरुष विद्या, परा प्रकृति या जीव के विषय में अक्षरपुरुष विद्या और अपरा प्रकृति या भौतिक जगत् के विषय में क्षरपुरुष विद्या। इस प्रकार वेदों के ब्रह्मवाद और उपनिषदों के

अध्यात्म, इन दोनों की विशिष्ट सामग्री गीता में संनिविष्ट है। उसे ही पुष्पिका के शब्दों में ब्रह्मविद्या कहा गया है।

गीता में ब्रह्मविद्या का आशय निवृत्तिपरक ज्ञानमार्ग से है। इसे सांख्यमत कहा जाता है जिसके साथ निवृत्तिमार्गी जीवनपद्धति जुड़ी हुई है। लेकिन गीता उपनिषदों के मोड़ से आगे बढ़कर उस युग की देन है, जब एक नया दर्शन जन्म ले रहा था जो गृहस्थों के प्रवृत्ति धर्म को निवृत्ति मार्ग के समकक्ष और उतना ही फलदायक मानता था। इसी का संकेत देनेवाला गीता की पुष्पिका में 'योगशास्त्रे' शब्द है। यहाँ 'योगशास्त्रे' का अभिप्राय निःसंदेह कर्मयोग से ही है। गीता में योग की दो परिभाषाएँ पाई जाती हैं। एक निवृत्ति मार्ग की दृष्टि से जिसमें 'समत्वं योग उच्यते' कहा गया है अर्थात् गुणों के वैषम्य में साम्यभाव रखना ही योग है। सांख्य की स्थिति यही है। किंतु उनका कहना है कि इस प्रकार का साम्यभाव गृहत्याग से ही संभव है। योग की दूसरी परिभाषा है 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्मो में लगे रहने पर भी ऐसे उपाय से कर्म करना कि वह बंधन का कारण न हो और कर्म करनेवाला उसी असंग या निर्लेप स्थिति में अपने को रख सके जो ज्ञानमार्गियों को मिलती है। इसी युक्ति का नाम बुद्धियोग है और यही गीता के योग का सार है।

गीता के दूसरे अध्याय में जो 'तस्य प्रज्ञाप्रतिष्ठिता' की धुन पाई जाती है, उसका अभिप्राय निर्लेप कर्म की क्षमतावाली बुद्धि से ही है। यह कर्म के संन्यास द्वारा वैराग्य प्राप्त करने की स्थिति न थी बल्कि कर्म करते हुए पदे पदे मन को वैराग्यवाली स्थिति में ढालने की युक्ति थी। यही गीता का कर्मयोग है। जैसे महाभारत के अनेक स्थलों में, वैसे ही गीता में भी सांख्य के निवृत्ति मार्ग और कर्म के प्रवृत्तिमार्ग की व्याख्या और प्रशंसा पाई जाती है। एक की निंदा और दूसरे की प्रशंसा गीता का अभिमत नहीं, दोनों मार्ग दो प्रकार की रुचि रखनेवाले मनुष्यों के लिये हितकर हो सकते हैं और हैं। संभवतः संसार का दूसरा कोई भी ग्रंथ कर्म के शास्त्र का प्रतिपादन इस सुंदरता, इस सूक्ष्मता और निष्पक्षता से नहीं करता। इस दृष्टि से गीता अद्भुत मानवीय शास्त्र है। इसकी दृष्टि एकांगी नहीं, सर्वांगपूर्ण है। गीता में दर्शन का प्रतिपादन करते हुए भी जो साहित्य का आनंद है वह इसकी अतिरिक्त विशेषता है। तत्वज्ञान का सुसंस्कृत काव्यशैली के द्वारा वर्णन गीता का निजी सौरभ है जो किसी भी सहृदय को मुग्ध किए बिना नहीं रहता। इसीलिये इसका नाम भगवद्गीता पड़ा, भगवान् का गाया हुआ ज्ञान।

गीता के १८ अध्यायों में वर्णित विषयों की भी क्रमप्राप्त संगति है। पहले अध्याय का नाम अर्जुनविषादयोग है। वह गीता के उपदेश का विलक्षण नाटकीय रंगमंच प्रस्तुत करता है जिसमें श्रोता और वक्ता दोनों ही कुतूहल शांति के लिये नहीं वरन् जीवन की प्रगाढ़ समस्या के समाधान के लिये प्रवृत्त होते हैं। शौर्य और धैर्य, साहस और बल इन चारों गुणों की प्रभूत मात्रा से अर्जुन का व्यक्तित्व बना था और इन चारों के ऊपर दो गुण और थे एक क्षमा, दूसरी प्रज्ञा। बलप्रधान क्षात्रधर्म से प्राप्त होनेवाली स्थिति में पहुँचकर सहसा अर्जुन के चित्त पर एक दूसरे ही प्रकार के मनोभाव का आक्रमण हुआ, कार्पण्य का। एक विचित्र प्रकार की करुणा उसके मन में भर गई और उसका क्षात्र स्वभाव लुप्त हो गया। जिस कर्तव्य के लिये वह कटिबद्ध हुआ था उससे वह विमुख हो गया। ऊपर से देखने पर तो इस स्थिति के पक्ष में उसके तर्क धर्मयुक्त जान पड़ते हैं, किंतु उसने स्वयं ही उसे 'कार्पण्य दोष' कहा है और यह माना है कि मन की इस कातरता के कारण उसका जन्मसिद्ध स्वभाव उपहत या नष्ट हो गया था। वह निर्णय नहीं कर पा रहा था कि युद्ध करे अथवा वैराग्य ले ले। क्या करे, क्या न करे, कुछ समझ में नहीं आता था। इस मनोभाव की चरम स्थिति में पहुँचकर उसने धनुषबाण एक ओर डाल दिया।

कृष्ण ने अर्जुन की वह स्थिति देखकर जान लिया कि अर्जुन का शरीर ठीक है किंतु युद्ध आरंभ होने से पहले ही उस अद्भुत क्षत्रिय का मनोबल टूट चुका है। बिना मन के यह शरीर खड़ा नहीं रह सकता। अतएव कृष्ण के सामने एक गुरु कर्तव्य आ गया। अतः तर्क से, बुद्धि से, ज्ञान से, कर्म की चर्चा से, विश्व के स्वभाव से, उसमें जीवन की स्थिति से, दोनों के नियामक अव्यय पुरुष के परिचय से और उस सर्वोपरि परम सत्तावान् ब्रह्म के साक्षात् दर्शन से अर्जुन के मन का उद्धार करना, यही उनका लक्ष्य हुआ। इसी तत्वचर्चा का विषय गीता है। पहले अध्याय में सामान्य रीति से भूमिका रूप में अर्जुन ने भगवान् से अपनी स्थिति कह दी।

दूसरे अध्याय का नाम सांख्ययोग है। इसमें जीवन की दो प्राचीन संमानित परंपराओं का तर्कों द्वारा वर्णन आया है। अर्जुन को उस कृपण स्थिति में रोते देखकर कृष्ण ने उसका ध्यान दिलाया है कि इस प्रकार का क्लैब्य और हृदय की क्षुद्र दुर्बलता अर्जुन जैसे वीर के लिये उचित नहीं।

कृष्ण ने अर्जुन की अब तक दी हुई सब युक्तियों को प्रज्ञावाद का झूठा रूप कहा। उनकी युक्ति यह है कि प्रज्ञादर्शन काल, कर्म और स्वभाव से होनेवाले संसार की सब घटनाओं और स्थितियों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करता है। जीना और मरना, जन्म लेना और बढ़ना, विषयों का आना और जाना। सुख और दुःख का अनुभव, ये तो संसार में होते ही हैं, इसी को प्राचीन आचार्य पर्यायवाद का नाम भी देते थे। काल की चक्रगति इन सब स्थितियों को लाती है और ले जाती है। जीवन के इस स्वभाव को जान लेने पर फिर शोक नहीं होता। यही भगवान् का व्यंग्य है कि प्रज्ञा के दृष्टिकोण को मानते हुए भी अर्जुन इस प्रकार के मोह में क्यों पड़ गया है।

ऊपर के दृष्टिकोण का एक आवश्यक अंग जीवन की नित्यता और शरीर की अनित्यता था। नित्य जीव के लिये शोक करना उतना ही व्यर्थ है जितना अनित्य शरीर को बचाने की चिंता। ये दोनों अपरिहार्य हैं। जन्म और मृत्यु बारी बारी से होते ही हैं, ऐसा समझकर शोक करना उचित नहीं है।

फिर एक दूसरा दृष्टिकोण स्वधर्म का है। जन्म से ही प्रकृति ने सबके लिये एक धर्म नियत कर दिया है। उसमें जीवन का मार्ग, इच्छाओं की परिधि, कर्म की शक्ति सभी कुछ आ जाता है। इससे निकल कर नहीं भागा जा सकता। कोई भागे भी तो प्रकृति उसे फिर खींच लाती है।

इस प्रकार काल का परिवर्तन या परिमाण, जीव की नित्यता और अपना स्वधर्म या स्वभाव जिन युक्तियों से भगवान् ने अर्जुन को समझाया है उसे उन्होंने सांख्य की बुद्धि कहा है। इससे आगे अर्जुन के प्रश्न न करने पर भी उन्होंने योगमार्ग की बुद्धि का भी वर्णन किया। यह बुद्धि कर्म या प्रवृत्ति मार्ग के आग्रह की बुद्धि है इसमें कर्म करते हुए कर्म के फल की आसक्ति से अपने को बचाना आवश्यक है। कर्मयोगी के लिये सबसे बड़ा डर यही है कि वह फल की इच्छा के दलदल में फँस जाता है; उससे उसे बचना चाहिए।

अर्जुन को संदेह हुआ कि क्या इस प्रकार की बुद्धि प्राप्त करना संभव है। व्यक्ति कर्म करे और फल न चाहे तो उसकी क्या स्थिति होगी, यह एक व्यावहारिक शंका थी। उसने पूछा कि इस प्रकार का दृढ़ प्रज्ञावाला व्यक्ति जीवन का व्यवहार कैसे करता है? आना, जाना, खाना, पीना, कर्म करना, उनमें लिप्त होकर भी निर्लेप कैसे रहा जा सकता है? कृष्ण ने कितने ही प्रकार के बाह्य इंद्रियों की अपेक्षा मन के संयम की व्याख्या की है। काम, क्रोध, भय, राग, द्वेष के द्वारा मन का सौम्यभाव बिगड़ जाता है और इंद्रियाँ वश में नहीं रहतीं। इंद्रियजय ही सबसे बड़ी आत्मजय है। बाहर से कोई विषयों को छोड़ भी दे तो भी भीतर का मन नहीं मानता। विषयों का स्वाद जब मन से जाता है, तभी मन प्रफुल्लित, शांत और सुखी होता है। समुद्र में नदियाँ आकर मिलती हैं पर वह अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। ऐसे ही संसार में रहते हुए, उसके व्यवहारों को स्वीकार करते हुए, अनेक कामनाओं का प्रवेश मन में होता रहता है। किंतु उनसे जिसका मन अपनी मर्यादा नहीं खोता उसे ही शांति मिलती है। इसे प्राचीन अध्यात्म परिभाषा में गीता में ब्राह्मीस्थिति कहा है।

इस प्रकार सांख्य की व्याख्या का उत्तर सुनकर कर्मयोग नामक तीसरे अध्याय में अर्जुन ने इस विषय में और गहरा उतरने के लिये स्पष्ट प्रश्न किया कि सांख्य और योग इन दोनों मार्गों में आप किसे अच्छा समझते हैं और क्यों नहीं यह निश्चित कहते कि मैं इन दोनों में से किसे अपनाऊँ ? इसपर कृष्ण ने भी उतनी ही स्पष्टता से उत्तर दिया कि लोक में दो निष्ठाएँ या जीवनदृष्टियाँ हैं—सांख्यवादियों के लिये ज्ञानयोग है और कर्ममार्गियों के लिये कर्मयोग है। यहाँ कोई व्यक्ति कर्म छोड़ ही नहीं सकता। प्रकृति तीनों गुणों के प्रभाव से व्यक्ति को कर्म करने के लिये बाध्य करती है। कर्म से बचनेवालों के प्रति एक बड़ी शंका है, वह यह कि वे ऊपर से तो कर्म छोड़ बैठते हैं पर मन ही मन उसमें डूबे रहते हैं। यह स्थिति असह्य है और इसे कृष्ण ने गीता में मिथ्याचार कहा है। मन में कर्मेंद्रियों को रोककर कर्म करना ही सरल मानवीय मार्ग है। कृष्ण ने चुनौती के रूप में यहाँ तक कह दिया कि कर्म के बिना तो खाने के लिये अन्न भी नहीं मिल सकता। फिर कृष्ण ने कर्म के विधान को चक्र के रूप में उपस्थित किया। न केवल सामाजिक धरातल पर भिन्न व्यक्तियों के कर्मचक्र अरों की तरह आपस में पिरोए हुए हैं बल्कि पृथ्वी के मनुष्य और स्वर्ग के देवता दोनों का संबंध भी कर्मचक्र पर आश्रित है। प्रत्यक्ष है कि यहाँ मनुष्य कर्म करते हैं, कृषि करते हैं और दैवी शक्तियाँ वृष्टि का जल भेजती हैं। अन्न और पर्जन्य दोनों कर्म से उत्पन्न होते हैं। एक में मानवीय कर्म, दूसरे में दैवी कर्म। फिर कर्म के पक्ष में लोकसंग्रह की युक्ति दी गई है, अर्थात् कर्म के बिना समाज का ढाँचा खड़ा नहीं रह सकता। जो लोक के नेता हैं, जनक जैसे ज्ञानी हैं, वे भी कर्म में प्रवृत्ति रखते हैं। कृष्ण ने स्वयं अपना ही दृष्टांत देकर कहा कि मैं नारायण का रूप हूँ, मेरे लिये कुछ कर्म शेष नहीं है। फिर भी तंद्रारहित होकर कर्म करता हूँ और अन्य लोग मेरे मार्ग पर चलते हैं। अंतर इतना ही है कि जो मूर्ख हैं वे लिप्त होकर कर्म करते हैं पर ज्ञानी असंग भाव से कर्म करता है। गीता में यहीं एक साभिप्राय शब्द बुद्धिभेद है। अर्थात् जो साधारण समझ के लोग कर्म में लगे हैं उन्हें उस मार्ग से उखाड़ना उचित नहीं, क्योंकि वे ज्ञानवादी बन नहीं सकते और यदि उनका कर्म भी छूट गया तो वे दोनों ओर से भटक जायँगे।

चौथे अध्याय में, जिसका नाम ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग है, यह बताया गया है कि ज्ञान प्राप्त करके कर्म करते हुए भी कर्मसंन्यास का फल किस उपाय से प्राप्त किया जा सकता है। इसमें सच्चे कर्मयोग को चक्रवर्ती राजाओं की परंपरा में घटित माना है। मांधाता, सुदर्शन आदि अनेक चक्रवर्ती राजाओं के दृष्टांत दिए गए हैं। यहीं गीता का वह प्रसिद्ध आश्वासन है कि जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब तब मनुष्यों के बीच भगवान् का अवतार होता है, अर्थात् भगवान् की शक्ति विशेष रूप से मूर्त होती है।

यहीं पर एक वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य है—क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा (४।१२)। 'कर्म से सिद्धि'—इससे बड़ा प्रभावशाली सूत्र गीतादर्शन में नहीं है। किंतु गीतातत्व इस सूत्र में इतना सुधार और करता है कि वह कर्म असंग भाव से अर्थात् फलासक्ति से बचकर करना चाहिए।

पाँचवें कर्मसंन्यास योग नामक अध्याय में फिर वे ही युक्तियाँ और दृढ़ रूप में कही गई हैं। इसमें कर्म के साथ जो मन का संबंध है, उसके संस्कार पर या उसे विशुद्ध करने पर विशेष ध्यान दिलाया गया है। यह भी कहा गया है कि ऊँचे धरातल पर पहुँचकर सांख्य और योग में कोई भेद नहीं रह जाता। किसी एक मार्ग पर ठीक प्रकार से चले तो समान फल प्राप्त होता है। जीवन के जितने कर्म हैं, सबको समर्पण कर देने से व्यक्ति एकदम शांति के ध्रुव बिंदु पर पहुँच जाता है और जल में खिले कमल के समान कर्म रूपी जल से लिप्त नहीं होता।

छठा अध्याय आत्मसंयम योग है जिसका विषय नाम से ही प्रकट है। जितने विषय हैं उन सबसे इंद्रियों का संयम—यही कर्म और ज्ञान का निचोड़ है। सुख में और दुख में मन की समान स्थिति, इसे ही योग कहते हैं।

सातवें अध्याय की संज्ञा ज्ञानविज्ञान योग है। ये प्राचीन भारतीय दर्शन की दो परिभाषाएँ हैं। उनमें भी विज्ञान शब्द वैदिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण था। सृष्टि के नानात्व का ज्ञान विज्ञान है और नानात्व से एकत्व की ओर प्रगति ज्ञान है। ये दोनों दृष्टियाँ मानव के लिये उचित हैं। इस प्रसंग में विज्ञान की दृष्टि से अपरा और परा प्रकृति के इन दो रूपों की जो सुनिश्चित व्याख्या यहाँ गीता ने दी है, वह अवश्य ध्यान देने योग्य है। अपरा प्रकृति में आठ तत्व हैं, पंचभूत, मन, बुद्धि और अहंकार। जिस अंड से मानव का जन्म होता है उसमें ये आठों रहते हैं। किंतु यह प्राकृत सर्ग है अर्थात् यह जड़ है। इसमें ईश्वर की चेष्टा के संपर्क से जो चेतना आती है उसे परा प्रकृति कहते हैं; वही जीव है। आठ तत्वों के साथ मिलकर जीवन नवाँ तत्व हो जाता है। इस अध्याय में भगवान् के अनेक रूपों का उल्लेख किया गया है जिनका और विस्तार विभूतियोग नामक दसवें अध्याय में आता है। यहीं विशेष भागवती दृष्टि का भी उल्लेख है जिसका सूत्र है—वासुदेवः सर्वमिति, सब वसु या शरीरों में एक ही देवतत्व है, उसी की संज्ञा विष्णु है। किंतु लोक में अपनी अपनी रुचि के अनुसार अनेक नामों और रूपों में उसी एक देवतत्व की उपासना की जाती है। वे सब ठीक हैं। किंतु अच्छा यही है कि बुद्धिमान् मनुष्य उस ब्रह्मतत्व को पहचाने जो अध्यात्म विद्या का सर्वोच्च शिखर है।

आठवें अध्याय की संज्ञा अक्षर ब्रह्मयोग है। उपनिषदों में अक्षर विद्या का विस्तार हुआ। गीता में उस अक्षरविद्या का सार कह दिया गया है—अक्षरं ब्रह्म परमं, अर्थात् परब्रह्म की संज्ञा अक्षर है। मनुष्य, अर्थात् जीव और शरीर की संयुक्त रचना का ही नाम अध्यात्म है। जीवसंयुक्त भौतिक देह में जो भाव प्रकट रूप में पूरे किए जाते हैं, वे ही कर्म हैं। केवल भौतिक देह की संज्ञा क्षर है और केवल शक्तितत्व की संज्ञा आधिदैविक है। देह के भीतर जीव, ईश्वर तथा भूत ये तीन शक्तियाँ मिलकर जिस प्रकार कार्य करती हैं उसे अधियज्ञ कहते हैं। गीताकार ने दो श्लोकों में (८।३-४) इन छह परिभाषाओं का स्वरूप बाँध दिया है। गीता के शब्दों में ॐ एकाक्षर ब्रह्म है (८।१३)।

नवें अध्याय को राजगुह्ययोग कहा गया है, अर्थात् यह अध्यात्म विद्या विद्याराज्ञी है और यह गुह्य ज्ञान सबमें श्रेष्ठ है। राजा शब्द का एक अर्थ मन भी था। अतएव मन की दिव्य शक्तियों को किस प्रकार ब्रह्ममय बनाया जाय, इसकी युक्ति ही राजविद्या है। इस क्षेत्र में ब्रह्मतत्व का निरूपण ही प्रधान है, उसी से व्यक्त जगत् का बारंबार निर्माण होता है। वेद का समस्त कर्मकांड यज्ञ, अमृत और मृत्यु, सत् और असत्, और जितने भी देवी देवता हैं, सबका पर्यवसान ब्रह्म में है। लोक में जो अनेक प्रकार की देवपूजा प्रचलित है, वह भी अपने अपने स्थान में ठीक है, समन्वय की यह दृष्टि भागवत आचार्यों को मान्य थी, वस्तुतः यह उनकी बड़ी शक्ति थी। इसी दृष्टिकोण का विचार या व्याख्या दसवें अध्याय में पाई जाती है। इसका नाम विभूतियोग है। इसका सार यह है कि लोक में जितने देवता हैं, सब एक ही भगवान् की विभूतियाँ हैं, मनुष्य के समस्त गुण और अवगुण भगवान् की शक्ति के ही रूप हैं। बुद्धि से इन छुटभैए देवताओं की व्याख्या चाहे न हो सके किंतु लोक में तो वे हैं ही। कोई पीपल को पूज रहा है, कोई पहाड़ को, कोई नदी या समुद्र को, कोई उनमें रहनेवाले मछली, कछुओं को। यों कितने देवता हैं, इसका कोई अंत नहीं। विश्व के इतिहास में देवताओं की यह भरमार सर्वत्र पाई जाती है। भागवतों ने इनकी सत्ता को स्वीकार करते हुए सबको विष्णु का रूप मानकर समन्वय की एक नई दृष्टि प्रदान की। इसी का नाम विभूतियोग है। जो सत्व जीव बलयुक्त अथवा चमत्कारयुक्त है, वह सब भगवान् का रूप है। इतना मान लेने से चित्त निर्विरोध स्थिति में पहुँच जाता है।

११वें अध्याय का नाम विश्वरूपदर्शन योग है। इसमें अर्जुन ने भगवान् का विश्वरूप देखा। विराट् रूप का अर्थ है मानवीय धरातल और परिधि के ऊपर जो अनंत विश्व का प्राणवंत रचनाविधान है, उसका साक्षात् दर्शन। विष्णु का जो चतुर्भुज रूप है, वह मानवीय धरातल पर सौम्यरूप है।

जब अर्जुन ने भगवान् का विराट् रूप देखा तो उसके मस्तक का विस्फोटन होने लगा। 'दिशो न जाने न लभे च शर्म', ये ही घबराहट के वाक्य उनके मुख से निकले और उसने प्रार्थना की कि मानव के लिये जो स्वाभाविक स्थिति ईश्वर ने रखी है, वही पर्याप्त है। गीता का ११वाँ अध्याय किसी महाकवि की विलक्षण कल्पना है। काव्य की ऐसी ओजस्विनी शक्ति अन्यत्र नहीं है।

१३वें अध्याय मे एक सीधा विषय क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विचार है। यह शरीर क्षेत्र है, उसका जाननेवाला जीवात्मा क्षेत्रज्ञ है।

१४वें अध्याय का नाम *गुणत्रय विभाग योग* है। यह विषय समस्त वैदिक, दार्शनिक और पौराणिक तत्वचिंतन का निचोड़ है—सत्व, रज, तम नामक तीन गुण—त्रिकों की अनेक व्याख्याएँ है। गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रधान या प्रकृति है। गुणों के वैषम्य से ही वैकृत सृष्टि का जन्म होता है। अकेला सत्व शात स्वभाव से निर्मल प्रकाश की तरह स्थिर रहता है और अकेला तम भी जडवत् निश्चेष्ट रहता है। किंतु दोनों के बीच में छाया हुआ रजोगुण उन्हें चेष्टा के धरातल पर खींच लाता है। गति तत्व का नाम ही रजस् है।

१५वें अध्याय का नाम पुरुषोत्तमयोग है। इसमें विश्व का अश्वत्थ के रूप मे वर्णन किया गया है। यह अश्वत्थ रूपी संसार महान् विस्तारवाला है। देश और काल मे इसका कोई अंत नही है। किंतु इसका जो मूल या केंद्र है, जिसे ऊर्ध्व कहते हैं, वह ब्रह्म ही है एक ओर वह परम तेज, जो विश्वरूपी अश्वत्थ को जन्म देता है, सूर्य और चंद्र के रूप मे प्रकट है, दूसरी ओर वही एक एक चैतन्य केंद्र में या प्राणिशरीर मे आया हुआ है। जैसा गीता मे स्पष्ट कहा है—अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः (१५।१४)। वैश्वानर या प्राणमयी चेतना से बढ़कर और दूसरा रहस्य नहीं है। नर या पुरुष तीन है—क्षर, अक्षर और अव्यय। पंचभूतों का नाम क्षर है, प्राण का नाम अक्षर है और मनस्तत्व या चेतना की संज्ञा अव्यय है। इन्ही तीन नरों की एकत्र स्थिति से मानवी चेतना का जन्म होता है। उसे ही ऋषियों ने वैश्वानर अग्नि कहा है।

१६वें अध्याय मे देवासुर संपत्ति का विभाग बताया गया है। आरंभ से ही ऋग्वेद मे सृष्टि की कल्पना दैवी और आसुरी शक्तियों के रूप मे की गई है। यह सृष्टि के द्विविरुद्ध रूप की कल्पना है, एक अच्छा और दूसरा बुरा। एक प्रकाश मे, दूसरा अंधकार मे। एक अमृत, दूसरा मर्त्य। एक सत्य, दूसरा अनृत।

१७वे अध्याय की संज्ञा श्रद्धात्रय विभाग योग है। इसका संबंध सत, रज और तम, इन तीन गुणों से ही है, अर्थात् जिसमें जिस गुण का प्रादुर्भाव होता है, उसकी श्रद्धा या जीवन की निष्ठा वैसी ही बन जाती है। यज्ञ, तप, दान, कर्म ये सब तीन प्रकार की श्रद्धा से संचालित होते है। यहाँ तक कि आहार भी तीन प्रकार का है। उनके भेद और लक्षण गीता ने यहाँ बताए है।

१८वें अध्याय की संज्ञा मोक्षसंन्यास योग है। इसमे गीता के समस्त उपदेशों का सार एवं उपसंहार है। यहाँ पुन. बलपूर्वक मानव जीवन के लिये तीन गुणों का महत्व कहा गया है। पृथ्वी के मानवों मे और स्वर्ग के देवताओं मे कोई भी ऐसा नही जो प्रकृति के चलाए हुए इन तीन गुणों से बचा हो। मनुष्य को बहुत देख भालकर चलना आवश्यक है जिससे वह अपनी बुद्धि और वृत्ति को बुराई से बचा सके और क्या कार्य है, क्या अकार्य है, इसको पहचान सके। धर्म और अधर्म को, बंध और मोक्ष को, वृत्ति और निवृत्ति को जो बुद्धि ठीक से पहचानती है, वही सात्विकी बुद्धि है और वही मानव की सच्ची उपलब्धि है।

इस प्रकार भगवान् ने जीवन के लिये व्यावहारिक मार्ग का उपदेश देकर अंत मे यह कहा है कि मनुष्य को चाहिए कि संसार के सब व्यवहारों का सच्चाई से पालन करते हुए, जो अखंड चैतन्य तत्व है, जिसे ईश्वर कहते हैं, जो प्रत्येक प्राणी के हृद्देश या केंद्र मे विराजमान है, उसमें विश्वास रखे, उसका अनुभव करे। वही जीवन की सत्ता है, वही चेतना है और वही सर्वोपरि आनंद का स्रोत है।

सं० ग्रं०—शंकराचार्य : गीताभाष्य; लोकमान्य तिलक : गीता रहस्य, मधुसूदन ओझा : श्रीमद्भगवद्गीतायाः विज्ञानभाष्यम्, कांड चतुष्टयात्मकम्; मोतीलाल शास्त्री : गीताभाष्य भूमिका; गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी : गीता-प्रवचन-भाष्य। (वा० श० अ०)

गीतावली गोस्वामी तुलसीदास की एक प्रमुख रचना। इसमे गीतों में रामकथा कही गई है। वस्तुतः रामकथा संबंधी जो गीत तुलसीदास ने समय समय पर रचे थे उनको इसमें संग्रहीत कर क्रमबद्ध कर दिया गया है। इसमे कुल ३२८ गीत हैं। इसका एक पूर्ववर्ती रूप भी पाया जाता है जो इससे छोटा था। (प० ला० गु०)

गीतिकाव्य प्रायः वह सारा मुक्तक काव्य जिसकी रचना गायन के लिये हुई हो या जिसका गायन संभव प्रतीत हो, गीतिकाव्य कहा जाता है। यह परिभाषा अंशतः भ्रमोत्पादक है। ऐतिहासिक दृष्टि से मनुष्य की वाणी का आदिम रूप गान ही था, किंतु गीतिकाव्य का उदय सामाजिक विकास के उस चरण में हुआ, जब मनुष्य पशुचारण और कृषि का विकास कर सामूहिक जीवन की नियति से मुक्त हुआ, जब प्रकृति से संघर्ष और सामंजस्य के बाद उसने अपने समाज के आंतरिक संघर्ष का अनुभव प्राप्त किया, जब समाज के भीतर उसे अपनी व्यक्तिगत सत्ता का तीव्र बोध हुआ। क्रिस्टोफर कॉडवेल के शब्दों मे यह वह व्यवस्था है जब मनुष्य का "सामूहिक 'मैं' आत्मपरक और व्यक्तिनिष्ठ हो जाता है।" सुख दु.ख, प्रेम विरह, हर्ष अवसाद, करुणा क्रोध, विश्वास संदेह इत्यादि की व्यक्तिगत अनुभूति के बिना गीतिकाव्य का उदय असंभव था।

संसार का प्राचीनतम काव्य संगीतप्रधान है। भारतीय इतिहास के आदिग्रंथ ऋग्वेद की ऋचाएँ साधारण पाठ के लिये नही बल्कि गायन के लिये रची गई थीं। सामवेद उसका प्रमाण है। यूनान मे देवी देवताओं के प्रति निवेदित धार्मिक समवेतगान (कोरिक), चारणों की वीरगाथाएँ और उनसे विकसित पश्चिम के आदिकवि होमर के महाकाव्य गायन से अभिन्न हैं। वास्तव में मनुष्य की प्रकृति और वीरपूजा के भाव सहज रूप मे काव्य, संगीत और नृत्य के माध्यम से व्यक्त होते थे। लेकिन संगीतप्रधान होते हुए भी वैज्ञानिक दृष्टि से उनके उन गीतों को ही गीतिकाव्य की कोटि मे रखा जा सकता था जिनके भाव सामूहिक न होकर व्यक्तिगत थे। प्रारंभ मे दी गई परिभाषा मे अतिव्याप्ति दोष है क्योंकि वह गायन और गीतिकाव्य के बीच की रेखा को मिटा देती है।

इसमें संदेह नही कि प्रारंभ में गायन गीतिकाव्य का अभिन्न अंग था। पश्चिम मे गीति को लिरिक कहते हैं। लिरिक शब्द ग्रीक के 'लूरा' से बना है, जो एक तंत्री वाद्ययंत्र था। इस प्रकार लिरिक का अर्थ हुआ वह गीत जो ल्यूरा या लीयरे (Lyre) के साथ गाया जाता हो। ग्रीक गीत दो प्रकार के होते थे—मेलिक या लिरिक जो एक व्यक्ति द्वारा गाए जाते थे, तथा कोरिक गीत जो कोरस या समूह द्वारा वाद्ययंत्र और नृत्य के साथ गाए जाते थे। यूरोप मे गीतिकाव्य का विकास मुख्यतः लिरिक की दो प्राचीन विशेषताओं—संगीत और मार्मिक व्यक्तिगत अनुभूति की—प्रधानता के आधार पर हुआ। गीतिकाव्य के लिये प्रसिद्ध ग्रीक कवयित्री सैफो निपुण गायिका भी थी। ग्रीक साहित्यशास्त्रियों ने व्यक्तिगत अनुभूति की गौणता के कारण ही गेय महाकाव्यों को भी गीतिकाव्य (लिरिक) की कोटि से पृथक् रखा।

धर्म, *शौर्य और प्रणयप्रधान मध्ययुगीन* यूरोप मे भी गीतिकाव्य और संगीत के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची गई। बाद मे, विशेषतः पुनर्जागरण काल मे, गीतिकाव्य संगीत से अलग होने लगा और अब गीतों मे शब्द संगीत के नियमों से स्वतंत्र होकर अपनी आतरिक लय के आधार पर चुने जाने लगे। एलिजाबेथ युगीन इंग्लैंड में ऐसे गीत बहुत बड़ी संख्या में लिखे गए। इस प्रकार शुद्ध स्वरमाधुर्य के स्थान पर शब्दमाधुर्य पर जोर दिया जाने लगा। किसी भी भाषा के रोमानी गीतिकाव्य की यही विशेषता है। नई चाल का गीतिकाव्य अनिवार्यतः गायन के लिये नहीं लिखा गया, उसमें गायन का आभास मात्र था, जिसकी सृष्टि एक विचार,

एक भाव या एक घटना की तीव्र, सघन और एकाग्र अभिव्यक्ति के द्वारा की जाती थी। आधुनिक गीतिकाव्य के रचनाविधान का यही आधारभूत सिद्धांत है। गीतिकाव्य में छंद तक को छोड़ा जा सकता है, किंतु स्वतः-स्फूर्त या स्वतःस्फूर्त प्रतीत होनेवाली आवेशमय व्यक्तिगत अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में केंद्रीयता के सिद्धांत की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तव में आधुनिक गीतिकाव्य में 'गीति' तत्व से इसी प्रकार की व्यक्तिगत अनुभूति और अभिव्यक्ति व्यंजित होती है। इसी आधार पर गाँव गाँव में गाए जानेवाले रामचरितमानस को गीतिकाव्य की कोटि में नहीं रखा जाता है जबकि आधुनिक छायावादी कवियों की अनेक छंदयुक्त या अगेय कविताओं को भी गीतिकाव्य की संज्ञा दी जाती है। इसे अस्वीकृत कर देने पर गद्यगीत नामकरण की सार्थकता नहीं रह जाती।

निःसंदेह, गीतिकाव्य के रचनाविधान की अपनी सीमाएँ हैं। अनुभूति को देर तक उत्कर्षविंदु पर स्थिर रखना दुस्साध्य कार्य है। इसलिये गीतिकाव्य स्वभावतः लघु कविताओं और मुक्तकों के रूप में रचा जाता है, जिनमें विषयवस्तु के विस्तृत अनुबंध के लिये स्थान नहीं होता। 'पूर्वापरनिरपेक्षणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्' (ध्वन्यालोक)। किंतु लघुता विषयवस्तु और कविप्रतिभा पर निर्भर सापेक्ष गुण है, जिससे उनके अधीन रहते हुए भी कवियों ने गीतिकाव्य में रूपविविधता की सृष्टि की है। उदाहरणार्थ संस्कृत में एक ओर कालिदास के लंबे गीतिकाव्य 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' हैं, और दूसरी ओर भर्तृहरि के शतकों या जयदेव के 'गीतगोविंद' के पद हैं; हिंदी में एक ओर सूर, मीरा और अनेक भक्त कवियों के पद हैं, और दूसरी ओर निराला की 'सरोज-स्मृति' या 'राम की शक्तिपूजा' रचनाएँ हैं; अंग्रेजी में एक ओर चतुर्दशपदियाँ (सानेट) हैं और दूसरी ओर शेली आदि कवियों के मर्सिए (एलेजीज) और संबोधन गीत (ओड्स) हैं। गीतिकाव्य में आकार संगठनसापेक्ष है।

आज भी गीतिकाव्य की लोकप्रियता सिद्ध करती है कि व्यक्ति के दीप्तक्षणों की अभिव्यक्ति का यह अन्यतम माध्यम है। (चं० व० सिं०)

गीति रामायण असमिया भाषा का प्रसिद्ध रामकाव्य जिसकी रचना दुर्गावर कायस्थ ने की है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें राम सीता दैवी न होकर पूर्णतः मानवीय हैं। मनुष्य के सामान्य विचार और विकार दोनों को कवि ने उनमें देखा है, इस कारण यह काफी लोकप्रिय हुआ है। इस रामायण को ओझापाली गीत परंपरा में लोग गाते हैं। इसमें एक प्रमुख गायक मुख्य कथागीत गाता है और शेष लोग पिछले पद को दुहराते हैं। असम में यह गान पद्धति विशेष प्रचलित है। (प० ला० गु०)

गीफू जापान के मुख्य द्वीप हांशू में नागारा नदी के किनारे नागोया नगर से २० मील उत्तर-उत्तर-पश्चिम में स्थित प्रांत तथा नगर (स्थिति : २५°२६' उ० अ० तथा १३६°५' पू० दे०)। मध्ययुग में यह एक गढ़ी का नगर था। १६०० ई० तक गृहयुद्ध (Civil Conflict) का भी केंद्र रहा। अपनी मत्स्योद्योग प्रणाली के लिये यह अब भी प्रसिद्ध है। आधुनिक कल कारखानों से इसकी विशेष उन्नति हुई है। यहाँ पर कागज बनाने के कारखाने, कागज की टोकरियाँ बनाने का काम, छाता, लालटेन, पंखे और कपड़े के सामान आदि के कारखाने स्थित हैं। १९६५ में यहाँ की जनसंख्या ३,५८,१९० थी। (कै० ना० सिं०)

गीशा *एक चीनी-जापानी शब्द जिसका अर्थ है, सुखकर गुणयुक्ता।*
जापान में गाने तथा नाचनेवाली ऐसी कुमारियों के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता है जो सामाजिक अवसरों पर तथा चायघरों आदि में लोगों का मनोरंजन करती हैं।

गीशा बनने की इच्छुक लड़कियों को बहुत कम अवस्था में ही गीत और नृत्य के साथ साथ उठने बैठने तथा शिष्टाचार की शिक्षा दी जाती है। इस संबंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि गीशा किसी भी अवस्था में पतिता नहीं समझी जाती। भारत में देवदासियों को जो स्थान मिला था वही गीशाओं को मिला कहा जा सकता है। पर दोनों में कई स्पष्ट भेद हैं। देवदासियों का मुख्य कार्य देवता की सेवा था, जब कि गीशा का कार्य मंदिर आदि की सफाई तथा सज्जा में सहायता देने के अतिरिक्त स्पष्ट रूप से व्यक्तियों का मनोरंजन करना है, चाहे वे व्यक्ति भक्त हों या न हों।

गीशाओं का प्रशिक्षण समाप्त होने के बाद उनके साथ उनको शर्तनामे पर हस्ताक्षर करवाकर नियुक्त किया जाता है, पर विवाह के अतिरिक्त वे अन्य किसी भी प्रकार से स्वतंत्रता नहीं प्राप्त कर सकतीं। राष्ट्र की ओर से गीशा-वृत्ति के लिये शिक्षार्थिणियों तथा गीशाओं दोनों पर कर लगा होता है। शिक्षार्थिणियों पर कर कम होता है।

इसमें संदेह नहीं कि यह पुरुषप्रधान समाज की एक शोषक प्रथा है। अर्थव्यवस्था में स्त्रियों को समान भाग प्राप्त होने के साथ साथ यह प्रथा उठती जा रही है। (म० ना० गु०)

गुंटूर इंडोनेशिया के जावा द्वीप के पश्चिमी मध्य भाग में स्थित ज्वालामुखी पर्वत। जावा की प्रीपांगना रेजीडेंसी में स्थित गरूत (Garut or Garoet), (७°१४' द० अ० तथा १०७°५३' पू० दे०) नगर इसके निकट है। इस पर्वत की ऊँचाई ७,३७७ फुट है। (कै० ना० सिं०)

गुंतकल आंध्र प्रदेश के अनंतपुर जनपद के गुट्टी उपमंडल में स्थित नगर (स्थिति : १५°१०' उ० अ० तथा ७२°२३' पू० दे०)। इसके दक्षिण पश्चिम में खुदाई में ऐतिहासिक अवशेष प्राप्त हुए हैं। नगर में स्टीम काटन प्रेस और करघा उद्योग विशेष उन्नति पर हैं। यह दक्षिण रेलवे का जंकशन है जो बँगलोर, विजयवाडा और बेलारी से जुड़ा हुआ है। (कै० ना० सिं०)

गुंथर, जान (१९०१-१९७४) विश्वविख्यात अमरीकी पत्रकार। ३० अगस्त, १९०१ को शिकागो नगर में जन्म। शिकागो विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की तदनंतर १९२२ में शिकाओ डेली न्यूज में पत्रकारिता आरंभ की और १९३६ तक उसके संवाददाता के रूप में यूरोप के अनेक देशों में काम करते रहे। १९३६ में स्वतंत्र लेखन कार्य आरंभ किया और १९३७ में भारत, चीन, जापान गए। पुनः द्वितीय महायुद्ध आरंभ होने पर युद्ध संवाददाता के रूप में काम करते रहे। युद्धोपरांत लगभग सारे संसार का भ्रमण किया और विभिन्न देशों की आंतरिक स्थिति पर विवेचनात्मक ग्रंथ लिखे। उनके कुछ ग्रंथ हैं—इनसाइड यूरोप, इनसाइड एशिया, द हाई कास्ट ऑव हिटलर, इनसाइड लैटिन अमरीका, इनसाइड यू० एस० ए०, रूजवेल्ट इन रिट्रास्पेक्ट, आइजनहॉवर, अलेक्जांडर द ग्रेट, इनसाइड अफ्रीका, जूलियस सीजर, इनसाइड रशा टु डे, इनसाइड यूरोप टु डे। १९७४ में उनकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

गुंटूर आंध्र प्रदेश का एक जिला तथा नगर (स्थिति : १६°१८' उ० अ० तथा ८०°२८' पू० दे०)। यह दक्षिण रेलवे की विजयवाड़ा-मद्रास-शाखा पर स्थित है और सड़कों द्वारा आसपास के नगरों से मिला हुआ है। नगर कोंडाविड (Kondavid) की पहाड़ियों से छः मील पूर्व सर्वप्रथम फ्रांसीसियों द्वारा बसाया गया था और उस समय यह अपनी स्वास्थ्यवर्धक जलवायु के लिये प्रसिद्ध था। १८वीं शती के उत्तरार्ध में बसा यह नगर प्रायः निजाम बशालत जंग की जागीर का भाग रहा। फ्रांसीसियों द्वारा उत्तरी सरकार के सत्ता हस्तांतरण के समय भी यह जागीर से अलग नहीं हुआ। अंग्रेजी शासन में यह अंतिम रूप से सन् १७८८ में आया। सन् १८६६ से नगर का प्रशासन नगरपालिका द्वारा होता है। नगर का नामकरण तेलुगु भाषा में गुंटा (Gunta) शब्द से व्युत्पन्न प्रतीत होता है जिसका अर्थ तालाब होता है। नगर में आधुनिक सुविधाएँ होते हुए भी जलपूर्ति की व्यवस्था असंतोषजनक है। शैक्षणिक संस्था में यहाँ पर महाविद्यालय, उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, स्नातकोत्तर चिकित्सा महाविद्यालय, तपेदिक अस्पताल, चिकित्सालय आदि संस्थाएँ हैं। औद्योगिक दृष्टि से भी नगर सुविकसित है। सूती वस्त्रोद्योग, दियासलाई उद्योग, मशीन निर्माण उद्योग, टायर और रबर की वस्तुएँ,

भोज्य तैल मिलें और मोटर गाड़ियों के सामान की निर्माणशालाएँ यहाँ स्थित हैं। इसकी जनसंख्या १,८७,१२२ (१९६१) है।

(कै० ना० सिं०)

गुंबद ऊँची और आकार में गोलार्ध या उससे भी न्यूनाधिक गोल छत को कहते हैं। सभ्यता के आरंभ से ही, जब कभी गुफावासी कहीं झोपड़ीवासियों के संपर्क में आए होंगे, उनकी गोल झोपड़ी देखकर शायद उसकी आकृति से आकर्षित हुए होंगे। किंतु ईंट पत्थर से ऐसी गोल छत बनाने की समस्या का संतोषजनक हल प्राप्त होने का समय निर्माणकला के इतिहास में संभवतः बहुत पुराना नहीं है।
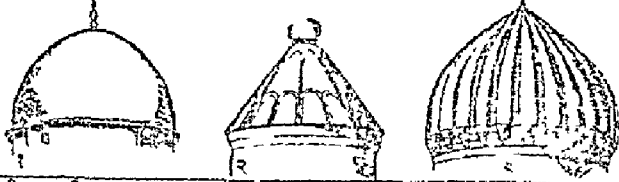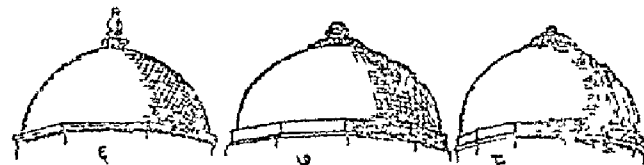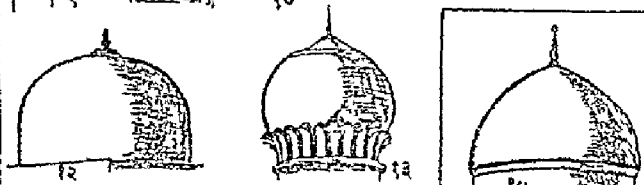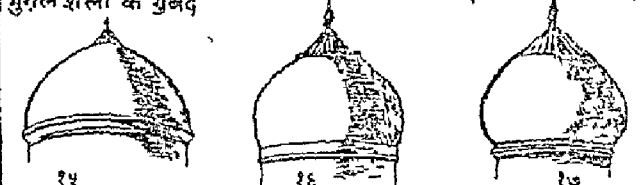
विविध शैलियों के गुंबद

१. येरुशलम की चट्टान का गुंबद, ७वीं शती ईसवी; २. कैसरीय, अनातोलिया, १२वीं शती ई०; ३. समरकंद, १४वीं शती ई०; ४. नासिरुद्दीन मुहम्मद का मकबरा, दिल्ली, १२३१ ई०; ५. अलाई दरवाजा, दिल्ली, १३१० ई०; ६. गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा, दिल्ली, १३२५ ई०; ७. मोहम्मद शाह सैयद का मकबरा, दिल्ली, १४४४; ८. लोदियों के मकबरे, दिल्ली, १५०० ई०; ९. रुक्ने आलम का मकबरा, मुलतान, १३२५ ई०; १०. जामा मसजिद, जौनपुर, १४७० ई०; ११. होशंग का मकबरा, मांडू, १४४० ई०; १२. जामा मसजिद, गुलबर्गा, १३६७ ई०, १३. बीजापुरी गुंबद, १६वीं शती ई०; १४. हुमायूँ का मकबरा, दिल्ली, १५६४ ई०; १५. खानखाना का मकबरा, दिल्ली, १६२७ ई०; १६. ताजमहल, आगरा, १६३४ ई० तथा १७. सफ़दरजंग का मकबरा, दिल्ली, १७५३ ई०।

निनेवे (इराक का एक प्राचीन नगर) में प्राप्त एक उत्कीर्ण शिलाखंड से अनुमान लगाया जाता है कि संभवतः असीरिया के प्राचीन निवासियों ने ऐसी छत बनाने के कुछ प्रयत्न किए थे; किंतु उनके कोई अवशेष नहीं मिलते। सन् ११२ ई० का बना सबसे बड़ा और सुंदर गुंबद रोम में मिला है और उसके बाद के, ४थी या ५वीं सदी ईसवी के, अनेक नमूने ईरान के सारविस्तान और फ़ीरोजाबाद में हैं। सारविस्तान के महलों का गुंबद ही संभवतः चतुर्भुज कक्ष पर बने हुए वास्तविक गुंबद का सर्वप्रथम नमूना है। मुस्लिम आक्रांताओं द्वारा सन् ६३७ ई० में बुरी तरह नष्ट भ्रष्ट की हुई ईरानी बादशाहों की भव्य राजधानी 'तेजीफन' के कतिपय अवशेष, खुसरो प्रथम के महल के खंडहर भी हैं। इसकी ६५' ऊँची और ८३' चौड़ी भीमकाय डाट वाली छत अब भी सिर उठाए तत्कालीन कौशल की कथा कहती है।

भारत में अति प्राचीन काल से ही दीवारों से ईंटें (या पत्थर) निकाल प्रत्येक रद्दा आगे बढ़ाते हुए छत पाटने का चलन था, किंतु वे रद्दे समतल ही होते थे। फलतः शिखर अनिवार्यतः ऊँचे हो जाते थे। वास्तविक डाट का सिद्धांत संभवतः अज्ञात ही था। तोरण (जो वास्तविक डाट के सिद्धांत पर बने) तथा गुंबद मध्यपूर्व की देन हैं। अब तक सीधे नीचे की ओर भार डालनेवाले पट रद्दों की सूखी चिनाई पर आधारित भारतीय निर्माणशैली में एक मोड़ आया और मुस्लिम काल की प्रसिद्ध इमारतों में गुंबदों को विशिष्ट स्थान मिला। बीजापुर में मुहम्मद अलीशाह के मकबरे के ऊपर संसार का विशालतम गुंबद (भीतरी चौड़ाई १३५' ऊँचाई १७८') खड़ा है। ईंटों के पट रद्दे मोटे मसाले में जमाकर निर्मित लगभग १०' मोटाई का यह गुंबद भारतीय वास्तुकौशल का विजयस्तंभ ही है।

धीरे धीरे मस्जिदों और मकबरों के रूप में गुंबद देश भर में फैले और उत्तर भारत में तो मंदिरों में भी अनिवार्यतः प्रयुक्त होने लगे। मुगलकालीन कृतियों में आगरे के 'ताजमहल' का उल्लेख ही पर्याप्त होगा, जिसके प्रति विश्व भर के दर्शक आकर्षित होते हैं। अंग्रेजों के समय में भी अनेक ऐतिहासिक भवनों में गुंबद का उपयोग हुआ, और अब भी मंदिरों के अतिरिक्त अन्य अनेक भवनों का शीर्षस्थान इन्हीं के लिये सुरक्षित रखा जाता है।

पश्चिमी देशों में भी गुंबदों का उपयोग अनेक प्रमुख गिरजाघरों की छतों में हुआ है। इनपर कभी कभी परंपरागत शिखर का रूप देने के लिये लकड़ी का बाहरी आवरण भी लगाया जाता रहा है। (वि० प्र० गु०)

गुआरियेंतो चौदहवीं सदी का इतालवी चित्रकार जिसने अपने नगर पादुआ में अनेक चित्र बनाए थे जो अधिकतर नष्ट हो गए। गुआरियेंतो की विशेषता यह है कि जोत्तो के प्रभाव में आकर उसने बिजांतीनी परंपरा से अपने चित्रों को मुक्त कर दिया। उसके भित्तिचित्रों में से कुछ की रक्षा कन्वस पर उनकी नकल करके कर ली गई है, जिनमें से प्रसिद्ध चित्र 'स्वर्ग' आज भी 'दोजे' के महल में सुरक्षित है। गुआरियेंतो १३७० के लगभग मरा। (प० उ०)

गुग्गुल कतिपय वृक्ष तथा उनसे प्राप्त राल जैसा पदार्थ। भारत में इस जाति के दो प्रकार के वृक्ष पाए जाते हैं। एक को कॉमिफोरा मुकुल (*Commiphora mukul*) तथा दूसरे को कॉ० रॉक्सबर्घाई (*C. roxburghii*) कहते हैं। अफ्रीका में पाई जानेवाली प्रजाति कॉमिफ़ोरा अफ्रिकाना (*C. africana*) कहलाती है।

कुछ स्थानों से प्राप्त गुग्गुल का रंग पीलापन लिए श्वेत तथा अन्य का गहरा लाल होता है। इसमें मीठी महक रहती है। इसको अग्नि में डालने पर स्थान सुगंध से भर जाता है। इसलिये इसका धूप के सदृश व्यवहार किया जाता है। आयुर्वेद के मतानुसार यह कटु, तिक्त तथा उष्ण है और कफ, वात, कास, कृमि, क्लेद, शोथ और अर्श नाशक है।

(भ० दा० व०)

गुजराँवाला पाकिस्तान स्थित जिला, तहसील तथा नगर जो उत्तर-पश्चिम रेलमार्ग पर लाहौर से ४० मील और करांची से ८२८ मील की दूरी पर स्थित है (स्थिति : ३२°९' उ० अ०, ७४°११' पू० दे०)। इस नगर की स्थापना गूजर जाति द्वारा हुई बताई जाती है। नगर की स्थापना मध्ययुगीन है। नगर की प्रसिद्धि तथा महत्व में महाराजा रणजीतसिंह के परिवार का अधिक हाथ रहा। सन् १७८० में यहीं पर महाराजा रणजीतसिंह का जन्म हुआ था। रणजीतसिंह के पिता महाराजा महानसिंह की समाधि तथा महाराजा रणजीतसिंह का भस्मावशेष भी यहाँ सुरक्षित है। एक बार अमृतसर से आए हुए जाटों ने इस नगर का नाम 'खानपुर' रख दिया था, किंतु इसका प्राचीन नाम ही प्रचलित रहा। नगर के प्रशासन के लिये नगरनिगम की स्थापना सन् १८६७ में हुई। यहाँ गल्ले की प्रसिद्ध मंडी है। कपास के बिनौले अलग करना, तेल पेरना, काँसे और मिट्टी के बर्तन बनाना, चूड़ियाँ, जिनमें हाथीदाँत की चूड़ियाँ मुख्य हैं, और सूती कपड़े बुनना यहाँ के प्रमुख उद्योग-धंधे हैं। सरकारी अस्पताल और महाविद्यालय स्तर की शिक्षा संस्थाएँ भी यहाँ हैं। (कै० ना० सिं०)

गुजरात यह प्रदेश २०°१' से २४°७' उ० अ० तथा ६८°४' से ७४°४' पू० दे० के मध्य स्थित है। बंबई पुनर्गठन विधेयक, १९६० के लागू होने से १ मई, सन् १९६० ई० को यह प्रदेश गठित हुआ। भारत गणराज्य के पश्चिमी तट पर स्थित यह प्रदेश उत्तर पूर्व में राजस्थान, उत्तर पश्चिम में पाकिस्तान, द० पू० में मध्य प्रदेश, पश्चिम में अरब सागर और दक्षिण में महाराष्ट्र राज्य से घिरा हुआ है। इसका कुल क्षेत्रफल १,९५,९८४ वर्ग किलोमीटर है जिसके १९ जिलों में १९७१ की जनगणना के अनुसार २,६६,९७,४७५ व्यक्ति निवास करते हैं। अहमदाबाद, अमरेली, बनासकाँठा, भारुच, भावनगर, गांधीनगर, जामनगर, जूनागढ़, खेड़ा, कछ, महेसना, पचमहल, राजकोट, सबरकाँठा, सूरत, सुरेंद्रनगर, डाँग, वडोदरा और बलसाड इस प्रदेश के मुख्य जिले हैं। गांधीनगर इस प्रदेश की राजधानी है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—पुरातात्विक साक्ष्यों से प्रमाणित होता है कि आर्यों के आगमन से पूर्व इस प्रदेश में हड़प्पा संस्कृति से संबधित लोग रहते थे। वे लोग गाँवों और कस्बों में मकान बनाकर रहते थे। कहीं कहीं उन लोगों ने किलों का भी निर्माण किया था और कृषि कार्य करते थे। उनके चिह्न नर्मदा की निचली घाटी में प्राप्त होते हैं। महाभारत काल में कृष्ण ने द्वारिका में अपना किला बनवाया था। उस समय पशुचारण संस्कृति का ही प्रसार था। ईसा से १००० वर्ष पूर्व इस प्रदेश के निवासी लालसागर के द्वारा अफ्रीका के साथ और ईसा से ७५० वर्ष पूर्व फारस की खाड़ी के द्वारा बेबीलोन के साथ अपना व्यापारिक संबंध स्थापित किए हुए थे। भड़ौंच (भृगुकच्छ) उस समय का व्यस्त बंदरगाह था। वहाँ से उज्जैन और पाटलिपुत्र होते हुए ताम्रलिप्ति तक राजमार्ग बना हुआ था। मौर्य काल में यह प्रदेश उज्जैन के राज्यपाल के अधीन रहा। ईसा की आरंभिक सदियों में पश्चिमी क्षत्रप यहाँ के शासक रहे। उनके समय में तट के लोगों का वैदेशिक व्यापार जोर पकड़ने लगा और उनका रोम के साथ यह व्यापार संबंध तीसरी चौथी शती ई० तक था। कुमारगुप्त (प्रथम) के समय में गुप्त सम्राटों का आधिपत्य इस प्रदेश पर हुआ और ४६० तक रहा। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद ५०० से ७०० तक वल्लभी नरेशों का अधिकार हुआ। तदनंतर भिन्नमाल के गुर्जरों ने इसपर शासन किया और ५८५ से ७४० के मध्य भड़ौंच में उनकी एक शाखा के लोग राज करते रहे। इन्हीं गुर्जरों के नाम पर प्रदेश का नामकरण गुजरात हुआ और वे वहाँ की राजपूत जातियों के पूर्वज कहे जाते हैं।

मुसलमानों द्वारा दिल्ली से विजित होने (१२३३) तक यह जैन धर्म का केंद्र रहा। अलाउद्दीन खिलजी (१२९६–१३१६ ई०) के शासन काल में यह मुसलमानी राज्य में आया। एक शताब्दी के उपरांत पुनः गुजरात दिल्ली साम्राज्य से निकलकर स्वतंत्र मुसलमानी राज्य बना। अहमदशाह प्रथम (१४११–१४४३ ई०) ने अहमदाबाद की स्थापना की। १५७२ ई० में अकबर ने इस भाग को मुगल राज्य में मिला लिया और दिल्ली साम्राज्य के अंतर्गत यह एक सूबा बन गया। कोलीज और राजपूतों के उपद्रवों के होते हुए भी औरंगजेब की मृत्यु (१७०७ ई०) तक मुगल सूबेदारों ने यहाँ शांति और व्यवस्था स्थिर रखी। अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में मरहठों के आक्रमण से मुगल साम्राज्य का पतन प्रारंभ हुआ। सन् १७३७ ई० में गायकवाड़ मरहठे इस भाग के राज्यकर में हिस्सेदार बन गए और फौज में भाग लेते हुए अहमदाबाद में भी हिस्सा पाने लगे। १७३१ से ५२ ई० तक भड़ौंच निजाम के अधीन रहा, किंतु वह भी गायकवाड़ को आंशिक रूप में कर देने को बाध्य था। १८०० ई० में अंग्रेजों ने सूरत को अपना लिया और १८वीं शताब्दी में गुजरात के छोटे छोटे राज्य 'गुजरात स्टेट्स एजेंसी' के रूप में अँगरेजी शासन के अधीन हो गए। १९वीं शताब्दी के आरंभ में पेशवा के पतन के पश्चात् शनैः शनैः यहाँ अंग्रेजी राज्यव्यवस्था स्थापित हो गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत सभी रजवाड़े भारत गणराज्य के अंग बन गए। १ मई, १९६० तक यह बंबई प्रदेश का अंग था। तदनंतर इसे अलग स्वतंत्र प्रदेश की सत्ता प्रदान की गई।

प्राकृतिक संरचना एवं उपप्रदेश—यह प्रदेश प्रायद्वीपीय खंडों, खाड़ियों, पहाड़ियों, पठारों एवं दलदलों से आवृत है। समुद्र के तट की ओर
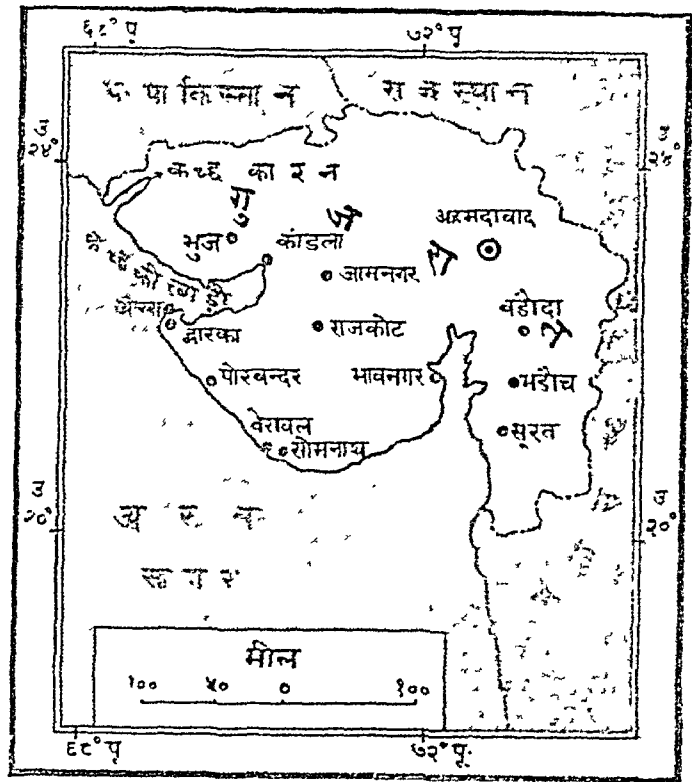
गुजरात का मानचित्र

पतली पेटी में मैदानी भाग स्थित है। कच्छ और खंभात की खाड़ियाँ दोनों ओर से सौराष्ट्र (काठियावाड़) प्रायद्वीप की सीमा निर्धारित करती है। प्रदेश के उत्तरी भाग में प्रीकैंब्रियन काल के अरावली के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं और अन्यत्र प्राचीन आर्कियन चट्टानों के ऊपर बाद की चट्टानें स्थित हैं। कच्छ में समुद्री जुरैसिक काल की चट्टानों के ऊपर गोंडवाना काल की चट्टानें अवस्थित है।

प्रदेश के पूर्वी भाग से अरासुर पर्वत की श्रेणियाँ १६० कि०मी० की लंबाई में फैली हुई हैं। पवावर्ध की ऊँचाई ३२९ मी० है। राजपीपला (सतपुड़ा) पहाड़ियाँ गोमेद (अर्कीक) के लिये प्रसिद्ध है। आग्नेय

चट्टानों से निर्मित गिरनार पहाड़ी की गोरखनाथ चोटी १११७ मीटर ऊँची है। प्राकृतिक स्थिति के आधार पर गुजरात को मुख्य ४ पेटियों में विभक्त किया जा सकता है। (१) उच्च जलोढ़ पेटी (६० मीटर चौड़ी) मैदानी और पहाड़ी भागों के बीच, (२) तटवर्ती दलदली भाग, (३) कच्छ प्रायद्वीप तथा (४) प्रायद्वीपीय गुजरात या सौराष्ट्र। संपूर्ण प्रदेश एक निम्न भूखंड है, समुद्रतल से जिसकी अधिकतम ऊँचाई ३०० मीटर है।

जलप्रवाह---प्रायद्वीपीय भारत के इस भाग की रचना गंगा सिंधु के मैदान से मिलती जुलती है। नदियाँ बहुधा धरातलीय संरचना की अनुगामिनी होती हैं। यहाँ की जलोढ़ मिट्टी अत्यंत उपजाऊ है। पार, औरंगा, ताप्ती, नर्मदा, माही और साबरमती नदियाँ अपनी सहायक नदियों, शेढी, मोहर, वत्रक, माजम, मेहवा, खारी के साथ मिलकर विस्तृत मैदान की रचना करती हुई खंभात की खाड़ी में गिरती हैं। सौराष्ट्र प्रायद्वीप की मुख्य नदियाँ वामभान, देमी, रुड, रंगमती, सानी, मच्छु, भादर, उबेन, राहुजा, मेगाल, सरस्वती, शत्रुंजी, भोगवा और दमनगंग वृत्ताकार जलप्रवाह बनाती हुई अरब सागर और कच्छ की खाड़ी में गिरती हैं।

जलवायु---इस प्रदेश की जलवायु मुख्य रूप से उष्णप्रदेशीय और मानसूनी है। उत्तरी भाग में रेगिस्तान का किनारा और दक्षिणी भाग में समुद्र तट होने के कारण उत्तर से दक्षिण के तापमान में पर्याप्त अंतर रहता है। ग्रीष्म ऋतु में अधिकतम तापमान ३६.७° सें० ग्रे० से ४३.३° सें०ग्रे० तथा नवंबर और फरवरी में न्यूनतम तापमान २° से १८.३° सें०ग्रे० के बीच रहता है। उत्तर पश्चिम की अपेक्षा दक्षिणी गुजरात में वर्षा अधिक होती है। उत्तरी भाग में वर्षा की मात्रा ५१--१०२ सें०मी०, मध्यवर्ती भाग में ४०--८० सें०मी० और दक्षिणी भाग में ७६--१५२ है। जामनगर और जूनागढ के तटीय भागों में ६३ सें०मी० तक वर्षा होती है। द्वारिका तथा कच्छ के अर्धशुष्क भागों में वर्षा की मात्रा बहुत कम है।

वनस्पति---इस राज्य की वन संपत्ति बहुत ही सीमित है। प्रदेश के वनों का अधिकांश भाग शुष्क कँटीले वृक्षों से आवृत है। काठियावाड़ और कच्छ के उत्तरी तटीय भाग में केवल घासें और झाड़ियाँ हैं। सुरक्षित वन अमरेली, जूनागढ, अहमदाबाद, मेहसाना, सूरत और अन्य पूर्वी जिलों तक सीमित हैं। गिरनार की पहाड़ियों पर पतझड़ के वन पाए जाते हैं। गिर प्रदेश के 'सिंह', जो भारत के अन्य भागों से लुप्त हो गए हैं, यहाँ आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। कहीं कहीं समुद्र के किनारे तटीय वन भी हैं। टीक, बाँस, येलो वुड, रेड वुड (Red wood), ब्लैक उड (Black wood) तथा चंदन आदि यहाँ के मुख्य वृक्ष हैं। डाँग प्रदेश टीक के सुंदर वनों से सुशोभित है जहाँ पूरे क्षेत्रफल के ३०% भाग पर वन है।

मिट्टी---इस राज्य की मिट्टी को छह वर्गों में विभक्त किया जा सकता है. (१) गहरे काले रंग की मिट्टी प्रदेश के दक्षिणी भाग में; (२) हल्के रंग की काली मिट्टी पूर्वी भाग एवं सौराष्ट्र में, (३) तटीय जलोढ़ मिट्टी सौराष्ट्र तट एवं खंभात की खाड़ी के पास, (४) जलोढ़ बलुई दुमट मिट्टी अहमदाबाद के आसपास; (५) जलोढ बलुई मिट्टी उत्तरपूर्वी भाग में और (६) मरुस्थलीय बालू कच्छ के उत्तरी भाग में विस्तृत है। आर्थिक दृष्टिकोण से यहाँ की काली मिट्टी कपास के लिये और जलोढ़ मिट्टी उत्तम कृषि एवं बाग बगीचों के लिये प्रसिद्ध है। नर्मदा और ताप्ती से सिंचित भूमि अत्यधिक उपजाऊ है और फलस्वरूप इसे भारत का बगीचा कहा जाता है।

खनिज---खनिज संपत्ति में यह राज्य पर्याप्त समृद्ध है। नमक, चूने का पत्थर, मैंगनीज, जिप्सम, चीनी मिट्टी, कैल्साइट, बाक्साइट आदि पाए जाते हैं। खेडा में बाक्साइट और चूने का पत्थर तथा जामनगर में कैल्साइट और चूने का पत्थर निकाला जाता है। बडोदा और पंचमहल में चूने की खुदाई होती है और अग्नि मिट्टी (Fireclay) सुरेंद्रनगर से प्राप्त होती है। सौराष्ट्र के सभी जिलों से पर्याप्त मात्रा में जिप्सम निकाला जाता है। इनके अतिरिक्त कोयला और लिग्नाइट तथा फेल्सपार भी पाए जाते हैं।

खंभात में तेल के कुएँ मिले हैं। उन्होंने आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टि से गुजरात का महत्व काफी बढ़ा दिया है। १९५८ ई० में तेल का पहला कुआँ खंभात से १२ किलोमीटर पश्चिम लुनेज ग्राम में मिला था। १९६८--६९ तक यहाँ ६२ कुओं की खुदाई हो चुकी थी जिसमें १९ कुएँ गैस और ३ पेट्रोल का उत्पादन करते हैं। खंभात का तेल क्षेत्र प्रतिदिन ५ लाख टन मीटर गैस (७०% मीथेन) का उत्पादन करता है। कथाना तेल क्षेत्र से प्रतिदिन १५ टन तेल का उत्पादन होता है। बड़ौदा से ८५ किलोमीटर दक्षिण नर्मदा के किनारे अंकलेश्वर के ३० वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर तेल के कुएँ पाए जाते हैं। यहाँ के २०० कुओं में १७० कुएँ तेल और १३ कुएँ गैस का उत्पादन करते हैं। यहाँ प्रतिदिन तेल का उत्पादन ८३०० टन और गैस का उत्पादन ७.५ लाख घन मीटर है। इनके अतिरिक्त १९६६--६७ में चकरोल, अहमदाबाद, मेहसाना और कादी में भी तेल के कुओं की प्राप्ति हुई। अहमदाबाद क्षेत्र के १७७ कुओं में ४८ कुएँ तेल और गैस के उत्पादक हैं और शेष पर अनुसंधान कार्य चल रहा है। मेहसाना योजना के अंतर्गत भी १६ कुएँ खोदे जा चुके हैं जिनमें ६ से तेल उत्पन्न हो रहा है। तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग ने नवगाँव, कालोल-कोसाँबा, सनद, कथाना, ढेबेल, धोलका में भी तेल कूपों का पता लगा है।

कृषि---गुजरात कृषिप्रधान राज्य है, लेकिन विषम भौगोलिक परिस्थिति, यथा---कुछ क्षेत्रों में अनुपयुक्त जलवायु, ऊबड़ खाबड़ धरातल, पहाड़ियों के ऊपर मिट्टी का अभाव, खाड़ियों का स्थल भाग में प्रवेश आदि ऐसी प्राकृतिक बाधाएँ हैं जो कृषि के लिये हानिकारक हैं। यहाँ की मुख्य खाद्य फसलें बाजरा, ज्वार, चावल और गेहूँ हैं। व्यापारिक फसलों में कपास, तंबाकू और मूँगफली का उत्पादन होता है। यहाँ १९७०--७१ में खाद्य पदार्थों का उत्पादन ४४.०६ लाख टन, गुड़ और तिलहन का उत्पादन क्रमशः १.९४ लाख टन और १९.४३ लाख टन था। कपास का उत्पादन १५.७१ लाख गाँठ रहा।

प्रदेश के कुल क्षेत्रफल का ५०% से अधिक भाग कृषि कार्य में प्रयुक्त है जिसमें स्थान स्थान पर पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। कच्छ में १५.५% मेहसाना में ७७% और अन्य जिलों में यह प्रतिशत ६० से ७५ के बीच है। यहाँ की कुल भूमि के १२% पर वन और चरागाह हैं जिसमें लगभग एक एक चौथाई कृषि कार्य के लिये पूर्णतया अनुपयुक्त है। लगभग ४% भूमि कृषि के लिये उपयुक्त होने के बावजूद परती पड़ी हुई है।

सिंचाई के साधन---प्रदेश की कुल कृषि में प्रयुक्त भूमि का १०% भाग सींचा जाता है और सभी साधनों का उपयोग करने पर भी जोती बोई हुई भूमि का तिहाई भाग ही सिंचित हो पाता है। प्रदेश की संपूर्ण सिंचित भूमि का ८३% भाग कुओं से और शेष १६% राजकीय नहरों एवं नलकूपों से सींचा जाता है। १९६९--७० में यहाँ १,२६,४७४ पंपिंग सेट लगाए गए और इनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। राजकीय नलकूपों की संख्या १,२०० से ऊपर है जो प्रदेश की ३० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करते हैं। इनके अतिरिक्त नर्मदा, ताप्ती, माही, साबरमती नदियों से सिंचाई के लिये नहरें निकाली गई हैं।

पशुपालन---प्रति पशु अधिक दुग्ध उत्पादन के लिये यह प्रदेश प्रसिद्ध है। दूध देनेवाली भैंसें यहाँ अधिक संख्या में पाई जाती हैं। कनेज और गिर जाति के पशु अपने दूध के लिये विख्यात हैं। यहाँ के विस्तृत स्थायी घास के मैदान और अच्छे चरागाह पशुसमृद्धि के द्योतक हैं।

उद्योग---औद्योगिक विकास के दृष्टिकोण से पश्चिमी बंगाल एवं महाराष्ट्र के बाद गुजरात का अपना महत्त्व है। इस प्रदेश में भारतवर्ष की पंजीकृत औद्योगिक संस्थानों का ८% संस्थान और ९% श्रमिक हैं। यहाँ के मुख्य उद्योग नमक, सूती कपड़ा, विद्युत् के सामान, वनस्पति घी, भारी रासायनिक पदार्थ, औषधि, सीमेंट एवं रसायन हैं। खनिज तेल के लिये असम के बाद यह भारत का पहला राज्य है जहाँ भावी संभावनाएँ अत्यधिक हैं। सूरत में जरी का काम अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। शक्ति के साधनों की पूर्ति विभिन्न क्षेत्रों में बने हुए जलविद्युत् केंद्रों से होती है जिससे कोयले की खानों से दूर होने के उपरांत भी शक्ति की कमी नहीं पड़ती। प्रदेश की कुल औद्योगिक इकाइयों का २५% अहमदाबाद में

गुजरात (देखिए पृष्ठ ४२७)
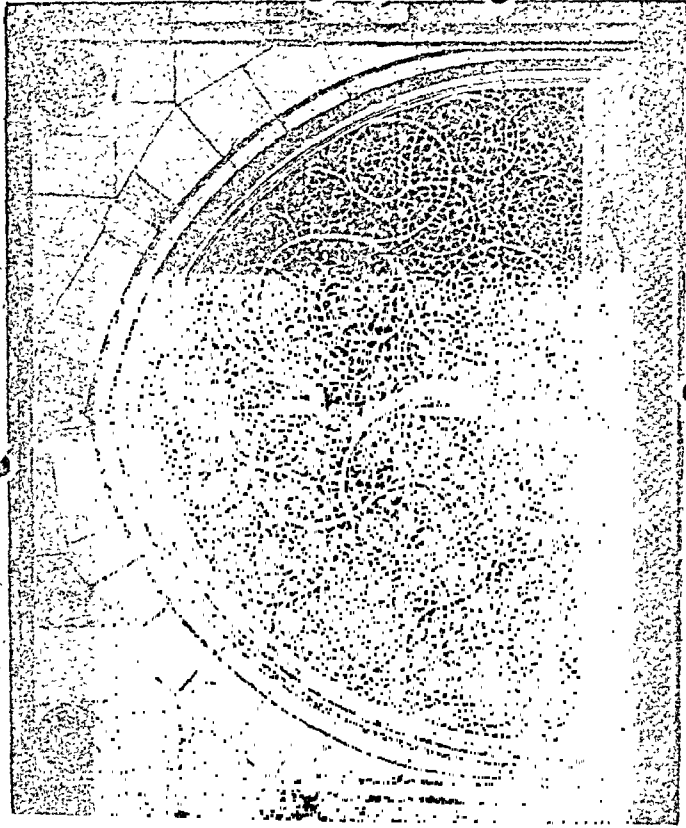
गुजराती शिल्पकला का नमूना, सीदी सईद की मस्जिद, अहमदाबाद वृक्षाकार, अति सुंदर छिद्रित गवाक्षजाल (निर्माणकाल १५७२)।
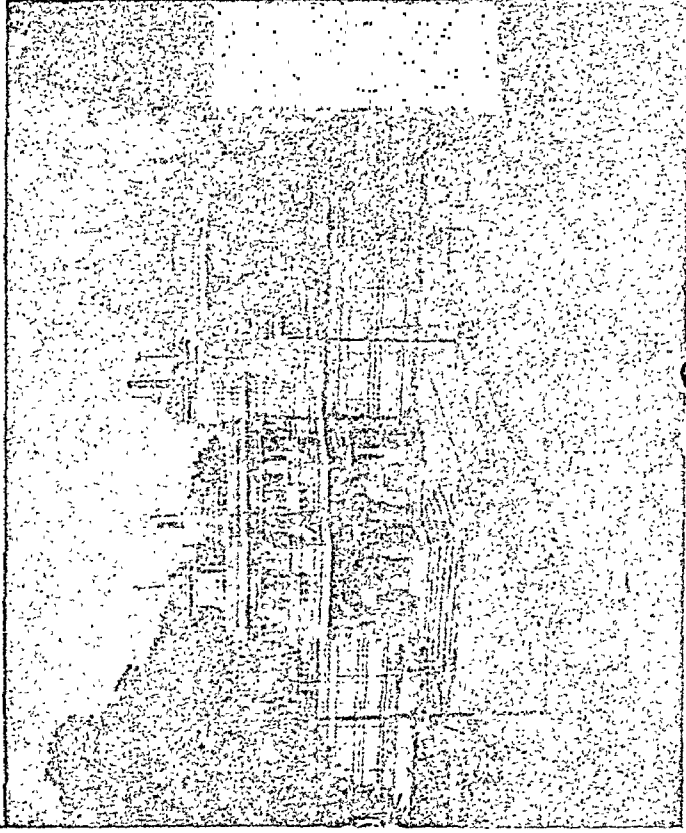
हाथी सिंह मंदिर, अहमदाबाद। यह जैन मंदिर पिछली शताब्दी की अत्युत्तम कलाकृति है।

गुड़िया (देखिए पृष्ठ ४३३)

७. कपड़े की बनी 'पहाड़िन' गुड़िया (बंगाल)
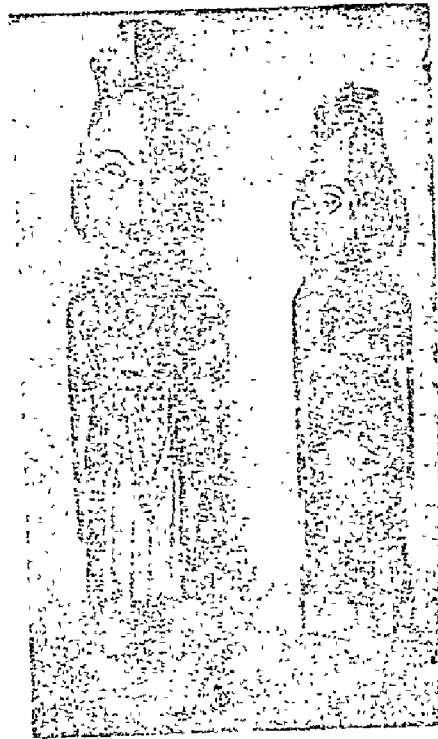
४. लकड़ी की गुड़िया (बिहार, उड़ीसा)
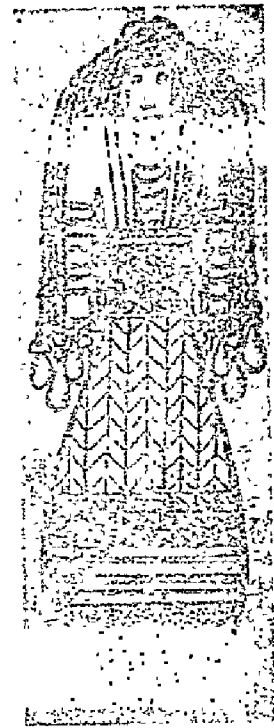
२. पतवार के आकार की काष्ठनिर्मित मिस्री गुड़िया (१०वीं-७वीं सदी ई० पू०)

ड़ी की गुड़िया (वीरभूम, बंगाल)
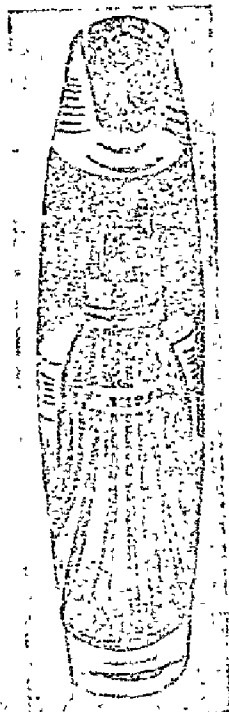
६. कपड़े की गुड़िया (राजस्थान)
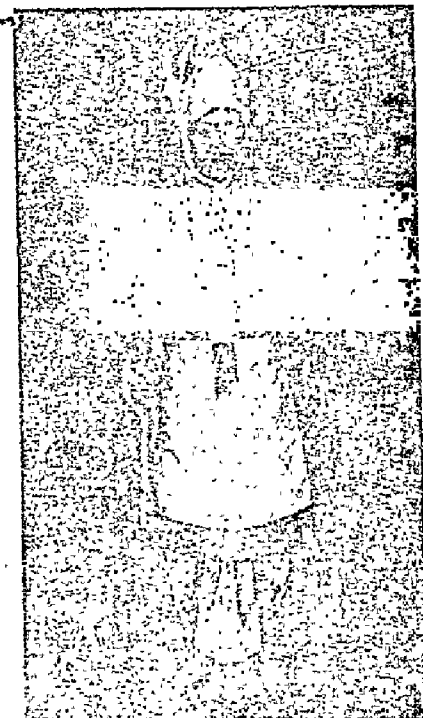
८. गुड़िया नर्तक (मणिपुर, आधुनिक)

केंद्रित है जिसमें ५०% औद्योगिक श्रमिक लगे हुए हैं। इसके बाद सूरत, खेड़ा और वड़ौदा का स्थान है। यहाँ की सूती मिलों में देश के २२% तकुए और २७% करघे लगे हुए हैं जिसमें ७५% अकेले अहमदाबाद में स्थापित किए गए हैं। इस कारण अहमदाबाद एशिया का मैनचेस्टर कहा जाता है। यहाँ के यांत्रिक उद्योगों की संख्या ४०० है जिसमें १५,००० श्रमिक लगे हुए हैं। औद्योगिक विकास के दृष्टिकोण से राजकोट, भावनगर, गांधीधाम, मेहसाना, गोधरा, और अमरेली में औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना की भूमिका तैयार हो चुकी है और जूनागढ़, हिम्मतनगर, पालनपुर, राजपिप्ला, खंभालिया, लिंबडी और मोधापुर में स्थापना हेतु भूमि प्राप्त की जा चुकी है।

शक्तिविकास—यद्यपि शक्ति और उद्योग के साधन अल्प हैं, फिर भी संपूर्ण भारत की औसत विद्युच्छक्ति के उत्पादन मे गुजरात आगे है। उकई परियोजना दक्षिणी गुजरात के औद्योगिक विकास में महान् चमत्कार उपस्थित करने जा रही है। २७ नवंबर, १९५९ ई० को इसका शिलान्यास हुआ। सूरत से ७० मील दूर ताप्ती नदी पर ३.२ किलोमीटर लंबा १३२ मीटर ऊँचा बाँध और ३०० मेगावाट क्षमता का विद्युद्गृह निर्माणाधीन है जो बहुमुखी योजनाओं के अंतर्गत बनाए गए शक्तिगृहों में सबसे बड़ा होगा। इस प्रदेश के मुख्य ताप विद्युद्गृह धुवरान (२५४ मे०वा०), अहमदाबाद (२१७.५ मे०वा०), उतरान (६७.५ मे०वा०), साहपुर (१६ मे०वा०) में स्थित हैं। इस प्रदेश में संपूर्ण शक्ति उत्पादन की निर्धारित क्षमता १९७०–७१ तक ८६२ मे०वा० थी और विभिन्न जलविद्युत् एवं तापविद्युत् केंद्रों से १,६०७ मे०वा० उत्पादन की योजना बनाई गई है। गुजरात के ४,०८७ गाँवों को विद्युत् दी गई है।

शिक्षा—राज्य की १५ प्रतिशत जनसंख्या छोटे बड़े विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करती है। गुजरात विश्वविद्यालय (अहमदाबाद), सयाजीराव विश्वविद्यालय (बड़ौदा), वल्लभभाई रूरल विश्वविद्यालय (आनंद) यहाँ के मुख्य विश्वविद्यालय हैं। साक्षरता के दृष्टिकोण से यह प्रदेश आगे है। इस राज्य की औसत साक्षरता ३६.२ प्रतिशत है जो पूरे राष्ट्र के औसत से कहीं अधिक है। १९५१ में यहाँ की साक्षरता २३% रही। अहमदाबाद में उच्चतम साक्षरता ४९.४%, सूरत ४०.६%, मेहसाना ४०.१%, राजकोट ३८.१% और सबसे कम डाँग में ११.५% है।

यातायात—राज्य में ५,००० कि०मी० रेलवे लाइन और २४,००० कि०मी० सड़कें हैं। पूरे प्रदेश में रेलों का जाल सा बिछा हुआ है। दिल्ली अहमदाबाद सड़क (५१२ कि०मी०), अहमदाबाद कांदला सड़क (३६६ कि०मी०) और बामनबोर-राजकोट-पोरबंदर सड़क (२१८ कि०मी०) यहाँ के मुख्य राजपथ हैं जिनसे यहाँ का संपूर्ण औद्योगिक ढाँचा संबंधित है। तटीय भागों में सड़कों का अभाव है लेकिन निर्माण कार्य प्रगति पर है।

बंदरगाह—गुजरात में ५८ बंदरगाह हैं जिनमें १ बड़ा, ८ मध्यम कोटि के तथा ४९ छोटे हैं। कांडला अकेले २० लाख टन और अन्य सभी बंदरगाह मिलकर ३ करोड़ ५० लाख टन सामानों का आयात निर्यात करते हैं। कांडला के अतिरिक्त ओखा, बेदी, वेरावल, सिक्का, पोरबंदर यहाँ के मुख्य बंदरगाह हैं।

मुख्य नगर—प्रदेश की समस्त नगरसंख्या २४३ तथा गाँव संख्या १८,७२९ है। राज्य की ५० प्रतिशत नागरिक जनसंख्या यहाँ के १५ बड़े नगरों में निवास करती हैं। अहमदाबाद (जनसंख्या १५,९१,८३२—१९७१) गुजरात की प्राचीन राजधानी है जिसका भारत के बड़े नगरों में छठा स्थान है। पंद्रहवीं शताब्दी में हिंदू नगर 'अणवाल' के स्थान पर अहमदशाह ने इस नगर को बसाया था। नगर का प्राचीन भाग साबरमती के बाएँ और नया बसा हुआ नगर दाएँ किनारे पर स्थित है। कपास क्षेत्र के मध्य में स्थित होने के कारण सूती वस्त्र व्यवसाय के लिये यह नगर अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

बड़ौदा—(जनसंख्या ४,६६,६९६—१९७१) माही और नर्मदा के दोआब तथा राज्य के मध्य भाग में होने के कारण यह गायकवाड़ मरहठों की राजधानी रहा है। यहाँ रेलवे जंक्शन, विश्वविद्यालय तथा कपड़े की कई मिलें हैं।

सूरत—(जनसंख्या ४,७१,६५६—१९७१) नर्मदा नदी के निचले भाग में स्थित है। सूरत में पहली अंग्रेजी कंपनी १६०८ में स्थापित हुई और सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक यह एक प्रगतिशील बंदरगाह रहा।

गांधीनगर—गुजरात का सुनियोजित नगर और वर्तमान राजधानी है। यह अहमदाबाद से २४ किं०मी० उत्तर साबरमती के दाहिने तट पर बसा हुआ है। ५,५०० हेक्टेयर क्षेत्र में इस नव नगर का विस्तार है। इसके और अहमदाबाद नगर के बीच हवाई अड्डे का क्षेत्र है। बंबई–दिल्ली राजमार्ग इस नगर से केवल ५ किलोमीटर हटकर है। जुलाई, १९६४ में इस क्षेत्र को तेल विहीन घोषित कर दिए जाने के बाद इस नगर की योजना बनाई गई। नगर की सभी सड़कें आयताकार हैं और नदी की ओर अर्धचंद्राकार रूप में घूम जाती हैं। इस नगर में कुल १ लाख व्यक्तियों को बसाने की योजना है।

प्राकृतिक संपदा—कृषि योग्य उपजाऊ मिट्टी, जलाशय एवं समुद्रतट, खनिज एवं वन इस राज्य के आर्थिक विकास के लिये आधार स्वरूप हैं। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में इन संसाधनों के उपयोग एवं संरक्षण पर पूर्ण रूप से बल दिया गया, फिर भी अभी सीमित ही है। यहाँ के वन बाँस, ईंधन, चरागाह, तिलहन, बीड़ी के पत्तों से भरे पड़े हैं। गोंद और धूप भी यहाँ के वनों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। वनों में पाए जानेवाले विभिन्न प्रकार के वन्य जीव प्रदेश के आर्थिक स्रोत हैं। यहाँ के वनों में इस समय १७७ सिंह हैं जो देश के विभिन्न भागों से पर्यटकों को आकर्षित करते हैं।

नर्मदा, ताप्ती, माही और साबरमती जैसी सततवाहिनी नदियाँ कृषि एवं उद्योगों के लिये जल के अक्षय स्रोत के रूप में हैं। समुद्रतट के सामीप्य से मत्स्योद्योग के विकास का भविष्य उज्वल है। प्रदेश की १,६०० किलोमीटर लंबी तटरेखा के सहारे १२,००० वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में पांफ्रेट, भारतीय सालमन, हिल्सा, जिंव मछलियां पर्याप्त मात्रा में पाई जाती हैं। प्राकृतिक बनावट व स्थिति अतीतकाल से इस प्रदेश को आर्थिक विकास की ओर प्रेरित करती रही है। (शि० प्र० सि०)

गुजराती भाषा और साहित्य गुजराती भाषा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में से एक है और इसका विकास 'शौरसेनी प्राकृत' के परवर्ती रूप 'नागर अपभ्रंश' से हुआ है। गुजराती भाषा का क्षेत्र गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ के अतिरिक्त बंबई का सीमावर्ती प्रदेश तथा राजस्थान का दक्षिण-पश्चिमी भाग भी है। इसकी अन्य प्रमुख बोलियों में सौराष्ट्री तथा कच्छी आती हैं। हेमचंद्र सूरि ने अपने ग्रंथों में जिस अपभ्रंश का संकेत किया है, उसका परवर्ती रूप गुर्जर अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध है और इसमें अनेक साहित्यिक कृतियाँ मिलती हैं। इस अपभ्रंश का क्षेत्र मूलत: गुजरात और पश्चिमी राजस्थान था और इस दृष्टि से पश्चिमी राजस्थानी अथवा मारवाड़ी, गुजराती भाषा से घनिष्ठतया संबद्ध है। गुर्जर या श्वेतांबर अपभ्रंश की इन कृतियों को गुजराती की आद्य कृतियाँ माना जा सकता है, जो प्राय: जैन कवियों की लोकसाहित्यिक शैली में निबद्ध रचनाएँ हैं। रास, फाग तथा चर्चरी काव्यों का प्रभूत साहित्य हमें उपलब्ध है, जिनमें प्रमुख भरतबाहुबलिरास, रेवंतदास, थूलिभद्दफाग, नेमिनाथचौपाई आदि हैं। इसके बाद भी १३वीं-१४वीं सदी की कुछ गद्य रचनाएँ मिलती हैं, जो एक साथ जूनी गुजराती और जूनी राजस्थानी की संक्रांतिकालीन स्थिति का परिचय देती हैं। वस्तुत: १६वीं सदी तक, मीराबाई तक, गुजराती और पश्चिमी राजस्थानी एक अविभक्त भाषा थी। इनका विपाटन इसी सदी के आसपास शुरू हुआ था।

प्राचीन गुजराती साहित्य का इतिहास विशेष समृद्ध नहीं है। आरंभिक कृतियों में श्रीधर कवि का 'रणमल्लछंद' (१३९० ई० ल०) है, जिसमें ईडर के राजा रणमल्ल और गुजरात के मुसलमान शासक के युद्ध का वर्णन है। दूसरी कृति पद्मनाभ कवि का 'कान्हड़देप्रबंध' (१४५६ ई०) है, जिसमें जालोर के राजा कान्हड़दे पर अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण और युद्ध का वर्णन है। यह काव्य वीररस की सुंदर रचना है और गुजराती

साहित्य के आकर ग्रंथों में परिगणित होता है। इन्हीं दिनों मध्ययुगीन सांस्कृतिक जागरण की लहर गुजरात में भी दौड़ पड़ी थी, जिसके दो प्रमुख प्रतिनिधि नरसी महता और भालण कवि हैं। नरसी का समय विवादग्रस्त है, पर अधिकांश विद्वानों के अनुसार ये १५वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। इनकी कृष्णभक्ति के विषय में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। नरसी मेहता गुजराती पदसाहित्य के जन्मदाता हैं, जिसमें निश्छल भक्तिभावना की अनुपम अभिव्यक्ति पाई जाती है। भालण कवि का समय भी लगभग यही माना जाता है। इन्होंने रामायण, महाभारत और भागवत के पौराणिक इतिवृत्तों को लेकर अनेक काव्य निबद्ध किए और गरबासाहित्य को जन्म दिया। वात्सल्य और शृंगार के चित्रण में भालण सिद्धहस्त माने जाते हैं। पद साहित्य और आख्यान काव्यों की इन दोनों शैलियों ने मध्ययुगीन गुजराती साहित्य को कई कवि प्रदान किए हैं। प्रथम शैली का अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तित्व मीराबाई (१६वीं सदी) है जिनपर नरसी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। हिंदी और राजस्थानी की तरह मीराबाई के अनेक सरस पद गुजराती में पाए जाते हैं जो नरसी के पदों की भाँति ही गुजराती जनता में लोकगीतों की तरह गाए जाते हैं। आख्यान काव्यों की शैली का निर्वाह नागर, केशवदास, मधुसूदन व्यास, गणपति आदि कई कवियों में मिलता है, किंतु इसका चरमपरिपाक प्रेमानंद में दिखाई पड़ता है।

प्रेमानंद (१७वीं शती) गुजराती भक्ति साहित्य के सर्वोच्च कवि माने जाते हैं। वे बड़ौदा के नागर ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे और संस्कृत, हिंदी, गुजराती आदि भाषाओं के अच्छे जानकार थे। प्रेमानंद ने रामायण, महाभारत, भागवत और मार्कंडेयपुराण के कई आख्यानों पर काव्य निबद्ध किए जिनकी संख्या ५० से ऊपर है। ये गुजराती के सर्वप्रथम नाटककार भी हैं, जिनकी तीन नाट्य कृतियाँ हैं। भावगांभीर्य के साथ साथ अलंकृत शैली इनकी विशेषता है। इन्हीं के ढंग पर और कवियों ने भी पौराणिक आख्यान लिखे, जिनमें शामल भट्ट के अनेक काव्य, मुकुंद का 'भक्तमाल', देवीदास का 'रुक्मिणीहरण', मुरारी का 'ईश्वरविवाह' उल्लेखनीय हैं। प्रेमानंद के ही समसामयिक भक्त कवि अखो (१७वीं शती) हैं जो अहमदाबाद के सोनार थे। कबीर की तरह इन्होंने धर्म के मिथ्या पाखंड, जातिप्रथा और वर्णव्यवस्था पर कटु व्यंग्य किया है। इनके दार्शनिक, भक्तिपरक तथा सुधारवादी दोनों तरह के पद मिलते हैं।

हम बता चुके हैं कि भालण कवि ने एक विशेष काव्यशैली का विकास किया था—गरबा शैली। यह शैली मूलतः नृत्यपरक लोकगीतों से संबद्ध है। इस शैली में १८वीं सदी में देवी देवताओं से संबद्ध अनेक भक्तिपरक स्तुतिगीत लिखे गए। गरबी कवियों का अलग संप्रदाय ही चल पड़ा, जिसमें ब्राह्मण, भाट, पाटीदार सभी तरह के लोग मिलेंगे। प्रमुख गरबी कवियों में वल्लभ भट्ट, प्रीतमदास, धीरोभक्त, नीरांत भक्त औरभोजा भक्त हैं। इस शैली का चरम परिपाक गरबी सम्राट् दयाराम (१७६७—१८५२ ई०) के गीतों में मिलता है। दयाराम शृंगाररसपरक गीतिकाव्य के सर्वश्रेष्ठ मध्ययुगीन गुजराती कवि हैं, जिन्होंने सरल और सरस शैली में मधुर भावों की अभिव्यंजना की है। गुजराती में इनकी ४८ रचनाएँ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत, हिंदी, मराठी, पंजाबी, और उर्दू में भी इन्होंने समान रूप से काव्यरचना की है।

मध्ययुगीन गुजराती साहित्य के विकास में स्वामीनारायण संप्रदाय का भी काफी हाथ रहा है। इस संप्रदाय के संस्थापक सहजानंद रामानंद की शिष्यपरंपरा में आते हैं। कच्छ और गुजरात में इस संप्रदाय के साधुओं का काफी प्रभाव रहा है। दार्शनिक तथ्य, भक्तिभावना और सामाजिक पाखंड की भर्त्सना इन साधु कवियों के विषय हैं। इस संप्रदाय के प्रमुख कवि ब्रह्मानंद हैं जिनके कई ग्रंथ और आठ हजार फुटकर पद मिलते हैं। अन्य कवियों में मुक्तानंद, मंजुकेशानंद और देवानंद का नाम लिया जा सकता है।

वैसे तो जूनी गुजराती में कुछ गद्य कृतियाँ मिलती हैं, पर मध्ययुगीन गुजराती में गद्यशैली का प्रौढ़ विकास नहीं हो पाया था। गुजराती गद्य के विकास में अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की तरह ईसाई पादरियों का भी हाथ रहा है। १९वीं सदी के प्रथम चरण में बाइबिल का गुजराती गद्य में अनुवाद प्रकाशित हुआ और ड्रमंड ने १८०८ ई० में गुजराती का सर्वप्रथम व्याकरण लिखा। गुजराती में नई चेतना का प्रादुर्भाव जिन लेखकों में हुआ, उनमें पादरी जर्विस, नर्मदाशंकर, नवलराय तथा भोलानाथ आते हैं। नर्मद या नर्मदाशंकर (१८३३-१८८६ ई०) गुजराती मध्यवर्गीय चेतना के अग्रदूत हैं, ठीक वैसे ही जैसे हिंदी में भारतेंदु। समय की दृष्टि से भी ये भारतेंदु के समसामयिक थे तथा उन्हीं की तरह सर्वतोमुखी प्रतिभा से समन्वित थे। इनकी गद्यबद्ध आत्मकथा 'मारी हकीकत' पुराने कवियों की संपादित कृतियाँ और आलोचनाएँ, संस्कृत 'शाकुंतल' का गुजराती अनुवाद और अनेक सुधारवादी कविताएँ हैं। आधुनिक गुजराती काव्य को नए साँचे में ढालनेवाले पहले कवि नर्मद ही हैं जिन्होंने नए सांस्कृतिक जागरण, राष्ट्रीय भावना और सुधारवादी उदात्तता को वाणी दी है। इनकी वैचारिक काव्यशैली के आगे पुराने भक्त कवि सामान्य दिखाई पड़ते हैं। नर्मद पाश्चात्य काव्यशैली से पूरी तरह परिचित थे। भारतेंदु की तरह ही वे कर्मठ साहित्यिक थे, जिन्होंने अनेक नए कवियों और लेखकों को प्रेरित और संगठित किया। संपादन और आलोचना के क्षेत्र में भी नर्मद का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। साथ ही वे गुजराती के प्रथम निबंधकार, नाटककार और आत्मचरित-लेखक माने जाते हैं। नर्मद के समसामयिक कवि दलपतराम (१८२०-१८९८ ई०) की रचनाएँ भी सामाजिक, नीतिपरक तथा राष्ट्रीय विषयों से संबद्ध हैं। सरल, प्रसादगुण-युक्त शैली में अपने काव्य को उपस्थित कर देना दलपतराम की विशेषता है। यद्यपि इनकी शैली नर्मद की अपेक्षा गद्यवत् अधिक है, तथापि व्यावहारिकता कहीं अधिक पाई जाती है।

नर्मद और दलपतराम अनेक परवर्ती कवियों के आदर्श रहे हैं। सवितानारायण, मणिलाल द्विवेदी, बालशंकर कंथारिया, कलापी आदि सभी पर इनका प्रभाव मिलेगा। इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि काठियावाड़ के ठाकुर सुरसिंह जी गोहेल (१८७४-१९१३ ई०) थे, जो 'कलापी' उपनाम से कविता करते थे। ये सच्चे कविहृदय व्यक्ति थे, जिनकी प्रत्येक पंक्ति में अनुभूति की तीव्रता विद्यमान है। उन्मुक्त प्रेम, प्रकृतिवर्णन, तथा स्वच्छंद रोमानी भावना का निसर्ग प्रवाह कलापी की कविता में है। इनका काव्यसंग्रह 'कलापी नो केकारव' है। शैली तथा छंदोविधान के क्षेत्र में ये नए प्रयोगों के जन्मदाता हैं। गुजराती में इन्होंने अनेक 'गजलें' भी लिखी हैं, जो 'गजलिस्तान' नामक संग्रह में संकलित हैं। श्री कंथारिया ने फारसी कवि हाफिज की गजलों का गुजराती काव्यानुवाद प्रस्तुत किया है तथा अन्य मुक्तक रचनाएँ भी लिखी हैं। गुजराती काव्य को परंपरावादी प्रवृत्तियों से मुक्त कर स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर करने में इन कवियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। गुजराती के परवर्ती रोमैंटिक कवियों में नरसिंहराव दिवेटिया, फरदुनजी मरजवान, रामजी मेरवानजी मलबारी, हरिलाल ध्रुव तथा फ्रामजी खबरदार प्रमुख हैं। इनमें श्री दिवेटिया कवि के अतिरिक्त गुजराती साहित्य के अधिकारी विद्वान् भी थे और इन्होंने 'गुजराती भाषा और साहित्य' पर बंबई विश्वविद्यालय में विल्सन फाइलोलॉजिकल व्याख्यान दिए थे। कविता के क्षेत्र में ये अंग्रेजी रोमैंटिक कवियों से विशेष प्रभावित हैं। खबरदारजी की कविताओं में प्रधानतः देशभक्ति और दार्शनिक विषयों की ओर झुकाव मिलता है।

रोमैंटिक काव्यधारा का विकास बलवंतराय, दामोदर खुशालदास बोरादकर, मणिशंकर रतनजी भट्ट तथा नानालाल में मिलता है। ये सभी कवि पाश्चात्य काव्यशैली से प्रभावित हैं। इन कवियों में नानालाल अग्रगण्य हैं, जो गुजराती कवि दलपतराम के पुत्र थे। कवि तथा नाटककार दोनों रूपों में इन्होंने विशिष्ट ख्याति अर्जित की है। प्रबंध काव्य, खंड काव्य तथा मुक्तक काव्य तीनों शैलियों में इनकी रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें प्रमुख 'कुरुक्षेत्र' महाकाव्य है। गुजराती में मुक्त छंद के सर्वप्रथम प्रयोक्ता भी ये ही हैं। नव्य गुजराती कविता पर समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा साहित्यिक परिवर्तनों का काफी प्रभाव पड़ा है। गांधीवादी कवियों में सर्वश्रेष्ठ ब० क० ठाकुर हैं, जिन्होंने नए विषयों के प्रयोग के साथ साथ अतुकांत छंद की तरह प्रवाही पद्य का प्रयोग तथा

व्यावहारिक भाषा का उपयोग किया है। इन्होंने गुजराती में कई सॉनेट (चतुर्दशपदियाँ) भी लिखे हैं। ठाकुर का प्रभाव उमाशंकर जोशी, रामनारायण पाठक, कृष्णलाल श्रीधराणी आदि कवियों पर मिलेगा। आधुनिक गुजराती कवियों पर एक ओर साम्यवादी विचारधारा का और दूसरी ओर बिंबवादी कवियों का प्रभाव पड़ा है। प्रयोगवादी ढंग के गुजराती कवियों में राजेंद्र शाह और दिनेश कोठारी प्रमुख हैं, जिन्होंने भाषा, छंद और काव्य के साथ नए प्रयोग किए हैं।

गुजराती नाटक साहित्य विशेष समृद्ध नहीं है। नर्मदाशंकर ने 'शाकुंतल' का अनुवाद किया था और रणछोड़ भाई ने कुछ संस्कृत तथा अंग्रेजी नाटकों का। रणछोड़ भाई ने कई मौलिक पौराणिक तथा सामाजिक नाटक भी लिखे। अन्य परवर्ती नाटककारों में दलपतराम, नवलराय, नानालाल तथा सर रमणभाई आते हैं। सामाजिक कथावस्तु को लेकर लिखनेवाले आधुनिक नाटककार कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, चंद्रवदन मेहता और धनसुखलाल मेहता हैं। इधर श्रीधराणी, उमाशंकर जोशी तथा वटुभाई उमरवाडिया ने एकांकी नाटक भी लिखे हैं।

यही स्थिति गुजराती निबंध साहित्य की भी है। पहले निबंधलेखक नर्मद हैं। नर्मद के समय ही गुजराती पत्रकारिता का उदय हुआ था और नवलराय ने 'गुजरात शाळापत्र' का प्रकाशन आरंभ किया। इन्होंने समालोचना और निबंध के क्षेत्र में भी काफी काम किया। विवेचनात्मक तथा व्यक्तिव्यंजक दोनों तरह के निबंध लिखे जाने लगे पर गुणात्मक प्रौढ़ि की दृष्टि से केवल आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव, नरसिंहराव दिवेटिया, काका कालेलकर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, रामनारायण पाठक, केशवलाल कामदार और उमाशंकर जोशी की ही कृतियों का संकेत किया जा सकता है। आलोचनात्मक लेखों के क्षेत्र में केशवलाल ध्रुव, मनसुखलाल झावेरी, उमाशंकर जोशी तथा डॉ० भोगीलाल सांडेसरा ने महत्वपूर्ण योग दिया है। संस्मरण तथा रेखाचित्र के गुजराती लेखकों में मुंशी तथा उनकी पत्नी लीलावती मुंशी, गांधीवादी विचारक काका कालेलकर और गांधीजी के अनन्य सहयोगी महादेव भाई की परिगणना की जाती है।

गुजराती कथा साहित्य अपेक्षाकृत विशेष समृद्ध है। उपन्यास साहित्य का प्रारंभ श्री नंदशंकर तुलजाशंकर के उपन्यास 'करणघेलो' (१८६८ ई०) से होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों की जो परंपरा महीपतराम, अनंतराम त्रीकमलाल और चुन्नीलाल वर्धमान ने स्थापित की, उसका चरम परिपाक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलता है। 'पृथ्वीवल्लभ', 'जय सोमनाथ', 'गुजरात नो नाथ', 'पाटण नी प्रभुत्व', 'भगवान् परशुराम', 'लोपामुद्रा', 'भगवान् कौटिल्य' उनकी प्रशस्त कृतियाँ हैं। इनके पूर्व इस क्षेत्र में इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने भी काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी, जिनका स्पष्ट प्रभाव मुंशी जी पर दिखाई पड़ता है। मुंशी जी ने पौराणिक, ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं। सामाजिक उपन्यासों के क्षेत्र में रमणलाल देसाई का विशेष स्थान है। राष्ट्रीय आंदोलन से संबद्ध इनके दो उपन्यास 'दिव्यचक्षु' और 'भारेला अग्नि' तथा भारतीय ग्रामीण जीवन की समस्याओं से संबद्ध, चार भागों में प्रकाशित महती कृति 'ग्रामलक्ष्मीकोश' ने काफी ख्याति प्राप्ति की है। गुजरात के लोकजीवन और लोकसाहित्य को उपन्यासों के साँचे में ढालने का स्तुत्य प्रयास झवेरचंद मेघाणी ने किया, जो गुजराती लोकसाहित्य के विशेषज्ञ भी थे। अन्य सामाजिक उपन्यासलेखकों में गोवर्धनराम त्रिपाठी, पन्नालाल पटेल और धूमकेतु ने विशेष ख्याति अर्जित की है। श्री त्रिपाठी तथा अन्य दोनों लेखकों पर यथार्थवादी उपन्यासकला का प्रभाव भी मिलेगा। कथासाहित्य के दूसरे अंग कहानी साहित्य का आविर्भाव सन् १९१८ में प्रकाशित वासुदेव मेहता की कहानी 'गोवालणी' के प्रकाशन से माना जाता है। इसके बाद तो विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, अमृतलाल पढियार, और चंद्रशंकर पंड्या की कई कहानियाँ प्रकाशित हुईं। आधुनिक कहानीलेखकों में मुंशी, रमणलाल देसाई, गुणवंतराय आचार्य, धूमकेतु तथा गुलाबदास ब्रोकर विशेष प्रसिद्ध हैं। धूमकेतु तथा गुलाबदास ब्रोकर ने कहानी की तकनीक को अत्याधुनिक बनाया है। आज का गुजराती कथा साहित्य और काव्य विशेष रूप से भारतीय समाज के सभी पहलुओं का अंकन कर भारतीय युगचेतना को वाणी देने में अपना समुचित योग दे रहा है।

सं० ग्रं०—नरसिंहराव दिवेटिया : गुजराती लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर, भाग १–२। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी : गुजरात ऐंड इट्स लिटरेचर। भोलाशंकर व्यास : भारतीय साहित्य की रूपरेखा।

(भो० शं० व्या०)

गुडियात्तम उत्तरी आर्काट जिले (मद्रास) के गुडियात्तम ताल्लुक का प्रमुख नगर (स्थिति : १२° ५८' उ० अ० तथा ७८° ५३' पू० दे०)। यह पालार से तीन मील उत्तर में स्थित है। नगर मद्रास-मंगलोर-रेलमार्ग के गुडियात्तम रेलवे स्टेशन से तीन मील दूर है। यहाँ से चित्तूर तथा पालमनेर नगरों की तरफ सड़कें जाती हैं। यहाँ नगरपालिका की स्थापना १८७५ ई० में हुई थी। यह साफ सुथरा सुव्यवस्थित शहर है। यहाँ का प्रमुख व्यवसाय कपड़े बुनना है। 'लब्बाइज' व्यापारी गुड़, चमड़ा, इमली, तंबाकू तथा घी का रोजगार करते हैं। कनाड़ी जाति के लोगों ने छोटी छोटी दूकानें खोली हैं। ये रुपया उधार देने का व्यवसाय भी करते हैं। हर मंगलवार को यहाँ पशुओं का मेला लगता है। यहाँ एक उच्च विद्यालय तथा लड़कियों का एक प्रशिक्षण विद्यालय है।

(ज० सिं०)

गुडुरू आंध्र प्रदेश के नेलोर जनपद का पूर्वी उपमंडल (स्थिति : १३° २९' से १४° २५' उ० अ० तथा ७९° ४३' से ८०° १६' पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल २,३४० वर्ग किलोमीटर है : प्रायः संपूर्ण क्षेत्र तटीय मैदान है जो १२० मीटर से नीचा है। कैंडलेरु, स्वर्णमुखी और सैदापुरम प्रमुख नदियाँ हैं। मिट्टी पश्चिमी भाग में कठोर और चिकनी है पर पूर्वी भाग में बलुआर चिकनी मिट्टी मिलती है। तटीय क्षेत्र में पामीरा और कासरीना के वृक्षों तथा दलदली भूमि का आधिक्य है।

गुडुरू नगर में उपमंडल का प्रधान कार्यालय होने के अतिरिक्त दक्षिण रेलवे का जंकशन भी है। प्रांतीय स्तर के संस्थानों, जैसे मद्रास माइका ऐसोसिएशन, माइका स्क्रैप डीलर्स ऐसोसिएशन आदि का प्रधान कार्यालय भी इस नगर में है। सरकारी औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान तथा गुडुरू सिरामिक फैक्टरी, जिसमें १ अप्रैल, १९५९ से उत्पादन प्रारंभ हुआ, नगर के विशेष उल्लेखनीय संस्थान हैं। छोटे मोटे कृषियंत्र एवं चटाई आदि लघु उद्योग धंधे हैं। चावल और लालमिर्च प्रमुख निर्यात की वस्तुएँ हैं।

(कैं० ना० सिं०)

गुड्डीवडा १. आंध्र प्रदेश के कृष्णा जनपद का उपमंडल (स्थिति : १६° १६' से १६° ४७' उ० अ० तथा ८०° ५५' से ८१° २३' पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल १,५२३ वर्ग किलोमीटर है, जिसमें कृष्णा गोदावरी के बीच की निम्न भूमि और कोल्लेरू भील का निम्न प्रदेश संमिलित है। जनपद के इस भूभाग का प्रमुख व्यवसाय कृषि है। सिंचाई के लिये कृष्णा की नहरें हैं। नगर में उपमंडल का प्रमुख कार्यालय स्थापित है।

२. उपर्युक्त उपमंडल का नगर (स्थिति : १६° २७' उ० अ० तथा ८१° ००' पू० दे०)। प्राचीन वैभव के अवशेष नगर में विशेष रूप से प्राप्त हुए हैं। मध्य में एक प्राचीन बौद्ध स्तूप तथा पश्चिमी भाग में जैन मूर्ति के अवशेष मिले हैं। सुदूर पश्चिम में नगर की प्राचीन बस्ती के अवशेष हैं। धातु, पत्थर आदि के मनके और सातवाहन नरेशों के सीसे के सिक्के प्राप्त हुए हैं। आंध्र-नाटक-कला-परिषद् यहाँ की प्रमुख सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्था तथा आंध्र विश्वविद्यालय से संबद्ध ए० एन० आर० महाविद्यालय प्रमुख शैक्षणिक संस्था है।

(कैं० ना० सिं०)

गुड़ ईख, ताड़ आदि के रस को गरम कर सुखाने से प्राप्त होनेवाला ठोस पदार्थ। इसका रंग हलके पीले से लेकर गाढ़े भूरे तक हो सकता है। भूरा रंग कभी कभी काले रंग का भी आभास देता है। यह खाने में मीठा होता है। प्राकृतिक पदार्थों में सबसे अधिक मीठा कहा जा सकता है। अन्य वस्तुओं की मिठास की तुलना गुड़ से की जाती है।

साहित्य के आकर ग्रंथों में परिगणित होता है। इन्हीं दिनों मध्ययुगीन सांस्कृतिक जागरण की लहर गुजरात में भी दौड़ पड़ी थी, जिसके दो प्रमुख प्रतिनिधि नरसी महेता और भालण कवि हैं। नरसी का समय विवादग्रस्त है, पर अधिकांश विद्वानों के अनुसार ये १५वीं सदी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। इनकी कृष्णभक्ति के विषय में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। नरसी महेता गुजराती पदसाहित्य के जन्मदाता हैं, जिसमें निश्चल भक्तिभावना की अनुपम अभिव्यक्ति पाई जाती है। भालण कवि का समय भी लगभग यही माना जाता है। इन्होंने रामायण, महाभारत और भागवत के पौराणिक इतिवृत्तों को लेकर अनेक काव्य निबद्ध किए और गरबा-साहित्य को जन्म दिया। वात्सल्य और शृंगार के चित्रण में भालण सिद्धहस्त माने जाते हैं। पद साहित्य और आख्यान काव्यों की इन दोनों शैलियों ने मध्ययुगीन गुजराती साहित्य को कई कवि प्रदान किए हैं। प्रथम शैली का अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तित्व मीराबाई (१६वीं सदी) है जिनपर नरसी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। हिंदी और राजस्थानी की तरह मीराबाई के अनेक सरस पद गुजराती में पाए जाते हैं जो नरसी के पदों की भाँति ही गुजराती जनता में लोकगीतों की तरह गाए जाते हैं। आख्यान काव्यों की शैली का निर्वाह नागर, केशवदास, मधुसूदन व्यास, गणपति आदि कई कवियों में मिलता है, किंतु इसका चरम-परिपाक प्रेमानंद में दिखाई पड़ता है।

प्रेमानंद (१७वीं शती) गुजराती भक्ति साहित्य के सर्वोच्च कवि माने जाते हैं। वे बड़ोदा के नागर ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे और संस्कृत, हिंदी, गुजराती आदि भाषाओं के अच्छे जानकार थे। प्रेमानंद ने रामायण, महाभारत, भागवत और मार्कंडेयपुराण के कई आख्यानों पर काव्य निबद्ध किए जिनकी संख्या ५० से ऊपर है। ये गुजराती के सर्वप्रथम नाटककार भी हैं, जिनकी तीन नाट्य कृतियाँ हैं। भावगांभीर्य के साथ साथ अलंकृत शैली इनकी विशेषता है। इन्हीं के ढंग पर और कवियों ने भी पौराणिक आख्यान लिखे, जिनमें शामल भट्ट के अनेक काव्य, मुकुंद का 'भक्तमाल', देवीदास का 'रुक्मिणीहरण', मुरारी का 'ईश्वरविवाह' उल्लेखनीय हैं। प्रेमानंद के ही समसामयिक भक्त कवि अखो (१७वीं शती) हैं जो अहमदाबाद के सोनार थे। कबीर की तरह इन्होंने धर्म के मिथ्या पाखंड, जातिप्रथा और वर्णव्यवस्था पर कटु व्यंग्य किया है। इनके दार्शनिक, भक्तिपरक तथा सुधारवादी दोनों तरह के पद मिलते हैं।

हम बता चुके हैं कि भालण कवि ने एक विशेष काव्यशैली का विकास किया था—गरबा शैली। यह शैली मूलतः नृत्यपरक लोकगीतों से संबद्ध है। इस शैली में १८वीं सदी में देवी देवताओं से संबद्ध अनेक भक्तिपरक स्तुतिगीत लिखे गए। गरबी कवियों का अलग संप्रदाय ही चल पड़ा, जिसमें ब्राह्मण, भाट, पाटीदार सभी तरह के लोग मिलेंगे। प्रमुख गरबी कवियों में वल्लभ भट्ट, प्रीतमदास, धीरोभक्त, नीरांत भक्त और भोजा भक्त हैं। इस शैली का चरम परिपाक गरबी सम्राट् दयाराम (१७६७–१८५२ ई०) के गीतों में मिलता है। दयाराम शृंगाररसपरक गीतिकाव्य के सर्वश्रेष्ठ मध्ययुगीन गुजराती कवि हैं, जिन्होंने सरल और सरस शैली में मधुर भावों की अभिव्यंजना की है। गुजराती में इनकी ४८ रचनाएँ मिलती हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत, हिंदी, मराठी, पंजाबी, और उर्दू में भी इन्होंने समान रूप से काव्यरचना की है।

मध्ययुगीन गुजराती साहित्य के विकास में स्वामीनारायण संप्रदाय का भी काफी हाथ रहा है। इस संप्रदाय के संस्थापक सहजानंद रामानंद की शिष्यपरंपरा में आते हैं। कच्छ और गुजरात में इस संप्रदाय के साधुओं का काफी प्रभाव रहा है। दार्शनिक तथ्य, भक्तिभावना और सामाजिक पाखंड की भर्त्सना इन साधु कवियों के विषय हैं। इस संप्रदाय के प्रमुख कवि ब्रह्मानंद हैं जिनके कई ग्रंथ और आठ हजार फुटकर पद मिलते हैं। अन्य कवियों में मुक्तानंद, मंजुकेशानंद और देवानंद का नाम लिया जा सकता है।

वैसे तो जूनी गुजराती में कुछ गद्य कृतियाँ मिलती हैं, पर मध्ययुगीन गुजराती में गद्यशैली का प्रौढ़ विकास नहीं हो पाया था। गुजराती गद्य के विकास में अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की तरह ईसाई पादरियों का भी हाथ रहा है। १९वीं सदी के प्रथम चरण में बाइबिल का गुजराती गद्य में अनुवाद प्रकाशित हुआ और ड्रमंड ने १८०८ ई० में गुजराती का सर्वप्रथम व्याकरण लिखा। गुजराती में नई चेतना का प्रादुर्भाव जिन लेखकों में हुआ, उनमें पादरी जर्विस, नर्मदाशंकर, नवलराय तथा भोलानाथ आते हैं। नर्मद या नर्मदाशंकर (१८३३-१८८६ ई०) गुजराती मध्यवर्गीय चेतना के अग्रदूत हैं, ठीक वैसे ही जैसे हिंदी में भारतेंदु। समय की दृष्टि से भी ये भारतेंदु के समसामयिक थे तथा उन्हीं की तरह सर्वतोमुखी प्रतिभा से समन्वित थे। इनकी गद्यबद्ध आत्मकथा 'मारी हकीकत' पुराने कवियों की संपादित कृतियाँ और आलोचनाएँ, संस्कृत 'शाकुंतल' का गुजराती अनुवाद और अनेक सुधारवादी कविताएँ हैं। आधुनिक गुजराती काव्य को नए साँचे में ढालनेवाले पहले कवि नर्मद ही हैं जिन्होंने नए सांस्कृतिक जागरण, राष्ट्रीय भावना और सुधारवादी उदात्तता को वाणी दी है। इनकी वैचारिक काव्यशैली के आगे पुराने भक्त कवि सामान्य दिखाई पड़ते हैं। नर्मद पाश्चात्य काव्यशैली से पूरी तरह परिचित थे। भारतेंदु की तरह ही वे कर्मठ साहित्यिक थे, जिन्होंने अनेक नए कवियों और लेखकों को प्रेरित और संगठित किया। संपादन और आलोचना के क्षेत्र में भी नर्मद का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। साथ ही वे गुजराती के प्रथम निबंधकार, नाटककार और आत्मचरित-लेखक माने जाते हैं। नर्मद के समसामयिक कवि दलपतराम (१८२०-१८९८ ई०) की रचनाएँ भी सामाजिक, नीतिपरक तथा राष्ट्रीय विषयों से संबद्ध हैं। सरल, प्रसादगुण-युक्त शैली में अपने काव्य को उपस्थित कर देना दलपतराम की विशेषता है। यद्यपि इनकी शैली नर्मद की अपेक्षा गद्यवत् अधिक है, तथापि व्यावहारिकता कहीं अधिक पाई जाती है।

नर्मद और दलपतराम अनेक परवर्ती कवियों के आदर्श रहे हैं। सवितानारायण, मणिलाल द्विवेदी, बालशंकर कथारिया, कलापी आदि सभी पर इनका प्रभाव मिलेगा। इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि काठियावाड़ के ठाकुर सुरसिंह जी गोहेल (१८७४-१९१३ ई०) थे, जो 'कलापी' उपनाम से कविता करते थे। ये सच्चे कविहृदय व्यक्ति थे, जिनकी प्रत्येक पंक्ति में अनुभूति की तीव्रता विद्यमान है। उन्मुक्त प्रेम, प्रकृति-वर्णन, तथा स्वच्छंद रोमानी भावना का निसर्ग प्रवाह कलापी की कविता में है। इनका काव्यसंग्रह 'कलापी नो केकारव' है। शैली तथा छंदोविधान के क्षेत्र में ये नए प्रयोगों के जन्मदाता हैं। गुजराती में इन्होंने अनेक 'गजलें' भी लिखी हैं, जो 'गजलिस्तान' नामक संग्रह में संकलित हैं। श्री कथारिया ने फारसी कवि हाफिज की गजलों का गुजराती काव्यानुवाद प्रस्तुत किया है तथा अन्य मुक्तक रचनाएँ भी लिखी हैं। गुजराती काव्य को परंपरावादी प्रवृत्तियों से मुक्त कर स्वच्छंदवादी प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर करने में इन कवियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। गुजराती के परवर्ती रोमैंटिक कवियों में नरसिंहराव दिवेटिया, फरदुनजी मरजबान, रामजी मेरवानजी मल्बारी, हरिलाल ध्रुव तथा फामजी खबरदार प्रमुख हैं। इनमें श्री दिवेटिया कवि के अतिरिक्त गुजराती साहित्य के अधिकारी विद्वान् भी थे और इन्होंने 'गुजराती भाषा और साहित्य' पर बंबई विश्वविद्यालय में विल्सन फाइलोलॉजिकल व्याख्यान दिए थे। कविता के क्षेत्र में ये अंग्रेजी रोमैंटिक कवियों से विशेष प्रभावित हैं। खबरदारजी की कविताओं में प्रधानतः देशभक्ति और दार्शनिक विषयों की ओर झुकाव मिलता है।

रोमैंटिक काव्यधारा का विकास बलवंतराय, दामोदर खुशालदास बोटादकर, मणिशंकर रतनजी भट्ट तथा नानालाल में मिलता है। ये सभी कवि पाश्चात्य काव्यशैली से प्रभावित हैं। इन कवियों में नानालाल अग्रगण्य हैं, जो गुजराती कवि दलपतराम के पुत्र थे। कवि तथा नाटककार दोनों रूपों में इन्होंने विशिष्ट ख्याति अर्जित की है। प्रबंध काव्य, खंड काव्य तथा मुक्तक काव्य तीनों शैलियों में इनकी रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें प्रमुख 'कुरुक्षेत्र' महाकाव्य है। गुजराती में मुक्त छंद के सर्वप्रथम प्रयोक्ता भी ये ही हैं। नव्य गुजराती कविता पर समसामयिक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा साहित्यिक परिवर्तनों का काफी प्रभाव पड़ा है। गांधीवादी कवियों में सर्वश्रेष्ठ ब० क० ठाकुर हैं, जिन्होंने नए विषयों के प्रयोग के साथ साथ अतुकांत छंद की तरह प्रवाही पद्य का प्रयोग तथा

व्यावहारिक भाषा का उपयोग किया है। इन्होंने गुजराती में कई सॉनेट (चतुर्दशपदियाँ) भी लिखे हैं। ठाकुर का प्रभाव उमाशंकर जोशी, रामनारायण पाठक, कृष्णलाल श्रीधराणी आदि कवियों पर मिलेगा। आधुनिक गुजराती कवियों पर एक ओर साम्यवादी विचारधारा का और दूसरी ओर विववादी कवियों का प्रभाव पड़ा है। प्रयोगवादी ढंग के गुजराती कवियों में राजेंद्र शाह और दिनेश कोठारी प्रमुख हैं, जिन्होंने भाषा, छंद और काव्य के साथ नए प्रयोग किए हैं।

गुजराती नाटक साहित्य विशेष समृद्ध नहीं है। नर्मदाशंकर ने 'शाकुंतल' का अनुवाद किया था और रणछोड़ भाई ने कुछ संस्कृत तथा अंग्रेजी नाटकों का। रणछोड़ भाई ने कई मौलिक पौराणिक तथा सामाजिक नाटक भी लिखे। अन्य परवर्ती नाटककारों में दलपतराम, नवलराय, नानालाल तथा सर रमणभाई आते हैं। सामाजिक कथावस्तु को लेकर लिखनेवाले आधुनिक नाटककार कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, चंद्रवदन मेहता और धनमुखलाल मेहता हैं। इधर श्रीधराणी, उमाशंकर जोशी तथा बटुभाई उमरवाडिया ने एकांकी नाटक भी लिखे हैं।

यही स्थिति गुजराती निबंध साहित्य की भी है। पहले निबंधलेखक नर्मद हैं। नर्मद के समय ही गुजराती पत्रकारिता का उदय हुआ था और नवलराय ने 'गुजरात शाळापत्र' का प्रकाशन आरंभ किया। इन्होंने समालोचना और निबंध के क्षेत्र में भी काफी काम किया। विवेचनात्मक तथा व्यक्तिव्यंजक दोनों तरह के निबंध लिखे जाने लगे पर गुणात्मक प्रौढ़ि की दृष्टि से केवल आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव, नरसिंहराव दिवेटिया, काका कालेलकर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, रामनारायण पाठक, केशवलाल कामदार और उमाशंकर जोशी की ही कृतियों का संकेत किया जा सकता है। आलोचनात्मक लेखों के क्षेत्र में केशवलाल ध्रुव, मनसुखलाल झावेरी, उमाशंकर जोशी तथा डॉ० भोगीलाल साडेसरा ने महत्वपूर्ण योग दिया है। संस्मरण तथा रेखाचित्र के गुजराती लेखकों में मुंशी तथा उनकी पत्नी लीलावती मुंशी, गांधीवादी विचारक काका कालेलकर और गांधीजी के अनन्य सहयोगी महादेव भाई की परिगणना की जाती है।

गुजराती कथा साहित्य अपेक्षाकृत विशेष समृद्ध है। उपन्यास साहित्य का प्रारंभ श्री नंदशंकर तुलजाशंकर के उपन्यास 'करणघेलो' (१८६८ ई०) से होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों की जो परंपरा महीपतराम, अनंतराम त्रीकमलाल और चुन्नीलाल वर्धमान ने स्थापित की, उसका चरम परिपाक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलता है। 'पृथ्वीवल्लभ', 'जय सोमनाथ', 'गुजरात नो नाथ', 'पाटण नी प्रभुत्व', 'भगवान् परशुराम', 'लोपामुद्रा', 'भगवान् कौटिल्य' उनकी प्रशस्त कृतियाँ हैं। इनके पूर्व इस क्षेत्र में इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने भी काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी, जिनका स्पष्ट प्रभाव मुंशी जी पर दिखाई पड़ता है। मुंशी जी ने पौराणिक, ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं। सामाजिक उपन्यासों के क्षेत्र में रमणलाल देसाई का विशेष स्थान है। राष्ट्रीय आंदोलन से संबद्ध इनके दो उपन्यास 'दिव्यचक्षु' और 'भारेला अग्नि' तथा भारतीय ग्रामीण जीवन की समस्याओं से संबद्ध, चार भागों में प्रकाशित महती कृति 'ग्रामलक्ष्मीकोण' ने काफी ख्याति प्राप्ति की है। गुजरात के लोकजीवन और लोकसाहित्य को उपन्यासों के साँचे में ढालने का स्तुत्य प्रयास झवेरचंद मेघाणी ने किया, जो गुजराती लोकसाहित्य के विशेषज्ञ भी थे। अन्य सामाजिक उपन्यासलेखकों में गोवर्धनराम त्रिपाठी, पन्नालाल पटेल और धूमकेतु ने विशेष ख्याति अर्जित की है। श्री त्रिपाठी तथा अन्य दोनों लेखकों पर यथार्थवादी उपन्यासकला का प्रभाव भी मिलेगा। कथासाहित्य के दूसरे अंग कहानी साहित्य का आविर्भाव सन् १९१८ में प्रकाशित वासुदेव मेहता की कहानी 'गोवालणी' के प्रकाशन से माना जाता है। इनके बाद तो विष्णुप्रसाद त्रिवेदी, अमृतलाल पंढियार, और चंद्रशंकर पंड्या की कई कहानियाँ प्रकाशित हुई। आधुनिक कहानीलेखकों में मुंशी, रमणलाल देसाई, गुणवंतराय आचार्य, धूमकेतु तथा गुलाबदास ब्रोकर विशेष प्रसिद्ध हैं। धूमकेतु तथा गुलाबदास ब्रोकर ने कहानी की तकनीक को अत्याधुनिक बनाया है। आज का गुजराती कथा साहित्य और काव्य विशेष रूप से भारतीय समाज के सभी पहलुओं का अंकन कर भारतीय युगचेतना को वाणी देने में अपना समुचित योग दे रहा है।

सं० ग्रं०—नरसिंहराव दिवेटिया : गुजराती लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर, भाग १-२। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी : गुजरात ऐंड इट्स लिटरेचर। भोलाशंकर व्यास : भारतीय साहित्य की रूपरेखा।

(भो० शं० व्या०)

गुडियात्तम उत्तरी आर्काट जिले (मद्रास) के गुडियात्तम ताल्लुक का प्रमुख नगर (स्थिति : १२° ५८' उ० अ० तथा ७८° ५३' पू० दे०)। यह पालार से तीन मील उत्तर में स्थित है। नगर मद्रास-मंगलोर-रेलमार्ग के गुडियात्तम रेलवे स्टेशन से तीन मील दूर है। यहाँ से चित्तूर तथा पालमनेर नगरों की तरफ सड़कें जाती हैं। यहाँ नगरपालिका की स्थापना १८७५ ई० में हुई थी। यह साफ सुथरा सुव्यवस्थित शहर है। यहाँ का प्रमुख व्यवसाय कपड़े बुनना है। 'लबाइज' व्यापारी गुड़, चमड़ा, इमली, तबाकू तथा घी का रोजगार करते हैं। कनाड़ी जाति के लोगों ने छोटी छोटी दूकानें खोली हैं। ये रुपया उधार देने का व्यवसाय भी करते हैं। हर मंगलवार को यहाँ पशुओं का मेला लगता है। यहाँ एक उच्च विद्यालय तथा लड़कियों का एक प्रशिक्षण विद्यालय है।

(ज० मि०)

गुडुरु आंध्र प्रदेश के नेलोर जनपद का पूर्वी उपमंडल (स्थिति : १३° २९' से १४° २५' उ० अ० तथा ७९° ४३' से ८०° १९' पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल २,३४० वर्ग किलोमीटर है : प्रायः संपूर्ण क्षेत्र तटीय मैदान है जो १२० मीटर से नीचा है। कंडलेरु, स्वर्णमुखी और सैदापुरम प्रमुख नदियाँ हैं। मिट्टी पश्चिमी भाग में कठोर और चिकनी है पर पूर्वी भाग में बलुआर चिकनी मिट्टी मिलती है। तटीय क्षेत्र में पामीरा और कामरीना के वृक्षों तथा दलदली भूमि का आधिक्य है।

गुडुरु नगर में उपमंडल का प्रधान कार्यालय होने के अतिरिक्त दक्षिण रेलवे का जंकशन भी है। प्रांतीय स्तर के संस्थानों, जैसे मद्रास माइका ऐसोसिएशन, माइका स्क्रैप डीलर्स ऐसोसिएशन आदि का प्रधान कार्यालय भी इस नगर में है। सरकारी औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थान तथा गुडुरु सिरामिक फैक्टरी, जिसमें १ अप्रैल, १९५९ से उत्पादन प्रारंभ हुआ, नगर के विशेष उल्लेखनीय संस्थान हैं। छोटे मोटे कृषियंत्र एवं चटाई आदि लघु उद्योग धंधे हैं। चावल और लालमिर्च प्रमुख निर्यात की वस्तुएँ हैं।

(कै० ना० सिं०)

गुडीवडा १. आंध्र प्रदेश के कृष्णा जनपद का उपमंडल (स्थिति : १६° १९' से १६° ४७' उ० अ० तथा ८०° ५५' से ८१° २३' पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल १,५२३ वर्ग किलोमीटर है, जिसमें कृष्णा गोदावरी के बीच की निम्न भूमि और कोल्लेरु झील का निम्न प्रदेश संमिलित है। जनपद के इस भूभाग का प्रमुख व्यवसाय कृषि है। सिंचाई के लिये कृष्णा की नहरें हैं। नगर में उपमंडल का प्रमुख कार्यालय स्थापित है।

२. उपर्युक्त उपमंडल का नगर (स्थिति : १६° २७' उ० अ० तथा ८१° ००' पू० दे०)। प्राचीन वैभव के अवशेष नगर में विशेष रूप से प्राप्त हुए हैं। मध्य में एक प्राचीन बौद्ध स्तूप तथा पश्चिमी भाग में जैन मूर्ति के अवशेष मिले हैं। सुदूर पश्चिम में नगर की प्राचीन बस्ती के अवशेष हैं। धातु, पत्थर आदि के मनके और सातवाहन नरेशों के सीसे के सिक्के प्राप्त हुए हैं। आंध्र-नाटक-कला-परिषद् यहाँ की प्रमुख सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्था तथा आंध्र विश्वविद्यालय से संबद्ध ए० एन० आर० महाविद्यालय प्रमुख शैक्षणिक संस्था है।

(कै० ना० सिं०)

गुड़ ईख, ताड़ आदि के रस को गरम कर सुखाने से प्राप्त होनेवाला ठोस पदार्थ। इसका रंग हलके पीले से लेकर गाढ़े भूरे तक हो सकता है। भूरा रंग कभी कभी काले रंग का भी आभास देता है। यह खाने में मीठा होता है। प्राकृतिक पदार्थों में सबसे अधिक मीठा कहा जा सकता है। अन्य वस्तुओं की मिठास की तुलना गुड़ से की जाती है।

साधारणतः यह सूखा, ठोस पदार्थ होता है, पर वर्षा ऋतु में जब हवा में नमी अधिक रहती है तब पानी को अवशोषित कर अर्धतरल सा हो जाता है। यह पानी में अत्यधिक विलेय होता है और इसमें उपस्थित अपद्रव्य, जैसे कोयले, पत्ते, ईख के छोटे टुकड़े आदि, सरलता से अलग किए जा सकते हैं। अपद्रव्यों में कभी कभी मिट्टी का भी अंश रहता है, जिसके सूक्ष्म कणों को पूर्णतः अलग करना तो कठिन होता है किंतु बड़े बड़े कण विलयन में नीचे बैठ जाते हैं तथा अलग किए जा सकते हैं। गरम करने पर यह पहले पिघलने सा लगता है और अंत में जलने के पूर्व अत्यधिक भूरा काला सा हो जाता है।

गुड़ कई प्रकार और आकार का होते हुए भी वस्तुतः एक ही पदार्थ है। ईख से प्राप्त ईख का गुड़ एवं ताड़ से प्राप्त ताड़ का गुड़ कहा जाता है, पर ईख से प्राप्त गुड़ इतना प्रचलित है कि इसे लोग केवल गुड़ ही कहते हैं। इसके विपरीत भी गुड़ का कई तरह से वर्गीकरण किया जा सकता है, जैसे साफ किया हुआ गुड़ एवं बिना साफ किया हुआ गुड़, छोटी पिंडियोंवाला एवं बड़ी पिंडियोंवाला आदि। रख दिए जाने पर, अर्थात् पुराना होने पर, इसके गुणों में परिवर्तन होता जाता है। इसलिये 'नया गुड़, एवं पुराना गुड़' इस भाँति भी उपयोग में इसका विवरण आता है।

गुड़ में चीनी का बाहुल्य होता है और इसकी मात्रा कभी कभी ९० प्रति शत से भी अधिक तक पहुँच जाती है। इसके अतिरिक्त इसमें ग्लूकोज, फ्रुक्टोज, खनिज (चूना, पोटाश, फास्फरस आदि) भी अल्प मात्रा में रहते हैं। इसमें जल का भी थोड़ा अंश रहता है जो ऋतु के अनुसार घटता बढ़ता रहता है।

गुड़ उद्योग भारत का बहुत पुराना उद्योग है तथा जहाँ जहाँ ईख पैदा होती है, यह उद्योग काफी प्रचलित है। उत्तर प्रदेश में भी उद्योग के बाद इसी का स्थान है। कृषक स्वयं ही पुराने ढंग से गुड़ बनाते हैं। उत्तर प्रदेश में ईख की ६५ प्रति शत पैदावार से गुड़ बनाया जाता है। यहाँ से गुड़ भारत के अन्य प्रदेशों को भेजा जाता है। दक्षिण भारत में भी यह उद्योग बहुत प्रचलित है। यहाँ पर गुड़ ईख के रस के अतिरिक्त ताड़ के रस, या मीठी ताड़ी, से भी बनाया जाता है। यह रस इन पेड़ों से, विशेष कर ग्रीष्म ऋतु में निकलता है। अब तो भारत के सभी प्रदेशों में, जहाँ ये वृक्ष पाए जाते हैं, ताड़-गुड़-उद्योग को काफी प्रोत्साहन दिया जा रहा है। मध्यप्रदेश में ईख की पैदावार कम होने के कारण दूसरे प्रदेशों से गुड़ मँगाया जाता है। यहाँ पनई ताड़ (*Palmyra*) और खजूर के वृक्ष अधिक हैं तथा ताड़-गुड़-योजना इस प्रदेश में यथेष्ट उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

गुड़ बनाने की विधियाँ

१. ईख के रस से—(क) ईख से रस निकालना। देशी कोल्हू के द्वारा लगभग ६०-६५ प्रति शत रस निकलता है। यह रस बड़े बड़े कड़ाहों में डाला जाता है। डालते समय कपड़े से रस छान लिया जाता है, तब यह रस उबाला जाता है।

(ख) **रस की सफाई**—रस को साफ करने के लिये प्रायः चूने का उपयोग किया जाता है। चूना रस में उपस्थित कार्बनिक अम्लों तथा अन्य अपद्रव्यों से मिलकर रासायनिक परिवर्तन करता है। प्रोटीन के अणु भी रस के गरम होने पर एक दूसरे से परस्पर मिलकर अवक्षिप्त हो जाते हैं। ये सब रस के ऊपर आकर लगभग आधा इंच से लेकर एक इंच तक मोटी तह बनाते हैं। इनमें रस के अधिकांश अपद्रव्य रहते हैं। इन्हें लोहे के बड़े चम्मचों से अलग कर लेते हैं। चूने के अतिरिक्त विशेष प्रकार के बने कोयले, घास आदि का भी उपयोग अपद्रव्यों को दूर करने के लिये किया जाता है। अपद्रव्यों को अलग करने के पश्चात् रस को उबालते हैं। इससे रस का जल भाप बनकर उड़ता जाता है। जब रस का चौथाई भाग रह जाता है तब चाशनी (syrup) काफी गाढ़ी हो जाती है और इसमें मणिभ बनने के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। तब चाशनी को खुले बर्तनों में एक डेढ़ इंच मोटे स्तर में डाल देते हैं। जब यह थोड़ा गर्म ही रहता है तब, जब तक अर्ध ठोस न हो जाय, लकड़ी के बड़े चम्मचों से चलाते हैं। फिर या तो बड़े बड़े साँचों में डाल देते हैं या हाथ में लेकर छोटी छोटी भेलियाँ (पिंडिया) बनाते हैं।

२. ताड़ के रस या मीठी ताड़ी से गुड़ बनाना—ताड़ी से गुड़ बनाने की विधि लगभग ईख के रस से गुड़ बनाने की भाँति ही है। इसमें अपद्रव्य कम होते हैं। अतः उन्हें छाँटने के लिये चूना इत्यादि देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। ईख के गुड़ की अपेक्षा इसमें ग्लूकोज की मात्रा अधिक होती है एवं चीनी की कम। विटामिन भी इसमें अधिक रहता है। अतः स्वास्थ्य की दृष्टि से यह ईख के गुड़ से अधिक लाभकारी है।

गुड़ के गुण पर मिट्टी, खाद आदि का प्रभाव—यदि मिट्टी में विलेय लवणों की मात्रा अधिक रहे तो उसमें पैदा होनेवाली ईख का गुड़ प्रायः अच्छा नहीं होता। यह अधिक भूरा एवं जल सोखनेवाला होता है तथा वर्षा ऋतु में पसीजता है और हलका काला भूरा-सा हो जाता है। उसकी मिठास में भी एक प्रकार का खारापन रहता है। जिस ईख की सिंचाई होती है उसका गुड़ इतना स्वादिष्ट एवं देखने में अच्छा नहीं होता जितना बरानी (बिना सिंचाई के) ईख का होता है। किंतु किसी किसी मिट्टी पर सिंचाई का प्रभाव गुड़ के गुणों पर अच्छा भी होता है।

उपयोग—गुड़ उपयोगी खाद्य पदार्थ माना जाता है। इसका उपयोग भारत में अति प्राचीन काल से होता आ रहा है। भारत की साधारण जनता इसका व्यापक रूप में उपयोग करती है तथा यह भोजन का एक आवश्यक व्यंजन है। इसमें कुछ ऐसे पौष्टिक तत्व विद्यमान रहते हैं जो चीनी में नहीं रहते। स्वच्छ चीनी में केवल चीनी ही रहती है, पर गुड़ में ९० प्रति शत के लगभग ही चीनी रहती है। शेष में ग्लूकोज, खनिज पदार्थ, विटामिन आदि स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी पदार्थ भी रहते हैं। आयुर्वेदिक दवाओं तथा भोज्य पदार्थों में विभिन्न रूपों में इसका उपयोग होता है। (सं० सिं०)

गुड़गाँव हरियाणा का जनपद जिसके उत्तर में यमुना रोहतक एवं दिल्ली क्षेत्र को अलग करती है (स्थिति : २७° ३९' २०" से २८° ३२' २५" उ० अ० तथा ७६° १८' ३०" से ७०° ३२' ५०" पू० दे०)। इसका क्षेत्रफल २,३६७ वर्ग मील है। दक्षिण में उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान के क्षेत्र तथा पश्चिम में महेंद्रगढ़ एवं रोहतक हैं।

जनपद का पूर्वी क्षेत्र पश्चिमी क्षेत्र की अपेक्षा नीचा है। वल्लभगढ़ तहसील में बहुत सी नदियाँ एवं पहाड़ी नाले बहते हैं। मिट्टी तथा धरातल की दृष्टि से जिले के चार प्रमुख भाग हो सकते हैं—१. खादर, जो यमुना के तटवर्ती क्षेत्र में अत्यंत उपजाऊ भाग है; २. बाँगर, जो खादर से अपेक्षाकृत ऊँचा और अधिकांशतः नहरों द्वारा सिंचित क्षेत्र है; ३. पर्वतीय भूमि जिसमें अरावली की विदीर्ण श्रेणियाँ फैली हैं तथा जिसमें काली पहाड़ी एवं टेकरी (२,००० फुट ऊँची) पहाड़ी प्रमुख हैं और ४. डाबर क्षेत्र जहाँ वर्षा ऋतु में पानी लग जाता है फलतः मलेरियाग्रस्त रहता है।

पंजाब के मैदानी जिलों की अपेक्षा गुड़गाँव धरातलीय वैषम्य के कारण आकर्षक लगता है। यहाँ केवल यमुना ही सततवाहिनी नदी है जो सीमांत पर बहती है। पश्चिमी यमुना तथा आगरा नहरों के निर्माण के कारण जाड़े में यमुना में भी पानी बहुत कम रह जाता है। आगरा नहर नूह, वल्लभगढ़, पलवल एवं फीरोजपुर झिरका के कुछ भागों को सींचती हुई आगरा की ओर चली जाती है। यमुना के अतिरिक्त साहिबी नदी से भी सिंचाई के लिये जल मिलता है। अन्य नदियों में कंसावती तथा इंदौरी प्रमुख हैं। जिले में कई विशाल झीलें हैं जिनमें खलीलपुर (१,५०० एकड़), चाँदनी (१,००० एकड़), कोटला (जो वर्षा ऋतु में तीन मील लंबी तथा ढाई मील चौड़ी हो जाती है), संगेल-उजिना, सरमिथला आदि प्रसिद्ध हैं।

भूतत्वीय दृष्टि से मैदानी भाग केवल मिट्टी द्वारा निर्मित है किंतु अरावली का पहाड़ी अंश स्लेट, चूने-पत्थर, क्वार्टजाइट, आदि चट्टानों से बना है। भूमि में चूना तथा कंकड़ खूब मिलते हैं। जलवायु समशीतोष्ण है लेकिन पहाड़ियों के पास गर्मी अधिक पड़ती है। निचले तथा नहरी

भागों में बाढ़ के कारण मलेरिया का प्रकोप रहता है। औसत वार्षिक वर्षा २४.४७" और उसका वितरण पूर्व से पश्चिम घटता जाता है। जिले में रबी एवं खरीफ की फसलें प्रमुख हैं।

जिले में कई उद्योग धंधे विकसित हैं। फरीदाबाद प्रमुख औद्योगिक केंद्र हो गया है। रेवाड़ी में धातु के बरतन, नूह एवं फारुखनगर में छुरी-कैंची, फिरोजपुर-झिरका में लोहे के सामान, सोहना में चूड़ियाँ, हसनपुर, में दरी, गलीचे, कंबल आदि, होडाल एवं पलवल में कपास की लुढ़ाई, लकड़ी के उद्योग तथा सूती वस्त्रोद्योग विकसित हैं।

फरीदाबाद, गुड़गाँव, रेवाड़ी, पलवल बड़े नगर तथा होडाल, बल्लभगढ़, सोहना, बावल, फीरोजपुर-झिरका, फारुखनगर, पटौदी, नूह तथा हेली मंडी छोटे व्यापारिक कस्बे हैं। प्रशासनिक सुविधा के लिये जनपद छः तहसीलों में बँटा है।

२. हरियाणा का गुड़गाँव जनपद तथा तहसील का प्रधान नगर (स्थिति: २८°२९' उ० अ० तथा ७७°२' पू० दे०) है। यह राजस्थान-मालवा-रेलमार्ग पर स्थित गुड़गाँव स्टेशन से तीन मील दूर स्थित है। यह प्राचीन नगर है जिसका नाम संभवतः महाभारत कालीन इतिहास से संबंधित है। इसका तत्कालीन नाम 'गुरुग्राम' था जो बोलचाल द्वारा बिगड़कर गुड़गाँव हो गया है। पांडवराज युधिष्ठिर ने संभवतः अपने गुरु द्रोणाचार्य को यह अथवा समीपवर्ती क्षेत्र गुरुदक्षिणा में दिए थे। अन्य किवदंती के अनुसार पांडवों और कौरवों को यहीं गुरु द्रोणाचार्य ने शस्त्र-विद्या में प्रशिक्षित किया था। समीप में ही स्थित गुड़गाँव मसानी एक गाँव है जहाँ शीतला देवी का मंदिर है। यहाँ प्रति वर्ष वृहत् मेला लगता है। गुड़गाँव में जनपदीय स्तर के प्रशासनिक कार्यालय, कचहरियाँ तथा एक स्नातक महाविद्यालय एवं अन्य सांस्कृतिक संस्थाएँ हैं। (का० ना० सिं०)

गुड़िया नारी या पुरुष रूपी खिलौना या 'पुतली'। हिंदी में स्त्री खिलौनों को 'गुड़िया' और पुरुष खिलौनों को 'गुड्डा' कहते हैं। कुछ गुड़ियाँ खेलने के अतिरिक्त पूजने अथवा अन्य आशयों से भी बनाई जाती हैं। अंग्रेजी में गुड़िया को 'डॉल', बँगला में 'पुतुल' और तेलुगु में 'बोम्मा' कहते हैं।

गुड़िया का इतिहास उतना ही पुराना है जितना खिलौनों का, क्योंकि गुड़िया भी खिलौना है। खिलौनों का निर्माण मनुष्य के सभ्य होने के साथ शुरू हुआ होगा क्योंकि बच्चों में खेलने की प्रवृत्ति जन्म से ही होती है। अतः तत्कालीन सभ्यता और देश की रुचि के अनुसार किसी न किसी प्रकार के खिलौने प्राचीन काल से ही बनते रहे हैं। इन खिलौनों में पशु आदि की आकृतियों के साथ गुड़ियाँ भी बनती रहीं।

देश विदेश के साहित्य, इतिहास और पुरातत्व के अध्ययन से खिलौनों और गुड़ियों की हमें काफी जानकारी मिलती है। इनसे समकालीन वेश भूषा और सभ्यता की एक झलक तो प्राप्त हो ही जाती है।

आदिम समाज में गुड़ियों को भाग्यदायिनी माना जाता था। कुछ गुड़ियों का प्रयोग तब दूसरे लोगों को डराने के लिये भी होता था और कुछ आरोग्यदायक मानी जाती थीं। १४वीं सदी में अनेक यूरोपीय देशों में गुड़ियों का प्रयोग मित्रभाव बढ़ाने के लिये होता था। फ्रांस इस बारे में अग्रणी था। मित्रभाव बढ़ाने के अलावा वे लोग अपने पहनावों का प्रचार भी गुड़ियों के माध्यम से करते थे। हालैंड के 'फ्लैंडर्स बेबीज' नामी खिलौने सभी देशों में प्रिय रहे हैं। गुड़ियों के सुसज्जित घर हालैंड, इंग्लैंड तथा कुछ दूसरे यूरोपीय देशों में बनते थे। भारत में भी गुड़ियों के खेल के लिये उनके घरौंदे बड़े चाव से बनाए जाते रहे हैं। अनेक माता पिता अपनी बेटियों को बड़े सुंदर घरौंदे बनवाकर देते हैं। इसमें संदेह नहीं कि गुड़ियों का खेल बालकों को भी प्रिय था पर लड़कियाँ ही इसे अधिक खेलती थीं। बालक अन्य खिलौनों में अधिक रुचि रखते थे।

प्राचीन काल में गुड़ियाँ मिट्टी, लकड़ी, आटे अथवा लकड़ी की बनती थीं, उनमें गति लाने का कोई यंत्र नहीं होता था। पर अब लगभग १०० साल से तो जर्मनी, अमरीका, इंग्लैंड और जापान में खाती, पीती, रोती, गाती और सोती गुड़ियाँ बनने लगी हैं जो संसार भर में बालकों को प्रिय हैं। इन सभी क्रियाओं के लिये उनमें विभिन्न यंत्र भीतर ही लगे रहते हैं। स्प्रिंग और घड़ी के यंत्रों से युक्त फ्रांस और स्विटजरलैंड की सोती जागती गुड़ियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं (चित्र १)। धीरे धीरे एक देश की गुड़ियों की नकल दूसरे देशों ने कर डाली है और अब बिना मार्का देखे उनके बनने का स्थान जानना कठिन है। गुड़ियों के पहनावों में तो समय के साथ परिवर्तन हुआ ही है, निर्माण के माध्यम भी बदल गए हैं। प्लास्टिक, रबर, पोलीथीन, प्लास्टर, चीनी और काच की गुड़ियाँ भी अब भारी संख्या में बनाई जाती हैं। हंगरी में कपड़े की गुड़ियों की आँखें 'जई' से और नाक मक्का के दाने से बनाई जाती हैं, इसमें चीड़ के फूल, काही और पौधों के रेशे का प्रयोग होता है। चिली तथा ब्राजील में तार का धागा लपेटकर इन्हें बनाया जाता है। बरमूदा में केले के तने पर सुपारी से सिर बनाया जाता है और पेरू में लकड़ी की गुड़िया बनाई जाती है। भारत तथा अन्य कुछ पूर्वी देशों में नवीनतम माध्यमों और रूपों की गुड़ियों के अलावा परंपरा से बनती गुड़ियाँ आज भी प्रचलित हैं। इन देशों की विशालता और लोगों का विभिन्न सामाजिक स्तर इसका कारण है।

भारत में प्राचीनतम गुड़ियाँ मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के अवशेषों से प्राप्त हुई हैं। इनका समय लगभग २५०० वर्ष ईसा पूर्व माना जाता है। यहाँ के विभिन्न विषयक मिट्टी के खिलौनों में कुछ गुड़ियाँ भी प्राप्त हुई हैं। निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि ये गुड़ियाँ केवल खेलने के उद्देश्य से बनाई गई या केवल पूजा के लिये क्योंकि गुड़ियाँ प्राचीन काल से ही खेलने और पूजने दोनों प्रयोजनों से निर्मित होती थीं और मोहन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा की सभ्यता में खेलने और पूजने की गुड़ियों की निर्माणशैली में भेद नहीं था। आज भी अनेक भारतीय गाँवों में इनसे मिलती जुलती गुड़ियाँ बनती हैं। इन्हें हाथ से ही गढ़कर आकार प्रदान किया जाता है तथा शरीर के विभिन्न अंग मिट्टी को दाबकर, उभारकर अथवा चिपकाकर बनाए जाते हैं। राजघाट, कौशांबी, अहिच्छत्रा, पटना, मथुरा और नागार्जुनकोंडा आदि स्थानों में मौर्य, शुंग, कुषाण, सातवाहन तथा गुप्तकालीन मिट्टी की गुड़ियाँ प्राप्त हुई हैं। १७वीं सदी से प्राचीनतर लकड़ी की गुड़ियाँ कम से कम भारत में तो प्राप्त नहीं हुई हैं। मोहन-जो-दड़ो के बाद प्राचीनतम गुड़ियाँ मिस्र में नील घाटी से प्राप्त हुई हैं जिनका निर्माण ईसा से १००० वर्ष पूर्व हुआ था। ये लकड़ी की बनी हैं और आकार में नाव के पतवार सरीखी हैं (चित्र २)। इनके बाल मिट्टी की गोलियाँ चिपकाकर बनाए गए हैं। मिस्री पिरामिडों में 'ममियों' के साथ विभिन्न वेश भूषा और विभिन्न पेशे के लोगों की गुड़ियाँ मिली हैं। विदूषक, हजाम, रसोइया, परिचारिका और संगीतज्ञ इनमें खास हैं। इसका कारण यह है कि प्राचीन काल में मिस्र में राजाओं के शवों के साथ परलोक में उनकी सेवा के आशय से विभिन्न चाकरों आदि को भेजने की प्रथा थी। इनके बाद चौथी-पाँचवीं सदी ईसा पूर्व की बनी मिट्टी की यूनानी गुड़ियाँ हैं जिनके अंग प्रत्यंग को धागों की सहायता से हिलाया डुलाया जा सकता था। भारत की भाँति यूनानी तथा रोमन लड़कियाँ विवाह तक गुड़ियों से खेलती थीं। रोमन गुड़ियाँ यूनानियों से अधिक सुचारु रूप से बनी होती थीं। ब्रिटेन और रोम में रोमनों द्वारा बनी धातु की गुड़ियाँ और उनकी सज्जा प्राप्त हुई है। विवाह के पूर्व रोमन लड़कियाँ अपनी गुड़ियों को दियाना (आखेट की देवी) की समाधि पर भेंट कर आतीं; इसी प्रकार यूनानी लड़कियाँ उन्हें आर्तेमिस की समाधि पर चढ़ा देती थीं।

मध्यकाल में फ्रांस अपनी गुड़ियों के लिये सारे यूरोप में विख्यात रहा। सन् १३९० ई० में इंग्लैंड की सम्राज्ञी को विभिन्न पहनावों से सजी अनेक फ्रेंच गुड़ियाँ भेंट की गईं। बाद में इनका प्रयोग अन्य देशों में फैशन के प्रचार में भी सहायक हुआ। इंग्लैंड की सम्राज्ञी विक्टोरिया के पास गुड़ियों का बहुत बड़ा संग्रह था और इन्हें उन्होंने दरबार की खास-खास महिलाओं अथवा अभिनेत्रियों के नाम प्रदान किए थे। जर्मनी में १५०० ई० के पूर्व से ही नूरेमबर्ग अपनी गुड़ियों और उनके घरौंदों के

लिये प्रसिद्ध था। हालैंड, जर्मनी और लंदन के कुछ संग्रहालयों में प्राचीन गुड़ियों और घरौंदों के सुंदर संग्रह है।

भारत में मिट्टी और धातु की कुछ गुड़ियों को छोड़कर अन्य प्रकार की प्राचीन गुड़ियाँ प्राप्त हुई है, हालाँ कि कपड़े और लकड़ी की गुड़ियाँ बनती जरूर थीं। साहित्य में खिलौनों और गुड़ियों का हवाला यदा कदा मिलता है जिनसे विभिन्न प्रकार के खेलों की जानकारी मिलती है, पर गुड़िया के संबंध में बहुत कम चर्चा हुई है। लेकिन इतना तो विश्वासपूर्वक कहा ही जा सकता है कि गुड़ियों का खेल भारतीय लड़कियों को विशेष प्रिय था। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में पुतलियों और उनके खेल की चर्चा सर्वप्रथम मिलती है। गुड़िया के घरों का उल्लेख भी 'हातारी' नाम से उसमें हुआ है। गुप्तकाल में गुड़ियों के लिये 'पुत्रिका' नाम संस्कृत में मिलता है। कालिदास ने 'कुमारसंभव' में पार्वती की बाल्यकालीन क्रीड़ाओं में 'कृत्रिमपुत्रिका' (गुड़िया) का उल्लेख किया है। 'कथासरित्सागर' में अनेक मनोरंजक खेलों और खिलौनों के वर्णन के साथ उड़नेवाली लकड़ी की गुड़ियों की चर्चा भी हुई है।

भारत के अनेक पर्वों के साथ गुड़ियों का खेल संबद्ध है, जैसे मद्रास, मैसूर और आंध्र में दशहरे पर सभी संपन्न घर गुड़िया बैठाते (सजाते) है और इष्ट मित्रों को आमंत्रित करते हैं। 'नागपंचमी' पर पूर्वी उत्तर प्रदेश में गुड़ियों को नदी में विसर्जित किया जाता है। इसे गुड़िया का मेला भी कहते है। कांगड़ा में 'रल्लो' पर, महाराष्ट्र में 'मंगलागौरी' पर और गुजरात में 'गोरवा' पर लड़कियाँ प्रति वर्ष व्रत रखती है और अपनी गुड़ियाँ तथा अन्य खिलौने सजाती है। उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान और मध्यभारत में तो गुड़ियों का विवाह आज भी रचाया जाता है। भारत में आज भी कई जगह गुड़ियाँ और उनके बर्तन तथा पलंग आदि लड़की को दहेज में दिए जाते हैं। दीर्घ काल से जापान में भी 'हिनामातसुरी' अर्थात् गुड़ियों का पर्व बड़े महत्व से मनाया जाता है। तीन दिन तक यह पर्व फल फूलों के मौसम में मनाया जाता है। गुड़ियों को घर के सर्वश्रेष्ठ कक्ष में कई कतारों में खड़ी करके सबसे ऊपर राजा रानी बैठाए जाते है। लड़कियों को 'किमोनो' (जापानी राष्ट्रीय पहनावा) पहनाकर नम्र और अच्छा बनने की शिक्षा के साथ नई गुड़िया भेंट की जाती है। इस पर्व पर बाजारों में मिठाइयाँ तक लघु आकार की बिकती है।

आज की भारतीय गुड़ियों का सर्वेक्षण करने से प्रत्येक प्रांत के लोगों की वेशभूषा और सभ्यता का हमें पता लगता है। विभिन्न प्रांतों की गुड़ियों के रूप भिन्न और उनके पहनावे स्थानीय है। उन्हें देखकर सहज ही उनके निर्माण के स्थान का पता चल जाता है। राजस्थानी गुड़ियों का सुंदर पहनावा, बंगाली गुड़ियों का सौंदर्य और सुकुमारता, आंध्र और तमिल गुड़ियों की चुस्ती और तीखापन सहज ही उन्हें उनके प्रांत से संबद्ध कर देते हैं।

बाजार में मिलनेवाली परंपरागत भारतीय गुड़ियाँ अनेक उपादानों से बनती हैं। कपड़ा, कागज की लुगदी, लकड़ी, सीपी और धातु इनमें प्रमुख है। मेलों में तो ये सदा बिकती ही है, अनेक तीर्थों में भी मंदिर के बाहर ये मिलती हैं। तिरुपति, काशी, प्रयाग, पुरी, मदुराई, नासिक और रामेश्वरम् से तीर्थयात्री अपने बच्चों के लिये सदा गुड़ियाँ लाते है। इन सब जगहों की गुड़ियाँ भिन्न प्रकार की होती हैं। इनमें से कुछ तो बिना रँगी होती हैं और कुछ पर लाख या तेल के रंग चढ़े रहते है।

लखनऊ, काशी, मथुरा, आगरा, कलकत्ता, कृष्णनगर (बंगाल); बहरामपुर, मुर्शिदाबाद, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, कोंडापल्ली (आंध्र), सावंतवाड़ी (महाराष्ट्र), तिरुचिरपल्ली और नासिक अपनी गुड़ियों के लिये प्रसिद्ध हैं।

बंगाल और बिहार की कुछ गुड़ियों का रूप मिस्र की ममियों से मिलता जुलता है। इन्हें मुलायम लकड़ी के एक ही टुकड़े से गढ़ा जाता है। इन गुड़ियों में सदा नागी आकृतियाँ ही बनाई जाती हैं। इनका यह रूप परंपरागत है, न जाने कब से ये इसी प्रकार बनती रही है। बंगाल में मिट्टी की रंगबिरंगी गुड़ियों के विभिन्न प्रकार है। लखनऊ और कृष्णनगर की गुड़ियों का रूप बड़ा यथार्थवादी है। यहाँ विभिन्न पेशे के लोगों को मिट्टी से बनाकर रँगा जाता है।

अनेक भारतीय गाँवों में कुम्हार साँचों की मदद से सुंदर गुड़ियों का निर्माण करते रहते है। साँचे से निकालकर या तो उन्हें धूप में सुखा लिया जाता है या फिर पका लिया जाता है। बाद में कुम्हार परिवार की स्त्रियाँ और बच्चे इनपर रंग लगाते हैं। विशेषकर दशहरे और दीपावली पर उत्तर भारत में प्रत्येक बाजार और मेले में इनकी छवि देखते ही बनती है। 'माँ बच्चा' और 'ग्वालिन' ऐसी गुड़ियों में प्रमुख है। कुम्हारों द्वारा बनी गुड़ियों में रंग रूप का आकर्षण तो रहता ही है, कभी कभी उनमें हास्य का पुट भी रहता है। बालकों की तो बात ही क्या, कुछ गुड़ियाँ अपने हास्यात्मक रूप के कारण बड़ों को भी आकृष्ट करती हैं। बच्चों के लिये खिलौनों का मूल्य इतना महत्वपूर्ण नहीं जितना उनका रंग, रूप और विषय।

ग्रामीण स्त्री-पुरुष-रूपी लकड़ी या मिट्टी की गुड़ियाँ तो प्रायः सारे भारत में बनती हैं। महाराष्ट्र में इन्हें 'थाकी' कहते है और राजस्थान में 'गंगावर्ती'।

घर की वयस्क लड़कियाँ और माताएँ अपनी बहन बेटियों के लिये कपड़े की गुड़ियाँ बनाकर सामर्थ्य के अनुसार उन्हें गहने कपड़ों से सज्जित करती है। राजस्थान, भरतपुर, लखनऊ और हैदराबाद की अनेक गरीब स्त्रियाँ पुराने कपड़ों की गुड़ियाँ बनाकर अपना भरण पोषण तक कर लेती हैं। आजकल तो विदेशों में भी ऐसी सजी-बजी गुड़ियों की काफी माँग है। इनके विषयों में अधिकतर दुलहा दुलहिन, माँ बच्चा, ग्वालिन और नर्तकी आदि रहते है।

आजकल सचित्र पुस्तकों, कैरम आदि खेलों और यंत्रयुक्त वायुयान, मोटर, रेल आदि खिलौनों ने बच्चों का मन यद्यपि परंपरागत गुड़ियों से हटा लिया है, तथापि आज भी ग्रामीण बालिकाएँ परंपरागत गुड्डे गुड़ियों को ही अधिक पसंद करती है।

गुड्डे गुड़ियों का खेल बच्चों का केवल मनबहलाव ही नहीं करता वरन् उनके लिये शिक्षा का भी बड़ा सुंदर माध्यम हैं। असल में गुड़ियों के खेल के बहाने लड़कियों को घर सजाने, भोजन पकाने, सीने पिरोने आदि की शिक्षा खेल खेल में ही मिल जाती है। गुड़ियों के ब्याह के लिये लड़कियाँ नए नए गीत रचती, गाती बजाती और तरह तरह के पकवान बनाती हैं। इस प्रकार लड़कियों को निपुण गृहिणी बनाने की शिक्षा में गुड़ियों का योग महत्वपूर्ण है। पाठशालाओं में इनके माध्यम से अन्य प्रांतों की रहन सहन और वेशभूषा की जानकारी बच्चों को सहज ही कराई जा सकती है।

आजकल तो यंत्रयुक्त और सीधी सादी, सभी प्रकार की विदेशी गुड़ियों की नकल अपने यहाँ भी हो रही है, पर इनका रंग रूप और बनावट दोनों ही घटिया किस्म के है।

सं० ग्रं०—लेजली डेकेन : चिल्ड्रेन ट्वायज थ्रू आउट दि एजेज, लंदन, १९५३; लेजली गॉर्डन : ए पेजेंट ऑव डॉल्स, १९४८; विक्टोरिया ऐंड अलबर्ट म्यूजियम : डॉल्स ऐंड डॉल्स हाउसेज, लंदन १९५०; जे० जान : द फ़ैसिनेटिंग स्टोरी ऑव डॉल्स, न्यूयार्क, १९४१; कमला डूंगरकेरी : ए जर्नी थ्रू ट्वायलैंड, बंबई, १९५४। (ज० मि०)

गुण शब्द का कई अर्थों में व्यवहार होता है। सामान्य बोलचाल की भाषा में वस्तु की उत्कर्षाधायक विशेषता को गुण कहते हैं। प्रधान के विपरीत अर्थ में (गौण के अर्थ में) भी गुण शब्द का प्रयोग होता है। रस्सी को भी गुण कहते हैं।

सांख्य शास्त्र में गुण शब्द प्रकृति के तीन अवयवों के अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रकृति सत्व, रजस् तथा तमस् इन तीन गुणोंवाली है। गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। इन तीनों गुणों से अलग प्रकृति कुछ भी नहीं है। प्रकृति के जितने परिणाम हैं उनमें इन तीनों गुणों की स्थिति है परंतु कभी सत्व प्रधान होता है, कभी रजस् और कभी तमस्। सत्व की प्रधानता होने पर ऊर्ध्वगमन, ज्ञान, धर्म, ऐश्वर्य आदि

उत्पन्न होते हैं। रजस् चल है, अतः गति का कारण है। तमस् गति का निरोधक तथा अधर्म, अज्ञान आदि का कारण है। इसी कारण प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहते हैं। इन गुणों की प्रधानता के आधार पर व्यक्तियों की प्रकृति, आहार आदि का भी विभाग किया जाता है। परंतु सांख्य के अनुसार पुरुष या आत्मा गुणातीत है। योग के अनुसार ईश्वर भी इन गुणों से परे है। सारे क्लेश, सांसारिक आनंद आदि का अनुभव गुणों के कारण होता है, अतः योग का चरम लक्ष्य निस्त्रैगुण्य अवस्था माना गया है।

न्याय-वैशेषिक दर्शनों में गुण द्रव्यों की वह विशेषता है जो द्रव्यों से पृथक् है पर द्रव्यों में ही समवाय संबंध से रहती है और न तो वह क्रिया है, न सामान्य और न विशेष। इनकी संख्या २४ है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, स्नेहत्व, द्रवत्व, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, धर्म, अधर्म और संस्कार ये गुण विभिन्न द्रव्यों के हैं।

साहित्यशास्त्र में दस शब्दगुण और दस ही अर्थगुण माने गए हैं। इन दोनों प्रकारों में गुणों के नाम एक जैसे ही हैं परंतु उनके लक्षणों में भेद है : श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओजस्, कांति तथा समाधि ये इनके नाम हैं। शब्दगुण के रूप में इनका लक्षण संक्षेप में यों है--श्लेष, जिस बंध में शैथिल्य न हो। प्रसाद-गुण-युक्त रचना में पहले तो शैथिल्य दिखाई देता है, बाद में गाढ़ता आ जाती है। जिस रचना में आरंभ से अंत तक एक ही रीति का निर्वाह हो वह समतागुण से युक्त होती है। जिस रचना में पद अलग अलग हों और संयुक्त वर्णों का अभाव सा हो उसे माधुर्य-गुण-युक्त कहते हैं। जिस रचना में परुष वर्ण न हों वह सुकुमार-गुण-युक्त होती है। जिस रचना का अर्थ अनायास ज्ञात हो जाता है उसे अर्थव्यक्ति गुण से युक्त मानते हैं। जिस रचना में कठोर वर्णों का संनिवेश हो वह उदारता गुण से युक्त होती है। जिस रचना में संयुक्त वर्णों के बाद ह्रस्व वर्णों का प्राचुर्य हो उसे ओजस् गुण से युक्त मानते हैं। अप्रचलित पदों का परिहार करते हुए प्रचलित प्रयोगों से युक्त रचना कांति-गुण-युक्त होती है। जिस रचना में पहले गाढ़ बंध हो और बाद में शिथिलता हो उसे समाधि-गुण-युक्त रचना मानते हैं। ये शब्दगुण रचना में शब्दसंनिवेश की विशेषता से संबंधित हैं। अर्थगुणों का संबंध शब्द से न होकर रचना के अर्थ से होता है। क्रिया के कर्मों का एकत्र संनिवेश श्लेष गुण है। जितना अर्थ वर्णनीय हो उसके अनुरूप पदों के प्रयोग से जो अर्थ की स्पष्टता होती है उसे प्रसाद कहते हैं। उपक्रम का निर्वाह करते हुए अर्थ की घटना समता कहलाती है। एक ही उक्ति को पुनः दूसरे ढंग से कहना माधुर्य है। अस्थान में शोकादि का प्रदर्शन जिस रचना में न हो उसको सुकुमारता से युक्त मानते हैं। वर्णनीय वस्तु के असाधारण रूप और क्रियाओं का वर्णन अर्थव्यक्ति कहलाता है। अश्लीलता से रहित रचना उदारता-गुण-युक्त होती है। एक पदार्थ का बहुत पदों से, बहुत से पदार्थों का एक ही पद से, एक वाक्यार्थ का बहुत से वाक्यों से तथा बहुत से वाक्यार्थों का एक ही वाक्य से निर्देश करना तथा विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग ओजस् कहलाता है। जिस रचना में रस स्पष्ट प्रतीयमान होता है उसे कांतिगुणयुक्त कहते हैं। अमुक अर्थ का वर्णन पहले नहीं हुआ अथवा वर्णन किसी पूर्वकवि के वर्णन की छाया है, यह आलोचना समाधि कहलाती है। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि नव्य साहित्यशास्त्रियों के अनुसार माधुर्य, ओजस् तथा प्रसाद ये ही तीन गुण मुख्य हैं। बाकी गुणों का इन्हीं में अंतर्भाव हो जाता है। कुछ आचार्य अर्थगुणों को स्वीकार ही नहीं करते। वे गुण रस मात्र के धर्म माने गए हैं।

सं० ग्रं०--ईश्वरकृष्ण : सांख्यकारिका; विश्वनाथ : न्याय-सिद्धांत-मुक्तावली; साहित्यदर्पण; जगन्नाथ : रसगंगाधर।

(रा० चं० पां०)

गुणनखंड १, २,...इत्यादि धन पूर्णसंख्या कहलाते हैं, जब ये ऋण हों तब इन्हें ऋण पूर्णसंख्या कहते हैं। पूर्णसंख्या व को अ का गुणनखंड कहते हैं, यदि एक पूर्णसंख्या स इस प्रकार हो कि अ = व × स। इसी प्रकार सम पूर्णसंख्या उसे कहते हैं, जिसका गुणनखंड २ हो। यदि पूर्णसंख्या के स्थान पर परिमेय, अभाज्य आदि रख दिए जायँ तो इसी प्रकार हम परिमेय, अभाज्य, संमिश्र, काल्पनिक, बहुपद गुणनखंडों की परिभाषा कर सकते हैं। परिमेय संख्याएँ दो पूर्ण संख्याओं का भजनफल होती हैं, यथा $\frac{1}{2}$, $\frac{7}{2}$ इत्यादि। अ को अभाज्य कहते हैं, यदि यह केवल ± अ अथवा ± १ से विभाज्य हो, यथा ३, ५ इत्यादि। ल = य + i र को समिश्र संख्या कहते हैं यदि य, र वास्तविक हों और $i = \sqrt{-1}$ काल्पनिक राशि हो। बहुपद से उस व्यंजक का बोध होता है जो किसी चल य घातों में हो यथा य − १, $य^2 - 1$ इत्यादि।

प्राकृतिक संख्याओं का गुणनखंडन--यह सिद्ध किया जा चुका है कि प्रत्येक प्राकृतिक संख्या > १ अभाज्य गुणनखंडों के गुणनफल के रूप में एक और केवल एक ही रूप में व्यक्त की जा सकती है, गुणनखंडों के लिखने का क्रम चाहे एक सा न हो। इसे अद्वितीय गुणनखंड सिद्धांत कहते हैं। उदाहरणार्थ ६० = २ × २ × ३ × ५; ७२ = २ × २ × २ × ३ × ३; २७ = ३ × ३ × ३। किसी प्राकृतिक संख्या को अभाज्य गुणनखंडों के गुणनफल में व्यक्त करने के लिये पहले उसे जब तक संभव हो पुनरावृत्ति से २ से भाग दो, तत्पश्चात् अगली अभाज्य संख्या ३ से, इत्यादि। गुणनखंड में दो पद म० स० तथा ल० स० संबद्ध हैं। कई संख्याओं का महत्तम समापवर्तक (म० स०) वह सबसे बड़ी प्राकृतिक संख्या है जो सब निर्दिष्ट संख्या का गुणनखंड हो। इसे निर्दिष्ट संख्याओं के सब विभिन्न, सर्वनिष्ठ, अभाज्य गुणनखंडों के, जो इन संख्याओं में से किसी एक में सबसे कम बार आते हैं, गुणनफल को लेकर ज्ञात किया जाता है। यदि निर्दिष्ट संख्याओं में सर्वनिष्ठ अभाज्य संख्या न हो तो उसका म० स० १ होता है। इस दशा में निर्दिष्ट संख्याएँ अपेक्षाकृत अभाज्य कहलाती हैं। ६० = २ × २ × ३ × ५ तथा ७२ = २ × २ × २ × ३ × ३ का म० स० २ × २ × ३ × १२ है तथा १५ = ५ × ३ और ५६ = ८ × ७ का म० स० १ है। कई संख्याओं का लघुतम समापवर्त्य (ल० स०) वह सबसे छोटी प्राकृतिक संख्या है जिसकी निर्दिष्ट संख्याओं में से प्रत्येक एक गुणनखंड है। इन सब संख्याओं में स्थित सब विभिन्न अभाज्य गुणनखंडों के, जिनमें प्रत्येक इन संख्याओं में से किसी एक में अधिकतम बार आते हैं, गुणनफल को लेकर इसे निकाल लिया जाता है। ६० = २ × २ × ३ × ५ तथा ७२ = २ × २ × २ × ३ × ३ का ल० स० २ × २ × २ × ३ × ३ × ५ = ३६० है। यदि दो संख्याओं अ, ब का ल० स० ल तथा म० स० म हों तो ल × म = अ × ब। इस प्रकार एक संख्या ज्ञात होने से दूसरी ज्ञात हो सकती है। अ और ब भिन्न संख्याएँ (amicable numbers) कहलाती हैं यदि प्रत्येक दूसरी के सब गुणनखंडों के, जिनमें दूसरी संख्या स्वतः न हो, योग के बराबर हो। इस प्रकार २२० तथा २८४ भिन्न हैं।

बहुपदों का गुणनखंड करना--बहुपद के गुणनखंड करने से अभिप्राय है उसे अन्य बहुपदों के गुणनफल के रूप में व्यक्त करना। वह बहुपद अभाज्य कहलाता है जिसका अपने धनात्मक या ऋणात्मक मान अथवा १ के अतिरिक्त कोई गुणनखंड न हो। किसी बहुपद का पूर्णतया गुणनखंड करने का अभिप्राय है उसे अभाज्य गुणनखंडों के गुणनफल के रूप में व्यक्त करना। प्रत्येक बहुपद $फ(य) = अ_0 य^न + अ_1 य^{न-1} + \cdots अ_न$। ($अ \neq 0$) $न \geq 1$ को न एकघाती पदों $फ(य) = अ_0 (य - र_1) \ldots (य - र_न)$ के स्वरूप में व्यक्त किया जा सकता है और यह गुणनखंडन अद्वितीय है। र संख्या $फ(य) = 0$ का ज बहुलक मूल है यदि (य − र) ऊपर के गुणनखंड में क बार आए। गुणन के लिये हमें दो गुणनखंड दिए रहते हैं और गुणनफल निकालने के लिये कहा जाता है। यथार्थ (exact) भाग में हमें गुणनफल तथा एक गुणनखंड दिया रहता है और हमें दूसरे गुणनखंड को ज्ञात करना होता है। दोनों स्थितियों में हमारे कार्य के संपादन के लिये एक निर्धारित प्रक्रिया होती है। गुणनखंड करने के लिये हमें गुणनफल दिया रहता है तथा उन गुणनखंडों को पृथक् करना होता है जिनसे उसे संयुक्त किया गया है। परिणामस्वरूप गुणनखंड करना अथवा एकीकरण (unimultiplicity) दूसरी दोनों क्रियाओं

से क्लिष्टतर है, जिस प्रकार फूटे अंडों के पूरे अडे बनाना अंडों को तोड़ने की अपेक्षा अथवा किसी मिश्रण का रासायनिक विश्लेषण इसके अवयवी पदार्थों को मिलाकर मिश्रण बनाने की अपेक्षा कठिनतर होता है। वस्तुतः गुणनखंडों को पहचानने के लिये हमें गुणा करने के अनुभव से ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है और हम गुणनखंडो के लिये कोई व्यवस्थित कार्यविधि विकसित नहीं कर सकते।

गुणनखंडों के सरल रूप—ये ५ प्रकार के हे : (१) एकपद सर्वनिष्ठ गुणनखड, यथा $अ\,ब - अ\,स + अ\,द - अ\,इ = अ\,(ब - स + द - इ)$, (२) दो वर्गों का अंतर, यथा $अ^{२} - ब^{२} = (अ - ब)\,(अ + ब)$, (३) त्रिपद पूर्णवर्ग, यथा $अ^{२} + ब^{२} \pm २\,अब = (अ \pm ब)^{२}$, (४) दो घनो का योग तथा अतर, यथा $अ^{३} \pm ब^{३} = (अ \pm ब)(अ^{२} \pm अब + ब^{२})$ और (५) विभिन्न रूपो का संमिश्रण, यथा $२\,य^{७}\,र^{२} - २\,य^{३}र^{२} = २\,य^{३}\,र^{२} \times (य^{२} + १)\,(य + १)\,(य - १)$ अर्थात् (१) तथा (२) का संमिश्रण।

समूहीकरण से गुणनखंड करना—पदो के समूहीकरण मे पूर्वनिर्दिष्ट रूपो मे से किसी एक का प्रयोग होता है, यथा $अ\,य + ब\,य - अ\,र - ब\,र = (अ + ब)\,य - (अ + ब)\,र = (अ + ब)\,(य - र)$।

द्विघात त्रिपद यदि अभाज्य न हो तो परख द्वारा उसके गुणनखंड किए जाते है, यथा $य^{२} - ५य + ६ = (य + अ)\,(य + ब)$ कल्पना किया, तो $अ + ब = -५$, $अ\,ब = ६$, इस प्रकार $अ = -२$, $ब = -३$। इसके गुणनखंड शेषफल प्रमेय की सहायता से भी किए जाते हैं, जिसमें कहा गया है कि यदि $(य - अ)$, $फ\,(य) = ०$ का एक गुणनखंड हो तो $फ\,(अ) = ०$। माना $फ\,(य) = य^{२} - ५\,य + ६$, तो $(य - २)$ एक गुणनखंड मिल जाता है। भाग देने से दूसरा गुणनखंड $(य - ३)$ प्राप्त होता हे। यदि $अ\,य^{२} + ब\,य + स$ द्विघात त्रिपद है तो इसके गुणनखंड की कसौटी यह है कि $ब^{२} - ४\,अ\,स$ पूर्ण वर्ग होना चाहिए।

दो समान घातों का योग तथा अंतर—यदि न एक धन पूर्ण संख्या है तो $य^{न} - र^{न}$ का एक गुणनखंड $य - र$ है, और न धनात्मक सम पूर्णसंख्या है तो $य + र$ गुणनखंड भी होगा। यदि न विषम धन पूर्णसंख्या हो तो $य^{न} + र^{न}$ का $य + र$ गुणनखंड होगा। यदि न सम धनात्मक पूर्ण संख्या है तो $य + र$ वा $य - र$ में से कोई भी गुणनखंड न होगा। चक्रीय गुणनखंडों आदि में भी इसी प्रकार की क्रिया है। त्रिकोणमितीय फलनों को परिमित अथवा अनंत गुणनखंडों के गुणनफलों में लिखा जाता है। यथा

$$ज्या\,न\,प = २^{न-१}\,ज्या\,प.\,ज्या\left(प + \frac{\pi}{न}\right).\,ज्या\left(प + \frac{२\pi}{न}\right)\ldots$$

$$ज्या\left(प + \frac{न-१}{न}\pi\right),\quad ज्या\,प = प\prod_{र=१}^{\infty}\left(१ - \frac{प^{२}}{र^{२}\pi^{२}}\right)$$

। गुणनखंडों का समीकरण मीमांसा, सारणिकों, आव्यूहो (matrices) तथा बीजगणित की अन्य शाखाओं में महत्वपूर्ण स्थान है। (गो० च० शु०)

गुणभद्र आचार्य, स्वामी दिगंबर जैन संप्रदाय के सेनसंघ में अवतीर्ण जिनसेन आचार्य के प्रधान शिष्य और उत्तरपुराण, आत्मानुशासन, भावसंग्रह, जिनदत्त काव्य आदि के रचयिता। इस नाम के कई जैन ग्रंथकार तथा आचार्य हो गए हैं।

गुणस्थान दर्शन, मोहनीय आदि कर्मो के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय के निमित्त से होनेवाले जीव के आंतरिक भावों को गुणस्थान कहते हैं (पंचसंग्रह, गाथा ३)। ये १४ हैं। चौथे कर्म मोहनीय को कर्मों का राजा कहा गया है। दर्शन और चरित्र मोहनीय के भेद से दो प्रकार के हैं। प्रथम दृष्टि या श्रद्धा को और दूसरा आचरण को विरूप कर देता है। तब जीवादि सात तत्वों और पुण्य पापादि में इस जीव का विश्वास नहीं होता और यह प्रथम (मिथ्यात्व) गुणस्थान में रहता है। दर्शन मोहनीय और अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ के उपशम या क्षय से सम्यकत्व (चौथा गुणस्थान) होता है। श्रद्धा के डिगने पर अस्पष्ट मिथ्यात्व रूप तीसरा (सासादन) और मिली श्रद्धा रूप तीसरा (मिश्र) गुणस्थान होता है। सम्यक्त्व के साथ आंशिक त्याग होने पर पाँचवाँ (देशविरत) और पूर्ण त्याग होने पर भी प्रमाद रहने से छठा (प्रमत्त विरत) तथा प्रमाद हट जाने पर सातवाँ (अप्रमत्त विरत) होता है। संसारचक्र मे अब तक न हुए शुभ भावो के होने से आठवाँ (अपूर्वकरण) तथा नौवाँ (अनिवृत्तिकरण) होते है। बहुत थोड़ी लोभ की छाया शेष रहने से दसवाँ (सूक्ष्मसांपराय) और मोह के उपशम अथवा क्षय से ११वाँ (उपशांत मोह) या १२वाँ (क्षीण मोह) होता है। कैवल्य के साथ योग रहने से १३वाँ (संयोग केवली) और योग भी समाप्त हो जाने से १४वाँ (अयोग केवली) होता है और क्षणों मे ही मोक्ष चला जाता है।

(खु० च० गो०)

गुणाढ्य पैशाची में बड्डकहा (स० बृहत्कथा) नामक अनुपलब्ध आख्यायिका ग्रथ के प्रणेता। क्षेमेंद्रकृत बृहत्कथामंजरी (११वीं शती) के अनुसार वे प्रतिष्ठान निवासी कीर्तिसेन के पुत्र थे। दक्षिणापथ मे विद्यार्जन करके विख्यात पंडित हुए। प्रभावित होकर सातवाहनराज ने उन्हे अपना मत्री बनाया। प्रवाद है कि महाराज संस्कृत व्याकरण के अच्छे ज्ञाता नहीं थे जिससे जलक्रीड़ा के समय वे विदुषी रानियो के मध्य उपहास के पात्र बने। दुःखी होकर उन्होने अल्प काल में ही व्याकरण मे निष्णात् होने के निमित्त गुणाढ्य पडित को प्रेरित किया जिसे उन्होंने असंभव बताया। किंतु 'कातत्र' के रचयिता दूसरे सभापंडित शर्ववर्मा ने इसे छह मास मे ही संभव बताया। गुणाढ्य न इस चुनौती और प्रतिद्वंद्विता का उत्तर अपनी रोषयुक्त प्रतिज्ञा द्वारा किया। लेकिन शर्ववर्मा ने उसी अवधि मे महाराज को व्याकरण का अच्छा ज्ञान करा ही दिया। फलतः प्रतिज्ञा के अनुसार गुणाढ्य को नगरवास छोड़ वनवास और संस्कृत, पाली तथा प्राकृत छोड़कर पैशाची का आश्रय लेना पड़ा। विद्वानों का एक वर्ग गुणाढ्य को कश्मीरी मानता है जिससे पैशाची से उनका संबंध स्वाभाविक हो जाता है। इसी भाषा में उन्होंने सात लाख की अपनी 'बड्डकहा' रची जो काणभूति के अनुसार चमड़े पर लिखी विद्याधरेंद्रों की कथा बताई जाती है। ग्रंथ को लेकर वे सातवाहन नरेश की सभा में पुनः गए जहाँ उन्हें वांछित सत्कार नहीं मिला। प्रतिक्रियास्वरूप, वन लौटकर वे उस कृति को पाठपूर्वक अग्नि मे हवन करने लगे। कहा जाता है, माधुर्य के कारण पशु-पक्षी-गण तक निराहार रह कथाश्रवण में लीन रहने लगे जिससे वे मांसरहित हो गए। इधर बनजीवों के मांसाभाव का कारण जानने के लिये सातवाहनराज द्वारा पूछताछ किए जाने पर लुब्धकों ने जो उत्तर दिया उसके अनुसार वे गुणाढ्य को मनाने अथवा 'बड्डकहा' को बचाने के उद्देश्य से वन की ओर गए। वहाँ वे अनुरोधपूर्वक ग्रंथ का केवल सप्तमांश जलने से बचाने में सफल हो सके जो क्षेमेंद्रकृत बृहत्कथा श्लोकसंग्रह (७५०० श्लोक) और सोमदेवकृत कथासरित्सागर (२४०० श्लोक) नामक संस्कृत रूपांतरों में उपलब्ध है।

गुणाढ्य का समय विवादास्पद है। संस्कृत तथा अपभ्रंश ग्रंथों में जो उल्लेख प्राप्त होते है वे ७वी शताब्दी से प्राचीन नहीं हैं। कीथ ने कंबोडिया से प्राप्त ८७५ ई० के एक अभिलेख के आधार पर उनके अस्तित्व की कल्पना ६०० ई० से पूर्व की है। प्रचलित प्रवादों मे गुणाढ्य का संबंध सातवाहन से जोड़ा गया है। सातवाहननरेशों का समय २०० ई० पू० से ३०० ई० तक माना जाता है जिनके समय में प्राकृत साहित्य की प्रतिनिधि रचनाएँ हुई। इसके अतिरिक्त विद्वानों का मत है कि कादंबरी, दशकुमारचरित्, उदयन और पंचतंत्र की कथाओं का मूल बृहत्कथा ही है। इनमें पंचतंत्र का पहलवी भाषा में हुआ अनुवाद पाँचवी शताब्दी का बताया जाता है। अतः गुणाढ्य का काल निस्संदेह तृतीय-चतुर्थ शताब्दी में कभी माना जा सकता है।

गुणाढ्य कृत बड्डकहा यद्यपि अनुपलब्ध है तथापि जैसे सप्तशतियों की परंपरा का आदिस्रोत हालकृत 'गाहासत्तसई' बताई जाती है वैसे ही भारतीय आख्यायिका साहित्य का अतीत बड्डकहा से संयुक्त है। बाण ने उसे हरलीला के समान विस्मयकारक, त्रिविक्रम ने अत्यधिक लोगों

का मनोरंजन करनेवाला और धनपाल ने उपजीव्य ग्रंथ मानकर उसे सागर के समान विशाल बताया है जिसकी बूंद से संस्कृत के परवर्ती आख्यायिकाकार और कवि अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करते आए हैं। इस दृष्टि से गुणाढ्य परवर्ती आख्यायिका लेखकों के शिक्षक सिद्ध होते हैं। पुराणों, वेदों आदि में प्राप्त कथाओं की शिष्ट साहित्यधारा, जो भारतीय इतिहास के सांस्कृतिक अतीत से जुड़ी है, उसी के ठीक समानांतर लोकप्रचलित कथाओं की धारा भी आदिकाल से संबंधित है। गुणाढ्य ने सर्वप्रथम इस द्वितीय धारा का संग्रह जनभाषा में किया। अतः पौराणिक कथा-संकलनों की भाँति लोककथाओं के इस संग्रह का भी असाधारण महत्व है। इसीलिये गोवर्धनाचार्य ने बृहत्कहा को व्यास और वाल्मीकि की कृतियों के पश्चात् तीसरी महान् कृति मानकर गुणाढ्य को व्यास का अवतार कहा है। लोककथाओं के महान् संग्राहक गुणाढ्य का असामान्य महत्व इससे स्वतःसिद्ध है।

सं० ग्रं०—एस० एन० दासगुप्त और एस० के० दे : ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, खंड १, कलकत्ता, १९६२; ए० बेरेडल कीथ : ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर; सी० कुन्हनराजा : सर्वे ऑव संस्कृत लिटरेचर, भारतीय विद्याभवन, १९६२; भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पटना; नीलकंठ शास्त्री : हिस्ट्री ऑव इंडिया, खंड १, द्वितीय संस्करण, १९५३। (श्या० ति०)

गुणे, पांडुरंग दामोदर (१८८४–१९२२ ई०) तुलनात्मक भाषाशास्त्री। २० मई, १८८४ ई० को अहमदनगर में जन्म। बंबई विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० किया। भगवद्गीता पर लिखा हुआ इनका निबंध बंबई विश्वविद्यालय में अब भी सुरक्षित है। गोखले और भंडारकर के अनुरोध पर पूना की दकन एज्युकेशनल सोसाइटी के आजीवन सदस्य बनने के बाद डॉ० ब्रुगमन तथा डॉ० किंडिशे के निर्देशन में भारत यूरोपीय तुलनात्मक भाषाशास्त्र का अध्ययन करके लाइपजिग विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की।

पूना के फर्ग्युसन कालेज में संस्कृत, पालि और अंग्रेजी का सफलतापूर्वक अध्यापन करते हुए उन्होंने सन् १९१७ में भंडारकर रिसर्च इंस्टीटयूट की स्थापना की और इसके प्रथम मंत्री भी चुने गए। १९१६–१७ में तुलनात्मक भाशाषास्त्र और 'निरुक्त' पर बंबई विश्वविद्यालय में दो दर्जन व्याख्यान भी दिए जो 'ऐन इंट्रोडक्शन टु कंपेरेटिव फ़िलॉलॉजी' के नाम से १९१८ में प्रकाशित हुए। इनकी अन्य कृतियों में 'भविसयत्त कहा' (संपादन—गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज), 'स्टडीज इन दि निरुक्त ऑव यास्क', 'एस्सेज ऑन द प्राकृतस्', 'एस्सेज ऑन दि ऑरिजिन ऑव मराठी' एवं 'एस्सेज ऑन द भगवद्गीता' प्रमुख है।

पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के विषय में इनकी स्थापनाएँ सर्वथा मौलिक समझी जाती हैं।

अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रो० गुणे सरल और विनोदप्रिय थे। २५ नवंबर, १९२२ को क्षयरोग के कारण ३८ वर्ष की कम उम्र में ही इनका देहांत हो गया। (र० ना० श०)

गुत्स्को, कार्ल (१८११–१८७८ ई०) जर्मन साहित्यकार। इनका जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ था। लेकिन उनमें प्रतिभा और महत्वाकांक्षा थी। साहित्यजगत् में सफलता प्राप्त करने का उन्होंने निश्चय कर लिया था। जर्मनी के प्रगतिशील विचारोंवाले युवक लेखकों के ये नेता हो गए। १८३५ ई० में उनका उपन्यास 'वैली दि डाउटर' छपा जिसके माध्यम से इन्होंने बड़े साहस के साथ जीवन की भौतिक आवश्यकताओं पर बल दिया। इस पुस्तक की तीव्र आलोचना हुई और अनैतिकता के दोष का तर्क देकर तत्कालीन शासन ने इसपर प्रतिबंध लगा दिया। गुत्स्को को भी जेल की सजा हुई। एक दूसरा उपन्यास नेबेनियांद ईरा (Nebeneind era) में उन्होंने जर्मनी के तत्कालीन सामाजिक जीवन का बड़ा व्यापक चित्र प्रस्तुत किया है। इन्होंने नाटक भी लिखे। 'वील ए कोस्ता' (Weil a Costa) में इन्होंने धार्मिक स्वतंत्रता की आवाज उठाई है। इनका एक उपन्यास 'द नाइट्स ऑव द स्पिरिट' है जिसमें राजनीतिक शक्ति के प्रश्न का विवेचन है। (तु० ना० सिं०)

गुथ्री हर्बर्ट स्मिथ, विलियम इनका जन्म १८६१ ई० में स्काटलैंड में हुआ था। १८८० ई० में ये न्यूर्जालैंड गए और वहीं बसकर भेड़ पालने का व्यवसाय शुरु किया। उन्होंने न्यूर्जालैंड के पशुपक्षियों तथा वहाँ के ग्रामीण जीवन के संबंध में कई पुस्तकें लिखीं। इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना 'तुलीरा, द स्टोरी ऑव ए न्यूर्जालैंड शीप स्टेशन' (Tulira, the story of a New Zealand Sheep Station) है जिसमें इन्होंने एक जगह के जीवन के वर्णन द्वारा सारे देश के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की है। इस पुस्तक में न्यूर्जालैंड का भूगोल, वहाँ के आदिवासियों के संबंध में जानकारी तथा आजकल के जीवन का वृत्तांत, सब कुछ है। इसमें हमें यह भी जानकारी मिलती है कि किस प्रकार इंग्लैंड से लोग यहाँ आए और धीरे धीरे इस देश को अपना लिया। (तु० ना० सिं०)

गुदा शरीर के पाचक नाल का अंतिम एक या डेढ़ इंच लंबा भाग है, जिसके बहिःछिद्र (external orifice) से मल शरीर से बाहर निकलता है। इस नली की रचना भी नाल के शेष भाग के ही समान है, अर्थात् सबसे भीतर श्लैष्मिक स्तर और उसके बाहर वृत्ताकार और अनुदैर्घ्य मांससूत्रों के स्तर और उनके बाहर सौत्रीय कला। नीचे की ओर छिद्र पर श्लेष्मल कला और त्वचा का संगम (mucocutaneous Junction) है। यहाँ भीतर की अनुवृत्त मांससूत्रों की संख्या में विशेष-वृद्धि से बाह्य गुदसंवरणी (external sphincter) पेशी बन गई है, जिसके संकोच से गुदाछिद्र बंद हो जाता है। इससे ऊपर नली के ऊपरी भाग में भी एक ऐसी ही, किंतु इससे बड़ी संवरणी पेशी है जिसके वास्तव में दो भाग हैं। इन संवरणी पेशियों की क्रिया श्रोणितंत्रिकाओं के अधीन है। (मु० स्व० व०)

गुदूफर, गुदुव्हर ईसा की प्रथम शती ई० के आरंभिक काल का प्रख्यात भारतीय शक-पल्लव नरेश। इनके संबंध की जानकारी विशेष रूप से इसके सिक्कों से होती है। किंतु किसी प्रकार का विस्तृत वृत्त उपलब्ध नहीं। ईसाइयों के बीच प्रचलित अनुश्रुति यह है कि इसके शासनकाल में ईसामसीह के एक प्रमुख शिष्य संत थामस भारतवर्ष आए थे जिनकी समाधि दक्षिण भारत में बताई जाती है। (प० ला० गु०)

गुना आधुनिक मध्य प्रदेश के पश्चिमी छोर पर स्थित जनपद जो विंध्याचल पर्वत के पठारी भाग पर फैला है (स्थिति : २३° ५४' से २५° ६' उ० अ० तथा ७६° ५१' से ७८° ५' पू० दे०)। इसके उत्तर में शिवपुरी, दक्षिण में राजगढ़ जनपद, पूर्व में बेतवा नदी तथा पश्चिम में राजस्थान राज्य है। पहले यह क्षेत्र मध्य भारत में था लेकिन राज्यों के क्षेत्रीय पुनर्गठन (१९५६) के बाद मध्यप्रदेश में संमिलित कर लिया गया। इसका क्षेत्रफल ११,०१७ वर्ग किलोमीटर तथा जनसंख्या ७,८३,७४८ (१९७१) है।

जनपदीय धरातल की समुद्रतल से औसत ऊँचाई १०००–१,८२३ फुट है, परंतु अधिकांश क्षेत्र १,६०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। गुना कस्बे की ऊँचाई १,५७० फुट है। यद्यपि इस क्षेत्र में पहाड़ियाँ तथा भरके है, तथापि अधिकांश भूमि पठार पर स्थित तथा लगभग समतल एवं चौरस है। जनपद की मुख्य नदियाँ बेतवा, पार्वती, सिंध तथा विलास है। पार्वती की सहायक पुरानी उपरानी, टोवरा, पूनो, गूजरी कुरी एवं भीमा बेतवा की ओर तथा काली सिंध और सिंध की ओर घोड़ापछार, रुठियाई तथा चौपेट नदियाँ हैं।

जलवायु साधारणतया स्वास्थ्यकर है। इस जिले में गर्म हवा मई के अंतिम तथा जून के प्रथम सप्ताह में अधिक से अधिक केवल एक पखवारे के लिये चलती है। इस समय भी रात्रि ठंढी एवं आनंददायक रहती है। चंदेरी क्षेत्र सबसे गर्म है। साधारणतया वार्षिक ताप २३° सें० रहता है। जनवरी (७° सें० ताप) वर्ष का सबसे ठंढा मास है। सितंबर तथा अक्टूबर में मलेरिया का प्रकोप रहता है। वर्षा सर्वत्र लगभग समान रूप से होती है। औसत वार्षिक वर्षा ४०"-६०" तक होती है (अधिक वर्षा मध्य जून से सितंबर तक होती है)। शीतकाल में कभी कभी ओलों

की बौछार से फसल को हानि पहुंचती है। बमोरी तथा चदेरी क्षेत्र मे बहुधा जल का अभाव रहता है और गहराई मे मिलता है।

कृषि की दृष्टि से भूमि हल्की है। उत्तर के पठारी क्षेत्र की अपेक्षा दक्षिण की काली भूमि अधिक उपजाऊ है। जिले मे मुरम, काली मार, कॉंकड़, दोमट तथा भूर आदि पॉंच प्रकार की मिट्टी मिलती है। कुल १०,१७,७६४ एकड़ भूमि कृपियोग्य तथा ६,४६,७९० एकड़ कृपि के लिये अयोग्य है। अत. परती भूमि मे कृपि विस्तृत करने के लिये पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा उपाय हो रहे हैं। जिले के १५.२०% क्षेत्र मे वन है जिनमे टीक, खैर तथा बांस प्रमुख और धां (धव), कड़राई, बहेल, सेन, बेल, हलदू, गुरजैन, तेंदू, सिरिस आदि की मिश्रित लकड़ियाँ मिलती है।

ऐतिहासिक एव पुरातात्विक दृष्टि से गुना जनपद महत्वपूर्ण है। तुमवन (तुमेन), चाचाड़ा (चपावती), खुटवायर, कदवाया, ढाकोनी, थूवन, मुगावली (इन्द्रसी), म्याना (मायापुर), ईसागढ, बजरगगढ, चंदेरी आदि प्रमुख ऐतिहासिक स्थल है। यातायात, व्यापार, उद्योग-धंधों, उपचार, शिक्षा एव सास्कृतिक दृष्टियों से गुना जनपद कम विकसित है। चदेरी का सूती तथा रेशमी वस्त्रोद्योग देश विदेश मे प्रसिद्ध है। यहाँ का जरी का कार्य अपनी कारीगरी तथा सुदरता के लिये सुप्रसिद्ध है। यहाँ चमड़ा एवं बीड़ी बनाने का उद्योग भी विकसित है।

२. गुना जनपद का प्रधान प्रशासकीय नगर (स्थिति २४° ३९' उ० अ० ७७° १९' पू० दे०)। जो आगरा-बवई-राजमार्ग तथा मध्य रेलवे के बीना-बारन-प्रशाखा मार्ग पर स्थित है। पहले यह छोटा सा ग्राम था; १८४४ ई० मे यहाँ ग्वालियर के अश्वारोही फौज की छावनी स्थापित हुई और तब से इसका महत्व बढ़ा और १८८७ ई० मे रेलमार्ग के विकास के *कारण यह प्रमुख व्यापारिक केंद्र हो गया।* (का० ना० सिं०)

गुन्नर्सन, गुन्नर डेनिश भाषा के उपन्यासकार, नाटककार, कवि, कहानी लेखक। इनका जन्म आइसलैंड मे १८८९ ई० मे एक साधारण कृषक परिवार मे हुआ था। १८ वर्ष की आयु मे लेखक बनने की बलवती इच्छा लेकर डेनमार्क गए और कठिन संघर्ष के बाद डेनिश भाषा के अच्छे लेखक के रूप मे स्थान बनाने में सफल हुए। १९३९ ई० मे आइसलैंड लौट आए। इनकी रचनाओं मे आइसलैंड की सामान्य जनता के दुःख सुख का बड़ा ही सुंदर चित्रण हुआ है। इनमे अपने देश के प्रति अनुराग है और वहाँ के रहनेवालो के प्रति संमान का भाव। चरित्रों के आतरिक भावों का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन इनकी रचनाओं में मिलता है। इनकी मुख्य रचनाएँ हैं—'द स्टोरी ऑव द बॉर्ग फेमिली (Borgslaegtens Historie) (१९१२–१४); स्वोर्न ब्रदर्स (Edbrodre) (१९१८); सेवेन डेज डार्कनेस (Salige cra de enfoldige) (१९२०); द चर्च ऑन द माउंटेन (Kirket par Bjerget) (१९२३-२८)। (सु० ना० सिं०)

गुप्त, श्रीगुप्त मगध के गुप्तवश का प्रथम शासक। उसे प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रफलक मे 'आदिराज' और उसके प्रपौत्र समुद्रगुप्त को प्रयाग प्रशस्ति में 'महाराज' कहा गया है। विद्वानों ने उसका समय प्रायः २६० और ३०० ई० के बीच निश्चित किया है। ७वीं सदी के अतिम चरण मे भारत आए चीनी यात्री इत्सिंग ने चि-लि-कि-तो (श्रीगुप्त) नामक एक शासक की चर्चा की है जो ५०० वर्ष पहले नालंदा से लगभग ४० योजन पूर्व दिशा में शासन करता था। कुछ विद्वानों ने इस श्रीगुप्त तथा गुप्त को एक अनुमान किया है। (वि० पा०)

गुप्त (वंश) (२६०–५४० ई०) भारत का एक प्रख्यात राजवंश। इसके इतिहास का परिचय इस वंश के सम्राटों के अभिलेखों, उनकी मुद्राओं एवं उपलब्ध साहित्यिक ग्रंथों—पुराण, कौमुदीमहोत्सव, आर्यमंजुश्रीमूलकल्प तथा फाह्यान के यात्राविवरण आदि—से प्राप्त होता है।

इस वंश के राजाओं के नामांत 'गुप्त', एवं धर्मशास्त्रादि ग्रंथों में यत्रतत्र प्रतिपादित 'गुप्त' नामांतक वैश्य-उपाधि-सिद्धांत के अनुसार कुछ विद्वानों ने इस वंश के वैश्य होने का अनुमान किया है। कुछ लोग उनके 'धारण' गोत्र के आधार पर उनके वैश्य होने की बात कहते हैं। काशीप्रसाद जायसवाल ने उनके शूद्र होने की बात कही है। कौमुदीमहोत्सव नामक नाटक में चंडसेन को 'कारस्कर' कहा गया है। 'कारस्कर' शब्द बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार निम्न जाति का सूचक है। कौमुदीमहोत्सव के चंडसेन का वैवाहिक सबध लिच्छवियो से था। अतः उन्होंने चंडसेन और चंद्रगुप्त प्रथम की एकता स्थापित करने की चेष्टा की है। साथ ही उन्हें शूद्र सिद्ध करने के लिये उन्होंने वाकाटक साम्राज्ञी प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रलेख से गुप्तों के उल्लिखित 'धारण' गोत्र का समीकरण पजाब के जाटो के 'धरणी' गोत्र से किया है। विद्वानों का एक वर्ग उन्हें ब्राह्मण समझता है किंतु वे संभवतः क्षत्रिय थे। चंद्रगुप्त प्रथम की रानी श्रीकुमारदेवी लिच्छविकुमारी थी। उनके पुत्र तथा उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त को गुप्तलेखों में 'लिच्छविदौहित्र' कहा गया है और लिच्छवि क्षत्रिय थे। किंतु केवल वैवाहिक सबंधो के आधार पर गुप्तो की जाति का निश्चय तर्कसंगत नहीं है। गुप्तो ने नागों, वाकाटकों तथा कदंबों से भी वैवाहिक संबंध किए थे। वाकाटक और कदंब दोनों ही ब्राह्मण राजवंश थे। एक परवर्ती गुप्त शासक महाशिवगुप्त की सिरपुर, (रायपुर मध्यप्रदेश) प्रशस्ति से गुप्त चंद्रवशी क्षत्रिय प्रतीत होते हैं। कुंतल प्रदेश के कुछ सम्राट् अपने को उज्जयिनी के सोमवंशी क्षत्रिय शासक विक्रमादित्य से उद्भूत मानते थे। इसके अतिरिक्त पंचोभ ताम्रलेख में गुप्तवंश की उत्पत्ति अर्जुन से बताई गई है। मंजुश्रीमूलकल्प से भी गुप्त क्षत्रिय प्रतीत होते हे।

जाति के समान ही गुप्त सम्राटों के मूल स्थान के संबंध में भी मतभेद है। चीनी यात्री इत्सिंग ने कोरियन यात्री हुई-लुन के कथन के आधार पर महाराज श्रीगुप्त (चे-लि-के-तो) द्वारा नालंदा मे चीनी यात्रियों की सुविधा के लिये लगभग ५०० वर्ष पूर्व, एक मंदिर निर्माण कराने का उल्लेख किया है। यह मंदिर, मि-लि-किया-सि-किया-पो-नो (मृगशिखावन), नालंदा के पूर्व बताया गया है। मृगशिखावन के संबंध में विद्वानों की विभिन्न मान्यताएँ हैं। साधारणतया गुप्तों का मूलस्थान मगध ही युक्तिसंगत है।

महाराज गुप्त अथवा श्रीगुप्त (ल० २६०-२८० ई०) एवं उनके उत्तराधिकारी महाराज घटोत्कच गुप्त, (ल० १८०-३०० ई०) इस वंश के प्रथम नरेश है। दोनों ही संभवतः किसी सार्वभौम सत्ता के अधीन सामंत या छोटे किंतु स्वाधीन शासक थे।

इस वंश की स्वतंत्र सार्वभौम सत्ता का आरंभ चंद्रगुप्त प्रथम (ल० ३००-३३० ई०) से होता है। इन्होंने लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया था। गुप्तवंश के प्रभावविस्तार की दृष्टि से यह संबंध पर्याप्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसी से संभवतः चंद्रगुप्त ने इस विवाहसंबंध की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से अपने एव अपनी साम्राज्ञी के नाम एवं आकृति युक्त स्वर्णमुद्राओं का प्रचलन किया। पुराणों के अनुसार, उनके साम्राज्य में साकेत, प्रयाग तथा मगध के प्रदेश संमिलित थे। समुद्रगुप्त की विजयों को दृष्टि मे रखते हुए, कह सकते हैं कि इन्होंने प्रायः संपूर्ण बिहार, बंगाल तथा अवध के कुछ प्रदेशों पर शासन किया। उन्होंने ३२० ई० से आरंभ होनेवाले गुप्त संवत् की स्थापना की तथा अपनी शक्ति एवं प्रभुताज्ञापन के उद्देश्य से 'महाराजाधिराज' विरुद धारण किया।

चंद्रगुप्त ने समुद्रगुप्त (ल० ३३०-३७५ ई०) को अपना उत्तराधिकारी अपने जीवनकाल मे ही मनोनीत कर दिया था। समुद्रगुप्त को अभिलेखों मे 'समरशतविजयी' कहा गया है। उनके द्वारा पराजित राजाओं एवं गणों की तालिका प्रयाग प्रशस्ति मे दी गई है। उससे लगता है कि उनका प्रायः संपूर्ण जीवन युद्धक्षेत्र में ही बीता होगा। उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत को जीता और सुदूर दक्षिण में कांची तथा कलिंग तक आक्रमण किए। अनेक सीमाप्रांतीय शासक उनकी अधीनता मे थे। लंका के शासक मेघवर्ण ने अपना एक दूत उनके दरबार में भेजा था तथा लंका से भारत आनेवाले यात्रियों के निमित्त, बोधगया में एक बौद्ध विहार के निर्माण की अनुमति प्राप्त की थी। समुद्रगुप्त के उपरांत उनके द्वारा मनोनीत चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (ल० ३७५-४१४-१५ ई०) गुप्त सम्राट् हुए। किंतु विशाखदत्त कृत 'देवीचंद्रगुप्तम्' नाटक से प्रतीत होता

है कि रामगुप्त समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी था। सम्राट् चंद्रगुप्त (द्वितीय) ने ४०९ ई० के लगभग सौराष्ट्र के क्षत्रपों को पराजित किया। दिल्ली में कुतुबमीनार के समीप स्थित लौहस्तंभ पर अंकित चंद्र की प्रशस्ति यदि चंद्रगुप्त द्वितीय की मानी जाय तो स्पष्टतः चंद्रगुप्त विक्रमादित्य वंग, सप्तसिंधु एवं वाह्लीक प्रदेशों के विजेता सिद्ध होंगे। इनका साम्राज्य सुविस्तृत था। सौराष्ट्रविजय से उन्होंने इसे और विस्तार प्रदान किया। इन्होंने वाकाटकों, नागों एवं कदंबों से विवाहसंबंध कर साम्राज्य की नींव दृढ़ की।

कुमारगुप्त (प्रथम) महेंद्रादित्य सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के पुत्र एवं उत्तराधिकारी थे। कुमारगुप्त (ल० ४१५-४५५ ई०) का राज्यकाल सुदीर्घ भी था। उन्होंने कोई विजय की यह ज्ञात नहीं है किंतु उन्होंने दो अश्वमेध किए थे। शासन के अंतिम वर्षों में पुष्यमित्रों के आक्रमण से राज्य की शांति भंग हो गई। कुमार स्कंदगुप्त ने इस आक्रमण को विफल कर दिया। इसी बीच सम्राट् कुमारगुप्त की मृत्यु हो गई।

कुमारगुप्त (प्रथम) के उपरांत स्कंदगुप्त विक्रमादित्य (ल० ४५५-४६७ ई०) गुप्त सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुए। उनके राज्यकाल में, उत्तर पश्चिम से हूण आक्रमण हुआ, जिसको उन्होंने अंशतः विफल किया। संभवतः इनका अधिकतर समय युद्धों में ही बीता।

स्कंदगुप्त के बाद का गुप्त इतिहास अस्पष्ट है। इनके उत्तराधिकारी अत्यंत दुर्बल थे और उनके काल में वंशमर्यादा एवं सीमा का निरंतर ह्रास होता गया। स्कंदगुप्त के उपरांत पुरुगुप्त सम्राट् हुए। इनके उत्तराधिकारी क्रम से कुमारगुप्त (द्वितीय), बुधगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त (तृतीय) और विष्णुगुप्त हुए। इन राजाओं के राज्यकाल. संभवतः उत्तराधिकार के युद्धों के कारण, संक्षिप्त थे।

(अ० कि० ना०; ज० प्र०)

गुप्त (मागध अथवा मालव वंश) सम्राट् आदित्यसेन के अपसड़ (जिला गया) एवं सम्राट् जीवितगुप्त के देववरणार्क (जिला शाहाबाद) के लेखों से एक अन्य गुप्त राजवंश का पता लगता है जो उपर्युक्त गुप्तवंश के पतन के पश्चात् मालव और मगध में शासक बना। इस वंश के संस्थापक कृष्णगुप्त थे। इनके क्रम में श्रीहर्षगुप्त, जीवितगुप्त, कुमारगुप्त, दामोदरगुप्त, महासेनगुप्त, माधवगुप्त, आदित्यसेन, विष्णुगुप्त एवं जीवितगुप्त (द्वितीय) इस वंश के शासक हुए।

इस वंश का पूर्वकालिक गुप्तों से क्या संबंध था, यह निश्चित नहीं है। पूर्वकालिक गुप्तों से पृथक् करने की दृष्टि से इन्हें माधवगुप्त या उत्तरकालीन गुप्त कहते हैं। इस नए गुप्तवंश का उत्पत्तिस्थल भी विवादग्रस्त है। हर्षचरित् में कुमारगुप्त और माधवगुप्त को 'मालव राजपुत्र' कहा है। महासेनगुप्त अनुमानतः मालवा के शासक थे भी। आदित्यसेन के पूर्ववर्ती किसी राजा का कोई लेख मगध प्रदेश से नहीं मिला। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कुछ विद्वानों ने कृष्णगुप्त के वंश का उत्पत्तिस्थल मालवा निश्चित किया। इसी आधार पर इन्हें मालवगुप्त कहते थे। किंतु अधिकांश विद्वान् इन्हें मगध का ही मूल निवासी मानते हैं।

इस वंश के आरंभिक नरेश संभवतः गुप्त सम्राटों के अधीनस्थ सामंत थे। अपसड़ अभिलेख में कृष्णगुप्त को नृप कहा है एवं समानार्थक संज्ञाएँ इस वंश के परवर्ती शासकों के लिये भी प्रयुक्त हुई हैं। अपने वंश की स्वतंत्र सत्ता सर्वप्रथम इस वंश के किस शासक ने स्थापित की, यह अज्ञात है। कृष्णगुप्त के लिये अपसड़ लेख में केवल इतना ही कहा गया है कि वे कुलीन थे, उनकी भुजाओं ने शत्रुओं के हाथियों का शिरोच्छेद सिंह की तरह किया तथा अपने असंख्य शत्रुओं पर विजयी हुए। कृष्णगुप्त के समय में ही संभवतः कन्नौज में हरिवर्मन् ने मौखरिवंश की स्थापना की। कृष्णगुप्त ने संभवतः अपनी पुत्री हर्षगुप्ता का विवाह हरिवर्मन् के पुत्र आदित्यवर्मन् से किया। कृष्णगुप्त के पुत्र एवं उत्तराधिकारी श्रीहर्षगुप्त (ल० ५०५-५२५ ई०) ने अनेक भयानक युद्धों में अपना शौर्य दिखाया और विजय प्राप्त की। इनके उत्तराधिकारी जीवितगुप्त (प्रथम) (ल० ५२५-५४५ ई०) को अपसड़ लेख में 'क्षितीश-चूड़ामणि' कहा गया है। उनके अतिमानवीय कार्यों को लोग विस्मय की दृष्टि से देखते थे। मागधगुप्तों के उत्तरकालीन सम्राटों के विषय में इस प्रकार की कोई बात ज्ञात नहीं होती। संभवतः राजनीतिक दृष्टि से आरंभिक माधवगुप्त अधिक महत्वपूर्ण भी नहीं थे, इसी से लेखों में उनकी पारंपरिक प्रशंसा ही की गई है।

कुमारगुप्त (ल० ५४०-५६० ई०) के विषय में पर्याप्त एवं निश्चित जानकारी प्राप्त होती है। कदाचित् उनके समय में मागधगुप्तों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा की होगी। कुमारगुप्त ने मौखरि नरेश ईशानवर्मन को पराजित किया। उनकी सफलता स्थायी थी। प्रयाग तक का प्रदेश उनके अधिकार में था। उन्होंने प्रयाग में प्राणोत्सर्ग किया। उनके पुत्र दामोदरगुप्त ने पुनः मौखरियों को युद्ध में पराजित किया, किंतु वे स्वयं युद्धक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हुए। इसी काल में मागध पुत्रों ने मालवा पर भी अपना अधिकार स्थापित किया। दामोदरगुप्त के उपरांत उनके पुत्र महासेनगुप्त (ल० ५६३ ई०) शासक हुए। मौखरियों के विरुद्ध, अपनी शक्ति दृढ़ करने के उद्देश्य से उन्होंने थानेश्वर के नरेश राज्यवर्धन के पुत्र आदित्यवर्धन से अपनी बहन महासेनगुप्ता का विवाह किया। हर्षचरित में उल्लिखित कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त के पिता मालवराज संभवतः महासेनगुप्त ही थे। अपसड़ लेख के अनुसार इन्होंने लौहित्य (ब्रह्मपुत्र नदी) तक के प्रदेश पर आक्रमण किया, और असंभव नहीं कि उन्होंने मालवा से लेकर बंगाल तक के संपूर्ण प्रदेश पर कम से कम कुछ काल तक शासन किया हो। महासेनगुप्त ने मागध गुप्तों की स्थिति को दृढ़ किया, किंतु शीघ्र ही कलचुरिनरेश शंकरगण ने उज्जयिनी पर ५९५ ई० या इसके कुछ पहले अधिकार कर लिया। उधर वलभी के मैत्रक नरेश शीलादित्य (प्रथम) ने भी पश्चिमी मालव प्रदेश पर अधिकार स्थापित कर लिया। इसी बीच किसी समय संभवतः महासेनगुप्त के सामंत शासक शशांक ने अपने को उत्तर एवं पश्चिम बंगाल में स्वतंत्र घोषित कर दिया। संभवतः मगध भी महासेन गुप्त के अधिकार में इसी समय निकल गया। महासेनगुप्त का अपना अंत ऐसी स्थिति में क्योंकर हुआ, ज्ञात नहीं होता। पर उनके दोनों पुत्रों कुमारगुप्त और माधवगुप्त ने थानेश्वर में सम्राट् प्रभाकरवर्धन के दरबार में शरण ली।

इस अराजक स्थिति में किन्हीं देवगुप्त ने स्वयं को मालवा या उसके किसी प्रदेश का शासक घोषित कर दिया। इस देवगुप्त का, कोई संबंध मागध गुप्तों के साथ था या नहीं, नहीं कहा जा सकता। हर्षवर्धन के अभिलेखों के अनुसार राज्यवर्धन ने देवगुप्त की बढ़ती हुई शक्ति को निरुद्ध किया था। हर्षचरित् के अनुसार देवगुप्त ने गौड़ाधिप शशांक की सहायता से मौखरि राजा को पराजित कर उन्हें मार डाला तथा राज्यश्री को बंदी बना लिया। राज्यवर्धन ने देवगुप्त को पराजित किया, किंतु देवगुप्त आदि ने षड्यंत्र द्वारा उन्हें मार डाला। किंतु इसके बाद देवगुप्त भी पराजित हो गए और क्रमशः हर्षवर्धन ने प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत में अपनी सत्ता स्थापित कर ली।

अपसड़ लेख से प्रतीत होता है कि माधवगुप्त ने मगध पर शासन किया और प्रायः अपना सारा जीवन हर्ष के सामीप्य एवं मैत्री में व्यतीत किया। हर्ष ने भी संभवतः माधवगुप्त को पूर्वसंबंधी एवं मित्र होने के नाते मगध का प्रांतपति नियुक्त किया होगा। माधवगुप्त ने हर्ष की मृत्यु के बाद ही अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की होगी। अपसड़ लेख में माधवगुप्त को वीर, यशस्वी और अनेक शत्रुओं को पराजित करनेवाला कहा गया है। इनके राज्य का आरंभ हर्ष की मृत्यु के शीघ्र बाद एवं उसका अंत भी संभवतः शीघ्र ही हो गया होगा। माधवगुप्त के पश्चात् उनके पुत्र आदित्यसेन मगध के शासक हुए। इनके समय के अनेक लेख प्राप्त हुए हैं। उनकी सार्वभौम स्थिति की परिचायिका उनकी 'महाराजाधिराज' उपाधि है। देवबर से प्राप्त एक लेख में आदित्यसेन की चोल प्रदेश की विजय एवं उनके द्वारा किए गए विभिन्न यज्ञों आदि का उल्लेख है। उन्होंने तीन अश्वमेध भी किए। उनके काल के कुछ अन्य जनकल्याण संबंधी निर्माण कार्यों का ज्ञान लेखों से होता है। आदित्यसेन ने अपनी पुत्री का विवाह मौखरि नरेश भोगवर्मन् से किया और उनकी पौत्री, भोगवर्मन की पुत्री, वत्सदेवी का विवाह नेपाल के राजा शिवदेव के साथ हुआ। नेपाल के कुछ लेखों में आदित्यसेन का उल्लेख 'मगधाधिपस्य महतः श्री आदित्यसेनस्य'

की बौछार से फसल को हानि पहुँचती है। बमोरी तथा चंदेरी क्षेत्र मे बहुधा जल का अभाव रहता है और गहराई में मिलता है।

कृषि की दृष्टि से भूमि हल्की है। उत्तर के पठारी क्षेत्र की अपेक्षा दक्षिण की काली भूमि अधिक उपजाऊ है। जिले मे मुरम, काली मार, कांकड़, दोमट तथा भूर आदि पाँच प्रकार की मिट्टी मिलती है। कुल १०,१७,७६४ एकड़ भूमि कृषियोग्य तथा ६,४६,७६० एकड़ कृषि के लिये अयोग्य है। अत: परती भूमि मे कृषि विस्तृत करने के लिये पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा उपाय हो रहे हैं। जिले के १५.२०% क्षेत्र मे वन हैं जिनमे टीक, खैर तथा बाँस प्रमुख और धो (धव), कड़राई, बहेल, सेन, बेल, हल्दू, गुरजेन, तेंदू, सिरिस आदि की मिश्रित लकड़ियाँ मिलती है।

ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक दृष्टि से गुना जनपद महत्वपूर्ण है। तुंभवन (तुमेन), चाचाड़ा (चंपावती), खुटवायर, कदवाया, ढाकोनी, थूवन, मुगावली (इन्द्रसी), म्याना (मायापुर), ईसागढ़, बजरंगगढ़, चंदेरी आदि प्रमुख ऐतिहासिक स्थल है। यातायात, व्यापार, उद्योग-धंधों, उपचार, शिक्षा एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से गुना जनपद कम विकसित है। चंदेरी का सूती तथा रेशमी वस्त्रोद्योग देश विदेश मे प्रसिद्ध है। यहाँ का जरी का कार्य अपनी कारीगरी तथा सुदरता के लिये सुप्रसिद्ध है। यहाँ चमड़ा एवं बीड़ी बनाने का उद्योग भी विकसित है।

२. गुना जनपद का प्रधान प्रशासकीय नगर (स्थिति: २४° ३६' उ० अ० ७७° १९' पू० दे०)। जो आगरा-बबई-राजमार्ग तथा मध्य रेलवे के बीना-बारन-प्रशाखा मार्ग पर स्थित है। पहले यह छोटा सा ग्राम था; १८४४ ई० में यहाँ ग्वालियर के अश्वारोही फौज की छावनी स्थापित हुई और तब से इसका महत्व बढ़ा और १८९७ ई० मे रेलमार्ग के विकास के कारण यह प्रमुख व्यापारिक केंद्र हो गया। (का० ना० सिं०)

गुन्नर्सन, गुन्नर डेनिश भाषा के उपन्यासकार, नाटककार, कवि, कहानी लेखक। इनका जन्म आइसलैंड में १८८९ ई० में एक साधारण कृषक परिवार में हुआ था। १८ वर्ष की आयु में लेखक बनने की बलवती इच्छा लेकर डेनमार्क गए और कठिन संघर्ष के बाद डेनिश भाषा के अच्छे लेखक के रूप में स्थान बनाने में सफल हुए। १९३९ ई० मे आइसलैंड लौट आए। इनकी रचनाओं मे आइसलैंड की सामान्य जनता के दुःख सुख का बड़ा ही सुंदर चित्रण हुआ है। इनमे अपने देश के प्रति अनुराग है और वहाँ के रहनेवालों के प्रति संमान का भाव। चरित्रों के आंतरिक भावों का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन इनकी रचनाओं में मिलता है। इनकी मुख्य रचनाएँ हैं—'द स्टोरी ऑव द बोर्ग फेमिली (Borgslaegtens Historie) (१९१२-१४); ब्लोर्न ब्रदर्स (Edbrodre) (१९१८); सेवेन डेज डार्कनेस (Salige era de enfoldige) (१९२०); द चर्च ऑन द माउंटेन (Kirket par Bjerget) (१९२३-२८)। (तु० ना० सिं०)

गुप्त, श्रीगुप्त मगध के गुप्तवंश का प्रथम शासक। उसे प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रफलक में 'आदिराज' और उसके प्रपौत्र समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में 'महाराज' कहा गया है। विद्वानों ने उसका समय प्राय: २६० और ३०० ई० के बीच निश्चित किया है। ७वीं सदी के अंतिम चरण में भारत आए चीनी यात्री इत्सिंग ने चि-लि-कि-तो (श्रीगुप्त) नामक एक शासक की चर्चा की है जो ५०० वर्ष पहले नालंदा से लगभग ४० योजन पूर्व दिशा में शासन करता था। कुछ विद्वानों ने इस श्रीगुप्त तथा गुप्त को एक अनुमान किया है। (वि० पा०)

गुप्त (वंश) (२६०-५४० ई०) भारत का एक प्रख्यात राजवंश। इसके इतिहास का परिचय इस वंश के सम्राटों के अभिलेखों, उनकी मुद्राओं एवं उपलब्ध साहित्यिक ग्रंथों—पुराण, कौमुदीमहोत्सव, आर्यमंजुश्रीमूलकल्प तथा फाह्यान के यात्राविवरण आदि—से प्राप्त होता है।

इस वंश के राजाओं के नामांत 'गुप्त', एवं धर्मशास्त्रादि ग्रंथों में यत्रतत्र प्रतिपादित 'गुप्त' नामांतक वैश्य-उपाधि-सिद्धांत के अनुसार कुछ विद्वानों ने इस वंश के वैश्य होने का अनुमान किया है। कुछ लोग उनके 'धारण' गोत्र के आधार पर उनके वैश्य होने की बात कहते हैं। काशीप्रसाद जायसवाल ने उनके शूद्र होने की बात कही है। कौमुदीमहोत्सव नामक नाटक में चंडसेन को 'कारस्कर' कहा गया है। 'कारस्कर' शब्द बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार निम्न जाति का सूचक है। कौमुदीमहोत्सव के चंडसेन का वैवाहिक संबंध लिच्छवियों से था। अत: उन्होंने चंडसेन और चंद्रगुप्त प्रथम की एकता स्थापित करने की चेष्टा की है। साथ ही उन्हें शूद्र सिद्ध करने के लिये उन्होंने वाकाटक साम्राज्ञी प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रलेख से गुप्तों के उल्लिखित 'धारण' गोत्र का समीकरण पंजाब के जाटों के 'धरणी' गोत्र से किया है। विद्वानों का एक वर्ग उन्हें ब्राह्मण समझता है किंतु वे संभवत: क्षत्रिय थे। चंद्रगुप्त प्रथम की रानी श्रीकुमारदेवी लिच्छविकुमारी थी। उनके पुत्र तथा उत्तराधिकारी समुद्रगुप्त को गुप्तलेखो में 'लिच्छविदौहित्र' कहा गया है और लिच्छवि क्षत्रिय थे। किंतु केवल वैवाहिक संबंधों के आधार पर गुप्तों की जाति का निश्चय तर्कसंगत नही है। गुप्तों ने नागों, वाकाटकों तथा कदंबों से भी वैवाहिक संबंध किए थे। वाकाटक और कदंब दोनो ही ब्राह्मण राजवंश थे। एक परवर्ती गुप्त शासक महाशिवगुप्त की सिरपुर, (रायपुर मध्यप्रदेश) प्रशस्ति से गुप्त चंद्रवंशी क्षत्रिय प्रतीत होते हैं। कुंतल प्रदेश के कुछ सम्राट् अपने को उज्जयिनी के सोमवंशी क्षत्रिय शासक विक्रमादित्य से उद्भूत मानते थे। इसके अतिरिक्त पंचोभ ताम्रलेख में गुप्तवंश की उत्पत्ति अर्जुन से बताई गई है। मंजुश्रीमूलकल्प से भी गुप्त क्षत्रिय प्रतीत होते हैं।

जाति के समान ही गुप्त सम्राटों के मूल स्थान के संबंध में भी मतभेद है। चीनी यात्री इत्सिंग ने कोरियन यात्री हुई-लुन के कथन के आधार पर महाराज श्रीगुप्त (चे-लि-के-तो) द्वारा नालंदा में चीनी यात्रियों की सुविधा के लिये लगभग ५०० वर्ष पूर्व, एक मंदिर निर्माण कराने का उल्लेख किया है। यह मंदिर, मि-लि-किया-सि-किया-पो-नो (मृगशिखावन), नालंदा के पूर्व बताया गया है। मृगशिखावन के संबंध में विद्वानों की विभिन्न मान्यताएँ हैं। साधारणतया गुप्तों का मूलस्थान मगध ही युक्तिसंगत है।

महाराज गुप्त अथवा श्रीगुप्त (ल० २६०-२८० ई०) एवं उनके उत्तराधिकारी महाराज घटोत्कच गुप्त, (ल० १८०-३०० ई०) इस वंश के प्रथम नरेश हैं। दोनों ही संभवत: किसी सार्वभौम सत्ता के अधीन सामंत या छोटे किंतु स्वाधीन शासक थे।

इस वंश की स्वतंत्र सार्वभौम सत्ता का आरंभ चंद्रगुप्त प्रथम (ल० ३००-३३० ई०) से होता है। इन्होंने लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया था। गुप्तवंश के प्रभावविस्तार की दृष्टि से यह संबंध पर्याप्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसी से संभवत: चंद्रगुप्त ने इस विवाहसंबंध की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से अपने एवं अपनी साम्राज्ञी के नाम एवं आकृति युक्त स्वर्णमुद्राओं का प्रचलन किया। पुराणों के अनुसार, उनके साम्राज्य में साकेत, प्रयाग तथा मगध के प्रदेश संमिलित थे। समुद्रगुप्त की विजयों को दृष्टि में रखते हुए, कह सकते हैं कि इन्होंने प्राय: संपूर्ण बिहार, बंगाल तथा अवध के कुछ प्रदेशों पर शासन किया। उन्होंने ३२० ई० से आरंभ होनेवाले गुप्त संवत् की स्थापना की तथा अपनी शक्ति एवं प्रभुताज्ञापन के उद्देश्य से 'महाराजाधिराज' विरुद धारण किया।

चंद्रगुप्त ने समुद्रगुप्त (ल० ३३०-३७५ ई०) को अपना उत्तराधिकारी अपने जीवनकाल मे ही मनोनीत कर दिया था। समुद्रगुप्त को अभिलेखों में 'समरशतविजयी' कहा गया है। उनके द्वारा पराजित राजाओं एवं गणों की तालिका प्रयाग प्रशस्ति मे दी गई है। उससे लगता है कि उनका प्राय: संपूर्ण जीवन युद्धक्षेत्र में ही बीता होगा। उन्होंने प्राय: सम्पूर्ण उत्तर भारत को जीता और सुदूर दक्षिण में कांची तथा कलिंग तक आक्रमण किए। अनेक सीमाप्रांतीय शासक उनकी अधीनता में थे। लंका के शासक मेघवर्ण ने अपना एक दूत उनके दरबार में भेजा था तथा लंका से भारत आनेवाले यात्रियों के निमित्त, बोधगया में एक बौद्ध विहार के निर्माण की अनुमति प्राप्त की थी। समुद्रगुप्त के उपरांत उनके द्वारा मनोनीत चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (ल० ३७५-४१४-१५ ई०) गुप्त सम्राट् हुए। किंतु विशाखदत्त कृत 'देवीचंद्रगुप्तम्' नाटक से प्रतीत होता

है कि रामगुप्त समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी था। सम्राट् चंद्रगुप्त (द्वितीय) ने ४०९ ई० के लगभग सौराष्ट्र के क्षत्रपों को पराजित किया। दिल्ली में कुतुबमीनार के समीप स्थित लौहस्तंभ पर अंकित चंद्र की प्रशस्ति यदि चंद्रगुप्त द्वितीय की मानी जाय तो स्पष्टतः चंद्रगुप्त विक्रमादित्य वंग, सप्तसिंधु एवं वाह्लीक प्रदेशों के विजेता सिद्ध होंगे। इनका साम्राज्य सुविस्तृत था। सौराष्ट्रविजय से उन्होंने इसे और विस्तार प्रदान किया। इन्होंने वाकाटकों, नागों एवं कदंबों से विवाहसंबंध कर साम्राज्य की नींव दृढ़ की।

कुमारगुप्त (प्रथम) महेंद्रादित्य सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय के पुत्र एवं उत्तराधिकारी थे। कुमारगुप्त (ल० ४१५-४५५ ई०) का राज्यकाल सुदीर्घ भी था। उन्होंने कोई विजय की यह ज्ञात नहीं है किंतु उन्होंने दो अश्वमेध किए थे। शासन के अंतिम वर्षों में पुष्यमित्रों के आक्रमण से राज्य की शांति भंग हो गई। कुमार स्कंदगुप्त ने इस आक्रमण को विफल कर दिया। इसी बीच सम्राट् कुमारगुप्त की मृत्यु हो गई।

कुमारगुप्त (प्रथम) के उपरांत स्कंदगुप्त विक्रमादित्य (ल० ४५५-४६७ ई०) गुप्त सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुए। उनके राज्यकाल में, उत्तर पश्चिम से हूण आक्रमण हुआ, जिसको उन्होंने अंशतः विफल किया। संभवतः इनका अधिकतर समय युद्धों में ही बीता।

स्कंदगुप्त के बाद का गुप्त इतिहास अस्पष्ट है। इनके उत्तराधिकारी अत्यंत दुर्बल थे और उनके काल में वंशमर्यादा एवं सीमा का निरंतर ह्रास होता गया। स्कंदगुप्त के उपरांत पुरुगुप्त सम्राट् हुए। इनके उत्तराधिकारी क्रम से कुमारगुप्त (द्वितीय), बुधगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त (तृतीय) और विष्णुगुप्त हुए। इन राजाओं के राज्यकाल संभवतः उत्तराधिकार के युद्धों के कारण, संक्षिप्त थे।

(अ० कि० ना०; ज० प्र०)

गुप्त (मागध अथवा मालव वंश) सम्राट् आदित्यसेन के अपसड़ (जिला गया) एवं सम्राट् जीवितगुप्त के देववरणार्क (जिला शाहाबाद) के लेखों से एक अन्य गुप्त राजवंश का पता लगता है जो उपर्युक्त गुप्तवंश के पतन के पश्चात् मालव और मगध में शासक बना। इस वंश के संस्थापक कृष्णगुप्त थे। इनके क्रम में श्रीहर्षगुप्त, जीवितगुप्त, कुमारगुप्त, दामोदरगुप्त, महासेनगुप्त, माधवगुप्त, आदित्यसेन, विष्णुगुप्त एवं जीवितगुप्त (द्वितीय) इस वंश के शासक हुए।

इस वंश का पूर्वकालिक गुप्तों से क्या संबंध था, यह निश्चित नहीं है। पूर्वकालिक गुप्तों से पृथक् करने की दृष्टि से इन्हें माधवगुप्त या उत्तरकालीन गुप्त कहते हैं। इस नए गुप्तवंश का उत्पत्तिस्थल भी विवादग्रस्त है। हर्षचरित् में कुमारगुप्त और माधवगुप्त को 'मालव राजपुत्र' कहा है। महासेनगुप्त अनुमानतः मालवा के शासक थे भी। आदित्यसेन के पूर्ववर्ती किसी राजा का कोई लेख मगध प्रदेश से नहीं मिला। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कुछ विद्वानों ने कृष्णगुप्त के वंश का उत्पत्तिस्थल मालवा निश्चित किया। इसी आधार पर इन्हें मालवगुप्त कहते थे। किंतु अधिकांश विद्वान् इन्हें मगध का ही मूल निवासी मानते हैं।

इस वंश के आरंभिक नरेश संभवतः गुप्त सम्राटों के अधीनस्थ सामंत थे। अपसड़ अभिलेख में कृष्णगुप्त को नृप कहा है एवं समानार्थक संज्ञाएँ इस वंश के परवर्ती शासकों के लिये भी प्रयुक्त हुई हैं। अपने वंश की स्वतंत्र सत्ता सर्वप्रथम इस वंश के किस शासक ने स्थापित की, यह अज्ञात है। कृष्णगुप्त के लिये अपसड़ लेख में केवल इतना ही कहा गया है कि वे कुलीन थे, उनकी भुजाओं ने शत्रुओं के हाथियों का शिरोच्छेद सिंह की तरह किया तथा अपने असंख्य शत्रुओं पर विजयी हुए। कृष्णगुप्त के समय में ही संभवतः कन्नौज में हरिवर्मन् ने मौखरिवंश की स्थापना की। कृष्णगुप्त ने संभवतः अपनी पुत्री हर्षगुप्ता का विवाह हरिवर्मन् के पुत्र आदित्यवर्मन् से किया। कृष्णगुप्त के पुत्र एवं उत्तराधिकारी श्रीहर्षगुप्त (ल० ५०५-५२५ ई०) ने अनेक भयानक युद्धों में अपना शौर्य दिखाया और विजय प्राप्त की। इनके उत्तराधिकारी जीवितगुप्त (प्रथम) (ल० ५२५-५४५ ई०) को अपसड़ लेख में 'क्षितीश-चूड़ामणि' कहा गया है। उनके अतिमानवीय कार्यों को लोग विस्मय की दृष्टि से देखते थे। मागधगुप्तों के उत्तरकालीन सम्राटों के विषय में इस प्रकार की कोई बात ज्ञात नहीं होती। संभवतः राजनीतिक दृष्टि से आरंभिक माधवगुप्त अधिक महत्वपूर्ण भी नहीं थे, इसी से लेखों में उनकी पारंपरिक प्रशंसा ही की गई है।

कुमारगुप्त (ल० ५४०-५६० ई०) के विषय में पर्याप्त एवं निश्चित जानकारी प्राप्त होती है। कदाचित् उनके समय में मागधगुप्तों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा की होगी। कुमारगुप्त ने मौखरि नरेश ईशानवर्मन को पराजित किया। उनकी सफलता स्थायी थी। प्रयाग तक का प्रदेश उनके अधिकार में था। उन्होंने प्रयाग में प्राणोत्सर्ग किया। उनके पुत्र दामोदरगुप्त ने पुनः मौखरियों को युद्ध में पराजित किया, किंतु वे स्वयं युद्धक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हुए। इसी काल में मागध पुत्रों ने मालवा पर भी अपना अधिकार स्थापित किया। दामोदरगुप्त के उपरांत उनके पुत्र महासेनगुप्त (ल० ५६३ ई०) शासक हुए। मौखरियों के विरुद्ध, अपनी शक्ति दृढ़ करने के उद्देश्य से उन्होंने थानेश्वर के नरेश राज्यवर्धन के पुत्र आदित्यवर्धन से अपनी बहन महासेनगुप्ता का विवाह किया। हर्षचरित में उल्लिखित कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त के पिता मालवराज संभवतः महासेनगुप्त ही थे। अपसड़ लेख के अनुसार इन्होंने लौहित्य (ब्रह्मपुत्र नदी) तक के प्रदेश पर आक्रमण किया, और असंभव नहीं कि उन्होंने मालवा से लेकर बंगाल तक के संपूर्ण प्रदेश पर कम से कम कुछ काल तक शासन किया हो। महासेनगुप्त ने मागध गुप्तों की स्थिति को दृढ़ किया, किंतु शीघ्र ही कलचुरिनरेश शंकरगण ने उज्जयिनी पर ५६५ ई० या इसके कुछ पहले अधिकार कर लिया। उधर वलभी के मैत्रक नरेश शीलादित्य (प्रथम) ने भी पश्चिमी मालव प्रदेश पर अधिकार स्थापित कर लिया। इसी बीच किसी समय संभवतः महासेनगुप्त के सामंत शासक शशांक ने अपने को उत्तर एवं पश्चिम बंगाल में स्वतंत्र घोषित कर दिया। संभवतः मगध भी महासेन गुप्त के अधिकार में इसी समय निकल गया। महासेनगुप्त का अपना अंत ऐसी स्थिति में क्योंकर हुआ, ज्ञात नहीं होता। पर उनके दोनों पुत्रों कुमारगुप्त और माधवगुप्त ने थानेश्वर में सम्राट् प्रभाकरवर्धन के दरबार में शरण ली।

इस अराजक स्थिति में किन्हीं देवगुप्त ने स्वयं को मालवा या उसके किसी प्रदेश का शासक घोषित कर दिया। इस देवगुप्त का, कोई संबंध मागध गुप्तों के साथ था या नहीं, नहीं कहा जा सकता। हर्षवर्धन के अभिलेखों के अनुसार राज्यवर्धन ने देवगुप्त की बढ़ती हुई शक्ति को निरुद्ध किया था। हर्षचरित् के अनुसार देवगुप्त ने गौड़ाधिप शशांक की सहायता से मौखरि राजा को पराजित कर उन्हें मार डाला तथा राज्यश्री को बंदी बना लिया। राज्यवर्धन ने देवगुप्त को पराजित किया, किंतु देवगुप्त आदि ने षड्यंत्र द्वारा उन्हें मार डाला। किंतु इसके बाद देवगुप्त भी पराजित हो गए और क्रमशः हर्षवर्धन ने प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत में अपनी सत्ता स्थापित कर ली।

अपसड़ लेख से प्रतीत होता है कि माधवगुप्त ने मगध पर शासन किया और प्रायः अपना सारा जीवन हर्ष के सामीप्य एवं मैत्री में व्यतीत किया। हर्ष ने भी संभवतः माधवगुप्त को पूर्वसंबंधी एवं मित्र होने के नाते मगध का प्रांतपति नियुक्त किया होगा। माधवगुप्त ने हर्ष की मृत्यु के बाद ही अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की होगी। अपसड़ लेख में माधवगुप्त को वीर, यशस्वी और अनेक शत्रुओं को पराजित करनेवाला कहा गया है। इनके राज्य का आरंभ हर्ष की मृत्यु के शीघ्र बाद एवं उसका अंत भी संभवतः शीघ्र ही हो गया होगा। माधवगुप्त के पश्चात् उनके पुत्र आदित्यसेन मगध के शासक हुए। इनके समय के अनेक लेख प्राप्त हुए हैं। उनकी सार्वभौम स्थिति की परिचायिका उनकी 'महाराजाधिराज' उपाधि है। देवघर से प्राप्त एक लेख में आदित्यसेन की चोल प्रदेश की विजय एवं उनके द्वारा किए गए विभिन्न यज्ञों आदि का उल्लेख है। उन्होंने तीन अश्वमेध भी किए। उनके काल के कुछ अन्य जनकल्याण संबंधी निर्माण कार्यों का ज्ञान लेखों से होता है। आदित्यसेन ने अपनी पुत्री का विवाह मौखरि नरेश भोगवर्मन् से किया और उनकी पौत्री, भोगवर्मन की पुत्री, वत्सदेवी का विवाह नेपाल के राजा शिवदेव के साथ हुआ। नेपाल के कुछ लेखों में आदित्यसेन का उल्लेख 'मगधाधिपस्य महतः श्री आदित्यसेनस्य'

करके हुआ है। इससे लगता है कि पूर्वी भारत में मागधगुप्तों का बड़ा संमान एवं दबदबा था। आदित्यसेन के राज्य का अंत ६७२ ई० के बाद शीघ्र ही कभी हुआ।

आदित्यसेन के उपरांत उनके पुत्र देवगुप्त (द्वितीय) मगध की गद्दी पर बैठे। ६८० ई० के लगभग वातापी के चालुक्य राजा विनयादित्य ने संभवत: देवगुप्त को पराजित किया। इन्होंने 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण की। देववरणार्क लेख से स्पष्ट है कि देवगुप्त के पश्चात् उनके पुत्र विष्णुगुप्त मगध के शासक हुए। 'महाराजाधिराज' उपाधि इनके लिये भी प्रयुक्त है। इन्होंने कम से कम १७ वर्ष तक अवश्य राज्य किया क्योंकि इनके राज्य के १७वें वर्ष का उल्लेख इनके एक लेख में हुआ है। इस वंश के अंतिम नरेश जीवितगुप्त (द्वितीय) थे। गोमती नदी के किनारे इनके विजयस्कंधावार की स्थिति का उल्लेख मिलता है। इससे अनुमान होता है कि इन्होंने गोमती के तीरस्थ किसी प्रदेश पर मौखरियों के विरुद्ध आक्रमण किया था।

जीवितगुप्त के पश्चात् इस वंश के किसी शासक का पता नहीं चलता। मागध गुप्तों का अंत भी अज्ञात है। गउडवहो से ज्ञात होता है कि ८वीं सदी के मध्य कन्नौज के शासक यशोवर्मन् ने गौड़ के शासक को पराजित कर मार डाला। पराजित गौड़ाधिप को मगध का शासक भी कहा है इसलिये अनुमान है कि यशोवर्मन् द्वारा पराजित राजा संभवत: जीवितगुप्त (द्वितीय) ही थे। असंभव नहीं कि गौड़ नरेश ने जीवितगुप्त को पराजित कर मगध उनसे छीन लिया हो और स्वयं गौड और मगध की स्थिति मे यशोवर्मन् के विरुद्ध युद्ध में मारा गया हो। (अ० कि० ना०; ज० प्र०)

गुप्त, बालमुकुंद (१८६५-१९०७ ई०) हिंदी साहित्यकार। इनका जन्म गुड़ियानी गाँव (जिला रोहतक) में १८६५ ई० (कार्तिक शुक्ल ४, सं० १९२२ वि०) में हुआ था। उर्दू और फारसी की प्रारंभिक शिक्षा के बाद १८८६ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय से मिडिल परीक्षा प्राइवेट परीक्षार्थी के रूप में उत्तीर्ण। विद्यार्थी जीवन से ही उर्दू पत्रों में लेख लिखने लगे। झज्झर (जिला रोहतक) के 'रिफाहे आम' अखबार और मथुरा के 'मथुरा समाचार' उर्दू मासिकों में पं० दीनदयालु शर्मा के सहयोगी रहने के बाद १८८६ ई० में चुनार के उर्दू अखबार 'अखबारे चुनार' के दो वर्ष संपादक रहे। १८८८-१८८९ ई० में लाहौर के उर्दू पत्र 'कोहेनूर' का संपादन किया। उर्दू के नामी लेखकों में आपकी गणना होने लगी। १८८९ ई० में महामना मालवीय जी के अनुरोध पर कालाकाँकर (अवध) के हिंदी दैनिक 'हिंदोस्थान' के सहकारी संपादक हुए, जहाँ तीन वर्ष रहे। यहाँ पं० प्रतापनारायण मिश्र के संपर्क से हिंदी के पुराने साहित्य का अध्ययन किया और उन्हें अपना काव्यगुरु स्वीकार किया। सरकार के विरुद्ध लिखने पर वहाँ से हटा दिए गए। अपने घर गुड़ियानी में रहकर मुरादाबाद के 'भारत प्रताप' उर्दू मासिक का संपादन किया और कुछ हिंदी तथा बँगला पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद किया। अंग्रेजी का इसी बीच अध्ययन करते रहे। १८९३ ई० में 'हिंदी बंगवासी' के सहायक संपादक होकर कलकत्ता गए और छह वर्ष तक काम करके नीति संबंधी मतभेद के कारण इस्तीफा दे दिया। १८९९ ई० में 'भारतमित्र' कलकत्ता के संपादक हुए और मृत्यु पर्यंत इस पद पर रहे। १८ सितंबर, १९०७ ई० को दिल्ली में आपकी मृत्यु हुई।

'भारतमित्र' में आपके प्रौढ़ संपादकीय जीवन का निखार हुआ। भाषा, साहित्य और राजनीति के सजग प्रहरी रहे। देशभक्ति की भावना इनमें सर्वोपरि थी। भाषा के प्रश्न पर 'सरस्वती' संपादक, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से इनकी नोक झोंक, लार्ड कर्जन की शासन नीति की व्यंग्यपूर्ण और चुटीली आलोचनायुक्त 'शिवशंभु के चिट्ठे' और उर्दूवालों के हिंदी विरोध के प्रत्युत्तर में 'उर्दू बीबी के नाम चिट्ठी, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लेखनशैली सरल, व्यंग्यपूर्ण, मुहावरेदार और हृदयग्राही होती थी। पैनी राजनीतिक सूझ और पत्रकार की निर्भीकता तथा तेजस्विता इनमें कूट कूटकर भरी थी।

पत्रकार होने के साथ ही आप एक सफल अनुवादक और कवि भी थे। अनूदित ग्रंथों में बँगला उपन्यास मडेल भगिनी और हर्षकृत नाटिका रत्नावली उल्लेखनीय है। 'स्फुट कविता' के रूप में आपकी कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ था। इनके अतिरिक्त आपके निबंधों और लेखों के संग्रह हैं। (ब० प्र० मि०; प० ला० गु०)

गुप्त, मैथिलीशरण (१८८६-१९६४ ई०) हिंदी के प्रख्यात कवि। चिरगाँव (झाँसी) में संवत् १९४३ में जन्म। पिता सेठ रामचरण कविताप्रेमी और भगवद्भक्त थे; उन्हीं से यह उत्तराधिकार गुप्त जी को मिला। शिक्षा दीक्षा घर पर ही हुई। आपकी प्रारंभिक रचनाएँ कलकत्ता के जातीय पत्र वैश्योपकारक में प्रकाशित हुईं। बाद में वे नियमित रूप से 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं और 'सरस्वती' के संपादक, महावीरप्रसाद द्विवेदी का आपकी भाषा और रचनाशैली पर बहुत प्रभाव पड़ा।

आपकी प्रथम पुस्तक 'रंग में भंग' १९०९ ई० में प्रकाशित हुई। १९१२ में 'भारत भारती' निकली जिसने हिंदी प्रेमियों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। इस ग्रंथ ने हिंदी भाषियों में अपनी जाति और देश के प्रति गर्व और गौरव की भावनाएँ जागृत की। आपके अन्य मौलिक काव्य 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी', 'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'नहुष', 'मंगल घट', 'जय भारत' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। अनुवादों में 'विरहिणी व्रजांगना', 'मेघनाद वध', 'पलासी का युद्ध', 'स्वप्न वासवदत्ता', आदि महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त आपने तीन नाटक तथा सभी प्रकार के प्रगीत और मुक्तक भी लिखे हैं। 'साकेत' पर उन्हें हिंदी साहित्य संमेलन का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला। प्रयाग विश्वविद्यालय ने आपको डॉक्टर की संमानित उपाधि प्रदान की। वे राज्यसभा के सदस्य रहे और असंख्य हिंदीप्रेमियों ने उन्हें 'राष्ट्रकवि' की उपाधि से विभूषित किया।

गुप्त जी के काव्य के दो प्रेरणास्रोत है: देशभक्ति और भगवद्भक्ति। 'भारत भारती' का राष्ट्रीय गाथाओं में प्रमुख स्थान है। प्राचीन गाथाओं को आपने सरस प्रेरणा से अभिनव रूप प्रदान किया। आपके काव्य में सहज माधुरी और निश्छलता के गुण प्रधान है।

गुप्त जी भारतेंदु के समान हिंदी कविता के इतिहास में एक नए युग के प्रवर्तक है। इस युग को द्विवेदी युग की संज्ञा दी गई है। द्विवेदी युग में खड़ी बोली साहित्य की भाषा बनी और हिंदी कविता ने अभिनव रूप धारण किया। रीतिकाल की परंपरा को दृढ़तापूर्वक त्याग कर वह आधुनिक जीवन के समीप आ गई।

मैथिलीशरण गुप्त की भाषा में सहज मिठास और सादगी है। आपकी अनुभूतियाँ जनजीवन का स्पर्श कर द्रवित होती है। आपके अनेक शब्दचित्र हिंदी पाठकों की स्मृति में घर बना चुके हैं। आपकी पुष्ट राष्ट्रीय विचारधारा ने हमारे स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास को बल दिया। गुप्त जी अपनी सरलता, निश्छलता, सहज देशप्रेम और वैष्णव वृत्तियों के कारण राष्ट्रीय जीवन के साहित्यिक प्रतीक बन गए थे। संवत् २०२१ (दिसंबर, १९६४ ई०) में आपकी मृत्यु हुई।

(प्र० चं० गु०; प० ला० गु०)

गुप्त, शिवप्रसाद (१८८३-१९४४ ई०) प्रख्यात देशभक्त और हिंदी प्रेमी। आपका जन्म काशी के अग्रवाल समाज के विख्यात अजमतगढ़ घराने में हुआ था। आपने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की किंतु परीक्षा में संमिलित नहीं हुए। ३० अप्रैल, १९१४ को आप विश्वभ्रमण के लिये निकले और २१ मास तक घूमते रहे। लौटने के बाद १९१६ ई० में हिंदी लेखकों के प्रोत्साहनार्थ और हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि के निमित्त 'ज्ञानमंडल' नाम से एक प्रकाशन संस्था स्थापित की। साथ ही काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना के उपक्रम में आपने महामना पंडित मदनमोहन मालवीय के साथ सहयोग किया और उनके साथ बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजस्थान का भ्रमण किया।

आप हिंदी के कट्टर हिमायती होने के साथ साथ देशभक्त भी थे। १९०४ ई० में पहली बार आप कांग्रेस के बंबई अधिवेशन में प्रतिनिधि के रूप में संमिलित हुए थे। १९०५ ई० में जब काशी में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तब आप लाला लाजपत राय, लोकमान्य तिलक, विपिनचंद्र पाल

आदि नेताओं के संपर्क में आए। शीघ्र ही महात्मा गांधी से परिचय हुआ और आप देश के राजनीतिक आंदोलनों में दिलचस्पी लेने लगे। शीघ्र ही उनकी गणना देश के मान्य नेताओं में होने लगी। अनेक बार राष्ट्रीय आंदोलन के प्रसंग में आप जेल भी गए।

१९२० में कांग्रेस की नीति के समर्थन में 'आज' नाम से दैनिक पत्र प्रकाशित किया और शीघ्र ही देश के राष्ट्रीय पत्रों में उसकी गणना होने लगी।

आपकी एक बहुत बड़ी देन काशी विद्यापीठ है। जब गांधी जी ने अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों के बहिष्कार की आवाज उठाई तथा स्वदेशी शिक्षा पर बल दिया तो उसकी पूर्ति के लिये आपने इस संस्था की स्थापना की। आपने भारतमाता के मंदिर की भी अनोखी कल्पना की और तद्नुसार १९३६ ई० में उसे मूर्त रूप दिया।

सर्वोपरि दीन दुखियों का पालन और विद्यार्थियों की सहायता आपका विशिष्ट गुण था। आप लोगों को इस प्रकार सहायता करते रहे कि किसी को कानोंकान खबर न हो। अन्नदान, वस्त्रदान, द्रव्यदान उनका नित्य का नियम था जिसके कारण लोग आपको दानवीर कहा करते थे।

१९४४ ई० में आपकी मृत्यु हुई। (प० ला० गु०)

गुप्त, सियारामशरण (१८९५–१९६४ ई०) हिंदी के प्रख्यात कवि। आप राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के अनुज थे। कवि, कथाकार और निबंध लेखक के रूप में उनका विशिष्ट स्थान है। चिरगाँव (झाँसी) में बाल्यावस्था बीतने के कारण बुंदेलखंड की वीरता और प्रकृतिसुषमा के प्रति आपका प्रेम स्वभावगत था। घर के वैष्णव संस्कारों और गांधीवाद से आपका व्यक्तित्व विकसित हुआ। वे स्वयंशिक्षित कवि थे। मैथिलीशरण गुप्त की काव्यकला और उनका युगबोध उन्होंने यथावत् अपनाया था अतः उनके सभी काव्य द्विवेदीयुगीन अभिधावादी कलारूप पर ही आधारित हैं। विचार की दृष्टि से भी वे ज्येष्ठबंधु के सदृश गांधीवाद की परदुःखकातरता, राष्ट्रप्रेम, विश्वप्रेम, विश्वशांति, हृदयपरिवर्तनवाद, सत्य और अहिंसा से आजीवन प्रभावित रहे। उनके काव्य वस्तुतः गांधीवादी निष्ठा के साक्षात्कारक पद्यबद्ध प्रयत्न हैं।

उनकी रचनाएँ हैं—मौर्यविजय (१९१४ ई०), अनाथ (१९१७), दूर्वादल (१९१५-२४), विषाद (१९२५), आर्द्रा (१९२७), आत्मोत्सर्ग (१९३१), मृण्मयी (१९३६), बापू (१९३७), उन्मुक्त (१९४०), दैनिकी (१९४२), नकुल (१९४६), नोआखाली (१९४६), गीतासंवाद (१९४८) आदि। इन सभी रचनाओं में मानवप्रेम के कारण कवि का निजी दुःख सामाजिक दुःख के साथ एकाकार होता हुआ वर्णित हुआ है। विषाद में कवि ने अपने विधुर जीवन और आर्द्रा में अपनी पुत्री रमा की मृत्यु से उत्पन्न वेदना के वर्णन में जो भावोद्गार प्रकट किए हैं, वे अत्यंत मार्मिक हैं। इसी प्रकार जनता की दरिद्रता, कुरीतियों के विरुद्ध आक्रोश, विश्वशांति जैसे विषयों पर उनकी रचनाएँ उनकी प्रगतिवादिता को व्यक्त करती हैं। जीवन के प्रति करुणा का भाव जिस सहज और प्रत्यक्ष रूप से उनकी रचनाओं में व्यक्त हुआ है उससे उनका एक विशिष्ट स्थान बन गया है।

काव्यरूपों की दृष्टि से उन्मुक्त नृत्यनाट्य के अतिरिक्त उन्होंने पुण्यपर्व (नाटक) (१९३२), झूठा सच (निबंधसंग्रह) (१९३७), गोद, आकांक्षा और नारी (उपन्यास) तथा लघुकथाओं (मानुषी) की भी रचना की थी। उनके गद्यसाहित्य में भी उनका मानवप्रेम ही व्यक्त हुआ है। कथा साहित्य की शिल्पविधि में नवीनता न होने पर भी नारी और दलित वर्ग के प्रति उनका दयाभाव देखते ही बनता है।

आपका निधन मार्च, १९६४ में हुआ। (प० ला० गु०)

गुप्तकाशी एक हिंदू तीर्थस्थल। गढ़वाल प्रांत में पाँच प्रसिद्ध 'प्रयाग' हैं : देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, नंदप्रयाग और विष्णुप्रयाग। रुद्रप्रयाग से मंदाकिनी नदी के किनारे किनारे गुप्तकाशी का मार्ग है। कुल दूरी लगभग चौबीस मील है। पैदल, घोड़ा या डाँडी से लोग जाते हैं, बहुत थोड़ी दूरी पैदल तय करनी होती है। चढ़ाई बड़ी विकट है। जहाँ चढ़ाई आरंभ होती है वहीं अगस्त्य मुनि नाम का स्थान है; वहाँ अगस्त्य का मंदिर है। मार्ग रमणीक है। सामने बाणासुर की राजधानी शोणितपुर के भग्नावशेष हैं। चढ़ाई पूरी होने पर गुप्तकाशी के दर्शन होते हैं।

गुप्तकाशी को गुह्यकाशी भी कहते हैं। तीन काशियाँ प्रसिद्ध हैं : भागीरथी के किनारे उत्तरकाशी, दूसरी गुप्तकाशी और तीसरी वाराणसी। गुप्तकाशी में एक कुंड है जिसका नाम है मणिकर्णिका कुंड। लोग इसी में स्नान करते हैं। इसमें दो जलधाराएँ बराबर गिरती रहती हैं जो गंगा और यमुना नाम से अभिहित हैं। कुंड के सामने विश्वनाथ का मंदिर है। इससे मिला हुआ अर्धनारीश्वर का मंदिर है। (स०)

गुप्तचर गुप्त रूप से राजनीतिक सूचना देनेवाला व्यक्ति। यह अति प्राचीन काल से ही शासन की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता माना जाता रहा है। भारतवर्ष में गुप्तचरों का उल्लेख मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में गुप्तचरों के उपयोग और उनकी श्रेणियों का विशद वर्णन किया है। राज्याधिपति को राज्य के अधिकारियों और जनता की गतिविधियों एवं समीपवर्ती *शासकों की नीतियों के संबंध में सूचनाएँ देने का महत्वपूर्ण कार्य* उनके गुप्तचरों द्वारा संपन्न होता था। रामायण में वर्णित दुर्मुख ऐसा ही एक गुप्तचर था जिसने रामचंद्र को सीता के विषय में (लंका प्रवास के बाद) जनापवाद की जानकारी दी थी।

अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि राजा के पास विश्वासपात्र गुप्तचरों का समुदाय होना चाहिए और इन गुप्तचरों को योग्य एवं विश्वस्त मंत्रियों के निर्देशन में काम करना चाहिए। अर्थशास्त्र में समस्त एवं संचार नामक दो प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख मिलता है। समस्त कोटि के गुप्तचर स्थानीय सूचनाएँ देते थे और संचार कोटि के गुप्तचर विभिन्न स्थानों का परिभ्रमण करके सूचनाएँ एकत्र करते थे। समस्त कोटि के गुप्तचरों के अनेक प्रकार होते थे, यथा कापातिक, उदस्थित, गृहपतिक, वैदाहक तथा तापस। संचार नामक गुप्तचर में सत्रितिष्ण, राशद एवं स्त्री गुप्तचर जैसे भिक्षुकी, परिव्राजिका, मुंड, विशाली भी होती थीं। चंद्रगुप्त मौर्य के युग में सुदूर स्थित अधिकारियों पर नियंत्रण करने के लिये गुप्त संवाददाता एवं भ्रमणशील निर्णायिकों का उपयोग किया जाता था। ये संवाददाता अथवा निर्णायक उन अधिकारियों के कार्यकलापों का भली भाँति निरीक्षण एवं मूल्यांकन करते थे और राजा को इस संबंध में गुप्त रूप से सूचनाएँ भेजते थे। हिंदूकाल में इस प्रकार के गुप्तचरों का वर्ग अशोक के काल तक सुचारु रूप से कार्य करता रहा। उसके बाद भी शासन में गुप्तचरों का महत्व बना रहा। इन गुप्तचरों का पद राज्य के अत्यंत विश्वासपात्र व्यक्तियों को ही दिया जाता था।

गुप्तचरों का उपयोग संगठित रूप से और विस्तृत पैमाने पर मुस्लिम और मुगलकाल में नहीं हुआ। मुस्लिम और मुगलकालीन पुलिस शासन, जिसकी नींव शेरशाह ने डाली थी, स्थानीय मुखिया, प्रधान अथवा स्थानीय पुलिस अधिकारियों के दायित्वों के सिद्धांतों पर आधारित था। किंतु थोड़ी सी संख्या में शासन के अधिकारियों एवं प्रजाजनों की मनोवृत्तियों तथा कार्यकलापों की सूचना देने के लिये राजा द्वारा अपने विश्वासपात्र और चतुर अनुचरों का प्रयोग मात्र होता रहा।

वर्तमान समय में राजनीतिक प्रयोजनों के निमित्त देश के भीतर और बाहर गुप्तचरों का प्रयोग एक सर्वमान्य राजनीतिक धारणा है। जर्मनी के गेस्टापो दल ने नात्सी शासन को देश के भीतर सुदृढ़ बनाने में अत्यंत महत्वपूर्ण योग दिया। नात्सी-शासन-विरोधी तत्वों का दमन करने की जो नीति हिटलर और उसके प्रमुख सहायक हिमलर ने अपनाई उसकी सफलता का श्रेय गेस्टापो दल को ही है जिसके गुप्तचरों द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आतंक और भय की भावनाएँ निरंतर बनी रहती थीं। जर्मनी में इस गुप्तचर दल का संगठन इतना व्यापक था कि नागरिकों की शासन विरोधी प्रत्येक गतिविधि की सूचना सरकार को तुरंत मिल जाती

थी और वह व्यक्ति अभियुक्त बनकर दंड का भागी होता था। जारशाही और उसके बाद कम्यूनिस्ट शासन की स्थापना की अवधि में रूस में गुप्तचर दलों ने शासनविरोधी कार्यकलापों की सूचनाएँ देने का कार्य किया जिसके परिणामस्वरूप जनता शासनविरोधी कथन और कार्य से सदैव ही डरती रही।

पिछले दो विश्वयुद्धों में, विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के समय, अंतरराष्ट्रीय गुप्तचर दलों का युद्ध में संलग्न देशों द्वारा संगठन किया गया। सैनिक संस्थानों, आयुधागारों, कारखानों, सैनिक योजनाओं और अभियानों की पूर्वसूचना प्राप्त करने के लिये एक देश द्वारा दूसरे देश में या तो एजेंट बनाए गए या भेजे गए। इन एजेंटों में महिलाएँ भी होती थीं। ये एजेंट शत्रुदेश के अधिकारियों अथवा विशिष्ट व्यक्तियों से घनिष्ठता स्थापित करके अथवा अन्य किसी गोपनीय युक्ति से आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त करके उन्हें प्रेषित अथवा प्रसारित करते थे। ऐसे अनेक गुप्तचर युद्धकाल में पकड़े गए और उन्हें कठोर दंड दिया गया।

राजनीतिक गुप्तचरों का संगठन वर्तमान समय में व्यापक रूप से प्रचलित है। विद्रोही अथवा राज्य विरोधी तत्वों से प्रत्येक सरकार आक्रांत है। जहाँ राजशासन है वहाँ प्रजातंत्र के समर्थक राज्यसत्ता उलटने की चेष्टाएँ करते है। प्रजातंत्रवादी देशों में जो साम्यवादी नहीं हैं, साम्यवादी विचारोंवाले, अराजकतावादी अथवा अन्य अप्रजातांत्रिक तत्व सत्ता हथियाने की चेष्टा करते है और अपनी कार्यवाहियों से बाहरी देशों का समर्थन अथवा संबंध बनाए रखते है। राज्यहित की दृष्टि से उनकी गतिविधियों की जानकारी गुप्तचरों द्वारा दी जाती है। संसार के देशों में जो दो विरोधी वर्ग इस समय स्थापित है उनमें एक दूसरे के राजनीतिक अथवा सैनिक रहस्यों की जानकारी के निमित्त (एस्पायोनेज और काउंटर एस्पायोनेज की) युक्तियों का प्रयोग होता है। गुप्त सूचनाओं के एकत्रीकरण के निमित्त अब वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग हो रहा है। सन् १९६० की यू-२ विमान घटना वैज्ञानिक उपकरणों के उपयोग का प्रमुख उदाहरण है जब नभमंडल में पृथ्वी से पर्याप्त ऊँचाई पर वैज्ञानिक साधनों एवं फोटोग्राफी की विशिष्ट सामग्री से युक्त उड़नेवाले अमरीकी विमानचालक को रूस ने तोपों द्वारा गिरा लिया था और इस प्रकार रूसी सैनिक संस्थानों की फोटो लेने की अमरीकी युक्ति का अनावरण किया था। (भ० स्व० च०)

राजनीतिक गुप्तचरों (जासूसों) के अतिरिक्त प्रत्येक देश में शासन व्यवस्था के अंग के रूप में एक अन्य प्रकार के गुप्तचर होते हैं जिन्हें सामान्यत: खुफिया पुलिस (डिटेक्टिव पुलिस) कहते हैं। इनका काम अपराध और अपराधियों की छानबीन अप्रत्यक्ष रूप से करना है। वे घटनास्थल पर प्राप्त अपराध के सूत्रों के सहारे अपराधी की खोज करते है। इस प्रकार उनका यह कार्य विस्मयकारी और रोमांचक होता है। फलत: उनके कार्यों पर आधारित उपन्यास और कहानी की एक स्वतंत्र विधा का विकास हुआ है जो 'जासूसी' साहित्य के नाम से प्रख्यात है।

खुफिया पुलिस के अतिरिक्त अनेक देशों में स्वतंत्र जासूसों या गुप्तचरों का एक व्यावसायिक रूप भी है। इन लोगों को स्वतंत्र रूप से लोग अपने निजी मामलों में खोज करने के लिये नियुक्त करते हैं और वे गोपनीय ढंग से उनके लिये आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त करते हैं। (प० ला० गु०)

गुप्त लेखन संवाद लिखने की ऐसी पद्धति जिसे व्यक्तिविशेष के सिवाय दूसरा न समझ सके। गुप्त लेखन दृश्य तथा अदृश्य दो प्रकार का होता है। गुप्त लेखन में संवाद बीजांक (Cipher) या कूट (Code) द्वारा प्रेषित किया जाता है। कूट पद्धति में प्रेषक तथा आदाता कूट पुस्तक का प्रयोग करते हैं। पुस्तक के द्वारा अक्षरों के समूह या किसी शब्द से गुप्त संवाद जान लिया जाता है। संदेश को यथासंभव छोटा बनाने के लिये तार या बेतार तार में प्राय: कूट का प्रयोग किया जाता है। व्यापारिक संस्थाएँ, जिनकी शाखाएँ विदेशों में फैली होती हैं, प्राय: निजी कूट पुस्तक का उपयोग करती हैं।

कूट पुस्तक का सेना में बड़ा महत्व है। यदि सैनिक अधिकारी कूट का प्रयोग न कर दमक ज्योति, ध्वजसंकेत या शाब्दिक संदेश भेजे तो वह असुरक्षित तथा विलंबगामी हो जायगा। कूट को रहस्य बनाए रखने के लिये आवश्यक है कि कूट पुस्तक कुछ ही अत्यंत विश्वासपात्र व्यक्तियों के पास हो। किंतु कूट को बीजांकित करने से रहस्य प्रकट नहीं होता।

संदेश को बीजांकित करने का अभिप्राय है संदेश को दूसरे अक्षरों या संकेत में लिखना, या अक्षरों के क्रम में परिवर्तन करना। बीजांकित संदेश पढ़ने के लिये कुंजी आवश्यक है। बीजांकन की सरलतम पद्धति प्रतिस्थापन सारणी है। वर्णमाला का प्रत्येक अक्षर किसी दूसरे अक्षर से व्यक्त किया जाता है। प्रेषक यदि चाहे तो आदाता को पहले से सूचित कर सारणी में हेरफेर कर सकता है। बीजांकप्रतिस्थापन की एक और सरल पद्धति प्लेफेयर (Playfair) है, जिसमें प्रेषक तथा आदाता को संकेत शब्द का ज्ञान होना ही संवाद समझने के लिये पर्याप्त होता है।

संदेशों को गुप्त रूप से भेजने की आवश्यकता का अनुभव मनुष्य सहस्रों वर्ष पूर्व से करता आया है। प्राचीन मिस्र के पुरोहित हेरोग्लिफ तथा चित्रलेखन करते थे और मंदिरों के कर्मचारी ही पौरोहित रचनाओं का मर्म समझ पाते थे। जूलियस सीज़र बीजांकों का प्रयोग किया करता था। उसी के समकालीन टचूलिस टीरो नामक व्यक्ति ने सिसरो की आज्ञा से बीजांक का आविष्कार किया। टीरो की पद्धति शब्दों को प्रतीकों द्वारा व्यक्त करने की है। इसके शताब्दियों बाद जब यूरोप में राज्य हड़पने के लिये राजदूतों और मंत्रियों के सुनियोजित षड्यंत्रों का क्रम चला तब गुप्त लेखन बहुत महत्व का विषय हो गया। दूतों को पकड़कर महत्वपूर्ण गुप्त प्रलेख उड़ा दिए जाते थे। ऐसी अवस्था में साधारण बीजांकों से काम चलना संभव न था। सन् १४९९ में महंत ट्राइथेमियस की 'पॉलिग्रैफ़िया' नामक गुप्त भाषा संबंधी पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके बाद जेरोमी कार्डन नामक व्यक्ति ने जालायित बीजांक (Trellis cipher) का आविष्कार किया। प्रेषक तथा आदाता छिद्रयुक्त पार्चमेंट पत्र का प्रयोग करते थे। पार्चमेंट पत्र को कागज पर रखते ही गुप्त संवाद प्रकट हो जाता था।

गृहयुद्ध के दिनों में चार्ल्स प्रथम ने नवीन बीजांकों की रचना की। गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद यूरोप में गुप्त लेखन तथा गुप्त लेख-पठन का उत्साह मंद पड़ गया, क्योंकि संवाद एक राजधानी से दूसरी राजधानी में निरापद पहुँच जाते थे। किंतु प्रथम विश्वयुद्ध के काल में बीजांकों में आश्चर्यजनक परिवर्तन तथा सुधार हुए। सेना बेतार के संकेतों का प्रयोग किया करती थी और चूँकि बेतार के संकेत पकड़े जा सकते थे, अत: प्रत्येक युद्धरत राष्ट्र ने कई अंतर्ग्रहण स्टेशनों की स्थापना की जिनमें कुशल कर्मचारी तथा गुप्तभाषाविद नियुक्त थे।

युद्ध के प्रारंभिक काल में ही जर्मनी का मेगडेबर्ग नामक क्रूज़र बाल्टिक सागर में धँसने लगा। क्रूज़र के कर्मीदल (Crew) को नावों की शरण लेनी पड़ी। इसी समय रूसी जहाज़ों ने आग उगलना प्रारंभ कर दिया जिसके कारण सारे जर्मन मारे गए। इनमें से एक जर्मन की लाश तैरती हुई पकड़ी गई। उसके पास कूट पुस्तक थी। उसे इंग्लैंड भेजा गया। उस पुस्तक के अध्ययन के परिणामस्वरूप ऐतिहासिक महत्व के अनेक आसूचना संस्थान स्थापित हुए। जटलैंड तथा डागर तट की विजय का कारण जर्मन बेड़ों तथा पनडुब्बियों के हालचाल की पूर्व जानकारी थी।

आधुनिक काल में वाणिज्य तथा विद्युत्संचार के परिणामस्वरूप गुप्त भाषा अनिवार्य हो गई है तथा यह कूटनीति, वाणिज्य और सेना से अनुबद्ध है।

गुप्ति जैन दर्शन के अनुसार काय, वचन और मन के कर्म का ही नाम योग (आत्मा के प्रदेशों का हलन चलन) है तथा योग ही कर्मो के आने (आस्रव) में कारण है। आस्रव होने से बंध (संसार) होता है। बंधनमुक्त (मोक्ष) होने के लिये आस्रव का रुकना (संवर) आवश्यक है। संवर का प्रथम चरण गुप्ति है जो काय-वाक्-मन के कर्म का भली भाँति नियंत्रण करने से ही संभव है। अर्थात् स्वेच्छा से कायादि की रुझान को इंद्रियों के विषयसुख, कामनादि से मोड़ देना ही गुप्ति है। इसके द्वारा अनंतज्ञान-दर्शन-सुख, वीर्य के पुंजभूत आत्मा की रक्षा होती है।

भोगादि पापवृत्तियाँ रुक जाती हैं तथा ध्यानादि पुण्यप्रवृत्तियाँ होने लगती हैं। कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति के भेद से गुप्ति के तीन भेद हैं। (तत्वार्थसूत्र, अध्याय ९, सूत्र २ तथा ४)। (बु० चं० गो०)

गुब्बारा वायु अथवा गैस से भरा आवरण जिसका उपयोग आकाश विचरण के लिये किया जाता है। यह रेशम या तत्सदृश किसी मजबूत पदार्थ का बना होता है, जिसपर वार्निश पुता हुआ रहता है, ताकि इसके अंदर से बाहर अथवा बाहर से अंदर की ओर वायु अथवा गैस का विसरण (diffusion) न हो सके। इसके अंदर वायु से कम घनत्ववाली गैस भरी जाती है, जिससे यह अपने से अधिक भार की वायु को विस्थापित करती है। परिणामस्वरूप वायु की उछाल अधिक हो जाती है और यह ऊपर उठने लगता है। यह तब तक लगातार ऊपर उठता रहता है जब तक इतनी ऊँचाई तक नहा पहुँच जाता जहाँ विस्थापित वायु का भार इसके भार के बराबर होता है। गुब्बारे के साथ (नीचे की ओर) टोकरीनुमा एक बड़ा सा प्रकोष्ठ लगा होता है जिसमें यात्री, विभिन्न प्रकार के यंत्र एवं उपकरण तथा सामान रखते हैं।

फ्रांसिस्को डि लाना (Fransisco de lana) नामक एक जेस्युइट पुरोहित ने सन् १६७० में यह विचार किया कि यदि किसी पात्र में वायु का घनत्व बाहरी वायु के घनत्व की अपेक्षा बहुत कम कर दिया जाय तो वह पात्र आर्किमिडीज के सिद्धांत के अनुसार वायु में ऊपर उठने लगेगा, जब तक वह इतना ऊपर नहीं उठ जायगा जहाँ, विरलता के कारण, वायु का घनत्व पात्र के अंदर की वायु के घनत्व के लगभग बराबर हो जाए। उसने नौका के आकार का एक यान बनाया और उसमें ताम्र के अत्यंत पतले चद्दर से बने हुए खोखले गोले लगाए। उसका विचार था कि इन गोलों में काफी सीमा तक निर्वात उत्पन्न कर देने से यान समेत ऊपर उठने लगेंगे। किंतु उसका प्रयत्न सफल नहीं हो सका; गोलों को वायुशून्य करने पर वे वायुमंडलीय दाब के कारण नष्ट हो गए। इसके बाद लाना ने उन गोलों में गरम वायु भरने का विचार किया, किंतु उसने यह विचार इसलिए त्याग दिया कि ऐसा करने से उसे ईश्वर से रुष्ट होने का भय जान पड़ा।

लाना की उपर्युक्त धारणा को कार्यरूप में फ्रांस के लियॉन्स प्रांत के मॉंगाल्फ्ये बंधुओं, ज़ोज़ेफ़ मिचिल मॉंगाल्फ्ये (१७४०-१८१०) तथा जैक्विस एटिएन मॉंगाल्फ्ये (१७४५-९९), ने परिणत किया। उन्होंने सिल्क का एक बड़ा थैला बनाया जिसका मुँह नीचे की ओर खुला रखा और उसके नीचे कागज इत्यादि जलाकर धुएँ को उस थैले में भरते रहने की व्यवस्था की। अपने इस प्रयोग को उन्होंने ५ जून, १७८३ को अपनी जन्मभूमि एन्नोने (Annony) में विशाल जनसमूह के समक्ष प्रदर्शित किया। धुँआ भरते ही यह थैला अत्यंत द्रुत गति से ऊपर उठने लगा। चूँकि इस गुब्बारे में अंदर की वायु को निरंतर गरम रखने के लिये कोई प्रबंध नहीं था; इसलिये जब अंदर की वायु ठंढी होने लगी तो गुब्बारा नीचे उतर आया। इस प्रकार काफी ऊँचाई तक जाने के बाद गुब्बारा पुनः धरती पर लगभग १½ मील दूर सकुशल उतर आया।

मॉंगाल्फ्ये (Montgolfier) का गुब्बारा। इस गुब्बारे में हाइड्रोजन गैस भरी गई थी।

मॉंगाल्फ्ये बंधुओं की इस सफलता ने समस्त विश्व का ध्यान इस दिशा की ओर मोड़ दिया। लगभग १७ वर्ष पूर्व सन् १७६६ में हेनरी कैवेंडिश वायु से हलकी हाइड्रोजन गैस का पता लगा चुके थे। गुब्बारे में इस गैस का प्रयोग करने की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ। हाइड्रोजन भरे हुए गुब्बारे की उड़ान सर्वप्रथम फ्रांस के रॉबर्ट बंधुओं तथा चार्ल्स के संमिलित प्रयास से २७ अगस्त, सन् १७८३ को शैंप डि मार्स (Champ de Mars) के मैदान में लाखों दर्शकों के समक्ष सफलतापूर्वक प्रदर्शित की गई। गुब्बारा छोड़ने के उपरांत भीषण वर्षा भी प्रारंभ हो गई, किंतु दर्शक उससे रंचमात्र भी प्रभावित हुए बिना ही, मंत्रमुग्ध होकर, गुब्बारे का व्योमारोहण देखते रहे। वहाँ द्रुत गति से वह लगभग ३,००० फुट ऊँचा चला गया और पौन घंटे तक आकाश की सैर करने के उपरांत लगभग १५ मील दूर एक खेत में गिरा।

१९ सितंबर, १७८३ को जोज़ेफ़ मॉंगाल्फ्ये ने अपने पुराने प्रयोग को धुएँ के स्थान पर गुब्बारे में हाइड्रोजन गैस भरकर दुहराया और वारसाई में सम्राट् लुई १६वें, सम्राज्ञी, सभासदों एवं दर्शकों के विशाल जनसमूह के सामने उसे उड़ाया। इसके नीचे एक बड़ा सा टोकरीनुमा प्रकोष्ठ था, जिसमें एक भेड़, एक मुर्गा और एक बत्तख थे। गुब्बारे को अत्यंत कलापूर्ण ढंग से रँगा और चित्रादि से सुसज्जित किया गया था। यह गुब्बारा प्रायः आठ मिनट तक वायु में लगभग १,५०० फुट की ऊँचाई पर भ्रमण करने के उपरांत लगभग दो मील दूर एक जंगल में सकुशल उतर आया। उसके तीनों प्राणी सकुशल थे, केवल भेड़ ने मुर्गे को लत्ती मारकर दाहिने डैने में चोट पहुँचा दी थी। ये ही तीन प्राणी संभवतः प्रथम आकाश यात्री थे।

इसके बाद तो गुब्बारों पर मनुष्य को बैठाकर उड़ाने के प्रयोगों की धूम मच गई। १५ अक्टूबर, १७८३ को मेट्ज़ (फ्रांस) निवासी जीन रोज़ियर ने पृथ्वी से डोरियों द्वारा बँधे हुए गुब्बारों पर उड़ान भरी और सकुशल पृथ्वी पर वापस आ गए। २१ नवंबर को वे पुनः आलेण्डीज के मार्क्विस के साथ एक गुब्बारे में बैठकर उड़े, जिसमें नीचे लटकते हुए पात्र में अग्नि रखी हुई थी। उस अग्नि से गुब्बारे की वायु गर्म होती रहती थी। इस प्रकार यह गुब्बारा ३,००० फुट की ऊँचाई से उड़ता हुआ लगभग साढ़े पाँच मील की यात्रा २०-२५ मिनट में पूरी कर सकुशल भूमि पर उतर आया। यह मानव की प्रथम वायुयात्रा थी। इसके दस दिन बाद, १ दिसंबर को, रॉबर्ट बंधुओं के परामर्शदाता, जे० ए० सी० चार्ल्स, पैरिस के ट्वीलरीज़ (Tuileries) उद्यान से एक हाइड्रोजन भरे गुब्बारे में सवार होकर उड़े। दो घंटे तक २,००० फुट की ऊँचाई पर निरापद गगनयात्रा करने के उपरांत वे पैरिस से २७ मील दूर नेस्ली (Nesle) नामक कस्बे के पास सकुशल उतर आए। हाइड्रोजन गुब्बारे पर यह प्रथम मानवीय उड़ान थी। इसके बाद चार्ल्स पुनः अकेले उड़े और उनका गुब्बारा बड़े वेग से ९,००० फुट की ऊँचाई तक पहुँच गया।

इसके बाद गुब्बारों में उड़ने के कार्यक्रम बड़े जोर शोर से सारे यूरोप में बनने लगे। लंदन में १५ सितंबर, १७८४ ई० को विंसेंट लुनार्डी ने पतवार लगे हुए हाइड्रोजन गुब्बारे में उड़ान भरी। पतवारों की सहायता से उन्होंने गुब्बारे को एक बार भूमि पर उतारा और फिर उड़ाया। इस प्रकार तीन घंटे तक आकाशभ्रमण करने के उपरांत वे २४ मील दूर वेयर (Ware) नामक स्थान पर एक खेत में उतरे। इसके बाद उन्होंने कई और उड़ानें कीं जिनमें से एक में उन्होंने १०० मील से भी अधिक लंबी यात्रा संपन्न की।

सबसे प्रमुख ऐतिहासिक यात्रा जीन पियरे एफ़० ब्लैंकार्ड तथा डा० जेफ्रीज ने की थी। ७ जनवरी, सन् १७८५ को उन दोनों ने एक विशाल गुब्बारे में बैठकर इंग्लिश चैनल पार किया। यात्रावधि में कई बार उन्हें गुब्बारा नीचे उतरता हुआ प्रतीत हुआ तो उन्होंने उसपर से बहुत सा सामान नीचे समुद्र में फेंक दिया। यहाँ तक कि उन्हें पहने हुए कई कपड़े उतारकर फेंकने पड़े। तब कहीं जाकर वे पार उतर सके। इन यात्राओं

की उड़ान के प्रत्युत्तर में रोज़ियर और रोमेन ने गुब्बारे पर सवार होकर फ्रांस से इंग्लैंड की ओर इंग्लिश चैनल पार करने की चेष्टा की, किंतु गुब्बारे में आग लग गई और दोनों पृथ्वी पर गिरकर मर गए।

१९वीं शताब्दी में गुब्बारे की एक महत्वपूर्ण उड़ान ७ नवंबर, १८३६ ई० को लगभग डेढ़ बजे दिन में लंदन के वॉक्सहाल उद्यान से प्रारंभ हुई थी। इसके आरोही तीन प्रमुख व्यक्ति थे। संसत्सदस्य रावर्ट हॉलैंड, मॉङ्क मेसॉन तथा चार्ल्स ग्रीन। रात भर की निरापद यात्रा के उपरांत दूसरे दिन यह गुब्बारा लगभग ५०० मील दूर नासू (Nassau) प्रांत के वेलवर्ग नामक स्थान पर सकुशल उतरा। इसलिये कालांतर में यह गुब्बारा 'नासू गुब्बारा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह बहुत विशाल था और लगभग ८४,००० घन फुट गैस इसमें भरी गई थी। इसके २७ वर्षों के बाद नाडार नामक फोटोग्राफर ने लगभग २,००,००० घ० फु० धारितावाला एक विशाल गुब्बारा बनाया और उसमें १३ व्यक्तियों ने बैठकर सफलतापूर्वक व्योमभ्रमण किया।
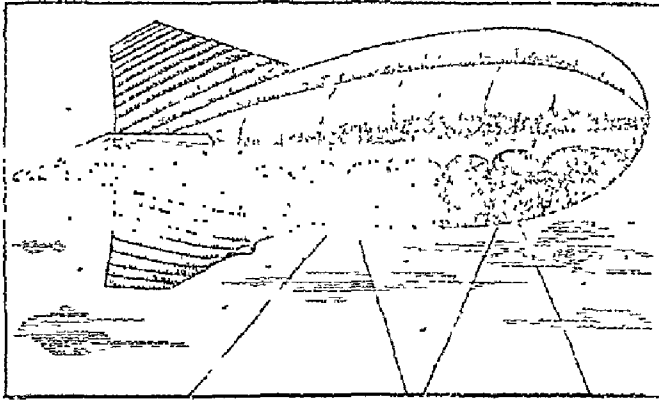
बँधुआ (बाराज, Barrage) गुब्बारा

युद्धकाल में हवाई जहाजों की मार से किसी क्षेत्र, भवन या पोत को बचाने के लिये इच्छित ऊँचाई पर बाँधकर रखा जाता है।

इसके बाद से गुब्बारों की आकृति, आकार एवं रूप में अनेक परिवर्तन हुए और परीक्षणात्मक उड़ानों के अतिरिक्त वैज्ञानिक अनुसंधानों एवं सैनिक कार्यों में भी इनका प्रयोग किया जाने लगा।

गुब्बारों का उपयोग—वायुमंडल के उच्चस्तरों का अध्ययन करने तथा उनके संबंध में विशद जानकारी प्राप्त करने के हेतु गुब्बारों का प्रयोग डा० जेफ्रीज द्वारा सन् १७८४ में आरंभ किया गया था। ऊँचाई के साथ वायु की आर्द्रता, घनत्व, ताप में परिवर्तन एवं विभिन्न गैसों के मात्रानुपातिक संमिश्रण आदि के बारे में आँकड़े एकत्र किए गए, जिनसे अंतरिक्ष यात्रा के अभिनव प्रयासों को बड़ी प्रेरणा एवं सहायता मिली है। गे लुसाक (Gay Lusaac) तथा बायो (Biot) आदि के अनुसंधानों के परिणामों से यह प्रमाणित हो गया कि पृथ्वीतल से ऊँचाई में वृद्धि के साथ वायुमंडलीय ताप का नियमित क्रम से पतन होता है। इसकी पुष्टि कालांतर में 'क्यू' (Kew) वेधशाला की ओर से आयोजित तथा जॉन वेल्श द्वारा जुलाई, सन् १८५२ में किए गए उड़ानों द्वारा भी हुई।

सन् १९३१ में २७ तथा २८ मई को बेलजियम के ऑगस्ट पिकार्ड (Auguste Piccard) तथा कीफ़र (Keipfer) गुब्बारे में सवार होकर लगभग ५३,१७२ फुट की ऊँचाई तक गए और वायुमंडलीय दशाओं तथा अंतरिक्ष किरणों (cosmic rays) का पता लगाने की चेष्टा की। इसके बाद अनेक अन्य वैज्ञानिकों ने भी अधिकाधिक ऊँचाई तक जाकर जानकारी में वृद्धि करने के प्रयास किए। ११ नवंबर, सन् १९३५ को संयुक्त राज्य, अमरीका के सेनाधिकारियों, कैप्टेन स्टीवेंस तथा ऑरविल एँडरसन, ने ७२,३९५ फुट (लगभग १४ मील) की ऊँचाई तक उड़ान भरी।

आजकल मौसम विज्ञान संबंधी वेधशालाओं की ओर से विशेष प्रकार के यंत्रसज्जित गुब्बारे आकाश में ऋतु तथा मौसम संबंधी परिवर्तनों की जानकारी के हेतु भेजे जाते हैं। ऐसे गुब्बारों को मौसम सूचक गुब्बारे (sounding balloons) कहते हैं। इनमें स्वयंचालित रेडियो यंत्र, स्वयं अभिलेखी यंत्र आदि रखे रहते हैं, जो नीचे पृथ्वी पर स्थित मौसम केंद्रों को सूचनाएँ प्रेषित करते रहते हैं। निश्चित ऊँचाई तक पहुँचकर ये गुब्बारे फट जाते हैं और यंत्रों का प्रकोष्ठ पैराशूट के सहारे सकुशल नीचे उतर आता है। वायुयान के स्टेशनों से बहुधा छोटे छोटे गुब्बारे हवा में छोड़े जाते हैं जिनके द्वारा विभिन्न ऊँचाइयों पर पवन की दिशा तथा वेग का पता चलता है। अंतरिक्ष-किरणों का अध्ययन करने के लिये भी गुब्बारे भेजे जाते हैं।

युद्ध में गुब्बारों का उपयोग—सबसे पहले युद्ध में गुब्बारों का प्रयोग फ्रांसीसी क्रांति के समय, १७९४ ई० में हुआ। फ्रांसीसियों ने ३० फुट व्यास का एक विशाल गुब्बारा बनाकर उसे शत्रुपक्ष की हालचाल की जानकारी के लिये उड़ाया। यह गुब्बारा डच और आस्ट्रियाई सेना के ऊपर १,८०० फुट ऊँचाई पर उड़ा। शत्रुपक्ष को भ्रम हो गया कि फ्रांसीसी उसकी सारी गतिविधि जान गए हैं। शत्रुपक्ष हतोत्साह हो गया और फ्रांसीसियों की विजय हुई।

अमरीका के गृहयुद्ध (सन् १८६१-६५) में गुब्बारों के प्रयोग से संघीय सेना ने विद्रोहियों की सैनिक गतिविधि का ज्ञान प्राप्त किया। इस गुब्बारे में तार द्वारा समाचार भेजने की व्यवस्था थी। संघीय सेना की विजय में गुब्बारों के योगदान महत्व का था।

फ्रैंको-प्रशियन-युद्ध (सन् १८७०-७१) में, जब प्रशियनों ने पैरिस नगर को घेरकर बाह्यजगत् से उसका संबंध ही तोड़ डाला था, फ्रांसीसी गुब्बारों से समाचार भेजते और बाहर आते जाते थे।

विगत प्रथम विश्वयुद्ध (सन् १९१४-१८) में सभी बड़े राष्ट्रों ने गुब्बारों में विकास में अधिकाधिक ध्यान दिया। जर्मनी ने बेलनाकार गुब्बारा बनाया जो ५० मील प्रति घंटे चाल की हवा में भी ठीक प्रकार से काम करता था, जबकि गोलाकार गुब्बारे हवा की रफ्तार २० मील प्रति घंटे होने पर ही बेकार हो जाते थे। लेकिन इनमें त्रुटि यह थी कि इन्हें झुकाव पर उड़ाना पड़ता था जिसके कारण ये ऊँचाई पर पहुँचकर झटका खाने लगते थे। इसमें सुधार किया फ्रांसीसी कप्तान केकॉट ने। उसने ऐसा गुब्बारा बनाया जो ६,००० फुट ऊँचा उड़ सकता था।

सन् १९३९ के यूरोपीय युद्ध में लंदन शहर की सुरक्षा में गुब्बारों का उपयोग हुआ। गुब्बारों को भारी संख्या में उड़ाया जाता था। ये विध्वंसक वायुपोतों के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न करते थे। ब्रिटेन की जलसेना भी शत्रु की पनडुब्बियों की टोह लेने के लिये गुब्बारे छोड़ती थी।

गैस भरे गुब्बारों की बनावट में रेशम या सूत, अथवा दोनों का ही, प्रयोग किया जाता है, लेकिन गुब्बारा उद्योग में रबर लगा सूत ही अधिकतर काम आता है, रेशम नहीं। अमरीका के बँधुआ गुब्बारों का आवरण कपड़े की दो ऐसी ही परतों का होता है। इन परतों में भीतरी सीधी और बाहरी तिरछी होती है। इस कपड़े का भार ८.६ औंस प्रति गज और तनाव क्षमता ५० पौंड प्रति वर्ग इंच होती है। (सु० चं० गौ०)

गुरखा, गोरखा नेपाल की प्रधान जाति। गोरखा गंडक नदी के पूर्वोत्तर भाग का नाम है, जिस प्रदेश में रहने के कारण इस जाति का नाम गोरखा या गुरखा पड़ा। जनसाधारण में गोरखा का अर्थ 'गोरक्ष' या 'गाय का रक्षक' प्रचलित है। कुछ लोगों के मत से गुरु गोरखनाथ के अनुयायी अथवा वंशज होने के नाते यह जाति गुरखा कहलाती है। गोरखनाथ को गुरखे अपना आध्यात्मिक पूर्वज मानते भी हैं।

इस प्रकार गुरखा शब्द का प्रयोग मुख्यत: उन सब वर्गों और जातियों के लिये होता है जो गोरखा प्रदेश की आदिवासी हैं। इनमें युद्धप्रियता की परंपरा है। ऐसी जातियों में प्रमुख हैं खस, गुरुंग और मांगर। इनमें कुछ कदाचित् 'मंगोल' प्रजाति के हैं, परंतु कई सदियों से हिंदुओं के बीच रहते हुए इनके रीतिरिवाज आदि बदल चुके हैं। मुसलमानों के आक्रमणों

का मुकावला करने के लिये कुछ अजव नहीं जो स्थानीय ब्राह्मणों ने इन्हें क्षत्रिय वना लिया हो। अव इनकी गणना 'स्थानीय क्षत्रिय' जातियों में की जाती है।

खस जाति अव पूर्णतः आर्यभाषाएँ बोलती हैं। कई सौ वर्षों से ब्राह्मणों से निकट संपर्क के कारण इनपर हिंदू प्रभाव प्रचुर मात्रा में प्रगट है। पूर्वकाल में इस जाति और ब्राह्मणों के बीच कुछ विवाह भी हुए। ये जातियाँ अपने को यज्ञोपवीत पहनने का अधिकारी मानती हैं। भारतीय सेना में गुरखा सैनिकों और अधिकारियों की संख्या बहुत है, अतएव परंपरागत सैनिक होने के नाते ये भी अपने को क्षत्रिय कहलाने के अधिकारी समझते हैं।

गुरुंग अभी भी लगभग पूर्णतः 'मंगोलायड' हैं। इनका धर्म हिंदू बौद्ध है, परंतु इनकी धार्मिक रीतियों में आदिवासी जीववाद की झलक देखने को मिलती है। शायद बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बाद भी इन्होंने अपना आदिधर्म पूरी तौर से नहीं छोड़ा। इनमें नदियों, पहाड़ों की पूजा और पशु वलि प्रचलित है। बीमारी या पारिवारिक कष्टों के अवसरों पर ऐसी वलिपूजा का आयोजन किया जाता है जिसमें पहाड़ी ब्राह्मण पुरोहित का कार्य करता है। इसी प्रकार जन्म, विवाह या मृत्यु के अवसर पर भी ब्राह्मण पुरोहित द्वारा धार्मिक क्रियाएँ संपन्न कराई जाती हैं।

मांगर जाति की सामाजिक और धार्मिक रीतियाँ हिंदू धर्म और जीववाद का मिश्रण कही जा सकती हैं। ये पौराणिक हिंदू देवता पूजते हैं जिसके लिये ब्राह्मण पुजारी का कार्य करता है। आदिदेवता भी पूजे जाते हैं और इनकी पूजा घर या कवीले का मुखिया ही करता है।

इन सामाजिक धार्मिक अंतरों के वावजूद 'सैनिक गुरखे' अपने को हिंदू मानते हैं और हिंदू के समान व्यवहार करते हैं। धार्मिक कृत्यों के लिये ब्राह्मणों को बुलाते हैं और हिंदुओं के साधारण त्योहार मनाते हैं। इनमें 'जेठ दशहरा' अत्यंत प्रचलित है। इस दिन ये शस्त्रपूजा करते हैं और देवी को पशुवलि देते हैं। इसी प्रकार विजयादशमी का त्योहार इन्हें अति प्रिय है, क्योंकि उसमें भी सैनिक परंपरा की विजय परिलक्षित है।

हिंदू होते हुए भी गुरखों में छूआछूत के वंधन कठोर नहीं हैं। प्रत्येक गुरखा अपना दाल चावल स्वयं पकाकर अकेले खाता है, परंतु शेष प्रकार का भोजन सब गुरखे साथ बैठकर खा सकते हैं। ये मांसाहारी हैं, परंतु साधारण हिंदुओं की भाँति ही गोमांस को अभोज्य मानते हैं। बकरी का मांस ये निकृष्टतम मानते हैं और केवल निम्न वर्गों के लोग ही इसे खाते हैं। गुरखों को शिकार अत्यंत प्रिय है। वन्य पशुओं का मांस और मछली ये बड़े चाव से खाते हैं।

नेपाल का वह प्रदेश जिसमें गुरखा जाति के लोग रहते हैं पहाड़ी और ऊँचा नीचा है। समतल भूमि बहुत कम है। जहाँ कहीं समतल भूमि उपलब्ध है, लोग खेती करते हैं। पहाड़ की ढालों पर क्यारी बनाकर मोटे अनाज उगाए जाते हैं। अधिकतर एक ही फसल ये अपने खेतों में उगा पाते हैं जो वर्षारंभ पर बोई जाती है और शीत के पूर्व ही काट ली जाती है। निचले प्रदेशों और घाटियों में जाड़े की फसल भी उगाई जाती है। गुरखों का एक अन्य धंधा पशु और भेड़ पालना है। भेड़ के ऊन से मोटा वस्त्र और कंवल तैयार करते हैं जो अधिकतर अपने उपयोग में लाते हैं। कुछ गुरखे मजदूरी करते हैं और पर्वतारोही यात्रियों का बोझा ढोकर और उनका मार्गदर्शन कर अपनी जीविका प्राप्त करते हैं। परंतु सबसे महत्वपूर्ण सेना में वृत्ति है जिसके लिये गुरखे संसार भर में प्रसिद्ध हैं। ये विकट लड़ाके होते हैं। भारतीय सेनाओं में गुरखा रेजिमेंट का विशिष्ट स्थान है।

हिमालय की अन्य जातियों की भाँति गुरखों पर भी जातिप्रथा का प्रभाव उतना अधिक नहीं है जितना शेष भारत में। विवाह के विषय में जाति के वंधन इनमें कठोर नहीं हैं और ऐतिहासिक काल में ही इनमें नेपाल की अन्य जंगली जातियों से रक्तसंमिश्रण अधिक मात्रा में हुआ है। कुछ इतिहासज्ञों का विचार है कि निकट भूत में इस जाति में बहुपति प्रथा और कन्यावध की प्रथा प्रचलित थी। अधिकांश पुरुषों का घर छोड़कर सेनाओं में भर्ती के लिये चले जाना इन प्रथाओं का कारण हो सकता है।

गुरखा अपने को हिंदू कहते और मानते हैं, यद्यपि इनका धर्म विशुद्ध ब्राह्मणवाद से भिन्न है। इनमें कुछ वैदिक रीतियाँ हैं, कुछ पौराणिक और कुछ जिन्हें 'आदिवासी धर्म' कहा जा सकता है। इनमें इंद्रपूजा प्रचलित है जिसे 'इंद्रजात्रा' कहते हैं, परंतु यह पूजा 'रथयात्रा' के साथ मनाई जाती है जो कुमारीदेवी का त्योहार माना जाता है। कदाचित् यह अनार्य धर्म की उर्वराशक्ति पूजा का एक रूप है। अन्य नेपालियों के सदृश गुरखों के प्रधान देवता शिव हैं और शिवरात्रि इनका प्रधान त्योहार है। शिव को 'पशुपति' भी कहते हैं, और इस रूप में पशुपति की प्रतिष्ठा नेपाल के राजधर्म और सिक्कों पर भी है। वैसे धार्मिक रीतियों में ये शाक्त धर्म के अधिक निकट लगते हैं। दुर्गापूजा के अवसर पर पशुवलि और संवंधित रीतियाँ इसका प्रमाण हैं। भूतप्रेतों की पूजा भी इनमें प्रचलित है। रोग का कारण ये भूतप्रेत का नाराज होना मानते हैं और इनके 'ओझा' इससे छुटकारे के लिये जादूमंतर और वलि का सहारा लेते हैं।

नेपाल के दुर्गम पहाड़ों, घाटियों में रहनेवाली इस जाति में आधुनिकता का प्रभाव बहुत कम है, यद्यपि गुरखा पुरुषों का एक बड़ा भाग 'बाहर की दुनिया' से खूब परिचित है। इनमें अभी भी स्वामिभक्ति, सच्चाई और सरलता जैसे गुण देख पड़ते हैं। गुरखा राणाओं ने १७६८ ई० में नेपाल पर अधिकार कर लिया और यद्यपि हिंदू राजवंश बना रहा, सारा शासनाधिकार और प्रभुता गुरखा राणाओं के हाथ चली गई। उनके ब्रिटिश भारतीय सत्ता से भी अनेक युद्ध हुए। उनकी सत्ता नेपाल में प्रायः दो सौ साल तक बनी रही। (कृ० शं० मा०)

गुरिया गुरिया (संस्कृत गुटिका) या मनका (संस्कृत मणिका), अंग्रेजी बीड (bead)। ऐसे बेधे हुए दाने जिन्हें पिरोकर माला बनाई जाती है, या जिनसे बनी झालरें सजावट के लिये वस्त्रों में लगाई जाती हैं।

मनुष्य कव से गुरिया वनाता रहा है, यह कहना कठिन है। जीवाश्मों से निर्मित पुरापाषाण काल के कुछ ऐसे दाने प्राप्त हुए हैं जिनके संबंध में विश्वास किया जाता है कि वे उस काल में मनुष्यों द्वारा गुरियों की भाँति प्रयुक्त होते थे। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, सजावट की इच्छा पूरी करने के लिये मनुष्य ने अन्य पदार्थों का भी उपयोग करना आरंभ किया। ६,००० वर्ष पूर्व की, हड्डियों तथा दुर्लभ पत्थरों इत्यादि की बनी गुरियाँ भी अनेक संग्रहालयों में देखी जा सकती हैं। आधुनिक काल में मनके विविध पदार्थों से बनाए जाते हैं। भारतीय ग्रामीण मेलों में बिकनेवाली बच्चों की मालाएँ बहुधा चटक रंगों में रँगे मटर के दानों से बनती हैं, किंतु बहुमूल्य मालाएँ मूँगे और मणियों को बेधकर तथा सोने के तार में पिरोकर बनाई जाती हैं।

यूरोप में चेकोस्लोवैकिया देश का गैब्लॉन्ज़ (Gablonz) क्षेत्र गुरिया उत्पादन के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ से सारी दुनिया में मनके भेजे जाते हैं। किसी समय यहाँ केवल सैलूलाइड की मूंगे जैसी गुरियाँ बनती थीं, किंतु अब ये प्लास्टिक, काच, लकड़ी, सींग, कछुए के कवच इत्यादि की बनती हैं। चीन और जापान में हाथीदाँत और हड्डियों के नक्काशीदार मनके बनते हैं। यूरोप आदि देशों में गुरियों का फैशन समय समय पर बदलता रहता है और उसी के अनुसार विभिन्न प्रकार के मनकों की खपत होती है। अब प्लास्टिक की गुरियों का प्रचलन अधिक हो गया है।

(भ० दा० व०)

गुरिल्ला दे० गुरिल्ला।

गुरु अनेकार्यबोधक शब्द जो विशेषण और संज्ञा दोनों ही रूपों में प्रयुक्त होता है। विशेषण रूप में उसका अर्थ भारी, महान् अथवा विशेष आदि होता है। देवताओं के गुरु बृहस्पति तथा प्रभाकर नामक सुप्रसिद्ध मीमांसक को भी इस नाम से पुकारते हैं। कभी कभी उसका तात्पर्य संप्रदायप्रवर्तक, धर्मोपदेशक अथवा किसी कला में निष्णात् व्यक्ति

(उस्ताद) से भी होता है। रक्तसंबंध में अपने से बड़े पुरुष अथवा स्त्री यथा पिता माता, भाई भाभी, चाचा चाची, नाना नानी, मामा मामी, पितामह पितामही, अथवा मातामह मातामही और पदादि संबंध में बड़े और ऊँचे व्यक्ति को भी गुरु कहते हैं। परंतु भारत की सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि में गुरु उस पुरोधा, आचार्य अथवा अध्वर्यु को कहते हैं जो शिक्षक का कार्य करता है। इस एक शब्द से भारतीय शिक्षापरंपरा का जो बरबस किंतु सर्वग्राही चित्र सामने आ जाता है, वह भारतीय इतिहास में अध्यापक के चरित्र, उसके उत्तम आदर्शों और समाज में उसके आदर का द्योतक है। गुरु का ध्यान कर, उसे देखकर अथवा उससे विद्या प्राप्त कर भारतीय विद्यार्थियों के मन में अभी कुछ दिनों पूर्व तक, और अधिकांश अवस्थाओं में एक सीमित रूप में आज भी जो श्रद्धा उत्पन्न होती थी, उसे विश्व के इतिहास में कदाचित् अद्वितीय कहा जा सकता है। इस परंपरा के पीछे एक इतिहास है। गुरु और गुरुकुलों की संस्थाएँ, वैदिक गोत्रों, चारणों, शाखाओं और परिषदों से विकसित हुई जान पड़ती हैं। परंतु सूत्रकाल के आते आते गुरु का अपना निजी और एकाकी व्यक्तित्व भी स्पष्ट होने लगता है। यह प्रक्रिया ब्राह्मणों के युग से ही शुरु हो गई थी। गुरु वह व्यक्ति होता था, जिससे विद्यार्थी को अंधकार से प्रकाश और असत् से सत् की ओर जाने में सहायक होने का पूर्ण भरोसा था (तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय)। उसकी महत्ता का सबसे बड़ा कारण बनी प्राचीन भारत के प्रारंभिक युग में ज्ञानपरंपरा और विद्याराशि को अक्षुण्ण बनाए रखने तथा उसे विकसित करने की समस्या। वेदों की परंपरा का आधार थी श्रुति और उस सुनी हुई विद्या के स्थायित्व के लिये छंद और उच्चारण आदि का ठीक ठीक पारंपर्य अत्यंत आवश्यक था। यहीं गुरु और उसकी स्मृति का महत्व और मूल्य जान पड़ा। उसने अपनी बुद्धि से जो सूत्र निकाले, वे लिपि के अभावकाल में तो उपयोगी रहे ही, लिपिज्ञान हो जाने पर भी उनका महत्व नहीं घटा। साथ ही, एक बार जब गुरु ने अपना स्थान बना लिया तब न उसकी उपयोगिता ही नष्ट हुई और न उसका प्रभाव ही कम हुआ। आज के वैज्ञानिक युग में भी, जब पुस्तकें आदि अनेकानेक उदाहरण विद्याक्षेत्र में उपलब्ध हैं, शिक्षक की उपयोगिता समाप्त नहीं हुई है। गुरुपरंपरा वैदिक और पौराणिक हिंदुओं में तो प्रचलित थी ही, जैनों और बौद्धों ने भी उसे स्वीकार किया। गुरु के कार्य व्यापक होते गए और मनुस्मृति के अनुसार (२-१४२) यह संज्ञा उसी को दी जाती, जो शिष्य के अनेक संस्कारों का संपन्न करता हुआ उसे भोजनादि देकर विद्या पढ़ाता था। बृहस्पति ने वेदादि शास्त्रों को पढ़ानेवाले व्यक्ति को गुरु कहा है। गुरु की तांत्रिक परिभाषा में गकार सिद्धि के लिये, उकार विष्णु के लिये तथा रेफ पापहरण के लिये व्याख्यायित हुआ। शांत, दांत, कुलीन, विनीत, शुद्धवेषी, शुद्धाचारी, सुप्रतिष्ठ, पवित्र, दक्ष, सुबुद्ध, आश्रमव्यवस्था को माननेवाला, ध्यान में लीन, मंत्र तंत्र का ज्ञाता, निग्रह और अनुग्रह में समर्थ व्यक्ति ही गुरु कहलाने का अधिकारी होता था। साथ ही उसे उद्धार और संहार करने में समर्थ, तपस्वी और सत्यवादी भी होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति यदि गृहस्थ भी हो तो उसे गुरु माना जा सकता था। प्राचीन भारतीय गुरु प्राय: ब्राह्मण वर्ण के ही लोग हुआ करते थे और चाणक्य तथा मनु ने उन्हीं के गुरु होने का विधान किया है। पर यह नियम एकांतिक नहीं था और कम से कम वैदिक युग में तो अनेक ऐसे गुरु थे जो क्षत्रिय थे, यथा जनक विदेह और अश्वपति कैकेय। ब्राह्मण परंपरा में गुरु प्राय: गृहस्थ ही हुआ करते थे, यद्यपि वाणप्रस्थियों और संन्यासियों का उस वर्ग में अभाव न था। जैन और बौद्ध गुरु तो सभी संन्यासी थे, जो वैदिकों की ही भाँति वर्ण और जाति से परे होते थे। यह मजे की बात है कि बुद्ध के सभी प्रमुखशिष्य, जो अन्य भिक्षुओं के लिये उपाध्याय का काम करते थे, प्रव्रजित होने के पूर्व ब्राह्मण रहे थे, यथा, सारिपुत्र, मौद्गलायन तथा कश्यप। इसी परंपरा में आगे नागार्जुन और अश्वघोष इत्यादि हुए। मध्यकालीन संप्रदायों में तो गुरु का महत्व इतना बढ़ा कि वह भगवान् का समवर्ती अथवा उससे भी बड़ा माना जाने लगा। निर्गुण परंपरा में नाथ, निरंजन आदि संप्रदायों में तो गुरु की महत्ता असाधारण थी। श्रेणियों और कर्मांतिकों के यहाँ शिल्प और व्यापार की शिक्षा में तथा अनेक ललित और साधारण कलाओं के ज्ञानदान में ब्राह्मण क्षत्रियों के अतिरिक्त भी गुरु अथवा शिक्षक होते होंगे। गुरु की कुछ नियाग्यताएँ भी गिनाई गई हैं। चिंतामणि और तत्वसार के अनुसार क्षयरोगी, दुश्चर्मा, कुनखी, श्यामदंतक, बहरा, अंधा, कुसुम जैसी आँखोवाला, खल्वाट और दंतुल व्यक्ति गुरु होने के योग्य नहीं समझा जाता था। स्पष्ट है, गुरु की योग्यताओं में विद्या, चरित्र और बुद्धि के साथ साथ स्वस्थ और सुंदर शरीर तथा ज्ञान की सर्वेंद्रियों का पुष्ट होना आवश्यक था। मनु ने गुरु के अनेक गुणों की चर्चा करते हुए यह कहा है कि यदि वे गुण बालक में भी पाए जायँ तो वह भी गुरु होने योग्य है और अवस्था उसमें बाधक नहीं हो सकती। भारतीय गुरुओं ने जो आदर प्राप्त किया उसका कारण उनकी विद्या तथा बुद्धिसंवर्धी योग्यताएँ एवं विशेषताएँ तो थीं ही, गुरुसंहिता के आदर्शों और उनके पालन का भी कम योग उनमें न था। गुरु का यह कर्तव्य होता था कि वह अपने शिष्य से कोई भी ज्ञान न छिपाए, किसी भी योग्य शिष्य को विद्या देने से इन्कार न करे, सभी विद्यार्थियों के भोजन, वस्त्र और आवास की अपने परिवार के सदस्यों की तरह ही व्यवस्था करे और उनके बौद्धिक तथा शारीरिक हितसुख की सब प्रकार से चिंता करे। छांदोग्य उपनिषद् का कथन है कि गुरु यदि जान बूझकर किसी योग्य शिष्य से अपना कोई ज्ञान छिपाता है तो देवता उससे अप्रसन्न हो जाते हैं। अन्यत्र यह कहा गया है कि जैसे मंत्रियों के पाप राजाओं को और स्त्रियों के पाप पतियों को लगते हैं वैसे ही शिष्यों के पाप गुरुओं को लगते हैं। शिष्य के चरित्र और व्यक्तित्व के निर्माण का यह नैतिक उत्तरदायित्व गुरु पर था। यही कारण है कि मनु ने उस व्यक्ति को ज्ञान की दुकान लगानेवाला वणिक् कहा है, जिसका (ज्ञान) केवल जीविकार्थ होता है (यस्यागम: केवलजीविकार्थं तं ज्ञानपण्यं वणिकं वदंति)। इन आदर्शों को कार्यान्वित करने के कारण ही भारतीय गुरु विश्वविख्यात हुए।

(वि० पा०)

गुरुकुल इसका शाब्दिक अर्थ है गुरु का परिवार अथवा गुरु का वंश परंतु यह सदियों से भारतवर्ष में शिक्षासंस्था के अर्थ में व्यवहृत होता रहा है। गुरुकुलों के इतिहास में इस देश की शिक्षाव्यवस्था और ज्ञानविज्ञान की रक्षा का इतिहास समाहित है। भारतीय संस्कृति के विकास में चार पुरुषार्थों, चार वर्णों और चार आश्रमों की मान्यताएँ तो अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिये अन्योन्याश्रित थी ही, गुरुकुल भी उनकी सफलता में बहुत बड़े साधक थे। यज्ञ और संस्कारों द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालक ६, ८ अथवा ११ वर्ष की अवस्थाओं में गुरुकुलों में ले जाए जाते थे (यज्ञोपवीत, उपनयन अथवा उपवीत) और गुरु के पास बैठकर ब्रह्मचारी के रूप में शिक्षा प्राप्त करते थे। गुरु उनके मानस और बौद्धिक संस्कारों को पूर्ण करता हुआ उन्हें सभी शास्त्रों एवं उपयोगी विद्याओं की शिक्षा देता तथा अंत में दीक्षा देकर उन्हें विवाह कर गृहस्थाश्रम के विविध कर्तव्यों का पालन करने के लिये वापस भेजता। यह दीक्षित और समावर्तित स्नातक ही पूर्ण नागरिक होता और समाज के विभिन्न उत्तरदायित्वों का वहन करता हुआ त्रिवर्ग की प्राप्ति का उपाय करता। स्पष्ट है, भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में गुरुकुलों का महत्वपूर्ण योग था।

गुरुकुल प्राय: ब्राह्मण गृहस्थों द्वारा गाँवों अथवा नगरों के भीतर तथा बाहर दोनों ही स्थानों में चलाए जाते थे। गृहस्थ विद्वान् और कभी कभी वाणप्रस्थी भी दूर दूर से शिक्षार्थियों को आकृष्ट करते और अपने परिवार में और अपने साथ रखकर अनेक वर्षों तक—आदर्श और विधान पच्चीस वर्षों तक का था—उन्हें शिक्षा देते। पुरस्कारस्वरूप ब्रह्मचारी बालक या तो अपनी सेवाएँ गुरु और उसके परिवार को अर्पित करता या संपन्न होने की अवस्था में अर्थशुल्क ही दे देता। परंतु ऐसे आर्थिक पुरस्कार और अन्य वस्तुओंवाले उपहार दीक्षा के बाद ही दक्षिणास्वरूप दिए जाते और गुरु विद्यादान प्रारंभ करने के पूर्व न तो आगतुक विद्यार्थियों से कुछ माँगता और न उनके बिना किसी विद्यार्थी को अपने द्वार से लौटाता ही था। धनी और गरीब सभी योग्य विद्यार्थियों के लिये गुरुकुलों के द्वार खुले रहते थे। उनके भीतर का जीवन सादा, श्रद्धापूर्ण, भक्तिपरक और

त्यागमय होता था। शिष्य गुरु का अंतेवासी होकर (पास रहकर) उसके व्यक्तित्व और आचरण से सीखता। गुरु और शिष्य के आपसी व्यवहारों की एक संहिता होती और उसका पूर्णत: पालन किया जाता। गुरुकुलों में तब तक जाने हुए सभी प्रकार के शास्त्र और विज्ञान पढ़ाए जाते और शिक्षा पूर्ण हो जाने पर गुरु शिष्य की परीक्षा लेता, दीक्षा देता और समावर्तन संस्कार संपन्न कर उसे अपने परिवार को भेजता। शिष्यगण चलते समय अपनी शक्ति के अनुसार गुरु को दक्षिणा देते, किंतु गरीब विद्यार्थी, उससे मुक्त भी कर दिए जाते थे।

भारतवर्ष में गुरुकुलों की व्यवस्था बहुत दिनों तक जारी रही। राज्य अपना यह कर्तव्य समझता था कि गुरुओं और गुरुकुलों के भरण पोषण की सारी व्यवस्था करे। वरतंतु के शिष्य कौत्स ने अत्यंत गरीब होते हुए भी उनसे कुछ दक्षिणा लेने का जब आग्रह किया तो गुरु ने क्रुद्ध होकर एक असंभव राशि—चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ—माँग दी। कौत्स ने राजा रघु से वह धनराशि पाना अपना अधिकार समझा और यज्ञ में सब कुछ दान दे देनेवाले उस अकिंचन राजा ने उस ब्राह्मण बालक की माँग पूरी करने के लिये कुबेर पर आक्रमण करने की ठानी। रघुवंश की इस कथा में अतिमानवीय पुट चाहे भले हों, शिक्षासंबंधी राजकर्तव्यों का यह पूर्णरुपेण द्योतक है। पालि साहित्य में ऐसी अनेक चर्चाएँ मिलती हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि प्रसेनजित् जैसे राजाओं ने उन वेदनिष्णात् ब्राह्मणों को अनेक गाँव दान में दिए थे, जो वैदिक शिक्षा के वितरण के लिये गुरुकुल चलाते। यह परंपरा प्राय: अधिकांश शासकों ने आगे जारी रखी और दक्षिण भारत के ब्राह्मणों को दान में दिये गए ग्रामों में चलनेवाले गुरुकुलों और उनमें पढ़ाई जानेवाली विद्याओं के अनेक अभिलेखों में वर्णन मिलते हैं। गुरुकुलों के ही विकसित रूप तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला और वलभी के विश्वविद्यालय थे। जातकों, ह्वेनसांग के यात्राविवरण तथा अन्य अनेक संदर्भों से ज्ञात होता है कि उन विश्वविद्यालयों में दूर दूर से विद्यार्थी वहाँ के विश्वविख्यात अध्यापकों से पढ़ने आते थे। वाराणसी अत्यंत प्राचीन काल से शिक्षा का मुख्य केंद्र थी और अभी हाल तक उसमें सैकड़ों गुरुकुल, पाठशालाएँ रही हैं और उनके भरण पोषण के लिये अन्नक्षेत्र चलते रहे। यही अवस्था बंगाल और नासिक तथा दक्षिण भारत के अनेक नगरों में रही। १९वीं शताब्दी में प्रारंभ होनेवाले भारतीय राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के युग में प्राचीन गुरुकुलों की परंपरा पर अनेक गुरुकुल स्थापित किए गए और राष्ट्रभावना के प्रसार में उनका महत्वपूर्ण योग रहा। यद्यपि आधुनिक अवस्थाओं में प्राचीन गुरुकुलों की व्यवस्था को यथावत् पुन: प्रतिष्ठित तो नहीं किया जा सकता, तथापि उनके आदर्शों को यथावश्यक परिवर्तन के साथ अवश्य अपनाया जा सकता है।

प्राचीन भारतीय गुरुकुलों में कुलपति हुआ करते थे। कालिदास ने वसिष्ठ तथा कण्व ऋषि को (रघुवंश, प्रथम, ९५ तथा अभि० शा०, प्रथम अंक) कुलपति की संज्ञा दी है। गुप्तकाल में संस्थापित तथा हर्षवर्धन के समय में अपनी चरमोन्नति को प्राप्त होनेवाले नालंदा महाविहार नामक विश्वविद्यालय के कुछ प्रसिद्ध तथा विद्वान् कुलपतियों के नाम ह्वेनत्सांग के यात्राविवरण से ज्ञात होते हैं। बौद्ध भिक्षु धर्मपाल तथा शीलभद्र उनमें प्रमुख थे। प्राचीन भारतीय काल में अध्ययन अध्यापन के प्रधान केंद्र गुरुकुल हुआ करते थे, जहाँ दूर दूर से ब्रह्मचारी विद्यार्थी, गृहस्थ अथवा सत्यान्वेषी परिव्राजक अपनी अपनी शिक्षाओं को पूर्ण करने जाते थे। वे गुरुकुल छोटे अथवा बड़े सभी प्रकार के होते थे। परंतु उन सभी गुरुकुलों को न तो आधुनिक शब्दावली में विश्वविद्यालय ही कहा जा सकता है और न उन सबके प्रधान गुरुओं को कुलपति ही कहा जाता था। स्मृतिवचनों के अनुसार 'मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादि पोषणात्। अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृत:।' स्पष्ट है, जो ब्राह्मण ऋषि दस हजार मुनि विद्यार्थियों को अन्नादि द्वारा पोषण करता हुआ उन्हें विद्या पढ़ाता था, उसे ही कुलपति कहते थे। ऊपर उद्धृत 'स्मृत:' शब्द के प्रयोग से यह साफ दिखाई देता है कि कुलपति के इस विशिष्टार्थग्रहण की परंपरा बड़ी पुरानी थी। कुलपति का साधारण अर्थ किसी कुल का स्वामी होता था। वह कुल या तो एक छोटा और अविभक्त परिवार हो सकता था अथवा एक बड़ा और कई छोटे छोटे परिवारों का समान उद्गम वंशकुल भी। अंतेवासी विद्यार्थी कुलपति के महान् विद्यापरिवार का सदस्य होता था और उसके मानसिक और बौद्धिक विकास का उत्तरदायित्व कुलपति पर होता था; वह छात्रों के शारीरिक स्वास्थ्य और सुख की भी चिंता करता था। आजकल इस शब्द का प्रयोग विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर के लिये किया जाता है। (वि० पा०)

गुरुत्वाकर्षण कोई भी वस्तु ऊपर से गिरने पर सीधी पृथ्वी की ओर आती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो कोई अलक्ष्य और अज्ञात शक्ति उसे पृथ्वी की ओर खींच रही है। इटली के वैज्ञानिक, गैलिलीयो गैलिलीआई ने सर्वप्रथम इस तथ्य पर प्रकाश डाला था कि कोई भी पिंड जब ऊपर से गिरता है तब वह एक नियत त्वरण से पृथ्वी की ओर आता है। त्वरण का यह मान सभी वस्तुओं के लिये एक सा रहता है। अपने इस निष्कर्ष की पुष्टि उसने प्रयोगों और गणितीय विवेचनों द्वारा की।

इसके बाद सर आइज़क न्यूटन ने अपनी मौलिक खोजों के आधार पर बताया कि केवल पृथ्वी ही नहीं, अपितु विश्व का प्रत्येक कण प्रत्येक दूसरे कण को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। दो कणों के बीच कार्य करनेवाला आकर्षण बल उन कणों की संहतियों के गुणनफल का (प्रत्यक्ष) समानुपाती तथा उनके बीच की दूरी के वर्ग का व्युत्क्रमानुपाती होता है। कणों के बीच कार्य करनेवाले पारस्परिक आकर्षण को गुरुत्वाकर्षण (Gravitation) तथा तज्जनित बल को गुरुत्वाकर्षण बल (Force of Gravitation) कहा जाता है। न्यूटन द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त नियम को न्यूटन का 'गुरुत्वाकर्षण' नियम (Law of Gravitation) कहते हैं। कभी कभी इस नियम को गुरुत्वाकर्षण का प्रतिलोम वर्ग-नियम (Inverse Square Law) भी कहा जाता है।

उपर्युक्त नियम को सूत्र रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : मान लिया m_1 और m_2 संहतिवाले दो पिंड परस्पर d दूरी पर स्थित हैं। उनके बीच कार्य करनेवाले बल F का संबंध होगा :

$$\left.\begin{array}{l} F \propto m_1 m_2 \\ \text{तथा} \quad F \propto \dfrac{1}{d^2} \end{array}\right\}$$

$$\text{अर्थात्} \quad F \propto \frac{m_1 m_2}{d^2}$$

$$\text{या} \quad F = G\frac{m_1 m_2}{d^2} \quad \ldots\ldots\ldots \quad (१)$$

यहाँ G एक समानुपाती नियतांक है जिसका मान सभी पदार्थों के लिये एक जैसा रहता है। इसे गुरुत्व नियतांक (Gravitational Constant) कहते हैं। इस नियतांक की विमिति (dimension) $L^3 M^{-1} T^{-2}$ है और आंकिक मान प्रयुक्त इकाई पर निर्भर करता है।

सूत्र (१) द्वारा किसी पिंड पर पृथ्वी के कारण लगनेवाले आकर्षण बल की गणना की जा सकती है। मान लीजिए पृथ्वी की संहति M है और इसके धरातल पर m संहतिवाला कोई पिंड पड़ा हुआ है। पृथ्वी की संहति यदि उसके केंद्र पर ही संघनित मानी जाए और पृथ्वी का अर्धव्यास r हो तो पृथ्वी द्वारा उस पिंड पर कार्य करनेवाला आकर्षण बल :

$$F = G\frac{Mm}{r^2} \quad \ldots\ldots\ldots \quad (२)$$

न्यूटन के द्वितीय गतिनियम के अनुसार किसी पिंड पर लगनेवाला बल उस पिंड की संहति तथा त्वरण के गुणनफल के बराबर होता है। अत: पृथ्वी के आकर्षण के प्रभाव में मुक्त रूप से गिरनेवाले पिंड पर कार्य करनेवाला गुरुत्वाकर्षण बल :

$$F = m \times g$$

जहाँ g उस पिंड का गुरुत्वजनित त्वरण (acceleration due to gravity) है, अत:

$$\frac{F}{m} = g \quad \ldots\ldots\ldots \quad (३)$$

अर्थात् g = पिंड की इकाई संहति पर कार्य करनेवाला बल।

किंतु समीकरण (२) से

$$\frac{F}{m} = G\frac{M}{r^2} . . . . \quad (४)$$

अतएव गुरुत्वजनित त्वरण g को बहुधा 'पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की तीव्रता' भी कहते हैं।

गुरुत्व नियतांक का निर्धारण (Determination of G)—न्यूटन द्वारा गुरुत्वाकर्षण के नियम का प्रतिपादन होने के बाद ही गुरुत्व नियतांक G का मान ज्ञात करने की समस्या ने वैज्ञानिकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। इसका कारण यह था कि यह प्रकृति के मूल नियतांकों (fundamental constants) में से एक है और देश, काल तथा परिस्थिति से सर्वथा निरपेक्ष है। इसलिये इसे सार्वत्रिक नियतांक (universal constant) कहते हैं। साथ ही, यह पृथ्वी की संहति से भी संबंधित किया जा सकता है (देखें समीकरण २)। अतः पृथ्वी की संहति एवं घनत्व ज्ञात करने के लिये भी इसके मान के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। यह निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा :

समीकरण (३) और (४) में तुलना करने पर

$$g = G \times \frac{M}{r^2}$$

किंतु पृथ्वी की मात्रा (पृथ्वी को पूर्णतः गोल मानने पर)

$$M = \frac{4}{3}\pi r^3 D$$

जहाँ D पृथ्वी का माध्य घनत्व (mean density) है।

$$\therefore \quad g = G\,\frac{4}{3}\,\frac{\pi r^3}{r^2}D = \frac{4}{3}G\pi r D$$

अर्थात्

$$G.D = \frac{3g}{4\pi r}$$

इस सूत्र से यह स्पष्ट है कि G या D में से एक का मान ज्ञात करने के लिये दूसरे का मान ज्ञात होना चाहिए। अतएव पृथ्वी का घनत्व ज्ञात करने से पूर्व G का ठीक मान ज्ञात कर सकने की विधियों की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था।

गुरुत्व नियतांक का मान ज्ञात करने के लिये किए जानेवाले वैज्ञानिक प्रयासों को हम तीन कोटियों में विभक्त कर सकते हैं :

१. पृथ्वी द्वारा किसी पिंड पर ठीक नीचे की ओर लगनेवाले गुरुत्वाकर्षण बल की उस पिंड पर किसी भारी संहतिवाले प्राकृतिक पिंड, (जैसे पर्वत आदि) द्वारा लगनेवाले पार्श्विक (lateral) आकर्षण बल के साथ तुलना करके,

२. पृथ्वी द्वारा किसी पिंड पर लगनेवाले आकर्षण बल की किसी अन्य कृत्रिम पिंड द्वारा लगनेवाले ऊर्ध्वाधर आकर्षण बल के साथ (किसी तुला द्वारा) तुलना करके, और

३. दो कृत्रिम पिंडों के बीच कार्यरत पारस्परिक आकर्षण बल की गणना करके।

प्रथम कोटि के प्रयासों की समीक्षा—इस विधि का अवलंबन करनेवालों में बूगर (Bouguer), नेविल मैस्केलीन (Nevil Maskelyne), एयरी (Airy) तथा फॉन स्टरनेक (Von Sterneck) के नाम उल्लेखनीय हैं। इसका सिद्धांत संक्षेप में इस प्रकार है :

मान लीजिए m संहति का कोई पिंड पृथ्वी द्वारा आकर्षित हो रहा है। स्पष्ट है कि यह आकर्षण बल उस पिंड के भार w के बराबर होगा। अब यदि उस पिंड पर एक पार्श्विक बल भी, किसी अन्य बृहत्काय प्राकृतिक पिंड (जैसे पहाड़ इत्यादि) द्वारा लग रहा हो तो न्यूटन के नियमानुसार पार्श्विक बल

$$f = G\frac{m\,m'}{d^2} . . . . \quad (६)$$

यहाँ m' उस बृहत्काय प्राकृतिक पिंड की संहति तथा d उसके तथा छोटे पिंड के बीच की दूरी है। यदि पृथ्वी का अर्धव्यास r हो तो

$$w = G\,\tfrac{4}{3}\pi r^3 D\, m/r^2 = \tfrac{4}{3} m\pi r(G.D) \quad (७)$$

समीकरण (६) और (७) की तुलना करने पर

$$\frac{w}{f} = \frac{4}{3}\,\frac{\pi r d^2 D}{m'}$$

अर्थात्

$$D = \frac{3m'}{4\pi r d^2 D}\left(\frac{w}{f}\right) . . . . \quad (८)$$

इस समीकरण में G नहीं आता। अतः अन्य राशियाँ ज्ञात रहने पर पृथ्वी का माध्य घनत्व D ज्ञात हो जायगा। $\frac{w}{f}$ का मान अलग कई प्रयोगों द्वारा ज्ञात कर लिया जाता है।

पुनः समीकरण (६) में m के स्थान पर $\frac{mg}{g}$ अर्थात् $\left(\frac{w}{g}\right)$ रखने पर इस समीकरण से G का मान ज्ञात हो जायगा।

बूगर ने १७४० ई० में दो प्रकार के प्रयोग किए और विभिन्न ऊँचाइयों पर सेकंड लोलक की लंबाई तथा g के मान ज्ञात करने के प्रयत्न किए। एक स्थान तो दक्षिणी अमरीका के पीरू नामक देश में क्विटो नामक पठार (लगभग ६,४०० फुट ऊँचा) पर चुना। इन दोनों स्थानों की ऊँचाइयों में अंतर के लिये उसने समुद्रतल पर प्राप्त g के मान में संशोधन किया। इस हेतु उसने मान लिया था कि दोनों ऊँचाइयों के बीच में केवल वायु व्याप्त थी। इस प्रकार गणना द्वारा पठार के लिये प्राप्त g के मान और प्रयोग द्वारा प्राप्त मान में १/६६८३ गुने का अंतर आया। बूगर ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह अंतर ६४०० फुट ऊँचे पठार में निहित भू-पदार्थ के आकर्षण के ही कारण आया। इस प्रयोग ने यह संकेत दिया कि संपूर्ण पृथ्वी का आकर्षण उस पठार के आकर्षण का ६६८३ गुना है। पठार के आकर्षण की गणना करके बूगर ने अनुमान किया कि पृथ्वी का घनत्व पठार के घनत्व का ४·७ गुना है।

मैस्केलीन ने १७७४ ई० में एक दूसरा प्रयोग किया। स्कॉटलैंड के पर्थशायर प्रांत में स्थित शीहेलियन (Schiehallion) पर्वत के उत्तर और दक्षिण की ओर की खड़ी ढालों के अत्यंत निकट उसने दो केंद्र स्थापित किए, जो एक ही याम्योत्तर (meridian) पर पड़ते हैं। दोनों के अक्षांशों में ४२·९४ सेकंड का अंतर था। उसने एक दूरदर्शी में एक साहुल (plumb bob) लगाया और दोनों स्थानों से कई नक्षत्रों की याम्योत्तरीय शिरोबिंदु (meridian zenith) दूरियाँ नापीं। यदि पर्वत न होता तो साहुलसूत्र (plumb line) ऊर्ध्वाधर रहता, जिसके परिणामस्वरूप दोनों केंद्रों से नापी गई शिरोबिंदु दूरियों का अंतर ४२·९४ सें० के बराबर आता। किंतु प्रयोग करने पर यह अंतर ५४.२ सें० आया। इससे स्पष्ट था कि पर्वत के आकर्षण के कारण साहुलसूत्र दोनों केंद्रों पर पर्वत की ओर झुक गया। कालांतर में चार्ल्स हटन ने इस परिणाम की सहायता से पर्वत तथा पृथ्वी के घनत्वों में ५ और ९ की निष्पत्ति प्राप्त की। अन्य प्रयोगों द्वारा पर्वत का माध्य घनत्व (mean density) २·५ ज्ञात हुआ, अतः पृथ्वी का माध्य घनत्व ४·५ तथा इसके अनुसार G का मान $७·४ \times १०^{-८}$ स्थिर हुआ।

सर जी० बी० एयरी ने १८५४ ई० में इंग्लैंड के साउथशील्ड्स प्रांत में स्थित हार्टन खान में एक अन्य प्रयोग किया जो वस्तुतः बूगर के प्रयोग का ही संशोधित रूप था। एक ही लोलक को एक खान के ऊपर तथा तली में दोलन कराकर उसके आवर्त कालों (periods) की परस्पर तुलना की और इस प्रकार खान की गहराई के बराबर भूतत्व के आकर्षण की तुलना संपूर्ण पृथ्वी के आकर्षण से की। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है : मान लीजिए पृथ्वी के केंद्र से खान की तली तक भूतत्व का

घनत्व D तथा वहाँ से खान के ऊपर तक के भूतत्व का घनत्व d है। यदि खान के ऊपर तथा तली में गुरुत्वाकर्षण की तीव्रता का मान क्रमशः g_a और g_b हो तो

$$g_b = G\,\frac{4}{3}\,\frac{\pi r^3 D}{r^2} = G.\frac{4}{3}\,\pi\, rD \qquad (९)$$

तथा

$$g_a = G\frac{4}{3}\frac{\pi\, r^3 D}{(r+h)^2} + G\,\frac{4\pi r^2 h d}{r^2} \qquad (१०)$$

$$= G\frac{4}{3}\frac{\pi\, r^3 D}{(r+h)^2} + G\, 4\,\pi\, hd$$

$$\therefore \frac{g_a}{g_b} = \frac{r^2}{(r+h)^2} + \frac{3hd}{rD} = 1-\frac{2h}{r} + \frac{3hd}{rD} \qquad (११)$$

उपर्युक्त समीकरणों में g_a g_b, r, h तथा d के मान ज्ञात होने पर D और उसके द्वारा G का मान ज्ञात किया जा सकता है। यत. d का ठीक ठीक मान ज्ञात कर सकना असंभव है, अतः उसका केवल अनुमानित मान ही लिया जा सकता है। एयरी ने अपने विचारों के आधार पर d का कुछ अनुमानित मान स्थिर किया था, जिससे उसे D का मान ६.५ ग्राम प्रति घ० सें० मी० तथा G का मान ५.७×१०^{-८} c.g.s. इकाई प्राप्त हुआ था।

उपर्युक्त अनिश्चितता के कारण यह विधि भी पर्याप्त संतोषप्रद नहीं कही जा सकती।

द्वितीय कोटि के प्रयासों की समीक्षा—इस विधि का अनुसरण करनेवालों में फॉन जॉली (Von Jolly), पॉयंटिंग (Poynting) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसमें किसी छोटे पिंड के नीचे कोई अन्य भारी पिंड लाकर (उसके आकर्षण के कारण) छोटे पिंड के भार में होनेवाली वृद्धि ज्ञात करके गुरुत्वस्थिरांक का मान ज्ञात करना ही लक्ष्य था। इसका सिद्धांत इस प्रकार है :

मान लीजिए m संहति का कोई पिंड किसी अत्यंत सुग्राही तुला (जैसे रासायनिक तुला) की एक भुजा से किसी तार द्वारा लटकाया गया है। यदि पृथ्वी की संहति M तथा अर्धव्यास r हो तो उस पिंड पर कार्य करनेवाला गुरुत्वाकर्षण बल (अर्थात् पिंड का भार)

$$w = G\,\frac{M\,m}{r^2} \;\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\; (१२)$$

अब उस पिंड के नीचे यदि m' संहति का कोई अन्य भारी पिंड लाकर रखा जाय और दोनों पिंडों के केंद्रों के बीच की दूरी d हो तो दोनों के पारस्परिक आकर्षण के कारण पहला पिंड अधिक नीचे की ओर झुक जायगा, अर्थात् उसका भार बढ़ जायगा। मान लीजिए भार में यह वृद्धि δ w हो तो

$$w' = G\,\frac{m\,m'}{d^2} \;\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\; (१३)$$

$$\therefore \frac{w'}{w} = \frac{m'}{M}\,\frac{r^2}{d^2} \;\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\; (१४)$$

∴ पृथ्वी की संहति

$$M \quad m'\left(\frac{w}{w'}\cdot\frac{r^2}{d^2}\right) \;\cdots\cdots\cdots\cdots\; (१५)$$

इस समीकरण से पृथ्वी की संहति M ज्ञात हो जायगी और इस मान को समीकरण (१२) में रखने पर G का मान ज्ञात किया जा सकता है। G का मान दूसरी विधि से भी ज्ञात किया जा सकता है। हम जानते हैं कि

$$mg = G\,\frac{M\,m}{r^2}$$

$$\text{या } g = G\,\frac{M}{r^2}$$

$$\therefore \quad G = \frac{gr^2}{M}$$

यहाँ g का मान सेकंड लोलक (Second's Pendulum) द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

फ़ॉन जॉली ने सीसे (lead) का एक विशाल गोला लिया जिसका व्यास लगभग १ मीटर और भार ४०० पौंड (लगभग १८२ किलोग्राम) था। उसे ५० पौंड (लगभग २३ कि० ग्रा०) भारवाले अन्य गोले के ठीक नीचे रखा जो रासायनिक तुला की एक भुजा से लटकाया गया था। दोनों गोलों के बीच नाममात्र की ही दूरी रखी गई थी। इस प्रकार दूसरे गोले के भार में केवल ०.५ मि० ग्रा० (लगभग ०.००००२ औंस) की ही वृद्धि हो सकी। इस प्रयोग से जॉली ने G का मान ६.४६५×१०^{-८} तथा D का मान ५.६९२ प्राप्त किया।

पॉयंटिंग ने इतने सूक्ष्म भारांतर को ठीक ठीक नापने के लिये एक विशेष प्रकार की तुला बनाई जिसकी डंडी चार फुट लंबी थी। दोनों पलड़ों को हटाकर डंडियों के सिरों से २०-२० कि० ग्रा० के दो गोले १२० सें० मी० लंबे तागों से लटकाए गए थे। एक बड़ा गोला जिसकी संहति १५० कि० ग्रा० थी, एक क्षैतिज घूमनेवाले टेबुल (turn table) पर रखा गया जिसकी धुरी तुला के केंद्रीय क्षुरधार (knife-edge) के ठीक नीचे पड़ती थी। घूमनेवाले टेबुल को इस प्रकार घुमाया जा सकता था कि एक बार बड़े गोले का केंद्र लटकते हुए एक गोले के केंद्र के ठीक नीचे पड़े और दूसरी बार दूसरे के केंद्र के नीचे पड़े। इन स्थितियों में बड़े और छोटे गोलों के केंद्रों में परस्पर ३० सें० मी० की दूरी रह जाती थी। समस्त उपकरण को एक भूगर्भ प्रकोष्ट में रख दिया गया था और उसे चारों ओर इस प्रकार आवृत्त कर दिया गया था कि पवनधाराओं के कारण कोई व्यवधान न हो सके। बड़े और छोटे गोलों के पारस्परिक आकर्षण के कारण तुला की डंडी में उत्पन्न होनेवाला झुकाव प्रकोष्ठ के बाहर से एक प्रकाशीय युक्ति द्वारा नापा जा सकता था। इस व्यवस्था में एक विशेष प्रकार का दर्पण प्रयुक्त किया गया था जो डंडी के झुकाव को १५० गुना संवर्धित कर देता था। यह पहले ही अलग प्रयोगों के द्वारा ज्ञात कर लिया गया था कि डंडी कितने भार के लिये कितनी झुकती है। उससे यह गणना कर ली गई कि दोनों गोलों में पारस्परिक आकर्षण के कारण डंडी में झुकाव कितने बल द्वारा उत्पन्न हुआ था। इस बल के परिमाण को गुरुत्वाकर्षण समीकरण

$$F = G\,\frac{m_1\, m_2}{d_2}$$

में प्रयुक्त कर G का मान ज्ञात कर लिया गया।

तृतीय कोटि के प्रयासों की समीक्षा—इस कोटि के प्रयास करनेवालों में हेनरी कैवेंडिश (सन् १७९८) और सर चार्ल्स वरनन बॉयज़ (सन् १८९५) के नाम उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः कैवेंडिश ही वह प्रथम व्यक्ति था जिसने गुरुत्व नियतांक का मान अधिक विश्वस्त सीमा तक ठीक ठीक ज्ञात कर सकने की उत्कृष्ट प्रयोगशाला विधि का अनुसरण किया। बॉयज ने इस विधि को अधिक परिष्कृत एवं सरल करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

कैवेंडिश की विधि—'अ' और 'ब' दो छोटे गोल पिंड परस्पर 1 सें० मी० लंबाईवाली एक पतली डंडी के सिरों पर संतुलित कर दिए गए थे [देखें चित्र १ (अ) और (ब)]। यह डंडी अपने मध्यबिंदु पर एक लंबे पतले तार द्वारा लटकाई गई थी। इन लघुपिंडों के निकट क्रमशः दो बड़े गोले अ और ब लाए गए। इनके आकर्षण के कारण लघुपिंड इनकी ओर आकृष्ट हुए। इसके परिणामस्वरूप डंडी भी अपनी मध्यमान

स्थिति से θ कोण घूम गई। यदि छोटे और बड़े पिंडो की मात्राएँ क्रमश: m और m' हैं तथा इकाई विक्षेप के लिये तार की ऐंठन का वलयुग्म
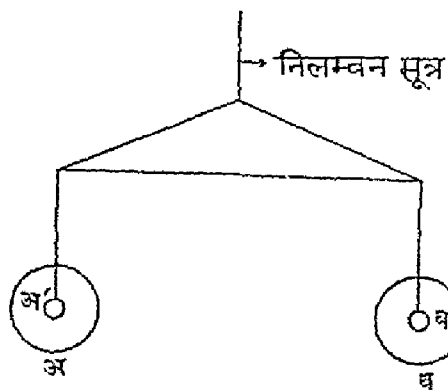
चित्र १ (अ)

$\mathcal{T}$ हो तो संतुलन की स्थिति मे, गुरुत्वाकर्पण का वलयुग्म = तार की ऐंठन का वलयुग्म

अर्थात् $G\frac{m\,m'}{d^2}\times l = \mathcal{T}\cdot\theta$

जहाँ d बड़े और छोटे गोलों के केंद्रों के बीच की दूरी है।

$$\therefore\ G = \frac{d^2}{m\,m'\,l}\cdot\mathcal{T}\,\theta$$

यदि तार से लटकी हुई संपूर्ण प्रणाली को दोलन कराकर उसके दोलनकाल का (T) ज्ञात कर लिया जाय तो

$$T = २\pi\sqrt{\frac{I}{\mathcal{T}}}$$

जहाँ I उस प्रणाली का निलंबन तार (suspension wire) के चारो ओर जड़ताघूर्ण (moment of inertia) है। अतः

$$\mathcal{T} = \frac{4\pi^2 I}{T^2}$$

और इस मान को G के सूत्र में रखने पर

$$G = \frac{4\ \pi^2\ I\, d^2}{mm'\,l}$$

अन्य राशियाँ ज्ञात रहने पर G का मान ज्ञात किया जा सकता है।

अपने प्रयोग में कैवेंडिश ने बड़ा पिंड १६६ किलोग्राम का, छोटा पिंड ७८० ग्राम का तथा निलंबन तार १ मीटर लंबा लिया था। अधिक
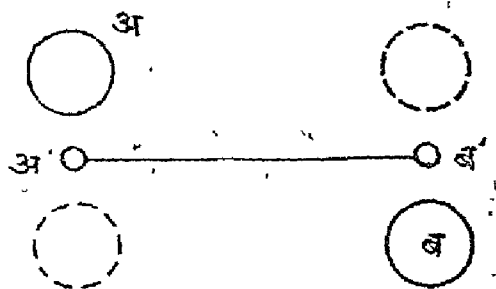
चित्र १ (ब)

सटीक परिणाम प्राप्त करने के लिये उसने पहले भारी पिंडो को छोटे पिंडो के दोनों ओर इस प्रकार रखा जैसा चित्र १ (ब) पूर्ण वृत्त द्वारा प्रदर्शित है। इसके बाद बड़े पिंडों को दूसरे पार्श्वों में रखा, जैसा बिंदुओं से प्रदर्शित वृत्तो द्वारा दिखाया गया है। दोनो स्थितियों से G का मान ज्ञात कर उसका मध्यमान ले लेने से अधिक शुद्ध मान प्राप्त हुआ। कैवेंडिश द्वारा प्राप्त परिणाम इस प्रकार है :

G = ६.७५ × १०⁻⁸ स० ग० स० इकाई और D = ५.४५ ग्राम प्रति घन सें० मी०।

कैवेंडिश की विधि की दुर्बलताओं का परिहार कर उससे अधिक सटीक परिणाम प्राप्त करने के लिये बेली (Baily, सन् १८४३), रीख (Reich, सन् १८५२), कॉर्नू और बेली (Cornu & Baily, सन् १८७८) और बॉयज (Boys, सन् १८९५) ने कई प्रयोग किए। बॉयज ने यह पता लगाया कि क्वार्ट्ज के अत्यंत पतले तंतु बनाए जा सकते है और दृढ़ता तथा प्रत्यास्यता संबंधी गुणों में वे फौलाद से भी अधिक श्रेष्ठ होंगे। इसलिये कैवेंडिश के प्रयोग में इनका प्रयोग करने पर कैवेंडिश के उपकरण का अनावश्यक दीर्घ आकार कम किया जा सकता है तथा उसके कारण होनेवाली त्रुटियों का बहुत कुछ निराकरण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बॉयज ने विक्षेप θ नापने के लिये दीप और मापनी व्यवस्था (lamp and scale arrangement) का अवलंबन किया। बॉयज की प्रायोगिक व्यवस्था नीचे दिए चित्र २ (अ) द्वारा समझी जा सकती है।
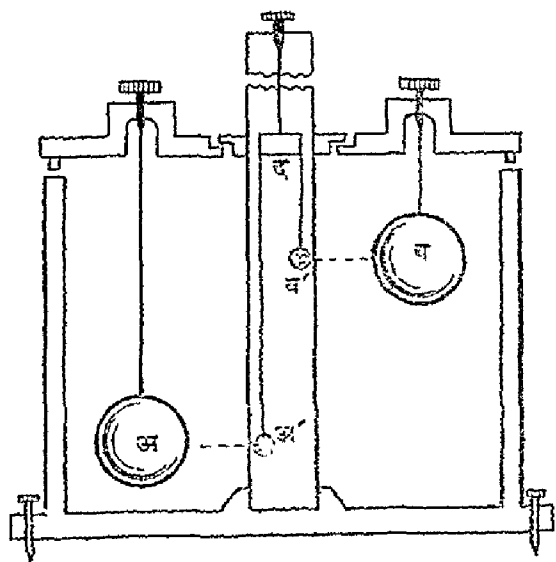
चित्र २. (अ)

इसमे एक अत्यंत छोटा (लगभग 1" लंबा) आयताकार दर्पण द डंडी के स्थान पर प्रयुक्त किया गया था। उससे दो छोटे छोटे गोले अ' और ब' (संहति लगभग २.६ ग्राम) क्वार्ट्ज के तागो से लटकाए गए थे जिनके बीच ऊर्ध्वाधर दूरी लगभग ६" थी। इन गोलो पर आकर्षण प्रभाव डालनेवाले गोलों अ और ब का अर्धव्यास लगभग ११ सें० मी० तथा संहति लगभग ८.६ कि० ग्रा० थी। इस प्रकार बड़े और छोटे गोलो के बीच पारस्परिक आकर्षण-प्रभाव का बहुत कुछ परिहार कर दिया गया था। बड़े गोलो को पहले छोटे गोलों के अगल बगल इस प्रकार रखा गया था जैसा चित्र २(ब) में पूर्णवृत्त द्वारा दिखलाया गया है। इससे दर्पण द मे एक ओर विक्षेप हुआ। पुनः बड़े गोलों को बिंदुओं (dots) द्वारा दिखलाई गई स्थितियों में लाया गया जिससे छोटे गोलों पर विपरीत दिशाओं मे आकर्षण हुआ और दर्पण इस बार विपरीत ओर विक्षिप्त हुआ। ज्ञातव्य है कि समतल दर्पण में विक्षेप होने पर परावर्तित किरणों में उसका दूना विक्षेप उत्पन्न होता है। यह विक्षेप 'दीप और मापनी' व्यवस्था द्वारा

नाप लिया गया। इसके लिये एक मापनी दर्पण से ७ मीटर दूर रखी गई थी और उसी के नीचे, कुछ हटकर, दीप रखा गया था।

बॉयज के प्रयोग से निम्नलिखित परिणाम प्राप्त हुए :

G = ६.६५७६ × १०⁻⁸ स० ग० स० इकाई

तथा

D = ५.५२७० ग्राम प्रति घन सें० मी०।

चित्र २ (ब)

हेल (Heyl) ने कैवेंडिश की प्रायोगिक व्यवस्था के साथ एक नया प्रयोग किया। उसने पहले बड़े गोलों को छोटे गोलों की सीध में इस प्रकार रखा कि चारों गोलों के केंद्र एक सरल रेखा पर पड़ें। इसके बाद अ'ब' गोलोंवाली पूरी ऐंठन (torsion) प्रणाली को दोलन कराकर आवर्तकाल (Periodic Time) ज्ञात किया। इसके बाद बड़े गोलों को घुमाकर चित्र में दिखलाई गई अ' ब' स्थिति में रखा जिससे उनके केंद्रों को मिलानेवाली रेखा अ ब के केंद्रों को मिलानेवाली रेखा के लंबवत् हो जाय। स्पष्ट है कि पहली स्थिति में गोलों का गुरुत्वाकर्पण बल निलंबन तार की ऐंठन का विरोध करेगा जिसके फलस्वरूप आवर्तकाल बढ़ जायगा। दोनों दशाओं में आवर्तकाल की गणना अत्यंत सूक्ष्म प्रकाशीय विधियों से करने
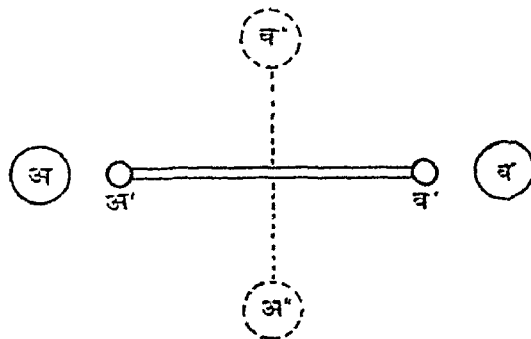
चित्र ३

पर हेल ने देखा कि पहली स्थिति में आवर्तकाल १,७५४ सेकंड तथा दूसरी स्थिति में २,०८१ सेकंड आया। इस प्रकार दोनों में ३२७ सेकंड का अंतर दो कारणों से आया। एक तो निलंबन तार की ऐंठन दृढ़ता (torsional rigidity) के कारण और दूसरे गुरुत्वाकर्पण के कारण।

मान लिया प्रथम और द्वितीय स्थितियों में आवर्तकाल क्रमश: T_1 और T_2 है। इनके मान निम्नलिखित सूत्रों द्वारा व्यक्त किए जा सकते हैं :

$$T_1^2 = \frac{4\pi^2 I}{(P.G + T)}$$

और

$$T_2^2 = \frac{4\pi^2 I}{(Q.G + T)}$$

जहाँ P और Q दोलक प्रणाली के ज्यामितीय स्थिरांक (geometrical constants) हैं और प्रयोगों के द्वारा ज्ञात किए जा सकते हैं। T उस प्रणाली का ऐंठन स्थिरांक (torsional constant) है।

इन दोनों समीकरणों में से T को विलुप्त करने पर।

$$G = \frac{4\pi^2 I (T_1^2 - T_2^2)}{(Q-P) T_1^2 T_2^2}$$

इससे G का मान ज्ञात किया जा सकता है। हेल द्वारा प्राप्त परिणाम इस प्रकार हैं :

G = ६.६७० × १०⁻⁸ स० ग० स० इकाई और

D = ५.५१६ ग्राम प्रति घन सें० मी०

उपर्युक्त सभी विधियों से प्राप्त G और D के मान नीचे तालिका में दिए जा रहे हैं।

प्रयोगकर्ता	G × १०⁸ स० ग० स० इकाई	D ग्राम प्रति घन सें० मी०
मैस्केलीन तथा हट्टन	७.४	५.०
कैवेंडिश	६.७५	५.४५
एयरी	५.७	६.५
फॉन जॉली	६.४६५	५.६९२
पॉयंटिंग	६.६९८	५.४९३
बॉयज	६.६५७६	५.५२७०
हेल	६.६७०	५.५१७

गुरुत्वजनित त्वरण (गुरुत्व की तीव्रता) (Acceleration due to gravity)—पृथ्वी के निकट स्थित प्रत्येक पिंड पृथ्वी द्वारा पृथ्वी के केंद्र की ओर आकर्पित होता है। इस आकर्पण बल को पिंड का भार कहते हैं। यदि कोई पिंड पृथ्वी से ऊपर ले जाकर छोड़ा जाय और उस पर किसी प्रकार का अन्य बल कार्य न करे तो वह सीधा पृथ्वी की ओर गिरता है और उसका वेग एक नियत क्रम से बढ़ता जाता है। इस प्रकार पृथ्वी के आकर्पण बल के कारण किसी पिंड में उत्पन्न होनेवाली वेगवृद्धि या त्वरण को "गुरुत्वजनित त्वरण" कहते हैं। इसे अंग्रेजी अक्षर 'g' द्वारा व्यक्त किया जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि इसे किसी स्थान पर 'गुरुत्व की तीव्रता' भी कहते हैं।

'गुरुत्वजनित त्वरण' अर्थात् g का मान पृथ्वी के केंद्र से दूरी के अनुसार घटता बढ़ता है, अर्थात् इस दूरी के बढ़ने पर यह घटता है और दूरी घटने पर बढ़ता है। इसलिये समुद्रतल पर इसका मान अधिक तथा पहाड़ों पर कम होता है। इसी प्रकार भूमध्य रेखा पर इसका मान ध्रुवों की अपेक्षा कम होता है, क्योंकि पृथ्वी ध्रुवों पर कुछ चिपटी है जिसके कारण पृथ्वी के केंद्र से ध्रुवों की दूरी भूमध्यरेखा की अपेक्षा कम है।

समुद्रतल पर g_0 का मान निम्नलिखित सूत्र द्वारा प्राप्त किया जा सकता है :

$$g_0 = 978.049 \{1 + 0.0052884 \sin^2\phi - 0.0000059 \sin^2 2\phi\}$$

सें० मी० प्रति सें० प्रति सें०; जहाँ ϕ उस स्थान का अक्षांश (latitude) है।

यदि कोई स्थान समुद्रतल से h ऊँचाई पर हो तो वहाँ g का मान अर्थात् g_h निकटतम मान तक निम्नलिखित सूत्र द्वारा ज्ञात किया जा सकता है :

$$[g_h = (g_0 - .0003086h)] \text{ cm. sec. sec.}$$

सामान्यतया पृथ्वीतल पर g का मान अक्षांशों के अनुसार ९७८ और ९८३.२ सेंमी०/से० से० अथवा ३२.०९ और ३२.२६ फुट/से० से० के बीच में रहता है। ये मान समुद्रतलों पर होते हैं।

त्व g का मान ज्ञात करने की विधियाँ—g का मान ज्ञात करने की विधियों को दो कोटियों में विभक्त कर सकते हैं : (अ) प्रत्यक्ष विधि, और (ब) दोलक विधि। प्रत्यक्ष विधि में किसी पिंड को निश्चित ऊँचाई से गिराया जाता है और समान अवधि में उसके द्वारा पार की हुई दूरियाँ नाप ली जाती हैं। इससे g के मान की गणना की जाती है। इस विधि का प्रयोग ऐटवुड की मशीन (Atwood's Machine) में किया जाता है। इसमें दो संहतियाँ m_1 और m_2 जिनमें परस्पर अत्यंत सूक्ष्म अंतर होता है, एक तागे द्वारा जुड़ी होती हैं जो एक घिरनी (Pulley) पर से होकर गुजरती है (देखें चित्र ४)। यदि m_2 अपेक्षाकृत भारी हो तो यह नीचे उतरने लगेगी और m_1 ऊपर चढ़ने लगेगी। यदि s दूरी पार कर चुकने पर उसका वेग v हो जाय और त्वरण f हो तो न्यूटन के गतिनियम के अनुसार

चित्र ४

$$v^2 = 2fs$$

त्वरण f का मान निम्नलिखित सूत्र द्वारा ज्ञात किया जा सकता है :

$$f = \frac{(m_1+m_2)g r^2}{\{I+(m_1+m_2)r^2\}}$$

यहाँ I केंद्र के चारों ओर घिरनी का अवस्थितत्व घूर्ण है तथा r घिरनी का अर्धव्यास है।

अतः इस विधि में घिरनी के घर्षण तथा वायु के प्रतिरोध इत्यादि का कोई विचार नहीं किया जाता, इसलिये इसके द्वारा प्राप्त g के मान मे पर्याप्त त्रुटि रहती है। इन कारणों से इस विधि का अनुसरण सामान्यतः नहीं किया जाता।

लोलक की विधि (Method of Pendulums)—इस विधि में एक लोलक को उसकी मध्यमान स्थिति के दोनों ओर दोलन कराकर आवर्तकाल T ज्ञात किया जाता है। यदि निलंबन बिंदु (point of suspension) से लेकर लोलक के गुरुत्वकेंद्र तक की दूरी ल (l) हो और यह मान लिया जाय कि लोलक का संपूर्ण भार उसके गुरुत्वकेंद्र पर ही संघनित हो तो दोलनकाल (आवर्तकाल) T और गुरुत्व की तीव्रता g परस्पर निम्नलिखित सूत्र द्वारा संबंधित होते हैं :

$$T = 2\pi\sqrt{\frac{l}{g}}$$

या

$$g = \frac{4\pi^2 l}{T^2}$$

इस विधि मे यह ध्यान रखा जाता है कि लोलक का दोलन विस्तार या आयाम (amplitude) ४° से अधिक न हो, अन्यथा सूत्र में निम्नलिखित संशोधन करना पड़ेगा :

$$T = 2\left\{1 + \frac{1}{4}\sin^2\frac{\theta}{2} + \frac{9}{64}\sin^4\frac{\theta}{2} + \cdots\right\}\sqrt{\frac{l}{g}}$$

यहाँ θ आयाम है।

g का अधिक सटीक मान ज्ञात करने के लिये एक दृढ पिंड को लोलक के रूप मे लिया जाता है जो क्षैतिज क्षुरधार (knife edge) पर दोलन करता है। यदि गुरुत्वकेंद्र से क्षुरधार की दूरी l हो और k गुरुत्वकेंद्र से होकर जानेवाली तथा क्षुरधार के समांतर अक्ष के ओर विघूर्णन त्रिज्या (radius of gyration) हो तो सूत्र

$$g = 4\pi^2\,(k^2+l^2)/lT^2$$

द्वारा g का मान अधिक ठीक ठीक ज्ञात किया जा सकता है। ऐसे लोलक को यौगिक लोलक (compound pendulum) कहा जाता है।

यदि यौगिक लोलक में l के भिन्न भिन्न मानों के लिये आवर्तकाल T के पाठ लिए जायें तथा l और T के बीच एक लेखाचित्र प्राप्त किया जाय तो लोलक के सिरे से नापने पर लंबाई का मान ज्यों ज्यों बढ़ता है, दोलनकाल घटता जाता है, किंतु न्यूनतम मान न तक पहुँचने के उपरांत पुन: बढने लगता है (देखें चित्र ५)। लोलक के मध्यबिंदु के निकट पहुँचने पर दोलनकाल बड़ी द्रुत गति से अनंत मान की ओर अग्रसर होता है।

केटर (Capt. Henry Kater, सन् १८१८) ने g का अधिक सटीक मान ज्ञात करने के लिये ऐसा लोलक लिया जो छड़ के रूप मे था और जिसके मध्यबिंदु के दोनों ओर एक क्षुरधार था। दोनों क्षुरधारों से लटकाए जाने पर लोलक का आवर्तकाल एक ही आता था। इसी छड़ मे असमान संहतिवाले दो धातुखंड भी लगे थे। एक की
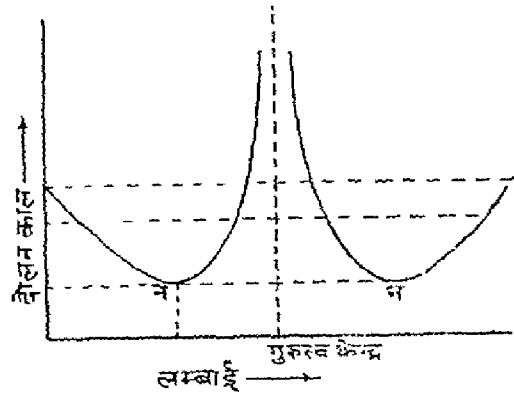
चित्र ५

संहति दूसरे से काफी अधिक थी। भारी संहति को समंजित करके दोनों क्षुरधारों पर लोलक के आवर्तकाल लगभग समान किए जा सकते थे और हलकी संहति को समंजित करके दोनों आवर्तकालों के बीच के अंतर को और भी कम किया जा सकता था। यदि T_1 और T_2 क्रमश: दोनों क्षुरधारों से दोलन कराने पर आवर्तकाल हों और l_1 तथा l_2 उन क्षुरधारों की छड के गुरुत्वकेंद्र से दूरियाँ हों तो बेसेल (Bessel) के अनुसार

$$\frac{4\pi^2}{g} = \frac{T_1^2+T_2^2}{l_1+l_2} + \frac{T_1^2-T_2^2}{l_1-l_2}$$

इसमे $l_1 + l_2$ को ठीक ठीक नापा जा सकता है और अंतिम पद अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण त्याज्य है। अतः यह सूत्र g का ठीक ठीक मान दे सकता है।

प्रयोग करते समय निम्नलिखित सावधानियाँ रखनी चाहिए : (१) आयाम या दोलनविस्तार कम हो, (२) वायु के प्रतिरोध तथा वायु के घर्षण से लोलक की गति को यथासंभव कम से कम प्रभावित रखने की चेष्टा करनी चाहिए, (३) लोलक का आलंब (support) ऐसा चुनना चाहिए कि वह लोलक के भार के कारण लचक न जाय तथा (४) प्रयोग की अवधि भर कमरे का ताप अधिक न बदले, अन्यथा लोलक के प्रसार के कारण लंबाई l मे अंतर आ जायगा।

(सु० चं० गो०)

गुरुदासपुर १. पंजाब का एक सीमांत जिला जिसका क्षेत्रफल ३,५६० वर्ग किलोमीटर तथा जनसंख्या १२,२६,२४६ (१९७१) है। इसके उत्तर में जम्मू-कश्मीर तथा हिमालय प्रदेश के क्षेत्र, दक्षिण में अमृतसर जिला, पूर्व में काँगड़ा तथा होशियारपुर जिले है जहाँ चक्की और व्यास नदियाँ सीमा बनाती हैं और पश्चिम में अमृतसर जिला तथा स्यालकोट (पाकिस्तान) हैं।

जनपद की दो दक्षिणी तहसीलें बटाला एवं गुरुदासपुर बारी दोश्राब (व्यास तथा रावी नदियों के मध्य) में पंजाब के उपपर्वतीय मैदानी तलहटी में पड़ती है। पठानकोट तहसील का अधिकांश व्यास की सहायक चक्की नदी तथा रावी के मध्य पड़ता है तथा शेष चक अंधर क्षेत्र, रावीपार क्षेत्र में रावी तथा उसकी सहायक ऊझ नदी के मध्य स्थित है। पठानकोट का चक अंधर तथा निचला भाग तराई है और तर, मलेरिया ग्रस्त तथा वनाच्छादित है किंतु ऊपरी भाग शुष्क, चट्टानी तथा ऊबड़ खाबड़ है जिसके बीच बीच में उपजाऊ घाटियाँ तथा उच्चतर ढालों पर चीड़ के वन मिलते हैं।

मुख्य नदियाँ—व्यास तथा रावी के अतिरिक्त यहाँ चक्की, ऊझ तथा अन्य छोटी नदियाँ और नाले हैं। पर्वतों के पास होने के कारण पंजाब के अन्य जिलों की अपेक्षा यहाँ की जलवायु सम है। ऊपर से नीचे मैदानों की ओर वर्षा की मात्रा घटती जाती है; १९४०–५० की औसत वार्षिक वर्षा पठानकोट में ४८.६७", गुरुदासपुर में ३६.८३", तथा बटाला में मात्र २७.४५" थी। नहर सिंचित तराई क्षेत्र अस्वास्थ्यकर है। कभी-कभी रावी तथा व्यास में भयंकर बाढ़ आ जाती है।

यहाँ धारीवाल तथा सुजानपुर का ऊनी कपड़े का उद्योग, औद्योगिक एवं कृषि संबंधी यंत्रादि, खेलकूद एवं मनोरंजन के सामान से लेकर लकड़ी के उद्योग एवं मोटर आदि के कल पुर्जे बनाने एवं मरम्मत करने तक के उद्योग विकसित हुए हैं।

ऐतिहासिक स्थलों में रावी तट स्थित मुक्तेश्वर का प्रस्तरमंदिर, गुरुदासपुर की 'हिलती दीवार', बटाला के अंचल में तालाब के बीच स्थित शिवमंदिर, डेराबाबा का सिक्खों का स्वर्णमंदिर, तथा शाहपुर कांडी के ऐतिहासिक खंडहर प्रसिद्ध हैं। पठानकोट से होकर जम्मू कश्मीर को जानेवाला बनिहाल सुरंग का रास्ता यहाँ से होकर जाता है। यहाँ डलहौजी प्रसिद्ध शैलावास है।

२. पंजाब के गुरुदासपुर जिले का प्रशासनिक केंद्र तथा ऐतिहासिक नगर (स्थिति: ३२° ३' उ० अ० तथा ७५° २५' पू० दे०)। अधिक स्वास्थ्यकर तथा जनपदीय भूभाग में केंद्रीय स्थिति होने के कारण इसे १८५२ ई० में जनपद का प्रशासनिक केंद्र बनाया गया। सन् १८६७ में यहाँ नगरपालिका स्थापित हुई, किंतु नगर की तीव्र प्रगति स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हुई है, जब पाकिस्तान के विस्थापित हिंदुओं ने न केवल संख्यावृद्धि की प्रत्युत विभिन्न उद्योग स्थापित किए। फलस्वरूप नए आवासमंडल (residential colonies) बनने के कारण नगर की क्षेत्रीय वृद्धि भी हुई है।

रावी तथा व्यास की जलविभाजक उच्चतर भूमि पर स्थित होने के कारण यह नगर स्वास्थ्यकर है तथा बाढ़ों से सुरक्षित रहता है। सिक्खों के धार्मिक तथा राजनीतिक उत्थान में इस नगर का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। दिल्ली के मुगल सम्राट् बहादुरशाह की मृत्यु (१७१२) के बाद स्वातंत्र्यविद्रोह की अग्नि भड़की। इसी काल में सिक्खों के ११वें गुरु बंदा ने यहाँ एक किला निर्मित कराया जहाँ वे अपने शिष्यों के साथ विद्रोह के अंतिम काल में रहे। मुगलों ने घेराबंदी करके उन्हें कैदी बना लिया और दिल्ली ले गए। इस किले में संप्रति सारस्वत ब्राह्मणों का एक विशाल मठ है। (का० ना० सिं०)

गुरुमुखी पंजाबी भाषा की लिपि जिसका प्रचलन १६वीं–१७वीं शती में सिक्ख गुरुओं ने किया। अक्षर पहले से विद्यमान थे, और गुरु नानक साहब की आसा राग में की 'पट्टी' के आदिम अक्षरों के नाम भी वही हैं जो इस समय प्रचलित हैं, यद्यपि उनका क्रम भिन्न है। ये अक्षर कश्मीर की शारदा, काँगड़ा की टाकरी या ठाकुरी और मध्यदेश की नागरी के मेल से संगठित हुए प्रतीत होते हैं। ३४ वर्ण उक्त लिपियों से लेकर और ड़ में थोड़ा परिवर्तन करके ३५ अक्षरों की इस मिश्रित लिपि का विशेष प्रचार गुरु अंगद ने किया। पाँचवें सिक्ख गुरु अर्जुनदेव ने इस लिपि में आदिग्रंथ का संग्रह करके एवं इसे 'गुरुमुखी' नाम देकर इसको सिक्खों की विशिष्ट धार्मिक लिपि बना दिया।

गुरुमुखी का अर्थ है गुरुओं के मुख से निकली हुई। अवश्य ही यह शब्द 'वाणी' का द्योतक रहा होगा, क्योंकि मुख से लिपि का कोई संबंध नहीं है। किंतु वाणी से चलकर उस वाणी के अक्षरों के लिये यह नाम रूढ़ हो गया। इस प्रकार गुरुओं ने अपने प्रभाव से पंजाब में एक भारतीय लिपि को प्रचलित किया, वरना सिंध की तरह पंजाब में भी फारसी लिपि का प्रचलन हो रहा था और वही बना रह सकता था।

इस लिपि में तीन स्वर और ३२ व्यंजन हैं। स्वरों के साथ मात्राएँ जोड़कर अन्य स्वर बना लिए जाते हैं। इनके नाम हैं उड़ा, आया, इड़ी, सस्सा, हाहा, कक्का, खखा इत्यादि। अंतिम अक्षर ड़ाड़ा है। छठे अक्षर से कवर्ग आरंभ होता है और शेष अक्षरों का (व) तक वही क्रम है जो देवनागरी वर्णमाला में है। मात्राओं के रूप और नाम इस प्रकार हैं—ट के साथ ट (मुक्ता), टा (कन्ना), टि (स्यारी), टी (बिहारी), टु (ऐंकड़े), टू (दुलैंकड़े), टे (लावाँ), टै (दोलावाँ), (होड़ा) (कनौड़ा), (टिप्पी), टः (बिंदै)। इस वर्णमाला में प्रायः संयुक्त अक्षर नहीं हैं, यद्यपि अनेक संयुक्त ध्वनियाँ विद्यमान हैं।

सं० ग्रं०—जी० बी० सिंह : गुरुमुखी लिपि दा जनम ते विकाश; पंजाब यूनिवर्सिटी, १९४९। (ह० दे० बा०)

गुर्जर, गूजर १. पश्चिमी भारत की एक महत्वपूर्ण पशुपालक जाति। इस जाति के प्रमुख निवासी यमुना नदी के तट पर जगाधरी के निकट, सहारनपुर जिला, बुंदेलखंड, ग्वालियर, गुजरात, खिड़ी और राजस्थान की अन्य रियासतों तथा दक्षिणी पंजाब में हैं। हिमाचल प्रदेश, टेहरी गढ़वाल और जौंसारबावर के पहाड़ों पर गूजरों के दल अक्सर अपने पशुओं के साथ घूमते दिखाई पड़ते हैं।

शारीरिक लक्षणों और सामाजिक स्थिति के अनुसार जाट, गूजर और अहीर समान प्रतीत होते हैं। कुछ इतिहासकारों का मत है कि गूजर गुजरात के आदिनिवासी हैं पर यह भ्रांतिपूर्ण है, वस्तुतः उन्हीं के नाम पर गूजर अर्थात् गुर्जर से गुजरात अथवा गुर्जरात्र नाम पड़ा है। परंतु शारीरिक रचना के आधार पर यह स्पष्ट है कि गूजर पंजाब और मध्य पश्चिमी एशिया की खानाबदोश जनजातियों से अधिक मिलते हैं।

गूजरों के कुछ समुदाय हिंदू हैं और कुछ मुसलमान, परंतु इनकी सामाजिक रीतियाँ और प्रथाएँ बहुत कुछ एक सी हैं। दोनों में ही बहिर्विवाही गोत्र पाए जाते हैं। अनेक गोत्रों के नाम राजपूतों जैसे हैं (जैसे, तोमर, भट्टी, रावल, राठौ)। ये गोत्र अपनी उत्पत्ति राजपूतों से मानते हैं जो किसी कारण भूतकाल में क्षत्रिय पद से भ्रष्ट हो गए। उत्तरी भारत के हिंदू वैवाहिक नियमों की भाँति ही इनमें मामा के गोत्र और 'सपिंड' संबंधियों में विवाह करना वर्जित है। यद्यपि यह नियम सभी गूजर नहीं मानते। १९वीं शताब्दी तक गूजरों में शिशु कन्यावध और बहुपतित्व की परंपराएँ अनजानी न थीं, परंतु अब ये बंद हो गई हैं। बड़े भाई की विधवा से विवाह और संतानोत्पत्ति की प्रथा अभी भी प्रचलित है। ग्रामीण हिंदुओं की तरह गूजरों में भी विवाह कम आयु में होते हैं, कन्यामूल्य का जहाँ तहाँ प्रचलन है, विधवा विवाह और विवाहविच्छेद को सामाजिक मान्यता प्राप्त है। पहले विवाह की रीतियाँ जाति का मुखिया संपन्न करा देता था, अब हिंदू गूजर ब्राह्मण पुरोहित से यह कार्य कराते हैं। इसी प्रकार जन्म और मृत्यु संस्कारों में भी ब्राह्मण का पौरोहित्य बढ़ रहा है।

सामाजिक रीतियों में यह परिवर्तन गूजर जाति की बदलती हुई सामाजिक स्थिति के द्योतक हैं। इधर गूजर अपने को चंद्रवंशी क्षत्रिय कहने लगे हैं और क्षत्रियों के अनुसार अपने रीति रिवाज बदलते जा रहे हैं।

मुसलमान गूजर की अधिक जनसंख्या अवध और मेरठ प्रदेशों में है। कहा जाता है, तैमूर के आक्रमण के समय इनका धर्मपरिवर्तन हुआ था। इनका सामाजिक संगठन तथा प्रथाएँ अभी भी हिंदू गूजरों से मिलती हैं। अवध में इस समुदाय के लोग गाजी मियाँ की कब्र पर मलीदा चढ़ाते हैं, और साथ ही होली, नागपंचमी जैसे हिंदू त्योहार भी मनाते हैं। शुक्रवार को ये अपने पितरों को भोजनदान करते हैं। अपने दैनिक जीवन में

ये हिंदू गूजरों जैसे ही छूआछूत मानते हैं। अधिकांश मुसलमान गूजर सुन्नी हैं जो शिया तथा नीचे तबके के मुसलमानों से रोटी बेटी के व्यवहार में परहेज रखते हैं।

गूजरों के मूल निवास के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। संभवत: वे भारत के उत्तर पश्चिमी मार्ग से ईसा की आरंभिक शताब्दियों में, अथवा उससे पूर्व कभी, इस देश में आए और अनेक स्थलों में बसकर क्षत्रियवत् उनका शासन पालन किया। इनकी प्रबल क्षत्रियपदीय जाति गुर्जर प्रतिहार कहलाई जिसने जोधपुर के समीप अपने केंद्र मंदोर से उठकर मालवा और कन्नौज की निकटवर्ती भूमि पर अधिकार कर लिया। कन्नौज का गुर्जर प्रतीहार राजवंश इनका ही था (देखिए, प्रतीहार)। गुर्जरों का भारतीय साहित्य में पहला उल्लेख सातवीं सदी के प्रारंभ में बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन की विजय के संदर्भ में हूणों के साथ साथ (हूण-हरिण-केसरी) गुर्जरों की नींद हर लेने वाला (गुर्जर प्रजागरो) कहकर किया है। (कृ० शं० मा०)

२. पश्चिमी भारत के प्रदेश का नाम जिसे गुर्जरात्र (गुर्जरात्रा) भी कहते हैं। गुर्जरवासी गुर्जर कहे जाते थे। प्रदेश का शासक गुर्जरेश्वर कहलाता था और उसका प्रधान स्वामी गुर्जरेश्वरपति। सातवीं शताब्दी के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि वह प्रदेश मालवा की सीमाओं से संलग्न था। ९वीं-१०वीं शताब्दियों के लेखों से यह भी जान पड़ता है कि जोधपुर, जयपुर, अलवर और राजस्थान के अंतर्गत मेवाड़ का उत्तरी भाग गुर्जर प्रदेश में स्थित था। अलबरूनी (१०३० ई०) गुजरात का उल्लेख करता है, जिसमें उसके अनुसार, अलवर और जयपुर राज्यों के कुछ भाग संमिलित थे, और नहरवल (अनहिल्लपट्टन) पश्चिमी भारत के सुदूर दक्षिण में स्थित था। ११वीं शताब्दी तक पश्चिमी भारत का वर्तमान गुजरात गुर्जर या गुर्जरात्र नाम से प्रसिद्ध हो गया था, यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि राजपूताना का प्राचीन गुर्जर प्रदेश ११वीं शताब्दी के मध्य के पश्चात् भी उसी नाम से पुकारा जाता रहा। १८वीं शताब्दी में उत्तर प्रदेश का सहारनपुर जिला, गुजरात के नाम से अभिहित होता था, और अब ग्वालियर प्रदेश का एक जिला भी गुर्जरगढ़ कहलाता है। संप्रति गुजरात, गूजरखान और गुजरानवाला पंजाब में हैं। इस समय गुर्जर कृषक उत्तर-पश्चिमी, पश्चिमी और उत्तरी भारत में बसे हुए हैं, और यहाँ के मूल निवासियों से घुल मिल गए हैं। ऐसा अनुमान है कि उत्तर भारत में गुर्जरों का निरंतर स्थानपरिवर्तन मूल रूप से राजपूताना के गुर्जर प्रदेशों से आरंभ हुआ था। ९वीं-१०वीं शताब्दी के अरब भूगोल शास्त्रियों ने जुर्ज या जुज्र प्रदेश का उल्लेख किया है, जो स्पष्ट रूप से गुर्जर का अरबी नाम है।

छठी शताब्दी में राजपूताना के गुर्जर प्रदेश में कर्ण राजवंश का शासन था। उड्डनाम के राजकुमार ने दक्षिण गुर्जर में भड़ौंच का राज्य स्थापित किया, जहाँ वह सामंत रूप में शासन करता था। उस राजा का नाम अज्ञात है। भड़ौंच का कर्ण राजवंश अपने को गुर्जर नृपवंश का उत्तराधिकारी मानता है। ७वीं शताब्दी के मध्य भाग से दीर्घकाल तक गुहिल वंश जयपुर और उदयपुर के कुछ भागों पर शासन करता रहा, जो भाग प्राचीन गुर्जर प्रदेश में स्थित थे। इस राजवंश के कुल बारह शासकों के नाम ज्ञात हैं, जिनमें प्रथम का भर्तृपट्ट और अंतिम का बालादित्य है। बालादित्य १०वीं शताब्दी के मध्य में हुआ। यह असंदिग्ध है कि उस काल के अभिलेखों में गुर्जरेश्वर और गुर्जर शब्द इसी वंश के राजाओं के लिये प्रयुक्त हुए हैं। ८वीं शताब्दी के अंतिम भाग में गुहिलवंश ने मालवा के प्रतिहार वत्सराज का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। इसी कारण वत्सराज के पुत्र नागभट्ट द्वितीय का उल्लेख एक राष्ट्रकूट अभिलेख में गुर्जरेश्वरपति के रूप में मिलता है। गुहिलवंश के राजाओं ने प्रतिहारों के राज्यनिर्माण में बहुत सहायता की।

१०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रतिहार वंश की एक शाखा कन्नौज के प्रतिहारों के सामंत के रूप में प्राचीन गुर्जर प्रदेश के अलवर राज्य में शासन करती थी। एक अभिलेख में अलवर के राजा 'मथनदेव' को गुर्जर प्रतिहारान्वय कहा गया है जिसका अर्थ है गुर्जर का प्रतिहार वंश। इस शब्द का उल्लेख अलवरवंश को उसके कान्यकुब्ज-प्रतिहार-प्रभुवंश से पृथक् करने के लिये ही किया गया है।

प्रतिहार वंश की एक अन्य शाखा छठी शताब्दी के मध्य से ९वीं शताब्दी के मध्य तक जोधपुर में, जो प्राचीन गुर्जर देश में स्थित था, शासन करती रही।

ऊपर लिखा जा चुका है कि पश्चिम भारत का वर्तमान गुजरात ११वीं शताब्दी के मध्यभाग से, गुर्जर या गुर्जरात्र कहा जाता रहा है। सोलंकी (चालुक्यवंशी) शासकों ने वहाँ १३वीं शताब्दी तक शासन किया। तत्पश्चात् उसपर बघेलों का आधिपत्य हो गया। १३वीं शताब्दी के अंतिम काल में मुसलमानों ने इसे बघेलों से छीनकर दिल्ली के राज्य में मिला लिया।

सं० ग्रं०—जे० कैंपबेल : द गुर्जराज़, बांबे गजेटियर, खंड ९; डी० सी० गांगुली : हिस्ट्री ऑव द गुर्जर कंट्री, इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, खंड १०; आर० सी० मजूमदार : द गुर्जर प्रतिहाराज़, जर्नल ऑव द डिपार्टमेंट ऑव लेटर्स, खंड १०। (धी० चं० गा०)

गुल सुमेरी देवता निनुर्ता की पत्नी और चिकित्साशास्त्र की अधिष्ठातृ देवी। प्राचीन अक्कादी में गुल का अर्थ चिकित्सक होता था; साधारण अरबी नामों के अंत में जो 'गुल' शब्द लगा होता है, वह चिकित्सा संबंधी विशेषज्ञ का ही परिचायक है, यद्यपि कालांतर में यह शब्द नाम का निरर्थक अंग मात्र होकर रह गया था। स्वयं देवी गुला को वहाँ 'महान् चिकित्सक' की संज्ञा दी गई थी। बाबिलोनिया के प्राचीन नगरों—लगाश और निप्पुर—में तो गुला की पूजा होती ही थी, ईसिन नगर में भी उसकी पूजा का प्राधान्य था। 'बोसिपा' में तो उसके तीन तीन मंदिर बने। बाबिलोनिया के सीमापत्थरों पर उसकी आकृति के साथ कुत्ते की आकृति भी बनी मिलती है। प्राचीन बाबुल में सर्पविष के विशेषज्ञ चिकित्सक 'गुल' कहलाते थे और साँप से डसे व्यक्ति का उपचार मंत्र द्वारा करते थे। उन मंत्रों का सीधा संबंध इसी गुला नाम की देवी से हुआ करता था। यह महत्व का विषय है कि साँप का विष झाड़ने के ही प्रसंग में ऋग्वेद-अथर्ववेद में जिस 'आलिगी च विलगी च पिता च माता च' आदिक मंत्र का उपयोग हुआ है उसमें 'उर गुलायाः दुहिता' उर की गुला (अथवा गुल) की पुत्री का उल्लेख हुआ है। (भ० श० उ०)

गुलदाउदी (Chrysanthemum) ग्रीक भाषा के अनुसार क्राइसैंथिमम शब्द का अर्थ स्वर्णपुष्प है।

चित्र १. एक प्रकार की गुलदाउदी
इस जाति का पुष्प छोटा तथा सम्मित एनीमोन (Anemone) सदृश होता है।

बेंथम तथा हूकर (Bentham and Hooker, १८६२-९३) के वनस्पति-विभाजन-क्रम के आधार पर गुलदाउदी का स्थान नीचे दिए हुए क्रम के अनुसार निर्धारित होता है :

वर्ग द्विदलीय (Dicotyledon)
गैमोपेटैली (Gamopetalae)
श्रेणी इनफेरी (Inferae)
आर्डर ऐस्टरेलीज़ (Asterales)
कुल कॉम्पॉजिटी (Compositae)

जीनस क्राइसैंथिमम—गुलदाउदी संसार के सबसे प्रसिद्ध एवं शरद् ऋतु में फूलनेवाले पौधों में से है। यह चीन का देशज है, जहाँ से यह यूरोप में भेजा गया। सन् १७८० में फ्रांस के एक महाशय सेल्स (Cels) ने इंग्लैंड के विश्वविख्यात उपवन क्यू (Kew) में इसे सबसे पहले उत्पन्न किया। इसके उपरांत, अपने सुंदर तथा मोहक रूप के कारण और इसके फूलों में कीटनाशक पदार्थ, अर्थात् पाइरेथ्रम (pyrethrum), होने के कारण गुलदाउदी का प्रसार बहुत ही विस्तृत हो गया। इस समय इसकी लगभग १५० जातियाँ हैं जो यूरोप, अमरीका, अफ्रीका तथा एशिया महाद्वीपों में मुख्य रूप से पाई जाती हैं। इनमें से उपवनों में उगाई जानेवाली गुलदाउदी को क्राइसैंथिमम इंडिकम (Chrysanthemum indicum Linn) कहते हैं।

गुलदाउदी का पौधा शाक (herbs) की श्रेणी में आता है। इसकी जड़ें, मुख्यतया प्रधान मूल, शाखादार और रेशेदार होती हैं। तना कोमल, सीधा तथा कभी कभी रोएँदार होता है। पत्तियाँ एकांतर (alternate) सम, पालिवत् होती हैं, परंतु उनकी कोर कटी तथा विभाजित होती हैं। पुष्पों के संग्रहीत होने के कारण पुष्पक्रम (*inflorescence*) एक मुंडक (capitulum) या शीर्ष (head) होता है। पूर्ण पुष्पक्रम पौधे के शिखर पर एक लंबे डंठल के ऊपर स्थित रहता है। इस डंठल के निचले भाग से और भी पुष्पक्रम निकलते हैं, जो सामूहिक रूप से एक समशिख (corymb) बना देते हैं, जो विषमयुग्मीय और रश्मीय (rayed) होता है। रश्मिपुष्प मादा और एकक्रमिक होते हैं तथा उनकी जिह्विका फैली हुई, सफेद, पीली, नीली अथवा गुलाबी होती है। बिंबपुष्प द्विलिंगी तथा नलिकावत् होते हैं। इनका दलचक्र युक्तदल होता है और ऊपर जाकर चार या पाँच भागों में विभाजित हो जाता है। निचक्रीय निपत्र (involucral bract) सटे हुए एवं बहुक्रमिक होते हैं। भीतरी निपत्र नसदार सिरेवाले एवं बाहरी छोटे और प्रायः नसदार रंगीन किनारेवाले होते हैं। परागकोष का निचला भाग गोल होता है। गुलदाउदी में एकीन (achene) प्रकार के फल बनते हैं। ये अर्धवृत्ताकार, कोणीय पंखदार होते हैं। वाह्यदलरोम (pappus) छोटे अथवा अनुपस्थित होते हैं।

चित्र २. जापानी गुलदाउदी
यह पुष्प अंतर्वक्र प्रकार का एक छोटे स्तंभवाला होता है।

गुलदाउदी मुख्यतः वर्धीप्रचारण (vegetative propagation) अथवा बीजांकुर द्वारा उगाई जाती है। चौथाई इंच चलनी द्वारा छाने हुए, लगभग बराबर भागवाले दोमट, सड़ी हुई पत्तियों तथा बालू और थोड़ी सी राख के मिश्रण में गुलदाउदी की अच्छी वृद्धि होती है। गमले में इस मिश्रण को खूब दबा दबाकर भरने के बाद पानी देते हैं तथा लगभग एक घंटे बाद कलमें लगाते हैं। सबसे उत्तम कलमें सीधे जड़ों से निकलने वाले छोटे छोटे तनों से मिलती हैं। इनके न मिलने पर मुख्य तने के किसी अन्य भाग से कलमें ली जाती हैं।

सुंदरता के साथ साथ गुलदाउदी की कुछ जातियों के फूल कीटनाशक गुणवाले होते हैं। सबसे पहले ईरान में क्राइसैंथिमम कॉक्सिनियम (C. coccineum) तथा क्राइसैंथिमम मार्शलाई (C. marschalli) के फूल कीटनाशक रूप में प्रयुक्त हुए। सन् १८४० के आसपास *क्राइसैंथिमम सिनेरेरिईफोलियम (C. Cinerariaefolium) डलमैशिया।* यूगोस्लाविया में उत्पन्न की गई और धीरे धीरे इसने ईरानी जातियों से ज्यादा ख्याति प्राप्त कर ली। अभी कुछ ही दिनों पहले तक जपान तथा यूगोस्लाविया 'पाइरेथ्रम' के सबसे बड़े उत्पादक थे, लेकिन हाल ही में केनिया ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। व्यापारिक स्तर पर गुलदाउदी की खेती ईरान, अल्जीरिया, आस्ट्रेलिया, ब्राजील, स्विट्जरलैंड तथा भारत में की जाती है।

चित्र ३. जापानी एनिमोन गुलदाउदी
पूर्ण विकसित अवस्था में।

गुलदाउदी के फूलों का प्रयोग चूर्ण अथवा अर्क के रूप में होता है। साधारणतया इसके विभिन्न उपयोगों को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं : (१) पाइरेथ्रम कीड़ों पर ही प्रभाव डालता है, मनुष्यों को इससे कोई हानि नहीं होती, अतः इसका प्रयोग घर में खटमल, मच्छर आदि के नाश के लिये किया जाता है; (२) *पाइरेथ्रम तेल का छिड़काव* पशुओं के लिये हानिकारक मक्खियों को मारने में किया जाता है तथा (३) पाइरेथ्रम का अत्यंत महीन चूर्ण उद्यानों में कीटनाशक के रूप में सफल सिद्ध हुआ है, यद्यपि आजकल पाइरेथ्रम का छिड़काव ही मुख्यतया उपयोग में लाया जाता है।

पाइरेथ्रम का कीटनाशक गुण इसके फूल को एकत्र करने के समय तथा सुखाने के ढंग पर निर्भर करता है। कीटनाशक अंश की अधिकतम मात्रा प्रायः परागण के पूर्व एकत्रित फूलों में पाई जाती है। जहाँ तक फूलों के सुखाने का प्रश्न है, धूप में सुखाना अधिक सुविधाजनक होता है, परंतु छाया में सुखाए हुए फूलों से कीटनाशक अंश की प्राप्ति अधिक मात्रा में की जा सकती है। (जो० ना० मि०)

गुलबर्गा कर्णाटक राज्य का एक जिला और जिले का मुख्य नगर (स्थिति : १७°२१' उ० अ० एवं ७६°५१' पू० दे०)। ऐतिहासिक दृष्टि से गुलबर्गा मूलतः हिंदू संस्कृति का केंद्र था परंतु १३४७ ई० से १४२२ ई० तक बहमनी शासकों ने, दक्षिण प्रदेश पर राजसत्ता स्थापित कर, इसे अपनी राजधानी बनाया। इस काल के शासकों के महल, मसजिदें, दुर्ग और कब्रें अर्धजीर्णावस्था में विद्यमान हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण एक मसजिद है जो स्पेन देश की कारडोवा मसजिद के ढंग पर निर्मित की गई थी।

गुलबर्गा अब महत्वपूर्ण व्यापारिक तथा औद्योगिक केंद्र है। मुख्य उद्योग कपास साफ करना, सूत कातना, सूती वस्त्र बनाना, आटा पीसना, रंग बनाना और वनस्पति तेल निकालना है। गुलबर्गा जिले की जनसंख्या १९७१ में १,७३,९२२ थी। (रा० ना० मा०)

गुलमेंहदी अंग्रेजी बॉलसैम (Balsam), लैटिन इंपेशेन्स (Impatiens), बॉलसामिनेसिई (Balsaminaceae) कुल के वनस्पतियों का एक वंश है। इस वंश में ३०० से अधिक जातियाँ एशिया और अफ्रीका के उष्ण प्रदेशों की पहाड़ियों पर पाई जाती हैं इनमें से २०० से अधिक जातियाँ भारतीय हैं। हिमालय, शिवा

विंध्य, सतपुड़ा, नीलगिरि इत्यादि पर्वतों में, उत्तरी शीतोष्ण कटिबंध और दक्षिण अफ्रीका में भी यह वंश वितरित है।

इं० बॉलसैमिना (I. Balsamina) उत्तर भारत में प्रधान है। इसकी छह प्रजातियाँ बगीचों में लगाई जाती हैं, जिनके पुष्प लाल, गुलाबी
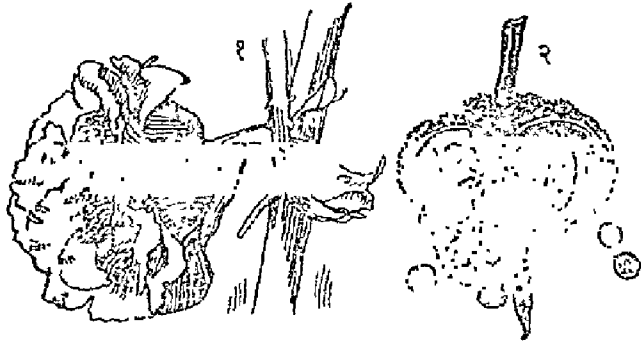
चित्र १. गुलमेंहदी का फूल (×१)   चित्र २. गुलमेंहदी की फली का चटखना

और श्वेत होते हैं। हिमालय और चीन इसका मूलस्थान है। रॉजिया प्रजाति पश्चिम हिमालय के जंगलों में अत्यधिक पाई जाती है। इसके बीज का तेल खाने और जलाने के काम में आता है। लाल फूलवाली इंपेशेन्स सुल्तानी (I. royeli) का मूल स्थान जंजिबार द्वीप है। इं० रायली (I. sultani) ऊँचा, सहनशील, सरस, लाल फूलवाला, एकवर्षीय, हिमालय का पौधा, ठंडे देशों के बगीचों में उगाया जाता है। इं० नोलिटौ-गियर इंग्लैंड में उगाया जाता है। इसी को छुई मुई (Touch-me-not) कहते हैं, क्योंकि इसके फूल छूते ही झटके से फट जाते हैं।

एक अथवा द्विवर्षी बरसाती पौधा, ½ से १ मीटर ऊँचा, तना सरस (succulent), न्यूनशाखीय, रंगविहीन अथवा हरित, नम्र प्रासवत पत्तियाँ ४–७ सें० लंबी, १½–३ सें० चौड़ी, आरा जैसा किनारा, ग्रंथित वृंत, एकांतरिक अथवा विपरीत दूरी पर स्थित। पुष्प सुंदर, गुलाबी, पीत और श्वेत, एकाकी या गुच्छों में, पर्णकोणस्थित। वाह्यदल तीन, सामने का औरों से बड़ा, दलाभ (petaloid), स्परयुक्त (spurred) दल पाँच अथवा तीन, विभिन्न पुंकेसरों के परागकोष संयुक्त, इनसे वर्तिकाग्र आच्छादित; अंडाशय पाँच कोष्ठवाला, प्रत्येक कोष्ठ में तीन या अधिक लटकते अंडे। स्फोटीफल: ऊपर से झटके के साथ बीजों को प्रसारित करते समय पाँच लचीले टुकड़े लिपट जाते हैं। (रा० दे० मि०)

गुलाव रोजेसी कुल (Rosaceae) की रोसा प्रजाति का सदाबहार पौधा है। इसके फूल सुगंध, रूप, सौंदर्य और रंग में अद्वितीय हैं। इसका मूल स्थान भारत है। रोसा इंडिका (R. indica) और रोसा बेंगालेंसिस (R. bengalensis) इत्यादि वानस्पतिक नाम भी इस बात के द्योतक हैं। हिमालय की तराई और दक्षिणवर्ती इलाकों में यह नैसर्गिक रूप में पाया जाता है। रोसा प्रजाति के अंतर्गत इसके विशिष्ट गुणधर्म तथा आकार प्रकार का वैभिन्य इतना जटिल होता जा रहा है कि उसके आधार पर गुलाव के विभिन्न पौधों में पारस्परिक सामंजस्य स्थापित करना वनस्पतिज्ञों के लिये कठिन हो गया है। वनस्पतिज्ञों के बहुमतानुसार गुलाव की १०० से अधिक जातियाँ संभव हैं।

सुगंध और सौगंधिक तैल की दृष्टि से गिने चुने गुलाब ही महत्वपूर्ण हैं। संकर जातियों में से केवल निम्नलिखित तीन जातियों का उपयोग किया जाता है:

१. रोसा डैमैसिना मिल्ल० रूपक ट्राइगिंटिपीटला डाइक (Rosa damascena Mill. forma trigintipetala Dieck), जिसे अंग्रेजी में पिंक डैमेस्क रोज (Pink damask rose) और हिंदी में चैती गुलाव कहते हैं। गंधांश अत्यधिक होने के कारण, इत्र और सौगंधिक तैल आसवन के लिये इसकी खेती की जाती है। भारत में अलीगढ़, जौनपुर, गाजीपुर, कन्नौज, अमृतसर तथा देवघर में इसकी खेती होती है। होली के लगभग इसकी मुख्य फसल प्रारंभ होकर एक मास में समाप्त हो जाती है। टर्की और वलगेरिया में भी इसकी खेती होती है। भारत में इन फूलों की वार्षिक खपत लगभग ४०० मीटरी टन कही जाती है।

२. रोसा डैमैसिना मिल्ल० भेद आल्वा लिन्न० (R. damascena Mill. var alba Linn.), जिसे अंग्रेजी में ह्वाइट कॉटेज रोज (White cottage rose) कहते हैं। यह सुगंध की दृष्टि से घटिया समझा जाता है। सहिष्णु होने के कारण शीतप्रधान इलाकों में और चैती गुलाव के खेतों के चारों ओर झाड़ियों के रूप में लगाया जाता है।

३. रोसा सेंटिफोलिया लिन्न० (R. centifolia Linn.), जिसे रोसा गैल्लिका भेद सेंटिफोलिया कहते हैं। इसका अंग्रेजी नाम कैवेज रोज (Cabbage rose) है। भारत में कानपुर और कन्नौज के आसपास, फ्रांस में ग्रासे तथा मोरक्को में मुख्यत: इसकी खेती होती है। इसका गुलावजल तथा गुलकंद बनाने में उपयोग होता है। फ्रांस में इससे गंध-सार तत्व बनाया जाता है। यह आसवन विधि से इत्र बनाने के उपयुक्त नहीं है।

उपर्युक्त तीनों किस्मों के पौधे होते हैं। क्रिमजन रैंब्लर (Crimson rambler) नामक गुलाव की लता होती है।

गुलाव की खेती के लिये आसपास की भूमि से ऊँची भूमि उपयुक्त होती है। खेत के आसपास पेड़ और उनकी छाया नहीं होनी चाहिए। खेतों की मिट्टी दुमट होनी चाहिए और उसमें बुझे चूने तथा गोवर पत्ती की कंपोस्ट खाद का पर्याप्त अंश डालना चाहिए। यदि मिट्टी में पानी को सोखकर बहा देने की क्षमता न हो तो जमीन को एक डेढ़ मीटर की गहराई तक खोद कर डेढ़ सौ से दो सौ मिली० की गहराई तक कंकड़, ईंटा, कोयला इत्यादि से भरकर पानी के बहने का प्रबन्ध करना चाहिए। क्यारियों में मिट्टी भरने से पूर्व हड्डियों का चूरा और ऊपर गोवर पत्ती की कंपोस्ट खाद अच्छी तरह मिला देनी चाहिए। गुलाव के लिये प्रात:कालीन शीतल वायु, ओस तथा दोपहर से पूर्व की धूप लाभदायक होती है। कारखानों के धुएँ से गुलाव को दूर रखना चाहिए। घोड़े और सूअर की लीद, कबूतर की बीट, मछली और खली का उपयोग खाद के लिये किया जाता है, किंतु ये सभी दो वर्ष की पुरानी और सड़ी होनी चाहिए। वार्षिक कटाई छँटाई के समय पौधे की जड़ों को नंगाकर सूर्यस्नान कराना स्वास्थ्यकर होता है। आवश्यकतानुसार नियमित रूप से जल देना चाहिए। गुलाव के रोपने और प्रसरण के लिये कलम तथा चश्मा बाँधने की विधियों का प्राय: उपयोग होता है।

कुछ कीड़े, जैसे भिनगा, दीमक, ग्रीन फ्लाई, लीफ रोलिंग, सॉ फ्लाई इत्यादि, कुछ रोग जैसे गेरुई, पत्तियों पर काले रंग के गोल दाग और मोर्चे से बचाने के लिये पौधों पर यथासमय रासायनिक द्रवों का छिड़काव करना चाहिए।

सं० ग्रं०—गुंथर, ई० : दि एसेंशियल ऑएल, वॉल्यूम ५, पृ० ३–४८ (१९५२), डी० वान्नास्ट्रैंड कंपनी इंक०, न्यूयार्क; नारायणस्वामी, वी० ऐंड विश्वास, के०: सर्वे ऑव रोजग्रोइंग सेंटर्स ऐंड रोज इंडस्ट्री इन इंडिया, काउंसिल ऑव साइंटिफ़िक ऐंड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली (१९५७); सद्गोपाल : हिस्ट्री ऑव रोज, रोजवाटर ऐंड अत्तर ऑव रोज (पार्ट ए), वॉल्यूम १४, नं० ११, पृ० २९५–३०२ (१९४६)। (सद्०)

गुलाव (आयुर्वेद में)—इसकी जातियाँ उद्यानज, गुलाबी, पीताभ अथवा श्वेतपुष्प लता सदृश फैलनेवाली तथा स्वावलंबी भेद से अनेक प्रकार की होती हैं। आयुर्वेद में इसके पौधे को तरुणी या शतपत्री कहते हैं और इसके पुष्प कटुतिक्त, शीतवीर्य, हृद्य, सारक, शुक्रल, पाचक, तीनों दोषों और रक्त के विकारों को दूर करनेवाले बतलाए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आयुर्वेदीय साहित्य में इसका प्रवेश बाद में हुआ है। यूनानी चिकित्सा में इसका अधिक उपयोग बतलाया गया है। इसके अनुसार गुलाव पुष्प सौमनस्यजनक, हृदय, मस्तिष्क, यकृत, आमाशय और आँतों को बलप्रद, अधिक प्रमाण में अथवा ताजा देने से रेचक, थोड़े प्रमाण में अथवा शुष्क

देने से संग्राहक, पित्तशामक तथा स्वेद की दुर्गंध मिटाने और अधिक स्वेद को रोकनेवाले कहे गए हैं। लेप करने से गरम शोथ को विलीन करनेवाले और पीड़ाशामक होते हैं। गुलरोगन, गुलकंद तथा अर्क गुलाब आदि गुलाब के पुष्प से ही तैयार किए जाते हैं। इसका सामान्य व्यवहार तथा चिकित्सा दोनों में उपयोग होता है। यूनानी चिकित्सा में गुलावकेशर तथा फल का भी उपयोग बतलाया गया है।

सफेद गुलाब के फूल को सेवती गुलाब कहते हैं। संभवतः शतपत्री नाम से इसी का आयुर्वेद में उपयोग किया गया है।

(ब० सिं०)

गुलावराय (१८८८–१९६३ ई०) प्रख्यात हिंदी साहित्यकार। इनका जन्म इटावा में हुआ था। दर्शनशास्त्र में एम० ए० करने के बाद कानून का अध्ययन किया। तदनंतर अध्यापन कार्य किया। आगरा विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की।

आप हिंदी के एक प्रख्यात साहित्यकार थे। उनके कृतित्व के अनेक रूप हैं—काव्यशास्त्रकार, आलोचक, निबंधकार और दार्शनिक। आपकी प्रतिभा का विशिष्ट गुण था समन्वय। आपने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की शैली में एक ऐसे काव्यशास्त्र को विकसित किया है जिसमें पौर्वात्य और पाश्चात्य, प्राचीन और नवीन विचारों तथा वुद्धि और राग का समन्वय देखने में आता है। इस विषय के आपके ग्रंथ हैं नवरस (१९२०) सिद्धांत और अध्ययन (१९४६), काव्य के रूप (१९४७)। आलोचना के क्षेत्र में आप प्रमुख रूप से व्याख्याकार हैं, दोषों को न देखकर गुणों पर ही विचार करते दिखाई पड़ते हैं। अध्ययन और आस्वाद तथा हिंदी काव्यविमर्श इनके आलोचना ग्रंथ हैं। आपके निवंध सहज व्यंग्य और कोमल हास्य के धरातल पर लिखे हैं। दार्शनिक के रूप में उन्होंने अध्ययन योग्य गंभीर सामग्री प्रस्तुत की है। पाश्चात्य दर्शन, बौद्ध धर्म, कर्तव्यशास्त्र आदि के मूल तत्वों को बोधगम्य रूप से आपने प्रस्तुत किया है।

आपका निधन १३ अप्रैल, १९६३ ई० को हुआ। (प० ला० गु०)

गुलाल साहव प्रख्यात संत और वुल्ला साहव के शिष्य। आपका जन्म सत्रहवीं शती के अंतिम चरण में बसहरी (जिला गाजीपुर, उत्तर प्रदेश) के एक क्षत्रिय जमींदार कुल में हुआ था। इनके गुरु वुल्ला साहव, वुलाकीराम कुर्मी के नाम से इनके परिवार का हल जोतने का काम करते थे। उनके आध्यात्मिक जीवन से प्रभावित होकर गुलाल साहव ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था और उनके निधन के पश्चात् उनकी गद्दी के अधिकारी हुए थे। ये ऊँचे दरजे के साधक थे। आपने निर्विकल्प मन की समावस्था की दिव्य अनुभूति का वर्णन अनेक रूपों में निरंतर अपनी रचनाओं में किया है। 'ज्ञानगुष्टि' और 'रामसहस्रनाम' आपकी वाणियों के संग्रह हैं। आपकी वाणी 'गुलाल साहब की बानी' नाम से भी प्रकाशित हुई है।

आपका निधन १७६० ई० में हुआ। (प० ला० गु०)

गुलिकार्ति क्षय रोग, तपेदिक या यक्ष्मा का एक नाम। यह मनुष्यों और पशुओं का रोग है। यह रोग गुलिका दंडाणु (tubercle ba illi) द्वारा होता है। वैक्टीरियाओं के अम्लस्थायी समूह के अंतर्गत ये दंडाणु आते हैं। इनमें कुछ दंडाणु मनुष्यों और पशुओं के लिये व्याधिजनक और कुछ अनुपघातक (i nocuous) होते हैं। सबसे अधिक महत्व के व्याधिजनक दंडाणु मनुष्य, गोजाति और पक्षियों को आक्रांत करते हैं। ये दंडाणु दंडाकार होते हैं और इनकी लंबाई ४ से ८ म्यू तक होती है। 'जाइल-नीलसेन' (Zichl-Neclsen) की विशेष तकनीक से ये लाल रंग में अभिरंजित हो जाते हैं। इन दंडाणुओं को विशेष माध्यम की सहायता से प्रयोगशालाओं में विकसित किया जा सकता है। चार से लेकर छः सप्ताहों तक में इनकी वृद्धि देखी जा सकती है।

आक्रामक दंडाणुओं का किसी विशेष ऊतक पर आक्रमण होने से वहाँ प्रदाह होता है। मूलतः यह प्रदाह ही क्षयरोग है। अतः गुलिका दंडाणु अपेक्षया अल्पघातक होते हैं, अतः ऊतक अभिक्रिया अनुतीक्ष्ण और दीर्घकालिक होती है। अपवाद के रूप में ही यह तीक्ष्ण हो सकती है। गुलिका दंडाणुओं की ऊतक पर स्थानीय अभिक्रिया पहले पहल बहुरूप केंद्रक कोशिकाओं के समुदाय पर होती है। पीछे बृहत्केंद्रक श्वेताणु (monocytes) उस स्थल पर प्रव्रजन करते हैं, गुलिका दंडाणुओं को घेर लेते हैं तथा उन्हें उदरस्थ करने की चेष्टा करते हैं। इस प्रक्रिया में दंडाणुओं के कुछ अपकर्षण (degeneration) उत्पाद उन्मुक्त हो बृहत्केंद्रक श्वेताणुओं को उपकला-कल्प-कोशिकाओं में, जिनमें फेनिल रक्त कोशिकासार (cytoplasm) अधिक मात्रा में होता है, परिवर्तित कर देते हैं। इनमें से कुछ कोशिकाओं के संयुक्त होने से वे भीमकाय (giant) कोशिकाएँ बनती हैं, जो वहुकेंद्रक होती हैं। परिधि पर इन कोशिकाओं के चतुर्दिक् छोटी कोशिकाएँ होती हैं, जिन्हें लसीका कोशिकाएँ (lymphocytes) कहते हैं। इस प्रकार गुलिका स्थापित होती है। तत्पश्चात् गुलिकाओं से उत्पन्न जीवविषों के कारण धमनियों के अस्तर में विकृति उत्पन्न होती है। इसके तथा गुलिकार्ति से उत्पन्न विषैले अपकर्ष द्रव्यों के सीधे प्रभाव से केंद्रीय क्षेत्र का परिगलन हो जाता है। इसे केसिएशन नेक्रोसिस (Cas-ation nec rosis) अर्थात् पनीर के समान अपकर्षवाला परिगलन कहते हैं।

गुलिका पहले अति सूक्ष्म रहती है, किंतु पश्चात बड़ी हो जाती है और खाली आँखों से भी दिखाई पड़ने लगती है। गुलिका की आगे की क्रिया एक ओर तो गुलिकार्ति दंडाणुओं की संख्या तथा उसके घातक प्रभाव पर निर्भर होती है तथा दूसरी ओर रोगी की प्रतिरोधशक्ति पर। यदि दंडाणुओं की संख्या अधिक हुई अथवा उनका घातक प्रभाव अधिक हुआ और रोगी की प्रतिरोध शक्ति न्यून हुई तो अत्यधिक निस्रवण होता है, जिसके फलस्वरूप चतुर्दिक् के ऊतक में शोफ (Oedema) हो जाता है, रोग फैल जाता है और फुफ्फुसीय प्रकार का क्षय उत्पन्न हो जाता है। यदि रोगी की प्रतिरोधशक्ति यथेष्ट हुई और गुलिकार्ति दंडाणुओं की संख्या तथा घातकता कम हुई तो प्रतिक्रिया का मुख्य लक्षण सूत्रण रोग (Fibrosis) होता है जिसे सूत्रणार्वुद (fibroid) प्रकार की गुलिकार्ति कहते हैं। इन दो चरम अवस्थाओं के मध्य में रोग की अवस्थाओं में अनेक प्रकार के भेद हो सकते हैं। जब एक गुलिका अच्छी हो जाती है तब उस स्थान पर या तो क्षतचिह्न का ऊतक रह जाता है, या कभी कभी, विशेषकर वालकों में, कैलसियम का निक्षेपण होता है। असाधारण अवस्था में पुरानी गुलिका के स्थान पर वास्तविक अस्थि का निर्माण होता है।

ऐलर्जी (Allergy) या प्रतिक्रियास्वरूप असहिष्णुता—इन शब्दों का प्रयोग गुलिकार्ति अथवा क्षय के संबंध में किया गया है। इनका अर्थ यह है कि ऐसी अवस्था उपस्थित है जिसमें जीवाणुओं के प्रति ऊतकों की प्रतिक्रिया परिवर्तित हो गई है। गुलिकार्ति (T. B.) के दंडाणुओं के आक्रमण के पश्चात इस अवस्था का विकास होता है। कहा गया है कि गुलिकार्ति केंद्रों में प्रस्रवण का यही कारण है और इसी से दंडाणुओं का प्रसार होता है। रिच (Rich) का विश्वास है कि ऐलर्जी से रोगी की हानि होती है। इस क्षेत्र के अन्य कार्यकर्ताओं का विश्वास है कि ऐलर्जी की वास्तविक भूमिका सुरक्षा की है। *यह गुलिकार्ति के चतुर्दिक् प्रदाह रूपी* प्रतिक्रिया को बढ़ाकर उनका प्रसरण रोकता है और उनके विनाश में सहायता पहुँचाता है। किंतु विज्ञ वैज्ञानिक अधिकतर प्रथम विचार से सहमत हैं।

इस प्रकार धीरे धीरे रोग की वृद्धि और दीर्घकाल तक जीवाणुओं के अज्ञात आक्रमण का अंत में फल यह होता है कि रोगी में गुलिकार्ति रोग प्रकट हो जाता है और लक्षणों से पहचाना जा सकता है। किंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि गुलिकार्ति से संक्रमित मनुष्यों की अधिकतर संख्या में गुलिकार्ति के लक्षणों का विकास नहीं होता, क्योंकि इनकी प्रतिरोध शक्ति आक्रमणकारी सूक्ष्म जीवों की संख्या और घातकता को रोकने के लिये यथेष्ट होती है। इसलिये मनुष्यों के दो समूहों में भेद करना

विंध्य, सतपुड़ा, नीलगिरि इत्यादि पर्वतों में, उत्तरी शीतोष्ण कटिबंध और दक्षिण अफ्रीका में भी यह वंश वितरित है।

इं० बॉलसैमिना (I. Balsamina) उत्तर भारत में प्रधान है। इसकी छह प्रजातियाँ बगीचों में लगाई जाती हैं, जिनके पुष्प लाल, गुलाबी

चित्र १. गुलमेंहदी का फूल (× १) चित्र २. गुलमेंहदी की फली का चटखना

और श्वेत होते हैं। हिमालय और चीन इसका मूलस्थान है। रोजिया प्रजाति पश्चिम हिमालय के जंगलों में अत्यधिक पाई जाती है। इसके बीज का तेल खाने और जलाने के काम में आता है। लाल फूलवाली इंपेशेन्स सुल्तानी (I. royeli) का मूल स्थान जंजिबार द्वीप है। इं० रायली (I. sultani) ऊँचा, सहनशील, सरस, लाल फूलवाला, एकवर्षीय, हिमालय का पौधा, ठंढे देशों के बगीचों में उगाया जाता है। इं० नोलिटौ-गियर इंग्लैंड में उगाया जाता है। इसी को छुई मुई (Touch-me-not) कहते हैं, क्योंकि इसके फूल छूते ही झटके से फट जाते हैं।

एक अथवा द्विवर्षी बरसाती पौधा, ½ से १ मीटर ऊँचा, तना सरस (succulent), न्यूनशाखीय, रंगविहीन अथवा हरित, नम्र प्रासवत पत्तियाँ ४–७ सें० लंबी, १½–३ सें० चौड़ी, आरा जैसा किनारा, ग्रंथित वृंत, एकांतरिक अथवा विपरीत दूरी पर स्थित। पुष्प सुंदर, गुलाबी, पीत और श्वेत, एकाकी या गुच्छों में, पर्णकोणस्थित। वाह्यदल तीन, सामने का औरों से बड़ा, दलाभ (petaloid), स्परपुटयुक्त (spurred) दल पाँच अथवा तीन, विभिन्न पुंकेसरों के परागकोप संयुक्त, इनसे वर्तिकाग्र आच्छादित; अंडाशय पाँच कोष्ठवाला, प्रत्येक कोष्ठ में तीन या अधिक लटकते अंडे। स्फोटीफल : ऊपर से झटके के साथ बीजों को प्रसारित करते समय पाँच लचीले टुकड़े लिपट जाते हैं। (रा० दे० मि०)

गुलाब रोजेसी कुल (Rosaceae) की रोसा प्रजाति का सदाबहार पौधा है। इसके फूल सुगंध, रूप, सौंदर्य और रंग में अद्वितीय हैं। इसका मूल स्थान भारत है। रोसा इंडिका (R. indica) और रोसा बेंगालेंसिस (R. bengalensis) इत्यादि वानस्पतिक नाम भी इस बात के द्योतक हैं। हिमालय की तराई और दक्षिणवर्ती इलाकों में यह नैसर्गिक रूप में पाया जाता है। रोसा प्रजाति के अंतर्गत इसके विशिष्ट गुणधर्म तथा आकार प्रकार का वैभिन्य इतना जटिल होता जा रहा है कि उसके आधार पर गुलाब के विभिन्न पौधों में पारस्परिक सामंजस्य स्थापित करना वनस्पतिज्ञों के लिये कठिन हो गया है। वनस्पतिज्ञों के बहुमतानुसार गुलाब की १०० से अधिक जातियाँ संभव है।

सुगंध और सौगंधिक तैल की दृष्टि से गिने चुने गुलाब ही महत्वपूर्ण हैं। संकर जातियों में से केवल निम्नलिखित तीन जातियों का उपयोग किया जाता है :

१. रोसा डैमैसिना मिल्ल० रूपक ट्राइगिंटिपीटला डाइक (Rosa damascena Mill. forma trigintipetala Dieck), जिसे अंग्रेजी में पिंक डैमस्क रोज (Pink damask rose) और हिंदी में चैती गुलाब कहते हैं। गंधांश अत्यधिक होने के कारण, इत्र और सौगंधिक तैल आसवन के लिये इसकी खेती की जाती है। भारत में अलीगढ़, जौनपुर, गाजीपुर, कन्नौज, अमृतसर तथा देवघर में इसकी खेती होती है। होली के लगभग इसकी मुख्य फसल प्रारंभ होकर एक मास में समाप्त हो जाती है। टर्की और बलगेरिया में भी इसकी खेती होती है। भारत में इन फूलों की वार्षिक खपत लगभग ४०० मीटरी टन कही जाती है।

२. रोसा डैमैसिना मिल्ल० भेद आल्वा लिन्न० (R. damascena Mill. var alba Linn.), जिसे अंग्रेजी में ह्वाइट कॉटेज रोज (White cottage rose) कहते हैं। यह सुगंध की दृष्टि से घटिया समझा जाता है। क्षुपिण्ड होने के कारण शीतप्रधान इलाकों में और चैती गुलाब के खेतों के चारों ओर झाड़ियों के रूप में लगाया जाता है।

३. रोसा सेंटिफोलिया लिन्न० (R. centifolia Linn.), जिसे रोसा गैल्लिका भेद सैंटिफोलिया कहते हैं। इसका अंग्रेजी नाम कैबेज रोज (Cabbage rose) है। भारत में कानपुर और कन्नौज के आसपास, फ्रांस में ग्रासे तथा मोरक्को में मुख्यतः इसकी खेती होती है। इसका गुलाबजल तथा गुलकंद बनाने में उपयोग होता है। फ्रांस में इससे गंध-सार तत्व बनाया जाता है। यह आसवन विधि से इत्र बनाने के उपयुक्त नहीं है।

उपर्युक्त तीनों किस्मों के पौधे होते है। क्रिमजन रैंब्लर (Crimson rambler) नामक गुलाब की लता होती है।

गुलाब की खेती के लिये आसपास की भूमि से ऊँची भूमि उपयुक्त होती है। खेत के आसपास पेड़ और उनकी छाया नहीं होनी चाहिए। खेतों की मिट्टी दुमट होनी चाहिए और उसमें बुझे चूने तथा गोबर पत्ती की कंपोस्ट खाद का पर्याप्त अंश डालना चाहिए। यदि मिट्टी में पानी को सोखकर बहा देने की क्षमता न हो तो जमीन को एक डेढ़ मीटर की गहराई तक खोद कर डेढ़ सौ से दो सौ मिलीο की गहराई तक कंकड़, ईंटा, कोयला इत्यादि से भरकर पानी के बहने का प्रबन्ध करना चाहिए। क्यारियों में मिट्टी भरने से पूर्व हड्डियों का चूरा और ऊपर गोबर पत्ती की कंपोस्ट खाद अच्छी तरह मिला देनी चाहिए। गुलाब के लिये प्रातःकालीन शीतल वायु, ओस तथा दोपहर से पूर्व की धूप लाभदायक होती है। कारखानों के धुएँ से गुलाब को दूर रखना चाहिए। घोड़े और सूअर की लीद, कबूतर की बीट, मछली और खली का उपयोग खाद के लिये किया जाता है, किंतु ये सभी दो वर्ष की पुरानी और सड़ी होनी चाहिए। वार्षिक कटाई छँटाई के समय पौधे की जड़ों को नंगाकर सूर्यस्नान कराना स्वास्थ्यकर होता है। आवश्यकतानुसार नियमित रूप से जल देना चाहिए। गुलाब के रोपने और प्रसरण के लिये कलम तथा चश्मा बाँधने की विधियों का प्रायः उपयोग होता है।

कुछ कीड़े, जैसे भिंनगा, दीमक, ग्रीन फ्लाई, लीफ रोलिंग, सॉ फ्ला इत्यादि, कुछ रोग जैसे गेरुई, पत्तियों पर काले रंग के गोल दाग और भ से बचाने के लिये पौधों पर यथासमय रासायनिक द्रवों का छिड़ करना चाहिए।

सं० ग्रं०—गुंथर, ई० : दि एसेंशियल ऑयल, वॉल्यूम ५, पृ० (१९५२), डी० वान्नास्ट्रैंड कंपनी इंक०, न्यूयार्क; नारायणस्वामी ऐंड विश्वास, के०: सर्वे ऑव रोजग्रो इंग सेंटर्स ऐंड रोज इंडस्ट्री इन काउंसिल ऑव साइंटिफिक ऐंड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली (१ सद्गोपाल : हिस्ट्री ऑव रोज, रोजवाटर ऐंड अतर ऑव रोज वॉल्यूम १४, नं० ११, पृ० २६५–३०२ (१९४९)।

गुलाब (आयुर्वेद में)—इसकी जातियाँ उद्यानज, गु अथवा श्वेतपुष्प लता सदृश फैलनेवाली तथा स्वावलंबी भेद की होती है। आयुर्वेद में इसके पौधे को तरुणी या शतपत्र इसके पुष्प कटुतिक्त, शीतवीर्य, हृद्य, सारक, शुक्रल, पा और रक्त के विकारों को दूर करनेवाले बतलाए गए होता है कि आयुर्वेदीय साहित्य में इसका प्रवेश बाद में चिकित्सा में इसका अधिक उपयोग बतलाया गया है। इ पुष्प सौमनस्यजनक, हृदय, मस्तिष्क, यकृत, आमाशय औ अधिक प्रमाण में अथवा ताजा देने से रेचक, थोड़े प्र

आजकल सामान्यतया प्रयुक्त होनेवाली तीन ओषधियाँ हैं : स्ट्रेप्टोमाइसीन, पी० ए० एस० (P. A. S.) तथा आइ० एन० एच० (I. N. H.)। इनमें से आइ० एन० एच० सर्वाधिक शक्तिशाली है। स्ट्रेप्टोमाइसीन का स्थान इसके पश्चात् आता है और पी० ए० एस० (P. A. S.) का सबसे अंत में। परंतु प्रमुख बाधा यह है कि इन ओषधियों के, विशेषकर आइ० एन० एच० के प्रति रोगाणुओं में अति शीघ्र प्रतिरोधशक्ति विकसित होती है। प्रतिरोध बचाने के उद्देश्य से एक ही समय पर कम से कम दो ओषधियाँ एक साथ दी जाती हैं। स्ट्रेप्टोमाइसीन अंतःपेशी सुइयों (I. M. Injection) द्वारा प्रति दिन एक ग्राम की मात्रा में दिया जाता है तथा आइ० एन० एच० प्रति दिन १०० से ४०० मिलीग्राम तक की मात्रा में और पी० ए० एस० प्रति दिन १० ग्राम की मात्रा में खिलाया जाता है। कोई भी दो ओषधियाँ एक साथ दी जाती हैं और यह संयोजन बहुधा तीन से लेकर छह माह तक के पश्चात् परिवर्तित कर दिया जाता है। ओषधि द्वारा उपचार न्यूनातिन्यून एक वर्ष से लेकर १० मास तक अविराम रूप से अवश्य होना चाहिए। विशेष अवस्थाओं में रोगी पर अपसन्न उपचार (Collapse measures) का प्रयोग या उसके रुग्ण फुफ्फुसों का पुनर्छेद (resection) किया जा सकता है। जब रोग का प्रसार कम होता है, विशेषतया जब वह एक स्थान में सीमित होता है, तब अपसन्न उपचार किया जा सकता है। यह प्रतिवर्ती (reversible) हो सकता है, जैसे पी० पी० (P. P.), जिसमें वायु उदर में डाली जाती है, या ए० पी० (A. P.) जिसमें वायु छाती में प्रविष्ट की जाती है। अपसन्न उपचार अप्रतिवर्ती (irreversible) भी होता है, जैसे थोरैकोप्लास्टी (Thoracoplasty) में। इसमें ऊपर की पसलियाँ हटा दी जाती हैं और शेष वक्ष की भित्ति अपसन्न फुफ्फुस पर आच्छादित कर दी जाती है। यहाँ पर रोग फुफ्फुस के एक खंड तक, या एक फुफ्फुस तक, सीमित होता है, जहाँ पर उस फुफ्फुस को ही निकाल देते हैं। आक्रांत फुफ्फुस के पुनर्छेद के पश्चात् बचा हुआ फुफ्फुस शरीर की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति सफलता के साथ कर लेता है।

निवारण—मनुष्यों में रोग का संसर्ग दो प्रमुख माध्यमों से होता है। प्रथम एवं अत्यधिक महत्वपूर्ण है रोगी मनुष्य से संक्रमण और द्वितीय है रोग से संक्रमित गाय के दूध का सेवन।

सभी रोगसंक्रमित व्यक्ति समान रूप से रोगसंचारी नहीं होते। दीर्घकालिक फुफ्फुस रोग से व्यथित रोगी, जिनके फुफ्फुस में गुहाएँ हो गई हैं, संभवतः सर्वाधिक घातक होते हैं, क्योंकि ऐसे रोगी गुलिकार्ति के दंडाणुओं से भरे हुए थूक को खाँसकर प्रचुर मात्रा में निकालते रहते हैं। इनकी प्रतिरोधशक्ति अपेक्षया अधिक होती है, फलतः ये वर्षों तक जीवित रहते हैं और घर पर ही रहने में समर्थ होते हैं। इस रोग के ऐसे रोगी भी होते हैं जिनके लक्षण क्षय के लक्षणों से नहीं मिलते, अतएव ठीक निदान नहीं हो पाता। ऐसे रोगियों के प्रति कोई रक्षात्मक कार्रवाई नहीं की जाती। इसलिये वे अपने घरों, पास पड़ोस के स्थानों तथा अपने संबंधियों एवं परिचितों को रोगसंक्रमित करते रहते हैं।

ऐसे व्यक्तियों को पृथक् रखने के लिये चिकित्सालयों या आरोग्यशालाओं अथवा क्षयगृहों में भर्ती कर देना चाहिए। यदि वे वहाँ भरती नहीं किए जा सकते, तो उन्हें ऐसे पृथक् कमरे में रखना चाहिए, जहाँ निस्संक्रमण का पूर्ण प्रबंध हो। उनका थूक अलग एकत्रित करते रहना चाहिए और अंत में उसे जला देना चाहिए। रोगी को पर्याप्त पोषक आहार मिलना चाहिए और उसका उपचार भी पर्याप्त रूप से होना चाहिए। ग्रांशे (Grancher) ने क्षय के रोगियों के घरों से शिशुओं को पृथक् रखने तथा उन्हें अन्य पालकों के साथ रखने का आग्रह किया है।

गुलिकार्ति के दंडाणुओं से गाय बैलों में रोगसंक्रमण की समस्या अत्यंत महत्वपूर्ण है। २० वर्ष पूर्व रोगसंक्रमित गौओं का दूध पीने से बालकों में गुलिकार्ति दंडाणुओं द्वारा रोग का संक्रमण स्काटलैंड में अत्यंत उग्र हो उठा था, परंतु अब दक्ष पास्चुरीकरण (Pasteurisation) तथा रोगी गायों के पृथक्करण से बालकों में पशुओं द्वारा रोगसंक्रमण अत्यल्प हो गया है। भारत में ऐसी गायों को पृथक् कर गोसदनों में रखा जाता है। यहाँ वे आजीवन अन्य पशुओं से रक्षित रहती हैं।

टीका द्वारा रक्षा की विधि—क्षयनिरोधक टीके (B. C. G) का सर्वप्रथम प्रयोग १९१२ में वाइल हेलें (Weil Helle) द्वारा किया गया था। अब वह समस्त विश्व में क्षयनाश का सार्थक साधन माना जाता है। टीके का वैक्सीन गाय बैलों की गुलिकार्ति के दंडाणुओं का तनु प्रभेद है। यह यक्ष्मा उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। यह उन्हीं लोगों को दिया जा सकता है जिनका गुलिकार्ति दंडाणुओं से रोगसंक्रमण नहीं हुआ है, क्योंकि हमारा ध्येय गुलिकार्ति दंडाणुओं के अनेक संभाव्य आपत्तियों से भरे प्राकृतिक संक्रमण के स्थान पर ऐसे बीजाणुओं का प्रवेश कराना है जो प्रतिरक्षा को तो विकसित होने देते हैं, किंतु कोई जटिलता नहीं उत्पन्न करते। अनेक राष्ट्रों, जैसे रूस, चेकोस्लोवेकिया, फिनलैंड तथा नॉर्वे में क्षयनिरोधक टीका लगवाना विधान द्वारा अनिवार्य कर दिया गया है। यह या तो शिशुओं को दूध में पिलाया जा सकता है या अंतःत्वचीय (intracutaneous) सुइयों द्वारा शरीर में प्रविष्ट किया जा सकता है। अंतिम विधि का प्रयोग अधिकतर होता है।

शाद्वलमूष दंडाणु वैक्सीन (Vole Bacillus Vaccine) के प्रयोग का प्रारंभ डा० ए० क्यू० वेल्स द्वारा किया गया था। इन्होंने सन् १९३७ में शाद्वलमूष दंडाणुओं का आविष्कार किया था। डा० वेल्स का दावा था कि शाद्वलमूष दंडाणु क्षयनिरोधक टीके से श्रेयस्कर है, क्योंकि क्षयनिरोधक टीके के विपरीत ये प्राकृतिक रूप में पाए जाते हैं और मनुष्यों को हानि नहीं पहुँचाते। किंतु अभी इंग्लैंड, अफ्रीका और प्राग में इनकी परीक्षा की जा रही है।

रसायनी रोगनिरोधन—नियमित अंतराल के पश्चात् ओषधि की अल्प मात्राएँ लेते रहकर रोगसंक्रमण का निरोध करने की धारणा नवीन नहीं है। मलेरिया ज्वर का आना कुनैन (Quinine) इत्यादि ओषधियों की नियमित मात्रा के सेवन से रोका गया है। ब्लॉक (Bloch) एवं सेगल (सन् १९५५) तथा फार्वी एवं पामर (सन् १९५६) के अन्वेषणों ने इसी प्रकार के प्रतिकारकों का यक्ष्मा में भी प्रयोग करने की उत्तेजना दी है। संप्रति अमरीका, फ्रांस तथा स्कैंडिनेविया प्रदेशों में शिशुओं पर रसायनी रोगनिरोधन (chemo-prophylaxis) की परीक्षा की जा रही है। उन्हें नियमित अंतरालों के पश्चात् आइ० एन० एच० की अल्प मात्राएँ दी जाती हैं। ऐसा देखा गया है कि समान परिस्थितियों में रहनेवाले अन्य बालकों की अपेक्षा ऐसे शिशुओं में क्षय रोग के संक्रमण की घटनाएँ अत्यल्प संख्या में हुई।

सामान्य उपाय—क्षय अवश्यमेव सूचनीय रोग माना जाना चाहिए। मैकडूगल (Mc Dougall) के अनुसार अधिसूचना संबंधी अधिनियम लगभग ५० देशों में बने हुए हैं। परंतु यह अत्यंत दुःख की बात है कि इन नियमों के होते हुए भी बहुत से रोगियों की सूचना नहीं दी जाती। क्षय के किसी रोगी का पता चलने पर यह ज्ञात करना अनिवार्य हो जाना चाहिए कि उसे रोग का संक्रमण कहाँ से हुआ और स्वयं इस रोगी ने अन्य कितने लोगों को रोगसंक्रमित किया है। क्षयनिरोध के लिये संपर्कपरीक्षा विद्यालय के भिषगों (डाक्टरों) द्वारा विद्यालयों का निरीक्षण नियमित रूप से अवश्य करना चाहिए। दूध का भी पूर्वपरीक्षण किया जाना चाहिए। यदि दूध को उबालकर पीने के अभ्यास को सर्वमान्य किया जा सके तो यह अत्युत्तम होगा।

क्षय-निरोध-योजना—१९वीं शताब्दी के अंत में सर रॉबर्ट फ़िलिप ने इंग्लैंड में निम्नलिखित क्षय-निरोध-योजना संगठित की है। संपूर्ण दल में निम्नलिखित अंग होते हैं : १. वक्ष निदानगृह, २. क्षय चिकित्सालय, ३. क्षय आरोग्यशाला, ४. पुनःस्थापना केंद्र तथा ५. क्षय शरणालय।

वक्ष निदानगृहों के कार्य : १. गृह की पारिपार्श्विक अवस्थाओं का पर्यवेक्षण, २. आरब्धमान् रोगियों का अन्वेषण, ३. अन्य संस्थाओं के रोगियों का अन्वेषण, ४. वास्तविक रोगियों का उपचार, ५. संपर्कपरीक्षा तथा ६. क्षयनिरोधक टीके का देना।

क्षय अस्पताल: इनमें क्षय के केवल उन्हीं रोगियों को भर्ती किया जाता है जिनका रोग या तो निष्क्रिय किया जा सकता है, या रसायन चिकित्सा अथवा शल्य प्रणाली से दूर किया जा सकता है। प्रत्यक्ष है कि

रीजेन्ह स्टेन स्चूरे उनके शिक्षक थे। लिंकपिंग के पादरी द्वारा घर पर शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्हें उपसाला विश्वविद्यालय में दाखिल किया गया। १५१६ में वह अतिथि के रूप में डेनमार्क गए जहाँ चार्ल्स (द्वितीय) ने धोखे से उन्हें बंदी बना लिया। वह उनकी कैद से भाग निकले और स्वीडेन पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही स्टाकहाम के हत्याकाड की खबर मिली। वहाँ उनके पिता की हत्या कर दी गई थी। अपने पिता की हत्या का बदला लेने का दृढ़ निश्चय कर उन्होंने स्काटलैंड के किसानों को उभाड़ा। किंतु सफलता नहीं मिली। बाद में दक्षिणी स्वीडेन की जनता ने उनके नेतृत्व में डेनमार्क को हराने में सफलता प्राप्त की। ६ जून, १५२३ को स्टागनाश में सिनेट ने उन्हें स्वीडेन का राजा चुना।

उनके शासनकाल में स्वीडेन के पड़ोसी देशों के साथ शांतिपूर्ण संबंध बने रहे और उन्होंने स्वीडेन को सयुक्त तथा शक्तिशाली राज्य बनाकर बाहरी आधिपत्य से मुक्त किया। व्यापार और उद्योग की उन्नति कर स्वीडेन की आर्थिक अवस्था एवं शासनव्यवस्था को सुदृढ़ बनाया। अपने महान् प्रयत्नों के कारण गुस्ताउस (प्रथम) स्वीडेन की स्वतंत्रता के संस्थापक कहे जाते हैं। २० सितंबर, १५६० को स्टाकहोम में उनकी मृत्यु हो गई।

उनका व्यक्तित्व बहुत ही सुंदर और आकर्षक था। वह बहुत पढ़े लिखे तो नहीं थे परंतु बड़ा सूझबूझ तथा विचारों के धनी शासक थे। उनकी स्मरणशक्ति अच्छी थी और वह बहुत परिश्रमी थे। वह श्रद्धासंपन्न व्यक्ति थे, उनका नैतिक जीवन बड़ा पवित्र था।

गुस्ताउस (द्वितीय) (१५९४–१६३२ ई०) इनका जन्म ९ दिसंबर, १५९४ को स्टाकहोम कैसिल में हुआ था। वह चार्ल्स चतुर्थ के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनको प्रोटेस्टैंट संप्रदाय की शिक्षा दीक्षा बहुत सावधानी से दी गई थी। वह भाषाविज्ञान और साहित्य के विशेषज्ञ थे। स्वीडी और जर्मनी दोनों उनकी मातृभाषाएँ थीं। १२ वर्ष की ही अवस्था में उन्होंने लातीनी, इतालवी और डच भाषाओं में प्रवीणता प्राप्त कर ली, तदनंतर उन्होंने स्पेनी, रूसी और पोल भाषाओं का अध्ययन किया। उनके पिता उनका विकास राजकुमार के रूप में करना चाहते थे इसलिये नौ वर्ष की अवस्था में ही उनको सार्वजनिक जीवन के संपर्क में लाया गया। १३ वर्ष की आयु में मंत्रियों के साथ उन्होंने शासन के संबंध में विचार विनिमय करना शुरू कर दिया था। १५ वर्ष की आयु में वेस्टमानलैंड में उन्होंने शासनसूत्र सँभाला और राजगद्दी से सिनेट का उद्घाटन करते हुए प्रभावशाली भाषण किया। इस प्रकार शासन के सभी क्षेत्रों में उन्होंने पहले से ही दक्षता प्राप्त कर ली और १६११ में जब वह राजगद्दी पर बैठे तो अपनी विशेष शासनकुशलता का परिचय दिया।

१६१३ के कालमार युद्ध में डेनमार्क को पराजित किया। रूस की राजगद्दी पर स्वीडेन का आधिपत्य कायम करने के लिये उसपर आक्रमण किया लेकिन असफल रहे। १६२१ में लिवोविया प्रदेश को हस्तगत करने के लिये पोलैंड पर आक्रमण किया पर पोलैंड से हार गए। लेकिन १६२९ की संधि से उन्हें अभीप्सित प्रदेश मिल गया। उन्होंने १६२८ में जर्मनी के तीस वर्षीय युद्ध में हस्तक्षेप कर पोलैंड की सुरक्षा के रूप में जर्मनी के एक प्रदेश को प्राप्त करना चाहा। १६२९ में उसकी सेनाएँ पीनेमंड में उतरीं और उन्होंने मित्रता चाही लेकिन ब्रांडेनबर्ग और सैक्सनी ने इनकार कर दिया।

सैक्सनी के जार्ज के सहयोग से कैथोलिक लीग की सेनाओं का नेतृत्व करनेवाले टिली के काउंट पर आक्रमण कर १७ सितंबर, १६३१ को उसे ब्रिटनफेल्ड स्थान पर पराजित किया। वह जर्मनी होते हुए मेंत्स पहुँचे और टिली को बुरी तरह पराजित किया : लेकिन वालेंस्टीन से उनका कड़ा मुकाबला हुआ और ६ नवंबर, १६३२ को प्रातःकाल के धुंधले वातावरण में उसने आक्रमण किया परंतु खुद गोली का शिकार बन गया।

गुस्ताउस अपने सैन्यसंचालन की कुशलता के लिये ही प्रसिद्ध हैं किंतु स्वीडेन की संसद् का पुनर्गठन, स्वीडिश व्यापार कंपनी की स्थापना और लघु उद्योगों के विकास में उनकी प्रशासनिक योग्यता का भी परिचय मिलता है।

गुस्ताउस (तृतीय) (१७४६–१७९२ ई०) अडोलफस फ्रेडरिक के ज्येष्ठ पुत्र। इनका जन्म २४ जनवरी, १७४६ को हुआ। स्वीडेन के दो विख्यात राजनीतिज्ञों की देखरेख में उनकी शिक्षा दीक्षा हुई। उनकी नैसर्गिक प्रतिभा तथा गुणों ने सबको आश्चर्य में डाल दिया था। उनकी तेजस्विता बाल्यावस्था में प्रकट होने लग गई थी। ४ जून, १७६६ को उनकी शादी डेनमार्क के फ्रेडरिक पंचम की लड़की मैगडालन से हुई।

१७७१ में वह राजगद्दी पर बैठे। अगस्त, १७७२ में स्वीडेन में राज्यक्रांति हुई और १७७२ से १७९२ तक उन्होंने एकतंत्र शासन चलाया और अनेक प्रकार के सुधार किए। १८वीं शती के प्रारंभ में जो सांस्कृतिक चेतना जागी थी उसको और आगे बढ़ाया। किसानों को कानूनी संरक्षण दिया। राज्य में अस्पताल कायम किए। संविधान को नया रूप दिया।

राष्ट्रीय संबंधों में उन्होंने शांति कायम रखी। जब १७८९ में रूस का तुर्की के साथ युद्ध शुरू हुआ तब उन्होंने मौका देखकर रूस पर आक्रमण कर दिया परंतु विश्वासघात और फिनलैंड में सैनिकद्रोह के कारण सफल नहीं हो सके। अक्टूबर, १७९१ में बहुत दिनों से चले आ रहे एक षड्यंत्र के फलस्वरूप वह रायल आपेरा हाउस में गोली का शिकार हो गए।

यद्यपि गुस्ताउस पर अनेक दोषारोपण किए जाते हैं, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि १८वीं सदी के वह एक महान् अधिपति थे। यह उनका दुर्भाग्य था कि उन्हें अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का मौका नहीं मिला और मिला भी तो बहुत देर से। वह यशस्वी लेखक थे। उन्हें स्वीडेन की नाटचकला का प्रवर्तक कहा जा सकता है। उनको अपने देश के साहित्य में सर्वोत्तम नाटक लिखने का यश प्राप्त है। उनके ऐतिहासिक निबंध भावनाओं से भरे हुए एवं उदात्त शैली में लिखे गए हैं। मित्रों को लिखे गए उनके पत्र मधुर एवं रोचक हैं। साहित्य एवं कला में उनकी विशेष रुचि थी। अपने समय के कवियों और कलाकारों को उन्होंने सहानुभूतिपूर्ण संरक्षण दिया। (स० वि०)

गुहाटी द्र० 'गौहाटी'।

गुहिलोत एक राजवंश। गुहिलपुत्र शब्द का अपभ्रष्ट रूप। कुछ विद्वान् उन्हें मूलतः ब्राह्मण मानते हैं, किंतु वे स्वयं अपने को सूर्यवंशी कहते हैं जिसकी पुष्टि पृथ्वीराजविजय काव्य से होती है। मेवाड़ के दक्षिणी पश्चिमी भाग से उनके सबसे प्राचीन अभिलेख मिले हैं। अतः वहीं से मेवाड़ के अन्य भागों में उनका विस्तार हुआ होगा। गुह के बाद भोज, महेंद्रनाथ, शील और अपराजित गद्दी पर बैठे। कई विद्वान् शील या शीलादित्य को ही बप्प मानते हैं। अपराजित के बाद महेंद्रभट और उसके बाद कालभोज राजा हुए। गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने कालभोज को चित्तौड़ दुर्ग का विजेता बप्प माना है। किंतु यह निश्चित करना कठिन है कि वास्तव में बप्प कौन था। कालभोज के पुत्र खोम्माण के समय अरब मेवाड़ तक पहुँचे। अरब आक्रांताओं को पीछे हटानेवाले इन राजा को देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने बप्प मानने का सुझाव दिया है।

कुछ समय तक चित्तौड़ प्रतिहारों के अधिकार में रहा और गुहिलोत उनके अधीन रहे। भर्तृपट्ट द्वितीय के समय गुहिलोत फिर सशक्त हुए और उनके पुत्र अल्लट (वि० सं० १०२४) ने राजा देवपाल को हराया जो डा० ओझा के मतानुसार इसी नाम का प्रतिहार सम्राट् रहा होगा। सारणेश्वर के शिलालेख से सिद्ध है कि मेवाड़ राज्य इसके समय में खूब समृद्ध था। इसका प्रपौत्र शक्तिकुमार संवत् १०३४ में वर्तमान था। इसका अंतिम राजा अंबाप्रसाद साँभर के चौहान राजा वाक्पति द्वितीय के हाथों मारा गया और कुछ समय के लिये मेवाड़ में कुछ अराजकता सी रही।

सन् १११६ में विजयसिंह गद्दी पर वर्तमान था। उसने मालवराज उदयादित्य की लड़की से शादी की और अपनी लड़की अल्हणदेवी का विवाह कलचुरि राजा गयकर्ण से किया। उससे तीन पीढ़ी बाद रणसिंह हुआ जिसके एक पुत्र क्षेमसिंह के वंशज रावल और दूसरे पुत्र राहप के वंशज राणा कहलाए। क्षेमसिंह के ज्येष्ठ पुत्र सामंतसिंह ने गुजरात के

ऐसे अस्पतालो मे आधुनिकतम शल्य प्रणाली का प्रयोग करने की सुविधाएँ होनी चाहिए। इन अस्पतालो मे रोगियो का वासकाल न्यूनतम होना चाहिए जिससे अन्य रोगियो को भी चिकित्सा का अवसर प्राप्त हो सके।

क्षय आरोग्यशाला . ये निवासगृह ऐसी संस्थाएँ है जहाँ रोगियो का केवल उपचार ही नही होता वरन् उन्हें समाज और जीवन मे स्वावलंबी होकर पुन प्रतिस्थापित होने का प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

पुनःप्रतिस्थापन केंद्र : इनमे भूतपूर्व रोगियो को उद्योग की विभिन्न शाखाओ मे प्रशिक्षित किया जाता है, जिससे वे अच्छी नौकरियाँ प्राप्त करने के योग्य हो जायँ।

क्षय शरणालय : इनमे क्षय के ऐसे रोगी रखे जाते है जो नीरोग नही किए जा सकते और जिन्हें अपने घरों मे रहने देने से रोग अन्य लोगो को फैलता ही जाता है। इन रोगियो का न्यूनतम उपचार किया जाता है और ये मृत्युपर्यंत यहाँ रहते है।

प्राचीन भारत मे क्षय रोग—वेदो के प्रकाश मे आने के पहले से ही संभवत भारत मे क्षय रोग विद्यमान था, क्योकि ऋग्वेद मे क्षय का ही राजयक्ष्मा के नाम से वर्णन आता है। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यह रोग देवताओ की ओर से उदासीन रहने के फलस्वरूप उनके प्रकोप का फल होता था।

आयुर्वेद के जनक सुश्रुत ने क्षय के लक्षणो के विषय मे विस्तार से लिखा है। रोगलक्षण, फलानुमान तथा उपचार का उनके ग्रथ मे दिया गया परिशुद्ध वर्णन विस्मयकारी है। उनका विश्वास था कि यह रोग वायु, पित्त तथा कफ के विक्षोभ के कारण होता है।

अर्वाचीन भारत मे क्षय रोग—भारत आज ससार मे इस रोग से सर्वाधिक पीडित राष्ट्र है। बील (सन् १९४७) के कथनानुसार इस रोग से होनेवाली मृत्यु तथा अस्वस्थता की अधिकता के निम्नलिखित कारण हैं .

१. औसत आय प्रति व्यक्ति प्रति मास लगभग सात रुपए है।

२. कुछ प्रकार के भोजनो पर धार्मिक प्रतिबंध होने के कारण आहार असतुलित रहता है।

३. नगर तथा बाजारो मे अस्वास्थ्यकारी तथा अत्यधिक जनसख्या-वाली परिस्थितियाँ रोगसक्रमण के प्रसार के लिये बडी अनुकूल है।

४. जहाँ हो वहीं थूकने का विवेकशून्य सर्वव्यापी स्वभाव।

५. दरिद्र गृह एव वस्त्र, ऋतुओ के कष्ट तथा हानियो से, यथोचित रक्षा नही कर पाते।

६. दुर्भिक्ष, बाढ तथा विकलागकारी रोग, जैसे मलेरिया, आमातिसार, कालाआजार इत्यादि आक्रांत मनुष्यो की प्रतिरोधशक्ति को कम कर देते हैं।

सन् १९५५ से भारतवर्ष मे कुछ सर्वेक्षण किए जा रहे है। इनके अतर्गत रोगियो का एक्स-रे परीक्षण तथा जिनके फुफ्फुसो मे असाधारण तथा सार्थक प्रतिच्छायाएँ दिखाई दें उनकी जीवाणुपरीक्षा भी समिलित है। निदर्शन द्वारा समूहो का चुनाव किया गया था और न्यूनातिन्यून ९० से ९५ प्रति शत समूहपरीक्षण के लिये प्रस्तावित किए जाते हैं। सर्वेक्षण के लिये चुने गए नगरो मे कलकत्ता, दिल्ली, हैदराबाद, मदनपल्ली, मद्रास, पटना तथा त्रिवेंद्रम समिलित हैं। प्राप्त प्रयोगात्मक अको से प्रकट होता है कि इन क्षेत्रो मे प्रति हजार व्यक्तियो मे से सात से लेकर ३० व्यक्ति तक रोगग्रस्त है। पुरुषों की अपेक्षा नारियों की अस्वस्थता न्यून है तथा आयु के साथ साथ अस्वस्थता बराबर बढती जाती है। पाँच से लेकर ३४ वर्ष तक की आयुवाले व्यक्तियो की अपेक्षा ३५ वर्ष तथा उससे अधिक आयुवाले व्यक्तियो मे रोग अत्यधिक पाया गया। विभिन्न क्षेत्रो मे प्रति हजार व्यक्तियो मे से एक से लेकर ११ व्यक्तियों तक के थूक क्षयरोग के जीवाणुओ से युक्त पाए गए है।

सं० ग्र०—बील, जे० आर० बुलेटिन, एन० ए० पी० टी० (१९४७), लदन, पृष्ठ ९०; बेंजामिन, पी० वी० . इंडियन मेडिकल गजेट (१९३९), -४, पृष्ठ ५१९, ब्लॉक एच० ऐंड सेगल, डब्ल्यू० · अमेरिकन रिव्यू ऑव ट्युबर्क्युलोसिस, ७३-१, जी० ९८ अवर्ग; एस० फिलिप, वी० के० सिकद तथा राजनारायण . प्रोसीडिंग्ज ऑव ट्युबर्क्युलोसिस वर्क्स कान्फरेंस (१९५२), लखनऊ, नमश पृष्ठ १०४, पृष्ठ १२६, पृष्ठ ११३ तथा ११६; रिच, ए० आर० पैथोजेनेसिस ऑव ट्युबर्क्युलोसिस, सेकेंड एडिशन (१९५१), यू० एस० ए०। (रा० ना० ८०)

गुलिस्ताँ १. पश्चिमी पाकिस्तान स्थित उत्तरी बिलोचिस्तान का एक गाँव है जो क्वेटा नगर से ४० मील उत्तर-पश्चिम स्थित है। १२ अक्टूबर, १८६३ को यहाँ ईरान और रूस के बीच एक सधिपत्र पर हस्ताक्षर हुए थे जिसके द्वारा रूस को ईरान से जार्जिया तथा समीपवर्ती जिले मिल गए थे। (रा० ना० मा०)

२. शेखसादी कृत फारसी का विख्यात काव्य। (प० ला० गु०)

गुलेड्गुड्ड (गुलेड्गढ) कर्णाटक राज्य के बीजापुर जनपद मे बादामी ताल्लुक का एक ऐतिहासिक स्थान जो बादामी से नौ मील उत्तर-पूर्व स्थित है (स्थिति . १६°३' उ० अ० ७५°४७' पू० दे०)।

१५८० ई० मे बीजापुर के शाह इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय ने यहाँ एक किले का निर्माण कराया। १७०६ ई० मे सुदर झील के तट पर इस नगर की स्थापना हुई लेकिन कुछ वर्षो बाद ही (१७५० ई०) रस्तिया वर्ग के एक अफसर ने इसे घेर लिया और लूटा खसोटा। १७८७ ई० मे यह टीपू सुल्तान के अधीनस्थ हो गया और तदनतर मराठों की लूटपाट के कारण यहाँ के निवासी नगर छोड़कर भाग गए। देसाई परिवार के प्रभाव से लोग आकर पुन. बसे लेकिन दुर्भाग्यवश नरसिंह नामक आततायी ने इसे पुन. लूटा खसोटा और नगरनिवासियों को पुन. पलायन करना पडा। १८१८ ई० मे, देसाई परिवार के आग्रह तथा सहयोग से जेनरल मुनरो ने निवासियो को पुनःस्थापित किया।

यहाँ सूती तथा रेशमी कपड़े तैयार किए जाते है और शोलापुर, बबई, पूना आदि नगरो को निर्यात होते है। कस्बे के पास ही कीमती पत्थरों की खदानें भी हैं। (का० ना० सिं०)

गुलेरी, चद्रधर शर्मा (१८८३–१९२० ई०) हिंदी के प्रख्यात कहानी एव निबधकार। आरभ मे आप अजमेर के मेयो कालेज से अध्यापक रहे तदनतर काशी विश्वविद्यालय मे संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाध्यापक बने। आप संस्कृत के प्रकाड पडित और अँगरेजी के अच्छे जानकार थे। आपने कुल तीन ही कहानियाँ लिखी थी। पहली कहानी 'सुखमय जीवन' १९११ ई० मे भारत मित्र मे छपी थी। इसके चार वर्ष बाद १९१५ मे आपकी सुविख्यात कहानी 'उसने कहा था' सरस्वती प्रकाशित हुई। यह कहानी हिंदी कहानी की शिल्प विधि तथा विषय के विकास की दृष्टि से एक 'खूंट' कही जाती है। इसमे प्राकृत [illegible] मे प्रेम के सूक्ष्म एव उदात्त स्वरूप की मार्मिक अभिव्यक्ति है। आपकी तीसरी कहानी है 'बुद्धू का काँटा'। निबधकार के रूप मे आपकी अ[illegible] एक विशिष्ट शैली थी। पाडित्यपूर्ण हास तथा अर्थगत वक्रता उन[illegible] विशेषता है। आपने जयपुर से १९०० ई० मे समालोचक नामक [illegible] का भी सपादन किया था। आपकी मृत्यु १९२० ई० मे हुई। (प० ला० गु

गुवार एक प्रकार की दाल जिसे केवाँच भी कहते है। इसका प्र[illegible] दाल की अपेक्षा कच्ची फली की अवस्था मे तरकारी के रूप मे वि[illegible] होता है। यह मूलत. भारतीय सब्जी है किंतु १९०० ई० के लग[illegible] इसका प्रचार दक्षिण पश्चिमी अमरीका मे भी हुआ और वहाँ इसकी बडे पैमाने पर होती है और वहाँ उसका उपयोग कागज बनाने तथा [illegible] पर माडी देने के लिये किया जाता है। इसके आटे का उपयोग अनेक पदार्थों मे किया जाता है। (प० ला० [illegible]

गुस्ताउस (प्रथम) (१४९६–१५६० ई०) स्वीडेन नरेश। [illegible] डेनमार्क की पराधीनता से अपनी जनता को मुक्त कराया। उ[illegible] जन्म लिंडहोम मे १२ जून, १४९६ को हुआ था। स्वीडेन के

रीजेन्ह् स्टेन स्तूरे उनके शिक्षक थे। लिकपिंग के पादरी द्वारा घर पर शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्हें उपसाला विश्वविद्यालय में दाखिल किया गया। १५१६ में वह अतिथि के रूप में डेनमार्क गए जहाँ चार्ल्स (द्वितीय) ने धोखे से उन्हें बंदी बना लिया। वह उनकी कैद से भाग निकले और स्वीडेन पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही स्टाकहोम के हत्याकांड की खबर मिली। वहाँ उनके पिता की हत्या कर दी गई थी। अपने पिता की हत्या का बदला लेने का दृढ़ निश्चय कर उन्होंने स्काटलैंड के किसानों को उभाड़ा। किंतु सफलता नहीं मिली। बाद में दक्षिणी स्वीडेन की जनता ने उनके नेतृत्व में डेनमार्क को हराने में सफलता प्राप्त की। ६ जून, १५२३ को स्टागनाश में सिनेट ने उन्हें स्वीडेन का राजा चुना।

उनके शासनकाल में स्वीडेन के पड़ोसी देशों के साथ शांतिपूर्ण संबंध बने रहे और उन्होंने स्वीडेन को संयुक्त तथा शक्तिशाली राज्य बनाकर बाहरी आधिपत्य से मुक्त किया। व्यापार और उद्योग की उन्नति कर स्वीडेन की आर्थिक अवस्था एवं शासनव्यवस्था को सुदृढ़ बनाया। अपने महान् प्रयत्नों के कारण गुस्ताउस (प्रथम) स्वीडेन की स्वतंत्रता के संस्थापक कहे जाते हैं। २० सितंबर, १५६० को स्टाकहोम में उनकी मृत्यु हो गई।

उनका व्यक्तित्व बहुत ही सुंदर और आकर्षक था। वह बहुत पढ़े लिखे तो नहीं थे परंतु बड़ी सूझबूझ तथा विचारों के धनी शासक थे। उनकी स्मरणशक्ति अच्छी थी और वह बहुत परिश्रमी थे। वह श्रद्धासंपन्न व्यक्ति थे, उनका नैतिक जीवन बड़ा पवित्र था।

गुस्ताउस (द्वितीय) (१५९४–१६३२ ई०) इनका जन्म ९ दिसंबर, १५९४ को स्टाकहोम कैसिल में हुआ था। वह चार्ल्स चतुर्थ के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनको प्रोटेस्टैंट संप्रदाय की शिक्षा दीक्षा बहुत सावधानी से दी गई थी। वह भाषाविज्ञान और साहित्य के विशेषज्ञ थे। स्वीडी और जर्मनी दोनों उनकी मातृभाषाएँ थीं। १२ वर्ष की ही अवस्था में उन्होंने लातीनी, इतालवी और डच भाषाओं में प्रवीणता प्राप्त कर ली, तदनंतर उन्होंने स्पेनी, रूसी और पोल भाषाओं का अध्ययन किया। उनके पिता उनका विकास राजकुमार के रूप में करना चाहते थे इसलिये नौ वर्ष की अवस्था में ही उनको सार्वजनिक जीवन के संपर्क में लाया गया। १३ वर्ष की आयु में मंत्रियों के साथ उन्होंने शासन के संबंध में विचार विनिमय करना शुरू कर दिया था। १५ वर्ष की आयु में वेस्टमानलैंड में उन्होंने शासनसूत्र सँभाला और राजगद्दी से सिनेट का उद्घाटन करते हुए प्रभावशाली भाषण किया। इस प्रकार शासन के सभी क्षेत्रों में उन्होंने पहले से ही दक्षता प्राप्त कर ली और १६११ में जब वह राजगद्दी पर बैठे तो अपनी विशेष शासनकुशलता का परिचय दिया।

१६१३ के कालमार युद्ध में डेनमार्क को पराजित किया। रूस की राजगद्दी पर स्वीडेन का आधिपत्य कायम करने के लिये उसपर आक्रमण किया लेकिन असफल रहे। १६२१ में लिवोनिया प्रदेश को हस्तगत करने के लिये पोलैंड पर आक्रमण किया पर पोलैंड से हार गए। लेकिन १६२९ की संधि से उन्हें अभीप्सित प्रदेश मिल गया। उन्होंने १६२८ में जर्मनी के तीस वर्षीय युद्ध में हस्तक्षेप कर पोलैंड की सुरक्षा के रूप में जर्मनी के एक प्रदेश को प्राप्त करना चाहा। १६२९ में उसकी सेनाएँ पीनेमंड में उतरीं और उन्होंने मित्रता चाही लेकिन ब्रांडेनबर्ग और सैक्सनी ने इनकार कर दिया।

सैक्सनी के जार्ज के सहयोग से कैथोलिक लीग की सेनाओं का नेतृत्व करनेवाले टिली के काउंट पर आक्रमण कर १७ सितंबर, १६३१ को उसे ब्रिटनफोल्ट स्थान पर पराजित किया। वह जर्मनी होते हुए मेंत्स पहुँचे और टिली को बुरी तरह पराजित किया : लेकिन वालेंस्टीन से उनका कड़ा मुकाबला हुआ और ६ नवंबर, १६३२ को प्रातःकाल के धुंधले वातावरण में उसने आक्रमण किया परंतु खुद गोली का शिकार बन गया।

गुस्ताउस अपने सैन्यसंचालन की कुशलता के लिये ही प्रसिद्ध है किंतु स्वीडेन की संसद् का पुनर्गठन, स्वीडिश व्यापार कंपनी की स्थापना और लघु उद्योगों के विकास में उनकी प्रशासनिक योग्यता का भी परिचय मिलता है।

गुस्ताउस (तृतीय) (१७४६–१७९२ ई०) अडोल्फस फ्रेडरिक के ज्येष्ठ पुत्र। इनका जन्म २४ जनवरी, १७४६ को हुआ। स्वीडेन के दो विख्यात राजनीतिज्ञों की देखरेख में उनकी शिक्षा दीक्षा हुई। उनकी नैसर्गिक प्रतिभा तथा गुणों ने सबको आश्चर्य में डाल दिया था। उनकी तेजस्विता बाल्यावस्था में प्रकट होने लग गई थी। ४ जून, १७६६ को उनकी शादी डेनमार्क के फ्रेडरिक पंचम की लड़की मैगडालेन से हुई।

१७७१ में वह राजगद्दी पर बैठे। अगस्त, १७७२ में स्वीडेन में राज्यक्रांति हुई और १७७२ से १७९२ तक उन्होंने एकतंत्र शासन चलाया और अनेक प्रकार के सुधार किए। १८वीं शती के प्रारंभ में जो सांस्कृतिक चेतना जागी थी उसको और आगे बढ़ाया। किसानों को कानूनी संरक्षण दिया। राज्य में अस्पताल कायम किए। संविधान को नया रूप दिया।

राष्ट्रीय संबंधों में उन्होंने शांति कायम रखी। जब १७८९ में रूस का तुर्की के साथ युद्ध शुरू हुआ तब उन्होंने मौका देखकर रूस पर आक्रमण कर दिया परंतु विश्वासघात और फिनलैंड में सैनिकद्रोह के कारण सफल नहीं हो सके। अक्टूबर, १७९१ में बहुत दिनों से चले आ रहे एक षड्यंत्र के फलस्वरूप वह रायल आपेरा हाउस में गोली का शिकार हो गए।

यद्यपि गुस्ताउस पर अनेक दोषारोपण किए जाते हैं, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि १८वीं सदी के वह एक महान् अधिपति थे। यह उनका दुर्भाग्य था कि उन्हें अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का मौका नहीं मिला और मिला भी तो बहुत देर से। वह यशस्वी लेखक थे। उन्हें स्वीडेन की नाट्यकला का प्रवर्तक कहा जा सकता है। उनको अपने देश के साहित्य में सर्वोत्तम नाटक लिखने का यश प्राप्त है। उनके ऐतिहासिक निबंध भावनाओं से भरे हुए एवं उदात्त शैली में लिखे गए हैं। मित्रों को लिखे गए उनके पत्र मधुर एवं रोचक हैं। साहित्य एवं कला में उनकी विशेष रुचि थी। अपने समय के कवियों और कलाकारों को उन्होंने सहानुभूतिपूर्ण संरक्षण दिया। (स० वि०)

गुहाटी द्र० 'गौहाटी'।

गुहिलोत एक राजवंश। गुहिलपुत्र शब्द का अपभ्रष्ट रूप। कुछ विद्वान् उन्हें मूलतः ब्राह्मण मानते हैं, किंतु वे स्वयं अपने को सूर्यवंशी कहते हैं जिसकी पुष्टि पृथ्वीराजविजय काव्य से होती है। मेवाड़ के दक्षिणी पश्चिमी भाग से उनके सबसे प्राचीन अभिलेख मिले हैं। अतः वहीं से मेवाड़ के अन्य भागों में उनका विस्तार हुआ होगा। गुह के बाद भोज, महेंद्रनाथ, शील और अपराजित गद्दी पर बैठे। कई विद्वान् शील या शीलादित्य को ही बप्प मानते हैं। अपराजित के बाद महेंद्रभट और उसके बाद कालभोज राजा हुए। गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने कालभोज को चित्तौड़ दुर्ग का विजेता बप्प माना है। किंतु यह निश्चित करना कठिन है कि वास्तव में बप्प कौन था। कालभोज के पुत्र खोम्माण के समय अरब मेवाड़ तक पहुँचे। अरब आक्रांताओं को पीछे हटानेवाले इन राजा को देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने बप्प मानने का सुझाव दिया है।

कुछ समय तक चित्तौड़ प्रतिहारों के अधिकार में रहा और गुहिलोत उनके अधीन रहे। भर्तृपट्ट द्वितीय के समय गुहिलोत फिर सशक्त हुए और उनके पुत्र अल्लट (वि० सं० १०२४) ने राजा देवपाल को हराया जो डा० ओझा के मतानुसार इसी नाम का प्रतिहार सम्राट् रहा होगा। आरणेश्वर के शिलालेख से सिद्ध है कि मेवाड़ राज्य इसके समय में खूब समृद्ध था। इसका प्रपौत्र शक्तिकुमार संवत् १०३४ में वर्तमान था। इसका अंतिम राजा अंबाप्रसाद साँभर के चौहान राजा वाक्पति द्वितीय के हाथों मारा गया और कुछ समय के लिये मेवाड़ में कुछ अराजकता सी रही।

सन् १११६ में विजयसिंह गद्दी पर वर्तमान था। इसने मालवराज उदयादित्य की लड़की से शादी की और अपनी लड़की अल्हणदेवी का विवाह कलचुरि राजा गयकर्ण से किया। इसके तीन पीढ़ी बाद रणसिंह हुआ जिसके एक पुत्र क्षेमसिंह के वंशज रावल और दूसरे पुत्र राहप के वंशज राणा कहलाए। क्षेमसिंह के ज्येष्ठ पुत्र सामंतसिंह ने गुजरात

राजा अजयपाल को हराया, किंतु कुछ समय के बाद सामंतों के विरोध और कीर्तिपाल चौहान के आक्रमण के कारण उसे मेवाड़ छोड़ना पड़ा। उसके छोटे भाई कुमारसिंह ने कीर्तिपाल को मेवाड़ से निकालकर अपने राज्य का पुनरुद्धार किया। कुमारसिंह का प्रपौत्र जैत्रसिंह भी अच्छा राजा था। इसके समय इल्तुतमिश ने नागदा नगर को ध्वस्त किया किंतु अन्यत्र सब जगह उसे सफलता मिली। उसने गुजरात के चालुक्यों, नाडौल के चौहानों और मालवे के परमारों को युद्ध में हराया, और सन् १२४८ में दिल्ली के सुल्तान नासिरुद्दीन के विरुद्ध उसके भाई जलालुद्दीन को शरण दी। जैत्रसिंह का देहांत संवत् १३१७ के आसपास हुआ।

जैत्रसिंह के पौत्र रत्नसिंह के समय अलाउद्दीन खल्जी ने २६ अगस्त, सन् १३०३ को चित्तौड़ का किला फतह किया। प्रचलित कथानकों में यही राणा पद्मिनी का पति था। पद्मिनी की कथा में इधर उधर की जोड़ तोड़ पर्याप्त है। किंतु अब निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वह जायसी के दिमाग की उपज नहीं है जैसा कि अनेक विद्वान् मानते हैं।

सन् १३२५ तक चित्तौड़ पहले खल्जियों और फिर मालदेव सोनिगरे के हाथों में रहा। मालदेव के पुत्र जैसा के समय छल या बल से राणा शाखा के हम्मीर ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। हम्मीर सीसोदे का जागीरदार था। इसलिये उसके वंशज सीसोदिए कहलाए।

हम्मीर के पुत्र क्षेत्रसिंह (खेता) के समय भी मेवाड़ की शक्ति खूब बढ़ी। लाखा और मोकल के समय यह स्थिर रही और महाराणा कुंभा के समय फिर तीव्र गति से बढ़ी। उसने मालवे और गुजरात के सुल्तानों को हराया, और जो स्थान धीरे धीरे मुसलमानों के हाथों में जा रहे थे उन्हें स्वयं हस्तगत कर रक्षित किया। बूँदी, माडलगढ़, गागरोन, सारंगपुर, चाटसू, रणथंभौर, खाटू, अजमेर, नागौर आदि पर उसने अधिकार किया और अनेक नए दुर्ग बनाकर देश को सुरक्षित किया। चित्तौड़ का कीर्तिस्तंभ उसकी अमरकीर्ति है। वह अनेक शास्त्रों और कलाओं का ज्ञाता, संगीतराज, रसिकप्रियादि ग्रंथों का निर्माता और मंडन सूत्रधार तथा महेश कवि जैसे विद्वानों का आदर करनेवाला था।

इसी महाराणा का यशस्वी पौत्र महाराणा संग्राम या साँगा था, जिसने गुजरात के सुल्तान मुजफ्फ़र और दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी को बढ़ने से रोका और मालवे के सुल्तान महमूद को हराकर तीन महीने तक चित्तौड़ में कैद रखा। राजस्थान के प्रायः सभी राणा साँगा का प्रभुत्व स्वीकार करते थे। बाबर से वह १३ मार्च, सन् १५२७ को खानुवा के युद्ध में परास्त और बुरी तरह से घायल हुआ। इस पराजय से राजपूतों का प्रताप, जो महाराणा कुंभा के समय बहुत बढ़ा और इस समय तक अपने शिखर पर पहुँच चुका था, एकदम कम हो गया। सन् १५२८ में महाराणा की मृत्यु हुई। मीराबाई राणा साँगा की पुत्रवधू थी।

सन् १५४० में साँगा का छोटा पुत्र उदयसिंह अपने पैतृक राज्य का स्वामी बना। उदयपुर को सैनिक दृष्टि से अधिक निरापद स्थान समझकर वहाँ पर उसने अपनी राजधानी बसाई। सन् १५६७ में अकबर ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। भोजन की कमी पड़ने पर उदयसिंह के दुर्गपाल जयमल मेड़तिए ने जौहर कर दुर्ग का द्वार खोल दिया। मुसलमान इतिहासकारों के अनुसार सुरंग में बारूद भरकर किले की एक दीवार कुछ उड़ा दी गई। तदनंतर धावा करके मुगल सेना किले में घुस पड़ी। राजपूतों ने भयंकर युद्ध कर सदा के लिये अपने वीरत्व की कथा अमर कर दी। रणथंभौर के दुर्ग को सुर्जन हाडा ने अकबर को दे डाला। २८ फरवरी, सन् १५७२ को महाराणा का देहांत हुआ और महाराणा प्रताप सभी सामंतों की संमति से सिंहासन पर बैठे। सन् १५७६ में हल्दीघाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप, अकबर की विशाल सेना से परास्त हुए, किंतु मुगल सेना भी इतनी क्षत विक्षत हुई कि उसे आगे बढ़ने की हिम्मत न हुई। स्वतंत्रता को धन और ऐश्वर्य से कहीं अधिक समझनेवाले महाराणा ने घोर संकट सहकर भी अकबर के विरुद्ध युद्ध जारी रखा और सन् १५८६ — मांडलगढ़ और चित्तौड़ को छोड़कर समस्त मेवाड़ पर फिर अधिकार ... । सन् १५९७ में महाराणा का स्वर्गवास हुआ।

सिसोदियों को महाराणा की मृत्यु के बाद किसी अंश में दिल्ली की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, किंतु उन्होंने अपना सम्मान और अपनी कुलीनता बनाए रखी। समय पड़ने पर औरंगजेब जैसे विरोधी राजाओं से उन्होंने युद्ध भी किया। सन् १८१८ में मेवाड़ ने ब्रिटिश राज्य की अधीनता स्वीकार की और अब मेवाड़ राजस्थान राज्य का अंग है।

डूंगरपुर का राज्य रावल सामंतसिंह ने स्थापित किया था। बाँसवाड़ा और प्रतापगढ़ के राजा भी इसी राजवंश के थे। नेपाल के राजा भी अपने को सिसोदिया मानते, और शिवाजी के वंशज भी मेवाड़ से अपना संबंध मानते हैं। प्रतिहार काल में चाटसू (राजस्थान) में गुहिलों का अच्छा राज्य था। सौराष्ट्र में गुहिलों के अनेक राज्य और ठिकाने थे। गुहिलों की अनेक शाखाएँ हैं जो मुख्यत. सौराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान में वर्तमान हैं।

सं० ग्रं०—ओझा, गौरीशंकर हीराचंद : 'राजस्थान का इतिहास'। (द० श०)

गूँगे बहरों की शिक्षा प्राय. सभी सभ्य देशों में बहरों को शिक्षा का सुयोग प्राप्त है। उनके लिये चिकित्सा, भरणपोषण, पुस्तकें, लिखने-पढ़ने की सामग्री, साबुन आदि का सारा खर्च सरकार स्वयं उठाती है। कुछ सरकारों ने तो बहरों के स्कूल आने जाने का खर्च भी अपने ऊपर ले रखा है।

इस देश में गूँगे बहरों की समस्या समाज के सामने अत्यंत महत्वपूर्ण ढंग से प्रस्तुत है। समाज का कर्तव्य है कि इन वाणीविहीनों को वाणी प्रदान करे। मूक बधिर बालकों की शिक्षा के लिये समाजसेवियों ने कुछ कार्य भी किया है। मूक-बधिर बालक दो प्रकार के होते हैं। प्रथम श्रेणी में उनको रखा जा सकता है जो नितांत बधिर होते हैं। इनमें तनिक भी श्रवणशक्ति नहीं होती इसलिये शब्दों को न सुनने के कारण वे उच्चारण भी नहीं कर पाते क्योंकि भाषा का सीखना अनुकरण पर अधिक निर्भर होता है। दूसरे प्रकार के बधिर वे होते हैं जिनकी श्रवणशक्ति इतनी कमजोर होती है कि वे साधारण बातचीत नहीं सुन सकते किंतु श्रवणयंत्र की सहायता से सुन सकते हैं। अर्जित बधिरता के कुछ सामान्य कारण होते हैं। इसको समझने के लिये कानों की बनावट के विषय में जानना आवश्यक है। सामान्य रूप से कानों के तीन भाग होते हैं : १—बाह्यकर्ण २—मध्यकर्ण तथा ३—आतंरिक कर्ण। बाह्यकर्ण के कारण केवल ५ प्रतिशत बधिर होते हैं जो खाज, फोड़े फुंसी या जलने के कारण केव[illegible] प्रभावित होता है। मध्यकर्ण की खराबी से उत्पन्न हुई बधिरता के मु[illegible] कारण है, कान बहना, स्कारलेट फीवर (लाल बुखार), चेचक, निमोनि[illegible] इत्यादि। मध्यकर्ण के कारण ४५ प्रतिशत बधिरता होती है। इन सब [illegible] अतिरिक्त कान के स्नायुतंतुओं की खराबी के कारण भी बधिरता हो[illegible] है। इन स्नायुतंतुओं को हानि पहुँचानेवाले कारण गर्दनतोड़ बुखा[illegible] मियादी ज्वर होते हैं। कभी कभी चोट लगने से भी बहरापन [illegible] जाता है।

शिक्षाप्रणाली—इस समय संसार में बधिरों की शिक्षा के [illegible] अनेक प्रणालियाँ प्रचलित हैं। सर्वोत्तम प्रणाली कौन सी है, इस वि[illegible] पर लोगों में मतभेद है। अमेरिकन ऐनल्ज ऑव द डेफ के अनुसार [illegible] की विभिन्न प्रणालियाँ निम्नलिखित हैं :

१. मौलिक प्रणाली (ओरल मेथड)। बोलकर समझाना लिखना शिक्षा के मुख्य उद्देश्य हैं। पाठ्यक्रम के प्रारंभिक भाग में बधिरों के प्रायः प्रत्येक स्कूल में प्राकृतिक संकेतों का प्रयोग करने [illegible] जाता है।

२. हस्त प्रणाली (मैनुअल मेथड)। संकेत हस्त, वर्णमाला लिखना इन तीनों का प्रयोग शिक्षा देने के लिये किया जाता है। उद्देश्य मानसिक विकास में तथा लिखित भाषा के प्रयोग एवं अर्थ [illegible] में सहायता पहुँचाना है।

३. हस्त वर्णमाला प्रणाली (मैनुअल अल्फाबेट मेथड)। हस्त वर्णमाला तथा लिखना प्रधान साधन हैं जिनका प्रयोग विद्यार्थियों को शिक्षा देने में किया जाता है। बोलना तथा बोलकर समझना ये दोनों बातें सभी बधिर बच्चों को, जहाँ यह प्रणाली प्रचलित है, सिखाई जाती है।

४. श्रवण प्रणाली (ओरीकुलर मेथड)। यहाँ बधिर विद्यार्थियों की श्रवण शक्ति का प्रयोग यथासंभव अधिकाधिक किया जाता है। उनको मुख्यतया वाणी, श्रवण शक्ति तथा लिखने की सहायता से शिक्षा दी जाती है।

५. मिश्रित प्रणाली (कंबाइंड सिस्टम)। बोलना और बोलकर समझना बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है। किंतु मानसिक विकास तथा भाषा की प्रवृत्ति को और भी महत्वपूर्ण समझा जाता है। विश्वास है कि कुछ अवस्थाओं में इन दोनों चीजों को हस्त तथा हस्त वर्णमाला प्रणाली द्वारा सर्वोत्तम रूप में अग्रसर किया जा सकता है। जहाँ तक परिस्थितियाँ सहायक होती हैं, प्रत्येक विद्यार्थी के लिये उसकी व्यक्तिगत प्रवृत्ति के अनुसार ही प्रणाली चुनी जाती है।

उत्तर प्रदेश में इस समय प्रयाग का स्कूल ही मौखिक प्रणाली तथा होठों की हरकत को समझने की प्रणाली (ओरिकुलर मेथड) का प्रयोग करता है मौखिक प्रणाली तथा सुनने में सहायक यंत्रों की दृष्टि से बधिरों के लिये सर्वोत्तम स्कूल मैंचेस्टर (इंग्लैंड) का है। किंतु यहाँ लड़के उच्चतर शिक्षा के लिये आगे नहीं जा सकते। उनका भाषा का ज्ञान उतनी अच्छी तरह विकसित नहीं हो पाता जितना संयुक्त राज्य अमरीका में शिक्षा पानेवालों का।

सार्वजनिक जीवन में उचित स्थान ग्रहण करने के लिये बधिरों के लिये यह आवश्यक है कि अपनी वाणी का विकास करें, भाषा सीखें और होठों की हरकत समझें। अतः इन तीनों गुणों का विकास करने का अवसर प्रत्येक बधिर बच्चे को देना चाहिए।

यदि मौखिक प्रणाली तथा सुनने में सहायक यंत्रों के द्वारा विद्यार्थी उन्नति कर सकें तो उनकी शिक्षा के लिये संकेतों तथा हस्त प्रणाली का प्रयोग नहीं करना चाहिए। किंतु यदि विद्यार्थी की उससे कुछ उन्नति होती न दिखाई पड़े तो उसे अच्छा नागरिक बनाने के लिये संकेतों तथा हस्त वर्णमाला का उपयोग करना चाहिए।

अभी तक उच्च शिक्षा देने के लिये किसी भी स्कूल में मौखिक प्रणाली का उपयोग करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। किंतु ४० प्रतिशत विद्यार्थी तो अवश्य ही इस प्रणाली से सफल हो सकते हैं। अध्यापकों का यह आवश्यक धर्म है कि भाषा ज्ञान तथा वाणी की शक्ति प्राप्त करने और होठों की हरकत समझने में विद्यार्थियों की प्रत्येक प्रकार से सहायता करें। बधिर बच्चों को बोलना अवश्य सिखाना चाहिए ताकि उनके फेफड़े अपना काम ठीक से कर सकें। फेफड़े शरीर के बहुत ही महत्वपूर्ण अवयव हैं। नीचे उनकी उपयोगिता तथा क्रिया पर प्रकाश डाला जाता है।

फेफड़ों की शक्ति—क्या बधिर बालक के फेफड़े की कार्यक्षमता सुनने की शक्ति रखनेवाले बच्चे के फेफड़े से कम होती है? क्या मौखिक प्रणाली के प्रभाव से फेफड़े मजबूत बन जाते हैं और स्वास्थ्य को लाभ पहुँचाते हैं? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर स्वीकारात्मक दिया जाता है। ई० वाल्टर की राय में बधिरमूक बच्चों के फेफड़े बोलने की शक्ति के अभाव से पर्याप्त व्यायाम नहीं कर पाते जिससे यथेष्ट बल भी नहीं प्राप्त कर पाते। बर्लिन के अलबर्ट कुटामैन का कथन है कि चिकित्सा साहित्य इस बात पर उचित ही जोर देता है कि शिक्षा देने की पुरानी प्रणाली का विद्यार्थियों के स्वास्थ्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। बोलना सिखा देने से बड़ा ही लाभ होता है। फेफड़े मजबूत बनकर स्वास्थ्य को लाभ पहुँचाते हैं। चूँकि बधिरमूकता के कारण फेफड़े आवश्यक व्यायाम नहीं कर पाते अतः वे इतने कमजोर हो जाते हैं कि साधारण सर्दी जुकाम भी आसानी से क्षय का रूप धारण कर लेता है। बोलना बधिरमूक के लिये स्वास्थ्यवर्धक व्यायाम है। इस प्रकार बोलना सिखाना बहरों के लिये महत्वपूर्ण है। अतः सभी बहरे बच्चों को मौखिक व्यायाम करना चाहिए। कमजोर दिमागवालों को यह सिखाना चाहिए, भले ही उनका शब्दभांडार बहुत सीमित रह जाय।

हैंबर्ग के श्री आल्फ्रेड मान ने अपने लेख में कुछ आँकड़े उपस्थित किए हैं जिनसे इस मत का खंडन होता है। हैंबर्ग मूक-बधिर पाठशाला के २५ विद्यार्थियों की नाप से इन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि आठ नौ वर्ष के बधिर बच्चों के फेफड़ों की औसत क्षमता उसी वय के सुननेवाले बच्चों के फेफड़ों से बहुत अधिक होती है। सयाने बधिर बच्चों में १० से १५ वर्ष की वय तक के फेफड़ों की क्षमता जिन्हें मौखिक प्रणाली की शिक्षा दी गई है, उसी अवस्था के सुननेवाले बच्चों की अपेक्षा बहुत कम होती है। जैसे जैसे शिक्षा का काम घटता है, अंतर भी वैसे ही साल साल बढ़ता जाता है। निम्नलिखित तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है।

विद्यार्थियों की संख्या	अवस्था	ऊँचाई	फेफड़े की औसत शक्ति	सुननेवाले बच्चों के फेफड़ों की औसत क्षमता	अंतर
१३	१५	१·५६"	२२८० सी०एम³	२४९० सी०एम	२१०सी०एम³
१२	१४	१·५३"	२२४० ,,	२२८० ,,	—४० ,,
१०	१३	१·४६"	१६८० ,,	२०३० ,,	—१७० ,,
१२	१२	१·४०"	१६४० ,,	१८२० ,,	—१४० ,,
१२	११	१·३७"	१५५० ,,	१६५० ,,	—१०० ,,
८	१०	१·३२"	१४१० ,,	१४५० ,,	—६० ,,
१०	९	१·२७"	१४५० ,,	१२६० ,,	—१९० ,,
८	८	१·२१"	१२४० ,,	१०३० ,,	—२१० ,,

बधिर तथा सुननेवाले बच्चों का अंतर तथा शिक्षा के अग्रसर होने के साथ बधिर के फेफड़ों की क्षमता में क्रमिक ह्रास होना और भी अधिक आकर्षक ढंग से दिखाया जा सकता है, जबकि जाँच ऐसे बधिरों तक ही सीमित रखी जाय जो जन्म से बहरे हैं और जिन्हें स्कूल में आने के पूर्व बोलने का कुछ अभ्यास नहीं था। निम्नलिखित तालिका ऐसे जन्मजात बहरों के संबंध में है।

विद्यार्थियों की संख्या	अवस्था	ऊँचाई	फेफड़ों की औसत शक्ति	सुननेवाले बच्चों के फेफड़े की औसत क्षमता	अंतर
७	१५	१·५३"	१८६० सी०एम³	२२९० सी०एम³	४३०सी०एम³
१०	१४	१·५३"	२२२० ,,	२२८० ,,	—६०
३	१३	१·४७"	१६०० ,,	२०४० ,,	
१०	१२	१·४०"	१७३० ,,	१८२० ,,	
६	११	१·३०"	१५८० ,,	१६७० ,,	
२	१०	१·३३"	१२०० ,,	१६४० ,,	
७	९	१·२७"	१५४० ,,	१२४० ,,	
४	८	१·२१"	१२५० ,,	१०६० ,,	—१४०

बच्चों की संख्या इतनी कम है कि इस विषय पर कोई स्पष्ट परिणाम नहीं दिया जा सकता। आँकड़ों से यह प्रकट होता है कि बहरे बच्चे वजन में सुननेवाले बच्चों से कम होते हैं। यह एक साधारण नियम है कि जब किसी अवयव का उपयोग नहीं किया जाता तब कुछ समय के बाद वह बेकार हो जाता है, क्योंकि रक्त के दौरे की क्रिया बंद हो जाती है। भारत में अनेक साधु एक हाथ सदा ऊपर उठाए रहते हैं। इनका हाथ कुछ वर्षों बाद बेकार हो जाता है। यही बात बहरे बच्चों के संबंध में भी सही हो सकती है। वे कभी अपनी वाणी का उपयोग नहीं करते अतः उनके फेफड़े पर्याप्त उपयोग में नहीं आते। अतः यह बात हो सकती है कि बहरे लोग सुननेवालों की अपेक्षा जल्दी मरें क्योंकि उनके फेफड़े की क्रिया सीमित होती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के शरीर में फेफड़े बड़ा

ही महत्वपूर्ण काम करते हैं। वे रक्त को शुद्ध करते हैं और उसका संपूर्ण शरीर में समुचित रूप से संचार कराते हैं। शिक्षित वधिर अशिक्षित वधिरों की अपेक्षा अधिक दिन जीते हैं।

इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी उपाय से सभी मूकवधिरों को बोलना सिखा देना चाहिए। अधिक से अधिक जितनी बोलने की क्षमता उनमें हो उतना बोलना सिखाना लाभकर होगा।

(शु० भि०)

गूजर 'द्र० गुर्जर'।

गूटेनबर्ग, जोहान (१४००–१४६८ ई०)। टाइप के माध्यम से मुद्रण विद्या का आविष्कारक। इनके आविष्कार से पूर्व मुद्रण का सारा कार्य ब्लाकों में अक्षर खोदकर किया जाता था। गूटेनबर्ग का जन्म जर्मनी के मेंज नामक स्थान में हुआ था। १४२० ई० में उनके परिवार को राजनीतिक अशांति के कारण नगर छोड़ना पड़ा। उन्होंने १४३९ ई० के आसपास स्ट्रासबोर्ग में अपने मुद्रण आविष्करण का परीक्षण किया। काठ के टुकड़ों पर उन्होंने उल्टे अक्षर खोदे। फिर उन्हें शब्द और वाक्य का रूप देने के लिये छेद के माध्यम से परस्पर जोड़ा और इस प्रकार तैयार हुए बड़े ब्लाक को काले द्रव में डुबाकर पार्चमेंट पर अधिकाधिक दाब दिया। इस प्रकार मुद्रण में सफलता प्राप्त की। बाद में उन्होंने इस विधि में कुछ सुधार किया।

इस प्रकार प्रथम मुद्रित पुस्तक 'कास्टेन मिसल' है जो १४५० के आसपास छापी गई थी। उसकी केवल तीन प्रतियाँ उपलब्ध हैं। एक म्यूनिख (जर्मनी) में, दूसरी ज्यूरिख (स्विटजरलैंड) में और तीसरी न्यूयार्क में। इसके अतिरिक्त एक बाइबिल भी गूटेनबर्ग ने मुद्रित की थी।

(प० ला० गु०)

गूडलूर तमिलनाडु के मदुरै जिले के इसी नाम के तालुक का केंद्र (स्थिति : ११° ३०' उ० अ० तथा ७६° ३०' पू० दे०)। यह ऊटी से कालीकट तथा मैसूर से मद्रास जानेवाली सड़कों की चौमुहानी पर गूडलूर धार के नीचे स्थित है। यहाँ सप्ताह में एक दिन बाजार लगता है जिसमें मैसूर तथा ऊटी के बीच वस्तुओं का आदान प्रदान होता है। आलू, सब्जियाँ तथा यूकिलिप्टस का तेल मुख्य व्यापारिक पदार्थ हैं। यह नगर कॉफी उत्पादन तथा सोना खोदने के व्यवसायों के उत्कर्ष के समय काफी प्रसिद्ध था पर इन धंधों के ह्रास के साथ ही इसकी भी अवनति हो गई।

(ज० सिं०)

गृध्रकूट राजगृह या गिरिव्रज (राजगिर, बिहार) की पाँच पहाड़ियों में से एक। इसका उल्लेख पालि ग्रंथों में हुआ है। वहाँ इसे गिज्झकूट कहा गया और यह वैपुल्य (एक अन्य पहाड़ी) के दक्षिण में स्थित बताया गया है। संभवतः इस शिखर का आकार गिद्ध के समान होने से यह नाम पड़ा है। चीनी यात्री फाह्यान के अनुसार गौतम बुद्ध ने इस स्थान पर अपने प्रिय शिष्य आनन्द की, गृध्र का रूप धारण करके डरा देनेवाले मार से रक्षा की थी और इसी कारण इसका नाम गृध्रकूट पड़ा। गौतम बुद्ध को यह पहाड़ी बहुत प्रिय थी और जब वे राजगृह में होते तो वर्षाकाल गृध्रकूट की एक गुफा में ही बिताते थे। उन्होंने राजगृह के जिन स्थानों को रुचिकर एवं सुखदायक बताया था उनमें गृध्रकूट भी है। फाह्यान ने लिखा है कि बुद्ध जिस गुफा में निवास करते थे वह पर्वतशिखर से तीन ली (= १ मील) पर थी। युवानच्वांग ने इंदसिला गुहा नाम से जिस स्थान का उल्लेख किया है वह यही जान पड़ता है।

गृध्रकूट की पहाड़ी का अभिज्ञान राजगिर के निकट स्थित छठे गिरि से किया गया है। इस पहाड़ी में दो प्राकृतिक गुफाएँ आज भी वर्तमान हैं। गुफाओं के बाहर दो प्राचीन प्रस्तरभित्तियों के अवशेष भी मिले हैं। पास ही कुछ सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद एक चबूतरे पर अनेक छोटे छोटे बौद्ध मंदिर दिखाई देते हैं। इन बातों से इस स्थान का प्राचीन महत्व प्रमाणित होता है। दूसरी या तीसरी सदी ई० की एक मूर्तिकारी में भी गृध्रकूट [illegible] गुफाओं का अंकन किया गया है। गृध्रकूट से प्राप्त कलावशेष [illegible] महालय में सुरक्षित हैं।

(वि० कु० मा०)

गृध्रसी (Sciatica) तंत्रिकाशूल (Neuralgia) का एक प्रकार, जो बड़ी गृध्रसीतंत्रिका (sciatic nerve) में सर्दी लगने से या अधिक चलने से अथवा मलावरोध और गर्भ, अर्बुद (Tumour) तथा मेरुदंड (spine) की विकृतियाँ, इनमें से किसी का दबाव तंत्रिका या तंत्रिकामूलों पर पड़ने से उत्पन्न होता है। क्वचित् तंत्रिकाशोथ (Neuritis) से भी यह होता है।

पीडा नितंबसंधि (Hip joint) के पीछे प्रारंभ होकर, धीरे धीरे तीव्र होती हुई, तंत्रिकामार्ग से अँगूठे तक फैलती है। घुटने और टखने के पीछे पीडा अधिक रहती है। पीड़ा के अतिरिक्त पैर में शून्यता (numbness) भी होती है। तीव्र रोग में असह्य पीड़ा से रोगी बिस्तरे पर पड़ा रहता है। पुराने (chronic) रोग में पैर में क्षीणता और सिकुड़न उत्पन्न होती है। रोग प्रायः एक ओर तथा दुश्चिकित्स्य होता है। उपचार के लिये सर्वप्रथम रोग के कारण का निश्चय करना आवश्यक है। नियतकालिक (periodic) रोग में आवेग के २-३ घंटे पूर्व क्विनीन देने से लाभ होता है। लगाने के लिये ए० बी० सी० लिनिमेंट तथा खाने के लिये फिनैसिटीन ऐंटीपायरीन दिया जाय। बिजली, तंत्रिका में ऐल्कोहल की सुई तथा तंत्रिकाकर्षण (stretching) से इस रोग में लाभ होता है। परंतु तंत्रिकाकर्षण अन्य उपाय बेकार होने पर ही किया जाना चाहिए।

(भ० गो० घा०)

गृह मानव ने अपने निवास के लिये घर बनाना कब और कैसे प्रारंभ किया, इसकी कल्पना मात्र की जा सकती है। गृह मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता है, अतः मानव सभ्यता का इतिहास ही 'घर' की कहानी है और सभ्यता के विभिन्न सोपानों पर स्थित विभिन्न जातियों के गृहों को देखकर उन सभी अवस्थाओं का अनुमान किया जा सकता है जिनसे उस स्थान की कोई अन्य जाति पार हो चुकी होगी। स्पष्ट है कि पाषाणकाल में, कम से कम समशीतोष्ण प्रदेशों में तो अवश्य, मनुष्य प्राकृतिक गुफाओं में ही रहता था। उस समय भी उसने उन्हें सजाने के प्रयत्न किए होंगे, जैसा कि फ्रांस और उत्तरी स्पेन में कहीं कहीं पाई जानेवाली गुफाओं के भित्तिचित्रों से प्रकट होता है। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वन्य जातियों ने गर्म देशों में झोपड़ी जैसी कोई चीज जरूर बनाई होगी। कुछ आदिम जातियाँ अब भी झोपड़ियाँ बनाती हैं। अमरीका की 'इंडियन' जाति गुंबदनुमा ढाँचे पर चमड़ा लगाकर अपनी 'विगवाम' नामक झोपड़ी बनाती है। दक्षिणी भारत के टोडा आदिवासियों की बाँस और सरपत की लंबी गुंबदनुमा झोपड़ी का भी प्रायः यही रूप होता है।

धीरे धीरे गुफावासियों ने अनुभव किया होगा कि गुफा के आगे कुछ पत्थर (दीवार की भाँति) रखकर और मध्यवर्ती स्थान पर लकड़ी या चमड़े की छत सी बनाकर गुफा को और बड़ी तथा आरामदेह बनाया जा सकता है। संसार के विभिन्न भागों में ऐसी 'विकसित' गुफाओं में धीरे धीरे और भी 'सुधार' होते रहे। इस प्रकार झोपड़ियों में आज के लकड़ी के मकान का तथा गुफाओं में आधुनिक पक्के मकानों का बीजरूप मिलता है। प्रारंभ में शायद एक ही कमरा होता था, किंतु जैसे जैसे सभ्यता फैली जीवन जटिलतर होता गया, निवास के और भाग विभाग होने लगे। इसके लिये अनेक गोल झोपड़ियों को पास पास एक ही घेरे के भीतर बनाया जाने लगा। ऐसी ही झोपड़ियों के, जो शायद घास फूस और कभी कभी कच्ची ईंटों की भी हुआ करती थीं, फर्श और नीवों के अवशेष अनेक स्थानों पर मिले हैं, जिन्हें उत्तर पाषाणयुगीन बताया जाता है।

ऐसी अवस्था संसार के विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न समयों पर थी। यूनान, मिस्र और रोम में सभ्यता का उदय सबसे पहले हुआ माना जाता है। वहाँ पाषाणकाल २०वीं-३०वीं शती ई० पू० कूता जाता है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार भारत में १०वीं-१५वीं शती ई० पू० में आर्यों ने आक्रमण किया। उस समय वे उत्तरपाषाण काल से गुजर रहे थे तथा झोपड़ियों या गुफागृहों में रहते थे। किंतु हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में प्राप्त सुनिविष्ट विशाल नगरों के अवशेषों ने उन्हें यह मानने को बाध्य कर

दिया है कि भारत में भी २०वीं-३०वीं (या ४०वीं) शती ई० पू० में उत्कृष्ट कोटि की सभ्यता विद्यमान थी।

हड़प्पा, मोहनजोदड़ो और सिंधुघाटी की अन्य पुराकालीन नगरियाँ बड़े बड़े व्यापारियों की बस्तियाँ थीं, जो नागरिक जीवन और भौतिक सुविधाओं के प्रति जागरूक रहते हुए उच्च कोटि की सामाजिकता का निर्वाह करते थे। उनके सादे और प्रयोजनात्मक भवन प्रायः निवास, गोदाम, स्नानागार, या कुएँ होते थे। बड़े महल या मंदिर होने के कोई चिह्न नहीं मिलते। नालियों की व्यवस्था ऐसी उच्च कोटि की थी, जैसी अनेक आधुनिक भारतीय शहरों में भी नहीं पाई जाती। दीवारों में से ईंटों के निकास बढ़ा बढ़ाकर डाटें बनाई जाती थीं। भारत के अन्य भागों में भी शायद उस समय पत्थर के बड़े बड़े खंभों पर बड़ी बड़ी शिलाएँ रखकर कृत्रिम गुफागृह बनाए जाते थे; और यह भी माना जा सकता है कि स्थानीय लकड़ी की, आदिकालीन स्वरूप की वास्तुकला भी विद्यमान थी।

वैदिक साहित्य में वर्णित प्रसंगों से स्पष्ट है कि उस समय ईंट, पत्थर, और लकड़ी का प्रयोग सामान्य तथा कलापूर्ण भवननिर्माण के लिये होता था। बौद्ध धर्म का प्रसार जब उत्तर-पश्चिम (गांधार) की ओर हुआ तो
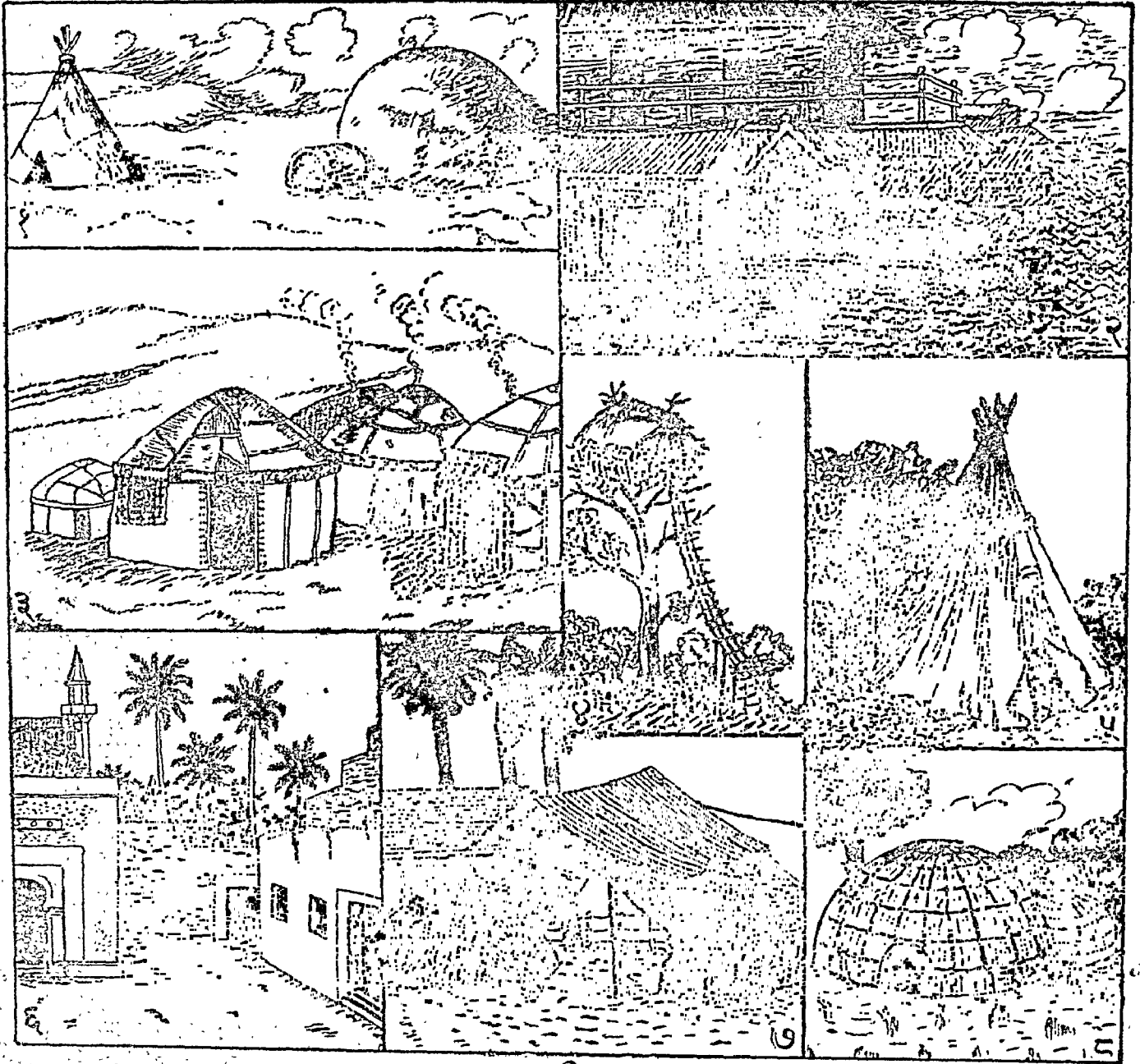
चित्र १. विविध प्रकार के गृह

१. ठंढा निवासी एस्किमो के बरफ के घर—इग्लू; २. चीन में नावों पर गृह; ३. खिरगीज़ और रूसी स्टेपों के चरवाहों के डेरे; ४. पूर्वी द्वीपसमूह में पेड़ों के ऊपर झोपड़े; ५. अमरीका के 'रेड इंडियन' का डेरा; ६. मरूद्यान में सभ्य अरबों के कच्चे घर; ७. सहारा के बद्दुओं के डेरे तथा ८. अफ्रीका के 'ज़ूलू' लोगों की झोपड़ियाँ।

तद्देशीय उत्तर-पुरा-कालीन सस्कृति के सपर्क मे आने से धार्मिक तथा अन्य भवनो के निर्माण पर पश्चिमी प्रभाव पडा, जिसकी छाप कश्मीर की मध्य-कालीन वास्तुकला पर भी दिखाई पडती है। यूनानी (डोरिक) पद्धति की प्रतीक चतुर्मुखी तोरणावली और स्तभशीर्ष प्रयुक्त होने लगे। सधिबध के लिये मसाला (गारा या चूना) तथा डावेलो (खूँटियो या कीलो) का प्रयोग भी आरभ हुआ। इससे पहले की भारतीय निर्माणकला परपरागत, सूखी चिनाई तक ही सीमित थी, जहाँ सभी रद्दे एक दूसरे पर बिना मसाले के ही रखे जाते थे और भार सीधे नीचे की ओर ही पडता था।

गुप्तकाल (३२०-६०० ई०) मे देश भर मे निर्माणशक्ति के अनेक स्रोत फूट निकले और भारतीय वास्तुकला, जिसका चरम विकास गुफा-गृहो (अजता, इलोरा आदि) या स्तूपो (साँची आदि) के निर्माण मे पहुँच चुका था, सुदर स्तभो से अलकृत चिपटी छतवाले चौकोर मदिरो को रूप देने लगी। कभी कभी छत के ऊपर एक छोटी कोठरी भी बनाई जाने लगी, जो बाद मे दक्षिण के मदिरो मे शिखर के रूप मे विकसित हुई।

१०-१३ शती ई० के मदिरनिर्माण के महायुग की यूरोप के समसामयिक रोमनेस्क और गॉथिक युगो से तुलना की जा सकती है। उत्तरी या आर्य-पद्धति का जोर ऊँचाई की ओर था, जिससे खजुराहो (मध्य प्रदेश) और भुवनेश्वर (उडीसा) की प्रभावशाली कृतियाँ प्रकट हुई। दक्षिणी या द्रविड पद्धति का जोर क्षैतिज विस्तार की ओर था, जिसमे मुख्य मदिरो मे स्तभबहुल मडप तथा अनेक गोपुरो से युक्त विशाल घेरोवाले प्रागण समिलित किए गए। गृहनिर्माण के लिये विकसित निर्माणकला का प्रयोग राजपूताना के राजमहलो और सामतो के निवासो मे मिलता है, जहाँ विशाल भवन भीतर बाहर से बिलकुल सादे है, किंतु खिडकियो, द्वारो, छज्जो, गवाक्षो और शिखरो मे सुदर कारीगरी की हुई है। घरो के मुखभाग को नीचे से ऊपर तक अलकृत करनेवाला अहमदाबाद का लकडी की खुदाई का काम गुजराती कला की विशिष्टता है।

तोरण और गुबद (द्र० 'गुबद') का प्रयोग मुसलमानी कला की देन है, जिसने हिंदू कला को अपने साँचे मे ढाल लिया। अकबर ने दोनो के एकीकरण का महाप्रयास किया। जहाँगीर काल मे लाल पत्थर और सगमरमर का समिलित प्रयोग हुआ, जो शाहजहाँ (१६२७-५८ ई०) के लाल किला (दिल्ली) और ताजमहल (आगरा) के रूप मे मानो परी महल ही धरती पर उतार लाया। मुसलमानी कला की विशेषता विशाल उद्यान, जलाशय, जलसूत्र (जो महलो के बीच मे लहराते थे) और ऊँचे दरवाजे हैं।

यूनान, मिस्र और रोम की सभ्यता भी तद्देशीय निर्माणपद्धति को प्रभावित करती हुई विकसित हुई। नासास मे १५वीं शती ई० पू० के महलो के खडहर मिले है, जिनमे लकड़ी का प्रयोग हुआ प्रतीत होता है। मिस्र के देर-अल्-बाहरी के मदिर तथा बेनी हसन के मकबरे ३०वी शती ई० पू० के बने कूते जाते है। तेल अस-सुलतान मे प्राप्त घरो और मदिरो के अवशेष 'जेरिको' नामक नगर के माने जाते हैं, जिसे इसराइलियो ने सभवत १४वीं शती ई० पू० मे आक्रमण करके नष्ट कर दिया था। मरा सागर के उत्तर मे जॉर्डन घाटी मे एक नगर का पता लगा है, जो पूर्व-ताम्र-काल (२५वीं से १६वी शती ई० पू०) का समझा जाता है। अलजीरिया मे रोमन सेनानियो को बसाने के लिये लगभग पहली शती ई० मे परपरागत रोमन शैली मे निर्मित घरो के अवशेष मिलते है। ईरान की राजधानी 'तेजीफन' मे, जो सन् ६३७ ई० मे बुरी तरह नष्ट हो गई थी, ऊँची और चौडी डाटदार छतें भी बनने लगी थी। यूनानी शैली मे एशियाई शैली की छाप भी स्पष्ट दिखाई देती है।

किंतु इन सबसे उन देशो के जनसाधारण के घरो पर कुछ प्रकाश नहीं पडता। सभवत पश्चिम मे भी कला का विकास गिरजाघरो और धनिको के महलो तक ही हुआ। किंतु महान् औद्योगिक क्राति के साथ साथ पाश्चात्य जगत मे, विशेषकर कसबो और नगरो मे, गृह-निर्माण-शैली मे भी क्राति आई। द्रुत गति से नए नगर बसे, द्रुततर गति से उनकी आबादी बढी तथा जलसभरण, शौचालय और प्रकाश सबधी नवीन सुविधाओ के कारण जीवनस्तर भी उठा। इन सभी ने अपना प्रभाव दिखाया और आवाससमस्या सामने आई। सरकारो ने योजनाएँ बनाई, नियम बनाए और न्यूनतम स्तर निर्धारित किए। फलत गगनचुबी इमारतें, जिनमे जनसामान्य के आवास की भी व्यवस्था है प्रकट हुई। बडे बडे महलो के स्थान पर सस्ते और छोटे, किंतु सुविधाओ से युक्त, घर बनने लगे।

भारत मे अग्रेजो के आने पर राजधानियो मे विशाल महल और कार्यालय आदि बने, जिनमे पौर्वात्य और पाश्चात्य कला का सुदर समिश्रण मिलता है। स्वतत्रताप्राप्ति के पश्चात सर्वतोमुखी औद्योगिक विकास के साथ सामान्य घर भी बनाए जाने लगे। ऊँची इमारते बनी तथा श्रमिको और ग्रामीणो के लिये घर बनाने के सरकारी प्रयास होने लगे। प्रत्येक प्रात मे सरकार ने गृहनिर्माण के लिये ऋणयोजना आरभ की है, जिसके अतर्गत छोटी किस्तो मे ऋणभुगतान की व्यवस्था है। थोडी आयवालो के लिये दो कमरो के एक आदर्श गृह का प्रारूप चित्र २ तथा ३ मे दिखाया है।
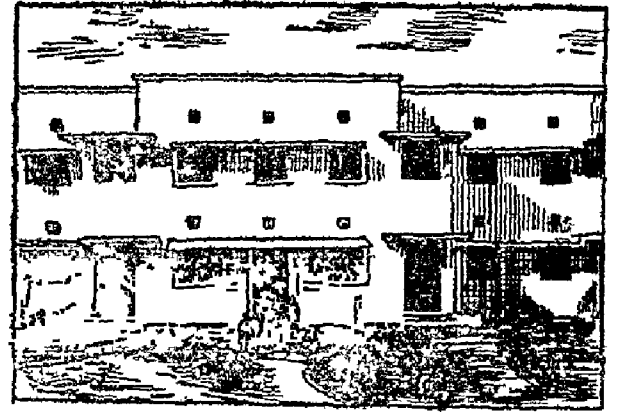
चित्र २ अल्प आयवालो के लिये दो कमरोवाला गृह
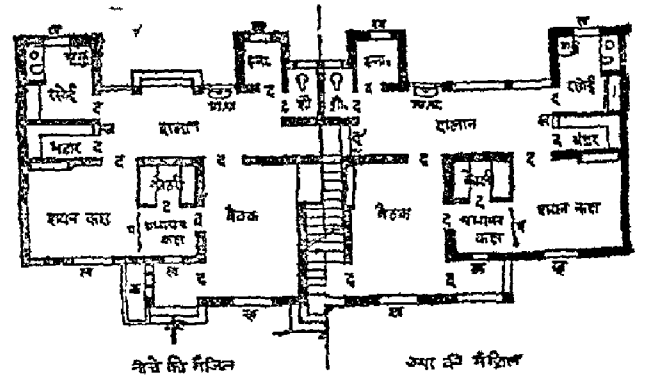
चित्र ३. पूर्वोक्त गृह का भीतरी नक्शा

क फूलो की क्यारी, ख खिडकी, द दरवाजा, स्ना स्नानागार, शौ शौचकक्ष, प्र० कु० प्रक्षालनकुडिका, प्र० पा० प्रक्षालन पात्र तथा प पर्दा।

एशिया मे अब भी शताब्दियो पुरानी शैलियाँ अपनाई जा रही है। स्तभो से घिरे आँगन और पटी छतवाला मोरक्को का आधुनिक गृह प्राचीन रोम और सीरिया की आँगनवाली शैली का ही वशज है। बाहरी और भीतरी (हरम) दो भागो मे घर का विभाजन रोम की प्राचीन परपरा की अनुकृति है। मिस्र और टर्की मे अलबत्ता खुले आँगन रखने की प्रथा उठती जा रही है, किंतु वहाँ के गठे हुए अभिकल्पवाले घरो मे भी प्राय केंद्र मे एक बडा कक्ष होता है, जिसमे फव्वारा रखना पसद किया जाता है। यह भी जलाशययुक्त खुले आँगन का प्रतिरूप ही लगता है।

प्रत्येक स्थान की गृह-निर्माण-पद्धति स्थानीय परिस्थितियों, यथा प्राकृतिक दशा, जलवायु, उपलब्ध साधन सामग्री तथा निवासियों की आर्थिक क्षमता से निर्देशित होती है। भूकंपों द्वारा हानि से बचने के लिये जापानी कागज का अधिक प्रयोग करते हैं। खिसकाई जा सकनेवाली अंतर्भित्तियाँ (पर्दे) और लकड़ी का अधिक प्रयोग इनकी विशेषता है। ये घर को सुघड़, सुखद, शानदार और चित्ताकर्षक बनाते हैं। इसके विपरीत चीन में आँगन रखने की परिपाटी अब भी है। स्तंभों से युक्त दालान तथा तुल्यदर्शी बड़े कक्ष प्राचीनता का वातावरण बनाए रखते हैं। आबादी घनी होने के कारण लोग नदियों और समुद्र में भी नावों पर घर बनाकर स्थायी रूप से रहते हैं। खिरगीज तथा रूसी स्टेपों में चरवाहे घास की खोज में इधर उधर घूमते रहते हैं, अतः अस्थायी डेरों में ही जीवन बिताते हैं। मंगोलियावाले भी प्रायः खाल के डेरों में ही रहते हैं, पूर्वी द्वीपसमूह में निरंतर वर्षा, सड़ी गर्मी, भाँति भाँति के मक्खी मच्छर, और विषुवतीय वनों के हिंसक जीवों से बचने के लिये पेड़ों पर ही झोपड़ियाँ बनाई जाती हैं। अरब के सभ्य लोग मरुद्यानों या नदियों के पास कच्चे घर बनाकर रहते हैं। अफ्रीका के घास के मैदानों के जूलू लोग गोलार्ध के आकार की झोपड़ी बनाकर, ऊपर सिरे पर धुआँ निकलने के लिये छेद छोड़ देते हैं।

सं० ग्रं०—मानसार वास्तुशास्त्र; समरांगण सूत्रधार (भोज); ए० ए० मेकडॉनेल : इंडियाज पास्ट तथा पी० एम० आवरसॅल : एंशिएंट इंडिया। (वि० प्र० गु०)

गृहनिर्माण के सामान प्राचीन समय से ही संसार के अनेक भागों में विविध प्रकार की शिलाएँ भवननिर्माण के कार्यों में आती रही हैं। भारत भी उन कतिपय देशों में है जो इस कार्य में सहस्रों वर्षों से निपुण रहे हैं और आज भी विभिन्न प्रकार के पत्थरों से निर्मित अनेक भवन हमारी सभ्यता और संस्कृति का संदेश दे रहे हैं। मध्यकाल एवं आधुनिक काल में भी अनेक भवन इन पत्थरों से बनाए गए, जो सुंदरता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

भवननिर्माण में प्रयुक्त शिलाओं में कुछ विशेषताएँ होनी आवश्यक हैं, उदाहरणार्थ ऋतुक्षरण रोकने की क्षमता, खनन में सुगमता, वर्ण एवं सुंदरता आदि। निर्माणशिलाओं में निम्नांकित मुख्य हैं :

बलुआ पत्थर—यह पत्थर मुख्य रूप से विंध्य पर्वतमाला में प्राप्त होता है। इसके इतने विशाल स्रोत हैं तथा यह इतनी अधिक सुविधा से मिल जाता है कि अनेक कार्यों में इसका उपयोग सहज ही संभव है। विंध्य पर्वतमाला का बलुआ पत्थर समान आकार के सूक्ष्म कणों से निर्मित है तथा इसकी बनावट (texture) भी शिलाओं में लगभग नियमित तथा समान रहती है। यह लाल, पीले तथा भूरे आदि अनेक वर्णों में प्राप्य है। अनेक स्थलों पर इसके खननकेंद्र हैं, जहाँ से यह देश के विभिन्न भागों में भवननिर्माण कार्यों में उपयोग के लिये वितरित किया जाता है। मध्यकालीन तथा अर्वाचीन अनेक उत्कृष्ट भवनों का निर्माण इस पत्थर से किया गया है। भारत में उत्खनित सभी पत्थरों में इसका स्थान सर्वोच्च है।

चूना पत्थर—भारत में चूना पत्थर भी देश के अनेक भागों में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। कुछ समय पूर्व तक इसकी माँग अधिक नहीं थी, किंतु गत कुछ ही वर्षों में खपत इतनी अधिक बढ़ी है कि अनेक कार्यों में विभिन्न प्रकार के चूना पत्थरों का विशेष उपयोग होने के कारण इस क्षेत्र में पर्याप्त अन्वेषण की आवश्यकता हुई है। उत्तम वर्ग का चूना पत्थर आजकल लोह तथा इस्पात उद्योग में द्रावक (flux) के रूप में, अनेक रासायनिक कार्यों में, विरंजन चूर्ण, सोडा क्षार तथा कैल्सियम कार्बाइड आदि के निर्माण में एवं शक्कर और वस्त्रोद्योग में, प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त सीमेंट वर्ग के चूना पत्थरों को विशाल बाँध योजनाओं के समीप भी स्थित करना पड़ता है। इन अनेक उपयोगों के कारण चूना पत्थर के विशाल निक्षेप देश के अनेक भागों में उत्खनित हुए हैं तथा अनेक पर खनन कार्य किया जा रहा है। जिन प्रदेशों में चूना पत्थर का खनन मुख्यतः होता है उनमें उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश, पूर्वी पंजाब, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, मद्रास, महाराष्ट्र तथा सौराष्ट्र संमिलित हैं। भारतीय भूतात्विक सर्वेक्षण के अन्वेषणों के आधार पर सीमेंट के अनेक कारखाने स्थापित किए गए हैं तथा अनेक का निर्माण कार्य चल रहा है।

रासायनिक वर्ग का चूना पत्थर, जिसकी खपत आजकल अधिकाधिक वृद्धि पर है, उत्तर प्रदेश के देहरादून तथा मिर्जापुर, मध्य प्रदेश के जबलपुर, मद्रास के तिनेवेली जिले, सौराष्ट्र के पोरबंदर तथा जूनागढ़ एवं असम की खासी पहाड़ियों में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है।

सीमेंट उद्योग—वर्तमान तथा भविष्य में आवश्यक सीमेंट के लिये भारत में मूल कच्चा माल (चूना पत्थर, जिप्सम, बाक्साइट, लैटराइट, मिट्टी तथा कोयला) पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। आजकल सीमेंट चूनापत्थर तथा मृत्तिका, अथवा शैल के अत्यंत सूक्ष्म पिसे हुए मिश्रण द्वारा, जिसमें दोनों अवयवों का अनुपात सदैव समान रखा जाता है, निर्मित होता है। मिश्रित पदार्थ, जो पंकक (slurry) के रूप में होता है, प्रारंभिक द्रवण (incipient fusion) तक, इस्पात के ८-१० फुट व्यास की लंबी, रंभ के आकार की भट्ठियों में तप्त किया जाता है। इन भट्ठियों में भीतर की ओर उष्मारोधी पदार्थों की ईंटें लगी होती हैं तथा भट्ठियाँ स्वयं ही एक ओर को थोड़ी झुकी रहती हैं, जिससे मिश्रण धीरे धीरे सर्वाधिक संतप्त भाग की ओर बढ़े। इस संतप्त भाग को नियमित रूप से तप्त करने के लिये चूर्णित कोयला तथा निस्तप्त पदार्थों से निकलनेवाली गैसों के जलने से उत्पन्न उष्मा का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार तप्त मिश्रण को जिप्सम के चूर्ण की उपयुक्त मात्रा के साथ मिलाकर 'बाल एवं ट्यूब चक्की' (Ball and Tube Mills) में अवकृत किया जाता है। सूक्ष्म चूर्ण के रूप में इसी को 'सीमेंट' कहते हैं।

भारत में सीमेंट के कारखाने अपने कार्य में देशी चूना पत्थर का प्रयोग करते हैं। परिवहन सुविधा को दृष्टि में रखते हुए देश में सीमेंट के कुछ नवीन कारखाने स्थापित करने के प्रयत्न हो रहे हैं।

जिप्सम—गत कई वर्षों से भारत में जिप्सम की खपत दिन पर दिन बढ़ रही है। सिंदरी खाद संयंत्र स्थापित होने के पूर्व जिप्सम के उत्पादन का अर्धांश केवल सीमेंट उद्योग में प्रयुक्त होता था। सन् १९४८ से त्रावंकोर में एक खाद संयंत्र ने ऐमोनियम सल्फेट का उत्पादन मध्यम स्तर पर प्रारंभ कर दिया। इसी प्रकार ३१ अक्टूबर, सन् १९५१ से सिंदरी के खाद संयंत्र में भी ऐमोनियम सल्फेट का उत्पादन प्रारंभ हुआ, जिसमें प्रति दिन १५००-२००० टन जिप्सम की आवश्यकता होती है।

भारत विभाजन से पूर्व पश्चिमी पंजाब में लवणशृंखला ही जिप्सम का मुख्य स्रोत समझी जाती थी, किंतु इसके पश्चात् यह भाग पाकिस्तान में चला गया तथा भारत को अन्य स्रोतों की आवश्यकता का अनुभव हुआ, जो बढ़ती हुई जिप्सम की खपत को पूरा कर सकें। परिणामस्वरूप भारतीय भूविज्ञान सर्वेक्षण ने राजस्थान, मद्रास तथा सौराष्ट्र में जिप्सम के निक्षेपों का विस्तृत अध्ययन प्रारंभ कर दिया।

राजस्थान के जिप्सम निक्षेप जिप्साइट (Gypsite) के रूप में बीकानेर तथा जोधपुर में पाए जाते हैं। इन निक्षेपों में जमसर का निक्षेप सर्वाधिक विशाल तथा महत्वपूर्ण है और यह स्रोत आजकल सिंदरी के खाद संयंत्र की आवश्यकतापूर्ति करता है। मद्रास के तिरुचिरपल्ली जिले के अंतर्गत क्रिटेशियस शिलाओं (Cretaceous rocks) की अनियमित पट्टिकाओं (Veins) में जिप्सम मिला है।

सौराष्ट्र में मृत्तिकाओं तथा अवमृद (marls) में तृतीयक युग के 'गज' चूनापत्थरों के आधार के समीप जिप्सम के प्राप्तिस्थान हैं। विशालतम निक्षेपों में, जो हलर जिले में खाड़ी के समीप मिले हैं, २५ लाख टन जिप्सम की मात्रा होने का अनुमान है।

कुछ विशाल निक्षेप हिमालय के कतिपय भागों, जैसे कश्मीर, सिक्किम, तथा भूटान एवं भारत के अन्य भागों में प्राप्त हुए हैं। कश्मीर के निक्षेप तो अत्यंत आशाजनक हैं, यद्यपि परिवहन के अभाव के कारण इनका उपयोग अभी निकट भविष्य में संभव नहीं है, तथापि सुनियोजित कार्यक्रम के पश्चात् ये निक्षेप अत्यंत लाभप्रद होंगे, इसमें संदेह नहीं।

संगमरमर—प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन काल में भारत में अनेक भव्य भवन संगमरमर से निर्मित हुए। यद्यपि भारत में अनेक स्थानों पर संगमरमर प्राप्त होता है, तथापि उत्तरी पश्चिमी भारत का संगमरमर अपने गुणों में अद्वितीय है। नागौर जिले में मकराना नामक स्थान का संगमरमर अत्यंत सुंदर होता है, जो आगरा स्थित ताजमहल के निर्माण में प्रयुक्त हुआ था। राजस्थान के अनेक भागों में विभिन्न वर्णों एवं विभिन्न आकार के कणों द्वारा निर्मित संगमरमर प्राप्त होता है। इसके प्राप्तिस्थान जोधपुर, जयपुर, उदयपुर तथा अलवर आदि हैं।

मद्रास के कोयंबटूर तथा मैसूर के चित्तलदुर्ग और मैसूर जिलों में भूरे-श्वेत वर्ण का संगमरमर मिलता है। कुछ निक्षेप सेलम, मदुराई तिरुनेलवेली जिलों में भी हैं। मध्य प्रदेश के जबलपुर, बेतूल और छिंदवाड़ा तथा महाराष्ट्र के नागपुर तथा सिवनी जिलों में भी संगमरमर के उपयोगी निक्षेप प्राप्त हुए हैं। बड़ौदा से सुंदर हरा, गुलाबी तथा श्वेत, रीवाकाठ से काला, आंध्र में कुर्नूल जिले से पीत-हरा तथा पीला एवं कृष्णा तथा गुंटूर जिलों की नारंगी विरचनाओं से लेकर पीत-समुद्रीहरा आदि वर्णों तक के संगमरमर मिले हैं।

स्लेट पत्थर—बाह्य हिमालय के कुमाऊँ, गढ़वाल, काँगड़ा तथा चंबा आदि में स्लेट पत्थर का खनन किया जाता है तथा इसको घरों की छतों के निर्माणकार्य में प्रयोग किया जाता है। धौलाधर शृंखला का स्लेट पत्थर अत्यंत उपयोगी है तथा विविध आकारों में प्राप्त होता है। यहाँ स्लेट के पत्थर पूर्णतया शुद्ध सिलिकीय शिला (siliceous rock) के रूप में मिलता है, जिसका वर्ण पीला-भूरा है। काँगड़ा घाटी स्थित पंजाब के धर्मशाला जिले में कुनपारा नामक स्थान पर स्लेट का खनन होता है। हिमाचल प्रदेश के मंडी जिले की चिचोट तहसील में तथा पाडोह के समीप भी स्लेट पत्थर निकाला जाता है। पूर्वी पंजाब के गुड़गाँव जिले में रेवाड़ी के पास भी खनन कार्य किया जाता है। कुछ स्लेट पत्थर बिहार के सिंहभूम और मुंगेर जिलों में भी हैं, किंतु इनका अधिक उपयोग नहीं होता। आंध्र के कुर्नूल जिले में मरकापुर नामक स्थान पर स्कूल-स्लेट का खनन किया जाता है। नेल्लोर जिले में भी स्लेट के कुछ निक्षेप हैं।

विभिन्न वर्गों का स्लेट पत्थर महाराष्ट्र, कश्मीर, मध्य प्रदेश, मैसूर तथा असम आदि प्रदेशों में प्राप्त होता है।

भवननिर्माण के अन्य पत्थर—ग्रैनाइट, बेसाल्ट, चारनोकाइट तथा अन्य अनेक शिलाएँ भारत के विभिन्न भागों में प्रचुरता से मिलती हैं तथा सुविधानुसार खनन स्थानों के समीप के क्षेत्रों में ही इनका प्रयोग भवन-निर्माण के कार्यों में किया जाता है। (वि० सा० दू०)

गृहप्रबंध के कई अंग हैं :

१. मकान का प्रबंध—आजकल घरों का आकार अपेक्षाकृत छोटा हो गया है। पहले साधारणतः घर बहुत बड़े बड़े हुआ करते थे। उनमें मनमाना स्थान प्राप्त किया जा सकता था। शहरों में तो अब छोटे घर ही अधिक बनने लगे हैं। इनका प्रबंध करने में कुछ अधिक सुविधा होती है, परंतु अधिकतम सूझ बूझ की आवश्यकता होती है। घर में अच्छी मात्रा में वस्तुएँ रखने के स्थानों का प्रबंध रहना चाहिए। दीवारों में ताखे और अलमारियाँ बना देनी चाहिए। जिस स्थान पर जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो उन्हें उसके पास ही रखना चाहिए। रसोईघर में टाँड या ताखे बरतनों के रखने के काम में आ सकते हैं। दीवार से लगाकर बनाने से बीच का स्थान बचा रहता है। दीवार में बनी अलमारी में अन्न और मसाले इत्यादि रखे जा सकते हैं। कोयला, लकड़ी इत्यादि का सबसे अच्छा स्थान सीढ़ियों के नीचे कोठरी बनाकर प्राप्त किया जा सकता है। स्नानघर में छोटे ताखे हों तो उनमें साबुन इत्यादि रखे जा सकते हैं। अच्छी मात्रा में लगी खूँटियाँ कपड़े टाँगने के काम में आ सकती हैं। सोने के कमरे की पूरी दीवार में आलमारी हो तो कपड़े रखने और टाँगने [illegible] ती है। नीचे दराज देकर, विशेष प्रकार के पलंग बना लिए [illegible] फालतू बिस्तर रखने के काम में आ सकती हैं। अल-[illegible] मारी भाग में छोटी कीलें गाड़कर पतली डोरी बाँध लें तो काम में आ सकती है। कपड़े टाँगने की घोड़ी के नीचे तख्ता लगा ले, तो जूतों को स्थान मिल सकता है। भंडारघर में कई टाँड़ बना लेने से बहुत सामान रखा जा सकता है।

घर में प्रत्येक कार्य कलाप के लिये अलग अलग व्यवस्था रहनी चाहिए। भोजन बनाने का कमरा, अर्थात् रसोईघर, सोने का कमरा, बैठने का कमरा इत्यादि अलग अलग हों तो विशेष सुविधा होती है। कम कमरे हों तो, रसोईघर में ही भोजन करने के स्थान का तथा बैठने के कमरे में बच्चों के पढ़ने एवं अन्य सदस्यों के लिखने पढ़ने के स्थान का प्रबंध मेज लगाकर आसानी से किया जा सकता है। शौचालय एवं स्नानागार एक ही स्थान पर बनाए जा सकते हैं। शौचालय में फ्लश हो तो सर्वोत्तम है। रसोईघर में ही बर्तन रखने के लिये टाँड़ बना लेना चाहिए। दीवार में खूँटियाँ लगाकर चमचे, कलछियाँ इत्यादि टाँगी जा सकती हैं। यदि अलग से भंडारघर न बनाया जा सकता हो तो दीवार में ऊँचे खानों की अलमारी बनाकर टिनों में बंद करके अन्न, मसाले इत्यादि रखे जा सकते हैं।

मकान का फर्श पक्का होना आवश्यक है। इससे सील से रक्षा होती है। मोजेइक के फर्श अधिक सुंदर एवं स्वच्छ होते हैं। आँगन का फर्श खुरदुरे सीमेंट का हो तो काई नहीं लगती। नालियाँ पक्की होनी चाहिए, नहीं तो पानी चारों ओर बहता है।

मकान की भीतरी सजावट स्थान एवं आवश्यकता के अनुरूप होनी चाहिए। सजावट में प्रकाश एवं रंगों के चुनाव को प्रधानता देनी चाहिए। अँधेरे कमरे की दीवारों पर हलका या सफेद रंग करना उचित है, अन्यथा कमरा और भी अँधेरा तथा छोटा दिखाई पड़ता है। मेज कुर्सी आदि साजसज्जा कमरों की नाप के अनुसार होनी चाहिए और उन्हें इस प्रकार लगाना चाहिए कि अधिक से अधिक स्थान रिक्त रहे। कमरों के फर्श यदि मोजेइक या सीमेंट के चिकने बने हों तो उनपर दरी या कालीन बिछाने की आवश्यकता नहीं है। मेजें इस प्रकार की हों कि उनपर अधिक से अधिक सामान रखा जा सके। आवश्यकता से अधिक साजसज्जा नहीं रहनी चाहिए। जिस वस्तु का जहाँ अधिक उपयोग हो उसे वहीं रखना चाहिए। सजावट सादी हो सकती है और भड़कीली भी, परंतु वह घर के अनुकूल होनी चाहिए। आर्थिक दृष्टि से और उपयोगिता की दृष्टि से साजसज्जा चुननी चाहिए। केवल धन के प्रदर्शन के लिये कमरे की माप का ध्यान न रखते हुए सामान की भीड़ लगाना कमरे को दुकान का रूप देना है। अतः इस बात का ध्यान रखते हुए सजावट करनी चाहिए कि हमें घर में रहना है और सुविधापूर्वक रहना है। परदे धूप, चमक, ठंढ इत्यादि से रक्षा करने के लिये होने चाहिए। एतदर्थ गहरे रंग के मोटे कपड़े उपयोगी होते हैं। कमरे की दीवारों के रंगों से मेल खाते रंगों के परदे, कुर्सियों की खोलियाँ, गद्दियाँ और मेजपोश हों तो सुरुचि के परिचायक होते हैं।

२. सफाई का प्रबंध—सफाई के आवश्यक साधन निम्नांकित हैं :

झाड़ू—झाड़ू फर्श की सफाई के लिये प्रयोग में लाई जाती है। झाड़ू नारियल की सींक, सिरकी, ताड़ के पत्ते या फूल की होती है। नारियल की सींक की झाड़ू पक्के एवं कठोर फर्श और दरी के लिये अच्छी होती है। फूल की झाड़ू चिकने फर्शों के लिये अच्छी होती है। सिरकी की झाड़ू कच्चे फर्श के लिये अधिक सुविधाजनक होती है। वैकुअम क्लीनर बिजली से चलते हैं और बड़ी अच्छी सफाई करते हैं।

बुरुश—बुरुश छोटे और लंबे हत्थों के होते हैं। इनसे सब प्रकार के फर्श झाड़े जा सकते हैं। लंबे हत्थों के बुरुश से खड़े होकर काम किया जा सकता है, जो अधिक सुविधाजनक होता है। बुरुश कड़े और नरम दोनों प्रकार के रेशों के होते हैं। कालीन साफ करने के बुरुश नरम रेशों के होने चाहिए।

पोछना (Mop)—लंबे हत्थे के नीचे लकड़ी का तख्ता लगाकर उसमें मोटा कपड़ा या लंबे मोटे सूत जड़ दिए जाते हैं। मोजेइक के, या अन्य चिकने फर्श, इससे पोंछे जाते हैं। छोटे फर्श हों तो बड़ा बोरा भिगोकर भी काम चलाया जा सकता है।

झाड़न—मोटे सूती कपड़े की झाड़न झाड़ पोछ के काम आती है। नरम कपड़े की झाड़नें अच्छी होती हैं। चमकदार फर्नीचर इनसे पोछने से उसपर लकीरें इत्यादि नहीं पड़ती। रोएँ झड़नेवाला कपड़ा भी अच्छा नहीं होता। पानी इत्यादि पोंछने की झाड़न मोटी और पानी सोखनेवाली होनी चाहिए।

शैमॉय का चमड़ा—(Chamois leather) यह काच, चाँदी, और पालिशदार धातुओं को साफ करने के काम आता है। इसे प्रयोग मे लाने से इनकी चमक बनी रहती है।

(३) **सफाई के उपकरण**—सफाई के उपकरण निम्नांकित हैं :

साबुन—साबुन की टिकियाँ होती है। चूरा भी होता है। तरल रूप मे भी होता है। साबुन बहुत उपयोगी पदार्थ है। शरीर, कपड़े, बर्तन इत्यादि सब कुछ इससे साफ किया जा सकता है।

अम्ल—नीबू, सिरका, आम, इमली, ऑक्सैलिक अम्ल, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, ये सब खटाइयाँ आवश्यकतानुसार काम मे आती हैं। इनसे धातु के बर्तन के दाग इत्यादि साफ किए जाते हैं।

क्षारीय पदार्थ—सुहागा, सोडा, ऐमोनिया और चूना।

तेल—मिट्टी का तेल, पेट्रोल, अलसी का तेल, तारपीन का तेल। मिट्टी का तेल प्रायः मशीनों के भाग एवं कपड़े पर लगे चिकनाई-वाले दागों को साफ करने के काम मे आता है। पेट्रोल कपड़ों की सूखी धुलाई के काम मे आता है। शेष दोनो से पालिशदार वस्तुएँ साफ की जाती है।

(४) **वस्तुओं की सफाई :**

बर्तनों की सफाई—ऐलूमिनियम के बर्तनो को साबुन के पानी से धोना चाहिए। यदि ठीक से साफ न हो तो नीबू रगड़कर गरम पानी से धो देना चाहिए। पीतल और ताँबे के बरतन गरम राख से रगड़कर माँज लेना चाहिए। दाग पड़े हों तो खटाई से रगड़कर छुड़ा देने चाहिए। पीतल के हैंडल इत्यादि ब्रासो से साफ होते हैं। जरमन सिलवर के बर्तन चोकर अथवा साबुन के पानी से अच्छे साफ होते हैं। चाँदी के बर्तन भी चोकर या साबुन के पानी से साफ करके तुरत नरम कपड़े से पोछ देने चाहिए। काच और चीनी के बर्तन गरम पानी एवं साबुन के विलयन या सोडे के विलयन से साफ करने चाहिए।

कपड़ों की सफाई—सूती कपड़े साधारण, कपड़े धोनेवाले साबुन से रगड़कर ठंढे पानी से धो डालने चाहिए, फिर किसी बर्तन मे उन्हें उबाल लेना चाहिए, रंगीन कपड़े नही उबालने चाहिए, फिर कुछ कलफ और नील लगाकर उन्हें सुखा लेना और उनपर इस्तरी कर लेनी चाहिए। ऊनी और रेशमी कपड़े लक्स साबुन के ठंढे विलयन मे कुछ देर डुबा देने चाहिए और हाथ से दबाकर उन्हें फिर निकाल लेना चाहिए। फिर पानी से धोकर साबुन छुड़ा दिया जाय। छाया मे सुखाना चाहिए। धोने से पहले दाग छुड़ा दे।

फर्नीचर की सफाई—अलसी के तेल अथवा स्पिरिट से साफ करना चाहिए। इससे चमक आती है।

गंदगी की सफाई—कूड़ा एक जगह जमा करके या तो जला देना चाहिए अथवा उसे नियत स्थान पर रख देना चाहिए जहाँ से नगर-पालिका के कर्मचारी उठा ले जाते है। जला देने से अच्छी सफाई हो जाती है। नालियो एवं शौचालयो को प्रतिदिन धोकर फिनाइल डाल देना चाहिए। पीने के पानी की गदगी उबालकर छान लेने से ठीक हो जाती है। पोटाश परमेंगनेट के विलयन से तरकारी, फल इत्यादि को धोकर साफ कर लिया जाता है।

(५) **भोजन का प्रबंध**—भोजन का प्रबंध मुख्यतया स्वास्थ्य की दृष्टि से करना उचित है। शरीर की आवश्यकताओं के आधार पर भोजन का चुनाव करना चाहिए।

प्रोटीन एवं खनिज लवणों से युक्त पदार्थ शरीर के तंतुओं को बनाने-वाले पदार्थ है तथा इस कार्य के लिये आवश्यक हैं। प्रोटीन दूध, पनीर, अंडे, मांस, मछली, दाल, चना, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, सूखे मेवों, मूँगफली एवं शाकों मे पाया जाता है। खनिज लवण दूध, दही, मठा, अडा, दाल, चना, फल एवं पत्तेदार तरकारियो मे पाए जाते हैं।

आहार से हमें ततुओं के बनाने के अतिरिक्त शरीर मे ऊर्जा प्राप्त होती है तथा रोगो से शरीर की रक्षा होती है। विभिन्न आहारो से विभिन्न कार्य होते हैं। देखें "आहार और आहार विद्या"।

(४) **व्यय का प्रबंध**—आय सीमित होने पर व्यय सबधी प्रबंध कठिन हो जाता है। व्यय का विभाजन आवश्यकताओं के अनुरूप करना चाहिए। सीमित आय मे सबसे पहले मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं पर व्यय होना चाहिए। ये आवश्यकताएँ घर, भोजन और वस्त्र है। इनके बाद शिक्षा एवं चिकित्सा संबंधी व्यय हैं। इन बातो की पूर्ति हो जाय तब कुछ आराम देनेवाली आवश्यकताओं की पूर्ति पर ध्यान देना उचित है। विलास सबधी आवश्यकताओ की पूर्ति का स्थान अंत मे आता है। कुछ न कुछ बचत करने की चेष्टा करनी चाहिए। विभिन्न मदो के लिये सामान्य रूप से एक बजट बना लेना चाहिए। आजकल प्रति दिन बढ़ती महँगाई मे आय व्यय का संतुलन बिठाना कठिन हो रहा है फिर भी एक कामचलाऊ बजट अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बनाया जा सकता है। (र० कु०)

गृहयोजना

मानव की तीन मौलिक आवश्यकताओं मे भोजन और वस्त्र के अतिरिक्त आवास भी है। समुचित निवासस्थान का मानव के स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः रहने के लिये पर्याप्त संख्या में

चित्र १. मोहन-जो-दड़ो का विशाल स्नानगृह

यह स्नानगृह १८० फुट लंबा तथा १०८ फुट चौड़ा था। बीच मे ३९ फुट × २३ फुट × ८ फुट तरणताल था। इसमें उतरने के लिये सीढ़ियाँ थी।

संगमरमर—प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन काल में भारत में अनेक भव्य भवन संगमरमर से निर्मित हुए। यद्यपि भारत में अनेक स्थानों पर संगमरमर प्राप्त होता है, तथापि उत्तरी पश्चिमी भारत का संगमरमर अपने गुणों में अद्वितीय है। नागौर जिले में मकराना नामक स्थान का संगमरमर अत्यंत सुंदर होता है, जो आगरा स्थित ताजमहल के निर्माण में प्रयुक्त हुआ था। राजस्थान के अनेक भागों में विभिन्न वर्णों एवं विभिन्न आकार के कणों द्वारा निर्मित संगमरमर प्राप्त होता है। इसके प्राप्तिस्थान जोधपुर, जयपुर, उदयपुर तथा अलवर आदि हैं।

मद्रास के कोयंबटूर तथा मैसूर के चितालद्रुग और मैसूर जिलों में भूरे-श्वेत वर्ण का संगमरमर मिलता है। कुछ निक्षेप सेलम, मदुराई तिरुनेलवेली जिलों में भी हैं। मध्य प्रदेश के जबलपुर, बेतूल और छिंदवाड़ा तथा महाराष्ट्र के नागपुर तथा सिवनी जिलों में भी संगमरमर के उपयोगी निक्षेप प्राप्त हुए हैं। बड़ौदा से सुंदर हरा, गुलाबी तथा श्वेत, रीवाकाठ से काला, आंध्र में कुर्नूल जिले से पीत-हरा तथा पीला एवं कृष्णा तथा गुंटूर जिलों की नारंगी विरचनाओं से लेकर पीत-समुद्रीहरा आदि वर्णों तक के संगमरमर मिले हैं।

स्लेट पत्थर—बाह्य हिमालय के कुमाऊँ, गढ़वाल, कांगड़ा तथा चंबा आदि में स्लेट पत्थर का खनन किया जाता है तथा इसको घरों की छतों के निर्माणकार्य में प्रयोग किया जाता है। धौलाधर शृंखला का स्लेट पत्थर अत्यंत उपयोगी है तथा विविध आकारों में प्राप्त होता है। यहाँ स्लेट के पत्थर पूर्णतया शुद्ध सिलिकीय शिला (siliceous rock) के रूप में मिलता है, जिसका वर्ण पीला-भूरा है। कांगड़ा घाटी स्थित पंजाब के धर्मशाला जिले में कुनपारा नामक स्थान पर स्लेट का खनन होता है। हिमाचल प्रदेश के मंडी जिले की चिचोट तहसील में तथा पांडोह के समीप भी स्लेट पत्थर निकाला जाता है। पूर्वी पंजाब के गुड़गाँव जिले में रेवाड़ी के पास भी खनन कार्य किया जाता है। कुछ स्लेट पत्थर बिहार के सिंहभूम और मुंगेर जिलों में भी हैं, किंतु इनका अधिक उपयोग नहीं होता। आंध्र के कुर्नूल जिले में मरकापुर नामक स्थान पर स्कूल-स्लेट का खनन किया जाता है। नेल्लोर जिले में भी स्लेट के कुछ निक्षेप हैं।

विभिन्न वर्णों का स्लेट पत्थर महाराष्ट्र, कश्मीर, मध्य प्रदेश, मैसूर तथा असम आदि प्रदेशों में प्राप्त होता है।

भवननिर्माण के अन्य पत्थर—ग्रैनाइट, बेसाल्ट, चारनोकाइट तथा अन्य अनेक शिलाएँ भारत के विभिन्न भागों में प्रचुरता से मिलती हैं तथा सुविधानुसार खनन स्थानों के समीप के क्षेत्रों में ही इनका प्रयोग भवन-निर्माण के कार्यों में किया जाता है। (वि० सा० दू०)

गृहप्रबंध

के कई अंग हैं

१. **मकान का प्रबंध**—आजकल घरों का आकार अपेक्षाकृत छोटा हो गया है। पहले साधारणतः घर बहुत बड़े बड़े हुआ करते थे। उनमें मनमाना स्थान प्राप्त किया जा सकता था। शहरों में तो अब छोटे घर ही अधिक बनने लगे हैं। इनका प्रबंध करने में कुछ अधिक सुविधा होती है, परंतु अधिकतम सूझ बूझ की आवश्यकता होती है। घर में अच्छी मात्रा में वस्तुएँ रखने के स्थानों का प्रबंध रहना चाहिए। दीवारों में ताखे और अलमारियाँ बना देनी चाहिए। जिस स्थान पर जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो उन्हें उसके पास ही रखना चाहिए। रसोईघर में टाँड या ताखे बरतनों के रखने के काम में आ सकते हैं। दीवार से लगाकर बनाने से बीच का स्थान बचा रहता है। दीवार में बनी अलमारी में अन्न और मसाले इत्यादि रखे जा सकते हैं। कोयला, लकड़ी इत्यादि का सबसे अच्छा स्थान सीढ़ियों के नीचे कोठरी बनाकर प्राप्त किया जा सकता है। स्नानघर में छोटे ताखे हों तो उनमें साबुन इत्यादि रखे जा सकते हैं। अच्छी मात्रा में लगी खूँटियाँ कपड़े टाँगने के काम में आ सकती हैं। सोने के कमरे की पूरी दीवार में आलमारी हो तो कपड़े रखने और टाँगने की सुविधा होती है। नीचे दराज देकर, विशेष प्रकार के पलंग बना लिए ... तो वे दराज फालतू बिस्तर रखने के काम में आ सकती हैं। अल... ...ों के भीतरी भाग में छोटी कीलें गाड़कर पतली डोरी बाँध लें तो ... ने के काम में आ सकती हैं। कपड़े टाँगने की घोड़ी के नीचे तख्ता लगा लें, तो जूतों को स्थान मिल सकता है। भंडारघर में कई टाँड बना लेने से बहुत सामान रखा जा सकता है।

घर में प्रत्येक कार्य कलाप के लिये अलग अलग व्यवस्था रहनी चाहिए। भोजन बनाने का कमरा, अर्थात् रसोईघर, खाने का कमरा, बैठने का कमरा इत्यादि अलग अलग हों तो विशेष सुविधा होती है। कम कमरे हों तो, रसोईघर में ही भोजन करने के स्थान का तथा बैठने के कमरे में बच्चों के पढ़ने एवं अन्य सदस्यों के लिखने पढ़ने के स्थान का प्रबंध मेज लगाकर आसानी से किया जा सकता है। शौचालय एवं स्नानागार एक ही स्थान पर बनाए जा सकते हैं। शौचालय में फ्लश हो तो सर्वोत्तम है। रसोईघर में ही बर्तन रखने के लिये टाँड बना लेना चाहिए। दीवार में खूँटियाँ लगाकर चमचे, कलछियाँ इत्यादि टाँगी जा सकती हैं। यदि अलग से भंडारघर न बनाया जा सकता हो तो दीवार में ऊँचे खानों की अलमारी बनाकर टिनों में बंद करके अन्न, मसाले इत्यादि रखे जा सकते हैं।

मकान का फर्श पक्का होना आवश्यक है। इससे सील से रक्षा होती है। मोजेइक के फर्श अधिक सुंदर एवं स्वच्छ होते हैं। आँगन का फर्श खुरदुरे सीमेंट का हो तो काई नहीं लगती। नालियाँ पक्की होनी चाहिए, नहीं तो पानी चारों ओर बहता है।

मकान की भीतरी सजावट स्थान एवं आवश्यकता के अनुरूप होनी चाहिए। सजावट में प्रकाश एवं रंगों के चुनाव को प्रधानता देनी चाहिए। अँधेरे कमरे की दीवारों पर हलका या सफेद रंग करना उचित है, अन्यथा कमरा और भी अँधेरा तथा छोटा दिखाई पड़ता है। मेज कुर्सी आदि साजसज्जा कमरों की नाप के अनुसार होनी चाहिए और उन्हें इस प्रकार लगाना चाहिए कि अधिक से अधिक स्थान रिक्त रहे। कमरों के फर्श यदि मोजेइक या सीमेंट के चिकने बने हों तो उनपर दरी या कालीन बिछाने की आवश्यकता नहीं है। मेजें इस प्रकार की हों कि उनपर अधिक से अधिक सामान रखा जा सके। आवश्यकता से अधिक साजसज्जा नहीं रहनी चाहिए। जिस वस्तु का जहाँ अधिक उपयोग हो उसे वहीं रखना चाहिए। सजावट सादी हो सकती है और भड़कीली भी, परंतु वह घर के अनुकूल होनी चाहिए। आर्थिक दृष्टि से और उपयोगिता की दृष्टि से साजसज्जा चुननी चाहिए। केवल धन के प्रदर्शन के लिये कमरे की माप का ध्यान न रखते हुए सामान की भीड़ लगाना कमरे को दूकान का रूप देना है। अतः इस बात का ध्यान रखते हुए सजावट करनी चाहिए कि हमें घर में रहना है और सुविधापूर्वक रहना है। परदे धूप, चमक, ठंड इत्यादि से रक्षा करने के लिये होने चाहिए। एतदर्थ गहरे रंग के मोटे कपड़े उपयोगी होते हैं। कमरे की दीवारों के रंगों से मेल खाते रंगों के परदे, कुर्सियों की खोलियाँ, गद्दियाँ और मेजपोश हों तो सुरुचि के परिचायक होते हैं।

२. **सफाई का प्रबंध**—सफाई के आवश्यक साधन निम्नांकित हैं :

झाड़ू—झाड़ू फर्श की सफाई के लिये प्रयोग में लाई जाती है। झाड़ू नारियल की सींक, सिरकी, ताड़ के पत्ते या फूल की होती है। नारियल की सींक की झाड़ू पक्के एवं कठोर फर्श और दरी के लिये अच्छी होती है। फूल की झाड़ू चिकने फर्शों के लिये अच्छी होती है। सिरकी की झाड़ू कच्चे फर्श के लिये अधिक सुविधाजनक होती है। वैकुअम क्लीनर बिजली से चलते हैं और बड़ी अच्छी सफाई करते हैं।

बुरुश—बुरुश छोटे और लंबे हत्थों के होते हैं। इनसे सब प्रकार के फर्श झाड़े जा सकते हैं। लंबे हत्थों के बुरुश से खड़े होकर काम किया जा सकता है, जो अधिक सुविधाजनक होता है। बुरुश कड़े और नरम दोनों प्रकार के रेशों के होते हैं। कालीन साफ करने के बुरुश नरम रेशों के होने चाहिए।

पोछना (Mop)—लंबे हत्थे के नीचे लकड़ी का तख्ता लगाकर उसमें मोटा कपड़ा या लंबे मोटे सूत जड़ दिए जाते हैं। मोजेइक के, या अन्य चिकने फर्श, इससे पोछे जाते हैं। छोटे फर्श हों तो बड़ा बोरा भिगोकर भी काम चलाया जा सकता है।

झाड़न—मोटे सूती कपड़े की झाड़न झाड़ पोंछ के काम आती है। नरम कपड़े की झाड़नें अच्छी होती हैं। चमकदार फर्नीचर इनसे पोंछने से उसपर लकीरें इत्यादि नहीं पड़तीं। रोएँ झड़नेवाला कपड़ा भी अच्छा नहीं होता। पानी इत्यादि पोंछने की झाड़न मोटी और पानी सोखनेवाली होनी चाहिए।

शेमॉय का चमड़ा—(Chamois leather) यह काच, चाँदी, और पालिशदार धातुओं को साफ करने के काम आता है। इसे प्रयोग में लाने से इनकी चमक बनी रहती है।

(३) सफाई के उपकरण—सफाई के उपकरण निम्नांकित हैं :

साबुन—साबुन की टिकियाँ होती हैं। चूरा भी होता है। तरल रूप में भी होता है। साबुन बहुत उपयोगी पदार्थ है। शरीर, कपड़े, बर्तन इत्यादि सब कुछ इससे साफ किया जा सकता है।

अम्ल—नीबू, सिरका, आम, इमली, ऑक्सैलिक अम्ल, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, ये सब खटाइयाँ आवश्यकतानुसार काम में आती हैं। इनसे धातु के बर्तन के दाग इत्यादि साफ किए जाते हैं।

क्षारीय पदार्थ—सुहागा, सोडा, ऐमोनिया और चूना।

तेल—मिट्टी का तेल, पेट्रोल, अलसी का तेल, तारपीन का तेल। मिट्टी का तेल प्रायः मशीनों के भाग एवं कपड़े पर लगे चिकनाईवाले दागों को साफ करने के काम में आता है। पेट्रोल कपड़ों की सूखी धुलाई के काम में आता है। शेष दोनों से पालिशदार वस्तुएँ साफ की जाती हैं।

(४) वस्तुओं की सफाई :

बर्तनों की सफाई—ऐल्यूमिनियम के बर्तनों को साबुन के पानी से धोना चाहिए। यदि ठीक से साफ न हों तो नीबू रगड़कर गरम पानी से धो देना चाहिए। पीतल और ताँबे के बरतन गरम राख से रगड़कर माँज लेना चाहिए। दाग पड़े हों तो खटाई से रगड़कर छुड़ा देने चाहिए। पीतल के हैंडल इत्यादि ब्रासो से साफ होते हैं। जरमन सिलवर के बर्तन धोकर अथवा साबुन के पानी से अच्छे साफ होते हैं। चाँदी के बर्तन भी धोकर या साबुन के पानी से साफ करके तुरंत नरम कपड़े से पोंछ देने चाहिए। काच और चीनी के बर्तन गरम पानी एवं साबुन के विलयन या सोडे के विलयन से साफ करने चाहिए।

कपड़ों की सफाई—सूती कपड़े साधारण, कपड़े धोनेवाले साबुन से रगड़कर ठंढे पानी से धो डालने चाहिए, फिर किसी बर्तन में उन्हें उबाल लेना चाहिए, रंगीन कपड़े नहीं उबालने चाहिए, फिर कुछ कलफ और नील लगाकर उन्हें सुखा लेना और उनपर इस्तरी कर लेनी चाहिए। ऊनी और रेशमी कपड़े लक्स साबुन के ठंढे विलयन में कुछ देर डुबा देने चाहिए और हाथ से दबाकर उन्हें फिर निकाल लेना चाहिए। फिर पानी से धोकर साबुन छुड़ा दिया जाय। छाया में सुखाना चाहिए। धोने से पहले दाग छुड़ा दें।

फर्नीचर की सफाई—अलसी के तेल अथवा स्पिरिट से साफ करना चाहिए। इससे चमक आती है।

गंदगी की सफाई—कूड़ा एक जगह जमा करके या तो जला देना चाहिए अथवा उसे नियत स्थान पर रख देना चाहिए जहाँ से नगरपालिका के कर्मचारी उठा ले जाते हैं। जला देने से अच्छी सफाई हो जाती है। नालियों एवं शौचालयों को प्रतिदिन धोकर फ़िनाइल डाल देना चाहिए। पीने के पानी की गंदगी उबालकर छान लेने से ठीक हो जाती है। पोटाश परमैंगनेट के विलयन से तरकारी, फल इत्यादि को धोकर साफ कर लिया जाता है।

(५) भोजन का प्रबंध—भोजन का प्रबंध मुख्यतया स्वास्थ्य की दृष्टि से करना उचित है। शरीर की आवश्यकताओं के आधार पर भोजन का चुनाव करना चाहिए।

प्रोटीन एवं खनिज लवणों से युक्त पदार्थ शरीर के तंतुओं को बनानेवाले पदार्थ हैं तथा इस कार्य के लिये आवश्यक हैं। प्रोटीन दूध, पनीर, अंडे, मांस, मछली, दाल, चना, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, सूखे मेवों, मूँगफली एवं शाकों में पाया जाता है। खनिज लवण दूध, दही, मठा, अंडा, दाल, चना, फल एवं पत्तेदार तरकारियों में पाए जाते हैं।

आहार से हमें तंतुओं के बनाने के अतिरिक्त शरीर में ऊर्जा प्राप्त होती है तथा रोगों से शरीर की रक्षा होती है। विभिन्न आहारों से विभिन्न कार्य होते हैं। देखें "आहार और आहार विद्या"।

(४) व्यय का प्रबंध—आय सीमित होने पर व्यय संबंधी प्रबंध कठिन हो जाता है। व्यय का विभाजन आवश्यकताओं के अनुरूप करना चाहिए। सीमित आय में सबसे पहले मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं पर व्यय होना चाहिए। ये आवश्यकताएँ घर, भोजन और वस्त्र हैं। इनके बाद शिक्षा एवं चिकित्सा संबंधी व्यय हैं। इन बातों की पूर्ति हो जाय तब कुछ आराम देनेवाली आवश्यकताओं की पूर्ति पर ध्यान देना उचित है। विलास संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति का स्थान अंत में आता है। कुछ न कुछ बचत करने की चेष्टा करनी चाहिए। विभिन्न मदों के लिये सामान्य रूप से एक बजट बना लेना चाहिए। आजकल प्रति दिन बढ़ती महँगाई में आय व्यय का संतुलन बिठाना कठिन हो रहा है फिर भी एक कामचलाऊ बजट अपनी आवश्यकताओं के अनुसार बनाया जा सकता है। (र० कु०)

गृहयोजना मानव की तीन मौलिक आवश्यकताओं में भोजन और वस्त्र के अतिरिक्त आवास भी है। समुचित निवासस्थान का मानव

चित्र १. मोहन-जो-दड़ो का विशाल स्नानगृह

यह स्नानगृह १८० फुट लंबा तथा १०८ फुट चौड़ा था। बीच में ३९ फुट × २३ फुट × ८ फुट तरणताल था। इसमें उतरने के लिये सीढ़ियाँ थीं।

के स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः रहने के लिये पर्याप्त संख्या में
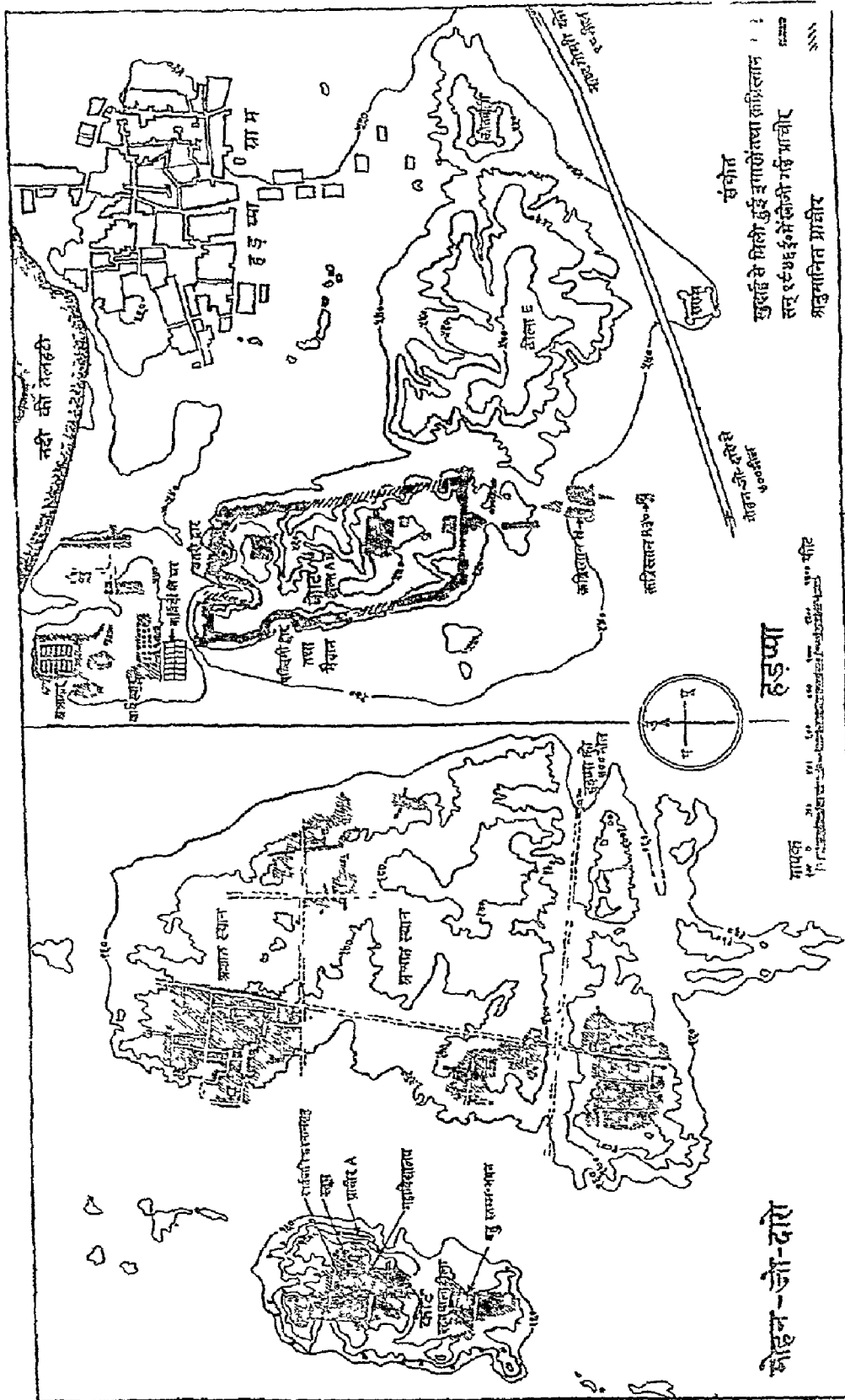
चित्र २ प्रागैतिहासिक बस्तियों के भग्नावशेषों के मानचित्र

भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (सन् १९४६) के अनुसार ये मानचित्र बनाए गए हैं।

मकानों की आवश्यकता स्पष्ट है। ये पर्याप्त सुखप्रद, स्वास्थ्यप्रद और सामुदायिक जीवन संबंधी अनिवार्य सुविधाओं से भी युक्त होने चाहिए।

भारत के इतिहास में अति प्राचीन काल से ही समुचित वासव्यवस्था का महत्व अनुभव किया गया है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेष प्रमाणित करते है कि सिंधु-घाटी-सभ्यता इस दिशा में अत्यधिक विकसित थी। सर जान मार्शल का मत है कि "हमारी जानकारी में प्रागैतिहासिक मिस्र, मेसोपोटेमिया या पश्चिमी एशिया के अन्य किसी भी स्थान में ऐसा कुछ नहीं है जिसकी मोहनजोदड़ो के नागरिकों के विशाल भवनों एवं सुनिर्मित स्नानागारों से तुलना की जा सके। एशिया के इन देशों में धन और बुद्धि का अबाध उपयोग देवताओं के लिये भव्य मंदिर तथा राजाओं के लिये प्रासाद और स्मारक आदि बनाने में अधिकांश हुआ। शेष जनता को मिट्टी के तुच्छ घरों से ही संतोष करना पड़ता था, किंतु सिंधु घाटी में इसके विपरीत सुंदरतम भवन वे हैं जो नागरिकों की सुविधा के लिये निर्मित हुए।"

मकान भट्ठी में पकाई हुई ईंटों के बनते थे। मध्यम श्रेणी के घर में साधारणतया एक आँगन, दो या तीन शयनकक्ष, एक पाकशाला, एक स्नानकक्ष और एक भांडार होता था, जब कि संपन्न व्यक्तियों के मकानों में कुछ अधिक कमरे, प्रायः अतिथियों के लिये, हुआ करते थे। इन मकानों में से कुछ दुमंजिले भी हैं। श्रमिकों के घर समांतर पंक्तियों में बनते थे और उनमें काफी बड़े कमरे और आँगन हुआ करते थे। पानी निकालने के लिये बस्तियों में सुनियोजित भूगर्भ-नाली-व्यवस्था भी थी। ये सब तत्कालीन उत्तम नगरनियोजन एवं उत्कृष्ट गृह-निर्माण-कला के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

दुर्भाग्य से भारत में आजकल वासव्यवस्था संतोषजनक नहीं है। यद्यपि भारतीय देहातों में वायु और प्रकाश अबाध रूप से उपलब्ध हैं, तथापि लोगों ने इस प्राकृतिक देन का लाभ नहीं उठाया है। वे अँधेरी और सघन बस्तियों में बने जनसंकुल घरों में रहते हैं। नगरों तथा औद्योगिक बस्तियों की दशा और भी शोचनीय है। बहुत से उद्योग बिना किसी योजना के बढ़ते रहे और नगर अव्यवस्थित ढंग से फैलते गए। फलतः आज खुली हवा के प्रवेश से रहित जीर्ण शीर्ण झोपड़ों और निम्न स्तर के मकानों में अपार भीड़ भाड़ को आश्रय देनेवाली असंख्य गंदी बस्तियाँ हैं, जहाँ प्रायः जल और प्रकाश जैसी सामान्य अनिवार्य सुविधाएँ भी नहीं हैं। बड़े औद्योगिक नगरों के विषय में यह विशेष रूप से सत्य है।

जनसंख्या में द्रुत गति से वृद्धि होने से गत कुछ वर्षों में दशा विशेष चिंताजनक हो गई है, साथ ही गाँवों में रोजगार की सुविधा के अभाव एवं नगरों में उद्योग और व्यापार की वृद्धि के कारण भी जनसमुदाय देहात से शहरों की ओर खिंचा। सन् १९४७ ई० में भारत के विभाजन के फलस्वरूप शरणार्थियों का बड़ी संख्या में आगम हुआ, जिससे वासव्यवस्था की समस्या और भी जटिल हो गई। पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान से आए हुए विस्थापित व्यक्तियों की संख्या लगभग ७९ लाख थी, जिसका अधिकांश नगरों में ही बसने के लिये प्रयत्नशील रहा।

आवास सुविधाओं के विस्तार में मुख्य कठिनाइयाँ, जो गत कुछ वर्षों में सामने आई हैं, निम्नलिखित हैं;

(१) तेजी से फैलते हुए नगरों में आवश्यकतानुसार निर्माण के लिये विकसित स्थल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होता :

(२) निजी तौर पर लोग प्रायः महँगे मकान ही बनाना चाहते हैं, जिससे अधिक किराया प्राप्त हो; निम्न मध्यम तथा मध्यम वर्ग की आवश्यकताओं की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता ;

(३) गृहनिर्माण के लिये आर्थिक सहायता देनेवाली पर्याप्त संस्थाएँ नहीं हैं, केवल सरकार अब कुछ सहायता देने लगी है;

(४) सरकारी गृह-निर्माण-योजना की प्रगति अपेक्षाकृत बहुत कम हुई है;

(५) उपलब्ध स्थानीय सामग्री के अनुरूप निर्माण के मानक निर्धारित करने, कम मात्रा में उपलब्ध सामग्री का आर्थिक दृष्टि से संगत उपयोग करने तथा निर्माणव्यय में साधारणतया पर्याप्त कमी करने के उद्देश्य से निर्माणसामग्री तथा निर्माणविधियों संबंधी गवेषणा की आवश्यकता है। तथा

(६) अनेक राज्यसरकारें वासव्यवस्था की विस्तृत योजनाओं को हाथ में लेने अथवा उनमें सहायता देने के लिये, भली भाँति संनद्ध नहीं है।

आर्थिक स्थिति, राजस्व और दूसरी राष्ट्रीय योजनाओं की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए भारत सरकार इन समस्याओं को सुलझाकर वासव्यवस्था में सुधार के लिये भरसक प्रयत्नशील हैं। (श्री कृ०)

गृह्यसूत्र प्राचीन वैदिक साहित्य की विशाल परंपरा में अंतिम कड़ी सूत्रग्रंथ हैं। यह सूत्र साहित्य तीन प्रकार का है : श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र। अधिकांश प्रमुख सूत्रग्रंथों की रचना गौतम बुद्ध के समकालिक युग में हुई जान पड़ती है, विद्वानों ने उनके पूर्ण विकास का समय ८वीं सदी ई० पू० और तीसरी सदी ई० पू० के बीच माना है। श्रौतसूत्रों के वर्ण्य विषय यज्ञों के विधि विधान और धार्मिक प्रक्रियाओं से संबंधित हैं। साधारण समाज के लिये उनका विशेष महत्व न था। गृह्य और धर्मसूत्रों की रचना का उद्देश्य सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक और विधि संबंधी नियमों का निरूपण है। तत्संबंधी प्राचीन भारतीय अवस्थाओं की जानकारी में उनका बहुत बड़ा ऐतिहासिक मूल्य है। गृह्यसूत्रों में मुख्य हैं : कात्यायन, आपस्तंब, बौधायन, गोभिल, खादिर और शांखायन। इनके अलग अलग सिद्धांत संप्रदाय थे परंतु कभी कभी उन सबमें वर्णित नियम समान हैं। संभव है, उनके भेद स्थानीय और भौगोलिक कारणों से रहे हों और इस दृष्टि से उन्हें समसामयिक भारत के अन्यान्य प्रदेशों का प्रतिनिधि माना जा सकता है। गृह्यसूत्र श्रौत (अपौरुषेय अथवा ब्रह्म) न माने जाकर स्मार्त समझे जाते हैं और वे पारिवारिक तथा सामाजिक नियमों की परंपरा को व्यक्त करते हैं। गृह्यसूत्रों में पारिवारिक जीवन से संबंधित संस्कारों का विवेचन है और वे कैसे किए जाने चाहिए, इसके पूर्ण विधि विधान दिए गए हैं। गर्भाधान से आरंभ कर अंत्येष्टि तक सोलह संस्कारों का विधान गृह्यसूत्रों के युग से ही अपने पूर्ण विकसित रूप में भारतीय जीवन का अंग बन गया तथा उन संस्कारों की धार्मिक और दार्शनिक भावनाओं का विकास हुआ। आज भी ये संस्कार, जिनमें मुख्य जातकर्म, उपनयन, विवाह और अंत्येष्टि (श्राद्धसहित) माने जा सकते हैं, हिंदू जीवन में बड़ा स्थान रखते हैं। पर इन संस्कार व्यवस्थाओं के साथ ही गृह्यसूत्रों में कभी कभी अंधविश्वासों को भी शामिल कर लिया गया है। गृहस्थ जीवन से संबंधित कुछ अन्य धार्मिक कर्तव्यों की भी उनमें चर्चा है। (वि० पा०)

गेंदा (टाजीटीस, Tagetes) यह सूर्यमुखी कुल, द्विदली वर्ग का पौधा है। इसे अंग्रेजी में मैरीगोल्ड (Marigold) कहते हैं। यह मेक्सिको देशज है।
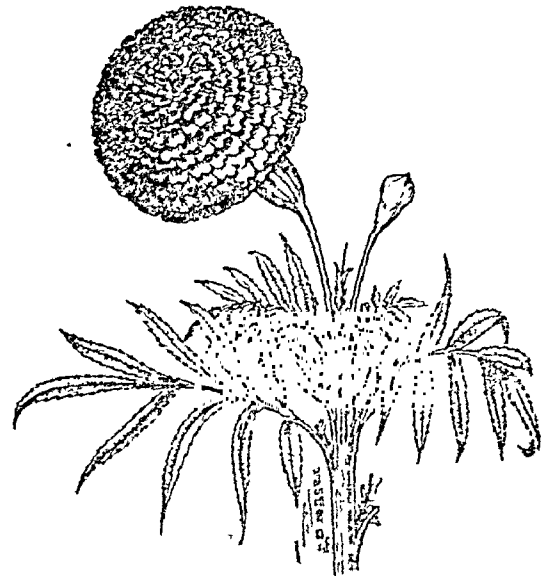
गेंदे की टहनी, कली, फूल और पत्तियाँ

गेंदे का पौधा ३०-१५० सेंटीमीटर ऊँचा होता है और बीज तथा कलम द्वारा लगाया जाता है। इसकी पत्ती साधारणतया कटी होती है। फूल पीले तथा गहरे लाल रंग के, इकहरे या दोहरे किस्म के होते हैं। इकहरे पुष्पगुच्छ में बाहर की तरफ किरणपुष्प तथा अंदर नलिकापुष्प होते हैं। दोहरे पुष्पगुच्छों में नलिकापुष्प ही पाए जाते हैं। बीज चिपटे तथा काले रंग के होते हैं और हवा द्वारा उड़कर फैल जाते हैं। दोहरे किस्म के फूलवाले पौधे कलम द्वारा लगाए जाते हैं। ये पौधे भारत में जाड़े तथा गरमी के मौसम में होते हैं। कैलथा पालुस्ट्रिस (Caltha palustris) को गीली जमीन का गेंदा कहते हैं। यह पौधा रेननकुलेसिई (Ranunculaceae) कुल का सदस्य है।

टाजीटीस इरेक्टा, टा० पाटुला (*T. patula*), टा० ल्यूसिडा (*T. lucida*) तथा टा० टेनुईफोलिआ के पौधे सजावटी हैं। गेंदे के फूल की सुगंध मधुर होती है। (कै० चं० मि०)

गेंस्बरो, टामस (१७२७-८८) आकृति एवं प्रकृति का अँगरेज चित्रकार। इसका जन्म सड्बरी (स्फोक) में हुआ था। १४ साल की उम्र में वह चित्रकारी के लिये लंदन भेजा गया। किंतु पाँच साल रहने के बाद जब वह कुछ विशेष न कर सका तो उसे घर लौटना पड़ा। कुछ दिनों बाद गेंस्बरो (इप्सविच) में घर लेकर रहने लगा जहाँ वह श्रीमानों के चित्र बनाने और अपनी खुशी के लिये भूचित्रण करने लगा। अब तक उसने विवाह कर लिया था और उसकी पत्नी की संपत्ति की आय से दोनों का खर्च चल जाता था। १७५९ में उसने बाथ नगर में डेरा डाला जहाँ चित्रों से उसे कुछ आय होने लगी। बाथ में उसका रूबेंस आदि के चित्रों से संपर्क हुआ और उसके तथा वान डाइक के चित्रों से उसने वर्ण तथा प्रकाश का भेद सीखा और चित्रगत छायाओं को अभिव्यक्त करने में उसे कुशलता प्राप्त हुई। उसकी ख्याति बढ़ चली और उसके चित्र लंदन तक जाने लगे। १७७४ में गेंस्बरो लंदन लौटा और शीघ्र उस प्रसिद्ध चित्रकार सर जोशुआ रेनाल्ड्स का प्रतिद्वंद्वी बन गया जो अपनी समृद्धि की चोटी पर था। शीघ्र ही उसकी चित्रकारिता ने लंदन के राजदरबार को आकृष्ट किया और वह दरबारियों का स्नेहपात्र बन गया। उसकी सफलता और उसके चित्रों के कौशल से रेनाल्ड्स उसका शत्रु बन गया। पर उसकी शत्रुता के बावजूद गेंस्बरो की ख्याति बढ़ती गई।

लंदन निवास के समय गेंस्बरो ने नीले रंगों के अपने प्रसिद्ध प्रयोग चित्रों में प्रारंभ किए। मास्टर जोनेथान बुट्टल की प्रतिकृति 'द ब्ल्यू ब्वाय' के नाम से इसी काल में प्रस्तुत हुई। आर्ट अकादमी का प्रारंभ (१७६८) उन्हीं दिनों हुआ और गेंस्बरो भी अकादमी के विधायक सदस्यों में से था, यद्यपि १७८४ में चित्र टाँगने की पद्धति के संबंध में उसका मतविरोध हो जाने के कारण वह अकादमी से अलग हो गया। रेनाल्ड्स और गेंस्बरो के झगड़े गेंस्बरो के मरणपर्यंत चलते रहे। गेंस्बरो के चित्रों में स्वयं चित्रकार की गहरी अभिव्यक्ति थी जो अक्सर चित्रित व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाती थी। उसके भूचित्रों में तो अद्भुत आकर्षण था और जिस वर्णविधान का उसने अपने चित्रों में उपयोग किया वह रूबेंस, वात्तों से रुन्वा तक स्वयं उसके माध्यम से एक परंपरा बन गई। यद्यपि सांस्कृतिक लक्षणों में भूचित्रण में वह अन्य अंग्रेज चित्रकारों से बहुत भिन्न न था। वातावरण के सौंदर्य तथा छंदस् में वह निःसंदेह उनसे सर्वथा परे था। गेंस्बरो का स्थान संसार के भूचित्रकारों और रंगों तथा वातावरण के असाधारण उपयोग में अन्यतम है। (प० उ०)

गेजा दक्षिण इजरायल देश का एक नगर जो जीरूसालेम से ५० मील दक्षिण-पश्चिम स्थित है (स्थिति : ३१°२८' उ० अ० तथा ३४°३१' पू० दे०)। यह तीन मील की चौड़ाई में फैले हुए बालू के टीलों द्वारा रूम सागर से पृथक् होता है। समुद्री व्यापार और युद्धकालीन स्थिति की उत्तमता के कारण इसका इतिहास प्राचीन काल से ही क्रमबद्ध है। यह प्राचीन काल में व्यापारिक मार्गों का महत्वपूर्ण केंद्र था। प्रथम विश्वमहायुद्ध से पूर्व गेजा प्रभावशाली नगर था परंतु इस महायुद्ध में इसका लगभग आधा भाग ध्वस्त हो गया। १९४८ ई० में मिस्र देश की सेना ने, मिस्र-इजराइल-युद्धोपरांत, आदेशपत्र द्वारा इस नगर पर आधिपत्य जमाया और इजरायल के अरब जातिवासियों को शरण दी। तदुपरांत २४ फरवरी, १९४९ की संधि द्वारा इजरायल ने संपूर्ण गेजा पट्टी पर (क्षेत्रफल १५० वर्गमील) मिस्र का आधिपत्य स्वीकार किया। (रा० ना० मा०)

गेटे, जे० डब्ल्यू० वॉन (१७४९-१८३२) जर्मनी का महाकवि। इसका ८२ वर्ष लंबा जीवनकाल यूरोपीय इतिहास के ऐसे युग से संबंधित है जो बड़ी बड़ी क्रांतियों तथा भयंकर उथल पुथल का समय माना गया है। उसके युवावस्था के आरंभ में जर्मन साहित्य में क्रांति का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप पुरानी मान्यताओं तथा साहित्यिक सिद्धांतों का तीव्र विरोध हुआ और कवि तथा कलाकार की स्वतंत्रता तथा राष्ट्रीय साहित्य के पुराने गौरव के पुनरुद्धार का जोरदार समर्थन हुआ। इस 'तूफानी युग' में क्रांति की भावना एक प्रचंड आँधी के समान प्रकट हुई, जिसने पुराने विचारों तथा जर्जर सिद्धांतों के खंडहर धराशायी कर दिए। इसके पश्चात् उसके जीवन के मध्याह्न में फ्रांस की राजनीतिक क्रांति का तूफान आया जिसने पुरानी व्यवस्था की भित्ति हिला दी और लाखों व्यक्तियों के हृदय में स्वर्णयुग के सुंदर स्वप्न का सृजन किया, यद्यपि यह स्वप्न मृगमरीचिका के समान ही क्षणिक सिद्ध हुआ, क्योंकि इसी के गर्भ से नेपोलियन का आविर्भाव हुआ, जिसकी द्रुतगामी विजयवाहिनी ने यूरोप में आशा के स्थान पर पूर्ण नैराश्य का साम्राज्य स्थापित किया। अंत में अपने जीवन के संध्याकाल में उसने औद्योगिक क्रांति के व्यापक परिवर्तनों का पूर्ण अनुभव किया और उस नवीन आर्थिक व्यवस्था का उदय भी देखा जो समाज के पुराने ढाँचे को तोड़ फोड़कर धीरे धीरे स्पष्ट हो रही थी।

इन सभी अनुभवों की छाप उसकी कृतियों में स्पष्ट है, क्योंकि उसका संवेदनशील हृदय बाह्य परिस्थितियों से त्वरित प्रभावित होता था। वह अत्यंत भाग्यशाली पुरुष था। उसके जीवन में अभाव की छाया कभी नहीं आई। प्रकृति ने सौंदर्य तथा स्वास्थ्य के साथ ही साथ उसे बहुमुखी प्रतिभा का वरदान दिया था जिसने उसे विभिन्न कार्यक्षेत्रों में सफल तथा प्रतिष्ठित बनाया। वह केवल कवि या कलाकार ही नहीं था, अपितु एक सफल वैज्ञानिक, साधक तथा दार्शनिक भी था। उसका अधिकार यूरोप की कई भाषाओं पर था; उसकी ज्ञानपिपासा असीम थी और 'वीमर' रियासत में उसने अपने जीवन का बहुमूल्य भाग राजशासन तथा रंगमंच संचालन जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण कामों में बिताया था। इन बातों को ध्यान में रखने पर यह समझने में कठिनाई नहीं होगी कि उसने जर्मन साहित्य के सभी अंगों को सबल तथा सुसमृद्ध बनाया और उसपर इतना गहरा तथा व्यापक प्रभाव डाला कि उसके पश्चात् शायद ही कोई लब्धप्रतिष्ठ जर्मन कवि या कलाकार उससे अछूता बचा हो। उसकी सबल लेखनी ने गीतकाव्य, महाकाव्य, उपन्यास, नाटक तथा आलोचनात्मक प्रबंधों का प्रचुर मात्रा में सृजन किया और उसने किसी भी विषय को स्पर्श करके अपनी शक्ति, नवीनता तथा मौलिकता से अप्रभावित नहीं छोड़ा।

गेटे की विभिन्न कृतियों में उसके व्यक्तिगत अनुभवों का समावेश हुआ है और उन सभी को एक सूत्र में बाँधनेवाला तत्व उसका व्यक्तित्व है जो समय के साथ साथ विकसित होता रहा। इसलिये यह कहा जा सकता है कि उसकी विभिन्नकालीन कृतियों में उसका नैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक चरित्र निहित है। जीवन के वसंत काल में उसकी भावनाएँ तीव्र तथा सरल थीं और उसका अभिव्यंजन सरल किंतु जोरदार भाषा में होता था जो भावुक हृदय का नैसर्गिक उद्गार प्रतीत होती थी। परंतु मस्तिष्क की परिपक्वता के साथ ही साथ भाव की गरिमा तथा भाषा का परिष्कार और छंदों की जटिलता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी और अंत में उसके शब्द भावों से बोझिल हो गए एवं हृदय के भाव मस्तिष्क के अनुशासन से नियंत्रित हुए। इसका अर्थ यह है कि उसने अपने व्यक्तित्व की विरोधी प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयास किया और उसका समस्त साहित्य तथा दर्शन इसी तरह से समन्वय के पुनीत कर्तव्य का उपदेश देता है।

उसने इस बात पर विशेष जोर दिया कि मनुष्य की अंतर्मुखी प्रवृत्ति हानिकारक है और इसे बहिर्मुखी बनाना अत्यावश्यक है जिससे व्यक्ति

तथा समाज, आत्मा तथा वाह्य प्रकृति में स्वस्थ सामंजस्य हो सके। इस तथ्य का परिचय उसकी सभी कृतियों में मिलता है। उसके गीतकाव्य व्यक्तिगत प्रेम से आरंभ होते हैं परंतु कालांतर में मनुष्य तथा प्रकृति का दृढ़ संबंध उनका मुख्य विषय होता है—वह प्रकृति जो ब्रह्ममय है और जिसके साथ मानव की आत्मा का अटूट संबंध है क्योंकि सृष्टि के विविध प्राणी एकता के सूत्र में बँधे हैं।

उसके तीन प्रधान उपन्यास भी उसके विकास के तीन विभिन्न पहलुओं के द्योतक हैं। उनमें प्रथम तथा सर्वाधिक प्रसिद्धिप्राप्त 'वर्दर' है, जो 'रोमांटिक' कालीन यूरोप की आत्मा का प्रभावशाली चित्र है। यह ऐसे नवयुवक का चित्र है जो जीवन से ऊब गया है क्योंकि वाह्य जगत् में उसके लिये कोई रस या सार नहीं है। उसका हृदय विचित्र-निराशा से ओत प्रोत है और अंत में उसका एकाकीपन इतना कटु हो जाता है कि उसका अंत आत्महत्या में ही होता है। गेटे के बाद के लिखे हुए दो उपन्यास 'विलहेम मीस्तर' और इसका परवर्ती संस्करण शैली के विकास के साथ ही साथ व्यक्ति तथा समाज के सामंजस्य का मार्ग प्रशस्त करते हैं और आखिरी ग्रंथ में तो लेखक ने औद्योगिक युगीन समाज-व्यवस्था तथा उसमें निहित समस्याओं का सफल तथा सजीव विश्लेषण किया है।

'गेटे' की कृतियों में नाटकों का विशेष स्थान है और उनमें मुख्य हैं 'गोट्ज', 'यगमांट', 'इफीञ्जीनी', 'तासो' और 'फाउस्ट'। यहाँ पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि 'फाउस्ट' गेटे की प्रतिभा का सर्वोत्तम प्रतीक तथा विश्वसाहित्य का अमूल्य रत्न है। इसकी रचना का इतिहास 'गेटे' के विकास का इतिहास है और नाटक के नायक की जीवनकथा मानव आत्मा के विकास की कथा है। 'फाउस्ट' मध्ययुगीन लोकसाहित्य का पूर्वपरिचित पात्र है जिसको गेटे ने मानवता का प्रतीक माना है। यह व्यक्ति आरंभ में 'वर्दर' के ही समान अहंभाव से आक्रांत है परंतु धीरे धीरे उसका मन अन्य व्यक्तियों तथा वाह्य संसार की ओर आकृष्ट होता है। पहला चरण एक अबोध लड़की से प्रेम है जिसका अंत दुःखमय सिद्ध होता है, फिर उसका प्रवेश समाज में होता है और हेलेन के संपर्क में आकर वह कर्म की उपादेयता का पाठ पढ़ता है और अंत में एक विस्तृत भूखंड का स्वामी होकर उसके विकास में लगा हुआ अपनी जीवनलीला समाप्त करता है। 'फाउस्ट' का व्याख्यासाहित्य काफी विस्तृत है। गेटे की पैनी दृष्टि ने बहुत से तत्वों का आविष्कार किया जिनका विकसित रूप कालांतर में बोधगम्य हुआ। उसकी कृतियों में विकासवाद तथा मार्क्सवाद के मूल सिद्धांत निहित हैं और उनमें उस विचारधारा के लिये भी पर्याप्त समर्थन मिलता है जिसने हिट्लर जैसे निरंकुश शासकों तथा नेताओं को जर्मनी में लोकप्रिय तथा जनता की श्रद्धा तथा पूजा का पात्र बनाया, यद्यपि उनकी समस्त शक्ति विध्वंस कार्य ही में बर्बाद हुई। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि आर्नल्ड ने गेटे को 'लौह युग का चिकित्सक' बताया है, पर गेटे के विचार आज भी नवीन तथा सजीव हैं। कालिदास के 'शाकुंतल' के लिये उसने प्रशंसा के जिन शब्दों का प्रयोग किया है वही उसकी कृतियों के लिये भी उपयुक्त है—क्योंकि उनमें भी वसंत का सौरभ तथा शिशिर का मधुर रस पूर्णरूप से मिश्रित है।

सं० ग्रं०—सजिल्द, लाइफ़ ऐंड वर्क्स ऑव गेटे : जी० एच० लेविस-डेविड नट; १८५५; विलियम रोज : एसेज आन गेटे, कैसेल ऐंड को० १९४९; वी० फेयरली : ए स्टडी ऑव गेटे, आक्सफोर्ड, १९५७; एन० ए० विलूबाई : युनिटी ऐंड कांटीनुइटी इन गेटे, क्लैरेंडन प्रेस, आक्सफोर्ड, १९४७। (वि० रा०)

गनटेशान मंगोलिया देश के उत्तरी भाग में स्थित एक पर्वत श्रेणी जो उर्गा नगर के उत्तर-पूर्व में फैली हुई है। यह श्रेणी सोवियत रूस की सीमा के लगभग समांतर चली गई है। इसके उच्चतम शिखर की ऊँचाई समुद्रतल से ८,४६४ फुट है। (रा० ना० मा०)

गेयरी संयुक्त राज्य अमरीका में इंडियाना प्रांत के लेक जिले में मिशिगॅन झील के दक्षिणी छोर पर शिकागो नगर से २५ मील दक्षिण-पूर्व स्थित औद्योगिक नगर (स्थिति : ४१° ३८' उ० अ० एवं ८७° १५' पू० दे०)। यह संयुक्त राज्य का सबसे बड़ा लोहा-इस्पात-केंद्र है और इसकी गणना विश्व के विशालतम लोहा-इस्पात-केंद्रों में होती है। गेयरी नगर की स्थापना १९०६ ई० में ऐसे निर्जन प्रदेश में हुई थी जो दलदल तथा बालू के टीलों से भरा था।

गेयरी नगर उत्तम पोताश्रयों द्वारा 'महान् झील प्रदेश' के कनाडा तथा संयुक्त राज्य देशों के तटीय मार्गों से जुड़ा है। इन बंदरगाहों पर जहाज उत्तर से कच्चा लोहा तथा चूने का पत्थर लाते हैं और यहाँ से अन्य स्थानों को लोहे और इस्पात का सामान तथा सीमेंट ले जाते हैं। इस नगर के लोहा-इस्पात और अन्य आश्रित उद्योग संयुक्त राज्य इस्पात मंडल के अधीन हैं। यहाँ स्थित युनिवर्सल ऐटलस सीमेंट कारखाना विश्व के पोर्टलैंड सीमेंट का उत्पादन करनेवाले कारखानों में सबसे बड़ा है। (रा० ना० मा०)

गेरसप्पा (जोग) कर्णाटक तथा महाराष्ट्र राज्यों की सीमा पर शिवमोगा जिले के प्रधान केंद्र से ६२ मील दूर स्थित एक प्रपात। शिवमोगा से प्रपात तक मोटर मार्ग है, जो मनोरम जंगलों से होकर गया है। रास्ते में चार विश्रामगृह हैं।

यहाँ चार प्रपात हैं। ये प्रपात शिरावती नामक नदी के ऊँचाई से गिरने के कारण बनते हैं। प्रथम प्रपात में, जिसे 'राजा' कहते हैं, जल ८२९ फुट की ऊँचाई से १३२ फुट गहरे कुंड में गिरता है। दर्शक ऊपर से इस अतल गड्ढे में देख सकते हैं। द्वितीय प्रपात में फेनिल जल का तीव्र प्रवाह घुमावदार मार्ग से होता हुआ एक गुहा में पहुँचता है, जहाँ से वह राजा प्रपात के कटाव में गिर जाता है। तीसरा प्रपात कुछ दक्षिण हटकर है। इसमें से जल की धारा फेन के रूप में, झटके से, निरंतर निकलती रहती है और आतिशबाजी के अग्निबाण की भाँति रंग बिरंगे चमकीले बिंदुओं में बिखरकर नीचे गिरती है। इसके भी दक्षिण चतुर्थ प्रपात की फीते समान पानी की चादरों का क्रम है, जो शिला की ढालवाँ सतह से नीचे गिरती हैं। इस प्रपात का सबसे सुंदर दृश्य कर्णाटक की ओर से दिखाई पड़ता है। जहाँ पानी गिरता है वहाँ तक पहुँचने का मार्ग कठिन है, किंतु वहाँ तक पहुँचे बिना प्रपात की शोभा का पूरा आनंद नहीं मिल सकता।

गरमी के दिनों में इस प्रपात का जल क्षीण हो जाता है और वर्षा में जल की अधिकता के कारण गड्ढे का समस्त क्षेत्र घने, अभेद्य कुहरे से ढका रहता है। इस स्थान पर महाराष्ट्र तथा कर्णाटक दोनों राज्यों द्वारा जलशक्ति से विद्युदुत्पादन के बड़े बड़े संयंत्र स्थापित किए गए हैं। (भ० दा० व०)

गेरू हलकी पीली से लेकर गहरी लाल, भूरी या बैंगनी रंग की मिट्टी जो लोह आक्साइड से ढँकी रहती है। यह दो प्रकार की होती है। एक का आधार चिकनी मिट्टी होती है तथा दूसरे का खड़िया मिश्रित मिट्टी। दोनों जातियों में से प्रथम का रंग अधिक शुद्ध तथा दर्शनीय होता है।

कुछ प्रकार के गेरू पीस लेने पर ही काम में लाने योग्य हो जाते हैं, किंतु अन्य को निस्तापित करना (calcine) पड़ता है, जिससे उनके रंगों में परिवर्तन हो जाता है और तब वे काम के होते हैं। प्रसिद्ध गेरू, जिसको रोमन मृत्तिका (Roman earth या Terra di siena) कहते हैं, प्राकृतिक अवस्था में धूमिल रंग का होता है, किंतु निस्तापित करने पर यह कलाकारों को प्रिय, सुंदर भूरे रंग का हो जाता है। जिस गेरू में कार्बनिक पदार्थ अधिक होता है उसे निस्तापित करके वार्निश या तेल में मिलाने पर, शीघ्र सूखने का गुण बढ़ जाता है। बहुत सा गेरू कृत्रिम रीति से भी तैयार किया जाता है।

गेरू का उपयोग सोने के आभूषणों पर ओप या चमक लाने तथा कपड़ा रँगने के विविध प्रकार के रंगों और तैलरंग तैयार करने में होता है। (भ० दा० व०)

गेलु, जोना (१८७४–१९३८ ई०) अमरीकन उपन्यास लेखिका। इनका जन्म विसकांसिन प्रांत के प्रोट्रेज नामक स्थान में हुआ था। विसकांसिन विश्वविद्यालय से ग्रैज्युएट होकर वे अनेक वर्षो तक पत्रकारिता करती रहीं और न्यूयार्क के 'वर्ल्ड' पत्रिका के संपादकीय विभाग में रहीं। १६०५ में वे अपने घर लौट आईं और उपन्यास लिखना आरंभ किया। १६०६ में उनका पहला उपन्यास 'रोमांस आइलैंड' प्रकाशित हुआ। १६०८ में 'फ्रेंडशिप विलेज' नाम से एक कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ जो काफी लोकप्रिय हुआ। उनके प्रमुख उपन्यास हैं—द लव्स ऑव पेलिमास एंड इटारे, प्रीफेस टु ए लाइफ़, वार्जिया, व्राइडल पांड, लाइट वमन, फ्रैंक मिलर ऑव मिशन इन, मैगना, वर्थ, मिस लूलू वेट। इनमें से कई को नाटक रूप भी प्राप्त हुआ है। १६२१ में उन्हें पुलिट्जर पुरस्कार प्राप्त हुआ। (प० ला० गु०)

गेलूसाक, लुई जॉसेफ (१७७८–१८५० ई०) रसायनज्ञ और भौतिकीवेत्ता। इनका जन्म ६ दिसंबर, १७७८ ई० को सेंट लेग्रोनार्ड (ऑट व्येन) में हुआ। ये पॉलिटेक्नीक स्कूल मे १७६७ ई० में भरती हुए। १८०१ ई० में इनकी पदवृद्धि हुई और पौंटसएट चौसीस में इनकी नियुक्ति हुई।

थोड़े दिनों वाद ही वरथोले नामक प्रसिद्ध रसायनज्ञ ने इन्हें रसायनशास्त्र में अपना सहकारी वना लिया। इस समय इन्होने अपना प्रमुख अनुसंधान कार्य आरंभ किया। इनकी गवेषणाओं के क्षेत्र ये थे : गैसों का प्रसारण, वाष्पदाव, तापमापियों और दावमापियो मे सुधार, वाष्पघनत्व, क्लेदमिति, उद्वाष्पन, केशिकाप्रभाव आदि। गेलूसाक ने प्रसिद्ध भौतिकीवेत्ता वायो (Biot) की सहकारिता मे, और वाद मे अकेले भी, दो वार गुब्बारे अंतरिक्ष मे ऊपर उड़ाए। उड़ाने का उद्देश्य यह पता लगाना था कि ऊपर किस प्रकार का ताप और वायु में कितनी नमी है। भूचुंवकत्व की भी वे परीक्षा करना चाहते थे। अलेक्जैंडर वॉन हवोल्ट (Humboldt) के साथ उन्होंने उस वायु का भी विश्लेपण किया जो २३,००० फुट ऊपर से भरकर नीचे लाई गई थी। हंवोल्ट और गेलूसाक ने सर्वप्रथम १५ अक्टूवर, १८०४ ई० को सायंस अकादमी में इस वात की सार्वजनिक घोषणा की कि एक आयतन ऑक्सिजन और दो आयतन हाइड्रोजन परस्पर संयुक्त होकर पानी बनाते है। इस फल से प्रोत्साहित होकर उन्होंने गैसों के संयोग पर भी प्रयोग आरंभ किए। इन प्रयोगो के फलस्वरूप उन्होंने १८०८ ई० में अपना गैसो के संयोग का आयतन संवंधी प्रसिद्ध नियम प्रतिपादित किया। एक वर्ष वाद गेलूसाक की नियुक्ति पॉलिटेक्नीक स्कूल के रसायन के प्राध्यापक के पद पर हुई और १८३२ ई० से उन्होंने जार्दें दे प्लांत में भी प्राध्यापक पद को सुशोभित किया। डेवी ने इन्हीं दिनों विद्युद्धारा के विभाजन प्रभाव द्वारा पोटासियम और सोडियम धातुएँ प्राप्त की थीं। इससे प्रोत्साहित होकर थेनार्ड और गेलूसाक ने भी इस क्षेत्र में काम आरंभ किया। गेलूसाक ने विशुद्ध रासायनिक विधि द्वारा पोटासियम पृथक् करने में सफलता प्राप्त की। वोरिक अम्ल से उसने वोरॉन तत्व भी पृथक् किया। गेलूसाक ने कार्वनिक यौगिको के विश्लेपण की विधियों को भी परिष्कृत किया। यद्यपि आयोडीन की खोज तो कुर्तुआ (Courtois) ने की थी, तथापि गेलूसाक और डेवी ने आयोडीन के गुणो की परीक्षा की और सिद्ध किया कि यह एक तत्व है। गेलूसाक ने सर्वप्रथम हाइड्रियॉडिक अम्ल और आयोडिक अम्ल वनाए। १८१५ ई० में गेलूसाक ने सायनोजन मूलक पृथक् करने में सफलता प्राप्त की। यौगिक मूलक का यह सर्वप्रथम उदाहरण था। लीविग के साथ गेलूसाक ने फलमिनिक अम्ल की परीक्षा की।

गेलूसाक का ध्यान धीरे धीरे उद्योग रसायन की ओर भी गया। सलफ्यूरिक अम्ल के व्यापार मे इनके नाम का स्तंभ (गेलूसाक टॉवर) आज तक प्रसिद्ध है। इन्होंने विरंजन चूर्ण पर भी काम किया। रजत अनुमापन और परिमापन में नमक के विलयन का उपयोग इन्होंने सर्वप्रथम वताया। व्यापार मंत्रालय मे भी गेलूसाक ने कार्य किया। शोरे के गोलावारूद [illegible]र करनेवाले सरकारी कारखाने में गेलूसाक की सेवाएँ महत्व की मानी [illegible]८२६ ई० में फ्रास के मुद्रा-निर्माण-भवन मे गेलूसाक प्रधान विश्लेपक वने। १८३९ ई० में ये फ्रांस के पीअर (Peer) वनाये गए। फ्रांस की रसायन अनुसंधान पत्रिका के संपादक भी रहे। पैरिस मे ९ मई, १८५० ई० को उनका देहावसान हुआ। (सत्य० प्र०)

गेलेन ग्रीस देश का एक आयुर्वैज्ञानिक। वह एशिया माइनर के माइसिया प्रात की राजधानी परगेमम नगर मे सन् १३० मे उत्पन्न हुआ था। ७० वर्ष की आयु मे, सन् २०० में, उसकी मृत्यु हुई। वाल्य काल से ही यह वड़ा होनहार तथा प्रभावशाली था। छोटी अवस्था में इसने न्याय, धर्म, दर्शनशास्त्र तथा विज्ञान के उन अनेक मतो का ज्ञान प्राप्त कर लिया था जो उस समय प्रचलित थे। १६ वर्ष की आयु से इसने चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन आरंभ किया और उसके लिये अनेक देशों—ग्रीस, सिसिली, फ़िनीशिया, क्रीट, साइप्रस, आदि—मे भ्रमण किया। उसने ऐलेग्जैंड्रिया के आयुर्विज्ञान विद्यालय में भी कुछ समय तक अध्ययन किया। अंत में सन् १६४ मे वह रोम में वस गया और वहाँ अनेक प्रधान राजकर्मचारियों से उसकी मैत्री हो गई। उनमें सेवेरस (Severus) भी एक था, जो आगे चलकर रोम का सम्राट् हुआ। कुछ समय पश्चात् गेलेन रोम छोडकर परगेमम चला गया, किंतु सम्राट् मार्कस ऑरेलियस के वुलाने पर उसके उत्तराधिकारी कामोडियस का स्वास्थ्य अभिभावक वनकर रोम लौट आया। सन् १६१ में रोम के अग्निकांड मे उसकी लिखी अनेक पुस्तकें भस्म हो गईं। सम्राट् पर्टिनैक्स के समय में भी वह वही अध्यापन कार्य करता था।

गेलेन ने अपने जीवनकाल में छोटी वड़ी लगभग ५०० पुस्तकें तथा निवंध लिखे, जिनमें से १२४ ग्रंथ केवल दर्शन पर थे। ये सव ग्रीक भाषा में लिखे गए थे। चिकित्सा संवंधी उस समय तक प्रचलित मतो का इसने प्रवल खंडन किया, जिससे उस समय का चिकित्सक वर्ग इसके विरुद्ध हो गया। ४०० वर्षो से अरस्तू (Aristotle) के मतों का ही अध्ययन, अध्यापन तथा अनुसरण किया जाता था। गेलेन ने इन मतों के विरोध मे अपनी प्रवल लेखनी का प्रयोग किया।

गेलेन प्रयोगात्मक शरीर-क्रिया-विज्ञान का प्रणेता माना जाता है। प्राचीन समय मे हिपॉक्राटीज के पश्चात् चिकित्सा शास्त्र का यह प्रथम विख्यात विद्वान् था। चिकित्सा विज्ञान की प्राय: प्रत्येक शाखा मे इसने खोजें की और नवीन पथप्रदर्शन किए। इन आविष्कारों का यहाँ संक्षिप्त विवरण दिया जाता है :

शरीररचना (Anatomy)—इसने अनेक जंतुओं, वानरों आदि के शवों का व्यवच्छेदन किया और मनुष्य के शरीर की कितनी ही संरचनाओं का वर्णन किया। पायसिकाओं (Lacteals) को उसने पहचाना तथा मुख की लालाग्रंथियों की रसवाहिनियों का उसने वर्णन किया। अन्य अनेक ऐसे अन्वेपण हैं, जिनका श्रेय गेलेन को दिया जाता है।

शरीर-क्रिया-विज्ञान—इसने अज्ञात स्वेदन (insensible perspiration) को पहचाना तथा कंठ-आवर्तक-तंत्रिका (recurrent laryngeal) का वंधन करके उसका प्रभाव देखा। मेरुरज्जु (spinal chord) को कई स्थानों पर काटकर संवेदन (sensory) और संचालन (motor) परिवर्तनों का उसने अध्ययन किया। हृदय के संवंध में भी उसने महत्वपूर्ण खोज की। हृदय की क्रिया का तंत्रिकाओं से स्वतंत्र होने का उसने प्रतिपादन किया। उसने हृत्पेशी का अन्य पेशियों से भिन्न होना माना। हृत्पेशी में स्वयं संकोच की शक्ति है इसको उसने समझा। उसका यह भी कहना है कि हृदय के विभाजक फलक (septum) में अति सूक्ष्म छिद्र होते हैं, जिनके द्वारा रक्त का स्रवन दाहिने और वाएँ कोष्ठों में हो सकता है। इससे दोनों ओर के रक्तों का मिलना संभव है।

धर्म और दर्शन—गेलेन एकेश्वरवाद का दृढ़ अनुयायी था और उसने धर्म संवंधी अनेक निवंध लिखे हैं। वह ईश्वर को संसार का एकमात्र विधाता मानता है और संसार की रचना से उसकी महत्ता को समझने का प्रयत्न करता है। इसका मत है कि ईश्वरीय नियमों के अनुसार संसारसंचालन मे उस महान् शक्ति का प्रदर्शन होता है। मनुष्य के शारीरिक अंगों की प्रयोजनयुक्त रचना का कौशल इसके मतानुसार ईश्वर की महत्ता का सवसे वड़ा समर्थक और उदाहरण है। अपनी पुस्तक 'मानव

शरीर के अंगों के कार्य' (On the uses of the parts of the body of man) में उसने इस मत का जोरदार समर्थन किया है। तर्कशास्त्र (Logic) पर भी उसने कई निबंध लिखे हैं, जिनमें यद्यपि उस समय प्रचलित एतत्संबंधी मतों का ही प्रतिपादन है, फिर भी उसका इस शास्त्र पर प्रभाव पड़ा है।

विज्ञान के इतिहास में गेलेन अपने समय का विशिष्ट व्यक्ति हुआ है, जिसने अपनी विद्वत्ता, विचारप्रखरता तथा वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि से विज्ञान की प्रगति को प्रभावित किया है। (मु० स्व० व०)

गेल्ज़ेन किरखेन जर्मनी के उत्तरी राइन वेस्टफेलिया प्रदेश का एक नगर जो डूइज़बर्ग (Duisberg) से हाम (Hamm) जानेवाली रलवे लाइन पर डार्टमुंड (Dortmund) से २७ मील पश्चिम स्थित है। इस नगर में लोहे की भट्ठियाँ, कोयले की खानें, टिन, इस्पात तथा पानी की भाप के लिये वायलर (boilers), साबुन और रसायनकों के निर्माण तथा तेलशोधन के कारखाने और टाकियाँ है। द्वितीय विश्वयुद्ध में भयानक बमवर्षा के कारण इस नगर की बड़ी क्षति हुई और युद्धपश्चात् जनसंख्या कम हो गई, पर धीरे धीरे इसने अपनी पूर्वस्थिति पुनः प्राप्त कर ली। यहाँ जर्मनी का वृहत्तम कृत्रिम जलाशय है जिसे रूर नदी से जल उपलब्ध होता है। (भ० दा० व०)

गेल्युसक, जोजेफ लुइ (१७७८-१८५० ई०) फ्रेंच भौतिक एवं रसायन शास्त्री। उसने हाइड्रोजन भरे गुब्बारे में बैठकर समुद्री धरातल से २१ हजार फुट ऊपर जाकर वायु की बनावट की जाँच के लिये उसे एकत्र किया और चुबकीय शक्ति तथा वायु के तापमान और द्रवशीलता की भी जाँच की। उसकी सुविख्यात खोज थी कि गैसों की कुल आगत और उनके गैसीय उत्पादन का छोटी पूर्ण संख्या में H_2O के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। यह गेल्युसक नियम के नाम से प्रसिद्ध है। पानी के इस नुस्खे का तात्पर्य यह है कि यदि दो भाग हाइड्रोजन का एक भाग आक्सिजन के साथ मिला दिया जाय तो पानी बन जायगा।

उद्योग में प्रयोग के निमित्त गंधक के तेजाब तथा आक्सालिक एसिड की उत्पादन क्रिया में सुधार किया। पोटाश और सोडा में क्षार के अंश के जानने का सरल उपाय भी उसने प्रस्तुत किया। १८३९ में उसे फ्रांस का पियर बनाया गया। उसे अन्य अनेक सम्मान प्राप्त हुए। (प० ला० गु०)

गेल्वेज़, मैन्युएल अर्जेंटाइना का उपन्यासकार। जन्म १८८२ ई०। उसने अपने उपन्यास और कहानियों के माध्यम से अर्जेंटीनी जीवन की विशेषताओं की ओर संसार का ध्यान आकर्षित किया। अर्जेंटीना के सामाजिक जीवन पर स्पेन के व्यापक प्रभाव को उसने न केवल स्वीकार किया है वरन् 'डायरी ऑव गैब्रील क्विरोगा' नामक पुस्तक में उसकी प्रशंसा भी की है। इनका ध्यान अपने देश के राष्ट्रीय जीवन के मूल तत्वों की व्याख्या पर विशेष केंद्रित रहा। उन्होंने अपने उपन्यासों में बाहरी दुनिया के संपर्क से प्रभावित और बदलते हुए राजधानी के जीवन तथा देश के भीतरी भागोंवाले शहरों की रूढ़िवादिता के अंतर को भी बड़ी खूबी के साथ दिखाया है। उपन्यासकार के रूप में इनके ऊपर प्रकृतिवाद का प्रभाव पड़ा लेकिन उन्होंने जो कुछ भी लिखा, सुधार की दृष्टि से लिखा। इनका दृष्टिकोण सदा ऐतिहासिक रहा है और वर्तमान की चर्चा करते समय भी इन्होंने हमेशा अतीत के साथ उसके लगाव की बात ध्यान में रखी। इतिहास की पृष्ठभूमि में लिखी गई रचनाओं में सीन्स फ्रॉम द पैरागुएन वार, थिरिगोएन (१९३४) तथा रोसा (Rosas) १९४२ मुख्य हैं। उनके अन्य उपन्यास इस प्रकार हैं: ला मेस्त्रा नॉर्मल (१९१४), ला सोंब्रे देल कॉन्वेंतो, नेकरिगूल्स (१९१९), हिस्तोरिया डी अराबेल (१९२२), मीयरकोल्स सैंटो (१९३०), होली वेसडे। (तु० ना० सि०)

गेलस्टेड ईनर, ओटो डेनिश कवि। इनका जन्म मिडेलफ़ार्ट नामक स्थान में ४ नवंबर, १८८८ को हुआ था। साहित्य और कला की समीक्षाओं में गेलस्टेड की प्रारंभ से ही अभिरुचि थी जिसका कारण उनका क्लासिक साहित्य की शिक्षा और सौंदर्यशास्त्र (Aesthetics) की ओर प्रवृत्ति थी। उन्होंने यूरोप के अनेक कलाकारों (विशेषतः स्कैंदिनेवियाई) की कृतियों की समीक्षाएँ लिखी हैं और काव्य की दिशा में महत्वपूर्ण रचनाएं की है।

वे आधुनिक डेनिश काव्य के सबसे महान् कवि माने जाते हैं। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में जहाँ डेनिश गोचारण भूमि (Pastoral Scenes) का प्राकृतिक अभिचित्रण पाया जाता है, आगे चलकर वे रचनाएँ अधिक से अधिक जनवादी हो गई। गेलसटेड की इन प्रगति संपन्न रचनाओं में डार्विन और लेनिन के प्रभाव परिलक्षित होते हैं।

गेलसटेड के निबंध अत्यंत उच्च कोटि के हैं। उनमें यूरोपीय समीक्षा शास्त्र के प्रचलित व्यापक आदर्शों का सूक्ष्म विश्लेषण पाया जाता है। उन्होंने उत्तरी यूरोप के साहित्यिक आंदोलनों और कलासमीक्षाओं में सक्रिय भाग लिया और विख्यात आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स एवं बेलिंस्की की तरह साहित्य समीक्षा को उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित किया।

क्लासिक परंपरा की व्यापक अनुभूतियों के कारण उन्होंने कई प्राचीन ग्रंथों का भाषांतर भी किया जिनमें एकिलस के भाषांतर अत्यंत लोकप्रिय हैं।

गेलस्टेड की कुछ मौलिक रचनाएँ हैं: 'दे एविगे तिंग' (१९२०), 'फाइहेदेस आर' (१९४७), दिग्ते (१९२४)।

सं० ग्रं०—सी० एस० पीटर्सन ऐंड वी० ऐंडर्सन : 'इलस्त्ररेत डैंस्क लिटरेचर हिस्तोरिया' (४ खंड, १९२४-३४); कैसेल : 'इंसाइक्लोपीडिया ऑव लिटरेचर', एस० एच० स्टाइनबर्ग द्वारा संपादित (लंदन, १९५३); एडमंड डब्ल्यू० गॉस : 'स्टडीज इन द लिटरेचर ऑव नार्दर्न यूरोप (१८७९); 'दि ऑक्सफ़ोर्ड बुक ऑव स्कैंडिनेवियन वर्स', एटमंट गॉस एवं डब्ल्यू० ए० क्रेग (१९२५); के० एम० बूराल : डैंस्क फ़ैटर लेक्सिकान (१९४५)। (च० म०)

गेसेन, अलेक्संदर इवानोविच (१८१२-१८७० ई०) रूसी लेखक, क्रांतिकारी, और भौतिकवादी दार्शनिक। २५ जनवरी, १८१२ ई० को जन्म। १८३३ ई० में मास्को विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की। १८३४ में क्रांतिकारी काम के लिये गिरफ्तार हुए और १८४० तक कालापानी में रहे। १८४७ में विदेश गए। १८४८ में पेरिस में वुर्जुआ क्रांति में भाग लिया। १८५२ से लंदन में रहने लगे। 'पोल्यानीया ज्वेज्दा' पत्रिका और 'कोलोकोल' पत्र का प्रकाशन किया जिनमें क्रांतिकारी विचारों का प्रचार किया जाता था। गेसेन के कार्ल मार्क्स से मतभेद थे। गेसेन अराजकवादी बकूनिन के समर्थक थे, लेकिन अपने जीवन के अंत में उन्होंने मजदूर वर्ग के प्रति अपना ध्यान रखा। गेसेन रूसी भौतिकवादी दर्शन के प्रसिद्ध प्रतिनिधि थे। पर वे समाज के विकास की अनुमति के लिये भौतिकवादी दर्शन का प्रयोग न कर पाए। गेसेन ने कई उपन्यास भी लिखे। 'अपराधी कौन ?' (१८४६) में रूस की कम्मीगिरी की आलोचना की गई थी। 'सोरोका-वोरोव्का' (१८४८) में एक रूसी कम्मीगिरी प्रतिभाशाली अभिनेत्री का दु:खदायक कहानी है। 'डाक्टर क्रुपोव' (१८४७) लघु उपन्यास में उस समाज का ध्वंसात्मक वर्णन है जिसमें लोगों को समान अधिकार नहीं है। 'भूत बातें और विचार' (१८५२-६८) गेसेन की मुख्य कृति है। इसमें रूस और पश्चिम यूरोप के देशों के सामाजिक जीवन तथा क्रांतिकारी आंदोलनों का चित्रण किया गया है तथा रूसी क्रांतिकारियों की एक प्रतिमामूर्ति प्रस्तुत की गई है। (प्यो० अ० बा०)

गेस्तजूल, मैथ्यू वेसील (१८४५-१९२२ ई०) फ्रांसीसी समाजवादी। ११ नवंबर को पेरिस में जन्म। आरंभ में क्लर्क हुए फिर अनेक पत्रों के संपादक। बाद में फ्रांसीसी संसद् के सदस्य। मार्क्सवादी समूहवाद के अग्रणी नेता। ये कार्ल मार्क्स के दामाद थे एवं समाजवादी मूलपंथी दल के अगुआ। इनके समकालीन 'सुधारवादी' नेता ज्यूरस थे। प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों विभागहीन मंत्री रहे। इनके भाषणों के दो संकलन हैं। २२ जुलाई, १९२२ को मृत्यु हुई। (न० मे०)

गेस्टापो जर्मनी के नाजी शासनकाल में एडाल्फ हिटलर को शक्तिसंपन्न बनाए रखने के लिये स्थापित खुफिया पुलिस। इसका विकास नाजी आंदोलन की प्रारंभिक आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में हुआ।

१९२३ ई० में 'म्युनिख पुश' के बाद ही हिटलर के निजी रक्षक के रूप में स्टाबवाख (Stabswache) की स्थापना की गई थी। बाद में शुट्ज-स्टैफेन के रूप में उसका विकास हुआ। इसे सामान्यत. एस एस कहा जाता था। १९२९ में सभी स्थानीय एस एस को एक में संगठित कर हेनरिख हिमलर को उसका प्रधान नियुक्त किया गया।

वीमर राजतंत्र के समय विभिन्न जर्मन राज्यों में राजनीतिक पुलिस स्थापित की गई थी। इसमें प्रशा का दल विशेष रूप से शक्तिशाली और महत्व का था। हरमन गोरिंग ने १९३३ ई० में उसे गेहीम स्टाट्स-पोलिजी (Geheime-staats Polize) अर्थात् राजकीय गुप्त पुलिस का नाम दिया। इसी का संक्षिप्त नाम गेस्टापो है। इस संघटन की विशेषता यह थी कि (१) यह सारे जर्मनी में फैला हुआ था, (२) शीघ्र ही इसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता बन गई। उसके अपने कानून थे जो सामान्य कानूनों का अतिक्रमण करनेवाले थे। हिमलर ने एस एस के प्रधान के रूप में गुप्त पुलिस का संघटन हमबुर्ग, सैक्सनी आदि राज्यों में किया और गोरिंग उस प्रशा में मजबूत करते रहे। १९३४ में हिमलर को गेस्टापो का पूर्ण रूप से प्रधान बना दिया गया। और १९३६ के जून में हिटलर की एक विशेष आज्ञा से वह गेस्टापो सहित सारी पुलिस शक्ति का प्रधान बना और इस प्रकार वह आंतरिक मंत्रिमंडल का सदस्य बन गया।

अक्टूबर, १९३६ में सरकारी तौर पर उसे नागरिक संस्था के स्थान पर राष्ट्रीय समाज की सेवा का सजग दल घोषित किया गया और गेस्टापो ने आक्रामक रुख अपनाया। उसका कार्य शत्रु का उन्मूलन करना बना। राष्ट्र के अधिकार की रक्षा के नाम पर कोई भी काम जिस रूप में चाहे करने का अधिकार रखता था। इस प्रकार गेस्टापो सर्वशक्तिमान संस्था बन गई।

गेस्टापो के किसी कार्य को अदालत में चुनौती नहीं दी जा सकती थी इस कारण वह कुछ भी कर सकता था। किसी को भी गिरफ्तार कर लेना और कसेंट्रेशन कैंपों में बंद कर देना आम बात थी। बिना मुकदमा चलाए ही सीकचों में लोग बंद किए जाते या मुकदमा चलाने का दिखावा किया जाता।

देश के भीतर गेस्टापो जो चाहता वह तो करता ही था, देश के बाहर भी वह जर्मनी की विदेश नीति का एक हथकंडा था। उसका कार्य विदेशों में सूचना एकत्र करना और अशांति फैलाना था। रिश्वत आदि नाना प्रकार से लोगों को फोड़कर पंचमांगी बनाना उसका काम था। विजित देश में सेना के साथ ही गेस्टापो जा पहुँचते और नाजी राज्य के विरोधी तत्वों पर उनकी वक्र दृष्टि जम जाती।

नाजी जर्मनी के पतन के पश्चात् गेस्टापो का अंत हो गया। यह संसार में सबसे क्रूर शक्ति थी, ऐसा माना जाता है। (प० ला० गु०)

गेहूँ एक खाद्यान्न जिसकी खेती अत्यंत प्राचीन काल से हो रही है। इसकी उत्पत्ति के स्थान के विषय में मतभेद है। डीकेंडोल के विचार से इसकी उत्पत्ति दजला फरात की घाटी में हुई। कुछ अमरीकन वैज्ञानिकों का मत है कि सीरिया और पैलेस्टाइन इसकी उत्पत्ति के स्थान हैं। वेवीलोन के विचार से ड्यूरम (Durum) जाति के गेहूँ का मूल स्थान अबीसीनिया और वलगेअर (Vulgare) जाति के गेहूँ का मूल स्थान भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग तथा अफगानिस्तान है। संसार में सबसे अधिक क्षेत्रफल में गेहूँ की खेती होती है। धान का स्थान द्वितीय है। भारतवर्ष में गेहूँ का लगभग ९९ प्रति शत क्षेत्र यदि एक रेखा मुंबई से कलकत्ते तक खींची जाय तो इसके उत्तर की ओर होगा। इस प्रकार उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश महाराष्ट्र तथा गुजरात में गेहूँ उत्पन्न करनेवाला अधिक क्षेत्रफल पाया जाता है।

गेहूँ ठंढी, गरम और शीतोष्ण जलवायु में होने के कारण संसार के प्रत्येक भाग में उगाया जाता है, परंतु ठंढे भाग ही उसके लिये अधिक उपयुक्त हैं। आर्द्र, गरम जलवायु इसके लिये अनुपयुक्त है। संसार के बहुत से भागों में यह या तो जाड़ों के आरंभ में या वसंत ऋतु में बोया जाता है। जो क्रमानुसार विंटर ह्वीट और स्प्रिंग ह्वीट कहलाता है। भारतवर्ष में वर्षा ऋतु अनुपयुक्त होने के कारण यह जाड़ों में, जिसे रबी की फसल कहते हैं, पैदा किया जाता है। इसे जमने, बढ़ने और फूल आने के लिये ठंढी जलवायु की आवश्यकता होती है, परंतु पकने के लिये गरम जलवायु लाभदायक है।

इसके लिये दुमट भूमि भी उपयुक्त है, परंतु मटियार दुमट अधिक उत्तम समझी जाती है। वैसे यह अन्य भूमियों पर भी हो सकता है। ड्यूरम जाति का गेहूँ कपासवाली काली मिट्टी में भी अच्छी तरह विकसित होता है।

गेहूँ बोने के लिये खेत की अच्छी तैयारी आवश्यक है। खेत तैयार होने पर मिट्टी अच्छी प्रकार भुरभुरी होनी चाहिए। इसके लिये खेत की तैयारी शस्यचक्र पर भी निर्भर रहती है। गेहूँ उत्तर प्रदेश में अधिकतर चौमास, पलिहर या खरीफ की फसल, जैसे मक्का, मूंग, उड़द, धान आदि, अथवा हरी खाद के पश्चात् बोया जाता है। परती पड़े खेत में एक जुताई यदि हो सके तो पिछली रबी की फसल कटने के बाद गरमी में कर देनी चाहिए। वर्षा ऋतु में समयानुसार जुलाई, अगस्त से दो तीन जुताई, खर पतवार दूर करने के लिये मिट्टी पलटनेवाले हल से, कर देनी चाहिए। वर्षा ऋतु समाप्त होने से पूर्व ही जुताई कल्टिवेटर, देशी हल या हैरो से करनी चाहिए तथा प्रत्येक बार पाटा लगा देना चाहिए। इससे मिट्टी भुरभुरी होगी, ढेले भी टूटेंगे, खेत समतल होगा तथा खेत में नमी स्थिर रह सकेगी। कुल १० या १२ जुताइयों में खेत बोने योग्य हो जायगा।

खरीफ की फसल काटने के पश्चात् एक या दो जुताइयाँ, यदि नमी काफी हो तो, मिट्टी पलटनेवाले हल से करनी चाहिए। आवश्यकता हो तो पलेवा कर लेना चाहिए। यदि घास अधिक हो तो जुताई के पश्चात् कटीला पाटा, हैरो आदि चलाकर घास निकाल देनी चाहिए। शेष तैयारी पहले की भाँति करनी चाहिए।

जिस खेत में हरी खाद देनी हो उसमें यदि हो सके तो गरमी में एक जुताई, पिछली रबी की फसल काटकर, कर देनी चाहिए। यदि सिंचाई के साधन उपलब्ध हों तो हरी खाद के लिये उस क्षेत्र के उपयुक्त कोई शिंबिक (leguminous) फसल, जैसे सनई, मूंग, ढैंचा, ग्वार आदि बो देनी चाहिए। यदि पलेवा हो सके तो पहली अच्छी वर्षा के साथ हरी खादवाली फसल बोनी चाहिए। खेतों में फास्फेट खाद हरी खादवाली फसल बोने से पहिले ही भूमि में डाल देनी चाहिए। हरी खादवाली फसल की जुताई उचित समय पर होनी आवश्यक है। जुताई गेहूँ बोने से लगभग दो माह पूर्व हो जानी चाहिए, जिससे खाद बोते समय तक सड़कर ठीक दशा में आ सके। उत्तर प्रदेश में हरी खाद १५ अगस्त तक जोत देनी चाहिए। देर में जुताई होने से हानि की संभावना रहती है। जहाँ वर्षा कम होती हो तथा सिंचाई के साधन न हों वहाँ हरी खाद ठीक न रहेगी। हरी खाद जोतने के पश्चात् तीन चार सप्ताह तक फिर जुताई आदि न करनी चाहिए। बाद में खेत की तैयारी अन्य विधियों के समान ही कर लेनी चाहिए।

जहाँ वर्षा कम होती है, सिंचाई की समुचित व्यवस्था भी नहीं है तथा भूमि ढालू है वहाँ भूमि तथा जलसंरक्षण की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। अच्छी उपज लेने के लिये खाद देना आवश्यक है। अधिकतर भूमियों में नाइट्रोजन की कमी पाई जाती है। कहीं कहीं फॉस्फोरस की भी कमी रहती है। पोटाश या अन्य पोषक तत्वों की कमी अधिकांश स्थानों में नहीं पाई जाती है। नाइट्रोजन जहाँ तक हो सके आधा भाग कार्बनिक (organic) खाद के रूप में तथा शेष रासायनिक खादों के रूप में दिया जा सकता है। कार्बनिक खाद, जैसे घूरा, कंपोस्ट आदि, खेत की तैयारी के समय, बोआई से एक दो मास पूर्व, खेत में मिला देनी चाहिए। रासायनिक खाद, जैसे ऐमोनियम सल्फेट, बोने से पहले बिखेरकर, या पहली सिंचाई के साथ, फसल में खाद डालने के हेतु खेत में डाल देनी चाहिए। बीज के साथ मिलाकर डालने से जमाव कम हो सकता है। साधारणत. गेहूँ के लिये ५० पौंड नाइट्रोजन प्रति एकड़ पर्याप्त होता है। अधिक नाइट्रोजन से फसल के गिरने की आशंका बढ़ जाती है और गिरने से उपज घट जाती है। जिन खेतों में फॉस्फोरस की कमी हो वहाँ सुपरफॉस्फेट, या हड्डी की खाद, तीन या चार इंच गहरे हल के पीछे भूमि में डाल देनी चाहिए। बोते समय बीज के नीचे भी यह खाद डाली जा सकती है।

(गुड़िया (देखिए पृष्ठ ४३३)

१. कपड़े की स्प्रिंगदार व यंत्रचालित गुड़िया (योरोप)

५. लकड़ी की बनी गणावती नामक गुड़िया (राजस्थान)

६. मिट्टी की बनी 'ग्रहलादी' नामक गुड़िया (बंगाल)

इसका रग वस्तुत गाढा सिलेटी होता है। इसका अगला खाँग ३ फुट लबा और पीछे का १ फुट से १½ फुट तक रहता है। सफेद गैंडा (Cerato therium simus) अफ्रीका का निवासी है, जो जुलूलैंड और लैडो एन्क्लेव (Lado Enclave) मे पाया जाता है। इसकी ऊँचाई लगभग ७ फुट और लबाई १५ फुट तक पहुँच जाती है। यह बहुत तेज भाग लेता है। इसका रग वस्तुत हलका सिलेटी होता है।

४. दो खाँगवाले गैंडे—इनकी खाल बालदार होती है। इस जाति का केवल एक बौना गैंडा (Pigmy Rhinoceros) ईस्ट इडीज के जगलो मे पाया जाता है, जिसे चटगाँव या चिटागाँग (Chitagong) कहा जाता है। इसकी खाल चिकनी या सिकुडनदार न होकर पतले रोओं से ढकी रहती है। यह ३ फुट ऊँचा होता है और इसके थूथन पर दो छोटे छोटे खाँग रहते हैं। यह शरमीला जीव है, जो आहट पाते ही छिप जाता है।

गैंडा शाकाहारी जीव है। इसकी नाक के ऊपर जो एक या दो सीगनुमा खाँग रहते है उन्ही से वह अपनी आत्मरक्षा करता है और शेर और हाथी तक का पेट फाड डालता है। घायल हो जाने पर यह भयकर होता है। इसका मुख्य भोजन घास पात है। इसका मास स्वादिष्ट होता है। इसकी दृष्टि कमजोर, लेकिन सुनने और सूँघने की शक्ति बहुत तेज होती है। यह रात्रिचारी जीव है। गैंडे की उम्र लगभग १०० वर्ष तक की होती है और इसकी मादा करीब १॥ वर्ष पर एक बच्चा जनती है।

(सु० सि०)

गैंबिया पश्चिमी अफ्रीका मे स्थित एक देश है जिसके अतर्गत ब्रिटिश उपनिवेश और ब्रिटेन द्वारा सरक्षित प्रदेश है (स्थिति १३°२५' उ० अ० तथा १६°०' प० दे०)। यह देश एक सँकरी पट्टी के रूप मे गैंबिया नदी के दोनो ओर छ मील की चौडाई मे कोइना नगर तक फैला है जो नदी के मुहाने से एक सीध मे लगभग २०० मील या नदी द्वारा लगभग २५० मील की दूरी पर स्थित है। कुल क्षेत्रफल ४,०८६ वर्ग मील है (उपनिवेश ६६ वर्ग मील एव सरक्षित प्रदेश ३,६६६ वर्ग मील)। गैंबिया देश फ्रास के अधीन सेनेगल देश द्वारा चारो ओर से घिरा है। देश की जलवायु मुख्यत सवाना तुल्य है। औसत वार्षिक वर्षा एव ताप क्रमश: ५०" तथा २५° सें० है और अधिकाश वर्षा जुलाई तथा अक्टूबर महीनो मे होती है। देश की राजधानी बाथर्स्ट है जो गैंबिया उपनिवे मे गैंबिया नदी के मुहाने पर सेंट मेरी द्वीप पर स्थित है तथा एक पुल द्वा मुख्य स्थलीय भाग से जुडा है। देश के लगभग सभी निवासी नीग्रो जा के है तथा इनमे से ८० प्रति शत मुसलमान है।

गैंबिया देश के निवासियों का मुख्य उद्यम कृषि है जिसके अतर्ग ज्वार, बाजरा, धान, मक्का, मूँगफली इत्यादि की उपज होती है। ज्वा बाजरा और चावल देशवासियो का प्रधान आहार है। मुख्यत. ताड़ व तेल तथा इसकी गरी, मूँगफली और महोगनी लकड़ी का निर्यात तथा सूत वस्त्र, चावल, चीनी और तबाकू का आयात होता है। खनिज पदार्थों व पूर्णतया अभाव है। गैंबिया नदी ही अतर्देशीय यातायात का मुख्य साधन है

२ पश्चिमी अफ्रीका की एक महत्वपूर्ण नदी है जो पूर्व मे सेनेगल देश से निकलकर पश्चिम की ओर गैंबिया देश मे बहती हुई अटलांटि महासागर मे गिरती है। सपूर्ण अफ्रीका महाद्वीप मे यही एक ऐसी नदी है जिसमे वर्ष भर छोटे समुद्री जलयान मुहाने से लेकर लगभग २०० मील अदर तक (एक सीध मे) अर्थात् कोईना नगर तक, आ जा सकते हैं।

(रा० ना० मा०)

गैजेल, गीदो (१८३०-१८६६) कवि। इनके पिता माली का काम करते थे। एक सेमिनरी मे शिक्षा प्राप्त करने के बाद सन् १८५४ मे ये चर्च मे पादरी हो गए। साथ ही साथ इन्होंने अध्यापन कार्य भी प्रारभ कर दिया और अध्यापक के रूप मे इन्होंने अच्छे शिष्यो पर, जिनमे ह्यूगो भी थे, गहरा नैतिक प्रभाव डाला। बाद मे ये ब्रूजेज नामक स्थान पर एक ऐंग्लो-बेल्जियम स्कूल मे हेडमास्टर हो गए, लेकिन इस रूप मे ये असफल सिद्ध हुए और फिर अपने ही साप्ताहिक पत्र मे लिबरल सिद्धातो के विरुद्ध प्रचार करना शुरू किया। इनकी कविताओ मे इनके प्रकृतिप्रेम का स्पष्ट आभास मिलता है। साथ ही साथ ईश्वर के प्रति प्रगाढ भक्ति और निष्ठा का भी पुट है। प्राय: सभी रचनाएँ भावप्रधान हैं। प्रकृति सबधी कविताओ की एक और विशेषता यह है कि शब्दो द्वारा ये वर्णित वस्तुओ का सजीव चित्र उपस्थित कर देते हैं। शैली और छदप्रयोग की दृष्टि से भी इनमे विशेषता है। साधारण बोलचाल की भाषा को ही परिष्कृत रूप मे इन्होने कविता के लिये स्वीकार किया और लय तथा स्वर के कुशल प्रयोग द्वारा कविता मे सगीत का तत्व ला दिया।

(तु० ना० सि०)